॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

९

कवितार्किकचक्रचूडामणिश्रीहर्षप्रणीतम्

खण्डनखण्डखाद्यम्

परमहंसपरिव्राजकाचार्यसत्यानन्दपूज्यपादशिष्य-
श्रीविद्यासागरोपाह्वानन्दपूर्णमुनीन्द्रविरचित-
खण्डनफक्किाविभजनसंवलितम्

श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्योदासीनप्रवरस्वामि-
श्रीऋषिरामशिष्यस्वामियोगीन्द्रानन्दकृत-
खण्डनपञ्जिकयोपेतम्

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी-२२१००१

All rights reserved. No part of this publication may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopying, recording or any information storage or retrival system, without prior permission in writing from the publisher.

प्रकाशक
चौखम्बा विद्या भवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ०५४२-२४२०४०४
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
पुनर्मुद्रित संस्करण **2015** ई०
मूल्य : **500.00**

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
४६९७/२, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. २१-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली ११०००२
दूरभाष : ०११-२३२८६५३७

●

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू.ए. बंग्लोरोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. २११३
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : ०११-२३८५६३९१

●

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. ३७/११७ गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ०५४२-२३३५२६३

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्,
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितगिरास्तर्केषु यस्योक्तयः,
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥

सम्पादकीय

कवितार्किकचक्र-चूडामणि श्री श्रीहर्ष के तर्कबहुल खण्डनात्मक इस दुरूह ग्रन्थ का हिन्दीकरण और सम्पादन बड़ी सावधानी और तत्परता से किया गया है। मूल एवं विद्यासागरी व्याख्या का पाठ हस्त-लिखित प्रामाणिक प्रतियों से मिला कर परिशुद्ध किया है। संलग्न पाठ के सुलभ होने पर असंलग्न पाठ न तो मूल में रखा गया और न पाठान्तर के रूप में रखकर ग्रन्थ का अनावश्यक विस्तार किया गया है। मूल ग्रन्थ का हस्त-लेख जितना पूर्ण और शुद्ध प्राप्त हुआ, विद्यासागरी का उतना शुद्ध और अविकल लेख सुलभ न हो सका, अतः दो-तीन स्थलों पर पूर्व मुद्रित पाठ जैसा-का-तैसा सन्दिग्ध ही रह गया है, शेष पूरे ग्रन्थ का संशोधन भली प्रकार हो गया है।

लिपि का अविकलीकरण, मुद्रणाक्षरों का सामीकरण और शब्दों का संशोधन ही सम्पादक का कार्य नहीं, अपितु अभिहित, लक्षित, ध्वनित एवं इङ्गित अर्थों का सामञ्जस्य अक्षुण्ण रखना भी सम्पादक का ही दायित्व है, किन्तु परकीय रचना और अनुवाद कार्यों के सम्पादन में सम्पादक साङ्कुश हो जाता है। मौलिक शब्दावलि के लाभ का प्रलोभन भी कहीं-कहीं भाषा-शैली को उपप्लुत कर देता है। अध्येतृवर्ग की सुगमता को सर्वोपरि स्थान देकर हिन्दी को भरसक सरल बनाया गया है।

क्लेशबहुल विशालकाय ग्रन्थों के सम्पादन में धैर्य अवश्य टूटने लगता है, किन्तु सरिता प्रेसादि के सहयोगियों की तत्परता से हमें इस कार्य में सफलता मिली है, विशेषतः हमारे उदासीन संस्कृत विद्यालय के विद्वान् प्रधानाचार्य पण्डित पुरुषोत्तम त्रिपाठी ने संशोधन कार्य में पूर्ण साहाय्य प्रदान किया, जिसके लिए हम उनके बहुत आभारी हैं।

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ

परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार अध्ययनाध्यापन की परम्परा में नितान्त विश्रुत हैं एवं इनके विषय में दार्शनिक और ऐतिहासिक मनीषियों ने बहुत कुछ लिख रक्खा है, अतः उसका पिष्ट-पेषण करना आवश्यक नहीं, मुझे तो यहाँ स्वल्प परिचय देना है—

१. ग्रन्थ

(१) ग्रन्थ का नाम—

अद्वैत वेदान्त के माने जानेवाले इस ग्रन्थ का पूरा नाम 'खण्डनखण्डखाद्य' है। इसका नामकरण आयुर्वेदीय परिभाषाभिज्ञान से अनुप्राणित है। 'खण्डखाद्य' नाम का एक अवलेह शतावरी आदि के योग से बनाया जाता है—

> चाक्षुष्यं बृंहणं वृष्यं माङ्गल्यं प्रीतिवर्धनम्।
> श्रीकरं लाघवकरं खण्डखाद्यं प्रकीर्तितम्॥

यह खण्डन ग्रन्थ भी न्याय-वैशेषिकादि-सम्मत प्रमाणादि पदार्थों को कूट-पीस और कपड़-छान करके तैयार किया गया है। इसके सेवन से निर्वचनीयता का रोग दूर हो जाता है।

(२) वर्ण्य विषय—

न्याय, वैशेषिक, मीमांसादि के प्रतिपाद्य पदार्थों की तीखी आलोचना इस ग्रन्थ का प्रधान विषय है। यह जो किंवदन्ती है कि इस ग्रन्थ के रचयिता श्री श्रीहर्ष के पिता श्री हीर पण्डित कान्यकुब्ज-नरेश की सभा में श्री उदयनाचार्य के द्वारा पराजित किए गये थे, अतः उनसे अपना प्रतिशोध लेने के लिए श्रीहर्ष ने उदयनाचार्य के सिद्धान्तों का प्रखर खण्डन किया है, उस किंवदन्ती का मूल स्रोत नैषधीयचरित के टीकाकार श्री चाण्डूपण्डित का उपक्रम है—"प्रथमं तावत् कविर्विजिगीषुकथायां स्वपितुः परिभावकमुदयनमत्यमर्षणतया कटाक्षयन् तद्ग्रन्थग्रन्थीन् उद्ग्रन्थयितुं खण्डनं प्रारिप्सुर्मानसमेकतानतामभिनिनाय।" इस लेख की पाण्डुलिपि भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना में सुरक्षित है। श्री उदयनाचार्य न्याय और वैशेषिक—दोनों दर्शनों के महान् आचार्य हैं। न्याय-परिवार में उनकी तात्पर्यपरिशुद्धि का जो समादर है, वही वैशेषिक-परिवार में उन की किरणावली का। इसी लिए आचार्य ने लक्षणावली और लक्षणमाला—इन दो मौलिक परिभाषा ग्रन्थों की रचना कर क्रमशः वैशेषिक और न्याय का मौलिक संकलन किया है। इसी से प्रकाश पाकर श्री वरदराजादि विद्वानों ने न्याय और वैशेषिक का एकीकरण करके तार्किकरक्षादि मिश्रित ग्रन्थों का प्रणयन आरम्भ किया। अतः श्रीहर्ष का न्याय और वैशेषिक—दोनों के निराकरण में प्रवृत्त होना स्वाभाविक था।

(३) मूल स्रोत—

न्याय-वैशेषिक का यह खण्डन कोई नया नहीं, चार्वाकों, बौद्धों और जैनों ने लगभग सभी का खण्डन पहले से ही कर रखा है। चार्वाक दर्शन का 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक ग्रन्थ तो वस्तुतः इस दिशा में 'खण्डनखण्डखाद्य' का आदर्श कहा जा सकता है, क्योंकि तत्त्वोपप्लवकार श्री जयराशिभट्ट (१० शतक) का कहना है—"पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते। कथं न तानि सन्ति? तदुच्यते—सल्लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थापनम्, माननिबन्धना च मेयस्थितिः, तदभावे तयोः कथं सद्व्यवहारविषयत्वम्?" (तत्त्वो० पृ० १)। अर्थात् लक्षण के द्वारा प्रमाण व्यवस्थित

होता है और व्यवस्थित प्रमाण के द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है, जैसा कि श्री चित्सुखमुनि ने भी माना है—"मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्" (चित्सु० २।१८)। अतः तार्किकों के कल्पित लक्षणों पर ऐसा मार्मिक प्रहार करना चाहिए कि ऐक भी लक्षण सिद्ध न हो सके, लक्षण के सिद्ध न हो सकने पर न तो प्रमाण व्यवस्थित हो सकेगा और न प्रमेय-वर्ग की सत्ता ही सिद्ध हो सकेगी। खण्डनकार ने भी उसी का अनुवादमात्र किया है—"लक्षणाधीना तावल्लक्ष्यव्यवस्थितिः, लक्षणानि चानुपपन्नानि" (खं. खं. खा. पृ. १२६)। श्री नागार्जुन ने अपने वैदल्यसूत्र, मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तिन्यादि ग्रन्थों में न्याय के विभिन्न अङ्गों को प्रबल प्रहारों के द्वारा आहत कर दिया था। आचार्य दिङ्नाग ने भी न्याय-सूत्रों की कड़ी आलोचना की थी, उसका परिमार्जन करने के लिए ही न्यायवार्तिककार ने वार्तिक का प्रणयन किया, श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं—यद्यपि भाष्यकृता कृतव्युत्पादनमेतत्, तथापि दिङ्नाग-प्रभृतिभिरर्वाचीनैः कुहेतुसन्तमससमुत्थापनैराच्छादितं शास्त्रं न तत्त्वनिर्णयाय पर्याप्तमिति उद्योतकरेण स्वनिबन्धोद्योतनेन तदपनीयते" (ता. टी. पृ. २२)।

जैनाचार्यों में भी श्रीसिद्धसेन दिवाकर (५वीं शताब्दी), भट्ट अकलङ्क (८वीं शताब्दी) हेमचन्द्र (११वीं शताब्दी) तथा देवसूरि (१२वीं शताब्दी) इत्यादि विद्वानों ने न्यायादि की मान्यताओं पर संहारक प्रहार किया है। जाति और निग्रहस्थानों का विशेषतः खण्डन करने के लिए श्रीधर्मकीर्ति ने स्वतन्त्र 'वादन्याय' ग्रन्थ की रचना की, जिसका उत्तर देने के लिए श्रीउदयनाचार्य ने पृथक् 'न्यायपरिशिष्ट' नाम का ग्रन्थ बनाया।

(४) बौद्धों और ब्रह्मवादियों का अन्तर—

यद्यपि बौद्धों और ब्रह्मवादियों ने तार्किक पक्ष का समान रूप से निराकरण किया है, तथापि दोनों के दृष्टिकोणों में खण्डनकार ने अन्तर बताया है—"सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषः—यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति, तदुक्तं भगवता लङ्कावतारसूत्रे—

बुद्ध्या विवेच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः॥

विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं] ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते" (खं. खं. खा. पृ. ६२–६३)। अर्थात् शून्यवादी बौद्ध घटादि का निरपेक्ष सत्त्व या स्वभाव नहीं मानता, अपितु प्रतीत्यसमुत्पन्न, अर्थात् मृत्तिकादि सामग्री-सापेक्ष मृन्मयत्वेन ही घट का निरूपण किया करता है। स्वभावतः अभिलपनीय (निर्वाच्य) न होने के कारण घट सर्वथा निरभिलप्य है, घट की सापेक्ष सत्ता ही उपादायरूपादि शब्दों से अभिहित है—

"यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥ (म. शा. २४।१८)

ब्रह्मवादी न तो समस्त पदार्थों को अनिर्वचनीय मानते हैं और न वैसी अनिर्वचनीयता ही कहते हैं, क्योंकि ब्रह्म वस्तु अनिर्वचनीय नहीं और घटादि पदार्थ भी सर्वथा अवाच्य नहीं, अन्ततो गत्वा 'अनिर्वचीय' शब्द का उन्हें अभिलप्य (वाच्य) तो मानना ही होगा, अतः अद्वैत वेदान्त में अनिर्वचनीयता का अर्थ सदसद्भिन्नत्व करना होगा और ब्रह्म तत्त्व को सद्रूपेण निर्वाच्य और सर्वबाधावधिरूप मानना आवश्यक है—"तदेवं भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीयः, ब्रह्मैव तु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थितम्। (खं. खं. खा. पृ. ६९)। विज्ञानवाद से भी ब्रह्मवाद की विशेषता बताते हुए विवरणकार ने कहा है—"अस्ति चात्र महान् सिद्धान्तभेदः। क्षणिकाद् विज्ञानाद् भेदेनार्थक्रिया सामर्थ्यसत्त्वशून्यं विषयमाहुर्विज्ञानवादिनः, तत्त्वदर्शिनस्तु अद्वितीयात्

संवेदनादभेदेऽपि विषयस्य भेदेनाप्यर्थक्रियासामर्थ्यसत्त्वं स्थायित्वं चाबाधितमस्तीति वदन्ति" (पं. वि. पृ. ३१७)। अर्थात् विज्ञानवादी विज्ञान को क्षणिक मानते हैं और विज्ञान से अतिरिक्त विषय की सत्ता नहीं मानते। वे सत्ता का लक्षण करते हैं—अर्थक्रियाकारिता। दाह, प्रकाशादिरूप अर्थक्रिया (प्रयोजन या फल) की साधनीभूत अग्नि को सत् कहते हैं। किन्तु वेदान्तिगण विज्ञान को कूटस्थ नित्य मानते हैं और उस विज्ञान से विषय भिन्न नहीं, फिर भी उसमें अर्थक्रियाकारित्व माना जाता है। जैसे सत् वस्तु में अपने कार्य की कारणता होती है, वैसे ही असत् में भी—"असत्त्वाविशेषेऽपि कारणनियमः कथं स्यादिति चेन्न, सत्त्वाविशेषेऽपि तुल्यत्वात्" (खं. खं. खा. पृ. ३२)। स्वाप्न जगत् में असत्त्व होने पर भी अर्थक्रियाकारित्व माना जाता है। इसे ही बौद्ध भाषा में संवृतिसत्त्व कहा जाता है—"तदेतत् संवृतिसत्त्वमिति गीयते" (खं. खं. खा. पृ. ३७)। वस्तुतः सौगत-सम्मत ज्ञान से ब्रह्मवादी के ज्ञान का तात्त्विक अन्तर होता है, क्योंकि सुगत-भाषित ज्ञान या विज्ञानस्कन्ध केवल मनःसन्तति की सामूहिक संज्ञामात्र है, मूलपालि के प्रख्यात व्याख्याता सौगत सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् श्री बुद्धघोष विज्ञानस्कन्ध का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'यं किञ्चि विजाननलक्खणं, सब्बं तं एकतो कत्वा विञ्ञाणक्खन्धो वेदितब्बो ति हि वुत्तं। किं च विजाननलक्खणं ? विञ्ञाणं। विञ्ञाणं, चित्तं, मनो ति अत्थतो एकं" (विसुद्धिमग्गो पृ. ३१५)। किन्तु वेदान्त सिद्धान्त में उस ज्ञान को गौण ज्ञानमात्र माना जाता है, विवरणकार स्पष्टरूप से घोषित करते हैं—"अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात्" (पं. विवरण पृ. २०३)। "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐत. उ. ५।३) इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित मुख्य ज्ञान चैतन्य ज्योतिरूप है—"प्रज्ञानघनशब्दाच्च चैतन्यज्योतिरात्मा, न जडज्योतिरिति गम्यते" (पं. विवरण. पृ. २०४)।

(५) खण्डन की जाति —

तत्त्वोपप्लवसिंह के समान ही खण्डनखण्डखाद्य वितण्डा जाति का एक जाज्वल्यमान रत्न है। न्यायसूत्रकार ने वितण्डा का निर्वचन किया है—"स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा" (न्या. सू. १।२।३)। यद्यपि खण्डनकार ने कहीं-कहीं भावावेश में आकर कह दिया है कि "ममत्वेवं दर्शनम्—प्रतीतिसिद्धत्वादत्यन्तासद्विलक्षणं भवदपि जगत् तथा सत्तोपगमेऽपि बाध्यमानत्वादनिर्वचनीयम्" (खं. खं. खा. पृ. १९४)। किन्तु वह वैतण्डिक-सम्मत अपने पक्ष का संकीर्तनमात्र है, संस्थापन नहीं। वैतण्डिक का अपना पक्ष होने पर भी उसकी विधिवत् स्थापना नहीं करता—"यद्वै खलु तत्परप्रतिषेधलक्षणं वाक्यम्, स वैतण्डिकस्य पक्षः, न त्वसौ साध्यं कंचिदर्थं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति" (न्या. भा. १।२।३)। जो व्यक्ति अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता, उस पर विपरीत प्रतिवन्द्यादि का दोषोद्भावन सम्भव नहीं, वैतण्डिक-शिरोमणि श्री नागार्जुन कहते हैं—

"यदि काचन प्रतिज्ञा तत्र स्यादेष मे भवेद् दोषः।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोषः॥" (विग्रह. २९)

वैतण्डिक-मार्तण्ड श्रीहर्ष भी कहते हैं—"वितण्डाकथामालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात् तत्र च व्यावृत्य स्वपक्षनिर्वाहं प्रति पर्यनुयोगानवकाशात्" (खं. खं. खा. पृ. १२४)। अपने पक्ष के बचाव की चिन्ता वैतण्डिक को नहीं होती, अतः वह खुल कर गाली-गलौज भी कर बैठता है, श्री जयराशि भट्ट कहते हैं—"इमामेव मूर्खतां दिगम्बराणामङ्गीकृत्य उक्तं सूत्रकारेण—

नग्न ! श्रमण ! दुर्बुद्धे ! कायक्लेशपरायण !
जीविकार्थेऽपि चारम्भे केन त्वमसि शिक्षितः॥" (तत्त्वो. पृ. ७९)

हमारे वितण्डाकार भी किसी से कम नहीं—'तथाप्यनुपजातप्रबोधस्तु जडतमः कश्चित्'' (खं. खं. खा. पृ. २३१)।

(६) वर्गीकरण—

ब्रह्मसूत्र के आधार पर (१) समन्वय, (२) अविरोध, (३) साधन और (४) फल नाम के चार अध्यायों के अनुसार ही प्रायः वेदान्त के सभी ग्रन्थों का वर्गीकरण किया जाता है। खण्डनखण्डखाद्य का भी विभाजन यद्यपि चार परिच्छेदों में किया गया है, तथापि वर्ण्य विषय की दृष्टि से इसका आदर्श ब्रह्मसूत्र नहीं, किन्तु जैसेश्री वरदराज ने अपनी तार्किकरक्षा का परिच्छेदों में विभाग किया, वैसा ही यहाँ प्रतीत होता है। हाँ, तार्किकरक्षा में तीन और खण्डन में चार परिच्छेद हैं। सर्वनामार्थादि के कतिपय फुटकर वादों को पृथक् कर देने पर इन दोनों में कोई वर्ण्य विषय का अन्तर नहीं रह जाता। दोनों का न्याय और वैशेषिक उभय दर्शनों का संकलन और समालोचन विषय स्थिर होता है। दोनों के समय में भी लगभग उतना ही अन्तर प्रतीत होता है, जितना न्यायामृत और अद्वैतसिद्धि में है। बहुत सम्भव है कि काशिराज की सभा में दोनों ग्रन्थकार एक साथ रहे हों। वरदराज अपनी परम्परा में श्री उदयनाचार्य के पूर्णतया अनुयायी हैं। इनसे श्री हीर पण्डित का शास्त्रार्थ एवं प्रबन्धकोशकार के कथानक का सामञ्जस्य भी हो सकता है।

(७) खण्डन का प्रचयगमन—

बारहवीं शताब्दी के पश्चाद्भावी प्रायः सभी वैदान्तिक वाद ग्रंथों में खण्डनखण्डखाद्य की पूरी छाप देखने को मिलती है, श्री चित्सुखाचार्य ने तो अपने खण्डनांश का निर्माण इसी से ही किया है। वेदान्तियों की गर्वोक्तियों में प्राण-संचरण खण्डन से ही होता है, श्री विद्यारण्य स्वामी कहते हैं—

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खंडनादौ सुशिक्षिताः॥ (पञ्चदशी. ६।१९४)

खण्डनखण्डखाद्य के प्रचार और प्रसार में वेदान्तियों की अपेक्षा नैयायिकों का योग-दान कम नहीं—यह तथ्य ग्रन्थ की टीकाओं और टीकाकारों की सूची पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाती है—

टीका	टीकाकार का नाम	उसका समय
भावदीपिका	चित्सुखाचार्य	१२२० ई०
खण्डनफक्किकाविभजन	आनन्दपूर्ण विद्यासागर	१४ श.
प्रकाश	वर्धमान उपाध्याय	१३५०–१३७५
आनन्दवर्धनी	शङ्कर मिश्र	१४५०–
भूषामणि	रघुनाथ शिरोमणि	१४७५–१५५०
शिष्यहितैषिणी	पद्मनाभ	१५७८
खण्डन-दर्पण	प्रगल्भ मिश्र	१५ श.
खण्डनमण्डन	वरदपण्डित	
खण्डन-टीका	पद्मनाभदत्त	
खण्डन-टीका	शुभङ्कर	
शारदा	शङ्करचैतन्य भारती	२० श.
अंग्रेजी अनुवाद	श्री गंगानाथ झा	१० श.
खण्डनरत्नमालिका	सूर्यनारायण शुक्ल	२० श.

इनके अतिरिक्त श्री गोकुलनाथ उपाध्याय-कृत 'खण्डनकुठार' और अभिनव वाचस्पति-विरचित खण्डनखाद्योद्धार—ये दोनों ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' की समालोचना में लिखे गए हैं। हिन्दी भाषा में भी दो व्याख्याएँ छप चुकी हैं—(१) श्री चण्डीप्रसाद सुकुल तथा (२) स्वामी श्री हनुमानदास जी-द्वारा रचित शाङ्करी का अनुवाद। शाङ्करी व्याख्या संक्षिप्त होने के कारण छात्रों के लिए उतनी उपयोगी नहीं, जितनी कि विद्यासागरी है, अतः इस प्रकाशन में विद्यासागरी को साथ रखा गया है। इसके रचयिता श्री विद्यासगर का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(८) टीकाकार—

प्रस्तुत प्रकाशन में प्रकाशित 'विद्यासागरी' नाम से प्रसिद्ध 'खण्डनफक्किकाविभजनी' टीका के रचयिता आनन्दपूर्ण सरस्वती की 'विद्यासागर' उपाधि थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी न्यायचन्द्रिका के अन्त में कहा है—

विद्यासागरसम्भूतन्यायचन्द्रस्य चन्द्रिका।
व्याप्य दिङ्मण्डलं जीयादियमाचन्द्रभास्करम्॥

इन्होंने अपने तीन गुरुओं का उल्लेख किया है—(१) न्यायचन्द्रिका के अन्त में श्री 'अभयानंद, खण्डनफक्किकाविभजन के अन्त में (२) श्री सत्यानन्द और (३) श्री श्वेतगिरि का। विद्वानों का कहना है कि इनके सत्यानन्द और अभयानन्द दीक्षा गुरु तथा श्वेतगिरि विद्यागुरु थे।

गोकर्ण क्षेत्र के ये निवासी थे, क्योंकि न्याय-चन्द्रिका के अन्त में गोकर्णेश्वर श्री महाबलेश की वन्दना की है—

परापरस्वरूपेण परं यत्तत्प्रकाशितम्।
श्रीमन्महाबलं देवं वन्दे गोकर्णमण्डनम्॥

इनका समय श्रीदासगुप्त और श्रीकुप्पुस्वामिशास्त्री ने १६वीं शतक माना था किन्तु इनकी प्रक्रियामञ्जरी के अनुसार १३५० ई० निश्चित किया गया है, प्रक्रियामञ्जरी में कहा है—

श्रीकामदेवे जगतीं प्रशासति, श्रीशैलकन्याप्रतिभक्तिधारिणि।
विद्योदधेरुत्थितमेतदादरात्, टीकामृतं भूसुरहर्षवर्धनम्॥

कामदेव का समय १३५० के लगभग ही स्थिर किया गया है। युक्तिसंगत भी यही प्रतीत होता है। इनकी रचनाएँ इस प्रकार है—

१. महाविद्याविडम्बन-टीका	१९२० में बड़ौदा से प्रकाशित
२. खण्डनफक्किकाविभजन	प्रस्तुत एवं वाराणसी से ,,
३. भावशुद्धि (ब्रह्मसिद्धि-व्याख्या)	१९६३ में मद्रास से ,,
४. न्यायकल्पलतिका (बृहदारण्यकवार्तिक-व्याख्या)	१९७१ में तिरुपति से ,,
५. न्यायचन्द्रिका	१९५९ में कलकत्ता से ,,
६. टीकारत्न (पञ्चपादिका-व्याख्या)	अप्राशित
७. समन्वयवृत्ति (विवरण-टीका)	,,
८. प्रक्रियामञ्जरी (काशिका-व्याख्या)	,,
९. व्याख्यारत्न (न्यायसार-व्याख्या)	,,
१०. मोक्षधर्म-व्याख्या	,,

आदरणीय अनन्तकृष्ण शास्त्री ने 'शारीरकमीमांसाभाष्य-वार्तिक की भूमिका में श्री आनन्दपूर्ण विद्यासागर की एक शिष्य-परम्परा दिखाई है, जिसमें गुरुचन्द्रिका और लघुचन्द्रिक

के रचयिता श्री गौड़ ब्रह्मानन्द और शारीरक मीमांसाभाष्य-वार्तिक के प्रणेता अभिनव द्रविड़ाचार्य श्रीबालकृष्णानन्द सरस्वती का सप्तम और अष्टम स्थान बताया है—

१. आनन्दपूर्ण सरस्वती
२. पुरुषोत्तमानन्द सरस्वती
३. शिवरामानन्द सरस्वती
४. गोपालानन्द सरस्वती
५. गोविन्दानन्द सरस्वती
६. नारायणानन्द सरस्वती
७. ब्रह्मानन्द सरस्वती
८. बालकृष्णानन्द सरस्वती

२. ग्रन्थकार

'खण्डनखण्डखाद्य' नाम से प्रख्यात ग्रन्थ के रचयिता का नाम 'श्री श्रीहर्ष मिश्र' है। सरस्वती का यह वरद पुत्र इसी वाराणसी की कभी शोभा बढ़ाता रहा है, अत एव पुस्तक के अन्त में उल्लिखित "ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्"—इस पद्य की व्याख्या में श्री विद्यासागर ने कहा है—'कान्यकुब्जेश्वरः काशिराजा'। कन्नौज के गाहडवंशी राजाओं की पहले राजधानी काशी ही थी। नैषधीयचरित के व्याख्याता श्रीचाण्डू पण्डित आरम्भ में ही श्रीहर्ष का काशी में रहना बताते हैं—"वाराणस्यां मुक्तिक्षेत्रेऽनुभूतपरब्रह्मस्वरूपो गङ्गादर्शनादिना धर्मकर्ममध्यमध्यासीनः।" श्रीहर्ष काशी के विषय में कहते हैं—

वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां, तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः, स्वर्गात् परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक्॥"
(नै. च. ११।११६)

[काशी तीनों लोकों से न्यारी है, काशी में रहना देव-लोक में निवास करना है। इस तीर्थ में वास करनेवालों को मुक्ति ही मिलती है, अन्यथा स्वर्ग से बढ़ कर और कौन पद होगा, जिसे पाकर काशीवासियों को अधिक आनन्द मिलेगा ?]।

(१) श्री हर्ष का समय—

(क) श्री उदयनाचार्य का समय ९८४ ई० प्रायः निश्चित है। श्री हर्ष ने उनके ही सिद्धान्त का अधिकतर खण्डन किया है। किन्तु उदयन का नाम कहीं भी नहीं आने दिया गया है। इससे श्रीहर्ष के हृदय में उदयनाचार्य के प्रति भयङ्कर शत्रुभाव प्रतीत होता है, क्योंकि शत्रु का नाम लेना निषिद्ध है—ऐसा कहा गया है। नव्यन्याय के सूत्रधार श्री गङ्गेश उपाध्याय का समय भी १२०० स्थिर किया गया है। उन्होंने अपने तर्क प्रकरण में श्री हर्ष के मत का प्रतिवाद किया है—

व्याघातो यदि शङ्कास्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः॥ (खं. खं. पृ. ३६६)

इत्यपास्तम्, न हि व्याघातः शङ्काश्रितः"। अतः ९८४ और १२०० के मध्य का कोई समय श्री हर्ष का होना चाहिए।

(ख) श्री हर्ष ने 'अनौचित्य' दोष के समर्थक श्री महिम भट्ट का बड़े आदर से उल्लेख किया है—

दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोकने।
काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमादृत॥ (खं. खं. पृ. ७८३)

श्री महिमभट्ट काश्मीरी और अभिनवगुप्त (१०१५ ई०) के पश्चाद्भावी हैं। अतः १०५० ई०

महिमभट्ट का समय माना गया है। जैन सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र (१०८८–११७२) के शिष्य श्री महेन्द्रसूरी ने 'अनेकार्थसंग्रह' की अपनी व्याख्या में नैषधीय-चरित का वाक्य उद्‌धृत किया है। महेन्द्रसूरी का समय यदि १२२५ ई० माना जाता है, तब श्रीहर्ष का १०२५ और १२२५ के मध्य में होना निश्चित होता हैं।

(ग) श्रीहर्ष ने अपने को कान्यकुब्जेश्वर की सभा का एक सम्मानित विद्वान् माना है। गाहड़वंशीय कान्यकुब्ज नरेशों में श्री गोविन्दचन्द्र (११०४–११५४), उनके पुत्र श्रीविजयचन्द्र (११६९ ई०) और उनके पुत्र श्रीजयचन्द्र (११९५) ये तीन महाराज ऐसे हुए हैं, जिनसे श्रीहर्ष का सम्पर्क हो सकता है। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में दिए गए प्रबन्धकोश के सम्बन्धित अंश में श्रीहर्ष ने गोविन्दचन्द्र के पुत्र की प्रशंसा की है—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
माऽस्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः,
अस्त्री जनः पूनरनेन विधीयते स्त्री॥

वह प्रशंसा यदि विजयचन्द्र की है, तब श्रीहर्ष का समय ११६९ के आस-पास का ठहरता है। इस समय से श्रीहर्ष को कुछ पहले ले जाने के लिए कतिपय विद्वानों ने 'गोविन्द-नन्दन' पद में 'गोविन्दो नन्दनो यस्य'—ऐसा बहुब्रीहि समास मानने का जो कौशल दिखाया है, वह सर्वथा अनुचित है, क्योंकि भगवान् कृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध की कामावतारता का श्लेषोपस्थापन अक्षुण्ण नहीं रह सकेगा। दूसरी बात यह भी है कि विजयचन्द्र की शूरता जैसी इतिहास-प्रसिद्ध है, वैसी गोविन्द्रचन्द्र के पिता की नहीं। विजयचन्द्र वस्तुतः समराङ्गण में अस्त्री (अस्त्रधारी पुरुष) को स्त्री-जैसा आत्मसमर्पणपरायण निस्तेज कर देता था।

(घ) ब्रह्मविद्याभरण (कुम्भकोणम्) की पातनिका में श्रीहर्ष मिश्र के स्थैर्यविचार प्रकरण का एक श्लोक उद्‌धृत किया गया है—

तन्त्रैर्दुर्यन्त्रमन्त्रैरपि बुधजनतागाधबोधापमृत्योः
कृत्योद्यत्क्रूरधारापरुषतरमतेर्गुप्तनाम्नः शरारोः।
चेष्टाभिष्टम्भकानां प्रतिविबुधसमोत्खातजैत्रध्वजाम्,
आजानज्ञानभाजां विभवमभिधत्ते चिद्विलासाख्यभूम्नाम्॥

इसमें चर्चित तान्त्रिक चिद्विलास का समय कामकोटि पीठ की परम्परा में ११६७–१२०० बताया गया है, अतः ११६० ई० के आस-पास श्रीहर्ष मिश्र का होना आवश्यक है।

(२) श्रीहर्ष का देश—

श्रीराजशेखर ने अपने प्रबन्धकोश में श्रीहीर पण्डित और श्रीहर्ष का सम्बन्ध कन्नौज से जो स्थापित किया है, वह निर्मूल नहीं। यों तो कविजन यायावर या घुमक्कड़ हुआ करते थे, उन्हें जहाँ विशेष सम्मान मिलता था, वहाँ कुछ अधिक रह जाते थे, यही कारण है कि कई राजाओं की प्रशस्तियां श्रीहर्ष ने लिखी हैं। आत्माभिमान कूट-कूट कर उनमें भरा होता था, स्वागत-सत्कार में कुछ भी अन्तर आया कि कविजी रफूचक्कर हुए। फिर भी आज के उत्तर-प्रदेश से श्रीहर्ष का अटूट सम्बन्ध था। प्रबन्धकोश के अनुसार श्रीहर्ष अपना महाकाव्य (नैषधीयचरित) कश्मीर ले गए, वहां राजा के सामने उपस्थित होकर अपने को वैदेशिक कहा है, अतः कश्मीर के निवासी कदापि नहीं हो सकते। उन्हें बङ्गाली मानना भी अधिक संगत प्रतीत नहीं होता, बङ्गाल में माताओं के नाम मामल्ल देवी कहाँ होते हैं ? आज के नौ कनौजिया, दश चूल्हों से भी निर्वाह नहीं कर पाते, फिर भला बारहवीं शताब्दी के कर्म-

काण्डी कान्यकुब्ज ब्राह्मण अन्यत्र कब रह सके होंगे ? जो अन्यत्र जा बसे होंगे, वे यहाँ के काम के कब रहे होंगे ?

(३) बौद्ध धर्म के प्रति उदारभाव—

यद्यपि श्रीहर्ष के समय बौद्ध धर्म का बल बहुत घट गया था, फिर भी श्रीहर्ष की श्रद्धा उस पर प्रतीत होती है । खण्डनखण्डखाद्य में कहते हैं—'तदुक्तं भगवता लङ्कावतारसूत्रे (पृ. ६२) एवं तत्र-तत्र बुद्ध के लिए बहुमान प्रकट किया है । कामदेव से कहा जा रहा है—

सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियः त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत् ।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद् हरः ।। (नै. ४।८०)

[जितेन्द्रिय सुगत (बुद्ध) ने तुम (कामदेव) को जीत कर तुम्हारी (कामदेव के) कीर्तितनु (यशःशरीर) को नष्ट कर दिया था, बची-खुची भूतमयी (प्रेतमयी) शरीर-यष्टि को भगवान् शङ्कर ने भस्म कर डाला]। दार्शनिक धरातल पर तो सुगत-सम्मत अनिर्वचनीयता अपनाए विना नैयायिकों को परास्त करना सम्भव नहीं था, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में सुगत की कीर्ति-पताका को दिग्-दिगन्त में फहराना सौगत पादों में श्रद्धातिरेक के विना सम्भव नहीं । सम्भवतः राजाओं की धर्म नीति वैसी ही रही हो कि सौगत जगत् का झुकाव कहीं म्लेच्छों की ओर न हो जाय ।

(४) दार्शनिक क्रान्ति—

श्रीहर्ष के समय दार्शनिक स्थिति अव्यवस्थित थी, एक ओर ईश्वर में आस्था न रखनेवाली बौद्ध परम्परा विपन्न हो चुकी थी और ईश्वरवादी शैव कापालिक, कालामुखादि भी मृत्यु शय्या पर ही पड़े थे । बौद्ध वज्रयानियों से लेकर वैदिक तन्त्र-साधकों तक एक ही अग्नि धधक रही थी । धर्म-चक्र का स्थान भैरवी-चक्र, उपोसथ व्रतों का स्थान अनीतियों और कुरीतियों ने ले रक्खा था । शाङ्कर अद्वैतवाद की तार्किकगण खिल्ली उड़ाने लगे थे, अनिर्वचनीयतावाद का घोर खण्डन किया जा रहा था, आचार्य शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध कहनेवालों का बोलबाला हो गया था । मीमांसकगण बौद्ध-प्रतिरोध से प्रभावित होकर अपने याज्ञिक पक्ष को छोड़ कर प्रमाण के क्षेत्र में चिन्तनरत होगए थे ।

ऐसी परिस्थिति में प्रमाण-मीमांसा पर एक प्रबल प्रहार करने की आवश्यकता थी, अतः नैयायिकों और वैशेषिकों के माध्यम से निर्वचन-चर्चा पर आघात किया गया, फलस्वरूप वेद और वेदान्त के साधना पक्षों का द्वार उद्घाटित किया गया । पश्चात् चित्सुख आनन्दपूर्ण, विद्यारण्यादि वेदान्त के महारथियों ने अवसर पाकर वैदान्तिक सिद्धान्त पक्षों को प्रशस्त किया । वैतण्डिक प्रतिवादियों की बाढ़ कम हुई, प्रत्येक वादी को अपने वाद प्रस्तुत करने का अवसर मिला । यद्यपि "कीरवदेतदुक्त्वा दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम्" (खं. खं. खा. पृ. ५) इस उक्ति के साथ-साथ प्रतिवादियों की ओर से भी "नित्यं कथासु विजिगीषुभिरेष धार्यः" (ता. र. पृ. ३६४) इत्यादि नारे भी लगाए गये किन्तु विजयश्री ने श्रीहर्ष और उनके अनुयायिवर्ग को ही वरण किया ।

यह सच है कि तार्किकों की कुदृष्टियों का खण्डन करने के लिए श्री हर्ष ने तत्काल चार्वाकों और सौगतों की तर्कप्रणाली को अपनाया किन्तु पश्चात् अपनी खण्डन-युक्तियों को व्यापक बना कर उन तर्क-पद्धतियों को भी अपनी खण्डनीय कोटि में समेट लिया, उन्हीं की ओर संकेत करते हुए कहा गया है ।

तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे ।
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया ।। (खं. खं. खा. पृ. ७६१)

ग्रन्थ का विषय-संग्रह

ग्रन्थकार ने चार परिच्छेदों में विषय-विभाजन किया है—

(१) प्रथम परिच्छेद में प्रमाणसामान्य और प्रमाणविशेष का खंडन है। प्रमाण-विशेष में अधिक-से-अधिक छः प्रमाणों की आलोचना है। श्री कुमारिलभट्ट-सम्मत छः प्रमाणों को वेदान्त में भी व्यवहारोपयोगी बताया गया है। परिच्छेद के अन्त में हेत्वाभासों की समीक्षा की गई है। न्यायसूत्र चर्चित हेत्वाभासों पर ही विचार किया गया है।

(२) द्वितीय परिच्छेद में न्यायसूत्रोक्त प्रतिज्ञाहान्यादि २२ निग्रहस्थानों का खंडन करने के लिए ४–५ निग्रहस्थानों का निराकरण कर एक दिग्दर्शन प्रस्तुत किया गया है। उस का आशय केवल श्री उदयनाचार्य के न्यायपरिशिष्ट का खंडन ही प्रतीत होता है।

(३) किं, यत्, तदादि सर्वनामपदों के द्वारा जो नैयायिकगण लक्षणों का अभिधान किया करते हैं, उसे निराधार बनाने के लिए सर्वनाम पदार्थों के निर्वचन का खण्डन किया गया है।

(४) चतुर्थ परिच्छेद में नैयायिकों की अपनी कल्पित परिभाषाओं का समूल उन्मूलन करने के लिए उनके अर्थों की सक्षम समीक्षा की गई है। इस परिच्छेद के माध्यम से वैशेषिकों की द्रव्य, गुणादि परिभाषाओं को अनुचित ठहराया गया है। श्रीउदयनाचार्य ने न्याय से लेकर वैशेषिक दर्शन के विशाल क्षेत्र में जो अपना यश स्थापित कर रखा था, उसको मिटाना आवश्यक था, अतः ऐसे कुछ फुटकर विषयों का मूल्यांकन किया गया है, जिन पर नैयायिकों और वैशेषिकों की संयोजना निर्भर है। इनके विशकलित हो जाने पर समस्त प्रतिपाद्य विषय वैसे ही बिखर जाता है, जैसे बन्धन सूत्र के टूट जाने पर पुस्तक का पन्ना-पन्ना बिखर जाता है। प्रधानतया न्याय और वैशेषिक का ही खण्डन किया गया है, प्रसङ्गतः अन्य दर्शनों का भी कुछ-कुछ अंश चपेट में आ गया है। निर्वचनीयता की जंजीरों में जकड़े हुए दर्शन को सर्वथा उन्मुक्त करना खण्डनकार का उद्देश्य था, उसके साधन में वह पूर्णतया सफल है।

आभार-प्रदर्शन

पुस्तक के लिखने से बढ़कर कहीं अधिक परिश्रम उसके प्रूफ-संशोधनादि अपेक्षित कार्यों के सम्पादन में होता है, इसके लिए मुझे पूर्ण सहयोग पंडित पुरुषोत्तम त्रिपाठी प्रधानाचार्य, उदासीन संस्कृत विद्यालय. वाराणसी, स्वामी राधारमण, स्वामी गुरुशरणानन्द और स्वामी विवेकानन्द से प्राप्त हुआ है, अतः मैं इन सबका हृदय से आभारी हूँ। सरिता प्रेस के सभी कर्मचारियों एवं प्रेस-सञ्चालक भाई मोहनलाल यादव का विशेष ऋणी हूँ, जिनके सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हो सका।

के. ३७/२ ठठेरी बाजार,
वाराणसी

योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसतीर्थ
१६–९–१९७९

मूलोपात्तनामनिर्देशः

नाम	पृष्ठाङ्कः
अध्यात्मविदः	५४
अन्ये (नैयायिकाः)	४४१
अपरः	३६७, ३६६
अपरे (अद्वैतिनः)	६
अपरे (योगाचाराः)	४१
ईश्वराभिसन्धिः	७७६
ऋभुः	६४२
कश्चित् (उदयनः)	५८५
कश्चित् (न्यायलीलावतीकारः)	२२८
कान्यकुब्जेश्वरः (काशिराजः)	७६२
गुरुः (प्रभाकरः)	६०, ६१८
चार्वाकः	७, १४
जैनः (बौद्धः)	१३३
तथागतः	८
निदाघः	६४३
नैयायिकः	४९, ७८१
नैषधः	१२१
प्रभाकरः	४६
ब्रह्मवादिनः	६२
भगवत्पादः (शङ्कराचार्यः)	८
भट्टः	३६४
भाष्यकारः (वात्स्यायनः)	१३
मध्यमागमः	८
महिमा (महिमभट्ट)	७८३
माध्यमिकः	७, ८४
यत्तु (तत्त्वोपप्लवकारः)	३३६
लोकायतकानि सूत्राणि	८
वाचस्पतिः	३७४
बादरायणीयसूत्रम्	८
वैयाकरणः	१२४
वैशेषिकः	३५६, ५४०, ६६६
व्यक्तिविवेकः	७२३
व्याकरणकारः	५५
शाब्दिकः	५३
श्रीहर्षः	७६२
सुरगुरुः	८
सौगतः	४६, ६२, ७५८

विषयक्रमः

प्रथमः परिच्छेदः

मङ्गलपद्ये	१–४
१. प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वखण्डनम्	५
२. असतोऽपि समयबन्धस्य कारणत्वम्	२२
३. संवित्स्वप्रकाशत्ववादः	४१
४. क्रियाकर्मभावखण्डनम्	५२
५. विषयविषयिभावखण्डनम्	५६
६. सौगतब्रह्मवादिनोर्भेदः	६२
७. अद्वैते प्रमाणविचारः	६९
८. चतुर्विधखण्डनम्	९६
९. खण्डनयुक्तीनां यथेष्टविनियोगः	१२२
१०. लक्षणसामान्यखण्डनम्	१२६
११. लक्षणविशेषखण्डनम्	१२७
१२. अनुभूतित्वजातिखण्डनम्	१३३
१३. स्मृत्यन्यत्वखण्डनम्	१६९
१४. अन्योऽन्याभावसंसर्गाभावभेदखण्डनम्	१७९
१५. स्मृतिलक्षणान्तरखण्डनम्	२०३
१६. अनुभवत्वखण्डनम्	२०७
१७. यथार्थानुभवत्वखण्डनम्	२१६
१८. सम्यक्परिच्छित्तिखण्डनम्	२२४
१९. अव्यभिचारिज्ञानखण्डनम्	२३४
२०. अविसंवाद्यनुभवखण्डनम्	२३६
२१. अबाधितानुभवत्वखडनम्	२४४
२२. तर्कादिभिन्ने प्रमात्वखण्डनम्	२४५
२३. प्रमात्ववति प्रमात्वखण्डनम्	२४५
२४. करणत्वलक्षणखण्डनम्	२४९
२५. व्यापारलक्षणखण्डनम्	२७०
२६. फलाव्यभिचारित्वखण्डनम्	२७७
२७. प्रत्यक्षलक्षणखण्डनम्	२९६
२८. अनुमानलक्षणखण्डनम्	३६५
२९. व्याप्तिलक्षणखण्डनम्	३७३
३०. उपाधिलक्षणखण्डनम्	३९९
३१. पक्षतालक्षणखण्डनम्	४१६
३२. पक्षधर्मतालक्षणखण्डनम्	४१९
३३. उपमानलक्षणखण्डनम्	४२२

३४. शब्दलक्षणखण्डनम् ४३७
३५. अर्थापत्तिलक्षणखण्डनम् ४४८
३६. अनुपलब्धिलक्षणखण्डनम् ४५४
३७. असिद्धलक्षणखण्डनम् ४६३
३८. विरुद्धलक्षणखण्डनम् ४८२
३९. सव्यभिचारलक्षणखण्डनम् ४८८
४०. सत्प्रतिपक्षलक्षणखण्डनम् ५०८
४१. बाधलक्षणखण्डनम् ५३२

द्वितीयः परिच्छेदः

१. प्रतिज्ञाहानिलक्षणखण्डनम् ५४७
२. प्रतिज्ञान्तरलक्षणखण्डनम् ५५३
३. प्रतिज्ञाविरोधलक्षणखण्डनम् ५६०
४. प्रतिबन्दीलक्षणखण्डनम् ५६५
५. अपसिद्धान्तलक्षणखण्डनम् ५७२

तृतीयः परिच्छेदः

१. सर्वनामार्थखण्डनम् ५९१

चतुर्थः परिच्छेदः

१. भावलक्षणखण्डनम् ६०१
२. अभावत्वलक्षणखण्डनम् ६०७
३. विशिष्टलक्षणखण्डनम् ६११
४. द्रव्यलक्षणखण्डनम् ६२०
५. सामान्यलक्षणखण्डनम् ६२५
६. विशेषलक्षणखण्डनम् ६३०
७. सम्बन्धलक्षणखण्डनम् ६३२
८. आधारलक्षणखण्डनम् ६३७
९. विषयविषयिभावलक्षणखण्डनम् ६५०
१०. भेदलक्षणखण्डनम् ६६७
११. कारणत्वलक्षणखण्डनम् ७०३
१२. वर्तमानत्वादिलक्षणखण्डनम् ७२५
१३. संशयलक्षणखण्डनम् ७३४
१४. भावाभावविरोधखण्डनम् ७४३
१५. तर्कसामान्यलक्षणखण्डनम् ७५२
१६. तर्कविशेषलक्षणखण्डनम् ७६६
१७. अप्रसङ्गात्मकतर्कनिरूपणम् ७७७
१८. तर्काभासखण्डनम् ७८८
१९. उपसंहारः ७९१

Notes

1.स्मृति उद्भूत होने के लिए 27 हेतु (न्या.सू.3 2 41) इस खण्डन खण्ड खाद्यम् ग्रन्थ में उद्धृत पृष्ठ संख्या 162.

2.प्राग्लोपादि दोष। पृ.107.

3.यत्रोभयोसमो दोषः (श्लो.वा.पृष्ठः 341)पृ.34, 568.

4.द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः। पृ.190.

5.एवकारः त्रिविधः। पृ.195.

6.अनिर्वचनीयता। पृ.194 टीका में.

7.राजा जनक का निश्चय। पृ.276.

8.विशेष में सामान्य निहित है। पृ.292.

9.लक्षण व्यतिरेकी अनुमान ही होता है। पृ.315.

10.अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः। पृ.331.

11.संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना। पृ.338.

12.स्वरूपतः प्रमाणत्वं मिथ्यात्वं पररूपतः(श्लो.वा.2/187)पृ.341.

13.षण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनम्। पृ.374.

14.शठे शाठ्यं चरेत्। पृ.395.

15.सम्भव व्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्। पृ.412.

16.मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं किं न पश्यसि। पृ.403.

17.व्यर्थता का लक्षण। पृ.484.

18.निश्चितौ हि वादं कुरुतः। पृ.531.

19.सामुद्रिक शास्त्र का उल्लेख। पृ.536.

20.निग्रहस्थान का अर्थ। पृ.549.

21.पिकदाम्पत्येन प्रसूतापत्य पोषणं यथा वायसं करोति। पृ.581.

22.चक्रिका दोष में दृष्टान्त। पृ.579.

23.श्लो।।रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य गणदोषमपश्यतः।।पृ.584.

24.यह जीव किसी सिद्धान्तविशेष का ज्ञान साथ लेकर पैदा नहीं होता।पृ.585.

25.शास्त्रस्य मख्योद्देशः। पृ.585.

26.जानाति, इच्छति,यतते,करोति। पृ.596.

27.हमारा शिष्य हो जाओ,आपको ज्ञान कर देंगे।पृ.598.

28."ईश्वराभिसन्धि" ग्रन्थ का नामोल्लेखनम्।पृ.599,661.....

29.श्लो।।अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।(श्लो.वा.पृ.46)(वा.प.1/130)पृ.604.

30.व्याघात का दृष्टान्त।(सुशिक्षितोऽपि नट बटुः)पृ.636.

31.प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किं निबन्धनः।पृ.675.

32.गर्तवर्तिगोधामांस विभजन न्यायः।पृ.694.

33.कटकगवोदाहरणम्।पृ.684.

34.पिपीलिकाण्डसञ्चार न्यायः।पृ.710.

35.सेयमद्वैतबुद्धिर्न तर्कशतमवतार्य प्राज्ञैरपनेया।"नैषा तर्केण मतिरापनेया"इति।पृ.118.

ॐ

श्रीश्रीहर्षप्रणीतम्

खण्डनखण्डखाद्यम्

D1 07-02-2019

प्रथमः परिच्छेदः

श्री आनन्दपूर्णप्रणीता

विद्यासागरी टीका

यो विश्वोऽकारवाच्यः सकलविषयभुक् प्रीतितत्कारणाभ्याम् ,
बद्धः संस्कारमात्रप्रविरचिततनुस्तैजसश्चेत्युवाच्यः ।
प्राज्ञो ज्ञानैकबद्धः सुरनरसकलानन्दभुङ्माक्षरेण,
वाच्यार्थो यस्तुरीयो विकलितसकलः सोऽहमेवास्मि भूमा ॥ १ ॥
यः पौलस्त्यमखर्वगर्वहरणादुत्कृत्य शैलं बलात् ,
कैलासं कलहंसधौतममलं लोकाधिपालप्रभुः ।
लंकालग्नमुखं विलोक्य चलितां देवीं च कोलाहलात् ,
प्राहस्याह ह वेत्ययं विजयते निन्ये स पातालकम् ॥ २ ॥
कारुण्यसत्कर्बुरपत्रराजितं रामात्मभृंगीमुखचुम्बनोल्लसद्-
भूलोकसत्केसरकर्णिकालयं श्रीरामराजीवमहं भजे भजे ॥ ३ ॥
मृदुलमृदुलभावस्मेरसंपूर्णवक्त्रा, नलिनदलनिभश्रीलोचनालोकलोका ।
ललितललितपादक्षेपणोत्क्षेपलीला, मम वचसि निधत्तां सन्निधिं वर्णमाला ॥ ४ ॥
भो भो भावोग्रपूर्णप्रविचलितलसन्नेत्रपत्रप्रशोभ-
श्रीमद्वक्त्रारविंदप्रतिविसृतकराग्रोढरत्नौघकुंभ ।
कारुण्याख्यप्रवृष्ट्या कुरु कुरु सुदृढं गाढविघ्नाभिताप-
प्रध्वंसं भावमुग्धप्रविरचितमिदं कृत्यबीजं प्ररोहेत् ॥ ५ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृता

खण्डनपञ्जिका

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिणः ।
पुनन्ति स्वंवचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥
लक्षणादिविकल्पैर्यो नाकलितः कुलेश्वरः ।
तमलक्ष्यमनिर्वाच्यमदिन्द्रमाद्रियामहे ॥ २ ॥
न मे चिन्तामणिर्मन्त्रो न प्रतिपत्पराक्रमः ।
ग्रन्थग्रन्थिप्रभेत्तारः श्रीगुरुपादपांसवः ॥ ३ ॥
खण्डनपञ्जिकाव्याजात् खाण्डनिकान् भजामहे ।
भजनीया जनैस्तेऽपि खण्डपर्शुमुखा इव ॥ ४ ॥

अविकल्पविषय एकः स्थाणुः पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु ।
ईश्वरमुमया न परं वन्देऽनुमयापि तमधिगतम् ॥ १ ॥

अबोधपंकाविलबोधनीरे यदीयवाचः कतकायमानाः ।
वंदे मुनीन्द्रान्मुनिवृंदवन्द्यान् श्रीमद्गुरून् श्वेतगिरीन् वरिष्ठान् ॥ ६ ॥
वंदे संबुद्धतत्त्वं मुनिनिकरकराराधितश्रीपदाब्जं
विद्यालक्ष्म्याश्रितांगं वियति कृतगतिं स्वात्मदृष्टप्रपंचम्
वेदांतोद्घोषजन्मप्रकटनसुभगं शेषभोगांतदेह-
मानंदारण्यमीशं कृतभजनजगत्पालनोद्योगशीलम् ॥ ७ ॥
कथाख्यभूमिप्रचलत्प्रचण्डवादीभकुंभप्रविभेदतोत्रम् ।
रसावसिक्तं बुधमण्डनं यत्तत् खण्डनं व्याकरवाणि नीत्या ॥ ८ ॥

ग्रन्थारम्भे शिष्टाचारपरंपराप्राप्तकर्त्तव्यभावं परदेवतास्तुतिनमस्कारलक्षणं मङ्गलं विधातुमधिकारिप्रयोजनसंबंधाभिधेयप्रतिपादनाय चाह ꙮ अविकल्पेति ꙮ । अस्य च नियोगतः फलवत्कार्यान्तरारम्भसंयोगात्साक्षाददृष्टफलत्वाच्च फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति कार्यान्तरशेषत्वे चावधृते सत्यारम्भस्य समाप्तिपर्यन्तत्वादपेक्षिताऽविघ्नपरिसमाप्तिः प्रयोजनम्, अपेक्षितविधेरनपेक्षितविधानं दुर्बलमिति फलान्तरकल्पनाया दुर्बलत्वात् । अतो यथा सांप्रदायिकमनध्यायानध्ययनादि स्वाध्यायाविघ्नार्थमेवमिदमपि । तदयमर्थः—तमीश्वरं वंदे इति संबंधः ।

नन्वीश्वरस्य दृश्यत्वे घटादिसाम्याच्छास्त्राविषयत्वेन नमस्काराविषयत्वम्, अदृश्यत्वे शशशृङ्गवदसत्त्वादेव । स्वप्रकाशत्वे सदाप्रकाशितत्वादविदितत्वाभावाच्छास्त्रागोचरत्वम् । तद्वद्यैवेष्टदेवता, अतो न युक्तस्तत्प्रणाम इत्यत आह ꙮ अविकल्पेति ꙮ । अविकल्पशब्देन निर्विकल्पकं स्वरूपज्ञानं विवक्षितम् । तद्विषयत्वं च तत्प्रयुक्तव्यवहारत्वात् । न च स्वयम्प्रकाशत्वेऽपि सदाविदितत्वम्, अविद्यावृतत्वेनाविदितमिव भवति यतः । नच स्वरूपज्ञानस्याविद्यानिवर्त्तकत्वम्, प्रमाणज्ञानस्यैवाविद्यानिवर्तकत्वात् । शास्त्रप्रामाण्यं चारोपितनिवर्तकत्वेन । आह च "सिद्धं तु निवर्तकत्वादिति" ।

नन्वीश्वर आत्मैवेति ते मतम् , स च प्रत्यक्षोऽनुभवाश्रयतया ऽपरोक्षः । किमिदमुच्यते स्वप्रकाश इत्यत आह ꙮ एक इति ꙮ । इदमाकूतम्—न तावन्मानसप्रत्यक्षः—विमतं भिन्नाश्रयविषयं ज्ञानत्वात् ज्ञानान्तरवत् । आत्मा नास्मदादिमानसप्रत्यक्षः ज्ञानासमवायिकारणाश्रयत्वात् मनोवत् परसिद्धसाध्यादिनिर्देशादनवद्यम् । विपक्षे स्ववृत्तिविरोधप्रसंगो बाधः । किं च ज्ञानं विमतं न स्वाश्रयविषयं गुणत्वात् , यो गुणो नासौ स्वाश्रयविषयो, यथाऽग्नेरौष्ण्यप्रकाशादि । तदुक्तं तत्त्वविद्भिः—"यस्यैव यो गुणो न स तद्गुणं च समानजातीयमसमानजातीयं वा विषयीकुर्याद् यथाऽग्नेरौष्ण्यं सवितृरूपं चेति" । यदपि

जो विकल्प (सविकल्पक) ज्ञान का अविषय एक (एकत्वप्रकारक सविकल्पक ज्ञान का विषय भी) है, स्थाणु (शाखादि-विहीन ठूठमात्र) है और पुरुष (करचरणादियुक्त मानव) भी है अथवा स्थाणु में कल्पित पुरुष के समान भ्रममात्र है, और श्रुति से प्रमाणित यथार्थ वस्तु भी है एवं उमा और अनुमा—दोनों से समधिगत (प्राप्त किया गया) है, उस ईश्वर (शङ्कर) की मैं (श्रीहर्ष) वन्दना करता हूँ [यहां अविकल्प का सविकल्प, स्थाणु का पुरुष और स्थाणु-पुरुष का श्रुति-विश्रुत होना अत्यन्त विरुद्ध है, अतः विरोधालङ्कार की शैली अपना कर कवि ने अपनी लोकोत्तर मनीषा का नमूना प्रस्तुत किया है 'अविकल्प' का निर्विकल्प समाधिगम्य, 'स्थाणु' का स्थिर कूटस्थ 'स्थाणु-पुरुष' का बाध-सामानाधिकरण्य तथा 'अनुमया' का नु मया – ऐसा छेद कर मया (श्रीहर्ष के द्वारा) साक्षात्कृत अर्थ करने पर कोई विरोध नहीं रहता, श्रीहर्ष ने समाधि में ब्रह्म-साक्षात्कार की बात इसी ग्रन्थ के अन्त में कही है—"साक्षात्कुरुते समाधिषु यः परब्रह्मप्रमोदार्णवम्"] ॥ १ ॥

न्यायमुक्तावल्यामुदितम्—"अग्निगुणस्यापि भास्वररूपापरपर्यायस्य प्रकाशस्य स्वाश्रयप्रकाशकत्वात्साध्यविकलतेति", तदसत्, स्वाश्रयप्रकाशत्वं हि तत्र प्रकाशजनकत्वं तद्गततमोनिवर्त्तकत्वं वा स्यात्। नाद्यः, भास्वररूपेण स्वाश्रयद्रव्येषु रूपांतरारम्भानङ्गीकारात् युगपदवान्तरजातीयविशेषगुणद्वयसमवायायोगाच्च। नापि द्वितीयः, तत्र तमःप्राप्त्यभावात्। यदि हि कदाचित्प्रकाशाभावे नाग्न्यादिर्दृश्येत, तमश्च उपलभ्येत, तन्निवृत्तिस्तर्हि घटादिवत्स्वप्रकाशसाध्या स्यात्। अतो व्यतिरेकाभावान्न तमोनिवर्तकत्वम्। आश्रयद्रव्याध्यक्षेण प्रकाशतद्गुणत्वेनान्यथासिद्धसन्निधिरहेतुरित्यलं तद्दूषणगवेषणेन।

न चात्मांतरप्रत्यक्षः, आत्मांतरस्यात्मांतरं प्रति तदनङ्गीकाराद्, आत्मान्तराभावाच्च।

नाप्यनुभवाश्रयतयाऽपरोक्षः, जडत्वे घटादिवदनुभवाश्रयत्वायोगाद्, अजडत्वे ततो भेदाभावात्। आत्मा न संविदाश्रयतयाऽपरोक्षः, वस्तुत्वाद् घटवत्। केवलान्वयितयोपाधेरनाशङ्क्यत्वात् "साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्यय" इति साध्याभावव्याप्तत्वमुपाध्यभावस्य वदताऽन्वयव्यतिरेकिण एव धर्मस्योपाधित्वाङ्गीकारात्। अन्यथा पक्षेतरत्वोपाधिना केवलान्वयिन एव विलोपादिति।

ननु जगदाकारपरिणामिब्रह्मणः कथमेकत्वम्? उपादानत्वाच्च मृदादिवत्परिणामित्वं जीवैश्चांशांशित्वेन भिन्नाभिन्नत्वादित्यत आह ※स्थाणुरिति※। न तावदेकदेशपरिणामो, निरंशत्वात्। न च सामस्त्येन, स्थितिकाले ब्रह्माभावप्रसङ्गात्। न च जीवानां तदंशत्वम्, जीवारभ्यत्वप्रसङ्गाद् ब्रह्मण इति। स्थाणुरविकारीत्यर्थः।

नन्वेकमविकारि वस्तुतत्त्वं चेत्कथं कर्मकाण्डस्य प्रत्यक्षादेश्च भेदालंबनस्य प्रामाण्यमित्यत आह ※ पुरुष इति ※। कार्यकरणसंबन्धाद्भवति चैवं रूपम्। तदाश्रित्य कर्मकाण्डप्रवृत्तिरध्यस्तद्वैतविषयतया, प्रत्यक्षादिप्रामाण्यं च व्यावहारिकमित्यर्थः।

अत्र च वेदांता एव प्रमाणमित्याह ※ श्रुत इति ※। नन्वितरेतराध्यासाभ्युपगमात्तत्त्वज्ञानस्य चाध्यस्तमात्रनिवर्तकत्वाद् द्वैतनिषेधे शून्यशेष इत्यत आह ※ अस्तीति ※। अज्ञानविषयतयाऽधिष्ठानत्वं ज्ञानसामान्याकारेणाधारत्वं यतोऽधिष्ठानाकारो बाधावधितया परिशिष्यत इत्यर्थः। शून्यमेवाधिष्ठानं बाधावधितयाऽस्तु किं सतेति तत्राह ※ य इति ※। शून्यस्याधिष्ठानावधित्वं प्रसिद्धिविरुद्धम्। सा च प्रसिद्धिर्यदनुविद्धमारोपितं भाति, तदधिष्ठानम्। न च शून्यानुविद्धमारोपितं भातीति यच्छब्देनोच्यते इति व्याख्येयम्। ननु नियोज्यत्वमपि स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ श्रुतमेवेत्यत आह ※ श्रुतिष्विति ※। साध्यसाधनसंबन्धविधौ तद्वाक्यतात्पर्यात्तत्परश्रुतिप्रमितत्वादकर्तृत्वादेस्तदेव वास्तवमिति तात्पर्यलिङ्गमभ्यासादिश्रुतिष्वितिबहुवचनेन द्रष्टव्यम्।

एवं स्वरूपं लक्षयित्वा तटस्थं लक्षयति ※ ईश्वरमिति ※। मायोपाधितया जगज्जन्मादिकर्तारं नियंतारं च, मायिनं तु महेश्वरमिति श्रुतेरित्यर्थः। तत्र तात्पर्यगोचरत्वसिद्धये परमानन्दरूपतां सूचयति ※ उमयाधिगतमिति ※। अधिगतम् आलिङ्गितम्, अर्द्धनारीश्वरत्वात्। प्रियापरिष्वंगकथनेन परमानंदसूचनमुचितमेव।

एवंभूतेश्वरसत्त्वे प्रमाणाभावादेव तत्प्रणामो गगनकुसुमस्तबकशेखरायते इत्यत आह ※ अनुमयापीति ※। उमया केवलं परमधिगतं न भवति, अनुमयाऽपि अनुमानेनाप्यधिगतं विनिश्चितमित्यर्थः। अनुमानं चेदम्—इयं पृथिवी सकर्तृकाकर्तृकवृत्तित्वरहितानेकाकर्तृकवृत्तित्वरहितानेकतन्निष्ठाधिकरणम्, मेयत्वाद्, घटवत्। पृथिव्युदके प्रयत्नवता धृते, गुरुत्वे सत्यपातित्वात्, करतलन्यस्तामलकवदित्यादि।

द्वितीया नमस्कारार्था, प्रातिपदिकं ग्रंथार्थप्रदर्शनाय। ※ श्रुत इति ※। वेदांतगोचरो ब्रह्मैव तत्प्रकरणस्यापि विषय इति निर्दिष्टम्। एकमुमयाधिगतमिति द्वैतनिवृत्तिः परमानंदश्च प्रयोजनम्। विषयप्रयोजनकथनेनार्थात्संबन्धोऽधिकारी च निर्दिष्ट एव।

सकलसौभाग्यकरी देवता गौरी ततश्च कृतियुवतिसौभाग्यसिद्धये तां प्रणमति ※ मानेति ※। हे भवानि भवपत्नि अहं तेऽङ्घ्रिसरोजयोर्नम्रोभवानि प्रह्वीभवानीत्यर्थः। तदपि भक्तिश्रद्धा-

मानापनोदनविनोदनते गिरीशे
भासेव सङ्कुचितयोरुचितं तदिन्दोः ।
भेत्तुं भवानिशचितं दुरितं भवानि !
नम्रीभवानि घनमङ्घ्रिसरोजयोस्ते ॥ २ ॥

शतिशयेन करणेनेत्याह ※ घनमिति ※ । तंत्रेण नैरंतर्यमतिशयश्चोच्यते । प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तत इति न्यायात्प्रवृत्त्यङ्गतया प्रयोजनमाह ※ दुरितं भेत्तुमिति ※ । पुण्येन पापमपनुदतीति श्रुतेः । अन्यत एव तत्स्यादित्यत आह ※भवानिशचितमिति※ भवः संसारस्तस्मिन्ननिशमुपचितम् । नान्येन निरवशेषं भेत्तुं शक्यमित्यर्थः । विशिनष्टि ※ संकुचितयोरिति ※ । जगन्मातुरपि निमित्तयोगे भवति पादसंकोच इत्याह ※ तदिन्दोरिति ※ । तदिंदोर्भासेव शंकरमौलिसमाकलितशशांककिरणसंपर्केणेवेत्यर्थः । तत्संपर्ककारणमाह ※ गिरीशे मानापनोदनविनोदनते सतीति ※ । मान आविष्कारः स चान्यवनितासङ्गजनितः । वनिताकुलतिलकभूतामुमामुत्सङ्गे दधार उत्तमाङ्गे च गङ्गामिति तस्यापनोदनं निराकरणं तदेव विनोदः क्रीडा तेन गिरीशे गिरेरीशो गिरीशः शङ्करस्तस्मिन्नते प्रणते सतीत्यर्थः । सरोजोपमितयोः शशांककिरणसंपर्कसंकोचः समुचित इत्याह ※ उचितमिति ※ । यथोचितमिति । यथोचितं भवति तथा सङ्कुचितयोरिति क्रियाविशेषणमेतत् ।

यद्वा ब्रह्मविद्यापरिपन्थिकल्मषविनिवृत्तये सर्वविद्याधिष्ठात्रीं परां शक्तिं प्रणमति । हे भवानि महामाये । अन्वयः पूर्ववत् । मानेनापनुद्यत इति मानापनोदनं यदज्ञानं तस्य विशिष्टतया नोदनं विनोदः तदर्थं नते दासभावमुपगते सति तस्मिन् गिरीशे गिरां वाचामीशो गिरीशो जीवः । "वाक्पतिः चक्षुष्पतिरिति" श्रुतेः । तस्येन्दुः सत्त्वगुणः प्रकाशात्मकत्वात्तस्य तदिन्दोर्भासा सत्त्वगुणजनितज्ञानेन परिभावनात्मकेन सङ्कुचितयोः परिच्छिन्नतया स्वीकृतयोः भक्तानुग्रहहेतुतया स्वीकृतयोरिति यावत् । अन्यथा परिच्छिन्नशक्तेरावरणाभावादित्यर्थः । अवधृततात्पर्यात्त्रय्यंन्तसंदोहादेव प्रयोजनावाप्तेः ।

किं त्वत्प्रयासेनेत्याशंक्य कुतर्कतिमिरनिरासोऽवान्तरप्रयोजनमस्तीत्याह ※ शब्देति ※ । रे रे

[नैयायिकगण भगवान् शङ्कर के अनन्य भक्त हैं, उनकी भक्ति से ही प्रसन्न होकर भगवान् ने उनके प्रमाणादि तर्क-व्यूह की अभेद्यता और अक्षुण्णता का वरदान दे रखा है, अतः भगवान् शङ्कर को प्रसन्न या विपन्न किये विना न्याय-विद्या का समुन्मीलन सम्भव नहीं। श्रीश्रीहर्ष ने पहले स्तुति के द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया किन्तु उसमें सफलता मिलते न देख दूसरा मार्ग अपनाया और भगवती पार्वती के कान में कह दिया— "अनुमयाऽपि तमधिगतम्" अर्थात् आपको छोड़ कर अन्य स्त्री से भी इनका प्रेम है। फिर क्या था ? नारदीय नीति काम आ गई, भोली-भाली जगज्जननी कोप-भवन में जा कर लेट गईं। भगवान् शङ्कर भगवती के विघटनकारी मान का अपनोदन करने के लिए चल पड़े, भगवती के पैरों की ओर झुक कर दृढ़ संकल्प किया—'मानं निवर्तताम्'। भगवान् के भालस्थ चन्द्रमा की सीधी किरणें भगवती के चरण कमलों पर पड़ीं, उससे उनका सकुचाना स्वाभाविक था, क्योंकि चन्द्रमा की हिम किरणों का स्पर्श खिले कमल को संकुचित (मुकुलित) कर देता है [श्रीश्रीहर्ष का चिर मनोरथ सिद्ध हो गया, श्रद्धा-भक्ति-विभोर होकर बोले] हे भवानि ! आपके मुकुलित चरणों पर मैं अनन्त प्रणिपात और प्रणाम कर रहा हूँ, इससे मेरा भव (संसार) में सञ्चित पाप-पुञ्ज अवश्य प्रक्षीण हो जायगा अथवा भव (शङ्कर) के द्वारा अपने सुदृढ़ संकल्प से सन्धारित दुरित (न्याय के दुष्ट द्वैतापादक मानमेयादि पदार्थ-वर्ग) का समुद्भेदन सुकर हो जायगा, क्योंकि भगवान् शङ्कर की जिस संकल्पमयी आधार-शिला पर वह टिका था, वह भगवान् के ही 'मानं निवर्तताम्'—ऐसा श्लिष्ट संकल्प करने पर निवृत्त हो जा चुका है] ॥ २ ॥

शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान् ।
धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ॥ ३ ॥

१. प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वखण्डनम्

अथ कथायां वादिनो नियममेतादृशं मन्यन्ते—'प्रमाणादयः सर्वतन्त्रसिद्धान्ततया सिद्धाः पदार्थाः सन्तीति कथकाभ्यामभ्युपेयम् ।'

धीरा लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् । दिक्षु विजयोऽसच्छास्त्राभ्यासनिरूढाहंकारान् प्रतिवादिनः परिजित्य तदुपरि वर्तनं तत्कौतुकमातनुध्वं आश्चर्यं विस्तारयत । अस्य च विजयस्य विशिष्टत्वाद्विशिष्टं साधनं दर्शयति ॐ शब्देति ॐ । शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ तयोर्निर्वचनं निरुक्तिः—'अनन्यथासिद्धमिति, अन्यथा अन्येन प्रकारेण न सिद्धमुत्पन्नं ज्ञातं वा तदनन्यथासिद्धमुच्यते' इत्यादि शब्दनिरुक्तिः बाधो दृढोऽदृढो वेत्यादिरर्थनिरुक्तिस्तत्तत्खण्डनया । अखर्वगर्वान् । खर्वोऽल्पः । अखर्वोऽनल्पः गर्वो येषां ते अखर्वगर्वास्तान् सर्वत्र वादजल्पवितण्डासु शब्देऽर्थे लक्ष्ये लक्षणे च निर्वचनभावं निर्गतं वचनं येभ्यस्ते निर्वचनास्तद्भावो मूकत्वं तत्र नयन्तः प्रापयन्त इत्यर्थः । यथोक्तं खण्डनमुक्त्वाऽपि पठित्वाऽपि अर्थज्ञानाधिक्योत्प्रेक्षाहीना अपीत्यर्थः । वक्ष्यमाणमपि सिद्धवत् कृत्वा 'कथितमुक्तमिति ।

यद्वा नामरूपप्रपञ्चस्य सत्यत्वात्प्रथमश्लोकोक्तविषयप्रयोजनदौर्लभ्यमाशंक्याह ॐ शब्देति ॐ । शब्दार्थयोर्निर्वचने निरुच्येते इति निर्वचने सदसत्वे ख्यातेर्न्नासद्बाधाच्च न सदिति तत्खण्डनया सर्वत्र देवादियोनिभेदेषु गर्वा अभिमानाः अहंकारा व्यक्तिबहुत्वात् । अखर्वाश्च ते गर्वाश्चेति अखर्वगर्वाः तान्निर्वचनभावमनिर्वचनीयत्वन्नयन्तोऽध्यासरूपतामापादयन्त इति यावत् । दिशयत आचार्यैरिति दिक् ब्रह्म तद् विजयत इति दिग्विजयो विद्यादिस्तस्य कौतुकं कोलाहलमातनुध्वम् । किं कृत्वेत्यत आह ॐयथोक्तमितिॐ । यथोक्तं प्रथमश्लोकोक्तविशेषणप्रयुक्तमपिशब्दाद्वक्ष्यमाणविशेषणं च ब्रह्म तदुक्त्वा मनःपूर्वरूपत्वाद्वाचो ध्यात्वेति यावत् । तदुक्तं कुसुमाञ्जलौ—"न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् उपासनैव क्रियते श्रवणानंतरागतेति" । "आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासवशेन च त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तममिति" स्मृतेश्च । कीरः शुक इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु निर्वचनखण्डनं कथायामुतान्यत्र ? नान्यत्र, कथातोऽन्यत्र वादिनो निग्रहाविषयत्वात् । नापि कथायाम्, तदङ्गप्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमेऽपसिद्धान्ताद्, अनभ्युपगमेऽनिर्वचनवादिनः कथानधिकारादित्याक्षिपति अथेति । अथशब्द आरम्भार्थः । अधिकृत खण्डनं वेदितव्यमित्यर्थः । ॐकथायामितिॐ । नानाप्रवक्तृको

विजिगीषु विद्वन्मण्डल ! इस (खण्डनखण्डखाद्य) ग्रन्थ को यदि तोते के समान जैसे-का-तैसा ही आप लोग रट कर सभा में बोल दें, तब भी महा अभिमानी नैयायिकगणों का समस्त शब्दार्थ-निर्वचन [शब्दों और अर्थों का या शब्दों के अर्थों का अथवा शब्द-प्रयोग के लिए उसके अर्थों का निर्वचन] निराकृत कर उन्हें (नैयायिकों को शास्त्रार्थ में) मूक बना (चुप करा) सकते हैं । [ग्रन्थकार ने जानबूझ कर इस ग्रन्थ को दुरूह बनाया है, जैसा कि इसी ग्रन्थ के अन्त में कहा भी है—"ग्रन्थ-ग्रन्थिरिह कचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया" । यद्यपि क्लिष्टतम बनाये गए इस ग्रन्थ का तलावगाहन (भावावबोध) सहज में नहीं किया जा सकता, तथापि इस ग्रन्थ के रट लेने मात्र से वह अपूर्व क्षमता आ जाती है कि शास्त्रार्थ में बड़े-बड़े दिग्गज वादियों को परास्त किया जा सकता है, उनके सामने इस ग्रन्थ की समयोचित शब्दानुपूर्वी को बोल देनामात्र पर्याप्त है] ॥ ३ ॥

१. प्रमाणादि का मानना कथा में आवश्यक नहीं

कुछ वादिगण (नैयायिक) ऐसा नियम माना करते हैं कि शास्त्रार्थ के आरम्भ में प्रत्येक वादी को न्यायसूत्र में चर्चित प्रमाणादि पदार्थों की सत्ता स्वीकार कर लेनी आवश्यक है, क्योंकि

तदपरे न क्षमन्ते। तथा हि—प्रमाणादीनां सत्त्वं यदभ्युपेयं कथकेन तत्कस्य हेतोः? किं तदनभ्युपगच्छद्भ्यां वादिप्रतिवादिभ्यां तदभ्युपगमसाहित्यनियतस्य वाग्व्यवहारस्य प्रवर्तयितुमशक्यत्वात्? उत कथकाभ्यां प्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रति

विचारगोचरो वचनसन्दर्भः कथा। सा त्रिविधा, वादजल्पवितण्डाभेदात्। तस्यां वादिनोः वादिप्रतिवादिनोरित्यर्थः। कीदृशं नियमं सद्वादिनो मन्यन्त इत्यत आह ※ प्रमाणेति ※। प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानि षोडश पदार्थाः प्रमाणादय उच्यन्ते। प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतः सिद्धान्तः। स चतुर्विधः, सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमभेदात्। सर्वतन्त्राविरुद्धः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। यथा प्रमेयं प्रमाणाधीनमिति। एकशास्त्र एव सिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः। यथेदं नैयायिकानामिदं वैशेषिकाणामिति। यस्य हेतोः पक्षस्य वा सिद्धावन्यस्यानुक्तस्यापि सिद्धिः, सोऽधिकरणसिद्धान्तः। यथेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञातादर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति हेतोः सिद्धावनुषङ्गिणोऽर्था इन्द्रियनानात्वं नियतविषयाणीत्यादयः। विवादाध्यासितं बुद्धिमत्पूर्वकमिति पक्षस्य सिद्धावनुषङ्गिणोऽर्थाः सर्वज्ञत्वादयः सिध्यन्तीति अनुमेयानुषक्तसिद्धिरधिकरणसिद्धान्त इत्युदयनः। शास्त्रे साक्षादनुक्तस्य सामर्थ्यादभ्युपगतिरभ्युपगमसिद्धान्तः। यथा मनस इन्द्रियत्वम्। कथं पुनर्ज्ञायते तदनुक्तमभ्युपगतं शास्त्रकारेणेति, इन्द्रियार्थसन्निकर्षेत्यादि प्रत्यक्षलक्षणाभिधानात्। अनिन्द्रियत्वे हि मनसस्तल्लक्षणं सर्वलोकप्रसिद्धमपि सुखादिप्रत्यक्षं न व्याप्नुयादिति। तत्र प्रमाणादीनां सर्वतन्त्रसिद्धान्तत्वात्तत्सत्त्वमभ्युपेयमिति भावः।

सत्ताभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वे मानाभावात् मानाद्याकार एव प्रयोजकोऽतोऽसद्वादिनोऽपि कथाधिकारः किमुतानिर्वचनवादिन इत्यभिप्रेत्य सिद्धान्तयति ※ तदिति ※। सत्ताभ्युपगमस्य कथानङ्गत्वं प्रतिज्ञातमुपपादयति ※ तथा हीति ※। "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनमिति" कात्यायनस्मरणात् कस्य हेतोः कस्माद्धेतोरिति उक्तानेव विकल्पान्विशदयति किमित्यादिना। ※ तदभ्युगमसाहित्यनियतस्येति ※। प्रमाणादीनां सत्ताभ्युपगमेन साहित्यनियतिरविनाभावस्तदविनाभूतस्येति यावत्। ※ अशक्यत्वात् ※। सत्तानभ्युपगमे इति शेषः। यथा रूपं स्पर्शमविनाभावमात्रबलेन गमयति, तथा व्यवहारः प्रमाणादिसत्ताभ्युपगममविनाभावेन गमयतीति प्रथमविकल्पार्थः ॥ १ ॥

यथा ज्ञानं कार्यतया कारणं कल्पयति, तथा व्यवहारोऽपि प्रमाणाभ्युपगममिति द्वितीयार्थः। यद्यपि कार्यमविनाभावेन गमकं तथापि स्वभावानुपलब्धिकार्यलिङ्गकमनुमानं त्रिविधमिति पराभ्युपगमात् पृथगुपन्यासः ॥ २ ॥

वे पदार्थ किसी एक दर्शन की दृष्टि से संस्थापित नहीं किए गए, अपितु सर्व-सम्मत हैं [न्यायसूत्रकार ने अपने प्रथम सूत्र में सोलह पदार्थ गिनाए हैं—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान। इन्हीं पदार्थों का विशेष खण्डन इस ग्रन्थ में है, अतः इन पदार्थों पर भूमिका में पुष्कल प्रकाश डाला गया है]।

नैयायिकों के उक्त नियम को अन्य वादिगण (अद्वैतवादी) नहीं मानते, वे जानना चाहते हैं कि एक कथक (न्यायवादी के द्वारा स्वीकृत प्रमाणादि की सत्ता अन्य कथक (अद्वैतवादी) को भी स्वीकृत कर लेने की जो बात कही जाती है, वह किस लिए ? क्या (१) प्रमाणादि की सत्ता न माननेवाले वादी और प्रतिवादी के द्वारा वह वाग्व्यवहार (कथा-शैली) प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जो प्रमाणादि की सत्ता मानने वाले वादियों के द्वारा किया जाता है ? या (२) वादी-प्रतिवादी के द्वारा वर्तनीय वाग्व्यवहार के प्रति प्रमाणादि की सत्ता का स्वीकार करना आवश्यक (कारण) है ? या (३) कथा में प्रमाणादि की सत्ता

हेतुत्वात् ? उत लोकसिद्धत्वात् ? अथवा तदनभ्युपगमस्य तत्त्वनिर्णयविजयफलातिप्रसञ्जकत्वात् ?

(१) न तावदाद्यः, तदनभ्युपगच्छतोऽपि चार्वाकमाध्यमिकादेर्वाग्विस्तराणां प्रतीयमानत्वात्। तस्यैव वाऽनिष्पत्तौ भवतस्तन्निरासप्रयासानुपपत्तेः। सोऽयमपूर्वं प्रमाणादिसत्त्वानभ्युपगमात्मा वाक्स्तम्भनमन्त्रो भवताऽभ्यूहितः, नूनं यस्य प्रभावाद्

लोकशब्देन लोकव्यवहार उच्यते। तत्सिद्धत्वं प्राणिनिकायेन व्यवह्रियमाणत्वम्। "लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक" इत्यादौ लोकशब्दस्य व्यवहारे प्रयोगदर्शनादिति तृतीयार्थः ॥ ३ ॥

प्रमाणादिसत्तामनभ्युपगम्य व्यवहरतो वादफलस्य तत्त्वनिर्णयस्य जल्पादिफलस्य विजयस्य चोपपत्तावुन्मत्तादेरपि स्यादिति तदनभ्युपगमस्य फलातिप्रसङ्गहेतुत्वात्सत्ताभ्युपगम इति चतुर्थार्थः ॥ ४ ॥

तत्र किं व्यवहारमात्रस्याविनाभावः ? किं वा विशिष्टस्येति ? प्रथमविकल्पं द्विधा विकल्प्याद्यं दूषयति ❀न तावदिति❀। विमतो वाग्व्यवहारः प्रमाणादिसत्ताङ्गीकारपुरःसरः वाग्व्यवहारत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्यत्र निर्विशेषवाग्व्यवहारस्य हेतुत्वे चार्वाकादिव्यवहारे व्यभिचारः। तस्यापि पक्षीकरणे तत्रैव भागे बाध इत्यर्थः। "ननु चार्वाकस्य प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यान्माध्यमिकस्य सर्वशून्यतया व्यवहारस्याभावात् कुतो बाधव्यभिचारौ" इत्यत आह ❀ तस्येति ❀। यद्यपि चार्वाकः प्रत्यक्षमेकं स्वीकुरुते तथाप्यनुमानादिभिर्व्यवहरन्नेव तत्सत्तां न मनुते। माध्यमिकस्यापि सांवृतो व्यवहारोऽस्त्यन्यथाप्रसक्त्यभावात्तत्प्रतिषेधासम्भवादिति भावः। एवं साहित्यनियममपास्योपहसति ❀ स इति ❀। प्रसिद्धवाक्स्तम्भनमन्त्रे प्रयुज्य-

का अभ्युपगम लोक-सिद्ध (व्यावहारिक मर्यादा) है ? अथवा (४) प्रमाणादि की सत्ता न मानने से कथा का उद्देश्य (तत्त्व-निर्णय और विजय) अव्यवस्थित या अतिप्रसक्त (अनधिकारी में प्राप्त) होता है ?

(१) प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि अनुमानादि प्रमाणों की सत्ता न माननेवाले चार्वाक किसी भी प्रमाण की पारमार्थिक सत्ता न माननेवाले माध्यमिक (शून्यवादी) के विस्तृत वाग्व्यवहार (शास्त्रसमूह) उपलब्ध हो रहे हैं। ['यो यो वाग्व्यवहारः, स स प्रत्यक्षादिप्रमाणपारमार्थिकसत्ताभ्युपगमपूर्वकः'-- ऐसा नियम चार्वाक-विरचित वाग्व्यवहारात्मक तत्त्वोपप्लवसिंहादि शास्त्रों एवं नागार्जुनादि शून्यवादी बौद्धों के मध्यमकशास्त्रादि में व्यभिचरित है, क्योंकि चार्वाक अनुमानादि प्रमाणों को नहीं मानते एवं माध्यमिक प्रत्यक्षादि की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानते [उनका कहना है—

"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं सत्यं च परमार्थतः॥" (म० शा० २४।८)

अर्थात् शून्यतत्त्व पारमार्थिक सत्य और प्रत्यक्षादि प्रमाण एवं उनके विषय संवृतिसत्य या व्यावहारिकमात्र हैं। श्री नागार्जुन ने कहा है—"यथा हि प्रत्यक्षं प्रमाणं शून्यम्, एवमनुमानागमोपमाना अपि शून्याः, सर्वभावानां शून्यत्वात्" (विग्रह० पृ० २७९)]। 'चार्वाक और माध्यमिकादि के वाग्व्यवहारात्मक आगम (शास्त्र) लोक में प्रचलित ही नहीं'—ऐसा आप (नैयायिकगण) नहीं कह सकते, क्योंकि यदि वे हैं ही नहीं, तब आप उनका निराकरण क्यों करते हैं ? [अतः उनके विषय में आपका यह कहना युक्त नहीं कि "भवन्ति चैते हेतवो बौद्धाद्यागमपरिग्रहे। तथा हि—भूयस्तत्र कर्मलाघवमित्यलसाः, इतः पतितानामप्यप्रवेश इत्यनन्यगतिकाः, भक्ष्यापेयाद्यनियम इति रागिणः, स्वेच्छया परिग्रह इति कुतर्काभ्यासिनः, पित्रादिक्रमाभावात् प्रवृत्तिरिति पाषण्डसंसर्गिणः" (न्या० कु० २।३) इस प्रकार आप (नैयायिकों) ने जो यह आविष्कार किया है कि 'प्रमाणादिसत्तामनभ्युपगम्य वाग्व्यापारो न स्यात्'—यह एक ऐसा वाक्स्तम्भन मन्त्र सिद्ध हुआ कि जिसके प्रभाव में आकर प्रमाणादि की पारमार्थिक

भगवता सुरगुरुणा लोकायतकानि सूत्राणि न प्रणीतानि, तथागतेन वा मध्यमागमा नोपदिष्टाः, भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभाषि।

प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यापि प्रवर्तयन्तु नाम ते वाचो भङ्गीः, तास्तु साधनबाधन-

---

माने वाणी न निर्गच्छति। प्रयुज्यमान एव पुनरस्मिन्वागनिस्सरणमित्यपूर्वत्वम्। रहसि वक्तव्यतया मन्त्रत्वम्। व्यभिचारमेव दृढयितुं व्यतिरेकमुखेनोदाहरति ॐनूनमितिॐ। यस्य प्रमाणानभ्युपगमस्य प्रभावात्सामर्थ्यात् सुरगुरुणा बृहस्पतिनेत्यर्थः। उदाहरणान्तरव्याजेन त्रयोऽत्र खण्डनवादिनो मुख्या इति दर्शयति ॐ तथागतेनेति ॐ। तथागतो बुद्धः। मध्यमागमश्च शून्यागम इत्यर्थः। शिष्टं स्पष्टम्।

"व्यवहारमात्रस्य साहित्यनिर्यात न ब्रूमः किं तर्हि विशिष्टव्यवहारस्येति" प्रथमविकल्पस्य द्वितीयविकल्पं शङ्कते ॐ प्रमाणेति ॐ। कथकवाग्व्यवहारः प्रमाणादिसत्तास्वीकारपुरस्सरः, साधनबाधनयोरन्यत-

---

सत्ता न माननेवाले महान् दार्शनिक चुप रह गये, न तो गुरुवर बृहस्पति ने लोकायतक सूत्र रचे, न तथागत (भगवान् बुद्ध) ने 'माध्यमिक' आगम बनाए और न भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य ने बादरायण-प्रणीत ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य बनाया। [श्री हर्ष ने नैयायिकों का उपहास करते हुए यह सिद्ध किया है कि प्रमाण, प्रमेय आदि की पारमार्थिक सत्ता न मान कर भी आचार्य बृहस्पति ने चार्वाक-सूत्र, महात्मा बुद्ध ने माध्यमिक शास्त्र और भगवान् शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य बनाया, जिन के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा आज भी अक्षुण्ण है, अतः कथा या वाग्व्यवहार के लिए प्रमाणादि की पारमार्थिक सत्ता का मानना अनिवार्य नहीं। श्री नागार्जुन ने शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद, उपादाय प्रज्ञप्ति और मध्यमा प्रतिपत्—इन चारों पदों को समानार्थक माना है—

"यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा॥" (मा० का० २४।१८)

अन्य परिभाषाओं का स्पष्टीकरण यथावसर किया जायगा, यहाँ केवल 'माध्यमिक' संज्ञा का विश्लेषण करना है, कि मध्यमा प्रतिपत् (मार्ग) के अनुयायी होने के कारण शून्यवादियों को माध्यमिक कहा जाता है। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के मध्य का मार्ग मध्यमा प्रतिपदा (मार्ग) कहा गया है। कार्य और कारण का भेद मानने पर कार्यावस्था में कारण का उच्छेद और कार्य-कारण का अभेद स्वीकार करने पर कार्यावस्था में भी कारण की सत्ता सिद्ध होगी, फलतः कारण शाश्वत हो जायगा, अतः इन दोनों को छोड़ कर प्रतीत्यसमुत्पाद या शून्यवाद को मध्यम मार्ग के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, ललितविस्तर (१३।१०२) के इस सिद्धान्त को माध्यमिक कारिका की व्याख्या (पृ० ८, ४१, १६०, १८५ और २४१) में उद्धृत किया गया है—

बीजस्य सतो यथाङ्कुरो न च यो बीजु स चैव अङ्कुरो।
न च अन्यु ततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वतधर्मता॥

फलतः प्रतीत्य (कारण-सामग्री का आश्रय लेकर कार्य का) समुत्पाद (पराश्रित भाव या परभाव) माना जाता है, स्वतोभाव या स्वभाव नहीं। कार्य की इसी निःस्वभावता को माध्यमिकों ने 'शून्य' शब्द से अभिहित किया है, प्रमाणादि पदार्थ भी सत् नहीं, शून्यात्मक ही होते हैं। शाङ्कर वेदान्त में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों की व्यावहारिक सत्ता मात्र मानी जाती है, अद्वैतागमहृदयकार ने स्पष्ट कहा है—"प्रमाणं व्यावहारिकतत्त्वावेदकं पारमार्थिकतत्त्वावेदकं चेति द्विविधम्—तत्राद्यं प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदेन षड्विधम्···तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थजं ज्ञानं पारमार्थिकतत्त्वावेदकम्" (पञ्ची० पृ० ६–७)]।

क्षमा न भवन्ति तावतेति ब्रूम इति चेत्; न; प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं तदीयसाधनबाधनाक्षमतायां न नियामकम्, किन्तु सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वमित्यवश्यमभ्युपेयं भवता, येनाभ्युपगम्यापि प्रमाणादीनि प्रवर्तिता मतान्तरानुसारिभिर्व्यवहारा

रक्षमव्यवहारत्वात्, भाट्टादिसंप्रतिपन्नव्यवहारवत्। विपक्षे चार्वाकादिव्यवहारवत् साधनाविक्षमता न स्यादित्यर्थः। वाचोभंगीर्वाक्प्रकारानिति यावत्। ते चार्वाकादय इत्यर्थः। असमव्याप्तिकयोरन्वयव्याप्तिवैपरीत्येन व्यतिरेकव्याप्तिनियमात् साधनबाधनक्षमव्यवहारस्य सत्ताभ्युपगमव्याप्तत्वे सति साधनबाधनक्षमव्यवहाराभावेन प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं व्याप्यमिति चार्वाकादिव्यवहारे त्वया दर्शनीयम्। सव्यभिचारदर्शनं सोपाधिकत्वात्तत्संबन्धस्य।

विपक्षबाधकस्याप्येतेन मूलशैथिल्यं युक्तमेवेत्यभिप्रेत्य परिहरति ॐ नेति ॐ। साधकत्वं स्वपक्षप्रमितिजनकत्वम्। बाधकत्वं तु परपक्षप्रतिषेधप्रमितिजनकत्वम्। किं तर्हि नियामकं प्रयोजकमित्यत आह ॐ किंत्विति ॐ। सद्वचनाभासलक्षणानि असिद्ध्यादिलक्षणानि तेषामन्यतमयोगित्वमित्यर्थः। ननु सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वं नोपाधिः, सति साध्ये घटादावसत्त्वेनाव्यापकत्वात्। ननु गर्भस्थो मैत्रतनयः श्यामः मैत्रतनयत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यत्र शाकाद्याहारपरिणतिपरंपराजन्यत्वमपि नोपाधिः स्यादिन्द्रनीलादौ सति साध्ये तदभावात्। ननु पुरुषश्यामत्वे शाकाहारपरिणतिजन्यत्वप्रयोजकमिति विशिष्मस्तर्हीहापि वाग्व्यवहारत्वे सति साधनबाधनाक्षमत्वे सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वं प्रयोजकमिति संतोष्टव्यम्। सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वस्य साधनबाधनाक्षमत्वे प्रयोजकत्वं परेणांगीकार्यमित्यापादयति, न स्वमतेनोच्यते, भवतेति विशेषणात्। अतो न बाधावकाश इति भावः। ननु प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वसद्वचनाभासलक्षण-

शङ्का—प्रमाणादि की पारमार्थिक सत्ता न मान कर भले ही आप (चार्वाकादि) की वचन-रचना प्रवृत्त हो, किन्तु वह न तो स्वमत-साधन में सक्षम हो सकती है और न पर-मत-बाधन में, क्योंकि प्रमाणादि की पारमार्थिक सत्ता मानकर ही प्रवर्तित वाग्व्यवहार साधन-बाधन-सक्षम माना जाता है। [यहाँ शङ्करमिश्रोक्त यह अनुमान पर्यवसित होता है—"चार्वाकादिवाग्व्यवहारः, साधनाद्यक्षमः, प्रमाणादिसत्तामनभ्युपगम्य कृतत्वाद्, रथ्यापुरुषादिवाग्व्यवहारवत्"]।

समाधान—चार्वाक अनुमानादि प्रमाण नहीं मानता, फिर भी उस के द्वारा प्रयुक्त अनुमान-प्रयोग में तब तक बराबर साधन-बाधन की क्षमता मानी जाती है, जब तक कि उसके द्वारा प्रयुक्त हेतु में असिद्धि, बाधादि हेत्वाभासों का उद्भावन न किया जय, फलतः साधन-बाधन की अक्षमता का प्रयोजक हेत्वादिगत उद्भावित आभास-लक्षण-लक्षितत्व ही होता है, प्रमाणादिसत्तानभ्युपगमपूर्वकप्रयुक्तत्व नहीं। [यहाँ पूर्वपक्षोक्त अनुमान-प्रयोग में सोपाधिकत्व दोष का उद्घाटन किया जाता है, उपाधि है—'सद्वचनाभासलक्षणयुक्तत्व'। उपाधि वस्तु अपने निकटवर्ती पदार्थ पर अपने धर्मों का आधान (आरोप) कर देती है, जैसे जपाकुसुम अपनी लालिमा अपने समीपस्थ स्फटिक पर आरोपित करता है, वैसे ही साधन बाधनाक्षमता की व्याप्ति उद्भावित प्रमाणाभासत्व में होती है, प्रमाणादिसत्तानभ्युपगमपूर्वकत्व में नहीं, अतः साधनादि की अक्षमता का प्रयोजक हेत्वाद्याभासत्व होता है, प्रमाणाद्यनभ्युपगमपूर्वकत्व नहीं। साधनबाधनाक्षमत्वरूप साध्य का व्यापक एवं वाग्व्यवहारत्वरूप साधन का अव्यापक होने से 'सद्वचनाभासलक्षण-युक्तत्व' उपाधि है। प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमपूर्वक सद्धेतु के प्रयोग में वाग्व्यवहारत्वरूप साधन के रहने पर भी साधनबाधनाक्षमत्व नहीं रहता, अतः वह साधन का अव्यापक माना जाता है। सद्वचनाभासलक्षणयोगित्व का अर्थ है—अस्तिवचन यस्य, एवं भूतस्याभासस्य यल्लक्षणम् तद्युक्तत्वम् या उद्भावितहेत्वाद्याभासवत्त्वम्]।

आप (नैयायिकों) को भी यह मानना होगा कि सद्वचनाभासलक्षणयोगित्व ही साधनादि

अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वैर्मतान्तरव्यवहारिभिरपरैस्तथाभूता इति कथ्यन्ते। यदि त्वस्मद्व्यवहारे सद्वचनाभासलक्षणं न भवान् दर्शयितुमीष्टे, तदाऽनभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहार इति शतकृत्वस्त्वया उच्यमानेऽपि नास्माकमादरः। अन्यथा अभ्युपगम्य प्रमाणदीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहार इत्येतावता भवदीयो व्यवहाराभास इत्यस्माभिरपि वक्तुं शक्यत एव।

ननु यदि प्रमाणादीनि न सन्ति, तदा व्यवहार एव धर्मी कथं सिध्येत्?

अनेगित्वयोः सतोः कस्तत्रान्यतरप्रयोजकत्वनिर्णय इत्यत आह ⊛ येनेति⊛। शब्दो द्रव्यं अव्यवहितसंबंधग्राह्यत्वाद् घटवदिति, शब्दो न द्रव्यं बहिरिंद्रियव्यवस्थाहेतुत्वाद्रूपादिवदिति च व्यवहारस्याभ्युपगतप्रमाणसत्तापुरःसरत्वेऽप्यन्योन्यमाभासतया प्रतिषेधो दृश्यते, प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वस्य साधनाद्यक्षमत्वप्रयोजकत्वे तन्न स्यादिति भावः। ⊛ तथाभूता इति ⊛ साधनबाधनाक्षमा इत्यर्थः।

ननु साध्यव्यापकत्वेऽपि साधनव्यापकत्वान्नायमुपाधिः। उक्तं हि "समेन यदि नो व्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजक" इतीत्यत आह ⊛ यदीति ⊛। यद्वा सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वस्य साधनाद्यक्षमत्वनियामकत्वे किमायातमित्यत आह ⊛ यदीति ⊛। ननु त्वद्व्यवहारः साधनाद्यक्षमः, प्रमाणाद्यनभ्युपगमपुरस्सरव्यवहारत्वात्, संप्रतिपन्नवदिति चेन्न। त्वद्व्यवहारः साधनाद्यक्षमः, प्रमाणादिसत्ताभ्युपगममूलव्यवहारत्वात्, व्यवहारांतरवदित्याभासतुल्ययोगक्षेमत्वादित्याह ⊛ अन्यथेति ⊛।

ननु व्यवहारः प्रमितो न वा ? न चेदाश्रयासिद्धिः। प्रमितश्चेद्धर्मिग्रहग्रस्तमनुमानं नोत्पत्तुमलम्। न सन्ति प्रमाणादीनीति प्रतिज्ञाहानिश्चेति चोदयति ⊛ नन्विति ⊛। प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयसिद्धेः दूषणादिविभागोऽपि प्रमाणाभावे न स्यादित्याह ⊛ दूषणेति ⊛। प्रमाणाद्यसत्त्वे धर्म्याद्यसिद्धिरेव कुत इत्यत आह

की अक्षमता का प्रयोजक है, प्रमाणादिसत्तानभ्युपगमपूर्वकप्रयुक्तत्व नहीं, क्योंकि प्रमाणादि की सत्ता मान कर एक वादी के द्वारा प्रवर्तित वाग्व्यवहार में प्रमाणादि की सत्ता में विश्वास रखनेवाले मतान्तरावलम्बी प्रतिवादी के द्वारा साधनादि की अक्षमता या विपरीतार्थ की साधनता सिद्ध कर दी जाती है, [जैसा कि वाक्यपदीयकार कहते है—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ (वा० प० १।३४)]।

अतः यदि आप (नैयायिकगण) हमारे (प्रमाणादि की पारमार्थिक सत्ता न माननेवाले वादियो के) द्वारा उपस्थापित वाग्व्यवहार में सद्वचनाभास का लक्षण नहीं दिखा सकते, तब 'अनभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहारः'—ऐसा सैकड़ों वार आप (नैयायिकों) के कहने पर भी हमारी कुछ भी हानि नहीं। नास्माकमनादरः'—ऐसा पाठ भी कहीं-कहीं हस्तलेखों में पाया जाता है। 'अस्माकमादरः'—ऐसा पाठ मानने पर 'हम आप (नैयायिकों के अनुपयुक्ताभिधान को कुछ भी आदर नहीं देते' ऐसा भाव प्रतीत होता है]। अन्यथा हम (अद्वैतवादी) भी आप के वाग्व्यवहार में सद्वचनाभासत्व दिखाए बिना ही ऐसा असंगताभिधान कर सकते हैं कि 'अभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता (नैयायिकेन) प्रवर्तितोऽयं व्यवहार इत्येतावता भवदीयो व्यवहाराभासः' [अर्थात् जैसे किसी व्यवहार में साधनाद्यक्षमता का प्रयोजक प्रमाणाद्यभ्युपगमपूर्वकत्व नहीं, वैसे ही प्रमाणाद्यनभ्युपगमपूर्वकत्व भी नहीं, फलतः उस का उद्भावन निरनुयोज्यानुयोगनिग्रहस्थानमात्र है]।

शङ्का—यदि प्रमाणादि पदार्थ नहीं है, तब जिस वाग्व्यवहाररूप धर्मी में साधनादि की क्षमता या अक्षमता सिद्ध की जाती है, वह वाग्व्यवहार प्रमाणादि के विना क्योंकर सिद्ध होगा? एवं 'प्रमाणादीनि न सन्ति'—यह आप का निषेध-व्यवहार कैसे सिद्ध होगा? इसी प्रकार दूषणादि की व्यवस्था कैसे होगी ? समस्त विधि-निषेध (भावाभाव) प्रमाण के ही अधीन होते हैं

दूषणादिव्यवस्था वा कथं स्यात् ? सर्वविधिनिषेधानां प्रमाणाधीनत्वात् । नैवम् ; ब्रूमो वयं न सन्ति प्रमाणादीनीति स्वीकृत्य कथाऽऽरभ्येति । किन्नाम सन्ति न सन्ति वा प्रमाणादीनीत्यस्यां चिन्तायामुदासीनैः, यथा स्वीकृत्य तानि भवता व्यवह्रियते, तथा व्यवहारिभिरेव कथा प्रवर्त्यतामिति । अन्यथा न सन्ति प्रमाणादीनीति मतमस्माकमारोप्य यदिदं भवता दूषणमुक्तम्, तदपि वक्तुं न शक्यम् । कीदृशीं मर्यादामालम्ब्य प्रवृत्तायां कथायामिदं दूषणमुक्तम् ? किं प्रमाणादीनां सत्त्वमभ्युपगम्य उभाभ्यां वादिभ्यां प्रवर्तितायां कथायाम् ? उतासत्त्वमभ्युपेत्य ? अथैकेन सत्त्वमपरेण चासत्त्वमङ्गीकृत्य ? नाद्यः, अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वं प्रति एतादृशपर्यनुयोगानवकाशात् । द्वितीये

● सर्वेति ● । विधिर्भावो निषेधोऽभावः । आदिपदेन दूषणभूषणतद्विधानादिसंग्रहः ।

प्रतीतत्वमात्रेण धर्मित्वम्, न प्रमितत्वेन, विशेषणवैयर्थ्याद् व्यावहारिकप्रामाण्याभ्युपगमाच्च न विरोध इति परिहरति ● नैवमिति ● । किं तर्हि तत्परे न कमन्त इत्याविनोच्यत इत्यत आह ● किम्नामेति ● । यथा तानि प्रमाणानि भवताभ्युपगम्य व्यवह्रियते । तत्र तदेकैकस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानादेव द्रष्टव्यः, तथा प्रमाणादीनि संति न संतीत्यस्यां

रभिः कथा प्रवर्त्यतामिति ब्रूम इति वेष्टनसन्धः । प्रमाणादिसत्तामनभ्युपेत्य कथाप्रवृत्तिं परेणाङ्गीकारयति ● अन्यथेति ● । कथायामेव दूषणस्य कथनीयत्वात्, सत्ताभ्युपगममूलैव कथेति नियमवादिमते तदनुगुणकथासंभवादिति भावः । पूर्वपक्षस्याहार्यभ्रमरूपत्वान्मतमारोप्येत्युक्तम् ।

कथासंभवमुपपादयितुं पृच्छति ● कीदृशीमिति ● । सामान्यतो ज्ञातः संभवदनेककोटितया विशेषतोऽज्ञातः संदिग्धोऽर्थः प्रष्टव्यः । इह पुनस्तथाभावाभावात् । कथमयं प्रश्न इत्याशंक्य तदाकारं दर्शयति ● किम्प्रमादिना ● । प्रमाणादिसत्तामभ्युपगंतुः कथामूलतया प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमे कथारंभ एव सिद्धस्तेन निगृहीतत्वादनुत्पन्नसमैव कथा स्यादित्यपरितोषात् फलांतरमाह ● उभेति ● । उभाभ्यां वादिभ्यां प्रवर्तितायामित्युपरितनकल्पद्वयेऽप्यनुषंगः । असत्त्वाभ्युपगमे तु सद्वादिनो निग्रह इति तदुभयोचितं कल्पांतरमाह ● अथेति ● । विकल्पक्रमेण निराकरोति ● नाद्य इति ● । कुत इत्यत आह ● अभ्युप-

समाधान—हम (अद्वयवादी खाण्डनिक) न तो यह कहते है कि 'न सन्ति प्रमाणादीनि' और न यह कहते हैं कि 'प्रमाणादीनि स्वीकृत्य कथा आरभ्या'। अपि तु हमारा यह कहना है कि 'सन्ति, न सन्ति प्रमाणादीनि—इत्यस्यां चिन्तायामुदासीनैः कथा आरब्धव्या'। जैसे आप (नैयायिकगण) प्रमाणादि की सत्ता मान कर व्यवहार किया करते हैं, वैसे ही प्रमाणादि की सत्ता-असत्ता में उदासीन व्यक्तियों के द्वारा कथा (वाग्व्यवहार) चलाई जा सकती है [प्रमाणादि की सत्ता का निषेध कथारम्भ का अवश्य प्रतिबन्धक है, किन्तु उसका मानना आवश्यक नहीं, हम (वेदान्ती) प्रमाणादि की सत्ता का अत्यन्त निषेध नहीं करते, क्योंकि प्रमाणादि की व्यावहारिक सत्ता मानते हैं और उनकी पारमार्थिक सत्ता न मानने के कारण सर्वथा सत्ता को स्वीकार भी नहीं कर सकते, तथापि कथा (शास्त्र-चर्चा) के अधिकार से वञ्चित नहीं हैं]। सर्वत्र वादिगण कथा में उदासीन भाव से ही सम्मिलित हुआ करते हैं, अन्यथा आप (नैयायिकों) ने 'प्रमाणादीनि न सन्ति'—ऐसा हमारा मत समझ कर जो दोष दिया है कि प्रमाणादि न मानकर आप (अद्वैती) कथा का आरम्भ नहीं कर सकते। वह किस प्रकार की कथा में दोष दिया है ? क्या (१) वादी और प्रतिवादी-दोनों वादियों के द्वारा प्रमाणादि की सत्ता मानकर आरम्भ की गई कथा में ? अथवा (२) दोनों वादियों के द्वारा प्रमाणादि का असत्त्व मान कर चलाई गई कथा में ? अथवा एक (नैयायिक) वादी के द्वारा प्रमाणादि की सत्ता और दूसरे (अद्वैती) वादी के द्वारा प्रमाणादि की असत्ता मानकर प्रवाहित कथा में ? प्रथम पक्ष उचित नहीं क्योंकि जब दोनों वादियों ने प्रमाणादि की सत्ता मान रखी है, तब किसी वादी

स्वतोऽप्यापत्तेः। न तृतीयः, तथैव कथान्तरस्यापि प्रसक्तेः।

उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाच्च कथानियमस्य, अन्यथा स्वाभिप्रायमालम्ब्य तेनापि त्वद्वचसि यत्किचिद्भागात्मनि दूषणेऽभिहिते कस्य जयो व्यवतिष्ठताम्? प्रमाणाभ्युपगन्तुरेव यावन्नियमभरयन्त्रणा महती स्यात्। तस्मात् प्रमाणादिसत्त्वासत्त्वाभ्युपगमौदासीन्येन व्यवहारनियमेन समयं बद्ध्वा प्रवर्तितायां कथायां भवतेदं दूषणमुक्तमित्युचितमेव तथासति स्यात्। योऽयं भवान् स्वाभिप्रायमपि नावधारयितुं

गतेति॥ । अभ्युपगतं प्रमाणादीनां सत्त्वं येन तं प्रति एतादृक्पर्यनुयोगस्य–'प्रमाणादीनामसत्त्वे धर्म्यसिद्धिर्दूषणादिविभागासिद्धिः सर्वपदार्थानां नास्तीति निषेधस्यास्तीति विधेर्विभागादेश्च प्रमाणायत्तत्वादित्यादि'–रूपस्यानवकाशान्निरनुयोज्यानुयोगो निग्रह इत्यर्थः। अस्तु तर्हि द्वितीयो निरवद्यत्वादित्यत आह ॥ द्वितीय इति ॥। आपत्तेर्नेत्यनुषंगः। परस्येवात्मनोऽपि धर्म्याद्यसिद्ध्यापादकन्यायस्य तुल्यतया जात्युत्तरत्वम्। चशब्दात्पर्यनुयोगानवकाशश्चेत्यर्थः। एकेन सत्त्वमपरेणासत्त्वमुपेत्य प्रवर्तितायामिति कल्पं दूषयति ॥ नेति ॥। प्रमाणादिसत्तानभ्युपगमे किमियं कथा नोपपद्यते? कथांतरं वा? नाद्यः, आरब्धत्वादेव। न द्वितीयः, विमताः कथाः सत्तानभ्युपगतिपुरस्सराः कथात्वाद्, आरब्धैतत्कथावदिति भावः। तृतीयकल्पमुररीकृत्य दूषणमभाणि, संप्रति स एव न चातुर्यं प्राञ्चतीत्याह ॥ उभयेति ॥। अभ्युपगमानुरोधेन कथानियमोपपत्तावुभयेति विशेषणं गौरवाद् व्यतिरेकाभावाच्च हातव्यमित्याशंक्याह ॥ अन्यथेति ॥। कल्पनायां हि गौरवं, यत आह "प्रमाणवंत्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो निष्प्रमाणक" इति। तदिह कथायाः फलपर्यवसायित्वानुपपत्तिरेव कल्पिका। तथाहि उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाभावे तार्किकंमन्यैर्दूष्यत्वेनानभिमतस्य पंचावयवानुमानस्योपन्यासे सुगतेन द्व्यवयवानुमानवादिना स्वाभिप्रायमवलंब्याधिकमिति वागात्मनि वाङ्मात्रे निग्रह उद्भाविते कस्य जय इति निर्णीयेत, वस्तुगतदोषाभावात्, तेन च दूषणोद्भावनादित्यर्थः। एवं परोद्भावितं गौरवं परिहृत्य परपक्ष एव तदाह ॥ प्रमाणेति ॥। प्रमाणादिसत्तामभ्युपगम्यापि वक्ष्यमाणो यावान्नियमस्तद्व्यतिरेकेण कथानुपपत्त्या तस्य परेणाप्यंगीकार्यत्वात्सत्ताभ्युपगंतुरेव गौरवं नान्यस्य। तेन नियममात्रेण कथाभ्युपगमादित्यर्थः। भरणं भरोऽतिशयो वा यंत्रणा पीडा सावद्यता वा। यावांश्चासौ नियमश्च यावन्नियमस्तद्भरेण यंत्रेणेति निर्वाच्यम्।

प्रमाणादिसत्त्वासत्त्वौदासीन्येन समयबलात्प्रवृत्तायां कथायामेव भवतेदं दूषणभुक्तं मंतव्यम्। तथा च तद्वदेवं कथांतरमपि स्यादिति विचारफलमुपसंहरति ॥तस्मादिति॥। समयः संकेतः। स च प्रमाणतर्काभ्यां वादिना व्यवहर्तव्यमित्यादिवक्ष्यमाणरूपः। अथ कोऽयं नियमः, समयबलप्रवृत्तकथायामेवेदं दूषणमुक्तमित्यत आह ॥उचितमिति ॥। अस्मिन्पक्षे प्रागुक्तपक्षत्रयदोषाभावादुचितमित्यर्थः। अर्थात्पक्षांतरानौचि-

पर भी असत्ता-वादिता का आरोप नहीं किया जा सकता। द्वितीय पक्ष में प्रमाणादि की असत्त्ववादिता दोष के दोषी आप भी होते हैं, क्योंकि दोनों वादियों के द्वारा प्रमाणादि की असत्ता मानकर ही कथा प्रारम्भ की गई है। तृतीय पक्ष में यह कहा जा सकता है कि जैसे एक वादी के द्वारा प्रमाणादि की सत्ता माने विना ही यह (प्रस्तुत) कथा चलाई गई, उसी प्रकार अन्य कथाएँ भी संचालित हो सकती हैं।

वस्तुतः कथा के नियम दोनों वादियों के अपने समझौते पर निर्भर होते हैं, अन्यथा जैसे आप हमारा कुछ-का-कुछ मत समझ कर दोष देते हैं, वैसे ही दूसरा व्यक्ति भी आपका कुछ और ही मत मानकर जब कोई दोष देता है, तब किसकी जय और किसकी पराजय निर्णीत होगी? उलटे प्रमाणादि की सत्ता मानकर चलनेवाले व्यक्ति पर ही गुरु भार पड़ेगा कि वह प्रमाणादि की सत्ता में प्रमाणोपन्यास करे और अपने पर आरोपित दोषों का उद्धार करे। परिशेषतः आपको यह कहना होगा कि प्रमाणादि की सत्ता-असत्ता में उदासीनता का नियम मानकर वादियों के द्वारा सञ्चारित ही वह कथा है, जिसमें हम (नैयायिक) आप

शक्नोति, दूरतस्तस्मिन् पराभिसन्धानावधारणप्रत्याशा।

अथ वादीकृत्य दुर्वैतण्डिकं तस्मिन्नुपाधौ बाधोऽभिधीयते इत्येव नेष्यते, शिष्यादयस्तु तस्य कथानधिकारं ज्ञाप्यन्ते। अत एव भगवान् भाष्यकारः—'स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते' इत्याह स्म, न तु प्रतिपद्यसे इति। मैवम्, शिष्या-

---

त्यमपि सूचितम्। यद्वा औदासीन्येन प्रवृत्तायां कथायामौदासीन्येन तत्प्रवृत्तिर्नास्तीति दूषणमुचितमेवेति विपरीतलक्षणयोपहसति। नन्वौदासीन्येनापि तव कथा नोपपद्यते सत्त्वांनगीकारलिंगेन त्वयाऽसत्त्वमंगीकृतमिति त्वदभिप्रायस्य मया विभाव्यमानत्वादित्याशंक्याह ❀ योऽयमिति❀। ईदृश्यां कथायां दोषमहमवादिषमिति स्वाभिप्रायानभिज्ञो भवान्मदभिप्रायं कथं जानीयात् सत्त्ववदसत्त्वस्याप्यनिर्देरिति भावः। अभिसंधिरभिसंधानम्।

ननु सत्तानभ्युपगमे कथानधिकारो न कथायां प्रतिपाद्यते, किं तूपदेशद्वारेण शिष्यशिक्षा परं क्रियते नातो व्याघात इति शंकते। ❀ अथेति ❀। प्रमाणाद्यनभ्युपगंता दुष्टो वैतण्डिकस्तं वादीकृत्य तस्मिन्प्रतिवादिन्युपाधौ वादिवाग्व्यवहारमूलकथानधिकारो विधीयत इति नेष्यत एवेत्यर्थः। किमर्थं तर्हि निष्प्रयोजनः प्रयास इत्यत आह ❀ शिष्येति ❀। आदिपदेन पुत्रादिपरिग्रहः। तत्रैव भाष्यलिंगमाह ❀ अत इति ❀। स दुर्वैतण्डिकः पर्यनुयुक्तः प्रयोजनं प्रतिपद्येत यदि तर्हि प्रतिपद्येतैव प्रमाणम्, तदधीनत्वात् प्रतिपत्तेरतो व्याघात इति। यदि स वादीकृतः स्यात्तर्हि प्रतिपद्यस इति प्रयोक्तव्यः। प्रतिपद्यत इति प्रयुंजानस्तस्य परोक्षतया कथानधिकारं ज्ञापयतीत्यर्थः।

तस्य कथाधिकारानधिकारयोरेतदवद्यं तस्येति न तस्य शिष्यसंबोधनं संभवतीति परिहरति। ❀ मैवमिति ❀।चार्वाकादेः कथाधिकारो नास्तीत्येव शिष्यादयो बोध्या इत्यर्थः। तथाऽपि किमित्यत आह

(अद्वैतवादी) पर दोष दे रहे हैं, तब तो कोई अनुपपत्ति नहीं—ऐसा ही आप (नैयायिकों) का अभिप्राय रहने पर भी आप न तो इसे समझ सके और न वैसा कह सके, अतः जो आप अपने अभिप्राय को भी नहीं समझ सके, वह आप हमारे आशय को समझ पाने की आशा नहीं कर सकते [अर्थात् हमारा आशय है कि कथा के आरम्भ करने में प्रमाणादि की सत्ता का स्वीकार करना आवश्यक नहीं, किन्तु आपने उसका यह अभिप्राय निकाला कि 'यह वादी प्रमाणादि की सत्ता मानता ही नहीं' । अतः आपका वैसा समझना सर्वथा असंगत है]।

शङ्का—[आप (खण्डनिक) ने जो यह प्रश्न किया कि कैसी कथा में आप (नैयायिक) दोषाभिधान कर रहे हैं ? उस प्रश्न का यह उत्तर है कि] जिस कथा (शास्त्रार्थ) में आप (श्रीहर्ष) के समान दुर्वैतण्डिक (विगड़ा वितण्डावादी) वादी बना है, उस कथा में हम दोषाभिधान नहीं कर रहे, अपि तु हम (नैयायिक) अपनी शिष्य-मण्डली को पढ़ाते समय शिष्यों को सिखा रहे हैं कि प्रमाणादि की सत्ता न माननेवाले व्यक्ति को कथा (शास्त्रार्थ) में अधिकार नहीं। भगवान् (न्यायसूत्र के) भाष्यकार ने भी यही शैली अपना कर वादी को मध्यम पुरुष के रूप में प्रत्यक्ष प्रस्तुत न कर अन्य पुरुष (परोक्ष) मान कर शिष्यों को समझाया है कि "स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते, तदा वैतण्डिकत्वं जहाति" (न्या० भा० पृ० ४) अर्थात् हे शिष्यो ! जव कभी वैतण्डिक सामने आए, तव उससे पूछना कि आपका इस शास्त्र-चर्चा) से क्या प्रयोजन ? जो कुछ भी वह प्रयोजन मानता है, वही उसका पक्ष है, वही उसका सिद्धान्त है, अतः प्रतिपक्ष-हीन वितण्डा का स्वरूप सम्पन्न न होने के कारण वह वैतण्डिक नहीं रहता' । यदि भाष्यकार वैतण्डिक को कथा में सामने रखकर दोष देते, तब उनकी पदावली ऐसी होती—"त्वं प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यसे वैतण्डिकत्वं जहासि"।

समाधान—[यह यदि मान भी लिया जाय कि आप प्रमाणादि सत्तानभ्युपगमवादी वैतण्डिक को सामने न लाकर शिष्यों को उसके पराजय का दाँव-पेच सिखा रहे हैं, इसके लिए

दीन् प्रत्यपि चार्वाकादेर्दोषोऽयमित्येवाभिधातव्यम्। कथं च तथा स्यात् ? तस्य कथाप्रवेशनाप्रवेशनयोः तद्बाधाक्षमत्वात्। कथायामेव हि निग्रहः।

(२) नापि द्वितीयः, तथाहि—स्यादप्येवं यदि कथकप्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रति प्रमाणादीनां हेतुता तत्सत्त्वानभ्युपगमे निवर्तेत। न त्वेवं सम्भवति, तथा सति तत्सत्त्वानभ्युपगन्तॄणां वाग्व्यवहारस्वरूपमेव न निष्पद्येत, हेत्वनुपपत्तेः। उक्तश्चायमर्थो यन्माध्यमिकादिवाग्व्यवहाराणां स्वरूपापलापो न शक्यत इति।

अथ मन्यसे कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वम्, सत्त्वाद्या-

---

ॐ कथमिति ॐ। चार्वाकादेः कथाप्रवेशेऽयं दोषो वक्तव्य इति बोध्यते, उत कथातोऽन्यत्र वक्तव्य इति ? उभयथाऽप्यनुपपत्तिरित्याह ॐ तस्येति ॐ। बाधाक्षमत्वे हेतुमाह ॐ कथायामिति ॐ। कथाप्रवेशे सत्येवातत्त्वज्ञानलिंगनिग्रहस्तस्येति विनेयबोधनं न संभवति, कथातोऽन्यत्र निग्रहाविषयत्वात्। तथा च व्याघात इत्यर्थः।

कथकप्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रति हेतुभावात्प्रमाणादिसत्ताभ्युपगम इति द्वितीयकल्पं दूषयति ॐ नापीति ॐ। यस्मिन्सत्येव यद्भवति नासतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमवसेयम्। न चेह व्यतिरेको ऽस्ति, प्रमाणादिसत्तानभ्युपगंतुरपि व्यवहारनिष्पत्तेरित्याशयवानाह ॐ तथा हीति ॐ। सत्ताभ्युपगमनिवृत्तौ प्रमाणादीनां व्यवहारकारणत्वमपि निवर्तत एवेत्यस्ति व्यतिरेक इत्यत आह ॐ न त्विति ॐ। शिष्टं स्पष्टम्। प्रमाणादिसत्तानभ्युपगंतुर्माध्यमिकादेर्व्यवहार एव न निष्पद्यते कारणाभावादेवेत्ययमिष्टप्रसंग इत्याशंक्योक्तं संस्मर्तुमर्हसीत्याह ॐ उक्त इति ॐ।

कथां प्रति हेतुभावात्सत्ताभ्युपगमस्य स स्वीकर्तव्य इति द्वितीये कल्पेऽभिप्रायविशेषं शंकते ॐ अथेति ॐ। प्रमाणादेः कारणत्वं तवापीष्टम्। नियतप्राक्सत्त्वमेव च कारणत्वमित्यभ्युपगंतव्यं सत्त्व-

---

किसी अखाड़े या कथा-स्थल की आवश्यकता नहीं, तब भी आपके शिष्यगण उस दाँव-पेच का प्रयोग कहाँ करेंगे ? कहना होगा कि किसी कथा में, फलतः यह भी मानना होगा कि उस कथा में प्रमाणाद्यनभ्युपगमवादी वैतण्डिक को सम्मिलित होने का अधिकार दिया गया, अन्यथा आपके शिष्यगण उसे निगृहीत (परास्त) कहाँ करेंगे ? कथा में ही निग्रह स्थानों से निगृहीत (पराजित) हो सकेगा, कथा में उसका यदि अधिकार नहीं, तब आपका वह दाँव-पेंच सिखाना व्यर्थ है कि "चार्वाकादेर्दोषोऽयम्", क्योंकि यह उपदेश उसका बाध करने में अवसर न मिलने के कारण सक्षम नहीं।

२. द्वितीयकल्प [कथकाभ्यां प्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात्] भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि वह कार्यकारणभाव तभी सम्भव हो सकता था, जब कि कथकों (वादिगणों) के द्वारा प्रवर्तनीय वाग्व्यवहार की प्रमाणादि में निश्चित हेतुता प्रमाणादि का सत्त्व न मानने पर समाप्त या बाधित हो जाती किन्तु ऐसा कदापि सम्भव नहीं [अर्थात् वाग्व्यवहाररूप धर्मी (पक्ष) की सिद्धि के लिए प्रमाणादि को हेतु माना जा चुका है, प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम को नहीं, प्रमाणादि की पारमार्थिक सत्ता को अस्वीकार कर देने पर प्रमाणादिरूप कारण का अपलाप नहीं होता] अन्यथा (प्रमाणादि कारण का अपलाप कर देने पर) प्रमाणादि की सत्ता न माननेवाले माध्यमिकादि के प्रतीयमान वाग्व्यवहार निष्पन्न न हो सकेंगे, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उपपत्ति नहीं होती। यह पहले पृ० ७ पर कहा जा चुका है कि प्रमाणादि की सत्ता के अनभ्युपगममात्र से लोक-प्रसिद्ध माध्यमिकादि के वाग्व्यवहारों (शास्त्रों) का स्वरूपापलाप नहीं किया जा सकता।

शङ्का—यदि आप प्रमाणादि में वादि के वाग्व्यवहार की कारणता मानते हैं, तब प्रमाणादि का सत्त्व भी मानना पड़ेगा, क्योंकि कार्याव्यवहितपूर्व-सत्त्व ही कारणता-पदार्थ है

भ्युपगमः, यत्सत् तदभ्युपगम्यते इति स्थितेरिति। मैवम्, कयापि नियमस्थित्या प्रवृत्तायां कथायां कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं सत्त्वाच्चाभ्युपगमो भवता प्रसाध्यः। कथातः पूर्वं तत्त्वावधारणं वा परपराजयं वाऽभिलषद्भ्यां कथकाभ्यां यावता विनाऽभिलषितं न पर्यवस्यति, तावदनुरोद्धव्यम्। तच्च व्यवहारनियमसमयबन्धादेव द्वाभ्यामपि ताभ्यां सम्भाव्यते इति व्यवहारनियमसमयमेव बध्नीतः।

स च 'प्रमाणेन तर्केण च व्यवहर्तव्यं वादिना। प्रतिवादिनाऽपि कथाङ्गतत्त्व-

---

मित्यर्थः। कारणत्वे सिद्धेऽपि तदभ्युपगमः कुत इति तत्राह ❀ सत्त्वाच्चेति ❀। तदेव कुत इत्यत आह ❀ यदिति ❀।

तदाक्षिपति। ❀ मैवमिति ❀। न तावत्सत्त्वमेव हेतुत्वमिति वक्ष्यते। हेतुत्वेनापि सत्ताभ्युपगमानुमानं कथायामुतान्यत्रेति। नान्यत्र। कथातोऽन्यत्र निग्रहाविषयत्वात्। प्रथमेऽपि प्रमाणाभ्युपगमेन प्रवृत्तकथायामुत समयबलात्। आद्येऽन्योन्याश्रयः, कथाप्रवृत्तौ सत्ताभ्युपगमसिद्धिस्तत्सिद्धौ च कथाप्रवृत्तिरिति। द्वितीये चास्मत्समीहितसिद्धिरित्यर्थः।

सत्ताभ्युपगमस्य कथाप्रवृत्युत्तरकालसाध्यत्वे किं तर्हि कथातः पूर्वं वादिभ्यामनुरोद्धव्यम्। नियमस्थित्यभ्युपगम इति कथितमेवेति चेत्, किं तर्हि तस्य कल्पकमित्याशंक्याह ❀ कथात इति ❀। नियमस्थित्यभ्युपगमं फलमेवाक्षिपतीत्यर्थः। ननु यद्येन विनाऽनुपपन्नं तत्तदाक्षेपकम्, यथा दिवाभोजनरहितस्य पीनत्वं शार्वरं भोजनम्। न चेह फलं नियमस्थितिव्यतिरेकेणानुपपन्नम्, अन्यतोऽपि तत्सिद्धेरित्यत आह ❀ तदिति ❀। एवेत्यन्यथोपपत्तिं निराचष्टे।

स नियमः कीदृश इत्यतस्तं दर्शयति। ❀ स चेति ❀। स च इत्यादिरूप इत्युपरिसंबंधः। वादिना साधकेन प्रथमप्रयोक्त्रा प्रमाणतर्काभ्यां व्यवहर्तव्यम्। वादाभिप्रायमेतत्, जल्पादौ छलादिप्रयोगस्यापि संभवात्। प्रोच्योपेक्षया वा परस्परं पराजयार्थमेव, विजिगीषुकथायां मत्सरेण प्रवृत्तेः। कदाचन सम्यक्साधने ऽपि परेणोक्ते झटिति वास्तवदूषणास्फुरणेन पर्याकुलितचेतस्कतया छलादिप्रयोगस्याप्युपपत्तेः। तथा सति हि छलाद्याकुलितबुद्धिः कदाचिदुत्तरमप्रतिपद्यमानो निगृह्येतेति। एकः 'च' शब्दः छलादिसमुच्चयार्थो विजिगीषुकथायाम्। अपरस्तु प्रमाणतर्काभ्यामेवेति वादनियमार्थः। कथाया अंगं फलतया तत्त्व-

---

और प्रमाणादि का सत्त्व मान लेने पर उनका अभ्युपगम अनिवार्य हो जाता है, लोकप्रसिद्ध व्याप्ति है—'यत् सत्, तदभ्युपगम्यते' [यहां शङ्कावादी दो अनुमान-प्रयोग प्रस्तुत करना चाहता है (१) 'प्रमाणादयः सत्तावन्तः, कारणत्वात्', (२) 'प्रमाणादयोऽभ्युपगमनीयाः, सत्त्वात्, बुद्धादिवत्']।

समाधान—वादियों के परस्पर समझौते में निर्धारित नियमावली के आधार पर सञ्चालित कथा में ही यह सिद्ध करना होगा कि वाग्व्यवहार में हेतु होने के कारण प्रमाणादि सत् और सत् होने के कारण अभ्युपगम्य हैं। उक्त नियमावली में यदि प्रमाणादि का अभ्युपगम भी प्रविष्ट है, तब 'प्रमाणादि का अभ्युपगम होने से कथा प्रवृत्त होगी और उस कथा में प्रमाणादि का अभ्युपगम सिद्ध होगा'—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता, है अतः प्रमाणादि के अभ्युपगम के विना ही कथा की प्रवृत्ति माननी होगी।

कथा का आरम्भ होने से पहले ही तत्त्वावधारण या दूसरे को परास्त करने के उद्देश्य से प्रवृत्त वादी और प्रतिवादी के द्वारा वह नियमावली स्थिर की जाती है, जिसके बिना उनका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। वह उद्देश्य व्यवहार-नियामक नियमावली के परिपालन से ही सिद्ध होता है, अतः दोनों वादी पहले वह नियमावली ही बनाते हैं, वह इस प्रकार है—प्रमाण और तर्क के द्वारा वादी को अपने पक्ष की स्थापना करनी चाहिए। उसके

ज्ञानविपर्ययलिङ्गप्रतिज्ञाहान्याद्यन्यतमनिग्रहस्थानं तस्य दर्शनीयम् । तद्व्युत्पादने प्रथमस्य भङ्गो व्यवहर्तव्यः, अन्यथा तु द्वितीयस्यैव । तादृशेतरौ जेतृतया व्यवहर्तव्यौ, प्रामाणिकः पक्षस्तात्त्विकतया व्यवहर्तव्यः' इत्यादिरूपः ।

अत एव व्यवहारनियमसमयबन्धोऽपि हेतुर्वक्तव्यः । तथा च सोऽपि हेतुः कथायां प्रवृत्तायामभिधातुं युक्त इति प्रमाणसत्त्वाभ्युपगमहेत्वभिधानवत् प्रत्यवस्थानमनवकाशम्, द्वाभ्यामपि वादिभ्यां विचारप्रवृत्त्या अभिलष्यमाणतत्त्वव्यवस्थाजय-

---

ज्ञानं तद्विपर्ययोऽभावस्तत्त्वज्ञानमस्य न विद्यत इत्यत्र गमकम् । हेत्वाभासो निरनुयोज्यानुयोगश्चेत्येतद्द्वय-निग्रहस्थानं प्रतिवादिना वादिव्यवहारे व्युत्पादनीयं वादकथायामिति 'अपि' शब्देन दर्शयति । इतरत्र प्रतिज्ञाहान्याद्यन्यतमं दर्शनीयमित्यर्थः । तद्व्युत्पादने प्रथमस्य वादिनः पराजयः । अन्यथा तदव्युत्पादने प्रतिवादिनो व्यवहर्तव्य इति यावत् । कौ पुनर्जेतृतया व्यवहर्तव्यौ इत्यत आह ※तादृशेति※ । एतादृशाभ्यां निगृहीताभ्यामितराविति यावत् । नियमस्यांशांतरमाह ※ प्रामाणिक इति ※ । तत्त्वतया वादफलनिश्चय विषयत्वेन । आदिपदेन वादिनि साधनमात्रं प्रयुज्य संक्षेपतो विस्तारतो वाऽऽभासानुद्धृत्य विरते सत्युच्यमानग्राह्यनिग्रहाप्रोच्यमानग्राह्यनिग्रहाप्राप्तावाभासबहिरुक्तग्राह्यनिग्रहालाभे च तद्वचनार्थमवगम्यानूद्य दूषयित्वा प्रतिवादी स्वपक्षे स्थापनां प्रयुंजीत । अप्रयुञ्जानस्तु दूषितपरपक्षोऽपि न विजयी, आत्मानमरक्षन् परघातीव वीरः । तस्मिन्नप्येवं विरते सत्यनुक्तोच्यमानग्राह्यनिग्रहालाभे तद्वचनार्थमवगम्यानूद्य दूषणांगं प्रति दूष्याभासबहिरुक्तग्राह्यनिग्रहालाभे प्रथमवादी स्थापनांगं दूषयेत् । अदूषयंस्तु रक्षितस्वपक्षोऽपि न विजयी । श्लाघ्यस्तु स्याद्वंचितपरप्रहार इव तमप्रहरमाणः । अनुक्तोच्यमानग्राह्याभासबहिरुक्तग्राह्यनिग्रहलाभे तु तावतैव कथाविरतिर्नासाधनविचारावकाशः । शरसंधानसमय एव यो मूर्छितस्तस्य तद्बाणवारणतत्प्रहरणानुष्ठानवद्विफलत्वात् । तत्रानुक्तग्राह्यमप्रतिभादि । उच्यमानग्राह्यमप्राप्तकालादि । आभासबहिरुक्तग्राह्यं प्रतिज्ञाविरोधादि । एषु सत्सु न विचारावकाशः । शरसंधानसमये हि प्रहारचिंता । प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा इत्यादिसंग्रहः ।

ननु नियमबन्धोऽपि हेतुः साध्यः स च कथायामभिधानीयः । कथा च नियमबन्धेनेति परस्पराश्रयः । अन्तरेण वा च कथेष्टव्या । यथा प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमहेतुः कथा सा च सत्ताभ्युपगमाधीनेति परस्पराश्रया तमन्तरेणैव कथेष्यत इत्याशंक्याह ※ अत इति ※ । परामृष्टहेतुमेव स्पष्टयति ※ द्वाभ्यामिति ※ । यथा सत्ताभ्युपगमो हेतुसाध्यस्तथा नियमबंधस्यापि हेतुसाध्यत्वे स्यादयं दोषः, न त्वेवम्, द्वाभ्यां मिथः

पश्चात् प्रतिवादी को भी कथा के अङ्गभूत जो प्रतिज्ञादि पञ्चावयव, उनके तात्त्विक ज्ञान का जो विपर्यय वादी में विद्यमान है, उसके ज्ञापक प्रतिज्ञाहानि—आदि बाईस निग्रहस्थानों में से कोई एक निग्रहस्थान दिखाना चाहिए। प्रतिवादी ने अपना यह कार्य यदि सम्यक् सम्पन्न कर दिया, तब प्रथम (स्थापनावादी) का अन्यथा (प्रतिवादी के अपने कार्य में असफल रहने पर द्वितीय (प्रतिवादी) का पराजय और पराजित व्यक्ति से भिन्न (प्रतिवादी या वादी) व्यक्ति को विजयी घोषित किया जायगा। प्रामाणिक पक्ष तात्त्विक होगा—इत्यादि'।

शङ्का—इस समय-बन्ध (नियम-पालम प्रतिज्ञा) में भी कथा की हेतुता सिद्ध करनी होगी, हेतुता-साधन के लिए कथा का प्राङ्गण अपेक्षित है, वह कथा भी तभी प्रवृत्त हो सकेगी, जब पहले समय-बन्ध कर लिया जायगा, अतः यहाँ भी वैसा ही अन्योऽन्याश्रय (कथा के लिए समय-बन्ध और समय-बन्ध के लिए कथा) है, जैसे प्रमाणादि की सत्ता को कथा का हेतु मानने में दिया जाता है (प्रमाणादि की सत्ता के लिए कथा और कथा के लिए प्रमाणादि की सत्ता अपेक्षित होती है) ।

समाधान—समय बन्ध और 'प्रमाणादि की सत्ता'—दोनों में महान् अन्तर है, क्योंकि समय-बन्ध को जय-पराजय-निर्णायक तथा तत्त्व व्यवस्थापक के रूप में दोनों वादियों ने अपनी

मूलत्वेन व्यवहारनियमस्य स्वेच्छयैव परिगृहीतत्वात्।

न चैवं प्रमाणानुपक्रमस्वेच्छामात्रपरिगृहीतमूलत्वात् मूलापरिशुद्धिसम्भवेन सर्वविचारविचार्यफलविप्लवापत्तिः स्यात्, अविद्यमानादिपारम्पर्यायातस्य लोकव्युत्पत्तिगृहीतसंवादस्य च तस्य अन्यथाभावासम्भाव्यतालक्षणस्वतःसिद्धिपरिशुद्धत्वात्।

न च प्रमाणादीनां सत्तापीत्थमेवोभाभ्यामङ्गीकर्तुमुचिता, तादृशव्यवहारनियममात्रेणैव कथाप्रवृत्त्युपपत्तेः। प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमेऽपि तथाविधव्यवहारनियमन्य-

संप्रतिपत्त्या फलरागात्तत्स्वीकारावित्यर्थः।

अप्रामाणिकनियमबन्धात् कथारंभे कथकाभिलषितफलाविविप्लवो मूलाशुद्धेरित्याशंक्याह ❀ न चेति ❀। प्रमाणेनानुपक्रम्य स्वेच्छामात्रगृहीतो नियमबन्धो मूलं यस्य विचारस्येति विग्रहः। उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात् ज्ञात्वाऽऽरंभ उपक्रम इत्यभिधानात्। प्रमाणेनोपज्ञाऽऽद्यज्ञानं यस्य नास्तीति तत्प्रमाणज्ञानशून्येनेति वा। विचारविप्लवः प्रमित्यनुत्पादकत्वम्। विचार्यविप्लवो भ्रांतिविषयत्वम्। फलविप्लवो वादे तत्त्वावधारणासिद्धिरितरयोर्जल्पवितंडयोर्जयस्येति द्रष्टव्यम्। कुत इत्यत आह ❀ अविद्यमानेति ❀। तत्रेत्थं पदसंबंधः—अन्यथाभावश्चासावसंभाव्यश्चेत्यन्यथाभावासंभाव्यः, तद्भावस्तत्ता, तल्लक्षणा या स्वतःसिद्धिस्तया शुद्धत्वाद्विचारस्य न विप्लवः। तत्र हेतुः ❀ लोकेति ❀। लोकव्युत्पत्त्या वृद्धव्यवहारेण गृहीतोऽन्यथा न भवतीति संवादो यस्येति यावत्। ननु लोकस्य किं मूलम्? प्रमाणं चेदादौ स्वीक्रियताम्, व्यवहारांतरं चेदनवस्था—इत्याशंक्य दृष्टपरंपरात्वेनानादित्वान्न मूलक्षतिरित्याह ❀ अविद्यमानेति ❀। अविद्यमान आदिर्यस्य परंपराभावस्य तेनायातस्येति। अनादीति वक्तव्ये अविद्यमानेत्याद्युदितं वक्तकारित्वस्वाभाव्यात्। लोकव्युत्पत्त्या वृद्धव्यवहारेण कथारूपवाग्व्यवहारेण निष्पन्नेन गृहीतः संवादः विचाराद्यविप्लवो यत्रेत्यर्थः।

फलहेतुत्वेन नियमः कथांगमंगीक्रियते, चेत् प्रमाणादिसत्ताऽपि तथांगीक्रियतामविशेषादित्यत आह ❀ न चेति ❀। उभयांगीकारे गौरवं स्यादित्यर्थः। ननु नियममंतरेण प्रमाणादिसत्तांगीकारात्कथाप्रवृत्त्युपपत्तेरुभयांगीकारे गौरवान्नियम एव किन्न परित्यज्यते इत्यत आह ❀ प्रमाणेति ❀। तथाविधस्यो-

इच्छा से स्वीकृत किया है और प्रमाणादि की सत्ता केवल एक वादी का वह आग्रहमात्र है, जिसको दूसरे वादी पर बलात् लादना चाहता है। अतः प्रमाणादि की सत्ता को कथा का हेतु मानने में जो (अन्योऽन्याश्रय) दोष, होता है वह समय-वन्ध को कथा का हेतु मानने में नहीं होता। [आशय यह है कि समय-बन्ध में कथा की हेतुता उभय-सम्मत होने से कथा में साधनीय नहीं, अतः अन्योऽन्याश्रय दोष भी नहीं होता, किन्तु प्रमाणादि की सत्ता में कथा की हेतुता उभय-सिद्ध न होने के कारण कथा में साधनीय है, फलतः अन्योऽन्याश्रय दोष होता है]।

शङ्का—[किसी कथा में समय-बन्ध को कथा का मूल (हेतु) सिद्ध कर लेने पर समय-बन्ध में प्रामाणिकता और समय-बन्धमूलक कथा में अविप्लुत कार्य-क्षमता आ सकती थी, किन्तु प्रमाण-रहित स्वेच्छामात्र-कल्पित समय-वन्ध जिस कथा (विचार) का मूल है, ऐसी कथा में मूलतः अपरिशुद्धि (अप्रामाणिकता) सम्भावित होने के कारण समस्त विचार (शास्त्र-चर्चा), विचारणीय विषय और विचार का फल (विजयादि) सब कुछ विप्लुत (अव्यवस्थित और सदोष) हो जायगा अर्थात् जिस वृक्ष की जड़ में दोष है, वह कब हरा-भरा होगा और कहाँ से मधुर फल देगा ?

समाधान—बहुत-से ऐसे आचार लोक में प्रचलित हैं, जिनका आदि मूल ज्ञात नहीं, केवल अनादि परम्परा से चले आ रहे हैं, अर्थक्रिया की पूर्ण क्षमता उनमें देखी जाती है, ऐसे ही आचारों में कथक-सम्प्रदाय का समय-बन्ध भी है, यह स्वतःसिद्ध है, लोक में उसका उपयोग और साफल्य (अविप्लुत व्यवहार की सिद्धि) प्रसिद्ध है, उसका अन्यथाभाव (बाध) कभी

तिरेके तत्त्वनिर्णयस्य जयस्य वाऽभिलषितस्य कथकयोरपर्यवसानात् ।

(३) नापि तृतीयः । लोकव्यवहारो हि प्रमाणलोकव्यवहारो वा स्यात् पामरादि-साधारणव्यवहारो वा ? नाद्यः, विचारप्रवृत्तिमन्तरेण तस्य दुर्निरूपत्वात्, तदर्थमेव च पूर्वं नियमस्य गवेषणात् । नापि द्वितीयः, शरीरात्मत्वादीनामपि तथा सति भवता स्वीकर्तव्यत्वापातात् । पश्चात् तद्विचारबाध्यतया नाभ्युपेयते इति चेत, तर्हि प्रमाणादयोऽपि यदि विचारबाध्या भविष्यन्ति तदा नाभ्युपेया एव, अन्यथा तु उपगन्तव्या इति लोकव्यवहारसिद्धतया सत्त्वमभ्युपगम्यत इति तावन्न भवति ।

(४) नापि चतुर्थः । यादृशो भवता प्रमाणादीन्यभ्युपगम्य व्यवहारनियमः कथायामालम्ब्यते, तस्यैव प्रमाणादिसत्त्वासत्त्वानुसरणोदासीनैरस्माभिरप्यवलम्बनात् ।

क्तलक्षणव्यवहारनियमस्य व्यतिरेकेऽभावे सति विप्रलंभकादिसमयवत्कथाप्रवृत्तिर्न संभवतीत्यर्थः ।

लोकप्रसिद्धत्वात्सत्ताङ्गीकृतिरिति तृतीयं निरस्यति ❀ नेति ❀ । लोकशब्दस्य प्रामाणिकाप्रामाणिकयोस्तुल्यत्वाद्विकल्पयति ❀ लोकेति ❀ । पामराः शास्त्रसंस्काररहिताः, "विवर्णः पामरो नीचः प्रकृतश्च पृथग्जन" इति नामशासनात् । विचारसिद्धौ प्रामाणिकत्वसिद्धिर्व्यवहारस्य, तत्सिद्धौ तत्ताभ्युपगमस्ततश्च विचार इति चक्रकापत्तेर्नाद्योऽनवद्य इत्याह ❀ नाद्य इति ❀ । सत्तां स्वीकृत्यापि नियमो बध्यते वादिभिर्विचार-प्रवृत्त्यर्थं तदनुपपत्तिरपि सत्ताया अहेतुत्वं गमयतीत्याह ❀ तदिति ❀ । द्वितीयमतिप्रसंगेनापाकरोति ❀ नापीति ❀ ।

अबाध्यत्वे सति लोकसिद्धत्वं स्वीकारप्रयोजकमिति न शरीरात्मतादीनामपि स्वीकारप्रसंग इति शंकते ❀ पश्चादिति ❀ । हेत्वंतरं नाम निग्रहस्थानं स्यादिति दूषयति ❀ तर्हीति ❀ । लोकप्रसिद्धेरप्रयोजकतामाह ❀ अन्यथेति ❀ । प्राप्ताप्राप्तविवेकेनाबाध्यत्वमेव स्वीकारप्रयोजकमित्याशयः ।

तदनभ्युपगमस्य फलातिप्रसंजकत्वात्तदभ्युपगम इति चतुर्थं दूषयति ❀ नापीति ❀ । नियमबन्धादेवावश्याश्रयणीयात्फलव्यवस्थोपपत्तौ सत्ताभ्युपगमो व्यर्थं इत्यर्थः । ❀ मां प्रतीति ❀ । मया नियमबन्धमात्रे

सम्भावित नहीं, अतः वह स्वतः परिशुद्ध और उस पर आधृत विचार-प्रवाह सदा अनाविल और अविप्लुत है । अत एव प्रमाणादि की सत्ता का अभ्युपगम दोनों वादियों के लिए आवश्यक नहीं, क्योंकि कथित समय-बन्ध के आधार पर ही कथा की प्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है । प्रमाणादि की सत्ता मान लेने पर भी उक्त समय-बन्ध के विना वादिगणों का उद्देश्य (तत्त्व-निर्णय और विजय) पर्यवसित नहीं होता ।

३. तृतीय विकल्प (प्रमाणादीनां सत्त्वमभ्युपेयम्, लोकसिद्धत्वात्) भी उचित नहीं, क्योंकि कथित 'लोक-व्यवहार' पद से प्रामाणिक व्यक्तियों का व्यवहार विवक्षित है ? अथवा जनसाधारण का व्यवहार ? प्रथम (प्रामाणिक) व्यवहार का ज्ञान कथा-प्रवृत्ति के विना सम्भव नहीं और कथा की प्रवृत्ति के लिए ही पहले नियमावली की खोज की जा रही है । द्वितीय (जन-साधारण) व्यवहार भी नियामक नहीं हो सकता, अन्यथा शरीरादि में आत्म-व्यवहार भी जन-साधारण का व्यवहार है, उसके आधार पर शरीरादि जड़ वर्ग को ही आत्मा मानना होगा । यदि पश्चात्तन विचार से बाधित हो जाने के कारण शरीरादि में आत्मत्व स्वीकारणीय नहीं, तब प्रमाणादि की सत्ता भी यदि भावी विचार से बाधित हो जायगी, तब स्वीकरणीय नहीं होगी, अन्यथा होगी, अतः लोक-व्यवहार से सिद्ध होने के कारण प्रमाणादि की सत्ता अवश्य अभ्युपगम्य है—यह बात तो सिद्ध नहीं होती ।

४. चतुर्थ पक्ष (तदनभ्युपगमस्य तत्त्वनिर्णयविजयफलातिप्रसञ्जकत्वात्) भी संगत नहीं, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि कथा-प्रवृत्ति के लिए उभयवादि-सम्मत समय-बन्ध आवश्यक है, अन्तर केवल इतना है कि आप उसे प्रमाणादि की सत्ता मानकर स्वीकार करेंगे और हम

तस्य यदि मां प्रति फलातिप्रसञ्जकत्वं तदा त्वां प्रत्यपि समानः प्रसङ्गः ।

स्यादेतत्—नियतवाग्व्यवहारक्रियासमयबन्धेन कथां प्रवर्तयताऽपि व्यवहार-सत्ता अभ्युपगन्तव्या । न हि सत्तामनभ्युपगम्य व्यवहारक्रियाऽभिधातुं शक्या । क्रिया हि निष्पादना, असतः सद्रूपताप्रापणमिति यावत् । प्रमाणैर्व्यवहर्तव्यमिति नियम-बन्धनं, प्रमाणकारणभावस्य नियमान्तर्भावात् नियतपूर्वसत्त्वं कारणत्वं प्रमाणानाम-नादाय न पर्यवस्यति । दूषणानां चास्तित्वेन भङ्गावधारणनियमबन्धने, साधनाङ्गव्या-प्त्यादीनां सत्त्वेन तद्विषयस्य तत्त्वरूपताव्यवहारनियमनादौ च कण्ठोक्तमेव तस्य तस्य

स्वीकार्ये यस्य कस्यचित्फलापत्तिः । तदा त्वयाऽपि प्रमाणसत्ताभ्युपगंत्राऽपि तस्मिन् स्वीकार्येऽतिप्रसंगोऽविशेषादित्यर्थः । नियमस्याप्रमाणिकत्वेनाव्यवस्थापकत्वमित्याशंक्याप्रामाणिकत्वादेव तवापि न व्यवस्थापकः स्यादिति प्रसंगः समान इत्याह ।

तस्येति चतुर्थ्याऽपि प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमः कथोपयोगी न भवतीत्यापादिते पुनः सद्वादी शंकते ॐ स्यादिति ॐ । नियतत्वं समयविशेषणम् । नियमबन्ध एवापर्यवसानवृत्त्या व्यवहारसत्तां स्वीकारयतीत्याशयः । ननु सत्तां विनाऽनुपपत्त्यभावान्न तां स्वीकारयति इत्यत आह ॐ न हीति ॐ । किमियं राज्ञामाज्ञेति नेत्याह ॐ क्रियेति ॐ नन्वत्राप्यनुपपत्तिर्न प्रतीयत इत्यत आह ॐ असत इति ॐ । अनेन समयेन व्यवहर्तव्यमिति व्यवहारो निष्पादनीय इत्युक्त्यैव सत्त्वमिष्टं स्यात्, यतो निष्पादना नामासतः सत्त्वप्रापणमित्यर्थः । न केवलं व्यवहारसत्त्वं स्वोक्त्यैवेष्टं प्रमाणादिसत्त्वमपि त्वदुक्तिबलादेवापद्यत इत्याह ॐ प्रमाणैरिति ॐ । तृतीयया करणत्वाभिधानात्तस्य च कारणविशेषत्वात् कारणत्वस्य सत्ताऽव्यतिरेकात्प्रमाणानां सत्त्वमंनंगीकृत्य नियमबंधनमेद न पर्यवस्यतीत्यर्थः । यस्य व्यवहारे दोषाः संति तस्य भङ्गो व्यवहर्तव्यो यस्य पुनः साधनांगानि संति तस्य जय इति वदन्नेव पुनस्तानि न संतीति वदन् कथं सभ्यः स्यादित्यत आह ॐ दूषणानामिति ॐ साधनस्य हेतोरंगानां व्याप्त्यादीनां सत्त्वेन तद्विषयस्य प्रतिज्ञातार्थस्य तत्त्वरूपता

उसे प्रमाणादि की सत्ता या असत्ता में उदासीन रह कर मानेंगे । वह उभय-साधारण समय-बन्ध यदि हमारे लिए फल का अतिप्रसञ्जक है, तब आप के प्रति भी होगा । [यदि आप के लिए वह फलातिप्रसञ्जक नहीं, तब हमारे लिए भी वह फलातिप्रसञ्जक क्यों होगा ? वैतण्डिक का आशय यह है कि प्रमाणादि की सत्ता का अनभ्युपगम फलातिप्रसञ्जक हो सकता है, किन्तु हम (वैतण्डिक) न तो प्रमाणादि की सत्ता को स्वीकार करते हैं और न अस्वीकार, अतः हमारे लिए वह फलातिप्रसञ्जक क्यों हागा ?] ।

शङ्का—[प्रमाणैर्व्यवहर्तव्यम्'—इत्यादि समय-वन्ध के आधार पर आप (खाण्डनिक) जिस कथा को प्रवर्तित करना चाहते हैं, वह कथा एक ऐसा वाग्व्यवहार है, जिसका प्रमाणों के द्वारा निष्पादन किया जाता हे, प्रमाण करण और वाग्व्यवहार कार्य है । करण और कार्य दोनों की सत्ता माननी आवश्यक है, क्योंकि] समय-बन्धरूप नियमन से नियत (नियन्त्रित या व्यवस्थित) वाग्व्यवहार की जो क्रिया (उत्पत्ति या निष्पादना) की जाती है, वह सत्ता को स्वीकार किए विना सम्भव नहीं, क्योंकि क्रिया या निष्पादना का अर्थ है—असत् वस्तु को सद्रूपता प्रदान करना या आद्य क्षण का सत्ता-सम्बन्ध । इसी प्रकार 'प्रमाणैः'—इस पद से उपस्थापित प्रमाणगत करणता भी उक्त नियम के अन्तर्गत आ गई है, करणता का लक्षण किया जाता है—नियतपूर्वसत्त्व [अर्थात् दण्डादि पदार्थों की धटादि के अव्यवहित पूर्वक्षण में सत्ता है, अत एव दण्डादि में घटादि की करणता मानी जाती है] । अतः प्रमाणों की सत्ता स्वीकार किए विना प्रमाणगत करणता नहीं वनती । इतना ही नहीं, 'यस्य मते दूषणानि सन्ति, तस्य भङ्गोऽवधारणीयः । यस्य हेतौ व्याप्त्यादयः सन्ति, स पक्षः तात्त्विको व्यवहर्त्तव्यः'—इत्यादि नियम-बन्धनों में दोषादि की सत्ता साक्षात्प्रतिपादित और स्वीकृत है, फलतः खाण्डनिक का 'प्रमाणादि की सत्ता का अभ्युपगम न करके ही कथा का आरम्भ हो सकता

सत्त्वमङ्गीकृतमिति रिक्तमिदमुच्यते प्रमाणादीनां सत्तामनभ्युपगम्य कथारम्भः शक्यत इति ।

मैवम्; एभिरपि बाधकैः कथायामारब्धायामेव अभिमतस्य प्रसाधनीयत्वे पूर्वोक्तबाधाया अनिस्तारात् । न च व्यवहारनियमस्य स्वेच्छास्वीकृतस्यैव प्रमाणादिसत्तास्वीकारपर्यवसायितया नायं दोषः स्यात् । यतः सत्ताज्ञानस्य तत्राङ्गत्वम्, न तु सत्तायाः ।

तत्र किं सत्त्वावगममात्रात् सत्ताऽभ्युपगम्येति मन्यसे, अबाधितात् तदवगमाद्वा ? न तावदाद्यः, मरुमरीचिकादौ जलरूपतासद्भावाभ्युपगमप्रसङ्गात् । द्वितीयेऽ-

---

सत्यतेति यावत् । तद्वैपरीत्येऽसत्यत्वमादिपदार्थः । उपसंहरति ❀ इतीति ❀ रिक्तमिति रिक्तं परस्परपराहतत्वेन शून्यवचनमित्यर्थः ।

परिहरति ❀ मैवमिति ❀ कथायामेवैतान् बाधकानुपन्यस्यासद्वादिनं निगृह्य सत्ताभ्युपगमनं साधनीयम् । तथा च न तदन्तरेण कथाप्रवृत्तिः । सत्ताभ्युपगमसिद्धौ कथासिद्धिस्तत्सिद्धौ बाधकोपन्यासस्ततश्च सत्ताभ्युपगम इति चक्रकापत्तिरेवेत्यर्थः ।

ननु न मया सत्त्वं साध्यते किं तु स्वेच्छास्वीकृतस्यैव व्यवहारनियमस्य प्रमाणादिसत्ताङ्गीकारे पर्यवसानमात्रमुच्यते, ततो न मम चक्रकादिदोषः स्यादित्यत आह ❀ न चेति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ यत इति ❀ । सत्तावगमे सति सत्ताभावेन व्यवहाराभावादर्शनात्केवलव्यतिरेकाभावात्सत्तावगम एव हेतुरिति भावः ।

ज्ञानमात्रस्यांगत्वेऽतिप्रसंगात्, ज्ञेयावच्छिन्नस्यांगत्वे तस्याप्यंगत्वप्रसंग इत्याशंक्याह ❀ तत्रेति ❀ । ज्ञानमात्रस्य ज्ञेयस्य साधकत्वे मरीचिसलिलादेरपि सत्त्वस्वीकारप्रसंगेनाद्यं दूषयति ❀ नेति ❀ । प्रमाणादि परमार्थसदबाधितावगमगोचरत्वाद्, आत्मवदित्याशंक्याह ❀ द्वितीय इति ❀ । तस्य वादिप्रतिवादिमध्यस्थ-

---

है'—यह कहना नितान्त निस्तत्त्व (निरा थोथा) है ।

समाधान—प्रमाणादिसत्तानभ्युपगम की बाधक इन युक्तियों से किसी कथा के आरम्भ हो जाने पर ही आप (नैयायिक) अपने सत्ताभ्युपगमवाद की सिद्धि कर सकेंगे, अतः पूर्वोक्त [प्रक्रान्त यदि कथा प्रमाणादि-सत्ताभ्युपगपूर्वक मानी जाती है, तब अन्योऽन्याश्रय और यदि सत्तानभ्युगमपूर्वक आरब्ध मानी जाती है, तव किसी कथा के लिए भी प्रमाणादि की सत्ता का अभ्युपगम आवश्यक नहीं रह जाता, क्योंकि इसी कथा के समान अन्य कथाएँ भी उसके विना ही प्रवर्तित की जा सकती हैं—इत्यादि] दोषों से पीछा नहीं छूटता ।

शङ्का—अपने जिन व्यवहार-नियमों (समय-वन्धों) को अपनी इच्छा से स्वीकृत किया है, वे 'प्रमाणैर्व्यवहर्त्तव्यम्' इस प्रकार के ऐसे हैं, जिन का स्वरूप प्रमाणादि की सत्ता माने विना वन नहीं सकता—यह कहा जा चुका है ।

समाधान—उक्त नियमों में प्रमाणादि की सत्ता का ज्ञानमात्र अपेक्षित है, सत्ता नहीं ['अयं सर्पः'—इत्यादि आरोप-व्यवहारों में जैसे सर्पादि का ज्ञानमात्र अपेक्षित होता है, सर्पादि की अन्यत्र सत्ता नहीं, उसी प्रकार लौकिक व्यवहारमात्र में पदार्थों का ज्ञान या ज्ञायमान पदार्थ ही अङ्ग माने जाते हैं, ज्ञान तो सत् से भिन्न का भी हो जाता है, अतः उनकी सत्ता अपेक्षित नहीं होती] ।

[आप (नैयायिकों) का यह जो कहना है कि जिस वस्तु का अभ्युपगम होता है, उसकी अवश्य सत्ता होती हैं । वहाँ जिज्ञासा होती है कि आप] सत्त्वावगममात्र से सत्ता का स्वीकार करना आवश्यक मानते हैं ? अथवा अबाधित सत्त्वावगम से ? यदि प्रथम पक्ष [जैसे-तैसे ज्ञानमात्र से विषय की सत्ता] मानते हैं, तब मरुमरीचि में भी प्रतीयमान जल की सत्ता

पि किं वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य तस्यापि कथाकालमात्र एव बाधितावगमाभावाद् ? अथवा कस्यचिदपि कालान्तरेऽपि च बाधितबोधविरहात् ? नाद्यः, अतिप्रसङ्गात्—पुरुषत्रयावगतस्यापि एकक्षणावगतस्य पुरुषान्तरेण तेनापि क्षणान्तरे बहुलं बाध्यत्वदर्शनात् । न चासौ अर्थोऽसत्योऽपि द्वित्रादिपुरुषमात्रपूर्वजातसत्प्रतीत्यनुरोधात् बाधदर्शने संजातेऽपि तथैव सन्नित्यभ्युपगम्यते । तस्माद् द्वितीयः पक्षः परिशिष्यते—यत्र सर्वप्रकारेण बाधितत्वं नास्ति तत्सदित्यभ्युपगन्तव्यम् ।

तदित्थं यदि नाम वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य दूषणादिसत्तावगमः कथाकालमात्रे तैरबाध्यमानः कथाङ्गत्वेनाभ्युपेयते, तदा किमायातं सर्वप्रकाराबाधित-

---

मात्रस्य कथाकाले बाधितावगमाभावात् सत्ताऽभ्युपगम्या ? किं वा कदाचिदपि तदभावात् ? उत कस्यचिदपि कालांतरेऽपि बाधावगमविरहात् ? उत प्रतीतिकाले ? इति विकल्पार्थः । आद्यमनैकांतिकत्वेन दूषयति ❀ नेति ❀ । व्यभिचारमेव स्फोरयति ❀ पुरुषेति ❀ । पुरुषत्रयावगतस्यापि पुरुषांतरेणैकक्षणावगतस्य च क्षणांतरे तेनापीति सम्बन्धः । योगाचारसौत्रांतिकवैभाषिकत्रयावगतस्य स्वरसभंगुरत्वस्य वाद्यन्तरेण बाध्यतादर्शनात्, तथा मन्दांधकारे पथि गच्छतः पुरुषत्रयस्य स्रजं दृष्ट्वा रोषणं मन्वानस्य कालांतरनिकटोपसर्पणादिना रशनातत्त्वदर्शनेन बाध्यतादर्शनात्, पुरुषत्रयस्यैकक्षणेऽबाधितावगतत्वहेतुस्तत्र व्यभिचरतीत्यर्थः । आद्यविकल्पस्य द्वितीयविकल्पदूषणं द्वितीयविकल्पदूषणेऽन्तर्भवतीति न पृथगुच्यते । ननु विगीतप्रत्ययाः यथार्थाः, प्रत्ययत्वात्, संप्रतिपन्नप्रत्ययवदिति पुरुषत्रयावगतस्यापि सत्त्वान्न तत्र व्यभिचार इत्याशंक्याह ❀ न चेति ❀ । द्वौ च त्रयश्च द्वित्रा आदिर्येषां ते द्वित्रादयः, त एव पुरुषाः, त एव मात्रा परिमाणं यस्य तस्य । पूर्वजाता सा च तस्य वस्तुनः प्रतीतिरिति विग्रहः । प्रातीतिकसत्त्वसाधने सिद्धसाधनम्, अर्थसत्त्वसाधने बाधविरोध इत्यर्थः । द्वितीये नास्माकं काऽपि क्षतिरिति तं परिशेषयति ❀ तस्मादिति ❀ । तमेव विशदयति ❀ तत्रेति ❀ । केनापि कदाचिदपि बाधितावगमशून्यं स्वीकार्यमित्यर्थः । तच्च भट्टमिश्रोक्तप्रकारेण द्रष्टव्यम्—"सर्वेषां सर्वदा यत्र धीः स्यात् तत्र न बाधनम्" इति ।

आक्षिपति । ❀ तदिति ❀ । इत्थमुच्यते परं सद्वादिना, न तु घटते । अत्यंताबाध्यत्वस्यासर्वज्ञेनावगंतुमशक्यत्वात् । न हि पुरुषान्तरादिवर्तिबाध उपलब्धुं योग्योऽसर्वज्ञस्य, येन योग्यानुलब्ध्या तदभावनिश्चय इत्यर्थः । तदुक्तं कुसुमांजलौ—"आपाततो न दृश्यत इति सर्वत्र कालक्रमेणापि न द्रक्ष्यत इति को नियन्तेति" । ननु त्वयाऽपि कतिपयपुरुषदेशकालाबाध्यत्वे सत्त्वावगमस्येष्टं चेदत्यंताबाध्यत्वं तर्ह्यनुमीयताम्-

---

माननी पड़ेगी [जैसा कि श्री वाचस्पतिमिश्र ने कहा है—"अभ्यर्णमवतीर्णा मन्दाकिनीयमिति तत्तोयमापीय पिपासामुपशमयेत्" (भाम० पृ० २२)] । द्वितीय [अबाधित ज्ञान से विषय की सत्ता] पक्ष मानने पर यह जिज्ञासा उठती है कि केवल वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ पुरुष के ही, वह भी केवल कथा-काल में अबाधित ज्ञान या बाधित ज्ञान के अभाव से विषय की सत्ता सिद्ध होती है ? अथवा किसी भी व्यक्ति को कभी भी जिसका बाधित-बोध न हो, उस की सत्ता माननी पड़ती है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि तीन पुरुषों के द्वारा किसी क्षण में अवगत पदार्थों का चौथे पुरुष को अथवा उन्हीं तीनों को क्षणान्तर में बाध-ज्ञान देखा जाता है । कोई पदार्थ असत्य है, दो-तीन व्यक्तियों को किसी एक क्षण में सत् प्रतीत हो गया और क्षणान्तर में उन्हीं को उसका बाध-दर्शन हो जाता है, तब वह पदार्थ प्रथम प्रतीतिमात्र के आधार पर क्या सत्य सिद्ध हो सकता है ? कभी नहीं । अतः यह द्वितीय पक्ष ही अवशिष्ट रह जाता है कि 'जिस वस्तु में किसी प्रकार भी बाधितत्व सिद्ध नहीं होता, वही सत् वस्तु है'—ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए ।

प्रकृत में भी केवल वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ के कथा-कालमात्र में यदि दूषणादि की सत्ता का अवगम हो गया, तब क्या वे सर्वथा अबाधित सिद्ध हो जाते हैं ? आपाततः

तत्सत्त्वावगमायत्ततत्सत्ताभ्युपगमकथाङ्गतानङ्गीकारस्य ? । कतिपयप्रतिपत्तृकतिपयकालतथात्वावगमादेव प्रायेण लौकिको व्यवहारः प्रतीयते, तादृशश्चायं सत्त्वागमः कथाङ्गम् ।

एतत्तदुच्यते—व्यावहारिकीं प्रमाणादिसत्तामादाय विचारारम्भ इति । तस्माद् यादृग्व्यवहारनियमः कृतः, तन्मर्यादा अनेन नोल्लंघितेति यद्वादिवाग्व्यवहारे मध्यस्थावगमः स विजयते; यस्य तु वचसि नैवं तस्यावगमस्तस्य पराजयः; यत्र वाद्युक्तनिग्रहसत्त्वावगमः स निगृहीतः; तदितरस्तु न तथेत्यादिनियम एव कथारम्भाय ग्राह्यः ।

२. असतोऽपि समयबन्धस्य कारणत्वम्

अनेन नियमेन वक्तव्यमित्यस्य अयमर्थः—अनेन नियमेनोक्तमनेनेति मध्यस्थाव-

---

विमतः कालः प्रमाणादिसत्तावगमबाधवान् कालत्वात् कथाकालवदिति । तत्राह ❀ यदि नामेति ❀ । सर्वप्रकारैर्देशांतरकालांतरपुरुषांतरस्वरूपैरबाधितस्य तस्य प्रमाणस्य प्रमेयादेश्च सत्त्वावगमस्तदधीनस्तदायत्तः । तस्य तस्य सत्ताभ्युपगमस्तस्य कथांगतानंगीकारस्येति विग्रहः । अनंङ्गीकारस्य किमायातम् । सोऽस्त्येवेत्यर्थः । त्वदनुमानरीत्या गंधर्वनगरादेरप्यत्यंताबाध्यत्वप्रसंगादत्यंताबाध्यत्वं सत्तावगमस्य नांगीक्रियत एवेत्यर्थः । सत्त्वं व्यवहारांगमंगीकृतं चेन्मुख्यव्यतिक्रमे कारणाभावादर्थसत्त्वमेवांगीक्रियतामिति चेन्न, लौकिकव्यवहारस्यापि प्रातीतिकसत्त्वमूलत्वादित्याह ❀ कतिपयेति ❀ । प्रतीयते सप्रपंचं जन्यत इत्यर्थः । अन्यथा तदुच्छेदप्रसंगादिति हेतुर्द्रष्टव्यः । शास्त्रीयव्यवहारः प्रातीतिकसत्त्वमूलो व्यवहारत्वाल्लौकिकव्यवहारवदित्याह ❀ तादृश इति ❀ । न चैतत्स्वमनीषिकासिद्धम्, तत्त्वविदामपि सम्मतमित्याह ❀ एतदिति ❀ । स्वप्नवद् व्यवहरेम इत्यादावुच्यत इत्यर्थः ।

नियमस्योभयसंप्रतिपन्नत्वाल्लाघवाच्च स एव कारणमित्युपपादितमित्युपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀ । अदुष्टेऽप्यनुमाने दुष्टमिदमनुमानमिति विप्रलंभकवाक्यादवगमः पराजयहेतुर्न भवतीति सूचयितुं मध्यस्थग्रहणम् । ❀ यत्र ❀ प्रतिवादिनीति यावत् । शिष्टं स्पष्टम् ।

नियमस्य तर्हि कारणत्वेन सत्त्वमंगीकृतं स्यादित्यत आह ❀ अनेनेति ❀ । अनेन वादिनाऽनेन नियमेनोक्तम् इति मध्यस्थावगमस्य विषयत्वेन भवितव्यमित्यर्थः ।

सञ्जात सत्तावगममात्र को यदि कथा का अङ्ग मान लिया जाता है, तब भी सर्वथा अबाधित निश्चय के अधीन सिद्ध होनेवाली सत्ता के अभ्युपगम में कथा की अङ्गता सिद्ध नहीं होती । प्रायः समस्त लौकिक व्यवहार कतिपय पुरुषों के किसी काल में सञ्जात तथात्वावगममात्र पर निर्भर प्रतीत होता है, दोषादि की सत्ता का वैसा ही अवगम कथा का अङ्ग होता है, श्री सुरेश्वराचार्य ने कहा है—अविचारितसंसिद्धं क्रियाकारकलक्षणम्" (बृह. वा. पृ. १५४५) ।

आशय यह है कि प्रमाणादि की व्यावहारिक सत्ता को लेकर कथा का आरम्भ माना जाता है । अतः "मध्यस्थ को जिस वादी के वाग्व्यवहार में 'यादृग् व्यवहारनियमः कृतः, तन्मर्यादा अनेन नोल्लङ्घिता"—ऐसा निश्चय होता है, वह वादी विजयी और जिसके वाग्व्यवहार में वैसा निश्चय नहीं होता, वह परास्त समझा जाता है । जिस व्यक्ति के व्यवहार में वादि-कथित निग्रहस्थान की सत्ता का ज्ञान होता है, वह निगृहीत और उससे भिन्न निगृहीत नहीं होता"—इत्यादि नियम ही कथा का आरम्भ करने के लिए ग्राह्य माने जाते हैं ।

२. असत् भी समय-बन्ध कारण है

समय-बन्ध में जो कहा गया कि 'अनेन नियमेन वक्तव्यम्'—उसका आशय यह है कि मध्यस्थ को यह ज्ञानमात्र हो जाना चाहिए कि 'अनेन नियमेन वादिना कथितम्' । नियम का सत् होना आवश्यक नहीं, केवल ज्ञायमान होना चाहिए । 'नियम की सत्ता यदि आवश्यक नहीं, तब नियम के ज्ञान की सत्ता अवश्य माननी होगी'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे

गमस्य विषयीभवितव्यमिति। न च वाच्यमन्ततस्तदवगमस्यापि सत्ताऽभ्युपेयेति; तस्यापि सत्ताचिन्तायां तत्सत्तावगमान्तरस्यैव शरणत्वात्। न चैवमनवस्था; तदनुसरणावश्यम्भावानङ्गीकारात्। 'एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः' इति न्यायात्।

न चान्तिमासत्त्वे पूर्वप्रवाहासत्त्वापत्तिः, तथा च अवगममादायापि व्यवहरतो न निस्तार इति वाच्यम्। अस्तु एवं हि, तथापि त्रिचतुरज्ञानकक्षागवेषणमात्रविश्रान्तेन विचारेण ततः परमननुसरणरमणीयेनैव च समयं बद्ध्वा कथायां मिथः सम्प्रतिपत्त्या प्रवर्तनात्। अन्यथा प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमेऽपि ज्ञानानवस्थायाः दुष्परिहरत्वात्।

नन्वर्थस्य यथा प्रतीतिसत्त्वं तथा प्रतीतेरर्थसत्तैव स्वीकर्तव्या, व्यवहारांगत्वात्। तथा च नासद्वादः सिद्ध्यति, तस्यैव सत्त्वादित्यत आह ❀ न चेति ❀। कुतो न वाच्यमित्यत आह ❀ तस्येति ❀। अर्थसत्त्वे प्रमाणाभावादवगमः कथं सन्निति जिज्ञासायामवगमोऽस्तीत्यवगमांतरमेव तस्य सत्त्वमित्यर्थः।

प्रतीतेरपि प्रतीतिसत्त्वं चेत्, तत्राप्येवमित्यनवस्था स्यादित्याशंक्याह ❀ न चेति ❀। अनवस्थाभावे हेतुमाह ❀ तदिति ❀। यथा रत्नपरीक्षायां त्रयाणां चतुर्णां वा वाक्यात्सम्यग्ज्ञाने जाते न पुनः पुनर्ज्ञानांतरमपेक्षते तथाऽन्यत्रापि ज्ञानांतरानुसरणस्यानावश्यकत्वान्नानवस्थेत्यर्थः। उक्तमर्थं भट्टवचनेन दृढीकरोति ❀ एवमिति ❀। 'एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः। प्रार्थ्यते तावतैवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुत' इति।

ननु सत्तावगमप्रवाहविच्छेदे नानवस्था विच्छेदेऽन्तिमज्ञानस्य प्रातीतिकसत्त्वस्याप्यभावाद् उत्तरोत्तरज्ञानस्यैव पूर्वं पूर्वम्प्रति सत्त्वरूपत्वाद्, उत्तरोत्तरासत्त्वेनामूलमसत्त्वापत्तौ प्रातीतिकसत्त्वेनापि न कथारंभः शक्यत इत्यत आह ❀ न चेति ❀। अंतिमज्ञानस्य प्रतीत्यंतरानंगीकारे वस्तुत आमूलमसत्त्वमापद्यते चेदिष्टसिद्धिरित्याह ❀ अस्त्विति ❀। अस्तु नाम तथेत्यर्थः। कथं तर्हि व्यवहार इत्याशंक्य त्रिचतुरज्ञानादूर्ध्वमविचार्यैव कथारंभ इति संकेतकरणात्तत्सिद्धिरित्याह ❀ त्रिचतुरेति ❀ त्रिचतुराणि च तानि ज्ञानानि, तेषां कक्षासु कोटिषु गवेषणमात्रेण पर्यालोचनमात्रेण विश्रांतो यो विचारस्तेन, ततः परमविचारितरमणीयेन समयं बध्वा कथायां प्रवृत्तिसंभवादित्यर्थः। त्रिचतुराणि वेत्यादिज्ञेयस्वरूपसत्त्वांगीकारे लाघवादनवस्थाभावाच्च तदेव स्वीकार्यमित्यत आह ❀ अन्यथेति ❀। अर्थसत्तांगीकारेऽपि तत्प्रमाणानुसरणेन तत्सिद्धिरिति दुष्परिहरैवानवस्थेत्यर्थः।

ज्ञायमान नियम से काम चल जाता है, वैसे ही उसके ज्ञायमान ज्ञान से कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। 'विषय-परम्परा की सत्ता के निरूपण करने के लिए उत्तरोत्तर ज्ञान की शरण लेने पर अनवस्था क्यों नहीं ?'—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सत्ता की आकांक्षा सर्वत्र नहीं होती, अतः ज्ञान-परम्परा का अनुसरण अवश्यंभावी न होने के कारण अनवस्था नहीं होती श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—

"एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः।
प्रार्थ्यते तावतैवैक स्वतःप्रामाण्यमश्नुते॥" (श्लो० वा० पृ० ६५)

[अर्थात् पूर्व-पूर्व ज्ञान की अप्रमाणता उत्तरोत्तर दोष ज्ञान पर निर्भर होने से अनवस्था क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि सर्वत्र ज्ञानों में न अप्रामाण्य की शङ्का होती है और न उसके निवारणार्थं दोष-ज्ञान-परम्परा का अनुसरण आवश्यक होता है। वस्तु-स्थिति यह है कि तीन-चार कक्षा तक ही मानव की सहज जिज्ञासा होती है, उसके पश्चात् न जिज्ञासा होती है और उसकी शान्ति का उपायानुसरण]।

शङ्का—पूर्व-पूर्व विषय की सत्ता यदि उत्तरोत्तर ज्ञान पर निर्भर है, तब अन्तिम ज्ञान के उत्पन्न न होने पर पूर्वतन विषय-प्रवाह सत् सिद्ध न होकर असत् हो जायगा।

समाधान—ऐसे स्थलों पर अनवस्था प्राप्त अवश्य होती है, किन्तु उसकी धारा को

न च वाच्यं मत्पक्षे स्वरूपसता ज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थयितुं शक्यत्वात् तज्ज्ञानपरम्परानन्नुसरणमुचितम् , न त्वेवं त्वत्पक्षे स्वरूपसता ज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थता, ज्ञानस्वरूपसत्त्वाङ्गीकारप्रसङ्गादिति । स्वरूपसत्तामादायापि परिहरतोऽनवस्थाप्रसङ्गस्य स्वप्रकाशप्रस्तावे वक्तव्यत्वात् ।

यथा च त्वत्पक्षे स्वरूपसत्त्वाविशेषेऽपि विज्ञानस्वरूपसत्त्वैव परं व्यवहारोपपादिका, न घटादिसत्ता; एवमेवासत्त्वाविशेषेऽपि ज्ञानमेवासद् व्यवहारोपपादकं नान्यत् ।

ननु कथं स्वरूपसत्तांगीकारेऽनवस्था, अदृष्टादिवदज्ञातस्वरूपत्वेनैव ज्ञानेन व्यवहारोपपत्तेः; त्वत्पक्षे तु स्वरूपसत्त्वाभावात् प्रतीत्यंतरानुसरणमावश्यकं विवेकिनामिति दुष्परिहराऽनवस्थेत्याशंक्याह ❀ न चेति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ स्वरूपेति ❀ । 'को ब्रूते सती सा वित्तिरसत्येव न कुत' इत्यादौ—अनवस्थाप्रसंगः स्वरूपसत्त्वमादाय प्रत्यवतिष्ठमानस्य वक्ष्यत इत्यर्थः । नन्वसद्वादे ज्ञानं न व्यवहारोपपादकम्, असत्त्वात्, अर्थवत्, विपक्षेऽर्थस्यापि तद्धेतुत्वप्रसंग इत्याशंक्याह ❀ यथेति ❀ । ज्ञानं न व्यवहारोपपादकम्, सत्वाद्, अर्थवत्, विपक्षेऽर्थस्यापि तद्धेतुत्वप्रसंग इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वमित्यर्थः ।

उपपादकत्वं नाम कारणत्वम्, तच्च नियतप्राक्सत्त्वरूपम्, तदभावश्चासत्त्वम्, तेन परस्परं

अवरुद्ध करने के लिए कथा के आरम्भ में एक ऐसा नियम भी बना लेना चाहिए कि तीन-चार कक्षाओं से आगे न बढ़ना ही अच्छा है, अन्यथा प्रमाण-सत्ता को प्रमाणित करने के लिए उत्तरोत्तर प्रमाण-सत्ता का अनुसरण करने पर नैयायिकों का भी अनवस्था से त्राण न हो सकेगा ।

शङ्का—[हमारा (नैयायिकों और आप (खाण्डनिक) का यह अन्तर है कि हमारे मत में स्वरूप सत् विषय को भी अर्थक्रियाकारी मान लिया जाता है, उसका सर्वत्र ज्ञायमान होना आवश्यक नहीं, किन्तु आप किसी वस्तु की स्वरूप सत्ता न मान कर उसमें ज्ञायमानता आवश्यक मानते हैं । अतः] स्वरूप सत् (अज्ञायमान) ज्ञान ही व्यवहार का निर्वाहक हो जाता है, उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए ज्ञान-परम्परा का अनुसरण आवश्यक नहीं किन्तु आप (खाण्डनिक) के मत में स्वरूप सत् ज्ञान से व्यवहार नहीं चल सकता, अन्यथा ज्ञान की स्वरूप सत्ता माननी पड़ जायगी ।

समाधान—स्वरूप सत्ता को लेकर भी अनवस्था का परिहार नहीं किया जा सकता—यह स्वप्रकाश वादकी चर्चा में कहा जायगा [वहां यह कहा गया है कि "न च वाच्यम् 'अवश्यवेद्यता वित्तेर्नाभ्युपेयते, स्वार्थे व्यवहारस्तु स्वरूपसत्ताया प्रसूयते इति क्वानवस्थेति', यतः तस्यां प्रमाणानुपन्यासे स्वरूपसत्ताऽपि कुतः ?" अर्थात् ज्ञान की स्वरूप सत्ता में जब तक कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक स्वरूप सत्ता क्योंकर सिद्ध होगी ? प्रमाण का प्रदर्शन करने पर उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रमाणान्तर और प्रमाणान्तर-परम्परा की सत्ता प्रमाणित करने के लिए प्रमाण-परम्परा का अनुसरण करना होगा, फलतः अनवस्था दोष अनिवार्य हो जाता है] ।

[यद्यपि हमारे (माध्यमिकादि खाण्डनिक के मत में चित्त या चैतसिक ज्ञान की भी स्वरूप सत्ता नहीं मानी जाती ज्ञान असत् (स्वभावशून्य) ही माना जाता है, तथापि] जैसे आप (नैयायिक) के मत में घटादि विषय और उसके ज्ञान की स्वरूप सत्ता समानरूप से मानी गई है, किन्तु विज्ञान की स्वरूप सत्ता ही व्यवहार-निर्वाहक कही जाती है, घटादि की स्वरूप सत्ता नहीं । वैसे ही हमारे (माध्यमिकादि के) मत में असत् ज्ञान ही व्यवहार का उपपादक माना जाता है ।

असच्च उपपादकञ्चेति व्याहतमिति चेन्न, सद् उपपादकमिति कुतो न व्याहतम् ? न हि सद् उपपादकम् असन्नेति क्वचिदावयोः सिद्धम् । ननु तदसत्त्वाविशेषात् कार्यस्य अन्यदापि जन्मप्रसङ्गः, न, कार्यस्याद्यसत्ताक्षण इवान्यदाऽपि सामग्र्यसत्त्वाविशेषात् तवापि किं नान्यदा कार्यजन्म ?

अथ न मम तदानीन्तनं सामग्र्यसत्त्वं तदानीन्तनस्य कार्यजन्मनो नियामकम्, किन्तु ततः प्राक् सामग्रीसत्त्वं तथादर्शनात् ? तर्हि ममापि कालान्तरस्थमपि तदसत्त्वं

व्याघात इति चोदयति ॐ असच्चेति ॐ नियतप्राक्संबन्धि कारणम्, न तु प्राक्सत्त्वम् । संबन्धश्च सदसतोरविशिष्ट इत्यभिप्रेत्य प्रतिबन्दीन्यायेन परिहरति ॐ नेति ॐ । सदुपपादकमिति न व्याहतं, सतस्तंत्वादेः पटाद्युत्पादकत्वदर्शनाद्—इत्याशंक्याह ॐ न हीति ॐ ।

नन्वसतः कार्यकाले अन्यदातोऽविशेषे शून्यत्वहानिः, विशेषे न नियमेन कार्यजन्म स्यादिति शंकते ॐ नन्विति ॐ । तदुदितमुदयनेन—'अनुपाख्यस्य हेतुत्वे प्रागपि सत्त्वप्रसक्तौ पुनः सदातनत्वापत्तेरिति' । किं कारणासत्त्वे कार्यजन्मेष्टमित्यवष्टंभेनेदं चोद्यते? किं वा नियामकाभावाभिप्रायेण ? आद्यं प्रत्याह ॐ न कार्यस्येति ॐ । कार्योत्पत्तिकाले सामग्री नास्ति ? उतास्ति ? अस्ति चेदुत्तरक्षणेऽपि द्वितीयकार्यप्रसंगः । नास्ति चेत्प्रागूर्ध्वं च तदसत्त्वाविशेषात्तवापि कार्यजन्म स्यादित्याशयः ।

द्वितीयं शंकते ॐ अथेति ॐ । सामग्र्यसत्त्वमसत्त्वादेव न नियामकं, किं तु तत्सत्त्वम् । न चातिप्रसंगः, नियतप्राक्कालावच्छिन्नमिति विशेषणादिति भावः । पूर्वक्षणावच्छिन्नमुत्तरक्षणवर्तिनः कथं नियामकमसम्बन्धादित्यत आह ॐ तथेति ॐ । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति भावः । सामग्री किमेकक्षण-

शङ्का—आपने जो यह कहा कि असत् ज्ञान व्यवहारोपपादक है, वह कहना अत्यन्त विरुद्ध है,] क्योंकि जो खपुष्पादि के समान असत् होता है, वह कभी किसी भी कार्य का सम्पादक नहीं होता और जो दण्डादि के समान किसी वस्तु का कारण होता है, वह कभी असत् नहीं होता ।

समाधान—जैसे 'असच्च उपपादकं च'—ऐसा कहना आपको विरुद्ध प्रतीत होता है, वैसे ही 'सद् उपपादकम्'—ऐसा कहना भी विरुद्ध है, क्योंकि 'सत् ही उपपादक होता है, असत् नहीं'—ऐसा कोई भी निर्णय हम लोगों के मध्य में नहीं हुआ । [श्री नागार्जुन ने कहा है—सद्भूतस्य क्रिया नास्ति कर्म स्यादकर्तृकम्" (मध्य० शा० ८।२) । अर्थात् सत् वस्तु यदि किसी कार्य की हेतु है, तब वह कार्य सदा होना चाहिए, क्योंकि कारण सत् सदा है, अतः सत् को कारण नहीं माना जा सकता] ।

शङ्का—यदि असत् पदार्थ भी किसी कार्य का कारण हो, तब घटादि कार्य को अपनी उत्पत्ति के समय से पूर्व भी हो जाना चाहिए, क्योंकि घटादि की उत्पत्ति से पूर्व असत् कारण सदैव रहता है [श्री उदयनाचार्य ने असत्कारणवाद में यही दोष दिया है—"अनुपाख्यस्य हेतुत्वे प्रागपि सत्त्वप्रसक्तौ सदातनत्वापत्तिः" (न्या० कु० १।५)] ।

समाधान—आप (नैयायिकों) के मत में घटादि का कारणीभूत प्रागभाव घटादि की उत्पत्ति के क्षण में नहीं रहता, उससे पूर्व क्षणों में ही रहता है, अतः यह कहना होगा कि घटादि की उत्पादिका प्रागभावादि-घटित सामग्री घट के उत्पत्ति-क्षण में नहीं थी या असत् थी, फलतः आपको भी असत्कारणवाद मानना पड़ता है, तब अन्यदा कार्य-जन्म की प्रसक्ति आप के मत में भी प्राप्त होती है ।

शङ्का—हम (नैयायिक) समानकालीन पदार्थों का कार्य-कारणभाव नहीं मानते, अपितु कार्य के उत्पत्ति-क्षण से पूर्व क्षण में होनेवाली सामग्री ही कार्य की जनक मानी जाती है । प्रागभाव-घटित सामग्री की असत्ता कार्य की उत्पत्ति के समय रहती है, अतः कार्य का

तदातनकार्यजन्मनो नियामकं तथादर्शनादेव। मम तु तदव्यवहितोत्तरत्वं तदा कार्य-जन्मनो नियामकमिति चेन्न, समसमयत्वादागन्तुकत्वाच्च अविशेषेण नियम्यनियामक-

वर्तिनी ? किं वा पूर्वक्षणेऽप्यस्ति ? आद्ये यत्सत्तत् क्षणिकमिति ब्रुवन् सुगतश्चरितार्थः स्यात्। द्वितीये पूर्वोत्तरक्षणयोरविशेषेऽपि पूर्वकालावच्छिन्नसद्वदसदपि तथाभूतं नियामकं विशिष्म इत्याह ❀ तर्हीति ❀।

सामग्रीकालादव्यवहितोत्तरत्वं प्रयोजकं नियतप्राक्सत्कारणं नियतोत्तरं सत्कार्यमित्यङ्गीकारादिति नियामकांतरं शंकते। ❀ ममेति ❀ नियतोत्तरत्वं नाम धर्मः कार्यस्य किं भिन्नकालः ? अभिन्नकालो वा ? प्रथमो दत्तोत्तरः। द्वितीये नियम्यनियामकभावानुपपत्तिः सव्येतरकरयोरिवेति परिहरति। ❀ नेति ❀। नियम्यनियामकभावस्य पूर्वापरभावगर्भत्वादिति भावः। किं च उत्तरत्वमपि नियामकान्तरपूर्वकं चेदनवस्था, न चेत्स्वयमव्यवस्थितं कथमन्यद्व्यवस्थापयेदित्याह ❀ आगन्तुकत्वादिति ❀। तस्मात्प्राक्सामग्रीसत्त्वमेव

कारण नहीं और उस क्षण से पूर्व क्षण में जो प्रागभाव-घटित सामग्री विद्यमान होती है, उसमें ही कार्य की जनकता अनुभूत होती है, वह अन्य काल में कार्य-जन्म की नियामिका नहीं हो सकती।

समाधान—उत्पत्ति के पूर्व क्षण में रहनेवाली सामग्री को कार्य-जन्म का नियामक मानने पर हम (खाण्डनिक) भी पूर्वक्षण-विशिष्ट असत्त्व को ही उत्तर क्षणभावी कार्य का निर्वाहक मानेंगे, क्योंकि हमें भी वैसी ही अनुभूति होती है।

शङ्का—जिस क्षण में प्रागभावादि-घटित सामग्री का अव्यवहितोत्तरत्व धर्म होता है, उसी क्षण में हम (नैयायिक) कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, अतः वह (कारणाव्यवहितोत्तरत्व) सदा न रहने के कारण सदा कार्योत्पत्ति-प्रसङ्ग भी उपस्थित नहीं होता। [आप (खाण्डनिक) किसी काल में भी सामग्री की सत्ता मानते ही नहीं, अतः 'तदव्यवहितोत्तरत्व' कहीं भी सम्भावित नहीं, कारण की असत्ता सदैव रहने के कारण सदैव कार्योत्पत्ति-प्रसङ्ग बना रहता है]।

समाधान—'कारणाव्यवहितोत्तरत्व' और 'कार्योत्पत्तिक्षणत्व'—दोनों धर्मों का एक काल है, दो समसामयिक पदार्थों में नियम्यनियामकभाव नहीं हो सकता, अन्यथा गवादि के मस्तक पर युगपत् उत्पन्न होनेवाले दोनों सींगों में भी जन्य-जनकभाव मानना पड़ेगा। [श्री शङ्करमिश्र ने 'सम' शब्द और 'समय' शब्द की अनेकार्थता को ध्यान में रख कर 'समसमयत्वात्'—इस पद के चार अर्थ किए हैं—(१) समयस्य (क्षणस्य) समत्वात् (एकत्वात्) अर्थात् सामग्री का उत्तर क्षण ही कार्य-जन्म-क्षण है, अतः एक या अभिन्नक्षण में नियम्य-नियामकभाव नहीं हो सकता। यदि सामग्र्यव्यवहितोत्तरत्व और कार्योत्पत्तिमत्त्वरूप उपाधियों के भेद से क्षण का भेद मानें, तब दण्डित्व, कुण्डलित्वादि उपाधियों के भेद से एक ही देवदत्त का भेद मानना होगा। (२) समकालिकत्वात्। सामग्र्युत्तरत्व और कार्योत्पत्ति-क्षणत्व—दोनों धर्म एक काल में रहते हैं, अतः गवादिशिरस्थ दो शृङ्गों के समान उनका नियम्य-नियामकभाव नहीं हो सकता। (३) 'समयः व्यवस्था', 'नियामकयोः समव्यवस्थ-त्वापातात्' अर्थात् कार्योत्पत्तिक्षणत्व का नियामक सामग्र्युत्तरक्षणत्व माना गया है, उसका भी नियामकान्तर—इस प्रकार नियामक-परम्परा का अनुसरण करने पर अनवस्था होगी। (४) समयः संकेतः, तस्यैकत्वात्' अर्थात् नियम्य और नियामक के परिभाषा-लब्ध स्वरूपों मे कोई अन्तर नहीं, सामग्र्युत्तरक्षणत्व और कार्योत्पत्तिक्षणत्व—दोनों कलश और घट के समान पर्यायवाची हैं, एक ही वस्तु निम्य और नियामक नहीं हो सकती]। दूसरी बात यह भी है कि 'सामग्र्युत्तरत्व' कोई अनादि-सिद्ध धर्म नहीं, अपितु आगन्तुक सादि है, अतः उसे स्वयं नियामकान्तर की अपेक्षा है, नियामकान्तर मानने पर अनवस्था और नियामकान्तर के विना

व्यवस्थानुपपत्तेः । तस्माद् अन्यदास्थायाः सामग्र्याः तदा कार्यजन्मनियमोऽभ्युपेयस्तथादर्शनादित्येव वाच्यम् । तथा च समः समाधिः ।

तथापि कार्यजन्मकालस्य को विशेषः ? कार्यजन्मैव, अन्यथा यद् विशेषान्तरं तदपि विशेषान्तरवतः कालस्य स्यादित्यपर्यवसानमेव पर्यवस्येत् । तथापि तत्कालस्यानुगतं किं रूपमिति चेन्न, रूपान्तरवतोऽपि किं तदित्यस्यापि पर्यनुयोगस्यापत्तेः ।

नियामकमिति पक्षः परिशिष्यत इत्याह ❀ तस्मादिति ❀ । अन्यदास्थायाः पूर्वक्षणवर्त्तिन्या इति यावत् । भवतु, तव तावता को लाभ इत्यत आह ❀ तथा चेति ❀ । सामग्रीसत्त्वास्वीकारे कार्यकालस्याकार्यकालात्तदव्यवहितोत्तरत्वं विशेष इति न शक्यं वक्तुम्, विशेषान्तरं च नास्तीति कार्यकालाकार्यकालयोरविशेषप्रसंग इति शंकते ❀ तथापीति ❀ । जनिसंबन्ध एव विशेष इत्याह ❀ कार्येति ❀ परेणापि कार्यकालस्य जनिसम्बन्ध एव विशेषो वक्तव्य इत्याह ❀ अन्यथेति ❀ । यद्विशेषान्तरवतःकालस्य कार्यसत्तासम्बन्धस्त्वया कल्प्यते तदपि निर्विशेषस्य सविशेषस्य वा कालस्य स्यात् । आद्ये न नियमः । द्वितीये विशेषान्तरवत एवेत्यनवस्था स्यादित्यर्थः ।

व्यावृत्तकार्यकालानामुपसंग्राहकं रूपं वक्तव्यम् । अन्यथा तेष्वेकरूपप्रत्ययायोगात् । न चाव्यवहितोत्तरत्वम्, सामग्रीसत्त्वानंगीकारादिति शंकते ❀ तथेति ❀ । परिहरति ❀ नेति ❀ । अनुगतप्रत्ययहेतुतया यद्रूपमुच्यते, तदपि किं रूपान्तरनिरपेक्षमुत सापेक्षम् ? सापेक्षत्वे तस्य तस्याप्येवमित्यनवस्था । ततोऽन्ततोऽपि गत्वा किमपि रूपं निरपेक्षमेव वाच्यम् । तदादावेव किं नाभ्युपेयम् ? तच्च जनिसंबन्धित्वमिति भावः ।

वह स्वयं अव्यवस्थित होने के कारण दूसरे का व्यवस्थापक नहीं हो सकता । अतः अन्य (पूर्व) काल में अवस्थित सामग्री को अन्य (उत्तर) काल में होनेवाले कार्य के जन्म का नियामक मानना होगा, क्योंकि पूर्वकाल की सामग्री से उत्तर काल में कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है । अतः सदा कार्योत्पत्ति-प्रसङ्ग का जैसा आप समाधान करते हैं कि पूर्वक्षण-वृत्ति कारण-सत्त्व ही उत्तरक्षणवर्ती कार्य का नियामक है हम भी वैसा ही समाधान करते हैं कि पूर्वक्षण-विशिष्ट कारणासत्त्व उत्तर क्षणभावी कार्य का नियामक है, अतः सदैव कार्योत्पत्ति प्रसक्त नहीं होती ।

शङ्का—[यद्यपि असद्वाद में कार्यजन्म-क्षण से अव्यवहित पूर्व-क्षण को लेकर सामग्री का नियमन किया गया,] तथापि कार्य-जन्म-क्षण की कोई सद्रूप विशेषता माने विना अकार्य काल की अपेक्षा कार्य-क्षण का नियमन सम्भव नहीं ।

समाधान—कार्य-जन्म-क्षण की एक मात्र विशेषता है—कार्य-जन्म । अर्थात् कार्य की उत्पत्ति जिस क्षण में होती है, उसे कार्य-जन्म-क्षण कहा जाता है । अन्यथा (कार्य-जन्म को छोड़कर अन्य विशेषता को मानने पर) अभिमत (सामग्र्यव्यवहितोत्तरत्वादि) विशेषता से जिस क्षण को विशेषित किया जाता है, वह निर्विशेष है ? या सविशेष ? निर्विशेष मानना आपके लिए सम्भव नहीं, क्योंकि आप ने ही विशेषता का प्रश्न उठाया है, अतः सविशेषक्षण की ही विशेषता कहनी होगी और जिस विशेषता को लेकर वह क्षण सविशेष माना गया है, वह विशेषता भी सविशेष काल की होगी—इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है ।

शङ्का—घटत्वादि धर्मों के द्वारा जैसे अनन्त घटों का अनुगम (एकाकार-व्यवहार) होता है, वैसे अनन्त घट-पटादि के जन्म-क्षणों का भी कोई अनुगत धर्म होना चाहिए ।

समाधान—इस प्रश्न का उत्तर भी विशेषता के समान ही दिया जा सकता है कि कार्योत्पत्ति ही कार्य-जन्म-क्षणों का अनुगम रूप है, उससे भिन्न अनुगम मानने पर अनवस्था में पर्यवसान होगा !

किञ्च—

अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः॥ ४॥

तथा हि—अन्तर्भूतसत्त्वं यदि कारणत्वं तदा स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरंशतः स्वाश्रयत्वमापादयति। विशिष्टस्यार्थान्तरत्वेऽपि च स्वस्मिन् स्ववृत्तिव्यतिरेकवत् स्वविशिष्टे स्ववृत्तिव्यतिरेकनियमदर्शनात्।

न सैव सत्ता तस्मिन्निति। अन्यस्या विशिष्टवृत्त्यभ्युपगमे तामनिवेश्य कारण-

एवं तावत् सदसत्कारणयोः साम्यमापाद्येदानीं कारणस्य सत्त्वमपास्यति। ॐ किंचेति ॐ। बीजमित्येव नांकुरस्य कारणं किं तु सद्बीजमिति तद्वादिना विशेष्यते। तत्र वक्तव्यम्—सत्ताविशिष्टं कारणम? किं वा सत्तोपलक्षितम्? विशिष्टं चेत्, तत्राह ॐ अन्तर्भावितेति ॐ। अन्तर्भाविताऽन्तःप्रवेशिता सत्ता यस्मिस्तदंतर्भावितसत्त्वम्। तच्चेत्कारणमुच्यते, सत्त्वविशिष्टे सत्ताऽसंभवात्कारणमसदेव स्यात्। सत्तासमवायात्सद्व्यवहारोपगमादित्यर्थः। सत्तोपलक्षितं बोजस्वरूपं कारणमिति द्वितीयं शंकते ॐ नांतर्भावितेति ॐ। अन्तर्भावितसत्त्वं कारणं न, किं तूपलिक्षतमिति चेदिति सम्बन्धः। केचिन्नांतर्भावितसत्त्वमित्यलुक्समासमिच्छन्ति। दूषयति ॐ कारणमिति ॐ तदा कारणकोटौ सत्त्वाप्रवेशादुपलक्षणतया तस्य बहिर्भावात्केवलं बीजस्वरूपमसदेव कारणमित्यसत्कारणत्वं स्फुटितं स्यादित्यर्थः।

श्लोकार्थमेव विवृणोति ॐ तथा हीति ॐ। सत्ताविशिष्टे कारणत्वं धर्मः, किं वा तदुपलक्षिते। यदि विशिष्टे तदाऽपि विशेषणाद्विशेष्यतत्सम्बन्ध एव विशिष्टम्, किं वाऽन्यत्? उभयथाऽपि तत्र सत्ता वर्तते? न वा? यदि वर्तते विशेषणभूतैव सत्ता? उतान्या? यदि सैव तत्राह ॐ अन्तर्भूतेति ॐ। अंशतो विशेषणांशे स्ववृत्तिः। न च तद्युक्तम्, न हि पटुतरोऽपि नटवटुः स्वस्कन्धमारुह्य नरीनर्तीत्यर्थः। यदि मीमांसकंमन्यस्य मते विशिष्टमर्थान्तरं तत्राह। ॐ विशिष्टस्येति ॐ सत्ता न स्वविशिष्टे वर्त्तितुमर्हति, विशेषणत्वाद् दण्डवत्। स्वस्मिन् स्ववृत्त्यभाववत् स्वविशिष्टे स्ववृत्त्यभावनियमदर्शनात् सैव सत्ता तस्मिन्नेत्यसत्कारणं स्यादित्यन्वयः। यद्यन्या सत्ता विशिष्टे वर्त्तते तदाऽपि तामतर्भाव्य विशिष्टं कारणमनन्तर्भाव्य वा? नान्तर्भाव्यं चेत्तत्राह ॐ अन्यस्या इति ॐ। तत्र वर्त्तमानाया अपि सत्तायाः कारणत्वे निवेशानङ्गीकारात्।

दूसरी बात यह भी है कि सत्कारणवाद में यह जिज्ञासा होती है कि दण्डादिगत कारणता में सत्ता प्रविष्ट है? या नहीं? यदि प्रविष्ट है तब सत्ता-विशिष्ट दण्ड को कारण मानना होगा. सत्ता-विशिष्ट में सत्ता मानने पर आंशिक रूप (विशेषणांश) में आत्माश्रय दोष होता है। विशिष्ट पदार्थ को शुद्ध (विशेष्य) से भिन्न मानने पर भी विशिष्ट में सत्ता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जैसे सत्ता में सत्ता नहीं रहती, वैसे सत्ता-विशिष्ट में भी सत्ता नहीं रह सकती, अन्यथा आत्माश्रय दोष होगा, परिशेषतः सत्ता-विशिष्ट कारण को सत्ता से शून्य या असत् मानना होगा और यदि कारण कोटि में सत्ता प्रविष्ट नहीं, तब तो सीधे-सीधे-असत्कारणवाद प्राप्त होता है, क्योंकि आप (नैयायिक) सत्ता जाति के सम्बन्ध से ही वस्तु को सत् मानते हैं ओर जिसमें सत्ता नहीं, उसे असत् कहते हैं।

शङ्का—दण्डादि कारणों में सत्ता समवायेन रहती है और सत्ता विशिष्ट दण्ड में स्वरूपेण, अतः वही सत्ता न अपने में मानी जाती है और न स्व-विशिष्ट पदार्थ में, अतः आत्माश्रय क्यों होगा?

समाधान—कारणता धर्म की नियामिका सत्ता कौन है? समवायेन रहनेवाली? या स्वरूपेण रहनेवाली? स्व-विशिष्ट में जब समवायेन सत्ता नहीं रहती, तब वह कारण क्योंकर होगा? और स्वरूपेण सत्ता दण्डादि में मानी नहीं जाती, अतः उससे रहित वस्तु को कारण मानने पर असत्कारणवाद प्रसक्त होता है। विशेषणभूत सत्ता से भिन्न-भिन्न सत्ता को

त्वमभ्युपगन्तुः सर्वथैवासत्कारणं पर्यवस्यति। अपरापरसत्तानिवेशने चाऽपर्यवसानमेव।

न च सत्ताभेदानन्त्यमस्त्येवेत्यपि पादप्रसारिका निस्ताराय, सत्ताभेदे हि तद्बुद्धिव्यवहारानुगमसमर्थन(बन्धन)लंघिनः प्रथमापि सत्ता न स्यादिति वृद्धिमिच्छतो मूलमपि ते नष्टमिति हा कष्टतरम्।

न च स्वरूपसत्तोपगमाय स्वस्ति, भिन्नानपि अनुगतबुद्ध्याधानपदेऽभिषिञ्चता त्वया हि जातिमात्राय जलाञ्जलिर्वितीर्यंत। मा भूदनुगतिः स्वरूपसत्त्वस्येति वदन्

नहि कार्ष्ण्यं धूमे वर्त्तत इत्येतावता कृष्णत्वमपि लिङ्गत्वोपयोगि, तद्वदित्यर्थः। यद्यन्तर्भाव्य सत्तां विशिष्टं कारणं तत्रापि सत्त्वावृत्तावसत्त्वम्, वृत्तौ दाऽनवस्थेत्याह ❀ अपरेति ❀ अपर्यवसानमनवस्थेत्यर्थः।

अपरापरसत्त्ववृत्तिस्वीकारेऽपि नानवस्था, सत्तानामानन्त्येन मूलक्षयाभावादित्याशंक्याह ❀ न चेति ❀। अनुगतैकसत्तया सद्बुद्धिव्यवहारोपपत्तौ तद्भेदस्वीकरणं गौरवान्मानाभावाच्चायुक्तमिति भावः। सत्ता स्वव्यतिरिक्तसत्तासंसर्गिणी, सद्व्यवहारविषयत्वात्, घटवत्। न च समवायादौ व्यभिचारः, उक्तहेतुनैव साध्यसंप्रतिपत्तेस्तत्रापि सुकरत्वादित्याशंक्याह ❀ सत्तेति ❀। अनन्तसत्तास्वनुगतसद्व्यवहारतद्बुद्ध्योरनुगतसत्त्वान्तरमूलत्वे तस्मिन् तासु च तदुपपत्तये सत्त्वान्तरं स्वीकार्यमिति सत्तानवस्था। सत्तासु तद्बुद्धिव्यवहारयोः स्वरूपमात्रमूलत्वे घटादिव्यावृत्तस्वरूपाणामेव सद्व्यवहाराद्युपपादकत्वसंभवेन प्रथमाऽपि सत्ता न स्यादिति सत्त्ववृद्धिमिष्टवतो मूलमपि सत्त्वं नष्टमिति महती विपदापन्नेत्यर्थः।

ननु मा भूदनुगता सत्ता, प्रमाणयोग्यं स्वरूपं तत्सम्बन्धो वा सत्तेत्यभ्युपगमादित्याशंक्याह ❀ न चेति ❀। स्वरूपाणां व्यावृत्तत्वादनुगतसद्बुद्धिव्यवहारनिदानत्वं न स्यात्। अचाक्षुषत्वं च सत्त्वस्य स्यादित्याशयः। सत्त्वं सद्बुद्धिव्यवहारनिदानम् व्यावृत्तमनुगतं वा, विशेषणायोगात् इत्याशंक्याह ❀ भिन्नानिति ❀। अनुगतबुद्ध्यादिराधीयतेऽस्मिन्नित्यनुगतबुद्ध्याद्याधानम्, तत्पदे तत्प्रवृत्तिगोचरे तत्स्थान इति यावत्। गवादिव्यक्तीनामेव गौर्गौरित्यनुगतबुद्ध्यादिनिदानत्वसंभवाज्जातिमात्राय जलांजलिर्दीयेतेयर्थः। नन्वनुगतसद्बुद्ध्यादेः सामान्यसत्त्वमेवालम्बनमस्तु स्वरूपसत्त्वस्य कारणत्वोपयोगिनो मा भूदनुगतिः, ततः को दोषस्तत्राह ❀ मा भूदिति ❀। तद्गर्भिणीं स्वरूपसत्त्वविशिष्टां कारणतां कथमनुगमयि-

---

विशिष्ट में मानने पर अनवस्था होती है।

शङ्का—सत्ता जातियाँ अनन्त हैं, एक सत्ता से विशिष्ट में दूसरी और दूसरी सत्ता से विशिष्ट में तीसरी सत्ता—इस प्रकार व्यवस्था करने पर कोई दोष नहीं।

समाधान एक सत्ता से काम नहीं चला, तब दूसरी और दूसरी से काम न निकला, तब तीसरी—इस प्रकार पैर फैलाने से भी जान नहीं बच सकती, क्योंकि द्वितीयादि सत्ताओं से विशिष्ट अनन्त पदार्थों में प्रथम सत्ता यदि नहीं रहती, तब उन अनन्त पदार्थों में न 'सत्'—ऐसी बुद्धि होगी, न सद्व्यवहार और न उनका अनुगम हो सकेगा। यदि उसके विना भी सब कुछ निभ जाता है, तव उसके मानने की क्या आवश्यकता? वह नितान्त व्यर्थ है—इस प्रकार वृद्धि की जिस कामना से आप दौड़े, वह वृद्धि तो दूर अपनी मूलभूत प्रथम सत्ता भी खो बैठे—यह तो महान् कष्ट की बात हो गई।

शङ्का—जातिरूप सत्ता न मान कर प्राभाकरादि के अनुसार स्वरूप सत्ता मानने पर आत्माश्रयादि दोष नहीं होते।

समाधान—स्वरूप सत्तायें वस्तुओं के अनन्त स्वरूपों के अनुरूप भिन्न-भिन्न होती हैं। उन्हीं अनन्त अननुगत सत्ताओं को यदि सत्-सत्—इस प्रकार अनुगत बुद्धि का नियामक माना जाता है, तब संसार में कोई भी जाति सिद्ध न हो सकेगी, क्योंकि अनुगत बुद्धि का नियमन करने के लिए ही घटत्वादि जातियाँ मानी जाती हैं, जब अनन्त अननुगत स्वरूपसत्त्वादि धर्मों

तद्गर्भिणीं कारणतां कथमनुगमयिताऽसीति ।

किञ्च स्वरूपसत्त्वं स्वरूपाद् घटाद्यात्मनो नाधिकम् , असतोऽपि स्वरूपं स्वरूपमेव । न हि असन् घटादिर्न घटादिः; तथासति 'घटादिर्न' इत्यपि न स्यात् , असतोऽघटादित्वात् ।

अथ सदपि सत्तामनन्तर्भाव्य कारणम् , तदानीमसदपि तत्तथास्तु, सत्त्वासत्त्वयोः कारणकोटिप्रवेशाविशेषात् ।

तासि । कारणतानुमानस्य कथं कारयिता स्याः । स्वरूपाणां परस्परं व्यावृत्तत्वादनुगतं कारणं दुःसंपादमस्मिन्पक्षे स्यात् । न च तदपि मा भूदिति वाच्यम्, अनुगततद्बुद्ध्यादेरनालम्बनत्वप्रसङ्गादित्यर्थः ।

स्वरूपशब्दस्य सच्छन्दस्य चार्थभेदे स्वरूपसत्त्वस्य हानिः, अभेदे त्वसतोऽपि कारणत्वमविरुद्धमित्याह ❀ किं चेति ❀ । घटादेरात्मा पृथुबुध्नोदराकारत्वादिस्वरूपमुच्यते । ततोऽधिकं न स्वरूपसत्त्वमस्ति । तच्चेत्कारणम्, असत्स्वरूपमपि कारणं स्यात्, स्वरूपत्वाविशेषादित्याशयः । तदुक्तं कुसुमांजलौ—"भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मत" इति । स्वरूपसत्त्वं कारणमिति स्वीकारे कथमसतः कारणत्वम्, तस्य निःस्वरूपत्वादित्याशंक्याह ❀ असत इति ❀ । बाध्यत्वमेव ह्यसत्त्वम् , न स्वरूपशून्यत्वम् । यदि सत्त्वस्वरूपेण शून्यत्वान्निःस्वरूपत्वं विपरीतमेव तर्हि किं न स्यादित्यर्थः । यथाहोदयनः —"न ह्यभावस्याकारणत्वे प्रमाणमस्ति, न हि विधिरूपेणासौ तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा, निषेधरूपाभावे विधेरपि तुच्छत्वप्रसंगादिति" । असतो घटादित्वमेव नास्ति, असत्त्वात्, शशशृंगवदित्याशंक्याह ❀ न हीति ❀ । वैपरीत्येऽपि पर्यनुयोगसाम्यादिति भावः । अप्रसिद्धप्रतियोगिकप्रतिषेधायोगादसतः प्रतिषेधप्रतियोगित्वेनासन् घटादिरेष्टव्य इत्याह ❀ तथासतीति ❀ । तदुक्तं कुसुमांजलौ—"निषेध्यासिद्धेर्निषेधस्याशक्यत्वादिति" ।

एवं तावत् सत्ताविशिष्टं कारणमिति पक्षेऽसदेव कारणमित्युपपाद्येदानीं तदुपलक्षितं कारणमित्यप्युपपादयितुमनुभाषते ❀ तथेति ❀ । सद्वदसदप्यसत्त्वमनन्तर्भाव्य कारणमस्त्विति सिद्धान्तयति ❀ तदानीमिति ❀ ।

से ही अनुगत बुद्धि हो जाती है, तब उसके लिए जाति मानना व्यर्थ है । एक स्वरूप सत्त्व यदि सभी कारणों में अनुगत नहीं, तब सत्कारणता का अनुगम क्योंकर होगा ?

दूसरी बात यह भी है कि [आप (नैयायिक) जो कहते हैं कि स्वरूपसत् ज्ञान व्यवहार का कारण है, वह हमारे (खाण्डनिक के) असत्कारणवाद में ही पर्यवसित हो जाता है, क्योंकि] 'स्वरूपसत्त्व' घटादि वस्तु के स्वरूप से अतिरिक्त कुछ भी नहीं । सत् घटादि का स्वरूप जैसे स्वरूप है, वैसे ही असत् घटादि का स्वरूप भी स्वरूप ही है, क्योंकि असत् घटादि भी घटादि ही रहते हैं, अघटादि या भूतलादि नहीं हो जाते, अन्यथा 'घटादिर्न'—यह व्यवहार भी नहीं हो सकेगा । [आशय यह है कि जैसे 'घटः सन्'—यहाँ पर घटस्वरूप के उद्देश्य से सत्त्व का विधान किया जाता है, वैसे ही 'घटादिर्न' या 'घटादिरसन्'—आदि व्यवहारों में घटादि स्वरूप के उद्देश्य से असत्त्व का विधान होता है, यदि घटादि घटादिस्वरूप ही नहीं रहे, तब किसके उद्देश्य से असत्त्व का विधान होगा ? फलतः असत् ज्ञान भी स्वरूपतः ज्ञान है, उसे व्यवहार का कारण मानने पर अधिकरण सिद्धान्त के द्वारा असत् ज्ञान में कारणता पर्यवसित होती है] ।

सत्ता-विशिष्ट को कारण न मानकर सत्तोपलक्षित पदार्थ को कारण मानने पर असत् पदार्थ में भी कारणता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि वह भी सत्ता से उपलक्षित होता है । यह स्मरणीय है कि असत्कारणवाद में असत् पदार्थ को जो कारण माना जाता है, उसका तात्पर्य सत्त्व और असत्त्व—उभय धर्मों से अघटित वस्तु मात्र की कारणता के प्रतिपादन में होता है, अतः 'सत्त्व' के समान 'असत्त्व' धर्म को लेकर कथित दोषों का प्रत्यावर्तन हम (वैतण्डिक)

अथ सत्ता न कारणकोटिनिविष्टा, किन्तु कारणत्वं सत्त्वम्, नियतपूर्वसत्तां हि कारणतां मन्ये इति मन्यसे; तर्हि मत्पक्षेऽपि सैव कारणताऽस्तु। तर्हि कारणस्य सत्तामभ्युपगतवानसीति घट्टकुट्यां प्रभातमिति चेन्न,

भावानवबोधात्। सत्तामसतीमभ्युपगच्छताऽपि सत्ताऽभ्युपगतैव। अन्यथा काऽसौ असतीति। त्वमपि किं सत्तां तत्सत्तामन्तर्भाव्य कारणत्वमिच्छसि ? न त्वेवम्; पूर्ववत् क्वापि सत्तात्यागो वा अनवस्थायां वा पर्यवसानं स्यात्।

कारणत्वस्य भावत्वेन व्याप्तत्वात् तन्निवृत्तौ तदपि निवर्तत इति शंकते ॐ अथेति ॐ। तद्व्याप्यत्वं तदभाववन्निष्ठात्यंताभावप्रतियोगित्वम्। अत एकत्वेऽपि न विरोधः। सत्त्वे सन्त्राभावादसत्त्वसमन्तदित्यभिसन्धिमुपगृह्य परिहरति ॐ तर्हीति ॐ। असतः कारणत्वं नोपपद्यते सत्त्वस्यैव कारणत्वादिति शंकाग्रन्थार्थं इति केचित्।

बलान्निगृहीतोऽसावसद्वादीति सोपहासं शंकते ॐ तर्हीति ॐ। शौल्किकभयान्निशायां मार्गांतरेण गच्छतः क्षपितनिशस्य घट्टकुट्यां शुल्कशालायां यथा प्रभातं कस्यचिद्वंचकस्य, तथा तव सद्वादापत्तिभयात् भाषान्तरेण वंचयतोऽपि सद्वाद आपन्न इत्यर्थः। स्वाभिप्रायम्प्रकटयन् परिहरति ॐ नेति ॐ। 'भावानवबोधात्' सत्त्वानवगमात्। सत्त्वस्य कारणधर्मत्वाङ्गीकारेऽपि तस्य सत्त्वान्न सत्कारणत्वव्याघात इति भावः। सत्ता न सतीति व्याघात इत्याशंक्याह ॐ सत्तामिति ॐ। यद्वा 'भावानवबोधात्' अभिप्रायापरिज्ञानादित्युक्तम्, तमभिप्रायमाह। सत्तां कारणतामसतीमभ्युपगच्छताऽसद्वादिना पूर्वक्षणे स्वरूपसत्ताभ्युपगतैवेति यावत्। सत्तायां सत्तान्तराभावेऽपि सत्ता सतीति यथा न व्याघातस्तथा मन्मते सत्ता न सतीति न व्याघात इत्यर्थः। ननु मानसम्बन्धं तद्योग्यत्वं वा विना सत्तैव नास्ति तस्यां सत्तांतरस्वीकारेऽनवस्थानादित्याशंक्याह ॐ अन्यथेति ॐ। सत्तोद्देशेनासत्त्वोपादाने तद्धर्मित्वेन सत्ता स्वीकृतेति भावः। ननु यद्यपि सत्ता स्वीक्रियते त्वया तथाऽपि तत्सत्ता त्वया नांगीक्रियते मया पुनः सत्तायामपि सत्तान्तरं स्वीक्रियत इति मम सत्ताभ्युपगमेऽपि न तव तदभ्युपगमसम्भव इत्याशंक्याह ॐ त्वमपीति ॐ। नियतप्राक्सत्त्वं कारणत्वम्। तस्य च सत्तान्तरमिच्छंस्त्वमपि तत्सत्तामन्तर्भाव्य कारणत्वमिच्छस्यनन्तर्भाव्य वा ? द्वितीये कारणमसदेव स्यादिति बहिरेव दूषयित्वा प्रथमकल्पमनुवदति। तस्याः सत्ता तत्सत्ता, तां प्रथमसत्तायामन्तर्भाव्य प्रथमसत्तां कारणतामिच्छसीति यावत्। तदंगीकरोति सद्वादी ॐ नन्विति ॐ। अपरापरसत्तानिवेशने सत्तानवस्थानम्, अनिवेशने तत्प्रभृत्यामूलमसत्तापत्तिरिति प्रागीरितपरिहारं स्मारयति ॐ पूर्ववदिति ॐ।

पर नहीं हो सकता।

शङ्का—हम (नैयायिकगण) कारण-कोटि में सत्ता का प्रवेश नहीं करते, तथापि असत्कारणवाद प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि कारणत्व को सत्त्वस्वरूप ही माना जाता है अर्थात् दण्डादिगत नियमतः घटाव्यवहितपूर्व सत्त्व ही कारणत्व पदार्थ है। आप (खाण्डनिक) को भी कारणत्व का यही स्वरूप मानना होगा, फलतः कारणादि की सत्ता मानना अनिबार्य हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी घाट पर अवस्थित चुंगी-घर से बचने के लिए दूसरे मार्ग से अपना माल लेकर चल पड़ता है, रातभर चलता रहा, सबेरा होते ही देखता क्या है कि वह उसी चुंगी-घर पर खड़ा है, वैसे ही आप (खाण्डनिक) ने भी जिस सत्ता से बचने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया, अन्ततो गत्वा वही सत्ता माननी पड़ी।

समाधान—हमारे (खाण्डनिक के) वक्तव्य का भाव आप नहीं समझ पाए। हम सत्ता को अवश्य मानेंगे किन्तु असती सत्ता को। असती सत्ता का अभ्युपगम ही यदि आप (नैयायिकों) का सत्कारणवाद है, तब हमें कोई आपत्ति नहीं। आप (नैयायिक) भी जिस सत्त्व या सत्ता को कारणता पदार्थ मानते हैं, उसमें क्या सत्तान्तर का प्रवेश करना चाहते हैं ?

असत्त्वाविशेषात् कारणनियमः कथं स्यादिति चेन्न, सत्त्वाविशेषेऽपि तुल्यत्वात्।

सत्त्वेऽस्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधानं तस्य, तज्जातीयस्य वा। त्वत्पक्षे तु असत्त्वाविशेषाद् व्यतिरेकः। परं सोऽप्यनियतः, यदा कारणाभावस्तदा कार्याभावावश्यम्भावानभ्युपगमात्, नित्यासतः कारणस्यासत्त्व एव कदाचित्कार्योत्पादात्। अन्वयस्तु न क्वचिदपीति चेन्न, तुल्यत्वात्। अन्वयो नास्तीत्यभ्युपगच्छताऽप्यन्वयोपगमात्। अन्वयस्यापि सत्तान्तर्भावने कथितदोषापत्तेः।

असत्कारणत्वे कालानियतिं परिहृत्य कारणानियतिं परिजिहीर्षुः परकीयां शंकामाह ❀ असत्त्वेति ❀। सत्त्वाविशेषेऽपि यथा कमलकंदलयोः कमलांकुरः कमलबीजादेव न पुनः कंदलादिति नियमस्तव तद्वदसत्त्वाविशेषेऽपि नियम इति परिहरति ❀ नेति ❀।

यस्मिन् सत्येव यद्भवति नासति तत्तस्य कारणमित्यन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावो नियम्यत इति शंकते ❀ सत्त्वेऽस्तीति ❀। क्षणिकज्वालादिसंग्रहार्थं तज्जातीयस्येत्युक्तम्। अस्तु तर्हि ममाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तन्नियम इत्याशंक्याह ❀ त्वदिति ❀। कारणयोः सत्त्वानभ्युपगमान्नास्तीति व्यतिरेकः केवलं संभवति। बीजे सत्यंकुरो भवतीत्यन्वयज्ञानं दुर्घटमित्यर्थः। व्यतिरेकादेव तर्हि कारणनियमोऽस्त्वित्यत आह ❀ सोऽपीति ❀। कारणाभावस्य कार्याभावेनाविनाभावानभ्युपगमादिति हेतुमाह ❀ यदेति ❀। अवश्यंता अवश्यंभावस्तदेव कुत इति तत्राह ❀ नित्येति ❀। यदा शाल्यंकुरो जायते ततो बीजासत्त्व एव जायते तदसत्त्वस्य नित्यत्वादित्यर्थः। कार्यभावस्य कारणभावेनाविनाभावोऽन्वयः, स न संभवति कार्यकारणभावानभ्युपगमादित्याह ❀ अन्वयस्त्विति ❀। व्यतिरेकः परमित्यत्रोक्तव्यावर्त्यान्वयस्वरूपन्दर्शितमिति न पौनरुक्त्यमिति द्रष्टव्यम्।

प्रतिबंदीग्रहेण परिहरति ❀ नेति ❀। नियतपूर्वभाविसत्त्वस्य व्यावहारिकस्य स्वीकारादन्वयोऽपि तुल्य इत्यर्थः। यद्वा सत्ताविशिष्टस्य तदुपलक्षितस्य च सत्त्वाभावादन्वयाद्यभावस्तवापि तुल्य इत्यर्थः। एवं साम्यमापाद्याधुना स्वपक्षेऽधिकम् इत्याह ❀अन्वय इति❀। असतोऽन्वयो नास्तीति वदन्नेवान्वयमंगीकुरुतेऽप्राप्तप्रतिषेधायोगात्। प्राप्तिरपि क्वचित्सत इति भवन्नियमादिति भावः। पूर्वं सदन्वयमभ्युपगम्याभाणि, स एव संप्रति न संभवतीत्याह ❀ अन्वयस्येति ❀। कार्यकारणभावं नियमयन्नन्वयः सत्ताविशिष्टस्तदुपल-

---

वह कदापि सम्भव नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से आपको किसी-न-किसी कक्षा में पहुँच कर घटकीभूत सत्ता का परित्याग करना होगा, अन्यथा अनवस्था पिशाची के चंगुल से छुटकारा नहीं मिलेगा।

शङ्का – घटोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में जैसे घट की सामग्री का असत्त्व है, वैसे ही पटादि की भी सामग्री का असत्त्व है, तब दण्डादि का असत्त्व ही घट का कारण है, तन्त्वादि का असत्त्व नहीं—इस प्रकार का कारण-नियम असत्कारणवाद में क्योंकर सम्भव होगा?

समाधान—सत्कारणवाद में भी कार्य के जन्म-से पूर्व अनेक पदार्थ सत् होते हैं, उनमें कुछ ही पदार्थ किसी कार्य के कारण होते हैं, सब नहीं—यह क्यों? इस प्रश्न का आप (सत्कारणवादी) जो उत्तर देंगे, वही हमारा भी समझा जा सकता है।

शङ्का—सत्कारण के साथ कार्यकारणभाव का नियामक कार्य-कारण का अन्वय-सहचार (यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम्) और व्यतिरेक-सहचार (यदभावे यदभावः) दोनों घट जाते हैं, अतः सत्कारणता न्याय्य है, असत्कारणवाद नहीं, क्योंकि आपके मत (असत्कारणवाद) में सत्त्व-सापेक्ष अन्वय-सहचार तो बिलकुल सम्भव नहीं। कार्य और कारण के असत्त्व पक्ष में व्यतिरेक-सहचार ही हो सकता है, किन्तु वह अकेला कार्यकारणभाव का नियामक नहीं होता अर्थात् यदा कारणाभावः तदा कार्याभावः'—ऐसा आवश्यक नहीं, क्योंकि नित्य असद्भूत कारण के

एतेन—
'आशामोदकतृप्ता ये ये चोपार्जितमोदकाः ।
रस-वीर्य-विपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते ॥'

इत्यस्यापि बाधकत्वमाशामोदकायते। सत्तान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां प्रत्यादेशात्, आशामोदकादिनाऽपि च रसवीर्यविपाकादिजननात्। तदसत्कथं कार्यं स्यादिति

क्षितो वा ? आद्ये तत्र सत्तांतरवृत्तावनवस्थानम्, अवृत्तावसत्त्वम् । उपलक्षितत्वेऽप्यसत्त्वमुपलक्षणस्य बहिर्भावात् नहि काकोपलक्षितं सद्म काक इति युज्यत इत्यर्थः ।

एवं कारणनियममुपपाद्य चोद्यांतरमप्येवं सति निरस्तं भवतीत्याह । ॐ एतेनेति ॐ । आशया कृतानि मोदकान्याशामोदकानि, मनोराज्यविजृम्भितानीति यावत् । तैस्तृप्ता इत्यर्थः । रसो मधुराम्लादिः । वीर्यमोषधिगतः शक्तिविशेषः । शीतवीर्या हि पिप्पलीत्यादिः । विपाकः परिणामः कटुत्वादिः । आदिशब्देन रसकार्यपुष्ट्यादिग्रहः । असतः कारणत्वे सत्याशामोदकतृप्तानामुपार्जितमोदकानां च रसवीर्यादि तुल्यं प्रसज्यत इत्यस्य प्रसंगस्यासत्पक्षे बाधकत्वमाशामोदकवदाचरतीत्यर्थः । ॐ एतेनेति ॐ परामृष्टमेव हेतुं स्पष्टयति । ॐ सत्तेति ॐ । अस्य प्रसंगस्य सत्कारणत्वे विपर्ययपर्यवसानं वाच्यम्, तस्य सत्ताविशिष्टस्योपलक्षितस्य वा कारणत्वस्य खंडितत्वात् । विपर्ययापर्यवसायी प्रसंगाभासोऽयमित्यर्थः । स्वप्नेन कल्पितादेव कार्यजननादिष्टापत्तेश्च प्रसंगाभास इत्याह ॐ आशेति ॐ ।

एवमसतः कारणत्वमापाद्येदानीमसतः कार्यत्वमापादयितुं चोद्यमुद्भावयति *तदिति* । प्रागसतः

न होने पर ही कदाचित् कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है ['कपालाद्यभावे घटाभावः' —इस प्रकार का व्यतिरेक सहचार व्यभिचरित है, क्योंकि कारण-कलाप का नाश हो जाने पर भी एक क्षण के लिए कार्य की अवस्थिति मानी जाती है] । अन्वय-सहचार प्रायः व्यभिचरित नहीं माना जाता, किन्तु वह असत्कारणवाद में हो ही नहीं सकता—यह कहा जा चुका है ।

समाधान—[यह ऊपर कहा जा चुका है कि कारणकोटि में सत्त्व का प्रवेश नहीं किया जा सकता, अतः सत्त्व-पक्ष में कार्य और कारण का जैसे अन्वय-व्यतिरेक होता है, वैसे ही तुल्यरूप में असत्त्व-पक्ष में भी हो सकता है । सत्त्व का प्रवेश करके जैसे अन्वय व्यतिरेक असत्कारणवाद में नहीं होता, वैसे ही सत्कारणवाद में भी नहीं हो सकता । आप (नैयायिक) ने जो 'अन्वयो नास्ति'—ऐसा कहकर हमारे (खाण्डनिक) के मत में अन्वय का निषेध किया है, निषेध सदैव प्राप्तिपूर्वक होता है, अतः आप की वह निषेध-भङ्गी ही यह सिद्ध कर रही है कि हमारे पक्ष में भी अन्वय-सहचार सुलभ है [यदि 'यस्य सद्रूपस्य सत्त्वे यस्य सतः सत्त्वम्'—इस प्रकार का अन्वय अभिमत होता, तब अवश्य ही असत्कारणवाद में वह सम्भव नहीं था, किन्तु वैसा मानने में सत्त्व-परम्परा का अनुसरण करने पर अनवस्था-प्राप्ति की चर्चा ऊपर की जा चुकी है, अतः 'यद्विद्यमाने यद्विद्यते'—ऐसा ही अन्वय मानना होगा, वह तो दोनों मतों में समान है] ।

शङ्का—यदि असत्कारण से भी कार्य की निष्पत्ति मानी जाती है, तब स्वप्न के आशामोदक (कल्पित मोदक) और जाग्रत् के वास्तविक मोदकों के खाने से शरीरगत रस-वीर्य-विपाकादि की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए, किन्तु होता है—असली लड्डुओं के खाने से रस, रुधिर, वीर्य, मांसादि की वृद्धि होती है, किन्तु मनोराज्य के लड्डुओं से कुछ भी नहीं होता ।

समाधान—हमारे असत्कारणवाद का बाध करने के लिए जो यह युक्ति प्रदर्शित की, वह भी आशामोदक के समान ही सार-हीन है, क्योंकि जैसे व्यावहारिक सर्प-दंश से मनुष्यों की मृत्यु होती है, वैसे ही प्रातिभासिक सर्प-दंश से भी मृत्यु देखी जाती है । आशामोदकादि

५

वेद्य, सत्तामन्तर्भाव्य कार्यत्वोपगमे कारणवत्कार्येऽपि उक्तदोषस्य, अनन्तर्भावे वाऽविशेषस्य पूर्ववदावृत्तेः। तस्मात् —

पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूत-सत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥ ५ ॥

आस्तां प्रतिबन्दिग्रहाऽऽग्रहः। कथं पुनरसतः कारणत्वमवसेयम् ? प्राक्सत्त्व

सत्तासमवायो जनिः, कारणसमवायो वा। तदसतः कथं स्यादित्याशयः। परिहरति ❀ नेति ❀। सत्कार्यवादी प्रष्टव्यः—सत्तामन्तर्भाव्य कार्यत्वमनन्तर्भाव्य वा ? आद्ये स्वविशिष्टे स्ववृत्त्यभावात्कारणत्वस्येवासत्त्वम्। द्वितीयेऽप्यसदप्यसत्त्वं वहिर्भाव्य कार्यमस्त्वित्यविशेषापत्तिरित्यर्थः। कारणकोटौ सत्तामन्तर्भाव्य कारणत्वोपगमे कारणवत्तामन्तर्भाव्य कार्यत्वोपगम उक्तदोषस्यावृत्तेः। अनंतर्भावे चावयोरविशेषस्य पूर्ववत्कारणवदावृत्तेरिति योजना।

यस्मादुन्नीतनीत्यासत्त्वं कारणकोटिनिविष्टं न भवति ❀ तस्माविति ❀ उपसंहरति। 'नौ' आवयोः। सदसद्वादिनोः पूर्वकालसंबन्धनियमहेतुत्वे तुल्ये सति सद्वादे कारणत्वं घटते नासद्वाद इति हेतुत्वानुपयोगिनो सत्त्वासत्त्वचिंता वृथेत्यर्थः।

स्वपक्षे दोषमपरिहृत्य परपक्षे तं प्रसंजयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं स्यात् 'स्वपक्षदोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोषप्रसंगो मतानुज्ञेति' सूत्रकारवचनादिति चोदयति। ❀आस्तामिति❀। सत्त्वाविशेषात् सतः

से भी रस-वीर्य-विपाकादि होते हैं और व्यावहारिक मोदक से भी अन्तर केवल इतना है कि असत्कारण से असत्कार्य और सत्कारण से सत्कार्य होता है। 'असत् कथं कार्यम् ?'—इस प्रश्न का भी वैसे ही समाधान कर देना चाहिए, जैसे 'असत् कथं कारणम् ?'—इस प्रश्न का उत्तर विस्तार से दिया जा चुका है कि सत्ता का कार्य में अन्तर्भाव मानने पर अनवस्था और न मानने पर असत् को भी कार्य माना जा सकता है, अतः

पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥

[अर्थात् कारण तत्त्व को न सत् कह सकते हैं और न असत्। केवल इतना कहा जा सकता है कि जो कार्य के अव्यवहित पूर्व में नियमतः रहता है, वह कारण और कारण के अव्यवहितोत्तर में जो होता है, उसे कार्य कहा जाता है। यह कार्य-कारणभाव हमारे (खाण्डनिक) और आप (नैयायिकादि) के मत में समान रूप से आदरणीय है, कारण या कार्य में अनुपयुक्त सत्त्व या असत्त्व के प्रवेश पर शास्त्र-चर्चा करनी व्यर्थ हैं]।

शङ्का—अभी तक आप (खाण्डनिक) हमारे आक्षेपों का समाधान जिस प्रतिवन्दी की रीति से करते रहे [प्रतिवादी की वह उत्तर पद्धति प्रतिबन्दी कहलाती है, जिसमें वादी के आक्षेपों का प्रत्यावर्तन वादी के मत पर ही प्रतिवादी कर देता है और वादी के समाधानों को अपने समाधानों के रूप में प्रस्तुत करता और अपने मतानुसार उन्हें ढालता (घटाता) जाता है। ऐसी अवस्था में मध्यस्थ को कहना पड़ता है कि

"यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकस्तत्र नियोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥" (श्लो० वा० पृ० ३४१)

श्री मधुसूदन सरस्वती ने ऐसे वादी का उपहास करते हुए कहा है—"नूनं विवाहसमये यदेव भवतां गोत्रम्, तदेवास्माकमिति वदतो वरस्य भ्राता भवान्" (न्या. अद्वै. पृ. ९९) अर्थात् विवाह के समय श्वशुर ने अपने जामाता से पूछा—आपका गोत्र क्या है ? वह इसके उत्तर में कहता है कि 'जो आपका गोत्र है, वही हमारा'। यह स्मरणीय है कि समानगोत्र में विवाह नहीं होता, अतः प्रतिबन्दी अपनाने वाला व्यक्ति उक्त वर के समान असंगताभिधायी मात्र

नियमस्य विशेषस्यानभ्युपगमाद्, असत्त्वस्य चाविशेषादिति चेन्न ; 'इदमस्मान्नियत-प्राक् सद्' इति बुद्ध्या विशेषात् ।

भ्रान्तैवंबुद्धिगोचरेऽतिप्रसङ्ग इति चेन्न, यादृश्या हि धिया त्रिचतुरकक्षाबाधाऽनवबोधविश्रान्तया वस्तुसत्त्वनिश्चयस्ते, तादृश्यैव विषयीकृतस्य ममापि कारणता-निश्चयः । केवलं ततः परास्वपि कक्षासु बाधात् पूर्वपूर्वभ्रान्तिसम्भवेन न तावता

कथं कारणत्वमित्यादिरूपप्रतिबंदीग्रहः । द्वितीयग्रहोऽभिनिवेशः । मानाभावादसतः कारणत्वमवगंतुमशक्य-मित्याह ❀ कथमिति ❀ । सतः कारणत्वगमकमसतोऽपि भवतीति नेत्याह ❀ प्रागिति ❀ । इदमस्मान्निय-तप्राक्सदिति यत्र बुद्धिस्तत् कारणत्वेन व्यवह्रियते, तच्च त्वया नानुमन्यते इत्यर्थः । सतः प्राक्सत्व-वदसतः प्रागसत्वं कारणत्वगमकमिति नेत्याह ❀ असत्त्वस्येति ❀ कारणाकारणयोर्विशेषवत्त्वे असत्त्व-हानेरित्यर्थः ।

असतः स्वरूपविशेषेऽपि बुद्ध्यैव विशेषोऽसिद्ध इति परिहरति ❀ नेति ❀ । इदमस्मान्नियतप्राक्-सदिति बुद्धिगोचरत्वं कारणत्वगमकं ममापीत्याशयः ।

जगतो नियतप्रागसदिति बुद्धिः कापिलानां प्रधानेऽस्ति । न च तज्जगत्कारणमतोऽतिव्यापकं लक्ष-णमिति शंकते ❀ भ्रांतेति ❀ । "तवापि प्रतीतिमात्रं प्राक् सत्वव्यवस्थापकम्, उतात्यन्ताबाधितप्रतीतिः । आद्ये प्रसंगसाम्यम् । द्वितीये देशकालान्तरभाविबाधाभावस्य प्रकृतानवसेयत्वादसिद्धिस्त्रिचतुरकक्षाबाधित-येति चेत्, ममापि तर्हि तादृश्येव विषयीकृतस्य कारणत्वनियम इत्याह ❀ न, यादृश्येति ❀ । ❀ केवल-मिति ❀ । वस्तुशून्य इत्यर्थः । प्रथमोत्पन्नप्रतीतेरसंजातविरोधितया प्राबल्यात्तद्बललभ्यसत्वमेव किं नास्थीयते इत्यत्राह ❀ तत इति ❀ । निरपेक्षोत्तरप्रत्ययविरोधान्न सत्त्वमिति भावः । परपक्षात्स्वपक्षस्य विशेषं दर्शयतीति केचित् । त्रिचतुरकक्षासु यन्न बाध्यते तत्कालान्तरे न बाधिष्यत इति संभावनास्पदन्त-त्राह ❀ परेति ❀ । बह्वीषु भूमिषूपलब्धस्यापरसिद्धांतध्वांतस्यान्ययुक्तिबाध्यत्वेनासत्त्वमुपगम्यत इत्यर्थः ।

होता है, अतः प्रतिवन्दी उत्तर से सन्तुष्ट न होकर नैयायिक कहता है कि] उस प्रतिबन्दी को छोड़कर असत् वस्तु में कारणता-नियामक विशेषता का प्रतिपादन करना चाहिए । असत् वस्तु के लिए 'कार्याव्यवहितपूर्व सत्त्व' नहीं कहा जा सकता । केवल असत्त्व सर्वत्र (कारणा-कारण में) रहने के कारण कारणता का नियामक नहीं हो सकता ।

समाधान—'इदमस्मात् नियतप्राक्सत्'—इस प्रकार के ज्ञान को विषयता दण्डादि कारणों में होती है, वही कारणता की नियामक है, वह न तो सभी सत्पदार्थों में रहती है और न सभी असत् पदार्थों में, किन्तु किसी-न-किसी कारण पदार्थ में ही होती है, अतः कारणता की अवच्छेदिका मानी जाती है ।

शङ्का—रासभः घटात् प्राक् सन्—इस प्रकार (भ्रान्तपुरुष) की भ्रमरूप बुद्धि के विषयीभूत रासभादि में घटादि की कारणता अतिप्रसक्त (अतिव्याप्त) होती है, क्योंकि रासभ के द्वारा लाई गई मिट्टी से बने घट की कारणता रासभ में होने पर भी घटत्वेन निखिल घटों की कारणता उसमें नहीं मानी जाती, फिर भी वहाँ कारणता का नियामक धर्म होने के कारण घट की कारणता प्रसक्त होती है ।

समाधान—कथित 'बुद्धि' पद से व्यवहारकालाबाधित बुद्धि विवक्षित है, अर्थात् तीन-चार कक्षाओं तक की (प्रथम बुद्धि द्वितीय से, द्वितीय बुद्धि तृतीय से और तृतीय बुद्धि चतुर्थ बुद्धि से इस प्रकार) बुद्धि परम्परा से ऐसी अबाधित बुद्धि विवक्षित है, जिस के द्वारा आप (नैयायिकों) को वस्तु-सत्त्व का निश्चय होता है, वैसी बुद्धि की विषयता को हम कार-णता का नियामक मानते हैं, रासभ में वसी बुद्धि की विषयता नहीं, अपि तु तादृश बाधित बुद्धि की विषयता रहती है, अतः वहाँ कारणता अतिव्याप्त नहीं होती । अन्तर केवल इतना

सत्त्वावधारणं वयं मन्यामह इति विशेषः।

परदर्शनसिद्धान्तस्य भूरिकक्षाधाविनोऽपि ततः परकक्षाबाध्यमानत्वेन अतथाभावोपगमात्। अन्यथा एकदर्शनपरिशेषः स्यात्।

एतेन—असत्त्वाविशेषेऽपि कथं कस्यचित्पक्षस्य त्रिचतुरकक्षाधावित्वाधावित्वमास्तामित्यपि निरस्तम्।

अनेवंबुद्धिविषयतादशायां को विशेष इति चेत्, यदा कदापि तादृशबुद्धिविषयतैव। अन्यथा कथय कथमन्यदातनतादृशबुद्धिविषयतया अन्यदा सत्त्वं स्यात्। तदा

विपर्यये बाधमभिधत्ते ❀ अन्यथेति ❀। प्रामाणिकः सिद्धांत इति नियमात्परदर्शनसिद्धांतः प्रतीतोऽबाधितश्च यदि तदा सर्वे सर्वैः स्वीकार्या इति दर्शनभेदो न भवेदिति भावः।

स्वपरपक्षयोरसत्त्वमविशिष्टं चेत्, कथं कतिपयकक्षासु स्वपक्षोऽबाधित आस्तामित्यत आह ❀ एतेनेति ❀। व्यवहारविसंवादिबुद्धिकृतोऽसतो विशेष इत्युक्तन्यायेन निरस्तम्। यथा हि सत्त्वाविशेषेऽपि परस्य बुद्धिकृतं विशेषमुपादाय परपक्षस्य सतोऽपि निरासः स्वपक्षस्याबाध्यत्वेन स्वीकरणं तद्वदित्यर्थः।

इदमस्मान्नियतप्राक्सदिति बुद्धिगोचरत्वं कारणक्षणत्वं चेत्तर्हि गिरिगुहादिगते बीजादौ नैवं बुद्धिविषयतेति कारणत्वं न स्यादित्यव्याप्तिं शंकते ❀ अनेवमिति ❀। नियतप्राक्सदिति बुद्धिविषयत्वमेवंबुद्धिविषयत्वम्, तदभावकाल इत्यर्थः। यथोत्पन्नक्षणेऽव्याप्तिपरिहाराय गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणमिति लक्षणमुच्यते द्रव्यस्य, तद्वदेवंबुद्धिविषयत्वात्यंताभावानधिकरणत्वं विशेष इति। परिहरति ❀ यदा कदापीति ❀। उत्पन्ननष्टपुत्रस्यानुत्पन्नपुत्रस्य चेदानीमपुत्रत्वे न विशेषस्तद्वदविद्यमानबुद्धिविषयत्वे न विशेषसंभव इत्याशंक्याह ❀ अन्यथेति ❀। यदैवं बुद्धिर्नास्ति तदा पूर्वकालावच्छिन्नतया गृहीतं सत्त्वं

है कि तीन-चार कक्षा तक बाध न होने के कारण आप पारमार्थिक सत्त्व का निश्चय कर लेते हैं, किन्तु तीन-चार कक्षाकों से ऊपर की कक्षाओं में बाध हो जाने के कारण पूर्व-पूर्व ज्ञानों में भ्रान्तिरूपता सम्भव हो जाने के कारण हम सत्त्वावधारण नहीं कर सकते।

किसी वस्तु की वास्तविकता परखने के लिए केवल तीन-चार कक्षाओं तक उसके टिके रहने या वाधित न होने की कसौटी पर्याप्त नहीं, क्योंकि प्रायः यह देखा गया है जि अन्यान्य दर्शनों के सिद्धान्त तीन-चार क्षण की परीक्षा में कसे रहते हैं, किन्तु उसके आगे की कक्षाओं में बाधित होकर विखर जाते हैं। अन्यथा (तीन-चार कक्षाओं तक अबाधित मात्र होने से) उन परकीय दर्शनों की उपादेयता और प्रामाणिकता सभी के लिए ग्राह्य हो जाने के कारण सभी दर्शन दार्शनिकों के लिए समान हो जाते हैं, दार्शनिक मत-भेद न रहने के कारण सभी दर्शनों का अभद या एक दर्शनता शेष रह जाती है।

शङ्का—जब सभी कुछ असत् है, तव किसी सिद्धान्त का तीन-चार कक्षा तक अबाधित और ऊपर की कक्षाओं बाधित हो जाना क्योंकर सम्मव होगा, क्योंकि वाधित और अबाधित सभी पक्ष तो असत् हैं।

समाधान—कोई पदार्थ तीन-चार कक्षा में बाधित होता है और कोई उसके ऊपर की कक्षाओं मं वाधित होता है। जब सभी वाधित हैं, तब यह विशेषता क्यों ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर है कि व्यावहारिक क्षमता में तारतम्य नैसर्गिक है—कोई क्षणभङ्गुर और कोई कुछ टिकाऊ; इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि दोनों नश्वर नहों।

शङ्का—आप (असत्कारणवादी) ने जो कहा कि 'इदमस्मात् प्राक् सत्'—इस प्रकार के ज्ञान की विषयता ही कारणता-निर्णायक है। जब वर्तमान काल में वैसा ज्ञान नहीं होता और दण्डादि पर उस की विषयता नहीं होती, तब कारणाकारण का नियामक कौन होगा ?

समाधान—यह आवश्यक नहीं कि कारण तत्त्व पर विषयता आधान करनेवाला ज्ञान

सत्त्वमन्यदास्थेन गृह्यत इति चेद्, अन्यकालिकमेव तर्हि तत् तदातनकारणत्वोपयोगीति समानम् । तदेतत् संवृतिसत्त्वमिति गीयते ।

असती सा न विशेषिका, सती सा नेष्टेत्यभिसन्धानेन संवृतिरपि सती नैवेति

तथापि कथं स्यादिति भावः । इदमस्मान्नियतप्रागासीदिति कालांतरस्थबुद्धया बुध्यमानत्वं कारणस्याकारणाद्विशेष इति शंकते ॐ तदेति ॐ । तर्हि कालान्तरे विशिष्टबुद्धिविषयीकृतमिति कालान्तरे गृह्यमाणत्वं कारणस्याकारणाद्विशेष इति तुल्यमिति परिहरति ॐ अन्यकालिकमिति ॐ । सांवृतं सत्त्वमसद्वादिभिर्व्यवहारोपपादकमिष्टम् तद्विरुद्धमिदमुच्यत इति तत्राह ॐ तदिति ॐ । संव्रियतेऽनयेति संवृतिरविद्याऽसत्प्रकाशनशक्तिरिति यावत् । तदुक्तम्—

द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशनाः ।
लोके संवृतिसत्त्वं च सत्त्वं च परमार्थतः ।। इति

संवृतिस्सती ? न वा ? न चेन्न विशिष्टव्यवहारप्रवर्तिका स्यात् । सती चेत् , सर्वशून्यताहानिरित्याशंक्याह ॐ असतीति ॐ । तदुक्तम्—

'संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतो न्वयम् ।
सत्या चेत्संवृतिः केयं मृषा चेत्सत्यता कथम् ।।
सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः ।
विरोधात् न हि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः ।।' इति

तदिदं श्लोकद्वयमम्बेकेन व्याख्यातम्—"न हि संवृत्तिपरमार्थयोः सत्यत्वं नाम सामान्यम्, एकत्र विरोधादपरत्र पौनरुक्त्यप्रसंगादिति" । बाह्यार्थासत्त्वं योगाचारादेः समानमिति तेऽप्यत्र पूर्वपक्षीकृता

उसी काल में होना चाहिए, अतीतादि ज्ञानों की विषयता भी निर्णायक मानी जाती है। अन्यथा आप (सत्कारणवादी) भी जिस अनुभवात्मक बुद्धि के द्वारा दण्डादि में घटाद्यव्यवहित प्राक्सत्त्वरूप कारणत्व सिद्ध करते हैं, उस बुद्धि के अभाव में सत्त्वात्मक कारणत्व क्योंकर सिद्ध करेंगे, यदि अन्यकालीन बुद्धि के द्वारा वर्तमान काल के सत्त्व का ग्रहण माना जाता है, तव अन्यकालीन बुद्धि का विषयत्व अन्यकालीन कारणता का नियामक माना जा सकता है। इसी ज्ञान-ज्ञेयभावादि को 'संवृत्तिसत्त्व' कहा गया है [आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं—"समन्ताद्वरणं संवृत्तिः, अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वाच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते । परस्परसंभजनं वा संवृतिरन्योऽन्यसमाश्रयेणेत्यर्थः । अथवा संवृतिः संकेतो लोकव्यवहार इत्यर्थः, स चाभिधानाभिधेयज्ञानज्ञेयादिलक्षणः । लोकसंवृत्या सत्यं लोकसंवृतिसत्यमित्युच्यते । न हि परमार्थतः एते व्यवहाराः संभवन्ति" (म० शा० पृ० २१५) । अर्थात् 'इदमस्मात् प्राक्सत्'—इत्यादि लोकव्यवहारों से जो कारणत्वादि सिद्ध होता है, बह संवृति-सत्त्वमात्र है, परमार्थसत्त्व नहीं। विज्ञानवादियों का कहना है कि ज्ञान सत् है और विषय असत् । विषय की असत्ता का संवरण (तिरोधान) और अपने सत्त्व का आरोपण करता है, अतः ज्ञान ही संवृति पदार्थ है, उसका विषयत्व ही असत् पदार्थों में प्रतीत होनेवाला सत्त्व है, किन्तु माध्यमिकगण अविद्या को संवृति कहते हैं और अभिधानाभिधेय , ज्ञानज्ञेयादि समस्त लौकिक व्यवहार उसी अविद्या की देन है, क्योंकि परमार्थ वस्तु उक्त व्यवहार में आ ही नहीं सकती, आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं—"स हि परमार्थोऽपरप्रत्ययः, शान्तः, प्रत्यात्मवेद्य आर्याणां सर्वप्रपञ्चातीतः, स नोपदिश्यते न चापि ज्ञायते" (म० शा० पृ० २१५) । व्यवहार के माध्यम से ही परमार्थ का उपदेश होता है—"व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते" (म० शा० १४।१०')] ।

शङ्का—कारणत्व की विशेषिका 'इदमस्मात् प्राक् सत्'—यह बुद्धि सत् है ? या असत् ? सत् मानने पर अद्वैतवाद भङ्ग होता है और असत् बुद्धि कारणत्व की विशेषिका या नियामिका

पृच्छन् प्रतिवक्तव्यः। विज्ञानं तावद् व्यावहारोपपादकतया द्वाभ्यामप्यनुमतम् तस्यापि जिज्ञासायां त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तगवेषणस्य यदि सत्तोपपन्ना भविष्यति, तदा सता तेनेदमुपपादितं भविष्यति। अथासत्ता तस्य पर्ययसास्यति, तदाऽसतैव तेनेदमुपपाद्यत इति स्वीकर्तव्यम्, भ्रमविषयेणेव भ्रमे विशिष्टताव्यवहारः।

अविचार्यैव तावत्तस्य सदसत्त्वं विचार आरब्धव्यः, अन्यथा प्रथममेव मतिकर्दमे कथारम्भणमशक्यमापद्येत। स्वीकृतं च भवताऽपि भविष्यदादिविषये विज्ञाने

इति तदुदाहरणं कथं प्रतिवक्तुं शक्यः। असतो व्यावर्तकत्वादेस्तेनानंगीकारादित्यत आह ❀ विज्ञानमिति ❀। घटज्ञानाद् घटव्यवहार इति सदसद्वादिनोः संमतमित्यर्थः। विमर्शनपूर्वकं विज्ञानस्य स्वरूपसत्त्वाव्यतिरेकेण व्यावर्तकत्वाद्युपपादयति ❀ तस्येति ❀। कथमस्य सत्त्वमिति जिज्ञासायां तिसृषु चतसृषु कक्षासु विश्रान्तगवेषणमन्वेषणं यस्येति विग्रहः। अनवस्थां परिहर्तुः त्रिचतुरकक्षा विश्रांत्यभ्युपगमे तदारभ्यामूलमसत्त्वापत्तेर्व्यतिरेकाभावात्तत्सत्तावगमस्यैव व्यवहारजनकत्वसम्भवात् न स्वरूपसत्ता विज्ञानस्येति भावः। मा भूत् स्वरूपसत्ता, ततः किमित्यत आह ❀ अथेति ❀। 'पर्यवसास्यति' पर्यवसिता भविष्यति, विचारेण तदाऽसतैव तेन विज्ञानेनेदं व्यवहाराख्यं कार्यमुपपाद्यते इति कर्तव्यमित्यर्थः। विज्ञानमसत्, व्यवहाराविजनकत्वात् शुक्तिरजतसंसर्गवदिति स्वपक्षपर्यवसानमाह ❀ भ्रमेति ❀। शुक्तिरजतसंसर्गज्ञानमिति संसर्गः स्वज्ञानमितरज्ञानाद्व्यावर्तयति। संसर्गावच्छिन्नज्ञानस्य विशिष्टाभिवदनव्यवहारजनकत्वे विशेषणतया संसर्गोऽपि व्यवहारहेतुरिति भावः।

ननु विचार्यमाणे विज्ञाने विज्ञानस्यासत्ता पर्यवसास्यति चेत्तदा विषयपरतंत्रत्वाद्वेदनस्य सुषुप्त्यादौ व्यभिचाराच्च न वस्तुत्वमित्ययमेव विचारो न सिद्ध्यति, विज्ञानसत्त्वमूलत्वादस्यापीत्याशंक्याह ❀ अविचार्येति ❀। विपक्षबाधकेनैतद् द्रढयति ❀ अन्यथेति ❀। सदसत्त्वनिर्णयाधीनश्चेद्विचारारंभः सोऽपि तदधीन इतीतरेतराश्रयात्प्रथमतो मतिकालुष्यपरिहाराय तदन्तेरेणापि विचार्यतामित्यर्थः। सकृद्दर्शनमात्रस्य गोमयपायसीकरणसमत्वात् प्रदर्शिते असतो व्यवहारजनकत्वे व्याप्तिग्रहणभूम्यन्तरमाह ❀ स्वीकृतमिति ❀। भविष्यदाद्यर्थविशिष्टज्ञानस्य व्यवहारजनकत्वे तद्विशेषणत्वेनासतोऽपि व्यवहारहेतुत्वं ज्ञानमात्रस्य तद्धेतुत्वेऽतिप्रसंगात् स्वीकृतमित्यर्थः। भविष्यदादिविषये विज्ञानेऽसतोऽपि विषयस्य विशिष्टज्ञानव्यवहारनिदानत्वं स्वीकृतमिति योजना। एवमसतो व्यवहारजनकत्वे दृष्टान्तमभिधाय व्यावर्तकत्वे दृष्टान्तमाह

नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में संवृत्ति के लिए भी प्रश्न किया जा सकता है कि संवृति सत् है ? या असत्। सत् मानने पर शून्यवाद भङ्ग होता है और असत् संवृत्ति उक्त सत्त्व की विशेषिका नहीं हो सकती।

समाधान—हम दोनों वादियों को व्यवहार-निर्वाहक ज्ञान तो अभिमत ही है। उसकी सत्तासत्ता की जिज्ञासा होने पर तीन-चार कक्षा तक परीक्षित ज्ञान के द्वारा सत्ता यदि उपपन्न होगी, तब सत् ज्ञान के द्वारा यह व्यवहार सम्पादित होगा और यदि उक्त कसौटी पर परखने से ज्ञान की असत्ता सिद्ध होगी, तब असत् ज्ञान के द्वारा ही कारणत्वादि-व्यवहार वैसे ही उपपन्न होगा, जैसे 'इदं रजतम्'—यहाँ पर असत् रजतस्य ज्ञानम्'—इस प्रकार अथवा विषयिता सम्बन्धेन रजतविशिष्ट ज्ञानम्—इस प्रकार विशिष्टता का व्यवहार हो जाता है। यद्यपि अनिर्वचनीय ख्याति के अनुसार रजत असत् नहीं, सदसद्भिन्न माना जाता है, तथापि माध्यमिक की असत्ख्याति में असत् रजत का ही भान माना जाता है]।

निरापद मार्ग तो यही है कि ज्ञान की सत्ता और असत्ता पर विचार न करके ही कथा (शास्त्र-विचार) आरम्भ किया जाय, नहीं तो पहले ही ज्ञान के इस सत्त्वासत्त्व-विचारात्मक दलदल में फँस क रह जायंगे आगे की मुख्य कथा का आरम्भ ही असम्भव हो जायेगा। आप (नैयायिकों) ने भी यह स्वीकार किया है 'इह घटो भविष्यति'—इत्यादि

विशिष्टव्यवहारनिदानत्वमसतो विषयस्य, कारणशक्तेश्च विशेषकमसदेव कार्यम् ।

न च कालान्तरसम्बन्धिनी सत्ता तस्यैकत्र, अन्यत्र नान्यदापतति वैधर्म्यमेतयोरपतति वक्तव्यम् ; विशिष्टव्यवहारप्रवृत्तिसमये द्वयोरप्यसत्त्वाविशेषात् । प्रयोजनानुपयुक्ते काले तस्य स्वरूपतोऽवस्थानं पाटच्चरलुण्ठिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमनुहरति ।

तथापि कालान्तरस्थित्या घटादिकं स्वरूपतः विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नं तद् वि-

---

❀ कारणेति ❀ । यद्वाऽविनाभावबलेन लिङ्गमेव व्यवहारजनकं नासदर्थविशिष्टं विज्ञानमित्याशंक्याह ❀ कारणेति ❀ । कस्य कस्मिन्निति शक्तेराश्रयविषयसापेक्षत्वात्तिलगतशक्तेरसदेव तैलं व्यावर्त्तकम् । न च भविष्यदाकारेण कार्यमिदानीमस्ति, भविष्यत्कालस्येदानीमसत्त्वेन तदवच्छिन्नरूपस्याप्यसत्त्वात् । न च शक्तिरेव नास्ति, करतलानलसंयोगे मंत्रादौ च सति स्फोटानुदयानुपपत्त्या सिद्धत्वात् । न च प्रतिकूलाभावरूपकारणाभावात्तदानीं विसामग्र्यैव प्रतिबन्धः, सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधिनः प्रतिबन्धत्वप्रसिद्धेः । अन्यथा कारणाभावमात्रं प्रतिबन्धः स्यात् । न चैवं प्रसिद्धिरस्ति, अभावस्य क्रियानाश्रयस्य कारणत्वानुपपत्तेश्चेति भावः ।

ननु बुद्धिसाम्यार्थं दृष्टान्तो विधीयते, नात्र तत्साम्यं भवति, अतीतादेः कालान्तरे सत्त्वात् त्वदभिमतज्ञानस्य कदाचिदप्यसत्त्वात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यादित्याशंक्याह—

❀ न चेति ❀ । नियतप्राक्सत्त्वं कारणत्वोपयोगि, किं वा सत्त्वमात्रम् ? यद्याद्यस्तदभावस्य समानत्वमुभयोरित्याह ❀ विशिष्टेति ❀ । न द्वितीयः, नियतप्राक्सत्त्वात् कारणत्वमिति प्रतिज्ञाहानान्नष्टघटेन मधुधारणप्रसंगाच्चेत्याह ❀ प्रयोजनेति ❀ । यामिको यामरक्षकः । पाटच्चरेण दरीचोरेण वेश्मन्यपहृतसर्वस्वे सति पूर्वापरकालयोर्यामिकस्य जागरणमिंद्रियक्लेशाय । तद्वत्कार्यकालात्पूर्वापरकालयोः स्वरूपतोऽवस्थानमनुपयुक्तमित्यर्थः ।

नन्वतीताद्यर्थस्य क [illegible] घटत्वादिविशेषणतश्च

व्यवहारों के नियामक भाविघटविषयक ज्ञान का विशेषक (व्यावर्तक) असत् विषय होता है। इसी प्रकार वीजादि कारणगत शक्ति का विशेषक असत् (भावी) अङ्कुरादि कार्य ही होता है ['अङ्कुरोत्पादनशक्तिमद् बीजम्' अथवा 'बीजेऽङ्कुरस्य शक्तिः'—इत्यादि व्यवहारों में शक्ति का विशेषक असत् (भावी अंकुर) ही होता है]।

शङ्का—यह मानना उचित नहीं कि 'विचार-काल में भावी पदार्थों की असत्ता समान रूप से दोनों सत्त्वासत्त्ववादियों के मत में सम्मत है' क्योंकि सत्कारणवादी के मत में अत्यन्त असत् पदार्थ ज्ञान के विषय नहीं, अपितु कालान्तर में या देशान्तर में वे पदार्थ सत् होते हैं और असत्कारणवादी के मत में वे कभी भी सत् नहीं, अतः दोनों वादों में महान् अन्तर है।

समाधान प्रकृत में केवल इतना ही प्रश्न है कि जिस काल में भाविघटविशिष्टं ज्ञानम्'—इत्यादि बिशिष्ट व्यवहार हो रहे हैं, उस काल में घटादि सत् हैं ? या नहीं ? इस प्रश्न का एक मात्र उत्तर है—असत् घटादि ही उक्त बिशिष्टता-व्यवहार के कारण है। फलतः दोनों विचारक इस एक ही धरातल पर आ जाते हैं कि असत् पदार्थ भी विशेषक होता है। अतीत या अनागत काल में विषय की सत्ता का यहाँ कोई उपयोग नहीं। यह बात तो वैसी है कि जब चोर चोरी करके चले गये, तब पहेरदार जागे, वैसे ही विशिष्टता-व्यवहार के समय तो घटादि सत् नहीं थे, जब उक्त व्यवहार समाप्त हो गया, तब उनके सत् होने का क्या लाभ ?

शङ्का यद्यपि विशिष्ट-व्यवहार के समय घटादि सत् नहीं, तथापि कालान्तर (अतीत या अनागत काल) में सत् हो जाने के कारण स्वरूपतः और विशेषणतः व्यवच्छिन्न हो जाते हैं

ज्ञानेन स्वभावबलाद् स्वविशेषणत्वेनोपादीयते, न त्वेवमत्यन्ताऽसद् भवितुमर्हति, तस्य स्वरूपतो विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नतयाऽनंगीकारात् कुत्र स्वभावतो विज्ञानं सम्बन्धि निरूप्येत ?

न; उक्तमत्राऽसतोऽपि तदेव स्वरूपं, तस्य नियतस्वरूपस्यैव नियतविशेषणस्यैवासत्त्वात्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, भ्रान्तिविषयेण दत्तोत्तरत्वाच्च इत्यलमतिप्रपञ्चेन।

व्यावृत्तत्वात् ज्ञानशक्त्यादेर्व्यावर्तकत्वेनोपादानं संभवतीति शंकते ❀ तथाऽपीति ❀। संयोगाद्यसंभवात् ज्ञानशक्त्यादेर्व्यावर्तकत्वं न संभवतीत्याशंक्याह ❀ स्वभावेति ❀। स्वभावसम्बन्धो विषयविषयिभावस्तद्बलेनेति यावद्। असदपि तथा किं न स्यादित्यत आह ❀ न त्विति ❀। व्यावृत्तस्वरूपत्वे विशेषणयोगे चासत्त्वव्याघातादित्यर्थः। नासंबद्धज्ञानमर्थव्यवहारजनकमतिप्रसंगात्, न च संबद्धम्, संयोगाद्यनिरूपणात्, न च स्वभावसंबंधाऽनिःस्वभावत्वादित्यत्राह ❀ कुत्रेति ❀। कुत इति पाठे केन स्वभावेनेत्यर्थः। असतोऽप्यसाधारणस्वभावो निषेधात्मकः सद्व्यावृत्तत्वन्नाम धर्मभेदश्च विद्यत इति।

असतोऽपि स्वरूपं स्वरूपमेवेत्याद्यावुक्तमिति परिहरति ❀ नेति ❀। तदेवेति ❀। निषेधात्मकत्वं व्यावृत्तत्वधर्मत्वं चेत्यर्थः। असतोऽसाधारणस्वभावे व्याघात उक्त इति तत्राह ❀ अन्यथेति ❀। गगनकुसुमस्य साधारणस्वरूपापत्तेर्मूषकविषाणादेर्व्यावृत्तव्यवहारो न स्यात् सदसतोः सांकर्यं च स्यादित्यर्थः। यदुक्तमसतो निःस्वरूपत्वाद्विषयविषयिसंबंधानुपपत्तिस्त त्राह ❀ भ्रांतीति ❀। भ्रांतिविषयेणासता रूप्यादिना ज्ञानस्य विषयविषयिभावसंबंधस्य सद्वादिनाऽप्यंगी कारादसतः संबंधो नास्तीति न वक्तुं शक्यत इत्यर्थः।

(अर्थात् पृथुबुध्नोदराकार और घटत्वादि विशेषणों से युक्त होने के कारण घट पटादि पदार्थों से व्यवच्छिन्न या व्यावृत्त है]। ऐसे असत् घटादि पदार्थों को वर्तमान ज्ञान स्वभावतः अपना विषय बना लेता है किन्तु अत्यन्त असत् खपुष्पादि पदार्थों को विषय नहीं बना सकता, क्योंकि असत् पदार्थों का न तो कोई स्वरूप माना जाता है और न कोई विशेषण, अतः उनका ज्ञान के साथ स्वभावतः सम्बन्ध होगा ? [आशय यह है कि 'कस्य ज्ञानम्'—ऐसा उत्तर तभी सम्भव हो पाता है, जब कि किसी-न-किसी काल में घट का स्वरूपतः और विशेषणतः परिचय प्राप्त हो जाता है, किन्तु अत्यन्तासत् पदार्थ को ज्ञान विषय करे या उसके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करके उसका सम्बन्धी बने—यह सम्भव नहीं। योगाचार-मत के अनुसार भी ज्ञान में अनादि बासनाओं (संस्कारों) के आधार पर विषयों का भान माना जाता है, संस्कार सदैव अनुभव से जनित होते हैं, अनुभव में वही वस्तु आ सकती है, जो स्वरूपतः और विशेषणतः व्यवच्छिन्न हो। असत् पदार्थ वैसे नहीं होते, अतः न उनका अनुभव हो सकता है और न उनके संस्कार अतः ज्ञान में उनका भान होना सम्भव नहीं]।

समाधान—इस शंका का समाधान पहले ही किया जा चुका है कि सत् के समान असत् वस्तु का भी वही स्वरूप माना जाता है, क्योंकि ज्ञान के समान ही असत्त्व के साथ भी समन्वित पदार्थ भी स्वरूपतः और विशेषणतः व्यवच्छिन्न ही होता है - कस्य ज्ञानम् ? इस प्रश्न के समान कस्यासत्त्वम्' इस प्रश्न के उत्तर में 'घटस्यासत्त्वम्'—ऐसा ही कह दिया जाता है और यहाँ भी पृथुबुध्नोदरादि स्वरूप एवं घटत्वादि विशेषणों से युक्त घट का ही सम्बन्ध और भान होता है। इसी लिए घट के असत्त्व को पटादि का असत्त्व नहीं कहा जा सकता, अन्यथा अतिप्रसङ्ग अवश्य होगा। असत् पदार्थ भी ज्ञान का विशेषक होता है— यह बात रजतादि भ्रम-स्थलों के उदाहरणों से स्पष्ट की जा चुकी है, अतः इस विषय में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

३. संवित्स्वप्रकाशवादः

अपरे पुनः चेतसोऽपि शून्यताऽङ्गीकारे मनःप्रत्ययमनासादयन्तः सर्वमिदमसदेव विश्वमित्यभिधातुं सहसैवानुत्सहमाना मन्यन्ते—विज्ञानं तावत् स्वप्रकाशं स्वत एव सिद्धस्वरूपम्। न खलु विज्ञाने सति जिज्ञासोरपि कस्यचित् जानामि न वेति संशयः, न जानामीति वा विपर्ययः, व्यतिरेकप्रमा वा। तेन जिज्ञासितस्य अतत्त्व-

एवं तावत्सर्वशून्यतांगोकारेऽपि कारणताविव्यवहारः संगच्छते किं पुनर्ज्ञानमात्रस्य सत्त्वे, इति कैमुतिकन्यायमभिप्रेत्य विज्ञानं स्वयंप्रकाशं साधयति। निरूप्यमाणे तदद्वैतब्रह्म संपत्स्यत इत्याह ❀ अपरे पुनरित्यादिना ❀। चेतसो विज्ञानस्येति यावत्। मनः प्रत्ययस्तुष्टिः, तामनासादयन्तोऽलभमाना इत्यर्थः। ज्ञेयासत्त्वे तदुपरक्तरूपस्य क्षणिकविज्ञानस्यासत्त्वं स्वयमेव प्रतिपत्स्यत इत्यभिप्रेत्याह ❀ सहसेति ❀ किं मन्यंत इति तदाह ❀ विज्ञानमिति ❀। स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं स्वयंप्रकाशत्वमिति ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते। तद्वन्न भवति योगाचारमते स्वयमेव प्रमात्वं प्रमेयत्वं चेति स्वप्रकाशशब्दार्थमाह ❀ स्वतः-सिद्धरूपमिति ❀। अप्रमितत्वस्य व्यापकाभावेन व्याप्याभावं दर्शयितुं व्यापकाभावमुपन्यस्यति ❀ न खल्विति ❀। पथि गच्छतस्तृणादावजिज्ञासिते विपर्ययाद्यभावोऽप्रमितेऽपि दृष्टस्ततो व्यावर्तयति ❀ जिज्ञासोरिति ❀। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्ययो ज्ञायमानेऽर्थे न जानामीति, विरुद्धानेकप्रकारावलम्बी प्रत्ययः संशयो जानामि वा न वेति। योग्यानुपलब्धिजन्यं नास्तीति ज्ञानं व्यतिरेकप्रमा न जानाम्येवेति। जिज्ञासितत्वे सत्यप्रमितस्य संशयविपर्ययाभावप्रमाणामन्यतमविषयत्वमावश्यकमित्यर्थः। जिज्ञासोर्विचारकस्यापि ज्ञाने संशयादिर्न जायते किम् लौकिकस्येत्यपि शब्दार्थः। ननु विज्ञाने सत्यभावप्रमाप्रसंग एव नास्ति, किमिदमुच्यते व्यतिरेकप्रमा वा न जायते इति। सत्यम्, सतोऽप्रमितस्य जिज्ञासितस्य संशयविपर्ययान्यतर-गोचरत्वं जिज्ञासितस्याप्रमितस्य त्रयाणामन्यतमविषयत्वमिति विभागेन योजनीयत्वात् न कश्चिद्दोष इति। व्यापकाभावमभिधाय व्याप्याभावमाह ❀ तेनेति ❀। अतत्त्वज्ञाने संशयविपर्ययौ, व्यतिरेकप्रमा, अभावप्रमा तासामभावसमुदायः स्वव्यापकमानयतीति सम्बन्धः। असमव्याप्तिकयोरन्वयव्याप्तिवैपरीत्येन व्यतिरेक-व्याप्तिनियमात् व्यापकाभावस्य व्याप्याभावो व्यापकः। व्यापकस्वरूपमेव दर्शयति ❀ जिज्ञासितस्येति ❀।

३. स्वप्रकाश विज्ञानवाद

अन्य विज्ञानवादी 'चित्त (विज्ञान) की भी शून्यता है'—ऐसे शून्यवाद पर विश्वास न करते हुए 'सर्वमिदं विश्वमसत्—ऐसा सहसा न कहकर इस प्रकार अपना मत प्रस्तुत करते हैं—विज्ञान स्वतःप्रकाश और स्वतःसिद्ध है, क्योंकि विज्ञान के उत्पन्न होने पर किसी जिज्ञासु को भी ज्ञान के विषय में (जानामि ? न वा ? इस प्रकार का) संशय, विपर्यय ('इदमनिदं जानामि'—इस प्रकार का विपरीत बोध) और व्यतिरेक-प्रमा ('न जानाम्येव'—इस प्रकार की अभावानुभूति) कभी भी नहीं होती। [स्वतः प्रकाश का अर्थ यहाँ स्वतः प्रमित है, प्रमात्व स्वतः प्रमित और अप्रमात्व परतः प्रमित होता है। अप्रमा ज्ञान के तीन भेद होते हैं—अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः" (श्लो० वा० पृ० ६१)। इनमें मिथ्या ज्ञान को खण्डनकारने विपर्यय और अज्ञान प्रमा को व्यतिरेक प्रमा पद से अभिहित किया है। अप्रमित पदार्थ में संशय, विपर्यय और विपरीत प्रमा—ये तीनों प्रकार अनुभूत होते हैं 'अर्थात् यत्र यत्र अप्रमितत्वम्, तत्र-तत्र सन्दिग्धत्वम् विपर्ययज्ञानम्, व्यतिरेकनिश्चयश्च' इस प्रकार संशयादि पदार्थ व्यापक और अप्रमितत्व व्याप्य होता है। व्यापक का अभाव होने पर व्याप्य का अभाव नैसर्गिक है। ज्ञान में यदि अप्रमितत्व होता, तब ज्ञान में संशयादि का होना आवश्यक था, किन्तु संशयादि नहीं होते, अतः अप्रमितत्व कभी नहीं रह सकता, परिशेषतः प्रमितत्व स्थिर हो जाता है। भावपदार्थों का व्याप्य-व्यापकभाव उनके अभावों में विपरीत हो जाता है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—

ज्ञानव्यतिरेकप्रमाणामभावसमुदायः स्वव्यापकं जिज्ञासितस्य प्रमितत्वमानयति। अन्यथा हि जिज्ञासितप्रमितत्वव्यतिरेकव्यापकं जिज्ञासितव्यतिरेकोल्लेखि ज्ञानमविच्छिन्नजिज्ञासस्य स्यात्। अतः सर्वजनस्वात्मसंवेदनसिद्धमेवास्य बोधस्य स्वरूपम्।

आनयतीत्युक्तम्, आनयनमर्थाक्षेपः स चानुपपत्त्येति तामाह ॐ अन्यथेति ॐ। जिज्ञासितस्य व्यतिरेकोऽभावस्तमुल्लिखतीति जिज्ञासितव्यतिरेकोल्लेखि ज्ञानं स्यादिति सम्बन्धः। व्यतिरेकोल्लेखीति संशयविपर्ययव्यतिरेकज्ञानानि विवक्ष्यंते। जात्युपाधावेकवचनम्। हेतुगर्भं विशेषणमाह ॐ जिज्ञासितेति ॐ। जिज्ञासितप्रमितत्वस्य व्यतिरेकस्तस्य व्यापकमिति विग्रहः। यत्र जिज्ञासानन्तरं मनसोऽन्यत्र व्यासंगेनाकस्मान्निद्राभिभवेन वा प्रतिबन्धो जायते, तत्र जिज्ञासितप्रमितत्वाभावस्य व्यापकजिज्ञासिताभावोल्लेखिज्ञानमपि न भवतीति सूचयति ॐ अविच्छिन्नेति ॐ। अविच्छिन्नताऽप्रतिबद्धा जिज्ञासा यस्य ज्ञानस्य पुंसो वा तस्येति विग्रहः। अतोऽयमभावसमुदायोऽर्थात्प्रमितत्वमाक्षिपतीति भावः। निगमयति ॐ अत इति ॐ। आत्मसंवेदनसिद्धं स्वरूपप्रकाशसिद्धं स्वप्रकाशमिति यावत्। अनुमानपक्षे ज्ञानं स्वसत्तायां प्रमितत्वाव्यतिरोकि, जिज्ञासितत्वे सति संशयाद्यविषयत्वाद्, यत् यदा जिज्ञासितत्वे सति संशयाद्यविषयः तत्तदा प्रमितत्वाव्यतिरेकि, यथैतन्निर्णयविषयैतद्घट इति। अर्थापत्तिस्तु—व्यापकाभावसमुदायो व्याप्याभावमन्तरेणानुपपद्यमानस्तमाक्षिपतीति द्रष्टव्या।

"व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते॥" (श्लो० वा० पृ० ३०४)

अर्थात् जैसे धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक है, अतः अग्न्यभाव व्याप्य और धूमाभाव व्यापक होता है, वैसे ही प्रकृत में अप्रमितत्व व्याप्य और संशयादि व्यापक हैं, अतः संशयादि का अभाव व्याप्य तथा प्रमितत्व व्यापक है, व्याप्य से व्यापक का आक्षेप या अनुमान होता है, अतः] जिज्ञासित ज्ञान का द्विविध अतत्त्वज्ञान (संशय तथा विपर्यय) एवं विपरीत प्रमा—इन तीनों के अभाव का समुदाय अपने व्यापकीभूत प्रमितत्व का गमक होता है—'मदीयं ज्ञानम् प्रमितम्, संशयाद्यभाववत्त्वात्।' अन्यथा (ज्ञान के प्रमित न होने पर) जिज्ञासित जो ज्ञान उसमें प्रपितत्व के अभाव का व्यापकीभूत व्यतिरेकोल्लेखी (संशय, विपर्यय और व्यतिरेक प्रमारूप) ज्ञान होना चाहिए ['ज्ञानं प्रमितम्', संशयाद्यभाववत्त्वात्'—इस अनुमान में अनुकूल तर्क प्रस्तुत किया गया है कि 'यदि ज्ञानं प्रमितं न स्यात्, तदा संशयादि स्यात्]। अजिज्ञासु पुरुष को अप्रमित वस्तु में भी भी संशयादि नहीं होते, अतः जिज्ञासु के लिए अप्रमित पदार्थ में संशयादि का आपादन होता है, जनसामान्य के लिए नहीं। [यद्यपि योगाचार-मत में ज्ञान सदैव स्वप्रकाश है, उसमें जिज्ञासा सम्भव नहीं, क्योंकि सामान्यतः ज्ञात और विशेषतः अज्ञात वस्तु की जिज्ञासा होती है। तथापि परप्रकाशवादियों या मध्यस्थ के लिए वह जिज्ञासित और विचारणीय है, अतः ज्ञान के लिए जिज्ञासित कह दिया गया है. वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि "सन्दिग्धं सप्रयोजनं च विचारविषयो भवति" (भाम० पृ०)। वहाँ मध्यस्थ के संशय को ध्यान में रखकर सन्दिग्ध कह दिया जाता है]।

ज्ञान का अप्रमित होना सम्भव नहीं, अतः ज्ञान को स्वप्रकाश और आत्मसंवेदन-सिद्ध मानना ही उचित है [श्री धर्मकीर्ति ने कहा है—"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्" (न्या० वि०० १।१९)। अर्थात् वैभाषिकगण वस्तुमात्रग्राही ज्ञान को चित्त और उस वस्तु की विशेष-अवस्थाओं के ग्राहक, सुखादि तत्त्व को चैतसिक कहा करते हैं, वे दोनों स्वसंवेद्य हैं, अर्थात् विषय के साथ-साथ ही उसके ज्ञानादि का ग्रहण हो जाता है, आचार्य धर्मोत्तर कहते हैं—"रूपादौ वस्तुनि दृश्यमाने आन्तरः सुखाद्याकारः तुल्यकालं संवेद्यते" (न्या० वि० पृ० ६५)। 'आत्मसंवेदन' प्रत्यक्ष ज्ञान का एक भेद है। भ्रम-भिन्न निर्विकल्पकात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान के चार

व्यवसायस्य अनुव्यवसायनियमान्न तत्र संशयादिरिति चेन्न, यत्रैवानुव्यवसाये ज्ञेयता नोपेया, तत्र जिज्ञासायामात्मधर्मिकं तत्संशयमारभ्य व्यवसायविषयपर्यन्तं संशयाक्रान्तेर्दुष्परिहरत्वात्। विषयिसद्भावसंशये तद्विषयेऽपि संशयस्य सम्भवात्। एवं त्रिचतुरसंवेदनकक्षाज्ञानध्रौव्यनियमाभ्युपगमेऽपीति।

स्वप्रकाशे तु मानमेयभावव्यवस्थाया अभावादेव तदाश्रया दोषा निरवकाशाः।

प्रत्ययस्य स्वसत्तायां प्रमितत्वाव्यतिरेकित्वं स्वयंप्रकाशत्वमन्तरेणापि स्यादिति हेतोरन्यथासिद्धिमर्थापत्तेरन्यथोपपत्तिं शंकते ॐ व्यवसायेति ॐ। अर्थनिश्चयोत्पत्तिमनु तद्गोचरनिश्चयोत्पत्तिनियमात्तत एवाद्यज्ञानप्रकाशोपपत्तेरित्यर्थः। तदनुव्यवसायज्ञानं स्वयंप्रकाशमानमर्थज्ञानं साधयति, सत्तया वा? न तावत्सत्तयेत्याह ॐ नेति ॐ। अस्त्यनुव्यवसाय इति नैयायिकाः, नास्तीति बौद्धाः। एवं विप्रतिपत्तौ विचारकस्य जिज्ञासायां सत्यां यत्रैवानुव्यवसाये ज्ञेयता न स्वीक्रियते, तत्र संशयः स्यात्—अनुव्यवसायोऽस्ति न वेति। ननु "धर्मिणि सामान्यप्रतिपन्ने संशयो दृष्टः—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। कोऽत्र धर्मी? न तावदनुव्यवसायः, धर्मित्वेनास्तित्वनिश्चये भावाभावसन्देहानुपपत्तेः इत्यत आह ॐ आत्मधर्मिकमिति ॐ। ममानुव्यवसायोऽस्ति न वेति सामान्यप्रतिपन्न आत्मनि अनुव्यवसायभावाभावविशिष्टत्वकोटिद्वयविषयः संशय इत्यर्थः। नन्वनुव्यवसायसंशयेऽपि न व्यवसायनविषयः संशयः स्यादनुव्यवसायव्यवसायाभ्यामेव तयोः प्रमितत्वादित्याशंक्याह ॐ विषयीति ॐ। विषयिसिद्ध्यधीनत्वाद्विषयसिद्धेरित्यर्थः।

यदि प्रकाशमानं साधकं, परतः स्वतो वा। परतः प्रकाशेऽपि त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तिरस्त्युत नेति विकल्प्य प्रथमविकल्पस्याद्यविकल्पं दूषयति ॐ एवमिति ॐ। यस्यां कक्षायां विश्रान्तिः तस्याः सन्देहे पूर्वपूर्वसन्देहादर्थपर्यन्तं सन्देहाक्रान्तिः साधकधूमसन्देहवदित्यर्थः। नियमाभ्युपगमेऽप्येवं विषयपर्यन्तसंशयाक्रान्तिरिति सम्बन्धः। स्वप्रकाशेऽपि यत्प्रमाणं त्वयोच्यते तस्य प्रमाणान्तरेण सद्भावानिश्चये संशयः स्यात्। तथा स्वप्रकाशप्रमाणस्यानुभवो विषयो न वा? आद्ये व्याघातः। अंत्ये कथं तस्य स्वप्रकाशत्वं साधयेद्—इत्यादि दोषास्तवापि प्रसज्येरन्नित्याशंकां निराकुर्वन् द्वितीयपक्षः परिशिष्यत इत्याह

भेद होते हैं—(१) ऐन्द्रियकज्ञान (२) मनोज्ञान, (३) आत्मसंवेदन और (४) योगिज्ञान (द्र० न्या० वि० पृ० ५६)]।

शङ्का—[ज्ञान स्वप्रकाश नहीं, परप्रकाश ही है अर्थात् एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से और दूसरे ज्ञान का तीसरे ज्ञान से ज्ञान होता जाता है, ज्ञान-ग्राहक ज्ञान को अनुव्यवसाय ज्ञान कहा जाता है] घटादि का ज्ञान होने के तुरन्त द्वितीय क्षण में उस ज्ञान का ग्राहक अनुव्यवसाय नियमतः उत्पन्न हो जाता है, अतः सन्देहादि को अवसर ही नहीं मिलता, सन्देहादि की निवृत्ति का उपपादन करने के लिए ज्ञान को स्वप्रकाश मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

समाधान—यदि घट-ज्ञान के पश्चात् उनके उत्तरोत्तर ज्ञान-ज्ञान-परम्परा की धारा टूटती नहीं, तब न तो सुषुप्ति अवस्था हो सकेगी और न व्यवहारान्तर का निर्वाह ही होगा, अतः किसी-न-किसी अनुव्यवसाय का ज्ञान नहीं होता—ऐसा मानना आवश्यक है। उस अज्ञात अनुव्यवसाय की जिज्ञासा होने पर उसमें अवश्य संशय होगा। विषयी (ज्ञान) में संशय होने पर उसके विषय में संशय का होना अनिवार्य है, अतः उत्तरोत्तर ज्ञानों का संशय पूर्व-पूर्व विषयावली को निगलता हुआ भूलभूत विषय तक पहुँच जाता है। 'ज्ञान-ज्ञान की धारा तीन-चार कक्षाओं तक ही प्रवाहित होती है'—ऐसा नियम मानने पर भी इस दोष से छुटकारा नहीं मिल सकता। परिशेषतः ज्ञान को स्वप्रकाश मानना होगा, तभी उसमें संशयादि का अभाव उपपन्न हो सकेगा।

स्वप्रकाशवाद के अनुसार ज्ञान किसी भी स्वात्मक या परात्मक प्रमाण का विषय नहीं

अन्यथा तु बोधस्वरूपमेव न सिद्ध्येत् , यदि हि विज्ञानं परतः सिद्ध्येत्, तदाऽनवस्था स्यात् । न च वाच्यम्—अवश्यवेद्यता वित्तेर्नाभ्युपेयते, स्वार्थव्यवहारस्तु स्वरूपसत्तया प्रसूयते इति क्वानवस्थेति ? यतस्तस्यां प्रमाणानुपन्यासे स्वरूपसत्ताऽपि कुतः, यया व्यवहारोपपत्तिः ? को ब्रूते सती सा वित्तिः ? असत्येव न कुतः ?

सामान्यतो वित्तेस्तथात्वविधावपेक्षितसिद्ध्या यत्र विशेषरूपायां प्रमाणाऽ-

---

॥ स्वयमिति ॥ । मानमेयभावाभावान्न कर्मकर्तृविरोधः । अविषयत्वेनापि प्रकाशमानत्वान्न संज्ञ्या क्रान्तिरित्यर्थः । इदं तु ब्रह्मवाद्यभिमतं स्वयंप्रकाशत्वमभिहितमत्रैवात्मनोऽभिप्रायं प्रकटयितुमिति न विरोधः । स्वतःसिद्ध्यनभ्युपगमेन ज्ञानान्तरतः सिद्धिः प्रकाशस्य सजातीयप्रकाशाविषयत्वात् । अतः सकलव्यवहारलोपप्रसंग इत्याह ॥ अन्यथेति ॥ । परतः सिद्धिपक्षे त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तिर्नेति परिशिष्टकल्पेऽनवस्थादोषमाह ॥ यदीति ॥ ।

निलीनमेव ज्ञानं चक्षुरादिवदर्थव्यवहारकारणमतो वित्त्यन्तरावश्यंभावानभ्युपगमान्नानवस्थेत्याशंकां निरस्तामपि दूषणान्तराभिधित्सयोद्भाव्य पराकरोति ॥ न चेति ॥ । क्वानवस्थेति च न वाच्यमिति संबन्धः । वित्तेरप्रकाशत्वे कुतस्तदर्थव्यवहार इत्यत आह ॥ स्वार्थ इति ॥ । प्रसूयते प्रवर्त्यत इत्यर्थः । फलितमाह ॥ क्वेति ॥ । ज्ञप्तावुत्पत्तौ वा ? न तावत् ज्ञप्तौ, ज्ञप्त्यन्तरानवश्यम्भावात् । नोत्पत्तौ, वेद्यत्वस्य व्यभिचारादित्यर्थः । कुतो न वाच्यमित्यत आह ॥ यत इति ॥ । यदस्ति तन्मेयमिति नियमात्परेषामित्यर्थः । मानाभावमात्रेण न ज्ञानस्य सत्ताभावः तयोरन्यत्वादित्याशंक्याह ॥ क इति ॥ । देवदत्तनिष्ठज्ञानमसद्भवितुमर्हति प्रमाणेनानुपलभ्यमानत्वाच्छशशृङ्गवदिति भावः ।

सामान्यविशेषाभ्यां प्रमाणत एवोपलब्धेरसिद्धो हेतुरिति शंकते ॥ सामान्यत इति ॥ । वित्तेर्ज्ञानस्य तथात्वविधौ ज्ञानत्वसिद्धावहंज्ञानवानस्मीति प्रतीतौ सत्यामपेक्षितस्य सामान्यतः सत्त्वस्य सिद्ध्या तत्र विशेषरूपायां व्यवहारसत्तैव प्रमाणम् , अन्यद्वा स्मरणादिलिङ्गमस्त्येवेति सम्बन्धः । तामेव विशेषरूपां वित्तिं दर्शयति ॥यत्रेति॥ । यत्र विशेषरूपायां प्रमाणाप्रवृत्तिस्तदा व्यवहारप्रसूतिसमये विशेषरूपसत्त्वसाधनासत्त्वेऽपि कुतश्चिन्निमित्तात्तज्जिज्ञासायां सत्याम् । 'पश्चात्' तदुत्तरकालमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—ज्ञानसमवायवानहमस्तीति ज्ञानमात्रसिद्ध्या घटादिविषयो व्यवहारः सिध्यति, तदा घटज्ञानमिति विशेषरूपे यद्यपि प्रमाणं नास्ति, तथाऽपि सामान्यं विशेषमनादाय न पर्यवस्यतीति विशेषजिज्ञासायामसाधारणव्यवहारानुपपत्त्या विशेषविज्ञानं गमयति तज्जन्यासाधारणस्मरणं चेति ।

माना जाता, अन्यथा (उसी ज्ञान को स्वात्मक प्रमाण का विषय मानने पर) ज्ञान का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि विज्ञान का परतः (अन्य ज्ञान के द्वारा) प्रकाश मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है ।

शङ्का—समस्त जागतिक व्यवहार का निर्वाह करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है, यदि उस व्यवहार के लिए भी ज्ञान को अपने प्रकाशक ज्ञानन्तर की आवश्यकता मानी जाय, तब अवश्य अनवस्था होती है, किन्तु ज्ञान स्वयं अज्ञायमान या स्वरूप सत् रह कर ही वैसे ही व्यवहार का साधक माना जाता है, जैसे चक्षुरादि इन्द्रियगण अपना प्रत्यक्ष ज्ञानादि कार्य उत्पन्न करने के लिए अपने ज्ञान की अपेक्षा नहीं करते स्वयं अज्ञात या निलीन रह कर ही कार्य-साधक होते हैं, अतः अनवस्था क्यों होगी ?

समाधान—व्यवहार का निर्वाह करने के लिए ज्ञान को अपने में वेद्यता की आवश्यकता यदि नहीं तो अपनी सत्ता की अपेक्षा अवश्य है, किन्तु उसमें किसी प्रमाण का उपन्यास न करने पर ज्ञान की स्वरूप सत्ता कैसे सिद्ध होगी कि जिससे व्यवहार की उपपत्ति हो ? प्रमाण के अभाव में कौन कह सकता है कि ज्ञान सत् है ? असत् ही क्यो न हो ?

शङ्का—'जानामि'—इत्यादि अनुभूतियों के आधार पर ज्ञान सामान्य की सत्ता सिद्ध

प्रवृत्तिः, तदा तत्र सत्त्वसाधनासत्त्वेऽपि जिज्ञासायां सत्यां पश्चाद् व्यवहारस्यैव वा अन्यद् वा प्रमाणमस्त्येवेति चेन्न, तस्यापि कथं सत्त्वमित्यनवस्था वा स्यात्, शेषासिद्धया सर्वासिद्धिर्वा प्रसज्येतेत्यर्थाऽसिद्धिपर्यन्तस्य व्यसनस्य दुरुत्तरत्वात्। सेयम् 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यती'ति।

घटसत्तां हि व्यवहरता प्रामाणिकेन तत्र प्रमाणसद्भावो वाच्यः। यदि प्रमाणमनुपन्यस्य साऽस्तीत्यङ्गीक्रियते, तदा वैपरीत्यमेव वा किं न स्यात्। ततश्च घटसत्तायां प्रमाणसत्ता दर्शनीया। तथा च प्रमाणसत्ताऽपि तत्प्रमाणसत्तामन्तरेण प्रामाणिकस्य नाङ्गीकारार्हा, सर्वप्रमाणसत्तानिवृत्तेर्वस्तुसत्तानिवृत्तिनियतत्वात्। अन्यथा

अपरे पुनरेवं योजयन्ति—प्रमाणानुपन्यासे सत्त्वासिद्धिर्मा भूत्। तथाऽपि सामग्रीसम्पत्तौ वित्तिर्जायते इत्युभयसम्प्रतिपन्नम्। ततः सत्त्वासत्त्वसाधारणाया वित्तेः सकाशादर्थनिश्चयेऽपेक्षितस्य व्यवहारस्य सिद्धया नात्र सत्त्वसिद्धिरिष्यते इति विशेषः। कुतस्तर्हि सत्त्वसिद्धिरित्याशङ्क्याह ❀ यत्रेति ❀। यत्र सत्तारूपायां वित्तौ प्रथमक्षणे प्रमाणाप्रवृत्तिर्नासीत्तत्र सत्त्वसाधनस्यासत्त्वेऽपि यदि जिज्ञासा जायते, तदा प्रमाणमुपन्यस्यते इत्यर्थः। इति सामान्यविशेषाकारयोर्यत्प्रमाणं त्वयाऽवाचि तस्य सत्त्वं परतः सिद्धं स्वतो वा ? न तावत् स्वतः, अनिष्टत्वात्। नापि परतः, अविच्छिन्नपरम्पराभ्युपगमेऽनवस्थानादिति परिहरति ❀ नेति ❀। क्वचिद्विच्छेदे तदारभ्यामूलमसिद्धिरित्याह ❀ शेषेति ❀। सोऽयमर्थो धर्मकीर्त्तिनाऽप्युक्त इत्याह ❀ प्रत्यक्षेति ❀। स्वतोऽपरोक्ष उपलम्भो नेष्यते येन वादिना तस्य घटो मया विदित इति व्यवहारो न सिध्यतीत्यभिप्रायः।

प्रमाणसत्ता प्रमाणान्तरमूलेत्यनुमातुमन्वयव्याप्तिमाह ❀ घटेति ❀। प्रमाणमनुपन्यस्य सन् घट इति व्यवह्रियते त्वया यथा तद्वन्ममापि स्यादिति तत्राह ❀ प्रामाणिकेनेति ❀। एतदेव व्यतिरेकमुखेनोपपादयति ❀ यदीति ❀। ततश्च सत्त्वाभ्युपगमः प्रमाणमूल इतिव्याप्तिरस्खलितेत्याह ❀ ततश्चेति ❀। प्रमाणसत्त्वं प्रमाणान्तराधीनम्, सत्त्वशब्दवाच्यत्वात्, घटत्ववदिति प्रयोगमाह ❀ तथा चेति ❀। न च प्रमेयसत्त्वमुपाधिः, सत्त्वमात्रस्य प्रयोजकत्वे प्रमेयेति विशेषणस्य पक्षेतरत्वापादकत्वेन वैयर्थ्यादिति भावः। प्रमाणसत्त्वस्य प्रमाणान्तरनिबन्धत्वानङ्गीकारे विपक्षबाधकाभावादप्रयोजक इत्याशंक्याह ❀ सर्वेति ❀। यद्य

हो जाती और उससे व्यवहार पवृत्त हो जाता है, वहाँ 'कस्येदं ज्ञान'—इस प्रकार की विशेष जिज्ञासा होने पर उस ज्ञान का अपने कार्यभूत व्यवहार या स्मरणादि लिङ्गों के द्वारा अनुमान किया जा सकता है—'अयं देवदत्तो घटज्ञानवान्, घटव्यवहारवत्त्वाद्, घटविषयकस्मरणवत्त्वाद्वा।'

समाधान—ज्ञान-प्रमापक अनुमानादि का भी सत्त्व सिद्ध करने के लिए प्रमाणान्तर और प्रमाणान्तर की सत्ता के लिए प्रमाणान्तर'—इस प्रकार अनवस्था होती है, अन्ततो गत्वा यदि किसी प्रमाण की सिद्धि नहीं होती, तब पूर्व-पूर्व की असिद्धि हो जाने से सर्वज्ञानासिद्धि, ज्ञान की असिद्धि से विषय वस्तु की असिद्धि तक की असिद्धि धारा ऐसा विकाराल रूप धारण कर लेगी, जिसे पार करना सम्भव नहीं रह जाता। परिशेषतः ज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मानना होगा। धर्मकीर्ति ने स्पष्ट कहा है—"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति"। उपलम्भ (ज्ञान) का जो लोग प्रत्यक्ष (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष) नहीं मानते, उनके मत में विषय का व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता।

आशय यह कि 'घटोऽस्ति'—इस प्रकार घट-सत्ता का जो प्रामाणिक व्यक्ति व्यवहार कर रहा है, उसे घट-सत्ता में प्रमाण का प्रदर्शन करना होगा, यदि प्रमाण का उल्लेख किए विना ही घट की सत्ता मानता है, तब वहाँ उसके विपरीत ('घटो नास्ति'—इस प्रकार असत्ता का) व्यवहार क्यों नहीं हो सकता ? अतः घट की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रमाण की सत्ता दिखानी होगी। इसी प्रकार प्रमाण की सत्ता भी प्रामाणिक व्यक्ति प्रमाणान्तर-सत्ता के विना

सप्तमरसादेरप्यापत्तेरिति व्यक्तमनवस्थादौस्थ्यमस्वप्रकाशवादिनः स्यात्। यदि हि विनैव प्रमाणसत्तां परोऽङ्गीकारयेत्, तदा घटसत्तामपि तथैवाङ्गीकारयतामिति घटेऽपि वृथा प्रमाणोपन्यासः।

अथ नान्यवधानलग्नवित्तितद्वित्तिधाराऽभ्युपगम्यते किं नाम कदाचित् कुतश्चित् काचित् वित्तिः प्रमीयत इति सर्वा वित्तिः प्रमाणसिद्धैवेत्यभ्युपेयत इति चेन्न, स्यादप्येवं यदि घट इति घटं जानामीत्यतोऽधिका [घटवित्तितद्वित्तिधारया विषयभावेन प्रविष्टया तादृग्विषयशतभारमन्थरा] वित्तिरस्मदादेरुत्पद्यमानाऽनुभूयेत।

केनापि प्रमाणेनोपलभ्यते तदसदिति गगनकुसुमादौ व्याप्तिरस्ति त्वत्पक्ष इति योजनीयम्। अन्यथा तत्र व्याप्तिप्रमित्यप्रतित्योर्व्याघातादप्रमेयस्यापि ब्रह्मणः सत्त्वस्वीकारात्प्रमाणनिवृत्तिसत्त्वनिवृत्त्योर्नास्ति व्याप्तिरित्याशंक्याह ❀ अन्यथेति ❀। असंदिग्धाविपरीतानवगतप्रतीतेरेव प्रमाणत्वेन विवक्षितत्वादागमगम्ये ब्रह्मणि न व्यभिचार इत्यर्थः। एतावता कथमनवस्थेत्याशंक्योपसंहारव्याजेनाह ❀ इति व्यक्तमिति ❀। प्रमाणसत्तामंतरेण कथारम्भस्वीकारवत्प्रमाणसत्तास्वीकारोऽपि किन्न स्यादित्याशंक्याह ❀ यदीति ❀। प्रमाणसत्तां विनैव परः प्रतिवादी प्रमाणसत्तामंगीकारयेदिति सम्बन्धः।

ननु धारावाहिकप्रत्ययन्यायेन वित्तितद्वित्तिधाराऽविच्छिन्ना यद्यभ्युपगम्येत, तर्हि स्यादनवस्था। तत्तज्जिज्ञासायां कदाचित्प्रमीयत इति स्वीकारात् नानवस्थेत्याशंकते ❀ अथेति ❀। वित्तितद्वित्त्योर्धारा चासावव्यवधानेन लग्ना चेति विग्रहः। कथं तर्हि वित्तीनां सत्त्वसिद्धिरित्यत आह ❀ कदा चिदिति ❀। जिज्ञासायां सत्यां व्यवहारदर्शनादेः काचिद्वित्तिः प्रमीयते। तस्यां प्रमीयमाणायां वित्तित्वसामान्यालिङ्गिततया सामान्यप्रत्यासत्त्याऽनुमानतो वा सर्वा वित्तिः पमाणसिद्धेत्यर्थः। न तावदत्रानुमानादिकं मानम्, लिंगाद्यदर्शनात्। प्रत्यक्षमपि किमस्मदादेर्योगिनो वा ? न तावदाद्यः उपलंभविरोधादिति परिहरति ❀ नेति ❀। घट इति घटं जानामीति घटतज्ज्ञानविषयात् ज्ञानद्वयादतोऽधिकमस्मदादेरुत्पद्यमानमनुभूयेत यदि तर्ह्येवमपि स्यादिति सम्बन्धः। तामेव विशिनष्टि ❀ तादृग्विषयशतेति ❀। तादृशां विच्छिद्य जायमानविषयाणां शतम्, तद्भारेण गौरवेण मंथरा मंदगामिनी, तत्र हेतुमाह ❀ घट इति ❀। घटश्च तद्वित्तिश्च, तयोर्धारा माला, तया कीदृग्विशिष्टयेत्यत आह ❀ विषयभावेन ❀। गर्भभावेन ❀ अनुप्रविष्टयेति ❀। एतदुक्तं भवति—उत्तरोत्तरज्ञानं पूर्व-पूर्वं सविषयमेव विषयीकरोति, तथा चामुक्तेरविच्छेदात्प्रवाहः स्यात्, अनादौ संसारे न तज्ज्ञानविषयगर्भमेकं ज्ञानं स्यादिति।

स्वीकार नहीं करा सकता। यदि किसी भी प्रमाण की सत्ता नहीं मानी जाती, तब घटादि वस्तु की सत्ता भी निवृत्त हो जाती है, क्योंकि 'यस्य प्रमाण-सत्ता नास्ति, तस्य सत्ता नास्ति'—इस प्रकार प्रमाणसत्ता की निवृत्ति प्रमेय सत्ता की निवृत्ति से व्याप्त होती है! अन्यथा (प्रमाण-सत्ता की निवृत्ति होने पर भी वस्तु की सत्ता मानी जाय, तब) मधुरादि छः रसो से अतिरिक्त नितान्त अप्रसिद्ध सप्तम रस भी मानना पड़ेगा। अतः प्रमाण-परम्परा का अनुसरण करने पर अस्वप्रकाशवादी (नैयायिकादि) के मत में अनवस्था दोष सुदृढ़ और दुर्निवार्य है। यदि प्रमाणन्तर-सत्ता के विना ही प्रमाण की सत्ता सिद्ध की जा सकती है, तब घट-सत्ता को भी वैसे ही सिद्ध कर देना चाहिए, घट की सत्ता में प्रमाण-प्रदर्शन व्यर्थ है।

शङ्का—घट-ज्ञान और ज्ञान-ज्ञान की अविरललग्न धारा हम नहीं मानते, अपि तु कभी ही कोई एक ज्ञान व्यक्ति प्रमाणित की जाती है और सभी ज्ञानों को प्रमाण-सिद्ध मान लिया जाता है, सर्वत्र प्रमाणोपन्यास की आवश्यकता नहीं कि अनवस्था प्रसक्त हो।

समाधान—अनन्त ज्ञानों की धारा न सही पाँच-छः ज्ञानों तक की शृङ्खला तो बन ही जायगी, किन्तु उसे भी मानना सम्भव नहीं, क्योंकि अयं घटः', 'घटमहं जानामि'—इस प्रकार दो अनुभूतियों से अतिरिक्त घट-ज्ञान और ज्ञान-ज्ञान की ऐसी धारा अनुभूत नहीं होती,

यद्यस्मदादिविलक्षणजन्मनि सा सम्भाव्यते, तदाऽपि यस्या वित्तेस्तावद्विषयगर्भिता धीर्विषयः साऽप्यन्यया कयाचिदुल्लेख्येत्यत्र प्रमाणाभावश्च, अनिर्मोक्षापत्तिश्च। न हि स्वमन्तर्भाव्य कयाचिद् धिया स प्रवाहो ग्राह्यः, तथा सति स्वप्रकाशतासिद्धेः। अत एवान्योन्यविषयता निरस्ता, स्वविषयकान्योन्यग्रहे स्वग्रहापत्तेः। न च पुरुषान्तरेण सा प्रमास्यते, न तु तदभाव इति प्रमा तेऽस्ति; तदर्थमपि प्रमाणान्तरसद्भावपरम्परापत्तेः।

न चैवं घटसामग्री-तत्सामग्रीगवेषणेऽप्यनवस्था स्यात्? वैषम्यात्, यदि हि

योगाभ्यासप्रसादासादितातिशयत्वात् योगिनोऽस्मदाद्यगोचराऽपि सर्ववित्तिग्राहिका वित्तिः प्रत्यक्षगोचरेति द्वितीयकल्पं शंकते * यदीति *। अस्मदादिभ्यः पृथग्जनेभ्यो विलक्षणं विशिष्टं जन्म यस्य तस्मिन्योगिनीत्यर्थः। विमतं नातीन्द्रियं गृह्णाति प्रत्यक्षत्वात् संप्रतिपन्नवदिति। अस्मदाद्यतीन्द्रियगोचरयोगिप्रत्यक्षमेव नास्तीत्यंगीकृत्यापि दूषयति * तदापीति *। साऽपि किं वित्त्यन्तरसाध्योत स्वतःसिद्धा? न तावदाद्यः, प्रमाणाभावादनिर्मोक्षापत्तेश्च। बुद्ध्यादीनामात्मविशेषगुणानामात्मनि समवायः संसारः, तदुच्छेदो मोक्ष इति स्वीकारादित्यर्थः। प्रथमचकारेण सुषुप्त्यभावं समुच्चिनोति, द्वितीयेन विषयान्तरसंचाराभावम्। घटवित्तिधारायाः क्वचिद्विच्छेदे तदारभ्यमूलमसत्त्वप्रसंगादिति द्रष्टव्यम। ननु सर्ववित्तिसंततिग्राहिणी योगिनो वित्तिः स्वात्मानं ग्राह्यकोटौ अंतर्भाव्य प्रवाहं गृह्णातीति द्वितीयमाशंक्य दूषयति * न हीति *। स्वात्मानमपि ग्राह्यकोटिनिविष्टं प्रकाशयति चेत्स्वयंप्रकाशत्वं प्रसज्यते, तदनिष्टमित्यर्थः। ननु योगिनः प्राथमिकं ज्ञानं स्वविषयचरमज्ञानं गृह्णाति, तेन च स्वयं ग्रहीष्यते। अतो न स्वयंप्रकाशत्वानवस्थाविरोध इत्यत आह * अत एवेति *। परामृष्टमेव हेतुं दर्शयति * सविषयेति *। प्रथमज्ञानं चरमज्ञानं सविषयं विषयीकुर्वद्विशेषणतया स्वात्मानमपि विषयीकुर्यात्, निर्विषयज्ञानविषयत्वायोगादित्यंशतः स्वयंप्रकाशत्वापत्तिः। एवमुत्तरज्ञानस्यापीत्यर्थः।

चरमज्ञानस्य पुरुषान्तरज्ञानगोचरत्वान्न स्वयंप्रकाशत्वानिर्मोक्षप्रसंगाविरोध इत्याशंक्याह * न चेति *। सा चरमबुद्धिः प्रमांतरेण प्रमास्यते, तस्या अभावो न प्रमास्यते, इत्यत्र तव प्रमाणं नास्ति। तदभावादभाव एव परिशिष्यत इति तुशब्दार्थः। प्रमाणाभावो सिद्धस्तत्रापि प्रमाणान्तरकल्पनादित्याशंक्याह * तदर्थमिति *। कल्पितप्रमाणगोचरवित्तिधारापत्तेरित्यर्थः।

ज्ञानस्य ज्ञानांतरस्वीकारेऽनवस्थानाद्यथा ज्ञानसिद्धिस्तद्वद् घटसामग्र्याः सामग्र्यन्तरस्वीकारेऽ-

---

जिसमें पूर्व-पूर्व-ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञानों का विषय बनता जाता हो, यहाँ तक कि अन्तिम ज्ञान की विषय-कुक्षी में संकड़ों विषय समाकर उसे बोझिल बना दें।

यदि वैसी बोझिल बुद्धि अस्मदादि साधारण जनों की न होकर विलक्षण योग प्रभाववाले योगिजनों में सम्भव मानी जाय, तब भी उनकी अन्तिम बुद्धि भी किसी अन्य बुद्धि से ही अवभासित होगी—इस प्रकार अनवस्था बनी ही रहती है, क्योंकि कोई बुद्धि अपनी ग्राहक बुद्धि में प्रविष्ट होकर स्वयं अपनी भासिका हो नहीं सकती, यदि मानी जाती है तब स्वप्रकाशवाद प्राप्त हो जाता है, क्योंकि अन्तिम बुद्धि ग्राहकान्तर से निरपेक्ष होकर स्वयं अपनी प्रकाशिका मानी गई है। अत एव पूर्व और उत्तर दोनों ज्ञानों का परस्पर ग्राह्यग्राहकभाव भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि उनमें अन्योऽन्याश्रयता आ जाती है।

यदि योगीजन की अन्तिम बुद्धि का भी अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसका ग्रहण अन्य पुरुष की बुद्धि से हो सकता है, तब भी अन्य पुरुष की बुद्धि-परम्परा में प्रमाण का उल्लेख आप को करना होगा, अतः वही ज्ञानानवस्था प्रसक्त होती है।

शङ्का—परप्रकाशवाद में जैसे अनवस्था दोष के कारण घटादि पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती, वैसे स्वप्रकाशवाद में भी सामग्री-परम्परा-सापेक्ष होने के कारण घटादि की सिद्धि

घटसामग्री-तत्सामग्रीधारा कुत्रचित् विच्छिद्येत, तदा घटः सदातनः स्यादित्यर्थापत्त्यैव घटः सामग्रीपरम्पराविच्छेदरहित एव प्रमीयते। यदि तु ज्ञानेऽप्येवं स्यात्, तदा स्वस्य प्रवेशात् स्वप्रकाशापत्तिः, अप्रवेशादनवस्था, अवेदने शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिरिति व्यसनं दुरुत्तरमेव। ये च मानमेयाश्रया दोषाः कीर्तनीयाः तेऽपि प्रसज्येरन्।

न च तैर्दोषैर्नास्त्येव ज्ञानमित्यास्थेयम्, स्वतः सर्वसिद्धस्य दुरपह्नवत्वात्। स्वप्रकाशाङ्गीरादेव चाऽनुभवस्य सर्वदोषहानेर्वक्ष्यमाणत्वात्। प्रकाशात्मतामात्रस्यैव स्वतःसिद्धिसम्भवे जडात्मनां धर्माणां केषामपि तदन्तर्भावानुपपत्तिः।

प्यनवस्थानाव् घटासिद्धिस्तवापि तुल्येत्याशंक्याह ॐ न चेति ॐ। प्रमाणसिद्धत्वात्सामग्र्यनवस्था न दोषाय, ज्ञानपरम्परा तु प्रमाणशून्यत्वादंधपरम्परेवेति वैषम्यमित्यर्थः। घटस्य कादाचित्कत्वानुपपत्त्या तत्सामग्रीपरम्परानादित्वं सिद्धमिति दृष्टपरम्परात्वं दर्शयति ॐ यदीति ॐ। ज्ञानप्रवाहोऽपि क्वचिद्विच्छिद्येत यदि तर्हि तदारभ्यार्थपर्यन्तमसिद्धेर्व्यवहारानुपपत्तिरित्यानुपपत्तिकमेकमेव ज्ञानं सर्वज्ञानविषयम्, अतो नानवस्थेति शंकते ॐ यदीति ॐ। ज्ञानं स्वसंवेद्यम् किं परवेद्यम्, उतावेद्यमिति विकल्प्याद्यं प्रत्याह ॐ तदेति ॐ। द्वितीयं दूषयति ॐ अप्रवेशादिति ॐ। अवेद्यत्वपक्षं दूषयति ॐ अवेदन इति ॐ। किं च ज्ञानान्तरवेद्यत्वे ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेण कः सम्बन्धः? न तावत्संयोगोऽद्रव्यत्वात्, नापि समवाय आत्मगुणयोरन्योन्यं तदयोगात्, नापि तादात्म्यं भिन्नयोरभिन्नयोर्वा तादात्म्यायोगात्, नापि विषयविषयिभावस्तस्य द्रव्याद्यन्तर्भावानन्तर्भावाभ्यामसंभवात्, न चासम्बद्धमेव ज्ञानं ज्ञानान्तरज्ञेयमतिप्रसंगाद्—इत्यभिप्रेत्याह ॐ ये चेति ॐ।

ज्ञेयत्वेऽनवस्थानादज्ञेयत्वे सिद्धे, स्वज्ञेयत्वे कर्तृकर्मविरोधान्नास्त्येव तज्ज्ञानमित्याशंक्याह ॐ न चेति ॐ। हेतुमाह ॐ स्वत इति ॐ। अदृष्टानुरोधेन दृष्टं नापलापमर्हति, किं तु दृष्टानुगुण्येनादृष्टमेव

सम्भव नहीं, क्योंकि बिज्ञानवाद में घट-भासक सामग्री है—उसके संस्कार और संस्कारों के भासक संस्कारान्तर—इस प्रकार अनवस्था निश्चित है।

समाधान—दोनों अनवस्थाओं में महान् अन्तर है, क्योंकि 'घटसामग्रीधारा यदि कुत्रचिद् विच्छिद्येत, तदा घटः सदातनः स्यात्'—इस अर्थापत्ति के द्वारा घट-सामग्री-परम्परा प्रमाणित है। यदि ज्ञान-ज्ञान की धारा भी कहीं विच्छिन्न हो अर्थात् कोई बुद्धि अपने प्रकाश के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा न कर अपना प्रकाश स्वयं आप ही कर ले, तब स्वप्रकाशतापत्ति होती है, और ग्राहक-त्रुक्षी में अपना प्रवेश न करने पर अनवस्था होती है, किसी अन्तिम ज्ञान के अप्रकाशित रह जाने पर पूर्व-पूर्व की असिद्धि दुरुद्धर हो जाती है। एक ज्ञान को ज्ञानान्तर का प्रमेय मानने पर उन दोनों में सम्बन्धादि की जिज्ञासा होगी, उसका भी समुचित समाधान नहीं हो पाता, क्योंकि दोनों ज्ञान गुणात्मक है, अतः संयोग नहीं हो सकता, समवाय की जिन परिगणित आधारों में रहता है, उनमें दोनों ज्ञान नहीं आते—इत्यादि प्रमाण-प्रमेय उपाधियों को लेकर जो दोष दिये जाते हैं, वे भी यहाँ प्रसक्त होते हैं।

शङ्का—यदि ज्ञान की सिद्धि में अनन्त दोष है, तव यह स्पष्ट उद्घोषित कर देना चाहिए कि 'नास्त्येव ज्ञानम्'।

समाधान—स्वतः सिद्ध वस्तु का कभी अपलाप नहीं किया जा सकता। ज्ञान को स्वप्रकाश माना जाता है, अतः अनवस्थादि दोष प्रसक्त नहीं होते, यह आगे २१वें पद्य में कहा जायगा—

"आपाततो यदिदमद्वयबादिनीनाम् अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम्।
तत् स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात्॥"

ज्ञान में प्रकाशात्मता की स्वतः सिद्धि मानी जाती प्रकाशत्वादि जडरूप धर्म उसमें नहीं माने

अत एव धर्मोपग्रहप्रवर्तिष्णुवाग्व्यवहाराविषयत्वम्, कालानवच्छेदमादाय च नित्यत्वोपचारः। देशानवच्छेदमादाय विभुत्वव्यपदेशः। प्रकारावच्छेदविरहनिबन्धनश्च सर्वात्मत्वाऽद्वैतादिव्यवहारः। सौगतप्राभाकरादिवद् भावे, नैयायिकवच्च अभावे अभावान्तरानतिरेकस्वीकारादेव चाद्वैताऽव्याघातः। भ्रमविषयनिषेधवच्च प्रतियोगिनः सर्वथैवासिद्ध्याऽपि न काचित् क्षतिः।

कल्पनीयम्, अन्यथा कार्यलिङ्गकं कारणानुमानं न स्यादित्यर्थः। कथं दुष्टस्य स्वीकार इत्यत आह ॐ स्वेति ॐ। स्वप्रकाशत्वादनुभवस्य नानवस्था, नापि क्रियाकर्मभावविरोधः, तदनङ्गीकारादिति सर्वदोषाभावस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः। किं च ते दोषा जडा अजडा वा? द्वितीये संविन्मात्रं जडत्वम्। स्वतः परतो वा सिद्ध्यसंभवान्न दोषसंसर्गो वित्तेरित्याह ॐ प्रकाशेति ॐ। तदंतर्भावस्तत्सम्बन्ध इति यावत्। एतेन गुणत्वसत्त्वादयो धर्मा ज्ञानस्य व्याख्याता द्रष्टव्याः।

षष्ठीगुणक्रियारूढिजातीनां शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानां सत्त्वेऽद्वैतव्याघातः, असत्त्वे ज्ञानं स्वप्रकाशमिति व्यवहारानुपपत्तिरित्याशंक्याह ॐ अत इति ॐ धर्मस्योपग्रहः स्वीकारः, तेन प्रवर्तितुं शीलं यस्य वाग्व्यवहारस्य तं प्रत्यविषयत्वम्। वाच्यत्वानङ्गीकारे ज्ञानस्य शब्दप्रवृत्तिहेतवो नापेक्ष्यंत इति भावः। वित्सत्ता-धर्मसम्बन्धवच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तसम्बन्धोऽपि स्यादित्याशंक्याह ॐ कालेति ॐ। कालावच्छेदो ह्यनित्यत्वम्, कादाचित्कत्वं तदभावोपलक्षितं स्वरूपं नित्यमुपचर्यंते इत्यर्थः। देशपरिच्छेदो विभुत्वम्, "यावद्विकारं तु विभागो लोकवदिति" न्यायादपरिच्छेदे सर्वसम्बन्धस्य स्वीकर्तव्यतयाऽद्वैतभंग इत्याशंक्याह ॐ देशेति ॐ। देशावच्छेदाभावोपलक्षितस्वरूपं विभुत्वेनोपचर्यत ... इत्यर्थः। सजातीयविजातीयभेदप्रकाराभावोपलक्षितस्वरूपव्यतिरेकेण सर्वात्मत्वादयोऽपि धर्मा नाभ्युपेयंते इत्याह ॐ प्रकारेति ॐ। ... ब्रह्मेत्यादिसंग्रहः। एते धर्माः पारमार्थिका एवाभ्युपेयंतामिति चेन्न, जडत्वेऽजडत्वे वाऽघटमानत्वात्। नन्वेतेषामभावानां ब्रह्मातिरेके द्वैतव्याघातः, अव्यतिरेके न नित्यत्वाद्युपचारनिमित्तता—इत्यत आह ॐ सौगतेति ॐ। सौगतप्रभाकराविह भूतले घटो नेत्यादावपि धर्मिस्वरूपव्यतिरिक्तमभावं नांगीकुर्वाते, कुत्र प्रतियोगिनि धर्ममात्रमभाव इति स्वीकारात्। यथा चान्योन्याभावकुंभयोरन्योन्याभावं व्यवहरन्नपि न कुम्भाद्यतिरेकेणाभावान्तरमिच्छति, तन्मालापातात्तार्किकः, तथाऽस्माभिरपि ब्रह्मातिरिक्ताभावानंगीकारान्नाद्वैतव्याघात इत्यर्थः। अभावम्प्रति सौगतप्राभाकरवद्भाव इति सम्बन्धः। तद्वद्भावश्च। भावाद्भेदेनाभावास्वीकरणं द्रष्टव्यम्। अप्राप्तप्रतिषेधासंभवात्प्रतिषेध्यद्वैतप्राप्तिर्वक्तव्या, क्वचित्प्रामाणिकस्य सतश्चान्यत्र प्राप्तिर्भवति, ततो नाद्वैतसिद्धिरित्याशंक्याह ॐ भ्रमेति ॐ। असतोऽप्रामाणिकस्य च भ्रमप्राप्ततया प्रतिषेधः परपक्षवदित्यर्थः।

जाते। इसीलिए ज्ञानत्व, सत्यत्वादि धर्मों को उपगृहीत (प्रवृत्तिनिमित्त बना) कर प्रवृत्त होनेवाले "सत्यं ज्ञानम्"—इत्यादि शब्दों का आत्मा विषय नहीं (अर्थात् शब्दों की अभिधा का विषय न होकर केवल लक्षणा के द्वारा इङ्गितमात्र होता है)। कालिक परिच्छेद से रहित होने के कारण ज्ञान नित्य, दैशिक परिच्छेद-शून्य होने से विभु और प्रकार या विशेषणों से परिच्छिन्न नहीं, अतः सर्वात्मा अद्वैतादि व्यवहारों का विषय उपचारतः माना जाता है। [(अर्थात् सत्यत्व, ज्ञानत्व, नित्यत्व, विभुत्वादि धर्मों के न होने पर भी उसमें उपचार या आरोप करके सत्यादि पदों से उसे अभिहित किया जा सकता है]। ज्ञान में रहनेवाले नित्यत्वाभावादि अभावभूत धर्मों को वैसे ही धर्मी से भिन्न नहीं माना जाता, जैसे बौद्ध और प्राभाकार भूतलादिरूप भाव पदार्थ से भिन्न घटाभावादि को नहीं मानते अथवा जैसे नैयायिक घटाभावमें रहनेवाले पटाभावादि को घटाभाव से भिन्न नहीं मानते, अतः अभावपदार्थ ब्रह्म में रहते हुए भी अद्वैत-रूपता के घातक नहीं, जैसा कि श्री मण्डन मिश्र कहते हैं—"अभावरूपा धर्मा नाद्वैतं घ्नन्ति" (ब्र० सि० पृ० ४)। कर्तृत्वादि द्वैत प्रपञ्च जो ब्रह्मरूप ज्ञान में निषिद्ध है, वह भ्रम-प्राप्त

तदेतत्तु श्रुत्या प्रमाणेनोपलक्षणन्यायात् तात्पर्यतः प्रकाश्यते। तेन परमार्थतोऽभिधानाभिधेयभावविरहे तात्पर्यतः श्रुतिस्तस्मिन्नविद्यादशायां पराभ्युपगमरीत्या प्रमाणमित्युच्यते। वस्तुतस्तु स्वात्मसिद्धमेव चिद्रूपम्।

ननु च स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्येत्यनुपपन्नमिदम्, क्रियाकर्मभावस्य भेदव्यतिरेकेणानुपपत्तेः। कार्या क्रिया हि कर्मणो भवति, कर्म च कारणं क्रियायाः। न च स्वेनैव

इत्थंभावे प्रमाणमस्त्युत न? न चेदद्वैतादिरूपासिद्धिः। अस्ति चेत्, न प्रत्यक्षादि, रूपाद्यभावात्। नापि शाब्दः, प्रवृत्तिनिमित्ताभावाद्—इत्याशंक्याह ॐ तदिति ॐ। अन्यतः सिद्धस्य देवदत्तगेहस्य परतो व्यावृत्तिद्वारेण काकाधिकरणवाक्यं यथा प्रमाणं भवति, तथा स्वतःसिद्धस्य ब्रह्मणोऽविद्यातत्कार्यव्याकीर्णस्य ततो व्यावृत्त्यर्थः किंचिदुपलक्षणधर्मप्रतिपादनेन वेदान्तवाक्यं प्रमाणमित्यर्थः। यद्वा शब्दत्वेन गृहीतसम्बन्धाः शब्दा भागत्यागलक्षणया सोऽयं देवदत्त इतिवच्चैतन्यं ब्रह्मोपलक्षयन्ति। तेन ब्रह्मणि प्रवृत्तिनिमित्ताभावेऽपि शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मण इति। अत एव धर्मोपग्रहेत्यत्रावाच्यत्वमात्रमुक्तमिह लक्ष्यत्वमुक्तमिति न पौनरुक्त्यम्। ब्रह्मणि प्रमाणप्रमेयविभागाभावान्नोपलक्षणन्यायेनापि श्रुतेः प्रामाण्यमित्याशंक्य प्राग्विद्योत्पत्तेः सर्वमस्त्येव, उत्तरकालं तु तदभावो नानिष्ट इत्याह ॐ तेनेति ॐ। शब्दाविषयस्य ब्रह्मणः कथं श्रुतिप्रमाणकत्वमिति तत्राह ॐ परेति ॐ। पदार्थ एव वाच्यो न वाक्यार्थस्तस्य तात्पर्यगोचरत्वात्पदाभिहितानामेव पदार्थानां योग्यताद्यनुरोधेन वाक्यार्थप्रतिपादकत्वाभ्युपगमाच्च परब्रह्मणोऽपि वाक्यार्थत्वादवाच्यस्यापि श्रुतिप्रमाणकत्वमित्यर्थः। शब्दान्तरवाच्यस्यैव तीरादेर्लक्ष्यत्वदर्शनात् ब्रह्मणोऽपि लक्ष्यत्वे वाच्यत्वादिकं [illegible]त्याह ॐ वस्तुत इति ॐ। स्फुरितत्वे सति वाच्यत्वाद्यसत्त्वेनालक्ष्यत्वादर्शनात् केवलव्यतिरेकभावादवाच्यस्य माधुर्यविशेषस्यामेयसौषुप्तसुखस्य च लक्ष्यत्वदर्शनात् स्वतःसिद्धस्य ब्रह्मणो लक्ष्यत्वसम्भव इति भावः।

ज्ञानं न स्वप्रकाशं शास्त्रगम्यत्वाद् धर्मवद्, विपक्षेऽनुपपद्यमानक्रियाकर्मभावप्रसङ्गो बाधक इत्यभिप्रेत्य चोदयति ॐ नन्विति ॐ। प्रकाशक्रियाप्रकाश्यकर्मणोर्भेदव्याप्ततया तदभावेऽसम्भवादित्याह ॐ क्रियेति ॐ। क्रियाकर्मभावो जन्यजनकभाव इत्यर्थः। जडत्वं प्रकाश्यत्वे प्रयोजकमजडत्वं प्रकाशत्वेन

कर्तृत्वादि का निषेधमात्र होता है, वस्तुत प्राप्त धर्मों का नहीं, अतः निषेध्यभूत द्वैत प्रपञ्च के सर्वथा अप्रसिद्ध होने पर भी कोई क्षति नहीं [यदि वस्तुतः प्राप्त प्रतियोगी का ही निषेध माना जाय, तब "न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि" (तै० सं० ५।२।७) इत्यादि वाक्यों के समान ही "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह० उ० ४।४।१९) इत्यादि वाक्यों को भी अप्राप्त-निषेधक होने के कारण अर्थवादरूप ही मानना होगा, जैसा कि "अभागिप्रतिषेधाच्च" (जै० सू० १।२।५) इस सूत्र में कहा गया है। निषेध्य वस्तु की वास्तविकता जब अपेक्षित नहीं, तब अत्यन्त अप्रसिद्ध द्वैत प्रपञ्च भी अज्ञान-कल्पित होने के कारण नेह नानास्ति किञ्चन—इत्यादि निषेधों का विषय बन जाता है, चयनादि दृष्टान्तस्थलों पर आरोप मानना सम्भव नहीं, क्योंकि अन्तरिक्षादि जड़ पदार्थों को आरोप का अधिष्ठान नहीं बनाया जा सकता]। ब्रह्म के साथ शब्दादि का अभिधानाभिधेयभाव परमार्थतः नहीं, तथापि "नेह नानास्ति"—इत्यादि श्रुतियाँ द्वैत का निषेध करती हुई अद्वैत ब्रह्म में तात्पर्यतः पर्यवसित हो जाती हैं, या अविद्या-दशामें आरोपित अथवा नैयायिकादि वादियों के दृष्टिकोण से वास्तविक अभिधानाभिधेयभाव को लेकर श्रुतियाँ अवाच्य ब्रह्म का प्रतिपादन करती हुई ब्रह्म में प्रमाण मानी जाती हैं। वस्तुतः स्वतःसिद्ध चिद्रूप ब्रह्म को प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं।

शङ्का—यह जो कहा गया कि ज्ञान स्वप्रकाश है, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि ज्ञान ही वह प्रकाश क्रिया है, जिसका प्रकाश्य (कर्म) भी ज्ञान ही है—ऐसा मानने में कर्म-क्रियाभावरूप विरोध उपस्थित होता है अर्थात् क्रिया सदैव कर्मादि कारकों से उत्पन्न होती है और

स्वनिष्पादनं शक्यम्, पूर्वापरभावविशेषस्य हेतुहेतुमद्भावरूपत्वात्। न च तस्मादेव तदेव पूर्वमपरं च सम्भवति, तदनवच्छिन्नकालविशेषस्य तत्पूर्वशब्दार्थत्वात्। तदा च तस्य सद्भावस्वीकारे स एव कालस्तदवच्छिन्नः, तदनवच्छिन्नश्चेति विरोधात्।

मैवम्, क्रियायाः कर्मजन्यतानियमानङ्गीकारात्। सर्वथैव अनागतविषयविज्ञाने तदसम्भवात्। क्वचिज्जनकतामादाय च कर्मणि कारकत्वव्यपदेशात्। करणव्यापारविषयत्वाद् वा परसमवेतक्रियाफलभागित्वाद्वा कर्मलक्षणाद् विनापि क्रियाजनकत्वेन कर्मव्यवहारोपपत्तेः।

भेदोऽभेदो वेत्याशंक्याह ❀ कार्येति ❀। प्रकाशपुष्कलकारणादुत्पद्यमानाऽस्मर्कमिकैव जायतामित्याशंक्याह ❀ क्रियेति ❀। कर्मणः कारकात्क्रिया भवति। 'हि' यस्मादित्यर्थः। क्रियास्वरूपपर्यालोचनया क्रियाकर्मणोरेकत्वं निरस्य कर्मस्वरूपपर्यालोचनया च निराचष्टे ❀ कर्मेति ❀। ध्वंसस्योपादानव्यतिरेकवत्प्रकाशक्रियायाः कार्यकारणभावः स्वत एव किं न स्यादित्यत आह ❀ न चेति ❀। स्वसिद्धौ स्वसिद्धिरित्यात्माश्रयाद्वेत्वतरमाह ❀ पूर्वेति ❀। नियतपूर्वत्वं कारणत्वं नियतोत्तरत्वं कार्यत्वमिति यावत्। ततो वा किमित्यत आह ❀न चेति ❀। एकस्याप्यनेककालसम्बन्धितया पूर्वापरभावोऽस्ति, अत उक्तं ❀तस्मादेवेति❀। द्रव्याद्याकारेणाभेदेऽपि मृद्घटयोः पूर्वापरभावोऽस्ति, तत उक्तं ❀तदेवेति❀। एकस्य युगपत्पूर्वापरीभावासम्भवं दर्शयितुं तत्पूर्वशब्दार्थमाह ❀ तदिति ❀। तेन कार्येणानवच्छिन्नः कालः कार्यात्पूर्वकालस्तस्मिन् कार्यसद्भावः स्वीक्रियते न वा? न चेदेकस्य कार्यकारणभावासम्भवः सिद्धः। स्वीक्रियते चेत्तत्राह ❀ तदेति ❀। एकस्मिन्नुपाधौ कार्यतदभावयोरनुप्रवेश [illegible] उक्तं कुसुमांजलौ—'उत्पत्तेः पूर्वं स्वयमसतः स्वोत्पत्तावप्रभुत्वेन स्वस्मादिति पक्षानुपपत्तेः पौर्वापर्यनियमश्च कार्यकारणभावा न [illegible] पूर्वमपरं च तत्त्वस्य भेदाधिष्ठानत्वादिति'। क्रियाकर्मणोः कार्यकारणभावेनासिद्धेनैवैकस्य तदभावः कथं साध्यत इति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। क्रियामात्रस्य न कर्मजन्यतानियमः अकर्मकधात्वर्थेषु व्यभिचारात्। नापि ज्ञानस्य तन्नियमः, अतीतार्थज्ञाने कर्मजन्यत्वासंभवादिति भावः। अतीतस्य संस्कारात्मना स्थितस्य स्वसंवेदनजनकत्वं सम्भवतीत्याशंक्याह ❀ सर्वथेति ❀। अनागतत्वादेव संस्कारोऽपि नास्तीत्यर्थः। कथम् तर्हि जानातेः सकर्मत्वव्यपदेशः कर्मणि कारकत्वव्यपदेशश्चेत्याशंक्याह ❀ क्वचिदिति ❀। सम्प्रयोगस्य विषयव्यापारत्वात् प्रत्यक्षे विषयस्य कारकत्वाभिप्रायेण कारकत्वादिव्यपदेशो न विरुध्यत इत्यर्थः। तच्च ज्ञानं वृत्तिरूपमिति न क्वचिदपि संवेदनञ्जन्यमिति रहस्यम्।

कर्म क्रिया का जनक माना जाता है, जन्यजनकभाव एक वस्तु में सम्भव नहीं हो सकता। कोई भी कार्य अपने से जनित कभी नहीं होता। कारण पूर्व और कार्य उत्तर काल में होता है, अतः घटादि से ही घटादि का जन्म होने पर घट अपने से ही पूर्व और उत्तर काल में रहेगा, तव 'घटो यदि स्वस्माद् भवेत्, तदा स्वस्मात् पूर्वं स्यात्'—ऐसा आपादन प्राप्त होता है। एक ही घटादि वस्तु अपने से पूर्व हो—यह सम्भव नहीं, क्योंकि घटानवच्छिन्न काल-विशेष पूर्व शब्द का अर्थ होता है, उस समय घट को स्वीकार करने पर वह काल घटसे अवच्छिन्न हो जाता है, इस प्रकार एक ही काल में घटावच्छिन्नत्व और घटानवच्छिन्नत्व—दो विरोधी धर्म प्रसक्त होते हैं।

समाधान—प्रकाश पदार्थ में यदि क्रियारूपता और कर्मकारकरूपता मानी जाती है, तब भी कोई विरोध उपस्थित नहीं होता, क्योंकि 'या या क्रिया, सा सा कर्मकारकजन्या'—ऐसा नियम भाविघटादिविषयक ज्ञान क्रिया में व्यभिचरित हो जाने से माना नहीं जा सकता। 'घटं पश्यति'—इत्यदि किसी क्रिया की जनकता को लेकर ही ज्ञान के कर्म में कारकत्व का व्यवहार हो जाता है किन्तु करणव्यापारविषयत्व या परसमवेतक्रियाजन्यफलाश्रितत्वरूप कर्मकारक का निश्चित लक्षण ज्ञान क्रिया में नहीं माना जाता कि विरोध उपस्थित हो।

४. क्रियाकर्मभावखण्डनम्

किञ्च तत्कर्मत्वं यत् स्वं प्रति विरुद्ध्यते ? परसमवेतक्रियाफलभागित्वमिति चेन्न, अपादानस्यापि व्याप्तेः। अपादानं कर्मापीति चेन्न, 'वृक्षात्पतति पर्णमि'तिवत् 'वृक्षं पर्णं पतती'त्यपि स्यात्।

विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति तदविवक्षया नैवमिति चेन्न, वस्तुतः सतस्ताद्रूप्यस्य यदि विवक्षा स्यात्तदा तदपि स्यात्। अपादानस्य कर्मत्वं न विवक्ष्यत इति

क्वचित्क्रियायाः कर्मजन्यत्वमूरीकृत्य पर्यहार्षीत्, सम्प्रति कर्मत्वमेव न निरूपणगोचर इत्याह ❀ किञ्चेति ❀। तत् कर्वत्वम् च किमित्यर्थः। मीमांसकानां कर्मलक्षणं शंकते ❀ परेति ❀। फलभागित्वम् कर्मत्वमित्युक्ते पुण्यफलसुखादिभाजि प्रसक्तिः तन्निवारणायोक्तम् ❀ क्रियेति ❀। गमनफलम् ग्रामदेवदत्तप्राप्तिः, सोभयनिष्ठत्वाद् गमनकर्तर्यपि विद्यते, तन्निवारणायोक्तम् ❀ परेति ❀। अतोऽस्य लक्षणस्य भेदगर्भत्वाद्भेदाभावे न स्यादित्यर्थः। अकर्मण्यप्येतल्लक्षणमस्तीति परिहरति ❀ नेति ❀। वृक्षात्पर्णं पतति पर्णसमवायिपतनक्रियाजन्यविभागफलशालिनो वृक्षस्यापि कर्मत्वम् स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। विमतं कर्म भवितुमर्हति, उक्तफलभागित्वात् सम्प्रतिपन्नवदिति कर्मत्वानुमानात् न तत्रातिव्याप्तिरिति शंकते ❀ अपादानमिति ❀। विमतम् द्वितीयान्तशब्दवाच्यम्, कर्मत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्याभाससमानयोगक्षेमत्वान्नैवमिति परिहरति ❀ नेति ❀। न च घटः क्रियत इत्यादौ व्यभिचारः, तस्यापि घटं करोतीति तस्यामेव क्रियायाम् प्रयोगान्तरे तद्वाच्यत्वादिति। द्वितीयान्तशब्दवाच्यत्वे कर्मविवक्षाविषयत्वम् प्रयोजकम्, न कर्मत्वमतो[illegible] विवक्षात ❀। यदस्ति तदुच्यत एवेति नियमो नास्ति [illegible]मूलत्वात् परिषयप्रयोगस्य, अयुगपद्विवक्षितत्वाच्च कारकाणामिति भावः। विमतं कर्मत्वविवक्षागोचरः, वस्तुतस्तद्रूपत्वात् सम्प्रतिपन्नवदिति साधनव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। ताद्रूप्यङ्कर्मत्वन्तस्य वस्तुतः सत एव चेद्विवक्षागोचरत्वम् तदत्रापि स्यात्। तदित्यव्ययेन विवक्षोच्यते विवक्षामूलभावाद्विवक्षाप्रयोगौ स्यातामिति भावः। साधनव्यापकत्वानुमानं व्याकरणस्मृतिविरुद्ध कालात्ययापदिष्टमिति शंकते

---

४. क्रियाकर्मभाव खण्डन

वह कोन-सा कर्मत्व है, जो क्रियात्व का विरोधी है ? (१) परसमवेतक्रियाजन्यफलभागित्वम् ['ग्रामं गच्छति'—यहाँ ग्रामरूप कर्म कारक से पर (भिन्न) देवदत्तादि में विद्यमान गमन क्रिया का फल है—देवदत्त का ग्राम-संयोग, उसका भागी (आश्रय) होने के कारण ग्राम में कर्मकारकता मानी जाती है किन्तु] यह लक्षण 'वृक्षात् पत्रं पतति' – इत्यादि स्थलों पर वृक्षादिरूप अपादान कारक में भी अतिव्याप्त है [क्योंकि वृक्ष भी अपने से भिन्न पत्र में रहनेवाली पतन क्रिया से जन्य विभागरूप फल का आश्रय होता है]। यही यदि कर्मता है, तब 'वृक्षात् पत्रं पतति' के समान ही 'वृक्षं पर्णं पतति'-- ऐसा भी प्रयोग होना चाहिए।

शङ्का—यद्यपि 'वृक्षात् पतति पर्णम्'—इत्यादि स्थलों पर वृक्ष में उक्त कर्मत्व भी है, तथापि 'वृक्षं पतति पर्णम्'—ऐसा प्रयोग न होकर 'वृक्षात् पर्णं पतति' – ऐसा ही प्रयोग होता है, क्योंकि जैनेन्द्रमहावृत्ति (१।४।४१) में कहा गया है—"विवक्षातः कारकाणि भवन्ति"। [अर्थात् वक्ता की अपनी इच्छा पर यह निर्भर रहता है कि किसी भी कारक का प्रयोग कर सकता है। वाक्यपदीकार ने (वा० प० ~~३।७।१२~~) भी कहा है— 2-3-18 प्रदर्श 1-4-41 काशिका

"धर्मैरभ्युदितः शब्दे नियमो न तु वस्तुनि।
कर्तृधर्मविवक्षायां शब्दात् कर्त्ता प्रतीयते ॥
क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते तदा तत्र करणत्वं तदा स्मृतम् ॥"

'वृक्षात् पर्णं पतति'—यहाँ पर भी यदि वृक्ष में कर्मत्व की विवक्षा होती, तब 'वृक्षं पर्णं पतति'—ऐसा भी प्रयोग हो सकता था किन्तु अपादान में 'कर्मत्वं न विवक्ष्यते'—ऐसी

शाब्दिकसम्प्रदायोऽयमिति चेत्, तर्हि तत्र निवृत्तसर्वकर्मव्यवहारेऽपि स्वकृतकर्मलक्षणानुरोधेन कर्मत्वमभ्युगच्छता वस्तुमात्रं कर्मेत्यपि लक्षणं सावकाशितं स्यात्। कथञ्च लोकोत्तरप्रज्ञेन निवृत्तसर्वकर्मव्यवहारेऽपि स्वकृतकर्मत्वमस्तीत्यधिगतम्?

अपादानेतरद् ईदृशं कर्मेति चेन्न, तत्रापि 'नदी वर्धते' इत्यादौ तद्वृद्धेरप्राप्ततीरभागादिप्राप्तिफलायाः सकर्मकत्वापत्तेः। अपादानेतरदिति स्थाने क्रियानाशकेति करणेऽप्यस्य दोषस्य तादवस्थ्यात्। विनाशलक्षणायां 'वृद्धौ' तदसम्भवाच्च। 'वृक्षं

❀ अपादानस्येति ❀। प्रमाणतर्कावनुपन्यस्य सम्प्रदायमात्रात्प्रत्यवतिष्ठतः काचिदपि लक्षणव्यवस्था न स्यादिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀। निवृत्तः सर्वेषां कर्मव्यवहारो यस्मिन्नपादाने तत्रापि कर्मत्वमभ्युपगच्छता वस्तुमात्रं कर्मेत्यपि लक्षणं समर्थितं स्यात्। अतिव्याप्त्यभिधानेऽस्त्येव कर्मत्वम्, किं तु विवक्षा न कर्त्तव्येति वैयाकरणसम्प्रदाय इत्यभिधातुं शक्यत्वादित्यर्थः। पूर्वमपादानेऽपि कर्मत्वमभ्युपगम्य द्वितीयादिप्रसङ्ग उक्तः, इदानीन्तदपि न, प्रमाणाभावादित्याह ❀ कथमिति ❀। लोकादुत्तरा उद्गता प्रज्ञा यस्य स लोकोत्तरप्रज्ञः। उक्तातिव्याप्तिव्यावृत्तयेऽपादानान्यत्वेन लक्षणं विशिंष्म इति शंकते ❀ अपादानेति ❀। ईदृशं परसमवेतक्रियाफलशालीति यावत्। अतिव्याप्त्यन्तरेण दूषयति ❀ तत्रापीति ❀। नदीसमवेता वृद्धिक्रिया, तस्या अप्राप्ततीरभागेन संयोगविभागौ फले भवतः, तद्भाजोऽपि तीरस्य कथितलक्षणत्वात्कर्मत्वं प्राप्नोति। न च तद्युक्तम्, द्वितीयाप्रयोगादिप्रसंगाद् वृद्धिधातोरकर्मत्वविरोध इति यावत्। आदिपदेनाग्निर्ज्वलतीत्यादिसंग्रहः। क्रियानाशकत्वे सति परसमवेतक्रियाजन्यं यत्तद्भागि कर्मेति लभ्यते, न चैवमतिव्याप्तिः, पर्णसमवेतपतनक्रियाजन्यवृक्षनिष्ठविभागस्य पतन[illegible], [illegible]संयोगस्यैव क्रियानाशकत्वात्। नाप्यव्याप्तिः, गंतृसमवेतगमनविनाशकप्राप्तिफलशालित्वात् ग्रामादेः कर्मण इत्याशंक्याह ❀ अपादानेतरदिति ❀। वृद्धिक्रियाफलस्य संयोगादेः वृद्धिक्रियानाशकत्वात्तद्भाजः तीरादेः कर्मत्वप्रसङ्गस्तदवस्थ इत्यर्थः। 'वृक्षं वर्द्धते वर्द्धकि'रित्यत्र नाशलक्षणवृद्धेर्नाशान्तराभावादुक्तलक्षणाद् वृक्षस्याकर्मत्वप्रसङ्ग

शाब्दिक-सम्प्रदाय की मर्यादा है, अतः वहाँ वैसा प्रयोग नहीं होता।

समाधान—अपादानभूत वृक्ष में भी यदि आप (नैयायिकों) का पारिभाषिक कर्मत्व रहने पर भी प्रयोग का नियन्त्रण विवक्षा पर निर्भर रखा जाता है, तब जिस पदार्थ में कोई भी कर्म-व्यवहार नहीं करता, उसमें भी कर्मत्व रखने के लिए 'वस्तुमात्रं कर्म'—ऐसा भी लक्षण किया जा सकता है। जब वैसे प्रयोग की आपत्ति किसी ने उठाई, तब 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'—यह मन्त्र पढ़ दिया)। दूसरी बात यह भी है कि 'जिस पदार्थ में कर्मत्व-व्यवहार किसी का भी नहीं होता, ऐसे अपादानरूप वृक्षादि में भी आपका कर्मत्व है'—यह आप (नैयायिक) ने अपने किस लोकोत्तर नेत्र से देख लिया?

(२) 'अपादानभिन्नत्वे सति परसमवेतक्रियाजन्यफलभागित्वम्'—ऐसा लक्षण भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'नदी वर्धते' यहाँ पर भी नदीगत वृद्धि क्रिया से जन्य अप्राप्ततीर-प्राप्तिरूप फल का आश्रयीभूत अप्राप्ततीर कर्म हो सकता है अतः 'नदी तीरं वर्धते'—ऐसा भी अनिष्ट प्रयोग होने लगेगा और अकर्मक वृद्धि क्रिया में भी सकर्मकत्वापत्ति हो जायगी। अपादानभिन्नत्व-घटितलक्षणादि के स्थान पर 'परसमवेतक्रियाजन्यक्रियानाशकफलाश्रयत्वं कर्मत्वम्'—ऐसा लक्षण करने पर यद्यपि वृक्षादि अपादान कारक में अतिव्याप्ति नहीं होती, [क्योंकि उक्त स्थल पर विभागरूप फल पर्णगत पतन क्रिया का नाशक नहीं, अपितु पर्णादि का अधोदेश के साथ संयोग पतन का नाशक होता है और ग्रामं गच्छति—इत्यादि लक्ष्य स्थलों पर ग्राम-प्राप्तिरूप फल गमन क्रिया का नाशक होता है, अतः ग्रामादि में कर्मत्व की अव्याप्ति भी नहीं], तथापि 'नदी वर्धते'—इत्यादि स्थलों पर अनिष्टापत्ति जैसी-की-तैसी बनी रहती है, क्योंकि वहाँ अप्राप्ततीर-प्राप्तिरूप फल वृद्धि क्रिया का नाशक होता है। विनाशरूप वृद्धि क्रिया

त्यजती'त्यादौ अकर्मत्वप्रसङ्गाच्च ।

'आत्मानं जानामी'त्यत्र परत्वाभावादव्याप्तेः । तत्राप्युपाधिभेदात्परत्वम् , कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपहितस्यैवात्मनो ज्ञेयत्वाभ्युपगमादिति चेन्न, यतोऽस्तु तावद् यथा कथंचिदेवम् , तथाप्यध्यात्मविदो निरुपाधिमात्मानं जानतो ज्ञानं नात्मकर्मकं स्यात् । 'पच्यते फलं स्वयमेवे'त्यादौ कर्मकर्तरि का गतिः स्यात् ?

सर्वज्ञमीश्वरं मन्यमानेन च नित्यज्ञाने तस्मिन् भगवति फलनाशकत्वस्यानभ्यु-

---

इत्यव्याप्तिमाह ❀ विनाशेति ❀ । वृद्धिः परिस्पन्दक्रियैव न भवति, किं तु महता जलावयविनाऽल्पस्य जलावयविनो विनाशः । तेन न तीरादावतिव्याप्तिरित्याशंक्य नाशलक्षणत्वे वृद्धेः संयोगादिफलत्वायोगात् क्रियात्वमेष्टव्यम् । अतश्चातिव्याप्तिस्तदवस्थेत्युच्यत इति केचित् । नाशक्रियाया अपि क्षणिकतया नाशोऽस्ति तत्फलस्य ध्वंसस्येव नित्यत्वात् । न चानवस्था, दृष्टत्वादेव । अतो नात्र्याप्तिरित्याशंक्याह ❀ वृक्षमिति ❀ । त्यजिक्रियाजन्यविभागफलस्य तत्क्रियानाशकत्वाभावात्तद्भाजो वृक्षस्य कर्मत्वं न स्यादतो वृक्षं त्यजतीति प्रयोगो न स्यादित्यर्थः । विभागः क्रियानाशकः, क्रियाफलत्वात्संयोगवदिति चेन्न, पर्णवृक्षविभागे व्यभिचारात् तस्यापि पक्षत्वे तत्रैव बाधादिति ।

ननु न कर्ममात्रस्येदं लक्षणमुच्यते किं तु ज्ञानकर्मण इत्याशंक्याह ❀ आत्मानमिति ❀ । निरुपाधिस्वरूपस्यैकत्वेऽपि सोपाधिकस्य भेदात् ज्ञातुर्ज्ञेयादन्यत्वमेकस्मिन्नपि देह इति शंकते ❀ तत्रेति ❀ । शरीरेन्द्रियविशिष्टस्य ज्ञातृत्वं कर्तृत्वाद्युपहितस्य ज्ञेयत्वमित्यर्थः । न विशिष्टं विशेषणादिभ्यस्तत्त्वांतरम्, कृशानयक्तो गिरिमान् [illegible] हेतुसाध्ययोर्वैयधिकरण्यप्रसङ्गात् । अङ्गीकृत्यात्मव्याप्तिमाह ❀ नेति ❀ । सर्वोपाधिप्रहाणेन ब्रह्मैवाहमिति यद्विज्ञानं तदभिज्ञातुः परत्वाभावादात्मकर्मकं न स्यात् , अतश्च न ज्ञानकर्मलक्षणम्, सामान्यलक्षणांतरादर्शनाच्च कर्ममात्रलक्षणमेवेदमिति भावः । कर्मैव यत्र कर्तृत्वेन विवक्ष्यते तत्र व्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वविवक्षाभावाद्विवक्षावशेन च वैयाकरणेन कारकत्वांगीकारात्कर्मत्वं न स्यादित्याह ❀ पच्यत इति ❀ ।

एवं तत्त्वविन्मतमनुसृत्य लक्षणम् प्रत्यक्षेऽपि । सम्प्रत्यौलूक्यमतावलंबनेनापि प्रतिक्षिपति ❀ सर्वज्ञमिति ❀ । नित्यज्ञानाधार ईश्वर इति तेन लक्षणांगीकारात्सर्वज्ञं मन्यमानेन नित्यज्ञाने भगवति

सकर्मक है, किन्तु ध्वंसात्मक क्रिया का नाशक सम्भव नहीं, अतः उसके कर्मभूत वृक्षादि में उक्त कर्मता का लक्षण अव्याप्त भी है [यहाँ 'वर्ध छेदनपूर्णयोः' धातु से वर्धकि (तक्षा) बनता है । सम्भव है वर्ध का वृधु भी रूपान्तर कभी प्रचलित हो, उसी को विनाशलक्षण वृद्धि कहा जाता होगा] । इतना ही नहीं, 'वृक्षं त्यजति'—यहाँ पर त्यागरूप क्रियार्थ का विभागरूप फल नाशक नहीं, अपितु देशान्तरसंयोग है, फलतः उक्त कर्मत्व लक्षण वृक्षादि में भी अव्याप्त है ।

'आत्मानं जानाति'—इत्यादि स्थलों पर ज्ञानरूप क्रिया कर्मभूत आत्मा से भिन्न में (पर-समवेत) नहीं, अतः आत्मा में कर्म का लक्षण नहीं घटता । यदि कहा जाय कि देहावच्छिन्न आत्मा कर्त्ता, उससे भिन्न शुद्ध आत्मा कर्म है, अतः शुद्ध आत्मा से भिन्न विशिष्ट आत्मा में रहनेवाली ज्ञान क्रिया परसमवेत सुलभ हो जाती है । तो वैसा कहना पूर्णतया युक्ति-युक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अध्यात्मविद्या के पारंगत जीवन्मुक्त पुरुषों की दृष्टि में सर्वथा उपाधि-विनिर्मुक्त आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञेय होता है, अतः उनके द्वारा प्रयुक्त 'आत्मानं जानामि'—इस प्रयोग की घटकीभूत ज्ञान क्रिया आत्मकर्मक न हो सकेगी, क्योंकि कर्मभूत आत्मा से भिन्न कर्त्ता नहीं, जिसमें समवेत ज्ञान क्रिया सुलभ हो । इसी प्रकार 'पच्यते फलं स्वयमेव'—इत्यादि स्थलों पर फलरूप कर्म में कर्म का लक्षण कैसे घटेगा ? क्योंकि वहाँ कर्म को ही कर्त्ता माना गया है, कर्म से भिन्न कर्त्ता नहीं । आप (नैयायिकगण) ईश्वर को

पगमात् तं प्रत्येतल्लक्षणाऽसिद्धेः। तस्माद् व्याकरणकारैः शब्दसिद्ध्यर्थं नदीवृद्ध्यादिवत् कर्मापि परिभाषितमित्यलं तदनुगतलक्षणगवेषणया।

करणव्यापारविषयः कर्म इति चेन्न, 'हस्तेन रामेण शरेण' इत्यादावतिप्रसङ्गात्। लक्षणं विनापि क्रियाजनकत्वे सति व्यापारोद्देश्यत्वेन कर्मव्यवहारोपपत्तेः। शेषश्च श्वराभिसन्धौ स्वप्रका - निर्वक्ष्यामः। P. 74 125

फलस्य क्रियानाशकत्वानभ्युपगमात् तं प्रत्येतल्लक्षणासिद्धेरिति संबन्धः। नित्यत्वादेवेश्वरज्ञानस्य स्वजन्यव्यवहारादिलक्षणफलनाश्यत्वं नास्तीति विश्वस्य तत्कर्मत्वं न स्यात्। अस्ति च तत्, तस्य सर्वज्ञत्वात्। तेन त्वदुक्तलक्षणमीश्वरवादिनं प्रत्यव्यापकमित्यर्थः। यस्माद् दुष्टमिदं लक्षणं ॐ तस्मादिति ॐ उपसंहरति। यथा वस्तुतो नदीत्ववृद्धित्वयोरसतोरपि पाणिनिना "यूस्त्र्याख्यौ नदी", "वृद्धिरादैच्", "अदेङ्गुणः" इत्यादिसंज्ञा शब्दसिद्धयर्था कृता न सार्वत्रिकी, तथा कर्मसंज्ञाऽपीत्यर्थः।

तर्हि करणव्यापारविषयः कर्मेति लक्षणमस्तु तत्रोक्तबाधाभावादित्याशंक्याह ॐ करणेति ॐ। न च करणव्यापारविषयत्वं कर्मलक्षणम, 'हस्तेन रामेण शरेण विद्ध' इत्यत्र हस्ताख्यकरणव्यापारविषयतया शरस्यापि कर्मत्वप्रसंगादिति।

कर्मव्यवहारानुपपत्त्या कर्मपदार्थस्तल्लक्षणं चेष्टव्यमित्याशंक्यान्यथोपपत्तिमाह ॐ क्रियेति ॐ। क्रियाजनकत्वे सति व्यापारोद्देश्यम् कर्मेति संकेतमात्राद्व्यवहारोपपत्तेरलं लक्षणगवेषणयेति पूर्वेण सम्बन्धः। द्वितीयामयोगादिव्यवहारोपपत्तयेऽनुगतं किमपि रूपं वक्तव्यञ्चेत्, लक्षणमेव किं नोच्यत इत्यत आह ॐ शेषं चेति ॐ। क्रिया नात्मनः परिस्पन्दः ... विधायित्वात। परिणामश्चेत्तर्हि तत्फलस्य घटादिवत्परिणाम्याश्रिततया पटादेरपरोक्षत्वं न स्यादिति कर्मलक्षणमव्यापकमित्याद... प्रकरणे दर्शयिष्याम इत्यर्थः।

सर्वज्ञ और उसका ज्ञान नित्य मानते हैं, नित्य ज्ञानरूप किया का कोई फल नाशक नहीं हो सकता, अतः उस में सकर्मकत्व सम्भव न हो सकेगा। इस लिए वैयाकरणों ने जैसे ["यूस्त्र्याख्यौ नदी" (पा० सू० १।४।३) "वृद्धिरादैच्" (पा० सू० १।१।१) अर्थात् दीर्घ ईकरान्त तथा ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों की 'नदी' संज्ञा और आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा होती है]—इस प्रकार] 'नदी' और 'वृद्धि' आदि शब्द अपने पारिभाषिक बनाये हैं, वैसे ही 'कर्म' शब्द भी उनकी एक परिभाषा मात्र है, अर्थ से उसकी कोई संघटना नहीं, अतः सभी कर्म पदार्थों में अनुगत कर्मत्व-लक्षण की गवेषणा करनी निरर्थक है।

(३) '**करणव्यापारविषयः कर्म**—यह लक्षण निर्दुष्ट है ['कुठारेण काष्ठं छिनत्ति'—यहाँ पर कुठाररूप करण के आश्रित उद्यमन-निपातनरूप व्यापार का विषय (आश्रय) काष्ठ है, अतः उसमें कर्मका का लक्षण घट जाता है। 'मनसा आत्मानं जानामि'—यहाँ पर मनोरूप करण के संयोगरूप व्यापार का आश्रय आत्मा है, अतः उसमें भी कर्मता घट जाती हैं]—ऐसा नहीं कह कसते, क्योंकि—

'हस्तेन रामेण शरेण विद्धः—यहाँ पर उक्त कर्म का लक्षण शररूप करण में अतिव्याप्त होता है, क्योंकि शर भी हस्तरूप करण के संयोग रूप व्यापार का आश्रय है। अनुगत कर्म-लक्षण के विना भी क्रियाजनकत्व-विशिष्ट व्यापारोद्देश्यत्वरूप धर्म को लेकर कर्म-व्यवहार निभ जाता है [क्रिया-जनकत्वादि धर्म अतीतादि कर्मपदार्थों में नहीं रहते यह कहा जा चुका है। शब्दादि की प्रवृत्ति तो क्वाचित्क धर्मों को लेकर भी हो जाती है। प्रस्तुत धर्म वैसा ही है, अतः इसे लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अतिव्याप्त्यादिदोष-रहित धर्म को ही लक्षण कहा गया है]। क्रिया-कर्मभाव के विषय में शेष वक्तव्य 'ईश्वराभिसन्धि' नाम के प्रकरण ग्रन्थ में वर्णित स्वप्रकाशवाद के सन्दर्भ में कहा जायगा।

५. विषयविषयिभावखण्डनम्

ननु चाऽभेदे विषयविषयिभावस्यैवासंगतत्वम् , विषयित्वं हि विषयसम्बन्धिता, सम्बन्धश्च भेदमन्तरेणासम्भवदवस्थितिः, सम्बन्धमितेः सम्बन्धिस्वरूपभेदमितिव्यतिरेके वैपरीत्यावधारणात् ।

मैवम् ; विषयविषयिभावसम्बन्धो हि न सम्बन्धिस्वरूपाद्भिन्नः, तथाभूतत्वेऽपि

एकस्य क्रियाकर्मभावासम्भवं निरस्य विषयविषयिभावासम्भवं निराचिकीर्षुः परमुखेन चोदयति ❀ नन्विति ❀ । अतिशयजनकत्वं विषयित्वम्, तत्त्वञ्च विषयत्वम्, अतो न भेदोऽभेदो वोपयुज्यत इत्यत आह ❀ विषयीति ❀ । संबन्धोऽपि संबंधिस्वरूपाश्रयो न भेदाश्रयः, तेन तदुपयोग इत्यत आह ❀ संबंधश्चेति ❀ । कस्य केन संबंध इति तृतीयाषष्ठीनिर्दिष्टतया तयोरिति द्विवचननिर्दिष्टतया च भिन्नयोरेव संबंधत्वाद् व्यापकभेदाभावे व्याप्यसंबंधाभावो निश्चीयत इत्यर्थः । संबंधो भेदाधीनः प्रतीतभेदस्यैव प्रतीयमानत्वाद्, विशेषणविशेष्यभाववदिति प्रयोगमप्युक्तेऽर्थे दर्शयति ❀ संबंधेति ❀ । संबंधिनोः स्वरूपं संबंधिस्वरूपम्, तस्य भेदस्तस्य प्रमितिः प्रमा, तस्य व्यतिरेकेऽभावे संबंधमितेर्वैपरीत्यावधारणाद् अभावनिश्चयादिति यावत् । यद्वा भेदसंबंधयोर्व्याप्यव्यापकभावमभिधाय तत्प्रमयोरपि दर्शयति, तदधीनत्वान्मेयासिद्धेरिति ।

संबंधमात्रस्य भेदाधीनत्वोक्तौ भागे सिद्धसाधनता, विषयविषयिभावसंबंधपक्षीकरणे तस्य संबंधिस्वरूपतया भेदव्याप्तत्वे साध्ये बाध इत्यभि[illegible] [illegible]रति ❀ मैवमिति ❀ । विषयविषयिभावो [illegible] तबध्याभिन्नत्वात्तत्स्वरूपवदिति सत्प्रतिपक्षता चेत्याह ❀ विषयेति ❀ । ननु विषयप्रतियोगिकभेदेन विषयिस्वरूपस्य विषयिप्रतियोगिकभेदेन विषयस्वरूपस्य।व्याप्तत्वात् साध्यशून्यं निदर्शनमिति । मैवम् । मामहं विजानामीत्यत्रात्मनि व्यभिचारात् । किं च यद्विषयस्वरूपं तद्विषयिस्वरूपभेदेन व्याप्तमिति यद्व्याप्तिग्राहकं संवेदनं तेन स्वेन स्वयं गृह्यते न वा ? न चेत्, सर्वोपसंहारवत्या व्याप्तेरसिद्धिः । गृह्यते चेत् , तत्रैव व्यभिचार इत्यलम् । विषयविषयिभावः संबंधिनोर्भिन्नः, संबंधत्वात् संयोगवदिति

---

५. विषयविषयिभाव-खण्डन

शङ्का—ज्ञान यदि स्वप्रकाश है, तब स्वयं को विषय करेगा, स्वयं विषयी और स्वयं विषय होगा किन्तु विषयभाव या विषयता और विषयिभाव या विषयिता—दोनों ऐसे विरोधी धर्म हैं, जो एक ही ज्ञान में नहीं रह सकते, क्योंकि विषयिता का अर्थ है—विषय-सम्वन्धित्व विषय का सम्वन्धी स्वयं विषय नहीं हो सकता, अपि तु स्व-भिन्न ही होगा । 'यत्र-यत्र सम्बन्ध-प्रमा तत्र-तत्र सम्बन्धिभेदप्रमा'—इस प्रकार सन्बन्ध-प्रमा व्याप्य और सम्वन्धिभेद-प्रमा व्यापक है । व्यापक के न होने पर व्याप्य नहीं रह सकता, अतः सम्बन्धस्वरूपभेदप्रमा का अभाव होने पर सम्बन्धप्रमा का अभाव अवश्यम्भावी है [श्री प्रज्ञाकर गुप्त ने भी कहा है—"ननु तत्सम्बन्धिता स्वरूपमेव, नैतदस्ति ।

"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥" (प्र० वा० पृ० ४)

नैयायिक यहाँ यह अनुमान प्रस्तुत कर रहा है—'विषयविषयिभावः, सम्बन्धिभ्यां भिन्नः, सम्बन्धिभेदव्याप्तत्वात्, संयोगवत्] ।

समाधान—विषयविषयिभावरूप सम्बन्ध अपने सम्बन्धी का स्वरूपमात्र होता है, उससे भिन्न नहीं । [नैयायिक ने जो अनुमान दिखाया था, उसमें स्वरूपासिद्धि दिखाई गई—'विषयविषयिभावो न सम्बन्धिभेदव्याप्तः, सम्बन्धिस्वरूपत्वात्' । फलतः यह सत्प्रतिपक्ष प्रयोग सिद्ध हो जाता है—'विषयविषयिभावो न सम्बन्धिभ्यां भिन्नः, सम्बन्ध्यभिन्नत्वात्,

चान्ततः तत्सम्बन्धस्यापि स्वाश्रयात्मकत्वमभ्युपगम्यम् , अनवस्थाभयात्। तथा सति च सैव यथा सम्बन्धमितिः सम्बन्धस्वरूपात् सम्बन्धिनोर्भेदमनादायैव पर्यवस्यतीत्यभ्युपगन्तव्यं स्वभावसम्बन्धस्य इतरसम्बन्धमर्यादातिशायित्वात्। तथा विनाऽपि सम्बन्धिभेदं विषयविषयिभावात्माऽयं सम्बन्धः पर्यवसास्यति, तदवगमोऽपि तथावगमव्यतिरेकेणैव भविष्यति को विरोधः ?

न चैवं घट-तज्ज्ञानयोर्यादृग्विषयविषयिभावः ततो मात्रयाऽपि स्वप्रकाशे विषय-

तार्किकमताद्युत्थानेऽपि दोषमाह ॐ तथाभूतेति ॐ। अयं भावः—विषयविषयिभावस्य संबंधिस्वरूपाद्भेदे तेन संबंधोऽस्ति, उत न ? न चेत् 'तत्संबंध' इति न स्यात्। अस्ति चेत्, तस्यापि भेदे संबंधांतरमित्यनवस्थानात् स्वाश्रयात्मकत्वं संबंधिस्वरूपत्वमेष्टव्यम्। ततो वरं प्रथमसंबंधस्य तत्स्वीकरणम्, अन्यथा वैरूप्यप्रसंगादिति। अन्तिमसंबंधस्य संबंधिस्वरूपत्वे तव किमायातमित्याशंक्याह ॐ तथा सतीति ॐ।

केचित्पुनरिदं ग्रन्थत्रयमेवं व्याचक्षते—संबंधस्य संबंधिस्वरूपाव्यतिरेकात् संबंधिस्वरूपवदेव न संबंधिभेदव्याप्तत्वमतः संबंधप्रमितेरपि न तद्भेदप्रमितिव्याप्तत्वमिति परिहरति ॐ मैवमिति ॐ। यद्वा संबंधिमितेः संबंधिभेदप्रमितिसहचारो यथा क्वचिद् दृष्टस्तथा संबंधप्रमितिः संबंधिस्वरूपात् संबंधस्याभेदप्रमितिसहचारोऽपि दृष्ट एवेति त्वन्मते तदभावात्। घटतज्ज्ञानयोर्विषयविषयिभावः संबंधिभ्यां भिन्नः किन्न स्यादिति प्रतिबन्दिन्यायेन परिहरति ॐ मैवमिति ॐ। तर्हि विषयविषयिभावः संबंधिभ्यां भिन्न एवेत्याशंक्याह ॐ तथाभूतत्वेऽपीति ॐ। ततः किं स्यादित्यत आह ॐ तथा सतीति ॐ साऽन्तिमसंबंधमितिः संबंधिस्वरूपाद्भेदमनादायैव पर्यवस्यतीत्यभ्युपगंतव्यं यथा तथा प्रथमसंबंधमितिरपि स्यादिति भावः ॥

कस्य केन सम्बन्ध इति भिन्नाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं सम्बन्धधर्म इति यदुक्तं तत्राह ॐ स्वभावेति ॐ सम्बन्धान्तरपूर्वकत्वस्य संयोगादिसम्बन्धधर्मत्वेऽपि समवाये तथात्वं त्यक्तम् , अनवस्थाभयात्। तथा स्वभावसम्बन्धस्याप्यनवस्थाभयाद्भिन्नाधिकरणत्वं त्याज्यमिति भावः। प्रथमो विषयविषयिभावः सम्बन्धिभेदमन्तरेण पर्यवसितुमर्हति विपक्षबाधकोपपन्नत्वे सति सम्बन्धत्वादन्तिमसम्बन्धवदित्याह ॐ तथेति ॐ। तत्प्रतीतिः सम्बन्धिभेदप्रतीतिमन्तरेण पर्यवस्यति उक्तविशेषणसम्बन्धिप्रतीतित्वादन्तिमसम्बन्धितप्रतीतिवदित्याह ॐ तदिति ॐ।

ननु घटतज्ज्ञानयोर्भिन्नयोर्विषयविषयिभावः संवेदने त्वेकस्मिन्नेवेति मात्रया [कलया] अपि वैलक्षण्ये विरुद्धयोरुभयोः पारमार्थिकत्वायोगादेकतरस्य बाध्यता स्यात्, सा च संवेदनस्यैव युक्ता घटत-

स्वरूपवत्] । यदि विषयविषयिभाव को सम्बन्धी से भिन्न माना जाता है, तब सम्बन्धी से सम्बद्ध होने के लिए विषयविषयिभाव को सम्बन्धान्तर की अपेक्षा और उसी प्रकार सम्वन्धान्तर को सम्बन्धान्तर की अपेक्षा—इस प्रकार अनवस्था हो जाती है। इस अनवस्था से वचने का एक ही मार्ग है कि किसी सम्वन्ध को सम्बन्धिस्वरूप मान लिया जाय। उससे भी उचिततर यह है कि विषयविषयिभाव को ही सम्बन्धिस्वरूप मान लिया जाय। फलतः विषयविषयिभावरूप सम्वन्ध की प्रमा सम्बन्धिभेदप्रमा के बिना ही सिद्ध हो जाती है, क्योंकि संयोग, समवायादि संवन्धों की अपेक्षा स्वरूप संबन्ध की यह विशेषता है कि वह संबन्धिभेद की अपेक्षा नहीं करता। जैसे विषयविषयिभाव संबन्धिभेद के विना ही सिद्ध होता है, वैसे ही विषयविषयिभाव की प्रमा भी संवन्धिभेद-प्रमा के विना ही संपन्न हो जाती है, किसी प्रकार का विरोध नहीं रह जाता [श्री वादिवागीश्वर ने भी विषयविषयिभावरूप संबन्ध की पृथक्तता का निरास किया है—"एतेन विषयविषयिभावरूपः संबन्धो निरस्तः, तन्नियामकेनैव ज्ञानार्थयोर्नियमोपपत्तेः" (मा० म० पृ० ११८)]।

शङ्का—घट और घट-ज्ञान का जो प्रसिद्ध बिषयविषयिभाव है, उससे यदि स्वप्रकाश-

विषयिभावान्यत्वे बाध्यतैकत्र स्यात्। अस्त्येव ह्यविद्याविद्यमाने घट-तज्ज्ञाने बाध्यत्वम्, परमार्थसति तु स्वप्रकाशे पारमार्थिकत्वमिति द्वयोरननुगमेऽपि न दोषः।

अथवा स्वात्मना सह क्रियाकर्मभावो विषयविषयिभावो वा स्वप्रकाशार्थं इति नाभ्युपेयमेव, यथा तु भवतां सत्तासम्बन्धादितरत्र सद्व्यवहारव्यवस्था [सत्ता तु स्वयमेव सद्रूपा, न चैताव्रता स्वात्माश्रयता तस्याः], तथा ज्ञानमपि स्वत एव सिद्धस्वरूपम्।

ज्ञानविषयविषयिभावस्य सर्वलोकसिद्धस्याबाध्यत्वावित्याशङ्क्याह ॐ न चेति ॐ। एकतरस्य बाध्यताङ्गीकारादिति हेतुमाह ॐ अस्तीति ॐ। घटश्च तज्ज्ञानं च घटतज्ज्ञानमिति समासः। कुतो बाध्यत्वमित्यत आह ॐ अविद्ययेति ॐ। घटतज्ज्ञानयोर्विषयविषयिभावो बाध्योऽविद्याविलासविषयविषयिभावरूपत्वाद्, रजततज्ज्ञानयोर्विषयविषयिभाववदित्यर्थः। विषयविषयिभावस्वरूपत्वलिङ्गेन बाध्यत्वमत्रापि किन्नोन्नीयत इत्यत आह ॐ परमार्थेति ॐ। जडस्यैव स्वतः परतो वा सिद्ध्यसम्भवेन कल्पितत्वात् तद्विषयविषयिभावस्यैव बाध्यत्वं सकलकल्पनाधिष्ठानतया स्वप्रकाशविज्ञानस्य परमार्थत्वात्तदभिन्नो विषयविषयिभावोऽपि परमार्थ इत्यर्थः। तर्हि वैरूप्यमेकत्र भेदगर्भत्वं बाध्यत्वं च न तथाऽन्यत्रेत्यत आह ॐ इतीति ॐ। ऐकरूप्यासम्भवेन वैरूप्यं न गौरवाय। यथा गुणादीनां पारतन्त्र्ये समवेतत्वे प्रयोजकं समवायस्य तु स्वभाव इति वैरूप्यं न दोषः परेषां तद्वदित्यर्थः।

एवं तावत्क्रियाकर्मभावो विषयविषयिभावो वा स्वप्रकाशत्वमित्यपि सिद्धांतांगीकारेण परकीयं चोद्यं चूर्णितम्, इदानीं सिद्धान्तावलंबनेनास्य चोद्यस्य नावसरोऽपीत्याह ॐ अथवेति ॐ। स्वस्य स्वयमेव प्रकाश इति स्वप्रकाशत्वमुक्तरूपं विहायान्यः स्वप्रकाशशब्दार्थो न लक्ष्यत इत्याशंक्याह ॐ यथेति ॐ। द्रव्यादौ सत्तासमवायात्सदिति व्यवहारः, सामान्यविशेषयोस्तु सत्तयैकार्थसमवायात्समवायस्य सत्तैकाश्रयत्वात्, सत्तायां तु सद्व्यवहारः स्वयमेव सत्तारूपत्वाद्—इति व्यवस्था यद्वत्तथेत्यर्थः। सत्तायां सत्तासंसर्गोऽस्त्युत न ? न चेत्, नरश्रृङ्गवत्सद्व्यवहारो न स्यात्, अस्ति चेत्, स्ववृत्त्यापात इत्यत आह ॐ नेति ॐ। प्रदीपो घटादिकं स्वसंसर्गितया प्रकाशयन्नपि स्वात्मनि तमो निवृत्ति प्रकाशरूपत्वेनैव करोति यथा तद्वदित्यर्थः। दृष्टांतोक्तमर्थन्दार्ष्टान्तिके प्रदर्शयिष्यन्नाह ॐ तथेति ॐ। ज्ञानं सजातीयपरनिरपेक्षत्वे सति

स्थलीय विषयविषयिभाव में कुछ भी अन्तर है, तब दोनों में से एक विषयविषयिभाव का अवश्य बाध मानना पड़ेगा, क्योंकि एक ही वस्तु के दो विरोधी स्वरूप कदापि वास्तविक नहीं हो सकते।

समाधान—अद्वयवाद में अज्ञान ही वस्तु तत्त्व से विपरीत रूपों का उद्भावक माना जाता है, तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञान और अज्ञानपक्षीय प्रपञ्च का बाध हो जाता है, संबन्धिभेद-सापेक्ष विषयविषयिभाव भी अज्ञानमूलक होने से बाधित माना जाता है, क्योंकि उसके संबन्धी घट और अज्ञान—दोनों अज्ञान से कल्पित हैं, अतः उनका विषयविषयिभावरूप संबंध भी बाधित है और स्वप्रकाश तत्त्व पारिमार्थिक है, अतः वहाँ का स्वरूपभूत विषयविषयिभाव भी अबाधित है; फलतः सभी विषयविषयिभावों का अनुगम (एकरूपता) न होने में कोई दोष नहीं।

अथवा स्वप्रकाशवाद में ज्ञान का अपने साथ क्रिया-कर्मभाव या विषयविषयिभाव ही स्वप्रकाशपदार्थ है—ऐसा नहीं माना जाता, अपि तु जैसे आप (नैयायिकगण) दो प्रकार का सद्व्यवहार मानते हैं—(१) 'घटः सन्'—इत्यादि स्थलों पर 'सत्ता' जाति का सम्बन्ध होने से सद्व्यवहार होता है। (२) 'सत्ता सती'—ऐसा व्यवहार स्वयं सद्रूपता को लेकर ही होता है, साक्षात् सत्ता-सम्बन्ध-मूलक नहीं, क्योंकि सत्ता में सत्ता नहीं मानी जाती। सत्ता को सद्रूप मानने में कोई आत्माश्रयादि दोष भी नहीं माना जाता। वैसे ही 'घटं जानामि'—ऐसा व्यवहार ज्ञान के विषयविषयिभाव सम्बन्ध को लेकर और 'आत्मानं जानामि'—यहाँ स्वतःसिद्ध ज्ञान-

अथवा यथा बहुव्रीहिसमासे तद्गुणसंविज्ञाने गुणमादायैव प्रधानस्यान्यपदार्थस्य बहुव्रीहिसिद्धपदप्रतिपाद्यता, तथा विज्ञानस्याऽविषयमपि स्वात्मानमादा-

---

व्यवहारगोचरः, परत्र व्यवहारहेतुत्वात्सत्ताद्वविवित्यर्थः।

ज्ञानस्य ज्ञानाविषयत्वे तत्प्रयुक्तं व्यवहारगोचरत्वं न स्यादित्याशंक्य समासाविषयस्य गुणपदार्थस्य समाससिद्धपदप्रयुक्तव्यवहारगोचरत्ववदुपपत्तिरित्याह ❀ अथवेति ❀। अन्यपदप्रधानो बहुव्रीहिः, स च द्विधा, तद्गुणसंविज्ञानोऽतद्गुणसंविज्ञान इति। समासावयवपदार्थो गुणतया विशेषणतया ज्ञायते यस्मिन् स समासस्तद्गुणसंविज्ञानः। तद्यथा गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्। अतिदेशोऽयं गाङितीङादेशो गृह्यते न गाङ्गताविति धातुङकारस्यानन्यार्थत्वात् कुटादयोऽपि कुटकौटिल्ये पुट भेदने इत्यारभ्य यावत् कुटशब्द इति। तेभ्यो गांकुटादिभ्यः परे अञ्णितः प्रत्यया ङितो भवंति ङिद्वद् भवंतीत्यर्थः। कुटादीत्यत्र कुटस्य समासावयवपदार्थस्याप्रधानतया समासाविषयत्वेऽपि तं कुटं विशेषणमादायैवान्यपदार्थप्रधानस्य कुटादिभ्य इति समाससिद्धपदप्रतिपाद्यता यथेत्यर्थः दार्ष्टान्तिके दर्शयति ❀ तथेति ❀। अयं भावः—कुम्भमहमनुभवामीत्यत्रानुभवोऽनुभवितारं कुंभं चाश्रयतया विषयतया च व्यवहारयन् स्वात्मनाऽगोचरमपि स्वात्मानमादा-

---

रूपता को लेकर ही होता है, विषयविषयिभावादि को लेकर नहीं। [श्रीविवरणकार ने "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः" (बृह. उ. ४।३।९) की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है—"सर्वभावानामन्यनिमित्तप्रकाशसंसर्गित्वादात्मन्यपि तत्प्रसङ्गनिराकरणाय स्वयंज्योतिरिति विशेषणोपपत्तेः" (पं० वि० पृ० २०१)। आचार्य धर्मकीर्ति भी (प्र० वा० पृ० ३५२ में) यही कहते हैं—

नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपरः।
तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते॥
प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः।
यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्मवेदिनी॥

अर्थात् जैसे स्वरूप से अन्य कोई पदार्थ बुद्धि का अनुभाव्य (विषय) नहीं, वैसे ही उस बुद्धि का कोई दूसरा अनुभावक (विषयी) नहीं, क्योंकि उस अनुभावक के लिए भी यही प्रश्न उठेगा कि उसका अनुभावक कौन ? ग्राह्य-ग्राहकभाव सदैव भेद-घटित होता है, प्रकृत में वह सम्भव नहीं, अतः बुद्धि स्वयंप्रकाश है, अन्य से प्रकाशित नहीं।

जैसे प्रदीपादि प्रकाश प्रकाशात्मक होने के कारण प्रकाशान्तर से निरपेक्ष होकर ही स्वप्रकाशक होते हैं, वैसे ही बुद्धि भी पर-निरपेक्ष होकर ही आत्मवेदिनी कही जाती है]।

अथवा जैसे तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास में प्रधानभूत अन्य पदार्थ की प्रतीति समास के अविषयीभूत गौण (समास-घटक पदों के) अर्थ को साथ लेकर होती है, वैसे ही ज्ञान अपने अविषयीभूत स्वरूप को साथ लेकर ही अपने विषयीभूत घटादि पदार्थों का प्रकाशक और उनके व्यवहार का जनक होता है ["अनेकमन्यपदार्थे" (पा० सू० २।२।२४) इस सूत्र के द्वारा बहुव्रीहि समास उन अनेक पदों का माना जाता है, जिनका अन्य (समासाघटक) पद के अर्थ की प्रतीति में मुख्य तात्पर्य होता है, अत एव बहुव्रीहि समास का प्रधान प्रतिपाद्य माना जाता है—अन्य (समासाघटक) पद का अर्थ और समास-घटकीभूत पदों के अर्थों को गौण अर्थ कहा जाता है। बहुव्रीहि समास के दो भेद हैं—(१) तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि और (२) अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि। गौणीभूत पदार्थों का भी जहाँ संविज्ञान (भान) और क्रियान्वयन होता है, उसे तद्गुणसंविज्ञान और उससे भिन्न समास को अतद्गुणसंविज्ञान कहते हैं। जैसे लम्बकर्णमानय—यहाँ पर जो अन्य (समासाघटक गर्दभ) पद का अर्थ मुख्यतया प्रतीत होता है, उससे लम्बकर्णतारूप गौण अर्थ का भी भान और परम्परया क्रियान्वय

यैव स्वविषयव्यवहारप्रवर्तनं समर्थ्यताम्। सोऽयं गुरूणां सविषयकस्वप्रकाशतापक्षो न ब्रह्मस्वप्रकाशतापक्षः, तत्र विषयाभावात्। एतावन्मात्रेण तु स्यात्, यथा स्वाविषयेऽपि कुटादौ बहुव्रीहिवाक्यं व्यवहारं प्रवर्तयतीति तथा ज्ञानमविषयेऽप्यात्मनि अविद्यादशायामिति।

तदेवं यद् यदन्यत्र दृष्टवैधर्म्यं स्वप्रकाशे पर्यवसास्यति, तत्सर्वमन्यथानुपपत्तिरेव स्वप्रकाशसाधकतया प्रदर्शिता स्वीकारयिष्यति। तद्यथा—अन्यो ज्ञाताऽन्यश्च

यैव स्वतःस्फुरणेन स्वात्मनि सुषुप्तिव्यावृत्तिमापाद्य विदितः कुम्भ इति विशिष्टव्यवहारमापादयतीति। ननु स्वाविषयं स्वात्मानमादाय विशिष्टव्यवहारप्रवर्त्तनसमर्थता स्वप्रकाशता चेत्, मुक्त्यादौ स्वप्रकाशता न स्यादित्याशंक्याह ॐ सोऽयमिति ॐ। त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनां प्राभाकराणां पक्षो नौपनिषदानाम्, अतो नाव्याप्तिरित्यर्थः। ब्रह्मवादिनामपि स्वप्रकाशतापक्षोऽयमेव किं न स्यादित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ। सुषुप्तौ विषयासंस्पर्शेऽपि सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शानुपपत्त्याऽनुभवसम्भवावगमात् स्वरूपज्ञानस्य निर्विषयतया न विशिष्टव्यवहारप्रवर्तनसमर्थता स्वप्रकाशतेत्यर्थः। स्वव्यवहारहेतुः प्रकाशः स्वप्रकाश इति ब्रह्मवादिनां गुरूणां च साम्यात् कथं स्वप्रकाशत्वे वैषम्यमित्यत आह ॐ एतावदिति ॐ। कुटादावित्यादिशब्देन सनाद्यन्ता धातव इत्यादिसंग्रहः। तर्हि ज्ञाने व्यवहारसद्भावाभ्युपगमादद्वैतव्याघात इत्याशंक्याह ॐ अविद्येति ॐ।

विज्ञानप्रयुक्तव्यवहारगोचरस्य ज्ञानादन्यत्वं घटादौ दृष्टं तद्विरुद्धमिदं स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं न स्वीकारमर्हति प्रमाणाभावादित्याशंक्योपसंहारव्याजेन प्रागुक्तामर्थापत्तिं प्रमाणयति ॐ तदिति ॐ। जिज्ञासितविज्ञानस्याभावसमुदायानुपपत्तिर्विज्ञानसिद्ध्यनुपपत्तिर्वेत्यर्थः। अनुपपत्तेरपि दर्शनमूलत्वान्न दृष्टिविरोधोऽनुपपत्त्याऽपाकर्त्तुं शक्य इति चेन्मैवम्। व्यवहारानुपपत्त्याऽन्यत्र दृष्टस्यैव क्वचिद्दुर्वद्भिरपि त्याज्यत्वादित्याह ॐ तदिति ॐ। अहमित्यात्मव्यवहारोऽनुपपद्यमानो ज्ञातृज्ञेयाभेदं कल्पयति यथा तथा

भी होता है किन्तु 'दृष्टसागरमानय'—यहाँ पर केवल अन्य (पुरुष) पद के अर्थभूत पुरुष का भान और आनयन होता है, उसमें सागर-दर्शन न वर्तमान काल में होता है और न अपेक्षित, अतः ऐसे बहुव्रीहि समासों को अतद्‌गुणसंविज्ञान कहा जाता है। तद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि के समान ही 'घटस्य ज्ञानम्'—इत्यादि व्यवहारों में भी ज्ञान के विषयीभूत घटादि पदार्थों का भान उसके ज्ञान को भी साथ समेटे हुए है, जो कि स्वयं अपना विषय नहीं]। यह सविषयक-स्वप्रकाशता प्रभाकर-सम्मत है, वेदान्तिसम्मत नहीं, क्योंकि ब्रह्मस्वप्रकाशता मे विषय आरोपित मात्र होता है, सत् नहीं, दृष्टान्त की इतना अंश ही उभय-सम्मत है कि जैसे—"गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् ङित्" (पा. सू. १।२।१) इस सूत्र के कुटादि शब्द से गाङ् आदेश जिस धातु को होता है, उस धातु और कुटादि धातुओं से परे वे प्रत्यय ङित् कहलाते हैं, जो ञित् या णित् नहीं होते। यहाँ कुट कौटिल्ये, पुट संश्लेषणे—इत्यादि तुदादि-पठित धातुओं का निर्देश 'कुटादि' शब्द से किया गया है, कुट आदिर्येषाम्, ते कुटादयः, तेभ्यः कुटादिभ्यः'। कुट धातु पुट, कुच, गुजादि धातुओं के आदि में है, अतः 'कुटादि'—इस बहुव्रीहि समास का मुख्य प्रतिपाद्य अन्यपदार्थ होने से पुटादि ही हैं, कुट नहीं। फिर भी कुटादि शब्द से] समास के अविषयीभूत कुट का भी ग्रहण हो जाता है, अतः 'चुकुटिथ' रूप सम्पन्न होता है, 'चुकोटिथ' नहीं। वैसे ही ज्ञान अपने अविषयीभूत स्वरूप का भी अविद्या-दशा में भासक होता है।

इस प्रकार जो अनुमान या अर्थापत्ति प्रमाण ज्ञान की स्वप्रकाशता में विगत ४१वें पृष्ठ पर प्रदर्शित है, वही ज्ञान में उन सभी लौकिक मर्यादाओं के विपरीत रूपों या वैधर्म्यों की ज्ञान में सिद्धि करता है, जैसे कि (१) ज्ञाता और ज्ञेय का भेद अन्यत्र देखा गया है, वह 'अह

ज्ञेय इत्यन्यत्र दृष्टमहमिति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या त्याज्यम्। तथा अन्यज्ज्ञानमन्यज्ज्ञेयमिति जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या त्याज्यम्। सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिस्तथादृष्टतामात्रबलमवलम्ब्य प्रवृत्तं तर्कशतमपि बाधते। तदिदमाहुः—'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि।'—इति। तस्मात्—

अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्टि दृष्टवैषम्यं सैव सर्वबलाधिका ॥ ६ ॥
वाच्याऽन्यथोपपत्तिर्वा त्याज्यो वा दृष्टताग्रहः।
न ह्येकत्र समावेशः, छायातपवदेतयोः ॥ ७ ॥ इति।

जानामीतिव्यवहरोऽनुपपद्यमानो ज्ञानतत्प्रकाशयोरभेदं गमयतीत्याह ❀ तथेति ❀। अनुभूतेरननुभाव्यत्वे शशविषाणवदननुभूतित्वप्रसङ्गः सर्वत्र व्यवहाहेतोः प्रकाशस्य व्यवहार्यपदार्थादन्यत्वदर्शनात् ज्ञानव्यवहारहेतोः प्रकाशस्य ततोऽन्यत्वं स्यात्। स्वयंप्रकाशसाधकप्रमाणविषयत्वे वेद्यत्वमविषयत्वे तदसिद्धिरित्यादि तर्कविरोधान्नार्थापत्तिरुदेतुमलमित्याशंक्याह ❀ सर्वत इति ❀। अर्थापत्तेस्तावत् त्रयो दोषा अन्यथोपपत्तिरन्यथैवोपपत्तिरसम्भवश्चेति। न चैषामन्यतमोऽपि दृश्यते तर्ककलापस्य पुनर्ज्ञानस्य वेद्यत्वे मानाभावाद्विपर्ययापर्यवसायित्वात् संभावनाबुद्धिमात्रजनकत्वान्निश्चायकत्वाच्च प्रमाणस्य तेनैव तर्ककलापो बाध्यत इत्यर्थः। अन्यत्रादृष्टानामप्यनुपपत्तिकानां कल्पना गौरवदोषं न वक्ष्यतीत्यन्यैरप्यभाषीत्याह। ❀ तदिति ❀। प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि। अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो निष्प्रमाणक इति। दोषनिरासस्यापि प्रमाणाधीनत्वात्प्रमाणवत्त्वे न गौरवं दोषः। प्रमाणानामनन्यापेक्षत्वान्न तत्सिद्धोऽर्थोऽन्येनापाकर्तव्य इत्यर्थः। दर्शनविरोधादेवासत्त्वं वित्तेर्यथा नेष्यते, तथा प्रकाशप्रकाश्ययोरन्यत्रान्यत्वदर्शनविरोधान्न स्वप्रकाशत्वमेष्टव्यम्—इत्याशङ्कामपाकुर्वन्नुक्तमर्थं संक्षेपतो दर्शयति श्लोकद्वयेन ❀ तस्मादिति❀। 'दृष्टवैमत्यं' विषयविषयिणोरन्यत्वदर्शनविरोधम् अन्यथानुपपत्तिः 'पिनष्टि' चूर्णयति। दर्शनविरोध एवानुपपत्तिं किं न बाधत इत्यत आह ❀ सैवेति ❀। नीलसंवेदनस्य नीलात्मत्वाभावे संयोगाद्यसम्भवान्नीलावभासो नोपपद्यते इति विज्ञानवादिनोक्तार्थापत्तिभेददर्शनेन विरुध्यते यथा तद्वदियमपि किं न स्यादित्यत आह ❀ वाच्येति ❀। संयोगाद्यसत्त्वेऽप्यध्याससम्बन्धादपि तदवभासोपपत्तिरित्यन्यथोपपत्त्यनुगृहीतभेददर्शनं बाधकम्, न तथेहान्यथोपपत्तिरुपलभ्यत इत्यर्थः। मा भूदन्यथोपपत्तिः, तावता किमित्य आह ❀ त्याज्य इति ❀। अर्थापत्तेर्दौर्बल्यहेतुरन्यथोपपत्तिर्न शक्यते चेदभिधातुं तदा सावकाशनिरवकाशयोः

मात्मानं जानामि'—इस प्रकार के व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति के बल पर ज्ञान में त्याज्य है, क्योंकि यहाँ ज्ञाता ही ज्ञेय है। (२) ज्ञान अन्य है और ज्ञेय अन्य—यह जो ज्ञान और ज्ञेय का भेद लोक-प्रसिद्ध है, वह 'जानामि'—इस व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से ज्ञान में त्याज्य है, क्योंकि उक्त व्यवहार से ज्ञान ही ज्ञेय सिद्ध हो रहा है। अन्यथानुपपत्ति (अर्थापत्ति) सब से बलवती होती है। 'तथादर्शनात्'—ऐसी लौकिक अनुभूति का बल लेकर प्रवृत्त तर्क शास्त्र का भी वह बाध कर देती है। अर्थापत्ति का उत्कर्ष व्यक्त करते हुए श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—

प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि।
अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः ॥ (तं. वा. पृ. ३९९)

[अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण के बल पर अनन्त अदृष्टों की कल्पना की जा सकती है किन्तु बिना प्रमाण के एक अदृष्ट का सौवाँ भाग भी माना नहीं जा सकता]। अतः यदि ज्ञानादि वस्तु की प्रसाधिका अर्थापत्ति सुलभ है, तब वह अपनी विषय वस्तु में लौकिक मर्यादाओं का वैधर्म्य सिद्ध कर सकती है, क्योंकि वह बल में सबसे अधिक होती है ॥ ६ ॥ अतः या तो अन्यथानुपपत्ति का अन्यथोपपत्तिरूप परिहार दिखाना चाहिए अथवा अर्थापत्ति का लोहा मान कर 'लोक में जैसा देखा जाता है, वैसा ही मानना होगा'—इस प्रकार

तदित्थं त्वदङ्गीकृतसद्विचारलक्षणोपपन्नैरेवंविधैर्विचारैः स्वप्रकाशता भवता सुप्रतिपदा, अस्माभिस्तु स्वसंवेदनबलादेव स्वतःसिद्धरूपं विज्ञानमास्थीयत इति ।

६. सौगतब्रह्मवादिनोर्भेदः

एवं च सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषः--यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति । तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे--

'बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते । 2-175
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः ॥' इति ।

सावकाशस्य दौर्बल्याद् दृष्टताया आग्रह एव त्याज्य इत्यर्थः । एकतरस्य बाधकल्पनाऽगतिकगतिः, अतो न युक्ता कथंचिदुभयोरप्युपपत्तौ । अस्ति चोपपत्तिरर्थापत्तिदर्शनमूलतया स्वतःसिद्धत्वपरतःसिद्धत्वयोरित्याशंक्याह ❀ न हीति ❀ । युगपत् क्रमेण चैकस्य जडत्वाजडत्वे विरोधादयुक्ते इत्यर्थः ।

लक्षणमात्रस्य त्वया खण्डयमानतया तवापि विचारस्य सद्वचनलक्षणयोगित्वाभावादनेन विज्ञानस्य स्वप्रकाशतासिद्धिरित्याशंक्याह ❀ तदिति ❀ । त्वत्पक्षे विचारतल्लक्षणयोः सत्त्वादस्यापि विचारस्य सद्वचनलक्षणयोगित्वात् त्वद्गीत्याऽनेन विचारेण त्वया स्वप्रकाशता सुगमेत्यर्थः । न चास्माकं साधकाभावात्स्वप्रकाशताऽसिद्धिर्विचाराद्यन्तरेणैवागमोपदेशाभ्यासासादितस्वानुभवसिद्धत्वाभ्युपगमात्स्वप्रकाशत्वस्येत्याह ❀ अस्माभिरिति ❀ । एवं तावद्विज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमुपपाद्याधुना बौद्धसिद्धान्तसमोऽयं वेदान्तसिद्धान्तः सर्वशून्यताभ्युपगमादिति यत्परेषामुपालम्भनं तदपाकरोति ❀ एवञ्चेति ❀ । किंचित् साम्यात्सुगतसिद्धान्तप्रवेशापादने, भेदाभेदाभ्युपगमात् क्षपणकसिद्धान्तप्रवेशः कौमारिलस्य, परतः प्रामाण्याभ्युपगमात् तार्किकस्य सुगतमतप्रवेशः, प्रत्यक्षं प्रमाणमिति सर्वैरङ्गीकारात्सर्वमतसांकर्यं च स्यादित्यर्थः । न च सर्वसाम्याद्बौद्धसिद्धान्तप्रसञ्जनम्, ज्ञानस्यानिर्वचनीयत्वाङ्गीकारानङ्गीकारात्मकविशेषादित्याह ❀ यदिति ❀ । 'आदिमः' प्रथमो बौद्धः सर्वमेव ज्ञानं ज्ञेयं चानिर्वचनीयं वर्णयति । शिष्यबुद्धिरक्षणार्थमेव सुगतेन स्वप्रकाशत्वमुक्तम्, न स्वरहस्याभिप्रायेणेत्यर्थः । प्रपञ्चभावाभावसाधकविज्ञानस्यानिर्वचनीयत्वं तेनापि नाङ्गीकृतमित्याशंक्य

का दृष्टता-आग्रह छोड़ देना चाहिए, क्योंकि छाया और प्रकाश के समान दो विरोधी पदार्थ एकत्र नहीं रह सकते ॥ ७ ॥ इस प्रकार सत्कथा के लक्षण से सुसम्पन्न इस कथा (विचार) में आप (नैयायिकों) को ज्ञान की स्वप्रकाशता माननी पड़ी और हम तो अपने स्वसवेदन के बल पर स्वतःसिद्ध विज्ञान में आस्थावान् हैं ।

६. सौगत और ब्रह्मवादी का भेद

विज्ञान की स्वप्रकाशता सर्वमत-सम्मत होने पर भी सौगत [गौतम बुद्ध की एक संज्ञा 'सुगत' भी है । 'सुगत' शब्द का अर्थ करते हुए श्रीधर्मकीर्ति ने कहा है—"हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगतत्वमनिःश्रयात्" (प्र. वा. पृ. ११६) । अर्थात् दुःख के अविद्यादि कारणों का ऐसा प्रहाण (नाश), जिसमें तीन-गुण (विशेषताएं) हैं । 'सु' शब्द से वे गुण प्रतिपादित हैं—(१) प्रशस्तता, (२) अपुनरावृत्ति और (३) निःशेषता । सम्भवतः ये वे ही विशेषताएँ हैं, जिनका सांख्य, योग और न्यायादि में विशेषतः समुल्लेख किया गया है—"ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति" (सां. का. ६८) । अविद्यादि क्लेशों का प्रशस्त (ऐकान्तिक या अवश्यंभावी), अपुनरावृत्त (आत्यन्तिक) और निःशेष (उभयात्मक) उच्छेद ही कैवल्य या कैवल्य का साधक है, सुगत ने उसे अधिगत कर लिया था], सुगत की व्यवस्या के अनुयायी हैं—सौगत] बौद्ध और ब्रह्मवादियों का यह अन्तर है कि बौद्ध (माध्यमिक) ज्ञान-ज्ञेयात्मक समस्त प्रपञ्च को सर्वथा अनिर्वचनीय (शून्य या निःस्वभाव) मानते हैं, जैसा कि स्वयं भगवान् बुद्ध ने लङ्कावतारसूत्र [श्री लङ्का में बुद्ध का अवतरण और धर्मोपदेश इस ग्रंथ में प्रतिपादित है, अतः इसे लङ्कावतार सूत्र कहते हैं] में कहा है—

विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते। तथा हि— नेदं सद् भवितुमर्हति, वक्ष्यमाणदूषणग्रस्तत्वात्। नाप्यसदेव, तथा सति लौकिकविचारकाणां सर्वव्यवहारव्याहत्यापत्तेः।

यदपि 'निर्वक्तुमसामर्थ्ये गुरव उपास्यन्ताम्, येभ्यो निरुक्तयः शिक्ष्यन्ते'

तदीयवचनेनोपपादयति ॐ तदुक्तमिति ॐ। लङ्कावतारो नाम सुगतभाषित आगमविशेषः। "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानकालेऽपि नास्त्येव, यथा शुक्तिरजतम्। यद्यतो भेदेनास्ति तत्तद्व्यतिरेकेणाप्युपलभ्यते, यथाऽश्वव्यतिरेकेण महिषः। संवेदनं च संवेद्यव्यतिरेकेण नोपलभ्यते, अतो न स्वतन्त्रमस्ति" इत्यादियौक्तिकबुद्ध्या विविच्यमानानां ज्ञानानां ज्ञेयानां च स्वरूपं नावगम्यते। ज्ञेयेन ज्ञानस्य निरूपणात्, ज्ञानेन च ज्ञेयस्य निरूपणात्, नैकमपि परमार्थम्। अतस्ते ज्ञानज्ञेयात्मकाः पदार्था निरभिलप्याः निर्वचनानर्हा निःस्वभावाः सर्वप्रकारसत्त्वहीनाश्च देशिकैर्देशिता उपदिष्टा इत्यर्थः। "सर्वमनिर्वचनीयमिति वदता त्वयाऽपि ज्ञानानिर्वचनीयत्वमिष्टमेव सर्वशब्दाभिधेयमध्यनिविष्टत्वात्तस्यापि"—इत्याशंक्याह ॐ ज्ञानेति ॐ। सर्वशब्दोऽत्र ज्ञानातिरिक्ताभिधायी। सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्या इतिवत्प्रकृतप्रपञ्चापेक्षत्वादित्यर्थः। उच्यतेऽनिर्वचनीयं चेति विप्रतिषिद्धमित्याशंक्याह ॐ सदिति ॐ। युक्त्या निश्चित्य सदसत्त्वप्रकारेण निर्वचनायोग्यत्वमनिर्वचनीयत्वम्, न मूकीभाव इत्यर्थः। विमतं सद्, अविसंवादिव्यवहारगोचरत्वाद् अर्थक्रियाकारित्वाद् असद्विलक्षणत्वाद्वाऽऽत्मवदित्याशंक्याह ॐ तथा हीति ॐ। लक्षणाधीना लक्ष्यसिद्धिः लक्षणानि चानुपपन्नानीत्यादिदूषणगणग्रस्तत्वादित्यर्थः। अयं भावः अविसंवादित्वमात्रस्य व्यवहारकाले विसंवादित्वस्य च रजतादौ व्यभिचारात्सर्वथा विसंवादित्वस्य प्राकृतानवसेयत्वाद्धेयत्वसिद्धिः। अर्थक्रियाकारित्वस्य स्वप्नकामिनीसन्दर्शनादौ व्यभिचारादात्मनि सपक्षे प्रवेशितयाऽनध्यवसितत्वाद् असद्विलक्षणत्वस्य च सत्त्वव्यतिरेकेण सद्वादिमतेऽभावात्साध्याविशिष्टत्वम्। सर्वत्र चाबाध्यत्वोपाधिः प्रपंचस्य नेह नानेति प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वान्न सत्त्वमिति। ननु सद्विलक्षणत्वेनापि नानिर्वचनीयता, अस्तीति नास्तीति वा लोके सदसतोरेव प्रसिद्धेः, सत्त्वाभावेऽसत्त्वस्यैव प्राप्तेरित्याशंक्याह ॐ नापीति ॐ। जगतोऽत्यन्तासत्त्वे नृशृङ्गवदपरोक्षप्रतिभासपुरोवर्तिव्यवहारजन्मनाशादिव्यवहाराः सर्व एवोत्सीदेयुः। सतश्च श्रौतबाधापरोक्षप्रतिभासोपपत्तये सदसद्वैलक्षण्यमनिर्वाच्यत्वमेष्टव्यमित्यर्थः।

ख्यातिबाधानुपपत्त्याऽनिर्वचनीयत्वमेष्टव्यमित्युक्तमुपसमृत्य वक्तुरसामर्थ्यकृतं तदिति मन्वानः कश्चि-

---

"बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
तस्माद् अनभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः॥" (लं० सू० २।१७५)

[दृश्यमान पदार्थों का सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा विश्लेषण करने पर उनका अपना कोई स्वभाव (स्वरूप) सिद्ध नहीं होता, अतः सभी घट, पटादि पदार्थ अनिर्वचनीय और प्रतीत्यसमुत्पन्न मात्र कहे गये हैं]।

ब्रह्मवादी वेदान्तीगण ज्ञान को अनिर्वचनीय न मान कर ज्ञान से भिन्न केवल ज्ञेय प्रपञ्च को ही अनिर्वचनीय अर्थात् सत् और असत् से भिन्न मानते हैं [जैसा कि कहा है—

"सत्त्वे न भ्रान्तिबाधौ स्तां नासत्त्वे ख्यातिबाधकौ।
सदसद्भ्यामनिवाच्याविद्या वेद्यैः सह भ्रमाः॥" (इष्ट० पृ० ४७)]।

अर्थात् यह प्रपञ्च सत् नहीं हो सकता, क्योंकि सद् वस्तु की सिद्धि लक्षणों के द्वारा होती है, किन्तु कोई भी लक्षण निर्दुष्ट और सूपपन्न नहीं—यह आगे कहा जायगा। घटादि प्रपञ्च को खपुष्प के समान असत् मानने पर समस्त लौकिक और विचारक व्यक्तियों का अनुभूयमान व्यवहार व्याहत या अनुपपन्न हो जाता है। परिशेषतः प्रपञ्च को सत् और असत् से विलक्षण (अनिर्वचनीय) मानना होगा।

यह जो निर्वचनवादी नैयायिकादि हमें उपालम्भ देते हैं कि 'यदि आप (खाण्डनिक)

इत्युपालम्भवचनं; तत्तदा शोभेत, यदि मेयस्वभावानुगामिनीयमनिर्वचनीयतेति न ब्रूयुः, वक्तृदोषादिति च वदेयुः। यस्तु वादी निरुक्त्यभिमानं धत्ते, स निर्वक्तुं न तु शक्ष्यति वक्तव्यदोषात्।

न च ते दोषाः स्वकमपि घ्नन्तः जातयः कथं न स्युरिति वाच्यम्; यतो निर्वचनीयत्वं बाध्यते तैर्दोषैः स्वयमप्यनिर्वचनीयैरेव। अनिर्वचनीयैरेव च तैर्व्यवह्रियत एवेति कुतोऽस्मान् प्रति व्याघातः स्यात्? तज्जातित्वस्य च निरुच्य योजयितुमशक्यत्वात्।

वाक्षिपति तदनुवदति। ॐयदपीतिॐ। तदेतदस्मत्सिद्धान्तावोधविलसितं चोद्यमिति परिहरति ॐतदितिॐ। कैश्चिन्निरूप्यमाणत्वे सति केषांचिदनिर्वचनीयत्वं तदसामर्थ्यकृतं स्यात्, इह तु केनापि निपुणमतिना युक्त्या निश्चित्य सदसत्त्वप्रकारेण निर्वक्तुमयोग्यत्वम्, अग्नेरिव शैत्यरूपेणेति भावः मेयस्य युक्त्या निश्चित्य सत्त्वादिरूपेण निर्वचनानर्हत्वं स्वभावो न भवति, सदसद्वादिनोः प्रमाणत एव तद्रूपनिर्वचनाभिमानादित्यत आह। ॐ यस्त्विति ॐ। भेदप्रपञ्चस्य स्वतः परतो वा सिद्ध्यसम्भवादद्वैतागमेन प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वेत्यादि वक्तव्यदोषादित्यर्थः। वक्तव्यदोषाणां भेदलक्षणखण्डनानां स्वव्यापिनां जात्युत्तरतयाऽऽभासत्वान्न तैर्निरुक्तिनिरोध इत्यत आह ॐ न चेति ॐ। किमिदं स्वव्याघातकत्वं परेषां सदसत्त्वे खण्डयतां स्वेषामपि तत्खण्डकत्वम्, उत स्वेषामपि तत्खण्डकतया व्यवहाराङ्गत्वखण्डनम्? न तावदाद्य इत्याह ॐ यत इति ॐ। नापि द्वितीयः प्रमाणाद्याकारस्यैव व्यवहाराङ्गत्वम्, न सदसत्त्वयोः, केवलव्यतिरेकाभावादित्याह ॐ अनिर्वचनीयैरिति ॐ। एतेन बौद्धचार्वाकवेदान्तिनां तत्रैव निर्भर इत्युदयनवचनं निराकृतम्। स्वव्याघातकत्वमिति स्वशब्देन कथकमात्रस्वीकारे त्वद्वचनस्यापि तत्प्रसङ्गः, अन्यतरस्वीकारेऽन्यतराव्याप्तिरित्यादि विकल्पदूषणेषु जातित्वस्य निर्वक्तुमसामर्थ्यान्न जातितेत्याह ॐ तदिति ॐ।

न्यायालङ्कारग्रन्थेऽनिर्वचनीयदूषणं यदभाणि तदनुवदति ॐ नन्विति ॐ। समान्यग्रहणविशेषा-

---

वस्तुओं का निर्वचन करना नहीं जानते, तब उसके जानकार गुरुओं (नैयायिकों) की चरण-शरण में जाकर विधिवत् शिष्यत्व स्वीकार कीजिए, उन गुरुओं की कृपा से ही निरुक्तियाँ (लक्षणावली) सीखी जा सकती हैं'। वह उपालम्भ वचन तब शोभा दे सकता था, जब कि हम समस्त ज्ञेयवर्ग में व्याप्त अनिर्वचनीयता न दिखाकर अपनी अशक्ति व्यक्त करते कि 'हम (खाण्डनिक) निर्वचन करने में असमर्थ हैं, हमे कोई गुरु बताइए।' किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि 'जो वादी ज्ञेय प्रपञ्च के निर्वचन का अभिमान रखता है, वह कभी भी निर्वचन नहीं कर सकता'—यह हमारा कठोर प्रण है। सभी निर्वचनों पर संहारक दोषों की घोर वर्षा होने वाली है।

शङ्का—निर्वचनमात्र पर वक्ष्यमाण दोष अपने (दोषों के) निर्वचन पर भी वार करेंगे, अतः ऐसे दोषों को आत्मघाती या असदुत्तर क्यों न माना जाय? असदुत्तर की परिभाषा जात्युत्तर है, न्यायदर्शन के पञ्चम अध्याय में उनके साधर्म्यसमादि चौबीस भेद वर्णित हैं।

समाधान—वक्ष्यमाण दोषों की सीधी मार निर्वचनीयता पर है। दोष यदि निर्वचनीय माने जाते, तब उन पर भी उन का प्रहार हो सकता था, किन्तु उन दोषों को अनिर्वचनीय माना जाता है, अनिर्वचनीय दोषों के द्वारा ज्ञेयवर्ग की निर्वचनीयता का खण्डन किया जा रहा है। यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि व्यवहार के लिए भी सत्ता या असत्ता अपेक्षित नहीं, अतः अनिर्वचनीय दोषों से व्यवहार किया जा रहा है, हमारे पक्ष या व्यवहार में व्याघात क्यों होगा? हमारे दोषाभिधान में किसी प्रकार की जात्युत्तरता का लक्षण घटाया नहीं जा सकता।

ननु सदसत्पक्षयोर्दोषदर्शनाद् अनिर्वचनीयतेति ब्रुवाणस्य किं सदसत्त्वसंशयः ? किं वा सदसत्त्वपक्षबहिर्भावाभ्युपगमः ? आद्ये भवितव्यं तावत्सदसत्त्वयोरन्यतरेणेति एकपक्षदोषस्याभासत्वम्, तच्च सत्त्वपक्षदोषस्यैवाभ्युपेयमावश्यकत्वात्। यदि तावत्सत्त्वपक्षस्तदा सत्त्वपक्षदोषः कथं संगच्छेत ? अथाऽसत्त्वपक्षस्तदा सर्वासत्त्वे तद्दोषः कथं सद्भाववान् भवितुं प्रभवेत् ? द्वितीयस्तु व्याघातादेवासम्भवी, 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरि'ति।

ग्रहणयोः संशयप्रयोजकत्वादिहापि सदसत्त्वयोर्विरोधे द्वयोरपारमार्थिकत्वायोगादवश्यभाविन्येकतरस्य पारमार्थिकत्वे कस्येदमिति विशेषाग्रहणे संशय इति प्रथमकल्पार्थः। सदसत्त्वयोर्विरोधादन्यतरनिषेधेऽन्यतराप्राप्तेर्जनिनाशानुपपत्त्या द्वयोः प्रतिषेधाच्च तृतीयपक्षस्वीकार इति द्वितीयकल्पार्थः। कस्मिन् सति किमायातमित्यत आह ॐ आद्य इति ॐ। कोटिद्वयावलम्बिनः संशयस्यान्यतरकोटौ यथार्थत्वात्तत्कोटिदोषाणां पुरुषभ्रांतिप्रभेदत्वमेष्टव्यमित्यर्थः। सत्त्वपक्षेऽर्थसद्भावे प्रमाणं वाच्यं तत्सत्त्वे च प्रमाणान्तरमित्यनवस्था। तदभावादसत्त्वपक्षे तद्दोषाणामाभासत्वमित्याशंक्याह ॐ तच्चेति ॐ सत्त्वनिरूपणीयस्यासत्त्वस्य सत्त्वसिद्ध्यधीनसिद्धित्वात्सत्त्वस्यैवावश्यकत्वात्तद्दोषाणामेवाभासत्वमित्यर्थः। किंचैकतरस्य पारमार्थिकत्वे स किं सत्त्वपक्ष उतासत्त्वपक्ष इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह ॐ यदिति ॐ ।।सत्त्वपक्षदोषाणां आभासत्वमंतरेण सत्त्वपक्षत्वासिद्धेस्तद्दोषाभासत्वभ्युपेयमिति भावः। असत्त्वस्यैव तत्त्वपक्षत्वमिष्यत इति द्वितीयमनुवदति ॐ अथेति ॐ। पराकरोति ॐ तदेति ॐ। असत्त्वपक्षदोषस्य सत्त्वे सर्वासत्त्वसिद्धिः, असत्त्वे स्वसत्त्वादेवाभासत्वमित्यर्थः। सदसत्त्वपक्षबहिर्भावाभ्युपगम इति द्वितीयं दूषयति ॐ द्वितीयस्त्विति ॐ। परस्परविरुद्धयोः सदसत्त्वयोर्विधिसमुच्चये यथा विरोधस्तथा निषेधसमुच्चयेऽपि विरोधस्याद्वैतभक्तिमतापि त्वया निवारयितुमशक्यत्वादित्यर्थः। कुसुमांजलौ (३।८) उदयनोक्तव्याघातमेवोपपादयति ॐ परस्परेति ॐ। "नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः" इत्युत्तरार्द्धमिति। यथा नित्यत्वानित्यत्वयोरन्यतर-

---

शङ्का—[श्री आनन्दपूर्ण मुनीन्द्र ने न्यायालङ्कार ग्रन्थ की यह शङ्का बताई है। श्री गुणरत्न ने (षड्० स० वृ० पृ० १३८ पर) श्रीकण्ठ विरचित एक न्यायालङ्कार का निर्देश किया है। निश्चितरूप से कहा नहीं जा सकता कि वह किस का न्यायालङ्कार है, जिसमें कहा गया है कि] जो लोग यह कहा करते हैं कि 'सत् और असत्—दोनों पक्षों में दोष दिखाई देता है, अतः दोनों पक्षों से भिन्न अनिर्वचनीय पक्ष सिद्ध होता है'। उन लोगों को क्या प्रपञ्च में सत्त्वासत्त्व का संशय है ? अथवा दोनों कोटियों से भिन्न कोई तृतीय कोटि मानते हैं ? संशय यदि है, तब तो सत्त्व और असत्त्व में से कोई एक कोटि की वास्तविकता माननी होगी, अतः उभय-पक्ष-कथित दोषों में एक संमत पक्ष के दोषों को दोषाभास कहना होगा, तब तो सत्त्व पक्ष के दोषों में ही आभासता माननी उचित है, क्योंकि सत्त्व पक्ष परम आवश्यक है। यदि सत्त्व पक्ष मान लिया जाता है, तब सत्त्व-पक्ष के दोष क्योंकर संगत होंगे ? यदि असत्त्व-पक्ष ही उपादेय सिद्ध होता है, तब सभी प्रपञ्च के असत् हो जाने पर दोष-राशि सत् क्यों कर रह जायगी ? सत् और असत्—दोनों से भिन्न एक तीसरी अनिर्वचनीय कोटि मानने पर व्याघात होता है अर्थात् अनिर्वचनीयत्व धर्म को सत् मानते हैं, तब 'सर्वं ज्ञेयमनिर्वाच्यम्'—यह प्रतिज्ञा भंग होती है और अनिर्वचनीयत्व को सत् न मानने पर जगत् को अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि जब उसमें अनिर्वचनीयत्व धर्म रहता ही नहीं, तब उसे अनिर्वचनीय कौन कहेगा ? सत् और असत् से भिन्न कोई तीसरी कोटि सम्भव भी नहीं, श्री उदयनाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।
नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः।। (न्या० कु० ३।८)

तदेतदनाकलितपराभिसन्धेः प्रत्यवस्थानम्, यो हि सर्वमनिर्वचनीयसदसत्त्वं ब्रूते, स कथमनिर्वचनीयतासत्त्वव्यवस्थितौ पर्यनुयुज्येत ? साऽपि हि कृत्स्नप्रपञ्चपर-सर्वशब्दाभिधेयमध्यनिविष्टैव ।

परस्यैव व्यवस्थयैवं पर्यवस्यति—निर्वचनप्रतिक्षेपादनिर्वचनीयत्वम्, विधि-निषेधयोरेकतरनिरासस्य इतरपर्यवसायितायास्तेनाभ्युपगमात् । ततः परकीयरीत्येद-मुच्यते—अनिर्वचनीयत्वं विश्वस्य पर्यवस्यतीति ।

निषेधेऽन्यतरस्यैव प्राप्तिर्न तु नित्यत्वानित्यत्वव्यतिरिक्तरूपांतरापत्तिस्तथा सदसत्त्वयोरपि भावाभावयोः साक्षाद्विरोधस्तदनुषंगादन्यत्रेति स्थितेः सदसत्त्वनिषेधावेकोपाधौ न सम्भवतः, भावाभावनिषेधत्वान्नित्य-त्वानित्यत्वनिषेधवदित्यर्थः ।

किमनया दूषणपरम्परयाऽनिर्वचनीयत्वस्य सत्त्वमपलप्यते ? किं वा स्वरूपमेव ? न तावत् स्वरूपम्, अप्रमितप्रतियोगित्वेनाशक्यप्रतिषेधत्वात्, प्रथमे त्विष्टापत्तिरित्याह ❀ तदिति ❀ । अनाकलितः अज्ञात इत्यर्थः । अनिर्वचनीयवादिनस्तत्सत्त्वखण्डन कथमिष्टापादनमित्याशंक्याह ❀ यो हीति ❀ । अनिर्वचनीये निर्वचनानर्हे सदसत्त्वे यस्य तदनिर्वचनीयसदसत्त्वं सर्वं सर्वदा सत्यमिति वदता सत्यत्वधर्मस्यापि सत्यत्वं यथा स्वीकृतं तथा सर्वमनिर्वचनीयमिति वदता अनिर्वचनीयत्वस्यापि तथात्वस्वीकारात्तत्सत्त्वखण्डनं नानिष्टमित्यर्थः । सर्वमनिर्वचनीयमित्यत्र सर्वशब्दो यथा ब्रह्मातिरिक्तविषये संकुचितवृत्तिस्तथा निर्वचनी-यत्वधर्मादितरत्रैव वृत्तिसंकोचसम्भवान्नानिर्वचनीयत्वस्य तथात्वमित्यत आह ❀ सा पीति ❀ । सर्वशब्दः स्वमहिम्ना ब्रह्मापि स्वाभिधेये निवेशयति तत्सत्यमिति श्रुतिविरोधात् ततः संकुचति । न तथेह संकोच-कारणमस्तीत्यर्थः । यथा सत्त्वस्य नि[?]स्य वक्तुमशक्यत्वे प्रपञ्चस्य तदसिद्धिस्तद्वदनिर्वचनीयत्वस्याप्यनिर्व-चनीयत्वसिद्धिरित्यत आह ❀ परस्येति ❀ । तव मम वाऽनिर्वचनीयत्वसिद्धिर्न तावन्ममानिर्वचनीयत्वस्यापि तत्त्वांशस्यानिष्टत्वाद् भवतु त्वद्रीत्यैवानिर्वचनीयत्वसिद्धिरित्यर्थः । नास्मद्रीत्याऽनिर्वचनीयत्वसिद्धिर्यत्सत्त-मभ्युपगंतव्यमिति स्थितेरित्यत आह ❀ विधीति ❀ । निर्वचनीयत्वप्रतिक्षेपेऽनिर्वचनीयत्वं पर्यवस्यति ? न वा ? न चेत्परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति व्यवहारव्यवस्था न सिध्यति । पर्यवस्यति चेत्, त्वद्रीत्या तव तत्त्वांशसिद्धिरित्यर्थः । भावनिषेधेऽभावपर्यवसायितायास्तेनाभ्युपगन्तव्यत्वान्निर्वचनप्रतिक्षेपे

समाधान—हमारा (खाण्डनिक का) भाव न समझ पाने के कारण आप (नैयायिकों) ने वैसी असंगत शङ्का उठा रखी है, क्योंकि जो व्यक्ति (खाण्डनिक) सभी ज्ञेयवर्ग को अनिर्वचनीय या सदसद्-भिन्न कहता है, उस पर अनिर्वचनीयता धर्म के सत्त्वाभ्यु-पगम का अभियोग नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि वह (अनिर्वचनीयता) भी समस्त प्रपञ्च-बोधक सर्व शब्द की अभिधेय कुक्षी में अवस्थित हैं, अतः 'सर्वमनिर्वचनीयम्'—ऐसा कहने पर अनिर्वचनीयता भी अनिर्वचनीय ही कही गई, तब उसके लिए सत्-असत् का विकल्प उठाना अनभिज्ञता का ही परिचायक है ।

यह जो आपने प्रश्न किया कि प्रपञ्च में जब आप अनिर्वचनीयत्व सत् नहीं मानते, तब प्रपञ्च अनिर्वचनीय क्योंकर कहा जायगा ? उस प्रश्न का यह उत्तर है कि परवादी (नैयायिकादि) की व्यवस्था के अनुसार ही प्रपञ्च में निर्वचनीयत्व का खण्डन कर देने मात्र से अनिर्वचनीयत्व पर्यवसित हो जाता है, हमें उसकी सत्ता सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं अर्थात् यह परकीय व्यवस्था है कि विधि (भाव) और निषेध (अभाव) में से एक का निषेध कर देने पर दूसरा अपने-आप पर्यवसित हो जाता है, अतः प्रपञ्च में अनिर्वचनीयत्व को पर्यवसित करने के लिए निर्वचनीयत्व का निरास मात्र कर देना पर्याप्त है । [सत्त्व और असत्त्व में से एक का निषेध कर देने पर दूसरा शेष रह जाता है—यह नैयायिकादि की ही व्यवस्था है, दोनों से भिन्न तीसरी कोटि माननेवाले ब्रह्मवादियों की नहीं] ।

वस्तुतस्तु वयं सर्वप्रपञ्चसत्त्वासत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताः स्वतःसिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्त्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्थाः सुखमास्महे। ये तु स्वपरिकल्पितसाधनदूषणव्यवस्थया विचारमवतार्य तत्त्वं निर्णेतुमिच्छन्ति, तान् प्रति ब्रूमः—'न साध्वीयं भवतां विचारव्यवस्था, भवत्कल्पितव्यवस्थयैव व्याहतत्वात्।

अत एवास्मदुपन्यस्यमानदूषणस्थितिविषयाः पर्यनुयोगा निरवकाशाः, त्वद्व्यवस्थयैव त्वद्व्यवस्थाया व्याहत्युपन्यासात्। न चोपन्यास एव निर्बन्धकारणम्, विचारोपन्यासस्य सदसत्त्वोपगमाद्युदासीनैर्विचार्यमित्युपेत्यैव परं विचारप्रवर्तनायाः शक्यत्वमित्यावेदितत्वात्।

यदि तु विचारस्य सत्त्वमनभ्युपेत्य न विचारयितुं शक्यमित्युच्यते; तदा प्रमा-

तदभावोऽनिर्वचनीयत्वं पर्यवस्यतीत्ययमेवार्थोऽनिर्वचनीयः प्रपञ्च इति वाचोयुक्तेरित्याह ❀ तत इति ❀। परकीयरीत्या परानभिधानेऽपि न स्वमते निर्वचनीयत्वसिद्धिः, साधकप्रमाणानुपन्यासादित्याशङ्क्याह ❀ वस्तुतस्त्विति ❀। चैत्यपदार्थस्य चित्सङ्गात्स्वतो वा सिद्ध्यसम्भवात्तत्सत्त्वासत्त्वयोरौदासीन्यालम्बने सत्यनिर्वचनीयत्वं परिशेषसिद्धमित्यर्थः। न चैवं लोकप्रसिद्धभावाभावविभागप्रसिद्धिविरोधः, वस्तुत इति विशेषणात्।

ननु त्वन्मते साधनीयस्य कस्यचिदभावाद् व्यर्थेयं विचारप्रवृत्तिरापद्यत इत्यत आह ❀ये त्विति❀। सत्त्वासत्त्वौदासीन्यमात्रेण निर्वचनार्हतासिद्धिर्यद्यपि तथाऽपि प्रपञ्चसत्याभिनिविष्टानां परेषां भ्रान्तिनिवृत्तिप्रयोजना विचारप्रवृत्तिरित्यर्थः। असिद्ध्यादयो दोषा व्याप्तिपक्षधर्मतादीनि भूषणानि स्वीकृत्यावतारितविचारे तत्त्वनिर्णयफले भवदभिमतासिद्ध्यादय एव दोषा उद्भाव्यन्ते नापूर्वं साधारणं दूषणं चोपादीयत इत्याह ❀भवत्कल्पितेति❀। यैर्दोषैः परपक्षो निषिध्यते तेषां प्रमितत्वे श्रुतिप्रमाणकात्मवत्सत्त्वम्, अप्रमितत्वे तेषामसिद्धिरित्याशङ्क्याह ❀ अत इति ❀। परामृष्टमेव हेतुं दर्शयति ❀त्वदिति❀। त्वया दूषणत्वेनाभिमतान् त्वद्वचनप्रतीतानाश्रित्य व्यवहरामीति तेषां प्रमितत्वेन सत्त्वं नेष्यत इत्यर्थः। दूषणादीनां त्वयोपन्यस्यमानत्वादुपन्यासात्मकविचारसत्त्वाभ्युपगमस्तवापि मद्दृष्टान्तेनोन्नीयत इत्यत आह ❀ न चेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ विचारेति ❀। प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमस्येव विचारसत्ताभ्युपगमस्यापि विचारप्रवृत्तिसाहित्यनियमस्य प्रागेव निराकृतत्वात्प्रसिद्ध्युपारूढेन रूपेणोपन्याससत्त्वांशेन तु खण्डनमिति सत्त्वाद्युदासीनैः कथारम्भः कर्तुं शक्य इत्यर्थः। विचारस्य सत्त्वानभ्युपगमे न विचारनिष्पत्तिः प्रागसतः सत्तासमवायरूपत्वान्निष्पत्तेरिति शंकते ❀ यदीति ❀। प्रमाणमुपन्यस्य तत्सत्तास्वीकारोऽनुपन्यस्य वा ? न

वस्तुतः हम ब्रह्मवादिगण तो प्रपञ्च के सत्त्वासत्त्व-व्यवस्थापन से विनिवृत्त हैं, एक मात्र स्वतःसिद्ध चिद्रूप ब्रह्म तत्त्व में अपने-आप को समर्पित कर कृतकृत्य हो, सुख-सागर में निमग्न हैं। जो लोग अपनी परिकल्पित साधन-दूषण की व्यवस्था के आधार पर वैचारिक संग्राम में उतर कर किसी तात्त्विक निर्णय पर पहुँचना चाहते हैं, उनके प्रति हमारा यह कहना है कि 'आप की यह विचार-व्यवस्था समीचीन नहीं, क्योंकि आप के द्वारा विरचित व्यवस्था से ही व्याहत (बाधित) है अर्थात् आप के परिकल्पित दोषों से ही दूषित है हम अपनी दूषण-प्रक्रिया का उपयोग ही नहीं कर रहे; अतः हमारी दूषण-व्यवस्था को लेकर आप को दोष देने का कोई अवसर ही नहीं मिलता, केवल आप के निर्धारित असिद्ध्यादि दोषों के द्वारा ही आपकी प्रमाणादि की व्यवस्था का व्याघात प्रस्तुत किया जाता है। उनके प्रस्तुतीकरण मात्र से हम पर वे बलात् लादे नहीं जा सकते, कि उनकी सत्ता मान लेने से हमारा अद्वैतवाद आहत हो, क्योंकि यह आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि विचार की सत्ता या असत्ता में उदासीन रह कर ही विचार में प्रवृत्त हुआ जा सकता है।

यदि 'विचार (कथा) की सत्ता न मानकर विचार में प्रवृत्त नहीं हो सकते'—

णमव्यापार्य न तदीयसत्त्वाभ्युपगमोऽपि शक्यते, अतिप्रसङ्गादिति विचारस्य विचार्यप्रवृत्तेऽनवस्थया विचारारम्भ एवाशक्यः स्यात्।

न च पूर्वपूर्वसिद्धत्वाद् विचारे विचारान्तरमिदानीमगवेषणीयम्। विचारस्य पूर्वसिद्धत्वे विचार्यरूपस्वविषयव्यवस्थितत्वात् तस्य, विचार्यमपि पूर्वमेव विचारितमित्यनारम्भ एव विचारस्य। अथ विचार्यविशेषस्य पूर्वमसिद्धत्वात्तदर्थं विचारारम्भः; तर्हि विचारविशेषस्यापि तद्विषयकस्य पूर्वमसिद्धिरेवेति वृथा शुष्कचर्वणम्।

यदि च त्वद्दर्शनरीत्या अभिधीयमानमस्माभिर्बाधं बाधसे, तदा स्वाभ्युपगम-

---

द्वितीयः, असम्भूक्ताबेरपि सत्ताभ्युपगमप्रसंगादित्याह ※ तवेति ※। प्रमाणमव्यापार्यं अप्रवर्त्यानुपन्यस्येति यावत्। प्रथमे विकल्पे तदुपन्यासः कथायामुतान्यत्र? नान्यत्र अनवस्थानात्। कथायां चेत्तत्राह, ※ विचारस्येति ※। विचार्यविचारस्यापि सत्तास्वीकारे तस्यापि विचारस्य विचारान्तरेण सत्तास्वीकार इत्यनवस्थानादन्योन्याश्रयाद्वा प्रथममेव मतिकर्तुंमे विचारारम्भणमशक्यं स्यादित्यर्थः।

ननु कुत्रेयमनवस्था? न तावदुत्पत्तौ विचाराणां स्वकारणेभ्यो निष्पत्तेः। नापि ज्ञप्तौ, अविच्छिन्नानादिविचारपरंपरयोत्तरोत्तरविचारस्य सत्त्वज्ञप्तेरित्याशंक्याह ※ न चेति ※। निर्विषयविचारस्य बुद्ध्यारोपयितुमशक्यतया सविषयस्यैव सिद्धौ विचार्यविशेषगोचरविचारस्य सिद्धिरुत तत्सामान्यगोचरस्य? प्रथमाद्यस्तत्राह ※ विचारस्येति ※। स्वस्य विचारस्य विषयः स्वविषयः विचार्यरूपविषयश्चेति विग्रहः। विचारस्य पूर्वसिद्धत्वे तद्विषयविचार्यस्यापि पूर्वसिद्धेस्तत्रापि विचार्यनिर्णयप्रयोजनाभावान्न विचारारम्भ इत्यर्थः। विचार्यसामान्यगोचरविचारस्य प्राक्सिद्धिरिति द्वितीयं शंकते ※ अथेति ※। विचार्यविशेषस्य विचारसामान्यगोचरत्वायोगाद्विचारविशेषगोचरत्वे तद्विशेषविचारस्यापि प्रागसिद्धतायां विचार्यतत्सत्तास्वीकारे तदवस्थाऽनवस्थेति परिहरति ※ तर्हीति ※।

अनवस्थामाश्रित्य तस्या एवाभासत्वप्रदर्शनव्यतिरेकेणास्माकं निर्वाहो नास्तीत्युक्तमिदानीं

ऐसा कहा जाय, तब विचार (कथा) का आरंभ होना ही असंभव हो जायगा, क्योंकि विचार की सत्ता तब तक नहीं मानी जा सकती, जब तक उसमें प्रमाण को सव्यापार (प्रदर्शित) न किया जाय, प्रमाण-प्रदर्शन किसी विचार या कथा में ही हो सकता है, उस विचारान्तर का भी विचार करके ही ग्रहण करना होगा अर्थात् विचारान्तर में प्रमाण-प्रदर्शन के द्वारा विचारान्तर की सत्ता सिद्ध करनी होगी, प्रमाण-प्रदर्शन के विना विचार की सत्ता मानने पर खपुष्पादि की भी सत्ता माननी होगी या घटादि की भी सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रमाणोपन्यास व्यर्थ हो जायगा—इस प्रकार अनवस्थादि के प्रसक्त होने पर कथा का आरंभ क्योंकर हो सकेगा ?

शङ्का—विचार की परंपरा अनादि है, पूर्व-पूर्व विचार से उत्तरोत्तर विचार की सिद्धि होती है, अतः किसी विचार में उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए विचारान्तर की अपेक्षा न होने से अनवस्था क्यों होगी ?

समाधान—पूर्व-पूर्व विचार से उत्तरोत्तर विचार की सिद्धि मानने में सविषय विचार की ही सिद्धि माननी होगी, अतः विचार के साथ-साथ उसकी विचारणीय विषय वस्तु भी पूर्व-पूर्व विचार से ही सिद्ध या निर्णीत माननी होगी, विचार्य का निर्णय ही विचार का प्रयोजन होता है, प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर तदर्थ प्रयास निरर्थक है, अतः विचार का आरंभ क्यों होगा ? यदि पूर्व-पूर्व विचार से असिद्ध विचार्य विशेष के लिए विचार का आरंभ सार्थक माना जाय, तब उस विशेष विचार्य को विषय करनेवाले विचार-विशेष की पूर्व-पूर्व विचार से सिद्धि न होने पर उसको विचारान्तर की अपेक्षा होने से अनवस्था जागरूक हो जाती है—इस प्रकार पिष्टपेषण से क्या लाभ ?

रीतिबाधाऽभिधायितैव ते स्यात्। अस्माभिर्निर्वाह्यमानस्य त्वया खण्डनयुक्त्यैव बाधेऽस्माकमेव जेतृता, 'खण्डनयुक्तयो बाधिकाः, निर्वाह्यपक्षश्च बाध्यः' इत्यस्यास्मदुक्तपक्षस्य त्वयैव निर्वाहात्। तस्मात् त्वया निर्वाह्यमस्माभिश्च खण्डनीयमितीदृश्यामेव परं कथायां त्वन्निर्वाह्यनिर्वाहे तव जयो नान्यथेति। तदेवं भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीयः, ब्रह्मैव तु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थितम्।

७. अद्वैते प्रमाणविचारः

ननु अद्वैते किं प्रमाणम्? प्रश्न एव तावत् अद्वैतमनङ्गीकुर्वतो नोपपद्यते।

अभ्युपगम्य तस्य त्वया खण्डनेऽपि न नः कदाचिदनिष्टापत्तिरित्याह। ※ यदा चेति ※ नैयायिकप्रयुक्तस्य साधकबाधकहेतोस्तन्नीत्यैवासिद्ध्यादिदूषणेऽभिहिते दूषणमेव न भवतीति चेद् ब्रूतेऽसौ तदा तस्य स्वपक्षबाधकारित्वाज्जात्युत्तरं स्यादित्यर्थः। अनिर्वचनवादी स्वोक्तदूषणं न समर्थयते चेत्पराजीयते। समर्थयते चेत्खण्डनयुक्त्यैव परोऽपि खण्डयतीत्याशङ्क्याह ※ अस्माभिरिति ※। विरुद्धमवोचोऽस्मन्निर्वाह्यखण्डने चास्माकं जय इति तत्राह ※ खण्डनेति ※। निर्वाह्यस्यास्माभिरिव त्वयापि सत्तास्वीकारात्स्वरूपमात्रस्य प्रतिषेधप्रतियोगित्वेनाशक्यप्रतिषेधत्वादिति भावः। त्वन्निर्वाह्यखण्डनेऽखण्डने च तवैव जेतृत्वे सद्वादी कथायां न प्रवर्तेत इति सदसद्वादिनोः कथैव न स्यादित्याशंकामुन्मूलयन्नुपसंहरति ※ तस्मादिति ※।

उत्तरविचारमूलमारचयन्महाप्रमेयमुपसंहरति ※ तदेवमिति ※। यस्मात्साधनदूषणादि सर्वं परिकल्पितं दूषयत्येवानिर्वचनवादी ब्रह्मभूतश्च स्वयंकृतकृत्यतां मन्यते साध्यं न किंचित्पश्यति तस्मात्सुगतवैलक्षण्यं सिद्धमित्यर्थः।

यद्यप्यनिर्वचनीयस्यावस्तुत्वान्न प्रामाणिकत्वं तथाप्यद्वितीयस्य वस्तुत्वात्तत्र प्रमाणं वाच्यमिति चोदयति ※ नन्विति ※। प्रमाणाङ्गीकारे प्रमाणप्रमेयविभागादद्वैतव्याघातः, अनङ्गीकारे साधकाभावात्तदसिद्धिरिति भावः। किमः प्रश्नाक्षेपयोः साधारणत्वादाक्षिप्तमपि पृष्टं मत्वा प्रश्नन्तावत् खण्डयति

आप (नैयायिकों) की दर्शन-रीति का अनुसरण कर हम (खाण्डनिक) आप की मान्यताओं का बाध (असिद्धयादि-दोषों से दूषित) कर रहे हैं। यदि इस बाध का भी आप बाध कर रहे हैं, तब आप विजयी घोषित नहीं हो सकते, अपि तु "सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः" (न्या० सू० ५।२।२४) इत्यादि निर्देश के अनुरूप अपसिद्धन्तादि निग्रहस्थानों से निगृहीत हो जाते हैं और यदि आप हमारी (खाण्डनिक) की स्थापना का खण्डन खण्डनखण्डखाद्य में वर्णित युक्तियों के आधार पर करते हैं, तब निश्चितरूप से हम ही विजेता होते हैं, क्योंकि हमारी 'खण्डनयुक्तयो बाधिकाः, निर्वाह्यपक्षश्च बाध्यः'—इस भूमिका में आकर आपने हमारा ही अभिनय किया। अतः अन्तिम निष्कर्ष यह है कि आपको अपने प्रमाणादि के सत्त्व का स्थापन और समर्थन करना चाहिए और हम (खाण्डनिक) को उसका अपनी रीति से खण्डन, ऐसे कथा-क्रम के परिवेष में आप यदि हमारी कठोर खण्डन युक्तियों की भयङ्कर उपल-वृष्टि से अपने प्रमाणादि सोलह कोमल कमलों का कलिका-षण्ड बचा ले गये, तब आप की जय हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं। शीघ्र ही आप देख लेंगे कि 'भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीयः, ब्रह्माद्वैतमेव परमार्थसत्'—यह सिद्ध हो गया।

७. अद्वैत में प्रमाण-चर्चा

शङ्का—कथा में प्रमाण-प्रदर्शन के विना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि तभी मानी जायगी, जब कि 'अद्वैते कि प्रमाणम्?' इस प्रश्न का समुचित उत्तर मिल जाय।

समाधान—जो व्यक्ति अद्वैत ब्रह्म को नहीं 'मानता, वह 'अद्वैते किं प्रमाणम्'—ऐसा

प्रमाणं यत्राद्वैते पृच्छयते तस्याऽप्रतीतौ कथमेवंभूतः प्रश्नः संगच्छते ? न हि प्रमाण-मात्रं भवता पृच्छयते, किन्नाम विषयविशेषनियतम्। तच्च तदोपपद्यते, यदि तादृशं ते प्रतीतिमारोहेत्। प्रश्नस्य वाग्व्यवहारविशेषत्वात् व्यवहारस्य च स्वजनकज्ञान-विषयनियतत्वाद्, अन्यथा व्यवहाराणां विषयनियमप्रयोजकस्य ज्ञानस्यासम्भवेन व्यवहारविषयपारिप्लवापत्तेः।

यदि चाद्वैतं प्रश्नविषयः प्रतीतमुच्यते, तदा तत्प्रतीतिस्ते प्रमा वा स्यात् ? अप्रमा वा ? आद्ये यदेव तस्याः प्रमायाः करणम्, तदेवाद्वैते प्रमाणं तवापि सम्प्रति-पन्नमिति वृथा तस्य प्रश्नः।

न च वाच्यम्—सामान्यतोऽद्वैतप्रमाणसिद्धौ भूतायामपि विशेषतः प्रमाण-

---

ॐ प्रश्न इति ॐ। अविद्यासिद्धभेदाद् व्यवहारमुपपादयताऽऽक्षेपपरिहार उपरिष्टात्करिष्यते। तथा ह्यद्वै-तमप्रतीत्य प्रमाणं पृच्छस्युत प्रतीत्य ? नाद्य इत्याह ॐ प्रमाणमिति ॐ। अद्वैताप्रतीतौ प्रश्नानुपपत्ति तत्स्वरूपपर्यालोचनया प्रतिपादयति ॐ न हीति ॐ। प्रमाणमात्रस्य घटादौ सिद्धतया प्रश्नानर्हत्वादिति भावः। सामान्यत प्रतीतं विशेषतोऽप्रतीतं वस्तु प्रश्नार्हमिति त्वदंगीकारादद्वैतप्रमाणमेवंरूपतया त्वया पृच्छ्यत इति प्रश्नमेव द्रढयति ॐ किन्नामेति ॐ। प्रमाणप्रतीत्या तत्प्रश्नोपपत्तौ किम् प्रश्नविषयाद्वैत-प्रतीत्येत्यत आह ॐ तच्चेति ॐ। तदेव कुतस्तत्राह ॐ प्रश्नस्येति ॐ। विमतं प्रश्नवाक्यं स्वविषयविशि-ष्टतयैव प्रतीयते प्रमाणत्वात् घटप्रमाणवत्। न च भविष्यदनुमानादौ व्यभिचारस्तस्यासिद्धिलक्षणविषय-विशिष्टतयैव प्रतीतेः, अन्यथाऽयथार्थत्वेन भ्रान्तित्वप्रसंगादित्यर्थः। प्रमाणं सविषयं प्रतीयत इत्येतावता प्रश्नस्य तत्प्रतीतिपूर्वकत्वं कुत इत्यत आह ॐ व्यवहारस्येति ॐ। स्वस्य व्यवहारस्य जनकं ज्ञानं स्वजनकज्ञानम्, तस्य विषयस्तेन नियतत्वान्नियमेन तद्गोचरत्वात्। एतदुक्तं भवति—विमतः प्रश्नः स्वजनकज्ञानविषयनियतो व्यवहारत्वात् गामानयेत्यादिव्यवहारवत्। न च भ्रान्तव्यवहारे व्यभिचारस्तत्रा-प्युक्तसाध्यात्। अन्यथा मध्यमवृद्धव्यवहाराद् बालस्य सङ्गत्यधिगतिर्न स्यात्। स्वजनकज्ञानं चाऽद्वैतविशिष्टप्रमाणगोचरम्। अतश्च विशेषेणाद्वैताप्रतीतौ विशिष्टप्रमाणगोचरमेव ज्ञानं न स्यादिति। ननु मा भूत्स्वजनकज्ञानविषयनियतत्वम्, व्यवहारत्वं च भविष्यति। तथा च विपक्षबाधकाभावादप्रयोजक इत्यत आह ॐ अन्यथेति ॐ अस्य वाग्व्यवहारस्यायमर्थ इत्यस्य नियमस्य व्यवस्थापकमन्यन्न सम्भवति विपक्षादेरपि ज्ञानपूर्वकत्वादतश्च विषयपरिप्लवस्याव्यवस्थाया आपत्तिर्बाधिकेत्यर्थः।

अस्तु तर्ह्यद्वैते प्रतीते तत्प्रमाणप्रश्न इति द्वितीयमनुवदति ॐ यदीति ॐ। प्रतीतिशब्दस्य प्रमा-

---

प्रश्न ही नहीं कर सकता, क्योंकि जिस अद्वैत तत्त्व के विषय में प्रश्न किया जाता है, उसकी प्रतीति न होने पर ऐसा प्रश्न क्योंकर उठाया जा सकता है ? आप (नैयायिक) प्रमाण-सामान्य का प्रश्न नहीं कर रहे, अपि तु अद्वैतरूप विषय-विशेष के प्रमाण का प्रश्न कर रहे हैं. वह (प्रश्न) तभी बन सकता है, जब कि अद्वैत तत्त्व आप की प्रतीति में समारूढ़ हो जाय। प्रश्न एक वाग्व्यवहार या शब्द-प्रयोग है, प्रसिद्ध न्याय है—'अर्थं बुद्ध्वा वाक्यरचना भवति।' सभी व्यवहारों का व्यवहर्त्तव्य-ज्ञान जनक होता है अर्थात् जो व्यक्ति जिस विषय का व्यवहार कर रहा है, उसे उस विषय का ज्ञान होना ही चाहिए, अन्यथा ज्ञान किसी और वस्तु का और व्यवहार किसी और विषय का—ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी।

'अद्वैते किं प्रमाणम्'—इस प्रश्न के विषयीभूत अद्वैत तत्त्व की यदि आप को प्रतीति है, तब आप की वह प्रतीति प्रमा है ? या अप्रमा ? प्रमा मानने पर करण के विना कोई कार्य नहीं होता, अतः प्रमा का करण भी आप को ज्ञात होगा, प्रमा के करण को ही प्रमाण कहते हैं, अतः अद्वैतविषयक प्रमाण जब आप को ज्ञात है, तब उसका प्रश्न उठाना निरर्थक है।

शङ्का—[श्री शबरस्वामी के सामने भी यही समस्या आड़े आई थी—"धर्मः प्रसिद्धो

प्रश्नः, यतः सामान्यसिद्धावेव अद्वैतसिद्धौ विशेषविचारः काकदन्तविचारवत् स्यात्। सामान्यसिद्धिरेव च विशेषमप्याक्षिप्यानयन्ती विशेषमपि ते कथितवती किमत्र प्रश्नेन ? परिगणितेषु हि प्रमाणप्रकारेषु मध्ये यत्रैव दोषं न प्रमिणोषि, तत्रैव विशेषे सामान्यस्य विश्रान्तेः। यदि च परिचितचरेषु प्रमाणप्रकारेषु सर्वेष्वेव दोषं प्रमिणोषि, तदा प्रमाणान्तरमाक्षिप्यापि सामान्येन विश्रमणीयमेव।

प्रमयोः साधारणत्वाद्विकल्पयति ❀ तदेति ❀। यदि प्रमा तदापि प्रमाणमात्रप्रश्नः किं वाप्रमाणविशेषस्य, उत, निर्दुष्टप्रमाणस्य किं वा व्यक्तिविशेषस्येति चतुर्द्धा विकल्प्याद्यं प्रत्याह ❀ आद्य इति ❀। अनीश्वरस्य प्रमायाः सकरणकत्वात् तत्करणस्येव प्रमाणत्वात्प्रमाणमात्रमद्वैते सम्प्रतिपन्नमावयोरिति न तत्प्रश्नार्हमित्यर्थः। सामान्यतः प्रमासिद्ध्या तत्करणप्रमाणस्य सामान्येनैव सिद्धेर्विशेषतः प्रश्न इति द्वितीयोऽस्त्वित्यत आह ❀ न चेति ❀। प्रमाणविशेषप्रश्नस्य प्रयोजनं किमद्वैतसिद्धिरुत प्रमाणविशेषसिद्धिरेव ? नाद्यः, तत्सिद्धेः प्रमाणमात्रसिद्धावेव सम्भवादित्याह ❀ यत इति ❀। अद्वैतस्य सामान्यविशेषविनिर्मुक्तत्वात् प्रमाणमात्रसिद्धावेव परिपूर्णतस्तत्सिद्धेस्तत्सिद्धिर्न मानविशेषप्रश्नप्रयोजनमित्यर्थः। नापि प्रमाणविशेषसिद्धिः प्रयोजनम्, स्वरूपेणापुरुषार्थत्वादन्यतः सिद्धेश्चेत्याह ❀ सामान्येति ❀। सामान्यस्य विशेषपारतन्त्र्याद्विशेषाभावे निःस्वभावत्वप्रसङ्गादनुपपत्त्या विशेषमपि साधयतीत्यर्थः। यस्य प्रमाणस्याद्वैतविषयत्वे दोषाभावस्तन्निर्दुष्टं प्रमाणं पृच्छ्यत इति यदि तृतीयस्तदापि प्रत्यक्षादिप्रकाराणामन्यतमप्रकारे क्वापि दोषाभावं पश्यस्युत सर्वत्रैव दोषम् ? यद्याद्यस्तत्राह ❀ परिगणितेष्विति ❀। द्वितीयमाशंकते ❀ यदीति ❀। प्रत्यक्षस्य सन्निकर्षापेक्षत्वादतीन्द्रिये ब्रह्मणि न प्रामाण्यम्, अनुमानस्य व्याप्तिदृष्टांतापेक्षस्य तदभावेऽप्रामाण्याच्छब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तसापेक्षस्य षष्ठीगुणादिवर्जितेऽप्रवृत्तेरुपमानस्य सादृश्यविषयस्य निर्धर्मकेऽसम्भवादर्थापत्तेरपि व्यतिरेकव्याप्तिमूलतया भेदाभावेऽसम्भवादभावस्य च भावरूपप्रमेयेऽनाशङ्कनीयत्वादिति भावः। परिचितचरेषु परिदृष्टपूर्वेष्विति यावत्। विशेषासम्भवेन दृष्टं सामान्यं

वा स्यादप्रसिद्धो वा ? स चेत् प्रसिद्धो न जिज्ञासितव्यः, अथाप्रसिद्धो नतराम्"। उसका समाधान किया गया है—"धर्मं प्रति विप्रतिपन्ना बहुविदः केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यम्, सोऽयंमविचार्य प्रवर्तमानः कंचिदेवोपाददानो विहन्येत, अनर्थं च ऋच्छेत्" (शा. भा. पृ. ११)। आचार्य शङ्कर की भी वैसी ही पदावली है—"तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् ? यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाऽप्रसिद्धम्, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। तदुच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म···तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः" (ब्र० सू० १।१।१)। पूर्वाचार्यों की यह युक्ति नितान्त ग्राह्य है कि अद्वैत ब्रह्म सामान्यतः प्रसिद्ध है और उसके लिए प्रमाण-सामान्य ही पर्याप्त है, अतः, प्रमाण-सामान्य का प्रश्न नहीं किया जा रहा। हाँ, विशेषतः ब्रह्म की अप्रसिद्धि होने के कारण विशेषतः प्रमाण की जिज्ञासा की जा रही है।

समाधान—सामान्य प्रमाण से सिद्ध ब्रह्म सामान्य ही अद्वैत ब्रह्म है, उसमें कोई विशेष प्रकार रहते ही नहीं, वह निर्विशेष निर्विकल्प तत्त्व है, असत् विशेष के विषय में प्रश्न करना वैसे ही व्यर्थ है, जैसे कि काक के असत् दाँतों का प्रश्न—काकस्य कति दन्ताः सन्ति ? दूसरी बात यह भी है कि कोई सामान्य वस्तु अपने विशेष प्रकारों को छोड़ कर नहीं रहती, अतः सामान्य प्रमाण से ब्रह्म सामान्य की सिद्धि भी अपने विषय के विशेष भावों को भी सिद्ध कर दिया करती है, उसके लिए प्रमाण-विशेष का प्रश्न निरर्थकमात्र है। जब आप प्रमाण-विशेष का प्रश्न उठा रहे हैं, तब निश्चितरूप से प्रत्यक्षादि प्रमाण-प्रकारों को आप जानते हैं, उनमें से जो भी प्रमाण सक्षम हो, जिसे मानने पर कोई दोष प्रतीत न हो, वही प्रमाण-विशेष विशेषतः ब्रह्म का गमक मान लीजिए और यदि प्रसिद्ध प्रमाण प्रकारों में कोई निर्दोष प्रतीत नहीं होता, तब सामान्यतः प्रमाणान्तर का आक्षेप करके सन्तुष्ट हो

यदि च का प्रमाणव्यक्तिरसौ इति प्रश्नार्थः परिशिष्यते, तदा न सर्वा व्यक्ति-विशेषतो निर्देष्टुं शक्यते इति तदनिर्देशेऽपि न नः किञ्चिदपचीयते।

यदि च द्वितीयः, तदानीमद्वैतप्रतीतिमप्रमां मन्यमानस्य तव 'अप्रमाविषये किं प्रमाणम्' इति कथं न प्रश्नो व्याहन्यते ?

अथ अप्रमा सा मम मते, त्वन्मते तु प्रमैवेति तत्करणं प्रमाणं पृच्छयते इति ब्रूषे; नैतदप्युपपद्यते, तवाऽद्वैते ज्ञानं यदुत्पद्यते तत्करणं मया प्रमाणरूपं वक्तव्य-मित्यत्र ममाऽनियमात्। यदि नाम मया सदाऽद्वैतमभ्युपेयते, तावता किं तावकी-

---

त्यक्तव्यमुत दृष्टानुसारेणादृष्टविशेषः कल्पनीयः। नाद्यः, दृष्टानुसारेणादृष्टस्य कल्पनीयत्वादन्यथा कार्य-लिङ्गकं कारणानुमानं क्वापि न स्यात्। यदि द्वितीयस्तत्राह ❀ तदेति ❀। लक्षणयाऽखण्डबोधकं तत्त्वा-वेदनप्रमाणमन्यदाक्षिपति सामान्यमेवेत्यर्थः। एकैकंप्रमाणव्यक्तीनामानंत्यादन्यतमव्यक्तिविषयः प्रश्न इति चतुर्थपक्षमाशङ्कते ❀ यदीति ❀। परिहरति ❀ तदेति ❀। जगत्कारणे परमाणौ किं प्रमाणमिति प्रश्नस्यानुमानमित्येवोत्तरं नत्वियमनुमानव्यक्तिरिति प्रतिपुरुषमनुमानव्यक्तीनामानंत्येन तद्विशेषस्यासर्वज्ञेन निर्देष्टुमशक्यत्वात्, तथा ममापीत्यर्थः।

अद्वैतप्रतीतेः प्रमात्वपक्षे तद्द्वारा तत्करणप्रमाणसिद्धेः प्रश्नानुपपत्तिः, भ्रान्तित्वे पुनरुक्तदोषाभा-वात् प्रश्न इति द्वितीयमनुवदति ❀ यदीति ❀। प्रथमपक्षे प्रमाणस्य सिद्धतया प्रश्नस्य वैयर्थ्यमेव, इह पुनः प्रश्नस्वरूपमेव व्याहतमित्याह ❀ तदेति ❀। अप्रमाविषयस्य प्रामाणिकत्वाभावो निश्चितो न वा ? न चेन्मदीया प्रतीतिरप्रमेति व्याहतम्। निश्चितं चेत्किमत्र प्रमाणमिति प्रश्न एव व्याहन्येत भावाभावयोरे-कत्रासम्भवादिति भावः। अप्रमाविषये प्रमाणं किमिति न पृच्छयते किं तु प्रतीतिगोचरेऽद्वैते सा प्रमा-रूपा अप्रमारूपा वा, अतो न व्याघात इति शङ्कते ❀ अथेति ❀। तवाप्रमारूपा प्रतीतिर्योत्पन्ना तस्याः करणं वक्तव्यं किं वा मदीयप्रमारूपप्रतीतेः, न मदीयप्रतीतेस्तदभिधानेऽपि तव प्रयोजनाभावात् श्रोतुः प्रयोजनपर्यवसायित्वाद्वाक्यस्येति परिहरति ❀ नैतदिति ❀। त्वत्प्रतीतेरपि करणमात्रं वक्तव्यं प्रमाणरूपं

सकते हैं। यदि "का प्रमाणव्यक्तिरसौ"—इस प्रकार किसी व्यक्ति विशेष के लिए प्रश्न है, तब अनन्त प्रमाण व्यक्तियाँ न कोई दिखा सकता है और न कोई असर्वज्ञ देख सकता है, अतः व्यक्ति विशेषविषयक प्रश्न भी सार्थक नहीं और उसका उत्तर न दे पाना भी कोई अपराध-जनक नहीं।

यदि द्वितीय विकल्प (आपकी अद्वैत-प्रतीति अप्रमा है—ऐसा) माना जाय, तब तो 'अद्वैते किं प्रमाणम्'—ऐसा आपका प्रश्न अत्यन्त असंगत है, क्योंकि प्रमा का ही करण प्रमाण कहा जाता है, अप्रमा का करण प्रमाण नहीं, अतः प्रमा के विषय में प्रमाण का प्रश्न हो सकता है, अप्रमा के विषयीभूत अद्वैत तत्त्व में प्रमाण का प्रश्न हो ही नहीं सकता।

शङ्का—हमारे (नैयायिक के) मतानुसार अद्वैत-प्रतीति अप्रमा है, किन्तु आप (वेदान्ती) के मत में तो प्रमा है [न्याय-मत में प्रमा का लक्षण है—तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्। वह निष्प्रकारक ब्रह्म के ज्ञान में सम्भव नहीं और वेदान्त-मत में अवाधितविषयक ज्ञान को प्रमा कहा जाता है, वह अद्वैत-ज्ञान में घट जाता है] अतः आपके मत को लेकर प्रमा-करणविषयक अद्वैते किं प्रमाणम् ऐसा प्रश्न अत्यन्त उचित और संगत है।

समाधान—यह शङ्का भी उचित नहीं, क्योंकि आप (नैयायिक) का जो-जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका करण यदि नियमतः प्रमाणरूप हो, तब वैसा प्रश्न हो सकता है, किन्तु आपके अप्रमा ज्ञान का करण न प्रमाण हो सकता है और न वैसा हमसे प्रश्न किया जा सकता है। यदि हम सदा अद्वैत तत्त्व मानते हैं, तब क्या इतने मात्र से आपके उस (अप्रमा) ज्ञान का करण प्रमाण बन जायगा ? हमारे प्रमा ज्ञान के लिए भी आप प्रमाणका

नस्य तज्ज्ञानस्य करणमवश्यं प्रमाणं स्यात् ? वस्तुतो वह्निमत्यपि पर्वते यदि कश्चिद् बाष्पं धूमं प्रतीत्य ततो वह्निमनुमिनोत्येतावता किं बाष्पविषयं धूमज्ञानं करणं प्रमाणमेष्टव्यमिति ?

अस्तु वा प्रश्नोऽयं यथा तथा, श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणमिति ब्रूमः। श्रूयते खलु 'एक-

---

वा। नाद्यः कार्यसिद्धेनैव कारणमात्रसिद्धत्वात्। नापि प्रमाणरूपमप्रमाकरणं प्रमाणमिति व्याघातात्परज्ञानकरणस्य प्रामाण्यापादने परस्य प्रयोजनाभावाच्चेत्याह ॐ तवेति ॐ। मत्प्रतीतिकरणस्य प्रामाण्योपपादने त्वदङ्गीकृताद्वैतसिद्धिरेव तव प्रयोजनं मत्प्रतीतिप्रमात्वमन्तेरेण तदगोचरीकृतस्य वास्तवत्वानुपपत्तेरित्यत आह ॐ यदीति ॐ। ज्ञानप्रामाण्यमन्तरेण ज्ञेयवास्तवत्वासिद्धिनियमो नास्ति स्मृतिगोचरे व्यभिचारादित्यर्थः। विमता प्रतीतिः प्रमा, स्मृतीतरत्वे सति यथार्थप्रत्ययत्वात्संप्रतिपन्नवद्विपक्षे तदेकार्थतया त्वत्प्रतीतेरप्रमात्वप्रसङ्ग इत्याशंक्याह ॐ वस्तुत इति ॐ। दैवगत्या पर्वतस्य वह्निसम्बन्धे सति कश्चिदाभासानाभासविवेकहीनो वाष्पं धूमं दृष्ट्वा वह्निमानयं गिरिरित्यनुमिमीते यदि तदा प्रमाणाद्वाष्पधूमविज्ञानात् स्मृतीतरा यथार्थप्रतीतिरुदीयते। न च साऽप्रमा। ततश्च तया व्यभिचारः। ननु सा प्रमाऽसंदिग्धाविपरीतानवगतप्रतीतित्वात्संप्रतिपन्नवदिति तस्या अपि पक्षनिक्षेपात् कुतो व्यभिचार इत्यत्र केचित्समादधति—वाष्पधूमस्य वह्निव्यभिचारित्वेनालिङ्गत्वात् तज्ज्ञानस्य वह्निसम्भवस्थलेऽपि प्रमित्यजनकत्वाद्विषयविद्यमानतामात्रेण ज्ञानस्य प्रमात्वे घटो नित्यः प्रमेयत्वादित्यस्यापि हेतोर्घटानित्यत्वप्रमितिसाधनत्वप्रसङ्गान्न प्रमात्वमिति। अन्ये त्वात्रापरितुष्यन्तः परिहारान्तरमाहुः—परिगणितप्रमाणलक्षणानामन्यतमलक्षणयोगिकरणजन्यत्वं प्रयोजकं प्रमात्वे। तानि च सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षं सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानमित्यादीनि। न चेह तेषामन्यतमलक्षणयोगोऽस्ति वाष्पधूमस्य वह्निव्यभिचारित्वात्। तर्हि उक्तरूपत्वमस्य विज्ञानस्य कथमिति चेत्, स्मृतेरप्रमात्वेऽप्यसंदिग्धाविपरीतप्रतीतित्ववदनवगतासंदिग्धाविपरीतप्रतीतित्वमिति ब्रूमः। गतं तर्हि सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणमिति लक्षणेनेति चेन्न संशयविपर्ययविकल्पस्मृतिदैवागतप्रत्ययानामविद्यापरिणामानां सम्यगनुभवपदाभ्यां व्यावर्त्तितत्वाभ्युपगमात्। ब्रह्मवादिनः कुत एतत्प्रसङ्गाभावादिति अद्वैतगोचरा मत्प्रतीतिरप्रमेत्यंगीकृत्य पुनः सा प्रमा स्याविति शङ्कानुत्थानमिति चेत्सत्यम्। "मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं किन्न पश्यसीति"—न्यायेन समनन्तरदोषपरिजिहीर्षया पुनरुत्थानमिति प्रमिते अप्रमिते चाद्वैते प्रमाणप्रश्नो न भवति किन्तु प्रतीतौ। प्रतीतिश्च प्रमाप्रमासाधारणी। साधारणोक्तस्य विशेषविकल्पनिरासेऽनुमानादिसर्वव्यवहारलोप इत्याशंक्य प्रश्नमङ्गीकरोति। ॐ अस्त्विति ॐ। यथातथेत्ययमर्थः। अपरस्परविरोधेऽन्यतरविधिपर्यवसायित्वात्प्रमाप्रमयोश्च विरोधादन्यतरपर्यवसायित्वस्यावश्यवक्तव्यत्वान्नित्यत्वानित्यत्ववदनुगतसाधारणरूपस्यानुपपत्तेरिति। ननु प्रश्नांगीकारे तत्प्रमाणं वाच्यम्। न च तत्सम्भवति सर्वेषामेव प्रमाणानां द्वैतविषयतयाऽद्वैतेऽसम्भवादित्यत आह ॐश्रुतिरितिॐ। प्रत्यक्षादेर्द्वैतविषयत्वेऽप्युपनिषद्वाक्यस्याद्वैते प्रामाण्यमेष्टव्यम्, अन्यथा षड्विधलिङ्गावगततात्पर्यविरोधादित्यर्थः। ननु अद्वैतपरं वाक्यमेव नोपलभ्यते इत्यत आह ॐ श्रूयत इति ॐ। श्रुतिर-

---

प्रश्न नहीं कर सकते, क्योंकि कहीं कहीं प्रमा ज्ञान का भी करण प्रमाण नहीं होता, जैसे वह्निमान् पर्वत में कोई व्यक्ति वाष्प को धूम समझ कर उस भ्रमात्मक धूम-ज्ञान से वह्नि की प्रमात्मक अनुमिति करता है, वहाँ क्या वाष्पविषयक धूम ज्ञान को प्रमाण कहा जा सकता है ? [अबाधितविषयक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, बाष्प में धूम ज्ञान बाधितविषयक होने से प्रमाण नहीं, अप्रमाण ही है, वैसे ही अद्वैत प्रमा का करण यदि तत्त्वमादि पदों का ज्ञान माना जाता है, तब वह भी परमार्थतः बाधितविषयक होने से अप्रमाण ही होता है, अतः प्रमा ज्ञान का करण नियमतः प्रमाण हो—ऐसा आवश्यक नहीं]।

अस्तु, जैसे-तैसे आप का प्रश्न मान लेते हैं, उसका सीधा-सा उत्तर है—'श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणम्'। प्रमाणभूत श्रुतियाँ हैं—"एकमेवाद्वितीयम्" (छां० ६।२।१), "नेह नानास्ति

मेवाद्वितीयम्', 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि। श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते।

सिद्धार्थानां श्रुतीनामन्यपरत्वमपि यदि स्यात्तथापि पदसमन्वयबलेन तासु प्रतीयमानमर्थमबाधितमादायैव तासामन्यपरिभवनात्, धियां स्वतःप्रामाण्यस्य बाधकैकापोद्यत्वात्।

प्रमाणमाप्तवाक्येतरवाक्यत्वादुन्मत्तवाक्यवदिति शाक्यः, प्रमाणं भवदपि कार्य एवार्थे प्रमाणं प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाद्वेदस्येति प्राभाकरः, तत्कथं श्रुतिरद्वैते सिद्धवदुपन्यस्यत इत्यत आह ॐ श्रुतीति ॐ। अयमर्थः—न तावदनवबोधकत्वमप्रामाण्यं, समधिगतसङ्गतिकस्य वाक्यश्रवणे तदर्थप्रतीतिदर्शनात्। नापि संशयत्वम्, एवं वानेवं वेति वाक्यार्थे वाकारानिर्देशात्सामानाधिकरण्यात्। नापि मिथ्यात्वं बाधानुपलंभात्। न चैतदेवानुमानं बाधकम्, इतरेतराश्रयात्। विमतिगोचरः प्रमाणम, अनवगताविपरीतनिश्चितिकरणत्वात्, चक्षुर्वत्, अन्यथा बुद्धागमोऽप्रमाणमुभयसंप्रतिपन्नाप्तेतरप्रणीतवाक्यत्वादुन्मत्तवाक्यवदित्यपि स्यात्। न च कार्यपरः कृत्स्नो वेदः, प्रमाणत्वाच्चक्षुर्वत्, अन्यथा योग्येतरान्विते शब्दसामर्थ्योपपत्तौ कार्येति विशेषणे गौरवप्रसङ्गादिति। ननूदाहृतवाक्यं विधिशेषं भवितुमर्हति सिद्धार्थवेदवाक्यत्वात्सोऽरोदीदित्यादिवाक्यवदिति विधिशेषत्वे स्थिते ज्ञानविधिपरत्वमाहुरेकदेशिनस्तान् प्रत्याह ॐ सिद्धेति ॐ। विधिशेषत्वे स्वार्थे प्रयोजनशून्यवाक्यप्रमाणत्वप्रयोजकमद्वैतप्रतिपत्तौ पुनरशेषानर्थनिवृत्तिर्न तथात्वं तथाप्यङ्गीकृत्याह ॐ यदिति ॐ। अतत्प्रकरणत्वादकर्मशेषत्वे स्थिते ज्ञानविधिशेषत्वमिष्टम्, तत्रापि तासु पदसमन्वयबलेन प्रतीतमर्थमङ्गीकृत्यैव तच्छेषत्वमेष्टव्यं मानान्तरप्राप्तिविरोधयोरसतोऽन्यपरस्य स्वार्थेऽपि प्रामाण्यात्। एवं च तासु पदसमन्वयबलेन प्रतीतमर्थमादायैवान्यपरिभावनादुपासनातात्पर्याभासमद्वैते प्रामाण्यमिति सम्बन्धः। नन्वप्रामाण्यवत्प्रामाण्यस्यापि परतस्त्वात्कथं प्रतीतिमात्रेणार्थसिद्धिरित्यत आह ॐ धियामिति ॐ। प्रामाण्यस्वतस्त्वं तावदेष्टव्यं अनवस्थानादिभ्यः परतस्त्वे मानाभावाच्च। यदप्युदयनो जगाद (कुसुमाञ्जलौ० २।१)—'प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वाद् अप्रमावत्। यदि च तावन्मात्राधीना भवेदप्रमाऽपि प्रमैव भवेत्। अस्ति च तत्र ज्ञानहेतुः, अन्यथा ज्ञानमपि सा न स्यादिति'—तदसत्, प्रमामात्रपक्षीकरणे ईश्वरप्रमाभागे बाधात्, तदर्थं विशेषणोपादाने परस्य वैयर्थ्यात्, साधनविकलत्वाच्च दृष्टान्तस्य। न हि वेदान्तपक्षे ज्ञानविशेषत्वमप्रमाया अविद्यापरिणामत्वादन्तःकरणपरिणामविशेषस्य ज्ञानत्वात्। एतेन विपक्षबाधकोऽपि निरस्तोऽप्रमाया ज्ञानहेत्वन्तःकरणजन्यत्वाभावादिति भावः।

किंचन" (बृह. उ. ४।४।१९) इत्यादि। वेदों का प्रामाण्य और साध्यरूप क्रिया से भिन्न द्रव्यादि सिद्धार्थ के बोधक वाक्यों का प्रामाण्य 'ईश्वराभिसन्धि' नाम के ग्रन्थ में कहा जायगा। यदि "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै० सू० १।१।२) इस सूत्र में वर्णित 'कार्यरूपो वेदार्थः' अर्थात् वेद का तात्पर्य क्रियारूप अर्थ में ही है, द्रव्यादि सिद्धार्थ के प्रतिपादन में नहीं—प्रभाकर के इस सिद्धान्त के अनुरूप 'एकमेवाद्वितीयम्'—इत्यादि सिद्धार्थ-प्रतिपादक वाक्यों का परम तात्पर्य कर्मरूप साध्यार्थ के बोधन में ही है, ब्रह्मरूप सिद्धार्थ के बोधन में नहीं। तब भी अवान्तर तात्पर्य या पदार्थ-समन्वय के आधार पर समुत्पन्न अबाधितार्थ-विषयक अद्वैत-ज्ञान के द्वारा श्रुतियों में अन्यार्थ-परकत्व (क्रियापरत्व) का बाध हो जाता है और अद्वैत-ज्ञान स्वतः प्रमाणभूत है, किसी प्रबल बाधक के द्वारा ही उसका बाध हो सकता है, किन्तु उसका कोई प्रबल बाधक नहीं [श्रीकुमारिल भट्ट ने जो कहा है—एतेन क्रत्वर्थकर्तृप्रतिपादनद्वारेणोपनिषदां नैराकांक्ष्यं व्याख्यातम्" (तं. वा. पृ. ११४)। अर्थात् उपनिषद्वाक्य कर्म में अपेक्षित कर्त्ता के स्वरूप का प्रतिपादन करके परम्परया कर्मपरक ही हैं। उसका समाधान यहाँ किया गया है कि "अस्थूलमनणु"—इत्यादि वाक्य अपने पद-पदार्थों के बल

ननु नाद्वैतश्रुतीनामृजावर्थे प्रामाण्यं सम्भवति, प्रत्यक्षादिबाधात्। ततश्चान्यत्रैव क्वचित्तात्पर्यं कल्प्यम्।

मैवम्; यदद्वैतश्रुतेर्बाधकं प्रत्यक्षादि मन्यते तदाऽऽत्मीये विषये घटपटादेर्भेदे नियत एवोत्पद्यते, न तु प्रत्यक्षादिकं भूतभाविवर्तमानसकलव्यक्तिभेदग्राहि जायमानमावयोः सम्प्रतिपन्नमस्ति, तादृशेन ज्ञानेन चोत्पद्यमानेन सर्वज्ञतां तदा तव श्रद्दध्यां, यदि जानासि मम चेतसि किं वर्तते इति।

यदि च प्रत्यक्षादि किञ्चिन्मात्रविषयम्, तदा तद्विषयादन्यत्रापि प्रवर्तमाना

नैयायिका.दचोद्यमुद्भावयति ❀ नन्विति ❀। अद्वैतश्रुतिः प्रतीयमानार्थे न प्रमाणमन्यपरत्वे सति प्रमाणान्तरविरुद्धार्थत्वादादित्यो यूप इति वाक्यवदित्यर्थः। ऐकात्म्यवाक्यं किञ्चिदर्थपरं वेदवाक्यत्वादग्निहोत्रादिवाक्यवत्। न चैतदैकात्म्यादन्यत्र सम्भवतीति परिशेषादद्वैतपरत्वमित्यत आह ❀ततश्चेति❀। ऐकात्म्यपरो ह्यागमः परमात्मन एवैकतामाह एक एवायं परमात्मा नानेके परमात्मानस्सन्तीति। ततश्चान्नं ब्रह्मेति वाक्यवदुपासनाशेषत्वात्परिशेषासिद्धेरेकात्मपरत्वासिद्धिरित्यर्थः।

'तत्परत्वात्परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम्। पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्याप्तवाक्यवदिति'—न्यायेन प्रत्यक्षादेरेव बाध्यत्वान्न बाधकत्वमित्यभिप्रेत्य परिहरति ❀ मैवमिति ❀। किं चेदमप्रामाण्यं किं मिथ्यात्वमुताबोधकत्वमुत संशयत्वम्? यद्याद्यस्तदाऽपि किमेकविषयप्रत्यक्षेण बाधः किं वा भिन्नविषयेण? न तावदेकविषयेण, प्रत्यक्षादेर्नियतविषयतया सर्वाद्वैतश्रुत्यैकविषयत्वाभावादित्याह ❀ यदद्वैतेति ❀। प्रत्यक्षादि सर्वविषयेण स्वावान्तरजातीयेन केनचिदविनाभूतं प्रमाणत्वादागमवाक्यवदित्याशंक्याह ❀ न त्विति ❀। अयमर्थः—तत्सर्वगोचरं प्रत्यक्षादि किमस्मदादिविलक्षणजन्मनः किं वाऽस्मदादेः? न तावदाद्यः, विमतं न सर्वग्राहि प्रत्यक्षत्वादस्मदादिप्रत्यक्षवदिति। द्वितीयोऽपि नानवद्यः, सर्वज्ञत्वप्रसङ्गादित्याह ❀ तादृशेनेति ❀। अस्तु तर्हि भिन्नविषयप्रत्यक्षादिना श्रुतेर्बाध इति द्वितीयस्तत्राह ❀ यदेति ❀।

पर अकर्त्ता-अभोक्ता चैतन्य तत्त्व के प्रतिपादक हैं, इससे कर्त्तादि का प्रतिपादन बाधित होने के कारण उपनिषदों का अभिप्रेत अर्थ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि पद से पदार्थ प्रतिपादित होते हैं और पदार्थों की लक्षणा वाक्यार्थ में मानी जाती है, तथापि पदार्थ अत्यन्त उपेक्षित नहीं होते, उनके समन्वय को ध्यान में रखकर किसी अर्थ में लक्षणा की जाती है, अतः कर्तृत्वादि-रहितार्थ-प्रतिपादक पदों से घटित वाक्य की लक्षणा कर्तृरूप या क्रिया रूप अर्थ में नहीं की जा सकती]।

शङ्का—"एकमेवाद्वितीयम्"—इत्यादि अद्वैतश्रुतियों का प्रामाण्य सीधे-सीधे अभिधेयरूप ऋजु अर्थ में सम्भव नहीं, क्योंकि उस अर्थ के प्रत्यक्षादि प्रमाण बाधक हैं, अतः जैसे "आदित्यो यूपः" (तै० ब्रा० २।१।५) इत्यादि वाक्य वाधितार्थ के बोधक होने से अपने अभिधेयार्थ में प्रमाण न होकर यूपादि की प्रशंसा में पर्यवसित होते हैं, वैसे ही अद्वैतश्रुतियों का भी किसी अन्य अर्थ में ही तात्पर्य मानना होगा।

समाधान—अद्वैत श्रुति का बाधक जो प्रत्यक्ष प्रमाण आप मानते हैं, वह अतीतानागतादि सर्वार्थ के भेद का ग्राही नहीं, अपि तु अपने नियत विषय में घट, पटादि कतिपय पदार्थों के भेद का ही ग्राहक होता है, उतने मात्र से सर्वभेद-ग्राहक अद्वैत श्रुति का बाध क्योंकर होगा? अतीतानागतादि सकल पदार्थों के भेद का ग्राहक कोई ऐसा प्रत्यक्ष हम लोगों में सम्प्रतिपन्न नहीं। यदि आप (नैयायिकों) को सामान्यलक्षणादि के आधार पर कोई सर्वविषयग्राही प्रत्यक्ष सुलभ हो रहा है, तब उस पर तो हमारा विश्वास तभी जमेगा, जबकि आप यह बता दें कि हमारे चित्त में क्या है?

यदि अद्वैत श्रुति का बाधक प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वविषयक नहीं किञ्चिन्मात्रविषयक ही

अद्वैतश्रुतिस्तेन ना बाधितुं शक्यते, स्वविषयमात्रे प्रमया विपरीतविषयज्ञानबाधनात्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। मा हि भूदग्नीषोमीयपश्वालम्भनविधिना सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैयर्थ्यम्।

यदा चैवं तदा बाधिकायाः प्रत्यक्षधियो बाध्यायाश्चाऽद्वैतबोधने श्रुतिर्निराबाधा सती तयोरैक्यं बोधयतीति तत्प्रत्यक्षादि कथं स्वात्मानमेव बाधेत। घटेन पटेन तद्भेदेन च स्वविषयेण सह तस्या एव धियः श्रुत्या सर्वस्याद्वैतं गोचरयन्त्या कथं

श्रौतप्रत्यक्षादिज्ञाने बाध्यबाधके न भवतो भिन्नविषयत्वाद् घटपटज्ञानवत्। भिन्नविषयत्वं च प्रत्यक्षादेर्नियतविषयत्वात्सर्वाद्वैतविषयत्वात् श्रुतेरित्यर्थः। भिन्नविषययोर्ग्वाभिन्नविषययोरपि तदसम्भवाद् बाध्यबाधकभाव एव न स्यादित्यत आह ॐ स्वेति ॐ। एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धरूपग्राहिणोर्विज्ञानयोर्बाध्यबाधकभाव इत्यर्थः। स्वविषयादन्यत्रापि विपरीतज्ञानस्य प्रमया बाधने दोषमाह ॐ अन्यथेति ॐ। अतिप्रसङ्गमेव स्फुटयति ॐ मा भूदिति ॐ। विरुद्धार्थग्राहितामात्रेण बाधकत्वमेकविषयत्वाभावेऽपि चेद्धिंसाविषयत्वेन तदभावविषयत्वेन च विरोधात् पश्वालम्भनविधिना सर्वभूताहिंसाविधेर्नैरर्थ्यं निर्विषयत्वमप्रामाण्यं स्यात्, तन्मा भूदित्यर्थः।

प्रत्यक्षविषयं परिहृत्येतरसर्वाभेदबोधिकाया अद्वैतश्रुतेर्यद्यपि न प्रत्यक्षं बाधकं सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैयर्थ्यपरिहारार्थमिष्यते तथाऽपि निरंकुशं सर्वाद्वैतं तव न सिद्धयतीत्याशङ्क्याह ॐ यदा चेति ॐ। घटपटौ भिन्नाविति बाधकाभिमतया प्रत्यक्षबुद्धया घटपटयोरेव भेदमुल्लिखन्त्या स्वात्मना सह बाध्याभिमतश्रौतबुद्धेर्भेदाग्रहणात्तयोरभेदबोधने निर्बाधः श्रुतिरैक्यं बोधयति। ततश्च प्रत्यक्षबुद्धेः श्रौतबुद्धिबाधकत्वं न सम्भवति, स्वात्मनि स्थिते नष्टे वा स्वबाधकत्वाभावादिति भावः। अद्वैतबुद्धेः प्रत्यक्षज्ञानेनाबाधितविषयान्तरमाह ॐ घटेनेति ॐ। बाध्यबाधकाभिमतश्रौतप्रत्यक्षधियोरभेदं बोधयति यथा तथा प्रत्यक्षधियः स्वविषयेण सहाभेदबोधने प्रमाणान्तरविरोधाभावात् श्रुतिरैक्यं बोधयति। घटपटौ भिन्नाविति बुद्धेः स्वविषयैश्च घटपटतद्भेदैः सह भेदस्य केनचित्प्रमाणेनासिद्धत्वात् तेषां ज्ञानत्वं बोधयति न तु धियो घटादिरूपत्वम्, तथा सति साधकाभावेऽसिद्धिप्रसङ्गादिति भावः। भेदबुद्धेः स्वविषयादात्मनो भेदाग्रहण-

है, तब उस प्रत्यक्ष के विषय से भिन्न विषय में प्रवर्तमान अद्वैत श्रुति का मार्ग वह प्रत्यक्ष क्योंकर रोक सकेगा ? क्योंकि अपने विषय मात्र में ही प्रमा ज्ञान अपने विपरीतविषयक ज्ञान का बाध किया करता है, जैसे दीपक अपने प्रकाश्य क्षेत्र में ही अन्धकार का नाशक होता है, अन्यथा विश्व के किसी एक कोने में जले नन्हें दीपक से विश्वव्याप्त ध्वान्त ध्वस्त हो जाता। जैसे "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"—यह विधि अपने विषय में ही अहिंसावाक्य (न हिंस्यात् सर्वा भूतानि) को रोक सकती है, अन्यत्र नहीं, अत: अन्यत्र 'प्राप्त अवैध हिंसा का निषेध करने में "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—इस वाक्य का सार्थक्य हो जाता है, अन्यथा वह निरर्थक हो जाता, वैसे ही घट, पटादि-भेद-ग्राही प्रत्यक्ष केवल अपने विषय में सर्वभेद-निषेधक अद्वैत वाक्य का अवतरण रोक सकता है, अन्यत्र नहीं, अन्यत्र सर्वत्र अभेद का विधान करके अद्वैत वाक्य सार्थक हो जाता है।

जब 'घटपटौ भिन्नौ'—इत्यादि प्रत्यक्ष केवल घट और पट के भेद का ही ग्राहक है, सर्व भेदों का नहीं, तब अद्वैतश्रुति की बाधक प्रत्यक्ष बुद्धि तथा उसकी बाध्यभूत अद्वैत बुद्धि के अभेद-बोधन में प्रवृत्त अद्वैत श्रुति अबाध गति से अपना कार्य [प्रत्यक्ष प्रमाण और अद्वैतागम का अभेद बोधन] सम्पन्न कर देगी। फिर तो प्रत्यक्ष प्रमाण अपने से अभिन्न अद्वैत-श्रुति का बाध क्योंकर कर सकेगा ? 'घटपटौ भिन्नौ'—यह प्रत्यक्ष अपने से घट, पट और भेद के भेद का भासक नहीं, अत: अद्वैत-श्रुति प्रत्यक्ष ज्ञान से उसके विषयीभूत घट, पट और भेद का अभेद स्थापित करती हुई सर्वाभेद-बोधन में पर्यवसित हो जाती है, फिर

नाभेदे प्रामाण्यमासादयितव्यम् , तत्राबाध्यमानत्वात् । न हि तस्या धियः स्वात्मा वा स्वात्मना सह घटपटादेर्भेदोऽपि वा विषयः । 'घटपटौ भिन्नौ' इत्येवमाकारा हि सा जायते, न तु 'अहं घटात् पटाच्च भिन्ना, मत्तो वा तौ भिन्नौ' इति ।

स्वप्रकाशताऽपि स्वमात्रे साक्षिणी, न तु यतो यतः प्रकाशो भिद्यते ततस्ततस्तस्य भेदेऽपि । अन्यथा तत्तदपि स्वप्रकाशकुक्षौ निक्षिपन्ती न कथमद्वैते एव पर्यवस्यति ?

न च तया धिया स्वस्य स्वविषयस्य च स्वरूपावगाहने स्वरूपलक्षणो भेदः प्रकाशित एव स्यादिति वाच्यम् ; 'पुरोवर्ति रजतम्' इति भ्रान्तौ पुरोवर्त्यात्मनो रज-

---

मुपपादयति ❀ न हीति ❀ । स्वविशिष्टभेदग्रहणेंऽशतः स्ववृत्त्यापातादित्यर्थः । बुद्धिप्रयुक्तमानत्वे बुद्धित्वतत्संसर्गित्वयोरन्यतरत् प्रयोजकम्, अतो बुद्धिस्तस्या घटादिभ्यो भेदश्चानया भासत इति तत्राह ❀ घटपटाविति ❀ । यदाकारा बुद्धिर्जायते तदाकारवानेवार्थस्तद्विषय इति नियमात् बुद्धिर्धर्मिकबुद्धिप्रतियोगिकभेदाकारत्वाभावान्नानया तत्सर्वं भासत इत्यर्थः ।

बुद्धेः स्वप्रकाशत्वात्स्वभेदग्राहकत्वं विद्यत इति प्राभाकराद्यभिमतमाशंक्याह ❀ स्वप्रकाशेति ❀ । स्वप्रकाशता स्वरूपमात्रे साक्षिणी व्यवहारप्रवर्तिकाऽपि यस्माद्वस्तुनः प्रकाशो भिद्यते ततस्ततः प्रकाशस्य भेदेऽपि व्यवहारप्रवर्तिका न भवति । विमतो भेदः प्रतियोगिधर्मिव्यतिरिक्तज्ञानगोचरो भेदत्वाद् घटपटयोः परस्परभेदवदित्यर्थः । विपर्यये बाधमभिधत्ते ❀ अन्यथेति ❀ । संविद्विषयत्वमन्तरेण सिद्धत्वं संविद एवेति नियमात्प्रतियोग्यादिघटितभेदस्य संविद्विषयत्वमन्तरेण सिद्धौ संवित्त्वमेवेति संविदद्वैतं स्यात् । न च संविदाश्रयात्मनि व्यभिचारः, तत्राप्युक्तहेतुनैव साध्यसंप्रतिपत्तेः सुकरत्वादिति भावः । घटपटौ भिन्नाविति बुद्धेस्तद्विषयेभ्यो भेदस्य तत्स्वरूपत्वात्संविदः स्वसंवेदनतया विषयाणां च तत्कर्मतया प्रकाशे प्रकाशत एवासावित्याशंक्याह ❀ न चेति ❀ । किं स्वरूपमात्रं भेदः किं वा साधारणधर्मविशिष्टमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ पुरोवर्तीति ❀ । स्वरूपमात्रस्य भेदत्वे रजतेदमोर्भेदस्य तत्स्वरूपतया

अभेद या अद्वैत में अद्वैत-श्रुति निश्चितरूप से प्रमाण है, क्योंकि वहाँ उसका कोई बाधक नहीं। यदि 'घटपटौ भिन्नौ'—यह प्रत्यक्ष अपने स्वरूप और उससे घट, पट और भेद के भेद को विषय करता, तब अवश्य ही अद्वैत-श्रुति वहाँ बाधित होकर अभेदबोधन नहीं कर सकती थी, किन्तु आप (नैयायिकों) के मतानुसार वह प्रत्यक्ष ज्ञान न तो अपने स्वरूप का ग्राहक है और न अपने से घटादि के भेद का ग्राहक, क्योंकि उस प्रत्यक्ष ज्ञान का 'घटपटौ भिन्नौ'—इतना ही आकार है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान न तो यह कहता है कि 'अहं घटात् पटात् तयोर्भेदाच्च भिन्नः' और न यह कहता है कि 'मत्तः ते घटपटतद्भेदा भिन्नाः'।

यद्यपि प्रभाकरादि के मतानुसार ज्ञान स्वप्रकाश है, अतः अपने स्वरूप का ग्राहक होता है, तथापि जिस-जिस घटादि पदार्थ से वह ज्ञान भिन्न है, उनसे अपना भेद-ग्राहक नहीं, अन्यथा [यदि ज्ञान अपने प्रकाश के साथ-साथ सभी घटादि पदार्थों का भी भासक है, तब] सभी घटादि पदार्थों को ज्ञान से अभिन्न ही मानना होगा—'घटादयः ज्ञानादभिन्नाः सहोपलब्धत्वात्, ज्ञानस्वरूपवत्'। इस प्रकार विज्ञानाद्वैतवाद में ही पर्यवसान हो जाता है।

शङ्का—'घटपटौ' इत्यादि ज्ञान अपने और घटपट के स्वरूपों का अवगाहन करते हैं, तीनों के स्वरूप या आकार भिन्न-भिन्न हैं किन्तु पटगत घट का भेद पटस्वरूप, घटगत पट का भेद घटस्वरूप एवं ज्ञानगत घट-पटादि का भेद ज्ञानस्वरूप होता है, अतः स्वप्रकाश ज्ञान अपने स्वरूप के साथ घट-पटादि के भेद का भी ग्रहण करता है, क्योंकि वह भेद ज्ञान का अपना स्वरूप ही है।

समाधान—ज्ञान यदि अपने ग्राह्य स्वरूपों या आकारों के साथ स्वरूपात्मक भेदों का

तात्मनश्च प्रकाशे भेदग्रहापत्तेः।

धर्मविशेषमन्तर्भाव्य स्वरूपस्य भेदत्वे धियोऽपि तथा स्यादिति सैव धीर्न तत्प्रकाशः, तस्मिन् सन्निकर्षाद्यपेक्षायां धियः प्राक् तदसंभवात्। आत्मवदात्मधर्मेऽपि सन्निकर्षानपेक्षा सा इति चेन्न, ग्रहणत्व-स्मृतित्व-प्रमात्वादावपि तथैव स्यादिति।

तदेवं सा बुद्धिः श्रुत्या घटपटात्मतया व्यवस्थाप्यमाना कथमात्मनः स्वस्मादेव

तत्प्रकाशे प्रकाशप्रसङ्गादविवेकरूपा भ्रान्तिर्न भवेदित्यर्थः। प्रतियोग्यपेक्षसाधारणधर्मविशिष्टं स्वरूपे भेद इति द्वितीयमाशंकते ※ धर्मेति ※। शुक्तित्वतद्देशत्वादिधर्मविशेषमन्तर्भाव्य स्वरूपं भेदो भवति, भ्रान्तिकाले तदग्रहात् नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः। बुद्धेरप्यसाधारणधर्मविशिष्टस्वरूपस्य भेदत्वात् तस्य च स्वरूपमात्रातिरेकान्न तत्प्रकाशेऽपि भेदप्रकाश इत्याह ※ योऽपीति ※। प्रदीपत्वधर्मस्य प्रदीपेनेव बुद्धिसमवेतो धर्मविशेषो बुद्ध्यैव गृह्यतां प्रकाशत्वाविशेषादित्यत आह ※ तस्मिन्निति ※। इन्द्रियतत्सन्निकर्षापेक्षया बुद्धिस्तद्धर्मं गोचरयति ? किं वा सन्निकर्षानपेक्षया ? आद्ये सन्निकर्षस्य बुद्धिजन्मार्थत्वात् बुद्धेः प्रागेवासौ वक्तव्यः, न च तत्सम्भवति, बुद्ध्यभावे तत्समवेतधर्मसन्निकर्षासम्भवात्, अन्यथाऽन्योन्याश्रयावित्यर्थः। स्वरूपप्रकाशने यथा बुद्धेः सन्निकर्षानपेक्षिता तथा भेदव्यवहारोपयोगिस्वधर्मप्रकाशनेऽन्यानपेक्षत्वमिति द्वितीयं शंकते ※ आत्मवदिति ※। बुद्धितद्धर्मव्यतिरिक्तत्वमेव बुद्ध्या सन्निकर्षापेक्षया ग्रहणे प्रयोजकमित्यर्थः। मनसा संयुक्तात्मनि समवेते ज्ञाने ग्रहणत्वादिसमवाय इति संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्षत्वात् ग्रहणत्वादीनां ग्रहणादव्यापकमिदं प्रयोजकमिति परिहरति ※ नेति ※। ग्रहणत्वादेरपि स्वप्रकाशत्वेनैव व्युत्पत्तौ शुक्तिरजताद्यवभासानां ग्रहणत्वस्मरणत्वयोर्विप्रतिपत्तिर्न स्यादित्यर्थः।

यस्मात् घटपटौ भिन्नाविति बुद्धिः स्वप्रकाशत्वेऽपि स्वविषयात् स्वस्याभेदं न बोधयति तस्मादित्युपसंहरति ※ तदेवमिति ※ श्रुतिः क्वचिदपि प्रतिहतप्रसरा न सतो सर्वाद्वैतप्रमापिकेति सम्बन्धः।

भी ग्राहक माना जाय, तब भ्रमात्मक ज्ञान कभी भी नहीं होगा, क्योंकि 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान अपने प्रकाश्यभूत इदमाकार और रजताकार का ग्रहण करता हुआ 'इदम्' और 'रजत' के भेद का भी भासक है, भेद-ग्रह अभेद-ग्रहरूप भ्रम का सदैव विरोधी होता है, अर्थात् जिस व्यक्ति को इदम् में रजत और रजत में इदम् का भेद निश्चित है, वह इदम् को रजतात्मक क्योंकर समझेगा ? इदम् को रजतरूप समझना ही भ्रम है।

शङ्का—केवल इदम् का स्वरूप (आकार) ही रजत का भेद नहीं, अपितु शुक्तित्वादि धर्म-विशिष्ट इदमर्थ का स्वरूप रजतप्रतियोगिक भेद माना जाता है, शुक्तित्वादि धर्मों का पहले प्रकाश न होने के कारण रजत-भेद का प्रकाश नहीं होता, अतः स्वरूपभेदवाद में भी भ्रम उपपन्न हो जाता है।

समाधान—जैसे शुक्तित्व-विशिष्ट इदमर्थ का स्वरूप रजत का भेद माना गया, वैसे ही ज्ञान का भी ज्ञानत्व-विशिष्ट स्वरूप ही घटादि का भेद कहलाएगा, इस प्रकार के स्वरूप भेद का स्वतः प्रकाश सम्भव नहीं, क्योंकि ज्ञानत्वादि धर्मों का ग्रहण तभी होगा, जब कि उनके साथ मन का 'स्वसंयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष पहले विद्यमान हो, फलतः सन्निकर्ष-घटकत्वेन ज्ञान पहले ही अपेक्षित है, किन्तु यह सम्भव नहीं कि ज्ञान अपनी उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान हो। 'ज्ञान जैसे अपने स्वरूप का प्रकाश करने में किसी प्रकार के सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही अपने ज्ञानत्वादि धर्मों का प्रकाश करने में भी सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं'—ऐसा मानने पर ज्ञानत्व के समान प्रत्यक्षत्व, स्मृतित्व, प्रमात्वादि विशेष धर्मों का भी सन्निकर्ष-निरपेक्ष स्वतः ही प्रकाश मानना होगा, फलतः 'इदं ज्ञानं प्रमा ? न वा ?' इत्यादि संशय अनुपपन्न हो जायेंगे, क्योंकि ज्ञानस्वरूप के साथ-साथ प्रमात्वादि का भान हो जाने पर संशय क्योंकर होगा।

अतः विवश होकर यह मानना होगा कि कोई भी ज्ञान अपने विषय से अपना भेद प्रका-

भेदे प्रमाणीभवितुं प्रभवतीति बाधिकायां बुद्धौ घटपटयोर्भेदे प्रमात्वाभावमासादयन्त्यां श्रुतिस्तत्र तत्राऽप्रतिद्वन्द्वित्वाऽसङ्कुचितस्वतःप्रामाण्यबललब्धतत्तदर्थैक्यान्यथानुपपत्तिसहायसम्पदजय्या तयोरप्यभेदं बोधयन्ती न प्रतिहन्तुं शक्येति न क्वचिदपि प्रतिहतप्रसरा सती सर्वाद्वैतप्रमापिकेति ।

भेदप्रमान्यथानुपपत्त्या च वैपरीत्यमशक्यम्, तत्राद्वैतश्रुत्या सन्दिह्यमानस्य प्रमात्वस्यैवासिद्धेः, भेदधीमात्रस्य च द्विचन्द्रादिबोधवदन्यथाप्युपपत्तेः ।

प्रत्यक्षबुद्धघैव प्रतिघातात्कथमित्यत आह ※ बाधिकायामिति ※ । घटपटयोर्भेदे घटपटौ भिन्नाविति बुद्धौ बाधकाभिमतायां प्रमात्वाभावमासादयन्त्यां सत्यां घटपटयोरभेदबोधने निर्बाधा सती तयोर्घटपटयोरभेदं बोधयति, तेनैव न्यायेन सर्वाद्वैतबोधने न क्वचित्प्रतिहन्तुं शक्येति । ननु घटपटयोर्भेदबुद्धेः प्रमात्वाभाव एव कुतस्तत्राह ※ सा बुद्धिरिति ※ । घटपटौ भिन्नाविति सा बुद्धिर्घटतद्भेदरूपतया श्रुत्या व्यवस्थाप्यमाना तयोः स्वात्मनैक्यात् तद्भेदग्रहणे स्वात्मन एव स्वस्मादेव भेदे प्रमाणमित्युक्तं स्यात्, तत्कथं प्रमाणीभवितुं प्रभवतीति । अत्र 'इति' शब्दः सर्वो 'यस्मात्'—अर्थे, पूर्वपूर्वो हेतुः उत्तरोत्तरो हेतुमान् । अनुग्राहकतर्कोपेता बलीयसी श्रुतिरेव प्रत्यक्षबुद्धिं बाधत इत्यभिप्रेत्याह ※ तत्रेति ※ । बाध्यबाधकबुद्धयोर्बाधकबुद्धेश्च स्वविषयैरभेदबोधने अप्रतिद्वन्द्वित्वे न संकुचितं च तत् स्वतःप्रामाण्यं चेति तयोक्तम्, तस्य बलं सामर्थ्यं तेन लब्धमप्रतिद्वन्द्वित्वादसंकुचत्स्वतःप्रामाण्यबललब्धम्, तच्च तत्तदर्थस्यैक्यं चेति तथोक्तम्, तस्यान्यथानुपपत्तिः, सैव सहायस्तस्य संपत्त्या अजय्या क्वचिदपि प्रतिहन्तुं न शक्येति सर्वाद्वैतप्रमापिकेत्यर्थः ।

भेदः परमार्थोऽपरोक्षत्वादात्मवत्, अन्यथा तदापरोक्ष्यानुपपत्तिर्बाधिकेत्याशंक्याह ※भेदप्रमेति※ । अपरोक्षप्रमानुपपत्तिर्बाधिका किं वाऽपरोक्षधीमात्रा उपपत्तिः, यद्याद्यस्तत्राह ※ तत्रेति ※ । अद्वैतश्रुतिदर्शनेन प्रत्यक्षादेर्भेदे प्रमात्वस्य संदिह्यमानत्वादनुदयः अर्थापत्तेरित्यर्थः । द्वितीयमपवदति ※ भेदेति ※ ।

शित नहीं करता, अद्वैत श्रुति को 'इयं बुद्धिः स्वविषयेभ्योऽभिन्ना'—ऐसी व्यवस्था देने में कोई रुकावट नहीं, तब वह बुद्धि अपने से अभिन्न घटा-पटादि विषयों का न अपने से भेद बता सकती, है और न घट से पट का, उस भेद में उस बुद्धि (घटपटौ स्तः) को प्रमाणरूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । घट-पट के भेद का अवगाहन करनेवाली 'घटपटौ स्तः'—इस प्रत्यक्षभूत बुद्धि को ही अद्वैत-श्रुति का बाधक कहा गया था, उस बुद्धि में भी अद्वैत श्रुति ही अप्रमात्व सिद्ध करती हुई अबाधगति से घट-पटादि का अभेद कर डालती है । अपने इस अभेद-बोधन के कार्य में अद्वैत-श्रुति का संबल है— अपना स्वतः प्रामाण्य और अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति [यदि ज्ञानज्ञेययोरभेदो न स्याददद्वैतश्रुतिरप्रमाणं स्यात्, तत्प्रामाण्यं स्वतःसिद्धम्, तस्मात् सर्वमभिन्नम्]। ऐसी प्रबलतम, अप्रतिहतप्रसरा सर्वाभेद-प्रमापिका, अद्वैत-श्रुति का मार्गविरोध कौन कर सकता है ? भेद-प्रमा की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण को लेकर भेदवाद की विपरीत लहर कभी नहीं पनप सकती, क्योंकि भेदविषयिणी अर्थापत्ति में अद्वैत-श्रुति के द्वारा अप्रमात्व का सन्देह डाल दिया जाता है और भेद-प्रतीति की अन्यथा (भेद के विना) भी द्विचन्द्रादि-ज्ञान के समान उपपत्ति भी हो जाती है [अर्थापत्ति के तीन बाधक विगत ६१ पृष्ठ पर विद्यासागरी में चर्चित हैं (१) अन्यथापि उपपत्ति, (२) अन्यथैव उपपत्ति और (३) असंभव । प्रकृत में अन्यथापि उपपत्ति को भेद-साधक अर्थापत्ति का बाधक कहा गया है कि एक अभिन्न चन्द्र में आरोपित भेद का भान हो जाता है, भेद को वास्तविक मानने की कोई आवश्यकता नहीं । श्री वसुबन्धु ने कहा है—"आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रदृश्यते, विज्ञानपरिणामोऽसौ" (वि. मा. सि. भि. १) । अर्थात् एक ही अद्वैत तत्त्व पारमार्थिक है, उसी

'एकम्' इत्युपादाय यद् एवकारमप्युपादत्ते श्रुतिः 'एकमेवेदम्' इतिरूपा, तदै-कान्तिकमैक्यं बोधयतीति भेदाभेदेनाप्यशक्यसमर्थनं घटपटादिभेदग्राहि प्रत्यक्षादि-प्रामाण्यमिति।

बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात् कथमित्थमिति चेन्न। श्रुतितो द्रागेव जातायाः सर्वविषयाया अद्वैतधियोऽस्मद्बुद्धय एवंविधविचारसोपानपरम्परामारोहन्त्यो नाना-

वस्तुत एकत्वेऽप्यविद्यया भेदप्रतीतिरुपपद्यते द्विचन्द्रप्रतीतिवदिति भावः।

यदुक्तं नैकात्म्यपरो ह्यागमः परमात्मन एवैकतामाह प्रत्यक्षादीनि तु घटादिभेदं गृह्णन्तीति, तद-युक्तमभ्यासविरोधादित्याह ❀ एकमिति ❀। एकमित्युक्त्वा पुनरेवकारमद्वितीयमिति ब्रुवाणा सजातीय-विजातीयस्वगतनानात्वाभावोपलक्षितं स्वरूपं बोधयति, अभ्यासस्यार्थभूयस्त्वलिङ्गत्वात्। तेनेश्वराभेद-विषयत्वेन व्यवस्थितत्वात्प्रत्यक्षादिप्रामाण्यमित्येतदशक्यसमर्थनमित्यर्थः।

बाध्यबाधकबुद्ध्योर्बाधकबुद्धेश्च स्वविषयैरभेदबोधनद्वारा सर्वाद्वैतबोधनं श्रुतेः किं क्रमेण किं वा युगपत्? न तावद् युगपत्, अंशतः प्रत्यक्षविरोधात्। नापि क्रमेण, बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावादिति शंकते ❀ बुद्धेरिति ❀। जन्मैव बुद्धेर्व्यापारोऽर्थावग्रहरूपाया इति न्यायेन जन्मातिरिक्तव्यापाराभावात्, तस्याश्चै-कत्वात्पर्यायेण सर्वाद्वैतबोधनमनुपपन्नमित्यर्थः। परिहरति ❀ न श्रुतित इति ❀। ज्योतिष्टोमवाक्यं भावनामंशत्रयवतीमेकव्यापारेण बोधयति। तत्र च धात्वर्थादीनां करणत्वादिविषयविज्ञानानि विचारपर-म्परया क्रमेण जायन्ते यथा तथाऽद्वैतश्रुतिरपि तत्तदर्थजातस्य ज्ञानजातस्य चाद्वैतं युगपद् बोधयति। तत्र तत्र परिपन्थिप्रत्यक्षादिविरोधोत्थाने तन्निरासफलविज्ञानानि विचारपरम्परया क्रमेण जायन्ते। अस्माकमतो न विरोधगन्धोऽपीति भावः। द्रागिति शीघ्रमित्यर्थः।

में समस्त द्वैत प्रपञ्च कल्पित है। लङ्कावतार सूत्र भी कहता है—

मायोपमा सर्वधर्माश्चित्तविज्ञानवर्जिताः।
सदसन्नोपलब्धास्ते प्रज्ञया कृपया च ते॥ (लं. सू. २।२)

अर्थात् विज्ञान से भिन्न विज्ञेय वर्ग कुछ भी नहीं, जादूगर की मायामात्र है, सत् और असत् से भिन्न है]।

"एकमेवाद्वितीयम्" (छां. ६।२।१) यह श्रुति 'एकम्' -ऐसा कहकर फिर जो 'एव' का प्रयोग करती है, उसके द्वारा ऐकान्तिक अभेद का बोधन करती है, अतः अनेकान्तवादी जो भेदग्राही प्रत्यक्ष और अभेद-ग्राहिका अद्वैत-श्रुति का समान आदर करते हुए भेदाभेद का उपपादन और समर्थन करते हैं, वह भी खण्डित हो जाता है।

शङ्का—"शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्"—इस न्याय के आधार पर ज्ञान का भी विरम्य व्यापार नहीं माना जाता, अतः यह जो कहा गया कि उक्त श्रुति पहले प्रत्यक्ष ज्ञान से उसके विषयीभूत घट-पट का अभेद बोधन कराती है, तदनन्तर घट का पट से और उसी प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तर अभेद स्थापित करती हुई सर्वाभेद में पर्यवसित होती है। वह कहना संगत नहीं रह जाता, क्योंकि श्रुत्यात्मक शब्द को जो ज्ञान उत्पन्न करना है, उसे एक बार में उत्पन्न कर देगी और ज्ञान को जितने विषय का प्रकाश करना है, वह सब एक ही बार प्रकाशित कर देगा, ठहर-ठहर कर एक पदार्थ का दूसरे से, दूसरे का तीसरे से और उसी प्रकार उत्तरोत्तर अभेद प्रकाशित करना सम्भव नहीं।

समाधान—जैसे सूर्य का प्रकाश पूरे प्रदेश पर युगपत् फैल जाता है, किन्तु मेघ-पटली जैसे-जैसे सरकती जाती है, वैसे-वैसे क्रमशः प्रकाश फैलता जाता है। वैसे ही अद्वैत श्रुति से तो सर्वाभेदविषयक ज्ञान उत्पादित हो जाता है, किन्तु भेद-भासक प्रत्यक्षादि प्रतिबन्धकों के कारण श्रोता को सर्वाभेदविषयक ज्ञान युगपत् नहीं होता, अपि तु प्रतिबन्धक पदार्थ

विषयेषु तत्प्रामाण्यविषयाः क्रमेण परिनितिष्ठन्तीत्युच्यमानत्वात् ।

ननु यदि नाम प्रत्यक्षवित्या तया घटपटभेदोल्लेखिन्या स्वात्मना सह घटपटयोर्भेदो न गोचरीक्रियते, तावता कथं तस्याः स्वविषयेण सहाऽद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमासादयितुमीष्टे, बुद्ध्यन्तरेण तया सार्धं घटपटयोरपि भेदमुल्लिखता तत्राद्वैत-श्रुतेर्बाधादेव ।

मैवम् ; तर्हि तस्या अपि विषयमापाततः परित्यज्य ययैवाऽपरया बुद्ध्या घटपटभेदबुद्धेर्घटाच्च पटाच्च भेदो विषयीक्रियते, तस्याः स्वविषयेण सहाद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमवलम्ब्य लब्धपदा घटपटतद्भेदबुद्धिभिः सह द्वितीयाया बुद्धेरभेदे पर्यव-स्यन्ती सर्वेषामेव तेषामभेदे विश्राम्यति ।

एवं च सति यत्रैव गत्वा बाधबुद्धिपरम्पराविच्छेदो विषयान्तरसंचारोच्छेद-भयाद् अनवस्थाभयाच्चाभ्युपेयः, तस्यामेव बुद्धौ पदमारोप्याद्वैतश्रुतिः सर्वं तद्विषय-विषयिप्रवाहमद्वैते स्थापयन्ती न केनापि प्रमाणेन क्वचिदपि विषये बाधितुं शक्या ।

घटपटौ भिन्नावितिबुद्धेः स्वविषयैः सह भेदो यद्यपि स्वात्मनैव न गृह्यते, तथाऽपि बुद्ध्यन्तरेण तद्ग्रहान्नाद्वैतसिद्धिरिति चोदयति ❀ नन्विति ❀ । बुद्ध्यन्तरस्य स्वविषयप्रतियोगिकभेदः प्रमाणान्तरेण न गृह्यते किं वा गृह्यत इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ मैवमिति ❀ । ययाऽपरया बुद्ध्या घटपटभेदबुद्धे-र्घटात्पटाद्भेदो विषयीक्रियते तस्याः स्वविषयप्रतियोगिकभेदः प्रमाणेन न गृह्यते यदि, तर्हि तस्याविष-मपि घटपटभेदबुद्धेर्घटादितो भेदमापाततः परित्यज्य द्वितीयाया बुद्धेर्घटपटतद्भेदतद्बुद्धिभिः सहाभेदे प्रमाणविरोधाभावात् तत्र पर्यवस्यन्ती सर्वेषामेव तेषां घटपटतद्भेदतद्बुद्धीनां विषयाणाम् एकबुद्ध्य-भेदबोधनद्वाराऽभेदे विश्राम्यतीत्यन्वयः । तत्र हेतुः ❀ तस्या ❀ स्वविषयेणेति ❀ । द्वितीयाया बुद्धेः स्ववि-षयेण सहाद्वैतश्रुतिः प्रामाण्यमवलम्ब्य लब्धपदा लब्धप्रतिष्ठेत्यर्थः । ननु बुद्ध्यन्तरस्यापि स्वविषयप्रति-योगिकभेदो बुद्ध्यन्तरेण गृह्यत इति द्वितीयविकल्पमाशङ्क्याह ❀एवमिति❀ । अयमर्थः—बाधबुद्धिपरम्प-राविच्छेदः क्वचिदस्ति न वा ? न चेत्, अनवस्था विषयान्तरसञ्चाराभावः सुषुप्तिमुक्त्योरभावश्च । यदि क्वचिद्विच्छेदस्तदाऽन्तिमबुद्धेः स्वविषयभेदस्य स्वात्मना बुद्ध्यन्तरेण वा ग्रहणात् तस्यास्तद्विषयेण

जिस-जिस विषय से हटता जाता है, वहाँ-वहाँ श्रोता को अभेद आलोकित होता जाता है। वह आलोक बढ़ता हुआ क्रमशः समूचे विश्व पर व्याप्त हो जाता है।

शङ्का—यदि 'घटपटौ भिन्नौ'—यह प्रत्यक्ष बुद्धि केवल घट और पट के भेद को विषय करती है, घट-पट से अपना भेद नहीं बताती, तब इतने मात्र से अद्वैत-श्रुति वहाँ पहुँच कर उस प्रत्यक्ष बुद्धि से उसके विषयीभूत घट-पट का अभेद स्थापित कर देती है—ऐसा कहना संभव नहीं, क्योंकि वहाँ यदि वह प्रत्यक्ष बुद्धि अपने विषय से अपना भेद नहीं सिद्ध करती, तब वहाँ दूसरी 'घटादिप्रत्यक्षज्ञानाद् घटपटौ भिन्नौ'—यह बुद्धि भेद को प्रमाणित कर अद्वैत-श्रुति की बाधक हो जाती है।

समाधान—उस दूसरी बुद्धि का अपने विषय से भेद जब तक कोई तीसरा ज्ञान प्रकाशित नहीं करता, तब तक अद्वैत-श्रुति उसका अपने विषय से अभेद स्थापित करती हुई क्रमशः घट और पट के अभेद-बोधन में पर्यवसित हो जाती है। इस प्रकार अद्वैत-श्रुति की बाधिका भेद-ग्राहिणी प्रत्यक्ष बुद्धि की परम्परा का कहीं-न-कहीं अवश्य विच्छेद मानना होगा, अन्यथा एक ही विषय पर अनन्त ग्राहक बुद्धि-परम्परा का अविरल प्रवाह मानने पर विषयान्तर का ग्रहण न हो सकेगा, अनवस्था हो जायगी, सुषुप्ति अवस्था भी प्राप्त न हो सकेगी। उस परम्परा का जहाँ विच्छेद होगा, वहाँ ही अद्वैत श्रुति अपना पैर जमाकर समस्त विषय-विषयी-प्रवाह में अभेद का सञ्चार कर डालती है, कहीं पर भी कोई उसका बाध नहीं

तस्मात्—

सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ॥ ८ ॥ इति

न च यत्र तस्य प्रतिपत्तुर्बुद्धिधाराविश्रान्तिस्तत्र पुरुषान्तरबुद्धिभेदे प्रमाणं स्यात्। तथा हि—पुरुषान्तरेण भिन्नतया सा प्रतीयते इत्यत्र प्रमाणं त्वया वाच्यम्,

---

सहाद्वैतं बोधयन्ती तद्द्वारा सर्वाद्वैतं बोधयतीति। ननु भूरिकक्षाधाविनो बाधविज्ञानस्य पूर्वमसञ्जातविरोधितयोत्पन्नत्वान्नाद्वयागमैर्बाधो युक्त इत्याशङ्क्यां निराकुर्वन्नुपसंहरति। ❀ तस्मादिति ❀। बाधबुद्धिपरम्पराऽनवस्थाभयात् कस्यांचित्कक्षायां निवृत्तौ सत्यामद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहस्थानीयैर्विजीयत इति सम्बन्धः। निवृत्तौ हेतुमाह ❀ सुदूरेति ❀। सुदूरधावनश्रान्ता भूरिकक्षानुसरणालसेति यावत्। इदमाकूतम्—'अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रं ततः परम्। तथाऽरिमित्रमित्रञ्च विजिगीषोः पुरःसराः॥ पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम्। आसारोपनयश्चैव विजिगीषोस्तु मण्डलम्॥ अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः। अनुगृहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः॥ मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो व्यवस्थितः'॥ इति विजिगीषो राज्ञो द्वादशराजमण्डलम्। तत्र खलु यथा लोके कश्चिद्विजिगीषुर्दूरे प्रस्थितः परवाहिनीर्विजित्य निवृत्तो पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते तथा बुद्धिपरम्पराऽद्वैतपरम्पराजयाय दूरं प्रस्थिताऽनवस्थाना क्वचिन्निवृत्तौ पार्ष्णिग्राहैरद्वयाम्नायाख्यैर्विजीयत इति।

नन्वेकस्य पुरुषस्य बुद्धिधारा यत्र विश्राम्यति तत्र सर्वज्ञः कोऽपि योगी भेदं ग्रहीष्यतीत्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। पुरुषान्तरबुद्धिपरम्पराविच्छेदे तद्विषयाद्वैतद्वारा सर्वाद्वैतम्, अविच्छेदेऽनवस्था स्यादित्युक्तदोषैर्ग्रस्तमप्यरुच्याङ्गीकृत्याह ❀ तथाऽपीति ❀। साऽन्तिमबुद्धिः स्वविषयाद्भिन्नतया पुरुषान्तरेण प्रमी-

---

कर सकता। अन्ततो गत्वा अद्वैत की ही विजय होती है—

सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते॥

[द्वैताद्वैत का युगान्तकारी निर्णायक संग्राम होनेवाला है, रण प्राङ्गण में दोनों के सैन्यदल आमने-सामने डटे हैं। ब्रह्मवादियों का अपना कोई अन्तरङ्ग न होने पर भी अद्वयवाद की दुहाई देकर द्वैतवाद के शत्रुओं माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और चार्वाकगणों का पुष्कल सङ्कलन कर अग्रदल सजा रखा है। उनकी वेदों से नैसर्गिक अनबन को ध्यान में रख कर अद्वैत-श्रुतियों को पार्ष्णिग्राह (पृष्ठभाग-रक्षक) बनाया गया है। भेदवाद के नगाड़े गरज उठे अभेदवादियों के मोर्चों पर क्रमश भेद के झण्डे झुलाए जाने लगे। अपने क्षेत्र में दूर तक शत्रु को घुसाकर थका मारने की नीति निर्धारित की गई, एकायक अद्वैती सैन्यव्यूह का मुख परावर्तित कर भागने का अभिनय किया गया, फलतः पार्ष्णिग्राह के हाथों में दायित्व और शक्ति केन्द्रित हो गई। शत्रु वहुत धुवाँधार अधिकार जमाता हुआ बहुत दूर तक अद्वैतियों के क्षेत्र में घुस आया। थक कर अन्तिम मोर्चों से मुख मोड़ लिया, अवसर पाते ही अद्वैत-श्रुतियों की सांयुगीन पार्ष्णिग्राह टुकड़ी थके माँदे शत्रु दल पर टूट पड़ी और उसका सफाया कर दिया। विजय वैजयन्ती ब्रह्मवादियों के हाथ लगी और उनका भगोड़ा अग्रदल ऐसा डराया गया कि भागता-भागता पर्वतों और सागरों को लाँघ गया]।

शङ्का—जहाँ एक प्रतिपत्ता की भेद-प्रसाधिका बुद्धिधारा रुकने लगेगी, वहाँ दूसरे योद्धा की बुद्धि-परम्परा प्रारम्भ हो जायगी, अद्वैत-श्रुति को कहीं भी पैर नहीं रखने दिया जायगा।

समाधान—'एक पुरुष के श्रान्त हो जाने पर दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा पुरुष—इसी प्रकार पुरुषों की एक लम्बी परम्परा पूर्व-पूर्व बुद्धियों का उनके विषयों से भेद

नहि तदपि पुरुषान्तरेणैव, न च संभाव्यमानम्, श्रौतेन निश्चयेन तन्निवर्तनात्; तथाप्यनवस्थानादिति ।

अथ ब्रूषे —'यदा कियद्दूरं बुद्धिपरम्परया सा बाधिता भवत्यद्वैतश्रुतिस्तदा तन्न्यायाद् याऽपि बुद्धिः शेषं गत्वा नाऽनुव्यवसीयते, तत्रापि तद्बाधोऽवगम्यते; यत्र सा बाध्यते, तत्तुल्यन्यायत्वादन्तिमबुद्धेरपीति ।

मैवम्; किं कियतीषु बुद्धिषु व्याप्यव्यापकौ कावप्यवलम्ब्य व्याप्तिग्रहरूपयैव धिया शेषबुद्धौ बाधं व्युत्पादयसीत्थमद्वैतश्रुतेः ? किं वा बुद्ध्यन्तरदृष्टव्याप्तिसनाथया

यत इत्यत्र तव प्रत्यक्षं न सम्भवति, परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वात् । नाप्यनुमानमर्थापत्तिर्वा, तत्कार्यादर्शनात् । अतः प्रमाणं त्वया वक्तुमशक्यमित्यर्थः । यथाह–'इह जन्मनि केषांचिन्न तावदुपलभ्यते । योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति' ।। इति । साऽन्तिमबुद्धिः स्वविषयाद्भिन्नतया पुरुषान्तरेण प्रतीयत इत्येतदपि पुरुषान्तरेणैव प्रतीयत इत्याशङ्क्याह ❀ न हीति ❀ । तत्रापि पर्यनुयोगसाम्यादित्यर्थः । पुरुषान्तरबुद्धिर्भेदे प्रमाणं भविष्यतीति त्वया सम्भावयितुमपि न शक्यं, भेदप्रमाणसद्भावसम्भावनाया अद्वैतश्रुत्या निर्वर्त्तितत्वादित्याह ❀ न चेति ❀ । अभ्युपेत्यापि भङ्गं भणति ❀ तथाऽपीति ❀ ।

नन्वस्त्येवानुमानं योगिबुद्धौ प्रमाणम्—विमता बुद्धिः स्वविषयेभ्यः स्वभेदग्राहकबुद्ध्यन्तरवती बुद्धित्वात्प्रथमबुद्धिवदिति मन्वानः शङ्कते ❀ अथेति ❀ । अद्वैतश्रुतिर्बुद्धिपरम्परया कियद्दूरं बाधिता भवति यदा तदा या बुद्धिः शेषं गत्वा शेषमवशिष्टां कक्षां गत्वा नानुव्यवसीयते ज्ञानान्तरवेद्या न भवति या तत्राप्यद्वैतश्रुतेर्बाधो गम्यत इत्यर्थः । तन्न्यायादित्येतद्विवृणोति ❀ यत्रेति ❀ । यत्र कतिपयबुद्धिपरंपरायां साऽद्वैतश्रुतिर्बाध्यते तत्समानन्यायत्वादन्तिमबुद्धेरपि भेदबुद्धित्वाविशेषादित्यर्थः । विकल्पासहत्वेनैतद् दूषयति । ❀ मैवमिति ❀ । या बुद्धिः सा स्वविषयेभ्यो भेदग्राहकप्रमाणाविनाभूतेति बुद्धित्वं व्याप्यं भेदे ग्राहकप्रमाणं व्यापकं चावलंब्य प्रवृत्तव्याप्तिविज्ञानेनान्तिमबुद्धेः स्वविषयेण सहाद्वैतबुद्धेर्बाधं व्युत्पाद-

---

ग्रहण करती चली जाती है'—ऐसा मानने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता । 'पुरुषान्तर की बुद्धि ही उसमें प्रमाण है'—ऐसी भी सम्भावना नहीं कर सकते, क्योंकि अद्वैत-श्रुति उस भेद-ग्रहण-परम्परा का काट कर रही है । यदि किसी प्रकार उस परम्परा-प्रवाह को मान लिया जाता है, तब अनवस्था होगी ।

शङ्का—जब भेदावभासिनी बुद्धि-परम्परा कुछ दूर तक अद्वैत-श्रुति को पीछे ढकेल ले जाती है, तब ऐसा व्याप्ति-ग्रह हो ही जाता है कि प्रत्येक उत्तरवर्तिनी बुद्धि अपनी पूर्वकालीन बुद्धि का उसके विषय से भेद-ग्रहण करती हुई अद्वैत-श्रुति की बाधिका हो जाती है, फलतः जो अन्तिम बुद्धि किसी के अनुव्यवसाय में नहीं आ सकी, वह भी अपने विषय से भिन्न, अत एव अद्वैतागम की बाधिका स्थिर होती है [यहाँ दो अनुमान विवक्षित हैं—(१) अन्तिमा बुद्धिः, स्वविषयाद्भिन्ना, बुद्धित्वात् प्रथमबुद्धिवत् । (२) अन्तिमा बुद्धिः अद्वैत-श्रुतेर्बाधिका, भेदविषयकत्वात्, प्रथमबुद्धिवत्] ।

समाधान—क्या आप कतिपय बुद्धि व्यक्तियों में परिदृष्ट बुद्धित्व और स्वविषय-भिन्नत्व की व्याप्ति के ज्ञान से ही अन्तिम बुद्धि में अद्वैत-श्रुति-बाधकत्व सिद्ध करते हैं ? अथवा व्याप्ति और पक्षधर्मता का उल्लेख करनेवाली अन्तिम-बुद्धिविषयिणी परामर्शात्मिका बुद्धि से ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि केवल व्याप्ति-ग्रह के आधार पर किसी पक्ष-विशेष में साध्य-विशेष की सिद्धि नहीं हुआ करती, अन्यथा अनुमिति की आवश्यकता नहीं रह जाती । यदि अन्तिमबुद्धिः स्वविषयाद्भिन्ना, बुद्धित्वात्, प्रथमबुद्धिवत्'—इस अनुमिति ज्ञान को भेद-साधक मानते हैं, तब उस अनुमिति में अपने विषय का भेद किसी प्रमाण से सिद्ध न होने के कारण अद्वैत-श्रुति वहाँ अपना अंगद-पाद आरोपित कर सर्वाभेद सिद्ध कर देती है ।

पक्षधर्महेतुमुल्लिखन्त्या बुद्ध्याऽन्तिमबुद्धिविषयया ?

नाद्यः, व्याप्तिबुद्धिर्यदि विषयविशेषेऽपि स्वातन्त्र्येण बाधात्मिकोपेयते, तदा सैव विशेषबुद्धिरपि स्यादिति गतमनुमानकथया। अथानुमितिमभ्युपैषि, तदा सा नाऽऽत्मानमपि धर्मीकृत्य प्रवर्तते इति तत्रैव दत्तपदा सर्वामद्वैतश्रुतिः परम्परामालम्बते इत्युक्तमावर्तते।

अथ 'सर्वा विवादाध्यासिता बुद्धयः स्वविषयेभ्यो भिन्नाः, बुद्धित्वात्, घटपटबुद्धिवद्' इति सामान्याकारेणाऽऽत्मानमपि धर्मीकृत्य आत्मनोऽपि स्वविषयाद्भेदं साधयिष्यत्यनुमेति मन्यसे। मैवम्, एवमपि विषयिणो विषयस्याऽभेदं बोधयन्ती श्रुतिरनुमानमप्यनवकाशयति।

यसि, किं वा व्याप्तहेतुजन्यानुमानेनेति विकल्पार्थः। कियतीषूपांत्यादिप्रथमकक्षापर्यन्तास्वित्यर्थः।

आद्यं दूषयति ❀ नाद्य इति ❀। व्याप्तिविज्ञानमन्तिमबुद्धेः स्वविषयेभ्यो भेदं साधयति न वा ? न चेत्, अद्वैतश्रुतिबाधकत्वं न सम्भवति विरुद्धार्थत्वाभावात्। यदि साधयति तदा सामान्योपाधौ प्रवृत्तं व्याप्तिज्ञानमेव पक्षनिष्ठं साध्यविशेषमपि साधयतीति सकलानुमानविलयः स्यादित्यर्थः। अस्तु तर्हि गृहीतव्याप्तिलिङ्गजन्यानुमानेनाद्वैतश्रुतिबाध इति द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀। तत्रैतदभिधानीयम्—स्वव्यतिरिक्तज्ञानानि धर्मीकृत्य तद्विषयभेदं साधयति ? किं वा स्वात्मानमपि पक्षे निक्षिप्य स्वविषयभेदमपि साधयतीति ? तत्र प्रथमं प्रत्याह ❀ तदेति ❀। अनुमानज्ञानस्य स्वविषयभेदः स्वात्मना मानान्तरेण वा न गृहीत इति तत्र लब्धावकाशाऽद्वैतश्रुतिस्तदभेदबोधनद्वारा सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीत्यर्थः। शब्दं शब्दवत्सामान्योपाधौ स्वात्मानमपि पक्षीकृत्य स्वविषयभेदं साधयतीति द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀। बुद्धेः स्वविषयाद्भेदमात्रं सिषाधयिष्यसि किं वा बुद्धितद्विषययोः परस्परभेदमिति विकल्प्य प्रथमं पराचष्टे ❀ मैवमिति ❀। बुद्धिधर्मिकविषयप्रतियोगिकभेदस्यैवानुमानगोचरत्वाद्विषयाणां बुद्ध्या सहाद्वैतबोधने

शङ्का—ऐसा भी अनुमान-प्रकार हो सकता है, जो सभी ज्ञानों में उनके विषयों का भेद सिद्ध करता हुआ स्वयं अपने को भी पक्ष-कुक्षी में रख देता है, अतः वहाँ भी अद्वैत-श्रुति को पैर रखने का अवसर नहीं मिलता—'विवदाध्यासिता सर्वा बुद्धयः, स्वविषयेभ्यो भिन्ना बुद्धित्वाद्, घटपटबुद्धिवत्।'

समाधान—उक्त अनुमान-प्रकार से भी सभी बुद्धियों में विषयप्रतियोगिक भेद ही सिद्ध होता है, विषयों में बुद्धिप्रतियोगिक भेद नहीं [आशय यह है कि सभी भेद एक नहीं होते, अपितु अनुयोगी और प्रतियोगी के भेद से भिन्न होते हैं, अतः ज्ञानानुयोगिक विषयप्रतियोगिक भेद के अनुमान से विषयानुयोगिक ज्ञानप्रतियोगिक भेद सिद्ध नहीं हो सकता] अतः वहाँ अद्वैत-श्रुति पहुँच कर कह देगी कि 'सर्वे विषया स्वबुद्धिभ्योऽभिन्नाः'। जब विषयों में बुद्धियों का अभेद सिद्ध हो गया, तब बुद्धियों में विषय-भेद का अनुमान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वात्मक पदार्थ से कभी भी स्व का भेद नहीं होता।

शङ्का—विषय (घटादि) और विषयी (उनकी बुद्धियाँ) का परस्पर भेद सिद्ध करने के लिए भी ऐसी भी प्रतिज्ञा की जा सकती है—'विषय-विषयिणो परस्परं भिन्नौ'। इससे विषय का विषयी और विषयी का विषय में भेद सिद्ध हो जाता है, तब अद्वैत-श्रुति को कहीं भी अभेद सिद्ध करने का अवसर नहीं मिलता।

समाधान—केवल प्रतिज्ञा वाक्य से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती, उसमें हेतु वाक्य का प्रयोग भी आवश्यक है, वह सम्भव नहीं, क्योंकि न तो विषयत्व हेतु उभयरूप पक्ष में रहता है और न विषयित्व। 'अन्यतरत्व' हेतु भी उभयात्मक पक्ष में नहीं रहता, अपितु पक्ष के घटकीभूत विषय और विषयी की प्रत्येक इकाई में ही सीमित है। वस्तुत्व, प्रमेय-

विषयिविषययोर्मिथो भेदेऽपि साध्ये अस्तु हेत्वनुयोगः। परबुद्धिस्तद्विषयांश्च प्रति निराबाधा सती श्रुतिरेकस्या बुद्धेर्विषयादपरामपरस्याश्च विषयात् परामभेद-बोधाय धावन्ती सर्वाद्वैत एव पर्यवस्यतीति।

न च शक्यमनुमातुं सर्वस्या बुद्धेर्विषयात् सर्वा बुद्धिर्भिन्नेति, मा भूदन्यबुद्धि-विषयादात्मनोऽपि बुद्धिर्भिन्नेति। न चाऽऽत्मव्यतिरिक्तादित्युक्ते निस्तारः स्याद्, अद्वैतवादिना सर्वाभेदमिच्छता क्वचिदपि तदसिद्ध्या विशेषणाप्रसिद्धेरिति।

निराबाधा श्रुतिस्तदभेदं बोधयन्ती तदनुमानमपि बाधते, विषयस्य बुद्ध्यभेदे बुद्धेस्ततो भेदासम्भवादि-त्यर्थः। विषयविषयिणोः परस्परं भेदः साध्य इति द्वितीयं शंकते ※ विषयीति ※। परिहरति ※ अस्त्विति ※। अयं भावः—यस्या बुद्धेर्यो विषयस्तयोरेव परस्परप्रतियोगिकभेदः साध्यः? किं वा बुद्धिजातं विषयजाताद्भिन्नम्? विषयजातं बुद्धिजाताद्वा भिन्नमिति? यद्याद्यस्तथाऽपि न विषयित्वं हेतुः, विषयभागेऽभावात्। नापि विषयत्वम, बुद्धिभागेऽसिद्धेः। नापि विषयविषयित्वं स्वरूपासिद्धेः, बुद्धि-तद्विषययोरेकतरस्यापि विषयविषयित्वाभावादिति। भंग्यन्तरमाह ※ परेति ※। अनुमानं विषयिविज्ञा-नस्य स्वविषयस्य च परस्परभेदं गोचरयति, न त्वन्यबुद्धेः अन्यबुद्धिविषयात्। ततश्च परबुद्धीस्तद्विष-यांश्च प्रत्यद्वैतबोधनाय धावन्ती श्रुतिः सर्वाद्वैत एव पर्यवस्यतीति सम्बन्धः। तदेव स्पष्टयति ※ एकस्या इति ※। एकस्या बुद्धेर्विषयाद् घटादपरां पटबुद्धिमपरस्याः पटबुद्धेर्विषयात्पटाद् घटबुद्धिं प्रत्यभेदबोध-नाय धावन्तीत्यर्थः। बुद्धिजातं विषयजाताद्भिन्नं विषयजातं च बुद्धिजाताद्भिन्नमिति साध्यार्थं इति पक्षान्तरमाशंक्याह ※ न चेति ※। तत्र किं स्वव्यतिरिक्ताद्विषयाद्भिन्नमिति साध्यते विषयमात्राद् वेति विकल्प्य द्वितीयं दूषयति ※ मा भूदिति ※। बुद्धिरपि बुद्ध्यन्तरगोचरा भवति ततश्च स्वात्मनोऽपि स्वभेदप्रसङ्ग इत्यर्थः। प्रथमं पराकरोति ※ न चेति ※। न तावत्परार्थानुमानम्, परस्याद्वैतिनो भेद-मात्रानङ्गीकारात् स्वव्यतिरिक्तेतिविशेषणाप्रसिद्ध्या अप्रसिद्धविशेषणत्वात्पक्षस्य साध्यविकलत्वाच्च दृष्टान्तस्य। नापि स्वार्थम, स्वपक्षे भेदस्य प्रत्यक्षतयाऽनुमानवैयर्थ्यात् कथायां तदप्रयोगाच्चेत्यर्थः।

त्वादि सर्व-साधारण हेतु व्यभिचरित हैं। किसी प्रकार हेतु-प्रयोग मान भी लिया जाय, तब भी केवल एक पुरुष की बुद्धियों और उनके विषयों का ही भेद सिद्ध होगा, अन्य पुरुष की बुद्धियों का उनके विषयों में भेद सिद्ध नहीं होगा, अद्वैत-श्रुति वहीं उतर जायगी। यदि सर्वपुरुषीय बुद्धियों और उनके विषयों को पक्ष बनाया जाता है, तब भी अन्य पुरुष की बुद्धि का अन्य पुरुषीय बुद्धि के विषय से भेद अनुमित न हो सकने के कारण अभेद-श्रुति का वह अवतरण-क्षेत्र बन जाता है। वह एक बुद्धि के विषय से अन्य और अन्य बुद्धि के विषय से अन्य बुद्धियों का अभेद करती हुई सर्वाभेद में पर्यवसित हो जाती है।

शङ्का—'सर्वस्या बुद्धेर्विषयात् सर्वा बुद्धिर्भिन्ना'—इस प्रकार सभी विषयों से सभी बुद्धियों का भेद सिद्ध कर देने पर अद्वैत-श्रुति कहाँ अभेद सिद्ध करेगी?

समाधान—आप (नैयायिक) एक बुद्धि को अन्य बुद्धि का विषय मानते हैं, अतः विषयभूत बुद्धि में विषयित्व भी है और विषयत्व भी। यदि सभी विषयों से सभी बुद्धियाँ भिन्न हैं, तब विषयभूत बुद्धि भी अपने से भिन्न माननी होगी, क्योंकि 'बुद्धिः विषयाद्भिन्ना'—इस प्रतिज्ञा वाक्य के आधार पर वही बुद्धि स्वात्मक विषय से भिन्न कही जाती है। यदि 'सर्वा बुद्धिः स्वव्यतिरिक्तविषयाद् भिन्ना'—ऐसा प्रतिज्ञा वाक्य बनाया जाता है, तब विशेष-णासिद्धि हो जाती है, क्योंकि सर्वाभेदवादी की दृष्टि में स्वव्यतिरिक्तत्व या स्वभिन्नत्वरूप विशेषण कहीं प्रसिद्ध ही नहीं। जब समस्त ज्ञेय वर्ग ज्ञान से भिन्न नहीं, ज्ञान का स्वात्मा ही है, तब स्वभिन्नत्व कहाँ प्रसिद्ध होगा?

[एक शब्द का जब प्रतिशब्द (विरुद्धार्थक शब्द) सामने आता है, तब दोनों में से

एतेन 'सर्वं भिन्नम्' इति वाक्येन विना बाधं स्वतःप्रमाणेन सत्प्रतिशब्दा सेयमद्वैतश्रुतिरित्यप्यनवकाशं प्रत्यवस्थानं मन्तव्यम् । यस्मात् कस्मादपि भेदे मिथ्यातः सत्यभेदोपगमेन सिद्धसाधनात्, सर्वस्मादिति स्वतोऽप्यापत्तेः, स्वव्यतिरिक्तादिति चाद्वैतवादिन्यन्यवच्छेदकम् । तदेवम्—

हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते ।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः ॥ ९ ॥

गृहीतसङ्गतिकस्य सर्वं भिन्नमिति वाक्यम्प्रतीतिमुत्पादयति न वा ? न चेत्, अद्वयवाक्यमपि नतरामर्थं प्रमापयेत् । प्रतीतिजनकं चेत्सा प्रतीतिरप्रमा प्रमा वा ? आद्ये ज्ञानमात्रहेतुजन्यत्वं यत्प्रमास्वतस्त्वं तद्धीयेत । प्रमा चेत्तत्करणमेतद्वाक्यं प्रमाणमिति सप्रतिशब्दाऽद्वयश्रुतिरप्रमाणं सत्प्रतिपक्षानुमानवदित्याशंक्याह ❀ एतेनेति ❀ । परामृष्टमेव हेतुं स्फुटीकुर्वन्नाह ❀ यस्मादिति ❀ । सर्वं भिन्नमिति वाक्यस्य कोऽर्थः । यत्किञ्चिद्यतः कुतश्चिद्भिन्नमिति, किं वा वस्तुमात्रं वस्तुमात्राद्भिन्नमिति, आहोस्वित्स्वव्यतिरिक्तात्सर्वस्माद्भिन्नमिति । नाद्यः, पारमार्थिकभेदविषयत्वेऽबोधकत्वात्तत्र सङ्गतिग्रहाभावात्, भेदमात्रे व्यावहारिके वा साध्येऽधिष्ठानस्य ब्रह्मणोऽध्यस्तप्रपञ्चान्मिथ्याभूतभेदोपगमेनेष्टापादनत्वादित्यर्थः । द्वितीयो व्याहत इत्याह ❀ सर्व इति ❀ । स्वस्यापि वस्तुत्वेन सर्वशब्दाभिधेयत्वात्स्वात्मनः स्वस्य भेदप्रसङ्ग इत्यर्थः । व्यर्थविशेषणत्वान्न तृतीय इत्याह ❀ स्वेति ❀ । अव्यवच्छेदकमव्यावर्तकम् स्वातिरिक्तपदार्थमात्रानङ्गीकारादित्यर्थः ।

पृथिव्यबादिभ्यो भिद्यते पृथिवीत्वादित्यादिप्रयोगान्तरेऽप्युक्तदोषानुसन्धानार्थमुक्तमर्थं श्लोकेनाह ❀ तदेवमिति ❀ । तस्मादेवमुक्तेन न्यायेनाद्वैतश्रुतेर्न विरोध इत्यर्थः । सर्वं सर्वस्माद्भिन्नमिति साध्ये सर्वमेव पक्षनिक्षिप्तं, किं वा किंचिद्दृष्टान्तसिद्धये पृथक् क्रियते ? प्रथमं प्रत्याह ❀ हेत्वादीति ❀ । सर्वं पक्षयता धर्मीकुर्वता हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये आस्थिते स्वीकृते स्यातां, पक्षातिरिक्तसाध्यहेतुदृष्टान्तानामभावात्, तथा मानसिद्धमेवानुमानाङ्गमित्यंगीकारात् सर्वस्य प्रमाणतोऽवगन्तृतया सर्वज्ञत्वमस्य स्यादित्यर्थः । यदि द्वितीयस्तत्राह ❀ किंचिदिति ❀ । यस्य पक्षानिक्षेपान्नानुमानेन भेदः साध्यते तदभेदबोधनद्वारा सर्वाद्वैतश्रुतेः पर्यवसानात्सैव द्वाः द्वारं दत्ता स्यादद्वैतबोधनाय श्रुतेरित्यर्थः ।

किसी भी शब्द से शाब्दबोध नहीं होता, क्योंकि शाब्दबोध में योग्यता-ज्ञान की अपेक्षा होती है और योग्यता नाम है—अर्थाबाध या पदगत अबाधितार्थकत्व] प्रकृत में जब सर्वाभेद-बोधक अद्वैत-श्रुति के सामने 'सर्वं भिन्नम्'—इस प्रकार का स्वतःप्रमाणभूत प्रतिशब्द है, तब अद्वैत-श्रुति सर्वाभेद-बोधन क्योंकर कर सकेगी ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए जिज्ञासा होती है कि उक्त प्रतिशब्द के द्वारा क्या (१) 'सर्वं यस्मात्कस्माद् भिन्नम्'—यह सिद्ध किया जाता है ? या (२) 'सर्वं सर्वस्माद् भिन्नम्'—ऐसा ? अथवा (३) 'सर्वं स्वव्यतिरिक्ताद् भिन्नम्'—ऐसा कहा जाता है ? प्रथम पक्ष में सिद्ध-साधनता है, क्योंकि मिथ्या से सत्य का भेद तो अद्वैतवादी भी मानते हैं । द्वितीय पक्ष में आपके लिए अनिष्ट-प्रसक्ति है, क्योंकि सबसे सब का भेद मानने पर उसी वस्तु का उसी से भेद प्रसक्त होता है । तीसरे कल्प में अद्वैतवादी के लिए अप्रसिद्धविशेषणता दोष होता है, क्योंकि स्वव्यतिरिक्तत्व कहीं प्रसिद्ध ही नहीं । इस प्रकार—

हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते ।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः ॥

['पक्षयता' और 'पक्षतया'—दोनों पाठ उपलब्ध होते हैं । 'सर्वं पक्षयता (नैयायिकेन) हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये आस्थिते (स्वीकृते) स्याताम्' ऐसा तथा 'सर्वं पक्षतया आस्थिते सति हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये प्रसज्येते'—ऐसा दोनों प्रकार का अन्वय-बोध हो सकता है । अर्थात् 'सर्व

अत एव च—

आद्यधीवेद्यभेदीयाऽप्यन्यथानुपपन्नता ।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम् ॥ १० ॥

न च संस्कारारूढदृढान्वयव्यतिरेकान्वयव्यतिरेकान्वयप्रतिपत्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धः

भेदप्रमान्यथानुपपत्त्या वा वैपरीत्यमाशङ्क्यमित्याद्युक्तमर्थापत्तिविरोधाभावमुपसंगृह्णाति ※ अत इति ※। सर्वज्ञत्वप्रसङ्गद्वारप्रदानयोरन्यतरप्रसङ्गादेवेत्यर्थः। घटात्पटो भिन्न इति घटपटभेदप्रत्यक्षमाद्यधीः, तया वेद्यो भेदः आद्यधीवेद्यभेदः, तदीया तत्संबन्धिनी अन्यथानुपपन्नताऽप्यनुमानवदद्वयश्रुतिं न बाधते। तत्र हेतुं कथयति ※ अन्ते स्वज्ञानापेक्षणात् ※। अयमर्थः—प्रतीयमानैवानुपपन्नता भेदं साधयति इति वाच्यम्, अनुपपद्यमानदर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिरिति स्वीकारात्, तथा च स्वगोचरज्ञानात्स्वात्मनो भेदं विना घटपटभेदानुपपत्त्यभावात्स्वज्ञानादात्मनो भेदं न साधयेत्। ततश्च तज्ज्ञानात्तस्या अभेदबोधनद्वारा सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीति।

एवं तावदद्वैतश्रुतेः प्रत्यक्षादिविरोधान्मिथ्यात्वमप्रामाण्यमिति प्रथमः पक्षः पराकृतः। इदानीं प्रमानुत्पादकत्वमप्रामाण्यमिति द्वितीयं दूषयति ※ न चेति ※। अयमर्थः—अन्वयः सत्त्वं व्यतिरेकोऽसत्त्वम्—"अग्रजं वा दशग्रीवमनुजं वा विभीषणम। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां रामः कमभिषेक्ष्यतीति" ॥ सत्त्वासत्त्वपरतयाऽन्वयव्यतिरेकशब्दयो रामायणे प्रयोगदर्शनात् तयोः सत्त्वासत्त्वयोरन्वयः संबन्धः, तदभावो व्यतिरेकः, तदेवं सत्त्वासत्त्वसंबन्धाभावः प्रतिपादितः, तस्यान्वयो विशेषणत्वम्, तस्य या प्रतिपत्तिः संस्कारारूढतया दृढतरा बलवत्तरेति यावत्, तयाऽद्वैतप्रत्ययस्योत्पत्तिप्रतिबन्धः शक्यशङ्को न भवतीति योजना। तथा हि क्वचित्सत्त्वसंबन्धाभावो विशेषणं नास्ति घट इति। क्वचिच्चासत्त्वसंबन्धाभावः, 'न नास्ति

सर्वस्माद् भिन्नम्'—इस प्रतिज्ञा वाक्य में यदि समग्र विश्व का ग्रहण किया जाता है, तब हेतु और दृष्टान्त किसको बनाया जायगा ? हेतु एवं दृष्टान्त के विना कोई अनुमान ही नहीं हो सकता। सर्वार्थ का ज्ञान न होने पर 'सर्वम्'—ऐसी प्रतिज्ञा भी नहीं हो सकती, अतः प्रतिज्ञाता में सर्वज्ञत्व भी मानना होगा। यदि 'सर्व' शब्द को संकुचितार्थक मान कर कुछ क्षेत्र पक्ष-कोटि से पृथक् रखा जाता है, तब उसमें भेद सिद्ध न हो सकने के कारण अद्वैत-श्रुति को वही एक खुला प्रवेश-द्वार मिल जाता है, उसमें प्रविष्ट होकर वह सर्वाभेद कर डालेगी]। अत एव—

आद्यधीवेद्यभेदीयाऽप्यन्यथानुपपन्नता ।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम् ॥

['घटपटौ भिन्नौ'—यह आद्य (प्रथम) बुद्धि है, उसका वेद्य (विषय) है—घट और पट का भेद, उस भेद को सिद्ध करनेवाली अन्यथानुपपन्नता ['यदि घटपटयोर्भेदो न स्यात्, तदा 'घटपटौ भिन्नौ'—इति प्रमा न स्यात्' इस प्रकार की अर्थापत्ति] भी अपने ज्ञान की अपेक्षा करती है, क्योंकि ज्ञायमान अन्यथानुपपत्ति को ही अज्ञातार्थ का आक्षेपक माना गया है—'जीवतो देवदत्तस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना" (शा० भा० पृ० ३८)। उक्त अर्थापत्ति घट और पट का ही भेद सिद्ध करती है, अपना और अपने ज्ञान का भेद नहीं बताती, उत्तरोत्तर भेद-प्रमा की अन्यथानुपपत्ति से पूर्व-पूर्व का भेद सिद्ध करने पर अन्ततो गत्वा कहीं न-कहीं विषय और विषयी का भेद अज्ञात ही रहेगा, वहाँ अद्वैत-श्रुति का बाध न होने के कारण अवतरण सुगम है, वहाँ उतर कर अद्वय-श्रुति सर्वाभेद सिद्ध कर डालती है।

शङ्का—अद्वयवाद में अद्वैत-श्रुति से अन्वय की प्रतिपत्ति (संसर्ग-बोध) की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि शाब्दबोध में योग्यता और संगति-ग्रह परम आवश्यक है, 'यस्मिन् शब्दे उच्चरिते, योऽर्थः प्रतिभाति। यदभावे योऽर्थो न प्रतिभाति सोऽर्थः तस्य वाच्यः'—इस

शक्यशङ्कः । यतः—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् ॥ ११ ॥

घटः किं स्वस्त्येवेति' । तेन भेदनियतसत्त्वाभावविशेषणत्वासत्त्वाभावविशेषणत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गप्रतिपत्त्या चिरतरवासनानिरूढतया प्रबलतया प्रतिबन्धादद्वैतप्रत्ययस्योत्पत्तिरेव न सम्भवतीति तात्पर्यार्थः । अत्र च विशिष्टान्वयप्रतिपत्त्याऽद्वैतप्रतिपत्तेरुत्पत्तिप्रतिबन्ध इति वक्तव्ये तन्त्रेण प्रतिपत्तिशब्दः सकृदेवोच्चारित इति केचित् ।

अन्यन्मतम्—पूर्वानुभवजन्यः कार्यकल्प्यः कश्चिदतिशयः संस्कारः, तमारूढः संस्कारारूढः, स एवं वृढः, स एवान्वयः संबन्धः, तस्य व्यतिरेकान्वयः अभावः, तस्य व्यतिरेकोऽभाव इति यावत् । तस्मादन्वयप्रतिपत्त्युत्पत्तिर्वाक्यार्थज्ञानजन्मेति यावत् । तस्य प्रतिबन्धोऽभाव इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—संबन्धग्रहणसंस्काराच्छब्ददर्शनाच्च वाक्यार्थप्रतीत्युत्पत्तेरभावः शङ्कितुं न शक्य इति ।

यद्वा अन्वयो वृद्धव्यवहारः, अन्वीयते शब्दोऽर्थमनेनेति व्युत्पत्तेः, तस्य व्यतिरेकोऽभावः सर्वव्यवहारातीतत्वादद्वैतस्य, तस्माद् वृद्धव्यवहाराभावादन्वयस्य शब्दार्थसङ्गतिग्रहणस्य व्यतिरेकादभावाद् अन्वयप्रतिपत्तेरद्वैतप्रतिपत्तेरुत्पत्तिप्रतिबन्धः शक्यशङ्को न भवति । लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक इति न्यायाद् वृद्धव्यवहारस्यैवाभावादद्वैतवाक्यादद्वैतप्रतिपत्तिरेव नोदेतीति न शङ्कनीयमित्यर्थः । तत्र हेतुत्वेन व्यवहारस्य विषयं दर्शयति ❀ संस्कारेति ❀ । संस्कारो नामानादिप्रवृत्तवृद्धव्यवहारानुभवनाशजनिता वासना, तमारूढस्तत एव दृढः । दार्ढ्यं च तुच्छविलक्षणतया निश्चितत्वम्, ततः परमार्थसत्त्वाभावेऽपि तुच्छविलक्षणत्वाद्व्यवहारस्य सङ्गतिग्रहणादिसम्बन्धसामंजस्यमिति । यद्वा अन्वयः कारणम्, अनुगच्छतीति व्युत्पत्त्या, व्यतिरेको भेदो व्यावृत्तं कार्यम् । तदनेन कारणकार्ये उक्ते, तयोरन्वयः सम्बन्धः समवायादिरूपस्तेन व्यतिरेको भेदस्तस्मादन्वयप्रतीत्युत्पत्तिस्तत्प्रतिबन्धः शक्यशङ्को न भवति । एतदुक्तं भवति—संस्कारारूढतया बलवत्तरो यः कार्यकारणसम्बन्धबलाल्लभ्यो भेदस्तस्मादद्वैतप्रतिपत्तिरेव नोदेति विरोधादिति न शङ्कनीयमिति । यद्वा संस्कारारूढो भूयोदर्शनजसंस्कारविषयो दृढान्वयो दृढसत्त्वः अबाधितसंविदुपस्थितः एवम्भूतो यो व्यतिरेको भेदस्तस्य यो घटः स पटादेर्भिन्नः यो न पटादेर्भिन्नो न स घट इति अन्वयव्यतिरेकौ ताभ्यामन्वयप्रतिपत्तिर्व्याप्तिप्रतीतिस्तयेत्यर्थः । भेदादेः पारमार्थिकत्वाभावेऽपि प्रतिभासमात्रशरीरस्य भावादद्वैतश्रुतेः परमार्थगोचरत्वान्नास्ति विरोध इति सर्वत्र परिहारः ।

नन्वद्वैतादिपदं गृहीतसङ्गतिकं स्वार्थं प्रत्याययति, किं वा गृहीतसङ्गतिकम् ? नाद्यः प्रमाणान्तरागोचरेऽद्वैते सङ्गत्यधिगत्ययोगात् । नापि द्वितीयोऽतिप्रसङ्गादित्याशङ्क्याह ❀ यत इति ❀ । शब्दो

प्रकार के संस्कारारूढ अन्वय-व्यतिरेक की सहायता से ही अन्वय-बोध होता है, अद्वयवाद में अन्वय (भाव-सहचार) और व्यतिरेक (अभाव-सहचार) की उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः 'एकमेवाद्वितीयम्'—इत्यादि वाक्यों से शाब्द बोध नहीं हो सकता । दूसरी बात यह भी है कि अर्थाबाधरूप योग्यता के विना कहीं भी संसर्ग बोध नहीं होता । जिस व्यक्ति को यह निश्चय है कि ज्ञान से भिन्न या शब्द से भिन्न अर्थ नाम की वस्तु कोई होती ही नहीं, वह शब्दों के द्वारा किस अर्थ का बोध करेगा ?

समाधान—[संगति-ग्रह के लिए पदार्थों की पृथक् सत्ता अपेक्षित नहीं, जिस शब्द के सुनने से जिस अर्थ का ज्ञान होता है, वही उस शब्द का अर्थ समझा जाता है] शब्द का स्वभाव है कि अत्यन्त असत् खपुष्पादि अर्थों का भी बोध करा देता है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।
तेनोत्सर्गे स्थिते तस्य दोषाभावात् प्रमाणता ॥ (श्लो० वा० पृ० ४६)

असंसर्गाग्रहस्यापि मन्ता शंसत्यबाधिते ।
अत्यन्ताऽसदसंसर्गाग्रहं संसर्गलग्नकम् ॥ १२ ॥

वाक्यम् अत्यन्तासत्यपि नृभृङ्गादौ विज्ञानं जनयति, अन्यथा नृभृङ्गाद्भिन्नो घट इति व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । न च तत्र सङ्गतिग्रहणम्, शशविषाणस्य सकलप्रमाणविकलत्वात् । अतोऽगृहीतसङ्गतिकाद्वैतादिपदात्तदर्थप्रतीतिर्न स्यादिति न शक्यं वक्तुमिति प्रौढवादः । वस्तुतस्तु पदार्थत्वं नेष्यते ब्रह्मणः, किं तु वाक्यार्थत्वम् । वाक्यं वाचा गृहीतसङ्गतिकमेव बोधयति । न च पदार्थानामेव वाक्यार्थत्वाद् ब्रह्मादिपदार्थाप्रतीतौ वाक्यार्थाप्रतीतिरिति वाच्यम्, योग्यतानुसारेण प्रसिद्धपदान्तरसमभिव्याहारेणाप्रसिद्धपदार्थप्रतीत्या वाक्यार्थप्रतीतेः । तदुक्तम् (श्लोकवार्तिके)—

'पदमज्ञातसन्दिग्धं प्रसिद्धैरपृथक्श्रुतिः । निर्णीयते निरूढं तु न स्वार्थादपनीयते ॥'

इति हिशब्दार्थः । नन्वद्वैतज्ञानमप्रमा सामान्यविशेषनिर्मुक्तविषयत्वात् नृभृङ्गादिज्ञानवदित्याशङ्क्याह ❀ अबाधादिति ❀ । अत्राद्वैते शब्दः प्रमां करोतीति पूर्वेण सम्बन्धः । हेतुमाह ❀ अबाधादिति ❀ । अबाध्यानवगतादन्यगोचरत्वमप्रमात्वे प्रयोजकम्, न सामान्यादिनिर्मुक्तविषयत्वम्, विशेषज्ञाने व्यभिचारादित्यर्थः । ज्ञानप्रामाण्यं ज्ञानान्तरसंवादलभ्यम्, न चात्र संवादकं प्रमाणमस्ति तदगोचरत्वादित्याशङ्क्याह ❀ स्वत इति ❀ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमुपेयम्, अन्यथाऽनवस्थानादित्यर्थः ।

व्यवह्रियमाणपदार्थासंसर्गाग्रहादेवोभयसंप्रतिपन्नात्संसृष्टव्यवहारोपपत्तौ नायथार्थाप्रतीतिः कल्पनीया गौरवादनाश्वासादिभ्यः अतो न शब्दोऽसत्यर्थे ज्ञानं करोतीति प्राभाकरस्तत्राह ❀ असंसर्गेति ❀ । विमतो व्यवहारो व्यवह्रियमाणपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकः संसृष्टव्यवहारत्वाद् गामभ्याजेत्यादिव्यवहारवत् । विपक्षे संसर्गाग्रहादेव सर्वत्र व्यवहारोपपत्तौ संसृष्टप्रत्ययमात्रं लयमियादनाश्वासोऽर्थे ज्ञायमाने तेनैव परास्तः । स्वदर्शने च तस्य तुल्यत्वाद्दोषभावाभावाभ्यां व्यवस्थाया इतरत्रापि तुल्यत्वात् । साधारणाकारस्यालम्बनत्वे नानालम्बनताऽपि निरस्ता प्रतीतिविरोधस्य स्वपक्षदोषत्वादित्यरुचिमपिशब्देन द्योतयति । अङ्गीकृत्याप्याह—असंसर्गाग्रहस्य व्यवहारहेतुत्वं मत्वा ख्यातिवाद्यबाधिते विषयेऽत्यन्तासदसंसर्गाग्रहं संसर्गलग्नकं शंसति अभिधत्ते इत्यन्वयः । अत्यन्तासंश्चासावसंसर्गश्चेति तथोक्तस्तस्याग्रहं संसर्गलग्नकं संसर्गग्रहा-

---

अर्थात् अत्यन्त बाधित अर्थ का भी बोध शब्द से होता है, अतः अर्थाबाधरूप योग्यता ज्ञान की शाब्द बोध में अपेक्षा नहीं होती। अद्वैत-श्रुति निसर्गतः अभेदार्थ की गमक है, उसका बाध न होने के कारण स्वतःप्रामाण्य सुस्थिर है [श्री कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में बड़े ऊहापोह के साथ परतःप्रामाण्यवाद का खण्डन कर स्वतःप्रामाण्यवाद सिद्ध किया है—
"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गीयते । न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन शक्यते" ॥
(श्लो० वा० पृ० ५९) । ब्रह्मवादी भी वैसा ही मानते हैं, अतः अद्वैत-श्रुतियों से जन्य ज्ञान को अपने प्रामाण्य के लिए किसी प्रकार के संवादादि की अपेक्षा नहीं, श्रुतियों से जनित ज्ञान स्वतः प्रमाणभूत ही होता है, शुक्ति-रजतादि-स्थल पर अर्थ का बाध हो जाने के कारण स्वतः प्राप्त प्रामाण्य का बाध और कारणगत दोषादि के आधार पर ज्ञान में अप्रामाण्य आया करता है, प्रकृत में अद्वयज्ञान अबाधितार्थक होने के कारण प्रमाण है] ॥ ११ ॥

आचार्य प्रभाकर मिश्र का कहना है कि पदार्थों का संसर्गज्ञान शाब्द बोध में अपेक्षित नहीं, क्योंकि अत्यन्त असत् अर्थ का भी संसर्गबोध होता है, अतः 'असंसर्गाग्रह' को शाब्दबोध की सामग्री माना जाता है, 'वह्निना सिञ्चति'—इत्यादि स्थलों पर असंसर्ग-ग्रहरूप प्रतिबन्धक का सद्भाव होने से शाब्दबोध नहीं होता। इस मत के अनुसार भी अद्वैत-श्रुतियों में किसी प्रकार का असंसर्ग-ग्रह नहीं, अतः प्रामाण्य स्वतः अवस्थित है। असंसर्गाग्रह के रूप में संसर्ग-ग्रह को शाब्द बोध में कारण मान लेने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अभेद संसर्ग का बाध नहीं होता, अतः अभेदार्थ का ज्ञान स्वतः प्रमाण है ॥ १२ ॥

अनौचित्याऽपि तर्केण दुर्बाधैवाऽद्वयश्रुतिः ।
अनारोपितमूलत्वाद् बलवत्त्वादतादृशा ॥ १३ ॥
प्रवृत्तेनाप्यनौचित्यमूलं येन न लूयते ।
तत्राऽनौचित्यसाम्राज्यं वैपरीत्यात्तु नात्र तत् ॥ १४ ॥

ननु यद्यदेवोदाह्रियते त्वया—'नेत इतोऽस्य भेदो गृहीतः' इति ततोऽस्याद्वैता-

विनाभूतमिति यावत् । गामानयेत्यादौ व्यवह्रियमाणपदार्थानां संसृष्टानामसंसर्गस्यासतो ग्रहं संसर्गज्ञान-पूर्वकमेव वदतीत्यर्थः । तदयं प्रयोगः—एकमेवेत्यादिपदार्थासंसर्गाग्रहस्तत्संसर्गज्ञानाविनाभूतोऽबाधिता-संसर्गाग्रहत्वाद्, गामानयेत्यादिपदार्थासंसर्गाग्रहवदिति । नन्वद्वैतागमवाक्यं सदसद्वा ? तदुभयविलक्षणं वा ? नाद्यः, अद्वैतभङ्गात् । न द्वितीयः, यस्य हि परमार्थेन नास्तिता तस्य कथमस्तित्वमसतश्च कथं साधनत्वं तदुक्तम्—'योऽधुना परमार्थेन नास्तीत्येवं प्रतीयते । कथं पूर्वमसावासीदसंश्चेत्साधनं कथम् । साधनं चेदवश्यं च परमार्थास्तिता भवेदिति' । न चानिर्वचनीयेन परमार्थसिद्धिः सम्भवति शुक्तिरजतज्ञानादिगोचरस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात् । आह च—'सिद्धिर्नापरमार्थेन परमार्थस्य युज्यते । न दृष्टा शशशृङ्गादेः सम्यग्ज्ञानादि-हेतुतः ॥' इति ।

कल्पितागमस्य प्रामाण्यमनुचितमित्यनौचितीलक्षणतर्कविरोधात्कथमबाधितत्वमित्याशङ्क्याह ॐ अनौचित्येति ॐ । अद्वयश्रुतिः अनौचित्या तर्केणापि दुर्बाधैवेत्यन्वयः । अनौचितीशब्दस्य नियतस्त्रीत्वा-त्पुंल्लिङ्गतर्कशब्देन सामानाधिकरण्यमविरुद्धम् । कुतो दुर्बाधत्वमित्यत आह ॐअनारोपितमूलत्वादितिॐ । यथार्थवस्तुविषयत्वादहंयुर्बलवत्त्वाभिमानिनी—अहंयुः स्यादहङ्कारीत्यभिधानदर्शनात् । तादृशारोपितमूलेन तर्कस्त्वारोपितमूलोऽपि भवति, यदीदं रजतमसदेव स्यादपरोक्षं न स्यादित्यारोपितसत्त्वमूलत्वाभ्युपगमात्स्येति । कल्पितप्रतिबिम्बादेः सत्यबिम्बादिगमकत्वमपाकर्तुमशक्यमिति श्लोकार्थः । तर्हि वाक्यप्रामाण्यस्य तर्कानपनोद्यत्वाद्यागादि स्वर्गसाधनमिति निश्चयोपपत्तौ नापूर्वसाधनविचारारम्भः स्यात्तथेक्षत्याद्यधिकर-णारम्भश्च न स्यादित्याशङ्क्याह ॐ प्रवृत्तेनेति ॐ । बाध्यत्वाभिमतेन वाक्येन स्वार्थबोधनाय प्रवृत्तेनापि येनानौचित्यमूलमापादकापाद्यनिष्ठा व्याप्तिर्न लूयते न खंड्यते । इह तु पुनरद्वैतश्रुत्यापाद्यपादकभेदखण्डनेन व्याप्तेरपि खण्डितत्वात्तत्साम्राज्यं नास्तीत्यर्थः ।

बाध्यबाधकबुद्ध्योर्भेदस्य बाधकबुद्धेः स्वविषयभेदस्य च केनचित्प्रमाणेनाग्रहणात्तद्भेदबोधनद्वाराऽ-द्वैतश्रुतिः सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीत्युक्तमर्थं प्रपञ्चयितुं सिंहावलोकनन्यायेन पुनश्चोद्यमुद्भावयति । ॐनन्वितिॐ । इत इतो घटपटादेर्घटपटौ भिन्नाविति बुद्धेस्तथान्तिमबुद्धेः स्वविषयतश्च भेदो न गृहीत इति कृत्वास्य

बाधनम्

"सर्वेषां सर्वदा यत्र धीः स्' तस्य न ब ' ·"—इस भाट्ट उक्ति के अनुसार 'सर्वलोकप्रसिद्धस्य भेदस्य बाधनमनुचितम्'—इस प्रकार अनौचितीरूप तर्क के द्वारा भी अद्वैत-श्रुति का बाध नहीं हो सकता, क्योंकि 'आपाद्यारोपेणापादकारोपः'—इस प्रकार तर्क का मूल आरोपित होता है और अद्वैत-श्रुति का मूल अनारोपित है, अतः तर्क की अपेक्षा बलवत्तर है। ['बलाहंयुः' ऐसा पाठ भी बलवत्त्वात् के स्थान पर उपलब्ध होता है, उसका अर्थ है—बलाभिमानिनी अद्वैत श्रुति का बाध कौन कर सकता है ? ॥ १३ ॥

'इदं रजतम्'—इस प्रकार का वाक्य जहाँ पर अनौचिती तर्क के मूलभूत आपाद्य-आपादक के आरोप का निराकरण नहीं कर सकता, वहाँ ही अनौचिती तर्क का साम्राज्य होता है—शुक्तौ रजतमिति प्रत्ययोऽनुचितः । प्रकृत में अद्वैत-श्रुति के द्वारा अनौचिती तर्क का मूल उन्मूलित कर दिया गया, अतः यहाँ तर्क का कुछ भी प्रभाव नहीं ॥ १४ ॥

शङ्का—हमारा (नैयायिकों का) प्रश्न है कि भेद कहाँ-कहाँ गृहीत नहीं ? उसके उत्तर में "आप (खाण्डनिक) का जो कहना है कि "घटपटौ भिन्नौ" इत्यादि भेद बुद्धि-परम्परा की अन्तिम बुद्धि में उसके विषय का भेद गृहीत नहीं। हम (नैयायिक) उस अन्तिम बुद्धि में

म्नायैरभेदबोधने तद्द्वारा सर्वाऽभेदे पर्य्यवसातव्यमिति, ततस्ततस्तस्य भेदस्तदैव गृह्यते मया। तस्मादुदाह्रियमाणतायामनुदाह्रियमाणतायां च कस्यचिदेतत् प्रत्यवस्थानमस्थाने इति। मैवम्, अन्तिमबुद्धेरद्वैतश्रुतिजबुद्ध्यादितो भेदो न त्वया प्रमित इति मयोच्यमाने यस्तदीयस्ततो भेदः प्रमातव्यः, स न तावत् प्रत्यक्षेण, तत्कालमन्तिमबुद्धेरनुपस्थितेः।

यदि च केनचिद्धेतुना वा कयाचिदनुपपत्त्या वा तथा स्यात्, तदानीमद्वैतवादिमं

घटपटौ भिन्नाविति बुद्ध्यादेस्ततो घटादितोऽभेदबोधनद्वाराऽद्वैताम्नायैः सर्वाभेदे पर्यवसातव्यमिति यद्यत्प्रथमबुद्ध्याद्युदाह्रियते ततस्ततो घटादेरन्तिमबुद्धिविषयाच्च तस्यान्तिमबुद्ध्यादेर्भेदस्तदैव गृह्यते मयाऽपुनरुक्तशब्दवाच्यत्वादित्यर्थः। प्रतिबिम्बं चन्द्रमसो बिम्बचन्द्रमसा सह द्वौ चन्द्रमसाविति भेददर्शनेऽप्येकः चन्द्रमा इति वाक्यं यथा तयोरद्वैतं बोधयति तथाऽऽगमवाक्यमपि किं न बोधयेदित्यत आह ❀ तस्मादिति ❀। कस्यचित्प्रमाणस्योदाह्रियमाणतायां तस्य तद्विषयेण सहाद्वैतबोधनद्वाराऽनुदाह्रियमाणतायां सुतरामद्वैतश्रुतिः सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीति त्वत्प्रत्यवस्थानमेतदस्थान इति। यद्वा कस्यचित्पदार्थस्यान्तिमबुद्ध्यादेरुदाह्रियमाणतायामनुदाह्रियमाणतायां च श्रुतेः प्रमाणान्तरविरोधाविशेषेण त्वत्प्रत्यवस्थानमस्थान इति योजना। तात्पर्यं तु—युक्तं चन्द्रभेदज्ञानबाधनं नियतपुरुषनियतकालं चोत्पत्तेः, नेह तद्वैलक्षण्यादिति। तदुक्तम्—'सर्वेषां सर्वदा यत्र धीः स्यात्तत्र न बाधनमिति, (श्लोकवार्तिके)।

ततो भेदो गृह्यत इति किं प्रतिज्ञामात्रेण साध्यते, किं वा प्रमाणेन? नाद्यो विपरीतप्रतिज्ञया ममापि चरितार्थत्वप्रसङ्गादिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀ अन्तिमबुद्धेरद्वैतश्रुतिजन्यबुद्ध्यादितो भेदस्त्वया न प्रमीयत इति मयोच्यमाने मया प्रतिज्ञायमाने ततोऽद्वैतबुद्ध्यादितोऽन्तिमबुद्धेर्यो भेदः स प्रमातव्यः, न प्रतिज्ञामात्रेण साधनीय इति सम्बन्धः। यदि प्रमाणेन प्रतीयते तदा किं प्रत्यक्षेण किं वाऽनुमानेन उतार्थापत्त्या इति विकल्प्य प्रथमं निराकरोति ❀ न तावदिति ❀। बाधपरम्पराविश्रामभूमिरन्तिमबुद्धिः इदानीं वर्तते न वा? न चेत्, वर्तमानग्राहिप्रत्यक्षेण तद्ग्रहणायोगात्तत्प्रतियोगिकस्य तद्धर्मिकस्य वा भेदस्याध्यक्षेणाध्यवसातुमशक्यत्वात्। वर्तते चेत्, तद्गोचरप्रत्यक्षस्येदानीमसम्भवो युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति काणादवचनादित्यर्थ। ननु प्रतियोगिप्रतीतिरपेक्ष्यते, न तु तेनैकबुद्धिगोचरत्वम्, भेदस्य केवलव्यतिरेकाभावात्। तत्रावर्तमानामपि प्रतीत्य ततो भेदः प्रत्यक्षेणैव गृह्यत इति। मैवम्, भेदस्य प्रतियोगिविशिष्टत्वेन तदेकबुद्धिगोचरत्वनियमाद् विशेषणविशेष्ययोरेकबुद्धिगोचरत्वादन्तिमबुद्धेरननुभूततया स्मरणायोगात् प्रतीत्यन्तरस्य च कारणाभावादसम्भवाच्चेति। अस्तु तर्ह्यनुमानेनार्थापत्त्या वाऽन्तिमबुद्धेरद्वैतश्रुतिजन्यबुद्ध्यादितो भेद इति द्वितीयतृतीयौ चोदयति ❀ यदि चेति ❀। अन्तिमबुद्धिः श्रुतिजन्यबुद्ध्यादितो भिन्ना भिन्नसामग्रीकत्वाद् अपुनरुक्तशब्दवाच्यत्वात् जन्मनाशादिविरुद्धधर्मत्वाद्वा, यदेवं तदेवं यथा घटादि—इत्यनुमानं विवक्षितम्। अर्थापत्तिस्तु—बुद्ध्योर्भेदाभावे श्रुतिसंस्कारविरहिणामद्वैतज्ञानानुपपत्तिरूपा विवक्षितेति द्रष्टव्यम्। चशब्देनोपमानादीनामपि भेदसाधकत्वं द्योतयति, तदभावे तद्गोचरसादृश्यादेरसम्भवात्।

उसके विषय का भेद तुरन्त सिद्ध कर देते हैं, अतः अन्तिम बुद्धि के माध्यम से अद्वैत श्रुति को उतार कर जो सर्वाभेद-बोधन किया जा रहा है, वह अस्थाने (अनुचित) है।

समाधान—अन्तिम बुद्धि में अद्वैत-श्रुतिजन्य बुद्धि का भेद गृहीत नहीं—ऐसा हमारे (खाण्डनिक के) कहने पर आप (नैयायिक) का जो कहना है कि तत्काल हम (नैयायिक) वहाँ भेद का ग्रहण कर लेते हैं। वहाँ जिज्ञासा होती है कि उस भेद का ग्रहण आप किस प्रमाण से करते हैं? प्रत्यक्ष प्रमाण से तो कर नहीं सकते, क्योंकि इस समय अन्तिम बुद्धि तो विद्यमान नहीं, आप भेद का प्रत्यक्ष किसमें करेंगे? यदि किसी हेतु के द्वारा भेद का अनुमान या किसी अन्यथानुपपत्ति के द्वारा भेद का आक्षेप करना चाहें, तो वह भी नहीं कर सकते,

प्रति हेतोः साध्याविशिष्टतया अनुपपत्तेश्च, येन विना सा तदविशिष्टतया, ततः कथमाभासात् प्रमोदयः स्यात्। न च वाच्यं स्वयं मया स भेदो ज्ञायते इति नास्ति पाक्षिकोऽपि मां प्रत्यसिद्धयादिरिति, यतोऽस्य त्वद्वचनस्य वैयर्थ्यापत्तिः, वचनस्य परार्थत्वात्। मौनमवलम्ब्यावतिष्ठमानश्च भवान प्रतिभातो न मुच्यते।

न च स्वयं मया प्रमितो भेदः परं प्रति वचसा केवलं बोध्यते इति वाच्यम्, त्वद्वचसि परस्याप्रत्ययात्। विजिगीषुं परं प्रति विजिगीष्वन्तरवचनं हि तथार्थं

किमेतत्परार्थानुमानमुत स्वार्थमिति विकल्प्याद्यमन्यतरासिद्धयादिना दूषयति ॐ तदेति ॐ। भिन्नसामग्रीकत्वादेर्हेतोः साध्याविशिष्टतया भासनात् ततः कथं प्रमोदयः स्यात्, ॐ येन ॐ भेदेन विना ॐ सा ॐ अनुपपत्तिस्तस्याश्च तत्समभावाद् असिद्धिः, भेदसमत्वेनासिद्धत्वेनेति यावत्। असिद्धत्वेनाभासात् कथं प्रमोदय इत्येवान्वयः। ॐ साध्याविशिष्टतयेति ॐ हेतोरसिद्धत्वमुच्यते, न तु साध्यसमानत्वमेव, विशेषणभेदात्। ततश्च सर्वाद्वैतिना सामग्रीभेदादेरनङ्गीकाराद्धेत्वसिद्धिः साध्यविकलं च निदर्शनम्। अन्तिमबुद्धिकारणस्यागमस्य च भेदे शास्त्रसंस्कारविरहिणामद्वैतमानासिद्धिस्तदनुपपत्त्या भेदसिद्धिरिति— इतरेतराश्रयाद्वा चक्रकाद्वाऽनुदय एवार्थापत्तेरित्यर्थः। उपमानादावपीतरेतराश्रयादि तुल्यमिति वाऽर्थः।

भिन्नसामग्रीत्वादि स्वार्थानुमानमिति द्वितीयमाशंक्याह ॐ न चेति ॐ। वेदान्तपक्षे प्रातीतिकभेदवत्सामग्रीकत्वादिहेतौ नास्त्यसिद्धिः, पारमार्थिकभेदवत्त्वस्य हेतुत्वेऽसिद्धयादिर्यथा पाक्षिको नैवं मम दूषयता सत्यताव्याप्तेत्यङ्गीकारादित्याह ॐ नास्तीति ॐ। स्वार्थानुमानस्य कथायामनुपन्यास इति दूषणं स्पष्टत्वादुपेक्ष्य दूषणान्तरमाह ॐ यत इति ॐ। वचनं व्यर्थं स्यादित्यर्थः। न व्यर्थं ममैव प्रत्यायकत्वादित्यत आह ॐ वचनस्येति ॐ। तर्हि स्वार्थानुमानावगतमपि भेदं न वच्मीत्याशंक्याप्रतिभा नाम निग्रहस्थानं प्रसज्येतेति परिहरति ॐ मौनमिति ॐ। उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा।

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध' इति (मीमांसासूत्र १।१।५) निर्णीतत्वादर्थशेषभावस्य शब्दानां मया प्रमितो भेद इति मदीयवचनात्कर्णपथमवतीर्णात् तवाप्यर्थप्रतिपत्तेर्न वैयर्थ्यं वचनस्येत्यत आह ॐ न चेति ॐ। अर्थशेषभावस्यापि स्वाभाविकत्वेऽप्यनाप्तपुरुषसंबन्धितया दोषशङ्काकलङ्कस्याङ्गुल्यग्राविवाक्यवन्न प्रत्यायकत्वमित्याह ॐ त्वद्वचसीति ॐ। ननु वादिवचनं वाद्यन्तरप्रत्यायकम्, "अनित्यः

क्योंकि अद्वैतवादी की दृष्टि से हेतु में साध्याविशिष्टता [असिद्धत्वरूप हेत्वाभासता, "साध्याविशिष्टः साध्यसमः" (न्या० सू० १।२।८) इस सूत्र में वर्णित और अन्यथानुपपत्ति में उपपादकाविशिष्टता है, अतः हेत्वाभास या अर्थापत्त्याभास के द्वारा भेद-प्रमा का उदय क्योंकर होगा ? यदि आप कहें कि उक्त हेतु के द्वारा हम स्वार्थानुमान ही करते हैं, परार्थानुमान नहीं, अतः असिद्धयादि हेत्वाभास प्रसक्त नहीं होते, क्योंकि वे परार्थानुमान के दोष माने जाते हैं। तो वैसा मानने पर आप (नैयायिक) का प्रतिज्ञादि अवयव-प्रयोग निरर्थक हो जाता है, क्योंकि अवयव-प्रयोग परार्थानुमान में ही होता है, स्वार्थानुमान में नहीं। प्रतिज्ञादि का भी आप प्रयोग न कर यदि मौन धारण करते हैं, तब भी 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान के फन्दे से छूट नहीं सकते ["उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा" (न्या० सू० ५।२।१९)। उत्तर न देकर मौन हो जाना अप्रतिभा नाम का निग्रहस्थान है, यह जिस वादी पर लागू होता है, वह निगृहीत पराजित माना जाता है]।

शङ्का—हम (नैयायिक) ने तो किसी हेतु के द्वारा भेद का अनुमान किया और आप (खाण्डनिक) को केवल वाक्य के द्वारा अवगमित कराते हैं।

समाधान—अद्वयवादी की दृष्टि में न तो आप (नैयायिक) आप्त पुरुष हैं और न आपका उपदेश आप्त-वचन, अतः आपका वचन प्रतिवादी को किसी प्रकार की प्रमा नहीं दे सकता, अतः व्यर्थ है। यद्यपि जल्पादि कथाओं में एक विजीगीषु वादी के 'शब्दोऽनित्यः'—

तज्जिज्ञासोत्पादनद्वारेण तस्य स्वतस्तदर्थप्रमित्युत्पादनपर्यवसायितयोपयुक्तम्। न चाद्वैतवादिनं प्रति कथा क ॅ शक्यते, तं प्रत्यन्यतरासिद्धेरुक्तत्वात्।

न च वाच्यं मम वचनात्संदेहेनापि श्रुत्या तत्र संदिग्धबाधितभावया नाभेदप्रतिपादनं ते घटते इति, यस्मादद्वैतं मन्यमानेन भेदाऽसिद्धया सर्वत्र साध्याविशेषादिदोषप्रतिसंधायिना संशयस्याप्यनवकाशीकरणमेव स्यात्। तस्मात्—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु॥ १५॥

शब्दः" इत्यादिवचनेन प्रतिपाद्यमानत्वात्तस्येत्याशंक्याह ॐ विजिगीषुमिति ॐ। विजिगीष्वन्तरवचनं परं विजिगीषुम् प्रति 'तत्र' अनित्यत्वादिलक्षणे 'अर्थे' तस्य जिज्ञासोत्पादनद्वारेण 'तस्य' सजिज्ञासस्य 'तस्मिन्' जिज्ञासितेऽर्थे प्रमित्युत्पादनपर्यवसायितयोपयुक्तं हीत्यन्वयः। विजीगीष्वन्तरवचनस्मारितप्रमाणेन परो विजिगीषुः स्वयमेव प्रमिमीतेऽन्यथाऽतिप्रसङ्गाविति भावः। तर्हि मदीयवचनमपि भेदसाधकानुमानादिप्रमाणस्मारकतया त्वां प्रत्युपयुज्यतामित्यत आह ॐ न चेति ॐ। सर्वाद्वैतं मन्यमानं प्रति न हेतूपन्यासोऽन्यतरासिद्धिप्रसङ्गात्। नाप्यर्थापत्तिः, अन्यथेत्यंशस्य भेदसापेक्षस्य परस्पराश्रयादप्रसङ्गेनासम्भवाद्, द्वा सुपर्णेत्यागमस्य प्राप्तभेदानुवादस्य च तत्र प्रामाण्यायोगाद्, उपमानस्य च सादृश्यमात्रगोचरस्य भेदाभेदयोस्ताटस्थ्याद्, अभावस्य च प्रमाणान्तरत्वानङ्गीकाराद्, अङ्गीकारे वाऽनवस्थानाद्, इन्द्रियातिरिक्तस्य प्रमाणस्य प्रतीयमानतया गमकत्वनियमात्, मानाभावस्य च मानत्वव्याघातादद्वैतिनं प्रति द्वैतवचनं न तत्साधकं मानस्मारकतयोपयुक्तमित्यर्थः।

ननु मद्वचनस्य क्वचित्प्रत्यक्षं प्रमाणमित्यस्य प्रामाण्यादस्य च त्वद्दृष्टयाप्रामाण्याद् व्यभिचारितया प्रमेयत्वादिभेदसाधकप्रमाणसंशयजनकतया प्रतिकूलाद्वैतवाक्यस्यापि न निश्चायकत्वम्। अतश्च संशयहेतुत्वमप्रामाण्यमिति तृतीयविकल्पमाशंक्याह ॐ न चेति ॐ। संशयस्यापि क्वचिन्निश्चयमन्तरेणानुपपत्तेर्भेदस्य वा तत्प्रमाणस्य वा क्वचिदप्यनिश्चयान्न त्वद्वचनं संशयजननक्षममित्याह ॐ यस्मादिति ॐ। यस्माद्भेदग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधाशंकयाऽद्वैतश्रुतेस्त्रिविधमप्रामाण्यं नास्ति तस्मादिति।

उक्तार्थसंग्राहकश्लोकेनापेक्षितमंशं पूरयति ॐ तस्मादिति ॐ। तस्माद् ब्रह्मैवास्त्रं ब्रह्मास्त्रं स्वप-

---

इत्यादि वाक्य दूसरे विजिगीषु वादी के लिए अत्यन्त व्यर्थ नहीं होते, अपितु संशय की उत्पत्ति करते हैं, संशयालु वादी को प्रस्तुत विषय में प्रमाणादि का स्मरण आता है और वह स्वयं किसी निर्णय पर पहुँच जाता है। तथापि प्रकृत में नैयायिक का वचन भेदविषयक संशय उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि अद्वयवादी को बाध का निश्चय है एवं आपका भेदसाधक हेतु असिद्ध भी है, उभय-सम्मत असिद्धि दोष न होने पर भी अन्यतरासिद्धि दोष तो है ही।

शङ्का—'अन्तिमबुद्धिः स्वविषयाद् भिन्ना'—ऐसे हमारे (नैयायिक के) वचन से आप (अद्वयवादी) को यदि भेद का सन्देह भी हो जाता है, तब भी आपकी अद्वैत-श्रुति स्वच्छन्द रूप से न तो घूंघट उतार कर नाच सकती है और न अद्वैत का गीत सुना सकती है।

समाधान—खेत में धोखा (बनावटी पुतला) खड़ा कर देने से अबोध पशु-पक्षी ही डर सकते हैं, हमारे (अद्वैतवादी के) पैर इतने कच्चे नहीं कि आपके 'हू' कर देने मात्र से डर कर भाग खड़े हों, हमारी अभेद-भावना इतनी सुदृढ़ है कि भेद की गन्ध भी नहीं आती, उलटे आपके अनुमान-प्रयोग में साध्याविशिष्टता (असिद्धि) आदि दोष दिखाई दे रहे हैं, अतः उससे संशय का उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। यह एक तथ्य है—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु॥

अपि च—प्रतीयते तावदिदं सामान्यतो यन्नाम किञ्चित्परश्चेतसा चिन्तयन्नस्तीति, किञ्चिद्वा विवक्षुरित्यादि। तत्र परस्य बुद्धिविषयो विवक्षाविषयो वा विशेषतो विनिगमनं विना नैव प्रतीयते। ततोऽन्तिमबुद्ध्यादिभेदो न भवता शक्यग्रहः, परेण तच्चिन्तनादेरपि संभवात्। स्वस्मात्स्वस्य भेदस्याभावात्। ततस्तत्र लब्धपदा कथमद्वैतश्रुतिर्विश्वाभेदे पर्यवस्यन्ती त्वया शक्यबाधा स्यात्। तस्मात्—

कथं सामान्यतो ज्ञाते नैव ज्ञाते विशेषतः।
पदरोधस्त्वया कर्तुं शक्यः स्याददृयश्रुतेः॥ १६॥

रिपन्थिद्वैतनिवर्तकत्वात्। तच्चैकमद्वितीयत्वात्। तदादाय क्वचिदपि वादे जल्पे वितण्डायां वा अन्यं द्वैतिनं न गणयतस्तदुक्तप्रमाणजातस्यासिद्ध्याविदोषात्। धीर एव वीरो धीरवीरः। धैर्यं च श्रुतधारणसामर्थ्यं वीर्यं च यथाकालं प्रयोगसामर्थ्यम्। सङ्गरकेलिषु युद्धक्रीडासु भङ्गो नास्ति इत्यन्वयः। रूपकालङ्कारोऽयम्—यथा खलु लोके कस्यचिदर्जुनादेरेकं ब्रह्मास्त्रमादायान्यमश्वत्थामप्रभृतिकं न गणयतः सङ्गरकेलिषु क्वचिदपि भङ्गः पराजयो नास्ति, तद्वदिति।

एवं तावत्प्रत्यक्षादिना यत्र भेदः स्पष्टतरमवभासते तत्राप्यद्वैतश्रुतेर्विषयविषयिणोरद्वैतबोधनद्वारा सर्वाद्वैतपर्यवसाने निराबाधत्वमवादीत्। इदानीं प्रमाणान्तराविरुद्धमापाद्याद्वैतश्रुतेर्विषयमाह ❀ अपि चेति ❀। किं तदित्यत आह ❀ यन्नामेति ❀। परश्चेतसा किञ्चिच्चिन्तयन् विवक्षुर्वा जानन् वाऽस्तीति सामान्यतः प्रतीयते। विषममुखत्वादिलिङ्गस्य सामान्योपाधौ गृहीतसम्बन्धत्वाद्विशेषानुमापकत्वाभावादित्यर्थः। सामान्यप्रतीतिरेव विशेषसिद्धिमपि बलादानयेदित्यत आह ❀ तत्रेति ❀ न सामान्यसिद्धिर्विशेषबोधिकाऽन्यथा क्वापि संशयविपर्यासौ न स्यातामित्यर्थः। तस्य सामान्यप्रतीतावप्यन्तिमबुद्ध्यादेर्विशेषतो निश्चयात्तत्प्रतियोगिकः तद्धर्मिको वा भेदोऽध्यक्षादिभिरध्यवसीयत इत्यत आह ❀ तत इति ❀। हेतुमाह ❀ परेणेति ❀। भेदस्यायमस्मात् भिन्न इति धर्मिप्रतियोगिसापेक्षत्वादिति भावः। परचिन्ताविगोचरान्तिमबुद्ध्यादिर्भिन्न इति धर्म्यादिग्रहणपूर्वकं भेदग्रहणं, किं न स्यादित्यत आह ❀ स्वस्मादिति ❀। भेदप्रतीतिमन्तरेण धर्मिप्रतियोगिभाव एव न सम्भवति स्वात्मनोऽपि स्वस्माद्भेदप्रसङ्गात्। न च तत्सम्भवति एकाभावप्रसङ्गादित्यर्थः। अन्तिमबुद्ध्यादेस्ततो भेदग्रहणं न घटते चेन्मा घटिष्ट, तथाऽपि कथमद्वैतं सिध्यत इत्यत आह ❀ तत इति ❀। सङ्क्षेपविस्ताराभ्यां प्रतिपादितमर्थं बालः सुखं बुध्यते ततो विस्तरेणोक्तमुपसंहारव्याजेन श्लोकेनोपनिबध्नाति। ❀ तस्मादिति ❀। सामान्यतो ज्ञाते वदनविकारादि-

---

[जिस योद्धा के हाथ में ब्रह्म तत्त्व नाम का एक अमोघ ब्रह्मास्त्र है एवं जो स्वयं धीर और वीर है, वह रण-भूमि में किसकी परवाह करनेवाला है ? युद्ध कितना ही लम्बा और भीषण क्यों न हो, उसका धैर्य अटूट और शौर्य सदा अकुण्ठित है। यह संग्राम उसका एक खेल है, इसमें उसकी पराजय करनेवाला कौन ?]।

[प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जहाँ भेद गृहीत नहीं होता, वही अद्वैत-श्रुति का अवतरण-स्थल है। प्रत्यक्षभूत अनुयोगी में ही भेद का प्रत्यक्ष होता है, जैसे—'अयं घटोऽन्तिमबुद्धितो भिन्नः'। किन्तु जहाँ अनुयोगी सन्दिग्ध है, वहाँ भेद का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, जैसे कि] किसी व्यक्ति की मुख-मुद्रादि को देख कर ऐसा लगता है कि 'यह व्यक्ति कुछ सोच रहा है और कुछ कहना चाहता है', उसकी चिन्ता और विवक्षा का विषय विशेष रूप से नहीं जाना जाता, ऐसे सन्दिग्ध विषय में अन्तिम बुद्धि का भेद प्रत्यक्षतः गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि सम्भव है कि उस व्यक्ति की चिन्ता का विषय अन्तिम बुद्धि ही हो, तब उसी से उसका भेद क्योंकर होगा ? अद्वैत-श्रुति को वहाँ अवसर मिल जाता है—

कथं सामान्यतो ज्ञाते नैव ज्ञाते विशेषतः।
पदरोधस्त्वया कर्तुं शक्यः स्याददृयश्रुतेः॥

ननु भेदमनङ्गीकुर्वतो भवतः कथं तत्तत्पदार्थवैचित्रीव्यवहारो न व्याहन्यते ? कथं व्याहन्यते ? प्रतिवक्ष्यते हि तत्। किं च योऽयं त्वया व्याघात आपादनीयः, सोऽपि कस्माच्चिदापादकात्। न च आपाद्यापादकमभिद्यमानमापत्त्यै प्रभवेदिति। तस्मात्—

नानात्वमवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि।
असिद्धभेदाद्व्याघातः पतेदापादकात् कुतः॥ १७॥

लिङ्गेनानुमिते परचिन्तादिगोचरे विशेषतो विनिगमनहेत्वभावावज्ञातेऽद्वयश्रुतेः पदरोधस्त्वया कथं कर्तुं शक्यः स्यात्, न कथंचिदित्यन्वयः।

भेदसत्तानङ्गीकारे नृभृङ्गवदपरोक्षव्यवहारस्तद्गोचर उपपन्नः स्यात्. व्यवह्रियते च भवता, अतो व्यवहारानुपपत्त्या भेदसत्त्वमवसीयत इति चोदयति ※ नन्विति ※। पदार्थस्य ※। पदार्थस्य पदार्थान्तरेभ्यो भेदाप्रतिभासे पदार्थान्तरवाचकशब्दान्तरपरित्यागेन तद्वाचकासाधारणशब्दप्रयोगो नोपपद्येत। तेन भेदानङ्गीकारे भेदापेक्षपदपदार्थादिव्यवहाराङ्गीकाराद् भेदाङ्गीकारतदभावरूपविरुद्धधर्मसमुच्चयलक्षणो व्याघातः स्यादित्यर्थः। व्यवहारोऽनुपपत्त्या भेदमात्रमाक्षिपति, न तत्पारमार्थिकत्वमनुपयोगात्। न च काल्पनिकभेदेन पारमार्थिकाद्वैतविघात इति परिहरति ※ कथमिति ※। व्याघातं स्वरूपेणाभ्युपगम्य नात्र स इत्युक्तम्। इदानीं स एव दुर्निरूपो व्याघातस्यैव पराकरिष्यमाणत्वादित्याह ※ प्रतिवक्ष्यत इति ※। भेदानङ्गीकारे भावाभावसमुच्चयात्मको व्याघातः किंचिदापादकमाश्रित्यापाद्यते किमनाश्रित्य ? न अनाश्रित्य, अतिप्रसङ्गेनाशक्यत्वात्। अतः किंचिदाश्रित्यैवेति पक्षः परिशिष्यत इत्याह ※ किं चेति ※। अस्तु तर्ह्ययमेव पक्षस्ततः किमित्यत आह ※ न चेति ※। आपादकमापाद्याद् भिन्नमभिन्नं वा ? न भिन्नम्, भेदे सिद्धे तस्यापादकत्वसिद्धिः, सिद्धे चापादकत्वे व्याघातसिद्धिः, सिद्धे च तस्मिन् भेदसिद्धिरिति चक्रकापत्तेः। नाप्यभिन्नम्, आत्माश्रयप्रसङ्गाद् इत्यर्थः। उक्ततर्कज्ञानरत्नं लोभातिरेकात् श्लोकेनोपनिबध्नाति ※ तस्मादिति ※। अद्वैतवादिनि नानात्वं नानात्मत्वमवलंब्य वदत्यपि व्यवहरत्यपि असिद्धभेदादापादकाद् व्याघातः कुत आपतेदित्यन्वयः। आपाद्यादसिद्धो भेदो यस्य स तथोक्तः।

[सामान्यतः ज्ञात और विशेषतः अज्ञात विषय सन्दिग्ध होता है, उसमें अन्तिम बुद्धि के भेद का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः उस विषय पर अद्वैत-श्रुति को पैर रखने से कोई भी न्यायाचार्य रोक नहीं सकता]।

शङ्का—आप (अद्वैतवादी) जब भेद को स्वीकार ही नहीं करते, तब आपका 'नात्र भेदः प्रत्यक्षीक्रियते', 'इदं पदम्', अयं तस्यार्थः'—इत्यादि विचित्र (विभिन्न) व्यवहार व्याहत एवं असंगत क्यों नहीं ?

समाधान—यह बात आगे चल कर स्पष्ट की जायगी कि व्यवहार का निर्वाह व्यावहारिक भेद मान लेने मात्र से हो जाता है, भेद को पारमार्थिक मानना आवश्यक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि आप (नैयायिक) हमारे व्यवहार में जो व्याघात या विरोध का आपादन करते हैं, उसका कोई आपादक भी है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं, तब हम भी आपके मत में कुछ भी आपादन कर सकते हैं और आप जो आपादक मानते हैं, अद्वयवाद में आपाद्य और आपादक का भेद ही नहीं सिद्ध होता, तब विरोधापादन क्योंकर होगा ?

नानात्वमवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि।
असिद्धभेदाद् व्याघातः पतेतापादकात्कुतः॥

[नानात्व या भेद का अवलम्बन कर अद्वैतवादी जो विभिन्न व्यवहार कर रहा है, उसमें व्याघात का आपादन ऐसे आपादक से क्योंकर होगा, जिसका आपाद्यार्थ से भेद सिद्ध नहीं]।

८. चतुर्विधभेदखण्डनम्

इदमपि च विचारमर्हति—यदद्वैतश्रुतीनां बाधकमुपन्यस्यते प्रत्यक्षादि घटपटप्रभृतिभेदग्राहि, तदपि कीदृश्यर्थे पर्यवस्यति ? तथा हि प्रत्यक्षेण योऽसौ भेदो गृह्यते स किं स्वरूपभेदः ? किमन्योन्याभावः ? किं वैधर्म्यम् ? किमन्यदेव वा ?

(१) यदि तावत् स्वरूपभेदः, स नाम घटपटयोर्हि स्वरूपं यत् परस्परस्माद् भेदः, तत्परस्परमनन्तर्भाव्य न सम्भवति । भेदो हि भवन् कस्मादपि भवति, अन्यथा स्वरूपं भेद इति पारिभाषिकं नाम स्यात् । यदा च 'घटाद् भेदः पटस्य इत्येतावा-

---

एवं तावद्भेदप्रमाणसिद्धस्वरूपपर्यालोचनया न तद्विरोधोऽद्वैतश्रुतेरित्युक्तम् । इदानीं प्रमेयभेदस्वरूपपर्यालोचनयाऽपि श्रुतेर्भेदग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधं प्रतिषेद्धुमुपक्रमते ❀ इदमिति ❀ । यद्वा पूर्वं प्रत्यक्षादेर्भेदविषयत्वमभ्युपगम्य न तद्विरोध इत्यवादि, संप्रति तद्विषयत्वमेव नास्ति, प्रत्युताभेदविषयत्वमेव प्रत्यक्षादेः, नातस्तद्बाध इत्युपपादयति ❀ इदमिति सन्दिग्धं सप्रयोजनं च विचारमर्हति । इह तथाभूतं न किंचिद् यद्विचार्यत इत्यत आह ❀ यदिति ❀ । बाधकमिति बाधकत्वाभिमतमिति यावत् । घटपटौ प्रभृती आदी येषां ते घटपटप्रभृतयः, तेषां भेदो घटपटप्रभृतिभेदः, तत् ग्रहीतुं शीलं यस्य तत्तथोक्तम् । घटप्रमाणं कीदृशि पर्यवस्यतीति प्रश्न इव भेदप्रमाणं कीदृशीति प्रश्नो नोपपद्यते, प्रमाणस्य स्वप्रमेये पर्यवसानादित्याशंक्य—सत्यम् भेदप्रमाणं भेदे पर्यवस्यति किं वाऽन्यत्रेति न प्रश्नार्थः किं तु यस्मिन् भेदे प्रमाणं पर्यवस्यति, स कीदृगिति पृच्छ्यत इत्याह ❀ तथा हीति ❀ । विरुद्धानेकप्रकारे सम्भवति सन्देहात्प्रश्नः, इह तु पुनरैक्यं भेदस्येति न प्रश्नसम्भव इत्याशंक्य वादिविप्रतिपत्तेः सन्देहात्प्रश्नोपपत्तिरिति विरुद्धप्रकारानीरयति ❀ प्रत्यक्षेणेति ❀ । स्वरूपमेव भेद इति प्राभाकरमतोपन्यासः । अन्योन्याभाव इति नैयायिकैकदेशिनाम्, भट्टैकदेशिनां मतं वैधर्म्यमिति, वैशेषिकस्य अन्यदेवेति पृथक्त्वं गुण इत्यर्थः ।

स्वरूपभेदपक्षे प्रत्यक्षमद्वैतश्रुत्या सहैकार्थत्वान्न तद्बाधकमित्यभिप्रेत्यानुवदति ❀ यदीति ❀ । भेदस्य भेदिन्यन्तर्भावः, किं वा भेदिनो भेदे ? न तावद्भेदिनो भेदे, भेद्यभावेन भेदस्याप्यभावप्रसङ्गात् । यदि भेदस्य भेदिन्यन्तर्भावस्तदा धर्मिप्रतियोगिविशिष्टस्य किं वा तदुपलक्षितस्येति विकल्प्य प्रथमपाकरोति ❀ स नेति ❀ । धर्मिविशिष्टस्य प्रतियोगिस्वरूपत्वे प्रतियोगिविशिष्टस्य वा धर्मिस्वरूपत्वे तयोरेकत्वप्रसङ्गादिति हेतुमाह ❀ यदिति ❀ । यच्च तत्परस्परं चेति यत्परस्परं यत्परस्परस्माद्भेदस्तत्परस्परमनन्तर्भाव्य तद्विशिष्टो भेद एव न सम्भवति, विशेषणादिव्यतिरिक्तविशिष्टपदार्थानङ्गीकारादित्यर्थः । अस्तु तर्हि प्रतियोग्युपलक्षितस्य भेदस्य धर्मिस्वरूपत्वमित्यत आह ❀ भेदो हीति ❀ । यदि भेदोपलक्षणं प्रतियोगितत्प्रतीतिमन्तरेणापि भेदप्रतीतिः स्यात्काकविगम इव देवदत्तगृहप्रतीतिः, न चैतदस्तीत्यर्थः । एतेन धर्म्युपलक्षितत्वमपि निराकृतम् । एतदेव विपक्षबाधेनोपपादयति ❀ अन्यथेति ❀ । धर्मिप्रतियोगिविशिष्टस्यैव भेदत्वात् ततोऽन्यस्य वस्तुस्वभावत्वाभ्युपगमे स्वरूपस्यैव नामान्तरकरणमापद्यत इत्यर्थं । पारिभाषिकं सङ्केतसिद्ध-

---

८. चतुर्विध भेद का खण्डन

यहाँ यह भी विचारणीय है कि घटपटादि-भेदग्राही प्रत्यक्षादि को जो अद्वैत-श्रुति के बाधक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उस बाधक की विषय वस्तु क्या है ? अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जो यह भेद गृहीत होता है, वह क्या (१) स्वरूपभेद है ? या (२) अन्योऽन्याभाव ? या (३) वैधर्म्य ? अथवा (४) इन कोटियों से भिन्न कुछ और ही ?

(१) **स्वरूप भेद-खण्डन**—प्रभाकर-सम्मत स्वरूप भेदवाद में भेद को जो अनुयोगीरूप माना जाता है, उसमें प्रतियोगी का भी समावेश हो जाता है, क्योंकि भेद के साथ प्रतियोगी का नित्य सम्बन्ध होता है—घटस्य भेदः । प्रतियोगि-निरपेक्ष भेद को लेकर 'भेदः स्वरूपम्'—ऐसा कहना केवल एक परिभाषा होगी, अतः घटस्य भेदः पटे पटस्वरूपः'—ऐसा ही मानना होगा,

भेदार्थः पटादेः स्वरूपं प्रत्यक्षेण गृह्यते, तदा घटोऽपि पटात्मन्येव प्रविष्ट इति पटघटयोरैक्यात्म्यमेव भेदग्राहिणा प्रत्यक्षेणाऽवगाहितमिति विपरीतमापद्यते।

ननु यथेयं प्रतीतिरभेदोल्लेखितया व्याख्यायते, तथा भेदोल्लेखित्वेऽपि दीयतामस्यां दृष्टिः। अभेदे हि 'घटः' इत्येव 'पटः' इत्येव वा बुद्धिः स्यात्, न तु 'घटाद्भिन्नः पटः' इति चेत्।

स्यादप्येष पर्यनुयोगो यद्यविद्याविद्यमानभावं भेदं पारमार्थिकमभेदमिच्छन्तोऽपि प्रत्यादिशामः। तस्मात्—

अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा।
तथा चाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात्॥ १८॥

मिति तेन धर्मिप्रतियोगिविशिष्टभेदस्य भावस्वभावत्वमभ्युपगन्तव्यम्, तथा च भेदग्राहितयाऽभिमतं प्रत्यक्षमभेदे पर्यवस्येदिति विपरीतार्थः संपत्स्यत इत्याह ❀ यदेति ❀। विशिष्टभेदस्य वस्तुस्वरूपाभेदे तदन्तर्गतस्य विशेषणभूतस्य घटस्य पटधर्मिस्वरूपत्वमापद्यते विशेषणाद्यनतिरेकाद्विशिष्टस्येत्यर्थः।

विशिष्टभेदस्य स्वभावत्वे प्रत्यक्षमभेदोल्लेखीति युक्त्याऽऽपाद्यते यथा तथा भेदोल्लेखितादा अपि युक्त्याऽऽपादयितुं शक्यत्वान्न वैपरीत्यमिति चोदयति ❀ नन्विति ❀। 'व्याख्यायते' व्युत्पाद्यते। अभेदोल्लेखस्य यौक्तिकत्वे विरुद्धभेदोल्लेखनं कथं यौक्तिकं स्यादित्यत आह ❀ अभेद इति ❀। 'घट' इति 'पटात्' इति च विलक्षणाकारबुद्धिविषयतया सिद्धं भेदोल्लेखनमित्यर्थः।

परमार्थतश्चन्द्रैक्येऽपि जलचन्द्राद्भिन्नः खस्थचन्द्र इति पटाभेदस्य पारमार्थिकत्वेऽविद्यासिद्धभेदाद्विलक्षणप्रतीतिविषयत्वमित्यभिप्रेत्य समादधाति ❀ स्यादिति ❀। अविद्यया विद्यमानो यो भावः सत्त्वं यस्य स तथोक्तस्तम्। ननु दूरस्थतरुगिर्योरभेदावभासे सत्यपि भेदः पारमार्थिको दृष्टः। तथा चात्र भेदः पारमार्थिको नाभेद इति कुतो विपरीतमेव किं नेत्याशङ्क्योपसंहारव्याजेन विनिगमनाहेतुमाह। ❀ तस्मादिति ❀। अभेदमुल्लिखन्ती न सती धीर्भेदोल्लेखनक्षमा न भवति। धर्मिप्रतियोगिनोरेकैकं स्वरूपं प्रतीत्यैव भेदस्य प्रत्येतव्यत्वात्। अतः स्वभेदप्रतीतिपुरस्सराभेदप्रतीतिस्ततः किमित्यत आह ❀ तथा-चेति❀। तथा सति सा धीः आद्ये भेदे प्रमा स्यादभेदे प्रमा न स्यात्। हेतुमाह ❀ स्वापेक्ष्यवैशसात् ❀। स्वापेक्ष्यस्योपजीव्याभेदस्य वैशसाद्बाधप्रसङ्गात्। न च तद्युक्तम्, उपजीव्याभेदप्रतीतेरुपजीवकभेदप्रतीत्यपेक्षया प्राबल्यादित्यर्थः।

भेद का पूर्ण स्वरूप है—घटप्रतियोगिक भेद, फलतः पट के स्वरूप में घट को भी समाविष्ट करना होगा, उसी का प्रत्यक्षतः ग्रहण होगा। जो प्रत्यक्ष प्रमाण चला था पट में घट का भेद ग्रहण करने के लिए, वह पट में घटस्वरूपता या घटात्मता का ग्रहण कर रहा है—यह तो अत्यन्त विपरीत दशा हो गई।

शङ्का—'घटस्य भेदः पटे'—इस प्रतीति की व्याख्या जैसे अभेदपरक की गई, वैसे ही भेदपरक भी की जा सकती है, क्योंकि घट और पट का यदि अभेद माना जाता है, तब उक्त स्थल पर 'घटः' या 'पटः' इतनी ही प्रतीति होनी चाहिए किन्तु वैसी प्रतीति न होकर घटाद् भिन्नः पटः'—ऐसी प्रतीति होती है, अतः घट पटात्मा कभी नहीं हो सकता।

समाधान—यह आप तब उपालम्भ देते, जब कि हम अविद्या-प्रयुक्त (व्यावहारिक) भेद का भी प्रत्यादेश (खण्डन) करते। हम (ब्रह्मवादी) तो पारमार्थिक अभेद मानते हुए भी व्यारहारिक भेद भी मानते हैं, भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—"अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च, पश्वादिभिश्चाविशेषात्" (ब्र०० सू० १।१।१)। अतः

अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा।
तथा चाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात्॥

अथ भेदः इत्येतावन्मात्रं पटस्य स्वरूपं घटादिति च तद्घटेन प्रतियोगिना अन्येनैव निरूप्यते; तदपि नोपपद्यते, निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात्। नित्यं प्रतियोगिघटित एव तस्मिन् प्रमाणप्रसरात् । का चेयं वाचो युक्तिर्यदन्यासाकाङ्क्षं पटस्य स्वरूपमन्येन प्रतियोगिना निरूप्यमाणं ततो भेदो भवतीति । न हि यत् स्वरूपेणैव नीलं तत्पीतेन निरूप्यमाणं नीलं भवति ।

प्रतियोग्युपलक्षिताभेदो धर्मिणः स्वरूपमिति मतं पुरस्तात् निरस्तमपि पुनरुद्भावयति दोषान्तराभिधित्सया ❀ अथेति ❀ । भेदस्य प्रतियोगिविशिष्टत्वाभावे तत्प्रतीतिपुरस्सरप्रतीतिनियमो न स्यादित्याशङ्क्याह ❀ घटादिति ❀ । उपलक्षणस्यापि प्रतीयमानतयैव व्यावर्तकत्वनियमात्—यथा राजहंसस्य प्रतीयमानस्य राजमन्दिरव्यावर्तकतया, तथा प्रतियोगिन उपलक्षणत्वेऽपि प्रतीयमान एव प्रतियोगिव्यावर्तक इत्यर्थः । उपलक्षणकाकाप्रतीतावपि तदुपलक्ष्यं देवदत्तगेहं यथा प्रतीयते तथा भेदस्यापि कदाचित्प्रतियोगिप्रतीतिमन्तरेणापि प्रतीतिः स्यात्, न च तदस्ति । नातः प्रतियोग्युपलक्षणमिति परिहरति ❀ तदिति ❀ । प्रतियोगिप्रतीत्यभावे इति व्यतिरेकमभ्यधात्, संप्रत्यन्वयमाह ❀ नित्यमिति ❀ । तदयं प्रयोगः । भेदः प्रतियोगिविशिष्टो भवितुमर्हति नित्यं तदनुरक्ततया प्रतीयमानत्वात्, यदेवं तदेवं यथौष्ण्यानुरक्तप्रतीयमानो वह्निस्तद्विशिष्ट इति । न चात्र क्वचिद्व्यभिचारशङ्का उक्तसाध्याभावे प्रतीतिनियतत्वाभावादिति द्रष्टव्यम् । यद्वा भेदः प्रतियोगिप्रतीतिमन्तरेणापि प्रतीयते तदुपलक्षितत्वाद्, गेहादिवदिति सामान्यतो दृष्टानुमानं प्रत्यक्षविरुद्धतया दूषयति ❀ नित्यमिति ❀ । यद् येन निरूप्यते तत्ततो भेदो न भवति यथा देवदत्तगेहमेव काकेन निरूप्यमाणं ततो भेदो न भवति तद्वत् । घटस्वरूपस्य पटेन निरूप्यमाणस्य ततो भेदत्वमनुपपन्नमित्याह ❀ का चेति ❀ । 'अन्यासाकाङ्क्षम्' अन्यनिरपेक्षमित्यर्थः । भेदस्य स्वभावत्वे प्रतियोग्यपेक्षया तथात्वप्रतीतिरनुपपन्ना स्वस्वभावतो नीलस्यानीलत्वप्रतीतौ प्रतियोगिपीताद्यपेक्षाभाववदित्याह ❀ न हीति ❀ ।

['घटः पटो न'—इस प्रतीति का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि 'न' का प्रयोग करने से पूर्व 'घटः पटः'—इस प्रकार अभेद का ही उल्लेख होता है, जो कि श्रुति-समर्थित है—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छां० ६।१।१) । "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (मुं० २।२।११) । अविद्या-दशा में आकर उस अभेद का 'न' से निषेध किया जाता है, निषेध सदैव प्रतियोगि-सापेक्ष होता है, अभेद का उल्लेख हो जाने पर ही भेद का उल्लेख होता है, अन्यथा नहीं । अथवा स्वरूप भेदवाद के दृष्टिकोण से प्रतियोगी और अनुयोगी के स्वरूप का उल्लेख हो जाने पर ही भेद का उल्लेख होगा । प्रतियोगी का प्रवेश अनुयोगी के स्वरूप में होकर प्रतियोगी और अनुयोगी का अभेद स्थिर हो जा चुका है, अतः अभेद का उल्लेख न करके भेद का उल्लेख कभी हो ही नहीं सकता । आद्य (अभेद) को लेकर उक्त प्रतीति अवाधितार्थ विषयक होने से प्रमा और अन्तिम (भेद) को विषय करने पर वही प्रतीति अप्रमा हो जाती है, क्योंकि स्वापेक्षित अभेद के द्वारा वाधितार्थ (भेद) को विषय करती है] ।

शङ्का—घट का भेद अवश्य ही पट का स्वरूप है, किन्तु घटोपलक्षित भेद, घट-विशिष्ट भेद नहीं, अतः केवल भेद के पटस्वरूप होने पर भी घट उसमें प्रविष्ट नहीं होता, वह पट से भिन्न रह कर ही भेद का निरूपक होता है, अतः घट-पटादि का अभेद प्रसक्त नहीं होता।

समाधान—प्रतियोगि-निरपेक्ष केवल भेद किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता, सदैव प्रतियोगी से घटित भेद में ही प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। आप की 'अन्येनानिरूपितं पटस्य स्वरूपमेव अन्येन प्रतियोगिना निरूप्यमाणं भेदो भवति'—यह वचोभङ्गी अत्यन्त विपरीत-सी है, क्योंकि जो स्वरूपतः नील पदार्थ है, वह कभी पीतादि से निरूपित होकर नील नहीं होता, अर्थात् वस्तु का स्वरूप कभी भी अन्य से निरूपित नहीं होता, अतः पट का भेदात्मक स्वरूप

यदपि चोक्तम्—'प्रतियोगिना घटेन निरूप्यमाणं पटस्य स्वरूपं भेदः' इति। तत्रापि पटं प्रति प्रतियोगित्वं घटस्य किं स्वरूपं किं वा धर्मः कश्चित्?

यदि प्रथमः, तदा पटं प्रति प्रतियोगित्वमित्येतावानेवार्थो घटस्य स्वरूपं भवद् आत्मन्येव पटमपि प्रक्षिपतीति कथं नाद्वैतमेव पर्यवस्यति?

तत्रापि यदि प्रतियोगित्वमात्रं घटस्याऽऽत्मा, 'पटं प्रति' इति च पटापेक्षित्वमन्यदेव। तदप्यनुपपन्नम्, अकिञ्चिदपेक्षस्य प्रतियोगित्वस्य प्रमाणाविषयत्वात्। 'पटं प्रति' इत्यत्रापि च स्वरूपतदन्यविकल्पे दोष एव।

नापि द्वितीयः, योऽसौ धर्मः पटं प्रति प्रतियोगित्वं तस्याऽऽत्मनि पटोऽपि

अभावस्य प्रतियोगिविशिष्टत्वाभावेऽपि प्रतियोगिनिरूप्यत्ववद्भेदस्यापि किन्न स्यादित्याशङ्कयोररीकृत्यापि दूषणान्तरमाह ❀ यदपीति ❀। प्रतियोगित्वमपि प्रतियोगिनः स्वरूपं किं वा धर्म इति भेदवद्विकल्पयति ❀ तत्रेति ❀। स्वरूपपक्षमनुवदति ❀ यदीति ❀। तदा पटाख्यधर्म्यंशविशिष्टप्रतियोगित्वं घटस्वरूपं किं वा तदुपलक्षितं प्रतियोगित्वमात्रमिति विकल्प्य प्रथमेऽद्वैतपर्यवसायितया दूषयति ❀ तदेति ❀। तदा पटविशेषितप्रतियोगित्वस्य घटस्वरूपत्वे पटस्यापि घटात्मनि अनुप्रविष्टत्वादद्वैतं पर्यवस्यद्विशेषणादिव्यतिरिक्तानङ्गीकाराद्विशिष्टस्य प्राभाकरवैशेषिकैरित्यर्थः। पटोपलक्षितप्रतियोगित्वमात्रस्य घटस्वरूपत्वमिति द्वितीयोऽस्तु गदितावद्याप्राप्तेरिति शङ्कते ❀ तत्रेति ❀। तत्रापि 'पटं प्रति प्रतियोगित्वमिति रूपेऽपि प्रतियोगित्वमात्रं घटस्वरूपम्, पटं प्रतीति तु पटापेक्षत्वं पटापेक्षया प्रतीयमानत्वमुपलक्षणतया बहिर्भूतमित्यर्थः। तत्रापीत्यपिशब्दो यथा पटोपलक्षितभेदमात्रं घटस्वरूपं तद्वदिति समुच्चयार्थः। प्रतियोगित्वस्य धर्म्यंशसापेक्षतयैव प्रतीतेर्न प्रतियोगित्वमात्रं स्वरूपं लभते तेनायुक्तं तदुपलक्षितं प्रतियोगित्वमात्रं घटस्वरूपमितीति परिहरति ❀ तदपीति ❀। 'अकिंचिदपेक्षस्येति' स्वतन्त्राननुभवादित्यर्थः। भवतु वा प्रतियोगित्वं धर्म्यंशोपलक्षितं तथाऽपि पटं प्रति प्रतियोगित्वमित्यत्र पटं प्रतीत्ययमंशो घटस्य स्वरूपमुत धर्मः? स्वरूपं चेतद्वैतपर्यवसानम्। धर्मश्चेत् धर्मधर्मिणोः स्वभावसम्बन्धस्य वक्ष्यमाणत्वादद्वैतपर्यवसानमिति प्रागुक्तविकल्पदोषावतिदिशति ❀ पटं प्रतीति ❀।

पटं प्रति प्रतियोगित्वं घटस्य धर्मं इति द्वितीयं दूषयति ❀ नेति ❀। निष्प्रतियोगिकप्रतियोगित्वस्य प्रमाणाविषयत्वात्पटं प्रतीत्यस्य घटधर्म्मप्रतियोगित्वविशेषणत्वेन पटोऽपि तत्रानुप्रविष्ट इति

भी कभी अन्य घटादि से निरूपित नहीं हो सकता।

यह जो कहा है कि 'प्रतियोगिना घटेन निरूप्यमाणं पटस्य स्वरूपं भेदः'—वहाँ भी भेदात्मक पट से निरूपित घटगत प्रतियोगित्व क्या घट का स्वरूप है? अथवा कोई धर्म? प्रथम कल्प के अनुसार पट को भी घट के स्वरूप में समाविष्ट करना होगा, क्योंकि घट के स्वरूपभूत प्रतियोगित्व का विशेषणरूप पट उससे पृथक् नहीं रह सकता, अतः पटनिरूपितप्रतियोगित्व को घट का स्वरूप मानने पर पट को बाहर नहीं रखा जा सकता, फलतः पट को घटात्मा मानना अद्वैतवाद ही है।

यहाँ पर भी पट को उपलक्षण मानकर यदि प्रतियोगित्व मात्र को ही घट का स्वरूप माना जाता है, तब भी वही आपत्ति बनी रहती है कि अन्य किसी से निरूपित न होकर केवल प्रतियोगित्व किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता। 'पटं प्रति'—यहाँ पर भी पट-निरूपितत्व क्या प्रतियोगित्वस्वरूप घट का स्वरूप है? अथवा धर्म?—इत्यादि विकल्पों के फन्दे में लाकर वादी को अद्वैतवाद मानने पर विवश किया जा सकता है।

यह जो द्वितीय विकल्प में कहा गया था कि पट-निरूपित घटगत प्रतियोगित्व घट का धर्म है। वैसा मानने पर पट को भी घट का धर्म मानना होगा, क्योंकि 'पट-निरूपित प्रतियोगित्व'—इतना घट का धर्म है, उसमें पट भी समाया हुआ है। इसी तर्क-शैली के आधार

प्रविशतीति तेन सह पटस्याद्वैतं स्यात्। यदा च पटो घटस्य धर्मतामापन्नस्तदा घटोऽपि पटस्य धर्मतामनेनैव न्यायेन गच्छेत्। न हि पटप्रतियोगित्वस्य घटेन प्रतियोगिना निरूप्यमाणत्वे घटस्याऽन्या गतिरस्तीति परस्पराश्रितत्वमाश्रयत्वं च स्यात्। न च कस्यचित् प्रमाणस्य विषयो घटारूढः पटस्तत्पटारूढश्च स एव घट इति।

किञ्च धर्मस्य तस्य धर्मिणा सममसंबन्धेऽतिप्रसङ्गः, सम्बन्धानन्त्येऽनवस्था, प्रथमतोऽन्ततो गत्वा वा स्वभावसम्बन्धाभ्युपगमे सम्बन्ध्यन्तरस्यापि तत्स्वभावप्रवेशादभेद एव पर्यवसानं स्यादिति। एवमन्यस्मिन्नपि धर्मविकल्प इति। तस्मात् स्वरूपभेदे प्रमाणं भवत् प्रत्यक्षमद्वैत एव प्रमाणं भवति।

ननु घटादिकमेव यदाऽन्यानपेक्षं वीक्ष्यते, तदा घटादिकमित्येव प्रतीयते। यदा

प्रतियोगित्वेन सह पटस्यैक्यं स्यादित्यर्थः। प्रतियोगित्वधर्म्मेण पटस्यैक्येऽपि धर्म्मिणा घटेनाभेदो नास्ति, तत्कथमद्वैतपर्यवसानमित्यत आह ❀ यदेति ❀। ❀ अनेन न्यायेनेति ❀। निष्प्रतियोगिकप्रतियोगित्वस्य प्रमाणाविषयत्वादित्याविनोक्तेनेत्यर्थः। शौक्ल्यस्य पटधर्म्मत्वेऽपि पटस्य शौक्ल्यधर्म्मत्वाभाववत्पटस्य घटधर्म्मत्वेऽपि न घटः पटधर्म्मः स्यादित्यत आह ❀ न हीति ❀। वाच्यत्वमेयत्वयोरिव घटपटयोरपि परस्परधर्मधर्मिभावः किं न स्यादित्यत आह ❀ इतीति ❀। अन्योन्यधर्मत्वप्रयुक्त्याश्रयत्वमन्योन्यधर्म्मित्वप्रयुक्त्याश्रयत्वं वाऽस्त्विति चेन्नैवम्, प्रमाणाभावात्प्रमाणविरोधाच्चेत्याह ❀ न चेति ❀। पूर्वं धर्मधर्मिभावमभ्युपगम्योक्तमिदानीं स एव न सम्भवतीत्याह ❀ किं चेति ❀। धर्मस्य धर्मिणा सह सम्बन्धोऽस्ति न वा? न चेत्, सर्वं सर्वस्य धर्मः स्याद्, असम्बन्धाविशेषादित्यर्थः। अस्ति चेत्, तस्यापि सम्बन्धस्य सम्बन्धान्तरमिति सम्बन्धानन्त्यम्, उत कश्चित्सम्बन्धः सम्बन्धान्तरनिरपेक्षः? आद्येऽनवस्थेत्याह ❀ सम्बन्धेति ❀। द्वितीयं प्रत्याह ❀ प्रथमत इति ❀। अनवस्थापरिहाराय कस्यचित्सम्बन्धस्य सम्बन्धिस्वभावत्वे सम्बन्ध्यन्तरस्यासम्बन्धविशेषणत्वेन सम्बन्ध्यन्तरस्वभावानुप्रवेशादद्वैतं स्यादित्यर्थः।

एवं तर्हि घटशौक्ल्ययोर्धर्मधर्मिभावे का गतिरित्याशंक्य तस्यापि वास्तवत्वायोगात्काल्पनिक एव स इत्युक्तन्यायमतिदिशति ❀ एवमिति ❀। 'स्वरूपभेदवादे प्रत्यक्षस्याद्वैतश्रुत्यैकार्थत्वमुपपादितमुपसंहरति। ❀ तस्मादिति ❀।

स्वहेतुसमासादितभावस्वभावभेदस्यान्यापेक्षोत्पत्तिर्यद्यपि न सम्भवति तथापि प्रतीतौ परापेक्षेति शङ्कते ❀ नन्विति ❀। घट इति प्रतीत्या भेदप्रतीतिरेकाकारा किं वा विलक्षणाकारा? न तावदेकाकारा,

---

पर घट को भी पट का धर्म सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि पटगत घटनिरूपित प्रतियोगित्व की भी वही गति है—इस प्रकार घट और पट में परस्पर धर्मत्व और आश्रयत्व प्रसक्त होता है, किन्तु किसी भी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता कि घट में पट और उसी पट में घट रहता है।

दूसरी बात यह भी है कि उक्त प्रतियोगित्वरूप धर्म का घट के साथ कोई सम्बन्ध है? या नहीं? सम्बन्ध के बिना तो वह धर्म कहीं भी माना जा सकता है और कोई सम्बन्ध मानने पर उसका भी सम्बन्धान्तर और उसका भी अन्य सम्बन्ध—इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है। पहले ही या अन्त में जाकर किसी का स्वरूप सम्बन्ध मानने पर सम्बन्धान्तर का भी स्वरूप में प्रवेश होकर अद्वयवाद में पर्यवसान हो जाता है। इसी प्रकार अन्य धर्मों के विकल्प में भी दोष-राशि और अद्वयवाद की प्राप्ति होती है। अतः स्वरूपात्मक भेद का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण अद्वयवाद का ही साधक सिद्ध होता है।

शङ्का—घटादि जब अन्य से अनपेक्षित रूप में देखे जाते हैं, तब तो वे घटादि ही माने जाते हैं, किन्तु जब पटादि से निरूपित होते हैं, तब उन्हे भेद कहा जाता है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

पुनः पटादिना निरूप्यते, तदा ततो भेद इति प्रतीयते। नैवम्, घटादिकमित्येवंभूतप्रतीतेस्तावद्भेदप्रतीतिर्विलक्षणा, सा च न घटादिमात्रेण स्वविषयेण अन्यथाकारा भवितुमर्हति।

न च पटादिकमधिकं तदा प्रकाशत इति विशेषः स्यात्, घटपटविषयप्रतीतितोऽपि वैलक्षण्यात्। न हि 'घटः पटश्च' इति 'घटात् पटो भिन्नः' इति प्रतीत्योरेकार्थकत्वं कश्चित् प्रत्येति। तत् कस्य हेतोः? पञ्चम्या प्रथमया च वैकल्पिकं निर्देशमसहमानयैव प्रतीतिकलहनिरासात्। न हि घटः पटश्चेति प्रत्येतव्ये कश्चिद् घटात्

सति 'घट'-'भेदप्रतीति'-शब्दयोः पर्यायत्वप्रसङ्गादिति प्रथमं दूषयति ※ नैवमिति ※। प्रतीतिवैलक्षण्येऽपि अर्थवैलक्षण्याभावाद् विलक्षणाकारेति द्वितीयः कल्पोऽसिद्धत्वरयत आह ※ सेति ※। घटभेदप्रतीती भिन्नविषये विलक्षणाकारप्रतीतित्वाद् घटपटविषयप्रतीतिवद्, विपक्षे प्रतीतिवैलक्षण्यमेव न स्यादित्यर्थः। घटव्यतिरेकेण पटादेरपि तदा प्रतीतेर्वैलक्षण्यप्रतीत्योरन्यथासिद्धमित्याशंक्याह ※ न चेति ※। घटपट विषयप्रतीतितोऽपि भेदप्रतीतेर्वैलक्ष्ण्यादिति हेतुमाह ※घटेति※। भेदप्रतीतेर्घटादिप्रतीतौ वैलक्षण्यमनुभवेनोपपादयति ※ न हीति ※। विप्रतिपन्नो नानुभवेनैव बोधयितुं शक्यः, 'ममैवमनुभवाद्विपरीतानुभवाद्वेति' प्रत्युत्तरयितुं तथापि शक्यत्वादिति पृच्छति ※ तदिति ※। घटादिप्रतीत्या सह भेदप्रतीतेरेकार्थत्वं न कश्चित् प्रत्येतीत्येतत् कस्य हेतोः कस्मात्प्रमाणादित्यर्थः। अभिवदनव्यवहारस्याभिन्नाव्यवहारपुरस्सरत्वनियमादभिन्नाव्यवहारवैलक्षण्यमन्तरेणाभिवदनव्यवहारवैलक्षण्यानुपपत्तेस्तद्वैलक्षण्यमेव प्रतीतिवैलक्षण्यं साधयतीत्याह ※ पञ्चम्येति ※। पञ्चम्याः प्रतियोगिविषयतया प्रथमया च धर्मिविषयतया प्रतीतिकलहस्य घटादिप्रतीतितो भेदप्रतीतेर्वैलक्षण्यानुभवविप्रतिपत्तेर्निरासासामर्थ्यं वर्णयति ※ वैकल्पिकमिति ※। विकल्पसम्बन्धि वैकल्पिकम्, विकल्पश्चात्र व्यवस्थितः—प्रतियोगित्वविवक्षायां पञ्चम्येव प्रयोक्तव्या न प्रथमा, धर्मित्वविवक्षायां प्रथमा नेतरेति। घट इति प्रतीत्या घटात्पटो भिन्न इति प्रतीतिरेकरूप्यं यदि स्यात् तदा वैकल्पिकनिर्देशो न स्यात्। घटविषयप्रतीतिद्वयस्यैकरूप्ये घट इति प्रयोगवैरूप्याभाववदित्यर्थः। व्यवहारवैलक्षण्यं च वृद्धव्यवहारे प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रोर्नियतप्रयोगप्रत्ययदर्शनान्नोपलक्षयितुं शक्यम्, अतिप्रसङ्गादित्याह ※ नेति ※। यथा घटस्वरूपस्य प्रतियोगिनैरपेक्ष्यं स्वप्रतीतावेतावन्मात्रस्य भेदस्यापि प्रतियोगि-

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्य सदसदात्मके।
वस्तुनि—ज्ञायते किञ्चिद् रूपं कश्चित् कदाचन॥ (श्लो० वा० पृ० ४७६)

समाधान—केवल घटविषयक 'घटः'—इत्याकारक प्रतीति से भेदविषायणी पटाद्-भिन्नो घटः'—ऐसी प्रतीति विलक्षण है, वह केवल घटरूप विषय को लेकर अन्यथा (घट-भेदाकार) नहीं हो सकती, फलतः घट से भिन्न भेद की पृथक् सत्ता माननी होगी, जिसको लेकर भेद की प्रतीति उपपन्न होगी [यहाँ यह अनुमान-प्रयोग विवक्षित है—घटज्ञानभेदज्ञाने भिन्नविषयके, विलक्षणाकारत्वाद्, घटपटविषयकज्ञानवत्]।

शङ्का—घटविषयक प्रतीति की अपेक्षा 'पटाद् घटो भिन्नः'—यह प्रतीति अवश्य ही विलक्षण है, किन्तु विलक्षणता का कारण पटरूप प्रतियोगी या निरूपक का उसमें अधिक भान होना है, भेद का अधिक भान होना नहीं, क्योंकि भेद घटरूप धर्मी से अतिरिक्त नहीं।

समाधान—पट का अधिक भान तो 'पटो घटश्च—इस प्रतीति में भी है, किन्तु उससे भी 'पटाद् घटो भिन्नः'—यह प्रतीति विलक्षण है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति 'पटो घटश्च' और 'पटाद् घटो भिन्नः'—इन दोनों प्रतीतियों को समानविषयक या अविलक्षण नहीं मानता। उसका कारण क्या? कारण यह है कि 'पटो घटश्च'—इस वाक्य में दोनों पदों में प्रथमा विभक्ति और 'पटाद् घटः'—इस वाक्य में एक पद में पञ्चमी तथा दूसरे में प्रथमा है। यदि दोनों वाक्यों में 'पट' पद के उत्तर प्रथमा और पञ्चमी का विकल्पतः विधान होता, तब अवश्य

पटो भिन्न इति प्रत्येति । तस्माद् घटस्य न स्वरूपनिरूपणे पटप्रतीत्यपेक्षा ।

न च यत्प्रतीतिर्यत्प्रतीतेः कारणं स्यात्, तत्र तस्याः कारणभूतायाः प्रतीतेर्योऽर्थः 'तस्माद् अयम्' इति कृत्वा कार्यभूतायाः प्रतीतेरर्थः प्रतीयते। मा भून्निर्विकल्पकार्थादेवं सविकल्पकार्थस्य प्रतीतिः। मा च सादृश्यादेरेवं स्मर्यमाणादेः स्यात्।

निरपेक्षैव प्रतीतिरेष्टव्येत्युपसंहरति ॐ तस्मादिति ॐ ।

अर्थगतवैलक्षण्यमन्तरेणापि वैकल्पिकनिर्देशो घटते कारणप्रतीतिविषयत्वस्य पञ्चमीवाच्यत्वे प्रयोजकत्वात्कार्यप्रतीतिविषयत्वस्य प्रथमानिर्देश्यत्वे प्रयोजकत्वादित्यत आह ॐ न चेति ॐ । यस्य प्रतीतिर्यत्प्रतीतेः कारणं स्यात्तत्र तयोः प्रतीत्योर्मध्ये तस्याः कारणभूतायाः प्रतीतेर्योऽर्थस्तस्मादयमिति कार्यभूतप्रतीतेरर्थो न प्रतीयत इत्यन्वयः । अन्यथाऽतिप्रसङ्गादित्याह ॐ मा भूदिति ॐ । निर्विकल्पकप्रतीतेः सविकल्पकप्रतीतिकारणत्वान्निर्विकल्पकप्रतीतिगोचरात्सविकल्पप्रतीतिगोचरस्य 'तस्मादयमिति' प्रसङ्गः स्यात्, स मा भूदित्यर्थः । सविकल्पककारणभूतप्रतीतिगोचरत्वं 'तस्मादिति' वाच्यत्वे प्रयोजकम्, नातो निर्विकल्पकार्थस्य 'तस्मादिति' वाच्यत्वप्रसङ्ग इत्याशंक्याह ॐ मा चेति ॐ । सदृशसन्दर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारादुपपद्यते संवेदनं स्मरणरूपम्, तत्र च सादृश्यसंवेदनस्य स्मरणकारणत्वात्कारणप्रतीतिगोचरात्सादृश्यात्-'स' इति-स्मर्यमाणार्थस्य प्रतीतिः स्यात् । आदिशब्देन पूर्वानुभवस्य संस्कारद्वारा प्रत्यभिज्ञानकारणत्वात् प्रत्यभिज्ञायमानस्य पूर्वानुभवगोचराद् 'अयमिति'-प्रतीतिः स्यादित्यर्थः ।

केचिदिमं ग्रन्थमन्यथा पठन्ति-"सा च सादृश्यादेरिति" तेषामित्थं योजना । कथं तर्हि तत्प्रतीतिरित्यत आह ॐ सा चेति ॐ । निर्विकल्पकेन यदा गवयसादृश्यं कर्णखुरत्वादि गवि गृह्यते तदा तदपेक्षया गोसादृश्ये गवय इति सविकल्पकप्रत्ययो भवति, न च 'तस्मादिति' पंचम्या निर्दिश्यते। तथा विशेषणविशेष्यसम्बन्धानां स्वरूपग्रहणं विशिष्टप्रतीतेः कारणम्, तथाऽपि तत्र दण्डाद् दण्डी शौक्ल्याद् घट इति वा विशिष्टप्रतीतिः ॥

तेषां पक्षे "एवमिति" च भिन्नग्रन्थः । तच्चोदाहरणान्तरपरम् । अयमर्थः—अनुभवात् स्मृतिर्भवति, नैतावताऽनुभवविषयप्रतियोगिका स्मर्यमाणप्रतीतिः । आदिशब्देन प्रत्यभिज्ञानादिस्थलं गृह्यत

दोनों वाक्य समानविषयक प्रतीति के जनक माने जा सकते थे, किन्तु वैसा नहीं, अपि तु प्रथम वाक्य में 'पट' पदोत्तर "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (पा. सू. २।३।४२) इस सूत्र से नित्य प्रथमा और दूसरे वाक्य में 'पट' पदोत्तर "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" (पा० सू० २।३।२९) इस सूत्र से नित्य पञ्चमी विहित है, अतः दोनों वाक्य विलक्षणार्थविषयक ज्ञान के जनक होते हैं। भेद यदि घट का स्वरूप होता, तब स्वरूप के निरूपण में पटरूप प्रतियोगी की अपेक्षा न होती ।

शङ्का—पटात्' ऐसे पञ्चम्यन्त प्रयोगमात्र से घटस्वरूप से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि स्वरूप-प्रतीति में भी कदाचित् पञ्चम्यन्त पद का प्रयोग हो जाता है, जैसे 'धूमादग्निः' । जो प्रतीति (धूम-प्रतीति) जिस प्रतीति (अग्नि-प्रतीति) का कारण होती है, उस प्रतीति (कारणभूत धूम-प्रतीति) के विषयीभूत पदार्थ (धूम) से भी कार्यभूत प्रतीति (अग्नि-प्रतीति) की विषयभूत (अग्नि) वस्तु प्रतीत होती कही जाती है—'तस्मादयं प्रतीयते' । किसी घट की प्रतीति में पट की प्रतीति भी अपेक्षित हो गई होगी, उसके लिए कह दिया गया—'पटाद् घटः' । इस वाक्य का भी तात्पर्य पट-प्रतीतिहेतुक घटस्वरूप-प्रतीति के उत्पादन में ही है, उससे अधिक भेद की प्रतीति के जनन में नहीं ।

समाधान—निर्विकल्पक-प्रतीति से सविकल्पक की प्रतीति, सादृश्य-प्रतीति से स्मर्यमाणार्थ की प्रतीति होती है, अतः निर्विकल्पादर्थात् (गोत्वात्) सविकल्पकोऽर्थः (गौः), 'सादृश्यात् स्मर्यमाणोऽर्थः'—ऐसा भी प्रयोग होना चाहिए । किन्तु वैसा होता नहीं, अतः 'पटः'

'पटो घटाद्भिन्नः' इत्याद्याकारेण घटादेर्भेद एव भेदावधिभूतघटादिसंघटितः स्फुटं सर्वलोकसाक्षिकः प्रतीयमानो नैकप्रतीतेरन्यप्रतीत्यपेक्षामात्रेण समर्थयितुं शक्योऽतिप्रसङ्गादिति ।

(२) अत एवान्योऽन्याभावं भेदमवगाहमानं प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमित्यपि निरस्तम् । अन्योन्याभावोऽपि यस्माद् भेद एष्टव्यस्तमात्मन्येवान्तर्भावयेदुक्तयुक्तिभिः ।

किञ्च घटपटयोस्तद्वदन्ययोश्च तादात्म्यमन्योन्याभावस्य प्रतियोगि मन्तव्यम् । तद्यदि सर्वथा नेष्यते, तदा तद्विशिष्टस्तदुपलक्षितो वाऽन्योन्याभावोऽपि न प्रमाणेन प्रत्येतुं शक्यः । न हि शशविषाणविशिष्टस्तदुपलक्षितो वा कश्चित् प्रामाणिको भवितु-

इति । भेदो न परसापेक्षव्यवहृतिः परनिरपेक्षोत्पत्तित्वात्, परनिरपेक्षज्ञप्तित्वाद्वा, घटस्वरूपवदिति व्यवहृतावपि प्रतियोग्यपेक्षां भेदस्य पराकुर्वन्नुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀ । भेदो न पटस्वरूपम्, पटसम्बन्धित्वात्, शौक्ल्यवत्, तत्सम्बन्धित्वं चासति बाधके षष्ठ्या निर्दिश्यमानत्वाच्छौक्ल्यवदित्यभिप्रेत्याह ❀ पटादेरिति ❀ । भेदो न पटादिस्वरूपं नियमेन प्रतियोगिघटितत्वात् प्रतियोगित्ववदित्याह ❀ भेदेति ❀ । भेदस्यावधिभूतः स च घटादिश्चेति भेदावधिभूतघटादिः तेन संघटितः । नियमेन प्रतियोगिविशिष्टत्वस्यासिद्धिं परिहरति ❀ सर्वेति ❀ । एकप्रतीतेरन्यप्रतीत्यपेक्षामात्रेण समर्थयितुमशक्योऽतिप्रसङ्गादिति सविकल्पकप्रत्ययस्य निर्विकल्पकप्रत्ययापेक्षामात्रेण तस्य 'तस्मादिति' प्रसङ्गादित्यर्थः ।

एवं तावत्स्वरूपभेदमवगाहमानं प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमिति मतं निरस्य सम्प्रत्यन्योन्याभावभेदमवगाहमानं श्रुतिबाधकमिति द्वितीयं दूषयति । ❀ अत इति ❀ अन्योन्याभावस्य धर्मिस्वरूपातिरिक्तस्यैव भेदत्वाभ्युपगमान्न स्वरूपभेदपक्षोक्तदोषातिदेशो युक्तो न्यायसाम्याभावादित्याशंक्य न्यायसाम्यं दर्शयति ❀ अन्योन्येति ❀ । प्रतियोग्युपलक्षितोऽन्योन्याभावो धर्म्मः, किं वा विशिष्टः ? न तावदुपलक्षितः, प्रतियोग्यनपेक्षस्य तस्य प्रमाणाविषयत्वात् । विशिष्टस्य धर्म्मत्वे जगत्प्रतियोगिकस्य पटधर्म्मत्वेन जगतोऽपि पटधर्म्मत्वं स्यात् । ततश्च धर्म्मधर्म्मिणोः स्वभावसम्बन्धस्याभ्युपेयतयाऽद्वैतं पर्यवस्येदित्यर्थः ।

अन्योन्याभावस्य किं तादात्म्यं प्रतियोगि, उत स्वधर्म्यादिरूपम्, आहोस्विद् घटत्वादिसामान्यमिति विकल्प्य प्रथमकल्पे भिन्नयोरभिन्नयोर्वा तादात्म्यानिरूपणादन्योन्याभावोऽपि दुर्निरूप इत्याह ❀किं चेति❀ । ययोरन्योन्याभाव इष्यते तयोस्तादात्म्यमस्ति, न वा ? अस्ति चेत्, अनिषेध्यत्वमित्यभिप्रेत्य नास्तित्वपक्षमनुवदति ❀ तदिति ❀ । तादात्म्यमन्योन्याभावस्य विशेषणमुतोपलक्षणम् ? उभयथाऽपि तस्याप्रामाणिकत्वेऽन्योन्याभावस्यापि अप्रामाणिकत्वमिति दूषयति ❀ तदेति ❀ । विशेषणादेर्विशेष्यादितोऽन्यत्वात्तस्याप्रमाणिकत्वे विशेष्यादेरप्रामाणिकत्वं कथमतिप्रसङ्गादित्याशंक्याह ❀ न हीति ❀ । यद्वा शशविषाणं गोविषाणं न भवति, गोविषाणं वा न शशविषाणमित्यत्र शशविषाणस्याप्रामाणिकत्वेऽपि तदन्योन्याभावः

घटाद् भिन्नः—इस रूप में भेद की अवधि (प्रतियोगी भूत घट) से संवलित घट-भेद ही स्फुट प्रतीयमान है, सभी शब्द-मर्यादाभिज्ञ विद्वान् उसके साक्षी है, ऐसे भेद का समर्थन इतना कह देने मात्र से नहीं किया जा सकता कि "यत्प्रतीतिर्यत्प्रतीतेः कारणम्" इत्यादि ।

(२) अत एव न्याय-सम्मत अन्योऽन्याभावरूप भेद का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि 'पटस्यान्योऽन्याभावो घटे'—यहाँ पर अन्योऽन्याभाव भी अपने निरूपकीभूत पटादि को समेटता हुआ घट के स्वरूप में समा जाता है—इस प्रकार अद्वैतवाद ही ऊपर कथित युक्तियों से सिद्ध होता है ।

दूसरी बात यह भी है कि घट-पट के समान ही दो भिन्न पदार्थों का तादात्म्य ही अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगी मानना होगा । वह तादात्म्य (घट-पट का या अभेद) यदि आप (नैयायिक) किसी प्रकार भी नहीं मानते, तब तादात्म्य से विशिष्ट या उपलक्षित अन्योऽन्याभाव किसी भी प्रमाण से प्रमित न हो सकेगा, क्योंकि शशविषाण से विशिष्ट या उपलक्षित

मर्हति । तत् कस्य हेतोः ? तस्मिँस्तद्विशिष्टरूपेऽर्थे तादृशि चोपलक्षणव्यवच्छिद्यमानात्मनि प्रमाणं निविशमानं विशेषणमपि तदीयं तदुपलक्षणमपि वा नानुल्लिख्य ग्रहीतुं प्रभवति । तस्मिँश्च अत्यन्तमसत्येवालम्बने न तत्प्रामाण्यं शक्यसमर्थनम् ।

न च वाच्यं पटप्रतियोगिको घटमाश्रितोऽसौ अभावोऽभ्युपगम्यमानो नात्यन्तासत्प्रतियोगिकतादोषमावक्ष्यतीति । तथा सति संसर्गाभावादन्योन्याभावस्य को विशेषः स्यात् ? न हि यथा घटाभावः पटसंसर्गीति घटसंसर्गाभावं पटे समर्थयसे, तथा घटाभावः पटात्मक इति तत्तादात्म्याभावं पटस्य स्वीकरिष्यसि । तस्मात्तादात्म्यं संसर्गं च प्रतियोगिकोटावन्तर्भाव्य अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्वैलक्षण्यमभ्युपेयम् । तथा सति चात्यन्तासत्प्रतियोगिता दुर्वारा ।

न च वाच्यं 'घटे पटत्वं नास्ति, पटे च घटत्वं नास्ती'त्येतावन्मात्रपर्यवसितैव

प्रतीयत इत्याशंक्याह ❀ न हीति ❀ । अन्योन्याभावस्याप्रामाणिकस्य तस्याप्यनङ्गीकारात्साध्यसमो दृष्टान्त इत्यर्थः । उक्तमेवार्थं विशदयितुं परमुखेन पृच्छति ❀ तदिति ❀ । येन प्रमाणेन विशिष्टमुपलक्षितं वा गृह्यते तेन प्रमाणेन विशेषणाद्यपि न गृह्यते गृह्यते वेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ तस्मिन्निति ❀ । नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्यायाद्विशेषणानवगाहि प्रमाणं न विशिष्टमवगाहितुमीष्टे । उपलक्षणं च न सत्तामात्रेण व्यावर्तकमतिप्रसङ्गात्, अपि तु व्यावर्त्यसम्बन्धितया प्रतीयमानम्, अत उपलक्षणमगृह्णत्रोपलक्षितमपि गृह्णातीत्यर्थः । विशिष्टादिप्रमाणं विशेषणादिकमपि गृह्णातीति द्वितीयं पराचष्टे ❀ तस्मिन्निति ❀ । प्रमीयतेऽर्थोऽनेनेति हि प्रमाणमसत्यर्थे किं प्रमापयत् प्रमाणं स्यादित्यर्थः । घटपटयोस्तादात्म्यं अन्योभावप्रतियोगि न भवति, किं तु पटादिस्वरूपम्, अतो नोक्तदोष इति द्वितीयं कल्पं दूषयति । ❀ न चेति ❀ । 'आवक्ष्यति' आवहति । संसर्गाभावादन्योन्याभावस्य भेदाभावप्रसङ्गादित्याह ❀ तथेति ❀ । अभावस्य स्वारसिकविशेषानधिकरणत्वात्प्रतियोगिधर्मिद्वारा विशेषो वाच्य इत्यर्थः । अन्योन्याभावस्य संसर्गाभावस्य च यद्यपि घट एवैकः प्रतियोगी, तथाऽपि पटधर्मः संसर्गाभावस्तदात्मकोऽन्योन्याभाव इति विशेष इत्याशंक्याह ❀ न हीति ❀ । भावान्तरमभाव इति नैयायिकैरनङ्गीकारादपसिद्धान्तापातादित्यर्थः । एवं पटादिस्वरूपमन्योन्याभावप्रतियोगीति द्वितीयं निरस्य तादात्म्यमेव प्रतियोगीति प्रथमं पक्षं परिशेषयति ❀ तस्मादिति ❀ । तादात्म्यस्य प्रमितत्वे द्वैतापत्तिरप्रमितत्वेऽअसत्प्रतियोगितादोषस्तदवस्थ इत्याह ❀ तथेति ❀ ।

कोई भी पदार्थ प्रमाणित नहीं होता । उसका कारण यह है कि विशिष्ट या उपलक्षित वस्तु की सिद्धि में प्रवृत्त कोई भी प्रमाण उसके विशेषण या उपलक्षण का उल्लेख न करके शुद्ध वस्तु के प्रकाशन में समर्थ नहीं हो सकता । विशेषण या उपलक्षणभूत तादात्म्य यदि अत्यन्त असत् है, तब उसके प्रामाण्य का समर्थन क्योंकर हो सकेगा ?

शङ्का—'पटस्यान्योऽन्याभावो घटे'—इस प्रकार घट में रहनेवाले अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगी पट माना जाता है, वह सत् है, अतः अन्योऽन्याभाव में असत्प्रतियोगिकत्वापत्ति प्रसक्त नहीं होती ।

समाधान—यदि पटप्रतियोगिक अन्योऽन्याभाव का आश्रय घट माना जाता है, तब अन्योऽन्याभाव और संसर्गाभाव का कोई भी अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि जैसे 'घटस्थाभावो पटसंसर्गी—इस प्रकार पट के संसर्गाभाव का समर्थन घट में किया जाता है, वैसे ही घटान्योऽन्याभावो पटात्मकः—इस प्रकार तादात्म्याभाव घट में मानेंगे । अतः तादात्म्य और संसर्ग को प्रतियोगी की कोटि में प्रविष्ट कर ही अन्योऽन्याभाव और संसर्गाभाव का वैलक्षण्य स्थापित करना होगा । घट और पट का तादात्म्य आप (नैयायिक) मानते नहीं, अतः अन्योऽन्याभाव में असत्प्रतियोगिकत्व की प्रसक्ति दुर्वार है ।

अन्योन्याभावस्य व्यवस्था मन्तव्येति, यतस्तथा सति घटत्वे पटत्वे च न कश्चित्तादृशो धर्मोऽभ्युपगम्यते, योऽन्योन्यस्मिन्निषेद्धुं योग्य इति तयोस्तादात्म्यापत्तौ सत्यां घटे पटत्वं पटे घटत्वं च निषेधत् प्रमाणं घटत्वपटत्वशून्यं द्वयमप्यावेदयतीति वैधर्म्यस्य स्वरूपभेदस्य चासंभवेन किंप्रतियोगिनं किं वाऽऽलम्बनं विधाय घटपटान्योन्याभावः प्रमाणपथमवतरेदिति ।

(३) अत एव न वैधर्म्यमपि भेदमावेदयत् प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमुपपद्यते । वैधर्म्येऽपि हि घटत्वपटत्वादौ वैधर्म्यमन्यदस्तीत्यभ्युपगमे वैधर्म्ये वैधर्म्यविश्रान्त्यनवस्थयोरेकमननुभवश्च कथं प्रत्युत्तरणीयः ? वैधर्म्ये च वैधर्म्यास्वीकारे वधर्म्ययोरैक्या-

अन्योन्याभावस्य न तादात्म्यादि प्रतियोगि किं तु पटत्वादिसामान्यमिति तृतीयकल्पमाशङ्क्य निराकरोति ❀ न चेति ❀ । घटत्वादौ घटत्वादिरिष्यते न वा ? इष्यते चेदात्माश्रयादि । न चेत्तत्राह ❀ यत इति ❀ । घटत्वपटत्वयोः प्रतियोग्यभावेनान्योन्याभावेनैक्यापत्तिरित्यर्थः । तयोरैक्यापत्तावपि घटपटयोर्व्यावर्त्ययोर्भावाग्नाद्वैतापत्तिरित्याशङ्क्याह ❀ घट इति ❀ । घटे पटत्वं नास्तीति निषेधे निषिध्यमानपटत्वानतिरेकाद् घटत्वमपि निषिध्येत । एवं चेद्, घटपटद्वयमपि घटत्वपटत्वशून्यमापादयतीत्यर्थः । घटपटद्वयस्य धर्मद्वयशून्यत्वेऽपि धर्मिणोरन्योन्याभावोऽस्त्येवेत्यत आह ❀ इतीति ❀ । वैधर्म्यमात्रेण भेदव्यवहारप्रत्ययोपपत्तौ तदतिरिक्तभेदाभ्युपगमो गौरवादनुपपन्नः । तद्वैधर्म्यभेदमवगाहमानं प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमिति तृतीयं विकल्पमतिदेशेन दूषयति ❀ अत इति ❀ । वैधर्म्ये वैधर्म्यान्तरमस्ति न वा ? अस्ति चेत्तत्राह ❀ वैधर्म्य इति ❀ । दूरं गत्वाऽपि किंचिद्वैधर्म्यं वैधर्म्यान्तरापेक्षमिष्यते, सर्वमेव वा तत्सापेक्षम् ? आद्ये यत्रैव वैधर्म्याभावस्तस्याभेदद्वारा सर्वाभेदः । द्वितीये वैधर्म्यमाला पतेदित्यभिसन्धायाह ❀ वैधर्म्येति ❀ । वैधर्म्यविश्रान्त्यनवस्थयोरेकं कथं प्रत्युतरणीयमिति सम्बन्धः । बीजांकुरवदनाद्यनन्तत्वाद्वैधर्म्यपरंपरामूलाक्षयाददोष इति चेन्नैवम्, अन्धपरंपरात्वादित्याह ❀ अननुभव इति ❀ । गदितावद्यापवादाय वैधर्म्ये वैधर्म्यान्तरं नेति द्वितीयकल्पमाशङ्क्य निराचष्टे ❀ वैधर्म्येति ❀ । घटत्वं पटत्वादभिन्नं ततो वैधर्म्यहीनत्वात्तत्स्वरूपवदिति घटत्वपटत्ववैधर्म्ययोरेकत्वापत्त्या तयोर्घटत्वपटत्वयोरात्माश्रय-

शङ्का—धर्मी का अन्योऽन्याभाव धर्मात्यन्ताभावरूप ही माना जाता है, अतः घट में पटान्योऽन्याभाव का पर्यवसान घटगत पटत्वाभाव और पट में घटान्योऽन्याभाव का पर्यवसान पटगत घटत्वात्यन्ताभाव में होता है ।

समाधान—धर्मी का अन्योऽन्याभाव यदि धर्म का अत्यन्ताभावरूप होता है, तब जिस घटत्वादि धर्मी में कोई धर्म नहीं रहता, ऐसे घटत्व और पटत्व का अन्योऽन्याभाव तादात्म्यप्रतियोगिक अभाव ही कहना होगा । फलतः घटत्व और पटत्व का तादात्म्य भी स्वीकार करना होगा । घटत्व और पटत्व-दोनों यदि तादात्म्यापन्न हैं, तब घट में पटत्व के निषेध एवं पट में घटत्व के निषेध से घटत्व और पटत्व-दोनों का निषेध हो जायगा । 'घटः पटो न' का तात्पर्य हुआ 'घटपटौ घटत्वपटत्वशून्यौ' । इसी प्रकार स्वरूप भेद और वैधर्म्य भी घट और पट में सम्भावित नहीं, तब किसको प्रतियोगी और किसको अनुयोगी बनाकर घटान्योऽन्याभाव प्रमाण-पथ में अवतरित होगा ?

(३) वैशेषिक-सम्मत वैधर्म्यरूप भेद भी सिद्ध नहीं होता, जिसको विषय करके प्रत्यक्ष प्रमाण अद्वैतश्रुति का बाधक होता, क्योंकि वैधर्म्य का अर्थ है—विरुद्ध धर्म, जैसे घट में घटत्व पट का और पट में पटत्व घट का वैधर्म्य माना जाता है, वैसे ही घटत्व-पटत्वादि धर्मों में भी अन्योऽन्याभाव की उपपत्ति के लिए अन्य वैधर्म्य यदि माना जाता है, तब या तो कहीं वैधर्म्य-परम्परा का विच्छेद मानना होगा या अनवस्था में पर्यवसान होगा, वैधर्म्य में वैधर्म्यान्तर परम्परा की अनुभूति भी नहीं होती—इन सब आपत्तियों का क्या प्रतीकार होगा ? इन

पत्त्या कथमात्माश्रयभेदत्वेन तयोः पर्यवसानं स्यात् ?

किं च ये ते वैधर्म्यं भेदौ ते किं घटादितो भिन्ने धर्मिणि निविशेते, किमभिन्ने? परस्परविरुद्धयोरनयोः पृथग्भूतस्य प्रकारस्यासंभवात् ।

आद्ये येन भेदेन भिन्नत्वं वैधर्म्याश्रययोर्मन्तव्यं तत्रापि पर्यनुयोग इत्यनवस्थायां पर्यवसानं स्यात् । सन्त्वनन्ता एव भेदा इति चेन्न, क्रमेण तेषामाश्रयसम्बन्धे, साव-

---

भेदत्वेनात्मनोराश्रयौ घटपटौ तयोर्भेदत्वेन कथं पर्यवसानम् ? न कथंचित् , एकधर्म्याश्रयत्वेन तयोरप्यै-क्यापत्तेरित्यर्थः ।

एवं तावद्भेदप्रमाणपर्यालोचनया प्रत्यक्षविरोधो नाद्वैतश्रुतेरित्युक्तं अधुना भेदधर्मिस्वरूपपर्यालोच-नयाऽपि तं पराकर्तुमुपक्रमते ॐ किं चेति ॐ । घटादितो भिन्न इति घटाद् भिन्ने पटे धर्मिणि पटाच्च प्रतियोगिनो भिन्ने घटे धर्मिणीत्यर्थः । भिन्ने भेदान्तरस्वीकारस्य वैयर्थ्यादभिन्ने भेदस्थितिरिरिति पक्षा-न्तरमाह ॐ किमिति ॐ । भेदाभेदोदासीने धर्मिमात्रे भेदस्थितिरिरिति वा, भिन्नाभिन्ने वा धर्मिणि भेद-स्थितिः किं न स्यादित्यत आह ॐ परस्परेति ॐ । भेदाभेदयोः परस्परविरुद्धत्वेनान्यतरनिषेधेऽन्यतरविधान-स्यावश्यकत्वेन प्रकारान्तरस्यासम्भवात् "परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः"—इति न्यायादित्यर्थः । नन्वभेदोऽपि किमभिन्ने विशति किं वा भिन्ने इत्यादिविकल्पदोषस्य यः समाधिः स प्रकृतेऽपि साधारण इति मैवम् , परस्परविरुद्धयोरन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधायित्वानङ्गीकारादस्माभिरुदासीने धर्मिमात्रे तत्स्थि-तिरिरिति प्रत्युत्तरयितुं शक्यत्वादिति ।

प्रागभिन्ने धर्मिणि भेदसंसर्गस्य गीर्वाणैरपि दुर्भणत्वाद् भिन्ने भेदो निविशत इति प्रथममनुवदति ॐ आद्य इति ॐ । येन भेदेन वैधर्म्याश्रयघटपटयोर्भिन्नत्वं सोऽपि भेदत्वाद् द्वितीयभेदवद्भिन्ने निविशेत । तथा च स्वेन भिन्ने स्वस्थितिरुत द्वितीयभेदवद्भिन्ने, किं वा भेदान्तरेणैव भिन्ने ? प्रथमद्वितीयावात्मा-श्रयान्योन्याश्रयाभ्यामनुपपन्नाविति स्पष्टत्वादुपेक्ष्य तृतीयविकल्पेऽनवस्थाऽभ्यधायीत्यर्थः । भेदानामानन्त्येन भेदान्तरभिन्ने भेदस्थितिरिरिति स्वीकारे नानवस्था दोषाय, मूलक्षयाभावादिति शङ्कते ॐ सन्त्विति ॐ । एकस्यापि भेदस्यप्रमाणागोचरतयाऽन्धपरंपरात्वेन मूलक्षयस्य स्पष्टत्वाद्बहिरेव द्रष्टुं शक्य इति मत्वा तेषां क्रमेण भेदसम्बन्धः, आहोस्विद्युगपदिति विकल्प्य प्रथममपाकरोति ॐ नेति ॐ । अवधिः कालमर्यादा, तेन सह वर्तते इति सावधि, तथाभूतं सत्त्वं यस्य तस्मिन् सावधिसत्त्वे कार्यवस्तुनि तेषां भेदानामन्वयस्य सम्बन्धस्यासङ्गतिरेवासङ्गत्ययोग्यतयैव कार्यपदार्थस्योत्पत्तेः प्राग् भेदसम्बन्धहीनतया तदुत्तरकालमपि न भेदसम्बन्धः पूर्वभेदसम्बन्धापेक्षत्वादुत्तरोत्तरभेदस्य तथा नाशादूर्ध्वमुत्पत्तेः प्राग् धर्मिण एवासत्त्वाद् भेद-संयोगायोगादनन्तभेदानामल्पीयःकालक्रमेण सम्बन्धो न घटत इत्यर्थः । यथा कार्यं द्रव्यं जायमानमा-

---

आपत्तियों से बचने के लिए यदि वैधर्म्य में वैधर्म्यान्तर नहीं मानते, तब घटत्व-पटत्वादि वैधर्म्य एकतापन्न हो जाते हैं, फलतः वे अपने आश्रय में रह कर उसी के वैधर्म्य या भेद क्योंकर कहलायेंगे ?

दूसरी बात यह भी है कि जो घटत्व-पटत्वरूप वैधर्म्य पट और घट के भेद कहलाते हैं, वे अपने भिन्न धर्मी में रहते हैं ? अथवा अभिन्न धर्मी में ? इन विकल्पों से अतिरिक्त और कोई कल्प विरुद्ध धर्मों के विषय में नहीं हो सकता । प्रथम (भिन्ने धर्मिणि निविशेते) मानने पर जिस भेद को लेकर वैधर्म्य के आश्रय में भिन्नत्व होता है, उस भेद के विषय में भी यही प्रश्न किया जा सकता है कि वह भिन्न धर्मी में रहता है ? अथवा अभिन्न धर्मी मे ? अन्ततो गत्वा अनवस्था में ही पर्यवसान होता है ।

यदि भेद अनन्त माने जाते हैं, तब उनका आश्रय के साथ क्रमशः सम्बन्ध माना जाता है ? अथवा युगपत् ? सावधिसत्त्व (सावधि सत्त्ववाले अर्थात् सादि और सान्त घटादि) पदार्थों में उनका क्रमशः सम्बन्ध न हो सकेगा, क्योंकि यह क्रम तो अनन्त काल-सापेक्ष है

धिसत्त्वे वस्तुनि तदन्वयासंगतिरेव ।

अथ जायमानं वस्तु युगपदेव ते भेदाः परिरभन्ते, तदा किंभेदविशेषिते किंभेदव्यवस्थितिरिति किं विनिगमकम् ? विशेषाभावादन्योन्यकलहं तेषां कः समाधातुमीष्टे ?

चरमचरमस्वीकार्येण च भेदेन प्रथमप्रथमस्वीकृतभेदोपयोगसिद्धेः, अग्रे धावन् पश्चाल्लुप्यमानो विस्मरणशीलश्रुतवत् स भेदप्रवाहः किमालम्बेत ? एवमेवंविधे विषयेऽन्यत्रापि ।

प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत् ।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता ॥ १९ ॥

काशादीनि सर्वगतद्रव्याणि युगपत्परिगृह्णते तथाऽनन्तभेदा युगपदेव जायमानं सम्बध्नन्तीति द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀ । अनन्तभेदस्वीकारोऽपि किमुत्तरोत्तरभेदनिर्वाहार्थम्, उत तद्व्यवहारप्रत्ययसिद्ध्यर्थम् ? न तावद् द्वितीयः, एकेनापि तदुपपत्तेः । नापि प्रथमः एककालीनतया परस्परनिर्वाह्यनिर्वाहकभावायोगादिति मन्वानः परिहरति ❀ तदेति ❀ । सावधिसत्त्वे निविशमानानां भेदानामनेकत्वाद्यावद्वस्तु तेषामवस्थाना-देकेनाप्रविष्टभागे परस्य निवेशाभावादनेन च भेदेनावच्छिन्नेऽस्य भेदस्य निवेश इत्यत्र नियामकाभावान्निवेशं प्रति तेषां परस्परं कलहादन्योन्यविरोधान्नैकस्यापि स्थितिरित्यर्थः । अनन्तभेदानां युगपन्निवेशानुपपत्त्या क्रमेण तेषां सम्बन्धोऽस्त्विति प्रसङ्गात्क्रमपक्षं स्मृत्वा दूषणान्तरमाह ❀ चरमेति ❀ । प्रथमभेदास्वीकार-प्रयोजनस्य भेदव्यवहारादेर्द्वितीयभेदादेव सिद्धेः प्रथमभेदो व्यर्थः स्यादेव, द्वितीयभेदादिप्रयोजनस्य तृतीय-भेदादिनैव सिद्धेः सोऽपि व्यर्थः स्यादित्यर्थः ।

भिन्नाभिन्ने भिन्नत्वस्थितिः, सति सत्तास्थितिः, संसृष्टे संसर्गस्थिरितीत्यादावपि तुल्योऽयं दोष इत्याह ❀ एवमिति ❀ । उक्तं दूषणत्रयं सर्वानवस्थासाधारणत्वात्सर्वत्रानुसन्धेयमिति प्रकटयन् श्लोकेनोप-निबध्नाति ❀ प्रागिति ❀ । प्राचां लोपः प्राग्लोपः, अविनिगम्यत्वं च प्रमाणापगमश्च प्राग्लोपाविनिगम्यत्व-प्रमाणापगमाः, तैरनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता भवेदित्यन्वयः । त्रयाणां दोषाणां समाहार-

वह सादि और सान्त वस्तु में संभव नहीं । यदि वस्तु की उत्पत्ति के साथ-साथ सभी भेद एक साथ उस वस्तु को चिपट जाते हैं, तब 'भिन्ने भेदः'—यह कहना संभव नहीं रह जाता, क्योंकि कौन भेद उस वस्तु को भिन्न बनाएगा और कौन भेद उसमें रहेगा—यह निर्णय करना असंभव हो जाता है । उन भेदों में कोई विशेषता न होने के कारण 'हम पहले, हम पहले'—इस प्रकार के उनके कलह का समाधान क्या होगा ? उत्तरोत्तर स्वीकरणीय भेदों से ही पूर्व-पूर्व भेदों की कृतकार्यता और गतार्थता हो जाती है, अतः उत्तरोत्तर भेद-परम्परा की दौड़ में पूर्व-पूर्व भेद का विलोप एक वैसा ही नाटक है, जैसे कोई भुलक्कड़ विद्यार्थी आगे-आगे स्वाध्याय करता चला जाता है और पीछे-पीछे भूलता चला जाता है । विस्मृत स्वाध्याय के समान ही विलुप्यमान भेद-प्रवाह किसको विषय करेगा ? ऐसे दीर्घ मनोराज के राजरोगी को त्रिदोष (सन्निपात) हो जाता है—

प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवत् ।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता ॥

[जैसे लोक में अनवस्थित (अव्यवस्थित) अन्नाशनादि से वात-पित्त और कफ नाम के तीनों धातु युगपत् कुपित होकर सन्निपात-ज्वर-जैसे असाध्य रोगों को जन्म दे डालते हैं—"विषमाशनादनशनादन्नपरिवर्तात् सर्वे त्रयो दोषा युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते" (चरक० निदान० १) । वैसे ही] अनवस्थित भेदादि की परम्परा माननेवाले वादिगण ऐसी त्रिदोषता से ग्रस्त हो जाते हैं, जिसकी चिकित्सा संभव ही नहीं । वे तीन दोष हैं—(१) प्राग्लोप, (२) अविनि-

यदि च क्वचिद् गत्वा स्वरूपमेवान्योन्यं व्यावर्तमानं भेद इष्यते; तदा ययोः स्वरूपं तथैष्टव्यं तयोः निःस्वरूपतापत्तिः।

अथ न स्वरूपमात्रं मिथो व्यावर्तते, किं नाम? स्वरूपविशेष इत्युच्यते, तर्हि स्वरूपविशेषमात्रव्यावृत्त्या स्वरूपमात्रं तयोः स्यादित्येकत्वापत्तिः। अथवा वक्तव्योऽसौ स्वरूपमात्रादन्यो विशेषार्थः।

अथ न स्वरूपं नाम किञ्चिद् अनुगतमिष्यते मया, विशेषरूपासु व्यक्तिष्वेव

स्त्रिदोषता। यद्वा त्रयो दोषा यस्य स त्रिदोषस्तद्भावस्तत्ता। यथा खलु लोकेऽनवस्थितिमास्थातुरनवस्थिताशनस्य त्रिदोषता वातपित्तश्लेष्मणां सन्निपातश्चिकित्सानर्हो भवति, प्राग्लोपं धातुत्रयस्वास्थ्यविलोपे तदशननिमित्तमेतदभूदिति निश्चयाभावादन्वयव्यतिरेकरूपप्रमाणाभावस्तद्वदित्यर्थः। ननु प्राग्लोपादय एव दोषास्तैस्त्रिदोषता स्यादिति किमिदमुच्यते? नैष दोषः। एकैकस्य दोषत्रयमेलने त्रिदोषत्वं प्रति कारणत्वोपपत्तेरिति।

भेदस्य धर्मत्वे भिन्ने धर्मिणि निवेश उताभिन्न इत्यादिविकल्पदोषपरम्परा स्यात्, अस्माभिस्तु स्वरूपभेदाङ्गीकारान्नैकोऽपि दोष इति शङ्कते ❀ यदीति ❀। यद्वाऽनवधिकप्रवाहश्चेदङ्गीक्रियेत तदोक्तदोषः स्यात् क्वचित्प्रवाहविच्छित्त्यङ्गीकारेऽपि तयोरैक्यापत्त्या मूलैक्यापत्तिर्न प्रसज्यते, धर्मभेदानङ्गीकारेऽपि स्वरूपभेदाङ्गीकारादिति शङ्कते ❀ यदीति ❀ किं स्वरूपमात्रं व्यावर्त्यमानं भेदः, किं वा स्वरूपविशेष इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ तदेति ❀। यथा स्तम्भकुड्याभ्यां घटत्वे व्यावर्त्यमाने तयोर्निर्घटत्वमेवं धर्मिप्रतियोगिभ्यां स्वरूपमात्रव्यावृत्त्या तयोर्निःस्वरूपत्वापत्तिः, विमतं निःस्वरूपं स्वरूपमात्रव्यावृत्तिप्रतियोगित्वात् खरशृङ्गवदिति प्रयोगादित्यर्थः। स्वरूपविशेषो व्यावर्त्यमानो भेद इति द्वितीयमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। तथाप्यद्वैते पर्यवसानं तदवस्थमिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀। तदेतद्देशकालविशिष्टस्वरूपविशेषे व्यावर्तमानेऽपि प्रत्यभिज्ञागोचरस्य देवदत्तस्य स्वरूपमात्रानुवृत्त्यैक्यवत्स्वरूपमात्रेणानुवृत्तेर्न तयोर्भिन्नत्वेनाभिमतयोरैक्यं स्यादित्यर्थः।

स्वरूपमात्रानुवृत्त्यैक्यं चेत्स्वरूपविशेषव्यावृत्त्या विदारणं किं न स्यादित्यत आह ❀ अथ वेति ❀।

गम्यत्व और (३) प्रमाणापगम। (१) उत्तरोत्तर भेद की कल्पना पूर्व-पूर्व भेद को निरर्थक और विलुप्त कर देती है, क्योंकि पूर्व-पूर्व भेदों की अर्थक्रिया उत्तरोत्तर भेदों से ही संपन्न हो जाती है। (२) अनन्त भेदों में अमुक भेद धर्मी का विशेषण होगा और अमुक भेद उस भिन्न (भेद-विशिष्ट) धर्मी में रहेगा—इस प्रकार की विनिगमना का अभाव। (३) अनन्त भेदों की परंपरा में कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता]।

यदि घट से व्यावृत्त (घट में न रहनेवाले) स्वरूप को घट का भेद और पट से व्यावृत्त स्वरूप को पट का भेद माना जाता है, तब घट और पट को निःस्वरूप मानना होगा, क्योंकि जैसे घट से पटत्व के व्यावृत्त होने के कारण घट पटत्व-शून्य एवं पट से घटत्व के व्यावृत्त होने से पट घटत्व-शून्य होता है, वैसे ही घट और पट से स्वरूप के व्यावृत्त हो जाने पर घट और पट स्वरूप-शून्य या निःस्वरूप क्यों न होंगे?

यदि घट और पट से स्वरूप-सामान्य की व्यावृत्ति न मान कर स्वरूप-विशेष की ही व्यावृत्ति मानी जाती है, तव स्वरूप-सामान्य की व्यावृत्ति न होने के कारण घट और पट—दोनों में एकस्वरूपता या अभेद सिद्ध होता है। अथवा उनको पृथक् रखने के लिए कोई अन्य विशेषता कहनी होगा।

शङ्का—हम (नैयायिक) घटादि नाना व्यक्तियों में अनुगत कोई एक स्वरूप नहीं मानते, अपितु नाना व्यक्तियाँ ही वैसे ही स्वरूप पद की शक्य हैं, जैसे वनादि शब्दों की।

समाधान—आप (नैयायिकगण) जैसे घटादि नाना व्यक्तियों में किसी अनुगत धर्म

स्वरूपशब्दो नानाऽर्थः सन्निविशते इत्यभिधत्से; तर्हि गतमनेनैव न्यायेन गोत्वादिसिद्धिप्रत्याशया। न च प्रतिव्यक्ति स्वरूपपदसमयग्रहोपपत्तिः। यदि च स्वरूपं भेदः स्यात्, तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूपं दृष्टमिति क्वचिन्न संदेहः स्यादिति।

यदि चाभिन्ने भेदो निविशेत, तदा याऽप्येका व्यक्तिः प्रतीयते घटादिः,

स्वरूपमेव विशेषः स्वरूपविशेषश्चेद्विशेषलयः स्वरूपस्य विशेष इत्युक्तेऽपि स्वरूपाकारेण सम्बध्यमानः शून्यवन्निःस्वरूपो न सम्बध्यते लब्धस्वरूपस्य स्वरूपसम्बन्धे परस्पराश्रयात्, स्वरूपमात्रादन्यो विशेषार्थो न वक्तुं शक्य इत्यर्थः। विशेषस्य स्वरूपमात्रान्तर्भावे विशेषलयः स्यात्। स्वरूपमात्रस्य विशेषमात्रत्वाङ्गीकारान्नोक्तदोष इति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। एकस्य स्वरूपशब्दस्यानन्तविशेषेषु साधारणं रूपमक्रोडीकृत्य प्रवृत्त्यनुपपत्त्या स्वरूपमात्रं सकलविशेषसाधारणमेष्टव्यमित्यत आह ॐ विशेषेति ॐ। अतिप्रसङ्गेनैतदपाकरोति ॐ तर्हीति ॐ। गोत्वजातिमन्तरेण गोशब्दस्य तद्व्यक्तिष्वनेकार्थतया निवेशनेन गोत्वजातिरपह्नूयेतेत्यर्थः। स्वरूपशब्दो गृहीतसङ्गतिकोऽर्थं बोधयत्युतागृहीतसङ्गतिः? नागृहीतसंगतिकस्य बोधकत्वं पदधर्मे व्यतिक्रमात्। नापि प्रथम इत्याह ॐ न चेति ॐ। अस्यार्थस्त्वयं संज्ञेति संबन्धकरणं समयः साङ्केतिकत्वाच्छब्दार्थसंबन्धस्य प्रतिव्यक्ति ग्रहणं न घटते, व्यक्तीनामानन्त्येन पुरुषायुषेणापि ग्रहणायोगात्। विभीतकत्वादीनां परिमितत्वादन्यतमस्मिन् गृहीतसङ्गतिकस्याक्षशब्दस्यानेकार्थबोधकत्वोपपत्तेर्वैधर्म्यमित्यर्थः।

क्वचिदनवस्थापरिहाराय स्वरूपभेदाङ्गीकारे दूषणाभावेन च सर्वत्रापि स्वरूपभेद इति पक्षे दूषणमाह ॐ यदीति ॐ। विशेषाग्रहस्य संदेहबीजत्वात्स्वरूपभेद इति पक्षे स्वरूपे दृष्टे विशेषो दृष्ट इति संदेहो न स्यादित्यर्थः।

एवं प्रतियोगिनो भिन्ने धर्मिणि भेदो निविशत इत्याद्यः पक्षः प्रत्यक्षेपि, संप्रपि द्वितीयमनूद्य

के विना ही एक 'स्वरूप' शब्द का प्रयोग कर देते हैं, वैसे ही नाना गो व्यक्तियों में गोत्वरूप अनुगत धर्म के विना ही एक 'गो' पद का प्रयोग संभव हो जाता है। अनन्त घट-पटादि व्यक्तियों की प्रत्येक इकाई में एक 'स्वरूप' शब्द का शक्तिग्रह भी सीमित आयु का मरणधर्मा मानव नहीं कर सकता।

घटादि का स्वरूप ही यदि तद्गत भेद है, तब दूर से भी घटादिरूप धर्मी का दर्शन हो जाने पर भेद का भी दर्शन सम्पन्न हो जाता है, अतः दो वृक्षों को दूरे से देखने पर जो कभी-कभी 'इमौ द्वौ वृक्षौ? एको वा? ऐसा सन्देह अथवा 'एकोऽयं वृक्षः'—एसा विपर्यय हो जाता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि वस्तु के सामान्य स्वरूप को ही भेद माना गया है, उसका निश्चय हो जाने पर सन्देह और विपर्यय कैसे होगा? [यहाँ श्री शङ्करमिश्र ने इस पुरानी व्याख्या का खण्डन किया है—"संशयविपर्ययौ न स्यातामिति त्वपव्याख्यानम्"। उन्होंने अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है—'यदि घटपटादिलक्षणो विशेष एव स्वरूपं स्यात् न त्वनुगतमन्यत्, तदा दूराद् घटपटादिविशेषानवगाहि ज्ञानं स्वरूपमात्रावगाह्यपि न स्यादित्याह—"यदि च"—इति। भेदः विशेषः।' मिश्र जी ने "यदि स्वरूपं भेदः स्यात्"—इस उद्देश्य-विधेयभाव को वदल कर "यदि भेदः स्वरूपं स्यात्"—ऐसा बनाया है, तब अवश्य भाव निकलता है कि 'यदि भेद (घटत्व-पटत्वादि विशेषरूप) को ही घटादि का स्वरूप माना जाय, तब दूर से देखने पर जो विशेषानवगाही सामान्य स्वरूप का दर्शन होता है, वह नहीं होना चाहिए।' किन्तु उद्देश्य-विधेयभाव का परिवर्तन और भेद का विशेष अर्थ करने पर प्रक्रान्त कथा 'भेद' विषय पर केन्द्रित न रह कर 'स्वरूप' विषय पर आ जाती है, जिससे प्रकरण का सामंजस्य बिगड़ जाता है]।

यह जो एक जिज्ञासा विगत पृ० १०६ पर उठी थी कि भेद अपने भिन्न धर्मी में रहता

साऽपि तेनैव भेदेनानेका स्यादित्येकाभावे नानेकमपि व्यवतिष्ठेत। एतेन न भेदावच्छिन्ने, न चाऽभेदावच्छिन्ने भेदो विनिविशते, किंतु उदासीने इत्यपि निरस्तम्।

(४) अत एव च भेदो नाम स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्यानात्मको धर्मान्तरं पृथक्त्वापरनामकमित्यपि परास्तम्। सोऽपि हि स्वाश्रये भिन्ने विनिविशेत, अभिन्ने वेत्यादि यथोक्तदोषलङ्घनाजङ्गाल एव स्यात्।

स्वाश्रयेण च स्वस्मिन्नभेदभयाद्यदि स एव भेदो निविशते, तदाऽऽत्माश्रयः। अन्यश्चेत्तस्मिन्नेवं तस्मिन्नप्यन्य इत्यनवस्था। क्वचिदपि गत्वा भेदभेदाश्रययोर्भेदस्य

दूषयति ❀ यदीति ❀। अभिन्नमेव धर्मिणं संसृज्य भेदः प्रतियोगिनो भिनत्ति चेत्, एकामपि घटव्यक्तिं संसृज्य भिन्द्यादित्यर्थः। भेदवादिनामेकाभावो न दोष इत्यत आह ❀ इतीति ❀। एकमेकं समुच्चित्यानेकं भवति, एकाभावे तत्समाहाररूपमनेकमपि न स्यादिति शून्यतैव स्यादित्यर्थः।

तदा भेदाभेदोदासीने धर्मिणि भेदस्थितिरिति पक्षान्तरमतिदेशेन निराकरोति ❀ एतेनेति ❀। एकाभावप्रसङ्गस्य तुल्यत्वादित्यर्थः। न चात्र पौनरुक्त्यं शङ्कनीयम्, पूर्वं परस्परविरोधे प्रकारान्तरासंभवस्योक्तत्वादिदानीमभ्युपगम्यापि दोषाभिधानात्।

पृथक्त्वाख्यो गुणो भेद इति तुरीयकक्षायामुक्तन्यायातिदेशं करोति ❀ अत एवेति ❀। सत्यामभ्यधिकाशंकायां न्यायसाम्ये च सत्यतिदेशः प्रवर्तते इति न्यायसाम्यं दर्शयति ❀ सोपीति ❀। अजंघालो मन्दगामी, जंघालोऽतिजवस्तुल्यावित्यभिधानदर्शनात्।

किं च भेदो भेदिनः सकाशाद्भिन्न एव निविशत उताभिन्नः? यद्यभिन्नस्तदा तद्धर्मत्वमेव। ततो भेदहीनत्वात् तत्स्वरूपवन्न स्यात्। अतो भिन्न एव निविशत इति वक्तव्यमित्याह ❀ स्वेति ❀। यदि स्वस्माद्भिन्ने भेदिनि भेदो निविशते, तदा किं स्वेनैव भिन्ने भेदान्तरेण वा? नाद्यः, आत्माश्रयादित्याह ❀ यदीति ❀। भेदान्तरेण भिन्ने भेदः प्रविशतीति द्वितीयमनवस्थया दूषयति ❀ अन्य इति ❀। त्रिचतुरकक्षातः परस्ताद्भेदानङ्गीकारान्नानवस्थेत्याशंक्याह ❀ क्वचिदिति ❀। भेदभेदिनोः क्वचिद्भेदानभ्युपगमे

है? अथवा अभिन्न धर्मी में? वहाँ यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार अभिन्न धर्मी में भेद रह कर उसका स्वरूप बन जाता है, तब वह एक प्रतीत होनेवाला घटरूप धर्मी अभिन्न (एक) न रह कर अनेक हो जायगा। वस्तुतः उसका अनेक हो जाना भी सम्भव नहीं, क्योंकि एक का समुच्चय अनेक होता है, जब कोई एकात्मक ही न रहेगा, तब किसका समुच्चय अनेक होगा? 'भेद न तो अपने भेदावच्छिन्न (भिन्न) धर्मी में रहता है और न अभेदावच्छिन्न (अभिन्न) धर्मी में अपि तु उदासीन धर्मीमात्र में रहता है'—यह पक्ष भी इसी दोष से दूषित है कि भेद स्वयं रह कर अपने धर्मी को भिन्न बना ही डालेगा, वह उदासीन क्योंकर रह सकेगा? यदि भेद रैहने से पहले अपने धर्मी को भिन्न नहीं करता, तब वह अभिन्न रहता है, तब भी उदासीन नहीं कहा जा सकता।

(४) स्वरूप, अन्योऽन्याभाव और वैधर्म्य—इन तीनों कोटियों से भिन्न जो पृथक्त्वाख्य गुण को भेद माना जाता है, वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि वह भी अपने भिन्न धर्मी में रहता है? या अभिन्न धर्मी में? इत्यादि विकल्पपक्षोक्त दोषों के झमेले में उलझ कर रह जाता है। अपने आश्रय से अभेद न हो जाय, अतः वही भेद पहले अपने धर्मी में रह कर उसे भिन्न बनाता है, तत्पश्चात् स्वयं उस में रहता है—ऐसा मानने पर आत्माश्रय दोष है। भेद के आश्रयीभूत धर्मी को भिन्न बनानेवाला भेद यदि दूसरा है और दूसरे भेद के आश्रय को भिन्न बनानेवाला भेद तीसरा है, तब अनवस्था है और यदि किसी कक्षा में जाकर भेद और उसके आश्रय का भेद नहीं माना जाता, तब उन दोनों की एकता फैल कर मूल-पर्यन्त व्याप्त

अस्वीकारे च तदैक्यद्वारिका मूलपर्यन्तमेकता धावेत् ।

तदद्वैतश्रुतेस्तावद् बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः ।
नानुमानादि तं कर्त्तुं तवापि क्षमते मते ॥ २० ॥
अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान् ।
सेवामेवार्जयत्यर्थापत्तिपत्तिपरम्परा ॥ २१ ॥

नन्वद्वैतश्रुतयो वर्ण-पद-विभक्ति-तदर्थादिभेदानुपजीव्य अर्थं प्रतिपादयन्त्यः

तयोर्भेदहीनत्वेनाभेदो भवेत् । अतश्च तदभेदद्वारा मूलपर्यन्तम् आद्यभेदभेदिपर्यन्तम् अभिन्नत्वमागच्छेदित्यर्थः ।

अनिरूपितगोचरतया भेदग्राहिप्रत्यक्षस्याभासत्वादद्वैतश्रुतेर्न प्रत्यक्षविरोध इत्युपपादितमर्थं श्लोकेन संगृह्णाति ॐ तदिति ॐ । अद्वैतश्रुतेः प्रत्यक्षतो बाधः क्षतः क्षुण्णस्तावन्निश्चितमित्यर्थः । सकलप्रमाणज्येष्ठप्रत्यक्षस्यैतादृशी गतिर्यदा तदा तदुपजीविनोऽनुमानादेर्वराकस्य कैव कथेति दर्शयति ॐ नेति ॐ । द्वैतसत्यत्ववादिनस्तवाऽपि मतेऽनुमानादि श्रुतिबाधं कर्त्तुं न क्षमते तत्परश्रुत्यपेक्षया दुर्बलत्वात्तस्य । अन्यथा सुरा पेयेत्यादेरपि सद्धेतुत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । क्षतः क्षत इति मते मते इति पदावृत्तिरूपं पादान्त्ययमकत्वं कविना दर्शितं सार्वज्ञ्यप्रकटनाय—'अव्यपेतव्यपेतात्मा याऽऽवृत्तिर्वर्णसंहतेः यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम्' इति तल्लक्षणत्वात् ।

अद्वैतागमप्रमाणस्यैक्याद्भेदप्रमाणानां बहुत्वाद्बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वात्तत्पराऽपि श्रुतिर्बाध्यत इत्याशंक्यार्थापत्तिरपि श्रुत्यनुग्राहकतयाऽद्वैतं साधयतीत्याह ॐ अद्वैतेति ॐ । अद्वैतागमस्य विजिगीषुस्थानीयस्याग्रे सेनायाः सङ्गरे वा, नासीरशब्दस्योभयवाचकत्वादुभयोरप्यन्वितत्वात् । अर्थापत्तिरेव पत्तिः पदातिरर्थापत्तिपत्तिस्तस्याः परम्परा सा परान् परिपन्थिनो द्वैतप्रमाणनीति यावत्, साधु सम्यक् धुन्वती कम्पयन्ती सेवामेवार्जयति न तु परिपन्थिनीत्यर्थः । रूपकालङ्कारोऽयम्—यथा लोके कस्यचिद्विजिगीषोर्विषयापहारे पदातिपरम्परा परान् सम्यक् धुन्वती सेवामेवार्जयतीति प्रमाणान्तराव(वि)रुद्धविषये स्वतःप्रामाण्यबललब्धतत्तदैक्यानुपपत्तयोऽर्थापत्तयः ।

ननु प्रतिष्ठितप्रामाण्यप्राचीननिरवकाशप्रत्यक्षादिप्रमाणैरुपजीव्यैर्विरोधादद्वैतश्रुतेर्बाध्यत्वमिति चोदयति ॐ नन्विति ॐ । उपजीवकस्य सापेक्षतया दुर्बलत्वादुपजीव्यस्य निरपेक्षतया प्राबल्यात्प्रबलेन

हो जाती है, अतः

तदद्वैतश्रुतेस्तावद् बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः ।
नानुमानादि तं कर्त्तु तवापि क्षमते मते ॥
अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान् ।
सेवामेवार्जयत्यर्थापत्तिपत्तिपरम्परा ॥

अद्वैत-श्रुति का प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध करने का जो प्रयत्न किया जाता था, वह असफल हो गया । सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ प्रमाण प्रत्यक्ष की जब यह दुर्गति हुई, तब उसके बल पर जीनेवाले अनुमानादि प्रमाणों की क्या गिनती है । आप (नैयायिक) के समान भेद के भक्त भी आगम-बाधित (नरशिरःकपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खवद्—इत्यादि) अनुमानों का प्रामाण्य कदापि स्वीकर नहीं करते ॥ २० ॥ अद्वैत-श्रुति-प्रामाण्यान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति तो अद्वैतागम की अग्रगामिनी पदाति (पैदल) सेना के रूप में भेदावगाही प्रमाणों का संहार करती हुई सराहनीय सेवा कर रही है ॥ २१ ॥

शङ्का—[शब्द प्रमाण की सामान्य मर्यादा है कि "वाक्यार्थं तु पदार्थेभ्यः सम्बन्धानुभावद् ऋते । बुद्धिरुत्पद्यते" (श्लो० वा० पृ० ४३२) अर्थात् संगति-ग्रह के आधार पर पदों को सुनने पर पदों से भिन्न पदार्थों का ज्ञान एवं पदार्थों की लक्षणा वाक्यार्थ में होती है । लक्ष्य

स्वोपजीव्याभिर्भेदबुद्धिभिर्न कथं बाध्यन्ताम् ? उपजीवकस्य उपजीव्याद् दुर्बलत्वात् ।

मैवम् , न वयं भेदस्य सर्वथैव असत्त्वमभ्युपगच्छामः । किन्नाम, पारमार्थिकमसत्त्वम् । अविद्याविद्यमानत्वं तु तदीयमिष्यत एव, तदेव च कार्यकारणभावोपयोगि ।

एतेन एकमेवेत्येवकारव्यवच्छेद्येन, अद्वितीयमिति द्वितीयेन, नाना नेति नानात्वेन, किञ्चनेत्यनेन बहुना विना नोपपद्यमानेन व्याघात इत्यपि प्रत्यादिष्टम् ।

दुर्बलस्य बाधादिति हेतुमाह ❀ उपजीवकस्येति ❀ ।

उपजीव्यभेदस्य मिथ्यात्वान्न तद्बाध इत्याह ❀ मैवमिति ❀ । द्वौ चन्द्रमसाविति भ्रान्तिसिद्धभेदमुपजीव्य प्रवृत्तस्यैकश्चन्द्र इति वाक्यस्य नोपजीव्यविरोधः प्रातीतिकभेदस्यानपह्नवाद्यथा, तथा भेदमात्रमुपजीव्य तद्वास्तवत्वखण्डने न कश्चिद्विरोध इत्याशयः । तर्हि भेदसत्तास्वीकारादद्वैतहानिरित्याशंक्य सर्वथा बाधाभावोपलक्षिततदीयसत्तानङ्गीकारान्मैवमित्याह ❀ किं नामेति ❀ । अविद्यया विद्यमानं सत्त्वं तदीयं भेदसम्बन्धीच्छाम एवेत्यर्थः । अत एवार्थक्रियाकारित्वादपरमार्थभेदस्य न श्रौतज्ञानोत्पादकत्वेनोपजीव्यत्वमित्यत आह ❀ तदिति ❀ । अन्तर्भावितसत्त्वं चेदित्यारभ्य सतः कारणत्वनिषेधादविद्याविद्यमानत्वमेव हेतुभावोपयोगीत्यर्थः ।

ब्रह्मण्येवकारव्यावर्त्यमस्ति चेदद्वैतहानिः । न चेदेकमित्युक्त्वा एवेति विशेषणं व्यर्थम्, सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवदिति न्यायात् । अद्वितीयमिति च द्वितीयेन निषेध्येन विना नोपपद्यते । न नानेत्येतदपि नानाभूतेन विनाऽनुपपन्नम्, किंचनेत्येतच्च बहुना विना । अतः श्रौतविशेषणोपजीव्येन द्वैतेन व्याघातोऽद्वैतस्येत्यत आह ❀ एतेनेति ❀ । व्यवच्छेद्यप्रतीतिरिष्यते न पुनः सत्त्वमित्यर्थः । पूर्वमुपजीव्यभेदस्याविद्यासिद्धत्वान्न तेनाद्वैतश्रुतीनां बाध इत्युदितम्, इदानीं परमार्थविषयत्वेनाद्वैतश्रुतीनां

लक्षकभाव भी भिन्न पदार्थों में ही होता है, अतः] अद्वैत-श्रुति भी शब्द प्रमाण के सामान्य नियमों का उल्लङ्घन न कर वर्ण, पद, विभक्ति और इनके अर्थों के भेदों का उपजीवन कर (सहारा लेकर) अपने अर्थ का प्रतिपादन करती है । इस प्रकार भेद-ज्ञान पर आश्रित अद्वैत-श्रुति अपने उपजीव्यभूत भेद-ज्ञान से बाधित होकर भेद का बाध और अभेद का विधान क्योंकर कर सकेगी ? ["कृन्मेजन्तः" (पा० सू० १।१।३९) इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है—"सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघाताय—एषा परिभाषा कर्तव्या" । 'सन्निपात' शब्द से उस निमित्त या उपजीव्य पदार्थ का ग्रहण किया जाता है, जिस को निमित्त बना (उपजीवन) कर किसी पदार्थ का विधान किया जाता है, विधेयार्थ या उपजीवक कभी भी अपने निमित्त या उपजीव्य का विघात नहीं कर सकता । इस परिभाषा का 'उपजीव्यविरोधानौचिती' न्याय के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है—"उपजीव्यविरोधस्यायुक्तत्वमिति न्यायमूलैषा परिभाषा" (परि० शे० पृ० २९२) । श्री वाचस्पति मिश्र ने भी उपजीव्यविरोध की शङ्का उठाई है—"न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं चेति युक्तम्" (भामती पृ० ९)] ।

समाधान—हम (ब्रह्मवादी) भेद का सर्वथा अपलाप नहीं करते, केवल उसकी पारमार्थिक सत्ता का ही निषेध करते हैं । अविद्या-प्रयुक्त भेद तो मानते हैं, वही कार्य-कारण-भाव का उपयोगी भी है । अत एव यह जो आपत्ति की जाती थी कि "एकमेवाद्वितीयम्" (छां ६।२।१) यहाँ भेद न मानने पर विजातीय-भेद का व्यावर्तक एवकार विशेषण व्यर्थ है, द्वितीय पदार्थ के अभाव में अद्वितीय विशेषण अनुपपन्न है और "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह उ० ४।४।१९) यहाँ 'किञ्चन' पद-प्रतिपाद्य बहुत्व या भेद माने बिना नानात्व बहुत्व या भेद का निषेध सम्भव नहीं । उस आपत्ति का भी प्रतीकार हो जाता है, क्योंकि व्यावहारिक या अपारमार्थिक भेद और बहुत्व मान लेने से सब उपपन्न हो जाता है—अद्वैत-श्रुति अद्वैत

श्रुतिभिश्चाद्वैतार्थाभिः पारमार्थिकमद्वैतं प्रतिपाद्यते । न च पारमार्थिकमतिः अपारमार्थिकधिया शक्यबाधा । मा भूत् शुक्तिरजतधिया परमार्थशुक्तिमतिबाधः । यत्र तु 'अग्निरनुष्णः' इति बुद्धेरुष्णज्ञानोपजीवनाद् उष्णबोधेनानुष्णबुद्धिबाधस्तत्र द्वयोरप्यविद्याविद्यमानत्वाद् बाधो युक्तः ।

ननु तत्रापि तर्ह्यनुष्णताऽपि पारमार्थिकयेव साध्यतामबाधनाय । मैवम्, अनुष्णताया जलादिदृष्टान्तसजातीयायाः शीताद्यव्यावृत्तस्वरूपायाः प्रसाधनेन अविद्याविद्यमानत्वे एव विश्रामात् । तत्रैवंविध(तदीयमेवं)रूपतानङ्गीकारे चाद्वैतस्यैव नामा-

वस्तुबलसद्भावान्न बाध इत्याह ❀ श्रुतिभिरिति ❀ । उक्तमेवार्थं विशदयति ❀ न चेति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ मा भूदिति ❀ । अपरमार्थमत्या परमार्थमतिबाधे रजतधिया शुक्तिधियो बाधः स्यात्, स मा भूदित्यर्थः । अद्वैतवाक्यमप्रमाणमुपजीव्यप्रमाणविरुद्धार्थप्रत्यायकत्वाद् अग्निरनुष्ण इत्यनुमानवद्, अन्यथा तत्यादि प्रामाण्यप्रसङ्गो बाधक इत्यत आह ❀यत्रेति❀ द्वयोरप्युष्णतानुष्णतयोर्मिथ्यात्वात् प्रतियोगिभूतोष्णज्ञानोपजीवकत्वादनुष्णबुद्धेरुपजीवकत्वं दौर्बल्यप्रयोजकमस्तु, सत्यार्थस्य पुनर्नेदं रजतमिति ज्ञानस्य प्रसक्तप्रतिषेधतया प्रसञ्जकपूर्वकप्रत्ययोपजीवकत्वेऽपि न तेन बाधो लोके दृष्टः, अत उपजीव्येन बाध उत्सर्ग इति समानार्थगोचरत्वाभावेनापोद्यत इत्यर्थः ।

अनुष्णत्वानुमानं परमार्थविषयमुपजीवकत्वादद्वैतवाक्यवद् इति प्रागुक्तन्यायाननुगतिं चोदयति ❀ नन्विति ❀ । अनुष्णत्वं यज्जलादौ दृष्टं तत्सजातीयं साध्यमन्यद्वेति विकल्प्य आद्यं दूषयति ❀ मैवमिति ❀ । अनुष्णत्वं नाम स्पर्शविशेषः । तथा च जलादिस्पर्शस्य शीतादिरूपत्वादव्यावृत्तमभिन्नं तत्स्वरूपं यस्यास्तज्जातीयायाः साधनेऽविद्याविद्यमानत्वं पर्यवस्येत्, तस्य तथात्वादित्यर्थः । ततो विलक्षणमनुष्णत्वं साध्यमिति द्वितीयं दूषयति ❀ तदीयेति ❀ । तदीया चासावेवंरूपता चेति तथोक्ता । तस्या अनङ्गीकारेऽनुष्णत्वस्य जलादिदृष्टसजातीयतानङ्गीकारे दृश्या सा स्वीक्रियते अदृश्या वा ? दृश्यत्वे मिथ्यैव ।

तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए पारमार्थिक अद्वैत तत्त्व का समर्पण । पारमार्थिक अभेद-ज्ञान का अपारमार्थिक भेद-ज्ञान से बाध वैसे ही कभी नहीं हो सकता, जैसे कि पारमार्थिक शुक्ति-ज्ञान का अपारमार्थिक रजत-ज्ञान के द्वारा बाध नहीं होता ।

[आशय यह है कि जहाँ उपजीव्य की अपेक्षा उपजीवक की अधिक सत्ता होती है, वहाँ लोक-प्रसिद्ध उपजीव्य-विरोधन्याय लागू नहीं होता, किन्तु जहाँ उपजीव्य की अपेक्षा उपजीवक की अधिक सत्ता नहीं होती, सम या न्यून सत्ता होती है, वहाँ उपजीव्य-विरोध न्याय पूर्णतया लागू होता है, जैसे 'वह्निरनुष्णः'—इस अनुमिति का उपजीव्य 'वह्निरुष्णः'—यह स्पार्शन प्रत्यक्ष है, यहाँ दोनों की समान आविद्यिक सत्ता है, अतः प्रत्यक्षरूप उपजीव्य से अनुमितिरूप उपजीवक का बाध हो जाता है] ।

शङ्का—अपारमार्थिक उष्णता-प्रत्यक्ष से यदि अपारमार्थिक अनुष्णता-अनुमिति का ही बाध हो सकता है, पारमार्थिक अनुष्णता-अनुमिति का नहीं, तब पारमार्थिक अनुष्णता की ही अनुमिति क्यों नहीं कर ली जाती कि उसका बाध न हो ।

समाधान—'वह्निरनुष्णः, द्रव्यत्वात्, जलवत्'—इस अनुमान के द्वारा जलरूप दृष्टान्त में जैसी शीतस्पर्शात्मक अनुष्णता अनुभूत है, वैसे ही वह्निरूप पक्ष में अनुमित होगी, वह अविद्या-प्रयुक्त ही अनुष्णता है, पारमार्थिक नहीं, अतः पारमार्थिक अनुष्णता का प्रसाधन कभी हो ही नहीं सकता, परिशेषतः अपारमार्थिक अनुष्णता में ही उक्त अनुमिति का पर्यवसान होता है । यदि उस अनुष्णता में दृष्टान्त-दृष्ट लौकिक पारमार्थिक शीतत्वात्मता न मानकर अत्यन्त अबाधितत्वरूप पारमार्थिकत्व माना जाता है, तब अनुष्णता के नाम से अद्वैत तत्त्व ही सिद्ध किया जाता है, अतः अद्वैत तत्त्वात्मता से बचाने के लिए अनुमिति ज्ञान की वेद्य

न्तरकरणापत्तेः, ततस्तस्यां ज्ञेयज्ञानादिभेदावश्याभ्युपेयतया जगद्बाधयुक्तिकवलाप्रवेशासम्भवात्। अद्वैते च द्वैताश्रयस्य बाधस्य वास्तवस्यानवकाशाद् अपारमार्थिकत्वसंभावनाऽपि दूरत एवापसरतीति।

ननु किमद्वैतपरमार्थताभ्युपगमेन समाहितं भवति ? यत उपजीव्यबाधादद्वैते प्रमां श्रुतिर्जनयितुं न शक्नोतीति ब्रूमः। मैवम्; अद्वैतं हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्येत, न त्वविद्याविद्यमानेन। तस्मादविद्याव्यवस्थितं भेदं तद्बोधं चोपजीवन्त्या न परमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाधः।

अदृश्यत्वेऽद्वैतमेवेति संज्ञाभेदः स्यादित्यर्थः। साध्यवैकल्यं तु स्पष्टमेव। यदि ब्रह्मणोऽन्यत्वसिद्धये दृश्यत्वमिष्यते तत्राह ❀ तत इति ❀। दृग्दृश्यसम्बन्धखण्डनं जगद्बाधयुक्तिस्तत्कवले ग्रासेऽप्रवेशासम्भवादविद्याविद्यमानत्वमेव पर्यवस्येदित्यर्थः। अद्वैते वाक्यप्रामाण्यस्वीकारादपरमार्थत्वप्रसङ्गः समान इत्यत आह ❀ अद्वैते चेति ❀। वस्तुतो मानमेयभावानभ्युपगमात्स्वयंप्रभत्वाच्च न मिथ्यात्वप्रसङ्ग इत्यर्थः।

पूर्वमुपजीव्यबाधाभावादद्वैतश्रुतेर्विपर्यासलक्षणमप्रामाण्यं परिहृतम्, इदानीमनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यं चोदयति ❀ नन्विति ❀। अद्वैतज्ञानजनिकाले प्रमात्रादिद्वैतमस्ति न वा ? न चेदाश्रयाभावादनुत्पत्तिः। अस्ति चेदुपजीव्यप्रमाणविरोधादयोग्यार्थसंसर्गगोचरतयांगुल्यग्रादिवाक्यवत्प्रमां नोत्पादयेत् श्रुतिरित्यर्थः। अद्वैतपरमार्थतोपगमेऽपि श्रुतेरप्रामाण्यस्य तादवस्थ्यादिति हेतुमाह ❀ यत इति ❀।

अद्वैतबुद्धेः परमार्थभेदधिया विरोध उच्यते भेदमात्रधिया वेति विकल्प्याद्यमङ्गीकारेण परिहरति ❀ मैवमिति ❀। विषयद्वारा धियोरेव विरोध उच्यते। नापि द्वितीयः, कल्पितभेदधियोऽसमबलत्वेन तत्प्रतिपक्षत्वायोगादित्याह ❀ न त्विति ❀। प्रमात्रादिभेदस्य कल्पितत्वे धूमाभासवत्परमार्थप्रमापकता न स्यादतः परमार्थभेदस्यैवोपजीव्यतया तद्विरोधो दुष्परिहर इत्यत आह ❀ तस्मादिति ❀। पारमार्थिकत्वस्य केवलव्यतिरेकाभावाद्भेदमात्रमुपजीव्यम्, न पारमार्थिकभेदः। कल्पिताच्च प्रतिबिम्बादेः परमार्थबिम्बादि-

---

या दृश्यरूप अपारमार्थिक अनुष्णता ही सिद्ध करनी होगी, जिसको दृग्दृश्य-सम्बन्धानुपपत्तिरूप जगत्पारमार्थिकत्व की बाधक युक्तियों के मुख में जाने से बचाना सम्भव नहीं, फलतः अपारमार्थिक अनुष्णता और अपारमार्थिक उष्णता का लोक-प्रसिद्ध उपजीव्य-उपजीवकभाव घट जाता है।

यद्यपि अद्वैततत्त्व भी औपनिषद् (उपनिषद्वाक्य-जन्य ज्ञान का विषय) है, तथापि द्वैत-सत्यत्वबाधक मान-मेयभाव-मूलक युक्तियों के चंगुल में वह नहीं फँस सकता, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है, फलव्याप्य न होने के कारण वेद्य (मेय) नही माना जाता।

शङ्का—अद्वैत तत्त्व को पारमार्थिक मान लेने से भी क्या लाभ ? प्रत्यक्ष प्रमाण-सिद्ध भेदरूप उपजीव्य से बाधित होने के कारण अद्वैत श्रुति अद्वैत प्रमा को जन्म नहीं दे सकती, अतः वह प्रमाण-सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—अद्वैत तत्त्व पारमार्थिक है और भेद व्यावहारिक, पारमार्थिक भेद से ही वह बाधित हो सकता था, आविद्यिक या अपारमार्थिक भेद से नहीं, अतः व्यावहारिक भेद को उपजीव्य बना कर भी श्रुति पारमार्थिक अद्वैतविषयक प्रमा को जन्म दे सकती है, उपजीव्यबाध यहाँ प्रवृत्त नहीं होता [श्री वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है—"तस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य बोधकतया च स्वतःसिद्धप्रमाणभावस्य स्वकार्ये प्रमितौ अनपेक्षत्वात्। प्रमितावनपेक्षत्वेऽपि उत्पत्तौ प्रत्यक्षापेक्षत्वात् तद्विरोधाद् अनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमिति चेत्, न, उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्, न ह्यागमज्ञानं सांव्यावहारिकं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपहन्ति, अन् कारणाभावान्न भवेत्, अपितु तात्त्विकम्, न च तत् तस्योत्पादकम्, अतात्त्विकप्रमाणभावेभ्योऽपि सांव्यावहारिकप्रमाणेभ्यस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्" (भामती पृ० ९)। अर्थात् प्रदीप को अपनी

यदि श्रुतिजन्या भवन्त्यप्यद्वैतबुद्धिः अविद्याविद्यमाना, तथापि तद्विषयस्तावत् परमार्थसदेवाद्वैतम्। विरोधेन च तस्याः बाध्यता, स च नास्तीति। तस्मात्—

पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः।
बाधनादुपजीव्येन बिभेति न मनागपि ॥ २२ ॥

श्रुतिरपि तदाह—'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति।

प्रमितिर्वृष्टेत्यर्थः। अद्वैतबुद्धेरविद्याकार्यत्वाद्रजतादिप्रत्ययवद् भेदधिया बाधः किं न स्यादित्यत आह ॐ यदीति ॐ। स्वरूपबाध उच्यते विषयबाधो वा ? आद्योऽङ्गीक्रियत एव। द्वितीयस्त्वनुपपन्नः, 'तत्त्वम्'इति श्रुतिविरोधादित्याह ॐ तथाऽपीति ॐ। ज्ञानं प्रमाणं विषयस्याबाधादिति व्यधिकरणासिद्धो हेतुरित्यत आह ॐ विषयेति ॐ। अबाध्यविषयत्वेनैव ज्ञानप्रामाण्यं न स्वरूपसत्यतया, व्यभिचारादित्यर्थः। अद्वैतं बाध्यमन्तःकरणपरिणामगोचरत्वाद् घटवदित्याशङ्क्याह ॐ स चेति ॐ। जडत्वमुपाधिः, सत्यं ज्ञानमित्यादिश्रुतिबाधितं चेत्यर्थः।

उक्तमर्थं श्लोकेन संक्षिप्य दर्शयति ॐ तस्मादिति ॐ। यस्माद् भेदप्रतीतिरुपजीव्यते परमार्थाद्वैतगोचरया श्रुत्या, तस्मात् श्रुतिः पारमार्थिकमद्वैतं शरणं प्रविश्योपजीव्येन बाधनान्न मनागपि ईषदपि बिभेतीत्यन्वयः। बाध्यबाधकभावस्य द्विष्ठत्वादद्वैते तदभावान्न बाध इत्यत्र श्रुतिं प्रमाणीकरोति ॐ श्रुतिरिति ॐ।

उत्पत्ति में ही तैलादि की अपेक्षा होती है, अपनी प्रवृत्ति या प्रकाशन क्रिया में नहीं, श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—

"आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥" (श्लो० वा० पृ० ६०)

प्रकृत में अद्वैत-श्रुति-जन्य अखण्डाकार वृत्त्यात्मक ज्ञान अपनी उत्पत्ति में व्यावहारिक भेद का उपजीवन (आश्रयण) करता है. किन्तु भेद-घटित जगत् की पारमार्थिकता का निषेधरूप कार्य स्वयं करता है, अतः उपजीव्य-विघात कदापि प्रसक्त नहीं होता]।

यद्यपि अद्वैत-बुद्धि भी व्यावहारिकसत्ताक श्रुति से जन्य होने के कारण आविद्यिक या व्यावहारिक ही है, तथापि उसका विषय पारमार्थिकसत्ताक अद्वैततत्त्व ही है। विषय का विरोध या बाध हो जाने पर ही उसके ज्ञान में बाध्यता या अप्रमाणता आती है, किन्तु सर्वबाधावधिभूत अद्वैत तत्त्व का कोई बाधक नहीं, अतः अद्वैत-ज्ञान प्रमाण है—'अद्वैत-ज्ञानं प्रमाणम्, अबाधितविषयकत्वात्।' इस प्रकार अद्वैत-श्रुति का उपजीव्य-विरोध से सामना ही नहीं, यदि किसी प्रकार हो भी जाय, तब भी प्रबलतम पारमार्थिक अद्वैत-तत्त्व का बल पाकर उसे उपजीव्य-विरोध का कुछ भी भय नहीं रहा—

पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः।
बाधनादुपजीव्येन बिभेति न मनागपि ॥

[यदि आगम प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण का जात्या प्राबल्य मान भी लिया जाय, तब भी प्रबलतर प्रमेय की शरण पाकर दुर्बल प्रमाण भी प्रबल हो जाता है,—

दुर्बलस्य प्रमाणस्य बलवानाश्रयो यदा।
तदापि विपरीतत्वं शिष्टाकोपे यथोदितम् ॥
अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः।
दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः ॥ (तं० वा० पृ० ८४१)

एक निर्बल पुलिस-मैन जन-साधारण के एक बलिष्ठ व्यक्ति को भी मार भगाता है, इसका एक मात्र कारण है—पुलिस-मैन को प्राप्त शासन का वरदान। यद्यपि स्मृति प्रमाण की शक्ति

तस्माद्वैतं 'ब्रह्मैवेदं सर्वमि'ति श्रुत्यर्थेन सहैक्यमापन्नं ब्रह्मैव स्यात्, विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति च श्रुत्या ज्ञानानन्दात्मतया व्यवतिष्ठते। तेन यदिदमद्वैतज्ञानं श्रुत्या जनितं तद्विज्ञानाद्वैतात्मन्येव निविशते।

एकं ब्रह्मास्त्रमित्यादौ ब्रह्मणः सत्यत्वं प्रतिज्ञायाद्वैतसत्यत्वं प्रतिपादयतः पूर्वापरविरोध इति चेन्नैवम्, तयोरेकत्वादित्याह ॐ तच्चेति ॐ। योऽयं स्थाणुः पुमानेष इति यथा बाधायां सामानाधिकरण्यमुपेत्य सर्वस्य ब्रह्ममात्रता 'ब्रह्मैवेदं सर्वमिति' श्रुत्या प्रतिपाद्यते तेनाद्वैतमपि ब्रह्मैव संपद्यत इत्यर्थः। अद्वैतावाहिर्न पुरुषार्थः ज्ञानानन्दयोरभावात्, मुक्तौ च ज्ञानसुखादेरुच्छेदादित्यत आह ॐविज्ञानमितिॐ। विज्ञानात्मकतयेत्यानन्दात्मकताया अप्युपलक्षणम्। यद्वाऽपुरुषार्थत्वपरिहाराय स्वीकृताभ्यां ज्ञानानन्दाभ्यां सद्वितीयतापत्तिरित्याशंक्याह ॐ विज्ञानमिति ॐ। ननु नाद्वैतस्य विज्ञानात्मकता श्रुतिजन्यज्ञानविषयत्वाद्घमंवदित्याशंक्याह ॐ तेनेति ॐ। वृत्तिज्ञानानात्मकत्वानुमाने सिद्धसाधनम्, तत्प्रतिबिम्बितस्फुरणानात्मत्वानुमाने प्रज्ञानघनश्रुतिव्याकोप इत्यर्थः।

श्रुति की अपेक्षा नगण्य है, तथापि आचमनरूप प्रबलतर प्रमेय का बल पाकर क्रम-विधायक श्रुति वाक्य का बाध कर डालती है—ऐसा निर्णय महर्षि जैमिनि ने (मी० द० ३।३।७) में दिया है, ऐसी स्मृति के लिए भी कहा जा सकता है—

आचमनपदार्थं तु प्रविश्य शरणं स्मृतिः।
बाधनान्न श्रुतिवाक्येन बिभेति न मानागपि ॥

अतत्त्व-ज्ञान से तत्त्व-ज्ञान की प्रबलता का रहस्य भी यही है कि उसका विषय शक्तिशाली होता है, बौद्धवृषभ श्रीधर्मकीर्ति का कीर्तन है—

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥ (प्र. वा. पृ. १४४)

श्री सोमेश्वर भट्ट ने बाध का संक्षिप्त वर्गीकरण चार भागों में किया है—"अनुत्पत्तिविनाशसंस्कारोच्छेदफलापहाराः" (न्या० सु० पृ० १२१८)। इनमें अद्वैत-श्रुति स्वयं नित्य है और उससे जनित ज्ञान अपनी व्यावहारिक भद-गर्भित सामग्री से उत्पन्न होता है, प्रत्यक्ष प्रमाण उसी भेदादि सामग्री का ग्राहक है, अतः अनुत्पत्तिरूप बाध अद्वैत-श्रुति का सम्भावित नहीं। अद्वैत-ज्ञान का कोई विरोधी न होने के कारण अपने विषय-प्रकाशन से पूर्व नष्ट नहीं होता। स्वतःप्रमाण होने के कारण उसका विपर्यय भी नहीं होता है जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"न हि तदुत्पन्नं ज्ञानं विपर्येति, यच्च ज्ञानं नाम न विपर्येति न तच्छक्यते वक्तुम्—नैतदेवमिति" (शावर० पृ० २४)। अत एव अद्वैत तत्त्व-प्रकाशन रूप फल का भी अपहार यहाँ नहीं होता। संस्करोच्छेद के द्वारा स्मृति ज्ञान का ही बाध होता है, अनुभूति का नहीं]। अद्वैत तत्त्व अभय पद है, उसे पाकर अखण्डाकार वृत्ति को किसी से भय नहीं रहता—"वीतशोकं तदाकाममभयं पदमश्नुते" (गौड़. ४।७८) । द्वैत सदा भय-प्रद पद है—द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृह० १।४।२) । अतः द्वैतावगाही प्रत्यक्ष ही बाधित हो जाता है, क्योंकि उसकी विषयता पारमार्थिक सत्ता से सरककर अपारमार्थिक सत्ता पर ही सिमट कर रह जाती है।

"एकमेवाद्वितीयम्" (छां ६।२१) इस श्रुति से अवगमित वह अद्वैत तत्त्व "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (नृ० उ० ता० ७।३) इस श्रुति के अर्थ से एकतापन्न होकर ब्रह्म और "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह० उ० ३।९:३४) इस श्रुति की प्रतिपाद्य वस्तु से अभिन्न हो कर ज्ञानानन्दरूप में व्यवस्थित हो जाता है। अतः यह जो अद्वैत-ज्ञान अद्वैत-श्रुति से जनित होता है, वह विज्ञानाद्वैतरूप में ही पर्यवसित हो ताहै। [जैसे कुआँ खोदने से जल उत्पन्न नहीं, प्रकट होता है, वैसे ही अद्वैत-श्रुति के द्वारा अद्वैत तत्त्व की अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं, केवल उसकी

ननु कथं तस्य श्रुत्या जन्यत्वमुपपद्यते? सत्यम्, एवं स्याद् यदि तस्य पारमार्थिकी श्रुत्या जन्यताऽपि स्यात्। अविद्याऽव्यवस्थिता तु तज्जन्यता न पारमार्थिकेनाजन्यत्वेन विरुद्ध्यते।

अत एव श्रुत्येदमेकं साध्यते। यत्तु तत्र यद्येकता भेदाभावः, यदि वैकत्वसंख्या, यदि वा ज्ञानात्मकत्वं, यदि वाऽन्य एवैकत्वनामा कश्चिदभेदापरपर्यायो धर्मस्तद्रूपं बोध्यते। तच्चाद्वैतव्याघातकत्वान्न सेद्धुं शक्नोति, तदा तदपि निष्पीडनमसह-

ब्रह्मतज्ज्ञाने नाभिन्ने विरुद्धधर्मत्वाद् द्रवकठिनवत्। विरुद्धधर्मत्वं च जनिमत्त्वाजनिमत्त्वेन। विपक्षे ब्रह्मवज्ज्ञानस्यापि नित्यत्वप्रसङ्ग इति पराभिप्रायानभिज्ञश्चोदयति ※ नन्विति ※। पारमार्थिकं विरुद्धत्वं हेतुः किं वा प्रातीतिकम्? नाद्यः असिद्धत्वादित्याह ※ सत्यमिति ※। वृत्त्युपाध्यविवेकेन तद्गेदजन्यत्वादि स्फुरणे परिकल्प्यते, न स्वतो जन्मादिरित्यर्थः। यदि प्रातीतिकं विरुद्धत्वं हेतुस्तदाऽपि कल्पितभेदसाधने सिद्धसाध्यता, परमार्थभेदसाधने चाकाशे व्यभिचार इत्यभिप्रेत्याह ※ अविद्येति ※। घटाकाशस्य घटावच्छिन्नतया जन्यस्यापि परमार्थतो जनिहीनतया महाकाशत्ववदत्रापीत्यर्थः। ज्ञानज्ञेयभेदानुमानम् एकमिति श्रुत्या बाध्यत इत्युक्तम्।

नन्वद्वैतमेकमित्यादिशब्देन भेदाभावादीनामन्यतमधर्मस्य प्रतिपादनीयत्वात्तस्य च बाधात्तद्वत् कथमद्वैतं पारिमार्थिकं स्यादित्याशंक्याह ※ अत एवेति ※। अत्रेतिशब्दाध्याहारेण यत्तूच्यत इति सम्बन्धः। श्रुत्या यदिदमेकत्वं साध्यते तत्र यद्येकत्वं भेदाभावस्तर्हि भेदाभावस्य प्रामाणिकत्वादद्वैतहानिः। यदि चैकत्वं संख्या तदा गुणगुणिभावादद्वैतक्षतिः। यदि वा विश्वस्य संवेद्यस्य संवेदनैक्यं तर्हि विज्ञानवादवद् ग्राह्यस्य ग्राहकभेदादद्वैतव्याघात एव। यदि घटादीनां परस्परमभेदो धर्मस्तद्रूपं बोध्यते श्रुत्या तदपि धर्मवत्त्वं सेद्धुं न शक्नोत्यद्वैतव्याघातादेवेत्यर्थः। भेदाभावादिधर्मसिद्धिरुच्यते किं वा तद्धर्मिणोऽद्वैतस्येति विकल्प्य प्रथममङ्गीकरोति ※ तदपीति ※। अद्वैतज्ञानस्य श्रुतिजन्यत्वं न्याया-

अभिव्यञ्जिका वृत्ति की उत्पत्ति होती है, व्यञ्जकगत जन्यत्वादि धर्मों का आरोप व्यङ्ग्य पर कथञ्चित् हो जाता है]।

शङ्का—यदि श्रुति-जन्य ज्ञान ब्रह्मरूप ही है, तब नित्य ब्रह्म को भी श्रुति-जनित कहना होगा, किन्तु न तो आप (ब्रह्मवादी) ही विश्वाधिष्ठान ब्रह्म को किसी से जनित मानते हैं और न हम (नैयायिकगण) ईश्वर ब्रह्म को, अतः श्रुति-जन्य ज्ञान को ब्रह्मरूप नहीं मानना चाहिए—अद्वैतज्ञानं न ब्रह्मरूपम्, जन्यत्वात्'। यदि अद्वैत-ज्ञान का ब्रह्म से अभेद निश्चित है, तब वह नित्य होने के कारण श्रुतिजन्य कैसे होगा? 'अद्वैत-ज्ञानं न श्रुतिजन्यम्, नित्यत्वाद्, ब्रह्मवत्'।

समाधान—ब्रह्म-ज्ञान में श्रुति-जन्यत्व पारमार्थिक नहीं, केवल अविद्या की देनमात्र है, यदि ज्ञान में श्रुति-जन्यता वास्तविक होती, तब अवश्य ही ज्ञानगत पारमार्थिक अजन्यता या नित्यता का विरोध होता। ब्रह्मरूप अजन्य ज्ञान ही मुख्य ज्ञान-पदार्थ है और अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचारमात्र होता है, विवरणकार कहते हैं—"न च ज्ञानमपि क्वचित् जन्मवद् दृष्टम्। अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात्" (पं० वि० पृ० २०३)।

अत एव ब्रह्म में यह जो "एकमेवाद्वितीयम्" (छां० ६।२।१) इस श्रुति के द्वारा एकत्व सिद्ध किया जाता है, वह एकत्व चाहे भेदाभावरूप हो, या एकत्व संख्या हो या ज्ञानात्मकत्व हो अथवा अन्य ही कोई अभेद का पर्यायभूत धर्म माना जाय, वह अद्वैतरूपता का व्याघातक होने के कारण यदि सिद्ध नहीं हो सकता, तब वह एकत्व भी ज्ञानगत श्रुति-जन्यत्व के साथ-साथ ब्रह्म से निवृत्त हो जाय अर्थात् वह भी अपारमार्थिक ही माना जाय [आत्मनानात्ववादी जो आत्मा की एकता का विरोध करते हुए एकत्व की विविध व्याख्याएँ किया करते थे, जैसे वादिवागीश्वराचार्य कहते हैं—"एकमिति च द्वैरूप्यनिराकरणपरम्, एकत्वसंख्यां वाचष्टे, लोके

मानं तज्ज्ञानं श्रुतिजन्यत्वेन सहैव निवर्तताम् ।

यत्तु तादृशस्याद्वैतस्य धर्मस्य धर्मितया प्रमितं तन्मात्रमबाधादधिगतं परमार्थतो व्यवतिष्ठताम् । न हि परमार्थशुक्ती रजततया प्रतीयते यदा, तदा बाधात्तत्र रजतत्वे व्यावर्तमाने धर्मिव्यक्तिरपि तदपराधान्निवर्तते ।

सेयमद्वैतबुद्धिर्न तर्कशतमवतार्य प्राज्ञैरपनेया । यदाह श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति । तस्मात्—

धीधनाः ! बाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ ।
क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥ २३ ॥

सहिष्णुत्वान्निवर्तते यथा तथा भेदाभावादेरपि निष्पीडनं न्यायाघातमसहमानं निवर्ततामित्यर्थः । न्यायश्च—तस्य दृश्यत्वे सम्बन्धासम्भवान्न वस्तुतो दृश्यत्वम्, अदृश्यत्वे शशशृङ्गवदसत्त्वम् , दृश्यादृश्यत्वे ब्रह्ममात्रत्वम्—इत्यादिरूपो द्रष्टव्यः । अद्वैतधर्मिण एव बाध इति द्वितीयं प्रत्याह ❀ यत्त्विति ❀ । "उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्"—इति न्यायाद् धर्मबाधे धर्मिणः कथमबाधितत्वमित्यत आह ❀न हीति❀ । 'तदपराधाद्' आरोपितधर्मबाधरूपापराधादित्यर्थः ।

एवं सम्भावितसकलविरोधपरिहारेणाद्वैतबुद्धिमुद्दिश्य नात्र कुतर्कमात्रेण प्रत्यवस्थातव्यं स्वार्थहानिप्रसंगादिति करुणया शिक्षयति ❀ सेयमिति ❀ । अद्वैतबुद्धेरद्वैतेनासम्बन्धे न तद्बुद्धित्वम् , संबन्धे च तस्य वास्तवत्वेऽसङ्गत्वहानिः, अवास्तवत्वे कल्पितसम्बन्धत्वाद्रजतबुद्धिवदमानत्वमद्वैतबुद्धेरित्यादि तर्कमवतार्य न निराकरणीया, कॢप्तकरणाजन्यत्वस्यैवामानत्वप्रयोजकत्वेन कल्पितसम्बन्धस्याप्रयोजकत्वात् , तर्कागोचरत्वाच्चाद्वैतस्येत्यर्थः । अद्वैतबुद्धिस्तर्कगोचरा बुद्धित्वाद् द्वैतबुद्धिवदित्याशंक्य श्रुतिविरोधमाह ❀यदिति❀। एषा मतिरद्वैतबुद्धिस्तर्केण नापनेयाऽनिराकार्येत्यर्थः । यद्वा कथिततर्ककलापादेवाद्वैतबुद्धिसिद्धेरागमवैयर्थ्यमित्याशंक्याह ❀ सेयमिति ❀ । अत्र प्रमाणमाह ❀ यदिति । आपनेया प्रापणीयेति यावत् । सकलशास्त्रकृतां पर्यवसानं निःश्रेयसार्थत्वान्नान्यः पंथा इत्यादिशास्त्रादद्वैतमतिव्यतिरेकेण तदसिद्धेस्तर्केण तन्निराकरणाय मतिर्न करणीयेत्यभिधत्ते ❀ तस्मादिति ❀ । धीरेव धनं येषां ते 'धीधनाः' पण्डिताः । अस्या अद्वैतबुद्धेर्बाधनाय स्वप्रज्ञां तदा प्रयच्छथ यत्र यदा पाणिलब्धं हस्तप्राप्तं चिन्तामणिं समुद्रे क्षेप्तुमिच्छथ, यदेतादृशं

व्युत्पत्तेः" (मा० म० पृ० ४१) । वह समस्त विवाद इस प्रकार समाप्त हो जाता है कि एकत्व का प्रतिपादन श्रुति केवल आरोप-दृष्ट्या ही करती है, पारमार्थिक नहीं] ।

कथित द्वैताभावादि रूप कल्पित धर्मों का जो धर्मी (ब्रह्म) प्रमित होता है, वही वस्तुतः परमार्थ तत्त्व के रूप में व्यवस्थित होता है, क्योंकि जहाँ शुक्तिरूप धर्मी रजतरूप में प्रतीत होता, है, वहां बाध ज्ञान (नेदं रजतम्) के द्वारा रजतत्वरूप धर्म की निवृत्ति के साथ-साथ शुक्तिरूप धर्मी भी निवृत्त नहीं होता, अपि तु वास्तविकरूप में व्यवस्थित रहता है । प्रकृत में भी श्रुति-जन्यत्व, एकत्व और द्वैताभावादि धर्मों की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्मरूप धर्मी निवृत्त नहीं होता, अपि तु काल्पनिक धर्मों का अधिष्ठान होकर नित्य स्थिर सिद्ध होता है। [सुवर्णादि में कुण्डलादिरूपता के आने-जाने से सुवर्ण में कुछ विकार अवश्य होता है। हां, आधार वस्तु नष्ट नहीं होती, किन्तु विवर्तवाद में अधिष्ठानतत्त्व विविध आरोपों के आवागमन से कुछ भी विकृत न होकर जैसे-का-तैसा व्यवस्थित रहता हैं] !

अद्वैत-श्रुति से जनित यह अद्वैत-बुद्धि ऐसी एक पत्थर की चट्टान है, जिसे एक क्या ? सैकड़ों तर्कों का तूफान भी हिला नहीं सकता—"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठ. २।९) । अतः 'पाण्डित्य के धनी गर्वीले विद्वानो ! इस अद्वैत-बुद्धि का बाध करने के लिए तभी सक्रिय होना, जब हाथ में आई इस एक अनुपम चिन्तामणि को समुद्र में फेंकने की इच्छा हो जाय ।' यह अद्वैत-दृष्टि केवल अदृष्टार्थक नहीं दृष्टार्थक (प्रत्यक्षफलक) भी है, जैसा कि कहा है—"स्वल्पम-

सेयमद्वैतदृष्टिर्दृष्टार्थाऽपि। यदाहुः—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'। तस्मात्—

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥ २४ ॥

तस्मात्—

आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्,
अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम्।
तत् स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा,
निष्पीडितादहह ! निर्वहते विचारात् ॥ २५ ॥

दौर्भाग्यं स्यादिति श्लोकार्थः। अद्वैतमतेः केवलादृष्टसाधनत्वाद् दृष्टादृष्टसाधनधर्मजिज्ञासां विना न तत्र नियमेन प्रवृत्तिरित्यत आह ❀ सेयमिति ❀। निरस्तसमस्तदुःखं निरतिशयानन्दं विदेहकैवल्यफलं यद्यपि शास्त्रदृष्टं तथाऽपि ब्रह्मास्मीति निश्चिन्वतः संसारभयनिवृत्तिः प्रत्यक्षफलमित्यर्थः। अत्र प्रमाणमाह ❀ यदिति ❀। अस्येश्वरार्पितनित्यनैमित्तिकधर्मस्य स्वल्पं लेशोऽपि महतो भयात्संसारापरपर्यायाद् अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ब्रह्मज्ञानोत्पादनेन तन्निदानाज्ञाननिवर्तकतया त्रायते पालयतीत्यर्थः। सकृच्छ्रवणाद्यनुष्ठानेनाद्वैतमतिर्नोदेति यदि तदा किं ततो निवर्तितव्यमुत प्रवर्तितव्यमेवेति जिज्ञासायां महारम्भस्याल्पमनसोऽप्यधिकारात्प्रवर्तितव्यमेव तेन 'आवृत्तिरसकृदुपदेशा'दिति भगवता ज्ञानमूर्तिना कथितत्वादित्याह ❀ तस्मादिति ❀। यस्माद् दृष्टादृष्टफलाऽद्वैतबुद्धिर्बहुविघ्ना च तस्मादेषाऽद्वैतवासना संस्कारः पुंसां यदि जायते तर्हीश्वरानुग्रहादेव, विद्योत्पत्तिपरिपन्थिकलुषनिवृत्त्यर्थमीश्वराराधने यतितव्यं मुमुक्षुभिरित्यभिप्रायः। तत्र हेतुः महाभयकृतत्राणा महतः संसारभयात्कृतं त्राणं यया सा तथोक्ता। वैराग्यादिसाधनदौर्लभ्याद्विशिष्टाधिकारिदौर्लभ्यं विवक्षन्नाह ❀ द्वित्राणामिति ❀। 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥' इति स्मृतेरित्यर्थः।

तर्हि उक्तप्रकारेण केनापि विरोधाभावात्प्राकृतदृष्ट्या द्वैताकारेण प्रकाशमानं विश्वं श्रौतदृष्ट्या ज्ञानात्मकं ब्रह्मैव चेत्तर्हि श्रौतज्ञानेनाद्वैतविरोध इत्याशङ्कामपाकुर्वन्महाप्रमेयमुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀ अद्वयवादिनीनां श्रुतीनामापाततो निष्पीडितविचारमन्तरेणार्थतया यदिदमद्वैतमाकलितमवगतं तन्निष्पीडिताच्छोधिताद्विचारात्परमार्थचिदेव भूत्वा निर्वहते स्वयमेवेत्यन्वयः। स्वानुभूतमतिकौतुकं परेषामाविष्कुर्वन्नाह ❀ अहहेति ❀ अविद्यावशायादेव श्रुतिप्रामाण्यात्तज्जन्यं ज्ञानं प्रमात्रादि विलापयत्कतकचूर्णवत्स्वयमपि विलीयते स्वरूपसिद्धिस्तु स्फुरणाभेदेन स्वतःस्फुरणादित्यर्थः।

प्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" (गी० २।४०) अर्थात् इस (अद्वैतमार्ग-प्रवणता) धर्म की एक छोटी-सी मात्रा भी उपार्जित होकर महान् भय से त्राण (रक्षण) दिलाती है। अन्यत्र भी यही कहा है—

"ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥"

[कोटि-कोटि प्राणियों में से यदि ईश्वर की कृपा से दो-तीन महापुरुषों की यह अद्वैत-वासना जाग जाती है, तब केवल उन महापुरुषों की ही नहीं समस्त प्राणियों की महाभय से रक्षा हो जाती है]। अतः

अपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्,
आकलितमर्थतया श्रुतीनाम्।
तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा,
निष्पीडितादहह ! निर्वहते विचारात् ॥

तदिदमेताभिरात्ममतसिद्धसद्युक्तिलक्षणोपपन्नाभिः युक्तिभिरुपनीयमानमद्वैतमविद्याविलासलालसोऽपि श्रद्दधातु तावद्भवान्। तदनु च अनयैवोपनिषदर्थश्रद्धया अध्यात्मं जिज्ञासमानः परमार्थतत्त्वं क्रमात् वृत्तिव्यावृत्तचेताः स्वप्रकाशसाक्षिकं माक्षिकरसातिशायि स्वात्मनैव साक्षात्कारिष्यति।

तदित्थं त्वदङ्गीकृतसद्विचारलक्षणोपपन्नैरेवं विधैर्विचारैरित्यारभ्य प्रतिपादितमर्थमुपसंहरति ❀तदिदमिति❀ परार्थानुमानस्थानीया एता युक्तयः तथा च परेषां सद्युक्तिलक्षणोपेतत्वेनास्मद्युक्तीनां सिद्धत्वादेताभ्यो निश्चयः संभवतीत्यर्थः। बहुशः प्रतिपादितमप्यद्वैतं मच्चेतसि न चकास्ति भेदप्रतीतिविरोधादेवेत्यत आह ❀अविद्येति❀ अविद्याविलासः अविद्याकार्यो भेदस्तल्लालसस्तदेकरुचिरित्यर्थः। आत्मज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति सर्वेषामविवादपदं तत्किमनयाऽद्वैतश्रद्धया मुमुक्षूणामित्यत आह ❀ तदिति ❀ तदनु परमात्मतत्त्वं भवताऽऽत्मनैव साक्षात्करिष्यते इत्यनुषज्यान्वयः। आत्मनेतीत्थंभावे तृतीया। एवकारश्च भेदाभेदव्यावृत्त्यर्थः। वस्तुसिद्धेः प्रमाणाधीनत्वात् श्रद्धाकरणमात्रेण तत्साक्षात्कारः कथमित्यत आह ❀अध्यात्ममिति❀ जिज्ञासमान इति ज्ञानेच्छयोरन्तर्णीतं विचारं लक्षयति अध्यात्ममिति तत्त्वम्पदार्थम्। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञान'मित्यादिस्मृतेरुपनिषदर्थश्रद्धया गुरुपादोपसर्पणपूर्वकं तत्सन्निधौ वेदान्तानां शक्तितात्पर्यावधारणरूपश्रवणं कुर्वन्नित्यर्थः। 'सकृच्छ्रवणमात्रेण पिशाचकवदाप्नुयात्। श्रुतवाक्यस्मृतेश्चान्यः स्मार्यते च वचोऽपरः॥' इत्यादिन्यायेनाधिकारिणां बहुविधत्वाद् बहुविधानि साधनानि दर्शयति ❀ क्रमादिति ❀ वृत्तिभ्यः स्वाभाविकीभ्यः शब्दादिगोचराभ्यो व्यावृत्तं चेतो यस्य स तथा। अनेन विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययसन्ततिकरणं निदिध्यासनं दर्शितम्, क्रमादिति मननं दर्शितम्। मनननिदिध्यासनाभ्यां विषयकर्तृदोषापनयने श्रवणेन च करणदोषेऽपनीते फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह कृताच्छ्रवणात्साक्षात्करिष्यते इत्यर्थः। श्रौतनिश्चयेन साक्षात्क्रियमाणस्य बलादापतितं जडत्वमित्यत आह ❀ स्वप्रकाशेति ❀ वृत्त्यभिव्यक्ततया स्वत एव सिद्धेर्न जडत्वमित्यर्थः। स्वसमवेतसुखसाक्षात्कारस्य पुरुषार्थत्वावद्वैते तदभावान्न तत्र श्रद्धेत्यत आह ❀ माक्षिकेति ❀ मक्षिकाभिरुपचितो रसो माक्षिको मधु तदतिशेतुं शीलं यस्य तत्तादृगनेनानन्दरूपतोक्ता। सुखसाक्षात्कारस्य

[अद्वय-वादिनी श्रुतियों का आपाततः आकलित (अवगत) अर्थभूत यह अद्वैत तत्त्व श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप विचार से परिशोधित होकर अनन्त कर्कश तर्कों की भी मार सहन कर जाता है, किञ्चिन्मात्र भी उसमें विकार नहीं आता—यह एक बहुत बड़ा चमत्कार है]। अतः नैयायिक-प्रवर मित्रो ! आपके लिए यह हमारा पवित्र सुझाव है कि आप लोगों (नैयायिकों) की अपनी परिभाषा के अनुरूप समीचीन युक्तियों के लक्षण से उपपन्न हमारी (ब्रह्मवादी की) इन खण्डन-युक्तियों के द्वारा प्रसाधित अद्वैत तत्त्व पर आप (अविद्या-विलासभूत द्वैत के लिप्सु) द्वैतीगण श्रद्धा रख कर अद्वैत-सम्प्रदाय में दीक्षित हो जायें। उस श्रद्धा के प्रभाव से अध्यात्म-जिज्ञासा (ब्रह्म-बुभुत्सा) का उदय होगा, श्रवण-मननादि के निश्चित मार्ग पर अग्रसर होकर विजातीय वृत्तियों से रहित अपने विमल अन्तस्तल के दर्पण में ब्रह्मानन्द का वह मधुर दर्शन प्राप्त करेंगे, जो कि माक्षिकरस (मधु या शहद) से भी बढ़-चढ़ कर है। जिस मार्ग से आप (नैयायिकों) का मन अपनी नैसर्गिक चपलता का परित्याग कर उस अमृत के महासागर में गोते लगाता हुआ अनायास ही परितृप्त हो जायगा, उस मार्ग का दिग्दर्शन हम (श्रीहर्ष) ने 'नैषधीयचरित' ग्रन्थ के परमपुरुषस्तुति (इक्कीसवें) सर्ग में कराया है। [वहाँ मन की स्थिरता के लिए पहले शिव शरणागति बताई है—

"दण्डवद् भुवि लुठन् स ननाम त्र्यम्बकं शरणभागिव कामः।
आत्मशस्त्रविशिखासनबाणान् न्यस्य तत्पदयुगे कुसुमानि॥" (नै० २१।३९)

अर्थात् भगवान् शंकर के चरणों में पुष्पाञ्जलि चढ़ा कर नल दण्डवत् प्रणाम करता

यथा च परिहृतचापलमात्मतत्त्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानसम्, तथाऽहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्ग इत्येषा दिक्।

पुरुषार्थत्वे सम्भवति स्वसमवेतेति विशेषणमकिञ्चित्करमित्यर्थः। 'तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्' इति स्मृतेः मनोनिग्रहस्याशक्यत्वात् तत्सहकृतश्रवणस्य कथमपरोक्षसाधनत्वमित्यत आह ❀ यथेति ❀। नैषधाख्ये काव्ये मया विरचिते परमपुरुषस्तुतिपरे सर्गेऽभ्यासवैराग्यादिसाधनमकथयमवोचमित्यर्थः। सत्यज्ञानादिपदानां पर्यायत्वे पदान्तरवैयर्थ्यं अपर्यायत्वेऽखण्डार्थनिष्ठत्वासिद्धिरित्याशङ्क्याह ❀ इत्येषा दिक् ❀। अद्वैतसाधन इति शेषः। अकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठसमानाधिकरणवाक्यस्य सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदे सत्यपि लक्षणयाऽखण्डनिष्ठत्वमित्यर्थः।

हुआ ऐसा लग रहा है, जैसे कि साक्षात् कामदव अपने पुष्परूपी वाणों को कामारि के चरणों में समर्पण कर प्रतिज्ञा करता है कि—'अद्यप्रभृति शस्त्रं न धारयामि, दासोऽस्मि मां रक्ष'। इसी प्रकार नल भगवान् के प्रायः दश अवतारों के साकार विग्रहों पर अपना मन जमाता हुआ निराकार तत्त्व की ओर अग्रसर होता है—

"दूरतः स्तुतिरवाग्विषयन्ते
　　रूपमस्मदभिधा तव निन्दा।
तत् क्षमस्व यदहं प्रलपामी-
　　त्युक्तिपूर्वमयमेतदवोचत् ॥"
"स्वप्रकाश जड एष जनस्ते
　　वर्णनं यदभिलष्यति कर्तुम्।
नन्वहर्पतिमहः प्रति स स्यात्
　　न प्रकाशनरसस्तमसः किम् ॥" (नै० २१।५२,५३)

नल अभ्यर्थना करता है कि हे स्वामिन्! आप की स्तुति सम्भव नहीं, क्योंकि आप वाणी के विषय ही नहीं। अतः आपकी स्तुति करना एक विडम्बनामात्र है, मैं जो यह प्रलाप कर रहा हूं, यह सर्वथा अनधिकार चेष्टा है, इस के लिए आप हमें क्षमा करें॥ ५३॥ हे स्वप्रकाश! मैं एक जड़ (अबोध) जन हूं आप का जो वर्णन करना चाहता हूं, वह क्या प्रचण्ड-भास्कर के प्रकाशनार्थ अन्धकार की कुचेष्टा नहीं? ॥ ५४॥

जब विविध वन्दारुवृन्दारकवृन्द-वन्दनीय चरणों की अभिवन्दना से साधक का मानस स्वच्छ और समाहित हो जाता है, तब देशिक तत्त्वोपदेश करता है—

वस्तु वास्तु घटते न भिदानां
　　यौक्तिकैकविधवाधविरोधैः।
तत्त्वदीहितविजृम्भिततत्त-
　　द्भेदमेतदिति तत्त्वनिरुक्तिः॥ (नै० २१।१०७)

हे विष्णो! घट-पटादि भेद-भिन्न प्रपञ्च का वास्तु (आधार या उपादान कारण) ब्रह्म वस्तु को नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर अनेक यौक्तिक और वाचनिक विरोध उपस्थित होते हैं। परिशेषतः आपकी संकल्पमयी अनिर्वचनीया माया का यह सब खेल मानना पड़ता है, वह आपकी लोकोत्तर शक्ति आप से भिन्न नहीं, आप ही सर्वाधिष्ठान ब्रह्म तत्त्व हैं—यह वैदिक तत्त्व की सच्ची व्याख्या है। इस प्रकार नैषधीयचरित के इक्कीसवें सर्ग में महापुरुष-स्तुति के बहाने श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वंपदार्थ शोधन का उपदेश मधुर शब्दों में किया गया है]।

९. खण्डनयुक्तीनां यथेष्टविनियोगः

अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा।
तत्तानि कस्मान्न यथाऽभिलाषं सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्वम् ॥ २६ ॥

तदेतादृशीषु सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु काममस्माकीनाः खण्डनयुक्तयः प्रगल्भन्ते, यासामीश्वरपरवशां विश्वव्यवस्थामनास्थाय निरसनमशक्यं तासामेवावतारणार्थमयं प्रावादुकप्रवादोपन्यासः। तथा हि—यदि शून्यवादानिर्वचनीयपक्षयोराश्रय-

---

खण्डनानां परपक्षप्रतिक्षेपमात्रफलत्वाद्विजिगीषूणामधिकारो न मुमुक्षूणां तत्त्वनिर्णयफलत्वाभावादित्याशङ्क्याह ❀ अभीष्टेति ❀। खण्डनानां एवमुक्तन्यायेनाद्वैताद्यभीष्टसिद्धावाज्ञा सामर्थ्यं नाखण्डि न खण्डितं। उदाहरति ❀ राज्ञामिवेति ❀। यथा राज्ञामाज्ञा परपक्षप्रतिक्षेपे स्वपक्षपरिपालने च नाखण्डि, तद्वत्। नन्वद्वैतं श्रुतिप्रमाणकं त्वया न्यरूपि, निरूपयिष्यसि च प्रमाणादिलक्षणासम्भवं ततः कथं सिद्धान्तसिद्धिरित्याशङ्क्याह ❀ तत्तानीति ❀। प्रमाणप्रमेयविभागस्य तत्त्वांशखण्डनेऽपि ज्ञानोत्पत्तेर्व्यावहारिकं सत्त्वमबाधितं यस्मात्तस्माद्वक्ष्यमाणानि खण्डनवचनानि सैद्धान्तिकेऽध्वन्यपि कस्मान्न यथेच्छं योजयध्वं योजयध्वमेवेत्यर्थः। तदुक्तं ब्राह्मणेन 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यती'ति।

परपक्षप्रतिक्षेपाद्वैतसाधनयोः सामर्थ्यं युक्त्यन्तराणामप्यस्ति सर्वदर्शनसिद्धान्तमवलम्ब्याप्रतिहतप्रचारत्वमासां खण्डनयुक्तीनामपि नास्ति तेन विजिगीषूणां न नियमेनात्र प्रवृत्तिरित्यत आह ❀तदिति❀। यस्मादद्वैतवादिसिद्धान्तेऽपि प्रमाणप्रमेयादिसत्तांशनिरसनेऽपि खण्डनयुक्तयो न निवार्यन्ते, तस्मादेतादृशीषु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमाश्रयासु सर्वासु द्वैतदर्शनस्थितिषु खण्डनयुक्तयः प्रवर्तन्त एवेत्यर्थः। अस्ति चेत्सर्वत्र खण्डनयुक्तीनां प्रागल्भ्यं तर्हि कं पक्षविशेषमाश्रित्य खण्डनयुक्तयो निरङ्कुशं प्रयोक्तव्याः ? कं च समाश्रित्य प्रमेयविशेषखण्डने प्रयोक्तव्या ? किं वा सर्वत्रैव निरङ्कुशाः प्रयोक्तव्या ? इति वीक्षायामाह ❀ यासामिति ❀। ईश्वरविरचितेयं प्रमाणादिव्यवस्थाऽतोऽस्या निरसने तावदीश्वरद्रोहः स्यादित्यभिशापमन्तरेण यासां खण्डनयुक्तीनां निराकरणमशक्यं तासामवतारणार्थं वादिमतोपन्यासः क्रियत इत्यर्थः। शब्दानित्यत्वादिसाधकयुक्तिविशेषस्य सार्वपथिकत्वाभाववन्नैतासां युक्तीनामपि सार्वपथिकत्वं युक्तित्वाविशेषादित्याशङ्क्य खण्डनयुक्तीनामेवायं स्वभाव इत्याह ❀ तथा हिति ❀। शून्यब्रह्मवादिनोः साधनीयाभावात्सार्वपथीनत्वं निर्बाधत्वमित्यर्थः। साधनीयाभावप्रयुक्त्या सार्वपथीनत्वं तयोश्चेन्न वैशेषिकादिपक्ष-

---

९. खण्डन-युक्तियों का यथेष्ट विनियोग

वादिगणो ! यद्यपि खण्डन-युक्तियों का आविष्कार द्वैत-खण्डनपूर्वक अद्वैत तत्त्व-साधन के उद्देश्य से किया गया है, तथापि आप लोग भी अपने-अपने सिद्धान्त के अनुरूप अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि में इनका विनियोग कर सकते है, क्योंकि जैसे चक्रवर्ती नरेश की आज्ञा का अवरोध नहीं किया जा सकता, वैसे ही किसी भी सैद्धान्तिक क्षेत्र में इनकी गति पर कोई अङ्कुश नहीं लगाया गया।

अतः समूचे दार्शनिक क्षेत्र पर खण्डन-युक्तियों की अबाध गति है। जिन खण्डन-युक्तियों का निराकरण ईश्वरीय शासन-विधान का सहारा लिए बिना या राजा की निषेधाज्ञा के विना नहीं हो सकता अर्थात् यदि ईश्वर या राजा आकर इन युक्तियों पर कोई प्रतिबन्ध लगा दे, तभी ये युक्तियाँ कुण्ठित हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। ऐसी संहारक युक्तियों का अवतरण-क्षेत्र निश्चित करने के लिए विविध वादियों के मतवादों का उपन्यास किया जाता है—(१) यदि माध्यमिक-सम्मत शून्यवाद या ब्रह्मवादी-सम्मत अनिवर्चनीयवाद का आश्रयण किया जाता है, तब इन खण्डन-युक्तियों की विना किसी प्रकार का संकोच किए निराबाध गति सर्वत्र होगी, क्योंकि उक्त दोनों वादियों के अपने मतों की स्थापना नहीं होती, केवल वितण्डा शैली पर ही

णम् ; तदा तावदमूषां निराबाधैव सार्वपथीनता ।

यदि तु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तृमतावलम्बनम्, तदाऽपि लक्षणखण्डनयुक्तीनां लक्षणविशेषखण्डने लक्ष्यखण्डनयुक्तीनां च तद्विषयप्रमाणादिविशेषखण्डने प्रत्येकं तात्पर्यम् ।

न च सौत्रादिलक्षणखण्डने अपसिद्धान्तापत्तिः, तादृश्याः सूत्रादिव्याख्यायाः खण्ड्यमानत्वात् । न च वाच्यं लक्षणविशेषवस्तुव्यवस्थापकप्रमाणविशेषसूत्रादिव्याख्याविशेषखण्डनपरत्वेन लक्षणान्तरं प्रमाणान्तरं व्याख्यान्तरं च वाच्यं प्रसज्येत

विशेषे खण्डनानां निर्बाधत्वं लक्षणप्रमाणादीनां साधनीयत्वादित्यत आह ॐ यदि त्विति ॐ । तुशब्दो विशेषार्थः । तमेव दर्शयति ॐ प्रमाणेति ॐ । या लक्षणखण्डनयुक्तय उपन्यस्तास्ताः सामान्येन लक्षणमात्रं न संभवत्येतत्परा न भवन्ति किं तु लक्षणविशेषासम्भवपराः, तद्यथा—स्वाश्रयावच्छेदोचितावान्तरसामान्यवत्त्वं विशेषगुणलक्षणमुदयनोक्तमतिव्याप्त्या निराकृत्य गुणत्वावान्तरसामान्यवत्तया नियतैकद्रव्यावच्छेदकत्वं वैशेषिकैर्लक्षणमुक्तम्, लक्ष्यखण्डनयुक्तयश्च तत्प्रमाणमात्रनिराकरणपरा न भवन्ति किं तु प्रमाणविशेषनिरसनपरा यथा—कार्याकार्यसंयोगस्य कारणाकारणसंयोगपुरःसरत्वे तूदयनोक्तं पार्थिवद्व्यणुकमाप्येन परमाणुना संयुज्यते तदकार्यत्वे सति तत्संयोगिकार्यद्रव्यत्वाद्यथा पटस्तुर्येत्यनुमानं दृष्टान्ते साध्यशून्यतया निराकृत्योक्तविषपरमाणुद्व्यणुकसंयोगः कारणाकारणसंयोगारभ्यः अकर्मजत्वे सति संयोगत्वात्संप्रतिपन्नववित्यनुमानान्तरमुक्तम्, तद्वदित्यर्थः ।

सूत्रभाष्यकाराभ्यां प्रतिपादितप्रमाणादिखण्डने सूत्रादिविरोधात्तन्मतावलम्बिनोऽपसिद्धान्त इत्यत आह ॐ न चेति ॐ । यदि सूत्रादेरर्थमात्रं खण्ड्यते तदा तद्दर्शनावलम्बिनामपसिद्धान्तः स्याद्, यदा तु सूत्रादिव्याख्यातॄणां व्याख्याविशेषः खण्ड्यते, तदा नापसिद्धान्तः, सूत्रादेरदुष्टतया स्वीकारादित्यर्थः । लक्षणादिविशेषखण्डनपरत्वेऽन्यल्लक्षणादि वक्तव्यमतश्च खण्डनानां तत्राप्यावृत्त्या स्वव्याघातकतया जातितेत्यत आह ॐ न चेति ॐ । कुतो न प्रसज्यत इत्यत आह ॐ वितण्डेति ॐ । कथाविशेषस्वरूपनिर्देशमात्रेण कथं

कथा प्रस्तुत की जाती है, जैसा कि श्री नागार्जुन ने कहा है—

यदि काचन प्रतिज्ञा तत्र स्यादेष मे भवेद्दोषः ।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोषः ।। (विग्रह. २९)

यदि प्रमाणादि की सत्ता माननेवाले नैयायिकादि के मत का अवलम्बन किया जाता है, तब अवश्य इनका मार्ग संकुचित करना होगा, जैसे लक्षण-सामान्य की खण्डन-युक्तियों को लक्षण-विशेष के खण्डन में और लक्ष्यार्थ की खण्डन-युक्तियों को लक्ष्यार्थविषयक प्रमाण-विशेष के खण्डन में जोड़ना होगा [जैसे नैयायिकगण प्रत्यक्षप्रमाण-निरूपण के सन्दर्भ में बौद्धादिसम्मत लक्षण और उसके लक्ष्यार्थ की आलोचना किया करते हैं, एवं वैशेषिकगण अपने एकदेशी अथवा अन्य दार्शनिक के लक्षणों का खण्डन किया करते हैं] ।

शङ्का—न्यायसूत्रकार ने "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" (न्या० सू० १।१।३) इस सूत्र में चार प्रमाणों का निर्देश किया है । न्यायभूषणकार यदि आपकी खण्डन-युक्तियों से तीन प्रमाणों की स्थापना करने के लिए उपमानरूप चतुर्थ प्रमाण का खण्डन करता है, तब उस पर अपसिद्धान्तरूप निग्रहस्थान लागू होता है ।

समाधान—सूत्र का यथावत् खण्डन करने पर अवश्य ही अपसिद्धान्त प्रसक्त होता है, किन्तु भूषणकार सूत्र का खण्डन न कर उसकी पुरातन व्याख्याओं का खण्डन करके नई व्याख्या प्रस्तुत करता है, अतः अपसिद्धान्त की सीमा में नहीं आता ।

शङ्का—यदि भूषणकार को आदर्श माना जाता है, तब खण्डन-युक्तियों के द्वारा लक्षण-विशेष, प्रमाण-विशेष और व्याख्या-विशेष का खण्डन करके आप को भी वैतण्डिकता पद से

भवतोऽपीति, वितण्डाकथामालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात्। तत्र च व्यावृत्य स्वपक्ष-निर्वाहं प्रति पर्यनुयोगानवकाशात्।

एवं च सति वादिदर्शनमाश्रित्यापि खण्डनप्रयोगो निर्बाध एव, एकदेशिवत् प्रत्यवस्थातुं शक्यत्वाद् वैयाकरणानामिव च शब्दसिद्धिप्रश्नस्य परकीयतत्त्वज्ञाननिरूपणार्थं समानपक्षस्थित्याऽपि पर्यनुयोगसांव्यवहारिकतायाः संभवात्।

वस्तुस्थितिं कुर्वाणेन च विचारकेणावश्यमेता युक्तय उद्धरणीयाः। अन्यथा वस्तुस्थितेरशक्यत्वादिति वादेऽपि प्रयोगः संभवत्येव खण्डनयुक्तीनाम्।

जल्पस्त्वेका कथा न संभवत्येवाऽसामयिकी, वितण्डाद्वयशरीरत्वात्। अन्यथा

प्रमाणादीनामवक्तव्यतासिद्धिरित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ। स्वपक्षस्थापनाहीनत्वाद्वितण्डायाः स्वपक्षस्थापनाङ्गानां प्रमाणादीनामवक्तव्यत्वमित्यर्थः।

एकदर्शनावलम्बिनामप्यन्योन्यखण्डनप्रयोग एवं सति सिद्ध इत्याह ॐ एवमिति ॐ। सदृष्टान्तं हेतुमाह ॐ एकदेशिवदिति ॐ। एकशास्त्रैकदेशिनामेकसिद्धान्तावलम्बित्वेप्येकदेश्यन्तरवत् प्रत्यवस्थानमित्यर्थः। एकदेशिनोः संप्रतिपन्नांशे नास्ति परस्परं प्रत्यवस्थानमसंप्रतिपन्नांशे भिन्नदर्शनावलम्बिनो नास्ति विशेष इत्यत आह ॐ वैयाकरणेति ॐ। यथा पाणिनिशाकल्यप्रभृतीनां गौरिति शब्दः साधुरिति संप्रतिपत्तावपि कथमयं शब्दः साधुरिति परकीयतत्त्वज्ञानपरीक्षार्थं तत्साधनप्रकारनिराकरणार्थं च प्रश्नो दृष्टस्तथा साध्यार्थसम्प्रतिपत्तावपि साधनप्रकारविशेषनिराकरणाय परकीयतत्त्वदार्ढ्यनिरूपणार्थं च पर्यनुयोगसांव्यवहारिकतायाः चोद्यस्य संव्यवहारसम्बन्धितायाः सम्भवादित्यर्थः।

तत्त्वनिर्णयप्रधानवादकथायां न खण्डनयुक्तीनां प्रवेशस्तत्र स्वपक्षसाधनं प्रति परावृत्य पर्यनुयोगावकाशात्तत्कथमासां सार्वपथीनतेत्याशङ्क्याह ॐ वस्त्विति ॐ। वस्तुबाधकत्वेन प्रयुक्तखण्डनानुद्धारे तदसिद्धेः खण्डनैरेव खण्डनान्युद्धरणीयानीति वादेऽपि खण्डनप्रवेश इत्यर्थः।

जल्पस्य तर्हि कथाद्वयविलक्षणत्वादुक्तयुक्तेरसम्भवान्न तत्र खण्डनानां प्रवेश इत्यत आह ॐ जल्पस्त्विति ॐ। जल्पकथाया एवाभावात्तत्रानवकाशो न दोष इत्यर्थः। 'यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थान-

---

त्याग-पत्र देकर लक्षणान्तर, प्रमाणान्तर और व्याख्यान्तर की स्थापना करनी होगी।

समाधान—खण्डन-युक्तियों का प्रयोग वितण्डा कथा में ही करना चाहिए, जिससे कि नया सिर-दर्द पैदा न हो, क्योंकि वितण्डा में वैतण्डिक को कोई 'स्वपक्ष-निर्वाह' के लिए विवश नहीं कर सकता। इस प्रकार वैतण्डिक किसी भी दर्शन का अवलम्बन कर खण्डन-युक्तियों का प्रयोग विना रोक-टोक के कर सकता है और उस दर्शन के मतावलम्बी पर वैसे ही दोषाभिधान कर सकता है, जैसे कि उस दर्शन का एकदेशी। अर्थात् जैसे भाट्टगण प्रभाकर-मत में दोष दिखाते हैं, उसी प्रकार वैतण्डिक भी कर सकता है। अथवा जैसे एक ही व्याकरण-शास्त्र की ऐन्द्र-चान्द्रादि विविध शाखाओं के विद्वान् सभा में एकत्र होकर सर्वसम्मत गवादि शब्दों पर विचार आरम्भ कर देते हैं, एक वादी दूसरे के तत्त्वज्ञान की परीक्षा करने के लिए प्रश्न कर देता है—'कथं गौरिति शब्दः साधुः ?' वैसे ही समान तन्त्र में स्थित होकर खण्डन-युक्तियों का उपन्यास किया जा सकता है।

'वाद' कथा में भी तत्त्व-बुभुत्सु वादिगणों में से एक वादी के द्वारा प्रयुक्त इन खण्डन-युक्तियों का अवश्य ही उद्धार करना चाहिए, अन्यथा वस्तु-स्थिति या तत्त्व-निर्णय का लाभ नहीं हो सकता। फलतः वाद कथा में भी खण्डन-युक्तियों का प्रवेश हो जाता है। मुख्यतः दो प्रकार की ही कथा होती है—(१) वाद और (२) वितण्डा। जल्प नाम की कोई तीसरी रीति स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि दो वितण्डाओं को मिला देने से जल्प का स्वरूप सम्पन्न हो जाता है। [जब प्रतिवादी छल और जात्यादि के द्वारा वादी के पक्ष का खण्डन करता

जल्पद्वयेनापि किमित्येका कथा न कल्प्यते। अवोचाम च जल्पविचारप्रस्तावे विस्तरेणैतदिति।

जल्पकथयाऽपि चाभिधाने स्वपक्षे व्यावर्त्य सदोषस्यापि प्रमाणतया अभिधानं कृत्वा तद्दोषोद्भावनकारी कामपि खण्डनयुक्तिमवतार्य बाधनीय इति जल्पेऽपि नात्यन्तमनवकाशाः खण्डनयुक्तयः।

साधनोपालम्भो जल्प' इति गौतमीयाः सङ्गिरन्त इत्यत आह ❀ असामयिकीति ❀। सङ्केतं विना न्यायतो विचार्यमाण इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह ❀ वितण्डेति ❀। यदा प्रतिवादी छलजात्यादिभिर्वादिपक्षं दूषयति, तदाऽस्य स्वपक्षसाधनावसराभावाद् दूषयित्वैव निवर्त्तत इत्येका वितण्डा, दूषितश्च वादी प्रत्यावृत्य यदा प्रतिवादिपक्षं दूषयति, तदा तत्पक्षस्य साधनानर्हत्वात्सोऽपि प्रतिपक्षं दूषयित्वैव निवर्तत इत्यपरा वितण्डा, ततश्च वितण्डाद्वयातिरेकेण परस्परस्खलितमात्रफलस्य जल्पस्य नास्त्येव स्वरूपमित्यर्थः। स्वमतसाधनपुरःसरं परमतनिरसनं जल्पे, वितण्डायां तु परमतनिरसनमेवेत्यस्ति जल्पवितण्डयोः पार्थक्यमित्यत आह ❀ अन्यथेति ❀। स्वपक्षसाधनपुरःसरं परपक्षमुपालभ्य पुनः परपक्षोपालम्भनपुनःसरं स्वपक्षसमर्थनमेका चतुर्थी जल्पसंज्ञा किं न कल्प्यते ? पिष्टपेषणवदानर्थक्यं द्वितीयस्वमतसाधनादेरिति चेन्न, स्थूणानिखननन्यायेन दार्ढ्यप्रयोजनत्वात्। जल्पतः पृथक् फलाभावादिति चेन्न, वितण्डातः पृथक् फलाभावस्य जल्पेऽपि तुल्यत्वादित्यर्थः। एवं तर्हि वितण्डैका कथा स्याद्वादस्यापि वितण्डाद्वयशरीरत्वेनाभावप्रसङ्गादित्याशङ्क्याह ❀ अवोचामेति ❀। वादस्य फलभेदेन वितण्डातो भेदोपपत्तिर्न जल्पस्य, तदभावात्प्रसङ्गस्य च प्रशिथिलमूलत्वं विपर्ययावसानादिदोषाच्च न जल्पो नाम कथान्तरमस्तीतीश्वराभिसन्धौ विस्तरेणोक्तमित्यर्थः।

परमतसिद्धं जल्पमङ्गीकृत्य खण्डनानां सार्वपथीनत्वं किं न दर्शयितुं शक्यमित्याशङ्क्योपायविशेषाच्छक्यते इत्याह ❀जल्पेति❀। परपक्षं प्रतिक्षिप्य स्वपक्षसाधनाय दैवगत्याऽसिद्ध्यादिदोषवदेव प्रमाणतयाऽभिधानं कृत्वा तद्दोषं प्रतिवाद्युद्भावयेत्, तदाऽसौ दोषोद्भावनकारी कयाचिल्लक्षणादिखण्डनयुक्त्या बाधनीय इति सम्भवत्येव जल्पेऽप्यवकाश इत्यर्थः।

है, तब उसे अपने पक्ष की स्थापना का अवसर ही नहीं मिलता, केवल वादी के मत पर दोषाभिधान करके ही निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार जब वादी छलादि के ही द्वारा प्रतिवादी के मत का खण्डनमात्र करता है, अपने मत की स्थापना का अवसर ही नहीं पाता—इस प्रकार दो वादियों की विचार-पद्धति को वितण्डा-द्वय ही कह जा सकता है]। यदि दो वितण्डाओं को मिला कर एक तीसरा कथा-प्रकार माना जाता है, तब दो जल्पों को मिलाकर एक चौथा प्रकार भी क्यों नहीं मान लिया जाता ? 'ईश्वराभिसन्धि' ग्रंथ में जल्प-विचार के अवसर पर यह विस्तारपूर्वक कहा गया है कि वाद का प्रयोजन तत्त्व-निर्णय और वितण्डा का विजय-लाभ। इन दोनों का फल-भेद वाद और वितण्डा की पृथक् सत्ता बनाए रखने के लिए पर्याप्त है, किन्तु विजय-लाभ ही जल्प का प्रयोजन माना जाता है, तब उसे वितण्डा से पृथक् नहीं माना जा सकता।

जल्प कथा की पृथक् सत्ता यदि मान भी ली जाय, तब भी उस कथा में जब वादी अपने मत में प्रसक्त दोषों का उद्धार कर अपने सिद्धान्त की सिद्धि में सदोष प्रमाण का उपन्यास करता है, तब किसी भी लक्षणादिविषयक खण्डन-युक्ति के द्वारा वह वादी निराकरणीय है, अतः जल्प कथा में भी खण्डन-युक्तियां प्रयुक्त हो सकती है, फलतः खण्डन-युक्तियों की सार्वभौमिकता सुस्पष्ट है।

१०. लक्षणसामान्यखण्डनम्

कीदृश्यः पुनस्ताः ? उच्यन्ते । तथा हि—लक्षणाधीना तावल्लक्ष्यव्यवस्थितिः, लक्षणानि च अनुपपन्नानि, ज्ञाताधिकरणादि(ज्ञानाधिकरणात्मादि)लक्षणनिरूपणद्वारेण [illegible] द्यापत्तेः ।

खण्डनानामनुपममहिमानमुपश्रुत्य सञ्जातकौतुको बुभुत्सुः पृच्छति ※ कीदृश्य इति ※ । खण्डनयुक्तय इत्यनुषङ्गः । खण्डनयुक्तीनामानन्त्येन साकल्याभिधानस्याशक्यत्वात्कियत्योऽभिधीयन्ते इत्याह ※ उच्यन्त इति ※ । खण्डयमानलक्षणेभ्यो नामरूपप्रपञ्चस्य लक्ष्यस्यान्यत्वाल्लक्षणानामनुपपन्नत्वेऽपि न तस्यानुपपन्नतेत्याशंक्याह ※ तथा हीति ※ । प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्धर्मविशेषं निश्चित्य काणादादिभिः संमुग्धधर्मिविशेषनिष्ठतया लक्षणाभिधानात्कथमनुपपन्नतेत्यत आह ※ लक्षणेति ※ । लक्षणानुपपन्नतां दर्शयितुं सर्वलक्षणानुगतं दूषणं तावदाह ※ज्ञानेति※ । ज्ञानस्याधिकरणमाश्रयो ज्ञानाधिकरणं स आत्मा आदिर्यस्य स ज्ञानाधिकरणादिस्तस्य लक्षणनिरूपणद्वारा चक्रकाद्यापत्तेरित्यन्वयः । इदमाकूतं ज्ञातृज्ञानज्ञेयात्मकं तावज्जगत्तत्र को ज्ञातेति पृष्टे ज्ञानाधार इति लक्षणं वाच्यम्, ज्ञानाधार इति विशेषणस्य रूपाद्याधारज्ञेयव्यावृत्यर्थत्वात् ज्ञेयमपि ज्ञातव्यं भवति, तदज्ञाने तदपोहस्य ज्ञातुमशक्यत्पात् । किं च तज्ज्ञेयमिति पृष्टे ज्ञानविषय इति वाच्यम्, किं वा तज्ज्ञानमिति प्रश्नस्य प्रकाशात्मको ज्ञातृविशेषगुण इति वक्तव्यम् , अत एकस्याप्यन्यतोऽसिद्धेश्चक्रकापत्तिः, लक्षणस्यापि सत्तामात्रेण गमकत्वेऽतिप्रसङ्गात् ज्ञातं लक्षणं वाच्यम् , एवं च लक्षणस्यापि लक्षणान्तराधीनसिद्धित्वेऽनवस्था क्वचिद्विच्छेदे तदसिद्धिद्वाराऽऽमूलमसिद्ध्यापातः लक्षणान्तराधीनसिद्धित्वाभावे लक्षणस्य लक्ष्यस्यापि तथैव सिद्ध्युपपत्तेर्लक्षणवैयर्थ्यापत्तिरित्यादिशब्दार्थः । ज्ञानाधिकरणादिसामान्यलक्षणानिरुक्तौ तदनालिङ्गिततद्विशेषलक्षणमप्यशक्याभिधानं तदुक्तं भट्टमिश्रैः—

"सामान्यलक्षणं मुक्त्वा विशेषस्यैव लक्षणम् ।
न शक्यं केवलं कर्तुमतोऽप्यस्य न वाच्यता ।।" इति ।

---

१०. लक्षण-सामान्य का खण्डन

वे खण्डन-युक्तियाँ कैसी होती हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में यूँ कहा जा सकता है—लक्षणों के द्वारा ही लक्ष्य व्यवस्थित किया जाता है, किन्तु लक्षण कभी भी उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि लक्ष्यरूप अधिकरण के ज्ञात-अज्ञातादि विकल्पों के द्वारा सभी लक्षण चक्रकादि दोषों के जाल में फंस कर रह जाते हैं [यहाँ ज्ञाताधिकरणादि के स्थान पर ज्ञानाधिकरणात्मादि—ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है । उसके अनुसार ज्ञानादि के अधिकरणीभूत आत्मादि के विषय में प्रश्न करते-करते चक्रकादि दोष आ जाते हैं—'को ज्ञाता ?' इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानाधारो ज्ञाता'—ऐसा लक्षण करना होगा । केवल 'आधारः' ऐसा कहने से ज्ञान और ज्ञेय में भी अतिव्याप्ति होती है, अतः ज्ञानाधारः कहा गया, यहाँ 'ज्ञान' पद के व्यवच्छेद्यभूत ज्ञेयादि का ज्ञान आवश्यक हो जाता है । यह प्रश्न स्वाभाविक उठ जाता है—'किं तज्ज्ञेयम् ?' इसका उत्तर होगा—'ज्ञानविषयो ज्ञेयम्' । इसी प्रकार ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों परस्पर-सापेक्ष हो जाते हैं, जिससे चक्रकादि दोषों का उदय हो जाता है ।

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि अष्टम शताब्दी अर्थात् श्री हर्ष से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व श्रीजयराशि भट्ट ने 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नाम का चार्वाक दर्शन-सम्बन्धी एक ग्रन्थ बनाया, उसकी कुछ युक्तियाँ खण्डन-युक्तियों में प्रतिबिम्बित प्रतीत होती हैं । 'तत्त्वोपप्लव' भी कहता है—"लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थानम्, माननिबन्धना च मेयस्थितिः, तदभावे तयोः सद्व्यवहारविषयत्वं कथम् ?" (तत्त्वो० पृ० १) । इसी प्रकार विविध दर्शनों के लक्षणों का निराकरण भी जयराशि ने विस्तारपूर्वक किया है] ।

११. लक्षणविशेषखण्डनम्

तेषु तावत् 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इत्यप्ययुक्तम् ; तत्त्वशब्दार्थस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । तस्य भावो हि तत्त्वमुच्यते, प्रकृतं च तच्छब्दार्थः । न चात्र प्रकृतं किंचिदस्ति यत् तच्छब्देन परामृश्यते ।

ननु न सर्वं लक्षणाधीनं येनेयमनवस्था किं तु सन्दिग्धं लक्षणेन बोध्यते, न च सर्वत्र सन्देहस्तथाऽदर्शनादिति, नैतत्सारम् ; कस्य सन्दिग्धं न तावल्लक्षणप्रणेतुस्तथा सति तदप्रणयनप्रसङ्गान्नापि बोध्यस्य, लक्ष्यसन्देहसिद्धचर्थमेव पूर्वं तन्निश्चयस्य स्वीकर्तव्यत्वादन्यथाऽनिश्चिते स्थाण्वादौ स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सन्देहाभाववत्, लक्ष्यस्य सर्वथाऽनिश्चितत्वे सन्देहानुपपत्तेः, पूर्वं निश्चितत्वे यतः स निश्चयस्तत एव पुनरपि निश्चयान्तरोपपत्तेर्लक्षणप्रणयनानर्थक्यमिति । यद्वा लक्षणं लक्ष्यविशेषनिष्ठतया प्रतीयमानं सद्व्यावर्तयति ? उत स्वरूपेण प्रतीयमानम् ? न तावद् द्वितीयः, अतिप्रसङ्गात् , आद्ये तल्लक्षणभेदज्ञाने सति लक्षणाधिकरणत्वं लक्ष्यस्य सिद्धचेत् , ततश्च तन्निष्ठलक्षणसिद्धिः, सिद्धाच्च लक्षणाद्भेदज्ञानमिति चक्रकापत्तिः लक्षणसिद्धौ भेदज्ञानं सिद्धचेत्सिद्धे च तस्मिल्लक्षणमिति परस्पराश्रयस्तथा व्यवच्छेद्यप्रतीतौ व्यवच्छिन्नलक्ष्यनिष्ठलक्षणसिद्धिः, व्यवच्छेद्यसिद्धिश्च लक्षणान्तरात्तत्राप्येवमित्यनवस्थेति । अस्मिन् पक्षे ज्ञायतेऽनेनेयि ज्ञानं लक्षणं तदधिकरणं लक्ष्यं तदादिर्यस्य व्यवच्छेद्यस्य तज्ज्ञानाधिकरणादीति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिस्तस्य लक्षणनिरूपणद्वारा चक्रकाद्यापत्तेरित्यन्वयः । यद्वा सकलभेदज्ञानं लक्षणाधीनं लक्षणं च लक्ष्याधिकरणं वक्तव्यंतदधिकरणमधिकरणत्वदिविशिष्टतया निपतनप्रतिबन्धकत्वादेरननुगमात् लीलावतीकारमतानुसारेण ज्ञानविशेषः ज्ञानं च लक्षणाधीनमिति चक्रकापत्तिरत्रैव ज्ञानं ज्ञाननिरूपणाधीनमित्यात्माश्रयता, तथा ज्ञानं लक्षणाधीनं लक्षणं च ज्ञानाधीनमित्यन्योऽन्याश्रय इति, अस्मिन् पक्षे ज्ञानं चाधिकरणं च ज्ञानाधिकरणे ते आदी यस्याधिकरणत्वस्य तज्ज्ञानाधिकरणादि ज्ञानाधिकरणादि च लक्षणं च ज्ञानाधिकरणादिलक्षणे तयोर्निरूपणद्वारेति योजना ।

सकलमपि द्वैतं प्रमेयं प्रमासिद्धचधीनसिद्धिकं ततः प्रमाखण्डने खण्डितं भविष्यतीत्यभिप्रेत्य प्रमाखण्डनमुपक्रमते ❀ तेषु तावदिति ❀ । तेषु वक्ष्यमाणलक्षणेषु मध्य इत्यर्थः । अनुभूतिः प्रमेत्युक्ते भ्रान्त्यादावतिप्रसक्तिस्तन्निवारणाय तत्त्वेत्युक्तम् । तत्त्वं प्रमेत्युक्ते प्रमेयस्वरूपेऽत्यापत्तिस्तन्निवारणायानुभूतिरिति विशेषणम् । स्मृतिव्यावृत्यर्थमप्यनुभूतिविशेषणं अपिशब्दः साधारणदूषणस्य च वक्ष्यमाणविशेषदूषणेन समुच्चयार्थः । कुतोऽयुक्तमित्यत आह ❀ तत्त्वेति ❀ । विशेषणांशस्य दुर्निरूपत्वादित्यर्थः । तत्त्वमिति पदं तत्त्वपदं तदर्थस्येत्यर्थः । किं तत्त्वशब्दोऽवयवशक्त्या कञ्चिदर्थमाचष्टे किं वाऽखण्डशक्त्या कस्मिंश्चिद्रूढ इति विकल्प्य प्रथमेऽपि प्रकृतं तदर्थः किं वा बुद्धिस्थमात्रमिति विकल्प्य प्रथममुपादत्ते ❀ तस्येति ❀ । अस्त्वेतावता किं स्यादित्यत आह ❀ प्रकृतमिति ❀ । तत्त्वपदार्थस्वरूपमभिधाय तदसम्भवेन लक्षणासम्भवं भणति ❀ नेति ❀ ।

११. लक्षण-विशेष-खण्डन

(१) तत्त्वानुभूतिः प्रमा—

[प्रमाण प्रमेयादि पदार्थों का ज्ञान 'प्रमा' ज्ञान पर निर्भर है, अतः प्रमा की लक्षण-जिज्ञासा में सर्व-प्रथम श्री शिवादित्य मिश्र का लक्षण सामने आता है—'तत्त्वानुभवः प्रमा' (सप्त० पृ० ७२) । यह लक्षण युक्त नहीं, क्योंकि इसके घटकीभूत 'तत्त्व' पद के अर्थ का निर्वचन सम्भव नहीं—'तस्य भावः तत्त्वम्' —यहाँ 'तस्य' पद से किसका ग्रहण किया गया ? 'तत्' शब्द से प्रकृत पदार्थ का ग्रहण किया जाता है, जैसे 'देवदत्तः समायातः सोऽद्य गतः'—यहाँ 'सः' शब्द 'देवदत्त का बोधक है, क्योंकि वही प्रकृत पदार्थ है, किन्तु 'तत्त्वानुभूतिः' इस लक्षण का जहाँ उपन्यास किया गया है, वहाँ कोई ऐसा प्रक्रान्त पदार्थ नहीं, जिसका ग्रहण 'तत्' पद से किया जा सके ।

अथ अनुभूत्या स्वसंबन्धिविषय आक्षेपात् बुद्धिस्थः क्रियते, स तच्छब्देन परामृश्यते, वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थतायामेव प्रकरणपदार्थविश्रामात्। तेन यस्यार्थस्य यो भावः, तत् तस्य तत्त्वमुच्यत इति।

न, अरजतादेरपि रजताद्यात्मना अनुभूतिविषयत्वसंभवात् असत्यानुभूत्यव्यवच्छेदात्। भवितुस्तत्त्वशब्दार्थत्वप्रसङ्गेन धर्म्यंशे विशिष्टे च प्रमाया अप्रमात्वापातात्।

अथोच्यते—अवयवार्थचिन्तया दूषणाभिधानमिदं स्यादयनाम, यतोऽयं तत्त्व-

---

सर्वनाम स्वमहिम्ना प्रसिद्धमात्रमाचष्टे 'यदाऽऽग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यादावप्रकृताष्टाकपालसमानाधिक-रणतया सर्वनाम्नो यच्छब्दस्य प्रयोगदर्शनादिहापि बुद्धिस्थमेव तत्त्वपदार्थ इति द्वितीयमाशङ्कते ॐअथेतिॐ। सामर्थ्यं विषयमन्तरेणानुभूतेरनुपपत्तिलक्षणमाक्षेप उच्यते। अनुभूतिरनुभाव्यमाक्षिपतु नाम तावता तत्त्व-पदार्थस्य किमायातमित्यत आह ॐ स इति ॐ। बुद्धिस्थं तच्छब्दार्थः प्रकृतं चेति नानार्थत्वमापन्नं तत्त्वपदस्येत्यत आह ॐ वक्त्रिति ॐ। आरभ्याधीतविषयं प्रकरणमुच्यते तच्च न बुद्धिस्थत्वादन्यन्निरूप-यितुं शक्यत इत्यर्थः। एवं तच्छब्दार्थं निरूप्य तत्त्वपदार्थं निर्दिशति ॐ तेनेति ॐ। किं प्रमाणबुद्धिस्थ-स्तत्पदार्थः? किं वा भ्रान्तिबुद्धिस्थः? उत बुद्धिमात्रविषयः? नाद्यः आत्माश्रयात्नापि द्वितीयो व्याघातादिति, कल्पद्वयं बहिरेव दूषयित्वा तृतीयमतिव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ। अरजतादेरपि शुक्त्यादेरजताद्यात्मना भ्रान्तिविषयत्वसम्भवात्तद्भावस्तत्त्वं रजतत्वं तद्गोचराऽनुभूतिः प्रमेत्यसत्यानुभूतेर्मिथ्याज्ञानात्प्रमाया अव्यवच्छेदादव्यावृत्तेरित्यर्थः। किं च भावगोचरानुभूतिः प्रमा? किं वा भवितृगोचरा? किं वा भावविशि-ष्टभवितृगोचरा? न तावद् द्वितीयतृतीयौ, परस्परमव्यापनात्, नापि प्रथमः तत्राप्यव्याप्तेरपरिहार्यत्वादि-त्याह ॐ भवितुरिति ॐ। तत्त्वशब्दो यदि भाववाचकस्तदा भावाश्रयस्य भवितुर्घटादेर्भावविशिष्टधर्मिणश्च घटत्वादिविशिष्टस्य तत्त्वपदार्थत्वाभावेन तद्गोचरानुभूतिरप्रमा स्यादिति तत्राव्याप्तं लक्षणमित्यर्थः।

तत्त्वशब्दो योगवृत्त्या कञ्चिदर्थमाचष्ट इति प्रथमकल्पं निराकृत्येदानीमखण्डशक्त्या कस्मिंश्चिदर्थे रूढ इति द्वितीयं कल्पमनुभाषते ॐ अथेति ॐ। तत्त्वशब्दस्य रूढत्वेऽप्यर्थविशेषवचनत्वेऽर्थान्तरानुभूता-वव्याप्तिः (सामान्यवचनत्वे विशेषानुभूतावव्याप्तिरिति) कथितदोषतादवस्थ्यमित्यत आह ॐ यत इति ॐ।

शङ्का—'अनुभूति' पदार्थ नित्य सविषयक होता है, अतः अपने विषयीभूत पदार्थ का आक्षेप करके बुद्धिस्थ कर देता है 'प्रकृत' शब्द का अर्थ 'प्रकरणगत' पदार्थ होता है, प्रकरण या प्रसङ्ग शब्द से सर्वत्र वक्ता और श्रोता के बुद्धिस्थ पदार्थों का ही ग्रहण होता है, अत एव बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षित धर्म में ही 'तदादि' पदों की शक्ति मानी जाती है। अतः जिस बुद्धिस्थ पदार्थ को जो भाव होता है, वह उसका तत्त्व कहलाता है।

समाधान—प्रमा ज्ञान के समान भ्रम ज्ञान भी अनुभूति कहा जाता है और अरजतरूप शुक्ति भी रजतरूपेण प्रतीयमान होकर अनुभूति का विषय हो सकती है, असत्य या अप्रमाभूत इदं रजतम्—ऐसी अनुभूति में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। शुक्ति-रजत स्थल पर तीन पदार्थ विषय होते हैं—(१) 'रजतत्व' धर्म या भाव है (२) इदंपदार्थभूत शुक्ति या (३) इदन्त्व-विशिष्ट शुक्ति धर्मी भविता है। रजतत्वरूप भाव यदि तत्त्व पदार्थ है, तब शुक्ति या इन्दत्व-विशिष्ट शुक्ति 'तत्त्व' शब्द से गृहीत नहीं होते, अतः तद्विषयक ज्ञान को प्रमा नहीं कह सकेंगे, 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान रजतत्वविषयकत्वेन अप्रमा, शुक्तिविषयकत्वेन या इदन्त्व-विशिष्ट शुक्तिविषयकत्वेन प्रमा कहलाता है, अतः उक्त लक्षण अप्रमांश में अतिव्याप्त और प्रमांश में अव्याप्त है।

शङ्का—'तत्त्व'शब्द के अवयवार्थ को लेकर जो दोष दिये गये हैं, वे असंगत हैं, क्योंकि यहाँ 'तत्त्व' पद अवयवार्थपरक नहीं, अपि तु स्वरूपमात्र में रूढ़ है। 'इदं रजतम्'—यहाँ पर

शब्दः स्वरूपमात्रवचन इति। एतदप्ययुक्तम्; स्वरूपत्वस्य जातेरुपाधेर्वा स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेः, स्वरूपशब्दार्थस्यैकस्यासम्भवेन प्रतिविषयव्यावृत्त्या लक्षणस्याव्यापकत्वापातात्।

कथञ्च तत्त्वेति विपर्यासादेर्निरासः? तथा हि— शुक्तौ यो 'रजतमि'ति प्रत्ययः, सोऽपि स्वरूपबुद्धिर्भवत्येव। न हि धर्मी वा रजतत्वं वा न स्वरूपम्, नापि तयोः प्रतिभासमानः सम्बन्धो न स्वरूपमिति युक्तम्; समवायो हि तयोः सम्बन्धः प्रति-

---

अविवक्षितविशेषं स्वरूपं तत्त्वशब्दोऽन्वाचष्टे तत्त्वार्थविदमित्यादौ तत्त्वशब्दस्य तन्मात्रपरतया व्याख्यातत्वादतो नोक्तदोषोऽतत्त्वज्ञानविषयस्यासत्त्वात् स्वरूपाभावात्तद्व्यवच्छेदश्चेत्यर्थः। दूषयति ❀एतदिति❀। किमेकं स्वरूपमुतानन्तानि, नाद्योऽद्वैतापातात्, द्वितीये चानेकस्वरूपेष्वेकः स्वरूपशब्दोऽनुगतं किञ्चिन्निमित्तमुररीकृत्य गोशब्दवत्प्रवर्त्तते, किं वा तदनपेक्षया? आद्येऽपि निमित्तं जातिरुपाधिर्वा? न तावज्जातिरित्याह ❀ स्वरूपत्वस्येति ❀। स्वरूपशब्दनिमित्तं स्वरूपत्वं यदि जातिस्तदा भाववाचकजातिवचनस्य जातावपि प्रवृत्तेः सा जातिः स्वात्मनि वर्तते न वा? वर्त्तते चेदात्माश्रयान्योन्याश्रयादिर्न वर्त्तते चेत्स्वरूपत्वस्य स्वरूपशब्दार्थत्वाभावेन निःस्वरूपतया तद्योगिनोऽपि निःस्वरूपतापत्तिरिति। स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेरित्युक्तं उपाधिरित्यत्राप्येवं दूषणमुन्नेयम्। अनुगतनिमित्तमन्तरेण स्वरूपशब्दस्य स्वरूपवचनत्वमिति द्वितीयं दूषयति ❀ स्वरूपेति ❀। घटादिस्वरूपविशेषस्य तत्त्वपदार्थत्वे पटादिप्रमाया अप्रमात्वापातः सकलस्वरूपविशेषाणां सम्भूय तत्त्वपदार्थत्वे एकैकत्राव्याप्तिरिति भावः।

अनुभूतिः प्रमेत्युक्ते विपर्यासादावतिव्याप्तिस्तन्निरासार्थं तत्त्वमिति विशेषणमिति वक्तव्यं न च तदुक्तमेवं विशेषणेऽप्यतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यादित्याह ❀ कथञ्चेति ❀। मिथ्याध्यवसायो विपर्ययोऽनिर्द्धारणात्मकं ज्ञानं संशय इति लक्षणपर्यालोचनया तत्त्वपदव्यावर्त्यत्वं प्रतीयत इत्याशंक्याह ❀ तथा हीति ❀। निःस्वरूपत्वे शून्यवदपरोक्षत्वानुपपत्तिरित्येवकारार्थः। रजतमिति प्रत्ययस्य किमिदमंशो विषयः, किं वा रजतमुताहो तयोः संबन्धो न विषयान्तरं संभवतीदं रजतमित्यत्र त्रयाणामेव प्रतिभासाद्यदीदमंशो विषयस्तत्राह ❀ न हीति ❀। द्वितीयं प्रत्याह ❀ रजतत्वमिति ❀। इदमंशरजतत्वयोः सत्त्वोपगमादन्यस्य स्वरूपशब्दार्थस्य च निरूपयितुमशक्यत्वादित्यर्थः। यदि तयोः सम्बन्धस्त-

---

रजतत्व धर्म इदं का स्वरूप नहीं, अतः रजतत्वविषयक ज्ञान स्वरूपविषयक नहीं, इदन्त्व तथा शुक्ति स्वरूप है, अतः तद्विषयक ज्ञान स्वरूपविषयक है, इस प्रकार अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष प्रसक्त नहीं होते।

समाधान—'स्वरूपानुभूतिः प्रमा'—यह लक्षण भी उचित नहीं, क्योंकि स्वरूपत्व क्या कोई जाति है? या उपाधि? कुछ भी हो स्वरूपत्व स्वयं अपने में रहता है? अथवा नहीं? प्रथम पक्षमें आत्माश्रय और द्वितीय पक्ष में स्वरूपत्व में स्वरूपत्व न रहने के कारण स्वरूपत्व को 'स्वरूप' शब्द से अभिहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वरूपत्व धर्म से युक्त पदार्थ को ही 'स्वरूप' शब्द कहता है, अतः स्वरूपविषयक प्रमा में उक्त लक्षण अव्याप्त हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि घट-पटादि पदार्थों के भिन्न-भिन्न स्वरूप होते हैं, सब का एक स्वरूप नहीं, अतः लक्षण अनुगत नहीं हो सकता, घटविषयक प्रमा पटस्वरूप को विषय नहीं करती, अतः स्वरूपविषय न होने से प्रमा क्योंकर कहलाएगी?

'तत्त्व' को स्वरूप-बोधक मान लेने पर भी 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के विपर्यय या अप्रमा ज्ञान में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति का निरास कैसे होगा? क्योंकि शुक्ति में जो 'रजतम्'—ऐसी प्रतीति होती है, वह भी स्वरूपविषयक है, अर्थात् 'इदं रजतम्'—यहाँ पर रजतत्व धर्म इदमर्थरूप धर्मी एवं धर्म और धर्मी का 'समवाय' सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है, ये

भाति, स च स्वरूपमेव ।

सत्यम् , समवायः स्वरूपम् । स एव तु शुक्तिव्यक्तौ रजतत्वस्य नास्तीति चेत् , मैवम् , तत्र नास्तित्वेऽपि स्वरूपताया अव्यावृत्तेः । न हि गृहे देवदत्तो नास्तीति स्वरूपं न स्यात् ।

न स्वरूपमात्रं तत्त्वमुच्यते, किन्तु यद्देशकालसम्बन्धि यत्स्वरूपं प्रतीतं तस्य तद्देशकालसम्बन्धि स्वरूपं तत्त्वमुच्यत इति चेत् । मैवम् , देशकालसम्बन्धांशे प्रमाया अप्रमात्वापातात् तयोः स्वरूपमेव तत्त्वशब्दार्थ इति चेन्न, तत्त्वपदस्यानेकार्थत्वे लक्षणा-

---

वाऽसौ प्रतिभासमानो विषयः किं वाऽप्रतिभासमानः ? नाप्रतिभासमानोऽतिप्रसङ्गाद्यद्याद्यस्तत्राह ❀ नापीति ❀ । अवभासमानोऽपि भ्रान्तिविषयत्वादसन्नित्याशंक्य तस्य स्वरूपं दर्शयितुं पक्ष-विशेषमाश्रित्य सम्बन्धविशेषमाह ❀ समवाय इति ❀ । इदमिति सामान्यं रजतमिति विशेषस्तद्वैपरी-त्येन वा तयोः सम्बन्धः समवाय इति तार्किकाः, तादात्म्यमिति भाट्टाः, तत्र तत्त्वानुभूतिरिति लक्षणस्य तार्किकसमयत्वात्तन्मतमनुसृत्योक्तं समवाय इति । अस्त्वेतावता किमित्याशंक्याह ❀ स चेति ❀ । किमिदं स्वरूपं नाम किं सत्त्वमात्रं, किं वा यद्विशेषणविशिष्टतया यत्प्रतिपन्नं तस्य तद्विशिष्टतयैव सत्त्वम्, उत यदु-पाधौ यत्प्रतिपन्नं तस्मिन्नेव तस्य सत्त्वम्, आहोस्विद्यद्रूपं यत्प्रतिपन्नं तस्य ताद्रूप्येण परमार्थतोऽवस्थितत्वम् ? यद्याद्यस्तर्हि भ्रान्तिगोचरः समवायोऽपि स्वरूपमेवान्यथा समवायविलोपेन पदार्थन्यूनतापातादित्यर्थः ।

न सत्त्वमात्रं स्वरूपं किन्तु विशिष्टं सत्त्वं न चात्र शुक्तिरजतत्वाभ्यां विशिष्टं सत्त्वमस्तीति द्वितीयं शङ्कते ❀ सत्यमिति ❀ । शुक्तौ रजतत्वस्य समवायो नेति नञः केन सम्बन्धः किं समवायस्वरूपेण किं वा तस्य ताभ्यां सम्बन्धान्तरेण ? नाद्य उक्तदोषानुषङ्गात् । द्वितीये सम्बन्धान्तरनिषेधेऽपि न समवायस्य काचित्क्षतिरिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀ । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ❀ न हीति ❀ । देवदत्तस्य गेह-संसर्गनिषेधेऽपि न देवदत्तस्य स्वरूपहानिस्तद्वत्समवायस्य शुक्तिसंसर्गनिषेधेऽपि न स्वरूपव्यावृत्तिरित्यर्थः ।

यदुपाधौ यत्प्रतिपन्नं तस्मिन्नेव तस्य सत्त्वं स्वरूपं तदेव तत्त्वशब्दार्थो न च तदस्ति भ्रान्तिगोचर-स्येति तृतीयं कल्पमाशङ्कते । ❀ न स्वरूपमात्रमिति ❀ । देशकालसम्बन्धेषु देशादिसम्बन्धोऽस्ति न वाऽस्ति वेत्स एव चेद्देशादिरात्माश्रयोऽन्यश्चेदन्योन्याश्रयादिरिति प्रथमं दूषयति ❀ मैवमिति ❀ । यदि देशादौ देशान्तरादिसम्बन्धो नास्ति तदा तद्गोचरप्रमायां लक्षणाव्याप्तिरित्याह ❀ देशेति ❀ । अयं घट इत्यत्र

सब स्वरूप ही हैं । फलतः 'इदं रजतम्' यह अप्रमा ज्ञान भी स्वरूपविषयक होने के कारण प्रमा ही कहा जायगा ।

शङ्का—यह सत्य है कि 'इदं रजतम्'—यहाँ प्रतीयमान समवाय सम्बन्ध स्वरूपपदार्थ है, किन्तु शुक्ति व्यक्ति में रजतत्व का समवाय ही तो नहीं है, अतः उक्त प्रतीति को स्वरूप-प्रतीति या प्रमा नहीं कहा जा सकता ।

समाधान यह विगत ४०वें पृष्ठ पर कहा जा चुका है कि 'असतोऽपि तदेव स्वरूपम्' । अतः शुक्ति में रजतत्व के असत् होने पर भी स्वरूप की निवृत्ति नहीं होती, जैसे देवदत्त घर में नहीं है, तब क्या उसका स्वरूप ही समाप्त हो जायगा ?

शङ्का—केवल स्वरूप को तत्त्व नहीं माना जाता, अपि तु जिस वस्तु का तत्तद्देश-काल-सम्बन्धी जो स्वरूप प्रतीत होता है, उस वस्तु के तद्देश-काल-सम्बन्धी स्वरूप को तत्त्व कहा जाता है । शुक्ति देश में प्रतीयमान रजतत्व वहाँ नहीं, अतः 'इदं रजतम्'—इस अप्रमा में प्रमा का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता ।

समाधान—देश का सम्बन्ध देश के साथ और काल का सम्बन्ध काल के साथ नहीं होता, अतः देश-काल में देश-कालसम्बन्धी स्वरूप सम्भव नहीं, तब देश-काल की प्रमा में प्रमा का लक्षण क्योंकर जायगा ? 'वहाँ देश-काल का सम्बन्ध न जोड़ कर केवल स्वरूप को ही

व्यापकत्वापत्तेः ।

अथैवं ब्रूषे—यद्यथाभूतं प्रतीयते तत्तथा परमार्थतो व्यवस्थितं तत्त्वमुच्यते । नैतदपि युक्तम्, यद्यथाभूतं प्रतीयते; तद्यदि प्रतीतिसमयमपहाय कालान्तरे तथाभूतं स्यात्तदाऽप्येवं तत्त्वं स्यादेवेति भाविपाकजरागः कुम्भः श्यामदशायामपि रक्तपित्तिना रक्ततयोपलभ्यमानस्तत्त्वं स्यादिति तद्बुद्धेः प्रमात्वापातः । यदा तदेति विशेषण-प्रक्षेपेण च कालविशिष्टताप्रतीतेरप्रमात्वापातो न हि कालवैशिष्ट्येऽपि कालान्तर-

पुरोदेशवर्तमानकालसम्बन्धो घटे स्फुरति, तत्र प्रतिपन्नोपाधिदेशादिमतो घटाकारस्य तत्त्वपदार्थतया तद्गोचरानुभूतिः प्रमा स्यादेव देशादीनां पुनर्देशान्तराद्युपाधिप्रतिपन्नसत्त्वतत्त्वपदार्थत्वाभावेन तद्गोचरा-नुभूतिरप्रमा स्यादित्यर्थः ।

देशस्वरूपं कालस्वरूपं तत्सम्बन्धस्तत्सम्बन्धी चेति चत्वारस्तत्त्वपदार्थास्तेषामन्यतमगोचरानुभूतिः प्रमेति लक्षणस्य नाव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ तयोरिति ❀ । देशकालसम्बन्धानां बहुत्वेऽपि तयोरिति देशकाल-योरेवोपादानं सम्बन्धस्य सम्बन्ध्यधीनत्वाभिप्रायम् । देशकालतत्सम्बन्धानां तत्सम्बन्धस्य च तत्त्वपदार्थत्वे संभूय प्रत्येकं वाऽननुगमादव्याप्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀ ।

यद्यद्रूपं प्रतिपन्नं तस्य ताद्रूप्येण व्यवस्थितत्वं तत्त्वपदार्थ इति चरमपक्षमाशङ्कते ❀ अथेति ❀ । प्रमाणबलात्ताद्रूप्यनिश्चयः प्रमाणं च प्रमाकरणं ततश्च प्रमासिद्धौ तत्करणप्रमाणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च ताद्रूप्य-सिद्धिस्ततश्च तद्गोचरानुभूतिप्रमासिद्धिरिति चक्रकापत्त्या दूषयति ❀ नैतदिति ❀ । किं च यद्यथा प्रतीयते तस्य तथा व्यवस्थानं प्रतीतिसमयेऽपेक्ष्यते, किं वा कालान्तरे, उताविवक्षितविशेषे कालमात्र इति त्रिधा विकल्प्य न तावत्प्रतीतिसमयेऽतिव्याप्तेः, न हि यदैवेदं रजतमिति प्रतीयते तदैव बाध्यते भ्रान्तस्या-प्रवृत्त्यापातादिति प्रथमं बहिरेव दूषयित्वा द्वितीयमनुवदति ❀ यद्यथेति ❀ । अतिव्याप्त्या दूषयति ❀ तदेति ❀ । तदाऽप्येवं भ्रान्तिगोचरोऽपि तत्त्वं स्यादिति लक्षणस्यातिव्याप्तिरिति शेषः । भ्रान्तिप्रतिपन्नं प्रतीतिकालमपहाय कालान्तरे ताद्रूप्येण स्थितं रजतादि न दृश्यते नातोऽतिव्याप्तिरित्यत आह ❀ भावीति । पाकजश्चासौ रागश्चेति पाकजरागः स च भावी चेति भाविपाकजरागः स यस्य स तथोक्तः स चासौ कुम्भश्चेति तादृगुद्रिक्तपित्तस्य नायना रश्मयो घटग्रहणाय प्रवृत्ता दुष्टाः सन्तो वस्त्वन्त-र्वर्तिनं रक्तिमानं घटसमानाधिकरणतया गृह्णन्ति दैवगत्या परस्ताद्भविष्यतीति तदपि तत्त्वं स्यात् । भवतु को दोषस्तत्राह ❀ इतीति ❀ । भाविपाकजरागश्यामतावशायां दुष्टेन्द्रियेण यद्यपि रक्ततयोपलभ्यते रक्तपित्तिना पुरुषेण तथा ग्रहणात्, तथाऽपि तदा रक्तो न भवति, यत्तु यदा प्रतीयते तत्तदा दैवगत्याऽप्य-बाध्यतया व्यवस्थितं तत्त्वमुच्यते नारोपितं तत्त्वमित्युक्तत्वात्तत्राह ❀ यदा तदेति ❀ । यद्यथा भूतं यदा प्रतीयते तत्तदा परमार्थतो व्यवस्थितमिति लक्षणकरणे कालस्य कालान्तराभावात्कालांशे कालवैशिष्ट्यांशे च यदा तदेति विशेषणायोगादव्याप्तिरित्यर्थः । एतेन तृतीयकल्पोऽप्यपहस्तितो मन्तव्यः । कालविशिष्टेऽपि वस्तुत्वात्कालसम्बन्धानुमानान्नाव्याप्तिरित्याशंक्याह ❀ न हीति ❀ । यत्कालविशिष्टो घटस्तस्मिन्काल-

तत्त्व माना जायगा'—ऐसा कहने पर 'तत्त्व' शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं, तत्त्व-घटित प्रमा का लक्षण एक अनुगत न रह कर अव्यापक और अननुगत हो जाता है ।

शङ्का—जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, उसका परमार्थतः वैसा होना तत्त्व है । शुक्ति में प्रतीयमान रजतत्व की सत्ता वहाँ नहीं, अतः उसे तत्त्व नहीं कह सकते ।

समाधान—प्रतीयमान धर्म का कालान्तर में होना यदि तत्त्व है, तब श्याम घट में जो रक्तोऽयम्'—ऐसा भ्रम हो जाता है, वह भी प्रमा हो जायगा, क्योंकि घट में प्रतीयमान रक्तता कालान्तर में (घट का पाक हो जाने पर) परमार्थतः हो ही जाती है । 'यदा यस्य यत्र प्रतीतिः, तदा तस्य तत्र सत्त्वम्'—ऐसा तत्त्व का अर्थ करने पर देश-काल के प्रमा ज्ञान में प्रमा का लक्षण (अव्याप्त हो जायगा, क्योंकि अनवस्था के भय से देश-काल में देशान्तर और

सम्बन्धः सम्भवी ।

अन्योपाध्यवच्छिन्नः सोऽन्योपाध्यवच्छिन्नेन सम्भत्स्यतीति चेत्; तर्हि दण्ड्यपि देवदत्तः कुण्डलिनं स्वमारोक्ष्यत्येव । उपाधिभेदेऽप्युपधेयस्य एकत्वानिवृत्तेर्नैवमिति चेत्, तुल्यम् ।

एतेन कारणं तत्त्वमित्यपि निरस्तम्, सर्वस्य तथात्वे प्रमित्यभावेन आत्मा-

---

विशिष्टे नान्यः कालो वर्ततेऽनवस्थादेरपरिहार्यत्वात्सोऽपि तस्मिन्न निरुपाधिके वर्तताऽऽत्माश्रयप्रसङ्गा-दित्यर्थः ।

कालस्यैकत्वेऽप्युपाध्यन्तरविशिष्टेन कालेन संबन्धो भविष्यतीति शङ्कते ॐ अन्येति ॐ । संभन्त्स्यते संबद्धो भविष्यतीत्यर्थः । कालस्यैकत्वेऽपि तदवच्छेदकसवितृगत्याद्युपाधिभेदादेकोपाध्यवच्छिन्न-स्यापरोपाध्यवच्छिन्नत्वं संभवति, यथा संवत्सरावच्छिन्नस्य पक्षावच्छेदस्तदवच्छिन्नस्य दिवसाद्यवच्छेद-स्ततश्च किञ्चिदुपाधिविशिष्टकालस्योपाध्यन्तरविशिष्टकालान्तरेण सम्बन्धसम्भवान्नाव्याप्तिरित्यर्थः । उपाधिविशिष्टः कालो नोपाध्यन्तरविशिष्टस्वात्मना संभन्त्स्यते वस्तुत्वाद्देवदत्तवदन्यथा दण्डी देवदत्तः कुण्डलिनं स्वात्मानं यज्ञदत्तमिवारोहेदिति विपक्षे बाधमाह ॐ तर्हीति ॐ । स्वप्रतियोगिकभेदाभावाधिकर-णत्वं तत्रोपाधिरिति शङ्कते ॐ उपाधीति ॐ । कालस्वरूपस्योपहितस्य स्वप्रतियोगिकभेदाभावाधिकरण-त्वमस्तीति साधनव्यापक उपाधिरित्याह ॐ तुल्यमिति ॐ ।

नायं तत्त्वशब्दः स्वरूपवचनः किन्तु कारणत्ववचनस्तदुक्तदोषपरम्परा नास्तीत्याशंक्याह । ॐ एतेनेति ॐ । नियतप्राक्सत्त्वरूपत्वात्कारणत्वस्य कालस्य च कालान्तराभावेन नियतप्राक्कालसत्त्वकार-णत्वासंभवत्कालांशे विशिष्टांशे च ज्ञानमप्रमा स्यादित्यर्थः । कालातिरिक्तपदार्थानां कारणत्वं नियत-प्राक्कालसत्त्वं कालस्य पुनर्नियतपूर्वत्वं तेन कालस्याऽपि कारणत्वान्नाव्याप्तिरित्यत आह ॐ सर्वेति ॐ । सर्वस्य तथात्वे—कारणत्वे प्रमित्यभावेन—प्रमाणाभावेन च निरस्तमिति पूर्वेणान्वयः, न हि सर्वं कारण-मिति प्रमातुं शक्यमन्त्यकार्यस्याकारणत्वात् । तदपि स्वविषयस्य योगिप्रत्यक्षस्य कारणमिति चेन्न, शुक्ति रूप्यप्रत्यक्षस्य स्वविषयाजन्यत्वात् । प्रमाभेदस्य प्रत्यक्षस्य स्वविषयजन्यत्वं नियतमिति चेन्न चक्रकापत्तेः प्रमासिद्धौ हि तद्भेदप्रत्यक्षसिद्धिस्तत्सिद्धौ चान्त्यकार्यस्य तज्ज्ञानजनकत्वेन कारणत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च

कालान्तर का वैशिष्ट्य सम्भव नहीं ।

जैसे दिनरूप काल में प्रहररूप काल रह जाता है, वैसे सभी अन्य उपाधि से अवच्छिन्न सखण्ड पदार्थ अन्य उपाधि से अवच्छिन्न में रह जाते हैं, अतः काल में कालान्तर और देश में देशान्तर का होना असम्भव या अनवस्थापादक नहीं ।

समाधान—सर्वत्र न वैसी प्रतीति होती है और न सर्वत्र वैसा धर्म-धर्मीभाव समर्थित हो सकता है, अन्यथा 'कुण्डलिनि देवदत्ते दण्डी देवदत्तः'—ऐसी भी प्रतीति होनी चाहिए। यदि कहा जाय कि यहाँ उपाधि का भेद होने पर भी देवदत्तरूप उपधेय एक या अभिन्न है, अतः वैसी प्रतीति नहीं होती । तव प्रकृत में भी वैसा ही कहा जा सकता है ।

शङ्का—'तत्त्व' शब्द कारणत्व का वाचक है, अतः जहाँ प्रतीयमान पदार्थ अपनी नियत अर्थक्रिया का कारण होता है, उसी प्रतीति को प्रमा कहा जाता है, शुक्ति में प्रतीय-मान रजत पदार्थ अपनी आभूषण-निर्माणरूप अर्थक्रिया का कारण नहीं, अतः वहाँ प्रमा का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता ।

समाधान—कारणता का अर्थ है—पूर्ववृत्तित्व, जो कि काल-घटित एक धर्म है । काल में कालान्तर-सम्बन्ध की प्रमिति नहीं होती, अतः 'कारणता' को भी 'तत्त्व' शब्द का अर्थ नहीं कहा जा सकता, अन्यथा आत्माश्रयता होगी । वहुत-से घटादि पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते हैं, जलाहरणादि अर्थक्रियादि के कारण नहीं हो पाते, उन की प्रमा में कारणानुभूतिरूप

श्रयेण च प्रतिक्षणविशिष्टविश्वावश्यकारणत्वोपगमे दुरपवादार्थक्रियाकारित्वस्वरूपसत्त्वलक्षणाङ्गीकारिजैनचरणशरणप्रवेशविडम्बनापादिदोषग्रासेन चेति । सिद्धान्त

१.२. अनुभूतित्वजातिखण्डनम्

किञ्च इदमनुभूतित्वं नाम ? ज्ञानत्वावान्तरजातिभेदो वा ? स्मृतिव्यतिरिक्त-

तत्त्वानुभूतिप्रमासिद्धिरिति । आत्माश्रयेण च निरस्तमिति संबन्धः । कारणं चेत्तत्त्वं तदा कारणानुभूतिः प्रमेत्युक्तं स्यात्कारणं च कारणत्वाधिकरणं तथा च कारणत्वे कारणत्वमस्ति न वा ? न चेत्कारणत्वज्ञानमप्रमा स्यादस्ति चेत्कारणत्वान्तरं तदेव वा ? कारणत्वान्तरं चेदनवस्था, तदेव चेदात्माश्रय इत्यर्थः । किं च पूर्वक्षणवर्तिघटस्योत्तरक्षणवर्तिघटम्प्रति कारणत्वमस्ति न वा ? न चेद् घटोऽयमिति धारावाहिकविज्ञानस्यातत्त्वानुभूतित्वेनाप्रमात्वापातोऽस्ति चेदर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति माहायानिकपक्षानुप्रवेशः प्रतिक्षणविशिष्टकारणतोपगमावित्याह ॐ प्रतीति ॐ । प्रतिक्षणविशिष्टस्य विश्वस्यावश्यकारणता तस्या उपगमस्तेन दुरपवादं दुःखेन निरसनं यस्य तच्चार्थक्रियाकारित्वमिति तथोक्तं तच्च स्वरूपसत्त्वस्य लक्षणमिति प्रतिक्षणविशिष्टविश्वावश्यकारणतोपगमदुरपवादार्थक्रियाकारित्वस्वरूपसत्त्वलक्षणं, यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदिति बौद्धैर्लक्षणाभिधानात्तदङ्गीकरोतीति स्वरूपसत्त्वलक्षणाङ्गीकारो स च जैनश्चेति तथोक्तः जिनो भवन्तस्तत्समयानुसारी जैनस्तस्य चरणौ जैनचरणौ तयोः शरणं प्रवेशः स एव विडम्बना विलासस्तामापादयितुं शीलं यस्य दोषस्य स जैनचरणशरणप्रवेशविडम्बनापादिदोषस्तद्ग्रासेन निरस्तमित्येवं सम्बन्धः । एतदुक्तम्भवति नियतप्राक्सत्त्वरूपत्वात्कारणत्वस्य पूर्वपूर्वक्षणावच्छिन्नघटस्योत्तरोत्तरक्षणावच्छिन्नघटं प्रति कारणत्वमवश्यमेष्टव्यम्, अन्यथा धारावाहिकविज्ञानानामप्रमात्वापातास्ततश्च कालपरमांशावच्छिन्नसत्त्वरूपं क्षणिकत्वमिष्टं स्यात्तथाऽर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमपीष्टं स्यात्तद्द्वयं स्थिरवादिनामनिष्टमतश्चेष्टहानिरनिष्टापत्तिरिति दूषणद्वयमापन्नमिति । इतिशब्दो लक्षणविशेषणांशदूषणसमाप्तौ ।।

एवं तावत्तत्त्वेति लक्षणविशेषणांशं निराकृत्यानुभूतिरिति विशेष्यांशं खण्डयितुमुपक्रमते । ॐ किं चेति ॐ । इदमनुभूतित्वं किमिति विकल्पाभिप्रायेणोक्तं तानेव विकल्पान्विशदयति ॐ ज्ञानत्वेति ॐ । ज्ञानत्वं नाम परसामान्यं तदवान्तरसामान्यविशेषोऽनुभूतित्वमिति प्रथमकल्पार्थः । अनुभूतित्वं न जातिः किन्त्वौपाधिको धर्म इति पक्षेऽप्युपाधिं विकल्पयति ॐ स्मृतीति ॐ । ज्ञानत्वे सति स्मृत्यन्योन्याभाववत्त्वमुपाधिस्तन्निबन्धनो धर्मोऽनुभूतित्वमित्यर्थः । स्मृतिव्यतिरिक्तत्वेन प्रसिद्धस्य विपर्यासादेः स्मृतिलक्षणं

प्रमा का लक्षण क्योंकर जायगा ? यदि कहा जाय कि प्रत्येक पदार्थ अपने उत्तरक्षणभावी स्वरूप का कारण होता है, अतः उत्पन्न-विनष्ट या क्षणभङ्गुर पदार्थों की प्रमा में भी यह लक्षण घट जायगा । तो वैसा कहने का अर्थ बौद्धों की शरण में जाना है, क्योंकि बौद्धों का ही यह मत है । [बुद्ध की एक संज्ञा 'जिन' भी है, जैसा कि अमरसिंह कहते हैं—'समन्तभद्रो भगवान् मारजित् लोकजित् जिनः" । अत एव 'जिनचरित', 'जिनालङ्कारादि' नाम के ग्रन्थों में बुद्ध का जीवन एवं इतिहास वर्णित है। जिनके अनुयायी जैन या बौद्ध हैं। श्री धर्मकीर्ति कहते हैं—

प्रतिक्षणमपूर्वस्य पूर्वः पूर्वः क्षणो भवेत् ।
तस्य हेतुरतो हेतुर्दृष्ट एवास्तु सर्वदा ।। (प्र० वा० पृ० ६२)

अत एव स्व एवं पूर्वक्षणगत उत्तर क्षण की ग्राह्यता का स्वरूप भी कारणता ही (प्र० वा० पृ० ३०६ पर) कहा गया है—

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ।।] ।

१२. अनुभूतित्व जाति का खण्डन

यह अनुभूतित्व धर्म भी क्या है ? क्या (१) ज्ञानत्व की कोई व्याप्य जाति है ? या

Page. 203

ज्ञानत्वं वा ? स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वं वा ? तदविदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियतासाधारण-कारणकबुद्धित्वं वा ?

न तावदाद्यः। तथा हि—अनुभूतित्वं नाम जातिरेकाऽभ्युपगम्येति कुतः ?

'अनुभवामो'ति प्रत्ययानुगमवशादिति चेन्न, माघमासीयनिशावसाने सितासितसरित्सम्भेदस्नायिनः सत्यपि शब्दबलाद् भाविस्वकीयस्वर्गसुखसम्प्रत्यये सुखमनुभवामी'ति प्रतीत्यनुदयात्, प्रत्युत शीतसम्भूतवेदनासंवेदनादेव। परस्त्रियश्च सम्भुञ्जानस्य आस्तिककामुकस्य शब्दाधीने सत्यपि भाविनरकगमनानुभवनीययातनाधिगमे 'दुःखमनुभवामी'ति मतेरनुत्पत्तेः। प्रत्युत 'अमन्दमानन्दं संविदन् साम्प्रतमस्मी'ति प्रत्ययात्।

योजयति प्राभाकरस्तदभिप्रायेणाह ॐ स्मृतिलक्षणरहितेति ॐ। ज्ञानत्वे सति केवलसंस्कारजत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वमुपाधिस्तन्निबन्धनो धर्मोऽनुभूतित्वमित्यर्थः। न्यूनतापरिहाराय सम्भावितं पक्षान्तरमाह ॐ तदिति ॐ। तस्या जायमानबुद्धेरविदूरश्च स प्राक्कालश्चेति तदविदूरप्राक्कालस्तस्मिन्नुत्पत्तिस्तया नियतमसाधारणं कारणं यस्या बुद्धेः सा तदविदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियतासाधारणकारणबुद्धिस्तद्भावस्तत्त्वं तवनेन स्मृतिर्व्यावर्त्यते तस्या हि संस्कारोऽसाधारणकारणं स च विदूरोत्पन्न एव, साधारणकारणानामात्मान्तःकरणसंयोगादीनामचिरोत्पन्नत्वादसाधारणेति विशेषणमिन्द्रियसंयोगलिङ्गपरामर्शादिजन्यबुद्धित्वमुपाधिरित्युक्तम्भवति।

व्यक्तिविशेषाणां जातिव्यञ्जकत्वस्वाभाव्यादनुभूतित्वं जातिरिति प्रथमकल्पोऽस्त्वित्याशंक्याह ॐ न तावदिति ॐ। जातित्वाभावं प्रमाणाभावेनोपपादयति ॐ तथा हीति ॐ। जातिबाधकागोचरत्वे सत्यनुगतप्रत्ययगोचरत्वं सामान्यव्यवस्थापकं तदिहाऽप्यस्तीति तद्बलादनुभूतित्वजातिकल्पनेति शंकते ॐ अनुभवामीति ॐ। गौर्गौरित्यनुगतप्रत्ययवत्स्तम्भमनुभवामि कुम्भमनुभवामीति प्रत्ययसामर्थ्यादित्यर्थः। यद्वाऽनुभवत्वकल्पनायामनुभवामीति प्रत्ययो मूलं, किं वा साक्षात्कारित्वम्, उत स्मृतिव्यावृत्तरूपम्? इति त्रिधा विकल्प्य प्रथमविकल्पानुवादः। अनुगतप्रत्ययविषयत्वं किं लक्षणमुच्यते, किं वाऽनुभवामीति प्रत्ययोऽनुभवत्वसामान्ये प्रमाणम्, उभयथाऽप्यनुपपत्तिरित्यभिप्रेत्य दूषयति ॐ नेति ॐ। माघमाससम्बन्धिनी निशा माघमासीयनिशा तस्या अवसानं किञ्चिदभ्युदयकालस्तस्मिन्। उक्तं हि—

---

(२) स्मृति-भिन्न ज्ञानत्व ? या (३) स्मृति-लक्षण-रहित ज्ञानत्व ? अथवा (४) अव्यवहित-पूर्वोत्पन्नासाधारणकारणकज्ञानत्व ?

(१) अनुभूति जाति में क्या प्रमाण ? इस प्रश्न का उत्तर प्रायः यही दिया जाता है कि 'अनुभवामि'—इस प्रकार की प्रतीति ही अनुभूतित्व जाति में प्रमाण है, किन्तु अनुभूति सदैव यथार्थ नहीं होती, अयथार्थ भी होती है। जैसे "सितासिते सरिते यत्र सङ्गते, तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति" (ऋ० खि. सू. ७।५।१) इस श्रुति में कहा गया है कि गङ्गा और यमुना के संगम पर स्नान करने से स्वर्ग सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु माघ मास की ठिठुरती रात्रि के ब्राह्म मुहूर्त में वहाँ स्नान करनेवाले ही जानते हैं कि शीत-लहरी से काँपती हुई उनकी काया क्या कहती है ? सुख का लेश भी वहाँ अनुभूत नहीं होता, प्रत्युत महान् कष्ट प्रतीत होता है। एक आस्तिक कामुक को भी भली प्रकार ज्ञान है कि पर-स्त्री के साथ सम्भोग महान् रौरव नरक की असह्य यातना का जनक होता है, किन्तु उसको भी उस समय दुःख की अनुभूति नहीं होती, प्रत्युत 'अमन्दानन्दमनुभवामि'—ऐसी प्रतीति होती है। यदि उक्त श्रुति वाक्य के आधार पर 'सितासितसङ्गमस्नानं स्वर्गजनकम्'—ऐसी व्याप्ति का अधिगम होता है, उससे जनित अनुमान अनुभव ही है, तब उक्त दोनों स्थलों पर क्रमशः सुखमनुभवामि और 'दुःखमनुभवामि'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु नहीं होती।

यदि तु शब्दोपदर्शितव्याप्तिजमनुमानमनुभव एव स्यात्, तर्हि 'सुखं दुःखं वाऽनुभवामी'ति तयोः प्रत्ययः स्यात्।

अथ मन्यसे — साक्षात्कारमनुभवार्थमनुरुद्ध्य तयोर्नैवमधिगमव्यवहारौ शब्दज्ञानुमानापेक्षौ तु विमर्शकस्य स्यातामेव ताविति। तर्हि साक्षात्कारिणि ज्ञानेऽनुभव-

"माघमासे रटन्त्यापः किंचिदभ्युदिते रवौ।
महापातकिनं वाऽपि कं पतन्तं पुनीमहे॥" इति॥

"सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ती"ति शब्दबलात्सत्यपि तत्रानुभवामीति प्रतीत्यनुदयादिति सम्बन्धः। एतदुक्तम्भवति—न तावदनुभवामीति प्रत्ययविषयत्वमनुभवस्य शब्दजन्यविज्ञानादावनुभवत्वे सत्यपि तदव्यापनात्। न चानुभवत्वस्यैकत्वात् क्वचित्सत्तामात्रेणान्यत्र तदभावेऽपि नाव्याप्तिरिति वाच्यम्। तथा सत्येतद्बलादेव घटादावपि तत्स्वीकारप्रसङ्गात्। नापि प्रमाणं, शाब्दविज्ञानादौ क्वाचिदप्येतदनुदयात्प्रमाणमन्तरेण प्रमेयस्वीकारस्यातिप्रसञ्जकत्वेन तदसिद्धेरिति। शाब्दविज्ञानस्याज्ञातसुखगोचरतयाऽनुभवामीति प्रत्ययविषयत्वं किमिति न कल्प्यत इत्याशंक्य तद्विरुद्धदुःखानुभवसामर्थ्यादित्याह ※ प्रत्युतेति ※। शीतात्सम्भूता या वेदना तस्याः संवेदनमनुभवस्तस्मादित्यर्थः। न केवलं साधकप्रत्ययाभावः किन्त्वत्र बाधको विपरीतप्रत्यय एवेति भावः। उक्तार्थद्रढिम्ने उदाहरणान्तरमाह ※ परेति ※। शास्त्रार्थनिश्चयवत्त्वे सति कामुक आस्तिककामुकस्तत्र कामुक इत्यनेन निषिद्धप्रवृत्तौ रागो मूलमिति दर्शयति, परस्त्रियं न गच्छेदित्यादि शास्त्रबलाद्भाविनरकगमनानुभवनीययातनाधिगमे सत्यपि दुःखमनुभवामीति प्रतीतेरनुत्पत्तेरिति सम्बन्धः। नरकगमनेनानुभवनीययातना दुःखं तस्या अधिगमः स च भावी चेति तथोक्तः। परानुभवस्याप्रत्यक्षत्वात्कथं तदभावो ज्ञायत इत्याशंक्य तद्विरुद्धसुखानुभवस्य मुखप्रसादादिलिङ्गेनानुमानादित्याह ※ प्रत्युतेति ※। अमन्दमनल्पमित्येतत्संविदन्ननुभवन्निति यावत्। एवं सति शब्दज्ञानस्यानुभवत्वेऽनुभवामीति प्रत्ययेन भवितव्यं अननुभवत्वेऽप्रमात्वापाताविति फलितमाह ※ यदीति ※। यद्वा भाविसुखदुःखज्ञानं शब्दानुभवो न भवति शब्दस्य सामान्यविषयत्वेन देवदत्तादिगतसुखदुःखसाधनत्वप्रतिपादकत्वाभावादित्याशंक्य तथापि शब्दोपदर्शितसुखदुःखसाधनत्वव्याप्त्युपजीवनेनाऽऽनुमानिकोऽनुपपत्तिजन्य औपादानिकोऽनुभव एवायमभ्युपगन्तव्यः, तथा च तत्राप्यनुभवामीति प्रत्ययः प्रसज्येतेत्याह ※ यदीति ※। शब्देनोपदर्शिता व्याप्तिः प्रयागस्नानं स्वर्गसाधनमिति व्याप्तिस्ततो जन्म यस्यानुमानस्य तत्तथोक्तम्, अहं स्वर्गगामी प्रयागस्नायित्वात्सम्प्रतिपन्नपुरुषवदित्यादिरूपं द्रष्टव्यम्।

अनुभवामीति प्रत्ययव्यवहारौ यद्यप्यनुभूतित्वसामान्यगोचरौ, तथापि प्रत्यक्षज्ञाने साक्षात्त्वस्यैव तदर्थतया गृहीतत्वाद्भाविसुखादिज्ञाने च साक्षात्त्वाभावादनुभवामीति प्रत्ययाद्यभावो नानुभूतित्वाभावादिति शङ्कते। ※ अथेति ※। तर्ह्यत्रानुभवत्वं न स्यात्प्रमाणाभावादित्यत आह ※ शब्देति ※। विचारकस्य मार्गदर्शितानुमानापेक्षयाऽनुभवामीति प्रतीतिव्यवहारौ स्यातामेवेत्यर्थः। अनन्यथासिद्धानुगतप्रत्ययव्यवहारौ जातिकल्पनायां प्रमाणमिह च प्राप्ताप्राप्तविवेकाभ्यां साक्षात्त्वेनैव तयोरुपपत्तेर्न प्रत्यक्षज्ञानेऽनुभूतित्वसिद्धिरित्येकं सन्धित्सतोऽपरन्ते प्रच्युतमिति दूषयति ※ तर्हीति ※। साक्षात्कारिणि विज्ञाने साक्षात्त्वनिबन्धनत्वं

शङ्का—लोक में अधिकतर प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ही अनुभूति का व्यवहार होता है, अतः वहाँ न उक्त स्थलों पर वैसा अधिगम होता है और न व्यवहार किन्तु जिस व्युत्पन्न नैयायिक को भली प्रकार यह ज्ञात है कि प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शाब्द—इन चारों ज्ञानों को अनुभूति कहा जाता है। उस विद्वान् को अनुभूतित्व की प्रतीति भी होगी और उसका वैसा व्यवहार भी होगा।

समाधान—'प्रत्यक्ष ज्ञान ही अनुभूति है'—इस मत को दृष्टिकोण में रखने से प्रयागस्नानादि-स्थल पर अनुभूतित्व का भान' नहीं होता और प्रत्यक्षादि ज्ञान-चतुष्टय को अनुभूति मानकर एक विद्वान् व्यक्ति उक्त ज्ञानों को भी अनुभूति ही समझता है'—ऐसा कहने में दो

प्रत्ययव्यवहारौ साक्षात्त्वनिबन्धनाविति तत्रानुभवत्वजातिकल्पनायां न प्रयोजनप्रमाणे इत्यनुभूत्यर्थभेदाल्लक्षणाऽननुगमो दोषः।

अथ स्मृतिव्यावृत्तेन रूपेण यः प्रत्यक्षादिष्वनुभव इत्यनुगतावगमः, स साक्षात्कारित्वादनुपपन्नः। ततश्च साक्षात्कार्यसाक्षात्कारिविशेषसाधारणमनुभूतित्वमन्यदेष्टव्यमित्युच्यते। तदपि न युक्तम्, पदार्थान्तरव्यावृत्तेन रूपेण यस्तदितरेष्वनुगतप्रत्ययस्तद्व्यवहारो वा, तत्र तदेव रूपं निमित्तम्, न तु जातिः काचित्तदनुरोधात्कल्प्यते। तथा सति अनक्षपदार्थेभ्यो घटादिभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विभीतकादिषु साम्यवगमादक्षत्वादिजातिः कल्प्या प्रसज्येत।

इतोऽपि नानुभूतित्वं नाम स्मृतिव्यावृत्ता जातिः। तथा हि—'घटः स एवाया-

---

तयोरस्तु तावता तव को लाभ इत्यत आह ॐ इतीति ॐ। व्यवहारसिद्धिः प्रयोजनं प्रत्ययश्च प्रमाणं न भवत्यन्यथाऽप्युपपत्तेरिति यावत्, एवञ्च सत्यनुभूतिशब्दार्थभेदात्तत्त्वानुभूतिः प्रमेत्युदयनोक्तलक्षणं प्रत्येकस्य मिलितस्य वाऽननुगमादुन्मत्तप्रलपितं स्यादित्याह ॐ इतीति ॐ इति शब्दो यस्मादर्थे।

अनुगतव्यवहारादिकार्यलिङ्गेन किञ्चित्कारणमनुमीयते न तत्साक्षात्कारित्वमननुगमावतश्च साक्षात्कार्यसाक्षात्कारिसाधारणमनुगतव्यवहारकारणं कल्पनीयं साऽनुभूतित्वजातिरिति परिशेषात्तत्सिद्धिमाशङ्कते। ॐ अथेति ॐ अनुभवामीति प्रत्ययव्यवहारौ न स्मृतिव्यावृत्तिव्यतिरिक्तनिमित्तवन्तौ तद्व्यावृत्तिगोचरप्रत्ययावित्वादनक्षपदार्थव्यावृत्तविभीतकादिगोचरतद्व्यावृत्तिव्यतिरिक्तनिमित्तहीनाक्षमितिव्यवहारादिवदिति सामान्यतोदृष्टप्रयोगविरोधान्मैवमिति परिहरति ॐ तदपीति ॐ विपक्षबाधकाभावाद्धेतोरप्रयोजकत्वशङ्कां वारयति ॐ तथेति ॐ अनुभूतित्वं जातिः जातिबाधकाविषयत्वे सत्यनुगतप्रत्ययवेद्यत्वाद् गोत्ववदित्यत्र विशेषणासिद्धो हेतुः सङ्करविषयत्वादित्यभिप्रेत्याह। ॐ इतोऽपीति ॐ परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र स्थितिः साङ्कर्यं न चेह तदस्ति, स्मृतित्वस्य केवलसंस्कारजे ज्ञानेऽवस्थानादनुभूतित्वस्य चाक्षसन्निकर्षजेऽवस्थानादित्याशङ्क्य, यद्यभिज्ञायां नास्ति साङ्कर्यं तथाऽपि प्रत्यभिज्ञायां तद्दर्शयितुं तदुपन्यस्यति ॐ तथा हीति ॐ एकस्य कालद्वयसम्बन्धग्राहि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति केचित्, कालद्वयसम्बन्धोपलक्षितस्वरूपैक्यग्राहि

दोष हैं—(१) जब चारों ज्ञान अनुभूतिरूप हैं, तब केवल प्रत्यक्ष को अलग से अनुभूति कहना व्यर्थ है। (२) अनुभूति के अननुगत रूप मानने पर लक्षण में भी अननुगम दोष आता है।

शङ्का—प्रत्यक्ष ज्ञान में तो प्रत्यक्षत्व जाति-प्रयुक्त अनुभूतित्व व्यवहार हो सकता है। किन्तु जिसे 'स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभवः'—ऐसी गुरु-शिक्षा मिली है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान से अतिरिक्त अनुमिति आदि ज्ञानों में भी जो अनुभूतित्व की प्रतीति होती है, उसका प्रयोजक प्रत्यक्षत्व को नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुमानादि परोक्ष ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व रहता ही नहीं, परिशेषतः अनुमानादि में अनुभूतित्व जाति की कल्पना करनी होगी, जिस से उन सभी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ज्ञानों में अनुभूतित्व का व्यवहार हो सके।

समाधान—यदि स्मृति-भिन्न ज्ञानों में अनुभूतित्व-व्यवहार होता है, तब स्मृति-भिन्नत्व को ही उसका प्रयोजक माना जा सकता है, उसके लिए अनुभूतित्व जाति मानने की क्या आवश्यकता? अन्यथा "अक्षः कर्षे तुषे चक्रे शकटव्यवहारयोः। आत्मज्ञे पाशके चाक्षं तुत्थे सौवर्चलेन्द्रिये॥' इस विश्वकोष के आधार पर अक्ष पद का जो व्यवहार घटादिरूप अनक्ष पदार्थों से भिन्न विभीतक (कलिद्रुम या बहेड़ा) आदि में समानरूप से होता है, उसके व्यवहार के लिए भी अनक्ष-भिन्नत्वादि को प्रयोजक न मान कर 'अक्षत्व' जाति की कल्पना करनी पड़ेगी।

स्मृति-भिन्न ज्ञानों में 'अनुभूतित्व' नाम की जाति के न होने का एक यह भी कारण है कि 'घटः स एवायम्'—ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, वह क्या (१) स्मृति और अनुभव—

मि'ति तावत्प्रत्यभिज्ञा ज्ञायते, सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्, एकमेव वा विज्ञानमंशे स्मृतिरंशे चानुभवः, उत स्मृतिरेव, आहोस्वित् अनुभव एव ?

आद्ये य एष प्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थाविशिष्टादिदन्ताविशिष्टस्याभेदः प्रकाशते, स स्मृतावन्तर्भावयितुमशक्यः, अननुभूतचरत्वेन संस्कारानुपनेयत्वात्।

अत एव न तृतीयोऽपि। नाप्यनुभवेऽन्तर्भावयितुमसौ शक्यः, प्रत्यभिज्ञानकालेऽनुभवेन प्रागवस्थाया असंवेदनात्। संवेदने वाऽनुभव एवेति शेषपक्षेऽन्तर्भावः स्यात्, स चाग्रे दूषयिष्यते।

अत एव न द्वितीयः, प्रागवस्थाविशिष्टाभिन्नत्वांशे अनुभवस्वीकारश्चेत् प्राग-

ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति तत्त्वविदः। प्रत्यभिज्ञानं स्मृतित्वानुभूतित्वाधिकरणं न भवति प्रत्ययत्वादभिज्ञाप्रत्ययवदित्याशङ्क्य तदुपपादयितुं विकल्पयति ❀ सेति ❀। संस्कारेन्द्रियसम्प्रयोगाख्यसामग्रीद्वैविध्यात्प्रत्यभिज्ञानमपि स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयमिति। दधिमधुनोः पृथक् कार्यहेत्वोरपि सम्मिलितयोः पुष्ट्येककार्यहेतुत्ववत्संस्कारसम्प्रयोगयोरपि मेलनोपाधावेकसामग्रीकत्वादेकमेव ज्ञानमिति कल्पान्तरमाह ❀ एकमिति ❀। ज्ञानैक्ये कथं तदेतदुल्लेख इत्यत आह ❀ अंश इति ❀। स इत्यंशे संस्कारजत्वात्स्मृतिरयमित्यंशे सम्प्रयोगजत्वादनुभव इत्यर्थः। ज्ञानस्य स्मृत्यनुभवांशत्वादर्शनादनुभवव्यतिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वात्स्मृतिरेवेति पक्षान्तरमाह ❀ उतेति ❀। अक्षसम्प्रयोगजत्वादनुभव इति पक्षमाह ❀ आहोस्विदिति ❀।

स इत्यंशस्यानुभवोऽयमित्यंशस्य च स्मृतावदर्शनाज्ज्ञानद्वयमेव प्रत्यभिज्ञेति प्रथमपक्षं प्राप्य पराकरोति ❀ आद्य इति ❀। प्रागवस्था—प्राक्कालसम्बन्धः, इदन्तावर्तमानकालसम्बन्धः, तद्देशकालविशिष्टस्यैतद्देशकालविशिष्टेनाभेदः प्रत्यभिज्ञायां प्रतिभातीति स्थिरवादिनां सिद्धान्तः तथा च सोऽभेदप्रकाशः स्मृतावन्तर्भवति किं वाऽनुभव इति विकल्प्य न तावत्स्मृतावित्याह ❀ य एष इति ❀। विमतोऽभेदो न स्मार्त अज्ञातत्वात्प्रमाणगोचरवदित्याह ❀ अननुभूतेति ❀। अभेदप्रकाशस्य स्मृतित्वनिराकरणप्रसङ्गेन प्रत्यभिज्ञानमेकं ज्ञानं स्मृतिरिति तार्तीयस्य पक्षस्य बुद्धिस्थत्वात्फल्गुत्वाच्च तत्रैतद्दूषणमतिदिशति ❀ अत इति ❀ अस्तु तर्ह्यभेदप्रकाशस्यानुभवेऽन्तर्भाव इति द्वितीयो नेत्याह ❀ नापीति ❀। प्रागवस्थाविशिष्टस्य विप्रकृष्टतयाऽननुभवात्तत्प्रतियोगिकोऽभेदोऽपि नानुभवितुं शक्य इत्याह ❀ प्रत्यभिज्ञेति ❀। भ्रमार्थवत्प्रत्यभिज्ञायामसम्प्रयुक्त एवार्थ इन्द्रियेण गृह्यत इत्याशंक्याह ❀ संवेदन इति ❀। प्रागवस्थाविशिष्टाभेदानामनुभूयमानत्वात्प्रत्यभिज्ञानमनुभव एवेत्यन्तिमपक्षेऽन्तर्भावः स्यादित्यर्थः। अस्तु को दोष इति चेत्तत्राह ❀ स चेति ❀। प्रत्यभिज्ञानं स्मृत्यनुभवगर्भमेकं ज्ञानमिति द्वितीयपक्षे प्रथमपक्षदोषमतिदिशति ❀ अत इति ❀। प्रागस्थाविशिष्टस्य संस्कारेणेदन्ताविशिष्टस्येन्द्रियेण प्रतिभासेऽपि तदेतदभेदस्य संस्कारे-

उभयस्वरूप है ? अथवा (२) एक ही ज्ञान अंशतः स्मृति और अंशतः अनुभव है ? या (३) केवल स्मृति है ? या (४) केवल अनुभव ? प्रथम (स्मृति-अनुभव-उभयरूप) पक्ष के अनुसार तदर्थ (तद्देशकाल-विशिष्ट वस्तु) से इदमर्थ (एतद्देशकाल-विशिष्ट वस्तु) का अभेद प्रतीत होता है, उसका स्मृति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि पहले अनुभूत न होने के कारण संस्कार-जनित नहीं, किन्तु स्मृतिज्ञान केवल संस्कार से जनित होता है।

अत एव तृतीय (स्मृतिरेव) पक्ष भी संगत नहीं रह जाता। उस अभेद अंश का अनुभव में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा-काल में पूर्व देश और काल सन्निकृष्ट न होने के कारण अनुभव के विषय नहीं हो सकते। यदि उनका भी अनुभव मान लिया जाता है, तब पूर्ण प्रत्यभिज्ञा को अनुभवरूप मानना होगा, जो चतुर्थ पक्ष है, उसका निराकरण आगे किया जा रहा है।

अत एव द्वितीय (एक ही ज्ञान अंशतः स्मृति और अंशतः अनुभव) पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि पूर्वावस्था-विशिष्टाभिन्नत्व-अंश का अनुभव नहीं हो सकता, यदि माना जाता

वस्थावैशिष्ट्यमप्यनुभवविषय एव निविष्टमिति चरमपक्षप्रवेशः।

अथ प्रागवस्थाविशिष्टादभिन्न इत्ययमर्थोऽप्यनेकांशः, तत्र प्रागवस्थाविशिष्ट इत्यत्रांशे स्मृतित्वम् , अभिन्न इत्यत्रांशे चानुभवत्वमित्युच्यते। एवं तर्हि प्रागवस्थाविशिष्टः स इदन्ताविशिष्टोऽभिन्नश्चायमिति स्मृत्यनुभूतिभ्यामावेदितं भवति, प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयतया त्वभेदः केनापि न प्रकाशित इति य एव प्रागवस्थाविशिष्टः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात्।

अथानुभवेन योऽसौ अनुभूयमानधर्म्याश्रयतया अभेदो बोधितः, स कोट्यन्तरमनालम्ब्य न पर्यवस्यतीति केनचित् खलु कस्यचिदभेदो भवति। ततः स्मृत्यंशोपनीतमेव सन्निधानात् कोट्यन्तरं प्रागवस्थाविशिष्टरूपमालम्बत इत्यभेदस्य प्रागवस्था-

---

णेन्द्रियेण वा प्रकाशयितुमयोग्यत्वादित्यर्थः। संस्कारसहकृतेन्द्रियेण संयुक्तविशेषणतया प्रागवस्थाविशिष्टोऽपि गृह्यत इत्यत आह ❀ प्रागिति ❀। प्रागवस्थाविशिष्टस्य तत्प्रतियोगिकाभेदस्य चानुभवविषयत्वे सर्वमेवानुभूयत इति स्मृत्यनुभवांशं प्रत्यभिज्ञानमिति पक्षो न सिद्ध्येदित्यर्थः।

प्रतियोगिघटिताभेदस्य स्मर्यमाणानुभूयमानानेकांशत्वात्तद्गोचरप्रत्यभिज्ञानस्याऽपि स्मृत्यनुभवांशत्वमिति शंकते ❀ अथेति ❀ प्रतियोग्यंशस्य स्मर्यमाणत्वेऽभेदांशस्याऽपि स्मर्यमाणत्वं स्यात्प्रतियोगिज्ञानस्याभेदज्ञानकारणत्वादित्याशंक्याह ❀ तत्रेति ❀। स्मृतिरनुभवकारणं न भवतीति नास्ति नियमो व्याप्तिस्मृतेरनुमानज्ञानकारणत्वात्पदार्थस्मृतेश्च वाक्यार्थज्ञानकारणत्वादिति भावः। पदार्थस्मृत्या वाक्यार्थानुभववत्प्रतियोगिस्मृत्या प्रतियोगिसम्वद्धाभेद ग्राह्यनुभवो जायते, किंवा इदन्ताविशिष्टनिष्ठाभेदग्राह्यनुभवो जायते, यद्याद्यस्तदा चरमपक्षप्रवेशो, द्वितीये च स्मृत्या प्रतियोगिसिद्धिरनुभवेनेदन्ताविशिष्टनिष्ठाभेदसिद्धिरिदन्ताविशिष्टनिष्ठाभेदस्य प्रतियोगिसम्बन्धः केनापि न सिद्ध्येदिति परिहरति ❀ एवं तर्हीति ❀। स इति प्रागवस्थाविशिष्टोऽयमितीदन्ताविशिष्टोऽभिन्नश्चेति स्मृत्यनुभवाभ्यां विज्ञापितं भवतीत्यन्वयः। तथापि सिद्धं स्मृत्यनुभवरूपत्वं प्रत्यभिज्ञानस्येत्यत आह ❀ प्रागिति ❀। एकस्य धर्मिणः कालद्वयसम्बन्धस्य ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति स्वसिद्धान्तोऽपि ध्वस्यत इत्यर्थः।

इदन्ताविशिष्टधर्म्याश्रयतयानुभूयमानस्याभेदस्य तत्ताविशिष्टप्रतियोगिनिष्ठता पारिशेष्येण सिध्यतीति शंकते ❀ अथेति ❀। इदन्ताविशिष्टनिष्ठाभेदस्य च कोट्यन्तरानालम्बनत्वेऽनुपपत्त्यभावान्न तत्ताविशिष्टनिष्ठतासिद्धिरित्यत आह ❀ केनेति ❀। भेदवदभेदस्यापि कस्य केनेति धर्मिप्रतियोगिसापेक्षत्वान्न कोट्यन्तरमनालम्ब्य पर्यवसानमित्यर्थः। तथाऽपि तत्ताविशिष्टमेव कोट्यन्तरमालम्बते न यत्किञ्चिदिति कस्मादित्यत आह ❀ तत इति ❀। सन्निहितस्य झटिति तत्ताविशिष्टस्य प्रतियोगितया बुद्धिस्थत्वात्तद्बाधमन्तरेण कोट्यन्तरानाश्रय इति तत्तेदन्ताविशिष्टाभेदविषयत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य सिद्धमिति फलितं

है, तब चतुर्थ (अनुभवमात्र) कल्प ही शेष रह जाता है, जो कि निराकरणीय है।

यदि पूर्वावस्था-विशिष्टाभिन्नत्व में भी अनेक अंश माने जाते हैं—'प्रागवस्था-विशिष्टः' अंश में स्मृतित्व और 'अभिन्नः'—इस अंश में अनुभवत्व माना जाता है। तब तो स्मृति और अनुभव के द्वारा 'प्रागवस्था-विशिष्टः स इदन्ताविशिष्टोऽभिन्नश्चायम्'—ऐसा प्रतिपादित होता है, प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयत्वेन अभेद किसी अंश से भी प्रकाशित नहीं होता, अतः 'य एव प्रागवस्थाविशिष्टः स एवायम्'—ऐसा आकार प्रत्यभिज्ञा का नहीं होना चाहिए।

शङ्का—[यद्यपि प्रागवस्था-विशिष्ट घटादि प्रत्यभिज्ञा-काल में सन्निकृष्ट न होने से अनुभव के विषय नहीं हो सकते, तथापि] अनुभव के द्वारा जो सन्निकृष्टदेशकाल-विशिष्ट देवदत्तरूप अनुयोगी में अभेद अवभासित होता है, वह अपने प्रतियोगी अंश के विना उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि किसी प्रतियोगी का किसी अनुयोगी में अभेद होता है। अतः आकांक्षित प्रतियोगी के रूप में स्मृति-समुपस्थापित प्रागवस्था-विशिष्ट पदार्थ ही पर्यवसित

विशिष्टाश्रयतासिद्धिरिति ।

तदेतत्तुच्छतरम्, 'कोट्यन्तरमालम्बते' इति किं कोटयन्तराश्रितो भवति, उत कोट्यन्तराश्रिततया ज्ञायत इति ? नाद्यः; अभेदस्येदानीं प्रागवस्थाविशिष्टधर्म्याश्रयेणोत्पत्तौ पूर्वं प्रागवस्थाविशिष्टेदन्ताविशिष्टयोर्भेदः स्यात् । द्वितीये तु यदेव कोटयन्तराश्रिततया इदन्तावच्छिन्नधर्म्यभेदस्य ज्ञानं तत्स्मृतौ नान्तर्भावयितुं शक्यम्, नाऽप्यनुभवांश इत्युक्त एव दोषः ।

किञ्च—यदा प्रत्यभिज्ञानं 'सः' इत्यंशे स्मृतिः 'अयमि'त्यंशे चानुभव इत्येकं ज्ञानमभ्युपेयते, तदा धर्मिणमादायापि स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वारः । तथा हि—संस्कारेण

निगमयति ❀ इतीति ❀ ।

अनुभूताभेदस्य कोटयन्तरानालम्बनत्वेऽपि नानुपपत्तिरनुभूतत्वान्नाप्यननुभूतस्याननुभूतत्वादेवेति दूषयति ❀ तदिति । अनुपपत्त्या कोटयन्तरालम्बनत्वं विकल्पेनाऽपि दूषयति ❀ कोटीति ❀ । आलम्बनशब्देन कोटयन्तरमाश्रित्य भवनमुच्यते, किंवा तन्निष्ठतया ज्ञानमिति विकल्पद्वयार्थः । भवनमालम्बनार्थं इति क्रमप्राप्तत्वादाद्यं दूषयति ❀ नेति ❀ । भेदाभेदयोरन्यतराभावस्याऽन्यतरभावनियतत्वादभेदस्योत्पत्तेः प्रागभावादिदन्तातत्ताविशिष्टयोर्भेदः स्यादतश्च कदाचिद्भिन्नयोः कालान्तरेऽभिन्नत्वं गीर्वाणैरपि दुःसम्पादमित्यर्थः । ज्ञानेनालम्ब्यते कुम्भ इत्यादावालम्बनशब्दस्य ज्ञप्त्यर्थत्वादिहापि ज्ञानमेवालम्बनार्थं इति द्वितीयं दूषयति ❀ द्वितीय इति ❀ । इदन्ताविशिष्टनिष्ठाभेदस्य तत्ताविशिष्टनिष्ठताज्ञानं न स्मृतिरननुभूतागोचरत्वात्, नानुभवोऽसम्प्रयुक्तविषयत्वादित्युक्तमावर्तत इति यावत् ।

स्मृत्यनुभवगर्भमेकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमिति पक्षो न साधुरित्युक्तमधुना तथाऽभ्युपगमेऽपि नानुभूतित्वजातिसिद्धिः स्मृतित्वेन परापरभावानिरूपणेन तत्र सङ्करप्रसङ्गादित्याह ❀ किंचेति ❀ । तत्तावैशिष्टयगोचरत्वात्स्मृत्यंशस्येदन्तावैशिष्टयविषयत्वादनुभवस्य कथं तयोः सङ्कर इत्यत आह ❀ धर्मिणमिति ❀ । अपिशब्दः शङ्काद्योतकः । धर्मभेदेऽपि धर्मिण ऐक्यात्तन्निष्ठतया च तयोस्ताभ्यां प्रकाशनाद्धर्म्यंशज्ञाने भवति सङ्कर इत्यर्थः । धर्मिज्ञाने स्मृतित्वानुभूतित्वयोः सङ्करं दर्शयितुं विकल्पयति ❀ तथेति ❀ । तत्ताप्राक्कालादिसम्बन्धस्तद्विषयज्ञानमेव संस्कारेण जन्यते, किं वा तत्ताविशिष्टधर्मिविषयज्ञानमपि संस्कारेण जन्यत, इति विकल्पद्वयार्थः । तत्तामात्रगोचरज्ञानस्यैव संस्कारजत्वान्न धर्मिज्ञाने स्मृतित्वानुभूतित्वसङ्कर

होता है । फलतः प्रागवस्थाविष्टप्रतियोगिक अभेद प्रत्यक्ष के द्वारा व्यवस्थित हो जाता है । श्री गंगेशोपाध्याय कहते हैं—"तत्तांशस्य स्मृत्युपनीतत्वादिन्द्रियसम्बद्धविशेषणता प्रत्यासत्तिः" (त० चि० पृ० ८८१) ।

समाधान—अनुभूयमान अभेद प्रतियोगी के रूप में स्मृत्युपस्थापित प्रागवस्थाविशिष्ट का अवलम्बन करता है—इसका क्या तात्पर्य ? क्या प्रागवस्थाविशिष्ट के आश्रित उत्पन्न होता है ? अथवा प्रागवस्था-विशिष्टप्रतियोगिकत्वेन प्रतीत होता है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि यदि वह अभेद प्रत्यभिज्ञा-काल में उत्पन्न होता है, तब उससे पूर्व तत्ता-बिशिष्ट और इदन्ता-विशिष्ट का अभेद न होकर भेद होना चाहिए । यदि भेद माना जाय, तब 'सोऽयं देवदत्तः'—यह प्रत्यभिज्ञा भी सेयं दीप ज्वाला के समान ही बाधित होनी चाहिए । द्वितीय (प्रतीति) पक्ष में तद्देशकालविशिष्टप्रतियोगिक के अभेद की जो एतद्देशकालविशिष्ट देवदत्त में प्रतीति होती है, वह प्रतीति संस्कारमात्र-जन्य न होने के कारण स्मृति भी नहीं और इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से जनित न होने से अनुभूति भी नहीं—यह पूर्वोक्त दोष प्रसक्त होता है ।

दूसरी बात यह भी है कि जब एक ही प्रत्यभिज्ञा ज्ञान 'सः'—इस अंश में स्मृति और 'अयम्'—इस अंश में अनुभव माना जाता है, तब धर्मी को लेकर भी स्मृतित्व और अनुभवत्व का सांकर्य होता है, क्योंकि संस्कारों के द्वारा केवल तत्ता (तद्देशकाल) का भान होता है ?

तत्तामात्रं वोपनीयेत, तत्ताविशिष्टो वा धर्मी ? आद्ये स इति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात्, तत्तायाः केवलायाः संस्कारेणोपनीतत्वात्। नापि द्वितीयः, तथा सति 'अयम्' इत्यनुभवांशेऽपि धर्मिप्रकाशो वक्तव्य एव। अन्यथा इदन्तामात्रप्रकाशेऽयमिति तच्छरीरं न स्यात्।

एवञ्च संस्कारस्य चेन्द्रियस्य च धर्मिप्रतीतिहेतोरुभयस्योपनिपाते किं विशेष्यांशे भिन्नाभ्यां ज्ञानाभ्यामुत्पत्तव्यम्, उत कारणद्वयसम्भेदादभेदभाजा ज्ञानेन ? प्रथमे प्रत्यभिज्ञानस्य एकज्ञानव्यक्तिताभ्युपगमव्याघातः, भेदपक्षोक्तदूषणापातश्च। द्वितीये धर्म्यंशे प्रत्यभिज्ञायाः स्मृतित्वमप्यनुभवत्वमपीति अनुभूतिस्मरणसङ्कर इति विषयव्यवस्थयाऽपि नियमो भग्नः।

इत्याद्यं कल्पं दूषयति ❀ आद्य इति ❀। स इति प्रत्यभिज्ञायां तत्ताविशिष्टं स्फुरति न च तत्स्फुरणं संस्कारात्, तत्तामात्रज्ञानस्य तथात्वान्नाप्यक्षजं तत्स्फुरणं तत्ताविशिष्टस्यासम्प्रयोगादिति, स इति तत्ताविशिष्टज्ञानं प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न भवेदित्यर्थः। तत्ताविशिष्टधर्मिणः प्रागनुभूतत्वात्संस्कारस्तत्ताविशिष्टधर्मिणं ज्ञापयतीति द्वितीयः कल्पोऽस्त्वित्यत आह ❀ नापीति ❀। अक्षसम्प्रयोगोऽपीदन्तामात्रं प्रकाशयति, किंवा तद्विशिष्टधर्मिणमिति विमर्शे विशिष्टधर्मिण एव प्रकाशो युक्त इत्याह ❀ तथेति ❀। यथा स इत्यंशे तद्विशिष्टो धर्मी स्फुरति तथाऽयमिति सम्प्रयोगजज्ञानेऽपीदन्ताविशिष्ट एव स्फुरतीति वक्तव्यमित्यर्थः। सम्प्रयोगजज्ञानविषयत्वाभावेऽनुपपत्त्यभावान्नानुभवांश इदन्ताविशिष्टधर्मिस्फुरणमित्यत आह ❀अन्यथेति❀। एकस्मिन्नेव प्रत्यक्षादिप्रमाणसम्भवेऽपि न प्रत्यक्षत्वादिजातिसङ्करस्तथा संस्कारसम्प्रयोगजनितज्ञानविषयत्वेऽपि नानुभवत्वादिसङ्कर इत्यत आह ❀ एवमिति ❀। तत्रेन्द्रियलिङ्गादिना भिन्नज्ञानोत्पत्तेर्न सङ्कर इत्यर्थः। संस्कारस्य निरपेक्षस्मरणसामग्रीत्वादिन्द्रियस्यानुभवसामग्रीत्वात् निरपेक्षसामग्रीभेदस्य कार्यभेदनियतत्वाद्विरूपमेव ज्ञानं धर्मिगोचरमनुभवस्मरणरूपमिति प्रथमविकल्पार्थः। ज्ञानभेदपक्षे स्मरणाभिन्नाव्यतिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानमिति प्रसिद्धिर्न स्यादतोऽन्यत्र निरपेक्षसामग्रीद्वयस्याऽत्र मेलनोपाधावेकसामग्रीत्वादेकं ज्ञानमिति द्वितीयकल्पार्थः। प्रथमकल्पमपसिद्धान्तप्रसञ्जनेन दूषयति ❀ प्रथम इति ❀। प्रामाणिकस्यैव सिद्धान्तत्वात् ज्ञानभेदस्य प्रामाणिकत्वे नापसिद्धान्त इत्याशङ्क्याह ❀ भेदेति ❀। प्रागवस्थाविशिष्टादिदन्ताविशिष्टाभेदप्रकाशस्य, न स्मृतौ, नाप्यनुभवेऽन्तर्भाव, इति प्रागुक्तदोषानुषङ्ग इत्यर्थः। व्याप्तिग्रहणसंस्कारलिङ्गाभ्यामेकज्ञानजन्मवदक्षसंस्काराभ्यामेकमेव प्रत्यभिज्ञानं जायत इति द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति ❀ द्वितीय इति। एवं सति स्मृत्यनुभूतिव्यक्तिभेदादनुभूतित्वं स्मृतित्वं च न सम्भवति तथा तत्तेदन्ता-

---

अथवा तद्देशकाल-विशिष्ट पदार्थ का ? प्रथम पक्ष मानने पर प्रत्यभिज्ञा में 'सः'—इस रूप से धर्मी का जो भान होता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि संस्कारों के द्वारा धर्मी उपस्थापित ही नहीं, केवल तत्ता का ही उपनयन संस्कारों के द्वारा माना जाता है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं क्योंकि जब प्रत्यभिज्ञा में 'सः' – इस रूप में संस्कारोपनीत धर्मी का भान माना जाता है, तब अनुभवांश में भी 'अयम्'—इस प्रकार उसी धर्मी का भान मानना होगा, फलतः एक ही धर्मी की प्रतीति में संस्कार और इन्द्रिय—इन दोनों का उपनिपात हो जाता है। तब एक ही देवदत्तादि धर्मी में स्मृति और अनुभव—दो ज्ञान पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं ? अथवा दोनों कारणों का संवलन हो जाने के कारण स्मृति से अभिन्न अनुभव होता है? प्रथम पक्ष में उक्त प्रत्यभिज्ञा को एक ज्ञान व्यक्ति नहीं माना जा सकेगा एवं भेद-पक्ष में कथित दोष भी प्रसक्त होता है कि तत्ता-विशिष्ट से इदन्ता-विशिष्ट का अभेद न तो स्मृति से अवभासित हो सकेगा और न अनुभव से। द्वितीय (स्मृत्यभिन्न अनुभव) पक्ष मानेन पर एक ही ज्ञान में धर्मिविषयकत्वेन स्मृतित्व और अनुभूतित्व का सांकर्य हो जाता है। अतः भिन्नविषयकत्वेन स्मृतित्व और अनुभवत्व को जो व्यवस्थित किया जाता था, वह व्यवस्था भी

अथोच्यते—मा भूद्विषयोपाधिभेदाद् व्यवस्थानम्, उपाध्यन्तरात्तु भविष्यति। तद्यथा संस्कारजत्वमादाय स्मृतित्वव्यवस्थितिः, इन्द्रियसन्निकर्षजत्वमादाय चानुभवत्वव्यवस्थानमिति विरोधपरिहारोऽस्तु। न. प्रमात्वसामान्यानङ्गीकारे प्रमारूपतायाः

विशिष्टविषयभेदेनाऽपि व्यवस्था न सिध्यति धर्म्यंशस्य प्रत्यभिज्ञानगोचरस्यैक्यादिति फलितमाह ❀ इतीति ❀।

प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वाद्विषयस्य चैक्यात्तन्निबन्धनं स्मृतित्वानुभूतित्वव्यवस्थानं यद्यपि न सम्भवति तथाऽप्युपाध्यन्तरवशाद्व्यवस्थोपपद्यत इति शङ्कते। ❀ अथेति ❀। कोऽसावुपाधिर्यद्बलाद्व्यवस्थेत्याशङ्क्य कारणभेद एवोपाधिरित्याह ❀ तदिति ❀। स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वार इति यदुक्तं तत्परिहृतमिति फलितमाह ❀ इतीति ❀। विरोधपरिहारो जातिबाधकसङ्करपरिहार इत्यर्थः। एकरूपे हि वस्तुनि विरुद्धजातिसमावेशो दोषाय स्याज्जातिभेदव्यञ्जकरूपभेदसम्भवान्न विरोधबुद्धिस्तद्भेदश्च कारणभेदोपाधिकांशभेदाविति सङ्करपरिहारशङ्काकर्तुरभिप्रायः। संस्कारजत्वसन्निकर्षजत्वोपाधिभेदेन स्मृतित्वानुभूतित्वव्यवस्थां

भंग हो जाती है, क्योंकि दोनों का एक ही विषय मान लिया गया है। [श्री उदयनाचार्य ने किरणावली (पृ० ३३) में कहा है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥

जातित्व के बाधक इन छः धर्मों में सांकर्य भी एक है। सांकर्य का अर्थ है—'व्यधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशः।' अर्थात् 'जो दो धर्म परस्पर व्यधिकरण या भिन्न-भिन्न धर्मियों में रह कर एक धर्मी में समाविष्ट हो जाते है, वे दोनों धर्म जाति नहीं माने जा सकते, जैसे भूतत्व और मूर्तत्व—दोनों धर्म आकाश और मन में एक-दूसरे को छोड़कर (व्यधिकरण) रह जाते हैं और पृथिवी, जल, तेज एवं वायु—इन चारों में एकत्र समाविष्ट हो जाते हैं, अतः वे दोनों जातिरूप नहीं कहे जा सकते। वैसे ही प्रकृत में 'तत्ता' अंश में केवल स्मृतित्व और इदन्तांश में केवल अनुभूतित्व रहता है किन्तु धर्मी अंश को लेकर दोनों धर्म जाति नहीं कहे जा सकते]।

शङ्का—एक धर्मीरूप विषय को लेकर यदि स्मृतित्व और अनुभूतित्व एकत्र हो जाते हैं, व्यवस्थित नहीं रहते तो न रहें, किन्तु अन्य उपाधि के द्वारा उनका सांकर्य नहीं रहता। अर्थात् संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्व और इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वेन अनुभवत्व व्यवस्थित हो जाता है, अतः सांकर्यरूप विरोध नहीं रहता। [किसी वृक्ष की एक शाखा पर कपि (वानर) बैठा है, उसी वृक्ष के अन्य मूलादि भागों में उस कपि का अभाव है। एक ही वृक्ष में कपि-संयोग भी है और उसका अभाव भी, फिर भी वहाँ भाव और अभाव का विरोध नही माना जाता, क्योंकि अपने-अपने अवच्छेदक के भेद से दोनों भावाभाव एक ही वृक्ष में व्यवस्थितरूप से रह जाते हैं—शाखावच्छेदेन उसी वृक्ष में कपि-संयोग और मूलावच्छेदन कपि-संयोगाभाव है। अवच्छेद्यावच्छेदकभाव की नियामक परिभाषाओं में दो अधिक प्रचलित हैं—(१) 'समानाधिकरणयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावः', (२) 'स्ववृत्तिधर्मस्य स्वाधिकरणमवच्छेदकम्'। घट अपने अभाव का प्रतियोगी है, एक ही घट में रहनेवाले घटत्व और प्रतियोगित्वादि धर्म समानाधिकरण धर्म हैं, अतः घटत्व अवच्छेदक और प्रतियोगित्व अवच्छेद्य या अवच्छिन्न कहलाता है—घटत्वावच्छिन्ना प्रतियोगिता। (२) वृक्ष में रहनेवाले कपि-संयोग की अवच्छेदक शाखा इसलिए है कि शाखा वृक्ष का अधिकरण है, न्याय-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अवयवी अपने अवयवों में वृत्ति माना जाता है, अतः वृक्ष-वृत्ति कपि-संयोग का वृक्षाधिकरणीभूत शाखा अवच्छेदक है और कपि-संयोग अवच्छिन्न। इसी प्रकार वृक्ष-वृत्ति कपि-संयोगाभाव का अवच्छेदक मूल भाग है—'मूलावच्छिन्नः कपिसंयोगाभावः'। वृक्षस्थानापन्न प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में स्मृतित्व और

विषयव्यवस्थित्यैवोपगमेन उपाध्यन्तरोपन्यासेऽपि स्मृतित्वानुभूतित्वयोरेकस्मिन्नेव धर्मिण्यर्थे निवेशात् प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकविषयतैव ।

किञ्च—ज्ञानविकल्पानामध्यात्मं भावाभावसंवेदनात् स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्द्वयो-

प्रत्यभिज्ञानेऽभ्युपगम्य प्रथमं विरोधान्तरप्रसञ्जनेन परिहरति ❀ नेति ❀। प्रमात्वं किं औपाधिको धर्मः किंवा जातिः, न तावज्जातिः परोक्षत्वेन परापरभावानिरूपणात् तथा हि—हेत्वाभासजनिते परोक्षभ्रमे प्रमात्वाभावान्न तावत्प्रमात्वं परं, नाऽपि परोक्षत्वं परं तदभावेऽपि प्रत्यक्षज्ञाने प्रमात्वाङ्गीकारादौपाधिको धर्म इति स्वीकर्तव्यं, यदि स्वीक्रियते तत्राह ❀ प्रमेति ❀। ज्ञानस्यापरोक्षत्वस्य व्यवस्थापकं ज्ञातकरणाऽजन्यत्वं यथा, तथा प्रमात्वव्यवस्थापकं किमित्यत आह ❀ प्रमारूपेति ❀ परोक्तमुपाधिमनुवदति ❀ उपाधीति ❀। संस्कारजत्वसम्प्रयोगजत्वाख्योपाध्योरुपन्यासेऽपि स्मृतित्वानुभूतित्वयोरेकस्मिन्नर्थे निवेशः स्यात् तथा च स्मृतित्वानुभूतित्वाभ्यामविनाभूतयोः प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकाश्रयता प्रसज्येत प्रत्यभिज्ञानस्यैक्याद्विषयद्वारा तयोर्व्यवस्थापयितुमशक्यत्वादित्याह ❀ प्रमात्वेति ❀। सामान्यानङ्गीकारो विषयभेदेन प्रमात्वाप्रमात्वव्यवस्थोपगमहेतुः सन् प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकाश्रयत्वहेतुः। केचिदन्यथा व्याचक्षते उपाध्यन्तरोपन्यासेऽपि प्रमात्वसामान्यानङ्गीकारनिमित्तं प्रमारूपताया विषयव्यवस्थित्याऽसन्दिग्धाविपरीतानवगतार्थव्यवस्थाया उपगमेन च हेतुना स्मृतित्वानुभूतित्वयोस्तत्तेदन्ताविशिष्टे धर्मिण्यर्थ एकस्मिन्नेव निवेशात्प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकाश्रयतेति, तत्पक्षे सामान्यानङ्गीकार इति निमित्तसप्तमी द्रष्टव्या।

औपाधिकांशभेदकल्पनया ज्ञाने विरुद्धधर्मप्रसङ्गपरिहारमभ्युपगम्य विषये विरुद्धधर्मप्रसङ्ग उक्त, इदानीं प्रत्यभिज्ञाने स्मृतित्वानुभूतित्वसङ्करविरोधः स्यादेव संस्कारजत्वाद्युपाधिपरामर्शमन्तरेणैव स्मृतित्वादेरवगमेन तदुपाधित्वाभावादित्याह ❀ किञ्चेति ❀। स्मृतित्वादिर्ज्ञानधर्मः किं स्वतः प्रतिभाति, किं वा मानसज्ञानेनोतानुमानेनेतिविवेचनीयं न तावदनुमानेन व्याप्त-

---

अनुभवत्व—दोनों विरोधी धर्मों की व्यवस्था भी अवच्छेदक के भेद से होती है। विशेषता केवल इतनी है कि जब स्मृतित्व का तत्ता-विशिष्ट विषय को और अनुभवत्व का इदन्ताविशिष्ट विषय को अवच्छेदक कहा जाता है, तब द्वितीय नियम के अनुसार, क्योंकि प्रत्यभिज्ञावृत्ति स्मृतित्व और अनुभवत्व का क्रमशः तत्ता-विशिष्ट और इदन्ताविशिष्ट विषय अवच्छेदक इसी लिए माना गया है कि प्रत्यभिज्ञा ज्ञान का वह विषयता सम्बन्ध से अधिकरण है। जब संस्कार-जन्यत्व को स्मृतित्व का और इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्यत्व को अनुभवत्व का अवच्छेदक माना जाता है, तब प्रथम नियम के अनुसार, क्योंकि एक ही ज्ञान में रहनेवाले संस्कारजन्यत्व और स्मृत्व—दोनों समानाधिकरण धर्म हैं, इसी प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्यत्व और अनुभवत्व भी। अतः संस्कारजन्यत्वावच्छिन्न स्मृतित्व और सन्निकर्षजन्यत्वावच्छिन्न अनुभवत्व कहा गया है]।

समाधान—नैयायिकगण प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा मानते हैं। 'प्रमात्व' धर्म को जाति नहीं माना जाता, क्योंकि प्रत्यक्षात्मक भ्रम में केवल प्रत्यक्षत्व और परोक्ष प्रमा में केवल प्रमात्व रहता है, अतः प्रत्यक्षत्व और प्रमात्व—दोनों व्यधिकरण धर्म हैं। इन दोनों का प्रत्यभिज्ञा में समावेश हो जाने से साङ्कर्य हो जाता है। यदि प्रत्यभिज्ञा में संस्कारजन्यत्वादि अवच्छेद के भेद से अनुभूतित्व और स्मृतित्व को व्यवस्थित किया जाता है, तब प्रत्यभिज्ञा केवल प्रमा न रह कर प्रमा और अप्रमा उभयरूप हो जायगी, क्योंकि अनुभूति को प्रमा तथा स्मृति को अप्रमा माना जाता है [कुछ नैयायिक स्मृति को प्रमा और कुछ अप्रमा मानते हैं]। प्रत्यभिज्ञा के केवल प्रमारूप न रहने से प्रमात्व और प्रत्यक्षत्व का सांकर्य नहीं होगा, तब प्रमात्व में जातित्व का निराकरण करना सर्वथा असंगत हो जायगा।

दूसरी बात यह भी है कि सभी प्रकार के ज्ञानों में वर्तमान भावाभावात्मक धर्मों का

रपि प्रत्यभिज्ञायां स्वतः प्रतिभानेन विषयनिरूपणव्यवस्थित्यनङ्गीकारे स्मृतित्वादेरि- दन्तायामपि स्मृत्यवगमप्रसङ्गात् ।

यदि च संस्कारजत्वमेव स्मृतित्वम् , तदा तस्यैव विरोधेऽभिधीयमाने स एव विरोधसामञ्जस्याय उपाधिरुपन्यस्यत इति नान्यस्य चेतसि निविशते ।

अथान्यत् स्मृतित्वं नाम, तदाऽप्यनुपपत्तिः । तथा हि—संस्कारजत्वं संस्कारादनन्तरं नियमेन भावः । नियतत्वञ्च नानाव्यक्तिगतमेकं रूपं संग्राहकमक्रोडीकृत्य

लिङ्गाभावान्नापि प्रत्यक्षेण ज्ञानान्तरोत्पत्तौ पूर्वज्ञानस्य निवृत्ततया तदाऽसतः कर्मकारकत्वायोगादतः परिशेषात्स्वतः प्रतिभातत्वं वाच्यमित्याह ❀ ज्ञानेति ❀ । विकल्पा भेदास्तेषां ये भावाभावाः सदसत्त्वानि तेषामध्यात्मम् आत्मन्यधिकरणे संवेदनात् प्रकाशमानत्वात्प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभूतित्वयोरपि ज्ञानधर्मयोः स्वतः प्रतिभानत्वेन संस्कारजत्वाद्युपाधिपरामर्शं विना स्वप्रकाशज्ञानबलात्प्रकाशितत्वेन, स्मृतित्वादेर्विषयभेदनिरूणेन व्यवस्थानङ्गीकार इदन्तायामिदन्ताविशिष्टधर्म्यंशे स्मृतित्वप्रकाशप्रसङ्गादपि-शब्दात्तत्तांशेऽनुभूत्यवगमप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः । स्मृतित्वाद्यवभाससमये संस्कारजत्वादेरप्रतिभासमानस्य व्यवस्थापकत्वायोगादर्थभेदेन व्यवस्थायास्त्वया वक्तुमशक्यत्वादिदन्तायां स्मृत्यवगमः तत्तायामनुभूत्यवगमः प्रसज्येतेति प्रसङ्गबीजं द्रष्टव्यम् । संस्कारजत्वमेव स्मृतित्वं किंवा अन्यदिति विकल्प्याद्यमनुवदति ❀ यदीति ❀ । आत्माश्रयत्वप्रसङ्गेन निराचष्टे ❀ तदेति ❀ । अनुभूतित्वाचङ्कीर्णं स्मृतित्वं नास्ति प्रत्यभिज्ञायां सहस्थित्या परापरभावानिरूपणादिति जातिबाधकोपन्यासे तत्परिहारार्थं तदेवोपाधिरुपन्यस्यते ततश्च व्यवस्थितसंस्कारजत्वसिद्धौ तदात्मकं स्मृतित्वं सिद्ध्येदित्यात्माश्रयान्न परचेतसि चमत्काराविष्कारकरणमित्यर्थः । संस्कारजत्वस्मृतित्वयोरन्यत्वे आत्माश्रयाभावाद्वितीयः कल्पोऽस्त्वित्याशंकते ❀ अथेति ❀ । धर्मद्वयकल्पनायां प्रमाणाभावाद् गौरवाच्च द्वितीयः कल्पो नोपपद्यते, अङ्गीकृत्यापि दूषयति ❀ तदापीति ❀ अनुभूतचर एव स्मृतिनियमः संस्कारजत्वं स्मृतीनां सम्प्रतिपन्नं तेन विप्रतिपन्नस्मृतित्वव्यवस्थायाः काऽनुपपत्तिरित्यत आह ❀ तथा हीति ❀ । अनन्तरं भाव इत्यनेनान्वय उक्तः, नियमेनेति

आत्मा में स्वतः ही प्रतिभान होता है, किसी उपाधि के माध्यम से नहीं । प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में भी स्मृतित्व और अनुभूतित्व—दोनों का स्वतः प्रतिभान होता है । विषयरूप अवच्छेदक के भेद से स्मृतित्वादि की व्यवस्था न मानने पर इदन्ता विशिष्ट धर्मी अंश में भी स्मृतित्व मानना पड़ेगा, अतः संस्कार-जन्यत्वादि उपाधियों के द्वारा स्मृतित्वादि की व्यवस्था न करके विषय-भेद से ही व्यवस्था करनी उचित है, इदन्त्वादि-विशिष्ट अंश में अनुभूतित्व रहने के कारण स्मृतित्व प्राप्त नहीं होता ।

जैसे 'एकवृक्षवर्तिनोः भावाभावयोः केनावच्छेदेन सामञ्जस्यम् ?' इस प्रश्न का 'भावाभावावच्छेदेनैव'—यह उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही पदार्थ को अवच्छेदक और अवच्छेद्य मानने में आत्माश्रय दोष है । वैसे ही 'एकप्रत्यभिज्ञावर्त्तिनोः स्मृतित्वानुभूतित्वयोः केनावच्छेदेन सामञ्जस्यम् ?' इस प्रश्न का उत्तर संस्कारजन्यत्वावच्छेदेन स्मृतित्वं—ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि संस्कारजन्यत्व का ही नाम स्मृतित्व है वही अवच्छेद्य और वही अवच्छेदक—यह बात किस के मन में बैठेगी ?

यदि संस्कार-जन्यत्व से स्मृतित्व को भिन्न माना जाता है, तब आत्माश्रय दोष के दूर हो जाने पर भी अनुपपत्ति बनी रहती है, क्योंकि संस्कार-जन्यत्व का अर्थ है—'संस्कारादनन्तरं नियमेन भावः' । नियम नाम है—व्याप्ति का, व्याप्ति एक अन्वय-व्यतिरेक-सहचारावगत व्याप्यगत धर्म विशेष है । कार्य और कारण, गम्य और गमक की सामान्यतः संग्राहक पद्धति को अन्वय-व्यतिरेक कहते हैं, अतः प्रकृत में संस्कारत्वेन और स्मृतित्वेन ही जन्यजनक की व्याप्ति गृहीत होगी । फलतः यत्र-यत्र स्मृतित्वम्, तत्र-तत्र संस्कार-

असम्भवीति स्मृतित्वेनैव संस्कारजत्वं वक्तव्यम् । तथा च संस्कारजत्वव्यवस्थितौ स्मृतित्वमुपाधिः, स्मृतित्वव्यवस्थितौ च संस्कारजत्वमित्यन्योन्याश्रयः । तस्मात् स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वार एव ।

अपि च स्मृत्यनुभवयोर्यं कारणसामग्र्यौ, ते प्रत्यभिज्ञायां मन्तव्ये न वा? न चेत्, कथमंशतोऽपि स्मृतित्वमनुभवत्वञ्च प्रत्यभिज्ञानस्य । एवमेव तथात्वेऽतिप्रसङ्गात् स्मृत्यनुभूत्योः स एव सङ्करः । प्रथमे तु पृथगेव कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, प्रत्येकं स्वस्वस्मृत्यनुभूत्योः स एव सङ्करः । प्रथमे तु पृथगेव कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, प्रत्येकं स्वस्वकार्यं

व्यतिरेकः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावोऽवसेयो नान्वयमात्रादन्यथा धूमकार्ष्ण्यस्याप्यनुमापकत्वप्रसङ्गादिति भावः । अन्वयव्यतिरेकौ च किमेकव्यक्तिगतौ, किं नानाव्यक्तिगतौ, नाद्यः अननुगमप्रसङ्गादतो नानाव्यक्तिगतावेव, तथात्वेन ग्रहणं चाऽनुगतरूपान्तरमन्तरेण नोपपद्यत इति तदपि वक्तव्यमित्याह ❀ नियतत्वं चेति ❀ । नियतत्वमन्वयव्यतिरेकवत्त्वमित्यर्थः । अक्रोडीकृत्यापरिगृह्येत्यर्थः । अस्तु तर्हि रूपान्तरमिति चेत्तत्किं स्मृत्यन्यनिष्ठं, किं वा स्मृत्येकदेशनिष्ठमुत स्मृतिमात्रनिष्ठं नाद्यावतिव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां, तृतीयन्तु स्मृतित्वासामान्यवदित्याह ❀ इति स्मृतित्वेनेति ❀ । ज्ञेयं वक्तव्यमित्यध्याहारः । यद्येवं किमतः, एतत्ततो भवतीत्याह ❀ तथा चेति ❀ । तस्माद्विषयनिरूपणव्यवस्थाऽनङ्गीकारे न संस्कारजत्वादि स्मृतित्वादिव्यवस्थापकमिति धर्म्यंशप्रत्यभिज्ञाने स्यादेव सङ्कर इत्युपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀ ।

प्रत्यभिज्ञास्वरूपपर्यालोचनयापि तं साधयति । ❀ अपि चेति ❀ । कारणसामग्र्यौ संस्कारसम्प्रयोगाख्ये तत्तेदन्तोल्लेखयोः कार्ययोर्भावान्मन्तव्ये इति भाति, प्रत्यभिज्ञानमेकं प्रमाणज्ञानमिति स्वीकारान्नेति भात्यतो विकल्पः । अन्त्यविकल्पं बुद्धिस्थत्वादादौ दूषयति ❀ न चेदिति ❀ । किं संस्कारो न कारणं, किं वा सम्प्रयोगः, आद्ये प्रत्यभिज्ञानस्य स इत्यंशे स्मृतित्वं न स्यादसंस्कारजत्वात् । द्वितीयेऽयमित्यंशेऽनुभवत्वं न स्यात्संस्कारातिरिक्तकारणरहितज्ञानत्वादिति भावः । मा भूत्संस्कारजत्वादि, स्मृतित्वादि च भवतु, ततश्च बाधकाभावात् उक्तं हेतुद्वयमप्रयोजकमित्यत आह ❀ एवमेव तथात्व इति ❀ । संस्कारजत्वं विना स्मृतित्वे, सम्प्रयोगजत्वं विनाऽनुभवत्वेऽतिप्रसङ्गात् स्मृतावनुभूतित्वस्यानुभूतौ स्मृतित्वस्य प्रसङ्गात्सङ्करः स्यादित्यर्थः । स्मृत्यनुभवसामग्र्यौ प्रत्यभिज्ञायां कारणतया निविष्टे इति प्रथमकल्पं दूषयति ❀ प्रथम ❀ । इति पृथक्कार्योत्पादहेतुमुपपादयति ❀ प्रत्येकमिति ❀ । प्रत्येकं स्वकार्यजननसमर्थे न वा, न चेदन्यत्रापि संस्कारादेः स्मृत्यादि न स्यादसमर्थस्य सहकारिसहस्रसमवहितस्थाप्यकिञ्चित्करत्वात्, आद्येऽत्रापि कार्यद्वयप्रसक्तिरित्यर्थः । उक्ततर्कस्य विपर्ययापर्यवसायित्वपरिहाराय परकीयव्याप्त्युपजीवनेन प्रयोगमाह ❀ सामग्रीति ❀ । विमतः संस्कारः सम्प्रयोगनिरपेक्षस्मरणोत्पादक उद्बुद्धपूर्वानुभव-

जन्यत्वम्—इस प्रकार की व्याप्ति का लाभ तभी हो सकता है, जब स्मृतित्व का पहले से ज्ञान हो । इस प्रकार स्मृतित्व के व्यवस्थित हो जाने पर संस्कार-जन्यत्व का नियम व्यवस्थित होगा और संस्कारजन्यत्वरूप अवच्छेदक का ज्ञान हो जाने पर स्मृतित्वरूप अवच्छेद्य का ज्ञान होगा—इसी का नाम अन्योऽन्याश्रय दोष है । परिशेषतः विषय विशेष को स्मृतित्वादि का अवच्छेदक मानना होगा, वहाँ स्मृतित्व और अनुभूतित्व का सांकर्य अनिवार्य है ।

यह भी एक जिज्ञासा होती है कि प्रत्यभिज्ञा के पूर्व स्मृति और अनुभव की संस्कार-सम्प्रयोगादि कारण-सामग्री विद्यमान होती है ? या नहीं ? यदि नहीं, तब प्रत्यभिज्ञा में अंशतः भी स्मृति और अनुभव की उपपत्ति कैसे होगी ? संस्कारादि सामग्री के विना ही स्मृतित्वादि की उपपत्ति मानने पर स्मृति में अनुभवत्व और अनुभव में स्मृतित्वादि का अतिप्रसङ्ग एवं सांकर्य प्रसक्त होता है । प्रत्यभिज्ञा से पूर्व दोनों की सामग्री मानने पर अंशतः स्मृतित्व और अंशतः अनुभत्व न होकर पूर्णतया स्मृतित्वादि माना पड़ेगा, क्योंकि प्रत्येक सामग्री पूर्णतया

समर्थत्वात्, सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुत्वेनावधारितत्वात्।

अथ यत्र ते पृथक् जायेते तत्र पृथगेव कार्यम्। प्रत्यभिज्ञायान्तु तयोर्युगपज्जातत्वेन सम्भूय जननात्करम्बितकार्योत्पत्तिः। यद्यपि घटपटादिसामग्र्योर्नैवं दृश्यते, तथापि तद्विलक्षणस्वभावत्वादनयोरीदृशत्वमुपपद्यते। न हि एकस्य यादृक् पदार्थस्य स्वभावस्तादृगन्यस्यापि सर्वस्य भवति, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गादिति।

नैतदस्ति, यत्र हि मिलितत्वं तयोस्तत्र किं परस्परसहकारित्वमनयोरेष्टव्यं न

संस्कारत्वात्स्मृत्यन्तरोत्पादकसंस्कारवदेवं सम्प्रयोगमपि पक्षीकृत्य प्रयोक्तव्यं। यद्वा विमतः सामग्रीभेदः स्वोचितकार्यभेदहेतुः सामग्रीभेदत्वात्सम्प्रतिपन्नस्मृत्यनुभवसामग्रीभेदवदिति।

ननु सामग्र्योर्मिलितत्वेन संवलितकार्योत्पत्तिर्घटते, स्मरणानुभवकार्यभेदे पृथगुत्पन्नसंस्कारादिभेदः प्रयोजको न सामग्रीभेदमात्रमिति शंकते ❀अथेति❀। संस्कारस्य पूर्वोत्पन्नत्वेऽपीदानीमुद्बुद्धतोत्पत्तेरपृथक् जन्म कथ्यत इति द्रष्टव्यम्। साधनव्यापकतामुपाधेः परिहरति ❀ प्रत्यभिज्ञायान्त्विति ❀। तयोः संस्कारसम्प्रयोगयोः सम्भूय जननादन्योन्यसापेक्षतया जननात्करम्बितकार्योत्पत्तिः। करम्बितं मिलितं विशिष्टैकज्ञानमिति यावत्। यद्वा यत्र ते सामग्र्यौ पृथग्जायेतेऽन्योन्यनिरपेक्षतयोत्पद्येते तत्र कार्यं पृथगेव जनयतः प्रत्यभिज्ञायां पुनस्तयोर्युगपज्जातत्वेनान्योन्यसापेक्षतयोत्पन्नतया सम्भूय जननान्मिलित्वा कार्योत्पादकत्वात् संवलितकार्योत्पत्तिरित्यर्थः। न च संस्कारस्य पूर्वोत्पन्नत्वात् सम्प्रयोगस्याऽऽधुनिकत्वादपृथगुत्पन्नत्वं प्रत्यभिज्ञायामपि नास्तीति वाच्यम्, प्रत्यभिज्ञाजनकस्य सम्प्रयोगस्य संस्कारे सत्येव जननादुभयोः पृथगुत्पत्त्यभावमात्रस्य युगपदिति विवक्षितत्वादिति। यत्र यत्र कार्यभेदस्तत्र तत्र सामग्र्योः पृथगुत्पन्नत्वमिति नास्ति व्याप्तिः घटपटसामग्र्योर्युगपदुत्पादेऽपि कार्यभेददर्शनादतोऽव्यापक उपाधिरित्याशंक्याह ❀ यद्यपीति ❀। स्मरणानुभवकार्यभेदहेतुत्वविशेषव्याप्तावुपाधिरुच्यते न सामान्येन नातोऽव्याप्तिरित्यर्थः। स्मरणानुभवसामग्र्यौ नैकं कार्यं जनयतः कार्यद्वयसामग्रीत्वात्पटादिसामग्रीवदित्याशंक्याह ❀ न हीति ❀। घटसामग्रीतः पटकार्यादर्शनात्पटसामग्रीतोऽपि पटकार्यं न स्यादिति यथाऽनुभवविरोधाज्जगद्वैचित्र्याभावप्रसङ्गतर्कबाधादनुकूलतर्काभावाच्चाप्रयोजकस्तथाऽयमपीत्यर्थः।

सामग्रीपृथगुत्पादस्य न स्मरणादिकार्यभेदहेतुत्वं सति संस्कारे जायमानस्याक्षसंयोगस्य स्मरणातिरिक्ताभिज्ञाकारणत्वादिति दूषयति ❀ नेति ❀। उद्बुद्धतद्विषयसंस्कारे सति जातसम्प्रयोगस्य पृथक्कार्यकरणत्वं न दृश्यत इत्याशंक्य मिलितयोः सामग्र्योर्जनकत्वं दूषयितुं विकल्पयति ❀ यत्रेति ❀। एकदेश-

---

अपना-अपना कार्य करने में सक्षम है। एक की सामग्री से दूसरा ज्ञान कभी नहीं हो सकता, अन्यथा सामग्री का भेद कार्य के भेद का नियामक क्योंकर होगा ?

शङ्का—जहाँ दोनों सामग्रियों का संवलन नहीं होता, एक-एक ही सामग्री होती है, वहाँ एक-एक ही कार्य होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा-स्थल पर दोनों सामग्रियाँ एक साथ समुत्पन्न हुई हैं, अतः वहाँ करम्बित (मिश्रित) कार्य उत्पन्न होता है। यद्यपि घट-पटादि की सामग्रियों से करम्बित कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती, तथापि प्रत्येक सामग्री का अपना पृथक् स्वभाव होता है, घटादि की सामग्री से संस्कारादि रूप सामग्री में यह विलक्षणता है कि उससे करम्बित कार्य हो जाता है। ऐसा कभी नहीं होता कि एक पदार्थ का जैसा स्वभाव होता है, वैसा ही दूसरे का भी हो, अन्यथा जगत् का वैचित्र्य ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि एक स्वभाव की वस्तु से विचित्र कार्य नहीं होते, जैसा कि श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यं च समस्य न" (न्या० कु० १।७)।

समाधान—जहाँ उन दो सामग्रियों का संवल है, वहाँ दोनों में परस्पर-सहकारिता है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं, तब उन दो सामग्रियों का मिलना और न मिलना बराबर है, क्योंकि उनमें सहकारिता के आधार पर ही यह विशेषता आ सकती थी कि उनसे स्मृतित्व

वा ? न चेत्, परस्परमेलकलक्षणो विशेषोऽनुपयोगी, कार्यजननं प्रति मिथः सहकारिभावविरहेणाप्रयोजकत्वात्। ततश्चाविशेषात् पृथगेव कार्यं प्रसज्येत। अथ परस्परसहकारित्वं तयोरिष्यते, तदा अनुभवांशेऽपि संस्कारस्य व्यापारः, स्मरणांशेऽप्यक्षस्येति नियामकत्वाभिमतयोस्तयोरुभयांशे साधारण्यात् स्मृत्यंशेऽप्यनुभूतिरनुभूत्यंशेऽपि स्मरणमिति वज्रलेपायितं प्रत्यभिज्ञायामनुभूतिस्मृतिसङ्करेणेति।

नाऽप्यनुभव एवेति पक्षः; तथा सति तत्तावच्छिन्नस्याभेदाश्रयतायां न संस्कारो नेन्द्रियसन्निकर्षश्चेति तदविषयत्वापातः।

न च संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या सम्बद्धविशेषणतया तद्ग्रहः, क्वचित् सोऽयं न

कालावस्थानं मेलनम्। कस्मिन् सति किं स्यादित्यत आह ॐ न चेदिति ॐ। सति मेलने कार्यजन्मदर्शनात्कथमनुपयोगित्वमित्यत आह ॐ कार्येति ॐ। मेलनस्यानुपयोगितामात्रेण तव को लाभस्तत्राह ॐ ततश्चेति ॐ। मेलनामेलनयोः संस्कारादेः स्वकार्यजनने सामर्थ्याविशेषादित्यर्थः। उक्तदोषं परिहर्तुं प्रथमकल्पं शंकते ॐ अथेति ॐ। संस्कारसहकारितया सम्प्रयोगस्य तत्तांशज्ञानकारणत्वं संस्कारस्य च सम्प्रयोगसहकारितयाऽनुभवकारणत्वं प्रसज्ज्यत इति दूषयति ॐ तदेति ॐ। एवं च सति तत्तांशज्ञाने संस्कारसम्प्रयोगजन्यतया स्मृतित्वमनुभूतित्वमयमित्यंशे च स्मृतित्वमनुभूतित्वञ्चेति स्मृत्यनुभवसङ्करो दृढीकृतः स्यादित्याह ॐ इति वज्रेति ॐ।

अनुभव एवैकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति पक्षे सङ्कराभावात्परिशेषात्स एवाऽऽस्तामित्यत आह ॐ नापीति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ तथा सतीति ॐ। स एकोऽनुभवस्तत्तावच्छिन्नं गोचरयतीदन्तावच्छिन्नं वा, तयोरभेदं वा ? न प्रथमद्वितीयौ, एकस्य धर्मिणः कालद्वयसम्बन्धग्राहि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेत्यभ्युपगमात्। नापि तृतीयः संस्कारेणाभेदस्य तत्तांशावच्छिन्नाश्रयत्वं नोपस्थापनीयं प्रागननुभूतत्वान्नापीन्द्रियेण सन्निकर्षाभावादित्यर्थः।

नन्विन्द्रियमेवाभेदस्य तत्तावच्छिन्नाश्रयत्वं साधयति चक्षुरर्थेन सम्बद्धं मनसा संयुज्यते तदाऽऽत्मना तस्मिन् समवेतः संस्कारस्तस्य च विशेषणं तत्तावच्छिन्न इति संस्कारद्वारा येयं प्रत्यासत्तिः सम्बद्धविशेषणता नाम, तयेत्याशंक्याह ॐ न चेति ॐ। अतिप्रसङ्गादिति हेतुमाह ॐ क्वचिदिति ॐ। उक्त-

---

और अनुभवत्व उभय से समन्वित करम्बित कार्य का जन्म होता। जब उनमें किसी प्रकार का सहयोग ही नहीं, तब जैसे एक-एक से स्वतन्त्र कार्य होता है, वैसे वहाँ भी होगा।

यदि उन दोनों सामग्रियों में सहकारिता मानी जाती है, तब अनुभवांश में संस्कारों का और स्मरणांश में भी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष का व्यापार मानना होगा, अतः अनुभव में स्मृतित्व और स्मरण में अनुभूतित्व का सांकर्य निष्प्रपंच है।

(४) यदि प्रत्यभिज्ञा को नैयायिकों के अनुसार केवल अनुभवरूप माना जाता है, तब वहाँ तत्ता-विशिष्ट पदार्थ का जो इदन्ता-विशिष्ट में अभेद प्रतीत होता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि तत्ता-विशिष्ट पदार्थ के साथ इन्द्रिय का कोई सन्निकर्ष न होने के कारण तत्प्रतियोगिक अभेद का अनुभव में भान कैसे होगा ? [श्री धर्मकीर्ति का भी यही प्रश्न है—

"पूर्वानुभूतस्मरणात्तद्धर्मारोपणाद् विना।
स एवायमिति ज्ञानं नास्ति तच्चाक्षजे कुतः॥" (प्र० वा० पृ० ४५३)

अर्थात् 'सोऽयम्'—यहाँ पर तत्ता-विशिष्ट के अभेद का भान दो ही रीति से हो सकता है—(१) पूर्वानुभूत के स्मरण से अथवा शुक्ति-रजत के समान इदं पदार्थ में तत्पदार्थ के अभेदारोप से, नैयायिकगण न तो वहां स्मरण मानते हैं और न आरोप, अतः इन्द्रिय-जन्य ज्ञान (अनुभव) में उसका भान क्योंकर होगा ?]।

शङ्का—यद्यपि तत्ता-विशिष्ट पदार्थ के साथ इन्द्रिय का कोई संयोगादि लौकिक

वेति तर्हि संशयो न स्यात् ।

दोषवशात्तत्र तत्प्रकाशो न सम्बद्धविशेषणत्वादिति चेन्न, विनाऽपि संस्कारं दोषवशात्तदापत्तेः । वस्तुप्रकाशिनि च दोषत्ववाचोयुक्त्यनिरुक्तेः ।

क्वापि तस्यावस्तुप्रकाशित्वाद्दोषश्चेत् ; कथमक्षादेरपि तन्न स्यात् ? विशिष्टत्वेन

संयुक्तसमवेतविशेषणता सम्बन्धः संस्कारद्वारा तत्तेदन्ताऽभेदप्रकाशसामग्री चेत्तर्हि पुष्कलकारणे सत्यभेदनिर्णयस्योत्पत्त्या प्रत्यभिज्ञारूपः संशयस्त्वत्पक्षे न स्यादस्ति चासौ पूर्वानुभूतस्य देवदत्तस्य चिरकालव्यवधाने पुनर्दर्शन इत्यर्थः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां संशयस्य दोषजन्यत्वमवसीयते चक्षुःसम्प्रसारणमधिष्ठानग्रहणोपयोगितयाऽन्यथासिद्धमत एकस्य सन्निकर्षविशेषस्य सम्यक्ज्ञानहेतुत्वमसम्यक्ज्ञानहेतुत्वं चेति विरोधप्रसङ्गो नेति शंकते ❀ दोषेति ❀ । केवलाक्षसन्निकर्षस्य सामान्याग्रहणकारणत्वाद्दोषस्य सन्देहकारणत्वादुक्तविषसम्बन्धस्य क्वाऽप्यनुपयोगात्तदभावेऽपि सन्देहः स्यान्न तथा दृश्यत इति परिहरति ❀ नेति ❀ । तर्ह्येवं व्यवस्थाऽस्तु दोषसहकृत उक्तसन्निकर्षः सन्देहसामग्री, अदुष्टः प्रत्यभिज्ञानस्येत्यत आह ❀ वस्त्विति ❀ । दोषविशिष्टस्य वस्तुप्रकाशकत्वे विशेषणतया तस्यापि वस्तुग्रहणहेतुत्वमुक्तं स्यात् न च तद्युक्तं वस्तुप्रकाशकस्य चक्षुरादिवद् गुणत्वस्यैव प्राप्तेरित्यर्थः । क्वचिदसत्येवाभेदेऽवयवसादृश्या-

---

सन्निकर्ष नहीं, तथापि जैसे 'सुरभि चन्दनम्'—यहाँ ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा चन्दन-विषयक चाक्षुष ज्ञान में सौरभ का भान हो जाता है, वैसे ही इदमर्थविषयक चाक्षुष ज्ञान में ही तद्देशकाल-विशिष्ट वस्तु का अभेद-भान हो जायगा [अयं देवदत्तः स एव, समानाकारत्वात्'—इस अनुमान के द्वारा पहले तत्तावच्छिन्न की आश्रयता या अभेद का ज्ञान होता है। उपनीत वस्तु का विशेषणविधया ही भान होता है, अतः] इन्द्रिय-सम्बद्ध संस्कार में विशेषण-रूप से अभेद का भान न्याय-संगत है। यहाँ विशेषणता का नियामक स्वसंयुक्तसंयुक्तात्मसमवेतसंस्कारजन्यस्मरणविषयत्वरूप ज्ञानलक्षणा या ज्ञान-घटिता प्रत्यासत्ति है [इदन्ता-विशिष्ट देवदत्त-पिण्ड के ग्राहक चक्षु से संयुक्त मन और मन से संयुक्त है—आत्मा, आत्मा में समवेत तदर्थ-विषयक संस्कारों से जो स्मृति उत्पन्न होती है, उसका वह अभेद विषय है]।

समाधान—'सोऽयम्' इत्यादि स्थलों पर अयमंश का ही प्रत्यक्ष होता है, तत्ता-विशिष्ट का नहीं। यदि किसी कल्पित परम्परा सम्बन्ध के द्वारा तत्ता-विशिष्ट का भी प्रत्यक्ष उसी समय माना जाता है, तब कभी-कभी जो यह सन्देह होता है—'सोऽयं न वा ?' वह सन्देह नहीं होना चाहिए, क्योंकि जब इदन्ता-विशिष्ट में तत्ता-विशिष्ट का अभेद प्रत्यक्ष हो जाता है, तब अभेद-विषयक संशय क्योंकर होगा ?

शङ्का—आप जो यह कहना चाहते हैं कि सम्बद्धविशेषणतारूप सन्निकर्ष के रहने पर संशय होता है, अतः उक्त सन्निकर्ष निश्चयात्मक ज्ञान का जनक न होकर संशय का जनक होता है। वह आपका कहना संगत नहीं, क्योंकि संशय-स्थल पर तत्ता-विशिष्ट का सम्बद्ध-विशेषणता सन्निकर्ष से प्रकाश न होकर दोष के द्वारा प्रकाश होता है [दोषप्रयुक्त प्रकाश वस्तु के विशेषांश का भासक न होकर केवल सामान्य आकार का ही ग्राहक होता है, जिससे 'स्थाणुर्वा ?' पुरुषो वा ?' के समान ही 'अयं स एव ? अन्यो वा ?' ऐसा संशय हो जाता है]।

समाधान—यदि संस्कार-घटित प्रत्यासत्ति को संशय का हेतु नहीं माना जाता, तब उसके विना भी संशय होना चाहिए [अर्थात् जिस व्यक्ति ने देवदत्त को कभी नहीं देखा, उसे भी वैसा संशय होना चाहिए किन्तु ऐसा कभी नहीं होता]। दूसरी बात यह भी है कि दोष सदैव आवरक, विघटनकारी या कुण्ठापादक होता है, किसी प्रकार वस्तु का प्रकाशक कभी नहीं होता. अतः तत्ता-विशिष्ट वस्तु के प्रकाशक को दोष कहना सर्वथा असंगत है।

यदि किसी एक स्थल पर अवस्तु का प्रकाशक हो जाने मात्र से प्रकाशक पदार्थ को

तथात्वस्य प्रकृतेऽप्यपरिहारात्। न हि विनैव कुतोऽपि विशेषादस्यावस्तुप्रकाशिता। सत्यप्यर्थे दोषादवस्तुन एव प्रकाशे संशयात् प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यादेरसम्भवापत्तेः।

वस्तुविषयत्वेऽपि दोषादनिश्चयतेति चेन्न, वस्तुतस्तस्यासंकीर्णत्वात्तस्य प्रकाशे तदेव संशयैककोटौ प्रकाशितमिति कुत्र तदनिश्चयता? निश्चयार्थस्य च संशय-

त्सोऽयं न वेति सन्देहो जायते तत्रासदभेवप्रकाशकत्वादस्य दोषत्वमित्याशंक्याह ॐ क्वापीति ॐ। शुक्तिरजतसंसर्गस्यासत एव प्रकाशनात्तत्प्रकाशकस्य चक्षुषोऽपि दोषत्वं स्यादित्यर्थः। आदिपदेन लिङ्गादिग्रहः। चक्षुरादिर्दोषो भवितुमर्हति क्वचिदविद्यमानप्रकाशकत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्युक्तम्। स्वरूपेणावस्तुप्रकाशकत्वं तथात्वे प्रयोजकं न च तच्चक्षुरादेरस्ति गुणदोषाभ्यां विशेषादित्याशंक्याह ॐ विशिष्टत्वेनेति ॐ। तथात्वस्य दोषत्वाभावस्य प्रकृते दोषत्वाभिमतेऽप्यपरिहारादिति दोषस्य पुनर्दोषाभावात्तद्भावाभावाभ्यां चक्षुरादेरिव न विशेषो वक्तुं शक्य इत्यत आह ॐ न हीति ॐ। विक्रियमाणे दोषे वस्तुप्रकाशः किंवाऽविक्रियमाणे? नाविक्रियमाणे सर्वदा तत्प्रसङ्गात् कुर्वत एव कारकत्वाच्च, विक्रियमाणे चेत्स एव विकारो विशेष इत्यर्थः। क्वचिदवस्तुप्रकाशकस्य दोषत्वमतिप्रसङ्गादनुपपन्नं चेत्तर्हि सर्वत्राविद्यमानप्रकाशकत्वमेव दोषस्यास्तु क्वचित्सोऽयं न वेति सन्देहस्याविद्यमानाभेदविषयत्वेन विद्यमानेऽपि ततोऽन्याभेदविषयत्वानुमानादित्याशंक्याह ॐ सतीति ॐ। तर्हि विद्यमाने घटे प्रकाशमाने दोषादविद्यमानः प्रकाशते, किं वा विद्यमान इति सन्देहात्प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्न स्यात्तथा यत्र सन्देहादपि दृष्टफले प्रतिग्रहादौ प्रवृत्तिः सा न स्यात्पाक्षिकत्वेनापि सन्देहस्य वस्तुविषयत्वाभावादित्यर्थः।

विद्यमानेऽर्थे ज्ञानं वस्तुविषयमेव, वस्तुविषयत्वेऽपि संशयत्वं दोषबलाद्भवतीति शङ्कते ॐ वस्त्विति ॐ। संशयत्वं वस्तुविषयज्ञाने न संभवति तस्य विरुद्धानेककोट्यनालम्बनत्वादनवस्थितोभयकोटिसंस्पर्शी संशय इति न्यायकन्दलीकारेणोक्तत्वात्, नाप्यसदंशकोट्यन्तरज्ञाने तस्याप्यविद्यमानवस्त्वेकविषयतया संशयत्वायोगात्, नापि धर्म्यंशे, गृहीतमात्रस्य निश्चयावतो न कुत्रापि संशय इति परिहरति ॐ नेति ॐ। एककोटिज्ञानस्य वस्तुविषयत्वेऽपि तदधिकतदभावस्य कोट्यन्तरेण ग्रहणात् कथं निश्चयात्मकं स्यादित्यत आह ॐ निश्चयेति ॐ। निश्चयार्थोऽभाववेदने न खण्ड्यते, किं वा खण्ड्यते? यदि न, तदाऽबाधितानवगतविषयतया प्रामाण्यमेव स्यान्न संशयत्वमित्यर्थः। नापि द्वितीय इत्याह ॐ अभावेति ॐ। एकस्मिन् धर्मिणि घटत्वपटत्वादिधर्मस्य प्रमाणसिद्धत्वेन नान्यतरेणान्यतरबाधस्तथा भावा-

दोष माना जाता है, तब शुक्ति में रजतरूप अवस्तु का प्रकाशक होने के कारण चक्षुरादि को भी दोष क्यों नहीं कहा जाता? यदि कहा जाय कि चक्षुरादि अकेले अवस्तु के प्रकाशक नहीं, अपितु किसी-न-किसी दोष से विशिष्ट होकर, तब दोष के लिए भी यह कहा जा सकता है कि अकेला दोष अवस्तु का भासक नहीं होता. अपितु किसी-न-किसी इन्द्रिय से विशिष्ट होकर ही अवस्तु का प्रकाशक होता है, फलतः विशेषणीभूत इन्द्रिय में ही दोषता प्रसक्त होती है।

वस्तु के रहने पर भी संशय वस्तु का प्रकाशक न होकर अवस्तु का ही भासक होता है—ऐसा मानने पर वस्तु के लिप्सु प्राणियों की जो संशय-स्थल पर भी प्रवृत्ति होती है, वह नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वस्तु का भान न होने पर उसके अभिलाषी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—संशय-स्थल पर स्थाण्वादि वस्तु होती है और उसका धूमिल ज्ञान भी, किन्तु दोष के कारण उस वस्तु का विशदावभास नहीं हो पाता, अतः वहाँ संशय भी उपपन्न हो जाता है, पुरुष की प्रवृत्ति भी निभ जाती है और निश्चय-प्रतिबन्धकत्वेन दोष में दोषता का निर्वाह भी हो जाता है।

समाधान—संशय-स्थल पर यदि वस्तु है और उसका भान भी होता है, तब उस

कोटावखण्डने संशये तदभावाधिकग्राहित्वेऽपि निश्चयत्वस्याप्रत्यूहत्वादेव अभाव-निश्चयः कोटयन्तरं केवलमधिकं स्यात् ।

जातिः संशयत्वम्, तत्प्रयोजकदोष इति चेन्न, 'इदं तद्वा न वा' इति संशय-कोटयर्थनिर्देशसमन्वयेन वाशब्दप्रतीतिव्यवहारयोरभावापत्तेः । प्रतीत्या सह वाका-

---

भावयोस्तत्संवेदनसिद्धत्वेनान्यतरबाधोऽसम्भवी तेन भावोऽभावश्चेति द्वयमपि वस्तु स्यादित्यर्थः । एतेन यदाहुरेके—

"वाशब्दोऽपि विकल्पार्थो विकल्पोऽप्येकवस्तुनि ।
विरोधरूपोऽभिमतः समारोपितरूपयोः ॥" इति

तदपि निरस्तम् । प्रतीतयोरप्रतीतयोर्वा विरोधवाचोयुक्त्यनिरुक्तेरिति । अधिकमिति । घटोऽयमित्यादि-निर्णयाद्वैलक्षण्यमपीदमेव नानिर्णयात्मकमिति दर्शयति ।

विमतो गुणः वस्तुप्रकाशकत्वाच्चक्षुरादिवदित्युक्तं, तत्र स्वरूपेणाप्रमात्वानधिकरणज्ञानजनकत्वमुपाधि-रिति शङ्कते । ॐ जातिरिति ॐ न च संस्कारेऽव्यापकत्वमुपाधेरिति वाच्यम् । स्मृतेरपि प्रामाण्यस्य वक्ष्य-माणत्वात् । संशयत्वस्य नाप्रमात्वावान्तरजातित्वं तथा सति ज्ञानगतत्वे पाक्षिकद्वयकोटिप्रत्यायकवाशब्द-स्यार्थसामानाधिकरण्याभावप्रसङ्गादिति परिहरति ॐ नेति ॐ । अर्थनिर्देशोऽर्थवाचकशब्दस्तेन समन्वयः सामानाधिकरण्यम् । गुणत्वस्य ज्ञानगतत्वे ज्ञानं गुण इति गुणत्ववाचकशब्दस्य ज्ञानसामानाधिकरण्यव-त्संशयत्वस्यापि ज्ञानगतत्वे वाशब्दस्य प्रत्येमि न वेति ज्ञाननिर्देशसमन्वयः स्यादित्याह ॐ प्रती-त्येति ॐ । केचित्त्वर्थगता वा ज्ञानगता वा जातिर्यद्यर्थगता तन्न, संशयत्वस्य ज्ञानत्वावान्तरजातित्वेन ज्ञानगतत्वाद्यदि ज्ञानगता तदा वाशब्दप्रतीतिव्यवहारयोरिदं तद्वा न वेत्यर्थवाचकशब्दप्रतीतिव्यवहार-सामानाधिकरण्यं न स्यादिति प्रथमग्रन्थार्थं वर्णयन्ति । जातेः प्रतीतिगतत्वे कथं प्रतीतिव्यवहारौ स्याता-मित्याशङ्क्य प्रत्येमि न वेत्येवं स्यादित्याह ॐ प्रतीत्येति ॐ । इति द्वितीयग्रन्थार्थः । संशयः ज्ञानमिति संशयत्वस्य ज्ञानधर्मता प्रसिद्धा सा कथमपह्नूयते इत्यत आह ॐ वाकारेति ॐ । यथा निश्चयत्वस्य ज्ञान-

---

वस्तु का पूर्णतया भान मानना होगा, क्योंकि वस्तु कभी संकीर्ण या वस्त्ववस्तूभयाकार नहीं होती, अतः एकाकारत्वेन वस्तु का ग्रहण न्यायतः प्राप्त है, वस्तु का एकाकारत्वेन ग्रहण ही निश्चय कहा जाता है । उस निश्चय का न तो वहाँ प्रतिबन्ध हो सकता है और न निश्चयप्रति-बन्धकत्वेन दोष में दोषता ही उपपन्न होती है । निश्चय की विषय वस्तु का यदि संशय की कोटयन्तर में भी खण्डन नहीं होता, तब उस संशय को अभावरूप अधिक पदार्थ का ग्राहक होने पर भी निश्चयरूप ही मानना होगा [क्योंकि 'वृक्षे कपिसंयोगतदभावौ स्तः'—इस प्रकार के समूहालम्बनात्मक निश्चय में भाव से अधिक अभाव कोटि का भान माना जाता है, उसी प्रकार प्रकृत में भी] अभाव का निश्चय एक कोटयन्तर केवल अधिक है ।

शङ्का—यद्यपि वस्तु-ग्राहकत्वेन संशय और निश्चय में कोई अन्तर नहीं, तथापि संशय में रहनेवाली संशयत्व जाति उसे निश्चय से पृथक् करती है और संशयत्व जाति से अवच्छिन्न पदार्थ का जनक दोष होता है । चक्षुरादि निश्चयत्वेन ज्ञान के जनक होते हैं, संशयत्वेन नहीं, अतः चक्षुरादि में दोषता प्रसक्त नहीं होती ।

समाधान—संशय और निश्चय का जात्या वैलक्षण्य नहीं, अपितु विषय-वैलक्षण्य के द्वारा ही उनमें वैलक्षण्य होता है अर्थात् निश्चय व्यवस्थित विषय का ग्राहक होता है और संशय अव्यवस्थित विषय का ग्राहक, अत एव 'स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ?' यहाँ पर संशय की स्थाणु और पुरुष—दोनों कोटियों के वाचक 'स्थाणु' और 'पुरुष' पदों का अव्यवस्थितार्थक 'वा' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य व्यवहृत होता है, अन्यथा वैसा व्यवहार नहीं हो सकेगा । यदि 'वा' शब्द के द्वारा विषयाव्यवस्थिति द्योतित न कर प्रतीति की अव्यवस्था ध्वनित

रार्थसम्बन्धे 'प्रत्येमि न वे'ति तदापत्तेः। वाकारार्थस्य प्रतीतिगतत्वेऽपि निश्चयत्ववत् 'स्थाणुमानय पुरुषं वे'ति स्थाणुपुरुषगतपाक्षिकव्यवहारानापत्तेः। तस्माद् वाकारार्थस्य ज्ञानधर्मत्वे साक्षात्कारित्वादिवद्विषयानन्वयापत्तिरेवेति।

न च प्रत्यासत्तौ सत्यामपि प्रत्यासत्त्यपुरस्कारान्मनसा न ग्रहणं तत्र दोषवशादित्यस्तु। दोषे सत्यपि वस्तुनः संस्कारेण, संस्कारस्य चाऽऽत्मना, तस्य च बाह्येन्द्रियेण, प्रत्यासत्त्यपेक्षण एव तदर्थप्रकाशादिनियमोपपत्तेः कः पुनः प्रत्यासत्त्यपुरस्कारस्त्वन्मते स्यात्? यदि तु संस्कारप्रत्यासत्तिमनपेक्ष्य तथा सन्दिह्यते, तदा

धर्मत्वेऽर्थनिर्देशसमन्वयो नास्ति तथा संशयत्वस्य ज्ञानधर्मत्वे स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यर्थगतपाक्षिकव्यवहारो न स्यादिति भावः। संशयत्वं विषयानन्वितं ज्ञानधर्मत्वात्साक्षात्कारित्ववदित्युपसंहरति ॐ तस्मादिति ॐ। तेनार्थगतमेव संशयत्वं न ज्ञानगतं ततो विनिश्चयात्संशयस्य विशेषोऽर्थद्वारको न जातिद्वारक इति तात्पर्यार्थः।

सोऽयं न वेति सन्देहस्थले यद्यपि संस्कारद्वारा सम्बद्धविशेषणता प्रत्यासत्तिरस्ति तथाऽपि तस्या दोषवशात्प्रतिबद्धतयाऽकारणत्वादिदन्तातत्तावच्छिन्नयोरभेदग्रहणमैन्द्रियकं नास्ति अपितु दोषादेव तत्प्रकाश इत्याशङ्क्याह ॐ न चेति ॐ। अपुरस्काराद् अहेतुत्वादिति यावत्। सति दोषे संशयो नासतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां दोषस्य कारणता किं न कल्प्यते इत्याशङ्क्याह ॐ दोष इति ॐ। दोषान्वयव्यतिरेकयोर्विशेषाग्रहणोपयोगितया तावन्यथासिद्धाविति भावः। किं च प्रत्यासत्तेर्दोषेण स्वरूपप्रतिबन्धः, किं वा शक्तिस्वरूपप्रतिबन्धः? स्वरूपातिरिक्तशक्त्यनङ्गीकारान्न तत्प्रतिबन्धः सम्भवति, नापि स्वरूपप्रतिबन्धः, सत्यपि दोषे प्रत्यासत्तेरपरिलूनत्वादन्यथा निवृत्ते तस्मिन् सोऽयमेवेति निश्चयानुपपत्तिप्रसङ्गादित्याह ॐ क इति ॐ। संस्कारस्य सन्देहबीजत्वे न प्रमाणं पश्याम इत्याशङ्क्यान्वयव्यतिरेकौ प्रमाणमित्याह ॐ यदीति ॐ। तु शब्दोऽन्वयद्योतकः। अननुभूयेति संस्कारानुत्पत्तिर्दर्शिता। अननुभूते दोषादपि सन्देहोत्पत्तेर्नायं प्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह ॐ प्रेति ॐ। कालव्यवधानादिना संस्कारे नष्टे इत्यर्थः। न चैवं

करनी होती, तब उक्त स्थल पर 'प्रत्येमि न वा ?:—ऐसा वाक्य-विन्यास होना चाहिए था। वाकार का अर्थभूत संशयत्व यदि निश्चयत्व के समान प्रतीति या ज्ञान का ही धर्म होता है, तब 'स्थाणुमानय पुरुषं वा'—इस प्रकार विषयगत पाक्षिकत्व का व्यवहार होता है, वह नहीं होता, क्योंकि वह संशयत्व का ही फल है, अतः यहाँ यह अनुमान पर्यवसित होता है—'वाकारार्थः (संशयत्वं) न ज्ञानधर्मः, विषयान्वयित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा साक्षात्कारित्वम्।'

शङ्का—जैसे शङ्खगत धवलिमा के साथ चक्षु का स्वसंयुक्तसमवाय सन्निकर्ष रहने पर भी पित्त दोष के कारण उसका ग्रहण नहीं होता, वैसे ही 'सोऽयम्'—यहाँ पर तत्ता-विशिष्ट के साथ इन्द्रिय की ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति रहने पर भी दोष के कारण तत्ता-विशिष्ट का ग्रहण नहीं होता, अतः 'सोऽयं न वा ?'—इस प्रकार का संशय उत्पन्न हो जाता है।

समाधान—दोष प्रत्यासत्ति का विघटक नहीं होता अन्यथा दोष की निवृत्ति हो जाने पर जो वस्तु का ग्रहण होता है, वह नहीं होना चाहिए, अतः दोष के रहने पर भी तत्ता-विशिष्टादि वस्तुओं की संस्कार के साथ संस्कार की आत्मा के साथ और उसकी बाह्येन्द्रिय के साथ प्रत्यासत्ति हो जाने पर वस्तु का प्रकाश हो जाता है, यदि नहीं होता, तब यह मानना पड़ेगा कि वस्तु की इन्द्रिय के साथ प्रत्यासत्ति ही नहीं। यह जो कहा गया कि 'प्रत्यासत्त्यपुरस्कारात्।' वहाँ पर प्रत्यासत्त्यपुरस्कार क्या वस्तु है? यदि संस्कार-घटित प्रत्यासत्ति की अपेक्षा न करके 'इदं तद्वा ? न वा ?' इस प्रकार का सन्देह ही प्रत्यासत्ति का अपुरस्कार है, तब तो जिस व्यक्ति ने तत्ता-विशिष्ट का कभी अनुभव नहीं किया या अनुभव करके भूल जा चुका है, उस व्यक्ति को भी वैसा सन्देह होना चाहिए, किन्तु नहीं होता। फलतः प्रत्यासत्ति

अननुभूय प्रस्मृत्य वा तथा सन्दिह्येत ।

वस्तुतस्तु मनसा संस्काराग्राहिणा, चक्षुरादिना च आत्माऽग्राहिणा, तादृश-प्रत्यासत्त्या ग्रहणानुपपत्तेः; नियमेन तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकेतरस्य ग्रहणे स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणतायाः प्रत्यासत्तित्वनियमात् । अन्यथा आप्यपरमाण्वादौ

संशयो दृश्यते तेन संस्कारद्वारकप्रत्यासत्तिविशेषादेव सन्देह एष्टव्य इत्यर्थः ।

पूर्वं संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या तत्तावैशिष्ट्यग्रहणमभ्युपगम्य सन्देहानुत्पत्तिरुक्ता सम्प्रति तदेव न सम्भवतीत्याह ॐ वस्तुत इति ॐ । तादृशप्रत्यासत्त्या तत्तावैशिष्ट्यं मनसा गृह्यते, चक्षुरादिना वा? न तावन्मनसा, तस्याऽऽत्मग्राहकत्वेऽपि संस्काराग्राहकतया तद्विशेषणतत्तावैशिष्ट्यग्रहणायोगान्नापि चक्षुरादिना, तस्याऽऽत्मग्राहकत्वाभावेन तत्समवेतसंस्कारादिग्राहकत्वस्य सुतरामसम्भवादित्यर्थः । चक्षुःसम्प्रयोगोऽस्तीन्द्रिय एव यथाऽर्थप्रमापकस्तथा संबद्धविशेषणताऽपि प्रत्यासत्तिरप्रतीयमाना तत्तावैशिष्ट्यग्राहिका किं न स्यादित्यत आह ॐ नियमेनेति ॐ । यद्वा कथं तर्ह्यभावादौ सम्बद्धविशेषणत्वस्य प्रत्यासत्तितेत्याशङ्क्याह ॐ नियमेनेति ॐ । स्वेनेन्द्रियेण ग्राह्यश्चासौ सम्बद्धश्चेति स्वग्राह्यसम्बद्धस्तस्य विशेषणं तस्य भावस्तत्ता तस्याः संनिकर्षत्वनियमात् तद्यथा चक्षुषा ग्राह्यं भूतलं सम्बद्धं तस्य विशेषणं कुम्भाभावः तद्ग्राह्यविशेषणत्वप्रत्यासत्त्या कुम्भाभावोऽनुभूयते, मनःसम्बद्ध आत्मा तस्य विशेषणं ज्ञानाभावादिस्तत्रापि स्वग्राह्यविशेषणतया प्रत्यासत्त्या ज्ञानाभावादिर्मनसा गृह्यते एवं सर्वत्राप्युन्नेयम् ।

ननु नायं नियमोऽस्ति श्रोत्राग्राह्येऽप्याकाशे शब्दाभावस्य स्वाग्राह्यसम्बद्धविशेषणताप्रत्यासत्त्या ग्रहणादित्याशङ्क्याह ॐ तदिति ॐ । शब्दाभावादिग्राहकं श्रोत्रादि तदित्युच्यते तेनेन्द्रियेणाग्राह्य आकाशादिराश्रयो यस्य शब्दादेः स तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयः स प्रतियोगी यस्य शब्दाभावादेः, स तथोक्तस्तस्मादितरः तस्य ग्रहण इति यावत् । प्रत्यासत्तिमात्रस्य प्रयोजकत्वे सम्भवति स्वग्राह्यसम्बद्धेत्यादिविशेषणं नोपादेयं गौरवादित्याशङ्क्यान्वयव्यतिरेकप्रमाणसिद्धत्वान्न गौरवमित्याह ॐ नियमेनेति ॐ । यद्वा नियमेनेति विशेषणाप्रक्षेपे रूपाश्रयस्य क्वचिच्चक्षुर्ग्राह्यत्वात्परमाणुनिष्ठश्यामत्वाभावादिस्तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकाभावे(तरो भवति परमाणोश्चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि रूपाश्रयत्वोपाधौ तद्ग्राह्यत्वात् तेन तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयप्रतियोगिकाभावे)तरत्वात्परमाणुगतश्यामत्वाभावस्य तत्रापि स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणतायाः प्रत्यासत्तित्वं प्रसज्येत, तद्व्यावृत्त्यर्थं नियमेनेति विशेषणं द्रष्टव्यम् । तद्ग्रहणयोग्यत्वेऽपि व्यवहितस्थले विशेषणं प्रत्यक्षं न भवतीति सम्बद्धग्रहणम् । विपर्यये भङ्गं भणति ॐ अन्यथेति ॐ । आप्यपरमाणवस्तावच्चक्षुः

का दोष से तिरस्कार हो जाने पर संशय भी नहीं होता ।

वस्तुतः जिस प्रत्यासत्ति के घटकीभूत संस्कार का ग्राहक मन नहीं और आत्मा का ग्राहक चक्षुरादि बाह्य इन्द्रिय नहीं, उस प्रत्यासत्ति के द्वारा तत्ता-विशिष्ट वस्तु का न तो मन से ग्रहण हो सकता है और न चक्षुरादि से, क्योंकि सम्बद्ध-विशेषणता प्रत्यासत्ति दो प्रकार की होती है—(१) कहीं ज्ञाताज्ञात-साधारण सामान्यतः सम्बद्धविशेषणता और (२) स्वग्राह्य-सम्बद्धविशेषणता । श्रोत्रादि के द्वारा आकाशदि में [श्रोत्राद्यग्राह्याकाशाश्रयक] शब्दादि के अभाव का प्रत्यक्ष सामान्यतः सम्बद्धविशेषणता प्रत्यासत्ति से हो जाता है, किन्तु उससे इतर स्थलों पर स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणता प्रत्यासत्ति अपेक्षित होती है जैसा की श्री गङ्गेशोपाध्याय ने पूर्व पक्ष में कहा है—अभावग्रहे नेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता प्रत्यासत्तिः, चक्षुषा संयुक्ते परमाण्वादौ योग्यस्य जलत्वादेरभावग्रहप्रसङ्गात् । किन्तु स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणता (न्या० त० चिं० ६८४) । उसके अनुसार प्रकृत में चक्षुरादि इन्द्रिय से सम्बद्ध संस्कार ग्राह्य नहीं, अतः प्रकृतोपयोगिनी स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणता प्रत्यासत्ति सुलभ नहीं । इन्द्रिय की स्वसम्बद्धार्थ में स्वग्राह्यता यदि विवक्षित नहीं, तब जलीय परमाण्वादि में पृथिवीत्वादि के अभाव का ग्रहण चक्षुरादि से होना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र (घटादि में) पृथिवीत्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता

पृथिवीत्वादेरन्यत्र ग्राह्यतया निरस्तस्वरूपायोग्यत्वस्याभावो दृगादिभिर्गृह्येत। न हि इन्द्रियविहारदेशेषु निष्परमाणुकत्वनियमो युक्ताभ्युपगमः। शब्दाभावप्रत्यक्षत्ववादिनये श्रोत्रेन्द्रियविशेषणता सप्तमः सन्निकर्षः, न तु तत्र सम्बद्धविशेषणतेत्यतोऽपि न व्यभिचारः।

न चाऽऽत्मसंयुक्तमनः प्रति पूर्वानुभूतार्थात्मप्रत्यासत्तिरेव संस्कार इति तदतीन्द्रियत्वं न दोषाय, प्रत्यासत्तेरतीन्द्रियाया इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य उपगमादिति स्वीकृते निस्तारः। तथा सति स इत्यंशे चक्षुरादेः प्रत्यासत्त्यभावात् प्रत्यभिज्ञाया

सम्बद्धास्तद्विशेषणं पृथिवीत्वाभाव इति विशेषणत्वप्रत्यासत्त्याऽऽप्यपरमाणुषु पृथिवीत्वाभावश्चक्षुषा गृह्येतेत्यर्थः। पार्थिवपरमाण्वादावप्त्वादिजात्यभावो दृगादिना गृह्येतेत्यादिशब्दार्थः। प्रतियोगिनश्चाक्षुषत्वाभावादभावस्य न चाक्षुषत्वं न पुनराश्रयाग्रहणादित्यत आह ❀ अन्यत्रेति ❀। घटादौ पृथिवीत्वस्य चाक्षुषत्वादयोग्यत्वं नास्तीत्यर्थः। परमाण्वादेरिन्द्रियग्राह्यत्वाभाववदिन्द्रियसम्बद्धताऽपि नास्ति कथं तद्विशेषणतया पृथिवीत्वादेरभावश्चक्षुरादिना ग्राह्यः प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह ❀ न हीति ❀। परमाणूनां सर्वत्राविरलतयाऽवस्थानमेष्टव्यं अन्यथा जायमानकार्यस्य देशविशेषे परमाणुकार्यत्वाभावप्रसङ्गादित्यर्थः। पूर्वं शब्दाभावस्य सम्बद्धविशेषणतया श्रोत्रग्राह्यत्वमुपेत्य तत्र व्यभिचारनिवारणाय तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयप्रतियोगिकाभावेतरेति विशेषणमुदीरितम्; इदानीं शब्दाभावस्य ग्राहकेन्द्रियसम्बद्धविशेषणत्वमपि नास्तीत्याह ❀ शब्देति ❀। संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः समवायः समवेतसमवाय इति पञ्चविधः सम्बन्धः विशेषणविशेष्यभावश्चेति षोढा संनिकर्षः श्रोत्राकाशयोरेकत्वात्सर्वगतमिन्द्रियमाकाशमिति लक्षणादाकाशविशेषणं शब्दाभावः श्रोत्रस्यापि विशेषणमिति स्वविशेषणता सप्तमः सन्निकर्षस्तेन तदिन्द्रियग्राह्यसम्बद्धविशेषणत्वप्रयोजकस्य न कोपि व्यभिचार इत्यर्थः। शब्दाभावः षष्ठप्रमाणक इति ततो विशेषणं प्रत्यक्षतत्त्ववादिनय इति।

संस्कारद्वारकप्रत्यासत्त्या प्रत्यभिज्ञायां तत्तावच्छिन्नाभेदग्रहणं न घटते चेन्मा घटिष्ट आत्मसंयुक्त मनः प्रति पूर्वानुभूतस्यार्थस्य प्रत्यासत्तिरेव संस्कारोऽस्तु घटादेश्चक्षुःसन्निकर्षस्यातीन्द्रियस्योपगमात्संस्काराख्यसन्निकर्षस्यातीन्द्रियत्वं न दोषायेत्याशङ्क्याह। ❀ न चेति ❀। पूर्वानुभूतावर्थात्मानौ तयोरात्मसंयुक्तमनः प्रति प्रत्यासत्तिरेव संस्कारः सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञायामात्मसंयुक्तमनः प्रति पूर्वानुभूताऽऽत्मप्रत्यासत्तिः संस्कारः सोऽयं घट इत्यत्र पूर्वानुभूतोऽर्थः प्रत्यासत्तिरिति विभागः। सोऽहमिति प्रत्यभि-

है, अतः पृथिवीत्वाभाव योग्यप्रतियोगिक है और चक्षुरादि के आपाथ (प्रसरण-प्रदेश) में जलीय परमाण्वादि का होना भी असम्भव नहीं, अतः जलीय परमाणु चक्षुरादि से सम्बद्ध हैं और पृथिवीत्वाभाव उनका विशेषण है, इस प्रकार सम्बद्ध-विशेषणता प्रत्यासत्ति भी है, किन्तु चक्षुरादि के जलीय परमाणु ग्राह्य नहीं, अतः स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणता सुलभ न होने के कारण उक्त आपत्ति प्रसक्त नहीं होती। यद्यपि श्रोत्र के द्वारा आकाश में जो लोग शब्दाभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं, उनके मत में आकाश श्रोत्र-ग्राह्य नहीं, अतः स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणता प्रत्यासत्ति संभव नहीं, तथापि वहाँ संबद्धविशेषणतारूप छठे सन्निकर्ष से भिन्न स्वविशेषणता नाम का सप्तम सन्निकर्ष माना जा सकता है, अतः प्रकृत नियम में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं।

शङ्का—'सोऽहम्', 'सोऽयं घटः'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञा ज्ञानों में पूर्वानुभूत आत्मा और पूर्वानुभूत घट का भान करने के लिए मन की संस्काररूप (स्वसंयुक्तात्मसमवेतसंस्कारविषयत्वरूप) ही प्रत्यासत्ति है। संस्काररूप प्रत्यासत्ति का अतीन्द्रिय होना कोई दोष नहीं, क्योंकि चक्षुरादि के द्वारा घटादि का ग्रहण करने के लिए जो इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष माना जाता है, वह भी अतीन्द्रिय ही होता है।

अचाक्षुषत्वापातात् । अयमित्यंशो दृगादिना, तदंशस्तु मनसा गृह्यताम्, तदेतदभेदस्तु केनेत्युक्तमप्यावर्तत इति ।

एतेन संस्कारः सहकारिमात्रमिन्द्रियस्यातिप्रसङ्गनिवारकः, प्रत्यभिज्ञायां तदर्थं इन्द्रियेणासन्निकृष्ट एवोल्लिख्यते विभ्रमार्थवत् । सन्निकृष्टग्राहिता चेन्द्रियस्य सन्निकर्षसहकार्यवश्यम्भावमात्रम्, तच्चेदमंशसन्निकर्षादेव स्यात्, न तु सर्वग्राह्यसन्निकर्षसहकारिता—इत्यपि निरस्तम्, 'सोऽयं न वे'ति संशयाभावापातेनैवेति ।

ज्ञासम्भवेऽपि सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञा न स्यात् चक्षुःसन्निकर्षाभावात्तत्ताविशिष्टस्येति हेतुमाह ❀ तथेति ❀ । स इति भागो मानसोऽयमिति भागश्चाक्षुषस्तेन चक्षुर्मनोभ्यां सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा घटिष्यत इत्यत आह ❀ अयमिति ❀ ।

प्रत्यभिज्ञायां तत्तावैशिष्ट्यमसन्निकृष्टं चक्षुषा गृह्यत इति मतान्तरमपि निरस्तमित्यतिदिशति ❀ एतेनेति ❀ । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तावैशिष्ट्यज्ञानस्य संस्कारकरणत्वेऽवसीयमाने कथं करणान्तरमित्याशङ्क्य सहकारितयाऽन्यथासिद्धौ तदन्वयव्यतिरेकावित्याह ❀संस्कार इति❀ । केन द्वारेण सह करोतीत्यपेक्षायामतिप्रसङ्गनिवारणद्वारेत्याह ❀ अतीति ❀ । अस्मदादीन्द्रियस्य देशकालादिसहकार्यपेक्षया स्थूलार्थग्राहकत्वनियमादसन्निकृष्टग्राहकत्वं कथमङ्गीक्रियत इत्यत आह ❀ भ्रमेति ❀ । भ्रमार्थो रजतादिरसन्निकृष्टो दोषसहकृतेन्द्रियेण गृह्यते यथा, तथा संस्कारसहकृतेन्द्रियेण तत्तावैशिष्ट्यमसन्निकृष्टमपि गृह्यत इत्यर्थः । चक्षुरादिकं सन्निकृष्टग्राहि, बहिरिन्द्रियत्वात्, त्वगादिवदित्याशङ्क्य सन्निकर्षमात्रोपगमात्सिद्धसाधनमित्याह ❀ सन्निकृष्टेति ❀ । भ्रमार्थस्य ग्रहणं विप्रकृष्टस्यावश्योपेयं तेन प्राप्यकारित्वमिन्द्रियस्य सम्प्रयोगसहकारित्वमात्रापेक्षमुपेयमिति भावः । प्रागवस्थावैशिष्ट्यस्याऽसम्प्रयुक्तत्वेऽपीदन्ताविशिष्टस्य सम्प्रयुक्तत्वात्सन्निकर्षमात्रसहकारित्वमुपपन्नमित्याह ❀ तदिति ❀ । अनेकन्यायस्य प्रकृतत्वात्परामृष्टन्यायः क इत्यपेक्षायां तं विशदयति ❀ सोऽयमिति ❀ । संस्कारसहकृतेन्द्रियस्य प्रत्यभिज्ञाकरणत्वान्न ततः संशयः स्यादित्यर्थः । संस्कारसम्बद्धविशेषणताप्रत्यासत्त्या संस्काररूपप्रत्यासत्त्या वा तत्तावैशिष्ट्यस्यैन्द्रियकत्वेन

समाधान—'सोऽयं घटः'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं में चक्षु की प्रत्यासत्ति न मानने के कारण चाक्षुषत्व नहीं बन सकता और वही पुराना दोष भी दुहराया जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा का 'अयम्'—यह अंश चक्षुरादि से और तदर्थ मन से गृहीत हो जाता है फिर भी तदर्थ और इदमर्थ का अभेद किसी से भी गृहीत नहीं होता [अत एव श्री प्रज्ञाकरगुप्त ने प्रत्यभिज्ञास्थल पर दो ज्ञान माने हैं और एकता का विरोध किया है—"तस्मात् स एवायमिति प्रत्ययद्वयमेतत् । अर्थैकता प्रतीयते पूर्वेण महापरस्येति, तदयुक्तम्—

पूर्वमध्यक्षतोऽवित्तौ तेनैकत्वेऽस्ति न प्रमा ।
एकत्वमप्रतीतेन प्रतीतमिति साहसम् ।। (प्र० वा० पृ० २२)] ।

यह जो कहा जाता है कि संस्कार प्रत्यभिज्ञा ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं होते, अपितु इन्द्रिय के नियामकमात्र होते हैं कि किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग न होने पाए । तत्ता-विशिष्ट वस्तु का इन्द्रिय से सन्निकर्ष न होने पर भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में वैसे ही भान हो जाता है, जैसे 'इदं रजतम्'—इत्यादि भ्रमों में असन्निकृष्ट रजत का भान हो जाता है । प्रत्यक्ष के विषयीभूत समस्त विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष अपेक्षित नहीं होता, हाँ, सन्निकर्ष का किसी-न-किसी भाग के साथ सद्भाव पर्याप्त होता है, इदमंश के साथ जो चक्षु का सन्निकर्ष होता है, उसी की सहकारिता तत्ता-विशिष्ट और उसके अभेद-ग्रहण में भी हो जाती है । प्रत्यक्ष ज्ञान में सर्वत्र असन्निकृष्ट का भान न हो, अतः संस्कारों को सहायक माना जा चुका है । वह कहना भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि यदि प्रत्यभिज्ञा में असन्निकृष्ट तदर्थ का भी भान मान लिया जाता है, तब 'सोऽयं न वा ?' ऐसा संशय नहीं हो सकेगा ।

'तदद्राक्षमि'त्यादिस्मृतिरपि चैवमनुभव एव स्यात्। मनस आत्मसंयोगसहकृतादात्मार्थसन्निकर्षात् संस्कारात् जायमानायास्तस्या इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादेव, मनसा आत्मसंयोगादात्मसमवायेन प्रत्यक्षीक्रियमाणैर्ज्ञानादिभिः स्मर्यमाणस्य अर्थस्याविशेषादिति।

एतेन तत्तावच्छिन्नप्रतियोगिकान्योन्याभावविरहः स्वरूपाभेदो वाऽयं भातीत्यपि निरस्तम्, अन्योन्याभावव्यतिरेकोऽन्योन्यमेव तत्तेदन्तोपाध्यवच्छिन्नयोः स्यात्, न च तन्मिलितमेकेन सुग्रहम्। एवं स्वरूपाभेदेऽपि तयोर्धर्मैक्यं तदनवगाहिना दुरवगममेव।

प्रत्यभिज्ञाया अनुभवत्वे स्मृतेरप्येवमनुभवत्वं स्यादिति पक्षद्वयेऽपि साधारणं दूषणान्तरमाह ❀ तदिति ❀। स्मृतिरनुभव उक्तसन्निकर्षजत्वात्प्रत्यभिज्ञानवदित्यपिशब्देनोक्तं तत्र हेतुं समर्थयते ❀ मनस इति ❀। मनःसंयुक्त आत्मा तस्मिन् समवेतः संस्कारस्तस्य च विशेषणं पूर्वानुभूतार्थं इतीन्द्रियसन्निकर्षजत्वमत्राप्यस्तीत्यर्थः। सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानवदिदं द्रष्टव्यम्। अनुभवत्वमिति साक्षात्कारित्वं विवक्ष्यते चेत्प्रयोगे तत्र च बाह्येन्द्रियजत्वमुपाधिस्तदभावान्न स्मृतेः प्रत्यक्षत्वमित्याशङ्क्याऽऽत्मतत्समवेतसुखादिप्रत्यक्षे साध्याव्याप्त्योपाधिं दूषयति ❀ मनसेति ❀। आत्ममनःसंयोगादात्मप्रत्यक्षं संयुक्तसमवायात्सुखादिप्रत्यक्षमङ्गीक्रियते तेनाव्याप्तिस्तत्रेत्यर्थः। इतिशब्दो विपक्षे बाधकम्—अन्यथा सुखादीनामपि प्रत्यक्षता न स्यादविशेषादिति सूचयति। स्मृतेरनुभववैलक्षण्यानुपपत्त्या संस्कारस्तद्द्वारकं सम्बद्धविशेषणत्वं वा प्रत्यासत्तिर्नेति भावः।

तत्तावच्छिन्नप्रतियोगिकान्योन्याभावाभावोऽभेदः स चेदन्तावच्छिन्नस्य स्वरूपमेव, यद्वा स्वरूपमेव वाऽभेदो नान्यः कश्चिद्धर्म उभयथाऽपीन्द्रियसन्निकर्षादेव गृह्यते इति मतमतिदेशेन निराचष्टे ❀ एतेनेति ❀। अन्योन्याभावविरहोऽभेद इति वदन् प्रष्टव्यः किमसावन्योन्यमुतान्य इति? नान्यः भावाभावयोरेकतरनिषेधस्यान्यतरविधिध्रौव्याभ्युपगमव्याघातात्, यद्यन्योन्यमेव तदाऽपि तन्मिलितं किं संस्कारेण गृह्यते, किमिन्द्रियेण? नोभयथाप्येकैकेन मिलितग्रहणायोगादित्यभिप्रेत्याह ❀अन्योन्येति❀। अन्योन्याभावविरहपक्षोक्तदोषं स्वरूपपक्षेऽप्यतिदिशति ❀ एवमिति ❀।

संस्कार-घटित प्रत्यासत्ति को इन्द्रिय का सन्निकर्ष मानने पर 'तदद्राक्षम्'—इत्यादि स्मृति ज्ञान भी अनुभव ही हो जायँगे, क्योंकि मनःसंयुक्त आत्मा में संस्कार समवेत है, संस्कार का विषयिता संबन्ध से विशेषण है—पूर्वानुभूत पदार्थ, इस प्रकार संबद्धविशेषणता सन्निकर्ष से इन्द्रिय के द्वारा ही स्मरण भी उत्पन्न होता है, अतः यहाँ यह अनुमान फलित होता है—'स्मृतिरनुभवः, संबद्धविशेषणतासन्निकर्ष द्वारीकृत्येन्द्रियेण जायमानत्वात्, प्रत्यभिज्ञावत्।' यद्यपि स्मृति और स्मर्यमाण पदार्थ का चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं, तथापि जैसे 'जानामि'—इस प्रकार ज्ञान का प्रत्यक्ष मनःसन्निकर्ष से होता है, वैसे ही स्मर्यमाण विषय की मानस प्रत्यक्षता का आपादन किया जा सकता है।

शङ्का—यह जो कहा जाता है कि 'सोऽयम्'—इस प्रत्यभिज्ञा के इदमर्थ में तत्तावच्छिन्न वस्तु का धर्म अभेद नहीं, अपितु तत्तावच्छिन्नप्रतियोगिक अन्योऽन्याभाव का अभाव अथवा इदमर्थ का स्वरूपभूत अभेद प्रतीत होता है, दोनों पक्षों में इदमर्थविषयक प्रत्यक्ष की सामग्री से ही उक्त अन्योऽन्याभाव के अभाव अथवा स्वरूपाभेद का प्रत्यक्ष हो जाता है, उसके लिए पृथक् किसी सन्निकर्ष की अपेक्षा ही नहीं।

समाधान—वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि अन्योऽन्याभाव का अभाव अन्योऽन्यरूप ही होता है, तदर्थ और इदमर्थ की प्रत्येक व्यक्ति अन्योऽन्य है, उन दोनों का मिलितरूप या अभेद किसी एक सामग्री से गृहीत नहीं होता—यह कई बार कहा चुका है। इसी प्रकार

संस्कारोपनीते च विषये यदि ज्ञानमनुभवः स्यात्, स्मृतिरपि कुतो नानुभूतिः ?

अथ न संस्काराधीनत्वमात्रेण स्मृतित्वम्, किन्त्वनुभवकारणासम्पृक्तसंस्कारजत्वेन। ततश्चाधिकार्थाक्षसन्निकर्षापेक्षं प्रत्यभिज्ञानमनुभव एव भवति, न तु स्मृतिरिति चेन्न। संस्कारासम्पृक्तानुभवकारणजत्वेन अनुभवत्वं भवति, प्रत्यभिज्ञानन्तु संस्कारसहितानुभवकारणजं स्मृतिरेवेति वैपरीत्यं किं न स्यात् ?

अन्यत्र न स्मृतिरनुभवकारणसम्पृक्तसंस्कारजन्मेति तु नान्यत्रानुभवोऽपि संस्कारसम्पृक्तार्थेन्द्रियसंयोगजन्मेति साम्यादेवाबाधकम्।

एवं तावत्तत्ताविशिष्टस्य विप्रकृष्टस्य नेन्द्रियग्रहणमित्युक्तम्, इदानीं तर्ककलापस्य विपर्ययापर्यवसायित्वपरिहाराय विमतः स इति भागो नानुभूतिः, संस्कारजत्वात्स्मृतिवद्विपक्षे स्मृतेरपि तत्त्वप्रसङ्गो बाध इति प्रयोगं रचयति ❀ संस्कारेति ❀। संस्कारजत्वं न स्मृतित्वप्रयोजकं किन्तु केवलसंस्कारजत्वमतोऽप्रयोजको हेतुरिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। प्रत्यभिज्ञानस्य पुनः संस्कारसम्प्रयोगजन्यतया न साधनव्यापकतोपाधेरित्याह ❀ तत इति ❀। अधिकश्चासावर्थाक्षसन्निकर्षश्चेति तदपेक्षमितियावत्। संस्कारस्यान्यत्र स्मृतिहेतोः सम्प्रयोगसचिवस्याऽपि नानुभवहेतुत्वमित्याशङ्क्य दध्नः केवलस्य ज्वरहेतुत्वेऽपि गुडमिश्रितस्य पुष्टिहेतुत्ववदविरोध इत्याह ❀ नेति ❀। तुशब्दः शङ्काव्यावृत्त्यर्थः। निर्विशेषणसंस्कारजत्वहेतौ केवलेति विशेषणेन नोपाधित्वं गौरवादन्यथा शरीरिजन्यत्वस्येश्वरानुमानोपाधिता स्यादित्यभिप्रेत्य परिहरति ❀ नेति ❀। किं च यत्र स्मृतित्वसम्प्रतिपत्तिस्तत्र केवलसंस्कारजत्वदर्शनात्संस्कारजत्वमप्रयोजकं कल्प्यते चेदयं कुम्भ इत्यादौ सम्प्रयोगस्यैव दर्शनादस्य चानुभवत्वप्रयोजकस्य प्रत्यभिज्ञानेऽभावात्स्मृतित्वमिति विपरीतं किं न स्यादित्याह ❀ संस्कारेति ❀। सा मे मातेत्यादौ स्मरणस्य संस्कारातिरिक्तकारणजन्यत्वादर्शनात्तदुपाधौ प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृतित्वेऽनुपलब्धिविरोध इत्याशङ्क्याह ❀ अन्यत्रेति ❀। स्मृतिरन्यत्रानुभवकारणसम्पृक्तसंस्कारजन्या नेतीत्यबाधकमन्यत्रानुभवोऽपि संस्कारसम्पृक्तार्थेन्द्रियजन्मा न भवतीति साम्यादेवेत्यन्वयः।

स्वरूपाभेद भी उभय-ग्राहक सामग्री के द्वारा ही गृहीत हो सकता है, किसी एक की प्रकाशक सामग्री उसका प्रकाश नहीं कर सकती।

संस्कारों-द्वारा उपस्थापित तत्ता-विशिष्ट अंश का ज्ञान यदि अनुभव माना जाता है, तब सभी स्मृति ज्ञान अनुभव ही मानने पड़ेंगे—सर्वा स्मृतिः अनुभूतिः, संस्कारजन्यत्वात्, तत्ताविशिष्टज्ञानवत्। अन्यथा प्रत्यभिज्ञा को भी स्मृति ही कहना होगा—प्रत्यभिज्ञा ज्ञानं स्मृतिः, संस्कारजन्यत्वात्, संप्रतिपन्नवत्।

शङ्का—संस्कार के अधीन उत्पन्न होने मात्र से किसी ज्ञान को स्मृति नहीं कहा जा सकता, अपितु अनुभव-सामग्री के द्वारा असंवलित संस्कार के द्वारा उत्पन्न ज्ञान को स्मृति माना जाता है, तत्ता-विशिष्ट वस्तु का ज्ञान केवल संस्कारोपनीत नहीं, अतः उसे स्मृति नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संस्कार से अधिक इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा उत्पादित है, अतः प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्वापत्ति नहीं हो सकती। फलतः प्रत्यभिज्ञागत स्मृतित्व के अनुमान में केवलसंस्कारजन्यत्व धर्म उपाधि है।

समाधान—संस्कार से असंवलित अनुभव-सामग्री से जन्य ज्ञान अनुभव होता है, प्रत्यभिज्ञा ज्ञान संस्कार-सहित अनुभवकारण से जनित होने के कारण स्मृति है—ऐसा विपरीत क्यों न मान लिया जाय ? यदि कहा जाय कि अन्यत्र स्मृति ज्ञान अनुभव-कारण से संवलित संस्कार के द्वारा उत्पादित नहीं होता, तब यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र घटादि-अनुभव संस्कार-संवलित अनुभव-सामग्री से उत्पादित नहीं, अतः प्रत्यभिज्ञारूप अनुभव में वैसा क्यों माना जाता है ? इस प्रकार किसी विनिगमक प्रमाण के अभाव में

तदेवं विनिगमनायां प्रमाणाभावात् स्वयं कल्पितव्यवस्थानवैपरीत्येनाऽपि कल्पनासम्भवात् प्रत्यभिज्ञानमुभयकारणसम्प्लवात् स्मृतिश्चानुभवश्चेति मन्तव्यम्। तथा च स्मृतिव्यावृत्तमनुभवत्वं जातिरस्तीति दुष्प्रत्याशा निरवकाशा।

न च विषयांशे स्मृतित्वानुभवत्वयोर्व्यवस्था कर्तुं शक्यते, तन्निरासस्य निवेदितत्वात्। ततश्च तदेव ज्ञानं तस्मिन्नेवांशे स्मृतिश्चानुभूतिश्चेत्यापतितेऽपि यदि न विरोधबुद्धिर्भवतस्तदा तदधीने तत्रैवार्थे प्रमात्वाप्रमात्वापाते साऽस्तु।

एतेन विरोधापत्त्या अनुभवत्वस्वीकारे बाधकेन स्मृतिव्यतिरिक्तमनुभवत्वं नामानुगतं साक्षात्कारिज्ञानानुमित्यादिसाधारणमनुभवबलादेव व्यवस्थापनीयमिति प्रतीतिकलहोऽपि निरस्तः।

प्रत्यभिज्ञानस्यैकानुभूतित्वपक्षं निराकृतं निगमयति ❀ तदिति ❀। संस्कारजत्वात्प्रत्यभिज्ञा स्मृतिस्तत सम्प्रयोगजत्वादनुभव इति निश्चायकाभावात्प्रत्यभिज्ञा स्मृतिरनुभवश्चेति मन्तव्यमिति सम्बन्धः। केवलसंस्कारजन्यत्वं स्मृतित्वप्रयोजकमतिरिक्तकारणजत्वमनुभवत्व इति वादिकल्पनं नियामकमित्याशङ्क्य प्रतिकल्पनत्वान्मैवमित्याह ❀ स्वेति ❀। उभयात्मत्वविनिगमनायां प्रमाणाभावसाम्यात्तदपि नेष्टव्यमित्यत आह ❀ उभयेति ❀। एवं सतीतोऽपि नानुभूतित्वं जातिरिति यत्प्रत्यज्ञायि तत्सिद्धं प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभूतित्वसङ्करादिति फलितमाह ❀ तथा चेति ❀। तत्तावच्छिन्ने स्मृतित्वस्येदन्तावच्छिन्नेऽनुभूतित्वस्य व्यवस्थितत्वान्न सङ्कर इत्याशङ्क्य धर्मिणमादायापीत्यत्र दत्तोत्तरत्वान्मैवमित्याह ❀ न चेति ❀।

"प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन बाध्यते"

इति न्यायादुभयाऽऽत्मत्वं प्रामाणिकं चेदस्तु का नाम वस्तुक्षतिः सर्वविरोधपरिहारस्य प्रमाणमूलत्वादित्यत आह ❀ ततश्चेति ❀। विषयद्वारा कारणद्वारा वा न व्यवस्थितियंतस्तत इत्यर्थः। स्मृतित्वानुभूतित्वयोरप्रमात्वप्रमात्वाविनाभावात्तयोरत्रावस्थानं स्यात्तत्र साऽविरोधबुद्धिर्भविष्यतीति यावत्।

पूर्वमनुभवामीति प्रत्ययो नानुभवत्वव्यवस्थापको भाविमुखाविज्ञानेऽनुभवत्वे सत्येवानुभवामीतिप्रत्ययाभावादित्युक्तम्, इदानीं स्मृतिव्यतिरेकादेवानुगतव्यवहारोपपत्तौ साक्षात्कार्यसाक्षात्कारिसाधारणमनुभवत्वं नेष्टव्यम् अङ्गीकारे प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकत्रावस्थानप्रसङ्गादिति प्रसङ्गमतिदिशति ❀ एतेनेति ❀। एतेन—बाधकेन स्मृतित्वानुभूतित्वसङ्कररूपेण प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकाश्रयत्वविरोधापत्त्येति यावत्।

नैयायिक-द्वारा कल्पित प्रत्यभिज्ञा की एकज्ञानता और अनुभवरूपता के विपरीत ऐसा क्यों न मान लिया जाय कि प्रत्यभिज्ञा ज्ञान कथित संस्कार और इन्द्रिय-सम्प्रयोग दोनों कारणों से उत्पन्न होने के कारण स्मृति भी है और अनुभव भी। अतः स्मृति ज्ञान में न रहनेवाली जाति अनुभूतित्व है - ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता। प्रत्यभिज्ञा ज्ञान तत्तांश में स्मृति और इदन्तांश में अनुभव है—ऐसी विषय-व्यवस्था भी नहीं हो सकती, क्योंकि उसका भी निरास किया जा चुका है। फलतः वही ज्ञान उसी अंश में स्मृति भी है और अनुभूति भी—ऐसा सिद्ध हो जाने पर भी यदि आप (नैयायिकों) को विरोध की प्रतीति नहीं होती, तब उसी प्रत्यभिज्ञा में तदधीन [अनुभूतित्व से प्रयुक्त प्रमात्व और स्मृतित्व से प्रयुक्त अप्रमात्व, इस प्रकार] प्रमात्व और अप्रमात्व की आपत्ति में भी आपको कोई विरोध का भान नहीं होना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व मानने पर यदि कोई विरोधापत्तिरूप बाधक खड़ा करता है, तब अनुमित्यादि ज्ञानों में 'अनुभवामि'—इस अनुगत प्रतीति के द्वारा स्मृत्यवृत्ति अनुभवत्व जाति की सिद्धि के द्वारा भी उक्त बाधक का प्रतीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जाति के साथ-साथ उक्त अनुगत प्रतीति की भी अन्त्येष्टि प्रत्यभिज्ञा में की जा चुकी है।

ननु चानुभव एव शरणमिह, प्रत्यभिज्ञाने ह्यनुभवत्वमेवानुभूयते, न तु स्मृतित्वम्। तेन संस्कारजत्वेऽपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षाधिकापेक्षया अनुभवत्वमेवेति विनिगमनायामपीदमेव प्रमाणम्। अन्यथा प्रत्यभिज्ञानेऽनुभवप्रत्ययो न स्यादिति प्रतीतिकलहेन प्रत्यवस्थेयमिति। न, इदन्तातत्तावभासयोरनुभवस्मरणभागयोः सत्त्वेनानुभवस्यैकपक्षे असाधारणीकृत्य प्रमाणयितुमिहाशक्यत्वात्।

एतेन स्मृत्यनुभवसङ्करप्रसङ्गेन अनुभूतिपदव्यवच्छेद्यं परिप्लुतं मन्तव्यम्।

न च वाच्यं प्रत्यभिज्ञानं व्यवच्छेद्यं मा भूत्, स्मृत्यन्तरन्तु भविष्यतीति।

विमतं ज्ञानं नानुभूतिरिति पूर्वोक्तानुमानेऽनुभवविरोधं शङ्कते ※ ननु चेति ※। प्रत्यभिज्ञानेऽनुभवत्वमेव नानुभूयते कुतस्तद्विरोध इत्यत आह ※ इह प्रत्यभिज्ञाने हीति ※। अपरोक्षत्वादिदमाकारप्रतीतित्वाच्चानुभवत्वमनुभूयत इत्यर्थः। स इति स्मृतित्वानुभवात्स्मृतित्वमपीति, नेत्याह ※ न त्विति ※। स्मृतित्वेनानुभवे स इत्येतावन्मात्रपर्यवसानं स्यात्। न चानुभवेऽयमित्येव पर्यवसानमिति वाच्यम्, स्वोपजीव्याक्षजत्वविरोधे स्मृतित्वस्यैवायुक्तत्वादित्यर्थः। संस्कारजत्वात्स्मृतिजत्वं सम्प्रयोगजत्वादनुभवत्वं चेति विनिगमने कारणं नास्तीति यदुक्तं तदेवं तत्त्वसिद्धमनुभवस्यैव विनिगमकत्वादित्याह ※ तेनेति ※। विपक्षबाधकोपन्यासेनोक्तमर्थं द्रढयन्नुपसंहरति ※ अन्यथेति ※। अनुभवैकरूपत्वनिषेधे प्रत्यभिज्ञायां नानुभवविरोधः स्मृतित्वस्याप्यनुभूयमानत्वादिति परिहरति ※ नेति ※। अयमित्यनुभवत्वस्यानुभवादनुभूतित्वमेव प्रत्यभिज्ञानस्य, किं वाऽनुभवत्वमपीति ? नाद्यः, स इति स्मृतित्वानुभवेन वैपरीत्यप्रसङ्गात् द्वितीये न सङ्करः परिहृतः स्यादित्याशयः। असाधारणीकृत्येति पदच्छेदः।

प्रकृतं प्रमालक्षणं परित्यस्य कस्मादकस्मात्प्रत्यभिज्ञानं खण्डयत इत्याशङ्क्य प्रमालक्षणखण्डनोपयोगित्वं दर्शयति ※ एतेनेति ※। अनुभूतिपदेन स्मरणं व्यावर्त्यं न तच्छक्यमनुभवत्वे सत्येव प्रत्यभिज्ञाने स्मृतित्वस्य दर्शितत्वादतोऽनुभूतिपदं व्यर्थमित्यर्थः।

प्रत्यभिज्ञाव्यतिरिक्तस्मृतिव्यवच्छेदार्थत्वादनुभूतिपदं न व्यर्थमित्याशंक्याऽऽह ※ न चेति ※।

शङ्का—लोक में किसी भी विवाद को निपटाने के लिए अनुभव की शरण ही ली जाती है, अतः संस्कार से जनित होने पर भी प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्यत्व की गरिमा अनुभव सिद्ध करके ही रहता है, 'अनुभवामि'—इस प्रकार की प्रतीति ही वह विनिगमक प्रमाण है, जिसके आधार पर प्रत्यभिज्ञा में अनुभूतित्व और स्मृतित्व के विवाद का समाधान किया जा सकता है, अन्यथा प्रत्यभिज्ञा में अनुभवरूपता की प्रतीति नहीं हो सकेगी—इस प्रकार प्रतीति-कलह को ही आगे करना चाहिए।

समाधान—जब कि इदन्तांश में अनुभव और तत्तांश में स्मरण की सत्ता स्वीकार की जाती है, तब उभयांश में से केवल एक अंश को असाधारणरूप से प्रमाणत्वेन प्रस्तुत करना आँखों में धूल झोंकना है।

यद्यपि 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—इस प्रकार प्रस्तुत प्रमा के लक्षण में प्रत्यभिज्ञा का निरास आपाततः असंगत प्रतीत होता है, तथापि गहरी डुबकी लगाने पर यह प्रकट हो जाता है कि उक्त लक्षण में यह जिज्ञासा हुई थी कि 'अनुभूति' पद का व्यवच्छेद्य (व्यावर्त्य) क्या है? उसका उत्तर था—'स्मृति' [अर्थात् 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—ऐसा न कह कर यदि 'तत्त्वज्ञानं प्रमा'—ऐसा लक्षण किया जाता, तब स्मृतिरूप अप्रमा ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जाती, क्योंकि वह भी तत्त्वज्ञान है। 'अनुभूति' पद रखने पर स्मृति का ग्रहण नहीं किया जा सकता]। किन्तु प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में स्मृतित्व और अनुभूतित्व—दोनों का समावेश हो जाने पर अनुभवावृत्ति स्मृतित्व का निरूपण सम्भव नहीं एवं प्रत्यभिज्ञात्मक अनुभूति को भी संस्कार-जन्य मान लेने पर संस्कार-जन्यत्वेन भी स्मृतित्व का निरूपण अपरिप्लुत (निर्दुष्ट) नहीं रहता।

तस्याप्यनुभूतित्वेन भवताऽवश्यं स्वीकर्तव्यत्वात्। तथा हि—'घटस्तत्रासीदि'त्यादिस्मृतौ पूर्वकालविशिष्टो घटः स्फुरति। न चासौ पूर्वमनुभूता भूतता, या संस्कारेणोपनीयेत। प्रत्युत पूर्वं वर्तमानताया एवानुभूत्या ग्रहणम्। तस्मादिदानीं पूर्वताधीसामग्रीसम्भेदात् सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानवद्विशिष्टावगमोऽप्यसौ स्मृत्यनुभवात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः।

एतेन—अनुभवसामग्रीसहितः संस्कारोऽनुभवकारणमिति पक्षे पूर्वं शङ्कित इदमपि दूषणं द्रष्टव्यम्—तथा सति स्मृत्युच्छेदापत्तेः, न च तदस्ति स्मरणं यत्र सा

सम्बद्धविशेषणतया तत्तावैशिष्टयस्यानुभवविषयत्वमिच्छता स्मर्यमाणेऽप्यनुभूयमानत्वस्यावश्यमेष्टव्यत्वादित्याह ❀ तस्येति ❀। स्मर्यमाणेऽज्ञातांशाभावात् कथं स्मृतेरनुभवत्वमित्यत आह ❀ तथा हीति ❀। घटगतपूर्वकालसम्बन्धस्याप्यनुभूतत्वान्नांशतोऽपि स्मृतेरनुभूतित्वमित्याशंक्याह ❀ न चेति ❀। भूततायाअनुभूतत्वे का हानिरननुभूतत्वे वा को लाभ इत्यत आह ❀ येति ❀। भूतता पूर्वमनुभूता अनुभूतकुम्भधर्मत्वात्तद्गतशौक्ल्यवदित्याशंक्याह ❀ प्रत्युतेति ❀। भूतताविरुद्धधर्मवर्तमानत्वग्रहणान्न तदनुभवः शौक्ल्यादेर्विरुद्धधर्मान्तरानुभवाभावादनुभूतित्वमित्यर्थः। भूतता तावत्प्रतीयते न तत्प्रतीतिश्चक्षुरादिजन्या विप्रकृष्टविषयत्वान्नापि मानसी बहिरर्थप्रतीतित्वात्, नापि लैङ्गिकी व्याप्तलिङ्गाभावात्, नाप्यागमिकी तत्प्रतिपादकशब्दादर्शनाद्, उपमानन्तु दूरनिरस्ताशङ्कमेवमभावोऽपि, नाप्यनुपपत्तिजन्या तदन्तरेणानुपपद्यमानाभावादतः परिशेषात्संस्कारजेत्याशङ्कामुपसंहारव्याजेन निराकरोति ❀ तस्मादिति ❀। अबाधितानवगतप्रतीतित्वात्संस्कारजत्वस्याप्यनुपपत्तौ संस्कारः षट्प्रमाणीव्यतिरेकेण प्रमाणान्तरं कार्यबलात्कल्पनीयमित्याशयः। इदानीमुत्पद्यमाना पूर्वताधीरिदानींपूर्वताधीस्तस्याः सामग्री तया संस्कारस्य (प्रमाणसामग्री)सम्भेदात्संस्कारप्रमाणसामग्रीसम्भेदाज्जायमानप्रत्यभिज्ञानवत् घटस्तत्रासीदित्याद्—इत्यादिस्मृतेरपि स्मृत्यनुभवसङ्करत्वमेष्टव्यम्, एवं चानुभूत्यसङ्कीर्णस्मृतेरभावादव्यावर्तकतयाऽनुभूतिपदं व्यर्थम्। ननु यथा पूर्वमननुभूता भूतता तथा वर्तमानतापि नानुभूतैव वर्तमानकालस्य तदानीमसत्वादिति, मैवम्, कुम्भोऽयमिति प्रत्ययस्य पूर्वानुभवत्वेनाभीष्टत्वादयमिति प्रत्ययस्य वर्तमानकालाद्युपाधित्वेन तस्य दुरपह्नवत्वादिति।

यदवादि पूर्वं प्रत्यभिज्ञानस्य सम्प्रयोगसहितसंस्कारजत्वादनुभवत्वमिति तत्पुरस्तान्निरस्तमपि दूषणसाम्याद् बुद्धिस्थतयाऽतिदेशेन निराकरोति ❀ एतेनेति ❀। परामृष्टमेव हेतुं स्पष्टयति ❀ तथा

शङ्का—प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान न तो निर्विवादरूप से स्मृति है और न अनुभव, अतः 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—इस लक्षण के 'अनुभूति' पद से प्रत्यभिज्ञारूप स्मृति की व्यावृत्ति नहीं की जाती, अपितु शुद्ध घटादि-स्मृति का व्यवच्छेद किया जाता है।

समाधान—संस्कार-जन्य होने पर भी जैसे प्रत्यभिज्ञा को आप अनुभूति मानते हैं, वैसे ही दूसरे स्मृति ज्ञानों को भी अनुभूति मानना होगा, क्योंकि 'घटः तत्रासीत्'—इत्यादि स्मृति ज्ञानों में पूर्वकाल-विशिष्ट घट का स्फुरण होता है, घटगत भूतता (पूर्वकाल-वृत्तिता) पूर्व काल में अनुभूत नहीं थी कि संस्कार-घटित प्रत्यासत्ति से उपनीत हो जाती। पूर्व काल में घट वर्तमान ही था, अतः घट में भूतता का भान न होकर वर्तमानता का ही अनुभव होता था। फलतः 'घटस्तत्रासीत्'—यहाँ पर भी प्रत्यभिज्ञा के समान ही पूर्वकाल-विशिष्टता-ग्रहण की सामाग्री का संवलन हो जाने से सभी स्मृति ज्ञान स्मृति और अनुभव—उभयात्मक मानने पड़ते हैं।

अतः यह जो शङ्कावादी ने पक्ष उठाया था कि अनुभव-सामग्री-सहित संस्कार अनुभव का जनक होता है। उस पक्ष में यह भी एक दोष है कि अनुभव-सामग्री-सहित संस्कार को अनुभव का जनक मानने पर स्मृतिमात्र का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि ऐसा कोई स्मरण

न प्रकाशते, ततश्च व्यवच्छेद्यानुपपत्तिः ।

यदपि कैश्चिदुच्यते दोषवशात् प्रमुष्टतत्तांशस्मरणं भवतीति । तदपि नोपपन्नम्, तदीयस्मरणत्वे प्रमाणाभावात् । न चानुभवसामग्र्यभावात् पारिशेष्येण स्मृतित्वम्,

सतीति ॐ । पूर्वकालसम्बन्धज्ञानस्य कारणं यत्प्रमाणं तत्सहकृतसंस्कारजत्वात्सकलस्मृतीनामनुभवत्वमेव स्यादित्यर्थः । यत्र भूततावि‌शिष्टः पदार्थः स्मर्यते तद्व्यवच्छेदायानुभूतिपदं माभूद्यत्र पुनः केवलं पदार्थः स्मर्यते तद्व्यवच्छेदे सामर्थ्यमनुभूतिपदस्येत्याशंक्याह ॐ न चेति ॐ । ननु नेह भूतले घट इत्यत्र प्रतियोगी भूतताविधुर एव स्मर्यते, यद्वा पदात्पदार्थस्मृतिरपि तत्तांशविधुरैव । न च प्रतियोग्यादिप्रतीतिरस्मृतिरिति वाच्यम्, यत आह—

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनं ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥
पदमभ्यधिकाभावात्स्मारकान्न विशिष्यते ।" इति च,

तत् किमिदमवोचः ? न च तदस्ति स्मरणं यत्र सा न प्रकाशत इति । अत ब्रूमः—स्मृतिरनुभूतविषयाऽननुभूतविषया वा ? प्रथमेऽनुभूतताऽननुभूतेव प्रतिभासते इत्यंशतोऽनुभूतित्वमनुभूतता भूतैवेति न भूतत्वव्यभिचारः स्मृतेः । नापि द्वितीयः अनुभूतस्यैव स्मरणादनङ्गीकारादनिष्टापाताच्च । किञ्च पदार्थज्ञानं न स्मृतिः, पदान्वयव्यतिरेकित्वात् । पददर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारस्य पदार्थस्मारकत्वात्पदान्वयव्यतिरेकौ संस्कारोद्बोधहेतुतयाऽन्यथासिद्धाविति चेन्मैवं, पदार्थज्ञानस्याशाब्दत्वप्रसङ्गात् । शब्ददर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारजत्वाच्छाब्दत्वमिति चेन्न, शुक्तिसन्दर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारजरजतस्मरणस्य प्रत्यक्षत्वापातादक्षाद्बुद्धलिङ्गजन्यानुमानज्ञानस्यापि तत्त्वापत्तेः । अथोच्येत तादृक्संस्कारसहकृतपदजन्यतया शाब्दत्वमिति, हन्त तर्हि कारणद्वयजन्यतया स्मृत्यनुभवरूपत्वमेवं यद्यत्स्मरणं भूतताहीनमुदाह्रियेत, तत्र यथासम्भवं दूषणमूहनीयमित्यलमतिप्रसङ्गेन । फलितमाह ॐ ततश्चेति ॐ । प्रमाणकारणादक्षादेर्विपरीतप्रत्ययानुपपत्तेर्दोषस्य विवेकाग्रहणमात्रहेतुत्वाद्, उक्तं हि—"दोषो ह्यग्रहणे हेतुरिन्द्रियाणामुदाहृतः" इति,

तद्दोषवशात्प्रमुषिततत्तांशं रजतादिस्मरणं तद्व्यवच्छेदायानुभूतिपदमित्यख्यातिमतमुपन्यस्यति ॐ यदपीति ॐ । स्मृतित्वे स्मृत्यन्तरवद् भ्रान्तित्वमेव न स्यादिति दूषयति ॐ तदिति ॐ । अभ्युपगम्य स्मृतित्वं दूषणमभाणि, इदानीं तदपि न सेत्स्यति प्रमाणाभावादित्याह ॐ तदीयेति ॐ । रजतादिज्ञानं स्मृतिः, संस्कारमात्रजत्वात्सम्प्रतिपन्नवत्, तथात्वं चानुभवकारणानामक्षादीनामसम्भवादतः सिद्धं स्मृतित्वमित्यत आह ॐ न चेति ॐ । अनुमित्यादिः स्मृतिः प्रत्यक्षानुभवसामग्र्यतिरिक्तकारणजन्यज्ञान-

ही नहीं, जहां पर अनुभव की सामग्री न हो, अर्थात् घटादिगत भूतता का मानस अनुभव ही मानना पड़ता है, अतः सभी स्मृति ज्ञानों का अनुभव-सामग्री-सहित संस्कारों से ही जन्म मानना आवश्यक है, अतः उनमें अनुभवरूपता भी अनिवार्य है, फलतः कथित प्रमा-लक्षण-घटक 'अनुभूति' पद का व्यावर्त्य स्मृति नहीं हो सकती ।

प्रभाकर-मतावलम्बी आचार्यगण जो यह कहा करते हैं कि उक्त प्रमा-लक्षण के घटक 'अनुभूति' पद से 'इदं रजतम्'—इत्यादि स्थलीय अप्रमात्मक रजत-स्मरण की व्यावृत्ति की जाती है । यद्यपि स्मर्यमाण पदार्थ में तत्ता का भान होता है, तथापि 'इदं रजतम्'—यहाँ पर दोष के कारण तत्ता का प्रमोष (अभान) हो जाता है ।

प्राभाकर गणों का वह कहना भी उपपन्न नहीं, क्योंकि रजत-भान की स्मरणरूपता में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता । 'अनुभव की सामग्री न होने के कारण जो रजत-भान को परिशेषतः स्मरण माना जाता है' जैसा कि श्री शालिकनाथ ने कहा है—

"लिङ्गाद्यभावाच्चान्यस्य प्रमाणस्य न गोचरः ।
पारिशेष्यात्स्मृतिरिति निश्चयो जायते ततः ॥" (प्र. पं. पृ. ५१)

इन्द्रियार्थसन्निकर्षव्यावृत्त्या अनुभवसामग्र्यभावात् पारिशेष्येणानुमित्यादेरपि स्मृतित्वापत्तेः।

सर्वानुभवसामग्र्यसम्भवादिति चेत्, कथं पुनस्तत्तांशशून्यरजतादिज्ञानहेतु-सामग्री नानुभवहेतुसामग्रीत्यवधारितमायुष्मता ?

पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यसम्भवादिति चेन्न, चतुष्प्रमाणीजनकसामग्र्यसम्भ-वात् पञ्चमी प्रमा किं न पारिशेष्यात् स्मरणं त्वया व्यवास्थापि ? कुत्र च प्रतिपन्नं पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यभावे जायमानं ज्ञानं स्मृतिर्भवतीति ? 'घटस्तत्रासीद्' इत्या-

त्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्याभाससमानयोगक्षेमत्वान्न विपश्चिच्चित्तमनुरञ्जयतीत्याह ॐ इन्द्रियेति ॐ। अनुभव-सामग्रीत्वात्यन्ताभावाधिकरणजन्यज्ञानत्वं स्मृतित्वे प्रयोजकं न यत्किञ्चिदनुभवसामग्र्यतिरिक्तकारणजत्व-मनुमित्यादेः पुनर्लिङ्गादेरनुभवसामग्र्या जायमानस्य नैतादृशत्वमिति साम्यपरिहारं शङ्कते ॐ सर्वेति ॐ। तर्हि विशेषणासिद्धो हेतुरनुभवसामग्रीमात्रस्य ज्ञानमात्रशब्देन व्यावर्तयितुमशक्यत्वादिति परिहरति ॐ कथमिति ॐ। रजतज्ञानमनुभवसामग्रीजन्यमपरोक्षव्यवहारनिदानत्वाद्, घटोऽयमिति ज्ञानवदित्यर्थः। रजतादिज्ञानं संस्कारमात्रजं पञ्चप्रमाणीकारणातिरिक्तजन्यज्ञानत्वात् सम्प्रतिपन्नवदिति हेत्वसिद्धिं परः परिहरति ॐ पञ्चेति ॐ। पञ्चानां प्रमाणानां समाहारः पञ्चप्रमाणी सप्तपदार्थीवत्। अर्थापत्तिज्ञानं स्मरणं चतुःप्रमाणीकारणातिरिक्तजन्यज्ञानत्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्याभाससमानयोगक्षेमत्वादेव मैवमित्याह ॐ न चतुरिति ॐ। व्यवास्थापि किं न व्यवस्थापितमित्यर्थः। न च संस्कारमात्रजत्वमुपाधिरिति वचनीयं साधनव्यापकत्वादसिद्धेश्चेति द्रष्टव्यम्। एवं तावदनुमानस्यातिप्रसङ्गरूपप्रतिकूलतर्कप्रतिहतत्व-मुक्तम्, इदानीं पञ्चप्रमाणीसामग्र्यजन्यज्ञानत्वस्य स्मृतित्वेनाव्याप्त्या साध्यविकलो दृष्टान्त इत्याह ॐ कुत्रेति ॐ। उक्तविधज्ञानस्य स्मृतित्वं घटस्तत्राऽऽसीदित्यादिज्ञाने दृष्टमित्यत आह ॐ घट इति ॐ।

वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अनुभव-सामग्री' पद से यत्किञ्चित् अनुभव-सामग्री विवक्षित है ? अथवा सर्वानुभव-सामग्री ? इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षरूप यत्किञ्चित्दनुभव-सामग्री के अभाव में समुत्पन्न ज्ञान यदि परिशेषतः स्मृति है, तब अनुमित्यादि सभी परोक्ष अनुभूतियों में स्मृतित्व प्रसक्त होता है। यदि सर्वानुभव सामग्री का अभाव विवक्षित है, तब तत्तांश-शून्य रजतादि-ज्ञान की सामग्री अनुभव की सामग्री नहीं—यह आपने कैसे जाना ?

शङ्का—अनुभव पाँच भागों में विभक्त है—

तत्र पञ्चविधं मानं प्रत्यक्षमनुमा तथा।
शास्त्रं तथोपमानार्थापत्ती इति गुरोर्मतम्॥ (प्र० भ० पृ० १०४)

इन पाँचों प्रमाणों की सामग्री रजत-ग्रहण में सम्भव नहीं, अतः परिशेषतः रजत-ग्रहण को स्मृति ज्ञान माना जाता है—'रजतज्ञानं स्मृति, पञ्चप्रमाणसामग्र्यतिरिक्तहेतुजन्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत्।'

समाधान—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द और (५) अर्थापत्ति—इन पाँच प्रमाणों की सामग्री का जहाँ अभाव है, वहाँ 'शते पञ्चाशत्' न्याय के आधार पर चार, तीन, दो और एक प्रमाण की सामग्री का अभाव निश्चित है, अतः जैसे पञ्चप्रमाणवादी प्राभाकर पञ्च प्रमाणों की सामग्री के अभाव से 'रजतज्ञान' में स्मृतित्वानुमान करते हैं, वैसे ही चतुष्प्रमाणवादी नैयायिकादि भी अर्थापत्ति आदि में भी चतुष्प्रमाणसामग्री के अभाव से स्मृतित्वादि का अनुमान क्यों न कर सकेंगे—'अर्थापत्तिः स्मृति, चतुष्प्रमाणसामग्रतिरिक्तहेतु-जन्यत्वात्', 'शाब्दी प्रमा स्मृतिः, त्रिप्रमाणसामग्र्यतिरिक्तहेतुजन्यत्वात्'; 'उपमानप्रमा स्मृतिः, द्विप्रमाणसामग्र्यतिरिक्तहेतुजन्यत्वात्'; 'अनुमानं स्मृतिः, प्रत्यक्षप्रमाणसामग्र्यतिरिक्तहेतुजन्य-त्वात्'। दूसरी बात यह भी है कि किस उदाहरण में आप (नैयायिकों) ने यह निश्चय

दिज्ञानानामनुभवत्वोपन्यासस्य कृतत्वात् ।

अथ मन्यसे प्रत्यक्षादिकारणसामग्र्यनुपपत्त्या रजतमात्रस्य च पूर्वमनुभूतत्वेन तद्विषयसंस्कारसम्भवात् संस्कारस्यैव हेतुताऽङ्गीक्रियते, न त्वन्यत्कारणत्वेन कल्प्यते, इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यसम्भवे जायमानस्य तु अनुमानादेरननुभूतविषयत्वेन तस्मान्नोत्पत्तिसम्भव इति तत्कारणं लिङ्गादिकमङ्गीक्रियते। ततः प्रमाणान्तरासहकृतसंस्काजत्वं तद्व्यङ्ग्यो वा जातिविशेष एव स्मृतित्वमिति। मैवम्, तत्र कारणत्वं किमिति नाक्षस्यैव, येन संस्कारजत्वं व्यवस्थाप्यते।

तेनार्थेन सह तदाऽक्षस्य सन्निकर्षाभावादसन्निकृष्टस्य च तस्य ज्ञानजनकत्वेऽ-

---

रजतप्रत्ययस्य परिगणितानुभवकारणजन्यत्वमुताऽपूर्वानुभवकारणजन्यत्वमिति वाच्यं, न तावद्यः इन्द्रियसम्प्रयोगाद्यभावादिति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। शुक्तिसंसृष्टरजतस्य पूर्वमननुभूतत्वादनुपपत्तिः संस्कारेऽपि समेत्यत आह ॐ रजतेति ॐ। अदृष्टरजतस्य कलधौतविभ्रमानुपलम्भात्तत्संस्कारस्तावद्वक्तव्यः। यद्यपि संसृष्टं न दृष्टचरं तथाऽपि रजतमात्रं दृष्टचरमिति संस्काराद्रजतस्मृतिरुपपद्यते संसर्गख्यातेरिहाऽप्यभावादिति भावः। परिगणितानुभवसामग्रीतः सामग्र्यन्तरं रजतप्रत्ययस्य कल्पयाम इति कल्पान्तरमाशंक्य निषेधति ॐ न त्विति ॐ। कारणान्तरकल्पनायां गौरवात्सम्प्रतिपन्नसंस्कारस्य कारणत्वकल्पने लाघवान्न कारणान्तरकल्पनेत्यर्थः। यच्चावाच्यनुभवसामग्र्यसम्भवेन कलधौतबोधस्य संस्कारजन्यत्वं चेत् प्रत्यक्षानुभवसामग्र्यसम्भवेनानुमित्यादेस्तथात्वं स्यादिति तद्वैषम्यप्रदर्शनेन प्रतिक्षिपति ॐ इन्द्रियेति ॐ। तत्र लिङ्गादेः क्लृप्तत्वादननुभूततया संस्कारस्यासम्भवाच्च नोक्तप्रसङ्गावकाश इत्याशयः। अतोऽनुभवकारणासम्पृक्तः संस्कारः स्मृतिकारणमिति यत्प्रागीरितं तत्सिद्धमिति निगमयति ॐ अत इति ॐ। संस्काजत्वमेव स्मृतित्वमित्यौपाधिकपक्षोऽनुभूतित्ववत्स्मृतित्वं जातिरिति पक्षद्वयमपि प्राभाकराणामेव मतभेदेनोपन्यस्तं द्रष्टव्यम।

परिगणितप्रमाणसामग्रीजन्यत्वेन परिशेषासिद्धेः, न संस्कारजन्यत्वं रजतप्रतीतेरिति परिहरति। ॐ मैवमिति ॐ रजतज्ञानस्यैन्द्रियकत्ववादी वक्तव्यः किं तन्मानसमुत बहिरक्षजं, नाद्यः मनसो बहिरर्थेऽस्वातन्त्र्यादेतच्च विधिविवेके सर्वज्ञदूषणप्रस्तावे मण्डनमिश्रैरभिहितम्—

> "हेत्वभावे फलाभावात्प्रमाणे सति न प्रमा।
> चक्षुराद्युक्तविषये परतन्त्रं बहिर्मनः॥" इति।

द्वितीयेऽपि सन्निकृष्टं गृह्यतेऽसन्निकृष्टं वा ? नाद्यः तदभावादित्यस्यातिवाद्याह ॐ तेनेति ॐ। द्वितीयमति-

---

किया है कि पाँच प्रमाणों की सामग्री के अभाव से ज्ञान में स्मृतित्व होता है ? क्योंकि 'घटस्तत्रासीत्'-इत्यादि ज्ञानों में अनुभवत्व की सिद्धि की जा चुकी है।

शङ्का—रजत-भान में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की जनिका सामग्री सम्भव नहीं, रजतमात्र अनुभूत होने के कारण उसके संस्कार सम्भव हैं, अतः केवल संस्कार से जनित होने के कारण रजत-ज्ञान को स्मरण माना जाता है, अन्य हेतु की कल्पना नहीं की जा सकती, किन्तु इन्द्रिय-सन्निकर्षादि के अभाव में समुत्पन्न अनुमानादि ज्ञानों को संस्कारमात्र-जन्य या स्मृतिरूप नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनुमानादि ज्ञान अनुभूतविषयक नहीं, अननुभूतविषयक हैं, अतः उनके कारणीभूत लिङ्गादि की कल्पना की जाती है। फलतः प्रमाणान्तरासहकृत संस्कारों से जन्य या व्यङ्ग्य जातिविशेष स्मृतित्व सिद्ध होता है।

समाधान—रजतज्ञान में प्रमाणान्तरकारणाजन्यत्व सिद्ध नहीं, प्रत्युत चक्षु इन्द्रिय को ही उसका जनक माना जा सकता है—'रजतज्ञानम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यम्, स्फुटावभासत्वाद्, घटादि-प्रत्यक्षवत्।

शङ्का—जिस समय 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान हो रहा है, उस समय रजतरूप विषय

तिप्रसङ्गात् नेन्द्रियजत्वं तस्येति चेन्न, संस्कारस्यापि केवलस्य तज्जननेऽतिप्रसङ्गतादवस्थ्यात्।

सहचरितधर्मदर्शनादिना सहकारिणा युक्तस्य संस्कारस्य तज्जनने नास्त्यतिप्रसङ्ग इति चेन्न, तेनैव सहकारिणा सहितस्येन्द्रियस्यापि तज्जननेऽनिप्रसङ्गाभावात्।

अननुभूतेऽपि तर्हि प्रसङ्ग इति चेन्न, तत्रापि तद्धर्मतानधिगततद्धर्मवत्यधिगते

प्रसङ्गेनापवदति ॐ असन्निति ॐ। त्वन्मतेऽपि केवलसंस्कारस्य तज्जनकत्वमुत सहकार्यन्तरसहितस्येति विकल्प्यद्यं प्रतिबन्ध्याऽपवदति ॐ नेति ॐ। असन्निकृष्टाक्षस्य तज्जनकत्वे सर्वदा सर्वविषयज्ञानजनकत्ववत्केवलसंस्कारस्य तज्जनकत्वेऽपि सर्वदा तज्जनकत्वं सर्वविषयसंस्कारस्य सर्वस्मृतिजनकत्वं चेत्यतिप्रसङ्गस्तत्रापि तुल्य इत्यर्थः। साधारणधर्मदर्शनादिसहकृतस्य संस्कारस्य जनकत्वं न केवलस्य तेन नातिप्रसङ्ग इति द्वितीयमाशङ्कते ॐ सहेति ॐ। अदृष्टचिन्तादय आदिशब्देन गृह्यन्ते तेन रजतेन सह साहचर्यं सादृश्यं विद्यते यस्य तत्सहचरितम्। समः समाधिरित्याह ॐ न तेनेति ॐ। असन्निकृष्टत्वाविशेषेऽपि न सर्वमेवेन्द्रियं गृह्णाति सादृश्यदर्शनादिसहकारिकारणेन नियमोपपत्तेः संस्कारवदिति भावः। इन्द्रियस्य विप्रकृष्टग्रहणे किं संस्कारापेक्षाऽस्ति किं वा सादृश्यदर्शनाद्यपेक्षैव ? आद्ये प्राप्ताप्राप्तविवेकेन लाघवाच्च स्मृतित्वमेवेति, द्वितीये संस्कारद्वारोपयुक्तपूर्वानुभवापेक्षाभावादननुभूतरजतस्यापि तद्भ्रमप्रसङ्ग इति शङ्कते ॐ अनन्विति ॐ। त्वन्मतेऽपि रजतानुभवसंस्कारादेव स्मृतिरुत सदृशदर्शनसंस्कारादपि, द्वितीये स्मृते रजतसादृश्योभयगोचरत्वं स्यात्, आद्ये सादृश्यविशिष्टतया रजताननुभवेऽपि स्मृतित्वं स्यादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। तस्य शुक्तिशकलादेर्धर्मस्सादृश्यं भूयोऽवयवसाम्यं तद्यस्य रजतस्य तत्तद्धर्म तस्य भावस्तत्ता

के साथ इन्द्रिय का कोई सन्निकर्ष नहीं होता, अर्थासन्निकृष्ट इन्द्रिय को ज्ञान का जनक मानने पर परोक्षज्ञान का उच्छेदादिरूप अतिप्रसङ्ग उपस्थित होता हैं अतः रजतज्ञान में इन्द्रियजन्यत्व क्योंकर सिद्ध होगा ?

समाधान—इन्द्रिय-निरपेक्ष केवल संस्कार को ज्ञान का जनक मानने पर भी जन्मान्धादि को रूप-स्मरणादि का अतिप्रसङ्ग होता है, अतः रजतज्ञान को केवल संस्कार-जन्य या स्मृति क्योंकर कहा जा सकेगा ?

शङ्का—स्मृति ज्ञान केवल संस्कार से ही जनित होता है, अतिप्रसङ्ग की निवृत्ति सहचरित धर्म के दर्शनादि को संस्कारों का उद्बोधक मान कर की जाती है, जैसा कि महर्षि अक्षपाद ने कहा है—"प्रणिधान-निबन्ध-अभ्यास-लिङ्ग-लक्षण-सादृश्य-परिग्रह-आश्रय-आश्रित-सम्बन्ध-आनन्तर्य-वियोग-एककार्य-विरोध-अतिशय-प्राप्ति-व्यवधान-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-भय-अर्थित्व-क्रिया-राग-धर्म-अधर्म निमित्तेभ्यः" (न्या. सू. ३।२।४१)। अतः दो सहचरित या सदृश पदार्थों के सादृश्यरूप धर्म का दर्शन सदृश पदार्थों का ही स्मारक होता है, सभी का नहीं, फलतः संस्कारों को कारण मानने पर भी किसी प्रकार की अव्यवस्था या अतिप्रसङ्ग नहीं होता।

समाधान—संस्कार की सहायक सादृश्य-दर्शनादि सामग्री को इन्द्रिय का भी सहायक मान कर वह अतिप्रसङ्ग दूर किया जा सकता है, जो कि इन्द्रिय के द्वारा असन्निकृष्ट रजतादि के ग्रहण में दिया जाता है—"अतिप्रसङ्गात् नेन्द्रियजत्वं तस्य"। प्रकृत में शुक्तिगत चाकचिक्य के दर्शन की सहायता से उसी प्रकार के चमकीले रजतपदार्थ का ही ग्रहण इन्द्रिय से होगा, अन्य असन्निकृष्ट पदार्थों का नहीं।

शङ्का—रजत-ज्ञान स्मृतिरूप न हो जाय, अतः संस्कार-निरपेक्ष केवल इन्द्रिय को उसका जनक मानना होगा। संस्कार-निरपेक्ष केवल इन्द्रिय को रजतज्ञान का जनक मानने

तस्य संस्कारवतः स्मृत्यापत्त्या समाधिसाम्यात्।

लुप्ततत्साहचर्यदर्शनजसंस्कारस्याऽपि तथा सति सहचरितरजताद्यक्षजप्रतीतिप्रसङ्ग इति चेन्न, तवापि मते तादृशस्य रजतादिसंस्कारवतो रजतादिस्मृतिप्रसङ्गसाम्यात्। तस्माद्यतस्ते कालव्यवधानादितः संस्कारलोपः तदनुपनिपातस्यापि हेतुत्वोपगमेऽनतिप्रसङ्गात्।

तयाऽनधिगतं तच्च तद्धर्मवच्च तथोक्तं तस्मिन्नधिगते शुक्त्यादिसादृश्यं विहाय स्वरूपेण रजतादावनुभूत इति यावत्। तत्रापि रजतानुभवसंस्कारात्तत्स्मृतिः स्यादिति प्रसङ्गस्तवापि ततश्च साधारणधर्मवत्तया पूर्वानुभूते रजते तद्वत्तया शुक्तिशकले चानुभूयमाने रजतसंस्कारात्तत्स्मृतिः स्यादिति त्वया परिहरणीयमेवमस्मन्मतेऽपि तद्धर्मवत्तयाऽनुभूतरजतस्यैव तद्धर्मवत्तया पुरोवर्तिनि च गृह्यमाणे तद्भ्रमः स्यादिति रजतज्ञानस्यासंस्कारजत्वेऽपि पूर्वानुभवापेक्षा सादृश्यसंस्कारजत्वाभावेऽपि तदनुभववदिति भावः। इन्द्रियस्य संस्कारनिरपेक्षस्य सादृश्यादिदोषोपेतस्य रजतज्ञानजनकत्वे सादृश्यसंस्कारविलोपेऽपि रजतभ्रमप्रसङ्ग इति शङ्कते ❀ लुप्तेति ❀। लुप्तः कालव्यवधानादिना तत्साहचर्यदर्शनसंस्कारो यस्येति विग्रहः। त्वन्मतेपि सादृश्यसन्दर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारकारणं स्मरणमुपजायते तद्गोचरमित्युररीक्रियते तेन सादृश्यानुभवसंस्कारस्यानुपयोगित्वात्तद्विलोपेऽपि रूप्यसंस्कारवतः सदृशसन्दर्शने सति तत्स्मरणप्रसङ्ग इति प्रतिबन्द्या दूषयति ❀ नेति ❀।

संस्कारस्याकारकत्वे कथं तदन्वयव्यतिरेकौ रजतप्रत्ययस्येत्याशङ्क्य तद्विनाशकहेत्वभावस्य हेतुत्वविषयतयाऽन्यथासिद्धावित्याह। ❀ तस्मादिति ❀। यतः कालव्यवधानादितः संस्कारविलोपो विपरीतसंस्कारादिशब्दार्थः। तदनुपनिपातस्य तदभावस्येति यावत्। हेतुत्वस्वीकारे नातिप्रसङ्गादलुक्समासोऽतिप्रसङ्गाभावात्कालादिव्यवधानाभावसदृशसन्दर्शनाभ्यां सहकृतस्य चक्षुषस्तथा भूतरजतप्रतीतिहेतुत्वं युक्तमित्यर्थः। उक्तमर्थमुपसंहारव्याजेन श्लोकेनोपनिबध्नाति ❀ तदिति ❀। केवलसंस्कारस्य स्मरणकारणत्वेऽतिप्रसङ्गात्तेनानुभूतरजतेन सदृगिदमिति तत्सजातीयसादृश्यज्ञानं समुद्बोधकं स्वीक्रियते तत्र च सादृश्यज्ञानमक्षस्य सहकार्यास्तामित्यन्वयः। आधारग्रहणपुरःसरत्वात्तद्बुद्धेरसादृश्यज्ञानमपि रजतस्मरण-

---

पर अननुभूत रजत का भी वैसा ही ज्ञान होना चाहिए।

समाधान—रजत-ज्ञान इन्द्रिय-जन्य न हो जाय, अतः इन्द्रिय-सापेक्ष सादृश्य-दर्शन के बिना ही केवल संस्कार या संस्कारमात्र से रजत-ज्ञान की उत्पत्ति आपको भी माननी होगी। यदि सादृश्य-दर्शन-निरपेक्ष संस्कार को रजत-ज्ञान का जनक माना जाता है, तब जहाँ पर सादृश्यरूप धर्म का ज्ञान नहीं, केवल सादृश्य के आधारभूत रजत के संस्कार हैं, वहाँ भी 'रजतमिदम्'—इस प्रकार रजत-स्मरण होना चाहिए। इस आपत्ति का परिहार आप जैसा करेंगे, वैसा ही हम भी कर देंगे।

शङ्का—संस्कार-निरपेक्ष केवल इन्द्रिय को 'रजतमिदम्'—इस ज्ञान का जनक मानने पर जिस व्यक्ति के साहचर्य-दर्शन (सादृश्य-दर्शन) से जनित संस्कार लुप्त हो गये हैं, उस व्यक्ति को भी सादृश्य के आधारभूत रजत की इन्द्रिय-जन्य प्रतीति होनी चाहिए।

समाधान—आपके पक्ष में भी वही दोष है कि जिस व्यक्ति के सादृश्य-दर्शन-जन्य संस्कार लुप्त हो गये हैं, केवल रजत के संस्कार हैं, उसको भी रजत-स्मरण होना चाहिए। अतः सादृश्य-दर्शन-जन्य संस्कार जिस काल-व्यवधानादि सामग्री में लुप्त होते हैं, उस सामग्री के अनुपनिपात (असद्भाव) को सहकारी मान लेने पर अतिप्रसङ्ग की निवृत्ति की जा सकती है। अर्थात् जैसे आपके मत में काल-व्यवधानादि के अभाव से संवलित संस्कारों को कारण मान लेने पर उक्त आपत्ति नहीं होती, वैसे ही उक्त व्यवधानादि के असद्भाव से संवलित इन्द्रिय को रजत-ज्ञान का जनक मानने पर हमारे मत में भी किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं

तदेवं—

तत्सदृक्प्रत्यभिज्ञानं यत्ते संस्कारबोधकम् ।
सहकारि तदेवास्तामक्षस्यातिप्रसक्तिनुत् ॥ २७ ॥

तत्सदृशप्रत्यभिज्ञानं तु स्मर्तव्यस्मरणपूर्वकमित्येतदपि सममेव ।

तथाऽप्यन्यत्र अर्थसन्निकर्षमन्तरेणेन्द्रियस्य ज्ञानकरणत्वं नोपलब्धचरमिति चेन्न, विशिष्टरूपेण भ्रमविषये मया तदुपगमात् सहकारिभूतदोषशक्तेर्वा प्रत्यासत्तित्वेनेष्टत्वात् ।

किञ्च—संस्कारस्याऽपि प्रमाणान्तरासहकृतस्य नान्यत्र ज्ञानजनकत्वं दृष्टमिति

मन्तरेण नोपपद्यते तेन तस्यैव भ्रमत्वोपपत्तौ नानुभवान्तरं रजतगोचरं कल्पनीयं गौरवादित्यत आह ॐ तदिति ॐ । सदृशदर्शनं संस्कारोद्बोधकतया त्वया स्वीक्रियते तत्र या गतिः साऽत्रापि भविष्यतीत्यर्थः ।

विमतं नासन्निकृष्टज्ञानजनकं वहिरिन्द्रियत्वाच्छ्रोत्रवत्, यद्वा विमतं नेन्द्रियकं विप्रकृष्टत्वाद्देशान्तरवर्तिवस्त्वन्तरवदिति शङ्कते ॐ तथेति ॐ । किं सर्वात्मनाऽसन्निकृष्टत्वं हेतुरुत केनचिदंशेन ? आद्ये प्रत्यभिज्ञागोचरे व्यभिचारस्तत्ताया विप्रकर्षात् । द्वितीये त्वसिद्धिरिदमंशेन सम्प्रयोगादिति परिहरति ॐ नेति ॐ । सर्वात्मनाऽसम्प्रयुक्तत्वमप्यसिद्धं प्रत्यभिज्ञाने संस्कारवद्भ्रमगोचरेणेन्द्रियस्य सन्निकर्षतया दोषस्वीकारादित्याह ॐ सहेति ॐ । विप्रकृष्टे ज्ञानजनकत्वमन्यत्र न दृष्टमितीन्द्रियस्य त्यज्यते चेत्संस्कारस्यापि केवलस्य ज्ञानजनकत्वमनुपलब्धमिति तदपि त्यक्तव्यमिति दूषणान्तरं समुच्चिनोति ॐ किं चेति ॐ । अन्यत्र—प्रत्यभिज्ञान इति यावत् । प्रत्यभिज्ञायां संस्कारस्य तदंशसदृशदर्शनादिसहकृतत्वान्निरपेक्षतयेदमंशग्राहकस्येन्द्रियस्य न तत्सहकृतत्वं तेन दृष्टानुसारिकल्पनायां सम्भवन्त्यां तद्विपरीतकल्पनाऽ-

---

रहता । फलतः निःसंकोच यह कहा जा सकता है—

तत्सदृक्प्रत्यभिज्ञानं यत्ते संस्कारबोधकम् ।
सहकारि तदेवास्तामक्षस्यातिप्रसङ्गनुत् ॥

[आप भ्रान्ति-स्मरणवादी जैसे 'तत्सदृशमिदम्'—इस प्रकार के सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान को रजत-संस्कार का उद्बोधकरूप सहकारी मानते हैं, वैसे ही हम (भ्रम-प्रत्यक्षतावादी) भी उक्त सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान को इन्द्रिय का सहकारी मानते हैं, जिससे किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं होता] । यदि कहा जाय कि सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान तभी होगा जबकि उससे पहले स्मर्तव्य (रजत) पदार्थ का स्मरण हो जाय, अतः उक्त भ्रम ज्ञान को स्मरणरूप मान लेना ही अधिक संगत है । तो हम भी कहेंगे कि उक्त सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान तभी होगा, जब कि शुक्तिरूप अधिष्ठान के साथ इन्द्रिय सन्निकृष्ट हो जाय, अतः इन्द्रियरूप कारण अवश्यभावी होने के कारण रजतज्ञान का भी जनक हो जाता है ।

शङ्का—जब कि अन्यत्र कहीं भी विषय से सन्निकृष्ट हुए विना इन्द्रिय में ज्ञान की जनकता नहीं देखी जाती, तब भ्रम-स्थल पर असन्निकृष्ट रजत के ज्ञान की जनकता उसमें क्योंकर हो सकती है ?

समाधान—यह कहा जा चुका है कि प्रत्यक्ष-स्थल पर समस्त विषय के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष अपेक्षित नहीं होता, अपितु किसी-न-किसी भाग के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष का होना आवश्यक है । 'इदं रजतम्'—यहाँ पर इदंपदार्थ के साथ चक्षु का सन्निकर्ष है और वह रजतपदार्थ से विशिष्ट है । अथवा जिस दोष-शक्ति के आधार पर आप (प्राभाकार) तत्ता का प्रमोष मानते हैं, उसी को हम इन्द्रिय की प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) मान लेते हैं ।

दूसरी बात यह भी है कि अन्यत्र संस्कार भी प्रमाणान्तर से असहकृत होकर ज्ञान का जनक नहीं होता, तब प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में इन्द्रियरूप प्रमाण से असहकृत होकर रजत-ज्ञान का

तदपि कथं कल्प्यते ? प्रत्यभिज्ञान एव संस्कारस्य सदृशदर्शनादिसहकारित्वं कल्पितं न त्विन्द्रियस्येति चेन्न, प्रत्यभिज्ञाने संस्कारेन्द्रिययोर्द्वयोरपि कारणत्वात् सदृशदर्शनादि-सहकृतत्वदर्शनाविशेषात् ।

अत्र सदृशदर्शनसहकारित्वे संस्कारसहकारित्वस्यापि प्रसङ्गः प्रत्यभिज्ञान-वदिति चेन्न, तथा सति तद्वदेव तत्तोल्लेखापत्तेः । सदृशदर्शनादिसहकृतत्वेन च तत्तांशप्रसञ्जने संस्कारजत्वस्योपाधित्वम् ।

न च सदृशदर्शनसहकारितैव तत्ताप्रयोजिकाऽत्र त्यज्यतां न संस्कार इति युक्तम्, सदृशदर्शनं परित्यज्य संस्कारे सत्यपि अतथाबोधात् ।

नुचितेति शङ्कते ॐ प्रत्यभिज्ञानेति ॐ । तथाऽपि सदृशदर्शनादि संस्कारसहकारीन्द्रियस्य वेति, सन्दिग्धत्वा-त्तद्दर्शनसहकृतः संस्कारो रजतस्मरणजनकस्तत्सहकृतमिन्द्रियं तदनुभवजनकं नेति न निर्णय इति परि-हरति ॐ नेति ॐ ।

विमतं संस्कारजं सदृशदर्शनजत्वात् प्रत्यभिज्ञावत् । यद्वा सदृशदर्शनस्य सहकारित्वं यत्र दृष्टं तत्र संस्कारस्यापि सहकारित्वमस्तीति व्याप्तिबलाद् भ्रमस्थलेऽपि तत्प्रसज्यत इति निर्णायकमाशङ्कते । ॐ अत्रेति ॐ । प्रत्यभिज्ञावदेव तत्तोल्लेखापत्तेः संस्कारस्य सहकारित्वं कल्पयितुं न शक्यते इति परिहरति ॐ नेति ॐ । भ्रमज्ञानं तत्तोल्लेखि सदृशदर्शनादिसहकारिजनितत्वात् स्मरणवदिति समानप्रसङ्ग इत्याश-ङ्क्याह ॐसदृशेतिॐ । अत्र संस्कारजत्वमुपाधिरित्यर्थः । न चेतरेतरोपाधिचोदनमयुक्तम्, अतिप्रसङ्गादिति वक्तव्यं, तल्लक्षणे सति तथात्वानङ्गीकारे तल्लक्षणस्य पूतिकूष्माण्डायमानतापातादिति । सदृशदर्शनसह-कारितासंस्कारयोरन्यतमस्यावश्यत्त्याज्यत्वे न्यायत्वे संस्कारोद्बोधकत्वेनान्यथासिद्धत्वादप्रयोजकं सदृश-दर्शनाद्येवात्र रजतज्ञाने कारणतया त्यज्यतां न संस्कार इत्याशङ्क्य निषेधति ॐ न चेति ॐ । न सदृश-दर्शनजत्त्वं तत्तोल्लेखप्रयोजकं तदभावे तद्दर्शनादित्याह ॐ सदृशेति ॐ । अतथाऽबोधादित्यत्राबोधाविति पदच्छेदः । तदयमर्थः—चिन्तादृष्टादिसमुद्बुद्धसंस्कारो यत्र सा मे मातेत्यादिस्मृतिमुत्पादयति तत्र सदृश-दर्शनाभावेऽप्यतथातत्तोल्लेखाभावस्यादर्शनात् । यदि तदेव प्रयोजकं तर्हि तदभावे तत्तोल्लेखनमपि न

जनक क्योंकर होगा ?

शङ्का—प्रत्यभिज्ञा-स्थल पर यह देखा गया है कि सादृश्य-दर्शन संस्कार का ही सहायक होता है, इन्द्रिय का नहीं, अतः वह इन्द्रिय का सहकारी क्योंकर माना जा सकेगा ?

समाधान—प्रत्यभिज्ञा-स्थल पर संस्कार और इन्द्रिय—दोनों ही स्वतन्त्र कारण माने जाते हैं । सादृश्य-दर्शन उन दोनों कारणों का समानरूप से सहकारी होता है, किसी एक का ही नहीं ।

शङ्का—'इदं रजतम्'—इत्यादि भ्रम-स्थल पर इन्द्रिय का सादृश्य-दर्शन सहकारी है, तब प्रत्यभिज्ञा के समान ही भ्रम में संस्कार को सहकारी मानना होगा—'रजतादिभ्रमः संस्कारजन्यः, सदृशदर्शनजन्यत्वात्, प्रत्यभिज्ञावत् ।

समाधान—प्रत्यभिज्ञा के समान ही यदि 'इदं रजतम्'—इस भ्रम में भी संस्कार को इन्द्रिय का सहकारी माना जाता है, तब प्रत्यभिज्ञा के समान ही भ्रम में भी 'तदिदं रजतम्'—इस प्रकार तत्ता का उल्लेख होना चाहिए—रजतादि भ्रमः, तत्तो-ल्लेखी, संस्कारजन्यत्वात्, स्मृतिवत् । ।अतः रजत-भ्रम को प्रमुष्टतत्ताक स्मृति नहीं माना जा सकेगा । 'रजतादिभ्रमः तत्तोल्लेखी, सदृशदर्शनादिजन्यत्वात्, प्रत्यभिज्ञावत्'—इस प्रकार सदृशदर्शनादि के द्वारा तत्तोल्लेखित्व के अनुमान में 'संस्कार-जन्यत्व' उपाधि है [सभी स्मृति ज्ञानों में तत्तोल्लेखित्व और संस्कारजन्यत्व होने के कारण संस्कारजन्यत्व साध्य का

तथापि सदर्थे प्राप्यकारित्वमिन्द्रियस्य दृष्टं न हातुं शक्यमिति चेन्न, उक्तमत्र यथेन्द्रियस्य प्राप्तिसहकृतस्य ज्ञापकत्वं दृष्टं तथैव संस्कारस्यापि प्रमाणान्तरसहकृतस्य ज्ञापकत्वमुपलब्धमिति तदपि हातुं न युक्तमिति, संस्कारस्यापि चेन्द्रियप्रत्यासत्तित्वस्वीकारेण तद्विरहासिद्धेः। तत्तांशमोषकल्पनं च स्वतन्त्रसंस्कारजत्वपक्ष एव

स्यादिति। यद्वा सत्यपि संस्कारे सदृशदर्शनं विना रजतबोधादर्शनाद्व्यतिरेकबलादवश्यं सदृशदर्शनादिसहकृतता भ्रान्तौ वाच्येत्यर्थः।

यदुक्तं विमतं नैन्द्रियकमसम्प्रयुक्तत्वाद्वस्त्वन्तरवदित्यत्र प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशे व्यभिचार इति तत्परिहर्तुं विद्यमानत्वे सतीति हेतुं विशिंषन्नित्याह ❀ तथापीति ❀। सदृशदर्शनसध्रीचीनेन्द्रियस्यान्वयव्यतिरेकित्वेऽप्यन्यत्र संयोगदर्शनादिहापि तदपेक्षायां संस्कारस्यापि केवलस्य स्मारकत्वं न स्यात्प्रमाणसहकृतस्यैव प्रत्यभिज्ञाने तद्दर्शनादिति परिहरति ❀ नेति ❀। प्रत्यासत्त्यभावमभ्युपगम्य दूषणमभाणि, सम्प्रति सोऽप्यसिद्ध इत्याह ❀ संस्कारेति ❀।

एवं तावद्रजतज्ञानस्य संस्कारजत्वेऽक्षजत्वेन समानः सर्व इत्यापाद्याऽधुना स्वसिद्धान्तसिद्धये

व्यापक तथा रजत-भ्रम म सदृशदर्शनजन्यत्व के रहने पर भी संस्कारजन्यत्व नहीं, अतः संस्कारजन्यत्व साधन का अव्यापक होने के कारण उपाधि है, सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध-नामक हेत्वाभास है, अतः अपने साध्य का साधक नहीं हो सकता]।

शङ्का—उक्त अनुमानों से यह सिद्ध होता है कि 'तत्तोल्लेखित्व' धर्म 'सदृशदर्शनजन्यत्व' का व्यापक तथा 'संस्कारजन्यत्व' का व्याप्य है। व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की ही निवृत्ति होती है, व्यापक के व्यापक की नहीं, अतः रजतादि-भ्रम ज्ञानों मे तत्तोल्लेख न होने के कारण सदृशदर्शनजन्यत्व का ही परित्याग होगा, संस्कारजन्यत्व का नहीं, रजतादि भ्रम ज्ञानरूप पक्ष में रहनेवाला संस्कारजन्यत्व धर्म साधन का अव्यापक न होकर व्यापक ही हो जाता है, अतः वह उक्त अनुमान में उपाधि क्योंकर हो सकेगा ?

समाधान—उद्बुद्ध संस्कार ही स्मृति के जनक होते हैं, संस्कारों का उद्बोधन सदृशदर्शनादि से होता है। अतः सदृशदर्शनादि के अभाव में अनुद्बुद्ध संस्कारों के रहने पर भी स्मरण ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, फलतः रजत-भ्रम में स्मरणरूपता नहीं बन सकती।

शङ्का—[बौद्धगण चक्षु, श्रोत्र और मन को अप्राप्यकारी (असम्बद्ध विषय के ग्राहक) मानते हैं, जैसा कि वसुबन्धु कहते हैं—"चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयम्" (अभि. को. १।४३)। न्यायसूत्रकार ने इन्द्रियों की अप्राप्यकारिता का खण्डन किया है—"न कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः" (न्या. सू. ३।१।४८) अर्थात् दीवार के उस पार की वस्तु का भी चक्षु से ग्रहण होना चाहिए यदि चक्षुः अप्राप्यकारी है]। चक्षु की प्राप्यकारिता दृष्ट है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती, [अतः शुक्ति में रजत का चक्षु से तभी ग्रहण हो सकता है, जब कि रजत वहाँ सत् (विद्यमान) हो, कुमारिल भट्ट की स्पष्ट उक्ति है—"सम्बद्धं वर्तमानं न गृह्यते चक्षुरादिना" (श्लो० वा० पृ० १६०)। किन्तु वहाँ रजत वर्तमान नहीं, अतः चक्षु के द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता, परिशेषतः रजत-भान को स्मरणरूप ही मानना होगा।

समाधान—जैसे चक्षुरादि में दृष्ट प्राप्यकारिता की अवहेलना नहीं की जा सकती, वैसे ही संस्कारों में प्रमाणान्तर से सहकृत होकर ही ज्ञान-जनकता दृष्ट (अनुभूत) है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती—यह हम ऊपर कह चुके हैं। दूसरी बात यह भी है कि रजत के साथ भी इन्द्रिय की संस्कार घटित प्रत्यासत्ति स्वीकृत है, उसका अभाव यहाँ नहीं, अतः रजत-भान ऐन्द्रियक अनुभूति है, स्मरण नहीं।

इन्द्रिय-निरपेक्ष स्वतन्त्र संस्कार को कारण मानने पर प्रसक्त तत्तांश-भान का अपलाप

यावदधिकम्। कुतश्चायं तत्तांशमोष इति विचारमधिकरोति, पूर्वं वर्तमानादिकालविशेषविशिष्टस्य रजतादेरेकस्मिन्ननुभवे प्रकाशिततया तज्जन्येन संस्कारेणापि तथैवोपनेतुमुचितत्वात्, प्रत्यभिज्ञायां तथैव फलदर्शनात्। दोषवशात् तत्तांशमोष इति चेन्न, विषयसम्बन्धस्य स्वभावत्वेन संस्कारे तदलोपात्। दोषात् स्मृतौ तथेति चेत्, कः पुनरसौ दोषः? यस्माद् भ्रान्त्युत्पत्तिः परेषामिति चेत्तर्हि तद्रजतविशिष्टमिदं

संस्कारजत्वेऽधिकं दूषणं दर्शयति । ❀ तत्तेति ❀ । सदृशदर्शनसहकारित्वस्य पक्षद्वयेऽपि साम्यादन्यत्रादृष्टं तत्तांशमोषकल्पनं स्मरणस्य त्वया स्वीकार्यमित्यर्थः । स्वतन्त्रसंस्कारजत्वपक्ष एव तत्तांशमोषकल्पनं यावत्तावदधिकमित्यन्वयः । पूर्वं तत्तांशमोषमुररीकृत्य गौरवमभाणि, सम्प्रति सोऽपि न सेत्स्यति विकल्पासहत्वादित्याह ❀ कुतश्चेति ❀ । तत्तांशप्रकाशे कारणाभावात्तदभावः, उताहो दोषवशादिति विकल्प्य न तावत्कारणाभावात्पूर्वकालवैशिष्ट्यस्य रजतस्य चैकानुभवगोचरतया तज्जनितसंस्कारस्याऽप्युभयस्मरणजनकत्वस्यौचित्यादित्याह ❀ पूर्वमिति ❀ । विशिष्टगोचरसंस्कारस्यैकांशोद्बोधादेकांशस्मृतिः किं न स्यादित्यत आह ❀ प्रत्यभिज्ञायामिति ❀ । दोषप्रतिबन्धात् सत्यपि संस्कारे तत्तांशाप्रकाश इति द्वितीयं शङ्कते ❀ दोषेति ❀ । दोषः किं संस्कारस्य विषयसम्बन्धं प्रतिबध्नाति ? किं वा संस्कारसामर्थ्यम् ? उत सति दोषे तदभावरूपकारणाभावात् कार्याभावः ? इति त्रिधा विकल्प्य प्रथममपाकरोति ❀ नेति ❀ । यथा ज्ञानस्य ज्ञेयसम्बन्धः स्वभावः एवं तज्जनितसंस्कारस्यापि तत्सम्बन्धः स्वभाव इति तस्मिंस्तत्प्रतिबन्धो न सम्भवतीत्यर्थः । द्वितीयतृतीयावपर्यायेणानुवदति ❀ दोषादिति ❀ । सदर्थज्ञापकस्य न दोषत्वं चक्षुरादिवन्नापि तस्याग्रहणहेतुत्वं तस्यानादित्वात्, न च प्राप्तग्रहणनिरोधकत्वं निरोधस्य प्रागभावत्वेनानादित्वादेव, न च प्रध्वंसहेतुत्वमुत्पत्त्युत्तरकालीनत्वात्तस्य, तेन दोष एव निर्वक्तुमशक्य इति दूषयति ❀ क इति ❀ । दोषनिर्वचनं त्वया करणीयं भ्रान्तिहेतुत्वाभ्युपगमात् स एव ममापि तत्तांशमोषहेतुरिति शङ्कते ❀ यस्मादिति ❀ । दोषस्य न तत्तांशमोषहेतुत्वं सत्यपि तस्मिंस्तत्तांशप्रकाशदर्शनादिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀ । शुक्तावेव तद्रजतसदृशमिदं रूप्यमिति भ्रान्त्युपत्तौ तत्ताप्रकाशो न स्याद्दोषस्य विद्यमानत्वात्, एवं भ्रान्ति-

एक अधिक दोष भी है। यह 'तत्ता' अंश का प्रमोष (चौर्य या भ्रंश) क्योंकर हुआ—यह भी यहाँ विचारणीय है। अनुभव, संस्कार और स्मृति की समानविषयता प्रसिद्ध है। पूर्व काल में 'इदं रजतम्'—इस प्रकार इदन्ता (वर्तमानकाल एवं पुरोदेश) से विशिष्ट रजत का एक विशिष्ट अनुभव होता है, पूर्वकाल की इदन्ता ही अतीत में तत्ता बन जाती है, अतः संस्कार और स्मरण में भी 'तद्रजतम्'—इस प्रकार तत्ता-विशिष्ट रजत का भान होगा, जैसा कि 'तदिदं रजतम्'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा में देखा जाता है, किसी वस्तु का नैसर्गिक स्वभाव बदला नहीं जा सकता, अतः संस्कार और स्मृति में तत्ता का भ्रंश क्यों होगा ?

शङ्का—जैसे पक्षाघात दोष प्राणी के किसी अङ्ग को निष्क्रिय कर देता है, वैसे ही प्रकृत में शुक्तिगत वर्तमान चाकचिक्य दोष संस्कारों की तत्ता-भासकता शक्ति को कुण्ठित कर देता है, जिसका परिणाम यह होता है कि स्मरण में तत्तांश का भान नहीं होता।

समाधान—सावयव पदार्थों का ही आंशिक अवरोध होता है, संस्कार निरवयव पदार्थ है, अतः दोष के कारण भी उसकी आंशिक शक्ति में कुण्ठा का आना सम्भव नहीं।

शङ्का—यद्यपि शब्द निरवयव तत्त्व है, तथापि श्रोत्रगत दोष के कारण पूरे पद का श्रवण न होकर जैसे अधूरे पद का ही श्रवण होता है, वैसे ही स्मृति ज्ञान में भी दोष के कारण पूर्ण विषय-स्फुरण की प्रसूति नहीं होती, तत्तांश की स्मृति में अनवगाहिता ही तत्तांश का प्रमोष है।

समाधान—तत्तांश का प्रमोष जिस दोष से होता है, वह दोष कौन है ? यदि कहा जाय कि यह वही दोष है, जिससे भ्रान्तिवादियों को 'इदं रजतम्'—ऐसी भ्रान्ति होती है, तब तो

रजतमित्यत्र, सैव रजतव्यक्तिरियमित्यत्र वा, पुनस्तदेव रजतमुपस्थितमितीह वा, सामान्यत एव रजतस्य तदाऽपि परामृष्टस्य भ्रान्तौ तत्तांशमोषः स्यात्, दोषस्य विद्यमानत्वात्। अन्यथा इदं रजतमित्यंशेऽपि तस्मिन् ज्ञाने तत्तांशमोषो न स्यादित्यास्तामियं प्रसक्तानुप्रसक्तिः।

न च प्रत्यभिज्ञा नाम स्मरणानुभवाभ्यामन्य एव प्रकार इति वाच्यम्, अननुभवत्वेन अप्रमात्वापातात्। न चैवमस्त्वित्यपि वाच्यम्, अक्षणिकत्ववादिना स्थिरसिद्धौ प्रमाणत्वेनोपन्यस्तत्वात्। ईदृशप्रसिद्धलक्ष्यत्यागेन च लक्षणोपपादनेऽनियमः प्रसज्ये-

रेव नास्ति संसर्गख्यातेरेवं सति प्रसङ्गात्तस्याश्चानङ्गीकारादित्यत आह ※ सैवेति ※। उदाहरणान्तरमाह ※ पुनरिति ※। तदाऽपि परामृष्टस्येति तच्छब्देन परामृष्टस्यापीत्यर्थः। कालसम्बन्धभेदेन पूर्वानुभूतरजतव्यक्त्यभेदग्राहिप्रत्यभिज्ञाभ्रम इत्यर्थः। उदाहरणभूयस्त्वमुक्तदृढिम्ने व्यभिचारभूयस्त्वप्रकटनायेति द्रष्टव्यम्। बहुप्रकारा भ्रान्तयः प्रत्यभिज्ञारूपा अभिज्ञारूपाश्च, तत्र प्रत्यभिज्ञाभ्रान्तौ सत्यपि दोषे तत्तांशप्रकाश इत्याशङ्क्याह ※ अन्यथेति ※। कार्यभेदेऽपि क्वचिद्दोषस्य तत्तांशमोषाहेतुत्वेऽभिज्ञाभ्रमेऽपि तदहेतुत्वमन्यथाऽभिज्ञाभ्रमेऽपि विषयभेदेन सम्प्रतिपन्नकारणस्याप्यकारणत्वप्रसङ्गादिति भावः। प्रमालक्षणखण्डने तत्तांशमोषखण्डनस्य का सङ्गतिरित्याशङ्क्य प्रासङ्गिकी सङ्गतिरिति दर्शयन्नुपसंहरति ※ इत्यास्तामिति ※। प्रकृतं प्रमालक्षणखण्डनं तत्प्रसङ्गेन प्रसक्तं प्रत्यभिज्ञाखण्डनं तदनुप्रसक्तं तत्तांशमोषखण्डनमिति प्रसक्तानुप्रसक्तिराह हि—

"प्रसक्तानुप्रसक्तिस्तु प्रस्तुतादुपजायते" इति।

प्रत्यभिज्ञानं न स्मृत्यनुभवगर्भमेकं ज्ञानम्, नापि स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्, न च स्मृतिरेव, वाऽनुभव एव वा, येन स्मृतित्वानुभूतित्वयोः सङ्करः स्यात्किन्तु प्रकारान्तरमित्याशङ्क्याह। ※न चेति※। कुत इत्यत आह ※ अननुभवत्वेनेति ※। स्वकृतप्रमालक्षणरक्षणाय प्रत्यभिज्ञानस्याप्रमात्वमप्यस्त्वित्यत आह ※ न चेति ※। स्थिरवादिभिः प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणत्वेनेष्टत्वात्तदनङ्गीकारेऽपसिद्धान्तनिग्रहापत्तिरित्याह ※ अक्षणिकेति ※। अभिज्ञाप्रमालक्षणमेतत्तेन प्रत्यभिज्ञायां तदभावे न दोष इत्यत आह ※ ईदृशेति ※। प्रमामात्रलक्षणमभिधाय तस्याव्याप्तावभिहितायां तत्परिहाराय प्रत्यभिज्ञा प्रमा प्रसिद्धाऽपि त्यज्यते चेत्तर्हि कथानियमो न स्यात् दुष्टसाधनं परित्यज्य साधनान्तरोपादानसम्भवादित्यर्थः।

सभी भ्रान्ति-स्थलों पर प्रतीयमान तत्ता अंश का प्रमोष होना चाहिए अर्थात् 'तद्रजताविशिष्टमिदं रजतम्', 'सैव रजतव्यक्तिरियम्', 'पुनस्तदेव रजतमुपस्थितम्'—इत्यादि भ्रान्ति ज्ञानों में भी तत्तांश का प्रमोष होना चाहिए, क्योंकि वहाँ भी भ्रान्ति-जनक दोष तो विद्यमान ही है। अन्यथा (भ्रान्ति-जनक दोष को प्रमोषक न मानने पर) 'इदं रजतम्'—इस भ्रान्ति में भी ततांश का प्रमोष नहीं होना चाहिए। खण्डन के प्रलयङ्कारी ताण्डव नृत्य ने प्रमा-लक्षण के धरातल पर अपना पहला पग रखकर प्रत्यभिज्ञा पर दूसरा पग बढ़ाया ही था कि भ्रान्ति का तत्तांश-प्रमोष उसी की चपेट में आ गया, प्रमुख रंग-स्थल से कुछ सरक गये, अतः इसका यहाँ ही पदाक्षेप किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञा को स्मरण और अनुभव—इन दोनों से भिन्न तीसरा ज्ञान माना नहीं जा सकता, क्योंकि वैसी अनुभूति नहीं होती, अनुभूति से भिन्न मानने पर प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को अप्रमा भी मानना पड़ेगा। 'उसे अप्रमा ही मान लिया जाय'—ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रपञ्च को क्षणिक न माननेवाले नैयायिकादि स्थैर्य-सिद्धि में प्रत्यभिज्ञा को ही प्रमाणत्वेन प्रस्तुत करते आये हैं—"दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्" (न्या. सू. ३।१।१)। श्री उदयनाचार्य की स्पष्ट उद्घोषणा है—"न हि स्थिरे तद्दर्शने वा स्वरसवाही सन्देहः, प्रत्यभिज्ञानस्य दुरपह्नवत्वात्" (न्या. कु. १।१७)। अतः प्रमा-लक्षण का एक प्रसिद्ध लक्ष्य

तेति । तस्मात् जातिवाचिनोऽनुभवपदस्य स्मृतितो व्यवच्छेदार्थमुपादानमिति सर्वथानुपपन्नमिति ।

१३. स्मृत्यन्यत्वखण्डनम् P.133

नापि स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः, नापि स्मृतिलक्षणरहितत्वम् ; उक्तक्रमेण स्मृत्यनुभूतिसङ्करस्य दर्शितत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः । P.134 P.203

इतोऽपि न स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः । तथा हि—स्मृत्यन्यत्वं यत्किञ्चित्स्मरणान्यत्वं वा, सर्वस्मृतिव्यक्त्यन्यता वा, स्मृतित्वरहितत्वं वा अभिप्रेतम् ?

प्रथमे तु स्मृत्यन्तरव्यतिरेकात् स्मृत्यन्तरमप्यनुभूतिः स्यात् । न हि यतो व्यतिरिक्ता स्मरणव्यक्त्यन्तरादेका स्मृतिव्यक्तिस्तत् स्मरणमेव न भवति, येन तदन्यत्वं न स्मृत्यन्यत्वं स्यात् ।

नापि द्वितीयः, मदीयादिस्मृतिव्यक्तिभ्यो हि भवता कथङ्कारं व्यतिरिक्तत्व-

---

प्रथमविकल्पं निराकृतं निगमयति ॐ तस्मादिति ॐ ।

अनुभवत्वस्य जातिविशेषत्वं न घटते चेन्मा घटिष्ट, स्मृत्यन्यज्ञानत्वं स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वं वाऽनुभवत्वमिति द्वितीयतृतीयकल्पौ घटिष्येते इत्यत आह ॐ नापीति ॐ ।

द्वितीयतृतीयविकल्पयोः साधारणं दूषणमभिधायाऽधुना द्वितीयविकल्पाऽसाधारणं दूषणं दर्शयति । ॐ इतोऽपीति ॐ । स्मृत्यन्यज्ञानमनुभव इत्युक्तेऽव्याप्त्यतिव्याप्त्योरभावात्कथमयुक्तत्वमित्याशंक्य विकल्पेनैतदुपपादयति ॐ तथा हीति ॐ । स्मृतित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वमिति तृतीयविकल्पार्थः ।

स्मृत्यन्यत्वमात्रमनुभवलक्षणं लाघवान्न सर्वस्मृत्यन्यत्वं गौरवादित्याशङ्क्याह ॐ प्रथम इति ॐ । स्मृतेरपि स्मृत्यन्यत्वमस्ति स्मृतिः स्मृतिर्भवतीति वक्ष्यमाणन्यायेन ज्ञातुमशक्यत्वादिति तुशब्दार्थः । पटप्रतियोगिनोऽपटत्ववत् स्मृतिप्रतियोगिनः स्मृतित्वमेव नास्तीति न स्मृतेः स्मृत्यन्यत्वमित्यत आह ॐ न हीति ॐ । एकस्याः स्मृतेः स्मृत्यन्तरव्यतिरेको न चेदेका स्मृतिः स्यादनेन न्यायेन सतः सदन्तरप्रतियोगिकभेदासम्भवेन सदद्वैतं स्यादित्यर्थः ।

स्मृतेः स्वयमपि स्मृतित्वेन सकलस्मृत्यन्यत्वाभावात् प्रथमविकल्पोक्तदोषाभावात् सर्वस्मृत्यन्यत्वमिति

प्रत्यभिज्ञा ज्ञान है. इसको छोड़ देने पर प्रमा-लक्षण का उपपादन ही अव्यवस्थित हो जायगा।

इस प्रकार सभी स्मृति ज्ञानों में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वरूप अनुभूतित्व के सिद्ध हो जाने पर आप ने 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—इस लक्षण के 'अनुभूति' पद से जो स्मृति का व्यवच्छेद किया है—"अनुभूतिरिति स्मृतेः" (ल. मा. पृ. १०)। वह नहीं हो सकता, क्योंकि 'अनुभूति' पद जिस 'अनुभूतित्व' जाति का वाचक है, वह अनुभूतित्व जाति स्मृति ज्ञान में भी विद्यमान है, फलतः अनुभूति पद व्यर्थ है, 'तत्त्वज्ञानं प्रमा'—इतना ही लक्षण पर्याप्त है।

१३. स्मृत्यन्यत्वरूप अनुभूतित्व का खण्डन

'स्मृत्यन्यज्ञानत्व' या 'स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्व' भी अनुभव पद का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ऊपर स्मृति और अनुभूति का सांकर्य दिखाया जा चुका है, अतः 'स्मृत्यन्य' पद भी स्मृति का व्यवच्छेदक (व्यावर्तक) नहीं हो सकता। 'स्मृत्यन्यत्व' पद से भी क्या विवक्षित है ? क्या (१) 'यत्किञ्चित्स्मृत्यन्यत्व' ? या (२) 'सर्वस्मृत्यन्यत्व ? अथवा (३) स्मृतित्वरहितत्व ?

(१) प्रथम (यत्किञ्चित्स्मृत्यन्यत्व) पक्ष में एक स्मृति से भिन्न दूसरी स्मृति है, अतः उसमें अनुभूतित्व अतिप्रसक्त होता है। एक स्मृति व्यक्ति से भिन्न दूसरी स्मृति व्यक्ति भी स्मृति ही है, अतः उसे भी 'अनुभूति' पद से अभिहित नहीं किया जा सकता।

मवधारणीयं प्रमायाः ? तासां सर्वासां भवता प्रत्येतुमशक्यत्वात्। तथा हि—न तावत्परकीयज्ञाने परस्यास्मादृशोऽध्यक्षसम्भवः। नाप्यनुमानार्थापत्ती, लिङ्गानुपपद्यमानयोः सर्वत्रार्वाग्दृशा प्रत्येतुमशक्यत्वात्। नापि शब्दः, सर्वत्र तस्यासम्भवात्। उपमानाद्यसम्भवोऽपि स्फुट एव। ततः कथं सर्वाभ्यः स्मृतिव्यक्तिभ्यो व्यतिरेको निरूप्यः प्रमाया इत्यनवबोधादसिद्धिर्लक्षणस्य।

न च वाच्यं स्मृतित्वेन सर्वाः स्मृतिव्यक्तयः सर्वकालसर्वपुरुषसम्बन्धिन्यः स्वात्मीयां स्मृतिर्व्यक्तिं प्रत्यक्षयता प्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते सामान्यलक्षणया इन्द्रियप्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाल इव व्याप्यव्यापकव्यक्तय इति, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दोष-

द्वितीयोऽस्त्वित्यत आह ※ नापीति ※। सकलस्मृत्याकलनव्यतिरेकेण तद्व्यतिरेकोऽपि दुरधिगम इति लक्षणस्यासम्भवमाह ※ मद्वीयावेति ※। कथंशब्दसूचितामनुपपत्तिमाह ※ तासामिति ※। तदेवोपपादयति ※ तथा हीति ※। किं प्रत्यक्षेण तदधिगमः, किं वानुमानादिनेतिविकल्प्य प्रथमं दूषयति ※ नेति ※। अस्मादृश इति योगिप्रत्यक्षं व्यवच्छिनत्ति। अस्तु तर्ह्यनुमानार्थापत्तिभ्यां सर्वस्मृतिव्यतिरेकाधिगमः प्रमाया इत्यत आह ※ नेति ※। तत्प्रतिपादकवाक्यव्यतिरिक्तशब्दादर्शनान्न शाब्दोऽपि तव बोध इत्याह ※ नेति ※। उपमानस्य सादृश्यगोचरस्याऽनुपलब्धेश्च प्रमेयाभावगोचरायास्तदुभयविलक्षणे स्मृतिव्यतिरेके विरहोऽतिरोहित इत्याह ※ उपमेति ※। प्रमाणाभावोपपादनेन सिद्धं प्रमेयाभावं निगमयति ※ तत इति ※। एवं विशेषणासिद्ध्या विशिष्टलक्षणासिद्धिं फलत्वेन दर्शयति ※ इतीति ※। सकलस्मृतिव्यतिरेकः प्रमाया अध्यक्षेणैवाध्यवसीयते तथा हि—सर्वेषां स्वकीया स्मृतिस्तावत्संयुक्तसमवायलक्षणप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षा तत्र च समवेतं स्मृतित्वं तद्विशेषणानि च स्मृतिव्यक्तय इति संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणलक्षणप्रत्यासत्त्या सकलस्मृतिव्यक्तयः सर्वेषां प्रत्येकं प्रत्यक्षा इति तद्व्यतिरेकोऽपि सुज्ञान इत्याशङ्क्याऽऽह ※ न चेति ※। उदीरितमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ※ व्याप्तीति ※। अयमभिसन्धिः किं व्याप्यसामान्यस्य व्यापकसामान्येन व्याप्तिर्गृह्यते ? उत तद्विशेषस्य

(२) द्वितीय (सर्वस्मृत्यन्यत्व) विकल्प भी संगत नहीं, क्योंकि सर्व स्मृतियों में परकीय स्मृति व्यक्तियाँ भी आ जाती हैं, सामान्य व्यक्ति के लिए अन्य व्यक्ति की सर्व स्मृति व्यक्तियों का ज्ञान सम्भव नहीं। किसी पुरुष को यदि परकीय स्मृतियों का ज्ञान माना जाय, तब वह किस प्रमाण से उत्पन्न होगा ? प्रत्यक्ष तो असर्वज्ञ या अयोगी व्यक्ति को हो नहीं सकता। व्याप्ति-दर्शन न हो सकने के कारण अनुमान और अर्थापत्ति से भी परकीय स्मृतियों का ज्ञान क्योंकर होगा ? शब्द प्रमाण भी मूकादि सर्वव्यक्ति-साधारण सुलभ नहीं। उपमानादि की क्षमता का अभाव तो परकीय स्मृतियों के ग्रहण में स्फुट ही है, क्योंकि अगृहीत परकीय स्मृतियों के सादृश्यादि का ज्ञान नहीं हो सकता। जब परकीय सर्व स्मृति व्यक्तियों का ग्रहण सम्भव नहीं, तब प्रमा ज्ञान में सर्वस्मृति-भिन्नत्व का ग्रहण सम्भव क्योंकर होगा ? लक्षण-वाक्य-घटक पदार्थों का ज्ञान न होने के कारण लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता।

शङ्का—यद्यपि सकल स्मृति व्यक्तियों के साथ इन्द्रिय की कोई लौकिक प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) नहीं, तथापि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति सम्भावित है, उसीसे समस्त स्मृति व्यक्तियों का वैसे ही प्रत्यक्ष हो जाता है, जैसे धूम और अग्नि के व्याप्ति-ग्रहणकाल में सकल व्याप्य (धूमादि) और व्यापक (वह्न्यादि) व्यक्तियों का प्रत्यक्ष हो जाता है [आशय यह है कि किसी अबोध बालक को उसके सामने उपस्थित एक गो व्यक्ति में 'गो' पद का शक्ति-ग्रह कराया जाता है—इयं गौः (गोपदवाच्या)। उतने मात्र से यह बालक विश्व की समस्त गो व्यक्तियों में गो पद-वाच्यता का निश्चय कर लेता है, अतः सभी गो व्यक्तियों में 'गो' पद का व्यवहार करने लग जाता है। यह यहाँ विचारणीय है कि किसी एक गो व्यक्ति में गो पद

ग्रस्तत्वात्। तथा सति ह्येकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः प्रमेयत्वसामान्यप्रत्यासत्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात्। एवमभ्युपगच्छतश्च श्रद्दधीमहि ते सार्वज्ञ्यमिदम्, यदि जानासि किमस्मच्चेतसि विपरिवर्तत इति।

p.133 नापि तृतीयः स्मृतित्वरहितत्वं हि स्मृतित्वाभाववत्त्वं वा स्यात्, स्मृतित्व-

---

तद्विशेषेण, किं वा तद्विशेषैस्तद्विशेषाणाम्? नाद्यः, अग्निमानित्युक्ते तद्विशेषसम्बन्धे पर्वते साध्यमाने व्याप्त्यग्रहणात्साध्यविकलता दृष्टान्तस्याग्निमत्त्वसामान्यसम्बन्धे सिषाधयिषिते बाधस्तस्याग्निसमवेतत्वात्। नापि द्वितीयः, अननुगमादेव, ततः संयुक्तसमवेतविशेषणसन्निकर्षेण सामान्योपाधौ व्याप्यविशेषाणां व्यापकविशेषैः सम्बन्धो बोध्यत इति वक्तव्यमिति। सर्वत्र बुद्धिसामान्यार्थं दृष्टान्त उपादीयत इह पुनर्दृष्टान्तस्यैव साध्यसमत्वात् न तदवष्टम्भेनाभीष्टसिद्धिरिति हेतुं निगदति ꣸ दृष्टान्तेति ꣸। आह च—

"न हि साध्यसमो हेतुः साध्यसिद्धौ प्रयुज्यते" इति।

अत्र हि हेतुशब्देन दृष्टान्तोऽभिधीयते यथा रसत्वे रूपाभावः संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणविशेष्यभावसम्बन्धेनाध्यवसीयते तथाऽत्रापि सकलस्मृतिव्याप्यादिव्याप्तिग्रहः किं न स्यादित्यत आह ꣸ तथेति ꣸। प्रमेयत्वे सम्बन्धविशेषणत्वद्वारा प्रत्यक्षताऽस्तु का नाम वस्तुक्षतिरित्याशङ्क्य निष्प्रामाणिकं सार्वज्ञ्यं प्रसज्येतेत्याह ꣸ एवमिति ꣸।

की वाच्यता सुन कर सभी व्यक्तियों में 'गो' पद का शक्ति-ग्रह कैसे हो गया? इस शङ्का का समाधान करने के लिए तार्किक मनीषियों ने 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' की ऊहा कर ली। उनका कहना है कि जिस समय चक्षु के द्वारा संयोगरूप लौकिक प्रत्यासत्ति से किसी एक गो व्यक्ति का प्रत्यक्ष हो रहा है, उसी समय सामान्यलक्षणा (चक्षु-संयुक्तगोवृत्तिगोत्वसामान्यरूप) प्रत्यासत्ति से सकल गो व्यक्तियों का प्रत्यक्ष हो जाता है, उन्हीं सब व्यक्तियों पर गोपद-वाच्यता का समुन्मेष हो जाता है]।

धूम और अग्नि व्यक्तियों की व्याप्ति का ग्रहण भी वैसे ही सभी धूम और अग्निव्यक्तियों को अपने उदर में समेट लेता है। यद्यपि महानस (रसोई घर) में केवल महानसीय धूम और महानसीय अग्नि व्यक्ति का ही सामानाधिकरण्य गृहीत होता है, तथापि सामान्य-लक्षणा प्रत्यासत्ति से निखिल धूम और अग्नि व्यक्तियों का प्रत्यक्ष हो जाता है, अतः सामान्यतः सभी अग्नि व्यक्तियों का सामानाधिकरण्य सभी धूम व्यक्तियों में गृहीत हो जाता है, फलतः पर्वतीय धूम में स्मर्यमाण पर्वतीय वह्नि की समानाधिकरणतारूप व्याप्ति एवं पक्ष-धर्मता सुलभ हो जाती है और इसी व्याप्ति-विशिष्ट पक्षधर्मतारूप परामर्श के द्वारा पर्वत में वह्नि की अनुमिति सम्पन्न हो जाती है।

उसी प्रकार प्रकृत में भी यत्किञ्चित् स्मृति व्यक्ति का जब मन के द्वारा मनःसंयुक्तात्म-समवायरूप लौकिक सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है, उसी समय मनःसंयुक्तात्मसमवेतसमवेतस्मृति-त्वरूप सामान्यलक्षणाख्य अलौकिक सन्निकर्ष से सभी स्मृति व्यक्तियों का प्रत्यक्ष हो जाता है, अतः सर्वस्मृति-भिन्नत्वरूप अनुभूतित्व का ज्ञान सम्भव हो जाता है।

समाधान—यह जो कहा गया कि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा जैसे सकल व्याप्य और व्यापक व्यक्तियों का ग्रहण हो जाता है, वैसे ही समस्त स्मृतियों का ज्ञान सम्पन्न हो जाता है। वहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों दोष-ग्रस्त हैं, क्योंकि यदि किसी जाति के माध्यम से सभी व्यक्तियों का प्रत्यक्ष हो जाता है, तब तो आप (नैयायिकों) को प्रमेयत्वरूप जाति के द्वारा उसके आश्रयीभूत सर्व प्रपञ्च का साक्षात्कार हो जाने से आप सर्वज्ञ हो गये होंगे, किन्तु आपकी सर्वज्ञता पर हमारी श्रद्धा तभी जम सकती है, जब कि आप यह बता दें कि इस समय हमारे चित्त में कौन-सी तरंग उठ रही है।

प्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं वा, तज्ज्ञानं वा ?

न तावदाद्यः, तथा हि—स्मृतित्वान्योन्याभावोऽपि स्मृतित्वाभावो भवत्येव। तद्वत्त्वञ्च स्मृतिष्वप्यस्ति। [न हि स्मृतित्वमेव स्मृतिः।] ततश्च स्मृतेरपि प्रमात्वापातः। तद्व्यवच्छेदाद्विशेषणवैयर्थ्यञ्च, विना विशेष्यमिच्छादावतिप्रसङ्गात्।

स्मृतित्वस्य संसर्गाभावस्तत्र विवक्षित इति चेन्न, तथा हि—स्मृतित्वस्य संसर्गाभाव इति किमुच्यते ? किं स्मृतित्वविशिष्टस्य संसर्गस्याभावः ? उत संसर्ग-

अस्तु तर्हि स्मृतित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वं यस्मिन् ज्ञाने साऽनुभूतिरिति तार्तीयः पन्थास्तत्रोक्तावद्यासस्त्वावित्यत आह ॐ नेति ॐ। घटरहितं भूतलमित्यादौ राहित्यशब्दस्याभावपर्यायत्वात्तत्र च वादिनां धर्मत्वेन स्वरूपत्वेन च विप्रतिपत्तेर्विकल्पयति ॐ स्मृतीति ॐ। आश्रयो धर्मस्तत्स्वरूपमभाव इत्युक्ते सकुम्भेऽपि भूतले तदभावव्यवहारः स्यात्तद्व्यावृत्त्यर्थं स्मृतित्वप्रतियोगिकमित्युक्तम्। दृश्ये प्रतियोगिनि धर्मिमात्रमभाव इति प्राभाकरैरङ्गीकाराद्धर्मिमात्रमित्यत्र मात्रचोऽनतिरेकार्थत्वे सघटेऽपि भूतले तदभावव्यवहारोऽतिरिक्तार्थत्वे नास्ति विप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्य पक्षान्तरे तैरेवोपात्तं तदुपन्यस्यति ॐ तदिति ॐ।

भावमात्रत्वेऽभावस्य भावाभावशब्दयोः पर्यायत्वप्रसङ्गात्तदभाववत्त्वमिति प्रथममाशंक्य निषेधति ॐ नेति ॐ। स्मृतित्वसंसर्गाभाववत्त्वं वा स्यात्तत्प्रतियोगिकाभावमात्रं वेति विकल्प्यान्त्यमथापत्त्याऽपवदति ॐ तथा हीति ॐ। अन्योन्याभावस्याऽभावत्वं भावत्वं वाऽजिज्ञासितमकस्मात्कस्मादुच्यत इत्यत आह ॐ तदिति ॐ। स्मृतौ स्मृतित्वाभावमुपपादयति ॐ न हीति ॐ। स्मृतित्वाभाववत्त्वं स्मृतिष्वप्यस्तीति तत्राऽपि व्याप्तिरुक्ता सम्प्रति व्यर्थविशेष्यत्वमिति दूषणान्तरमाह ॐ तदिति ॐ। स्मृतिव्यवच्छेदार्थमनुभूतिपदोपादानं तच्च न व्यवच्छेत्तुं शक्यं उक्तप्रकारेण स्मृतित्वाभावस्य स्मृतावपि भावादिति भावः। तर्ह्यनुभूतिपदं परित्यज्य तत्त्वविषया प्रमेति लक्षणमुच्यते इत्यत आह ॐ विनेति ॐ। परमानन्दश्रद्धादीनामपि तत्त्वगोचरता विद्यते न च प्रमात्वमस्ति तेन तत्र प्रमालक्षणमतिव्याप्तं स्यादित्यर्थः।

स्मृतित्वाभावमात्रवज्ज्ञानमनुभूतिरिति न ब्रूमः किन्तु तत्संसर्गाभावो यस्मिन् ज्ञाने साऽनुभूतिरिति लक्षणमुच्यत इति शङ्कते ॐ स्मृतीति ॐ। स्मृतित्वस्य स्मृतौ समवायात्तत्र तत्संसर्गाभावान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। अतिव्याप्त्यैव दूषयति ॐ नेति ॐ। अतिव्याप्तिमेव विकल्पपूर्वकमुपपादयति ॐ तथा

३. तृतीय (स्मृतित्व-रहितत्व) कल्प भी युक्त नहीं, क्योंकि स्मृतित्व-रहितत्व का अर्थ क्या (१) स्मृतित्वाभाव है ? या (२) स्मृतित्वप्रतियोगिक अनुयोगी का स्वरूप ? अथवा (३) स्मृतित्वप्रतियोगिक अनुयोगिस्वरूप का ज्ञान ? प्रथम (स्मृतित्वाभाव) पक्ष संगत नहीं, क्योंकि स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव भी स्मृतित्वाभाव है, स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव या भेद तो स्मृति में भी है, क्योंकि स्मृतित्व धर्म है और स्मृति धर्मी, धर्म और धर्मी को एकरूप या अभिन्न नहीं माना जा सकता। फलतः स्मृति में भी स्मृतित्वान्योऽन्याभावरूप अनुभूतित्व अतिप्रसक्त होता है। स्मृति की व्यावृत्ति करने के लिए उपात्त विशेषण से यदि स्मृति की व्यावृत्ति नहीं होती, तब वह विशेषण व्यर्थ है।

'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—इस लक्षण-वाक्य का अर्थ है—तत्त्वविषयकानुभूतिः, अतः प्रमा का पूरा लक्षण होता है—'तत्त्वविषयकत्वे सति अनुभूतित्वम्।' विशेष्य दल 'अनुभूति' पद न देने पर 'तत्त्वविषयकत्वं प्रमात्वम्'—इतना ही लक्षण रह जाता है, जो कि इच्छादि सविषयक पदार्थों में अतिव्याप्त है। ज्ञान, इच्छा, द्वेष और कृति (प्रयत्न) आदि पदार्थ सविषयक माने जाते हैं। 'अनुभूति' पद रखने पर इच्छादि का ग्रहण नहीं किया जा सकता।

'स्मृत्यन्यत्व' शब्द से स्मृतित्व का संसर्गाभाव विवक्षित है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्मृतित्वसंसर्गाभाव क्या है ? क्या (१) स्मृतित्वविशिष्टस्य संसर्गस्याभावः ? या (२) संस-

विशिष्टस्य स्मृतित्वस्य, अथान्यदेव वा किञ्चिदनया वाचोयुक्त्या विवक्षितम्? आद्ये स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावः स्मृतावस्तीति स एव प्रसङ्गः। न हि स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतिः।

अत एव न द्वितीयोऽपि, न हि संसर्गविशिष्टं यत्स्मृतित्वं तदेव स्मृतिव्यक्तिः। ततश्च संसर्गविशिष्टस्मृतित्वेन सह स्मृतिव्यक्तेरन्योन्याभावमादाय उक्तदोषानिवृत्तिः। एवं तत्र तत्रापि संसर्गविशेषणप्रक्षेपे दोषानिवृत्तिरेव, अनवस्थायां वा पर्यवसानं विशेषणप्रक्षेपपरम्परायाः।

न च वाच्यं स्मृतित्वसंसर्गस्य न संसर्गान्तरेण सम्बन्धित्वं किन्तु स्वभावत

होति ❀। स्मृतित्वविशिष्टसंसर्गाभाव इति प्रथमविकल्पार्थः। स्मृतित्वोपलक्षितसंसर्गस्याभाव इति तृतीयविकल्पार्थः। वाग्भङ्ग्या वाक्प्रकारेण। स्मृतित्वसंसर्गाभावमात्रं किं वा तस्याऽपि संसर्गाभावो विवक्षित इति विकल्प्य प्रथमेऽतिव्याप्तिस्तदवस्थेत्याह ❀ आद्य इति ❀। स्मृतौ स्मृतित्वविशिष्टसंसर्गाभावात्कथं तदभाव इत्याशङ्क्य भूतले घटतदन्योन्याभाववत्स्मृतावपि संसर्गतदन्योन्याभावावुपपादयति ❀ न हीति ❀। उक्तामतिव्याप्तिं द्वितीयेऽप्यतिदिशति ❀ अत इति ❀। स्मृतौ संसर्गविशिष्टस्मृतित्वान्योन्याभावमुपपादयति ❀ नेति ❀। स्मृतित्वसंसर्गाभावो यत्र साऽनुभूतिरित्युक्ते तदन्योन्याभावमादाय स्मृतावतिव्याप्तिस्तदवस्थेति फलितमाह ❀ ततश्चेति ❀। संसर्गाभावमात्रं न विवक्ष्यते किन्तु स्मृतित्वसंसर्गाभावो यत्र ज्ञाने सानुभूतिरिति लक्षणवाक्यार्थं इति प्रथमविकल्पमाशङ्क्याह ❀ एवमिति ❀। तस्य संसर्गस्यान्योन्याभावमादाय स्मृतावतिव्याप्तिर्वज्रलेपायत इत्यर्थः। तत्र तत्र सर्वत्र संसर्गाभावस्यैव विवक्षितत्वादन्योन्याभावमादाय कुतोऽतिव्याप्तिः स्मृतावित्याशङ्क्याह ❀ अनवस्थेति ❀।

स्मृतित्वसंसर्गस्य स्वव्यतिरिक्तसंसर्गमङ्गीकृत्य तदभावविवक्षायां संसर्गानवस्था स्यात् न तु तदस्ति संसर्गस्य स्वभावसंसर्गस्य स्वीकारात् तत्प्रतियोगिकाभावविवक्षायां कुतोऽनवस्थेत्यत आह ❀ न चेति ❀। जातिव्यक्त्योः समवायः संसर्गः स च स्वपरनिर्वाहक इति पूर्वपक्षाभिप्रायः। स्मृतित्वसंसर्गस्य स्वभावसम्बन्धत्वमभ्युपगम्यानवस्थापरिहारे सत्यतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यादित्याह ❀ स्मृतीति ❀।

र्गविशिष्टस्य स्मृतित्वस्य अभावः? अथवा (२) कुछ अन्य पदार्थ ही उक्त शब्द से विवक्षित है? प्रथम कल्प का अवलम्बन करने पर स्मृति में पूर्ववत् अतिव्याप्ति प्रसक्त होती है, क्योंकि स्मृतित्व-विशिष्ट संसर्ग का तादात्म्य स्मृति में न रहने के कारण उक्त संसर्ग का अन्योऽन्याभाव स्मृति में भी है। अत एव द्वितीय कल्प (संसर्गविशिष्टस्य स्मृतित्वस्याभावः) भी संगत नहीं, क्योंकि जो संसर्ग-विशिष्ट स्मृतित्व है, वही तो स्मृति है नहीं, अतः संसर्ग-विशिष्ट स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव स्मृति में रह जाने के कारण वह अतिव्याप्ति-प्रसङ्ग बना रहता है, उस दोष की निवृत्ति नहीं होती। यदि प्रथम कल्प में कथित स्मृतित्व के संसर्ग का अभाव भी संसर्गाभाव विवक्षित है, तब उसका अर्थ होता है—'स्मृतित्व-संसर्ग के संसर्ग का अभाव।' द्वितीय संसर्ग का अभाव भी अन्योऽन्याभावात्मक लिया जा सकता है, उसकी व्यावृत्ति के लिए द्वितीय संसर्ग का संसर्गाभाव लेने पर भी कथित अतिव्याप्ति-प्रसङ्गरूप दोष से छुटकारा भी नहीं मिलता एवं उत्तरोत्तर संसर्ग के निवेश का कोई अन्त नहीं, अनवस्था भी हो जाती है।

शङ्का—स्मृतित्वरूप जाति का स्मृतिरूप व्यक्ति में स्मृतित्व से भिन्न समवाय संसर्ग होता है, अतः स्मृतित्व का संसर्गाभाव सम्भव है, किन्तु स्मृतित्व के समवायरूप संसर्ग का संसर्गान्तर नहीं माना जाता, अपितु एक ही समवाय संसर्ग जहाँ स्मृतित्व और स्मृति को सम्बन्धित करता है, वहाँ स्वयं को भी संसर्गान्तर के विना ही स्वतः सम्बन्धित करता है, अतः समवाय का संसर्ग स्वयं वही समवाय ही है, उससे भिन्न नहीं। फलतः संसर्ग-परम्परा की कल्पना यहाँ नहीं की जाती, तब अनवस्था क्यों होगी।

एव, तत् कुतः परम्परागवेषणं कार्यमिति ? स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय कृतस्य प्रसङ्गस्य परिहर्तुं तदानीं सुतरामशक्यत्वात् संसर्गान्तरविशेषणवचनस्य अधिकार्थापर्यवसायित्वात् ।

किञ्च—तदुभयस्वरूपातिरेकं तत्संसर्गस्यामन्यमानेन स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतित्व-धर्मिस्वरूपं चेत्येतयोः संसर्गात्मत्वे व्यवस्थाप्यमानेऽनुभूतौ कथं तादृशस्य संसर्गस्य निषेधः । किमनुभूतेः स्वरूपं नास्ति, उत स्मृतित्वसंसर्गस्य, ततः कस्य निषेधः ?

अर्थान्तरभूतस्य च संसर्गस्य निषेधे स्मृतावपि प्रसङ्गस्तदवस्थः, स्मृतौ

संसर्गस्य संसर्गान्तराभ्युपगमेऽनवस्था परं स्याविह पुनः संसर्गान्योन्याभावयोर्भेदोऽपि न स्यात् स्वरूपप्रति-योगित्वादुभयोरपीति तदर्थः 'संसर्गतरेतराभावयोर्भेदासिद्धिः कुतः एकस्य संसर्गप्रतियोगित्वादपरस्य स्वरूपप्रतियोगित्वादित्यत आह ❀ संसर्गेति ❀ । स्मृतित्वसंसर्गातिरिक्तसंसर्गाभावे संसर्गवचनस्य प्रथम-संसर्गानतिरिक्तार्थत्वात्संसर्गाभाव एवोक्तः स्यात्ततश्च स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावः स्मृतावप्यस्तीति स एव प्रसङ्ग इत्यर्थः ।

एवं स्मृतित्वसंसर्गसंसर्गाभावमनुभूतावभ्युपगम्यातिव्याप्तिरवादि सम्प्रति सोऽपि नानुभूतौ सिध्य-तीति लक्षणस्यासम्भवदोषमाह । ❀ किञ्चेति ❀ । स्मृतित्वसंसर्गस्मृतिव्यक्त्योः संसर्गस्य तदुभयस्व-रूपातिरेकममन्यमानेन त्वया स्मृतित्वसंसर्गस्मृतिव्यक्तिस्वरूपयोः संसर्गात्मत्वे व्यवस्थाप्यमाने स्मृतित्व-संसर्गानुभूतिस्वरूपानतिरिक्तसंसर्गनिषेधोऽनुभूतावपि न सिध्यतीति लक्षणस्यासम्भव इत्यर्थः । कथंशब्द-सूचितामनुपपत्तिमेव स्फोरयति ❀ किमिति ❀ । स्मृतित्वसंसर्गस्य यः संसर्गोऽनुभूतौ निषिध्यते किमसा-वनुभूतिस्वरूपम्, उत तत्स्मृतित्वसंसर्गस्य, ताभ्यामर्थान्तरमेव वा, न तावत्प्रथमद्वितीयौ तयोः स्वरूपेण सत्त्वात्ततः कस्य निषेधः ? न कस्यापीत्यर्थः । तदुभयस्वरूपातिरिक्तः संसर्गोऽनुभूतौ निषिध्यत इति तृतीयं विकल्पमाशङ्क्याह ❀ अर्थेति ❀ । स्मृतित्वसंसर्गातिरिक्तसंसर्गनिषेधः स्मृतावप्यस्तीति तत्रातिव्याप्ति-रित्यर्थः । स्मृतिव्यक्तिस्मृतित्वसंसर्गयोः स्वव्यतिरिक्तसंसर्गो नाङ्गीक्रियते समवायस्यैकत्वात्संयोगादेर-सम्भवादित्याह ❀ स्मृताविति ❀ । स्मृतित्वसंसर्गस्य स्मृत्या संसर्गो नास्ति चेत्स्मृतित्वसमवायवती

समाधान—यदि स्मृतित्व के समवायरूप संसर्ग का संसर्ग भिन्न नहीं स्वरूप ही है, तब संसर्ग के स्वरूपसंसर्ग का अन्योऽन्याभाव प्रथम संसर्ग (समवाय) के अन्योऽन्याभाव से भिन्न नहीं, अपितु संसर्गान्योऽन्याभाव ही सिद्ध होता है, क्योंकि संसर्गान्तररूप विशेषण से किसी अधिक अर्थ का ग्रहण नहीं किया गया । संसर्गान्योऽन्याभाव की अतिव्याप्ति स्मृति में दी जा चुकी है, अतः स्मृतित्व संसर्ग के संसर्ग का अन्योऽन्याभाव भी स्मृति में अतिप्रसक्त होता है ।

स्मृतित्व-संसर्ग का संसर्ग स्मृति में है और अनुभूति में नहीं—यही अनुभूति में स्मृत्यन्यत्व विवक्षित हैं, किन्तु स्मृतित्व-संसर्ग का संसर्ग अपने उभय सम्बन्धियों का स्वरूप माना जाता है, अतिरिक्त नहीं, उसके उभय सम्बन्धी हैं—(१) स्मृतित्व-संसर्ग और (२) स्मृतित्व का धर्मी स्मृति व्यक्ति । अनुभूति में जो स्मृतित्व-संसर्ग के संसर्ग का निषेध किया जाता है, वह क्या (१) अनुभूतिरूप धर्मी का स्वरूप है ? या स्मृतित्व-संसर्ग का स्वरूप ? अथवा (३) अर्थान्तर (उभय से भिन्न वस्त्वन्तर) ? प्रथम कल्प के अनुसार 'अनुभूतौ अनुभूतिस्वरूपं नास्ति'—ऐसा निषेध का आकार सम्पन्न होता है, जो कि असम्भव है, क्योंकि क्या अनुभूति का कोई स्वरूप ही नहीं ? यदि नहीं, तब निःस्वरूपता या शून्यवाद प्रसक्त होता है । द्वितीय कल्प के अनुसार 'स्मृतित्व-संसर्गस्य स्वरूपं अनुभूतौ नास्ति'—ऐसा निषेध पर्यवसित होता है, वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि स्मृतित्व-संसर्ग चाहे कहीं हो, या नहीं, उसका स्वरूप तो व्यवस्थित रहता है, उसका निषेध नहीं हो सकता । तृतीय विकल्प के अनुसार अर्थान्तरभूत संसर्ग का निषेध मानने

तस्यार्थान्तरभूतस्य भवताऽनभ्युपगमात्, स्वरूपमेव तयोः सम्बन्ध इति तत्र-भवतोऽभ्युपगमः।

अथोच्यते—अनुभूतिस्मृतित्वसंसर्गयोः स्वरूपसम्भवेऽपि न परस्परसम्बद्ध-बुद्धिजनकत्वं तयोः, तादृक्त्वञ्च यत्र तयोस्तत्र सम्बन्धात्मकत्वं स्वरूपयोरुच्यत इति मैवम्, विशेषोपसङ्ग्राहकासिद्धौ तस्याऽप्यनुपपत्तेः। उपसङ्ग्राहकान्तरोक्तौ तत्सम्बन्धेऽपि प्रसङ्गेन अपरापरोपसङ्ग्राहकगवेषणायामनवस्थापातात्।

तावताऽपि चानुभूतिस्वरूपे कस्य निषेधो वर्णितः स्यात्? स्मृतित्वसंसर्गानु-

---

स्मृतिरिति कथं व्यवहार इत्याशङ्क्य समवायस्य संसर्गान्तराभावेऽपि स्वनिर्वाहकत्वात्तदुपपत्तिरित्याह ❀ स्वेति ❀। तत्रभवतः—पूज्यस्येति विपरीतलक्षणा।

स्मृतिस्मृतित्वसंसर्गयोः स्वरूपमत्रसम्बन्धं न ब्रूमो येनायमुपालम्भोऽपि किं तु परस्परसंसृष्टबुद्धि-जनकं स्वरूपं न च तादृक् स्वरूपमनुभूतिस्मृतित्वसंसर्गयोरस्ति तेन न स्मृतावतिव्याप्तिर्नाप्यसम्भवोऽनुभूति-लक्षणस्येति शङ्कते ❀ अथेति ❀। सम्बद्धबुद्धिजनकत्वाभावो लोकप्रसिद्धिसिद्ध इति यावत्। मा भूत तयो-र्मिथः सम्बद्धत्वबुद्धिजनकत्वं ततः को लाभस्तत्राह ❀ तादृगिति ❀। स्मृतिव्यक्तीनामेव तादृशबुद्धिजन-कत्वं नान्येषामित्ययं विशेषः किं सकलस्मृत्यनुगतप्रयोजकान्तरेण सिद्ध्यत्युत तदन्तरेणेति, विकल्प्य द्वितीयं दूषयति ❀ मैवमिति ❀। बुद्धिजनकत्वं नाम कारणत्वं तच्च सकलस्मृत्यनुगतरूपमन्तरेण न सिध्यति सम्बन्धाभावस्योभयत्राविशिष्टत्वादित्यर्थः। विशेषेति व्यक्तिरुच्यते। उपसङ्ग्राहकेति अनुगत-तया साकल्येन तद्ग्रहणहेतुरूपमुच्यते। अस्तु तर्हि उपसङ्ग्राहकेण तादृग्बुद्धिजनकत्वसिद्धिरिति प्रथमविकल्प-माशङ्क्याऽऽह ❀ उपेति ❀। तदुपसंग्राहकं स्मृतित्वम्? उतान्यत्? न तावत्स्मृतित्वम्, तस्याऽद्याप्यनिरूप-णात्नान्यत्स्मृत्यसाधारणं रूपे सम्भवति, सम्भवेऽपि तत्सम्बन्धः स्मृतीनामेव नान्यत्रेत्यत्रापि नियामकान्तरं वक्तव्यं ततश्च तत्राऽपि तत्राऽपीत्युपसङ्ग्राहकरूपानवस्थेत्यर्थः।

सम्बद्धत्वबुद्धिजनकत्वमेव स्मृतिस्मृतित्वसंसर्गयोर्न सिध्यति नियामकाभावादित्युक्तम्, इदानीं तदभ्युपगमेऽप्यनुभूतिलक्षणस्यासिद्धिरित्याह ❀ तावतेति ❀। अनुभूतिस्मृतित्वसंसर्गयोः स्वरूपं न निषेध्यं

पर स्मृति में भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि स्मृति में भी स्मृतित्व-संसर्ग का संसर्ग अर्थान्तरभूत (स्मृतित्व संसर्ग और स्मृति - इन दोनों से भिन्न) नहीं माना जाता, आपकी स्पष्ट घोषणा है कि 'स्वरूपमेव तयोः सम्बन्धः।'

शङ्का—[दो वस्तुओं के उन स्वरूपों को ही सम्बन्ध माना जाता है, जो 'घटवद्भूतलम्' या 'भूतले घटः' के समान परस्पर सम्बद्ध-बुद्धि के जनक हों] अनुभूति और स्मृतित्व-संसर्ग के स्वरूप सम्भव होने पर भी परस्पर सम्बद्ध-बुद्धि के जनक न होने के कारण 'सम्बन्ध' पद से अभिहित नहीं हो सकते। 'स्मृतित्वसंसर्गवती स्मृतिः' या 'स्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गः'—इस प्रकार सम्बद्ध-बुद्धि के जनक होने के कारण स्मृतित्व-संसर्ग और स्मृति के स्वरूपों को सम्बन्ध या संसर्ग कहा जाता है।

समाधान—सभी स्मृतियों के स्वरूप कथित सम्बद्ध-बुद्धि के जनक होते हैं, अनुभूति के स्वरूप नहीं—ऐसा विनिगमन किसी संग्राहक (स्मृतित्वादि) धर्म के विना सम्भव नहीं। स्मृतित्वादि से भिन्न किसी और धर्म को उपसंग्राहक मानने पर उसके सम्बन्ध और उस सम्बन्ध के सम्बन्धान्तर की समस्यायें उत्पन्न होकर अनवस्था के असीम सागर में इस वाद को डुबा देती हैं।

यदि किसी उपसंग्राहक धर्म के विना ही सम्बद्ध-बुद्धि-जनकता मान लेते हैं फिर भी अनुभूति में किसका निषेध विवक्षित है? 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती सम्बद्धे'—इस प्रकार की बुद्धि जनकता का निषेध यदि करना चाहें, तब नहीं कर सकते, क्योंकि भ्रान्तिरूप उक्त बुद्धि

भूती सम्बद्धे इत्येवंरूपबुद्धिजनकत्वस्येति चेन्न, भ्रान्त्यात्मिकाया ईदृशबुद्धेर्जनकत्वस्य वारयितुमशक्यत्वात्। यथार्थाया इति चेत्, ईदृशबुद्धेर्यथार्थाया यदि सत्त्वमभ्युपैषि, तदाऽनुभूतौ स्मृतित्वप्रसङ्गः। अथ नाभ्युपैषि, किं प्रति तस्या जनकत्वाभावो निरूप्यः ?

अथात्यन्तासतीमेव तादृशबुद्धिं प्रति जनकत्वाभावावधारणमनुभूतेरभ्युपैषि, तदा स्मृतावपि प्रसङ्गः, यावत्यस्तद्बुद्धयस्तत्र जायन्ते, तदधिकां तादृशबुद्धिमत्यन्तासतीं प्रत्यजनकत्वस्य स्मृतावपि सम्भवात्।

सर्वामेव तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वमनुभूतेः, न तु एवं स्मृतेरिति चेन्न,

---

सत्त्वान्नापि तत्संसर्गोऽनङ्गीकारादेव निषेधानर्हत्वादित्यर्थः। यद्यपि संसर्गान्तरस्यासतोऽप्रसक्त्वादेव न निषेध्यत्वं अथापि तयोः सम्बन्धत्वबुद्धिजनकत्वं स्मृतौ दृष्टमत्रारोप्य निषिध्यत इति शङ्कते ❀स्मृतीति❀। तत्रेतदभिधानीयं किं भ्रान्तेवंरूपबुद्धिजनकत्वस्य निषेध, उत यथार्थैवंरूपबुद्धिजनकत्वस्येति ? न तावदाद्य इत्याह ❀ नेति ❀। अनुभूतावपि यथाऽख्यातिवादिनो रजतप्रत्यये स्मृतिरियमिति भ्रान्तिस्तथा स्मृतिभ्रान्तिसम्भवान्न तज्जनकत्वनिषेधसम्भव इत्यर्थः। यथार्थैवंरूपबुद्धिजनकत्वनिषेध इति द्वितीयमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। स्मृतित्वसंसर्गानुभूती परस्परं सम्बद्धे इति बुद्धेः सत्त्वमुतासत्त्वमिति विकल्प्याद्यं दूषयति ❀ ईदृशेति ❀। स्मृतावपीदृशबुद्धेः सत्त्वे स्मृतित्वतत्संसर्गवदनुभूतावपि तत्संसर्गः स्याद् अतश्चानुभूतौ तन्निषेधासिद्धेर्लक्षणासिद्धिरित्यर्थः। द्वितीयमनुभाषते ❀ अथेति ❀। अन्यथाख्यातिवादिभिः क्वचित्प्रामाणिकस्यान्यत्रारोप्य निषेधाभ्युपगमात्स्मृतित्वसंसर्गानुभूती सम्बद्धे इति बुद्धेरत्यन्तासत्त्वे प्राप्त्ययोगात्तज्जनकत्वनिषेधोऽपि न सम्भवति, प्रतियोग्यनिरूपणादिति परिहरति ❀ किमिति ❀। यत्र यन्निषिध्यते तत्र तस्य सत्त्वे निषेधायोगादप्रमितप्रतियोगिको निषेधः स्वीक्रियत इति शङ्कते ❀ अथेति ❀। एवमसिद्धिं परिहरता लक्षणस्यातिव्याप्तिरापादिता स्यादित्याह सिद्धान्ती ❀ तदेति ❀। स्मृतेरेवम्भूतबुद्धिजनकत्वे सति तादृशजनकत्वाभावः कथम् भावाभावयोर्युगपदेकधर्मिसंसर्गविरोधादित्याशङ्क्याह ❀ यावत्य इति ❀। तज्जन्यतयाऽभ्युपेतशतसहस्रादिबुद्धिव्यतिरिक्ततादृशबुद्धेः कदाचिदपि तज्जन्यत्वाभावात्तज्जनकत्वाभावः स्मृतावप्यस्तीत्यर्थः। स्मृतित्वसंसर्गतज्ज्ञानस्वरूपे परस्परं संसृष्टे इत्येवंरूपासद्बुद्धिजनकत्वाभावो यत्र ज्ञाने साऽनुभूतिरित्युक्ते स्मृतावुक्तातिव्याप्तिं परिहर्तुमनुभूतिलक्षणं विशिनष्टि ❀ सर्वामिति ❀। तादृश-

---

को लेकर अनुभूति में भी स्मृतित्व-संसर्ग का निषेध नहीं किया जा सकता। यदि वैसी यथार्थ बुद्धि विवक्षित है, तब यह जिज्ञासा होती है कि 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती सम्बद्धे'—ऐसी यथार्थ बुद्धि प्रसिद्ध है ? अथवा नहीं ? यदि होती है, तब अनुभूति में स्मृतित्व का अतिप्रसङ्ग होता है। यदि वैसी यथार्थ बुद्धि प्रसिद्ध नहीं, तब किसकी जनकता का अभाव अनुभूति में निरूपित होगा ? [अर्थात् 'अनुभूतित्वससंसर्गानुभूती सम्बद्धे'—इस प्रकार की यथार्थ बुद्धि की जनकता अनुभूति के स्वरूप में हैं किन्तु 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती सम्बद्धे'—इस प्रकार की यथार्थ बुद्धि की जनकता अनुभूति के स्वरूप में नहीं—यह आप जो कहना चाहते हैं, वह संगत नहीं हो सकता, क्योंकि जब 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती सम्बद्धे' ऐसी यथार्थ बुद्धि ही अत्यन्त अप्रसिद्ध है, तब खपुष्प के समान अत्यन्त अप्रसिद्ध यथार्थ बुद्धि की जनकता का अभाव या निषेध सम्भव नहीं]। यदि खपुष्प के समान अत्यन्त असत् (अप्रसिद्ध) तादृश बुद्धि की ही जनकता के अभाव का अवधारण अनुभूति में किया जाता है, तब स्मृति में भी वह प्रसङ्ग उपस्थित होता है, क्योंकि जितनी भी वैसी बुद्धियाँ वहाँ उत्पन्न हो सकती हैं, उनसे अधिक अत्यन्त अप्रसिद्ध तादृश बुद्धि की जनकता का अभाव स्मृति में भी है।

शङ्का—लक्षण-वाक्य में यत्किञ्चिद्बुद्धिजनकत्वाभाव नहीं, सर्वतादृशबुद्धिजनकत्वाभाव विवक्षित है। अनुभूति में यह विशेषता है कि उसमें 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती परस्परं सम्बद्धे'—

सर्वतद्व्यक्तिप्रमित्यसम्भवात् ।

किञ्च सर्वामिति कोऽर्थः—किमसतीं सर्वाम्, उत सतीम्, अथ सतीमसतीञ्चेत्युभयीमपि प्रत्यजनकत्वम् ? आद्ये द्वितीये, च स्मृतावपि तदजनकत्वमस्त्येव । न हि 'स्मृतित्वसंसर्गस्मृती सम्बद्धे' इति यावत्यः स्मृतिव्यक्तिषु बुद्धय उत्पद्यन्ते, ताः प्रति प्रत्येकं स्मृतिव्यक्तिषु जनकत्वमस्ति । काञ्चित् सतीं प्रति च तदजनकत्वं प्रागेव दूषितम् । तृतीये नानुभूतावपि तदजनकत्वम्, सत्यासत्यतादृशबुद्धेर्भावेन अभावेन वा सतीमसतीं प्रत्यजनकत्वस्यासम्भवादिति ।

स्यादेतत्—स्मृतित्वस्य अन्योन्याभावमादाय याऽतिप्रसक्तिर्दर्शिता सा नोप-

---

बुद्धिजनकत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वमनुभूतेर्लक्षणं न त्वेतत् स्मृतावस्ति कतिपयतादृशबुद्धिजनकत्वात्तस्या इत्यर्थः । सकलतादृशबुद्धिज्ञानव्यतिरेकेण तदजनकत्वबुद्धिरनुपपन्ना प्रतियोगिप्रमितिं विनाऽभावप्रमित्यसम्भवात्सर्वासां सम्बन्धत्वबुद्धिव्यक्तीनामसर्वज्ञस्य प्रमित्यसम्भवादसिद्धिर्लक्षणस्येत्याह ❀ नेति ❀ । सर्वां प्रत्यजनकत्वमिति पक्षे लक्षणासिद्धिरुक्ता सम्प्रत्यतिव्याप्तिं समुच्चिनोति ❀ किञ्चेति ❀ । शिष्टं स्पष्टम् । प्रथमद्वितीययोः स्मृतेरप्यनुभूतित्वप्रसङ्ग इत्याह ❀ आद्य इति ❀ । असत्यास्तादृशबुद्धेरजनकत्वं यद्यपि स्मृतावस्ति तथापि सतीं तादृशीं बुद्धिं प्रत्यजनकत्वं नास्ति तेन द्वितीये न स्मृतावतिव्याप्तिरित्याशङ्क्याह ❀ न हीति ❀ । भूतभविष्यद्वर्तमानतादृशबुद्धिं सर्वां प्रति जनकत्वमेकैकस्मृतिव्यक्तेर्नास्ति तेन सर्वस्मृतिष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः । एकैकतादृशबुद्ध्यजनकत्वे सति सर्वां तां प्रत्यजनकत्वमनुभूतेर्लक्षणं नैतत्स्मृतावस्ति सर्वाजनकत्वेऽप्येकैकजनकत्वादित्याशङ्क्याह ❀काञ्चिदिति❀ । सत्यां यथार्थां सतीं विद्यमानामित्यर्थः । यथार्थतादृशबुद्धेरनुभूतौ सत्त्वासत्त्वयोर्दोषमवादिष्मेत्यर्थः । उभयीम्प्रत्यजनकत्वमिति तृतीयपक्षं दूषयति ❀ तृतीय इति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ सत्या इति ❀ । सत्या विद्यमानायाः सत्यतादृशबुद्धेः स्मृतित्वानुभूती सम्बद्धे इति यथार्थाया भावेनाभावेन वा जनकत्वासम्भवादसत्यास्तु प्रतियोग्यनिरूपणादेवाजनकत्वासम्भवात्सतीमसतीं प्रत्यजनकत्वं न सम्भवतीत्यर्थः ।

स्मृतित्वाभावो यत्र साऽनुभूतिरिति लक्षणाभिधाने स्मृतित्वान्योन्याभावः स्मृतावप्यस्तीति लक्षणस्यातिव्यापकत्वमुक्तं तदयुक्तमेव सामान्यविशेषयोः समवायसंसर्गवादिभिस्तस्य परिहर्तुमशक्यत्वेऽपि

इस प्रकार की सभी यथार्थ बुद्धियों की जनकता का अभाव है, किन्तु स्मृति में 'स्मृतिसंसर्गस्मृती सम्बद्धे'—इस प्रकार की बहुत-सी यथार्थ बुद्धियों की जनकता सुलभ है, समस्ततादृश बुद्धिजनकत्व का अभाव न होने के कारण लक्षण अतिप्रसक्त नहीं होता ।

समाधान—समस्त तादृश बुद्धियों का प्रमा ज्ञान किसी असर्वज्ञ व्यक्ति को नहीं हो सकता, अतः उक्त लक्षण में असम्भव दोष है । दूसरी बात यह भी है कि लक्षण-घटक 'सर्व' शब्द से क्या (१) सभी असत् (अविद्यमान) ? या (२) सत् (विद्यमान) ? अथवा (३) उभयात्मक बुद्धि की जनकता का अभाव विवक्षित है ? प्रथम और द्वितीय कल्प का ग्रहण करने पर स्मृति में भी तादृश सर्व अयथार्थ बुद्धियों की जनकता का अभाव अतिप्रसक्त होता है, क्योंकि 'स्मृतित्वसंसर्गस्मृती सम्बद्धे'—इस प्रकार की जितनी भी स्मृति व्यक्तियों की बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, उनकी जनकता का प्रत्येक स्मृति व्यक्ति में नहीं होती । कतिपय तादृश सद्बुद्धियों की जनकता का अभाव पहले ही दूषित किया जा चुका है । तृतीय कल्प मानने पर अनुभूति में तादृश समस्त बुद्धियों की जनकता का अभाव सम्भव नहीं, क्योंकि सत्यासत्य तादृश (स्मृतित्वसंसर्गानुभूती सम्बद्धे इत्यादि) बुद्धियों का भाव हो या अभाव, असत् (अप्रसिद्ध) बुद्धि की अजनकता अत्यन्त अलीकप्रतियोगिक होने के कारण प्रसिद्ध नहीं ।

शङ्का—स्मृत्यन्यत्व का एक अर्थ किया गया था—स्मृतित्वाभाव, वहाँ जो स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव लेकर स्मृति में अतिप्रसङ्ग दिया गया था, वह भाट्ट मत के अनुसार

पद्यते, भेदाभेदवादिमते स्मृतित्वभेदाभेदस्य स्मृत्या सहाभ्युपगमात्। ययोर्भेदाभेदः, तयोस्तत्रान्योन्याभावानभ्युपगमात्। मैवम्; कथं ह्यवधार्यं स्मृतित्वस्य भेदाभेदः स्मृत्या, नानुभूत्येति ?

अनुभूत्या सह तद्विशिष्टप्रमाया अभावादिति चेन्न, किं सत्याः किमसत्या इत्याद्युक्तविकल्पदोषात्। प्रागभावप्रतियोगिन्या इति चेन्न, अनुभूतौ तादृश्याः स्वीकारेण

तादात्म्यवादिभिः साऽतिव्याप्तिः परिहर्तुं शक्यत इति भाट्टश्चोदयति ॐ स्यादिति ॐ। अन्योन्याभावो नाम तादात्म्याभावस्तादात्म्यं च भेदे सत्यभेदः स्मृतिस्मृतित्वयोस्तस्मिन्विद्यमाने कथमन्योऽन्याभाव इत्यर्थः। आह च—

"क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते।
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम्॥
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते।
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः।,
शशशृङ्गाद्यभावेन सोऽत्यन्ताभाव उच्यते॥" इति

स्मृतिः, स्मृतित्वान्योन्याभाववती, ततो भिन्नत्वादनुभूतिवदित्याशङ्क्याऽत्यन्तभिन्नत्वमुपाधिरित्याह ॐ ययोरिति ॐ। स्मृतित्वस्य स्मृत्या सह तादात्म्यं नानुभूत्येति विशेषसिद्धौ लक्षणातिव्याप्तिः परिह्रियेत स एव तु नाद्यापि सिद्धो नियामकाभावादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। स्मृतित्वस्य स्मृत्या सह तादात्म्यं सामानाधिकरण्यसिद्धमनुभूत्या तदभावो योग्याऽनुपलब्धिसिद्ध इति शङ्कते ॐ अनुभूत्येति ॐ। स्मृतित्वविशिष्टप्रमाया असत्वादित्यर्थः। स्मृतित्वानुभूत्योः सम्बन्धग्राहिका प्रमा सती नास्तीत्युच्यते, उतासती, किं वा प्रागसतीति, विकल्प्य कल्पद्वयं प्रागुक्तदोषानुषङ्गेन दूषयति ॐ नेति ॐ। प्रागसत्याः प्रमाया भावादिति तृतीयमाशङ्कते ॐ प्रागिति ॐ। प्रागसतः कदाचिदुत्पत्तिनियमादनुभूतित्वस्मृतित्वसंसर्गप्रमायाः

अत्यन्त असंगत है, क्योंकि श्री कुमारिल भट्ट ने जाति और व्यक्ति का भेदाभेद माना है—

एवं च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना।
केनचिद् ह्यात्मनैकत्वं नानात्वं चास्य केनचित्॥
यथा कल्माषवर्णस्य यथेष्टं वर्णनिग्रहः।
चित्रत्वाद् वस्तुनोऽप्येवं भेदाभेदावधारणम्॥ (श्लो० वा० पृ० ५६०)

जिन दो पदार्थों का परस्पर भेदाभेद माना जाता है, उनका अन्योऽन्याभाव उनमें नहीं रहता, अतः स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव स्मृति में सुलभ न होने के कारण अतिप्रसङ्ग क्यों होगा ?

समाधान—स्मृतित्व जाति का भेदाभेद सम्बन्ध स्मृति व्यक्ति के साथ है, अनुभूति व्यक्ति के साथ नहीं—ऐसे अवधारण का आधार क्या ? यदि कहा जाय कि 'स्मृत्वविशिष्टेयम्'—इस प्रकार की प्रमा स्मृति में होती है, अनुभूति में नहीं। यही प्रमा ज्ञान उक्त भेदाभेद का नियामक है। तो वैसा कहना सम्भव नहीं, क्योंकि उक्त प्रमा सती (विद्यमान) है ? अथवा नहीं ? इत्यादि विकल्पों का जाल बिछ जाता है, जिससे छूटना संभव नहीं [अर्थात् स्मृतित्व और अनुभूति की वैशिष्ट्यावगाहिनी प्रमा यदि सत् है और उसका निषेध अनुभूति में किया जाता है, तब उस प्रमा से अनुभूति में भी स्मृतित्व सिद्ध होता है और यदि उस प्रमा को असत् मान कर उस असत् प्रमा का निषेध अनुभूति में किया जाता हैं, तब वह स्मृति में भी सुकर है, अतः स्मृति में भी स्मृतित्व का वैशिष्ट्य सिद्ध नहीं होगा]।

शङ्का—उक्त प्रमा के लिए सती या सती–ऐसा न कह कर इतना ही कहा जा सकता है कि स्मृतित्वानुभूतिवैशिष्ट्यप्रमा प्रागभावप्रतियोगिनी न भवति। [स्मृतित्वस्मृतिवैशिष्ट्यप्रमा प्रागभाव की प्रतियोगिनी होती है, जहाँ जिसका प्रागभाव होता है, वहाँ उसका कदाचित्

अनुभूतेस्तथात्वापातात्। स्मृतिस्मृतित्वयोरन्योन्याभावश्च अन्योन्यात्माऽनुभूतावपि तुल्यः। न हि स्मृतित्वान्योन्याभावोऽनुभूतिरित्युक्तमावर्तते।

१४. अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदखण्डनम्

अथ मा भूद्भेदाभेदमादाय परिहारः, तथापि 'इदं तन्न भवति, इह तन्नास्ती'ति

प्रागसत्वे कदाचिद्भावानुमानादनुभूतेः स्मृतित्वं पारमार्थिकं स्यादिति दूषयति ❀ नेति ❀। यदुक्तं स्मृतित्वान्योन्याभावः स्मृतौ नास्ति अनुभूतौ विद्यत इति तत्राह ❀ स्मृतीति ❀। अभावस्याभावान्तराङ्गीकारेऽनवस्थाप्रसङ्गादन्योन्याभावस्याभावोऽन्योन्याभावस्वभावोऽभ्युपगन्तव्यः, स चानुभूतावपि तुल्य इति अनुभूतेरपि स्मृतित्वं स्यादेवेत्यर्थः। यद्यपि स्मृतिस्मृतित्वान्योन्याभावस्वभावत्वमनुभूतेर्नास्ति तथापि स्मृतित्वानुभूत्योः स्वरूपभेदादन्योन्यभावो नास्तीत्याशङ्क्याह ❀ न हीति ❀। स्वरूपभेदस्य स्मृतावपि तुल्यत्वादन्योन्यभावस्तत्रापि न भवेदित्युक्तमावर्तते। अनुभूतेस्तथात्वापातादित्युक्तं स्मृतित्वं प्रसज्यत इत्यर्थः।

स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावमादाय स्मृतावनुभूतित्वप्रसञ्जनमयुक्तमेवान्योन्याभावविलक्षणसंसर्गाभावस्य विवक्षितत्वात्। न च तयोर्भेदो नास्ति तस्यानुभवसिद्धत्वादिति द्वितीयमाशङ्कते। ❀ अथेति ❀। अभावयोर्भेदः किं प्रतियोग्युपाधिभेदादुत जात्यादिनिमित्त इति विकल्प्य न तावदाद्यः, प्रतियोगिभेदा-

भाव भी होता है, अतः स्मृति में स्मृतित्वस्मृतिवैशिष्ट्य-प्रमा कदाचित् सिद्ध होकर स्मृति में स्मृति का वैशिष्ट्य प्रमाणित कर देती है, किन्तु स्मृतित्वानुभूतिवैशिष्ट्यप्रमा प्रागभाव की प्रतियोगिनी नहीं, अतः वैसी प्रमा न कदाचित अनुभूति में सिद्ध होती है और न वहाँ स्मृतित्व-वैशिष्ट्य की साधिका होती है]।

समाधान—अनुभूति में 'स्मृतित्वानुभूतिवैशिष्ट्यप्रमा प्रागभावप्रतियोगिनी न भवति'—इस वाक्य का क्या (१) प्रागभावप्रतियोगिनी या तादृशी प्रमा (स्मृतित्वानुभूति वैशिष्ट्यप्रमा) सा न भवति'—ऐसा अर्थ विवक्षित है? अथवा (२) 'या स्मृतित्वानुभूति-वैशिष्ट्यप्रमा, सा प्रागभावप्रतियोगिनी न'—ऐसा अर्थ? प्रथम कल्प मानने पर उक्त प्रमा में प्रागभाव-प्रतियोगित्व सिद्ध हो जाता है, अतः अनुभूति में वैसी प्रमा का कदाचित् भाव सिद्ध होकर स्मृतित्व-वैशिष्ट्य सिद्ध कर देता है। द्वितीय कल्प का अवलम्बन करने पर उक्त प्रमा में प्रागभाव-प्रतियोगित्व सिद्ध हो या नहीं, उक्त प्रमा के आधार पर ही अनुभूति में स्मृतित्व-वैशिष्ट्य सिद्ध हो जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि भेदाभेदवाद के अनुसार जैसे स्मृति में स्मृतित्व और स्मृति का अन्योऽन्याभाव नहीं रहता, वैसे ही अनुभूति में भी स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव नहीं रहता, अर्थात् स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का अभाव अन्योऽन्याभावान्योऽन्याभावरूप है, क्योंकि अनुभूति स्मृतित्वान्योऽन्याभावरूप तो है नहीं कि उसमें अन्योऽन्याभाव का अन्योऽन्याभाव न रहे।

१४. अन्योऽन्याभाव और संसर्गाभाव के भेद का खण्डन

शङ्का—[स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव लेकर जो स्मृति में स्मृतित्वाभावरूप अनुभूतित्व का अतिप्रसङ्ग दिया गया, उसका परिहार भेदाभेदवाद के अनुसार किया गया कि स्मृति में स्मृतित्व का भेदाभेद है, अतः वहाँ स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव नहीं रह सकता]। यदि भेदाभेद का आश्रयण कर किया गया परिहार रुचिकर नहीं, तब भी प्रकारान्तर से उसका परिहार किया जा सकता है कि लक्षण-घटक 'स्मृतित्वाभाव' पद से स्मृतित्व का संसर्गाभाव विवक्षित है, अतः स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव लेकर अतिप्रसङ्ग नहीं दिया जा सकता। अन्योऽन्याभाव और संसर्गाभाव का महान् अन्तर है, क्योंकि 'इदं तन्न भवति' (भूतलं घटो न भवति) ऐसी प्रतीति अन्योऽन्याभाव को विषय करती है और 'इह तन्न भवति' (भूतले

प्रतीतिसाक्षिक एवान्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेद इति चेन्न, प्रतियोगिरूपोपाध्यवैचित्र्याद्, अभावे जात्यादिभेदानभ्युपगमाच्च तयोर्भेदबुद्धिरेव प्रामाण्यमनश्नुवाना कूटसाक्षिणीति तदनादरणात्।

न च स्वप्रतियोगिसमानकालसमानाधिकरणोऽभावोऽन्योऽन्याभाव, तदन्योन्याभाववाँश्च तदभावः संसर्गाभावः, यथासम्भावमत्माश्रयाद्यननुभवस्वभेदाननुगमतत्तद्-

भावावित्याह ॐ नेति ॐ । अभावत्वजातेस्तदपरप्रागभावत्वादिजातेश्चानङ्गीकाराद् गुणसम्बन्धस्य चानिष्टेर्गवाश्ववत्कृष्णगौरवच्च जात्यादिनिबन्धनोऽपि भेदो न सिध्यतीत्याह ॐ अभावेति ॐ । भिदा भेदः । कूटसाक्षिणी–मिथ्याबुद्धिरित्यर्थः ।

यद्यपि जात्यादिनिबन्धनो भेदो न सिध्यति तथापि भिन्नलक्षणयोगित्वात्तयोर्भेद इत्याशङ्क्याऽऽह ॐ न चेति ॐ । स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणोऽभाव इत्यन्योन्याभावस्य लक्षणं स्वप्रतियोगिता सह समानमधिकरणमाश्रयो यस्य स तथोक्तः, स्तम्भः कुम्भो न भवतीत्यत्र हि तादात्म्यं प्रतियोगि तदुभयाधिकरणं तदभावोऽप्युभयाधिकरण इति । अभाव इत्युक्ते संसर्गाभावेऽतिव्याप्तिस्तद्वारणाय प्रतियोगीति विशेषणम् । तथाऽप्यन्यप्रतियोगिसमानाधिकरणे संसर्गाभावेऽतिव्याप्तिरतन्निवृत्त्यर्थं स्वेति विशेषणम् । स्वप्रतियोगिसमानाधिकरण इत्युक्ते गुणप्रतियोगिद्रव्यनिष्ठपृथक्त्वनिवारणायाभाव इति विशेषणम् । सम्प्रति संसर्गाभावलक्षणमाह ॐ तदिति ॐ । तस्य प्रतियोगिनोऽभाव इत्युक्तेऽन्योन्याभावेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासाय तदन्योन्याभाववानिति विशेषणं तेन प्रतियोगिना सहान्योन्याभाववान् न चान्योन्याभावे अन्योन्याभावोऽस्त्यनवस्थानादित्यर्थः । प्रतियोग्यन्योन्याभाववानित्युक्ते धर्मिण्यतिव्याप्तिस्तदर्थमभावग्रहणम् । न च घटसंसर्गाभावस्यापि स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणत्वं, घटस्य स्वावयवनिष्ठत्वादभावस्य भूतलनिष्ठत्वादिति द्रष्टव्यम् । स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणोऽभाव इत्यत्र स्वशब्देन किमभावमात्रमुच्यते ? किं वाऽन्योन्याभावः ? उत वस्तुमात्रम् ? अन्योन्याभावपक्षे स एवान्योन्याभावोऽभावान्तरं वा ? स एव चेत्स्वसिद्धौ स्वसिद्धिरित्यात्माश्रयता अन्यश्चेत्तस्याप्येवंरूपत्वादन्योन्याश्रयता तत्राप्यन्योन्याभावान्तरं चेदनवस्थेत्याह ॐ आत्मा-

घटो न भवति) यह प्रतीति संसर्गाभाव का अवगाहन करती है । इस प्रकार उक्त दोनों अभावों का प्रतीतिमूलक भेद प्रसिद्ध है ।

समाधान—दो पदार्थों का भेद जाति या उपाधि के द्वारा ही हुआ करता है, अभावों में कोई जाति नहीं मानी जाती, [क्योंकि आचार्य प्रशस्तपाद ने "द्रव्यादीनां त्रयाणां सत्ता सम्बन्धः" (न्या० कं० पृ० ४३) ऐसा कह कर द्रव्य, गुण और कर्म—इन तीन पदार्थों में ही जातियाँ मानी हैं, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव में नहीं]। अतः अभावों का भेद प्रतियोगिरूप उपाधि के भेद से मानना होगा, तब घटप्रतियोगिक अन्योऽन्याभाव और संसर्गाभाव का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों समानप्रतियोगिक हैं। जब तक कथित दो भेदकों के द्वारा भेद सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक भेदविषयिणी प्रतीति प्रमा नहीं, अपितु एक चन्द्र में द्वित्व-प्रतीति के समान भ्रम मात्र है, अतः वह सर्वथा अनादरणीय है।

शङ्का—अपने प्रतियोगी के देश तथा काल में रहनेवाला अभाव अन्योऽन्याभाव और उससे भिन्न अभाव संसर्गाभाव कहा जाता है [जिस समय जिस भूतलादि देश में जो घट विद्यमान हैं. उसी समय उसी भूतलादि में उसी घट का अन्योऽन्याभाव रहता है—'भूतलं न घटः' । किन्तु 'भूतले घटो नास्ति'—इस प्रकार का संसर्गाभाव नहीं रहता । प्रकृत में स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव स्मृति में रह सकता है 'स्मृतिर्न स्मृतित्वम्।' किन्तु 'स्मृतौ न स्मृतित्वम्'—ऐमा संसर्गाभाव कभी संभव नहीं। फलतः संसर्गाभाव की विवक्षा से स्मृति में अनुभूतित्व का अतिप्रसङ्ग नहीं होता]।

समाधान—उक्त लक्षण के घटकीभूत पदों के विविध वैकल्पिक अर्थों को दृष्टिकोण में

वगमानभ्युपगमानामनुत्तरणीयत्वप्रसङ्गात् ।

ननु संसर्गप्रतियोगिको निषेधः संसर्गाभावः, तादात्म्यप्रतियोगिकश्च तादात्म्याभाव इत्युक्त एव न मिश्रता तयोः यो हि संसर्गतादात्म्यस्य निषेधः, स संसर्गनिषेध

भयावीति ❀ । स्वप्रतियोगिममाताधिकरणत्वं च प्रतियोगिनि विद्यमाने, कालान्तरेवा, कालन्तरे चेदात्मनि ज्ञानभावाभावयोः कालभेदेन समानाधिकरणत्वात्संसर्गाभावेऽतिव्याप्तिस्तदैव चेदनुभवविरोधो न हि ययोस्तावात्म्यं तयोस्तदेव तदभाव इत्याह ❀ अननुभव इति ❀ । स्वशब्देन स्वविशेषाः कथ्यन्ते, स्वत्वमात्रं वा, आद्ये विशेषस्य विशेषान्तरेऽभावादव्याप्तिरित्याह ❀ स्वभेदाननुगमेति ❀ । यदि स्वत्वमात्रमुच्यतेऽनुगमसिद्ध्यर्थं तर्हि तस्यापि स्वशब्दवाच्यत्वाय स्वत्वान्तरमेष्टव्यं पुनश्च तत्रापि स्वत्वाङ्गीकारेऽनवस्थापरिहाराय तत्तदवगमा वक्तव्यांस्ते नाङ्गीक्रियन्ते इत्याह ❀ तत्तदिति ❀ । यद्यभावमात्रं वस्तुमात्रं वोच्यते तदा घटप्रतियोगिसमानाधिकरणसंसर्गाभावेऽतिव्याप्तिरिति यस्मिन्विकल्पे यो दोषः सम्भवति स तत्र द्रष्टव्य इत्याह ❀ यथासम्भवमिति ❀ । अन्योन्याभावलक्षणखण्डनेन संसर्गाभावलक्षणमपि खण्डितं भवति तद्व्यवच्छेदासिद्धेरिति द्रष्टव्यम् ।

सम्प्रति संसर्गेतरेतराभावयोर्लक्षणान्तरद्वारा भेदं चोदयति । ❀ नन्विति ❀ । निषेध इत्युक्तेऽन्योन्याभावेऽतिप्रसक्तिस्तन्निरासाय संसर्गेति विशेषणम् । संसर्गप्रतियोगीत्युक्ते पृथक्त्वगुणेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासाय निषेध इत्युक्तम् । इदानीमन्योन्याभावलक्षणमाह ❀ तादात्म्येति ❀ । व्यावर्त्यमेवमत्राप्यूहनीयम् । इति कथिते सत्येव तयोर्मिश्रता सङ्कीर्णता नास्तीत्यर्थः । तादात्म्यप्रतियोगिनिषेधत्वमन्योन्याभावलक्षणं न भवति संसर्गतादात्म्याभावस्य संसर्गप्रतियोगिकतयाऽव्यापकत्वं संसर्गनिषेधत्वं च संसर्गाभावलक्षणं तत्रैवातिव्याप्तमिति लक्षणद्वारा न भेदसिद्धिरित्यत आह ❀ यो हीति ❀ । अव्याप्त्या संसर्गाभावलक्षणं दूषयति

रख कर यथासम्भव (१) आत्माश्रय, (२) अन्योऽन्याश्रय, (३) चक्रक, (४) अनवस्था, (५) अननुभव, (६) स्वभेदाननुगम तथा (७) तत्तदवगमानभ्युपगमादि अनेक दोष प्रतिलक्षित होते हैं, जैसे कि 'तदन्योऽन्याभाववान्'—यहाँ पर 'तत्' पद से जिस पूर्व लक्षण-लक्षित अन्योऽन्याभाव का ग्रहण कर उसका अन्योऽन्याभाव संसर्गाभाव में रखा गया है, वह अन्योऽन्याभाव और संसर्गाभाव में रखा जानेवाला अन्योऽन्याभाव—ये दोनों एक (अभिन्न) हैं ? या भिन्न ? यदि एक हैं, तब (१) आत्माश्रय दोष होता है, क्योंकि वही अन्योऽन्याभाव व्यक्ति अपने ज्ञान में अपेक्षित है। यदि ये दोनों अन्योऽन्याभाव भिन्न हैं, तब (२) अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि उन दोनों अन्योऽन्याभावों का अन्याऽन्याभाव प्रथम अन्योऽन्याभाव से भिन्न है ? या अभिन्न ? यदि अभिन्न है, तब प्रथम और द्वितीय अन्योऽन्याभावों का ज्ञान परस्पर सापेक्ष होने से अन्यान्याश्रय का होना अनिवार्य है। (३) प्रथम और तृतीय अन्योऽन्याभाव व्यक्तियों का यदि भेद है, तब चक्रिका और (४) उनके चतुर्थ अन्योऽन्याभाव के अन्योऽन्याभाव को लेकर अनवस्था होगी। (५) ऐसी अन्योऽन्याभाव-परम्परा अनुभव में नहीं आती, अतः अननुभव दोष भी प्रसक्त होता है। (६) लक्षण-घटक 'स्वप्रतियोगी'—में स्वत्व को जो लोग अनुगत धर्म नहीं मानते हैं, उनके मतानुसार स्वभेदाननुगम दोष है (७) अनन्त अन्योऽन्याभावों की प्रतीति सबके मत में नहीं होती, तब अवगमानभ्युपगम दोष भी है। इसी प्रकार 'स्व' पद तथा 'तदभावः' इत्यादि पदार्थों का विकल्पजाल भी आत्माश्रयादि दोषों का उद्भावक होता है] ।

शङ्का—प्रतियोगिरूप उपाधि के भेद से अभावों का भेद जैसे घटाभाव और पटाभावादि का प्रसिद्ध है, वैसे ही संसर्गप्रतियोगिक निषेध को संसर्गाभाव तथा तादात्म्यप्रतियोगिक निषेध को अन्योन्याभाव मान कर दोनों अभावों का भेद किया जा सकता है। यदि कहा जाय कि संसर्ग या संसर्ग के तादात्म्य का निषेधसंसर्गाभाव ही होता है किन्तु तादात्म्य

एव न भवति तादात्म्यप्रतियोगिकत्वादिति। मैवम्, द्रव्यगुणकर्मणां समवायिकारणेषु हि तेषां प्रध्वंसा नैवं संसर्गाभावाः स्युः। संसर्गप्रतियोगित्वे तु संसर्गस्य समवायरूपतया समवायानित्यत्वप्रसङ्गात्।

किञ्च—तर्हि संसर्गान्योन्याभावौ द्वावपि न घटादिप्रतियोगिकाविति घटादेः कालादिवन्निरवधित्वापातः। संसर्गतादात्म्ययोश्च अविशेषितयोर्निषेधे सामान्यत एव तयोरुच्छेदः स्यात्।

एवं यद्यदेव प्रतियोगि वाच्यं तत्तत्स्वरूपत एव न स्यात्। तस्यापि संसर्गं प्रति धावने च तदक्षतम्, संसर्गानवस्था, शेषोच्छेदात् पूर्वपूर्वोच्छेदो वा स्यात्।

❀ मैवमिति ❀। कार्यद्रव्यानित्यगुणकर्मणां स्वोपादानकारणे ये प्रध्वंसाभावाः संसर्गाभावरूपतयेष्टास्तेषामेवंलक्षणमाचक्षाणानां संसर्गाभावता न भवेत्संसर्गप्रतियोगिकत्वाभावादित्यर्थः। न च प्रध्वंसाभावाः संसर्गाभावा न भवन्त्येवेति वाच्यम्। इह भूतले घटो नास्तीति प्रतीतौ मृदवयवे घटो नास्तीति प्रतीतेरवैलक्षण्यात्। ननु तेषां तादात्म्याऽप्रतियोगिकत्वे सत्यभावत्वात्संसर्गप्रतियोगिताऽनुमीयत इत्यत आह ❀ संसर्गेति ❀। किञ्च घटादिरनादिरनन्तश्च प्रागभावप्रध्वंसाप्रतियोगिकत्वात्कालादिवत्, न च हेत्वसिद्धिः प्रागसत्त्वप्रध्वंसयोः संसर्गाभावतया संसर्गप्रतियोगिकत्वादित्याह ❀ किञ्चेति ❀। संसर्गतादात्म्ययोरविशेषितयोर्निषेध, उत केनचिद्विशिष्टयोरिति विकल्प्य प्रथममतिप्रसङ्गेन निराकरोति ❀ संसर्गेति ❀। यदि विशिष्टयोस्तयोरपि स्वरूपेणैव निषेधप्रतियोगित्वमुत संसर्गतादात्म्ययोरिति विकल्प्य प्रथमकल्पं प्रागुक्तदोषेण दूषयति ❀ एवमिति ❀। संसर्गः संसर्गी च विशिष्टन्तस्य तथैव निषेधेद्द्वयमपि न स्यादित्यर्थः। यदि विशिष्टयोस्तादात्म्यसंसर्गयोस्तादात्म्यान्तरं संसर्गान्तरं च निषेधप्रतियोगि तदा प्रथमयोरक्षतिर्निषेधाप्रतियोगित्वादित्याह ❀ तस्येति ❀। विशिष्टोपाधावेकीकृत्य तस्येत्येकवचनप्रयोगः ❀ संसर्गमिति ❀। तयोः सम्बन्धत्वादिति द्रष्टव्यम्। तादात्म्यसंसर्गयोर्यौ तादात्म्यसंसर्गौ निषिध्येते तयोरपि स्वरूपेण निषेध्यत्वे उक्तो दोषः संसर्गान्तरेण चेत्तस्यापि तस्यापीति निर्मूला तन्मालाऽऽपतेदित्याह ❀ संसर्गेति ❀। कासुचित्कक्षासु संसर्गविश्रान्त्याश्रयणान्नानवस्थेत्यत आह ❀ शेषेति ❀। यस्य स्वरूपेण निषेद्धव्यतयाऽत्यन्तासत्त्वं

प्रतियोगिकत्व उसमें भी है, अतः तादात्म्यप्रतियोगिक अभाव को नियमतः अन्योऽन्याभाव नहीं कह सकते। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि संसर्गतादात्म्यप्रतियोगिक निषेध को संसर्गाभाव इस लिए नहीं माना जाता कि वह संसर्ग का निषेधरूप नहीं होता।

समाधान—ध्वंस, प्रागभाव और अत्यन्ताभाव—इन तीनों को संसर्गाभाव माना जाता है, किन्तु द्रव्य, गुण और कर्म के अपने-अपने समवायि कारणों में होनेवाले ध्वंस घटादिप्रतियोगिक ही होते हैं, संसर्गप्रतियोगिक नहीं, अतः उनमें संसर्गाभाव का उक्त लक्षण अव्याप्त हो जाता है, अतः वह दुःष्ट लक्षण है, सल्लक्षण नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि घट के संसर्गाभाव का प्रतियोगी संसर्ग और अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगी तादात्म्य है, घट किसी भी अभाव का प्रतियोगी नहीं, अतः कालादि के समान घट भी अपनी पूर्व और उत्तर अवधि से रहित नित्य और विभु सिद्ध हो जायगा। एवं संसर्गाभावादि का लक्षण अननुगत न हो जाय, अतः संसर्गादि का कोई विशेषण न देकर सामान्यतः 'संसर्गो नास्ति', 'तादात्म्यं नास्ति—इस प्रकार सामान्यतः संसर्ग और तादात्म्य का निषेध करना होगा, अतः संसर्गमात्र और तादात्म्यमात्र का उच्छेद भी प्रसक्त होता है।

यदि संसर्ग और तादात्म्य का सामान्यतः उच्छेद न हो जाय, अतः संसर्ग के संसर्ग और तादात्म्य के तादात्म्य का निषेध किया जाता है, तब द्वितीय संसर्ग और तादात्म्य का उच्छेद एवं पूर्वतन संसर्ग में पूर्ववत् नित्यत्वापत्ति प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, उत्तरोत्तर संसर्गादि का निवेश करने पर अनवस्था और किसी अन्तिम का संसर्ग न मानकर स्वरूपतः निषेध करने

न प्रतियोग्यनुयोगिनोस्तथात्वं विरोधः, किन्तु सह भावाभावः, अतस्तन्मात्रं न स्यात्, न तु तन्मात्रमेव न स्यादिति चेन्न, अनुयोगिनि प्रतियोग्यापत्तेः। तथा प्रमाभावात् कथं तदास्तामिति चेन्न, तथा प्रमाभावमूलकस्य विरोधस्य सहानवस्थानस्य नियमनभङ्गात् प्रतियोग्यनुयोगिभावादन्यः कस्तयोर्विरोधः स्यात्।

ततः पूर्वस्यापि स्वरूपेण निषेध्यतया तथात्वं स्यादेवमामूलं संसर्गाऽसत्वं स्यादित्यर्थः।

यद्यत्प्रतियोगि तत्तत् स्वरूपेणैव न स्यादित्यस्य परिहारं शङ्कते ❀ न प्रतीति ❀। निषेधप्रतियोगिनो विरोधस्तथात्वं निषेध्यस्वरूपत्वं निषेधस्वरूपत्वं न भवतीत्यर्थः। तर्हि भावाभावयोः साक्षाद्विरोधस्तदनुषङ्गादन्यत्रेति न्यायविरोध इत्याशङ्क्याह ❀ किन्त्विति ❀। सहभावः सहसत्त्वमेकदेशकालस्थितत्वं तदभावो विरोध इत्यर्थः। तथापि विरोधापरिहारादेकतरभावेऽन्यतराभावस्तदवस्थ इत्यत आह ❀ तत इति ❀। तन्मात्रं सहभावाभावमात्रं स्यात्। मात्रचो व्यावर्त्यमाह ❀ न त्विति ❀। तन्मात्रमेव प्रतियोगिमात्रमेव न स्यादिति न किंत्वन्यत्र सता रूपेण प्रतियोगित्वमन्यत्र चाऽसता रूपेणाभावज्ञानविषयत्वमिति, न प्रतियोगित्वमात्रेण स्वरूपाभाव प्रसङ्गो यदि हि प्रतियोगिनो निषेध्यत्वं स्वभावतः स्यात्तर्हि यद्यत्प्रतियोगि तत्तत्स्वरूपेणासत्त्वे प्रतियोगि तत्तत्स्वरूपेणैव स्यात् न तथाऽतोऽप्रयोजकं स्वरूपेण सत्वे प्रतियोगित्वमित्याशयः। अतिप्रसङ्गेनैतन्निराकरोति ❀ नेति ❀। सहावस्थानाभावः किमेकदेशे? उभयोरप्यभावे? उतैकस्मिन् काले? किंवा एकस्मिन् देशे काले च द्वयोरसंसर्गः? प्रथमद्वितीयौ नाऽनभ्युपगमात्, तृतीये प्रतियोगिनि प्रतियोगी न वर्तते स्ववृत्तिविरोधादनुयोगिनि चानुयोगी न वर्त्तते ततश्च प्रतियोगिन्यनुयोगिनोऽनुयोगिनि च प्रतियोगिनो वृत्त्यापत्तिरेकदेशकालःवाभावसम्भवादेकतराभावेऽन्यतरभावनियमाच्चातो घटाभावारूढो घटो घटारूढश्च तदभाव इति विरुद्धमापद्येतेत्यर्थः।

किमयं परपक्षेऽनिष्टप्रसङ्गरूपस्तर्कः? उत स्वपक्षानुमानम्? नाद्यो व्याप्तिहीनतया प्रशिथिलमूलत्वात् द्वितीयोऽनुपलब्धिविरुद्धकालात्ययापदिष्टत्वादिति शङ्कते ❀ तथेति ❀। स्वाभावारूढतया घटप्रमाप्राप्तौ तदभावे किं सहानवस्थानविरोधो मूलम्, उत प्रतियोग्यनुयोगिभावः? नाद्य इत्याह ❀नेति❀। प्रमाभावादिदं विरुद्धमिति वदन्प्रष्टव्यः प्रमातदभावयोरयमेव विरोध आहोस्विदन्यो वाऽन्यश्चेत् किं क्षुण्णं मे यत्तदभावयोराद्ये मानाभावे मानप्रवृत्तिः स्यात् पुरोदितरीत्याऽतश्च मानाभावेपि तदभावान्न विरोधः। नापि

पर पूर्व-पूर्व का उच्छेद प्रसक्त होता है।

शङ्का—किसी अनुयोगी का कोई प्रतियोगी बन जाने मात्र से उच्छिन्न हो जाता है—ऐसा नहीं, अपितु जिस भूतलादि अनुयोगी में जिस घटादि का निषेध किया जाता है, उस अनुयोगी में प्रतियोगी का सहभाव या वैशिष्ट्य ही निषिद्ध होता है, क्योंकि प्रतियोगी और अनुयोगी का सहभावाभावात्मक ही विरोध माना जाता है, अतः सहभाव या वैशिष्ट्यमात्र का उच्छेद होता है, घटादि प्रतियोगिमात्र का नहीं, अतः संसर्ग का निषेध करने पर संसर्ग का उच्छेद नहीं हो सकता।

समाधान—यदि भूतलादि अनुयोगी में घटादि के सहभावमात्र का ही निषेध होता है, घटादि का नहीं, तब वहाँ घटादि की उपलब्धि होनी चाहिए। यदि 'जहाँ घट के संसर्ग या सहभावमात्र का निषेध होता है, वहाँ 'इह घटोऽस्ति'—इस प्रकार घटादि का प्रमा ज्ञान नहीं होता, अतः वहाँ घटादि की उपलब्धि या प्रसक्ति नहीं हो सकती'—ऐसा कहा जाय, तो वैसा कहना संगत न होगा, क्योंकि प्रतियोगी और अनुयोगी के विरोध का नियायक जब वैसा प्रमीयमाणत्वाभाव हो जाता है, तब सहाभावाभाव को उसका नियामक नहीं माना जा सकता। उक्त प्रमा क्यों नहीं होती? इस शङ्का का समाधान करने के लिए उक्त प्रमाभाव के अन्य किसी प्रयोजक की कल्पना करनी पड़ेगी, वह प्रयोजक प्रतियोग्यनुयोगिभाव से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता, फलतः अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाता है कि 'तथाप्रमी-

तथा न प्रमीयमाणत्वमेव स इति चेन्न, अतिप्रसङ्गात्। नियमेनेति चेन्न, व्यक्त्योरविरोधापत्तेः। तथा न प्रमातुमनौपाधिको योग्यतेति चेत्; सैव मेयगता योग्यता अनुयोगि प्रतियोगित्वादन्या का समर्थिता स्यात्।

स्वरूपमेवेति चेन्न, मिथः सम्भेदाभ्युपगन्त्राऽपि तयोः स्वरूपोपगमात्।

तथाभूतं स्वरूपमिति चेन्न, तस्यैव निर्वाच्यतापत्तेः।

प्रशिथिलमूलता भूतलादौ तदभावे तद्भावदर्शनादित्यर्थः। भावाभावयोः सहानस्थानविरोधे तत्सिद्ध्यर्थमेव स्वाभावारूढत्वं घटस्येष्टव्यमित्युक्तम्। ननु सहानवस्थानं न तयोर्विरोधस्तावता न प्रतियोग्यनुयोगिभावः स इति प्रसज्यते ताभ्यामन्यादृशस्य विरोधस्य सहानवस्थानमानाभावरूपस्य सम्भवादिति शङ्कते ❀ तथा नेति ❀। न तथा प्रमीयमाणत्वम् अप्रमीयमाणत्वमिति यावत्। सहाप्रतीयमानत्वं विरोधः किं वा नियमेनेति विकल्प्य प्रथममपाकरोति ❀ नेति ❀। वायौ रूपस्पर्शयोरसहावस्थानदर्शनादन्यत्रापि तयोः सहावस्थानं न स्यादित्यर्थः। द्वितीयमाशङ्कते ❀ नियमेनेति ❀। रूपस्पर्शयोर्वायावसहभावेऽपि पृथिव्यादौ सहभावान्न तथा प्रसङ्ग इत्यर्थः। नियमस्यानुगतरूपनिष्ठत्वाद्व्यक्त्योर्व्यावृत्तत्वान्नियमेन तथात्वन्नास्तीति विरोधो न स्यादित्याह ❀ नेति ❀। सहस्थितत्वेन प्रमाणाभावो न विरोधः किन्तु सहाप्रमातुं योग्यतैव स इति शङ्कते ❀ तथेति ❀। स्वरूपव्यतिरिक्ता स्वरूपं वा, यदि प्रथमस्तत्राह ❀ सेति ❀। सहरूपातिरिक्तयोग्यतानङ्गीकारादित्यर्थः। अस्तु तर्हि स्वरूपमेव सेति द्वितीयमाशङ्कते ❀ स्वेति ❀। स्वरूपमात्रं स्वरूपविशेषो वेति विकल्प्य प्रथममपाकरोति ❀ नेति ❀। भावाभावयोः परस्परारूढत्वमङ्गीकुर्वता सदसद्भाविना च स्वरूपाभ्युपगमान्न तद्विरोधोऽतिव्यापकत्वादित्यर्थः। यद्वा परस्परसम्भेदेऽपि स्वरूपमात्रविरोधस्य निर्वाहाद्घटस्य स्वाभावारूढत्वं स्यादिति सहावस्थानाभावविशिष्टं सहाप्रमातुं योग्यतानियतं वा स्वरूपमिति द्वितीयमाशङ्कते ❀ तथेति ❀। सहानवस्थानस्य सहाप्रमातुं योग्यत्वस्य च पराकृतत्वात्तद्विशिष्टं स्वरूपं न निर्वक्तुं शक्यमिति परिहरति ❀ नेति ❀।

यमाणत्वाभाव' का प्रयोजक 'प्रतियोग्यनुयोगिभाव' और प्रतियोग्यनुयोगिभाव का प्रयोजक 'तथाप्रमीयमाणत्वाभाव' होता है।

यदि कहा जाय कि प्रतियोगी और अनुयोगी का तथा (साहित्येन या आधाराधेयभावेन) प्रमीमा णत्वाभाव ही विरोध है, प्रतियोग्यनुयोगिभाव नहीं, तव अतिप्रसङ्ग होता है, क्योंकि उत्पन्नविनष्ट घटादि का नीलादि गुणों के साथ कदाचित् साहित्य प्रतीयमान नहीं, अतः उनका भी सहज विरोध मानना पड़ेगा। 'नियमतः तथा न प्रमीयमाणत्व' को विरोध मानने पर दो विरुद्ध भावाभाव व्यक्तियों मे विरोध नहीं होना चाहिए, क्योंकि नियम जातिघटित होता है और अभाव में कोई जाति मानी नहीं जाती !

आधाराधेय प्रमीयमाणत्वाभाव की योग्यता को विरोध मानने पर घट्टकुटीप्रभात' न्याय लागू होता है, क्योंकि प्रतियोग्यनुयोगिभाव को छोड़ कर कथित योग्यता का अन्य कोई स्वरूप नहीं। यदि कहा जाय कि भावाभाव का स्वरूप ही विरोध हैं, किन्तु प्रतियोगी और अनुयोगी के स्वरूप को विरोधरूप नहीं माता जाता। तो वैसा कहना संगत नहीं, क्योंकि जो लोग वृक्षादि में संयोग और संयोगाभाव का सम्भेद सहावस्थान मानते हैं, वे भी तो उनका स्वरूप मानते ही हैं। यदि उनका स्वरूप ही विरोध पदार्थ हो तो उनका सहावस्थान कभी नहीं होना चाहिए ! यदि सहानवस्थान के प्रयोजकीभूत स्वरूप को विरोध कहना चाहें, तब तो सहानवस्थान को ही विरोध पद पर अभिषिक्त कर देना होगा उसका निराकरण असङ्गत हो जाता है।

यदि भावाभाव का विरोध सहानवस्थान या सहाप्रमीयमाणत्व या सहाप्रमीयमाणत्व की योग्यता ही विरोध पदार्थ है, तब गोत्व और अश्वत्वरूप दो भाव पदार्थों से भावाभाव का

कश्च गोत्वाश्वत्वाभ्यां भावाभावयोरेवंविधविरोधे विशेषः स्यात्? सत्याञ्च तयोः साहित्यप्रमायां प्रकारभेदेन व्यवस्थापना किमिति कार्या प्रमयैवाप्रमानुपगमादिति।

अथ घटादिविशेषितयोस्तयोर्निषेधौ तौ, सविशेषणौ च विधिनिषेधौ न कथञ्चिद्विशेषणमनुपसङ्क्रम्य स्यातामिति ब्रूषे, तदपि न, तर्हि विशिष्टस्य निषेधो विशे-

सहानवस्थानं सहाप्रतीयमानत्वं तद्योग्यत्वं वा विरोध इति पक्षत्रयम्प्रत्येकन्दूषयित्वाऽधुना साधारणं दूषणं दर्शयति ॐ कश्चेति ॐ। गोत्वङ्गव्येव नियतमश्वत्वञ्चाश्वे नियतमिति तथाविरोधत्रयवतोरन्योन्याभावाभावत्वाभावादनयोरपि तथात्वं न भवेदिति भावः। एवमुक्तविरोधस्यातिव्याप्तिमभिधाय अधुनाऽव्याप्तिमाह ॐ सत्यामिति ॐ। नभसि रथसंयोगभावाभावयोः प्रतीयमानयोर्विरोधपरिहाराय दिग्विभागावच्छिन्नतया व्यवस्थापनं तार्किकाः कल्पयाञ्चक्रुः, सा न कार्येत्यर्थः। कुतो न कार्येत्यत आह ॐ प्रमेति ॐ। प्रमादर्शनात्सहाऽप्रतीयमानत्वं, सहावस्थानाभावो वा, सहाप्रमातुं योग्यता वा नास्तीति विरोधप्राप्तेरभावान्न व्यवस्था कार्या, सति विरोधे तत्परिहाराय तस्याः कर्त्तव्यत्वादित्यर्थः।

प्रागभावप्रध्वंसेतरेतराभावानां संसर्गतादात्म्यमात्रप्रतियोगितया घटाद्यप्रतियोगिकत्वादनाद्यनन्तत्वं विश्वात्मत्वञ्च घटादेः स्यादिति यदुक्तं तदयुक्तं संसर्गादिविशेषणतया घटादेरपि निषेधप्रतियोगित्वादिति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। निषेध्यविशेषणत्वमात्रेण कथं निषेधप्रतियोगित्वमित्यत आह ॐ सेति ॐ। नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्यायेन विशेषणं घटादिकमगोचरीकृत्य तद्विशिष्टनिषेधगोचरत्वं तद्बुद्धेरनुपपन्नमित्यर्थः। एवन्तर्हि स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावमादाय स्मृतावनुभूतित्वप्रसङ्गः सुदृढीकृतः स्यादिति परिहरति ॐ तदिति ॐ। निषेध्यविशेषणत्वानुपपत्त्या घटादेर्निषेधविषयत्वं यदि तर्हि विशिष्टस्य

क्या अन्तर रह जाता है? गोत्व गोमात्र में और अश्वत्व अश्वमात्र में रहता है, उनका कोई साक्षात् विरोध नहीं, तथापि गोत्व और अश्वत्व में भी सहानवस्थान, सहाप्रमीयमाणत्व या सहाप्रमीयमाणत्व की योग्यता है, उन्हें भी भावाभाव के समान ही साक्षात् विरोधी माना जाना चाहिए। फलतः गोत्वाश्वत्वादि के अविरोध में सहानवस्थानादिरूप विरोध का लक्षण अतिव्याप्त होता है।

दूसरी बात यह भी है कि संयोग और संयोगाभाव के समान साक्षात् विरोधी पदार्थों में भी सहावस्थान, सहप्रतीयमानत्वादि रहते हैं, अतः उनका विरोध नहीं मानना चाहिए। यदि उनका विरोध नहीं, तब वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपि-संयोग और मूलावच्छेदेन उसके अभाव की जो व्यवस्था की जाती है, वह व्यर्थ है, क्योंकि उनके सहावस्थान की प्रतीति को प्रमा ही माना जाता है, अप्रमा नहीं। फलतः संयोग और संयोगाभाव के विरोध में सहानवस्थानादिरूप विरोध का लक्षण अव्याप्त होता है।

शङ्का—न केवल संसर्ग का निषेध संसर्गाभाव है और न केवल तादात्म्य का निषेध तादात्म्याभाव, अपितु घटादि प्रतियोगी पदार्थों से विशिष्ट संसर्ग का निषेध संसर्गाभाव और उन्हीं से विशिष्ट तादात्म्य के निषेध को अन्योऽन्याभाव कहा जाता है, क्योंकि सविशेषण पदार्थों के विधि और निषेध कभी भी विशेषणांश को छोड़ कर प्रवृत्त नहीं होते [अतः घटसंसर्ग के निषेध से न तो संसर्गमात्र का उच्छेद प्रसक्त होता है और न घट के तादात्म्यमात्र का निषेध करने पर तादात्म्यमात्र का उच्छेद]।

समाधान—घट-विशिष्ट के निषेध को घटरूप विशेषण का भी निषेध मानना होगा, अन्यथा संसर्गमात्र का निषेध मानने पर प्रतियोगी की सत्त्वापत्तिरूप कथित दोष प्रसक्त होगा। जब विशिष्ट के निषेध को विशेषण का भी निषेध मान लिया जाता है, तब संसर्गविशिष्ट तादात्म्य का निषेध संसर्गाभाव और तादात्म्य-विशिष्ट संसर्ग का निषेध अन्योऽन्याभाव

षणस्यापि भवतीति संसर्गान्योन्यनिषेधोऽपि संसर्गनिषेधः स्यादेवेति पुनः स प्रसङ्गो वज्रलेपायते ।

अन्योन्याप्रतियोगिकः संसर्गप्रतिषेधस्तथा विवक्षितः, एवमन्योन्यनिषेधोऽपि संसर्गाप्रतियोगित्वेन निर्वाच्य इति चेन्न, एवं हि अन्योन्यसंसर्गाभावः संसर्गान्योन्याभावश्चापरा कोटिः स्यात् ।

किञ्च एवं सति संसर्गाभावोऽन्योन्याभावो यो न भवति, स संसर्गाभावतया

निषेधः सर्वत्र शुक्लः पटो न भवतीत्यादौ कथितन्यायेन विशेषणशौक्ल्यादेरपि भवतीति कृत्वा स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतिर्न भवतीति स्मृतित्वसंसर्गान्योन्यनिषेधोऽपि तत्संसर्गनिषेधो भवतीति तमादाय यः स्मृतावनुभूतित्वप्रसङ्गो दर्शितः स तदवस्थ एवेत्यर्थः । स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावमादाय स्मृतावनुभूतिप्रसञ्जनमनुपपन्नन्तद्विलक्षणस्यैवाभावस्यानुभूतिलक्षणत्वेन विवक्षितत्वादिति शङ्कते ॐ अन्योन्येति ॐ । न च पुनरुक्तिः, पूर्वत्रानुभवस्य शङ्कामूलत्वाद् इह तु लक्षणान्तरभेदस्य तन्मूलत्वादिति द्रष्टव्यम् । प्रतिषेध इत्युक्तेऽन्योन्याभावेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासाय संसर्गेति विशेषणम् । संसर्गान्योन्याभावव्युदासार्थमन्योन्याप्रतियोगिक इति विशेषणम् । ॐ तथा विवक्षित इति ॐ । संसर्गाभावत्वेन विवक्षित इत्यर्थः । संसर्गान्योन्याभावलक्षणद्वयमप्यव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ । तादात्म्यमिह नास्तीति निषेधस्य तादात्म्यसंसर्गाभावत्वात्तस्य च प्रतिषेध्यविशेषणतया तादात्म्यप्रतियोगिकत्वमस्तीति संसर्गाभावापरा कोटिः स्यात्तथा संसर्गो घटो न भवतीति संसर्गान्योन्याभावस्य निषेधे तादात्म्यविशेषणतया संसर्गप्रतियोगकत्वमस्तीत्यन्योन्याभावात्सोऽप्यपरा कोटिः स्याद् एवं लक्षणद्वयमप्यव्यापकमित्यर्थः । ननु साक्षात्संसर्गप्रतियोगिकः संसर्गाभाव एवमन्योन्याभावोऽपि निर्वक्तव्य इति चेन्न, तादात्म्यं नाम स्वरूपम, अतश्च संसर्गतादात्म्यनिषेधः साक्षात्संसर्गनिषेध एवमितरत्राप्यूह्यमेवं संसर्गेतरेतराभावलक्षणयोरव्याप्तिमभिधायाधुना व्यर्थविशेषणत्वं दूषणान्तरं समुच्चिनोति ॐ किं चेति ॐ । स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावः स्मृतावप्यस्तीत्यतिव्याप्तावभिहितायां तन्निराचिकीर्षया यः संसर्गाभावोऽन्योन्याभावो न भवति स संसर्गाभावतया विवक्षित इत्युक्तं स्याद्,

---

हो जाता है [एवं उभयविध अभाव संसर्गतादात्म्योभयप्रतियोगिक हो जाने के कारण संसर्गाभाव से भिन्न अन्योऽन्याभाव और अन्योऽन्याभाव से भिन्न संसर्गभाव क्योंकर होगा ?] फलतः स्मृति-संसर्ग का अन्योऽन्याभाव लेकर जो स्मृति में अनुभूतित्व का अतिप्रसङ्ग दिया गया है, वह बज्रलेप होकर रह जाता है ।

शङ्का—स्मृति में स्मृतित्व-संसर्ग के संसर्ग का अन्योऽन्याभाव लेकर जो अनुभूतित्व का अतिप्रसङ्ग दिया गया, वह उचित नहीं, क्योंकि 'अन्योऽन्याप्रतियोगिक संसर्ग-निषेध' को संसर्गाभाव और संसर्गाप्रतियोगिक अन्योऽन्य-निषेध को अन्योऽन्याभाव माना जाता है, उक्त स्मृतित्व-संसर्ग के संसर्ग का अन्योऽन्याभाव अन्योऽन्यप्रतियोगिक होने के कारण संसर्गाभाव ही नहीं कहा जा सकता ।

समाधान—उक्त लक्षणों के अनुसार 'अन्योन्य का संसर्गाभाव' एवं 'संसर्ग का अन्योऽन्याभाव—ये दोनों अभाव अन्योऽन्यप्रतियोगिक भी हैं और संसर्गप्रतियोगिक भी, अतः वे न तो संसर्गाभाव वन सकते हैं और न अन्योऽन्याभाव, तव तो उन्हें कोई तृतीय कोटि का मानना होगा, जो कि किसी का सिद्धान्त नहीं ।

दूसरी बात यह भी है कि स्मृतित्व-संसर्ग के संसर्गाभाव की विवक्षा करने पर स्मृति में जो स्मृतित्व-संसर्ग के संसर्ग का अन्योऽन्याभाव लेकर अनुभूतित्व का अतिप्रसङ्ग दिया गया, उसकी निवृत्ति करने के लिए आप ने अपने संसर्गाभाव को परिष्कृत करते हुए कहा कि हमें ऐसा संसर्गाभाव नहीं चाहिए, अपितु 'यः संसर्गाभावोऽन्योऽन्याभावो न भवति, स संसर्गाभावोऽभिमतः'— इस वाक्य में 'यः संसर्गाभावः' न कह कर 'योऽभावः'—इतना ही

विवक्षित इत्युक्तं स्यात्। तथा च संसर्गविशेषणं व्यर्थमिति संसर्गाभावमर्थमधिकमाकाङ्क्षता त्वयाऽन्वर्थः संसर्गाभावशब्दोऽपि हारितः स्यात्, [यतोऽन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः स संसर्गाभाव इत्युक्तम्]।

किञ्च अनयाऽपि वाचा अन्योन्याभावनिषेधोऽभिधीयमानोऽन्योन्याभावेऽपि प्रसज्यते, न ह्यन्योन्याभावोऽन्योन्याभावो भवतीति शक्यं प्रमातुम्, समानाधिकरण्यं हि प्रकारभेदे सति भवति, यथा नीलमुत्पलमित्यादि। ततस्तदभावादेव न

एवं च सति योऽन्योन्याभावो न भवत्यभावः स संसर्गाभाव इत्युच्यमाने नास्त्यतिव्याप्तिरतः संसर्गेति विशेषणं व्यर्थमित्यर्थः। एवं तर्हि संसर्गपदं विहाय संसर्गाभावलक्षणमाचक्ष्मह इत्यत आह ※ इतीति ※। लोकेऽपि संसर्गाभाव इत्युक्ते संसर्गान्योन्याभावप्रतीतिः स्यात्तद्व्युदासार्थमन्योन्याभावो न भवतीति विशेषणं वक्तव्यमेवं च सति संसर्गेतिपदस्य प्रयोगः क्वापि न भवेत्। न च तदप्यस्त्विति वाच्यम्, संसर्गाभावशब्दस्य तत्र यौगिकार्थस्य परित्यागप्रसङ्गादिति भावः। पूर्वमन्योन्याभावो न भवति योऽभावः स संसर्गाभाव इति लक्षणे संसर्गेतिविशेषणं व्यर्थमित्युक्तम्, इदानीमन्योन्याभावेऽतिव्यापकं च संसर्गाभावलक्षणमित्याह ※ किं चेति ※। अनया वाचेत्यन्योन्याप्रतियोगिक इति विशेषणगिरेत्यर्थः। कथमन्योन्याभावनिषेधोऽन्योन्याभावेऽपि प्रसज्यत इत्याकाङ्क्षायामेतत्स्फुटयति ※ न हीति ※। अन्योन्याभावस्यान्योन्याभावत्वस्य प्रमातुमशक्यत्वात्तन्निषेधत्वं तस्यार्थात्सिध्यति भावाभावयोरेकतराऽसम्भवेऽन्यतरप्रसक्तेरित्यर्थः। अन्योन्याभावोऽन्योन्याभावो भवतीति प्रमातुमशक्यत्वं कुत इत्यत आह ※ सामानेति ※। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यं तदिह प्रथमान्योन्याभावशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताद्भिन्नस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य द्वितीयतच्छब्देऽसम्भवात्तेन तस्य सामानाधिकरण्यं न घटत इत्यर्थः। प्रकृष्टप्रकाशः सवितेत्यादावेकस्मिन्नेवार्थे प्रकृष्टादिपदानां सामानाधिकरण्यं दृष्टं तद्वदिहापि किं न स्यादित्यत आह ※ यथेति ※। तत्राऽपि लक्ष्यैक्येऽपि व्यावर्त्यभेदोऽस्त्येवेत्यदृष्टान्त इत्यर्थः। फलितमाह ※ तत इति ※।

कहना चाहिए, 'संसर्ग' पद का अधिक प्रयोग करना व्यर्थ है। यदि आप उस 'संसर्ग' पद का परित्याग कर केवल 'अभावः'—ऐसा कहते हैं, तब आप (संसर्गस्याभावः संसर्गाभावः—ऐसा योगार्थ ध्यान में रख कर जिस 'संसर्ग' पद के बल पर कुछ अधिक अर्थ का विवक्षा करते थे, वह 'संसर्ग' पद भी खो बठते हैं, क्योंकि अब आप इतना ही कह रहे हैं कि 'अन्योऽन्याभावो यो न भवत्यभावः, स संसर्गाभावः।'

केवल ... ही नहीं 'अन्योऽन्याभावो यो न भवत्यभावः'—यह लक्षण अन्योऽन्याभाव में भी अतिव्याप्त ... क्योंकि अन्योऽन्याभाव को भी अन्योऽन्याभाव नहीं कह सकते। यदि 'अन्योऽन्याभावोऽन्याभावो भवति'—ऐसा वाक्य-प्रयोग करते हैं, तब उससे 'घटो घटः' के समान शाब्द बोध ही नहीं होता, जैसा कि कहा गया है—"अभेदान्वयबोधश्च विरूपोपस्थितयोरेवेति व्युत्पत्तिः, 'घटो घट', 'दण्डवान् दण्डवान्', 'पाकं पचति'—इत्यादौ घटत्वदण्डवत्त्वपाकत्वाद्यवच्छिन्ने तत्तद्रूपावच्छिन्नस्य तथाविधस्यान्वयबोधानुदयात्" (व्यु. वा. पृ. ७८)। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तक उद्देश्य और विधेय के वाचक पदों की एक अर्थ में वृत्तिरूप सामानाधिकरण्य तभी होता है, जब उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयरूप प्रकारों का भेद हो, जैसे—'नीलमुत्पलम्' यहाँ पर 'नील' पद नील गुण के माध्यम से जिस अर्थ का परिच्छेदक है, 'उत्पल' पद 'उत्पलत्व' जाति के माध्यम से उसी नील कमलरूप अर्थ का बोधक तभी हो सका, जब कि उद्देश्यतावच्छेदकरूप उत्पलत्व और नीलरूप विधेय भिन्न हैं। 'अन्योऽन्याभावोऽन्योऽन्याभावः'—यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक भी अन्योऽन्याभावत्व है और विधेय भी अन्योऽन्याभावत्व, अतः अन्वयबोध क्योंकर होगा ? 'भेदोऽन्योऽन्याभावः'—ऐसा प्रयोग तो हो सकता है, क्योंकि अन्योऽन्याभावत्व से भिन्न अन्योऽन्याभावमात्र में रहनेवाला 'भेदत्व' धर्म है, भेदत्व-

तथेत्यतिप्रसङ्गः ।

अन्यश्चान्योन्याभावेष्वेव तिष्ठन्नेव कः प्रमेयो यद्वति तथा कथ्येत ? अभावमात्रे त्वतिप्रसङ्गात् । व्यक्तिविशेषे च शेषेष्वन्योन्याभावेषु संसर्गाभावत्वापत्तेः ।

एतच्च सर्वत्र तदन्यत्वेन व्यवच्छिद्यमाने द्रष्टव्यम् । तथा हि—

नातत्तन्मन्यसे तावन्न तत्तदपि मंस्यसे ।
सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्षते ॥ २८ ॥
रूपान्तरेण निर्दिश्य तच्चेत्तदभिधीयते ।
ताद्रूप्येण तथाऽपि स्यात्सैव सव्यभिचारिता ॥ २९ ॥

ततो रूपभेदाभावात् तदभावादन्योन्याभावशब्दद्वयस्य सामानाधिकरण्याभावादेव न तथाऽन्योन्याभावो न भवतीति संसर्गाभावलक्षणं तत्रातिप्रसक्तमित्यर्थः । ननु तर्हि प्रथमान्योन्याभावशब्देन रूपान्तरविशिष्टमुद्दिश्य द्वितीयतच्छब्देन केवलमन्योन्याभावत्वं विधीयतामतः समञ्जसं सामानाधिकरण्यमित्यत आह ❀ अन्य इति ❀ । अन्योन्याभावत्वादन्य इत्यर्थः । प्रथमावधारणमन्ययोगव्यवच्छेदार्थं द्वितीयमयोगव्यवच्छेदार्थम् । तथा कथ्येतान्योन्याभावत्वं विधीयेतेत्यर्थः । तथा हि तद्रूपं किमन्योन्याभावत्वमेव ? किं वान्यत् ? न तावदाद्यः, स्वविशिष्टे स्ववृत्तिव्यतिरेकनियमदर्शनाद्, अन्यथाऽन्योन्याभावत्वविशिष्टे तस्मिन्विधीयमाने तस्मिन्नेव तदित्यंशतः स्ववृत्त्यापात इति तात्पर्यार्थः । यदि द्वितीयस्तदा तद्रूपान्तरमभावमात्रवृत्ति ? किं वा तद्विशेषवृत्ति ? नाद्यः, संसर्गाभावस्यापि तादात्म्याभावत्वप्रसङ्गादित्याह ❀ अभावेति ❀ । यदि व्यक्तिविशेषवृत्ति तदा तद्विशिष्टस्य तथात्वे विधीयमाने परिशिष्टान्योन्याभावव्यक्तीनां संसर्गाभावत्वं प्रसज्येतेत्याह ❀ व्यक्तीति ❀ ।

संसर्गाभावो न भवति योऽभाव इत्यन्योन्याभावलक्षणेऽपि संसर्गाभावेऽतिव्याप्तिर्द्रष्टव्येत्याह ❀ एतच्चेति ❀ । उक्तानुक्तस्थलेषु सर्वत्रोक्तन्यायानुसन्धानार्थमुक्तन्यायं सङ्क्षिप्य श्लोकेन दर्शयति सङ्क्षेपविस्तराभ्यामुच्यमानस्य मन्दबुद्ध्यारोहक्षमत्वात् । ❀ तथा हीति ❀ । अतद् अन्योन्याभावत्वानाक्रान्तं संसर्गाभावत्वाक्रान्तं च, तद् अन्योन्याभावत्वाक्रान्तं न मन्यसे तावदिति निश्चयार्थः, तथा तदपि अन्योन्याभावत्वाक्रान्तं, तदिति तदाक्रान्तं न मन्यसे तत्र हेतुमाह ❀ सामानेति ❀ । यद्वा भिन्नार्थनिष्ठयोः सामाधिकरण्यमुतैकार्थनिष्ठयोरिति विकल्पातिप्रसङ्गसामाधिकरण्यलक्षणाभ्यां क्रमेण पराकरोतीति श्लोकार्थः । अतदस्तत्त्वं तदोऽपि तत्त्वं न मंस्यामहे, किं तर्हि तदेव वस्तु देशाद्यवच्छिन्नरूपान्तरेण निर्दिश्य तद्भवतीत्यभिधीयते ततो निमित्तभेदादर्थैक्याच्च सामानाधिकरण्यमित्यत आह ❀ रूपेति ❀ । तद् अन्योन्याभावत्वाक्रान्तं रूपान्तरेण धर्मान्तरेण विशिष्टं प्रथमान्योन्याभावशब्देन निर्दिश्याऽनूद्य द्वितीयतच्छब्देन तदन्योन्याभावरूपमभिधीयते चेदिति शङ्कानुवादः । किं तद्रूपान्तरमभावमात्रवृत्ति ? किं वा तद्विशिष्टवृत्ति ? किं वा वस्तुमात्रवृत्ति ? प्रथमे संसर्गाभावस्य तादात्म्याभावप्रसङ्गः, द्वितीयेन्योऽन्याभाव-

विशिष्ट वस्तु में अन्योऽन्याभावत्व का विधान किया जा सकता है, किन्तु 'अन्योऽन्याभावोऽन्योऽन्याभावः'—यहाँ पर विधेयभूत अन्योऽन्याभावत्व से भिन्न अन्योऽन्याभावमात्रवृत्ति कोई और धर्म प्रतिपादित नहीं, जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु में अन्योऽन्याभावत्व का विधान हो जाता । 'अभावोऽन्योऽन्याभावः'—ऐसे वाक्य से अवश्य अन्वयबोध होता है, किन्तु उद्देश्यसमर्पक 'अभाव' पद से किसी भी अभाव का ग्रहण हो सकता है, अतः अन्योऽन्याभाव में भी संसर्गाभावत्व का विधान या अतिप्रसङ्ग किया जा सकता है । इसी प्रकार 'तदन्यत्व' विशेषण से घटित सभी लक्षणों में ये दोष होते हैं—

अतत् पदार्थ को तत् मानना नितान्त विरुद्ध है और तत् वस्तु को भी तत् कहना सम्भव नहीं, क्योंकि उद्देश्य और विधेयार्थ के वाचक पदों का सामानाधिकरण्य तभी होगा, जब कि 'नीलो घटः' के समान उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय का वैरूप्य हो । यदि 'संसर्गा-

अपि च अन्योन्याभावस्य संसर्गाभावोऽप्येवं व्यवच्छिन्नः स्यात्, तस्यापि अन्योन्यप्रतियोगिकत्वात्।

अथान्योन्याभावस्य संसर्गाभावो नाम अधिको नोपेयत एव, यमादाय तथा स्यादिति चेन्न, एवं तर्ह्यन्योन्याभावस्य अन्योन्याभावोऽपि नाधिकोऽभ्युपगन्तव्यः स्यादिति अन्योन्याप्रतियोगित्वेन व्यवच्छेदोऽपि संसर्गाभावस्य त्वदभिमतस्य कथं स्यात्, व्यवच्छेदस्य निषेधार्थत्वात्।

अथ मा भूदधिकोऽसौ, स्वरूपमेव तु तथेष्यत इति तदादायैव व्यवहार एष

विशेषस्य संसर्गाभावत्वप्रसङ्गः, अन्तिमे घटादावन्योन्याभावत्वप्रसङ्ग इत्यभिप्रेत्याह ❀ ताद्रूप्येणेति ❀।

अन्योन्याप्रतियोगिकः संसर्गनिषेधः संसर्गाभाव इति लक्षणस्यातिव्याप्तिमभिधायाधुनाऽव्याप्तिमभिधत्ते ❀ अपि चेति ❀। एवंलक्षणाङ्गीकारे वस्तुन्येकस्मिन्नन्योन्याभावो नास्तीत्येवं संसर्गाभावोऽपि त्वदुक्तलक्षणविशेषणेन व्यवच्छिन्नः स्यादन्योन्यविशिष्टस्याभावस्य प्रतियोगित्वेनान्योन्यप्रतियोगिकत्वादित्यर्थः। अभावस्याभावान्तरानङ्गीकारान्नायं प्रसङ्ग इति शङ्कते ❀ अथेति ❀। अन्योन्याभावस्य संसर्गाभावसदसत्त्वचिन्तायाः कः प्रसङ्ग इत्याह ❀ यमिति ❀। यथाऽन्योन्याभावस्य संसर्गाभावः स्वातिरिक्तो नास्ति तथाऽन्योन्याभावोऽपि तदतिरिक्तस्य न स्यादभावत्वाविशेषादेवं चान्योऽन्याप्रतियोगिक इति विशेषणेनान्योन्याभावाद् व्यवच्छेदोऽपि संसर्गाभावस्य न स्यादिति परिहरति ❀ नेति ❀। अन्योन्याभावव्यवच्छेदयोरन्यत्वात्कथमन्योन्याभावाभावेऽव्यवच्छेद इत्याशङ्क्याह ❀ व्यवच्छेदेति ❀। अन्योन्याभावव्यवच्छेदयोरेकत्वादन्यत्वेऽपि तयोरविनाभावादेकतराभावेऽन्यतराभाव इति भावः। यद्वस्तुतत्स्वव्यवहारे स्वावान्तरजातीयं नापेक्षत इति नियमादन्योन्याभावः स्वव्यवहारेऽन्योन्याभावान्तरं नापेक्षत इति शङ्कते ❀ अथेति ❀। तर्हि घटादेरपि स्वातिरिक्तेतरेतराभावाभावेऽपि तद्व्यवहारः किं न स्यादित्यत आह ❀ स्वरूपमिति ❀। घटादेः प्रदीपापेक्षव्यवहारत्वेऽपि न प्रदीपस्य तथात्वमेवमभावातिरिक्तस्य तदपेक्षव्यवहारत्वेऽपि न तस्य तथात्वमिति भावः। फलितमाह ❀ इतीति ❀। एष व्यवहार इतरेतराभावेतरः संसर्गाभाव इति व्यवहार इत्यर्थः। अन्योन्याभावस्य यथा स्वरूपेणैवान्योन्याभावव्यवहारहेतुत्वमेवं संसर्गा-

---

भावः संसर्गाभावः'—ऐसा न कह कर 'अभावः संसर्गाभावः'—ऐसा उद्देश्यार्थ का रूपान्तर से निर्देश किया जाता है, तब अन्योऽन्याभावादि में संसर्गाभावत्व व्यभिचरित होता है, क्योंकि 'अभावः संसर्गाभावः'—इस लक्षण का तात्पर्य है कि 'यत्र-यत्र अभावत्वम्, तत्र-तत्र संसर्गाभावत्वम्', किन्तु अन्योऽन्याभाव में अभावत्व के रहने पर भी संसर्गाभावत्व नहीं रहता [यद्यपि लक्षण के अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव—ये प्रसिद्ध दोष हैं और असत् हेतु के व्यभिचारादि दोष माने जाते हैं, लक्षण में सव्यभिचारिता दोष देना संगत नहीं, तथापि जब लक्ष्य में इतर-भेद का अनुमान किया जाता है, तब लक्षण को हेतु बनाया जाता है, अतः लक्षणावस्था का अतिव्याप्ति दोष (अतिप्रसङ्ग) हेतु का व्यभिचार दोष बन जाता है]।

यदि संसर्गाभाव के लक्षण में 'अन्योऽन्याप्रतियोगिकत्व' विशेषण दिया जाता है, तब जैसे अन्योऽन्याप्रतियोगिक होने के कारण अन्योऽन्याभाव व्यावृत्त हो जाता है, वैसे ही अन्योऽन्याभाव का संसर्गाभाव भी व्यावृत्त हो जायगा, क्योंकि उसकी भी प्रतियोगी कोटि में परम्परा से अन्योऽन्य भी प्रविष्ट है, अतः वह भी अन्योऽन्यप्रतियोगिक है—'अन्योऽन्यसंसर्गाभावः संसर्गाभावो न भवति, अन्योऽन्यप्रतियोगिकत्वाद्, अन्योऽन्याभाववत्।' फलतः संसर्गाभाव विशेष में 'संसर्गाभाव सामान्य का उक्त लक्षण अव्याप्त हो जाता है।

शङ्का—किसी लक्षण की प्रसिद्ध लक्ष्य-स्थल में अव्याप्ति दिखाई जा सकती है, अन्योऽन्याभाव का संसर्गाभाव अतिरिक्त प्रसिद्ध ही नहीं, अतः उसमें अव्याप्ति का अभिधान संगत नहीं।

निर्दोष इति चेत्, तर्ह्यन्योन्याभावसंसर्गव्यतिरेकेऽपि तुल्यमेतत्।

अपि च 'अन्योन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो यः स संसर्गाभावः' इति वक्ता त्वया अन्योन्यप्रतियोगिकेऽभावे निषिध्यमाने अन्योन्यात्मकोऽसौ अभावोऽभ्युपगतः स्यात्, द्वयोर्निषेधयोः सुन्दोपसुन्दतया अन्योन्यस्यैव स्थैर्यापत्तेः। तथा च सत्यन्योन्यस्मिन् निर्विशेषणे जगदेव प्रविष्टमिति संसर्गाभावत्वेन विवक्षितस्य जगदात्मतायां सिद्ध्यन्त्यामन्योन्याभावात्मताऽपि स्यादिति व्यर्थो विशेषणप्रयासो हासायेति, सविशेषणेऽप्यविशेषणवत्प्रसङ्ग इति महत् कौतुकम्।

भावव्यवहारहेतुत्वमिति तस्मिन्नेव संसर्गाभावव्यवहारहेतुस्वरूपेऽव्याप्तितादवस्थ्यमिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀।

अन्योन्याप्रतियोगिकः संसर्गनिषेधः संसर्गाभावतया विवक्षित इति पूर्वोक्तलक्षणेऽव्याप्तिमभिधायेदानीमतिव्याप्तिमाह ❀ अपि चेति ❀। अन्योन्याप्रतियोगिकाभावत्वनिषेधमात्रेण कथमन्योन्यत्वं संसर्गाभावस्येत्यत आह ❀ द्वयोरिति ❀। सुन्दोपसुन्दतया परस्परविरोधितयाऽन्योन्यत्वमेव स्थिरीकृतं स्यात्। सुन्दोपसुन्दौ द्वावादिदैत्यराजौ नर्मदातीरे तपश्चेरतुस्तत्तुपघातार्थं जगत्स्रष्ट्रा काचिद्वराङ्गना प्रस्थापिता तां दृष्ट्वा कामसन्तप्तौ ममेयं ममेयमिति परस्परं अघ्नतुस्तद्वदित्यर्थः। द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति न्यायेन संसर्गाभावस्यान्योन्यताऽस्तु प्रकृते किं स्यादित्यत आह ❀ तथा च सतीति ❀। अन्योन्यविशेषप्रतियोगिकाभावत्वं निषिध्यते ? किं वाऽन्योन्यमात्रप्रतियोगिकाभावत्वम् ? आद्ये यस्यान्योन्योन्यस्य प्रतियोगिकत्वमिष्टन्ततोऽन्योन्यान्तरप्रतियोगिकाभावत्वस्यानिषेधादतिव्याप्तिलंक्षणस्य, द्वितीये जगन्मात्रमन्योन्यत्वेनोक्तं स्याद्, अतश्च जगदात्मतायां सिध्यन्त्यामन्योन्याभावस्याऽपि जगन्मध्यप्रवेशात्तदात्मताऽपि सिध्येदित्यर्थः। अन्योन्याप्रतियोगिक इति विशेषणं न हातुं शक्यमन्योन्यापत्तेः न चोपादातुमव्यावर्तकत्वादिति कष्टां बत दशामाविष्ट इत्युपहसति ❀ इति व्यर्थेति ❀।

समाधान—यदि अभाव का अभाव अतिरिक्त नहीं माना जाता, तब अन्योऽन्यभाव का अन्योऽन्याभाव भी अतिरिक्त नहीं मान सकते, अतः अन्योऽन्याप्रतियोगिकत्वेन जो संसर्गाभाव का व्यवच्छेद किया जाता है, वह न हो सकेगा, क्योंकि 'व्यवच्छेद' शब्द का भी निषेध या अन्योऽन्याभाव ही अर्थ होता है, इस प्रकार संसर्गाभाव को भी अन्योऽन्याभावरूप ही मानना होगा।

शङ्का—यद्यपि अन्योऽन्याभाव का अन्योऽन्याभाव अतिरिक्त नहीं माना जाता, तथापि अन्योऽन्याभाव का स्वरूप ही व्यवच्छेद पदार्थ माना जाता है और उसी में व्यवच्छेद' शब्द का व्यवहार होता है।

समाधान—अन्योऽन्याभाव का संसर्गाभाव भी स्वरूप ही माना जायगा, अन्योऽन्याभावरूप संसर्गाभाव में उक्त लक्षण की अव्याप्ति बनी ही रहती है।

यह भी यहाँ ध्यान देने की बात है कि आप (नैयायिकों) का जो कहना है कि 'अन्योऽन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो यः स संसर्गाभावः', उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अन्योऽन्यात्मको योऽभावो भवति, स संसर्गाभावः। "द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः"—इस न्याय के आधार पर 'अन्योऽन्यस्याभावो न भवति'—इस वाक्य में से 'अभाव' और 'न'—इन दो नञर्थक पदों को निकाल देने पर अन्योऽन्यात्मकता ही पर्यवसित होती है। अन्योऽन्य का जब तक कोई विशेषण नहीं लगाया जाता, तब तक 'अन्योऽन्य' पद समग्र विश्व का वाचक होता है, उस विश्व में अन्योऽन्याभाव भी है, अतः 'विश्वरूपः संसर्गाभावोऽतः अन्योऽन्याभावरूपः संसर्गाभावः'—ऐसी स्थिति में पहुँच कर यह प्रश्न उठता है कि अन्योऽन्याभाव-व्यावर्तक अन्योऽन्याप्रतियोगिकत्व विशेषण का क्या लाभ ? विशेषण लगाने पर भी वही दोष बना है—

ननु 'घटाभावो न भवति स्तम्भः' इत्युक्ते किं स्तम्भो घटात्मा विहितो भवति, तत्कस्य हेतोः ? तदा हि तथा स्यात्, यदि घटस्तदभावश्चेत्येव जगत् स्यात्, यदा तु स्तम्भादिरप्यपरा कोटिरस्ति, तदा कथं तथा स्यादित्युक्तप्रसङ्गानवकाश इति ।

मैवम्, यथा घटतदभावाभ्यामन्या वस्त्रादिकमप्यस्ति कोटिस्तथाऽन्योन्यतदभावाभ्यां नान्या कोटिः सम्भवति, निर्विशेषणान्योन्यमध्ये जगत एव प्रवेशात् ।

तदात्मनोऽपि निषिध्यमानत्वे तन्निषेधात्मके तदात्मनि जगत्प्रवेशात् । न हि 'घटः पटात्मे'त्यनेन पटस्वरूपादन्यस्तदात्मा विहितः स्यात् ।

अन्योन्याभावो न भवति योऽभावः स संसर्गाभाव इति लक्षणे भावाभावयोरन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधिपर्यवसायितया अन्योन्यत्वं संसर्गाभावस्य स्यादित्यर्थान्तरापत्तिरित्युक्तमयुक्तं स्वपक्षसाधनानुमानत्वे अपसिद्धान्तात्परपक्षेऽनिष्टप्रसङ्गरूपतर्कत्व आपाद्यापादकयोर्व्याप्त्यभावात्प्रशिथिलमूलत्वादिति चोदयति ❀ नन्विति ❀ । स्तम्भस्य घटाभावत्वे निषिद्धेऽपि न घटात्मत्वं यथा, तथाऽन्योन्याभावत्वे निषिध्यमाने संसर्गाभावस्यान्योन्यत्वं न स्यादित्यर्थः । घटो घटाभावो न भवतीति घटस्य स्वाभावत्वनिषेधे घटात्मत्वमिव स्तम्भस्यापि घटाभावात्मत्वनिषेधे घटत्वमेव तत्रापि मन्तुमुचितमिति पृच्छति ❀ तदिति ❀ । घटस्य तदभावत्वनिषेधेन घटात्मत्वबोधने मानान्तराविरोधादुपपन्नन्तत्र तथात्वम्, इह पुनर्घटाभावत्वनिषेधेन तदात्मत्वविधौ प्रत्यक्षादिविरोधान्न घटात्मत्वं स्तम्भस्येति परिहरति पूर्ववादी ❀ तदा हीति ❀ । प्रत्यक्षादिविरोध एव कस्मादित्याशंक्य घटतदभावव्यतिरेकेण स्तम्भादिकोटयन्तरस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्याह ❀ यदेति ❀ । सा च भेदप्रतीतिरबाधितानुभवत्वेन प्रमैवेत्यर्थः । ❀ कथं तथा स्यादिति ❀ । स्तम्भो घटात्मा विहितः कथं स्यात् न कथंचिदित्यर्थः ।

असम्भवत्प्रकारान्तरयोः परस्परविरुद्धयोरन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधिपर्यवसायित्वे व्याप्तेरसम्पन्नत्वाऽन्न संसर्गाभावस्यान्योन्यत्वापादनतर्कस्य प्रशिथिलमूलत्वमिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀ । घटादिविशेषितान्योन्यप्रतियोगिकाभावव्यतिरिक्तोऽभावः संसर्गाभाव इत्युक्ते पटाद्यन्योन्याभावप्रसङ्गवारणायान्योन्यमात्रप्रतियोगिकाभावनिषेधो वाच्यः, एवं च निर्विशेषणान्योन्यस्मिन् जगत्प्रवेशाज्जगत्तदभावव्यतिरेकेण कोटयन्तरभूतानात्मपदार्थो न सम्भवतीति हेतुमाह ❀ निर्विशेषणेति ❀ । अन्योन्याभावान्योन्याभ्यामन्या कोटिर्न सम्भवतीत्युपपाद्य सम्प्रति संसर्गाभावस्यान्योन्याभावत्वनिषेधेऽन्योन्यत्वमेव परिशिष्यत इत्याह ❀ तदिति ❀ । तज्जगदात्मा स्वरूपं यस्यान्योन्यस्य तत्तदात्मा तस्यापि निषिध्यमानत्वेऽन्योन्याभावपदेनान्योन्याभावे बोध्यमाने पुनरन्योन्याभावो न भवतीत्यत्र तस्यान्योन्यनिषेधस्यापि निषेध आत्मा स्वरूपं

यह तो एक बड़ा चमत्कार है।

शङ्का—'घटाभावो न भवति स्तम्भः'—ऐसा कहने पर क्या स्तम्भ में घटात्मता का विधान हो जाता है ? कभी नहीं। उसका क्या कारण ? वैसा कहने पर स्तम्भ में घटात्मता का विधान तब हो सकता था, जब कि 'घट और घटाभाव'—ये दो पदाथ ही पूरे विश्व में होते। जब उन दोनों से भिन्न स्तम्भादि की एक तीसरी कोटि है, तब उक्त वाक्य से स्तम्भ में घटरूपता का विधान क्यों होगा ?

समाधान—जैसे घट और घटाभाव से भिन्न वस्त्रादि की एक तीसरी कोटि भी है, वैसे प्रकृत में अन्योऽन्याभाव और उसके अभाव से भिन्न कोई तीसरी कोटि नहीं, अतः सामान्यतः अन्योऽन्य की कक्षा में जगत् का प्रवेश हो जाता है। तदात्मक (जगदात्मक अन्योऽन्य या) तादात्म्य भी अन्योऽन्याभाव में निषिध्यमान है, अतः उस अन्योऽन्याभाव का भी निषेध करने पर अन्योऽन्यस्वरूप संसर्गाभाव में जगत् का प्रवेश हो जाता है, क्योंकि घटः पटात्मा'—ऐसा कहने पर घटस्वरूप से भिन्न पटात्मा वस्तु नहीं होती।

यदि तु तादात्म्यं नामाभेदाख्यो धर्मः कश्चिदिष्यते, स घटपटाद्यधिकरणतया निषिद्ध्यते, तदा संसर्गाभाव एव स स्यात् । तस्मात् निर्विशेषणतादात्म्यान्तर्भूतं जगदिति कोटयन्तराभाव इति ।

अपि च एवं तर्हि घटे निषिद्ध्यमाने घटाभावो विधीयते, घटाभावे च निषिद्ध्यमाने घट इत्यपि न स्यात्, तृतीयस्य विद्यमानत्वात् । भवन् वा 'घटाभावः स्तम्भो

यस्यान्योन्यस्य तत्तन्निषेधात्मकं तस्मिंस्तन्निषेधात्मके तदात्मन्यन्योन्यस्वरूपे जगत्प्रवेशाज्जगदात्मत्वं संसर्गाभावस्य स्यादित्यर्थः । यद्वा तदात्मनोऽप्यन्योन्यात्मनो जगतो निषिध्यमानत्वे तन्निषेधात्मके तस्यान्योन्यात्मकजगतो निषेधरूपान्योन्याभावनिषेधात्मके तदात्मनि संसर्गाभावस्वरूपे जगत्प्रवेशात्संसर्गाभावस्य जगदात्मत्वमित्यर्थः । अन्योन्यस्य न जगत्स्वरूपत्वमपि तु तद्धर्मत्वं तेन संसर्गाभावस्यान्योन्याभावत्वे निषिद्ध्यमानेऽपि जगद्धर्मतैव स्यान्न जगदात्मतेत्याशङ्क्याह ❀ न हीति ❀ । घटः पृथिव्यात्मक इत्यत्र घटस्वरूपादन्यन्न तादात्म्यमवबोध्यते आत्मशब्दस्य स्वरूपवाचकत्वादेवं जगत्तादात्म्यमपि जगत्स्वरूपमिति तन्निषेधनिषेधात्मनः संसर्गाभावस्य जगद्रूपत्वमित्यर्थः । नेह भूतले घट इति घटस्य भूतलाधिकरणत्वनिषेधवदनयोर्घटपटयोस्तादात्म्यं नास्तीति घटाद्यधिकरणतयाऽभेदापरपर्यायस्तादात्म्यधर्मो निषिध्यते ततस्तन्निषेधनिषेधात्मनः संसर्गनिषेधस्य तादात्म्यस्वरूपत्वे सिद्धयत्यपि न विश्वात्मतेति शङ्कते ❀ यदि त्विति ❀। तादात्म्यं यदि स्वरूपमेव स्यात्तदा घटपटयोस्तादात्म्यमिति षष्ठीनिर्देशो न स्यादिति तु शब्दार्थः । संसर्गप्रतियोगिकनिषेधत्वसंसर्गाभावलक्षणवत्तया संसर्गाभावत्वमेव स्यान्नान्योन्याभावत्वमिति दूषयति ❀ तदेति ❀ । अन्योन्याप्रतियोगिकनिषेधत्वादित्यर्थः । अन्योन्यान्योन्याभावाभ्यामन्या कोटिर्न सम्भवतीति यदुक्तं तदुपपादितमुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀ ।

घटाभावः स्तम्भो न भवतीत्युक्ते स्तम्भस्य न घटात्मत्वं कोटयन्तरभावादित्युक्तमङ्गीकृत्यान्योन्याभावनिषेधे वैलक्षण्यमभाणि, सम्प्रति नेह घट इति घटनिषेधे तदभावत्वमिह घटो नास्तीति तन्निषेधनिषेधे घटभावश्चाभ्युपगच्छता स्तम्भस्य कुम्भाभावत्वनिषेधे कुम्भात्मत्वमभ्युपेयमिति प्रतिपादयन्नाह ❀ अपि चेति ❀। घटे निषिध्यमाने घटाभावो विधीयते घटाभावे निषिध्यमाने घटो विधीयत इत्यपि न स्यात्कोटयन्तरभावादेवेति विपक्षेऽनिष्टप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम् । भूतले घटतदभावयोरन्यतरनिषेधेऽन्यतरस्याध्यक्षसिद्धत्वाद् घटादिनिषेधे घटाभावादि किं न सिद्धयेदित्यत आह ❀ भवन्वेति ❀ । घटादिनिषेधः

यदि तादात्म्य नाम का कोई अभेदसंज्ञक धर्म माना जाता है, उसी का घटपटादिनिष्ठत्वेन निषेध किया जाता है, तब वह संसर्गाभाव ही सिद्ध होता है । अतः निर्विशेष तादात्म्य या अन्योऽन्य के अन्तर्भूत जगत् आ जाता है, यहाँ पूर्ववत् तीसरी कोटि नहीं ।

यह भी यहां एक दोष है कि घट का निषेध करने पर घटाभाव का विधान हो जाता है और घटाभाव का निषेध करने पर घट विधीयमान हो जाता है— यह स्वाभाविक नियम भी सुरक्षित न रहेगा, क्योंकि घट और घटाभाव से भिन्न पटादि की तीसरी कोटि भी है, अतः घट का निषेध करने पर पटादि भी प्रसक्त हो सकते हैं, घटाभाव ही क्यों विहित होगा ? अन्यथा 'घटाभावः स्तम्भो न भवति'— यहां भी स्तम्भ में घटात्मता प्राप्त होगी, क्योंकि घट के संसर्गाभाव का संसर्गाभाव अभाव पदार्थ है, वैसे घट के संसर्गाभाव का अन्योऽन्याभाव भी अभाव पदार्थ ही माना जाता है और संसर्गाभाव तथा अन्योऽन्याभाव की अन्य किसी विशेषता (भेद) का निरूपण नहीं किया गया, अतः सामान्यतः अभावाभाव की भावरूपता का नियम मानने पर 'घटाभावः स्तम्भो न भवति'—यहाँ पर घटान्योऽन्याभाव के निषेध को भी घटरूप ही मानना होगा, क्योंकि अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव का किसी प्रकार का वैचित्र्य अभी तक आप सिद्ध नहीं कर सके, अतः आपने जो अत्यन्ताभाव-स्थल पर अतिप्रसङ्ग दिया [घटाभावो न भवति स्तम्भ

न भवती'त्यत्रापि घटाभावत्वाविशेषाद् विशेषान्तरानिर्वचनाच्च घटः स्तम्भात्मेत्येवोक्तं स्यादिति त्वत्प्रसङ्गस्त्वयि निपतेत्। संसर्गान्योन्याभाववैचित्र्यमादाय हि स परिहार्यः, स एव च नाद्यापि व्यवतिष्ठते।

अत एव 'प्रतीतिबलादन्यदेव वैधर्म्यमनयोरुपेयमित्यपि निरस्तम्, प्रतिषेधप्रतिषेद्धव्यविरोधे हि प्रकारविशेषव्यवस्थानिरुक्त्यशक्तेरविशेषेण एकनिषेधे अन्यविधिध्रौव्यं भवदन्योन्याभावनिषेधेऽप्यन्योन्यविधये स्यात्।

मम चानिर्वचनीयतैव प्रतीतिव्यवहारव्यवस्थापर्यनुयोगत्राणत्रारणाय वज्र-

घटाभावादिर्भवन् वा घटाभावः स्तंभो न भवतीत्यत्रापि घटाभावनिषेधे घट एव भवेदिति योजना। हेतुमाह ॐ घटाभावेति ॐ। विमतो घटो भवितुमर्हति घटाभावनिषेधत्वात्सम्प्रतिपन्नवदितिप्रयोगः स्तम्भस्य घटाभावत्वनिषेधेन घटत्वविधिर्भूतले घटाभावनिषेधे घटविधिरिति व्यवस्थादर्शनात्तद्धेतुविशेष उन्नीयत इत्याशंक्याऽऽह ॐ विशेषे इति ॐ। तद्विशेषान्तरमन्यगतं न व्यवस्थापकमसत्त्वादेव भावरूपं चेति भावाधिकरणत्वेन भावत्वमभावयोर्भवेदिति न्यायानलविप्लावितत्वादभावत्वातिरिक्तं विशेषान्तरं निर्वक्तुमशक्यमित्यर्थः। फलितमाह ॐ घट इति ॐ। अन्योन्याभावनिषेधेऽन्योन्यात्मविधौ स्तम्भस्य घटाभावत्वनिषेधे घटात्मत्वं स्यादिति नस्त्वयाऽऽपादितः प्रसङ्गस्तवैवानर्थाय स्यादित्यर्थः। भूतले घटाभावो नास्तीति घटाभावस्य संसर्गो निषिध्यते तेन तत्र घटविधिः स्यात्स्तम्भः कुम्भाभावो न भवतीति स्तम्भस्य कुम्भाभावतादात्म्यनिषेधोऽस्तो न तत्र कुम्भात्मत्वविधिरित्याशंक्याह ॐ संसर्गेति ॐ। स प्रसङ्गः परिहरणीय इति यावत्। भवतु को दोष इत्यत आह ॐ स इति ॐ अयमेव हि तयोर्भेदपरीक्षाकालस्तेन कथमसिद्धमसिद्धेन साध्यत इत्यर्थः।

संसर्गान्योन्याभावौ विधर्माणौ विलक्षणप्रतीतिगोचरत्वाद् घटपटवदित्यनुमानात्पूर्वनिरस्तविशेषाद्विशेषान्तरमनयोराश्रयणीयमित्याशंक्याऽऽह ॐ अत इति ॐ। भेदासिद्धेरेव विलक्षणप्रतीतिविषयत्वासिद्धेरित्यर्थः। "परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थिति" रिति न्यायेन संसर्गाभावस्यान्योन्याभावत्वनिषेधेऽन्योन्यत्वमेव स्यादिति निगमयति ॐ प्रतिषेधेति ॐ। प्रतिषेधोऽभावः प्रतिषेध्यं प्रतियोगि तयोर्विरोधे प्रकारान्तरस्य निर्वक्तुमशक्यत्वादविशेषेणान्योन्याभावनिषेधे एकतरनिषेधेऽन्यतरविधिध्रौव्यं ध्रुवभावो नियतत्वं भवदन्योन्यविधये स्यादित्यर्थः।

नायमयं नेहायमितिसंसर्गान्योन्याभावप्रतीतिव्यवहारौ विलक्षणौ प्रत्यक्षौ तयोर्गतिस्त्वयापि वक्तव्या तवाऽप्युदीरितदोषपरम्परापत्तिरित्याशंक्याह ॐ ममेति ॐ। देहात्मव्यहारवदाबोधमविचारि-

इत्युक्ते स्तम्भोऽपि घटात्मा विहितः स्यात्], वही अतिप्रसङ्ग उलट कर आप पर ही प्रसक्त हो जाता है कि घटान्योऽन्याभावाभावरूप होने के कारण घट और स्तम्भव—दोनों अभिन्न हो जायँगे। अत एव [संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभावरूप पदार्थों का वैचित्र्य सिद्ध न होने के कारण] उनकी प्रतीतियों के वैचित्र्य से जो लोग उन दोनों अभावों में वैचित्र्य सिद्ध करते थे, उनका भी निरास हो जाता है, क्योकि निषेध्य और निषेध का सहज विरोघ प्रसिद्ध है, वह निषेध्य चाहे संसर्गभाव हो या अन्योऽन्याभाव, उन दोनों का निषेध प्रतियोगिस्वरूप ही होगा। 'संसर्गभाव का निषेध प्रतियोगिरूप और अन्योऽन्याभाव का निषेध प्रतियोगितावच्छेदकरूप होता है'— इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की जा सकती, अतः दो भावाभावात्मक या विरोधी पदार्थों में से एक पदार्थ का निषेध करने पर दूसरे का विधान ध्रुवभावी होने के कारण अन्योऽन्याभाव (या तादात्म्य-निषेध) का निषेध अन्योऽन्य या तादात्म्य के विधान में पर्यवसित हो जाता है।

यदि हम (खाण्डनिक) से कोई ऐसा प्रश्न करे कि आप कथित दोनों अभावों के वैचित्र्य (भेद) का निर्वचन कैसे करेंगे ? तब हमारा स्पष्ट उत्तर होगा कि हमने अनिर्वचनी-

वारवाणायमाना विजयते। मम त्वेवं दर्शनम्—प्रतीतिसिद्धत्वादत्यन्तासद्विलक्षणं भवदपि जगत्तथा सत्त्वोपगमेऽपि बाध्यमानत्वादनिर्वचनीयमिति।

अत एव प्रतीयमानत्वाद् वैचित्र्यमनयोर्घुष्यमाणमतिदूरमिरस्तम्। उक्तप्रतियोग्यादिवैचित्र्यानुपपत्तितः प्रतीयमानस्यैव बाध्यतायाः एव कथनात्। तस्मात्—

अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदव्यवस्थितौ।
सत्यां स्यात्तद्व्यवस्थेति स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥ ३० ॥

तरमणीययोः प्रतीतिव्यवहारयोरुपपत्तिरिति न स्वव्याघातकत्वाशङ्केति तात्पर्य्यम्। प्रतीतिव्यवहारव्यवस्था कथमिति चोद्यं प्रतीतिव्यवहारव्यवस्थापर्यनुयोगः, स एव बाणस्तद्वारणाय वज्रोपममभेद्यं वारवाणं कवचस्तद्वदाचरतीति वारवाणायमानाऽनिर्वचनीयतैव विजयत इति योजना। किमिदमनिर्वचनीयत्वं न तावन्निर्वचनानर्हत्वं मूकीभावप्रसङ्गात्, नाऽपि सद्वैलक्षण्यं असतोऽपि तथात्वापातात्, न चासद्वैलक्षण्यं सतोऽनिर्वचनीयत्वापातात्, नापि सदसद्वैलक्षण्यं सदसतोः प्रत्येकमनिर्वचनीयत्वापातात्। न च सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वं तस्य तथाभूतस्य क्वाप्यदर्शनात्प्रमाणाभावाच्चेत्याशंक्याह ॐ मम हीति ॐ। ख्यातिविशेषविषयत्वे सति बाध्यत्वानुपपत्तिस्तथात्वसाधिका, तथाहि खपुष्पसमत्वेऽपरोक्षत्वानुपपत्तिरात्मसमत्वे बाधानुपपत्तिः। न चान्यत्र दृष्टमेवान्यत्राऽऽश्रयणीयं, दर्शनाऽनवस्थापातादिति। उक्तं च—

"सत्त्वे न भ्रान्तिबाधौ स्तां नासत्त्वे ख्यातिबाधकौ।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्याऽविद्या वेद्यैः सह भ्रमाः॥" इति

प्रपञ्चानिर्वचनवादिना तन्मध्यपातितसंसर्गेतरेतराभावयोर्वैलक्षण्यं प्रतीताकारमूरीकृत्य तत्त्वांशखण्डने नाऽनुभवविरोधोऽपीत्याह ॐ अत इति ॐ। अनयोरभावयोः प्रतीयमानत्वाद्वैचित्र्यं घुष्यमाणं दूरनिरस्तमुक्तमित्यन्वयः। तत्र हेतुमाह ॐ प्रतियोगीति ॐ। आदिपदेन लक्षणादिवैचित्र्यसङ्ग्रहः। ॐ प्रतीयमानस्यैवेति ॐ। उपाधिविशेषे प्रतिपत्तिमात्रं निषेधे प्रयोजकं न प्रमितिरित्युक्तम्। बाध्यताया एवेति प्रातीतिकरूपाङ्गीकारेण विरोधपरिहार ईरितः। यस्मात्संसर्गेतरेतराभावयोरसङ्कीर्णलक्षणासिद्धिः, तस्मादित्युपसंहरति ॐ तस्मादिति ॐ। संसर्गेतरेतराभाववैलक्षण्यं प्रतियोगिवैलक्षण्यादुत संसर्गाभावान्योन्याभावरूपवैलक्षण्यादिति विकल्प्य क्रमेण दूषयति। अन्योन्याभावश्च संसर्गाभावश्चान्योन्याभावसंसर्गाभावौ तयोर्भेदस्तस्य व्यवस्थितिः सिद्धिस्तस्यां सत्यां तद्व्यवस्था स्यात्तयोः संसर्गान्योन्यरूपप्रतियोगिनोर्भेदः स्याद्

यता का वह फौलादी वारवाण (कवच या सन्नाह) पहन रखा है, जिससे विकट-से-विकट आक्षेपों की वाण-वर्षा हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकती। हमारा अकाटच सिद्धान्त है कि यह जगत् प्रतीयमान है, अतः खपुष्प के समान अत्यन्त असत् न होने पर भी ब्रह्म के समान अत्यन्त सत् भी नहीं हो सकता, क्योंकि वाध्यमान है, परिशेषतः सदसद्विलक्षण या अनिर्वचनीय सिद्ध हो जाता है। संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभाव का जो प्रतीयमान वैचित्र्य पारमार्थिक माना जाता है, वह इस लिए निरस्त हो जाता है कि विषयगत वैलक्षण्य के आधार पर ही प्रतीति में वैलक्षण्य आया करता है, यदि प्रतीति के आधार पर विषयगत वैचित्र्य सिद्ध किया जाय, तव अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि प्रतीयमान वस्तु को सत् मानने पर शुक्ति-रजत को भी सत् मानना होगा। उक्त अभावों की वैचित्र्यविषयिणी प्रतीति को यथार्थ भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभाव में जाति या प्रतियोग्यादि उपाधि के आधार पर वैचित्र्य नहीं बनता, अतः प्रतीयमान वैचित्र्य वाधित है और वाधितार्थविषयक प्रतीति भ्रममात्र है। फलतः 'अन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः, स संसर्गाभावः'—इस प्रकार की भेद-व्यवस्था तभी उपपन्न हो सकेगी, जव कि उन दोनों अभावों का भेद सिद्ध हो जाय',—यह एक ऐसा आत्माश्रय दोष प्रसक्त हो जाता है, जिसकी चिकित्सा कोई नहीं कर सकता।'

अभाव एव यत्रेति सावधारणं वक्तव्यमिति चेन्न, एवकारेण किमधिकमभिधीयते ? भावो निषिद्ध्यत इति चेन्न , तस्याभावपदेनैव लब्धत्वाद् , भावनिषेधोऽभाव इत्यनर्थान्तरमिदम् । भावसामानाधिकरण्यनिषेध एवकारार्थ इति चेन्न, उक्तेनैव

अन्योन्याभावरूपत्वाद्भेदस्य अतश्चान्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदसिद्धावन्योन्याभावरूपभेदः प्रतियोगिनोः सिद्ध्येत्, सिद्धे च प्रतियोगिभेदे संसर्गान्योन्याभावभेदसिद्धिरिति परस्पराश्रयः, आत्माश्रयत्वं तु प्रतियोगिभेदस्यान्योन्याभावरूपत्वात्स्वसिद्धौ स्वसिद्धिरिति दर्शितम् । द्वितीयविकल्पपरिहारतयाऽयमेव श्लोको योज्यः तथाहि अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदव्यवस्थितौ सिद्धायामन्योन्याभावो यो न भवति निषेधः संसर्गाभाव इति भेदव्यवस्था सिद्धयतीत्यात्माश्रयत्वं कः प्रतिविदधात्वित्यर्थः । यथासम्भवमात्माश्रयादीतिपुरेरितदोषविशेषपरतयाऽप्ययं ग्रन्थो योजनीयः ।

इदानीं प्रकारान्तरेणोक्तदोषपरिहारं शङ्कते ॐअभाव इतिॐ । स्मृतित्वाभावो यस्मिन् ज्ञाने साऽनुभूतिरित्युक्ते स्मृतित्वान्योन्याभावमादाय स्मृतावतिव्याप्तिरुच्यते स्मृतित्वात्यन्ताभावाधिकरणं ज्ञानमनुभूतिरिति तु लक्षणेन स्मृतावतिव्याप्तिस्तस्या स्मृतित्वसमवायित्वेन तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वादिति शङ्कार्थः । अत्यर्थवाचकैवकारार्थानिरूपणान्मैवमिति परिहरति ॐनेतिॐ । भावनिषेधोऽभिधीयते स्वाभावस्य स्वभावेन सहासामानाधिकरण्यमुतार्थान्तरमिति विकल्पाभिप्रायः । भावनिषेध एवकारार्थ इति प्रथमकल्पमवलम्बते ॐभाव इतिॐ । भावनिषेधवाचकैवकारः किमभावशब्दानतिरिक्तार्थः ? किंवाऽतिरिक्तार्थः ? आद्ये सहप्रयोगानुपपत्तिरेवकारार्थस्याभावपदेनोक्तत्वाद्धस्तशब्देनैव विवक्षितार्थलाभे करशब्दाप्रयोगवदिति मन्वानः परिहरति ॐनेतिॐ । एवकाराप्रयोगे स्मृतित्वसंसर्गाभावमात्रं स्मृतावप्यस्तीति पूर्वोक्तप्रसङ्गः सुस्थ इति भावः । अस्तु तर्ह्यनयोः शब्दयोरतिरिक्तार्थत्वमित्यत आह ॐ अभावेति ॐ । अनर्थान्तरमर्थान्तरं न भवति भूतले घटो नेति घटनिषेधस्य तत्र घटाभाव इतिशब्दस्य च लोके पर्यायत्वावगमादेकार्थत्वानुभवाच्च नातिरिक्तार्थत्वं तेनैवकारो व्यर्थ इत्यर्थः । स्मृतित्वस्याभाव एवेत्यस्यायमर्थः स्मृतित्वेनासमानाश्रयस्तदभावो यत्र

शङ्का—'स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानत्वमनुभूतित्वम्'—इस लक्षण का जो स्मृति में स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव लेकर अतिव्याप्ति दोष दिखाया गया, वह उचित नहीं, क्योंकि हम 'स्मृतित्वस्याभाव एव यत्र'—ऐसा सावधारण प्रयोग करते हैं, स्मृति में स्मृतित्व का भाव भी है, केवल अन्योऽन्याभाव नहीं ।

समाधान—अवधारण (एवकार) के द्वारा आप क्या अधिक अर्थ सूचित करना चाहते हैं ? यदि कहें कि 'भावो निषिध्यते' [प्रायः एवकार के तीन अर्थ माने जाते हैं—

"अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगमेव च ।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः ।।" (प्र० वा० ४।१९०)

अर्थात् (१) अयोग-व्यवच्छेद, (२) अन्ययोग-व्यवच्छेद और (३) अत्यन्तायोग-व्यवच्छेद । क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—(१) 'चैत्रो धनुर्धरः'—यहाँ चैत्र में धनुर्धरता के अयोग का व्यवच्छेद करने के लिए 'धनुर्धरः'—यह विशेषण रखा गया है । (२) 'पार्थो धनुर्धरः'—यहाँ पार्थ से अन्य पुरुषों में धनुर्धरता के योग का व्यवच्छेद 'धनुर्धरः' विशेषण से तथा (३) 'नीलं सरोजम्'—यहाँ सरोज में नीलता के अत्यन्तायोग का व्यवच्छेद 'नील' विशेषण से किया गया है] । यदि अभाव से जुड़े हुए 'एव' शब्द के द्वारा भावरूप अन्य पदार्थ का व्यवच्छेद (निषेध) करना हो [अर्थात् जिस ज्ञान में स्मृतित्व धर्म का भाव न हो, वह अनुभूति है—ऐसा कहना चाहें], तब एवकार का प्रयोग व्यर्थ है, क्योंकि 'यत्र स्मृतित्वस्य अभावः'—इतना कह देने मात्र से भाव का निषेध सिद्ध हो जाता है । 'भावव्यवच्छेद', 'भावनिषेध' और 'अभाव'—इत्यादि पद समानार्थक माने जाते हैं, [अनेक पर्यायवाची पदों का सह प्रयोग नहीं होता, अतः 'हस्तः करः' के समान 'अभाव एव'—ऐसा प्रयोग ही संगत

गतार्थत्वात् । अन्योन्याभावस्य च तस्य स्मृतावपि सम्भवात्, न हि भावसामानाधिकरण्यं स्मृतिः । स्मृतौ च भावमभावं चैकत्र मन्यमानेन तस्याप्येष्टव्यत्वात्, तयोः

ज्ञाने साऽनुभूतिरिति । न च स्मृतावतिव्याप्तिः स्मृतित्वान्योन्याभावस्य स्मृतित्वेन समानाधिकृतत्वात्तत्रेति द्वितीयं कल्पं शंकते ॐ भावेति ॐ । स्मृतित्वाभावस्य स्मृतित्वभावेन सामानाधिकरण्यनिषेध एवकारार्थं इत्यर्थः । सामानाधिकरण्यं नामैकधर्मिनिष्ठत्वं भावाभावयोस्तेन स्मृतित्वाभावो यत्रेत्युक्त्यैव स्मृतित्वस्यानुभूतिधर्मिनिष्ठत्वस्यार्थान्निषेधात्तदसामानाधिकरण्यमभावपदेनैव लब्धमित्येवकारो व्यर्थ इत्युक्तन्यायेन परिहृतमेतच्चोद्यमित्याह ॐ नेति ॐ । नन्वभावपदं स्मृतित्वाभावं मुखतो वक्ति सामानाधिकरण्याभावं त्वर्थतो द्योतयति, न च अर्थद्योतितस्य मुखतो वाचकं पदान्तरं तेन न पुनरुक्तम्, अन्यथाऽद्वितीयपदेनार्थसिद्धस्य जगन्मिथ्यात्वस्य मुखतो वाचकं वाचारम्भणमित्यादि पुनरुक्ततया व्यर्थं स्यादित्याशंक्याह ॐ अन्योन्येति ॐ । स्मृतौ स्मृतित्वान्योन्याभावस्य तस्य च भावसामानाधिकरण्यनिषेधस्य भावादित्यर्थः । भावसामानाधिकरण्यान्योन्याभावो न स्मृतिनिष्ठः स्मृतित्वसामानाधिकरण्याभावत्वात् संसर्गाभाववदित्याशंक्याह ॐ न हीति ॐ । अन्योन्याभावाभावे स्मृतेः सामानाधिकण्यैक्यं स्यात्तेन स्मृतिः स्मृतित्वसामानाधिकरण्यान्योन्याभाववती ततो भिन्नत्वादनुभूतिवदित्यर्थः । स्मृतौ स्मृतित्वतदन्योन्याभावयोः सामानाधिकरण्ये सति कथं सामानाधिकरण्याभावस्तयोर्विरुद्धयोरेकधर्मिनिष्ठत्वायोगादित्याशंक्याह ॐ स्मृतौ चेति ॐ । स्मृतौ स्मृतित्वं तदभावं च मन्यमानेन त्वया तस्य सामानाधिकरण्यान्योन्याभावस्य सामानाधिकरण्यस्य चैकत्र स्मृतावेष्टव्यत्वादविशेषादित्यर्थः । यद्वा एकत्र भूतले घटं तदन्योन्याभावं च मन्यमानेन त्वया स्मृतौ च सामानाधिकरण्ये सत्यपि तदन्योन्याभावस्येष्टव्यत्वादविशेषादित्यर्थः । यद्वा एकत्र स्मृतौ स्मृतित्वभावं तदभावं च मन्यमानेन सामानाधिकरण्याभावस्य चेष्टव्यत्वात्, तथा हि सामानाजिकरण्याभावो नाम यत्र स्मृतित्वं तत्र स्मृतित्वाभावो नास्ति, यत्र स्मृतित्वाभावस्तत्र स्मृतित्वं नास्तीति ततश्च यत्र स्मृतित्वं तत्र स्मृतित्वाभावो नास्तीति स्मृतित्वमस्तीत्युक्तं स्याद्, अभावनिषेधस्य भावविधानत्वात्, तथा यत्र स्मृतित्वाभावस्तत्र स्मृतित्वं नास्तीति स्मृतित्वाभावोऽस्तीति कथितं स्याद्भावनिषेधस्याभावविधिपर्यवसायित्वादित्यर्थः । भावाभावयोरेकतरनिषेधेऽन्यतरविध्यावश्यकत्वे हेतुमाह ॐ तयोरिति ॐ ।

नहीं]। 'भाव का निषेध न कर भाव-सामानाधिकरण्य का निषेध नहीं कर सकते, क्योंकि उस अर्थ का भी लाभ 'अभाव' पद से ही हो जाता है [अर्थात् जिस स्मृतित्वाभाव में स्मृतित्वरूप भाव पदार्थ का सामानाधिकरण्य नहीं, वही अनुभूतित्व का गमक है—ऐसा अर्थ भी 'यत्र स्मृतित्वस्याभावः'—इतने प्रयोग मात्र से अर्थात् अधिगत हो जाता है]।

एवकार के द्वारा भाव-समानाधिकरण्य का निषेध करने पर भी स्मृति में अनुभूतित्व को अतिव्याप्ति बनी ही रहती है, क्योंकि स्मृतिगत स्मृतित्वान्योऽन्याभाव में भी स्मृतित्व के सामानाधिकरण्य का निषेध (अन्योऽन्याभाव) है। यदि स्मृतिगत स्मृतित्वान्योऽन्याभाव और स्मृतित्वासामानाधिकरणण्य का तादात्म्य होता, तब उस स्मृतित्वान्योऽन्याभाव में स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य का तादात्म्याभाव (अन्योऽन्याभाव) नहीं रहता, किन्तु उक्त स्मृतित्वान्योऽन्याभाव जब स्मृतित्वसामानाधिकरण्यरूप नहीं, तब स्मृतित्वान्योऽन्याभाव में स्मृतिसामानाधिकरण्य का अन्योऽन्याभाव निश्चितरूप से रह सकता है [यहाँ हमारे ग्रन्थकार ने लिखा है—"न हि भावसामानाधिकरण्यं स्मृतिः"—इससे यह नितान्त स्पष्ट है कि ग्रन्थकार 'यत्राभाव एव'—इस वाक्य के द्वारा 'यत्र भावसामानाधिकरण्यं नास्ति'—ऐसा पूर्ववादि-विवक्षित अर्थ निकाल रहा है, अत एव यह कहा गया है कि जैसे अनुभूति में स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य का निषेध (अत्यन्ताभावात्मक) है, वैसे ही स्मृति में भी स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य का निषेध (अन्योऽन्याभावात्मक) रहता है, क्योंकि स्मृति स्मृतित्वसामानाधिकरण्यरूप तो है नहीं कि उसमें स्मृतित्वसामानाधिकरण्य का अन्योऽन्याभाव न रहे।

परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वात्। न हि रूपरसयोरेकत्राभावेन तत्सामानाधिकरण्याभावः स्यात्।

समाविष्टयोर्भावाभावयोः परस्परप्रतिक्षेपात्मकतैव न सिद्धेति चेत्, तर्हि

तयोर्भावाभावयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वादन्योन्यनिषेधरूपत्वादिति यावत्। यद्वा स्मृतौ स्मृतित्वभावमभावञ्चाभ्युपगच्छता भावाभावसामानाधिकरण्यतदभावौ किमित्येष्टव्याविंत्याशंक्याह ⊛ तयोरिति ⊛। तयोः सामानाधिकरण्यतदभावयोः परस्परप्रतिस्पर्द्धिरूपत्वात् स्मृतित्वतदभाववत्तावप्येष्टव्याविंत्यर्थः। सामानाधिकरण्यतदभावयोः सामानाधिकरण्ये तदभावे वा सहभावानुपलम्भात् स्मृतावपि न सहभावसम्भव इत्याशंक्याह ⊛ न हीति ⊛। रूपरसयोरेकत्र रूपे रसे वा सहभावानुपलम्भमात्रेण घटादिद्रव्ये सामानाधिकरण्यतदभावयोरसहभावेऽपि स्मृतौ सहभावः स्यादित्यर्थः। अथवाऽनुभूतौ स्मृतित्वतदभावयोः सामानाधिकरण्यदर्शनात्स्मृतावपि तयोरसामानाधिकरण्यं न स्यादित्याशंक्याह ⊛ न हीति ⊛। यद्वा स्मृतिव्यतिरिक्ते स्मृतित्वे स्मृतित्वतदभावयोः सामानाधिकरण्यादर्शनादनुभूतावपि न तत्सामानाधिकरण्यमित्याशंक्य वायौ रूपरसयोः सामानाधिकरण्याभावेऽपि पृथिव्यां तदभाववदन्यत्र भावाभावसामानाधिकरण्याभावेऽप्यनुभूतौ भवेदतश्च लक्षणासिद्धिरित्याह ⊛ न हीति ⊛।

भावाभावयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वात्तावेकत्राऽभ्युपगच्छता सामानाधिकरण्याभावोऽभ्युपगन्तव्य इत्युक्तमयुक्तमन्योन्याभावतत्प्रतियोगिनोरेकधर्मिनिष्ठतया रूपरसवदपरस्परप्रतिक्षेपरूपत्वादिति शङ्कते ⊛ समेति ⊛। यद्वा न परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वे भावाभावत्वं प्रयोजकं किं तु संसर्गाभावतत्प्रतियोगित्वं

यहाँ यह विचारणीय है कि स्मृति में अतिप्रसङ्ग देने के लिए स्मृतित्वरूप भाव पदार्थ के सामानाधिकरण्य का निषेध स्मृति में विवक्षित है? अथवा स्मृतिगत स्मृतित्वान्योऽन्याभाव में? यदि स्मृति में अभीष्ट है, तब तो स्मृतित्व के सामानाधिकरण्य का अत्यन्ताभावात्मक निषेध ही स्मृति में रह जाता है, स्मृतित्वसामानाधिकरण्य के अन्योऽन्याभाव तक दौड़ना व्यर्थ है, क्योंकि स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य का अर्थ स्मृतित्वाधिकरणवृत्तित्व होता है, स्मृतित्व का नैसर्गिक अधिकरण है—स्मृति, उस स्मृति में स्मृति नहीं रहती, अपितु न्यायमतानुसार स्मृतिरूप ज्ञान गुण आत्मा में समवायेन रहता है, अतः स्मृतित्वाधिकरण की ज्ञानत्वादिगत वृत्तिता का अत्यन्ताभाव स्मृति में सुलभ है। जब स्मृतिगत स्मृतित्वान्योऽन्याभाव में स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य का निषेध अभिमत हो, तब तो स्मृतित्व के अधिकरणीभूत स्मृति में सहजतः स्मृतित्वान्योन्याभाव रहता है, अतः उसमें स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य का अन्योऽन्याभाव ही रखा जा सकता है, अत्यन्ताभाव नहीं। उसके अनुरूप "अन्योऽन्याभावस्य च स्मृतावपि सम्भवात्"—इस मूल ग्रन्थ का अर्थ करना होगा—'स्मृतित्वसामानाधिकरण्यान्योऽन्याभावस्य स्मृत्यवच्छेदेन स्मृतित्वान्योऽन्याभावेऽपि सम्भवात्' इसी प्रकार "न हि भावसामाधिकरण्यं स्मृतिः"—इस वाक्य का तात्पर्य इस प्रकार निरूपित करना होगा—'न हि स्मृतित्वसामानाधिकरण्यं स्मृतिगतः स्मृतित्वान्योऽन्याभावः।' किन्तु ऐसा करने में सहज शैलि की धूमिलता और क्लिष्ट कल्पना का आभास अवश्य होता है]। जब कि स्मृति में स्मृतित्व और स्मृतित्वाभाव (स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव) दो परस्पर-प्रतिक्षेपात्मक (निषेधात्मक) पदार्थ एकत्र मान लिए जाते हैं, तब स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य और उसका अभाव—ये दोनों भी रह जायँगे—'स्मृतित्वसामानाधिकरण्यतदभावौ स्मृतौ एकत्र सह भवतः, परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वात्, स्मृतित्वतदभाववत्'। एकत्र रहनेवाले (समानाधिकरण) पदार्थों में भी सामानाधिकरण्य का अभाव होता है, जैसे रूप और रस—ये दोनों पृथिवी में एकत्र रहते हैं, किन्तु तेज में रूप के रहने पर भी रस नहीं रहता, अतः रूप और रस में सामानाधिकरण्य का अभाव भी है।

शङ्का—सामानाधिकरण्य और उसके अभाव का जो प्रतिक्षेपात्मकत्व हेतु के द्वारा

तथाविधयोर्भावतदभावपदसंकेतनं न रूपरसयोरिति रुचिस्ते प्रमाणम् ।

रूपरसयोः परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वात् तदभावे तयोः सामानाधिकरण्याभाव आस्ताम् , अत्र तु नैवमिति चेन्न, तथात्वस्य असामानाधिकरण्यप्रयोजकत्वे तद्व्य-

इत्थम्भावस्यान्योन्याभावतत्प्रतियोगिनोरेकधर्मिसमावेशनमसिद्धमतः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वादिति प्रागुक्तो हेतुरसिद्ध इति शङ्कते ❀ समेति ❀ । विमतौ न भावाभावशब्दवाच्यौ परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वाद्रूपरसवदतो भावाभावशब्दवाच्यत्वमिच्छताऽन्योन्याभावतत्प्रतियोगिनोरन्योन्यप्रतिक्षेपात्मकत्वमेष्टव्यमिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀ । तथाविधयोरन्योन्याभावतत्प्रतियोगिनोरन्योन्यप्रतिक्षेपानात्मनोर्भावाभावपदसङ्केतनं रूपरसयोस्तथाविधयोस्तन्नास्तीत्यत्र ते रुचिः स्वपक्षराग एव प्रमाणं नान्यदस्तीत्यर्थः ।

भावाभावपदवाच्यत्वात्स्मृतित्वतदन्योन्याभावयोरन्योन्यप्रतिक्षेपात्मकत्वमेष्टव्यं चेत्तर्हि तयोरसामानाधिकरण्यं न स्यादन्योन्यप्रतिक्षेपानात्मकत्वलक्षणासामानाधिकरण्यप्रयोजकाभावादिति शङ्कते ❀ रूपरसयोरिति ❀ । तदभावे रूपरसयोरेकत्र वाय्वादावभावे तयोः सामानाधिकरण्याभावो भवतु परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वस्यासामानाधिकरण्यप्रयोजकस्य सत्त्वादित्यर्थः । व्यापकाभावाद् व्याप्यासामानाधिकरण्याभावः प्रकृते निश्चीयत इत्याह ❀ अत्रेति । अत्र स्मृतौ स्मृतित्वतदन्योन्याभावयोरसामानाधिकरण्यं न सम्भवति परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वेनासामानाधिकरण्यप्रयोजकस्याभावादिति नानुभूतित्वसम्भव इति प्रसङ्गः स्यात् स्मृतित्वतदन्योन्याभावयोरनुभूतावसामानाधिकरण्यमास्तामन्योन्यप्रतिक्षेपानात्मकत्वात्स्मृतौ तु स्मृतित्वतदन्योन्याभावयोः परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वं नास्ति तेन परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वेन सामानाधिकरण्यमत्र भविष्यतीति भावः । अकृतकत्वस्य नित्यत्वप्रयोजकत्ववत्परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वस्यासामानाधिकरण्यप्रयोजकत्वे परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं सामानाधिकरण्यप्रयोजकं स्यादिति तद्विरहिणां रूपादीनां घटादावैकाधिकरण्यं न स्यादिति परिहरति ❀ नेति ❀ । तथात्वस्य परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वस्येत्यर्थः । तद्व्यतिरेकः तदभावः परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वमित्यर्थः । परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वलक्षणसामानाधिकरण्यप्रयोजकस्य

सहावस्थान सिद्ध किया गया था, वह सम्भव नहीं, क्योंकि एकत्र समाविष्ट होनेवाले पदार्थों में प्रतिक्षेपात्मकत्व होता ही नहीं।

समाधान—एकत्र रहनेवाले पदार्थों में यदि प्रतिक्षेपात्मकता नहीं होती, तब एकत्र रहनेवाले ।स्मृतित्व और उसके अन्याऽन्याभाव में से एक (स्मृतित्व) को 'प्रतियोगी' और दूसरे (स्मृतित्वान्योऽन्याभाव) को 'अभाव' पद से अभिहित नहीं कर सकते, क्योंकि 'प्रतियोगी' शब्द का अर्थ होता है—अभाव-विरोधी और 'अभाव' शब्द का अर्थ है—भावविरोधी। इन दो सहावस्थित पदार्थों को आप (नैयायिकों) ने प्रतिक्षेपार्थक भावाभाव पदों से अभिहित किया, किन्तु एकत्र सहावस्थित रूप और रस को नहीं। ऐसा क्यों किया ? इस प्रश्न के उत्तर आप (नैयायिकगण) यदि कहते हैं कि हमारी (नैयायिकों की) इच्छा। तो हम (खाण्डनिक) भी चाह सकते हैं कि सामानाभिकरण्य और उसके अभाव में परस्पर प्रतिक्षेपानात्मकता है।

शङ्का—एकत्र रहनेवाले सभी पदार्थ एक स्वभाव के नहीं होते। रूप और रस परस्पर प्रतिक्षेपात्मक नहीं, अतः तेज में एक (रस) का अभाव होने के कारण उनमें सामानाधिकरण्य का अभाव रह जाता है, किन्तु भावाभाव पदार्थ परस्पर प्रतिक्षेपात्मक होते हैं, अतः स्मृतित्व और स्मृतित्वान्योऽन्याभाव में सामानाधिकरण्य रहने के कारण सामानाधिकरण्य का अभाव क्योंकर रहेगा ?

समाधान—यदि परस्पर प्रतिक्षेपानात्मकत्व को सामानाधिकरण्याभाव का प्रयोजक माना जाता है, तब उसके अभाव (परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्व) को सामानाधिकरण्य का नियामक मानना होगा, अतः रूप और रसादि में परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्व न होने के कारण

तिरेकः सामानाधिकरण्यप्रयोजकः स्यादिति रूपरसादीनामसामानाधिकरण्यापत्तिः, भावाभावयोरसामानाधिकरण्यानुपपत्तिश्च । असामानाधिकरण्यमेव यत्रेति विवक्षितमिति चेन्न, एवकारार्थदौस्थ्यतावदवस्थ्यात् ।

एतेन विलक्षण एवायमभावो भावसहासनानुपवेशी य एवकारसमभिव्याहारेणोच्यत इति निरस्तम्, तस्यापि वैलक्षण्यं प्रतियोग्याश्रयनिषेधतासाम्येऽपि सामानाधिकरण्यविरहादुन्नेयम्, तच्च तुल्यमभावान्तरेण ।

रूपादावव्याप्तिमभिधायेदानीमतिव्याप्तिमाह ॐ भावाभावयोरिति ॐ ।

न भावनिषेध एवकारार्थो, नाप्यसामानाधिकरण्यमपि तु सामानाधिकरण्यासहकृतं तदभाव इति शङ्कते ॐ असामानाधिकरण्यमिति ॐ । उदीरितरीत्या स्मृतौ सामानाधिकरण्याभावे सामानाधिकरण्यमप्यस्ति अनुभूतौ पुनरसामानाधिकरण्यमेवेति नाव्याप्त्यसम्भवाविस्यर्थः । अत्राप्येवकारेण किमुच्यते ? सामानाधिकरण्यनिषेधश्चेत्तस्यासामानाधिकरण्यपदेनैव लब्धत्वादेवकारो व्यर्थः अन्यश्चार्थो निरूपयितुमशक्य इति परिहरति ॐ नेति ॐ । उक्तन्यायमन्यत्रातिदिशति ॐ एतेनेति ॐ । विलक्षण एवान्योन्याभावव्यतिरिक्त एवायमभावो भावसहासनानुपवेशी भावसामानाधिकरण्यविरोधी य एवकारसमभिव्याहारेण समाम्नायते कथ्यत इतीदमपि मतं निरस्तमित्यर्थः । तथा हि—तस्याभावस्यान्योन्याभावाद्वैलक्षण्यं धर्मिवैलक्षण्याद् ? उत प्रतियोगिवैलक्षण्याद् ? आहो स्वित्स्वरूपवैलक्षण्याद् ? उत सामानाधिकरण्याभावाद् ? उत तत्प्रत्ययादिति विकल्प्य विकल्पत्रयं पराकरोति ॐतस्यापीतिॐ । प्रतियोगी चाश्रयो धर्मी च निषेधश्च प्रतियोग्याश्रयधर्मिनिषेधाः तदभावस्तत्ता तस्या अभावस्यान्योन्याभावेन समत्वेऽपि तस्य ततो वैलक्षण्यं सामानाधिकरण्यविरहादुन्नेयमिति चतुर्थः कल्पः परिशिष्यत इत्यर्थः । अस्तु तर्हि को दोष इत्यत आह ॐतच्चेतिॐ ।

सामानाधिकरण्य और भावाभाव में प्रतिक्षेपात्मकता रहने के कारण सामानाधिकरण्याभाव न बन सकेगा ।

शङ्का—'जिस ज्ञान में वर्तमान स्मृतित्व और स्मृतित्वाभाव का असामानाधिकरण्य ही हो, समानाधिकरण्य नहीं, वह ज्ञान अनुभूति है'—ऐसा लक्षण करने पर स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि स्मृतिगत स्मृतित्व और उसके अभाव (अन्योऽन्याभाव) में सामानाधिकरण्य भी है ।

समाधान—'असामानाधिकरण्यमेव यत्र'—इस लक्षण में भी प्रयुक्त एवकार का सार्थक्य सम्भव नहीं [अर्थात् यहाँ पर भी पूर्ववत् प्रश्न उठता है कि एवकार से किसका व्यवच्छेद किया जाता है ? सामानाधिकरण्य का ? या सामानाधिकरण्य के सामानाधिकरण्य का ? सामाधिकरण्य और सामानाधिकरण्य के सामानाधिकरण्य का निषेध (अन्योऽन्याभाव) स्मृति में भी सुलभ होने से अतिव्याप्ति और सामानाधिकरण्य-परम्परा का अनुसरण करने से अनवस्था भी हो जाती है] ।

शङ्का—'अभाव एव यत्र'—इस लक्षण में निर्दिष्ट अभाव (स्मृतित्वाभाव) पदार्थ ऐसा विलक्षण विवक्षित है, जो कि अपने प्रतियोगीरूप भाव पदार्थ के साथ सहोपवेशी (सहावस्थित या समानाधिकरण) नहीं, वही एवकार के द्वारा अभिहित है, वैसा स्मृतित्वाभाव (स्मृतित्व का संसर्गाभाव) अनुभूति में ही सम्भव है, स्मृति में नहीं, अतः स्मृति में अनुभूतित्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती ।

समाधान—उक्त दोनों अभावों की प्रतियोगी, आश्रय (अनुयोगी) और प्रतिषेधरूपता आदि उपाधियाँ समान होने के कारण उनके आधार पर वैलक्षण्य का निरूपण सम्भव नहीं, परिशेषतः प्रतियोगी की व्यधिकरणता का अवलम्बन कर उनका वैचित्र्य सिद्ध करना होगा । वह भी समान है, अर्थात् जैसे अनुभूतिगत स्मृतिगत स्मृतित्वात्यन्ताभाव में प्रतियोगिसामाना-

सामानाधिकरण्याभावप्रत्ययेनेति चेन्न, प्रत्ययविशेषकस्यार्थस्य स्मृतावपि भावात्। 'अन्योन्याभावव्यतिरिक्तः स्मृतित्वाभाव' इत्युक्तौ च स्मृतिव्यतिरिक्तपक्षोक्त एव दोषः। तदाऽऽस्तां विस्तरः।

नापि स्मृतित्वप्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं तद्धीर्वेति पक्षः, अन्योन्याभावेऽपि भवतामभावव्यवस्थायास्तादृशत्वेन उक्तप्रसङ्गस्य समानत्वात्।

अन्योन्याभावेऽपि परस्परप्रतिक्षेपात्मकतया सामानाधिकरण्याभावो दर्शित इत्यभावान्तरस्यान्योन्याभावेन सह तुल्यं तदित्यर्थः। सामानाधिकरण्याभावप्रत्ययादभावान्तरस्यान्योन्याभावाद्वैलक्षण्यमुन्नेयमिति चरमपक्षमुत्थापयति ❀ समेति ❀। सामानाधिकरण्याभावस्य कर्मतया प्रत्ययव्यावर्त्तकस्यान्योन्याभावेऽपि भावात्तत्प्रत्ययस्य तत्रापि प्रसङ्गेन न तेनापि वैलक्षण्यं सम्भवतीति परिहरति ❀ नेति ❀। अन्योन्याभावव्यतिरिक्तस्मृतित्वाभावो यत्र ज्ञाने साऽनुभूतिरिति लक्ष्यतेऽतो नातिव्याप्त्यादयो दोषा इत्याशंक्याह ❀अन्योन्येति❀। यत्किंचिदन्योन्याभावव्यतिरिक्ताभाववत्त्वं ? किंवा सर्वान्योन्याभावव्यतिरिक्ताभाववत्त्वं ? आद्ये अन्योन्याभावविशेषवत्यां स्मृतावतिव्याप्तिः, अन्त्ये लक्षणासिद्धिः; असर्वज्ञस्य सकलस्मृतित्वान्योन्याभावज्ञानासम्भवेन तद्व्यतिरेकासिद्धेरिति स्मृतिव्यतिरेकपक्षोक्तदोष इत्यर्थः। उपसंहरति ❀ तदिति ❀।

स्मृतित्वव्यतिरेको हि स्मृतित्वाभाववत्त्वं वा ? स्मृतित्वप्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं ? तज्ज्ञानं वेति त्रिधा विकल्प्य प्रथमकल्पमपाकृत्य द्वितीयतृतीयावपि प्राभाकराभीष्टौ पराकरोति। ❀ नापीति ❀। हेत्वाकाङ्क्षायामाह ❀ अन्योन्येति ❀ दृश्ये प्रतियोगिनि धर्मिमात्रमभाव इति प्राभाकरैरङ्गीकृत्य संसर्गाभावव्यवहारहेतुत्वं धर्मिस्वरूपस्य यथेष्यते तथा तादात्म्यप्रतियोगिकाभावव्यवहारहेतुत्वमपि धर्मिस्वरूपस्यैष्टव्यमभावत्वाविशेषादतश्चान्योन्याभावमादाय स्मृतेरनुभूतित्वप्रसङ्गतादवस्थ्यमित्यर्थः।

धिकरण्य का अभाव है, वैसे ही स्मृतिगत स्मृतित्वान्योऽन्याभाव में प्रतियोगिसामानाधिकरण्य का अभाव (अन्योऽन्याभाव) है।

शङ्का—अनुभूतिगत स्मृतित्व-संसर्गाभाव में प्रतियोगिसामानाधिकरणाभाव या प्रतियोगिव्यधिकरणता की प्रतीति होती है और स्मृतिगत स्मृतित्वान्योऽन्याभाव में प्रतियोगिसामानाधिकरण्याभाव की प्रतीति नहीं होती—यह उन दोनों का महान् अन्तर है।

समाधान—विषय ही अपनी प्रतीति का विशेषक (भेदक) माना जाता है। स्मृतिगत स्मृतित्वान्योऽन्याभाव में भी जब स्मृतित्व-सामानाधिकरण्य का अभाव (अन्योऽन्याभाव) रूप विषय है, तब उसकी प्रतीति भी अवश्य होगी, अतः प्रतीति-प्रयुक्त वैलक्षण्य भी उक्त दोनों अभावों में सम्भव नहीं। 'अन्योऽन्याभावव्यतिरिक्तः स्मृतित्वाभावो यत्र'—ऐसा लक्षण करने पर यद्यपि अन्योऽन्याभाव का ग्रहण नहीं किया जा सकता, तथापि अन्योऽन्याभावव्यतिरिक्तत्व विशेषण में वे सभी दोष प्रसक्त हो जाते हैं, जो विगत पृ० १६९ पर 'स्मृतिव्यतिरिक्तत्व' विशेषण में दिखाए जा चुके हैं।

[यह जो विगत पृष्ठ १७१–१७२ पर स्मृतित्व-रहितत्व के तीन विकल्प उठाए थे—"स्मृतित्वरहितत्वं (१) स्मृतित्वाभाववत्त्वं वा ? (२) स्मृतित्वप्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं वा ? (३) तज्ज्ञानं वा ?" उनमें द्वितीय और तृतीय विकल्प] 'स्मृतित्वप्रतियोगिक आश्रय-स्वरूप या उसका ज्ञान स्मृतित्वाभाव है'—यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आप (प्राभाकर) के मत में अन्योऽन्याभाव का भी वही स्वरूप माना जाता है, अतः वह अतिप्रसङ्ग यहाँ भी समान है। [प्रभाकर मिश्र के मत में अभाव पदार्थ पृथक् न मानकर आश्रय (अनुयोगी) का स्वरूप ही माना जाता है। प्रतियोगि-निरपेक्ष स्वरूप को वस्तु का शुद्ध स्वरूप और प्रतियोगि-सापेक्ष स्वरूप को अभाव कहा जाता है। जैसे स्मृतित्व का अनुभूति में रहनेवाला अभाव अनुभूतिरूप आश्रय का स्मृतित्वप्रतियोगिक स्वरूप है, वैसे ही स्मृतिगत

अथान्यदेव किञ्चित्संसर्गाभावनिर्वचनं क्रियते। तथा हि—स्मृतित्वस्य यत्र संसर्गितया निषेधस्तत्र तदभावस्य संसर्गाभावत्वम्। यत्र तु तदात्मत्वेन, तत्र तदभावस्य न संसर्गाभावता, किन्तु अन्योन्याभावत्वमेव। स च इह न विवक्षितः, पूर्वक एव तु संसर्गाभावो विवक्षित इति।

नैतद्विचारसहम्। 'संसर्गितया निषेधः' इति येयं तृतीया, सा लक्षणे वा?

यद्यपि संसर्गेतरेतराभावयोर्धर्मिस्वरूपानतिरेकान्न स्वाभाविकवैचित्र्यं तथाऽपि प्रतियोगिनोः संसर्गित्वतदात्मत्वयोर्वैचित्र्यात्तद्द्वारकं वैचित्र्यमनयोरपि तेन संसर्गाभावविवक्षायां नान्योन्याभावमादाय स्मृतावतिव्याप्तिरिति प्रकारान्तरेण प्रत्यवतिष्ठते ॐ अथेति ॐ। अनाश्रयत्वे सति व्यावर्तकः प्रतियोगी हेतुस्मृतित्वेनाभावयोर्निरूपणात् प्रतियोगिवैचित्र्यमेव कुत इत्यत आह ॐ तथा हीति ॐ। स्मृतित्वस्य यत्र निषेधस्तत्र तदभावस्य संसर्गाभावत्वमित्युक्तेऽन्योन्याभावेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासाय संसर्गितयेत्याह। अन्योन्याभावमविज्ञाय संसर्गाभावस्य ततो व्यावृत्तिरेव दुर्घटेत्यतस्तल्लक्षणमाह ॐ यत्रेति ॐ। यत्र यस्मिन् धर्मिणि स्मृतित्वस्य तादात्म्यतया धर्मिस्वरूपत्वेन निषेध इत्यनुषङ्गः। अन्योन्याभावस्य संसर्गाभावत्वनिषेधेन सुन्दोपसुन्दतया संसृष्टमेव किं विधित्सितमित्यत आह ॐ किं त्विति ॐ। संसर्गेतरेतराभावयोः प्रतियोगिद्वारकवैचित्र्यमस्तु प्रस्तुते किं स्यादित्यत आह ॐ स इति ॐ। कस्तर्हि अभावोऽनुभूतितया विवक्षित इति तत्राह ॐ पूर्वकेति ॐ।कप्रत्ययोऽनन्यार्थः। स्मृतित्वस्य संसर्गितया निषेधपूर्वकः संसर्गाभाव एव, नान्योन्याभावः, स इह लक्षणवाक्येऽभिधित्सितोऽनुभूतिः स्मृतित्वसंसर्गवती ज्ञानत्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्याशङ्क्य गृहीतग्रहणत्वमुपाधिरिति तु शब्दार्थः। गृहीतग्रहणत्वं धारावाहिकविज्ञानेऽतिव्यापकमिति परिहरति ॐ नेति ॐ। विचारासहत्वं विकल्पपुरःसरमभ्युपपादयति ॐ संसर्गेति ॐ। लक्षण इति इत्थंभावलक्षणे। छात्रेणोपाध्यायं पश्यतीति वत्। सहयोग इति सहोपलम्भनियमे नीलतद्धियोरितिवत् ॐ कारकभेदे करणादाविति ॐ। कारकविशेषयोः कर्तृकरणयोरिति यावत्। देवदत्तेन पद्भ्यां नगरं गतमिति वत्तृतीयाया लक्षणार्थत्वं दूषयति ॐ नेति ॐ। संसर्गितया लक्षणेन लक्षितं स्मृतित्वं स्मृतिर्न भवतीति योऽन्योन्याभावस्तमादाय स्मृतावतिव्याप्तितावदवस्थ्यादित्यर्थः। सहयोगार्थेयं तृतीयेति द्वितीयं दूषयति

स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव भी स्मृतिरूप आश्रय का स्मृतित्वप्रतियोगिक स्वरूप है, अतः इन पक्षों में भी स्मृतित्व का अत्यन्ताभाव लेकर जहाँ अनुभूति में लक्षण समन्वित होता है, वहाँ स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव लेकर स्मृति में लक्षण पूर्ववत् अतिप्रसक्त (अतिव्याप्त) हो जाता है]।

शङ्का—संसर्गाभाव के निर्वचन की यहां अन्य विधा ही विवक्षित है। वह यह है कि जैसे एक ही घट का भूतल में कभी निषेध (१) संसर्गितया होता है (घटो भूतल-संसर्गी नास्ति) और कभी (२) तदात्मत्वेन निषेध (घटो भूतलात्मा नास्ति)। वैसे ही प्रकृत स्मृतित्व का द्विविध निषेध हो सकता है। प्रथम प्रकार का निषेध संसर्गाभाव और द्वितीय प्रकार का निषेध अन्योऽन्याभावरूप है। अनुभूतित्व के लक्षण में प्रविष्ट स्मृतित्वाभाव प्रथम प्रकार का ही विवक्षित है, द्वितीय (अन्योऽन्याभाव) प्रकार नहीं। इसके अनुसार अनुभूति में ही स्मृतित्व का संसर्गाभाव है, स्मृति में नहीं, अतः स्मृति में अनुभूतित्व का अतिप्रसङ्ग नहीं होती।

समाधान—यह अभिनव प्रकार भी विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि 'संसर्गितया निषेधः'—यहाँ संसर्गिपदोत्तर-प्रयुक्त तृतीया विभक्ति क्या (१) "इत्थंभूतलक्षणे (पा० सू० २।३।२१) इस सूत्र के अनुसार लक्षण (ज्ञापन) अर्थ में है? या सहयुक्तेऽप्रधाने (पा० सू० २।३।१९) सूत्र से विहित 'सह' पद के योग में है? अथवा (३) करणादिरूप कारक-विशेष अर्थ में? ['स्मृतित्वस्य यत्र संसर्गितया निषेधः'—इस वाक्य का प्रथम कल्प के अनुसार 'संसर्गितया उपक्षितं यत् स्मृतित्वम्' तस्य यत्राभावः'—ऐसा अर्थ

सहयोगे वा ? कारकभेदे वा करणादौ ? नाद्यः, संसर्गितया लक्षितस्यैवान्योन्याभावमादाय प्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, तत्सहितस्यैवान्योन्यनिषेधस्य प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्। तृतीयस्तु न सम्भवति, अत्यन्तनिषेधस्यानुत्पत्तिधर्मकत्वात्, तस्य च प्रकृतोदाहरणत्वात्।

प्रकारवाचिनीयं तृतीयेति चेन्न, प्रकारशब्दार्थस्याधिकस्य निर्वक्तव्यत्वापातात्। प्रकारः प्रकार एवेति चेन्न, अविदितलक्ष्यस्य लक्षणमनभिधाय इतरव्यवच्छेदेन

ॐ नापीति ॐ। संसर्गित्वसहितं स्मृतित्वं स्मृतेर्व्यतिरिक्तमित्यभ्युपगच्छताऽन्योन्याभावस्य स्मृतौ प्रत्याख्यातुमशक्यतया सैवातिव्याप्तिरित्यर्थः। स्मृतित्वस्य यत्र ज्ञाने संसर्गितया निषेधः, साऽनुभूतिरिति लक्षणे तृतीयाया लक्षणार्थत्वे सहयोगार्थत्वे च स्मृतावतिव्याप्तिमभिधाय करणाद्यर्थत्वे लक्षणस्यासम्भवमाह ॐ तृतीय इति ॐ। संसर्गितयेति तृतीयायाः करणार्थत्वे कर्त्रर्थत्वे वा निषेधस्य तत्कार्यत्वं वक्तव्यं तत्र स्मृतित्वप्रागभावः, प्रध्वंसोऽत्यन्ताभावो वा, निषेधशब्दार्थ इति वक्तव्यं न तावत्प्रागभावात्यन्ताभावयोः संसर्गितया जन्यत्वं तयोरनादित्वादित्याह ॐ अत्यन्तेति ॐ। ध्वंसस्य कार्यत्वात्स्मृतित्वप्रतियोगिकः संसर्गितया यत्र ज्ञाने जन्यते साऽनुभूतिरिति लक्षणमस्तु तर्हीत्यत आह ॐ तस्येति ॐ। स्थितस्य प्रध्वंसादनुभूतौ कदाचित्स्मृतित्वसंसर्गप्रसङ्गादत्यन्ताभावः प्रकृतोदाहरणम्, अतश्च लक्षणासम्भव इत्यर्थः। उदाह्रियते इत्युदाहरणं लक्षणमनुभूतिरिति यावत्।

शिष्यं पुत्रेण पश्यतीतिवत्संसर्गितयेति तृतीयेत्थम्भूतलक्षणा तेन स्मृतित्वस्य संसर्गितया प्रकारेण यत्र निषेधः साऽनुभूतिरिति प्रकारान्तरेण लक्षणमाशङ्कते ॐ प्रकारेति ॐ। संसर्गितयेति प्रातिपदिकोपरि श्रेयं तृतीया तस्याः प्रातिपदिकार्थानतिरिक्तार्थत्वे पौनरुक्त्यमतिरिक्तार्थत्वेऽयं स इति निदर्शनीयः स्यादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। द्विविधं त्रिविधमित्यादिलोकव्यवहारे प्रकारपदार्थः प्रसिद्ध एव तेन प्रकारपदस्य प्रकार एवेति निर्वचनं स्यादिति शङ्कते ॐ प्रकार इति ॐ। सन्दिग्धः पदार्थो लक्षणतः सिध्यतीत्यभ्युपगमात्सन्दिग्धप्रकारपदार्थमविदितप्रकारपदार्थं च प्रति तत्तल्लक्षणमभिधानीयम्, अन्यथा

होता है; द्वितीय कल्प में 'संसर्गितया सहितस्य स्मृतित्वस्याभावो यत्र'—ऐसा और तृतीय विकल्प में 'संसर्गितया जनितस्य स्मृतित्वस्याभावो यत्र'—ऐसा अर्थ सम्पन्न होता है]। इनमें प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि संसर्गितया अभिलक्षित स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव लेकर स्मृति में उक्त अतिप्रसङ्ग बना रहता है। द्वितीय कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि संसर्गिता-सहित स्मृतित्व का अन्योऽन्याभाव भी स्मृति में सुलभ है। तृतीय कल्प में असम्भव दोष है, क्योंकि स्मृतित्वका जो अत्यन्ताभाव अनुभूति में अभीष्ट है, वह नित्य होता है, जन्य नहीं, अतः उसे संसर्गितया जनित कहना क्योंकर सम्भव होगा ?

शङ्का—'संसर्गितया'—यहाँ तृतीया विभक्ति प्रकार-वाचिनी है [अतः 'संसर्गितया' शब्द का अर्थ है—संसर्गिताप्रकारेण या संसर्गित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक निषेध (भूतले घटः संसृष्टो नास्ति)। ऐसा निषेध संसर्गाभावात्मक ही होता है, तादात्म्याभाव या अन्योऽन्याभाव नहीं, क्योंकि अन्योऽन्याभाव का 'अयं तदात्मा नास्ति'—ऐसा आकार होता है, जिसमें तदात्मत्व प्रकार होता है, संसर्गित्व नहीं]।

समाधान—'संसर्गितया निषेधः'—ऐसा न कह कर 'संसर्गिताप्रकारेण निषेधः'—ऐसा कह देने में क्या अन्तर ? प्रकृत्यर्थभूत संसर्गिता ही तो प्रकार है, 'कोऽयं प्रकारः ?' इस प्रश्न के उत्तर में प्रकृत्यर्थ से अतिरिक्त प्रकार पदार्थ का कोई लक्षण नहीं किया जा सकता। यहाँ 'कोऽयं प्रकारः ?' इस प्रश्न का 'प्रकार एव प्रकारः'—ऐसा उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि [जैसे गोरूप लक्ष्य से अपरिचित व्यक्ति जो प्रश्न करता है—'केयं गौः ?' उसके उत्तर में कहा जाता है—'सास्नादिमती गौः।' वहाँ केवल 'गौरेव गौः'—ऐसा कह देने से काम नहीं

तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। अन्यथा सर्वत्र प्रष्टारं प्रति लक्षणानभिधानापातात्।

'को घटः' इत्यादिपृष्टे 'घट एव घटः' इत्याद्येवोत्तरं सङ्गच्छेत। 'प्रकार एवेति पक्षो नोपपन्नः, सदोषत्वादि'ति वक्ता 'को दोषः' इत्यनुयुक्तः 'दोष एव दोषः' इत्यभिधायैव च निर्वृत्तो भवेदिति।

१५. स्मृतिलक्षणान्तरखण्डनम्

स्मृतित्ववत् 'स्मृतेर्लक्षणान्तरेण रहितत्वमनुभूतित्वमिति प्रत्युक्तं वेदितव्यम्। 'गृहीतस्य हि ज्ञानं स्मृतिरि'ति च स्मृतिलक्षणे धारावाहिकज्ञानेऽतिप्रसक्तिः।

सजातीयविजातीयपदार्थव्यावृत्ततया नासौ दर्शयितुं शक्य इति परिहरति ❀ नेति ❀। अविदितं लक्ष्यं येन सोऽविदितलक्ष्यस्तस्येति यावत्। लक्ष्यपदेनैव लक्ष्यज्ञानसिद्धौ लक्षणाभिधानं व्यर्थमित्याशङ्क्याह ❀ अन्यथेति ❀। सर्वत्र लक्षणाभिधानमापादयितुमुक्तोतरीतिमन्यत्र प्रसारयति ❀ क इति ❀। को घट इति प्रश्नस्य घट एवोत्तरम्, अन्यथाऽऽम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्ट इतिवत् प्रश्नाननुगुण्यप्रसङ्गाविात्याशङ्क्याह ❀ प्रकार इति ❀। निर्वृत्तीभवेदिति पाठान्तरम्। निर्वृत्तीभवेत् चरितार्थः स्यादित्यर्थः।

स्मृतिलक्षणरहितमनुभूतिरिति तृतीयकल्पे स्मृतित्वव्यतिरिक्तज्ञानपक्षोक्तं दूषणमतिदिशति ❀ स्मृतित्वेति ❀। स्मृतित्वसमवायः स्मृतिलक्षणमेकं तावत्, तदपेक्षया लक्षणान्तरं गृहीतग्रहणमित्यादि, तद्रहितज्ञानमनुभूतिरिति लक्षणे रहितशब्देनाभावमात्रविवक्षायामन्योन्याभावमादाय, संसर्गाभावविवक्षायां तदन्योन्याभावमादाय स्मृतावुक्तातिव्याप्तेः परिहर्तुमशक्यत्वादित्यर्थः।

स्मृतिलक्षणान्तरमभ्युपगम्य तद्रहितत्वं नानुभूतिलक्षणं यत्किञ्चित्स्मृतिलक्षणरहितत्वस्य स्मृत्यन्तरे भावात्सकलस्मृतिलक्षणरहितत्वस्यास्मादृशो दुरवगम्यतया लक्षणासिद्धिरित्युक्तम्, इदानीं स्मृतिलक्षणनिरूपणाच्च तद्रहितत्वं नानुभूतित्वमित्याह ❀ गृहीतेति ❀। ज्ञानं स्मृतिरित्युक्ते प्रमाणज्ञानेऽतिप्रसक्तिस्तन्नि-

---

चलता, वैसे ही] लक्षणविषयक प्रश्न के उत्तर में लक्षणाभिधान किया जाता है, उसी से लक्ष्य का विशेष (इतर-व्यवच्छेद) रूप से ज्ञान होता है। प्रकार पदार्थ का वैसा कोई लक्षण नहीं किया जा सकता।

यदि लक्षणाभिधान के विना ही लक्ष्यार्थ का ज्ञान हो जाय, तब तो कहीं भी प्रश्नकर्त्ता को लक्षणाभिधान सुनाई न देगा। 'को घटः ?' ऐसा पूछने पर 'घट एव घटः'—इतना ही कह देना पर्याप्त होगा। यदि आप (नैयायिक) पर कोई खाण्डनिक दोषाभिधान करता है कि 'प्रकार इति भवत्पक्षो नोपपन्नः, सदोषत्वात्।' उस पर आप (नैयायिक) उससे प्रश्न करते हैं—'को दोषः ?' तब 'दोष एव दोषः'—इतना कह देनेमात्र से वह खाण्डनिक कृतकृत्य हो जायगा।

१५. स्मृति के अन्य लक्षणों का खण्डन

[विगत पृष्ठ १३४ पर अनुभूतित्व के तृतीय विकल्प में कहा गया था—'स्मृतिलक्षण रहितज्ञानत्वं वा।' उसका 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'—इस लक्षण को ध्यान में रख कर निराकरण पृ० १६९ पर किया गया—'नापि स्मृतिलक्षणरहितत्वम्, उक्तक्रमेण स्मृत्यनुभूतिसङ्करस्य दर्शितत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः।' अब स्मृति के अन्यान्य लक्षणों को दृष्टिकोण में रख कर कहा जाता है—] जैसे संस्कारजन्यत्वरहितज्ञानत्व को अनुभूतित्व नहीं कहा जाता वैसे ही स्मृति के अन्यान्यलक्षणों से रहित ज्ञान को भी अनुभूति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि (१) 'गृहीतस्य ज्ञानं स्मृतिः'—इस लक्षण की धारावाहिक प्रत्यक्ष ज्ञान में अतिव्याप्ति होती है [इन्द्रिय का अपने विषय के साथ कुछ देर तक सम्बन्ध रहने पर उस विषय का उतने

सापेक्षज्ञानं स्मृतिः, सापेक्षता च स्वविषयनियमे समानविषयज्ञानापेक्षतेति चेन्न, प्रत्यभिज्ञायास्तत्ताभागस्य स्मृतित्वापत्तेः। एवमस्त्विति चेन्न, तर्हि प्रत्यभिज्ञायां स्मृत्यनुभवभागयोर्भिन्नविषयत्वव्यवस्थितौ तद्भेदः केन गृह्यतेति पूर्वदोष आवर्तते।

वारणायाऽऽह ❀ गृहीतेति ❀। तावत्युक्ते स्मर्यमाणेऽतिव्याप्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमुक्तं ज्ञानमिति। तद् दूषयति ❀ नेति ❀। धारावाहिकबुद्धीनां गृहीतग्रहणरूपत्वात्स्मृतित्वप्रसक्तिरिति स्मृतिलक्षणस्य तत्राऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। गृहीतग्रहणत्वं यद्यपि न स्मृतिलक्षणं तथाऽपि सापेक्षज्ञानत्वं स्मृतित्वमिति लक्षणान्तरमनुवदति ❀ सेति ❀। ज्ञानं स्मृतिरित्युक्ते प्रमाणज्ञानेऽतिव्याप्तिस्तन्निवृत्त्यर्थं सापेक्षेति विशेषणम्। तथोक्ते कारणसापेक्षघटादावतिव्याप्तिपरिहारार्थं ज्ञानेति विशेषणम्। कुम्भोऽयमिति ज्ञानं चक्षुःसन्निकर्षापेक्षं भवतीति तत्रातिव्याप्तिं परिहरति ❀ सापेक्षतेति ❀। ज्ञानापेक्षतेत्युक्ते शब्दज्ञानापेक्षं शाब्दज्ञानं स्मृतिः स्यात् तदर्थमुक्तं समानविषयेति। तावत्युक्ते प्रमाणान्तरसापेक्षपौरुषेयवाक्यजन्यज्ञानेऽतिव्याप्तिरिति तदर्थमुक्तं विषयनियम इति। अन्यविषयनियमे तथात्वं नास्तीत्यत आह ❀ स्वेति ❀। अत्रैकश्चकारः समुच्चयार्थो द्वितीयस्तु स्मृतेः पूर्वानुभवसंस्कारजनिततया पूर्वानुभूतविषयत्वं पौरुषेयवाक्यजन्यस्य स्वप्रमात्वे ज्ञानान्तरापेक्षा न विषयनियमे तस्य शब्दसामर्थ्यनिबन्धनत्वादित्यव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा नास्तीत्येतदर्थः। सापेक्षज्ञानं स्मृतिरिति लक्षणे स्वविषयनियमे समानविषयज्ञानापेक्षता च सापेक्षतेति सम्बन्धः। सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञाने स इत्यंशस्य पूर्वानुभूतविषयत्वं पूर्वानुभवसंस्कारजनिततया भवतीति तस्य स्मृतित्वप्रसङ्ग इति लक्षणमतिव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृत्यनुभवज्ञानद्वयात्मकत्वान्न तत्रातिप्रसक्तिरिति शङ्कते ❀ एवमिति ❀। प्रत्यभिज्ञानभागयोरन्योन्याघ्रातविषयत्वं, व्यवस्थितविषयत्वं, वा आद्ये स इत्यंशस्यानुभवत्वमयमित्यंशस्य च स्मृतित्वं द्वितीये तत्तेदन्तावच्छिन्नाभेदस्ताभ्यां न सिद्ध्येदन्योन्याघ्रातविषयत्वान्न च साधकान्तरमस्तीति परिहरति ❀ नेति ❀।

समय तक एक ही दण्डाकार ज्ञान न्यायमतानुसार नहीं माना जाता, अपितु प्रत्यक्ष ज्ञानों की निरन्तर प्रवाहित धारा मानी जाती है। वहाँ द्वितीयादि ज्ञानों का विषय वही होता है, जो प्रथम ज्ञान का, प्रथम ज्ञान से गृहीत विषय के ग्राहक द्वितीयादि प्रत्यक्ष ज्ञानों में उक्त स्मृति का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है]।

शङ्का (२) 'सापेक्षज्ञानं स्मृतिः' [स्मृति ज्ञान नियमतः अपने मूलभूत अनुभव की अपेक्षा करता है, अनुभव ज्ञान किसी पूर्वभावी अनुभव की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि किसी अनुभव ज्ञान का वही विषय होता है, जो उसके जनकीभूत इन्द्रिय-सन्निकर्षादि का आधार हो, अतः अनुभव को अपने विषय के नियमन में जैसे इन्द्रिय-सन्निकर्षादि की अपेक्षा होती है, वैसे ही किसी स्मृति ज्ञान का विषय वही होता है, जो उसके जनकीभूत अनुभव का विषय हो, अतः] स्मृति ज्ञान को अपने विषय-नियमन में समानविषयक अनुभव की अपेक्षा का होना ही उसकी सापेक्षता है।

समाधान—यद्यपि 'गृहीतस्य ज्ञानं स्मृतिः'—इस लक्षण की जो धारावाही प्रत्यक्ष-स्थल पर द्वितीयादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति होती थी, वह अतिव्याप्ति दोष 'सापेक्षज्ञानं स्मृतिः'—इस लक्षण में नहीं, क्योंकि द्वितीयादि ज्ञान अपने विषय-नियमन के लिए अपने पूर्ववर्ती प्रथम ज्ञान की अपेक्षा नहीं करते, अपितु इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष पर ही निर्भर हैं। तथापि 'सोऽयम्'—इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि इस प्रत्यभिज्ञा का 'तत्ता' भाग अपनी विषय-व्यवस्था के लिए पूर्व अनुभव की ही अपेक्षा करता है, इन्द्रिय-सन्निकर्ष की नहीं, प्रत्यभिज्ञा-काल में वर्तमान देश-कालरूप इदन्ता-विशिष्ट पिण्ड के साथ ही इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है, तत्ता (अतीत-देशकाल) के साथ नहीं।

यदि प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के 'तत्ता' भाग को सापेक्ष ज्ञानरूप स्मृति मान लिया जाता है,

संस्कारमात्रजं ज्ञानं स्मृतिरित्यपि न, सामग्रीतः सर्वसम्भवेन लक्षणस्यासम्भवात्। असाधारणतद्धेतुकधीत्वमिति चेन्न, आत्मप्रत्यभिज्ञानेऽप्यापत्तेः, आत्ममनोयोगस्य साधारण्यात्।

कार्यैक्यानवधारणे च कारणत्वानवधारणात्। तदैक्ये च तदेव लक्षणं स्यात्।

येन ज्ञानेनार्थो ज्ञाततात्मकः क्रियते, तदनुभवः। येन तु ज्ञानमेव तथा, तत्

शालिकनाथोक्तं स्मृतिलक्षणमाह ❀ संस्कारेति ❀। ज्ञानं स्मृतिरित्युक्ते प्रमाणेऽतिव्याप्तिनिरासाय संस्कारजमिति। तावत्युक्ते प्रत्यभिज्ञायां प्रसक्तिवारणाय मात्रग्रहणम्। तावति च भ्रमसंस्कारजनितभयकम्पादिनिरासाय ज्ञानमित्युक्तम्। दूषयति ❀ इत्यपि नेति ❀। संस्कारमात्रजमिति मात्रग्रहणेन संस्कारातिरिक्तकारणमात्रनिषेधः? उतासाधारणकारणनिषेधः? इति विकल्प्याद्येऽसम्भवो लक्षणस्येत्याह ❀ सामग्रीत इति ❀।

"न किंचिदेकमेकस्मात्सामग्र्याः सर्वसम्भव" इति न्यायादित्यर्थः। द्वितीयकल्पमाशङ्कते ❀ असाधारणेति ❀। स चासौ हेतुश्चेति तद्धेतुरसाधारणश्चासौ तद्धेतुश्चेति तथोक्तः स यस्या धियः साऽसाधारणतद्धेतुधीस्तद्भावस्तत्त्वं ततस्तत्स्मृतित्वमित्यर्थः। एतच्चातिव्यापकमिति दूषयति ❀ नेति ❀। सोऽहमित्यात्मप्रत्यभिज्ञानस्य संस्कारातिरिक्तमसाधारणकारणं नास्तीति स्मृतित्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। अस्त्येव संस्कारव्यतिरिक्त आत्ममनःसंयोगः कारणमित्याशंक्याऽऽह ❀ आत्मेति ❀। आत्ममनःसंयोगस्य सकलज्ञानसाधारणत्वमिति यावत्। अङ्कुरत्वाक्रान्तानां बीजकार्यत्वमितिवदेतद्धर्मवतां संस्कारकार्यत्वमिति स्मृतिगतानुगतरूपमवाधारि त्वया न वा? यदि न तत्राह ❀ कार्येति ❀। स्मृतिव्यक्तिसङ्ग्राहकानुस्यूतरूपापरिज्ञाने संस्कारकारणत्वमधिगन्तुमशक्यमिति लक्षणासिद्धिरित्यर्थः। यदि निरधारि तत्राह ❀ तदिति ❀। अव्यवहितप्रतिपत्तिकत्वात् तदेव लक्षणमस्तु व्यर्थमिदमित्यर्थः।

तब उसका इदन्तात्मक प्रत्यक्ष भाग के साथ अभेद-ग्रहण किससे होगा? यह विगत चिन्ता एवं उसके दोष समुपस्थित हो जाते हैं।

(२) 'संस्कारमात्रजं ज्ञानं स्मृतिः'—यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं, असम्भव-ग्रस्त है, क्योंकि सभी कार्य अपनी समग्र कारण सामग्री से ही उत्पन्न होते हैं, किसी एक अंश से नहीं, स्मृति ज्ञान भी एक संस्कारमात्र से उत्पन्न नहीं होता, अपितु देश, कल एवं उद्वोधकादि कारण-कलाप से ही होता है। यदि 'संस्कारमात्रजम्' का अर्थ 'संस्कारमात्रासाधारणकारणकम्' किया जाता है, तब यद्यपि उक्त असम्भव दोष तो नहीं होता, क्योंकि देश, काल, उद्बोधकादि स्मृति के साधारण कारण होते हैं, असाधारण कारण एकमात्र संस्कार ही है। तथापि 'सोहम्'—इस प्रकार के आत्मविषय प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में उक्त स्मृतित्व अतिप्रसक्त होता है, क्योंकि आत्म-प्रत्यभिज्ञा में असाधारण कारण एक संस्कार ही है, आत्ममनःसन्निकर्ष तो सभी ज्ञानों का साधारण कारण माना जाता है। [मन को इन्द्रियत्वेन असाधारण और मनस्त्वेन साधारण कारण मानना एक परिभाषामात्र है, मन एक ही है, चाहे उसे इन्द्रिय कह दिया जाय या मन, कोई अन्तर नहीं पड़ता]। [यह कहा जा चुका है कि कार्य-कारण-भाव अन्वय-व्यतिरेक पर निर्भर होता है और अन्वय-व्यतिरेक का अवधारण तब तक नहीं हो सकता, जब तक कार्य और कारण के उपसंग्राहक धर्मों का ज्ञान न हो, प्रकृत में स्मृतित्वरूप उपसंग्राहक धर्म के विना] स्मृतिरूप कार्य का एकरूपेण अनुगम न हो सकने के कारण संस्कारगत कारणत्व का निश्चय नहीं हो सकता। यदि स्मृतित्वरूप धर्म के द्वारा समस्त स्मृतियों का एकीकरण करके स्मृतित्वावच्छेदन संस्कार के कार्यकारणभाव का निश्चय किया जाता है, तब 'स्मृतित्ववती स्मृतिः'—ऐसा निर्दुष्ट लक्षण सुलभ हो जाता है, लक्षणान्तर की आवश्यकता ही नहीं।

स्मरणमिति चेन्न। ज्ञातो ज्ञास्यते चेत्यनुमानादावप्यापत्तेः। ततश्च विषयतः स्मृतिविवेचनमन्ततो वाक्येनाप्यनुभाव्यत्वात्, कार्यकारणाभ्यां चानुगतरूपस्य प्रागसिद्धेः,

एवं प्राभाकरीयस्मृतिलक्षणं खण्डयित्वा भट्टपादीयं लक्षणमुत्थापयति ॐ येनेति ॐ। आत्मपरिणामरूपं ज्ञानमर्थनिष्ठां ज्ञाततां प्राकट्यापरपर्यायां करोतीति कौमारिलं दर्शनं तत्र च धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यादर्थो ज्ञाततात्मकः क्रियते इत्युक्तम्। येन अर्थनिष्ठज्ञातता क्रियते तदनुभव इति यावत्। स्मरणव्यावृत्त्यर्थमर्थेति विशेषणम्। ज्ञानस्य स्मृत्यनुभवद्वैराश्यादनुभवलक्षणमुक्त्वा सम्प्रति स्मृतिलक्षणमाह ॐ येनेति ॐ। अनुभवभिन्नविषयं स्मरणमित्यङ्गीकारात् ज्ञाननिष्ठा ज्ञातता येन क्रियते तत्स्मरणमित्यर्थः। एवं सत्यनुमानार्थापत्त्योरपि स्मृतित्वप्रसङ्ग इति दूषयति ॐ न ज्ञात इति ॐ। विमतो ज्ञातो व्यवह्रियमाणत्वात्सम्प्रतिपन्नवत्। ज्ञास्यते व्यवहरिष्यमाणत्वादित्यनुमाने व्यवहारानुपपत्तिरूपार्थापत्तौ च ज्ञाननिष्ठज्ञातताजनकत्वं स्मृतिलक्षणमस्ति, न च स्मृतित्वमिति लक्षणमतिव्यापकमित्यर्थः।

यदि कश्चिदुक्तदोषजातपरिहाराय लक्षणान्तरं कुर्यात्तत्रापि विषयद्वारा स्मृतिर्लक्ष्यते? कारणभेदाद्वा? किं वा विलक्षणकार्यजनकतया? उत तद्विभिन्नजातिसमवायितया? सर्वथाऽप्यनुपपत्तिरिति निगमनच्छलेन दर्शयति ॐ ततश्चेति ॐ। प्रागुक्तहेतुव्रातपरामर्शस्तत इति। प्रमाणाभिमतधारावाहिकप्रत्यये गृहीतगोचरतया स्मृतिविषयसाम्यं यतस्ततोऽनुभवात्स्मृतेर्विवेचनं विषयतोऽशक्यमिति परस्तात्सङ्गतिः। किंचैतद्गोचरज्ञानं स्मृतिरिति यत्तल्लक्षणप्रतिपादकं वाक्यं तत्स्मर्यमाणमगोचरीकृत्य लक्षणं न प्रतिपादयितुमीष्टे तेन तज्जन्यज्ञानस्यास्मृतित्वेऽपि तल्लक्षणवत्त्वादतिव्याप्तिरित्याह ॐ वाक्येति ॐ। ननु वाक्यजन्यज्ञानं लक्षणं गोचरयति न स्मार्तमर्थमित्यत आह ॐ अन्तत इति ॐ। लक्षणविशेषणतयाऽपि तद्गोचर एव इत्यभिप्रायः। नापि द्वितीयतृतीयावित्याह ॐ कार्येति ॐ। कार्यकारणाभ्यां च स्मृतिविवेचनमशक्यं, कुत इत्यत आह ॐ अनुगतेति ॐ। बीजत्वाक्रान्तमङ्कुरत्वाक्रान्तं प्रति कारणमितिवदेतदालिङ्गितमेतदालिङ्गितज्ञानं प्रति कारणमिति कार्यकारणभावोऽनुगतरुपोपाधावनुगन्तव्यः, ततश्च लक्षणात्प्रागनुगतरूपसिद्धौ तदेव व्यावर्त-

---

(४) शङ्का—[श्री शबरस्वामी ने कहा है—"पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते पश्चात् ज्ञातोऽर्थः" (शा० भा० पृ० ३२) इस भाष्य का रहस्योद्घाटन करते हुए श्री कुमारिल भट्ट ने यह सिद्धान्त स्थिर किया हे कि प्रत्येक ज्ञान अपनी विषय वस्तु पर एक 'ज्ञातता' नाम का धर्म उत्पन्न करता है, उस ज्ञातता का अपने धर्मी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है, अतः ज्ञान अपने ज्ञेय पदार्थ को ज्ञातात्मक वना देता है, जिसके आधार पर 'ज्ञातोऽयमर्थः'—ऐसी प्रतीति होने लग जाती है। अनुभव ज्ञान और स्मृति ज्ञान में इतना अन्तर हाता है कि] जिस ज्ञान के द्वारा पदार्थ (अज्ञातार्थ) ज्ञाततात्मक बनाया जाता हे, वह अनुभव ज्ञान है और जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञान ज्ञाततात्मक किया जाता है, वह स्मृति ज्ञान कहलाता है। फलतः 'ज्ञानगतज्ञातताजनकं ज्ञानं स्मृतिः'—यह लक्षण पर्यवसित हाता है।

समाधान—ज्ञानरूप वस्तु पर ज्ञातता का आधान केवल स्मरण ज्ञान नहीं करता, अपितु अनुमानादि भी करते हैं, जैसे—स ज्ञातपूर्वः, स्मर्यमाणत्वात्' अथवा 'स ज्ञास्यते, विचार्यमाणत्वात्'—इत्यादि। अनुमान ज्ञान अनुभवरूप होता है, उसमें अतिप्रक्त होनेवाला स्मृति का लक्षण सम्यक् नहीं कहा जा सकता। [सविषयक पदार्थों के लक्षण प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—(१) विषय के द्वारा, जैसे अनधिगताबाधितविषयकं ज्ञानं प्रमा। (२) कारण के द्वारा, जैसे—'प्रमाणजन्यं ज्ञानं प्रमा।' (३) कार्य के द्वारा, जैसे—'संवादिप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमा।' किन्तु प्रकृत में] विषय के माध्यम से स्मृति के ('गृहीतस्य ज्ञानं स्मृतिः—इत्यादि) लक्षण सम्भव न हो सके, क्योंकि ऐसे लक्षणों की यदि अन्यत्र कहीं अतिव्याप्ति न भी मानी जाय, तब भी 'गृहीतस्य ज्ञानं स्मृतिः'—इस वाक्य से जन्य शाब्दात्मक अनुभव में स्मृति के कथित लक्षणों की अतिप्रसक्ति निश्चित है। कारण (संस्कारादि) और कार्य (स्मृति) के द्वारा भी स्मृति के लक्षण उपपन्न नहीं हो सकते,

जातितश्च सङ्करप्रसङ्गादशक्यमिति ।

१६. अनुभवत्वचतुर्थविकल्पखण्डनम्

नापि चतुर्थः; यतः कार्यगतवैलक्ष्यानवगमे क्व कारणता ? क्वासाधारण्यं वा ज्ञेयमिति ?

न केवलं प्रत्येकं पदार्थस्य तद्व्यवच्छेदकत्वस्य चानुपपत्तिः, मिलितेऽप्यस्मिन् लक्षणे दूषणमुच्यते । तथा हि--'तत्त्वानुभूतिः प्रमे'त्यनेन काकतालीयमपि यथार्थ-

---

कतया लक्षणमस्त्वव्यवहितप्रतिपत्तिकत्वात्तवसिद्धौ लक्षणस्यासिद्धिरित्यर्थः । स्मृतित्वजातियोगि स्मरणमिति चरमोऽपि न घटत इत्याह ❀ जातीति ❀ । प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभूतित्वयोः साङ्कर्यप्रसङ्गात्तदभाव इत्यर्थः ।

एवं स्मृतिलक्षणानिरूपणात्तद्रहितज्ञानत्वमनुभूतित्वमिति तार्तीयः पन्था असाधीयानिति संसाध्याधुना यदविदूरप्राक्कालनियतोत्पत्त्यसाधारणबुद्धित्वमिति चरमोऽपि न चातुरीं प्राञ्चतीत्याह ❀ नापीति ❀। अनुभवाख्यकार्यानुगतरूपं कारणावगमात्प्रागवगतमनवगतं वा ? यदि न, तदा कारणत्वमेव दुरवधारणमिति लक्षणासिद्धिरवगमे तस्य न्यूनवृत्तित्वे तदधीनज्ञानलक्षणाव्याप्तिरधिकवृत्तित्वेऽतिव्याप्तिः समवृत्तित्वे तदेव लक्षणमस्तु व्यर्थमितरदित्याह ❀ यत इति ❀ । यद्वा तदनुगतरूपमुपसङ्ग्राहकरूपान्तरोपाधौ ज्ञेयं वेदनवस्था, कथितलक्षणोपाधाववसेयत्वे लक्षणसिद्धावनुगतरूपसिद्धिस्तत्सिद्धौ च लक्षणसिद्धिरिति परस्पराश्रयान्नैकमपि सिद्ध्यतीत्याह ❀ यत इति ❀ ।

तत्त्वपदार्थमनुभूतिपदार्थं तयोश्चालक्ष्यव्यवच्छेदकत्वं निरस्येदानीं मिलितमप्येतल्लक्षणमसमर्थं विजातीयव्यवच्छेदकत्वेऽपि सजातीयाऽप्रमाख्यानुभवाऽव्यच्छेदकत्वादिति दर्शयति ❀ न केवलमिति ❀ । तत्त्वानुभूतिरूपसंशयादेरदर्शनात्कथं लक्षणमव्यच्छेदकमित्यत आह ❀ तथा हीति ❀ । परिणततालफलपतनकाले काकोऽपि तद्वन्तं वृक्षमाश्रयते तत्र काकयोगस्य तालफलपतनेऽन्वयव्यतिरेकविरहाद्यादृच्छिकः काकयोग इति तथा दैवादागतविज्ञानं यादृच्छिकं काकतालीयसमं ज्ञानं काकतालीयज्ञानमुच्यत इति द्रष्टव्यम् । यादृच्छिकं यथार्थज्ञानमेव नास्तीत्याशंक्य तदुदाहरणेनोपपादयति ❀ तदिति ❀ । वराटकाः कपर्दकाः ।

क्योंकि इसमें कारणताबच्छेदक और कार्यतावच्छेदकीभूत अनुगत धर्मों का पहले से ज्ञान नहीं हो सकता । अत एव स्मृतित्वादि जातियों के द्वारा भी लक्षण प्रस्तुत नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान में स्मृतित्वादि का साङ्कर्य हो जाता है । फलतः अनुभूतित्व का तृतीय विकल्प (स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वम्) खण्डित हो जाता है ।

१६. अनुभूतित्व के चतुर्थ विकल्प का खण्डन

४. अनुभूतित्व का चतुर्थ विकल्प (तदविदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियतासाधारणकारणकबुद्धित्वम्) भी समीचीन नहीं, क्योंकि आप (नैयायिकों) के मत में अनुभव चार प्रकार का होता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान और (४) शाब्द । इनके क्रमशः असाधारण कारण होते हैं—(१) इन्द्रिय-सन्निकर्ष (२) लिङ्ग-परामर्श (३) सादृश्य ज्ञान और (४) पद-ज्ञान किन्तु] सामूहिकरूप से कार्यकारणभाव स्थिर करने के लिए अनुभूतिरूप कार्य में किसी अनुभूतित्वादिरूप वैलक्षण्य का ज्ञान परमावश्यक है, उसके बिना किस कार्य की कहाँ कारणता और कहाँ असाधारणता होगी ?

'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—इस लक्षण के घटकीभूत तत्त्वादि पदों पर अभी तक कुछ विचार किया गया, न तो उनके अर्थों की उपपत्ति और न उन पदों की सार्थकता सिद्ध हो सकी । अब उन पदों के मिलित कलेवर पर एक विहङ्गम दृष्टि डालते हुए उसके कतिपय दोषों की ओर विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है—किसी व्यक्ति ने अपनी मुट्ठी में पाँच कौड़ियाँ छिपाकर किसी दूसरे व्यक्ति से पूछा—बोलिए हमारी मुट्ठी में कितनी कौड़ियाँ

ज्ञानं व्याप्यते। तद्यथा—पाणौ पञ्च वराटकान् पिधाय कश्चित् पृच्छति—'कति वराटकाः' इति। पृष्टश्च अजाकृपाणीयन्यायेन ब्रवीति 'पञ्चेति'। ततश्च 'पञ्चे'ति ज्ञानमस्ति वक्तुः श्रोतुश्च। दृश्यन्ते तावदेवंविधान्युदाहरणानि। तच्च ज्ञानं न तत्त्वपदेन व्यवच्छेत्तुं शक्यम्, वस्तुतस्तस्य पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्नत्वेन अतथाभूतत्वाभावात्। नाप्यनुभवशब्दव्यवच्छेद्यम्, अननुभूतचरत्वेन स्मरणलक्षणोपेक्षणात्।

न च वक्तुः संशय एव, निश्चायकाभावाद्; एकतरकोटिव्यवहारस्तु कृष्यादि-

---

यत्र कण्डूयनार्थं स्तम्भादौ शिथिलबन्धखड्गे छागी ग्रीवां प्रसारयति यदृच्छया च ग्रीवा छिद्यते तथाभूतोऽजाकृपाणीयन्यायः काकतालीयन्यायसमः। किंसङ्ख्यावच्छिन्ना अमी कपर्द्दका इति पृष्टे पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्ना इति प्रतिवाक्यं यद्यप्यस्ति तथाऽपि तत्तादृगर्थज्ञानजनकमेव न भवतीत्यत आह ॐ तत इति ॐ। यद्यपि वक्तारं प्रति तदबोधकं तथाऽपि वाक्यप्रयोगमूलतया तथात्वज्ञानमस्तीत्यर्थः। श्रोतारं प्रति बोधकमेवैतदित्याह ॐ श्रोतुश्चेति ॐ। न चैवंविधोदाहरणसद्भावेऽपि प्रतिवक्तव्यं बहुलमुपलम्भादित्याह ॐ दृश्यन्त इति। ॐ धूमत्वपरिगृहीतधूलीपटलादिस्थितवह्न्यनुमापकमित्यर्थः।

तद्यादृच्छिकज्ञानं प्रमा स्यादप्रमा वा? यद्यप्रमा तदा तत्त्वपदेन व्यवच्छिद्यतेऽनुभवपदेन वा? न तावदाद्य इत्याह ॐ तच्चेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ वस्तुत इति ॐ। ज्ञानविषयस्य वस्तुतस्तथात्वेन तद्गोचरविज्ञानस्य न तत्त्वपदव्यवच्छेद्यत्वमित्यर्थः। अनुभवपदव्यवच्छेद्यत्वमिति द्वितीयोऽपि नानवद्य इत्याह ॐ नापीति ॐ। स्मरणमात्रमनुभवपदव्यवच्छेद्यं न चैतत्स्मरणमविदितवेदनत्वादित्यर्थः। पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्नत्वज्ञानं यद्वक्तृसमवेतं तत्रातिव्याप्तिः? उत श्रोतृज्ञाने? न तावत् श्रोतृज्ञाने, तस्यानाप्तवाक्यजन्यत्वेनातत्त्वविषयत्वात्। नापि वक्तृज्ञाने, तस्य चक्षुःसम्प्रयोगादिप्रमाणाजन्यत्वेन संशयरूपतया तत्त्वपदव्यवच्छे-

---

हैं? दूसरा व्यक्ति बिना सोचे-समझे कह उठता है—(पञ्च वराटकाः सन्ति) आपकी मुट्ठी में पाँच कौड़ियाँ हैं। संयोग की बात है कि मुट्ठी खुलने पर पाँच ही कौड़ियाँ पाई जाती हैं। वहां 'पञ्च वराटकाः सन्ति'—इस वाक्य से जनित ज्ञान वक्ता और श्रोता—दोनों को होता है और दोनों ही उस ज्ञान की यथार्थता और तात्त्विकता अनुभव करते हैं, ऐसे आकस्मिक यथार्थ हो जानेवाले ज्ञान वस्तुतः प्रमा नहीं होते, यादृच्छिक या आहार्यात्मक ही माने जाते हैं, फिर भी 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—यह लक्षण उनमें अतिव्याप्त हो जाता है [ऐसे आकस्मिक घटना-चक्र को (१) काकतालीय न्याय, (२) अजाकृपाणीयन्याय, (३) घुणाक्षरादि न्यायों से ध्वनित किया जाता है। (१) काक और ताड़-फल का कभी ऐसा ही संयोग हो जाता है कि पका हुआ ताड़-फल वृक्ष से गिरनेवाला ही था कि उसी समय एक उड़ता हुआ काक उस फल पर बैठ गया। यद्यपि फल काक के बैठने से नहीं, अपने-आप गिरा, तथापि काक का संयोग भी फल-पतन का एक निमित्त-सा बन गया। (२) किसी खम्भे से सटी एक कृपाण (छोटी तलवार या छूरी) लटक रही थी, उसी खम्भे से बँधी एक बकरी उसी कृपाण पर अपने गले की खाज मिटाने लगी। खुजली ने उग्र रूप धारण कर लिया, बकरी ने उसे जड़-मूल से खो डालने के लिए पूरा बल लगाकर अपना गला कृपाण की तीखी धार पर रगड़ मारा, फिर क्या था? गला कट गया, बकरी मर गई ऐसी अनन्त घटनाएँ और ज्ञान होते ही रहते हैं]। ऊपर चर्चित पाँच कौड़ियों के ज्ञान का व्यवच्छेद या व्यावृत्ति 'तत्त्व' पद से नहीं हो सकती, क्योंकि वस्तुतः वहाँ जैसा कहा गया, उसी के अनुरूप पाँच ही कौड़ियाँ ही देखी जाती हैं, अतः पञ्चवराटक-ज्ञान को अतथाभूत या अतत्त्व नहीं कहा जा सकता कि जिसकी व्यावृत्ति 'तत्त्व' पद से हो जाती। 'अनुभव' शब्द के द्वारा भी उस ज्ञान का व्यवच्छेद (निवृत्ति) नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनधिगत वस्तु का गमक होने के कारण गृहीतग्राहिज्ञान या स्मरण से भिन्न है।

प्रवृत्तिवदिति युक्तम्; तत्राप्याहाररूपैककोटिनिश्चयास्थानाद्, अन्यथा संशयस्य कोटिद्वयनिश्चयसमुच्चयतापत्तेः। न च प्रमैव तदित्युररीकरणीयम्, मध्येऽध्यक्षादि-दुरन्तर्भावत्वात्।

त्वादित्याशंक्याह ❀ न चेति ❀। पञ्चैवेति निश्चयाभावे वक्तुः कथं तथात्वेनाभिवदनव्यवहार इत्याह ❀ एकतरेति ❀। यथा दृष्टफले कृष्यादौ फलावश्यकत्वानिश्चयेऽपि सम्भावनामात्रात्प्रवृत्तिस्तथा पञ्चत्व-निश्चयाभावेऽपि तत्सम्भावनया पञ्चेति व्यवहारो वक्तुरित्यर्थः। कुत इत्यत आह ❀ तत्रेति ❀। आहरण-माहार उत्प्रेक्षा आहारश्चासावेकतरकोटिनिश्चयश्चेति विग्रहः। प्रवृत्तेः स्वविषयनिश्चयजन्यत्वनियमात्तस्य निष्पत्तिफलावश्यकत्वसन्देहेऽप्याहार्यफलावश्यम्भावनिर्णयजन्यैव तत्राऽपि प्रवृत्तिरित्यसिद्धो दृष्टान्त इत्यर्थः। व्यतिरेकमुखेनैतदुपपादयति ❀ अन्यथेति ❀। वक्तुः पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्नत्वविज्ञानं कोटिद्वयावलम्बित्वेन संशयश्चेत्तदा प्रवृत्ते स्वविषयनिश्चयपुरःसरत्वव्याप्तेरस्खलनात्तदभावेन व्यवहार एव नोपपद्येत, अतश्च तद्व्यवहारमूलतया पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्नत्वकोटौ निश्चय एव स्याद्, एवं चान्यकोटावपि अविशेषात्तेन पञ्चैव नैवेति विरुद्धकोटिद्वयसमुच्चयोऽविरुद्ध आपद्यते तथा कृष्यादावपीत्यर्थः। न यादृच्छिकविज्ञानेऽतिव्याप्ति-स्तस्यापि प्रमारूपतया लक्ष्यैकदेशत्वादिति प्रथमकल्पमाशंक्याह ❀ न चेति ❀। प्रमाणकारणाजन्यत्वादिति हेतुमाह ❀ मध्य इति ❀। अध्यक्षादेर्मध्यं मध्येऽध्यक्षादि, "पारे मध्ये षष्ठ्या वे"ति स्मरणात्। अङ्गुलि-पिहितत्वादनिन्द्रियसम्प्रयुक्तत्वान्नाध्यक्षं, तदविनाभूतलिङ्गाग्रहणान्नानुमानं, पञ्च वराटका इति शब्दादर्शना-न्नागमः, असादृश्यविषयत्वान्नोपमानं, करतले कपर्दकपञ्चकव्यतिरेकेणानुपपत्तिव्यतिरेकान्नार्थापत्तिः, भाव-विषयत्वान्नाभावो मानमपीत्यर्थः।

शङ्का—पूछनेवाला व्यक्ति जब अपनी मुटठी में कौड़ियाँ छिपा कर पूछता है कि हमारी मुट्ठी में कितनी कौड़ियाँ हैं? तब उत्तर देनेवाले व्यक्ति को संशय अवश्य था, क्योंकि मुट्ठी में पाँच कौड़ियों का निश्चायक कोई सूत्र (प्रमाण) उसके हाथ नहीं लगा था। हाँ, उसने अपने संशय की अभिव्यक्ति 'पञ्च वराटकाः सन्ति? न वा?'—इन शब्दों में न कर जो 'पञ्च वराटकाः सन्ति'—ऐसा एकतर कोटि का सूचक वाक्य कह दिया, वह उसका कहना वैसा ही है, जैसे कि खेत में बीज बोते समय ही किसान कह दिया करता है कि 'अबकी बड़ी अच्छी खेती होगी।' [वहाँ यद्यपि किसान का मन सन्देह से धुकधुकाता ही रहता है, तथापि वैसा खुले शब्दों में कह देने पर लोगों का मन टूट जाता है, खेती में उत्साह भरपूर नहीं रहता, अतः सबका साहस बँधाने के लिए 'फलिष्यतीयं ध्रुवम्'—ऐसा कह देता है। प्रकृत में भी यद्यपि वक्ता के मन में कौड़ियों का सन्देह ही है, तथापि वैसा कह देने से उसकी सिद्धि-ऋद्धि पर आँच आती है, अतः हृदय की धड़कन रोक कर कह मारता है—'पञ्च वराटकाः सन्ति'। अभिज्ञ श्रोतागण अवश्य समझ जाते हैं कि इसके शब्द कुछ और ही कह रहे हैं,]।

समाधान—यद्यपि किसान को भावी कृषि-फल का पहले प्रत्यक्ष नहीं होता, तथापि सहकारी साधनों की सम्पन्नता को देख कर उसकी अन्तरात्मा निश्चय कर लेती है कि अवश्य फल होगा, उसका वह निश्चय वह आहरण, ऊहा या अनुमिति है, जो कि अन्वय-व्यतिरेक से आबद्ध सद्धेतु पर आधृत है, फलतः किसान को न तो संशय होता है और न वह अपने संशय को एक कोटि-निश्चायक शब्द के द्वारा प्रकट करता है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का सामञ्जस्य नहीं रहता। यदि एककोटि की निश्चायक पदावली के द्वारा संशय की अभिव्यक्ति मानी जाय, तब विप्रतिपत्ति-घटक दोनों वाक्यों को एकैककोटि का निश्चायक और संशय को दो विरोधी निश्चयों का समुच्चय मानना होगा।

कथित काकतालीय पञ्चावराटकविषयक यथार्थ ज्ञान को प्रमा नहीं माना जा सकता, क्योंकि न्यायमतानुसार प्रमा ज्ञान के चार भेद माने जाते हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति,

अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सतीति विशेषणीयमिति चेन्न, तत्त्वपदवैयर्थ्यापातात्। न च काकतालीयसंवादमपि ज्ञानं व्यभिचारिसाधारणकारणसामग्रीजन्यमास्थातुमीशिषे; व्यभिचारिणोऽपि कारणाविशेषाद् यथार्थत्वप्रसङ्गात्।

न ह्यहेतुकमेवास्य यथार्थत्वम्; नियामकाभावेन अतिप्रसङ्गापातात्। अवश्यमस्याव्यभिचारित्वे अव्यभिचारिनियतमेव करणं वक्तव्यम्।

अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सति तत्त्वानुभूतिः प्रमेति लक्षणं विशेषणीयं अनेवंरूपत्वाद्यादृच्छिकविज्ञाने नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ अव्यभिचारीति ❀। प्रतिक्षिपति ❀नेति❀। अव्यभिचारिलिङ्गेन्द्रियादिकरणकानुभवस्यातत्त्वविषयस्याभावात्तत्त्वपदं व्यर्थं स्यात्। न च दोषोपेतेन्द्रियादिजन्यक्लृप्तकारणजं, प्रमाकरणस्यैव तथात्वेन विवक्षितत्वादिति भावः।

काकतालीयविज्ञानस्याव्यभिचारिकारणत्वाभावमभ्युपगम्य विशेषणान्तरवैयर्थ्यमुक्तं, इदानीमव्यभिचारिकारणजन्यत्वमप्यस्तीत्यसमर्थविशेषणमिदं लक्षणमिति परिशेषत उपपादयति ❀ काकतालीयेति ❀। पञ्चेति ज्ञानं किं व्यभिचारिकारणजन्यम्? उताकारणजन्यम्? आहोस्विदव्यभिचारिकारणजन्यमिति वक्तव्यं गत्यन्तराभावात्तत्र न प्रथमो व्यभिचारिभिः शुक्तिरजतप्रत्ययादिभिः सह साधारणी या कारणसामग्री तज्जन्यमास्थातुं नेशिषे न शक्तो भवसीत्यर्थः। हेतुमाह ❀ व्यभिचारिणोऽपीति ❀। व्यभिचारिकरणजमपि यादृच्छिकज्ञानं काकतालीयसम्वादं काकतालीये यादृच्छिकेऽर्थे मानान्तरसंवादो यस्य तत्तादृग्यथार्थं चेद्व्यभिचारिणो रजतादिप्रत्ययस्यापि यथार्थत्वं स्यात्कारणाविशेषादित्यर्थः। अहेतुकमेव काकतालीयज्ञानमिति द्वितीयमाशङ्क्य निषेधति ❀ न हीति ❀। ज्ञानस्वरूपं नाहेतुकं भावकार्यस्य सहेतुकत्वनियमात्, नापि यथार्थत्वं अस्य निर्हेतुकं तथा सति नियामकाभावेन भ्रान्त्यादावपि यथार्थत्वापातात्प्रमायामपि कारणसम्बन्धनिरपेक्षत्वेनायथार्थत्वप्रसङ्गाच्चेत्याशयः। तस्मादव्यभिचारिकारणजन्यमिति तृतीयः कल्पः परिशिष्यत इत्याह ❀ अवश्यमिति ❀। विमतमव्यभिचारिकारणजन्यं व्यभिचारिसाधारणकारणा-

---

(३) उपमिति और (४) शाब्द ज्ञान। इन चार विधाओं में उक्त ज्ञान का अन्तर्भाव सम्भव नहीं।

शङ्का—प्रमा ज्ञान के कथित 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—इस लक्षण में 'अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सति'—ऐसा विशेषण लगा देने पर उक्त काकतालीय ज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि पञ्चवराटकविषयक ज्ञान का करणीभूत वक्ता का वह (पञ्च वराटकाः सन्ति) शब्द व्यभिचारी देखा गया है कि वैसा कहने पर मुट्ठी से कभी न्यून या अधिक भी कौड़ियाँ निकल आती हैं।

समाधान—'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—इस लक्षण में 'अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सति'—ऐसा विशेषण लगाने पर 'तत्त्व' पद व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि जिस भ्रमादि ज्ञान की व्यावृत्ति करने के लिए 'तत्त्व' पद रखा गया है, उसकी व्यावृत्ति उक्त विशेषण दल से ही हो जाती है, अर्थात् शुक्ति के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर सदैव रजत-भ्रम नहीं होता अपितु कभी ही होता है, अतः वह व्यभिचारी करण से जनित होता है, अव्यभिचारी करण से नहीं।

वस्तुतः आकस्मिक यथार्थ हो जानेवाले पञ्चवराटकादि-विषयक ज्ञानों को भी व्यभिचारी करण से जनित आप (नैयायिक) नहीं मान सकते, क्योंकि व्यभिचारी करण से उत्पन्न होनेवाले रजतादि-भ्रम ज्ञान सदैव अपने अर्थ (रजतादि) से व्यभिचरित या अयथार्थ होते हैं, किन्तु प्रक्रान्त आकस्मिक यथार्थ ज्ञान अर्थ-व्यभिचारी नहीं। इसकी यह यथार्थता या अर्थाव्यभिचारिता अकारण नहीं, अन्यथा सभी भ्रम ज्ञानों में यथार्थत्व माना जा सकता है, अतः अगत्या उक्त आकस्मिक यथार्थ ज्ञान को अव्यभिचारी करण से ही जनित मानना होगा—'विमतं ज्ञानम् अभिचारिकरणजन्यम्, यथार्थत्वात्, सम्प्रतिपन्नज्ञानवत्।'

किं तदिति चेत्, स्वात्मनैवात्र प्रश्ने दीयतामुत्तरं भवता, येन नियतेषु प्रमाराशिष्वेवेदं ज्ञानमन्तर्भाव्यम्, प्रमासामान्यलक्षणेन वा व्यवच्छेत्तव्यम्।

एवं लिङ्गाभासादिभ्योऽपि जातं लिङ्गिज्ञानं दैवगत्या स्थितलिङ्गलिङ्गिनि लिङ्गिमत्येव वा यत् स्यात्तत्तु यद्यपि लिङ्गाभासे न प्रमा, न वा तद्वति लिङ्गिस्वरूपे, तथापि विशिष्टं तथाविधं गोचरयन्त्यास्तस्या बुद्धेर्लिङ्गान्तरवति केवले वा लिङ्गिनि वह्न्यादावप्यंशे विषये प्रामाण्यस्वीकारेण उक्तदोषापरिहारादिति।

आभासकरणजत्वात्तद्विषयस्य वस्तुभूतात् लिङ्ग्यादेरन्यत्वमेवेति चेन्न, विशेष-

---

जन्यानीश्वरज्ञानत्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्यर्थः। अव्यभिचारीत्यस्य व्याख्या नियतमेवेति। एवमव्यभिचारिकारणे सामान्यावगते विशेषपरिज्ञानाय पृच्छति ❀ किमिति ❀। सामान्यं विशेषमपेक्षते विशेषश्च न सम्भवति मध्येऽप्यक्षादि दुरन्तर्भावस्योक्तत्वादित्यर्थः। न ममात्र किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति अनिर्वक्तव्यवादित्वान्नैयायिकम्मन्येन त्वयैवोत्तरं देयमित्याह ❀ स्वेति ❀। स्वपक्षसिद्धिं परपक्षप्रतिक्षेपं वाऽभिलषता त्वयाऽपि निरूपणीयमेव प्रमाणं सर्वविधिनिषेधयोः प्रमाणाधीनत्वात्किमिदमवोचः स्वात्मनैवोत्तरं दीयतामिति तत्राह ❀ येनेति ❀। पराभिमतप्रमाणबलेन परपक्षप्रतिक्षेपोपपत्तेः न मया किञ्चिन्निरूपणीयं भवतैव प्रमाणसामान्यं लक्षयता प्रमात्वमभ्युपगतं चेत्परिगणितप्रमाणराशिष्वन्तर्भावनीयं अन्यथा प्रमातिरेकापातादप्रमात्वं चेत्प्रमाणलक्षणेन व्यावर्तनीयमन्यथाऽतिव्याप्तेरिति भावः।

एवंविधानि बहून्युदाहरणानि सन्तीति यदुक्तं तदिदानीमुदाहरति ❀ एवमिति ❀। दैवगत्याऽनलवति शैले बाष्पधूमेन सम्यक्धूमपरिगृहीतेनात्र कृशानुरस्तीति यत्र मतिरुत्पद्यते, सा तावन्न स्मृतिरननुभूतगोचरत्वान्नापि प्रमाऽऽभासकरणजन्यत्वात्, न च तत्त्वपदव्यवच्छेद्यता स्थितवस्तुगोचरत्वात्तेन तत्त्वानुभूतिरिति लक्षणमतिव्याप्तमित्यर्थः। लिङ्गाभासादीत्यादिशब्देनार्थापत्त्याभासादयो गृह्यन्ते। धूमवत्त्वादग्निमानिति धूमविशिष्टवह्निमद्गिरिगोचरं तद्भवति, न च तस्य तत्त्वविषयत्वं तत्र धूमाभावादेव तद्विशिष्टवह्न्यभावादित्याशङ्क्याह ❀ स्थितेति ❀। स्थिते लिङ्गलिङ्गिनी यस्मिंस्तत्स्थितलिङ्गलिङ्गि तस्मिन् गिर्यादाविति यावत्। असति धूमे बाष्पं दृष्ट्वा धूमवानिति यत् ज्ञानं जायते तत्राऽप्यतिव्याप्तिरित्याह ❀ लिङ्गीति ❀। लिङ्गलिङ्गिनोरप्रतिभासमानयोरनुमानाविषयत्वात् न लिङ्गे तद्विशिष्टलिङ्गिस्वरूपे वा तत्र ज्ञानं न प्रमाणमित्याशङ्क्याह ❀ तदिति ❀। तर्ह्यप्रमाणमेव तदित्यत आह ❀ तथाऽपीति ❀। विशिष्टं तथाविधमिति लिङ्गविशिष्टं वह्निप्रकारं गोचरयन्त्या बुद्धेर्दैवगत्या स्थितलिङ्गलिङ्गिविषयत्वात्परमार्थलिङ्गविशिष्टे केवले वा व्यापके प्रामाण्यस्वीकारात्तत्त्वानुभूतित्वस्वीकारेणातिव्याप्तेरपरिहारादिति यावन् आभासलिङ्गजन्यज्ञानं परमार्थस्थितवस्तुनोऽन्यविषयमाभासकारणजन्यत्वात्, क्लृप्तकारणा-

---

'कौन वह अव्यभिचारी करण है, जिससे यह काकतालीय ज्ञान उत्पन्न हुआ ?' इस प्रश्न का उत्तर स्वयं आप (नैयायिक महाशय) ही दें, क्योंकि आप ही ने यथार्थ या प्रमा ज्ञान को कथित चार राशियों में बाँट रखा है, अतः आप या तो उनमें से किसी राशि में इस काकतालीय ज्ञान का अन्तर्भाव करें या उसमें प्रमा का सामान्य लक्षण न जाने दें, किन्तु उक्त (तत्त्वानुभूति' प्रमा) लक्षण उसमें घट रहा है, उसे आप रोक नहीं सकते, फलतः उक्त लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है।

इसी प्रकार प्रमा का उक्त लक्षण उस वह्न्यनुमिति ज्ञान में भी अतिव्याप्त है, जो कि वाष्प-धूमादि असद् हेतुओं के द्वारा ऐसे पर्वत में हुआ है, जहाँ दैव गति से लिङ्ग (धूम) और लिङ्गी (अग्नि) दोनों अथवा केवल वह्नि ही है। यद्यपि वह अनुमिति न तो हेत्वाभास-अंश में प्रमा है और न हेत्वाभास-व्यापक वह्नि अंश में; तथापि धूमादि सद्धेतु-व्यापक वह्नि अथवा केवल वह्नि से युक्त पर्वतादि अंश में प्रमा मानी जाती है।

शङ्का—यदि हेत्वाभास-जन्य अनुमिति (वह्निमान् अयम्) ज्ञान उसी अग्नि को विषय

स्यान्यत्वेऽपि तज्जातीयमात्रवत्तावभासांशे दोषापरिहारात् ।

सामान्यसम्बन्धकोटिनिविष्टत्वाद् विशेषस्य, तस्य च तत्रानवस्थितस्यैव स्फुरणान्नैष दोष इति चेन्न, विशेषाप्रतिभासे सामान्यतस्तन्मात्रवत्ताप्रतिभासस्यापि अभ्यु-

जन्यत्वाद्वा प्रत्यक्षादिभ्रमवद्वाऽऽभासजन्यज्ञानविषयः परमार्थतस्तिष्ठवह्नेरन्यः आभासज्ञानविषयत्वात्प्रत्यक्षभ्रान्तिगोचरवह्निवदित्यतत्त्वानुभूतित्वसिद्धेर्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ※ आभासेति ※ । परिहरति ※ नेति ※ । वह्नौ वह्निमानित्याकारप्रतीतेरन्याविषयत्वे सम्यक्धूमजन्यज्ञानस्यापि तथात्वं स्यात्, भवतु तथाऽपि सा वह्निव्यक्तिरन्येत्युच्यते, किं वा वह्नित्वजातिरपि, न चरमः तस्या एकत्वेनान्यत्वासम्भवाद्व्यक्त्यन्तरेऽन्यत्वेऽपि तज्जातीयमात्रांशे तत्त्वानुभूतित्वेनातिव्याप्तेरित्यर्थः ।

"निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणव" दिति

न्यायेन सामान्यस्य विशेषपरतन्त्रतया प्रत्येतव्यत्वात्तस्य च सामान्यसंसर्गिणो विशेषस्य तत्रासत्त्वान्न तत्त्वानुभूतित्वमिति नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ※ सामान्येति ※ । सामान्यसंसर्गितया विशेषस्फुरणे कुतोऽतत्त्वानुभूतित्वमित्यत आह ※ तस्येति ※ । तत्रानवस्थितस्य—गिरावसत इति यावत् । सम्बन्धस्य द्वे कोट्यौ तत्रैककोटौ सामान्यं निविष्टं द्वितीयकोटौ विशेष इत्यर्थः । आभासलिङ्गदर्शने विशेषप्रतिभासोऽस्ति, न वा ? न चेदाभासजन्यज्ञानविषयस्य स्थितलिङ्ग्यादेरन्यत्वमिति स्ववचनविरोधोऽस्ति चेत् द्रव्यविषयस्य सामान्यविशेषवत्तया प्रतिभासनियमाद्विशेषाभावेनातत्त्वानुभूतित्वे सामान्यभावेन तत्त्वानुभूतित्वादतिव्याप्तिः किं न स्यादिति दूषयति ※ नेति ※ । सामान्यत इति ※ परमार्थत्वापरमार्थत्वविशेष-

करता, जो कि वस्तुतः पर्वत में विद्यमान है, तब उक्त अनुमिति में तत्त्वरूपता (अबाधितविषयकत्व) होने के कारण प्रमा-लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती थी; किन्तु यहाँ हेत्वाभास के द्वारा अनुमित अग्नि व्यक्ति वास्तविक अग्नि व्यक्ति से भिन्न है, अतः जैसे 'इदं रजतम्'—इत्यादि ज्ञानों का विषय (रजत) वहाँ विद्यमान वास्तविक शुक्ति व्यक्ति से भिन्न होने के कारण उक्त ज्ञानों को प्रमा नहीं, भ्रम माना जाता है, वैसे ही प्रकृत में हेत्वाभास से जनित वह्न्यनुमिति को प्रमा नहीं कहा जा सकता ।

समाधान—यद्यपि अनुमित और निश्चित आश्रयीभूत व्यक्तियों का भेद प्रायः सर्वत्र अनुमिति में होता है, तथापि जैसे व्याप्ति में सामान्यतः एव वह्न्यादि का भान होता है, वैसे ही अनुमिति में भी सामान्य अग्नि का ही अवभास माना जाता है, सामान्यतः अग्नि का वाध वहीं होता है, जहाँ सभी अग्नि व्यक्तियों का बाध हो, प्रकृत में जब कोई अग्नि व्यक्ति पर्वत में है, तब हेत्वाभास से भी जनित सामान्यतः 'अग्निमानयम्'—इस अनुमिति का बाध नहीं हो सकता, अतः उक्त अनुमिति अबाधितार्थविषयक होने से तत्त्वानुभूति ही मानी जायगी ।

शङ्का—यद्यपि यत्र-यत्र धूमः, तत्र तत्राग्निः'—इस प्रकार के सामान्य व्याप्तिरूप सम्वन्ध में सभी धूम और अग्नि व्यक्तियों का भान हो जाता है [जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—"निर्विशेषं न सामान्यम्" (श्लो० वा० पृ० ५४८) । अर्थात् सभी विशेष पदार्थों की एक सामूहिक विहङ्गम दृष्टि का नाम सामान्य-भान है, विशेष का भान न होने पर सामान्य का भान हो ही नहीं सकता । महानसादि में धूम और अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण जब होता है, तभी पर्वतीय वह्नि का भी भान हो जाता है, अन्यथा पर्वतीय अग्नि का अनुमिति में भान नहीं हो सकेगा] । तथापि प्रकृत में वह्निविषयक अनुमिति लिङ्गाभास से जनित है, अतः भ्रमात्मक है और भ्रम ज्ञान में उपस्थित व्यक्ति का नहीं, अनुपस्थित का ही भान होता है, अतः पर्वत में दैवात् विद्यमान अग्नि का भान उस अनुमिति में नहीं कि वह अबाधितार्थविषयक या तत्त्वानुभूति मान ली जाय ।

समाधान—सामान्य-प्रतीति में विशेष का प्रतिभान अनिवार्य नहीं माना जाता,

पेयत्वात्, देवदत्तयज्ञदत्तसम्बन्धितासंशयेऽपि पुरुषसम्बन्धितानिश्चयवत्। सम्बन्धिविशेषस्य निर्लुठितविशेषरूपतया च प्रवेशे व्याप्त्यादेरननुगमप्रसङ्गात्। सामान्यानुमानाभासे च संवादिनि विशेषान्यवत्ताकल्पनानवकाशात्। सामान्यसमवाययोरप्यन्य-

मपहायेति यावत् ❀ तन्मात्रवत्ताप्रतिभासश्चेति ❀। अग्निजातिसंसर्गितया प्रतिभासस्येत्यर्थः। विशेषाऽप्रतिभासे तत्परतन्त्रसामान्यप्रतिभासः कथमित्याशङ्क्य दृष्टान्तेनैतत्सम्भावयति ❀ देवदत्तेति ❀। पथि शालिसम्पन्नक्षेत्रं पश्यतस्तस्य देवदत्तयज्ञदत्तादिपुरुषविशेषसंसर्गित्वानिश्चयेऽपि पुरुषमात्रसम्बन्धित्वनिश्चयो यथा तत्त्वानुभूतिस्तथा व्यापकविशेषाऽप्रतिभासेऽपि तन्मात्रवत्ताप्रतिभासस्तत्त्वानुभूतिरित्यर्थः। किं च व्याप्यसामान्यस्य व्यापकसामान्येन व्याप्तिर्गृहीता ? किं वा तद्विशेषस्य तद्विशेषेण ? आद्ये धूमत्वपरिगृहीतधूलीपटलावग्निमात्रप्रतिभासः स्यादिति तन्मात्रे तत्त्वानुभूतित्वमिति प्रथमविकल्पदूषणं चशब्देनाभिधाय द्वितीयविकल्पं प्रत्याह ❀ सम्बन्धीति ❀। व्याप्यव्यापकौ सम्बन्धिनौ तद्विशेषस्येत्यर्थः ❀ निर्लुठितविशेषरूपतयेति ❀। विमर्दितसामान्यासाधारणरूपतयेति यावत्। महानसनिष्ठव्याप्तस्य तन्निष्ठव्यापकेन व्याप्तिग्रहणविषयतया प्रवेशे पर्वतादावभावस्तन्निष्ठयोर्व्याप्त्याधारतया प्रवेशे दृष्टान्ताननुगम इत्यर्थः। तत्त्वानुभूतिरिति लक्षणस्य लिङ्गाभासज्ञानेऽतिव्याप्तिमुदाहरणान्तरेणोपपादयति ❀सामान्येति❀। यदा गोव्यक्तिमेव पक्षीकृत्यायं गौर्विषाणित्वाद्, गवान्तरवदिति गोव्यक्तौ गोत्वं व्यभिचारिलिङ्गेनानुमीयते तदा तज्ज्ञानविषयस्य गोत्वसमवायस्य तत्रस्थगोत्वसमवायादन्यत्वकल्पना न युक्ता गोत्वस्य तत्समवायस्य चैकत्वात्तश्च तत्त्वानुभूतित्वमस्ति, नास्ति च प्रमात्वं व्यभिचारिकारणजन्यत्वादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः।

आभासजन्यत्वेन प्रामाण्ये स्थिते सामान्यानुमानस्य परमार्थतन्निष्ठसामान्यसमवायाभ्यामन्य एव विषयः सामान्याभासः समवायाभासो वेत्याशंक्याऽऽह ❀ सामान्येति ❀। सामान्यसमवाययोरेकत्वेनान्ययोरन्यत्रासम्भवात्तयोरिह प्रतीतिश्चेदन्यत्र सतोऽन्यत्र ख्यातिरन्यथाख्यातिः स्वाभ्युपगमभङ्गः पराभ्युपगतानिष्टाभ्युपगम इति दोषद्वयमापद्यत इत्यर्थः।

क्योंकि विशेष पदार्थ का भान न होने पर भी सामान्य-प्रतिभान माना जाता है, जैसे कि किसी मालादि वस्तु का देखकर 'यह देवदत्त या यज्ञदत्त की गूँथी है'—ऐसा विशेष-प्रतिभान न होने पर भी 'यह किसी व्यक्ति की बनाई है'—ऐसा सामान्य-ज्ञान अवश्य हो जाता है। व्याप्तिग्रहण के समय विशेषतः व्याप्य और व्यापक व्यक्तियों का भान मानने पर व्याप्त्यादि में अननुगमता आ जायगी, अतः लिङ्गाभास से जनित अनुमिति में सामान्यतः ही अग्नि का भान होता है, सामान्यतः अग्नि का बाध नहीं हो सकता, फलतः प्रकृतानुमिति अबाधितार्थविषयक होने से तत्त्वानुभूति ही हो जाती है।

दूसरी बात यह भी है कि अनेकव्यक्तिक साध्य-स्थल पर ही व्यक्ति-भेद की कल्पना की जा सकती है एकव्यक्तिक साध्य-स्थल पर नहीं, अतः जहाँ पर लिङ्गाभास के द्वारा गोत्वादि जाति की अनुमिति दैवात् संवादिनी होती है, वहाँ उक्त प्रमा-लक्षण निर्विवादरूप से अतिप्रसक्त होता है, जैसे—किसी गौ के गले में बंधे कम्बल को देखकर 'इयं सास्ना'—ऐसा भ्रम हो जाता है और उसके द्वारा 'इयं गौः, सास्नावत्त्वात्'—ऐसी गोत्वानुमिति कर लेता है। वहाँ गोत्व विद्यमान भी है, अतः उक्त अनुमिति का अबाधितार्थविषयक होना निश्चित है।

यदि सामान्य (जाति) और समवायादि एकैकव्यक्तिक साध्य-स्थल पर भी लिङ्गाभास-जन्य अनुमिति के विषयीभूत सामान्यादि में वास्तविक गोत्वादिसामान्य से अन्यत्व की कल्पना करते हैं, तब आप (नैयायिक) अपसिद्धान्त नाम के निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाते हैं, क्योंकि भ्रम-स्थल पर आप अन्यथाख्याति (देशान्तर में सत् रजतादि की प्रतीति) मानते हैं, किन्तु जात्यादिविषयक भ्रम में वास्तविक जाति से भिन्न अत्यन्तासत् (अलीक) पदार्थ का भान मानते हैं, अतः माध्यमिक-सम्मत असत्ख्याति माननी पड़ेगी। ख्याति (भ्रान्ति)

योरेव प्रतिभासे अन्यथाख्यातिं विहाय असत्ख्यातिप्रवेशापातात् ।

तत्रत्यधर्मान्तरस्य जात्या तादात्म्यारोपस्तत्रेति चेन्न, तथापि धर्मिणि जातौ च प्रमात्वतादवस्थ्यात्; संसर्गारोपनिमित्ताच्च तादात्म्यारोपानुपपत्तेः। परार्थानुमानाभासे हि प्रतिपादितपदार्थसंसर्गारोपकारणसम्भवात्; तथापि तत्र

व्यभिचारिलिङ्गजन्यगोत्वविषयानुमानस्य न गोत्वमात्रं तत्समवायो विषयोऽपि तु गोत्वस्य व्यञ्जकाकारतादात्म्यं विषयस्तेन न तत्त्वविषयत्वं तस्य सम्भवति असत एव तादात्म्यस्य तत्र भासनात्, नाप्यसत्ख्यातिप्रवेशस्तस्यान्यत्र सत्त्वादिति शंकते ❀ तत्रेति ❀ । गोव्यक्तौ गोत्वं द्रव्यत्वं सत्त्वमित्याद्या जातयः सन्ति तत्र सास्नादिमदाकारो गोत्वव्यञ्जको गुणवदाकारो द्रव्यत्वस्येत्याकारभेदाः सन्ति त एव तत्रत्या धर्मास्तज्जातीनां धारणात्तथा च स्वव्यञ्जकाकारगोत्वस्य तादात्म्यं प्रतीयते न च तदस्ति जातिव्यञ्जकयोः समवायवत्तया भिन्नत्वाभ्युपगमादित्यर्थः । तत्र गवीति यावत् । तादात्म्यारोपमङ्गीकृत्यापि दूषयति ❀ नेति ❀ । यत्र तादात्म्यारोपो गिरिशिखरविपरिवर्तिततर्वोस्तत्र तादात्म्यमात्रमसत्सन्तौ च तरू तद्वदिहापि तादात्म्यारोपे गोत्वव्यञ्जकधर्मिणो गोत्वस्य च सत्त्वं स्वीकरणीयमतश्च तस्मिन्नंशे ज्ञानं तत्त्वानुभूतिरिति लक्षणमतिव्यापकमित्यर्थः । अपिशब्दद्योतितामरुचिमाह ❀ संसर्गेति ❀ । नायमारोपस्तादात्म्यगोचरः संसर्गारोपनिमित्तजन्यत्वात्प्रतिवादिप्रयुक्तप्रयोगाभासजन्यभ्रमवदित्यर्थः । संसर्गारोपनिमित्तजन्यत्वहेतोरसिद्धिमाशंक्य परिहरति ❀ परेति ❀ । पदानां परस्परसंसर्गयोग्यत्वायोग्यत्वयोरभावात्संसर्गायोग्यतद्योग्यपदार्थप्रतिपादनद्वारकत्वात्तयोस्तथा च परार्थानुमाने पञ्चावयववाक्ये संसर्गायोग्यपदार्थप्रतिपादकतया संसर्गायोग्यपदेषु संसर्गभावस्याऽऽरोपिततया तस्मिन्निमित्तधर्मिसाध्यादिसंसर्गज्ञानाभासस्योत्पत्तेरित्यर्थः । स्वार्थानुमाने वाक्यप्रयोगाभावात्तादात्म्यारोपस्तदाभासे सम्भवत्यपीति परार्थेति विशेषणम् । संसर्गारोपनिमित्तादेव कदाचित्तादात्म्यारोपः किं न स्यादित्यत आह ❀ तत्रेति ❀ । यत्र

के भेदों का विशद विवेचन न्यायभूषण, इष्टसिद्धि और विभ्रमविवेक में किया गया है।

शङ्का—उक्त स्थल पर हेत्वाभास के द्वारा गोत्वान्तर का अनुमान नहीं होता, अपितु तत्रत्य (गोगतरूपादि धर्मों में गोत्व जाति के तादात्म्य का आरोप कर लिया जाता है अर्थात् 'इयं गोः (गोत्वतादात्म्यापन्नरूपवती)' इस प्रकार की अनुमिति पर्यवसित होती है। वहाँ वस्तुभूत गोत्व की अपेक्षा भिन्न रूपादि का अनुमान होता है, गोत्व का नहीं।

समाधान—रूप में गोत्व के तादात्म्य का आरोप करने पर भी रूपात्मक धर्मी (अनुयोगी) और गोत्वात्मक प्रतियोगी अंश में उक्त अनुमिति प्रमा ही रहती है, केवल गोत्व-तादात्म्य अंश बाधित है।

दूसरी बात यह भी है कि यहाँ गोत्वव्याप्यसास्नादिमतीयम्'—ऐसा ही परामर्श होता है, इसके आधार पर समवायसंसर्गक गोत्वप्रकार ही ज्ञान होगा, वह ज्ञान चाहे प्रमा हो, या भ्रम, तादात्म्यसंसर्गक या तादात्म्यप्रकारक नहीं हो सकता। भ्रम-स्थल पर गोत्व का संसर्गारोप ही हो सकता है, तादात्म्यारोप नहीं, क्योंकि स्वार्थानुमान में प्रतिज्ञादि वाक्यों का प्रयोग नहीं होता, अतः कथञ्चित् तादात्म्यारोप हो सकता है, किन्तु परार्थानुमान में प्रयुक्त वाक्यों के घटकीभूत साध्यादि पदों के द्वारा पदार्थ एवं पदार्थों के द्वारा उनका संसर्ग-बोध होता है, अतः भ्रम-स्थल पर संसर्गारोप की ही सामग्री सुलभ है, उससे तादात्म्यारोप क्योंकर होगा ? तथापि (तादात्म्यारोप की सामग्री न रहने पर भी) वहाँ तादात्म्यारोप (गोगत रूपादि में गोत्व का तादात्म्यारोप) मानने पर 'प्रत्येक भ्रम अपनी ही सामग्री से होता है, अन्य सामग्री से नहीं'—यह नियम निराधार एवं भ्रम ज्ञान का वैविध्य समाप्त हो जायगा। विशेषतः तादात्म्यारोप वहाँ नहीं माना जा सकता, जहाँ पर किसी व्यक्ति को गोत्वरूप जाति के संसर्गारोप का संवाद ('इयं गौरिति अनुभवामि'—इस प्रकार का अनुव्यवसाय)

तादात्म्यारोपकल्पने च तथाभ्रमनियमस्य निष्प्रमाणकत्वात् ।

कस्यचित्तत्र जातसंवादजातिसंसर्गभ्रमस्य मितौ का गतिः ? का वा गतिः सिद्धसाधने ? तत्राप्यन्यत्वकल्पनायां सिद्धत्वव्याघातात् । तथात्वे च हेत्वाभासस्यापि यथार्थग्राहितया उक्तनिमित्तस्य व्यभिचारेणाप्यन्यत्राभासे अन्यप्रतिभासकल्पनाया निर्निमित्तत्वात् ; सिद्धसाधनमितेरेव वाऽव्यवच्छेदात् ।

संसर्गारोपनिमित्तं तत्र तादात्म्यारोपश्चेच्छुक्तिरजतादौ संसर्गभ्रम एव, तत्कारणाभावाद् दूरस्थगिर्यादौ तादात्म्यारोपस्तत्कारणाभावादिति योऽयं भ्रमनियमः, स न स्यान्नियामकप्रमाणाभावादित्यर्थः ।

संसर्गारोपनिमित्तात्तादात्म्यारोपं कदाचिदभ्युपगम्याप्याऽऽह ❀ कस्यचिदिति ❀ । भवतु तादात्म्यारोपोऽपि तथाऽपि संसर्गारोपो भवत्येव तस्य च तत्त्वानुभूतित्वं तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । जातः संवादो यस्य जातिसंसर्गभ्रमस्य स तथोक्तः स यस्य पुंसः स जातसंवादजातिसंसर्गभ्रमस्तस्येति विग्रहः । संवादज्ञानस्याप्यतद्गोचरत्वान्न संसर्गभ्रमस्य तत्त्वानुभूतित्वमित्यत आह ❀ मिताविति ❀ । तस्यैव भ्रान्तस्य पुनः प्रमाणोत्पत्तौ का गतिः ? संसर्गभ्रमस्य न तावत्प्रमात्वमाभासजत्वान्नाप्रमात्वमतिव्याप्तेर्लक्षणस्येति यावत् । किं च सिद्धसाधनानुमानज्ञानस्य तत्त्वविषयत्वे सत्यपि न प्रमात्वं तेन तस्य लक्षणस्यातिव्याप्तिरित्याह ❀ केति ❀ । सिद्धसाधनहेतोराभासत्वात्तज्जनितज्ञानविषयस्य परमार्थतन्निष्ठसाध्यादन्यविषयत्वमुत परमार्थसाध्यविषयत्वमिति विकल्प्याऽऽद्यमपवदति ❀ तत्रेति ❀ । प्रमाणान्तरेण पक्षधर्मतया सिद्धस्य साध्यस्य साधनं सिद्धसाधनमित्युच्यतेऽतोऽपरमार्थगोचरत्वे सिद्धसाधनत्वमेव व्याहन्येतेत्यर्थः । अस्तु तर्हि परमार्थतन्निष्ठसाध्यविषयत्वमिति द्वितीयमाशङ्क्याह ❀ तत्त्व इति ❀ । सिद्धसाधनज्ञानविषयस्य परमार्थत्वेऽन्यत्राभासेऽप्यनैकान्तिकाद्याभासजनितज्ञानाभासेऽपि परमार्थतन्निष्ठविषयादन्यत्र विषयान्तरे प्रतिभासकल्पनाया निर्बीजत्वाद्धेत्वाभासान्तरजन्यज्ञानस्य तत्त्वानुभूतित्वेन प्रमात्वं स्यादतत्त्वानुभवकारणादाभासादुत्पन्नवेदनस्य तत्त्वानुभूतित्वमिति स्ववचनविरोध इत्याह ❀ हेत्विति ❀ । हेत्वन्तराभासः सिद्धिसाधनं तस्यापि यथार्थज्ञानजनकतया कथितनिमित्तस्याऽऽभासजन्यत्वस्यातत्त्वानुभवत्वे व्यभिचारान्न विरोध इति शेषः । यद्वा अनाभासजन्यत्वं तत्त्वानुभूतित्वाप्रयोजकं तदभावाद्धेत्वाभासान्तरजन्यज्ञानस्य कथं तत्त्वानुभूतित्वमित्यत आह ❀ हेत्विति ❀ । सिद्धसाधनस्य ज्ञानस्य व्याप्तहेतुजन्यत्वाद्यथार्थत्वे सम्भवत्यपि न ज्ञानान्तरस्य तथात्वं व्याप्तकरणजन्यत्वाभावादित्याशङ्क्य तथाऽपि सिद्धसाधनानुमानेऽतिव्याप्तिर्दुष्परिहरेत्याह ❀ सिद्धेति ❀ । चशब्दादितरत्रापि दुष्परिहरेति द्योतयति ।

सुलभ हो रहा है ।

यदि किसी प्रकार उक्त स्थल पर व्यक्त्यन्तर की कल्पना करके भ्रमात्मक अनुमिति में अतिप्रसक्त होने से कथित प्रमा-लक्षण को बचा लिया जाय, तब भी सिद्ध-साधन-स्थलीय अनुमिति में प्रमात्वापत्ति अनिवार्य है, क्योंकि जहाँ अग्नि का प्रत्यक्ष हो जाने पर कोई व्यक्ति धूमादि के द्वारा अग्नि का अनुमान करता है, वहां सिद्ध-साधनता दोष दिया जाता है, वहां प्रत्यक्षभूत अग्नि से अनुमित अग्नि व्यक्ति का भेद मानने पर सिद्ध-साधनता दोष का ही व्याघात हो जाता है । यदि इस अनुमिति को प्रमा ही माना जाता है, तब वाष्पादि में धूम-भ्रम से भी प्रमाभूत ही अनुमिति मान लेनी चाहिए, व्यक्त्यन्तर की कल्पना व्यर्थ हो जाती है । वहां व्यक्त्यन्तर की कल्पना हो जाने पर भी सिद्ध-साधन-स्थलीय अनुमिति की व्यावृत्ति 'तत्त्व' पद के द्वारा नहीं हो सकती, उसमें अतिव्याप्त हो जाने से उक्त प्रमा-लक्षण निर्दुष्ट नहीं रह जाता ।

१७. यथार्थानुभवप्रमात्वखण्डनम्

यथार्थानुभवः प्रमेत्यप्यलक्षणम् । यथार्थत्वं हि तत्त्वविषयत्वं वा ? अर्थसदृशत्वं वा स्यात् ? नाद्यः, पूर्वं निरस्तत्वात् । नापि द्वितीयः, व्यभिचारिणोऽपि प्रमेयत्वादिना अर्थसादृश्येन प्रमात्वापातात् ।

ननु ज्ञानविषयीकृतेन रूपेण सादृश्यमिदं विवक्षितम् । न च प्रमेयत्वादिरूपस्य व्यभिचारिण्यपि प्रकाशनसम्भवेन तथाप्यतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, प्रमेयत्वाद्यंशे प्रकाशमाने विषयीभूतधर्मान्तरापेक्षया व्यभिचारिणोऽपि प्रमात्वाभ्युपगमादिति । न तद्युक्तम्, प्रकाशमानेन रूपादिसमवायित्वेन रूपेण ज्ञानस्य अर्थसादृश्यानभ्युप-

लक्षणान्तरमुपन्यस्य दूषयति ॐ यथेति ॐ । अनुभवः प्रमेत्युक्ते अप्रमादावतिव्याप्तिस्तद्व्युदासार्थ-मुक्तं यथार्थेति । तावत्युक्ते स्मृतौ प्रसक्तिं वारयति ॐ अनुभव इति ॐ । इत्येतदपि प्रमालक्षणन्न भवतीति यावत् । यथार्थशब्दस्य तत्त्वानुभवत्वे अर्थसदृशानुभवत्वे च साधारण्याद्विकल्पयति ॐ यथेति ॐ । यथार्थ-त्वस्य तत्त्वविषयत्वे तत्त्वानुभूतिरित्येवोक्तं स्यात् तच्च निरस्तमिति नाद्यः कल्पश्चतुरस्र इत्याह ॐनेतिॐ । यदर्थसदृशत्वं किं तत्सर्वात्मनो ? येन केनचिद्रूपेण ? यद्याद्यस्तर्हि कस्यापि ज्ञानस्य सर्वात्मनाऽर्थसादृश्या-भावादसम्भव इत्याह ॐ नापीति ॐ । येन केनचिद्रूपेण सादृश्ये सत्यर्थव्यभिचारिरजतादिज्ञानस्यापि प्रमात्वं स्यात्प्रमेयतासत्त्ववाच्यत्वादिना सादृश्यादित्यतिव्याप्तिरित्याह ॐ व्यभिचारिण इति । येन ज्ञानेन यद्रूपमर्थस्य प्रतीयते तेन रूपेणार्थसदृशं ज्ञानं प्रमेति विशेषणे नातिव्याप्तिस्तदभावाद्व्यभिचारिज्ञान इति चोदयति ॐ नन्विति ॐ । व्यभिचारिज्ञानेऽपि प्रकाशमानरूपेण सादृश्यमस्ति रजतमिदं प्रमेयं सच्चेत्यादि-रूपेणापि प्रकाशनसम्भवादतोऽतिव्याप्तिरित्याशंक्य पूर्ववाद्येव निराकरोति ॐ न चेति ॐ । न तावदति-प्रसङ्गः लक्ष्यैकदेशत्वादित्याह ॐ प्रमेयेति ॐ । प्रकाशमाने प्रमेयत्वाद्यंशे प्रमात्वाभ्युपगमादिति सम्बन्धः । प्रकाशमानरूपे प्रमात्वाभ्युपगमे तस्य ज्ञानस्य कथं तर्हि व्यभिचारित्वमित्यत आह ॐ विषयीकृतशुक्ति-रजतसंसर्गादिधर्मान्तरापेक्षयेतिॐ । एवं विशेषणेऽपि यद्यप्यतिव्याप्तिः परिह्रियेत तथाऽप्यव्याप्तिरिति दूषयति ॐ नेतदिति ॐ । द्वौ घटौ शुक्लावित्यत्र रूपसङ्ख्यादिसमवायित्वं न ज्ञानस्य गुणत्वादतः प्रकाश-

१७. यथार्थानुभवरूप प्रमा का खण्डन

२. यथार्थानुभवः प्रमा—

[श्री शिवादित्य मिश्र ने सप्तपदार्थी में जो प्रमा का लक्षण किया था—'तत्त्वानुभवः प्रमा', श्री उदयनाचार्य की लक्षणमाला में उसी लक्षण की पदावलि थी—'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' (ल० मा० पृ० ९) । उसका खण्डन किया गया । श्री उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि में प्रमा का जो लक्षण किया है—"यथार्थानुभवः प्रमा" (न्या० कु० ४।१) । उसका अब खण्डन किया जाता है] । 'यथार्थानुभवः प्रमा'—यह लक्षण भी समीचीन नहीं, क्योंकि अनुभवगत यथार्थत्व क्या (१) तत्त्वविषयकत्व है ? अथवा (२) विषय का सादृश्य ? विषय-सादृश्य को यथार्थत्व इस लिए नहीं कह सकते कि रजतादिविषयक विषय-व्यभिचारी अयथार्थ अनुभव में भी रजत का प्रमेयत्वरूप सादृश्य रहता है ।

शङ्का—[सौत्रान्तिकों का कहना है कि घटादि विषय जब अपने ज्ञान से सम्बन्धित हो कर ज्ञान को अपने दृश (विषयाकाराकारी) बना देता है, तब वह ज्ञान विषय का प्रमापक होता है] । ज्ञानगत विषय का सादृश्य उसी रूप से अपेक्षित होता है. जैसे 'अयं घटः'—ऐसा ज्ञान घटत्वेन रूपेण सदृश होता है । यद्यपि 'इदं प्रमेयम्'—यह ज्ञान अपनी विषय वस्तु को प्रमेयत्वेन विषय करता है, तथापि 'इदं रजतम्'—ऐसा भ्रम ज्ञान शुक्ति को रजतत्वेन विषय करता है, अतः यहाँ प्रमेयत्वेन सादृश्य विवक्षित नहीं, विषयतावच्छेदकीभूत

शमेऽपि तत्र तदीयप्रमात्वाङ्गीकारादिति ।

प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणभावादर्थसादृश्यमनुभवस्य विवक्षितम् । अर्थस्य हि यथा समवायाद्रूपं विशेषणीभवति, तथा विषयभावाद् ज्ञानस्यापि तद्विशेषणं भवत्येवेति चेन्न, एवं हि पुरोवर्तित्वादिना रूपेण तथाभावसम्भवात् । पुरोवर्तिनीं शुक्तिं रजततयाऽवगाहमानं ज्ञानं प्रमा स्यात् ।

न च वाच्यमिष्यत एव सा प्रमाऽपीति न व्यभिचारचोदनेयं युक्तमतीति;

मानरूपेण अर्थसादृश्यं ज्ञानस्य नास्ति, अस्ति च तस्य ज्ञानस्य तत्र घटयोः प्रमात्वमित्यव्याप्तिरित्यर्थः ।

उक्ताव्याप्तिपरिहारमाशङ्कते ॐ प्रकाशेति ॐ । प्रकाशमानं रूपं विशेषणं यत्र ज्ञानार्थयोस्तत्र तद्विशेष्यत्वं नामार्थेन सादृश्यं ज्ञानस्य, रूपवान् घट इत्यत्र रूपं घटस्य विशेषणं ज्ञानस्यापीति नाव्याप्तिर्नाप्यतिव्याप्तिर्विभ्रमस्य शुक्तिरजतादिसंसर्गो विशेषणं भवन्नपि न पुरोवर्तिद्रव्यस्य, तत्रासत्त्वादित्यर्थः । विशेष्यसम्बद्धं विशेषणं भवति रूपस्य घटसमवेतत्वेऽपि न ज्ञाने समवायोऽतद्गुणत्वादतो ज्ञानविशेषणत्वाभावादव्याप्तिस्तदवस्थेत्यत आह ॐ अर्थेति ॐ । विशेषणं विशेष्यसम्बन्धमात्रमपेक्षते न समवायादिविशेषं व्यभिचारादस्ति च ज्ञानेन सम्बन्धो रूपादेर्विषयविषयिभावलक्षणस्तेन नाव्याप्तिरित्यर्थः ।

प्रकाशमानरूपेण केनचिद्विशेषणभावादर्थसादृश्यम् ? उत सर्वात्मना ? यद्याद्यस्तत्रातिव्याप्तिरपरिहार्येति परिहरति ॐ नेति ॐ । एवं सति पुरोवर्तिनीं शुक्तिं रजतरूपेणावगाहमानं विषयीकुर्वद् भ्रान्तिज्ञानमप्रमा स्यादिति सम्बन्धः । कुत इत्यत आह ॐ पुरोवर्तित्वादिना तथाभावस्य तथात्वस्य प्रकाशमानरूपेण विशेषणतयाऽर्थसदृशत्वस्य सम्भवादिति ॐ । शुक्तिरजतज्ञानस्य पुरोवर्तित्वाद्यंशे प्रमात्वाङ्गीकारान्न तत्रातिव्याप्तिरित्याशङ्क्याह ॐ न चेति ॐ । इदं रजतमिति यज्ज्ञानं साऽपि प्रमेष्यते । विषय-

---

रजत्वेन रूपेण यहाँ ज्ञान विषय के सदृश नहीं, क्योंकि विषयवस्तु (शुक्ति) में रजतत्व नहीं रहता, अत एव भ्रम माना जाता है, प्रमा नहीं] ।

'इदं प्रमेयं रजतम्'—ऐसा ज्ञान अवश्य शुक्ति को प्रमेयत्वेन विषय करता है, किन्तु प्रमेयत्वेन रूपेण वह ज्ञान विषय-व्यभिचारी नहीं, क्योंकि विद्यमान शुक्ति भी प्रमेय है और ज्ञान भी प्रमेय, ऐसा ज्ञान भ्रम नहीं, प्रमा ही माना जाता है । फलतः वह प्रमा लक्षण का अलक्ष्य नहीं, लक्ष्य ही है, उसमें लक्षण का घट जाना अभीष्ट ही है ।

समाधान—प्रकाशमान (विषयतावच्छेदक) रूप से सादृश्य की विवक्षा होने पर 'रूपसमवायी घटः'—इत्यादि प्रमा ज्ञानों में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि घट में जैसा रूपसमवायित्व (रूप की समवायिकारणता या रूपवत्ता) है, वैसा ज्ञान में नहीं, ज्ञान गुण है, उसमें रूपादि गुण नैयायिकादि नहीं मानते । [यद्यपि 'अयं घटः', 'अयं पटः'—इत्यादि प्रमा ज्ञानों में भी इदन्त्व, घटत्व, पटत्वादि रूप से विषय का सादृश्य सुलभ नहीं, तथापि 'ज्ञानं गुणः', 'ज्ञानं समवेतम्'—इत्यादि ज्ञानों में विषय-सादृश्य सम्भव हो जाने के कारण असम्भव दोष न देकर अव्याप्ति दोष दिया गया है] ।

शङ्का—ज्ञान में विषय का सादृश्य 'विषयवृत्तिविशेषणवत्ता' विवक्षित है, 'रूपसमवायी घटः'—यहाँ पर जैसे रूप घट का समवाय सम्बन्ध से विशेषण है, वैसे ही विषयिता संबंध से ज्ञान का विशेषण है, अतः घट और ज्ञान—इन दोनों में रूपवत्ता सादृश्य विद्यमान है, उक्त स्थल पर अव्याप्ति दोष क्यों होगा ?

समाधान—यदि 'रूपसमवायी घटः'—यहाँ पर ज्ञान में विषयवृत्तिरूपसमवायित्व या समवायेन रूपवत्त्व न होने पर भी यत्किञ्चित् (विषयितया रूपवत्त्व) सादृश्य लेकर विषय-सादृश्य का सम्पादन किया जाता है, तब सर्वत्र भ्रम-स्थल पर यत्किञ्चित् विषय-सादृश्य मिल सकता है, जैसे 'पुरोवर्ति रजतम्'—यहाँ पर भी जिस पुरोवर्तित्वरूप से विषय

यथार्थताविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। 'अनुभूतिः प्रमे'त्युक्त एव हि तावन्नास्त्यतिप्रसङ्गः; सर्वस्य व्यभिचार्यनुभवस्य (अन्ततोऽन्यथाख्यातिवादिनये) धर्मिण्यपि प्रमात्वसम्भवेन प्रमायामेव अनुभवत्वस्य स्थैर्यात्। यदि तु अंशतोऽपि व्यभिचारिण्यां मा लक्षणं गमदिति चेतसि निधाय यथार्थत्वं विशेषणं प्रयुक्तम्; तदा न युक्तम्, उक्तदोषात्।

अथोच्यते—प्रकाशमानेन रूपेण सर्वेण विशेषणभावाद् यस्यानुभवस्यार्थ-

---

लिङ्गाभिप्रायेण सेति प्रयोगः इति कृत्वा इयं व्यभिचारचोदना—तत्रातिव्याप्तिकथना न युक्तिमतीति न च वाच्यमित्यर्थः। तथा सति लक्षणस्य व्यर्थविशेषणतापातादिति हेतुमाह ॐ यथेति ॐ। विशेषणवैयर्थ्यमुपपादयितुं व्यावर्त्यस्य व्यभिचारस्याभावमाह ॐ अन्विति ॐ।

"सम्भवे व्यभिचारे च स्याद्विशेषणमर्थव"दिति न्यायादिह व्यभिचाराभावाद्वैयर्थ्यमित्यर्थः। अनुभूतिः प्रमेति लक्षणस्य यद्यप्यख्यातिनये नास्त्यतिव्याप्तिस्तथाप्यन्यथाख्यातिनयेऽस्ति, रजतादिप्रत्ययस्य पुरोवर्तित्वादिधर्मांशे प्रमात्वेऽपि रजतादिधर्म्यंशेऽप्रमात्त्वादित्याशङ्क्याह ॐ सर्वेति ॐ। अन्यथाख्यातिमते सर्वस्य रजतादिव्यभिचार्यनुभवस्य धर्मिण्यपि रजतादौ प्रमात्त्वसम्भवेनानुभवत्त्वस्य प्रमात्व एव स्थैर्यात्प्रमात्त्वेनाव्यभिचारादिति यावत्। अत्रासति रजतादावपरोक्षप्रत्ययस्य कथं प्रमात्त्वमित्यत आह ॐ अन्तत इति ॐ। इदं रजतमिति त्रयः प्रतिभान्ति अधिष्ठानं समवायो रजतत्त्वमिति, तत्रैकस्याप्यसतोऽभानात्प्रमात्त्वमित्यन्तत इत्युक्तम्। रजतादिधर्म्यंशे व्यभिचारित्वं ज्ञानस्याभ्युपगम्याऽप्याह ॐ यदीति ॐ। यद्रूपमसत्तद्रूपप्रतिभासासम्भवाद्व्यभिचारानुपपत्तिरिति तु शब्दार्थः। अंशतो व्यभिचारिण्यां भ्रान्तौ लक्षणं मा गमन्न गच्छेदिति यावत्। तदा प्रागुक्तातिव्याप्तिरिति परिहरति ॐ तदेति ॐ। इदं रजतमिति ज्ञानं तावदेकमन्यथाख्यातिपक्षे तच्चेदप्रमा न यथार्थविशेषणेन तद्व्यावृत्तिः प्रकाशमानपुरोवर्तित्त्वादिरूपेण विशेषणभावादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः।

प्रकाशमानविश्वरूपेण विशेषणभावादर्थसादृश्यं ज्ञानस्येति द्वितीयकल्पमाशङ्कते ॐ अथेति ॐ। नैवमतिव्याप्तिः रजतादिविभ्रमस्य पुरोवर्तित्त्वादिनाऽर्थसादृश्येऽपि तद्विशेषणीभूतस्य रजतसंसर्गस्य तत्रासत्त्वेनेदमंशविशेषणत्वाभावादिति भावः। यस्यानुभवस्य येनार्थेन सह सादृश्यं सा तत्र प्रमेति विशेषः। रूपवान्घट इत्यत्र घटो ज्ञानस्य विषयतया विशेषणं भवन्नपि न स्वस्य स्वयं विशेषणं आत्माश्रयादतो

का अवगाहन होता है, वह पुरोवर्तित्व स्वरूपेण शुक्ति और विषयितया ज्ञान में विद्यमान है। यदि कहा जाय कि जिस पुरोवर्तित्वादि रूप से विषय का सादृश्य ज्ञान में पाया जाता है, उस रूप से रजतादि-भ्रम ज्ञान भी प्रमा ही माना जाता है, अतः उसमें प्रमा-लक्षण का व्यभिचारोद्भावन युक्ति-युक्त नहीं। तब अनुभव का 'यथार्थता' विशेषण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि 'अनुभवः प्रमा'—इतना ही लक्षण पर्याप्त है, इसका भी कहीं अतिप्रसङ्ग नहीं होता, क्योंकि नैयायिकों की अन्यथाख्यातिवादिता के अनुसार सभी व्यभिचारी अनुभवों में यत्किंचित् विषय-सादृश्य मिल ही जाता है, अन्ततोगत्वा धर्मी (शुक्त्यादि) अंश में प्रमात्व निश्चित ही है, अतः प्रमा ज्ञान में ही अनुभवत्व स्थिर होता है, अयथार्थ अनुभव में अतिप्रसक्ति ही नहीं, जिसके लिए 'यथार्थता' विशेषण सार्थक होता।

भ्रम ज्ञान में आंशिक प्रमात्व और अंशतः अप्रमात्व माना जाता है, उस आंशिक व्यभिचारी में भी प्रमा-लक्षण की अतिप्रसक्ति-वारणार्थ यदि 'यथार्थत्व' विशेषण रखा जाता हैं, तब वह युक्त नहीं, क्योंकि आंशिक भ्रम में अतिव्याप्ति कथित क्रम से बनी ही रहती है।

शङ्का—विषय में जितने विशेषण प्रकाशित होते हैं, उन सभी रूपों से विषय-सादृश्य विवक्षित है, [शुक्ति-रजत में पुरोवर्तित्व, रजतत्वादि अनेक विशेषण प्रतीयमान हैं, उनमें केवल पुरोवर्तित्वेन सादृश्य का लाभ होने पर भी रजतत्वादि रूप से सादृश्य सम्भव न होने के

साहश्यं सा प्रमा। न च तावता धर्मिणो धर्म्यविशेषणतया दोषः, तस्यापि तद्विषयान्तरव्यवच्छेदकत्वादिति।

तर्हि व्यभिचारिज्ञानं धर्मिण्यपि प्रमा न स्यात्, सर्वात्मना साहश्याभावात्। अव्यभिचारिणं चांशमननुरुध्य तदीयाप्रमितिकोटिनिक्षेपसाहसिक्यादबिभ्यता किमव्यभिचार्यंशानुरोधेन व्यभिचार्यंशस्यापि प्रमाकोटिनिवेशनमेव नाध्यवसीयते भवता ? शक्यन्ते ह्यनुभूतित्वज्ञानत्वादयस्तादृशाभिप्रायाविरोधिनो लक्षणीकर्तुम्।

धर्म्यंशज्ञाने प्रमालक्षणस्याऽव्याप्तिदोष इत्याशङ्क्याऽऽह ❀ न चेति ❀। तावतेति। प्रतीयमानकृत्स्नरूपेण विशेषणभावादर्थसादृश्यं विवक्षितमिति यावत्। हेतुमाह ❀ तस्येति ❀। येन ज्ञानेन यावानर्थः प्रतीयते तावतोऽर्थस्य तज्ज्ञानविशेषणत्वे सति तद्विषयविशेषणत्वं विवक्षितं घटस्य घटविशेषणत्वाभावेऽपि रूपविशेषणत्वमस्ति घटस्य रूपमिति घटेन रूपस्य पटादिरूपाद्व्यावृत्ते रूपस्य घटविशेषणत्वमिति ज्ञानविषयविशेषणत्वमस्तीति नासम्भवोऽव्याप्तिर्वेत्यर्थः।

"सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः"

इति लीलावतीकारवचनाद्रजतादिज्ञानस्य धर्म्यंशे प्रमात्वमिष्टं न चेतल्लक्षणं तत्रेत्यव्याप्तिरिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀। कुतो न स्यादित्यत आह ❀ सर्वेति ❀। पुरोवर्तित्वादिविशेषणतया सादृश्येऽपि न रजतत्वादिसंसर्गस्यार्थविशेषणत्वमस्ति। न च तज्ज्ञानं यावत्यंशे प्रमा तावत्यंशेनोक्तसादृश्यमस्तीति वाच्यम्। अन्यथाख्यातिनये ज्ञानस्यैकत्वादित्यर्थः। लक्ष्यैकदेशे लक्षणाप्रवृत्तिरव्याप्तिर्व्यभिचारिज्ञानं धर्म्यंशेऽपि न प्रमा रजतत्वाद्यंशे व्यभिचारितया प्रमात्वायोगादेकत्वाच्च ज्ञानव्यक्तेः प्रमात्वाप्रमात्वयोर्विरोधापातादित्याशङ्क्याह ❀ अव्यभीति ❀। अव्यभिचार्यंशसम्बन्धी—तदीयश्चासावप्रमितिकोटौ निक्षेपश्चेति तथोक्तं तदेव साहसिक्यं—साहसिकस्य भावः साहसिक्यं सहसा बलेन यः करोति स साहसिकः तस्मादिति। अत्रायमन्वयः—अव्यभिचारिणमंशमननुरुध्याऽकिञ्चित्करीकृत्य तदीयाप्रमितिकोटिनिक्षेपसाहसिक्यादबिभ्यता भवताऽव्यभिचार्यंशानुरोधेन व्यभिचार्यंशस्यापि प्रमाकोटिनिवेशनमेव किं नाध्यवसीयत इत्यव्यभिचार्यंशस्य च प्रमात्वेनानुगतं प्रमालक्षणं न शक्यं वक्तुं न चालक्षणं वस्त्वस्ति शशशृङ्गादिवदित्याशङ्क्याऽऽह ❀ शक्यन्त इति ❀। अनुभूतिरिति लक्षणमपि नानुगतमस्मिन्पक्षे स्मृतेरपि प्रमात्वादित्यत आह ❀ ज्ञानत्वेति ❀। परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरन्यतरयोगित्वमादिशब्दार्थः।

कारण रजत-भ्रम में उक्त प्रमा-लक्षण अतिप्रसक्त नहीं होता]। धर्मी अंश को लेकर भ्रम ज्ञान को भी प्रमा माना जाता है, वहाँ धर्मी को भी धर्मी का (स्वयं अपना) विशेषण न मानने पर भी धर्म का विशेषण माना जाता है, [क्योंकि 'घटः शुक्लः'—यहाँ पर जैसे शुक्लत्व धर्म विशेषण इसलिए माना जाता है कि वह नीलत्वादि धर्मों से धर्मी का विशेषक (व्यावर्तक) है, वैसे ही घट भी पटादि धर्म्यन्तरों से शुक्लस्वरूप धर्म का व्यावर्तक होने से विशेषण कहलाता है। प्रकृत में शुक्तिरूप धर्मी अपने में आरोपित रजतत्व धर्म का विशेषण होकर यह ध्वनित करता है कि वहाँ रजतत्वरूप धर्म का आरोप शुक्ति में ही है, पाषाणादि में नहीं]।

समाधान—यदि प्रतीयमान सभी रूपों से प्रमा ज्ञान में विषय का सादृश्य माना जाता है, तब आप लोग (नैयायिकादि) जो रजत-भ्रमादि ज्ञानों को धर्मी-अंश में प्रमा मानते हैं, वह भी न मान सकेंगे, क्योंकि सर्वरूपेण वहाँ सादृश्य सुलभ नहीं।

यदि आप (नैयायिक) अव्यभिचारी अंश को दृष्टिकोण में रख कर पूरे भ्रम ज्ञान को अप्रमा कोटि में रखने का दुःसाहस करते हैं, तब अव्यभिचारी अंश के अनुरोध से पूरे भ्रम ज्ञान को प्रमा कोटि में रख सकते हैं, तब तो भ्रम ज्ञान व्यभिचारी अंश में भी प्रमा हो जाता है, उसका व्यावर्तक विशेषण व्यर्थ है और उसके अनुरूप 'अनुभूतिः प्रमा', 'ज्ञानं प्रमा'—इत्यादि लक्षण किए जा सकते हैं।

यदि च बाध्यार्थांशा धीरबाध्यार्थांशेऽप्यप्रमैव, तदा सौधाग्रकुम्भादिवद् दूरत्वात् तुहिनद्युतिविद्युदादिपरभागाग्रहणादवयविनं च तावत्परिमाणाग्रहणादल्पपरिमाणमुल्लिखत् प्रत्यक्षं प्रमात्वेन लोकप्रसिद्धमप्रमा स्यात्। क्व च लभ्यं देशकालालोकादिव्यक्तिसहितजलादिज्ञानस्य समस्ततावदर्थप्रवृत्तिसामर्थ्योदाहरणम्, येन तत्प्रामाण्यं मन्यसे।

उक्तमर्थं विपक्षबाधकोपन्यासेनोपपादयति ❀ यदीति ❀। चशब्दो दूषणान्तरसमुच्चयार्थः अरुचिद्योतनार्थोऽपि। एवकारोंऽशतोऽपि प्रमात्वाभावार्थः। एवं विपक्षमनूद्य सम्प्रति तत्र बाधकमतिप्रसङ्गं दर्शयति ❀तदेति❀। तुहिनद्युतिविद्युदाद्यवयविनं चाल्पपरिमाणमुल्लिखत्प्रत्यक्षमप्रमा स्यादिति सम्बन्धः। अल्पपरिमाणग्रहे हेतुस्तावदिति। तत्र हेतुः ❀ परेति ❀। तत्रापि हेतुः ❀ दूरत्वादिति ❀। तत्र दृष्टान्तमाह ❀ सौधेति ❀। यथा दूरत्वदोषेण धवलप्रासादशिखरस्थः कुम्भोऽल्पतया प्रतीयते, तथा दूरत्वाच्चन्द्रमण्डलादि सङ्कुचितावयवमवयिनं चाल्पतया गृह्णत् प्रत्यक्षमप्रमा स्यादल्पपरिमाणत्वस्य ज्ञानविशेषणस्यार्थविशेषणत्वाभावादित्यर्थः। न च तदप्रमेति वाच्यं प्रमात्वेन लोकप्रसिद्धत्वादित्याह ❀ प्रमेति ❀। अप्रमीस्यादप्रमा स्यादिति। एवं प्रकाशमानसर्वरूपेण यस्यानुभवस्यार्थसादृश्यं सा प्रमेति लक्षणस्यासिद्धिः कस्मिंश्चिदपि ज्ञाने तादृशसादृश्याप्रकाशादित्याह ❀ क्व चेति ❀। देशश्च कालश्चाऽऽलोकश्च देशकालालोकास्त आदयो ययोर्देशकालयोस्तौ देशकालालोकादी इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिस्तयोर्व्यक्ती ताभ्यां सहितं जलादि चेति तथोक्तं ❀तज्ज्ञानस्य❀। समस्ततावदर्थप्रवृत्तिसामर्थ्योदाहरणं क्व लभ्यमिति सम्बन्धः। समस्तश्चासौ तावानर्थश्चेति तथोक्तस्तद्गोचरा प्रवृत्तिस्तस्यां सामर्थ्यं तस्योदाहरणमिति। एतदुक्तं भवति—उक्तज्ञानस्य समस्तप्रकाशमानरूपेण विशेषणभावादर्थसादृश्यं किं स्वेनावसेयम्? उत तद्गोचरप्रवृत्तिजननसमर्थज्ञानसंवादात्? नाद्यः स्वतः प्रामाण्यानभ्युपगमाद्रजतादिज्ञाने प्रसङ्गात्। नापि द्वितीयस्तस्यापि ज्ञानस्य तथाविधसंवादान्तरादेव विषयसादृश्यमवसेयमित्यनवस्था स्यादिति। न च प्रवृत्तिजननसमर्थज्ञानस्य प्रामाण्यानिश्चयेऽपि प्रथमज्ञानप्रामाण्यव्यवहारहेतुत्वान्नानवस्थेति वाच्यम्। तथा सत्याऽऽद्यज्ञानस्यापि तथैव स्वविषयव्यवहारहेतुत्वेन प्रवृत्तिजननसामर्थ्यात् ज्ञानानपेक्षत्वप्रसङ्गादिति। यद्वा बाध्यांशा धीः प्रमा न भवतीति वदता सर्वथैवाबाध्यत्वेन प्रमात्वं वाच्यं तथोदाहर्तुमशक्यमित्याह ❀ क्व चेति ❀। देशकालयोरप्रत्यक्षत्वान्न संयोगग्रहणे प्रत्यक्षस्यासामर्थ्यमालोकादिव्यक्तिश्च व्यावृत्ता कथ्यते व्यावृत्तिग्राहकं च न प्रत्यक्षं सम्भवतीत्युक्तं ततः परस्मिन् लोके सालोकादि जलं विद्यते इत्यादि

यदि रजतत्वादि बाधित अंशवाली 'इदं रजतम्'—यह पूरी बुद्धि धर्मिरूप अबाधित अंश में भी अप्रमा ही मानी जाती है, तब विशाल मन्दिर के गगनचुम्बी शिखर पर स्थापित कुम्भ के समान अत्यन्त दूर होने के कारण जहाँ चन्द्रमा एवं विद्युतादि के पिछले भाग का ग्रहण नहीं होता, अत एव उनके वास्तविक महत्परिमाण का ग्राहक न होकर जो प्रत्यक्ष चन्द्रादि को स्वल्प परिमाण का बताता है, वह प्रत्यक्ष लोक में प्रमा ही माना जाता है, किन्तु आपके कथनानुसार धर्म्यंश में भी अप्रमा हो जायगा, क्योंकि वहाँ प्रकाशमान स्वल्पपरिमाणत्वादि धर्म चन्द्रादि पदार्थों के विशेषण नहीं, अतः उस प्रत्यक्ष ज्ञान में विषयीभूतसर्वविशेषण स्वरूप सादृश्य सुलभ न होने के कारण प्रमा का उक्त लक्षण नहीं घटता।

प्रमा का यह लक्षण केवल अव्याप्त ही नहीं, असम्भव-ग्रस्त भी है, क्योंकि ऐसा कोई भी उदाहरण (लक्ष्य-स्थल) प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जहाँ ज्ञान में भाससान देश, काल, आलोकादि सभी पदार्थ विषय के विशेषण हैं [अर्थात् 'इहेदानीं जलमालोक्यते'—इत्यादि प्रमा ज्ञानों में संवादि प्रवृत्ति के द्वारा जैसे जल की अबाधित सत्ता सिद्ध होती है, वैसे जल में देश, काल, आलोकादि विशेषणों का अबाध निश्चय नहीं हो सकता]। फलतः देश-कालादि समस्त विशेषणों से विशिष्ट-जलादि का ज्ञान सम्भव नहीं।

यदि च बाध्यार्थांशे बाधादबाध्येऽप्यंशे तद्बोधमिथ्यात्वं समर्थयसे, तदा यदर्थजातीयं बाध्यं तदर्थजातीयमबाध्यमपि मिथ्येति मन्यमाने किमुत्तरं ते स्यात्, अन्यत्र लोकप्रसिद्धप्रमोदाहरणत्यागात्।

अथोच्यते—प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणतया यदर्थसाम्यमनुभवस्य तत्र प्रमात्वमिति विषयविशेषनियमेनैव प्रमात्वं लक्षणीयमित्येतदर्थमेव यथार्थविशेषणोपादानमिति। मैवम्, विशेष्यांशेऽप्यनुभूतिरेवं प्रमा न स्यादिति।

व्यवच्छेदकत्वं विशेषणत्वमभिमतं धर्म्यपि च स्वसम्बन्धाद्धर्मं विशिनष्टीति

ज्ञानस्य समस्ततावत्यर्थे प्रवृत्तिसामर्थ्यस्योदाहरणं क्व लभ्यं न क्वापि देशे काले वा सम्भावयितुं शक्यमित्यर्थः। यद्वा विद्युत्प्रदीपसलिलाद्यवयविनां यद्देशकालसंनिवेशविशिष्टानां प्रथमलक्षणे ग्रहणं तद्देशकालसंनिवेशानामर्थविशेषणत्वं तद्विषयज्ञानस्य प्रवृत्तिसामर्थ्यादवसेयं तच्च न सम्भवति कालादेः क्षणिकतया तत्प्रमितेरर्थप्रमापकत्वासम्भवेनार्थविशेषणत्वस्य दुर्ज्ञानत्वादसम्भवीदं लक्षणमित्यर्थः।

उदाहृतज्ञानानामप्रमात्वं तदर्थस्यैकदेशबाधादित्याशङ्कयाऽऽह ॐ यदीति ॐ। अर्थैकदेशस्याल्पपरिमाणत्वादेर्बाधादबाध्यांशेऽपि प्रमात्वं न चेत्तर्हि यद्रूप्यजातीयं बाध्यं तद्रूप्यजातीयं यत्परमार्थत्वेन सम्मतं तस्मिन्नपि ज्ञानं मिथ्येति वदतः किमुत्तरं देयं प्रमादृष्टान्तत्वेन प्रसिद्धरजतादिज्ञानत्यागादन्यन्न किञ्चिद्दातुं शक्यमित्यर्थः।

प्रकाशमानकृत्स्नरूपेण केनचिद्रूपेण वा विशेषणभावादर्थसादृश्यमिति न विशिष्मः किं नाम? प्रकाशमानरूपेण यस्य ज्ञानस्य येनार्थेन विशेषणतया सादृश्यं सा तत्र प्रमेति, न चातिव्याप्तिः रजताविज्ञानस्य रजतादिनोक्तसादृश्याभावाद्येन पुनः पुरोवर्तित्वादिना विशेषणतया सादृश्यं तत्र धर्मिणि प्रमात्वस्वीकाराच्चेति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। अव्याप्त्या दूषयति ॐनेवमितिॐ। रूपवान् घट इत्यत्र विशेष्यज्ञानं प्रमा न स्याद्विशेष्यांशस्य विषयतया स्वज्ञानविशेषणत्वेऽपि न तद्विषयविशेषणत्वं स्वविशेषणत्वायोगादुपलक्षणमेतद्विशेषणांशस्यापि, स्वज्ञानं विशेषणत्वेऽपि तद्विषयविशेषणत्वाभावादव्याप्तिस्तज्ज्ञान इति ज्ञानव्यावर्तकत्वे सति तद्विषयव्यावर्तको योऽर्थस्तज्ज्ञानं तत्र प्रमेति नियमोऽस्ति च विशेषणविशेष्यभावस्य कामचारिता धर्मिणो धर्मं प्रति धर्मस्य च धर्मिणं प्रति विशेषणत्वं घटस्य शौक्ल्यं शुक्लो घट इति दर्शनादतो नोभयत्राप्यव्याप्तिरिति प्रागुक्तं स्मारयति पूर्ववादी ॐव्यवच्छेदेतिॐ। तस्यापि तद्विषयान्तरव्यवच्छेदकत्वा-

---

यदि आप (नयायिक) लोकप्रसिद्धि-विरोध की उपेक्षा करके अंशतः बाधित शुक्तिरजतादि ज्ञान को सर्वथा (शुक्त्यादि अंश में भी) बाधित मानते हैं, तब यदि कोई बाधित अंश को लेकर सर्वत्र बाधितत्वापत्ति देता है—'सत्यरजतं बाध्यम्, बाधितरजतजातीयत्वात्।' तब आप क्या उत्तर देंगे? केवल लोकप्रसिद्धि-विरोध प्रदर्शित किया जा सकता था, उसे आप उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।

शङ्का—'जो धर्म जिस धर्मी का विशेषण है, उस धर्मी का ज्ञान उसी अंश में प्रमा होता है'—ऐसे विषय विशेष-घटित ज्ञान में व्यवस्थित प्रमात्व का लक्षण अभिमत है, इसी विशेषता को प्रकट करने के लिए अनुभव का 'यथार्थत्व' विशेषण दिया गया है। [रजतत्व शुक्ति में विशेषण नहीं, अतः 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान उस अंश में प्रमा नहीं और पुरोवर्तित्वादि शुक्ति के विशेषण हैं, अतः उस अंश में उक्त ज्ञान को प्रमा माना जाता है]।

समाधान—वैसा लक्षण करने पर शुक्ति-रजतानुभूति शुक्तिरूप विशेष्य अंश में भी प्रमा नहीं हो सकेगी, क्योंकि शुक्ति स्वयं अपना विशेषण नहीं। यद्यपि 'विशेषण' शब्द का ऊपर अर्थ किया गया है—व्यवच्छेदक, विशेष्य अपना विशेषण (व्यवच्छेदक) न होने पर भी स्वगत धर्मों का विशेषण कहा जा सकता है। तथापि पुरोवर्तित्वादि-विशिष्ट शुक्ति किसी का भी विशेषण नहीं बनती, अतः उस अंश में प्रमात्व न बन सकेगा।

नोक्तदोष इत्युक्तमेवेति चेन्न, विशिष्टे प्रमात्वाभावापत्तेः । अपि च एवं तर्हि रजतत्वादिकमपि व्यवच्छिनत्त्येव शुक्तिकाम्—या रजततया प्रकाशिता शुक्तिव्यक्तिः सेयमिति ।

ननु साक्षाद्विशेषणत्वं विवक्षितम् , रजतत्वं तु ज्ञानद्वारा शुक्तिविशेषणमिति नातिप्रसङ्गः। मैवम् , तर्हि 'दीर्घदण्डः पुरुषः' इत्यादौ ह्रस्वदण्डादिभ्यो वैलक्षण्ये विशेष्यस्यानुभूयमाने अनुभूतेर्न प्रमात्वं स्यात् , दीर्घत्वादेर्दण्डादिद्वारा विशेषणत्वादिति। ज्ञानरूपद्वारानपेक्षतया विशेषणत्वमिष्टमिति चेन्न, 'साक्षात्कृत' इत्याद्यव-

वित्यत्रोक्तमित्यर्थः । अव्याप्त्यन्तरप्रदर्शनेन परिहरति ❀नेति❀ । रूपवान्घट इत्यत्र यद्विशिष्टं प्रतीयते तस्य विशेष्यांशं विशेषणांशं च प्रति न विशेष्यत्वं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धानां विशिष्टतयांशतः स्ववृत्त्यापातान्नापि विशिष्टं प्रति विशेषणत्वं स्वं प्रति तदयोगात्तेन ज्ञानविशेषणत्वेऽपि तद्विषयविशेषणत्वाभावादव्याप्तिर्विशिष्टज्ञान इत्यर्थः । प्रकाशमानरूपेण विशेषणतया यदर्थसादृश्यमनुभवस्य तज्ज्ञानं तत्र प्रमेत्येवं लक्षणं यदि तर्हि इदं रजतमिति प्रतीयमानरजतत्वं तत्तादात्म्यं वा शुक्तिकामपि व्यवच्छिनत्त्येवेति लक्षणस्य तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । रजतत्वस्यासंसृष्टस्य कथं शुक्तिव्यवच्छेदकत्वमित्याशंक्य प्रतीति सिद्धं तदित्याह ❀ रजतेति ❀ । या पुरा रजततया प्रकाशिता सेयं शुक्तिरिति प्रकाशितं रजतत्वं पुरोवर्तिनीं शुक्तिं व्यवच्छिनत्तीत्यर्थः । उक्तातिव्याप्तिपरिहारायाभिप्रायविशेषं शंकते ❀ नन्विति ❀ । प्रकाशमानरूपेणाव्यवधानेन विशेषणभावादर्थसाम्यं विवक्षितमित्यर्थः । विशिष्टलक्षणं न रजतादिज्ञानेऽस्ति तद्विषयस्याव्यवधानेन पुरोवर्तिव्यावर्तकत्वाभावादिति विशेषणार्थवत्तामाह ❀ रजतेति ❀ । रजतत्वं ज्ञानस्य विशेषणीभवच्छुक्तिकां व्यवच्छिनत्ति यद्रजतमिति प्रतिभातं सेयमिति न तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । एक इतिः शंकार्थः परस्तु शंकासमाप्तौ । व्यवधानानिरुक्तेरव्यवधानमपि न निर्वक्तुं शक्यमिति प्रतिषेधति ❀ मैवमिति ❀ । किं च व्यवधानाभावमात्रं विवक्षितम् ? उत ज्ञानव्यवधानाभावः ? यद्याद्यस्तत्राह ❀ तर्हीति ❀ । दीर्घदण्डः पुरुषो, रक्तपटो, मस्करी, कृष्णाजिनो ब्रह्मचारीत्यादौ ह्रस्वदण्डादिभ्यः पुरुषादिभ्यो दीर्घदण्डादेर्वैलक्षण्यमनुभूयते तत्र च दीर्घत्वादिकं दण्डादेर्विशेषणीभवत्तद्द्वारा पुरुषादिविशेषणम् अतश्च व्यवधानात्तज्ज्ञाने लक्षणस्याव्याप्तिरित्यर्थः । ज्ञानव्यवधानाभावो विवक्षित इति द्वितीयमाशंकते ❀ ज्ञानेति ❀ । या रजतमित्यभात् सेयं शुक्तिरित्यत्र रजतत्वं ज्ञानस्य विशेषणं भूत्वा शुक्तिविशेषणं भवतीति नातिव्याप्तिः नाव्याप्तिर्दीर्घत्वादे-

दूसरी बात यह भी है कि रजतत्वादि आरोपित धर्म भी शुक्तिरूप धर्मी के व्यवच्छेदक होते हैं अर्थात् जैसे—'अयं घटः' में 'घटत्वेन प्रकाशिता या व्यक्तिः, सेयम्'—इस प्रकार घटत्व को घट का व्यवच्छेदक माना जाता है, वैसे ही 'रजतमिदम्' में 'रजतत्वेन प्रकाशिता या शुक्तिव्यक्तिः, सेयम्'—इस प्रकार रजतत्व भी शुक्ति का व्यवच्छेदक होता है।

शङ्का—विशेषणता साक्षात् विवक्षित है, परम्परया नहीं, उक्त स्थल पर रजतत्व प्रकाश (ज्ञान) में और ज्ञान शुक्ति में विशेषण है, अतः रजतत्व परम्परया शुक्ति में विशेषण है, साक्षात् नहीं।

समाधान—यदि विशेषणता सर्वत्र साक्षात् विवक्षित है, तब परम्परया विशेषणों के ग्राहक ज्ञान प्रमा न हो सकेंगे, जैसे—'दीर्घदण्डः पुरुषः' यहाँ पर दीर्घता दण्ड का और दण्ड पुरुष का विशेषण है, अतः दीर्घता परम्परया विशेषण है, किन्तु ह्रस्व दण्ड-धारी पुरुषों से इस पुरुष का वह व्यावर्तक प्रतीत होती है।

शङ्का—'साक्षात् विशेषणता' का तात्पर्य ज्ञानद्वारक विशेषणता से भिन्न विशेषणता है। दीर्घत्व ज्ञान के द्वारा पुरुष का विशेषण नहीं, दण्ड के द्वारा है, अतः वह साक्षात् ही माना जाता है।

समाधान—ज्ञानरूप द्वार का निषेध करने पर साक्षात्कृतोऽयं घटः'—इत्यादि प्रमा

गमानामप्रमात्वापातात् ।

तज्ज्ञानप्रकाशितरूपेण विशेषणत्वमिष्टमिति तु दूरं तुच्छम् , रूपादेः समवायेन ज्ञानाविशेषकत्वात् ।

अर्थविशेषणत्वेऽयं नियमो यत्तज्ज्ञानप्रकाशितेन रूपेणेति, न तु ज्ञानेऽपीति

ज्ञानव्यवधानापेक्षया पुरुषाविख्यावर्तकत्वादित्याशयः । अव्याप्त्यन्तरप्रदर्शनेन दूषयति ॐ नेति ॐ । साक्षात्कृतोऽयं कुश इत्यत्र साक्षात्त्वं ज्ञानस्य विशेषणं भवदेव तद्द्वाराऽर्थं परोक्षज्ञानविषयाद्विशिनष्टीति कथितलक्षणं प्रमात्वेनाभिमते तद्विषयज्ञाने नास्तीत्यव्यापकतेत्यर्थः । आदिशब्देन परोक्षीकृतः स्मृत इत्यादयो गृह्यन्ते । यस्मिन् ज्ञाने योऽर्थः प्रकाशते यथा, तेन रूपेण विशेषणत्वमव्यवधानार्थो न ज्ञानाद्यनन्तरितत्वं रजतत्वादेः पुनः पुरोवर्तिसमवायित्वं प्रतीयते न च तेन रूपेणार्थविशेषणत्वमतो नोक्तदुष्टिरित्याशङ्क्याह ॐ तदिति ॐ । दूरन्तुच्छमत्यल्पतरमिति यावत् । ज्ञानप्रकाशितप्रकारेण विशेषणत्वं ज्ञानं प्रत्युतोभयं प्रति किं वार्थं प्रत्येव, यदि प्रथमद्वितीयौ तत्राह ॐ रूपेति ॐ । रूपवानयमेको घट इत्यत्र रूपादेर्घटसमवायित्वेन रूपेण प्रकाशमानस्य ज्ञानं प्रति समवायसंसर्गितया विशेषकत्वं नास्ति घटगुणतयाऽन्यत्राऽसमवायादिति तद्विषयज्ञानेऽव्याप्तिरित्यर्थः । ज्ञाने प्रकाशितरूपेण विशेषणत्वमर्थं प्रत्येव विवक्षितमिति चरमकल्पमवलम्बते ॐ अर्थेति ॐ । कोऽसौ नियम इत्यत आह ॐ यदिति ॐ । तज्ज्ञानप्रकाशितेन रूपेण विशेषणत्वमिति यदयमिति यावत् । विशेषणत्वाविशेषाज्ज्ञानं प्रत्यपि तेनैव रूपेण किं न स्यादित्यत आह ॐ न त्विति ॐ । अन्यथा रूपादिसमवायितया ज्ञानस्य द्रव्यत्वापातान्मैवमिति शङ्कानिवृ-

---

ज्ञानों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि वहाँ साक्षात्त्वरूप धर्म ज्ञान के द्वारा ही विषय का विशेषण माना जाता है ['प्रत्यक्षं ज्ञानम्', 'प्रत्यक्षो घटः'—इत्यादि व्यवहारों के द्वारा ज्ञान और घटादि विषय – इन दोनों का जो 'प्रत्यक्षत्व' (साक्षात्त्व) विशेषण प्रतीत होता है, वह ज्ञान में साक्षात् तथा विषय में परम्परया (स्वज्ञानविषयत्वेन) माना जाता है]।

शङ्का 'तत्तज्ज्ञानप्रकाशितरूपेण विशेषणत्व' मानने पर शुक्ति-रजतादि ज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में जो रजतत्व-समवायित्व प्रतीत होता है, वह शुक्ति में नहीं है ['अर्थसदृशं ज्ञानं प्रमा'—प्रमा के इस प्रस्तुत लक्षण में ज्ञानगत अर्थ का सादृश्य 'ज्ञानीयविषयतावच्छेदकावच्छिन्नविशेषणताकत्व' विवक्षित है । 'इदं रजतम्'—यहाँ 'रजतम्' का अर्थ है—रजतत्वसमवायि । अतः विषयता का अवच्छेदकरूप (धर्म) है—रजतत्वसमवायित्व । रजतत्वसमवायित्व न तो इदं पदार्थ में है और न उक्त भ्रम ज्ञान में, क्योंकि प्रकृत में इदंपदार्थ शुक्ति अन्यजातीय द्रव्य है, अतः रजतत्व का समवायी नहीं और ज्ञान तो न्यायमतानुसार आत्मा का गुण है, अतः उसमें द्रव्यत्व-व्याप्य जाति (रजतत्व) नहीं रहती, फलतः प्रमा के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति शुक्तिरजतादि-ज्ञान में नहीं]।

समाधान—'रूपवान् घटः'—इत्यादि ज्ञानों की विषयता का अवच्छेदक रूप (धर्म) है—'समवायेन रूपवत्त्व' या 'रूपसमवायवत्त्व' । वह घट में है, किन्तु ज्ञान में नहीं, क्योंकि ज्ञान गुण होने के कारण रूपादि गुणों का समवायी नहीं होता, अतः रूप समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का व्यावर्तक या विशेषण नहीं माना जा सकता, फलतः उक्त प्रमा का लक्षण 'रूपवान् घटः'—इत्यादि प्रमा' ज्ञानों में अव्याप्त हो जाता है ।

शङ्का—प्रमा ज्ञान में अर्थ का जो सादृश्य बताया गया—समानविशेषणताकत्व, उसमें केवल अर्थ की विशेषणता के लिए यह नियम है कि वह ज्ञानीयविषयतावच्छेदकरूपेण आवश्यक है, ज्ञानीय विशेषणता के लिए उक्त निरबन्ध नहीं, अतः 'रूपवान् घटः'—इत्यादि ज्ञानों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं ।

चेन्न, तज्ज्ञानव्यक्तेरन्यत्र असम्भवेनासाधारण्याद् अव्याप्तकत्वादित्यलम् ।

१८. सम्यक्परिच्छित्तिप्रमात्वखण्डनम्

सम्यक्परिच्छेदः प्रमेत्यपि न युक्तम् । न खलु सम्यक्त्वं तत्त्वविषयता, याथार्थ्यं वा सम्भवति, उक्तदोषात् ।

तये तु शब्दः । तच्छब्देन ज्ञानव्यक्तिरुच्यते ? किं वा ज्ञानमात्रं ? आद्येऽव्याप्तिरिति दूषयति ॐ नेति ॐ । तच्छब्दो यदि ज्ञानव्यक्तिवचनस्तदा घटज्ञानप्रकाशितरूपेणार्थविशेषणत्वं पटज्ञानार्थस्य नास्ति तज्ज्ञानव्यक्तेरन्यत्र पटादावसम्भवात्तेन लक्षणस्यासाधारण्याद्व्यावृत्तत्वादव्याप्तिरित्यर्थः । यद्वाऽसाधारण्यादिति ज्ञानव्यक्तेरन्यत्रासम्भवे हेतुः । यदि ज्ञानमात्रवचनस्तच्छब्दस्तदाऽतिव्याप्तिः रजतत्वस्य ज्ञानप्रकाशितरूपेण शुक्तिविशेषणत्वादित्युपसंहरति ॐ इत्यलमिति ॐ ।

सम्यक् परिच्छेद इति लक्षणान्तरमेवास्तु प्रमाया इत्याशङ्क्य निषेधति ॐ सम्यगिति ॐ । परिच्छेदोऽनुभवः प्रमेत्युक्ते रजतादिज्ञानेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासायाह ॐ सम्यगिति ॐ । तावत्युक्ते तत्त्वगोचरेच्छादावतिव्याप्तिनिवारणायानुभव इति । किमिदं सम्यक्त्वं तत्त्वविषयत्वम् ? उत यथार्थत्वम् ? किं वा सामस्त्यम् ? इति विकल्प्य प्रथमद्वितीयावुक्तदोषाऽतिदेशेन पराकरोति ॐ न खल्विति ॐ । यथार्थस्य भावो याथार्थ्यं सम्यक्परिच्छेदत्वम् ।

समाधान—ज्ञानीय विषयता ज्ञान व्यक्ति के भेद से भिन्न-भिन्न होती है, एक ज्ञान की विषयता दूसरे ज्ञान के विषय में नहीं रहती, फलतः अव्याप्ति या असम्भव दोष हो जाता है, उसकी निवृत्ति के लिए ऐसा लक्षण करना होगा—'यज्ज्ञानविषयतावच्छेदकरूपेण यस्मिन् अर्थे यद्विशेषणम्, तज्ज्ञानं तत्रार्थे प्रमा ।' यह लक्षण यत्त्व-तत्त्वरूप अननुगत धर्मों से घटित होने के कारण अननुगत हो जाता है, अननुगत या असाधारण लक्षण अपने लक्ष्य की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि वह असाधारण नाम का हेत्वाभास बन जाता है ।

१८. सम्यक्परिच्छित्ति के प्रमात्व का खण्डन

(३) सम्याक् परिच्छेदः प्रमा—

[श्री उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि में प्रमा का एक तीसरा लक्षण प्रस्तुत किया है—"मितिः सम्यक्परिच्छित्तिः" (न्या० कु० ४।५) । यद्यपि स्वयं ग्रन्थकार ने इसी कारिका की व्याख्या में कहा है—"समीचीनो ह्यनुभवः प्रमेति स्थितम्" अर्थात् समीचीन (यथार्थ) अनुभव ही प्रमा है - यह निर्णय किया जा चुका है, वह निश्चय-स्थल चतुर्थ स्तवक का प्रथम पद्य है—

अव्याप्तेरधिकव्याप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।
यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ।।

अर्थात् कुमारिलभट्ट ने जो 'अगृहीतग्राहि ज्ञानम्'—यह प्रमा का लक्षण किया है—"सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यम्" (श्लो० वा० पृ० २११) । वह लक्षण धारावाहिक ज्ञानों में अव्याप्त और शुक्ति-रजतादि भ्रम ज्ञानों में अतिव्याप्त है । प्रमा का यदि कोई निर्दुष्ट लक्षण हो सकता है, तो वह है—'यथार्थानुभवः प्रमा' । इस प्रकार के निर्णय की ओर संकेत करते हुए ही कहा है—'समीचीनो ह्यनुभवः प्रमेति स्थिम्' । [illegible] यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि "मितिः सम्यक्परिच्छित्तिः"—यह कोई लक्षणान्तर नहीं, [illegible] यथार्थानुभव का अनुवादमात्र है ।

ननु सामस्त्यं सम्यक्त्वमिष्टम् । अभिधीयते हि लोके—'न मया सम्यक् दृष्टम्, सामान्याकारेण तु उपलब्धमि'ति । तदिह समीचोऽर्थस्य परिच्छेदः सम्यक्-परिच्छेदः, सम्यगर्थविषयत्वाद्वा सम्यक्शब्दः परिच्छेदसमानाधिकरण एवायमिति । मैवम्, सामस्त्यमर्थस्य किं सर्वावयवसहितत्वम्? अथवा सर्वधर्मसहितत्वम्? नाद्यः, अनवयवपदार्थपरिच्छेदस्येव सावयवपदार्थपरिच्छेदस्यापि मध्यभागाद्य-

सम्यक्परिच्छेदत्वं साकल्येनार्थविशेषानुभवत्वमिति तृतीयं कल्पमुत्थापयति ❀ नन्विति ❀ । समस्तस्य भावः सामस्त्यम् । सम्यक्शब्दस्य सामस्त्यार्थत्वं स्वसमयानुसारेणाऽवसितम्? उत वृद्धव्यवहारानुरोधेन? नाद्योऽतिप्रसञ्जकत्वात् । नापि द्वितीयः, तथा प्रयोगादर्शनादित्याशंक्याह ❀ अभिधीयत इति ❀ । न मया दृष्टमिति वचनं व्याहतं वचनव्यक्तेरर्थप्रकाशकत्वादित्याशंक्याह ❀ सामान्येति ❀ । सामान्यतो ज्ञानाद्वाक्प्रवृत्तिः सर्वात्मनाऽदृष्टत्वात्सम्यक् न दृष्टमिति प्रयोग इति यावत् । तुशब्दः शङ्कानिवृत्तिप्रयोजनः । सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावर्तको लक्ष्यनिष्ठो धर्मो लक्षणं सामस्त्यमर्थधर्मः कथं प्रमां लक्षयेदित्याशंक्याह ❀ तदिति ❀ । तत्तत्र सम्यक्पदस्य सामस्त्यमर्थं इति स्थित इति यावत् । इह लक्षणवाक्य इत्यर्थः । समस्तस्यार्थस्य परिच्छेदः सम्यक्परिच्छेद इति षष्ठीसमासो विवक्षित इति शेषः । सम्यक् चासौ परिच्छेदश्चेति कर्मधारयो वा तस्य स्वरूपपरतया षष्ठीसमासादभ्यर्हितत्वादिति पक्षान्तरमाह ❀ सम्यगिति ❀ । सम्यगर्थविषयत्वात्परिच्छेदस्य सम्यक्त्वोपचारः ।

लक्ष्यनिष्ठतयाऽज्ञातस्य च गमकत्वायोगान्मैवमिति प्रतिषेधति प्रकारान्तरेणापासितुं विकल्पयति ❀ सामेति ❀ । अवयवानामवयविनं प्रत्यान्तरत्वात्सर्वावयवसहितत्वमर्थस्य सामस्त्यमिति प्रथमकल्पमाशङ्क्य पराचष्टे ❀ नेति ❀ । अव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहारेण सर्वत्र लक्षणस्य वक्तव्यत्वादिह चाव्यापकत्वादिति हेतुमाह ❀ अनवयवेति ❀ । पृथिव्यप्तेजोवायवः कार्यरूपाः सावयवास्तदतिरिक्ताः सर्वे निरवयवास्तद्गोचरानुभूतीनामप्रमात्वं स्यात्सर्वावयवसहितपरिच्छेदत्वाभावादिति भावः । एवमव्याप्तिमभिधायाधुना सावयवपरिच्छेदेऽपि कथितलक्षणस्यासिद्धिरित्याह ❀ सावयवेति ❀ । न हि किंचिज्ज्ञानं सर्वात्मना-

तथापि शब्दान्तर-प्रयोग से लक्षणान्तर अवभासित होता है, उसका भी स्वतन्त्र खण्डन अपेक्षित है] । 'सम्यक्परिच्छेदः प्रमा'—इस लक्षण में कथित परिच्छेदगत सम्यक्त्व अनुभवगत तत्त्वविषयकत्व है? अथवा यथार्थत्व? दोनों नहीं माने जा सकते, क्योंकि उन दोनों का खण्डन विगत पृष्ठों पर किया जा चुका है ।

शङ्का—यहाँ 'सम्यक्' शब्द से सामस्त्य (लक्ष्य की समस्तरूपता) विवक्षित है, जैसा कि लोक में किसी अधूरी वस्तु को देख कर कहा जाता है—'न मया सम्यग् दृष्टम्, सामान्याकारेणैवावलोकितम् ।' अर्थात् इस वस्तु के कुछ ही अंश दृष्टि में आए, समस्त अवयव नहीं । प्रकृत में 'समीचः परिच्छेदः, सम्यक्परिच्छेदः'—इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास मान कर प्रमेय वस्तु का सामास्त्येन (साङ्गोपाङ्ग) दर्शन ही सम्यक् दर्शन कहा जाता है । अथवा 'सम्यक् चासौ परिच्छेदः सम्यक्परिच्छेदः—ऐसा कर्मधारय समास अपनाकर विषय-वाचक 'सम्यक्' शब्द का परिच्छेदरूप विषयी में गौण प्रयोग माना जा सकता है । [आशय यह है कि शुक्ति-रजत के ज्ञान को सम्यक् इस लिए नहीं माना जाता कि वहाँ शुक्तिरूप विषय वस्तु के नील पृष्ठादि समस्त भागों का दर्शन न होकर केवल सीप के उदर भाग का ही दर्शन होता है, समस्त अवयवों का दर्शन हो जाने पर रजत-भ्रम को कोई अवसर नहीं मिलता, अतः विषय वस्तु की सम्पूर्णता, समग्रता या समस्तता ही 'सम्यक्' पद का वाच्यार्थ है]।

समाधान—विषयगत समस्तता क्या (१) सर्वावयव-युक्तता है? अथवा (२) सर्वधर्म-युक्तता? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि उक्त लक्षण निरवयव वस्तु के प्रमा ज्ञान में न घटने के कारण अव्याप्त है । [अर्थात् नैयायिकगण केवल पृथिवी, जल, तेज और वायु—

विषयस्य अप्रमात्वापातात्। नापि द्वितीयः, असर्वंवित्परिच्छित्तीनां सर्वासामप्रमात्वापत्तेः।

अथ मन्यसे—सम्यक्शब्दः सविशेषार्थः। यदपि लोकेऽभिधीयते 'न मया सम्यक् दृष्टम्', तस्यापि न मया विशेषतो दृष्टमित्यर्थः। तस्माद्विशेषसहितधर्मिपरिच्छित्तिः प्रमेत्युक्तं भवति। विभ्रमादयो हि विशेषमपश्यतो जायन्त इति तद्व्यावृत्त्यर्थं

ऽर्थग्राहकं बाह्यावयवप्रतिबन्धतया मध्यमावयवग्रहणायोगावतश्च लक्षणमसम्भवीत्यर्थः। उक्तं हि "सर्वात्मनाऽर्थो ज्ञानेन केनचिन्न हि गृह्यत" इति। सर्वधर्मसहितत्वमर्थस्य सामस्त्यमनवयवानामपि सर्वधर्मस्वसम्भवाविति द्वितीयं निषेधति ॐ नापीति ॐ। धर्माणां सधर्मत्वाभावात्तद्गोचरप्रमायामव्याप्तिरित्यर्थः। दूषणान्तरमाह ॐ असर्वेति ॐ। घटे यावन्तो धर्मा रूपरसादयः सन्ति तावतां सर्वेषां ग्राहकमेकं ज्ञानमस्मदादेर्नास्ति विभिन्नसामग्रीजन्यत्वाददृष्टजत्वादीनामयोग्यत्वादेवेत्यर्थः।

सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकं तेन विशेषसहितत्वं सम्यक्त्वमर्थस्य तेन सविशेषार्थपरिच्छित्तिः प्रमेति लक्षणे नोक्तदोष इति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। न च सामान्यादेः सामान्याद्यभावासज्ज्ञानेऽव्याप्तिः सामान्यशब्देनानुगतसाधारणरूपाभिधानादस्ति तत्र प्रमेयत्वादिविशेषस्य च व्यावृत्तमात्ररूपत्वाविति द्रष्टव्यम्। सम्यक्शब्दस्य सामस्त्यार्थे लोकावगतसङ्केतिकस्य कथं सविशेषवचनत्वमित्यत आह ॐयदिति ॐ। न मया सम्यक् दृष्टमिति यदभिधीयते लोकेनेति एकेतिशब्दाध्याहारेण ग्रन्थयोजना। सम्यक्शब्दः सामस्त्यार्थे च साधारण इति यथारुचि स पूर्ववादिना लोकप्रयोगः प्रमाणीक्रियत इति न ग्रन्थकारस्य शब्दार्थापरिज्ञानता शङ्कनीया। एवं सम्य शब्दस्य सविशेषार्थत्वं प्रसाध्य सम्यक्परिच्छेदः प्रमेति लक्षणवाक्यस्य विवक्षितमर्थं कथयति ॐ तस्मादिति ॐ। सम्यक्शब्दः सविशेषवचन इति यस्मात्तस्मादित्यर्थः। इदं रजतमित्यादिज्ञानानामपि सविशेषज्ञानत्वमिदमिति साधारणाकारस्य, रजतमिति विशेषाकारस्य च भासनादतोऽतिव्याप्तिरित्याशङ्क्याह ॐ विभ्रमेति ॐ। शुक्तित्वादिविशेषाग्रहस्येदमिति साधारणग्रहस्य च

इन चार द्रव्यों के जन्य भाग को ही सावयव और उनसे भिन्न सभी पदार्थ निरवयव मानते हैं, निरवयव पदार्थ का प्रमा ज्ञान सर्वावयव-युक्त वस्तु-विषयक क्योंकर होगा ? केवल इतना ही नहीं,] पर्वत, सूर्य, चन्द्रादि का प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रमा नहीं बन सकता, क्योंकि उसके विषयीभूत पर्वतादि के पृष्ठ, मध्यादि समग्र भागों का वह ग्राहक न होने के कारण सम्यक् परिच्छेद कैसे कहलाएगा ?

सर्व धर्म-साहित्य को भी सामस्त्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धर्मी पदार्थ में ही धर्म होते हैं, धर्म में धर्म नहीं, अन्यथा अनवस्था हो जायगी, अतः धर्मविषयक प्रमा में सर्वधर्म-साहित्यविषयकत्व सम्भव न होने के कारण अव्याप्ति हो जाती है। दूसरी बात यह भी है कि एक घट में ही जितने अतीत, अनागत और वर्तमान धर्म हैं, उन सब का ग्राहक एक ज्ञान किसी साधारण (अयोगी या असर्वज्ञ) पुरुष को सम्भव नहीं, फलतः अव्याप्ति या असम्भव दोष आ जाता है।

शङ्का—'सम्यक्' शब्द का यहाँ 'सविशेष' अर्थ करना उचित है। लोक में भी जो कहा जाता है—'न मया सम्यक् दृष्टम्।' उसका भी 'न मया विशेषतो दृष्टम्'—ऐसा ही अर्थ विवक्षित होता है, अतः 'सविशेषार्थपरिच्छित्तिः प्रमा'—यह लक्षण पर्यवसित होता है। सर्वत्र भ्रमादि-स्थल पर विषय वस्तु के विशेष धर्मों का ग्रहण नहीं हो पाता, जैसे शुक्ति-रजतज्ञान में शुक्तिगत नीलपृष्ठत्वादि और स्थाणु-पुरुष-ज्ञान में वृक्षगत शाखादि विशेष धर्मों का ग्रहण न होने के कारण उन ज्ञानों को अप्रमा ज्ञान कहा जाता है, अतः अप्रमा ज्ञान की व्यावृत्ति करने के लिए प्रमा ज्ञान में सविशेषार्थविषयकत्व कहना अनिवार्य है। घटादि पदार्थों के व्यावर्तक कपालादि विशेष पदार्थों की परम्परा परमाणुओं में समाप्त हो जाती है, अत एव

विशेषणमिदम् । विशेषाणां च सर्वेषां विशेषान्तरानभ्युपगमेऽपि स्वरूपमेव केषाञ्चि-द्विशेष इति ।

नैतद्युक्तम्, विशेषपदेन विशेषमात्राभिधाने रजतत्वादिना विशेषेण सहैव शुक्तिव्यक्त्यादेर्भ्रमेणावगाहनात् तस्यापि प्रमात्वं स्यात् । प्रत्यर्थं व्यावृत्ताकाराणां च विशेषाणामुपादाने अननुगमप्रसङ्गात्, सामान्यतश्चातिप्रसङ्गाद्, उभयथाऽप्य-सङ्गततापत्तेः । विशेषस्य च भवतु स्वरूपमेव विशेषः, तथाऽप्यभेदादेव विशेष-

---

विभ्रमादि प्रति हेतुत्वमन्वयव्यतिरेकावसितं तत्कथं विशेषार्थत्वं तेषामित्यर्थः । संशयादिसङ्ग्रहार्थमावि-पदम् । तद्व्यावृत्तिफलतया विशेषणं साध्वित्याह ॐ इतीति ॐ । यद्वा परिच्छित्तिः प्रमेत्युक्त एव लक्षणं सिद्ध्येदतो व्यावर्त्याभावात्सम्यगितिविशेषणं व्यर्थं यथाहुः "प्रमाणमनुभूतिः"—इत्याशङ्क्याह ॐविभ्रमेतिॐ । सविशेषार्थपरिच्छित्तिरिति लक्षणस्यातिव्याप्त्यभावेऽप्यव्याप्तिर्विशेषाणां निर्विशेषतया तद्विषयज्ञानानां सविशेषार्थपरिच्छित्तित्वाभावादित्यत आह ॐविशेषेतिॐ । यद्वा विशेषाः सविशेषा ? निर्विशेषा वा ? चरमे तज्ज्ञानेऽव्याप्तिः । आद्ये यैर्विशेषैः सविशेषता तेषामपि सविशेषत्वेऽनवस्था, क्वचित् विशेषविश्रामे तत्रै-वाव्याप्तिरित्याशङ्क्याह ॐ विशेषेति ॐ । सर्वेषामिति विशेषणात्केऽपि विशेषाः सविशेषाः, नाप्यनवस्था केषांचिदन्त्यविशेषाणां निर्विशेषत्वात् । नाप्यव्याप्तिः तत्स्वरूपस्य विशेषशब्दार्थतया तत्स्वरूपविशेष-ज्ञानानां सविशेषज्ञानत्वादित्यर्थः ।

निर्विकल्पकज्ञानस्याप्रमात्वापातान्नैवमिति परिहरति ॐ नेति ॐ । विशेषशब्देन तत्र सत्त्वासत्त्वो-दासीनं विशेषमात्रमुच्यते, किं वा तत्र सन्निति विकल्प्याऽऽद्यमतिव्याप्त्या दूषयति ॐ विशेषेति ॐ । तत्र सन्निति विकल्पस्योपरिष्टाद्दोषो भाष्यते । किं च विशेषशब्देन प्रत्यर्थं व्यावृत्ताकारः कथ्यते किंस्विद्विशेष-त्वाक्रान्तस्वरूपमात्रमिति प्रथमकल्पमेव द्विधा विकल्प्याद्यं दूषयति ॐ प्रतीति ॐ । प्रत्यर्थं व्यावृत्ता-कारस्य विशेषत्वे घटगतविशेषस्य च विवक्षितत्वे तद्विशिष्टं विषयत्वं पटादिप्रतीतेर्नेति लक्षणमव्यापक-मित्यर्थः । विशेषत्वाक्रान्तस्वरूपमात्रं विशेषपदार्थं इति द्वितीयोऽस्तु निरवद्यत्वादित्यत आह ॐ सामा-न्येति ॐ । प्रत्यर्थं व्यावृत्तत्वादिविशेषमुपेक्ष्य विशेषमात्राभिधाने रजतत्वादिविशेषेण सहैव शुक्त्यादेर्भाना-द्रजताविज्ञानेऽतिप्रसक्तिरित्यर्थः । कतरः पक्षोऽत्रोपादेय इति चेन्नैकतरोऽपीत्याह ॐ उभयेति ॐ । लक्ष-णस्य हेतुविशेषस्य पक्षद्वयेऽपि क्रमेण भागासिद्धिविरुद्धत्वाभ्यामपक्षधर्मत्वापत्तेरित्यर्थः । यद्यन्त्यविशेषाणां स्वरूपमेव विशेष इति विशेषान्तराभावेऽपि न तज्ज्ञानस्याप्रमात्वापात इति तत्राह ॐ विशेषेति ॐ । विशेषस्वरूपं विशेष इति वचनं पुनरुक्तमिति दोषसमुच्चयार्थश्चः । विशेषस्य स्वरूपस्य चाभेदाद्विशेष-

---

परमाणुओं में एक विशेष नाम का पदार्थ ही वैशेषिक मानते हैं, उसे अपनी व्यावृत्ति के लिए विशेषान्तर की अपेक्षा नहीं, वह स्वरूपतः ही सविशेष है, किसी विशेषान्तर को लेकर नहीं, अतः इस लक्षण में किसी प्रकार के अनवस्थादि दोष नहीं होते ।

समाधान—'विशेष' पद के द्वारा (१) स्वपरवृत्ति-साधारण विशेषमात्र विवक्षित है ? अथवा (२) स्ववृत्ति विशेष ? सामान्यतः विशेष का ग्रहण करने पर शुक्ति-रजतादि भ्रम ज्ञानों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उनमें भी रजतत्वादि विशेष धर्मों का भान होता है, वह रजतत्व शुक्ति का अपना स्वकीय विशेष नहीं—यह दूसरी बात है । शुक्त्यादि प्रत्येक विषय वस्तु के स्वकीय विशेष धर्मों की विवक्षा होने पर अननुगम दोष आ जाता है । इस अननुगमकता से बचने के लिए सामान्यतः विशेष पदार्थ का ग्रहण करने पर शुक्ति-रजतादि भ्रमों में अतिप्रसङ्ग दिखाया ही जा चुका है । यह जो कहा गया कि विशेष पदार्थ स्वतः ही विशेष होते हैं, वह कहना यदि मान भी लिया जाय, तब भी उस विशेष को विशेष ही कहा जा सकता है, सविशेष नहीं, क्योंकि उसके लिए विशेषेण सह वर्तते—ऐसा नहीं कहा जा सकता, साहित्य या वैशिष्ट्य एक ही पदार्थ का उसमें सम्भव नहीं होता । अतः विशेष-

सहितत्वं नास्तीत्यव्याप्तेरपरिहारात् ।

यस्तु कश्चिदवोचद्--विशेषशब्देन तेऽभिधीयन्ते, यददर्शने भ्रमसंशयावकाशः, यद्दर्शने च बाधाबाधव्यवस्था तदनभ्युपगमे तत्त्वातत्त्वविभागो न स्यात् । भवितव्यञ्च तेन, अन्यथा व्याघातादिति ।

तदयुक्तम्, न तावदेवंविधो विशेषोऽभिधातुं शक्यो यदवगमस्य न भ्रमत्वादि-

सहितज्ञानत्वं विशेषस्य नास्ति साहित्यस्य भेदगर्भत्वादित्यव्याप्तिरित्यर्थः विशेषपरिच्छित्तिः प्रमेति च न शक्नुनोयम्, विशिष्टधीभिज्ञानस्याप्रमात्वापातादित्यर्थोऽपि ।

विशेषशब्देन प्रत्यर्थं व्यावृत्ताकारो विशेषत्वाक्रान्तस्वरूपमात्रं वा नोच्यते किं तु यदज्ञानाद् भ्रम-संशयजन्म यज्ज्ञानाच्च तदुपशमस्ते विशेषाभिलप्या इति मतान्तरमुत्थापयति ❀ यस्त्विति ❀ । येषां शुक्तित्ववक्रकोटरत्वादीनामज्ञाने सति रजतमित्यादिभ्रमस्य, स्थाणुर्वा पुमान्वेत्यादिसंशयस्यावकाशो जन्मेति यावत्, येषां पुनर्ज्ञाने भ्रमस्य बाधः संशयव्यवस्थैकतरनिश्चयो भवति स्थाणुरेवेति इत्यर्थः । ग्रहणस्मरणा-द्यविवेकव्यतिरेकेण भ्रमसंशयौ न स्तः कुतस्तरामुक्तरूपविशेषा इत्यत आह ❀ तदिति ❀ । भ्रमावि-गोचरोऽतत्त्वं तदितरस्तत्त्वमिति स्थितिः सैव न स्यादविवेकस्याभावस्यासाधारणकारणत्वायोगाद् भ्रमाभ्यु-पगम इति यावत् । यद्वा तथाभूतविशेषाभ्युपगमे किं प्रमाणमित्यत आह ❀ तदिति ❀ । प्रमाविषयत्वा-प्रमाविषयत्वयोरेव तत्त्वातत्त्वपदार्थत्वादुक्तविशेषानभ्युपगमे तद्व्यवस्था न सिद्ध्येदित्यर्थः । अथवा भ्रमबाधौ न स्तः कुतस्तद्व्यवस्थापकतया विशेषसिद्धिरित्यत आह ❀ तदिति ❀ । बाध्यमतत्त्वं तत्त्वम-बाध्यमिति विभागो न सिद्ध्येद् भ्रमबाधानभ्युपगम इत्यर्थः । मा भूदयं विभाग इत्यत आह ❀ भवित-व्यमिति ❀ । तत्त्वातत्त्वविभागोऽस्तीति मदीयज्ञानस्य तत्त्वविषयत्वे विभागसिद्धिरतत्त्वविषयत्वे मदीय-ज्ञानविषयोऽतत्त्वविभागो नास्तीति तावकीनज्ञानविषयस्तत्त्वमिति तत्सिद्धिरित्यर्थः । उक्तमर्थं व्यतिरेक-मुखेन दृढीकुरुते ❀ अन्यथेति ❀ । तत्त्वातत्त्वविभागमनभ्युपगच्छन्प्रष्टव्यः ज्ञानं सर्वं तत्त्वमेव ? किमतत्त्व-मिति ? किं वा किंचित्तत्त्वं किंचिदतत्त्वमिति ? आद्ये परपक्षानुवादेन तत्खण्डनासिद्धिः द्वितीये त्वद्वचन-स्यातत्त्वविषयतयाऽनवधेयवचनत्वप्रसङ्गः, तृतीये तत्त्वातत्त्वविभागमभ्युपगम्य स नास्तीति वचनं माता मे वन्ध्येतिवद्विरुद्धमित्यर्थः ।

अनिर्वचनीयतैव सर्वानुपपत्तिबाणवारणाय वज्रवारबाणायमाना विजयते इत्यादिना व्याघातस्य पुरस्तान्निरस्तत्वान्मैवमिति परिहरति ❀ तदिति ❀ । एवंविधो विशेषः प्रतीयमानत्वादभ्युपगम्यते, किं

विषयिणी प्रमा में उक्त लक्षण अव्याप्त है ।

न्यायलीलावतीकारने जो कहा है—"सन्देहो विशेषदर्शनान्निवर्तते, सन्देहत्वात्, स्थाणु-पुरुषसन्देहवत्, ते च निश्चयविषयाः, द्रव्यत्वात् । स च निश्चयो विशेषदर्शनाधीनः" अर्थात्] 'विशेष' शब्द से उन धर्मों या पदार्थों का अभिधान किया जाता है, जिनके अदर्शन से भ्रम और संशय का जन्म और जिनके दर्शन से भ्रमादि का बाध हो जाता है । उस (विशेष पदार्थ) को स्वीकार न करने पर तत्त्व (प्रमा-विषयत्व) और अतत्त्व (भ्रम-विषयत्व) का विभाग नहीं हो सकता । तत्त्वातत्त्व का विभाग अवश्य होना चाहिए, अन्यथा प्रमा और अप्रमा का नियामक कौन होगा ? विना नियामक के कार्य की उपपत्ति मानने पर सभी प्रवृत्तियाँ व्याहत हो जाती हैं—बुभुक्षु की भोजनादि और मुमुक्षु की तत्त्व-ज्ञान में प्रवृत्ति क्यों होगी ? अतः इस व्याघात से वचने के लिए तत्त्वातत्त्व का विभाग और उसके नियामक विशेष पदार्थ का मानना परमावश्यक है ।

न्यायलीलावतीकार का वह कथन सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि ऐसे विशेष पदार्थ का नाम भी नहीं लिया जा सकता, जिसके ज्ञान में भ्रमत्वादि सम्भव न हों । क्या स्वाप्न ज्ञान में शुक्तित्वादि विशेष धर्मों का भान नहीं होता ? अवश्य होता है, फिर भी सविशेषार्थ-भासक

सम्भवः, स्वप्नदशः सर्वविशेषोपलम्भात्। न च व्याघातदण्डभयमात्रादसौ उपपादयितुमशक्योऽपि अभ्युपगन्तव्य इति युक्तम्, तदुपदर्शनाशक्यत्वेन व्याघातपरिहार एव कश्चिदन्यो निर्वक्तुमशक्योऽस्तीत्येव तदा किं न व्यवस्थाप्यते ?

न हि परिदृश्यमानपदार्थगोचरं तदस्ति किञ्चिदनुभूयमानं यत्स्वप्ने वा वाक्याभासे वा प्रतिपत्तुमशक्यमिति प्रतिपत्त्यारूढतया येयमप्रतीयमानकल्पना, ततो वरमनुपलभ्यमानस्य व्याघातपरिहारस्यैव कल्पना भद्रा। बहुशश्च व्याघातोद्भावनविभीषिकामुन्मूलयिष्यामः।

ननु न ब्रूमो विशेषेण सहोपलम्भो विशेषसहितोपलम्भ इति। किं नाम ?

वाऽनभ्युपगमे व्याघातात्, नाद्य इत्याह ॐ नेति ॐ। अभिधातुमशक्यः कुतः प्रमातुमिति शेषः। स्वप्नदशायां शुक्तित्वादिविशेषदर्शनेऽपि भ्रमदर्शनादिति हेतुमाह ॐ स्वप्नेति ॐ। विशेषानभ्युपगमे प्रागुक्तव्याघातादसावभ्युपगम्य इति द्वितीयं कल्पमाशंक्य निषेधति ॐ न चेति ॐ। यद्यनग्निस्तर्ह्यधूमः स्यादित्याविध्याघातदण्डभयादग्निमत्त्वाद्यभ्युपगम्यतेऽतोऽयुक्तं कुत इत्यत आह ॐ तदिति ॐ। तस्य विशेषस्य दर्शयितुमशक्यत्वेनेति यावत्। उक्तन्यायेन तद्विशेषस्य निर्वक्तुमशक्यत्वादयमसाविति निर्वक्तुमशक्योऽपि कश्चिदस्तीति सामान्याकारेण व्याघातपरिहारं परिकल्प्य व्याघाताभाव एव किं नावसीयत इत्यर्थः। एवकारावयोगान्ययोगव्यवच्छेदप्रयोजनौ। विशेषस्योपदर्शयितुमशक्यत्वमसिद्धं यत्र स्वप्नेऽनुभूयते ज्ञातत्वाज्ञातत्वाभ्यां भ्रमबाधप्रयोजकः स विशेष इति तन्निरुक्तेरित्यत आह ॐ न हीति ॐ। असौ विशेषः परिदृश्यमानपदार्थमध्यवर्ती ? किंस्विद्बाह्यः ? चरमे ब्रह्मैव तत्। आद्ये कदाचिदनुभूयते ? न वा ? न चेत्, तुरगशृङ्गसमः अनुभवाभावात् भ्रमाद्यपनोदाप्रयोजकता च। न च प्रथमस्तथाऽनुपलम्भादिति भावः। नन्वस्त्यसौ विशेषः यद्दर्शनाज्जाग्रत्प्रत्ययस्तत्स्याऽज्ञायमानतया स्वप्नभ्रमप्रयोजकत्वादिति, नैतद्, यावन्तः पदार्था आप्रति प्रतीयन्ते तावतां स्वप्नेऽप्यनुभूयमानत्वादिति। किंच नदीतीरे फलानि सन्तीत्याप्तवाक्यसदृशानाप्तवाक्याभासे विशिष्टोऽर्थः प्रतीयतेऽतो वाक्यजनितभ्रमे सर्वो विशेषः प्रतिपत्तुं शक्य इत्यर्थः। अप्रतीयमानव्याघातपरिहारः कल्प्यते चेत्तथाभूतो विशेषः किं न कल्प्यत इत्यत आह ॐ प्रतीति ॐ। प्रतीयमानविशेषाणां कल्पना प्रतिपत्त्याऽऽरूढत्वेन ततो वरं व्याघातपरिहारस्य कल्पनेति सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति—कल्प्यमाना विशेषा अनुपलभ्यमाना अपि बुद्ध्यारूढतयैव कल्पनीया अन्यथा तदनुभवाभावाद् भ्रान्त्यादिबाधानुपपत्तेरतश्चानुपलभ्यमाना बुद्ध्यारूढतया कल्प्यन्त इति व्याघातः। न चैवं व्याघातपरिहारकल्पने कश्चिद्दोष इति, अस्य परिहारस्य सत्त्वे द्वैतापत्तिरसत्त्वे व्याघातनिष्प्रत्यूहतेत्यत आह ॐ भद्रेति ॐ। भद्रा विचारमन्तरेण रमणीयेति। व्याघातमभ्युपगम्यैतदवोचाम न चासौ, तुरीयपरिच्छेदे पराकरिष्यमाणत्वादित्याह ॐ बह्विति ॐ।

विशेषपदेन सत्त्वासत्त्वोदासीनं विशेषमात्रमुच्यते किंस्वित्तत्र सन्निति विकल्प्य प्रथमकल्पो निरा-

---

स्वाप्न ज्ञान को कोई प्रमा नहीं मानता। यह जो व्याघातरूपी डण्डे के बल पर तत्त्वातत्त्वनियामक विशेष पदार्थ को मनवाने का प्रयास किया गया, वह भी न्यायोचित नहीं, क्योंकि जब किसी निर्वचनीय 'विशेष' पदार्थ का उपदर्शन नहीं किया जा सकता, तब कथित व्याघात का परिहार करने के लिए किसी अनिर्वचनीय विशेष पदार्थ की कल्पना करने से अच्छा तो यही है कि किसी अनिर्वचनीय व्याघाताभाव की ही कल्पना कर ली जाय। परिदृश्यमान पदार्थों के मध्य में कोई ऐसा 'विशेष' पदार्थ अनुभव में नहीं आता, जो स्वाप्न ज्ञान या वाक्याभास-जन्य भ्रम ज्ञान में अवभासित न हो, अतः लोक में कोई अनुपदर्शित पदार्थ भी प्रमारूप प्रतिपत्ति पर समारूढ़ होकर प्रमात्व का नियामक होता है'—ऐसी अघटित कल्पना की अपेक्षा अनुपलभ्यमान अनिर्वचनीय व्याघाताभाव की कल्पना ही अच्छी है। आगे चलकर व्याघातोद्भावन की विभीषिका का बहुशः उन्मूलन किया जायगा।

विशेषेण सहितस्य पदार्थस्योपलम्भः। तथा च न शुक्तौ रजतत्वं विशेषोऽस्ति। तत्कथं रजतभ्रमेऽपि तत्प्रसङ्ग इति?

मैवम्; उक्तदोषेणैव निरस्तत्वात्। यदि हि विशेषस्य सामान्यतोऽभिधानम्, तदा पुरोवर्तित्वादेः सत्त्वान्न प्रसङ्गनिवारणम्। विशेषेण तदभिधाने तु अननुगम इति।

'बाधाबाधव्यवस्थाहेतुरस्ति विशेषः' इति पक्षं यस्तु जडतरो न जहाति, स 'आप्तानाप्तवाक्याभ्यां नदीतीरे पञ्च फलानि सन्तीत्येवंरूपाभ्यां प्रतिपाद्यमानेऽर्थे

कारि, सम्प्रति द्वितीयकल्पमुत्थापयति ❀ नन्विति ❀। विशेषेण सहोपलम्भो विशेषसहितोपलम्भ इति न ब्रूमः इतीति शब्दोऽध्याहार्यः। कस्तर्ह्यसाविति चेद्वस्तुतो विशेषसहितस्योपलम्भः स इत्याह ❀ किमिति ❀। शुक्तेरपि शुक्तित्वविशेषवत्या रजतमित्युपलम्भात्। तर्हि प्रमालक्षणमतिव्यापकमित्यत आह ❀ तथा चेति ❀। प्रतीयमानविशेषेण सहितत्वं विवक्षितं न च तद्रजतत्वं तत्रास्तीत्यर्थः। एवं चातिव्याप्त्यादेरभावान्निरवद्यं लक्षणमित्याह ❀ तदिति ❀।

प्रथमकल्पनिराकरणेन द्वितीयोऽपि निरस्त इत्याह ❀ मैवमिति ❀। किमन्यदीयो दोषोऽन्यत्रानुषज्जेदित्यत आह ❀ यदिति ❀। विशेषपदेन विशेषत्वाक्रान्तं स्वरूपमात्रमभिधाय तत्सहितोपलम्भोऽभिधीयते किं वा विशेषव्यक्तिमभिधायेति विकल्प्याद्यमपवदति ❀ यदीति ❀। पुरोवर्तित्वसत्त्वादि तत्रत्यविशेषसहितस्य शुक्तिशकलस्य रजतात्मनाऽवभासान्न तत्रातिव्याप्तिः परिहर्तुं शक्येत्यर्थः। विशेषपदेन विशेषव्यक्त्यभिधानमिति द्वितीयमाशङ्क्य निषेधति ❀ विशेषेणेति ❀।

तत्त्वातत्त्वविभागानुपपत्त्या बाधव्यवस्थाहेतुरस्ति विशेष इत्याशङ्क्य निर्वचनानर्हतया निरस्तः सम्प्रति पूर्वपक्षबीजमुद्घाटयितुं निरस्तमप्यनुभाषते ❀ बाधेति ❀। बहुशश्चैतेतदनन्तरं यद्यप्ययं ग्रन्थो युक्तस्तथाऽपि लेखकदोषादत्र पतित इति द्रष्टव्यम्। एकरूपगोचरज्ञानयोरेकतरस्य प्रमारूपतया तत्त्वगोचरत्वमपरस्याऽप्रमारूपतयाऽतत्त्वगोचरत्वमिति विभागदर्शनान्न विशेषभावाभावनिबन्धनस्तत्त्वातत्त्वविभाग इति दूषयति ❀ स इति ❀। सरित्परिसरे फलानि सन्तीत्याप्तवाक्यप्रतिपन्नेऽर्थे को विशेषो लक्ष्यते योऽनाप्तवाक्यप्रतिपन्नेवंरूपे नेति वक्तव्यम्, न चासौ कश्चिदस्तीत्यभिधाद विशेषदर्शनादर्शनाभ्यां न भ्रमबाधाविति बोध्यत इत्यर्थः। प्रमाणमूलरचितवाक्यजन्यज्ञानविषयत्वमाप्तवाक्यार्थे विशेषो नेतरस्मि-

---

शङ्का—विशेष पदार्थ का साहित्य यदि उपलम्भ (ज्ञान) के साथ विवक्षित होता, तब अवश्य शुक्ति-रजत-ज्ञान में भी सविशेष-परिच्छेदत्वरूप प्रमात्व अतिप्रसक्त होता, किन्तु यहाँ उपलम्भ के बिषयीभूत पदार्थ में विशेष का साहित्य विवक्षित है। शुक्ति-रजत-भ्रम के विषयीभूत शुक्ति तत्त्व में रजतत्वरूप विशेष का साहित्य (वैशिष्टच) नहीं, अतः वहाँ अतिप्रसङ्ग क्यों होगा ?

समाधान—इस कल्प में भी दोष दिखाए जा चुके हैं कि विशेष पदार्थ सामान्यतः (अनेकपदार्थवृत्तित्वेन) विवक्षित होने पर शुक्ति-रजत-भ्रम में प्रमात्व का अतिप्रसङ्ग होता है, क्योंकि शुक्ति-रजत-ज्ञान के विषयीभूत शुक्ति में भी पुरोवर्तित्वादि विशेष विद्यमान ही हैं। 'विशेष' पदार्थ की विशेषतः (तत्तद्व्यक्तिवृत्तित्वेन) विवक्षा करने पर लक्षण में अननुगम दोष आ जाता है।

'विशेष' पदार्थ के बिना तत्त्वातत्त्व का भेद नहीं हो सकता और तत्त्वातत्त्व-भेद के बिना बाधाबाध की व्यवस्था नहीं हो सकती, अतः 'बाधाबाधव्यवस्थाहेतुरस्ति विशेषः'—इस पक्ष का जो जड़तर व्यक्ति परित्याग नहीं कर सकता, उसको सत्य का प्रतिबोध कराने के लिए उससे पूछना चाहिए कि जहाँ आप्त और अनाप्त—दोनों ही 'नदीतीरे पञ्च फलानि सन्ति'—ऐसा ही वाक्य प्रयोग करते हैं, वहाँ वाक्य-प्रतिपादित पदार्थ में अवस्थित वह कौन-सा 'विशेष' पदार्थ हैं, जिसे आप एकत्र (आप्त-प्रतिपादित अर्थ में) देख रहे हैं और

स्थितं किं विशेषमेकत्र पश्यसि, यमपरत्र न पश्यसी'ति पृष्टा प्रतिबोधनीयः। तथाप्यनुपजातप्रबोधस्तु जडतमः कश्चिद्यदि स्यात्, स एवं प्रबोध्यः—'ये ते विशेषान्तरप्रवाहस्वीकारेऽनन्तविशेषापत्तिभयात् त्वया स्वत एव विशेषरूपा इति स्वीकृताः, तेषां स्वरूपं तावत् परस्परव्यावृत्तम्, अतोऽनुगतैकरूपाभावाद् अव्यापकत्वं स्यादि'ति।

बाधव्यवस्थाहेतुत्वादेव अनुगतिरिति चेन्न, क्वाचित्कबाधव्यवस्थाहेतोर्भ्रमेऽपि प्रकाशात्। तत्र तस्येति चेन्न; व्यावृत्तेः। बाधस्य च तद्विपरीतार्थप्रमात्वेन तदर्थान-

---

स्तित्यस्ति विशेष इत्याशङ्क्याह ❀ तथेति ❀। अनुभवविरोधस्तोरर्थः। जडतमत्वमत्यागहेतुः। अपिररुचिद्योतनार्थः। जडतमत्वेनासौ नोपेक्ष्यः प्रकारान्तरेणापि बोधनीय एवेत्याह ❀ स इति ❀। विशेषसहितोपलम्भः प्रमेति वदन् प्रष्टव्यः किं ते विशेषा अपि सविशेषाः? उत निर्विशेषाः केचिदन्त्याः इति? प्रथमे व्यक्ताऽनवस्थेति बहिरेव दूषयित्वा द्वितीयमनुभाषते ❀ य इति ❀। अस्मिन्पक्षे लक्षणाव्याप्तिरिति दर्शयितुं तेषां स्वरूपं नानुगतं मन्तव्यमेव्याप्तेरतः परस्परतो व्यावृत्तमित्याह ❀ तेषामिति ❀। तावच्छब्दो निश्चयार्थः। फलितं दर्शयति ❀ अत इति ❀। विशेषेष्वनुगतधर्माभावोऽसिद्धो बाधव्यवस्थाहेतुत्वस्यैव तत्रानुगतत्वादिति शङ्कते ❀ बाधेति ❀। सार्वत्रिकबाधव्यवस्थाहेतुत्वं विशेषत्वमुत क्वाचित्कबाधव्यवस्थाहेतुत्वमाहोस्विद्यत्र यो बाधस्तत्र विषये तस्य बाधस्य व्यवस्थाहेतुत्वमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ नेति ❀। सार्वत्रिकबाधव्यवस्थाहेतुत्वं विशेषः क्वचिदपि न प्रकाशत इत्यर्थः। द्वितीयं दूषयति ❀ क्वाचित्केति ❀। चरमकल्पमाशङ्कते ❀ तत्रेति ❀। तर्हि विशेषस्य परस्परव्यावृत्तेरनुगतं लक्षणं न सिद्ध्येदिति परिहरति ❀ नेति ❀। बाधस्वरूपमभ्युपगम्य तद्व्यवस्थाहेतुत्वं विशेषत्वं नानुगतमस्तीत्युक्तम्। इदानीं बाध एव निरूपणसरणिमधिरोढुं नार्हतीत्याह ❀ बाधेति ❀। बाधस्याननुगमेन च तद्व्यवस्थाहेतुत्वाऽननुगतिरिति शेषः। तच्छब्देन भ्रान्तिः परामृश्यते। तद्विपरीतार्थप्रमात्वमात्रेण कथमननुगमो बाधस्येत्यत आह ❀ तदिति ❀। तच्छब्देन रजतभ्रमपरामर्शे सर्वभ्रमबाधो न स्यादिति बाध-

---

अन्यत्र (अनाप्राभिहित अर्थ में) नहीं? अर्थात् प्रवृत्ति की सफलता और निष्फलता से पहले अभिज्ञा-काल में विषय वस्तु की किसी भी वैसी विशेषता का भान नहीं होता।

यदि इतना कहने पर भी कोई जड़तम व्यक्ति उक्त लक्षण की सदोषता का बोध न कर पाए, तब उसे यों समझाना चाहिए कि आप (नैयायिक) विशेष पदार्थों को निर्विशेष मानते हैं? या सविशेष? यदि वे निर्विशेष हैं, तब उनके प्रमा ज्ञान में 'सविशेषार्थपरिच्छित्तित्व' की अव्याप्ति होती है और उन्हें सविशेष मानने पर विशेष में विशेषान्तर-परम्परा मानने पर अनवस्था होगी, अतः अन्ततो गत्वा अन्तिम विशेष पदार्थों को स्वतः विशेष (स्वव्यावर्तक) मानना होगा। ऐसे स्वतः व्यावृत्त वैशेषिकाभिमत विशेष पदार्थ के समान प्रतिव्यक्ति भिन्न और अनन्त मानना स्वाभाविक है, उन विशेष पदार्थों का कोई संग्राहक न होने के कारण उनको लेकर लक्षण में अननुगमता निश्चित है।

शङ्का—शुक्तित्वादि विशेष धर्मों के दर्शन से रजतत्वादि अध्यस्त धर्मों का बाध हो जाता है, अतः बाध-व्यवस्थाहेतुत्वेन सभी विशेष पदार्थों का अनुगम करके बाध-व्यवस्थाहेतु-सहितार्थपरिच्छित्तिः प्रमा'—ऐसा अनुगत लक्षण किया जा सकता है।

समाधान—बाध-व्यवस्था-हेतुत्वेन भी विशेष पदार्थों का अनुगम नहीं किया जा सकता, क्योंकि बाध के विषय में जिज्ञासा होती है कि क्या (१) सार्वत्रिक बाध विवक्षित है? या (२) क्वाचित्क? अथवा तत्तत्स्थलीय बाध? ऐसा कोई एक विशेष पदार्थ सुलभ नहीं, जो विश्व के सभी बाधों का व्यवस्थापक हो। क्वाचित्क बाध-व्यवस्थापक तो शुक्ति-रजतगत रजतत्व भी होता है [जब सत्य रजत में रङ्गादि का भ्रम होता है, तब रजतत्व-

नुगमात्, प्रमायाश्च अद्याप्यव्यवस्थापनादिति ।

शङ्कान्तराणि चात्र अतः पराणि याथार्थ्यविशेषणदूषणदूषितान्येव उपनिपतन्तीति द्विरभिधानभयान्नोक्तानि ।

किञ्च—तर्कज्ञानमाहार्यौ च संशयविपर्ययौ परिदृश्यमान एव विशेषे भवन्तीति तैरतिप्रसङ्गः स्यात् । न चाऽऽहार्यौ तौ नाभ्युपगन्तव्याविति युक्तम् । विप्रलम्भकस्य

स्याननुगमेन तद्व्यवस्थाहेतुविशेषस्याननुगमात्तत्सहितोपलम्भप्रमालक्षणस्याव्यापकता । न च तत्त्वमनुगतमस्ति स्ववृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेरित्यर्थः । प्रमासिद्धौ तद्विपरीतार्थप्रमालक्षणबाधसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तद्व्यवस्थाहेतुविशेषसहितोपलम्भप्रमासिद्धिरितीतरेतराश्रयादसिद्धिर्लक्षणस्येत्याह ॐ प्रमेति ॐ ।

सम्यक्त्वमबाधिताध्यवसायित्वं ज्ञेयसादृश्यं वा ज्ञानस्य भविष्यतीत्यत आह ॐ शङ्केति ॐ । चशब्दादबाधितत्वादिखण्डनानि वक्ष्यमाणानि गृह्यन्ते । शङ्कान्तरं याथार्थ्यविशेषमाश्रितं पौनरुक्त्यभयान्नोक्तमित्यर्थः ।

सविशेषार्थानुभूतिः प्रमेति लक्षणस्य विशेषाननुगमेनाऽव्याप्तिरुक्ता साम्प्रतमतिव्याप्तिमाह । ॐ किं चेति ॐ । वह्निसपक्षधर्मत्वप्रमितिबलादग्निमान्पर्वत इति विशेषावगमेऽपि यद्यग्निमान्न स्यात्तर्हि निष्कारणको धूमः प्रसज्येतातोऽग्निमानेवायमिति तर्कज्ञानं विशेषोपलम्भे सत्येव जायमानं सविशेषार्थानुभूतिर्भवति न च तत्प्रमेति तत्र लक्षणातिव्याप्तिस्तथा रजतादिभ्रमस्य समानधर्मादिजनितसंशयस्य च विशेषाग्रहणजन्यत्वेऽप्यौत्प्रेक्षिकसंशय औत्प्रेक्षिकविपर्ययश्च विशेषदर्शने सत्येव जायत इति ताभ्यां चातिव्याप्तिरित्यर्थः ।

दर्शन ही उसका बाधक माना जाता है, वही रजतत्वरूप विशेष पदार्थ शुक्ति-रजत-भ्रम में अवभासित है] अतः रजत-भ्रम में उक्त प्रमा लक्षण अतिप्रसक्त है । रजत-रङ्ग-भ्रम स्थल पर रजतत्व विशेष बाध-व्यवस्थापक है, शुक्ति-रजत-भ्रम स्थल पर नहीं, अतः तत्तत्स्थलीय बाध-व्यवस्था-हेतुत्वेन विशेष अर्थ का ग्रहण करने पर किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं होता, किन्तु अननुगम दोष से छुटकारा नहीं मिलता। केवल इतना ही नहीं, आत्माश्रयादि दोष भी प्रसक्त होते हैं, क्योंकि प्रमा के इस लक्षण में अपेक्षित बाध का स्वरूप होता है—'तद्विपरीतार्थप्रमा', तत्त्व-गर्भित होने से अननुगम और प्रमा में प्रमा की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष की प्रसक्ति निर्विवाद है । (१) 'यो विशेषो यत्र धर्मिणि समस्ति, तेन रूपेण तस्य परिच्छित्तिः प्रमा' (२) 'साक्षात् (ज्ञानमद्वारीकृत्य) विशेषेण सहितस्य धर्मिणः परिच्छित्तिः प्रमा'—इत्यादि लक्षणप्रकारो का खण्डन पूर्वचर्चित याथार्थ्य विशेषण के खण्डित हो जाने से स्वयं खण्डित हो जाते हैं, अतः पुनरुक्ति के भय से उन लक्षण प्रकारों की न तो शङ्का उठाई जाती है और न उनका खण्डन किया जाता है ।

'सविशेषार्थपरिच्छित्तिः प्रमा'—यह लक्षण (१) तर्क ज्ञान (२) आहार्य भ्रम और (३) आहार्य संशय में भी अतिव्याप्त है ।

(१) तर्क को एक ऊहात्मक ज्ञान माना गया है, ऊह ज्ञान प्रमा नहीं होता [तर्कसूत्र में भाष्यकार कहते हैं—"कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो, न तत्त्वज्ञानमेवेति ? अनवधारणात् । अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न त्ववधारयति, न व्यवस्यति, न निश्चिनोति—एवमेवेदमिति" (न्या० सू० १।१।४०) । वार्तिककार ने इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए ऊह को संशय और निश्चय के मध्यकाल में होनेवाला अनवधारणात्मक ज्ञान कहा है—"अयं (ऊहः) संशयात् प्रच्युतः कारणोपपत्तिसामर्थ्यात्, निर्णयं चाप्राप्तो, विशेषादर्शनात् । किं पुनरस्य स्वरूपम् ? भवेदित्येष प्रत्ययः" (न्या० वा० पृ० ५०४) । इसी आशय को न्यायभूषणकार ने एक ही वाक्य में भर दिया है—"कश्चायमूहः ? संशयनिर्णयान्तरालभावी

वाक्यप्रयोगमूलतया आहार्यभ्रमस्य ज्ञाततत्त्वस्य च गुरोः शिष्यप्रबोधार्थं विचारं प्रवर्तयतश्च आहार्यसंशयानां भवत एव शास्त्रेऽनुमतत्वात् ।

परिच्छेदशब्दश्च अनुभूतिपर्यायोऽनुभूतिदूषणं नातिक्रामतीत्यलम् ।

आहार्यसंशयविपर्ययावेव न स्तः कुतस्ताभ्यामतिव्याप्तिरित्यत आह ❀ न चेति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ विप्रलम्भकेति ❀ । नदीतीरे फलासम्बन्धे दृश्यमाने एव नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति विप्रलम्भकवाक्यप्रयोगमूलतयाऽऽहार्यभ्रमस्यानुमतत्वादन्यथा प्रामाण्यप्रसङ्गाद् "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः" इति न्यायेन विदिततत्त्वस्य गुरोः शिष्यप्रबोधनार्थं शब्दो नित्यः अनित्यो वेत्याहार्यसंशयस्य तथाविधपूर्वपक्षभ्रमस्य विचारं प्रवर्तयत इष्टत्वात्तत्त्वज्ञानविरोधाद्विशेषाज्ञानमूलसंशयविपर्ययासम्भवादन्यथा निर्णयफलशास्त्रानारम्भप्रसङ्गादिति भावः ।

सम्यक् परिच्छेद इत्युदयनोदीरितलक्षणे सम्यग्विशेषणं निरास्थदिदानीं परिच्छेदविशेषणमतिदेशेन निरस्यति ❀ परिच्छेदेति ❀ ।

भवितव्यतात्मकः प्रत्ययः" (न्या० भू० पृ० २०) । मीमांसा दर्शन के नवम अध्याय में चर्चित ऊह पदार्थ से यह तर्कात्मक ऊह सर्वथा भिन्न है—

तदेष मीमांसककल्प्यमानो नोहः प्रमाणव्यतिरेकमेति ।
प्रमाणसन्देहदशान्तरालवर्ती तु तर्कः कथितोऽत्र शास्त्रे ।।
(न्या० मं० पृ० ५९०)

आचार्य उदयन ने तर्क का स्वरूप अनिष्टप्रसङ्ग कहा है और उसके पाँच भेद बताए हैं—तस्य च स्वरूपमनिष्टप्रसङ्गः, स चात्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थाप्रमाणबाधितार्थप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधः" (ता० परि० पृ० ५८८) । तार्किकरक्षाकार ने उसकी व्याख्या करते हुए तर्क के पाँच अङ्ग बताए हैं—

आत्माश्रयादिभेदेन तर्कः पञ्चविधः स्मृतः ।
अङ्गपञ्चकसम्पन्नः तत्त्वज्ञानाय कल्पते ।।
व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये ।
अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्गपंचकम् ।। (ता० र० पृ० १८७)

(२) आहार्य भ्रम और (३) 'आहार्य संशय प्रसिद्ध नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि बाधकालीन इच्छा-जन्य ज्ञान को आ ' ज्ञान जाता . । विशेष-दर्शन भ्रम और संशय का बाधक होता है, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—"विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" (न्या० सू० १।१।२३) । अतः विशेष-दर्शन-कालीन भ्रम और संशय को क्रमशः आहार्य भ्रम और आहार्य संशय कहा जायगा । जहाँ विप्रलम्भक व्यक्ति जान-बूझ कर दूसरे को भ्रम में डालने के लिए कह देता है—'नद्याः तीरे फलानि सन्ति' । वहाँ 'अर्थं बुध्वा वाक्यरचना भवति'—इस नियम के अनुसार विप्रलम्भक व्यक्ति को उक्त वाक्य का जनकीभूत भ्रम ज्ञान अवश्य होना चाहिए—'अयं विप्रलम्भकः भ्रमज्ञानवान्, भ्रमज्ञानजनकवाक्यप्रयोक्तृत्वात् । विप्रलम्भक पुरुष वही होता है, जिसे नदीतीर फलाभाव का निश्चय हो, यही विशेष दर्शन है, फलतः विप्रलम्भकगत आहार्य भ्रम का अनुमान हो जाता है—'अयमाहार्यभ्रमज्ञानवान्, विशेषदर्शित्वे सति भ्रमजनकवाक्यप्रयोक्तृत्वात्' ।

इसी प्रकार जहाँ गुरु अपने शिष्य को किसी अज्ञात तत्त्व के निर्णय तक ले जाने के लिए प्रस्तुतविषय का सन्देह उठाता है—'शब्दोऽनित्यो न वा ?' गुरु तत्त्व-निर्णय-संपन्न है, अतः उसे बाध या विशेष दर्शन-कालीन संशय होगा—'शब्दोऽनित्यो न वा ?' अतः यह

१९. अव्यभिचारिज्ञानप्रमात्वखण्डनम्

नापि अव्यभिचार्यनुभवः प्रमेति युक्तम्, अव्यभिचारिपदस्य यदि तत्त्वविषयायथार्थत्वम्, तदा दूषणान्युक्तान्येवानुवर्तन्ते।

अथैवमुच्यते अव्यभिचारित्वमर्थाविनाभूतत्वम्, तदा प्रष्टव्यं कोऽस्यार्थः—किं

भाट्टदेशीयाभिमतप्रमालक्षणमुद्भाव्य भङ्क्तुं भणति ॐ नापीति ॐ। ज्ञानं प्रमेत्युक्ते स्मृतावतिव्याप्तिस्तदर्थमनुभवग्रहणम्। भ्रमादिव्यावृत्त्यर्थमव्यभिचारीति। तत्त्वगोचरेच्छादिव्यावृत्त्यर्थमनुभवग्रहणम्। किमिदमव्यभिचारित्वं तत्त्वविषयत्वम्? याथार्थ्यं वा? उत सम्यक्त्वम्? आहोस्विदर्थाविनाभूतत्वम्? इति विकल्प्य प्रथमकल्पत्रयं प्रागुदीरितन्यायानलविप्लुष्टतया नोज्जीवितुमलमित्याह ॐअव्यभिचारीतिॐ।

अव्यभिचारित्वमनुभवस्यार्थाविनाभूतत्वमिति चतुर्थमुत्थापयति ॐ अथेति ॐ। दूषणविभागप्रज्ञप्तये विकल्पयति ॐ तदेति ॐ। अस्याविनाभावपदस्य कोऽर्थ इत्यर्थः। समुद्रवृद्धिचन्द्रोदयवदेककालनियमोऽविनाभाव इत्येकं शृङ्गमाह ॐ किमिति ॐ। धूमाग्न्योरिवैकदेशसम्बन्धोऽविनाभाव इत्यपरं शृङ्गमाह ॐ उतेति ॐ। शिंशपात्वस्य वृक्षत्वाव्यभिचारिणस्तत्तादात्म्यं द्रष्टव्यमित्यवष्टम्भेन कल्पान्तरमाह ॐ अथेति ॐ।

तत्राऽऽद्यमपवदति ॐ नेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ अतीतेति ॐ। विशिष्टनदीपूरणलिङ्गेनाभूद् वृष्टिरित्यनुमीयते मेघोदयदर्शनाद्भविष्यति वृष्टिरिति। न चानुमानकाले सोऽर्थोऽस्तीति तत्राऽव्याप्तिरित्यर्थः। आदिपदेन कालान्तरभाविनियोगादिबोधकागमाद्युपादीयते। एकदेशसम्बन्धो ज्ञानज्ञेययोरविनाभाव इति द्वितीयोऽपि न हृद्य इत्याह ॐ न चेति ॐ। घटादिप्रमितीनामनेवंरूपतया लक्षणस्याव्यापकत्वादित्याह

सिद्ध हो जाता है कि विप्रलम्भकगत आहार्य भ्रम और गुरुगत आहार्य संशय में सविशेषार्थपरिच्छित्तित्व अतिप्रसक्त होता है।

आचार्य उदयन के 'सम्यक्परिच्छित्तिः प्रमा'—इस लक्षण में 'सम्यक्' पद का सार्थक्य संभव नहीं, वैसे ही 'परिच्छित्तिः' शब्द का भी कोई निर्दोष अर्थ उपपन्न नहीं होता, क्योंकि परिच्छित्ति' शब्द का अर्थ 'अनुभूति' होता है, अतः अनुभूति पदार्थ के सभी दोष वहाँ भी प्रसक्त हो जाते हैं।

१९. अव्यभिचारी अनुभव का प्रमात्व-खण्डन

४. अव्यभिचार्यनुभवः प्रमा—

[न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में भाष्यकार ने कहा है—"यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः"। वार्तिककार ने प्रमाण का लक्षण किया है—"उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्"। तात्पर्यटीककार ने उसकी अतिप्रसक्तता का सन्देह उठा कर निराकरण किया है—"न च संशयविपर्यासरूपोपलब्धिकारणयोः प्रसङ्गः, अर्थवदित्यधिकारात्, तयोश्चोपदर्शितार्थव्यभिचारेणानर्थवत्त्वात्"। इसी का विशदीकरण परिशुद्धिकार ने इस प्रकार किया है—"प्रमा चाविपरीतोपलब्धिः। अतोऽविपरीतानुभवजनकत्वलक्षणमव्यभिचारित्वमेव प्रामाण्यमित्यर्थः" (परि० पृ० ७९)। इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि श्री उदयनाचार्य की ही वचोभङ्गी पर ही यह चतुर्थ प्रहार भी प्रतीत होता है]। 'अव्यभिचार्यनुभवः प्रमा'—यह लक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि 'अव्यभिचारी' पद का यदि तत्त्वविषयकत्व, यथार्थत्व, या सम्यक्त्व अर्थ किया जाता है, तब वह विगत पृष्ठों पर खण्डित हो चुका है।

यदि इन तीनों अर्थों से भिन्न 'अविनाभूतत्व' को 'अव्यभिचारी' पद का अर्थ किया जाता है, तब पूछना चाहिए कि इसका क्या अर्थ विवक्षित है? क्या (१) जिस काल में

यदेवार्थस्तदेव ज्ञानम् ? उत यत्रार्थस्तत्रैव देशे ज्ञानम् ? अथ यादृगर्थस्तादृगेव ज्ञानं यत्तत्प्रमितिरिति ?

नाद्यः, अतीतानागतानुमित्याद्यव्यापनात् । न च द्वितीयः, ज्ञानसमानदेशार्थप्रमितीनामव्यापनात् । ज्ञानसमानदेशमर्थमन्यत्र आरोपयतोऽप्यनुभवस्य प्रमात्वापत्तेः । नापि तृतीयः, ज्ञानार्थभेदवादे सर्वाकारेण तत्साम्यानुपपत्तेः । अभेदवादे तु भ्रमस्याऽपि तदभ्युपगन्तव्यत्वप्रसङ्गेन विशेषणवैयर्थ्यापातात् ।

तैस्तैश्च विशेषैः सादृश्यस्य विवक्षितत्वे यथार्थताप्रस्तावोक्तान्येव दूषणानि आवर्तन्त इति ।

ॐ ज्ञानेति ॐ । ज्ञानेन सह विभिन्नदेशा ये घटाद्यर्थास्तज्ज्ञानानां प्रमात्वं न स्यात् तज्ज्ञानस्यात्मैकगुणस्य तन्निष्ठत्वाद् घटादीनां धराद्यधिकरणत्वादिति भावः । आत्मसमवेता ये सुखादयस्तज्ज्ञानानामप्यात्मसमवेततया समानदेशत्वात्प्रमात्वं सम्भवतीत्यत उक्तं ॐ ज्ञानासमानदेशेति ॐ । अर्थेन सहैकदेशनिष्ठोऽनुभवः प्रमेति लक्षणस्याव्याप्तिमभिधायेदानीमतिव्याप्तिं दर्शयति ॐ ज्ञानेति ॐ । ज्ञानेन सह समान एको देशो यस्यार्थस्य स तथोक्तः । आत्मत्वादिधर्मस्यान्यत्रारोपज्ञानानामारोप्यमाणधर्मस्य चात्मदेशत्वेन देशाव्यभिचाराद् देहावात्मत्वादिभ्रमेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । यादृगर्थस्तादृगाकारज्ञानं प्रमेति परिशिष्टपक्षं प्रतिषेधति ॐ नापीति ॐ । ज्ञानज्ञेययोः सर्वात्मना सादृश्यं विवक्षितम् ? उत येन केनचिद्रूपेण ? किंस्विदर्थविशेषणीभूतरूपेण ज्ञानस्यापि विशेषणतया सादृश्यं विवक्षितम् ? इति त्रिधा विकल्प्य प्रथमकल्पेऽपि तयोर्भेद उताभेद इति विकल्प्याऽऽद्यमपवदति ॐ ज्ञानेति ॐ । घटत्वज्ञानत्वद्रव्यत्वगुणत्वादिमहद्वैलक्षण्यान्न सर्वसाम्यमित्यर्थः । ज्ञानज्ञेययोरभेदे सर्वसाम्योपपत्तिरिति प्रथमविकल्पस्य द्वितीयं कल्पमाशङ्क्याह ॐ अभेदेति ॐ । यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद्बहिर्वदवभासत इति रजतादिज्ञानानामप्यर्थाभेदेन सर्वसामान्यस्याभ्युप-

---

अर्थ (विषय) है, उसी काल में ज्ञान का होना (कालिक व्याप्ति) अविनाभाव है ? अथवा (२) जिस देश में विषय है, उसी देश में ज्ञान का होना (दैशिक व्याप्ति) ? या (३) जिस प्रकार का विषय है, उसी प्रकार (विषय के समान) ज्ञान का होना ?

(१) प्रथम पक्ष (कालिक व्याप्ति) उचित नहीं, क्योंकि नदी के भरपूर प्रवाह को देख कर जो अतीत वृष्टि या काली घटा को देख कर जो अनागत (निकट भविष्य में होने वाली) वृष्टि का अनुमान किया जाता है, वह वृष्टिरूप विषय वर्तमान काल में नहीं, किन्तु उसका अनुमितिरूप ज्ञान वर्तमान है, अतः उस ज्ञान में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है ।

(२) द्वितीय (दैशिक व्याप्ति) विकल्प भी संगत नहीं, क्योंकि जो घटादि पदार्थ ज्ञान के आधारभूत देश (आत्मा) मे नहीं, उनके प्रमा ज्ञानों में दैशिक व्याप्ति सम्भव न होने के कारण उक्त लक्षण अव्याप्त हो जाता है । केवल अव्याप्त ही नहीं, अतिव्याप्त भी है, क्योंकि ज्ञान के समान देश (आत्मा) में रहनेवाले इच्छादि पदार्थों का जो 'कूलं पिपतिषति'—इत्यादि प्रयोगों के आधार पर कूल (तट) आदि जड़ पदार्थों में आरोप किया जाता है, वह आरोप (मिथ्या) ज्ञान भी प्रमा ही हो जायगा, क्योंकि उसकी विषयीभूत इच्छा उसी देश (आत्मा) में है, जहाँ ज्ञान रहता है ।

(३) तृतीय (विषय और ज्ञान की समानरूपता) पक्ष भी समीचीन नहीं, क्योंकि ज्ञान और विषय का जो भेद मानते हैं, उनके मत में ज्ञान और अर्थ का सर्वथा साम्य सम्भव नहीं और ज्ञानार्थ का जो (योगाचारादि) अभेद मानते हैं, उनके मत में तो शुक्ति-रजतादि के भ्रम ज्ञान भी अपने विषय से अभिन्न होने के कारण सर्वथा विषय के समान ही माने जाते हैं, अतः उनमें उक्त लक्षण अतिप्रसक्त होता है, 'अव्यभिचरितत्व,' विशेषण नितान्त निरर्थक

२०. अविसंवाद्यनुभवप्रमात्वखण्डनम्

अविसंवाद्यनुभवः प्रमेत्यपि न युक्तम्, अविसंवादित्वं हि ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानार्थत्वं वा ? ज्ञानान्तरेण विपरीततया अप्रतीयमानर्थत्वं वा ? प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वं वा ? अन्यदेव वा किञ्चित् ?

गन्तव्यतया कथितलक्षणं तत्रागतमिति यथार्थेति विशेषणमसमर्थमित्यर्थः। प्रकाशमानरूपैर्विशेषणतया ऽर्थसाम्यमनुभवस्येति तृतीयकल्पमाशङ्क्य पराकरोति ❀ तैस्तैरिति ❀। प्रकाशमानतया प्रसिद्धैरिति यावत्। विशेषमात्राभिधाने भ्रमादावतिव्याप्तिर्विशेषव्यक्त्यभिधानेऽननुगम इत्यादि याथार्थ्यखण्डनानि प्रसज्यन्त इत्यर्थः। चकारात् द्वितीयं कल्पं येन केनचित्सत्त्वप्रमेयत्वादिना साम्यादतिव्याप्तिर्भ्रमादाविति निरास्थत्।

बौद्धानां प्रमालक्षणमुपस्थापयति ❀ अवीति ❀। विसंवादराहित्यमविसंवादित्वमिति यावत्। पदकृत्यं तु पूर्ववदिति। अभावेऽपोह्यमाने हि भाव एवावशिष्यत इति विसंवादराहित्यं ज्ञानान्तरसंवाद इति कल्पमाह ❀ अवीति ❀। विसंवादो बाधस्तद्भिन्नत्वं ज्ञानांतरेणान्यथाबोध्यमानार्थत्वमिति कल्पान्तरमाह ❀ ज्ञानेति ❀। विपरीततया पूर्वप्रकाशितरूपाद्रूपान्तरेणाप्रकाशमानत्वमिति यावत्। नांतरीयकार्यदर्शनं अन्यज्ञानस्य संवाद इति केषांचिन्मतमनुरुध्य प्रकारान्तरेण विकल्पयति ❀ प्रतीति ❀। प्रतीयमानो व्याप्यो यस्य व्यापकस्य तद्विषयत्वमित्यर्थः। यद्वा प्रतीयमानश्चासौ व्याप्यश्च तद्विषयत्वमिति। अर्थक्रियाकारिवस्तुविषयत्वमविसंवादित्वमिति पक्षान्तरमाह ❀ अन्यदिति ❀।

होकर रह जाता है। यदि प्रकाशमान रूपों के द्वारा ज्ञान और विषय का सादृश्य माना जाता है, तब यथार्थता-निरूपण के समय (विगत पृ० २१६ पर) चर्चित दोषों की पुनरावृत्ति होती है।

२०. अविसंवादी अनुभव का प्रमात्व-खण्डन

५. अविसंवाद्यनुभवः प्रमा—

'अविसंवाद्यनुभवः प्रमा'—यह लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि यहाँ 'अविसंवादी' शब्द का अर्थ क्या (१) ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानार्थत्व है ? या (२) ज्ञानान्तर के द्वारा विपरीततया अप्रतीयमानार्थत्व ? या (३) प्रतीयमानव्याप्यविषयत्व ? अथवा (४) कुछ अन्य ही अर्थ विवक्षित है ? [बौद्धवर श्री धर्मकीर्ति ने प्रमा का लक्षण किया है—

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनम्॥ (प्र० वा० पृ० १)

अर्थात् 'विसंवाद-रहित ज्ञान को प्रमाण (प्रमा) कहा जाता है, अपने प्रदर्शित विषय की अर्थक्रियास्थितिः (समुचित कार्यकारिता) ही उस ज्ञान की अविसंवादिता है। शाब्द (शब्द-जन्य) ज्ञान भी अभिप्रेत अर्थ का प्रकाशक होने के कारण प्रमा माना जाता है।' धर्मकीर्ति के इस लक्षण का खण्डन श्री जयराशि भट्ट ने अपने 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में अविसंवादिता के पाँच विकल्पित अर्थों की अनुपपत्ति दिखा कर की है—"कोऽयमविसंवादार्थः ? किं (१) यथाव्यवस्थितार्थगृहीतित्वम् ? (२) बाधराहित्यं वा ? (३) प्रतीयमानार्थजन्यता वा (४) प्रतीयमानार्थं प्रति प्रवर्तकत्वं वा ? (५) अर्थप्रापकत्वं वा ? (त० उ० सि० पृ० २८)। यहाँ पर भी श्रीहर्षमिश्र ने अविसंवादिता के लगभग वैसे ही चार विकल्प उठा कर लक्षण का खण्डन किया है]।

न प्रथमः, धारावाहिनो भ्रमस्य प्रमात्वप्रसङ्गात्। न च प्रमाभूतं ज्ञानान्तरं विवक्षितमिति वाच्यम्, प्रमाया एव लक्ष्यमाणत्वात्।

नापि द्वितीयः, अज्ञातबाधभ्रमव्यापनात्, स्वस्थदशोत्पन्नस्य शुक्लशङ्खज्ञानादेः दुष्टेन्द्रियदशोत्पन्नतत्पीतिमज्ञानाद्युल्लिखितविषयवैपरीत्यस्य अप्रमात्वप्रसङ्गाच्च। प्रमित्यानुल्लिखितार्थवैपरीत्यभावविवक्षायां तु प्रमाया एव लक्ष्यमाणत्वादित्युक्तमनुषज्यति।

तत्र प्रथमकल्पमतिव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ। ज्ञानमात्रेण तथोल्लिख्यमानविषयत्वमविसंवादित्वमुत प्रमयेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ धारेति ॐ। मनुष्योऽहमिति देहात्मभ्रमस्य सततमुत्पद्यमानतया कथितलक्षणमस्तीति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। प्रमाभूतज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानार्थत्वं विवक्षितमिति द्वितीयमाशङ्क्याह ॐ न चेति ॐ। प्रमासिद्धौ तया तथैवोल्लिख्यमानार्थत्वविशेषणसिद्धया विशिष्टलक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च प्रमासिद्धिरिति परस्पराश्रय इत्यर्थः।

ज्ञानान्तरेण विपरीततयाऽप्रतीयमानत्वमविसंवादित्वमिति द्वितीयं निषेधति ॐ नापीति ॐ। ज्ञानमात्रेण विपरीततयाऽनुल्लिख्यमानार्थत्वम्? उत प्रमाभूतेन? किंस्विददुष्टकरणजेनेति त्रिधा विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ अज्ञातेति ॐ। यस्मिन् भ्रमे बाधो न जायते तत्रोक्तलक्षणमतिव्यापकमित्यर्थः। न चैवंभूतो भ्रम एव नेति वाच्यम्। परपक्षभ्रमस्य तथात्वादन्यथैकदर्शनपरिशेषापातात्। अतश्च सम्प्रति तन्निरासप्रयासानुपपत्तेरिति। ज्ञानान्तरेणान्यथाऽनुल्लिख्यमानार्थानुभवः प्रमेति लक्षणस्यातिव्याप्तिमभिधायाव्याप्तिमिदानीं दर्शयति ॐ स्वेति ॐ। निर्दोषदशायामुत्पन्नस्य शुक्लशङ्खादिज्ञानस्य दुष्टदशोत्पन्नशङ्खपीतिमादिज्ञानेनोल्लिखितं संसृष्टविषयीकृतं विषयवैपरीत्यं यस्य तस्योक्तलक्षणाभावादप्रमात्वं स्यादित्यर्थः। आदिपदेन स्थाणौ स्थाणुरिति बुद्धेर्दुष्टदशोत्पन्नपुरुषविपरीततया बोधितार्थत्वेनाप्रमात्वं सङ्गृह्यते। प्रमया अनुल्लिख्यमानविपरीतार्थत्वमनुभवस्याविसंवादित्वं तेन नाव्याप्तिरिति द्वितीयकल्पमाशङ्क्याह ॐ प्रमि-

---

(१) प्रथम विकल्प (ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानार्थत्वम्) उचित नहीं, क्योंकि 'अहं स्थूलः'—इत्यादि भ्रम ज्ञान की धारा जहाँ कुछ क्षणों तक प्रवाहित रहती है, वहाँ प्रथम ज्ञान की विषय वस्तु द्वितीय भ्रम ज्ञान के द्वारा उल्लिखित होती है, अतः प्रथम भ्रम ज्ञान प्रमा होना चाहिए। [दूर से जिस जल का चाक्षुष ज्ञान होता है, समीप जाने पर उसी का स्पार्शन होता देख कर प्रायः व्यवहार में प्रथमोत्पन्न चाक्षुष जल-ज्ञान को प्रमा मान लिया जाता है। यद्यपि अन्य भ्रमज्ञानीय विषय का संवाद या समर्थन द्वितीय ज्ञान से नहीं होता, तथापि भ्रम-ज्ञान की धारा में वह सम्भव हो जाता है, अतः उसमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति दी गई]। यदि कहा जाय कि वह ज्ञानान्तर प्रमाभूत ज्ञान होना चाहिए, जिसके द्वारा प्रथम ज्ञान के विषय का समर्थन किया जाता है। प्रकृत में वह भ्रम ज्ञानरूप है, प्रमा नहीं, अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। तो वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रमा ज्ञान का ही लक्षण खोजा जा रहा है, उसी में ही उसी की अपेक्षा करने पर आत्माश्रय दोष प्रसक्त होता है।

(२) द्वितीय विकल्प (ज्ञानान्तरेण विपरीततयाऽप्रतीयमानार्थत्वम्) भी संगत नहीं, क्योंकि वैसा रजतादि-भ्रम ज्ञान भी सम्भव हो सकता है, जिसके विपरीत विषय की प्रतीति किसी कारण नहीं हो सकी, अतः उस भ्रम ज्ञान में भी उक्त प्रमा का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ किसी व्यक्ति के स्वस्थ नेत्रों से 'शुक्लः शङ्खः'—ऐसा प्रमा ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु समयान्तर में उसी व्यक्ति के पीलिया रोग से आक्रान्त नेत्र बताते हैं—'पीतः शङ्खः'। वहाँ प्रथमोत्पन्न प्रमा ज्ञान में अप्रमात्वापत्ति होती है, क्योंकि उस के विपरीत विषय की प्रतीति द्वितीय ज्ञान (भ्रम) के द्वारा हो जाती है। यदि विपरीतार्थ की प्रतीति प्रमारूप अपेक्षित हो, तब पूर्ववत् आत्माश्रय दोष हो जाता है, क्योंकि प्रमा-लक्षण

अदुष्टकरणकज्ञानेनाबाधितत्वं विवक्षितमिति चेत्, तदेव तर्हि प्रमालक्षणमस्तु। किञ्च—दुष्टत्वनिरूपणमन्तरेण अदुष्टत्वस्य दुर्निरूपत्वात्।

ननु किमेतावता ? दुष्टत्वं विपरीतज्ञानप्रयोजकस्तद्धेतुगतो विशेष इति सुवचमेवेति। न, विपरीतपदव्यवच्छेद्याप्रमितौ तदुपादानवैयर्थ्यात्। तदनुपादाने च ज्ञानजनकत्वमात्रं दुष्टत्वमिति अदुष्टकरणजं ज्ञानं नास्त्येवेति स्यात्।

विपरीतपदव्यवच्छेद्या प्रमैवेति चेन्न, तस्या एव लक्ष्यमाणत्वात्। तदीय

त्येति ॐ। प्रमित्यऽनुल्लिखितमप्रकाशितमर्थस्य विपरीतत्वं यस्य स तथोक्तस्तस्य विवक्षायामिति यावत्। प्रमाया एव लक्ष्यमाणत्वादित्यत्रोक्तोऽन्योन्याश्रयः स्यादित्यर्थः। लक्षणं लक्ष्याधिकरणं वक्तव्यं अतश्च प्रमयाऽनुल्लिखितविपरीतार्थोऽनुभव इति लक्षणस्य प्रमानिष्ठत्वे प्रमायाश्च लक्षणविशेषणतया लक्षणान्तर्गतायाः स्ववृत्त्यापात इति तोरर्थः। अदुष्टकरणजज्ञानेनानुल्लिख्यमानार्थविपरीतत्वमविसंवादित्वमिति चरमकल्पमवलम्बते ॐ अदुष्टेति ॐ। अदुष्टकरणजज्ञानं प्रमेत्युक्ते व्यभिचाराभावावितरद्व्यर्थमतश्च व्यर्थविशेषणासिद्धं लक्षणमिति दूषयति ॐ तदिति ॐ। न च स्मृतावतिव्याप्तिर्ज्ञानपदेऽनुभवाभिवेचनेन सौस्थ्यादिति भावः।

अदुष्टकरणजन्यज्ञानानुल्लिख्यमानार्थविपरीतत्वविशेषणवैयर्थ्यं कथितम्। सम्प्रति तदेव न निरूपणसरणिं सहत इत्याह ॐ किं चेति ॐ। असिद्धिः लक्षणस्येति शेषः। अदुष्टेति नञोऽभावविरुद्धान्यत्वानामन्यतमार्थत्वेऽपि प्रतियोगिभूतदुष्टत्वनिरूपणमन्तरेणादुष्टत्वमसिद्धं तद्विशिष्टं लक्षणमप्यसिद्धमिति दुष्टत्वं च प्रमाधीननिरूपणं सा चादुष्टत्वसिद्ध्येति चक्रकापात इति भावः। यन्नान्यतमस्यापि नान्यतः सिद्धिस्तत्र चक्रकादय उपसर्पन्ति इह तु दुष्टत्वं स्वलक्षणादन्यत एव सिद्ध्यति तेन न चक्रकक्रकचविदारणमिति चोदयति ॐ नन्विति ॐ। दुष्टत्वनिरूपणमन्तरेणादुष्टत्वं दुर्निरूपमित्येतावता किमिति यावत्। दुष्टत्वसिद्धावदुष्टत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च दुष्टत्वसिद्धिरिति परस्पराश्रय इति नेत्याह ॐ दुष्टत्वमिति ॐ। दुष्टत्वमिति लक्ष्यनिर्देशः इतरल्लक्षणम्। विशेष इत्युक्ते कारणसमवेतत्वरूपकार्यगतविशेषेऽतिव्याप्तिस्तन्मा भूदित्याह ॐ हेत्विति ॐ। तावत्युक्ते कारणगतकार्यजननशक्तावतिव्याप्तिस्तन्मा प्रसाङ्क्षीदित्याह ॐ तदिति ॐ।

ही विचार की विषय वस्तु है।

यद्यपि उक्त स्थल पर 'पीतः शङ्खः'—इस प्रकार की विपरीतोल्लेखी या बाध ज्ञान दुष्ट (रोगी) इन्द्रियों से उत्पन्न होता है, अदुष्ट करण से जनित ज्ञान के द्वारा अबाधितत्व विवक्षित होने पर वहाँ अव्याप्ति नहीं होती, तथापि तब तो 'अदुष्टकरणजन्यं ज्ञानं प्रमा'—इतना ही प्रमा का निरवद्य लक्षण सुलभ हो जाता है, इसे अविसंवादार्थत्व मान कर तद्घटित लक्षणान्तर करना द्राविड़ प्राणायाममात्र है। इस प्रकार की विवक्षा में यह भी एक दोष है कि प्रमात्वाप्रमात्व-विश्लेषण के विना दुष्टत्व-निरूपण सुकर नहीं और उसके विना अदुष्टत्व का निरूपण ही दुष्कर है।

अदुष्टत्व का निरूपण दुष्कर क्यों ? 'पीतः शङ्खः' इत्यादि विपरीत ज्ञान का प्रयोजक (जनकतावच्छेदक) जो नेत्रादिगत रोगादि विशेष है, वही दुष्टत्व और उससे भिन्न अदुष्टत्व होता है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ 'विपरीत' पद से किसका व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) किया जाय—यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका। ऐसी अवस्था में 'विपरीत' पद का उपादान (ग्रहण) व्यर्थ है। उसका उपादान न करने पर 'ज्ञानजनकत्वं दुष्टत्वम्'—इतना ही दुष्टत्व का लक्षण रह जाता है। तब तो अदुष्टकरण-जन्य ज्ञान ही कहाँ मिलेगा ?

यदि कहा जाय कि 'विपरीत' पद से प्रमा का ही व्यवच्छेद किया जाता है, अतः दुष्टत्व का पर्यवसित लक्षण होता है—'अप्रमाज्ञानप्रयोजकः तद्धेतुगतो विशेषः'। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमा ही तो लक्ष्यमाण है, प्रमा का इतर-व्यावृत्त (असङ्कीर्ण) स्वरूप ही

स्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्य अद्याप्यप्रतीतेः कुतो व्यवच्छेदः प्रत्येतव्य इति व्यवच्छिन्न-तज्ज्ञानमन्तरेण व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमशक्यमिति आत्माश्रयान्योन्याश्रयौ अनवस्था वा।

एकोऽनेकविशेषेऽर्थे विशेषो यत्र लक्ष्यते।
तद्विशेषान्तरान्यत्वाद् दोषस्तत्रैव धावति ॥ ३१ ॥

तत्पदेन विपरीतप्रत्ययपरामर्शः। तावत्युक्ते चक्षुष्ट्वादावतिप्रसक्तिस्तन्निरसनायाह ※ ज्ञानेति ※। चक्षुष्ट्वादि न ज्ञानप्रयोजकं व्यभिचारात्। एवमपि गुणेऽतिप्रसक्तिस्तत्पराकरणं ※ विपरीतेति ※। विपरीतज्ञानप्रयोजकमितीन्द्रियस्वरूपे प्रसक्तिनिवारणाय तद्धेतुगत इति विशेषणम्। तावति कथित एकदेशकालावस्थानरूपमेलकेऽतिप्रसक्तिस्तद्वारणं विशेष इति। न च तद्विशेषः सकलकारणसाधारणत्वादिति।

विपरीतज्ञानेत्यत्र विपरीतपदव्यावर्त्यमस्ति न वा ? अस्ति चेत्, प्रमितं न वा ? न चेत्, विशेषणमुपादीयते, न वा ? यद्याद्यस्तत्राह ※ नेति ※। अप्रमितस्य सप्तमरसादिवद्व्यवच्छेदानर्हत्वाद्विपरीतेति विशेषणं व्यर्थमित्यर्थः। तर्हि विपरीतपदं परित्यज्य ज्ञानजनकेत्यादिलक्षणमाचक्ष्महे इति द्वितीयमाशंक्याह ※ तदिति ※। प्रमाप्रयोजकगुणेऽतिव्याप्तिरिति भावः। प्रमितैव प्रमा विपरीतपदेन व्यवच्छिद्यत इति द्वितीयमाशंकते ※ विपरीतेति ※। लक्षणप्रतीतेः प्राक् प्रमाया अप्रतीतेस्तत्प्रतियोगिकस्तद्धर्मिको वा व्यवच्छेदः प्रमातुमशक्य इति परिहरति ※ नेति ※। स्वरूपसत्याः प्रमाया व्यवच्छेदः किं न स्यादित्यत आह ※ तदिति ※। प्रमास्वरूपस्याप्रमाव्यावृत्तस्याद्याप्यसिद्धत्वादप्रमायां कुतः प्रतियोगिनो व्यवच्छेदः प्रत्येतव्यो ज्ञेयो न तु कुतश्चिदात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गादिति सम्बन्धः। न च भेदः सत्तामात्रेण प्रतियोगित्वोपयोगी, दूरतरगिरिशिखरपरिवर्तिनोऽस्तर्वोर्व्यावृत्त्यप्रतीतौ प्रतियोगित्वाप्रतीतेरित्याशयः। फलितमाह ※ इतीति ※। व्यावृत्तप्रमाज्ञानाभावे दुष्टजन्येत्यादिलक्षणाधीनव्यावृत्तप्रमाज्ञानासिद्धिरिति स्वसिद्धौ स्वसिद्धिरित्यात्माश्रयः। प्रमासिद्ध्या लक्षणसिद्धिरतो नात्माश्रय इत्यत आह ※ अन्योन्येति ※। प्रमासिद्ध्या लक्षणं सिद्ध्यति लक्षणसिद्ध्या प्रमा सिद्ध्यतीति। ततो लक्षणान्तरेणैव प्रमासिद्धिस्तस्य च प्रमान्तरसिद्ध्यैवेति चेत्तत्राह ※ अनवस्थेति ※। न चैतत्खण्डनमेतल्लक्षणस्यासाधारणं किं तु सार्वत्रिकमिति दर्शयन् श्लोकेन सङ्गृह्णात्येक इति। यत्रानेकविशेषेऽर्थे एको विशेषो लक्ष्यते तत्रैव आत्माश्रयादिदोषो धावतीत्यन्वयः। हेतुं व्याचष्टे ※ तदिति ※। स चासौ विशेषान्तरेभ्योऽन्यश्चेति तथोक्तस्तद्भाव-

---

अभी तक स्थिर नहीं हुआ, तब 'विपरीत' पद से उसके व्यवच्छेद की प्रतीति ही कैसे होगी ? फलतः आत्माश्रयादि दोष प्रसक्त होते हैं [आत्माश्रयादि दोषों की अभिव्यञ्जना व्यवच्छिन्न-तज्ज्ञानमन्तेरण व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमशक्यम्'—इस एक ही वाक्य से की गई है—(१) प्रमा-व्यवच्छिन्न विपरीत ज्ञान के ज्ञान में प्रमा-व्यवच्छिन्न विपरीत प्रमा के ज्ञान की अपेक्षा होने पर आत्माश्रय दोष होता है। (२) प्रमा-व्यवच्छिन्न अप्रमा का ज्ञान हो जाने पर अप्रमा-व्यवच्छिन्न प्रमा का ज्ञान एवं अप्रमा-व्यवच्छिन्न प्रमा का ज्ञान हो जाने पर प्रमा-व्यवच्छिन्न अप्रमा का ज्ञान मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष है (३) प्रमा-व्यवच्छेद का ज्ञान होने पर अप्रमा, अप्रमा का ज्ञान हो जाने पर अप्रमा के व्यवच्छेद का ज्ञान मानने पर अनवस्था होती है। (४) प्रमा, प्रमा व्यवच्छेद, अप्रमा और अप्रमा-व्यवच्छेद'—इन चार पदार्थों का सापेक्ष ज्ञान मानने पर चक्रक और इससे अधिक ज्ञानों की परस्पर सापेक्षता में अनवस्था दोष होगा]।

आत्माश्रयादि दोष केवल उक्त स्थल पर ही नहीं, अपितु जहाँ पर ज्ञान के समान एक पदार्थ स्मरण और अनुभवादि स्वरूप अनेक विशेषरूपों में विभक्त होता है, और अनुभव का लक्षण स्मरणान्यत्वेन या स्मरण का लक्षण अनुभव-भिन्नत्वेन किया जाता है, ऐसे सभी स्थलों पर आत्माश्रयादि दोष प्रसक्त होते हैं।

नापि तृतीयः, व्याप्यशब्देन व्याप्यमात्रम्, तद्विशेषो वा कश्चिदभिप्रेतः स्यात् ? आद्ये सधूमाग्निविषयस्य स्वप्नज्ञानस्य अनाप्तवाक्यजबोधस्य वा नाप्रमात्वं स्यात्। नापि द्वितीयः, स ह्यर्थक्रिया वा ? सामग्री वा ? उभयत्रापि पूर्वदोषानिवृत्तेः।

एकदा च सर्वत्र प्रमाणासम्भवेन क्रमाश्रयणे तत्तदर्थक्रियातत्तत्सामग्रीपरम्परा-

---

स्तत्वं तस्मादिति यावत्। एतदुक्तं भवति—यत्राबाधिभेदसहिते पृथिवीलक्षण एको विशेषो लभ्यते गन्धवतीति तत्र गुणवती:युक्तेऽबाधिप्रसक्ति निरसितुं गन्धेति विशेषणं वाच्यं ततश्च व्यवच्छेद्याप्रतीतौ विशेषणवैयर्थ्यम्, प्रतीतौ च स्वरूपेण प्रतीतिरप्रयोजिकेति व्यवच्छिन्नप्रतीतिर्वाच्या एवं च व्यवच्छिन्न-पृथिवीत्वसिद्धौ व्यवच्छिन्नाबाधिव्यवच्छेदे पृथिवीसिद्धिरित्यात्माश्रय एवमन्योन्याश्रयोऽपि सुसंपादमिति।

प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वमविसंवादित्वमिति तृतीयं पराचष्टे ❀ नापीति ❀। व्याप्यशब्दस्य व्याप्तिविषयसामान्ये तद्विशेषे च साधारण्याद्विकल्पयति ❀ व्याप्येति ❀। प्रतीयमानव्याप्यमात्रविषयोऽनुभवः प्रमेति प्रथमकल्पे लक्षणार्थः, स चानुपपन्नोऽतिप्रसक्तेरित्याह ❀ आद्य इति ❀। अग्निव्याप्यो धूमः स्वप्ने च प्रतीयमानधूमवद्वह्निविषयप्रत्ययो जायते न चासौ प्रमा, अस्ति च प्रतीयमानव्याप्यविषयानुभवत्वं लक्षणमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अस्वप्नप्रत्ययेन प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वमविसंवादित्वमतो नातिव्याप्तिरित्यत आह ❀ अनाप्तेति। सधूमो वह्निरचले ज्वलतीति वाक्याभासजनितप्रत्ययस्य कथितलक्षणादप्रमात्वं न स्यादित्यतिव्याप्तिरित्याशयः। प्रतीयमानव्याप्यविशेषविषयत्वमविसंवादित्वमिति द्वितीयं प्रसज्य प्रतिषेधति ❀ नापीति ❀। दूषणं स्फुटयितुं विकल्पयति ❀ स हीति ❀। अर्थक्रिया दाहपाकादिरूपा। सामग्री तृणपर्णादिरूपा। उभयोरन्यतरोऽस्तु नैकतरपक्षनिर्बन्धस्ततः किमित्यत आह ❀ उभयेति ❀। अर्थक्रियासामग्रीविशिष्टकृशानुविषयस्वप्नप्रत्ययस्यानाप्तवाक्यजन्यज्ञानस्य वा तादृग्विषयस्याप्रमात्वं न स्यादित्यर्थः। व्यापकविषयप्रत्ययस्यैव व्याप्यविषयत्वमविसम्वादित्वम्, उत व्याप्यविषयप्रत्ययस्तदनन्तर-भाविनो व्यापकप्रत्ययस्याविसम्वाद इति विकल्प्य प्रथमं पराचष्टे ❀ एकेति ❀। युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्ग"मिति वचनादेकदैव व्याप्यव्यापकविषयप्रत्ययद्वयं न चातुरीं धत्ते। नाप्येको व्याप्यव्यापकद्वयगोचरः, प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वोक्तेः अन्यथा आत्माश्रयादिति प्रथमपक्षासम्भवेन द्वितीय आश्रयणीय इत्यर्थः। आश्रीयतां तर्हि द्वितीयकल्पस्तत्राह ❀ क्रमेति ❀। अर्थक्रिया व्याप्यशब्दार्थश्चेत्प्रथमतस्तां गृहीत्वा द्वितीय-लक्षणे व्यापको ग्राह्यस्ततश्चार्थक्रियाज्ञानस्यापि प्रमात्वसिद्धयर्थमेव तद्व्याप्यार्थक्रियान्तरमवसेयमेवं तत्र तत्रापीत्येकस्मिन्नेव विषये पुरुषायुषोपक्षयाद्विषयान्तरसंचारो मुक्तिमुमुक्षू च न स्यातामेवं सामग्री-

---

(३) तृतीय (प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वम्) कल्प में 'व्याप्य' शब्द से प्रसिद्ध (व्याप्त्याश्रयीभूत) व्याप्य पदार्थ विवक्षित है ? अथवा कोई विशेष अर्थ ? प्रथम कल्प के अनुसार व्याप्यरूप धूम और अग्नि को विषय करनेवाला स्वाप्न भ्रम अथवा अनाप्त-वाक्य-जन्य भ्रम प्रमा हो जायगा, क्योंकि वह भी वह्नि के व्याप्यभूत धूम को विषय करता है। द्वितीय कल्प के अनुसार वह विशेष पदार्थ अर्थक्रिया (दाह, पाकादि रूप प्रयोजन की सिद्धि) विवक्षित है ? अथवा ज्ञान की समस्त सामग्री का संवलन ही ज्ञानगत अविसंवादित्व है ? दोनों कल्पों का अनुसरण करने पर भी दाह, पाकादि रूप अर्थ क्रिया एवं तृण-पर्णादि सामग्री से संवलित अग्नि के स्वाप्न ज्ञान में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति बनी ही रहती है। [कारण को व्यापक एवं कार्य को व्याप्य माना जाता है, जैसे अग्नि की तृण-पर्णादि कारण सामग्री अग्नि की व्यापक और दाहपाकादि अर्थक्रिया को अग्नि का व्याप्य मानते हैं। अविसंवादित्व के तृतीय विकल्प में जो 'प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वम्' कहा गया है, वहाँ 'प्रतीयमानो व्याप्यो यस्य, एवंभूतो व्यापको विषयो यस्य ज्ञानस्य'—ऐसी व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर अग्नि के व्यापकीभूत तृण-पर्णादिविषयक ज्ञान को अग्नि-ज्ञान का अथवा प्रतीयमानश्चासौ व्याप्यश्च प्रतीयमानव्याप्यः, से विषयो यस्य, एवंरूप अग्नि-व्याप्य दाह-पाकादि अर्थक्रियाविषयक ज्ञान

वगमनियमाभ्युपगमे एकस्मिन्नेव विषये पुरुषायुषः पर्यवसानप्रसङ्गात्। विच्छेदाभ्युपगमे त्वन्तिमावगमस्याप्रामाण्याद् आप्रथमप्रमात्वापत्तेः। वास्तवतदर्थक्रियात्वस्य च दुर्निरूपत्वेन व्यवहारानर्हत्वात्। तथाप्रतीतिमात्रस्य अप्रमासाधारण्यात्।

नन्वेवं चतुर्थः पक्षोऽस्तु। तथा हि—अर्थक्रियाकारिविषयत्वं वाऽविसंवादि-

---

व्याप्यत्वेऽपीत्यर्थः। व्याप्यप्रत्ययस्य त्रिचतुरकक्षासु विश्रामाश्रयणान्नैकोऽपि दोष इत्यत आह ❀ विच्छेद इति ❀। यस्मिन्विच्छेदस्तस्यैवाप्रमात्वमतः पूर्वतनस्येत्येवं प्रथमपर्यन्तमप्रमात्वमापतेदित्यर्थः किं च प्रतीययानवास्तवार्थक्रियालक्षणव्याप्यविषयत्वमविसम्वादित्वम ? उत वास्तवत्वादिविशेषविधुरप्रतीयमानार्थक्रियाविषयत्वमिति विकल्प्याद्येऽसम्भवमाह ❀ वास्तवेति ❀। प्रमितत्वव्यतिरेकेण वास्तवत्वासिद्धेरद्यापि प्रमितेरसिद्धेर्वास्तवत्वासिद्धिरतश्च प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वानुभवात्प्रमेति व्यवहार्यो न भवतीत्यर्थः। गत्यन्तराभावाद् द्वितीयकल्पाश्रयणेऽतिप्रसक्तेरनिरास इत्याह ❀ तथेति ❀। स्वप्नप्रत्ययादावपि प्रतीयमानव्याप्यमात्रविषयत्वं सम्भवतीत्यर्थः।

कल्पत्रयनिराकरणमपि महदिन्द्रजालमेव मदभिसंहितार्थास्पर्शनादिति चतुर्थं कल्पं चोदयति ❀ नन्विति ❀। तत्र सतो निर्वचनतापातान्मैवमित्यत आह ❀तथा हीति❀। उक्तमर्थमाप्तवाक्येन द्रढयति ❀ तथेति ❀। प्रमाणमिति धर्मकीर्तेर्लक्ष्यनिर्देश इतरल्लक्षणम्। रजतादिज्ञानव्यावृत्त्यर्थमविसंवादीति विशेषणं। न च स्मृतावतिव्याप्तिः स्मृतिप्रत्यभिज्ञयोस्तन्मते विसम्वादात्। कस्तर्ह्यविसम्वादो यद्वतो ज्ञानस्य प्रमाणत्वमित्यत आह ❀ अर्थेति ❀। स्थितिः सत्त्वमित्येव। तृतीयकल्पान्तर्गतोऽयं चतुर्थः कल्पो न पृथगुद्भावनीय इति चेन्न, तत्र व्याप्यपुरस्कारेणार्थक्रियोद्भावनादिह च स्वतन्त्रतया तदुपन्यासावनुक्तदोषान्तराभिधित्सया पृथग्विकल्पोपपत्तेरिति।

को अग्नि-ज्ञान का संवादक माना जाता है। रजतादि-भ्रम स्थल पर न तो रजत-सन्निकर्षादि सामग्री का निश्चय होता है और न आभूषण-निर्माणादि अर्थक्रिया का ज्ञान, अतः संवादक-द्वयी का अभाव होने के कारण वहाँ रजत-ज्ञान को अप्रमा माना जाता है]।

आशय यह है कि 'उसी ज्ञान को प्रमा माना जाना चाहिए, जिस ज्ञान के अनन्तर उसकी विषयीभूत वस्तु के कारण (सामग्री) अथवा कार्य (अर्थक्रिया) का अनिवार्यरूप से ज्ञान होता है। कारण अथवा कार्य का ज्ञान भी प्रमात्मक होना चाहिए, अतः एक प्रमा ज्ञान का अविसंवाद दूसरे प्रमा ज्ञान पर निर्भर है। " गपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो ..." (न्या० :० १।१।१६) के अनुसार दो ज्ञान एक साथ उत्पन्न नहीं सकते, अतः अग्न्यादि विषयक ज्ञानों में प्रमात्व निश्चय करने के लिए दाह-पाकादिरूप अर्थक्रिया का ज्ञान, अर्थक्रिया-विषयक ज्ञान में प्रमात्व की व्यवस्था के लिए द्वितीय अर्थक्रिया-ज्ञान और उसमें प्रमात्व की उपपत्ति के लिए तृतीय अर्थक्रिया-ज्ञान की अपेक्षा—इस प्रकार किसी एक ही विषय में पुरुष की पूरी आयु समाप्त हो सकती है और यदि कहीं संवादकीभूत ज्ञान की धारा का विच्छेद माना जाता है, तब अन्तिम ज्ञान में अप्रमात्व आ जाने के कारण पूर्व-पूर्व समस्त ज्ञानों में अप्रमात्व प्रसक्त हो जाता है। दूसरी बात यह है कि प्रमा ज्ञान का निरूपण जब तक सम्पन्न नहीं हो जाता, तब तक वास्तविक अर्थक्रिया का निरूपण सम्भव भी नहीं, अत एव 'प्रतीयमानार्थक्रियाविषयत्वमविसंवादित्वम्'—ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता और वास्तविक अर्थक्रिया का ग्रहण न कर प्रतीयमान अर्थक्रिया का उपादान करने पर स्वाप्न भ्रमादि अप्रमा ज्ञानों में भी प्रतीयमान अर्थक्रिया को लेकर अतिप्रसङ्ग हो जाता है।

(४) चतुर्थ (अन्यदेव वा यत्किञ्चित्) कल्प का ग्रहण यदि किया जाता हैं, तब श्रीधर्मकीर्ति-द्वारा प्रतिपादित "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अविसंवादनमर्थक्रियास्थितिः" (प्र० वा० पृ० १) यह लक्षण सामने आता है [अविसंवादनरूप 'अर्थक्रियास्थिति' का

त्वमिति । यथाऽऽह—'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिश्चाविसंवादः' इति ।

न, सामान्यतो विवक्षायां भ्रान्तावपि प्रसङ्गात् । प्रतीयमानरूपेणार्थक्रियाकारित्वमर्थस्य विवक्षितमिति चेन्न, दुरवधारणत्वात् । तदर्थक्रियादर्शनात् तदवधारणमिति चेन्न, विनाप्यर्थक्रियां तद्दर्शनसम्भवात् । अर्थक्रियाप्रमितिरभिधित्सितेति तु दूषित-

येन केनचिदाकारेणार्थक्रिया विवक्षिता ? किं वा प्रतीयमानाकारेणेति ? विकल्प्याद्यमपवदति ※ नेति ※ । रजतज्ञानविषयस्यापि येन केनचित्पुरोवर्तित्वशुक्तित्वाद्याकारेणार्थक्रियाकारित्वमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीयं कल्पमुद्भावयति ※ प्रतीयमानेति ※ । यथाकथञ्चिदर्थक्रियाकारित्वं न विवक्षितं किं तु प्रतीयमानाकारेण, प्रकृते च प्रतीयमानरजताकारेणार्थक्रियाकारित्वं नास्ति तेन नातिव्याप्तिरित्यर्थः । अर्थक्रियाशक्तत्वं विवक्षितम् ? उतार्थक्रियाजनकत्वमेव ? इति द्विधाऽपि लक्षणासिद्धिरित्यभिप्रेत्य दूषयति ※ नेति ※ । शक्तेरतीन्द्रियत्वात्प्रथमतः प्रमाणभूमौ ज्ञातुमशक्यतया तद्विशिष्टलक्षणासिद्धिरिति । द्वितीयेऽपि भ्रान्तिज्ञानस्यार्थक्रियाजनकत्वाद्विषयस्य वास्तवार्थक्रियाकारित्वं दुरवधारणमित्यसिद्धिरिति भावः । प्रतीयमानाकारस्यार्थक्रियाशक्तत्वमर्थक्रियादर्शनादनुमीयत इति शंकते ※ तदिति ※ । यद्वा घटस्य तत्त्वव्यवस्थापकोऽनुभव एव यथा, तथा प्रतीयमानाकारार्थक्रियादर्शनात्तथात्वं निश्चेतव्यमित्यनुभवेन व्यवस्थाप्यत इति शंकते । ※ तदिति ※ । अर्थक्रियादर्शनमात्रेण तथात्वाधिगतिरुत तत्प्रमित्येति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ※ नेति ※ । यथा रजतं विनाऽपीदं रजतमिति प्रतीतिस्तथाऽर्थक्रियाव्यतिरेकेणापि तद्दर्शनसम्भवान्न तन्मात्रेण तथात्वावगतिरित्याशयः । द्वितीयमाशंक्य प्रतिषेधति

रहस्योद्घाटन करते हुए प्रज्ञाकर गुप्त ने कहा है—"अर्थस्य दाहपाकादेः क्रिया निष्पत्तिः, अर्थक्रिया तस्याः स्थितिरविचलनमविसंवादनं व्यवस्था वा" (प्र० वा० भा० पृ० ४)। आचार्य धर्मोत्तर भी कहते हैं—"अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते, तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते, प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम्, नान्यत् ।" (धर्मो० प्र० पृ० १७ । योगाचार की दृष्टि में अर्थक्रिया-स्थिति का अर्थ अर्थक्रिया की सत्ता नहीं, अपितु अर्थक्रिया का निर्भास होता है, जैसा कि श्री कमलशील कहते हैं—"तत्र चार्थक्रियानिर्भासिज्ञानसंवेदनमेवाविसंवादः" (त० सं० पृ० ९४९) । संवाद को संवादान्तर की अपेक्षा नहीं होती, अतः अनवस्था की प्रसक्ति नहीं होती, श्री शान्तरक्षित कहते हैं—

संवादेनापि संवादः पुनर्मृग्यस्तथैव न ।
भ्रान्तिहेतोरसद्भावात् स्वतस्तस्य प्रमाणता ।। (तं० सं० पृ० ९४६)] ।

श्रीधर्मकीति-कीर्तित उक्त लक्षण भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि (१) कथित अर्थक्रिया येन केनचित् आकारेण विवक्षित है ? अथवा (२) प्रतीयमानाकरेण ? प्रथम पक्ष के अनुसार शुक्ति-रजतादि भ्रम ज्ञानों में भी लक्षण की अतिप्रसक्ति होती है, पुरोवर्तित्व, शुक्तित्वादिरूप से (वर्तमान शुक्ति पदार्थ भी) शुक्त्यर्थी व्यक्ति के लिए सार्थक (अर्थक्रियाकारी) होता है। प्रतीयमान रजतत्वाकारेण अवश्य वह अर्थक्रियाकारी नहीं अर्थात् उसका रजत के रूप में उपयोग नहीं हो सकता, किन्तु विशेषरूपेण अर्थक्रिया-कारिता का अवधारण तो सत्य रजतादि में भी सम्भव नहीं, [अर्थात् सत्य रजत-स्थल पर भी 'इदं रजतम्—इस प्रमा ज्ञान को अविसंवादी तभी कहा जा सकता है, जब कि उसी समय यह भी निश्चय हो जाय कि प्रतीयमान पदार्थ आभूषणादि के रूप में परिणत हो जाने की क्षमता रखता है। किन्तु जब तक पुरुष प्रवृत्त होकर रजत का ग्रहण और स्वर्णकार के यहाँ ले जाकर आभूषण बनवा नहीं लेता, तब तक यह अवधारण (निश्चय) नहीं कर सकता कि प्रतीयमान पदार्थ उसके योग्य है] ।

केवल अर्थक्रियाकारिता के प्रतीतिमात्र से अर्थक्रियाकारिता की सत्ता का निश्चय नहीं

मेव, प्रमाया एव निरूप्यमाणत्वात् ।

अभिप्रायाविसंवादात् प्रमायां सर्वमुच्यत इति चेन्न, तदा अभिप्रायाविसंवादस्य स्वप्नादिप्रत्ययेऽपि सम्भवात् । कालान्तराविसंवादस्य च दुरवधारणत्वात् ।

एतेन प्राप्त्यादियोग्यता अविसंवादार्थं इत्यपि निरस्तम् । दुराबाध इव चायं धर्मकीर्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति ।

❀ अर्थेति ❀ । प्रमाया एव निरूप्यमाणत्वादित्यात्माश्रयादिना दूषितमित्यर्थः । अर्थक्रियाकारिविषयत्वं ज्ञानस्य नाविसम्वादित्वमपि तु ज्ञानविषयत्वे योऽभिप्रायो घटेनोदकमाहरिष्यामीति तस्याविसम्वादित्वमेकविषयतया ज्ञानस्योच्यत इति शंकते ❀ अभिप्रायेति ❀ । तत्कालीनाऽविसम्वादः ? उत कालान्तरीय इति विकल्प्याऽऽद्यमतिव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀ । द्वितीयेऽसम्भवमाह ❀ कालेति ❀ । अविसम्वादो नाम बाधाभावः स च केषांचित्प्रत्यक्षोऽनुमेयो वा, परेषां योग्यानुपलब्धिलिङ्गो वा, सर्वथाऽपि दुरवधारण एव, प्राकृतप्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रगोचरत्वात्कालान्तराविसम्वादेन व्याप्तलिङ्गाभावादयोग्यत्वाच्च तस्येदानीं षष्ठप्रमाणानवसरादित्यर्थः ।

प्राप्तियोग्यत्वमर्थस्याविसम्वादित्वन्तद्गोचरानुभूतिः प्रमेत्याशङ्क्याह ❀ एतेनेति ❀ । वास्तवप्राप्तियोग्यताया दुरवधारणत्वात्प्रातिभासिक्या रजतादावपि सम्भवाद्यथाकथंचित्प्राप्तियोग्यतया प्रतीयमानाकारेणेत्यादिविकल्पासहत्वाच्चेत्यर्थः । आदिपदेन प्रवृत्तियोग्यताग्रहः । मन्दबुद्धिमोहमात्रप्रयोजनतया प्रणीतमिदं लक्षणं धर्मकीर्तिनेति साक्षेपमुप संहरति ❀ दुराबाध इति ❀ । दुःखेन बाधो यस्य स तथोक्तः । इव ग्रहणान्मन्दबुद्धीनामबाध्य इव भातीति तस्मिन् मार्गे समाहितेन भवितव्यं विश्रब्धेन परिहर्तव्य एवायं मार्ग इत्यर्थः ।

किया जा सकता, क्योंकि अर्थक्रियाकारिता के विना भी वैसे ही अर्थक्रियाकारिता की प्रतीति हो सकती है, जैसे रजत के विना भी शुक्ति में रजत की प्रतीति हो जाती है । 'अर्थक्रिया के ज्ञानमात्र से अर्थक्रियाकारिता का अवधारण न हो सकने पर अर्थक्रिया की प्रमा से अर्थक्रियाकारिता की सत्ता का अवधारण हो जायगा'—ऐसा कहने पर आत्माश्रय दोष हो जाता है, क्योंकि प्रमा ही विचार की विषय वस्तु है, उसी के निरूपण में उसी की अपेक्षा हो जाता है ।

'इदं रजतम्—इत्यादि ज्ञानों में अभिप्राय का अविसंवादमात्र (अबाध) हो जाने से प्रमात्व का अवधारण हो जाता है, प्रवृत्ति के सफल हो जाने के पश्चात् नहीं'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अभिप्रायाविसंवाद तात्कालिक (ज्ञानकालीन) विवक्षित है ? अथवा प्रवृत्तिकालीन ? ज्ञान के समय तो स्वाप्न ज्ञान में भी अभिप्रायाविसंवाद होता है अर्थात् स्वप्न में रजत-ज्ञान के समय तो 'मैं इससे आभूषण बनाऊँगा'—इस प्रकार के अभिप्राय का अविसंवाद (अबाध) होता ही है । कालान्तरीण अभिप्रायाविसंवाद का ज्ञान-काल में अवधारण सम्भव नहीं । [श्री प्रज्ञाकर गुप्त ने कहा है—

"अभिप्रायाविसंवादान् प्रमाणं सर्वमुच्यते ।
न सजातिविजातीयविज्ञानोत्पत्तिमात्रतः ।।" (प्र० वा० भा० पृ० ६)

किसी प्रमा का प्रमात्व किसी सजातीय अथवा विजातीय संवादक ज्ञान पर निर्भर नहीं होता, अपितु अभिप्राय का अविसंवाद (अबाध) ही प्रमात्व का प्रयोजक होता है । अत एव सविकल्पार्थ-ग्राही अनुमान प्रमाण को भ्रमरूप मानते हुए भी उसकी व्यावहारिक प्रमाणता का प्रतिपादन किया गया है—"अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता" (प्र० वा० पृ० २१५) । इन तर्कनाओं की ही आलोचना यहाँ खण्डनकार ने की है] ।

'इदं जलम्'—इत्यादि प्रमा ज्ञानों के समय यद्यपि जलादि-प्राप्तिरूप अविसंवाद नहीं

२१. अबाधितानुभवप्रमात्वखण्डनम्

अबाधितानुभूतिः प्रमेत्यपि निरस्तम्, तदानीं बाधाविरहस्य अतिप्रसञ्जकत्वात्; कालान्तरेऽपि च बाधाविरहस्य दुर्निरूपत्वात्। स्वतो बाधाविरहस्य अतिप्रसञ्जकत्वात्। सर्वंजनबाधाविरहस्य च दुरवधारणत्वादिति।

बौद्धाभिमतं लक्षणान्तरं आशङ्क्य निरस्यति ॐ अबाधितेति ॐ। व्यवच्छेद्यं पूर्ववत् अनुभूतित्वनिरासेन निरस्तमित्यर्थः। किं च तत्कालबाधाराहित्यमुत कालान्तरेऽपि तद्रहितत्वमिति विकल्प्य प्रथमं पराचष्टे ॐ तदानीमिति ॐ। प्रतीतिकाले बाधराहित्यं कलधौतबोधेऽपि विद्यत इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयमसम्भवेन दूषयति ॐ कालेति ॐ। किं च स्वस्य बाधहीनत्वं विवक्षितम्? उत सर्वजनानाम्? इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ स्वत इति ॐ। स्वस्य द्रष्टुरिति यावत्। भ्रान्तिरपि भ्रान्तपुरुषस्याबाधितेति लक्षणमतिव्यापकमित्यर्थः। न च भ्रान्तिर्भ्रान्तपुरुषस्याबाधिता नास्ति तस्यैव कालान्तरे बाधाद् भ्रान्तः सम्यक् न वेत्ति स इति न्यायादिति साधु, सञ्जातभ्रमाणामनुपजातबाधानां निधनोपलम्भादिति। प्राकृतेः सर्वजनबाधवैधुर्यस्य बोद्धुमशक्यतया लक्षणासिद्धिरिति द्वितीयं दूषयति ॐ सर्वेति ॐ। लक्षणखण्डनसमाप्ताविति शब्दः।

होता, तथापि उस समय जलादि में प्राप्ति की योग्यता अवश्य है, यही उक्त ज्ञान की अविसंवादिता है—ऐसा कहना भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि प्रातिभासिक योग्यता तो शुक्तिरजत में भी है और प्रतीयमानाकारेण प्राप्ति-योग्यता का अवधारण सम्भव नहीं। धर्मकीर्ति की यह तर्क चक्रिका अत्यन्त दुर्भेद्य है, अतः इसके लिए विशेषरूप से सतर्क और सावधान रहने की आवश्यकता है। [‘अर्थक्रियास्थिति’ का स्पष्टीकरण मनोरथनन्दी ने किया है—“यथोपदर्शितार्थस्य क्रियायाः स्थितिः प्रमाणयोग्यता अविसंवादनम्। अतश्च यतो ज्ञानार्थं परिच्छिद्यापि न प्रवर्तते, प्रवृत्तो वा कुतश्चित् प्रतिबन्धादर्थक्रियां नाधिगच्छति, तदपि प्रमाणमेव, प्रमाणयोग्यतालक्षणस्याविसंवादस्य सत्त्वात्” (मनोरथ० पृ० ४)। आचार्य धर्मोत्तर ने प्रमाण के तीन कार्य बताए हैं—(१) अर्थप्रकाशन, (२) पुरुष-प्रवर्तन, (३) अर्थ-प्रापण। प्रमाण-योग्यता की कक्षा में प्रकाश, प्रवृत्ति और प्राप्ति—इन तीनों की अर्हताएँ आक्रोडित हो जाती हैं, अतः खण्डनकार ने प्राप्त्यादियोगयता कहा है।

२१. अबाधित अनुभव का प्रमात्व-खण्डन

(६) अबाधितानुभूतिः प्रमा—

‘अबाधित अनुभूति प्रमा है’—यह लक्षण भी अबाधितत्त्व का निर्वचन न हो सकने के कारण खण्डित हो जाता है। अनुभूति जिस काल में हो रही है, उसी काल में अनुभूति के बाध का अभाव होना चाहिए? अथवा कालान्तरीय बाध का अभाव? अनुभूति-काल में अनुभूति का बाध तो स्वाप्न-काल में भी नहीं होता और कालान्तरीय बाध के अभाव का निश्चय करना सम्भव नहीं, दूसरी बात यह भी है कि प्रमाता पुरुष के बाधितत्व-निश्चय का अभाव विवक्षित है? या समस्त पुरुषों की दृष्टि में बाधाभाव? प्रथम पक्ष के अनुसार उस भ्रम ज्ञान में प्रमात्व अतिप्रसक्त होता है, जिस का बाध किसी कारण नहीं हो पाया और द्वितीय पक्ष असम्भव ही है। [श्री प्रज्ञाकर गुप्त कहते हैं—“अत एवाबाधितत्वं प्रमाणत्वम्” (प्र. वा. भा. पृ. ५)। श्री जयराशि भट्ट ने बाधाबाध की आलोचना विशद रूप में की है—“ज्ञानं बाध्यतेऽत्र बाधा का? (१) किं स्वरूपव्यावृत्तिरूपा? (२) स्वरूपापह्नवरूपा वा? (३) विषयापहारलक्षणा वा? तद्यदि स्वरूपव्यावृत्तिरूपा बाधा, तदा सर्वं बाधितं स्याद्,

२२. तर्कादिभिन्ने प्रमात्वखण्डनम्

तर्कसंशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्ता प्रतीतिः प्रमेत्यपि न, स्मृतिव्यतिरिक्तत्व-खण्डनन्यायेन निरस्तत्वादिति ।

२३. प्रमात्ववति प्रमात्वखण्डनम्

जातिसङ्करमिच्छतश्च प्रमात्वलक्षणजात्यभिसम्बन्धात् प्रमेत्यपि दुर्लक्षणम्,

प्रमालक्षणान्तरमाशङ्क्य निरस्यति ❀ तर्केति ❀ । प्रतीतिः प्रमेत्युक्ते तर्कादिप्रतीतेरतथात्वप्रसक्तिं निरस्यति तर्केत्यादिविशेषणैः । यत्किञ्चित्तर्कादिव्यतिरिक्तत्वं तथात्वमुत सर्वतर्काद्यतिरिक्तत्वमाद्ये तर्कादिविशेषेऽतिव्याप्तिरितरस्मिन्नसम्भवोऽसर्वज्ञानां तादृशज्ञानायोगादिति स्मृतिव्यतिरिक्तखण्डनन्यायः ।

आत्मत्वजातिमानात्मेतिवत्प्रमात्वजातिमती प्रमेति लक्षणमस्तु तर्हीत्यत आह ❀ जातीति ❀ । जातिमतीत्युक्ते भ्रान्तावतिव्याप्तिस्तन्निरसनं प्रमात्वेति जातिसङ्करं बाधकमिच्छतो जातेः प्रमात्वस्याभावादलक्षणमेतत्साङ्कर्यं च प्रमात्वस्य परोक्षत्वेन परापरभावानिरूपणादित्यर्थः । संस्कारमात्रातिरिक्तादुष्टकरणजन्यप्रतीतित्वं प्रमात्वव्यञ्जकं, इन्द्रियाजन्यप्रतीतित्वं परोक्षत्वव्यञ्जकमिति व्यञ्जकोपाधिभेदान्नास्ति साङ्कर्यमित्यत आह ❀ अस्येति ❀ । प्रमात्वजातियोगित्वलक्षणमज्ञातं सत्तामात्रेण यदि प्रमात्वव्यवहारजनकं तर्हि सुरसरित्परिसरवासिनामार्द्रमरिचादावुत्पन्नायां प्रमायां प्रमा वाऽप्रमा वेति संशयानुपपत्तेः, सुगतसमयानुसारिणां निगमोद्गतावगमेऽप्रमात्वभ्रम एव न स्यात् , प्रमैवेति विशेषज्ञानेन लक्षणाधीनेन विरोधादिति भावः । अज्ञातमेव लक्षणं यद्यपि प्रमात्वव्यवहारकारणं तथाऽपि न स्वयमेव, किं

विज्ञानस्य विज्ञानान्तरेण निवर्त्यमानत्वात् । अथ स्वरूपाह्नवरूपेति, तदयुक्तम्, मिथ्योदकविज्ञानस्यापि अनुभूयमानत्वात् । अथ विषयापहारलक्षणा बाधा उच्यते, सापि न युक्ता । न बाधितमिति, किमेकस्य प्रतिपत्तुः ? सर्वप्रतिपत्तॄणां वा ?" इत्यादि (त० उ० सि० पृ० १६) । खण्डनकार ने इसी दिशा की आर संकेत करते हुए कहा है—बाधविरहस्य दुरवधारणत्वात्] ।

२२. तर्कादि से व्यतिरिक्त प्रतीति का प्रमात्व-खण्डन

(७) तर्कसंशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्ता प्रतीतिः प्रमा—

तर्क और संशयादि से व्यतिरिक्त (भिन्न) प्रतीति के प्रमात्व का वैसे ही खण्डन हो सकता है, जैसे स्मृतिव्यतिरिक्तत्व का खण्डन किया जा चुका है । अर्थात् तर्कादि में यत्किञ्चित्त्व और सर्वत्वादि के विकल्प उठाकर तर्कादि-भिन्नत्व का निरास हो जाता है ।

२३. प्रमात्व-विशिष्ट ज्ञान में प्रमात्व का खण्डन

(८) प्रमात्वजातिमती प्रमा—

'प्रमात्व' जाति जिसमें रहती है, वह प्रमा है—ऐसा लक्षण भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि नैयायिकों के मत में प्रमात्व को जाति ही नहीं माना जा सकता, मानने पर साङ्कर्य दोष आ जाता है—'प्रमात्व' को छोड़कर 'साक्षात्त्व' धर्म साक्षात्कारी भ्रम में और साक्षात्त्व को छोड़कर 'प्रमात्व' धर्म परोक्ष प्रमा में है, इस प्रकार 'प्रमात्व' और 'साक्षात्त्व'—इन दोनों व्यधिकरण धर्मों का एकत्र प्रत्यक्ष प्रमा में समावेश हो जाता है—इसी का नाम साङ्कर्य है ।

अस्याज्ञातस्य तद्व्यवहारजनकत्वे प्रमायामप्रमाभ्रमसंशयौ न स्यातां। दोषाभावसहकृतस्य तथात्वे च अजायमानभ्रमसंशयप्रमादिव्यवहारे ज्ञानमात्रावगमोदाहरणेऽपि तदापत्तेः।

ज्ञातेनानेन लक्षणेन व्यवहारे च कथमिदमेव ज्ञातव्यमिति वक्तव्यम्। न तावत्प्रत्यक्षेण मानसेन, तथा सति क्वचिज्ज्ञातायां प्रमायामप्रमाविपर्ययसंशयानवकाशादि स्याद्, धर्मिवत् मनसैव निर्णीतत्वात्।

चिह्नान्तरसापेक्षेणैव मनसा संवेदनचिह्नेनैव वा तेनैव लक्षणीभूय ज्ञापनमित्यपि

तु दोषाभावसहकृतमतो यत्र दोषस्तत्र भ्रमादिव्यवहारस्तदभावे प्रमात्वव्यवहार इत्याशङ्क्याह ॐ दोषेति ॐ। तथात्वे प्रमात्वव्यवहारजनकत्वे इति यावत्। अजायमानो भ्रमसंशयादिव्यवहारो यस्मिन् ज्ञाने तत्तथोक्तं आदिपदेन प्रमात्वग्रहः। यत्र भ्रमादिव्यवहारो न जायते ज्ञानमित्येव गम्यते तत्र दोषाभावस्य वस्तुवृत्त्या विद्यमानतया तत्सहकृतं लक्षणं प्रमात्वमेव ज्ञापयेत्। न च तादृशज्ञानानवगम एवेति वाच्यम्। प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयोरपि परतो ज्ञप्तिपक्षे ज्ञानव्यक्तेर्ज्ञप्तेः पृथगुदाहर्त्तव्यत्वादिति भावः।

अज्ञातं लक्षणं यदि प्रमात्वज्ञापकं तर्हि भवेदयमुपालम्भो न चैतत्, ज्ञातस्यैव गमकत्वाङ्गीकाराद्धेतुविशेषत्वाल्लक्षणस्येत्यत आह ॐ ज्ञातेनेति ॐ। कथमिति केन प्रमाणेन, प्रत्यक्षेण किं लिङ्गेनेति विकल्पाभिप्रायः। यदि प्रत्यक्षेण तदाऽपि किं वाह्येन ? उत मानसेन ? न तावद्वाह्येन, ज्ञातृतद्गुणयोरबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात्। यदि मानसेन, तत्राह ॐ न तावदिति ॐ। मनःसंयुक्त आत्मा तस्मिन् समवेता प्रमा तत्र समवेतं समात्वमिति संयुक्तसमवेतसमवायलक्षणात्संसर्गान्मनसैव प्रमात्वज्ञानं किं न स्यादित्यत आह ॐ तथेति ॐ। क्वचिदुपलपरीक्षादौ प्रमायां जातायामप्रमाभ्रमादिव्यवहारो न स्याद्वस्तुतस्तस्याः प्रमात्वादादिपदेन प्रमात्वव्यवहाराभावश्च न स्यादित्यर्थः। कुतो न स्यादित्यत आह ॐ धर्मीति ॐ। कथितसंसर्गसहकृतं मन एव प्रमात्वज्ञप्तौ पुष्कलं कारणम्, किं वा लिङ्गसापेक्षम् ? प्रथमे ज्ञानस्वरूपवत् तत्समवेतप्रमात्वज्ञानप्रसङ्गात् तद्विपरीतभ्रमाद्यनवकाश इत्यर्थः। लिङ्गान्तरसहकृतं मनः प्रमात्वज्ञप्तौ पुष्कलं कारणमिति द्वितीयमनूद्यापवदति ॐ चिह्नेति ॐ। चिह्नं च तत्त्वानुभूतित्वादिसंवेदनं प्रमात्वस्येति

यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि 'प्रमात्व' जातिरूप लक्षण आज्ञात होकर ही प्रमा-व्यवहार का जनक है ? अथवा ज्ञात होकर ? यदि अज्ञात हो कर ही प्रमा-व्यवहार का जनक है, तब प्रमात्मक ज्ञान में भी जिस व्यक्ति को प्रमात्व का निश्चय नहीं, उसको जो प्रमा में अप्रमात्व का भ्रम या संशय होता है, वह न हो सकेगा, क्योंकि अज्ञात प्रमात्व भी प्रमा-व्यवहार को ही जन्म देगा, भ्रम और संशय क्योंकर होंगे ? यदि कहा जाय कि दोषाभाव-सहकृत प्रमात्व प्रमा-व्यवहार का जनक होता है, अकेला नहीं, तब जहाँ पर भ्रम और संशय की उत्पत्ति नहीं हुई, केवल 'ज्ञानम्'—ऐसी ही अनुभूति हुई है, वहाँ भी दोषाभाव-सहकृत प्रमात्व जाति रहने के कारण प्रमा-व्यवहार होना चाहिए। यदि प्रमात्वजातिमत्त्वरूप लक्षण ज्ञात होकर प्रमा-व्यवहार का नियामक माना जाता है, तब यह बताना चाहिए कि किस प्रमाण के द्वारा प्रमात्व का ज्ञान होता है ? 'मन के द्वारा जैसे 'स्वसंयुक्तात्मसमवाय' सन्निकर्ष की सहायता से ज्ञानरूप धर्मी का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही 'स्वसंयुक्तात्मसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष की सहायता से प्रमात्व का भी प्रत्यक्ष होता है'—ऐसा मानने पर जहाँ किसी एक विषय में प्रमा ज्ञान उत्पन्न होता है, वहाँ मन के द्वारा गृहीत होने के कारण जैसे ज्ञानरूप धर्मी में अज्ञानत्व का भ्रम या संशय नहीं होता, वैसे ही उस प्रमा ज्ञान में अप्रमात्व का भ्रम या संशय नहीं होना चाहिए।

यदि केवल मन के द्वारा प्रमात्व का प्रत्यक्ष न मान कर धूमादि चिह्नों (लिङ्गों) की सहायता से मन के द्वारा अग्न्यादि के ज्ञानों में प्रमात्व का प्रत्यक्ष माना जाता है, तब तो

प्रत्याशामात्रम्, तच्चिह्नेनैव प्रमात्वजातिकल्पनाप्रतिक्षेपापत्तेः।

तेषां नानात्वे च कानि तानीति वक्तव्यं स्यात्। तच्चिह्नानां यथोपन्यासं सर्वेषामेव दूषितत्वात्। प्रामाण्यपरतस्त्वव्युदस्तिप्रस्तावे च विस्तरेण दूषयिष्यामः।

एतेन शक्तिविशेषः प्रमात्वम्, तद्योगः प्रमालक्षणमित्यपास्तम्। दुरवधारणत्वात्।

शेषः। निराकरणन्यायसाम्यात्किमनुमानेनेत्युक्तकल्पान्तरं सहोपादत्ते ॐ चिह्नेनेति ॐ। इतरेभ्यो व्यावर्तको धर्मश्चिह्नं लक्षणीभूतव्यतिरेकानुमानं भूत्वा प्रत्याशामात्रं प्रतिपक्षश्रद्धामात्रमित्यर्थः। तच्चिह्नमेकमनेकं वा ? यद्येकं तत्राह ॐ तदिति ॐ। सर्वप्रमाव्यक्तिष्वनुगतचिह्नेनैवेयं प्रमेत्यनुगतशब्दबुद्धयोरुपपत्त्या प्रयोजकाभावात्प्रमाणाभावाच्च प्रमात्वजातिः परास्ता तदननुगमे चिह्नत्वमेव न स्यादित्यर्थः। नानात्वं लिङ्गानामिति द्वितीयमनुभाषते ॐ तेषामिति ॐ। नानेति गौरवं चार्थः। तानि चिह्नानि तत्त्वानुभूतित्वं यथार्थानुभवत्वमित्यादीनि ? किं वाऽन्यानि ? इति विकल्पाभिप्रायेण कानीत्युक्तम्। यद्युक्तान्येव तत्त्वानुभूतित्वादीनीति प्रथमस्तत्राह ॐ तदिति ॐ। यथोपन्यासमिति क्रियाविशेषणमुपन्यासक्रमेणेत्यर्थः। अन्यान्येव कारणगुणादीनि तच्चिह्नानीति यदि द्वितीयस्तत्राह ॐ प्रामाण्येति ॐ। प्रमात्वं ज्ञानज्ञापकमात्रात् ज्ञायते दोषाजन्यधर्मत्वे स्मृतीतरत्वे च सति ज्ञानत्वावान्तरजातित्वात्प्रत्यक्षत्ववन्न च साध्यविकलता प्रत्यक्षत्वस्य तथात्वेन स्वीकार्यत्वादन्यथा सुखादेरपि ज्ञानत्वप्रसङ्गात्। किं च प्रमा स्वतो ज्ञायते परनिरपेक्षोत्पत्तित्वात् ज्ञानव्यक्तिवत्। न चासिद्धो हेतुः, प्रमाप्रमयोरुभयोः परतस्त्वे प्रमाप्रमाविभागहीनज्ञानव्यक्तेः शून्यत्वादाह च—

"स्वतस्तावद् द्वयं नास्ति विरोधात्परतोऽपि न।
निःस्वभावत्वमेवं हि ज्ञानरूपे प्रसज्यते॥" इति

यदपि कुसुमाञ्जलावुत्पत्तिपरतस्त्वेऽनुमानमुक्तं "प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वादप्रमावत्। यदि तु तावन्मात्राधीना भवेदप्रमाऽपि प्रमैव भवेदस्ति च तत्र ज्ञानहेतुरन्यथा ज्ञानमपि सा न स्यादिति" तदसत्। प्रत्यक्षादिव्यक्त्या व्यभिचारात्। न च तत्र ज्ञानहेत्वतिरिक्तमिन्द्रियादिकमस्तीति वाच्यम्, तस्यापि ज्ञानप्रयोजकत्वादात्ममनोयोगमात्रस्य ज्ञानप्रयोजकत्वे सुखादेरपि ज्ञानत्वप्रसङ्गादप्रमायाश्च केवलाविद्याविवर्तत्वेन ज्ञानहेतुजन्यत्वाभावाद्। तदभावे कथं ज्ञानत्वमिति चेत्, न कथंचित्। हेत्वाभासस्याहेतुत्ववत् ज्ञानाभासस्य ज्ञानत्वाभावादिति साध्यविकलता। विपक्षबाधकाभावादप्रयोजकत्वाच्चेति। तथा गुणशब्दार्थानिर्वचनाशक्याऽनवस्थाप्रसङ्गेन प्रामाण्यपरतस्त्वनिरासमये पराकरिष्याम इत्यर्थः।

प्रमात्वं जातिरिति तार्किकसमयो निरस्तः सम्प्रत्यर्थावबोधसामर्थ्यं प्रमात्वं तद्योगश्च प्रमालक्षणमिति भाट्टसिद्धान्तः उक्तं हि—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥"

इति तन्मतिदेशेन निराकरोति ॐ एतेनेति ॐ। प्रत्यक्षेण लिङ्गेन वा तज्ज्ञानायोगादज्ञातस्य च लक्षणस्य लक्ष्यव्यवहाराजनकत्वादिति परामृष्टहेतुं स्पष्टयति ॐ दुरिति ॐ।

उन्हीं चिह्नों के द्वारा सीधे-सीधे प्रमा-व्यवहार की सिद्धि कर लेनी चाहिए, मध्यपाती प्रमात्वादि की अपेक्षा करनी ही व्यर्थ हो जाती है। दूसरी बात यह भी है कि प्रमात्व के चिह्न नाना हैं ? अथवा कोई एक ? 'तत्त्वानुभूतित्व', 'यथार्थज्ञानत्व' आदि पूर्व-प्रदर्शित चिह्नों का तो निरास संक्षेप में किया ही जा चुका है, उनका विस्तार से खण्डन प्रामाण्य-परतस्त्व-निरास के प्रसङ्ग में आगे किया जायगा। 'ज्ञानगत समर्थप्रवृत्तिजनक शक्ति विशेष प्रमात्व और उससे युक्त ज्ञान प्रमा है'—यह भी उचित नहीं, क्योंकि शक्ति का अवधारण सुकर नहीं श्री उदयनाचार्य भी कहते हैं—"एतेन शक्तिः प्रमाणमिति प्रत्युक्तम्" (ता० परि० पृ० ११४)।

यच्च किञ्चित्प्रमाया लक्षणमुच्यते, तदज्ञातं ज्ञातमात्रं वा ? यदि तत्त्वव्यवहारकम्, तदा अत्यापत्तिः। प्रमितञ्चेत् , प्रमानवधारणे तद्दुरवधारणता।

माऽवधारि वस्तुतस्तु तथेति चेन्न, वस्तुतो न तथैव किं नेति वादिन्यनुत्तरापत्तेः, प्रमात्वनिरूपणवैयर्थ्यापाताच्च। वस्तुतस्तु प्रमयैव घटादितत्त्वव्यवहारोऽपि तर्ह्यस्तु इत्यास्तां विस्तरः।

अज्ञातार्थपरिच्छित्तिः प्रमेत्यादिलक्षणान्तरमित्याशङ्क्य लक्षणानामानन्त्येन प्रत्येकनिराकरणानुपपत्तेः कानिचित् प्रमालक्षणानि निराकृत्यान्यत्र साधारणं दूषणं सङ्गृह्याह ॐ यच्चेति ॐ। तदज्ञातं व्यवहारनिदानमुत ज्ञातं, ज्ञातमपि ज्ञातमात्रं प्रमितं वेति विकल्प्य कल्पद्वयं यत्नलाघवाद्युगपदुपादत्ते ॐ तदिति ॐ। तत्त्वव्यवहारकं प्रमात्वव्यवहारनिदानमिति यावत्। अतिप्रसङ्गेन निराकरोति ॐ तदेति ॐ। अज्ञातलक्षणस्य ज्ञातमात्रस्य वा प्रमात्वारोपदर्शनात्केषांचिदतोऽप्रमायामपि प्रमात्वव्यहारः स्यादित्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। अर्थापत्तिरिति ये पठन्ति तेषामर्थस्य प्रमात्वव्यवहारस्यापत्तिरप्रमायामित्येवार्थः। प्रमितं व्यवहारकारणमिति तृतीयं शङ्कते ॐ प्रमीति ॐ। प्रमितमपि प्रमितमिदमिति ज्ञातं व्यवहारकारकम्, उत वस्तुतस्तथाभूतमिति विकल्प्य प्रथमसम्भवेन दूषयति ॐ प्रमेति ॐ। प्रमाया निरूप्यमाणतया प्रमितविशेषणासिद्धिरित्यर्थः। प्रमितत्वेनानवधृतमपि वस्तुतः प्रमितं लक्षणं प्रमाव्यवहारनिदानमिति द्वितीयं शङ्कते ॐ प्रमीति ॐ। मा वधारीति मा भूदवधृतमिति यावत्। वस्तुतो यत्र प्रमितत्वं तत्र प्रमाव्यवहारः यत्र पुनर्न तथा न तत्र प्रमाव्यवहार इति नियमान्नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः। प्रमितत्वं अजडं चेदात्मैव, जडं चेत्स्वगोचरप्रमामन्तरेण न सिद्ध्येदतोऽत्र प्रमितत्वमत्र नेति विभागज्ञानापेक्षायां प्रमाणान्तरं गृह्यते तेनानवस्थेति परिहरति ॐ नेति ॐ। प्रमितत्वस्यानवगतौ तन्नास्त्येवेति शक्यविपरीतप्रसङ्गतया तदसिद्धिश्चेत्यर्थः। प्रमा प्रमात्वेनानवगता सत्तामात्रेण स्वविषयव्यवहारनिदानं तन्निदानत्वात्प्रमालक्षणवदतश्च लक्षणतः प्रमावधारणं च व्यर्थं तदन्तरेणापि व्यवहारोपपत्तेरिति दोषान्तरमाह ॐ प्रमेति ॐ। न क्वापि व्यभिचारशङ्कावकाशः उक्तसाधनेन सर्वत्र साध्यप्रतिपत्तेः सुकरत्वात्। उक्तसाध्याभावे कथितसाधनाङ्गीकारे को बाधस्ततश्च विपक्षदण्डासत्त्वेनाप्रयोजकतेत्यत आह ॐ वस्तुत इति ॐ। यदि वस्तुतः प्रमितलक्षणस्तद्गोचरव्यवहारस्तर्हि प्रमायापि घटादिगोचरया सत्तामात्रेण तद्वद्व्यवहारोऽस्तु न चेदप्रमितप्रमितत्वलक्षणेनापि तद्गोचरव्यवहारो न स्यादविशेषादित्यर्थः। लक्षणं व्यतिरेकिरूपलिङ्गं च व्याप्तिपक्षधर्मत्वाभ्यां प्रमितत्वेनावगतं साध्यगमकमन्यथा व्याप्यत्वासिद्ध्याद्याभासतो विवेकाभावापातादतश्च प्रमितत्वानवगतं व्यवहारनिदानमिति कल्पोऽसम्भवीत्यादि बहु वक्तुं शक्यं तथापि ग्रन्थगौरवभयान्न विस्तराय प्रयत्यत इत्युपसंहरति ॐ इत्यास्तामिति ॐ।

यहाँ एक सामान्य सन्देह यह उठता है कि जो कुछ भी प्रमा ज्ञान का लक्षण किया जाता है, वह क्या (१) अज्ञात होकर ही प्रमा-व्यवहार का निर्वाहक माना जाता है ? या (२) ज्ञातमात्र अथवा (३) प्रमित होकर ? यदि अज्ञात अथवा सामान्यतः ज्ञानत्वेन ज्ञातमात्र होकर ही प्रमा-व्यवहार का जनक माना जाता है, तब अनाप्तवाक्यादि से जनित भ्रम ज्ञान में भी प्रमात्व की अतिप्रसक्ति होती है, क्योंकि अज्ञात, दुर्ज्ञात, सन्दिग्ध या विपर्यस्त प्रमात्व तो वहाँ भी हो सकता है। प्रमित होकर भी प्रमात्व प्रमा-व्यवहार का जनक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमा का निश्चय न हो सकने के कारण प्रमितत्व का निश्चय ही नहीं हो सकता ! यदि अनवधारित प्रमात्व ही वस्तुतः (स्वरूपतः) ही प्रमा-व्यवहार का साधक माना जाता है, तब जो वादी यह कहता है कि 'लक्षणं न प्रमितम्', उसको क्या उत्तर देंगे ? 'स्वरूपतः प्रमितम्'—ऐसा उत्तर कदापि नही हो सकता। इस प्रकार प्रमा का लक्षण करना भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि जैसे अज्ञात या स्वरूप सत् प्रमात्व जाति से प्रमा-व्यवहार

२४. करणत्वलक्षणखण्डनम्

एवं प्रमितेरनिरुक्त्या प्रमाकरणं प्रमाणमित्यप्ययुक्तम्, करणार्थानिरुक्तेश्च।

(१) ननु "कारकान्तरेऽचरितार्थस्य हेतुत्वं करणत्वम्"। कर्तुर्हि करणं निष्पादयतः कारकान्तरे चरितार्थत्वम्, स्वरूपतोऽनिष्पादनेऽपि व्यापारवत्तया निष्पादनात्। तादृशस्य च तस्य करणत्वात्।

एवं कर्मापि करणनिष्पादने चरितार्थम्। करणव्यापारी हि कर्मविषयो भवति,

---

एवं लक्षणभूतां प्रमां खण्डयित्वाऽधुना तल्लक्ष्यप्रमाणखण्डनायोपक्रमते ॐ एवमिति ॐ। प्रमाद्वारा प्रमाणस्य लक्षणीयत्वाल्लक्षणभूतप्रमाखण्डनानन्तरं लक्ष्यभूतप्रमाणखण्डनं प्राप्तमिति सङ्गतिः। करणं प्रमाणमित्युक्ते कुठारादौ मा प्रसञ्जीत्याह ॐप्रमेतिॐ। तावति फले लक्षणं मा भूत् मा भूतासम्भव इत्यत आह ॐ करणमिति ॐ। दूषणानां सम्भावनायामित्यपीति। प्रमाकरणं प्रमाणमिति वदता प्रमापदार्थोऽवश्यं वक्तव्यः, अन्यथा विशेषणासिद्ध्या विशिष्टलक्षणासिद्धिः, स च निर्वक्तुं न शक्य उक्तप्रकारेण तल्लक्षणानिरूपणादित्यर्थः। करणार्थमभ्युपगम्य प्रमाऽनिरूपणात्तद्विशिष्टलक्षणासिद्धिरुक्तेदानीं सोऽपि न निरूपणं सहत इत्याह ॐ करणेति ॐ।

करणार्थोऽसन्, अनिरूपितलक्षणकत्वाच्छशशृङ्गवदिति। न च क्वचिद्व्यभिचारो न्यायविद्भिरलक्षणपदार्थानङ्गीकारात्तदवलम्बनप्रवृत्तेश्चेत्युक्तं तत्रासिद्धो हेतुः करणलक्षणस्य सुवचत्वादिति महता सम्भ्रमेण चोदयति ॐ नन्विति ॐ। हेतुत्वं करणत्वमित्युक्ते कर्त्रादावतिव्याप्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमाह ॐ अचरितार्थेति ॐ। अचरितार्थस्य हेतुत्वं करणत्वमित्युक्तेऽसिद्धिः, करणस्यापि क्रियासिद्धौ चरितार्थत्वादत उक्तं ॐ कारकेति ॐ। कारकेऽचरितार्थस्य हेतुत्वमित्युक्ते कर्त्रादिकारके कर्त्रादेरचरितार्थत्वमस्ति तत उक्तं ॐ कारकान्तरेति ॐ। कर्त्रादेर्हि करणकारकं निष्पाद्य स्वातिरिक्ते तस्मिंश्चरितार्थत्वं साधनत्वान्नैवं करणस्य क्रियासिद्धिमन्तरेण चरितार्थत्वं साधकतमत्वात्। एतत्करणसाध्यक्रियाजनकस्यापि तथात्वमस्तीत्यत उक्तं ॐ हेतुत्वमिति ॐ। कर्त्रादिकरणं निष्पाद्य क्रियां साधयति, करणं साक्षादित्यर्थः। कथमचरितार्थपदेन कर्तुरपोहस्तस्याऽप्यधिकरणादावचरितार्थत्वादित्याशङ्क्य तदपोहप्रकारं दर्शयन्नुक्तं व्याचष्टे ॐ कर्तुरिति ॐ। चरितार्थत्वं कृतकार्यत्वम्। निष्पादिते करणे क्रियाया अवश्यं भावादिति यावत्। प्रयत्नरूपकर्तृव्यापारात्प्रागेव कुठारादिकरणस्य निष्पन्नत्वात्कथं करणोत्पादनेन कारकान्तरे करणे चरितार्थत्वमित्यत आह ॐ स्वरूपत इति ॐ। स्वरूपतो निष्पन्नत्वेऽपि व्यापाराविष्टरूपेणानिष्पन्नत्वात्ताद्रूप्येण तदुत्पाद्य तत्र चरितार्थं इत्यर्थः। अस्तु व्यापाराविष्टतया तन्निष्पादनमेतावता कथं करणे चरितार्थत्वमित्यत आह ॐ तादृशेति ॐ। कर्तुरिव कर्मणोऽपि कारकान्तरे चरितार्थत्वं दर्शयति ॐ एवमिति ॐ। कर्तुरिव करणप्रेरणव्यापारः कर्मणो न दृश्यते तत्कथं करणनिष्पादकत्वं कर्म्मण इत्यत आह ॐकरणेतिॐ।

सम्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञात प्रमा से ही घटादि-व्यवहार सिद्ध हो जाता है।

२४. करण पदार्थ की अनिरुक्ति

प्रमा का निर्वचन (लक्षण) न हो सकने के कारण 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'—ऐसा प्रमाण का भी लक्षण नहीं किया जा सकता। केवल इतना ही नहीं, 'करण' पदार्थ का भी निर्वचन सम्भव नहीं। करणत्व के कतिपय विकल्पों का निराकरण किया जाता है—

(१) कारकान्तरेऽचरितार्थस्य हेतुत्वं करणत्वम् (ता० परि० पृ० ११५)—

शङ्का—करण से भिन्न सभी कारक दूसरे कारक के प्रेरक होते हैं, जैसे—(१) कर्त्ता कारक दण्डादि करण को सव्यापार बनाकर दण्डादि में करणता का निष्पादन करता है, क्योंकि सव्यापार दण्डादि को ही करण माना जाता है। (२) घटादि कर्म भी करणता के

कर्माभावे विषयाभावात् करणव्यापार एव न निष्पद्यत इति तन्निर्वाहे तस्यापि चरितार्थत्वमिति। एवमधिकरणस्यापि करणव्यापारनिर्वाहकत्वम्। सम्प्रदानापादानयोश्च असार्वत्रिकत्वम्। करणं तु सार्वत्रिकमेवेति कारकान्तरेऽचरितार्थः सार्वत्रिको हेतुः करणमिति।

मैवम्; अस्तु तावदविचारितरमणीयमिदं व्याख्यानम्। अन्तरशब्दो यदि विशेषमात्रवचनस्तदा न व्यवच्छेदकः, न हि विशेषमपास्य कारकमात्रं केनचिज्जन्यं ते यद् व्यवच्छिद्येत।

नापि चान्तरशब्दोऽन्यवचनः, तथा सति 'कस्मादन्यदि'ति विशेषानिर्देशे

करणस्य कुठारस्य उद्यमननिपतनरूपो व्यापारश्छिद्यमानवृक्षविषयो भवति। कर्म्म विषयो यस्य स तथोक्तः। एवमन्वयमभिधाय व्यतिरेकद्वारा कर्म्मणः करणनिष्पादकत्वं साधयति ❀ कर्मेति ❀। सर्वत्र करणव्यापारस्य विषयजन्यत्वनियमदर्शनादित्यर्थः। तत्सिद्धं कर्म्मणोऽपि कारकान्तरे चरितार्थत्वमित्याह ❀ इतीति ❀। करणानिष्पादकस्य कारकान्तरेऽचरितार्थत्वमधिकरणस्यास्तीति तत्रातिव्याप्तिरित्यत आह ❀ एवमिति ❀। करणव्यापारनिर्वाहकयोः कर्त्तृकर्मणोराधेययोः स्थितिद्वारेणाधिकरणमपि चरितार्थं कारकान्तर इत्यर्थः। सम्प्रदानापादानयोः करणप्रेरकतया तद्व्यापारविषयतया वा स्थितिहेतुत्वेन वा करणानिष्पादकयोः कथं व्यवच्छेद इत्यत आह ❀ सम्प्रदानेति ❀। सम्यक्प्रदीयते यस्मिन् सम्प्रदानं दानपात्रमिति यावत्। विश्लेषावधिरपादानमतश्च दानक्रियायाः सम्प्रदानापेक्षा, विश्लेषक्रियाया अपादानापेक्षा, करणं तु सर्वक्रियायामपेक्ष्यते तेन सार्वत्रिकत्वविशेषणेन तदपोह इत्यर्थः। कथं तर्हि विशिष्टं लक्षणं स्यात्तत्राह ❀ इतीति ❀।

पूर्वपक्षं प्रतिक्षिपति ❀मैवमिति❀। कर्त्रादेः क्रियां प्रति हेतुत्वमस्ति न वा? न चेद् देवदत्तः पलाशं छिनत्तीत्यनुभवविरोधोऽस्ति चेत्क्रियानिष्पत्तेः पूर्वक्षणे व्यापारितयाऽवस्थितिरेष्टव्या तैल्लक्षणत्वाद्धेतुत्वस्य, तेन कर्त्रादिव्यापारस्य फलपर्यन्तत्वान्न तदपोह इति अलक्षणमङ्गीकृत्यापि दोषमभिदध्म इत्याह ❀ अस्त्विति ❀ तावदिति निर्द्धारणे। अन्तरशब्दः किं विशेषमात्रपरः? उतान्यत्ववचनः? किंस्वित्कर्तृकर्म्मस्वरूपपरः? आहो तदपेक्षयाऽन्यपरः? इति विकल्प्याऽऽद्यमनुवदति ❀अन्तरेति❀। अनयोरन्तरं महदित्यादौ तस्य विशेषवचनत्वं प्रसिद्धमित्याह ❀ यदीति ❀। विशेषणवैयर्थ्येन दूषयति ❀ तदेति ❀ व्यवच्छेदको व्यावर्तक इति यावत्। विशेषवचनत्वे अन्तरशब्दस्य कथमव्यवच्छेदकत्वमित्यत आह ❀न हीति❀। कारकेऽचरितार्थ इत्युक्त एव हि कारकविशेषे चरितार्थत्वं निषिद्धं भवति निषेधस्य प्राप्तिपुरःसरत्वात् न हि करणत्वादिविशेषमपास्य कारकसामान्यं केनचिज्जन्यते यन्निषिध्यते तेन विशेषवचनं अव्यावर्त्तकमित्यर्थः। कारणान्तरमित्यादावन्तरशब्दस्य भेदवचनत्वप्रसिद्धेरन्यत्ववचनोऽयमन्तरशब्द इत्याशंक्य

निष्पादक होते हैं, क्योंकि दण्डादि करणगत भ्रामणादि व्यापार घटादि के लिए ही होता है, कर्म के न होने पर करण में व्यापार क्यों होगा? अतः करणगत व्यापार के साफल्य में ही कर्म का उपयोग होता है। (३) चक्रादि अधिकरण भी दण्डादि को सव्यापार बनाने में उपयोगी होते हैं। (४-५) सम्प्रदान और अपादान सर्वत्र नहीं होते, किन्तु करण सार्वत्रिक एवं कारकान्तर में 'अचरितार्थ' होता है। [द्र० तात्पर्यटीका पृ० ३६]।

समाधान—करणता का कथित लक्षण तभी तक रमणीय लगता है, जब तक वह समीक्षा की कसौटी पर नहीं चढ़ाया जाता। उक्त लक्षण में प्रयुक्त 'अन्तर' शब्द (१) क्या विशेष मात्र का वाचक है? या (२) अन्यत्व का बोधक? या (३) कर्त्ता और कर्म के स्वरूप का बोधक? अथवा (४) कर्त्ता और कर्म (विशेषार्थ) की अपेक्षा अन्यार्थ का समर्पक है? (१) प्रथम पक्ष में 'अन्तर' शब्द किसी अन्य वस्तु का व्यवच्छेदक न होने के कारण कारक का विशेषण नहीं बन सकता, क्योंकि सामान्य कारक के निष्पादन में किसी

'करणादि'ति समभिव्याहारात् लभ्येत, यथा 'अन्य आत्मा शरीरमन्यद्' इत्यादौ। तथा सति करणव्यतिरिक्तकारकाभिप्रायेण प्रयुक्तः स्यात्। तच्च न; करणस्यैव अद्यापि निरूप्यमाणत्वादतिव्याप्तेश्च।

नापि कर्तृकर्मणोः स्वरूपोपादानपरोऽयमन्तरशब्दः, ताभ्यामेवातिव्याप्त्यापत्तेः। नापि कर्तृकर्मणी अपेक्ष्यान्यदन्तरशब्दार्थः, वैयर्थ्यापातात्। कारकेऽचरितार्थत्वमेवोच्यताम्।

नाप्यनधिकार्थ एवायमिति न प्रयोक्तव्योऽन्तरशब्दः, तथा सति करणजनकं

निषेधति ❀ नापीति ❀। अन्यत्वस्य भेदापरपर्यायस्य प्रतियोगिसापेक्षप्रतीतित्वात्तत्प्रतियोगिविशेषानिर्देशात्कस्मादन्य इति करणमेव प्रतियोगित्वेनावतिष्ठत इत्यर्थः। उक्तेऽर्थे बुद्धिसाम्यार्थमुदाहरणमाह ❀यथेति❀। अन्य आत्मेत्युक्ते कस्मादिति वीक्षायां शरीरादिति लभ्यते शरीरमन्यदित्युक्ते आत्मन इत्यर्थात्सिद्धयति सन्निधानाद्यथा तथेत्यर्थः। आदिपदेनेन्द्रियमतिरिक्तमित्युक्ते गोलकादि लभ्यत इत्यादि द्रष्टव्यं सन्निधानादेव। एवमन्तरशब्दस्य करणप्रतियोगिकान्यत्वमर्थ इत्युक्त्वेदानीं विशिष्टलक्षणवाक्यस्यैवार्थं कथयति ❀ तथा सतीति❀। करणव्यतिरिक्तकारकेऽचरितार्थःसार्वत्रिको हेतुः करणमित्युक्तं स्यादित्यर्थः। अस्तु तथाऽपि को दोष इत्यत आह ❀तदिति❀। हेतुमाह ❀करणेति❀। सिद्धे करणे ततोऽतिरिक्तकारकान्तरसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्राचरितार्थहेतुरूपकरणसिद्धिरिति परस्पराश्रयः एकस्याप्यन्यतोऽसिद्धत्वात् करणस्याद्यैव निरूप्यमाणत्वादित्यर्थः। असिद्धिमभिधायाधुनाऽतिव्याप्तिमभिधत्ते ❀अतीति❀। कर्त्रादिकारकाणामपि करणमुत्पाद्य तत्रैव चरितार्थानां तदतिरिक्तकर्त्रादिकारके चरितार्थत्वं नास्तीति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। कर्तृकर्म्मणोः स्वरूपोपादानपरोऽन्तरशब्द इति तृतीयं पराचष्टे ❀ नापीति ❀। कुत इत्यत आह ❀ ताभ्यामेवेति ❀। तथा च सति कर्तरि कर्मणि वा चरितार्थं करणमित्युक्तं स्यादेवं च कर्त्तुः कर्म्मणो वा तत्राऽचरितार्थत्वं नास्त्यस्ति च सार्वत्रिकहेतुत्वमिति प्रत्येकं तयोरतिव्याप्तिरित्यर्थः। कर्तृकर्मप्रतियोगिकान्यत्वमन्तरशब्दार्थ इति चतुर्थं प्रतिषेधति ❀ नापीति ❀। अधिकरणादेः कारकपदेनैवोपादानात्करणस्य कर्तृकर्मणोरप्यचरितार्थत्वात्तदन्तरेति विशेषणं व्यर्थमित्यर्थः। कर्तृकर्म्मव्यतिरिक्तकारकेऽचरितार्थत्वं विवक्षितं तत्सिद्धिः प्रयोजनमन्तरशब्दस्येत्यत आह ❀ कारक इति ❀। नात्र गौरस्तीति गोमात्रनिषेधे गोविशेषोऽपि निषिद्धो भवति तद्वत्कारकमात्रे चरितार्थत्वनिषेधेन करणादौ चरितार्थत्वं निषिद्धं भवतीत्यर्थः। कारकेऽचरितार्थं इत्युक्ते यावानर्थस्तावानेवान्तरपदोपादानेऽपि लभ्यते नाधिक

का भी उपयोग नहीं, विशेष कारक में ही उपयोग हुआ करता है, अतः 'कारकेऽचरितार्थत्वे सति हेतुत्वम्'—इतना ही लक्षण पर्याप्त होता है, 'अन्तर' पद व्यर्थ है। (२) द्वितीय विकल्प (अन्यवचनः) भी संगत नहीं, क्योंकि 'अन्यः' कहने पर आकांक्षा होती है—कस्मादन्यः? यदि किसी विशेष कारक का निर्देश नहीं किया जाता, तब समभिव्याहार के बल पर 'करणादन्यः'—ऐसे अर्थ का वैसे ही लाभ होता है, जैसे 'अन्य आत्मा, शरीरमन्यत्'—यहाँ पर 'अन्यः' का अर्थ 'आत्मा शरीरादन्यः'—ऐसा ही किया जाता है, फलतः करण-भिन्न कारक को ही 'कारकान्तर' शब्द कहेगा। किन्तु वैसा कहना सम्भव नहीं, क्योंकि 'करण' तत्त्व का ही निरूपण अभी तक नहीं हो सका है, अतः आत्माश्रय दोष है। कर्त्रादि में अतिव्याप्ति भी होती है, क्योंकि कर्त्ता भी कर्त्ता कारक में चरितार्थ नहीं। (३) तृतीय कल्प (कर्तृकर्मणोः स्वरूपपरः) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि उसके अनुसार कर्त्ता और कर्म में ही अतिव्याप्ति हो जाती है, वे भी अपने में चरितार्थ नहीं होते। (४) चतुर्थ (कर्तृकर्मणी अपेक्ष्यान्यत्) विकल्प भी सम्भव नहीं, क्योंकि कर्त्ता और कर्म से भिन्न एक करण ही ऐसा कारक है, जिसमें कर्त्ता और कर्म चरितार्थ हैं, अतः उनकी व्यावृत्ति के लिए 'कारकेऽचरितार्थत्वे सति'—इतना ही कह देना पर्याप्त है, अन्तरपद-घटित लक्षण व्यर्थ हो जाता है। 'अन्तर' पद किसी अधिक

हस्तादि न करणं स्यात् । व्यापारवद्धि कारणं करणमुच्यते । अस्ति च स्थालीसंयोगादिव्यापारवतोऽग्न्यादेस्तथात्वम् । अस्ति च हस्तादेस्तज्जनकत्वम् । न च हस्ताद्यकरणमेवाभ्युपेयम्, व्यापारवतः करणत्वेन तत्कारकत्वस्यावश्याभ्युपेयत्वात्। कर्त्रादिषु दुरन्तर्भावत्वात् सप्तमकारकस्वीकारापत्तेः ।

न च व्यवधानात् अहेतुत्वमेव तेषाम्, किं नाम हेतुहेतुत्वमिति । कर्तुरप्येवं

इति वैयर्थ्यात् त्यज्यत एवान्तरपदमित्याशङ्क्याह ※ नाप्नोति ※ । यदुपादानेनाधिककार्थलाभस्तन्न त्याज्यमिति निद्रातुरचेतसा प्रलपितमिवेत्यत आह ※ तथेति ※ । अन्तरपदपरित्यागे कारकेऽचरितार्थः सार्वत्रिको हेतुः करणमित्युक्तं स्यात्तदा देवदत्तो हस्तेनाग्निना पचतीत्यादौ हस्तादि यत्करणमग्न्यादिकारकान्तरजननद्वारा पचिक्रियादौ, तत्रैतल्लणं नास्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । आदिपदेन पद्भ्यामुपानद्भ्यां गच्छतीत्यादि गृह्यते । अग्नेः कारकत्वं यदि स्यात्तर्हि तज्जनको हस्तो न करणं स्यात्तदेव नास्ति मानाभावादित्याशंक्य तदुपपादयितुं कारकलक्षणमाह ※ व्यापारेति ※ । कारणं कारकमित्युक्ते व्यापारेऽतिव्याप्तिस्तन्मा भूदित्याह ※ व्यापारवदिति ※ । एतावत्युक्ते व्यापारवतः कुठारस्य पच्यादौ कारकत्वप्रसङ्गनिवारणाय कारणमित्याह ※ कारणमिति ※ । तत्रेति शेषः । एतदपि पराभ्युपगमसिद्धं न यौक्तिकमिति दर्शयति ※ हीति ※ । अग्निः कारकं तल्लक्षणयोगित्वात्पावकवदित्यनुमानं तल्लक्षणयोगमाह ※ अस्ति चेति ※ । यथा चक्षुरादेरर्थयोगो व्यापारस्तथाऽग्नेरपि स्थालीसंयोगादिर्व्यापार इत्यर्थः । आदिपदेनोर्ध्वज्वलनं सङ्गृह्यते । तथात्वं कारकत्वमिति यावत् । हस्तादेरग्न्यादिजनकत्वमेव नास्ति मानाभावादित्यत आह ※ अस्तीति ※ । व्यापारवदग्निरूपोत्पत्तेर्हस्तेनान्वयव्यतिरेकित्वात्तत्कार्यमेष्टव्यमन्यथा ताभ्यां कार्यकारणभावनिश्चयः क्वापि न स्यादित्यर्थः । हस्तादि न करणं कारकजनकत्वात्कर्त्रादिवदतश्चाऽस्याऽलक्ष्यत्वात्तत्र लक्षणाभावो न दोषायेत्यत आह ※ न चेति ※ । हस्तादेः करणत्वं परिशेषयितुं करणत्वं तावत्साधयति ※ व्यापारेति ※ । हस्तादि करणं व्यापारित्वाद्दण्डादिवन्न च क्वचिद्व्यभिचारो व्यापारवतः संयोगादिकिंचित्कार्यं प्रति कारणत्वादित्यर्थः । तत्कारणत्वस्य हस्तादेः कारणत्वस्येति यावत् । "प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेष" इह प्रसक्तप्रतिषेधाभावान्न परिशेष इत्याशंक्य प्रसक्तं प्रतिषेधति ※ कर्त्रादीति ※ । प्रयत्नानाधारत्वान्न कर्तृत्वम्, पराश्रयक्रियाफलानाश्रयत्वान्न कर्म्मत्वम्, सम्प्रदानापादानत्वे नाशङ्कनीये, ददात्यादिक्रियाविशेषस्येहाभावात् । अनाधारत्वान्नाधिकरणत्वमिति यावत् । एवं प्रसक्तं प्रतिषिध्याऽन्यत्राप्रसङ्गं दर्शयति ※ सप्तेति ※ । यदि कर्त्राद्यनन्तर्भूतस्य कारणत्वमपि न, तर्हि सप्तमं कारकमेष्टव्यं तदयुक्तमपसिद्धान्तादतः करणत्वं परिशिष्टमित्यर्थः । कारकविशेषः कारणं तद्विशेषः करणम्, अतः कारकत्वाभावात्तद्व्याप्यव्याप्यकरणत्वमपि नास्तीत्याशंक्याह ※ न चेति ※ । नियतपूर्वभावित्वं कारणत्वं न च तद्धस्तादीनां तत्र पच्यादावस्ति काष्ठादिभिर्व्यवधा-

अर्थ का बोधक न होने के कारण प्रयोक्तव्य ही नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो 'हस्तेन वह्निना पचति'—यहाँ पर अग्न्यादि कारक में चरितार्थ हस्तादि को करण न माना जा सकेगा। हस्तादि भी करण हैं, क्योंकि सव्यापार कारण को करण कहा जाता है, जैसे स्थाली-संयोगादिरूप व्यापार से युक्त अग्नि में पाक की करणता है, वैसे ही हस्त में भी सव्यापार अग्नि-जनकत्वेन करणता निश्चित है। हस्त को कर्त्ता मान कर भी 'हस्तेन'—इस तृतीया विभक्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि कर्त्ता वही होता है, जो कृति (प्रयत्न) का आधार हो, हस्त स्पन्दनादि क्रिया का आधार होकर भी कृति का आश्रय नहीं होता, कृति का आधार आत्मा ही होता है। हस्त को यदि करण भी नहीं माना जाता तब उसे परिगणित छः कारकों से भिन्न एक सप्तम कारक मानना होगा।

यदि कहा जाय कि पाक क्रिया के सम्पादन में हस्त साक्षात् कारण नहीं, अपितु अग्नि का व्यवधान है, अतः हस्तादि में हेतु की हेतुता है—हस्त से अग्नि का प्रज्वलन और प्रज्वलित

प्रसङ्गात्, पुंव्यापाराद् देहस्पन्दादिस्तेन कुठारक्रियादिस्ततश्छिदेति परम्परान्यवधानात्। सर्वैवं कर्तृव्यापारपरम्परा न तस्य हेतुता हन्तीति चेत्, तुल्यम्। तस्मात् करणत्वेन अवश्याभ्युपगन्तव्यहस्ताद्यव्यापकत्वादलक्षणमिदम्।

एतेनाऽपि कारकान्तरशब्दः कर्तृकर्मव्यतिरिक्तवचन इति पक्षो व्युदास्यः।

(२) कर्तृव्यापारविषयः करणमित्यपि न। शरीरचालनाय प्रयतमानस्य

तावतः कारकत्वव्यावृत्तौ तद्व्याप्यकारणत्वव्यावृत्तिस्ततश्च करणत्वस्य व्यावृत्तिः द्रव्यत्वव्यावृत्त्या पृथिवीत्वादिव्यावृत्तौ तद्व्याप्यघटत्वादिव्यावृत्तिरिवेत्यर्थः। हस्ताद्यन्वयव्यतिरेकावन्यथासिद्धौ न तत्र तेषां कारणत्वं दर्शयितुमीशाते इत्याह ❀ किं नामेति ❀। अग्न्यादेस्तत्र हेतुत्वं हस्तादीनामिति हेतुहेतुविषयान्वयव्यतिरेकौ यथा परेषामिन्द्रियसम्प्रयोगान्वयव्यतिरेकावधिष्ठानग्रहणोपयुक्ताविन्द्रियजत्वं भ्रमस्य न कल्प्यत इत्यर्थः। न च वाच्यमिति शेषः। कुतो न वाच्यमित्यत आह ❀ कर्त्तुरिति ❀। कर्त्तुरपि काष्ठादिव्यवधानात्प्रधानक्रियां प्रति हेतुत्वाभावप्रसङ्गादित्यर्थः। पुरुषस्य प्रधानक्रियां प्रति व्यवधानं दर्शयति ❀पुमिति❀। पुंसो व्यापारः प्रयत्नस्तस्माद् देहे स्पन्दश्चेष्टा आदिपदेन देहावयवहस्तचलनं ततो हस्तकुठारसंयोगो गृह्यते। ततो देहस्पन्दात् कुठारव्यापार उन्नमननिपतनरूपः आदिपदेन करणस्य कर्मणो योगात् छिदा छिदिक्रिया। पचिं प्रकृत्य छिदामुदाजहार समानन्यायत्वादव्यापकत्वस्य सार्वत्रिकत्वदर्शनाय च। कर्तुरहेतुत्वप्रसङ्गपरिहारमाशङ्कते ❀ सर्वेति ❀। देहस्पन्दादिरूपा कर्त्तृव्यापारपरम्परेव तेन न तया व्यवधानम्, व्यापारपरम्पराया व्यापारिव्यवधायकत्वाभावादित्यर्थः। समः समाधिरन्यत्राभिनिवेशादिति समाधत्ते ❀ तुल्यमिति ❀। काष्ठव्यापारादि सर्वं हस्तव्यापारपरम्परेति न तया हेतुत्वाव्याघात इत्यर्थः। हस्तादेरकरणत्वे प्रकृतलक्षणस्य किं छिन्नमित्याकाङ्क्षायां तद्दर्शयन्नुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀।

कर्तृकर्म्मव्यतिरिक्तकारकेऽचरितार्थः सार्वत्रिको हेतुः करणमिति पक्षे प्रागव्यर्थत्वमुक्तमिदानीं अव्यापकत्वं दूषणं प्रसङ्गादतिदिशति ❀ एतेनेति ❀। अन्यादिः कर्ता न भवत्यप्रेरकत्वान्न कर्म्म तण्डुलादेरेव कर्म्मत्वादतः कर्तृकर्मव्यतिरिक्ताग्न्यादिजनकहस्तादावव्यापकत्वमित्यर्थः।

अस्तु तर्हि कर्तृव्यापारविषयः करणमिति लक्षणं कथितदोषाभावादित्याशङ्क्याह ❀ कर्त्रिति ❀। विषयः करणमित्युक्ते ज्ञानविषये घटादावतिप्रसक्तिस्तन्निरासायाह ❀ व्यापारेति ❀। तावत्युक्ते करणव्यापारविषये कर्म्मण्यतिव्याप्तिस्तन्निरासाय ❀ कर्त्रिति ❀। कर्ता तद्व्यापारो वेत्युक्तेऽसम्भवो माभूदि-

अग्नि से पाक होता है। तो वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब तो कर्त्ता को भी काष्ठादि का व्यवधान होने के कारण प्रधान क्रिया का हेतु न माना जा सकेगा, क्योंकि पुरुष में प्रयत्न होता है, उससे शरीर में स्पन्दन, स्पन्दन से हस्तादि में क्रिया, हस्त-कुठार-संयोग होता है, पश्चात् पुनः शरीर की चेष्टा से हस्त-संयुक्त कुठार का उद्यमन-निपातन होता है, तब कहीं काष्ठ का छेदन (द्वैधीभाव) सम्पन्न होता है। कथित व्यापार की लम्बी शृङ्खला को कर्त्ता का ही व्यापार-चक्र मान कर कर्तृगत प्रधान क्रिया की हेतुता यदि अक्षुण्ण मानी जाती है, तब हस्त की भी व्यापार-परम्परा से साक्षात् हेतुता अव्याहत रह जाती है। फलतः करणत्वेन अवश्य अभ्युपगत हस्तादि में उक्त लक्षण अव्याप्त होने के कारण दुष्ट लक्षण है। इसीलिए 'कारकान्तर' शब्द की कर्तृकर्म-भिन्नार्थ-वाचकता भी खण्डित हो जाती है, क्योंकि अग्न्यादि को कृति का आश्रय न होने के कारण कर्त्ता और परसमवेत क्रिया से जनित फल का आश्रय न होने के कारण कर्म नहीं माना जा सकता, परिशेषतः करण ही मानना होगा, क्रिया के जनकीभूत हस्तादि में कर्तृकर्मव्यतिरिक्ताचरितार्थत्व अव्याप्त अवश्य है।

(२) कर्तृव्यापारविषयः करणम्--

कर्त्ता के हस्त-संयोगादिरूप व्यापार का आश्रय होने के कारण दण्डादि को करण माना जाता है, अतः करणका जो यह 'कर्तृव्यापारविषयः करणम्'—लक्षण किया जाता है,

निष्पाद्या शरीरक्रिया, क्रियाविशिष्टं वा शरीरं प्रयत्नलक्षणकर्तृव्यापारविषयीभवतीति तस्यां क्रियायां करणं स्यात्। न चैतत् शक्याङ्गीकरम्, भविष्यतः स्वं प्रति च कारकत्वानुपपत्तेः।

न च साक्षात्कर्तृव्यापारविषय इति विशेषोपादानेऽप्यस्य परिहारः, साक्षाद्-

---

स्याह ❀ व्यापारविषय इति ❀। कुतो न लक्षणमित्यत आह ❀शरीरेति❀। शरीरचालनाय बाह्यचेष्टार्थं प्रयतमानस्य पुंसः प्रयत्नलक्षणकर्तृव्यापारस्य शरीरक्रिया क्रियाविशिष्टं शरीरं वा विषयो भवतीति कृत्वा तत्क्रिया अस्यां शरीरचेष्टाक्रियायामेव करणं स्यादित्यतिव्याप्तिरिति सम्बन्धः। शरीरस्य तत्क्रियाया वा कथं प्रयत्नविषयत्वमित्यत आह ❀ निष्पाद्येति ❀। प्रयत्नसाध्यत्वात्प्रयत्नविषयत्वं प्रयत्नस्य कस्य कुत्रेति साध्यविषयतयैव प्रतीतेरिति यावत्। क्रियायाः प्रयत्नविषयत्वं नास्ति शरीरस्यैव तद्विषयत्वेन नान्तरीयकतया क्रियायास्तद्विषयत्वमित्यत आह ❀ तद्विशिष्टेति ❀। एतदुक्तं भवति वृक्षच्छेदाय प्रयतमानस्य कर्तुर्व्यापारस्य कुठारः क्रियाविशिष्टस्तद्व्यापारो वोद्यमननिपतनरूपो विषयीभवतीति तस्य यथा छिदायां करणत्वं तथेहापि कर्तृव्यापारविषयतया करणत्वं तच्च क्रियान्तराभावादस्यामेव क्रियायामिति। शरीरादि करणं कर्तृव्यापारविषयत्वात् कुठारादिवदिति करणत्वानुमानान्नातिव्याप्तिरित्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। शक्योऽङ्गीकारो यस्य तत्तादृक्। शरीरादेः करणत्वं शक्याङ्गीकारं न भवतीत्युक्तं कुतो नेत्यपेक्षायामाह ❀ भविष्यत इति ❀। भविष्यतः शरीरादेः पूर्वं कारणत्वानुपपत्तेर्नियतपूर्वसत्त्वं कारणत्वं न च भविष्यतस्तदस्तीति कारकत्वानुपपत्तौ तद्विशेषकरणत्वानुपपत्तेः। हेत्वन्तरमाह ❀ स्वमिति ❀। यदा क्रिया तद्विशिष्टं शरीरं वा तामेव क्रियां प्रति करणं स्यात्तदा स्वयमेव स्वसिद्धौ करणमित्यात्माश्रयस्तन्न युक्तं करणत्वतन्निष्पाद्यत्वे च विमतिपदेनाऽभिन्नाधिष्ठाने कार्यकारणभावत्वान्मृद्घटयोः कार्यकारणभाववदिति प्रयोगविरोधात्। न च हेतोरेकत्राऽप्यभाव इति वाच्यम्, उत्कर्षनिकर्षवत्त्वादिति परैर्विशिष्टहेतुप्रयोगदर्शनादित्यर्थः। अव्यवधानेन कर्तृव्यापारविषयत्वं न चैतच्छरीरादावस्ति मनोव्यापार-

---

वह भी उचित नहीं, क्योंकि यह लक्षण शरीर की उस क्रिया में अतिव्याप्त हो जाता है, जो शरीर को स्पन्दित (क्रियाशील) करने के लिए उत्पन्न होती है—आत्मा की कृति या प्रयत्न से शरीर में वह क्रिया उत्पन्न होती है या यों कह दिया जाय कि क्रिया-विशिष्ट शरीर निष्पन्न होता है—यहाँ कृति के आश्रयीभूत आत्मारूपी कर्त्ता के प्रयत्नरूपी व्यापार का वह क्रिया अथवा क्रियाविशिष्ट शरीर विषय (निष्पाद्य) होता है। उक्त क्रिया में करणता की इष्टापत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि वह क्रिया किस कार्य का करण है ? इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि वह क्रिया क्रिया-विशिष्ट शरीर या स्वात्मक क्रिया का ही करण है किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि करण पूर्वभावी और कार्य उत्तरभावी होता है, वह क्रिया उस क्रिया-विशिष्ट शरीर का कारण कैसे हो सकती, जो उस क्रिया की उत्पत्ति के पश्चात् क्रिया-विशिष्ट होनेवाला है। कारण सदैव पूर्वभावी होता है, वह क्रिया न तो स्वात्मक क्रिया से विशिष्ट शरीर की कारण हो सकती है और स्वात्मक क्रिया के प्रति। [श्री उदयनाचार्य ने कहा है—"तदनेन कारकान्तरेऽचरितार्थस्य हेतुत्वमेव करणत्वमितिकरणलक्षणं दर्शयता कर्तृव्यापारगोचरः करणमित्यपि करणलक्षणसूचितम्" (ता० परि० पृ० ११५)। श्री वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में 'करण' की व्याख्या प्रस्तुत की है—"सर्वः कर्त्ता करणगोचरव्यापारो न तु साक्षात् फले व्याप्रियते। परश्वादि दारुद्वैधीभावायोद्यम्योद्यम्य दारुणि निपातयन् दारु छिनत्तीत्युच्यते न तु साक्षात् कर्तृव्यापारगोचरो दारुद्वैधीभावः, किन्तु स्पर्शवद्वेगवतः करणीभूतस्य परशोः संयोगस्योद्यमननिपातनलक्षणस्तु कर्तृव्यापारः परशुगोचर एव" (ता० टी० पृ० ३६)। यहाँ इसी लक्षण का खण्डन खण्डनकार ने किया है]।

शरीरगत क्रिया में करण लक्षण की अतिव्याप्ति हटाने के लिए 'साक्षात्कर्तृव्यापार-

व्यापार्यमनःप्रभृतिक्रियायां प्रसङ्गतादवस्थ्यात्, अव्यापकत्वाच्च।

अथ तत्क्रियाहेतुस्तत्क्रियाकर्तृव्यापारस्य विषयस्तत्क्रियाकरणमिति मन्यसे। मैवम्, अनीश्वरवादे अङ्कुरादीनामकरणकत्वप्रसङ्गात्। सुषुप्त्यनन्तरभाविन्याः प्रमायाः

व्यवधानेनैव कर्तृव्यापारविषयत्वाच्छरीरादेरिति नातिव्याप्तिरित्यत आह ॐ न चेति ॐ। अस्यातिव्याप्ति-दोषस्येति यावत्। साक्षात्त्वविशेषणस्य शरीरादावभावात्कुतो न परिहार इत्यत आह ॐ साक्षादिति ॐ। यदा साक्षादेव मनो व्यापार्यते तद्व्यापारश्च सङ्कल्पो हितसाधनत्वाद्यनुसंधानं वा तत्प्रभृत्येतदादेस्तस्य तद्व्यापारस्य च तस्यां क्रियायां करणत्वासङ्गतादवस्थ्यात्। यद्वा मनोव्यापारः सङ्कल्पादिबुद्धेरध्यवसायः ततश्च बुद्धेर्मनसो वा साक्षाद्व्यापारविषयत्वात्तामेव क्रियां प्रति करणत्वं प्रसज्येतेति स्वसमयसिद्धं मनो-बुद्धिभेदमाश्रित्यातिव्याप्तिमाह ॐ साक्षादिति ॐ। तर्हि तदन्यत्वे साक्षात्कर्तृव्यापारविषयः करणमिति लक्ष्यत इत्यत आह ॐ अव्यापकेति ॐ। कर्तृव्यापारस्य प्रयत्नरूपस्य मनोव्यापारादिव्यवधानेन विषयत्वा-त्कुठारादेस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। न च कार्यकरणसङ्घातस्य कर्तृत्वात्साक्षात्तद्व्यापारविषयत्वं कुठारादेरिति वाच्यम्। तस्याचेतनत्वेनाकर्तृत्वात् घटादिवत्। चेतनविशिष्टतया कर्तृत्वे लाघवात्तस्यैव कर्तृत्वमस्त्विति द्रष्टव्यम्।

उक्तातिव्याप्तिं परिहरन्नुक्तलक्षणं विधान्तरेणोपस्थापयति ॐ अथेति ॐ। तदिति सर्वत्र क्रिया-मात्रमुच्यते। तत्क्रियाहेतुः करणमित्युक्ते कर्त्रादावतिप्रसक्तिस्तां निवारयति ॐ व्यापार इति ॐ। तत्क्रियाहेतुर्व्यापारविषयः करणमित्युक्ते करणव्यापारविषये कर्मण्यतिव्याप्तिस्तन्निरासाय ॐ कर्तृव्यापार इति ॐ। तत्क्रियाहेतुः कर्तृव्यापारविषयः करणमित्युक्तेऽधिकरणस्यापि करणत्वप्रसङ्गस्तत्क्रियाहेतुत्वा-त्सर्वकर्त्रीश्वरव्यापारविषयत्वाच्च, तद्व्यासेधति ॐ तत्क्रियाकर्त्रिति ॐ। असाधारणकर्तृव्यापारविषयत्वं विवक्षितमिति यावत्। तत्क्रियाहेतुस्तत्क्रियाकर्तृव्यापारविषयः करणमित्युक्ते तच्छिदिक्रियाकर्तृव्या-पारविषयस्य तत्क्रियाहेतोः कुठारस्य गमनादौ करणताप्रसक्तिं निरस्यति ॐतत्क्रियाया इतिॐ। तत्क्रिया-कर्तृव्यापारविषयस्तत्क्रियायाः करणमित्युक्ते मनःशरीरादिव्यापारस्य तद्विशिष्टमनआदेश्च बाह्यचेष्टां प्रति करणत्वं प्रसक्तं प्रतिषेधति ॐतत्क्रियाहेतुरितिॐ। मनःशरीरादिव्यापारस्य तद्विशिष्टस्य मनआदेः तत्क्रियां प्रति हेतुत्वाभावान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। केनेत्थं लक्ष्यते ? किं मीमांसकेनोत कणादादिना ? न तावन्मीमांसक एवं लक्षयितुमीष्ट इति दूषयति ॐमैवमितिॐ। कुतो न शक्नुयादित्यत आह ॐअनीश्वरेतिॐ। अङ्कुरादीनां

विषयः'—ऐसा कहने पर मनोगत क्रिया में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि आत्मा सभी क्रियाओं के आरम्भ में साक्षात् मन को ही प्रेरित करता है। केवल अतिव्याप्ति ही नहीं, अव्याप्ति भी हो जाती है, क्योंकि परशुगत उद्यमन-निपातनरूप व्यापार कर्त्ता का साक्षात् व्यापार नहीं माना जाता, सर्वप्रथम आत्मा में प्रयत्नरूप व्यापार होता है, उसके पश्चात् मनोव्यापार, उसके पश्चात् शरीरगत क्रिया, तब कहीं परशु का उद्यमन-निपातन होता है, साक्षात् नहीं।

शङ्का—कर्त्ता की क्रिया-परम्परा में सभी क्रियाओं का कोई एक करण नहीं होता, अपितु भिन्न-भिन्न करण होते हैं, अतः करणता का लक्षण इस प्रकार परिष्कृत करना होगा—'तत्क्रियाहेतुः तत्क्रियाकर्तृव्यापारस्य विषयः तत्क्रियाकरणम्।' इस प्रकार व्यवस्थित लक्षण करने पर मन और शरीरादि की क्रिया से विशिष्ट मन और शरीर उसी स्वगत क्रियादि के प्रति हेतु नहीं, अतः उनमें करणता की अतिव्याप्ति नहीं होती।

समाधान—कथित लक्षण-प्रकार यदि अनीश्वरवादी का है, तब अंकुरादि कार्य विना करण के ही हो जायंगे, क्योंकि उनका कोई ऐसा हेतु प्रसिद्ध नहीं, जो किसी कर्त्ता के व्यापार का विषय हो, जीव अंकुरादि का कर्त्ता ही नहीं और ईश्वर अनीश्वरवाद में माना नहीं जाता।

एवं सुषुप्ति में जीव ज्ञानादि विशेष गुणों से रहित होता है, ज्ञान-रहित कर्त्ता नहीं

परिगणितकरणोपाधिभेदपरिसङ्ख्यातेषु प्रमाराशिषु बहिर्भावप्रसङ्गात्। अचेतनस्यापि कर्तृत्वे चातिप्रसङ्गात्।

सेश्वरवादे तु ईश्वरव्यापारविषयः सर्वं कारणमिति नाकरणं कारणं स्यात्। ओमित्यभिधाने च अकारणमात्रं व्यवच्छेद्यमिति कारणं करणमित्येवोच्यताम्, वृथा विशेषणपूरणप्रयासः।

अथ मन्यसे—न धर्म्यन्तरव्यवच्छेदाय विशेषणानि, किन्तु एकस्यापि धर्मिणो

करणपूर्वकत्वमस्ति वा न वा, न चेत्कार्यं करणपूर्वकमिति व्याप्त्यभावाद्रूपादिज्ञानलिङ्गेन चक्षुरादिकरणानुमानं न स्यादस्ति चेत्सकारणत्वं तर्हि तत्कर्तृत्वं किमस्मदादेरुतेश्वरस्य, नास्मदादेस्तद्विषयज्ञानाभावात्क्रियमाणज्ञानवत एव कर्त्तृत्वान्नापीश्वरस्य तस्यानङ्गीकारादतश्च कर्त्तृव्यापारविषयत्वमङ्कुरादिकरणस्य नास्तीति तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। अव्याप्त्यन्तरमाह ❀ सुषुप्त्येति ❀। सुषुप्त्यनन्तरं प्रथमतो या प्रमा जायते तस्या अकरणकत्वप्रसङ्गः सुषुप्तस्यात्मनश्चेतनाहीनस्य कर्त्तृत्वानुपपत्त्या तद्व्यापारविषयस्य पूर्वकालसतः करणस्यासम्भवान्न च सा करणशून्या, एवं सति परिगणितानि यानि करणानीन्द्रियादीनि तान्येवोपाधयस्तेषां भेदेन परिसङ्ख्याताः पञ्चधा षोढेति वा ये प्रमाराशयस्तेषु बहिर्भावः प्रसज्येत तत्क्लृप्तकारणाजन्यत्वावतश्च तस्याः करणमस्ति न च तस्य कर्तृव्यापारविषयत्वमित्यव्याप्तिरित्यर्थः। अनीश्वरवादे सुषुप्त्यनन्तरभाविन्याः प्रमायाः परिगणितकरणोपाधिभेदपरिसङ्ख्यातेषु प्रमाराशिषु बहिर्भावप्रसङ्गात्। किमिव अङ्कुरादीनामकरणत्वप्रसङ्गवदिति ग्रन्थसम्बन्धः। तत्क्षणे ज्ञानाभावेऽपि पूर्वन्तदुपादानज्ञानं सुषुप्तस्यासीदिति चास्मदादिभोक्तृशरीरमचेतनं वा कर्तृ स्यादतो नाव्याप्तिरित्यत आह ❀ अचेतनेति ❀। सुषुप्त्यादावपि कर्त्तृत्वमङ्कुरादीनामकर्त्तृत्वं न स्यादित्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। काणादादेरिदं तर्हि लक्षणमस्तु तत्रेश्वरस्य कर्त्तुः सर्वत्र भावादुदितावद्याभावादिति द्वितीयमाशङ्क्याह ❀ सेश्वरेति ❀। सेश्वरवादे कारणमकरणन्न स्यात्। हेतुमाह ❀ ईश्वरेति ❀। सर्वंकारणमीश्वरव्यापारविषय इति कृत्वेति शेषः। तत्क्रियाहेतुस्तत्क्रियाकर्त्तृव्यापारविषयतक्रियायाः करणमिति लक्षणयोगित्वात्कारणमात्रं करणं स्यादित्युक्तम्। नन्वीश्वरव्यापारविषयतया कारणमात्रस्य करणत्वमिष्यत एव को दोष इत्यत आह ❀ ओमिति ❀। ओमित्यभिधानेऽस्त्वित्यभिधाने इति यावत्। अकारणमात्रं व्यवच्छेद्यं स्यात्तद्व्यवच्छेदस्य कारणग्रहणेनैव सिद्धेः कारणं करणमित्येव लक्षणमुच्यतां तत्क्रियाहेतुरित्यादिविशेषणप्रक्षेपो व्यर्थस्तस्या व्यावर्त्तकत्वादित्यर्थः।

कहा जा सकता, क्योंकि कर्त्ता में उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान का होना अनिवार्य है। अतः सुषुप्ति के अनन्तर समुत्पन्न प्रमा का भी कौन करण होगा ? परिगणित इन्द्रियादिकरण वहाँ सम्भव नहीं, फलतः उस प्रमा को परिगणित प्रत्यक्षादि प्रमाओं से बहिर्भूत अतिरिक्त मानना होगा। यदि अनीश्वरवादी जड़पदार्थ को भी कर्त्ता मानते हैं, तब सुषुप्ति के अनन्तर उत्पन्न प्रमा और अंकुरादि कार्यों का करण भी जीव का जड़ शरीर ही हो जायगा, तब अंकुरादि को जो अनीश्वरवाद में अकर्तृक कार्य माना जाता है, वह सिद्धान्त भङ्ग हो जायगा, अपसिद्धान्त नाम का निग्रहस्थात प्रसक्त होगा।

ईश्वरवादियों के मत में तो सभी कारण-राशि ईश्वररूप कर्त्ता के व्यापार की विषय ही हो जाती है, तब सभी कारण करण ही बन जायंगे, कोई कारक अकरण न होगा। यदि कारकमात्र को करण मान लिया जाता है, तब अकरणमात्र की व्यावृत्ति करने के लिए करण का लक्षण पर्यवसित होता है—'कारणं करणम्', करण के अन्य विशेषणों की गवेषणा का प्रयास व्यर्थ हो जाता है।

शङ्का—'व्यापारवत्कारणं करणम्'—इत्यादि लक्षणों में जो व्यापारवत्त्वादि विशेषण लगाये जाते हैं, वे किसी अन्य कारण की व्यावृत्ति करने के लिए नहीं, अपितु 'करण' पद की

रूपभेदेन करणपदाभिधेयतोपदर्शनायेति । एवं तर्हि एतद्रूपालिङ्गितस्य करणत्वात् लक्षणोक्तिप्रवृत्तेन त्वया लक्ष्यमात्रमुक्तं भवेत् । न च लक्ष्यपदप्रवृत्तिनिमित्तमेव लक्षणार्थः, गन्धवत्त्वादेः पृथिव्याद्यलक्षणत्वापत्तेः ।

अपि चैवं वस्तुमात्रं करणमित्यभिधायैव किं न करणपदप्रवृत्तिनिमित्तमुपादर्शि ? स्यादेवं यदि सर्वत्र वस्तुनि करणव्यवहारः स्यादिति चेत्, तर्हि त्वदुक्त-

---

तस्य अव्यावर्त्तकत्वेऽपि न वैयर्थ्यं स्वरूपकथनार्थत्वादिति शङ्कते ॐ अथेति ॐ । कारणमात्रस्य करणत्वेऽपि न कारणमात्रं करणपदप्रवृत्तिनिमित्तं किन्त्वेकस्यापि तद्धर्म्मविशिष्टस्य धर्मिणः स्वरूपभेदमावाय करणपदाभिधेयत्वमित्यर्थः । पदप्रवृत्तिनिमित्तलक्षणयोर्मिथो भेदोऽभेदो वेति विकल्प्य भेदपक्षमपवदति ॐ एवमिति ॐ । करणपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य लक्षणत्वाभावात्तल्लक्षणे पृष्टे तत्कथनमर्थान्तरमापद्यत इत्यर्थः । अस्तु तर्हि तयोरभेदपक्षस्तत्रार्थान्तराभावादिति द्वितीयं प्रतिषेधति ॐ न चेति ॐ । पदप्रवृत्तिनिमित्तमेव लक्षणमुच्यते ? किं वा क्वचित्तदपीति ? नाद्यः, एवं सति गंधवत्त्वादीनां पृथिव्यादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वं नास्ति तत्तत्सामान्यानां निमित्तत्वाद्, अतोगंधवत्त्वादीनामलक्षणत्वं स्यात् । यदि द्वितीयस्तर्हि करणपदप्रवृत्तिनिमित्तमेव तल्लक्षणमिति प्रमाणाभावादर्थान्तरत्वं दुष्परिहरमित्यर्थः । पूर्वं कारणत्वमात्रस्य रूपभेदालिङ्गितस्य करणपदवाच्यत्वमूरीकृत्यादूषि, इदानीं तदपि न प्रमाणाभावादन्यथावस्तुत्वमात्रस्य तथात्वापातादित्याह ॐ अपि चेति ॐ । करणपदप्रवृत्तिनिमित्तमभिधाय तस्य करणत्वाभिधानमिष्टं चेत्तर्हि वस्तुत्वमात्रं करणपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति प्रदर्श्य तस्य करणत्वमुच्यतामित्यर्थः । गोशब्दस्य प्रवृत्तौ गोत्वस्य निमित्तत्वे सति तस्मिन्नन्यापेक्षयाऽखण्डादौ सर्वत्र तच्छब्दप्रवृत्तिवद्वस्तुत्वमात्रस्य करणपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सति तस्मिन्ननन्यापेक्षया करणव्यवहारेण भवितव्यं न च तथा व्यवहरन्ति वृद्धाः घटादौ सति तस्मिन् घटेन छिनत्तीति तददर्शनादतो न तन्निमित्तमिति शङ्कते ॐ स्यादिति ॐ । वस्तुत्वमात्राक्रान्ते यदि करणमित्यभिवदनव्यवहारस्तृतीयाप्रयोगो वा यदि भवेत्तर्ह्येवं स्यादिति सम्बन्धः ।

प्रवृत्ति के निमित्त (शक्यतावच्छेदक) धर्मविशेष का भेद प्रदर्शन करने के लिए विशेषण रखे जाते हैं, क्योंकि केवल कारणत्व 'करण' पद का प्रवृत्ति-निमित्त नहीं होता कि सभी कारणों को करण कह दिया जाय, अपितु जहाँ व्यापारवत्कारणत्वादि धर्म होते हैं, उन्हें ही करण कहा जाता है ।

समाधान—यदि आप लक्षण के द्वारा लक्ष्यगत करणादि पद का केवल प्रवृत्ति-निमित्त दिखाना चाहते हैं, तब वह तो केवल लक्ष्य के स्वरूपमात्र का परिचय देना होगा, लक्षण करना नहीं, अतः 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'—के अनुसार आप लक्षण करने के लिए प्रवृत्त होकर केवल लक्ष्य का स्वरूप बता कर रह जाते हैं । 'लक्षण और पद-प्रवृत्ति-निमित्त—दोनों अभिन्न होते हैं—ऐसा नहीं कह सकते, अन्यथा गन्धवत्त्वादि धर्म पृथिवी के लक्षण न बन सकेंगे, क्योंकि वे गुरु धर्म हैं, अतः 'पृथिवी' पद के प्रवृत्ति-निमित्त नहीं होते पृथिवीत्वादि को ही लाघवात् पद-प्रवृत्ति-निमित्त माना जाता है ।

दूसरी बात यह भी है कि यदि आपको 'करण' पद का प्रवृत्ति-निमित्त ही दिखाना अभीष्ट है, तब 'वस्तुमात्रं करणम्'—इतना ही कहना पर्याप्त था ।

शङ्का—लक्षण का प्रयोजन होता है- व्यावृत्ति या व्यवहार । 'करण' पद का वस्तु-मात्र में व्यवहार नहीं होता, अतः 'वस्तुमात्रं करणम्'—ऐसा कहने से काम नहीं चलता, अपितु उद्यमन-निपातनादि व्यापार से विशिष्ट कुठारादि में ही करणता का व्यवहार होता है, अतः 'व्यापारवत्कारणं करणम्' ऐसा ही लक्षण करना होगा ।

समाधान—यदि व्यवहार को ही लक्षण का प्रयोजक माना जाता है, तब कारणमात्रगामी लक्षण भी तभी किया जा सकता है, जब कि कारण मात्र में करणता का

लक्षणमपि भवेद् यदि सर्वत्र कारणे करणव्यवहारः स्यादित्यपि पश्य। न हि कर्तरि कर्मणि वा कस्यचित्करणव्यवहारः।

कर्तरि तावदस्ति लोके 'प्रमाणमिह देवदत्तः' इति। शास्त्रेऽपि 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्याद्' इतीति चेन्न, किमयं माणवकेऽग्निव्यवहार इव गौणो मुख्य एव वेति संशये यदि त्वत्परिकल्पितान्निमित्तात् मुख्यः स्यात्ततः कर्मण्यपि

न्यायाभिमानी चेत्स्वपक्षपातं हित्वाऽनुसर न्यायं तदनुसरणे च कारणमात्रं करणमित्यपि न सेत्स्यतीत्यभिसन्धाय सिद्धान्तयति ❀ तर्हीति ❀। सति वस्तुत्वे तदव्यवहारान्न तत्करणपदप्रवृत्तिनिमित्तं चेत्कारणत्वमात्रेणापि न कारणलक्षणं स्याद्व्यभिचारसाम्याल्लक्षणस्यापि व्यवहारनिमित्तत्वाभ्युपगमादिति भावः। सति कारणत्वे कुठारादौ करणव्यवहारो दृश्यत एवेत्यत आह ❀ न हीति ❀। कुठारादौ करणत्वव्यवहारे किं कारणत्वं प्रयोजकमुत वस्तुत्वमिति विशये कारणत्वमिति निर्णयः स्याद्यदि कारणत्वाक्रान्ते कर्त्रादौ तद्व्यवहारः स्याद्वस्तुत्वाक्रान्तमात्रे चान्यत्र न स्यान्न चैवमस्तीत्याशयः।

कर्त्रादौ करणव्यवहारो लौकिको नास्तीति वदतः किमाकूतं कर्त्तरि करणव्यवहारो लौकिको नास्तीति? किंस्विच्छास्त्रीयो नेति? न तावदाद्यो हृद्य इत्याह ❀ कर्तरीति ❀। तावच्छब्दः कर्मापेक्षया कर्त्तरि करणव्यवहारे सिद्धे कर्म्मणोऽपि कारणत्वलिङ्गेन करणत्वव्यवहारः सिद्ध्यतीति भावः। तदेवोदाहरणेन परबुद्ध्याऽऽरूढं करोति ❀ प्रमाणमिति ❀। विवदमानो लौकिको वदति मदुक्तेऽर्थे देवदत्तः प्रमाणमिति तत्र प्रमाकर्तरि देवदत्ते प्रमाणमिति प्रमाणनिर्देशात्कर्तरि करणव्यवहारः सिद्ध इत्यर्थः। नापि द्वितीय इत्याह ❀ शास्त्रेऽपीति ❀। उक्तसमुच्चयार्थोऽपिः। आप्तप्रामाण्यान्मन्त्रस्याम्नायस्यायुर्वेदस्य च चरकश्रुत्यादेर्यथा प्रामाण्यं व्यवह्रियते तथा कर्तृप्रामाण्यमपि व्यवह्रियत इत्यर्थः। यद्वा शास्त्रेऽपि कर्तरि करणव्यवहारोऽस्तीत्यनुषङ्गः तत्र परकीयमेव वचनं प्रमाणयति ❀ मन्त्रेति ❀। मन्त्रायुर्वेदयोर्यथा प्रामाण्यमाप्तवाक्यत्वात्तथाऽऽप्तप्रामाण्यादेव तत्प्रमाणं तत्प्रणीतशास्त्रप्रामाण्यं वाऽस्तीति वदताऽऽप्ते प्रमाकर्तरि प्रमाकरणत्वकथनादित्यर्थः। अनन्यथासिद्धव्यवहारात्तथात्वावगतिरयं तु व्यवहारो गौणतयाऽप्युपपन्नो न कर्त्तरि करणव्यवहारं गमयितुमीष्ट इति परिहरति ❀ नेति ❀। अयं कर्तरि करणव्यवहारोऽग्निरधीतेऽनुवाकमिति माणवकेऽग्निव्यवहारवन्मुख्यार्थगुणयोगात्प्रमाहेतुसम्बन्धाद्गौणः? किं वाऽग्नावग्निव्यवहारवन्मुख्य एवेति? व्यवहारस्योभयसाधारण्यात्संशये सति गौणतयैव तद्व्यवहारस्थापनायाः

व्यवहार होता। किन्तु सभी कारणों (कर्त्ता-कर्मादि) में करण-व्यवहार नहीं होता।

शङ्का—देवदत्तादि कर्त्ता कारक में करणत्व-व्यवहार लोक-प्रसिद्ध है, जैसे कि व्यावहारिक व्यक्ति अपने व्यवहार की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कहता है—'देवदत्तः प्रमाणमत्र', 'प्रमाण' शब्द का अर्थ है—प्रमा का करण। लोक में ही नहीं शास्त्रों में भी वैसा व्यवहार देखा जाता है, न्यायसूत्रकार कहते हैं—"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्" (न्या० सू० २।१।१२)। अर्थात् जैसे मन्त्र और आयुर्वेद का कर्त्ता ईश्वर प्रमाणभूत (प्रमा का करण) होता है, अतः मन्त्रादि भी प्रमाण हैं, वैसे ही समस्त वेद प्रमाण है, क्योंकि उसका भी कर्त्ता परमेश्वर है, जो कि अत्यन्त प्रमाणरूप है।

समाधान—कर्त्ता में जो करणत्व-व्यवहार दिखाया गया, वह क्या 'अग्निर्माणवकः' के समान गौण व्यवहार है? अथवा मुख्य व्यवहार है? यदि आपके द्वारा कल्पित प्रमाकारणत्वरूप निमित्त को लेकर कर्त्ता में 'करणता' पद का मुख्य व्यवहार माना जाता है, तब उसी निमित्त को लेकर कर्म में भी करणता का मुख्य व्यवहार होना चाहिए। चूँकि 'दण्डेन घटं करोति' के समान 'घटेन घटं करोति'—ऐसा व्यवहार नहीं होता, अतः कर्म में करणत्व का मुख्य व्यवहार बाधित है, तब 'देवदत्तेन दण्डेन घटं करोति'—ऐसा व्यवहार न होने के कारण कर्त्ता में भी करणता का मुख्य व्यवहार बाधित है, परिशेषतः वह गौण

स्यात्तत एव निमित्तादिति बाधकदर्शनेन पारिशेष्याद् गौणतयैव तद्व्यवस्थापनाया युक्तत्वात् ।

अस्त्येव कर्मण्यपि तेन रूपेणेति चेन्न, न तावदयं शक्योपदर्शनोदाहरणः शास्त्रलोकयोः क्व दृश्यते 'घटं पश्यती'त्यर्थे 'घटेन पश्यती'ति ? यदि तु त्वच्चेतसि केवलं स्यात्, तत्र च नादरं विधातुमुत्सहामहे । प्रमेयमात्रं करणमिति वदतो वामबुद्धेर्मनसि विपरिवर्तमानं प्रमेयमात्र एव करणव्यवहारास्तित्वमेवमनुरोद्धव्यं स्यादिति ।

'घटेन पश्यती'त्याद्यनभिधानवशान्न प्रयोगः, न हि सर्वं लाक्षणिकं प्रयुज्यत

कर्तरि करणव्यवहारस्थापनस्य युक्तत्वादिति सम्बन्धः । किमत्र प्रमाणमित्यत आह ❀ पारीति ❀ । मुख्यत्वेन तदुपपत्तौ प्रसक्तप्रतिषेधासिद्धेः पारिशेष्यासिद्धिरित्यत आह ❀ यदीति ❀ । त्वत्परिकल्पितात्करणत्वनिमित्ताद्यदि मुख्यः स्यात्तर्हि तत एव निमित्तात्कर्म्मण्यपि स्यान्मुख्यार्थबाधके सति तद्गुणयोगादर्थान्तरे वृत्तित्वं दर्शयति ❀ इतीति ❀ ।

मुख्यार्थे बाधकं प्रमाणं तर्को वा वक्तव्यः, न चायं तर्कः कर्मणि करणव्यवहारप्रसङ्गस्येष्टापादनरूपतयाऽऽभासत्वादिति शंकते ❀ अस्तीति ❀ । तेन रूपेण व्यवहारः शास्त्रे कारणत्वरूपेणेति यावत् । कर्मणि करणव्यवहारः शास्त्रे लोके वा करणार्थविभक्तिप्रयोगादुच्यते किं वा त्वदनुभवादिति विकल्प्य प्रथममनुपलम्भेनापनयति ❀ नेति ❀ । यत्र कर्मणि करणव्यवहारो दर्शयितुं शक्यते तादृशमुदाहरणं लोकशास्त्रयोर्नास्तीत्यर्थः । अनुपलम्भमेवोपपादयति ❀ क्वेति ❀ । यदि कर्म्मापि करणं स्यात्तर्हि कर्म्मविवक्षायां तृतीयाप्रयोगः स्यान्नासौ क्वापि दृश्यत इत्यर्थः । द्वितीयमनुवदति ❀ यदीति ❀ । मच्चेतसि कर्म्म न करणमिति भावान्न तस्य करणत्वमिति युक्तिबाधादनुभवस्याभासत्वं त्वर्थः । प्रतिविधत्ते ❀ तत्रेति ❀ । कर्म्मणः करणत्वे कर्मापि करणमिति पौनरुक्त्यं चार्थः । त्वदङ्गीकारमात्रान्नातिप्रसक्तिपरिहार इति तात्पर्यम् । विपक्षदण्डेनैतदुपपादयति ❀ प्रमेयेति ❀ । त्वदनुभवमात्रेण कर्मणः करणत्वमभ्युपगम्यं चेत्कश्चिद्वामबुद्धिर्वस्तुमात्रं करणतया मयाऽनुभूयत इति यदि वक्ति, तर्हि तदनुभवानुरोधेन वस्तुमात्रे करणस्य व्यवहारास्तित्वमुपेयं स्यादित्यतिप्रसङ्गान्न कारणमात्रं करणमित्यर्थः । वामबुद्धिश्चतुरबुद्धिः कोमलबुद्धिर्वा उभयोरपि विजिगीषया भ्रान्त्या च तदभिधानसम्भवात् । कर्म्मणि करणविभक्तिप्रयोगानुपलम्भान्न तस्य करणत्वमिति यदुक्तं तदयुक्तं करणत्वे सत्यपि तदप्रयोगोपपत्तेरिति शंकते ❀ घटेनेति ❀ । घटं पश्यतीत्यर्थे घटेन पश्यतीति वृद्धप्रयोगाभाववशादिदानीन्तनानां तथा प्रयोगाभावो

व्यवहार रह जाता है, गौण व्यवहार के आधार पर मुख्य निमित्त सिद्ध नहीं होता ।

'कर्म में भी करणता का मुख्य व्यवहार होता है'—ऐसा कोई उदाहरण लोक या वेद में नहीं दिखाया जा सकता । 'घटं पश्यति'—इस अर्थ में 'घटेन पश्यति'—ऐसा प्रयोग कहाँ देखा जाता है ? यदि केवल आप के चित्त में वैसा व्यवहार हो, तब उसे पूर्ण समादर देने का उत्साह हम में नहीं । यदि आपके अनुरोध पर हम कर्म को करण मान लें, तब यदि कोई कुटिल बुद्धिवाला पुरुष कहता है—'प्रमेयमात्रं करणम् ।' तब उसके अनुरोध पर प्रमेयमात्र को भी करण मानना होगा ।

शङ्का—यह जो कहा गया कि कर्म में यदि करणता है, तब "कर्तृकरणयोः" (पा० सू० २।३।१८) इस लक्षण (सूत्र) के आधार पर 'घटेन'—इस प्रकार तृतीया का प्रयोग होना चाहिए । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि जो-जो पदार्थ लाक्षणिक (सूत्र रूप लक्षणों से सिद्ध होता है, उसका सब कहीं व्यवहार होना चाहिए—यह आवश्यक नहीं, क्योंकि सूत्रादि शब्दों में पुंस्त्व लक्षण-सिद्ध है, किन्तु 'सूत्रः'—ऐसा प्रयोग नहीं होता । फलतः कर्म में कारणत्व रहने पर भी तृतीया का अप्रयोग उपपन्न हो जाता है, तृतीया के अप्रयोगमात्र से कर्मगत करणता का बाध क्यों होगा ?

इति चेन्न, माऽस्तु, तदभावे कोऽन्योऽस्ति तेषु करणव्यवहार इति वक्तव्यः स स्यात् ? न चासौ शक्यदर्शन इति।

क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि करणमित्यपि न, तथा हि—अयोगव्यवच्छेदो योग एव पर्यवस्येदिति सम्बन्धेन सम्बन्धीत्युक्तं स्यादिति पौनरुक्त्यम्।

न तु कर्मणः करणत्वाभावाद् वृद्धव्यवहारमूलत्वादिदानीन्तनव्यवहारस्येत्यर्थः। कर्म्मणि करणत्वं वस्तुवृत्त्याऽस्ति चेत्कर्तृकरणयोस्तृतीयेति लक्षणविद्धत्वात्तदप्रयोगो वृद्धानां वा कथमित्यत आह ❀ न हीति ❀। वृद्धैर्यत्प्रयुज्यते तल्लक्षणसिद्धमिति नियमो न तु यल्लक्षणसिद्धं तत्प्रयुज्यत एवेति, लोपः शाकल्यस्ये"त्यादि लक्षणसिद्धस्याऽपि यथागता इत्यादेरप्रयुज्यमानतया व्यभिचारादित्यर्थः। कर्म्मणि करणत्वे सत्यपि तदर्थविभक्तेरप्रयोगोपपत्तिमुपपादितामङ्गीकरोति ❀ मास्त्विति ❀। करणत्वाभावसाधकतदप्रयोगस्यान्यथोपपत्तिरूरीकृता चेत्सिद्धं तर्हि करणत्वं कर्मण इत्यत आह ❀ तदिति ❀। तेष्विति व्यक्तिबहुत्वाभिप्रायं बहुवचनम्। यत्करणं तत्तदुचितव्यवहाराणामन्यतमगोचर इति व्याप्तमतश्च व्यापकनिवृत्त्या तद्व्याप्यकरणत्वनिवृत्तिर्न हि, तदयं प्रयोगः—कर्म्म न करणं तदुचितव्यवहारमात्रागोचरत्वाच्छशविषाणवन्न चाश्रयहीनमुदाहरणं निषेधसाध्यस्य निषेधकहेतोश्च निरूपाख्यस्याप्याश्रयतोपपत्तेरन्यथा कुत इत्युक्ते हेतूपादानानुपादानयोर्व्याघातादिति न च हेतोरसिद्धिः कर्म्मसु करणव्यवहारस्य कस्यचिदपि वक्तुमशक्यत्वादित्याह ❀ न चेति ❀। न हि करणार्थी कश्चित्कर्मोपादत्ते तेन तद्व्यवहारमात्रं नास्तीत्यर्थः।

अस्तु तर्हि क्रिययाऽयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि करणमिति लक्षणान्तरमनवद्यत्वात्तत्राह ❀ क्रिययेति ❀। सम्बन्धि करणमित्युक्ते द्रव्यसम्बन्धिनि गुणेऽतिव्याप्तिस्तद्व्युदासायाऽऽह ❀ क्रिययेति ❀। क्रियया सम्बन्धिकरणमित्युक्ते कर्त्रादावतिव्याप्तिस्तन्निरासायाह ❀ अयोगव्यवच्छेदेनेति ❀। कर्त्रादेः क्रियाया अयोगव्यवच्छेदो नास्तीति क्रियोत्पत्तेः प्रागेवोपरमान्न हि कर्त्रादौ व्याप्रियमाणेऽपि क्रिया जायते यावद्व्यापाराविष्टं करणं न व्याप्रियते, करणे तु व्याप्रियमाणे व्यवच्छिद्यत एवायोगः क्रियायास्तन्निष्पत्तिपर्यन्तं करणव्यापारात् क्रियाजन्मनियमोऽस्ति करणे व्याप्रियमाण इत्यर्थः। अव्याप्त्यादिदोषादर्शनात्कथमलक्षणत्वमित्यत आह ❀ तथा हीति ❀। पौनरुक्त्यादिदोषं दर्शयितुमयोगव्यवच्छेदपदार्थं वर्णयति ❀ अयोगेति ❀। भावाभावयोरन्यतरनिषेधेऽन्यतरविधिध्रौव्यादित्यर्थः। अस्तु तथाऽपि प्रस्तुते किं स्यादित्यत आह ❀ इतीति ❀। सम्बन्धस्याभेदात् पौनरुक्त्यं, तृतीयार्थोऽपि कारकभेदादिर्न सङ्गच्छत इत्यर्थः। सम्बन्धस्यैकत्वेऽपि कालोपाधिभेदेन भेदान्न पौनरुक्त्यं नापि तृतीयार्थस्य कारकभेदादेरनुपपत्ति-

समाधान—मान लेते हैं कि वहाँ तृतीया का अप्रयोग, उपपन्न हो जाता है, किन्तु उसको छोड़ कर वहाँ और कौन ऐसा व्यवहार होता है ? जिसके आधार पर कर्म में विद्यमान करणता की झलक मिले— ऐसा अन्य कोई व्यवहार नहीं दिखाया जा सकता।

(३) क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि करणम्—

[श्री वाचस्पति मिश्र ने जो कहा है—"प्रमातृप्रमेयाभ्यां सह प्रमोत्पादस्यान्ययोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धः, प्रमाणेन तु सम्बन्धः प्रमोत्पादस्यायोगान्ययोगव्यवच्छेदाभ्यामित्यतिशयः प्रमाणस्य" (ता० टी० पृ० ३७)। उसके आधार पर अधिगत] 'क्रियाया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि कारणम् करणम्'—यह लक्षण भी संगत नहीं, क्योंकि अयोग-व्यवच्छेद का पर्यवसित स्वरूप होता है—योग, क्योंकि अभाव का अभाव प्रतियोगिरूप माना जाता है। 'योग' शब्द का वाच्यार्थ है—सम्बन्ध, अतः 'योगेन सम्बन्धी'— इस वाक्य का सीधा अर्थ है—'सम्बन्धेन सम्बन्धी'। यहाँ 'संबन्ध' पदार्थ पुनरुक्त है, अतः जैसे 'संयोगेन संयोगी'—ऐसा न कह कर केवल 'संयोगी' कहा जाता है, वैसे ही 'संबंधेन संबंधी'—ऐसा न कह कर केवल संबन्धी—इतना ही कहना चाहिए।

यदा सम्बन्धीत्यनेन कालविशेषनियतसम्बन्धिता अभिधीयते, ततोऽन्यस्मिन्नपि काले सम्बन्धिता अयोगव्यवच्छेदपदेन विवक्षितेति चेन्न, सम्बन्धीत्यनेन न कालविशेषनियता सम्बन्धिताऽभिहिता, येन कालान्तरेऽलब्धसम्बन्धताभिधानाय पदान्तरमुपादीयेत।

अथोच्यते—सम्बन्धीत्यस्य सामान्यतोऽभिधायिनः कालविशेषनियतं सम्बन्धमादायापि पर्यवसाने सार्थकत्वं भवत्येवेति कालान्तरेऽसम्बन्धितया व्यवतिष्ठमानं कर्त्राद्यपि करणं प्रसज्येत, तद्व्यवच्छेदाय कालान्तरे सम्बन्धिता पदान्तरेणाभिधीयत इति। मैवम्; तर्हि तेनापि क्वचिदेव कालान्तरे सम्बन्धिताऽभिधीयेत, तदापि

रिति शंकते ❀ यदेति ❀। सम्बन्धीत्यनेन सम्बन्धी यदा कालविशेषनियतसम्बन्धितयाऽभिधीयते ततोऽन्यस्मिन् काले सम्बन्धितयाऽयोगव्यवच्छेदपदेन विवक्षिता इति सम्बन्धः। सम्बन्धोऽस्यास्तीति सम्बन्धी "अत इनिठनौ" विति स्मरणादस्येति प्रत्ययस्य वर्तमानसम्बन्धार्थत्वात्सम्बन्धीत्यनेनाभिधानात्तत्क्षणसम्बन्धिताऽभिधीयते ततः कालान्तरसम्बन्धिताऽयोगव्यवच्छेदपदेनोच्यते परप्रयुक्तभेदमुपजीव्य विप्रपरिव्राजकन्यायेनेत्यर्थः। परिहरति ❀ नेति ❀। सम्बन्धीत्यनेन कालविशेषनियतसम्बन्धित्वमुच्यत इति शब्दसामर्थ्यादुच्यते? किं वा न्यायसामर्थ्यादिति? न तावदाद्य इत्याह ❀ सम्बन्धीति ❀। सम्बन्धीत्यनेन न कालविशेषनियतसंबन्धितोच्यते किं तु सम्बन्धितामात्रमतो न कालविशेषसम्बन्धितासिद्धये पदान्तरमुपादेयमित्यर्थः। सम्बन्धिपदस्य सामान्यवचनत्वेऽपि किंचिद्विशेषमादायापि पर्यवसानात्कालविशेषनियतसम्बन्धित्वं तेनोच्यते इति न्यायबलात् ब्रूम इति द्वितीयमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। सम्बन्धीत्येतत्पदं सम्बन्धितामात्रमाचष्टे तत्सामान्याभिधायिनो विशेषमात्राकाङ्क्षिणो यस्मिन्कस्मिंश्चित्कालविशेषे नियतसम्बन्धमभिधाय पर्यवसाने सार्थकत्वं भवतीत्यर्थः। सम्बन्धीति पदं यदा कदाचित्तत्सम्बन्धे पर्यवस्यति सामान्याभिधानद्वारेति स्थिते कथितलक्षणं कर्त्रादावपि प्रसज्येत तन्मा भूदित्ययोगपदोपादानं नाफलमित्याह ❀ इतीति ❀। कालेति सम्बन्धिपदस्य सम्बन्धविशेषपर्यवसाने क्रियया यदा कदाचित्सम्बन्धिकरणमिति लक्षणं स्यात्तच्च कर्त्रादावस्तीति तन्निवारणायायोगव्यवच्छेदपदं ततश्च क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तं व्यापारितया कारणत्वेन क्रियासम्बन्धिकरणमिति लक्षणं कर्त्रादेर्व्यावर्तकमित्यर्थः। सामान्येन सम्बन्धवाचिनः क्षणमात्रसम्बन्धे पर्यवसितश्चेत्तर्हि स्यादतिप्रसङ्ग इति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। यथा सम्बन्धिपदस्य

शङ्का—अयोगव्यवच्छेदेन न कह कर केवल 'प्रधान क्रियासंबन्धि करणम्'—इतना ही कहने पर केवल वर्तमान कालीन क्रिया के (कादाचित्क) सम्बन्धी का ही ग्रहण होगा, क्योंकि 'सम्बन्धी'—इस पद में 'इन्' प्रत्ययविधायक "तदस्यास्त्यस्मिन्निति" (पा०सू० ५।२।९४) इस सूत्र में 'अस्ति'—इस प्रकार वर्तमान सम्बन्धवत्ता का ही उल्लेख है, सार्वदिक सम्बन्धवत्ता का लाभ नहीं हो सकता, [जैसा कि महाभाष्यकार कहते हैं—"अस्तिग्रहणं किमर्थम्? इदं तर्हि प्रयोजनम्—सम्प्रतिसत्तायां यथा स्याद्, भूतभविष्यत्सत्तायां मा भूत्—गावोऽस्यासन्, गावोऽस्य भवितार इति" (म० भा० ३।२।९४)]। क्रिया का कादाचित्क सम्बन्धी कोई कर्त्तादि कारक भी हो सकता है, उसकी व्यावृत्ति करने और कालान्तरीय अयोग का व्यवच्छेद करने के लिए 'अयोगव्यवच्छेदेन'—ऐसा कहना आवश्यक है, क्रिया का ऐसा सम्बन्धी करण ही होता है, कर्त्तादि नहीं।

समाधान—'सम्बन्धी'—इस पद के द्वारा केवल वर्तमान सम्बन्धवत्ता का ग्रहण नहीं होता, अपितु त्रैकालिक सम्बन्धवत्ता का अभिधान माना जाता है [जैसा कि श्री उद्योतकर भारद्वाज कहते हैं—"पाचकादिशब्दवत् त्रिकालविषयत्वात्। न ब्रूमः क्रियासम्बन्धेनैव कारकशब्दाः प्रवर्तन्त इति, अपितु त्रिकालविषया एते। किं पुनर्निमित्तम्? सामर्थ्यम्। तच्च त्रिष्वपि कालेष्वस्तीति" (न्या० वा० पृ० ८)। 'पाचक' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त स्पष्ट

तस्य सार्थकता सम्बन्धिपदन्यायेन सामान्याभिधायिनो भवेदिति ततोऽपि कालान्तरे असम्बन्धव्यवच्छेदाय विशेषणान्तरमपि निवेशनीयं स्यात्।

अथ यदा कदाचिदपि योऽयोगस्तस्य सर्वस्य व्यवच्छेदो विवक्षित इति, तर्हि सम्बन्धिपद एवैषा विवक्षाऽस्तु, कृतमधिकमुपादाय तद्विवक्षया। निषेधव्यवच्छेदेन सार्वत्रिकत्वलाभ इति चेन्न, निषेधव्यवच्छेदस्य विध्यनतिरेकार्थत्वेनाविशेषात्।

तद्धर्मिकं सम्बन्धस्य असम्बन्धासामानाधिकरण्यम् 'अयोगव्यवच्छेदेने' त्यने-

---

सामान्याभिधानद्वारा क्षणमात्रसम्बन्धे चरितार्थत्वं तथाऽयोगव्यवच्छेदपदस्यापि सामान्याभिधायिनः क्षणमात्रसम्बन्धे चरितार्थत्वं स्यात्सामान्यस्य विशेषमात्रनिष्ठत्वेन निराकाङ्क्षोपपत्तेरित्यर्थः। ततः किमनिष्टं निरटङ्कीत्यत आह ❀ इति ततोऽपीति ❀। सम्बन्ध्ययोगव्यवच्छेदपदाभ्यां क्षणद्वयसम्बन्धि करणमित्युक्तं स्यादेतच्च कर्त्रादावतिव्यापकमतो विशेषणान्तरमपि कालान्तरीयासम्बन्धव्यवच्छेदायोपादेयं स्यादतश्च हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं स्यादित्यर्थः।

अयोगव्यवच्छेदपदस्य सम्बन्धिपदन्यायेन क्षणमात्रसम्बन्धपर्यवसितत्वेऽपि सार्वकालिकायोगव्यवच्छेदविवक्षया प्रयोगान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। विवक्षया लक्ष्यया लक्षणनिर्वाहाद्यथा तृतीयं पदमुपादेयं न तथा द्वितीयमपि सम्बन्धिपदं प्रथम एव सार्वकालिकसम्बन्धस्य विवक्षितुं शक्यत्वादिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀। असौ विवक्षासम्बन्धसार्वत्रिकत्वविवक्षेति यावत्। कृतमलमित्येवमेतत्। ननु योगस्य सार्वत्रिकत्वं न विवक्षितं किं त्वयोगव्यवच्छेदपदाभिधेयमतो नोक्तदोष इति शङ्कते ❀निषेधेति❀। योगस्य निषेधोऽयोगः तद्व्यवच्छेदेनेति यावत्। सार्वत्रिकत्वलाभः सम्बन्धस्येति शेषः। अयोगव्यवच्छेदपदं योगं ब्रूयाद् "द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत" इति न्यायान्न पुनर्योगस्य सार्वत्रिकत्वमतो भवितव्यमेव विवक्षयेति परिहरति ❀ नेति ❀। अविशेषात् सम्बन्धिपदादयोगव्यवच्छेदपदस्येति शेषः।

शङ्कते ❀ तदिति ❀। अर्थाभेदे शब्दाभ्यासः पुनरुक्तिः न चेह तदस्ति असम्बन्धासमानाधिकृत

करते हुए श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"लोकाधीनावधारणः खल्वयं शब्दार्थसम्बन्धः, लोकश्चातीतानागतवर्तमानक्रियासम्बन्धमात्रविवक्षया कारकशब्दान् प्रयुङ्क्ते—'पाचकमानय पक्ष्यतीति च, पाचकोऽयमपाक्षीदिति च, पाचकोऽयं पचतीति च तुल्यवत् त्रैकाल्यविषयप्रयोगदर्शनात्" (ता. टी. पृ. ३७)। अतः 'सम्बन्धी' पद के द्वारा ही क्रिया का त्रिकालभावी (सार्वदिक) सम्बन्धी (करण) का लाभ हो जाता है, अयोगव्यवच्छेदेन कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

फिर भी यदि ऐसा कहा जाता है कि सामान्य सम्बन्धवत्ता के अभिधायक 'सम्बन्धी' पद के द्वारा केवल वर्तमान काल-नियत सम्बन्ध को लेकर ही 'सम्बन्धी' पद की सार्थकता हो जाती है, अतः कालान्तरीय असंबन्ध का व्यवच्छेद करने के लिए 'अयोगव्यवच्छेदेन'—इस पद की आवश्यकता है। तब यह भी कहा जा सकता है कि यदि 'अयोगव्यवच्छेदेन'—इस पद के द्वारा भी 'सम्बन्धी' पद के ही समान केवल वर्तमानकालीन अयोग का ही व्यवच्छेद प्रतिपादित होता है, कालान्तरीय अयोग का व्यवच्छेद नहीं, तब उसके लिए अन्य विशेषण पद का निवेश करना होगा। उससे अच्छा यही है कि 'संबन्धी' पद से ही सार्वदिक सम्बन्धवत्ता की विवक्षा लोकप्रयोग के आधार पर मान ली जाय, फलतः 'अयोगव्यवच्छेद'-यह पद श्रीवाचस्पति मिश्र की अपनी व्यवस्था के अनुसार ही व्यर्थ हो जाता है।

'अयोगव्यवच्छेद' पद में दो नञर्थक पदों का प्रयोग है, अतः यदा कदाचित् अयोग का व्यवच्छेद इसी पद के प्रयोग से प्राप्त होगा, केवल 'सम्बन्धी' पद से नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि निषेध का व्यवच्छेद विधान का ही स्वरूप माना जाता है, अतः 'अयोगव्य-

नोच्यत इति चेन्न, तस्यापि सत्त्वकाले तत्रासत्त्वोपगमात्। सर्वदेति चेन्न, यद्येवं तत् किं करणासत्त्वकालेऽपि योग एव करणेन क्रियायाः?

यावत्सत्त्वमिति चेत्, तर्हि सम्बन्धीति व्यर्थम्, यावत् सत्त्वमयोगव्यवच्छेदेन

सम्बन्ध्ययोगव्यवच्छेदपदेनोच्यते सम्बन्धितामात्रं तु सम्बन्धिपदेन, तेन न पौनरुक्त्यं कर्त्रादौ स्वाभावसमानाधिकृतक्रियाप्रतियोगिकसम्बन्धस्य सत्त्वेन तद्व्यावृत्त्यर्थत्वादित्यर्थः। यदा क्रियया सम्बन्धस्तत्कालीनसम्बन्धाभावसामानाधिकरण्यनिषेधोऽयोगव्यवच्छेदार्थः? किंवा सार्वकालिकसामानाधिकरण्यनिषेधः? इति विकल्प्य प्रथममतिव्याप्त्या पराकरोति ॐ नेति ॐ। अत्र कर्त्रादावपि तस्य सामानाधिकरण्यस्य सम्बन्धकाले सम्बन्धाभावस्याभावादेवासत्त्वस्वीकारादतिव्याप्तिरित्यर्थः। सार्वकालिकसामानाधिकरण्यनिषेधोऽयोगव्यवच्छेदार्थ इति द्वितीयमाशङ्कते ॐ सर्वदेति ॐ। कर्त्रादेः क्रियया कदाचिदसम्बन्धाभ्युपगमात्तादृशनिषेधो नास्ति कालभेदेन भावाभावयोरेकाश्रयत्वात्तन्निषेधस्य लक्षणत्वान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। किं कालमात्रे सामानाधिकरण्यनिषेधो लक्षणम्? उत स्वसत्तावच्छिन्नकालीननिषेधः? इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ यदिति ॐ। सर्वदा सामानाधिकरण्यनिषेधो विवक्षित इत्येवं यदि, तर्हि क्रियया करणासत्त्वकालेऽपि करणेन सम्बन्ध एव किमित्याक्षेपः। एतदुक्तं भवति—यस्य सर्वदा क्रियया सम्बन्ध एव तस्य सामानाधिकरण्यनिषेधवत्त्वान्न पुनः कदाचिदपि सम्बन्धवतः सर्वदा सम्बन्धरहितस्य वा, कर्त्रादौ शशविषाणादौ चातिव्याप्तेः ततश्च करणासत्त्वकाले तेन क्रियासम्बन्धाभावादेतल्लक्षणं न सम्भवतीत्यर्थः। असम्भवं परिहरन् द्वितीयमाशङ्कते ॐ यावदिति ॐ। यत्कारकं यावत्सत्त्वं क्रियासम्बन्धि तत्करणं न च कर्त्रादि तथेति नातिव्याप्तिर्नाप्यसम्भवः करणस्य तथात्वादित्यर्थः। प्रागीरितपौनरुक्त्यं स्मारयन्परिहरति ॐ तर्हीति ॐ। सम्बन्धीति विशेषणवैयर्थ्यमुपपादयति ॐ यावदिति ॐ। भावाभावयोर्विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्ध इति पक्षमुपादाय विशिष्टमित्युक्तम्। संयोगादिमूलसम्बन्धानिरूपणा-

च्छेद' और 'सम्बन्ध'—इन दोनों पदों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं डाला जा सकता।

शङ्का—कर्त्तादि में छिदादि प्रधान क्रिया का संबन्ध भी है और असम्बन्ध भी संबन्ध और असंबन्ध के सामानाधिकरण्य का अभाव जिस धर्मी में है, वह करण होता है। विवक्षित सामानाधिकरण्य का अभाव 'अयोगव्यवच्छेद' पद से ही अधिगत हो सकता है।

समाधान—जिस समय कर्त्तादि में प्रधान क्रिया का सम्बन्ध होता है, उस समय तो उसमें क्रिया का असंबन्ध नहीं होता, अतः क्रिया के संबन्ध और असंबन्ध के सामानाधिकरण्य का अभाव कर्त्ता में हो सकता है।

शङ्का—कर्त्ता में तो जिस समय क्रिया का सम्बन्ध है, उसी समय असंबन्ध के सामानाधिकरण्य का असत्त्व है, सदा नहीं, किन्तु हम 'करण' उसे ही मानते हैं, जिसमें संबन्ध और असंबन्ध के सामानाधिकरण्य का सदैव असत्त्व हो, इस भाव का अवद्योतन 'अयोगव्यवच्छेद' पद से ही होता है।

समाधान—कथित सामानाधिकरण्य का सदातन असत्त्व तो कुठारादि करणों में भी सम्भव नहीं, क्योंकि जब उद्यमन-निपातनादि व्यापार से रहित केवल कुठार पड़ा है, तब उसमें न करणता है और न कथित संबन्ध और असंबन्ध के सामानाधिकरण्य का अभाव। जब तक करण है, तब तक उक्त सामानाधिकरण्य का असत्त्व अपेक्षित होने पर 'संबन्धी' पद व्यर्थ हो जाता है, केवल 'यावत्सत्त्वम् अयोगव्यवच्छेदेन यद्विशिष्टम्, उपलक्षितं वा, तत् करणम्'—इतना ही कह देना पर्याप्त है अथवा 'संबन्धी' पद की ही विवक्षा उक्त अर्थ में की जा सकती है, 'अयोगव्यवच्छेद' पद व्यर्थ है।

'समवायेन संबन्धी गौर्गोत्वस्य'—इत्यादि व्यवहारों में जैसे विशेष संबन्ध-वाचक 'समवाय' पद और सामान्य संबन्ध-बोधक 'संबन्ध' पद का सह प्रयोग वैध माना जाता है,

यद्विशिष्टमुपलक्षितं वा तत्करणमित्येवास्तु, सम्बन्धीत्येव वा तथा विवक्ष्यतामित्युक्तमेव ।

अयमेवार्थः कयाऽपि कुसृष्ट्या सम्बन्धिपदसार्थकतामुपपाद्य यदि विवक्षितस्तदाप्युच्यते – कृत्तिकोदयक्रियायां रोहिण्यासत्तिरप्येवं करणं स्यात् । अनन्तरभाविनश्चतुर्दशस्य नक्षत्रस्योदयं प्रति पूर्वभाविचतुर्दशसङ्ख्यनक्षत्रास्तमयस्य च करणत्वं स्यात् ।

द्विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेरुपलक्षणत्वमिति पक्षान्तरमाश्रित्याह ❀ उपलक्षितमिति ❀ । इत्येवास्तु लक्षणमिति शेषः । योगाधीननिरूपणोऽयोगस्तदधीननिरूपणश्च तन्निषेध इति गौरवं सम्बन्धीत्युच्यमाने लाघवात्सम्बन्धीत्येव वक्तव्यं न पुनरयोगव्यवच्छेदो विशेषणमित्याह ❀ सम्बन्धीति ❀ । तथा विवक्ष्यतां यावत्सत्त्वं क्रियासम्बन्धित्वमित्यर्थः ।

ननु न पौनरुक्त्यं सम्बन्धिपदेन सम्बन्धित्वमात्रस्य विवक्षितत्वादयोगव्यवच्छेदेनेति तस्य यावत् कारकसत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । न च विवक्षाप्येकस्मिन्पद एवास्तीति वाच्यम् , वक्तुर्विवक्षाधीनत्वाच्छब्दप्रवृत्तेर्ग्रन्थलाघवाद् बुद्धिलाघवस्य प्रयोजकत्वादिति शङ्कते ❀ अयमिति ❀ । किं दूषणमुच्यत इत्यत आह ❀ कृत्तिकेति ❀ । रोहिण्यासत्तेः कृत्तिकोदयक्रिययाऽयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धित्वात्तां प्रति करणत्वं स्यान्न हि कृत्तिकोदये सति रोहिण्यासत्तिः कदाचिद्व्यभिचरति घटिकानन्तरं तस्या अभ्युदयादित्यर्थः । अतिव्याप्त्यन्तरमाह ❀ अनन्तरेति ❀ । पूर्वभाविनश्चतुर्दशनक्षत्रस्यास्तमयानंतरभाविनश्चतुर्दशनक्षत्रस्योदयं प्रति करणत्वं स्यादिति सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–अष्टाविंशतिनक्षत्राणि अभिजितन्नक्षत्रेण सह, तत्र सपादं नक्षत्रद्वयमेकैकस्मिन्राशौ गच्छति उदयराशिमारभ्य षष्ठराश्यन्तोऽस्तमय एवं च षट्सु राशिषु चतुर्दशनक्षत्राण्यस्तं यान्ति अनन्तरराशौ पञ्चदशसङ्ख्यावच्छिन्ननक्षत्रोदयस्तथा चतुर्दशसङ्ख्यान्तरितनक्षत्रास्तमयस्य चतुर्दशसङ्ख्यान्तरितानन्तरभाविनक्षत्रोदयं प्रति करणत्वं स्याद्, अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धाद्, अतश्च यत्किञ्चिन्नक्षत्रमारभ्य परिगणने यत्किञ्चिन्नक्षत्रस्य चतुर्दशसङ्ख्यावच्छिन्नत्वमस्तीति विभागं कृत्वा चतुर्दशनक्षत्रस्येत्युक्तमिति । रोहिण्यासत्यादेः कृत्तिकोदयादौ करणत्वं स्यादतोऽतिव्याप्तिः । नातिव्याप्तिस्तस्यापि लक्ष्यत्वादित्यत आह ❀ न चेति ❀ । कुतो न युक्तमित्यत आह ❀ योगेति ❀ ।

वैसे ही यदि किसी प्रकार की कुत्सित और विलष्ट कल्पना के द्वारा 'क्रियाया अयोगव्यवच्छेदेन संबन्धि करणम्'—यहाँ भी संबन्धार्थक दोनों पदों का सार्थक्य सम्भव बना दिया जाता है, तब भी करणत्व के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति कई स्थलों पर दिखाई जा सकती है, जैसे—

(१) कृत्तिका नक्षत्र के उदय क्रिया की करणता रोहिणी की आसत्ति में उक्त लक्षण के अनुसार होनी चाहिए ['अश्विनी, भरणी, कृत्तिका. रोहिणी'—नक्षत्रों के इस क्रम में कृत्तिका [हाथ के आकार का एक तारों का गुच्छा, जिसे ग्रामीण छकड़ा, किचपिचिया या खित्ती कहते हैं] नक्षत्र का पूर्व क्षितिज पर उदय हो जाने पर रोहिणी नक्षत्र का उदय आसन्नतर (एक घड़ी के पश्चात् ही) हो जाता है, अतः कृत्तिका का उदय और रोहिणी की आसत्ति (समीपता) एक समय में होती है । कृत्तिका की उदय क्रिया का अयोग-व्यवच्छेद रोहिणी की समीपता में होने के कारण करणत्व अतिप्रसक्त होता है] ।

(२) 'अभिजित्' नक्षत्र को मिलाकर पूरे आकाश में अट्ठाईस नक्षत्र होते हैं, उनमें से एक समय पृथिवी के ऊपरी-गोलार्ध में चौदह नक्षत्र और पृथिवी के नीचे की ओर गोलार्ध में चौदह नक्षत्र होते हैं । चौदह नक्षत्रों की एक लड़ी के अस्त हो जाने पर दूसरी लड़ी का उदय होता है या यों कह दिया जाय कि पहली लड़ी के चौदहवें नक्षत्र के अस्त हो जाने पर दूसरी लड़ी के अन्तिम नक्षत्र से गिनने पर पूर्वभावी चौदहवें नक्षत्र का उदय होता है, वहाँ भी पूर्वभावी चौदह नक्षत्रों के अस्तंगमन में उत्तरभावी चौदह नक्षत्रों के उदय का अयोग-

न चैवमेव युक्तम्, यौगपद्येन कारणत्वानुपपत्त्या कारकत्वस्य दुर्निरस्तत्वेन करणत्वस्य सम्भावनाऽनारोहात् ।

न च तत्र सम्बन्ध एव नास्ति, व्याप्तेः स्वभावसम्बन्धात्मिकाया दुरपह्नवत्वात् । अथ कार्यकारणभावः सम्बन्धो विवक्षितः । न, सामग्र्याः करणत्वापत्तेः । ओमिति चेत्, तत्किमोमित्यभिधायैव निर्वृत्तो भवान्? आकलितं किलास्माभिः सामग्र्यपि करणमित्यत्र न श्रद्दधतः प्रणवपूर्विकां श्रुतिमेव काञ्चित्पठित्वा श्रद्धापयिष्यति भवानस्मानिति ।

कारकविशेषः करणं कारकत्वं च नियतपूर्वभावित्वं न च तदस्ति यौगपद्यादतो व्यापककारकत्वव्यावृत्त्या व्याप्यकरणत्वव्यावृत्तिरित्यर्थः ।

तत्र सम्बन्ध एव नास्ति कुतो अयोगव्यवच्छेदविशिष्टसम्बन्धित्वमित्यत आह ❀ न चेति ❀ । हेतुमाह ❀ व्याप्तेरिति ❀ । वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिव स्वभावसम्बन्धोऽत्राप्यस्तीत्यर्थः । रोहिण्यासत्त्यादेः कृत्तिकोदयादिना स्वभावसम्बन्धे सत्यपि न तत्र करणत्वप्रसङ्गो विवक्षितसम्बन्धाभावादिति शङ्कते ❀ अथेति ❀ । अयोगव्यवच्छेदेन क्रियया जन्यजनकभावलक्षणसम्बन्धवत्करणमिति लक्षणं विवक्षितं न च रोहिण्यासत्त्यादौ जन्यजनकभावोऽस्तीति नातिव्याप्तिरित्यर्थः । क्रिययाऽयोगव्यवच्छेदेन जन्यजनकसम्बन्धित्वं सामग्र्यामस्ति न च करणत्वमिति अतिप्रसक्त्या दूषयति ❀ नेति ❀ । सामग्र्याः करणत्वमुक्तमङ्गीकरोति ❀एवमस्त्विति चेदिति❀ । सामग्र्यपि करणमेवेति लक्ष्यैकदेशत्वान्न तत्रातिव्याप्तिरित्याशयः । सामग्र्याः करणत्वे प्रमाणाभावादप्रामाणिकत्वाङ्गीकारमात्रेणातिव्याप्तिः परिहरणीया तथाऽपि किं परिह्रियते ? उत मौनमेवेति ? यदि मौनं तदा न वादिनः प्रति स्पर्द्धी तस्मादाद्यः परिशिष्ट इति परिहरति ❀ तदिति ❀ । तत्रातिप्रसङ्गे ओमित्यभिधायैव निर्वृत्तश्चरितार्थोऽतिव्याप्ति परिहृतवान्किमित्यर्थः । ततश्च न्यायाभिमानं हित्वा श्राद्धत्वमेवात्मनः सम्पादितं स्यादित्यत आह ❀ आकलितमिति ❀ । अस्माभिरेतल्लक्षणवादिभिः सामग्र्यपि करणमाकलितमित्यत्र न श्रद्दधतोऽस्मानपि प्रणवपूर्विकां कांचित् श्रुतिमेव पठित्वा श्रद्धापयिष्यति भवान् किलेति सम्बन्धः । किलेत्यप्रामाणिकतया हासप्रकटनार्थः । सभामध्ये स्वात्मन्यश्रद्दधतोऽपि प्रणवपूर्विकां काञ्चिच्छ्रुतिं वेदवाक्यं पठित्वा श्रद्धापयिष्यति तथाऽस्मानपि प्रणवपूर्वकं वाक्यमेवोच्चार्य भवान् श्रद्धापयिष्यति किलेति हासभावः ।

व्यवच्छेद रहने के कारण करणत्व होना चाहिए। कथित दोनों स्थलों पर पूर्व नक्षत्र का अस्तंगमन और उत्तरभावी नक्षत्र का उदय समानकाल में होने के कारण करणत्व माना नहीं जा सकता, क्योंकि समकाल के पदार्थों में पूर्ववृत्तित्व-सापेक्ष कारकत्व ही नहीं बनता, करणत्व का होना तो अति दूर रहा।

उक्त स्थलों पर उदयन और अस्तंगमन का कुछ सम्बन्ध ही नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कालिक और दैशिक व्याप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रकृत में 'कार्यकारणभाव' सम्बन्ध विवक्षित है, व्याप्तिरूप संबन्ध नहीं—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'कार्य-कारणभाव' संबन्ध की विवक्षा करने पर सामग्री में करणत्व की अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि घटादि का जन्य-जनकभावरूप सम्बन्ध दण्ड, चक्र, चीवरादि-घटित समस्त सामग्री में होता है, केवल दण्डरूप करण में ही नहीं। 'सामग्री भी क्या करण ही होती है? इस प्रश्न के उत्तर में यदि आप कहते हैं—ओ३म्। अर्थात् आप (नैयायिक) कहना चाहते हैं कि "आकलितमस्माभिः सामग्र्यपि करणम्।" किन्तु आपके इस सिद्धान्त पर हमारी (खाण्डनिक की) तनिक भी श्रद्धा नहीं तथापि आप प्रणव के लम्बे प्लुतोच्चारणमात्र के द्वारा हमारी श्रद्धा अपने उस आकलन पर अवश्य करा लेंगे—ऐसा हमें विश्वास है!!!

न सामग्री कारणम्, किन्तु तदेकदेशो नानाभूतः प्रत्येकं तथा। सामग्री तु 'यदनन्तरं कार्यं' भवत्येवेत्येतावन्मात्ररूपेति चेन्न, एतादृशस्य सामग्रीलक्षणस्य करणेऽपि सत्त्वात् करणस्यापि सामग्रीत्वापातात्, क्रियाया विभागादौ विभागस्य च संयोगनाशादिं प्रति तथात्वापत्तेः।

यच्च प्रतिसामग्र्येकदेशं नियतप्राग्भावादि कारणलक्षणमिष्यते, तत्सामग्र्यामपीति कथं तदकारणता ?

करणखण्डनप्रसङ्गेन सामग्रीमपि खण्डयितुं प्रसङ्गं करोति ॐ न सामग्रीति ॐ। अयोगव्यवच्छेदेन क्रियासम्बन्धेऽपि सामग्र्या जन्यजनकभावसम्बन्धो नास्ति तस्यैवेह विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। सामग्री यदि न कारणं किं तर्हि कारणमित्यत आह ॐ किन्त्विति ॐ। सामग्र्येकदेशोऽपि निमित्तासमवाय्यविनानाभूतः प्रत्येकं तथा कारणमित्यर्थः। समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदेन नानाभूत इति यावत्। कारणव्यतिरेकेण सामग्रीं नाम न पश्यामस्तद्भेदकधर्मादर्शनादित्यत आह ॐ सामग्रीति ॐ। यदनन्तरं कार्यं भवति सा सामग्रीत्युक्ते कर्त्रादावतिप्रसक्तिस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह ॐ भवत्येवेति ॐ। करतलानलसंयोगरूपसामग्र्यां सत्यामेव प्रतिकूलमन्त्रादौ च सति कदाचित्कार्यानुदयाद्व्यापकं न च तत्र प्रतिबन्धकाभावरूपकारणाभावात्सामग्र्यभावः, प्रतिबन्धकाभावो न कारणं प्रतिबन्धकाभावत्वात्तदन्योन्याभाववदित्यव्याप्तिर्दोषो यद्यप्यस्ति तथाप्यतिव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ। व्यापृते करणे कार्यावश्यम्भावाभ्युपगमादतिव्याप्तिरित्यर्थः। अतिव्याप्त्यन्तरमाह ॐ क्रियेति ॐ। मनसि क्रियानन्तरं विभागोत्पत्तिनियमस्ततो विभागात्पूर्वसंयोगनाशः ततः संयोगान्तरं ततो ज्ञानादिकार्यान्तरं भवतीति नियमात्क्रियाविभागादेरपि विभागसंयोगनाशादौ तथात्वापत्तिः सामग्रीत्वापातश्चशब्दात्संयोगजसंयोगे संयोगस्य विभागजविभागे विभागस्येति द्रष्टव्यम्।

सामग्र्याः कारणत्वाभावमभ्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानीं कारणत्वमपि सामग्र्या अभ्युपगन्तव्यमित्याह। ॐ यच्चेति ॐ। सामग्र्येकदेशान् प्रति यत्कारणलक्षणमुच्यते नियतप्राक्सत्त्वं पूर्वसंबन्धनियमो वा, तत्सामग्र्यामपीति कथं तस्य न कारकत्वं न हि तल्लक्षणे सति ततोऽन्यत्वम्, लक्षणस्यातिव्यापक-

---

४. सामग्री का खण्डन—

शङ्का—क्रिया का अयोग-व्यवच्छेदपूर्वक जन्य-जनकभाव संबंध पूरी सामग्री के साथ नहीं होता, अतः उसमें करण का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता। सामग्री कारणरूप नहीं, अपि तु सामग्री की घटक प्रत्येक इकाई कारण कहलाती है, समवायिकारण, असमवायिकारणादि की उस संवलित समष्टि को सामग्री कहते हैं, जिसके सम्पन्न होने पर कार्य की उत्पत्ति अवश्य ही हो जाती है।

समाधान—सामग्री का 'यदनन्तरं कार्यं भवत्येव, सा सामग्री'—यह लक्षण कुठारादि करण में अतिव्याप्त है, क्योंकि कुठारादि के उद्यमन-निपातनादि व्यापार से विशिष्ट होने पर द्वैधीभाव निश्चितरूप से हो जाता है। अतः करण में सामग्रीत्वापत्ति होती है। दूसरी बात यह भी है कि हस्तादि में क्रिया होने के पश्चात् उसका पूर्व (प्राप्त) देश से विभाग हो जाता है और उससे पूर्व संयोग का नाश और उससे उत्तर (अप्राप्त) देश का संयोग अवश्यंभावी होता है, अतः विभाग के प्रति क्रिया में और संयोग-नाशादि के प्रति विभाग में भी सामग्रीत्वापत्ति होती है।

यह जो कहा कि सामग्री की नाना इकाइयों को कारण कहा जाता है और कारणत्व का लक्षण होता है—कार्यप्राक्कालसत्त्वादि, वह सामग्री में भी घट जाता है, अतः सामग्री में अकारणता क्यों ?

प्राक्कालमन्तर्भाव्य सामग्री, तादृश्याश्च तस्याः प्राक्सत्त्वमेव नास्तीति चेन्न, तत एव प्राक्कालस्याकारणत्वात् कारणसामग्र्यां तदनिवेशात्।

अपि चैवं विवक्षितमपि करणं न स्यात्। न हि यावत्सत्त्वं व्यापारवतोऽपि तस्य क्रियाजनकत्वम्, क्रियाकाले लक्षणमपि तदनुवृत्तिनिषेधे प्रमाणस्य दुरुपन्यासतया संशयेनापि लक्षणासिद्धेः। प्रत्युत चिरस्थिरकरसंयोगे स्पृश्ये स्पर्शप्रमाकरणस्पर्शने-

---

त्वेनालक्षणत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। सामग्र्याः कारणलक्षणयोगित्वे कारणत्वं स्यान्न च तदस्ति कुतः कारणत्व-मिति वक्तुं सामग्र्याः स्वरूपमाह ॐ प्रागिति ॐ। प्राक्कालोऽपि सामग्र्यामन्तर्भवतीत्येतावता कथं सामग्र्यां कारणलक्षणाभाव इत्यत आह ॐ तादृश्या इति ॐ। प्राक्कालस्य प्राक्कालसत्त्वं नास्ति तस्य स्वाश्रयप्रसङ्गादतश्च तद्विशिष्टसामग्र्या अपि प्राक्कालसत्त्वं लक्षणं नास्तीत्याशयः। प्राक्कालस्य सामग्र्या बहिर्भावमापादयितुं कालस्य कारणत्वं न स्यादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। प्राक्कालो न कारणं नियत-प्राक्सत्त्वहीनत्वात्कार्यवदित्यर्थः। कालस्याकारणत्वे सामग्र्यन्तर्भावात्तत्सहितसामग्र्याः कारणलक्षणं नास्तीत्यत्र किमायातमित्यत आह ॐ कारणेति ॐ। कारणान्येवैकदेशकालावस्थितानि सामग्री भवति कालस्याकारणस्य न सामग्र्यनुप्रवेशो न तस्याः प्राक्कालसत्त्वाभावेन सामग्र्याः कारणत्वाभाव सुभण इत्यर्थः।

एवमतिव्याप्तिमभिधायेदानीमव्याप्तिमाह ॐअपि चेतिॐ। यावत्सत्त्वं जनकतया क्रियासम्बन्धिकरण-मित्युच्यमाने करणत्वेन विवक्षितं कुठाराद्यपि करणं न स्यान्नेदं करणं तल्लक्षणहीनत्वात् कर्त्रादिवदिति प्रयोगादित्यर्थः। कुठारादिस्वरूपमात्रस्य करणत्वसाधने सिद्धसाधनता व्यापाराविष्टस्य तथात्वसाधने हेत्वसिद्धिर्व्यापाराविष्टस्य तस्य यावत्सत्त्वं जनकतया क्रियासम्बन्धादित्याशङ्क्याह ॐ न हीति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ क्रियेति ॐ। व्यापाराविष्टं करणं क्रियोत्पत्तिकाले न तिष्ठतीति नियतप्राक्क्षण एव तस्य सत्त्वं न तु क्रियोत्पत्तिकाले क्षणमपि तया सह यौगपद्यमित्यत्र प्रमाणस्य भवता दुरुपन्यासत्वादनुवृत्तावपि प्रमाणाभावात्संशयः स्यादतश्च क्षणमात्रे क्रियया सह सन्दिग्धसत्त्वस्य नियतप्राक्सत्त्वकारणत्वेन सम्बन्धा-भावात्संशयेनापि लक्षणस्यासिद्धिः सन्देहविषयस्य पुरुषस्य स्थाणावसिद्धिवत्सन्देहविषयत्वात्सन्दिग्धा-

---

शङ्का—सामग्री में प्राक्काल-सत्त्व नहीं रह सकता, क्योंकि दण्डादि में घटादि-प्राक्कालसत्त्व रहता है, प्राक्काल में प्राक्काल-सत्त्व नहीं और सामग्री में प्राक्काल भी प्रविष्ट होता है।

समाधान—प्राक्काल में प्राक्कालसत्त्वरूप कारणत्व न रहने पर प्राक्काल को कारण नहीं माना जा सकता। प्राक्काल जब कारण ही नहीं, तब उसका सामग्री में निवेश क्यों होगा ? क्योंकि कारण-समूह का ही नाम सामग्री होता है। प्राक्काल से अघटित सामग्री में कार्य-प्राक्कालसत्त्व अक्षुण्ण रहने के कारण सामग्री को अकारण नहीं माना जा सकता।

करणता का कथित लक्षण (यावत्सत्त्वं जनकतया क्रियासंवन्धि करणम्) केवल अति-व्याप्त ही नहीं, अव्याप्त भी है, क्योंकि सव्यापार कुठारादिरूप अभिमत करण भी छिदादिरूप क्रिया के उत्पत्ति-काल से अव्यवहित पूर्व क्षण तक ही रहते हैं, 'उसके अनन्तर एक क्षण भी नहीं रहते'—ऐसे निषेध में आप (नैयायिक) कोई प्रमाण नहीं दिखा सकते, अतः छिदारूप प्रधान क्रिया के उत्पत्ति-काल में भी उद्यमन-निपातन क्रिया अथवा उस क्रिया से विशिष्ट कुठारादि की अनुवृत्ति रहती है, किन्तु उसके अनन्तर पुनः छिदान्तररूप क्रिया की उत्पत्ति नहीं देखी जाती, अतः व्यापार-विशिष्ट कुठारादि के यावत् सत्त्व-काल में छिदा का अयोग ही है, अयोग-व्यवच्छेद नहीं। यदि छिदा-काल में उद्यमन-निपातन की अनुवृत्ति निश्चित न होकर सन्दिग्ध भी मान ली जाती है, तब भी कुठारादि में उक्त लक्षण अव्याप्त ही रह जाता है। प्रधान क्रिया-काल में करण की निवृत्ति नहीं, अपितु अनुवृत्ति देखी जाती है, जैसे कि

न्द्रियसंयोगस्थैर्यस्य मन्तुमुचितत्वात्।

यावत्सत्त्वं च करणमिति भाषायां सर्वस्मिन् तत्सत्त्वकाले करणत्वमित्यर्थः। न च कारणत्वस्य नियतपूर्वकालसम्बन्धात्मकस्य कचित्काले सत्त्वम्, कालं प्रति कालान्तराभावादिति।

अथ क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धीत्यस्यायमर्थो यस्मिन् सति भवत्येव क्रियेति। कोऽस्यार्थः—किं यस्मादनन्तरं क्रियोत्पद्यत एव? उत यस्मिन् वर्तमाने

सिद्धवदित्यर्थः। लक्षणासिद्धत्वस्याप्यसिद्धेः सिद्धिरेव लक्षणस्य किं न स्यादित्याशङ्क्य निश्चितमव्याप्तिस्थलमाह ❀ प्रत्युतेति ❀। विपरीतनिश्चयोऽस्तीति यावत्। चिरस्थितः करसंयोगो यस्मिन् स्पृश्ये द्रव्ये तच्चिरस्थितकरसंयोगं तस्मिन् स्पृश्ये द्रव्ये स्पर्शप्रमायां करणं च तत् स्पर्शनेन्द्रियं चेति तथोक्तं तद्व्यापाररूपस्य संयोगस्य स्थैर्यं स्थिरत्वं तस्य मन्तुं निश्चेतुमुचितत्वात्। इन्द्रियस्य संयोगव्यतिरेकेण नास्ति व्यापारः स्पर्शनेन्द्रियस्य च स्पृश्यपदार्थसंयोगे चिरस्थितेऽपि न सर्वदा स्पर्शप्रमा जायतेऽन्यासक्तचित्तत्वादिप्रतिबन्धादतश्च व्यापाराविष्टस्पर्शनेन्द्रिये सत्येव स्पर्शप्रमानुदयाद्यावत्सत्त्वं जनकतया क्रियासम्बन्धित्वलक्षणं तत्र नास्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः।

एवमव्याप्तिमुक्त्वाऽसम्भवमाह ❀ यावदिति ❀। यावत्सत्त्वमयोगव्यवच्छेदेन क्रियासम्बन्धिकरणमिति वाक्यस्य करणसम्बन्धिकाले सर्वस्मिन् करणत्वमित्यर्थः। कारणत्वसम्बन्धाभ्युपगमाद्यावत्सत्त्वं कारणं क्रियाया इत्युक्तं स्यादिति कारणमिति भाषायां इत्युक्तम्। करणसम्बन्धिकाले सर्वस्मिन् कारणं यत्तत्करणमिति वाक्यार्थोऽस्तु तावता प्रस्तुते किं स्यादित्यत आह ❀ न चेति ❀। करणसम्बन्धिकाले तस्य कारणत्वमेव नास्ति नियतपूर्वकालसम्बन्धात्मकत्वात्कारणत्वस्य, यदि करणकाले तस्य कारणत्वं तर्हि नियतप्राक्कालसम्बन्धवत्त्वस्य कारणत्वस्यान्तर्भावितकालत्वेन स्वाश्रयः स्यादतोऽसम्भवि लक्षणमित्यर्थः। नात्माश्रयता नियतकालसम्बन्धवत्त्वस्य करणत्वस्यान्तर्भूतकालादन्यस्मिन् करणकाले वृत्तेरित्यत आह ❀ कालमिति ❀।

गदितावद्यं परासितुं प्रकारान्तरेण लक्षणमुपस्थापयति ❀ अथेति ❀। कोऽर्थ इत्यत आह ❀ यदिति ❀। यस्मिन् भवति सति क्रिया भवत्येवेति यदयमस्य लक्षणवाक्यस्यार्थ इति यावत्। एत-

---

चिरस्थिर हस्त-संयोग के आश्रयीभूत घटादि स्पृश्य पदार्थों में स्पार्शन प्रमा के करणीभूत त्वगिन्द्रिय-संयोग की स्थिरता ही अनुभूत होती है किन्तु कोई अन्य स्पार्शन प्रमा उसके सत्त्व-काल तक उत्पन्न होती नहीं देखा जाती, फलतः व्यापार-विशिष्ट त्वगिन्द्रियरूप करण के रहने पर भी स्पार्शन प्रमा का उदय न होने के कारण उक्त लक्षण (यावत्सत्त्वं जनकतया क्रियासंबन्धित्वम्) की वहाँ अव्याप्ति निश्चित है।

उक्त लक्षण में केवल अव्याप्ति दोष ही नहीं, असम्भव भी है, क्योंकि 'यावत्सत्त्वं करणम्'— इस वाक्य का अर्थ होता है—'सर्वस्मिन् करणसत्त्वकाले करणत्वम्'। किन्तु यह संभव नहीं, क्योंकि करणत्व का स्वरूप 'पूर्वकालसंबन्ध' होता है। उसका सत्त्व किसी काल में तभी रह सकता है, जब कि एक काल का संबन्धी कालान्तर हो, किन्तु दण्डादि में घटादि-पूर्वकालवृत्तित्व के समान किसी काल में कालपूर्वकत्व संभव नहीं।

शङ्का—'क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि करणम्'—इसका तात्पर्य यह है कि 'जिस पदार्थ के होने पर क्रिया अवश्य ही होती है। कुठार के उद्यमन-निपातनरूप व्यापार से सम्पन्न होने पर छिदा (द्वैधीभाव) क्रिया अवश्य ही हो जाती है, अतः कुठार को छिदा का करण माना जाता है।

समाधान—'यस्मिन् सति भवत्येव क्रिया तत्करणम्'– इस वाक्य का क्या अर्थ है? क्या (१) यस्मादनन्तरं क्रिया जायते, तत्करणम्? या (२) यस्मिन् वर्तमाने क्रिया

क्रियोत्पद्यत एव ? उत यस्मादनन्तरं क्रिया तिष्ठत्येव, उत यस्मिन् वर्तमाने क्रिया तिष्ठत्येव ?

नाद्यः, सामग्र्याः करणत्वप्रसङ्गात्, हस्तादीनामकरणत्वप्रसङ्गाच्च, सुखदुःखादेः प्रमेयस्यापि प्रमाकरणत्वप्रसङ्गाच्च। न च प्रमेयमपि प्रमायाः करणं स्यादेवेति वाच्यम्, तत्र तथाव्यवहारस्य कस्यचिदप्यसिद्धेः।

नापि द्वितीयः, स्पृश्येन सह स्थिरसंयोगस्य स्पर्शनेन्द्रियस्याव्यापनात्, तत्सत्त्वेऽपि व्यासक्तौ तेन प्रमानुत्पादनात्। नापि तृतीयः, सामग्र्यादेः करणत्व-

---

वाक्षेसुं पृच्छति ॐ क इति ॐ। दूषणोक्तिविभागप्रज्ञप्तये स्वाशयस्थान्विकल्पानीरयति ॐ किमिति ॐ। वालेषु चमरीं हन्तीतिवत्सप्तम्या निमित्तार्थत्वमुररीकृत्य स्वाश्रयःव्यवहितोत्तरक्षणे जायमानक्रियाकारणं करणं विवक्षितमिति प्रथमविकल्पार्थः। भवतीति लडर्थमूरीकृत्य कल्पान्तरमाह ॐ उतेति ॐ। यस्मिन् भवतीति सप्तम्यर्थकटाक्षेण विकल्पद्वयमभिधाय सम्प्रति भवतीत्याख्यातस्य वर्तमानार्थत्वस्वीकारेण कल्पान्तरमाह ॐ उतेति ॐ। क्रियास्थितिकारणं करणमित्यर्थः। सप्तम्याख्यातयोरपि वर्तमानार्थत्वमादाय शृङ्गान्तरमाह ॐ उतेति ॐ। सर्वत्रायोगव्यवच्छेदार्थः करणस्य कारणविशेषत्वादाद्यकल्प एव मदभिप्रेत इत्याशङ्क्य तं प्रतिषेधति ॐ नेति ॐ। यदनन्तरं कार्यं भवत्येवेत्येतावन्मात्ररूपत्वात्सामग्र्याः करणत्वं प्रसज्येतेति लक्षणस्यातिप्रसक्तिरित्यर्थः। ननु सामग्र्यनन्तरं घटादिद्रव्यादिव्यक्तयो जायन्ते न क्रिया, ततः कथमतिव्याप्तिरिति, मैवम्, तथाऽपि क्रियासामग्र्यामतिव्याप्तेरपि च द्रव्यादिसामग्र्यनन्तरमपि द्रव्याद्युत्पत्तिक्रियैव जायते। नोत्पत्तिक्रिया जायते किं तु घटादिरिति चेन्न, तद्गतजनेरजनित्वेनानादितया तदाश्रयघटादेरप्यनादित्वापातात्सामग्र्यन्तरकल्पने मानाभावाच्च। ननु जनिर्न क्रिया किं तु कारणसमवायः प्रागसतः सत्तासमवायो वेति, मैवम्, समवायहीनस्य प्रध्वंसस्याऽजनिमत्त्वं स्यादिति। एवमतिव्याप्तिमभिधायाऽव्याप्तिमाह ॐ हस्तेति ॐ। हस्तादयः पाकादौ करणतयेष्यन्ते न च समनन्तरक्षणे क्रियोत्पत्तिः, काष्ठव्यापाराग्निज्वालादिव्यवधानादकरणत्वं स्यादित्यव्याप्तिरित्यर्थः। यदनन्तरं क्रिया जायत एव तत्करणमिति लक्षणस्याव्याप्तिमुक्त्वाऽतिव्याप्तिमाह ॐ सुखेति ॐ। आत्ममनःसंयोगादात्मसमवेतं सुखादि जायते तदुपलम्भे च मनःसंयुक्तात्मसमवायः सामग्री ततश्च सुखाद्युत्पत्त्यनन्तरं तदुपलम्भनियमात्तत्र करणत्वं सुखादेः प्रसज्येतेत्यर्थः। प्रमेयमपि तुलाद्रव्यं यथा प्रमाणं तद्वदुभयलक्षणोपपन्नत्वात्प्रमेयं प्रमाणं च सुखादि स्यादित्यत आह ॐ न चेति ॐ। कुतो न वाच्यमित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ। प्रमेये प्रमाणत्वेन व्यवहारो न दृश्यते सुखमनुभवतीत्यर्थे सुखेनानुभवतीति प्रयोगादर्शनात्तदुचितस्य व्यवहारस्य कस्यचिदप्यभावेन तथात्वाङ्गीकारेऽतिप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः। यस्मिन् वर्तमाने क्रियोत्पद्यते एव तत्करणमिति द्वितीयमपवदति ॐ नापीति ॐ। कुत इति चेदव्याप्तेरित्याह ॐ स्पृश्येनेति ॐ। स्थिरः संयोगो यस्य तत्तथोक्तं संयोगव्यापारवतः स्पर्शनेन्द्रियस्य करणत्वमस्ति न च तस्मिन्वर्तमाने स्पृश्यप्रमा जायते तेनाव्याप्तिरित्युक्तम्, स्पर्शनेन्द्रियं व्यापाराविष्टं क्रियोत्पत्त्यविनाभूतं व्यापारवत्करणत्वात् कुठारवदिति लक्षणमनुमिमीमहे तत्कथमव्याप्तिरित्यत आह ॐतदितिॐ। व्यापारवति स्पर्शनेन्द्रिये सत्यपि मनसोऽन्यासक्ततया सामग्र्यभावे तदनु-

---

उत्पद्यते, तत्करणम् ? या (३) यस्मादनन्तर क्रिया तिष्ठत्येव, तत्करणम् ? अथवा (४) यस्मिन् वर्तमाने क्रिया तिष्ठत्येव, तत्करणम् ? प्रथम कल्प के अनुसार सामग्री में करणत्व की अतिव्याप्ति और हस्तादि करणों में करणत्व की अव्याप्ति होती है एवं सुख-दुःखादिरूप प्रमेय पदार्थों में भी प्रमा-करणत्व की आपत्ति होती है। प्रमेय वस्तु में प्रमा-करणत्व माना नहीं जा सकता, क्योंकि वहाँ वैसा व्यवहार किसी की भी दृष्टि में नहीं होता। द्वितीय कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि घटादि स्पृश्य पदार्थों के साथ स्थिररूप से संयुक्त त्वगिन्द्रियरूप करण में अव्याप्ति इस लिए हो जाती है कि उसके रहने पर भी कदाचित् मन के अन्यत्र व्यासक्त होने के कारण स्पर्श की प्रमा नहीं होती। तृतीय कल्प की रीति से सामग्री में भी करणत्व की प्रसक्ति हो

प्रसङ्गात्, उत्पत्तेः, स्थिरे करणत्वप्रसङ्गाच्च। नापि चतुर्थः, सहस्थायिनां करणत्वप्रसङ्गात्।

अथ क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धित्वं करणत्वमित्यस्यायमर्थः—व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वमिति। मैवम्, हस्ताद्यव्यापनात्।

२५. व्यापारलक्षणखण्डनम्

कश्चायं तद्व्यापारो नाम—किं तज्जन्यं कारणम्, उत तदाश्रयं कारणम्?

पलम्भविरुद्धमनुमानमित्यर्थः। अपिशब्दाद्घटादिसंयुक्तचक्षुरादौ सत्यपि तत्प्रमानुदयात्तत्रातिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम्। यदनन्तरं क्रिया तिष्ठत्येव तत्करणमिति तृतीयपक्षोऽपि न समंजसपक्षनिक्षेपक्षम इत्याह ॐ नापीति ॐ। तत्र कारणमीरयति ॐ सामग्रीति ॐ। सामग्र्यनन्तरं क्रिया व्यवतिष्ठत एवेति तत्रातिव्याप्तिरादिपदेन सुखोत्पत्त्यनन्तरं तत्प्रमा तिष्ठतीति तत्रातिव्याप्तिर्द्रष्टव्या। अतिव्याप्त्यन्तरमाह ॐ उत्पत्तेरिति ॐ। स्थिरः पदार्थो यो बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तो घटादिस्तस्योत्पत्त्यनन्तरं स्थितिनियमात् स्थितिक्रियां प्रति तद्विशिष्टघटं प्रति कारणत्वं प्रसज्येत। अस्त्विति चेन्न, व्यापारवतः कारणत्वादुत्पत्तेर्व्यापाराभावात्। उत्पत्तेः स्थितेः करणत्वप्रसङ्गादिति केचित्पठन्ति। तत्र पाठे उत्पत्तेः स्थितिक्रियां प्रति तस्याश्च तदुत्तरनाशादिक्रियां प्रति करणत्वप्रसङ्ग इति व्याख्येयम्ॐ। यस्मिन्वर्तमाने क्रिया व्यतिष्ठत एव तत्करणमिति चतुर्थोऽपि न चातुरीं प्राञ्चतीत्याह ॐ नापीति ॐ। अतिव्याप्तेरित्याह ॐ सहेति ॐ। सह तिष्ठन्ति ये रूपरसादयस्तेषामन्योन्यं करणत्वं प्रसज्येत। ननु येन सह क्रिया वर्तते तत्करणं न च रूपादयः क्रिया नातोऽतिव्याप्तिरिति मैवम्, क्रियाशब्देन कार्यस्य वक्तव्यत्वादन्यथा कार्यं करणपूर्वकमिति व्याप्तेर्भङ्गादपि च गमनादिक्रियया देवदत्तसमवायिन्या सह स्थितानां रूपादीनां करणत्वप्रसङ्गादिति उक्तावद्यं परिहर्त्तुं प्रकारान्तरेण लक्षणार्थमाख्याति ॐ अथेति ॐ। अव्यभिचारित्वमित्युक्ते रूपाव्यभिचारिरसे प्रसक्तिस्तन्निवारणाय फलाव्यभिचार इत्युक्तम्। सामग्र्यां व्यापारांशे वा प्रसक्तिं निवारयितुं व्यापारवत इति जगौ। तत्र व्यापाराभवात्। अव्याप्त्या दूषयति ॐ मैवमिति ॐ। अव्यभिचारशब्देनैकदेशविवक्षया रूपादावतिव्याप्तिर्ज्ञानकारणे चातिव्याप्तिर्ज्ञानस्यात्मदेशत्वात्करणस्य देहादिदेशत्वात्कालाव्यभिचारविवक्षायां हस्तादावव्याप्तिर्व्यापारवति हस्तादौ सत्यपि द्वितीयक्षणे पाकाद्यनुदयादित्यर्थः।

व्यापारवत इत्यत्र व्यापारविशेषणांशानिरुक्त्या तद्विशिष्टलक्षणानिरुक्तिं दर्शयितुं व्यापारं विकल्पयति ॐ कश्चेति ॐ। क इत्यभिप्रेतं कल्पं विशदयति ॐ किमिति ॐ। तेन करणेन जन्यः क्रियां प्रति कारणं स करणव्यापारो यथा कुठारजन्य उद्यमननिपतनरूपो व्यापारः छिदां प्रति हेतुः। करणजन्यस्त-

जाती है। इसी प्रकार घटादि पदार्थ अपनी उत्पत्ति के अनन्तर स्थिर हो जाते हैं, अतः उनकी उत्पत्ति क्रिया में स्थिति क्रिया की करणता भी प्राप्त होती है। चतुर्थ विकल्प को मानने पर घट-पटादि सह अवस्थित पदार्थों में परस्पर की करणता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

यदि 'क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धित्वं करणत्वम्'—इसका यह अर्थ किया जाता है कि 'व्यापारवतः पदार्थस्य फलाव्यभिचारित्वं करणत्वम्'। तब भी हस्तादि करणों में अव्याप्ति बनी रहती है, क्योंकि हस्तादि के सक्रिय होने पर भी द्वितीय क्षण में सदा पाकादिरूप फल कदाचित् उत्पन्न नहीं होता।

२५. व्यापार-लक्षण का खण्डन

करणता-लक्षण के घटकीभूत व्यापार पदार्थ का लक्षण क्या है? क्या (१) तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्? अथवा (२) तदाश्रितत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्?

नाद्यः, लिङ्गपरामर्शे तदसम्भवात् ।

पक्षे प्रथमधूमादिदर्शनस्य व्याप्तिस्मृतिद्वारा द्वितीयलिङ्गपरामर्शव्यापारं जनयतः करणत्वमेष्टव्यम् । एवञ्च परमार्थतो व्याप्यस्य स्वरूपेण प्रमितिर्द्वितीयव्याप्ततत्परामर्शव्यापारिका अनुमानमिष्यत इति चेन्न, अन्यतो जाताग्निधूमादिव्याप्तिस्मृतौ सत्यां पक्षगतप्रथमधूमादिदर्शनस्य तद्व्यापारकत्वासिद्धेः ।

द्व्यापार इत्युक्ते क्रियायामतिव्याप्तिस्तन्निवारणाय कारणमिति । तावत्युक्ते कर्त्रादौ प्रसक्तिनिवारणाय तज्जन्य इति विशेषणम् । विरोध्यनेकप्रकारसंभवे सत्येव विकल्प इति प्रकारान्तरमाह ॐ उतेति ॐ । तज्जन्यत्वस्थाने तदाश्रयत्वविशेषणम् । अन्त्यान्त्या प्रथममपाकरोति ॐ नाद्य इति ॐ । व्याप्यस्य धूमादेः पक्षधर्मतया स एवायं धूम इति अनुसन्धानं लिङ्गपरामर्शः सोऽनुमितौ करणतयेष्यते न च तज्जन्योऽनुमितिकरणव्यापारोऽस्ति व्याप्तस्य पक्षधर्मतानुसन्धानादेवानुमित्युत्पत्तेरित्यर्थः ।

लिङ्गपरामर्शे लक्षणासत्त्ववल्लक्ष्यत्वमपि नास्तीत्यव्याप्तिपरिहारमाशङ्कते ॐ पक्षे इति ॐ । गिरिशिखरविपरिवर्तिप्राथमिकधूमदर्शनात्सदृशसन्दर्शनसमुद्बुद्धव्याप्तिगोचरसंस्काराद् व्याप्तिः स्मर्यतेऽतश्च स एवायं वह्निव्याप्तो धूम इति व्याप्यस्य पक्षधर्मतया परामर्शस्ततो वह्निमानित्यनुमितिरतः प्रथमं पक्षनिष्ठतया व्याप्यस्वरूपप्रतीतिर्द्वितीयं व्याप्यपरामर्शं व्यापारं जनयन्ती करणमनुमितावेष्टव्यमित्यर्थः । एवं च व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वमिति लक्षणं नाव्याप्तं तथाविधव्यापारित्वमनुमितिकरणेऽप्यस्तीत्यङ्गीकारादित्याह ॐ एवं चेति ॐ ।

लिङ्गपरामर्शव्यापारमजनयतोऽपि प्रथमपक्षनिष्ठलिङ्गदर्शनस्यानुमितिकरणत्वदर्शनादव्याप्तिर्न परिहृता स्यादिति परिहरति ॐ नेति ॐ । वस्तुगत्या व्याप्ये दृष्टेऽपि ।

"सदृशाऽदृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधिकाः"

इत्युक्तत्वात्सदृशदर्शनवददृष्टादेरपि संस्कारोद्बोधकत्वाददृष्टादिनोद्बुद्धसंस्काराद्यत्र व्याप्तिः स्मर्यते

(१) प्रथम कल्प लिङ्गपरामर्श में सम्भव नहीं, क्योंकि व्याप्यभूत धूमादि लिङ्गों में पक्षधर्मता का ('वह्निव्याप्यधूमवानयम्'—ऐसा) अनुसन्धान ही लिङ्गपरामर्श कहलाता है, उसके अनन्तर क्षण में ही वह्न्यनुमिति हो जाती है, मध्य में ऐसे किसी व्यापार की उपलब्धि नहीं होती, जो उस लिङ्गपरामर्श से उत्पन्न होकर अनुमिति का जनक माना जाता हो ।

शङ्का—'पर्वतो वह्निमान्'—इस अनुमिति में प्रथम धूम-दर्शन को ही करण मानना अभीष्ट है, क्योंकि वही व्याप्ति-स्मृति के माध्यम से द्वितीय लिङ्ग-परामर्शरूप व्यापार को जन्म देकर अनुमिति का उत्पादन करता है । 'लीनमर्थं गमयति'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ गिरि-शिखर की ओट लीन (छिपी) अग्नि का गमक (सूचक) होने के कारण धूमादि को लिङ्ग कहा जाता है, वह वस्तुतः वह्नि से व्याप्त होता है, किन्तु पर्वत में उसका प्रथम दर्शन 'धूमवानयम्'—इस प्रकार स्वरूपतः ही होता है, व्याप्यत्वेन नहीं । इसे ही पर्वत में प्रथम और महानसीय व्याप्य-प्रत्यक्ष को मिलाकर द्वितीय लिङ्गपरामर्श कहा जाता है । उसके अनन्तर स्मर्यमाण व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त धूम का जो 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः'—इस प्रकार लिङ्ग-ज्ञान होता है, उसे ही पर्वत में द्वितीय और महानसीय धूम-दर्शन को लेकर तृतीय लिङ्ग-परामर्श कहते हैं, यही वह्नि की अनुमिति में व्यापार और इससे पूर्वतन लिङ्ग-परामर्श को करण कहा जाता है, जो कि व्यापारवान् होकर अनुमितिरूप प्रमा का करण होने के कारण अनुमान प्रमाण की महत्त्व-पूर्ण समाख्या से सुशोभित होता है ।

समाधान—पर्वत में प्रथम धूम-दर्शन से जहाँ व्याप्ति का स्मरण न होकर किसी अदृष्टादि अन्य उद्बोधक की सहायता से व्याप्ति का स्मरण होता है, वहाँ पर्वतीय द्वितीय लिङ्ग-परामर्श प्रथम लिङ्गपरामर्श से जनित न होने के कारण वह व्यापार नहीं कहला सकता,

तत्राप्युभयकर्मजसंयोगवत्तदपि कारणमिति चेन्न, अभावादिसापेक्ष-विशिष्ट-प्रतिपत्तिवत् प्रागुपजातवह्निव्याप्तधूमस्मृतेः प्रथममपि 'योऽसौ वह्निव्याप्तः सोऽयं धूमः' इति परामर्शोपपत्तेः।

नित्यसापेक्षेऽर्थेऽस्तु तथा, नान्यत्र प्रथमं तथेति चेन्न, प्राक् तत्कारणोपपत्तौ

तत्र समुद्बुद्धसंस्कारसहकृतसम्प्रयोगादेव व्याप्यप्रत्यभिज्ञानान्न प्रथमलिङ्गदर्शनस्य परामर्शजनकत्वमस्ति अस्ति चानुमितिकरणत्वमित्यव्याप्तिरित्यर्थः। ननु सदृशदर्शनं परिदृष्टकारणे सति नादृष्टादौ कारणत्वं कल्प्यमिति, मैवम्, तथाऽपि तत्सम्भावनाया दुर्निवारत्वात्सन्देहेनापि लक्षणासिद्धेः। पाकार्थिनां मशकातुराणां च चिन्तादेरपि परिदृष्टत्वसंभवाच्चेति। विमतं प्रथमलिङ्गदर्शनजन्यम्, अनुमितिकरणलिङ्गपरामर्शत्वात्संप्रतिपन्नवदिति प्राथमिकलिङ्गदर्शनस्यापि कारकत्वानुमानान्नाव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ तत्रेति ॐ। अदृष्टादिसमुद्बुद्धसंस्कारजस्मृतावपि तदपि प्रथमलिङ्गदर्शनमपि कारणमदृष्टादिकारणान्तरादेव तदुपपत्तौ न लिङ्गदर्शनस्य कारणत्वं कल्प्यं गौरवादित्यत आह ॐ उभयेति ॐ। यथा मल्लयोः संयोग उभयकर्म्मभ्यां जायते तत्रैकेनैव कर्मणा संयोगसिद्धेर्नापरकर्मणो हेतुत्वं निवार्य्यते प्रमाणबलादेव गौरवपरिहारादेवमिहापीत्यर्थः। अव्याप्त्यन्तरप्रदर्शनेन परिहरति ॐ नेति ॐ। प्रागुपजाता वह्निव्याप्तधूमस्मृतिर्यस्य प्रथममपि पक्षनिष्ठलिङ्गदर्शनव्यतिरेकेणादावपि योसौ वह्निव्याप्तः सोऽयं धूम इति परामर्शोपपत्तेर्दृष्टान्तमाह ॐ अभावेति ॐ। अभावो भेद इत्ययमर्थो नित्यं धर्मिप्रतियोगिज्ञानसापेक्षप्रतीतिर्यथा धर्मिग्रहणे प्रतियोगिस्मरणे च सति प्रथमतोऽभावादेर्ग्रहणं विनैव निर्घटं भूतलं पटाद्भिन्नो घट इति विशिष्टं प्रतीयते तद्वददृष्टादिवशेन जनितव्याप्तिस्मृतेः कदाचित्पक्षनिष्ठव्याप्यप्रथमदर्शनव्यतिरेकेण व्याप्तिविशिष्टतयैव पक्षधर्मत्वानुसन्धानं संभवति तत्र का गतिः स्यादित्यर्थः। अभावादेर्धर्मिप्रतियोगिसापेक्षस्य तदविशिष्टतया प्रतिपत्तिवदिति योजनीयम्। नित्यसापेक्षो यः पदार्थस्तस्मिन्प्रथमत एव विशिष्टप्रतिपत्तिरस्तु न नित्यसापेक्षताहीन इति शंकते ॐ नित्येति ॐ। अभावादेर्धर्म्यादिप्रतीतिपुरःसरमेव प्रतीतिनियमात्प्रतियोग्याद्यज्ञाने तद्ग्रहणायोगात्प्रथमत एव तद्वैशिष्टचप्रतीतिरस्तु लिङ्गस्य पुनर्व्याप्तिस्मृतिव्यतिरेकेणापि प्रतीतेः प्रथमं स्वरूपतः प्रतीतिस्ततो व्याप्तिस्मृतिद्वारा विशिष्टपरामर्श इत्यर्थः। अप्रतिबन्धसामग्र्यनन्तरं कार्यजन्मनियमान्मैवमिति परिहरति ॐ नेति ॐ। पक्षनिष्ठप्रथमलिङ्गदर्शनात्प्रागेव व्याप्तिस्मृतिसहितलिङ्गाक्षसन्निकर्षलक्षणतत्परामर्शकारणसम्पत्तौ सत्यां नित्यसापेक्षताहीने प्रथमं विशिष्टपरामर्शो न जायते इत्यत्र

अतः प्रथम लिङ्ग-परामर्श को उस व्यापार को लेकर व्यापारवान् भी नहीं कह सकते, तब वह करण क्योंकर कहा जायगा? यदि वहाँ पर भी उभय-कर्म-जन्य संयोग के समान द्वितीय लिङ्ग-परामर्श को प्रथम लिङ्ग-परामर्श तथा अदृष्ट—इन दोनों से जनित मान कर लक्षण का निर्वाह करना चाहें, तो नहीं कर सकते, क्योंकि प्रथम लिङ्ग-परामर्श से पहले भी अदृष्ट-स्मारित व्याप्ति से विशिष्ट पर्वतवृत्ति धूम का (योऽसौ वह्निव्याप्तः सोऽयं धूमः—ऐसा) ज्ञान वैसे ही हो सकता है, जैसे कि स्मर्यमाण प्रतियोगी से विशिष्ट अभावादि सापेक्ष पदार्थों का ज्ञान माना जाता है। प्रथम लिङ्ग-परामर्श अपने से पूर्व उत्पन्न ज्ञान का कारण नहीं हो सकता।

शङ्का—अभावादि पदार्थ नित्य ही अनुयोगी और प्रतियोगी की अपेक्षा किया करते हैं, अतः उनका विशिष्ट ज्ञान प्रथमतः हो जाता है, किन्तु धूमादि पदार्थ नित्य सापेक्ष नहीं होते, अतः उनका विशिष्ट ज्ञान तभी होगा, जब कि विशेषण और विशेष्य—दोनों का पहले ज्ञान हो जाय, अतः पर्वत में प्रथम लिङ्ग-परामर्श के पश्चात् ही स्मर्यमाण व्याप्ति से विशिष्ट धूम का ज्ञान होगा।

समाधान—स्मर्यमाण व्याप्ति-विशिष्ट धूम के साथ चक्षु-सन्निकृष्ट धूम के अभेदानुसन्धान की सामग्री जब प्रथम लिङ्ग-परामर्श से पहले ही विद्यमान है, तब वह विशिष्ट ज्ञान

नान्यत्रैवमिति नियमे प्रमाणस्याभावात् । तस्य व्यापाराभावात् नानुमित्युत्पादकत्वमेवेति चेत्, स्यादप्येवं यदि व्यापारवतः करणत्वमित्येव सिद्धं स्यात् ।

तत्र धूमादिनिर्विकल्पकस्य तद्व्यापारस्य करणत्वमिति चेन्न, नित्यसङ्घटितार्थवद्विनापि निर्विकल्पकं सविकल्पकोत्पत्तेरविरोधेन त्वदुक्तप्रक्रियानियमे प्रमाणाभावात् ।

नित्यसङ्घटितेऽपि निर्विकल्पकं मंस्य इति चेन्न, कारणान्तरादेव

प्रमाणस्योपन्यसितुमशक्यत्वादित्यर्थः । यदि लिङ्गपरामर्शोऽनुमितिकरणं स्यात्तर्हि तत्र लक्षणमनुगमयितव्यं तदेव न, व्यापारवतः करणत्वात्तस्य च व्यापाराभावादिति शङ्कते ❀ तस्येति ❀ । कथमसिद्धेनासिद्धं सिषाधयिषसीति परिहरति ❀ स्यादिति ❀ । गृहीताविनाभावस्य व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितावनुमानस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वान्निर्व्यापारस्यापि तस्य करणत्वमेष्टव्यमित्यर्थः ।

लिङ्गपरामर्शो विमतो निर्विकल्पकपुरःसरस्सविकल्पकत्वात् सम्प्रतिपन्नवदिति तज्जनकलिङ्गविषयनिर्विकल्पकसिद्धेरस्यानुमितिकरणतोपपत्तावन्यथासिद्धिरन्वयव्यतिरेकयोरिति शङ्कते ❀ तत्रेति ❀ । सविकल्पकत्वादिति हेतोरभावादिति सविकल्पे व्यभिचारोद्भावनेन परिहरति ❀ नेति ❀ । निर्विकल्पकं विना सविकल्पकोत्पत्तेरविरोधेन त्वदुक्तप्रक्रियानियमे सविकल्पकं निर्विकल्पकपूर्वकमित्यत्र प्रमाणाभावाद्धेतोर्व्यभिचारित्वान्निर्विकल्पकव्यतिरेकेण तदुत्पत्तौ दृष्टान्तमाह ❀ नित्येति ❀ । नित्यं धर्मिप्रतियोगिघटितेऽभावादौ निर्विकल्पकव्यतिरेकेण विशिष्टविकल्पोत्पत्तिवदित्यर्थः । अभावादिविकल्पस्यापि निर्विकल्पकपूर्वकत्वेन सापेक्षत्वान्न व्यभिचार इति शङ्कते ❀ नित्येति ❀ । नित्यसङ्घटिते धर्मिप्रतियोगिविशिष्टे मंस्येऽवगमिष्यामि । मैवम् । तत्र निर्विकल्पकसत्त्वे प्रमाणाभावादिति परिहरति ❀ नेति ❀ । अदृष्टादिसमुद्बोधितशब्दविषयसंस्कारादिना सविकल्पकज्ञानोत्पत्तौ न निर्विकल्पकस्य कारणत्वं कल्प्यमनन्यथासिद्धं

आपके 'अभावादि नित्य सापेक्ष पदार्थों से अन्य पदार्थों का प्रथमतः विशिष्ट ज्ञान नहीं होता'— इतना कह देने मात्र से नहीं रुक सकता ।

शङ्का—पर्वत में प्रथम लिङ्ग-परामर्श का यदि कोई व्यापार उपपन्न नहीं होता, तब वह अनुमिति का करण भी नहीं हो सकता । उसे यदि करण माना जाता है, तब उसका कोई-न-कोई व्यापार भी अवश्य मानना होगा ।

समाधान—आप की यह शङ्का तब उपपन्न हो सकती थी, जब कि उससे पहले यह सिद्ध हो जाता कि व्यापारवान् कारण ही करण होता है, किन्तु अभी तक यह सिद्ध नहीं हो सका है कि व्यापारवत्त्व के विना करणत्व नहीं रहता ।

शङ्का—पर्वत में प्रथम लिङ्ग-परामर्श दो प्रकार का होता है—(१) निर्विकल्पक और (२) सविकल्पक । विशेष्य और विशेषण का पहले वैशिष्ट्य-निरपेक्ष स्वरूपतः स्वतन्त्र ज्ञान होता है, उसे निर्विकल्पक और विशेष्य-विशेषण के वैशिष्ट्य का अवगाहन करनेवाला ज्ञान सविकल्पक कहलाता है । सविकल्पक ज्ञान सदैव निर्विकल्प-ज्ञानपूर्वक ही होता है, अतः निर्विकल्पात्मक प्रथम लिङ्ग-परामर्श को अनुमिति का करण एवं सविकल्पकात्मक लिङ्ग-परामर्श को व्यापार कह सकते हैं, इस प्रकार लिङ्ग-परामर्श में सव्यापारता और करणता की उपपत्ति हो जाती है ।

समाधान—नित्य सापेक्ष अभावादि पदार्थों का सविकल्पक ज्ञान उनके निर्विकल्पक ज्ञान के विना ही हो जाता है । आप (नैयायिकों) का जो यह नियम है कि 'सर्वं सविकल्पकं निर्विकल्पकपूर्वकमेव भवति'—इसमें कोई प्रमाण नहीं । यदि नित्यसापेक्ष अभावादि पदार्थों का भी निर्विकल्पक ज्ञान माना जाता है, तब भी वह सविकल्पक ज्ञान का कारण नहीं, क्योंकि अदृष्टादि कारणों से प्रतियोग्यादि का स्मरण होकर धर्मी के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष

तदुपपत्तौ तत्र निर्विकल्पककल्पनायां प्रमाणाभावात्। प्रत्युत तत्सङ्घटनस्य स्वभावानतिरेकोपगमात्।

तथापि यत्किञ्चित्तज्जनकं तदेव तत्रानुमितिकरणमास्तामिति चेन्न, तथेन्द्रियादेरनुमितिकरणत्वापत्तेरिति अलमतिप्रसरेणेति।

शब्दश्रोत्रसन्निकर्षस्य च श्रोत्राव्यापारत्वप्रसङ्गात्। अन्यथा श्रोत्रस्य शब्द-

---

हि कार्यं कारणं कल्पयति न चेदं तथा, प्रतियोगिस्मृत्यादिसहकृताक्षसम्प्रयोगाददृष्टाविसमुद्बुद्धशब्दसंस्कारसहकृताच्च कारणान्तरात्सविकल्पोत्पत्तेर्निर्विकल्पकस्य च शब्दसंस्कारोद्बोधकत्वेन सविकल्पं प्रति अकारणत्वाच्चेत्यर्थः। एवं न्यायबलादभावादिविकल्पस्य निर्विकल्पपुरःसरत्वं परास्य संप्रति तत्प्रक्रियया पराचष्टे ❀ प्रत्युत विपरीतमिति ❀।

निर्विकल्पकमभावावावभ्युपगम्यमानमभिन्नविषयं भिन्नविषयं वा सविकल्पकेन ? नाद्यः सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदाभावप्रसङ्गान्नापि द्वितीयस्तदनिरूपणात्। निर्विकल्पकस्य स्वरूपमभावादेर्विषयः प्रतियोग्यादिवैशिष्ट्यमभावस्य सविकल्पकविषय इति चेन्न, विशेषणविशेष्यस्वरूपानतिरेकाभ्युपगमाद्वैशिष्ट्यस्य। भवत्वभावावभासस्य निर्विकल्पकाजन्यत्वं तथाऽपि कार्यत्वाद्भवितव्यं केनचित्कारणेन, तदेव परामर्शव्यापारवत्तयाऽनुमितिकरणमित्यव्याप्तिपरिहारं शङ्कते ❀ तथाऽपीति ❀। प्रत्यक्षानुमितिभेदो न स्यात्तज्जनकेन्द्रियादेरनुमितिकरणत्वप्रसङ्गादिति परिहरति ❀ नेति ❀। अदृष्टमादिपदोपात्तं तर्हि लिङ्गमेव कर्म्मतया परामर्शजनकं तद्व्यापारतयाऽनुमितिकरणमित्यत आह ❀ इत्यलमिति ❀। तर्हि घटज्ञानं घटस्य व्यापारः स्यात्ततो लिङ्गपरामर्शस्य तद्व्यापारत्वासम्भव इत्यर्थः।

तज्जन्यस्तत्कारणं व्यापार इत्यत्र तज्जन्यत्वविशेषणप्रयुक्त्या दूषणमाह ❀ शब्देति ❀। श्रोत्रं तावदाकाशमेव तद्गुणस्य च शब्दस्य तत्र समवायः संनिकर्षस्तस्य च नित्यत्वेनातज्जन्यत्वान्न तद्व्यापारत्वं द्रव्यत्वेऽपि नित्यविभुतया नित्यसंयोगतया न संनिकर्षत्वमित्यर्थः। शब्दस्य नित्यविभुत्वान्न नित्याकाशात्मकश्रोत्रेण संयोगोऽजसंयोगानङ्गीकारादित्यत आह ❀ अन्यथेति ❀। शब्दस्य श्रोत्रसन्निकर्षाभावे श्रोत्रस्य

के द्वारा सविकल्पात्मक विशिष्ट ज्ञान हो जाता है, निर्विकल्पक अन्यथासिद्ध होकर रह जाता है। निर्विकल्पक में केवल वैशिष्ट्य का भान नहीं होता, वैशिष्ट्य विशेषण और विशेष्य से भिन्न कुछ भी नहीं, उसका स्वरूप मात्र होता है, अतः विशेषण और विशेष्य को विषय करनेवाला निर्विकल्पक वोध वैशिष्ट्य को भी विषय कर लेता है, फलतः निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानों में न तो विषय की दृष्टि से कुछ अन्तर रह जाता है, और न स्वरूप की दृष्टि से, अतः अपने स्वरूपभूत निर्विकल्पक पर निर्भर न रह कर सविकल्पक ज्ञान इन्द्रिय-सन्निकर्षादि-घटित सामग्री से ही उत्पन्न होता है—ऐसा ही उसका स्वभाव मानना होगा।

शङ्का—लिङ्ग-परामर्श व्यापार और उसका जनक पदार्थ अनुमिति का करण होता है—यह ध्रुव सत्य है, अतः यदि निर्विकल्पक ज्ञान से उसकी उत्पत्ति न होकर अन्य सामग्री से मानी जाती है, तब उसी सामग्री को अनुमिति का करण मान लेना चाहिए।

समाधान—तब तो सविकल्पक के जनकीभूत इन्द्रिय-सन्निकर्ष को अनुमिति का करण एवं अनुमिति को इन्द्रिय-सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान मानना पड़ेगा।

(२) दूसरी बात यह भी है कि व्यापार का 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्'—यह लक्षण श्रोत्र और शब्द के उस समवायरूप सन्निकर्ष में अव्याप्त है, जो कि शब्दविषयक प्रत्यक्ष के करणीभूत श्रोत्रेन्द्रिय का व्यापार माना जाता है। [न्याय सिद्धान्त में श्रोत्र को कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाशरूप और शब्द को आकाश का गुण माना जाता है। उसका आकाश के साथ समवाय सन्निकर्ष है, समवाय नित्य होता है, अतः श्रोत्रेन्द्रिय से वह जन्य नहीं हो सकता, तब वह श्रोत्र का व्यापार क्योंकर कहा जायगा?]। शब्द का श्रोत्र के

प्रतिपत्तावकरणत्वप्रसङ्गात्। सन्निकर्षो हि इन्द्रियव्यापार उच्यत इति व्यापारान्तरञ्च तस्य क्षणिकमसिद्धम्, स्थिरे चोक्त एव दोषः।

शब्द एव तद्व्यापारः किन्न स्यादिति चेन्न, तस्य कर्मत्वेन करणकोटिबहिर्भावात्। क्वचित्तयोरेकत्वेऽपि का क्षतिरिति चेन्न, शब्दबुद्धौ कार्यायामुपधायकत्वेन

शब्दोपलब्धौ करणत्वं न स्यात्तदसन्निकृष्टत्वाच्चक्षुरादिवदित्यर्थः। अस्तु तर्हि श्रोत्रस्य शब्देन नित्यसंनिकर्षस्तथाऽपि शब्दोपलब्धिकरणता किं न स्यादित्यत आह ॐ सन्निति ॐ। व्यापारवतः करणत्वं व्यापारश्च तज्जन्यः कारणमिन्द्रियस्य च सन्निकर्षो व्यापारस्तस्य च श्रोत्रजन्यत्वाभावात्करणलक्षणं तत्र नास्तीत्यर्थः। तर्हि श्रोत्रस्य सन्निकर्षातिरिक्तं व्यापारान्तरं करणत्वनिर्वाहाय कल्प्यतामित्यत आह ॐ व्यापारेति ॐ। कल्प्यमानं व्यापारान्तरं क्षणिकम्? स्थिरं वा? क्षणिकमपि प्रयत्नरूपम्? परिणामरूपम्? परिस्पन्दरूपं वा? नाद्योऽचेतनत्वान्नापि द्वितीयतृतीयौ विभौ विभुगुणे वा तयोरसम्भवादित्यर्थः। अस्तु तर्हि स्थिरमेव तदिति द्वितीयस्तत्राह ॐ स्थिरे चेति ॐ। समवायवत्तस्यापि तज्जन्यत्वायोगात्तद्व्यापारत्वासंभवे करणत्वासम्भवः श्रोत्रस्येत्युक्त एव समवायपक्षे दोष इत्यर्थः। तर्हि शब्द एव श्रोत्रजन्यत्वात्स्वविषयप्रतीतिजनकत्वाच्च श्रोत्रव्यापारोऽस्तु ततश्च श्रोत्रस्य व्यापारवत्तया करणत्वान्नाव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ शब्द इति ॐ। शब्दो न श्रोत्रव्यापारस्तद्विषयत्वाद्यदेवं तदेवं यथा रूपादि श्रोत्रं वा न स्वविषयव्यापारं करणत्वाच्चक्षुरादिवदिति परिहरति ॐ नेति ॐ। तस्य शब्दस्य श्रोत्रजन्यं ज्ञानं प्रति कर्मतया करणपक्षबहिर्भावादित्यर्थः।

शब्दस्य श्रोत्रव्यापारतया श्रोत्रजन्यं ज्ञानं प्रति करणत्वं तत्प्रयुक्तव्यवहारविषयतया कर्मत्वं चास्तु ततश्च विपक्षबाधकाभावादप्रयोजकतेति शंकते ॐ क्वचिदिति ॐ। विपक्षे दण्डं दर्शयन्परिहरति ॐनेतिॐ।

साथ कोई सन्निकर्ष न मानने पर श्रोत्र को शब्द-प्रमा का करण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को ही व्यापार माना जाता है। यदि श्रोत्र का अन्य कोई व्यापार माना जाता है, तब वह क्षणिक है? या अक्षणिक (स्थिर)? प्रयत्न, परिस्पन्दनादिरूप क्षणिक व्यापार तो श्रोत्र का बन नहीं सकता, क्योंकि वह जड़ और विभु द्रव्य है। कोई स्थिर व्यापार मानने पर समवाय को ही मानना होगा, वह नित्य है, जन्य नहीं होता।

शङ्का—श्रोत्ररूप आकाश में शब्द उत्पन्न होता है, तब शब्द का प्रत्यक्ष होता है, अतः शब्द को ही श्रोत्र का व्यापार मान लेना चाहिए, क्योंकि वह श्रोत्र से जन्य होकर शब्दविषयक प्रमा का जनक भी है।

समाधान—शब्दविषयक प्रमा में शब्द कर्मकारक होने के कारण करण-कोटि में नहीं आ सकता, व्यापार तो करण-कोटि में ही गिना जाता है। 'शब्द के समान उभय लक्षण-सम्पन्न पदार्थ को व्यापार एवं कर्म—उभयरूप मान लेने से क्या क्षति है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शब्द-ज्ञान कार्य या नियम्य और करण उसका नियामक होता है, नियम्य और नियामक—दोनों अभिन्न नहीं हो सकते, अन्यथा आत्माश्रय दोष होता है।

शङ्का—यदि शब्द को नियम्य और नियामक—दोनों कक्षाओं में नहीं रखा जा सकता, तब घटादि को भी उन दोनों कोटियों में नहीं रखा जा सकता, किन्तु घटादि के ज्ञान में घट को कर्म भी माना जाता है और घटेन्द्रिय-सन्निकर्ष को व्यापार, अतः घट दोनों कोटियों में आ जाता है, यदि शब्द को उभय कोटि में नहीं रखा जा सकता, तब घटादि को भी उभय कोटि में नहीं रखना चाहिए और यदि घटादि को उभय कोटि में रखा जाता है, तब शब्द ने क्या बिगाड़ा है?

समाधान—शब्द की समता जो घटादि में दिखाई गई, वह हमें भी अभीष्ट है, किन्तु शब्द को नियम्य और नियामक उभय कक्षाओं में रखने पर हम (खाण्डनिक) ने जो विरोध-रूप बाध प्रस्तुत किया, वह आप (नैयायिक) की दृष्टि में अदृढ़ (अक्षम) है? या दृढ़

प्रविष्टस्य शब्दस्य करणव्यापारतया कारणकोटावपि प्रवेशनेऽशतो नियम्यनियामकत्वविरोधापत्तेः। घटादिबुद्धौ चक्षुरादेश्चक्षुर्घटादिसंसर्गव्यापारकत्वेऽपि सममिदमिति चेत् किन्न स्यात्। तथा च—

बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्।
क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्॥ ३२॥
तथा हि मिथिलानाथो मुमुक्षुर्निर्ममः पुरा।
आहेदं मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते॥ ३३॥

शब्दबुद्धौ श्रोत्रकार्यायामुपधायकत्वेन विषयतया (व्यावर्तकत्वेन प्रविष्टस्य करणीभूतश्रोत्र) व्यापारतया करणकोटावपि प्रवेशनेऽशतः शब्दस्य नियम्यनियामकविरोधापत्तिर्व्यापारविशिष्टस्य करणत्वात्तद्व्यापारतया करणत्वं तस्यैव पुनः कार्यबुद्धिविशेषणतया कार्यत्वमापद्येत तच्च विरुद्धं नियतप्रागभावस्य कार्यत्वादित्यर्थः। एकस्य करणव्यापारतया करणत्वं बुद्धिव्यावर्तकतया कार्यत्वं चोररीकरणीयम्, अन्यथा चाक्षुषप्रत्यये कुम्भादेरप्यनेवम्भावप्रसङ्गादिति प्रतिवन्दीग्रहेण शंकते ❀ घटादीति ❀। घटादिबुद्धौ कार्यायां चक्षुरादेर्घटादिसंसर्गव्यापारतया करणत्वेऽपि सममिदं घटादेः संसर्गविशेषणतया करणत्वं बुद्धिव्यावर्तकतया कर्मत्वं च स्यादिन्द्रियसंनिकर्षव्यापारत्वादित्यर्थः। खण्डकं प्रत्ययं प्रसङ्गाभास इष्टापादनरूपत्वादिति परिहरति ❀ किमिति ❀। नास्माकं किंचिन्निर्वाच्यमस्ति निर्वाह्यपक्षखण्डनमात्रव्यापारादतस्तत्खण्डनमपि भवतामेवानिष्टाय टीकते इत्यर्थः। प्रतिबन्दीखण्डनन्यायसङ्ग्राहकश्लोकश्चात्र भवतीत्याह ❀ तथेति ❀। एकस्य नियम्यनियामकविरोधात्मको बाधो मदुक्तो दृढोऽदृढो वा, यद्यदृढस्तत्राह ❀ बाध इति ❀। अदृढे मदुक्ते बाधे प्रशिथिलमूलत्वादिदोषे सत्यन्यसाम्यात्किं स्यान्न किंचिदपि तदेवादार्ढ्यकारणं प्रशिथिलमूलत्वाद्युद्भाव्यतामन्यसाम्योद्भावनं व्यर्थं प्रशिथिलमूलत्वाद्युपजीव्यैव तदुद्भावनादित्यर्थः। यदि दृढस्तत्राह ❀ दृढ इति ❀। प्रशिथिलमूलत्वादिहीनतयाऽपरिहार्ये सत्यन्यत्प्रतिबन्दीस्थानमपि बाध्यताम्। तर्हि स्वपक्षोऽपि तव न सिध्येदेवं च जात्युत्तरता कथं न तवेत्यत आह ❀ क्वेति ❀। अहंममभावहीनत्वान्मुमुक्षूणां कोऽपि स्वीयतया स्वीकृतपक्षो नास्ति यद्बाधया जात्युत्तरता स्यादित्यर्थः। मुमुक्षूणां स्वपक्षक्षतावपि निर्विकारतयाऽवस्थानं पुरावृत्तकथनेनोपपादयति ❀ तथा हीति ❀। मिथिला नामनगरी तस्या नाथो जनकः। याज्ञवल्क्येन जनकस्य वेदान्तश्रवणयोग्यतापरीक्षार्थं मायावह्निना मिथिलानगरी प्रज्वालिता तदा जनकेनैवमुक्तम्—

"अनन्तमेव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदाह्यायां न मे किंचन दह्यते॥" } शां. प.

इति भारते श्रूयते इत्यर्थः।

(सक्षम)? यदि बाध अदृढ़ है, तब उसकी अदृढ़ता (शैथिल्य) के प्रयोजक तर्कों या युक्तियों का प्रदर्शन करना चाहिए, केवल अन्यार्थ की समता दिखाने से क्या लाभ ? और यदि हमारा बाध सुदृढ़ है, तब एक साम्य नहीं हजारों साम्यों का प्रदर्शन कर देने पर भी कोई लाभ नहीं। 'यदि शब्द को उभय कोटि में नहीं रखा जा सकता तब घटादि को भी उभय कोटि में रखने का सिद्धान्त भी भङ्ग हो जायगा'—ऐसा भय हम अनिर्वचनीयता देवी के उपासकों को नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि हम तो घर फूक तमाशा देखनेवाले उन महामानवों में हैं, जिनके प्रधान सञ्चालक मिथिला के सम्राट् विदेह जनक थे, उनकी स्पष्ट उद्घोषणा थी कि सारी मिथिला के भस्मसात् हो जाने पर भी मेरा एक रोयाँ भी नहीं जल सकता [महाभारत में जनक की इस उद्घोषणा का उल्लेख है—

"अनन्तमेव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किंचन।
मिथिलायां प्रदाह्यायां न मे किंचन दह्यते॥"]

नापि द्वितीयः, लिङ्गपरामर्शस्यानुमितौ अकरणत्वप्रसङ्गात् । निर्विकल्पकस्यापि तस्योपगमे सविकल्पकानाश्रयत्वात् । अतद्धेत्वाश्रयस्य तद्धेतुव्यापारत्वे चात्यापत्तेः ।

२६. फलाव्यभिचारित्वखण्डनम्

किञ्च फलाव्यभिचारित्वं किं तस्मिन्नेव काले फलस्य सत्त्वनियमः ? उत तद-

तदाश्रयः कारणं व्यापार इति द्वितीयमाशंक्य प्रतिषेधति । ॐ नापीति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ लिङ्गेति ॐ । लिङ्गपरामर्शोऽनुमितौ करणं न च तदाश्रयोऽनुमितिहेतुर्व्यापारोऽस्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । धूमादिविषयं निर्विकल्पकज्ञानं करणं तत्परामर्शस्तु तद्व्यापार इति नाव्याप्तिरित्याशंक्याह ॐ निर्विकल्पेति ॐ । तस्य धूमादेर्निर्विकल्पस्योपगमेऽपि सविकल्पानाश्रयत्वादव्याप्तिरिति शेषः । अपिशब्दान्निर्विकल्पव्यतिरेकेणापि विकल्पोत्पत्तिरुपपादितेति द्रष्टव्यम् । सविकल्पस्य निर्विकल्पाश्रितत्वं मा भूदस्तु च तद्व्यापारत्वमतश्च निर्विकल्पकस्य तद्व्यापारतयाऽनुमितिकरणत्वमित्यत आह ॐ अतदिति ॐ । तस्याः प्रधानक्रियाया हेतुस्तद्धेतुः स आश्रयो यस्य न भवति सोऽतद्धेत्वाश्रयस्तस्य प्रधानक्रियाहेतुव्यापारत्वेऽतिप्रसङ्गः सर्वः सर्वस्य व्यापारः स्यादविशेषादित्यर्थः ।

व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वमित्यत्र व्यापारानिरूपणेन व्यापारवदित्यंशं परास्थदिदानीं फलाव्यभिचारित्वं पराचष्टे ॐ किञ्चेति ॐ । आद्यं दूषयति ॐ नेति ॐ । यस्मिन् काले करणं तस्मिन्नेव फलं

(२) विगत पृष्ठ २७१ पर कथित द्वितीय विकल्प में जो व्यापार की परिभाषा की थी—'तदाश्रयं कारणम्'। अर्थात् 'तदाश्रयत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः'। वह लक्षण भी समीचीन नहीं, क्योंकि अनुमिति के करणीभूत लिङ्ग-परामर्श में करणत्व इस लक्षण के अनुसार तभी बन सकेगा, जब कि वह अनुमिति-जनकीभूत किसी व्यापार का आश्रय हो। वैसा कोई व्यापार सम्भव नहीं, अतः वहाँ करणत्व का निर्वाह नहीं हो सकता। 'धूमादिविषयक निर्विकल्पक ज्ञान करण और सविकल्पात्मक लिङ्ग-परामर्श व्यापार है'—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उक्त सविकल्पक ज्ञान का आश्रय आत्मा है, निर्विकल्पक नहीं, अतः निर्विकल्पक ज्ञान को करण नहीं माना जा सकता। निर्विकल्पक हेतु के आश्रित न होकर सविकल्पक ज्ञान कभी भी निर्विकल्पक हेतु का व्यापार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो व्यापार जिस हेतु के आश्रित नहीं होता, उसको उस हेतु का व्यापार मानने पर सभी हेतुओं के सभी व्यापार माने जा सकेंगे और कोई व्यवस्था न रहेगी।

२६. फलाव्यभिचारित्व का खण्डन

दूसरी जिज्ञासा यह भी होती है कि श्रीउदयनाचार्य ने जो कहा है—"व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वं साधकतमत्वम्" (ता० परि० पृ० ११६)। वहाँ फलाव्यभिचारित्व क्या उसी क्षण में फल की अवश्यंभाविता है ? अथवा अनन्तरफल-सत्त्व ? प्रथम पक्ष संगत नहीं, क्योंकि समानकालिक पदार्थ को कारण नहीं माना जा सकता, अतः सव्यायापार करण को फल का समकालीन न मानकर पूर्वकालभावी मानना होगा। द्वितीय कल्प में भी जिज्ञासा होती है कि 'आनन्तर्य' पद से अव्यवहितानन्तर्य विवक्षित है ? अथवा व्यवहितानन्तर्य ? अव्यवहितानन्तर्य पक्ष में भी यत्किञ्चित् व्यापार विवक्षित है ? अथवा फलोत्पत्ति-पर्यन्त व्यापार ? यत्किञ्चित् व्यापार की विवक्षा होने पर काष्ठ-संयोगादिरूप व्यापारवाले दण्डादि को भी पाक क्रिया का करण मानना होगा। फलोत्पत्ति-पर्यन्त व्यापार की विवक्षा करने पर कर्त्तादि

न्तरं फलसत्त्वनियमः ? नाद्यः, कारणस्य पूर्वभावितायाः अवश्यं वक्तव्यत्वात् ।

न द्वितीयः, आनन्तर्यं यद्यव्यवहितानन्तर्यं विवक्षितं तदा यत्किञ्चिद्व्यापारवतः करणत्वपक्षे हस्तादेरकरणत्वापत्तेः । आफलव्यापारवतस्तथात्वे कर्त्रादिष्वतिव्याप्तिः ।

अथ व्यवहितस्यापि आनन्तर्यं विवक्षितम्, तदाऽपि यत्किञ्चिद्व्यापाराभिप्राये अन्तरायसम्भवात् हस्ताद्यव्याप्तिः । आफलव्यापाराभिप्राये च व्यवधानासम्भवात् कारकमात्रं करणमित्युक्तं स्यात् ।

व्यापारवतश्च फलाव्यभिचार इति किं तद्व्यापारस्य फलाव्यभिचारित्वम् ? व्यापारविशिष्टस्य वा ? नाद्यः, हस्ताद्यकरणत्वापातात् । अत एव न द्वितीयः, यागादेः

न संभवति करणजन्यत्वात्फलस्य जन्यजनकयोश्च पूर्वापरभावनियमादित्यर्थः । करणानन्तरं फलसत्त्वनियम इति द्वितीयं दूषयति ❀नापीति❀ । आनन्तर्यं किमव्यवहितानन्तर्यं विवक्षितमुत व्यवहितानन्तर्यम् ? यद्याद्यस्तदाऽपि यत्किञ्चिद्व्यापारवतः करणत्वमुताऽऽफलव्यापारवत इति विकल्प्य यत्किञ्चिद्व्यापारपक्षं दूषयति ❀ आनन्तर्यमिति ❀ । काष्ठसंयोगादिव्यापारवतो हस्तादेः पाककरणतया इष्टस्यानन्तरं पाकादर्शनात्करणत्वं न स्यादित्यव्याप्तिरित्यर्थः । आफलव्यापारवत्करणमिति द्वितीयोऽस्तु गदितावद्याभावादित्यत आह ❀ फलेति ❀ । यद्व्यापारानन्तरं फलं जायते स आफलव्यापारः फलोत्पत्तिपर्यन्तं व्यापृतस्येति यावत् । करणत्वे कर्त्रादेरपि करणत्वापातस्तस्यापि फलपर्यन्तव्यापारस्येष्टव्यत्वादन्यथाऽकारणत्वप्रसक्तेरित्यर्थः । अव्यवहितानन्तर्यमिति न विशेष्यते किन्त्वानन्तर्यमात्रमतश्च व्यवहितमप्यानन्तर्यं विवक्षितमिति नाव्याप्तिरिति द्वितीयं कल्पमुत्थापयति ❀यथेति❀ । तदाऽपि यत्किञ्चिद्व्यापारवतः करणत्वमुताऽऽफलव्यापारवत इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ तदापीति ❀ । यत्किञ्चिद्व्यापारवतोऽनन्तरफलत्वं करणत्वमित्युक्तं स्यात्तच्च न संभवति काष्ठसंयोगादिव्यापारवतो हस्तादेरग्निज्वालादिव्यवधानवतोऽपि यतःकुतश्चित्पाकोत्पत्तेः प्रतिबन्धसंभवादव्यापकत्वादित्यर्थः । द्वितीयमतिव्याप्त्या दूषयति ❀आफलेति❀ । व्यवधानस्य कर्त्रादिष्वप्यसंभवादतिव्याप्तिरित्यर्थः ।

प्रकारान्तरेण लक्षणं दूषयितुं विकल्पयति ❀ व्यापारेति ❀ । व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वमित्यत्र करणोपलक्षितव्यापारस्य फलाव्यभिचारित्वमुत व्यापारविशिष्टहस्तादेरिति विकल्पाभिप्रायः । हस्ताद्युपलक्षितव्यापारस्य करणत्वमित्याद्यं दूषयति ❀ नेति ❀ । एवं च हस्तादेरकरणत्वं स्यादुपलक्षितादुपलक्षणस्यान्यत्वादेवं च हस्तेन रामेण शरेण विद्ध इत्यादिव्यवहारो विरुध्येतेत्यर्थः । व्यापारविशिष्टं हस्तादि करणमिति द्वितीयं दूषयति ❀ नेति ❀ । यजेतेत्यादिवाक्यस्य भावनाऽर्थ इति केचित् । अपरे

में भी करणत्वापत्ति होती है, क्योंकि जब तक पाकरूप फल सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक कर्त्ता भी व्यापारशील रहता है । व्यवहितानन्तर्य-पक्ष में भी यदि यत्किञ्चित् व्यापार अभिप्रेत है, तब 'हस्तेनाग्निना पचति'—यहाँ करणत्वेनाभिमत हस्तादि में भी करणता न बन सकेगी, क्योंकि हस्त में थोड़ा ही व्यापार हुआ था कि अग्नि बुझ गई, पाकरूप फल जब उत्पन्न न हो सका, तब हस्त फलाव्यभिचारी क्योंकर रहेगा ? फलपर्यन्त व्यापार का ग्रहण करने पर पूर्ववत् कर्त्तादि सभी कारकों में करणता अतिप्रसक्त होती है ।

'व्यापारवतः फलाव्यभिचारः'—यहाँ पर क्या हस्तादि के व्यापार में फलाव्यभिचार अपेक्षित है ? या व्यापार-विशिष्ट हस्तादि में ? प्रथम कल्प के अनुसार व्यापार में फलाव्यभिचारित्वरूप करणता अतिव्याप्त और हस्तादि में करणता अव्याप्त होगी, क्योंकि हस्तादि जब उपलक्षण विधया व्यापार का परिचायक है, तब व्यापारगत करणता की कोटि में नहीं आता । द्वितीय कल्प के अनुसार स्वर्गादिरूप फलपर्यन्त स्थिर न रहनेवाले यागादि में स्वर्गादि की करणता न बन सकेगी, क्योंकि वह स्वयं व्यापार है, व्यापार-विशिष्ट भी नहीं ।

स्वर्गाद्यकरणत्वापातात् । अपूर्ववाक्यार्थत्ववादिनाऽपि चरमयागस्य फलकरणत्वाभ्युपगमादिति ।

अथोच्यते—यद्वानेव करोति तत्करणम्, यद्वानेव प्रमिमीते तत्प्रमाणम्।

समीहितोपायत्वमिति । अन्येऽपूर्वमिति । तत्र पक्षद्वये दोषमाह ❀ यागादेरिति ❀ । यागदानहोमानां स्वर्गपशुपुत्रादिकं प्रत्यकरणत्वापातात्काष्ठसंयोगादिव्यापारवतो हस्तादेरकरणत्वापाताद्यागादेः स्वयं व्यापारवत्त्वाभावात्क्षणिकत्वाद् व्यापारितया स्वर्गादिफलपर्यन्तावस्थानायोगाच्चेत्यर्थः । अपूर्ववाक्यार्थपक्षे नायं दोषो यागादेरपूर्वं प्रति करणत्वात्तस्य च स्थिरस्य स्वर्गादिकरणत्वादित्याशंक्य निगदति ❀ अपूर्वेति ❀ । दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेत्यत्राग्नेयादयः षड् यागा गम्यन्ते तेषां समप्राधान्यादन्योन्यमङ्गाङ्गितयाकरणत्वायोगात्स्वयं क्षणिकत्वादेककर्तृकत्वाच्च सम्भूयापूर्वकरणत्वायोगात्पूर्वपूर्वयागजन्यावान्तरापूर्वविशिष्टस्य चरमयागस्य परमापूर्वकरणत्वमिष्टं तच्च स्याद्यागस्य व्यापारत्वादेवान्यव्यापारविशिष्टत्वाभावादित्यर्थः ।

फलाव्यभिचारप्रयुक्तदोषं परिहर्तुं लक्षणान्तरमाह ❀ अथेति ❀ । यत्करोति तत्करणमित्युक्ते कर्त्रादावतिव्याप्तिस्तन्निरासार्थमाह ❀ यद्वानिति ❀ । तावत्युक्तेऽलङ्कारादावतिव्याप्तिरत उक्तं ❀ एवेति ❀ । प्रकृतप्रमाणलक्षणोपयोगितया करणसामान्यलक्षणानन्तरं तद्विशेषप्रमाणलक्षणमाह ❀ यदिति ❀ । कृत्यं पूर्ववत् । यच्छब्देन करणमुच्यते ? किमकरणम् ? आद्येऽसिद्धिः, द्वितीये व्याघात-

---

[आचार्य कुमारिल भट्ट के मतवाद में 'यजेत स्वर्गकामः'—इस वाक्य में 'काम्यतेऽसौ कामः, स्वर्गश्चासौ कामश्च स्वर्गकामः—इस प्रथमान्त पद को योग्यता और आकांक्षा के आधार पर द्वितीयान्त बनाकर 'यागेन स्वर्गफलं भावयेत्'—ऐसा शाब्द बोध स्वीकृत होता है, जिससे यागनिष्ठ स्वर्ग की करणता अभिहित होती है, किन्तु] आचार्य प्रभाकर मिश्र के सिद्धान्तानुसार 'स्वर्गं कामयते इति स्वर्गकामः'—इस व्युत्पत्ति को अपना कर यह पद कर्त्ता का समर्पक और 'यजेत'—में लिङ् नियोग या अपूर्व का बोधक माना जाता है, नियोग का स्वरूप बताते हुए श्री शालिकनाथ मिश्र ने कहा है—

कार्यमेव हि सर्वत्र प्रवृत्तावेककारणम् ।
प्रवृत्त्यव्यभिचारित्वाल्लिङाद्यर्थोऽवधार्यते ।।
क्रियादिभिन्नं यत्कार्यं वेद्यं मानान्तरैर्न तत् ।
अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते ।। (प्र० पं० पृ० ४४१)

इस प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः'—इस वाक्य का अर्थ होता है 'स्वर्गकामकर्तृकं यागजन्यं यागविषयकमपूर्वम्' । इससे यह नितान्त स्पष्ट हैं कि याग में स्वर्ग की करणता नहीं मानी जाती, अतः याग में करण-लक्षण की अव्याप्ति यद्यपि नहीं दिखाई जा सकती, तथापि "दर्शपूर्णमामाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"—यहाँ पर (१–२) द्वौ आग्नेयौ, (३) अग्निषोमीयः, (४) उपांशुयाजः, (५) ऐन्द्रं दधि तथा (·) ऐन्द्रं पयः—ये छः प्रधान याग हैं । वे सब समप्रधान होते हैं, अतः अङ्गाङ्गिभाव से परस्पर करणता सम्भव नहीं, क्षणिक होने के कारण मिल कर भी अपूर्व के प्रति करण नहीं बन सकते, अतः पूर्व-पूर्व याग के द्वारा जनित अपूर्व से विशिष्ट चरम (अन्तिम) याग में परमापूर्व की करणता अभ्युपगत होती है ।

(४) यद्वान् करोति तत्करणम्—

शङ्का—न्यायवार्तिककार कहते हैं –"यद्वान् करोति, तत्करणम् । यद्वानेव प्रमिमीते, तत्प्रमाणम्" (न्या. वा. पृ. १०) । कर्त्ता जिस कुठारादि साधन से युक्त होकर छिदादि क्रिया का निष्पादन करता है, उस कुठारादि साधन तत्त्व को करण और प्रमाता पुरुष जिस चक्षुरादि साधन की सहायता से घटादि का प्रमा ज्ञान करता है, उस चक्षुरादि साधन तत्त्व को प्रमाण कहा जाता है ।

मैवम् , आत्मधर्मप्रध्वंसादीनामकरणानां प्रमाणत्वप्रसङ्गात् ।

येन क्रियाकारणेन युक्त एव प्रमिमीत इति चेन्न, सुखादिप्रमितौ करणव्यापारस्यापि करणत्वप्रसङ्गात् । ओमिति चेन्न, अव्यापारतयाऽकारकत्वेन तद्विशेषकरणभावानुपपत्तेः ।

व्यापारवताऽपीति चेन्न, एवं हि व्यापारवत एव करणत्वं न स्यात् , न हि व्यापारवतस्तस्य व्यापारान्तरवत्ताऽस्ति ।

स्तथा विशेषाभिधानेऽननुगमः, सामान्यं त्वसिद्धं यच्छब्दवाच्यमिति दूषयति ※ मैवमिति ※ । अतिव्यापकत्वादपि नेदं लक्षणमित्याह ※ आत्मेति ※ । आत्मधर्मा ये क्षणिका बुद्ध्यादयस्तेषां प्रध्वंसानां क्रियां प्रति करणत्वं नास्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः ।

अतिव्याप्तिपरिहाराय लक्षणं विशिनष्टि ※ येनेति ※ । अतिव्याप्त्यैव दूषयति ※ नेति ※ । सुखादय आत्मगुणा आत्ममनःसंयोगात्प्रतीयन्ते तत्रात्मसंयुक्तं मनः करणं संयुक्तसमवायात्तत्प्रमितिसाधनत्वात्तस्य मनसो व्यापारः संयुक्तसमवाय इति इन्द्रियस्यार्थसंनिकर्षमात्रव्यापारत्वात्तस्यापि सुखादिप्रमितिकरणत्वं प्रसज्येत कथितलक्षणस्य तत्र भावादिति भावः । मनसा सुखादिसन्निकर्षः सुखादिप्रमितौ करणं नियमेन तत्प्रमातृविशिष्टत्वे सति क्रियाकारणत्वान्मनोवदिति शङ्कते ※ ओमिति ※ । हेतोर्विशेषणासिद्ध्या दूषयति ※ नेति ※ । मनःसन्निकर्षो न कारणं व्यापारहीनत्वाच्छशशृङ्गवद्व्यापारहीनश्च स्वयं व्यापारतया, व्यापारान्तरोपगमेऽनवस्थानादेवं च न तत्करणं तदकारकत्वाद्वस्त्वन्तरवदिति भावः । व्यापारवत्कारकं कारकविशेषश्च करणं मनःसंनिकर्षस्य निर्व्यापारतया कारकत्वानुपपत्तौ तद्विशेषकरणत्वानुपपत्तिरिति तत्रोक्तामतिव्याप्तिं परिहर्तुं विशेषणान्तरं शङ्कते ※ व्यापारेति ※ । येन व्यापारवता कारणेन युक्त एव प्रमिमीते तत्प्रमाणमिति विशिष्टलक्षणं तत्र नास्तीत्यर्थः । व्यापारवतेत्यत्र व्यापारविशिष्टस्य करणत्वमुच्यते व्यापारोपलक्षितस्येति विकल्प्य प्रथममसम्भवेन पराकरोति ※ नेति ※ । व्यापारवतापीति विशेषणोपादाने व्यापारवतः कुठारान्तःकरणादेरेव करणत्वे न स्यादिति वचः परस्परव्याहतमित्यत आह ※ न हीति ※ । व्यापारवतो व्यापारवत्ताऽस्ति ? न वा ? अस्ति चेत्तेनैव व्यापारेण ? व्यापारान्तरेण वा ? तेनैव चेदंशत आत्माश्रयः, अन्येन चेत्, क्वचिद्व्यापारविच्छेदे तत्रैवाव्याप्तिरविच्छेदेऽनवस्थाऽतोव्यापारवतो व्यापारवत्त्वं नास्तीति द्वितीयः परिशिष्यते ततोऽसम्भव इत्यर्थः । व्यापारविशिष्टं करणं न

समाधान—नैयायिकगण ध्वंस को नित्य मानते हैं, अतः किसी भी प्रमा ज्ञान से पूर्व प्रमाता (आत्मा) सुख, दुःखादि भङ्गुर पदार्थों के ध्वंसों से युक्त होता ही है, 'यद्वान् प्रमिमीते'—यहाँ 'यत्' पद से ध्वंस का भी ग्रहण किया जा सकता है, अतः ध्वंसादि अकरण पदार्थों में भी प्रमाण का उक्त लक्षण अतिप्रसक्त होता है ।

शङ्का—उक्त लक्षण में 'यत्' पद से प्रमा के कारण का ग्रहण किया गया है—प्रमा के जिस कारण से युक्त होकर प्रमाता व्यक्ति किसी विषय का प्रमा ज्ञान किया करता है, वह प्रमाण कहलाता है, ध्वंस पदार्थ किसी प्रमा का कारण नहीं माना जाता, अतः उसका न तो 'यत्' पद से ग्रहण होता है और न उसमें करणता का अतिप्रसङ्ग ।

समाधान—इस लक्षण के अनुसार भी सुखादिविषयक प्रमा की करणता करणीभूत मन के स्वसंयुक्तसमवायरूप व्यापार में अतिप्रसक्त होती है । उस व्यापार में करणता की इष्टापत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि वह स्वयं एक ऐसा व्यापार है, जो व्यापारान्तर से युक्त नहीं, व्यापाररहित पदार्थ को कारक ही नहीं माना जा सकता, करण मानना तो दूर रहा ।

शङ्का--उक्त लक्षण में 'यद्वान्' का अर्थ 'येन युक्तः' होता है, येन का 'व्यापारवता' विशेषण लगाकर 'येन व्यापारवता युक्तः सन् प्रमाता प्रमिमीते, तत्प्रमाणम्'—ऐसा लक्षण करने पर उक्त करणगत व्यापार में करणत्वापत्ति नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं व्यापार

अथ व्यापारवतो व्यापारांशमपहाय करणत्वम्, तत्र चास्त्येवेदं लक्षणम्। यस्य करणत्वमस्ति तस्य व्यापारवत्त्वमप्यस्तीति व्यापारवत् करणमुच्यत इति न, पटमुद्यम्य निपात्य च प्रक्षालयतः स कर्मैव हि करणं स्यात्।

किं च किं तस्य करणत्वमिति लक्ष्यीभूतस्य अवश्यवक्तव्यत्वात्। यद्युक्त-

---

ब्रूमः, किं तु तदुपलक्षितमुपलक्षणं चोपलक्ष्याद्वहिर्भवति तेन न गदितावद्यमिति द्वितीयमवलम्बते ❀अथेति❀। व्यापारस्योपलक्षणत्वाश्रवणे विशेषणपक्षात्को विशेष इत्यत आह ❀ तत्रेति ❀। लक्षणसत्त्वमभिनयेन दर्शयति ❀ यस्येति ❀। निगमयति ❀ व्यापारेति ❀। व्यापारलक्षितेन येन कारणेन युक्त एव करोति तत्करणमित्येतल्लक्षणं क्रियाकर्म्मणोऽपि करणत्वापातादिति दूषयति ❀ नेति ❀। उद्यम्य निपात्य च पटं प्रक्षालयतो रजकस्य या प्रक्षालनक्रिया तत्प्रति कर्म्मकारकं स पट एव करणं स्यान्न च कर्म्मणः करणत्वं तदुचितव्यवहारस्य कर्म्मणि कस्यचिददर्शनादिति पुरा निरधारीत्यर्थः।

एवं करणलक्षणं परास्य संप्रति कस्येदं लक्षणमिति लक्ष्यं पक्षीकृत्य तद्धर्म्मतया लक्षणोक्तिः क्रियते तथा च किं तल्लक्ष्यमिति पृष्टे तद्वक्तव्यमन्यथाऽऽश्रयासिद्धेर्लक्षणस्येत्याह ❀ किं चेति ❀। लक्षण-

---

है, व्यापारवान् नहीं, उसका भी व्यापारान्तर मानने पर अनवस्था हो जाती है।

समाधान—करण के लिए व्यापारवत्ता का होना अनिवार्य बताया गया किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि उद्यमन-निपातनादि व्यापार से युक्त कुठार को करण माना गया है, उस विशिष्ट पदार्थ में करणता का निर्वाह तभी होगा, जब कि व्यापार-विशिष्ट कुठार में व्यापारान्तर उपलब्ध हो [जैसे निर्व्यापार कुठार व्यापारवान् होता है, वैसे व्यापारवान् कुठार व्यापारवान् नहीं हो सकता, अन्यथा कुठार में दो व्यापारों की उपलब्धि होनी चाहिए। आचार्य नागार्जुन ने भी ऐसी ही पहेली उपस्थित की है—

"गन्ता न गच्छति तावदगन्ता नैव गच्छति।
अन्यो गन्तुरगन्तुश्च कस्तृतीयो हि गच्छति॥
गमने द्वे प्रसज्येते गन्ता यद्युत गच्छति।
गन्तेति चोच्यते येन गन्ता सन् यच्च गच्छति॥" (म० शा० पृ० ३५,३६)

'गन्ता गच्छति ? अगन्ता वा गच्छति ?' इस प्रश्न के उत्तर में 'अगन्ता गच्छति'—ऐसा कहना वदतो व्याघात है, क्योंकि जो अगन्ता (पङ्गु) है, वह गमन कैसे करेगा ? और गन्ता गच्छति'—ऐसा तभी कहा जा सकता है, जब कि 'गमन' क्रियायें दो हों—एक गमन पुरुष को गन्ता (गमन-विशिष्ट) बनाने के लिए और दूसरा गमन 'गच्छति'—इस प्रयोग का सम्पादन करने के लिए। इस प्रकार 'गन्ता गच्छति'—इस वाक्य का अर्थ होता है-- 'गमनवान् गमनवान्' या 'गमन-विशिष्टो गमन-विशिष्टः'। द्वितीय गमन क्रिया प्रथम गमन से अभिन्न है ? या भिन्न ? यदि अभिन्न है, तब आत्माश्रय और भिन्न मानने पर अन्योऽन्याश्रय, चक्रक और अनवस्थादि दोष प्रसक्त होते हैं। ठीक उसी शैली का अनुसरण करते हुए श्रीहर्ष मिश्र ने भी करण पदार्थ की व्यापारवत्ता को असम्भावित ठहराया है। कार्यकारणभाव की समग्र व्यवस्था को ही श्री नागार्जुन ने असमञ्जसता के महासागर में डुबा दिया है—

क्रिया न प्रत्ययवती नाप्रत्ययवती क्रिया।
प्रत्यया नाक्रियावन्तः क्रियावन्तश्च सन्त्युत॥ (म० शा० पृ० २७)]।

सव्यापार कुठाररूप करण में 'व्यापारवत्त्व' लक्षण अव्याप्त है।

यदि कहा जाय कि व्यापारांश को छोड़ कर केवल कुठार को करण कहा जाता है, उसमें व्यापारवत्ता का सामञ्जस्य हो जाता है। जिसमें करणता है, उसमें व्यापारवत्ता है, अत एव उसे व्यापारवान् करण कहा जाता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि जहाँ कोई

लक्षणवत्त्वमेव तत् स्यात्, तदाऽऽत्माश्रयापातः स्यात्। स्वरूपमिति चेन्न, स्वरूपस्य प्रतिकरणं भिन्नतया एकपरित्यागेन अपरत्र लक्षणं गतमित्यतिव्यापकं स्यात्, न हि चक्षुषः स्वरूपं श्रोत्रस्येति।

किञ्च—एवमिन्द्रियादेः प्रमाणत्वं न स्याद्, अतद्वतोऽप्यनुमात्रादेः प्रमा-

मिति लक्ष्यीभूतस्य लक्ष्यस्येति यावत् किं त्वदुक्तलक्षणविशिष्टं लक्ष्यं किं वा लक्षणांशमपहाय स्वरूपमात्रमिति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ यदीति ❀। तदाऽपि किं लक्षणं लक्ष्ये वर्तते? उत न? न चेदलक्षणं स्यात्। वर्तते चेत्तत्राह ❀ तदेति ❀। तर्हीति यावत्। लक्ष्यं करणमुक्तलक्षणविशिष्टमेव विशेषणविशेष्यतत्संसर्गमात्रमतश्च स्वविशिष्टे स्वयं वर्त्तते इत्यंशत आत्माश्रय इत्यर्थः। यस्येतल्लक्षणवैशिष्ट्यं तत्स्वरूपमात्रस्य तल्लक्ष्यत्वान्न तत्र लक्षणवृत्तावात्माश्रय इति द्वितीयं शङ्कते ❀ स्वेति ❀। सकलकरणस्वरूपसङ्ग्राहकरूपान्तरक्रोडीकृतस्वरूपाणां प्रत्येकं लक्ष्यत्वमुत प्रतिकरणं भिन्नभिन्नरूपेणाऽऽद्ये तदेव रूपान्तरं लक्षणमस्तु व्यर्थोऽयमुपन्यास इति बहिरेकं दूषयित्वा द्वितीयं प्रत्याह ❀ नेति ❀। प्रतिकरणं भिन्नस्वरूपाणां सम्भूय लक्ष्यत्वे न क्वापि। प्रत्येकं लक्ष्यत्वे नयनादिस्वरूपपरित्यागेन श्रोत्रादिस्वरूपे लक्षणगमनादतिव्याप्तिरिति यावत्। चक्षुःस्वरूपस्य लक्ष्यत्वेऽपि लक्षणस्य श्रोत्रे प्रवृत्तिर्न दोषाय तयोः स्वरूपस्यैक्यावित्यत आह ❀न हीति❀। न हि चक्षुःस्वरूपं श्रोत्रस्यास्ति तयोरैक्यापातादिति शेषः। उपलक्षणं चेतद् गंधवती पृथिवीत्यादिलक्षणसाधारणत्वात्।

यद्वानेव प्रमिमीत इत्येवकारेण प्रमाणस्य प्रमात्रव्यभिचार उच्यत इति वाच्यमन्यथा वस्त्रादावतिव्याप्तेर्यद्वान्प्रमिमीत एवेति लक्षणस्याभावादेव चाव्यापकमित्याह ❀किं चेति❀। इन्द्रियादेरित्यादिशब्देन लिङ्गादि गृह्यतेऽनुमात्रादेरित्यादिपदेन प्रत्यक्ष[illegible]ात्रादि गृह्यते। इन्द्रियव्यापारादिव्यतिरेकेणानुमानादिप्रमा जायते लिङ्गादिव्यापारव्यतिरेकेणापि प्रत्यक्षप्रमाऽतो यद्वानेव प्रमिमीत इति लक्षणमिन्द्रियादावव्यापकमित्यर्थः।

व्यक्ति सीधे कुठार पर काष्ठ को पटक-पटक कर तोड़ रहा है या वस्त्र को पाटे पर पछाड़-पछाड़ कर धो रहा है, वहाँ काष्ठ और वस्त्रादिरूप कर्म कारक में व्यापारवत्त्वरूप करणत्व अतिप्रसक्त होता है।

जिस लक्ष्यभूत करण का यह लक्षण किया जा रहा है, उस करण में करणत्व (लक्ष्यतावच्छेदक) क्या है? क्या (१) लक्षणवत्त्व ही लक्ष्यतावच्छेदक है? अथवा लक्ष्य का स्वरूप? प्रथम कल्प के अनुसार 'कस्येदं लक्षणमुच्यते? इस प्रश्न का उत्तर होता है—'लक्षणवतो लक्षणमिदम्।' लक्षण की निरुक्ति में लक्षण की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होता है। यदि लक्ष्य का स्वरूप ही लक्ष्यतावच्छेदक है, तब स्वरूप प्रत्येक करण का भिन्न-होता है, लक्षण एक है, अतः वह यदि चक्षुस्वरूप का लक्षण है, तब उसकी श्रोत्रादि में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि चक्षु का जो स्वरूप है, वह श्रोत्र का नहीं हो सकता। [लक्ष्य-लक्षणभाव का निराकरण श्री नागार्जुन के शब्दों में इस प्रकार है—

अलक्षणो न कश्चिच्च भावः संविद्यते क्वचित्।
असत्यलक्षणे भावे क्रमतां कुह लक्षणम्॥
लक्षणासंप्रवृत्तौ च न लक्ष्यमुपपद्यते।
लक्ष्यस्यानुपपत्तौ च लक्षणस्याप्यसम्भवः॥ (म० शा० पृ० ५३४)

लक्षण-रहित भाव का लोक में अस्तित्व नहीं माना जा सकता। जब लक्षण-रहित (अलक्षण) वस्तु है ही नहीं, तब लक्षण किसका होगा? लक्षण की प्रवृत्ति न हो सकने पर लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। लक्ष्य की सिद्धि न होने पर लक्षण भी अनुपपन्न हो जाता है]।

'यद्वानेव प्रमिमीते, तत्प्रमाणम्'—यह लक्षण विशेष प्रमा के इन्द्रियादि करणों में अव्याप्त है, क्योंकि अनुमित्यादि परोक्ष प्रमा ज्ञानों में इन्द्रियों को करण नहीं माना जाता,

तृत्वात्। नासौ प्रत्यक्षमिति चेन्न, नेदमपि हि प्रत्यक्षमात्रस्य लक्षणं भवता क्रियते।

ननु यद्यपीन्द्रियादेर्विशेषतो व्यावृत्तिस्तदपि तज्जातीयकरणमात्रतया तज्जातीयमात्रस्य अव्यावृत्तिरेव। न ह्यनुमित्यादावपि अकरणजातीयवान् प्रमिमीते इति। न, करणतया साधारणभावस्याद्याऽपि निर्णेतुमशक्यत्वात्।

अथ यां प्रमां यद्वानेव जनयति, तस्यां तत्करणमिति। मैवम्, कौपीनाच्छाद-

इन्द्रियव्यापारस्यानुमात्रादिव्यभिचारेऽपि प्रत्यक्षप्रमात्रव्यभिचारात्प्रमाणत्वमिति शङ्कते ॐनेतिॐ। सामान्यलक्षणे विशेषाव्यभिचारोऽकिञ्चित्कर इति परिहरति ॐनेतिॐ। यच्छब्देन करणमात्रमभिधाय तस्य प्रमिमीत इति प्रमातृमात्रव्यभिचार उच्यते सामान्यलक्षणत्वात्तच्च नेन्द्रियादौ तद्धीनस्याप्यनुमात्रादित्वादित्यर्थः। यद्वानेव प्रमिमीत इति यज्जातीयवानेव यां कांचित्प्रमां करोतीत्यर्थत इन्द्रियादेर्विशेषरूपात् व्यावृत्तावपि करणत्वोपाधौ प्रमात्रव्यभिचारान्नाव्याप्तिरिति चोदयति ॐ नन्विति ॐ। तदपि तथाऽपीति यावत्। तज्जातीयमात्रस्याव्यावृत्तिः करणत्वाक्रान्तरूपस्यानुगमः। हेतुमाह ॐतज्जातीयकरणमात्रतयेतिॐ। प्रमाजातीयकरणमात्रत्वादित्यर्थः। इन्द्रियव्यापारविरहवत् करणमात्ररहित एवानुमात्रादिर्भवति, तेन न सामान्येनाप्यनुगम इत्याशङ्क्यानुमित्यादावपि करणमात्ररहितो न प्रमां करोतीत्याह ॐ न हीति ॐ। कथमसिद्धेन करणत्वोपाधिना लक्षणस्यानुगमयितासीति परिहरति ॐ नेति ॐ। करणत्वे सिद्धे तदुपाधावनुगतलक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च करणत्वसिद्धिरिति परस्पराश्रय इत्यर्थः।

यद्वानेव प्रमिमीत इति लक्षणमव्याप्तिपरिहाराय विशिनष्टि ॐ अथेति ॐ। प्रतिप्रमाव्यक्ति तत्तत्करणविशेषवत्त्वं विवक्ष्यते यस्यां प्रमायां यस्यान्वयो दृश्यते तत्करणमित्यतो नाव्याप्तिरित्यर्थः। यस्यामिति प्रमाव्यक्तिरुच्यते किं वा यज्जातीयप्रमायां यस्यान्वयो दृश्यते तत्र तत्करणमिति, नाद्योऽतिव्यापकत्वादित्याह ॐ मैवमिति ॐ। कौपीनं गुह्यं तदाच्छादनं पटः उक्तं हि "अकृत्यगुह्ये कौपीनं कीलालं रुचिरं जलम्"—इति कौपीनाच्छादनादेरपि कस्यांचित्प्रमाव्यक्तावन्वयो दृश्यत इति तस्य तत्र करणत्वं

अतः वहाँ प्रमाता (अनुमाता) के लिए इन्द्रियवान् होना आवश्यक नहीं। 'अनुमिति ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा नहीं माना जाता, अतः उसके लिए प्रमाता का इन्द्रियवान् होना आवश्यक ही नहीं, उनमें अव्याप्ति क्यों होगी ?'—ऐसी शङ्का तब की जा सकती थी, जब कि उक्त लक्षण केवल प्रत्यक्ष प्रमाण का किया जाता, किन्तु समस्त प्रमाणों (प्रमा-करणों) का जब यह लक्षण है, इस के अनुसार सभी प्रमा ज्ञानों में सभी प्रमाणों को व्यभिचरित नहीं होना चाहिए, व्यभिचरित होने पर अव्याप्ति निश्चित है।

शङ्का—'यद्वानेव प्रमिमीते'—यहाँ पर 'यत्' पद से किसी करण-विशेष का ग्रहण नहीं, अपितु करणजातीय किसी भी करण से युक्त होना चाहिए। अनुमिति-स्थल पर इन्द्रिय नहीं तो लिङ्ग-परामर्श, उपमिति-स्थल पर सदृश-दर्शन, शाब्द-स्थल पर पद-ज्ञानादि प्रमाण हैं ही। सामान्य प्रमा में सामान्य प्रमाण का व्यभिचार नहीं, अतः अव्याप्ति क्यों होगी ?

समाधान—उक्त लक्षण में 'यत्' पद से प्रमा के किसी एक करण का ग्रहण न कर करणजातीय पदार्थों का ग्रहण तभी किया जा सकता था, जब कि सामान्य करणता का ज्ञान हो जाता किन्तु 'करण' पदार्थ का निर्णय अभी तक नहीं हो सका है।

शङ्का—प्रमा के करण सामान्य का लक्षण यदि नहीं, तो विशेष का लक्षण हो ही सकता है—'यां प्रमां यद्वानेव प्रमाता जनयति, तस्यां तत्करणम्'। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा की करणता इन्द्रियों में और अनुमित्यादि की करणता लिङ्ग-परामर्शादि में निर्णीत हो जाती है, किसी प्रकार की अव्याप्ति नहीं होती।

समाधान—इस प्रकार तो जहाँ कोई परिव्राजक कौपीन-वस्त्र धारण कर कोई प्रमा उत्पन्न करता है, वहाँ उस प्रमा की करणता उसके कौपीन-वस्त्र में भी घट जायगी। उससे

नादेरपि करणत्वप्रसङ्गात्। यज्जातिकामिति चेत्, मैवम्, परोक्षत्वजातिकां प्रमां लिङ्गवानेव शब्दवानेव वा जनयतीति नियमाभावात् तस्याकरणत्वप्रसङ्गात्।

साक्षात्कारित्वानुमितित्वादयो जातिभेदा विवक्षिता इति चेन्न, प्रत्येकमुपादाने अंशाव्याप्तेः। सम्भूयोपादाने सर्वाव्याप्तेः। अनियमेनोपादाने च लक्षणाननुगमापातादिति।

यदभावात् कर्तृकर्मणी क्रियां न जनयतः, तत्करणम्। तेन यदभावात् प्रमातृ-

---

स्यादित्यर्थः। यज्जातीयप्रमायां यस्यान्वयस्तत्करणमिति गदितावद्यपरिहाराय द्वितीयमाशङ्कते ॐयदितिॐ। कौपीनाच्छादनादिमान्यद्यपि कांचित्प्रमां करोति तथाऽपि तद्वानेव तज्जातीयसर्वप्रमां न जनयति तदभावेऽपि दर्शनादिहेतुतया भावस्य विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। यज्जातीयामिति परोक्षजातीयामपरोक्षजातीयां -चेति विवक्षितम्? उत साक्षात्कारित्वानुमितित्वादिजातीयां वेति विकल्प्याऽऽद्यमव्याप्त्या दूषयति ॐ मैवमिति ॐ। परोक्षजातीयप्रमानिष्पादकस्य शब्दवत्त्वं लिङ्गवत्वं वेति नियमाभावाल्लिङ्गादेरकरणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। न च परोक्षजातीयप्रमानिष्पादने लिङ्गाद्यन्यतमनियमात्तस्य करणत्वमिति वाच्यम्। अन्यतमार्थव्यावृत्याऽव्याप्तितादवस्थ्यात्साक्षात्कारिजातीयां यद्वानेव जनयति तत्तत्र करणमेवमनुमितिजातीयां यद्वानेव जनयति तत्तत्र करणमेवमुपमितित्वादावपीति द्वितीयं शङ्कते ॐसाक्षादितिॐ। साक्षात्कारित्वादिजातिभेदाः प्रत्येकमुपादीयन्त? उत सम्भूय? उतानियमेनेति? न तावदाद्योऽव्याप्तेरित्याह ॐ नेति ॐ। साक्षात्कारिजातीयां यद्वानेव जनयति तत्प्रमाणमित्यादि प्रत्येकोपादाने लक्षणं तच्च नानुमानादावित्यव्याप्तिरिति यावत्। द्वितीयमसम्भवेन दूषयति ॐ समिति ॐ। यद्वानेव साक्षात्कारित्वादिसर्वजातीयां प्रमां करोति तत्प्रमाणमित्यर्थः स्यान्न चैतादृक् किंचिदस्तीति सर्वाव्याप्तिरसम्भव इत्यर्थः। तृतीयं प्रत्याह ॐ अनियमेनेति ॐ। यदाकदाचिद्यत्किञ्चिद्वान् यां कांचित्प्रमां जनयति तत्प्रमाणमित्यर्थः स्यात् न चैतल्लक्षणं व्याप्नोति यदेत्यादिविशेषणस्य व्यावृत्तार्थत्वादित्यर्थः।

व्यतिरेकमुखेन करणसामान्यस्य लक्षणमुपन्यस्यति ॐ यदिति ॐ। यत् क्रियां न जनयति तत्कर-

---

जब कोई नैयायिक उस प्रमा का करण पूछेगा, तब वह धारण किए हुए कौपीन-वस्त्र की ओर संकेत करके कह देगा—यह प्रमाण है।

शङ्का—'यज्जातिकां प्रमां यद्वानेव करोति, तस्यां तत्करणम्'—उक्त लक्षण का ऐसा परिष्कार करने पर कौपीनाच्छादन में अतिप्रसङ्ग नहीं होता, क्योंकि वह किसी एक प्रमा व्यक्ति में कारण बन गया, उस प्रकार की सभी प्रमाओं की उत्पत्ति में कौपीनाच्छादन की अपेक्षा नहीं होती।

समाधान—कतिपय परोक्ष प्रमा व्यक्तियाँ ही लिङ्ग-परामर्श, सदृश-दर्शन, पद-ज्ञानादि से उत्पादित होती हैं, परोक्षत्वजाति-समन्वित सभी परोक्ष प्रमाओं में लिङ्ग-परामर्शादि अपेक्षित नहीं होते, अतः उनमें अकरणत्व-प्रसक्ति होती है। यदि परोक्षत्व जाति को माध्यम न बनाकर 'साक्षात्कारित्व', 'अनुमितित्व', 'उपमितित्व' और 'शाब्दत्व' का ही ग्रहण किया जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि उनमें से प्रत्येक जाति का ग्रहण अभीष्ट है? या सभी जातियों के समूह का? प्रत्येक का ग्रहण करने पर प्रमाणान्तर में अव्याप्ति होती है, क्योंकि 'यद्वानेव साक्षात्कारिणीं प्रमां जनयति, तत् करणम्'—यह लक्षण लिङ्ग-परामर्शादि में नहीं जा सकता। साक्षात्कारित्वादि सभी जातियों का ग्रहण कर 'साक्षात्कारादिसमस्तप्रमा यद्वान् करोति, तत् प्रमाणम्'—ऐसा लक्षण करने पर सभी प्रमाओं में अव्याप्ति अर्थात् असम्भव हो जाता है, क्योंकि किसी एक प्रमा में सभी करण अपेक्षित नहीं होते। अनियमतः यत्-तदादि पदों से घटित लक्षण करने पर अननुगम दोष हो जाता है।

(५) यदभावात् कर्तृकर्मणी क्रियां न जनयतः, तत्करणम् —

'करण' पदार्थ की इस निरुक्ति के अनुसार न्यायवार्तिककारने जो प्रमाण का लक्षण

प्रमेये प्रमां न जनयतः, तत्प्रमाणमिति लक्षणमित्यपि न युक्तम्, किं प्रमातृप्रमेये सती यत्र न जनयतः उताऽसती अपि ? आद्ये अतीतानागतानुमानादिकरणाऽव्याप्तिः। नापि द्वितीयः, प्रमातृप्रमेययोरपि प्रसङ्गात्। यथा हि तत्र चक्षुराद्यभावात् प्रमा न जायते, तथा प्रमातृप्रमेययोरप्यभावात्, अन्यथा तयोः कारणत्वमेव न स्यात्।

णमित्युक्ते क्रियायामेवातिव्याप्तिरसम्भवो वा तद्व्यावृत्त्यर्थं यदभावादित्युक्तम्। यदभावात् क्रिया न जायते तत्करणमित्युक्ते कर्त्तर्यतिव्याप्तिस्तन्निवारणाय कर्त्रिति विशेषणम्। यदभावात्कर्ता क्रियां न जनयतीत्युक्ते कर्मण्यतिप्रसक्तिस्तन्निरासाय कर्म्मेति। एवं करणसामान्यमुपन्यस्य सामान्यज्ञानपुरस्सरत्वाद्विशेषज्ञानस्य तद्विशेषप्रमाणलक्षणं प्रकृतोपयोगितया दर्शयति ॐ तेनेति ॐ। यस्मात्कारणात्सामान्यस्यैतल्लक्षणं तेन हेतुना तद्विशेषप्रमाणस्यापि। प्रमातृप्रमेये यदभावात् प्रमां न जनयतः तत्प्रमाणमिति सम्बन्धः। प्रमातृप्रमेयप्रमाणानां कर्तृकर्म्मक्रियाविशेष्यत्वाद्विशेषणकृत्यं तु पूर्ववत्। यत्र दानक्रियाकर्त्ता दाता दीयमानं हिरण्यादिकर्म्म च संप्रदानकारकाभावे दानक्रियां न जनयत इति संप्रदाने करणलक्षणमतिव्यापकमिति हृदि निधाय दूषयति ॐ इत्यपीति ॐ। एवं करणसामान्यलक्षणमाशयवशान्निरस्य प्रमाणलक्षणं प्रतिक्षेप्तुं विकल्पयति ॐ किमिति ॐ। यत्रेति निमित्तसप्तमी। यदभावं निमित्तीकृत्य सती प्रमातृप्रमेये क्रियां न जनयतस्तत्करणमित्यर्थः। (विरोध्यनेकप्रकारसंभवेऽपि विकल्प इति) प्रकारान्तरमाह ॐ उतेति ॐ। यथा करणत्वाभिमतयच्छब्दाभिधेयोऽसत्तथा प्रमातृप्रमेये अपीति समुच्चयार्थोऽपिशब्दः। प्रमातृप्रमेयसत्त्वं प्रमाणलक्षणान्तर्गतमिति प्रथमकल्पं दूषयति ॐ आद्य इति ॐ। विशिष्टनदीपूरलिङ्गेनाभूद् वृष्टिरिति वा विशिष्टमेघोदयदर्शनाद्भविष्यति वृष्टिरित्यनुमाने यत्करणं नदीपूरदर्शनादि तत्राव्याप्तिः सती प्रमातृप्रमेये इत्यंशस्याभावात् प्रमातुः सत्त्वेऽपि प्रमेयासत्त्वेन तद्द्वयसत्त्वस्य विशेषणस्याभावादिति भावः। आदिपदेन क्वचिद्वर्त्तमानेऽप्यभावानुमानं दर्शयति यथा कदलीपक्वे क्षाराभावस्य। तर्हि तयोरसतोर्यदभावात्प्रमाजनकत्वं तत्प्रमाणमिति द्वितीयोऽस्तु तत्राह ॐ नेति ॐ। अव्याप्त्यभावेऽप्यतिव्याप्तिरित्याह ॐ प्रमात्रिति ॐ। प्रमात्रादौ कथितलक्षणसत्त्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ॐ यथेति ॐ। हीत्यनुभवप्रकटनम्। तत्र-प्रमाणभूमाविति यावत्। यदभावात्प्रमाजनकत्वमिति लक्षणं प्रमेयादावस्ति प्रमातृप्रमेययोरसतोः स्वाभावादप्यजनकत्वादित्यर्थः। प्रमेयाद्यभावो न प्रमाभावव्याप्त इन्द्रियाजन्याभवत्वाद्व्यक्ति-

---

किया है—"यस्य चाभावात् प्रमातृप्रमेये न प्रमां कुरुतः, सोऽतिशयः" (न्या० वा० पृ० १०)। अर्थात् जिस पदार्थ के विना प्रमाता और प्रमेय—ये दोनों प्रमा ज्ञान को उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होते, उस पदार्थ को प्रमाण कहा जाता है। चक्षुरादि इन्द्रियों के विना प्रत्यक्ष प्रमा, लिङ्गपरामर्श के बिना अनुमिति प्रमा, सदृश-दर्शन के विना उपमिति प्रमा और पद-ज्ञान के विना शाब्द प्रमा नहीं हो सकती, अतः इन्द्रियादि चारों पदार्थों को प्रमाण माना जाना अत्यन्त समुचित है।

वह न्यायवार्तिककार का लक्षण भी समुचित नहीं, क्योंकि उक्त लक्षण में कर्त्ता और कर्म—दोनों सद्भूत ही अपेक्षित हैं ? या असत् भी ? प्रथम कल्प के अनुसार अतीत और भाविवस्तु के अनुमान प्रमाणों में अव्याप्ति होती है, क्योंकि वर्षादि प्रमेय के वर्तमान काल में सत् न होने के कारण 'सद्भूते प्रमातृप्रमेये'—ऐसा नहीं कहा जा सकता। द्वितीय कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि इस कल्प के अनुसार उक्त अव्याप्ति न होने पर भी प्रमातादि में प्रमाकरणत्व की अतिव्याप्ति हो जाती है। यह निश्चित है कि कारण-समूह के विना कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता, अतः जैसे चक्षुरादि करण कारक के विना प्रत्यक्षादि प्रमा उत्पन्न नहीं होती, वैसे ही प्रमाता और प्रमेय के विना भी प्रमा नहीं हो सकती, अन्यथा उनको कारण भी कौन कहेगा ? कर्त्ता और कर्म के लिए सत् या असत् कुछ भी न कह कर सामान्यतः 'प्रमातृप्रमेये'—ऐसा कहने पर भी यह पूर्वोक्त अतिव्याप्ति दोष बना रहता है।

एतेन सामान्यतोऽभिधानं प्रत्युक्तम्, अस्मदादिकर्तृसापेक्षेश्वरकर्तृके च अस्मदादिज्ञाने अस्मदादिकर्तृकरणतापत्तेः। एवञ्च सति प्रकारभेदेनापि प्रमाणप्रमात्रादिव्यवस्थासमर्थना कृता न स्यात्, येनैव रूपेण कर्तृत्वादिना तस्य प्रमायामन्वयस्तेनैव तद्व्यतिरेकस्य प्रमानुत्पत्तौ प्रयोजकत्वादिति।

चरमव्यापारवत्त्वं करणत्वमित्यपि न, व्यापाराभावात् लिङ्गपरामर्शस्याकरण-

---

त्विवभाववदित्याशंक्याह ❀ अन्यथेति ❀। अन्वयव्यतिरेकगम्यत्वात्कार्यकारणभावस्य व्यतिरेकाभावे न स्यादित्यर्थः। अदृष्टादिसाधारणनिमित्तेऽतिव्याप्तिरिति केचित्। तदसत्, व्यतिरेकस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। सतो अपि नोच्यते नाप्यसतो इति किंतु प्रमातृप्रमेये यदभावात्प्रमां न जनयत इति सामान्येनाभिधीयते इत्यत आह ❀एतेनेति❀। प्रमातृप्रमेययोः स्वाभावादप्यजनकत्वादतिव्यापकतेत्यर्थः। अतिव्याप्त्यन्तरमाह ❀ अस्मदादीति ❀। अस्मदादिकर्तृकरणतापत्तेः अस्मदादिश्चासौ कर्ता चेत्यस्मदादिकर्त्ता तस्य करणता तदापत्तेरित्यर्थः। उपपादयति ❀ अस्मदादीति ❀। ईश्वरः कर्ता यस्य तदीश्वरकर्तृकं अस्मदादिकर्तृसापेक्षं च तदीश्वरकर्तृकं चेति तथोक्तमेतदुक्तं भवति ईश्वरस्तावत्सर्वकर्तृत्वादस्मदादिज्ञानस्यापि कर्ता अस्मदादिश्च तत्र कर्ता तथा च ज्ञानाश्रयास्मदादिव्यतिरेकेण प्रमेयेश्वरो तत् ज्ञानं न जनयत इत्यस्मदादेस्तत्कर्तुः करणत्वं प्रसज्येत, तदयुक्तं प्रधानक्रियाश्रयस्य कर्तुरन्यस्याभावादिति। द्विकर्तृकं तत् ज्ञानं तत्रास्मदादिजन्यत्वाकारेण कर्तृत्वमीश्वरसाध्यत्वाकारेण करणत्वमित्याकारभेदेनोभयत्वमपीत्यत आह ❀एवमिति❀। व्यतिरेकद्वारा कारणत्वावधारणे सति प्रकारभेदेनापि प्रमात्रादिव्यवस्थायाः समर्थनं न कृतं स्यादित्युक्तं तत्र हेतुमाह ❀ येनेति ❀। येन रूपेण तस्यास्मदादेः कर्तृत्वादिना प्रमायामन्वयः समवायित्वं तेनैव रूपेण प्रतियोगितानिरूपितस्य व्यतिरेकस्याभावस्य प्रमानुत्पत्तिप्रयोजकत्वात्साङ्कर्यमित्यर्थः।

लक्षणान्तरमनूद्य दूषयति ❀ चरमेति ❀। चरमो व्यापारो यस्य स चरमव्यापारस्तद्भावस्तत्त्वम्,

---

इतना ही नहीं, अपितु जो जीव अपने ज्ञान का कर्त्ता कारक है, वह भी इस लक्षण के अनुसार उस ज्ञान का करण बन जायगा, क्योंकि आप (नैयायिकों) के मत में ईश्वर कार्यमात्र का कर्त्ता माना गया है, वह अस्मदादि (जीवों) के ज्ञान का भी कर्त्ता है, किन्तु जीवों के न होने पर जीवकर्तृक ज्ञान का कर्त्ता (प्रमाता) नहीं हो सकता, अतः नित्य सापेक्ष होने के कारण जीव भी अपनी प्रमा का करण हो जायगा। एक ही ज्ञान के दो कर्त्ता हैं— (१) जीव और (२) ईश्वर। जिस समय जो जीव जिस ज्ञान का कर्त्ता है, उसी समय वह उसी ज्ञान का करण भी है, अतः 'देवदत्तो घटं जानाति'—इस प्रयोग के समय ही ईश्वरो देवदत्तेन घटं जानाति'—ऐसा प्रयोग होना चाहिए। 'देवदत्त' पद के उत्तर 'प्रथमा' और 'तृतीया'—दोनों विभक्तियाँ युगपत् प्राप्त होती हैं, जो कि व्याकरण-नियम के विरुद्ध है।

जीव को उसी ज्ञान का समवायित्वेन कर्त्ता और निमित्तत्वेन करण मान कर भी व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि जीव का जिस (कर्तृत्वादि) रूप से प्रमा में अन्वय होता है, उसी रूप से उसके अभाव का प्रमा के अभाव में अन्वय होगा, अतः कर्तृत्व (समवायित्व) ही प्रमाभाव के प्रयोजकीभूत अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक होता है, फलतः जैसे विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति के भय से 'सोमेन यागम्, यागेन फलं भावयेत्'—ऐसा अन्वयबोध नहीं होता, वैसे ही 'देवदत्तो घटम्, ईश्वरो देवदत्तेन घटं प्रमिमीते'—ऐसी अन्वयप्रमा नहीं हो सकती।

(६) चरमव्यापारवत्त्वं करणत्वम्—

न्यायवार्तिककार ने साधकतमत्त्व का अर्थ करते हुए कहा है—"संयोगवच्चरमभाविता वा। यथा संयोगः पश्चाद्भावी द्रव्यशक्तिर्भवति, तथा प्रमाणं चरमभावि प्रमातृप्रमेययोः प्रमाशक्तिर्भवति" (न्या० वा० पृ० १०)। इसका तात्पर्य बताते हुए टीकाकार कहते हैं—

त्वापातात्। न च सविकल्पकव्यापारवतो निर्विकल्पकस्य तत्र प्रामाण्यम्, केवलविकल्पनीयलिङ्गविषये तदनुपपत्तेः। संस्कारादिपर्यन्तानुसरणे चानुमितेस्तज्जन्यत्वे प्रमाणाभावात्, कार्याहेतोश्च कारकाव्यापारत्वात्, अपि चाज्ञातकरणत्वापातात्।

चरमत्वं च व्यापारस्य सकलकारकव्यापारोत्तरकालभावित्वम्। कृत्यं लक्षणस्य स्पष्टम्। कुतो नेत्यत आह ❀ व्यापारेति ❀। व्याप्तस्य पक्षधर्मतयाऽनुसन्धानं लिङ्गपरामर्शः, स च व्यापारमन्तरेणानुमितिकरणं तत्रोक्तलक्षणाभावादव्याप्तिरित्यर्थः। लिङ्गविषयनिर्विकल्पकस्य सविकल्पकव्यापारवतोऽनुमितिकरणत्वान्नाव्याप्तिरित्यत आह ❀ न चेति ❀। कुतो नेत्यत आह ❀ केवलेति ❀। केवलं विकल्पस्य गोचरो लिङ्गं विषयो यस्य परामर्शस्य स तथोक्तस्तत्र लक्षणानुपपत्तेः व्यक्तिर्वाच्या प्रमेयत्वात्सामान्यवदित्यत्र प्रमेयत्वं प्रमाविषयत्वं तदप्रत्यक्षत्वात्केवलं विकल्पगोचरप्रत्यक्षविषय एव निर्विकल्पनियमादतश्च प्रमेयत्वविषयपरामर्शेऽनुमितिकरणेऽव्याप्तिरित्यर्थः। यत्र प्रमेयत्वादौ निर्विकल्पकं नास्ति तत्र संस्कार उद्बुद्धः स्मृतिर्वा व्याप्तिगोचरा विकल्पस्य व्यापारोऽस्तीत्यत आह ❀ संस्कारेति ❀। व्याप्तस्य पक्षधर्मतानुसन्धानादेवानुमित्युपपत्तौ न संस्कारादेस्तज्जनकत्वे प्रमाणमस्ति व्यतिरेकाभावादतश्च न संस्काराविः करणव्यापारः क्रियाऽजनकत्वात् क्रियावदित्यर्थः। संस्कारादिर्नानुमितिक्रियाहेतुरस्तु अस्तु च तत्करणव्यापारस्तथा च विपक्षबाधकाभावेनाप्रयोजकतेत्यत आह ❀ कार्येति ❀। तज्जन्यस्तत्कारणं व्यापार इति लक्षणोपगमादित्यर्थः। संस्कारादेरनुमितिकरणव्यापारत्वे दोषान्तरमाह ❀ अपि चेति ❀। इन्द्रियातिरिक्तं ज्ञानमेव प्रमाजनकमिति नियमः स न स्यात्संस्कारस्यास्तीन्द्रियतया तद्विशिष्टपरामर्शस्यातीन्द्रियत्वापातात्, स्मृतेश्च न प्रत्यक्षत्वं तद्विशेषणतया स्मर्यमाणस्यापि प्रत्यक्षत्वापातादित्यर्थः। सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानमिति स्वीकाराद् धूमादिलिङ्गमेव परामर्शव्यापारतयाऽनुमितिकरणमतो नोक्तदोष

"सेतिकर्तव्यताकं हि व्याप्रियमाणं करणम्, न तु चक्षुरादिस्वरूपम्। तच्च सिद्धमसिद्धं वा प्रमातृप्रमेयव्यापारस्य पश्चादेव तथात्वेन सम्पद्यते इति चरमभावीत्युच्यते। सोऽयमस्य चरमभावितातिशयः, यथा तन्तूनां पटे जनयितव्येऽन्त्याः संयोगभेदाः, यदनन्तरं पट उत्पद्यत एव" (ता. टी. पृ. ३८)। [दृष्टादृष्ट कारण-कलाप की सहायता से आत्मा में प्रयत्न, उत्पन्न होता है, प्रयत्न-विशिष्ट आत्मा का मन के साथ संयोग, उससे मन में क्रिया उत्पन्न होती है, क्रियाशील मन चक्षु इन्द्रिय से सम्पर्क स्थापित करता है, मनःसंयुक्त चक्षु विशेष दिशा में गतिशील होकर घट से संयोग स्थापित करता है, उसके पश्चात् घट का ज्ञान हो जाता है। सभी कारकों की व्यापार-परम्परा में यह संयोग वह चरम (अन्तिम) व्यापार है, जिसके अनन्तर घट-प्रमारूप फल निष्पन्न होता है, उस व्यापार का आश्रय है—चक्षु, अतः चरमव्यापारवाले उस चक्षु को घटादि की प्रमा का करण या प्रमाण कहा जाता है]।

न्यायवार्तिककार का उक्त लक्षण भी युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि अनुमिति के करणीभूत लिङ्ग-परामर्श में वैसा कोई व्यापार नहीं माना जाता, अतः उसमें लक्षण अव्याप्त है। 'निर्विकल्पात्मक लिङ्ग-परामर्शरूप करण का सविकल्पात्मक लिङ्ग-परामर्श व्यापार सुलभ है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अभाव, समवाय और सामान्यादि नित्य सापेक्ष पदार्थों का निर्विकल्पक बोध नहीं माना जाता, अतः अभावादिविषयक लिङ्ग-परामर्श नियमतः सविकल्पात्मक होता है, उसमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है। 'ऐसे स्थलों पर लिङ्ग-परामर्श से जन्य संस्कार को लिङ्ग-परामर्श का व्यापार माना जा सकता है'—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'लिङ्ग-परामर्श स्वयं नष्ट होकर जो संस्कार छोड़ जाता है, उससे वही अनुमिति उत्पन्न होती है'—इसमें कोई प्रमाण नहीं [अर्थात् जैसे स्वर्गादि का करणीभूत याग नष्ट होकर जो अपने संस्कार (अदृष्ट) छोड़ देता है, उससे स्वर्ग उत्पन्न होता है—इसमें "यजेत स्वर्गकामः"—इत्यादि विधि वाक्य जैसे प्रमाण माने जाते हैं, वैसे प्रकृत कार्यकारण-

न च लिङ्गमेव परामर्शव्यापारवत्तया करणमिति युक्तम्; अनुमितानुमानादौ परामर्शस्यालिङ्गजत्वेन तद्व्यापारवत्त्वानुपपत्तेः। आप्तोक्त्यादिभिः तत्रासीद् धूमः इति प्रतीत्य 'तदा तत्र वह्निरप्यासीदि'ति यदनुमानं तत्रासत्त्वाद् धूमस्य परामर्शव्यापारवत्तया करणताया दूरनिरस्तत्वात्।

इत्यत आह ※ न चेति ※। कुतो न युक्तमित्यत आह ※ अनुमितेति ※। रूपादिज्ञानलिङ्गेन चक्षुरादिरनुमीयते तेन च करणप्रेरकाधिष्ठितत्वमनुमीयते तत्रानुमितस्य चक्षुरादेः स्वविषयपरामर्शजनकत्वन्नास्ति प्रत्यक्षेतरप्रत्ययस्याकर्म्मजत्वादस्ति चानुमितिसाधनत्वमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। प्रत्यक्षमेव कर्म्मजन्यमिति नास्ति नियमोऽनुमानादिज्ञानमपि कर्म्मजं प्रमात्वात्प्रत्यक्षवदित्यनुमानादित्याशंक्याह ※ आप्तेति ※। आदिपदेन गृहान्तर्गतमणीसम्पर्कानुपपत्तिरूपार्थापत्तिरुच्यते। नियतप्राक्सत्त्वं कारणत्वं न च तदसतो धूमादेरस्तीत्याशयः।

चरमव्यापारवत्त्वमित्यत्र व्यापारवत्त्वप्रयुक्तं दूषणमुक्त्वा व्यापारस्य चरमत्वप्रयुक्तं दर्शयति ※ किं चेति ※। यत्किञ्चित्कारकव्यापारापेक्षया चरमत्वमुत सर्वकारकव्यापारापेक्षया ? आद्येऽतिव्याप्तिरित्याह ※ यदिति ※। कर्त्रादीनामपि यत्किञ्चित्कारकव्यापारापेक्षया चरमत्वमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीये तु लक्षणस्यासिद्धिः सर्वकारकमध्ये करणस्यापि निविष्टत्वात्तदपेक्षया तस्य चरमत्वासिद्धेरित्यर्थः। स्वेतरसकलकारकव्यापारापेक्षयेति चेन्न, स्वशब्देन कर्त्रादीनामभिधातुं शक्यतयाऽसिद्धेरपरिहारात्। करणेतरकारकापेक्षयेति चेन्न, तस्यैवानिरुक्तेरात्माश्रयादित्याशयः। शङ्कते ※ कर्त्रिति ※। कारकव्यापाराणां यत्किञ्चिद्व्यापारमपेक्ष्य चरमत्वं नोच्यते नापि सर्वकारकव्यापारापेक्षया किं तु कर्तृव्यापारापेक्षया यस्य व्यापारश्चरमस्तत्करणमित्यर्थः। व्यापारानाविष्टकर्तृस्वरूपमपेक्ष्य चरमत्वमुत व्यापाराविष्टस्वरूपमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ※ नेति ※। कर्तृस्वरूपमात्रापेक्षया चरमत्वं कर्तृव्यापारस्यैवास्ति तज्जन्यत्वादतश्च व्यापारवति कर्तर्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। व्यापारवत्कर्तृरूपमपेक्ष्य चरमव्यापारवत्वं तत्त्वमिति द्वितीयं दूषयति ※ व्यापारेति ※। कर्तृव्यापाराणां मध्ये यत्किञ्चिद्व्यापारवदपेक्षया चरमत्वमुत कर्त्तुर्यावन्तो व्यापाराः सन्ति तावद्विशिष्टमपेक्ष्येति विकल्पपुरःसरं कर्त्तर्यतिव्याप्तिमुपपादयति ※ एकेति ※। पूर्वपूर्वव्यापारकर्त्रपेक्षया उत्तरोत्तरस्तद्व्यापारश्चरम इति चेद्विशिष्टेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीये लक्षणासम्भव इत्याह ※ यावदिति ※। विवक्षितं चक्षुरादि करणं न स्यात्समस्तव्यापारविशिष्टकर्त्रपेक्षया चरमव्यापारकरणत्वे

भाव में कोई प्रमाण नहीं]। अनुमिति के अजनक संस्कार को लिङ्ग-परामर्श का व्यापार नहीं मान सकते, क्योंकि व्यापार का लक्षण है—"तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः"। लिङ्ग-परामर्श से जन्य अनुमितिरूप कार्य का जनक न होने के कारण संस्कार लिङ्ग-परामर्श का व्यापार क्योंकर होगा ? दूसरी बात यह भी है कि संस्कार अतीन्द्रिय है, अतः उससे विशिष्ट लिङ्ग-परामर्श भी अज्ञात ही रहेगा, अज्ञात करण से जन्य अनुमिति में प्रत्यक्षत्वापत्ति होती है, क्योंकि केवल प्रत्यक्ष ज्ञान ही इन्द्रियरूप अज्ञात करण से उत्पन्न होता है, दूसरे अनुमित्यादि सभी ज्ञान ज्ञात करण से ही उत्पादित होते हैं।

'पर्वत में दृश्यमान धूमरूप लिङ्ग अनुमिति का करण और लिङ्ग-परामर्श उसका व्यापार है'—ऐसा कहना भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि अनुमित पारिमाण्डल्यादि के द्वारा जहाँ परमाण्वादि में अप्रत्यक्षत्वादि का अनुमान किया जाता है, वहाँ पारिमाण्डल्यादि को अपने परामर्श का कारण नहीं माना जाता, अतः तज्जन्यत्व न होने के कारण उस परामर्श को लिङ्ग का व्यापार नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार जहाँ आप्त-वचनादि के द्वारा 'तत्रासीद् धूमः'—ऐसा ज्ञान होता है और अतीत धूमरूप लिङ्ग के परामर्श से अतीत वह्नि का अनुमान किया जाता है, वहाँ धूम में परामर्श की नियतप्राक्सत्त्वरूप कारणता सम्भव नहीं, अतः उस व्यापारवत्त्व और अनुमिति-करणत्व क्योंकर उपपन्न होगा ?

किञ्च यत्किञ्चिदपेक्षया चरमव्यापारवत्त्वस्य सर्वकारकसाधारण्यात्, सर्वकारकापेक्षया चरमव्यापारवत्त्वस्य स्वापेक्षया चरमत्वानुपपत्त्या सर्वत्रासिद्धेः। कर्त्रपेक्षयेति चेन्न, कर्तृधर्मिमात्रापेक्षया विवक्षितत्वे कर्तरि प्रसङ्गतादवस्थ्याद्, व्यापारवत्कर्त्रपेक्षाभिप्राये च कर्तरि स एव प्रसङ्गः। एकव्यापारवत्कर्त्रपेक्षया अपरापरकर्तृव्यापारस्य चरमभावित्वात्। यावद्व्यापारवत्कर्त्रपेक्षापक्षे तु विवक्षितमपि करणं न स्याद्, आफलसिद्धेः कर्तृव्यापाराविरामात्। व्यापारस्य विच्छेदे तद्धेतुलक्षणक्षीणतापत्तेः।

यद्व्यापारानन्तरं कारकान्तरं न व्याप्रियते, तत् चरमव्यापारमिष्टमिति चेन्न,

---

कुतो लक्षणासिद्धिरित्यत आह ॐ आफलेति ॐ। कार्योत्पत्तिपर्यन्तं कर्तृव्यापाराविच्छेदात् तदपेक्षया चरमव्यापारत्वं चक्षुरादेरपि न सम्भवतीत्यर्थः। कर्त्ता करणव्यापारमुत्पाद्य चरितार्थस्तदुत्पादितं करणं क्रियां प्रयोजयति नातोऽसम्भव इत्याशङ्क्याह ॐ व्यापारेति ॐ। तस्य कर्तुः हेतुलक्षणं नियतपूर्वं सत्त्वं तद्धीनतापत्तिरतश्चाकारणत्वेऽपि न तद्विशेषकर्तृत्वायोग इति भावः।

व्यापारस्य चरमत्वं प्रकारान्तरेणोपस्थापयन्नाशङ्कते ॐ यदिति ॐ। तार्किकेणेत्थमुच्यते ? उत मीमांसकेन ? न तावत्तार्किकस्येदृशं वचनं चातुरीमञ्चतीत्याह ॐ नेति ॐ। ईश्वरव्यापारः प्रयत्नरूपस्तस्य

'चरमव्यापारवत्त्वं करणत्वम्'—यहाँ 'चरम' शब्द का अर्थ होता है—पश्चाद्भावी। वहाँ जिज्ञासा होती है कि यत्किञ्चिद् व्यापार के पश्चाद्भावी व्यापार को चरम व्यापार कहा गया है ? अथवा सर्व कारक-व्यापार का पश्चाद्भावी ? प्रथम पक्ष में तो सभी कारकों के व्यापार में यत्किञ्चिद् व्यापार-पश्चाद्भावित्व होने के कारण करण-भिन्न सभी कारकों में करणत्वापत्ति होती है। द्वितीय कल्प के अनुसार सभी कारकों में स्वयं करण का भी समावेश हो जाता है, उसके व्यापार की पश्चाद्भाविता उसके व्यापार में क्योंकर बनेगी ? केवल कर्त्ता के व्यापार का पश्चाद्भावित्व विवक्षित होने पर जिज्ञासा होती है कि व्यापार को छोड़ कर केवल धर्मी पुरुष का पश्चाद्भावित्व विवक्षित है ? या व्यापार-विशिष्ट कर्त्ता का ? प्रथम कल्प तो उसके व्यापार में ही घट जाता है, क्योंकि उस पुरुष से जनित होने के कारण वह व्यापार उसका पश्चाद्भावी ही है और व्यापार-विशिष्ट कर्त्ता की पश्चाद्भाविता विवक्षित होने पर भी वह अतिप्रसङ्ग वैसा ही बना रहता है, क्योंकि कर्त्ता पुरुष में अनेक व्यापार सम्भावित हैं, उसके पूर्वतन व्यापार की अपेक्षा उत्तरभावी व्यापार में चरमता बन सकती है, उससे युक्त कर्त्ता में भी करणता क्यों न होगी ? कर्त्ता के समस्त व्यापारों का पश्चाद्भावित्व तो करण के व्यापार में भी सम्भव नहीं, क्योंकि कर्त्ता का व्यापार अविरलरूप से तब तक बराबर बना रहता है, जब तक फल सिद्ध नहीं हो जाता, जैसा कि भाष्यकार कहते हैं—"पचतीति स्थाल्यधिश्रयणम्, उदकासेचनम्, तण्डुलावपनम्, एधोऽपसर्पणम्, अग्न्यभिज्वालनम्, दर्वीघट्टनम्, मण्डस्रावणम्, अधोऽवतारणम्" (न्या. भा पृ. ७४)। अग्न्यादि करण पदार्थों को सव्यापार बना देने के पश्चात् कर्त्ता के व्यापार का यदि विच्छेद हो जाता है, तब करण पदार्थों में चरमव्यापारवत्ता का सामञ्जस्य तो हो जाता है, किन्तु कर्त्ता साधारण कारण भी नहीं रहता, अपि तु उसी प्रकार अन्यथासिद्ध हो जाता है, जैसे कुलाल का पिता कुलाल को जन्म देकर घटादि के प्रति अन्यथासिद्ध माना जाता है।

शङ्का—करणगत व्यापार के समकाल में कर्त्तादि का व्यापार हो सकता है, किन्तु उसके अनन्तर नहीं, अतः जिसके व्यापार के अनन्तर किसी अन्य कारक का व्यापार नहीं होता, वही चरम व्यापारवाला करण कहलाता है। [आशय यह है कि करण-व्यापार के अनन्तर फल की निष्पत्ति या उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है, व्यापारान्तर की आवश्यकता ही नहीं रहती, अतः करण-व्यापार के अनन्तर कारकान्तर का व्यापार क्यों होगा ?]।

सेश्वरपक्षे कर्तृव्यापाराविरमात्, तदानन्तर्यासिद्धेस्तत्करणत्वापातात्। अनीश्वरपक्षे चाक्षसंयोगादिभिरेव सव्यापारे कर्मण्यपि प्रसङ्गात्। छेद्यादेर्हि करणसंयोगादिव्यापारश्चरम एवेति कुतस्तद्व्यवच्छेदः। हस्ताद्यव्याप्तेश्चेति।

अनन्तरफलं करणमित्यपि न, अविशेषितानन्तर्यस्य सर्वकारणसाधारण्यात्। अव्यवहितानन्तर्यस्य व्यापार्यपेक्षस्य यागाद्यव्यापनात्। व्यापारापेक्षस्य च हस्ताद्य-

---

नित्यत्वात्तदनंतरं किंचिदपि कारकं न व्याप्रियते तदानन्तर्याभावादतश्च कर्तुरीश्वरस्य करणत्वापात इत्याशयः। मीमांसकमतानुसारिणामिदं चोद्यमिति द्वितीयेऽप्यतिव्याप्तिमाह ॐ अनीति ॐ। अथेन्द्रियसम्प्रयोग इन्द्रियार्थयोरुभयोरपि व्यापारस्तद्द्वयनिष्ठत्वादेवं च तैरेव संयोगादिभिः कृत्वा सव्यापारकं यत्पटादिकर्म्म, तत्र करणलक्षणातिव्याप्तेरर्थसम्प्रयोगानन्तरं कारकान्तराव्यापृतेरिति यावत्। योगशब्देन संयोग उच्यते संयुक्तसमवायादय आदिपदेनोपादीयन्ते। एवं प्रमाणलक्षणस्यातिव्याप्तिमुक्त्वा करणमात्रलक्षणस्यातिव्याप्तिमाह ॐ छेद्यादेरिति ॐ। आदिपदेन पाकादिविषयास्तण्डुलादयो गृह्यन्ते संयोगादीत्यादिग्रहणेन पाककरणाग्निसंयुक्तस्थालीसंयोगात्तन्दुलानां करणेनैकार्थसंसृष्टत्वादि गृह्यते। न केवलमतिव्याप्तिरव्याप्तिश्चेत्याह ॐ हस्तेति ॐ। हस्तव्यापारानन्तरं काष्ठादीनां व्यापाराद्धस्तस्य पाककरणत्वं न स्यादित्यव्याप्तिरित्यर्थः। काष्ठादिकमपीत्यादिशब्दार्थः।

करणमात्रस्य लक्षणान्तरं प्राप्य प्रतिषेधति ॐ अनन्तरेति ॐ। सामग्र्याः करणत्वापातादित्यर्थः। किं चानन्तर्यमात्रं विवक्षितमुताव्यवहितं तदिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ अविशेषितेति ॐ। कर्त्राद्यनन्तरमपि फलोत्पत्तेस्तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। अव्यवहितानन्तर्यमपि किं व्यापार्यपेक्षम्? उत व्यापारापेक्षम्? आहोस्विद् व्यापारपरम्परापेक्षमिति? त्रिधा विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐअव्यवहितेतिॐ। यागादीनां स्वयं व्यापारतया व्यापारित्वाभावात्तदपेक्षफलानन्तर्यं करणलक्षणं तत्र नास्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति ॐ व्यापारेति ॐ। तृतीयं दूषयति ॐ व्यापारपरम्परेति ॐ। कर्त्रादेरपि फल-

---

समाधान—यह कहा जा चुका है कि सेश्वरवाद में ईश्वर भी सभी कार्यों का कर्त्ता माना जाता है, किन्तु वह ऐसा कर्त्ता है, जिसका यत्नरूप व्यापार नित्य माना जाता है, अतः न तो उसके व्यापार का अनन्तर काल सम्भावित है और न उस काल में कारकान्तर का व्यापार, अतः 'यद्व्यापारानन्तरं कारकान्तरं न व्याप्रियते, तत्करणम्'—यह लक्षण ईश्वररूप कर्त्ता कारक में अतिव्याप्त होता है। अनीश्वरवाद के अनुसार भी उक्त लक्षण की कर्म कारक में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि कुठार और काष्ठ का संयोग ही वह विवक्षित चरम व्यापार है, उसका आश्रय जैसे कुठार है, वैसे ही काष्ठ, अतः चरमव्यापारवत्त्व काष्ठरूप कर्म कारक में भी घट जाता है एवं 'हस्तेनाग्निना पचति'—यहाँ पाक क्रिया में हस्त को भी करण माना जाता है, किन्तु हस्त-व्यापार के अनन्तर भी काष्ठादि का व्यापार होता है, अतः चरमव्यापारवत्त्व हस्त में अव्याप्त है।

(६) अनन्तरफलं करणम्—

न्यायवार्तिककार ने 'साधकतमत्व' का एक यह भी अर्थ किया है—"प्रतिपत्तेरानन्तर्य वा" (न्या० वा० पृ० १०)। इसके आधार पर निर्गलित लक्षण को श्री उदयनाचार्य ने प्रकट किया है—"अत्राप्यनन्तरफलं करणमिति लक्षणम्" (ता० परि० पृ० ११६)। कुठार जिस समय करण की भूमिका में आता है, उस समय उसमें उद्यमन-निपातनरूप व्यापार का आवेश होता है, उसके अनन्तर ही काष्ठ दो टुकड़ों में देखा जाता है, अतः 'अनन्तरं फलं यस्य, तदनन्तरफलकं करणम्'—यह लक्षण कुठारादि में निश्चितरूप से घट जाता है।

इस लक्षण की भी शब्दावलि स्पष्ट नहीं, गोल-मोल ही है। आनन्तर्य में आकांक्षा होती है कि सामान्य आनन्तर्य विवक्षित है? या अव्यवहितानन्तर्य? प्रथम कल्प के अनुसार तो

व्यापनात्। व्यापारपरम्परापेक्षस्य सर्वकारकव्यापनात्।

किञ्च तत्कार्यो यदि क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इष्टः, तदा इन्द्रियकार्यो लिङ्गपरामर्शोऽनुमितिक्रियाहेतुरिति इन्द्रियकरणिकाऽनुमितिः प्राप्ता।

अथ हेतोः सतः कार्यः क्रियाहेतुस्तद्व्यापारः, तथा सति अनुमित्यहेतोरिन्द्रियस्य कुतः करणत्वं स्यादिति। मैवम्, किं तद्धेतुत्वं यन्नास्त्यनुमितौ इन्द्रियस्य।

नियतपूर्वभावित्वमिति चेत्, अस्ति तावत् पूर्वभावित्वम्। नियतत्वमपि यदि

पर्यन्तव्यापाराविरमात्तत्परम्परापेक्षयाऽनन्तरफलत्वमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः।

पूर्वं करणव्यापारमूरीकृत्य दूषणमभाणि इदानीं व्यापारमेव दूषयति ❀ किं चेति ❀। तत्कार्यस्तत्क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इष्टो यदि, तदा तर्हि अनुमितिरिन्द्रियकरणिका प्राप्ता अनुमिताविन्द्रियं करणं स्यादिति यावत्। कुत इत्यपेक्षायां तदुपपादयति ❀ इन्द्रियेति ❀। लिङ्गपरामर्शइन्द्रियकार्योऽनुमितिहेतुर्यस्मादित्यर्थः। लिङ्गपरामर्श इन्द्रियजन्योऽनुमितिक्रियाहेतुरिति गदितलक्षणाभावेऽपीन्द्रियव्यापारत्वाल्लक्षणस्य तत्रातिव्याप्तिरुदिता तां परिहर्तुमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। प्रधानक्रियाहेतोः कार्यः क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इति व्यापारलक्षणमित्यर्थः। अस्तु तावता प्रस्तुते किं स्यादित्यत आह ❀ तथेति ❀। इन्द्रियस्यानुमितिक्रियाहेतुत्वाभावात्तज्जन्यलिङ्गपरामर्शस्य न करणव्यापारत्वप्रसङ्ग इत्याशयः। इन्द्रियस्याप्यनुमितिं प्रति हेतुत्वाद्विशेषणोपादानेऽप्यतिव्याप्तितादवस्थ्यमिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। अनुमित्यपेक्षया नियतपूर्वभावित्वरूपं हेतुत्वमिन्द्रियस्य नास्तीति शङ्कते ❀ नियतेति ❀। पूर्वभावित्वमात्रं नास्ति किं वा नियतत्वविशिष्टम्? नाद्य इत्याह ❀ अस्तीति ❀। नियतत्वापेक्षया तावत्प्रयोग इन्द्रियव्यापारान्वयव्यतिरेकित्वादनुमानस्य पूर्वभावित्वमस्तीत्यर्थः। इन्द्रियव्यापाराल्लिङ्गपरामर्शस्ततोऽनुमितिरतो नियतत्वविशिष्टं पूर्वभावित्वं नास्तीति द्वितीयमाशङ्क्याह ❀ नियतेति ❀। नियतत्वं कारणत्वे प्रयोजकम्?

कारणमात्र में अतिप्रसक्ति और द्वितीय कल्प के अनुसार स्वर्गादि के करणीभूत यागादि में अव्याप्ति होती है, क्योंकि याग के अव्यवहितानन्तर ही स्वर्गरूप फल निष्पन्न नहीं होता। सव्यापार करण का आनन्तर्य विवक्षित होने पर हस्तादि करणों में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि हस्त के द्वारा चूल्हे में केवल काष्ठ सरका देने मात्र से पाक सम्पन्न नहीं हो जाता, अपितु हस्त-व्यापार के अनन्तर काष्ठ और अग्न्यादि लम्वी व्यापार-परम्परा के पश्चात् कहीं भात पक कर तैयार होता है। यदि इस पूरी व्यापार-परम्परा को ही हस्त का व्यापार समझा जाता है, तब कोई ऐसा कारक नहीं, जिसके साथ उस व्यापार-परम्परा का संवन्ध न हो, अतः कर्त्तादि सभी कारकों में करणत्वापत्ति होती है।

दूसरी वात यह भी है कि करणगत व्यापार की क्या परिभाषा है? जो जिस पदार्थ से उत्पन्न होकर प्रधान फल का जनक हो, उसे उस पदार्थ का यदि व्यापार कहा जाता है, तव लिङ्ग-परामर्श भी चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न होकर अनुमिति का जनक होता है, अतः लिङ्ग-परामर्श को इन्द्रिय का व्यापार एवं उससे जन्य अनुमिति को इन्द्रियकरणक ज्ञान या प्रत्यक्ष प्रमा मानना होगा। यदि पदार्थ सामान्य के स्थान पर पदार्थ-विशेष का उल्लेख करते हुए कहा जाय कि 'जिस हेतुरूप पदार्थ से उत्पन्न होकर जो व्यापार प्रधान कार्य (फल) का जनक होता है, उसको उस हेतु का व्यापार कहा जाता है'। तब यद्यपि परामर्श को इन्द्रियों का व्यापार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन्द्रियों को अनुमिति का हेतु नहीं माना जाता। तथापि प्रधान क्रिया का वह हेतुत्व क्या है, जो कि अनुमिति का इन्द्रियों में नहीं रहता। 'नियतपूर्वभावित्वं हेतुत्वम्'—ऐसा मानने पर जिज्ञासा होती है कि क्या इन्द्रियों का केवल अनुमिति-पूर्वभावित्व नहीं रहता? अथवा नियतत्व-विशिष्ट पूर्वभावित्व इन्द्रियों में नहीं रहता? प्रथम प्रकार (केवल पूर्वभावित्व) तो इन्द्रियों में है ही, क्योंकि 'इन्द्रियसत्त्वे

कारणतायां प्रयोजकमिच्छसि, तदा भवतैव यतितव्यं केनचिद्रूपेणेन्द्रियादेर्नियतत्वं प्रति। अन्यथा लिङ्गेन्द्रियादेः परस्परव्यभिचारादकरणिकैव प्रमा स्यात्। मनःसंयोगादेरेव तथात्वे चाऽप्रमासाधारण्यम्।

अपि चाक्षादेरकरणत्वापातः, यत्सामान्ये यत्सामान्यं प्रयोजकं तद्विशेषस्यैव तद्विशेषे प्रयोजकत्वनियमदर्शनात्। ततो येन केनापि रूपेणेन्द्रियस्य प्रमायां नियतत्व-

न वा ? न चेत्तदभावे न काचित्क्षतिः प्रयोजकं चेत्तदेन्द्रियस्यापि करणत्वोपाधौ नियतत्वमनुमित्यपेक्षयाऽस्तीति त्वयैवोपपादनीयमित्याशयः। प्रमाकरणत्वरूपेणेन्द्रियस्यानुमितौ नियतत्वमुक्तं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति ॐ अन्यथेति ॐ। अयं भावः अनुमितिः प्रमा ? न वा ? न चेत्तत्करणमनुमानमप्रमाणं स्यात्प्रमा चेदकरणिका ? सकरणिका वा ? अकरणिका चेदनादिरनन्ता चेति नित्यज्ञानवानीश्वर इति लक्षणं जीवेऽतिव्याप्तं, यद्युत्तरस्तर्हि किं तत्करणमिन्द्रियाद्येव ? मनःसंयोगादिर्वा ? नाद्य इन्द्रियादेः परस्परव्यभिचारितया सम्भूय प्रत्येकं वा करणत्वानुपपत्तेः। मनःसंयोगादि प्रमाकरणमिति द्वितीयमपवदति ॐ मन इति ॐ। आदिपदेनादृष्टेश्वरेच्छादि गृह्यते। तस्य प्रमाकरणत्वे प्रमाया अप्रमासाधारण्यं स्यात् प्रयोजकस्य प्रमाप्रमयोः साधारण्यादित्यर्थः। मनःसंयोगादेः प्रमाऽप्रमाप्रयोजकत्वे प्रमाऽऽप्रमाविभागानुपपत्तिर्न केवलं परन्तु प्रमाकरणतयेष्टाक्षादेरकरणत्वापातश्चेत्याह ॐ अपि चेति ॐ। एकस्मिन् करणद्वयायोगाद् गौरवादित्यर्थः। मनःसंयोगादेः प्रमासामान्ये प्रयोजकत्वं तद्विशेषे प्रत्यक्षप्रमादाविन्द्रियादेरतो नाकरणत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह ॐ यदिति ॐ। बीजमात्रस्याङ्कुरमात्रप्रयोजकत्वे बीजविशेषस्यैवाङ्कुरविशेषप्रयोजकत्ववदिहाऽपि मनःसंयोगादिविशेषस्यैव प्रयोजकत्वं स्यादित्यर्थः। फलितमाह ॐ तत इति ॐ। प्रमाविशेषेऽक्षादेः करणत्वं वदतः प्रमासामान्येऽक्षादिसामान्यस्य प्रयोजकत्वं वाच्यन्तेन रूपेण

अनुमितिसत्त्वम्, तदभावे तदाभावः'—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर इन्द्रियों में भी अनुमिति-पूर्वभावित्व निश्चित है। यदि नियतत्व को भी करणता का प्रयोजक माना जाता है, तब भिन्न-भिन्न प्रमा की करणता में नियतत्व की अपेक्षा सामान्य प्रमा की करणता में ही नियतत्व मानने में लाघव है, सामान्यतः प्रमा की करणता इन्द्रियों में भी न्याय-सम्मत है, अतः आप (नैयायिक) पर ही यह दायित्व आ जाता है कि इन्द्रियों में प्रमा-करणता के साथ-साथ नियतत्व भी सम्पन्न करें। अनुमिति भी एक प्रमा है, अतः यह मानना होगा कि प्रमाकरणत्वेन रूपेण इन्द्रियों में भी अनुमिति का नियतत्व-विशिष्ट करणत्व है। अन्यथा (प्रमा के प्रति प्रमाकरणत्वेन नियतत्व न मानने पर) प्रत्यक्ष प्रमा में परामर्श और अनुमित्यादि में इन्द्रियादि के अनियत (व्यभिचरित) होने के कारण सामान्य प्रमा का कोई कारण न बन सकेगा, वह अकरणिका ही रह जायगी।

आत्मा और मन का संयोग भी प्रमा-सामान्य का करण नहीं हो सकता, क्योंकि आत्म-मनःसंयोग ज्ञानमात्र का कारण है, उससे अप्रमा भी उत्पन्न होती है, प्रमा का अव्यभिचरित (नियत) कारण नहीं। दूसरी बात यह भी है कि यदि मनःसंयोग को प्रमा का करण माना जाता है, तब अप्रमा-करणता का व्यवच्छेद करने के लिए अप्रमानुत्पादकत्वादि विशेषण लगाकर मनःसंयोग-विशेष को प्रमा का करण बनाना होगा। तब तो इन्द्रियादि को भी प्रमा का करण मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी, मनःसंयोग-विशेष को प्रत्यक्ष प्रमा और मनःसंयोग-विशेष को अनुमित्यादि का करण मानकर सुव्यवस्थित कार्य-कारणभाव सम्पन्न करने के लिए 'यत्सामान्ये यत्सामान्यं प्रयोजकम्, तद्विशेषे तद्विशेषस्यैव प्रयोजकत्वम्'—इस नियम का सहारा लिया जा सकता है। सामान्य मनःसंयोग को सामान्य प्रमा और विशेष मनःसंयोग को विशेष (प्रत्यक्षादि) प्रमा का हेतु मानना अनुचित नहीं। प्रमाविशेष में इन्द्रियत्वादि रूप से इन्द्रियादि को कारण मानना उचित नहीं, क्योंकि इन्द्रिय-

मुपपाद्यते, तेनैव रूपेण प्रसङ्गोपपत्तिः ।

अथ प्रमात्वे तत् प्रयोजकम्, न त्वनुमितित्वादाविति चेन्न, निरुपाधित्वाविशेषेणोक्तार्थानाधिक्यात् । सामान्यप्रयोजकत्वेन विशेषत्यागानवकाशादिति । अन्यथा व्यक्तेरकारणकत्वापत्तेः ।

अथान्यत्रास्तु यद्वा तद्वा करणम्, प्रमाविवक्षितजातिविशेषव्यपदेशकं प्रमाणम् । चतस्रः खल्विमाः प्रत्यक्षादिप्रमितयो भिन्नव्यपदेशभाजः । न च प्रमाता प्रमेयं वा

चानुमितिप्रमायामिन्द्रियस्य नियतत्वोपपत्तेरनुमितिरिन्द्रियकरणिका स्यादित्युक्तमुपपन्नमित्यर्थः । इन्द्रियस्य केनचिद्रूपेण प्रमाप्रयोजकत्वेपि नानुमितिरिन्द्रियकरणिका अनुमितिरूपे तस्याप्रयोजकत्वादिति शङ्कते ॐ प्रमात्वेति ॐ । परिहरति ॐ नेति ॐ । निरुपाधिकत्वमनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकित्वन्तत्र यथा प्रमात्वं प्रतीन्द्रियस्य निरुपाधिता एवमनुमितित्वादिं प्रत्यपि तयोरविनाभावादेवं चानुमितिरिन्द्रियकरणिका स्यादित्युक्तार्थाधिकं नास्तीत्यर्थः । प्रमासामान्यप्रयोजकस्य तद्विशेषानुमितित्वादावप्रयोजकत्वमित्याशङ्क्याह ॐ सामान्येति ॐ । विपर्यये दण्डमाह ॐ अन्यथेति ॐ । तन्तुसामान्यस्य पटसामान्यप्रयोजकस्य तद्विशेषस्याकारणत्वं स्यात्तन्तुत्वाक्रान्तस्य पटव्यक्तावप्रयोजकत्वादित्यर्थः ।

प्रमाखण्डनानन्तरं प्रमाणलक्षणस्यैव प्रस्तुतत्वादप्रस्तुतं करणमात्रलक्षणमास्ताम्प्रमाणलक्षणं पुनरिदमिति शङ्कते । ॐ अथेति ॐ । अन्यत्र कुठारादौ करणे यत्किञ्चिल्लक्षणमस्तु प्रमाया ये जातिविशेषा विवक्षिताः प्रत्यक्षत्वानुमितित्वादयस्तैराक्रान्ततया यो व्यपदेशः प्रत्यक्षमनुमानमित्यादिस्तत्र निमित्तं प्रमाणं न च तत्प्रमेयभेदादेव एकस्मिन्नपि प्रमेयेऽनेकप्रमादर्शनात्परिशेषात्तन्निमित्तमिन्द्रियलिङ्गपरामर्शादि प्रमाणमित्यर्थः । व्यपदेशकं व्यवच्छेदकं व्यावृत्तप्रमाव्यवहारकारणमिति यावत् । कास्तर्हि विवक्षिता जातिविशेषालिङ्गितप्रमाव्यक्तय इत्यत आह ॐचतस्र इतिॐ । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागम इतिभिन्नबुद्धिशब्दजातिभाज इति यावत् । प्रमाविवक्षितजातिविशेषव्यपदेशनिमित्तमिति लक्षणं प्रमातरि प्रमेये च नातिव्यापकं

त्वादिरूप से इन्द्रियादि को सामान्य प्रमा का प्रयोजक नहीं माना जाता । हाँ, प्रमाकरणत्वेन रूपेण इन्द्रियों को प्रत्यक्षादि प्रमा-विशेष का प्रयोजक अवश्य माना जा सकता है, अतः प्रमाकरणत्वेन रूपेण इन्द्रियों में अनुमिति प्रमा की नियत पूर्वभाविता उपपन्न होने के कारण अनुमिति में इन्द्रियकरणकत्व का पूर्वोक्त प्रसङ्ग उपस्थित किया जा सकता है । 'प्रमात्वेन रूपेण ही प्रमा के प्रति प्रमाकरणत्वेन इन्द्रियों को प्रयोजक माना जाता है, अनुमितित्वादि रूप से प्रमा के प्रति नहीं'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामान्यरूपेण कार्य के प्रति जो कारण निरुपाधिक अन्वय-व्यतिरेक से आवद्ध है, विशेष रूपेण कार्य के प्रति भी उसको प्रयोजक माना जा सकता है, अतः इन्द्रियों में जब प्रमात्मक अनुमित्यादि की प्रयोजकता निरुपाधिक है, तब अनुमितित्वादिरूप से भी इन्द्रियों में अनुमिति की प्रयोजकता का त्याग नहीं किया जा सकता । अन्यथा (सामान्यरूपेण कार्य के प्रति जो कारण है, वह यदि विशेष रूपेण कार्य का प्रयोजक नहीं माना जाता, तव) दण्डादि में घटादि-सामान्य की ही कारणता मानी जा सकेगी, घटादि व्यक्ति की नहीं, अतः घटव्यक्ति में अकारणकत्वापत्ति होगी ।

(८) प्रमाविवक्षितजातिविशेषव्यपदेशकं प्रमाणम्—

शङ्का—[न्यायवार्तिककार ने 'साधकतमत्व' का एक कल्पान्तर प्रस्तुत करते हुए कहा है—"असाधारणता वा, प्रमाता तावत् साधारणं कारणं प्रत्यक्षादिज्ञानानाम् । सर्वप्रतिपत्तीनां प्रमेयमप्यशेषपुरुषसाधारणत्वात् तथाभूतम् । प्रमाणं त्वसाधारणत्वात् प्रधानम् (न्या० वा० पृ० १०) । इसकी व्याख्या में टीकाकार ने कहा है—"चतस्रः खल्विमाः प्रत्यक्षादिप्रमितयोभिन्नबुद्धिव्यपदेशभाजोऽनुभूयन्ते । न च प्रमाता तद्भेदहेतुः, तस्य साधारण्यात् । न च प्रमेयम्, एकस्यापि प्रमेयस्य सम्प्लवे सर्वप्रतिपत्तिसाधारण्यात् । प्रमाणानि तु यथायथं

तद्भेदहेतुः, प्रमाणानि तु यथायथं चतसृष्वसाधारणानीति भिन्नबुद्धिव्यपदेशनिबन्धनानीति ।

मैवम्, विवक्षितपदं तावल्लक्षणे भण्डालेख्यमिव, पुरुषेच्छानामनियतविषयत्वात् । अर्थजत्वस्य च साक्षात्कारित्वं प्रति इन्द्रियजत्वाविशिष्टतया अर्थस्यापि

तयोरसाधारणत्वेनासाधारणव्यवहारकारणत्वाभावादित्याह ॐ न चेति ॐ । एवमतिव्याप्तिं परिहृत्यासिद्धिं परिहरति ॐ प्रमेति ॐ । तुशब्दो वैशिष्ट्यार्थः ॐ यथायथमिति ॐ । योग्यतामनतिक्रम्येति यावत् । इन्द्रियलिङ्गपरामर्शादीति भिन्नबुद्धिव्यपदेशौ प्रत्यक्षमनुमितमित्यादिरूपौ तत्र निमित्तानि । हेतुमाह ॐ असाधारणानीति ॐ । कृत्वेति शेषः ।

लक्षितपदं कस्यचिदर्थस्य व्यावर्तकं न भवतीति व्यर्थविशेषणासिद्धं लक्षणमिति दूषयति ॐ मैवमिति ॐ । भण्डो विप्रलम्भकः तस्यालेख्यं भण्डालेख्यं । देवदत्तस्य जाया किमपत्यं जनयिष्यतीति पृष्टे यथा पुत्रो न पुत्रीति विप्रलम्भकस्य कुड्योपर्यालिख्यं न विषयविशेषनियतं निषेधस्योभयथा योजयितुं शक्यत्वात्तथा विवक्षितपदमपि पुरुषेच्छानामनियतत्वेन चतुष्टयजातीयस्य नियमेन प्रत्येतुमशक्यत्वात्कस्यचिच्चतस्रः प्रमितयो विवक्षिताः, कस्यचित्पञ्चेति । तद्विवक्षितपदमबुद्धिपूर्वकमिव व्याख्याय तद्विशेषप्रतिपत्तौ प्रत्येकमिलितविकल्पेन दूषणीदमित्यर्थः । आलेख्यं लिपिविन्यासो, वचनं वा । प्रमाविवक्षितजातिविशेषव्यपदेशकं प्रमाणमिति लक्षणस्य प्रमेयेऽतिव्याप्तिमाह ॐ अर्थेति ॐ । साक्षात्कारित्वं प्रतीन्द्रियं करणमितीन्द्रियजं प्रत्यक्षमिति भिन्नव्यपदेशहेतुरिन्द्रियजं प्रत्यक्षमिति व्यवहरणाद्यथा तथाऽर्थोऽपि साक्षात्कारित्वं प्रति हेतुरित्यर्थजं प्रत्यक्षमिति व्यवहारसम्भवादर्थजत्वस्य साक्षात्कारित्वं प्रतीन्द्रियजत्वाविशिष्टतयाऽर्थोऽपीन्द्रियवत्प्रमाणं स्यादित्यर्थः । एवं प्रमेयेऽतिव्याप्तिमुक्त्वा प्रमातर्यतिव्याप्तिमिदानीं दर्शयति

चतसृष्वपि प्रमितिष्वसाधारणानीति भिन्नबुद्धिव्यपदेशनिबन्धनानि, तदिदमसाधारण्यमतिशयः" (ता० टी० पृ० ३८)। जब कि सभी करण असाधारण कारण होते हैं, तब केवल प्रमा के करणों में ही असाधारणता का उपन्यास क्यों ? इस प्रश्न की संघटना करते हुए परिशुद्धिकार कहते हैं—"सर्वकरणेष्वसाधारणत्वोपपादनानुपयोगात् प्रकृते प्रमाणे घटयति—चतस्र इति । अत्रापि प्रमाविवक्षितजातिभेदव्यपदेशकं प्रमाणमिति लक्षणम्" (ता० परि० पृ० ११६)]। प्रमारूप प्रधान क्रिया से अन्यत्र पाकादि क्रियाओं के करण का लक्षण इतना व्यवहारोपयोगी नहीं, जितना प्रमा के करण (प्रमाण) का निरूपण, अतः प्रमाण का निष्कृष्ट लक्षण प्रस्तुत किया जाता है—'प्रमाविवक्षितजातिविशेषव्यपदेशकं प्रमाणम्' । न्याय-मत में (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति और (४) शाब्द—ये चार प्रकार की प्रमायें विवक्षित हैं, इनके ज्ञानात्मक एवं शब्दात्मक व्यवहारों की असाधारण कारणता उनके इन्द्रियादि करणों में ही निहित है, अतः इन्द्रियों को प्रत्यक्षप्रमाण, लिङ्ग-परामर्श को अनुमान प्रमाण और सदृश-दर्शन को उपमान प्रमाण एवं पद-ज्ञान को शब्द प्रमाण कहा जाता है। प्रत्यक्षादि प्रमाओं का विभाजन प्रमाता या प्रमेय के द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'देवदत्तस्य ज्ञानम्' या 'घटस्य ज्ञानम्'—ऐसा कहने पर कोई ज्ञान-विशेष नहीं प्रतीत होता, अपितुप्रत्यक्षानुमित्यादि सभी ज्ञान हो सकते हैं, किन्तु 'ऐन्द्रियकं' या 'इन्द्रियजज्ञानम्'—ऐसा कहने पर प्रत्यक्ष ज्ञान ही गृहीत होता है।

समाधान—उक्त लक्षण में प्रयुक्त 'विवक्षित' पद का भण्डालेख के समान कोई एक निश्चित अर्थ नहीं कर सकते हैं ['इस स्त्री के गर्भ में क्या है ?' इस प्रश्न के उत्तर में किसी भण्ड (धूर्त) ने घर की दीवार पर लिख दिया—'पुत्रो न पुत्री' । उसका आशय यह है कि यदि पुत्र पैदा हुआ तो 'पुत्रो, न पुत्री'—ऐसा, यदि पुत्री हुई तो 'पुत्रो न, पुत्री'—ऐसा अन्वय-बोध कराया जा सकता है। वैसे ही उक्त लक्षण यदि नैयायिक का माना जाय, तब

करणत्वप्रसङ्गात्। आप्तोक्तौ तु कर्तुरपि शाब्दप्रमाजातिविशेषकत्वेन अतिप्रसङ्गात्, ओमित्युत्तरे च पूर्वमेवोक्तमिति।

विवक्षितजातिभेदौपयिकत्वेन प्रमित्यसमवायिकारणविशेषकं प्रमाणमित्यपि अत एव प्रत्युक्तम्।

❀ आप्तेति ❀। आप्तवाक्यमागम इत्यत्राप्तस्यापि शाब्दप्रमाजातिविशेषकत्वेन शब्दवदाप्तस्यापि प्रमाणत्वं प्रसज्यत इति यावत्। उक्तलक्षणबलादाप्तस्यापि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायत इत्यत आह ❀ ओमिति ❀। किमग्नावग्निव्यवहारवत्कर्तरि करणव्यवहारो मुख्यः ? उत माणवकेऽग्निव्यवहारवद् गौणः ? इत्यादिना विमृश्य गौण एव न वास्तव इत्युक्तमित्यर्थः। इतिशब्दः समाप्तौ।

उक्तन्यायेन लक्षणान्तरमपि दूषितं भवतीत्यतिदिशति ❀ विवक्षितेति ❀। विवक्षिता ये साक्षात्कारित्वानुमितित्वादयो जातिभेदास्तेषामौपयिकत्वेनोपायत्वेन प्रतीतेरसमवायिकारणमात्ममनः संयोगस्तस्य विशेषका व्यावर्तका इन्द्रियलिङ्गसादृश्यशब्दाः प्रमाणं। विशेषकं प्रमाणमित्युक्ते दण्डादावतिप्रसक्तिस्तन्निरासायासमवायीति विशेषणं। तावति च रूपादिव्यावर्त्तकपाकजत्वादावतिव्याप्तिस्तन्मा भूदित्याह ❀ प्रमीति ❀। तथाऽपि प्रमित्यसमवायिकारणस्य संयोगत्वं मनोविशिष्टं व्यावर्त्तकं भवति तदर्थं ❀ विवक्षितेत्यादि ❀। इन्द्रियलिङ्गादिसहितस्यैव मनोयोगस्य ज्ञानजनकत्वादिन्द्रियादेस्तद्विशेषकत्वं विवक्षितपदखण्डनन्यायेनैवेत्यर्थः। प्रमाणसामान्यलक्षणदूषणमुपसंहरति ❀ इतीति ❀।

'विवक्षित' पद से चार, यदि प्रभाकर का है, तब पाँच और यदि भाट्टादि का माना जाता है, तब छः प्रमाओं का ग्रहण किया जा सकता है।

दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यक्षादि का व्यवहार जैसे इन्द्रियादि से होता है, वैसे ही विषय के द्वारा भी होता है—'घटस्य प्रत्यक्षम्', 'पटस्य प्रत्यक्षम्'—इत्यादि। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण व्यपदेशक जैसे इन्द्रिय है, वैसे ही अर्थ (विषय) भी है, अतः अर्थ (प्रमेय) में भी प्रमाण के लक्षण का अतिप्रसङ्ग होता है। इसी प्रकार आप्त-वचन-जन्य शाब्द प्रमा का विशेषक आप्त पुरुष भी है, अतः उसमें भी शब्दप्रमाणता अतिप्रसक्त होती है। यदि घटादि प्रमेय में प्रत्यक्षप्रमाणता और आप्तपुरुष में शब्दप्रमाणता की अतिप्रसक्ति को स्वीकार करते हुए 'ओम्' का पूर्ववत् उच्चारण किया जाता है, तब इसका पूर्वचर्चित खण्डन स्मरण कर लेना चाहिए कि हम आपकी प्रणवोक्ति से अनुचित पदार्थ भी मान लेंगे—ऐसा आप (नैयायिकों) को कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

यदि उक्त लक्षण-वाक्य का तात्पर्य यह माना जाता है कि 'प्रमित्यसमवायिकरणविशेषकं प्रमाणम्', तब भी प्रमेयादि में प्रमाणतापत्ति होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमा के आत्ममनः-सन्निकर्षरूप असमवायिकारण के विशेषक जैसे इन्द्रियादि हैं, वैसे ही विषय (प्रमेय) भी है, क्योंकि अयमात्ममनःसन्निकर्षः कस्य जनकः ? इस प्रश्न का उत्तर होता है—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य जनकः'। सन्निकर्ष पदार्थ द्विष्ठ होता है, अतः दोनों सम्बन्धियों से विशेषित होता है, एक से नहीं, फलतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षण प्रमेयादि में अतिप्रसक्त होने के कारण दुष्ट लक्षण हैं।

२७. प्रत्यक्षलक्षणखण्डनम्

एवं विशेषतोऽपि प्रमाणलक्षणानि प्रतिवक्तव्यानि। तथा हि—

(१) प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीत्याहुः। किमर्थमिदमुच्यते ? किं सजातीयविजातीयव्यवच्छिन्नतत्प्रतीत्यर्थम् ? उत साक्षात्कारित्वप्रतीतये तच्चिह्नोपदर्शनमिदम् ? उत व्यवहारार्थम् ? उत प्रत्यक्षादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तावधारणार्थम् ? उत अन्यत्किञ्चिदर्थमेव ?

प्रमाणसामान्यखण्डनानन्तरं विशेषखण्डनं प्राप्तमिति प्राप्तावसरे तदुपक्रमते ॐ एवमिति *। ननु सामान्यखण्डनेनैव विशेषा अपि खण्डिता एव सामान्यानालिङ्गितानां विशेषाणामसिद्धेरतः पृथक् खण्डनमनर्थकमिति। मैवम्, यथा वैशेषिकादिमते सामान्यानालिङ्गिताः सामान्यादयस्त्रयः सिद्ध्यन्ति, यथा चौपनिषदानामन्त्यं ब्रह्म तथा प्रमाणविशेषा अपीति कस्यचिन्मन्दस्याशङ्का स्यात्तन्मा शङ्कीति पृथक् खण्डनं सार्थकमिति। सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षाधीनसिद्धित्वेन सकलप्रमाणज्येष्ठं प्रत्यक्षं तेन तदेव तावदुपस्थापयति ॐ तथा हीति ॐ। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति लक्षणांशः। प्रत्यक्षमितिलक्ष्यांशः। ज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तेऽनुमानज्ञानेऽतिव्याप्तिस्तन्निवारणायेन्द्रियेति। भ्रान्तिनिवारणायाव्यभिचारीति विशेषणम्। सुखादिव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानमिति। करणप्रमाणवादिमते सम्यगपरोक्षानुभवकरणं प्रत्यक्षमिति लक्षणं तत्सम्यक्त्वानुभवत्वापरोक्षत्वकरणत्वानां खण्डनेन खण्डितमिति। ज्ञानं प्रमाणमिति मीमांसकलक्षणानुवादः, इदं च लक्षणं "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वाद्" इति सूत्रेण कथितमित्यर्थः। लक्षणप्रणेतुरनर्थकं नाम निग्रहस्थानं दर्शयितुं प्रयोजनं विकल्पयति ॐ किमिति ॐ। हृदि कृतान्विकल्पान्विशदयति ॐ किमिति ॐ। सजातीयमनुमानादि, विजातीयं प्रमेयादि, तेभ्यो व्यवच्छिन्नतया प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध्यर्थमिदं लक्षणप्रणयनम्, सजातीयविजातीयव्यावर्त्तकधर्मस्य लक्षणत्वादित्यर्थः। साजात्यवैजात्ययोर्लक्ष्यसिद्ध्यधीनसिद्धित्वादन्योन्याश्रयात्कल्पान्तरमाह ॐ उतेति ॐ। प्रत्यक्षं साक्षात्कारित्वसमवायि कथितलक्षणयोगित्वाद्, व्यतिरेकेणानुमानवदिति साक्षात्कारित्वप्रतीतये लिङ्गोपदर्शनमित्यर्थः। साक्षात्कारित्वं जातिर्न सम्भवति प्रमात्वेन सङ्करादत इन्द्रियजज्ञानत्वमेव तदिति साध्याविशिष्टता स्यादिति कल्पान्तरमाह ॐ उतेति ॐ। इदं प्रत्यक्षमिति व्यवहर्त्तव्यमेतल्लक्षणवत्वादिति व्यवहारसिद्ध्यर्थं लक्षणप्रणयनमित्यर्थः। व्यवहारसिद्धौ सिद्धसाधनताऽसिद्धावप्रसिद्धविशेषणतेति पक्षान्तरमाह ॐ उतेति ॐ प्रत्यक्षं साक्षात्कारीत्यादिशब्दप्रवृत्ताविदं निमित्तमिति लक्षणकरणमित्यर्थः। न्यूनतापरिहाराय विकल्पान्तरम् ॐ उतान्यदिति ॐ। नन्वेतादृशविकल्पकरणेऽधिकं नाम निग्रहस्थानमन्यस्यासम्भवादिति। मैवम्, ग्रन्थोक्तदोषेण सम्भावितत्वादधिकत्वेऽप्यस्य सर्वत्र तत्स्यादन्यच्च दूषणं नोपलक्ष्यते इति।

---

२७. प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण का खण्डन

सामान्य प्रमाण के लक्षण का खण्डन जैसे किया गया, वैसे ही प्रत्यक्षादि विशेष प्रमाणों के लक्षणों का भी खण्डन करना चाहिए, अतः वह भी क्रमशः किया जाता है—

(१) उससे पहले तो यह जिज्ञासा होती है कि न्यायसूत्रकारादि ने जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया है—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" (न्या० सू० १।१।१) इत्यादि, उसका उद्देश्य क्या है ? क्या (१) सजातीय और विजातीय पदार्थों से प्रत्यक्ष की व्यावृत्ति (भेद) करने और उसकी प्रतीति के लिए ? या (२) साक्षात्कारित्व की प्रतीति कराने के लिए ? या (३) साक्षात्कारित्व का ज्ञापक चिह्न (लिङ्ग) दिखाने के लिए ? या (४) व्यवहार-सम्पादन करने के लिए ? या (५) प्रत्यक्षादि शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) दिखाने के लिए ? अथवा

तत्र नाद्यः, तथा हि—किं सजातीयेति प्रत्यक्षत्वेन साजात्यमपेक्षितम्, रूपान्तरेण वा ? नाद्यः, तस्माद् व्यवच्छेदावधेः सजातीयादव्यावृत्तत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्त्या व्यावृत्तत्वस्वीकारेण अव्यापकत्वात्। नापि द्वितीयः, विजातीयपदोपादानवैयर्थ्यात्। अस्ति हि प्रमेयत्वादिना सर्वसाजात्यम्।

अथ प्रमाणत्वादिना विशेषेण साजात्यं विवक्षित्वेदमुच्यते, तर्हि लक्ष्यस्यापि प्रमाणत्वेन साजात्याद् व्यवच्छेद्यकोटिप्रविष्टतया संग्राह्याभावप्रसङ्गः।

लक्ष्यस्य यत्प्रमाणत्वादिभिः सजातीयं तद् व्यवच्छेद्यम्। न च लक्ष्यस्य लक्ष्यं

विकल्पक्रमेण निराकरोति ॐ तत्रेति ॐ। लक्षणविशेषणस्य सजातीयादेरव्यावर्तकत्वं दर्शयितुं सजातीयपदार्थं विकल्पयति ॐ किमिति ॐ। समाना जातिर्येषां तानि समानजातीयानि तत्र समानजातिः प्रत्यक्षत्वमेवोत रूपान्तरमेवानुगतं किमपीति विकल्पाद्यं दूषयति ॐ नेति ॐ। कुत इत्यपेक्षायां हेतुमाह ॐ तस्मादिति ॐ। यस्मात्प्रत्यक्षत्वेन सजातीयादिदं व्यवच्छिद्यते तस्माद् व्यवच्छेदावधेर्व्यावृत्तिप्रतियोगिनो लक्षणस्याव्यावृत्तत्वे ह्यव्यावृत्तत्वेनैव हेतुना व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तिर्वैधर्म्यस्यैव व्यावर्तकत्वादतो व्यवच्छेदकत्वानुपपत्त्या ततो व्यावृत्तत्वं स्वीकरणीयं तेन लक्षणं तत्राव्यापकं स्यात्प्रत्यक्षत्वाक्रान्ततया लक्ष्यैकदेशत्वात्तस्यापि प्रत्यक्षसामान्यलक्षणत्वादित्यर्थः। अस्तु तर्हि रूपान्तरेण सजातीयत्वमिति द्वितीयो निरवद्यत्वादित्यत आह ॐ नापीति ॐ। हेतुमाह ॐ विजातीयेति ॐ। सजातीयविजातीयव्यवच्छित्तितत्प्रमित्यर्थमित्यत्र विजातीयेति पदं व्यर्थं सर्वस्यैव सजातीयतया सजातीयव्यवच्छेदेनैव लक्षणस्य चरितार्थत्वादित्यर्थः। सर्वपदार्थेषु भावाभावरूपेष्वनुगतरूपाभावात्सर्वेषां साजात्याभावेन विजातीयपदसङ्ग्राह्यमस्त्येवेत्याशंक्याह ॐअस्तीतिॐ। प्रमेयत्वाभिधेयत्वाद्यनुगतमस्तीत्यर्थः। प्रत्यक्षत्वातिरिक्तरूपेण साजात्ये विजातीयपदं व्यर्थं प्रमेयत्वादिना सर्वसाजात्यादित्युक्तं तत्परिहारमाशंकते ॐ अथेति ॐ। प्रमाणत्वज्ञानत्वादिना सजातीयत्वविवक्षया लक्षणं सजातीयविजातीयव्यवच्छेदकमुच्यते तत्रानुमानादिसजातीयवत्प्रमेयादिविजातीयस्यापि भावाद्विजातीयपदमर्थवदित्यर्थः। एवं तर्ह्यन्यापोहेन लक्ष्यप्रतीतये प्रणीतं लक्षणं साजात्याल्लक्ष्यमपि त्याजयेदिति दूषयति ॐ तर्हीति ॐ। प्रमाणत्वाक्रान्तं सजातीयं तच्चेद्व्यवच्छिद्यते प्रत्यक्षेऽपि तर्हि प्रमाणत्वाक्रान्तत्वात्साजात्यमस्तीति व्यवच्छेद्यकोटित्वात्ततो लक्षणव्यावृत्तावसम्भवोऽव्यावृत्तावतिव्याप्तिरित्यर्थः। प्रत्यक्षे प्रणीतलक्षणं वर्त्तते न चातिव्याप्तिस्तदितरस्य प्रमाणत्वादिना सजातीयस्य व्यवच्छेद्य-

---

(६) अन्य किसी उद्देश्य की सिद्धि करने के लिए लक्षण किया गया है ?

(१) प्रथम (सजातीयविजातीयव्यवच्छित्तितत्प्रतीत्यर्थम्) कल्प समीचीन नहीं, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्षत्वेन सजातीय पदार्थों का ग्रहण किया गया है ? या अन्य धर्म से ? प्रत्यक्षत्वेन एक प्रत्यक्ष व्यक्ति की सजातीय दूसरी प्रत्यक्ष व्यक्ति ही है। उक्त लक्षण सभी प्रत्यक्ष व्यक्तियों में समानरूप से व्याप्त माना जाता है, अतः 'अस्मात् प्रत्यक्षाद् व्यावृत्तमिदं लक्षणम्—ऐसा सावधि व्यावृत्ति-निर्देश नहीं किया जा सकता, यदि किसी प्रत्यक्ष व्यक्ति से यह लक्षण व्यावृत्त है, अर्थात् उसमें नहीं घटता, तब यह लक्षण अव्याप्त कहा जायगा। द्वितीय अन्य धर्म (प्रमेयत्वादि) से साजात्य विवक्षित होने पर लक्षण-घटक 'विजातीय' पद का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि केवल अनुमानादि सभी इतर प्रमाण ही प्रमेयत्वेन प्रत्यक्ष के सजातीय नहीं, अपितु सभी जगत् सजातीय ही हो जाता है, विजातीय कोई रहता ही नहीं कि उससे इस लक्षण की व्यावृत्ति की जाती। यदि प्रमाणत्वरूप से साजात्य अभिप्रेत है, तब प्रत्यक्षप्रमाण को उक्त लक्षण के द्वारा प्रमाणत्वाक्रान्त सभी प्रमाणों से व्यावृत्त करना होगा, उन्हीं में लक्ष्यरूप प्रत्यक्ष प्रमाण भी समाविष्ट हो जाता है, अतः वह भी व्यवच्छेद्य कोटि में ही आ जाता है, तब संग्राह्य कौन रहेगा ?

शङ्का—यदि कहा जाय कि 'लक्ष्यस्य यत्प्रमाणत्वादिभिः सजातीयम्', तद् व्यवच्छि-

सजातीयम्, षष्ठ्यर्थस्य भेदव्यवस्थितत्वादिति चेत्, एवं तर्हि लक्ष्यापेक्षया भिन्नाद् व्यवच्छेद इत्येवोच्यताम्, कृतं प्रमाणत्वादिना साजात्येन प्रकृतानुपयोगिना वर्णितेन ? यदा च लक्ष्यादन्यत्वं परेषामवगतं तदा परस्मादन्यत्वमपि लक्ष्यस्यार्थाद् वगम्यत इति सिद्धमग्रत एव लक्षणप्रयोजनमिति वैयर्थ्यमेव स्यात् लक्षणाख्यानस्येति ।

अस्तु वा विवक्षावैचित्रीवशात् कथमपीदृशमभिधानम्, तथापि न तावदनेन लक्षणेनानवगतेनैव व्यवच्छिन्नप्रतीतिसम्भवः, अतिप्रसङ्गात् । नापि ज्ञातेन, दुरवधार-

त्वादिति शंकते ❀ लक्ष्येति ❀ । लक्ष्यस्य लक्ष्यमपि सजातीयमतो गदितावद्यतादवस्थ्यमित्याशंक्याह ❀ न चेति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ षष्ठीति ❀ । सजातीयमित्युक्ते कस्येति मीमांसने लक्ष्यस्येति वाच्यमतः षष्ठ्या लक्ष्यसम्बन्धिनः साजात्यं प्रतीयते, न च लक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धि, सम्बन्धस्य भिन्नाधिष्ठानत्वादित्यर्थः । यल्लक्ष्यादन्यत्ततो व्यवच्छेदो लक्षणस्य कृत्यमिति वाच्यं लाघवान्न प्रमाणत्वेनेत्याद्यानर्थक्यापातादिति परिहरति ❀ एवमिति ❀ । अलक्ष्याल्लक्ष्यव्यावृत्तये लक्षणप्रणयनमिष्टमेवास्माभिरित्यत आह ❀ यदेति ❀ ।

लक्ष्यादन्यतया प्रतिपन्नमलक्ष्यम् ? किं वा प्रतिपन्नमात्रम् ? नान्त्यो लक्ष्यस्यापि तथात्वेन व्यावर्त्यत्वापाताद्यद्याद्यस्तदाऽपि लक्ष्यप्रतियोगिकमन्यत्वमलक्ष्यस्य ततो लक्ष्यस्यान्यत्वप्रतीतिमन्तरेण प्रतिपत्तुमशक्यमात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गाद्वतश्चालक्ष्यस्यान्यत्वप्रतिपत्तावेव लक्ष्यस्यापि ततोऽन्यत्वं लक्षणोदीरणात्पुरैव सिद्धमिति व्यर्थं लक्षणमित्यर्थः । घटप्रत्यक्षं यथा घटादन्यत्वेनानवगतपटादेर्व्यावृत्तं घटं बोधयति तथा लक्षणमपि लक्ष्यादन्यत्वेनानवगतादलक्ष्याद्वस्तुतोऽन्यस्माल्लक्ष्यं किं न व्यवच्छिन्द्यादित्याशङ्क्याह । ❀ अस्तु वेति ❀ । अज्ञातं व्यवच्छेदकं ज्ञातं वेति विकल्प्याद्यं दूषयति ❀ तथापीति ❀ । तत्र हेतुरतिप्रसङ्गादिति । सत्तामात्रेण व्यवच्छेदकत्वे सर्वदा सर्वेषामेव सर्वान्प्रति च व्यवच्छेदकत्वं स्यादविशेषादित्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । द्वितीयमसम्भवेन दूषयति ❀ नापीति ❀ । लक्षणस्य दुरवधारणत्वान्न ज्ञातमपि व्यवच्छिद्यते ।

द्यते ।' इस प्रकार प्रत्यक्षरूप लक्ष्य के सजातीय अनुमानादि प्रमाणों की ही लक्षण के द्वारा व्यावृत्ति होगी, प्रत्यक्ष की नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष का सजातीय नहीं। केवल 'सजातीयं' नहीं कहा जाता, अपितु 'लक्ष्यस्य सजातीयम्'—यहाँ 'लक्ष्य' पद के उत्तर षष्ठी विभक्ति भेद-सापेक्ष सम्बन्ध की बोधिका होती है, अतः लक्ष्य (प्रत्यक्ष) से भिन्न अनुमानादि ही व्यवच्छेद्य होते हैं, प्रत्यक्ष व्यवच्छेद्य नहीं, अपितु संग्राह्य है ।

समाधान—'लक्ष्यभिन्नात् सजातीयात् लक्ष्यस्य व्यवच्छेदः क्रियते—इसकी अपेक्षा 'लक्ष्यभिन्नात् व्यवच्छेदः क्रियते'—इतना ही कह देना पर्याप्त है, 'सजातीयात्'—ऐसा कहना प्रकृतानुपयोगी और व्यर्थ है। दूसरी बात यह भी है कि लक्षण की प्रवृत्ति से पहले ही सजातीयं लक्ष्यादन्यत्'—ऐसा ज्ञान प्राप्त करना होगा, जब कोई व्यक्ति सजातीय पदार्थ को लक्ष्य से भिन्न जान गया, तब उसे यह भी ज्ञात हो गया कि लक्ष्य पदार्थ सजातीय से भिन्न है, क्योंकि जो पदार्थ जिस वस्तु से भिन्न होता है, वह वस्तु भी उस पदार्थ से भिन्न होती है। इस प्रकार लक्षण की प्रवृत्ति से पहले ही जब सजातीय से लक्ष्य का भेद अवगत हो गया, तब वह लक्षण का फल या प्रयोजन क्योंकर कहलाएगा? जिस लक्षण के प्रयोग से पहले ही उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, वह लक्षण नितान्त व्यर्थ है।

यदि वक्ताओं की विभिन्न विवक्षाओं के अनुरोध पर कथित लक्षण का अभिधान उचित भी ठहराया जाय, तब भी एक यह जिज्ञासा उठती है कि अज्ञात लक्षण के द्वारा लक्ष्य में इतर-भेद अवगत होता है? अथवा ज्ञात लक्षण के द्वारा? अज्ञात लक्षण को वैसे ही व्यवच्छेदक नहीं माना जा सकता, जैसे अज्ञात धूमादि लिङ्ग को वह्नि का गमक नहीं माना जाता, अन्यथा सभी पदार्थों का सब से व्यवच्छेदक किसी एक लक्षण को ही माना जा सकेगा,

णत्वात् । तथा हि—न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पत्तिः, प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षविशेषणत्वात् । नापि कार्येण लिङ्गेन तदनुपपत्त्या वा तदवगमः, ताभ्यां सामान्यतः कारणमात्राक्षेपेण कारणगतानुगतरूपासिद्धौ एकरूपलक्षणासिद्धेः ।

कार्यस्यैकजात्याद् एकजातीयकारणसिद्धिरिति चेत्, तर्हि कार्यगतैकजात्यस्य पूर्वमवश्यं प्रत्येतव्यत्वाङ्गीकारे तत एव सजातीयविजातीयव्यवच्छेदप्रतिपत्तिरस्तु, कृतमनया पारम्पर्यकुसृष्ट्या ।

लक्ष्यज्ञानहेतुरित्यर्थः । दुरवधारणत्वं च तत्साधकप्रमाणाभावात्, तथा हि—प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्यक्षेण ज्ञायते, उत लिङ्गेनेति विकल्प्य प्रथमं पराकरोति ॐ न तावदिति ॐ । इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्म प्रत्यक्षलक्षणं न तत्प्रत्यक्षगम्यं अप्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षो विशेषणं यस्य तत्तथोक्तं तद्भावस्तत्त्वं तस्मान्नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्यायादित्यर्थः । प्रत्यक्षलक्षणस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि कार्यलिङ्गादनुमीयते तदन्यथानुपपत्तिरूपार्थापत्त्या वा प्रमीयते इति द्वितीयमाशङ्क्याह ॐ नापीति ॐ । कथमनवगम इत्यत उपपादयति ॐ ताभ्यामिति ॐ । कार्यं कारणपूर्वकमिति व्याप्तिर्न त्वनुगतकारणपूर्वकमिति तथा च ज्ञानादिलक्षणकार्येण किंचित्कारणं सिद्धयति न पुनः कारणस्यानुगतरूपसिद्धिरतोऽव्याप्त्या लक्षणासिद्धिरित्यर्थः । विमतं ज्ञानमेकजातीयकारणजन्यमपरोक्षत्वेनैकजातीयकार्यत्वाद्यदेकजातीयं कार्यं तदेकजातीयकारणपूर्वकम्, यथा घट इति सामान्यतोदृष्टात्कारणस्यानुगतरूपसिद्धिरिति शङ्कते ॐ कार्येति ॐ । कार्यगतं यदैकजात्यं कारणैकजात्ये लिङ्गन्तस्यैव लक्षणवदनसमर्थस्योपजीव्यस्य लक्षणत्वमस्तु व्यर्थं त्वदुपन्यस्तलक्षणमिति परिहरति ॐ तर्हीति ॐ । कार्यैकजात्यमभिगम्य कारणानुगतरूपसिद्धिस्ततो लक्ष्यसिद्धिरिति यत्नगौरवात्पारम्पर्यस्य या कुत्सिता सृष्टिस्तया कृतमलमित्यर्थः ।

अनेक लक्षणों का अभिधान व्यर्थ है । लक्षण का ज्ञान सुकर नहीं, अतः ज्ञात लक्षण को भी व्यवच्छेदक नहीं मान सकते । प्रस्तुत प्रत्यक्ष-लक्षण का ज्ञान यदि माना जाय, तब किस से ? प्रत्यक्ष से ? या लिङ्ग-दर्शन से ? लक्षण-घटक इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षरूप विशेषण अप्रत्यक्ष (अतीन्द्रिय) होने के कारण 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वरूप लक्षण कदापि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । जैसे धूमरूप कार्य के द्वारा वह्निरूप कारण का अनुमान होता है, वैसे भी इस लक्षण के किसी कार्य या अन्यथानुपपत्ति के द्वारा उसका अनुमान या अर्थापत्ति ज्ञान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्य का कारणमात्र से सम्बन्ध होता है, अतः उससे केवल लक्षणरूप कारण सिद्ध हो सकता, अनुगत कारण सिद्ध न हो सकने के कारण सर्वलक्ष्यानुगतलक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती [आशय यह है कि कारण एक अननुगत पदार्थ होता है और लक्षण अनुगत पदार्थ, कार्य के द्वारा अननुगत कारण पदार्थ की ही सिद्धि हो सकती है, अनुगत की नहीं । जैसे किसी धूम व्यक्ति के द्वारा उसकी कारणभूत अग्नि की सिद्धि हो जाती है—'अस्तीहाग्निः' किन्तु 'अयमेवाग्निः समेषां धूमानां जनकः'—ऐसा अनुगत रूप सिद्ध नहीं होता] ।

शङ्का—जहाँ कार्य एकजातीय न होकर नानाजातीय होता है, वहाँ अवश्य ही कार्य के द्वारा अननुगत कारण ही सिद्ध होता है और अननुगत कारण को लक्षण नहीं कहा जा सकता किन्तु प्रकृत में प्रत्यक्ष प्रमारूप कार्य एक साक्षात्व जाति से समन्वित है, अतः इस के द्वारा अनुगत इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि की सिद्धि हो सकती है ।

समाधान—सभी प्रत्यक्ष प्रमा व्यक्तियाँ साक्षात्वरूप एक जाति से समन्वित हैं—ऐसा ज्ञान यदि लक्षण-प्रयोग से पहले ही सिद्ध हो जाता है, तब उसी 'साक्षात्व' जाति के द्वारा प्रत्यक्ष में सजातीय और विजातीय पदार्थों से भेद भी सिद्ध हो जायगा, 'साक्षत्व जाति के माध्यम से लक्षणरूप कारण का अनुमान और अनुमित लक्षण के द्वारा सजातीय और विजातीय का लक्ष्य में भेद सिद्ध करना'—इस प्रकार का कुकर्म करने की क्या आवश्यकता ?

नन्वेतावताऽपि न प्रकृतलक्षणखण्डनं भवति, अव्याप्तेरतिव्याप्तेर्वाऽनुद्भावनात् । मैवम्, प्रथमभावितयाऽवश्यानुष्ठेयतया च लघोरुपायात् साध्यसिद्धौ सम्भवन्त्यां चरमभावितयाऽवश्यानुष्ठेयत्वाभावेन च गुरूपाये प्रवर्तमानस्य तवैवेदं दोषोद्भावनं प्रदीपे प्रदीपान्तरं प्रज्वाल्य तमोनिरासाय यतमानस्येव पुंसः । न हि तस्य दीपान्तरस्य कश्चिद्दोषः, किन्तु तथाकारी पुरुष एव पर्यनुयोज्यः । सर्वसाधनसाधारणोऽयं

कार्यगतैकरूप्यप्रमितया लक्ष्यस्य सजातीयादिव्यवच्छेदोपपत्त्या लक्षणस्योक्तं वैयर्थ्यमभ्युपगम्यापि लक्षणस्यादुष्टत्वं चोदयति ॐ नन्विति ॐ । लक्षणान्तरसम्भवेऽपि न प्रकृतस्य लक्षणत्वक्षतिः लक्षणदोषस्यातिव्याप्त्यादेरकथितत्वादिति तात्पर्यम् । परोदीरितलक्षणस्य दूषणोदीरणं स्वरूपेण न प्रयोजकं किं तु जयहेतुतया तदिह लक्षणं स्वयमदुष्टमपि स्वप्रणेतुर्दोषमापादयन्मम जयहेतुर्भवत्येवेति परिहरति ॐ मैवमिति ॐ । लघोरुपायात्कार्यसिद्धौ सम्भवन्त्यां गुरावुपाये प्रवर्तमानस्य तवैवेदं दोषोद्भावनमिति सम्बन्धः । गौरवं चात्र हेतुः । "इष्टस्यायत्नसंसिद्धौ को विद्वान्यत्नमाचरेदि"ति न्यायः । उपायान्तरस्य लाघवे हेतुमाह ॐ अवश्येति ॐ । कार्यगतैकरूप्यानवगतौ कथितलक्षणस्यैवावगत्यसम्भवेनावश्यानुष्ठेयत्वं अवश्यज्ञेयत्वमिति यावत् । तदेव कुत इत्यत आह ॐ प्रथमेति ॐ । प्राथम्ये च तस्य कार्यैकरूप्यावगमस्य लक्षणावगमं प्रति हेतुत्वात् । इतरस्य गुरुत्वे कारणमाह ॐ अवश्येति ॐ । तदभावश्च साधनान्तरावावश्यकात्साध्यसिद्धिविपरीतं किं न स्यादित्यत आह ॐ चरमेति ॐ । लक्षणस्य चरमभावित्वान्न वैपरीत्यचोदनमित्यर्थः । उक्तमुदाहरणेनोपपादयति ॐ प्रदीप इति ॐ । द्वितीयप्रदीपहेतुतया प्रथमदीपस्यावश्यकस्य दीपान्तरानपेक्षतया तमोनिराससामर्थ्ये सति दीपान्तरमुज्ज्वाल्य तमोनिरासाय यतमानस्य यथा प्रतिपत्त्यादिदोषस्तद्वदित्यर्थः । विषम उपन्यासस्तत्र द्वितीयदीपस्य दुष्टत्वात्तत्कार्यं पर्यनुयुज्यते, न तु कथितलक्षणस्यानवद्यत्वात्कथं मम पराजय इत्याशङ्क्याह ॐ न हीति ॐ । तर्हि साधनस्यादुष्टत्वात्तत्रापि साध्यसिद्धिरित्याशङ्क्य कर्तृदोषादित्याह ॐ किं त्विति ॐ । पुरुषस्य दुष्टत्वेऽपि लक्षणादुष्ट्या तद्बलाल्लक्ष्यादिसिद्ध्या

शङ्का—लक्ष्यगत इतर-भेद की सिद्धि यदि साक्षात्वादि धर्मों के द्वारा हो जाती है, तो इतने मात्र से लक्षण व्यर्थ क्यों होगा ? एक साध्य के अनेक साधन होते हैं, उनमें एक साधन के द्वारा दूसरे साधन व्यर्थ नहीं माने जाते । व्यर्थता दोष तो हेतु का दोष है, व्यर्थ हेतु व्याप्यत्वासिद्ध माना जाता है। लक्षण के दोष तो अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भवादि होते हैं, इनमें से जब तक कोई दोष उद्भावित नहीं होता, तब तक लक्षण दुष्ट नहीं कहा जा सकता ।

समाधान—हमारा उद्देश्य तो लक्षण-कर्त्ता नैयायिक महाशय को परास्त करना है, उस की पराजय उसके लक्षण के अन्तरङ्ग कलेवर को दूषित करने से भी हो सकती है और लक्षण के बहिरङ्ग को भङ्ग कर देने से भी हो जाती है। हमने जब एक रेखा के सामने छोटी रेखा खींच दी, तब पहली रेखा अपने आप लम्बी हो जाती है। नैयायिक के लक्षण-प्रणयन का प्रयोजन जो लक्ष्य की इतर-व्यावृत्ति-साधन बताया जाता है, उसको हमने साक्षात्कारित्वरूप जाति के द्वारा सिद्ध कर दिखाया, साक्षात्कारित्व का मानना परमावश्यक है, अतः जब इसी से इतर-भेद सिद्ध हो जाता है, तब इस के द्वारा लक्षण की और उस लक्षण के द्वारा इतर-भेद का साधन वैसा ही गौरपापादक है, जैसे कि एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाकर दूसरे से अन्धकार को दूर करना। जैसे एक दीपक से प्रज्वालित दूसरा दीपक स्वयं व्यर्थ नहीं, अर्थ क्रियाकारी होने पर भी अपने प्रज्वालयिता पुरुष की अनभिज्ञता अवश्य प्रकट करता है, वैसे ही कार्यगत साक्षात्कारित्वरूप जाति के द्वारा लक्षण और लक्षण के द्वारा लक्ष्य में इतर-भेद सिद्ध करने से लक्षण में भले ही दोष न आये, लक्षण-प्रणेता नैयायिक महाशय की गौरव-ग्रस्त कार्य-प्राणाली तो प्रकट हो ही जाती है, वह उतने मात्र से लज्जित और पराजित हो जता है,

वा दोषो यत्सम्भवदेवंविधलघूपायत्वं नाम, स्वरूपासिद्धिरिव सर्वप्रमाणानाम्। तस्मान्मा नाम भूदतिव्याप्त्यादिर्दोषः, सामान्यदोषादेवेदं लक्षणं दुष्टमिति।

एतेन द्वितीयोऽपि निरस्तः, साक्षात्कारित्वावगममन्तरेण तदवगमानुपपत्तेः। तदवगमाच्चास्य प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गः।

अस्तु वा अन्यदपि किञ्चिदिन्द्रियजत्वे लिङ्गम्, तथापि तदेव साक्षात्कारित्वाविनाभूततया प्रत्यक्षलक्षणमुपन्यस्यतां सन्निहितप्रतिपत्तिकत्वात्।

न च तदवश्यं व्यापकं वक्तव्यम्, लिङ्गस्य तद्व्याप्यत्वेनैवोपपत्तेरिति चेन्न,

---

अद्वैतविध्वंस इत्याशङ्क्याह ❀ सर्वेति ❀। एवंविधं प्राथमिकमवश्यानुष्ठेयं सम्भवति यस्मिंल्लघूपायरूपे तत्सम्भवदेवंविधलघूपायस्तद्भावस्तत्त्वम्। एतदुक्तं भवति—लघावुपाये सम्भवति गुरोरुपायस्योपायत्वमेव नास्ति उपेयस्यान्यत एव सिद्धेरुपेयते साध्यमनेनेति हि उपायः प्राथमिकप्रदीपनिरस्ते तमसि जायमानदीपान्तरस्य निराससाधनत्वाभाववदिति। बुद्धिसाम्यापादनार्थं प्रत्यक्षादिप्रमाणानां स्वरूपासिद्धिर्यथा दोषस्तद्वदिति दृष्टान्तमुपादत्ते ❀ स्वेति ❀। अव्याप्त्यादिदोषासत्त्वेऽपि सामान्यदोषेण दुष्टं लक्षणमिति प्रथमपक्षमुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। मा नाम भून्मा भूत्नामेति सम्बन्धः।

साक्षात्कारित्वप्रतीतये तच्चिह्नोपदर्शनमिति द्वितीयोऽस्तु निरवद्यत्वादित्यत आह ❀ एतेनेति ❀। परामृष्टं हेतुं स्पष्टयति ❀ साक्षादिति ❀। साक्षात्कारित्वप्रतीतिव्यतिरेकेण कथितप्रत्यक्षलक्षणं दुरधिगममिति। अस्तु तर्हि साक्षात्कारित्वादिदमिन्द्रियजमव्यभिचारि इत्यादिलक्षणावगमे को दोष इत्यत आह ❀ तदिति ❀। साक्षात्कारित्वसिद्धिरिति परस्पराश्रयः। अपरोक्षव्यवहारहेतुप्रत्ययत्वलिङ्गेनेन्द्रियजत्वादिलक्षणावगमान्नेतरेतराश्रय इत्यत आह ❀ अस्त्विति ❀: इन्द्रियजत्वे लिङ्गमुपगतं चेत्परस्पराश्रयपरिहारात्सिद्धस्तर्हि द्वितीयकल्पस्तत्राह ❀ तथाऽपीति ❀। साक्षाद्व्यवहारहेतुप्रत्ययत्वमेव लक्षणमुच्यतां कृतमनेन। कुत एतत्तत्राह ❀ सन्निति ❀। प्रथमज्ञेयतया सन्निहितप्रतिपत्तिकत्वादिति यावत्। लक्षणं सकलं लक्ष्यव्यक्तिव्यापकं वक्तव्यमिदं तु न व्यापकमुपेक्ष्यतृणादिप्रत्यक्षोत्पत्तावपि पथि गच्छतोऽपरोक्षव्यवहाराभावादिति शङ्कते ❀ नेति ❀। अव्यापकत्वे लिङ्गत्वमेव तस्य न स्यात्कृतकत्वादेरनित्यत्वं प्रति

हमारा उद्देश्य सिद्ध हो गया।

यह हमारी दोषोद्भावन-प्रणाली सर्वसाधारण है, इस सामान्य दोष से ही यह लक्षण भी दूषित हो जाता है, अतिव्याप्त्यादि दोष नहीं दिखाए गए तो क्या हुआ? लक्षण निर्दुष्ट तो न रहा। जो पदार्थ अपने कार्य-सम्पादन में सक्षम नहीं रहता, उसका होना न होने के बराबर है। लक्षण का जो प्रयोजन बताया गया—लक्ष्य में इतर-व्यावृत्ति का साधन, वह प्रयोजन जब लघु उपाय से ही सम्पन्न हो गया, तब यह लक्षण कार्याक्षम या स्वरूपासिद्ध हो जाता है।

(२) द्वितीय विकल्प (साक्षात्कारित्वप्रतीतये तच्चिह्नोपदर्शनम्) भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि यदि साक्षात्कारित्वविषयक अवगम के विना लक्षण का अवगम न होता, तब जैसे धूम की अन्यथानुपपत्ति के आधार पर अग्नि की सिद्धि होती है, वैसे ही लक्षण के द्वारा साक्षात्कारित्व सिद्ध हो सकता था। साक्षात्कारित्वविषयक ज्ञान के द्वारा यदि लक्षण का ज्ञान माना जाय, तब अन्योऽन्याश्रय दोष होता है कि साक्षात्कारित्व की सिद्धि हो जाने पर लक्षण की सिद्धि और लक्षण की सिद्धि हो जाने पर साक्षात्कारित्व की सिद्धि होती है। इस अन्योऽन्याश्रयता को दूर करने के लिए यदि लक्षण की अवगति साक्षात्कारित्व-ज्ञान पर निर्भर न होकर अपरोक्षव्यवहारहेतुज्ञानत्व के द्वारा मानी जाय, तब साक्षात्कारित्व का अविनाभूत होने के कारण अपरोक्षव्यवहारहेतुप्रत्ययत्वादि को ही प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण मान लेना चाहिए, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादि को लक्षण क्यों माना जाता है? इसकी अपेक्षा लक्ष्य की प्रतिपत्ति का वह लघुतर एवं शीघ्र बोधक उपाय है।

यत्र लिङ्गमव्यापकत्वान्नास्ति तत्रेन्द्रियजत्वस्य प्रमाणाभावात् प्रत्येतुमशक्यत्वेन कथं ततः साक्षात्कारित्वावगमः ? यदा च क्वचित्प्रत्यक्षजातीय एव प्रमाणाभावादिन्द्रियजत्वमनवधारणीयतया साक्षात्कारित्वव्यापकत्वेनानवगतमपि लक्षणम्, तदा किमपराद्धं लिङ्गान्तरेणाव्यापकेन ?

अथ यत्र तदिन्द्रियजत्वे लिङ्गं नास्ति तत्र लिङ्गान्तरात्तत्प्रत्येतव्यम्। तथापि तदेवास्तां साक्षात्कारित्वे लिङ्गम्, कृतमिन्द्रियजत्वानुमानपूर्वकतदनुमानकल्पनया।

अथ तथा लिङ्गद्वयं तत् प्रत्येकमव्यापकतया न लक्षणम्, इन्द्रियजत्वन्तु

व्यापकस्यैव लिङ्गत्वादित्यत आह ॐ लिङ्गेति ॐ। व्याप्यत्वं लिङ्गत्वे प्रयोजकं न व्यापकत्वं सपक्षैकदेशवृत्तेरपि धूमादेर्लिङ्गत्वादित्यर्थः। अव्यापकस्य लिङ्गत्वोपपत्तावपीदमिन्द्रियजत्वं लिङ्गं व्यापकं वाच्यमन्यथा तस्य सार्वत्रिकत्वानुपपत्त्या सर्वत्र लक्ष्ये साक्षात्कारित्वप्रतीतिहेतुत्वं न स्यादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। यत्र लिङ्गाभावादिन्द्रियजत्वमनवगतं तत्र स्वरूपसत्त्वात्साक्षात्कारित्वव्यापकत्वेनानवगतमपि लक्षणं भवतीत्यत आह ॐ यदेति ॐ। इन्द्रियजत्वं क्वचित्प्रत्यक्षजातीय एव प्रमाणाभावात्साक्षात्कारित्वस्य व्यापकतयाऽनवगतमपि लक्षणं तदाऽव्यापकेन लिङ्गान्तरेण किमपराद्धं कोऽपराधः कृतो यस्मात्तस्य लक्षणत्वं न भवेदिति यावत्। लिङ्गद्वयेनेन्द्रियजत्वस्य साक्षात्कारित्वव्यापकतयाऽवगतस्य लक्षणत्वं भवतीति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। तदपरोक्षव्यवहारहेतुत्वं लिङ्गं यत्र प्रत्यक्षभागे नास्ति तत्र सविशेषार्थंप्रधानत्वं लिङ्गान्तरं तदनुमापकं भवतीत्यर्थः। लिङ्गद्वयस्यापि परस्तात्पराकरिष्यमाणत्वादरुच्याऽङ्गीकृत्यापि परिहरति ॐ तथापीति ॐ। तथापि तावेव लिङ्गविशेषावेव साक्षात्कारित्वे लिङ्गमास्तां ताभ्यामिन्द्रियजत्वमनुमाय तत्पूर्वकतया साक्षात्कारित्वानुमानकल्पनया कृतमलं गौरवापातादित्यर्थः। लक्षणं व्यापकं वाच्यं लिङ्गद्वयं प्रत्येकं मिलितं च साक्षात्कारित्वव्यापकं न भवति तेनेन्द्रियजत्वमेव व्यापकत्वाल्लक्षणमिति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। यत्र लक्षणव्यतिरेकेण लक्ष्यानुमानं न सिद्ध्येत्तत्र व्यापकं लक्षणं

शङ्का—लिङ्ग तो लक्ष्य का व्याप्य भी होता है, किन्तु लक्षण सदैव लक्ष्य व्यक्तियों में व्यापक होता है किन्तु अपरोक्षव्यवहारहेतुप्रत्ययत्व वैसा नहीं, क्योंकि मार्ग में जाते हुए आनुषङ्गिक तृणादि के प्रत्यक्ष में अपरोक्ष-व्यवहार नहीं होता, अतः अपरोक्षव्यवहारहेतुप्रत्ययत्व को प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं माना जा सकता, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादि को ही लक्षण मानना होगा।

समाधान—लिङ्ग यदि लक्ष्य का अव्यापक होता है, तब जिस प्रत्यक्ष व्यक्ति में वह नहीं, वहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व के होने में भी कोई प्रमाण नहीं, उसका वहाँ ज्ञान ही नहीं हो सकता, अतः उक्त लक्षण साक्षात्कारित्वावगति का चिह्न क्योंकर हो सकेगा ? यदि व्यापकत्वेनानवगत इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व साक्षात्कारित्व की प्रतीति में लिङ्ग हो सकता है, तब अपरोक्षव्यवहारहेतुप्रत्ययत्वरूप लिङ्ग ने क्या विगाड़ा है कि वह लक्षणविधया लक्ष्य का गमक नहीं हो सकता।

शङ्का--जहाँ पर इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व का ज्ञान अपरोक्षव्यवहारहेतुप्रत्ययत्वरूप लिङ्ग से नहीं हो सकता, वहाँ लिङ्गान्तर से उसका ज्ञान हो सकता है, अतः इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व समस्त प्रत्यक्ष व्यक्तियों में व्यापक होने के कारण प्रत्यक्ष का लक्षण हो सकता है।

समाधान—जिस लिङ्गान्तर से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व का अनुमान किया जाता है, उसी को साक्षात्कारित्व का भी चिह्न (लिङ्ग) माना जा सकता है, 'उसके द्वारा इन्द्रियजन्यत्व और इन्द्रियजन्यत्व के द्वारा साक्षात्कारित्व का अनुमान किया जाय'—ऐसी परम्परा की कल्पना निरर्थक है।

शङ्का—इन्द्रियजन्यत्व के कथित दोनों लिङ्ग न तो पृथक्-पृथक् और न मिलकर

तथात्वात् लक्षणमिति चेन्न, साक्षात्कारित्वानुमानस्य लक्षणप्रयोजनस्योभाभ्यामेव सिद्धेः कृतं व्यापकेन तेन ।

नापि तृतीयः, स ह्येवंरूपो यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजनितं तत्प्रत्यक्षमिति व्यवहर्तव्यमिति । अयमप्यर्थोऽनुपपन्नः, लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । साक्षात्कारित्वात्तदवगमे साक्षात्कारित्वमेवास्तु व्यवहारनियमनिदानम्, अव्यवहितप्रतिपत्तिकत्वादित्यावेदितम् । अत एव न चतुर्थः, कल्पनागौरवदोषश्चाधिकः । नापि पञ्चमः, तादृशस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ।

वाच्यमिह त्विन्द्रियजत्वानुमापकलिङ्गद्वयेनैव साक्षात्कारित्वसिद्धेर्नेन्द्रियजत्वं लक्षणमिति परिहरति ॐ नेति ॐ ।

व्यवहारार्थं लक्षणमिदमिति तृतीयकल्पं निराचष्टे । ॐ नापीति ॐ । निषेध्ये सम्यगवगते तन्निषेधः सुशक इति निषेध्यकल्पमेव दर्शयति ॐ स हीति ॐ । किंरूप इत्यत आह ॐ यदिति ॐ । यदिन्द्रियार्थसंनिकर्षजमव्यभिचारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षमिति व्यवहर्तव्यमित्येवंरूपः स तृतीयकल्प इत्यर्थः एवमनूद्यापवदति ॐ अयमिति ॐ । लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वमसिद्धं साक्षात्कारित्वेनैव तदवगमादित्याशंक्याह ॐ साक्षादिति ॐ । सन्निहितप्रतिपत्तिकत्वादिति । प्रथमं ज्ञायमानतया लघुत्वादिति यावत् ।

प्रत्यक्षशब्दप्रवृत्तिनिमित्तावधारणार्थं लक्षणमुच्यत इति तुरीयं कल्पमतिदेशेन दूषयति ॐ अत इति ॐ । लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वादिति हेतोरेवेत्यर्थः । अस्मिन् कल्पे तदसाधारणदोषमाह ॐकल्पनेतिॐ । अन्वयव्यतिरेकावगतप्रत्यक्षत्वजातेरेव तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वोपपत्तावनेकविशेषविशिष्टस्येन्द्रियजत्वादिलक्षणस्य निमित्तत्वकल्पने गौरवमिति यावत् । अस्तु तर्ह्यन्यत्किञ्चिदर्थमिति पञ्चमः कल्पो नेत्याह ॐ नेति ॐ । हेतुमाह ॐ तादृशेति ॐ । तस्य सतो निर्वचनापातान्निर्वक्तुं चाशक्यत्वादित्यर्थः । उक्तं

साक्षात्कारित्व के व्यापक हो सकते हैं, किन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व व्यापक है, अतः इसी को लक्षण मानना उचित है।

समाधान—लक्षण का मुख्य प्रयोजन यहाँ साक्षात्कारित्व का अनुमान करना है, वह कथित दोनों लिङ्गों से जब सम्पन्न हो जाता है, तब किसी व्यापक लक्षण की कल्पना निरर्थक है।

(३) तृतीय (व्यवहारार्थम्) कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि जिस व्यवहार का सम्पादन करना है, उस का स्वरूप तो यही है—'यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजनितम्, तत् प्रत्यक्षमिति व्यवहर्त्तव्यम् ।' यह उद्देश्य भी सम्भव नहीं, क्योंकि उक्त लक्षण का ज्ञान सुकर नहीं। यदि साक्षात्कारित्व के द्वारा लक्षण का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, तब साक्षात्कारित्व को उक्त व्यवहार का निर्वाहक मान लेने में ही लाघव है—यह कहा जा चुका है।

(४) चतुर्थ (प्रत्यक्षादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तावधारणार्थम्) कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि लक्षण का ज्ञान ही जब सुकर नहीं, तब उसे प्रत्यक्षादि शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त क्योंकर माना जा सकता है ? इस लक्षण में केवल दुरवगमता ही नहीं, इसे प्रत्यक्षादि शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त मानने में गौरव भी है, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक के आधार पर जब 'प्रत्यक्षत्व' जाति ही प्रत्यक्षादि शब्दों की प्रवृत्ति-निमित्त सिद्ध हो जाती है, तब उसकी अपेक्षा गुरु कलेवर वाले (अनेक विशेषण-गर्भित) लक्षण को प्रत्यक्षादि शब्दों का शक्यतावच्छेदक मानना अत्यन्त अनुचित है।

(५) पञ्चम (अन्यत्किञ्चिदर्थम्) पक्ष भी निर्दोष नहीं क्योंकि ऐसे किसी प्रयोजन का निर्वचन हमारे (खण्डनिक के) रहते सम्भव नहीं।

(२) एतेन भासमानाकारेन्द्रियसंयोगजं प्रत्यक्षमित्यपि निरस्तम् ।

किञ्च प्रमाणविशेषलक्षणमिदं प्रमाणलक्षणोपसंगृहीतस्य कियतः सङ्ग्राहकम्, कियतश्च प्रतिक्षेपकं वक्तव्यम्, प्रमाणलक्षणेन च व्यभिचारिणो निवृत्तिः प्रदर्श्यते। तथा च सति यथाश्रुतमिदमलक्षणम्, व्यभिचार्यपि हि भासमानस्य सत्तादेराकारस्येन्द्रियसंयोगादुत्पद्यते ।

अथ विशेषाभिप्रायेणेदं लक्षणं वाच्यम्, तथाऽप्यसङ्गतिः। तथा हि—किं

दूषणं प्रत्यक्षलक्षणान्तरेऽतिदिशति ※ एतेनेति ※ । सम्प्रयोगः सम्बन्धः । तज्जन्यमित्युक्तेऽनुमानादेरपि प्रत्यक्षत्वं वारयतीन्द्रियेति । अपरोक्षभ्रमव्युदासाय भासमानेति विशेषणम् । निष्प्रयोजनत्वदोषेणैतदपि निरस्तमित्यर्थः । एवं निष्प्रयोजनत्वमुक्त्वाऽतिव्याप्तिं कथयितुमुपोद्घातं करोति * किं चेति ※ । प्रमाणसामान्यलक्षणस्योक्तत्वात्तद्विशेषलक्षणमिदमित्यर्थः । अस्तु ततः किमित्यत आह ※ प्रमाणेति ※ । प्रमाणसामान्यलक्षणेन यावानर्थः सङ्गृहीतस्तत्र कियतः सङ्ग्राहकं कियतश्च व्यवच्छेदकं वाच्यं सामान्यानालिङ्गितविशेषाभावात्सामान्यतो न्यूनवृत्तित्वाच्च विशेषस्येत्यर्थः । प्रमाणस्य सतोऽनुमानादेर्व्यवच्छेदकं प्रत्यक्षस्य संग्राहकमिष्यत एवेदं लक्षणमित्यत आह ※ प्रमाणेति ※ । यथार्थानुभवः प्रमा तत्करणं प्रमाणमिति व्यभिचारिणो निवृत्तिः प्रदर्शितेत्यर्थः । यथा सामान्यलक्षणेन व्यभिचार्यनुभवो व्यवच्छिद्यते तथा विशेषलक्षणेनापीत्यत आह ※ तथा चेति ※ । यथाश्रुतमिदं लक्षणम् ? उत विशेषाकारेणेन्द्रियजन्यत्वविशेषवदिति ? नाद्यः सामान्याकारस्य सत्त्वद्रव्यत्वादेरिन्द्रियेण व्यभिचार्यनुभवोऽपि जायत एवेति तदव्यवच्छेद इत्यर्थः । द्वितीयमाशङ्कते ※ अथेति ※ । घटत्वपटत्वादिविशेषाकारेन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्वं विवक्ष्यते, रजतभ्रमादौ तु रजतत्वस्य विशेषस्याव्यवस्थितत्वादेवेन्द्रियसम्प्रयोगायोगात्तद्व्यावृत्तिरित्यर्थः । विशेषविवक्षायामननुगम इत्यरुच्याङ्गीकृत्य दूषयति ※ तथाऽपीति ※ । अनुपपत्तिमेव प्रथयितुं विकल्पयति ※ तथा हीति ※ । कियन्मात्रमिति किंचिन्मात्रमित्यर्थः । कस्मिन् सति किं स्यादित्यत आह ※ आद्य

(२) भासमानाकारेन्द्रियसंयोगजं प्रत्यक्षम्—

विषय वस्तु के भासमान आकार के साथ इन्द्रियों का संयोग होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं [शुक्ति-रजत-स्थल पर रजतरूप भासमान आकार के साथ इन्द्रिय का संयोग नहीं होता और अभासमान शुक्तिरूप आकार के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है, अतः वहाँ रजत-ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता]।

यह लक्षण भी निष्प्रयोजनता और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की दुरवगमतादि दोषों से रहित नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि यह लक्षण विशेष (प्रत्यक्ष) प्रमाण का है, अतः सामान्य प्रमाण (तत्त्वानुभूतिः प्रमा, तत्करणं प्रमाणम्) लक्षण के द्वारा संगृहीत (अधिकृत या निर्धारित) लक्ष्य में से इस लक्षण को कुछ भाग (प्रत्यक्ष) का संग्राहक एवं कुछ भाग (अनुमानादि) का निवारक होना चाहिये, किन्तु ऐसा करने में यह लक्षण सर्वथा अक्षम है, क्योंकि सामान्य प्रमाण-लक्षण के द्वारा परित्यक्त व्यभिचारी (भ्रम) ज्ञान में भी यह यथाश्रुत लक्षण अतिव्याप्त है। ['इदं रजतम्'—यह भ्रम ज्ञान भी इदन्त्व, सत्त्वादि रूप भासमान आकारों के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष से ही उत्पन्न होता है]।

यदि इस लक्षण का यथाश्रुतार्थ में तात्पर्य न मानकर किसी विशेष अभिप्राय में पर्यवसान माना जाता है, तब भी असङ्गति बनी ही रहती है—क्या इस लक्षण में (१) यत्किञ्चित् भासमान आकार के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष अपेक्षित है ? अथवा यावद्भासमान आकार के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष ? प्रथम कल्प के अनुसार 'इदं रजतम्'—इत्यादि व्यभिचारी ज्ञानों में कथित अतिप्रसङ्ग स्थिर रहता है। इतना ही नहीं, अपितु सभी निर्विकल्पक प्रमा ज्ञानों में यह लक्षण अव्याप्त भी है, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान में केवल धर्मी वस्तु का ही भान होता है,

कियन्मात्रभासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वं विवक्षितम्? उत यावद्भासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वम्? आद्ये व्यभिचार्यव्यवच्छेदः, निर्विकल्पकासंग्रहश्च।

नापि द्वितीयः, विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किं भासमानताविशिष्टस्येन्द्रियसम्प्रयोगः? उत भासमानतोपलक्षितस्य? नाद्यः, पूर्वं भासमानत्वाभावात् कारणस्य च पूर्वभावित्वात्। द्वितीये लटोऽविवक्षितार्थत्वम्? विवक्षितार्थत्वं वा? नाद्यः, तथा हि—यावद्भासमानाकारेन्द्रियसंयोगजमपि भवति घटोऽयमिति विज्ञानम्। न च तदात्मनि प्रत्यक्षम्, आत्मनस्तदीयाविषयत्वात्, प्रामाण्यस्य च विषयनियतत्वात्।

इति ※। भासमानेदमाकारादिना कियन्मात्रेणेन्द्रियसम्प्रयोगाद्व्यभिचार्यनुभवो जायते इति न तद्व्यावृत्तिरित्यर्थः। न केवलमतिव्याप्तिरव्याप्तिरपीत्याह ※ निरिति ※। निर्विकल्पके वस्तुमात्रं भासते तस्य च निर्भागतया भासमानसकलाकारेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वमेव निर्विकल्पकस्येत्यर्थः।

भासमानसकलाकारेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वं विवक्षितमिति द्वितीयमाशङ्क्य प्रतिषेधति ※नापीति※। विकल्पमेव दर्शयति ※ तथा हीति ※। भासमानत्वविशिष्टार्थेन्द्रियसम्प्रयोगजं ज्ञानं प्रत्यक्षम्? उत तदुपलक्षितविषयेन्द्रियसंयोगजमिति विकल्पार्थः। विशिष्टपक्षं दूषयति ※ नेति ※। हेतुमाह ※पूर्वमिति※। सम्प्रयोगजज्ञानात्पूर्वं भासमानत्वमेव नास्ति तेन भासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वं प्रत्यक्षस्य नोपपद्यत इत्यर्थः। पूर्वं भासमानत्वाभावेऽपि पश्चाद्भासमानत्वात्तत्सम्प्रयोगजं प्रत्यक्षं किं न स्यादित्यत आह ※कारणेति※। उपलक्षणपक्षमपि दूषणाय विकल्पयति ※ द्वितीय इति ※। लटः शतृशानचाविति सूत्रेण लटः स्थाने विहितस्य शानचो रूपं भासमानेति। तदादेशस्तद्वद्भवतीति न्यायाल्लट इत्युक्तम्। लट् वर्तमाने विहितस्तदर्थो भासमानत्वस्य वर्तमानत्वं तदविवक्षितमुत विवक्षितमिति विकल्पार्थः। असतोऽप्युपलक्षणत्वाद्वर्तमानत्वं न विवक्षितमिति प्रथमं दूषयति ※ नेति ※। कथमित्यत आह ※ तथा हीति ※। भासमानसमस्ताकारसम्प्रयोगजं घट इति ज्ञानं भवति, न च तदात्मनि प्रत्यक्षमतो घटेऽपि प्रत्यक्षं न स्यात्तत्र प्रत्यक्षत्वे वाऽऽत्मन्यपि प्रत्यक्षं स्यादित्यर्थः। आत्मनि प्रत्यक्षत्वाभाव एव कुतस्तत्राह ※ आत्मन इति ※।

उसी के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है, उसके यत्किंचित् अंश के साथ नहीं।

द्वितीय (यावद्भासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजम्) कल्प में जिज्ञासा होती है कि क्या (१) भासमानता-विशिष्ट पदार्थ का इन्द्रिय से सम्प्रयोग विवक्षित है? अथवा भासमनतोपलक्षित पदार्थ का इन्द्रिय-सम्प्रयोग? प्रथम पक्ष संभव नहीं, क्योंकि इन्द्रिय-संप्रयोग के पश्चात् पदार्थ में भासमानता आती है, पहले नहीं, किन्तु यहाँ प्रत्यक्ष की कारण-कोटि में प्रविष्ट होने के कारण भासमानता पहले ही अपेक्षित है, क्योंकि करण में कार्य का पूर्वभावित्व रहना अनिवार्य है। द्वितीय कल्प में जिज्ञासा होती है कि 'भासमानः' शब्द "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" (पा० सू० ३।२।१२४) इस सूत्र के द्वारा लट् के स्थान पर 'शानच्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है, अतः लडर्थ वर्तमान काल इसमें विद्यमान है [अर्थात् वर्तमानकाल में जो पदार्थ अवभासित हो रहा है, उसे ही 'भासमान' शब्द कहता है]। वहाँ वर्तमानता अविवक्षित है? अथवा विवक्षित? प्रथम कल्प के अनुसार 'यस्य यदाकदाचित् भासमानस्येन्द्रियेण सन्निकर्षाद् यज्ज्ञानं जायते, तत् तत्र प्रत्यक्षम्'—ऐसा लक्षण पर्यवसित होता है। 'अहमस्मि'—इस प्रकार कदाचित् आत्मा का भी भान होता है, अतः घटेन्द्रियसन्निकर्षजन्य 'अयं घटः'—यह प्रत्यक्ष आत्मा का भी प्रमापक हो जायगा। 'अयं घटः'—यह प्रत्यक्ष आत्मा का प्रमापक मान ही क्यों न लिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह ज्ञान आत्मा को विषय नहीं करता, अतः आत्मा में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण ज्ञान नियमतः अपने विषयीभूत पदार्थ का ही प्रमापक होता है, अविषय का नहीं—सामान्य प्रमाण का यह नियम विशेष (प्रत्यक्ष) प्रमाण के लिए भी अनिवार्य है, अतः यत् प्रत्यक्षं

यत्र प्रामाण्यं तत्रैव विषये तद्विशेषस्य प्रत्यक्षत्वस्य वक्तव्यत्वात्। अन्यथा पटास्तित्वे घटोऽयमिति प्रत्यक्षं प्रमाणयतः किमुत्तरम् ?

नन्विदमुत्तरम्—घटविज्ञानं पटे न प्रत्यक्षम्, न हि तदिन्द्रियसन्निकर्षेणोत्पन्नमिति। तत् किमात्मेन्द्रियसन्निकर्षजं घटज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षमेव ? कथमेवं स्यात्, आत्मेन्द्रियसन्निकर्षाद् घटज्ञानस्योत्पादेऽपि आत्मनोऽनवभासमानत्वादिति चेन्न, भासमानेत्यत्र लटोऽविवक्षितार्थत्वपक्षमाश्रित्येदं भवतोच्यत इति स्मर्तव्यम्। अस्ति ह्यात्मनो भासमानत्वं कदाचित् केनचिद्, अन्यथा अप्रमेयत्वप्रसङ्गात्।

उक्तलक्षणकं स्वविषये प्रत्यक्षम्, न त्वन्यत्राऽपीति चेन्न, स्वशब्देन यदि

विषयत्वमन्तरेणैव तत्र प्रत्यक्षत्वं स्याद्यथाहुः प्राभाकरास्तत्राह ❀ प्रामाण्येति ❀। अविषयेऽपि प्रत्यक्षत्वे घटज्ञानं पटादावपि प्रत्यक्षं स्यादित्यर्थः। यद्विषयत्वं तत्र प्रमात्वं स्यात्प्रत्यक्षत्वं तु तदभावेऽपि भवेत्तत्राह ❀ यत्रेति ❀। उक्तमर्थं व्यतिरेकदण्डप्रदर्शनेन द्रढयति ❀ अन्यथेति ❀।

भासमानेनोपलक्षितात्मना मनस इन्द्रियस्य सम्प्रयोगात्पटोऽयमिति ज्ञानमजनि, न चात्मनि तत्प्रत्यक्षमित्यतिव्याप्तिरिति सिद्धान्तिनो ग्रन्थाभिसन्धिस्तमविज्ञाय परश्चोदयति ❀ नन्विति ❀। सत्यमियं प्रतिज्ञा, को हेतुस्तत्राह ❀ न हीति ❀। तत्पटविज्ञानं तेन घटेनेन्द्रियसन्निकर्षजं न भवति, तदिन्द्रियसन्निकर्षजत्वं तत्प्रत्यक्षत्वे प्रयोजकं न तद्विषयत्वमित्याशयः। सिद्धान्ती स्वाशयमाविष्कुर्वन्परिहरति ❀ तदिति ❀। आत्ममनःसंयोगस्य सर्वज्ञानासमवायित्वादुक्तप्रयोजकभावाद् घटोऽयमिति ज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षं स्यादित्यर्थः। उक्तप्रयोजकसत्त्वेऽप्यात्मनि भासमानत्वं नास्तीति शङ्कते ❀ कथमिति ❀। घटज्ञानमात्मनि कथं प्रत्यक्षं स्यादित्यर्थः। पूर्वापरपरामर्शविकलस्येदं चोद्यं शोभते परं न पुनः परामर्शवत इति परिहरति ❀ नेति ❀। भासमानेत्यत्र लटोऽविवक्षितार्थत्वपक्षमाश्रित्येदं दूषणमुच्यत इति भवता स्मर्त्तव्यमिति सम्बन्धः। भासमानत्वस्य वर्तमानत्वाविवक्षायामपि भासमानत्वप्रयोगमात्रेण भवितव्यमित्यत आह ❀ अस्तीति ❀। काले हि दाप्रत्ययस्तेन यदाकदाचिद्भासमानत्वमस्तीत्यर्थः। अनात्मप्रत्ययव्यतिरेकेणात्मगोचरः प्रत्ययो नास्त्येवेत्यत आह ❀ अन्यथेति ❀। अप्रमेयत्वमात्मनोऽनिष्टं तार्किकादीनामिति भावः।

भासमानसमस्ताकारेन्द्रियसम्प्रयोगजज्ञानं स्वविषये प्रत्यक्षमिति विशेषणान्तरोपादानेन शङ्कते ❀ उक्तेति ❀। स्वशब्देन ज्ञानमात्रमुच्यते ? उत व्यक्तिविशेषः ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति ❀ नेति ❀।

यमर्थं विषयीकरोति, तमेव प्रमापयति'—ऐसा नियम मानना आवश्यक है, अन्यथा घटविषयक प्रत्यक्ष पट के अस्तित्व का भी प्रमापक हो जायगा। यदि कहा जाय कि घटविषयक प्रत्यक्ष पटेन्द्रियसन्निकर्ष से जनित न होने के कारण पटास्तित्व का प्रमापक नहीं हो सकता, तब यह भी कहा जा सकता है कि घटप्रत्यक्ष आत्मेन्द्रिय-सन्निकर्ष से उत्पन्न न होने के कारण आत्मा का प्रमापक नहीं माना जा सकता।

'आत्मेन्द्रिय-सन्निकर्ष से उत्पन्न होकर भी 'घटोऽयम्'—यह ज्ञान आत्मा का भासक न होने के कारण आत्मा का प्रमापक क्यों होगा ?' ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि 'भासमान' पद में वर्तमानत्वरूप लट्लकार का अर्थ विवक्षित नहीं—ऐसा मानकर यह चर्चा चल रही है, अतः इस समय आत्मा में भासमानता न सही कभी तो भासमान रहा होगा या भविष्य में हो जायगा। यदि आत्मा में कदाचित् भासमानता भी न मानी जाय, तब वह प्रमेय-वीथी में स्थान क्योंकर पा सकेगा ?

शङ्का—'भासमानसकलाकारेन्द्रियसंप्रयोगजं ज्ञानं स्वविषये प्रत्यक्षम्'—ऐसा प्रत्यक्ष का परिष्कार करने पर कोई अतिप्रसङ्ग नहीं रहता।

समाधान—'स्व' शब्द के द्वारा यदि ज्ञानमात्र विवक्षित है, तब पूर्वोक्त अतिप्रसङ्ग

ज्ञानमात्रं विवक्षितं तदा स दोषस्तदवस्थः। अथ ज्ञानव्यक्तिरपेक्षिता, तदा लक्ष्यस्वरूपस्यासाधारणतया तत्परित्यागेन लक्षणस्यान्यत्र गतत्वादतिव्याप्तिः। व्यक्त्यन्तरस्य लक्षणाश्रयस्य एकव्यक्त्यभिहितलक्ष्यीभूतासाधारणरूपत्वाभावात्।

व्यक्त्यन्तरमपि लक्ष्यमेव, अलक्ष्ये च लक्षणस्य गमनादतिव्याप्तिरिति चेन्न, यदेकत्रासाधारणस्वरूपं लक्ष्यत्वेन निरुच्यते भवता, न तदन्यस्य स्वरूपम्। अतः कथं 'तदपि लक्ष्यमि'ति अपिशब्देनानेकं साधारणीकृत्य समुच्चेतुं शक्यम्। यदपि साधारणं रूपं तद्व्यक्त्यन्तरव्यवच्छेदकस्वविषयपदं विशेषणं प्रक्षिपता भवतैवासाधारणीकृतम्। स्वशब्दस्य ज्ञानमात्रार्थत्वे दोषस्योक्तत्वात्। स्वत्वस्य चानुगतस्वरूपस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अन्यथा अन्यव्यक्तिविषयस्यान्यत्र तथात्वापत्तेः।

ज्ञानमात्रविषयत्वमात्मनोऽप्यस्तीति घटज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षं स्यादित्युक्तदोषतादवस्थ्यमित्यर्थः। स्वशब्दो ज्ञानव्यक्तिपर इति द्वितीयमवलम्बते ❀ अथेति ❀। आक्षिपति ❀तदेति❀। ज्ञानव्यक्तिविशेषवाचकस्वपदं लक्षणविशेषणमुत लक्ष्यरूपनिर्देशकम्? आद्ये विशेषणासाधारण्याद्विशिष्टलक्षणमप्यसाधारणमित्यव्याप्तिः, द्वितीये विषयविशेषावच्छिन्नं प्रत्यक्षं लक्ष्यं त्वयोक्तं स्यात्तत्परित्यागेनेन्द्रियसन्निकर्षजत्वादिलक्षणं व्यक्त्यन्तरे गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। यस्मिन् लक्षणमगमत्तदपि व्यक्त्यन्तरमभिहितलक्ष्यस्वरूपमेव तत्कुतोऽतिव्याप्तिरित्यत आह ❀ व्यक्तीति ❀। सर्वं प्रत्यक्षमेकमिति तस्यानाद्यनन्ततया सुषुप्त्याद्यभावप्रसङ्गादित्यर्थः। एकव्यक्त्यभिहितासाधारणरूपत्वाभावेऽपि व्यक्त्यन्तरं लक्ष्यमेवातो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀व्यक्तीति❀। व्यक्त्यन्तरस्य लक्ष्यत्वमात्रेण कथमतिव्याप्तिनिरास इत्यत आह ❀ अलक्ष्य इति ❀। व्यक्त्यन्तरस्य लक्ष्यत्वमेव नास्ति एकव्यक्तितोऽसाधारणस्वरूपस्यैव लक्ष्यत्वेन दर्शितत्वादिति परिहरति ❀ नेति ❀। फलितमाह ❀ अत इति ❀। तदपि लक्ष्यमित्यत्र प्रयुक्तापिशब्देन कथं समुच्चयः कर्तुं शक्यते समुच्चयस्य साधारणरूपापेक्षत्वादित्यर्थः। तदपीत्यपि शब्देन समुच्चेतुं शक्यत एव प्रत्यक्षत्वेन सकलज्ञानव्यक्तिसाधारण्यात्तदुपाधावेव लक्ष्यत्वादित्याशङ्क्याह ❀ यदपीति ❀। यदपि साधारणं रूपं तदपि व्यक्त्यन्तरव्यवच्छेदकं स्वपदविशेषण प्रक्षिपता भवतैवासाधारणीकृतमिति सम्बन्धनीयम्। प्रत्यक्षमात्रं लक्ष्यं परित्यज्य स्वविषयावच्छिन्नं प्रत्यक्षं त्वया लक्ष्यमुपात्तमतोऽसाधारण्यमिति यावत्। अस्तु तर्हि स्वशब्दो ज्ञानमात्रार्थं इति प्रथमः कल्प इति सिंहावलोकनन्यायेनाशङ्क्याह ❀ स्वेति ❀। घटज्ञानमात्मन्यपि प्रत्यक्षं स्यादित्युक्त एव दोष इत्यर्थः। स्वत्वमनुगतमुपेत्यातिव्याप्तिरुक्ता सम्प्रति तदपि नेत्याह ❀ स्वत्वस्येति ❀। स्वत्वमुपाधिर्जातिर्वा, न तावज्जातिः सामान्यादीनां जातिरहितानामप्रत्यक्षत्वापातात्। नाप्यु-

---

बना ही रहता है, क्योंकि आत्मा घट-ज्ञान का विषय न होने पर स्वत्वेनाभिमत ज्ञानान्तर का विषय तो है ही। यदि 'स्व' पद से प्रकृत प्रत्यक्ष व्यक्ति का ही ग्रहण किया जाता है, तब लक्ष्यभूत प्रत्यक्ष व्यक्ति सीमित हो जाती है और लक्षण उस सीमा को पार करके अन्य प्रत्यक्ष व्यक्तियों में व्याप्त होने के कारण अतिव्याप्ति दोष का भागी समझा जाने लगेगा, क्योंकि स्वत्वेनाभिमत जिस व्यक्ति-विशेष का लक्षण किया जा रहा है, उस व्यक्ति का असाधारण स्वरूप (तद्व्यक्तित्व) अन्य व्यक्तियों में सुलभ नहीं कि उन्हें भी लक्ष्य ही मान लिया जाय। जहाँ लक्ष्यभूत व्यक्ति का असाधारण स्वरूप नहीं, उन व्यक्तियों को कदापि लक्ष्य नहीं माना जा सकता, अतः आप (नैयायिक) इस मन्त्र का उच्चारण नहीं कर सकते कि 'तदपि लक्ष्यमेव'। सभी प्रत्यक्ष व्यक्तियों का जो साधारणरूप (साक्षात्कारित्व) था, उसे 'स्व' शब्द के द्वारा हटा कर आप ने तद्व्यक्तित्वरूप असाधारण धर्म को लक्ष्यतावच्छेदक मान लिया है। 'स्व' शब्द की सकल ज्ञानार्थता में तो अतिप्रसङ्ग दिखाया ही जा चुका है, स्वत्व का भी कोई अनुगत स्वरूप निरूपित नहीं हो सकता, अन्यथा घट-ज्ञान को आत्मप्रमापकतापत्ति दोष से छुटकारा नहीं मिल सकता।

नापि द्वितीयः पक्षः, विकल्पासहत्वात्। किं सम्प्रयोगापेक्षया वर्तमानत्वम्? अथ यत्किञ्चिदपेक्षया? प्रथमे विशेषणत्वपक्षान्न विशेष इत्युक्तदोषापत्तिः। द्वितीये तु लटोऽविवक्षितार्थत्वमेव स्याद्, व्यवच्छेद्ययोर्भासितभासिष्यमाणयोरपि तदा तदा भासमानत्वस्वीकारात्।

इन्द्रियसम्प्रयोगानन्तरं भासमानत्वमपेक्षितम्, अतो विवक्षितार्थमिति चेन्न, आत्मनोऽपीन्द्रियसंयोगानन्तरं भासमानत्वमस्ति। न हि स यदा मनसा गृह्यते तदा

पाधिस्तद्गोचरज्ञानस्यापि स्वविषयत्वसिद्धये स्वत्वेऽपि स्ववृत्तिर्वाच्या तथा चात्माश्रयोऽनवस्था चेत्यर्थः। स्वशब्दस्य सर्वनामतया सर्वत्र प्रवृत्त्यनुपपत्त्या स्वत्वमनुगतं किंचिदुपादेयमिति चेद् ब्रूषे, तर्हि घटज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षं स्यादित्युक्तदोषान्न विमोक्ष्यसे इत्याह ❀ अन्येति ❀।

भासमानेत्यत्र लटो विवक्षितार्थत्वमिति द्वितीयपक्षं प्रतिक्षिपति ❀ नापीति ❀। प्रतिज्ञामात्रेण नार्थसिद्धिर्विपरीतमपि प्रतिज्ञातुं शक्यत्वादिति मनसि निधाय हेतुमाह ❀ विकल्पेति ❀। विकल्पमसहमानत्वादिति हेतुसमर्थनार्थं विकल्पयति ❀ किमिति ❀। सम्प्रयोगापेक्षया वर्तमानत्वं भासमानत्वस्येति प्रथमं पराकरोति ❀ प्रथम इति ❀। इन्द्रियसम्प्रयोगभासमानयोरेककालत्वान्नेन्द्रियसम्प्रयोगो भासनकारणं स्यात्करणस्य पूर्वभावित्वादिति गदितावद्यमित्यर्थः। यत्किञ्चिदपेक्षया वर्तमानत्वमिति द्वितीयं दूषयति ❀ द्वितीय इति ❀। अस्मिन् पक्षे लटोऽविवक्षितार्थता स्यादित्युक्तं तत्र हेतुमाह ❀ व्यवच्छेदेति ❀। भासमानेति विशेषणेन भासितं भासिष्यमाणं च व्यवच्छेद्यमन्यथा विशेषणवैयर्थ्यान्न च तद्व्यवच्छेत्तुं शक्यते तयोरपि तत्तत्काले यत्किञ्चिदपेक्षया वर्तमानभासमानत्वादतोऽसमर्थविशेषणताऽन्यज्ञानमन्यत्र प्रत्यक्षं स्यादित्युक्तातिव्याप्तिरपीत्यर्थः।

विवक्षितार्थत्वं लट उपपादयन् स्वाशयं पर आशङ्कते ❀ इन्द्रियेति ❀। सम्प्रयोगापेक्षया भासमानत्वं न विवक्ष्यते नापि यत्किञ्चिदपेक्षया किंतु सम्प्रयोगानन्तरं न चैवं घटज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षं स्यात्सम्प्रयोगानन्तरं आत्मनोऽनवभासमानत्वादित्याशयः। किं सम्प्रयोगमात्रानन्तर्यं विवक्षितं, उत सम्प्रयोगविशेषानन्तर्यम्? नाद्य इत्याह ❀ नेति ❀। सम्प्रयोगानन्तरं घटस्यैव भासमानत्वं नात्मन इत्यत आह ❀ न हीति ❀। यस्माद् घटभासनदशायाम् आत्मनो भासमानत्वाभावेऽपि स आत्मा यदा मनसा

द्वितीय (लटो विवक्षितार्थत्वम्) पक्ष के अनुसार यद्यपि 'भासमान' पद में वर्तमानत्व विवक्षित है, अतः 'घटोऽयम्'—यह ज्ञान वर्तमान काल में आत्मा का भासक नहीं, अतः इस ज्ञान में आत्मप्रमापकत्वापत्ति नहीं होती। तथापि उस विवक्षा में भी जिज्ञासा होती है कि जिस काल में इन्द्रिय और अर्थ का सम्प्रयोग (सन्निकर्ष) हो रहा है क्या उस काल में भासमानता को विद्यमान होना चाहिए? अथवा किसी भी क्षण की अपेक्षा वर्तमानता? प्रथम कल्प वैसे ही उचित नहीं, जैसे पूर्वोक्त भासमानता-विशिष्ट सम्प्रयोग कल्प, क्योंकि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष पदार्थ की भासमानता का कारण है, समानकाल के पदार्थों में कार्य-कारणभाव सम्भव नहीं, अतः उक्त सन्निकर्ष के उत्तर काल में भासमानता हो सकती है। द्वितीय (यदाकदाचिद् वर्तमानता) पक्ष तो लट् की अविवक्षितार्थता में ही पर्यवसित हो जाता है, क्योंकि 'भासमान' पद के द्वारा जो अतीत और अनागत के भासन की व्यावृत्ति करना चाहते हैं, वह नहीं हो सकती, कदाचित् भासमानता तो उनकी भी वर्तमान होती है।

शङ्का—इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के पश्चात् क्षण में भासमानता अपेक्षित है, अतः उस काल में वर्तमानता विवक्षित है, सन्निकर्ष-काल में नहीं।

समाधान—जैसे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के पश्चात् घट भासमान होता है, वैसे ही आत्मा भी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के पश्चात् ही भासमान होता है। आत्मा जब मन के द्वारा गृहीत है, तब इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षके अनन्तर ही गृहीत होता है, मनोरूप इन्द्रिय और आत्मरूप अर्थ का

नेन्द्रियसंयोगानन्तरम् ।

नेन्द्रियसंयोगमात्रं विवक्षितम्, किं नाम ? यदनन्तरं भासमानतोत्पत्तिरिति चेन्न, तदनन्तरमपि भासमानतोत्पत्तेः ।

भासमानतान्तरं तत्, न त्विदं भासमानत्वमिति चेन्न, अव्याप्तिप्रसङ्गात्, एकभासनमात्रव्यवस्थितत्वात् लक्षणस्य ।

अथ मन्यसे यद्भासनं यस्य विषयस्येन्द्रियसंयोगादुत्पन्नं तत्तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमिति निरुक्तौ न दोष इति । मवम्, यद्भासनं घटोऽयमिति यस्य विषयस्यात्मन

गृह्यते तदेन्द्रियसम्प्रयोगानन्तरमात्मनो भासमानत्वमस्तीति पूर्वोक्तप्रसङ्गस्तदवस्थ इत्यर्थः । सम्प्रयोगमात्रानन्तर्यं न विवक्षितं किं तु सम्प्रयोगविशेषानन्तर्यमिति द्वितीयं शङ्कते ❀ नेति ❀ । किं तर्हि विवक्षितमित्यत आह ❀ किमिति ❀ । यस्य सम्प्रयोगस्यानन्तरं भासनमुत्पद्यते तत्सम्प्रयोगानन्तरं भासमानत्वं विवक्षितमतो नातिव्याप्तिर्घटसम्प्रयोगानन्तरमात्मनोऽनवभासमानत्वादित्यभिप्रायः । भासनमात्रजनकेन्द्रियसम्प्रयोगानन्तर्यं विवक्षितमुत घटभासनजनकसम्प्रयोगानन्तर्यमिति विकल्प्याद्यं दूषयति ❀ नेति ❀ । आत्ममनःसम्प्रयोगानन्तरमहमिति भासनोत्पत्तेस्तदनन्तरं भासमानत्वमात्मनोऽपीत्युक्तातिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीयमाशंकते ❀ भासेति ❀ । अननुगमेन परिहरति ❀ नेति ❀ । उपपादयति ❀ एकेति ❀ । घटभासनजनकेन्द्रियसम्प्रयोगानन्तरं भासमाने कथितलक्षणं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तं स्यान्न च तत्पटादिप्रत्ययेऽस्तीत्यव्याप्तिरिति यावत् ।

भासमानाकारेन्द्रियसम्प्रयोगजं प्रत्यक्षमिति लक्षणे भासमानाकारेति पदस्थाने यस्यार्थस्येति विशेषणप्रक्षेपेण लक्षणमुपस्थापयति ❀ अथेति ❀ । यज्ज्ञानं यस्य विषयस्येत्यत्र मात्रमुच्यते किं वा तद्विशेष इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ मेवमिति ❀ । घटोऽयमिति यद्भासनं यच्छब्दवाच्यज्ञानं यच्छब्दवाच्य-

सन्निकर्ष हुए विना आत्मा का प्रत्यक्ष कैसे होगा ? फलतः 'अयं घटः'—इस ज्ञान में आत्मप्रमापकत्वापत्ति बनी रहती है ।

शङ्का—दो ज्ञान एक काल और एक आत्मा में उत्पन्न नहीं होते—यह स्थिर सिद्धान्त है । जिस सम्प्रयोग के अनन्तर भासमानता उत्पन्न होती है, उस सम्प्रयोग के अनन्तर क्षण में भासमानत्व विद्यमान होना चाहिए । घटेन्द्रिय-सम्प्रयोग के अनन्तर आत्मा की भासमानता उत्पन्न नहीं होती, अतः वह वर्तमान भी क्योंकर रहेगी ?

समाधान—आत्मा और मन के सम्प्रयोग के अनन्तर आत्मा की भासमानता भी उत्पन्न होती है, अतः वहाँ वह वर्तमान क्यों नहीं रह सकती ? यदि कहा जाय कि यह (आत्मगत) भासमानता दूसरी है, इसकी वर्तमानता विवक्षित नहीं, अपितु घटगत भासमानता को वर्तमान होना चाहिए । विवक्षा का पूरा स्वरूप इस प्रकार है—'यस्य सम्प्रयोगस्यानन्तरं यस्यार्थस्य भासमानता उत्पद्यते, तस्य ,संप्रयोगस्यानन्तरं तस्यैवार्थस्य भासमानता वर्तताम् ।' तब तो यत्त्वतत्त्व-घटित होने के कारण लक्षण में अननुगम दोष आ जाता है । घटीय भासमानता-घटित लक्षण पट के प्रत्यक्ष और पटीय भासमानता-घटित लक्षण घट के प्रत्यक्ष में नहीं घटता, अतः अव्याप्ति स्पष्ट ही है ।

शङ्का—उक्त लक्षण में 'भासमानाकार' पद से विषय-विशेष विवक्षित है, अतः प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार सम्पन्न होता है—'यद्भासनं यस्य विषयस्येन्द्रियसंयोगादुत्पन्नम्, तत् तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।' [जो ज्ञान जिस विषय के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर उत्पन्न होता है, वह उस विषय का प्रत्यक्षतः प्रमापक होता है । घटेन्द्रिय-सन्निकर्ष से उत्पन्न 'अयं घटः'—यह ज्ञान घट का ही प्रमापक होता है, आत्मादि का नहीं] ।

समाधान—'यद् भासनं (घटोऽयमिति ज्ञानम्) यस्य विषयस्य (आत्मनः इन्द्रियेण

इन्द्रियेण सह सन्निकर्षादुत्पन्नं तद्भासनं तस्मिन्नात्मनि प्रमाणं स्यात् ।

नात्मा तस्य विषयः, तत्कथमेवं स्यादिति चेत्, न हि भवता तदीयविषयस्येत्युक्तम्; किन्तु सामान्यतो विषयस्येति, तेनेदमभिहितम्। यदि तु तदीयताविशेषणमुपादत्ते भवान्, तदा यदि तच्छब्देन ज्ञानजातीयमात्रपरामर्शस्तदा स दोषस्तदवस्थः। यदि तु ज्ञानजातीयमात्रव्यक्तिविशेषपरामर्शः, तदाऽव्यापकत्वम्, प्रतिज्ञानं तच्छब्दार्थस्य भेदात्। न हि यत्त्वं तत्त्वं वा किञ्चिदनुगतं रूपमस्ति।

अत एवात्मविषयत्वानुयोगवत् त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनि पटज्ञानस्य घटादौ

स्यात्मनो विषयस्येन्द्रियेण मनसा सन्निकर्षादुत्पन्नं सच्छब्दवाच्यमात्मनि विषये प्रत्यक्षं स्याद्विषयमात्रयच्छब्दवाच्यत्वमात्रयोरात्मन्यपि भावादिति भावः। द्वितीयकल्पमतिव्याप्तिपरिहाराय शंकते ❀नात्मेति❀। यस्य तदीयविषयस्येन्द्रिययोगाद्यज्ज्ञानमुत्पन्नं तत्तत्र प्रत्यक्षं घटोऽयमिति ज्ञानस्य नात्मा विषयस्तेन तदीयेतिविशेषणाभावान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। लक्षणस्य हेतुविशषत्वादविशेषोक्तस्य परेण दूषितस्य विशेषोपादाने हेत्वन्तरं स्यादिति परिहरति ❀ नेति ❀। यद्भासनं यस्यविषयस्येन्द्रिययोगादुत्पन्नमित्यत्र तदीयेति विशेषणं नोक्तं किं तु विषयमात्रस्येन्द्रिययोगाद्यज्ज्ञानमुत्पन्नमिति सामान्यतोऽभिहितं, ततः किमित्यत आह ❀ तेनेति ❀। तेन हेतुनेदमभिहितमात्मनः सन्निकर्षोत्पन्नघटज्ञानमात्मनि प्रमाणं स्यादित्यर्थः। तदीयताविशेषणोपादानेऽपि लक्षणासाङ्कर्यं दर्शयितुं विशेषणपक्षमनुवदति ❀यदीति❀। यस्य तदीयविषयस्येन्द्रिययोगादित्यत्र तच्छब्देन ज्ञानमात्रमुच्यते? किं वा घटज्ञानादिविशेषः? आद्ये भाषितदोषानुषङ्ग इत्याह ❀ तदेति ❀। आत्मनोऽपि ज्ञानत्वालिङ्गितव्यक्तिविषयत्वाद् घटज्ञानमात्मनि प्रमाणं स्यादित्यर्थः। द्वितीयेऽव्याप्तिरित्याह ❀ यदीति ❀। अव्यापकत्वे हेतुमाह ❀ प्रतीति ❀। तच्छब्देन घटज्ञानपरामर्शे तस्य घटज्ञानेऽभावात्तत्र लक्षणमव्यापकं स्यादित्यर्थः। खण्डादिव्यक्तिभेदेऽपि गोशब्दवाच्यगोत्वानुवृत्तिवत्प्रतिज्ञानं व्यक्तिभेदेऽपि यत्तच्छब्दवाच्ययोर्यत्वतत्वयोरनुवृत्तेर्नाव्यापकतेत्यत आह ❀ न हीति ❀। यत्त्वतत्त्वयोरपि यच्छब्दवाच्यत्वमेष्टव्यमन्यथा तज्ज्ञानयोरप्रत्यक्षत्वापाताद्यत्तच्छब्दयोः सर्वनामत्वव्याघाताच्चेति स्ववृत्तावात्माश्रयो यत्त्वाद्यन्तरवृत्तावनवस्था तदन्तरेण यदादिशब्दवाच्यत्वे ज्ञानादिव्यक्तीनामपि तथात्वोपपत्तेर्यत्त्वतत्त्ववैयर्थ्यमित्यर्थः।

घटोऽयमिति ज्ञानमात्मानमाश्रयतया प्रत्यक्षयति स्वात्मानं प्रकाशाभिन्नतया घटं च कर्मतयेति प्राभाकरैरङ्गीकारात् ज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षं स्यादिति यदुक्तं तदिष्टमेवेत्याशङ्क्याह ❀ अत इति ❀। घटज्ञानस्यात्मविषयत्वानुयोगो यथा नैयायिकादिनये तथा त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकरस्य घटज्ञानं पटादौ

सह सन्निकर्षाद् उत्पन्नम्, तद् भासनं (घटोऽयमिति ज्ञानं) तत्र (आत्मनि) प्रमाणम्' - इस प्रकार घटज्ञान में आत्मप्रमापकत्वापत्ति बनी रहती है। 'उस ज्ञान का आत्मा जब विषय नहीं, तब उस ज्ञान में आत्मप्रमापकत्वापत्ति क्यों होगी?' ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि उक्त लक्षण में 'तदीयविषयस्य'—ऐसा नहीं कहा गया, अपि तु सामान्यतः 'विषयस्य'—इतना ही कहा गया है, अतः आत्मा का भी ग्रहण किया जा सकता है। यदि 'तदीयता' विशेषण का भी ग्रहण किया जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि वहाँ 'तत्' पद से ज्ञानमात्र का ग्रहण किया जाता है? अथवा ज्ञान-विशेष का? ज्ञानमात्र का ग्रहण करने पर आत्मज्ञान का भी ग्रहण किया जा सकता है। यदि ज्ञान-विशेष विवक्षित है, तब लक्षण में अव्यापकत्व दोष आ जाता है, क्योंकि यत्त्व और तत्त्व को अनुगत धर्म नहीं माना जाता कि लक्षण अपने लक्ष्यमात्र का व्यापक हो जाता।

जैसे 'घट-ज्ञान' में आत्मप्रमापकत्वापत्ति हो गई, उसी प्रकार त्रिपुटी-प्रकाशवादी प्रभाकरके मतानुसार घटज्ञान में पटादि-प्रमापकत्वापत्ति दी जा सकती है, क्योंकि भासमानाकारेन्द्रियसंप्रयोगजन्यत्व साधारण है [श्री प्रभाकर मिश्र प्रत्येक ज्ञान में 'ज्ञाता (आत्मा),

प्रत्यक्षतया प्रामाण्यानुयोगो द्रष्टव्यः, चक्षुःसन्निकर्षाभावात्। अन्यथा तस्येष्टप्रसञ्जकत्वात्। तदर्थं यदिन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नमिति विशेषणप्रक्षेपे यत्तच्छब्दार्थस्यासाधारण्यादव्याप्त्यापत्तेः। यदि तु यत्तच्छब्दार्थावनुगतौ स्यातां पुनरप्यन्यत्र 'घटोऽयमि'ति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेन प्रमाणता प्रसज्येत।

अथ 'अन्यव्यतिरिक्ते' इति विशेषणं प्रक्षिपसि, तदाऽन्यविषयस्य प्रत्यक्षता

प्रत्यक्षतया प्रमाणं स्याद्भासमानाकारेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वाविशेषादित्यनुयोगो द्रष्टव्य इत्यर्थः। पटज्ञानं घटादौ किमिवाप्रत्यक्षं स्यादित्यत आह ॐ चक्षुरिति ॐ। घटादौ पटोऽयमितिज्ञानोत्पादकचक्षुःसन्निकर्षानाधारत्वात्तद्विषयत्वमनिष्टमित्यर्थः। पटज्ञानस्यात्मनि प्रत्यक्षत्वप्रसञ्जनं कस्मादित्यत आह ॐ अन्यथेति ॐ। यदिन्द्रियसन्निकर्षाद्यज्ज्ञानमुत्पन्नं तत्तत्र प्रत्यक्षं नैवंसति घटज्ञानस्य पदे प्रत्यक्षता तत्सन्निकर्षाजन्यत्वादित्यत आह ॐ यदिति ॐ। तदर्थं तस्य प्रसङ्गस्य निवृत्तयेऽर्थशब्दस्य निवृत्तिवचनत्वान्मशकार्थो धूम इतिवत्। यच्छब्देनार्थज्ञानविशेषावुच्येते तन्मात्रं वाऽऽद्येऽव्याप्तिर्यच्छब्दार्थस्य व्यावृत्तत्वादित्यर्थः। द्वितीयकल्पानुवादेन पूर्वोक्तातिव्याप्तिमाह ॐयदीतिॐ। तदा पटज्ञानस्य घटादौ प्रत्यक्षता स्याद्यच्छब्देन घटादिव्यावृत्तार्थानभिधानादित्युक्तदोषतादवस्थ्यमित्यर्थः।

यदिन्द्रियसन्निकर्षाद्यज्ज्ञानमुत्पन्नं तत्रान्यव्यतिरिक्ते प्रत्यक्षं तदिति विशेषो लक्षणमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। अन्यशब्देन घटादिविशेष उच्यते किं वा भेदाधिकरणं वस्तुमात्रमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ अन्येति ॐ। तदाऽन्यघटादिविषयज्ञानस्य प्रत्यक्षता न स्यादन्यव्यतिरिक्तत्वलक्षणविशेषणस्यान्यविषयेऽभावादित्यर्थः। अन्यशब्देन भिन्नं वस्तुमात्रमुच्यते ततो व्यतिरिक्तत्वप्रतियोगिनोऽन्यस्याप्यन्यव्यतिरिक्तत्वमस्तीति नाव्याप्तिरिति द्वितीयमाशङ्क्याह ॐ तदिति ॐ। तच्छब्देनान्यशब्देनेत्यर्थः।

ज्ञान और ज्ञेय'—इन तीनों का भान मानते हैं, जैसा कि श्री शालिकनाथ मिश्र कहते हैं—

साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा।
मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा॥
'सर्वविज्ञानहेतूत्था मितौ मातरि च प्रमा।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है—साक्षात्प्रतीतिः। प्रत्येक ज्ञान प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति—इस त्रिपुटी का भासक होता है। विशेषता केवल इतनी है कि प्रमेय का ज्ञान इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, प्रमाता और प्रमिति का भान यावज्ज्ञानजनक सामग्री से ही होता है।' अतः इनके मत में घट-ज्ञान की आत्मप्रमापकतापत्ति का दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि प्रभाकर को तो यह अभीष्ट ही है, सभी घटादि-ज्ञान आत्मा के भासक और प्रमापक होते ही हैं. अतः इनके मत में घट-ज्ञान की पटादि-प्रमापकत्वापत्ति ही दी जा सकती है]। इस मत में सभी ज्ञान आत्मा और स्वयं अपनी ज्ञानस्वरूपता के भासक तो माने जाते हैं, किन्तु घटविषयक प्रत्यक्ष पटावगाही नहीं माना जाता, क्योंकि घट-प्रत्यक्ष-काल में पट के साथ चक्षु का सन्निकर्ष न होने के घट-ज्ञान पट का भासक क्योंकर होगा? अन्यथा प्राभाकरगण उक्त आपत्ति को इष्टापत्ति कह देंगे। उक्त अतिप्रसङ्ग को हटाने के लिए यदि 'यदिन्द्रियसन्निकर्षाद् यज्ज्ञानमुत्पद्यते, तत्तत्र प्रत्यक्षम्'—ऐसा लक्षण किया जाता है, तब यत्तदादि असाधारणर्थक (अननुगतार्थक) शब्दों से घटित होने के कारण लक्षण अव्यापक एवं अननुगत हो जाता है। यत्तदादि को अनुगतार्थक मानने पर 'घटोऽयम्'—इस ज्ञान को पटादि का भी प्रमापक मानना होगा।

शङ्का—'अन्यव्यतिरिक्तत्व' विशेषण लगाकर 'यदिन्द्रियसन्निकर्षाद् यज्ज्ञानमुत्पन्नम्, तज्ज्ञानं तदन्यव्यतिरिक्तेऽर्थे प्रमाणम्'—ऐसा लक्षण विवक्षित होने पर अन्यविषयक ज्ञान में अन्य विषय की प्रमापकत्वापत्ति नहीं होती, क्योंकि वह विषय तदन्य ही है, तदन्य

न स्यात्। तच्छब्देनानुगतार्थाभिधाने व्यवच्छेदकत्वाभावात्। घटज्ञानस्य च पटे प्रत्यक्षतया प्रामाण्यं प्रसज्येत।

एतेन—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि प्रत्यक्षमित्यत्रापि दोषोऽयमुक्तो द्रष्टव्यः, तादृशस्यापि ज्ञानस्य विषयान्तरे प्रत्यक्षत्वेन प्रामाण्यप्रसङ्गात्। यस्यार्थस्य सन्निकर्षाद् यदुत्पद्यते ज्ञानं यत्तत्र प्रत्यक्षतया प्रमाणमित्यभिधाने तु यच्छब्द-तच्छब्दसाधारणासाधारणार्थाभिधानविकल्पोक्तदोषप्रसङ्गः।

अव्यभिचारिपदञ्च व्यर्थम्। न हि शुक्तौ रजतज्ञानं रजतेन्द्रियसन्निकर्षादुत्प-

---

घटज्ञानस्य पटे प्रत्यक्षतया प्रामाण्यं प्रसज्येत तदुपपादयति ❀ व्यवच्छेदकत्वाभावात् ❀। अन्यव्यतिरिक्त-विशेषणस्येति शेषः। अथात्मव्यतिरिक्त इति केचित्पठन्ति तस्मिन् पाठे घटज्ञानमात्मनि प्रमाणं स्यादिति यत्पुरस्तादुक्तं तत्परिहारः शङ्कार्थः। आत्मविषयस्य प्रत्यक्षता न स्यादिति परिहारग्रन्थार्थः। तच्छब्देन आत्मशब्देन स्वरूपमात्रमुच्यते, घटादिस्वरूपमपि स्वरूपमेव तद्व्यतिरिक्तत्वमात्मनोऽपीति नातिव्याप्ति-रित्याशङ्क्याह ❀ तच्छब्देनेति ❀।

भासमानाकारेत्यादिलक्षणोक्तदोषं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति ❀ एतेनेति ❀। सति न्यायसाम्येऽति-देशः प्रवर्तत इति न्यायात्किमत्र न्यायसाम्यमित्यत आह ❀ तादृशेति ❀। यस्यार्थस्य यदिन्द्रियसन्नि-कर्षाद्यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्तत्र प्रत्यक्षं न विषयान्तर इत्याशङ्क्याह ❀ यस्येति ❀। यत्तच्छब्दाभ्यां व्यावृत्तो-ऽर्थोऽभिधीयते ? अनुवृत्तो वा ? आद्येऽव्याप्तिः, द्वितीये व्यवच्छेदकाभावाद् घटज्ञानं पटेऽपि प्रत्यक्षं स्यादित्यर्थः।

यदसाधारणदूषणाभिधानायातिदेशव्याजेन लक्षणं प्रासञ्जि तदिदानीमाह ❀ अव्यभीति ❀। शुक्तिरजतज्ञानव्यवच्छेदार्थत्वादव्यभिचारविशेषणस्य न वैयर्थ्यमित्याशङ्क्याह ❀ न हीति ❀। रजत-ज्ञानस्य सन्निकर्षाजन्यत्वात् सन्निकर्षजत्वविशेषणेन व्यवच्छिन्नत्वादव्यभिचारिविशेषणं व्यर्थमित्यर्थः।

व्यतिरिक्त नहीं।

समाधान—उक्त लक्षण में 'अन्य' शब्द से घटादि विशेष विषय का ग्रहण अभिमत है ? अथवा अन्यत्व (भेद) की अधिकरणभूत कोई भी वस्तु ? प्रथम पक्ष में पटादि विषयक ज्ञान में भी पटादि की प्रमापकता नहीं कही जा सकेगी, क्योंकि वह अन्यविषयक ही है, अन्यव्यतिरिक्तविषयक नहीं। लक्षण-घटक 'तत्' पद से यदि किसी अनुगत अर्थ का अभिधान किया जाता है, तब घट-ज्ञान में पट-प्रमापकत्वापत्ति होती है, क्योंकि अनुगतार्थक 'तत्' पद एवं अन्यव्यतिरिक्त विशेषण के द्वारा उसका व्यवच्छेद (वारण) नहीं किया जा सकता।

यही अतिप्रसङ्ग दोष 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि प्रत्यक्षम्'—इस लक्ष में भी पाया जाता है, क्योंकि घट के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो 'घटोऽयम्'—इस प्रकार का स्वविषयाव्यभिचारी ज्ञान उत्पन्न होता है, वह पट का प्रमापक क्यों नहीं होगा ? 'यस्यार्थस्य सन्निकर्षाद् यज्ज्ञानमुत्पद्यते, तत् तस्मिन् विषये प्रत्यक्षतया प्रमाणम्'—ऐसा लक्षण का परिष्कार करने पर 'यत्तत्' शब्दादि के वही अनुगताननुगताभिधानादि विकल्प और उनके दोष प्रसक्त होते हैं।

उक्त लक्षण में 'अव्यभिचारि' विशेषण व्यर्थ भी है, क्योंकि शुक्ति में रजत-ज्ञान रजत और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं, अतः 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य'—इतना लक्षण ही उसमें नहीं जाता, उसकी व्यावृत्ति के लिए 'अव्यभिचारि' पद की क्या आवश्यकता ? रजत के साथ चक्षु का संस्कार-घटित (स्वसंयुक्तात्मसमवेतसंस्कारविषयत्वरूप) ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति कही जाती है, वह भी शुक्ति-रजततादात्म्य के साथ संभव नहीं, क्योंकि शुक्ति और

न्नम्। संस्कारलक्षणा प्रत्यासत्ती रजतत्वेऽप्यस्तीति चेन्न, पूर्वानुभूतरजततादात्म्यस्य संस्काराभावादुक्तदोषतादवस्थ्यात्। गुरुमतानुसारेण सुतरां विशेषणवैयर्थ्यात्तेन व्यभिचारानङ्गीकारात्। रजतत्ववैशिष्ट्ये पुरोवर्तिनस्तदभावात्। तस्मिन्नेव वांशेऽप्रामाण्यम्, न तु रजतत्वमात्रे, तस्यान्यत्र सत्त्वात्।

अथ साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमुच्यते, तदा साक्षात्कारिभ्रमेऽपि प्रसङ्गः।

चक्षुःसंयुक्त आत्मा तत्र पूर्वरजतप्रत्ययसंस्कारः तद्गोचरो रजतमिति संस्कारलक्षणेन्द्रियप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षरजतज्ञानस्य जननात्सन्निकर्षजत्वविशेषणेन तद्व्यवच्छेदासिद्धेरव्यभिचारिविशेषणं न व्यर्थमिति शङ्कते ॐ संस्कारेति ॐ। पूर्वानुभूते संस्कारनियमाच्छुक्तिरजततादात्म्यस्य पूर्वमननुभवात्तत्संस्कार एव नोपपद्यत इति परिहरति ॐ नेति ॐ। एवं भट्टमतानुसारेण लक्षणविशेषणवैयर्थ्यमभाणि। सम्प्रति गुरुमतेऽपि तदीरयति ॐ गुरुमतेति ॐ। गुरुमतानुसारेण सुतरामव्यभिचारिपदं व्यर्थं तेन व्यभिचारिज्ञानानङ्गीकारात्, प्रमाणं स्मृतिश्चेति प्रत्ययद्वैराश्याश्रयणादित्याशयः। किं च शुक्तिं रजततयाऽवगाहमानं ज्ञानं व्यवच्छिद्यते किं वा रजतत्वमात्रज्ञानम्? नाद्य इत्याह ॐरजतेतिॐ। पुरोवर्तिनः शुक्तिशकलस्य रजतत्ववैशिष्ट्ये पूर्वानुभवसंस्काराभावात् ज्ञानं सन्निकर्षजत्वविशेषणेन व्यवच्छिद्यते इत्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ॐ तस्मिन्निति ॐ। पुरोवर्तिनो रजतत्ववैशिष्ट्यांश एवाप्रामाण्यं ज्ञानस्य न पुना रजतत्वमात्रे तस्य देशान्तरादौ सत्त्वात्तद्गोचरज्ञानस्यापि प्रमाणतया व्यवच्छेद्यत्वायोगादित्यर्थः।

प्रत्यक्षलक्षणान्तरमाशङ्कते ॐ अथेति ॐ। यथाश्रुतं तावदलक्षणमिदं रजतमित्यादिज्ञानस्यापि

रजत का तादात्म्य सर्वथा असत् है, अतः न उसका कभी अनुभव हो सकता है और न उसके संस्कार। प्रभाकर के मत में तो सभी ज्ञान यथार्थ (अव्यभिचारी) ही होते हैं, अतः उनके मतानुसार 'अव्यभिचारि' पद अत्यन्त निरर्थक है, क्योंकि पुरोवर्तिद्रव्यगत रजतत्व-वैशिष्ट्य का अवगाहन करने के कारण ही उस ज्ञान को भ्रम या व्यभिचारी माना जा सकता है, रजतत्व-वैशिष्ट्य के साथ इन्द्रिय का कोई भी लौकिक सन्निकर्ष नहीं और उसके संस्कार न होने के कारण ज्ञानलक्षणादि अलौकिक सन्निकर्ष भी संभावित नहीं, अतः 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जन्य' पद से ही उस ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है, 'अव्यभिचारि' विशेषण की कोई आवश्यकता नहीं। सामान्यतः रजतत्व-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान तो यथार्थ (अव्यभिचारी) ही है, क्योंकि अन्यत्र रजत में रजतत्व-वैशिष्ट्य विद्यमान है, अतः उसकी व्यावृत्ति तो 'अव्यभिचारि' पद से सम्भव नहीं। ['अव्यभिचारि' पद का वैयर्थ्य बताते हुए श्री जयराशि ने भी कहा है—'इतोऽप्यपार्थकम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदेनैवापोदितत्वात्, नहि केशोण्डुकादिविज्ञानस्य नयनार्थसन्निकर्षाद् भूतिरस्ति। मरीचिषु यच्चोदकं प्रतिभाति, न च तेनापि सह सम्बन्धोऽस्ति" (त० उ० सि० पृ० ११)। ज्ञान की अव्यभिचारिता के विषय में श्री शालिकनाथ मिश्र ने स्पष्ट कहा है—

यदि चार्थं परित्यज्य काचिद् बुद्धिः प्रवर्तते।
व्यभिचारवती स्वार्थे कथं विश्वासकारणम्॥
इदं रजतमित्येषा या शुक्तिशकले मतिः।
सा चेद् यथार्था भ्रान्तित्वं तदा तस्यास्तु कीदृशम्॥
एषा हि रजतत्वेन शुक्तिकामध्यवस्यति।
रजतत्वं न शुक्तेश्च रजतस्य न शुक्तिता॥ (प्र० पं० पृ० ४४)

रजत के साथ इन्द्रिय का कोई सीधा सन्निकर्ष नहीं, और सन्निकृष्ट शुक्ति का भान नहीं होता, अतः वहाँ दो ज्ञान होते हैं—(१) शुक्ति का इदन्त्वेन प्रत्यक्ष और (२) रजत का स्मरण, ये दोनों यथार्थ (अव्यभिचारी) हैं]।

अव्यभिचारित्वेन विशेषितं तल्लक्षणमिति वा भेदाग्रहव्यतिरिक्तविभ्रमाभावो वेति चेत्, न, विकल्पासहत्वात्। किमवगतमिदं लक्षणं फलहेतुः ? अनवगतं वा ? न तावच्चरमः, तदभिधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अभिधानस्य ज्ञानोत्पादोपयोगित्वात् तस्य चानवगतस्यैव फलसाधकत्वाभ्युपगमात्।

आद्ये किमन्यस्मात्तदवगमः ? उत त्वदीयाल्लक्षणवाक्यात्? यद्यन्यस्मात्, कृतममुना लक्षणाभिधानप्रयासेन । अभिधानस्य ज्ञानोत्पादातिरिक्तप्रयोजनाभावात् तस्य चान्यत एव सिद्धेः। अन्त्ये किं त्वदभिधानमात्रोपदेशतया साक्षात्कारित्वं

साक्षात्कारितयाऽतिव्याप्तेरित्याह ❀ तदेति ❀। अव्यभिचारि साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षमिति लक्षणं विशेष्यत इत्याशङ्कते ❀ अव्यभीति ❀। प्राभाकरनये पुनः साक्षात्कारिभ्रम एव नास्ति तत्प्रसिद्धिव्यवहारयोर्विवेकाग्रहमात्रालम्बनत्वादतो न तन्मते विशेषणाभावेऽप्यतिव्याप्तिरित्याह ❀ भेदेति ❀। लक्षणप्रणयनवैयर्थ्यप्रसञ्जनेन परिहरति ❀ नेति ❀। विकल्पपुरःसरमुपपादयति ❀ किमिति ❀। साक्षात्कारित्वलक्षणं स्वयं ज्ञातमितरेभ्यो व्यवच्छेदज्ञानहेतुरुत सत्तामात्रेणेति विकल्पार्थः। द्वितीयं कल्पमादौ दूषयति तत्र बहुवक्तव्याभावात् ❀ नेति ❀। अनवगतलक्षणस्य लक्ष्यव्यवच्छेदप्रतीतिहेतुत्वे लक्षणाभिधानवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति हेतुमाह ❀ तदिति ❀। तदेव कुत इत्यत आह ❀ अभिधानेति ❀। अस्तु तर्हि ज्ञानोत्पादकत्वेनेदं लक्षणं सार्थकमित्यत आह ❀ तस्येति ❀। तस्य लक्षणस्यानवगतस्यैव व्यावृत्तज्ञानहेतुत्वान्न तदभिधानस्य प्रयोजनमित्यर्थः। अवगतं तर्हि तत्फलहेतुरिति प्रथमकल्पमाशङ्क्य पराकर्तुं विकल्पयति ❀ आद्य इति ❀। प्रमाणान्तराल्लक्षणावगमपक्षं दूषयति ❀ यदीति ❀। अन्यतो लक्षणावगममात्रेण लक्षणप्रणयनवैयर्थ्यं कुत इत्यत आह ❀ अभीति ❀। वाक्यप्रयोगस्य परप्रत्ययार्थत्वादिति भावः। लक्षणज्ञानस्य साधनान्तरायत्ततयाऽनन्यसाधनत्वाभावान्नाभिधानप्रयोजनत्वमित्याह ❀ तस्येति ❀। लक्षणाभिधानमनर्थकमित्यर्थः। प्रणेतृवचनादवगम्यते लक्षणमिति चरमकल्पमाशङ्क्य विकल्पयति ❀ अन्त्य इति ❀।

(३) साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षत्वम्—

श्री शालिकनाथ मिश्र ने प्रभाकर गुरु के मतानुसार प्रत्यक्ष का लक्षण किया है—"साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्" (प्र० पं० पृ० १४५)। यह लक्षण साक्षात्कारिभ्रम में अतिप्रसक्त है।

शङ्का—उक्त लक्षण प्रभाकर गुरु का है, उनके मत में भ्रम ज्ञान माना ही नहीं जाता। यदि उसे स्वीकार किया जाता है, तब लक्षण में अव्यभिचारि' विशेषण लगाकर उसकी व्यावृत्ति की जा सकती है। वस्तुतः 'इदं रजतम्'—इत्यादि प्रत्यक्ष भ्रम कहे जाने वाले स्थलों पर प्रत्यक्ष और स्मरण दो ज्ञान होते हैं, उनमें प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय शुक्ति और स्मरण ज्ञान का विषय रजत है। उन दोनों ज्ञानों और उनके दोनों विषयों का वास्तविक भेद है, किन्तु उस भेद का अग्रह (अज्ञान) होने के कारण भ्रम-व्यवहारादि हो जाता है, भ्रम नाम की कोई वस्तु पृथक् नहीं होती, अतः उसमें अतिप्रसङ्ग देना सम्भव नहीं।

समाधान—उक्त लक्षण ज्ञात होकर अपने उद्देश्य का साधक माना जाता है ? अथवा अज्ञात होकर ही ? यह अन्तिम पक्ष तो अत्यन्त असङ्गत है, क्योंकि यदि अज्ञात लक्षण ही अर्थक्रियाकारी माना जाय, तब लक्षणाभिधान व्यर्थ है, क्योंकि लक्षणाभिधान का प्रयोजन लक्षण का ज्ञान कराना ही होता है, किन्तु उसके ज्ञान की कोई आवश्यकता ही नहीं, अज्ञात लक्षण ही कार्यकारी माना जाता है। प्रथम कल्प में जिज्ञासा होती है कि लक्षण का ज्ञान अन्य किसी साधन से होता है ? अथवा आपके लक्षण-वाक्य से ? यदि अन्य साधन से ही लक्षण का ज्ञान हो जाता है, तव आपका लक्षणाभिधान-प्रयास अनावश्यक हो जाता है,

बोधयति, उत लिङ्गादिभावेन ? न तावच्चरमः, त्वद्वचनस्य साक्षात्कारित्वाविनाभावादेर्दर्शयितुमशक्यत्वात्। नापि प्रथमः, वादिनं प्रति भवत आप्तत्वासिद्धेः। सिद्धौ हि प्रतिज्ञामात्रादेव साध्यसिद्धेर्हेत्वाद्यभिधानमनर्थकं सर्वत्र स्यात्।

अथ मन्यसे यः साक्षात्कारित्वमन्यतो जानाति, प्रत्यक्षव्यवहारनिदानतया च न जानाति, तं प्रति प्रत्यक्षव्यवहारनिदानत्वमस्य ज्ञाप्यते लक्षणवादिना। तच्चानुमानभावेनैव, नाप्तोपदेशतया। अत एव च लक्षणं केवलव्यतिरेक्यनुमानमाचक्ष्महे। तद्यथा—श्रावणादिप्रमितयः, साक्षात्कारिप्रमितयो वा प्रत्यक्षत्वेन व्यवहर्त्तव्याः, साक्षात्कारिप्रमितित्वात्, न यत्प्रत्यक्षतया व्यवह्रियते न तत्साक्षात्कारि, यथानुमितिः, तथा चैताः, तस्मात्तथा। एतदनुमानप्रतिपादकञ्च वाक्यं नाप्तवाक्यत्वेन

चरमकल्पं बुद्धिस्थत्वादादौ दूषयति ❀ नेति ❀। हेतुमाह ❀ त्वदिति ❀। त्वद्वचनस्य साक्षात्कारित्वेन सहाविनाभावस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् न लिङ्गतया बोधकत्वं नाप्यर्थापत्तितया तदन्तरेणानुपपत्त्यभावाञ्चाप्युपमानादितया सादृश्यादेर्दर्शयितुमशक्यत्वादित्यर्थः। आप्तोपदेशतया तर्हि मद्वाक्यं लक्षणबोधकमिति प्रथमं प्रतिषेधति ❀ नापीति ❀। कुतो नैवमित्यत आह ❀ वादिनमिति ❀। उक्तमेव व्यतिरेकदण्डप्रदर्शनेन द्रढयति ❀ सिद्धौ हीति ❀।

लक्षणाभिधानस्य न लक्षणस्वरूपज्ञानं प्रयोजनं येनान्यतः सिद्धावभिधानवैयर्थ्यं स्वयं त्वाप्तवाक्यत्वेनाबोधकं स्यादपि त्वन्यदेव प्रयोजनमिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। अन्यतोऽनुव्यवसायात्साक्षात्कारित्वं ज्ञानसमवेतं संयुक्तसमवेतसमवायाज्जानातीति यावत्। तर्ह्यनवगतस्यासत्वादभिधानं व्यर्थमेवेत्यत आह ❀ प्रत्यक्षेति ❀। साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षव्यवहारहेतुरिति न जानातीत्यर्थः। यदन्यत् प्रयोजनमभिधानस्येत्युक्तं तदिदानीमाह ❀ तमिति ❀। अस्य साक्षात्कारित्वस्येति साक्षात्कारित्वव्यवहारनिदानत्वमपि नाप्तोपदेशतया बोधयितुं शक्यं वादिनोऽनाप्तत्वादित्याशङ्क्य तदसम्भवेऽपि परार्थानुमानतया बोधकमित्याह ❀ तच्चेति ❀। तच्च ज्ञाप्यत इति सम्बन्धः। साक्षात्कारित्वस्यान्यत्र प्रत्यक्षव्यवहारनिदानत्वसिद्धौ वैयर्थ्यमसिद्धौ व्याप्त्यसिद्धया हेत्वसिद्धिरिति कथमनुमानभावेन बोधकमित्यत आह ❀ अत इति ❀। अन्वयव्याप्त्यभावादेवेति यावत्। कीदृशं तद्व्यतिरेक्यनुमानमित्यपेक्षायां तद् रचयति

क्योंकि अभिधान का एकमात्र प्रयोजन है—प्रतिपाद्य वस्तु का ज्ञान, वह ज्ञान तो आप अन्य साधन से ही मान रहे हैं। यदि द्वितीय कल्प के अनुसार लक्षण का ज्ञान आपके लक्षण-वाक्य से माना जाय, तब प्रकार-विशेष की जिज्ञासा होती है कि आपका लक्षण-वाक्य आप्तोपदेशविधया लक्षण का बोधक है ? अथवा लिङ्गविधया ? लिङ्गविधया बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि आपके वाक्य में साक्षात्कारित्व के अविनाभाव (व्याप्ति) की सिद्धि नहीं हो सकती। आप्तवाक्यविधया भी उसका बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि आपका प्रतिस्पर्धी वादी आपको आप्त पुरुष मानने के लिए कदापि सहमत नहीं हो सकता। यदि आपको आप्त मान लिया जाता है, तब प्रतिज्ञामात्र से वस्तु की सिद्धि हो जायगी, उसके लिए हेतुओं और उपपादकों का निर्देश किस लिए ?

शङ्का—जिस व्यक्ति को अन्य साधन के द्वारा साक्षात्कारित्व का ज्ञान है किन्तु उसमें प्रत्यक्ष-व्यवहार की प्रयोजकता का ज्ञान नहीं, उस व्यक्ति को लक्षणाभिधान के द्वारा व्यवहार-प्रयोजकता ज्ञापित की जाती है। वह भी अनुमानविधया ही, आप्तवाक्यविधया नहीं, इसी लिए लक्षण को केवलव्यतिरेकी अ मान माना जाता । वार्तिककार कहते हैं—"लक्षणेनानुमानत्व प्रामाण्यं ·· ·च्छति" (श्लो० वा० शब्द० ४७)। यहाँ वह अनुमान-प्रकार —'साक्षात्कारिप्रमितयः प्र[illegible] व्यवहर्त्तव्याः, साक्षात्कारित्वात्, यत् न प्रत्यक्षतया व्यवह्रियते, तत् साक्षात्कारि न भवति, यथा अनुमितिः।' इस अनुमान का स्फोरक लक्षण-

प्रयुज्यते वादिना। किन्तु व्याप्त्यादेः प्रतिपन्नस्यैव स्मारकम्, पूर्वाप्रतिपन्नस्य वा जिज्ञासोत्पादनद्वारेणेदानीमेव वादिनि प्रमाणोत्पादकमित्युक्तदोषानवकाश इति।

न, 'प्रत्यक्षतया व्यवहर्तव्याः' इति व्यवहारस्य किं विषयभेदो विशेषः? उत शब्दभेदः? आद्ये यद्यसौ विषयविशिष्टं व्यवहारं नाज्ञासीत्, कथं साक्षात्कारिणि तस्य स्वकर्तव्यतां लक्षणवाक्यादप्यवगच्छेत्। न ह्यविदिताग्निरनुमानादप्यग्निसम्बन्धं बोधयितुं शक्यः। अथाज्ञासीत् तदा ज्ञातज्ञापनवैयर्थ्याल्लक्षणरूपमनुमानं निष्प्रयोजनम्।

॥ तदिति ॥। तदिति श्रावणः शब्दः आदिपदोपादाने विशेष्यासिद्धयाऽऽशङ्का स्यादिति साक्षात्कारिप्रमितय इत्याह ॥ प्रमितित्वादिति ॥। प्रमितित्वादित्युक्तेऽनुमानादिज्ञाने विरुद्धता स्यात्तद्वारणाय ॥ साक्षादिति ॥। साक्षात्कारित्वादित्युक्ते रजतादिभ्रमे विरुद्धता तद्व्युदासाय ॥ प्रमितित्वादिति ॥। व्यतिरेकव्याप्तिं कथयति न यदित्यादिना ॥ तथा चेता इति ॥। उक्तसाधना इत्यर्थः ॥तस्मात्तथेति॥। उपनयानन्तरमुक्तसाधनवत्त्वादुक्तसाध्या इति निगमयति पञ्चावयवप्रयोगस्यैव परार्थानुमानत्वात्। एतत्पञ्चावयववाक्यं व्याप्त्यादिकमनुमानतया बोधयति? किं वाऽऽप्तवाक्यतया? आद्येऽनवस्थानं द्वितीयेऽसम्भवो वादिन आप्तत्वासिद्धेरित्याशङ्क्याह ॥ एतदिति ॥। तर्हि प्रकारान्तरासम्भवेन वैयर्थ्यमित्याशङ्क्य प्रकारद्वयमीरयति ॥ किं त्विति ॥। "सम्बन्धिदर्शनात्सम्बन्ध्यन्तरे स्मृति"रितिन्यायात् व्याप्त्यादिविषयशब्ददर्शने वादिना पूर्वानुभूतव्यतिरेकव्याप्त्यादिपदार्थः स्मर्यते तत्स्मारकत्वेन प्रयोग इत्यर्थः। भवतु पूर्वप्रतिपन्नव्याप्त्यादिविषये तथा यत्र पुनरप्रतिपन्नव्याप्त्यादिकं प्रत्यनुमानं प्रयुज्येत तत्र कथं स्मारकत्वमित्यत आह ॥ पूर्वेति ॥। वादिना पञ्चावयवं प्रयुक्तं वाक्यमुपश्रुत्य प्रतिवादिनो जिज्ञासा जायते किमनेन साधनमुपन्यस्तमिति जिज्ञासमानस्य चात्मनि लिङ्गविषयप्रमाणज्ञानं जायते ततश्चानुमानप्रमाणोत्पत्तिः स्वात्मनीति प्रमाणोत्पादकमिति कृत्वाऽभिधानवैयर्थ्यलक्षणदोषानवकाश इत्यर्थः।

विपक्षबाधकतर्कदुष्टत्वादप्रयोजको हेतुरिति परिहरति ॥ नेति ॥। व्यवहर्तव्या इति व्यवहारमात्रविषयत्वं त्वया न साध्यते प्रत्यक्षेतिविशेषणोपादानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् किं तु व्यवहारविशेषविषयत्वं स पक्षभेद एव विशेष इति प्रथमकल्पमाशङ्क्य दूषयति ॥ आद्य इति ॥। अयमर्थः असौ बोध्यस्तद्विषयविशिष्टं तद्व्यवहारमज्ञासीदन्यतो नाज्ञासीद्वा? यदि नाज्ञासीत्साक्षात्कारिज्ञाने तस्य व्यवहारस्य स्वकर्तव्यता

वाक्य लक्षण-वादी के द्वारा आप्तवाक्यत्वेन प्रयुक्त नहीं होता, अपितु व्याप्त्यादि से सम्पन्न हेतु का स्मारक होता है। अथवा जिस वादी को साक्षात्कारित्व का ज्ञान नहीं, उसको इसी समय अभिमत अनुमान प्रमाण (अनुमिति) कराने के लिए उक्त पञ्च अवयव लक्षणाभिधान के द्वारा ध्वनित किये जाते हैं।

समाधान यह जो कहा है 'प्रत्यक्षतया व्यवहर्तव्याः', वहाँ सामान्य व्यवहार निर्दिष्ट नहीं, अपितु व्यवहार-विशेष, वह विशेष पदार्थ अर्थ-भेदरूप है? अथवा शब्द-भेदरूप? ['व्यवहार' शब्द से ज्ञानात्मक और शब्दात्मक दोनों का अभिधान होता है, अतः 'साक्षात्कारिप्रमितयः साक्षात्कारित्वेन व्यवहर्तव्याः'—इस वाक्य के दो अर्थ होते हैं—(१) 'साक्षात्कारिप्रमितयः साक्षात्कारित्वप्रकारकज्ञानविषयाः' अथवा (२) 'साक्षात्कारिप्रमितयः साक्षात्कारिशब्दाभिधेयाः']। प्रथम कल्प में जिस वादी को विषय-विशिष्ट व्यवहार का ज्ञान नहीं वह वादी आपके लक्षणाभिधान से भी उस अज्ञात व्यवहार में स्वकर्तव्यता का ज्ञान कैसे कर लेगा? अज्ञात विषय में न इच्छा-विषयता सम्भव होती है, न कृति-विषयता और न किसी के सम्बन्ध का भान। जैसे कि जिस व्यक्ति को अग्नि का ज्ञान नहीं होता, वह उस अग्नि में पर्वतादि के सम्बन्ध का बोध नहीं कर सकता। यदि विषय-विशिष्ट व्यवहार का वादी को ज्ञान है, तब ज्ञात पदार्थ का ज्ञापन करने के लिए लक्षणाभिधान निरर्थक है।

अथ सामान्यतो जानाति—अस्ति कश्चिद्विषयः प्रत्यक्षव्यवहारस्य। विशेषतस्तु न जानाति, तं प्रतीदमुच्यते। न, किं सामान्यतो निमित्तवत्तां व्यवहारमात्रस्य जानाति? उत व्यवहारविशेषस्य? आद्ये प्रकृतानुपयोगः, व्यवहारविशेषस्य चिन्त्यमानत्वात्। द्वितीये किं कुतोऽसौ व्यवहारस्य विशेष इति विकल्पितपक्षानुप्रवेशमन्तरेण न निस्तारः।

एतेन सर्वस्यैव लक्ष्यस्य स्वीकारः परासनीयः। तथा हि—

नात्यापत्त्या प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः।
तद्धियस्तदुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु॥ ३४॥

कथं जानीयान्न कथंचिदप्रसिद्धविशेषणत्वेन पक्षाभासत्वापातादिति। सर्वप्रमाणानामनवगताधिगन्तृत्वस्वाभाव्यादन्यतो व्यवहारस्यानवगतावपि व्यतिरेक्यनुमानरूपलक्षणवाक्यादेव तदधिगतिः किं न स्यादित्यत आह ❀ नेति ❀। अविदितोऽग्निर्येन सोऽविदिताग्निः प्रमाणानामज्ञातज्ञापकत्वेऽपि तद्भेदस्यानुमानस्य सामान्यतोऽन्यत्र प्रसिद्धिगोचरत्वमेव व्याप्त्यादिसापेक्षतया बोधकत्वादन्यथाऽप्रसिद्धविशेषणत्वादेरुच्छेदापातादन्वयिनि तद्दूषणं केवलव्यतिरेकिणि नेति कोशपानमेव शरणमित्यर्थः। विषयविशेषविशिष्टं व्यवहारमन्यतो ज्ञातवानिति द्वितीयकल्पमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। लक्षणप्रवृत्तेः प्रागेव तत्कृत्यस्य व्यवहारविशेषज्ञानस्य सिद्धतयाऽनुमानरूपमपि लक्षणं व्यर्थमिति दूषयति ❀ तदेति ❀। अत्यन्तज्ञानाज्ञानपक्षयोरुक्तदोषपरिहारमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। प्रत्यक्षव्यवहारस्य कश्चिद्विषयविशेषोऽस्तीति सामान्यतोऽधिगतं साक्षात्कारिज्ञाने साध्यते तेन नाप्रसिद्धविशेषणता, नापि सिद्धसाधनता पक्षधर्मताबलादसिद्धविशेषलाभादिति भावः। प्रत्यक्षानवगमे तद्विशेषितव्यवहारस्य सामान्यावगमोऽपि न सम्भवति विशेषणज्ञानाधीनत्वाद्विशेष्यज्ञानस्येत्यभिप्रेत्य परिहरति ❀ नेति ❀। विकल्पमुखेनाप्येतदपाकर्तुं उपक्रमते ❀किमिति❀। सामान्यतो यस्य निमित्तवत्तां जानाति तद्व्यवहारमात्रमुक्तं उत व्यवहारविशेष इति विकल्पार्थः। अर्थान्तरतापत्त्या प्रथमं दूषयति ❀ आद्य इति ❀। तत्र हेतुमाह ❀ व्यवहारेति ❀। द्वितीयं प्रत्याह ❀ द्वितीय इति ❀। किं विषयभेदो विशेष उत शब्दभेद इति विकल्पितपक्षानुप्रवेशान्न निस्तार इत्यर्थः।

उक्तं दूषणं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति ❀ एतेनेति ❀। इयं पृथिवीति व्यवहर्तव्या गन्धवत्त्वाद्व्यतिरेकणावादिवदित्यादिलक्षणेन लक्ष्यस्वीकारो निराकर्तव्य इत्यर्थः। निराकरणप्रकारं श्लोकेन सङ्गृह्णाति ❀ तथा हीति ❀। लक्षणतो जायमानात्प्रमामात्रात्तत्तल्लक्ष्यस्वीकारः उत पृथिव्यादिलक्ष्यविशिष्टप्रमात इति प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। ते ते पृथिव्यादयोऽर्थाः प्रमामात्रात् स्वीकारोचिता न भवन्ति कुतोऽत्यापत्तेरतिप्रसङ्गात्। ज्ञानमात्रस्य सर्वार्थसाधारणतया एकज्ञानेन सर्वार्थस्वीकारप्रसङ्गात्। अर्थापत्तेरिति

यदि कहा जाय कि जिस वादी को व्यवहार के विषय का सामान्यतः ('अस्ति कश्चित् प्रत्यक्षव्यवहारस्य विषयः'—इस प्रकार) ज्ञान है, विषेषतः नहीं, उसको विशेषतः (प्रत्यक्षज्ञानमेव प्रत्यक्षव्यवहारस्य विषयः'—ऐसा) ज्ञान कराने के लिए लक्षणाभिधान किया जाता है। तब जिज्ञासा होती है कि क्या व्यवहार सामान्य के निमित्त का सामान्यतः ज्ञान है? अथवा विशेष व्यवहार (प्रत्यक्ष-व्यवहार) के विषय का सामान्यतः ज्ञान है? प्रथम कल्प का प्रकृत में कोई उपयोग नहीं, क्योंकि व्यवहार-विशेष (प्रत्यक्ष-व्यवहार) का विचार किया जा रहा है, व्यवहार सामान्य का नहीं। द्वितीय कल्प में वही जिज्ञासा होती है कि उक्त विशेषता विषय-प्रयुक्त है अथवा शब्द-प्रयुक्त? इन पक्षों के पूर्वोक्त दोष प्रसक्त हो जाते हैं। लक्ष्यमात्र के खण्डन की यही दिशा है—

लक्षण-प्रवृत्ति से पूर्व लक्ष्य की सिद्धि आवश्यक है, वहाँ जिज्ञासा होती है कि लक्ष्य की सिद्धि क्या सामान्य प्रमा से होती है? अथवा लक्ष्य-विशिष्ट प्रमा से? प्रथम कल्प में अत्यापत्ति (घट-प्रमा से पट की सिद्धिरूप अतिप्रसक्ति) होती है और लक्ष्य-विशिष्ट प्रमा

अथान्यः स विशेषश्चेत् तद्धीत्वं कश्चिदिष्यते ।
दत्तः साकारवादाय विष्टरः स्पष्टमेव तत् ॥ ३५ ॥
अर्थादुत्थास्नवो धर्मा नानुमात्वादयो यथा ।
तद्धीत्वमपि तद्वत् स्यादित्यर्थोऽनर्थमाविशेत् ॥ ३६ ॥

पाठे अर्थस्यातिप्रसङ्गलक्षणस्यापत्तेरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति * तदिति * । पृथिवीविशिष्टज्ञानस्य पृथिव्यां मानत्वे पृथिवीसिद्धौ तत्सिद्धिरित्यात्माश्रयदोषं कः चिकित्सतु न कोऽपीत्यर्थः । तद्धीत्वं नाम ज्ञानस्यैव कश्चिद्धर्मो न तु ज्ञेयस्य तस्य ज्ञानेऽन्तर्भावस्तेन नात्माश्रय इति शङ्कते * अथेति * । परिहरति * दत्त इति * । "अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्" इति स्वसिद्धान्तः, स त्यक्तः स्यात् ज्ञानस्य ज्ञेयाभेदमन्तरेण तद्धीत्वधर्मायोगात् । तथा—"सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः"

इति बौद्धसिद्धान्तस्वीकारोऽपीति स्वाभ्युपगमहानिरनभ्युपगतोपगम इति दोषद्वयं तात्पर्यार्थः । साकारवादाय विष्टर आसनं स्पष्टमेव दत्तः स्यात्साकारवादः पूजितः स्यादिति सम्बन्धः । ज्ञानस्य प्रकाशमात्रस्वाभाव्यात्तद्धीत्वविशेषो न स्वाभाविकः किं त्वर्थसम्बन्धौपाधिकः स्फटिकस्येव लोहितिमा, ततश्च ज्ञानगतविशेषजनकतया बाह्यार्थसिद्धेर्न शाक्यमतप्रवेश इत्याशङ्क्याह * अर्थादिति * । अनुमित्यादयोऽनुमितित्वागमत्वादयो ज्ञानधर्मा अर्थाद्विषयादुत्थास्नव—उत्थानशीला न भवन्ति किं तु लिङ्गादिकारणविशेषा-

से लक्ष्यार्थ की सिद्धि मानने पर लक्ष्य में लक्ष्य की अपेक्षा होने से स्वाश्रयता दोष प्रसक्त होता है ॥ ३४ ॥

शङ्का—न तो सामान्य प्रमा से लक्ष्यार्थ की सिद्धि मानी जाती है और न लक्ष्य-विशिष्ट प्रमा से, अपितु विशिष्ट प्रमा से । वह विशिष्टता बुद्धि का अपना धर्म विशेष है, लक्ष्य-विषयकत्व या लक्ष्य-वैशिष्ट्य नहीं, अतः अतिप्रसङ्ग या स्वाश्रयता दोष प्रसक्त नहीं होते ।

समाधान—विषय-सम्बन्ध के विना बुद्धिगत विशेषता योगाचार-सम्मत विशेषाकारता ही है [जैसा कि ज्ञानश्री कहते हैं—"गौरगान्धारमधुरसुरभिसुकुमारशातेतरादि-चित्राकारं जगत, तथा च सूत्रम्—'विज्ञप्तिमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकमिति" (ज्ञान० पृ० ३९७) । "नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः" (ज्ञान० पृ० ३८६) । अर्थात् अनादिवासनाओं के आधार पर ज्ञानों में जो विशेष गौरादि आकार प्रस्फुरित होते हैं, उन्हीं से विशेष व्यवहार की सिद्धि होती है, उस आकार का आधार विज्ञान ही है, उससे भिन्न कोई विषय वस्तु नहीं । उस आकार को छोड़ कर कोई भी ज्ञान व्यवहार में प्रवृत्त ही नहीं होता ।

किन्तु ज्ञान की यह सौगतसिद्धान्त-सिद्ध साकारता निरा एक विद्रोह है उस वैदिक सिद्धान्त का, जिसमें ज्ञान की निराकारता का उद्घोष किया गया है—"निराकारा च नो बुद्धिः, आकारवान् बाह्योऽर्थः" (शाबर० पृ० ३१) । नैयायिकप्रवर श्री उदयनाचार्य ने भी ज्ञानश्री की "नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति'—इस उक्ति का प्रतिवाद करते हुए कहा है—"न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः" (आ० त० वि० पृ० २३०) न्यायकुसुमाञ्जलि में भी कहा है—"अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्" (न्या० कु० ४।४)] । फलतः साकारवाद को अवसर-प्रदान न करने के लिए विषय-विशिष्ट ज्ञान को ही ज्ञान-विशेष कहना होगा, इस प्रकार लक्ष्य-विशिष्ट प्रमा से ही लक्ष्य की सिद्धि माननी होगी, उसमें आत्माश्रयता दोष का प्रसङ्ग दिखाया जा चुका है ॥ ३५ ॥

'घट-ज्ञानत्व', 'पट-ज्ञानत्व'—इत्यादि धर्म ज्ञान के स्वाभाविक नहीं, अपितु बाह्य घट-पटादि विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, उनके उत्पादनार्थ बाह्य विषय सिद्ध होता है'—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे ज्ञान के अनुमितित्वादि धर्म विषय (वह्नि) से उत्पन्न नहीं, लिङ्गादि के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही घटादि-ज्ञानत्वरूप ज्ञान-धर्म भी

सोऽपि वा धीविशेषः किं स्वीकार्यस्तद्धियं विना ।
एवञ्च सोऽपि सोऽपीति नान्तः सोपानधावने ॥ ३७ ॥
समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥ ३८ ॥
उपपादयितुं तैः तैर्मतैरशकनीययोः ।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवागतिः तयोः ॥ ३९ ॥

वुत्तिष्ठन्ति यथा तद्धीत्वमपि तद्वत्स्यादर्थाद्वुत्थितं न स्याद्धीधर्मत्वादेवं च बाह्यार्थासिद्धिरित्याह ॐ इत्यर्थोऽनर्थमाविशेदिति ॐ । उदीरितरीत्याऽर्थो विषयोऽनर्थस्वभावमाविशेन्न सिद्धेदित्यर्थः । तपोधर्मा इति पाठे ज्ञानधर्मा इति योज्यम् । तद्धीत्वविशेषस्य ज्ञानधर्मत्वे बाह्यार्थासिद्धिरुक्ता । सम्प्रति दूषणान्तरमाह ॐ सोऽपीति ॐ । सोऽपि तद्धीत्वं नाम धियो विशेषो धर्मस्तद्धिया स्वीकार्यं उत धीमात्रात्, यदि धीमात्रात्स्यादतिप्रसङ्गः धीमात्रस्य सर्वसाधारण्यादेकज्ञानस्य सर्वधीत्वापातादतस्तद्धियैव स्वीकार्यः ततश्चात्माश्रय इत्यर्थः । धीविशेषस्तद्धीत्वं तद्धियं विनाऽपि स्वीकार्यः किं नेत्यन्वयः । अस्तु तद्धियस्तद्दूरीकारस्ततः किं तत्राह ॐ एवञ्चेति ॐ । एवं च सति तद्धीत्वधियः तद्धीत्वं धर्मः सोऽपि तया स्वीकार्य इति सोपानधावने बहुकक्षाविशिष्टमार्गगमने अन्तोऽवसानं न अनवस्था स्यादित्यर्थः । यद्युक्तप्रकारेण बाह्योऽर्थस्तद्धीत्वं च न सिद्ध्येत्तर्हि सकललोकतैर्थिकाविसंवादेनायं घटोऽनेन जलमाहरणीयमिदं च तज्ज्ञानमिति सिद्धयोर्ज्ञानव्यवहारयोः का गतिरिति पृच्छति ॐ समस्तेति ॐ । तर्हि तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः का गतिरस्तु किमत्यन्तासद्विषयत्वमुत सद्विषयत्वमिति पृच्छायामत्यन्तासद्विषयत्वमुत सद्विषयत्वमिति पृच्छायामत्यन्तासद्विषयत्वं तयोर्गति र्वाच्या शशशृङ्गतैक्ष्ण्यप्रतीतिव्यवहारयोरिवेत्यत आह ॐ समस्तेति ॐ । समस्तलोक आबालपण्डितजनस्तद्व्यवहारो वा समस्तानि शास्त्राणि तर्कतन्त्रादीनि तेषामैकमत्यमविस-

घटादि विषय से उत्पन्न न होकर अनादि वासना-प्रवाह से ही उत्पन्न होते हैं, बाह्य अर्थ व्यर्थ होकर असिद्ध हो जाता है ॥ ३६ ॥ इसी प्रकार 'घट-ज्ञानत्व', 'पटज्ञानत्व'—इत्यादि धर्म भी अपने साधकीभूत घटज्ञानत्वविषयक ज्ञान के विना ही सिद्ध होते हैं ? अथवा अपने-अपने ज्ञान से ? प्रथम कल्प में बाह्य विषय व्यर्थ हो जाता है और द्वितीय पक्ष में अनवस्थादि दोष प्रसक्त होते हैं, क्योंकि प्रथम विषय द्वितीय ज्ञानसे, द्वितीय ज्ञानरूप विषय तृतीय ज्ञान से सिद्ध होगा ॥ ३७ ॥

शङ्का—यदि बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं मानी जाती, तब उन घटादि-ज्ञानों और घटादि व्यवहारों की क्या गति होगी, जिनका समस्त विश्व और शास्त्र एकमत से समर्थन और उपबृंहण करते हैं ? [बाह्य वस्तु के सद्भाव पर ही वैदिक धर्म का सकल लोक-परलोक आधृत है, अतः उसके निराकरण में पूरा बल लगा देने का अनुरोध श्री कुमारिल भट्ट करते हैं—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे पुण्यपापादि तत्फलम् ।
विध्यर्थवादमन्त्रार्थनामधेयादिकल्पना ॥
सर्वेषु लक्षणेष्वेवं स्वप्रमाणगणैः स्थितिः ।
वचनव्यक्तिभेदेन पूर्वसिद्धान्तपक्षता ॥
कर्मभ्यः फलसम्बन्धः पारलौकिकयैहलौकिके ।
सर्वमित्याद्ययुक्तं स्यादर्थशून्यासु बुद्धिषु ॥
तस्माद् धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः ॥
अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियां प्रति ॥ (श्लो.वा.पृ.२१७)] ॥३८॥

समाधान—अभी तक के विचार-विनिमय से यह स्पष्ट हो चुका है कि उक्त घटादि

नापि द्वितीयः। तथा हि, अयमनुमानार्थः स्यात्—'श्रावणादिप्रतिपत्तयः प्रत्यक्षशब्दाभिधेयाः साक्षात्कारित्वादित्यादिः।' सोऽपि न, यद्यसाक्षात्कारिण्यनुमानादौ तच्छब्दाप्रयोगमात्रात् साक्षात्कारिणि तच्छब्दप्रयोगः क्रियते, तर्हि शशविषाण-जबगडदशादिशब्दप्रयोगोऽपि साक्षात्कारिणि कर्तव्य एव, अविशेषात्।

अथ जबगडदशादिशब्दाः सामान्यतोऽर्थवत्तया न प्रसिद्धाः, क्वचिदप्यप्रयोगात्। शशविषाणादिशब्दाश्च असद्विषया एवेति सिद्धाः प्रत्यक्षादिशब्दास्तु सद्विषयवत्तया

न्वावस्तमाश्रित्य नृत्यतोरतिशयेन वर्त्तमानयोरित्यर्थः। न सद्विषयत्वं नाप्यसद्विषयत्वमपि त्वनिर्वचनीयाज्ञानविलासविषयत्वमेव गतिरिति सिद्धान्त्याह ❀ उपपादयितुमिति ❀। गदितार्थोऽयं श्लोकः।

व्यवहारस्य शब्दभेदो विशेष इति द्वितीयं कल्पमपवदति ❀ नापीति ❀। द्वितीयकल्पेऽनुपपत्ति प्रथयितुमनुमानार्थं प्रथयति ❀ तथा हीति ❀। इष्यत एवायमनुमानार्थं इत्यत आह ❀ सोऽपीति ❀। प्रत्यक्षशब्दस्यासाक्षात्कारिण्यप्रयोगात्तदभिधेयत्वं साक्षात्कारिणि साध्यते ? किं वा साक्षात्कारिण्येव प्रयोगात् ? इति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ यदीति ❀। मात्रग्रहणेनात्र प्रयोगनैरपेक्ष्यं दर्शयति। अतिप्रसङ्गपराहतत्वेनाप्रयोजकत्वमाह ❀ तर्हीति ❀। अन्यत्राप्रयोगाविशेषात् जबगडदशादिशब्दानां प्रत्यक्षशब्देन सहेत्यर्थः। सामान्यतोऽर्थवत्तया प्रसिद्धत्वे सद्विषयत्वे च सत्यन्यत्राप्रयोगाच्छब्दाभिधेयत्वं साक्षा-

---

बाह्य पदार्थों के ज्ञानों और व्यवहारों का उपपादन न तो सत्पदार्थों से किया जा सकता है और न असत् पदार्थों से, अतः उन ज्ञानों और व्यवहारों की एकमात्र गति यह है कि उन्हें अनिर्वचनीयतावाद की पाद-सेवा में समर्पित कर दिया जाय। [नामरूपात्मक प्रपञ्च को आचार्य शङ्कर ने भी अनिर्वचनीय ही कहा है—"अविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये" (ब्र. सू. शां. भा. २।१।१४)। भदन्त वसुमित्र-सम्मत कारित्र को भी अनिर्वचनीय ही कहा गया है—

तत्त्वान्यत्वप्रकाराभ्यामवाच्यमथ बर्ण्यते।
सन्तानादीव कारित्रं स्यादेवं सांवृतं ननु॥ (त. सं. श्लो. १८०६)

आचार्य शङ्कर ने लोक-व्यवहार को 'मिथ्याज्ञाननिमित्तः' कहा, उससे निस्तत्त्व शून्यरूपता का भ्रम हो सकता था, उसकी व्यावृत्ति के लिए श्रीपद्मपादाचार्य ने 'अनिर्वचनीय अविद्या ही प्रपञ्च का उपादान कारण है'—इसी अर्थ में उक्त भाष्य वाक्य का तात्पर्य बताया है—"मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानम्। मिथ्येति अनिर्वचनीयता उच्यते, अज्ञानमिति जड़ात्मिका अविद्याशक्तिः" (पं. पा. पृ.)]॥ ३९॥

(२) द्वितीय (उत शब्दभेदः) कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि इस कल्प में यह अनुमान पर्यवसित होता है—'श्रावणादिप्रतिपत्तयः प्रत्यक्षशब्दाभिधेयाः, साक्षात्कारित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा अनुमानादिकम्'। इस अनुमान के आधार पर व्यातिरेकव्याप्ति के द्वारा यही सिद्ध होता है कि अनुमानादि अप्रत्यक्ष ज्ञानों में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग नहीं होता, अतः प्रत्यक्ष प्रमा में ही 'प्रत्यक्ष' शब्द की प्रवृत्ति सिद्ध होती है। किन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि यदि अन्यत्र अप्रयोगमात्र के आधार पर प्रत्यक्षप्रमा में प्रत्यक्ष शब्द की प्रवृत्ति होती है, तब 'शशविषाण' या 'जवगड़दश—इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमा में होना चाहिए, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' शब्द के समान ही इन शब्दों का भी प्रयोग अनुमानादि अप्रत्यक्ष प्रमा में नहीं होता—'शशविषाणादि शब्दाः प्रत्यक्षप्रमायां प्रवर्तनीयाः, प्रत्यक्षेतरानुमादावप्रवर्तमानत्वात् प्रत्यक्षशब्दवत्'।

शङ्का—'जवगड़दश' इत्यादि शब्दों का तो कोई सामान्य अर्थ भी प्रसिद्ध नहीं, क्योंकि उनका किसी भी अर्थ में प्रयोग नहीं देखा जाता और शशविषाणादि शब्द असद्विषयक ही

सामान्यतः सिद्धाः, 'प्रत्यक्षमस्ती'त्यादिप्रयोगदर्शनादित्यस्ति विशेष इति चेत्, मैवम्, एतेनापि विशेषेण चाक्षुषादिशब्दानामव्यवच्छेदात् तेषामपि साक्षात्कारिमात्रे प्रयोगप्रसङ्गः।

साक्षात्कारित्वे सत्यपि श्रावणादौ चाक्षुषादिशब्दानामप्रयोगः, न त्वेवं प्रत्यक्षादिशब्दानामिति विशेष इति चेद्, एवं तर्हि यत्र साक्षात्कारित्वं नास्ति, तत्र प्रत्यक्षशब्दप्रयोगो नास्ति, यत्र साक्षात्कारित्वमस्ति तत्र सर्वत्रास्तीति यो जानीते, तं प्रति लक्षणाभिधानमिति स्यात्। स च व्यवहारान्तरवदन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव वाच्यवाचकभावमवधारितवानिति व्यर्थं लक्षणम्।

एतेन—अनुमित्यादिव्यवच्छिन्नतया व्यवहर्त्तव्यमित्यप्युक्तानुमानसाध्यतया

त्कारिणि साध्यते नैवं जवगडदशादिशब्दा इत्यतिप्रसङ्गपरिहारं शङ्कते ॐ अथेति ॐ। एवं विशेषणेऽतिप्रसङ्गपरिहारेऽपि नासिद्धिपरिहारः प्रत्यक्षशब्दस्याप्यनेवंरूपत्वादित्यत आह ॐ प्रत्यक्षादीति ॐ। आदिग्रहणेनापरोक्षशब्दादयो गृह्यन्ते। अतिप्रसङ्गपराहतिस्तदवस्थेति दूषयति ॐ मैवमिति ॐ। चाक्षुषादिशब्दानामुक्तविशेषणवत्त्वात्साक्षात्कारित्वप्रत्ययमात्रे प्रयोगः प्रसज्येत प्रत्यक्षशब्दवदतश्च श्रावणादिप्रतिपत्तीनामपि चाक्षुषादिशब्दवाच्यत्वं विरुद्धमापद्येतेत्यर्थः। तत्रैव प्रयोगात्प्रत्यक्षशब्दाभिधेयत्वं साक्षात्कारिणि साध्यत इति द्वितीयमाशङ्कते ॐ साक्षादिति ॐ। अस्मिन्पक्षे लक्षणवैयर्थ्यं कथयितुमुपोद्घातं करोति ॐ एवमिति ॐ। यदर्थमुपोद्घातितं तद्दर्शयति ॐ स चेति ॐ। वृद्धव्यवहारेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव घटादिशब्दसङ्गत्यधिगतेर्लक्षणं व्यर्थमित्यर्थः।

लक्षणेन विधिव्यवहारसाध्यपक्षोक्तदोषं निषेध्य व्यवहारसाध्यपक्षेऽतिदिशति ॐ एतेनेति ॐ। अनुमित्यादिव्यवच्छिन्नतया व्यवहर्तव्या इति व्यवहारस्य किं विषयभेदो विशेषः? उत शब्दविशेषः।

सिद्ध हैं। अतः उनका किसी सद्भूत अर्थ में प्रयोग क्योंकर प्राप्त हो सकेगा? प्रत्यक्षादि शब्दों की सामान्यतः सदर्थकता अवगत हो जाती है, क्योंकि 'प्रत्यक्षमस्ति'—इत्यादि प्रयोग प्रायः देखे ही जाते हैं, अतः इनका ही 'प्रत्यक्ष प्रमा' में प्रयोग होगा, शशविषाणादि का नहीं।

समाधान—सामान्यतः सदर्थकत्व-प्रसिद्धि के अभाव में शशविषाणादि शब्दों का प्रयोग प्रसक्त नहीं हो सकता, तब भी चाक्षुषादि शब्दों का प्रयोग तो सभी श्रावणादि प्रत्यक्ष ज्ञानों में अवश्य ही प्राप्त होगा, क्योंकि उनकी सामान्यतः सदर्थकता लोक-प्रसिद्ध है और अनुमानादि ज्ञानों में उनका प्रयोग भी नहीं होता।

शङ्का—श्रावणादि ज्ञानों में साक्षात्कारित्व के रहने पर भी 'चाक्षुषादि' शब्दों का प्रयोग नहीं होता, किन्तु 'प्रत्यक्षादि' शब्दों का वहाँ प्रयोग वर्जित नहीं—इस विशेषता के कारण सभी प्रत्यक्ष-प्रकारों में 'प्रत्यक्षादि' शब्दों के समान 'चाक्षुषादि' शब्दों का प्रयोग प्राप्त नहीं हो सकता।

समाधान—यदि ऐसा है, तब जो व्यक्ति 'यत्र साक्षात्कारित्वं नास्ति, तत्र प्रत्यक्षादिशब्दप्रयोगो नास्ति', 'यत्र साक्षात्कारित्वमस्ति, तत्र सर्वत्र प्रत्यक्षादिशब्दप्रयोगोऽस्ति'—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक का जानकार है, उसके लिए ही लक्षणाभिधान है—ऐसा निश्चित होता है किन्तु वह व्यक्ति तो जैसे गवानयनादि-व्यवहारों के द्वारा गवादि शब्दों का शक्ति-ग्रह कर लेता है, वैसे ही अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर 'प्रत्यक्षादि' शब्दों का वाच्य-वाचकभाव भी अवगत कर लेगा, उसके लिए लक्षणाभिधान व्यर्थ है।

जैसे 'साक्षात्कारिप्रमितयः प्रत्यक्षत्वेन व्यवहर्त्तव्याः'—इस अनुमान का निरास किया गया, वैसे ही 'साक्षात्कारिप्रमितयः अनुमित्यादिव्यवच्छिन्नतया व्यवहर्त्तव्याः'—यह अनुमान भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर इस साध्य की भी सिद्धि

अभिधीयमानमपास्तं वेदितव्यम् ।

पूर्वप्रतिपन्नमेव वाच्यवाचकभावं लक्षणाभिधानेन स्मार्यत इति चेन्न, अवगतसमयस्य प्रत्यक्षशब्दादेव तत्स्मरणसम्भवात् व्यर्थता लक्षणाभिधानस्य स्यात् । अवगतशब्दार्थसम्बन्धः शब्दादेव स्मरन् यदि लक्षणेन स्मार्यते, तदा लक्षणवाक्यगतपदकदम्बार्थस्मरणार्थमपि तल्लक्षणमभिधानीयमविशेषात् । एवं तल्लक्षणवाक्येऽपीत्यपर्यवसानं स्यात् ।

ननु प्रतिवादिनं प्रति लक्षणाभिधानं नार्थवत्, तेन वाद्याप्तभावानङ्गीकारात् । किन्तु शिष्यार्थं लक्षणमुच्यते शास्त्रे, स हि शास्त्रस्य कर्तारमाप्तमेव मन्यते । तस्मात् शिष्यं प्रत्याप्तवचनतयैव लक्षणवाक्यमर्थं प्रतिपादयिष्यति गुरुणा गीयमानम्— 'यस्त्वया साक्षात्कारिशब्दार्थः प्रतीतः, स एव प्रत्यक्षशब्दार्थः' इति । मैवम्, यदि

इत्यादिविकल्पबोधेनेत्यर्थः । वाच्यवाचकसम्बन्धबोधो न लक्षणप्रयोजनं किं तु तत्स्मरणमतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्सिद्धावपि न लक्षणप्रणयनवैयर्थ्यमिति शङ्कते ॐ पूर्वेति ॐ । शिष्य आचार्येण स्मार्यत इति शेषः । सम्बन्ध्यन्तरदर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारादेव सम्बन्ध्यन्तरस्मृत्युत्पत्तेर्लक्षणं व्यर्थमेवेति परिहरति ॐ नेति ॐ । समयः शब्दार्थसम्बन्धः । उक्तमर्थं विपक्षदण्डप्रदर्शनेन द्रढयति ॐ अवगतेति ॐ । तदप्यस्तु ततः किमित्यत आह ॐ एवमिति ॐ । अपर्यवसानमनवस्थेति यावत् ।

कथायां प्रतिवादिना वादिनं प्रति लक्षणं प्रणीयते इत्येवं नेष्यते येनेयमुक्तदोषपरम्परा स्यादिति चोदयति ॐ नन्विति ॐ । कुतो नार्थवदित्यत आह ॐ तेनेति ॐ । आप्तवाक्यतयाऽनुमानतया वा लक्षणवाक्यस्य लक्षणप्रमापकत्वायोगादित्यर्थः । कस्य तर्हि लक्षणतो बोधनमित्यत आह ॐ किं त्विति ॐ । शिष्यार्थं लक्षणप्रणयनमित्यस्मिन् पक्षे को लाभ इत्यत आह ॐ स हीति ॐ । तच्च लक्षणवाक्यमनुमानत्वेनाबोधकमपि आप्तवाक्यतया बोधकमित्याह ॐ तस्मादिति ॐ । आप्तोपदेशतया लक्षणवाक्यस्य बोधकत्व-

---

हो जाती है, लक्षणाभिधान के द्वारा सिद्धार्थ का साधन 'सिद्धसाधनता' दोष है ।

शङ्का—जैसे यज्ञ में मन्त्रों का उच्चारण अवगत प्रयोग का स्मारक होने के कारण सार्थक माना जाता है, वैसे ही लक्षणाभिधान भी पूर्वावगत वाच्य-वाचकभाव का स्मारक होकर ही सार्थक माना जा सकता है ।

समाधान—जिस व्यक्ति को साक्षात्कारी ज्ञान में 'प्रत्यक्ष' शब्द की वाच्यता का ज्ञान हो जा चुका है, उसे केवल 'प्रत्यक्ष' शब्द के द्वारा उसका स्मरण दिलाया जा सकता है, लक्षणाभिधान आवश्यक नहीं । यदि 'वाचक शब्द अपने वाच्यार्थ का स्मरण तभी दिला सकता है, जब कि वाच्यार्थ का लक्षणाभिधान के द्वारा पहले स्मरण दिला दिया जाता है'— ऐसा कहा जाय, तब लक्षण-वाक्य-घटक पदों के द्वारा उनके अर्थों का स्मरण करने के लिए उनका भी लक्षणान्तर करना होगा—इस प्रकार लक्षणाभिधान-परम्परा का कहीं पर्यवसान नहीं होगा ।

शङ्का—शास्त्रार्थ में प्रतिवादी के लिए लक्षणाभिधान नहीं किया जाता, क्योंकि वादी की आप्तता पर उसे विश्वास नहीं, किन्तु अध्यापन के समय शिष्य के लिए गुरु लक्षणाभिधान करता है, क्योंकि वहाँ शिष्य अपने गुरु को आप्त पुरुष ही मानता है, अतः शिष्य के प्रति गुरु के द्वारा किया गया 'यस्त्वया साक्षात्कारिशब्दार्थः प्रतीतः, स एव प्रत्यक्षशब्दार्थः'— इस प्रकार का लक्षणाभिधान आप्त-वाक्यत्वेन (शब्दप्रमाणत्वेन) ही लक्ष्यार्थ का अवबोधक होता है ।

समाधान—यदि 'न्याय-भाष्य' आदि शास्त्रों का प्रणयन वादि-गणों के लिए नहीं, केवल शिष्यों के लिए ही है, तब उनमें युक्तियों और हेतु वाक्यों का प्रदर्शन निरर्थक

वादिनं प्रति न शास्त्रं किन्तु शिष्यं प्रति, तदा प्रतिज्ञामात्रादेवाऽऽप्तवचनात् शिष्यस्यार्थनिश्चयोत्पत्तेः हेत्वाद्यभिधानमनर्थकमापन्नं शास्त्रे।

अथ भवतु तत्प्रतिवादिनमपि प्रति शास्त्रे वाक्यं यत्र हेत्वाद्युपात्तम्। लक्षणवाक्यन्तु शिष्यमेव प्रति प्रयोजकं प्रतिपन्नशास्त्रकाराप्तभावमिति मन्यसे। तदप्यनुपपन्नम्, शास्त्रान्तरसाध्यत्वादस्यार्थस्य। अस्ति समयग्राहकं शास्त्रं मुनिभिः प्रणीतं नामलिङ्गानुशासन-व्याकरणादि। यदि च शास्त्रान्तरसाध्योऽप्यर्थो भवदीयशास्त्रस्य विषयः, तर्हि प्रकृतिप्रत्ययविभागेन साधनमपि शब्दानां कुतो न व्युत्पाद्यते, लिङ्गं वा शब्दानां कुतो नाभिधीयते ? तदज्ञानेऽपि पराजयो जायत एव।

प्रकारमुदाहरति ❀ यस्त्वयेति ❀। हेतुदृष्टान्तादिकथनानुपपत्त्या वादिनं प्रति शास्त्रप्रणयनं न शिष्यं प्रतीति परिहरति ❀ मैवमिति ❀।

हेत्वाद्यभिधानलक्षणप्रणयनयोरर्थवत्त्वमापादयितुं शास्त्रे द्वैराश्यमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। न वयं सर्वशास्त्रं शिष्यार्थं ब्रूमः किं तु लक्षणवाक्यांशम्, तस्य तं प्रति लक्ष्यप्रमितिप्रयोजकत्वात्: शास्त्रांशो हेत्वाद्यभिधानसहितः स वादिनं प्रति, तेन न कश्चिद्दोष इत्यर्थः। तर्कशास्त्रस्य न समयग्राहकत्वमर्थस्तस्यान्यत एव सिद्धेरिति परिहरति ❀ तदिति ❀। तादृशं शास्त्रान्तरमेव नास्तीत्यत आह ❀ अस्तीति ❀। नामानुशासनमभिधानग्रन्थः लिङ्गानुशासनं वाररुचादि। कथितमर्थं व्यतिरेकमुखेन साधयति ❀ यदीति ❀। यावतोऽपरिज्ञाने पराजयो भवति कथायां तावदेवास्मच्छास्त्रे प्रतिपाद्यते न सर्वमनुपयोगादित्याशङ्क्याह ❀ तदिति ❀। अपशब्दादेरपि। निग्रहस्थानतया परिगणनादित्यर्थः। एकसाध्यस्यानेकसाधनस्य लोके बहुलमुपलम्भाच्छास्त्रान्तरसाध्यमपि नामव्युत्पादनमस्मच्छास्त्रस्यापि गोचर इत्याशङ्कामङ्गीकरोति ❀ अथेति ❀। तथापि त्वच्छास्त्रस्य शास्त्रान्तरान्न्यूनत्वं दोष इत्याह ❀ तथाऽपीति ❀। शास्त्रान्तरे भूयसोऽर्थस्य प्रतिपादितत्वात् त्वच्छास्त्रेऽल्पीयस एव प्रतिपादनादित्याह ❀ बहु-

---

है, क्योंकि शिष्य तो प्रतिज्ञामात्र से वैसा अर्थ मान लेगा। युक्तियों और हेतुओं का प्रयोग तो वादिगण के लिए ही होता है, क्योंकि वह शास्त्र-प्रणेता को आप्त नहीं मानता, अतः प्रतिज्ञामात्र से अर्थ सिद्ध न होकर हेतुओं और युक्ति-प्रयोगों की अपेक्षा करता है।

शङ्का—अधिकारियों के भेद को दृष्टिकोण में रख कर तर्क शास्त्र के दो भाग किए जा सकते हैं—(१) एक वह भाग जहाँ प्रतिपाद्य वस्तु की सिद्धि के लिए हेतु-प्रयोग किया गया है। (२) दूसरा वह भाग जहाँ हेतु-प्रयोग न करके लक्षणमात्र के प्रदर्शन से सिद्धान्त का उपदेश किया गया है। पहला भाग उन प्रतिवादियों के लिए है, जो शास्त्र-प्रणेता को आप्त नहीं मानते, अतः पूर्वापराङ्ग-सहित समस्त अवयवों का प्रदर्शन आवश्यक माना गया है, अत एव भाष्यकार ने कहा है—"तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रं स्याद्, यथोपनिषदः" (न्या० भा० पृ० ४)। दूसरा भाग केवल श्रद्धालु शिष्यों के लिए है, क्योंकि उन्हें शास्त्रकार की आप्तता पर पूर्ण विश्वास है। इस प्रकार समग्र शास्त्र सार्थक हो जाता है।

समाधान—वाच्य-वाचकभाव या शब्द-स्वभावावधारण के लिए पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जल्यादि मुनियों के द्वारा शब्दानुशासन (व्याकरण शास्त्र) का निर्माण किया गया है, जैसा के नामानुशासन (संज्ञाशब्दों की प्रणयन-पद्धति), लिङ्गानुशासन (पुंस्त्व, स्त्रीत्व और क्लीवत्व का आकलन), आख्यातानुशासनादि भेद प्रख्यात है। शक्ति-ग्राहक-प्रकारों में भी तार्किकों का लक्षणाभिधान गिनाया नहीं गया, अतः शब्द-शक्ति-ग्रहण के प्रति लक्षणाभिधान अन्यथासिद्ध है। यदि आप (नैयायिक) कहते हैं कि व्याकरणादि-द्वारा प्रसाधित वाच्य-वाचकभाव हमारे (नैयायिक के) शास्त्र का भी विषय है। तब आपके शास्त्रों में शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन, लिङ्गादि का निर्देश क्यों नहीं किया गया ?

अथवाऽस्तु व्याकरणादिविषयं विहाय नामव्युत्पादनं कथमपि भवच्छास्त्रस्य विषयः, तथापि न्यूनतरत्वमस्मिन् विषये भवदीयशास्त्रस्य—बहूनि नामानि विद्यन्ते कोशान्तरवर्तीनि, कुतो न व्युत्पादितानि तानीति। अथास्मिन् शास्त्रे येषां शब्दानामुपयोगस्तेषामनेन व्युत्पादनम्, न सर्वेषामित्युच्यते, तथापि यथैकवाक्यगतस्य पदस्य लक्षणव्युत्पादनमेवं तल्लक्षणवाक्यगतपदस्यापीति अपर्यवसानमापतितं शास्त्रस्य, तत्तल्लक्षणवाक्यप्रयोग एव तेषां तेषां पदानां शास्त्रे जातोपयोगत्वात्।

अथ नानालक्षणप्रणेतॄणां वादिनां विप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिशब्दार्थ एव व्युत्पाद्यते संशयनिरासाय, नान्योऽसंशयत्वादिति मन्यसे, तथाप्यनुपपत्तिः। अस्ति हि वाऽऽदीनामर्थे वाच्यता-द्योत्यताविवादः। अस्ति च छिदुरादिपदानामर्थे कर्मकर्तृ-

---

नीति ❀। कोशान्तरं शास्त्रान्तरम्। यावतां शब्दानां व्यवहारोपयोगोऽस्मच्छास्त्रे तावतां सर्वेषां प्रतिपादनादनुपयुक्तनामान्तराव्युत्पादनेऽपि न न्यूनत्वमिति शङ्कते ❀ अथवेति ❀। उपयुक्तानामेव प्रतिपादनमित्यङ्गीकारेऽपि न्यूनत्वं तेषामेव केषांचिदप्रतिपादितत्वादिति परिहरति ❀ तथाऽपीति ❀। अव्यभिचारि साक्षात्कारि ज्ञानं प्रत्यक्षमिति वाक्यगतप्रत्यक्षपदव्युत्पादनवत्साक्षात्कारीत्यादिपदव्युत्पादनमपि लक्षणान्तरेण कार्यमेवं तल्लक्षणवाक्यगतानामपीत्यनवस्थेत्यर्थः। पदान्तरव्युत्पादनस्य नास्त्युपयोग इत्यत आह ❀ तदिति ❀। सन्दिग्धं तत्त्वतो निर्णेयं तन्निर्णयस्य संशयनिरासफलसिद्धेः प्रत्यक्षादिपदार्थ एव वादिविप्रतिपत्तेः सन्दिग्धोऽतोऽसावेव व्युत्पाद्यते इति शङ्कते ❀ अथेति ❀। व्युत्पाद्यत्वे सन्दिग्धत्वं प्रयोजकमित्यभ्युपगमेऽपि न न्यूनतापरिहारस्तादृशामेव केषांचित्त्यागादिति परिहरति ❀ तथाऽपीति ❀। वादिविप्रतिपत्त्या संशयितः को नाम नव्युत्पादितोऽस्मच्छास्त्र इत्यत आह ❀ अस्तीति ❀। केचित्सामान्यं वाच्यं विशेषो लक्ष्यत इति ब्रुवते। परे तु विशेषो वाच्यः सामान्यं तदुपलक्षणमिति। तेन शब्दा-

---

यदि उनका ज्ञान नहीं, तब भी अज्ञान नामक निग्रहस्थान से आप निगृहीत हो जाते हैं।

अथवा व्याकरण शास्त्र के अपने प्रकृति-प्रत्ययविभाजनादि विषयों को छोड़कर प्रमाण-प्रमेयादि नाम (सुवन्त) पदों का व्युत्पादन आप (नैयायिक) के शास्त्रों का प्रयोजन किसी-न-किसी प्रकार मान भी लिया जाय, तब भी न्यूनताएँ रह जाती हैं, क्योंकि कोष ग्रन्थों में बहुत-से ऐसे 'नाम' शब्द विद्यमान हैं, जिनका उल्लेख तक आपके शास्त्रों में नहीं किया गया। यदि आप अपने शास्त्र में प्रयुक्त पदों के व्युत्पादन का ही ठेका ले रहे हैं, तब भी अनवस्था-प्रसङ्ग होता है, क्योंकि आप एक पद का व्युत्पादन जिस लक्षण-वाक्य के द्वारा करते हैं, उस लक्षण के घटक पदों का व्युत्पादन जिस-जिस लक्षण-वाक्य के द्वारा करेंगे, उनके घटक पद भी आपके शास्त्र में प्रयुक्त और उपयुक्त होते जाएँगे, उनके व्युत्पादनार्थ लक्षण-परम्परा की एक ऐसी असीम शृङ्खलावलि उपस्थित होती है, जिसका कहीं पर्यवसान ही नहीं। यदि आप कहते हैं कि हम (नैयायिक) केवल उन विवादास्पद पदों का ही व्युत्पादन करते हैं, जिनके विषय में अनेक लक्षणप्रणेता विद्वानों को संशय और उनका मत-भेद है, तब भी आपके शास्त्र अत्यन्त अधूरे माने जायेंगे, क्योंकि बहुत से ऐसे विवादापन्न स्थल उपलब्ध होते हैं, जिनका स्पर्शतक आपने नहीं किया, जैसे—

(१) 'च', 'ह', 'वा' आदि निपात पद अपने समुच्चयादि अर्थों के वाचक हैं? अथवा द्योतक (अभिव्यञ्जक)? यह एक महान् विवाद का विषय है [जैसे विभक्तियों ('सुप्' और 'तिङ्' प्रत्ययों) में वाचकत्व और द्योतकत्व का विवाद पुरातनकाल से ही चला आता है—"वाचिका द्योतिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः" (वा. प. २।१६४), वैसे ही चादि के विषय में भी वादियों का पुराना विवाद चला आ रहा है—"निपाता द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः" (वा. प. २।१९२)]।

त्वांकर्मकर्तृत्वे विवादः। अस्ति च भावशब्दस्य स्वरूपसत्त्वसत्तासामान्याद्यर्थत्वे। अस्ति चाधिकरणशब्दार्थस्य पतनप्रतिबन्धकत्वसमवायित्वादौ । एवमन्यस्मिन्नपि

र्थेऽपि विप्रतिपत्तेः सोऽपि व्युत्पादनीयः स्यादित्यर्थः। उदाहरणान्तराण्याह ॐ अस्ति चेति ॐ। "विदिभिदिच्छिदेः कुरजि"ति कुरच्प्रत्ययः कर्म्मकर्त्तरि विहितस्तस्यार्थः कर्म्मकर्तृत्वं कर्म्मैव सत् कर्तृत्वेन विवक्षितं कर्म्मकर्तृ स्वयमेव छिद्यत इति छिदुरपदेनोच्यत इति वैयाकरणास्तदपरे न क्षमन्ते कर्तृत्वकर्म्मत्वयोरेकत्रविरोधादिति। आदिपदेन भिदुरो विदुर इत्यादि गृह्यते। तथा भावशब्दः सच्छब्दसमानार्थः तदर्थेऽपि विप्रतिपत्तिः स्वरूपसत्त्वं भाव इति। अपरस्तु सत्तासामान्यमिति। प्रमाणसम्बन्धस्तद्योग्यत्वं वेति कश्चित्। अर्थक्रियाकारित्वमित्यपरः। अधिकरणे सप्तमी विहिता तदर्थेऽपि विप्रतिपत्तिः। समवायित्वमाश्रयत्वमिति कश्चित्। अपरस्तु पतनप्रतिबन्धकत्वमिति। अन्यस्तु संयोगित्वमिति। प्रकृतप्रमेयमुप-

(२) 'छिदुर' आदि के विषय में भी विवाद है कि 'छिदिर्' धातु से 'कुरच्' प्रत्यय कर्मकर्त्ता में विहित है? अथवा शुद्ध कर्त्ता में? ["विदिभिदिच्छिदेः कुरच्" (पा. सू. ३।२।१६२) इस सूत्र के द्वारा 'छिदिर् विदारणे' धातु से 'कुरच्' प्रत्यय करने पर 'छिदुर' शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ वृत्तिकार के मतानुसार 'कुरच्' प्रत्यय कर्मकर्त्ता में किया गया है, अतः स्वयमेव च्छिद्यते काष्ठमिति छिदुरं काष्ठम् इस प्रकार 'छिदुर' शब्द सिद्ध होता है, किन्तु भाष्यकार ने वैसा कोई संकेत नहीं किया एवं महाकवि माघ ने शुद्ध कर्त्ता में 'कुरच्' प्रत्यय मान कर प्रयोग किया है—"प्रियतमाय वपुर्गुरुमत्सरच्छिदुरयादुरयाचितमङ्गनाः" (शि. व. ६।८)। गुरुमत्सरच्छिदुरया (महद्विद्वेषच्छेदनकर्त्र्या) परपुष्टया (कोकिलया) प्रतिबोधिताः (समुद्दीपिताः) अङ्गनाः प्रियतमाय अयाचितं वपुः (निजाङ्गम्) अदुः (समर्पयामासुः) इस प्रकार के अभिमत अन्वय-बोध से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'छिदिर्' धातु से 'कुरच्' प्रत्यय शुद्ध कर्त्रर्थ में किया गया है]।

(३) 'भाव' शब्द भी विवादास्पद है। (१) स्वरूपसत्त्व और (२) सत्ता जाति—इन दो अर्थों को लेकर द्वैत और अद्वैत के मतावलम्बियों में घनघोर वाग्युद्ध होता आया है—'घटः सन्निति' व्यवहारः (१) सत्ताजातिस्फुरणनिबन्धनः? अथवा स्वरूपसत्त्वनिबन्धनः? [यद्यपि "भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु। क्रियालीलापदार्थेषु विभूतिबन्धुजन्तुषु। रत्यादौ च"—मेदिनीकोष के इस लेख से 'भाव' शब्द नानार्थक प्रतीत होता है। निरुक्त में भाव षड्विकारात्मक है। जैमिनि-सूत्रों में, वाक्यपदीय एवं महाभाष्यादि मौलिक ग्रन्थों में 'भाव' शब्द के विविध अर्थ प्रस्तुत किए गए हैं, अतः इसकी विवादास्पदता निश्चित है। तथापि यहाँ ग्रन्थकार स्वरूपसत्त्व और सत्ता जाति के बोधक 'भाव' शब्द को रख रहा हैं, अतः सत्तार्थक 'भाव' शब्द ही प्रक्रान्त प्रतीत होता है। 'सतो भावः सत्ता'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर नैयायिकगण द्रव्यादि सत् पदार्थों का सत्ता जातिरूप भाव मानते हैं किन्तु वेदान्तिगण 'सन्नेव सत्ता'—इस प्रकार देवतादि शब्दों के समान स्वार्थ में 'तल' प्रत्यय मान कर स्वरूपसत्त्वपरक ही 'सत्ता' शब्द को माना करते हैं, वार्तिककार कहते हैं—

सत्तैव सर्ववस्तूनि विभ्रत्यात्मानमात्मना।
कल्पितत्वादनेकत्वाद् रज्जुसर्पद्विचन्द्रवत्॥
प्रकृत्यर्थातिरेकेण प्रत्ययार्थो न गम्यते।
सत्तेत्यत्र ततः स्वार्थस्तद्धितोऽत्र भवन् भवेत्॥ (बृह. वा. पृ. १६७८)

फलतः खण्डनकार का यहाँ 'भाव' शब्द से 'सत्ता' शब्द ही विवक्षित प्रतीत होता है]।

(४) अधिकरण पदार्थ के विषय में भी विवाद पाया जाता है। समवायित्व या आश्रयत्व को किसी मत में अधिकरणत्व माना जाता है और किसी मत में पतन-प्रतिबन्धकत्व

बहौ पदार्थे जाग्रति विप्रतिपत्तयः, तल्लक्षणानि कस्मान्नोक्तानि ? तदास्तामेकत्र विस्तराभिनिवेशः ।

३—किञ्च तत्साक्षात्कारित्वम् ?

सविशेषार्थप्रकाशत्वमिति चेन्न । सविशेषत्वस्योपलक्षणत्वेऽनुमानादिव्याप्तिः । विशेषणत्वे च यदि विशेषशृङ्खलाया विश्रान्तिस्तदा शेषविशेषस्य बोधे प्रत्यक्षलक्षणक्षीणत्वेन आमूलमप्रत्यक्षतापातः । यद्यविश्रान्तिस्तदा तादृशस्यैव व्याप्तिग्रहादनुमा-

संहरति ❀ तदिति ❀ ।

साक्षात्कारित्वमुपेत्य लक्षणमदूषि सम्प्रति तदपि न निरूपणगोचर इत्याह ❀ किं चेति ❀। साक्षात्कारित्वं च किमिति विकल्पाभिप्रायः । विकल्पास्तु तत्र तत्र शङ्काग्रन्थ एव व्यक्तीभविष्यन्ति तेषां बहुत्वान्नात्र प्रदर्श्यन्ते । इदं साक्षात्कारित्वमित्येकं कल्पमुपादत्ते ❀ सेति ❀ । अर्थप्रकाशत्वमित्युक्तेऽनुमानातिव्याप्तिस्तन्निवारणाय सविशेषविशेषणम् । विशेषसहितः सविशेषस्तत्र विशेष उपलक्षणमर्थस्य ? विशेषणं वा ? आद्येऽतिव्याप्तिरित्याह ❀ नेति ❀ । अनुमानादौ सामान्यस्यैव स्फुरणेऽपि सविशेषत्वस्य वस्तुगत्या सत्वात्तदुपलक्षितत्वादित्यर्थः । सविशेषत्वं विशेषणमिति पक्षेऽपि विशेषस्य सविशेषत्वमस्ति ? किं न वा ? न चेद्विशेषज्ञानमप्रत्यक्षं स्यादस्ति चेद्विशेषशृङ्खला क्वचिद्विश्राम्यति ? न वा ? यद्याद्यस्तत्राह ❀ विशेषणत्व इति ❀ । यस्मिन्विशेषे विशेषो नास्ति स विशेषोऽप्रत्यक्षः स्यादतश्च तद्विशिष्टपूर्वविशेषोऽपि प्रत्यक्षो न स्यादप्रत्यक्षविशेषणस्य विशिष्टस्य प्रत्यक्षत्वायोगादतो मूलपर्यन्तमप्रत्यक्षतापातादसम्भवो लक्षणस्येत्यर्थः । विशेषमालाया अपर्यवसानपक्षमाशङ्कते ❀ यदीति ❀ । अनवस्थायाः स्पष्टत्वात्तद्दोषमुपेक्ष्यातिव्याप्तिमाह ❀ तदेति ❀ । प्रत्यक्षेण व्याप्यं व्यापकं च गृहीत्वा यदा तयोर्व्याप्तिर्गृह्यते तदा

को [इसी लिए वाक्यपदीयकार ने अधिकरण के कई प्रकार गिनाए हैं—

कर्मकर्तृव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥
उपश्लेषस्य चाभेदस्तिलाकाशशकटादिषु ।
उपकारास्तु भिद्यन्ते संयोगिसमवायिनाम् ॥
अविनाशो गुरुत्वस्य प्रतिबन्धे स्वतन्त्रता ।
दिग्विशेषावच्छेद इत्याद्या भेदहेतवः ॥ (वा. प. पृ. ९१)] ।

इसी प्रकार बहुत से पदार्थों में विप्रतिपत्तियाँ पाई जाती हैं, उनका विवाद दूर करने के लिए आप (नैयायिकों) ने उनके लक्षण क्यों नहीं किए ? अतः आप का 'वादिगणों के विवाद मिटाने के लिए हमने बिवादग्रस्त पदों का ही व्युत्पादन किया है'—यह कहना निरी विडम्बना है ।

जैसे साक्षात्कारित्व के लक्षण उपपन्न नहीं हो सके, वैसे ही साक्षात्कारित्वरूप लक्ष्य भी उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि (१) सविशेषार्थ—प्रकाशत्व को साक्षात्कारित्व इस लिए नहीं कह सकते कि 'सविशेषत्व' को उपलक्षण मानने पर अनुमानादि में साक्षात्कारित्व की अतिव्याप्ति होती है । यद्यपि अनुमानादि में सामान्य पदार्थ का ही स्फुरण होता है, तथापि वह सविशेषत्व से विशिष्ट न होने पर भी सविशेषत्वोपलक्षित होता है । 'सविशेषत्व को विशेषण मानने पर विशेष पदार्थ को सविशेष माना जाता है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं, तब विशेष पदार्थ के सविशेष न होने के कारण उसके प्रत्यक्ष ज्ञान में साक्षात्कारित्व क्योंकर रहेगा ? यदि सभी विशेष पदार्थ उत्तरोत्तर विशेषों से युक्त होकर सविशेष हो जाते हैं—ऐसा माना जाय, तब जिज्ञासा होती है कि विशेष-परम्परा की कहीं विश्रान्ति है ? अथवा नहीं ? यदि विश्रान्ति मानी जाती है, तब उस विशेष-रहित अन्तिम विशेष के प्रत्यक्ष में साक्षात्कारित्व न घटने के कारण मूल-पर्यन्त अप्रत्यक्षत्वापत्ति होती है । यदि विशेषणीभूत

यामपि तादृशी सिद्धिरिति साक्षात्कारित्वापत्तिः ।

अथाननुगमास्तत्र न तदनुमा, तर्हि तदनुगतप्रतीत्याद्यनुपपत्तिः, व्यक्तेरनुमानादसिद्ध्यापत्तिश्च । यथा हि व्यक्तिं विना सामान्यस्य, तथा तावत् तं विशेषं विना व्यक्तेरप्यनुपपत्त्यविशेषात् । यदि च प्रतीत्यपर्यवसानाभावात् पक्षधर्मतया नानन्तविशेषसिद्धिरिति मन्यसे, तदा प्रतीतापर्यवसानात् तद्बुद्धिः साक्षात्प्रकाशः स्यात् ।

अप्रतिपद्यमानानन्तविशेषप्रकाशकल्पनाच्च एकाकिसाक्षात्त्वनामकविशेषकल्पनैवाल्पत्वात् श्रेयसितरा । साक्षात्त्वव्यवहारान्यथानुपपत्तेः कल्पनाबीजस्य तावताऽपि

व्यापकस्यानन्तविशेषसहितस्यैव स्फुरणात्तेनैव रूपेणानुमानेनापि विषयीकरणादनुमानेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः ।

सविशेषार्थप्रकाशत्वमिति साक्षात्कारित्वलक्षणस्यानुमितावुक्तातिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते ❀अथेति❀ । विशेषाणामननुगतत्वात्तेषामनुमितौ नास्ति प्रकाश इति नातिव्याप्तिरित्याशयः । विशेषवतो दृष्टान्तदृष्टस्याप्यननुगमादप्रकाशश्चेदग्निमानयमिति व्यापकविशेषानुगतलक्ष्यप्रतीतिरग्न्यर्थिनस्तत्र व्यवहारश्च न स्यादिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀ । दोषान्तरमाह ❀ व्यक्तेरिति ❀ । यस्मिन् ज्ञाने यो न प्रकाशते तेन तत्सिद्धेरयोगादनुमाने सामान्यमेव सिद्ध्यतीति वाच्यमेवं च "सामान्ये सिद्धसाध्यते"ति चार्वाककथितदोषापरिहारादनुमानोच्छित्तिरित्यर्थः । अनुमानात्सिद्ध्यत् सामान्यमेव विशेषमाक्षिपदेव सिद्ध्यति विशेषमन्तरेण सामान्यापर्यवसानादित्याशंक्याह ❀ यथा हीति ❀ सामान्यानुपपत्त्या विशेषप्रतीतिश्चेत्तर्ह्यनन्तविशेषं विना व्यक्तेरप्यनुपपत्तावविशेषादनन्तविशेषवत्या एव व्यक्तेः प्रकाशः स्वीकार्य इत्युक्तातिव्याप्तितादवस्थ्यमित्यर्थः । अविशेषादित्युक्तहेतोरसिद्धिं शङ्कते ❀ यदीति ❀ । प्रतीतसामान्यस्य विशेषमन्तरेण प्रतीत्यपर्यवसानवत्प्रतीयमानव्यक्तेरनन्तविशेषमन्तरेण प्रतीत्यपर्यवसानाभावात्पक्षधर्मतया नानन्तविशेषसिद्धिरित्यर्थः । व्यक्तिप्रतीत्यपर्यवसानाभावेऽपि प्रतीतव्यक्तेरनन्तविशेषानुपपत्तेरनन्तविशेषप्रकाशसम्भवादनुमितिः साक्षात्स्यादित्याह ❀ तदेति ❀ ।

विशेषाविश्रान्तिपक्षेऽतिव्याप्तिमुक्त्वाऽसम्भवं दर्शयितुं दोषान्तरमाह ❀ अप्रतिपद्येति ❀ । घटोऽयमिति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वसिद्ध्येऽनन्ता विशेषाः कल्पनीयाः ? उत साक्षात्त्वं नामैकाकिविशेषः कल्पनीयः ? इति विचारे एकाकिनः साक्षात्त्वधर्मस्य कल्पनैव श्रेयसितराऽतिशयेन श्रेयसी लाघवादित्यर्थः । अनन्त-

---

विशेष पदार्थों की कहीं विश्रान्ति नहीं होती, तब अनवस्था दोष से अतिरिक्त अतिव्याप्ति भी होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष से व्याप्य और व्यापक पदार्थों का ग्रहण कर जब उनकी व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है, तब अनन्त विशेष-सहित व्यापक का ही स्फुरण होगा और अनुमिति में भी अग्नि के पुंखानुपुंख यावत् विशेषाकारों का भान मानना पड़ेगा, केवल सामान्य वह्नि का नहीं, अतः वह्न्यनुमिति परोक्ष ज्ञान न रह कर प्रत्यक्ष ही कहलाने लगेगी ।

यदि कहा जाय कि अनन्त विशेष पदार्थों का कोई अनुगमक न होने के कारण अनुमिति में उनका भान नहीं हो सकता, तब पर्वत में दृष्टान्त-दृष्ट अग्नि-व्याप्य धूम का भान न होने के कारण अग्नि की अनुमिति नहीं हो सकेगी एवं अनुमान के द्वारा व्यक्तिविशेष की सिद्धि भी न हो सकेगी, क्योंकि जैसे व्यक्ति के विना सामान्य की अनुपपत्ति होती है, वैसे ही अनन्त विशेषों के विना व्यक्ति की भी उपपत्ति नहीं हो सकती । अनन्तविशेष-सहित व्यक्ति का भान तो प्रत्यक्ष हो जाता है, अतः विशेष-रहित व्यक्ति की सिद्धि अनुमिति से नहीं हो सकती ।

विशेष-परम्परा की कहीं विश्रान्ति न मानने पर असंभव दोष भी आ जाता है, क्योंकि 'घटोऽयम्'—इस प्रकार के ज्ञान में प्रत्यक्षत्व सिद्ध करने के लिए घट में या तो अनन्त विशेषों की कल्पना करनी होगी या अकेले अनिर्वचनीय 'साक्षात्त्व' धर्म की कल्पना । इनमें अनेक विशेषों की अपेक्षा एक 'साक्षात्त्व' धर्म की कल्पना ही लघु एवं श्रेयस्कर है ।

चरितार्थत्वादिति कृत्वा तत्कल्पनाऽपि नात एव। विस्तरश्चात्र वक्ष्यते।

विशेषश्च यदि व्यवच्छेदस्तदा निर्विकल्पकाव्याप्तिः। यदि च विश्वव्यावृत्तस्वरूपप्रकाशात् सोऽपि तथा, तदा दूरे सामान्यप्रत्यक्षस्याप्रत्यक्षत्वापातः, तत्र जगद्वैलक्षण्यप्रकाश संशयाद्यनुपपत्तेः। यदि तत्रापि प्रतिपत्त्रादिव्यवच्छेदमात्रप्रकाशाद् विशेषप्रकाशत्वमेव, तदाऽनुमित्यादिव्याप्तिः।

(४) अथ इन्द्रियकरणकानुभूतित्वम्। तत्र साक्षात्कारिधीकरणस्यैवेन्द्रियत्वेन

विशेषकल्पनागौरवं दोषं नावक्ष्यति साक्षात्वव्यवहारानुपपत्तिसिद्धत्वात्। "प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि॥" इति न्यायादित्याशङ्क्याह ॐ साक्षात्वेति ॐ। तावताऽपीति एकाकिसाक्षात्वधर्मेणापि उपपन्नत्वादिति कृत्वेत्यर्थः। अस्तु तर्हि साक्षात्वनामैकाकिधर्मस्यैव कल्पना तावताऽपि प्रत्यक्षलक्षणं निर्व्यूढमित्यत आह ॐ तदिति ॐ। अत एव तत्कल्पनाबीजस्य साक्षात्वव्यवहारानुपपत्तेरनिर्वचनीयसाक्षात्वेनापि चरितार्थत्वादन्यस्य प्रमाणस्याभावादेवेत्यर्थः। साक्षात्वं ज्ञानधर्मः संयुक्तसमवेतसमवायान्मनसाऽध्यवसीयत इत्यत आह ॐ विस्तरश्चेति ॐ। परमाणुबुद्धावनुव्यवसीयमानायां साक्षात्वासाक्षात्वसाङ्कर्याद्युपपादनेन साक्षात्वस्य मानसवेद्यत्वे दोषविस्तरो वक्ष्यत इत्यर्थः।

सविशेषार्थप्रकाशत्वमिति लक्षणस्यातिव्याप्तिमभिधायेदानीमव्याप्तिं वक्तुमुपोद्घातप्रक्रियया विशेषशब्दार्थमुपस्थापयति ॐ विशेषश्चेति। व्यवच्छेदो भेदः भिन्नस्यार्थस्य प्रकाशः। साक्षादित्युक्तं भवतीति प्रतिवाद्यव्याप्तिमाह ॐ तदेति ॐ। निर्विकल्पज्ञानस्य वस्तुमात्रग्राहकस्य भेदविषयत्वाभावात्साक्षात्वं न स्यादित्यर्थः। निर्विकल्पकेऽपि स्वेतरस्मात्सर्वस्माद्व्यावृत्तमेव वस्तुस्वरूपं प्रकाशते वस्तुवृत्त्या विश्वव्यावृत्तेस्तत्र भावादतो नाव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ यदीति ॐ। एवं तर्ह्यनुमानादेरपि साक्षात्वापात इत्यरुच्याङ्गीकृत्यापि स्थलान्तरमाह ॐ तदेति ॐ। दूरे विप्रकृष्टदेश ऊर्द्धत्वादिसामान्यज्ञानं प्रत्यक्षं न स्याद्विश्वव्यावृत्तग्राहकत्वाभावादित्यर्थः। तस्यापि व्यावृत्तविषयत्वे दण्डमाह ॐ तत्रेति ॐ। स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयः पुरुष एवेति भ्रमश्च न स्यात्तयोर्भेदाग्रहपूर्वकत्वादित्यर्थः। दूरे सामान्यज्ञानं विश्वव्यावृत्तिं न गृह्णाति तेन संशयाद्युपपत्तिः प्रमात्रादिव्यावृत्तिं गृह्णाति तेन सविशेषार्थप्रकाशत्वमपीति शङ्कते ॐ यदीति ॐ। अनुमित्यादावप्येवंरूपव्यावृत्तिप्रकाशादतिव्याप्तिरित्याह ॐ तदेति ॐ।

विधान्तरेण साक्षात्वलक्षणमुपस्थापयति ॐ अथेति ॐ। इन्द्रियं करणं यस्यानुभवस्य स तथोक्तस्तथात्वं साक्षात्वमिति शेषः। अनुभवत्वग्रहणं स्मृतिव्यवच्छेदाय। अनुमित्यादिव्यवच्छेदार्थमिन्द्रियग्रहणम्। प्रदर्शितलक्षणे सिद्धान्तैकदेशिनां दोषमुद्भाव्य स एव लक्षणवादी परावष्टे ॐ तत्रेति ॐ। तत्र

अनिर्वचनीय साक्षात्व' धर्म के द्वारा साक्षात्व-व्यवहार भी संपन्न हो जाता है, अतः पारमार्थिक साक्षात्व की कल्पना का जो बोध था– साक्षात्व-व्यवहार, उसकी भी अन्यथा (अनिर्वचनीय साक्षात्व की कल्पना से) ही उपपत्ति हो जाने से पारमार्थिक साक्षात्व की भी कल्पना नहीं की जा सकती। इस विषय का विस्तार से वर्णन आगे चल कर किया जायगा।

'सविशेषार्थप्रकाशत्वम्'—यहाँ पर विशेषणीभूत विशेष पदार्थ यदि भेद या प्रकार है, तब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भेद-रहित वस्तुमात्र का भान होने से अव्याप्ति हो जाती है। यदि निर्विकल्पक ज्ञान में भी विषयवस्तु स्वेतर बिश्व से व्यावृत्त होकर ही प्रतीत होती है'—ऐसा माना जाता है, तब अनुमानादि में भी प्रत्यक्षत्वापत्ति होती है, क्योंकि वहाँ भी विशेषरहित सामान्यमात्र का भान न मानकर सविशेषविषयक भान ही मानना होगा। सविशेषार्थप्रकाश को प्रत्यक्ष माना जाता है।

(४) इन्द्रियकरणकानुभूतित्वं प्रत्यक्षत्वम्—

इस लक्षण में कतिपय विद्वान् जो अन्योऽन्याश्रयता का उद्भावन किया करते हैं कि

अन्योन्याश्रयत्वापत्तिरिति केचित्। तन्न, अज्ञातप्रमाकरणत्वस्य भावत्वविशेषितस्येन्द्रियत्वनिरुक्तेः सम्भवात्। विना कार्यगतविशेषसिद्धिं किं प्रति करणत्वमेव ज्ञेयमिति तु बाधः साधीयान्।

(५) एतेन ज्ञातता काचिद्विलक्षणा तज्जनकत्वं ज्ञानस्य साक्षात्त्वमिति निरस्तम्, ऐकरूप्यान्यवस्थितौ कारणत्वानवधारणात्। न च ज्ञाततावैलक्षण्यान्यथानुपपत्तेरेव तत्सिद्धिः, कारणान्तरवैलक्षण्यादेव तदुपपत्तेः।

लक्षणेऽन्योन्याश्रयापत्तिरिति केचिदिति सम्बन्धः। कुत इत्यत आह ॐ साक्षादिति ॐ। इन्द्रियस्य लक्षणविशेषणत्वात्तदधिगम्यैव विशिष्टं लक्षणमधिगन्तव्यमिन्द्रियं च साक्षाद्धीसाधनत्वेनाधिगम्यते शरीरसंयुक्तमतीन्द्रियं साक्षात्प्रतीतिसाधनमिन्द्रियमिति लक्षणाङ्गीकारादेवं च साक्षाद्धीसिद्धाविन्द्रियसिद्धिस्तत्सिद्धौ साक्षाद्धीसिद्धिरिति परस्पराश्रय इत्याशयः। साक्षाद्धीज्ञानव्यतिरेकेणैवेन्द्रियज्ञानान्नान्योन्याश्रय इति परिहरति ॐ तन्नेति ॐ। हेतुमाह ॐ अज्ञातेति ॐ। भावत्वविशेषितस्याज्ञातप्रमाकरणत्वस्येन्द्रियत्वनिरुक्तेः सम्भवात्। एतदुक्तं भवति—भावत्वेऽज्ञातत्वे च सति प्रमाकरणमिन्द्रियमनुपलब्धिव्यवच्छेदाय भावत्वविशेषणं लिङ्गादिव्यवच्छेदार्थमज्ञातत्वग्रहणम्। तदेतल्लक्षणं खण्डयति ॐ विनेति ॐ। प्रमाया अपि कार्यभूताया लक्षणविशेषणत्वात्सा तावदन्यतो ज्ञेया तथा च तदेव लक्षणमस्तु अन्यतस्तदज्ञाने विशिष्टलक्षणासिद्धिर्विशेषणसिद्ध्यधीनत्वाद्विशिष्टसिद्धेरित्यर्थः।

उक्तन्यायं भाट्टनयेऽप्यतिदिशति ॐ एतेनेति ॐ। अनुमेयादिनिष्ठा काचित् ज्ञातता परोक्षव्यवहारजननी ततो विलक्षणा ज्ञातता प्रत्यक्षव्यवहारप्रसवित्री तज्जनकत्वमपरोक्षत्वमित्येतदपि निरस्तमिति यावत्। एतेनेति परामृष्टं हेतुं स्पष्टयति ॐ एकेति ॐ। जनकत्वस्य कार्यप्रतियोगिकत्वात्कार्यगतमैकरूप्यमविज्ञाय जनकत्वमेव न विज्ञातुं शक्यमित्यर्थः। अनुमेयादिनिष्ठज्ञातततो घटादिनिष्ठज्ञातता विलक्षणाऽनुभूयते तच्च वैलक्षण्यं स्वजनकज्ञानगतवैलक्षण्यमन्तरेणानुपपद्यमानं ज्ञानगतापरोक्षत्वं कल्पयतीत्यत आह ॐ न चेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ कारणेति ॐ। इन्द्रियलिङ्गादिकारणवैलक्षण्यादपि तदुपपत्तेरन्यथोपपत्तेरित्यर्थः।

इन्द्रिय का लक्षण किया जाता है—'साक्षात्कारिधीकरणत्वमिन्द्रियत्वम्'। इस प्रकार साक्षात्कारित्व और इन्द्रियत्व परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं, अतः अन्योन्याश्रयता होती है। वह अन्योऽन्याश्रयता दोष संगत नहीं, क्योंकि इन्द्रिय का ऐसा भी लक्षण किया जा सकता है, जिसमें साक्षात्कारित्व की अपेक्षा न हो, वैसा लक्षण है—'भावत्वे अज्ञातत्वे च सति प्रमाकरणत्वमिन्द्रियत्वम्' [अभावविषयक प्रमा के करणीभूत अनुपलब्धि की व्यावृत्ति के लिए भावत्व तथा अनुमित्यादि के करणीभूत लिङ्गपरामर्शादि का व्यवच्छेद करने के लिए अज्ञान विशेषण प्रमा-करण का रखा गया है]।

उक्त लक्षण में यह एक बाधा अवश्य आड़े आ जाती है कि विशेषण की सिद्धि के विना विशिष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। उक्त लक्षण में विशेषणीभूत प्रमारूप कार्य की सिद्धि यदि पहले अन्य किसी साधन से नहीं की जाती, तब विशेषणासिद्धि होती है और अन्य किसी साधन से प्रमा की सिद्धि करने पर वही अन्य साधन ही उसका लक्षण बन जाता है, यह प्रकृत लक्षण व्यर्थ हो जाता है।

(५) ज्ञातताविशेषजनकत्वं साक्षात्कारित्वम्—

ऐसा साक्षात्त्व भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि ज्ञाततारूप कार्य के अनुगत और व्यवस्थित न होने पर तज्जनकत्वरूप साक्षात्त्व व्यवस्थित नहीं हो सकता, यह ज्ञातता तब तक व्यवस्थित नहीं हो सकती, जब तक अनुमित्यादि परोक्ष ज्ञानों से जनित विजातीय ज्ञातताओं का व्यावर्तक एवं सजातीय ज्ञातताओं का अनुगमक कोई एक धर्म प्रकृत ज्ञातता

(६) नापि मेयजनितत्वम्, अतिप्रसङ्गात्। स्वमेयजत्वे च स्वार्थव्यावृत्त्याऽननुगमात्, पूर्वदोषानिवृत्तेश्च।

(७) अथ येन प्रमिते सति न प्रमित्सा पुनर्भवति, तज्ज्ञानं साक्षात्कारीति।

कर्मकारकजन्यज्ञानत्वमपरोक्षत्वमिति लक्षणान्तरमाशङ्क्य दूषयति ❀ नापीति ❀। मेयजनितत्वमात्रं लक्षणमुत स्वमेयजनितत्वमाद्ये घटज्ञानस्य पटेऽपरोक्षत्वप्रसङ्ग इत्याह ❀ अतीति ❀। द्वितीये स्वार्थव्यावृत्त्या लक्षणव्यावृत्तिरित्याह ❀ स्वेति ❀। मेयजन्यत्वं नाम लक्षणमसिद्धं तावन्न लक्ष्यसाधकमतिप्रसङ्गात्सिद्धमपि न स्वतो जडत्वादन्यतः सिद्धं चेत्तदेव लक्षणमास्तां अव्यवहितप्रतीतिकत्वादित्याह ❀ पूर्वेति ❀।

ज्ञातत्वे सति विषयप्रमित्सोत्पत्तिनिवारकं साक्षात्कारीति लक्षणान्तरमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। प्रमातुमिच्छा प्रमित्सा सा न जायते येन ज्ञानेन प्रमितेऽर्थे तदपरोक्षं तत्र प्रमित्साऽदर्शनादित्यर्थः। येन

में व्यवस्थित न हो जाय।

शङ्का—अनुमित्यादि परोक्ष ज्ञान जन्य वह्न्यादिनिष्ठ ज्ञातता से प्रत्यक्षात्मक घटादि पदार्थों में रहनेवाली ज्ञातता का वैलक्षण्य स्पष्ट अनुभूत होता है, यह वैलक्षण्य अपने जनकीभूत घटादिविषयक ज्ञान की विलक्षणता के विना उपपन्न नहीं हो सकता, अतः वह घटादिविषयक ज्ञाननिष्ठ प्रत्यक्षत्व का कल्पक या आक्षेपक हो जाता है।

समाधान—वह्न्यादिनिष्ठ ज्ञातता का वैलक्षण्य यदि घटादिविषयक ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के विना अनुपपन्न होता, तब अवश्य उसका कल्पक हो जाता किन्तु वह उसके विना ही अपनी आश्रयीभूत ज्ञातता के जनक अनुमित्यादि ज्ञानों की परामर्शादि-घटित सामग्री के वैलक्षण्य से ही उपपन्न हो जाता है। [प्रत्यक्ष ज्ञान वर्तमान है और उसका विषय भी, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान से जनित ज्ञातता विषय पर रह सकती है किन्तु परोक्ष ज्ञान के अतीत और अनागत विषयों पर ज्ञातता क्योंकर उत्पन्न होगी ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री चिदानन्द पण्डित कहते हैं—"सङ्ख्यावदेवेति ब्रूमः। न च सङ्ख्यैव तत्र नास्ति, तिस्र आहुतयो हुताः, षडपूपा भक्षिता इत्यादिव्यवहारदर्शनात्। न चासौ भ्रान्तः, बाधकाभावात्। प्रत्यक्षेषु (विषयेषु) शब्दप्रयोगादेर्व्यवहारस्य सुखदुःखयोरिच्छाद्वेषयोश्च प्राकट्यानन्तरमेव दर्शनात् प्राकट्यहेतुकत्वं निश्चीयते, ततोऽप्रत्यक्षेष्वपि तेषामन्यतमेन प्राकट्यमनुमेयम्" (नीति० पृ० १३५)। अर्थात् अतीत और अनागत पदार्थों की इच्छा होती है, इच्छा उसी पदार्थ की होती है, जिस पर प्राकट्य (ज्ञातता) उत्पन्न होती है, अतः इच्छादि की अन्यथानुपपत्ति से ज्ञातता की कल्पना सर्वत्र हो जाती है]।

(६) मेयजनितत्वं प्रत्यक्षत्वम्—

इस लक्षण में सामान्यतः मेयजनितत्व विवक्षित है ? अथवा स्वमेयजनितत्व ? प्रथम पक्ष के अनुसार पट का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी भी घटादि मेय से जनित हो सकता है, अतः घट-ज्ञान में पट-प्रत्यक्षत्व का अतिप्रसङ्ग होता है। स्वमेय-जनितत्व कहने पर यद्यपि उक्त अतिप्रसङ्ग नहीं रहता, क्योंकि पट का वही प्रत्यक्ष हो सकता है, जो पटरूप मेय से उत्पन्न होता है, घटज्ञान पट से उत्पन्न नहीं, अतः उसे पट का प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। तथापि स्वत्व अननुगत धर्म है, अतः स्वत्व-घटित लक्षण में अननुगम दोष स्पष्ट है। स्वत्व को अनुगत मानने पर पूर्वोक्त अतिप्रसङ्ग बना रहता है, क्योंकि अनुगतार्थक 'स्व' पद से सभी ज्ञानों का ग्रहण हो जाता है।

(७) येन प्रमिते सति न प्रमित्सा भवति, तत्साक्षात्कारि—

शङ्का—अनुमानादि प्रमाण ज्ञानों के द्वारा प्रमित पदार्थ में प्रत्यक्षतः प्रमित्सा (प्रमित

तन्न, प्रत्यक्षावगतेऽपीष्टे तनयादौ प्रमित्सादर्शनात् ।

अथ यदनन्तरं न विजातीयप्रमित्सा, तद्भावस्तथात्वम् । तन्न, तत्साजात्यानवगतौ तद्विजातीयानवगतेः, अरिसम्पद्यनुमादिविषयायां प्रत्यक्षयितुमनिष्टेश्च । प्रत्यक्षावगतेऽपि दहने रक्ताशोकस्तबकसन्देहे धूमदर्शनेन वह्निरनुमीयमानत्वादित्यप्येके ।

(८) अज्ञायमानासाधारणकारणकानुभवत्वं (९) कारणविशेषणीकृतभावत्वं वा

ज्ञानेन प्रमित्सा न जायते तदपरोक्षमुत विजातीयप्रमाणेन, प्रथमेऽव्याप्तिरिष्टपुत्रादौ दृष्टेऽपि पुनर्दिदृक्षादर्शनादिति परिहरति ❀ नेति ❀ । द्वितीयकल्पमुत्थापयति ❀ अथेति ❀ । तद्भावस्तथाविधज्ञानत्वं तथात्वमपरोक्षत्वमिति यावत् । असम्भवेनैतद् दूषयति ❀ तन्नेति ❀ । समानजात्याऽऽलिङ्गितं सजातीयं तेन विरुद्धजात्याऽऽलिङ्गितं विजातीयमेवं च प्रतियोगिभूतसाजात्यावगमेन तन्निरूप्यविजातीयस्य लक्षणविशेषणस्यासिद्धिरतो लक्षणात्साजात्यावगतौ परस्पराश्रयोऽन्यतोऽवगतौ तदेव लक्षणमस्तु मुधेतरचिन्तेत्यर्थः । एवमव्याप्तिमुक्त्वाऽतिव्याप्तिमाह ❀ अरीति ❀ । शत्रोः सम्पदि लिङ्गाद्यवगतायां पुनरपरोक्षयितुं इच्छैव न जायते शत्रुसम्पदोऽनिष्टत्वान्न च तत्प्रत्यक्षमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । विषयायामिति स्त्रीलिङ्गप्रयोगोऽनुपपन्नो नियतपुंलिङ्गत्वाद्विषयशब्दस्येति चेन्न, विषयशब्दस्य भावपरत्वाद्विषयतायामिति विवक्षितत्वात् "द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने" इति प्रयोगात् यथा द्वित्वैकत्वयोरिति विवक्षितं इति । एवं स्वयं लक्षणमपास्य तत्त्वोपप्लवकारोक्तदूषणं प्रदर्शयति ❀ प्रत्यक्षेति ❀ । दूरदेशे प्रत्यक्षदृष्टेऽपि वह्नौ सादृश्यदूरत्वादिदोषेण रक्ताशोकस्तबकोऽयमुत वह्निरिति सन्देहे जाते तदाश्रितधूमदर्शनेन वह्निरनुमातुमिष्यतेऽतो यदनन्तरं न विजातीयप्रमित्सेति लक्षणाभावादव्याप्तिरित्याशयः ।

विधान्तरेण साक्षात्त्वलक्षणमित्याशंकते ❀ अज्ञायमानेति ❀ । अज्ञायमानमसाधारणं कारणं यस्या-

करने की इच्छा) होती है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमित हो जाने पर उस पदार्थ को अन्य प्रमाण से प्रमित करने की इच्छा नहीं रहती, [वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है—"प्रत्यक्षेणाव्यवहितं साक्षात् वह्नि विषयीकृत्य निराकांक्षोभवेति" (ता. टी. १।१।३)] । अतः जिस ज्ञान के द्वारा प्रमित पदार्थ में पुनः प्रमित्सा नहीं रहती, उस ज्ञान को साक्षात्कारि ज्ञान कहा जाना नितान्त युक्ति-युक्त है ।

समाधान—प्रत्यक्षतः अवगत वस्तु की प्रमित्सा कभी नहीं रहती—यह बात नहीं, क्योंकि पुत्रादि प्रिय पदार्थों को एक बार देख लेने मात्र से तृप्ति नहीं होती, बार-बार उनके देखने की इच्छा बनी रहती है ।

शङ्का—प्रत्यक्षतः अवगत वस्तु के प्रत्यक्षीकरण की इच्छा तो होती है, किन्तु अनुमित्सादि नहीं होते, अतः जिस ज्ञान के अनन्तर विजातीय प्रमाण से प्रमित करने की इच्छा नहीं रहती, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है'—ऐसा लक्षण करने पर कोई दोष नहीं होता ।

समाधान—समान जातिवाले पदार्थ को सजातीय और उस से भिन्न पदार्थ को विजातीय कहा जाता है, अतः साजात्य का ज्ञान न होने पर विजातीयता का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः प्रत्यक्षत्वरूप जाति का ज्ञान होने पर ही यह लक्षण प्रवृत्त हो सकेगा । उसका ज्ञान इसी लक्षण से होगा ? या दूसरे लक्षण के द्वारा ? इसी लक्षण से मानने पर आत्माश्रयता और अन्य लक्षण के द्वारा मानने पर इस लक्षण की व्यर्थता प्रसक्त होती है । यह लक्षण अनुमानादि में अतिव्याप्त भी है, क्योंकि अनुमानादि के द्वारा शत्रु की सम्पत्ति का ज्ञान होने पर फिर उसे प्रत्यक्ष के द्वारा प्रमित करने की इच्छा नहीं होती । दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यक्षतः अवगत अग्नि में यदि अशोक वृक्ष के लाल अङ्गार के समान दमकते फूलों के गुच्छों का भ्रम हो जाता है, वहाँ धूम-दर्शन के द्वारा वह्नि की अनुमित्सा उत्पन्न हो जाती है [आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी यह स्वीकार किया है कि "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" । फलतः उक्त लक्षण में असम्भव दोष प्रसक्त होता है ।

साक्षात्कारित्वमिति चेन्न, दीर्घादिप्रत्यक्षाव्यापनात् , तत्रावधिप्रभृतेः प्रतीयमानस्यापेक्षणात् ।

नावधिस्तत्र ज्ञायमानस्तथा, अवधिज्ञानं तु स्यात् । अतीतादावप्यवधौ तथाप्रत्ययादिति चेत् , तुल्यं लिङ्ग धूमादावपि, धूमदर्शनात् (धूमदृश्वना) 'तत्राग्निरासी-

नुभवस्य स तथोक्तस्तथात्वं साक्षात्त्वम् । अज्ञायमानसंस्कारासाधारणकारणकस्मृतिव्यवच्छेदायानुभवग्रहणम् । अनुमादिव्यवच्छेदायासाधारणग्रहणम् । मनःसंयोगस्य साधारणकारणस्य सर्वत्राज्ञायमानत्वादभावप्रमाणवादिमतेऽभावज्ञानस्यापि कथितलक्षणमस्त्यनुपलब्धेरज्ञायमानाया एव करणत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह ❀ कारणेति ❀ । कारणेन विशेषणीकृतं भावत्वं यस्य तत्तथोक्तम् अज्ञायमानासाधारणभावकारणकानुभवत्वमिति यावत् । वाशब्दः पक्षभेदेन विकल्पार्थः । अज्ञायमानसमस्तासाधारणकारणत्वं विवक्षितम् ? उत यत्किञ्चिदज्ञायमानासाधारणकारणत्वम् ? किंस्विदज्ञायमानकरणत्वम् ? इति त्रिधा विकल्प्य प्रथमकल्पेऽव्याप्तिमाह ❀ नेति ❀ । इदमस्माद्दीर्घमिदं ह्रस्वमिदमनेन सदृशमित्यादिप्रत्यक्षप्रत्ययानां ज्ञायमानप्रतियोगिधर्म्याद्यसाधारणकारणत्वादव्याप्तेरित्यर्थः । उक्तं हेतुं कथया प्रपञ्चयति ❀ तत्रेति ❀ । अव्याप्तिपरिहारमाशंकते ❀ नावधिरिति ❀ । अतीतमनागतं वा दीर्घमपेक्ष्य ह्रस्वमिति ज्ञानं जायते प्रतियोगिनोऽसतः कारणत्वायोगात्तज्ज्ञानमेव कारणं तच्च न ज्ञायमानमनवस्थानाद्व्यतिरेकाभावाच्चातो नाव्याप्तिरित्यर्थः । तथा कारणमिति यावत् । अव्याप्तिपरिहारमूरीकृत्यानुमानेऽतिव्याप्त्या दूषयति ❀ तुल्यमिति❀ । धूमादौ लिङ्गेऽप्यज्ञायमानतज्ज्ञानस्यैव कारणत्वं तुल्यमित्यर्थः । कुत इत्यत आह ❀ धूमेति ❀ । धूमं दृष्टवानिति धूमदृश्वा तेन इति यावत् । गिरिशिखरविपरिवर्तिधूमं प्रातर्दृष्टवतः सायाह्ने केनापि निमित्तेन तद्धूमस्मृतिमतस्तत्र प्रातरग्निरासीदित्यनुमानादसतो धूमस्य कारणत्वायोगात्तज्ज्ञानं हेतुरित्याशयः ।

---

(८) अज्ञायमानासाधारणकारणकानुभवत्वम् —
(९) कारणविशेषणीकृतभावत्वं साक्षात्कारित्वम्—

शङ्का—अज्ञायमान है असाधारण कारण जिसका, ऐसा अनुभव साक्षात्कारिज्ञान कहलाता है । घटादिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान के चक्षुरादि असाधारण कारण सदैव अज्ञायमान होकर ही कारण होते हैं, ज्ञायमान होकर नहीं, अतः घटादि के प्रत्यक्ष में लक्षण घट जाता है । अथवा उक्त लक्षण-घटक कारण का भावत्व विशेषण लगाकर प्रत्यक्ष का लक्षण किया जा सकता है—'अज्ञायमानासाधारणभावकारणकानुभवत्वम्' । 'भावत्व' विशेषण लगाना आवश्यक है, अन्यथा अभाव-प्रमा की करणभूत अनुपलब्धि भी अज्ञायमान होकर ही करण मानी जाती है, अतः वहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है ।

समाधान—उक्त लक्षण दीर्घादि सापेक्ष पदार्थों के प्रत्यक्ष में अव्याप्त हो जाता है, क्योंकि उसके असाधारण कारणीभूत अवधि आदि पदार्थ सदैव ज्ञायमान होकर ही कारण होते हैं, जैसे 'इदमस्मात् शरीराद् दीर्घम्', 'इदमस्माद् ह्रस्वम्', 'इदमनेन सदृशम्'—यहाँ दीर्घता और ह्रस्वता के अवधिभूत शरीरादि पदार्थों का ज्ञान परमावश्यक है ।

शङ्का—दीर्घादि सापेक्ष पदार्थों के प्रत्यक्ष में अवधिभूत शरीरादि कारण नहीं होते, अपि तु उनका ज्ञान कारण होता है, क्योंकि अवधिभूत पदार्थों के अतीत हो जाने पर भी दीर्घतादि की प्रतीति होती है, अतः उस प्रतीति के अव्यवहित पूर्वक्षण में अवधिभूत पदार्थ का रहना सम्भव नहीं, उनका ज्ञान ही रह सकता है ।

समाधान जैसे अज्ञायमान अवध्यादि पदार्थों को दीर्घतादि के ज्ञान का कारण नहीं माना जा सकता, वैसे ही अज्ञायमान धूमादि को भी वह्न्यादि की अनुमिति का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि धूम का प्रातः दर्शन जिसने किया है, वह 'तत्रासीत् अग्निः'—इस प्रकार का अनुमान करता है, वहाँ धूम को कारण न मानकर धूमज्ञान को ही कारण माना-

दि'ति पश्चादप्यनुमानात्। ज्ञानविशेषणतया तु ज्ञेयहेतुता तुल्यैवेति।

अस्राधारणकारणगिरा करणमभिमतमिति चेन्न, अनुमितभाविलिङ्गकभाविलिङ्ग्यनुमितौ असतो लिङ्गस्य करणत्वासम्भवेन ज्ञायमानकरणकत्वाभावात्।

लिङ्गज्ञानं तावत्करणम्, तच्च स्वप्रकाशवादिनो मम ज्ञायमानमेव तत्रेति चेन्न, तस्यापि ज्ञायमानतया करणकोटिप्रवेशे प्रमाणाभावात् उक्तप्रत्ययानां तथात्वाभावात्।

अन्यथासिद्धस्यापि ज्ञायमानत्वस्यावर्ज्जने चक्षुराद्यनुमित्यनन्तरं दैवोपजात-

---

लिङ्गज्ञानस्य हेतुत्वे ज्ञानविशेषणतया धूमादिलिङ्गमपि हेतुरिति नातिव्याप्तिरित्यत आह ❀ ज्ञानेति ❀। ज्ञेयभेदानवच्छिन्नज्ञानस्य ह्रस्वादिप्रत्यक्षकारणत्वेऽतिप्रसङ्गात् ज्ञेयभेदावच्छिन्नस्य तथात्वे प्रतियोग्यादेरपि कारणत्वं तुल्यमित्यव्याप्तिरुपलक्षणत्वं लिङ्गेऽपि तुल्यमित्यर्थः।

अज्ञायमानयत्किञ्चिदसाधारणकारणत्वमनुमानादावप्यस्ति प्रातिस्विकादृष्टादेस्तथात्वादिति द्वितीयमभिप्रायबलादेव परामृश्य तृतीयं कल्पमनुभाषते ❀ असाधारणेति ❀। अज्ञायमानासाधारणकारणकानुभवत्वं साक्षात्त्वं न चैवमव्याप्तिः प्रतियोग्यादेरकरणत्वादित्यर्थः। अतिव्याप्त्यन्तरेण परिहरति ❀ नेति ❀। अनुमितं भावि लिङ्गं यस्य भाविलिङ्गिनस्तदनुमितभाविलिङ्गकभावलिङ्गि तस्यानुमितौ यदा पुरोवातादिलिङ्गे विशिष्टमेघोदयमनुमाय तेन भविष्यति वृष्टिरित्यनुमीयते तदाऽसतो मेघोदयस्याकारणत्वात्तज्ज्ञानमज्ञायमानं करणमित्यातिव्याप्तिरित्यर्थः।

उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय प्राभाकरः प्रत्यवतिष्ठते ❀ लिङ्गेति ❀। तावदिति निर्द्धारणे। ज्ञानस्य स्वसत्तायां प्रकाशाव्यतिरेकित्वादज्ञायमानतया नातिव्याप्तिरित्यर्थः। लिङ्गज्ञानं स्वरूपेणैव करणमुत ज्ञायमानतयेति विशये ज्ञायमानतयेति न विकल्पनोयं केवलव्यतिरेक्यादिप्रमाणाभावादिति परिहरति ❀ नेति ❀ अस्ति प्रमाणमुदाहृतप्रत्यया एवेत्यत आह ❀ उक्तेति ❀। अनुमितभाविलिङ्गप्रत्यया उक्तप्रत्ययास्तेषां तथात्वाभावाल्लिङ्गप्रत्ययस्य ज्ञायमानतया कारणकोटौ प्रवेशे प्रमाणत्वाभावाद्भविष्यद्वृष्टिसत्तायां 'प्रमाणत्वेनैकस्य द्विकरणत्वायोगादित्यर्थः। ज्ञायमानत्वमव्यतिरेक्यप्यन्वयित्वान्न हातुं शक्यम इत्यत आह ❀ अन्यथेति ❀। ज्ञानस्य ज्ञायमानत्वं ज्ञानत्वादेव न पुनः करणत्वादित्यन्यथासिद्धस्य ज्ञाय-

---

जाता है। ज्ञान-विशेषण विधया जैसे अवधि पदार्थ कारण होता है, वैसे ही धूमादि भी।

शङ्का—अनुपलब्धि में अतिप्रसङ्ग हटाने के लिए 'असाधारणकारण' पद के द्वारा करणार्थ विवक्षित है, दीर्घादि सापेक्ष पदार्थों के ज्ञान में अवध्यादि पदार्थ करण नहीं माने जाते, इन्द्रियाँ ही करण हैं, वे अज्ञात होकर ही करण होती हैं, अतः वहाँ अव्याप्ति नहीं होती।

समाधान—जहाँ पर पुरवा हवा चलते देख भावी मेघ-माला का अनुमान कर उस अनुमित मेघ-माला के द्वारा भावी वर्षा का अनुमान किया जाता है, वहाँ अविद्यमान मेघ-माला कारण न होकर उसका ज्ञान ही अनुमिति का करण होता है, वह ज्ञायमान नहीं, अतः उस अनुमिति में अज्ञायमानकरणकत्वरूप प्रत्यक्षत्व अतिप्रसक्त होता है।

शङ्का—प्राभाकरगण सामने आते हैं, पूछते हैं कि उक्त स्थल पर अनुमिति का करण लिङ्ग-ज्ञान ही होता है, वह हमारे मत (स्वप्रकाशवाद) में ज्ञायमान ही है, अतः वहाँ अज्ञायमानकरणकत्वरूप प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति क्योंकर होगी ?

समाधान—लिङ्ग-ज्ञान को भी अनुमिति की करण कोटि में ज्ञायमानत्वेन प्रवेश नहीं दिया जा सकता, क्योंकि जैसे इन्द्रियों में प्रत्यक्ष ज्ञान की करणता रखने के लिए ज्ञायमानत्व अपेक्षित नहीं, वैसे ही लिङ्ग-ज्ञान में अनुमिति ज्ञान की करणता सम्पादन करने के लिए ज्ञायमानत्व अपेक्षित क्यों होगा ? प्रमाण के बिना किसी पदार्थ की कहीं अपेक्षा नहीं की जा सकती। कथित भाविवर्षा का अनुमितिरूप प्रत्यय भी ज्ञायमान करण से उत्पन्न नहीं माना जाता। स्वप्रकाशवाद में ज्ञानगत ज्ञायमानता का प्रयोजक ज्ञानगत करणत्व नहीं, अपि तु

घटादिप्रत्यक्षाऽव्यापनात्। नियमेनेति चेन्न, विधौ वैयर्थ्यात्। नियमेन निषेधस्य विशेषणे दैवावगतेन्द्रियज्ञानानन्तरजप्रत्यक्षसम्भवादसिद्धिः। विधौ करणत्वप्रविष्ट एवायं नियमो निरुच्यत इति चेन्न, तथापि वैयर्थ्यादेव।

अन्यथाऽतिप्रसक्तेरवैयर्थ्यमिति चेन्न, तथाप्यतिप्रसक्तेरेव। न हि रसादि-

---

मानत्वस्यावर्जने। अवर्जनमिति पदच्छेदः। रूपोपलब्धिः करणजन्या कार्यत्वात् कुम्भवदित्यादिलिङ्गेन यदा चक्षुराद्यनुमीयते तर्ह्येव घटादिगोचरं प्रत्यक्षं प्रमाणवस्तुसामर्थ्यादुदपादि तन्न व्याप्नुयादनुमितज्ञानवच्चक्षुरादिजन्यत्वात्तस्येत्यर्थः।

अनुमानं नियमेन ज्ञानकरणजन्यं ज्ञातस्यैव धूमादेः करणत्वान्न तथा प्रत्यक्षं क्वचित् ज्ञातस्य चक्षुषस्तज्जनकत्वेऽपि सर्वत्र तथात्वाभावादतो नियमेनाज्ञायमानकरणानुभवत्वं साक्षात्त्वमित्युक्ते नाव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ नियमेनेति चेदिति ❀। नियमेनाज्ञातं करणं यस्येति विधेर्नियमो विशेषणम्? उत ज्ञातं करणं नियमेन नेति निषेधस्य विशेषणम्? इति विकल्प्याद्यं दूषयति ❀ नेति ❀। नियतप्राग्भाविनः कारणत्वात्कारणपदेनार्थान्नियमसिद्धेर्नियमविशेषणवैयर्थ्यमिति यावत्। द्वितीयमपवदति ❀ नियमेनेति ❀। निषेधस्य विशेषणे व्यावर्त्तक इत्यनेन ज्ञायमानजातीयं करणं न भवति यस्येति हि तदा लक्षणार्थः स्यादेवं च रूपज्ञानानुमितचक्षुर्जन्यप्रत्यक्षसम्भवेऽप्यसम्भव इत्यर्थः। नियमो न निषेधविशेषणं किंत्वज्ञानकरणजन्यत्वविधेर्न चैवं वैयर्थ्यं करणपदलभ्यनियमस्पष्टीकरणार्थत्वादिति शंकते ❀ विधाविति ❀। सम्भवव्यभिचाराभ्यां विशेषणसाफल्यादिह चाऽव्यभिचारात् स्पष्टीकरणस्य विशेषणप्रयोजनताङ्गीकाराद्व्यर्थविशेषणतेति परहरति ❀ नेति ❀। अस्तु तर्हि व्यभिचारनिवारणं विशेषणप्रयोजनमिति शंकते

ज्ञानत्व है, जैसे दण्डादिगत घटादि की करणता को तद्गत रूपादि गुणों या दण्डत्वादि धर्मों की अपेक्षा नहीं होती, वे अन्यथासिद्ध होते हैं, वैसे ही ज्ञान में ज्ञायमानत्व अन्यथासिद्ध है। ऐसे आकस्मिक एवं अन्यथासिद्ध धर्मों का भी कारण कोटि में प्रवेश करने पर जहाँ चक्षुरादि का अनुमान कर लेने के अनन्तर अकस्मात् घटादि का प्रत्यक्ष हो जाता है, वहाँ अज्ञायमानकरणकत्व अव्याप्त है, क्योंकि वहाँ चक्षुरूप करण दैवात् ज्ञायमान हो गया है। अतः आकस्मिक धर्मों का करण कोटि में प्रवेश वर्जित होना चाहिए। फलतः उक्त स्थल पर जैसे चक्षुरूप करण आकस्मिक ज्ञायमान हो गया, घटादि-प्रत्यक्ष का करण निसर्गतः अज्ञायमान ही समझा जाता है, वैसे ही ज्ञान-स्वप्रकाशवाद में ज्ञानगत ज्ञायमानत्व अन्यथासिद्ध है, कारण-कोटि में प्रविष्ट नहीं, अतः लिङ्ग-ज्ञान अज्ञायमान होकर ही अनुमिति का करण सिद्ध होता है। इस लिए अनुमिति में भी अज्ञायमानकरणकत्वरूप प्रत्यक्षत्व अतिव्याप्त है।

शङ्का—अनुमिति में तो धूमादि करण नियमतः ज्ञायमान होता है किन्तु प्रत्यक्ष में कदाचित् ही करण ज्ञायमान हो जाता है, नियमतः तो उसमें अज्ञायमानकरणकत्व ही है।

समाधान—'ज्ञायमानत्व' विधिरूप और 'अज्ञायमानत्व' निषेधरूप है। 'नियमेन' विशेषण विधि का है? अथवा निषेध का? प्रथम पक्ष के अनुसार जो योजना सम्पन्न होती है—'अनुमानदौ नियमेन ज्ञायमानं करणं भवति।' वहाँ 'करण' पद से ही नियम का लाभ हो जाता है, क्योंकि नियमतः पूर्ववृत्ति पदार्थ को करण माना जाता है, अतः वहाँ 'नियमेन' विशेषण व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष के अनुसार 'प्रत्यक्षस्य नियमेनाज्ञायमानं करणं भवति' या 'अज्ञायमानमेव करणं भवति'—ऐसा अन्वय-बोध प्राप्त होता है, जो कि उस प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं घटता, क्योंकि दैवात् सञ्जात इन्द्रियानुमान के पश्चात् उत्पन्न होता है।

शङ्का—'नियमेन' विशेषण विधि-वाक्य का ही है—अनुमानादौ नियमेन ज्ञायमानं करणं भवति।' यहां जो विशेषण-वैयर्थ्य दोष दिया गया, वह उचित नहीं, क्योंकि 'करण' पद

साक्षात्कारे रूपादिर्हेतुः। अन्यथासिद्धेर्नेति चेन्न, तुल्यत्वादनुमानेऽपि।

किञ्च—यत्र निषेधस्तद्गतमैकरूप्यं निरूप्यम्, अन्यथा किमादाय नियमो निरूप्येतेति कार्यगतैकरूप्यमनभिधाय न निस्तारः। विनाऽपि च नियमपदप्रवेशं कार्यगतैकरूप्यमनिरूप्याऽनिस्तार एव। ज्ञायमानं नात्र करणमिति हि यदि कार्यव्य-

---

ॐ अन्यथेति ॐ। अज्ञातकरणजन्यत्वविधेर्नियमविशेषणानुपादानेऽतिव्याप्तिर्भाविलिङ्गस्याज्ञातस्यानुमितिकरणत्वादित्यर्थः। क्वचित् ज्ञायमानं लिङ्गं करणं क्वचिदज्ञायमानं तज्ज्ञानमिति कल्पनानुपपत्तेः सर्वत्राज्ञायमानं ज्ञानमेवानुमितिकरणमित्यतिव्याप्तिरिति परिहरति ॐ नेति ॐ। वर्त्तमानस्थले ज्ञायमानलिङ्गमेव करणमन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्याशंक्यातिप्रसङ्गं व्यतिरेकमुखेनाह ॐ न हीति ॐ। रसादीत्यत्र गन्धो गृह्यते रूपादीत्यत्र स्पर्शः। अतिप्रसङ्गपरिहारं शङ्कते ॐ अन्यथेति ॐ। रूपादौ सति रसादिसाक्षात्कारो नासतीत्यन्वयव्यतिरेकौ रूपादे रसादिव्यापकत्वान्न तु तत्र साक्षात्कारणत्वादित्यर्थः। लिङ्गस्यापि ज्ञानकर्मतयाऽन्वयव्यतिरेकौ नानुमितिकरणतयेति तुल्यमुत्तरमित्याह ॐ नेति ॐ। नियमो विधिविशेषणमिति कल्पं दूषयित्वा प्रतिषेधविशेषणमिति पक्षे दोषान्तरमाह ॐ किं चेति ॐ। ज्ञायमानकरणकत्वं यस्मिन्ननुभवे नास्तीति निषिध्यते तद्गतमैकजात्यं निषेधाधिकरणतया प्रत्येतव्यं निषेधज्ञानस्याऽधिकरणज्ञानजत्वादिति यावत् विपक्षदण्डदर्शनेनैतद्दृढीकरोति ॐ अन्यथेति ॐ। व्यक्तिर्न्निषेधधर्मिण्यव्यापकत्वादत एकोपाधिना क्रोडीकृतं रूपं वाच्यं तच्चेदज्ञातमस्येति परामर्शस्तर्हि नोपपद्यत इत्यर्थः। फलितमाह ॐ इति कार्येति ॐ। नियमस्यान्वयव्यतिरेकावसेयस्य जात्युपाधिविषयत्वात्तदनभिधाने न निस्तारस्तज्ज्ञाने च तदेव लक्षणमस्तु लाघवादित्यर्थः। नियमविशेषणं तर्हि परित्यज्य लक्षणं ब्रूमः तत्राऽऽह ॐविनेतिॐ। घटज्ञानमुपलभ्य नात्र ज्ञायमानं करणमिति लक्षणं गम्यतां किमनुगतरूपज्ञानेन तत्राह ॐ ज्ञायमानमिति ॐ। ज्ञायमानं नात्र करणमिति कार्यव्यक्तिमभिसन्धाय लक्षणाभिधानं यदि तदा तर्हि तत्पूर्वं तस्याः प्रत्यक्षव्यक्तेः पूर्वं प्रतीतानां चक्षुरादीनां तत्र करणत्वाभावो दुरवधारण एकव्यक्तेरिव निषेधाधिकरणतया व्यक्त्यन्तराणामनिषेधाधिकरणत्वादिति यावदतोऽव्याप्तिपरिहाराय जात्युपाधौ लक्षणमभि-

---

से ध्वनित नियम को प्रकट करने में उसका साफल्य निश्चित है। अथवा व्यभिचार या अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिए 'नियमेन' विशेषण रखना आवश्यक है, अन्यथा काकतालीयन्यायतः ज्ञायमानकरणक प्रत्यक्ष में ज्ञायमानकरणकत्व अतिप्रसक्त हो जाता है।

समाधान—विधि-वाक्य में उक्त विशेषण के लगाने पर भी अतिप्रसक्ति बनी ही रहती है, क्योंकि दैवादुपनत अन्यथासिद्ध पदार्थों का कारणकोटि में प्रवेश मान लेने पर कदाचित् रसादि के साक्षात्कार में रूपादि को भी हेतु मानना पड़ेगा किन्तु रसादि के प्रत्यक्ष में कभी भी रूपादि को हेतु माना नहीं जाता। यदि कहा जाय कि रूपादि अन्यथासिद्ध है, तब तुल्यरूप से अनुमान में भी लिङ्ग-ज्ञान की ज्ञायमानता को भी अन्यथासिद्ध कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह भी है कि जिस अनुभव में 'ज्ञायमानं करणमस्य नास्ति'—इस प्रकार का निषेध किया जाता हैं, उसमें किसी-न-किसी (प्रत्यक्षत्वादि) धर्म का ज्ञान प्राप्त करना होगा, क्योंकि निषेध के ज्ञान में अनुयोगी का ज्ञान आवश्यक होता है। प्रत्यक्षादिगत ऐक्यजात्य का निरूपण न हो सकने पर नियम का निरूपण भी न हो सकेगा, अतः प्रत्यक्षादिरूप कार्य में ऐक्यरूप्याभिधान के विना कोई निस्तार नहीं। 'नियमेन'—इस पद का प्रवेश न करने पर भी प्रत्यक्षगत अनुगत धर्म का निरूपण परमावश्यक है।

यह भी एक जिज्ञासा यहाँ होती है कि क्या घट-ज्ञान व्यक्ति में 'नात्र ज्ञायमानं करणम्'—ऐसा निषेध विवक्षित है? अथवा प्रत्यक्षगत अनुगत धर्म-विशिष्ट ज्ञानमात्र में? प्रथम पक्ष संगत नहीं, क्योंकि उस उद्देश्यभूत प्रत्यक्ष व्यक्ति के पूर्व प्रतीत चक्षुरादि में

त्किमभिसन्धाय तदा तत्पूर्वं प्रतीतानां तत्राकारणत्वं दुरवधारणम्। ततस्तज्जातीये तज्जातीयव्यभिचारप्रतिसन्धानेऽवश्यं यतनीयमिति।

(१०) अथाऽव्यवहितार्थप्रमात्वं तथा, तर्हि किमपेक्ष्य व्यवधानम्, किञ्च तदिति वाच्यम्। इन्द्रियमपेक्ष्य तत्, असन्निकर्षश्च तदिति चेत्, तर्हीन्द्रियसन्निकृष्टप्रकाशत्वमिति कुटिलिकार्थः। स चानुपपन्नः, स्वविलोचनगोलकानुमानव्याप्तेः।

(११) ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं तदिति चेन्न, सविकल्पकविशेषाव्यापनात्।

एतेन विषयान्तरज्ञानाजन्यत्वं तदिति प्रत्युक्तम्। सविकल्पकस्याधिकव्यवच्छेद्रूपविषयत्वात् तदवधिज्ञानजन्यत्वात्।

धेयमिति निगमयति ❀ तत इति ❀। तज्जातीयेऽनुभवजातीये। तज्जातीयव्यभिचारप्रतिसन्धानेऽज्ञातकरणजातीयस्य व्यभिचारप्रतिसन्धाने। एतदुक्तं भवति ज्ञातकरणजातीयाजन्यानुभवजातीयः साक्षादिति अनुभवत्वे सत्यवान्तरजात्युपाधावज्ञातकरणजन्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणमिति यावत्।

साक्षात्त्वलक्षणान्तरमनुभाषते ❀ अथेति ❀। सन्निहितार्थविषयज्ञानत्वमिति यावत्। लक्षणविशेषणाव्यवधानस्यासिद्धिं दर्शयितुं तत्प्रतियोगि व्यवधानं पृच्छति ❀ तर्हि किमपेक्ष्येति ❀। न केवलं व्यवधानापेक्ष्यं दुर्निरूपं किं तु व्यवधानं च किमिति वाच्यमित्यर्थः। अपेक्ष्यं व्यवधानस्वरूपं च पूर्ववादी दर्शयति ❀ इन्द्रियमिति ❀। इन्द्रियमपेक्ष्य व्यवधानं तच्च तदसन्निकर्ष इत्यर्थः। लक्षणं दूषयितुं लक्षणवाक्यस्य परिनिष्पन्नमर्थमनुवदति ❀ तर्हीति ❀। वक्रोक्तेरित्यर्थः। अस्तु ततः किमित्यत आह ❀ सेति ❀। मदीयं चक्षुः साश्रयमिन्द्रियत्वादन्येन्द्रियवदिति अनुमानज्ञानं चक्षुस्सन्निकृष्टगोलकविषयमिति साक्षात्स्यादित्यर्थः।

अनुमानज्ञानं लिङ्गज्ञानजन्यं ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं साक्षात्त्वं विवक्षितमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ ज्ञानेति ❀। निर्विकल्पकजन्यत्वात्सविकल्पकस्याव्याप्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀। भेदाभावप्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकाजन्यत्वाद्विशेषपदोपादानम्।

घटप्रत्यक्षं घटविषयनिर्विकल्पकजन्यं न विषयान्तरज्ञानजन्यं तथात्वस्य विवक्षितत्वान्नाव्याप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह ❀ एतेनेति ❀। एतच्छब्दपरामृष्टं हेतुं स्पष्टयति ❀ सविकल्पकेति ❀। निर्विकल्पकार्थाद्वस्तुमात्रादधिकं यदितरेभ्यो व्यावृत्तिरूपं तद्विषयत्वादित्यर्थः। व्यावृत्तिविशिष्टस्य विशेष्यस्वरूपत्वावतत्वान्तरत्वात्कथं विषयान्तरज्ञानजन्यत्वं तत्राह ❀ तदिति ❀। भेदप्रतियोगिज्ञानजन्यत्वादिति।

उसकी करणता का अभाव निश्चित नहीं हो सकता, अतः अनुभवजातीय पदार्थ में अज्ञातकरणजातीय पदार्थ के व्यभिचारानुसन्धानार्थ प्रयत्न करना होगा।

(१०) अव्यवहितार्थप्रमात्वं साक्षात्त्वम्—

इस लक्षण के घटक अव्यवधान का स्पष्टीकरण करने के लिए किसकी अपेक्षा व्यवधान है? यह निर्दिष्ट करना परमावश्यक है। केवल व्यवधानापेक्षित पदार्थ का निरूपण ही असम्भव नहीं, अपितु 'व्यवधान' पदार्थ का निरूपण भी सुकर नहीं। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय की अपेक्षा व्यवधान विवक्षित है और असन्निकर्ष व्यवधान पदार्थ है। तब द्राविड़ प्राणायाम की पद्धति अपना कर 'इन्द्रियसन्निकृष्टार्थप्रकाशत्व' को ही प्रत्यक्षत्व कहा जायगा वह तो सर्वथा अनुपपन्न है, क्योंकि स्वकीय नेत्र-गोलक के अनुमान में अतिप्रसक्त है। अनुमान-प्रकार यह है—'मदीयं चक्षुः साश्रयम्, इन्द्रियत्वात् घ्राणादिवत्'। यह अनुमान ज्ञान साक्षात् चक्षुसन्निकृष्ट गोलक को विषय कर रहा है, अतः अव्यवहितार्थप्रकाशत्वरूप साक्षात्त्व की उसमें अतिव्याप्ति क्यों न होगी?

(११) ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षत्वम्—

यदि कहा जाय कि 'ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षत्वम्'—ऐसा लक्षण विवक्षित है, तब

(१२) स्वविषयानन्तर्गतार्थज्ञानाजन्यधीत्वं तत्। न च सप्रतियोगिकार्थप्रत्यक्षाव्याप्तिः, प्रतियोगिनोऽपि विशिष्टार्थप्रविष्टस्य तत्ताया इव प्रत्यभिज्ञायां प्रत्यक्षविषयत्वोपगमाद्, अप्रतियोगित्वेन विशेषणाद्वेति चेत्, न, स्वपदेनैव क्षारीकृतत्वात्, कार्यव्यक्तौ अजन्यताया दुरवधारणत्वाच्च। तज्जातीये तज्जातीयव्यभिचारशस्त्रग्रहे

साक्षात्त्वस्य लक्षणान्तरं शङ्कते ॐ स्वेति ॐ। स्वविषयानन्तर्गतार्थविषयेण ज्ञानेनाजन्यज्ञानत्वं तत्साक्षात्त्वमनुमादिव्यवच्छेदाय ज्ञानाजन्येति विशेषणम्। सविकल्पसङ्ग्रहाय स्वेति विशेषणम्। इदमस्माद्भिन्नमित्यादिविकल्पज्ञानं स्वविषयानन्तर्गतप्रतियोगिज्ञानजन्यमिति तदव्याप्तिरित्यत आह ॐन चेतिॐ। कुत इत्यत आह ॐ प्रतियोगिनोऽपीति ॐ। प्रतियोगिनोऽपि प्रत्यक्षविषयतोपगमादिति। भेदप्रत्यक्षं कथमन्यं प्रतियोगिनं विषयीकुर्यात्तत्राह ॐ विशिष्टेति ॐ। धर्मिप्रतियोगिविशिष्टं भेदं गृह्णत् विशेषणं प्रतियोगिनमपि गृह्णात्येव यथा दण्डीति ज्ञानं दण्डं गृह्णाति तद्वदिति यावत्। प्रत्यक्षं स्वकालीनमेव प्रकाशयति कालान्तरीयस्यापि प्रतियोगित्वसम्भवात्कथं प्रतियोगिनः प्रत्यक्षोल्लेख्यत्वमित्याशङ्क्य पूर्वानुभवसंस्कारसहकृतेदानीन्तनसम्प्रयोगात्तद्विशिष्टभेदप्रत्यक्षोपजन इत्यत्र दृष्टान्तमाह ॐ तत्ताया इति ॐ। स्वविषयानन्तर्गतप्रतियोगिव्यतिरिक्तार्थज्ञानाजन्यत्वं तदिति विशेषणाद्वा सप्रतियोगिकप्रत्यक्षे नाव्याप्तिरित्याह ॐ अप्रतीति ॐ। स्वपदेन ज्ञानमात्रोपादानेऽनुमादावतिव्याप्तिस्तद्विशेषोपादाने चाव्याप्तिरिति दूषयति ॐ तन्नेति ॐ। लक्षणजन्मनां क्षारीकृतत्वात् दुःखनिरोधादिति यावत्। असम्भवं चाह ॐ कार्येति ॐ। अन्वयव्यतिरेकभावाभावावसेयत्वात्कार्यकारणत्वभावाभावयोस्तयोश्चानुगतरूपविषयत्वेन व्यक्तावसम्भवादित्यर्थः। अस्तु तर्हि स्वविषयज्ञानमात्रस्य विषयानन्तर्गतज्ञानमात्राजन्यत्वनिश्चयस्तत्राह ॐ तज्जातीय इति ॐ। तज्जातीये ज्ञानव्यक्तिमात्रे ज्ञानव्यक्तिमात्रस्य कारणत्वव्यभिचारप्रतिसन्धानात्मकशस्त्रग्रहे तु लक्षणाधिगमात्प्रागनुगतरूपावगममन्तरेण तज्जातीयत्वमेव दुरवधारणमिति

सविकल्पक प्रत्यक्ष में अव्याप्ति रह जाती है, क्योंकि वह निर्विकल्पक ज्ञान से जनित होता है। यदि कहा जाता है कि घटविषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष घटविषयक निर्विकल्पक से ही जनित होता है, पटादिविषयक निर्विकल्पक से नहीं। तब भी उसी घटविषयक सविकल्पप्रत्यक्ष में अव्याप्ति बनी रहती है, क्योंकि 'स्वविषयाद् भिन्नं यद्विषयजातम्, तद्विषयकात् निर्विकल्पकादजन्यम्'—यहाँ पर स्वविषय अपादान की अवधि हो जाता है, अतः अवधिज्ञान से जनित होने के कारण ज्ञानजन्यज्ञानत्व ही उसमें स्थिर रहता है।

(१२) स्वविषयानन्तर्गतार्थज्ञानाजन्यधीत्वं प्रत्यक्षत्वम्—

'अनेन सदृशम् इदम्'—इत्यादि सप्रतियोगिक पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह अपने प्रतियोगीभूत पदार्थ को वैसे ही अपनी विषयकोटि में समेट लेता है, जैसे प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष तत्ता को, अतः प्रतियोगी पदार्थ न तो उसका अविषय रहता है और न प्रतियोगी का ज्ञान उसका जनक, अतः 'स्वविषयानन्तर्गतविषयविषयकज्ञानाजन्यत्वम्' उस प्रत्यक्ष में सुरक्षित रहता है। अथवा यदि उस प्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान-जन्यत्व मान भी लिया जाता है, तब भी 'स्वविषयानन्तर्गतस्वप्रतियोगिभिन्नार्थज्ञानाजन्यधीत्वम्' - ऐसा परिष्कार करने पर कोई दोष नहीं रह जाता।

समाधान—इस लक्षण में अननुगम दोष तो अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि इसका घटकीभूत स्वत्व अनुगत धर्म नहीं माना जाता। यह अननुगम दोष आकार-प्रकार में छोटा होने पर भी लक्षण की ग्राह्यता का वैसे ही घातक है, जैसे थोड़ा-सा भी नमक जल की मधुरिमा का संहार कर जल को खारा बनाकर रख देता है।

दूसरी बात यह भी है कि 'स्वविषयानन्तर्गतार्थज्ञानाजन्यत्व का ज्ञान किसी एक प्रत्यक्षरूप कार्य व्यक्ति में निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि अजन्यत्व-घट का जन्यत्व पदार्थ

च कार्यैकजात्ये च पूर्ववत्पतनमिति ।

(१२) स्वकालावच्छिन्नार्थबोधत्वं साक्षात्त्वमित्यपि न, स्वार्थाविवेचनात् । कथञ्च अनुमानादिव्यवच्छेदः ?

तत्र व्याप्त्यादिप्रविष्टकालनियतार्थत्वम्, यत्रापि चन्द्रोदयसमुद्रवृद्ध्यादौ स्वकालार्थत्वं तत्रापि व्याप्तिप्रविष्टतैव तादृशत्वस्य प्रयोजिकेति चेन्न, कथमप्यस्तु,

कार्यैकरूप्ये पतितव्यमिति तदेव लक्षणमस्तु आवश्यकत्वाद्वयर्थमितरदिति पूर्वदोषापत्तिरित्यर्थः । ॐ स्वेति ॐ । स्वस्य ज्ञानस्य यः कालस्तदवच्छिन्नार्थज्ञानत्वमितिसुगतमतनिरासायार्थेति विशेषणम् । अनुमादिपरासाय ॐ स्वेति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ स्वेति ॐ । स्वपदेन ज्ञानमात्राभिधानेऽतिव्याप्तेर्विशेषाभिधानेऽव्याप्तेरित्यर्थः । एवमसम्भवमुक्त्वाऽतिव्याप्तिमाह ॐ कथं चेति ॐ । अनुमादेः कालावच्छिन्नार्थबोधत्वेऽपि स्वकालावच्छिन्नार्थबोधत्वं नास्ति व्याप्त्यादिकालावच्छिन्नस्य तत्र स्फुरणादिति शङ्कते ॐ तत्रेति ॐ । व्याप्त्यन्तर्गतत्वात्कालावच्छेदोऽनुमाने प्रतीयते सङ्गत्यन्तर्गततया तदवच्छेद आगमावाविति यावत् । अयं चन्द्रोदयः स्वकालसमुद्रवृद्धिमान् चन्द्रोदयत्वाद्, ह्यस्तनचन्द्रोदयवदित्यनुमानस्य स्वकालावच्छिन्नार्थबोधकत्वेनात्स्यतिव्याप्तिरित्याशङ्क्याह ॐ यत्रापीति ॐ । आदिपदेनायं घटो वर्तत इत्याद्यागमादि ग्राह्यम् । व्याप्तिप्रविष्टतैव कालस्य तादृशत्वस्य कालावच्छिन्नार्थत्वस्य प्रयोजिकेति सम्बन्धः । व्याप्त्यन्तर्गततया कालावच्छेदः प्रतीयतेऽतोऽन्यथासिद्धं स्वकालार्थत्वमतीतानागतानुमितौ तथात्वदर्शनादित्यर्थः । स्वकालावच्छिन्नार्थत्वस्यान्यथासिद्धिमङ्गीकृत्यातिव्याप्तिर्दुष्परिहरेति परिहरति ॐ नेति ॐ ।

अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही जाना जा सकता है और कार्य-कारण का अन्वय-व्यतिरेक उनके अनुगत धर्मों के बिना अवगत नहीं हो सकता । अनुगत धर्म की सिद्धि मानने पर उसके साधक पदार्थ की विभीषिका सामने आकर पूर्ववत् लक्षण-प्रणयन को उपप्लुत कर देती है ।

(१२) स्वकालावच्छिन्नार्थबोधकत्वं साक्षात्त्वम्—

शङ्का—जो लोग ईश्वर या योगी का अतीतानागतविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मानते, वे वर्तमानकाल के पदार्थों का ही प्रत्यक्ष मानते हैं, जैसा कि श्री कुमारिलभट्ट ने कहा है—"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" (श्लो० वा० पृ० १६०) । घट का प्रत्यक्ष जब हो रहा है, तब पटादि भी वर्तमान हैं, अतः घट-प्रत्यक्ष में पटादिविषयकत्वापत्ति का वारण करने के लिए प्रत्यक्ष और उसके विषय को नियन्त्रित करना होगा । काल जन्य पदार्थ मात्र का अवच्छेदक माना जाता है, अतः समानकालावच्छिन्न ज्ञान और विषय का संकलन करने के लिए ऐसा लक्षण बनाना होगा—'स्वावच्छेदककालावच्छिन्नार्थग्राहकत्वं साक्षात्त्वम्' ।

समाधान-इस लक्षण में 'स्व' पद के द्वारा ज्ञान-मात्र का अभिधान करने पर अतिप्रसङ्ग और कोई एक ज्ञान व्यक्ति का ग्रहण करने पर अव्याप्त्यादि के पूर्व कथित दोष प्रसक्त होते ही हैं, उनसे अतिरिक्त यह भी जिज्ञासा होती है कि इस लक्षण के द्वारा विजातीय अनुमानादि प्रमाणों की व्यावृत्ति क्योंकर होती है ?

शङ्का—यद्यपि अनुमानादि ज्ञान भी कालावच्छिन्नार्थ के ग्राहक हैं, तथापि वे स्वकालीन पदार्थमात्र के ग्राहक नहीं, अपितु व्याप्त्यादि-कालावच्छिन्नार्थ के बोधक होते हैं । 'अयं चन्द्रोदयः, स्वकालीनसमुद्रवृद्धिमान्, चन्द्रोदयत्वाद्, ह्यस्तनचन्द्रोदयवत्'—यह अनुमान भी जो स्वावच्छेदककालावच्छिन्नार्थ को विषय करता प्रतीत होता है, वह भी चन्द्रोदयरूप पक्ष का अवच्छेदक काल गृहीत हुआ है, अनुमान ज्ञान का अवच्छेदकीभूत काल नहीं । वह भी अनुमान की विषय वस्तु में वैसा स्वाभाविक नहीं, जैसा कि प्रत्यक्ष की विषय वस्तु में होता है, केवल 'यदा चन्द्रोदयः, तदा समुद्रवृद्धिर्भवति'—इस प्रकार की व्याप्ति के बल पर ही प्रतीत होता है, अतः वह अन्यथासिद्ध है । स्वाभाविकरूप से अनुमानादि परोक्ष ज्ञानों का

तथापि स्वकालावच्छिन्नार्थत्वस्य सम्भवात्। न च यज्जातीयमेवमेवेति विशेषः, साजात्यस्य वैलक्षण्यस्याग्रतः सिद्धौ किमन्येन? न च तदपीति वक्ष्यते।

व्याप्त्यादिकमन्तरेणेति चेन्न, तस्यैव समर्थत्वेन स्वकालकथावैयर्थ्यात्। यथा च न तदपि, तथा वक्ष्यते।

यत्तु कश्चिदाह—स्वप्रकाशनिषेधात् स्वकालावच्छिन्नार्थप्रकाशत्वासम्भव इति। तदयुक्तम्, वस्तुतो यः स्वकालस्तस्य विवक्षितत्वात्। वर्तमानप्रकाशस्तथेति

अन्यथासिद्धमप्यस्तु तथाऽप्युक्तलक्षणसम्भवादतिव्याप्तिर्न ह्यन्यथासिद्धत्वमनन्यथासिद्धत्वं लक्षणविशेषणं तदुपादाने च हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानमित्याशयः। अनुमानविशेषस्य स्वकालावच्छिन्नार्थत्वेऽपि न तज्जातीयत्वमात्रं स्वकालावच्छिन्नार्थं तत्साक्षाद्विवक्षितमित्यत आह ॐ न चेति ॐ। तदेव विवृणोति ॐ साजात्येति ॐ। अनुगतैकरूपयोगित्वस्य साजात्यस्यानुमादितो वैलक्षण्यस्याग्रतोऽसिद्धौ विशेषणासिद्ध्या लक्षणासिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदेव लक्षणमास्तामित्यर्थः। अस्तु तर्हि साक्षात्स्वजातिसमवाय एव लक्षणमित्याशङ्क्याह ॐ न चेति ॐ। व्याप्त्याद्यजन्यत्वे सति स्वकालावच्छिन्नार्थबोधत्वं साक्षात्त्वमिति लक्षणं विशिनष्टि ॐ व्याप्त्यादीति ॐ। व्यर्थविशेषणतया परिहरति ॐ नेति ॐ। व्याप्त्याद्यजन्यबोधत्वमित्युक्ते व्यभिचाराभावात्स्वकालेत्यादिविशेषणं व्यर्थमित्यर्थः। अस्तु तर्ह्येतदेव लक्षणं तत्राह ॐ यथा चेति ॐ। व्याप्त्यादिखण्डनेनेत्यर्थः।

तत्त्वोपप्लवकारेणास्य लक्षणस्याऽसम्भवदोष उक्तस्तमनुवदति दूषणाय ॐ यत्त्विति ॐ। किं तदित्याह ॐ स्वेति ॐ। स्वकालावच्छिन्नार्थप्रकाशत्वं ज्ञानस्य न सम्भवति तथात्वे कालविशेषणतया ज्ञानस्यापि स्वेनैव ग्रहणप्रसङ्गात्तस्य च स्वप्रकाशत्वस्य परैः प्रतिषेधादित्यर्थः। दूषयति ॐ तदिति ॐ। हेतुमाह ॐ वस्तुत इति ॐ। ज्ञानं कालस्योपलक्षणं न विशेषणमित्यर्थः। एतदुक्तं भवतीत्याह ॐ वर्तमानेति ॐ। वर्तमानार्थप्रकाशः साक्षादिति निरुक्तिरिति तात्पर्यम्। अर्थस्य वर्तमानत्वमेव कथं

विषय स्वकालावच्छिन्न नहीं होता, अतः उनकी व्यावृत्ति हो जाती है।

समाधान—यदि कथमपि अनुमित विषय में अनुमानकालावच्छिन्नत्व का भान अन्यथासिद्ध भी मान लिया जाय, तब भी उक्त लक्षण वहाँ सम्भव (अतिव्याप्त) अवश्य है, क्योंकि लक्षण में केवल 'स्वकालावच्छिन्नार्थविषयकत्वमात्र कहा गया है, उसमें अन्यथासिद्धत्व या अनन्यथासिद्धत्व की कुछ भी चर्चा नहीं की गई।

यदि कहा जाय कि कोई एक अनुमान व्यक्ति स्वकालावच्छिन्नार्थविषयक हो गया, सभी अनुमान जातीय यावत् अनुमान तो वैसे नहीं, किन्तु प्रत्यक्षजातीय यावत् प्रत्यक्ष में स्वावच्छेदककालावच्छिन्नार्थविषयकत्व रहता है। तब तो 'यज्जातीयं स्वकालावच्छिन्नार्थबोधकम्, तत्प्रत्यक्षम्'—ऐसा परिष्कार करने के लिए प्रत्यक्षगत एक ऐसा धर्म मानना पड़ेगा, जो सजातीय और विजातीय का व्यावर्तक हो जायगा, यह जाति-घटित लक्षण व्यर्थ हो जाता है। उस साजात्य का भी निरूपण सम्भव नहीं—यह आगे चल कर कहा जायगा।

शङ्का—परोक्षजातीय ज्ञानों की व्यावृत्ति करने के लिए ऐसा लक्षण किया जा सकता है- 'व्याप्त्याद्यजन्यत्वे सति स्वकालावच्छिन्नार्थबोधकत्वं साक्षात्त्वम्।'

समाधान—'व्याप्त्याद्यजन्यबोधत्वं साक्षात्त्वम्'—इतने लक्षण की भी कहीं अव्याप्ति या अतिव्याप्ति नहीं होती 'स्वकालावच्छिन्नार्थबोधकत्वम्'—यह भाग व्यर्थ है। इस भाग को छोड़ कर केवल पूर्वदल को भी लक्षण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्याप्त्यादि साधनों का आगे चल कर पूर्णतया खण्डन किया जानेवाला है।

इस लक्षण में जो किसी ने यह दोष दिया है कि ज्ञान की स्वप्रकाशता का निषेध हो जाने से स्वकालावच्छिन्नार्थप्रकाशत्व असम्भव है, वह दोष अयुक्त है, क्योंकि उक्त लक्षण का

निरुक्तिपर्यवसानात्। वर्तमानार्थस्य च सर्वनिर्वचनीयत्वात्। तथा चोक्तम्—'सम्बद्धं वर्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना।' तस्मादस्मदुक्तमेव युक्तम्।

(१४) षोढासन्निकर्षेतराप्रयुक्तविषयनियमं ज्ञानं तथेति चेन्न, दोषवशजातसाक्षाद् बोधे तदसम्भवात्। प्रमासाक्षात्कारस्तावत् तथेति चेन्न, साक्षात्त्वेन प्रमेत-

निरुच्येत तत्राह ❀ वर्तमानेति ❀। सर्ववादिभिरेव निर्वचनीयत्वान्न ममैवायं दोष इत्यर्थः। उक्तेऽर्थे भट्टवचनमुदाहरति ❀ तथेति ❀। सम्बद्धमिति देशाऽव्यवहितमुच्यते वर्तमानमिति कालाव्यवहितमुच्यते। तर्ह्यदुष्टमेवेवं तार्किकाणां लक्षणं नेत्याह ❀ तस्मादिति ❀।

विधान्तरं साक्षात्त्वस्योपस्थापयति ❀ षोढेति ❀। षोढा सन्निकर्षः संयोगः समवाय समवेतसमवायः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः एतत्पञ्चविधसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावश्च तेषामन्यतमो विषयनियमे प्रयोजकः प्रत्यक्षस्यानुमायां व्याप्तिः, सादृश्यमुपमाने, सङ्केत आगमे, संस्कारः स्मृतौ, अभावार्थापत्त्योरत्रैवान्तर्भावान्न प्रयोगान्तरं एतेभ्यः षड्भ्यः सन्निकर्षेभ्य इतरेण न प्रयुक्तो विषयनियमो यस्य ज्ञानस्य तत्साक्षाद्विवक्षितमित्यर्थः। अव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। इदं रजतमित्यादिज्ञाने मिथ्यासंसर्गविषयनियमः षोढासन्निकर्षेतरदोषप्रयुक्तः साक्षाच्च भवति तेनाऽव्याप्तिरित्यर्थः। प्रमात्वविशिष्टसाक्षात्वस्येदं लक्षणं न साक्षात्त्वमात्रस्य तेन नाऽव्याप्तिरित्याशङ्कते ❀ प्रमेति ❀। साक्षात्त्वसामान्यं लक्षयित्वा तद्विशेषो लक्षणीयोऽनाकलितसामान्यरूपस्य विशेषस्य बुद्धावारोपयितुमशक्यत्वादिति दूषयति ❀ नेति ❀। अन्यथाख्यातिवादिनो भाट्टस्यायं पततु वज्रप्रहारः शिरसि न त्वख्यातिवादिनो ममेत्या-

यह अभिप्राय नहीं कि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय-कालावच्छेदकत्वेन स्व (ज्ञान) का भी भान होता है, अपितु वस्तुतः जो स्व-काल है, वह विवक्षित है [आशय यह है कि स्वात्मक ज्ञान उस काल का उपलक्षण है, विशेषण नहीं]। 'वर्तमानार्थप्रकाशः प्रत्यक्षम्'—इस अर्थ में लक्षण का पर्यवसान होता है, अतः वर्तमान पदार्थ का निर्वचन अपेक्षित होता है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" (श्लो० वा० पृ० १६०)। अतः हम (ग्रन्थकार श्रीहर्षमिश्र) ने जो स्वार्थाविवेचनत्वादिरूप दोष दिए हैं, उनसे ही उक्त लक्षण का खण्डन हो सकता है।

(१४) षोढासन्निकर्षेतराप्रयुक्तविषयनिमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्—

शङ्का—[तार्किकों ने इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षों की व्यवस्था प्रस्तुत करते हुए सभी छः सन्निकर्ष गिनाए हैं—(१) संयोग, (२) समवाय, (३) समवेतसमवाय, (४) संयुक्तसमवाय, (६) संयुक्तसमवेतसमवाय तथा (६) विशेषणविशेष्यभाव। इन छः सन्निकर्षों में से ही कोई एक सन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञान में विषय का नियामक होता है। अनुमान में व्याप्ति, उपमान में सादृश्य, शब्द में संकेत तथा स्मृति में संस्कार को विषय का नियामक माना जाता है। 'अयं घटः'—इस प्रत्यक्ष का घट विषय क्यों हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है—इन्द्रियों का संयोग घट के साथ है, अतः घट ही इस प्रत्यक्ष का विषय होता है। इसी प्रकार शेष पाँच सन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष में विषय के नियामक होते हैं। वार्तिककार ने कहा है—"सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते, संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः समवायः समवेतसमवायो विशेषणविशेष्यभावश्च। सम्बन्धव्यतिरेकेण विषयीभावानभ्युपगमात्।" (न्या० वा० १।१।४)। लौकिक प्रत्यक्षमात्र के लिए यह नियम है कि इन छः सन्निकर्षों से अतिरिक्त कोई सम्बन्ध प्रत्यक्ष के विषय का नियामक नहीं माना जाता]।

समाधान—यह लक्षण भ्रमप्रमा-साधारण प्रत्यक्षमात्र का है ? अथवा प्रत्यक्षप्रमा का ? प्रथम कल्प के अनुसार रजतादि के भ्रमरूप प्रत्यक्ष ज्ञान में अव्याप्त है, क्योंकि 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय का नियामक उक्त छः सन्निकर्षों से अतिरिक्त

रयोरविशिष्टतया साक्षात्त्वस्य साधारणस्यैव निर्वक्तव्यत्वात् ।

अनिष्टभ्रमबुद्धिमते षोढासन्निकर्षस्य प्रत्येकमिलितविकल्पानुपपत्तेः ,

(१५) साक्षाद्धीः स्वरूपधीः = स्वेन रूपेण वस्तुनो भानमिति चेन्न, अनुमानादिव्यापनात् ।

अनुमानादौ लिङ्गाद्यपेक्षत्वात् तदवच्छिन्नकालसम्बद्धबोधत्वं न त्वध्यक्ष इति चेन्न, व्यभिचारात् । यत्र लिङ्गादि भाव्यादिबोधकं तत्र तत्कालताव्यभिचारात् ।

शङ्कयाह ❀ अनिष्टेति ❀ । संयोगादिसन्निकर्षविशेषेतराप्रयुक्तविषयनियमत्वं विवक्ष्यते ? किं वा समुदितषड्विधसन्निकर्षेतराप्रयुक्तनियमत्वम् ? आद्येऽव्याप्तिर्घटादिप्रत्यक्षस्य समवायादितरप्रयुक्तविषयनियमत्वात् द्वितीये त्वसम्भवो न ह्येकमपि समुदितषड्विधसन्निकर्षप्रयुक्तविषयमित्यर्थः ।

अस्तु तर्हि स्वरूपधीः साक्षाद्धीरिति शङ्कते ❀ साक्षादिति ❀ । किमिदं स्वरूपधीत्वं तत्राह ❀ स्वेनेति ❀ । अन्यथा सतोऽन्यथा भानेऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अनुमानादिव्यापकमेतदिति दूषयति ❀ नेति ❀ । लिङ्गाद्यनवच्छिन्नकालसम्बद्धार्थबोधत्वं स्वरूपधीत्वं विविक्षतमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ अनुमानादाविति ❀ । परिहरति ❀ नेति ❀ । अनुमानादिविषयं लिङ्गाद्यपेक्षत्वात्तदवच्छिन्नलिङ्गाद्यवच्छिन्नकालसम्बन्धाव्यभिचारोऽनुमानादिविषयस्य तत्राह ❀ यत्रेति ❀ । विशिष्टमेघोदयनदीपूरणादिलिङ्गं

दोष ही होता है । द्वितीय कल्प के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण करना भी अवसरोचित नहीं, क्योंकि सामान्य पदार्थ का लक्षण करने के पश्चात् ही उसके भेदों के लक्षण का अवसर आता है, अतः साक्षात्त्व साधारण का ही यह लक्षण माना जायगा, तब भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में इसकी अव्याप्ति निश्चित है ।

भ्रम ज्ञान न माननेवाले प्रभाकर के मत में तो कथित छः सन्निकर्षों के प्रत्येक और मिलित विकल्पों की उपपत्ति नहीं होती, अर्थात् उक्त षड्विध सन्निकर्षों के घटक प्रत्येक से अतिरिक्त सबन्ध के द्वारा प्रत्यक्ष का विषय अप्रयुक्त होता है ? अथवा मिलितषड्विधसन्निकर्षेतर संबन्ध से अप्रयुक्त ? प्रथम कल्प के अनुसार 'अयं घटः'—इत्यादि प्रत्यक्षों में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि इस प्रत्यक्ष के विषय का नियमन समवाय से अतिरिक्त संयोग के द्वारा हो रहा है । द्वितीय कल्प असंभव-ग्रस्त है, क्योंकि किसी भी एक प्रत्यक्ष के विषय का नियमन उक्त षड्विध सन्निकर्ष मिल कर नहीं किया करते ।

(१५) साक्षाद्धीः स्वरूपधीः—

शङ्का—[शुक्त्यादि विषयवस्तु का जब स्वकीय रूप (शुक्तित्व धर्म) से भान होता है, तब उसे प्रमा और जब परकीय रूप (रजतत्व धर्म) से भान होता है, तब उसे भ्रम कहा जाता है—"स्वरूपतः प्रमाणत्वं मिथ्यात्वं पररूपतः" (श्लो. वा. २।१८७) । इसी के आधार पर 'तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्'—इस लक्षण का आविष्कार हुआ, अतः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी का प्रत्यक्ष है—स्वरूपधीः प्रत्यक्षम्] । प्रत्यक्ष में स्वरूपतः वस्तु का भान होता है ।

समाधान—उक्त लक्षण अनुमानादि में भी अतिव्याप्त होता है, क्योंकि अनुमिति ज्ञान में भी वह्न्यादि का वह्नित्वादिरूप से ही भान होता है ।

शङ्का—लिङ्गाद्यनवच्छिन्नार्थबोधत्वं स्वरूपधीत्वम्—ऐसा स्वरूपधी का लक्षण मानने पर अनुमानादि में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि अनुमान में सदैव 'यदा धूमस्तदा वह्निः'—इस प्रकार धूमाद्यवच्छिन्नकाल-सम्बन्धित्व रूप से 'अग्नि का भान होता है, अनौपाधिकरूपतः (स्वरूपतः) नहीं ।

समाधान—जहाँ पर मेघोन्नत्यादि के द्वारा भावी वृष्टि का अनुमान होता है, वहाँ लिङ्गकालावच्छिन्नत्व का व्यभिचार है, अतः अनुमान में वस्तुतः लिङ्गकालाद्यनवच्छिन्न

एतेन यदि न लिङ्गकालावच्छिन्नव्यापकप्रतिभासोऽनुमा तदा कूटव्याप्यानुमितस्य व्यापकस्य दैववशात् सत्यव्याप्यव्यक्त्यन्तरवतः प्राप्तौ व्याप्तिकालावच्छिन्नव्यापकप्राप्त्या तावत्यंशे प्रमात्वं प्रमाविशेषान्तर्भावानिर्वाह्यमापद्येतेति निरस्तम्, भूतादिव्यापकानुमाने व्याप्यकालत्वासम्भवात्। तथापि चाग्न्यादिमदंशमात्रे प्रमात्वापातदुष्परिहरत्वस्योक्तत्वात्।

(१६) अनुपहितप्रतीतिः साक्षाद्धीरिति चेन्न, विशिष्टप्रविष्टविशेष्यप्रत्यक्षान्याप-

---

भाव्यादेर्भाविनोऽतीतस्य च बोधकं तत्र भाव्यादेरनुमेयस्य वर्तमानलिङ्गकालसम्बन्धस्य व्यभिचार इति तत्रातिव्याप्तिस्तथा भाव्यर्थबोधकशब्दज्ञानजे ज्ञानेऽपीत्यादिपदार्थः। भाव्याद्यनुमाने लिङ्गकालावच्छिन्नार्थबोधत्वाभावोपपादनेन परेषां चोद्यान्तरमपि चूर्णितमतिप्रसङ्गादित्यतिदिशति ॐ एतेनेति ॐ लिङ्गकालावच्छिन्नव्यापकप्रतिभासोऽनुमानं न भवति किंतु व्याप्तिकालावगतव्यापकप्रतीतिमात्रं सेति स्वीक्रियते यदि तदा तर्हि मिथ्याव्याप्येन धूमत्वपरिगृहीतधूलीपटलादिनाऽनुमितस्य व्यापकस्य दैववशात् सत्यव्याप्यव्यक्त्यन्तरवतः प्राप्तौ प्रतीतौ सत्यां तज्ज्ञानस्य तावत्यंशे व्याप्तिकालावगतव्यापकांशे प्रमात्वमापद्येतेति यच्चोद्यं तदपि निरस्तमिति सम्बन्धः। व्याप्त्यभावे कथं व्याप्तिकालावगतव्यापकांशे प्रमात्वं तत्राह ॐव्याप्तीतिॐ। व्याप्तस्य व्याप्तिकालावच्छिन्नव्यापकेन व्याप्तेर्विद्यमानत्वादित्यर्थः। उभयनिष्ठव्याप्तेरेकतरासत्त्वेऽपि कथं सत्त्वमित्याशङ्कानिरासाय कथितं ॐदैवेतिॐ। लक्षणबलादायातं तदपि स्वीक्रियत इत्यत आह ॐप्रमेतिॐ। प्रमाविशेषाः प्रत्यक्षादयस्तेष्वन्तर्भावो निर्वोढुं न शक्यते यस्य तत्तादृशं अक्लृप्तकरणजन्यतया तत्रान्तर्भावासम्भवादतिरेके च प्रमाणचतुष्टयवादिनियमभङ्गाद्व्याप्यकालावच्छिन्नव्यापकप्रतिभासोऽनुमेति वक्तव्यमित्यर्थः। परामृष्टं हेतुमेव स्पष्टयति ॐ भूतेति ॐ। लिङ्गं व्याप्यतया गमकं व्याप्तिश्च द्विष्ठेति तदाधारतया व्यापकस्य व्याप्यकालावच्छिन्नत्वमस्तीत्याशङ्कामङ्गीकृत्यापि दूषयति ॐ तथापीति ॐ। प्रमाखण्डने लिङ्गान्तरवति केवले वा विषयतया प्रामाण्यस्वीकारेणोक्तदोषापरिहारादित्यत्रोक्तत्वान्नेदमप्यनुमानलक्षणमित्यर्थः।

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतसाक्षात्त्वलक्षणान्तरमाशङ्कते ॐ अन्विति ॐ। साध्यधर्मोपहितो धर्म्यनुमाने प्रकाशत इति तत्र तद्व्यावृत्तयेऽनुपहितेति विशेषणम् अनुपहितशब्देन किं विशेषणमात्रानुप-

---

वस्तु का स्वरूपतः ही भान मानना उचित है। उसमें यथाश्रुत प्रत्यक्ष लक्षण निश्चित रूप से अतिव्याप्त है।

जो लोग कहते थे कि अनुमिति में लिङ्गकालावच्छिन्नव्यापक का ही प्रतिभास मानना पड़ता है, अन्यथा कूटव्याप्य (धूलिपटल को धूम समझ कर उससे) से वह्नि की अनुमिति की गई और दैवात् आलोकादि सत्य व्याप्य पदार्थ का स्वकालावच्छिन्नत्व-घटित व्याप्तिरूप संबन्ध भी उस वह्नि में अवभासित हो गया, वहाँ व्याप्तिकालावगत व्यापक अंश से प्रमात्व अथवा परिगणित प्रमात्वातिरिक्त प्रमात्व प्रसक्त होता है किन्तु उसमें लिङ्गकालावच्छिन्नत्व नहीं, अतः अनुमान-लक्षण में लिङ्गकालावच्छिन्नव्यापक का भान मानना अनिवार्य है।

उनका वह कहना भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि अतीत या भावी व्यापक का जहाँ अनुमान होता है, वहाँ व्यापक में लिङ्गकालावच्छिन्नत्व का भान सम्भव नहीं। कालविशेष का व्यापक में प्रवेश मान भी लेने पर विशिष्ट अंश में न सही विशेष्य अंश को लेकर अनुमिति में अतिव्याप्ति होती ही है।

(१६) अनुपहितप्रतीतिः साक्षाद्धीः—

शङ्का – [अनुमान में वह्न्यादि का अनुपहित (शुद्ध) भान नहीं होता, अपितु व्याप्त्यादि उपाधियों से उपहित का (व्यापकत्वेन) ही भान होता है, अतः अनुमानादि को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, जैसा कि आचार्य वाचस्पति ने कहा है—"अनुपहितप्रकाशस्तु

नात्। करणानुपहितत्वं विवक्षितमिति चेन्न, परकरणोपहिताव्यापनात्। स्वकरणोपहितत्वस्य च स्वपदकुक्षिनिक्षिप्तत्वात्।

(१७) व्याप्त्याद्युपहितत्वादीनां व्यतिरेकस्य यत्र समुच्चयः, सा धीः साक्षाद्धीरिति चेन्न, व्याप्त्यादिप्रत्यक्षाव्यापनात्, असिद्धत्वाच्च। पर्वतोऽग्निमानित्येव प्रतिज्ञानात्, शब्देन च स्वाप्रतिपादनात्, शाब्दादिमितेश्च प्रत्यक्षत्वापादनात्।

हितत्वम्, उत लिङ्गासम्बद्धत्वमिति विकल्प्य आद्येऽव्याप्तिरिति परिहरति ॐ नेति ॐ। दण्डीति विशिष्टप्रत्यक्षं विशेषणं विशेष्यं च गृह्णाति विशिष्टस्य तावन्मात्रत्वादतश्च विशेष्यांशे साक्षात्त्वं न स्यात्तस्य विशेषणोपहितत्वादित्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते ॐ करणेति ॐ। परकरणानुपहितत्वं वा स्वकरणानुपहितत्वं वा आहो स्वित् करणमात्रानुपहितत्वमिति विकल्प्याद्यं दूषयति ॐ नेति ॐ। धूमवत्त्वलिङ्गेन गिरिशिखरे कृशानुर्यदाऽनुमीयते परेण तदा तत्समीपस्थस्य वह्निप्रत्यक्षं साक्षान्न स्यात्परकरणोपहितविषयत्वादित्यर्थः। अस्तु तर्हि द्वितीयस्तत्राह ॐ स्वेति ॐ। स्वपदेन विशेषोपादानेऽव्याप्तिः सामान्योपादाने कथितातिव्याप्तिरित्याशयः।

प्रकारान्तरेण साक्षात्त्वं लक्षयति ॐ व्याप्तीति ॐ। व्याप्तिसङ्गतिसादृश्योपहितत्वानां यत्राभावः सा साक्षाद्धीरनुमादित्रयव्यावृत्त्यर्थं विशेषणम्। नेदं लक्षणमव्यापकत्वादित्याह ॐ नेति ॐ। अग्निव्याप्तोऽयं धूम इति व्याप्तिप्रत्यक्षं व्याप्तिविशिष्टं घटशब्दस्य घटेन साङ्केतिकः सम्बन्धस्तद्विषयमेवेश्वरप्रत्यक्षं तदुपहितं चन्द्रसदृशं मुखमित्यत्र सादृश्यप्रत्यक्षं च तदुपहितमिति तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। लक्षणस्यासम्भवं चाह ॐ असिद्धत्वाच्चेति ॐ। यत्र व्याप्त्यादिसमुच्चयसम्भवस्तत्रैव तद्व्यतिरेकसमुच्चयोऽपि, न च प्रत्यक्षे तदस्तीत्यसिद्धिरित्याशयः। न केवलमव्याप्त्याद्यतिव्याप्तिरपीत्याह ॐ पर्वत इति ॐ। पर्वतोऽग्निमानिति प्रतिज्ञानाद्व्याप्यधूमव्यापकवानित्यप्रतिज्ञानादनुमाने व्याप्त्यस्फुरणात् फलिता द्रुमा इति शब्देन शब्दविषयज्ञानाजननाच्च व्याप्त्याद्यव्यवहितत्वं शाब्दप्रतीतावनुमितौ चास्तीति साक्षात्त्वापात इत्यर्थः।

प्रत्यक्षणाव्यवहितवह्निस्वरूपप्रकाशः, स एव साक्षात्कारः" (ता० टी० १।१।२)। इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"निरुपधानलक्षणं साक्षात्करणम् आकांक्षानिर्वर्तनयोग्यं प्रत्यक्षधर्मोऽनुमानादिषु नास्ति" (ता० परि० १।१।३)]।

समाधान—'दण्डी पुरुषः'—इत्यादि विशिष्ट वस्तु के प्रत्यक्षों में उक्त लक्षण अव्याप्त है, क्योंकि उनमें शुद्ध विशेष्य का भान न होकर दण्डादि विशेषणों से उपहित पुरुषादि का भान होता है। यदि कहा जाय कि अनुमान में वह्नि का लिङ्गादिरूप करण से उपहित भान होता है, किन्तु 'दण्डी पुरुषः'—इत्यादि प्रत्यक्षों में विशेषणादि से उपहित का भान होने पर भी किसी करणीभूत पदार्थ से उपहित का भान नहीं होता। तब जिज्ञासा होती है कि क्या परकीय करणानुपहितत्व विवक्षित है? अथवा स्वकीयकरणानुपहितत्व? प्रथम कल्प के अनुसार जहाँ कोई व्यक्ति दूर से धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान कर रहा है और दूसरा व्यक्ति समीप से अग्नि का प्रत्यक्ष कर रहा है, वहाँ द्वितीय व्यक्ति के अग्निविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान में उक्त लक्षण अव्याप्त इस लिए होता है कि उसमें जिस अग्नि का भान होता है, वह अन्य पुरुष के करणीभूत धूम से उपहित है। द्वितीय कल्प में स्वत्वाननुगम दोष स्फुट है।

(१७) व्याप्त्युपहितत्वाद्यभावसमुच्चयवत्त्वं साक्षात्त्वम्—

शङ्का—व्याप्त्युपहितत्वाभाव, संगत्युपहितत्वाभाव और सादृश्योपहितत्वाभाव—इन तीनों अभावों का जिस ज्ञान में समुच्चय होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

समाधान—'अग्निव्याप्योऽयं धूमः'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में व्याप्त्युपहित धूम का भान होता है, अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान क्योंकर कहलायगा। इसी प्रकार संगति और सादृश्य से उपहित पदार्थों के प्रत्यक्षों में भी उक्त लक्षण अव्याप्त होता है। अनुमित वह्न्यादि

(१८) अव्यवहितधीत्वं साक्षाद्धीत्वमिति चेन्न, व्यवधानविकल्पानुपपत्तेः। यदि द्रव्यविशेषान्तरावस्थितिर्व्यवधिः, तदानीमप्रत्यक्षविभुधियां साक्षात्त्वापत्तिः। अथ ज्ञापकज्ञानपूर्वसत्ता व्यवधानम्, तदा परत्वाद्यप्रत्यक्षतापत्तिरिति। विशिष्ट-वैशिष्ट्यं व्यवधानमिति चेन्न, धूमविशिष्टे वह्निवैशिष्ट्यमिति स्वरूपस्थितौ तथात्वे

लक्षणान्तरमनूद्य दूषयति ❀ अव्यवहितेति ❀। अव्यहितस्य धीरव्यवहितधीस्तत्त्वमिति यावत्। अव्यवधानस्य च व्यवधानेन निरूप्यत्वात्तस्य च दुर्निरूपत्वाद्विशिष्टलक्षणासिद्धिरित्यर्थः। किमिदं व्यवधानं मूर्तद्रव्यस्य मध्येऽवस्थानं तद्? उत ज्ञापकविषयज्ञानस्य प्रथमत्वम्? आहोस्विल्लिङ्गादिविशिष्टं साध्यादि-वैशिष्ट्यम्? इति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ यदीति ❀। द्रव्यविशेषस्य मूर्तस्यान्तरा ज्ञातृज्ञेययोर्मध्ये व्यवस्थितिर्व्यवधिस्तदभावोऽव्यवधानमित्यर्थः। अतिव्याप्त्या दूषयति ❀ तदेति ❀। विभवो दिक्कालादयो नित्यानुमेयाः तेषां ज्ञानानि साक्षात्स्युस्तत्र द्रव्यविशेषान्तरावस्थानाभावादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयं कल्पमवलम्बते ❀ अथेति ❀। ज्ञापका लिङ्गादयस्तज्ज्ञानपूर्वकाण्यनुमानादीनि न तथा प्रत्यक्षत्वमिन्द्रिया-णामज्ञातानामेव ज्ञापकत्वादित्याशयः। परत्वापरत्वपृथक्त्वादीनां प्रतियोग्यपेक्षज्ञानानामप्रत्यक्षता स्यात्प्रतियोगिज्ञानपूर्वकत्वात्तज्ज्ञानस्येत्यव्याप्तिमाह ❀ तदेति ❀। ननु ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं साक्षात्त्वमिति पूर्वमेव परास्तं किमिदानीमाशङ्क्यते। नैष दोषस्तत्रैव दोषान्तराभिधित्सया व्यवधानशब्दार्थविकल्प-विशेषतया पुनरुद्भावनादिति। अन्त्यमुत्थापयति ❀ विशिष्टेति ❀। लिङ्गादिविशिष्टे धर्मिणि साध्यादि-विशिष्टज्ञानमनुमानादौ तदभावः प्रत्यक्ष इत्यर्थः। विशिष्टस्य वैशिष्ट्यं विशिष्टवैशिष्ट्यं लिङ्गविशिष्टस्य साध्यवैशिष्ट्यं शब्दविशिष्टस्य देशजात्यादिवैशिष्ट्यं सादृश्यविशिष्टस्य संज्ञावैशिष्ट्यं तद्ग्राहकत्वमनुमा-देर्व्यवधानमिति द्रष्टव्यम्। धूमविशिष्टे वह्निवैशिष्ट्यं स्वरूपेण प्रथमं भवति तद्ग्राहित्वं किमनुमानस्य व्यवधानमुत धूमवैशिष्ट्यं गृहीत्वा वह्निवैशिष्ट्यग्राहकत्वप्रतीतौ धूमवैशिष्ट्यस्य प्राथम्यं व्यवधानमिति विकल्प्याद्यं दूषयति ❀ नेति ❀। धूमस्य वह्नेः प्रथमभावित्वे वह्निकार्यत्वं न स्यात्पूर्वोत्तरभावनियतत्वा-त्कार्यकारणभावस्य तेन स्वरूपस्थित्या धूमवैशिष्ट्ये वह्निवैशिष्ट्याभावादेतद्ग्राहकत्वेऽव्यवधानाभावादनु-

में लिङ्गोपहितत्वादि की सिद्धि भी नहीं होती, क्योंकि 'पर्वतोऽग्निमान्'—इतनी ही प्रतिज्ञा की जाती है, धूमव्यापकवह्निमान नहीं। शाब्द बोध में शब्दोपधानादि का भान नहीं होता, अतः उक्त विशेषण का ग्रहण करने पर भी अनुमिति और शाब्दबोधादि में अतिव्याप्ति बनी ही रहती है।

(१८) अव्यवहितधीत्वं साक्षात्त्वम्—

शङ्का—अव्यवहित पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, जैसा कि श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"प्रत्यक्षेणाव्यवहितवह्निस्वरूपप्रकाशः" (ता. टी. १।१।३)।

समाधान—[यद्यपि यह लक्षण पहले आ चुका है, और इसके घटकीभूत व्यवधान पदार्थ पर विचार कर इस लक्षण को न्यायसूत्रोक्त लक्षण का एक रूपान्तर बताकर इसे खण्डित किया जा चुका है, तथापि व्यवधान पदार्थ के अवशिष्ट रूपों की आलोचना करने के लिए उसी लक्षण का सिंहावलोकन प्रस्तुत किया गया है]। इस लक्षण में भी वही पुराना दोष है कि इसके घटकीभूत 'व्यवधान' पदार्थ के विकल्पों की उपपत्ति नहीं की जा सकती। यदि इन्द्रिय और विषयवस्तु के मध्य में व्यवधायक मूर्त द्रव्यान्तर की अवस्थिति को 'व्यवधान' पदार्थ कहा जाता है, तब आकाशादि विभु द्रव्यों के परोक्ष ज्ञान में प्रत्यक्षत्व अतिप्रसक्त होता है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय और उनके मध्य में किसी द्रव्यान्तर का व्यवधान नहीं, अतः उनका परोक्ष ज्ञान भी अव्यवहितार्थविषयक ही है। यदि धूमादि ज्ञापक पदार्थों का ज्ञान व्यवधान पदार्थ है [अर्थात् वह्नि का अनुमान तब तक नहीं होता, जब तक लिङ्ग-परामर्श उत्पन्न नहीं होता—यही अनुमानादि ज्ञानों में व्यवहितार्थप्रकाशत्व है, प्रत्यक्ष में ऐसा नहीं

कार्यकारणभावविरोधः। प्रतीतौ धूमवैशिष्ट्यस्य धर्मिविशेषणत्वे हेतोरंशतः स्ववृत्तिः। साध्यविशेषणत्वे व्याप्तिग्राहिप्रत्यक्षेऽप्यव्यवधानाभावात् न साक्षात्त्वं स्यात्।

(१९) अथ ज्ञानस्य जातिभेदः कश्चित्साक्षात्त्वम्। तत्रानुभवत्वेन परापरभावानु-

मानेऽतिव्याप्तिरित्यभिसन्धिः। तथात्वं धूमस्य पूर्वंभावित्वं इति यावत्। द्वितीयेऽपि धूमवैशिष्ट्यं धर्मिविशेषणतया गृह्यते ? किं वा साध्यविशेषणतया ? इति विकल्प्य प्रथममपाकरोति ❀ प्रतीताविति ❀। धूमवैशिष्ट्यविशिष्टश्चेद्धर्म्मी तदा हेतोर्धूमस्य धर्मिविशेषणभूतस्यात्मनि वृत्तिः स्यादित्यंशतः स्ववृत्त्यापातो धर्मिनिष्ठतया हेतोर्वक्तव्यत्वादित्यर्थः। परिशिष्टं कल्पं श्लथयति ❀ साध्येति ❀। धूमवैशिष्ट्यस्य साध्यविशेषणत्वे यो धूमवान् सोऽग्निमानिति प्रत्यक्षे साक्षात्वं न स्याद्, धूमवैशिष्ट्यप्रतीतिरूपव्यवधानादन्यथा धूमस्य धूमेनैव व्याप्तिग्रहापत्तेरित्यतिव्याप्तिरिति यावत्।

एवमौपाधिको धर्म्मः साक्षात्वं नेत्युक्तेऽस्तु जातिरित्याह ❀ अथेति ❀। संशयत्वादिव्यतिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वापरजातिः साक्षात्त्वमित्यर्थः। प्राभाकरोक्तदूषणं दर्शयति ❀ तत्रेति ❀। अनुभवत्वं न परजातिस्तदभावोऽपि स्मृतौ साक्षात्वभावान्नापि साक्षात्त्वं परमसाक्षात्कार्यनुमानादावनुभवत्वभावादिति परापरभावानुपपत्तेर्जातिसङ्करस्य परस्परव्यभिचारिणोरेकत्रावस्थानस्य सङ्करस्य जातिबाधकत्वादित्यर्थः। स्मृतेः साक्षात्कारित्वादित्युक्तहेत्वसिद्ध्या तदुक्तं दूषणं परिहरति ❀ तत्रेति ❀। तार्किकैः स्मृतेः साक्षात्त्वानङ्गीकारात्साक्षात्वमपरमनुभवत्वं परमिति शक्यत एव परापरभावो निरूपयितुमित्यर्थः। स्वप्नज्ञानं

होता अपितु सीधे-सीधे वह्नि का ही ग्रहण हो जाता है]। तब परत्व, अपरत्व, पृथक्त्वादि सापेक्ष पदार्थों के प्रत्यक्ष में यह लक्षण अव्याप्त हो जाता है, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष तब तक नहीं होता, जब तक कि उनके ज्ञापक अवधिभूत पदार्थों का ज्ञान न हो जाय।

यदि कहा जाय कि केवल विशिष्टविषयक ज्ञानमात्र को व्यवधान पदार्थ नहीं माना जाता, अपितु धूमादि से विशिष्ट पक्ष में वह्नि-वैशिष्ट्यादि को व्यवधान पदार्थ कहा जाता है। तब 'धूमविशिष्टे वह्निवैशिष्ट्यम्' अथवा धूमविशिष्टः पर्वतो वह्निविशिष्टः'—ऐसा अनुमान में व्यवधान पदार्थ मानना होगा। वहाँ जिज्ञासा होती है कि द्वितीय वैशिष्ट्यार्थ को प्रथम वैशिष्ट्यार्थ की अपेक्षा स्वरूप-स्थिति में होती है ? अथवा प्रतीति में ? प्रथम कल्प में 'पर्वतः पूर्वं धूमविशिष्टः, पश्चाद् वह्निविशिष्टो भवति'—ऐसी योजना प्राप्त होती है, जो कि अत्यन्त असंगत है, क्योंकि वह्नि कारण है और धूम कार्य, कारण पहले और कार्य पश्चात् होता है, अतः 'पर्वतः पूर्वं वह्निविशिष्टः, पश्चाद् धूमविशिष्टो भवति'—ऐसा ही कहना संगत है किन्तु इससे अनुमान का अभीष्ट उपकार नहीं होता। अतः द्वितीय कल्प को अपना कर 'पर्वतः पूर्वं धूमविशिष्टः प्रतीयते, पश्चाद् वह्निविशिष्टः प्रतीयते'—ऐसी ही योजना करनी होगी। वहाँ धूम-वैशिष्ट्य पर्वतरूप धर्मी का विशेषण माना जाता है ? अथवा वह्निरूप धर्म का ? प्रथम कल्प में अनुमान का आकार होगा—'धूमविशिष्टः पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्', यहाँ आंशिकरूप से स्ववृत्तिता होती है धूम-वैशिष्ट्य जब धूम-विशिष्ट में रहता है, तब धूम में भी रहेगा, क्योंकि विशिष्टवृत्ति पदार्थ विशेषण और विशेष्य—दोनों में रहा करता है। धूम-वैशिष्ट्य को वह्निरूप साध्य का विशेषण मानने पर व्याप्ति-ग्राहक (यो धूमवान्, सोऽग्निमान्'—ऐसे) प्रत्यक्ष में भी व्यवधान पदार्थ के सम्भव हो जाने पर 'अव्यवहितधीत्वरूप प्रत्यक्ष-लक्षण अव्याप्त हो जाता है।

(१९) ज्ञानस्य जातिभेदः साक्षात्त्वम्—

प्राभाकरगण जो इस लक्षण में दोषोद्भावन करते हैं कि अनुभवत्व के साथ साक्षात्त्व का परापरभाव सम्भव न होने के कारण 'साक्षात्त्व' धर्म को जातिरूप नहीं माना जा सकता,

पपत्तिः स्मृतेरपि साक्षात्कारित्वादिति केचिन । तन्न, स्मृतेस्तथात्वानभ्युपगमात् ।

स्वप्नस्य तावत् स्मृतित्वासिद्धेः, सिद्धौ वा तत्र साक्षात्त्वारोपोपगमात् । भावनाबलजस्य च क्वचिदालोकादिधर्मिकप्रियाद्याश्रयधर्मारोपत्वं शुक्तिरजतभ्रमवत्, निमीलितनयनादेश्च स्वप्नवदेव गतिरवगन्तव्येति ।

इदन्तु स्यात्—परमाण्वादिबुद्धावनुव्यवस्यमानायां परमाणुप्रतीत्यंशेऽपि

स्मृतिः संस्कारमात्रजत्वात्सम्प्रतिपन्नवदपरोक्षं च इदन्तावभासत्वात् कुम्भोऽयमिति ज्ञानवदतः स्वप्नस्मृतावनुभवाभावेऽपि साक्षात्त्वादुक्तदोष इत्यत आह ❀ स्वप्नस्येति ❀ । संस्कारमात्रजत्वमसिद्धं दोषजन्यत्वादितियावत् । जाग्रत्युपलब्धानामेव स्वप्ने दर्शनात्तज्ज्ञानं स्मृतिः प्रसिद्धस्मृतिवदित्याशङ्क्याह ❀ सिद्धौ चेति ❀ । साक्षात्त्वं तत्रारोप्यते न मुख्यं साक्षात्त्वमतो न साङ्कर्यमित्यर्थः । भावनाबलात्कामिन्यादिसाक्षात्कारो दृश्यमानः स्मृतिरेवेति तत्राह ❀ भावनेति ❀ । आलोकादिधर्म्यधिष्ठानं यस्य प्रियाद्याश्रयधर्मारोपस्य स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति चक्षुःसम्प्रयुक्तालोकदेशादौ धर्मिणि कामुकस्य कामादिदोषात् ध्यायतो द्वेषादिदोषाच्च सुभ्रूः सुनासेत्यादिप्रियाश्रयधर्म्मा असुखहेतुत्वादयः शत्र्वाश्रयधर्मा आरोप्यन्त इति । निमीलितनयनस्याक्षादिसम्प्रयोगानुभवकारणाभावे यद्देवताद्यापरोक्ष्यं ध्यानबलाद् दृश्यते पारिशेष्यात् स्मृतिरेवेत्यत आह ❀ निमीलितेति ❀ । मनोनिरोधदोषसहितात्ममनः संयोगाज्जायमानतया स्वप्नवत् भ्रान्तिरित्यर्थः ।

एवं परोक्तदोषस्यानुपादेयत्वमुक्त्वा स्वयमुच्यमानस्योपादेयत्वमाह ❀ इदन्त्विति ❀ । द्व्यणुकं स्वपरिमाणादणुतरपरिमाणारब्धं कार्यद्रव्यत्वात्पटवदित्यनुमानजा परमाण्वादिबुद्धिर्ज्ञाताः परमाण्वादय

[अर्थात् साक्षात्त्व को यदि अनुभवत्व की पर (व्यापक) जाति मानते हैं, तब अनुमिति में अनुभवत्व रहता है, अतः उसका व्यापक होने के कारण साक्षात्त्व को भी वहाँ रहना चाहिए और यदि साक्षात्त्व को अनुभवत्व की अपर (व्याप्य) जाति मानते हैं, तब स्मृति में साक्षात्त्व रहता है, अतः उसके व्यापकीभूत अनुभवत्व को भी वहाँ रहना चाहिए। इसी को जाति-बाधक साङ्कर्य दोष माना जाता है। परस्पर व्यधिकरण धर्मों का एकत्र समावेश साङ्कर्य है। अनुभवत्व को छोड़ कर 'साक्षात्त्व' धर्म स्मृति में और साक्षात्त्व को छोड़कर अनुभवत्व अनुमित्यादि में रहता है, इस प्रकार दोनों व्यधिकरण धर्म हैं किन्तु प्रत्यक्ष में अनुभवत्व और साक्षात्त्व—दोनों का समावेश हो जाता है. अतः सङ्कीर्ण हो जाने के कारण साक्षात्त्व को जाति नहीं माना जा सकता ।

प्राभाकरगणों का वह दोष संगत नहीं, क्योंकि 'स्मृति में 'साक्षात्त्व' रहता है'—इसमें कोई प्रमाण नहीं । 'स्वाप्न ज्ञान स्मृतिरूप है और 'साक्षात्त्व' धर्म उसमें निश्चित है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वाप्न ज्ञान में स्मृतित्व सिद्ध नहीं, स्मृति संस्कार मात्र से जनित होती है, स्वाप्नज्ञान संस्कारमात्र-जन्य नहीं, वह निद्रा दोष की उपज है । स्वाप्न में यदि स्मृतित्व की किसी प्रकार सिद्धि भी हो जाती है, तब भी उसमें 'साक्षात्त्व' वास्तविक नहीं, आरोपितमात्र माना जाता है । भावना (अनवरत चिन्तन) के आधार पर समुत्पन्न कामिन्यादि पदार्थों का जो साक्षात्कार कहा जाता है, वह भी एक ऐसा भ्रम है, जो कि कामुक पुरुष के चक्षुओं से संयुक्त आलोक पटल पर प्रेमिकागत सौन्दर्यादि धर्मों का आरोप हो (एक चित्र-सा खिच) जाता है । शुक्ति-रजत-भ्रम के समान ही वह भ्रम भी है । जो लोग आखें मीच कर अपने इष्ट देवी-देवता के साक्षात्कार की बात करते हैं, उनका भी वह एक मनोराज्य या स्वप्न-साक्षात्कार मात्र है । अतः 'साक्षात्त्व' जाति में प्राभाकर-द्वारा प्रदत्त सांकर्य दोष सम्भावित नहीं ।

हाँ, 'साक्षात्त्व जाति सभी प्रत्यक्षभूत ज्ञानों में रहती है'—यह हम कभी भी नहीं

साक्षात्त्वमनुभूयत इत्यत्र न नः सम्प्रतिपत्तिः। अन्यथा लिङ्गबुद्धिलक्षणया प्रत्यासत्त्या वह्निरपि मानसप्रत्यक्ष एव, न लैङ्गिक इति परेण सुवचत्वात्। एवं प्रत्यभिज्ञायां पूर्वदेशकालस्थितिमस्य पश्यामीति कस्यानुभवो यद्बलात् तथाऽभ्युपेयम्। तस्मात्प्रतीतिकलहोऽयम्। यदि च साक्षात्त्वं जातिरध्यक्षमानिका, तदा प्रतीतौ कस्याञ्चिदध्यक्षानध्यक्षविवादो न स्यात्। न हि घटादिप्रत्यक्षत्वे विवदन्ते।

क्वचिदस्फुटत्वाद्विवाद इति चेत्, मैवम्, निरंशे वस्तुनि कः स्फुटत्वावभासः?

इत्यनुव्यवस्यते निर्विषयबुद्धेरनुव्यवसेयत्वायोगात्तद्विषयपरमाण्वादिरपि तत्रभात्येवेति · मानसानुव्यवसायस्य तत्राप्यपरोक्षत्वं स्यान्न चैवमनुभवोऽस्ति परमाणूनामयोगिगम्यत्वापातादित्यर्थः। व्यवसायः परमाणुविषयः स चात्मसमवेत आत्मा च मनःसंयुक्त इति बुद्धिलक्षणसंनिकर्षात्परमाणुरपि प्रत्यक्ष इत्यत आह ❀ अन्यथेति ❀। वह्निसम्बद्धो धूमस्तद्विषयं ज्ञानमात्मनि विशेषणं स च मनस्संयुक्त इति लैङ्गिकोऽपि प्रत्यक्षः स्यादित्यर्थः। चक्षुःसंयुक्तदेवदत्तविशेषणसंस्कारविषयः पूर्वदेशकालसम्बन्धः सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञायां संस्कारलक्षणप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षीक्रियते तद्वदनुमेयोऽपीत्यत आह ❀ एवमिति ❀। अस्य—प्रत्यभिज्ञायमानस्य पूर्वदेशकालस्थितिं सम्बन्धमित्यर्थः। विप्रतिपन्नानुभवान्नार्थसिद्धिरित्युपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀।

किं च साक्षात्त्वं जातिः किं प्रत्यक्षगम्योतानुमेयेति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ यदीति ❀। तर्हि वादिनां व्यवसायादिषु प्रत्यक्षत्वविवादो न स्यादिति दूषयति ❀ तदेति ❀। कुतो विवादासम्भव इत्याशङ्क्य प्रत्यक्षे घटादौ तथात्वे विप्रतिपत्त्यदर्शनादित्याह ❀न हीति❀। घटादेः स्फुटावभासत्वाद्विवादाभावेऽप्यस्यास्फुटावभासत्वात्प्रत्यक्षत्वे विवादः स्यादिति शङ्कते ❀ क्वचिदिति ❀। साकल्येनार्थग्रहणं स्फुटा-

---

मान सकते, क्योंकि जहाँ 'द्व्यणुकं स्वपरिमाणादणुतरपरिमाणारब्धम्, कार्यद्रव्यत्वात्, पटादिवत्'—इस प्रकार परमाणुओं का अनुमान कर लेने के अनन्तर जो 'ज्ञाताः परमाणवः'—इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक मानस साक्षात्कार होता है, वह अपने विषयांश में भी साक्षात्कार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके विषयीभूत परमाणु प्रत्यक्ष के योग्य ही नहीं माने जाते और न उनके साथ इन्द्रिय का कोई सन्निकर्ष होता है। यदि कहा जाय कि परमाणुओं के साथ भी मन की ज्ञानलक्षणा (स्वसंयुक्तात्मवृत्तिज्ञानविषयत्व) प्रत्यासत्ति है, अतः परमाणुओं का मानस साक्षात्कार क्यों न होगा ? तब तो सभी अनुमिति ज्ञान लैङ्गिक न रह कर मानस प्रत्यक्ष ही बन जाएँगे, क्योंकि उनके सभी वह्न्यादि विषयों के साथ ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति जुड़ जाती है।

इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में भी 'साक्षात्त्व' जाति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि 'देवदत्तगत तत्ता (पूर्वदेशकाल-स्थिति) का मैं साक्षात्कार कर रहा हूँ'—ऐसा अनुभव किसको होता है ? जिसके बल पर प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को सर्वथा प्रत्यक्ष माना जा सके। अतः विवादास्पद पदार्थों के विषय में कलह-सा ही बना रहता है, प्रत्यभिज्ञा को बौद्ध दो ज्ञान और मीमांसक नरसिंहाकार एवं तार्किक प्रत्यक्ष ज्ञान मानते और लड़ते चले आ रहे हैं, अभी तक कोई सन्तोष-जनक समाधान नहीं निकल सका है।

दूसरी बात यह भी है कि 'साक्षात्त्व' जाति में प्रमाण क्या प्रत्यक्ष है? अथवा अनुमान? यदि प्रत्यक्ष माना जाय, तब जाति की प्रतीति में किसी प्रकार का विवाद नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष-सिद्ध घटादि के विषय में कोई भी विवाद नहीं खड़ा करता। वाय्वादि सावयव पदार्थों में स्फुटत्व (प्रत्यक्षत्व) और अस्फुटत्व (अप्रत्यक्षत्व) का विवाद हो सकता है, किन्तु 'साक्षात्त्व' जाति निरवयव पदार्थ है, उसके ज्ञान में स्फुटत्वास्फुटत्व का विवाद सम्भव नहीं।

यद्येकार्थसमवायिभिर्भूयोभिः सहोपलम्भः, स ज्ञानत्वादिवत् साक्षात्त्वेऽपि तर्हीति ज्ञानादित्वे न विवादः, साक्षात्त्वे त्विति विशेषो वाच्यः। दर्शनकृतो हि विवादो न मात्सर्येण वाङ्मात्रेण वा, किन्तु तत्त्वाभिमानादेव। प्रत्यक्षार्थधर्मिकायां चानुमायां साक्षात्त्वपरोक्षत्वसङ्करो दुर्वारः।

परोक्षत्वं न जातिः, किन्तु साक्षात्त्वमेव तथा। केवलं तु साक्षात्त्वाभावः परोक्षत्वमिति चेन्न, अस्यार्थस्याऽविनिगन्तव्यत्वापत्तेः। सर्वज्ञमनुमन्यमानस्य च मते दृष्टलिङ्गादेरीश्वरस्य लिङ्ग्यादिबुद्धावपरोक्षत्वेनापि विरोधः।

वभासः साक्षात्वजातेरनवयवत्वादवभासश्चेत् स्फुट एवेति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। साकल्येनार्थग्रहणं न स्फुटावभासः किं तु ज्ञानत्वानुभवत्वप्रमात्वादयो भूयांसोऽपरोक्षत्वेनैकार्थसमवायिनो धर्माः सन्ति तैः सह ग्रहणं स्फुटावभास इत्याशङ्क्याह ❀ यदिति ❀। तर्हि साक्षात्वस्य ज्ञानत्वादिवत्स्फुटावभासो विद्यते ततश्च ज्ञानादित्वे यथा नास्ति विवादस्तथा साक्षात्वेऽपि न स्यादविशेषादित्याह ❀ स इति ❀। साक्षात्वे स्फुटमवभासमानेऽपि परोक्तेन तत्र विवदितव्यमिति मात्सर्यनिमित्तोऽपवादः स्यादित्यत आह ❀ दर्शनेति ❀।

एवं परमाणुबुद्धिविषयानुव्यवसाये साक्षात्वपरोक्षत्वसाङ्कर्यमुपवर्ण्य सम्प्रत्यनुमानविशेषेऽपि तदुपपादयति ❀ प्रत्यक्षेति ❀। वह्निमान् गिरिरिति प्रत्यक्षधर्मिकानुमा धर्मिविशिष्टसाध्यधर्मं गोचरयति तत्र धर्म्यंशे सासाक्षात्स्यादिन्द्रियजत्वात् धर्मांशे लिङ्गजत्वेन परोक्षा स्यादित्येकस्यामेव निरंशायामनुमायां साक्षात्वपरोक्षत्वसङ्कर इत्यर्थः। परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरपि जातित्वे स्यादयं दोषो न चैवं परोक्षत्वस्याजातित्वादिति शङ्कते ❀ परोक्षत्वमिति ❀। भावरूपधर्मयोः परस्परव्यभिचारे सत्येकत्रावस्थानं भवति साङ्कर्यं जातित्वेऽपीत्यत आह ❀ केवलमिति ❀। परोक्षत्वं जातिरपरोक्षत्वं तदभाव इति विपरिवर्तिप्रसङ्गान्मैवमिति परिहरति ❀ नेति ❀। न्यायतः परोक्षत्वापरोक्षत्वसाङ्कर्यं प्रतिपाद्य तदङ्गीकारपर्यालोचनेनाप्युप ादयति ❀ सर्वज्ञमिति ❀। दृष्टो लिङ्गादिर्येन स दृष्टलिङ्गादिरादिपदेनागमादयो गृह्यन्ते। एतदुक्तं भवति -ईश्वरस्य सर्वमेव करतलादिवदपरोक्षं तत्र धूमाद्यापरोक्ष्याद् वह्न्यादिज्ञानं जायेतैव ज्ञायमानलिङ्गादेर्लिङ्ग्यादिज्ञानजनकत्वस्वाभाव्यादेवं च वह्निज्ञानमैश्वरं परोक्षं लिङ्गजत्वादपरोक्षं च न

यद्यपि स्थाणुत्व और पुरुषत्व के समानाधिकरण ऊर्ध्वत्वादि धर्म भी विवाद या संशय उत्पन्न करते हैं, तथापि यहाँ 'साक्षात्त्व' जाति के आधारभूत ज्ञान में रहनेवाले ज्ञानत्व, अनुभवत्व, प्रमात्वादि बहुत-से धर्म जब ज्ञानत्व के विषय मे विवाद नहीं उपस्थित करते, तब साक्षात्त्व के विषय में क्यों करेंगे ? या ज्ञानत्व आर साक्षात्त्व का कोई ऐसा अन्तर बताना चाहिए, जिसके द्वारा विवादाविवाद भी व्यवस्था की जा सके। ऊर्ध्वत्वादि धर्मों को देखकर ही विवाद होता है, ईर्ष्या-द्वेष या कथनमात्र से विवाद नहीं माना जा सकता।

'साक्षात्त्व' जाति का प्रत्यक्षभूत पर्वतादिपक्षक अनुमिति में भी परोक्षत्व के साथ साङ्कर्य देखा जाता है '[पर्वतो वह्निमान्'—यह अनुमिति ज्ञान पर्वतविषयकत्वेन प्रत्यक्ष तथा वह्निविषयकत्वेन परोक्ष माना जाता है। परोक्षत्व को छोड़कर प्रत्यक्षत्व घटादि प्रत्यक्ष में और प्रत्यक्षत्व को छोड़कर परोक्षत्व स्मृत्यादि में रहता है और दोनों का उक्त अनुमिति में समावेशन हो जाता है]। 'परोक्षत्व' जाति नहीं किन्तु केवल साक्षात्त्व ही जाति है और साक्षात्त्वाभाव का ही नाम परोक्षत्व है—ऐसा कहने में कोई विनिगमक प्रमाण नहीं, अतः कोई प्रतिवादी उसके विपरीत भी कह सकता है कि परोक्षत्व ही जाति है और साक्षात्त्व परोक्षत्व का अभावमात्र है। सर्वज्ञ ईश्वर पर विश्वास रखने वालों से पूछा जाता है कि आपके ईश्वर को धूम-दर्शन के पश्चात् वह्नि का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसमें अनुमितित्व न मान कर साक्षात्त्व क्योंकर माना जा सकता है ? यदि कहा जाय कि ईश्वर का ज्ञान नित्य होता है,

लिङ्गादिधीजन्यत्वमनुमितित्वादौ प्रयोजकमिति चेत्, साक्षात्त्वेऽपि तर्हीन्द्रियसन्निकर्षादिजत्वमिति साक्षादपि सा न स्यात्। व्यञ्जकोपाधिनियता च जातिरिष्यते। न च तदत्र, उक्तप्रकारबाधात्।

न च व्यञ्जकनियमानभ्युपगत्या न तदत्रोपगम्यमिति वाच्यम्, 'किं मया दृष्टं तथा किं वा केन चित्कथितमि'ति संशयानुपपत्तेः। प्राग्भूतायां स्मर्यमाणायां तद्बुद्धौ त्वन्मते मनसा ज्ञानरूपया प्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षीक्रियमाणायां साक्षात्त्वाग्रहो विना व्यञ्जकाभावं कथं स्यात्। अर्थधर्मश्च साक्षात्त्वमिति स्वप्रकाशवादे निरस्तम्।

च तत् ज्ञानद्वयमेकस्मिन् युगपदेकजातीयविशेषगुणद्वयसमवायविरोधान्न च तत्परोक्षमेवेश्वरप्रत्यक्षं सर्वविषयमित्युपगमादिति वह्न्यादिबुद्धावपरोक्षत्वेनापि परोक्षत्वस्य साङ्कर्यं नाम विरोधः स्यादिति। नित्याया ईश्वरबुद्धेर्लिङ्गाद्युपरक्ताया लिङ्गाद्युपरागोऽपि भवतीत्येतावता न परोक्षत्वमनुमित्यादित्वे लिङ्गादिजन्यत्वस्य प्रयोजकत्वादिति शङ्कते ※ लिङ्गेति ※। अतिप्रसङ्गेन परिहरति ※साक्षात्वेऽपीति※। इन्द्रियसन्निकर्षजत्वं साक्षात्वप्रयोजकमिति कृत्वा तदजन्या बुद्धिः साक्षादपि न स्यादिति साक्षात्वस्य स्वरूपहानिरित्यर्थः।

न केवलं परस्वीकारनिरूपणायां साक्षात्वजात्यसम्भवः किं तु जातिस्वभावनिरूपणेऽपीत्याह ※ व्यञ्जकेति ※। अस्तु ततः किं तत्राह ※ न चेति ※। हेतुमाह ※ उक्तेति ※। सविशेषार्थप्रकाशत्वादिकथितप्रकाराणां निरासादित्यर्थः। अस्माभिर्जातेर्नियतोपाधिज्ञाप्यत्वानभ्युपगमान्न साक्षात्वजातावसावभ्युपगन्तव्य इत्याशङ्क्याह ※ न चेति ※। कुत इत्यत आह ※ किमिति ※। ज्ञानाकारातिरिक्तसाक्षात्वस्य व्यञ्जकानङ्गीकारात्तन्मया दृष्टमुत केनचित्कथितमिति दृष्टे तथा संशयो न स्याद् दृष्टमित्येवापरोक्षत्वनिश्चयः स्याद्विशेषाग्रहणस्य संशयप्रयोजकस्यासत्त्वादित्यर्थः। उपपादयति ※ प्रागिति ※। पूर्वोत्पन्ना प्राग्बुद्धिर्यदा स्मर्यते तदा तद्विषयस्मृतिज्ञानस्य मनःसंयुक्तात्मनि समवायात् ज्ञानरूपैव प्रत्यासत्तिस्तस्या बुद्धेर्मनसा सह त्वन्मते तया प्रत्यासत्त्या तस्यां पूर्वोत्पन्नबुद्धौ प्रत्यक्षीक्रियमाणायां साक्षात्वाग्रहो व्यञ्जकाभावं विना कथं स्यात्सति व्यञ्जके तद्गतसाक्षात्वग्रहः स्यादेव। न च गृह्यते, स्मर्यमाणायां तद्बुद्धौ साक्षात्वासाक्षात्वसंशयानुपपत्तेस्तस्मात्संशयादगृह्यमाणायामेवेति वाच्यमतो यस्याभिव्यञ्जकस्याग्रहात्संशयस्तदभिव्यञ्जकं तस्योपगन्तव्यमित्यर्थः।

न ज्ञानधर्मः साक्षात्वं किं तु मेयधर्मः तद्विषयतया ज्ञानस्य साक्षात्वव्यपदेश इत्याशंक्याह

जन्य नहीं और लिङ्गादिज्ञान-जन्यत्व अनुमितित्व का प्रयोजक है, ईश्वरीय ज्ञान में लिङ्गादि ज्ञानजन्यत्व न होने के कारण अनुमितित्व नहीं माना जा सकता। तब उसमें साक्षात्व भी नहीं कह सकते, क्योंकि साक्षात्त्व का प्रयोजक होता है—इन्द्रियसन्निकर्षादि-जन्यत्व। यह ईश्वरीय ज्ञान में नहीं रहता।

दूसरी बात यह भी है कि सभी गोत्वादि जातियाँ अपने सास्नादि व्यञ्जक उपाधियों से व्याप्त होती हैं, किन्तु 'साक्षात्त्व' जाति का कोई व्यञ्जक सम्भव नहीं, सभी सविशेषार्थ-प्रकाशत्वादि उपाधियों का खण्डन किया जा चुका है। यदि साक्षात्त्व को स्वतःसिद्ध माना जाता है, किसी व्यञ्जक से ज्ञाप्य नहीं। तब 'किं मया दृष्टम्? उत केनचित् कथितम्'—इस प्रकार का दृष्टत्वादृष्टत्व (साक्षात्त्वासाक्षात्त्व) का संशय नहीं होना चाहिए, क्योंकि जब किसी विषय की पूर्वोत्पन्न बुद्धि का स्मरण किया जाता है, स्मरण मनःसंयुक्त आत्मा में समवेत है, अतः उस बुद्धि का मन के साथ ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष है, इस सन्निकर्ष के द्वारा पूर्वोत्पन्न बुद्धि का जो साक्षात्कार होता है, उसमें साक्षात्त्व का अग्रह किसी व्यञ्जक के अभाव में नहीं कहा जा सकता, संशय में विशेष धर्म का अग्रह या अदर्शन हेतु होता है। 'घटादि पदार्थों का साक्षात्त्व धर्म है और उनके ज्ञान में तद्विषयकत्वेन साक्षात्त्व का व्यवहार होता है'—इस

तथापि अबाधितसाक्षात्त्वबुद्धिव्यवहारबलादन्ततः पदार्थान्तरमपि साक्षात्त्व मननुमत्य न निस्तारोऽस्ति, भ्रान्तेरप्यभ्रान्तिपूर्वकत्वादिति चेन्न, तस्यापि साक्षाद्ग्रहे क्वचिदपि तद्विवादो न स्यादित्यादिदोषसाम्यात्। अनुमानादिवेद्यत्वे च लिङ्गाद्यनुपपत्तेः, क्व च व्याप्त्यादिग्रह इत्यादिदुरुत्तरपरम्परैव स्यात्। सप्तपदार्थीनियमसाधनानि च न कथं परिपन्थीनि स्युरिति।

(२०) लिङ्गादिजत्वाभावसमुदायवती धीः साक्षादिति चेन्न, परोक्षविषयसंशयादावतिव्याप्तेः। ईदृशी प्रमा तथेति चेन्न, प्रत्यक्षभ्रमाव्याप्तेः।

ॐ अर्थेति ॐ। कर्म्मलक्षणखण्डनेन तत् खण्डितमित्यर्थः।

यद्यप्यौपाधिकं जातिरूपं वा साक्षात्त्वमर्थधर्मो वा न सम्भवत्युक्तयुक्तितस्तथाऽपि न स्वरूपमपलपनीयमनुगतप्रत्ययव्यवहारविरोधादिति शंकते ॐ तथापीति ॐ। असत्यपि विषये प्रत्ययव्यवहाराविदं रजतमितिवत् भ्रान्तौ स्यातामित्याशंक्याह ॐ भ्रान्तेरिति ॐ। अन्यथाख्यातित्वाद् भ्रान्तेस्तथात्वमुपगम्याप्यन्ततस्तत्स्वीकार्यमन्यत्र सत एवान्यत्र भ्रान्तिविषयत्वादित्यर्थः। उक्तदूषणातिदेशेन परिहरति ॐनेतिॐ। अर्थान्तरमपि साक्षात्त्वं न सम्भवति यदि वाऽध्यक्षमानिकेत्यादिना कथितदोषस्य तस्यापि समानत्वादिति। लिङ्गशब्दसादृश्यानुपपद्यमानत्वयोग्यानुपलब्धीनामभावान्नानुमादिगम्यमिति द्वितीयं दूषयति ॐ अनुमानादीति ॐ। क्वचित्प्रत्यक्षेण व्यापकादिना व्याप्यादेर्गृहीतसङ्गतिकस्यानुमानादिबुद्धिजननात्साक्षात्वस्य क्वचिदप्यप्रत्यक्षत्वे व्याप्त्याद्यग्रहादनुमेयताद्यनुपपत्तिरित्याह ॐ क्व चेति ॐ। अनवसानदोषपरम्परा स्यादिति यावत्। दोषान्तरमाह ॐ सप्तेति ॐ। द्रव्यादयः षट् पदार्था अभावः सप्तमः सप्तानां पदार्थानां समाहारः सप्तपदार्थी तन्नियमगोचराणि प्रमाणानि कथं न विरोधीनि स्युः साक्षात्वस्य न द्रव्यादित्रिकेऽन्तर्भावः गुणवृत्तित्वान्नापि सामान्यादित्रिकेऽनित्यत्वान्नाप्यभावता प्रतियोग्यनिरूप्यत्वादिति द्रव्यादिपदार्थातिरिक्तत्वप्रसङ्गादित्यर्थः।

साक्षात्वस्य लक्षणान्तरमाशङ्कते ॐ लिङ्गेति ॐ। लिङ्गशब्दसादृश्यजन्यत्वाभावविशिष्टं ज्ञानं साक्षादित्यर्थः। धीरित्युक्तेऽनुमायामतिव्याप्तिस्तन्निवारणाय लिङ्गजन्यत्वाभाववतीत्युक्तम्। आगमादिनिरासायादिपदोपादानम्। लिङ्गादिजन्यधर्मेतरेतराभाववत्ताऽनुमानादावस्तीति तदपोहाय पुनः समुदाय-

---

मान्यता का खण्डन कर्मलक्षण-खण्डन के अवसर पर किया जा चुका है।

शङ्का—साङ्कर्यादि दोषों के कारण 'साक्षात्त्व' धर्म को भले ही जाति की परिभाषा में न लाया जा सके किन्तु साक्षत्त्व के अबाधित ज्ञान एवं 'यत्साक्षादपरोक्षात्' (बृह.उ. ३।४।१) इत्यादि व्यवहारों के बल पर 'साक्षात्त्व' पदार्थ की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता और न उसको माने बिना कोई निस्तार हो सकता है। उसी का कहीं भ्रम मानने पर भी अन्यत्र रजतत्व के समान साक्षात्त्व का सत्य मानना अनिवार्य है।

समाधान—साक्षात्त्व को अतिरिक्त पदार्थ भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका प्रत्यक्षतः ग्रहण मानने पर किसी को उसके विषय में विवाद नहीं होना चाहिए। एवं कथित अन्यान्य दोषों के कारण 'साक्षात्त्व' का स्वीकार करना सम्भव नहीं। यदि अनुमानादि के द्वारा उसकी सिद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है, तब किसी लिङ्ग का अवलम्बन और व्याप्त्यादि का संवल दूर तक खोजने पर भी प्राप्त नहीं होता। उसे अतिरिक्त पदार्थ मानने पर द्रव्यादि सप्त पदार्थों की इयत्ता के नियामक सभी प्रमाण विरुद्ध हो जाते हैं।

(२०) लिङ्गादिजत्वाभावसमुदायवज्ज्ञानत्वं साक्षात्त्वम्—

शङ्का—लिङ्गजन्यत्व, सादृश्यजन्यत्व, और शब्दजन्यत्व के अभावों का समुदाय जिस बुद्धि में रहता है, उसे साक्षात् ज्ञान कहा जाता है। लिङ्गजन्यत्व का अभाव शाब्द ज्ञान में, शब्दजन्यत्व का अभाव अनुमिति में—इस प्रकार एक-एक अभाव तो अनुमानादि में भी सुलभ

(२१) अनुमानादिव्यवच्छेद्यतत्तदसाधारणकारणाजनिता धीः साक्षादिति चेन्न, एवं हि प्रत्यक्षतत्तदपरव्यतिरिक्ता धीरनुमानादिरिति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यादित्यविनिगम्यत्वं स्यात्। तेषु व्यवच्छेद्येषु एकद्व्यादिपरिहाय व्यवच्छेद्यहेत्वजनितत्वेनापि

विशेषणम्। नेदमपि लक्षणमतिव्यापकत्वादित्याह ॐ नेति ॐ। परमाणुर्वा जगत्कारणं प्रधानं वेति परोक्षसंशयः, प्रधानमेवेति परोक्षभ्रान्तिः, सा मे मातेति स्मृतिरेतासु लक्षणातिव्याप्तिरपरोक्षत्वाभावेऽपि कथितरूपत्वादित्यर्थः। लिङ्गादिजन्यत्वाभावसमुदायवती प्रमा साक्षादिति विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ ईदृशीति ॐ। अतिव्याप्तिपरिहारेऽपि नाव्याप्तिपरिहार इत्याह ॐ नेति ॐ। प्रमाप्रमासाधारणसाक्षात्त्वमात्रस्य लक्ष्यमाणत्वादव्याप्तिरित्यर्थः।

अव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहाराय प्रकारान्तरेण लक्षणं विशिनष्टि ॐ अनुमानादीति ॐ। अनुमानमादिर्येषां तान्यनुमानादीनि। अनुमानागमोपमानपरोक्षभ्रमसंशयस्मरणानि तान्येव व्यवच्छेद्यानि तेषां तानि तान्यसाधारणकारणानि लिङ्गशब्दसादृश्यविप्रतिपत्तिहेत्वाभाससंस्काराख्यानि तदजन्यं ज्ञानमिति लक्षणं स्यादित्यर्थः। एवं च प्रत्यक्षसिद्धौ तद्व्यावृत्तानुमादिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तद्व्यावृत्तप्रत्यक्षसिद्धिरिति परस्पराश्रय इत्याशयेन परिहरति ॐ नेति ॐ। प्रत्यक्षं च तेभ्यस्तेभ्योऽनुमानादिभ्योऽपराणि च प्रत्यक्षतत्तदपराणि तद्व्यतिरिक्ता इन्द्रियशब्दसादृश्यविप्रतिपत्तिहेत्वाभाससंस्काराजन्या धीरनुमानं, इन्द्रियलिङ्गसादृश्यविप्रतिपत्त्याद्यजन्या धीरागम इत्यादिप्रत्येकमनुमानादिलक्षणं कुतो न स्यादित्यनिश्चयत्वं लक्षणस्येत्यर्थः। अतिप्रसङ्गबाधमाह ॐ तेष्विति ॐ। एकद्व्यादि परिहाय—एकं द्वयं त्रयं वा परित्यज्य व्यवच्छेद्यहेत्वजनितत्वेनाप्यनुगतरूपेण तत्र तत्रानुमादावनुगतबुद्ध्यन्तरादेः प्रत्यक्षबुद्धिव्यतिरिक्तबुद्धिव्यवहारयोरापत्तिर्यथाऽनुमादिहेत्वजन्यत्वेन घटादिप्रत्यये प्रत्यक्षमित्यनुगतबुद्धिव्यवहारौ। एतदुक्तं भवतीन्द्रियाजन्यत्वेनानुगतरूपेणानुमादिषु लिङ्गसादृश्याजन्यत्वेन प्रत्यक्षागमयोः शब्दसादृश्यसंस्काराजन्य-

है किन्तु तीनों अभावों का समुदाय तो प्रत्यक्ष ज्ञान में ही हो सकता है, अन्यत्र किसी ज्ञान में नहीं।

समाधान—'परमाणुर्वा जगत्कारणम् ? प्रधानं वा'—इस प्रकार के परोक्ष संशय, प्रधानमेव जगत्कारणम्—ऐसे भ्रम और 'सा मे माता'—इत्यादि स्मरण ज्ञानों में उक्त लक्षण अतिव्याप्त है, क्योंकि इनमें कथित अभाव-समुदाय रह जाता है। यदि 'लिङ्गादिजन्यत्वाभावसमुदायवती प्रमा साक्षात्'—ऐसा लक्षण किया जाता है, तब उक्त अतिव्याप्ति का परिहार हो जाने पर भी प्रत्यक्ष भ्रम में अव्याप्ति बनी रहती है, क्योंकि सबसे पहले प्रमाप्रमासाधारण प्रत्यक्षमात्र का लक्षण अपेक्षित है, उसकी लक्ष्य-कक्षा में अप्रमा ज्ञान भी है, उसमें अघटमान लक्षण सल्लक्षण नहीं कहा जा सकता।

(२१) अनुमानादिसकलेतरज्ञानासाधारणकारणाजनिता धीः साक्षात्—

शङ्का—कथित लक्षण के द्वारा व्यवच्छेद्य (व्यावर्तनीय) हैं—(१) 'अनुमान, (२) उपमान, (३) शाब्द, (४) परोक्ष भ्रम, (५) परोक्ष संशय और (६) स्मृति'—इन सभी के जो असाधारण कारण हैं—लिङ्ग, सादृश्य, शब्द, हेत्वाभास, विप्रतिपत्त्यादि और संस्कार। उनसे अजनित ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

समाधान—इस प्रकार तो (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द, (५) परोक्ष भ्रम, (६) परोक्ष संशय और (७) स्मृति—इन सातों में से प्रत्येक का लक्षण इतरज्ञानासाधारणकारणाजन्यत्वेन क्यों न कर दिया जाय ? इष्टापत्ति करने पर अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है। इतना ही नहीं अपि तु इसी प्रणाली को अपनाकर जैसे 'साक्षात्त्व' की परिभाषा की गई, वैसे ही प्रत्यक्षानुमानान्यतरत्व, प्रत्यक्षानुमानोपमानान्यतमत्वादि दो-तीन में अनुगत धर्मों के भी व्यवस्थापन और व्यवहार का उपपादन किया जा सकता है।

साक्षात्त्ववत्तत्र तत्रानुगतबुद्ध्याद्यन्तरापत्तेः। व्यवहारे सति निमित्तानुसरणम्, न तु निमित्तानुसरणेन व्यवहार इति चेन्न, निमित्तस्य अनत्यापत्तिद्वारस्यैव कल्प्यत्वात्।

तत्तज्जनितत्वाभावो हि तेनैव रूपेण अनुगतव्यवहारप्रत्ययावादध्यात्, न त्वन्येनापि। तथात्वे यावत्परिदृष्टव्यक्तिविशेषान्यत्वेन व्यवहारोपपत्तौ गोत्वाद्युच्छेद-प्रसङ्गः। तस्मात्—

विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं व्यतिरेकासमर्थनः।
नैवं चेदपराद्धं ते किमन्यापोहवादिना॥ ४०॥

त्वेन प्रत्यक्षानुमयोः लिङ्गसादृश्याजन्यत्वेन प्रत्यक्षस्मरणयोरनुगतबुद्धिव्यवहारौ स्याताम्, लिङ्गाद्यजन्यत्वेन घटादिप्रत्ययेषु प्रत्यक्षबुद्धिव्यवहारवदविशेषादिति। नैमित्तिकानुसारि निमित्तं प्रसिद्धं न निमित्तानुसारि नैमित्तिकं घटादौ व्यभिचारादिति शंकते ❀ व्यवहार इति ❀। सत्यं यत्र नैमित्तिकं दृष्ट्वा निमित्तं कल्प्यते तत्रान्ययोगायोगव्यवच्छेदेन नियतमेव कल्प्यं न्यायविद्भिरन्यथा दर्शनमात्रशरणतया विचारानवतारापातादिति परिहरति ❀ नेति ❀। अत्यापत्तिरतिप्रसक्तिः तस्या द्वारं मुखमत्यापत्तिद्वारं तन्न भवतीत्यनत्यापत्तिद्वारमतिप्रसङ्गानापादकमिति यावत्। तत्तद्धेत्वजनितत्वमनुगतप्रत्ययव्यवहाराधायकमननुगत-रूपत्वाद् गोत्ववदिति तत्र तत्रानुगतव्यवहारप्रत्ययावनुमेयौ स्त इत्याशंक्याह ❀ तत्तदिति ❀। तज्जनितत्वाभावो निषेधरूपेणाभावगोचरावनुगतप्रत्ययव्यवहारौ कुर्यान्न विधिरूपेणाप्येवं च तत्तल्लिङ्गाद्यजन्यत्वेन घटादिप्रत्ययेषु न प्रत्ययव्यवहारौ इत्यर्थः। उक्तमर्थं विपक्षदण्डप्रदर्शनेन दृढीकुर्वन्नाह ❀तथात्व इति❀। विधिमुखेनापि प्रत्यक्षव्यवहाराधायकत्व इति यावत्। परिदृष्टव्यक्तिविशेषा अश्वादयस्तदन्यत्वेनैव गोत्वादिव्यवहारोपपत्तेर्गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गः प्रयोजनप्रमाणयोरभावादित्यर्थः। यस्मादन्यव्यावृत्तिरभावव्यवहारं करोति तस्मादित्युत्तरश्लोकापेक्षितं पूरयति ❀ तस्मादिति ❀। विधिजो भावजन्यः व्यावृत्तिगोचरात्प्रत्ययादन्यः हेतुमाह ❀ व्यतिरेकेति ❀। व्यतिरेकेणाभावेन समर्थनं नास्ति यस्य स व्यतिरेकासमर्थनः। उक्तमर्थं परं बलादङ्गीकारयति ❀ नैवमिति ❀। यदि भावप्रत्ययोऽप्यभावविषयस्तर्हि गौरिति शब्द-

शङ्का—साक्षात्त्व-व्यवहार एक ऐसा नैमित्तिक पदार्थ है, जिसके निमित्त की कल्पना आवश्यक है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह कल्प्यमान निमित्त जहाँ-जहाँ उपलब्ध होता है, वहाँ-वहाँ नैमित्तिक की कल्पना की जाय।

समाधान यह सत्य है कि साक्षात्त्व-व्यवहार का निर्वाह करने के लिए निमित्त की कल्पना की जाय, किन्तु निमित्त भी ऐसा ही कल्पित करना चाहिए, जिसकी कहीं अत्यापत्ति (अतिप्रसक्ति) न हो, कथित लक्षणरूप निमित्त पूर्वोद्भावित दोषों से दूषित हो जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि गवादि पदार्थों की परिभाषा दो प्रकार से की जा सकती है—(१) 'अगोभिन्नो गौः' और 'गोत्ववान् गौः'। परिभाषा या निमित्त अपने सजातीय व्यवहार का ही निर्वाहक होता है, अतः 'अगोभिन्नत्व' निमित्त के आधार पर 'अयं गौः'—इत्यादि व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकते, अन्यथा 'गोत्वादि' जातियों की ऊहा निरर्थक हो जायगी, अतः निषेध-गर्भित निमित्त के द्वारा 'इदं प्रत्यक्षम्'—इत्यादि विधिमुख व्यवहारों का उपपादन सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे 'अयं गौः'—इत्यादि भावजातीय व्यवहार गोत्वादिरूप भावभूत निमित्तों के द्वारा ही निर्वाहित होते हैं, वैसे ही 'इदं प्रत्यक्षम्'—इत्यादि भावात्मक व्यवहारों का निर्वाह भी 'प्रत्यक्षत्व' के समान भावरूप निमित्तों से ही हो सकता है, 'अप्रत्यक्षकरणलिङ्गजत्वाभावादि' अभावरूप निमित्तों से नहीं। अन्यथा 'अन्यापोहवादी' बौद्धों ने क्या अपराध किया है कि उनकी देशना का निरादर किया जाता है। उन्होंने भी तो 'अयं गौः'—इत्यादि व्यवहारों का उपपादन 'अगोभिन्नत्वरूप' अभावात्मक निमित्त से कर लेने की दिशा दिखाई है। उस दिशा में अग्रसर होने पर 'गोत्वादि' जातियाँ विलुप्त हो जाती

(२२) शब्दानुमानोपमानजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वं प्रत्यक्षलक्षणमभिधाय यः कोऽपि न त्रपते, स प्रष्टव्यः—किं प्रत्येकमिदं लक्षणम् ? उत मिलितम् ?

प्रत्ययावगोव्यावृत्तिविषयाविति वदता बौद्धेन किमपराद्धं ततश्च—

"सिद्धश्च गौरगोभ्योऽन्यो गोनिषेधात्मकश्च सः ।
तत्र गौरेव वक्तव्यो नायं गौः प्रतिषिध्यते ।।
गव्यसिद्धेष्वगौर्नास्ति तदभावे ते गौः कुतः ।"

इत्यादिना कथितेतरेतराश्रयस्तवापि स्यादित्यर्थः ।

प्रत्यक्षलक्षणान्तरमनुवदति ❀ शब्देति ❀ । प्रमितित्वं प्रत्यक्षत्वमित्युक्तेऽनुमादावतिव्याप्तिस्तन्निरासाय शब्देत्यादिविशेषणम् । शब्दादिजप्रतीतिव्यतिरिक्तत्वमित्युक्ते घटादि व्याप्नुयात्तदर्थमाह ❀ प्रमितित्वमिति ❀ । भ्रान्त्यादिपरासाय प्रमेतिविशेषणम् । एवंविधं लक्षणं सर्वत्रैव कथयितुं शक्यमिति प्रागुक्तपरस्पराश्रयादिदोषग्रासात्लज्जाकारणं प्राप्तमथवाऽयं निर्लज्ज एव कोऽपि लक्षणं वक्तीत्यर्थः । आक्षेप एव लक्षणमन्यथयतीत्यन्यथयितुं विकल्पयति ❀ स इति ❀ । शब्दजप्रतीतिव्यतिरिक्तप्रतीतित्वमनुमानज-

हैं । आप (नैयायिक) भी साक्षात्त्वरूप जाति को मिटाने के लिए ही 'इदं प्रत्यक्षम्'—इस व्यवहार का उपपादन 'अप्रत्यक्षज्ञानकरणलिङ्गाद्यजन्यत्व' के द्वारा कर रहे हैं [बौद्धों का एक प्रख्यात सिद्धान्त है—'अपोहवाद' । अन्यापोह की संक्षिप्त परिभाषा अपोह है । अपोहाध्याय को प्रस्तुत करते हुए ज्ञानश्री कहते हैं—

"अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां प्रकाश्यत इति स्थितिः ।
साध्यते सर्वधर्माणामवाच्यत्वसिद्धये ।।" (ज्ञानश्री० पृ० २०१)

अर्थात् गोत्वादि धर्मों में गवादि शब्दों की वाच्यता सिद्ध न हो, इस लिए शब्द और लिङ्ग के द्वारा अपोह प्रकाशित किया जाता है । अगोनिवृत्ति ही 'गो' शब्द का वाच्य है, 'गोत्व' नहीं—अपोहवाद की इस प्रक्रिया का खण्डन करते हुए कुमारिलभट्ट ने कहा है—

"अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् ।
गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम् ।।" (श्लो० वा० पृ० ५६६)

अर्थात् जैसे 'अमित्रदस्युशात्रवशत्रवः'—इत्यादि व्यवहारों में 'अमित्र' और 'शत्रु'—दोनों अर्थों में ऐकान्तिक ऐक्य है केवल शब्द शैलूष ललित कला के रंगमञ्च पर वामावर्तन और दक्षिणावर्तन की शैलियाँ अपनाकर अपनी नृत्य कला का प्रदर्शन करता चला आ रहा है, क्रान्तदर्शी कविजन उसे पुरस्कृत करते एवं स्वयं उसकी विचित्र चक्रिल भ्रामरी अभिनीत करते आ रहे हैं । फलतः वार्तिककार का कहना नितान्त सत्य है कि 'अगोनिवृत्ति' और 'गौः'—दोनों शब्द एक ही 'गोत्व' जाति के अभिधायक हैं । सौगतपुंगव श्री शान्तरक्षित ने उक्त भाट्टोक्ति का अक्षरशः अनुवाद करके चुभते शब्दों में खण्डन किया है—

"अन्यापोहापरिज्ञानादेवमेते कुदृष्टयः ।
स्वयं नष्टा दुरात्मानो नाशयन्ति परानपि ।।
तथा हि द्विविधोऽपोहः पर्युदासनिषेधतः ।
द्विविधः पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्मार्थात्मभेदतः ।।" (त. सं. पृ. ३९०)] ।

(२२) शब्दादिजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वं प्रत्यक्षत्वम्—

शङ्का—शब्द, सादृश्य और लिङ्गपरामर्श के द्वारा जनित प्रमा ज्ञानों से भिन्न प्रमा एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमा है, अतः यह लक्षण सर्वथा निर्दुष्ट है ।

समाधान—लक्षणकारों की यह शैली अत्यन्त लज्जा-जनक एवं उनकी अक्षमता का परिचायक है । ऐसे लक्षणकारों से पूछा जाना चाहिए कि क्या ये तीन लक्षण प्रस्तुत किये

नाद्यः, प्रत्येकं व्यभिचारात् । द्वितीये किं मिलितानां निषेधः, उत निषेधानां मिलितत्वम् ? नाद्यः, प्रत्येकमेव व्यभिचारात् । न हि प्रत्येकमनुमित्यादौ मिलिततद्रूपसम्भवः । नापि द्वितीयः, मिलितास्वनुमित्यादिषु निषेधमेलकसम्भवेऽपि प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमात् । न बह्वाश्रयाणामुक्तनिषेधानां लक्षणत्वम्, अपि त्वेकाश्रयाणामिति चेन्न, समुदायिभेदेऽपि समुदायस्यानुमित्यादिवद् एकतोपचारबीजाविशेषाभ्युपगम इति हि वक्ष्यते ।

असमुदायत्वे सतीत्यपि विवक्षितमिति चेन्न, समुदायत्वविशिष्ट एवांशतः

प्रमितिव्यतिरिक्तप्रमितित्वमुपमानजप्रतीतिव्यतिरिक्तप्रमितित्वमिति प्रत्येकं लक्षणम् ? उत त्रयं मिलितम् ? इति विकल्पार्थः । प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀ । एकैकव्यतिरिक्तत्वविवक्षायां तदितरयोरतिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये विकल्पेऽवद्यं कथयितुं विकल्पयति ❀ द्वितीय इति ❀ । मिलितानां शब्दानुमानोपमानानामन्योन्याभावो यत्र प्रमितौ तत्प्रत्यक्षमुत शब्दादित्रयप्रतियोगिकान्योन्याभावत्रयसमुदायो यस्यां प्रमितौ तत्प्रत्यक्षमिति विकल्पार्थः । उक्तदोषादेव न प्रथम इत्याह ❀ नेति ❀ । कथमन्यदीयो दोषोऽन्यत्र भवेदित्यत आह ❀ न हीति ❀ । यद्यप्यनुमित्यादौ प्रत्येकं स्वप्रतियोगिकतेरतेराभावो नास्ति, तथाऽपि मिलितत्रयरूपत्वमेकस्य नास्तीति मिलिताभावः प्रत्येकमस्तीत्यर्थः । निषेधानां मेलनं लक्षणमिति द्वितीयेऽपि दूषणमाह ❀ नापीति ❀ । मिलिता अनुमित्यादय एकैकस्वभावा न भवन्तीति मिलितास्वनुमित्यादिषु लक्षणातिव्याप्तिरित्यर्थः ।

एकत्वे सति शब्दादिप्रतीतिप्रतियोगिकेतरेतराभावसमुदायवती प्रमा प्रत्यक्षमिति लक्षणं विशिष्टमाशङ्कते ❀ नेति ❀ । मिलिता अनुमित्याद्यो बह्व्योऽत एकेतिविशेषणाभावान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः । समुदायिभेदेऽपि समुदायस्यैकत्वात्तदुपाधावनुमित्यादेरप्येकत्वादतिव्याप्तिरेवेति परिहरति ❀ नेति ❀ । वैशेषिकमते गुणस्य गुणत्रयैकानुमितिरेका शाब्दीत्यादिव्यवहारो नैकत्वसङ्ख्यागुणवत्तया किन्तु द्व्यादिसङ्ख्यायोगवैधुर्यादुपचारात्तत्समुदायेऽप्यविशिष्ट इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । एकोपचारे बीजं यस्य तत्तादृशं तत्त्वाविशेषाभ्युपगम इति यावत् । एकत्वेऽसमुदायस्त्वे च सति शब्दादिप्रतीतिप्रतियोगिकेतरेतराभावसमुदायवत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀असमुदायत्व इति❀ । अकिंचित्करमिदं विशेषणमिति

गये हैं ? अथवा तीनों दलों को मिलाकर एक लक्षण किया जाता है ? प्रथम कल्प संगत नहीं, क्योंकि (१) शब्दजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वम्, (२) अनुमानजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वम् और (३) उपमानजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वम्—इस प्रकार पृथक् तीन लक्षण करने पर एक से भिन्न दूसरे में प्रत्यक्षत्वापत्ति होती है। द्वितीय कल्प में जिज्ञासा होती है कि मिलित तीनों प्रमितियों का निषेध विवक्षित है ? अथवा तीनों निषेधों का समुच्चय ? प्रथम पक्ष के अनुसार पूर्ववत् प्रत्येक में व्यभिचार है, क्योंकि अनुमिति प्रमा एक है, तीनों प्रमाओं का समुच्चय नहीं। द्वितीय कल्प के अनुसार अनुमित्यादि तीनों प्रमाओं के समुच्चय को न केवल अनुमिति कह सकते हैं, न शाब्द और न उपमिति, अतः उस तीनों के समुच्चय में प्रत्यक्षत्व अतिप्रसक्त होता है।

शङ्का—तीनों के समुच्चय में अतिप्रसक्ति हटाने के लिए एकाश्रितत्वे सति विशेषण लगाकर 'एकत्वे सति शब्दादिजमितिभेदसमुदायवती प्रमा प्रत्यक्षम्'— ऐसा लक्षण करने पर किसी प्रकार का दोष नहीं रहता।

समाधान—तीनों प्रमितियों के समुदाय में एकत्व ही माना जाता है, क्योंकि वहाँ केवल समुदायी (समुदाय के घटक) भिन्न हैं, समुदाय भिन्न नहीं, एक ही है। प्रत्येक अनुमित्यादि में एकत्व व्यवहार का जो नियामक है, वही समुदाय की एकता का भी नियामक है- यह आगे चल कर कहा जायगा। यदि 'असमुदायत्वे सति'—ऐसा विशेषण लगाया जाता

स्वात्मनि वृत्तिविरोधभयेन असमुदायत्वस्यैष्टव्यत्वेन तादृशि प्रसङ्गो दुर्वारः। ज्ञानस्यैवं विवक्षितमिति चेन्न, विशिष्टस्यापि ज्ञानस्य ज्ञानत्वादेव।

एकेति च किमाश्रयव्यक्त्यभेदो विवक्षितः? उताभिन्नजातीयता? उतैकोपाधिकता? उतैकसङ्ख्यायोगिता? उत द्व्यादिसङ्ख्यायोगाभावः? आद्ये तद्विशिष्टस्याव्यापकतादोषः, व्यक्त्यात्मनोऽभेदस्य व्यावृत्तत्वात् धर्मिणा च लक्षणविशेषणेऽलक्ष्यधर्मत्वं धर्मस्य स्यात्, स्वस्यैव स्वधर्मत्वानुपपत्तेः। आश्रयाभेदस्योपलक्षणत्वे प्रागुक्तदोषः।

परिहरति ❀ नेति ❀। समुदायत्वविशिष्ट एवासमुदायत्वस्यैष्टव्यत्वेन तादृशि समुदायत्वविशिष्टानुमितिसमुदाये समुदायान्यत्वविशिष्टलक्षणप्रसङ्गो दुर्वारः। हेतुमाह ❀ अंशतः स्वात्मनि वृत्तिविरोधभयेनेति ❀। समुदायत्वविशिष्टः समुदायो भवतीति न विधातुं शक्यते समुदायत्वाधिकरणविशिष्टे समुदायत्वाधिकरणात्मत्वविधानेऽशतो विशेषणांशे समुदायत्वे समुदायत्वस्यात्मनि वृत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। ज्ञानत्वे सति कथितविशेषणवत्प्रत्यक्षमिति लक्षणादज्ञानात्मके समुदाये कथमतिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ ज्ञानेति ❀। शुक्लस्यापि पटत्ववत्समुदायत्वविशिष्टेऽप्यनुमित्यादौ ज्ञानत्वमस्त्येवेति परिहरति ❀ नेति ❀।

अनुमित्यादावतिव्याप्तिमुक्त्वेदानीमव्याप्तिं कथयितुमेकाश्रयाणामित्यत्रैकशब्दार्थं विकल्पयति ❀ एकेति ❀। एकाश्रयाणामित्यभिन्नाश्रयाणामिति प्रथमः कल्पः एकजातीयाश्रयाणामिति द्वितीय एकोपाधिक्रोडीकृताश्रयाणामिति तृतीय इतरौ स्पष्टौ। कस्मिन् सति किं स्यादित्यत आह ❀ आद्य ❀। तद्विशिष्टस्याश्रयव्यक्त्यभेदविशिष्टस्य लक्षणस्येति यावत्। कुत इत्यत आह ❀ व्यक्तीति ❀। अभेदो व्यक्तिस्वरूपमेव तच्च व्यक्त्यन्तराद्व्यावृत्तमिति घटप्रत्ययाभेदविशिष्टाभावसमुदायस्य लक्षणत्वे घटादिप्रत्यक्षेऽव्याप्तिरित्यर्थः। किं चाश्रयव्यक्त्यभेदो लक्षणस्य विशेषणमुतोपलक्षणमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ धर्मिणेति ❀। धर्मस्य लक्षणस्येति यावत्। कुत इत्यत आह ❀ स्वेति ❀। लक्ष्यविशिष्टलक्षणस्य लक्ष्यधर्मत्वे लक्ष्यस्यापि स्वधर्मत्वं स्यान्न चैतद्युक्तं स्ववृत्तिविरोधादित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ❀ आश्रयेति ❀। उपलक्षणस्य व्यावर्त्याद्बहिर्भूतत्वात्तद्व्यावृत्तमभावत्रयमात्रं लक्षणं स्यात्तच्चानुमित्यादावपीति प्रागुक्तदोषतादवस्थ्यमित्यर्थः।

है, तब भी वही दोष बना है, समुदायत्व-विशिष्ट में समुदायत्व मानने पर विशिष्टवृत्ति धर्म को विशेषण में भी माना जाता है, अतः विशेषणीभूत समुदायत्व में भी समुदायत्व प्राप्त होता है किन्तु स्व में स्ववृत्तिता सम्भव नहीं, फलतः समुदायत्व-विशिष्ट (समुदाय) में भी समुदायत्व का अभाव या असमुदायत्व अक्षुण्ण रह जाता है। 'ज्ञानत्वे सति'—ऐसा विशेषण लगाने पर भी उक्त अतिप्रसङ्ग निवृत्त नहीं होता, क्योंकि जैसे गो-समूह अगौ नहीं होता, वैसे अनुमित्यादि ज्ञानों का समूह अज्ञान नहीं, ज्ञानरूप ही रहता है।

यह जो कहा गया कि 'एकाश्रयत्वे सति शब्दादिजन्यप्रमितिभेदवत्त्वम्'। वहाँ यह भी पूछा जा सकता है कि एकाश्रय का अर्थ क्या (१) अभिन्नाश्रय है, या (२) एकजातीयाश्रय? या (३) एकोपाधिकाश्रय? या (४) एकत्वसंख्यकाश्रय? अथवा (५) द्वित्वादिसंख्याभाववदाश्रय? प्रथम कल्प के अनुसार अभेद व्यक्ति का स्वरूप ही है, वह स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न-भिन्न होता है, अतः घटप्रत्यक्षाभेदविशिष्टाभावसमुदायत्व को लक्षण मानना होगा, वह घटादि-प्रत्यक्ष में अव्याप्त रह जाता है। आश्रयीभूत व्यक्तियों का अभेद लक्षण का विशेषण है? या उपलक्षण? लक्षण को धर्म और लक्ष्य को धर्मी कहा जाता है, अतः लक्ष्य-विशिष्ट लक्षण को लक्ष्य का धर्म मानने पर लक्ष्य में भी लक्ष्य की धर्मता माननी होगी किन्तु वह अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि स्व में स्ववृत्तित्व सम्भव नहीं होता। उपलक्षणपक्ष में अनुमित्यादि में प्रत्यक्षत्व का अतिप्रसङ्गरूप पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है।

द्वितीये तदेवाभिन्नजातीयत्वं लक्षणमस्तु, अवश्यं तया प्राथम्येन प्रतीयमानत्वात्। न तृतीयः, परोक्षप्रमितित्वस्यानुमित्यादिषु मिलितास्वपि भावात्।

नापि चतुर्थः, वैशेषिकपक्षे गुणतया तदभावात्, भावे वाऽनुमित्यादित्रयवृत्तीनां त्रयाणामप्यभावानामेकत्वसङ्ख्यासामानाधिकरण्यसम्भवात्, मिलितानामप्येकसमुदायापेक्षया तथात्वात्।

नापि पञ्चमः, वैशेषिकमतानुसारेण अनुमित्यादित्रयेऽपि तदभावस्य तुल्य-

एकजातीयाश्रयाणामभावानां लक्षणत्वमिति द्वितीयोऽस्तु गदितावद्याभावात्तत्राह ॐद्वितीय इतिॐ। यथाऽपरोक्षत्वजात्या साजात्यं व्यक्तीनां सैव लक्षणमस्य लक्ष्यधर्मत्वे लक्ष्यस्यापि स्वधर्मयोगान्ययोगव्यवच्छेदेन प्रत्याययितुं सामर्थ्यात्तस्या इत्यर्थः। तस्योक्तलक्षणस्य च लक्ष्यव्यापकत्वसाम्ये सैवेत्यवधारणं कुतस्त्यं तत्राह ॐ अवश्यन्तयेति ॐ। अवश्यंभावेनेति यावत्। अव्यवहितप्रतिपत्तिकत्वाल्लाघवाच्चेत्यर्थः। एकोपाधितैकशब्दार्थ इति तृतीयपक्षमाक्षिपति ॐ नेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ परोक्षेति ॐ। प्रत्यक्षमात्रनिष्ठमर्थजत्वादिकमुपाधिः? उत यः कोऽपि? प्रथमे तदेव लक्षणमस्तु द्वितीये परोक्षप्रमितित्वमुपाधिरनुमित्यादावस्त्यस्ति चाभावत्रयमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। न तुरीयोऽपि चातुरीयं प्राञ्चतीत्याह ॐ नेति ॐ। हेतुमाह ॐ वैशेषिकेति ॐ। अगुणतया गुणहीनतयेति यावत्। "गुणादीनां पञ्चानां निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे" इति भाष्यवचनात्प्रत्यक्षस्य च गुणत्वादेकत्वसङ्ख्यागुणायोगादसम्भव इत्यर्थः। एकं प्रत्यक्षमिति प्रतीतिव्यवहारदर्शनादेकत्वसङ्ख्योपेयत इति मतान्तरमाशङ्क्याह ॐ भाव इति ॐ। अनुमित्यादित्रयवृत्तयस्तत्प्रतियोगिकान्योन्याभावास्त्रय एकत्वसङ्ख्या चाऽनुमित्यादिनिष्ठेत्यभावानामेकत्वसङ्ख्ययासमानाश्रयत्वसम्भवादतिव्याप्तिरित्यर्थः। त्रयवृत्तीनामेकत्वसङ्ख्यासामानाधिकरण्यमिति कथं न प्रतिज्ञाविरोधस्तत्राह ॐ मिलितेति ॐ। समुदाय्यपेक्षया तदसम्भवेऽपि समुदायोपाधावेकत्वसम्भव इति भावः। द्व्यादिसङ्ख्यायोगाभाव एकशब्दार्थ इति पञ्चमं प्रतिक्षिपति ॐनेतिॐ। वैशेषिकमतानुसारेणेदं लक्षणमुच्यते? उतान्येन केनचित्? प्रथमं प्रत्याह ॐ वैशेषिकेति ॐ। अनुमित्यादित्रयस्यापि गुणतया द्व्यादिसङ्ख्यायोगाभावादति-

द्वितीय (एकजातीयाश्रय) पक्ष में प्रस्तुत लक्षण का प्रणयन व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि लक्ष्यभूत प्रत्यक्ष में प्रथमतः कल्प्यमान एक जाति के द्वारा ही लक्षण का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है और वही जाति ही लक्षण मानी जा सकती है।

तृतीय कल्प एकोपाधिता का है, वह भी अनुमित्यादि के समुदाय में अतिप्रसक्त है, क्योंकि कोई-न-कोई एक उपाधि चाहिए, चाहे वह प्रत्यक्ष में रहती हो या नहीं, ऐसी उपाधि परोक्षत्व भी है, वह तो अनुमित्यादि के समान अनुमित्यादि के समुदाय में भी है।

चतुर्थ (एकत्व संख्या) पक्ष तो वैशेषिक मतानुसार असम्भव-ग्रस्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान भी गुण है और संख्या भी गुण, गुण में गुण रहता नहीं। 'एकं रूपं रसात् पृथक्'—इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर यदि एकत्वादि संख्या सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से गुणों में भी मानी जाती है, तब उक्त अभाव-समुदाय में भी वह रह सकती है, क्योंकि केवल अनुमिति में एकत्व और तीनों अभावों का समुदाय है, वहाँ स्वाश्रयवृत्तित्व सम्बन्ध से एकत्व संख्या अभाव-समुदाय में रह जाने से वहां प्रत्यक्षत्व का अतिप्रसङ्ग बना ही रहता है।

पञ्चम पक्ष द्वित्वादि संख्या के अभाव का है। वह भी अनुमित्यादि के अभाव में अतिप्रसक्त है, क्योंकि वैशेषिक मतानुसार जैसे अनुमित्यादि गुणों में द्वित्वादि संख्या का अभाव है, वैसे ही उनके समुदाय में भी उसका अभाव है, क्योंकि गुणों का समुदाय भी गुणरूप ही रहता है, अगुण नहीं हो जाता—यह कहा जा चुका है। वैशेषिकों के मत का यदि अनुसरण नहीं किया जाता, तब तो असम्भव हो जाता है, क्योंकि 'एकं प्रत्यक्षम्', 'द्वे प्रत्यक्षे', त्रीणि प्रत्यक्षाणि'—इत्यादि व्यवहारों के आधार पर द्वित्वादि संख्या ही प्रत्यक्ष में

त्वात्। अतदनुसारे प्रत्यक्षव्यक्तिष्वपि द्व्यादिसङ्ख्यायोगात्।

तथापि नैकस्यां प्रत्यक्षव्यक्तौ द्व्यादिपरिसमाप्तिः, द्व्यादिसङ्ख्यापरिसमाप्त्यभावश्च तदभावशब्देन विवक्षित इति चेन्न, का हि परिसमाप्तिर्या एकस्यां व्यक्तौ नास्तीत्युच्यते? तत्रैव वृत्तिर्द्व्यादेः परिसमाप्तिः, सैकस्यां व्यक्तौ नास्तीति चेन्न, एवमेकत्वस्यापि न क्वचित्परिसमाप्तिः स्यात्। न हि तस्य तत्रैव वृत्तिः, अन्यस्यैकत्वाभावप्रसङ्गात्। अत एकत्वसङ्ख्यावत्यामेव व्यक्तौ द्व्यादिपरिसमाप्तिरित्यविशेष एव। एकव्यक्तिगतैकत्वसङ्ख्याव्यक्तिर्नान्यत्रेति चेन्न, सत्ताव्यक्तेरप्येवम्भावप्रसङ्गाद्, अननुगतत्वापत्तेश्च।

व्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयमपवदति ※ अतदिति ※। अतदनुसारे ततोऽन्यमतानुसरण इति यावत्। एकं प्रत्यक्षं द्वयं त्रयमिति च द्व्यादिसङ्ख्यायोगादसम्भवो लक्षणस्येत्याशयः।

एकत्र समाप्तद्व्यादिसङ्ख्याविधुरवृत्त्यनुमानादिप्रतियोगिकान्योन्याभावत्रयं प्रत्यक्षलक्षणमतो नासम्भव इति शङ्कते ※ तथापीति ※। तत्रैव वृत्तिः परिसमाप्तिस्तदभावश्च तदभावशब्देनेत्येकत्र परिसमाप्तद्व्यादिसङ्ख्याभावो द्व्यादिसङ्ख्यायोगाभावशब्देनेति यावत्। प्रत्यक्षत्वेनैकव्यक्तित्वेऽनुमानादिकमादायैव द्व्यादिपरिसमाप्तिरित्याशयः। असम्भवातिव्याप्त्योरन्यतरावश्यकत्वप्रतिपादनाय परिसमाप्तिस्वरूपं पृच्छति ※केति ※। तत्रैव वृत्तिः परिसमाप्तिरिति पूर्ववादी लक्षणमाह। तत्रैवेत्येवकारानन्तरं वृत्तिशब्दो द्रष्टव्यः। अनुमितित्वशाब्दत्वोपमितित्वोपाधिक्रोडीकृतेष्वेव द्वित्वादि वर्तते नैवं प्रत्यक्षेऽनुमाद्यपेक्षणान्नातौऽसम्भवातिव्याप्ती इत्यर्थः। परिसमाप्तिमात्रस्येदं लक्षणमत एकत्वसामान्यादेः परिसमाप्त्यवृत्तितयाऽङ्गीकृतस्यापि परिसमाप्तिर्न स्यादिति परिहरति ※ नेति ※। एकस्यापीति भावपरो निर्देशः। एकत्वं तत्रैव परिसमाप्तं स्ववृत्तावाश्रयान्तरानपेक्षणादित्याशङ्क्य तदसिद्धमित्याह ※ न हीति ※। औष्ण्यस्य तेजोनिष्ठत्वेऽबादीनामनुष्णत्ववदेकत्वस्य तन्मात्रनिष्ठत्वेऽन्यत्रैकत्वव्यवहारो न स्यादित्यर्थः। फलितमाह ※अत इति※। ययोर्द्वित्वं वर्तते तयोर्द्वयोरप्येकत्वसङ्ख्यावत्वादेकस्यां व्यक्तौ द्वित्वादेः परिसमाप्तत्वाद् द्वित्वादिपरिसमाप्त्यभावलक्षणैकशब्दार्थाभावादेकाश्रयाणां निषेधानामभावे तल्लक्षणासम्भवे विशेषाभाव इत्यर्थः।

तत्रैव वृत्तिलक्षणपरिसमाप्तिमेकत्वसङ्ख्याया उपपादयन्नाह ※ एकेति ※। एकत्वमेकव्यक्तावेव

रह जाती है, उसका अभाव नहीं।

शङ्का—द्वित्वादि संख्या पर्याप्ति संबन्ध से दो पदार्थों में ही रहती है, एक व्यक्ति में नहीं, अतः एक प्रत्यक्ष व्यक्ति में द्वित्वादि का पर्याप्ति संबन्ध से अभाव सुलभ है, असंभव क्यों होगा?

समाधान—वह समाप्ति या पर्याप्ति क्या है, जो प्रत्येक व्यक्ति में द्वित्वादि की नहीं रहती? केवल उसी (पदार्थद्वयी) में रहना ही यदि पर्याप्ति माना जाता है, तब वह तो एकत्व के लिये भी वैसा ही कहा जा सकता है, क्योंकि एकत्व की भी कहीं एक ही आश्रय में वृत्तिता नहीं, अन्यथा एक घट में ही एकत्व सीमित होकर पटादि में न रह सकेगा। अतः यह मानना आवश्यक है कि एकत्व संख्या की आश्रयीभूत व्यक्ति में ही द्वित्वादि की परिसमाप्ति (पर्याप्ति) होती है। फलतः अनुमित्यादि के अभावों के एक समुदाय में जैसे द्वित्वादि का अभाव है, वैसे प्रत्यक्ष व्यक्ति में भी, अतः असंभव दोष में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

शङ्का—एक ही द्वित्व जैसे दो व्यक्तियों में रहता है, वैसे एक व्यक्ति में रहनेवाला एकत्व व्यक्ति अन्यत्र नहीं रहती, अपितु अन्यत्र रहनेवाली एकत्व व्यक्ति दूसरी ही होती है।

समाधान—'एको घटः', 'एकः पटः'—इत्यादि समान प्रतीतियों के आधार पर यदि घट-पटादि में एक ही एकत्व व्यक्ति नहीं मानी जाती, तब 'द्रव्यं सत्', 'गुणः सन्', 'कर्म सत्'—इत्यादि समान प्रतीतियों के बल पर सत्ता जाति को भी एक न मान कर भिन्न-भिन्न

सत्तैकैव जातिरूपा, एकत्वं तु प्रतिव्यक्ति भिन्नं गुणपदार्थ इति चेत्, नूनं वैशेषिकैर्विप्रलब्धोऽसि। कथमन्यथा सदेकप्रत्ययोरनुभवव्यवहारविशेषमपश्यन्नपि कानिचित् कानिचिदसम्बद्धान्यक्षराणि प्रलपसि।

सत्त्वैकत्वयोः परापरत्वानुपपत्तेरेवं स्यादिति चेन्न, साम्यात्। जातिपरापरत्व-ध्रौव्यमेव च काप्येकन्यूनवृत्तित्वे प्रमाणं स्यात्। क तथेति चेन्न, शैलेऽनलस्यानुमायां

वर्तते व्यक्त्यन्तर एकत्वान्तरमत एकत्वसङ्ख्यावत्यामेव द्व्यादिपरिसमाप्तिर्नास्ति व्यक्त्यन्तरेऽपि तस्या एव द्व्यादिव्यक्तेर्वर्तनादतो न लक्षणासिद्धिरित्यर्थः। एकत्वन्न प्रतिव्यक्ति भिद्यते अबाधितानुगतप्रत्ययगोचर-त्वात्सत्तावद्विपक्षे सत्ताया अपि प्रतिव्यक्ति भेदप्रसङ्ग इत्याशयवान्परिहरति ❀ नेति ❀। एकत्वस्य प्रतिव्यक्ति भेदे दोषान्तरमाह ❀ अनन्विति ❀। एकत्वं प्रतिव्यक्ति भिन्नं चेत्तर्हि प्रातिस्विकस्वरूपवदेक-त्वमनुगतं न स्यादेवं च एको घट एकः पट इत्याद्यनुगतप्रत्ययव्यवहारो निर्विषयो स्यातामित्यर्थः। सत्ता-वदेकत्वमपि न प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तमिति यदुक्तं तत्र दृष्टान्तं विघटयन्नाशङ्कते ❀सत्तेति❀। जातित्वा-त्सत्तायाः प्रतिव्यक्त्यभेद इति युक्तं एकत्वं तु प्रत्याश्रयत्वान्नाना द्वित्वाद्यन्यत्वे सति गुणत्वाद्रूपादिव-दित्याह ❀ एकत्वं त्विति ❀। सोपहासं परिहरति ❀ नूनमिति ❀। विप्रलब्धोसि—वञ्चितोऽसीत्यर्थः। न गालिरेवार्थमन्यथयतीत्यत आह ❀ कथमिति ❀। सत्तावदेकत्वेऽप्यनुगतप्रत्ययव्यवहाराविशेषेऽपि सत्ता जातिरेका चैकत्वं तु गुणः प्रतिव्यक्ति नाना चेत्यवद्याक्षराणि कथमन्यथोपपद्येरन्नत एकत्वमपि जातिरिति स्वीकार्यमित्यर्थः। एकत्वस्य जातिताङ्गीकारे बाधकमाशङ्कते ❀ सत्त्वेति ❀। यद्येकत्वं जातिस्तर्हि सत्ता-द्रव्यत्वयोरिव परापरभावो वाच्यस्तन्न सम्भवति सत्तायां सत्तावैधुर्येऽप्येकत्वभावेन न सत्ता परं नाप्येकत्वं परमेकत्व एकत्वाभावेऽपि सत्ताभावाद्, द्रव्यादौ च तयोः साङ्कर्यादेकत्वं गुण इत्यर्थः। सत्त्वेव गुण एकत्वं जातिरित्यत्रापि युक्तिसाम्यमिति परिहरति ❀ नेति ❀। सत्ता जातिरेकत्वं गुण इति प्रतितन्त्रप्रसिद्धेरप्र-माणत्वाल्लोकप्रसिद्धेश्चाभावात्परापरभावानुपपत्तेस्तुल्यत्वान्न्यायसाम्यमित्यर्थः। पूर्वं सत्ता गुण इत्यङ्गीकारेण परिहार उक्तः सम्प्रति सत्ताया अपि जातिताङ्गीकारे न कश्चित् दोष इत्याह ❀ जातीति ❀। सत्तैकत्वे परापरभावनियत एकव्यक्तिजातिद्वयत्वात्सत्ताद्रव्यत्ववदित्यनुमानं मानमित्यर्थः। अनुपलब्धिविरोध-मनुमानस्य शङ्कते ❀ क्वेति ❀। नानुपलब्धिमात्रं बाधकं किं तु योग्यत्वविशिष्टं न चानुमेयस्य प्रत्यक्षयोग्य-

सत्ता व्यक्तियों को मानना होगा। यदि आप (नैयायिक) कहते हैं कि जाति पदार्थ होने के नाते सत्ता सर्वत्र अनुगत एक है, किन्तु एकत्व गुण पदार्थ है, अतः एकत्व प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होता है। तब यह निश्चित है कि आप वैशेषिकों की ठग-विद्या से प्रभावित हो गये हैं, अन्यथा सत्ता और एकत्व की प्रतीति और व्यवहार में किसी प्रकार का अन्तर न देखते हुए भी कुछ-का-कुछ असंबद्ध प्रलाप-सा क्यों करते ? अतः यदि सत्ता सर्वत्र अनुगत एक जाति है, तब द्वित्व भी एक अनुगत जाति ही है।

शङ्का—यदि एकत्व जात है, तब सत्ता और द्रव्यत्व के समान ही उसका भी परापर-भाव होना चाहिए किन्तु वह सम्भव नहीं, क्योंकि सत्ता में सत्ता के न होने पर भी एकत्व रहता है, अतः सत्ता को एकत्व की पर (व्यापक) जाति नहीं कहा जा सकता। एकत्व को भी सत्ता की पर (व्यापक) जाति कहना सम्भव नहीं, क्योंकि एकत्व में एकत्व के न रहने पर भी सत्ता रहती है, इस प्रकार परस्पर व्यधिकरण उक्त दोनों धर्मों का द्रव्यादि में साङ्कर्य हो जाता है। अतः एकत्व को जाति न मानकर गुण मानना ही उचित है।

समाधान—परापरभावानुपपत्ति के कारण जैसे एकत्व को गुण और सत्ता को जाति माना जाता है, वैसे ही सत्ता को गुण और एकत्व को जाति भी कहा जा सकता है। वस्तुतः दो जातियों के परापरभाव का ध्रुवभावित्व ही एक जाति की न्यूनवृत्तिता (व्याप्यता) सिद्ध कर रहा है—'सत्तैकत्वे परापरभावनियते, एकव्यक्तिवृत्तिजातिद्वयत्वात्, सत्ताद्रव्यत्ववत्'।

क्व हस्तवितस्त्यादौ तदंश इत्यनिश्चयवददोषत्वात्।

नन्वस्तु मा वाऽऽसीदेकत्वमनुगतम्, किमनेनात्र निरूपितेन? द्वित्वादि यत्र न समाप्यते, अभिहिताभावत्रयं चास्ति तत्प्रत्यक्षमिति। मैवम्, अनुमित्यादित्रयेऽपि न त्रित्वं परिसमाप्तम्। एवं सत्यन्यानि त्रीणि न स्युः। अन्या सा त्रित्वव्यक्तिर्याऽन्यत्रेति चेन्न, त्रित्वव्यक्तेः कस्याश्चिदनुमित्यादित्रये समाप्त्यभावात्। काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यत इति चेन्न, अव्यापकत्वात्। प्रत्यक्षत्वस्य च त्रित्वव्यक्तेश्चावश्यं

त्वमिति सदृष्टान्तं परिहरति ※ नेति ※। अयं गिरिर्वह्निमान् तत्केतुमत्त्वादित्यनुमाने स वह्निः शैले क्व वर्त्तते हस्तप्रदेशे वितस्तिमात्रे प्रदेशे वेत्यादिनिश्चयाभावेऽप्यनुमानस्यादुष्टत्ववदिदमपि न्यूनपरभावस्थलविशेषानिश्चयेऽपि न दुष्टं स्यादित्यर्थः।

अध्यक्षलक्षणखण्डनं प्रकृत्यैकत्वानुगतत्वप्रतिपादनमर्थान्तरं नाम निग्रहः स्यादिति चोदयति। ※ नन्विति ※। एकत्वमनुगतमस्तु मासीद्वा मा भूद्वेति योजना। प्रकृतानुपयुक्तस्यार्थान्तरस्य प्रतिपादनं निग्रह इदं तु प्रकृतोपयोगित्वान्न निग्रहमावहतीत्यत आह ※ द्वित्वेति ※। एकत्वस्य विशेषणानङ्गीकारेणैव प्रत्यक्षलक्षणमुच्यत इत्यर्थः। सर्वास्त्रित्वव्यक्तयो यत्र न समाप्यन्ते तन्निष्ठमभावत्रयं लक्षणम्? उतैकैका? अथैकापीति, त्रिधा विकल्प्य प्रथमेऽतिव्याप्तिरिति परिहरति ※मैवमिति※। कुतो न समाप्तिस्तत्राह ※ एवमिति ※। यावत्यस्त्रित्वव्यक्तयः सन्ति तावतीनामनुमानादित्रितयपरिसमाप्तौ प्रमेयादीनि त्रीणि न स्युस्तत्र त्रित्वसङ्ख्यायोगाभावादित्यर्थः। द्वितीयकल्पावलम्बनेनाशंकते ※ अन्येति ※। तत्राव्याप्तिरेवेति परिहरति ※ नेति ※। यस्याः कस्याश्चित् त्रित्वव्यक्तेरनुमित्यादावपरिसमाप्तत्वादेकत्वाच्च तस्याः एका त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यते तन्निष्ठाभावत्रयं लक्षणमनुमित्यादावतिव्यापकमिति यावत्।

तृतीयकल्पमुत्थापयति ※ काचिदिति ※। त्रित्वव्यक्त्यधिकरणत्वात्यन्ताभाववन्निष्ठाभावत्रयं लक्षणमित्यर्थः। शरीरपरित्यागेन रोगपरिहारवदयमतिव्याप्तिपरिहारः। इत्थं विवक्षायां लक्षणस्यासम्भवित्वादिति परिहरति ※ नेति ※। अव्यापकत्वादसिद्धत्वादित्येवाव्यापकत्वमेवोपपादयति ※ प्रत्य-

'सत्ता और एकत्व का परापरभाव कहाँ देखा?'—ऐसा प्रश्न अनुमेय पदार्थ के विषय में नहीं किया जा सकता, क्योंकि पर्वत में अनुमीयमान अग्नि के लिए भी ऐसा निश्चय नहीं होता कि वह पर्वत के एक हाथ लम्बे प्रदेश में है या एक वितस्ती (वित्ता) भाग में।

शङ्का एकत्व भले ही अनुगत हो या न हो प्रकृत में उसकी सिद्धि का क्या उपयोग? प्रकृत में तो प्रत्यक्ष का यह लक्षण किया जा रहा है कि 'द्वित्वादि जहाँ पर्याप्ति सम्बन्ध से नहीं रहते और अनुमित्यादि त्रितय का अभाव रहता है, वह प्रत्यक्ष है'। इस प्रकार प्रकृतानुपयुक्त कथन से अर्थान्तर नाम का निग्रस्थान प्रसक्त होता है।

समाधान—उक्त लक्षण का ही अतिप्रसङ्ग दोष उद्भावित किया जाता है कि अनुमित्यादित्रय में भी अनुमित्यादिगत त्रित्व की परिसमाप्ति नहीं, अन्यथा अनुमित्यादि से भिन्न घटादि प्रमेय में त्रित्व कहाँ से आयगा? फलतः अनुमित्यादिगत त्रित्व की परिसमाप्ति का अभाप अनुमित्वादि त्रिक में रह जाने के कारण प्रत्यक्षत्व अतिप्रसक्त होता है। 'घटादि में रहनेवाली त्रित्व व्यक्ति दूसरी है'—ऐसा मान लेने पर भी अनुमित्यादि में किसी-न-किसी त्रित्व की परिसमाप्ति का अभाव तो है ही, अतः वहाँ अतिव्याप्ति अटल है।

शङ्का—अनुमित्यादि-त्रिक में तद्गत त्रित्व व्यक्ति की समाप्ति होने पर भी घटादिगत त्रित्व व्यक्ति की समाप्ति का अभाव है, किन्तु प्रत्यक्ष व्यक्ति में तो कोई भी त्रित्व व्यक्ति परिसमाप्त नहीं, अतः यावत् त्रित्व व्यक्तियों की परिसमाप्ति का अभाव ही लक्षण में अपेक्षित है।

समाधान—एक व्यक्ति में किसी भी त्रित्व व्यक्ति की समाप्ति नहीं होती—ऐसा

सामानाधिकरण्यस्य वैशेषिकमतव्युत्थितेन भवताऽभ्युपगम्यत्वात् । अन्यथा प्रत्यक्षव्यक्तयस्तिस्रो न स्युः, तदेव हि त्रिरभिधीयते यत्र त्रित्वं परिसमाप्यते ।

किञ्च—तथापि स एवातिव्यापकतादोषः । त्रित्वेनावच्छिन्नासु अनुमित्यादिव्यक्तिषु त्वदभिहितमभावत्रयमस्तीति तत्र प्रत्यक्षलक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरुक्ता, तद्व्यावर्तनाय भवताऽभिधीयते—काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यत इति । न चैवमुक्ते साऽतिव्याप्तिर्निवर्तते, तत्राप्युक्तविशेषणस्य विद्यमानत्वात् । न हि त्रित्वावच्छिन्ने तस्मिन् त्रित्वव्यक्तिः काचिदपि समाप्यते, त्रित्वलक्षणैकोपाध्यवच्छिन्ने तस्मिन्

क्षेति ॐ । सामानाधिकरण्यस्य—समानाश्रयत्वस्येति यावत् । गुणा निर्गुणा इति वैशेषिकाभिमताद्विशिनष्टि ॐ वैशेषिकमताद् व्युत्थितेनेति ॐ । विपक्षे दण्डं पातयति । ॐ अन्यथेति ॐ । प्रत्यक्षत्वाधिकरणव्यक्तिषु त्रित्वानङ्गीकारे कथं त्रिरिति व्यहारभावस्तत्राह ॐ तदिति ॐ ।

न केवलमव्याप्तिरतिव्याप्तिरपि स्यादित्याह ॐ किं चेति ॐ । यद्यप्यतिव्याप्तिपरिहाराय काचिदित्यादिविशेषणं निक्षिप्तं तथाऽप्यतिव्यापकता स्यादेवेति यावत् । व्यभिचारनिवारणफलस्य विशेषस्य स्वीकारे कथमतिव्याप्तिरित्याशङ्क्यासमर्थत्वाद्विशेषणस्येति दर्शयितुं पूर्ववादिनो विशेषणोपादानप्रकारमनुवदति ॐ त्रित्वेति ॐ । अनुमित्यादिप्रतियोगिकेतरेतराभावत्रयं यत्र तत्प्रत्यक्षमित्युक्ते त्रित्वेनावच्छिन्ना अनुमित्यादय एकैकस्वभावा न भवन्तीत्यभावत्रयलक्षणं तत्रातिव्याप्तमिति खण्डनवादिनोक्ते तत्परिहाराय काचिदपीत्यादिविशेषणं त्वया निक्षिप्तमित्यर्थः । तथापि कथं विशेषणस्यासामर्थ्यं तत्राह ॐ न चेति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ तत्रेति ॐ । त्रित्वापरिसमाप्तिलक्षणोक्तविशेषणस्य सद्भावादिति यावत् । अनुमित्यादित्रये त्रित्वापरिसमाप्तौ तिस्रोऽनुमित्यादिव्यक्तयो न स्युरित्यत आह ॐ नेति ॐ । त्रित्वानवच्छिन्ने त्रित्वसमाप्तावपि न तदवच्छिन्ने तत्समाप्तिर्यया त्रित्वव्यक्त्या तदवच्छिन्नं तस्या एव तत्र वृत्तावंशतः स्ववृत्यापातादन्यस्या वृत्तावनवस्थानात् क्वचिदन्तोपगमे तत्रैवातिव्यापकतेति भावः । त्रित्वावच्छिन्ने त्रित्वान्तरवृत्तावप्यतिव्यापकतैवेत्याह ॐ त्रित्वलक्षणेति ॐ । त्रित्वावच्छिन्नमेतदनुमानादिव्यक्तित्रयमेकं पुनरपि तथा तच्चेदं च मिलितं त्रयमिति त्रित्वावच्छिन्नेऽपि त्रित्वान्तरं यद्यपि भवति तथापि

ऐकान्तिक रूप से कहना सम्भव नहीं, क्योंकि आप (नैयायिकों) को यह ध्यान रखना चाहिए कि वैशेषिक-मत से ऊपर उठकर आप अपना वाद प्रस्तुत कर रहे हैं, अतः प्रत्यक्ष व्यक्ति में भी किसी-न-किसी त्रित्व का सामानाधिकरण्य मानना होगा, अन्यथा 'त्रिषु घटेषु त्रीणि रूपाणि'—के समान 'तिस्रः प्रत्यक्षव्यक्तयः'—इस व्यवहार का उपपादन न हो सकेगा, क्योंकि 'त्रिः' शब्द से उसी वस्तु का अभिधान होता है, जहाँ त्रित्व की परिसमाप्ति होती है । अतः सभी त्रित्व व्यक्तियों की परिसमाप्ति न होने के कारण किसी भी प्रत्यक्ष व्यक्ति में लक्षण नहीं घटता, अव्यापकत्व (अव्याप्ति या असंभव) दोष स्थिर है ।

'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः'– यह न्याय आप (नैयायिकों) पर लागू हो रहा है, क्योंकि अनुमित्यादि-त्रिक में कथित 'अभावत्रिक' रहता है, अतः प्रत्यक्ष का उक्त लक्षण उस त्रिक में अतिव्याप्त हो रहा है—यह देखकर उस अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिए आपने जो विशेषण लगाया कि 'काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यते, तत्प्रत्यक्षम्' । आपके वैसा कहने पर भी वहाँ से वह अतिव्याप्ति दूर नहीं हुई, क्योंकि वहाँ भी वह विशेषण विद्यमान है, यह वस्तु-स्थिति है कि अनुमित्यादि-त्रिक में कोई भी त्रित्व व्यक्ति समाप्त नहीं । यद्यपि त्रित्व-विशिष्ट अनुमित्यादि समुदाय में वही विशेषणीभूत त्रित्व नहीं रह सकता, क्योंकि 'त्रित्व-विशिष्टे त्रित्वम्'—ऐसा मानने पर आंशिक स्ववृत्तित्व प्रसक्त होता है । तथापि घटादिगत त्रित्व व्यक्ति सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से रह सकती है, वह भी अन्य आश्रय में रहती हुई ही अन्यत्र रहती मानी जाती है । फलतः उपाधिभूत त्रित्व से विशिष्ट धर्मी

त्रित्वव्यक्त्यन्तरं भवद्ध्याश्रयान्तरमादाय वर्तते, न तु तत्रैव परिसमाप्यते।

यत्र चोक्तमुपाधिभूतं त्रित्वं तेषु यदि त्रित्वसमाप्तिर्धर्मिषु दृश्येत, तदा तद्दर्शनेन तत्र धर्मिमात्रे लक्षणव्यावृत्तिः सिद्ध्येत्, न तु त्रित्वविशिष्टे धर्मिणि। तस्मादतिव्यापकत्वं तदवस्थमेव।

अभावत्रयश्च त्रित्वोपाध्यवच्छेदेन समुदिततामुपगतवति विशिष्टे धर्मिणि वर्तते, न त्वविशिष्टे, प्रत्येकमभावत्रयावस्थानस्य तेषु वक्तुमशक्यत्वात्।

अथ मन्यसे तादृशस्य विशिष्टस्य प्रमितित्वेनैव व्यवच्छेदः। न ह्यभावत्रयवत् त्रित्वं विशेषणमाश्रयकोटावन्तर्भाव्य तासु धर्मिव्यक्तिषु प्रमितित्वं वर्तते। किन्तु तेषां धर्मिणां स्वरूपमात्रे उक्ताभावत्रयं प्रमितित्वञ्चेत्येतत् तत्रास्ति, तत्प्रत्यक्षमिति हि भ्रम इति। न, भवताऽपि भिन्नभिन्नधर्मावच्छिन्नस्यैव धर्मिणः प्रमितित्वमभाव-

---

न तत्र परिसमाप्यते आश्रयान्तरमादायैव तत्र वर्तनादतश्च पूर्वत्रित्वावच्छिन्नेऽनुमित्यादित्रये लक्षणमतिव्यापकमित्यर्थः। उक्तमेवार्थं सङ्क्षिप्य दर्शयन् स्पष्टयति ❀ यत्रेति ❀। यत्र-धर्मिषु त्रित्वमुपाधिभूतमुक्तं तेषु धर्मिषु त्रित्वसमाप्तिर्दृश्येत यदीत्यन्वयः। त्रित्वसमाप्तिश्चेद् दृश्येत न तद्धर्युक्तलक्षणं तत्रातिव्यापकमित्यत आह ❀ न त्विति ❀। त्रित्वावच्छिन्नेऽनवच्छिन्ने च तत्समाप्तिविरोधादिति स्वर्थः। त्रित्वानवच्छिन्नधर्मिस्वरूपाद्व्यावर्त्तमानमपि लक्षणं न तदवच्छिन्नाद्व्यावर्तत इत्यर्थः। उपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। अनवच्छिन्नेऽनुमित्यादावतिव्याप्तिर्नोच्यते किन्त्ववच्छिन्न एवेति यस्मात्तस्मादिति यावत्। तत्र को हेतुरित्यपेक्षायामाह ❀ अभावेति ❀। समुदिततामुपगतवति—समुदितत्वं प्राप्त इति यावत्। अनवच्छिन्नेषु तेषु प्रत्येकमभावत्रयावस्थानं वक्तुमशक्यमितरद्वयाभाववृत्तावपि स्वाभावस्य स्वस्मिन्वृत्तिविरोधादित्यर्थः।

अनुमित्याद्यभावत्रयवती प्रमितिः प्रत्यक्षमितिलक्षणस्य विवक्षितत्वान्न त्रित्वावच्छिन्नेऽनुमित्यादावतिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। त्रित्वपरिसमाप्त्यभाववदुक्ताभावत्रयविशिष्टस्य त्रित्वावच्छिन्नस्यानुमित्यादेः प्रमितित्वविशेषणेनापोह इति यावत्। त्रित्वावच्छिन्नानामनुमित्यादीनां प्रमितित्वाधिकरणत्वात्कथं तद्व्युदासस्तत्राह ❀ न हीति ❀। अभावत्रयं यस्य त्रित्वस्य तदभावत्रयवत् त्रित्वं तद्विशेषणमाश्रयकोटावन्तर्भाव्य तास्वनुमित्यादिधर्मिव्यक्तिषु प्रमितित्वं न वर्त्तते अन्यथा अभावत्रयस्य त्रित्वस्य च प्रमात्वापातादित्यर्थः। तर्ह्यवच्छिन्ना अनुमित्यादयोऽप्रमा स्युस्तत्राह ❀ किं त्विति ❀। विशेषणांशमपहाय विशेष्यानुमित्यादिस्वरूपे प्रमितित्वसमवायान्नाप्रमात्वं दण्डस्य पुरुषत्वानधिकरणत्वेऽपि विशेष्यदेवदत्तस्य पुरुषत्ववदित्यर्थः। एवं प्रमितिविशेषस्य व्यावर्त्तकत्वसामर्थ्यमुक्त्वा लक्षणस्वरूपं दर्शयति ❀ उक्तेति ❀। प्रमितित्वाधिकरणत्वे सति कथिताभावत्रयवत्प्रत्यक्षमित्याशयः। एवं कथंचिदतिव्याप्तिपरिहारे लक्षणमसम्भवि

(अनुमित्यादित्रिक) में ही यदि कोई त्रित्व परिसमाप्त देखा जाता, तब वह लक्षण वहाँ नहीं जाता, किन्तु वैसा अनुभूत नहीं होता, अतः त्रित्व-विशिष्ट अनुमित्यादि-समुदाय में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति निश्चित है। कथित अभावत्रय त्रित्व-विशिष्ट धर्मी में ही रहता है, अविशिष्ट में नहीं, क्योंकि प्रत्येक में अभावत्रय का अवस्थान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्व से भिन्न इतर दो ज्ञानों का इतरेतराभाव रह जाने पर भी स्व का अभाव स्व में नहीं रह सकता।

शङ्का—त्रित्व-विशिष्ट अनुमित्यादि त्रिक की व्यावृत्ति तो 'प्रमितित्व' विशेषण से ही हो जाती है, क्योंकि यदवच्छेदेन अभावत्रय रहता है, तदवच्छेदेन प्रमितित्व अपेक्षित है, किन्तु अभावत्रय केवल अनुमित्यादि धर्मियों में नहीं, अपितु त्रित्वावच्छिन्न अनुमित्यादि के समुदाय में ही है और प्रमितित्व त्रित्व-निरपेक्ष विशुद्ध अनुमित्यादि के स्वरूप में रहता है। इस प्रकार त्रित्व-विशिष्ट अनुमित्यादि के समुदाय में उक्त अभावत्रय के रहने पर भी प्रमितित्व न रहने के कारण प्रत्यक्षत्वापत्ति नहीं होती।

त्रयवत्त्वं च अवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । तथा हि—यदि प्रमितित्वस्य क्वाचित्कत्वे नियामकं नोच्यते, तदा सर्वा प्रमितिः स्यात् , न वा काचिदपि ।

सर्वत्र सत्ताऽसत्ता वा नियमेऽन्यानपेक्षया ।
नियामकाद्धि भावानां क्वाचित्कत्वस्य सम्भवः ॥ ४१ ॥

तन्नियामकमाश्रये विशेषणीभूतं वा वक्तव्यम् , उपलक्षणीभूतं वा । आद्ये यदेव प्रमितित्वस्याऽऽश्रयविशेषणं तदेव यद्यभावत्रयस्यापि तस्य, तदा त्रित्वावच्छिन्नेऽनुमित्यादावभावत्रयस्य दर्शितत्वात्तत्र च प्रमितित्वेनापि त्रित्वावच्छिन्ने भवितव्यमिति प्रमितित्वान्न तद्व्यवच्छेदः ।

स्यादिति परिहरति ॐ नेति ॐ । भिन्नभिन्नधर्मावच्छिन्नस्येति अन्योन्यधर्माविशिष्टस्येति यावत् । अभावत्रयप्रमितित्वयोर्वैयधिकरण्याल्लक्षणासिद्धिरित्यर्थः । अवश्यमित्यर्थापत्तिरन्यथा प्रमात्वस्य क्वाचित्कत्वानुपपत्तिरूपा सूचिता तां विकल्पपुरःसरं प्रथयति ॐतथा हीतिॐ । प्रमितित्वस्य कादाचित्कत्वे किं नियामकं नास्ति किं वाऽस्तीति विकल्प्य प्रथममनुवदति ॐ यदीति ॐ । शुक्तिरजताविज्ञानमपि प्रमा स्यादविशेषादिति परिहरति ॐ तदेति ॐ । विपक्षे दण्डमाह ॐ न चेति ॐ । अनियामकपक्षोक्तमर्थं सर्वत्रानुसन्धानार्थं श्लोकेनोपनिबध्नाति ॐ सर्वेति ॐ । अन्यानपेक्षया नियमे स्वीक्रियमाणे सर्वत्र सत्ताऽसत्ता वा स्यादिति सम्बन्धः । नियामकाभावे क्वाचित्कत्वाभावः कुतस्तत्राह ॐ नियामकादिति ॐ । अङ्कुरत्वादीनां बीजोद्भवत्वादिनियामकादेव क्वाचित्कत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः ।

अबाधितानवगतासन्दिग्धविषयज्ञानत्वं संस्कारमात्रेतरादुष्टकारणोद्भवत्वं वा नियामकमुच्यते इति द्वितीयमाशङ्क्य तदपि प्रमात्वाधिकरणव्यक्तीनां विशेषणमुपलक्षणं वेति विकल्पयति ॐ तदिति ॐ । यदा विशेषणं तदाऽपि प्रमितित्वाश्रयविशेषणमेवाभावत्रयस्यापि नियामकतयाऽऽश्रयविशेषणमुतान्यदिति विकल्प्य प्रथममनुवदति ॐ आद्य इति ॐ । प्रमितित्वाभावत्रययोर्नियामकैक्यादनुमित्यादौ त्रित्वावच्छिन्ने प्रमितित्वस्य वृत्तिरपेयाऽत्रावत्रयवृत्तिदर्शनादिति दूषयति ॐ तदेति ॐ । त्रित्वावच्छिन्नमनुमित्यादित्रयं प्रमिति-

समाधान—आप भी एकधर्मावच्छेदेन अभावत्रय और प्रमितित्व की वृत्तिता नहीं मान सकते, अपितु भिन्न-भिन्न धर्मावच्छेदेन ही वृत्तिता माननी होगी, क्योंकि प्रमितित्व का यदि कोई नियामक नहीं माना जाता, तब प्रमितित्व या तो सर्वत्र वस्तुमात्र में ही रह जायगा, या कहीं भी न रह सकेगा, यह एक ध्रुवभावी विधान है कि किसी-न-किसी नियामक के बल पर ही पदार्थों में क्वाचित्कत्व सिद्ध होता देखा जाता है, जैसे कोई अङ्कुर उसी भूमि में उत्पन्न होता है, जहाँ उसका बीज विद्यमान होता है ॥ ४१ ॥ फलतः अव्यभिचारित्वादि या अज्ञातज्ञापकत्वाद्यवच्छेदेन ज्ञान में प्रमितित्व की वृत्तिता माननी आवश्यक है । वहाँ जिज्ञासा होती है कि आप अभिमत अवच्छेदकीभूत धर्म को (१) प्रमितित्वाश्रय का विशेषण मानते हैं ? अथवा (२) उपलक्षण ?

(१) विशेषण-पक्ष में प्रश्न उठता है कि प्रमितित्व के उसी आश्रय-विशेषणीभूत धर्म को अभावत्रय का भी अवच्छेदक माना जाता है ? अथवा नहीं ? यदि माना जाता है, तब उक्त अभावत्रय की त्रित्वावच्छिन्न अनुमित्यादि-समुदाय में वृत्तिता कही गई, अतः प्रमितित्व की भी वृत्तिता त्रित्वावच्छेदेन ही माननी होगी, तब 'प्रमितित्व' विशेषण के द्वारा भी कथित अतिप्रसङ्ग की व्यावृत्ति नहीं हो सकती । यदि अन्य धर्मावच्छेदेन प्रमितित्व और अन्य धर्मावच्छेदेन अभावत्रय की वृत्तिता मानी जाती है, तब आपके मत में भी एक धर्मावच्छेदेन उभय-वृत्ति नहीं । दूसरी बात यह भी है कि विशिष्ट-वृत्ति (अभावत्रय) पदार्थ को विशेषण (त्रित्व) और विशेष्य (शुद्ध अनुमित्यादि-समुदाय) दोनों में वृत्ति माना जाता है, अतः शुद्ध अनुमित्यादि के समुदाय में अभावत्रय भी है और प्रमितित्व भी, तब 'प्रमितित्व' विशेषण

अथान्यावच्छिन्ने प्रमितित्वमन्यधर्मावच्छिन्ने चाभावत्रयसम्बन्धः, तदा—नास्ति त्वत्पक्षेऽपि प्रमितित्वस्य एकधर्मविशिष्टाश्रयत्वलक्षणमेकाश्रयत्वम्, विशिष्टेऽपि धर्मिण्याश्रितो धर्म्याश्रित एवेति कृत्वा च प्रमितित्वस्य अभावत्रयसमानाश्रयत्वेऽनुमित्यादित्रयेऽपि प्रसङ्गस्तदवस्थः :

नापि द्वितीयः, उपलक्षणीभूतेन केनचिद्धर्मेण योऽसावुपलक्षितो धर्मी, स एव खलु त्रित्वविशिष्टोऽपि, विशेषणवतोऽपि यावद्विशेष्यवस्तुनो विशेष्यवस्त्वात्मकत्वात्। यथा दण्डवत्यपि पुरुषः पुरुष एव। एवञ्च सत्युपलक्षितादनन्यभूते त्रित्वविशिष्टेऽप्यनुमित्यादौ प्रमितित्वमाश्रितं नियामकेनोपलक्षणेन उपलक्ष्याभेदव्यवस्थिततया तस्याप्यवच्छिन्नत्वात्। तथा चातिव्याप्तिर्वज्रलेपायिता।

तथाप्युपलक्षकेण त्रित्वविशिष्टतया नोपलक्षितोऽसौ धर्मी, किन्तु स्वरूपेणेति

स्वाधिकरणमुक्ताऽभावाधिकरणत्वात्प्रत्यक्षवदित्यनुमानान्न प्रमितित्वविशेषणेन तदपोह इत्यर्थः। द्वितीयमनुवदति ❀ अथेति ❀। प्रमितित्वाधिकरणत्वे सत्युक्ताभावत्रयवत्त्वविशिष्टलक्षणासिद्धिस्तयोर्वैयधिकरण्याद्विशिष्टभेदादिति दूषयति ❀ तदेति ❀ । अभावत्रयेणेति शेषः । दण्डित्वकुण्डलित्वयोर्दण्डकुण्डलांशविशिष्टाधिकरणभेदेऽपि विशेष्यदेवदत्तस्यैक्यादैकाधिकरण्यवन्नियामकधर्मविशिष्टभेदेऽपि प्रत्यक्षधर्मिण एकत्वादेकाश्रयत्वमभावत्रयप्रमितित्वयोरित्याशङ्क्याह ❀ विशिष्ट इति ❀ । त्रित्वावच्छिन्नानुमित्यादिनिष्ठाभावत्रयस्य प्रमितित्वस्य च धर्मिद्वारा सामानाधिकरण्यमस्तीति कथितातिव्याप्तितादवस्थ्यमित्यर्थः।

उपलक्षणपक्षमाक्षिपति ❀ नेति ❀। काऽनुपपत्तिरित्यपेक्षायामनुपपत्तिं प्रथयितुमुपलक्षितविशिष्टयोरैक्यमाह ❀ उपेति ❀। प्रागुक्तोपलक्षणेन य उपलक्षितो वित्तिलक्षणो धर्म्मी स एवानुमित्यादौ त्रित्वविशिष्टोऽपीत्यर्थः। उपलक्षितं वित्तिस्वरूपमात्रं विशिष्टं तु त्रित्वसम्बन्धरूपमनयोर्विशिष्टाविशिष्टयोरेकत्वमित्यत आह ❀ विशेषणेति ❀। विशेषणयोगे विशेष्यस्वरूपैक्यानपायादिति भावः । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन बुद्ध्यारूढं करोति ❀ यथेति ❀। एवं च सति त्रित्वावच्छिन्नानुमित्यादिनिष्ठाभावत्रयस्य प्रमितित्वस्य च सिद्धमेकाश्रयत्वमित्याह ❀ एवं चेति ❀। हेतुमाह ❀ नियामकेनेति ❀। तस्यानुमित्यादित्रयस्यापि प्रमात्वनियामकेनोपलक्षणेनोपलक्ष्यवित्तिस्वरूपाभेदे व्यवस्थिततया भिन्नतया त्रित्वावच्छिन्नत्वादित्यर्थः। एवं च प्रत्यक्षलक्षणं त्रित्वावच्छिन्नानुमित्यादावगमदित्याह ❀ तथा चेति ❀।

उपलक्षणेन त्रित्वावच्छिन्नतया वित्तिस्वरूपानुपलक्षणादुपलक्षितवृत्तिप्रमात्वस्य त्रित्वावच्छिन्न-

से उसका व्यवच्छेद क्योंकर होगा? यदि प्रमितित्व अन्यधर्मावच्छिन्न में और अभावत्रय अन्य धर्मावच्छिन्न में रहता है, तब आपके मत में भी एकधर्म-विशिष्टाश्रयत्व नहीं बनता। विशिष्ट धर्मी में जो रहता है, वह शुद्ध धर्मी में भी माना जाता है, अतः अनुमित्यादि के त्रिक में प्रमितित्व और अभावत्रय—दोनों पदार्थ रह जाते हैं, अतिप्रसङ्ग जैसे-का-तैसा बना है।

(२) अभिमत अवच्छेदकीभूत धर्म को उपलक्षण मानने पर भी अनुमित्यादि-त्रिक में प्रत्यक्षत्व का अतिप्रसङ्ग बना रहता है, क्योंकि मनोनीत अभिलक्षण के द्वारा अभिलक्षित धर्मी ही त्रित्वविशिष्ट भी है। 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते'—इस नियम के आधार पर यह मानना अत्यन्त स्वाभाविक है कि अपने विशेषणों से युक्त सभी विशेष्य पदार्थ विशुद्ध विशेष्यात्मक ही होते हैं, जैसे कि दण्ड-विशिष्ट पुरुष भी पुरुष ही है। इस प्रकार उपलक्षित पदार्थ से अनन्यभूत त्रित्व-विशिष्ट अनुमित्यादि के समुदाय में प्रत्यक्ष इसी लिए अतिप्रसक्त होता है कि प्रमितित्व के नियामकीभूत उपलक्षण के द्वारा उपलक्षित पदार्थ ही त्रित्वरूप अवच्छेदक से अवच्छिन्न (विशिष्ट) है। फलतः उक्त अतिव्याप्ति दोष वज्रलेप है।

शङ्का—प्रमितित्व के उपलक्षणीभूत पदार्थ से उपलक्षित अनुमित्यादि-त्रिक त्रित्वविशिष्टत्वेन उपलक्षित नहीं, अपितु स्वरूपेण ही उपलक्षित होता है, अतः विशिष्ट में अतिव्याप्ति नहीं।

चेन्न, उक्तमत्र—यदेव तदुपलक्षितं तदेव विशिष्टमपि। तथापि विशिष्टेन रूपेण तावन्नोपलक्षितमिति चेत्, मोपलक्षि। अविशिष्टेनापि तन्नोपलक्षितमेव, अन्यथा प्रकृतेऽपि वैयधिकरण्यापत्तेः। तदास्तामुल्लसत्पल्लवदलनविलसितेनेति। तदेवं लक्षणान्तरेऽपि प्रतिपादितोऽयं दूषणसमूहः स्वयमूहनीयः।

एतदेव परामृश्य भट्टैरिदमुदाहृतम्।
लक्षणस्याऽभिधानन्तु केनांशेनोपयुज्यते ॥ ४२ ॥

अन्याभिप्रायोक्तमपि हि तत्सामान्यतोऽप्युपपद्यमानमेवेति।

वृत्त्यभावात्प्रमात्वाधिकरणमुक्ताभावत्रयवत्प्रत्यक्षमित्युक्ते नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ॐतथापीतिॐ। उपलक्षितवित्तिस्वरूपस्यैव त्रित्वावच्छेदाद् धर्म्मैक्यमुक्तमिति परिहरति ॐ नेति ॐ। यद्यपि यस्य यद्विशेषणं तदेवोपलक्षणेनाप्युपलक्षितं तथापि विशिष्टेन रूपेण नोपलक्षितमतो विशिष्टोपलक्षितयोरैक्यानुपपत्तिस्तथात्वे विशेषणेनाप्यभेदप्रसङ्गादुपलक्षितस्येति शङ्कते ॐ तथापीति ॐ। स्वरूपेणोपलक्षितस्य विशिष्टाद्भेदो अपि न सम्भवति स्वस्य त्रित्वरूपस्य भेदप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्य परिहरति ॐ मोपलक्षीति ॐ। उपलक्षितं मा भूदिति यावत्। किं च प्रमात्वाधिकरणं नियामकेन त्रित्वानवच्छिन्नतया यद्युपलक्ष्येत तर्हि प्रमात्वाभावत्रययोरवच्छिन्नवृत्तित्वेऽनुमित्यादिव्युदासः स्यान्न च तथा स्वरूपेणैवोपलक्षितत्वादित्याह ॐ अविशिष्टेति ॐ। भावाभावयोर्विरुद्धयोरौदासीन्यायोगादविशिष्टेनैव तदुपलक्षितमित्यत आह ॐ अन्यथेति ॐ। अनवच्छिन्नवृत्ति प्रमात्वमभावत्रयमवच्छिन्नवृत्तीति वैयधिकरण्यं यथाऽनुमित्यादौ तथा प्रत्यक्षेऽपि स्यादविशेषादित्युक्तलक्षणासम्भव इत्यर्थः।

प्रत्यक्षलक्षणखण्डनमुपसंहरति ॐ तदिति ॐ। उल्लसन्तः ऊर्ध्वं गच्छन्त इति यावत्। पल्लवाः किसलयानि तेषां दलनं मोटनं तत्र क्रीडितेनेत्यर्थः। प्लववलनविलसितेनेति केचित्पठन्ति तत्रायमर्थः उल्लसन्तो माद्यन्तः प्लवाः पक्षिणः प्लवन्तीति तेषां वलनं वलयाकारेण गमनविशेषस्तत्क्रीडितेनेति दूषितलक्षणस्यैव पुनः पुनर्विशेषान्तरशब्दान्तरोपादानात्किमर्थमिदमभिधीयत इत्यादिनाऽभिहितो दोषव्रातो न प्रत्यक्षलक्षणस्यैवेति मन्तव्यं सर्वलक्षणसाधारणस्यापि ज्येष्ठप्रमाणलक्षणखण्डनेऽभिहितत्वादित्यभिप्रेत्याह ॐ तदिति ॐ। लक्षणस्य विश्वस्याप्यनुपयुक्तत्वे भट्टसंमतिमाह ॐ एतदिति ॐ। लक्षणस्यानुपयुक्तत्वं विमृश्य विचार्य भट्टैरिदं वक्ष्यमाणमुदाहृतं किं तदित्यत आह ॐ लक्षणेति ॐ। प्रत्यक्षलक्षणस्याभिधानं "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इत्यत्र चोदनैव प्रमाणं धर्मे चोदना प्रमाणमेवेति प्रतिज्ञाद्वये केनांशेनोपयुज्यते न केनापीत्यर्थः। "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म प्रत्यक्षं तदनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वा" दित्यनेन सूत्रेण प्रत्यक्षादेर्धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वं अप्रमाणत्वमुच्यते चेत्तर्हि विद्यमानोपलम्भनत्वादित्यनेनैवालं किं सदित्यादिलक्षणेनेति प्रत्यक्षलक्षणाभिधानस्य पूर्वप्रतिज्ञातार्थेऽनुपयोग उक्तो न तु लक्षणमात्रस्येत्यत आह ॐ अन्येति ॐ। सामान्यतो लक्षणमात्रस्यानुपयोगेऽप्युपपद्यमानमेव तद्वचनमुक्तरीत्याऽत्र उदाहृतमित्यर्थः।

इति प्रत्यक्षलक्षणखण्डनं समाप्तम्।

समाधान—यह कहा जा चुका है कि जो उपलक्षित है, वही विशिष्ट भी है। यदि वह विशिष्टत्वरूप से उपलक्षित नहीं होता तो न सही, वह अविशिष्टत्वेन भी तो उपलक्षित नहीं, अन्यथा (अविशिष्टत्वेन उपलक्षित मानने पर) प्रत्यक्ष में भी प्रमितित्व और अभावत्रय का वैयधिकरण्य बना रहेगा, क्योंकि प्रमितित्व अनवच्छिन्नवृत्तिक और अभावत्रय अवच्छिन्नवृत्तिक है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष-लक्षण का यह बार-बार विदलन ऐसा हो रहा है, जैसे गृध्रादि पक्षिगण एक ही शव पर मँडराते रहते हैं, अतः इस अभिनय का पटाक्षेप यहीं कर देना

२८. अनुमानलक्षणखण्डनम्

अनुमानमपि किमुच्यते ?

(१) करणपक्षे लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति चेत् , किं लिङ्गत्वम् ?

व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वमिति चेन्न, संशयस्योपलक्षणत्वे तत्र दृष्टाऽपि व्यापकं

प्रत्यक्षप्रतिक्षेपेणैव यद्यप्यनुमानादि प्रतिक्षिप्तं प्रत्यक्षसिद्धव्याप्त्याद्युपजीवित्वात्तथापि विशेषतो यावन्न निरस्यते तावत्तस्य प्रामाण्याशङ्का मन्दमतेर्न निवर्तेत इति विशेषतस्तत्खण्डनं प्रस्तौति ❁ अनुमेति ❁। अनुमीयतेऽनेनेति किं करणव्युत्पत्त्याऽनुमितिकरणं पृच्छयते ? उतानुमितिरनुमानमिति भावव्युत्पत्त्या व्यापकज्ञानं पृच्छयते ? इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❁ करणेति ❁। सौषुप्तिकसुखादि-परामर्शव्यावृत्त्यर्थं लिङ्गेति विशेषणम्। करणखण्डनेन फलमपि खण्डितं स्यात्तज्जन्यत्वात्तस्येत्यभिप्रेत्य लिङ्गं पृच्छति ❁ किमिति ❁। व्याप्यस्य धूमादेः पर्वतादिपक्षनिष्ठत्वं लिङ्गत्वम्प्रसिद्धं किमत्र प्रश्नेनेत्याह ❁ व्याप्तेति ❁। पक्षधर्मत्वं व्यापकस्याप्यस्ति ततो विशिनष्टि ❁ व्याप्तेति ❁। सन्दिग्धसाध्यः पक्षस्तत्र वृत्तिः पक्षधर्मत्वं, तत्र सन्देहः पक्षोपलक्षणं किं विशेषणमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❁ नेति ❁।

चाहिये। प्रत्यक्ष के लक्षणान्तरों की ऊहा और उनके दोषोद्भावन स्वयं कर लेना चाहिये। इस वस्तु-स्थिति को ध्यान में रख कर श्री कुमारिलभट्ट ने कहा है—"लक्षणस्याभिधानं तु केनांशेनोपयुज्यते" (श्लो. वा. पृ. १३४)। ["सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत्प्रत्यक्षमनिमित्तम्, विद्यमानोपलम्भनत्वात्" (जै. सू. १।१।४) इस सूत्र की व्याख्या (श्लोकवार्तिक) में वार्तिककार ने कहा है कि इस सूत्र से पूर्वतन द्वितीय सूत्र ("चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै. सू. ।१।२) में जो दो प्रकार की प्रतिज्ञा ध्वनित हुई है कि (१) 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' और (२) 'धर्मे चोदना प्रमाणमेव'- इन दोनों अंशों में से प्रत्यक्ष-लक्षण का अभिधान किस अंश का उपयोगी है ? किसी का भी नहीं, अतः प्रत्यक्ष-लक्षण का निर्वचन न शास्त्रोपयोगी है और न लोकोपयोगी, निरर्थकमात्र है]। यद्यपि कुमारिल भट्ट ने प्रत्यक्ष-लक्षण का अभिधान अपने क्षेत्र में प्रक्रांत धर्म-लक्षण के लिये ही अनुपयोगी कहा है, सामान्यतः अनुपयोगी नहीं, तथापि खाण्डनिक के द्वारा प्रस्तावित उसके सामान्यतः अनुपयोगित्व-प्रदर्शन में भी भट्टोक्ति का उदाहरण अनुपपन्न या असंगत नहीं।

२८. अनुमान-लक्षण का खण्डन

अनुमान भी किसको कहा जाता है ?

(१) लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्—

शङ्का—['ल्युट्' प्रत्यय "ल्युट् च" (पा. सू. ३।३।११५) इस सूत्र के द्वारा भावार्थ और "करणाधिकरणयोश्च" (पा. सू. ३।३।११७) इस सूत्र के द्वारा करण और अधिकरण अर्थ में विहित हुआ है। अनुपूर्वक 'माङ् माने शब्दे च' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय और 'यु' को "युवोरनाकौ" (पा. सू. ७।१:१) इस सूत्र से 'अन' आदेश होने पर 'अनुमान' शब्द निष्पन्न होता है, अतः उसकी तीन व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं—(१) 'अनुमीयतेऽनेन तदनुमानम्', (२) 'अनुमितिरनुमानम्' और (३) अनुमीयतेऽस्मिन्निति अनुमानम्'। अनुमान प्रमाण के परिभाषाकारों ने प्रथम और द्वितीय व्युत्पत्ति अपनाई है, उसमें करण-व्युत्पत्ति के अनुसार नैयायिकों ने लिङ्गपरामर्श को 'अनुमान' शब्द से अभिहित किया है—"अनुमीयतेऽनेनेति करणार्थः, लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्" (न्या. वा. पृ. २६२–२६३)।

समाधान—लक्षण-घटक लिङ्गत्व की क्या परिभाषा है ? 'व्याप्तस्य (व्याप्तिविशिष्टस्य

तत्परामर्शेऽतिप्रसङ्गात्। अत एव न तस्य वर्तमानस्य अतत्कालेऽप्युपलक्षणत्वात्। विशेषणत्वे चानुमाय व्यापकं धर्मिनाशवदप्रवृत्त्यापत्तेः।

पक्षधर्माद्धेतोः पक्षांशे विशेष्ये साध्यसिद्धिः, ईदृशञ्च वैयधिकरण्यमिष्टमेवेत्यतो नैवमिति चेन्न, पक्षमादाय वैयधिकरण्ये नियतसामानाधिकरण्यलक्षणव्याप्तिलोपापत्तेः।

तथापि विशेष्यमादाय साऽस्त्येवेति चेन्न, साध्यविशेषसिद्धिरपि यत्र

यत्रासौ गिरिर्वह्निमान्न वेति सन्देहः समजनि ततस्तन्निकटोपसृप्तस्य प्रत्यक्षेण वह्निं दृष्टवतः तत्र धूमं पश्यतोऽसौ धूमो वह्निव्याप्त इति परामृशतोऽपि परामर्शोऽनुमानं स्यात्, त्वदुक्तलक्षणभावादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। वर्तमानसन्देहोपलक्षितपक्षनिष्ठत्वं लिङ्गत्वमिति नातिव्याप्तिरित्यत आह ❀ अत इति ❀। उपलक्षणत्वादेवेति यावत्। उपलक्षणत्वमिति शेषः। कुत इत्यत आह ❀ अतदिति ❀। गुरुटीका कुरुक्षेत्रमित्यादावसतो गुर्वादेष्टीकाद्युपलक्षणत्वदर्शनादित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ❀ विशेषणेति ❀। यथा धर्म्यभावे प्रवृत्त्यभावस्तथाऽनुमानन्तरमानुमानिकनिश्चयेन संशयनाशे तद्विशिष्टपक्षनाशो दण्डनाशे दण्डिनाश इव, एवं चानुमाय तत्र तत्र तथा प्रवृत्तिर्न स्यादन्यत्र ज्ञानमन्यत्र प्रवृत्तिरित्यतिप्रसङ्गादित्याशयः। साधनवत्साध्यमपि यदि पक्षे सिद्धचेत्तर्हि अनुमाय प्रवृत्तिर्न स्यात्पक्षनाशान्नैवं पक्षधर्मस्य साधनस्य तदंशे साध्यसाधनत्वाविति शङ्कते ❀ पक्षेति ❀। तर्हि व्यधिकरणासिद्धता हेतोः स्यादित्यत आह ❀ ईदृशमिति ❀। पक्षाधिकरणं साधनं तदंशधर्मिमात्राधिकरणं साध्यमितीदृशं वैयधिकरण्यमिष्टमेव विशेष्यस्य विशिष्टेऽप्यनुगमादिति यावत्। अन्यनिष्ठस्यान्यत्र साधकत्वे व्याप्यसिद्धिरिति परिहरति ❀ नेति ❀। यो धूमवान् सोऽग्निमानिति साध्यसाधनयोर्नियतैकाश्रयत्वलक्षणव्याप्तिरनुमानाङ्गमङ्गीकृता सा हीयेत पक्षमादाय साध्यसाधनयोर्वैयधिकरण्यादित्यर्थः। दण्डिनि वर्तमानदण्डित्वस्य देवदत्तवृत्तित्ववद्विशिष्टपक्षनिष्ठसाधनस्य विशेष्यधर्मिमात्रनिष्ठत्वमपीत्यस्ति व्याप्तिसिद्धिरिति शङ्कते ❀ तथापीति ❀। विशेष्यमात्रे सामानाधिकरण्यलक्षणव्याप्ति-

---

धूमादेः) पक्ष-धर्मत्वम् (पक्षे वृत्तिता) को लिङ्गत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पक्ष-धर्मता के घटकीभूत पक्ष का लक्षण किया जाता है—'सन्दिग्धसाध्यवान्'। अर्थात् अग्न्यादि साधनीय धर्मों का जहाँ संशय होता है, ऐसे पर्वतादि देशों को पक्ष कहा जाता है। 'वहाँ 'संशय' उपलक्षण है ? अथवा विशेषण ? उपलक्षण मानने पर जिस पर्वत में अग्निरूप व्यापक पदार्थ का दर्शन हो गया है, उस पर्वत को भी पक्ष और उसमें दृश्यमान् धूम को पक्षधर्म कहा जा सकता है, उस धूम में 'असौ वह्निव्याप्तः'—इस प्रकार के लिङ्गपरामर्श में अनुमानत्वापत्ति होगी। वर्तमानसंशयोपलक्षितवृत्तित्वं लिङ्गत्वम्'—ऐसा लक्षण करने पर भी कथितप्रसङ्ग दूर नहीं होता, क्योंकि अन्यकालीन पर्वत भी वर्तमान संशय से उपलक्षित हो सकता है। द्वितीय कल्प के अनुसार यदि संशय को विशेषण माना जाता है, तब वह्नि का अनुमान जिस पर्वत में हो गया, उसमें अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि साध्य का अनुमान हो जाने पर संशय समाप्त हो जाता है, संशय के न रहने पर पर्वत को संशय-विशिष्ट (पक्ष) नहीं कहा जा सकता। अनुमितिरूप वह्नि-ज्ञान पक्ष में और प्रवृत्ति अपक्षभूत पर्वत में—ऐसा मानने पर बौद्धोक्त क्षणिकवाद प्रसक्त होता है।

शङ्का—यह सत्य है कि संशय की वर्तमान अवस्था में ही पर्वत को पक्ष कहा जाता है और उसके धूर्मभूत धूम के द्वारा जिस पर्वत में साध्य की (अनुमिति) होती है, उसी विशेष्यभूत पर्वत में प्रवृत्ति होती है। संशय और संशयाभाव को लेकर वैयधिकरण्य होने पर भी विशेष्य अंश को लेकर कारण और कार्य का वैयधिकरण्य नहीं होता। अर्थात् संशय-विशिष्ट धर्मि-वृत्ति साधन के द्वारा केवल धर्मी में साध्य की सिद्धि—इस प्रकार का वैयधिकरण्य इष्ट ही है।

व्याप्तिबलायातं सामान्यं तत्र सामान्यप्रतीत्यपर्यवसानबलादेवेति सामान्यविशेषसिद्ध्यनुपयोगिनी पक्षधर्मता त्वदिष्टा केवलं सिद्धसाधनपरिहाराय अनुमितिकारणत्वेनेष्टव्या । सिद्धसाधनश्च न स्वार्थानुमाने दोष इति नानुमितिमात्रहेतुनिवेशिनी सेति । मोक्षमाणैर्हि—

आगमेनानुमानेन ध्यानात् प्रत्यक्षणेन च ।
त्रेधाऽऽत्मनि प्रमाणानां संप्लवः स्वार्थमिष्यते ॥ ४२ ॥ —इति ।

एतेन संशययोग्यताऽपि निरस्ता ।

मुगच्छतो व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वं लिङ्गत्वमित्यत्र पक्षधर्मत्वविशेषणमकिञ्चित्करं व्याप्तिमात्रेण लिङ्गत्वोपपत्तेरिति परिहरति ❀ नेति ❀ । यत्र सामान्यं व्याप्तिबलादायातं तत्र साध्यविशेषसिद्धिरपि सामान्यप्रतीत्यपर्यवसानादेवेति योजना । एतदुक्तं भवति—पक्षधर्मत्वं किं सामान्यसिद्धावुपयुक्तम्? उत साध्यविशेषसिद्धौ ? उत यत्र सामान्यं तत्रैव विशेषसिद्धौ ? आहो स्वित्सिद्धसाधनतापरिहारे ? न तावत्प्रथमे त्रयः सम्भवन्ति यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्त्यैव साध्यसामान्यसिद्धेर्विशेषमन्तरेण सामान्यस्यासिद्ध्या विशेषसिद्धेस्तत्रैव च सिद्धेरिति तुरीयमरुच्याङ्गीकरोति ❀ केवलमिति ❀ । अरुचिमेव दर्शयति ❀ सिद्धेति ❀ । प्रमाणान्तरसिद्धस्याप्यर्थस्य दृढीकरणाय स्वार्थानुमाने साधनात्परार्थानुमान एव तस्य दूषणत्वात्तत्रैव पक्षधर्मता तत्परिहारफला स्यान्न सर्वत्रेति भावः । प्रमाणान्तरसिद्धस्य न स्वार्थानुमानेऽपि साधनमित्याशङ्क्य तद्दर्शयन्नुत्तरश्लोकापेक्षितं पूरयति ❀ मोक्षेति ❀ । मोक्षमाणैरात्मनि प्रमाणानां त्रिधा संप्लवः सङ्करः स्वार्थमिष्यत इत्यन्वयः । तदेव दर्शयति ❀ आगमेनेति ❀ । आगमानुमानध्यानशब्देन श्रवणमनननिदिध्यासनानि कथ्यन्ते । प्रत्यक्षणेनेति प्रत्येकं सम्बन्ध्यते । आगमानुमानयोरपि प्रत्यक्षात्मनि साक्षात्प्रत्य-

---

समाधान—कार्य और कारण का वैयधिकरण्य मानने पर 'यो धूमवान् सोऽग्निमान्'—इस प्रकार साध्य और साधन की नियतसमानाधिकरणतारूप व्याप्ति भंग हो जाती है । विशेष्य अंश को लेकर यदि व्याप्ति का उपपादन किया जाता है, तब ऐसी व्याप्ति के आधार पर ही पर्वत में भी अग्नि-सामान्य की सिद्धि हो जाती है और वह सामान्य अग्नि तब तक वहाँ पर्यवसित नहीं हो सकती, जब तक विशेष (पर्वतीय) अग्नि सिद्ध न हो जाय, इस प्रकार पर्वतादि-वृत्ति साध्य-विशेष की सिद्धि में पक्षता का कोई उपयोग नहीं, केवल सिद्ध-साधनता दोष का परिहार करने के लिए आप उसे अनुमिति का कारण मान सकते हैं । सिद्धसाधनता का उद्भावन स्वार्थानुमान में नहीं होता, अतः अनुमितिमात्र की कारण-कोटि में पक्षता का निवेश आवश्यक नहीं । सिद्धसाधनता दोष स्वार्थानुमान में नहीं होता, अत एव मुमुक्षुगण श्रवण के द्वारा जिस आत्मा की सिद्धि कर लेते हैं, उसी की मननात्मक अनुमान के द्वारा एवं उसी का निश्चय निदिध्यासन के द्वारा किया करते हैं । यदि स्वार्थानुमान में सिद्ध-साधनता दोष होता, तब श्रवण के पश्चात् मनन का विधान श्रुति नहीं कर सकती थी । [श्रवणरूप शब्द प्रमाण, मननरूप अनुमानप्रमाण और निदिध्यासनरूप प्रत्यक्ष प्रमाण—इन तीनों प्रमाणों की एक प्रमेय में प्रवृत्ति का नाम प्रमाण-सम्प्लव कहा जाता है । प्रमाण-व्यवस्थावादी बौद्धों का कहना है कि 'स्वलक्षण' और 'सामान्यलक्षण'—दो प्रकार का ही प्रमेय होता है एवं 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमानात्मक' दो प्रकार के ही प्रमाण होते हैं । प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति 'स्वलक्षण' में और अनुमान की सामान्य-लक्षण में ही मानी जाती है । स्वलक्षण में अनुमान और सामान्यलक्षण में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती—इस प्रकार प्रमाण और प्रमेय व्यवस्थित है, इसी का नाम प्रमाण-व्यवस्था है, किन्तु वैदिक दर्शन उस व्यवस्था को न मान सम्प्लव मानकर कहा करते हैं कि एक प्रमाण का विषय अन्य प्रमाणों का भी विषय होता है, इसीलिए एक ही आत्मा प्रत्यक्ष का भी विषय है और अनुमानादि का भी] ॥ ४२ ॥

व्याप्यत्वमिति चेत्, किं वस्तुगत्या व्याप्यस्य स्वरूपेण परामर्शोऽनुमानं व्याप्यतया वा? नाद्यः, अगृहीतव्याप्तिना ऽपि धूमादिपरामर्शस्यानुमानताप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, व्याप्त्युल्लेखिनः प्रमाणस्यानुमानत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि व्याप्यत्व-ग्राहितायाः अवश्यवक्तव्यत्वात्।

अत एव द्वितीय-तृतीयविशेषणे अपि निरस्ते, धारावाहिनि तथात्वापत्तेः।

यजनकत्वादन्यथा भ्रान्तत्वापातात्। सन्देहयोग्यसाध्यविशिष्टः पक्षः व्याप्तस्य तन्निष्ठत्वं लिङ्गत्वमिति केचित्तत्राऽप्युक्तमतिदिशति ॐएतेनेतिॐ। दृष्ट्वाऽपि व्यापकं तत्परामर्शप्रसङ्गादित्युक्तेनानुमेये निश्चितेऽपि तद्योग्यतायाः यावद्द्रव्यभावितया भावादन्यथा कालान्तरे तत्र कस्यचित्संशयानुपपत्तेरित्यर्थः। यद्वा स्वार्थानुमाने साध्यस्य संशययोग्यता संप्लवाङ्गीकारेण निरस्या अन्यथा सन्दिग्ध एकस्य विषयोऽन्यस्य तद्योग्य इति विषयभेदेन संप्लवानुपपत्तेरित्यर्थः।

पक्षधर्मत्वविशेषणं विहाय व्याप्यत्वं लिङ्गत्वं तत्परामर्शोऽनुमानमिति शङ्कते ॐ व्याप्येति ॐ। दूषणोक्तिविभागाय विकल्पयति ॐ किमिति ॐ। कस्मिन् सति किं स्यात्तत्राह ॐ नेति ॐ। परामर्शः प्रत्यक्षमात्रमुत प्रत्यभिज्ञानम्? यदि प्रथमस्तर्हि न गृहीता व्याप्तिर्येन सोऽगृहीतव्याप्तिस्तेनापि पुरुषेण सोऽयं धूम इति यः परामर्शस्तस्यापि वस्तुगत्या व्याप्तविषयत्वमिति तत्राप्यननुमानेऽप्यनुमानत्वमित्यतिप्रसक्तिरित्यर्थः। व्याप्यस्य व्याप्तिमत्तया यः परामर्शः सोऽनुमानमिति द्वितीयं दूषयति ॐ नेति ॐ। हेतुं कथयति ॐ व्याप्तीति ॐ। धूमाग्नी व्याप्ताविति व्याप्तिं गृह्णतः प्रमाणस्य तद्धर्मितया व्याप्यविषयत्वमपीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। सम्बन्धिग्रहणमन्तरेण सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः, "आधारात्मनि विज्ञाते सुखमाधेयबोधन"मिति न्यायादित्याह ॐ तस्येति ॐ। यदित्थं तत्तथेति द्वितीयलिङ्गपरामर्शस्तथा चायमिति तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमानमतो नातिव्याप्तिरित्यत आह ॐ अत इति ॐ। व्याप्त्युल्लेखिनोऽनुमानत्वप्रसङ्गादेवेति यावत्।

संशय की योग्यता को भी पक्षता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पर्वतादि पक्षों में साध्य निश्चय हो जाने पर भी संशय की योग्यता बनी रहती है, अतः निश्चयावस्था में भी पक्ष-धर्मरूप लिङ्ग के परमार्श को भी अनुमान कहा जा सकेगा। [श्री गंगेशोपाध्याय ने भी संशय-पक्षता का निराकरण किया है—"न तावत् सन्दिग्धसाध्यधर्मत्वं पक्षत्वम्, सन्देहो हि न विशेषणम्, परामर्शपूर्वं लिङ्गदर्शनव्याप्तिस्मरणादिना तस्य नाशात्। नोपलक्षणम्, अव्यावर्तकतापत्तेः" (न्या. त. चि. पृ. १०७९)]।

'व्याप्यत्वं लिङ्गत्वम्'—ऐसा भी लिङ्ग का लक्षण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तुगत्या व्याप्य पदार्थ का स्वरूपेण और व्याप्यत्वेन—दो प्रकार से परामर्श हो सकता है। उनमें प्रथम प्रकार को इस लिए नहीं अपनाया जा सकता कि जिस व्यक्ति ने व्याप्ति का ग्रहण धूम में नहीं किया, केवल 'धूमवानयम्'—ऐसा ज्ञान रखता है, उसके उस ज्ञान को भी अनुमानरूप लिङ्गपरामर्श कहा जा सकेगा, क्योंकि वहाँ परामृश्यमान धूम वस्तुगत्या अग्नि का व्याप्य है। व्याप्यत्वेन परामर्श अपेक्षित होने पर यद्यपि उक्त अतिप्रसङ्ग नहीं होता, क्योंकि धूमवान् अयं पर्वतः'—इस ज्ञान में धूमत्वेन धूम का परामर्श किया गया है, व्याप्यत्वेन नहीं। तथापि व्याप्ति के उल्लेख करनेवाले प्रमाण में अनुमानत्वापत्ति होती है। अर्थात् 'धूमाग्नी व्याप्तौ'—इस प्रकार व्याप्ति के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण में लिङ्गपरामर्शत्वरूप अनुमानत्व की प्रसक्ति होती है, क्योंकि व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ग्रहण तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसके सम्बन्धी व्याप्य और व्यापक पदार्थों का ग्रहण न हो, अतः उक्त व्याप्ति-ग्राहक ज्ञान को भी व्याप्यपरामर्श या लिङ्गपरामर्श कहा जा सकता है। अत एव लिङ्गपरामर्श के जो द्वितीय और तृतीय विशेषण लगाए जाते हैं—'द्वितीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्', 'तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्'। उनकी भी अतिव्याप्ति कथित व्याप्ति-ग्राहक

गृहीतव्याप्तिनाऽपि युगपदुभयग्रहणे द्वावेतौ व्याप्यव्यापकाविति परामर्शस्यानुमानत्व-प्रसङ्गात् । न च तदनुमानमेव, असन्दिग्धतया पक्षत्वाभावेन तद्धर्मस्य हेतोः सिद्ध-साधनवदपक्षधर्मत्वात् । स्वार्थानुमाने नाऽयं दोष इति चेन्न, प्रत्यक्षलक्षणोपपत्त्या साक्षात्त्वासाक्षात्त्वविरोधापत्तेः ।

अव्यापकविषयत्वे सतीति चेन्न, व्याप्यविषयत्वाभावप्रसङ्गात् । व्याप्यत्वं हि

तदेवोपपादयति ❀ व्याप्येति ❀ । द्वितीयादिविशेषणे यद्यपि न प्रथमव्याप्यपरामर्शोऽतिव्याप्तिस्तथापि तावेतौ धूमाग्नी व्याप्ताविति धारावाहिव्यक्तिष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः । व्याप्तिग्राहिप्रत्यक्षान्यत्वे सति व्याप्यपरामर्शोऽनुमानमित्यत आह ❀ गृहीतेति ❀ । तदपि लक्ष्यमित्यत आह ❀ न चेति ❀ । यथा सिद्धसाधनस्य हेतोः पक्षधर्मता नास्ति साध्यस्य प्रमाणान्तरसिद्धतया सन्देहाभावात्तथा युगपदुभयग्रहेऽपि साध्यस्य प्रत्यक्ष-विषयत्वेनासन्दिग्धत्वात्तद्विशिष्टस्य पक्षत्वाभावेन तन्निष्ठहेतोरपक्षधर्मत्वादित्यर्थः ।

प्रमाणान्तरेण साध्यनिश्चयेऽपि स्वार्थानुमाने पक्षधर्मत्वमिष्टमतो नोक्तदोष इति शङ्कते ❀स्वेति❀ । अनुमानमात्रस्येदं लक्षणं नानुमानविशेषस्य दूषणं च नानुमानमात्रस्य स्वार्थानुमानेऽस्यादोषत्वाद्विशेषदूषणेन नानुमानमात्रं दुष्टमित्यर्थः । अनिष्टापादनेन परिहरति ❀नेति❀ । युगपदुभयग्रहणे व्यापकधर्मविशिष्टधर्मि-ज्ञानस्येन्द्रियान्वयव्यतिरेकवतः प्रत्यक्षलक्षणोपपत्त्या साक्षात्त्वं लिङ्गपरामर्शजन्यतया परोक्षत्वमिति साक्षात्त्वासाक्षात्त्वयोः साङ्कर्यं स्यादित्यर्थः । उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय व्यापकाविषयत्वे सति व्याप्यपराम-र्शोऽनुमानमिति विशेषणप्रक्षेपेण शङ्कते ❀ व्यापकेति ❀ । व्याप्तिग्रहणस्य युगपदुभयग्रहणस्य च व्यापक-विषयत्वान्न तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । व्यापकमात्राविषयत्वं विशेषणमुत व्यापकविशेषाविषयत्वमिति विकल्प्य प्रथममपाकरोति ❀ नेति ❀ । व्यापकाविषयत्वे व्याप्यविषयत्वासम्भवादसम्भवि लक्षणं भवेदिति भावः । व्याप्यव्यापकयोरन्यत्वात् व्यापकाग्रहे व्याप्याग्रहणं कस्मादित्यत आह ❀ व्याप्यत्वं हीति ❀ । अन्याग्रहणे

('धूमाग्नी व्याप्तौ'—इस प्रकार के) धारावाहिक ज्ञान की द्वितीय और तृतीय व्यक्तियों में अतिव्याप्ति निश्चित है । जिस व्यक्ति ने व्याप्ति का ग्रहण पहले कर लिया है, वह भी जब व्याप्य और व्यापक का युगपत् ग्रहण करता है—'द्वावेतौ व्याप्यव्यापकौ' । उसके उस परामर्श में भी अनुमानत्व का अतिप्रसङ्ग होता है । उस परामर्श को अनुमान ही क्यों न मान लिया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वहाँ साध्य का सन्देह न होने के कारण पक्षता सम्भव नहीं, अतः पक्षवृत्तित्वरूप पक्षधर्मता उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि निश्चित साध्य का साधक हेतु सिद्ध-साधन या अपक्षवृत्ति है, वह साध्य का साधक क्योंकर होगा ?

शङ्का—सिद्धसाधनता स्वार्थानुमान का विघटक नहीं—यह कहा जा चुका है कि मुमुक्षुगण श्रवणादि के द्वारा गृहीत आत्मा का भी अनुमान किया करते हैं ।

समाधान —'द्वावेतौ व्याप्यव्यापकौ'—इस प्रकार के ज्ञान में जब प्रत्यक्ष का लक्षण घट जाता है, तब उसे अनुमान मानने का अर्थ उस ज्ञान में प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्वरूप विरुद्ध धर्मों का अभ्युपगम है, जो कि अत्यन्त अनुचित है ।

उक्त अतिव्याप्ति दोष से छुटकारा पाने के लिए अनुमान का 'व्यापकाविषयत्वे सति व्याप्यपरामर्शोऽनुमानम्'—ऐसा लक्षण करने पर असम्भव दोष आ जाता है, क्योंकि व्याप्यत्व एक ऐसा सप्रतियोगिक (सापेक्ष) धर्म है, जो नियमतः व्यापक की अपेक्षा करता है, 'अस्येदं व्याप्यम्'—इस प्रकार व्याप्य का तभी ग्रहण हो सकता है, जब कि विशेषणविधया प्रविष्ट व्यापक का ग्रहण पहले हो जाय, अन्यथा (विशेषण का ज्ञान न होने पर) व्याप्यरूप (व्यापक-निरूपित व्याप्ति के आधारभूत) धूमादि विशिष्ट का ग्रहण नहीं हो सकता ।

शङ्का—'विशेषतो व्यापकाविषयत्वे सति व्याप्यपरामर्शोऽनुमानम्'—ऐसा लक्षण

सप्रतियोगिकग्रहणम्, तथा चैतस्य व्याप्यमिदमिति गृह्यते। तथा च सति व्यापकस्यापि विशेषणस्य ग्रहणमवश्यं वक्तव्यम्। अन्यथा विशिष्टग्रहणस्य वक्तुमशक्यत्वात्।

विशेषतो व्यापकाविषयत्वे सतीति चेन्न, 'अग्निधूमौ व्याप्तावि'त्याप्तोपदेशाद्, वा पूर्वं भूयोगृहीतवह्निधूमसाहचर्यस्य वह्निधूमाग्रहणकाले विमर्शवशाद् वा जायमानव्याप्तिग्रहणस्य व्याप्यपरामर्शोऽनुमानं स्यात्।

न परामर्शः प्रत्ययमात्रं येन प्रथमग्रहणे प्रसङ्गः स्यात्। किन्नाम? प्रत्यभिज्ञान-

---

नन्यग्रहणं ब्रूमः किं तु प्रतियोग्यग्रहणेऽनुयोगिनोऽप्यग्रहणमिति भावः। व्याप्यस्य सप्रतियोगिकग्रहणमनुभवसिद्धमित्याह ❀ तथा चेति ❀। अस्तु ततः किं स्यादित्यत आह ❀ तथा चेति ❀। व्याप्यस्य सप्रतियोगिग्रहणत्वे सति व्याप्यग्रहणे व्यापकस्यापि विशेषकस्य विशेषणतया व्यावर्त्तकतया ग्रहणं वाच्यमित्यर्थः। उक्तं व्यतिरेकद्वारा दृढीकरोति ❀ अन्यथेति ❀। विशेषणज्ञानं विशिष्टज्ञानकारणमिति केचित्। केचित्तु विशेषणविशेष्ययोरेकप्रत्ययविषयत्वमिति सर्वथा व्यापकाग्रहणे तद्विशिष्टव्याप्यग्रहणमनुपपन्नमित्यर्थः। द्वितीयं कल्पमाशङ्कते ❀ विशेषेति ❀। प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहे युगपदुभयग्रहे च व्यापकस्य विशेषेणैव ग्रहणान्नातिव्याप्तिर्नाप्यसम्भवो लिङ्गपरामर्शे व्यापकस्य सामान्येनैव स्फुरणादित्याशयः। एवमप्यतिव्याप्तिस्तदवस्थेति परिहरति ❀ नेति ❀। अग्निधूमौ व्याप्तावित्याप्तवाक्याज्जायमानव्याप्तिग्रहो यस्य पुरुषस्य तस्य व्याप्यपरामर्शोऽनुमानं स्याद्वाक्यजन्यप्रत्ययस्य विशेषाविषयत्वादित्यर्थः। यदि कश्चिद्वाक्याजन्यत्वे विशेषाविषयत्वे च सति व्याप्यपरामर्शोऽनुमानमिति ब्रूयात्तं प्रति अतिव्याप्त्यन्तरमाह ❀ पूर्वमिति ❀। भूयो—बहुशो गृहीतमग्निधूमयोः साहचर्यं सहचरितत्वमविनाभावो येन तस्य प्रत्यक्षेण वह्निधूमाग्रहणकाले विमर्शवशात्पूर्वानुभूतसाहचर्यं स्मृत्वा यदि धूमो वह्निं व्यभिचरेत्तर्हि नियतसाहचर्यमनुपपन्नमिति विचारात् जायमानव्याप्तिग्रहस्य तस्यैव व्याप्यपरामर्शोऽनुमानं स्यात्तस्याप्यविशेषविषयत्वादित्यर्थः। परामर्शः प्रत्ययमात्रमुत प्रत्यभिज्ञानमिति विकल्प्य प्रथमकल्पोऽपाकृत इदानीं द्वितीयमनुभाषते ❀ नेति ❀। परामर्शवचनस्य प्रत्यभिज्ञार्थत्वात्प्रथमग्रहणे युगपदुभयग्रहणे च नातिव्याप्ति-

---

करने पर 'एतौ व्याप्यव्यापकौ' - इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में अनुमानत्वापत्ति नहीं होती, [क्योंकि जैसे मन्द अन्धकार में किसी वस्तु का केवल सामान्य आकार ही झिलमिलाता है, किन्तु वही वस्तु विशद (प्रखर) प्रकाश में विशेषतः उजागर हो जाती है, वैसे ही अनुमित्यादि परोक्ष ज्ञानों में विषयवस्तु का सामान्यतया ही ग्रहण होता है किन्तु प्रत्यक्ष में विशेषतः विषय का भान होता है, इसी लिए जैन शास्त्रकारों ने प्रत्यक्ष का लक्षण ही किया है—"विशदं प्रत्यक्षम्" (प्र० क० मा० पृ० २१६) और वैशद्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—"प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्" (प्र० क० मा० पृ० २१९)]।

समाधान—यह सत्य है कि प्रत्यक्ष विशेषावगाही और परोक्ष सामान्य-भासक ही होता है, किन्तु परोक्ष ज्ञान एकमात्र अनुमान ही नहीं होता, शाब्दादि भी होते हैं, अतः 'अग्निधूमौ व्याप्तौ'—इस प्रकार किसी आप्त पुरुष के वाक्य से जनित शाब्द ज्ञान में उक्त अनुमान का लक्षण अतिव्याप्त होता है। अथवा जिस व्यक्ति ने वह्नि और धूम का साहचर्य अनेको बार देखा है, उस व्यक्ति को वह्नि और धूम के अग्रहण-काल में केवल अपने विमर्श (ऊहा या तर्क) के आधार पर जो व्याप्ति का मानस परोक्ष भान होता है, उसमें भी उक्त लक्षण को अतिव्याप्ति होती है।

शङ्का—'व्याप्यपरामर्शोऽनुमानम्'—यहाँ पर 'परामर्श' शब्द का अर्थ केवल ज्ञान मात्र नहीं कि व्याप्यविषयक अभिज्ञा (प्राथमिक) ज्ञान में अतिव्याप्ति होती। 'परामर्श' पद से यहाँ प्रत्यभिज्ञा ज्ञान विवक्षित है, अतः 'सोऽयं वह्निव्याप्यो धूमः'—इस प्रकार का तृतीय

मिति चेन्न, विचारादाप्तोपदेशाद्वा प्रतीत्य व्याप्तिं पुनराप्तोपदेशाद्विचाराद्वा यैव मया व्याप्तिर्गृहीता सैवेयमिति प्रत्यभिजानानस्य व्याप्तिज्ञानमनुमानं स्यात्।

विशेषतो व्याप्यविषयत्वे सतीति चेन्न, अव्यापकत्वप्रसङ्गात्। एकव्यक्तिविषयत्वस्य व्यक्त्यन्तरेऽसम्भवात्, सामान्यतो व्यक्तिविषयत्वस्य चातिप्रसञ्जकत्वात्।

किञ्च—धूमवत्त्वादेर्यदा कदाचिदग्निमत्त्वं वा प्रतीयते तदानीं वाऽग्निमत्त्वं पर्वतादेः? नाद्यः, तदानीमिव अन्यदाऽप्यग्न्यर्थिप्रवृत्तेस्तत्र प्रसङ्गात्। न द्वितीयः,

---

रित्यर्थः। व्याप्यमात्रविषयपरामर्शः किं वा व्यापकविशेषविषयोऽनुमानमिति विकल्प्य प्रथममतिव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। धूमाग्न्योरविनाभावेन भवितव्यमन्यथा नियतसाहचर्यमनुपपन्नमिति विचारात्पूर्वं व्याप्तिं प्रतीत्य—ज्ञात्वा तत्संस्कारसहितविचारान्तरात् यैव व्याप्तिर्मया पूर्वं गृहीता सैवेयमिति प्रत्यभिजानानस्य—प्रत्यभिज्ञां कुर्वतो व्याप्तिप्रत्यभिज्ञाने व्याप्यस्य स्फुरणात्तत् ज्ञानमनुमानं स्यादिति योजना। आप्तोपदेशाद्वेत्यत्रापि एवं योजनं द्रष्टव्यम्। उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय द्वितीयमाशङ्कते ❀ विशेषेति ❀। विचाराप्तोपदेशाभ्यां जायमानज्ञानस्य परोक्षतया विशेषविषयत्वेनास्ति व्याप्यविशेषविषयत्वे सति परामर्शत्वमनुमानत्वमतो नातिव्याप्तिरित्यर्थः। विशेषस्य विषयान्तरेऽभावादव्याप्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀। किमिदं विशेषविषयत्वं पर्वतादिनिष्ठधूमादिभेदविषयत्वं किं वा सामान्यतो व्यक्तिविषयत्वमिति विकल्प्य प्रथमेऽव्याप्तिरित्युक्तं स्पष्टयति ❀ एकेति ❀। पर्वतनिष्ठधूमविषयत्वस्यारण्यगतधूमपरामर्शेऽनुमापकेऽभावादव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ❀ सामान्येति ❀। व्यक्तित्वाधिकरणमात्रं प्रागुदाहृतप्रत्यभिज्ञानेऽपि स्फुरतीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः।

एवं व्याप्यविषयत्वप्रयुक्तं दूषणमुक्त्वा साध्यज्ञानजनकत्वप्रयुक्तं दूषणं दर्शयितुं विकल्पयति ❀ किं चेति ❀। धूमवत्त्वादिहेतोः पर्वतादेरग्निमत्त्वं यदाकदाचित्प्रतीयते कालविशेषस्य व्याप्तिविशेषणत्वास्फुरणाद्, उत यदा व्याप्यपरामर्शस्तदानीमेवानतिप्रसङ्गादिति विकल्पार्थः। आद्यमतिप्रसङ्गेन दूषयति ❀ नेति ❀। अनियतकालाग्निमत्तादिप्रतीतौ यथाऽनुमानकालेऽग्न्यर्थी पर्वते पवर्त्तते तथा कालान्तरेऽपि

लिङ्गपरामर्श ही अनुमानत्वेन गृहीत होता है।

समाधान—चर्चित आप्तोपदेश या अपनी ऊहा के आधार पर व्याप्ति का ज्ञान कर लेने के पश्चात् 'यैव मया व्याप्तिर्गृहीता, सैवेयम्'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा का भी 'परामर्श' पद से ग्रहण हो सकता है, अतः व्यप्यविषयक शाब्द या ऊहा ज्ञान में अनुमानत्वापत्ति बनी है।

शङ्का—प्रत्यभिज्ञायमान व्याप्य की अभिज्ञा (प्राथमिक) ज्ञान शाब्दादिरूप परोक्ष ज्ञान नहीं, विशेषज्ञान या प्रत्यक्ष होना चाहिए, अतः उक्त शाब्दादि व्याप्य परामर्श में अति प्रसक्ति नहीं होती।

समाधान—व्याप्य के विशेष रूप दो प्रकार के हो सकते हैं—(१) पर्वतवृत्तित्व, धूमत्वादि और (२) व्याप्यव्यक्तित्व या स्वलक्षण। इनमें प्रथम पक्ष के अनुसार शब्दादि वृत्ति कृतकत्वादि-घटित व्याप्यपरामर्व में अव्यापकत्व (अव्याप्ति) दोष है, एक व्यक्तिविषयकत्व दूसरी व्याप्यव्यक्तियों के ज्ञान में सम्भव नहीं। और द्वितीय पक्ष के अनुसार पूर्वोक्त शाब्दादि ज्ञानोत्तर प्रत्यभिज्ञा को लेकर अतिव्याप्ति होती है।

दूसरी एक जिज्ञासा यहाँ यह भी उठती है कि 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः इस परामर्श के द्वारा पर्वत में कादाचित्क अग्निमत्ता की प्रतीति (अनुमिति) होती है ? अथवा वर्तमान कालीन वह्निमत्ता की ? प्रथम कल्प के अनुसार अनियतकालीन अग्निमत्ता की प्रतीति होने पर जैसे अनुमानकाल में अग्नचर्थी पर्वत में प्रवृत्त होता है, वैसे ही कालान्तर में भी प्रवृत्त होना चाहिए। द्वितीय कल्प में 'वर्तमान काल' पद से अनुमान-प्रयोग का काल विवक्षित है ? अथवा धूम का काल ? प्रयोग-काल का ग्रहण करने पर असम्भव हो जाता है, क्योंकि पर्वत-

तदानीमग्निमत्तया व्याप्तत्वानवगमात् ।

तदेति धूमकालोऽपेक्षित इति चेन्न, क्वचिद्देशेऽन्यदाऽपि धूमस्यावस्थानमस्तीति कालान्तरस्यापि धूमकालत्वात् ।

तद्धूमकालोऽपेक्षित इति चेन्न, तच्छब्दस्य व्यक्तिविशेषवचनत्वे अप्रतीतव्याप्तिकत्वम् , यत्किञ्चिद्व्यक्तिवचनत्वे चोक्तदोषापत्तिः ।

हेतोः पक्षधर्मतयाऽप्यपर्वतादिधर्मः, साध्यो मा भूत् , ततस्तु कालान्तरे किं न स्यात् । तं कालमन्तर्भाव्य पक्षत्वे कथं पश्चान्निष्कम्पं प्रवर्तेत । धूमकालमन्तर्भाव्य

तदर्थी प्रवर्त्ततैव प्रवृत्तिहेतुविषयनिश्चयभावादिति भावः । अस्तु तर्हि द्वितीयस्तत्राह ❀ नेति ❀ । तदिति प्रयोगकालो विवक्षित उत धूमकाल इति विकल्प्य प्रयोगकालस्य विवक्षितत्वे तद्विशिष्टाग्निना धूमस्य व्याप्त्यग्रहाद् व्याप्यपरामर्श इति लक्षणासम्भव इति भावः । द्वितीयं कल्पमाशङ्कते ❀ तदेति ❀ । धूममात्रकालो विवक्ष्यते किं वा पक्षनिष्ठधूमकाल इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀ । कालान्तरेऽपि क्वचिद्देशान्तरे धूममात्रस्यावस्थानमस्तीति कृत्वा कालान्तरस्य धूमकालत्वादग्न्यर्थिप्रवृत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । द्वितीयमाशङ्कते ❀ तदिति ❀ । तच्छब्देन पर्वतादिपक्षविशेषो विवक्ष्यते किं वा पक्षमात्रमाद्येऽसिद्धिरित्याह ❀ नेति ❀ । पक्षविशेषनिष्ठधूमकालीनाग्निना व्याप्तिग्रहाभावादसम्भव इत्यर्थः । अप्रतीतव्याप्तिकत्वं व्याप्याभिमतस्येति शेषः । द्वितीयमपवदति ❀ यदिति ❀ । पक्षमात्रनिष्ठधूममात्रस्य कालान्तरेऽपि सत्त्वं यत्र क्वचिद्यत्किञ्चिद्धूमधर्मिणो यत्किञ्चित्साध्यवत्तया येन केनचित्पक्षीकरणादतश्च कालान्तरेऽप्यग्न्यर्थिप्रवृत्तिः स्यादिति कथितदोषापत्तिरित्यर्थः । व्याप्तिमात्रान्न साध्यसिद्धिः किन्तु हेतोः पक्षधर्मतयाऽपि तेन न पर्वतनिष्ठात् धूमाद्देशान्तरकालान्तरवह्निसिद्धिरिति शङ्कते ❀ हेतोरिति ❀ । हेतोर्व्याप्त्या पक्षधर्मतयाऽप्यपर्वतादिधर्मः पर्वतेतरदेशगतस्तत्कालेतरकालगतो वह्निः साध्यो मा भूत् किन्तु तद्देशकालीन एव साध्यो भवेदिति योजना । पक्षधर्मताबलात् पक्षधर्मनियमवत्कालनियमोऽपि भविष्यतीति भावः । पक्षधर्मताबलात्पक्षनियम इति दृष्टान्तांशमङ्गीकरोति ❀ तत इति ❀ । हेतोः पक्षधर्मता देशान्तरव्यावर्त्तिका तर्हि कालान्तरव्यावर्त्तिकाऽपि किं नाङ्गीकृता तत्राह ❀ कालेति ❀ । पक्षधर्मता खल्वनुमानवादिभिः पक्षे साध्यसिद्ध्यर्थमङ्गीकृता साध्यसाधनयोरैकाधिकरण्यव्याप्तिबलान्न चैवं कालसिद्धिस्तस्य साध्यतद्विशेषणयोरभावादित्यर्थः । पक्षधर्मता पक्षे साध्यं साधयन्ती कालनियममपि साधयत्येव कालस्यापि पक्षान्तर्भावितत्यत आह ❀ तमिति ❀ । द्वितीयतृतीयक्षणादौ वह्न्यर्थी तत्र न प्रवर्त्तेत कालनाशेनान्तर्भावितकाल-

---

वृत्ति धूमकालीन अग्नि के साथ महानस में धूम की व्याप्ति गृहीत नहीं हुई, अतः उस धूम से उस अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता। धूम-काल का ग्रहण करने पर अन्य देश और अन्य काल में प्रवृत्त्यापत्ति होती है, क्योंकि किसी-न-किसी देश में जो धूम है अथवा उसी (पर्वत) देश में जो अन्यकालिक धूम है, उस का काल भी धूम-काल है, उस काल की अग्नि का सम्बन्ध गृहीत हो सकता है। 'धूम' पद से तद्धूम का यदि ग्रहण करते हैं, तब 'तत्' पद के द्वारा व्यक्ति-विशेष (लिङ्ग परामर्श-विषयीभूत व्यक्ति) को लेने पर नानाव्यक्तिक साध्य-स्थल पर अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि तद्धूम कालीन अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति गृहीत नहीं होती। पक्षमात्रगत धूममात्र की सत्ता तो कालान्तर में भी सम्भावित है, अतः कालान्तर में पूर्ववत् प्रवृत्त्यापत्ति होती है।

'अन्यकालीन धूम से अन्यकालीन अग्नि की सिद्धि नहीं हो सकती'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हेतुगत पक्षधर्मता के बल पर अपक्षवृत्ति अग्नि की सिद्ध्यापत्ति तो नहीं हो सकती किन्तु कालान्तरीण अग्नि की सिद्धि क्यों न हो ? यदि कहा जाय कि धूम-काल का भी पक्षता में अन्तर्भाव विवक्षित है, तब अनुमान के पश्चात् द्वितीयादि क्षणों में अग्न्यर्थी की वहाँ निष्कम्प प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि धूम-काल के नष्ट हो जाने पर तत्काल-घटित

चेदुक्तमावर्तते। तद्धूमकालश्चेद्, अंशतः स्ववृत्तिः।

२९. व्याप्तिलक्षणतद्ग्रहोपायखण्डनम्

कश्च व्याप्तिशब्दार्थ इति वक्तव्यम्।

(१) अविनाभाव इति चेन्न, किमेकस्याव्यतिरेकेऽपरस्य भावोऽविनाभावपदार्थः, उत एकस्य व्यतिरेकेऽपरस्य व्यतिरेकः? यद्याद्यः, तदाऽव्यतिरेकोऽन्वयार्थ इत्येकस्यान्वयेऽपरस्यान्वय इत्युक्तं स्यात्। एवञ्च सति पार्थिवत्व-लोहलेख्यत्वयोरन्वयो व्याप्तिः स्यात्।

न काचित्कः सम्बन्धो व्याप्तिः, सार्वत्रिकस्य तथात्वेन विवक्षितत्वादिति चेत्,

---

पक्षस्यापि नष्टत्वादित्यर्थः। धूमपरामर्शे नियतोत्तरकालमन्तर्भाव्य पक्षो न भवति येन द्वितीयक्षणादावप्रवृत्तिः, किं तु धूमकालमन्तर्भाव्यातो द्वितीयक्षणादौ प्रवृत्त्युपपत्तिर्नापि कालान्तरे प्रवृत्तिरिति शंकते ❀ धूमेति ❀। धूममात्रकालमन्तर्भाव्य किं वा तद्धूमकालमन्तर्भाव्य पक्षत्वमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ उक्तमिति ❀। धूममात्रकालस्य सर्वदा भावात्सर्वदाऽपि प्रवृत्तिः स्यादित्युक्तं दूषणमावर्तत इत्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ❀ तदिति ❀। तद्धूमकालमन्तर्भाव्य यः पक्षस्तस्मिंस्तस्यैव धूमस्य वृत्तावंशत आत्माश्रयो धूमस्य पक्षविशेषणतया स्वं प्रत्याश्रयत्वादित्यर्थः।

व्याप्यस्य पक्षधर्मत्वं लिङ्गत्वमित्यत्र पक्षधर्मत्वमखण्डि, व्याप्यत्वमपि खण्डयितुं तद्विशेषणव्याप्तिखण्डनं प्रस्तौति ❀ कश्चेति ❀। व्याप्यत्वं वदता व्याप्तिर्निरूपणीया सा च दुर्निरूपेत्याशयः। व्याप्तिलक्षणं शंकते ❀ अविनेति ❀। दूषणं प्रकटयन्विकल्पयति ❀ किमिति ❀। न विनाभावः अविनाभावस्तत्र नञो विनेत्यनेन सम्बन्धः? उत भावेत्यनेन? यदि विनापदसंबन्धस्तर्हि एकस्य व्यापकस्याव्यतिरेके भावे परस्य व्याप्यस्य भाव इत्यर्थः स्याद्, यदि भावपदेन संबन्धस्तर्ह्येकस्य व्यापकस्य व्यतिरेकेऽभावेऽपरस्य व्याप्यस्य व्यतिरेकोऽभावोऽविनाभाव इति विकल्पार्थः। प्रथमपक्षमनुवदति ❀ यदीति ❀। व्यतिरेकव्याप्तिरसङ्गृहीता स्यादित्यभिप्रेत्य परिनिष्पन्नमर्थमाह ❀ तदेति ❀। न केवलमव्याप्तिरतिव्याप्तिरपीत्याह ❀ एवं चेति ❀। यत्पार्थिवं तल्लोहच्छेद्यमिति व्याप्त्यभावे लक्षणातिव्याप्तिरित्यर्थः।

पक्षता भी नष्ट हो जाती है, वह धर्मी पक्ष ही नहीं रहता, अपक्ष में प्रवृत्ति क्योंकर होगी? तद्धूम-काल का पक्षता में अन्तर्भाव मानने पर तद्धूमकालवत्पर्वत की धूमगत वृत्तिता (पक्षवृत्तिता) का उपपादन अंशतः स्ववृत्तित्व दोष के कारण सम्भव नहीं होता।

२९. व्याप्ति के लक्षणादि का खण्डन

व्याप्ति पदार्थ भी क्या है?

(१) अविनाभावो व्याप्तिः—

शङ्का [व्याप्ति का पुरातन लक्षण चला आता है—'अविनाभावः'। न्यायवार्तिक (पृ. २९७) एवं उस की तात्पर्य टीका और परिशुद्धि में इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है। तत्त्वोपप्लवकार ने भी (पृ. २५) इस की आलोचना की है।

समाधान—अविनाभाव क्या है? (१) एकस्याव्यतिरेकेऽपरस्य भावः? या (२) एकस्य व्यतिरेकेऽपरस्य अभावः? प्रथम कल्प के अनुसार अव्यतिरेक का अर्थ अन्वय है, अतः एक (व्यापक) पदार्थ का अन्वय (भाव) होने पर दूसरे (व्याप्य) पदार्थ का भाव होना चाहिए। पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का घटादि कतिपय स्थलों पर अन्वय घट जानेमात्र से उनमें व्याप्ति स्वीकृत होनी चाहिए ['अविनाभाव' पद का दो प्रकार से छेद किया जा सकता है—(१) 'अविना भावः' और 'विना अभावः'। प्रथम लक्षण केवल अन्वय व्याप्ति का है और दूसरा व्यतिरेक व्याप्ति का]।

किमिदं सार्वत्रिकत्वं सम्बन्धस्य ? सर्वासु तज्जातीयव्यक्तिषु विद्यमानतेति चेत्, नेयं सर्वतज्जातीयव्यक्त्यपरिज्ञाने शक्याऽवधारणा । न च सर्वास्ता व्यक्तयो विशेषतो ज्ञातुं शक्याः, तत्तत्प्रमितिकरणासम्भवात् ।

इन्द्रियेण सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले सर्वास्तज्जातीयव्यक्तयो गृह्यन्ते, तदनभ्युपगमे षण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिवेति वाचस्पतिरुपालम्भमवादीदिति चेत्, मैवम्, सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिं गृह्णतः

उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय लक्षणविशेषणं शङ्कते ※ न क्वाचित्क इति ※ । व्याप्यमात्रस्य व्यापकमात्रेण यः सम्बन्धः स व्याप्तिर्नचैतत्पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरस्ति वज्रे पार्थिवत्वे सत्येव लोहभेद्यत्वाभावादिति भावः । विशेषणासम्भवेन विशिष्टलक्षणासम्भवं वक्तुं विशेषणस्वरूपं पृच्छति ※ किमिति ※ । यावत्यो व्याप्यव्यापकव्यक्तयस्तावतीषु सर्वासु विद्यमानत्वं सम्बन्धस्य सार्वत्रिकत्वमिति शङ्कते ※ सर्वास्विति ※ सर्वतज्जातीयव्यक्तिपरिज्ञाने सति तद्गतत्वं सार्वत्रिकत्वं सम्बन्धस्य ज्ञायते, किं वा तदज्ञान इति विकल्प्य न द्वितीयोऽसम्भवादित्याह ※ नेयमिति ※ । अस्तु तर्हि प्रथमः कल्पस्तत्राह ※ न चेति ※ । कुत इत्यत आह ※ तत्रेति ※ । स्वेन स्वेनासाधारणरूपेण सर्वव्यक्तिपरिज्ञाने करणभूतेन्द्रियसन्निकर्षाभावादित्यर्थः ।

प्रमितिकरणासम्भवोऽसिद्ध इन्द्रियस्यैव प्रमितिकरणत्वादिति शङ्कते ※ इन्द्रियेणेति ※ । यदा यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तिग्रहणकाले चक्षुषा धूमाग्नी संयोगात् गृह्येते तदा धूमत्वाग्नित्वसामान्ये संयुक्तसमवायात् गृह्येते तद्विशेषणभूताश्च व्याप्यव्यापकव्यक्तयः सर्वाः सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या गृह्यन्त इत्यर्थः । विपक्षे दण्डं न्यायवाचस्पतिरेवावोचदित्याह ※ यदिति ※ । यस्य सर्वोपसंहारवत्या व्याप्तेरनभ्युपगमे षण्डकं नपुंसकमुद्वाह्य परिणीय मुग्धाया मूढकामुक्याः परिणेतुः पुत्रप्रार्थनसदृशं व्याप्यदर्शनाद्व्यापकानुमानमित्याक्षेपमवादीदित्यर्थः । अतिप्रसङ्गेन परिहरति ※ मैवमिति ※ । यद्वस्तु तत्प्रमेयमिति

शङ्का—पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व में से अतिप्रसङ्ग हटाने के लिए अविनाभाव का विशेषण दिया जा सकता है—सार्वत्रिकः । पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का सर्वत्र अन्वय सुलभ नहीं, क्योंकि हीरे में पार्थिवत्व होने पर भी लोहलेख्यत्व (लोहे की लेखनी से रेखाकन नहीं होता ।

समाधान—अविनाभावादि सम्बन्धों में विवक्षित सार्वत्रिकत्व क्या है ? यदि सभी तज्जातीय व्यक्तियों में विद्यमान सम्बन्ध को सार्वत्रिक सम्बन्ध कहा जाय, तब यह सभी तज्जातीय व्याप्य-व्यापक व्यक्तियों का परिज्ञान न होने पर सम्भव नहीं हो सकता, उन सभी व्यक्तियों का परिज्ञान विशेषरूप से नहीं हो सकता, क्योंकि अतीतानागतादि-घटित सभी व्याप्य-व्यापक व्यक्तियों के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्षरूप करण सुलभ नहीं ।

शङ्का—सभी धूम और अग्नि व्यक्तियों के साथ यद्यपि चक्षुरादि का कोई लौकिक सन्निकर्ष नहीं, तथापि सामान्यलक्षणारूप अलौकिक सन्निकर्ष (चक्षुःसंयुक्तधूमादिवृत्तिधूमत्वादिमत्त्व) सम्भव हो जाता है । व्याप्ति-ग्रहण काल में सभी व्याप्य-व्यापक व्यक्तियों की उपस्थिति इसी सन्निकर्ष के माध्यम से सुलभ हो जाती है, इसको न मान कर किसी लिङ्ग-परामर्श से अनुमिति की कामना को वाचस्पति मिश्र ने वैसा ही बताया है, जैसा कि किसी स्त्री का षण्डक जडे से वि कर उससे की कामना करना । अतः सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष का मानना परमावश्यक है, उसी के बल पर सार्वत्रिक अविनाभाव का बोध हो सकता है ।

समाधान—यदि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के आधार पर सभी पदार्थों का विशेष ज्ञान हो जाता है, तब सर्वज्ञता की प्रसक्ति होती है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि यदि

सार्वज्ञ्यप्रसङ्गात् ।

क्वचिदप्यज्ञानं ते न स्यादिति च सार्वज्ञ्यापादनमिति न प्रतिकृत्याऽपि । प्रमेयतया व्याप्तिग्रहणकाले सर्वतज्जातीयव्यक्तिग्रहणे प्रमेयत्वादिसर्वं तदा ज्ञायत एव, न तु रूपान्तरेणेति चेन्न , यदि रूपान्तरेण तत् प्रमेयं तदा रूपान्तरवतोऽपि प्रमेयत्वाधारतया कथमग्रहणम् ? अथ न प्रमेयं नास्त्येव रूपान्तरेण तत् । येन तु रूपेणास्ति तेन सर्वेण प्रमेयमिति यावद्विद्यमानाकारेण ज्ञातत्वप्रसङ्गः । तथात्वस्वीकारे च ज्ञायतां प्रमेयत्वदर्शिना भवता मामकी चित्तवृत्तिः, ततः श्रद्धास्ये ।

स्यादेतत्—यथा भेदोऽन्योन्याभाववैधर्म्यादिः पृथक् , तथैक्यमपि वस्तूनाम् ।

वस्तुत्वादेः प्रमेयत्वाविना व्याप्तिग्रहणकाले सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सर्वपदार्थग्रहणप्रसङ्गेन सर्वज्ञत्वं ते स्यादित्यर्थः । सर्वज्ञत्वं ते स्यादित्यतिप्रसङ्गस्याऽपि सर्वज्ञानव्यतिरेकेणासम्भवात्तत्रापि सर्वज्ञत्वप्रसङ्ग इत्याऽऽशङ्क्याह ❀ क्वचिदिति ❀ । मत्पृष्टपदार्थाकथनात्तद्विषयज्ञानाभावस्तव सिद्धः स न स्यात्तद्विषयज्ञानवत्त्व इति मदीयप्रसङ्गार्थं इति कृत्वा तवापि सर्वज्ञत्वं स्यादिति न प्रतिकृत्यापि प्रभवतीत्यर्थः । क्व चिदपि मच्चित्तस्थे पदार्थे पृष्टस्यावचनात् यत्तवाज्ञानं निश्चितं तत् न स्यादित्यनेन प्रकारेण सार्वज्ञ्यापादनमिति कृत्वा तन्न प्रतिकृत्यापीति योजना । कृत्या नाम कश्चिद् देवताविशेषोऽनर्थहेतुस्तस्य विनाशकं देवतान्तरं प्रतिकृत्येत्युच्यते न प्रतिबन्दीत्यर्थः । इदमिष्टापादनं सर्वस्यापि प्रमेयाकारेण व्याप्तिग्रहणकाले ग्रहणादिति शङ्कते ❀ प्रमेयेति ❀ । तर्हि सर्वस्य व्याप्तिग्रहणकाले सिद्धत्वादसाधारणविषयाभावोऽनुमाया इत्यत आह ❀ न त्विति ❀ । तद्रूपान्तरं प्रमेयं न वा, यदि प्रथमस्तत्राह ❀ नेति ❀ । रूपान्तरस्य प्रमेयत्वे तदात्मना तद्रूपमपि गृहीतं स्यादित्यर्थः । द्वितीयमुत्थापयति ❀ अथेति ❀ । यदस्ति तत्प्रमेयमिति भवन्नियमात्तत्र स्यादेवेत्याह ❀ नास्तीति ❀ । माऽस्तु तदप्रमेयं रूपान्तरं तथापि विद्यमानरूपेष्वेव कतिपयरूपापरिज्ञानान्न सार्वज्ञ्यप्रसङ्गस्तत्राह ❀ येनेति ❀ । विद्यमानाकारस्य सर्वस्य प्रमेयत्वाधारतया ज्ञातत्वात्सार्वज्ञ्यमप्यस्तु को दोषस्तत्राह ❀ तथात्वेति ❀ । श्रद्धास्ये तत्सार्वज्ञ्यमिति शेषः ।

भेदाभेदमतावलम्बनेन चोदयति ❀ स्यादेतदिति ❀ । अन्योन्याभावादिर्भेद एको न भवति किं तु

कोई व्यक्ति अपने को सर्वज्ञ मानता है, तब दूसरे के मन की बात बताकर अपनी सत्यता प्रमाणित कर सकता है ।

आप (नैयायिकों) के सर्वज्ञतापादन पर यदि आप हम (खाण्डनिक) पर उलट कर सर्वज्ञतापादन करते हैं कि 'अयं सर्वज्ञः'—इस तथ्य को कोई सर्वज्ञ ही जान सकता है, सर्वज्ञता का आपादन भी कोई सर्वज्ञ ही कर सकता है । तब यह एक कृत्या (संहारक) देवता के सामने प्रतिकृत्या (संहारक प्रतियोगी) देवता खड़ा करना भी सम्भव नहीं, क्योंकि हम आप (नैयायिकों) के उस सर्वज्ञतापादक (सामान्यलक्षणा) मन्त्र के उपासक ही नहीं ।

शङ्का—व्याप्ति-ग्रहण-काल में प्रमेयत्वेन ही व्यक्तियों का ज्ञान होता है, विशेषतः नहीं, सर्वज्ञता नाम है—विशेषतः सर्वज्ञानवत्ता । विशेषतः सर्वज्ञानवत्ता न होने के कारण सर्वज्ञत्वापादन नहीं किया जा सकता ।

समाधान—सर्वज्ञता के लिए जो रूप अपेक्षित है, उस रूप (तत्तद्रूप) से वस्तु प्रमेय है ? या नहीं ? यदि है, तब सर्वज्ञता होनी चाहिए और यदि उस रूप से वस्तु प्रमेय नहीं, तो न सही जिस रूप से युक्त होकर वह प्रमेय है, उस रूप से तो सर्वज्ञता अवसित हो जाती है, किन्तु उस पर श्रद्धा तभी हो सकती है, जब कि हमारे चित्त की बात बता दें ।

शङ्का—जैसे भेद का स्वरूप अन्योऽन्याभावरूप माना जाय या वैधर्म्य रूप, पर निश्चित है कि वह वस्तुओं में भिन्न-भिन्न होता है, एक नहीं और अभेद सर्वत्र एक है, वैसे ही प्रमेयत्व

ततः प्रमेयत्वाद्यपि धर्मिणामेकत्वमेकमेव। ततः प्रमेयत्वेन ज्ञायमानं तत् सर्वमपि तेनैक्येन प्रतीयमानैकव्यक्त्यात्मकमेव ज्ञायमानं भवतीति कथं तदेकत्ववेदिनः सार्वज्ञ्यम्। न च वाच्यं नानात्वमपि व्यक्तीनां प्रमेयमिति तदपि धर्मितया ग्राह्यमेवेति, यतस्तदपि प्रमेयत्वादिना गृह्यमाणमेकमेव गृहीतं भवतीति। तस्माद् "एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः।"—इति। तत्त्वतः = ताद्रूप्येण रूपीभूता इति।

तदेतदपि नोपपन्नम्, नानैकमिति व्याहतप्रतीत्यापत्तेः। अथ रूपान्तरेण नानात्वं प्रमेयत्वादिना चैक्यमिति व्यवस्थित्या न व्याघातः स्यात्, तर्हि प्रमेयत्वाद्याधारस्य व्यक्तिभेदस्य कृत्स्नस्य ग्रहणात् सार्वज्ञ्यापत्तिस्तादवस्थ्येवेति।

किञ्च—सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या तज्जातीयविशेषग्रहणे तासु सर्वासु

भिन्न इति वैधर्म्यदृष्टान्तमाह ❀ यथेति ❀ । भेदस्य भिन्नत्वात्तद्विलक्षणमभेदापरपर्यायमैक्यं वस्तूनामेकमेवेत्याह ❀ तथेति ❀ । ऐक्यस्यैकत्वेन प्रमेयत्वस्य किमायातमिति तत्राह ❀ तत इति ❀। प्रमेयत्वं वस्तुत्वं च सर्वभावानामेकत्वमेकमेव तथाऽपि कथमनिष्टापत्तिपरिहार इत्यत आह ❀ तत इति ❀। यतः प्रमेयत्वादिलक्षणेनैकत्वेनैक्यात्प्रमीयमाणायाः पुरोवर्तिन्या एकस्या व्यक्तेरात्मना स्वरूपेण ज्ञायमानमेकमेव ज्ञानं भवतीत्येकत्ववेदित्वान्न सार्वज्ञ्यप्रसङ्ग इत्यर्थः । नानात्वस्यापि प्रमेयत्वात्प्रमेयग्रहणे तद्धर्मितया नानात्वमपि गृह्यत एवेति स एव सार्वज्ञ्यप्रसङ्ग इत्यत आह ❀ न चेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ यत इति ❀। नानात्वमपि गृह्यमाणं प्रमेयत्वादिना गृह्यमाणत्वादेकमेव गृहीतं भवतीत्यर्थः। नानात्वमपि प्रमेयत्वादिना गृह्यमाणमेकमेव भवति यस्मात्तस्मादित्युत्तरश्लोकार्थमपेक्षितमाह ❀तस्मादिति❀। अभियुक्तवचनमुदाहरति ❀ एक इति ❀ । सर्वे भावास्तत्त्वत इतीति ❀ यथायथमसाधारणरूपेण सर्वपदार्थज्ञानं तत्रोक्तं नैकत्वज्ञानमित्याशङ्क्य तत्त्वत इति पदं व्याचष्टे ❀ तत्त्वत इति ❀। एकत्वं नानात्वं च किमेकेन रूपेण सर्वभावानामुत रूपभेदेनेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ तदिति ❀। हेतुं व्याचष्टे ❀ नानेति ❀। एकत्वनानात्वयोरेकतयाऽवस्थानव्याघातस्तथाहि एकं नानेति शब्दप्रत्ययानामेकार्थत्वेऽन्योन्यविषयस्यान्योन्यान्तर्भावाभ्युपगमेऽन्यतरपरिशेषादन्यतरत् लुप्येतेत्यर्थः।

द्वितीयं कल्पमुत्थापयति ❀ अथेति ❀। रूपान्तरेण घटपटादिव्यक्त्यात्मनेति यावत्। रूपान्तरस्य प्रमेयत्वानधिकरणत्वेऽसत्त्वापातात्प्रमेयत्वाधिकरणतया साकल्येन ग्रहात्सार्वज्ञ्यापत्तिर्वज्रलेपायितेति परिहरति ❀ तर्हीति ❀ ।

सर्वत्र एक है, जिसे एकत्वेन वस्तुओं का ज्ञान है, उसे एकज्ञ कह सकते हैं, सर्वज्ञ नहीं जैसे कि कहा गया है—एक वस्तु यदि तत्त्वत: (एकत्वेन) जानी जाती है, तब सभी पदार्थ तत्त्वतः (एकत्वेन) ही जाने जाते हैं, अन्य रूप से नहीं।

समाधान—'नाना पदार्थ एकत्वेन अवगत होते हैं'—ऐसा कहने पर वदतोव्याघात दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि नानात्व और एकत्व दो विरोधी धर्म हैं, एकत्र कभी रह नहीं सकते, तब आप यह कैसे कह रहे हैं कि 'सर्वं ऐक्येन प्रतीयमानमेकं भवति'। इस प्रकार एकत्व का उपपादन न हो सकने के कारण पदार्थ अनेक है, उनका जानना सर्वज्ञता ही है।

शङ्का—नानात्व और एकत्व का एकत्र सामञ्जस्य रूप-भेद से हो सकता है, अतः तत्तद्रूपेण नानात्व और प्रमेयत्वेन एकत्व मानने पर किसी प्रकार का व्याघात नहीं आता।

समाधान—तत्तद्रूपावच्छिन्न पदार्थ यदि प्रमेय नहीं, तब प्रमेयत्व, केवलान्वयी धर्म नहीं हो सकता, एवं घटत्व-पटत्वादि तत्तद्रूपेण पदार्थों में अप्रमेयत्व या असत्त्व प्रसक्त होता है, अतः तत्तद्रूपेण वस्तुओं का भी प्रमेयत्वेन ज्ञान मानना आवश्यक है, सर्वज्ञत्वापत्ति से आप नहीं बच सकते।

व्यक्तिषु सम्बन्धास्तित्वे किं प्रमाणम् ?

सर्वव्यक्तिवत् तत्सम्बन्धग्रहेऽपि व्याप्तिग्राहकमिन्द्रियमेव प्रमाणमिति चेत्, तर्हि क्वचिदेवमवधारितस्य यद्व्यभिचारो दृश्यते, तन्न स्यात्, इन्द्रियेण तत्सम्बन्धस्य प्रमितत्वात्। भ्रान्तिस्तत्र सम्बन्धप्रतीतिः, पश्चाद् बाधादिति चेन्न, सामग्र्यभेदे काचिद् भ्रान्तिः, काचिदभ्रान्तिरिति विभागानुपपत्तेः। दोषादोषवैचित्र्यविवेचनस्य च दुष्करत्वात्।

कार्यभेदादेव सामग्रीभेदोऽप्युन्नेय इति चेत्, उन्नीयताम्, स एव तु कीदृगुन्नेय

सार्वज्ञ्यप्रसङ्गात् न सर्वव्याप्यव्यापकव्यक्तिग्रहसम्भव इत्युक्तमधुना प्रौढया सर्वव्यक्तिग्रहमुपेत्य न सार्वत्रिकसम्बन्धलक्षणव्याप्तिग्रहसम्भवस्तद्ग्राहकानिरूपणादित्याशयवानाह ॐ किं चेति ॐ। किं प्रमाणमिति प्रत्यक्षमुतानुमानादीति विकल्पाभिप्रायः। नानुमानादि तस्य व्याप्तिसापेक्षतया तद्ग्रहात्प्रागप्रवृत्तेरित्येक कल्पं दुर्गन्धं निरस्य प्रमाणमिति कल्पान्तरमाशङ्कते ॐ सर्वेति ॐ। संयुक्तसमवेतविशेषणभूता व्याप्तिविशिष्टा व्यक्तयस्तेन व्याप्तिरपि संयुक्तसमवेतविशेषणतया व्यक्तिवदिन्द्रियेण गृह्यत इत्यर्थः। धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे या सामग्री सैव पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोर्व्याप्तिग्रहेऽप्युत तद्विलक्षणेति विकल्प्य प्रथममपाकरोति ॐतर्हीतिॐ। पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोः काष्ठादाववधारिततया व्याप्तेर्वज्रादौ व्यभिचारो दृश्यते स न स्यादित्यर्थः। सामान्यप्रत्यासत्त्या सार्वत्रिकसम्बन्धस्य प्रमितत्वादिति हेतुमाह ॐ इन्द्रियेणेति ॐ। धूमाग्न्योरिवेति दृष्टान्तः। प्रमितत्वादित्यसिद्धो हेतुः, पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोर्व्याप्तिग्रहस्य भ्रान्तित्वादिति शंकते ॐ भ्रान्तिरिति ॐ। व्याप्तिग्रहत्वाविशेषे सा किं नाभ्रान्तिर्धूमाग्निव्याप्तिग्रहवदित्याशंक्याबाधितार्थत्व-मभ्रान्तित्वप्रयोजकमित्याह ॐ पश्चादिति ॐ। अबाध्याऽपि सा धूमाग्निव्याप्तिग्रहसामग्रीगतकार्यजन्यत्वा-त्तदेवेति परिहरति ॐ नेति ॐ। धूमाग्न्योरदुष्टमिन्द्रियं व्याप्तिग्राहकं दुष्टं तु पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरिति सामग्री विलक्षणेति द्वितीयं कल्पमाशंक्याह ॐ दोषेति ॐ। किमिदानीमिह वैचित्र्यं प्रत्यक्षगम्यमुतानुमे-यम् ? नाद्य इन्द्रियस्याप्रत्यक्षत्वादित्यर्थः।

बाध्यत्वाबाध्यत्वलक्षणकार्यगतवैलक्षण्यात्सामग्रीवैलक्षण्यमनुमेयमिति द्वितीयकल्पमाशङ्कते ॐ कार्येति ॐ। कार्यवैलक्षण्यं सामग्रीवैलक्षण्यानुमापकमित्युक्तमङ्गीकरोति ॐ उदिति ॐ। अनङ्गीकृतमंशं

यदि किसी प्रकार सभी व्याप्य और व्यापक व्यक्तियों का ज्ञान मान भी लिया जाता है, तब भी उनमें व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ज्ञान कैसे होगा ? उसका अस्तित्व भी कैसे प्रमाणित होगा ? जैसे सभी व्यक्तियों का भान इन्द्रियसन्निकर्ष के द्वारा होता है, वैसे ही व्याप्ति का भी इन्द्रिय के द्वारा ही ग्रहण होगा, अतः व्याप्ति-ग्राहक इन्द्रिय को ही व्याप्ति की सत्ता में प्रमाण कहा जा सकता है। तब पृथिवीत्व और लोहलेख्यत्व का सम्बन्ध कुछ स्थलों पर अवधारित होकर जो कहीं वज्र (हीरादि) में व्यभिचार देखा जाता है, वह कैसे होगा ? क्योंकि इन्द्रिय प्रमाण से वह अवधारित हो जा चुका है। यदि कहा जाय कि ऐसे स्थलों पर सम्बन्ध-प्रतीति को भ्रान्तिरूप माना जाता है, क्योंकि पश्चात् वह बाधित हो जाता है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एक ही कारणसे जनित कार्य कभी प्रमा और कभी भ्रम होता है—यह क्यों ? धूम और अग्नि की व्याप्ति-ग्राहक इन्द्रिय निर्दुष्ट है किन्तु पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व की व्याप्ति-ग्राहक इन्द्रिय सदोष है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दोषादोष का विवेचन दुष्कर है।

शङ्का—दुष्टादुष्टत्व-ज्ञान प्रयत्न करने पर हो सकता है, शबरस्वामी कहते हैं—"कथं दुष्टादुष्टावगमः ? इति चेत्, प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद् दोषमवगच्छेमहि, प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि" (श० भा० १।१।५) प्रकृत में कार्यगत दोषादोष के आधार पर सामग्री में दोषादोष का अनुमान किया जा सकता है।

समाधान—अनुमान कैसे होगा—यही तो विचारणीय है 'धूम और अग्नि का अविना-

इति वाच्यम्। न तावत्सार्वत्रिकसम्बन्धभावाभावात्मकः, तदानीं भाविनां सम्बन्धानामसत्त्वेनाकारणत्वात्। सामान्यतश्च तज्जातीययोः सम्बन्धस्य प्रतीतेः पूर्वं सत्त्वं भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणम्। क्वचिदपि सम्बन्धाभावे भ्रान्तेरनुत्पादात्।

किमेतावता, अन्य एव तर्हि कार्यभेदात्कारणभेदः कल्पयिष्यत इति चेत्, स हि किमिन्द्रियसहकारिभूतः करणान्तरमेव वा कल्पनीय इति वाच्यम्। नाद्यः, इन्द्रियस्य भाविभूतसम्बन्धांशे प्रमाणत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्। प्रत्युत व्युपरते-

---

स्फोरयति ※ स इति ※। यत्र दोषस्तत्र सार्वत्रिकसम्बन्धाभावो यत्र दोषाभावस्तत्र सार्वत्रिकसम्बन्धः कर्मतया व्याप्तिग्रहणसामग्र्यामन्तर्भवतीत्येवंरूपो विशेष उन्नेय उतान्य इति विकल्पाभिप्रायमेतत्प्रत्यक्षज्ञाने कर्मतयाकारप्रदस्यैव विषयत्वनियमात्। प्रथम एव कल्पोऽस्त्वित्यत आह ※ तदानीमिति ※। सम्बन्धस्य सामग्र्यन्तर्भावे प्राक्सत्त्वलक्षणं करणत्वं वाच्यं तन्न सम्भवति कालान्तरभाविधूमाग्निसम्बन्धानां व्याप्तिग्रहणापेक्षया प्रागसत्वादित्यर्थः। यद्यपि भावसम्बन्धाविशेषात्मना तदानीं न सन्ति तथाऽपि सामान्यात्मना सन्त्येव व्याप्यव्यापकसम्बन्धस्य कस्यचित्तदा सद्भावादित्याशङ्क्याह ※ सामान्येति ※। तज्जातीययोर्व्याप्यव्यापकजातीययोः सम्बन्धः। पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि काष्ठादौ सम्बन्धो भवतीति भावः। तदेवोपपादयति ※ क्वचिदिति ※। सद्वादिनो मते देशान्तरादिगतस्यैव भ्रान्तौ स्फुरणं क्वचित्प्रामाणिकस्यैवान्यत्रारोपावगमाविति भावः।

प्रथमकल्पदोषोऽनङ्गीकारपरास्त इत्यभिप्रेत्य द्वितीयकल्पमाशङ्कते ※ किमिति ※। अस्य पक्षस्यासम्भवं वक्तुं विकल्पयति ※ स होति ※। इन्द्रियसहकारितया कारणनिरपेक्षमेव कारणं वेति विकल्पार्थः। प्रथमपक्षं निषेधति ※ नेति ※। सार्वत्रिकसम्बन्धग्रहणकारणस्य वर्तमानैकग्राहीन्द्रियसहकारित्वासम्भवादिति भावः। न केवलमिन्द्रियस्य कारणत्वे प्रमाणाभावः प्रत्युत व्यापारव्यतिरेकेण व्याप्तिग्रहणदर्शनादकारणमेवेत्याह ※ प्रत्युतेति ※। पूर्वं प्रतीतः सम्बन्धो यस्य व्याप्यव्यापकधर्मिद्वयस्य तस्य व्याप्त्यवधारणदर्शनादुपरतः चक्षुरादीन्द्रियव्यापारो यस्य तस्य पुंसो व्याप्तिमन्तरेण धूमाग्न्योर्भूयः

भावरूप सम्बन्ध-सार्वत्रिक है और पार्थिवत्व-लोहलेख्यत्व का सार्वत्रिक नहीं'—ऐसा कहना सम्भव नहीं, क्योंकि सार्वत्रिक सम्बन्ध में भावी व्यक्तियों का सम्बन्ध भी आ जाता है, वर्तमानकाल में भावी व्यक्तियों की सत्ता ही नहीं, तब उनके सम्बन्ध का ज्ञान कैसे होगा ? सामान्यतः तज्जातीय कतिपयव्यक्तियों का सम्बन्ध भ्रम-प्रमा-साधारण है अर्थात् जैसे धूम-अग्नि का अविनाभाव कतिपय व्यक्तियों में गृहीत है, वैसे ही पार्थिवत्व-लोहलेख्यत्व का सहचार भी कतिपय घट, मणिक, मल्लिकादि व्यक्तियों में गृहीत हो रहा है। यदि पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का सम्बन्ध कहीं भी गृहीत न होता, तब उस अन्वय में व्याप्ति का सन्देह ही क्यों होता ?

शङ्का—व्याप्य-व्यापकभाव की प्रतीति कार्य है और अविनाभाव उसका कारण। कार्यगत प्रमात्वाप्रमात्व के आधार पर कारणगत भेद की कल्पना आवश्यक है, यदि अविनाभावगत सार्वत्रिकत्वासार्वत्रिकत्व का भेद सिद्ध नहीं हो सकता, तब व्यभिचरितत्वाव्यभिचरितत्वादिरूप कोई और ही भेद आँका जा सकता है।

समाधान—वह कल्प्यमान कारण-भेद व्याप्ति ग्रहण में इन्द्रिय का सहकारी कारण माना जाता है ? अथवा वह किसी का सहकारी न होकर स्वतन्त्र कारण माना जाता है ?

(१) प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि भावी व्याप्य-व्यापक व्यक्तियों के सम्बन्ध-ग्रहण में इन्द्रियों को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ वर्तमान काल के ही पदार्थ का ग्रहण करने की क्षमता रखती हैं। व्याप्तिग्रहण की इन्द्रियों में कारणता नहीं, अकारणता ही सिद्ध होती है, क्योंकि धूम और अग्नि व्यक्तियों को देख लेने के पश्चात् विचारक पुरुष

न्द्रियव्यापारस्यापि विचारयतः पूर्वप्रतीतसम्बन्धधर्मिद्वयस्य व्याप्त्यवधारणदर्शनात्। ५

तदाऽपि मनोऽस्तीन्द्रियमिति चेत्। अस्तु, तस्मिन् कार्ये मनसः करणत्वे तु प्रमाणाभावः, अवश्यपरिकल्पनीयेनान्येनैव सर्वानुपपत्त्युपशान्तेः। कारणत्वमात्रं तु चक्षुरादिजज्ञानवन्मनसस्तत्र स्यात्।

चक्षुरादिवत्करणमन्यदेव तत्कल्पनीयमिति सप्तममिन्द्रियं प्रमाणान्तरं वा प्रसज्येत। अन्यथा चाक्षुषादिप्रतीतावपि चक्षुरादेः करणत्वं न स्यात्। शक्यते तत्रापि वक्तुं मन एव तत्र सुखादिप्रतीतिवत्करणम्, चक्षुरादयस्तु सहकारिमात्रम्।

साहित्यदर्शनं नोपपद्यत इति विचारयतोऽन्वयव्यतिरेकाभावान्नेन्द्रिये व्याप्तिग्रहकारणत्वमित्यर्थः। भूतभाविसम्बन्धांशे बहिरिन्द्रियस्याप्रमाणत्वेऽपि मनसः प्रामाण्यं भवतीत्याशङ्कते ॐ तदेति ॐ। व्याप्तिग्रहणं मनोऽतिरिक्तकरणजन्यं बाह्यार्थग्रहणत्वात् घटादिग्रहणवदिति परिहरति ॐ अस्त्विति ॐ। न च स्वप्नप्रत्यये व्यभिचारः प्रमाणत्वेन विशेषणीयत्वाच्चक्षुरादेर्व्यभिचारित्वेनाकारणत्वादकारणप्रतीतेरनुपपत्त्या मनसस्तत्र करणत्वं कल्प्यत इत्यत आह ॐ अवश्येति ॐ कार्यवैलक्षण्यदर्शनाद्यः कारणविशेषः कल्प्यते तेनैव करणानुपपत्त्यादेरुपशान्तेर्न मनसस्तत्र करणत्वमित्याशयः। मनसः समाधानमन्तरेण कदाचिदपि व्याप्तेरग्रहात्केवलव्यतिरेकविरोधोऽकारणत्ववादिन इत्यत आह ॐ कारणेति ॐ। रूपादिज्ञाने मनोऽन्वयव्यतिरेकौ कारणतामात्रेण तथेहापीत्यर्थः। अस्तु मनसस्तत्र कारणत्वमात्रमतस्तस्यैव कल्प्यमानो विशेषः सहकारी भविष्यतीत्याशंक्याह ॐ चक्षुरिति ॐ। करणमन्तरेण कार्यानुत्पत्तेः करणान्तरं कल्पनीयं यथा रूपादिज्ञानेन मनोऽतिरिक्तं चक्षुरादि करणं कल्प्यते तद्वदित्यर्थः। तथाऽपि कथमनिष्टापत्तिरित्यत आह ॐ सप्तेति ॐ। व्याप्तिग्रहस्य साक्षात्त्वे तत्करणं सप्तममिन्द्रियं प्रसज्यते शरीरसंयुक्तमतीन्द्रियं साक्षात्प्रतीतिसाधनमिन्द्रियमिति तल्लक्षणात् परोक्षत्वे तत्करणं सप्तमं प्रमाणं प्रसज्येत व्याप्त्यादिनिरपेक्षतया लिङ्गादिवैलक्षण्यादतश्चापसिद्धान्त इत्यर्थः। व्याप्तिग्रहणं मनोतिरिक्तकरणं मा भूद् भूयाच्च बाह्यार्थग्रहणमतश्च विपक्षे बाधकाभावादप्रयोजक इत्यत आह ॐ अन्यथेति ॐ। रूपादिज्ञानस्यापि चक्षुराद्यकरणत्वप्रसङ्गो बाध इत्यर्थः। व्याप्तिग्रहणस्य मनःकरणमात्रत्वे रूपादिज्ञानस्य कथं चक्षुराद्यकरणत्वं तत्राह ॐ शक्यत इति ॐ। तत्रापि रूपादिज्ञानेऽपि। तत्र इन्द्रियाणां मध्य इत्यर्थः। अन्धादेरूपाद्यनुपलम्भाच्चक्षुरादिकरणत्वसिद्धिरित्यत आह ॐ चक्षुरिति ॐ। कल्प्यमानो विशेषो निरपेक्षकरणमिति द्वितीयं दूषयति ॐ नापीति ॐ। तत्कल्प्यमानमिन्द्रियरूपम्? प्रमाणान्तरं वा? आद्ये कथितरीत्या षडिन्द्रियान्तर्भावासम्भवात्सप्तममिन्द्रियं प्रसज्येत द्वितीये तु स्वसमयपरिगणितप्रमाणप्रकाराधिक्यं प्रसिद्धप्रमाण-

अपनी आँखें बन्द कर सोचने लगता है कि 'यत्र धूमः, तत्राग्निः'—ऐसे अनुभव से धूम और अग्नि का नियत सहचार सिद्ध होता है। यदि व्याप्ति-ग्रहण में इन्द्रियाँ भी करण होती, तब इन्द्रियों के निष्क्रिय हो जाने पर व्याप्ति-ग्रह नहीं होना चाहिए था। यद्यपि सोचने की अवस्था में चक्षुरादि के निष्क्रिय हो जाने पर भी मनोरूप इन्द्रिय सक्रिय है, तथापि 'व्याप्ति-ग्रहरूप कार्य में वह कारण है'—इसमें कोई प्रमाण नहीं। जब कथित स्वतन्त्र कारण की कल्पना करनी ही है, तब उसी से सभी अनुपपत्तियाँ दूर हो जाती है, मन आदि को कारण मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं। उसी सहकारिभूत कारण से व्याप्ति का ज्ञान होगा और मन को वैसे ही एक साधारण कारण माना जायगा, जैसे चाक्षुषादि ज्ञानों में उसे साधारण कारणमात्र माना जाता है। फलतः व्याप्ति-ग्रहण के लिए वह कल्प्यमान सहकारी कारण या तो चक्षुरादि छः इन्द्रियों को छोड़कर सप्तम इन्द्रिय सिद्ध होगा अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न कोई पञ्चम प्रमाण। अन्यथा (मन को ही व्याप्ति-ग्रह का हेतु मानने पर) चाक्षुषादि ज्ञानों में चक्षुरादि को करण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, मन को ही उनका भी करण माना जा सकता है। जैसे सुखादि की प्रतीति का मन करण है, वैसे ही चाक्षुषादि प्रतीतियों का भी,

नापि द्वितीयः, इन्द्रियान्तरप्रसङ्गात्, प्रमाणान्तरप्रसङ्गाच्च।

नापि विनाभाव एकस्य व्यतिरेकेणापरस्याव्यतिरेकः, तन्निषेधोऽविनाभाव इति द्वितीयः पक्षः। एवं हि लोहलेख्यत्वव्यतिरेकश्च पार्थिवत्वव्यतिरेकश्च क्वचिदस्तीति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्यविनाभावः प्रसज्येत।

सार्वत्रिकं व्यतिरेकयौगपद्यं विवक्षितम्, न तु क्वाचित्कम्। अत एवोच्यते—अविनाभावनियम इति चेन्न, सार्वत्रिकान्वयावधारणनिरासन्यायेन सार्वत्रिकव्यतिरेकावधारणस्याप्यशक्यत्वात्। शक्यत्वे चाऽन्वयावधारणमेवास्तु सार्वत्रिकम्, कृतं व्यतिरेकावधारणकुटिलिकया।

वैलक्षण्यादित्यर्थः।

अविनाभाव इत्यत्र नञो विनापदसंबन्ध इति प्रथमकल्पमपास्य भावपदेन नञः सम्बन्ध इति द्वितीयं पक्षं प्रतिक्षिपति ※ नापीति ※। विनाभाव इत्येतद्व्याचष्टे ※ एकस्येति ※। एकस्य व्यापकस्य व्यतिरेकेणाभावेनापरस्य—व्याप्यस्याव्यतिरेकोभावस्तन्निषेधोऽविनाभाव इति। अतिव्याप्तेरिति हेतुमाह ※ एवं हीति ※। लोहलेख्यत्वस्य व्यापकस्य व्यतिरेकेऽभावे व्याप्यस्य पार्थिवत्वस्यापि व्यतिरेकोऽस्तीति तयोरप्यविनाभावः स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। व्यतिरेकसाहित्यमात्रं यदि लक्षणं तदा स्यादतिव्याप्तिर्न तथा, सार्वत्रिकव्यतिरेकसाहित्यस्य लक्षणत्वान्नैवमतिव्याप्ति वज्रे लोहलेख्यत्वव्यतिरेकेऽपि पार्थिवत्वाव्यतिरेकादिति शंकते ※ सार्वेति ※। उक्तेऽभियुक्तसम्मतिमाह ※ अत इति ※। एवं सति विशिष्टलक्षणासिद्धिरिति दूषयति ※ नेति ※। सामान्यप्रत्यासत्त्या शक्यावधारणत्वमित्युपेत्यापि दूषयति ※ शक्यत्वे चेति ※। व्याप्यव्यापकव्यतिरेकावधारणस्याप्यन्वयावधारणपर्यवसायितया गौरवात् कुटिलिका ततो वरं सार्वत्रिकमन्वयस्य प्रामाणिकमनुमानमुक्तं लाघवादित्यर्थः।

चक्षुरादि केवल मन के सहकारी कारण कहे जा सकते हैं।

(२) द्वितीय (कल्प्यमान कारण को स्वतन्त्र कारण) कल्प में तो उसमें इन्द्रियान्तरत्व या प्रमाणान्तरत्व का प्रसङ्ग वज्रलेप होकर रह जाता है, क्योंकि वह भावी व्याप्य-व्यापक व्यक्तियों के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है, अतः न तो उसे परिगणित इन्द्रिय कह सकते हैं और न परोक्ष ज्ञान-जनक अनुमानादि प्रमाणरूप।

'अविनाभाव' पद के आरम्भ में अवस्थित नञ् का 'विना' पद के साथ अन्वय करने पर अन्वयव्याप्ति का लक्षण प्राप्त होता है, जैसे वह निर्दोष नहीं रहा, वैसे ही उस नञ् को 'अभाव' पद के साथ जोड़ देने पर 'विना अभावः'—ऐसा व्यतिरेक व्याप्ति का लक्षण माना जाता है, वह भी समग्र व्याप्ति का लक्षण नहीं बन सकता, क्योंकि उससे 'एकस्य (व्यापकस्य) व्यतिरेकेण अपरस्य (व्याप्यस्य) भावः—ऐसा विनाभाव और उसका अभाव अविनाभाव होता है। अर्थात् जिन दो पदार्थों के अभावों का सहचार देखा जाता हो, वे दोनों अविनाभूत कहे जाते हैं—ऐसा अविनाभाव का स्वरूप सिद्ध होता है। उसके अनुसार व्यापकीभूत लोहलेख्यत्व का आकाशादि में अभाव होने पर पार्थिवत्वरूप व्याप्य का भी अभाव देखा जाता है, अतः उन दोनों के व्यभिचरित सम्बन्ध में व्याप्ति का लक्षण अतिव्याप्त होता है।

शङ्का—जिन दो पदार्थों के अभावों का सर्वत्र सहचार ही होता है, उनको अविनाभूत कहते हैं—ऐसा लक्षण करने पर उक्त अतिव्याप्ति दोष नहीं रहता, क्योंकि हीरे में लोहलेख्यत्व का अभाव होने पर भी पार्थिवत्व का अभाव नहीं होता, अतः वहाँ अतिव्याप्ति क्यों होगी?

समाधान—जैसे सार्वत्रिक अन्वय का अवधारण सम्भव नहीं हो सका, उसी प्रकार सार्वत्रिक व्यतिरेक का अवधारण भी सम्भव नहीं। यदि सम्भव है, तब सीधे-सीधे अन्वय में ही सार्वत्रिकत्व का अवधारण कर लिया जाय, व्यतिरेक में सार्वत्रिकत्व अवधारण के द्वारा

(२) यत्र विपक्षे वृत्तौ बाधकमस्ति, तयोरन्वयो व्याप्तिरिति केचित्। तन्न, यत्तु विपक्षे वृत्तौ बाधकं तत्प्रमाणं वा तर्को वा स्यात्? आद्ये न तावदिन्द्रियम्, तदसम्भवात्। अन्यथा व्यभिचाराव्यभिचारसंशयो न स्यात्। नाप्यनुमानम्, अनवस्थाप्रसङ्गात्। नाप्यर्थापत्तिः, अनुमानाव्यतिरेकात्। व्यतिरेके वा यदि लिङ्गिव्यतिरेकेण

अविनाभावो व्याप्तिरिति लक्षणं निरस्य लक्षणान्तरं शंकते ॐ यत्रेति ॐ। यत्र हेतोर्विपक्षे वृत्तौ बाधकं प्रमाणरूपं तर्करूपं वाऽस्ति यस्य च साध्यस्याभावेन विपक्षता तयोरन्वयोर्व्याप्तिर्यद्वा यत्र ययोः साध्यसाधनयोर्मध्ये साधनस्य विपक्षे वृत्तौ बाधकमस्ति तयोरन्वयो व्याप्तिरिति। यस्य वृत्तौ बाधकमस्ति तदन्वय इत्युक्ते सर्वधारान्वयव्याप्तिस्तद्व्यावृत्तये हेतोरितिविशेषणम्। तथाऽपि स्वरूपासिद्धस्य पक्षे वृत्तौ बाधकमस्ति तद्व्यावृत्त्यर्थं विपक्षेति विशेषणम्। नैवमतिव्याप्तिर्लोहलेख्यत्वाभावेऽपि वज्रे पार्थिवत्वप्रतीतौ बाधकाभावादित्याशयः। विपक्षबाधकसहितोऽन्वयो व्याप्तिरित्येवमुक्तं स्यात्तन्न सम्भवति विशेषणासिद्ध्या विशिष्टासिद्धेरिति दूषयति ॐ तदिति ॐ। विशेषणासिद्धिमुपपादयितुं विकल्पयति ॐ यदिति ॐ। प्रमाणतर्कातिरिक्तबाधकासम्भवात्। यदि प्रमाणं तदपि प्रत्यक्षमुतानुमानमाहोस्विदर्थापत्तिरिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ आद्य इति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ तदिति ॐ। इन्द्रियस्य सम्बन्धबोधमात्रपर्यवसायितया अतीतानागतविप्रकृष्टविपक्षसन्निकर्षासम्भवाच्च बाधकत्वासम्भवादित्यर्थः। विपक्षखण्डमाह ॐ अन्यथेति ॐ। भूः शशविषाणोल्लिखिता भूत्वादित्यादौ विपक्षबाधकाभावेन व्यभिचाराशङ्का न स्यादिन्द्रियेणैव विपक्षवृत्त्यभावस्य प्रमितत्वेन संशयनिवारकविशेषदर्शनसद्भावादतश्च सन्दिग्धानैकान्त्यं क्वापि न स्यादित्यर्थः। अस्तु तर्हि गिरिरयमधूमः स्यादनग्निःवादवादिवदित्यनुमानं बाधकमिति द्वितीयस्तत्राह ॐ नापीति ॐ। हेतुमाह ॐ अनवस्थेति ॐ। तस्याप्यनुमानस्य व्याप्तिसापेक्षतया हेतोर्विपक्षवृत्तिबाधकानुमानान्तरगवेषणेऽनवस्थाऽन्योन्याश्रयो वा स्वेनैव सिद्धौ स्वाश्रयप्रसङ्गादित्यर्थः। अनग्नित्वे धूमानुपपत्तिरित्यादिरूपार्थापत्तिर्बाधिकेति तृतीयकल्पं पराकरोति ॐ नेति ॐ। अर्थापत्तेर्व्याप्तिसापेक्षतया केवलव्यतिरेकिप्रयोगान्तर्भावात्तार्किकमते तस्य च बाधकत्वं निरस्तमित्यर्थः। अर्थापत्त्युत्पत्तौ

अन्वय में सार्वत्रिकत्व के साधक वक्र मार्गानुसरण से क्या लाभ?

(२) यदभावे यद्वृत्तौ बाधकम्, तयोरन्वयो व्याप्ति—

शङ्का—जिस साध्य के विपक्ष (अभावाधिकरण) में जिस हेतु की वृत्तिता बाधित हो, उस साध्य के हेतुगत अन्वय (सहचार) को व्याप्ति कहा जाता है [लोहलेख्यत्व के हीरकरूप विपक्ष में पार्थिवत्व की वृत्तिता बाधित नहीं, अतः उनके सहचार में व्याप्तित्वापत्ति नहीं होती।

समाधान—हेतु की विपक्ष-वृत्तिता का जो बाधक कहा गया, वह क्या प्रमाणभूत है? अथवा तर्करूप? प्रथम कल्प के अनुसार इन्द्रियों को उस (बाधक प्रमाणता के) पद पर अभिषिक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि अतीत, अनागत, सूक्ष्म और विप्रकृष्ट विपक्षों के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष न होने के कारण विपक्ष-वृत्तित्व की बाधकता इन्द्रियों में सम्भव नहीं। अन्यथा 'इयं भूः शशविषाणाकृष्टा, भूत्वात्'—यहाँ पर विपक्षवृत्तित्व का अभाव इन्द्रिय से प्रमित होने के कारण व्यभिचार-संशय नहीं होना चाहिए। अनुमान प्रमाण को भी विपक्षवृत्तिता का बाधक नहीं कहा जा सकता, अन्यथा अनवस्था होगी, क्योंकि अनुमान में नियमतः व्याप्ति अपेक्षित है और व्याप्ति-ग्रह के लिए विपक्षवृत्तित्व के उत्तरोत्तर बाधकानुमान-परम्परा की कल्पना अनिवार्य है। विपक्षवृत्तिता की बाधक अर्थापत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथमतः उसे अनुमान से भिन्न ही नहीं माना जाता और यदि भिन्न माना जाता है, तब लिङ्गी (व्यापक) के अभाव में दृश्यमान लिङ्ग की अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से ही लिङ्गी की सिद्धि पर्यवसित हो

लिङ्गस्यानुपपत्तिः, तदा तत एव लिङ्गिसिद्धेः कृतमनुमानेन। अनेवम्भावे च तयोः किमायातम्।

अस्तु वा कथमपि तावदर्थापत्तिर्बाधिका, तथापि कीदृगभ्युपगम इति प्रष्टव्यम्। किं विपक्षवृत्तिबाधकसध्रीचीनो यत्र क्वचिदन्वयो व्याप्तिः, उत तत्सहितः सार्वत्रिकोऽन्वयः, उत किं नो विशेषगवेषणेन तत्सध्रीचीनः सामान्यतोऽन्वयो व्याप्तिः, उत सार्वत्रिकान्वयः, स च विपक्षे बाधकादवगम्यते ?

नाद्यः, विकल्पानुपपत्तेः। तथा हि–किं विपक्षे वृत्तौ बाधकं सर्वव्यक्तिविषयम्, उत सामान्यविषयम् ? आद्ये यत्राप्यनुमानं प्रवर्तनीयं तत्रावश्योपस्थाप्यया अन्यथाभावबाधकभूतयाऽर्थापत्त्यैव साध्यसिद्धेः शान्तमनुमानव्यसनेन।

द्वितीये क्वचिद्व्यभिचारेऽपि क्वचिदव्यभिचारमाश्रित्य बाधकस्य चरितार्थ-

---

त्रिरूपत्वानपेक्षणादनुमानेन तदपेक्षयैवोत्पद्यमानत्वात्तयोर्व्यतिरेक इति मीमांसकमतमनुसृत्याह ❀ व्यतिरेकेति ❀। लिङ्गिव्यतिरेकेण लिङ्गानुपपत्तिरर्थापत्तिरुतान्यादृशी यदि प्रथमस्तत्राह ❀ यदीति ❀। अग्न्यभावे धूमानुपपत्तिरित्येवंरूपार्थापत्तित एव पर्वतनिष्ठाग्निसिद्धेः कृतमलमनुमानेनेत्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ❀ नेवमिति ❀। लिङ्ग्यभावे लिङ्गानुपत्तिरित्येवंरूपत्वाभावेऽर्थापत्तेस्तयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः किमायातं लिङ्गिव्यतिरेकेण लिङ्गस्य वृत्तावनुपपत्त्यभावान्न तयाऽर्थापत्त्या व्यभिचारसिद्धिरित्याशयः।

अर्थापत्तेर्बाधकत्वमुपेत्यापि प्रतिब्रूते ❀ अस्त्विति ❀। निर्हेतुधूमानुपपत्तिर्हेतुमात्रमाक्षिपति न त्वग्निमिति कथमपि केनापि प्रकारेणेत्युक्तम्। तावदिति सम्प्रतिपत्तौ बाधकं प्रमाणमिति शेषः। तथाऽपि व्याप्तिस्वरूपं विवेचनीयमित्याह ❀ तथाऽपीति ❀। विकल्पमेव करोति ❀ किमित्यादिना ❀। विपक्षबाधकसहितः क्वापि तर्कान्वयो व्याप्तिरिति प्रथमकल्पार्थः। सध्रीचीनः सहित इत्येतत् विपक्षबाधकोपेतः सार्वत्रिकोऽन्वयो व्याप्तिरिति द्वितीयविकल्पार्थः। सार्वत्रिकत्वासार्वत्रिकत्वविशेषणगवेषणेनास्माकं किं स्याद् बाधकोपेतमन्वयमात्रं व्याप्तिरिति तृतीयकल्पार्थः। सार्वत्रिकान्वय एव व्याप्तिर्न बाधको व्याप्त्यान्तर्भवति किं तु तद्गमक इति तुरीयार्थः। प्रथममपाकरोति ❀ नेति ❀। अनुपपत्तिं प्रथयितुं विकल्पयति ❀ तथा हीति ❀। किं शब्दस्य सर्वशब्देन सम्बन्धः। साध्याभाववत्यो यावत्यो विपक्षव्यक्तयः सन्ति तासु सर्वासु हेत्वभावविषयमिति प्रथमकल्पार्थः। साध्याभाववद्वृत्त्यभावं हेतोर्बोधयति न तु सार्वत्रिकत्वादिविशेषं इति द्वितीयार्थः। आद्यं प्रतिवक्ति ❀आद्य इति❀। यत्र पक्षेऽनुमीयतेऽग्निस्तत्राप्यन्यथाभावबाधिकयाऽग्न्यभावे धूमभावोऽन्यथाभावस्तद्बाधिकया तत्र साध्यसिद्धेरनुमानकथया शान्तं निवृत्तमित्यर्थः। सा च तत्रावश्योपस्थाप्याऽन्यथा तत्राग्न्यभावे धूमभावस्याविरुद्धतया व्याप्त्यसिद्धेरिति भावः।

जाती है, अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यदि लिङ्गि-सिद्धि के अननुगुण अर्थापत्ति ली जाती है, तब उससे विपक्षवृत्तित्व का बाध नहीं हो सकता।

किसी प्रकार अर्थापत्ति को यदि विपक्षवृत्तिता का बाधक मान भी लिया जाता है, तब भी व्याप्तिस्वरूप के विषय में जिज्ञासा होती है कि क्या (१) विपक्षवृत्तित्व-बाधक से सहकृत क्वाचित्क अन्वय व्याप्ति माना जाता है ? या (२) उक्त बाधक-सहकृत सार्वत्रिक अन्वय ? या बाधक-सहकृत सार्वत्रिकत्वादिनिरपेक्ष सामान्यतः अन्वय ? अथवा विपक्षबाधकावगमित केवल सार्वत्रिक अन्वय ही व्याप्ति पदार्थ है ?

(१) प्रथम पक्ष में जिज्ञासा होती है कि क्या समस्त विपक्ष व्यक्तियों की वृत्तिता का बाध अपेक्षित है ? अथवा सामान्यतः विपक्षवृत्तित्व का बाधक ? समस्त सम्भाविता-सम्भावित विपक्ष व्यक्तियों में प्रकृत पक्ष में भी साध्याभाव के होने पर हेतु के भावरूप अन्यथाभाव की बाधिका जो अर्थापत्ति मानी जायगी, उसी से ही पक्ष में साध्य की सिद्धि पर्यवसित हो जाती है, अनुमान व्यर्थ हो जाता है। सामान्यतः विपक्षवृत्तित्व-बाधक की अपेक्षा होने पर सार्वत्रिक

त्वम्। धूमवत्तामात्रमग्निमत्तामात्रव्यतिरेकीत्येवंरूपो हि सामान्यतो विपक्षपक्षः, तत्र च बाधकं तयोरविरोधे पर्यवस्यति। अविरोधश्च क्वचित्साहित्याद् भवत्येवेति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि एवम्भूतव्याप्तत्वप्रसङ्गः।

नापि द्वितीयः, विशेषणवैयर्थ्यात्। सार्वत्रिकोऽन्वय इत्येवोच्यताम्। न च सोऽपि सङ्गत इत्युक्तम्।

नापि तृतीयः, बाधकस्य सामान्यविशेषविषयताविकल्पोक्तयुक्त्यैव निरस्तत्वात्।

नापि चतुर्थः। तथा हि—यद् धूमवत् तदग्निमदित्यत्रेदमन्वयस्य सार्वत्रिकत्वं वाच्यम्—यत्सर्वासां धूमव्यक्तीनामग्निसम्बन्धित्वम्, तद्यदि व्याप्तिग्रहकाले गृहीतम्, तदा पक्षस्यापि धूमवद्व्यक्तेरग्निमत्त्वं प्राक् गृहीतं स्मर्यत एवेति गतमनुमानम्।

द्वितीयमपवदति ❀ द्वितीय इति ❀। सामान्यविषयस्य क्वाचित्कमव्यभिचारमाश्रित्य चरितार्थत्वमिति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्येवम्भूतव्याप्तिप्रसङ्ग इत्युपरि सम्बन्धः। चरितार्थत्वं दर्शयितुं बाधकविषयं सामान्यतो विपक्षं दर्शयति ❀ धूमेति ❀। विपक्षं प्रदर्श्य बाधककृत्यमाह ❀ तत्रेति ❀। सर्वविषयत्वाभावे बाधके कथमविरोधे पर्यवस्येदिति न क्वाचित्कव्यभिचारमाश्रित्य बाधकत्वस्य चरितार्थत्वमित्यत आह ❀ विरोधश्चेति ❀। विरोधः सहानवस्थानं तदभावोऽविरोधः स च क्वचित्साहित्यमात्रेणापि भवतीत्यर्थः।

बाधकोपेतसार्वत्रिकोऽन्वयो व्याप्तिरिति द्वितीयं प्रत्याह ❀ नापीति ❀। बाधकसहित इति पदेन पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरन्वयो व्युदस्येत सार्वत्रिकविशेषणेनैव तद्व्यावृत्तं तस्यासार्वत्रिकत्वादित्यर्थः। तर्हि तद्विशेषणं परित्यज्य लक्षणं ब्रूमः तत्राह ❀ न चेति ❀। सम्बन्धसार्वत्रिकत्वस्यासर्वज्ञेन गृहीतुमशक्यत्वादित्युक्तमित्यर्थः। बाधकोपेतमन्वयमात्रं व्याप्तिरिति तृतीयं परास्यति ❀ नापीति ❀। बाधकस्य विपक्षसामान्यविषयत्वे क्वचिदव्यभिचारमाश्रित्य चरितार्थत्वात्पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तित्वप्रसङ्गो विशेषविषयत्वे बाधकार्थापत्त्यैव साध्यसिद्धेरनुमानं व्यर्थमित्युक्तयुक्त्यैव निरस्तत्वादित्यर्थः।

तुरीयोऽपि न चातुरीयं प्राञ्चतीत्याह ❀ नापीति ❀। दूषणं दातुमन्वयस्य सार्वत्रिकत्वं दर्शयति ❀ तथा हीति ❀। सार्वत्रिकत्वस्वरूपं प्रदर्श्य सम्प्रति तस्य व्याप्तिग्रहणकाले गृहीतत्वेऽनुमानप्रविलय इत्याह ❀ यदिति ❀। धूमवद्व्यक्तेः पक्षस्याग्निमत्त्वं व्याप्तिग्रहणकाले गृहीतं कालान्तरे सदृशसन्दर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारबलात्स्मर्यते इत्यनुमानोच्छेद इत्यर्थः। यदिति सन्देहः। व्याप्तिबलादग्निमदंशे स्मृति-

---

विपक्षवृत्तित्व या व्यभिचार का बाध आवश्यक न होने से किसी एक व्यभिचार क बाध कर देने मात्र से बाधक में बाधकत्व की उपपत्ति या चरितार्थता हो जाती है, फलतः पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व में भी व्याप्ति का लक्षण अतिप्रसक्त हो जाता है।

(२) द्वितीय (विपक्षवृत्तित्वबाधक-सहकृत सार्वत्रिक अन्वय) पक्ष में विशेषण दल की क्या आवश्यकता ? केवल 'सार्वत्रिक अन्वयो व्याप्तिः' इतना ही क्यों नहीं कहा जाता ? इतना कहना भी संगत नहीं—यह कहा जा चुका है।

(३) तृतीय (सामान्यतः विपक्षवृत्तित्व-बाधक-सहकृत (अन्वय) पक्ष में जिज्ञासा होती है कि बाधक प्रमाण विपक्ष की सामान्य वृत्तिता को विषय करता है ? अथवा विशेषवृत्तिता को ? प्रथम कल्प के अनुसार पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व के अन्वय में व्याप्तित्वापत्ति और द्वितीय कल्प में पूर्ववत् अनुमान की व्यर्थता पर्यवसित होती है।

(४) चतुर्थ (विपक्षबाधकावगमित केवल सार्वत्रिक अन्वय) पक्ष के अनुसार 'यद् धूमवत्, तदग्निमत्'—इस प्रकार के अन्वय में सार्वत्रिकत्व का तात्पर्य यह है कि सभी धूम व्यक्तियों में सभी अग्नि व्यक्तियों का सम्बन्धित्व, वह यदि व्याप्ति-ग्रह-काल में ही गृहीत

सामान्यतोऽग्निमत्त्वं तस्यापि गृहीतमेव, विशेषतस्त्वनुमीयत इति चेन्न। विशेषत इति किमग्निमत्त्वस्य विशेषो व्यक्तिरूपो विवक्षितः, उत कालदेशादिसम्बन्धस्तस्य ?

नाद्यः, सर्वव्यक्तीनां व्याप्तौ प्रतीतत्वेन भवतैवाङ्गीकारात्। नापि द्वितीयः, अग्निमद्रूपतया स्मृतस्य पक्षीभूतस्य धूमवद्विशेषस्य चक्षुरादिभिरेव पर्वतत्वादिदेशकालविशेषादिमत्तया परिच्छेदात्। यथा प्राक्प्रत्ययाहितसंस्कारसध्रीचीनैश्चक्षुरादिभिः परिच्छिद्यमानेदानीम्भावदेशविशेषावस्थानादेः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायमानताऽङ्गीक्रियते, तथैव अत्राऽप्यस्तु, कृतमनुमानेन।

नाप्युपमानं बाधकं विपक्षे शक्यं वक्तुम्, तस्य नियतविषयत्वेनैतादृशे

सम्भवेऽपि पक्षधर्मताबललभ्यो विशेषः प्रमेयोऽनुमानस्येति शङ्कते ॐ सामान्येति ॐ। विकल्पासहत्वेन दूषयति ॐ नेति ॐ। तदुपपादनाय विकल्पयति ॐ विशेषेति ॐ। प्रथमं स्वाङ्गीकारविरोधेन परिहरति ॐ नेति ॐ। हेतुमाह ॐ सर्वेति ॐ। सार्वत्रिकान्वये व्याप्तिरिति वदता त्वयैव सर्वव्यक्तीनां व्याप्तिग्रहकाले गृहीतत्वाङ्गीकारादगृहीतो विशेषोऽनुमेयो न वक्तुं शक्य इत्यर्थः। देशकालहस्तवितस्त्यादिपरिमाणसम्बन्धो विशेष इति द्वितीयं दूषयति ॐ नापीति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ अग्निमदिति ॐ। धूमवद्विशेषस्य पक्षीभूतस्य पर्वतादेरग्निमत्तया स्मृतस्य पर्वतत्वादिदेशकालविशेषादिमत्तया चक्षुरादिभिरेव परिच्छेदादनुमानवैयर्थ्यमिति सम्बन्धः। तत्र पर्वतो देशः कालो वर्त्तमानो विशेषादीत्यत्र सामान्यं गृह्यते। अग्निमद्रूपतया स्मृतस्य कथं देशादिविशेषवत्तया चक्षुरादिभिः परिच्छेदस्तत्राह ॐ अग्निमद्रूपतया स्मृतस्येति ॐ। अग्निमद्रूपस्य प्रागनुभूतत्वात्तत्संस्कारसहितचक्षुरादेर्विशिष्टाग्निमद्बुद्धौ करणत्वमित्यर्थः। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्फुटयति ॐ यथेति ॐ। प्राक्प्रत्ययः पूर्वानुभवस्तेनाहितो निक्षिप्तस्तत्संस्कारसहित इति यावत्। परिच्छिद्यमान इदानीम्भावविशेषावस्थानादिर्यस्य स परिच्छिद्यमानेदानीम्भावदेशविशेषावस्थानादिस्तस्येति विग्रहः। इदानीम्भावो वर्त्तमानकालसत्त्वम्। देशविशेषावस्थानं पुरोदेशवृत्तित्वमादिपदात्कृशत्वस्थूलत्वादि गृह्यते। दृष्टान्तोक्तमर्थं दार्ष्टान्तिकेऽर्पयति ॐ तथेति ॐ। पूर्वानुभवसंस्कारसहितचक्षुःसम्प्रयोगजनिते स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाने यथा देशकालादिविशिष्टो देवदत्तः स्फुरति तद्वद्व्याप्तिग्रहणकालगृहीताग्नेस्तत्संस्कारसहितचक्षुरादिना देशादिविशिष्टतया प्रत्यभिज्ञोपपत्तेरनुमानवैयर्थ्यमितिः।

हो जाता है, तब धूमवत् पक्ष व्यक्ति में भी अग्निमत्त्व पहले से ही गृहीत हो जाता है, उसी का स्मरण कर लेने मात्र से कार्य सम्पन्न हो जाता है, अनुमान व्यर्थ है।

शङ्का—सामान्यतः पक्ष में भी अग्निमत्त्व का ज्ञान होने पर भी विशेषतः अग्निमत्त्व गृहीत नहीं, उसी का अनुमान किया जाता है, अतः अनुमान व्यर्थ नहीं।

समाधान—'विशेष' पद से अग्निमत्त्व का व्यक्तिरूप विशेष विवक्षित है? अथवा अग्निमत्त्व के देश-कालादिरूप विशेष? प्रथम कल्प में अनुमान की व्यर्थता होती है, क्योंकि व्याप्ति-ग्रहण-काल में सर्व व्यक्तियों के सम्बन्ध का ग्रहण आप ही मान रहे हैं और द्वितीय कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि अग्नि के हस्त-वितस्ति आदि प्रदेश और वर्तमान कालादि से घटित विशेषताओं का ग्रहण चक्षुरादि से ही होता है, अनुमान से नहीं। जैसे किसी वस्तु के पूर्वानुभव-जनित संस्कारों से सहकृत चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा ही निश्चीयमान देश, कालादि विशेषावस्था-सम्पन्न देवदत्तादि पदार्थों की 'सोऽयम्'—इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा मानी जाती है, वैसे ही प्रकृत में भी 'तादृशाग्निमान् सोऽयं पर्वतः'—इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान चक्षुरादि से ही सम्पन्न हो जाता है, अनुमान निरर्थक है।

उपमान को भी विपक्षवृत्तिता का बाधक प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका

विषयेऽनुदयात्। नापि शब्दः, आप्तस्योपदेष्टुरभावे व्याप्त्यनवगमप्रसङ्गात्।

अभावस्तु कदाचित् स्यात्, सोऽपि निरूप्यमाणो न घटते। एवं स वाच्यः—यदि वह्निव्यतिरेकेण धूमः स्यात्तदा तथोपलभ्येत, न चोपलभ्यते, अतोऽनुपलम्भान्नास्ति तद्व्यतिरेकेणेति। तच्च न। तथा हि—क्वचिद्व्यभिचारादर्शनाद्वा अयमभावः प्रवर्तते, सर्वत्र व्यभिचारादर्शनाद्वा ? नाद्यः, पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, सर्वत्र योग्यानुपलम्भो वाऽनुपलम्भमात्रं वा वाच्यम्? नाद्यः, सर्वत्र योग्यानुपलम्भासम्भवात्। नापि द्वितीयः, पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि

उपमानं बाधकमिति कल्पान्तरं निराकरोति ❀ नापीति ❀। कुत इत्यत आह ❀ तस्येति ❀। उपमानं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धमात्रविषयमित्येके। सादृश्यविषयमित्यपरे। सर्वथा तस्य नियतविषयत्वेन व्याप्तिग्राहकत्वाभावादित्यर्थः। शब्दस्तर्हि हेतोर्विपक्षवृत्तौ बाधकं मानमित्यत आह ❀ नापीति ❀। शब्दोऽपि कृतको नित्यो वा ? न नित्यः व्याप्तिग्राहकवेदवचनानुपलम्भात् धूमादेर्नापि कृतकः उपदेष्टुर्व्याप्तिग्रहकालेऽभावेन तदग्रहणप्रसङ्गादित्यर्थः।

अभावस्तर्हि विपक्षवृत्तिबाधकं मानमित्यत्राह ❀ अभावस्त्विति ❀। अभावमानस्याभावविषयत्वाद्धेतोर्वृत्त्यभावे मानत्वं सम्भवतीति सम्भावनया स्यादित्युक्तम्। कदाचिदित्यापातत इत्यर्थः। अस्तु तर्हि स एव बाधकं मानं नेत्याह ❀ सोऽपीति ❀। अघटमानतां दर्शयितुं बाधकत्वेनेष्यमाणाभावप्रमाणस्वरूपं दर्शयति ❀ एवं हीति ❀। ग्रन्थस्तु स्पष्टार्थः। स एवं उच्यते को दोषस्तत्राह ❀ तच्चेति ❀। प्रतिज्ञानमुपपादयितुं विकल्पयति ❀ तथा हीति ❀। क्वाचित्कमदर्शनं व्यभिचाराभावं प्रमापयति सार्वत्रिकं वेति विकल्पार्थः। आद्यमपवदति ❀ नेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ पार्थिवेति ❀। पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि क्वचित्काष्ठादौ व्यभिचारादर्शनाद्व्याप्तत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। सार्वत्रिकमदर्शनमिति द्वितीयमपवदति ❀ नेति ❀। योग्यताऽनुपलम्भविशेषणं न वेति विकल्पार्थः। उपलब्धुं योग्यस्यानुपलम्भो योग्यता तु स्वेतरस्योपलम्भकपौष्कल्यमात्रं वाऽयोग्यतादिनिवृत्तिः। प्रथमकल्पमसम्भवेन पराकरोति ❀ नेति ❀। अतीतानागतविप्रकृष्टानां व्यभिचाराणां योग्यत्वासम्भव इत्यर्थः। द्वितीयं दूषयति ❀ नापीति ❀। हेतुमाह ❀ पार्थिवेति ❀। सर्वत्र व्यभिचारदर्शनं तत्र नास्ति वज्रमणौ पार्थिवत्वस्य लोहलेख्यत्वव्यभिचारदर्शना-

---

तो अपना नियत और सीमित 'संज्ञा-संज्ञि-बोधादिरूप क्षेत्र होता है, विपक्ष-वृत्तिता के बाध में उसका उदय होना ही सम्भव नहीं।

शब्द प्रमाण भी विपक्ष-वृत्तिता का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि स्वार्थानुमानादि स्थल पर कोई उपदेष्टा पुरुष की अपेक्षा ही नहीं होती कि उसके वाक्य को शब्द प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सके, शब्द के अभाव में व्याप्ति का अवगम ही नहीं हो सकेगा।

अभाव प्रमाण (अनुपलब्धि) तो कदाचित् विपक्षवृत्तिता-बाधक माना जा सकता था। किन्तु विचार करने पर वह भी पूरा नहीं उतरता, क्योंकि अनुपलब्धि का स्वरूप इस प्रकार बनाना होगा कि 'यदि वह्निव्यतिरेकेण धूमः स्यात्, तदा तथोपलभ्येत, न चोपलभ्यतेऽतोऽनुपलम्भात् नास्ति'। किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि क्या क्वाचित्क व्यभिचारादर्शन से यह अभाव (बाधकाभाव) अवसित होता है ? अथवा सर्वत्र व्यभिचारादर्शन से ? प्रथम कल्प के अनुसार पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का भी व्याप्य-व्यापकभाव मानना पड़ेगा। द्वितीय कल्प में जिज्ञासा होती है कि सर्वत्र योग्यानुपलम्भ अपेक्षित है ? अथवा अनुपलम्भमात्र सर्वत्र योग्यानुपलम्भ सम्भव नहीं, क्योंकि अतीत, अनागत और विप्रकृष्टादि पदार्थों में व्यभिचार को योग्य नहीं माना जा सकता। द्वितीय पक्ष के अनुसार कतिपय स्थानों पर व्यभिचार-दर्शन अपेक्षित है, वह तो पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का भी देखा जाता है, अतः उनके अन्वय में व्याप्ति की अतिप्रसक्ति होती है। यद्यपि वज्र (हीरे) में उनका व्यभिचार

सम्भवात् ।

तत्र वज्र एव व्यभिचार इति चेन्न, तदीयादर्शनदशायां व्यभिचारानवगमात् । तद्दर्शनदशायां तावदस्ति व्यभिचारः । यत्र तु न कदाचिदपि व्यभिचारदर्शनं तत्र व्याप्तिरिति चेत्, अत्रापि व्यभिचारो न द्रक्ष्यत इत्यत्रापि नियामकादर्शनात् ।

नापि विपक्षे बाधकस्तर्को वाच्यः ; तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वाभ्युपगमेऽनवस्था-प्रसङ्गात् । तदनभ्युपगमे मूलशैथिल्येन तर्काभासत्वापातात् ।

अथ ब्रूषे—न शक्यमिदं वक्तुम् । तथा हि—अग्निधूमव्यभिचारशङ्कायां बाधकः तर्कोऽयमभिधीयते—'यदि धूमोऽग्निं व्यभिचरेद्, अकारणकः सन्नित्यः स्यात्, न

दिति शङ्कते ❀ तत्रेति ❀ । अतिव्याप्त्यैव परिहरति ❀ नेति ❀ । यदा वज्रमणिर्न दृश्यते तदा पार्थिवत्वव्यभिचारानुपलम्भव्याप्तिरित्यर्थः । अतिप्रसङ्गपरिहारं शङ्कते ❀ तदिति ❀ । तावदिति निश्चये । क्व तर्हि व्याप्तिस्वीकारस्तत्राह ❀ यत्रेति ❀ । यत्र विषये न क्वचिन्न कदाचिदपि व्यभिचारदर्शनं तत्र व्याप्तिर्नैवं पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोर्व्याप्तिप्रसङ्गः क्वचित्कदाचिद् व्यभिचारदर्शनादित्यर्थः । विशेषणासिद्ध्या दूषयति ❀ नेति ❀ । धूमादिविषये यद्यपि व्यभिचारो न दृष्टो दृश्यते वा तथाऽपि न द्रक्ष्यत इति मानाभावाद् व्याप्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

विपक्षबाधकं प्रमाणमिति प्रथमकल्पमपाकृत्य तर्क इति द्वितीयपक्षं प्रतिषेधति ❀ नापीति ❀ । योऽपि विपक्षबाधकाभिमतस्तर्कः सोऽप्यापाद्यापादकयोर्व्याप्तिमूल उत नेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ तर्कस्येति ❀ । मूलभूतव्याप्तिसाधकं तर्कान्तरं तस्यापि व्याप्तिमूलतया तर्कान्तरमित्यनवस्थेत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह ❀ तदिति ❀ । तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वात्तदनभ्युपगमे प्रशिथिलमूलतर्काभास इत्यर्थः । नन्वयमपि कश्चित्तर्कोऽस्य व्याप्तिमूलत्वे तत्खण्डनव्याघातस्तदमूलत्वे प्रशिथिलमूलत्वमिति कथं नोष्ट्रलकुटन्यायापात इति । मैवम्, अनिर्वचनीयव्याप्तिमुपेत्य तत्सत्तांशखण्डनात्परसिद्धां व्याप्तिमुपेत्य तत्खण्डनादिति ।

तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वमुपेत्यैवानवस्थादिपरिहार उदयनोक्तस्तमाशङ्कते ❀ अथेति ❀ । इदमित्यनवस्थानादीति यावत् । कुतो न शक्यमित्यत आह ❀ तथा हीति ❀ । अयमिति वक्ष्यमाणः । कोऽसावित्यत आह ❀ यदीति ❀ । यदीति सन्देहे । भावत्वे सत्यकारणत्वादात्मवन्नित्यं स्यादेव । विपक्षे दोषमाह

है, तथापि उनका जब दर्शन नहीं होता, तब व्यभिचार का अवगम क्योंकर होगा ?

शङ्का—हीरे में पार्थिवत्व के होने पर भी जब लोहलेख्यत्व का अदर्शन या व्यभिचार-दर्शन हो रहा है, तब तो व्याप्ति की अतिप्रसक्ति है, किन्तु जहाँ पर कभी भी व्यभिचार-दर्शन न हो, वहाँ के ही अन्वय को व्याप्ति मानने पर अतिव्याप्ति नहीं रहती ।

समाधान—वैसा मानने पर असम्भव हो जायगा, क्योंकि किसी भी स्थल के लिए ऐसा नियम नहीं किया जा सकता कि यहाँ पर भविष्य में कभी भी व्यभिचार-दर्शन नहीं होगा ।

(२) विपक्षवृत्तिता-बाधक ज्ञान तर्कात्मक है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि तर्क में व्याप्ति की अपेक्षा होती है, अतः अन्योऽन्याश्रय और अनवस्थादि दोष प्रसक्त हो जाते हैं, क्योंकि इस तर्क की मूलभूत व्याप्ति का साधक तर्कान्तर और उसकी भी मूलभूत व्याप्ति के लिए अन्य तर्क की अपेक्षा होती है। जिस तर्क की मूलभूत व्याप्ति के लिए तर्कान्तर की अपेक्षा नहीं की जाती, उसका मूलाधार शिथिल होने के कारण उसे तर्काभास माना जाता है, वह सर्वथा कार्याक्षम होता है ।

शङ्का—ऐसा भी तर्क सम्भव है, जिसमें तर्कान्तर की अपेक्षा नहीं, जैसे 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्'—यहाँ पर 'यदि धूमोऽग्नि व्यभिचरेद्, अकारणकः स्यात्, नित्यः स्यात्, न

स्यादेव वा।' स चायमनुत्तरस्तर्कः, तत्र शङ्कायां व्याघातापत्तेः। तदेव ह्याशङ्क्यते, यस्मिन्ना शङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा नावतरन्तीति लोकमर्यादा। एवं सर्वत्रानुत्तरस्तर्को बाधकोऽभिधेय इति।

मैवम्, किमित्येवं शङ्कितव्यं यद्धेतुफलभाव एव न भविष्यति। एवं तु शङ्कितव्यम्—'अग्निं विहायान्यस्मादपि हेतोरयमुदेष्यती'ति।

॥ नेति ॥। यस्मिन्क्षणे सत्त्वमिष्टं तस्मिन्नपि न स्यादविशेषादिति शशविषाणवदत्यन्ताभावः स्यादित्यर्थः। कार्यं कारणपूर्वकमिति व्याप्तिमूलश्चेदयमपि तर्कस्तर्हि साऽपि व्याप्तिः शङ्क्यते, तत्रापि तर्कान्तरं वाच्यमित्यनवस्थापात उक्त इत्यत आह ॥ स चेति ॥। उत्तरो न विद्यते यस्य असावनुत्तरः व्याप्तिनिर्णयार्थमपेक्ष्यमाणोत्तरतर्कहीन इत्यर्थः। अनुत्तरोऽपरिहार्य इति वा। तर्कत्वे सति व्याप्तिमूलत्वाशङ्कया कथमनवस्थादि न स्यादित्यत आह ॥तत्रेति॥। येन तर्केण शङ्काऽऽपाद्यते त्वया तस्मिन्नपि तर्के प्रसङ्गसामान्येन व्याघातापत्तिरित्यर्थः। तर्ह्येवंविधशङ्कायाः कोऽविषयः तत्राह ॥ तदिति ॥। यथा जगत्कारणं प्रधानं परमाणुर्वेति पुरुषेण शङ्क्यते चेत्क्रियाव्याघातो नाम कथाव्याघातः स्वयं स्वीकृतव्याप्तिसाधनक्रियाव्याघातो वा इदमव्याप्तं शङ्कितव्यभिचारादित्यादिरूप एवं शङ्कमानस्य सर्वस्यैवानुमानस्य प्रविलयेन कथाप्रवृत्त्यनुपपत्तेरुक्तं हि साधकाभावे मुखस्पन्दनमात्रस्यापि कर्तुमशक्यत्वादिति। यद्वा कार्यं कारणपूर्वकं न भवतीत्याशङ्कमाने कारणोपादानक्रियाव्याघात आदिपदात् स्ववचनस्वभावव्याघातादयो गृह्यन्ते कारणाधीनात्मलाभत्वं कार्यत्वं तदकारणमित्युक्ते स्वभावव्याघातो वचनव्याघातश्चेति। लोकमर्यादा-प्रमाणव्यवस्था। धूमविषये यद्यप्येव तर्कोऽनुत्तरस्तथाऽपि न सर्वत्र संभवति कृतकत्वस्य नित्येऽपि प्रध्वंसे दर्शनादतो न कृतकत्वादनित्यत्वव्याप्तिस्तर्कलभ्येति तत्राह ॥ एवमिति ॥। यदि नित्यः शब्दस्तर्हि सर्वदोपलभ्येतेत्यादितर्को वाच्य इत्याशयः।

व्याघातपरिहारेण शङ्कां दर्शयन्परिहरति ॥ मैवमिति ॥। एवमाशङ्कितव्यमिति सम्बन्धः। यद्यस्मिन् शंक्यमान इति यावत्। हेतुफलभावः कार्यकारणभावः। हेतुफलभावव्याघातपरिहारेण शङ्कैव न सम्भवतीत्यत आह ॥ एवमिति ॥। कथमित्यत आह ॥ अग्निमिति ॥। धूमस्याग्निव्यभिचारं शङ्कमानस्य न कारणत्वमभिप्रेतं किं तु वह्निमदन्योऽपि हेतुर्धूमस्य सम्भवति इति तेन व्याघात इत्यर्थः।

स्यादेव वा'। ऐसे तर्क को अनुत्तर तर्क कहा जाता है, क्योंकि इसमें मूलभूत व्याप्ति की दृढता के लिए उत्तर तर्क (तर्कान्तर) की अपेक्षा नहीं होती। उसके मूलभूत आपाद्य-आपादक पदार्थों में व्यभिचार-शङ्का हो ही नहीं सकती, क्योंकि श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"तदेव हि आशङ्क्यते, यस्मिन् आशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा नावतरन्ति—इति लोकमर्यादा। नहि हेतुफलभावो न भविष्यतीति शङ्कितुमपि शक्यते, तथा सति शङ्कैव न स्यात्, सर्वं मिथ्या भविष्यतीत्यादिवत्" (न्या० कु० ३।७)। लोक में वहीं शङ्का उठाई जाती है, जो स्वयं अपनी मूल-घातिका न हो, अपने मूल पर प्रहार करनेवाली शङ्का कभी पनप नहीं सकती, क्योंकि अपनी प्रवृत्ति के आधारों को समाप्त कर देने पर प्रवृत्ति कभी सम्भव नहीं, जैसे कि 'यदि धूमो वह्निं व्यभिचरेत्, तर्हि अकारणकः स्यात्'—यहाँ पर 'अकारणक एव किं न स्यात्' - ऐसी शङ्का कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि कोई वस्तु कारण के विना नहीं हो सकती, अन्यथा भोजन के विना ही तृप्ति इन्द्रियों के विना ही ऐन्द्रियक ज्ञानादि होने लगेगा। ऐसे व्याघातों से व्याहत हो जानेवाले तर्क अनुत्तर तर्क कहे जाते हैं, ऐसे तर्कों में अनवस्थापत्ति नहीं होती, अतः ऐसे ही तर्कों का प्रयोग सर्वत्र करना चाहिए।

समाधान—'अकारणक एव किं न स्यात्'—इस प्रकार की हेतुफलभाव-निषेध परक आशङ्का ही क्यों की जाय? हम 'धूमो यद्यग्निं व्यभिचरेद्, अग्निं विहाय अन्यस्माद् हेतोरुदेष्यति'—ऐसी आशङ्का करेंगे। अग्नि-भिन्न अन्य किसी कारण से धूम की उत्पत्ति मानने

न च वाच्यम्- एवं हि सति धूमस्यैकजातित्वं न स्यादिति, क्वचिदिन्द्रियजन्यत्वे क्वचिदनुमानादिजन्यत्वेऽपि ज्ञानैकजात्यवत्तदुपपत्तेः।

तत्रेन्द्रियादीनामवान्तरसामान्ये साक्षात्कारित्वादौ प्रयोजकत्वम्, न ज्ञानतायामिति चेन्न, ज्ञानत्वस्याऽऽकस्मिकत्वपरिहारार्थं तत्कारणस्यानुगतस्य भवताऽवश्यं वक्तव्यत्वात्। धूमेऽपि वह्नेर्विशेष एव प्रयोजकत्वस्य तद्वच्छङ्कितुं शक्यत्वात्।

न दृश्यते तावदग्निप्रयोज्यो धूमे विशेष इति च न वाच्यम्, तददर्शनस्य आपाततो हेत्वन्तरप्रयोज्यावान्तरजात्यदर्शनेन अयोग्यतयाऽविकल्प्यत्वादप्युपपत्तेः। यदा तु हेत्वन्तरप्रयोज्यो धूमस्य विशेषो द्रक्ष्यते, तदाऽसौ विकल्पिष्यत इति

क्वचिदग्निजन्यो धूमः क्वचिद्धेत्वन्तरजन्य इति कारणविकल्पो न सम्भवति कार्यस्यैकजातीयत्वादेकं हि नानेकहेतुकमिति न्यायादित्यत आह ॐ न चेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ क्वचिदिति ॐ। घटादौ ज्ञानमिन्द्रियजन्यं ग्राहकेन्द्रियादौ लिङ्गजन्यं धर्मादौ शब्दादिजन्यमिति कारणविकल्पेऽपि ज्ञानत्वेन कार्यैकजात्यवद्वह्नितदितरजत्वेऽपि धूमैक्योपपत्तिरित्यर्थः। विभिन्नकारणवत्त्वे घटपटादिवदेकजातीयं न स्यादित्यस्य न क्वचिद्व्यभिचार इन्द्रियलिङ्गादीनां साक्षात्कारत्वानुमितित्वादौ प्रयोजकत्वादिति शंकते ॐ तत्रेति ॐ। परिहरति ॐ नेति ॐ। यदीन्द्रियादि ज्ञानत्वप्रयोजकं न भवति तर्हि ज्ञानत्वमाकस्मिकं स्यान्न तद्युक्तं "नियामकाद्धि भावानां क्वाचित्कत्वस्य सम्भव" इति न्यायादनुगतनियामकं वाच्यं च तद्वक्तुमशक्यमात्मनः संयोगस्य तदप्रयोजकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादिन्द्रियाद्येव प्रयोजकमित्यर्थः। यदीन्द्रियादेर्ज्ञानविशेष एव प्रयोजकत्वं तत्रैवान्वयव्यतिरेकदर्शनादित्याग्रहस्तत्राह ॐ धूमेऽपीति ॐ। यथेन्द्रियादेर्ज्ञानविशेषे प्रयोजकत्वं तथा वह्नेरपि धूमविशेष एव प्रयोजकत्वमिति शंकितुं शक्यतेऽतो वह्न्यभावे धूमविशेष एव न स्यान्न धूममात्रमित्यर्थः। इन्द्रियादिप्रयोज्यसाक्षात्त्वादिवदग्निप्रयोज्यो विशेषो धूमे न दृश्यतेऽतः स नास्त्येवेति शङ्कते ॐ नेति ॐ। तावदिति निश्चये। आपाततस्तन्न दृश्यत इत्युच्यते किं विचारेऽपीति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ तदिति ॐ। विचारमन्तरेणेति यावत्। नानुपलम्भमात्रादसत्त्वनिश्चयः किन्तु, योग्यानुपलम्भात् योग्यता च नास्ति वह्निप्रयोज्यधूमविशेषदर्शनस्य हेत्वन्तरप्रयोज्यतद्विशेषप्रतियोगिकत्वात्तद्दर्शने ततो विकल्प्यत्वाद्विशिष्टज्ञानायोग्यत्वादपि तद्दर्शनस्योपपत्तेरन्यथासिद्धं तदित्याशयः। द्वितीयोऽसिद्ध इत्याह ॐ यदेति ॐ। प्रतियोगिहेत्वन्तरविशेषदर्शने वह्निकृतविशेषोऽपि विकल्पिष्यते विशेषतो ज्ञास्यत इति

पर धूम में एकजातित्व न रहेगा'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे ज्ञान पदार्थ कहीं इन्द्रियों से और कहीं अनुमानादि से जनित होने पर भी एकजातीय रहता है, वैसे ही धूम भी भिन्न-भिन्न कारणों से जनित होकर भी एकजातीय रह सकता है।

शङ्का—एक जाति भिन्न-भिन्न करणों से प्रयुक्त नहीं होती. इन्द्रियादि को भी ज्ञानगत साक्षात्कारित्वादि का प्रयोजक माना जाता है, ज्ञानत्व का नहीं, अतः अग्नि एवं उससे भिन्न पदार्थों को धूमगत धूमत्व जाति का प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

समाधान—यदि इन्द्रियादि को ज्ञानगत केवल साक्षात्कारित्व का ही प्रयोजक माना जाता है, तब ज्ञानत्व प्रयोजक-रहित आकस्मिक हो जायगा परोक्षापरोक्ष-साधारण ज्ञान में अनुगत ज्ञानत्व का कोई और प्रयोजक माना नहीं जा सकता, अगत्या इन्द्रियादि को ही उसका प्रयोजक मानना आवश्यक है। ऐसे ही धूमगत धूमत्वादि की प्रयोजकता इन्द्रिय और उससे भिन्न कारण में क्यों न रह सकेगी? अथवा वह्न्यादि से भी प्रयुक्त धूमगत कोई विशेष धर्म ही माना जा सकता है, धूमत्व नहीं। 'अग्नि से प्रयुक्त धूमगत कोई विशेष धर्म देखने में नहीं आता—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि यह तो तब भी हो सकता है, जब कि अन्य पदार्थ से प्रयुक्त धर्म विशेष का दर्शन नहीं होता। अन्य पदार्थ से प्रयुक्त धर्मविशेष का जब दर्शन होगा, तब अग्नि-प्रयुक्त धूमगत धर्मविशेष का भान होगा—ऐसी सम्भावना का निवारण

सम्भावनाया दुर्निवारत्वात्।

अस्त्यात्ममनोयोगोऽनुगतं कारणं ज्ञानोत्पत्ताविति चेन्न, यद्यात्ममनोयोगादुत्पद्यमानं ज्ञानं स्यादिच्छादयोऽपि ज्ञानं प्रसज्येरन्। यदि त्वदृष्टविशेषो वा शक्तिभेदो वा ज्ञानत्वजातिर्वा ज्ञानप्रागभावो वा तत्रानुगतं कारणमुच्यते, तदा तदितरत्रापि वह्निव्यभिचारे धूमस्यैकजात्यप्रयोजकतया शक्यत एव शङ्कितुम्।

दृष्टे व्यभिचारे युक्तमदृष्टादेरैकजात्यपरिकल्पनमिति चेत्, अस्तु दृष्टे तन्निश्चयः। अत्रापि व्यभिचारो न द्रक्ष्यत इत्यत्र नियामकाभावात् शङ्किष्यते।

एवं शङ्किष्यमाणस्य भवतो न क्वचिदनुमानं स्यात्। प्रतिवाद्यात्माद्यनुमानादि-

---

सम्भावयितुं शक्यत्वादसिद्धमदर्शनं इत्यर्थः।

ज्ञानत्वस्येन्द्रियप्रयोज्यत्वे यदाऽऽकस्मिकत्वमुक्तं तत्परिहारं सिंहावलोकनन्यायेन शङ्कते ❀ अस्तीति ❀। अतिव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। आत्ममनःसंयोगस्य ज्ञानत्वप्रयोजकत्वे रागद्वेषसुखादय आत्मगुणा ज्ञानं स्युस्तेषामप्यात्ममनःसंयोगासमवायिकारणजत्वाविशेषादित्यर्थः। अदृष्टाद्यनुगतं ज्ञानत्वस्य कारणान्तरं शंकते ❀ यदीति ❀। अदृष्टस्य सर्वकार्यसाधारण्याद्विशेष इत्युक्तम्। आत्ममनःसंयोगस्य सकलज्ञानजनने काचिदनुगता शक्तिः सा वा कारणम्? ज्ञानत्वजातेर्नित्यतया ज्ञानमात्रात्प्राक्सत्त्वसम्भवात्सा वा कारणम्? प्रागभावरहितस्यानुत्पत्तेर्ज्ञानप्रागभावो ज्ञानत्वप्रयोजक इति मीमांसकानामाशंकां शक्तेस्तार्किकैरनङ्गीकारात्साम्यापादनेनैव परिहरति ❀ तदिति ❀। तददृष्टादि धूमगतैकजात्यप्रयोजकतया शंकितुं शक्यतेऽदृष्टविशेषस्य धूमकारणानुगतशक्तेर्धूमत्वजातेर्धूमप्रागभावस्य च भावावतो वह्नितदितरयोर्धूमविशेषप्रयोजकत्वेऽपि नैकजात्यानुपपत्तिरित्यर्थः।

अदृष्टादेः कारणात् ज्ञानस्यैकजातीयत्वकल्पनं युक्तमिन्द्रियादेः कारणस्य व्यभिचारदर्शनाद् धूमस्य तु वह्निव्यभिचारदर्शनान्नादृष्टादेरैकजात्यं दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनायोगादिति शङ्कते ❀ दृष्ट इति ❀। अर्द्धाङ्गीकारेण परिहरति ❀ अस्त्विति ❀। दृष्टे व्यभिचार इत्यनुषङ्गः। तावता तव को लाभस्तत्राह ❀ अत्राऽऽपीति ❀। वह्निव्यतिरेकेण धूमः कारणान्तरादप्युत्पद्यत इति शङ्कमानस्य प्रागप्रक्षिप्तव्याघातापत्तेर्नैवं शङ्कितव्यमिति चोदयति ❀ एवमिति ❀। स एव व्याधातः कुत इत्यत आह ❀ प्रतीति ❀। प्रतिवादि-

---

नहीं किया जा सकता।

शङ्का—परोक्षादि-साधारण ज्ञान में अनुगत ज्ञानत्व के प्रयोजक इन्द्रियादि नहीं, अपितु आत्मा और मन का सन्निकर्ष प्रयोजक होता है, किन्तु धूमगत धूमत्व का कोई अन्य प्रयोजक नहीं, अग्नि ही है, अतः धूमत्व अन्य पदार्थ से प्रयुक्त नहीं हो सकता।

समाधान—यदि आत्मा और मन का सन्निकर्ष ज्ञानत्व का प्रयोजक है, तब इच्छादि में भी ज्ञानत्व होना चाहिए। यदि अदृष्टविशेष या शक्तिविशेष या ज्ञान के पूर्व विद्यमान ज्ञानत्वरूप नित्य जाति अथवा ज्ञान-प्रागभाव को ज्ञानत्व का प्रयोजक माना जाता है, तब धूमत्व को भी वैसा ही प्रयोजक माना जा सकता है, वह्नि और अन्य पदार्थों से उत्पन्न धूम भी एकजातीय क्यों न रह सकेगा?

शङ्का—ज्ञान में इन्द्रियादि का व्यभिचार देख कर अदृष्टादि को ज्ञानत्व का प्रयोजक माना जाता है, किन्तु धूम में वह्नि का व्यभिचार नहीं देखा जाता, अतः वहाँ अदृष्टादि को धूमत्व का प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

समाधान—धूम में भी अग्नि का व्यभिचार कभी नहीं देखा जायगा—ऐसा नियम नहीं किया जा सकता, अतः शङ्क्यमान व्यभिचार धूम में भी सम्भव है।

शङ्का—यह कहा जा चुका है कि स्व-व्याघातक शङ्का नहीं करनी चाहिए। ऐसी आशङ्का करने पर आप कहीं भी अनुमान प्रयोग न कर सकेंगे, क्योंकि प्रतिवादी के शरीर

व्यतिरेकेण कथायामेव प्रवृत्त्यनुपपत्त्या स्वयं स्वकर्तव्येष्वनुमानेष्वेतादृशशङ्काक्रमणात् स एव व्याघात इति चेन्न, धूमवद्वह्नेरपि वह्निकारणविशेषानुमानस्यैवं सति सदनुमानत्वप्रसङ्गात् । सामग्रीसाम्येन प्रमाप्रमावैचित्र्यानुपपत्तेः ।

साधारणधर्मदर्शनविशेषादर्शनादौ सत्यपि शङ्कायाश्चानुदये सामग्र्यां सत्यामपि कार्यानुदयात् परप्रतिपत्त्युत्पादनार्थं वचनादिरूपां प्रतिपत्तिसामग्रीमुत्पादयितुं यतमानस्य भवतोऽपि स्वक्रियाव्याघातस्तुल्यः ।

शरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वादस्मत्शरीरवदिति शरीरातिरिक्तानुमानाभावे कस्य प्रबोधनार्थं कथायां प्रवृत्तिरादिपदात्परचैतन्यानुमानं परास्फुरणाद्यनुमानं च गृह्यते । असति चानुमाने परचैतन्यानवगतौ किमुद्दिश्य साधकं वा ब्रूयादिति न्यायाददिष्टान्तरमाह ❀ स्वेति ❀ । यैरनुमानैः स्वयं परपक्षं बाधते स्वपक्षं साधयति तेष्वप्याशङ्काक्रमणादिति एवं शङ्कामनिच्छतोऽपि व्याघातः समान इति परिहरति ❀ नेति ❀ । उच्यमानोऽयमनुमानदोषो न भवतीत्यभिधीयते ? उत दोषोपेतमपि प्रमाणं भवतीति ? नाद्यः, शङ्कितव्यभिचारस्य दोषत्वोपगमान्न द्वितीयस्तार्णः पार्णो वाऽयमग्नित्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्यनुमानस्यापि सदनुमानत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । सदनुमानत्वप्रसञ्जकमाह ❀ सामग्रीति ❀ । पक्षधर्मत्वादेर्दोषस्य च सामग्र्याः समानत्वाद् धूमानुमानं प्रमाणं वह्न्यनुमानं न प्रमाणमिति वैचित्र्यानुपपत्तिरित्यर्थः । वह्निव्यतिरेकेण धूमः स्यादिति शंकैव नोदेति व्याघातभयादतो नोक्तदोष इत्यत आह ❀ साधारणेति ❀ । साधारणधर्मविशेषदर्शनादौ सत्यपि शङ्काया अनुदयेऽङ्गीक्रियमाणे भवतोऽपि स्वक्रियाव्याघातस्तुल्यः । कुत इत्यत आह ❀ सामग्र्यामिति ❀ । सामान्यदर्शनं कोटिद्वयस्मरणं च शङ्कासामग्रीष्यते तत्र धूमगतकार्यत्वं वह्नितदितरयोः कारणयोः तुल्यं वह्निजत्वप्रापकविशेषश्च न दृश्यते सहचरितसाधारणदर्शनाद्वह्नितदितरजत्वकोटिद्वयं स्मर्यत इति शङ्कासामग्र्यां सत्यामेव सर्वत्रैवंविधशङ्कया क्रियाव्याघातभयाद्यदि कारणान्तरजत्वशङ्का नाङ्गीक्रियते, तर्हि परप्रतिपाद्यहेत्वसम्प्रतिपत्तिसामग्री या वचनादिरूपा तामुत्पाद-

में 'प्रतिवादिनः शरीरं सात्मकम्, प्राणादिमत्त्वाद्, अस्मच्छारीरवत्'—इस प्रकार आत्मा का अनुमान करना आवश्यक है, अन्यथा किसको ज्ञान कराने के लिए वादी की कथा में प्रवृत्ति होगी ? यदि सर्वत्र शङ्का होती है, तब वह अनुमान भी कैसे किया जा सकेगा । दूसरी बात यह भी है कि जिन अनुमान प्रमाणों के आधार पर आप स्वपक्ष साधन और परपक्ष-बाधन करते हैं, उन अनुमानों में भी शङ्का पिशाची घुस कर भयङ्कर उपद्रव मचा सकती है, अतः अन्यार्थ खड़ा किया गया व्याघात आपके सामने भी विभीषिका बन कर आ जाता है ।

समाधान—व्यभिचार शङ्कित हो या निश्चित, व्याप्ति का घातक होता ही है, अतः धूम में भी शङ्कित वह्नि-व्यभिचार धूम से अग्नि का अनुमान न होने देगा । शङ्कित व्यभिचार को दोष न मानने पर जैसे धूम से अग्नि की अनुमिति को प्रमा माना जाता है, वैसे ही अग्नि के द्वारा उसके तृणादि कारणों की 'तार्णः पार्णो वाऽयं पदार्थः, अग्नित्वात्,—ऐसी अनुमिति भी प्रमा हो जायगी । जब धूमहेतुक वह्न्यनुमिति और वह्निहेतुक पर्णानुमिति समानरूप से शङ्कित व्यभिचार-घटित सामग्री से उत्पन्न हैं, तब उनमें से एक (धूमहेतुक वह्न्यनुमिति) को प्रमा और दूसरी (वह्निहेतुक पर्णानुमिति) को अप्रमा नहीं माना जा सकता । वहाँ व्यभिचार-शङ्का हो ही नहीं सकती—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शङ्का या संशय की जो सामग्री "समानानेकधर्मोपपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" (न्या० सू० १।१।२३)। इत्यादि सूत्रों में वर्णित है—साधारण धर्म-दर्शन और विशेषादर्शनादि, उस सामग्री के होने/हर भी यदि शङ्कारूप कार्य का उदय नहीं होता, तब बोधादि कार्य का सम्पादन करने के लिए वचनादिरूप सामग्री-संग्रह में प्रयत्नशील आप (नैयायिकों) के सामने भी वही व्याघात उपस्थित हो जाता है ।

व्याघातस्यैव विशेषत्वात् तद्दर्शनेन शङ्कासामग्र्येव नास्ति मत्पक्षे, कुतो व्याघातसाम्यमिति चेन्न, तद्धि न तावत् आहार्यादिकारणाज्जायमानमेष्टव्यम्, कूटविषयस्य तस्यातिप्रसञ्जकत्वात् । कूटभिन्नः प्रसञ्जकः प्रमितस्यैव स्यादिति चेन्न, तस्य तर्कावसरे निरस्यत्वात् ।

तस्मात् यदेतद्व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनं शङ्काप्रतिपक्षभूतमुच्यते, तत् किं प्रमाणात् कुतश्चिदुपजायमानं वक्तव्यं तर्काद्वा । यदि प्रथमः, शङ्कास्तित्वमपि तेनैव प्रमाणेनोपनेयम्, शङ्कायां सत्यां व्याघातात् । यदि च शङ्कां विनाऽपि व्याघातः, तदा शंकमानाशंकमानयोर्व्याघातस्य साम्यं सिद्धमेव ।

यतस्तवापि व्याघातस्तस्या अपि कार्याजनकत्वादित्यर्थः । अपि विरोधः समुच्चये व्याघातदर्शने विशेषादर्शनरूपकारणाभावाच्छङ्कासामग्र्येव नास्त्यतो न व्याघातसाम्यमिति शंकते ❀ व्याघातेति ❀ । अनिर्वचनवादिपक्षे अज्ञानमेव शंकादिकारणं न सामान्यदर्शनादि तेन विशिष्टमिदमित्युक्तं हि—

"प्रत्यङ्मोहैकहेतुत्वात्सर्वानर्थमृषामतेः ।" इति

तुरीयपरिच्छेदे व्याघातस्यैव पराकरिष्यमाणत्वात् मैवमिति परिहरति ❀ नेति ❀ । किंच विशेषरूपव्याघातदर्शनमाहारादिरूपाज्जायमानं शङ्काविरोधि उतानाहारादिरूपादिति विकल्प्य प्रथमं पराचष्टे ❀ तद्धीति ❀ । आहार उत्प्रेक्षा आदिपदेन वाक्याभासादिति गृह्यते । कुत इत्यत आह ❀ कूटेति ❀ । कूटं मिथ्या । यदि पार्थिवत्वं लोहलेख्यत्वं व्यभिचरेत्तर्हि प्रमेयमेव तन्न स्यादित्यादिनित्यव्याघातदर्शनस्याभासकारणजन्यस्य सर्वत्र सम्भवेन क्वापि व्यभिचारादिशङ्कानुदयादित्यर्थः । उत्प्रेक्षादिजन्यमपि विद्यमानव्याघातदर्शनं प्रमितस्यैव व्यभिचाराभावस्य प्रसञ्जकं तेन नातिप्रसङ्गः पार्थिवत्वादावनेवंरूपत्वादिति शंकते ❀ कूटेति ❀ । कूटाद्भिन्नः कूटभिन्नः परमार्थविषयो बोध इति यावत् । प्रमाणवत्प्रमितविषयत्वे उत्प्रेक्षादिविषयत्वमेव न स्यादिति तर्केण निरस्यत्वान्नेत्याह ❀ नेति ❀ । यद्वाऽसौ बोधः प्रमाणमप्रमाणं वा नाद्यः कलुषकारणाजन्यत्वात् द्वितीयेऽपि न स्मृतिरननुभूतगोचरत्वाद्विपर्ययत्वे संशयत्वे च प्रमिताप्रसञ्जकत्वमिति तर्कनिरसनीयत्वादित्याह ❀ नेति ❀ । तस्मात् द्वितीयः पक्षः परिशिष्यत इत्याह ❀ तस्मादिति ❀ । तस्माद्यदेतद्व्याघातदर्शनं शङ्काप्रतिपक्षभूतमुच्यते तदाहारादेव जायमानं वक्तव्यमिति तदपि न विचारसहमित्युपपादनाय विकल्पयति ❀ किमिति ❀ । प्रथममनूद्य दूषयति ❀ यदिति ❀ । व्याघातोपनायकप्रमाणेन तद्विशेषणभूतशङ्कास्थितमभ्युपनेयमित्यर्थः । कुत इत्यत आह ❀ शंकेति ❀ ।

शङ्का—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'—यहाँ पर धूम में व्यभिचार-शङ्का करने पर व्याघात आ जाता है, व्याघातरूप विशेष का दर्शन हो जाने पर विशेषादर्शनादि-घटित शङ्का-सामग्री ही नहीं, अतः शङ्का क्यों होगी ? इसके विपरीत वह्नि से पर्णादि का अनुमान करने पर विशेषादर्शनादि-घटित सामग्री के रहने पर शङ्का हो सकती है, अतः उभय पक्षों में व्याघात-साम्य का प्रदर्शन उचित नहीं ।

समाधान—जिस व्याघात को आप विशेष पदार्थ मानते हैं, वह व्याघात आहार्य ज्ञानादि की सामग्री से जायमान भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्याघाताभास अपने कार्य के साधन में समर्थ नहीं हो सकता । कूटात्मक (मिथ्या) व्याघात से भिन्न परमार्थविषयक व्याघातरूप बोध का निरास आगे चलकर तर्क-निरूपण के अवसर पर किया जायगा । अतः जो व्याघातरूप विशेष पदार्थ का दर्शन शङ्का-विरोधी कहा जाता है, वह या तो किसी प्रमाण के द्वारा उपजनित मानना होगा या तर्क के द्वारा । यदि वह प्रमाण से उपजनित है, तब शङ्का का अस्तित्व भी उसी प्रमाण से उपनीत हो जाता है, क्योंकि शङ्का के होने पर ही व्याघात होता है । यदि शङ्का के विना भी व्याघात माना जाता है, तब शङ्का उठाने और न उठानेवाले– दोनों मतों में व्याघात-साम्य क्यों नहीं ?

भवतु शंकायामपि तत्प्रमाणम्, किमेतावता ? प्रथमोपजातशंकामवलम्ब्य व्यवस्थितस्य व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनात् शंकान्तरं नोत्पद्यत इति चेन्न, व्याघातसत्ताकाले तदवलम्बया शंकयैव शंक्यमानव्यभिचारता, तस्याः शंकाया व्युपरमे च तदवलम्बिनो व्याघातरूपस्य विशेषस्याभावात् कः शंकान्तरोत्पत्तेर्वारयितेति वक्तव्यम्।

मा नामास्तु तदा व्याघातात्मा विशेषः, तदवगमस्तदाहितो वा संस्कारस्तावदस्ति। विशेषावगमतत्संस्कारौ च शंकाविरोधिनौ, न तु स्वरूपेण क्वचिदपि विशेषस्यावस्थानं तथेति चेन्न, अयावदाश्रयभाविनो विशेषस्य पूर्वस्थितस्य यद्दर्शनं

शङ्कायां सत्यामेव व्याघाताभिधानेन शङ्काविशिष्टत्वाद्व्याघातस्य विशेषणविशेष्ययोरेकप्रमाणविषयत्वादित्यर्थः। अन्वयमुखेनोपपादितं व्यतिरेकमुखेनाप्युपपादयति ❀ यदिति ❀। यथा शङ्कमानस्य समस्तक्रियाव्याघातस्तथा तामकुर्वतस्तत्रापि क्रियाव्याघातः स्याच्छङ्कासदसत्त्वयोर्व्याघाताप्रयोजकत्वादित्यर्थः। व्याघातविषयस्य तद्विशेषणशङ्कायामपि प्रामाण्यमुपेत्याव्यभिचारसिद्धिं शंकते ❀ भवत्विति ❀। व्याघातप्रमाणस्य शंकायामपि प्रामाण्यमात्रेण व्यभिचारसिद्धौ किं दूषणं स्यादित्यर्थः। तर्हि शंकाऽस्तित्वेन निःसन्दिग्धव्याप्त्यसिद्धाऽनुमानप्रवृत्तिरित्यत आह ❀ प्रथमेति ❀। प्रथमशंकायां तत्प्रमाणमस्तु तस्यां च व्याघातविशेषावदर्शनेन निवृत्तायां पुनः शंकान्तरं नोदेति विशेषदर्शनानुवृत्तिविरोधादतो व्याप्तिरित्याशयः। व्याघातसत्ताकाले व्यभिचाराभावसिद्धिरुतोत्तरकालमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। व्याघातास्तित्वे तद्विषयशंकायामप्यस्तित्वात्सैवं शंक्यमानव्यभिचरिता हेतोरित्यर्थः। द्वितीयमपवदति ❀ तस्या इति ❀। पुष्कलकारणे सति कार्योत्पादविरोधिप्रतिबन्धः प्रसिद्धः स च तदुत्पत्तिकाले वक्तव्य इत्यर्थः।

शंकाभावे तदवलम्बिव्याघाताभावमङ्गीकृत्य चोदयति ❀ मेति ❀। माऽस्तु नामेति यावत्। व्याघाताभावोऽङ्गीकृतश्चेत्कः संशयान्तरोत्पत्तेर्वारयितेत्यत आह ❀ तदिति ❀। तदवगमस्तत्संस्कारोऽस्ति निरुणद्धीत्याशयः। तदवगमतत्संस्कारयोः शंकानिवारकत्वानुपपत्तिरविरोधित्वाद्विरोधिन एव निवारकत्वादित्यत आह ❀ विशेषेति ❀। तर्हि क्वचिद्व्याघातः संशयनिवारकः क्वचित्तदवगमः क्वचित्तदवगमजनितसंस्कार इति प्रयोजकवैरूप्येण गौरवं स्यादित्यत आह ❀ न त्विति ❀। सर्वत्रापि विशेषावगमतत्संस्कारयोरन्यतरः संशयविरोधी न तु विशेषस्तस्मिन् सत्यपि वक्रकोटरत्वादौ संस्काराद्यभावे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयदर्शनादसत्यपि तद्विशेषदर्शनेऽनुमानजादौ संस्कारे च सति संशयादर्शनादन्वयव्यतिरेकव्यभिचाराभ्यामित्यर्थः ❀ तथेति ❀। संशयनिवारकमित्यर्थः। अतिप्रसङ्गेन दूषयति ❀ नेति ❀। अयावदाश्रयभाविनः पूर्वस्थितस्य यद्दर्शनं यो वा संस्कारस्तस्य कालान्तरेऽपि तत्प्रतिधर्मसंशयविरोधित्वे

शङ्का—व्याघात-जनक प्रमाण के द्वारा शङ्का के प्रमाणित हो जाने पर भी क्या क्षति ? प्रथमोपजात शङ्का का अवलम्बन कर जो व्याघात समुत्थित होता है, वहीं एक वह विशेष-दर्शन है, जो शङ्कान्तर को उत्पन्न नहीं होने देता।

समाधान—व्याघात की सत्ता के समय तो उसकी अवलम्वनीभूत शङ्का के द्वारा धूम की वह्नि में शङ्कयमान व्यभिचारिता है और उस शङ्का के व्युपरत (निवृत्त) हो जाने पर शङ्कावलम्बी व्याघातरूप विशेष पदार्थ का दर्शन भी नहीं रहता, तब शङ्कान्तर की उत्पत्ति को रोकनेवाला कौन ? अर्थात् व्यभिचार-शङ्का कभी भी दूर नहीं हो सकती।

शङ्का—अवलम्बनीभूत शङ्का के व्युपरत हो जाने पर यदि व्याघात नहीं रह सकता, तो न सही, व्याघात का ज्ञान या उस ज्ञान से जनित संस्कार ही वह विशेष-दर्शन है, जो कि शङ्कान्तर का प्रतिबन्धक है। कहीं पर भी विशेष पदार्थ स्वरूपतः अवस्थित रह कर शङ्का का विरोध नहीं करता, अपितु उसके ज्ञान और संस्कार ही शङ्का के प्रतिबन्धक होते हैं।

समाधान—जो पदार्थ यावद्द्रव्यभावी होता है, उसका ज्ञान या संस्कार किसी का

तदाहितो वा संस्कारः, तस्य कालान्तरेऽपि तत्प्रतिधर्मसंशयविरोधित्वे अवयविपाकपक्षे कुम्भस्य परमाणुपाकपक्षे परम्परया तदारम्भकस्य परमाणोः पूर्वं श्यामतया ज्ञातस्य कालान्तरे सम्भावितपाकस्य पाकजन्यरूपविशेषवत्तायां संशयो न स्यात् ।

स्वीक्रियमाणे सति कुम्भस्य परमाणोर्वा पूर्वं श्यामतया ज्ञातस्य सम्भावितपाकस्य पाकजन्यरूपविशेषवत्तया कालान्तरे संशयो न स्यादिति सम्बन्धः । यावन्तं कालमाश्रयो भवति तावत्कालं यो भवति स यावदाश्रयभावी न यावदाश्रयभाव्ययावदाश्रयभावी, व्याघातः शङ्कोच्छेदे व्याघातोच्छेदादाश्रयस्य हेतोरनुच्छेदात्तस्य प्रतिधर्मस्तत्प्रतिकूल इत्यर्थः । व्याघाताभावेऽपि तदवगमात्तत्संस्काराद्वा तद्विरुद्धव्यभिचारधर्मवत्तया संशयानुत्पत्तौ सत्यां कुम्भस्य परमाणोर्वा पाकनिक्षिप्तस्य किमयं रक्त उतारक्त इति पाकजन्यलोहितरूपवत्तया कालान्तरे संशयो न स्यादस्ति च, कुलालस्य तदुपरिनिहितभस्माद्यावरणतिरस्करणेन वीक्षणदर्शनात् । कुत इत्यत आह ❀ पूर्वं श्यामतया ज्ञातस्येति ❀ । आमदशायां श्यामतया ज्ञातत्वात् श्यामतानाशेऽपि तदवगमाविसम्भवात्तत्प्रतिकूलसंशयो न स्यात् । पिठरपाकपक्षेऽप्यवयवी कुम्भः पच्यते पीलुपाकपक्षे

प्रतिबन्धक नहीं होता, अन्यथा पिठरपाकवाद के अनुसार घट और पीलुपाकवाद के अनुसार परमाणु में अपरिपक्वावस्था की श्यामरूपता के नष्ट हो जाने पर भी रक्तरूपता की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि पाक (अग्नि-संयोग) से श्यामरूप के नष्ट हो जाने पर उसका ज्ञान एवं संस्कार विद्यमान रहते हैं, वे ही रक्तरूपता के प्रतिबन्धक हो जाएँगे [वैशेषिकों के दो पाक-प्रकार प्रसिद्ध है—(१) पिठरपाकवाद और (२) पीलुपाकवाद । कच्चे घड़े को आँवाँ में पकाया जाता है, वह पक कर लाल हो जाता है—यह सभी जानते हैं, किन्तु कैसे और कितने क्षणों में परिपाक की प्रक्रिया घटित होती है—इसका गम्भीर एवं सूक्ष्म अध्ययन वैशेषिकों ने प्रस्तुत किया है। [यद्यपि वैशेषिक-भाष्यकार पीलुओं (परमाणुओं) में ही अग्निसंयोग से पूर्व रूप की निवृत्ति और रूपान्तर की उत्पत्ति मानते हैं, घटादि अवयवी पदार्थों में नहीं, उनका कहना है—"न च कार्यद्रव्य एव रूपाद्युत्पत्तिर्विनाशो वा सम्भवति, सर्वावयवेष्वन्तर्बहिश्च वर्तमानस्याग्निना व्याप्त्यभावात् । अणुप्रवेशादपि च व्याप्तिर्न सम्भवति, कार्यद्रव्यविनाशात्" (प्र. भा. पृ. २६०) । अर्थात् घटादिरूप कार्य द्रव्यों में अग्नि-संयोग के द्वारा पूर्व रूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति इस लिए नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक घट अपने ठोस एवं स्थूल रूप में विद्यमान है, तब तक उसके बाह्य और आन्तरिक सभी अवयवों के साथ बाह्य प्रदेश में अवस्थित अग्नि का व्यापक संयोग सम्भव नहीं। अत एव घटादि के रूप का नाश केवल आश्रयीभूत घट के नाश से होता है, सीधे अग्नि-संयोग से नहीं, श्री उदयनाचार्य कहते हैं --"आश्रयविनाशादेव विनश्यति, न तु पिठरपाकवादिनामिवाग्निसंयोगादपीत्येवकारार्थः" (किर० पृ० ४२४) ।

तथापि नैयायिकादि पिठरपाकवाद का ही समर्थन करते पाए जाते हैं, उनका कहना है कि घटादिगत सूक्ष्म छिद्रों के द्वारा अग्नि के सूक्ष्मतर अवयव अन्दर प्रविष्ट होकर अन्दर से लेकर बाहर तक पूरे घट को पका देते हैं—"प्रकृतिसुषिरतयैव कार्यद्रव्यस्य घटादेरारम्भादन्तरन्तस्तेजःकणानुप्रवेशकृतपाकोपपत्तेरलं विनाशकल्पनया । पिठरपाकपक्ष एव पेशलः—

याटृगेव हि निःक्षिप्तो घट पाकाय कन्दुके ।
पाकेऽपि ताटृगेवासावुद्गतो दृश्यते ततः ॥" (न्या. मं. पृ. ४३९)

अर्थात् कन्दुक (आँवाँ) में पकाने के लिए जैसा घट रखा जाता है, वैसा ही पक कर बाहर निकलता है, अतः पीलुपाकवादियों की जो यह कल्पना है कि 'पूरा घट जब नष्ट हो जाता है, तब उसके परमाणुओं में श्याम रूप का नाश और रक्त रूप की उत्पत्ति होती है ।' वह

यदि च शंकायां व्याघातस्तत्रा शंकाश्रयस्य विशेषरूपस्य व्याघातस्य दर्शनात् शंकायां शंकान्तरं मा भूत् । यदि तु व्यभिचाराश्रयस्तदा व्यभिचारः स्यादेव, व्याघाताश्रयस्य व्यभिचारस्यापि प्रमित्यापत्तेः ।

अनादिसिद्धव्याप्तिकास्ते तर्का इति चेन्न, तद्बुद्धेः प्रमितित्वासिद्धेः, शरीरे स्वात्मप्रत्ययस्य तादृशस्याप्यप्रमात्वोपगमात् , अनादित्वासिद्धेश्चोभयत्राविशेषात् ।

परमाणवः पच्यन्ते क्रमेण कुम्भस्य परमाणोर्वेति सम्बन्धः । ननु पाकजत्वे संशयो न तु रक्तिमगुण इति । सत्यम्, तत्राप्यनुपपत्तिस्तुल्या पाकजत्वस्य पूर्वमुपलम्भादिति ।

एवं तावद्व्याघातविषयत्वे शङ्काया दोषोऽभाषि, सम्प्रति हेत्वादिधर्मिस्वरूपस्य व्याघातानाश्रयत्वात् व्याघाताश्रयः किं शङ्केत व्यभिचार इति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ यदीति ❀ । परिहरति ❀ तत्रेति ❀ । व्याघाताश्रयभूतप्रथमशङ्कायाः शङ्कान्तरं मा भूत्मा तु स्यादेवेति न व्याप्तिसिद्धिरित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह ❀ यदीति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ व्याघातेति ❀ । व्यभिचाराश्रयव्याघातप्रमापकेण तद्विशेषणव्यभिचारस्यापि प्रमित्यापत्तिरन्यथा व्याघातस्य प्रमातुं शक्यत्वादित्याशयः ।

विपक्षबाधकतर्काणां व्याप्तिमूलत्वे याऽनवस्था पुरस्तादुपन्यासि तत्परिहारं शङ्कते ❀अनादीति❀ । अनादिसिद्धा मूलभूता व्याप्तिर्येषां तेऽनादिसिद्धव्याप्तिकाः अनादिपुरुषपरम्परायां तद्बुद्धिधारास्तित्वमनादिसिद्धिरतोऽनादिसिद्धत्वान्न युगपत् व्याप्तिग्रहापेक्षेति नानवस्थाऽतोऽसञ्जातविरोधितया लब्धप्रतिष्ठत्वादुत्पत्तराश्चेतर्का आगन्तुकं शङ्कितव्यभिचारं गमयिष्यन्तीति भावः । यद्यपीयं शङ्काऽनवस्थोक्त्यनन्तरं युक्ता, तथाऽपि शिष्यबुद्धिपरीक्षार्थमत्र कृतेत्यदोषः । प्रमाधीनत्वात्प्रमेयसत्त्वस्य न तद्बुद्धिपरम्परामात्रेण व्याप्तिसिद्धिरिति दूषयति ❀ नेति ❀ । व्याप्तिबुद्धेरनादित्वात्प्रमात्वसिद्धिरित्यत आह ❀ शरीरेति ❀ । शरीरे स्वात्मप्रत्ययस्यानादित्वमसिद्धं पूर्वेषां केषांचिद्विवेकिनां तदभावादित्यत आह ❀ अनादीति ❀ । तत्त्ववृत्तां मुक्तानां व्याप्तिबुद्ध्यभावोऽपि तुल्य इत्यर्थः ।

कल्पना अत्यन्त अव्यावहारिक है। पीलुपाकवाद और पिठरपाकवाद—दोनों अत्यन्त पुरातन प्रतीत होते हैं, जैसा कि श्री कुमारिलभट्ट के संकेत से ध्वनित होता है—"येषां तावत् कार्यद्रव्याण्येव घटादीनि पच्यन्ते यथा पैठराणाम् । पैलूकानामपि तु परमाणुषु व्यभिचारः" (तं. वा. पृ. ६८२)] ।

[हेतु के विपक्ष-वृत्तित्व या व्यभिचार की बाधकता का विचार करते-करते खाण्डनिक की ओर से कहा गया कि ऐसा कोई व्याप्ति का स्थल नहीं प्रदर्शित किया जा सकता, जहाँ अन्ततो गत्वा शङ्कित व्यभिचार भी न हो। व्यभिचार की शङ्का में भी शङ्का उठाने के मार्ग का अवरोध व्याघात-प्रदर्शन से किया गया। अब खाण्डनिक का कहना है कि] कथित विपक्ष-वृत्तित्व या व्यभिचार की शङ्का में उद्भावित व्याघात दोष शङ्का की शङ्का को ही रोक सकता है, क्योंकि प्रत्येक प्रतिबन्धक पदार्थ अपने आधार में ही अपने विरोधी तत्त्व का प्रतिबन्ध या बाध करता है, अन्यत्र नहीं, अतः शङ्काश्रित शङ्का का व्याघात व्यभिचारगत शङ्का का अवरोध नहीं कर सकता। यदि व्यभिचार के धरातल पर व्याघात अंकुरित होता है, तब व्यभिचार की शङ्का भी अनुत्थित ही रह जाती है, फलतः व्यभिचार शङ्कित न होकर निश्चित या प्रमित हो जाता है। प्रक्रान्त व्याप्ति को तो शङ्कित व्यभिचार ही ध्वस्त कर देता है, निश्चित व्यभिचार की तो बात ही क्या ? व्याप्ति के बिना तर्क का उदय नहीं होगा, अतः विपक्ष-वृत्तिता का बाधक तर्क नहीं हो सकता।

शङ्का—तर्क में जिस मूलभूत व्याप्ति की अपेक्षा होती है, वह अनादि-सिद्ध है, अतः उसके लिए विपक्ष-वृत्तित्व के बाधक की अपेक्षा ही नहीं।

समाधान—तर्क की मूलभूत व्याप्ति का ग्रहण अनादि-पुरुष-परम्परा की जिस बुद्धि

नापि यद्यत्र व्यभिचारः शङ्क्येत, तदा व्याघातः स्यादित्येवंरूपात् तर्काद्व्याघातावगमः, व्याघातप्रतिपादकस्य तर्कस्य मूलशैथिल्ये तर्काभासत्वापातात् । तादृशस्यापि व्याघातोपनायकत्वे व्याघातापत्तेश्च साम्यम् । शक्यत एव तर्काभासाद् भवतोऽपि व्याघात उपनेतुम् ।

अथ तर्कस्य व्याप्तिर्मूलभूताऽभ्युपगम्यते । तत्रापि व्यभिचारशङ्कायां पुनरनवस्थैव । तत्रापि व्याघातापादने पुनरित्थमनवस्थैव ।

व्यभिचारशङ्काप्रतिपक्षभूतं व्याघातरूपविशेषदर्शनं प्रमाणादुपजायते किं वा तर्कादिति विकल्प्य प्रथमो निरस्तो द्वितीयमिदानीं निरस्यति ❀ नापीति ❀ । अत्र धूमादावग्न्यादिव्यभिचारः स्यादित्याशङ्क्येत यदीत्यर्थः । एवंरूपात्तर्कादपि व्याघातदर्शनं न स्यादित्यन्वयः । कुत इत्यत आह ❀ व्याघातेति ❀ । व्याघातप्रतिपादको यः तर्कः स व्याप्तिहीन उत तन्मूलः ? प्रथमे मूलशैथिल्येनाभासत्वापत्तेरित्यर्थः । व्याप्तिसमर्थनकाले तद्धीनस्यैव तर्कस्य व्याघातापादकत्वमित्यत आह ❀ तादृशेति ❀ । तर्कस्याभासतया साधकत्वं चेति विरुद्धसमुच्चयरूपव्याघातापत्तेः साम्यं तेऽपीत्यर्थः । अयं व्याघातस्त्वया नापादयितुं शक्यते व्याप्त्यनङ्गीकारेण तस्याभासत्वादित्याशङ्क्याह ❀ शक्यत इति ❀ । त्वया यथाऽऽभासरूपा व्याघाता आपाद्यन्ते तथा मयाऽप्यापादयितुं शक्यत इत्यर्थः ।

व्याघातदर्शनहेतुस्तर्को व्याप्तिमूल इति द्वितीयमवलम्बते ❀ अथेति ❀ । मूलभूतव्याप्तौ व्यभिचारशङ्कायां पुनस्तर्कान्तरं पुनस्तत्राप्येवमनवस्थेति परिहरति ❀ तत्रेति ❀ । अनवस्थावलम्बने न क्वाप्यनुमानमिति स्वक्रियाव्याघात आपतेदित्यत आह ❀ तत्रापीति ❀ । व्याघातो येन तर्केणानवस्थायामापाद्यते तस्याऽपि व्याप्तिमूलत्वात्पुनरित्थं अनवस्था स्यादित्यर्थः । एवं च व्याघातसदसत्त्वयोः शङ्कास्थितत्वमापाद्य सम्प्रति यदुदयनेन शङ्कासदसत्त्वयोरनुमास्थितत्वयुक्त्यभिधायकं वाक्यमुक्तं तदस्मत्पक्षेऽपि वक्तुं शक्यते

से माना जाता है, वह प्रमात्मक नहीं हो सकती, क्योंकि देहादि में 'अहम्'-'अहम्' की प्रतीति भी अनादि-सिद्ध है किन्तु देहादि अनात्मपदार्थों में आत्मत्व-प्रतीति को मिथ्या ही माना जाता है, प्रमा नहीं। यदि देहात्मप्रतीति में अनादित्व नहीं माना जा सकता, तब तर्कापेक्षित व्याप्ति-ग्राहक बुद्धि में भी अनादित्व क्योंकर माना जा सकेगा ?

'यदि अत्र व्यभिचारः शंक्येत, तदा व्याघातः स्यात्'—ऐसे तर्क के द्वारा भी व्याघात का अवगम नहीं हो सकता, क्योंकि व्याघात-प्रतिपादकीभूत तर्क यदि अगृहीतव्याप्तिक या शिथिलमूलक है, तब वह तर्क नहीं, तर्काभास है। तर्काभास को व्याघात का उपनायक मानने पर वैसे ही व्याघात उपस्थित हो जाता है, जैसे व्यभिचाराशङ्का में प्रदर्शित किया जाता है। आगे चल कर 'शठे शाठ्यं चरेत्' के आधार पर यह कहा जायगा कि जैसे आप तर्काभास के द्वारा व्याघात का आपादन किया करते हैं, वैसे ही आपके विरुद्ध भी तर्काभास के द्वारा व्याघात का आपादन किया जा सकता है।

पहले जो विकल्प उठाया गया था कि व्याघात-प्रदर्शक तर्क व्याप्तिमूलक नहीं माना जाता ? अथवा व्याप्तिमूलक ही माना जाता है ? उसके प्रथम कल्प का जैसे खण्डन हो गया, वैसे ही तर्क में व्याप्तिमूलकत्व का अभ्युपगम भी दोष-पूर्ण है, क्योंकि इस मूलभूत व्याप्ति में भी व्यभिचार-शङ्का होने पर तो अनवस्था है ही, व्याघातापादन करने पर भी अनवस्था होती है, क्योंकि जिस तर्क की सहायता से अनवस्था में व्याघात आपादन किया जाता है, वह तर्क भी व्याप्तिमूलक है, अतः इसमें भी तर्क-परम्परा की अविरल धारा प्रवाहित हो जाती है। इस अवसर पर आपत्ति-परम्परा की थिरकन का ताल-मेल बिठाते हुए आप (श्री उदयनाचार्य) ने जो अपनी कविता कामिनी की ललित पदावली का मोहकनृत्य प्रस्तुत किया है—

तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा।
त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि ॥ ४४ ॥
व्याघातो यदि शंकाऽस्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकाऽवधिः कुतः ॥ ४५ ॥

इत्युष्ट्रलकुटन्यायापातो भवत इत्युपहसन्नाह ❀ तस्मादिति ❀। यस्मादेवं व्याघातसदसत्त्वयोः शङ्का स्यादेव तस्मादस्मिन्नर्थेऽस्माभिरपि त्वद्गाथैव दुष्पठा न खलु सुपठैव। कथं सुपठत्वमत्राह ❀ अन्यथेति ❀। अन्यथाकारमन्यथाकारो यथा भवति तथा कियन्त्यक्षराणि कृत्वेत्यर्थः। तदीया च गाथेयम्।

शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः॥

अस्यायमर्थः—कालान्तरे कदाचिद् व्यभिचरिष्यतीति कालं भाविनमाकलय्य शङ्केत तदाकलनं चाऽनुमानमवधीर्य न कस्यचिन्मुहूर्त्तयामाहोरात्रपक्षमासायनसंवत्सरादयो हि भाविनो भवन्मुहूर्त्ताद्यनुमेया एवानगतेषु स्मरणस्याप्यनाशङ्कनीयत्वादनाकलने वा कमाश्रित्य व्यभिचारः शङ्क्येत तथा च सुतरामनुमानस्वीकार एवं देशान्तरे वक्तव्यं स्वीकृतमनुमानम्। सुहृद्भावेन तु पृच्छामः कथमाशङ्का निवर्त्तनीयेति चेन्न, यावदाशङ्कं तर्कप्रवृत्तेस्तेन हि प्रवर्त्तमानेनोपाधिकोटौ वा तदायत्तव्यभिचारकोटौ वाऽनिष्टमुपनयतेच्छा विच्छिद्यते विच्छिन्नविपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यं लिङ्गमनाकुलोऽधितिष्ठति स्वाधिष्ठिताच्च करणात् क्रियानिष्पत्तिरिति किमनुपपन्नम्? ननु तर्कोऽप्ययमविनाभावमपेक्ष्य प्रवर्त्तते ततोऽनवस्थया भवितव्यम्। न, शङ्काया व्याघातावधित्वात् तदेव ह्याशङ्क्यते यस्मिन्नाशङ्क्यमाने क्रियाव्याघातादयो दोषा नावतरन्तीति लोकमर्यादा, न हि हेतुफलभावो न भविष्यतीति शङ्कितुमपि शक्यते, तथा सति शङ्केव न स्यात्सर्वं मिथ्या भविष्यतीत्यादिवदिति। अन्यथाकृत्याक्षराणि गाथां पठति ❀ व्याघात इति ❀। शङ्कायां सत्यां प्रामाणिको व्याघातोऽस्त्युत न? यद्यस्ति तत्राह ❀ व्याघातो यद्यस्ति तदा शङ्काऽस्ति ❀। व्याघातप्रमाणेन तदवलम्ब्यशंकाया अपि प्रमितत्वादित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ❀ न चेदिति ❀। व्याघातो न चेत्ततः शंकान्तरमस्ति व्याघाते प्रतिपक्षभूतेऽप्यस्ति तदभावे सुतरां स्यात्। प्रथमकल्पमेवाश्रित्य शंका नास्तीति शंकते ❀ व्याघातेति ❀। यावन्तं कालं व्याघातस्तावन्तं कालं विशेषदर्शनाच्छङ्कान्तरं न जायते सा च नश्यतीति चेदित्यर्थः। अनुषङ्गं दूषयति ❀ तर्क इति ❀। व्याघातदर्शनजदर्केन तर्कणावधिरवसानं कुतस्तथाऽपि व्याप्तिमूलतया शंकान्तरजननस्यावश्यकत्वादित्यर्थः। यद्वा न चेच्छङ्का ततस्तरामित्युक्तं तत्र तदर्थमाह ❀ व्याघातावधिराशंकेति ❀। व्याघातादाशंकेव्यते ततस्तदभावे सा सुतरां स्यादित्यर्थः। तर्कः शंकावधिर्मत इति यदुक्तमुदयनेन तं दूषयति ❀ तर्क इति ❀। विपक्षप्रतिपक्षभूते तर्के

"शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः॥" (न्या० कु० ३।७)

उसी काव्य को कतिपय पदों के हेर-फेर से हम (श्रीहर्ष) भी प्रस्तुत कर रहे हैं—

व्याघातो यदि शङ्कास्ति, न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः ॥ ४४ ॥

[यदि व्याघात माना जाता है, तब व्याघात की आश्रयीभूत शङ्का माननी होगी, क्योंकि शंका के विना व्याघात का उद्भावन सम्भव नहीं। यदि व्याघात नहीं, तब तो शंका अव्याहतरूप से अवस्थित रहती है। व्याघात को शंका की अवधि (पर्यवसान) कभी नहीं माना जा सकता। यद्यपि व्यभिचार-संशय में दो कोटियाँ होती हैं—(१) व्यभिचार और (२) अव्यभिचार दोनों कोटियों का अन्यत्र स्वतन्त्र दर्शन होने पर ही अन्यथाख्यातिवाद में भ्रम या संशय होता है, अतः जहाँ अव्यभिचार दृष्ट है, वहीं अपने साध्य का साधक हो जायगा, व्यभिचार-संशय सर्वत्र व्याप्ति का अवरोध नहीं कर सकता। तथापि अव्यभिचार

अव्यभिचारश्च एकपरित्यागव्यवच्छेदेनापरान्वयः, समकालदृष्टे नष्टेऽदृष्टः शंक्यत इत्याहुः।

स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यपरः। स प्रष्टव्यः—कस्य स्वाभाविकः, किं सम्बन्धिनो उत अन्यस्य? न चरमः, वैपरीत्यापत्तेः।

आद्ये कः स्वाभाविकशब्दार्थ इति प्रष्टव्यम्—किं सम्बन्धिस्वभावाश्रितः? अथ सम्बन्धिस्वभावजन्यः? अथ सम्बन्धित्वविवक्षितस्वभावानतिरिक्तः? अथ सम्बन्धिस्वभावव्याप्यः? अथवा सम्बन्धिस्वभावादन्येन न प्रयुक्तः? उतान्य एव कश्चिद्विवक्षितः? आद्ये पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गः। न द्वितीयः, अति-

सति शंकावधिरवसानं कुतो न कुतोऽपि, सति तस्मिन् शंकाया आवश्यकत्वादित्यर्थः।

विरुद्धानेकप्रकारावलम्बी प्रत्ययः संशयस्तत्र व्यभिचार एका कोटिरव्यभिचारोऽपरा तत्राऽव्यभिचारस्य क्वचित्सिद्धत्वेऽनुमानसिद्धिरसिद्धत्वे संशयानुपपत्तेरनुमानसिद्धिरिति न व्यभिचारशंकयाऽनुमानं दूषयितुं शक्यत इत्याशंकयाह ❀ अव्यभीति ❀। यद्वा व्यभिचारशंकया व्याप्त्यसिद्धिमुक्त्वा सम्प्रति दूषणान्तरमाह ❀ अव्यभिचारेति ❀। अन्वय इत्युक्ते पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वान्वयेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासायाह ❀ एकेति ❀। वज्रे लोहलेख्यत्वाभावेऽपि पार्थिवत्वाभावात्तन्निवृत्तिरेवं समन्वयरूपमुक्त्वा दूषयति ❀ समेति ❀। समकालं दर्शनानन्तरमेव यत्र दृष्टं व्याप्यव्यापकभावहीनतया गम्यगमकभावहीनं तस्मिन्नपि दृष्टोत्पन्नधूमावावपि गम्यगमकभावः प्रयोजको भवतीति शक्यते सार्वत्रिकत्वादिति विशेषणस्य वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः।

व्याप्तेर्लक्षणान्तरं शंकते ❀ स्वेति ❀। पार्थिवत्वादिसम्बन्धव्युदासाय स्वाभाविकेति विशेषणम्। स्वाभाविकशौक्ल्यादिव्युदासाय सम्बन्ध इति। दूषयितुं पृच्छति ❀ स इति ❀। स्वभावप्रयुक्तः स्वाभाविकः, कस्य स्वभावप्रयुक्त इत्यर्थः। सामान्योक्तमेव विशदयति ❀ किमिति ❀। जघन्यत्वादन्त्यमपि कल्पं प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ वै इति ❀। असम्बन्धिनोः सम्बन्धसम्बन्धिनोरसम्बन्ध इति विपरीतापत्तेरित्यर्थः।

प्रथममपि पराकर्तुं स्वाभाविकशब्दार्थं पृच्छति ❀ आद्य इति ❀। अग्नेरौष्ण्यं स्वभाव उच्यते

नाम है—एक (व्यापक) पदार्थ के अभावानधिकरण-स्थल पर अपर (व्याप्य) पदार्थ का अन्वय (सद्भाव)। उसकी शंका ऐसे स्थल पर उठाई जाती है, जहाँ दर्शन के पश्चात् द्वितीय क्षण में ही व्याप्य वस्तु का नाश हो जाता है। वहाँ व्याप्य से व्यापक का अनुमान करने के अवसर ही नहीं रहता।

(४) स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः—

शङ्का—[दो पदार्थों का सम्बन्ध कहीं स्वाभाविक होता है और कहीं अस्वाभाविक या औपाधिक, जैसे उष्ण स्पर्श का सम्बन्ध अग्नि में स्वाभाविक और जल में औपाधिक होता है। धूम का अग्नि से स्वाभाविक और अग्नि का धूम से औपाधिक संबंध है, अत एव धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान होता है, अग्नि से धूम का नहीं]।

समाधान—वहाँ यह पूछा जा सकता है कि 'कस्य संबंधः स्वाभाविकः?' अर्थात् (१) 'द्वयोः सम्बन्धिनोः स्वाभाविकः सम्बन्धः? अथवा (२) असम्बन्धिनोः स्वाभाविकः संबंधः? द्वितीय कल्प में व्याघात होता है, क्योंकि जो पदार्थ संबंध-रहित होते हैं, उनका सम्बन्ध ही कैसे होगा? प्रथम कल्प में प्रश्न होता है कि 'स्वाभाविक' शब्द का अर्थ क्या? (१) संबंधिस्वभावाश्रित ? या (२) संबंधिस्वभाव-जन्य? या (३) संबंधित्वेन विवक्षित पदार्थों के स्वभाव से अनतिरिक्त? या (४) संबंधिस्वभाव-व्याप्य? या (५) संबंधिस्वभाव से भिन्न पदार्थ के द्वारा अप्रयुक्त? अथवा (६) अन्य ही कोई पदार्थ विवक्षित है? (१) संबं-

व्याप्तेरव्याप्तेश्च। अत एव न तृतीयः।

नापि चतुर्थः, व्याप्त्यनिरुक्त्या व्याप्यत्वानिरुक्तेः। सम्बन्धस्य व्याप्यत्वे च सम्बन्धिनोर्व्यापकयोः सम्भावितसम्बन्धाधिकदेशकालतया एकसम्बन्धिदर्शनेऽपरानुमानाय नियामकत्वायोगात्।

नापि पञ्चमः, 'न प्रयुक्तः' इति यदि न जनितस्तदा सम्बन्धस्याकृतकत्वपक्षे

तत्स्वरूपाश्रयत्वादेवं सम्बन्धिस्वरूपाश्रयत्वात्सम्बन्धः स्वाभाविक इति प्रथमकल्पार्थः। वसन्ते वृक्षस्य प्रसूतिः स्वभावस्तज्जन्यत्वादेव, सम्बन्धिकार्यत्वं स इति द्वितीयकल्पार्थः। पुरुषस्य चैतन्यं स्वभाव इति सम्बन्धिस्वरूपमेव स्वाभाविकोऽनन्यार्थश्च तद्धित इति तृतीयकल्पार्थः। वाह्निको धूम इत्यत्र धूमस्य वह्नियोगित्वं तद्धितार्थः, एवं सम्बन्धिस्वभावव्याप्यत्वं स इति चतुर्थकल्पार्थः। आत्मन आत्मत्वसमवायः स्वाभाविक इतिवत्सम्बन्धः सम्बन्धिस्वरूपातिरिक्तहेतुजन्यो न भवतीति पञ्चमार्थः। न्यूनतापरिहाराय कल्पान्तरमाह ❀ उतेति ❀।

प्रथममतिव्याप्त्या दूषयति ❀ आद्य इति ❀। पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोः सम्बन्धोऽपि सम्बन्धिस्वरूपाश्रय इति व्याप्तिः स्यादित्यर्थः। उक्तहेतुनैव द्वितीयं दूषयति ❀ नेति ❀। रज्जुघटयोगः सम्बन्धिस्वरूपजन्यो भवति तयोस्तौ व्याप्तिरित्यतिव्याप्तिः पृथिवीत्वद्रव्यत्वयोरेकार्थसमवायरूपा व्याप्तिर्नित्यतया जन्या नेत्यव्याप्तिश्चेत्यर्थः। तृतीयं दूषयति ❀ अन्तत इति ❀। अव्याप्तेरतिव्याप्तेरेव पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वसम्बन्धस्यापि सम्बन्धिस्वरूपानातिरिक्ततयाऽतिव्याप्तिरिति धूमसम्बन्धस्य सम्बन्धिस्वरूपातिरिक्ततयाऽव्याप्तिरित्यर्थः। तुरीयं दूषयति ❀ नापीति ❀। हेतुमाह ❀ व्याप्तेति ❀। व्याप्यत्वं नाम व्याप्तिमत्त्वं व्याप्तिरद्याप्यसिद्धा तस्या एव परीक्षाकालत्वादतो विशिष्टलक्षणासिद्धिरित्यर्थः। सम्बन्धस्य व्याप्यत्वमुपेत्यापि खण्डयति ❀ सम्बन्धस्य व्याप्यत्वे चेति ❀। एकसम्बन्धिदर्शने-धूमादिदर्शने सत्यपरानुमानाय—वह्न्याद्यनुमानाय सम्बन्धस्य नियामकत्वायोगात्। कुत इत्यत आह ❀ सम्बन्धिनोरिति ❀। व्यापकस्य व्याप्यापेक्षयाऽधिकवृत्तित्वं वाच्यमन्यथा व्याप्यव्यापकभावानिश्चयात्तत्संभवाच्चैवं च वह्निव्यतिरेकेणापि धूमावस्थानसम्भवान्नानुमानं स्यादित्यर्थः। पञ्चमं निषेधति ❀ नापीति ❀। प्रयुक्तशब्देन जनिमभिधाय न

न्धिस्वभाव के आश्रित तो पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का भी संबंध होता है, अतः उनके अन्वय में व्याप्ति का लक्षण अतिप्रसक्त होता है।

(२) द्वितीय कल्प के अनुसार रज्जु और घट के संबंध में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी संबंधिस्वभाव से जनित है। व्याप्तिरूप संबंध सर्वत्र जन्य ही नहीं, नित्य भी होता है, जैसे पृथिवीत्व और द्रव्यत्व का एकार्थसमवायरूप संबंध भी व्याप्ति माना जाता है किन्तु उसमें संबंधिस्वभात-जन्यत्व नहीं माना जाता, अतः उसमें अव्याप्ति भी हो जाती है।

(३) तृतीय कल्प के अनुसार भी अव्याप्ति और अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि धूम और अग्नि का सामानाधिकरण्यरूप संबंध संबंधिस्वभाव से अनतिरिक्त नहीं, अतिरिक्त ही माना जाता है। पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्वादि के संबंध भी संबंधिस्वभाव से अनतिरिक्त ही माने जाते हैं, अतः उनके संबंध में इस लक्षण की अतिव्याप्ति भी है।

(४) चतुर्थ कल्प के अनुसार अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि व्याप्यत्व को व्याप्ति और व्याप्ति को यहाँ व्याप्यत्व की अपेक्षा होती है। दूसरा एक दोष यह भी है कि व्याप्य न्यून देश में रहता है और व्यापक अधिक देश में। संबंध यदि व्याप्य है, तब उसके संबंधियों को व्यापक मानना होगा। व्याप्यरूप संबंध की अपेक्षा व्यापकीभूत संबंधियों का अधिक देश में रहना संभावित है, अतः एक संबन्धी के द्वारा अपर संबन्धी का अनुमान नहीं हो सकेगा।

(५) पञ्चम कल्प में 'प्रयुक्त' शब्द का अर्थ यदि 'जन्य' करके 'न प्रयुक्तः' का अर्थ न, जन्यः'—ऐसा अर्थ किया जाता है, तब अकृतक (नित्य) व्याप्तिरूप संबन्ध केलिए

'अन्येने'ति विशेषणवैयर्थ्यम्, अकृतकस्य सम्बन्धिस्वभावेनाऽन्यजनितत्वात्। सम्बन्धस्य कृतकत्वपक्षे स्वरूपासिद्धिरेव स्यात्। सामग्र्याः सर्वसम्भवादन्ततः कालदेशादृष्टादिभिरपि तज्जन्यत्वस्यावश्यवक्तव्यत्वात्।

नापि षष्ठः, तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। एवमेव विकल्प्यायं चरमविकल्पः सर्वत्रोपन्यस्य दूष्यो न्यूनत्वशंकाभयादिति।

३०. उपाधिलक्षणखण्डनम्

(५) अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यपरः। स प्रष्टव्यः—कोऽयमुपाधिर्नाम,

---

प्रयुक्त इति तन्निषेधः क्रियत उत व्याप्तिमभिधायेति विकल्प्य द्वितीयमात्माश्रयेण वहिरेव दूषयित्वा प्रथममनुवदति ❀ यदीति ❀। असौ सम्बन्धः कृतकोऽकृतको वेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ तदेति ❀। सम्बन्ध इत्येवालं स्वाभाविक इति पराजन्यत्वविशेषणं व्यर्थमित्यर्थः। कुतो वैयर्थ्यमित्यत आह ❀ अकृतकेति ❀। स्वेन जन्यत्वे सति हेत्वन्तरनिवारणाय विशेषणमुपादेयं स्वरूपेणैवाजन्यत्वेऽनादिसम्बन्ध इति वक्तव्यं तथा च धूमादिसम्बन्धेऽव्याप्तिरित्याशयः। द्वितीयेऽवद्यं निगदति ❀ सम्बन्धस्येति ❀। असम्भव एव स्यादित्यर्थः। ❀ सामग्र्या इति ❀। असम्भवमेवोपपादयति ❀ सामग्र्या इति ❀। अन्ततः कालदेशादृष्टादिभिरपि सम्बन्धजन्यत्वस्यावश्यवक्तव्यत्वात्तत्रापि हेतुः ❀ सामग्र्या इति ❀।

"न किञ्चिदेकमेकस्याः सामग्र्याः सर्वसम्भवः"।

इति न्यायेन सम्बन्धस्यापि सम्बन्धिस्वरूपातिरिक्तदेशादिजन्यत्वं वक्तव्यं देशादृष्टेश्वरेच्छादीनामुत्पत्तिमन्मात्रनिमित्तत्वादित्यर्थः। अन्ततोऽवसानेऽपीति यावत्। अन्य एवेति परिशिष्टं दूषयति ❀ नापीति ❀। ननु कथं निर्वक्तुमशक्यत्वं यावतोदयनेन न्यायवाचस्पतिटीकायां स्वाभाविको निरुपाधिरित्यर्थ इति निरुक्तम् इति। मैवम्, तस्य प्रतियोगिभूतोपाधिखण्डनप्रस्तावे पराकरिष्यमाणत्वात्। निर्वक्तुमशक्योऽयं विकल्पः कस्मात्कृत इति तत्राह ❀ एवमिति ❀। कुत इत्यत आह ❀ न्यूनेति ❀। यदि स्वयं प्रतिभातविकल्पा एव क्रियन्ते तर्हि परो ब्रूतेऽन्य एव प्रकारो ममाभिप्रेत इति न्यूनोक्तिस्तवेति तत्परिहारार्थमित्यर्थः।

व्याप्तिलक्षणान्तरमुपस्थापयति ❀ अनौपेति ❀। सम्बन्धो व्याप्तिरित्युक्ते पार्थिवत्वलोहलेख्यत्व-

---

'अन्येन न प्रयुक्तः'—ऐसा न कह कर केवल 'अप्रयुक्तः' कहना ही पर्याप्त है, क्योंकि नित्य पदार्थ किसी से भी जनित नहीं होता। कृतक (अनित्य) व्याप्ति में 'अन्येन न प्रयुक्तः'—ऐसा कहना संभव ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक कार्य समग्र (अनेक) कारण-कलाप से उत्पन्न होता है, एक ही कारण से कोई कार्य नहीं होता, अन्ततोगत्वा देश, काल और अदृष्टादि घटित अनेक कारणों की पूर्णता से ही कार्य उत्पन्न होता है, अतः व्याप्तिरूप संबंध के लिए ऐसा कहना संभव नहीं कि संबन्धिस्वभावादन्येन न प्रयुक्तः'।

(६) कथित विकल्पों से अतिरिक्त अन्य किसी लक्षण का निर्वचन संभव नहीं। इसी प्रकार सभी वैकल्पिक स्थलों पर यह अन्तिम विकल्प अवश्य उठाकर खण्डित किया जाना चाहिये, अन्यथा वादी कह सकता है कि हम इन प्रस्तुत विकल्पों से अतिरिक्त ही कल्प मानते हैं, अतः हमारा खण्डन नहीं हुआ। [भाव यह है कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"स्वाभाविको नियतः। धूमादीनां वह्न्यादिसंबन्धः स्वाभाविकः, न तु वह्न्यादीनां धूमादिभिः' ते हि विनापि धूमादिभिरुपलभ्यन्ते। अतो नियतः संबन्धोऽनुमानाङ्गम्" (ता. टी. पृ. ३०६)। इसकी व्याख्या 'परिशुद्धि में श्री उदयनाचार्य ने जो और भी कुछ कहा है, वह सब बटोर कर खण्डन की प्रज्वलित ज्वाला में प्रक्षिप्त कर देना चाहिये]।

(५) अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः—

शङ्का—[श्री उदयनाचार्य ने 'स्वाभाविक' शब्द का अर्थ करते हुए कहा है—

यच्छून्यत्वमनौपाधिकत्वम् ?

उपाधिः साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः । अयञ्च—

'एकसाध्याविनाभावे मिथः सम्बन्धशून्ययोः ।
साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्ययः ॥

सम्बन्धेऽतिव्याप्तिरिति तत्परिहाराय विशेषणमनौपाधिकेति । तस्य प्रशिथिलावयवत्वोपाधिकत्वादुपाधावेव लक्षणगमनपरिहाराय विशेषणं सम्बन्ध इति । दूषणायोपक्रमते ❀ स इति ❀ । व्याप्तिखण्डनप्रस्ताव उपाधिप्रश्नोऽयुक्तोऽप्रस्तुताभिधानप्रसङ्गादित्यत आह ❀ यदिति ❀ । व्याप्तिविशेषणाभावप्रतियोगितयोपाधिरपि प्रस्तुत इत्यर्थः । कुसुमाञ्जलावुदयनेन जल्पितमुपाधिलक्षणं शङ्कते ❀ उपाधिरिति ❀ । अव्यापक उपाधिरित्युक्ते घटाव्यापकपटेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासायाह ❀ साधनस्याव्यापक इति ❀ । तावत्युक्ते शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवदित्यत्र सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वमुपाधिः स्यात्तत्र सत्यपि कृतकत्वे बुद्ध्यादावभावेन साधनाव्यापकत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह ❀ साध्यस्य व्यापक इति ❀ । तथाऽग्निमान् पर्वतो धूमवत्त्वादित्यत्र तत्पुष्कलकारणवत्त्वमुपाधिः स्यात्तत्र यत्राग्निस्तत्र तत्र तत्पुष्कलकारणवत्त्वमिति साध्यव्यापकत्वेऽपि साधनाव्यापकत्वं नास्ति तेनैव हेतुना पर्वतेऽपि तस्य साधयितुं शक्यत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह ❀ साधनाव्यापकेति ❀ । साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधित्वमित्यत्रोदयनसम्मतिमाह ❀ अयं चेति ❀ । अयञ्चास्य श्लोकस्य पर्यवसितोऽर्थ इति सम्बन्धः । कथमस्याऽयमर्थः स्यात्तद्वाचकस्य पदस्यादर्शनादित्यत आह ❀ व्यतिरेकेति ❀ । व्यतिरेको मुखं द्वारं यस्य स तथोक्तः । व्यतिरेकमुखत्वमेव कथमित्यत आह ❀ यदिति ❀ । तमेव श्लोकं पठति ❀ एकेति ❀ । स श्यामो मैत्रतनयत्वाद् गृहगतमैत्रतनयवदित्यत्र एकेन साध्येन श्यामतालक्षणेन सह मैत्रतनयत्वशाकाद्याहारपरिणतिपरम्परापूर्वत्वयोरविनाभावे साहचर्ये सति । कीदृशयोस्तयोरित्यत आह ❀ मिथ इति ❀ । परस्परसम्बन्धशून्ययोर्व्याप्यव्यापकभावहीनयोर्मध्ये यदत्ययः यस्य शाकाद्याहारपरिणतिपूर्वकत्वस्याप्ययस्ययोऽभावः साध्याभावाविनाभावी श्यामतालक्षणसाध्याभावव्याप्यः—यत्र शाकाद्याहारपरिणतिपूर्वकत्वं नास्ति तत्र श्यामत्वमपि नास्ति यथा गौरः पुरुष इति । स शाकाद्याहारपरिणतिपूर्वकत्वधर्म उपाधिरत्र मिथः सम्बन्धशून्ययोरिति साधनाव्यापकत्वमुक्तम् । यदत्ययः साध्याभावाविनाभावीति साध्यव्यापकत्वमुक्तं व्यापकाभावस्य व्याप्यत्वात् व्याप्याभावस्य च व्यापकत्वादेकसाध्येत्यादिस्वरूपसङ्कीर्तनम् । यत्र साध्यं तत्रोपाध्यभिमतो धर्मो यत्रो-

---

"स्वभाविको निरूपाधिः" (ता. परि. पृ. ३३४) वक्रवैशेषिकाचार्य श्री वादिवागीश्वर अपने मानमनोहर में कहते हैं—'निरूपाधिकसंबंधस्य व्याप्तित्वम्" (मा. म. पृ. ८१)] ।

समाधान—इस लक्षणकार से प्रश्न करना चाहिये कि 'उपाधि' किसे कहते हैं, जिसका निषेध 'अनौपाधिक' शब्द से किया जाता है ?

शङ्का—उपाधि का लक्षण है—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः' (न्या. कु. पृ. ३१४) । यह एक भाट्ट वचन का पर्यवसित अर्थ है, जो कि इस प्रकार है—

"एकसाध्याविनाभावे मिथः संबंधशून्ययोः ।
साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्ययः ॥"

['स श्यामः, मित्रातनयत्वात्'—यहाँ पर 'शाकपाक-जन्यता' धर्म प्रसिद्ध उपाधि है, क्योंकि परस्पर संबंध-रहित (व्याप्यव्यापकभावानापन्न) 'मित्रातनयत्व और 'शाकपाक-जन्यत्व'—इन दोनों में से जिस (शाक-पाक-जन्यत्व) का अभाव साध्याभाव का अविनाभावी (मित्रातनयेषु यत्र यत्र श्यामत्वाभावः, तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वाभावः—इस प्रकार साध्याभाव का व्याप्य) होता है, उस (शाकपाकजन्यत्व) को उपाधि कहा जाता है । यहाँ उपाधि में साधन के व्याप्तिरूप संबंध की शून्यता से साधनाव्यापकत्व एवं साध्याभावव्याप्याभाव-प्रतियोगित्व के द्वारा साध्य-व्यापकत्व का प्रदर्शन किया गया है, क्योंकि उपाधि जब साध्य

इत्यस्य व्यतिरेकमुखस्य यदन्वयः, स उपाधिरिति योज्यमानस्य पर्यवसितोऽर्थः। तद्धर्मभूता हि व्याप्तिर्जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिके साधनाभिमते चकास्तीति उपाधिरसावुच्यते। तदिदमाहुः—

'व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः।
अस्मिन्सत्यमुना भाव्यमिति यत्सा निरूप्यते ॥
अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा ॥'

पाध्यभिमतो धर्मो नास्ति तत्र न साध्यमपीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तयोरेव व्याप्यव्यापकभावनिश्चयेऽपि तत्रोपाधिशब्दप्रवृत्तिः किं निबन्धनेत्याशङ्कयाह * तदिति *। तस्योपाध्यभिमतस्य धर्मभूता व्याप्तिः साधनाभिमते धर्मे चकास्ति भातीति कृत्वाऽसावुपाधिरुच्यतेऽत्रोदाहरणमाह * जपेति *। जपाकुसुमधर्मो रक्तता स्फटिक इव उप समीप आधीयत इत्युपाधिः स्वसम्बन्धादन्यत्र स्वधर्माध्यारोपकत्वमुपाधिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः। इदमुदितं कुसुमाञ्जलौ तद्धर्म्मभूता हि व्याप्तिर्जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिके साधनाभिमते चकास्तीत्युपाधिरसावुच्यत इति। अन्यत्राप्युक्तं स्वसम्बन्धेन स्वीयं धर्ममन्यत्र दर्शयन्स उपाधिर्यथा लोके जपाकुसुमादिः स्फटिकोपल इति। अन्यत्र स्वधर्मारोपकत्वादुपाधित्वमित्यत्र भट्टवचनं प्रमाणयति * तदिति *। ननु व्याप्यस्य गमकत्वेऽग्नीषोमीयादिष्वधर्मत्वावगतौ हिंसात्वस्यापि हेतुव्याप्तित्वप्रसङ्गः, व्याप्ता हि हिंसा ब्रह्महत्यादिष्वधर्मत्वेनानिष्टं चेदमित्याशङ्कयाह—

व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः।
अस्मिन् सत्यमुना भाव्यमितिशक्त्या निरूप्यते ॥
अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा ॥ इति

का व्यापक है, तब उपाधि का अभाव साध्याभाव का व्याप्य होगा, भावपदार्थों का व्याप्य-व्यापकभाव उनके अभावों में विपरीत हो जाता है—

"व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते ॥' (श्लो. वा. पृ. ३८५)।

इस प्रकार इस भाट्टवचन में व्यतिरेकमुखेन प्रतिपादित अर्थ ही श्री उदयनाचार्य ने विधिमुखेन प्रस्तुत किया है—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः']।

उस शाकपाक-जन्यत्वादिरूप उपाधि में ही श्यामत्वादिरूप साध्य की व्याप्ति रहती है और वह व्याप्ति मित्रातनयत्वादिरूप साधनों में वैसे ही आरोपित हो जाती है, जैसे जपाकुसुम की रक्तता सन्निहित स्फटिक में, अतः स्फटिक में प्रतीयमान औपाधिक रक्तता की जैसे जपा कुसुमादि उपाधि है, वैसे ही मित्रातनयत्वादिरूप साधनों में प्रतीयमान व्याप्ति की शाकपाक-जन्यत्व उपाधि होती है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः।
अस्मिन् सत्यमुना भाव्यमिति यत्सा निरूप्यते ॥
अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा ॥ (श्लो० वा० पृ० ३५१)

[रात के समय पर्वत में प्रज्वलित अग्नि को दूर से देख कर कोई अनुमान करता है—'अयं पर्वतो धूमवान्, अग्निमत्त्वात्'—यहाँ 'दृश्यमान धूमव्याप्ति का प्रयोजक आर्द्रेन्धन-संयोगरूप धर्म ही होता है, अग्निरूप धर्म नहीं, क्योंकि 'वह्नौ सति अवश्यमेव धूमो भवति—ऐसा नियम नहीं देखा जाता, अपितु वह्नौ आर्द्रेन्धनसंयोगे सति धूमो भवत्येव—ऐसा नियम सर्व-सम्मत

स चोपाधिर्निश्चित इवाऽऽशंकितश्च, यत्रेदमुच्यते—

'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शंक्यते ।
विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम् ॥'

इदं श्लोकद्वयं भट्टोक्तं तात्पर्यत इत्थं व्याख्यातमिह तावद् ब्रह्महत्यादिष्वधर्मत्वयुक्तेषु हिंसात्व-निषेधत्वे उपलब्धे तत उभयधर्मसंनिधानेऽपि निषिद्धत्वमेवाक्षेपकमधर्मत्वस्य न हिंसात्वं यतो निषेध-विधिप्रयुक्तैवाऽनिष्टानुबन्धिता न हिंसात्वप्रयुक्ता आक्षेपकं चाक्षिप्यमाणेन नियतं तत्र हिंसात्वमाक्षेपकं यदि हि निषेधविधानं न स्यात्ततो विनाप्यधर्मत्वं न स्यादेव हिंसात्वमाक्षेपकञ्चान्यत्रोपलभ्यमानमाक्षेप्यं सन्निधापयति अनाक्षेपकस्तूपलभ्यमानोऽपि न धर्मान्तरं सन्निधापयत्यनियतत्वादिति । अत्रोदाहृतवार्त्तिक-स्येयमक्षरयोजना—परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवका अन्ये समर्थहेतोरन्ये हेत्वाभासा इत्यर्थः । यद्वा अन्ये हिंसात्वादयः यथाऽग्नीषोमीयपश्वालम्भोऽधर्मसाधनं हिंसात्वाद्ब्रह्महिंसावदित्यत्र निषिद्धत्वप्रयुक्त-व्याप्त्युपजीवको हिंसात्वादिति हेतुः तत्प्रभृतिभिः तैः परप्रयुक्तव्याप्तिभिर्दृष्टैः पक्षधर्मतयाऽवगतैरपि व्यापकांशावधारणा नेष्टैव साध्यनिश्चयो न जायत इत्यर्थः । एवमुपाधि लक्षयित्वा तदवान्तरभेदमाह ❀ स चेति ❀ । द्विविध इत्यध्याहारस्तदुक्तं कुसुमाञ्जलौ यत्रानुकूलस्तर्को नास्ति सोऽप्रयोजकः, स च द्विविधो हि निश्चितोपाधिराशङ्कितोपाधिः । शङ्कितोपाधावभियुक्तवचनमुदाहरति ❀ यत्रेति ❀ । विपक्षस्य साध्याभाववतो यावद्व्यतिरेकित्वं हेत्वभावरहितत्वं शतांशेनापि उपाधिशङ्काद्वारेणापि शङ्क्यते तावद्धेतोर्गमनिकाबलं साध्यनिश्चयजननसामर्थ्यं कुतो न कुतोऽपि निःसन्दिग्धव्याप्तिलक्षणाङ्गविकलत्वा-दित्यर्थः ।

है । अतः धूम की व्याप्ति आर्द्रेन्धन-संयोगत्वेन ही निरूपित होती है । आर्द्रेन्धन-संयोग से भिन्न वह्न्यादिरूप साधन स्वयं धूम की व्याप्ति के आधार नहीं होते, अपितु अपने समीपस्थ आर्द्रेन्धन-संयोग की व्याप्ति को ओढ़ कर धूम के व्याप्य बनने लग जाते हैं, वस्तुतः व्याप्य नहीं होते, अतः ऐसे सोपाधिक हेतु पक्ष में यदि देखे भी जाते हैं, तब भी उनके द्वारा व्यापक वस्तु की अनुमिति नहीं हो सकती । श्री उदयनाचार्य ने ऐसा ही कहा है—तद्धर्मभूता हि व्याप्तिर्जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिके साधनाभिमते चकास्तीत्युपाधिरसावुच्यते इति, तदिदमाहुः—

अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः ।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा ॥ (न्या. कु. पृ. ३१५)

कथित उपाधि से युक्त अत एवाप्रयोजकीभूत हेतुओं को दो भागों में विभक्त करते हुए श्री उदयनाचार्य ही कहते हैं—"स च द्विविधः—शङ्कितोपाधिर्निश्चितोपाधिश्च, यत्रेदमुच्यते—

यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते ।
विपक्षस्य कुतस्तावद् हेतोर्गमनिकाबलम् ॥ (न्या. कु. पृ. ३१४)] ।

अर्थात् अप्रयोजकीभूत (व्याप्यत्वासिद्ध) हेतु दो प्रकार का होता है--(१) शङ्कितोपाधिक और (२) निश्चितोपाधिक । जिस हेतु में साध्यव्यापकत्व एवं साधनाव्यापकत्व का सन्देह होता है, वह शङ्कितोपाधिक और जिसमें निश्चय हो, वह निश्चितोपाधिक कहा जाता है । निश्चितोपाधिक हेतु के ही समान शङ्कितोपाधिक हेतु भी अपने साध्य की गमनिका (सिद्धि) नहीं कर सकता, अत एव प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि जिस हेतु में विपक्षवृत्तिता के सन्देह का शतांश भाग (लेशमात्र) भी जब तक बना रहता है, तब तक उसमें साध्यावगमक शक्ति कैसे आ सकती है ? विपक्षवृत्तिता नाम है--व्यभिचार का । निश्चित उपाधि अपने हेतु में निश्चित व्यभिचार और शङ्कित उपाधि अपने हेतु में शङ्कित व्यभिचार की उन्नायिका मानी जाती है । निश्चित व्यभिचार के समान ही शङ्कित व्यभिचार भी हेतुगत व्याप्ति का घातक होता है- यह कहा जा चुका है ।

इति चेत्, साध्यव्यापके पक्षेतरत्वेऽपि प्रसङ्गात्। तद्व्यतिरिक्त इत्यपीति चेन्न, बाधोन्नीतस्य तस्याव्यापनात्। अन्यथा निरुपाधिसम्बन्धित्वे बाधासिद्धेः। यदाह—'बाधेन वोपाधिरुन्नीयताम्, अन्येन वेति न कश्चिद्विशेषः।'

अतिव्याप्त्या खण्डयति ❀ नेति ❀। क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदित्यत्र पक्षेतरत्वं साध्यव्यापकं भवति सकर्तृकघटादौ सर्वत्र भावात्साधनाव्यापकं च पक्ष एव कार्यत्वे सति पक्षेतरत्वाभावादिति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। अत्रैके समादधते न हि पक्षेतरत्वं साध्यव्यापकं पक्ष एव साध्यसन्देहेऽप्युपाध्यभावस्य निश्चितत्वादिति। तैः कथमनुमानमेव मानमिष्टं पक्षे साध्यसद्भावसन्देहेऽपि साधनसद्भावनिश्चयेन शङ्कितव्यभिचारित्वाद्धेतोः। पक्षादन्यत्र हेतोः साध्यसम्बन्धनिश्चय इति चेत्तर्हि इहापि साध्याभावेऽपि पक्षेतरत्वस्य वृत्तेर्विरोधात्स्वयं न वर्तत इति व्यतिरेकनिश्चयस्वरूपभेदादेव न तस्य पक्षत्वापत्तिरिति।

"मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं किं न पश्यसि"

इत्याभाणकविषयतां नातिवर्तत इति तद्दूषणाय न यत्यत इति। पक्षेतरत्वव्यतिरिक्तत्वे सति साध्यव्यापकः साधनाव्यापक उपाधिरिति लक्षणं विशिनष्टि ❀ तदिति ❀। पक्षेतरत्वं पक्षान्योन्याभाववत्वं तद्व्यतिरिक्तं पुनस्तदन्योन्याभाववत्वं तन्न सम्भवत्यनवस्थानादिति दूषयति ❀ नेति ❀। अभ्युपेत्यापि दूषयति ❀बाधेति❀। तेजो द्रव्यमनुष्णं रूपित्वाद्, घटवदित्यत्र पक्षे साध्याभावस्य प्रत्यक्षतया हेतोः प्रत्यक्षविरुद्धत्वं तत्र रूपित्वानुष्णत्वसम्बन्धेऽतेजस्त्वमुपाधिः पक्षेतरत्वमेव वा बाधेनोन्नीयते तत्र व्याप्त्युपात्पक्षेतरत्वव्यतिरिक्तेतिविशेषणाभावादित्यर्थः। बाधोऽप्रामाण्यगमको नोपाधेरित्यत आह ❀अन्यथेति ❀। दुष्टकरणजन्यस्यैव शुक्तिरूप्यादिज्ञानस्य बाध्यत्वान्निरुपाधिसम्बन्धत्वे कलुषकरणजन्यतया प्रमाणमेव स्यादित्यत एवोदयनेनातेजस्त्वमुपाधिरुक्तः। बाधेनोपाधिरुन्नेय इत्यत्र तदीयवचनमुदाहरति ❀ यदिति ❀। अन्येन व्यभिचारेण विपक्षप्रतिकूलतर्काभावेन वेत्यर्थः। ननु शब्दो नित्य आकाशैकगुणत्वात्तद्गतपरममहत्त्ववदित्यनुमानमिति चेन्न, अकार्यत्वस्योपाधेर्भावादन्यथाऽऽत्मविशेषगुणा नित्यास्त-

---

समाधान—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व' को उपाधि का लक्षण मानने पर अनुमानमात्र का उच्छेद हो जाता है, क्योंकि सभी अनुमानों में पक्षेतरत्व (पक्ष-भिन्नत्व) को उपाधि माना जा सकता है, पक्ष में साध्य का सन्देह ही होता है, अतः 'यत्र यत्र साध्यम्, तत्र तत्र पक्षभिन्नत्वम्'—इस प्रकार पक्षेतरत्व में साध्य-व्यापकत्व निश्चित है। हेतु का निश्चय तो पक्ष में भी होता है, किन्तु पक्षेतरत्व वहाँ नहीं रहता, अतः पक्षेतरत्व धर्म साधन का अव्यापक भी है।

उपाधि के उक्त लक्षण में 'पक्षेतरत्वभिन्नत्वे सति'—ऐसा विशेषण लगाने पर अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि अग्निरनुष्णः, रूपित्वाद्, घटादिवत्'—इत्यादि स्थलों पर 'पक्षेतरत्व' धर्म को उपाधि माना जाता है, क्योंकि वहाँ पक्षरूप अग्नि में अनुष्णत्व का बाध भी है, अतः बाध से उन्नीत और उपोद्बलित पक्षेतरत्व में उपाधि का 'पक्षेतरत्वभिन्नत्वे सति'—यह दल अव्याप्त हो जाता है। अन्यथा (यदि 'वह्निरनुष्णः' यहाँ पर पक्षेतरत्व को उपाधि नहीं माना जाता, तब) साध्य का हेतु के साथ अनौपाधिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण पक्ष (वह्नि) में साध्य का बाध नहीं, साध्य की सिद्धि हो जायगी, जैसा कि श्री उदयनाचार्य ने कहा है—"स्वभावप्रतिबद्धस्य च तत्परित्यागे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्, तस्माद् बाधेन वा उपाधिरुन्नीयतामन्येन वेति न कश्चिद्विशेषः" (न्या. कु. पृ. १८४)। अतः बाधान्यथानुपपत्ति के द्वारा वहाँ 'पक्षेतरत्व' को उपाधि मानना ही होगा, जिसमें कथित उपाधि-लक्षण अव्याप्त हो रहा है।

एतदर्थमपि विशेषणीयमिति चेन्न, तथापि साधनाव्यापकत्वे सतीति तद्व्याप्त्यनवधारणे न शक्यावधारणम्। एवं साध्यव्यापक इत्यपि।

अथ मन्यसे अदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वं साध्यव्यापकत्वम्। न, वस्तुगत्या व्यभिचारिसाध्यस्यापि आपाततोऽदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वसम्भवात् तस्याप्युपाधित्वापत्तेः। न द्रक्ष्यत इति च निरूपयितुमशक्यम्, व्याप्तिग्रहकाले च साध्यत्वाभावेन

देकगुणत्वात्तद्गतपरममहत्त्ववदिति च स्यात्। अस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादहेतुत्वमिति चेन्न, निरुपाधेर्बाधाभावात्स्वभावप्रतिबन्धस्य तत्परित्यागे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्तस्मात् बाधेन वोपाधिरुन्नीयतामन्यथा वेति न कश्चिद्विशेष इति कुसुमाञ्जलावुक्तमित्यर्थः। बाधोन्नेयपक्षेतरत्वव्यतिरिक्तत्वे सति कथितलक्षण उपाधिरिति शङ्कते ※ एतदिति ※। अतिव्याप्तिपरिहारेऽप्यसिद्धिरपरिहार्येति दूषयति ※ नेति ※। साधनव्यापकत्वं तद्व्याप्तिकर्तृत्वं तदभावः साधनाव्यापकत्वमेवं च व्याप्तिसिद्धौ व्यापकत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ तदपेक्षाऽव्यापकसिद्धिस्तत्सिद्धावुक्तोपाधिसिद्धिरुपाधिसिद्धौ च निरुपाधिकसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिरिति चक्रकापत्तेरित्यर्थः। उक्तन्यायं विशेषांशेऽप्यतिदिशति ※ एवमिति ※। व्याप्त्यनवधारणे साध्यव्यापक इत्यपि शक्यावधारणं नेति सम्बन्धः। व्याप्तिसिद्धौ साध्यव्यापकत्वसिद्धिस्तत्सिद्धावुपाधिसिद्धिरुपाधिसिद्धौ च निरुपाधिकसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिरिति चक्रकापत्तेरत्राऽपि तुल्यत्वादित्यर्थः। एतेन समव्याप्तिपक्षोऽपि।

"समासमाविनाभावावेकत्र स्तो यदा तदा।
समेन यदि नो व्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः॥"

इत्युक्तो निरस्तश्चक्रकापत्तेस्तुल्यत्वात्।

निरुपाधिकसम्बन्धो व्याप्तिर्न साध्येन सहोपाधेर्येन चक्रकं स्यात्किन्तु साहचर्यमात्रमतो नोक्तदोष इति शंकते ※ अथेति ※। न दृष्टो व्यभिचारः साध्येन यस्य सोऽदृष्टव्यभिचारसाध्यस्तथात्वमुपाधेः साध्यव्यापकत्वमित्यर्थः। आपाततोऽदृष्टव्यभिचारत्वमुत कालान्तरेऽपीति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ※ नेति ※। वस्तुगत्या व्यभिचारि साध्यं यस्योपाधेस्तस्यापाततो न दृष्टो व्यभिचारः साध्येन यस्य स तथोक्तस्तथात्वसम्भवात् क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्, घटवदित्यत्र रूपित्वमुपाधिः स्यात्तस्य साधनाव्यापकत्वादापाततो व्यभिचारादर्शनाच्चेत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीये लक्षणासिद्धिरित्याह ※ नेति ※। कालान्तरभाविव्यभिचारस्य सम्प्रति ज्ञातुमशक्यतया तदभावोऽपि दुर्निरूप इत्यर्थः। व्याप्तिग्रहणकाल इति काकाक्षिवदुभयतः सम्बध्यते। एवं साध्यव्यापक इत्यत्र व्यापकांशप्रयुक्तदूषणमभिधाय साध्यांश-

---

इस अव्याप्ति का परिहार करने के लिए यदि 'बाधोन्नीतपक्षेतरत्वभिन्नत्वे सति'— ऐसा विशेषण उपाधि के कथित लक्षण में दिया जाता है, तब भी चक्रकापत्ति बनी रहती है, क्योंकि उपाधि का ज्ञान होने पर अनौपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति का ज्ञान होगा, व्याप्ति का ज्ञान होने पर साधन-व्यापकत्व का ज्ञान और साधन-व्यापकत्व का ज्ञान होने पर ही साधनाव्यापकत्वरूप उपाधि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार साध्य-व्यापकत्वांश को लेकर चक्रकापत्ति प्रसक्त होती है।

शङ्का—साध्यव्यापकत्वांश को लेकर चक्रकापत्ति नहीं होती, क्योंकि साध्य-व्यापकत्व का अर्थ साध्यगत व्याप्ति-निरूपकत्व नहीं, अपितु जिसके साथ साध्य का व्यभिचार नहीं देखा गया, ऐसी उपाधि को अदृष्टव्यभिचारसाध्यक या साध्यव्यापक कहा जाता है। इस प्रकार व्याप्ति-निरपेक्ष साध्य-व्यापकत्व के निरूपण में चक्रकापत्ति क्यों होगी ?

समाधान—जो वस्तु जहाँ रहती है, उसका वहाँ दृष्ट होना अनिवार्य नहीं, अतः 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'—यहाँ पर आर्द्रेन्धन-संयोग वह्निरूप साध्यका व्यभिचारी है, किन्तु व्यभिचार का दर्शन न होने पर उसे अदृष्टव्यभिचारसाध्यक कहा जा सकता है, अतः उसे भी वहाँ उपाधि माना जाना चाहिए। 'साध्येन सह यस्य कदापि व्यभिचारो न द्रक्ष्यते'—ऐसा किसी

तदव्यभिचारः कथमवधार्यः ?

साध्यं व्यापकमपेक्षितमिति चेन्न, व्याप्त्यनवगमे व्यापकार्थानवगमात्। सम्भावितव्यापकभावो व्यापकोऽपेक्षित इति चेन्न, व्यापकस्यानिरुक्तौ किंरूपतया सम्भावनाऽपि स्यात् ?

अथ साध्यव्यापक इत्येव भद्रम्, तदानीं साध्यत्वाभावेऽपि साधयितुमर्हत्वस्य विवक्षितत्वात्। न, कथं ह्यवगन्तव्यमिदमेव साधयितुमर्हमिदं नेति ? व्यापकत्वादिति वक्तुमशक्यत्वात्।

दूषणमाह ॐ व्याप्तीति ॐ। साध्यत्वं नाम सिद्धिविषयत्वं सिद्धिश्च व्याप्तलिङ्गाधीना तल्लिङ्गं व्याप्तिग्रहणकाले नास्ति तेन तदा साध्यत्वाभावात्तेन सह व्यभिचाराभावो नावधारयितुं शक्यत इत्याशयः। साध्यत्वं न सिद्धिविषयत्वं किं तु व्याप्तिकर्तृत्वमेवातस्तद्व्यभिचारः शक्यनिरूपण इति शङ्कते ॐ साध्यमिति ॐ। असम्भवेन दूषयति ॐ नेति ॐ। व्याप्त्यनवगमे यद्यपि तत्कर्तृत्वव्यापकत्वप्रमा न सम्भवति तथाऽपि सम्बन्धकर्तृत्वे सत्यधिकवृत्तितया व्यापकत्वसम्भावनाऽस्ति सम्भावितव्यापकाव्यभिचारत्वं साध्यव्यापकत्वमिति शंकते ॐ सम्भावितेति ॐ। क्वचित्प्रमितस्यैवान्यत्र सम्भावनाविषयत्वं निश्चयपूर्वकत्वात्संशयस्य संभावनस्येहान्तर्भावात्क्वचिदप्यनिश्चये सम्भावनमपि न स्यादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। किंरूपतया केन प्रकारेणेति यावत्। व्याप्तिग्रहणकाले साध्यत्वाभावप्रयुक्तोक्तदोषपरिहारं शंकते ॐ अथेति ॐ। कुतो भद्रत्वमुक्तदोषापाकरणमन्तरेणेति तत्राह ॐ तदानीमिति ॐ। साध्यत्वं न सिद्धिविषयत्वं किन्तु तद्योग्यता सा तु यावद्द्रव्यभाविनीति भावः। नैतदपि सिद्ध्यति मानाभावादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। इदमग्न्याद्येव साध्यं नेदं धूमादि इति कथमवगन्तव्यमित्यन्वयः। धूमाग्न्योः साधनसाध्यभावो व्याप्यव्यापकभावादवगम्यते तत्राह ॐ व्यापकेति ॐ। साधनाव्यापकत्वविशेषणस्य

के लिए भी नहीं कहा जा सकता। 'कदापि व्यभिचारो न द्रक्ष्यते'—ऐसा न कह कर व्याप्तिग्रहणकाले साध्येन यस्य व्यभिचारो न दृष्टः'—ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि 'साध्य' नाम है - सिद्धि के विषय का और अनुमितिरूप सिद्धि व्याप्तिग्रहण-काल में होती नहीं, अतः उस समय धूमादि पदार्थों को 'साध्य' पद से अभिहित नहीं किया जा सकता, अतः आर्द्रेन्धनसंयोग में साध्यव्यापकत्व क्योंकर घटेगा ? 'सिद्धिविषयत्वं साध्यत्वम्'—ऐसा लक्षण न कर 'व्यापकत्वं साध्यत्वम्'—ऐसा भी नहीं कर सकते, क्योंकि व्याप्ति का अवगम न होने पर व्यापक पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। जिसमें व्यापकत्व कभी सम्भावित है, उसका भी 'व्यापक' शब्द से अभिधान सम्भव नहीं, क्योंकि व्यापकत्व का निरूपण न हो सकने पर 'व्यापकत्वेन सम्भावितः'—ऐसा किसी के लिए व्यवहार नहीं किया जा सकता।

शङ्का—यद्यपि व्याप्ति-ग्रहण-काल में अनुमितिरूप सिद्धि नहीं, तथापि 'साधयितुमर्हमिदम्'—ऐसा किसी के लिए भी कहा जा सकता है, वही साध्य पदार्थ है और उसके व्यापक पदार्थ को साध्यव्यापक कहा जा सकता है।

समाधान—'इदं साधयितुमर्हति, इदं न'—ऐसी व्यवस्था क्योंकर हो सकेगी ? व्यापकत्व-प्रयुक्त वैसा व्यवहार मानने पर अनवस्था होती है। साध्यव्यापकत्व के समान ही साधनाव्यापकत्व का भी सर्वत्र निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि 'स श्यामः, मैत्रतनयत्वात्'—यहाँ पर मैत्र-पुत्र में शाकपाकजन्यत्व का अभाव क्योंकर अधिगत हो सकेगा ? [अर्थात् मैत्रतनयत्वरूप साधन की अव्यापकता का शाकपाकजन्यत्व में ग्रहण तभी होगा, जब कि मैत्रतनयत्वरूप साधन के आधारभूत गौर मैत्रतनय में शाकपाकजन्यत्व का अभाव निश्चित हो, किन्तु यह तो माता के उदर में होनेवाली एक ऐसी प्रक्रिया है, जिस का ज्ञान वैज्ञानिक उपकरणों के विना सम्भव नहीं।

न च साधनाऽव्यापकत्वं सर्वत्र निश्चेतुं शक्यम्, 'स श्यामो मैत्रतनयत्वादि'त्यत्र शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परायाः मैत्रतनयेऽभावस्य दुरधिगमत्वात्।

यत्रोक्तलक्षणस्य निश्चायकं प्रमाणमस्ति तत्र निश्चितोपाधित्वम्, अन्यत्र शङ्कितोपाधित्वम्। मैत्रतनयत्वव्याप्यशाकाद्याहारपरिणतिपरम्परया स्यातन्यमित्यत्र नियामकाभावादिति चेन्न, मैत्रतनयत्वेनैव हेतुना तस्यापि प्रसाधने तच्छङ्काया अपि छेत्तुमशक्यत्वात्। तत्रापि तत्तत्सामग्रीत्युपाधिपरम्पराभिधाने च तस्या अपि मैत्रतनयत्वेनैव प्रसाधनस्य कर्तुं शक्यत्वात्।

अनवस्थैवं स्यादिति चेत्, न, उपाध्युपन्यास एव कुतोऽनवस्था न स्यात्?

प्रकारान्तरेण खण्डनं प्रस्तौति ❀ न चेति ❀। शब्दो नित्यः ध्वन्यन्यत्वे सति श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदित्यत्राकृतकत्वोपाधौ साधनाऽव्यापकत्वं निश्चेतुं शक्यत इति सर्वत्रेत्युक्तम्। कुतोऽनिश्चय इत्यत आह ❀ स इति ❀। मैत्रतनयत्वश्यामत्वसम्बन्धे शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परोपाधिराश्रीयते. तस्याः पक्षीकृतमैत्रतनये भावो दुरधिगमो मानाभावात्कथंचिच्छाकपरिणामाभावावगमेऽप्यविपदोपात्ताहारान्तरपरिणतिपरम्पराभावो दुरधिगम इत्याशयः।

तर्हि साधनाऽव्यापकत्वानिश्चयान्मा भून्निश्चितोपाधित्वमथापि सन्दिग्धोपाधित्वं भविष्यति साधनाऽव्यापकत्वस्याप्यनिश्चयादिति शंकते ❀ यत्रेति ❀। यत्र निषिद्धत्वादौ साधनव्यापकत्वाविकथितलक्षणस्य निश्चायकं श्रुत्यादिकं प्रमाणमस्ति तत्र निषिद्धत्वादौ निश्चितोपाधित्वमित्याशयः। निश्चितोपाधिस्थलमुक्त्वा शङ्कितोपाधिस्थलमाह ❀ अन्यत्रेति ❀। शाकाद्याहारपरिणत्यादौ सन्दिग्धोपाधित्वमित्यर्थः। साधारणधर्मदर्शनादिशंकासामग्र्यां सत्यामुपाधिशङ्कानङ्गीकारे स्वक्रियाव्याघातापत्तिरित्यभिप्रेत्य हेतुमाह ❀ मैत्रेति ❀। शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परया मैत्रतनयत्वं व्याप्य स्यातव्यमित्यत्र प्रमाणाभावाद्विशेषादर्शनं साहचर्यमात्रे सामान्यदर्शनं च विद्यत इति भावः। विशेषादर्शनादिकारणाभावमापादयन् शङ्कानङ्गीकारे नास्ति व्याघात इति परहरति ❀ नेति ❀। मैत्रतनयः शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परापूर्वको मैत्रतनयत्वादिति हेतुनैव व्यापकत्वविशेषदर्शनात् कारणाभावादेव शङ्काभाव इति भावः। मैत्रतनयत्वेन शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परापूर्वकत्वे साध्ये शाकाद्याहारसामग्रीसत्त्वमुपाधिस्तस्य मैत्रतनयत्वेन प्रसाधने तत्सामग्र्युपाधिरित्युपाधिपारम्पर्याभिधानान्नोपाध्यनुमानसम्भव इत्यत आह ❀ तत्रापीति ❀। तस्याः सामग्र्या मैत्रतनयत्वेनैव साधनस्य कर्तुं शक्यत्वात्साधनाऽव्यापकत्वमिति शेषः।

शङ्का—यद्यपि साध्यव्यापकत्वादि का निश्चय न हो सकने के कारण निश्चित उपाधि का ज्ञान सम्भव नहीं, तथापि उपाधि के कथित लक्षण का निश्चायक प्रमाण जहाँ सुलभ है, वहाँ निश्चित उपाधि और अन्यत्र शङ्कित उपाधि मानी जा सकती है, जैसे कि 'स श्यामः मैत्रतनयत्वात्'—यहाँ पर 'शाकपाकजन्यत्व' शङ्कित उपाधि है, क्योंकि 'शाकपाकजन्यत्व में मैत्रतनयत्वरूप साधन का व्यापकत्व है'—इसमें कोई प्रमाण सुलभ नहीं, अतः शङ्का का विशेष-दर्शनरूप प्रतिबन्धक नहीं, अपितु विशेषादर्शनरूप कारण ही विद्यमान है, तब शङ्का क्यों न होगी?

समाधान—'मैत्रतनयः, शाकपाकजन्यः, मैत्रतनयत्वात्' इस प्रकार मैत्रतनयत्वरूप हेतु के द्वारा शाकपाकजन्यत्व की सिद्धि कर लेने पर शाकपाकजन्यत्व में मैत्रतनयत्वरूप साधन की व्यापकता पर्यवसित हो जाती है, अतः विशेष-दर्शन के सम्पन्न हो जाने पर शङ्का का उच्छेद किया जा सकता है। अतः वहाँ न तो शङ्कितोपाधित्व घटता है और न निश्चितोपाधित्व। यदि शाकपाकजन्यत्वगत मैत्रतनयत्व-व्यापकता के साधक उक्त अनुमान में शाकाद्याहाररूप सामग्रीसत्त्व को उपाधि के रूप में प्रस्तुत किया जाता है. तब उस उपाधि में भी उसी प्रकार साधन-व्यापकत्व की सिद्धि की जा सकती है। व्यापकत्व-साधन-परम्परा

साध्यसामग्र्या उपाधित्वे धूमानुमानसाधारण्यात्। एवं च साध्ये सामग्र्युपाधित्वव्यवच्छेदार्थमपि लक्षणं विशेषणीयम्। श्यामत्वादौ साध्ये शाकाद्याहारपरिणतिपारम्पर्यादेस्तस्मिन्साध्ये श्यामत्वादेरुपाधित्वसम्भवेन कथमुपाधिरपि साधयितुं शक्यत इति चेत्, मैवम्, प्रत्येकं द्वयोरपि मैत्रतनयत्वादिना साधने साधनाव्यापकत्वस्य शङ्कितुमशक्यत्वात्। अन्यथा सकर्तृकत्वे साध्येऽदृष्टजत्वं अदृष्टजत्वे च सकर्तृकत्वमनुपाधिरित्युभयासिद्धिः स्यात्। एवं बुद्धिमत्पूर्वकत्वे प्रयत्नवत्पूर्वकत्वं

तत्सामग्र्या साधनव्यापकत्वानुमाने साधनानवस्था स्यात् सा च न युक्ताऽनवस्थायां प्रमाणाभावाद् गौरवाच्चेति शंकते ❀ अनवस्थेति ❀। अनवस्थासाम्यापादनेन परिहरति ❀ नेति ❀। साध्यसामग्र्या उपाधित्वमुपेत्य दूषणं निरगादिदानीं तदेवानुपपन्नमतिप्रसङ्गादित्याह ❀ साध्येति ❀। पर्वतो अग्निमानित्यत्रापि सामग्र्युपाधिः स्यात्तत्साधने तत्सामग्रीति साध्यसामग्रीपरम्परया सर्वानुमानोच्छेद इत्यर्थः। मा भूत्तर्हि साध्यसामग्र्या उपाधित्वमतिप्रसङ्गनिवृत्तय इत्यत आह ❀ एवमिति ❀। साध्यसामग्र्यन्यत्वे बाधोन्नेयपक्षेतरव्यतिरिक्तपक्षेतरत्वान्यत्वे सति कथितलक्षण उपाधिरिति विशेषणीयमेवं विशेषितेऽपि शाकाद्याहारपरिणतिपारम्पर्यस्य साधनाव्यापकत्वासिद्धिरित्याशयः। स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यनुमाने शाकाद्याहारपारम्पर्यमुपाधिः शाकाद्याहारपरिणतिपारम्पर्यपूर्वको मैत्रतनयत्वादित्यनुमाने श्यामत्वमुपाधिरिति इतरेतरोपाधित्वसम्भवान्नोपाधेः साधनव्यापकत्वानुमानं शक्यमिति शङ्कते ❀ श्यामेति ❀। आविपवादुपाध्यन्तरस्थलस्वीकारः। द्वयोर्युगपत्साधनान्न परस्परोपाधित्वमिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। स श्यामत्वे सति शाकाद्याहारपरिणतिपूर्वकः मैत्रतनयत्वादिति साधने प्रत्येकं साधनाव्यापकत्वस्य शङ्कितुमशक्यत्वादित्यर्थः। यदि द्वयोर्युगपत्साध्यत्वं नाङ्गीक्रियेत तर्हि सर्वमप्यनुमानं भज्येतेत्याह ❀ अन्यथेति ❀। अन्यथा विश्वमनुमानं व्याकुलि स्यादिति सम्बन्धः। तदुपपादनं ❀ सकर्तृकत्व इत्यादि ❀। एवमन्योन्योपाधितयेश्वराऽनुमानासिद्धिमुक्त्वा तस्य सर्वज्ञत्वानुमानासिद्धिमाह

का अनुसरण यदि अनवस्थापादक है, तब सामग्री-परम्परा का उपाधि के रूप में प्रस्तुतीकरण भी अनवस्था-पर्यवसायी क्यों नहीं ? दूसरी बात यह भी है कि साध्य की सामग्री को उपाधि मानने पर अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि 'वह्निमान् धूमात्'—इत्यादि सभी प्रसिद्ध अनुमान-स्थलों पर साध्य-सामग्री उपाधि बनकर अनुमान का मार्गावरोध कर सकती है। अतः साध्य-सामग्री में उपाधित्व प्रसक्त न हो, अतः उपाधि के उक्त लक्षण में 'साध्य-सामग्रीभिन्नत्वे सति'—यह भी एक विशेषण लगाना होगा।

शङ्का—उपाधि में साध्य-व्यापकत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'स श्यामो मैत्रतनयत्वात्'—इस अनुमान में शाकपाकजन्यत्व और 'स शाकपाकजन्यः, मैत्रतनयत्वात्'—इस अनुमान में श्यामत्व को उपाधि माना जा सकता है। अतः पक्ष में उपाधि का सद्भाव क्योंकर सिद्ध किया जा सकेगा ?

समाधान—श्यामत्व और शाकपाक-जन्यत्व की क्रमिक सिद्धि में एक को दूसरे में उपाधि माना जा सकता है, किन्तु युगपत् उभय की सिद्धि ('स श्यामत्वे सति शाकपाकजन्यः, मैत्रतनयत्वात्—इस प्रकार का अनुमान) विवक्षित होने पर प्रत्येक धर्म में साधनाव्यापकत्व की शङ्का नहीं की जा सकती। अन्यथा (यदि युगपत् उभय धर्मों को साध्य नहीं बनाया जा सकता, तब) अनुमान मात्र का समुच्छेद प्रसक्त होता है, क्योंकि 'क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वात्'—इस अनुमान में अदृष्टजन्यत्व और 'क्षित्यादिकमदृष्टजन्यम्, कार्यत्वात्'—इस अनुमान में सकर्तृकत्व को उपाधि माना जा सकता है। क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकम्'—इस अनुमान में प्रयत्नवज्जन्यत्व और क्षित्यादिकं प्रयत्नवज्जन्यम्'—इस अनुमान में बुद्धिमत्कर्तृकत्व उपाधि हो सकता है एवं 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्'—इस अनुमान में काष्ठाद्यन्यतमजन्यत्व

प्रयत्नवत्पूर्वकत्वे बुद्धिमत्पूर्वकत्वम्, एवं वह्नित्वजात्याक्रान्तवत्त्वेऽपि इन्धनत्वजात्याक्रान्तत्वं, तस्मिन् वह्नित्वजात्याक्रान्तवत्त्वमुपाधिः स्यादित्यत्राऽपि विश्वमनुमानं व्याकुलं स्यात्।

अत एव साध्यसाधनसम्बन्धं प्रति व्यापकत्वं साध्यव्यापकत्वमिष्टमित्यपि प्रत्युक्तम्, यत्राप्युपाधिर्निश्चीयते, तत्राप्यतीन्द्रियोपाधिविषये तदभावस्य साधनाव्याप्त्यर्थमनुमेयतायां सोपाधीक्रियमाणेन साधनेनैव सत्प्रतिपक्षस्य कर्तुं शक्यत्वात्।

❀ एवमिति ❀। उपाधिरित्युभयसिद्धिरिति सर्वत्रानुषङ्गः। तेजोवत्त्वमात्रं पर्वतेऽप्यस्तीति विशिनष्टि ❀ इन्धनतेजोवत्त्वमिति ❀। इन्धनं मण्याद्युपलक्षणम्। एतदुक्तं भवति—पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्युक्ते काष्ठाद्यन्यतमजन्यतेजोवत्त्वमुपाधिरिति। वह्नित्वं जातिर्यस्य स वह्नित्वजातिरग्निस्तदाक्रान्तत्वं वह्निमत्त्वमित्यर्थः। केचित्तु अयं वह्नित्वजात्याक्रान्तः धूमकेतनत्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्यनुमाने काष्ठादिजन्यप्रकाशगुणवत्त्वमुपाधिरिति व्याचक्षते। तत्सदसद्वेति पण्डितैरेव निरूप्यम्। आदिशब्दाद् द्व्यणुकं स्वपरिमाणन्यूनपरिमाणारब्धं सावयवत्वाद्, घटवदित्यत्र कार्यद्रव्यत्वमुपाधिस्तस्मिंश्च साध्ये स्वपरिमाणाऽन्यूनपरिमाणारब्धत्वमित्यादि गृह्यते। अन्योन्याश्रयोपाधित्व इवोपाधित्वेऽपि सम इत्यदोष इति भावः।

साध्यसाधनसम्बन्धव्यापकत्वं साध्यव्यापकत्वमस्त्वित्यत आह। ❀ अत इति ❀। व्याप्त्यनिरुक्तौ व्यापकत्वानिरुक्तेरेवेत्यर्थः। साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वं साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वमिति नारायणसर्वज्ञमतमपि निरस्तम्। व्याप्त्यसिद्धौ साध्यसाधनभावासिद्धेरिति द्रष्टव्यम्। ननु न साधनाव्यापकत्वमपि सर्वत्र निश्चेतु शक्यमित्यस्मात्प्रागिदं वक्तव्यम्। सत्यम्, ग्रन्थार्थ उपदेशतोऽवगन्तव्य इत्यभिप्रेत्य व्यवहितसम्बन्धितया करणाददोष इति।

यत्रोक्तलक्षणस्य निश्चायकं प्रमाणमस्ति तत्र तन्निश्चितोपाधित्वमिति यदुक्तं तदपि न प्रसङ्गार्हमित्याह ❀ यत्रेति ❀। तेजोऽनुष्णं रूपित्वादित्यत्र बाधेनोपाधिमात्रमुन्नीयातेजस्त्वमुपाधिविशेषः कल्प्यते तस्य प्रत्यक्षतया तदभावः पक्षे प्रत्यक्ष इति विशिनष्टि ❀ अतीन्द्रियेति ❀। वज्रादिर्लोहलेख्यः पार्थिवत्वात्काष्ठवदित्यत्र शिथिलावयवत्वमुपाधिराश्रीयते स चातीन्द्रियो लोहलेख्यत्वेनानुमेयत्वादत एव वाचस्पतिटीकायामुदयनेन स्फटिके कथमेवं प्रतिपत्तिरिति चोदिते प्रत्युक्तं लोहलेख्यत्वादेवेति तस्य साधनाव्यापकत्वार्थं तदभावो वज्रादावनुमेयो वज्रादिर्न प्रशिथिलावयवः, लोहालेख्यत्वाद्वायुवदिति। अस्य च

और 'पर्वतः काष्ठाद्यन्यतमजन्यतेजोवान्'—इस अनुमान में अग्निमत्त्व को उपाधि के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार समस्त अनुमान-परिवार विपन्न हो जाता है।

अत एव साध्यत्व एवं व्यापकत्व का निरूपण न हो सकने के कारण साध्यव्यापकत्व का साध्यसाधनसम्बन्ध-व्यापकत्व अर्थ भी नहीं किया जा सकता।

यह जो कहा गया कि "यत्रोक्तलक्षणस्य निश्चायकं प्रमाणमस्ति, तत्र निश्चितोपाधित्वम्"—वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि जहाँ उपाधि का निश्चय किया जाता है, वहाँ भी जब अतीन्द्रिय उपाधि होती है, जैसे 'वज्रादिर्लोहलेख्यः पार्थिवत्वात्, काष्ठवत्'—इस अनुमान में शिथिलावयत्व को उपाधि माना गया है, वह अतीन्द्रिय है, उसका 'लोहलेख्यत्व' के द्वारा अनुमान किया जाता है, जैसा कि श्री उदयनाचार्य ने कहा है—"वज्रे लोहलेख्यत्वं प्रति पार्थिवत्वहेतोः का उपाधिः? प्रशिथिलावयवत्वम्। कथमस्य प्रतिपत्तिः? लोहलेख्यत्वादेव" (ता० परि० पृ० ३३७-३८)। उस उपाधि में साधनाव्यापकत्व की उपपत्ति के लिए वज्रादि में प्रशिथिलावयत्रत्व का अभाव सिद्ध करना होगा—वज्रादिर्न प्रशिथिलावयवः, लोहालेख्यत्वादाकाशवत्। वहाँ 'वज्रादिः प्रशिथिलावयवः, पार्थिवत्वाद्, घटवत्'—इस प्रकार सोपाधिक 'पार्थिवत्व' हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्ष-प्रयोग किया जा सकता है, फलतः उपाधि में साधनाव्यापकत्व का निश्चय नहीं हो सकता, तब वह निश्चितोपाधि क्योंकर कहलाएगी?

तथा सति तत्र शङ्कितोपाधित्वमेव निर्व्यूढं स्थास्यतीति चेत्, एवं ब्रुवाणो नियतमजैषीः, परं मन्द ! मन्दाक्षम्, न प्रतिपक्षम्। तथा हि—स्वीकृतनिश्चितोपाधिभावे शङ्कितोपाधित्वमापतदनुकूलं मन्यते कोऽन्यो जितलज्जात्? न च क्वचिन्निश्चितोपाध्यनभ्युपगमे तच्छङ्का शक्या।

यत्र प्रत्यक्षेणोपाधिनिश्चयस्तदेव तद्दर्शनस्थानं भविष्यतीति चेन्न, ऐन्द्रियकबाधे तज्जातीयस्य अतीन्द्रियस्याप्रयोजकीक्रियमाणेन हेतुनैव साधयितुं शक्यत्वात्। न च

हेतोर्वज्रादिः प्रशिथिलावयवः पार्थिवत्वाद् घटवदिति सोपाधीक्रियमाणपार्थिवत्वेनैव सत्प्रतिपक्षस्य कर्तुं शक्यत्वान्न साधनाव्यापकत्वनिश्चय इत्यर्थः। अतीन्द्रियोपाधौ साधनाव्यापकत्वं निश्चेतुं न शक्यं चेत् सोऽपि तर्हि शङ्कितोपाधिरेव तल्लक्षणत्वाच्छाकाद्याहारपरिणतिपारम्पर्यवदिति शङ्कते ॐतथा सतीतिॐ। अतीन्द्रियोपाधेः साधनाव्यापकत्वानिश्चये सतीत्यर्थः। निर्व्यूढं निष्प्रत्यूहमित्यर्थः। अपसिद्धान्तप्रसञ्जनेन परिहरति ॐ एवमिति ॐ। मन्दाक्षं लज्जामतीन्द्रिये विषये शङ्कितोपाधित्वमित्येवं ब्रुवाणः परं केवलं लज्जामजैषीर्न प्रतिवादिनमित्यर्थः। शङ्कितोपाधिलक्षणे सति शङ्कितोपाधित्वस्वीकारे लज्जां जितवानसीति कथमाक्षेपस्तत्राह ॐ तथा हीति ॐ। स्वीकृतो निश्चित उपाधिभाव उपाधित्वं यत्र तस्मिन्नित्यर्थः। पूर्वमुपाधिशङ्कामुपेत्य स्वीकृतत्यागादपसिद्धान्तः स्यादित्युक्तं सम्प्रति सोऽपि न सम्भवत्याशंक्यमानस्य क्वचिदप्यनिश्चितत्वादित्याह ॐ न चेति ॐ। सम्बन्धिदर्शनेन कोटिद्वयस्मरणे सति सविशेषाग्रहणादिकारणाच्छङ्का जायते स्मरणं च पूर्वानुभूतस्यैवातः क्वचिदुपाधिनिश्चयाभावे तच्छङ्का न स्यादित्यर्थः। क्वचिदप्युपाधिनिश्चयाभावे स्यादयं दोषो न तु तदभावः प्रत्यक्षविषये तन्निश्चयादिति शंकते ॐयत्रेतिॐ। तद्दर्शनस्थानं साधनाव्यापकत्वस्थानमित्यर्थः। यद्वा तदेवानुमानं तद्दर्शनस्थानमुपाधिनिश्चयस्थानमित्यर्थः। प्रत्यक्षोपाधावपि साधनाव्यापकत्वनिश्चयं पराकुर्वन्परिहरति ॐ नेति ॐ। तेजोऽनुष्णं रूपित्वादित्यत्रातेजस्त्वं पक्षेतरत्वं प्रत्यक्षं तस्य पक्षे साधन ऐन्द्रियकबाधे सति तज्जातीयस्यातीन्द्रियस्याप्रयोजकीक्रिय-

शङ्का—'वज्रादिर्लोहलेख्यः, पार्थिवत्वात्, काष्ठवत्' इत्यादि स्थलों पर जो 'प्रशिथिलावयवत्व' उपाधि उद्भावित है, वह यदि निश्चित उपाधि नहीं, तब शङ्कित उपाधि तो अवश्य ही मानी जा सकती है।

समाधान—आप (नैयायिक) ने भरी सभा के सामने जिस उपाधि को निश्चित उपाधि घोषित किया, अब उसे शङ्कित मानने की निर्लज्जता दिखा रहे हैं, इस प्रकार हे मन्दप्रज्ञ ! आप मन्दाक्ष (अपनी लज्जा पर ही विजय पा सकते हैं, प्रतिपक्षी (खाण्डनिक) पर नहीं, क्योंकि आपके द्वारा प्रदर्शित निश्चित उपाधि में जब शङ्कितोपाधित्व का आपादन किया गया, तब आपने कह दिया—'एवमस्तु।' निर्लज्ज व्यक्ति को छोड़कर ऐसा और कौन प्रतिज्ञान्तरता या अपसिद्धान्तता का अभिनय कर सकता है? यदि कहीं भी निश्चित उपाधि का उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सकते, तब शङ्कित उपाधि भी क्योंकर मान सकेंगे?

शङ्का—जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उपाधिता (साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व) का निश्चय है, वही निश्चितोपाधिता का उदाहरण माना जा सकता है, जैसे—'तप्तायःपिण्डं धूमवद्, अग्निमत्त्वात्'—यहाँ पर 'आर्द्रेन्धन-संयोग' उपाधि निश्चित उपाधि है, क्योंकि 'यत्र यत्र धूमः, तत्र तत्रार्द्रेन्धनसंयोगः'—इस प्रकार साध्य की व्यापकता एवं पक्षभूत तप्तायःपिण्ड में आर्द्रेन्धनसंयोग के न होने पर भी अग्नि को देख कर साधन की अव्यापकता प्रत्यक्षतः गृहीत होती है।

समाधान—वहाँ पर भी यद्यपि ऐन्द्रियक (प्रत्यक्षभूत) आर्द्रेन्धन-संयोग का बाध होने पर भी तज्जातीय अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्षभूत) आर्द्रेन्धन-संयोग की सिद्धि उक्त (सोपाधिकत्वेन सम्मत) अग्निमत्त्व हेतु के द्वारा की जा सकती है—'तप्तायःपिण्डम्, आर्द्रेन्धनसंयोगि,

यदेकत्रैकजातीयमैन्द्रियकं तदन्यत्रैन्द्रियकबाधे हेतुबलादतीन्द्रियं न प्रसाध्येत, पाकदर्शनात् जठरानलादि ।

साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक इति च न शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परासाध्यं व्याप्नोतीत्यव्यापकतादोषः । न हि शाकादित्वं नाम किञ्चिदेकमस्ति, यत्साध्यं व्याप्नुयात् । अस्तु वा कथमपि, तथापि श्यामत्वं न व्याप्नोति, इन्द्रनीलशिलादिश्यामत्वस्य आहाराजन्यत्वात् ।

माणेन रूपित्वहेतुना साधयितुं शक्यतया न तद्दर्शनस्थानत्वमित्यर्थः । एकत्रोपाधेरैन्द्रियकत्वे तज्जातीयस्यातीन्द्रियस्य प्रत्यक्षबाधेन तदनुमेयत्वं दृष्टमित्यत आह ❀न चेति❀ । न च न प्रसाध्येत इति सम्बन्धः । उदाहरणमाह ❀ पाकेति ❀ । बाह्यानलस्य प्रत्यक्षत्वात्तस्य वाऽशितपीतपाकलिङ्गेनान्तरतीन्द्रियस्तज्जातीयोऽनुमीयते । आदिग्रहणेन तद्गतरूपादिसङ्ग्रहः । एवं साधनाव्यापकत्वांशं निरस्य साध्यव्यापकत्वांशं निरस्यति ❀ साधनेति ❀ । साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक इत्यस्य लक्षणस्याव्यापकतादोषश्च कुत इत्यत आह ❀ शाकेति ❀ । शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परासाध्यं श्यामत्वन्न व्याप्नोति यस्मादित्यर्थः । शाकादित्वस्य नानात्वेन व्यावृत्ततयाऽनुगतश्यामत्वव्यापकत्वायोगादिति हेतुमाह ❀ न हीति ❀ । क्वचिच्छाकं क्वचित्तैलं क्वचिल्लवणमिति शाकादित्वमनुगतमेकं नास्ति तेनाव्यापकत्वमित्यर्थः ।

यद्यपि शाकादिरूपेणानुगतिर्नास्ति तथाऽपि श्यामिकाकारणत्वोपाधावनुगतिरस्त्येवेत्याशंकामुपेत्याह ❀ अस्त्विति ❀ । शाकाद्याहाराजन्यश्यामत्वाभावात्कथमव्यापकत्वमित्यत आह ❀ इन्द्रेति ❀ । इन्द्रनीलमणौ श्यामत्वसाध्यमस्ति न चोपाधिरित्यव्यापकत्वमित्यर्थः । श्यामतामात्रस्य साध्यत्वाभावात्तत्रो-

अग्निमत्त्वात्, महानसवत्' । 'जहां किसी ऐन्द्रियक पदार्थ का बाध हो जाता है, वहां तज्जातीय अतीन्द्रिय पदार्थ की भी सिद्धि नहीं की जा सकती'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उदर में ऐन्द्रियक अग्नि का बाध होने पर भी भोजनादि-परिपाक के द्वारा अतीन्द्रिय अग्नि (जाठराग्नि) की सिद्धि सर्व-सम्मत है ।

उपाधि का 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वम्—' (ता. परि. पृ. ३३७) यह लक्षण शाकपाकजन्यत्वादिरूप उपाधियों में अव्याप्त भी है, क्योंकि 'शाकादि' पद से किसी अनुगत कारण का अभिधान तो हो नहीं सकता कि साध्य (श्यामत्व) की व्यापकता उसमें गृहीत हो जाती । [अर्थात् गर्भस्थ शिशु की श्यामता का कारण कहीं शाकाहार, कहीं फलाहार, कहीं कन्दाहार और कहीं तैलादि का आहार कारण होता है । उन सभी कारणों का एकरूपेण संग्रह सम्भव नहीं] । यदि श्यामतापादकाहारत्वादिरूपेण शाकादि का संग्रह कर भी लिया जाता है, तब भी वह श्यामता का व्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रनील-शिला (नीलम) आदि की श्यामता शाकादि आहार से जनित नहीं होती । 'सामान्य श्यामत्व साध्य नहीं, अपितु शरीरगत श्यामत्व ही साध्य है, वह तो शाकाद्याहार से व्याप्त ही है'—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अभिहित व्याप्ति में ही उपाधि का उद्भावन होता है, 'स श्यामः, मित्रातनयत्वात्'—यहाँ पर केवल श्यामत्वरूपेण साध्य की व्याप्ति अभिहित है, पुरुष-श्यामत्वेन नहीं अतः श्यामत्वमात्र की व्यापकता शाकपाकजन्यत्व में घटानी होगी, वह सम्भव नहीं । पुरुष-श्यामत्वेन साध्य का निर्देश करना भी सम्भव नहीं, केवल हेतुगत पक्षधर्मता के आधार पर साध्यविशेष का पर्यवसान वैसे ही माना जाता है, जैसे 'वह्निमान् धूमात्'—यहाँ पर पर्वत में पर्वतीय अग्नि ही सिद्ध होती है, किन्तु व्याप्ति-स्वरूप की निरूपकता केवल वह्नि में ही होती है, पर्वतीय वह्नित्वेन व्याप्ति का महानसादि में ग्रहण ही सम्भव नहीं । अतः श्यामता को ही साध्य माना जाता है, पुरुष-श्यामता को नहीं, अन्यथा 'स पुरुषश्यामतावान्, मित्रातनयत्वात्'—यहाँ पर 'पुरुष' बिशेषण किसी व्यभिचारादि का निवर्तक न होने के कारण

शरीरश्यामत्वं साध्यम्, तच्च व्याप्नोत्येवेदमिति चेन्न, व्याप्तावुपाधेरभिधेयत्वात्। न च पुरुषश्यामत्वेन व्याप्तिः। हेतुपक्षधर्मतयैव हि साध्यं पक्षधर्मः सिद्ध्यति न व्याप्त्या, अन्यथा पुरुषपदस्य व्यवच्छेदकस्याविशेषणत्वापातात्।

परम्परासम्बन्धिकज्जलादिलेपश्यामत्वव्यवच्छेदकत्वे च संयुक्तश्यामपुरुषसमवेतश्यामत्वस्य परम्परासम्बन्धिनः कथं व्यवच्छेदः स्यात्? न च साध्यसाधनसम्बन्धा-

---

पाध्यभावो न दोषाय शरीरश्यामत्वस्यैव साध्यत्वात्तत्र च सर्वत्रोपाधिरस्त्येवेति शङ्कते ※ शरीरेति ※। इदं शाकादित्वमिति यावत्। साध्यसाधनसम्बन्धस्यैव सोपाधिकत्वं न तु साध्यत्वस्येति परिहरति ※ नेति ※। साध्यसाधनसम्बन्ध एवोपाधिर्वक्तव्यो न तु साध्येऽन्यथा हेतोरप्रयोजकत्वासिद्धेर्व्याप्तिनिश्चयो यो मैत्रतनयः स श्याम इत्येतावद्रूप इति स्यादेवाव्यापकत्वमित्यर्थः। मैत्रतनयत्वस्येति शेषः। पुरुषश्यामत्वेन व्याप्त्यग्रहे मैत्रतनयत्वस्य श्यामत्वमात्रप्रयोजकतया पुरुषश्यामत्वासिरित्यत आह ※हेत्विति※। हेतुव्याप्त्या साध्यसामान्यसिद्धेर्हेतोः पक्षधर्मतया साध्यविशेषस्य पक्षधर्मस्य सिद्धिरित्यभ्युपगमादन्यथा--

"विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता।
इत्यादिदोषदुष्टत्वान्न च नोऽनुमितिः प्रमा" ॥

इति कथितदोषानिस्तारादित्यर्थः। पुरुषश्यामत्वेन मैत्रतनयत्वव्याप्त्यभ्युपगमेऽपि नाननुगमप्रसङ्गस्तदेतत्पुरुषेति विशेषणाभावान्न च हेतोः पक्षधर्मवैयर्थ्यं तद्बलादेव तन्निष्ठपुरुषश्यामत्वसिद्धेस्तत्पुरुषत्वविशेषणमपि व्याप्त्यन्तर्गतमेवेत्यत आह ※ अन्यथेति ※। श्यामतामात्रव्याप्तमैत्रतनयत्वहेतुपक्षधर्मत्वबलादेवैतत्पुरुषश्यामत्वसिद्धेः पुरुषेति विशेषणं व्यर्थं व्यभिचाराभावादित्यर्थः। न वैयर्थ्यं मैत्रतनयत्वं पुरुषसम्बन्धि तत्सबन्धि च तन्मैत्रस्थकज्जलादि तत्सम्बन्धि तत्समवेतश्यामलादीति परम्परासम्बन्धिश्यामलादिव्यवच्छेदकत्वात्तत्पुरुषविशेषणस्येति तत्राह ※ परम्परेति ※। परम्परया सम्बन्धि च तत्कज्जलादिलेपेन जायमानश्यामलादि चेति तथोक्तं तद्व्यवच्छेदकत्वे पुरुषविशेषणस्येति सम्बन्धः। परम्परासंबन्धिनः श्यामत्वस्य व्यवच्छेदकं कथं स्यान्न कथंचित् तथाविधश्यामत्वमेव नास्ति तत्राह ※ संयुक्तेति ※। मैत्रतनयेन संयुक्तो यः श्यामलपुरुषः तस्मिन्समवेतं यच्छ्यामत्वं तत्परम्परया मैत्रतनयसम्बन्धीति यथा स श्याम इत्युक्ते कज्जलादिलेपनिमित्तश्यामत्वेन सिद्धसाधनता तथा पुरुषविशेषणेऽपि परम्परासम्बन्धिपुरुषश्यामत्वेन सिद्धसाधनता स्यादिति तदर्थमपि विशेषणान्तरमुपादेयमिति न कदाचित्कोटघविच्छेद इत्यर्थः। श्यामलादीत्यत्रादिपदेन पीतादि न गृह्यते किंतु कज्जलश्यामलापेक्षया श्यामलान्तरमेव स्वीक्रियते साध्यरूपे व्यापकत्वं यदि तर्हि शाकादित्वस्येन्द्रनीलश्यामत्वे भावादव्यापकत्वं स्याद्यदा तु साध्यसाधकसम्बन्धव्यापकत्वं तदा नाव्यापकतादोषो यत्र मैत्रतनयत्वश्यामत्वसम्बन्धस्तत्र शाकादिजन्यत्वमपि तत्सम्भवादित्यत आह ※ न चेति ※। व्याप्त्यनिरुक्तौ व्यापकत्वानिरुक्तेरिति दूषणस्य कथितत्वात्

साध्य का विशेषण न बन सकेगा।

शङ्का मैत्रतनय के शरीर में शरीरगत श्यामता ही सिद्ध हो, कज्जलादि द्रव्यों की परम्परा (स्वाश्रयसंयोग) सन्निकर्ष से नहीं, अतः श्यामता का 'पुरुष' या 'शरीर' विशेषण आवश्यक है।

समाधान—कज्जलादिगत श्यामता की निवृत्ति हो जाने पर भी मैत्रतनय-संयुक्त अन्य पुरुष की श्यामता का वारण 'पुरुष' पद से न हो सकेगा, क्योंकि अन्य पुरुष की श्यामता भी पुरुष की श्यामता ही है।

शङ्का—'यत्र यत्र मैत्रतनयत्वश्यामत्वयोः सम्बन्धः, तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वम्'—इस प्रकार साध्य और साधन के सम्बन्ध में शाकपाकजन्यत्व का व्यभिचार नहीं देखा जाता, यहाँ उपाधिगत यही (साध्यसाधनसम्बन्धादृष्टव्यभिचारकत्व) साध्य-व्यापकत्व है। इस प्रकार की व्यापकता के निरूपण में कोई दोष नहीं।

दृष्टव्यभिचारत्वं साध्यव्यापकत्वं मा रूपसाक्षात्कृतिकरणादेस्तैजसादित्वे साध्ये भूदुद्भूतरूपवत्त्वादेरुपाधित्वम् ।

साधनेनापि च विशेषणतया निवेश्येन यदि केवलसाध्यव्यापकं व्यवच्छेद्यम्, तदा तस्य व्यभिचारशङ्काधानक्षमस्याप्युपाधित्वं न स्यात् । अथ न किञ्चिद् व्यवच्छेद्यं तदा विशेषणत्वासिद्धिरेव । न हि प्रयोजनमात्राद्विशेषणमर्थवद् भवति, किन्तु

दूषणान्तरमाह ॐ मेति ॐ । साक्षात्कृतिकरणत्वादेर्हेतोस्तैजसादित्वे साध्ये उद्भूतरूपत्वादेरुपाधित्वं मा भूदित्यन्वयः । चक्षुस्तैजसं रूपादिषु रूपस्यैव ग्राहकत्वात् दीपवदित्यत्रोद्भूतरूपत्वमुपाधिः स्याद्रूपस्यैव ग्राहकत्वस्य तैजसत्वसम्बन्धे सर्वत्र भावात्तथा स्पर्शनेन्द्रियं वायवीयं स्पर्शादिषु स्पर्शस्यैव व्यञ्जकत्वाद्व्यजनाभिघातवायुवदित्यत्रोद्भूतस्पर्शवत्वं, घ्राणं पार्थिवं गन्धादिषु गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वाद्धिङ्गुवदित्यत्रोद्भूतगन्धत्वमुपाधिः स्यान्न चैतदिष्यते । चक्षुरादेस्तैजसादित्वसिद्धेरतस्तस्योपाधित्वं मा भूदिति साध्यसाधनसम्बन्धव्यापकत्वं साध्यव्यापकत्वतन्नुनं साध्यव्यापकत्वे तु नोद्भूतरूपत्वादेरुपाधित्वं द्व्यणुके तैजसादित्वे सत्यप्युद्भूतरूपवत्त्वाद्यभावेनाव्यापकत्वादित्यर्थः । साध्यसाधनसम्बन्धव्यापक इत्यत्र सम्बन्धद्वारा निवेशनीयं यत्साधनं तेन केवलसाध्यव्यापको व्यवच्छिद्यते किं वा न किञ्चिदिति विकल्प्य प्रथममपवदति ॐसाधनेतिॐ । अव्याप्त्या दूषयति ॐ तदेति ॐ । तस्य—केवलसाध्यव्यापकस्येति यावत् । अध्वरे पश्वालम्भोऽधर्मसाधनं हिंसात्वान्निषिद्धहिंसावदित्यत्र निषिद्धत्वमुपाधिः केवलसाध्यव्यापकोऽन्यथा निषिद्धत्वेन परदारगमनादेरधर्मसाधनत्वानुमानायोगादतस्तस्य व्यभिचारशङ्कां साधनस्याधातुं क्षमस्याप्युपाधित्वं न स्यादित्यर्थः । द्वितीयमुद्भावयति ॐ अथेति ॐ । व्यर्थविशेषणासिद्धत्वं लक्षणस्येति दूषयति ॐ तदेति ॐ । अव्यवच्छेदकत्वेऽपि साधनवन्निष्ठसाध्यव्यापकशाकादित्वोपाधित्वस्वीकारप्रयोजनतया भवत्येव विशेषणमित्यत आह ॐ न हीति ॐ । कुतस्तर्हि विशेषणार्थवत्त्वमित्यत आह ॐ किन्त्विति ॐ । सदृष्टान्तं विशेषणासिद्धिमुप-

समाधान—यदि साध्य और साधन के सम्बन्ध का व्यापक पदार्थ ही साध्य का व्यापक माना जाता है, तब 'चक्षुः तैजसम्, रूपादिमध्ये रूपस्यैव ग्राहकत्वात्'—इस प्रकार के साक्षात्कार के करणीभूत चक्षु में तैजसत्व-गमक सदनुमान को भी सोपाधिक मानना होगा, क्योंकि वहाँ भी 'उद्भूतरूपवत्त्व' को उपाधि माना जा सकता है, तैजसत्वरूप साध्य और रूपग्राहकत्वरूप साधन के सम्बन्ध का व्यापक होने के कारण उद्भूतरूपवत्त्व साध्य का व्यापक एवं चक्षु-स्वरूप पक्ष में न रहने के कारण साधन का अव्यापक है। [साक्षात् साध्य की व्यापकता विवक्षित होने पर तैजसत्व के आधारभूत अनुद्भूतरूपवाले तेजोद्रव्य में अवृत्ति होने के कारण उद्भूतरूपवत्त्व को उपाधि नहीं माना जा सकता]।

दूसरी बात यह भी है कि केवल साध्य-सम्बन्ध-व्यापकत्व न कह कर जो साध्यसाधन-सम्बन्ध-व्यापकत्व कहा गया है, वहाँ विशेषणीभूत 'साधन' पद के द्वारा केवल साध्य-व्यापकत्व की व्यावृत्ति की जाती है ? अथवा नहीं ? यदि की जाती है, तब निषिद्धत्वादि में उपाधि का लक्षण अव्याप्त हो जाता है, क्योंकि 'अग्नीषोमीयहिंसा अधर्मजनिका, हिंसात्वात्'—यहाँ 'निषिद्धत्व' उपाधि मानी जाती है, किन्तु वह केवल साध्य (अधर्मजनकत्व) का ही व्यापक है। 'वह उपाधि ही नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह भी हिंसात्वरूप हेतु में अधर्मजनकत्वरूप साध्य के व्यभिचार की आशङ्का उत्पन्न कर देता है। उपाधि का यही सार्थक्य माना जाता है।

यदि विशेषणीभूत 'साधन' पद केवल साध्य-व्यापकत्व का व्यावर्तक नहीं, तब वह व्यर्थ होने के कारण विशेषण बनने के योग्य ही नहीं रहता, क्योंकि केवल प्रयोजनमात्र का साधक होने के नाते ही कोई विशेषण सार्थक नहीं माना जाता, अपितु किञ्चिद्-व्यवच्छेदकत्वेन ही विशेषण सार्थक होता है [श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—"सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्वि-

किञ्चिद्व्यवच्छेदादिति। अन्यथा शरीर्यजन्यत्वमिव अकर्तृकत्वे व्यक्तमसिद्धौ पर्यवस्येदिति।

किञ्च—आभासे व्यतिरेकिणि पक्षधर्महेतौ जीवच्छरीरं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत्, प्राणादिमत्त्वादित्यादौ कथमिदमुपाधिलक्षणं व्यवस्थाप्यम्। न ह्याभासे व्यतिरेक्यनुमानात्मनि यत्साध्यं तदुपाधिना व्याप्तमिष्यते, तस्य पराभि-

पादयन्नुपसंहरति ॐ शरीरीति ॐ। पृथिव्याद्यकर्तृकं शरीर्यजन्यत्वादात्मवदिति मीमांसकेनोक्तेऽजन्यत्वमेवाकर्तृत्वे प्रयोजकमित्युक्ते व्यभिचाराभावेन शरीरिविशेषणवैयर्थ्याद्विशेषणासिद्धो हेतुर्यथा तथेदमपि लक्षणं हेतुविशेषत्वादसिद्धौ पर्यवस्येदित्यर्थः। बाधोन्नेयोपाधौ साधनवन्निष्ठसाध्यव्यापकत्वासम्भवात्केवलसाध्यव्यापकत्वमिति तदव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्।

एवमन्वयव्यतिरेक्यनुमान उद्भाव्यमानोपाधौ लक्षणाव्याप्तिमुक्त्वा केवलव्यतिरेकिहेतूपाधावपि लक्षणाव्याप्तिरित्याह ॐ किं चेति ॐ। विपक्षबाधकतर्कहीनं केवलं व्यतिरेक्याभास इष्यते। आभासेति विशेषणमुपाधेरावश्यकत्वद्योतनाय। स्वरूपासिद्धयैव तत्परिहार इत्यपि न वक्तव्यमित्याह ॐ पक्षेति ॐ। तत्स्वरूपं दर्शयति ॐ जीवदिति ॐ। इन्द्रियायतनं शरीरमिति लक्षणाच्छरीरमात्रपक्षीकरणे भागे बाधिततया तदाभासत्वमिति तद्व्यावर्तनाय जीवदित्युक्तम्। उपाधिव्यतिरेकेण नान्यो दोषः सम्भवतीति वक्तुं विशेषणप्रक्षेपः। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिङ्मनांसि पृथिव्याद्यष्टद्रव्याणि तदतिरिक्तानेकद्रव्यवदिति साध्यते। जीवच्छरीरमनेकद्रव्यवदित्युक्ते पृथिव्याद्यनेकद्रव्यसम्बन्धीति सिद्धसाधनं तद्व्यावृत्त्यर्थं पृथिव्यादीति विशेषणम्। व्यतिरिक्तद्रव्यवदित्युक्ते सात्मकत्वेन सिद्धसाधनं तदर्थमनेकेति विशेषणम्। एकस्मिन् शरीरे भोक्तृनानात्वं दशमद्रव्यं वा साध्यते। आदिपदेन भूः शशविषाणोल्लिखिता भूत्वाद्व्यतिरेकेण गगनवदित्याभाससङ्ग्रहः। अत्रोपाधिस्त्वयाऽवश्यं वक्तव्योऽन्यथा निरुपाधिसम्बन्धस्याऽऽभासत्वासिद्धेरेवं चान्वयव्याप्तावुपाधिरुपन्यस्यत उत व्यतिरेकव्याप्ताविति विकल्पाभिप्रायेण कथमित्याह। अन्वयव्याप्तावुपाध्युपन्यासेऽनुपपत्त्यभावात्प्रथम एव कल्पोऽस्त्वित्यत आह ॐ न हीति ॐ। व्यतिरेकीति विशेषणमसंभवद्योतनाय। उपाधिरिष्यते चेत्तेन व्याप्तं साध्यं किं नेष्यत इत्यत आह ॐ तस्येति ॐ। पराभिमतस्य तस्य साध्यस्य क्वचित्पक्षे सपक्षे वा सिद्ध्यापत्तेर्यदि पक्षव्यतिरिक्ते साध्यमुपाधिव्याप्तमुच्यते तदा सपक्षभावात्केवलव्यतिरेकिव्याघातः, यदि पक्षे तदोपाधेर्हेतुस्वरूपमात्रसंब-

शेषणसम्भवः" (तं. वा. पृ. २६४)। जैसे नीलत्व नीलघट में सम्भव और पीतादि घटों में व्यभिचरित है, अतः व्यभिचार-व्यवच्छेदार्थ नील विशेषण लगाया जाता है—नीलो घटः, ऐसे ही प्रकृत में केवल साध्य-व्यापकत्व का व्यवच्छेद करने के लिए साध्यसाधनसम्बन्धव्यापकत्व कहा जाता है]। अन्यथा जैसे 'क्षित्यादिकमकर्तृकम्, शरीर्यजन्यत्वात्'—इस अनुमान में अजन्यत्वमात्र ही जब अकर्तृकत्व का साधक हो सकता है, तब 'शरीरि' विशेषण व्यर्थ है, व्यर्थ विशेषण-घटित हेतु विशेषणासिद्ध होता है, वैसे ही प्रकृत लक्षण भी हेतुविशेष हाने के कारण विशेषणासिद्ध माना जायगा।

दूसरी एक समस्या यह भी है कि केवलव्यतिरेकी हेत्वाभास के एकमात्र दोष उपाधि में इस लक्षण का समन्वय कैसे होगा? 'जीवच्छरीरं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत्, प्राणादिमत्त्वात्'—यहाँ भोगायतनत्वादि उपाधियों में साध्य-व्यापकत्व घटाने के लिए साध्य का सद्भाव कहीं-न-कहीं मानना होगा। वह यदि पक्ष से भिन्न कहीं मानते हैं, तब वह सपक्ष बन जाता है और सपक्ष-हीनत्वरूप केवलव्यतिरेकित्व व्याहत होता है और पक्ष में साध्य का सद्भाव मानने पर उपाधि में साधनाव्यापकत्व नहीं बनता [(१) पृथिवी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिक् और (८) मन—ये पृथिव्यादि आठ द्रव्य हैं, इनसे अतिरिक्त आत्मरूप द्रव्य है, किन्तु वह एक शरीर में एक ही

मतस्य क्वचित् सिद्ध्यापत्तेः। व्यतिरेकयोर्व्याप्तावुपाधिश्चेत्, तर्हि व्यतिरेके यद्व्याप्यं तस्य व्याप्य उपाधिरवश्यं मन्तव्यः। अन्यथोपाधेरन्वये साध्यान्वयापत्तिरिति उपाधिव्यतिरेकव्याप्त्यवश्यम्भावस्य अभ्युपगम्यतया उपाधेर्यद्व्यापकं तद्व्यतिरेक उपाधेर्व्यतिरेकस्य व्याप्यतया मन्तव्य इति परसाध्यापत्तिः। असमव्याप्तिकयोरन्वय-

---

न्धितया व्यभिचाराधानासामर्थ्याभावाद् हेतुदोषत्वासम्भवेन सदनुमानत्वापत्तिरित्यभिप्रायः। यत्प्राणादिमत्तत्पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवदित्यन्वये यद्युपाध्यसम्भवस्तर्हि व्यतिरेकव्याप्तावुपाधिरुद्भाव्यत इति द्वितीयं शंकते ॐ व्यतीति ॐ। यत्पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवन्न भवति तत्प्राणादिमदपि न भवति यथा लोष्ठादीति व्यतिरेकव्याप्तावभोगायतनत्वमुपाधिरुद्भाव्यते सर्वत्र व्याप्तावुपाधेर्वक्तव्यत्वाद्व्यतिरेकव्याप्तौ वैपरीत्येन साध्यव्यापक उपाधिरित्यर्थः। परिहरति ॐ तर्हीति ॐ। यदुक्तसाध्यं न भवति तदुक्तसाधनमपि न भवतीति व्यतिरेके यत्पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यत्वाभावरूपसाध्यासत्त्वं तद्व्याप्तं साधनाभावेन तस्य साध्याभावस्य उपाधिर्व्याप्यो मन्तव्यो यत्र यत्रोपाधिस्तत्र तत्र पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यत्वन्नास्तीत्यन्यथा साध्याभावाभावेऽप्युपाध्यनुवृत्तिः स्यादिति साधनव्यापकत्वांशाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः। अवश्यशब्दोपात्तां युक्तिमाह ॐ अन्यथेति ॐ। उपाधिर्व्याप्यतया यदि नेष्यते तर्ह्युपाधेरन्वये सत्त्वे साध्यान्वयापत्तेः साध्यसत्त्वप्रसङ्गात्क्वचित् साध्याभावाभावेऽप्युपाधिसत्त्वमन्तरेण तस्य व्यापकत्वाभावासिद्धेः साध्याभावाभावश्च साध्यमेवेति क्वचित् साध्यसिद्धिरित्याशयः। इति शब्द उपाधेर्व्याप्यत्वप्रतिपादनसमाप्तौ। यत्रोपाधिस्तत्र साध्यन्नास्तीति साध्याभावेनोपाधेरन्वयव्याप्त्यैव व्याप्यत्वन्न पुनः साध्याभावोपाध्योर्व्यतिरेकव्याप्तिरपीति न परसाध्यसिद्धिरित्याशंक्याह ॐ उपाधीति ॐ। उपाधौ भोगायतनत्वस्य व्यतिरेकवतो धर्मस्यैवोपाधित्वादन्वयव्याप्तेर्व्यतिरेकनियमाच्च केवलान्वयिन्यपि विपक्षस्य समर्थनीयत्वादुपाधेर्यस्य यद्व्यापकं साध्याभावरूपतद्व्यतिरेकस्तस्य साध्याभावस्य व्यतिरेकोऽभावः साध्यसत्त्वमेव स उपाधिव्यतिरेकस्याभोगायतनत्वाभावस्य भोगायतनत्वस्य व्याप्यतया मन्तव्य इति कृत्वा परसाध्यापत्तिः क्वचित्साध्यासत्त्वे व्यतिरेकानवधारणादेवं च सपक्षसद्भावाद्व्यतिरेकित्वक्षतिरित्यर्थः। व्यापकाभावो व्याप्याभावव्याप्य इति नियमो नास्ति वस्तुत्वप्रमेयत्वयोर्व्यतिरेके व्यभिचारादत उपाधेर्यद्व्यापकं तद्व्यतिरेक उपाधिव्यतिरेकस्य व्याप्यतया न मन्तव्य इत्यत आह ॐ असमेति ॐ। समव्याप्तिक-

---

है, अनेक नहीं, उक्त आठ द्रव्यों से अतिरिक्त अनेक द्रव्यों की शरीर में आश्रयता तभी हो सकती है, जब कि एक शरीर में अनेक आत्मा हों अथवा कोई दशम द्रव्य माना जाय, किन्तु वैशेषिकों के लिए दोनों सम्भव नहीं, अतः उक्त हेतु हेत्वाभास माना जाता है। उपाधि को छोड़ कर और कोई ऐसा दोष नहीं माना जा सकता जो यहाँ हेत्वाभासता का प्रयोजक हो सके। हेतु में पक्षधर्मता का अभिधान कर स्वरूपासिद्धि दोष को असम्भव बना दिया गया है]।

साध्य और साधन के अन्वय में उपाधि न मान कर यदि उनके व्यतिरेको (अभावों) में कोई उपाधि मानी जाती है, ['यत् पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवन्न भवति, तत् प्राणादिमदपि न भवति, यथा लोष्ठादि'—ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति में अभोगायतनत्वादि उपाधि यदि उद्भावित की जाती है] तब 'साध्याभाव और हेत्वाभाव'— इन दोनों व्यतिरेको (अभावों) में जो व्याप्य है—साध्याभाव उसकी व्याप्यता उपाधि में अवश्य माननी होगी, अन्यथा उपाधि का सद्भाव होने पर साध्य का कहीं सद्भाव मानना होगा, जिससे अनुमान की केवलव्यतिरेकिता समाप्त हो जाती है एवं 'यत्र साध्याभावो नास्ति, तत्र भोगायतनत्वं नास्ति'—इस प्रकार उपाधि के व्यतिरेक की व्याप्ति माननी अनिवार्य है, तब तो उपाधि का जो व्यापक है, उसके व्यतिरेक को उपाधि के व्यतिरेक का व्याप्य मानना होगा, अतः पराभिमत साध्य की कहीं प्रसिद्धि और अनुमान में केवलव्यतिरेकित्व की भङ्गापत्ति हो जाती है, क्योंकि [समव्याप्तिक पदार्थों में 'इदमेव साधनम्, इदमेव साध्यम्'—ऐसा नियम नहीं हो सकता,

व्याप्तिसाध्यसाधनभाववैपरीत्येन व्यतिरेकव्याप्तेरिति ।

न च दोषान्तरमेव तर्हि वाच्यमिति वाच्यम्, हेतोः पक्षधर्मत्वस्थितौ व्याप्तिक्षत्यर्थं त्वयोपाध्युपगमध्रौव्यात्। भवतु वा या काचिद् व्याप्तिर्नाम। तत्सत्त्व एवानुमितिभावात्, तस्याश्चानुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्या, ततश्चाऽऽत्माश्रयः। तद्भेदे चाऽनुगमाविनिगमौ स्यातामिति ।

योरिदमेव साधनमिदमेव साध्यमिति नियमाभावात्तत्र व्यतिरेकेऽपि व्यापकनियमो मा भूदथाऽप्यसमव्याप्तिकयोर्धूमाद्यग्न्याद्योरन्वये यः साध्यसाधनभावस्तद्वैपरीत्येन व्यतिरेके साध्यसाधनभावो यत्राग्न्यादिर्नास्ति तत्र धूमादिर्नास्ति इति व्याप्तेरत्राऽपि भवितव्यं व्यापकाभावस्य व्याप्यत्वेनेति भावः। तर्हि व्यतिरेक्याभासे नोपाधिरुच्यतेऽपितु दोषान्तरमेवोच्यत इत्यत आह ❀ न चेति ❀। कुतो न वाच्यमित्यत आह ❀ हेतोरिति ❀। व्याप्यत्वपक्षधर्म्मत्वाभ्यामप्रमितस्यैवाभासत्वात्पक्षधर्म्मत्वनिश्चये तस्य व्याप्तिहानिर्वक्तव्या तदर्थमुपाधिरभ्युपगम्यत इति नियमादन्यथा व्याप्तिमतः पक्षधर्म्मस्य हेतोराभासत्वानुपपत्तेरतिप्रसङ्गादित्यर्थः।

एवमुपाध्यनिरूपणेन निरुपाधिकसम्बन्धरूपव्याप्त्यसिद्धिमभिधायाधुना तामुपेत्यापि दूषणमभिधत्ते ❀ भवत्विति। दोषं वक्तुं व्याप्त्यनुमित्योर्व्याप्तिमुपपादयति ❀ तदिति ❀। अग्निभाव एव धूमभावात् धूमाग्न्योर्व्याप्तिरिष्टा तद्व्याप्तिभाव एवानुमितिभावात्तयोरपि व्याप्तिरेष्टव्या समानन्यायत्वादित्यर्थः। इष्यते चेल्लिङ्गलिङ्गिनोर्या व्याप्तिः सैव व्याप्त्यनुमित्योरुतान्येति विकल्प्याऽऽद्यमपवदति ❀ ततश्चेति ❀। व्याप्यव्यापकयोर्व्याप्त्याश्रयत्वाद्व्याप्तेर्व्यापकत्वे व्याप्यत्वे वा स्वयमेव स्वाश्रय इति स्ववृत्त्यापात इत्यर्थः। द्वितीयं दूषयति ❀ तदिति ❀। सम्बन्धस्य सजातीयसम्बन्धानाश्रयत्वाद्विजातीयत्वसिद्धये भिन्नलक्षणं वाच्यमतश्च लक्षणाननुगमस्तथा का व्याप्तिरनुमानलक्षणान्तर्गता ? का वा व्याप्त्यनुमित्येरित्यनिश्चयोऽव्यवस्था स्यादित्यर्थः ?

अतः वहाँ भाव पदार्थों का व्याप्य-व्यापकभाव अभाव पदार्थों में नियमतः विपरीत नहीं होता, किन्तु विषमव्याप्तिक स्थल पर "तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते" (श्लो. वा. पृ. ३८५) इस नियम की अनिवार्यता सर्वजनीन है ।

'यदि उक्त स्थल पर उपाधि दोष सम्भव नहीं, तब कोई अन्य हेतु-दोष उद्भावित करना चाहिए'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि व्याप्ति और पक्ष-धर्मता—इन दोनों अङ्गों के घातक दोषों को हेत्वाभास (हेतुगत दोष) कहा जाता है, किन्तु हेतु में पक्ष-धर्मता निश्चित है, अतः पक्ष-धर्मता में दोष सम्भव नहीं, परिशेषतः व्याप्ति-घातक दोष के रूप में उपाधि का उद्भावन ध्रुवभावी है, इसके विना हेत्वाभासता की उपपत्ति नहीं हो सकती। उपाधि का कथित लक्षण दूषित है, अतः अनौपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती ।

यदि व्याप्ति पदार्थ कुछ मान भी लिया जाय, तब भी उसमें अनुमिति की कारणता का निर्वाह नहीं होता, क्योंकि जैसे अग्नि का सद्भाव होने पर ही धूम का सद्भाव देख कर धूम और अग्नि की व्याप्ति मानी जाती है, ऐसे ही व्याप्ति का सद्भाव होने पर ही अनुमिति का सद्भाव तभी बन सकता है, जब कि व्याप्ति और अनुमिति की व्याप्ति मानी जाय। व्याप्ति में व्याप्ति की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष प्रसक्त होता है। व्याप्ति और अनुमिति की व्याप्ति को यदि प्रथम व्याप्ति से भिन्न माना जाता है, तब भिन्न-भिन्न व्याप्तियों का एक लक्षण के द्वारा अनुगम नहीं होता एवं कौन-सी व्याप्ति व्याप्ति और अनुमिति के कार्यकारणभाव की नियामिका है और कौन-सी कार्यकारणभाव-नियम की निर्वाहिका है—यह व्यवस्था भी न हो सकेगी ।

३१. पक्षतालक्षणखण्डनम्

व्याप्तिपक्षधर्मते अनुमितिं भावयत इति वदन्ति । कश्चायं पक्षो नाम, यद्धर्मत्वं पक्षधर्मत्वम् ? सिषाधयिषितधर्मा धर्मीति चेन्न, सिषाधयिषा हि प्रतिपिपादयिषा वा स्यात् प्रतिपित्सा वा ? आद्ये स्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्गः । द्वितीये चासुरभिगन्धानु-

व्याप्तिः पक्षधर्म्मता चानुमित्युत्पत्तेरङ्गं तत्र व्याप्तिरखण्डीदानीं पक्षधर्म्मतां खण्डयितुं स्थलशुद्धिं विधत्ते ॐ व्याप्तीति ॐ । भावयतो भवन्तीमुत्पादयतः : वदन्ति तार्किकाः पक्षानिर्णयेन पक्षधर्म्मताऽनिश्चयं वक्तुं पक्षं विकल्पयति ॐ कश्चेति ॐ । सिषाधयिषितधर्म्मा धर्मी पक्ष उतानवधारितधर्मा धर्म्मीति विकल्पार्थः । पक्षविकल्पस्याऽऽकस्मिकत्वपरिहारायाह ॐयदितिॐ । आद्यं कल्पमवलम्बते ॐसिषाधयिषितेतिॐ । साधयितुमिष्टो धर्म्मो यस्य धर्मिणः स सिषाधयिषितधर्मा धर्मी । पक्ष इत्युक्ते सपक्षेऽतिव्याप्तिः तस्य साध्यसमानधर्मत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह ॐ सिषेति ॐ । सिषाधयिषितधर्म्मेत्युक्ते धर्म्मिविशिष्टस्य पक्षत्वं स्यादतश्चासम्भवः साध्यस्य पक्षवृत्तित्वेन तस्यान्तः स्ववृत्त्यापातात्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह ॐ धर्म्मीति ॐ । विशेष्यांश इत्यर्थः । विशेषणासिद्ध्या विशिष्टलक्षणासिद्धिरिति परिहरति ॐ नेति ॐ । तदुपपादनाय विकल्पयति ॐ सिषाधयिषेति ॐ । प्रतिपादयितुमिच्छा प्रतिपत्तुमिच्छा वेति विकल्पार्थः । प्रथमं प्रतिक्षिपति ॐ आद्य इति ॐ । स्वार्थानुमाने प्रतिपादनरहिते प्रतिपिपादयिषाया अभावेन कथितपक्षाभावाद्धेतोराश्रयासिद्धतया स्वार्थानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्तत्र लक्षणाव्याप्तिरित्याशयः । द्वितीयं दूषयति ॐ द्वितीय इति ॐ । असुरभिगन्ध एवासावनुमेयश्चेत्यसुरभिगन्धानुमेयः स च कुत्सितरसश्चासुरभिगन्धानुमेयकुत्सितरसो तद्विषयेति विग्रहम् ।

३१. पक्षता-लक्षण का खण्डनम्

व्याप्ति और पक्षधर्मता—ये दोनों मिल कर अनुमिति को जन्म देते हैं—ऐसा तार्किकगण कहा करते हैं, जैसा कि श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञाने हि अनुमित्युपयोगिनी" (ता. परि. पृ. ५७२) । वहाँ जिज्ञासा होती है कि पक्ष पदार्थ क्या है, जिसकी धर्मता (वृत्तिता) को पक्षधर्मता कहा जाता है ?

(१) सिषाधयिषितधर्मा धर्मी पक्षः— सिद्ध्यमानत्वेन

शङ्का—[वाचस्पतिमिश्र ने कहा है—"जिज्ञासितधर्मणो धर्मिणः पच्यमानत्वेन पक्षत्वम्" (त. टी. पृ. ५०) । "धर्मी च सिषाधयिषितधर्मविशिष्टः" (ता. टी. पृ. ५२२) । आचार्य प्रशस्तपाद ने प्रतिज्ञा का लक्षण किया है—"प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयतामापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा"—इसकी व्याख्या में कन्दलीकार कहते हैं—प्रतिपादयितुमिष्टो यो धर्मस्तेन विशिष्टो धर्मी अनुमेयः पक्ष इति कथ्यते" (न्या. कं. पृ. ५६६) । आचार्य दिङ्नाग पक्ष का निर्वचन करते हैं - "पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः" (न्या. प्र. पृ. १) । उनके व्याख्याकार श्री धर्मकीर्ति कहते हैं—"अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी" (ध. प्र. पृ. ९६) । इन सब परिभाषाओं का तात्पर्य 'सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः'—इसी लक्षण में प्रतीत होता है] ।

समाधान—उक्त लक्षण में 'सिपाधयिषा' शब्द का अर्थ क्या (१ ; प्रतिपिपादयिषा (दूसरे का बोध कराने की इच्छा) है ? अथवा (२) प्रतिपित्सा (स्वयं जानने की इच्छा) ? प्रथम कल्प के अनुसार स्वार्थानुमान का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि स्वार्थानुमान स्वयं अपने ज्ञान के लिए किया जाता है, दूसरे को वोध कराने के लिए नहीं, अतः स्वार्थानुमान में प्रतिपिपादयिषा सम्भव न होने के कारण पक्षाप्रसिद्धि दोष से दूषित हेतु अनुमिति का जनक क्योंकर होगा ? द्वितीय कल्प के अनुसार भी स्वार्थानुमान-विशेष में अव्याप्ति होती हैं, क्योंकि सड़े हुए दुर्गन्ध पूर्ण कूष्माण्डादि के रस की प्रतिपित्सा (जिज्ञासा) किसी को नहीं होती,

मेयकुत्सितरसविषयस्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्गः ।

न चानवधारितधर्मा धर्मी पक्षः, हेतुमत्तयाऽप्यनवधारणे अनुमानोदयनिदानभावासम्भवात् । अवधारणे चानवधारितधर्मत्वानुपपत्तेः ।

न चाऽनवधारितहेतुविषयधर्मा धर्मी पक्षः । तथा हि—केन अनवधारितधर्मा ? न तावदनुमानप्रयोक्त्रा, स्वयमज्ञाते परं प्रत्यप्रयोगात् । प्रतिवादिनेति चेन्न, प्रतिवा-

---

विमतोऽसुरभिगन्धः क्लिन्नत्वात्सम्प्रतिपन्नवत् । विमतः कुत्सितरसोऽसुरभिगन्धत्वात्, शुक्तादिवदिति स्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

द्वितीयं विकल्पं दूषयति ॐ न चेति ॐ । पूर्ववद्विशेषणकृत्यम् । अनवधारितो हेतुलक्षणो धर्म्मो यस्य स पक्ष उतानवधारितहेतुविषयधर्मो यस्य स इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐहेत्विति ॐ । निदानभावो निदानत्वम् । हेतोः पक्षधर्म्मतयाऽनिश्चये सन्दिग्धासिद्धत्वेनाभासत्वादनुमितिकरणत्वन्न स्यादित्यर्थः । दूषणान्तरमाह ॐ अनवधारणे चेति ॐ । धर्मानवधारणे तद्विशिष्टधर्म्मिणोऽप्यवधारणासम्भवेन पक्षासिद्धिर्विशेषणनिश्चयपूर्वकत्वाद्विशिष्टसिद्धेरित्यर्थः । न चानवधारितरूपतया धर्म्मस्य निश्चितत्वात्तद्विशिष्टपक्षसिद्धिरिति वाच्यम् , अनिश्चितरूपेण निश्चितमित्युक्तौ निश्चितभावाभावयोरेकोपाधौ व्याघातापातात् ।

द्वितीयं कल्पं दूषयति ॐ न चेति ॐ । हेतुविषयः साध्यमनवधारितसाध्यधर्म्मेति यावत् । अनवधारितसाध्यविशिष्टपक्षस्यासम्भवमुपपादयति ॐ तथा हीति ॐ । हेतुविषयस्यानवधारितत्वमनुमानप्रयोक्त्रा प्रतिवादिना वेति विकल्पयति ॐ केनेति ॐ । प्राथमिकत्वादनुमानप्रयोक्त्रेति प्रथमकल्पमाशंक्याह ॐ न तावदिति ॐ । स्वेनानवधारितस्य परं प्रति प्रमाणेन प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् सन्देहविषयस्य प्रमाणस्य व्याघातात्तथाऽऽसस्य स्वनिश्चितार्थस्यैव परं प्रति प्रतिपादकत्वादित्यर्थः । द्वितीयं शंकते ॐ प्रतीति ॐ । अभ्याप्त्यैव दूषयति ॐ नेति ॐ । सह श्रोत्रोः परस्परं विद्योत्कर्षापकर्षनिरूपणार्थं प्रतिवादित्वं विहाय केवलवादितयाऽनुमानप्रयोगो दृश्यते तत्र प्रतिवादिनाऽनवधारितधर्म्मत्वलक्षणाभावा-

---

अतः 'पूतिकूष्माण्डः कुत्सितरसवान्, दुर्गन्धयुक्तत्वात्'—ऐसे स्वार्थानुमानों में प्रतिपित्सित-धर्मविशिष्ट पक्ष की असिद्धि हो जाती है, अतः इनसे अनुमिति नहीं हो सकती ।

(२) अनवधारितधर्मा धर्मी पक्षः—

शङ्का—[अग्न्यादिरूप साध्य का अवधारण (निश्चय) जहाँ नहीं है, उस पर्वतादि धर्मी को पक्ष कहा जाता है । साध्य धर्म का जहाँ निश्चय हो जाता है, वहाँ न्याय-प्रवृत्ति ही नहीं होती, श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"असन्दिग्धे न्यायप्रवृत्तेरनुपपत्तेः, न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमतेऽनुमातारः" (ता. टी. पृ. ४८) ।

समाधान—पक्षरूप धर्मी के दो धर्म होते हैं—(१) हेतु और (२) साध्य, अतः अनवधारितधर्मता का सामञ्जस्य दो प्रकार से हो सकता है—(१) हेतुरूप धर्म के अनवधारण से या (२) साध्यरूप धर्म के अनवधारण से । (१) 'हेतुमान् पक्षः' या 'पक्षे हेतुः'—इस प्रकार पक्षधर्मता का अवधारण न होने के कारण हेतु सद्धेतु न होकर सन्दिग्धासिद्धनामक हेत्वाभास हो जाता है, अतः उसमें अनुमिति-हेतुता ही नहीं रहती । पक्ष-धर्मता के सम्पादन करने के लिए यदि पक्ष में हेतु का अवधारण (निश्चय) माना जाता है, तब अनवधारित-धर्मता नहीं रहती ।

(२) अग्न्यादि साध्यरूप धर्म का अनवधारण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसके द्वारा वह अनवधारित है ? (१) अनुमान-प्रयोग करनेवाले वादी के द्वारा ? अथवा (२) प्रतिवादी के द्वारा ? प्रथम कल्प के अनुसार अनुमान का प्रयोग ही नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द-प्रयोक्ता के लिए शब्दार्थ का ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा जब स्वयं ही ज्ञान नहीं रखता, तब दूसरे को ज्ञान कराने के लिए शब्द-प्रयोग ही कैसे करेगा ? प्रतिवादी के द्वारा

द्विविदिते ह्यर्थे वादितया परस्परविद्योत्कर्षापकर्षनिरूपणार्थमनुमानदर्शनात्।

तथा अनवधारणं यत्किञ्चिद्धेतुविषयधर्मगोचरम्, वादिप्रयोक्तव्यहेतुविषयगोचरं वा? न तावदाद्यः, अग्निमत्त्वनिश्चयदशायामपि तत्तद्धेतुविषयबहुतरापरधर्मानवधारणाद् धूमं प्रति पर्वतस्य पक्षत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, तथापि तत्र प्रसङ्गात्। तद्धेतूनामपि वादिप्रयोज्यत्वात्। असाधारणविवक्षायाञ्च अननुगमाद्, इतरेतराश्रयदोषाच्च। पक्षधर्मत्वेन हेतुत्वनिरूपणात्, व्याप्तपक्षधर्मत्वस्य हेतुत्वात्, हेतुना च पक्षनिरूपणात्।

स्वार्थानुमाने च हेतोरप्रयोज्यत्वात्, पक्षाभावेनानुमानानुदयप्रसङ्गाद् विरुद्ध-

---

त्वव्याप्तिः। न च तत्रापि दूषक एव प्रतिवादीति वचनीयं केवलमात्मविद्योत्कर्षानिश्चयफलतया तत्त्वनिर्णयविजयफलकामित्वाभावात्तत्कामितया दूषकस्यैव प्रतिवादित्वात्। एवं वाद्यपि तत्र न स्यादिति चेत्, स्यान्नाम न हि वयं तत्र वादिसमर्थनाय प्रवृत्ता इति न किञ्चिदवद्यम्।

दोषान्तरं भाषितुं प्रकारान्तरेण विकल्पयति ❀ तथेति ❀। कस्मिन्सति किं स्यादित्यत आह ❀ नेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ अग्निमत्त्वेति ❀। अग्निमान्पर्वतो धूमवत्त्वादित्यनुमानेन पर्वतस्याऽग्निमत्त्वनिश्चयकालेऽपि कृतकत्वसावयवत्वादिहेतुसाध्यानित्यत्वकार्यत्वादिधर्मस्य पर्वतेऽनवधारणात्पर्वतस्य धूमं प्रति पक्षत्वं प्रसज्येत, न च तदिष्यते सन्दिग्धाग्नित्वस्यैव धूमं प्रति पक्षत्वादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि द्वितीयस्तत्राह ❀ नेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ तथापीति ❀। तत्प्रसङ्गमुपपादयति ❀ तदिति ❀। तेषां कृतकत्वादिहेतूनामपि वादिप्रयोज्यत्वात्तद्विषयानित्यादिधर्मानवधारणादग्निमत्त्वनिश्चयदशायामपि पर्वतस्य धूमं प्रति स एव पक्षत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। वादिप्रयोक्तव्यधूमवत्त्वहेतुविषयधर्मानवधारणवत्त्वमग्निमत्त्वं प्रति पर्वतस्य पक्षत्वमतो नातिव्याप्तिरित्यत आह ❀ असाधारणेति ❀। न केवलमव्याप्त्यादिरसम्भवोऽपीत्याह ❀ इतरेति ❀। कुत इतरेतराश्रयत्वं तत्राह ❀ पक्षेति ❀। व्याप्यत्वं हेतुत्वं तच्च व्याप्तितः पक्षधर्माधिकरणत्वयात्रेण भवतीति न पक्षधर्मत्वापेक्षेत्यत आह ❀ व्याप्तेति ❀। सिद्धस्यैव हेतुत्वाद्व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां प्रमितस्यैव सिद्धत्वात्पक्षधर्मतापेक्षेत्यर्थः। हेतोः पक्षधर्मत्वापेक्षायामपि पक्षस्य हेत्वनपेक्षत्वान्नेतरेतराश्रयस्तत्राह ❀ हेतुनेति ❀। हेतुविषयानवधारितधर्मवान्पक्ष इति लक्षणादित्यर्थः। अव्याप्त्यन्तरमाह ❀ स्वेति ❀। स्वार्थानुमाने हेतोर्वादिना प्रयोक्तव्यत्वाभावादुक्तलक्षणस्य तत्राव्याप्तिरित्याशयः। किंच अनित्यः परमाणुर्वायवीयो नीरूपद्रव्यत्वादित्यत्र वायवीयपरमाणोर्नीरूपद्रव्यत्वविरुद्धहेतुविषयधर्मानवधारणाभावात् पक्षत्वन्न स्यादित्याह ❀ विरुद्धेति ❀। कुत इत्यत

भी सर्वत्र साध्य धर्म का अनवधारण नहीं देखा जाता, अपितु जिन दोनों वादियों को पक्ष में साध्य धर्म का निश्चय है, वे भी परस्पर अपने-अपने विद्या-कौशल का प्रदर्शन या वाद में दूसरे को परास्त करने के लिए प्रवृत्त होते देखे जाते हैं।

साध्यरूप धर्म भी एक नहीं होता, प्रकृताप्रकृत-भेद से अनेक धर्म हो सकते हैं। उनमें से यत्किञ्चित् साध्य धर्म का अनवधारण विवक्षित है? अथवा वादी के द्वारा प्रयोक्तव्य साध्य धर्म का? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि पर्वत में अग्निमत्त्व की निश्चयावस्था में भी धूमरूप हेतु के द्वारा साधनीय कालिमादि अन्य साध्य धर्मों का अनवाधरण होने के कारण पर्वत में पक्षता अतिप्रसक्त होती है। द्वितीय कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि वह्निमत्त्व-निश्चय-दशा में भी वादी के द्वारा भविष्य में ऐसे भी प्रयोक्तव्य साध्य धर्म सम्भावित हैं, जिनका अवधारण नहीं, अतः पर्वत में पक्षता की अतिव्याप्ति बनी रहती है। तत्तद् हेतु-सम्बन्धी तत्तत् साध्य धर्मों का निवेश करने पर लक्षण में अननुगम दोष आ जाता है और अन्योऽन्याश्रयता भी हो जाती है, क्योंकि पक्षधर्मता के द्वारा व्याप्त-पक्षधर्मत्वरूप हेतुता का और हेतु के द्वारा पक्षता का निरूपण हो रहा है। स्वार्थानुमान में हेतु का प्रयोग न होने के कारण पक्षता का सम्पादन

हेतौ पक्षस्याभासत्वप्रसङ्गात् । तत्र साध्यस्य तद्धेतुविषयत्वाभावाद्, हेतोरेव च साध्यविपरीतव्याप्त्या दुष्टत्वात् । एतेन सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः, साध्यत्वञ्च स्वपरार्थानुमानसाधारणमुत्पाद्यज्ञानत्वमिति निरस्तम् ।

३२. पक्षधर्मतालक्षणखण्डनम्

भवतु वा यः कश्चन पक्षः, केयं पक्षधर्मता ?

पक्षाश्रिततेति चेन्न, नैयायिकादीन् प्रति प्रमेयत्वस्याहेतुत्वप्रसङ्गात् । विषय-

आह ※ तत्रेति ※ । अनित्यत्वस्य नीरूपद्रव्यत्वहेतुविषयत्वाभावादित्यर्थः । प्रदर्शितानुमानस्याभासत्वोपपत्तौ न पक्षस्याप्याभासत्वं कल्पनीयं गौरवादित्यर्थः ।

उक्तदूषणं पक्षान्तरेऽप्यतिदिशति ※ एतेनेति ※ । एतेन निरस्तमिति सम्बन्धः । किमिदं साध्यत्वं प्रतिपिपादयिषितत्वं प्रतिपित्सितत्वं वाऽऽद्ये स्वार्थानुमानाव्याप्तिः, द्वितीये परार्थानुमानाव्याप्तिरित्यत उक्तं ※ साध्यत्वं चेति ※ । वादिप्रयोक्तव्यहेतूत्पाद्यज्ञानत्वम् ? उत हेतुमात्रोत्पाद्यज्ञानत्वम् ? उत वादिप्रयोक्तव्यैतद्धेतूत्पाद्यज्ञानत्वम् ? आद्यद्वितीययोरग्निमत्त्वनिश्चयदशायामपि पर्वतस्याग्निमत्त्वं प्रति पक्षत्वप्रसङ्गः तृतीयेऽननुगम इत्येतेनेत्यर्थः ।

एवं पक्षानिरुक्त्या पक्षधर्म्मताऽनिरुक्तिमापाद्य सम्प्रति पक्षधर्म्मता स्वरूपमेव निरसितुं प्रौढ्या पक्षमुपगच्छति ※ भवत्विति ※ । एवं पक्षमुपेत्य पृच्छति ※ केति ※ । पक्षाश्रितता व्याप्यस्य सामर्थ्यं वा सेति पृच्छार्थः । प्रथमं शङ्कते ※ पक्षेति ※ । आश्रिततेत्युक्ते रूपाद्याश्रिततायामतिव्याप्तिस्तन्निरासायोक्तं पक्षेति । नेदं पक्षधर्मतालक्षणं पक्षाव्यापकत्वादिति दूषयति ※ नेति ※ । आदिपदेन वैशेषिकादय उपा-

एवं अनुमान का उदय क्योंकर होगा ? 'शब्दो नित्यः, कृतकत्वात्'—इत्यादि विरुद्ध हेतु के प्रयोग में पक्ष भी पक्षाभास हो जायगा, क्योंकि नित्यत्वरूप साध्य कृतकत्व का व्यापक न होने के कारण हेतु-सम्बन्धी साध्य धर्म नहीं बनता, उसके आधार को पक्ष क्योंकर कहा जा सकेगा ? ऐसे स्थल पर पक्ष में पक्षाभासता नहीं मानी जाती, हेतु ही साक्षात् अपने साध्य के अभाव से व्याप्त होने के कारण हेत्वाभास हो जाता है ।

(३) सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः—

शङ्का—[श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"न पक्षधर्मतामपरिभूय प्रत्यक्षेण व्यभिचारः शक्यग्रहः, न ह्यस्ति सम्भवः सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी, तद्विरहेण निर्णीतश्चेति" (ता. परि. पृ. १३०) । न्यायमञ्जरीकार ने भी कहा है—"सन्दिग्धे हि न्यायः प्रवर्तते, नानुपलब्धे न निर्णीते इत्युक्तमेतत्, सन्दिह्यमान एव सार्थः पक्ष उच्यते" (न्या. मं. पृ. १९७) । इससे यह स्पष्ट है कि 'सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः'—इस लक्षण की भी प्राचीन-परम्परा रही है] । यहाँ 'साध्य' पद से हेतूत्पाद्य ज्ञान का विषय मात्र विवक्षित है, वह स्वार्थानुमान का प्रतिपित्सित अर्थ भी हो सकता है और परार्थानुमान का प्रतिपिपादयिषित भी ।

समाधान—संशय और अनवधारण ज्ञान में कोई विशेष अन्तर नहीं, अत एव आचार्य भासर्वज्ञ ने संशय का लक्षण किया है—"अनवधारणज्ञानं संशयः" (न्या. भू. पृ. १२) । इस प्रकार 'अनवधारित' और 'सन्दिग्ध' पर्यायवाची ठहरते हैं, अतः अनवधारणपक्षीय दोषों से ही 'सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः'—इस लक्षण का भी निराकरण हो जाता है ।

३२. पक्षधर्मता-लक्षण का खण्डन

पक्ष पदार्थ यदि कुछ मान भी लिया जाय, तब भी जिज्ञासा होती है कि यह 'पक्षधर्मता' क्या है ?

विषयिभावस्य ज्ञेयज्ञानरूपातिरिक्तस्यानङ्गीकारात्। तयोश्च ज्ञेयाश्रितत्वायोगात्।

प्रतीतिं व्याप्तिबलेन सामान्यतो व्यापकावगाहनप्रवृत्तां विशेषमादाय परं पर्यवसाययितुं व्याप्तस्य सामर्थ्यं सेति चेन्न, तस्याः सामान्यविषयायाः अनुपपत्तेर-

दीयन्ते। व्यक्तिरभिधेया प्रमेयत्वादाकृतिवदित्यत्र प्रमेयत्वस्य हेतुत्वं न स्यात्पक्षाश्रितत्वाभावादित्यर्थः। हेतुत्वाविशेषात्प्रमेयत्वमपि धूमादिवत्पक्षाश्रितमिति तत्राह * विषयेति *। प्रमाविषयः प्रमेयमिति लक्षणाभिधानात्प्रमाविषयत्वमेव प्रमेयत्वं प्रमाप्रमेययोः स्वरूपमेव विषयविषयिभावस्य स्वभावसम्बन्धत्वोपगमादित्यर्थः। ज्ञानज्ञेयस्वरूपस्यैव तस्य पक्षाश्रितत्वं किन्न स्यात्तत्राह * तयोश्चेति *। ज्ञानस्यात्मगुणत्वात् ज्ञेयाश्रितत्वायोगात् ज्ञेयस्य स्ववृत्त्यापातेन तदयोगादिति भावः।

व्याप्यस्य सामर्थ्यं पक्षधर्मतेति द्वितीयं शंकते * प्रतीति *। व्याप्तिबलेन सामान्यतो व्यापकावगाहनप्रयुक्तां प्रतीतिमादाय विशेषं पर्यवसाययितुं व्याप्यस्य सामर्थ्यं सा पक्षधर्मतेत्यन्वयः। यद्वा सामान्यतो व्यापकावगाहनप्रयुक्तां प्रतीतिं विशेषमादाय सामान्यं पर्यवसाययितुं व्याप्यस्य सामर्थ्यं सेत्यन्वयः। परं केवलम्। सामर्थ्यमनुपपत्त्या क्षेपकत्वशक्तिविशेषमनुपादाय सामान्यापर्यवसानं त्वनुपपत्तिः। असम्भवेनैतद् दूषयति * नेति *। यो धूमवान् सोऽग्निमानिति व्याप्तिबललभ्यव्यापकसामान्यप्रतीतेर्विशेषविषयत्वं विनाऽनुपपत्तेरसिद्धेर्व्याप्यस्य विशेषाक्षेपकत्वसामर्थ्यंन्न पक्षधर्मतेत्यर्थः। सामान्यस्य प्रतीतौ विशेषपरतन्त्रत्वाद्विशेषविषयत्वमन्तरेण सामान्यप्रतीतिरनुपपन्नेत्यत आह * व्याप्तीति *। धूमाग्न्यादिनिष्ठसंयोगादिसम्बन्धविशेषरूपतामन्तरेणैव सम्बन्धरूपा व्याप्तिर्यथा संभवति तद्वदित्यर्थः। यद्वा यो धूमवान्सोऽग्निमानिति व्याप्तिग्रहणकाले यथा व्याप्यव्यापकयोः सामान्येनैव प्रतीतिविशेषेऽनुगमाभावेन सामान्योपाधौ तद्ग्रहादेवमिहापीत्यर्थः। उक्तमर्थं व्यतिरेकदण्डं दर्शयन् दृढीकरोति * अनुपपत्तिस्व इति *। उपपत्तिर्न विद्यते यस्याः साऽनुपपत्तिस्तयात्वे व्याप्तिग्रहणकाले व्यापकसामान्यप्रतीतौ तद्विशेषानुप्रवेशः एवं च कतिपयविशेषानुप्रवेशेऽननुगमोऽशेषविशेषानुप्रवेशे सर्वज्ञतापत्तिरनुमानोच्छेदश्च व्याप्तिग्रह एवाशेषविशेषसिद्धेरित्यर्थः। व्याप्त्यननुप्रवेशाविति पाठे व्याप्तिग्रहे व्यापकसामान्यं यत्र प्रमीयेत तत्र विशेषास्फुरणादतो व्याप्तिसिद्धिरित्यर्थः। व्याप्तिबलसिद्धव्यापकसामान्यप्रतीतेर्विशेषविषयत्वं

---

(१) पक्षाश्रितता पक्षधर्मता—

शङ्का—धूमादि हेतुओं में रहनेवाली पक्ष की वृत्तिता (आधेयता) को ही पक्षधर्मता माना जाता है, जैसा कि श्री जयन्तभट्ट कहते हैं—"सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, तदाश्रितत्वं पक्षधर्मत्वम्" (न्या. मं. पृ. ११०)।

समाधान—पक्षाश्रितता को पक्षधर्मता मानने पर 'घटोऽभिधेयः, प्रमेयत्वात्'—इस अनुमान के 'प्रमेयत्व' हेतु में न्यायमतानुसार पक्षधर्मता न बन सकेगी, क्योंकि प्रमेयत्व का अर्थ है—प्रमाज्ञान-विषयत्व। विषयत्व, अभिधेयत्वादि को स्वरूप सम्बन्धात्मक माना जाता है, अतः विषयत्व यदि ज्ञानस्वरूप है, तब ज्ञानरूपविषयत्व (प्रमेयत्व) की आश्रयता आत्मा में होने के कारण घटादि ज्ञेयवर्ग में नहीं रह सकती, अतः प्रमेयत्व में घटाश्रितत्व बाधित है। विषयत्व को यदि घटादि विषय का स्वरूप माना जाता है, तब भी घटाश्रितता घट में सम्भव कैसे होगी ?

(२) व्याप्यस्य सामर्थ्यं पक्षधर्मत्वम् -

शङ्का—व्याप्य की उस विशेष शक्ति का नाम पक्षधर्मता है, जिसके बल पर सामान्यतः व्यापकावगाहिनी प्रतीति विशेषार्थ में पर्यवसित हो जाती है। ['यत्र यत्र धूमः, तत्र तत्र अग्निः'—इस प्रकार सामान्य व्याप्ति से पर्वत में अग्निविशेष (पर्वतीय अग्नि) की सिद्धि पक्षधर्मता के बल पर होती है)।

समाधान—'यो यो धूमवान्, स सोऽग्निमान्'—इस प्रकार की सामान्य प्रतीति यदि

सिद्धेर्व्याप्तिवत्सम्भवात्। अनुपपत्तित्वे व्याप्त्यनुप्रवेशात्, अधिकविषयाकाङ्क्षित्वे विरम्य व्यापारापत्तेः, मानान्तरत्वापत्तेर्वा। विशेषविषयायाश्च अनुपपत्तित्वेऽतिप्रसङ्गात्।

पक्षधर्मतया च यदि साध्यव्यक्तिभेदः सिद्ध्येत्, तर्ह्यनुमाय तां प्रत्यक्षेण

विना अनुपपत्त्यभावेऽप्यधिकविषयाकाङ्क्षित्वमस्तीदमेवापर्यवसानमित्यत आह ॐ अधिकेति ॐ। व्याप्तिसिद्धिसामान्यप्रतीतेरेवाधिकाकाङ्क्षा ? अन्यस्या वा ? आद्ये प्रथमं सामान्यव्यापारः पश्चात्कृतोऽधिकविषय इति जन्ममात्रव्यापाराया बुद्धेर्विरम्य व्यापारापत्तेरित्यर्थः। यद्यन्यस्यास्तत्राह ॐ मानेति ॐ। व्याप्तिबलसिद्धसामान्यज्ञानमेकमपरं पक्षधर्मतासिद्धविशेषविषयं मानमिति मानान्तरापत्तिरित्यर्थः। सामान्यप्रतीतेर्नानुपपत्तिर्येनोक्तदोषः किंतु विशेषविषयायाः पर्वतनिष्ठत्वादिविशेषान्तरमन्तरेणानुपपत्तिः सा व्याप्यस्य सामर्थ्यं पक्षधर्मतेत्यत आह ॐ विशेषेति ॐ। अनवस्थानादित्यर्थः। व्यापकसामान्यस्य व्याप्तिसिद्धत्वाद् व्याप्यस्य पक्षधर्मतया व्यापकविशेषः सिद्धयतीति वाच्यं तत्र दूषणमाह ॐ पक्षेति ॐ। तर्ह्यनुमाय प्रत्यक्षेण तामनुमितां व्यक्तिं पश्यन् तद्विशेषासंशयी स्यादित्यन्वयः। तथा संशय एव नास्तीत्यत आह ॐ पुंशब्दादिति ॐ। बहिरवस्थितोऽभ्यन्तराध्ययनध्वनिश्रवणादभ्यन्तरे पुरुषार्थोऽनुमायी भवति अयं शब्दः पुरुषविनिर्गतः शब्दविशेषत्वात्सम्प्रतिपन्नवदिति। स पुरुषानुमायी पश्चात्तत्र च पुरुषद्वयदर्शने अयं मयाऽनुमितोऽयं वेति तद्विषयसंशयो न स्यादनुमानतस्तद्विशेषदर्शनाद्भवति चातो न पक्षधर्मतया साध्यव्यक्तिभेदसिद्धिरित्यर्थः। यद्यप्यनुमानतः प्राग्विशेषो दृष्टस्तथाऽपि प्रत्यक्षतस्तद्दर्शनं नास्ति परोक्षं

विशेष विषय (पर्वतीय वह्न्यादि) के विना अनुपपन्न होती, तब अवश्य सामान्य प्रतीति का विशेषार्थ में पर्यवसान हो जाता, किन्तु निर्विकल्पकादि सामान्यविषयिणी प्रतीतियों की विशेषार्थ के विना अनुपपत्ति नहीं देखी जाती, अतः जैसे व्याप्ति विशेषार्थ-निरपेक्ष सामान्यार्थ विषयिणी होती है, वैसे ही अनुमिति भी सामान्य साध्य धर्म को ही विषय करेगी। यदि विशेषविषयता के विना सामान्य प्रतीति की अनुपपत्ति होती है, तब अनुमिति के समान व्याप्ति-ज्ञान में भी विशेषतः व्याप्य और व्यापक व्यक्तियों का भान मानना होगा, जो कि सर्वज्ञतापादक है—यह कहा जा चुका है। सामान्य-प्रतीति को ही सामान्यार्थ-बोधन के अनन्तर विशेषार्थ का भासक माना जाय, तब 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्'—इस नियम का उल्लङ्घन होता है और सामान्य-बुद्धि को प्रथम क्षण में सामान्यार्थ-भासक ज्ञान को द्वितीय क्षण में विशेषार्थ-भासक मानना पड़ता है। एवं सामान्य-प्रतीति (अनुमिति) से जन्य विशेषविषयक प्रमा का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमा में इस लिए नहीं हो सकता कि वह विशेषविषयक या विशदावभास है और प्रत्यक्ष प्रमा में इस लिए नहीं हो सकता कि वह इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से जनित नहीं, फलतः परिगणित प्रमाण-ज्ञानों से भिन्न प्रमाणान्तर मानना होगा।

विशेषविषयक ज्ञान ही अनुपपन्न होकर अन्य विशेष-विषयक ज्ञान का यदि आक्षेपक माना जाता है, तब अनवस्थारूप अतिप्रसङ्ग उपस्थित होता है। दूसरी बात यह भी है कि यदि पक्षधर्मता के द्वारा विशेषतः साध्य व्यक्ति का भान माना जाता है, तब जहाँ पर शब्द के द्वारा किसी व्यवहित व्यक्ति का अनुमान किया गया और बाहर निकल कर दो व्यक्ति सामने आते हैं, तब उनमें जो सन्देह होता है कि जिस व्यक्ति का शब्द सुनाई दे रहा था, वह इन दोनों में कौन है ? वह सन्देह नहीं होना चाहिए, क्योंकि अनुमिति ज्ञान से ही वह विशेष व्यक्ति आलोकित हो जा चुका है, जिसका शब्द बाहर सुनाई देता था। यदि कहा जाय कि अनुमित व्यक्ति विशेष होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय न होने के कारण संशय हो जाता है, तो वैसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि पश्चात् सामने आने पर तो उस व्यक्ति का

पुरुषद्वयदर्शने तद्विशेषासंशयो स्यात् । प्राग्विशेषादर्शनात्तथा स्यादिति चेन्न, पश्चात्तत्र तद्दर्शित्वान्न संशयीतेति ।

३३. उपमानलक्षणखण्डनम्

उपमानमपि किमुच्यते ?

सादृश्यज्ञानमुपमानमित्येके । तन्न, स्मृतावपि प्रसङ्गात् ।

अनुभव इत्यभिधाने च 'सदृशाविमौ' इतीन्द्रियजेऽपि प्रसङ्गात् । 'सोऽपि

विशेषदर्शनं नापरोक्षसंशयनिवर्तकमिति शंकते ❀ प्रागिति ❀ । अनुमितस्यैव विशेषस्यैव पश्चात् प्रत्यक्षत उपलम्भान्न संशयं कुर्यादिति परिहरति ❀ नेति ❀ । अनुमानं न सामान्ये प्रमाणमन्यत एव तत्सिद्धेर्नापि विशेषे तत्प्रत्यायनसामर्थ्याभावादतः कल्पितमेव तत्प्रामाण्यमित्यभिसन्धिः । इति शब्दः समाप्तौ ।

इत्यनुमानखण्डनम् ।

अनुमानानिरुक्त्याऽनुमेयस्यानिर्वचनीयस्य सिद्धेर्न्न तेनाद्वैतव्याकोप इति प्रत्यपीपदविदानीं पुनरेतस्यैव द्रढिम्ने उपमानलक्षणं क्रमप्राप्तं खण्डयितुमुपक्रमते ❀ उपमानमिति ❀ । किमः प्रश्ने आक्षेपे च साधारण्यादाक्षिप्तमपि पृष्टं मत्वोत्तरमाह ❀ सादृश्येति ❀ । ज्ञानमुपमानमित्युक्तेऽक्षजेऽतिव्याप्तिपरिहाराय विशिनष्टि ❀ सादृश्येति ❀ । तावत्युक्ते तत्रैवातिव्याप्तिपरिहाराय ज्ञानमिति विशेषणम् । एके मीमांसकैकदेशिनः । यथाश्रुतमेवेदं न लक्षणमतिव्याप्तेरिति दूषयति ❀ तन्नेति ❀ । सादृश्यमिति सादृश्यविषयिणी स्मृतिः सा नोपमितिकरणं तदनन्तरमेवानुभवान्तरादर्शनान्नाप्युपमितिः स्मृतेरप्रमात्वादित्यतिव्याप्तिरित्याशयः । अपिशब्दात्सादृश्यसंशयविपर्ययोरतिव्याप्तिं समुच्चिनोति । सादृश्यानुभव उपमितिरिति ब्रूमो नातः स्मृतावतिप्रसक्तिर्नापि तत्संशयादौ, यथार्थत्वविशेषणस्य विवक्षितत्वादित्याशंक्याह ❀ अनुभव इति ❀ । इमौ भिन्नाविति संयुक्तसमवायाद्विना भेदानुभव इवेमौ घटौ सदृशाविति संयुक्तसमवायादेव

प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, तब संशय क्यों होता रहता है ? अतः सामान्य ज्ञान को विशेष विषय में उपसंगृहीय करनेवाली शक्ति को पक्षधर्मता कहना सर्वथा असंगत है ।

३३. उपमान-लक्षण का खण्डन

(१) सादृश्यज्ञानमुपमानम्—

शङ्का उपमान भी क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ आचार्य कहते हैं—'सादृश्यज्ञानम् उपमानम्' [श्री जयन्त भट्ट ने उन लक्षणकारों को अद्यतन कहा है—"अद्यतनास्तु व्याचक्षते—श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियजं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम्" (न्या. म. पृ. १४२)। "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" (न्या. सू. १।१।६) इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए वार्तिककार कहते हैं—"आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानम् उपमानम्" (न्या. वा. पृ. ३५६)]।

समाधान—स्मरणात्मक सादृश्य-ज्ञान में उक्त लक्षण अतिव्याप्त हो रहा है। सादृश्य का स्मरण ज्ञान प्रमा न होने के कारण उपमिति प्रमा नहीं हो सकता एवं उपमितिरूप प्रमा का करण (उपमान प्रमाण) भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके अनन्तर कोई प्रमा उत्पन्न ही नहीं होती । इसी प्रकार सादृश्यविषयक संशय और विपर्यय में भी अतिव्याप्ति होती है ।

स्मरण, संशय और विपर्यय में अतिव्याप्ति न हो, अतः 'ज्ञान' पद के स्थान पर 'अनुभव' पद का प्रयोग करने पर 'सादृश्यानुभव उपमानम्'—ऐसा लक्षण सम्पन्न होता है,

गवयो गवा सदृशो गवयत्वात्, गवयान्तरवदि'त्यनुमानस्यापि तत्त्वापत्तेः। एवमाप्तोक्तिजेऽपि।

किञ्च—उपमितिलक्षणमिदमुपमितिकरणलक्षणं वा स्यात्? नाद्यः, सादृश्यस्योपमेयत्वापत्तेः। सदृशे चोपमेयव्यवहारोऽस्ति, 'चन्द्रोपमेयं मुखमि'त्यादि।

सदृशमितिः सेति चेन्न, अक्षादिकरणासम्भवे तदुदाहरणासिद्धेः। नापि द्वितीयः, सादृश्यज्ञानस्य सर्वस्यासम्भवत्प्रमाणान्तरव्यापारफलजनकताया दर्शयितुम-

---

सादृश्याऽनुभवो भवति सादृश्यस्यावयवगुणानां भूयसां साम्यस्यान्यस्य वा विवक्षितत्वादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। प्रत्यक्षान्यत्वे सति सादृश्यानुभवो यथार्थ उपमितिर्विवक्षित इति चेत्तत्राह ❀ सोऽपीति ❀। तत्त्वापत्तेः उपमितित्वापत्तेरिति यावत्। अतिव्याप्तिस्थलान्तरमाह ❀ एवमिति ❀। गोसदृशो गवय इत्याप्तवचनजनितोऽनुभवः सादृश्यविषयो भवति न तत्र संज्ञासंज्ञिसम्बन्धपरिच्छित्तिरस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः।

उपमानशब्दस्य करणे भावे च साधारण्याद् द्विधा विकल्पयति दोषान्तरं भाषितुम् ❀किञ्चेति❀। उपमितिरुपमानमिति भावव्युत्पत्त्योपमितिरेवोच्यत उतोपमीयतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्योपमितिकरणमित्यर्थः। कस्मिन्सति किं स्यादित्यत आह ❀ नेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ सादृश्यस्येति ❀। सादृश्यमप्युपमेयं तेन नानिष्टापत्तिरित्यत आह ❀ सदृशे चेति ❀। सत्यं सादृश्यमप्युपमेयं न तन्मात्रं तद्विशिष्टद्रव्यस्योपमेयत्वात्तदस्मिन्पक्षे न स्यादित्यर्थः। तदुदाहरणनिष्ठं दर्शयति ❀ चन्द्रेति ❀। करिपुष्करोपमेयः कर इत्यादि। शोणो धावतीति शोणाश्वधावनवत् सादृश्यज्ञानमिति सदृशज्ञानं लक्षणया विवक्षितं नातोऽतिप्रसङ्ग इति शंकते ❀ सदृशेति ❀। स्मृत्यपोहार्थं प्रमितिग्रहणम्। असम्भवेनैतत् दूषयति ❀ नेति ❀। अक्षादिजन्यकुम्भाद्यनुभवेभ्यो मानान्तरमुपमानमिच्छता यत्राक्षादीनि करणानि न सम्भवन्ति तत्र कारणान्तरादुत्पद्यमाना सदृशमितिरुदाहरणीया न चोदाहर्तुं शक्या सर्वत्र सदृशज्ञानेऽक्षादिसंभवादित्यसंभवि लक्षणमित्यर्थः। सादृश्यज्ञानमुपमितिकरणलक्षणमिति द्वितीयं दूषयति ❀ नापीति ❀। कुत

वह भी 'सदृशौ इमौ'—इस प्रकार के ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष में अतिप्रसक्त होता है। इतना ही नहीं, 'सोऽपि गवयः, गोसदृशः, गवयत्वाद्, गवयान्तरवत्'—इस प्रकार के अनुमान एवं आप्त-वाक्य-जन्य सादृश्यविषयक शाब्द ज्ञान में भी उक्त लक्षण अतिव्याप्त है।

यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि उक्त लक्षण क्या उपमिति प्रमा का है? अथवा उसके करणीभूत उपमानं प्रमाण का? प्रथम कल्प के अनुसार जैसे अनुमिति के विषयीभूत अग्न्यादि को अनुमेय कहते हैं, वैसे ही सादृश्य-ज्ञानरूप उपमिति के विषयीभूत 'सादृश्य' पदार्थ को उपमेय मानना होगा, किन्तु लोक-व्यवहार में सादृश्यरूप धर्म में उपमेय-व्यवहार न होकर, सादृश्य के आश्रयीभूत (अनुयोगी) मुखादि धर्मी पदार्थों को उपमेय माना जाता है—चन्द्रोपमेयं मुखम्। 'उपमेयस्वरूप मुखादि सदृशपदार्थों की प्रमा को भी उपमिति नहीं कह सकते, क्योंकि गवयरूप सदृश पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमिति या शाब्दात्मक ही होता है, ऐसा कोई उपमिति का उदाहरण सुलभ नहीं, जहाँ पर अक्ष (इन्द्रिय), लिङ्ग या शब्दरूप करण न हो, अतः इनसे भिन्न कोई चौथी प्रमा प्रसिद्ध ही नहीं, जिसे उपमिति प्रमा कहा जाय।

द्वितीय (करण) पक्ष में 'उपमानम्' का अर्थ होता है 'उपमितिकरणम्' अतः 'सादृश्यज्ञानमुपमानम्'—इस वाक्य के द्वारा सादृश्य-ज्ञान में जिस उपमितिरूप प्रमा की करणता अभिलक्षित होती है, वह उपमितिरूप फल क्या है? जैसे इन्द्रियरूप करण के इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षरूप व्यापार से जनित घटादि-ज्ञान को इन्द्रिय का, व्याप्ति-ज्ञानरूप करण के परामर्शरूप व्यापार से उत्पादित अनुमिति को व्याप्ति-ज्ञान का और पदज्ञानरूप करण के व्यापार

शक्यत्वात्। न च सादृश्यमेकमनुगतमस्ति। मुखसादृश्यस्य हस्तसादृश्यस्य च भेदेनैवोपलम्भात्।

न च सादृश्यरूपत्वमनुगतं तेष्वपीत्यदोषः। तथापि सादृश्येन सह सादृश्ये अनेकस्थत्वादौ सादृश्यरूपत्वाश्रिते सादृश्यरूपत्वस्याऽऽश्रयणाभ्युपगमे परस्पराश्रय-भावः, अनभ्युपगमे वाऽननुगमः। तयोः सादृश्यानभ्युपगमे वाऽन्यत्रापि तथापत्तिः।

इत्यत आह ॐ सादृश्येति ॐ। न सम्भवति प्रमाणान्तराणां व्यापारो यस्मिन् फले तदसंभवत्प्रमाणान्तर-व्यापारफलं तज्जनकतया न च सादृश्यव्यवहारस्तत्फलं सम्यगनुभवस्यैव प्रमाणफलत्वात्। न च सादृश्यानुभवस्तत्फलं तस्य प्रत्यक्षादिनैव सिद्धेः। नापि सादृश्यानुभव एव करणफलयोरेकत्वायोगात्। नापि संज्ञासंज्ञिसंबंधपरिच्छेदस्तत्फलं। दृष्टगोररण्यन्तगतस्यातिदेशकवाक्यं श्रुतवतोऽयं गवयसंज्ञोऽन्यथा गोसादृश्यानुपपत्तेरित्यर्थापत्त्यैव तत्सिद्धेरिति लक्षणासिद्धिरित्यभिसन्धिः।

किं च सादृश्यं ज्ञानस्योपलक्षणं विशेषणं वा? आद्ये सादृश्यस्योपलक्षणतया लक्षणबहिर्भावेन ज्ञानमात्रस्यातिव्याप्तेर्विशेषणत्वे सादृश्यस्य प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त्या तद्विशिष्टलक्षणस्यापि व्यावृत्त्याऽव्यापकते-त्यभिसन्धायाह ॐ न चेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ मुखेति ॐ। मुखस्य चन्द्रसादृश्यं दीप्तिमत्त्वं हस्त-करिपुष्करसादृश्यं दीर्घत्वे सति क्रमतनुत्वमिति भेदोपलम्भादित्यर्थः। यद्यपि सादृश्यव्यक्तयो भिन्ना-स्तथाऽपि तासु सादृश्यरूपत्वमनुगतमेकमस्ति तदुपाधौ लक्षणकरणान्नातिव्यापकता यथाऽऽत्मव्यक्तीनां भेदेऽप्यात्मत्वसामान्यानुगतेर्ज्ञातात्मेति लक्षणकरणं इत्यत आह ॐ न चेति ॐ। कथमित्यत आह ॐ तथा पीति ॐ। सादृश्यरूपत्वस्य सादृश्येन सह सादृश्यमस्ति अनेकस्थत्वादिसादृश्यरूपस्यानेकाश्रयत्वात्सादृ-श्यस्य च द्विगामितयाऽनेकस्थत्वादिपदेन ज्ञेयत्वादि वर्तते तस्मिंश्च सादृश्यरूपत्वाश्रिते सादृश्येऽनेकस्थ-त्वादौ सादृश्यरूपत्वस्याश्रयभावोऽभ्युपगम्यते? न वा? आद्यो यद्यभ्युपगम्यते, तर्हि सादृश्यरूपेऽनेकस्थ-त्वादि वर्त्तते तस्मिंश्च सादृश्यरूपत्वमिति परस्पराश्रयत्वान्नैकस्यापि सिद्धिरित्यर्थः। यद्यनेकस्थत्वादेः

से प्रसूत शाब्द ज्ञान को शब्द प्रमाण का फल माना जाता है। एक करण का फल दूसरे करण से समुत्पादित नहीं हो सकता, अतः इन कथित तीन फलों के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द नाम के तीन प्रमाणों का मानना आवश्यक है, वैसा कोई चतुर्थ फल ऐसा प्रसिद्ध नहीं, जिसके लिए उपमानरूप करण का साफल्य सिद्ध हो सके। सादृश्य-व्यवहार या संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धबोध तो प्रत्यक्षादि से ही उपपन्न हो जाते हैं।

सादृश्यज्ञान का विषयीभूत सादृश्य पदार्थ भी सर्वत्र एक अनुगत नहीं, क्योंकि मुखगत चन्द्र-सादृश्य भिन्न है और हस्तनिष्ठ पल्लवादि-सादृश्य भिन्न, अतः एक सादृश्य की विषयिता दूसरे ज्ञान में सम्भव नहीं, लक्षण अव्याप्त रह जाता है। सभी 'सादृश्य' पदार्थों में सादृश्य-रूपत्व अनुगत मानकर यदि अव्यापकत्व दोष को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है तो वह भी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि सादृश्यरूपत्व में भी सादृश्य का अनेकस्थत्वरूप सादृश्य प्रतीत होता है [सादृश्य पदार्थ भी चन्द्र और मुखादिरूप अपने प्रतियोगी और अनुयोगीरूप दो सम्बन्धियों में रहने के धारण अनेकस्थ है और सादृश्यरूपत्व भी अनेकस्थ है] अतः उसकी उपपत्ति के लिए सादृश्यरूपत्व में सादृश्यरूपत्व माना जाता है? या नहीं? यदि माना जाता है, तब सादृश्य और सादृश्यरूपत्व में परस्पर-सापेक्षता होने के कारण अन्योऽन्याश्रयता होती है और सादृश्यरूपत्व में सादृश्यरूपत्व न मानने पर सादृश्यरूपत्वेन सभी सादृश्यपदार्थों का अनुगम नहीं होता। यदि सादृश्यरूपत्व में सादृश्य का सादृश्य न मान कर भी अनेकस्थत्वादिरूप सादृश्य के व्यवहार की उपपत्ति की जाती है, तब चन्द्र और मुखादि में भी सादृश्य मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसके लिए सादृश्यज्ञानरूप उपमान प्रमाण के मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

किञ्च—वैधर्म्यप्रतीतेरपि प्रमाणान्तरत्वमेवं स्याद्, अविशेषात्। एवमेवाभ्युपगमे च परिगणितप्रमाणाधिक्यप्रसङ्गो वा सादृश्यबुद्धेरपि वा परिगणितेष्वेवान्तर्भावः स्यादिति। अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यप्रमितिरुपमानमित्यपि न, आप्तवाक्यादपि तथा प्रमितेः।

सादृश्यरूपत्वं प्रति आश्रयभावो नाभ्युपगम्यते तत्राह ❀ अनभ्युपगमेति ❀। सर्वसादृश्येषु सादृश्यरूपत्वस्येति शेषः। सादृश्येन सादृश्यरूपत्वस्य सादृश्यमेव नास्तीति नोक्तोपालम्भ इत्यत आह ❀ तयोरिति ❀। तयोः सादृश्यसादृश्यरूपत्वयोः सादृश्यानुपगमेऽन्यत्रापि मुखचन्द्रयोरपि सादृश्याभावापत्तिस्तदभावेऽपि सादृश्यव्यवहारोपपत्तेरिहेवेत्यर्थः। सादृश्यज्ञानस्य प्रत्यक्षादिभ्यः प्रमाणान्तरत्वे वैधर्म्यज्ञानमपि तेभ्यः प्रमाणान्तरं स्यादित्यतिप्रसङ्गेनापि लक्षणासिद्धिमभिसन्धायाह ❀ किं चेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ अविशेषादिति ❀। साधर्म्यप्रतीतिः प्रमाणान्तरं न वैधर्म्यप्रतीतिरिति विशेषाभावादित्यर्थः।

"प्रमाणवस्त्वावायातः प्रवाहः केन वार्यते"।

इति तदप्युपेयत इत्यत आह ❀ एवमिति ❀। परिगणितानि चत्वारि पञ्च वा प्रमाणानि, तेभ्य आधिक्यप्रसङ्ग इति यावत्। यथुक्तदोषभयाद्वैधर्म्यप्रतीतेः प्रत्यक्षाद्यन्तर्भावस्तत्राह ❀ सादृश्येति ❀। इति शब्दो लक्षणखण्डनसमाप्तौ।

इदानीं मीमांसकाभिमतमुपमानलक्षणं पराचष्टे ❀ अप्रतीयमानेति ❀। अप्रतीयमानस्य गोः प्रतीयमानेन गवयेन सह सादृश्यप्रमितिः सोपमितिरिति तत्करणं चोपमानं सैव वास्मृत्याद्यपोहाय प्रमितिविशेषणम्। अनुमाद्यपोहार्थं सादृश्यविशेषणम्। सादृश्यप्रमितिरुपमानमित्युक्ते इमौ सदृशावितीन्द्रियजायामतिव्याप्तिस्तन्निरासायाह ❀ अप्रतीयमानस्येति ❀। अप्रत्यक्षस्येत्यर्थः। सादृश्यधर्मितया तस्यापि परोक्षप्रतीतेः। केनेति साकाङ्क्षतयाऽनर्थक्यपरिहारायोक्तं प्रतीयमानेनेति। कुत इत्यत आह ❀ आप्तेति ❀। नागरिकं प्रत्यारण्यकस्याप्तस्य वाक्यं त्वदीयगवा सदृशोऽसावरण्यगतो गवय इति तस्मादप्यप्रतीयमानगवा प्रतीयमानस्य गवयस्य सादृश्यप्रमितिरुत्पद्यत इति तत्रातिव्याप्तेरित्यर्थः।

दूसरी बात यह भी है कि यदि सादृश्यज्ञान को एक पृथक् उपमान प्रमाण माना जाता है, तब वैधर्म्यादि के ज्ञानों को भी प्रथक् प्रमाण मानना होगा। यदि वैधर्म्यादि-प्रतीतियों को पृथक् प्रमाण माना जाता है, तब परिगणित प्रमाणों की संख्या अधिक करनी होगी। यदि वैधर्म्यादि-प्रतीतियों का निर्वाह परिगणित प्रमाणों से ही कर लिया जाता है, तब सादृश्यज्ञान को भी पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। श्री शान्तरक्षित भी कहते हैं—

गवयस्योपलम्भे च तुरंगादौ प्रवर्तते।
तद्वैसादृश्यविज्ञानं तत्तदन्या प्रमा न किम्॥
चतुष्ट्वं च प्रमाणानां व्याहन्येतैवमेव ते।
यस्तत्र परिहारस्ते स एवात्र भविष्यति॥ (तं. सं. पृ. ५५०)

(२) अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यप्रमितिरुपमानम्—

शङ्का—[मीमांसकगण आरण्यस्थ गवयगत गोसादृश्य के दर्शन को उपमान प्रमाण और गृहावस्थित अप्रतीयमान गोगत प्रत्यक्षभूत गवय के सादृश्य की प्रतीति को उपमिति प्रमा मानते हैं। यद्यपि श्री शबरस्वामी कहते हैं—"उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिम् उत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य" (शा. भा. पृ. ३७)। तथापि इसकी आलोचना करते हुए श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—

सदृशादुपजायेत या मतिः सदृशान्तरे।
ध्यानादिस्मृतितुल्यत्वात्सा प्रमाणं कथं भवेत्॥ (श्लो. वा. पृ. ४३४)

अर्थात् वन में अवस्थित पुरुष के द्वारा गवय को देख कर जो गृहगत गो का स्मरण होता है,

यत्र तद्व्यापारो नास्तीति चेन्न, 'स चायञ्च अभिन्नौ' इतिवत् 'स चायञ्च सदृशावि'ति पूर्वप्रतीतस्य प्रतीयमानेन सहैव ऐन्द्रियकसादृश्यप्रतीतावपि प्रसंगात्। इन्द्रियासम्पृक्तस्येति चेन्न, प्रत्यक्षतो गोगवयसादृश्यं प्रतीत्य 'साऽपि च गौर्गवयेन

आप्तवाक्याजन्यत्वे सत्युक्तविशेषणमुपमानमिति लक्षणं विशिषन्नाशङ्कते ॐ यत्रेति ॐ। तद्व्यापार आप्तव्यापारस्तद्वाक्यव्यापारो वेत्यर्थः। एवं विशेषणेनाप्तवाक्यजप्रमितिव्यवच्छेदेऽपि नाक्षजप्रमितिव्यवच्छेद इति दूषयति। ॐ स चेति। स च पूर्वोपलब्धश्चायं च सम्प्रत्यनुभूयमानश्च देवदत्तावभिन्नाविति वत्स च नगरेऽनुभूतो गौरयं चेदानीमनुभूयमानगवयश्च सदृशाविति पूर्वप्रतीतस्य गोः प्रतीयमानेन गवयेन सह ऐन्द्रियकसादृश्यप्रमितिः तस्यामपि प्रसङ्गाविति योजना। इदमत्राकूतं सोऽयं देवदत्त इति यथा पूर्वानुभूत-संस्कारसहितेदानींतनसम्प्रयोगात् संस्कारप्रत्यासत्त्या पूर्वप्रतीतदेवदत्तस्येदानीं प्रतीयमानदेवदत्तेनाभेदप्रत्यय ऐन्द्रियकस्तथा पूर्वप्रतीतगोः प्रतीयमानेन गवयेन सह पूर्वसंस्कारसहितेदानीन्तनसंयोगादैन्द्रियकसादृश्य-प्रमितिरुत्पद्यत इति तत्रातिव्याप्तिरन्यथा देवदत्तैक्यप्रत्यभिज्ञानस्याप्यनुपपत्तेरिति। आप्तवाक्याजन्यत्वे सतीन्द्रियासम्प्रयुक्तस्याप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यप्रमितिरुपमानमिति लक्षणं विशिषन्नाशङ्कते ॐ इन्द्रियेति ॐ। तत्रेन्द्रियेण संस्कारलक्षणप्रत्यासत्तिरस्तीति तद्व्यवच्छेदः। न च सादृश्यप्रमायाः प्राक् संस्कारोद्बोधकाभावादप्रत्यासत्तिस्तत्रेति वाच्यम्, अदृष्टचिन्तादेरपि तदुद्बोधकत्वादनुद्बुद्धसंस्कारस्य च प्रत्यासत्तित्वासम्भवादिति। अतिव्याप्त्यन्तरप्रदर्शनेन परिहरति ॐ नेति ॐ। इमौ गोगवयौ सदृशाविति

वह तो ध्यानादि से जन्य स्मरणों के समान ही स्मृति ज्ञानमात्र है, गृहीतग्राही होने के कारण स्मृति को प्रमा ही नहीं माना जाता, वह उपमिति प्रमा क्योंकर कहलाएगी? नैयायिकोक्त संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध-बोध भी उपमान का फल नहीं माना जा सकता—

न च शब्दार्थसम्बन्धः प्रमेयोऽत्र तदेष्यते।
सादृश्यावधृते वाक्ये वाक्यादवगतो ह्यसौ।। (श्लो. वा. पृ. ४३६)

अर्थात् पुरुष जब तक गवय को देख नहीं लेता, तब तक 'गोसदृशो गवयः'—इस वाक्य से सामान्यतः 'किञ्चित् गोसदृशं वस्तु गवयनाम्नाभिहितम्'— इतना ही ज्ञान कर पाता है और गवय को देख लेने के पश्चात् 'अस्यैव गवय संज्ञा'—ऐसा विशेष ज्ञान उसी स्मर्यमाण वाक्य के द्वारा कर लेता है, उसके लिए पृथक् किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, अतः शबरस्वामी के उक्त वाक्य का आशय यह है—

तस्माद् यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्।। (श्लो. वा. पृ. ४४४)

अर्थात् प्रत्यक्षभूत गवय में उपमान का प्रमेय कुछ भी नहीं, अपितु गवयसादृश्य-विशिष्ट स्मर्यमाण गौ अथवा गोविशिष्ट गवय-सादृश्य ही उपमिति प्रमा का प्रमेय होता है]।

समाधान—गवय-सादृश्य-विशिष्ट गौ अथवा गोगत गवय के सादृश्य का बोध तो वन में अवस्थित किसी आप्त पुरुष के द्वारा कथित 'एतत्सदृशी तव गौः'—इस प्रकार के वाक्य से भी हो जाता है, अतः शाब्द बोध में उपमितित्व अतिप्रसक्त होता है।

शङ्का—जहाँ पर कोई आप्त-वाक्य प्रवृत्त नहीं होता, ऐसे सादृश्यज्ञान को अर्थात् आप्त-वाक्यजन्य सादृश्यज्ञान को उपमिति कहा जाता है।

समाधान—कथित विशेषण के द्वारा शाब्द ज्ञान में अतिप्रसङ्ग की निवृत्ति होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान में अतिव्याप्ति बनी ही रहती है, क्योंकि जैसे 'स चायं चाभिन्नौ'—ऐसी अभेदविषायिणी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है, वैसे ही 'स चायं च सदृशौ'—ऐसी सन्निहितासन्निहितार्थ के सादृश्य की प्रत्यक्ष प्रतीति भी अनुभव-सिद्ध है, उसमें भी कथित उपमितित्व है।

उक्त प्रतीति में 'इन्द्रियाजन्यत्व' विशेषण लगाने पर भी सादृश्यविषयक अनुमिति में

सदृशी, गोत्वादियमिवे'त्यनुमितावपि प्रसंगात्। अलिङ्गजापीति चेन्न, नन्वेवं प्रत्यक्षानुमानशब्दानुत्थत्वे सतीत्युक्तं स्यात्। तथा च विशेषणमेव समर्थमित्यप्रतीयमानस्ये-त्यादि व्यर्थम्।

नोपादेयमेव पदान्तरमिति चेन्न, अर्थापत्तेरवश्यं सम्भवात्, तेन सार्धमेतत्सादृश्यस्यानेन सार्धं तत्सादृश्यव्यतिरेकेणानुपपद्यमानत्वात्। अन्यथा प्रत्ययोत्पत्तिविषयं प्रमाणान्तरमापद्येत। तस्मात् 'अयं ह्रस्वः' इति प्रतीतेः 'अस्मात् स दीर्घः' इति चान्यथा कतमा प्रमा स्यात्। अर्थापत्तिं प्रमाणान्तरमनिच्छताऽपि इयमर्थापत्तिरनुमाने वाऽन्तर्भाव्या पृथक् प्रमाणीकर्तव्या वा। एतेन अप्रतीतगवय-

---

प्रत्यक्षेणैव गवयसादृश्यं गोरुपलभ्य असौ नगरस्थापि गौर्गवयसदृशी गोत्वादियमिवेति यदाऽऽरण्यकोऽनुमिमीते साऽपि प्रमितिरुक्तविशेषणेति तत्रातिव्याप्तिरित्याशयः। उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते ❀ अलिङ्गजेति ❀। इन्द्रियासम्प्रयुक्तस्याप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यप्रमितिरलिङ्गजोपमितिरित्यर्थः। एवं विशेषणे विशेषणवैयर्थ्यं दर्शयितुं पर्यवसितमर्थं लक्षणवाक्यस्य दर्शयन्नाह सिद्धान्ती ❀ नन्वेवमिति ❀। ननु प्रसिद्धौ। तथोच्यतान्नाम को दोषस्तत्राह ❀ तथा चेति ❀। तथा विशेषणेऽपि प्रत्यक्षाद्यनुत्थत्वविशेषणमेवान्यतो व्यावर्तयितुं शक्तमित्यप्रतीयमानस्येत्यादिविशेषणवैयर्थ्यमित्यर्थः। तर्ह्यप्रतीयमानेत्यादिविशेषणं परित्यज्य प्रत्यक्षानुमानशब्दानुत्थसादृश्यप्रमितिरुपमानमिति लक्षणं ब्रूम इति शङ्कते ❀ नेति ❀। परिहरति ❀ नेति ❀। प्रत्यक्षाद्यनुत्था या सादृश्यप्रमितिः साऽनुपपत्त्या गवयेन सह गोरपि सादृश्यं गमयतीत्यर्थः। अनुपपत्तिजन्यमपीदं ज्ञानमुपमानमेव प्रत्यक्षाद्यनुत्थत्वे सति सादृश्यमितित्वात्संप्रतिपन्नवदित्यत आह ❀अन्यथेति❀। अन्यथाऽर्थापत्तित्वानङ्गीकारे अन्यथाप्रत्ययोऽनुपपत्त्या प्रत्ययस्तस्योत्पत्तिस्तज्जनकमनुपपत्त्या प्रत्ययोत्पत्तिजनकमिति यावत्। जीवद्देवदत्तस्य गृहाभावो बहिर्भावमन्तरेणानुपपद्यमानो बहिर्भावं गमयन्नर्थापत्तेः प्रमाणान्तरमापद्येताविशेषादित्यर्थः। एतादृशविषयेऽर्थापत्तित्वानङ्गीकारे प्रमाणान्तरापत्तिस्थलान्तरमुदाहरति ❀ तस्मादिति ❀। अस्मात्तस्य दीर्घत्वमन्तरेण तस्मादस्य ह्रस्वत्वानुपपत्त्या या दीर्घप्रतीतिः साऽन्यथा कतमा प्रमा स्यात्? न तावत् प्रत्यक्षाद्यन्यतमा अक्षशब्दलिङ्गानां तत्राव्यापारादिति सामर्थ्यापत्तेरपि प्रमाणान्तरं स्यादिति परिगणितप्रमाणप्रकाराधिक्यप्रसङ्ग इत्यर्थः। अर्थापत्तेरमानत्वान्न तया सादृश्यसिद्धिरित्यत आह ❀ अर्थेति ❀। नैय्यायिकेनार्थापत्तेः स्वरूपमेव नापलपनीयं किन्त्वर्थापत्त्यनुमित्योर्भेद एवापलपनीय इत्यर्थः। अनुपपद्यमानदर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिर्व्याप्यदर्शनाद् व्यापके बुद्धिरनुमितिरिति लक्षणभेदात्कथमैक्यमित्यत आह ❀ पृथगिति ❀।

अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि जिस व्यक्ति को गो और गवय का (इमौ गोगवयौ सदृशौ'— इस प्रकार) सादृश्य प्रत्यक्ष हो गया है, वह ऐसा अनुमान कर सकता है—'साऽपि गौः गवयेन सदृशी, गोत्वात्, पुरःस्थित गोवत्'। यह अनुमिति भी अप्रतीयमान गोगत गवय-सादृश्य की प्रमिति है। उक्त प्रमिति में लिङ्गाजन्यत्व विशेषण भी लगा देने पर 'इन्द्रियलिङ्ग-शब्दाद्यनुत्थत्वे सति सादृश्यप्रमितित्वम्'—इतना ही लक्षण पर्याप्त है, 'अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यम्'—ऐसा विशेष्य भाग व्यर्थ हो जाता है।

यदि विशेष्य भाग को छोड़ कर केवल 'इन्द्रियादिकरणाजन्यसादृश्यप्रमितित्वम्'—इतना ही लक्षण किया जाता है, तब यद्यपि 'अन्यथानुपपत्त्यजन्यत्व' विशेषण जोड़ देने पर सादृश्यार्थविषयक अर्थापत्ति की निवृत्ति हो जाती है, तथापि असन्निहित गोगत गवय के सादृश्य की प्रतीति (गृहावृत्ति जीवित देवदत्तादि की बहिःसत्त्व-सिद्धि के लिए) अवश्य अभ्युपगन्तव्य अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ही सिद्ध हो जाती है, उसके लिए पृथक् उपमान प्रमाण की कल्पना निरर्थक है। दृश्यमान गवयगत गो के सादृश्य की उपपत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक गोगत गवय का सादृश्य व्यवस्थित न हो। फिर भी यदि सादृश्य-प्रतीति के लिए पृथक्

गवान्तरसामान्यस्य अदृष्टान्तानुमानासम्भवात् 'गवयेनानेन सदृशी सा गौरि'ति मितिरुपमितिरित्यपि व्युदस्तम् , तयैतत्सादृश्यस्य पतेन तत्सादृश्यं विनाऽनुपपत्त्यैव सिद्धेरिति ।

अनवगतसङ्गतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्य संज्ञिन्यनुसन्धानमुपमानमित्यपि

उक्तन्यायेन लक्षणान्तरं निरस्तमित्यतिदिशति ॐ एतेनेति ॐ । मितिग्रहणं स्मरणाद्यपोहार्थम् । घटोऽयमित्यपोहार्थं गौरिति ग्रहणम् । इयं गौरिति प्रत्यक्षापोहार्थं गौरिति ग्रहणम् । इयं गौरिति प्रत्यक्षापोहार्थं सेति । अश्वादिलक्षणा सा गौरिति मित्यपोहाय सदृशीति । केनेति साकाङ्क्षतयाऽसम्भवपरिहाराय गवयेनेति । पूर्वदृष्टगवयेन सदृशी सा गौरित्युपमितिफलंसिद्ध्युत्तरकालीनमित्यपोहाय । अनेनेति अनेन सदृशी सा गौर्गोत्वादियमिवेत्यनुमानापोहाय । अप्रतीतेति । अप्रतीतं गवयेन गवान्तरस्य साम्यं येन तस्य दृष्टान्तासम्भवादनुमानासम्भवः अप्रतीतगवयगवान्तरसाम्यस्यानेन सदृशी सा गौरिति मितिरुपमितिरिति यावत् । एतेनेति परामृष्टन्यायं स्पष्टयति ॐ तयेति ॐ । पूर्वं प्रतीयमानेनाप्रतीयमानस्य सादृश्यमितिरुपमितिरित्याशङ्क्य निरस्तमिदानीं सदृशमितावतिदिश्यत इति भेदः ।

उदयनोदीरितं उपमानलक्षणमुपन्यस्य पराचष्टे ॐ अनवगतेति ॐ । अनवगता सङ्गतिर्यस्याः संज्ञायास्तया समभिव्याहृतं सह पठितं यद्वाक्यं तदर्थस्य संज्ञिन्यनुसन्धानं कीदृशो गवय इत्यादि नागारिकेण पृष्ट आरण्यको ब्रवीति गोसदृशो गवय इति तत्र गवयसंज्ञाऽनवगतसङ्गतिसंज्ञिको गोसदृशो गवय इत्याद्युपदिष्टः सोऽयमित्यनुसन्धानमुपमानमिति यावत् । संज्ञिनीति ग्रहणं संज्ञासम्बन्धिपरिच्छित्तिरुपमानफलमिति दर्शनार्थं न लक्षणान्तर्गतम् । अनुसन्धानमुपमानमित्युक्ते सोऽयं देवदत्त इत्यनुसन्धानेऽतिव्याप्तिस्तत्परिहारायाह ॐ वाक्येति ॐ । महति कानने शतं हस्तिनस्तिष्ठन्तीति वाक्यार्थानुसन्धानेऽतिव्याप्तिपरिहारायाह ॐ अनवगतेति ॐ । न च वचनादसति वृत्त्यन्तरे तत्र प्रयोगाद्वा लिङ्गाद्वा पूर्वमेवावगतः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः केवलमधुना स्मार्यत इति वाच्यम् , निमित्तस्य प्रागनधिगतेरधिगतस्य च

उपमान प्रमाण माना जाता है, तब वैधर्म्यादि की प्रतीति के लिए उपमान से भी भिन्न एक पृथक् प्रमाण की सत्ता माननी होगी और सादृश्य-प्रतीति की सिद्धि अर्थापत्ति से मानने पर उसी से ही अप्रतीत दण्डादिगत दीर्घत्वादि की सिद्धि निष्पन्न हो जाती है, क्योंकि सन्निहित दण्डगत ह्रस्वत्व तब तक उपपन्न नही होता, जब तक सन्निहित दण्ड की अपेक्षा असन्निहित दण्ड में दीर्घत्व न मान लिया जाय। इस अर्थापत्ति प्रमाण का अपलाप नैयायिकादि भी नहीं कर सकते, हाँ, वे इसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में कर सकते है या फिर अर्थापत्ति का प्रथक् प्रमाण मानना होगा।

यद्यपि जिस व्यक्ति ने किसी गौ मे गवयव का सादृश्य देखा है, वह उसको दृष्टान्त बनाकर अन्य गौ में गवय के सादृश्य का (सा गौः अनेन गवयेन सदृशो, गोत्वात्, मदीयगोवत्—इस प्रकार) अनुमान कर सकता है, किन्तु जिस व्यक्ति ने किसी भी गौ में गवयसादृश्य का दर्शन नही किया, वह दृष्टान्त के अभाव में गवय-सादृश्य का अनुमान नहीं कर सकता। तथापि उसका ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमाण के द्वारा ही किया जा सकता है, क्योंकि अप्रतीयमान गोगत गवय-सादृश्य के विना गवयगत दृश्यमान गोसादृश्य उपपन्न नहीं होता।

(२) औदयनलक्षणम्—

उदयनाचार्य ने जो उपमान का लक्षण किया है—जिस (गवय) संज्ञा का संगति-ग्रहण (शक्तिग्रह) नही हुआ, उस संज्ञा पद के साथ पठित 'गोसदृशो गवयः'—इस वाक्य के अर्थ का गवयरूप संज्ञी में अनुसन्धान (सोऽयं गवयपद-वाच्यः—ऐसी प्रत्यभिज्ञा) ही उपमान (उपमिति) है। लक्षणमालोक्त लक्षण की आनुपूर्वी इस प्रकार है—"अकृतसमयसंज्ञास्मरणसहायं तत्समभिव्याहृतवाक्यार्थप्रत्यभिज्ञानप्रत्यक्षमुपमानम्" (ल. मा. पृ. १७)।

न, प्रस्मृतसङ्गतेरेवम्भूतोपमित्यव्यापनात्। अस्मृतसंगतीत्यभिधेयमिति चेन्न, अनुभूत-स्मृत-कालान्तरप्रस्मृतप्रसङ्गतेरव्यापनात्।

अस्मर्यमाणेति चेन्न, कदाचिदस्मर्यमाणतायास्तत्रापि सम्भवात्। सर्वदा अस्मर्यमाणतायाः क्वचिदप्यसम्भवात्। उपमितिप्राक्काल इति चेत्, स्यादेवैतत् यद्युपमितिर्लक्षिता स्यात्, तदर्थमेव तु क्रन्दनमिदं भवतः।

किञ्च—सर्वैरनवगतसङ्गतित्वस्य प्रकृतेऽप्यसिद्धेः। केनाप्यनवगतसङ्गतित्वस्य

सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमितत्वे वा गौरवादप्रतीतगूनामरण्यवासिनां गवयव्यवहारानुत्पत्तिप्रसङ्गाच्च। अत एवोक्तम्—

सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयाऽपि वा॥ इति

कुत इत्यत आह ❀ प्रस्मृतेति ❀। पूर्वमनुभूय प्रस्मृता सङ्गतिर्येन तस्य एवंभूतोपमितिरभ्युपगम्यते तत्राव्याप्तिरनवगतेति विशेषणाभावादित्यर्थः। अव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते ❀ अस्मृतेति ❀। अनवगतेति विशेषणस्थाने अस्मृतेतिविशेषणं निधातव्यं नैवमव्याप्तिरनुभूय प्रस्मृतसङ्गतेः संस्कारलोपादेवास्मरणादननुभूतसङ्गतेः संस्काराभावादित्याशयः। अव्याप्त्यन्तरप्रदर्शनेन परिहरति ❀ नेति ❀। विशेषणाभावादित्यर्थः। सर्वानुपपत्त्युपशान्तये स्मर्यमाणसङ्गतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्येति लक्षणं कार्यमिति शङ्कते ❀ अस्मर्येति ❀। अस्मर्यमाणेति लडर्थस्य विवक्षितत्वान्नाप्यव्याप्तिरित्यर्थः। किं कदाचिदस्मर्यमाणत्वं विवक्षितमुत सर्वदा? उत उपमितिप्राक्काले? इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। कदाचिदस्मर्यमाणतायास्तत्रापि महति च कानने शतं हस्तिनस्तिष्ठन्ति इत्यादौ व्यवच्छेद्याभिमतेऽपि सम्भवात्तदर्थानुसन्धानेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। कदाचित्स्मर्यमाणताया इति पाठे कदाचिदस्मर्यमाणताया अनुभूतस्मृतकालान्तरप्रस्मृतस्थलेऽपि सम्भवेनास्मर्यमाणताया असम्भवादव्याप्तिरेवेत्यर्थः। द्वितीयं दूषयति ❀ सर्वदेति ❀। लक्ष्याभिमतेऽपि फलसिद्ध्युत्तरकालं स्मरणोपपत्त्या सर्वदाऽस्मर्यमाणत्वविशेषणासिद्ध्या विशिष्टलक्षणासिद्धिरित्याशयः। अन्त्यं कल्पमुत्थापयति ❀ उपेति ❀। उपमितिप्राक्कालेऽस्मर्यमाणसङ्गतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्यानुसन्धानमित्युक्तं स्यादेवं चोपमितिरपि लक्षणविशेषणं स्यान्न तद्युक्तं सिद्धस्यैव विशेषणत्वादिति परिहरति ❀ स्यादिति ❀। मानान्तरसिद्धामुपमितिं लक्षणे विशेषणतया निवेश्य तल्लक्षणं ब्रूम इत्यत आह ❀ तदिति ❀। मानान्तरसिद्धौ लक्षणानर्थक्यादुपमितिसिद्ध्यर्थमेव लक्षणं प्रणेतव्यमतश्च लक्षणसिद्धावुपमितिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च लक्षणसिद्धिरिति परस्पराश्रय इत्यर्थः। क्रन्दनमाक्रोशः।

सङ्गतेरनवगतत्वं च किं सर्वैरेव किं वा येन केनापि यद्वोपमात्राऽथवा यस्याः प्रमितेर्यः प्रमाता तेनेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ किञ्चेति ❀। सर्वज्ञेश्वराङ्गीकारात्तेन विदितसङ्गतित्वं गोसदृशो गवय

वह लक्षण भी अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है, क्योंकि जो व्यक्ति 'गवय' शब्द की वाच्यता का अनुभव कर लेने के पश्चात् विस्मरण कर चुका है, उसकी उपमिति प्रमा में उक्त लक्षण अव्याप्त हो रहा है, क्योंकि उसके लिए 'गवय' संज्ञा अनवगतसङ्गतिक नहीं रही। यदि 'अनवगत' विशेषण के स्थान पर 'अस्मृत' विशेषण देकर उक्त स्थल पर अव्याप्ति का परिहार किया जाता है, तब भी उक्त अव्याप्ति बनी ही रहती है, क्योंकि कदाचित् संगति का अस्मरण वहाँ पर भी सम्भावित है और सर्वदा अस्मर्यमाणता तो कहीं भी सम्भव नहीं। उपमिति के पूर्वकाल में अस्मर्यमाणता की विवक्षा करने पर उपमिति के निरूपण में उपमिति की अपेक्षा होने के कारण आत्माश्रयता अथवा लक्षण और लक्ष्य की परस्पर-सापेक्ष सिद्धि होने के कारण अन्योन्याश्रयता प्रसक्त होती है।

'अनवगतसङ्गतित्व' विशेषण में जिज्ञासा होती है कि सभी पुरुषों का अनवगम

वाक्यजेऽपि सम्भवात् । उपमात्रेति च पूर्ववत् निरस्तम् । यस्या प्रमितेर्येन प्रमात्रेति चाभिधाने अनुगतरूपाभावात् व्यक्तौ पतनेन लक्षणाननुगत्यापत्तेः ।

संज्ञेत्यप्याकुलम्, 'गोसदृशो गवयः प्रायः कानने महति दृश्यते' इति श्रुतवाक्यस्य काननपदाविदितसङ्गतेर्गवयपदविदितसङ्गतेश्च असंज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलायामीदृशप्रतिपत्तौ गतत्वेनातिव्यापकत्वात् । विनाऽपि वा प्रायःशब्दमभि-

इत्यत्रापि सम्भवतीति लक्षणासिद्धिरित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह ॐ केनेति ॐ । महति कानने हस्तिनः शतं तिष्ठन्तीत्यादिवाक्यजानुसन्धानेऽपि सम्भवति पृथग्जनानां बहुलत्वादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । तृतीयमाशङ्कते ॐ उपेति ॐ । न सर्वैः केनापि चेति ब्रूमः किं तूपमात्रेति नातोऽसिद्धिरतिव्याप्तिर्वेत्यर्थः । परिहरति ॐ पूर्वेति ॐ । उपमितिसिद्धौ तदाश्रय उपमाता सिद्धयति तत्सिद्धौ च लक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धावुपमितिसिद्धिरिति चक्रकापत्तेरसम्भव इत्यर्थः । यदि चतुर्थस्तत्राप्यभिधानीयं यस्यास्तेनेति यत्तच्छब्दावनुगतं रूपं वदत उत व्यक्तिमितिविकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ यस्या इति ॐ । अनुगतरूपस्य सामान्यस्योपाधेर्वाऽसम्भवस्तस्यापि च यत्तच्छब्दवाच्यत्वेनात्माश्रयादनवस्थानाद्वाऽतोऽसम्भव इत्यर्थः । द्वितीयं दूषयति ॐ व्यक्ताविति ॐ ।

एवमनवगतसङ्गतीति विशेषणं निरस्य संज्ञेति विशेषणन्निरसितुमाह ॐ संज्ञेति ॐ । आकुलमनवस्थमित्यर्थः । कुत इत्यत आह ॐ गोसदृश इति ॐ । काननपदस्याविदिता सङ्गतिर्येन तस्य । गवयपदस्य विदिता सङ्गतिर्येन तस्य । एतदुक्तं भवति—गोसदृशो गवयः प्रायः कानने महति दृश्यत इति वाक्यं श्रुतवतः काननं गतस्य स एवाऽयमुपदिष्टो गवय इत्यनुसन्धानात्मिका प्रतिपत्तिर्जायते न चासावुपमितिः गवयसंज्ञायाः संज्ञिना सह सम्बन्धपरिच्छित्तेरेतत्फलत्वाभावात्तत्फलाया एवोपमितित्वाङ्गीकारात् काननपदेनाविदितसङ्गतिना समभिव्याहाराच्च तत्र वाक्यजप्रतिपत्तौ गतत्वेन तेन वाक्यजानुसन्धानेऽतिव्याप्तिरिति प्रायःशब्दप्रयोगात्तत्र काननपदस्यापि पूर्वं विदितसङ्गतित्वं गम्यतेऽतोऽनवगतसङ्गतीति लक्षणांशाभावान्नातिव्याप्तिरित्यत आह ॐ विनेति ॐ । प्रायो नूनमिदमप्युपमानमेव काननपदस्य गवया-

अपेक्षित है ? या किसी एक का ? अथवा उपमाता पुरुष का ? सर्व व्यक्तियों में सर्वज्ञ ईश्वर भी आ जाता है, उसका अनवगम प्रकृत में भी नहीं, अतः लक्षण कहीं भी सिद्ध नहीं होता। किसी पुरुष का अनवगम तो वाक्य-जन्य सादृश्य-बोध में भी सम्भावित है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति हो जाती है। उपमाता पुरुष की सिद्धि उपमिति की सिद्धि पर, उपमिति की सिद्धि लक्षण पर और इस लक्षण की सिद्धि उपमाता पर निर्भर होने से चक्रक दोष प्राप्त होता है। 'यदा यस्या उपमितेर्यो भवति उपमाता'—ऐसा यत्तत् का प्रवेश करने पर लक्षण प्रतिव्यक्ति-पर्यवसित हो जाने के कारण अननुगत और अव्याप्त हो जाता है।

इस लक्षण में 'संज्ञा' पद भी अव्यवस्थित है, क्योंकि 'गोसदृशो गवयः प्रायः कानने महति दृश्यते'—इस वाक्य का जिसने श्रवण किया है, जो 'कानन' पद की शक्ति से अनभिज्ञ, और 'गवय' पद की संगति का ज्ञाता है, ऐसे पुरुष को जो 'स एवायमुपदिष्टो गवयः'—इस प्रकार की शाब्द प्रमा होती है, उसमें उपमितित्व की अतिव्याप्ति है, क्योंकि उस प्रमा से भी 'कानन' पद का शक्ति-ग्रह सम्पन्न होता है—'इदं वनमेव काननसंज्ञारपदम्, गवयाधारत्वात्'। उक्त वाक्य में अवस्थित 'प्रायः' पद काननपदास्पदत्व और गवयाधारत्व की व्याप्ति सूचित कर देता है, अतः उक्त अनुमान के द्वारा 'कानन' पद का शक्ति-ग्रह होता है।

यदि 'प्रायः' पद का ग्रहण न भी किया जाय, तब भी उक्त वाक्य के 'कानन' पद का शक्ति-ग्रह प्रसिद्धार्थक पद के सान्निध्य की अन्यथानुपपत्ति के आधार पर हो जाता है, क्योंकि जैसे 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'—इस वाक्य में प्रसिद्धार्थक (गृहीतसंगतिक) मध्वादि पदों की सहायता से अप्रसिद्धार्थक 'मधुकर' पद का शक्ति-ग्रह होता है, वैसे ही

हितस्य तस्यानुसन्धाने प्रसङ्गः। तत्र काननसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धावधारणेऽपि अन्यत्रेव पदान्तरसमभिव्याहारोत्थाया अन्यथानुपपत्तेः प्रमाणत्वात्, न तु उपमानस्य। उपमेयसंज्ञासमभिव्याहृतेति विशेषणे च पूर्वोक्त एव निरासः।

वाक्यार्थेत्यपि तादृगेव, प्रतिपत्तिकालास्मृतातिदेशवाक्यावगतकाननादिपदार्थस्य तथाविधप्रत्ययाव्यापनात्। वाक्यैकदेशस्यापि वाक्यत्वेन विवक्षितत्वे 'सदृशो गवयः' इत्यादिस्मारिणोऽपि प्रत्यये प्रसङ्गात्।

प्रतीत्युत्पत्तिं प्रति प्रयोजकीभूतं यावत्, तावद्वाक्यं विवक्षितमिति चेन्न,

---

धिकरणमर्थ इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य प्रमितेरित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ। प्रसिद्धपदैरन्यैः सह पाठानुपपत्त्या व्युत्पन्नविभक्त्यर्थस्य यद्गवयाधिकरणं तत्काननसंज्ञमिति सम्बन्धपरिच्छेदस्यानुपपत्त्यैव सिद्धत्वान्नोपमानस्य तत्र मानत्वमन्यानधिगतविषयाभावात् प्रसिद्धपदार्थे व्युत्पत्तिर्लीलालभ्येत्यत्र दृष्टान्तमाह ॐ अन्यत्रेति ॐ। इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यत्र यथेत्यर्थः। उक्तं च—

पदमज्ञातसन्दिग्धं　　　प्रसिद्धैरपृथक्श्रुति।
निर्णीयते निरूढन्तु न स्वार्थादपनीयते॥ इति

ननु गोसदृशपदयोः प्रसिद्धत्वात्तत्समभिव्याहारादेव गवयपदव्युत्पत्तेरपि सिद्धे नोपमानमेवास्तीति-वक्तव्यं सत्यमभ्युपगम्यापि दोषो भाष्यत इत्ययं संरम्भ इति न दोषः। अनवगतसङ्गतित्वं न यस्याः कस्याश्चित्किंत्वनवगतोपमेयसंज्ञासङ्गतीतिविशेष्यते वनसंज्ञापदस्यानुपमेयसंज्ञात्वान्न वाक्यजानुसन्धानेऽतिव्याप्तिरित्यत आह ॐ उपमेयेति ॐ। उपमानस्याद्याप्यसिद्धयोपमेयेति विशेषणासिद्धिरिति पूर्वोक्त एवेत्यर्थः।

एवमनवगतत्वसंज्ञात्वविशेषणासिद्धया विशिष्टलक्षणासिद्धिमभिधाय वाक्येति विशेषणासिद्धयापि तदाह ॐ वाक्येति ॐ। तादृगाकुलमित्यर्थः। अतिदेशकवाक्ये यावन्ति पदानि श्रूयन्ते तावत्सर्वं वाक्यत्वेन विवक्षितमुत तदेकदेश उत प्रतिपत्तिप्रयोजकतदेकदेश इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ प्रतीति ॐ। गोसदृशो

प्रसिद्धार्थक गवयादि पदों की सन्निधि से अप्रसिद्धार्थक 'कानन' पद का शक्ति-ग्रह हो जाता है। फलतः 'गोसदृशो गवयः कानने दृश्यते'—इस वाक्य के द्वारा जो 'सोऽयमिहोपदिष्टो गवयः'—ऐसा अनुसन्धान होता है, उसका फल 'कानन' पद का शक्ति-ग्रह अवश्य है। उक्त अनुसन्धान (प्रत्यभिज्ञात्मक) बोध शब्द-जन्य होने से शाब्द बोध है, उपमिति नहीं, फिर भी उपमिति का लक्षण उसमें अतिप्रसक्त हो रहा है।

यदि 'संज्ञा' पद को व्यवस्थित करने के लिए 'उपमेय' विशेषण लगाकर 'उपमेय-संज्ञा-समभिव्याहृत वाक्य का ग्रहण किया जाता है, तब उपमान की असिद्धि होने के कारण 'उपमेय-संज्ञा'—ऐसा कहने में विशेषणासिद्धि दोष हो जाता है।

'अनवगतत्व' और 'संज्ञात्व' के समान ही वाक्यार्थत्व भी अव्यवस्थित है, क्योंकि यहाँ 'वाक्य' पद के द्वारा (१) श्रुत समस्त पदावलि विवक्षित है? अथवा (२) उसका एक देश (कुछ भाग) अभिमत है? अथवा (३) प्रतिपत्ति-प्रयोजक भाग? प्रथम कल्प के अनुसार जहाँ 'गोसदृशो गवयः प्रायः कानने महति दृश्यते'—ऐसा अतिदेश वाक्य श्रुत है और बोधोत्पत्ति के समय कदाचित् 'कानन' पद का अर्थ स्मृत्यारूढ नहीं हो सका, वहाँ पर सम्पूर्ण वाक्यार्थ का अनुसन्धान न होने के कारण लक्षण की अव्याप्ति रह जाती है। द्वितीय कल्प के अनुसार 'सदृशो गवयः'—इतने भाग के अर्थ-ज्ञान में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि महा वाक्य का एकदेश होने के कारण यह भी वाक्य ही है। तृतीय कल्प में जिज्ञासा होती है कि क्या (१) सामान्य प्रतिपत्तिप्रयोजकत्व विवक्षित है? या (२) उपमितिरूप प्रतिपत्तिका प्रयोजकत्व? अथवा (३) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति-प्रयोजकत्व? प्रथम कल्प के अनुसार

अन्तर्भावितवनाधिकरणतादृशप्रतिपत्तिं प्रति तस्यापि प्रयोजकत्वात् । उपमिति प्रतीति तु पूर्ववन्निरस्तमिति । यावत् संज्ञासंज्ञिबुद्ध्यौपयिकं तावद्विवक्षितमिति चेन्न, लक्षणसहचरितसंज्ञोपदेशार्थानुसन्धानेऽपि प्रसङ्गात् ।

किञ्च यदा तर्कानुसन्धानविरहिणः सत्यप्येवंविधानुसन्धाने सादृश्यमेव

गवयो महति कानने दृश्यत इत्यपि कदाचिदतिदेशवाक्यं भवति तत्र यदा गोसदृशः स एवायं गवय इति प्रत्ययो भवति, तदा तस्याऽव्याप्तिस्तत्र हेतुः ※ प्रतिपत्तीति ※ । प्रतिपत्तिकालेऽस्मृतोऽतिदेशवाक्यगतकाननादिपदार्थो येन तस्येति विग्रहः । अदृष्टप्रतिबन्धात्काननपदस्य महत्पदस्य वार्थास्मरणे कथितलक्षणविशेषणाभावादव्याप्तिः काननादिपदार्थास्मरणे वाक्यार्थस्मरणाभावादित्यर्थः । अस्तु तर्हि द्वितीयस्तत्राह ※ वाक्येति ※ । गोसदृशो गवय इति वाक्यैकदेशस्यापि वाक्यत्वेन विवक्षितत्वात्तदर्थानुसंधानं वाक्यार्थानुसंधानं भवत्येवेति चेत्तर्हि गोसदृशो गवय इति स्मरणेऽपि सादृश्यमात्रवत्त्वानुसन्धानेऽपि लक्षणातिव्याप्तिस्तस्यापि कथितरीत्या वाक्यार्थानुसन्धानत्वादादिपदेन काननादिपदानुसन्धानसंग्रहः । न चैतदुपमानमेष्टव्यं प्रतियोग्यस्मरणात्प्रतियोगिस्मरणसहितानुसन्धाने तत्सङ्केतस्य कार्यत्वादिति भावः । न च प्रतियोग्यस्मरणे सादृश्यस्मरणानुपपत्तिरिति वाच्यम् । प्रतियोगिज्ञानपूर्वकत्वनियमोपगमे परस्पराश्रयप्रसङ्गादनुयोगिसदृशतयाऽवगतस्यैव सादृश्यप्रतियोगित्वात् । तथा च गवयप्रतीतौ तत्सदृशतयाऽवगतगोः प्रतियोगित्वं तथाविधतत्प्रतीतौ सदृशतयाऽवगतगवयस्य प्रतियोगित्वमिति तस्मात्सादृश्यग्रहमिच्छता प्रतियोगिज्ञानं विनाऽपि तद्ग्रहो वक्तव्य इति तृतीयं शङ्कते ※ प्रतीति ※ । प्रतिपत्तिजनकं यावत्पदवृन्दं तावद्वाक्यं विवक्षितमतो नाव्याप्तिः काननादिपदस्य प्रतिपत्त्यप्रयोजकत्वान्नाप्यतिव्याप्तिर्गोपदस्यापि प्रतिपत्तिप्रयोजकत्वादित्याशयः । प्रतिपत्तिमात्रं प्रति प्रयोजकत्वं विवक्षितमुतोपमितिरूपां प्रतिपत्तिं प्रति किं स्वित्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिं प्रतीति त्रिधा विकल्प्य प्रथमं दूषयति ※ नेति ※ । अन्तर्भावितमधिकरणं यस्मिन् गोसदृशो गवय इत्यत्र तत्सदृशप्रतिपत्तिं प्रति वनपदस्यापि प्रयोजकत्वात्तवस्मारिणस्तथाविधप्रत्ययाव्याप्तिरेवेत्यर्थः । द्वितीयमसिद्ध्या दूषयति ※ उपेति ※ । उपमितेरद्याप्यसिद्धत्वादिति निरस्तमित्यर्थः । तृतीयं शङ्कते ※ यावदिति ※ । औपयिकं साधनमिति यावत् । काननादिपदस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धबुद्ध्यनौपयिकत्वान्नाव्याप्तिरित्यर्थः । एवं विशेषणमतिप्रसञ्जकमिति परिहरति ※ नेति ※ । गन्धवतीति लक्षणेन सह चरिता या पृथिवीति संज्ञा तस्या उपदेशो लक्षणवाक्यं तदर्थानुसन्धानेऽतिव्याप्तिः गन्धवती पृथिवीति लक्षणवाक्यमुपश्रुत्य गन्धवद्द्रव्यक्तिमुपलभ्य सेयं गन्धवती पृथिवीत्यनुसन्धानं भवति, न चैतदुपमानं लक्षणं केवलव्यतिरेकीति पृथिव्यधिकारे कथितत्वादित्यर्थः ।

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिजनकवाक्यैकदेशार्थानुसन्धानमुपमानमिति पक्षेऽतिव्याप्त्यन्तरमाह ※ किञ्चेति ※ । एवं विधानुसन्धाने—सोऽयं गोसदृशो गवय इत्यनुसन्धाने सत्यपि गवयपदस्य गोसदृशार्थे वृत्तौ

जहाँ 'सोयं काननवृत्तिगवयो गोसदृशः'—ऐसी वनरूप अधिकरण से युक्त गवय की प्रतिपत्ति (प्रतीति) अभिमत है 'गोसदृशो गवयः कानने महति दृश्यते'—ऐसे अतिदेश वाक्य के घटकीभूत कानन पदार्थ का स्मरण नहीं हो सका, तब उस उपमिति में भी लक्षण अव्याप्त रह जाता है । उपमिति के प्रयोजकीभूत पद-समूह को वाक्य मानने पर आत्माश्रयादि दोष प्रसक्त होते हैं । तृतीय कल्प के अनुसार संज्ञासंज्ञि-बोध में उपयोगी वाक्य की विवक्षा होने पर जहाँ 'गन्धवती'—इस लक्षण से सहचरित 'पृथिवी' संज्ञा का जो उपदेश होता है—'गन्धवती पृथिवी'—इस वाक्य के द्वारा संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध का ज्ञान हो जाने के पश्चात् लक्ष्यार्थ को प्रत्यक्षतः देख कर 'सेयं गन्धवती पृथिवी'—इस प्रकार का जो अनुसन्धान होता है, उसमें उपमितित्वापत्ति हो जाती है ।

दूसरी बात यह भी है कि जब 'गवयत्व को 'गवय' पद प्रवृत्ति-निमित्त मानने में लाघव और 'गोसादृश्य' को 'गवय' पद का प्रवृत्ति-निमित्त मानने में गौरव होता है'—इस प्रकार के

गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति मितिः फलमुत्पद्यते, तदा तस्याप्रमाकरणस्यापि उपमानत्वमापद्यते। प्रमाफलकमिति 'विशेषणप्रक्षेपपक्षे चानुसंहितरूपव्यवहार्यतानुमित्युत्पादेनापि एतादृशानुसन्धानमुपमानं स्यात्।

अव्याप्तविषयप्रमाफलकमिति विशेषणीयमिति चेन्न, वस्तुगत्याऽव्याप्तत्वस्योपमेयेऽप्यभावात्। व्याप्ततयाऽनवगम्यमानस्येति च कृते यत्प्रति तल्लिङ्गं तेन सह व्याप्तत्वावगतमुपमितिकरणमपि न व्याप्नुयात्। उपमेयेन सह व्याप्तत्वानवगतत्वोक्ताव-

निमित्तं गोसादृश्यं मितिफलमुत्पद्यते यदा तदा तस्याप्युपमानत्वमापाद्यते सति गवयत्वे सादृश्यमेव निमित्तमिति कथं फलोत्पत्तिस्तत्राह ❀ तर्केति ❀। तर्कस्तु लाघवाख्यो वक्ष्यतेऽत एव तर्कसहायमुपमानमाहुः। अस्तु तस्याप्युपमानत्वं को दोषस्तत्राह ❀ अप्रमेति ❀। उपमानस्य प्रमाणस्य प्रमाजनकत्वेन प्रयोजकत्वं वाच्यमिदं तु सादृश्यमेव निमित्तमिति भ्रान्तिजनकतया तदाभासमितोहातिव्याप्तिरुक्तलक्षणस्य सर्वस्याप्यत्राभावादित्यर्थः। प्रमाफलकमुक्तानुसन्धानमुपमानमिदं तु न प्रमाफलकमिति तन्निवृत्तिरित्याशङ्क्याह ❀ प्रमेति ❀। प्रमामात्रफलकमुक्तानुसन्धानमुपमानमुताव्याप्तविषयप्रमाफलकमाहोस्वित्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रमाफलकं नाद्योऽनुसंहितरूपस्य गोसदृशस्य व्यवहार्यताऽनुमितिश्च विमतो गवयतया व्यवहर्त्तव्यो गोसादृश्याधिकरणत्वात् व्यतिरेकेण गोवदिति। न चैतत्प्रमाजनकमनुसन्धानमुपमानमस्य लिङ्गान्तर्भावादित्यर्थः। अनुसंहितं परामृष्टमिति यावत्। द्वितीयं शङ्कते ❀ अव्याप्तेति ❀। व्याप्तं लिङ्गं तद्विषयादन्यदव्याप्तविषयं तत्प्रमाफलकमुक्तानुसन्धानमुपमानमिदं तु व्याप्तविषयप्रमाफलकमिति नातिव्याप्तिरित्यर्थः। अव्याप्तविषयं च तत् प्रमाफलकं चेति विग्रहः। वस्तुगत्या व्याप्तविषयत्वमुत व्याप्ततयाऽनवगम्यमानविषयत्वमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ नेति ❀। उपमेयः सदृशस्तस्यापि वस्तुतो नास्त्यव्याप्तत्वं प्रतिबद्धस्वसामग्र्या व्याप्तत्वादतस्तत्प्रमाकरणमुपमानमेतल्लक्षणं न व्याप्नुयादित्यसिद्धिरित्यर्थः। द्वितीयं शंकते ❀ व्याप्तेति ❀। व्याप्ततयाऽनवगम्यमानस्यानुसन्धानस्योपमानत्वमिति विवक्षितं तेन नातिव्याप्तिः व्यवहार्यतानुमित्युत्पादकस्य तेन व्याप्तत्वावगमान्नाप्यसिद्धिरुपमेयस्य वस्तुगत्या स्वसामग्र्या व्याप्तत्वेऽपि व्याप्तत्वानवगमादित्याशयः। अत्रेदं वाच्यं येन केनापि व्याप्ततयाऽनवगतमुतोपमेयेन किं वाऽनुमेयेनेति न तावदाद्य इत्याह ❀ इति च कृत इति ❀। विशेषण इति शेषः। यत्प्रति—स्वकारणादि प्रति तदनुसन्धानं तेन सह व्याप्ततयाऽवगतमिदं लक्षणं न व्याप्नुयाद्व्याप्ततयाऽनवगतेति विशेषणाभावाद्भवति च कदाचित् कार्यं सकारणमिति व्याप्तत्वावगमोऽनुसन्धानस्येत्यव्याप्तिरित्यर्थः। तदव्याप्तिर्न दोषायेष्यत आह ❀ उपमितिकरणमपीति ❀। उपमेयेन सह व्याप्ततयाऽनवगतमनुसन्धानमुपमानमिति

लाघवमूलक तर्क का अनुसन्धान न होने के कारण 'गोसदृशो गवयः'—ऐसा वाक्य सुन कर जो 'गोसादृश्यमेव गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तम्'—इस प्रकार का अप्रमा बोध हो जाता है, उसके करण में उपमानत्वापत्ति होती है। यदि 'प्रमाफलकं सादृश्यज्ञानमुपमानम्—ऐसा कहा जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि (१) प्रमामात्रफलक अनुसन्धान विवक्षित है? [2]या व्याप्तयविषयकप्रमाफलक? अथवा [3]संज्ञासंज्ञि-सम्बन्धविषयकप्रमाफलक? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि अनुसंहित (परामृष्ट) गोसदृश पिण्ड में जो व्यवहार्यता की अनुमिति होती है—'विमतो गवयतया व्यवहर्त्तव्यः गोसादृश्याधारत्वात्', उसका जनक अनुसन्धान उपमान नहीं, लिङ्ग के अन्तर्गत माना जाता है, फिर भी उपमान का उक्त लक्षण उसमें अतिव्याप्त होता है। द्वितीय कल्प के अनुसार यदि उक्त अनुसन्धान का व्याप्तविषयक (व्याप्तिविशिष्टहेत्वविषयक) विशेषण दिया जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि क्या वस्तुगत्या अव्याप्तविषयकत्व अभिप्रेत है? अथवा व्याप्यतयानवगम्यमानविषयकत्व? प्रथम कल्प के अनुसार असम्भव दोष हो जाता है, क्योंकि गवयादिरूप उपमेय पदार्थ भी वस्तुगत्या अव्याप्त नहीं, अपनी जनक सामग्री से व्याप्त ही होते हैं। द्वितीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि क्या

व्यनुमाने प्रसङ्गस्तदवस्थः। अनुमेयेन सहेति कृते च तदनपायाद्व्याप्तिस्तदवस्थैव। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रमितिकरणमिति चेन्न, तथात्वासिद्धेः, अर्थापत्त्यादितस्तत्सिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वात्।

अननुमितिजनकं तादृक् प्रतिसन्धानमुपमानमिति चेन्न, तज्जातीयस्यानुमितिजनकत्वात्। व्यक्त्यपेक्षायाञ्च जनकत्वस्य सामान्याकारपर्यवसायिनो नित्यं व्यक्ताव-

---

द्वितीयकल्पे नास्त्यव्याप्तिस्तस्यानुमेयेनैव सह व्याप्तत्वावगमादित्याशङ्क्याह ❀ उपेति ❀। व्यवहार्यतानुमित्युत्पादकं यदनुसन्धानं तदुपमेयेन संज्ञासंज्ञिसम्बन्धेन व्याप्ततयाऽनवगतं किं त्वनुमेयेनैवेति तत्रातिव्याप्तिस्तदवस्थेत्यर्थः। तर्ह्यनुमेयेन सह व्याप्तत्वानवगतमिति तृतीयोऽस्तु तत्र समनन्तरोक्त्याऽतिव्याप्त्यभावादित्यत आह ❀ यदिति ❀। यत्प्रति लिङ्गन्तेन स्वकारणादिना व्याप्तत्वावगमस्यानपायात्प्रागुक्ताव्याप्तिरित्यर्थः।

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रमाकरणमुक्तानुसन्धानमिति प्राक्तनकल्पेषु परिशिष्टकल्पं शङ्कते ❀ संज्ञेति ❀। असिद्ध्यैतद् दूषयति ❀ नेति ❀। तथात्वासिद्धेः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रमितिकरणत्वासिद्धेरित्यर्थः। सम्बन्धप्रमितिदृश्यत्वे तस्याश्च करणापेक्षायामुक्तानुसन्धानं तथात्वेन सम्बध्यते इति नासिद्धिरित्यत आह ❀ अर्थेति ❀। अनवगतसङ्गतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थानुसन्धानं प्रमाफलकमनुमित्यजनकमिति विवक्षितत्वान्नैकोऽपि दोष इति शङ्कते ❀ अनन्विति ❀। अननुमितिजनकमिति किमनुमितिजनकजातीयेतरत्वं विवक्षितमुतानुमितिजनकव्यक्तीतरत्वमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ नेति ❀। उक्तानुसन्धानजातीयस्य व्यवहार्यतानुमितिजनकत्वस्य दर्शितत्वादसिद्धिरित्यर्थः। यदि द्वितीयस्तत्राह ❀ व्यक्तीति ❀। व्यक्त्य-

---

(१) येन केनचिद्व्याप्यतया अनवगत होना चाहिए? या (२) उपमेयेन व्याप्यतया अनवगत? अथवा (३) अनुमेयेन व्याप्यतया अनवगत होना अभीष्ट है? प्रथम कल्प के अनुसार जब उपमिति-करण अपने किसी व्यापक से व्याप्ततया अवगत है, तब उसमें उपमान का लक्षण न घट सकेगा। उपमेय के साथ व्याप्तत्वेन अनवगतत्व मानने पर कथित व्यवहार्यता-साधक अनुमान में अतिप्रसङ्ग बना रहता है। अनुमेय पदार्थ के द्वारा व्याप्तत्वेन अनवगत मानने पर भी उस उपमान में लक्षण की अव्याप्ति बनी रहती है, जो अपने किसी व्यापक से व्याप्तत्वेन अवगत है।

यदि उक्त अनुसन्धान का अर्थ किया जाता है—'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रमितिकरणम्।' तब असम्भव है, क्योंकि 'सोऽयं गोसदृशो गवयः'—इस प्रकार का अनुसन्धान किसी प्रकार के संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध की प्रमिति का करण अभिधा वृत्ति से प्रतीत नहीं होता, संज्ञा और संज्ञी के वाच्य-वाचकभावरूप सम्बन्ध की सिद्धि अर्थापत्ति या अनुमान के द्वारा होती है—यह आगे कहा जायगा।

शङ्का—'अनुमित्यजनकं प्रमाफलकम् अनवगतसङ्गतिकसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थानुसन्धानमुपमानम्'—ऐसा लक्षण विवक्षित है, अतः अनुमित्यादि-जनक अनुसन्धान में अतिप्रसङ्ग नहीं होता।

समाधान—अनुसन्धान का जो अनुमितिजनकानुसन्धानभिन्नत्व' विशेषण लगाया गया है, उस का तात्पर्य क्या (१) अनुमितिजनकानुसन्धानजातीयार्थभिन्नत्व में है? अथवा (२) अनुमितिजनकानुसन्धानव्यक्तिभिन्नत्व में? प्रथम पक्ष में असम्भव दोष है, क्योंकि उक्त (स एवायं गोसदृशो गवयः) अनुसन्धान के सजातीय अनुसन्धान में व्यवहार्यताविषयक अनुमिति की जनकता दिखाई जा चुकी है। द्वितीय पक्ष भी असम्भव-ग्रस्त है, क्योंकि जन्य-जनकभाव अन्वय-व्यतिरेक-सापेक्ष है, अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण किसी व्यक्ति में न होकर नित्य सामान्याकार-पर्यवसायी होता है। एवं व्यक्ति-निवेश-पक्ष में अननुगम दोष आ जाने

सम्भावितत्तया अननुगमेन चायुक्तत्वादिति ।

किञ्च—गोसादृश्यं विहाय गवयत्वजातौ गवयशब्दार्थताप्रतीतिः कल्पनालाघवाख्यं तर्कमपास्य न स्यादिति तदुपन्यासस्थितौ किमानुमानिक्येव तत्र गवयत्वस्य गवयपदवाच्यताप्रमितिरियं नेष्यते ? सम्भवति हि प्रयोगः—विमतिपदं गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तथात्वे तर्केणविषयीक्रियमाणविपर्ययकत्वात् , न यदेवं न तदेवं यथा गोत्वम् , तथा चेदम् , ततस्तथे'ति । न ह्यस्ति सम्भवो मूलशैथिल्यादिदोषविर-

पेक्षायां च जनकत्वस्यायुक्तत्वादिति सम्बन्धः । तत्र हेतुर्नित्यमिति तत्रापि हेतुः सामान्येति । नियतप्राक् सत्त्वं जनकत्वं नियतत्वं चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सामान्योपाधौ ग्राह्यमिति व्यक्तौ न सम्भवतीति कथिताव्याप्तिरेवेत्यर्थः । दोषान्तरमाह ॐ अननुगमेति ॐ । यद्वा जनकत्वस्य व्यक्त्यपेक्षायां लक्षणस्यायुक्तत्वादिति सम्बन्धस्तदुपपादनाय सामान्येत्यादि जनकत्वं च सामान्यगतमेवेति लक्षणासिद्धिरव्याप्तिश्चेत्यर्थः ।

पूर्वं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रमितिरुपमानफलमित्यूरीकृत्य तल्लक्षणं निरासि, सम्प्रति सम्बन्धप्रमितिरुपमानफलमेव नेत्यभिसन्धायाह ॐ किं चेति ॐ । गवयत्वजातौ गोसादृश्यं विहाय गवयशब्दार्थताप्रतीतिर्लाघवाख्यं तर्कमपास्य न स्यादिति तदुपन्यासस्थितौ गवयत्वस्य गवयपदवाच्यताप्रतीतिरानुमानिक्येव किं नेष्यते इति सम्बन्धः । अयं च लाघवतर्कः यदि गोसादृश्यं गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तं तदा तद्विशेषणतया गोरपि तन्निमितत्वं स्यादिति शक्तिकल्पनागौरवं तच्चायुक्तं निर्विशेषणे गवयत्वे तन्निमित्ते सम्भवतीति तर्कस्यावश्यकत्वे तत्प्रतीतिर्यौक्तिकी स्यान्न त्वानुमानिकी तत्कारणलिङ्गाभावादित्यत आह ॐ सम्भवतीति ॐ । प्रयोगं रचयति ॐ विमतीति ॐ । विमतिपदं—विप्रतिपत्तिविषयं गवयत्वं गवयशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तं तथात्वे गवयत्वस्य गवयपदप्रवृत्तिनिमितत्वे लाघवाख्यतर्केण विषयीक्रियमाणो बोध्यमानः सादृश्यादेर्निमित्तान्तरस्य विपर्ययोऽभावो यस्य स तत्तथोक्तं तद्भावस्तत्त्वं तस्यादित्यर्थः । न यदेवं गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तं भवति तदेवं न तथात्वे तर्केण विषयीक्रियमाणविपर्ययकं न भवतीति व्यतिरेकव्याप्त्यभिधानम् । यथा ..त्वमिति व्यतिरेकदृष्टान्तस्तथाचेदं इदं च गवयत्वं तथा तथात्वे तर्केण विषयीक्रियमाणविपर्ययकमित्युपनयः ⁻तस्था तत उक्तहेतोस्तथा उक्तसाध्यमिति निगमनम् । विमतिपदं निमित्तमित्युक्ते स्वज्ञाननिमित्तमिति सिद्धसाधनं तद्व्यावृत्त्यर्थमाह ॐ शब्देति ॐ । बाधपरिहारार्थं गवयेति विशेषणम् । विषयीक्रियमाणविपर्ययकत्वादित्युक्ते प्रमाणेन विषयीक्रियमाणविपर्ययकत्वं नास्तीत्यसिद्धिस्तत्परिहाराय तर्केति विशेषणम् । अस्तूक्तसाधनं मास्तूक्तसाध्यं च तथा विपक्षबाधकाभावादप्रयोजक-

के कारण लक्षण अयुक्त हो जाता है ।

दूसरी बात यह भी है कि जो 'गवय' शब्द की प्रवृत्ति-निमित्तता गोसादृश्य में न मानकर 'गवयत्व' जाति में मानी जाती है, वह लाघवाख्य तर्क की सहायता के विना सम्भव नहीं । गोसादृश्य पदार्थ अनेक और गवयत्व जाति एक है, अतः गवयत्व को शक्यतावच्छेदक मानने में लाघव है । लाघवाख्य तर्क का उपन्यास जब आवश्यक है, तब उसे संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध-विषयिणी उपमिति का सहायक न मानकर तद्विषयक अनुमिति का सहायक ही मानलेना अधिक न्यायोचित है, क्योंकि अनुमान का प्रामाण्य एवं उपकारित्व क्लृप्त और उपमान की पृथक् प्रमाणता विचाराधीन एवं उपकारिता कल्पनीय है । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धावेदक न्याय-प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है—'विमतं (गवयत्वम्) गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तम्, तर्केणातथात्वेनाविषयीक्रियमाणत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा गोसादृश्यम्' [जैसे गोसादृश्य में 'गवय' पद की प्रवृत्ति-निमित्तता का व्यतिरेक तर्क के द्वारा अवगमित होता है—'यदि गवयत्वमपहाय गोसादृश्यं गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तं स्याद् गौरवं स्यात्, तस्माद् गोसादृश्यं न गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तम्', वैसे गवयत्व में 'गवय' पद की प्रवृत्ति-निमित्तता का व्यतिरेक सूचित नहीं होता] । ऐसा कभी सम्भव नहीं कि जिस धर्म के लिए गवय पद की प्रवृत्ति-निमित्तता का

हिततर्कनिवेदितविपर्ययश्चार्थो न च तथेति ।

अथवा गवयपदमसम्भवत्प्रवृत्तिनिमित्तान्तरमनुपपद्यमानाप्तोक्तगोसादृश्य-सामानाधिकरण्यमर्थाद् गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकतामाक्षिपतीत्यर्थापत्तिरेवात्र प्रमाण-मस्तु । सा च त्वया व्यतिरेकीकृत्य परेण पृथगेवावश्यं प्रमाणनीयेति ।

तत्यत आह ॐ न हीति ॐ । मूलशैथिल्यं व्याप्तिहीनत्वमादिपदेन विपर्ययापर्यवसानानिष्टापादनाश्रयहीनत्वा-दीनि गृह्यन्ते । सत्तर्कनिवेदितनिमित्तान्तराभावोऽपि स्वयन्तत्प्रवृत्तिनिमित्तं न भवतीति न सम्भवोऽस्ति एवपदस्य निरालम्बनत्वापातादित्यर्थः । एवमर्थापत्त्यादित इत्यत्रोक्तादिपदार्थमुक्त्वार्थापत्तिमिदानी-माह ॐ अथवेति ॐ । गवयपदमर्थादात्मनो गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्ततामाक्षिपतीत्यर्थः । अनुपपत्तिमूलमाह ॐ अनुपपद्यमानेति ॐ । अनाप्तप्रयुक्तपदसामानाधिकरण्यं निरर्थकत्वेनापि सम्भवति इदं त्वाप्तोक्तपद-सामानाधिकरण्यमतो भवितव्यमवश्यं प्रवृत्तिनिमित्तेनेत्यर्थानुपपत्तिः सादृश्यमेव निमित्तमित्यन्यथानुपपत्ति-र्नेत्याह ॐअसम्भवदितिॐ । नन्वत्र सामानाधिकरण्यं शाब्दमनुपपन्नमित्युच्यते किं वाऽऽर्थम् ? न तावदाद्यो-व्योम पुष्पमितिवदुपपत्तेर्नापि क्रियाकाररूपार्थसामानाधिकरण्यानुपपत्तिर्वर्त्तते गावः सुशेरत इतिवदु-पपत्तेरिति मैवम्, प्रामाणिकार्थिकसामानाधिकरण्यस्यानुपपद्यमानत्वस्य विवक्षितत्वादिति अर्थावत्तिर्नाम प्रमाणमेव नास्ति तत्कथं सा तत्र प्रमाणं भवेत्तत्राह ॐ सेति ॐ । नैयायिकेनार्थापत्ति व्यतिरेकानुमानेऽ-न्तर्भाव्य प्रमाणनीया प्रमाणीकर्त्तव्या व्याप्तिमूलत्वेनाभेदाङ्गीकारात्परेण मीमांसकेन पृथगेव वा प्रमाणी-कर्त्तव्या षट् पञ्च वा प्रमाणानीति जैमिनीयैरङ्गीकारादित्यर्थः । तस्मात्प्रसिद्धपदसमभिव्याहारजनिताया अन्यथानुपपत्तेरेव सम्बन्धप्रमितिमूलत्वान्नोपमानं नाम प्रमाणं किंचित्पश्याम इति ।

व्यतिरेक सुदृढ़मूलक तर्क के द्वारा आवेदित हो, वह 'गवय' पद का अप्रवृत्ति-निमित्त न माना जाय, जैसे गोसादृश्य ।

अथवा अर्थापत्ति के द्वारा गवयत्व में गवयपदप्रवृत्ति-निमित्तता पर्यवसित होती है, क्योंकि आप्त पुरुष के द्वारा कहा गया है—'गोसदृशो गवयः' अर्थात् गोसादृश्य उसी धर्मी में रहता है, जिसमें गवयत्व रहता है–इस प्रकार गोसादृश्य और गवयत्व का सामानाधिकरण्य सूचित किया गया । गोसादृश्य में गौरवापत्ति के कारण 'गवय' पद की प्रवृत्ति-निमित्तता सम्भव नहीं, यदि 'गवयत्व' भी 'गवय' पद का प्रवृत्ति-निमित्त न माना जाय, तब 'गोसदृशो' गवयः'—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य-व्यपदेश उपपन्न नहीं होता—इस प्रकार अन्यथानुपपत्ति के द्वारा गवयत्व में 'गवय' पद की प्रवृत्ति-निमित्तता स्थिर होती है । इस अन्यथानुपपत्ति या अर्थापत्ति को (आप नैयायिक) व्यतिरेकी अनुमान और अन्य दार्शनिक (मीमांसकगण) एक पृथक् प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करते आए हैं । [इस प्रकार श्री उदयनाचार्य ने लक्षणमाला (पृ० १७) में जो "अकृतसमयसंज्ञास्मरणसहायं तत्समभिव्याहृतवाक्यार्थप्रत्यभिज्ञानप्रत्यक्ष-मुपमानम्"—ऐसा उपमान प्रमाण का लक्षण करके उसका फल बताया है—"अस्य फलं समयपरिच्छित्तिः" । वह सब असंगत होकर रह जाता है, क्योंकि जब समय-परिच्छित्ति (संज्ञासंज्ञिसम्बन्धसम्यक्परिच्छित्तिरूप प्रमा अन्य प्रमाणों से ही सिद्ध हो जाती है, तब उसके लिए पृथक् उपमान प्रमाण के स्थापन की आवश्यकता नहीं रह जाती] ।

३४. शब्दलक्षणखण्डनम्

शब्दोऽपि क उच्यते ?

आप्तवाक्यं हि शब्दः प्रमाणमिति न युक्तम्, विकल्पानुपपत्तेः। तथा हि—कोऽयमाप्तो नाम ? यथादृष्टवादीति चेन्न, भ्रान्तिप्रतिपन्नवादिवाक्येऽपि प्रसङ्गात्। प्रमाणदृष्टेति विशेषणे च तथाभूतस्यान्यथावादव्यापनात्। यथाप्रमाणेति करणे चांशे

अभ्युदयनिःश्रेयसहेतोः शब्दप्रमाणस्य स्वीकारवदुपमानमपि किं न स्वीक्रियत इत्याशङ्क्य सोऽप्यविचारितरमणीय एव न वस्तुतस्तल्लक्षणाभावादित्याह ॐ शब्दोऽपीति ॐ। किमाप्तवाक्यं शब्दः प्रमाणभूत निर्दोषस्य वाक्यमाहोस्विद्यथार्थवाक्यमिति विकल्पाभिप्रायः। विकल्पक्रमेण प्रथमकल्पं प्रथममपाकरोति ॐ आप्तेति ॐ। वाक्यमित्युक्ते कराग्रे करिवृन्दमास्त इत्यनाप्तवाक्येऽतिव्याप्तिस्तन्निरासायाह ॐ आप्तेति ॐ। प्रणेतृतीव्रशक्तिनिवारणाय वाक्यग्रहणम्। वर्णात्मकशब्दमात्रस्य नेदं लक्षणं किन्तु प्रमाणभूतवाक्यस्येति द्योतनाय प्रमाणग्रहणम। हिशब्दः प्रसिद्धौ। कुत इत्यत आह ॐ विकल्पेति ॐ।

अनुपपत्तिप्रकटनाय विकल्पयति ॐ तथा हीति ॐ। यथादृष्टार्थवाद्याप्तः ? उत प्रमाणदृष्टार्थवादी ? किं वा यथाप्रमाणदृष्टवादीति ? विकल्पार्थः। प्रथमं कल्पं शङ्कते ॐ यथेति ॐ। विप्रलम्भकनिरासाय यथेति विशेषणम्। अतिव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ। देहात्मनोरैक्यं भ्रान्त्या प्रतिपद्य यो वक्ति देह एवात्मेति सोऽप्याप्तः स्यात् तद्वाक्यं चाप्तवाक्यतया प्रमाणं स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि द्वितीयस्तत्र कथितातिव्याप्तेरभावात्प्रमाणप्रतिपन्नत्वविशेषणाभावादित्यत आह ॐ प्रमाणेति ॐ। तथाभूतस्य प्रमाणदृष्टस्य साङ्ख्यादीनामिन्द्रियभौतिकत्वस्यान्यथावादः प्राकृतानीति तद्व्यापनादतिव्याप्ति प्रमाणेनार्थमुपलभ्य तस्यैवान्यथात्वं यो वक्ति स आप्तः तद्वाक्यं च प्रमाणं स्यादित्यर्थः। तृतीयं शङ्कते ॐ यथेतिॐ। येन प्रकारेण प्रमाणतोऽर्थो दृष्टस्तस्य तथावाद्याप्त इति विवक्षितत्वान्न पूर्वयोरतिव्याप्तिर्यथाप्रमाणेति विशेषणयोरभावादित्यर्थः। यथाप्रमाणेति कोऽर्थः प्रमाणदृष्टमपि वक्तीति किं वा यत्प्रमितं तदेव वक्ति किं वा यावत्प्रमाणदृष्टं तदेव वक्तीति ? नाद्य इत्याह ॐ अंश इति ॐ। ते ग्रावाणः प्लवन्त इति यो वक्ति

---

३५. शब्द प्रमाण के लक्षण का खण्डन

शब्द प्रमाण का भी क्या लक्षण किया जाता है ? क्या (१) आप्तवाक्यं शब्दप्रमाणम् ? या (२) निर्दोषवाक्यम् ? अथवा (३) यथार्थवाक्यम् ?

(१) आप्तवाक्यं शब्दः प्रमाणम्—

शङ्का—[न्यायसूत्रकार ने कहा है—"आप्तोपदेशः शब्दः" (न्या. सू. १।१।७)। भाष्यकार 'आप्तता' की परिभाषा करते हैं—"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः उपदेष्टा" (न्या. भा. पृ. २६५)। यद्यपि स्वर्ग, अदृष्ट और देवतादि का साक्षात्करण साधारण व्यक्तियों को नहीं होता, तथापि सर्वज्ञ ईश्वर को तो होता ही है—"न ब्रूमोऽस्मदादीनां प्रत्यक्षाः स्वर्गादयः, अपितु यस्य प्रत्यक्षाः, तस्योपदेशः" (न्या. वा. पृ. ३८५)]।

समाधान—लक्षण-घटक 'आप्त' पद का क्या अर्थ विवक्षित है ? क्या (१) यथादृष्टार्थवादी ? या (२) प्रमाणदृष्टार्थवादी ? या (३) यथा प्रमाणदृष्टार्थवादी ? प्रथम कल्प (यथादृष्टार्थवादी) का इतना ही अर्थ है कि जैसा देखा, वैसा ही कहनेवाला आप्त होता है। वह तो उस भ्रान्त वक्ता में भी अतिप्रसक्त है, जो भ्रान्ति के द्वारा अवगत रजतादि का उपदेष्टा है—'इदं रजतम्'। द्वितीय कल्प उस प्रतारक पुरुष में भी अतिव्याप्त होता है, जो प्रमाण के द्वारा शुक्ति देख कर अन्यथावादी है—इदं रजतम्। तृतीय कल्प भी आंशिक अन्यथावादी में अतिव्याप्त होता है—'इदं चाकचिक्य-युक्तं रजतम्'। यहाँ 'इदं चाकचिक्ययुक्तम्'—इस

तथाभूतवादिवाक्यस्यायथार्थस्यापि व्यापनात् ।

यावद्यथाप्रमाणदृष्टनिरुक्तौ च प्रायेणातथाभूतत्वादेव लक्ष्याणां तदव्याप्तेः । नहि यावत्प्रमितं तावदभिधीयते । यथाप्रमितस्यैव च वक्तुर्वाक्यमिति व्याकारे च युधिष्ठिरवाक्यस्यापि अनेवम्भूतत्वेनाव्याप्त्यापत्तेः । तत्र विषय इति विशेषणे च विशेषरूपस्य विषयस्यासाधारण्येन अव्यापकत्वापातात् ।

अथ निर्दोषस्य वाक्यं तथेति चेन्न, सदोषस्य 'नास्ति घटः' इत्यभिधित्सतः

स आप्तः स्यात्तद्वाक्यं प्रमाणं स्यात्ते ग्रावाण इत्यंशे तथाभूतत्वात् प्लवन्त इत्यंशे चातथाभूतत्वात्तस्मिन्नप्यंशे प्रमात्वमिति संसृष्टार्थ एव प्रामाणिकः स्यादित्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते ❀ यावदिति ❀ । निरुक्तौ नातिव्याप्तिरिति शेषः । यावदिति विशेषणाभावादित्यभिसन्धिः । दूषयति ❀ प्रायेणेति ❀ । लक्ष्याणामाप्तानां चातथाभूतत्वात्प्रमाणदृष्टस्य कात्स्न्र्येनावक्तृत्वादसिद्धिरित्यर्थः । तदुपपादयति ❀ नहीति ❀ । अस्तु तर्हि तृतीयो यथा प्रमितस्यैव वक्ताऽऽप्त इति नैवमसिद्धिः प्रमितस्यैव वक्तृत्वान्नाप्यतिव्याप्तिः प्रमितस्यैवेति विशेषणाभावादन्यत्रेत्यत आह ❀ यथेति ❀ । आप्तवाक्यमिति लक्षणस्य यथा प्रमितस्यैव वक्तुर्वाक्यमिति व्याकारे व्याख्याने युधिष्ठिरवाक्यस्याव्याप्तेरिति सम्बन्धस्तत्र च हेतुः ❀ अनेवमिति ❀ । युधिष्ठिरः खलु सर्वलोके सत्यत्वेन प्रसिद्धस्तस्यापि क्वचिदनृतवादित्वं भारते स्मर्यते अतोऽव्याप्तिरित्याशयः । यथा प्रमितस्यैव वक्ता तत्र विषये आप्तस्तद्वाक्यं च तत्र प्रमाणमिति विशेष्यते ततो युधिष्ठिरस्यानेवम्भूतविषये नाप्तत्वं न तद्वाक्यं च प्रमाणमित्यत आह ❀ तत्रेति ❀ । विशेषणे च व्यापकत्वापाताविति सम्बन्धस्तत्र हेतुर्विशेषेत्यादि । विषयविशेषस्यापि लक्षणान्तर्भावात्तस्य च व्यावृत्त्या तद्विशिष्टलक्षणाव्याप्तिरित्यर्थः । एतेन समयबलेन सम्यक् परीक्षानुभवसाधनमागमः स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थभेदात्तत्र दृष्टार्थानां तु वाक्यानां प्रायेण प्रवृत्तिसामर्थ्यात्प्रामाण्यं गम्यते अदृष्टानां तु पुनराप्तोक्तत्वेनेति यदुक्तं भूषणकृता तदपि निरस्तमाप्तानिरुक्तौ तत्प्रामाण्यानिरुक्तेः । किं च परोक्षेति विशेषणं व्यर्थं व्यवच्छेद्याभावात्सम्यक्त्वानुभवत्वसाधनत्वानि च खण्डितानीत्येषा दिक् ।

द्वितीयं कल्पं शंकते । ❀ अथेति ❀ । दोषा अज्ञानसंशयविपर्ययरागद्वेषादयस्तद्धीनो निर्दोषस्तद्वाक्यमागम इत्यर्थः । दैवागतविज्ञाने अव्यापकमिदमिति दूषयति ❀ नेति ❀ । वस्तुतः भूतलमधितिष्ठत्यपि

अंश में तथाभूतत्व होने पर भी 'रजतम्'—इस अंश में अतथाभूतार्थवादी होने से वह आप्त नहीं माना जाता । यदि यथादृष्टार्थमात्रवादी आप्त माना जाता है, तब भी अव्याप्ति दोष बना रहता है, क्योंकि आप्त-लक्षण के लक्ष्यभूत प्रायः सभी पुरुष यथाप्रमितार्थमात्रवादी नहीं होते । 'यथाप्रमितस्यैव वक्तुर्वाक्यम्'—ऐसी विवक्षा होने पर युधिष्ठिर के समान सत्यवादी आप्त पुरुष का वाक्य भी वैसा न माना जा सकेगा, [क्योंकि युधिष्ठिर को भली प्रकार यह ज्ञात था कि द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा नहीं मारा गया, फिर भी मालव-नरेश इन्द्रवर्मा के अश्वत्थामा-नामक हस्ती का जो भीम ने बध कर दिया था, उसके आधार पर कह दिया—'अश्वत्थामा हतः' । उसको प्रमाणभूत मान कर द्रोणाचार्य ने निश्चय कर लिया कि उनका पुत्र अश्वत्था मारा गया और अचेत हो गए, उसी अचेत अवस्था में अर्जुन ने उनका शिर काट डाला] । 'यथाप्रमितस्यैव वक्ता यस्मिन् विषये आप्तः, तद्वाक्यं तत्र विषये प्रमाणम्'—ऐसा विषय-विशेष से नियन्त्रित लक्षण करने पर भी अव्यापकता बनी रहती है, क्योंकि एक विषय का वाक्य दूसरे विषय में प्रमाण नहीं हो सकता ।

(२) निर्दोषस्य वाक्यं शब्दप्रमाणम्—

शङ्का – [पंचम साङ्ख्यकारिका की व्याख्या में श्री माठराचार्य कहते हैं—

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।
क्षीणदोषोऽनृतवाक्यं न ब्रूयाद् हेत्वसम्भवात् ।।

'अस्ति घटः' इति दैवान्निर्गतयथार्थवाक्याव्याप्तेः । तत्प्रमाणं न भवत्येवेति चेन्न, पूर्वमुक्तोत्तरत्वात् । प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यावधारणसम्भवादापाततः सन्देहेऽप्यदोषात् । सामान्यतो निर्दोषत्वस्य भीमाग्रजेऽप्यभावात्, विशेषतस्तथात्वस्य असाधारण्यपर्यवसायित्वात् ।

यथार्थवाक्यं शब्दः प्रमाणमित्यत्र को दोष इति चेन्न, पूर्वोक्तयाथार्थ्यदूषणानि

यदे आशयदोषान्नास्ति घट इत्यभिधातुमिच्छति तस्य दैववशादस्तीति मुखाद्वाक्यं निर्गच्छति तद्वाक्यं प्रमाणमप्रमाणं वाऽऽद्येऽव्याप्तिः तत्प्रयोक्तुः सदोषत्वेन निर्दोषविशेषणाभावादित्यर्थः । द्वितीयं शंकते ॐ तदिति ॐ । आशयदोषदुष्टपुरुषप्रयुक्तवाक्यत्वाद् बुद्धादिवाक्यवदप्रमाणमिति नाव्याप्तिरित्यर्थः । उक्तं संस्मर्त्तुमर्हसीति परिहरति ॐ नेति ॐ । प्रमाणलक्षणगतविशेषणेन वा व्यवच्छेद्यं परिगणितप्रमाराशिष्वेव वाऽन्तर्भावनीयमिति प्रमाखण्डन उक्तमित्यर्थः । किञ्च अबाधितस्वसमानविषयप्रवृत्तिजननसमर्थत्वात्तज्ज्ञानं प्रमा तत्करणं च प्रमाणमिति निश्चेतुं शक्यते स्मरणविलक्षणज्ञानस्य तथात्वाव्यभिचारादित्यभिप्रेत्याह ॐ प्रवृत्तीति ॐ । दुष्टपुरुषप्रयुक्तवाक्यान्तरेऽप्रामाण्यस्य निश्चितत्वादिदमपि किं प्रमाणमप्रमाणं वेति सन्देहो जायतेऽतः संशयजनकत्वेनाप्रमाणमित्यत आह ॐ आपातेति ॐ । सम्वादात्प्रामाण्यमुपगच्छतः प्रवृत्तिसंवादेन पश्चात्प्रामाण्यनिश्चयसम्भवादित्यर्थः । किंच निर्दोषेति सकलदोषरहितत्वं विवक्षितमुत यत्किञ्चिद्दोषरहितत्वमाद्येऽसंभवो युधिष्ठिरस्य सकललोकाभिमतस्यापि किंचिद्दोषदर्शनात् किमितरेषां सूक्ष्मापराधबाहुल्यमित्यभिप्रेत्याह ॐ सामान्येति ॐ । द्वितीयं प्रत्याह ॐ विशेषेति ॐ । दोषविशेषाभावस्य व्यावृत्तत्वेन लक्षणाननुगम इत्यर्थः । एतेन च निर्दोषत्वमशक्यावधारणं न पुंसां विषयभेदेषु विपर्ययबाधकावधारणादर्शनात् दृश्यते खलु म्लेच्छानामप्यपहृतसर्वस्वानां मार्गमुपदिशतां तद्गोचराप्तत्वावधारणं लोके तत्रैव पटुतराभ्यासानामविभ्रमत्वाद्विप्रलम्भकत्वासम्भवाच्च सर्वस्वस्य स्वीकृतत्वाच्छरीरस्य वाऽनुपयोगित्वादुपयोगे वा परित्यागानुपपत्तेर्यदा चैवं म्लेच्छानामप्याप्तत्वमवधार्यते किं पुनस्तदा महापुरुषाणां तदुपदेश्येषु विषयविशेषेष्विति च यदपि कश्चिद्विपश्चिदवोचत्तदपि निरस्तम् । विषयविशेषदोषाभावस्याव्यापकत्वात्सामान्यतो दुरवधारणत्वात् ।

तृतीयं कल्पमाशङ्कते ॐ यथेति ॐ । पदकृत्यं विशदम् । पूर्वमाप्तत्वानिरुक्त्या दूषणमुक्तमिदानी-

---

स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः ।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ।। (माठर. पृ. १२)

न्यायभूषण (पृ. ३८०), न्यायमञ्जरी (पृ. १५१) और न्यायवार्तिक की तात्पर्यटीका (पृ. ३६९) में वही माठर-वचन उद्धृत है। उसी के आधार पर सम्भवतः 'निर्दोषस्य वाक्यम्'—यह लक्षण माना गया प्रतीत होता है] ।

समाधान—जहाँ घट विद्यमान है, वहाँ कोई सदोष व्यक्ति 'घटो नास्ति'—ऐसा झूठ कहना चाहता था, किन्तु उसके मुख से अकस्मात् सत्य निकल जाता है—'घटोऽस्ति'। वह वाक्य अबाधितार्थक होने पर भी निर्दोष व्यक्ति (आप्त) के द्वारा उच्चारित नहीं, अतः उसमें उक्त आगम-लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है। यदि उसे प्रमाण ही नहीं माना जाता, तब या तो उसकी प्रमाण-लक्षण में गृहीत किसी विशेषण के द्वारा व्यावृत्ति करनी होगी या उसे परिगणित प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण मानना होगा। उस वाक्य के द्वारा जनित प्रवृत्ति की सफलता के द्वारा उसके प्रामाण्य का निश्चय किया जा सकता है। आपाततः उस वाक्य की प्रामाणिकता में सन्देह होने पर भी सफल प्रवृत्ति के द्वारा सन्देह का प्रतीकार किया जा सकता है और उक्त अंश में पुरुष को निर्दोष माना जा सकता है। सर्वथा निर्दोषता का निश्चय तो भीम के बड़े भाई (युधिष्ठिर) में भी करना सम्भव नहीं। लक्षण में यत्तदादि पदों का प्रवेश करने पर अननुगमत्व दोष प्रसक्त हो जाता है।

तावत्प्रथमः । यथार्थमिति विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वाव्यवच्छेदकत्वयोः पूर्ववद्दोषश्च द्वितीयः । वाक्यत्वानिरुक्तिश्च तृतीयः । तथाहि—किमिदं वाक्यं नाम ? एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायो वाक्यमिति चेन्न, एकत्वविषयत्वावच्छिन्नत्वानां वाच्यानि

माप्तपदस्थाने यथार्थपदोपादाने को दोषो वक्तुं शक्यते इति पृच्छाम इति पृष्टः सिद्धान्त्याह ॐ पूर्वेति ॐ । यथार्थाऽनुभवः प्रमेत्यत्र किमिदं यथार्थत्वमर्थसादृश्यमबाधितार्थत्वं वेति विकल्पोक्तानि दूषणानि तावदेको दोष इत्यर्थः । बहूनामपि दोष इत्येकवचनं वेदाः प्रमाणमितिवदविरुद्धम् । दोषान्तरं दर्शयति ॐ यथार्थमिति ॐ । यथार्थविशेषणस्याभासव्यवच्छेदकत्वे दंवान्निर्गतवाक्यव्यवच्छेदकत्वं वाच्यं तन्न सम्भवति तथांशतो यथार्थवाक्यवच्छेदकत्वं वाऽशक्यं अव्यवच्छेदकत्वे विशेषणवैयर्थ्यमतिव्याप्तिश्चेति द्वितीयो दोष इत्यर्थः । विशेषणांशप्रयुक्तदोषमुक्त्वा विशेष्यांशप्रयुक्तं दर्शयति ॐ वाक्येति ॐ । प्रश्नवाक्यगतं दोषपदमुत्तरवाक्ये सर्वत्रानुषज्यते ।

वाक्यानिरुक्तिं दर्शयितुं वाक्यलक्षणं पृच्छति ॐ तथा हीति ॐ । वाक्यलक्षणं शंकते ॐएकेतिॐ । समुदायो वाक्यमित्युक्ते वर्णसमुदायवादेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासाय परेति विशेषणम् । कराग्रे करिवृन्दमास्त इत्यादिपदसमुदायेऽतिव्याप्तिस्तत्परिहाराय विशेषणमेकार्थेति । क्रियाकारकाविभावेन विशिष्ट एको अर्थस्तदवच्छिन्नपदसमुदायो वाक्यमिति नातिव्याप्तिरित्यर्थः । असम्भवेनैव तद् दूषयति ॐ नेति ॐ । एकत्वन्नाम सङ्ख्या किं वा द्वित्वादिविरहः ? आद्ये नित्यमीश्वरज्ञानं गुणः प्रमेति वाक्याव्याप्तिस्तदर्थस्य एकत्वसंख्या नास्ति गुणत्वात् । द्वितीये द्वित्वादिसंख्यावच्छिन्नपदार्थविषयगौरश्व। पुरुषो हस्तीत्यादिपदसमुदायेऽतिव्याप्तिः द्वित्वावच्छिन्नेऽपि तदन्योन्याभावस्य सम्भवादित्यर्थः । न चैतदपि वाक्यमेव तदाभासाभावप्रसङ्गादित्येकत्वस्य वाच्यं दूषणं वाक्यस्य विषयत्वमेवार्थावच्छिन्नत्वं तथात्वं विषयविषयिभावस्वरूपमुतातिरिक्तम् ? इति विकल्पादिदूषणं चतुर्थपरिच्छेदे भविष्यति । अवच्छिन्नत्वमपि विशेषणविशे-

(३) यथार्थवाक्यं शब्दः प्रमाणम् –

शङ्का—[श्री उदयनाचार्य ने शब्द की प्रमाणता का मूलान्वेषण करते हुए कहा है—"किं निबन्धनः तर्हि प्रमाणव्यवहारः शब्दे ? यन्निबन्धनश्चक्षुरादिषु । तत्रैव किंनिबन्धत इति चेत् ? इदं महापाण्डित्यं यत् सिद्धमातृकाणामप्यद्यापि सन्देहः । यथार्थानुभवजननिबन्धनो हि प्रमाणव्यवहारः सर्वत्रेति बालोऽप्याह ।" (ता. परि. पृ. ३८०) । जैसे अर्थाव्यभिचारी या यथार्थज्ञान को प्रमाण कहा जाता है, वैसे ही यथार्थ वाक्य को शब्द प्रमाण कहना अत्यन्त समुचित है], अतः यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि 'यथार्थवाक्यं शब्दः प्रमाणम्'—इस लक्षण में क्या दोष ?

समाधान—उक्त लक्षण में एक नहीं अनेक दोष हैं—(१) सर्वप्रथम तो वही दोषराशि यहाँ भी उद्भावित की जा सकती है, जो 'यथार्थानुभवः प्रमा'—इस सामान्य लक्षण का खण्डन करते हुए प्रदर्शित की गई है । (२) दूसरा वह दोष-समूह भी यहाँ प्राप्त होता है, जो 'यथार्थ'—इस विशेषण की व्यावर्तकता और अव्यावर्तकता का खण्डन करते समय दिखाया गया है और (३) तीसरा सबसे भयङ्कर दोष यह है कि वाक्यत्व का निर्वचन सम्भव नहीं। यदि सम्भव है, तब यह प्रश्न उठता है कि 'वाक्य किसे कहते हैं ?

(४) एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायो वाक्यम् –

शङ्का—[श्री मण्डन मिश्र वाक्य का लक्षण करते हैं—"क्रिया प्रधानमेकार्थं वाक्यम्" । उसकी व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"क्रियाप्रधानमेकार्थमेकप्रयोजनं वाक्यम्" (न्या. कणि. पृ. ४३३) । एवं अन्य लक्षणकारों ने भी एकार्थ-पर्यवसित पदों के समूह को वाक्य माना है] ।

समाधान—उक्त लक्षण के घटकीभूत एकत्व, विषयत्व और अवच्छिन्नत्वादि की

दूषणानि तावत्सन्तु, पदपदार्थं तु चिन्तयामः—

सुप्तिङन्तं पदमिति केचित् । वर्णा विभक्त्यन्ताः पदमित्यन्ये । तत्र नाद्यः, प्रत्येकं मिलितस्य चाव्यापकत्वात् । पृथक्प्रवृत्तिनिमित्ततायाश्च वाक्यलक्षणाव्यापकत्वापातात् । नापि द्वितीयः, विभक्त्यर्थस्यानुगतस्यासम्भवात् 'विभक्तिरि'त्यनेन

व्यतत्सम्बन्धत्वातिरिक्तोऽनतिरिक्तो वेति दूषणं तत्रैव वक्ष्यते तानि दूषणान्यस्मिल्लक्षणे सन्तीत्यर्थः । तावदिति प्राथम्योक्त्या दूषणान्तरं ध्वनितं दर्शयति ॐ पदेति ॐ । पदमित्येतस्य पदस्यार्थमित्यर्थः ।

पदनिरूपणाय तल्लक्षणमनुवदति ॐ सुबिति ॐ । सुबन्तमित्युक्ते तिङन्ताव्याप्तिस्तिङन्तमित्युक्ते सुबन्ताव्याप्तिरत उभयावरोधार्थमुभयग्रहणम् । केचित्पाणिनीयाः । लक्षणान्तरमाह ॐ वर्णेति ॐ । विभक्त्यन्ताः पदमित्युक्ते वाक्येऽप्यतिव्याप्तिस्तदर्थमाह ॐ वर्णा इति ॐ । तावत्युक्ते कखगघङ इत्यादिवर्णेष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं विभक्तिग्रहणम् । अपरः कालापादिरित्यर्थः । प्रथमलक्षणमपाकरोति ॐ तत्रेति ॐ । सुबन्तं तिङन्तं च प्रत्येकं लक्षणमुत मिलितमाद्ये सुबन्तस्य पदत्वे तिङन्ताव्याप्तिस्तिङन्तस्य पदत्वे सुबन्तस्यापदत्वप्रसङ्गः, उभयस्य मिलितस्य लक्षणत्वे सर्वाव्याप्तिरेकस्याप्युभयान्तत्वाभावादित्यर्थः । केषांचित्पदशब्दवाच्यत्वे सुबन्तत्वन्निमित्तं केषांचित्तिङन्तत्वं यथा गोशब्दवाच्यत्वं गवादीनां गोत्वादीन्यनेकानि नमित्तानीत्यत आह ॐ पृथगिति ॐ । पदार्थस्यानेकत्वेन पदस्याननुगमात्तत्समुदायो वाक्यलक्षणमप्यननुगतं स्यादित्यर्थः ।

द्वितीयलक्षणं दूषयति ॐ नापीति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ विभक्तीति ॐ । विभक्त्यर्थस्य व्यावृत्त्या तदन्तवर्णत्वमपि पदलक्षणं व्यावृत्तं स्यादित्यर्थः । कथं विभक्त्यर्थस्यानुगतस्यासम्भव इति तदुपपादयति ॐ विभक्तीति ॐ । विभक्तिश्चेत्यनेन प्रकृतयोः सुप्तिङोर्विभक्तिसंज्ञाभिधानात्प्राग्दिशोविभक्तिरित्यनेन सूत्रेण तसिलादेः प्रत्ययस्य पृथगेव संज्ञाविधानाद्विभक्तिपदार्थोऽनुगतो न लभ्यत इत्यर्थः । आदिपदेन यत्तदः काले दा प्रकारवचने थालित्यादिप्रत्यया गृह्यन्ते । विभक्तिपदार्थस्यानुगतस्यासम्भवेऽपि

निरुक्तियों और उनके दूषणों पर विचार न करके पद और उसके अर्थ पर कुछ चिन्तन प्रस्तुत किया जाता है—

(१) सुप्तिङन्तं पदम्—

महर्षि पाणिनि ने जो पद का लक्षण किया है—"सुप्तिङन्तं पदम्" (पा. सू. १।४।१४)। सुप् और तिङ् प्रत्ययों को जोड़ देने पर जो शब्द निष्पन्न होता है, उसे पद कहते हैं।

वह लक्षण उचित नहीं, क्योंकि सुबन्तं और तिङन्तं—ये स्वतन्त्र दो लक्षण हैं ? अथवा दोनों मिल कर एक ? प्रत्येक लक्षण स्वतन्त्र मानने पर प्रत्येक में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि सुबन्तत्व तिङन्त में नहीं घटता और तिङन्तत्व सुबन्त में सम्भव नहीं। दोनों को मिलाकर 'सुबन्तत्वे सति तिङन्तत्वम्' ऐसा लक्षण असम्भव-ग्रस्त है, क्योंकि किसी भी शब्द में सुप् और तिङ्—दोनों प्रत्यय नहीं जोड़े जाते। 'सुबन्तत्व' और 'तिङन्तत्व'—दोनों को भिन्न-भिन्न पदों का प्रवृत्ति-निमित्त मानने पर पदत्व एक अनुगत नहीं रहता, पद में अनुगम न रहने के कारण कहीं वाक्यार्थ में भी अनुगम नहीं रहता, पूर्व-कथित अव्यापकत्व दोष आ जाता है।

(२) वर्णा विभक्त्यन्ताः पदम्—

"विभक्तिश्च" (पा. सू. १।४।१०४) इस सूत्र के द्वारा सुप् और तिङ् प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा की गई है। विभक्त्यन्त वर्ण या वर्णों को पद कहा जाता है—न्यायसूत्रकार ने कहा है—"ते विभक्त्यन्ताः पदम्" (न्या० सू० २।२।५७)।

यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं, क्योंकि "विभक्तिश्च" (पा. सू. १।४।१०४) इस सूत्र के द्वारा 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्ययों की और "प्राग् दिशो विभक्तिः" (पा. सू. ५।३।१) इस सूत्र

सुप्तिङोः, प्राग्दिशो विभक्ति'रित्यनेन च तसिलादेः पृथक् पृथगेव विभक्तिसंज्ञाविधानात् शब्दसाम्येन च लक्षणायोगात्।

किञ्च - वर्णा इति बहुत्वस्य विवक्षितत्वे 'अहम्' इत्यादेरपदत्वप्रसङ्गः। अविवक्षितत्वे 'देवदत्त' इत्यन्ताकारस्य पदत्वापातः, तस्य विभक्त्यन्तत्वात्।

सार्थकस्तथेति चेत्, 'भवती'त्यादौ शबकारादीनां पदत्वप्रसङ्गः, शपः सार्थक-

---

विभक्तिरिति संज्ञैकैव सर्वत्र तेन तदुपाधौ लक्षणं ब्रूमो विभक्तिशब्दवाच्यान्ता वर्णाः पदमिति तत्राह ॐ शब्देति ॐ। अर्थस्यानुगत्यभावे प्रत्येकमिलितविकल्पदोषापत्तेः शब्दसाम्येऽपि न लक्षणोपपत्तिर्न्न च तच्छब्दवाच्यत्वमिति रूपमनुगतप्रवृत्तिनिमित्तं वाच्यं तद्भावस्तत्त्वं तस्यैकस्यानङ्गीकारादङ्गीकारे वा पृथक् संज्ञाविधानयत्नगौरवानर्थक्यादित्यर्थः।

इतश्च विभक्त्यन्ता वर्णाः पदमित्यलक्षणमित्याह ॐ किं चेति ॐ। "बहुषु बहुवचनमिति" बह्वर्थविवक्षायां बहुवचनविधानादिह च वर्णशब्दस्य बहुवचनान्तत्वाद्वर्णबहुत्वं विवक्षितन्न वा? आद्यं प्रत्याह ॐ वर्णेति ॐ। अहं त्वं सः क इत्यादेरपदत्वं प्रसज्येत, विभक्त्यन्तबहुवर्णत्वाभावादित्यर्थः। द्वितीये दूषणमाह ॐ अविवक्षितेति ॐ। देवदत्त इत्यत्र तकारोपर्यकारस्तस्य पदत्वं स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। कुत इत्यत आह ॐ तस्येति ॐ। प्रथमैकवचनस्य सोरुत्वे कृते विसर्गादेशस्तद्वद्भवतीति न्यायेन विसर्गान्तस्याकारस्य विभक्त्यन्तत्वादित्यर्थः। अतिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते ॐ सेति ॐ। सार्थको वर्णो विभक्त्यन्तः पदमिति विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। अतिव्याप्त्यन्तरप्रदर्शनेन परिहरति ॐ नेति ॐ। भू तिबितिस्थिते कर्तरि शबिति शब्भवति शपावनुबन्धौ तयोर्लोपे अ इति शिष्यते गुणे कृते एचोऽयवायाव इत्यवादेशे कृते पकारानुबन्धलोपे च भवतीति रूपं सिद्धं तत्र शबकारस्य पदत्वं प्रसज्येत। आदिपदेन श्यन्प्रभृतयो गृह्यन्ते हेतुं कथयति ॐ शप इति ॐ। शप्श्यन्प्रभृतीनां कर्तरि विहितत्वात्सार्थकत्वं विभक्त्यन्तत्वं चेत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। शङ्कते अतिव्याप्तिपरिहारं ॐ यत्रेति ॐ। यस्मिन्वर्णे विहिता विभक्तिः

के द्वारा "दिक् शब्देभ्यः" (पा. सू. ५।३।२७) इस सूत्र से पूर्व विहित तसिलादि प्रत्ययों की पृथक्-पृथक् विभक्ति संज्ञा की गई है, अतः विभक्ति संज्ञा का कोई अनुगत अर्थ सम्भव नहीं, विभक्ति पदार्थ के अननुगत हो जाने के कारण विभक्त्यन्त 'पद' भी सर्वत्र एक अनुगत नहीं हो सकता। यद्यपि 'विभक्ति' संज्ञा समान है, तथापि उसका अर्थ एक अनुगत नहीं, अतः ऐसी अननुगतार्थक संज्ञाओं से घटित लक्षण अनुगतार्थक नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह भी है कि "वर्णाः विभक्त्यन्ताः पदम्"—यहाँ पर वर्णपदोत्तर बहुवचन का बहुत्व अर्थ विवक्षित है? अथवा नहीं? यदि विवक्षित है, तब एक या दो वर्णों से अधिक वर्णों की ही 'पद' संज्ञा हो सकेगी, 'अहम्', 'त्वम्', 'सः' और 'कः' आदि पद अवैध हो जाएँगे, क्योंकि यहाँ 'सुप्' विभक्ति केवल एक या दो वर्णों से ही विहित हुई है। यदि 'वर्णाः' में बहुत्व वैसे ही विवक्षित नहीं है, जैसे "ग्रहं सम्मार्ष्टि"—यहाँ पर ग्रहगत एकत्व विवक्षित नहीं, तब 'देवदत्तः'—यहाँ पर तकारोत्तर केवल 'अ' की पद संज्ञा हो जायगी, क्योंकि 'सु' विभक्ति उसी के अन्त में की गई है। यदि केवल अकार निरर्थक है और सार्थक वर्ण की ही 'पद' संज्ञा की जाती है, तब 'भवति'—इस क्रिया पद के घटकीभूत वकारोत्तर अकार की पद संज्ञा हो जायगी, क्योंकि वह अकार कर्त्रर्थक 'शप्' विकरण का है ['भू' धातु से 'तिप्' प्रत्यय करने पर भू + ति– ऐसी स्थिति में "कर्तरि शप्" (पा. सू. ३।१।६८) इस सूत्र के द्वारा 'भू' और 'ति' के मध्य में शप् प्रत्यय किया जाता है, जिसका शकार और पकार लुप्त हो जाने पर केवल भू + अ + ति—यह रूप बन जाता है। 'भू' को गुण और उसको 'अव्' आदेश होकर 'भवति'—यह क्रिया पद निष्पन्न होता है। कर्त्ता अर्थ में विहित शप् (अ) कर्त्रर्थक है, निरर्थक नहीं]।

त्वात्। यत्र विहिता विभक्तिस्तदिति चेन्न, शबकारं परित्यज्य पदत्वप्रसङ्गात्।

तन्मध्यपतितत्वाच्छबकारोऽपि गृह्यत इति चेत्, तर्हि यत्र विभक्तिर्विधीयते तत्र तद्विभक्तिमध्यपतितं पदमिति वा विवक्षितम्, यत्र विभक्तिर्विधीयते तत्तद्विभक्तिमध्यवर्तिसहितं पदमिति वा? आद्ये शबकारस्यापि पृथगेव पदत्वप्रसङ्गः, लक्षणस्य चाव्यापकत्वात्। द्वितीये 'देवदत्तः' इत्यस्यापदत्वप्रसङ्गः, मध्यवर्तिनोऽभावेन मध्यवर्तिसहितविशेषणाभावात्। क्वचिन्मध्यवर्तिसहितस्य क्वचित्केवलस्येति यथासम्भव इति चेन्न, एकानुगतरूपानभिधाने लक्षणस्याव्यापकतापत्तेर्दुर्निवारत्वात्।

स सार्थको विभक्त्यन्तः पदं न शबकारे विभक्तिर्विहिता तस्य प्रत्ययत्वात्प्रकृतावेव विभक्तिविधानादिति तन्निवृत्तिरित्यर्थः। एवमपि नातिव्याप्त्या विमुच्यस इति परिहरति ॐ नेति ॐ। भू इत्येतावन्मात्रे विभक्तेर्विहितत्वात्तन्मध्यपतितशबकारं परित्यज्य पदत्वमापाद्येत तस्य सार्थकत्वाद्विभक्तिविधानोद्देश्यत्वाद्विभक्त्यन्तत्वाच्चेत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। प्रत्याहारग्रहणन्यायेन प्रातिपदिकस्य तदुपरिवर्त्तिविभक्तेश्च ग्रहणे तन्मध्यवर्तिशबकारोऽपि गृहीत एवेति नोक्तदोष इति शङ्कते ॐ तदिति ॐ। तदेतद्विशकलयितुं विकल्पयति ॐ तर्हीत्यादिना ॐ। यत्र प्रकृतौ विभक्तिर्विधीयते तत्प्रकृतिरूपं पदं तद्विभक्त्योर्मध्यपतितशबकारादि च पदमिति प्रथमकल्पार्थः। तत्प्रकृतिरूपमेव मध्यपतितशबकारादिना सहितं पदमिति द्वितीयार्थः। कस्मिन्सति किं स्यादित्यत आह ॐ आद्य इति ॐ। भवतीत्यादौ प्रकृतिरूपं भू ति इति शबकारश्च पदमिति पदद्वयं स्यादित्येकपदत्वप्रसिद्धिविरोध इत्यर्थः। दूषणान्तरमाह ॐ लक्षणेति ॐ। मध्यवर्तित्वस्य पदलक्षणत्वे प्रकृतेरपदत्वे प्रकृतित्वस्य तल्लक्षणत्वे मध्यवर्तिनो पदत्वं मिलितस्य लक्षणत्वे सर्वाव्याप्तिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि द्वितीयस्तत्राह ॐ द्वितीय इति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ मध्येति ॐ। देवदत्त इति प्रातिपदिकात्सु इति विभक्तिर्विहिता, न च तयोर्मध्ये किंचिद्विहितमस्तीति तत्सहितविशेषणाभावादित्यर्थः। यत्र विभक्तिर्विधीयते तन्मध्यवर्तिसहितं पदमिति न पदमात्रस्य लक्षणं किं तु तद्विशेषस्यातो नाव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ क्वचिदिति ॐ। क्वचिद्भवतीत्यादौ मध्यवर्त्तिसहितस्य तत्त्वं क्वचिद्देवदत्त इत्यादौ केवलस्येत्यर्थः। पदमात्रलक्षणासिद्धौ तद्विशेष एव लक्षयितुमशक्योऽसिद्धसामान्यस्य विशेषस्य बुद्धावारोपयितुमशक्यत्वात् तथा लक्षणे वा पदसमुदायो वाक्यमित्यत्र पदपदार्थाननुगत्या वाक्यलक्षणस्याप्यननुगतिरिति दूषयति ॐ नेति ॐ।

'भवति' में 'तिप्' विभक्ति 'भू' धातु से विहित है, 'शप्' से नहीं, किन्तु 'पद' संज्ञा उसी सार्थक वर्ण की होती है, जिससे विभक्ति विहित हो, तब केवल शप् के अकार की 'विभक्ति' संज्ञा क्योंकर होगी? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि तब तो 'शप्' को छोड़ कर केवल 'भू' की पद संज्ञा होनी चाहिए। 'पद' संज्ञा के द्वारा प्रकृति और प्रत्यय (विभक्ति) दोनों का ग्रहण होने के कारण उन दोनों के मध्य में पतित शबादि पदार्थों का भी सन्दंश-न्याय से ग्रहण हो जाता है। तब जिज्ञासा होती है कि वहाँ मध्यपाती पदार्थ का पदत्वेन ग्रहण होता है? अथवा पदसंज्ञक प्रकृति में विशेषणविधया? प्रथम पक्ष में उक्त स्थल पर केवल 'शप्' की पद संज्ञा होनी चाहिए. वैसा मानने पर धातुरूप प्रकृति में पद का लक्षण अव्याप्त हो जायगा, क्योंकि वह मध्यपाती नहीं। द्वितीय कल्प के अनुसार देवदत्तादि पदों में पद का लक्षण न घट सकेगा, क्योंकि उनमें मध्यपाती कोई विशेषण न होने के कारण उससे विशिष्ट नहीं होते।

कहीं मध्यपाती पदार्थ से विशिष्ट प्रकृति और कहीं विशेषण-रहित केवल प्रकृति की पद संज्ञा होती है—ऐसा यथासम्भव-न्याय का अनुसरण करने पर एक अनुगत रूप का अभिधान न होने के कारण लक्षण में अननुगम और अव्यापकत्वादि दोषों का होना अनिवार्य हो जाता है।

किञ्च 'देवदत्त + सु' इत्यपि पदं स्यात्। अथ अपशब्दोऽयम्, पदत्वे सति रुत्वादेर्विधानस्यावश्यम्भावित्वादिति चेन्न, यत एवायमपशब्दः, अत एव भवतो दोषः प्रसज्यते—अपशब्देऽपि पदलक्षणं गतमिति। तस्मात् पाणिनिनाऽऽचार्येण शब्दसिद्ध्यर्थं पदसंज्ञेयं रुत्वादिविध्यनुरोधेनापशब्ददशायामन्यैव कृता नदीसंज्ञावत्, न तु लौकिकपदव्यवहारसिद्ध्यर्थम्। साधुशब्दविशेषे ततश्च तस्यान्यदेव लक्षणं वाच्यम्। अन्यथा दाक्षीनन्दनोदीरितनदीसंज्ञाप्रत्यभिज्ञायां पाथः प्रार्थयमानः काननस्थलीमलीकाभिमानी भवानाहित। जल

विभक्त्यन्ता वर्णाः पदमित्यस्य लक्षणस्यातिव्याप्त्यन्तरमाह ❀ किं चेति ❀। देवदत्त इत्यस्य "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिक"मिति प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वौजसमावित्यादिना प्रथमैकवचनं सुर्भवति उकारस्येत्संज्ञालोपे देवदत्त इति भवति, तदपि पदं स्यात् विभक्त्यन्तत्वादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अतिव्याप्तिमेव प्रकटयितुं चोद्यमुद्भावयति ❀ अथेति ❀। कुतोऽपशब्दत्वमिति तत्राह ❀ पदेति ❀। विभक्त्यन्तदेवदत्तप्रातिपदिकस्य पदसंज्ञायां "ससजुषो रुरिति" रुत्वं ततः "खरवसानयोर्विसर्जनीय" इति विसर्जनीयश्चावश्यकोऽतोऽपशब्दत्वान्नातिव्याप्तिरित्याशयः। अपशब्दत्वेनापदे पदलक्षणगमनस्यातिव्याप्तिसाधकत्वान्नायं समाधिः साधीयानिति समाधत्ते ❀ नेति ❀। का तर्हि सुप्तिङन्तं पदमिति अपशब्दस्य पदसंज्ञाविधानस्य गतिरित्याशङ्क्य तामुपपादयन्नुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। अपशब्ददशायामन्यैव पदसंज्ञा कृता अपशब्ददशायां पदसंज्ञाविधाने प्रयोजनमाह ❀ शब्देति ❀। पदसंज्ञा वा केन द्वारेण शब्दसिद्धावुपकरोतीत्यत उक्तं ❀ रुत्वेति ❀। देवदत्त इत्यस्य सुबन्तत्वेन पदसंज्ञायामेव ससजुषो रुरिति रुत्वं खरवसानयोरिति विसर्गश्च भवतीति पदसिद्धिरित्यर्थः। अपदे पदसंज्ञा किं घटते भगवतः पाणिनेरित्यत आह ❀ नदीति ❀। "यूस्त्र्याख्यौ नदी"त्यनद्यामेव नदीसंज्ञा क्रियते यद्वदित्यर्थः। अन्यैवेत्येवकारव्युदस्यमाह ❀ नत्विति ❀। अस्तु तावता प्रकृते किं स्यादित्यत आह ❀ ततश्चेति ❀। यदि पाणिनीरितपदलक्षणव्यतिरेकेण लौकिकपदस्य लक्षणान्तरं नोरीक्रियते तदा दण्डं दर्शयति ❀ अन्यथेति ❀। दाक्षीनन्दनः पाणिनिरन्यथा भवान्काननस्थलीमाहितेति सम्बन्धः। पाथः शब्दः सलिलवाची काननस्थलीशब्दस्य स्त्र्याख्यत्वादीकारान्तत्वाच्च यूस्त्र्याख्यौ नदीत्यनेन नदीसंज्ञया संज्ञितत्वादेतदुक्तं भवति मध्याह्ने विन्ध्याट-

---

दूसरी बात यह भी है कि 'देवदत्त + सु'—इस रूप को भी 'पद' संज्ञा होनी चाहिए, क्योंकि यह भी विभक्त्यन्त वर्ण-समूह है।

शङ्का 'देवदत्त + सु'—यह रूप शब्द नहीं, अपशब्द कहलाता है, क्योंकि 'देवदत्तादि' पदों के उत्तर 'सु' विभक्ति का "ससजुषो रुः" (पा० सू० ८।२।६६) इस सूत्र के द्वारा 'रु' और 'रु' का "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" (पा० सू० ८।३।१५) इस सूत्र के द्वारा विसर्ग का आदेश होकर 'देवदत्तः'—ऐसा ही साधु शब्द परिनिष्पन्न होता है।

समाधान—'देवदत्त + सु'—यह अपशब्द या अपद है, अत एव पद के लक्षण की उस में अतिव्याप्ति होती है। अतः आचार्य पाणिनि ने रुत्व और विसर्ग का विधान करने के लिए ही 'देवदत्त + सु'—इस अलौकिक शब्द की 'पद' संज्ञा वैसे ही कर ली है, जैसे "यूस्त्र्याख्यौ नदी" (पा० सू० १।४।४) इस सूत्र के द्वारा ईकारान्त और ऊकारान्त स्त्री लिङ्ग शब्दों की अपनी पारिभाषिकी 'नदी' संज्ञा कर ली है, उन्होंने न तो व्यावहारिक पदों की 'पद' संज्ञा की है और न व्यावहारिक नदी की 'नदी' संज्ञा। अतः आपको कोई और ही लक्षण करना चाहिए। यदि आप (नैयायिक) इस धोखे में हैं कि आचार्य दाक्षीपुत्र पाणिनि ने व्यावहारिक पदों का ही लक्षण किया है, तब आप उनकी नदीसंज्ञक 'काननस्थली' को अवश्य ही जलपूर्ण गंगा नदी समझ अपने कपड़े उतार स्नान करने और अपनी तृषा शान्त करने में सफल हो जाएँगे।

अथोच्यते – विभक्त्यन्तमेव सर्वलक्षणप्रवृत्त्या निष्पन्नं व्यावहारिकं पदमिति लक्षणमस्तु। मैवम्, सर्वलक्षणप्रवृत्तेः सर्वत्रासम्भवात्। सम्भवत्सर्वलक्षणप्रवृत्त्येति चेन्न, सम्भवत्त्वं तत्काले कालान्तरे वा विवक्षितम्? आद्ये 'देवदत्त + रु' इत्यपि पदं स्यात् रुत्वविधानकाले विसर्गस्यासम्भावितत्वात्। कालान्तरेऽपीति पक्षे 'देवदत्त' इत्यपि पदं न स्यात्, इत्यादिपदपूर्वकालभाविनो यत्वयलोपादेरकरणात्।

शब्दान्तरसन्निधिव्यतिरेकेण यद्भावि लक्षण ताद्वाक्षत ·ति चेन्न, 'जीविका-

---

व्यामटमानं ललाटोपरि गभस्तिमालिनि भगवति खरतरकरे विपरिवर्त्तिनि पिपासुः सलिलं प्रार्थयमाणो दाक्षीनन्दनपरिभाषितकाननस्थलीं नदीसंज्ञां प्रत्यभिजानानस्तत्र प्रवर्तत भवानिति। अभिमानो ज्ञानं न तु भ्रमः मिथ्यापर्यायस्यालीकशब्दस्य पृथग्ग्रहणात्। इतिशब्दः परिसमाप्तौ।

गदितावद्यपरम्परापरिजिहीर्षया लौकिकपदस्य चिह्नान्तरं शङ्कते ॥ अथेति ॥। विभक्त्यन्तं पदमित्युक्ते देवदत्त सु इत्यस्यापि पदत्वप्रसक्तिस्तन्निवारणायाह ॥ सर्वेति ॥। लक्षणं सूत्रम्। विभक्त्यन्तं लक्षणप्रवृत्तिनिष्पन्नमित्युक्ते डेवदर्त्तवित्यस्यापि पदत्वप्रसङ्गस्तन्निरासाय सर्वेति विशेषणम्। यावन्ति लक्षणानि प्रणीतानि पाणिनिना तावतां सर्वेषां प्रवृत्त्या निष्पन्नमिति विवक्षितमुत यत्र यावन्ति सम्भवन्ति तावतां सर्वेषां प्रवृत्त्या निष्पन्नमिति विकल्प्य प्रथममसम्भवेनापाकरोति ॥ मैवमिति ॥। सर्वलक्षणानां प्रवृत्तिस्सर्वत्रापि न सम्भवति क्वचित्केषांचिदेव प्रवृत्तेरित्यर्थः। द्वितीयं कल्पमवलम्बते ॥ सम्भवदिति ॥। नैतद्विकल्पासहत्वादिति दूषयति ॥ नेति ॥। लक्षणानां सम्भवत्वं यदैकलक्षणं वर्तते तदेकस्मिन्नेव काले विवक्षितमिति प्रथमकल्पार्थः। कालान्तरे लक्षणसम्भवत्वमिति द्वितीयार्थः। प्रथमकल्पमतिव्याप्त्या दूषयति ॥ आद्य इति ॥। देवदत्त सु इति स्थिते पदसंज्ञायां "ससजुषो रु"रिति रुत्वं भवति तदा डेवदत्त इति रूपं भवति, तदपि पदं स्यादित्यतिव्याप्तिः रुत्वविधानकाले "खरवसानयो"रिति सूत्रस्यासम्भवात् कृतरुत्वाश्रयेण तत्प्रवृत्तेरित्यर्थः। कालान्तरेऽपि सम्भवल्लक्षणप्रवृत्त्याऽपि निष्पन्नमिति पक्षे नातिव्याप्तिः विसर्गविधायकसूत्रकालान्तरसम्भवत्प्रवृत्त्यनिष्पन्नत्वादतोऽस्तु द्वितीयस्तत्राह ॥ कालेति ॥। यद्यप्यतिव्याप्तिः परिह्रियेत तथाप्यव्याप्तिः स्याद् देवदत्त इति विसर्गान्तं प्रथमैकवचनं पदत्वेन प्रसिद्धमपि यतः पदं न स्यादित्यर्थः। कुत इत्यत आह ॥ इत्यादीति ॥। इतिशब्द आदिर्यस्य स्वरादिपदस्य तदित्यादिपदं तस्मात्पूर्वताकाले कृतरुत्वस्य "भोभगोअधोअपूर्वस्य योऽशी"त्यनेन यत्वं "लोपः शाकल्यस्ये"त्यनेन यलोपस्तस्याकरणादित्यर्थः। आदिपदेन यलोपाभावपक्षे श्लिष्टोच्चारणं गृह्यते।

अव्याप्तिपरिहाराय विशेषणं शङ्कते ॥ शब्देति ॥। शब्दान्तरसन्निधिव्यतिरेकेणकालान्तरे

शङ्का—रुत्वविसर्गादि-विधायक सभी लक्षणों (सूत्रों) की प्रवृत्ति हो जाने पर जो विभक्त्यन्त पद निष्पन्न होता है, उसी की पाणिनि ने व्यावहारिक 'पद' संज्ञा की है।

समाधान—सर्वत्र सभी सूत्र प्रवृत्त ही नहीं हो सकते, अतः सर्वलक्षण-सम्पन्न कोई शब्द सुलभ ही नहीं हो सकता। यथासम्भव सूत्रों की प्रवृत्ति मानने पर यथासम्भवत्व क्या एक सूत्र की प्रवृत्ति के समय में ही विवक्षित है? अथवा कालान्तरीय? प्रथम कल्प के अनुसार 'देवदत्त + रु'—इस की पद संज्ञा होनी चाहिए, क्योंकि रुत्व-विधान काल में विसर्ग-विधान सम्भव नहीं। कालान्तरीय सम्भावितत्व की विवक्षा करने पर 'देवदत्तः'—यह भी पद नहीं होना चाहिए, क्योंकि जिस काल में 'देवदत्त इति'—ऐसा प्रयोग किया जाता है, उस समय 'सु' के स्थानापन्न 'रु' को "भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि" (पा० सू० ८।३।१७) इस सूत्र के द्वारा जो 'य' एवं "लोपः शाकल्यस्य" (पा. सू. ८।३।१९) इस सूत्र के द्वारा जो 'य' का लोप होता है, वह 'इत्यादि' प्रयोग के पूर्व काल में नहीं किया जाता।

शङ्का—'इत्यादि' अन्य शब्दों के प्रयोग से रहित अवस्था में जो सूत्रावलि प्रवृत्त हो

कृत्य व्याचष्टे' इत्यर्थे 'जीविकां कृत्वा व्याचष्टे' इति प्रयुज्यमानं वाक्यं स्याद्, एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायस्य तत्रापि गतत्वात्। कृत्वेत्यनेन सम्बद्धस्य जीविकामित्यस्योक्तपदलक्षणेन सङ्गृहीतत्वात्।

यदुपाधिका यल्लक्षणप्रवृत्तिस्तदुपाधिसम्पत्तौ तेन निष्पन्नं तथेति चेन्न, यत्र

यावन्ति लक्षणानि सम्भवन्ति तावतां प्रवृत्त्या निष्पन्नं पदं विवक्षितमतो नाव्याप्तिर्देवदत्त इत्यस्य इत्यादिपदसन्निधावेव यत्वादिलक्षणानां सम्भवान्नाव्यतिव्याप्तिर्देवदत्त रु इत्यस्य सर्वलक्षणप्रवृत्त्या निष्पन्नत्वाभावादित्यर्थः। अतिव्याप्त्यन्तरदर्शनेन परिहरति ❀ जीविकेति ❀। यदौपम्यमन्तरेण जीविकां कृत्वेति भवति प्रयोगस्तद्वाक्यमेव सम्मतमित्यत उक्तं जीविकाकृत्य व्याचष्ट इति। एतद्वस्तुतः पदद्वयात्मकं वाक्यं तदर्थे जीविकां कृत्वा व्याचष्ट इति पदत्रयमर्थं बोधयद्भिः प्रयुज्यते जीविकामिव कृत्वा व्याचष्ट इत्यस्यार्थे। न चैतद्वाक्यमेव जीविकां कृत्वेत्यनयोरपशब्दत्वा''ज्जीविकोपनिषदावौपम्य''इत्यनेन सूत्रेण जीविकाशब्दस्य गतिसंज्ञायां "नित्यं क्रीडाजीविकयो''रित्यादिना समासेन विभक्तिलोपस्य भवितव्यत्वात्, "ह्रस्वस्य पिति कृति तुगि''ति तुगागमे विहिते "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यबि''त्यनेन क्त्वाप्रत्ययस्थाने ल्यपा भवितव्यत्वादित्यर्थः। कुत इत्यत आह ❀ एकेति ❀। कृत्वेत्यादीनां पदत्वप्रसङ्गेनेत्यर्थः। जीविकामित्यस्य सम्भवत्सर्वलक्षणप्रवृत्तिनिष्पन्नत्वमेव नास्ति "कृत्तद्धितसमासाश्चे''ति प्रातिपदिकसंज्ञायां "सुपो धातुप्रातिपदिकयो''रित्यनेन विभक्तिलोपस्यावश्यकत्वादित्यत आह ❀ कृत्वेति ❀। सन्निध्यभावे कृत्वेत्यनेन सम्बद्धस्य जीविकापदस्य कथितलक्षणमेवेत्यर्थः।

प्रकारान्तरेण पदलक्षणं शङ्कते ❀ यदिति ❀। य उपाधिः कारणं यस्याः सा यदुपाधिका उपाधिश्च समास औपम्यादिर्वा तदुपाधिसम्पत्तौ सत्यां सम्भवत्सर्वलक्षणप्रवृत्त्या निष्पन्नं पदं जीविकामि-

सकती है, उसकी प्रवृत्ति विवक्षित है।

समाधान—तब 'जीविकाकृत्य व्याचष्टे' इस अर्थ में 'जीविकां कृत्वा व्याचष्टे'—ऐसा प्रयोग भी त्रिपद-घटित वाक्य के रूप में साधु वाक्य समझा जाने लगेगा, क्योंकि 'जीविकामिव'—इस वाक्य के घटकीभूत 'इव' शब्द के सान्निध्याभाव में 'जीविका' पद में जितने भी सूत्र प्रवृत्त हो सकते थे, वे सभी प्रवृत्त होकर 'जीविकाम्' पद का निर्माण करते हैं, अतः कथित पद-लक्षण से लक्षित होने के कारण यह एक पद शेष 'कृत्वा' और 'व्याचष्टे'—इन दो पदों से युक्त होकर एकार्थपर्यवासी हो जाता है। [आशय यह है कि उपमा के अर्थ में जीविकाकृत्य—इस एक पद के स्थान पर 'जीविकां कृत्वा'—इन दो पदों से घटित वाक्य का प्रयोग होने लगेगा, [जो कि सत्प्रयोग या साधु वाक्य नहीं, वाक्याभास है, क्योंकि "जीविकोपनिषदावौपम्ये (पा. सू. १।४।७९) इस सूत्र के द्वारा उपमा के अर्थ में 'जीविका' और 'उपनिषत्'—इन दो पदों की 'गति' संज्ञा करके "नित्यं क्रीडाजीविकयोः" (पा. सू. २।२।१७) इस सूत्र के द्वारा नित्य समास का विधान किया गया, अतः वैकल्पिक समास के समान यह वाक्य-प्रयोग वैध नहीं, वाक्याभास ही माना जाता है। 'जीविकामिव कृत्वा'—यहाँ पर "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वा ल्यप्" (पा. सू. ७।१।३७) इस सूत्र के द्वारा क्त्वा के स्थान पर 'ल्यप्' का आदेश एवं "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" (पा. सू. ६।१।७१) इस सूत्र के द्वारा 'तुक्' का आगम होकर जीविकाकृत्य'—यह रूप निष्पन्न होता है]।

शङ्का—जिस उपाधि (औपम्यादि निमित्त) से प्रयुक्त जिस सूत्र की प्रवृत्ति मानी जाती है, उस निमित्त की सम्पत्ति के लिए सम्बन्धित सभी सूत्रों की प्रवृत्ति हो जाने पर जो शब्द परिनिष्पन्न होता है, उसे ही पद कहते हैं। औपम्यादि के निमित्त से विहित 'गति' संज्ञा, समास, विभक्ति-लोप, ल्यप् और तुकादि कार्यों की सम्पत्ति 'जीविकां कृत्वा व्याचष्टे'—यहाँ नहीं, अतः उसमें अतिप्रसङ्ग नहीं होता।

नास्त्युपाधिसम्पत्तिस्तत्र केवले तस्यां सत्यामित्यस्याभावादपदत्वापत्तेः ।

यस्यामवस्थायां यस्य लक्षणस्योपनिपातस्तत्सर्वसम्पत्तौ विभक्त्यन्तं पदमिति चेन्न, यस्यामवस्थायामित्यवस्थानां भिन्नभिन्नाकारेण परामर्शे लक्षणस्याननुगमाद्व्यापकतादोषः । अवस्थानामैक्यमविवक्षितमसम्भावितं च । सर्वदा सर्वावस्थाविषये लक्षणप्रसङ्गादिति । स च 'भवति, भवति, भवतीति, भवत्यस्तीति, पटः पटाविति, पटं पट इति चे'त्यतिव्याप्तिः । एतेन—अपौरुषेयं वाक्यं तदित्यपि निरस्तम् ।

त्यादेस्तु समासाद्युपाधौ सत्यपि सर्वलक्षणसिद्धत्वन्नेति तन्निवृत्तिरित्यर्थः । तर्हि प्रागुक्ताऽव्याप्तिरेवेति परिहरति ❀ नेति ❀ । यत्र देवदत्त इत्यादौ समासाद्युपाधिर्नास्ति तत्र उपाधिसम्पत्तौ सत्यामिति विशेषणाभावादव्याप्तिरित्यर्थः : उपाधिशब्देन न समासादिविशेषो विवक्ष्यते किं तु तत्तत्पदस्यावस्था न चैवमव्याप्तिः केवलावस्थायां सम्भवत्सर्वलक्षणसिद्धत्वाद् देवदत्त इत्यस्य, न वाऽतिव्याप्तिरनेवंरूपत्वात् जीविकामित्यादेरिति शङ्कते ❀ यस्यामिति ❀ । किमवस्थाविशेष उच्यते किं वाऽवस्थामात्रमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ नेति ❀ । देवदत्त इत्येतत्पदावस्थायां सम्भवत्सर्वलक्षणात् सिद्धत्वाभावाद् घटादिपदेष्वव्याप्तिः । द्वितीयमपवद्ति ❀ अवस्थेति ❀ । समासाद्यवस्थानामनेकत्वादेकत्वमविवक्षितं तत्रापीत्यर्थः । न केवलमनभिप्रेतत्त्वमसम्भवोऽपीत्याह ❀ सम्भावितमिति ❀ । एकस्योपाधेः सामान्यस्य वा निरूपयितुमशक्यत्वादित्यर्थः । यदि कश्चिद् वृद्धव्यवहारसिद्धपदसिद्ध्यनुगुणकालत्वादिरूपेणावस्थानामैक्यं ब्रूयात्तं प्रत्याह ❀ सर्वेति ❀ । सर्वावस्थाविषयाणां सर्वलक्षणानां सर्वत्र प्रसङ्गादित्यर्थः । तमेव प्रसङ्गं दर्शयति ❀स चेति❀ । किमवस्थानामैक्यं पदानामैक्यरूपं कालत्वमुत पदार्थैक्यसम्बन्धित्वमाहोस्विदेकरूपप्रकृतिसम्बन्धित्वमिति ? यदि प्रथमस्तदा भवति भवति भवतीतिपदत्रयमप्येकं पदं स्याद्रूपसाम्येन तत्सामान्येन तत्सम्ब-

---

सामाधान—जहाँ कोई उपाधि या निमित्त-विशेष नहीं, ऐसे देवदत्तादि पदों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि वह? 'तदुपाधिसम्पत्तौ सत्याम्'—यह अंश घटित न होने के कारण पूर्ण लक्षण का समन्वय नहीं होता ।

शङ्का—जिस अवस्था में जिन-जिन सूत्रों की प्रवृत्ति होती है, उन सबकी प्रवृत्ति हो जाने पर जो विभक्त्यन्त शब्द निष्पन्न होता है, उसकी 'पद' संज्ञा है :

समाधान—'यस्यामवस्थायाम्'—यहाँ पर सभी अवस्थाओं का किसी अनुगत रूप से उल्लेख न कर भिन्न-भिन्न रूप से निर्देश किया गया है, अतः कथित लक्षण भी अननुगत एवं अव्यापकता दोष से दूषित हो जाता है । अनन्त एवं विविध अवस्थाओं की एकरूपता न तो विवक्षित है और न सम्भव, अन्यथा (सभी अवस्थाओं में ऐक्य विवक्षित होने पर) सदैव सभी अवस्थाओं के विषय में सभी सूत्रों की प्रवृत्ति प्रसक्त हो जायगी । अर्थात् सभी अवस्थाओं का ऐक्य क्या (१) पदों की समानानुपूर्वी है ? या (२) एकार्थत्व ? अथवा (३) समानप्रकृतिकत्व ? प्रथम कल्प के अनुसार (१) भवति (भूधातु-निष्पन्न क्रियापद), (२) भवति ('भवती' का सम्बोधन) और (३) भवति (शत्रन्त भू का सप्तमी–एकवचन) इन तीनों की आनुपूर्वी एक होने के कारण एकपदत्व एवं शबादि–विधायक सभी सूत्रों की सर्वत्र प्रवृत्ति होनी चाहिए, किन्तु नहीं होती, अतः पदलक्षण की अतिव्याप्ति होती है । द्वितीय (एकार्थकत्व) कल्प के अनुसार 'भवति' और 'अस्ति'—दोनों समानार्थक हैं, अतः उनमें एकपदत्व अतिप्रसक्त होता है । तृतीय (एकप्रकृतिकत्व) कल्प में 'पटः', 'पटौ' एवं 'पटं', 'पटे'—इन दोनों में वचन-भेद होने पर भी एकप्रकृतिकत्वरूप पदत्व की अतिव्याप्ति होती हे ।

इस प्रकार पदत्व और वाक्यत्व का निर्वचन न हो सकने के कारण 'अपौरुषेयं वाक्यं शब्दप्रमाणम्'—यह लक्षण भी खण्डित हो जाता है । [यद्यपि श्री शबरस्वामी ने शब्द प्रमाण

३५. अर्थापत्तिलक्षणखण्डनम्

का पुनरर्थापत्तिरपि ?

अन्यथानुपपत्तिरिति चेन्न, यतोऽन्यत्वं तत्सिद्धेरग्रे तदसिद्धेः। सिद्धेनानुपप-

ऽधावस्थायां एकत्वेन तत्र सम्भावितसर्वलक्षणासिद्धत्वादित्यतिव्याप्तिस्तत्रैकं भवति पदं तिङन्तं, द्वितीयं पुल्लिङ्गं सप्तम्यन्तं, तृतीयं स्त्रियां सम्बुद्धौ। यदि द्वितीयस्तर्हि भवत्यस्तीति पदद्वयमेकं स्यादेकार्थत्वात्, तृतीये पटः पटावित्यनयोरेकद्विवचनयोरैकपद्यं स्यादेकप्रकृतिकत्वादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः।

एवं काणादनये शब्दप्रमाणखण्डनकथितरीतिं मीमांसकनयेऽप्यतिदिशति ॐ एतेनेति ॐ। वाक्यत्वानिरुक्तिदोषेणेत्यर्थः ॐ तदिति ॐ। शब्दप्रमाणमित्यर्थः। लिङ्गप्रकरणादावव्याप्तिश्च। न च तदपि वाक्यमेव तथा च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्येति षट् प्रमाणानीत्यभ्युपगमात् श्रुतिमूलत्वेन तत्रान्तर्भावे प्रत्यक्षमूलतयाऽनुमानादेः सर्वस्य तत्रान्तर्भावापातादाप्तवाक्येऽव्याप्तेरित्यादि स्वयमूह्यम्।

आगमानन्तरभाव्यर्थापत्तिखण्डनं प्रस्तावयति ॐ केति ॐ। परोक्तलक्षणं शङ्कते ॐ अन्यथेति ॐ। जीवद्देवदत्तगेहाभावो बहिर्भावं विनाऽनुपपद्यमानो बहिःसत्त्वं गमयतीति जीवद्देवदत्तगेहाभावानुपपत्तिरर्थापत्तिरित्यर्थः। अनुपपत्तिरित्युक्ते सर्वथा अनुपपत्तौ फलविरोधिन्यामतिव्याप्तिस्तन्निरासायाह ॐ अन्यथेति ॐ। अन्यथेत्युक्ते अन्यथाऽप्युपपत्तावतिव्याप्तिस्तन्निरासायाह ॐ अन्यथेति ॐ। अन्यथाऽनुपपत्तिर्नामा-

---

का लक्षण किया है—"शास्त्रं शब्दविज्ञानाद् असन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्" (शा. भा. पृ. ३७)। इसके आधार पर असन्निकृष्टार्थ-बोधक समस्त पौरुषेयापौरुषेय वाक्यों को शब्द प्रमाण माना गया है। तथापि श्री प्रभाकर मिश्र ने इस शाबर वचन को शब्दगत धर्मज्ञान की अनिमित्तता मात्र का अवद्योतक मानकर शास्त्र की परिभाषा की है—"शासनाद्धि शास्त्रम्" (बृहती० पृ० १०५)। मुख्य रूप से शास्त्रता अपौरुषेय शब्द में ही घटती है, लौकिक शब्द में नहीं, अत एव प्राभाकरगण पौरुषेय वचनों का शब्द प्रमाण-कोटि में प्रवेश नहीं करते। लौकिक वाक्य यदि प्रमाण नहीं तब उसके आधार पर पुरुषों की प्रवृत्ति क्यों होती है? यह प्रश्न उठाकर श्री शालिकनाथ ने समाधान किया है—"कथं तर्हि लौकिकवाक्येभ्यो व्यवहारप्रवृत्तिः? उच्यते—अर्थसंशयेनापि लोको व्यवहरति, सन्दिग्धायमपि वृष्टौ वृष्ट्यायत्तफले कृष्यादिकर्मणि प्रवर्तन्ते" (प्र. पं. पृ. २४३)। भाष्यकार ने भी 'असन्निकृष्ट' पद के द्वारा पौरुषेय शब्दों की व्यावृत्ति की है—"असन्निकृष्टग्रहणेन पौरुषेयवाक्याभिधेयस्यार्थस्य वक्त्रभिप्रायनिश्चयपुरस्सरं यद्विज्ञानम्, तन्न शास्त्रमिति दर्शितम्" (प्र. पं. पृ. २६४)। परिशेषतः 'अपौरुषेयं वाक्यं शब्दप्रमाणम्'—यही लक्षण स्थिर होता है, जो कि वाक्यत्व की परिभाषा न बन पाने के कारण खण्डित हो जाता है।]।

---

३५. अर्थापत्ति के लक्षण का खण्डन

अर्थापत्ति भी क्या है? [एक ही 'अर्थापत्ति' शब्द 'अर्थस्यापत्तिरर्थापत्तिः'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थापत्ति प्रमा और 'अर्थस्यापत्तिर्यतः, सा अर्थापत्तिः'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थापत्तिप्रमाण का वाचक माना जाता है। प्रमाणविशेष-खण्डन के अवसर पर अर्थापत्ति प्रमाण के विषय में प्रश्न किया गया है—'का पुनरर्थापत्तिः?']।

(१) अन्यथानुपपत्तिः—

शङ्का—[शबरस्वामी अर्थापत्ति का लक्षण करते हैं—"अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना, यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य

त्तिरिति चेन्न, विशेषणव्यवच्छेद्याप्रतीतौ तद्वैयर्थ्येन तदनुपादाने सर्वथाऽनुपपत्त्यर्थतायां फलविरोधात् । केनाऽप्यनुपपत्त्यर्थत्वे साध्यसिद्ध्यपर्यवसानात् ।

न्येन प्रकारेणानुपपत्तिस्तथाऽन्वयत उपपादकादन्यथात्वं तदुपपादकमन्यत्वप्रतियोगि प्रागसिद्धं सिद्धं वा इति विकल्प्याद्यं प्रत्याह ॐ नेति ॐ । अन्यत्वस्य प्रतियोगिज्ञानाधीनत्वात्तस्य बहिःसत्त्वादिरूपप्रतियोगिनः सिद्धेरग्रे तदसिद्धेरन्यथानुपपत्त्यसिद्धेस्तत्सिद्धिः प्रागेव वक्तव्या ततश्चानुपपत्तिसिद्धावुपपादकसिद्धिस्तत्सिद्धौ चानुपपत्तिसिद्धिरिति परस्पराश्रय इत्याशयः ।

तर्हि सिद्धेनोपपादकेनानुपपत्तिर्ज्ञायतामिति दूषितमपि पक्षं पुनः शङ्कते दूषणान्तरदर्शनाय ॐ सिद्धेनेति ॐ । सिद्धेति विशेषणमकिञ्चित्करमिति मत्वा दूषयति ॐ नेति ॐ । सिद्धेनेति विशेषणेनासिद्धं व्यावर्तनीयं तस्यासिद्धत्वादेवाप्रतीतौ सप्तमरसादिवद्व्यवच्छेद्यत्वानुपपत्त्या विशेषणवैयर्थ्येन तदनुपादानं प्राप्तं तदनुपादाने चानुपपत्तिरिति शिष्यते सा सर्वप्रकारेणापि केनापि प्रकारेण वा, न तावत्प्रथमः सर्वथाऽनुपपत्त्यर्थतायामनुपपत्तिशब्दस्य फलविरोधादुपपादकप्रमानुपपत्तेस्तस्यापि सर्वान्तःपातितयाऽनुपपत्ते-

कल्पना" (शा. भा. पृ. ३८)। श्री कुमारिल भट्ट ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि'—इन पाँच प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण के द्वारा प्रमित पदार्थ का भाष्यस्थ 'दृष्ट' पद से एवं शब्दप्रमाण के द्वारा प्रमित पदार्थ का ग्रहण 'श्रुत' पद से करके छः प्रकार की अर्थापत्ति प्रदर्शित की है—(१) प्रत्यक्षपूर्विका, (२) अनुमानपूर्विका, (३) उपमानपूर्विका, (४) शब्दपूर्विका, (५) अर्थापत्तिपूर्विका और (६) अनुपलब्धिपूर्विका—

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहृता ।।
दृष्टा पञ्चभिरप्यस्माद्भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा ।
प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा ।। (श्लो० वा० पृ० ४५१)

देवदत्त अपने घर में उपलब्ध नहीं और किसी ज्योतिषी ने अपनी विद्या के आधार पर उसे जीवित घोषित किया है । जीवित देवदत्त का गृहाभाव बहिर्देश-सत्त्व के विना अनुपपन्न होकर वहिःसत्त्व का कल्पक है, अतः यहाँ जीवित देवत्त के गृहाभाव की अनुपपत्ति अर्थापत्ति प्रमाण और उसकी बहिःसत्ता का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमा है]।

समाधान—जीवित देवदत्तादि के गृहाभाव की 'अन्यथा अनुपपत्ति' का अर्थ है—अन्यप्रकारेण अनुपपत्ति । अन्यप्रकारेण का प्रकृत में भाव है—बहिःसत्त्वं विना । 'अन्यथात्व' 'अन्यप्रकारत्व' और 'विना'—इन तीनों शब्दों का पर्यवसान एक ही अर्थ में है कि देवदत्त की बहिःसत्ता के विना जीवितदेवदत्तप्रतियोगिक गृहवृत्ति अभाव की अनुपपत्ति है । प्रत्येक करण सिद्ध होकर ही अपने साध्य का साधक होता है, अतः अनुपपत्तिरूप करण भी सिद्ध होकर ही अपने साध्य (बहिःसत्त्व का साधक हो सकता है, किन्तु बहिःसत्त्व की सिद्ध से पहले उक्त अनुपपत्ति सिद्ध नही हो सकतो ।

यदि अनुपपत्ति की सिद्धि के लिए पहले ही बहिःसत्त्व की सिद्धि मान कर कहा जाता है कि 'सिद्धेन (वहिःसत्त्वेन) अनुपपत्तिः सिध्यति' । तब जिज्ञासा होती है कि इस 'सिद्ध' विशेषण के द्वारा व्यावर्तनीय बहिःसत्त्वगत असिद्धता की प्रतीति होती है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं होती, तब सिद्धरूप विशेषण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि अप्रतीयमान पदार्थ की व्यावृत्ति ही नहीं हो सकती । इस झमेले से छुटकारा पाने के लिए यदि 'अन्यथा'—यह विशेषण हटा कर केवल अनुपपत्ति को ही अर्थापत्ति प्रमा का करण माना जाता है, तब अनुपपत्ति के विषय में प्रश्न उठता है कि क्या सर्वथा अनुपपत्ति विवक्षित है ? या केनचित्प्र-

प्रमाणयोर्विरोधानुपपत्तिरिति चेन्न, असिद्धत्वात् । प्रमाणत्वेनाभिमन्यमानयोरिति चेन्न, अभिमतेर्भ्रमार्थत्वेऽतिप्रसङ्गात् । ज्ञानार्थत्वेऽप्युक्तदोषानिवृत्तिरेव ।

रित्यसम्भवि लक्षणमित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह ❀ केनेति ❀ । येन केन च विनाऽनुपपत्तिर्यत् किंचित्साधयेन्न तु विवक्षितं बहिःसत्त्वादीति साध्यासिद्धेरसम्भव एवेत्यर्थः ।

उक्तदोषपरिहारायाऽनुपपत्तिं प्रकारान्तरेणोपस्थापयति ❀ प्रमेति ❀ । जीवति देवदत्त इत्याप्तवाक्यं देवदत्तसत्त्वं सामान्येन प्रमापयति गृहेऽनुपलब्धिस्तदसत्त्वमिति प्रमाणयोर्विरोधोऽनुपपत्तिः सा च बहिःसत्त्वं प्रकल्प्य शाम्यतीत्याशयः । असम्भवेनैव दूषयति ❀ नेति ❀ । भिन्नविषययोरेकविषययोर्वा प्रमाणयोर्विरोधोऽसिद्ध इत्यर्थः । स्वविषयशूरत्वात्प्रमाणयोर्विरोधाभावेऽपि प्रमाणत्वेनाभिमन्यमानयोः सोऽस्तीति शङ्कते ❀ प्रमेति ❀ । अभिमतिरपि भ्रमः ? उत ज्ञानम् ? किंस्विदनिर्णयः ? इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀ । स्रजि सर्पोऽयमित्येकस्य भ्रान्तस्य वचनमपरस्य दण्डोऽयमिति तयोरपि विरोधानुपपत्तिरित्युपपादकं कल्पयेदित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीयमपवदति ❀ ज्ञानेति ❀ । ज्ञानस्य

कारेण ? यदि गृहवृत्ति देवदत्त का अभाव सर्वथा अनुपपन्न है, तब उसके बहिःसत्त्वरूप उपपादक की कल्पना सम्भव नहीं, क्योंकि खपुष्पादि सर्वथा अनुपपन्न पदार्थों का कोई उपपादक हो ही नहीं सकता । यदि अनुपपत्ति के किसी प्रयोजक-विशेष का उल्लेख न करके इतना ही कहा जाय कि 'येन केनचिद्रूपेण अनुपपत्तिः', तब भी बहिःसत्त्वरूप साध्य की सिद्धि पर्यवसित नहीं होती, क्योंकि 'बहिःसत्त्वं विना अनुपपत्तिः'—ऐसा नहीं कहा गया कि अनुपपत्ति का परिहार करने के लिए देवदत्त के बहिःसत्त्व की कल्पना की जाती ।

(२) प्रमाणयोर्विरोधानुपपत्तिरर्थापत्तिः—

शङ्का—[किसी ज्योतिषी के आप्तवाक्यरूप शब्द प्रमाण से अवगत होता है—'जीवति देवदत्तः' और अनुपलब्धिरूप प्रमाण यह प्रमाणित करता है कि 'देवदत्तो गृहे नास्ति'—इस प्रकार सत्त्वासत्त्वरूप विरुद्धार्थ के गमक दो प्रमाणों का विरोध उपस्थित होता है, जो कि उपपन्न नहीं, क्योंकि विरुद्ध या वाधित अर्थ का प्रकाशक ज्ञान प्रमाण ही नहीं माना जाता, अतः उक्त दोनों प्रमाणों का विरोध देवदत्तगत बहिःसत्त्व की कल्पना से समाहित होता है—यही अर्थापत्ति है, जैसा कि मण्डन मिश्र कहते हैं—

प्रमाणेन प्रमाणस्य विरोधेऽन्यार्थकल्पनाम् ।
अर्थापत्तिमपि स्वार्थे वदन्त्यव्यभिचारिणीम् ।। (मी. अनु. १।१।११)]

समाधान—दो प्रमाणों का विरोध ही असिद्ध है [जैसा कि श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषयः'—इत्यपास्तम्, अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधाभावात्" (सां. त. कौ. पृ. ३०)] ।

शङ्का—यद्यपि वस्तुतः प्रमाणों का विरोध सम्भव नहीं, तथापि प्रमाणत्वेन अभिमत पदार्थों का विरोध सम्भव है—एक वादी देवदत्त के असत्त्व-बोधक अनुपलब्धि को प्रमाण मान रहा है और दूसरा वादी देवदत्त के सत्ता-बोधक शब्द को शब्द प्रमाण मानता है ।

समाधान—'प्रमाणत्वेन अभिमतयोः'—यहां पर अभिमति का क्या अर्थ है ? क्या (१) भ्रम या (२) ज्ञान-सामान्य ? अथवा (३) अनिर्णय ? प्रथम पक्ष के अनुसार अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि रज्जु को देख कर एक भ्रान्त पुरुष कहता है—'सर्पोऽयम्' और दूसरा भ्रान्त कहता है—'दण्डोऽयम्' । उन वाक्यों के विरोध की अनुपपत्ति दूर करने के लिए भी उपपादक की कल्पना करनी पड़ेगी । द्वितीय पक्ष में ज्ञान प्रमाणभूत है ? या अप्रमाण ? यदि प्रमाणभूत है, तब प्रमाणभूत दो पदार्थों का विरोध ही नहीं होता और अप्रमाण मानने पर पूर्ववत् अतिप्रसङ्ग होता है । तृतीय पक्ष में भी अतिप्रसङ्ग होता है अर्थात् एक वादी

अनिर्णीयमानप्रामाण्याप्रामाण्ययोरित्यत्रापि तथैव। तथा हि–सत्प्रतिपक्षेऽपि तस्य तदुपपादकप्रमाफलकत्वापत्तेः। तत्र विरोधे व्याहत्यैकाप्रामाण्यनिश्चयः, यत्र तु नैवं तद्विवक्षितमिति चेन्न, एवं सत्प्रतिपक्षवदन्यत्रापि विरोधार्थत्वेनैवाभासत्वाविशेषात्। तर्कयोर्विरोधोऽपेक्षित इति चेन्न, मिथो विरोधेन तर्कयोरप्याभासत्वात्।

विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थप्रतिक्षेपविषयत्वसंशयोऽविशेषप्रवृत्ततद्विपरीतार्थप्रमाणस्य

प्रमाणत्वे विरोधासिद्धिरप्रमाणत्वे साधारणत्वे चातिप्रसङ्ग इति कथितदोषानुषङ्ग इति भाव: तृतीयेऽप्यतिप्रसङ्ग एवेत्याह ॐ अनिर्णीयेति ॐ । अतिप्रसङ्गमेव स्फुटयति ॐ तथा हीति ॐ । वायुः प्रत्यक्षः अनुद्भूतरूपानधिकरणत्वे सति गृह्यमाणस्पर्शाधिष्ठानत्वात् घटवद्वायुर्न स्पर्शग्राह्यो नीरूपद्रव्यत्वादात्मवदित्यत्र सत्प्रतिपक्षहेत्वोरनिर्णीयमानप्रामाण्याप्रामाण्ययोर्विरोधोऽनुपपत्तिरिति तस्य विरोधस्य तदुभयोपपादकविषयप्रमाकरणत्वेनार्थापत्तित्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । विशेषं शङ्कते ॐ तत्रेति ॐ । यत्र विरोधेऽपि व्याहत्याऽप्रमाणनिश्चयो नास्ति तदिह विवक्षितं सत्प्रतिपक्षे तु तन्निश्चय इति तद्व्यावृत्तिरित्यर्थः । तद्व्यंसम्भव एवेत्याह ॐ नेति ॐ । देवदत्तसत्त्वासत्त्वग्राहकयोरपि विरोधे व्याहत्यैवाप्रमाणत्वनिश्चयात्सत्प्रतिपक्षवदसिद्धिरित्यर्थः । शङ्कते ॐ तर्केति ॐ । देवदत्तस्य जीवित्वात्सत्त्वेन भवितव्यमिहानुपलभ्यमानत्वादसत्त्वेनेति तर्कयोर्विरोधोऽनुपपत्तिः साऽन्यत्र सत्त्वापादनेन शाम्यतीत्यर्थः । अत्रापि तुल्यमुत्तरमित्याह ॐ नेति ॐ ।

तर्कत्वेनाभिमन्यमानेत्यादिविशेषणेऽपि पूर्ववदेव पुनरपि प्रमाणविरोधाऽनुपपत्तिरिति पक्षमवलम्ब्य शङ्कते ॐ विशेषेति ॐ । अविशेषप्रवृत्ततद्विपरीतार्थप्रमाणस्य विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थप्रतिक्षेपविषयत्वसंशयः स इति सम्बन्धः। विशेषे देवदत्तगृहाभावे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपलब्धिरूपं तस्यार्थो गृहेऽभावस्तस्य प्रतिक्षेपो निरासः गृहेऽसत्त्वं स विषयो यस्य तद्विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थप्रतिक्षेपविषयस्तद्भावस्तत्त्वं तत्र संशयः तद्विषयत्वमस्ति वा न वेति अविशेषे देवदत्तसत्तामात्रे प्रवृत्तं जीवति देवदत्त इति प्रमाणं तस्माद्विशेषप्रवृत्तलक्षणाद्विपरीतार्थप्रमाणं यस्य स इति विरोधः स च गृहावच्छिन्नसत्त्वं बोधयन्न शाम्यति बहिर्भावमापादयैव शाम्यति साऽर्थापत्तिरित्याशयः । विशेषादर्शनमूलत्वात्संशयस्य विशेषदर्शने सति स नोपपद्यते इति परिहरसि ॐ नेति ॐ । वैपरीत्ये विशेषविषयप्रमाणबोधिते सति तद्विरुद्धार्थतांशे संशयस्याविशेषप्रवृत्त-

---

कहता है—'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत्' और दूसरा कहता है—शब्दोऽनित्यः, कार्यत्वाद्, घटवत्'। ऐसे सत्प्रतिपक्ष-स्थल पर भी प्रमाणत्वेन अभिमत वादों का अविरोधापादन करने के लिए भी उपपादक की कल्पना करनी होगी।

शङ्का—जहाँ विरोध होने पर किसी एक कोटि में अप्रामाण्य-निश्चय नहीं किया जा सकता, वह अर्थापत्ति में विवक्षित है, सत्प्रतिपक्ष-स्थल पर तो एक कोटि में अप्रामाण्य-निश्चय होता है, अतः वहाँ अतिप्रसङ्ग नहीं होता।

समाधान—जैसे सत्प्रतिपक्ष-स्थल पर एक कोटि में अप्रामाण्य-निश्चय हो जाने से उपपादक की कल्पना नहीं होती, वैसे ही देवदत्त की सत्त्वासत्त्व-कोटियों में भी एक की अप्रमाणता का निश्चय कर बहिःसत्त्व की कल्पना भी असङ्गत कही जा सकती है। 'दो तर्कों का विरोध अपेक्षित है'—ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि विरुद्धार्थक तर्कों में से भी एक में तर्काभासता सम्भव हो जाती है।

शङ्का—'गृहे नास्ति'—इस प्रकार गृहासत्त्वरूप विशेषार्थ में प्रवृत्त अनुपलब्धिरूप प्रमाण के विषयीभूत गृहासत्त्व के प्रतिपक्षी (विरोधी गृहसत्त्वरूप) विषय का जो संशय होता है—'जोतिष शास्त्र का गृहसत्त्वमपि विषयो न वा ?' वही संशय यहाँ पर 'अविशेषतः क्वचिदस्ति देवदत्तः'—ऐसा बतानेवाले आगम प्रमाण का विरोध विवक्षित है, वही बहिःसत्त्व-विषयक प्रमारूप फल का करणीभूत अर्थापत्ति प्रमाण है।

विरोध इति चेन्न, विशेषविषयप्रमाणबोधितवैपरीत्ये सति तद्विरुद्धार्थतांशे संशयस्य दुर्बलस्यानवकाशत्वेन अविशेषप्रवृत्तप्रमाणविषयतां तदीयां गोचरयितुमप्यसामर्थ्यादेव। अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य तद्विपरीतार्थविशेषविषयप्रमाणदर्शनं तदितरविशेषविषयप्रमाफलकं तथेति चेन्न, अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य तद्विपरीतार्थविशेषविषयस्य च प्रमाणस्य च विषययोस्तद्विपरीतत्वविशेषणप्रतीत्यङ्गीकारलब्धायां परस्परविरुद्धत्वप्रतीतौ धर्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदस्य विरोधविवेचनस्फुटतद्गर्भप्रवेशतया तत्सहज्ञेयस्य तन्नान्तरीयकस्य वाऽन्यत्रेवाऽन्यत एव प्राप्तेः।

प्रमाणविषयतां तदीयां विशेषप्रमाणाबोधितवैपरीत्यविरुद्धांशसम्बन्धिनीं गोचरयितुमप्यसामर्थ्यादेवेत्यन्वयः। असामर्थ्ये हेतुर्दुर्बलस्येत्यादि। न हि स्थाणुरेवायमिति विशेषप्रमाणबोधिते स्थाणुत्वे ऊर्द्ध्वत्वदर्शनात्तद्विरुद्धपुरुषत्वसंशयो भवति तद्वदनुपलब्ध्या गेहाभावे निश्चिते सति सामान्यप्रमाणेन तत्प्रतिक्षेपसंशयोऽसम्भवीत्यर्थः। प्रकारान्तरेण प्रमाणविरोधमनुपपत्तिं शङ्कते ॐ अविशेषेति ॐ। अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य तदितरविशेषविषयप्रमाफलकत्वं तद्विपरीतार्थविशेषविषयप्रमाणदर्शनं तथा विरोध इति सम्बन्धः। अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य—जीवति देवदत्त इति वाक्यस्य तद्विपरीतार्थं—तस्मात्सामान्यप्रमाणाद्विपरीतार्थं गेहाभावविषयविशेषप्रमाणमनुपलब्धिस्तद्दर्शनं तस्मादितरो विशेषो गेहाभावादितरो बहिर्भावात्मको विशेषस्तद्विषयमविशेषप्रमाणमिति—प्रमाणजनकमित्यर्थः। अर्थापत्तिमन्तरेणैव सामान्यविशेषप्रमाणार्थभेदसिद्धेर्मैवमिति परिहरति ॐ नेति ॐ। अविशेषप्रवृत्तस्य तद्विरीतार्थविशेषविषयस्य च प्रमाणस्य विषययोः परस्परविरुद्धत्वप्रतिपत्तौ धर्मिणोर्भेदस्यान्यत एव प्राप्तेरित्यन्वयः। विरुद्धत्वप्रतीतौ हेतुस्तद्विपरीतेति। तस्माद्विशेषप्रवृत्तप्रमाणाद्विपरीतत्वविशेषणप्रतीत्यङ्गीकारेण लब्धायां अन्यत एव प्राप्तौ हेतुः विरोधेति। विरोधस्य सहानवस्थानरूपस्य विवेचनं तस्मिन् स्फुटस्तद्गर्भे प्रवेशो यस्य स तथोक्तस्तद्भावस्तत्ता तया सह ज्ञेयस्य। तदुपपादनाय भेदस्वरूपमाह ॐ विरुद्धधर्माध्यासस्येति ॐ। विरुद्धयोर्धर्मयोर्भावत्वाभावत्वयोः सम्बन्धो विरुद्धधर्म्माध्यासः स खलु विरोधगर्भे प्रविशति तेन विरोधेन सह ज्ञेयस्ततो विरोधप्रतीत्यैव विषयभेदस्य विरोधप्रतीतिकाल एव सिद्धत्वादर्थापत्तिरफला अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्म्माध्यासः कारणभेदश्चेति मतमवलम्ब्योक्तमन्योन्याभावो भेद इति मतेऽप्याह ॐ तदिति ॐ। तन्नान्तरीयकत्वं विरोधापर्यवसानवृत्या तदनुबन्धित्वम्। अन्यत एव विरोधप्रतीतेरेव। अन्यत्रेव घटतद्भावयोरिव। देवदत्तभावाभावयोरपि भेदः सिद्धोऽन्यथा तत्राप्यर्थापत्तिः स्यादिति विफलैवार्थापत्ति-

---

समाधान—'गृहे नास्ति'—इस प्रकार विशेषार्थ-निश्चय के अनन्तर गृहासत्त्व के विरोधीभूत गृहसत्त्व का संशय ही नहीं होता, तब उसमें सामान्यतः सत्त्वावगाही आगम शास्त्र की विषयता अवगमित हो नहीं हो सकता, अतः उक्त अप्रसिद्ध संशय किसी प्रमाण का विरोध और अर्थापत्ति प्रमाण क्योंकर बन सकेगा?

शङ्का—'देवदत्तः क्वचिदस्ति'—इस प्रकार अविशेषार्थ में प्रवृत्त आगमरूप प्रमाण के विषय से विपरीत गृहासत्त्व-विषय में अनुपलब्धि रूप प्रमाण का प्रदर्शन ही वह अर्थापत्ति है, जिसका फल बहिःसत्त्वविषयिणी प्रमा होती है।

समाधान—अविशेषावगाही आगम प्रमाण और उसके विषय से विपरीतार्थावगाही अनुपलब्धिरूप प्रमाणों का विषय-भेद अर्थापत्ति के बिना ही अवगत हो जाता है, क्योंकि दो विरोधी धर्मों का एक धर्मी कदापि नहीं हो सकता, अतः 'देवदत्तस्य सत्त्वासत्त्वे विभिन्नधर्मिके भवतः, परस्परं विरुद्धत्वात् प्रकाशत्वाप्रकाशत्ववत्'। आशय यह है कि सहानवस्थानरूप विरोध का जो एकधर्म्यनवस्थानव्यवस्थापनरूप विवेचन है, उसी के गर्भ में विरुद्धधर्मिकत्व समाविष्ट हो जाता है, क्योंकि धर्मिभेद के विना धर्मगत विरोध सम्भव नहीं, अतः धर्मगत विरोध का धर्मिभेद वैसे ही नान्तरीयक है, जैसे धूम के होने में अग्नि का होना।

किञ्च—अविशेषप्रवृत्तस्यैव तस्य किं विशेषविषयत्वम्, अथ सामान्यतः प्रवृत्तस्य नान्तरीयकतया प्रागेव विशेषविषयस्य विशेषविषयत्वेनाज्ञातस्य विशेषविषयत्वम्? अथवा सामान्यस्य तद्विषयस्य विशेषः? उत तद्विषयीकृतविशेषगतं किमपि धर्मान्तरमिदानीं प्रमीयते? नाद्यः अर्थापत्तेर्भ्रमकरणत्वापत्तेः। न द्वितीयः, तदनुव्यवसायोत्पत्तेस्तद्विषयाप्रतीत्यसम्भवात्। न तृतीयः, सामान्यस्यानन्तर्भाविताश्रयस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् प्रागेव तत्सिद्धेः।

नापि चतुर्थः, तद्धि प्रतीयमानविरोधिव्यतिरिक्तत्वम्, अन्यद्वा स्यात्? नान्त्यः,

---

रित्यर्थः।

प्रकारान्तरेण विकल्प्यापाद्यति ❀ किं चेत्यादिना ❀। जीवति देवदत्त इत्यविशेषप्रवृत्तप्रमाणस्य बहिर्भावरूपविशेषविषयत्वं प्रमीयत इति प्रथमकल्पार्थः। प्रमाणस्य सामान्यतः प्रवृत्तत्वं तदपर्यवसानेनार्थापत्तेः प्रागेव विशेषविषयस्य सतो विशेषविषयत्वेनाज्ञातस्य विशेषविषयत्वमिदानीं प्रमीयत इति द्वितीयार्थः। जीवति देवदत्त इति प्रमाणविषयस्य सत्त्वसामान्यस्य बहिर्देशत्वादिविशेष इदानीं प्रमीयत इति तृतीयार्थः। सामान्यप्रमाणविषयीकृते विशेषे किमपि धर्मान्तरमिदानीं प्रमीयत इति तुरीयार्थः। पूर्वं तु विकल्पद्वयं प्रमाणाश्रयमपरं प्रमेयाश्रयम्। विकल्पक्रमेण निराकरोति ❀ नेति ❀। सामान्यविषयस्यैव प्रमाणस्य विशेषविषयत्वप्रतीतिर्भ्रमस्तत्करणं चार्थापत्तिः प्रमाणं स्यादित्यर्थः। द्वितीयमपवदति ❀नेति❀। कुत इत्यत आह ❀ तदिति ❀। विशेषविषयस्य प्रमाणस्य तद्विषयत्वेनाज्ञातस्यैवासम्भवात्। तत्रापि हेतुस्तदिति। व्यवसायो निश्चयस्तमनु जायमानोऽनुव्यवसायस्तद्वादिमते फललिङ्गानुमानज्ञानवादिनयेऽप्यनुव्यवसायोऽस्त्येवानुमारूपः स्वयं प्रकाशत्वे त्वज्ञानमेव न सम्भवतीति भावः। तृतीयं निराकरोति ❀ नेति ❀। अर्थापत्तेः प्रागेव विशेषसिद्धेरिति हेतुस्तत्रापि कारणं सामान्येत्यादि। सामान्यस्य सत्तायामपराधीनस्यापि प्रतीतौ व्यक्तिपरतन्त्रत्वान्नानन्तर्भविताधिकरणं ज्ञातुं शक्यते इत्यर्थः।

तुरीयोऽपि न चातुरीयं प्राञ्चतीत्याह ❀ नेति ❀। तदनुपपत्तिप्रकटनाय विकल्पयति ❀तदिति❀। प्रतीयमानो गृहेऽभावो विरोधी यस्य तत्प्रतीयमानविरोधि गृहे सत्त्वं ततो व्यतिरिक्तत्वं बहिःसत्त्वमिति यावत्। अन्यदिति तद्गतपरिणामादिधर्मान्तरमित्यर्थः। प्रधानपरिवारन्यायेनान्त्यमादौ दूषयति ❀ नान्त्य

दूसरी जिज्ञासा यहाँ यह भी होती है कि इस अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा क्या (१) 'जीवति देवदत्तः'—इस प्रकार सामान्यतः प्रवृत्त प्रमाण में बहिःसत्त्वरूप विशेषविषयकत्व सिद्ध किया जाता है? या (२) अर्थापत्ति के पूर्व हो उस प्रमाण में विशेषविषयकत्व विद्यमान किन्तु अज्ञात था और अब वह उसमें अवबोधित होता है? या (३) सामान्यतः प्रवृत्त प्रमाण के विषयीभूत सत्त्व में बहिर्वृत्तित्व रूप विशेषता समर्पित की जाती है? अथवा (४) सामान्यतः प्रवृत्त प्रमाण के द्वारा विषयीकृत विशेषार्थ में कोई धर्मान्तर अवबोधित होता है? प्रथम कल्प के अनुसार अर्थापत्ति प्रमाण में भ्रम की करणता प्राप्त होती है, क्योंकि जो प्रमाण विशेषविषयक न होकर सामान्यार्थविषयक है, उसमें विशेषार्थविषयकत्व का ज्ञान अतस्मिंस्तद्बुधिरूप भ्रम ही होता है। द्वितीय कल्प भी सम्भव नहीं, क्योंकि कोई प्रमाण विशेषार्थविषयक हो और विशेषविषयकत्व उसमें ज्ञात न हो—ऐसा सम्भव क्योंकर हो सकता है? एवं यदि वह प्रमाण विशेषविषयक है, तब उसका अनुव्यवसाय भी विशेषविषयक होगा, उसी से अर्थापत्ति गतार्थ हो जाती है। तृतीय कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि "निर्विशेषं न सामान्यम्"—इस न्याय के अनुसार जब तक विशेषाश्रयता सामान्य में प्रतिपादित न हो, तब तक सामान्य का ज्ञान ही नहीं हो सकता, अतः अर्थापत्ति के पहले ही अभिमतार्थ-सिद्धि पर्यवसित हो जाती है। चतुर्थ कल्प भी उपपन्न नहीं, क्योंकि विवक्षित धर्मान्तर प्रतीयमान गृहाभाव के विरोधीभूत गृहसत्त्व से व्यतिरिक्त बहिःसत्त्व होगा? अथवा कोई अन्य? अन्तिम पक्ष संगत नहीं, क्योंकि

तत्प्रतीतौ सामर्थ्यानुपदर्शनेन अनियमप्रसङ्गात् । न प्रथमः, अनुगताननुगतजातिव्यक्ति-चाक्षुषाचाक्षुषादिव्यक्तिगन्धादितादात्म्यवादिनये तदुभयप्रमातादात्म्यविषयताव्युदासं विना विरोधासिद्ध्या तद्गमनिकाबलस्यैवासिद्धेः । तदुभयप्रतीतौ च तदवधारणे प्रागेव तत्प्रतीत्याऽर्थापत्त्यनुवादतापत्तेः ।

३६. अनुपलब्धिलक्षणखण्डनम्

१ योग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाकरणमित्यप्ययुक्तम्, प्रमाणाभावस्य तथात्वे विभ्रमा-

इति ॐ । तत्प्रतीतौ विशेषदर्शनरूपार्थापत्तेः सामर्थ्यं दर्शयितुमशक्यत्वेनार्थापत्त्या इदं प्रमीयत इति निश्चेतुमशक्यत्वादर्थापत्तिः संशयकरणं प्रमाणं न स्यादित्यर्थः । प्रथमकल्पेऽपि किं भट्टनयानुसारेणेदमुच्यते ? गुरुमतानुसरणेन वेति ? विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ नेति ॐ । अनुगता चाननुगता चानुगताननुगते ते च जातिव्यक्ती चाक्षुषा चाचाक्षुषा च चाक्षुषाचाक्षुषे ते च आदी यासां व्यक्तीनां ता अनुगताननुगतजाति-व्यक्तिचाक्षुषाचाक्षुषादिव्यक्तिगन्धादयस्तासां तादात्म्यवादिनये तदुभयप्रमायास्तादात्म्यविषयताव्युदासं विना विरोधस्यैवासिद्धेः । एतदुक्तं भवति । अनुगता जातिरननुगता व्यक्तिरनुगतत्वभावोऽननुगतिस्तयो-स्तादात्म्यविषया प्रतीतिः प्रमा तथा घटश्चाक्षुषोऽचाक्षुषो गन्धः स न ग्राह्यो रसो नापस्तथा तत्र च तादात्म्यविषया प्रतीतिः प्रमा इत्यभ्युपगच्छता तादात्म्यप्रतीतेः प्रमात्वव्युदासं विना देवदत्तभावाभाव-योरेकस्मिन् गेहे विरोधासिद्ध्या विशेषदर्शनस्यैव बहिःसत्त्वगमनिकासामर्थ्यस्यैवासिद्धेरर्थापत्तेरसम्भव इति । यदि गुरुमतानुसारेणोच्यते तत्राह ॐ तदिति ॐ । तयोर्विशेषाविशेषप्रमाणार्थयोः प्रतीतौ तन्निष्ठो विरोधोऽवधार्यः अनवधारणे तद्धर्म्मविरोधस्यैवावधारणानुपपत्तेः तथा च तन्निष्ठासहावस्थाने विरोधाव-धारण एवार्थापत्तिविषयस्य बहिःसत्त्वस्य सिद्धेः सामान्यप्रमाणस्य तद्विरुद्धार्थविशेषप्रमाणदर्शनरूपार्था-पत्तिरनुवादत्वेनाप्रमाणं स्यादित्यर्थः । एतेनानुपपद्यमानदर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिरिति निरस्तमनुपपत्ति-विषयस्यानुपपद्यमानत्वादनुपपत्तेश्च दुर्निरूपत्वादिति ।

भट्टाभिमतषष्ठप्रमाणखण्डनमुपक्रमते ॐ योग्येति ॐ । योग्यत्वे सत्यनुपलम्भोऽभावप्रमाकरणमित्या-

---

जब तक उसका विशेषतः निर्देश नहीं होता, तब तक 'अर्थापत्त्या इदं प्रमीयते'—ऐसा निश्चय ही नहीं किया जा सकता। प्रथम कल्प भी समीचीन नहीं, क्योंकि 'जातिरूप अनुगत धर्म एवं व्यक्तिरूप अननुगत पदार्थों की तादात्म्यविषयिणी प्रतीति प्रमा है, घटरूप चाक्षुष एवं गन्धरूप अचाक्षुष पदार्थों के तादात्म्य की प्रतीति प्रमा है'—ऐसा मानने वाले भाट्टगण जब तक तादात्म्य-प्रतीति के प्रमात्व का निराकरण न कर दें, तब तक देवदत्त के भाव और अभाव का एक ही गृह में विरोध ही सिद्ध नहीं होता, अतः अर्थापत्ति सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उसके विना विशेषण-दर्शन में बहिःसत्त्व की गमनिका का सामर्थ्य सम्भव नहीं। सामान्यतः प्रवृत्त और विशेषतः प्रवृत्त प्रमाणों के विषयों की प्रतीति होने पर ही उनका विरोध अवधारित होगा, अतः विरोधावधारण-काल में ही वहिःसत्त्व की प्रतीति हो जाती है, पश्चात् प्रवृत्त अर्थापत्ति प्रमाण केवल अनुवादक होकर रह जाता है।

३६. अनुपलब्धि-लक्षण का खण्डन

(१) योग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाकरणम्—

शङ्का—[श्रीपार्थसारथि मिश्र ने प्राभाकर मत का खण्डन करते हुए भाट्टमतानुसार यह सिद्धान्त स्थिर किया है—"तस्माज्ज्ञाततयैव योग्यानुपलब्धिरभावज्ञानकरणमित्यभ्युप-

नुदयप्रसङ्गात् । उपलम्भाभावमात्रस्य तथात्वे शङ्खधवलिमप्रतिसन्धानवतः पीतभ्रमानुदयप्रसङ्गात् । कालभेदात्तत्राविरोध इति चेन्न, तथापि संसृष्टयोरन्योन्याभावाग्रहण-

दुर्योग्यत्वं च प्रतियोगितविन्द्रियसन्निकर्षातिरिक्तप्रतियोगिप्रमापकबाह्येन्द्रियमनःसमाधानाविदुष्टसामग्रीसम्पत्तिस्तस्यां सत्यां प्रतियोग्यनुपलम्भः तदभावप्रमां कुर्वन्नभावप्रमाणमुच्यते यथा भूतले घटो नास्तीति । अयोग्यभूतललग्नसलिलानुपलम्भनिरासायाह ❀ योग्येति ❀ । योग्यस्योपलम्भनिरासायानुपलम्भेति । किमनुपलम्भशब्देन प्रमाणाभावो विवक्षित उत ज्ञानमात्राभाव इति विकल्प्य प्रथमं पराचष्टे ❀ प्रमेति ❀ । तथात्वे—अभावप्रमाकरणत्वे इत्यर्थः । शुक्तौ योग्यत्वे सति रजतविषयप्रमाणाभावस्य तदभावप्रमाकरणस्य सत्त्वेन नेदं रजतमिति तदभावप्रमैव स्यान्न त्विदं रजतमिति भ्रम इत्यर्थः । न च तदा गुणाभावेन करणस्य दोषप्रतिहतशक्तित्वेन वा प्रतियोगिप्रमापकसाकल्यं योग्यत्वमेव नास्तीति वाच्यम् । स्वतः प्रामाण्यपक्षे गुणस्य प्रमाऽकरणत्वाद्दोषस्य करणगतज्ञानजननशक्त्यभिघातकत्वे वा भ्रमज्ञानस्याप्यनुदयादत एव प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं ज्ञानहेतुमात्राधीनत्वमाहुः । अस्तु तर्हि द्वितीयस्तत्र रजतप्रामाण्याभावेऽपि तज्ज्ञानमात्रसम्भवेन भ्रमोपपत्तेरित्यत आह ❀ उपेति ❀ । पूर्वानुभूतधवलिमानं स्मरतस्तद्विरोधात्पीतज्ञानमेव नास्ति युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेर्मनसो लिङ्गत्वादतः पीतिमोपलम्भाभावस्य तदभावप्रमाकरणस्य विद्यमानतया तदभावप्रमैव स्यान्न तु पीतः शङ्ख इति विभ्रम उक्तदोषवतोऽपीत्यर्थः । शङ्खश्वैत्यस्मरणकाले पीतानुपलम्भेऽपि तदुत्तरकाले पीतोपलम्भसम्भवेन तद्भ्रमोत्पादाविरोध इति शङ्कते ❀ कालेति ❀ । प्राक्काले

गन्तव्यम्" (शा० दी० पृ० ८६) । जिस अभाव के प्रतियोगी की उपलम्भक पूर्ण सामग्री विद्यमान है, केवल प्रतियोगी नहीं, ऐसे अभाव को योग्य उपलम्भाभाव या योग्यानुपलम्भ कहा जाता है । किसी वस्तु का योग्य अनुपलम्भ उस के अभाव की प्रमा का करण या अनुपलब्धि प्रमाण माना जाता है । शबर स्वामी ने भी कहा है—"अभावोऽपि प्रमाणाभावो नास्तीत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य" (शा. भा. पृ. ३६) । वार्तिककार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ।। (श्लो. वा. पृ. ४७३)

प्रभाकर मिश्र ने प्रमाणाभाव में प्रमाणता का कथन विरुद्ध माना है, किन्तु कुमारिल भट्ट ने कहा है—

अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते ।
प्रमेयत्वाद् यथा भावस्तस्माद्भावात्मकात्पृथक् ।।

'अभावः स्वानुरूपेण प्रमाणेन प्रमीयते, प्रमेयत्वाद्, भाववत्'—इस अनुमान प्रमाण के द्वारा अनुपलब्धि प्रमाण की पृथक् सत्ता सिद्ध होती है] ।

समाधान—प्रमाणों के समान ही प्रमाणाभाव को भी प्रमा का करण मानने पर भ्रम ज्ञान उदय न हो सकेगा, क्योंकि शुक्ति में रजताभावविषयक प्रमा का करणीभूत प्रमाणाभाव ही विद्यमान है, अतः वहाँ रजताभाव का निश्चय हो जाने के कारण रजत-भ्रम क्योंकर होगा ?

शङ्का—अनुपलम्भ-घटक उपलम्भ का अर्थ प्रमा नहीं कि रजतविषयक प्रमा के अभावरूप अनुपलम्भ प्रमाण का सद्भाव हो जाने से उक्त स्थल पर रजताभाव की प्रमा प्रसक्त होती । उपलम्भ का प्रकृत में ज्ञानमात्र अर्थ विवक्षित है, रजत का स्मरण ज्ञान रहने के कारण अनुपलम्भ नहीं उपपन्न होता, अतः रजताभाव की प्रमा उत्पन्न नहीं हो सकती, रजत-भ्रम ही होगा ।

समाधान जो व्यक्ति पूर्वानुभूत शङ्खस्थ श्वेत रूप का स्मरण कर रहा है, उसे श्वेत रूप के विपरीत 'पीतः शङ्खः'—ऐसा भ्रम ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि न्यायसूत्रकार का कहना है कि "युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम्" (न्या. सू. १।१।१३) । अर्थात् 'श्वेत-

प्रसङ्गात्, तादात्म्यस्य स्वरूपमात्रानतिरेकात्। अभावस्फुरणे च तत्प्रतिभानस्य ध्रौव्यात्।

किञ्च योग्यता हि तत्तदविनाभूतान्यप्रतियोगिप्रमापकसाकल्यमिष्यते। तथा सति च यत्र भावोपलम्भस्तत्राप्यभावप्रमा स्यात्। न हि तत्र हेतुव्यतिरेकेणैव वा

तदभावप्रमाकरणपौष्कल्ये तदभावप्रमोत्पत्तेरेव तदुपलम्भोऽसम्भवीति परिहरति ॐ नेति ॐ। अङ्गीकृत्यापि दूषयति ॐ तथापीति ॐ। संसृष्टयोर्गिरितर्वोर्नायं गिरिस्तरुरिति इतरेतराभावग्रहणं तस्य तत्प्रतियोगितादात्म्यस्य तदोपलम्भेन तदभावप्रमाकरणानुपलम्भाभावादिति भावः। गिरितरुस्वरूपप्रतिभानेऽपि तत्सम्बन्धस्तादात्म्यं न भातीति तदभावप्रमा किन्न स्यादित्यत आह ॐ तदेति ॐ। अन्योन्याभावे तत्स्वरूपेणैव प्रतियोगित्वन्न संसृष्टस्य संसर्गस्य वा तथा सति संसर्गाभावादितरेतराभावस्य भेदाभावप्रसङ्गादतस्तादात्म्यं प्रतियोगिस्वरूपमेवेत्यर्थः। तादात्म्यस्य स्वरूपमात्रं वा कथं तत्प्रतिभासोऽभावग्रहणकाल इत्यत आह ॐ अभावेति ॐ।

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥"

इति भाषितत्वादित्यर्थः। एवं विशेष्यानुपलम्भांशप्रयुक्तदूषणमभिधाय विशेषणांशयोग्यत्वप्रयुक्तं दूषणमभिधत्ते ॐ किं चेति ॐ। तदिति प्रतियोग्युच्यते। तदविनाभूतेति तदिन्द्रियसन्निकर्षः सम्बन्धस्य सम्बन्ध्यविनाभूतत्वात् ताभ्यामन्यानि प्रतियोगिप्रमापकाणीन्द्रियाणि मनःसमाधानादीनि तेषां पौष्कल्यं योग्यता स्वस्वेतरातिरिक्तस्वप्रमापकसामग्रीयोग्यत्वमिति यावत्। उत्पादकसामग्र्या व्यावृत्त्यर्थं प्रमापकेत्याह। अभावप्रमापकसाकल्यनिरासाय प्रतियोगीति। प्रतियोगितदविनाभूतयोरपि प्रतियोगिप्रमापकत्वमस्तीति योग्यत्वमसम्भवि स्यात्तन्निराकरणाय तत्तदविनाभूतान्येति। अस्त्विदं योग्यत्वमीस्मिश्चानुपलम्भोऽभावप्रमाकरणं एतावता को दोषस्तत्राह ॐ तथेति ॐ। यत्र घट इति प्रमा भवति तत्र घटो नास्तीत्यपि प्रमा

ज्ञान' और 'पीतज्ञान'—दो एक समय नहीं हो सकते। अतः पीतिमा के उपलम्भ का अभाव सुलभ हो जाने के कारण पीतत्वाभाव की प्रमा होनी चाहिए, 'पीतः शङ्खः'—ऐसा भ्रम नहीं—इस प्रकार 'उपलम्भ' शब्द को ज्ञानमात्र का वाचक मानने पर यद्यपि भ्रममात्र की अनुपपत्ति नहीं, किन्तु भ्रमविशेष की अनुपपत्ति अवश्य है।

शङ्का—यह सत्य है कि दो ज्ञान एक काल में नहीं होते किन्तु भिन्न कालों में हो सकते हैं, अतः शङ्खः श्वेतः'—इस प्रकार का स्मरण जिस काल में नहीं, उस काल में तो पीतिमा का उपलम्भ सम्भव हैं, अतः 'पीतः शङ्खः'—ऐसा भ्रम उपपन्न हो जाता है।

समाधान—यद्यपि स्मरण के समाप्त हो जाने पर दूसरा ज्ञान हो सकता है। तथापि भिन्न कालों में मानकर उक्त भ्रम ज्ञानों की कथमपि उपपत्ति हो सकती है। फिर भी अनुपलब्धि प्रमाण को मानने पर वहाँ घट और पट के अन्योन्याभाव का ग्रहण न हो सकेगा, जहाँ घट और पट –दोनों संसृष्ट (इन्द्रिय-सन्निकृष्ट) है, क्योंकि अभाव का ग्रहण प्रतियोगी के उपलम्भाभाव से होता है, प्रकृत में घटादिरूप प्रतियोगी का उपलम्भ ही हो रहा है।

यदि घटादि को अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगी न मानकर घट और पट के तादात्म्य को प्रतियोगी माना जाता है, तब भी घटादि का तादात्म्य उनका स्वरूप ही होता है, अतिरिक्त नहीं, फलतः अन्योऽन्याभाव की प्रतियोगिता घटादि में ही पर्यवसित होती है। तादात्म्य को यदि संसृष्ट घटादि के स्वरूप से अतिरिक्त भी मान लिया जाय, तब भी अभावग्रहण के समय प्रतियोगी का अज्ञान या अनुपलम्भ संभव नहीं, क्योंकि अभाव-ग्रहण में प्रतियोगी का स्मरण (उपलम्भ) आवश्यक है, जैसा कि कुमारिल भट्ट कहते हैं—

सत्येव वा तदभावप्रमोत्पद्यते। तत्तदविनाभूतविरहसहितः स तथेति चेन्न, तदविनाभूतव्यतिरेकस्य तद्व्यतिरेकेणैवान्यथासिद्धसन्निधेरपि हेतुत्वाङ्गीकारे प्रमाणाभावात्। अत एव आलोकस्याध्यक्षणे नाऽऽलोकान्तरवत्ताऽवयवेनावयविना वा, आलोकेनान्य-

स्यात् कुत इत्यत आह ॐ न हीति ॐ। प्रतियोगिप्रमापकसाकल्यव्यतिरेकेणाभावप्रमा न जायते कार्यस्य कारणसाकल्यपूर्वकत्वनियमात्तत्र प्रमापकसद्भावे भावोपलम्भादेव नाभावप्रमोत्पद्यतेऽनुपलम्भाभावादित्यत आह ॐ सतीति ॐ। भावोपलम्भे सत्येव न भावप्रमा भवति वैयर्थ्यादनवस्थानाच्चातः प्रमापकसाकल्ययोग्यत्वे सति प्रतियोगिप्रमोत्पत्तिक्षणेऽनुपलम्भस्य सम्भवाद् द्वितीयक्षणे तदभावप्रमा स्यादित्याशयः। उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणं शङ्कते ॐ तदिति ॐ। प्रतियोगितदिन्द्रियसन्निकर्षव्यतिरेकसहितयोग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाणमिति नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः। तदविनाभूतव्यतिरेकेति विशेषणं व्यर्थं तद्व्यतिरेकसाहित्यविशेषणेनैवातिप्रङ्गनिवृत्तेरिति परिहरति ॐ नेति ॐ। तदविनाभूतव्यतिरेकस्य हेतुत्वाङ्गीकारे प्रमाणाभावादभावप्रमायां इति शेषः। इन्द्रियसन्निकर्षे सत्यभावप्रमानुत्पादादसति चोत्पादादन्वयव्यतिरेकौ प्रमाणमित्यत आह ॐ तदिति ॐ। प्रतियोग्यभावादेव सन्निकर्षाभावो न त्वभावप्रमाकरणत्वादित्यन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकावित्यर्थः। अन्यथासिद्धसन्निधेरहेतुत्वं क्व दृष्टमित्यपेक्षायां तद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति ॐ अत इति ॐ। अत एवान्यथासिद्धसन्निधेरालोकाध्यक्षणेऽन्यालोकान्तरवत्ताऽन्यथासिद्धसन्निधिरहेतुः कथमालोकान्तरवत्ता तत्राह ॐ अवयवेति ॐ। अवयव्यालोकाध्यक्षणेऽव-

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥ (श्लो. वा. पृ. ४८२)

[भूतलादि अनुयोगी वस्तु का ग्रहण और प्रतियोगी का स्मरण हो जाने पर ही अन्य इन्द्रियों की सहायता के बिना केवल मन के द्वारा अभाव का ज्ञान होता है]।

दूसरी बात यह भी है कि जहाँ घट की विद्यमान अवस्था में 'घटोऽयम्'—ऐसी प्रत्यक्ष प्रमा होती है, वहाँ भी 'घटो नास्ति' इस प्रकार की अभावप्रमा होनी चाहिए, क्योंकि घट-प्रमा के पूर्वक्षण में घट-प्रमा नहीं होती [असत्कार्यवाद में प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व क्षण में सत् नहीं माना जाता]। घट-प्रमा का न होना ही वह अनुपलम्भ है, जो कि अभाव-प्रमा को जन्म दिया करता है। उस अनुपलम्भ में कथित योग्यता भी है, क्योंकि 'तत्तदविनाभूतप्रतियोगिप्रमापकसाकल्य' का नाम ही योग्यता है, वह [(१) प्रतियोगिरूप तत्पदार्थ एवं (२) प्रतियोगीन्द्रियसन्निकर्षरूप तदविनाभूत पदार्थ—इन दोनों से अतिरिक्त प्रतियोगी के उपलम्भक कारणकलाप की पूर्णता] भी घट-प्रमा के पूर्व क्षण में है, क्योंकि हेतुव्यतिरेकेण (कारण के विना) घट की प्रमा ही नहीं हो सकती।

शङ्का—केवल योग्यानुपलम्भ अभाव-प्रमा का कारण नहीं होता, अपितु प्रतियोगी और प्रतियोगीन्द्रिय-सन्निकर्ष के अभाव से युक्त योग्यानुपलम्भ अभाव-प्रमा का जनक माना जाता है। घट-प्रमा के पूर्व क्षण में घट और घट के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष—दोनों विद्यमान हैं, अतः घटाभावप्रमा वहाँ क्योंकर होगी ?

समाधान—कारण-कोटि में प्रतियोगिव्यतिरेक (प्रतियोगी के अभाव) का निवेश कर देने से ही प्रतियोगी के अविनाभाव का व्यतिरेक गतार्थ एवं अन्यथासिद्ध हो जाता है, अतः उसे अभाव-प्रमा का करण नहीं माना जा सकता, क्योंकि दण्ड-रूपादि के समान अन्यथासिद्धसन्निधिवाले (दण्ड के सन्निहित हो जाने मात्र से दण्डगत रूपादि की सन्निधि सिद्ध हो जाती है, अतः ऐसे) पदार्थों को कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं। अत एव आलोक के प्रत्यक्ष में आलोकान्तर का सन्निकर्ष हेतु नहीं माना जाता [चक्षु के द्वारा आलोक का प्रत्यक्ष करने में आलोकान्तर-वैशिष्ट्य चक्षु में दो प्रकार से हो सकता है—(१) अवयविरूप

थासिद्धसन्निधिरहेतुरित्यालोकाभावग्रहे सा नापेक्ष्यते। अर्थाक्षयोगस्तु नार्थव्याप्तः, अंशत ऐक्यात्।

तद्विरहसहितः स तथेति चेन्न, इन्द्रियसन्निकर्षस्य हि प्रतियोग्युपलम्भे तावद्धेतुताऽङ्गीक्रियते। तत्र किं सन्निकर्षव्यतिरेके कार्यानुदयोदाहरणमेष्टव्यं न वा? न यदि, तदा सन्निकर्षस्य हेतुतैव कुतो मन्तव्या, अन्यथैव कार्योत्पत्त्युपपत्तेः। एष्टव्यं

यवेनावयवालोकाध्यक्षणेऽवयविना वा याऽऽलोकान्तरवत्ता चक्षुषः साऽन्यथासिद्धसन्निधिस्तदन्वयव्यतिरेकावन्यथासिद्धौ कार्यकारणत्वेन सन्निधिर्न्न त्वन्योन्यज्ञानहेतुत्वेनेति (क्रियावदालोकाध्यक्षणे हेतुर्न्न भवतीति) कृत्वा तदभावग्रहेऽप्यालोकाभावतमोग्रहेऽप्यालोकवत्ता नापेक्ष्यते यावता प्रतियोगिज्ञानं तदभावोऽपि तावतेति न्यायादित्यर्थः।

तत्तदविनाभूतविरहसहितेत्यादिलक्षणे व्यर्थविशेषणत्वमुक्त्वा सम्प्रत्यसम्भवमाह ॐ अर्थेति ॐ। अर्थेन्द्रियसम्प्रयोगस्य नार्थव्याप्यत्वमर्थस्य सम्प्रयोगविशेषणतया व्याप्यत्वं व्यापकत्वं चेति स्ववृत्त्यापातात्। न चार्थस्योपलक्षकत्वमेवं सति सन्निकर्षमात्रस्य व्याप्तत्वप्रसङ्गादुपलक्षणवैलक्षण्याच्चार्थस्यातस्तदविनाभूतेतिविशेषणासिद्धिरित्यर्थः। असिद्ध्यादिपरिहाराय तदविनाभूतविरहेति विशेषणं परित्यज्य लक्षणमुच्यत इति शङ्कते ॐ तदिति ॐ। प्रतियोग्यभावसहितो योग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाणमित्युक्ते नासिद्ध्यादिदोष इत्यर्थः। कुड्यादिव्यवहिते वस्तुतोऽसति घटादौ तदनुपलम्भेऽतिव्याप्त्यभिधित्सया पीठिकां रचयति ॐ नेत्यादि ॐ। तर्हि तत्रेत्यन्तेन "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमित्यङ्गीकारादित्यर्थः। तावदिति निश्चये। अर्थेन्द्रियसम्प्रयोगोऽर्थप्रमापकोऽङ्गीक्रियते नामैतावताऽभावप्रमाणस्य किं छिन्नमित्याशङ्क्य तदुपपादनाय विकल्पयति ॐ तत्रेति ॐ। तत्रैवं सतीतरकारणसम्पत्तौ सन्निकर्षमात्राभावे कार्यं न जायत इति केवलव्यतिरेकप्रदर्शनार्थमुदाहरणमिष्यते न वेत्यर्थः। द्वितीयस्य जघन्यत्वादनङ्गीकृतत्वाच्चादौ दूषयति ॐ नेति ॐ। कुतः कस्मात्प्रमाणादिति यावत्। कार्योदयान्यथानुपपत्त्या तस्य कारणत्वमित्यत आह ॐ अन्यथेति ॐ। सन्निकर्षातिरिक्तकारणादेव कार्योत्पत्त्युपपत्तेरन्यथैवोपपत्तिरर्थापत्तेरेवं च नियतप्राक्सत्त्वरूपं कारणत्वं न सिद्ध्येन्नियमस्य केवलव्यतिरेकलभ्यत्वादिह च तदभावादित्यर्थः। प्रथममनुवदति दूषणाय ॐ एष्टव्यमिति ॐ। यदभिसन्धाय तदर्थमर्थान्तरमुपवर्णितं तदिदानीमाविष्करोति

आलोक के प्रत्यक्ष में अवयवरूप आलोकान्तर का वैशिष्ट्य और (२) अवयवरूप आलोक के प्रत्यक्ष में अवयविरूप आलोकान्तर का वैशिष्ट्य]। आलोक के प्रत्यक्ष में अन्यथासिद्ध हो जाने के कारण आलोकान्तरवत्ता (आलोकान्तर-वैशिष्ट्य) आलोकाभाव के प्रत्यक्ष में हेतु नहीं माना जाता।

घटादि के सन्निकर्ष में घटादि की अविनाभूतता (व्याप्तता) सम्भव भी नहीं, क्योंकि घट-सन्निकर्ष को व्याप्त (व्याप्य) और घट को व्यापक मानने पर एक ही घट में स्वतः व्यापकत्व और सन्निकर्ष-विशेषणविधया व्याप्यत्व मानना होगा, जो कि संगत नहीं माना जाता, फलतः 'तत्तदविनाभूतसहितोऽनुपलम्भः प्रमाणम्'—इस लक्षण में विशेषणासिद्धि दोष है।

शङ्का असिद्ध विशेषण को हटा कर केवल 'प्रतियोग्यभावसहितो योग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाकारणम्'—ऐसा कहने में कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

समाधान—प्रतियोगी की उपलब्धि में प्रतियोगी के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष को जो हेतु माना जाता है, वहाँ अन्वय-व्यतिरेक दिखाने के लिए इन्द्रिय-सन्निकर्ष के न होने पर प्रतियोगिज्ञानरूप कार्य के न होने का कोई उदाहरण अभीष्ट है ? या नहीं ?यदि नहीं, तब कथित सन्निकर्ष में हेतुता ही सिद्ध नहीं होती ? सन्निकर्ष के विना ही कार्य की उत्पत्ति बन जाती है। यदि उदाहरण अभीष्ट है, तब उसी उदाहरण में इन्द्रियके सन्निकर्षाभाव का उपपादन

चेत्तर्हि तत्रैवोदाहरणे व्यवधायकेनेन्द्रियसन्निकर्षशून्ये परमार्थतश्चाभाववति उक्तकरणसम्पत्तेरभावप्रमा स्यात्।

तत्र व्यवधायकाभावः प्रतियोग्युपलम्भको नास्तीति चेन्न, सन्निकर्षस्य प्रमाव्यतिरेकप्रयोजकत्वावधारणोदाहरणमेव तर्हि तन्न स्यात्। व्यवधायकस्य सन्निकर्षविरोधिनैव प्रमाविरोधित्वमिति चेत्, तर्हि व्यवधायकाभावः सन्निकर्षोत्पत्तौ कारणम्, न त्वभावप्रमाविशेषोत्पत्ताविति स्थिते स प्रसङ्गस्तदवस्थ एव। न च

❀ तर्हीति ❀। तत्रैवोदाहरणे सन्निकर्षव्यतिरेके कार्यानुदयोदाहरणेऽभावप्रमा स्यादिति सम्बन्धः। उक्तकारणसम्पत्तेरिति हेतुः। प्रतियोग्यभावसहितयोग्यानुपलम्भत्वादित्यर्थः। तदप्युपपादयति व्यवधायकेन कुड्यादिनेन्द्रियसन्निकर्षशून्ये परमार्थतश्चाभाववति घटादौ। न च तथा भावप्रमा भवति बहिःस्थस्यापवरकैकदेशे घटो विद्यते न वेति सन्देहदर्शनादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। योग्येति विशेषणाभावान्न तत्रातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ तत्रेति ❀। प्रतियोग्युपलम्भहेतुव्यवधायकस्य व्यवधानहेतोः कुड्यादेरप्यभावोऽपि योग्यपदार्थः स्वस्वेतरस्वप्रमापककारणपौष्कल्यस्य योग्यत्वेन विवक्षितत्वादिह च तन्नास्तीत्यर्थः। व्यवधायकाभावस्य न योग्यतान्तःप्रविष्टत्वं प्रतियोग्यनुपलम्भकत्वादित्यभिसन्धाय परिहरति ❀ नेति ❀। यदि व्यवधायकाभावः कारणं तर्हि कुड्यादिव्यवहितसन्निकर्षव्यतिरेकस्य प्रमाव्यतिरेकप्रयोजकत्वावधारणोदाहरणमेव न स्यात् किं सन्निकर्षाभावात्प्रतियोगिप्रमाऽभाव उत व्यवधायकाभावाभावादिति संदेहापत्तेरित्यर्थः। व्यवधायकाभावाभावो व्यवधायक एव तस्य स्वरूपेणैव प्रमाभावप्रयोजकत्वे भवेत्सन्निकर्षव्यतिरेकस्य प्रमाव्यतिरेकप्रयोजकत्वानवधारणं सन्निकर्षव्यतिरेकद्वारा प्रयोजकत्वेनाप्यदोष इति शङ्कते ❀ व्यवधायकेति ❀। एकं सन्धित्सतोऽपरन्ते प्रच्यवत इति परिहरति ❀ तर्हीति ❀। व्यवधायकस्य सन्निकर्षविरोधित्वे व्यवधायकाभावः सन्निकर्षहेतुः स्यान्न तु प्रतियोग्युपलम्भोऽपि गौरवान्मानाभावाच्च इति योग्यपदार्थत्वाभावेन तदभावप्रमोत्पत्तावपि कारणमिति व्यवस्थिते व्यवधायकेनेन्द्रियसन्निकर्षशून्ये परमार्थतश्चाभाववत्युक्तकरणसम्पत्तेरभावप्रमा स्यादित्युक्तप्रसङ्गस्तदवस्थ इति यावत्। सन्निकर्षव्यतिरेकोऽन्यथासिद्धसन्निधिरहेतुरिति यद्यप्युक्तं तथाऽपि सिंहावलोकनन्यायेन तत्र प्रतियोगीन्द्रियसन्निकर्षाभावादभावप्रमा न जायते इत्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ प्रतियोगीति ❀। नित्यं नियमेन तदनुत्पत्तेरभावप्रमानुदयप्रसङ्गात्सन्निकर्षे सति सन्निकृष्टप्रतियोगिनोऽभावादित्यर्थः। यद्वा नित्यं नियमेन

दो प्रकार से होगा—(१) या तो घटादि वस्तु दीवारादि व्यवधायक पदार्थों से व्यवहित है, (२) या वस्तुतः है ही नहीं। वहाँ पर योग्यानुपलम्भ की सम्पत्ति हो जाने के कारण वस्तु के अभाव की प्रमा होनी चाहिए।

शङ्का—उक्त स्थल पर अनुपलम्भ में योग्यता न होने के कारण अभाव-प्रमा नहीं होती। प्रतियोगी से अतिरिक्त प्रतियोग्युपलम्भक सामग्री की पूर्णता को ही अनुपलम्भ की योग्यता माना गया है। प्रतियोगी की उपलम्भक सामग्री में व्यवधायक द्रव्य का अभाव भी प्रविष्ट है, उक्त स्थल पर दीवारादि व्यवधायक पदार्थ ही है, उस का अभाव नहीं।

समाधान—तब उस उदाहरण को प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का साधक माना जा सकता है, सन्निकर्षाभाव में प्रमाभाव का प्रयोजकता का साधक नहीं।

शङ्का—व्यवधायक द्रव्य का अभाव इन्द्रिय-सन्निकर्ष की उत्पत्ति का कारण होता है, अभाव-प्रमा में नहीं, अतः उक्त उदाहरणस्थल पर व्यवधायकाभाव के न रहने पर अभाव-प्रमा क्यों प्रसक्त नहीं होगी? फलतः वह प्रसङ्ग जैसे-का-तैसा बना है।

शङ्का—व्यवधायक द्रव्य के रहने पर इन्द्रियार्थ का सन्निकर्ष नहीं होता। उसके न होने पर प्रतियोगी की पूर्ण उपलम्भक सामग्री नहीं कह सकते, उसके विना अनुपलम्भ में योग्यता नहीं आती और अयोग्य अनुपलम्भ से अभाव प्रमा नहीं हो सकती।

सन्निकर्षाभावादेव तदानीमुक्तकारणासम्पत्तिः, प्रतियोगिसन्निकर्षस्य अभावप्रमोत्पादकत्वे नित्यं तदनुत्पत्त्यापत्तेः।

अत एव नाऽव्यवधानमधिकं कारणमेष्टव्यम्, इन्द्रियसन्निकर्ष एव तदुपपत्तेः। न चाऽऽश्रयसाक्षात्कारोऽपि, प्राङ्गनास्तितताग्रहादौ व्यभिचारात्।

६. ननु व्यवधायकसद्भावेऽपि यत्र परमार्थतोऽस्त्यभावः, तत्रोक्तकारणादभावावधारणमस्त्येव को विरोधः। स न तावद्भावयोगिन्यपि तावता तद्विरहप्रमा प्रसज्येत।
१. तर्हि प्रतियोग्यभावसहितोऽनुपलम्भ एवाभावप्रमाणमस्तु, जहीहि योग्यताविशेषणनिवेशव्यसनम्। योग्यताविशेषणाप्रक्षेपेऽनुपलम्भमात्रतो वस्तुगत्या प्रतियोग्यभाव-

---

तदनुत्पत्तेरभावप्रमानुदयप्रसङ्गादर्थेन्द्रियसम्प्रयोगस्य तदभावप्रमाकरणत्वेन तदुत्पादकत्वादित्यर्थः। प्रतियोग्युपलम्भकव्यवधानाभावाभावादभावप्रमा न जायत इत्यत आह ॐ अत इति ॐ। उक्ताभावप्रमाकरणादतिरिक्तं नेष्टव्यम्। अत इति परामृष्टमेव हेतुं स्पष्टयति ॐ इन्द्रियेति ॐ। इन्द्रियसन्निकर्ष एव तदनुपपत्तेर्व्यवधानानुपपत्तेर्व्यवधानाभावोऽपि व्यवधायकाभाववत्सन्निकर्षहेतुर्न त्वभावप्रमाविशेष इत्यर्थः। व्यवधायकेन व्यवहितेनाभावप्रमाप्रसङ्गस्तद्धेतोर्धर्मिसाक्षात्कारस्य तदाऽभावादित्यत आह ॐ न चेति ॐ अधिकं कारणमेष्टव्यमित्यनुषङ्गः। कारणत्वविषयान्वयव्यतिरेकयोरभावादिति हेतुमाह ॐ प्रागिति ॐ। प्राक् प्रातश्चत्वरे देशे गजो नासीदिति प्राङ्नास्तीति ग्रहे तदत्र न भविष्यति तत्कारणाभावादित्यादिभाविकालीनाभावग्रहे चाऽऽश्रयसाक्षात्कारस्य व्यभिचारात्तत्र धर्मिज्ञानमात्रस्मरणादिरूपमस्तीति चेत्तुल्यमत्रापीत्यर्थः।

व्यवधायकेनेन्द्रियसन्निकर्षशून्ये परमार्थतश्चाभाववत्युक्तकरणसम्पत्तेरभावप्रमा स्यादिति यदुक्तं न तदनिष्टमभावप्रमायास्तत्र स्वीकारादिति चोदयति ॐ नन्विति ॐ। प्रतियोगिविरहसहितयोग्यानुपलब्धेरभावप्रमासामग्रीत्वात्सामग्र्यां च कार्याव्यभिचारादिति भावः। व्यवहितेऽपवरकादौ भाववत्यभावप्रमाप्रसङ्गो विरोध इत्यत आह ॐ नेति ॐ। तावदिति निश्चये। प्रतियोगिविरहस्यापि तद्विरहप्रमायां कारणत्वाद्भाववति तदभावादित्यर्थः। एवं सति व्यर्थविशेषणत्वं लक्षणस्येति परिहरति ॐ तर्हीति ॐ। प्रतियोग्यभावसहितोऽनुपलम्भोऽभावप्रमाकरणमित्युक्ते व्यभिचाराभावाद्योग्यतेति विशेषणं व्यर्थमित्यर्थः। योग्यताविशेषणस्यार्थवत्त्वार्थं तदनुपादाने लक्षणस्य व्यभिचारं दर्शयति पूर्ववादी ॐ योग्यतेति ॐ।

समाधान—प्रतियोगी के सन्निकर्ष को यदि अभाव-प्रमा का उत्पादक माना जाता है, तब कहीं भी अभाव-प्रमा न होगी, क्योंकि जहाँ घट नहीं, वहाँ ही घटाभाव की प्रमा होती है, किन्तु वहाँ इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष नहीं होता।

जब कि प्रतियोगी के उपलम्भकीभूत सन्निकर्ष का ही व्यवधायकाभाव कारण माना जाता है, तब प्रतियोगी की उपलब्धि में इन्द्रिय-सन्निकर्ष से व्यतिरिक्त व्यवधानाभाव को कारण नहीं मानना चाहिए, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से ही प्रतियोगी की प्रमा उपपन्न हो जाती है। आश्रय (अनुयोगी) का साक्षात्कार भी अभाव-प्रमा का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जहाँ प्राङ्गणादि स्मर्यमाण पदार्थों में गजादि के अभाव की प्रमा होती हैं, वहाँ आश्रय का प्रत्यक्ष ज्ञान व्यभिचरित है।

शङ्का—कुड्यादि व्यवधायक द्रव्य के रहने पर भी जहाँ वस्तुतः घटाभाव है, वहाँ घटाभाव की प्रमा मानने में क्या विरोध ? जहाँ प्रतियोगी विद्यमान है, वहाँ तो अभाव-प्रमा का अतिप्रसङ्ग नहीं दिया जा सकता, क्योंकि अभाव-प्रमा में अभावरूप विषय भी अपेक्षित है, भाव-स्थल पर वह होता नहीं।

समाधान—तब 'प्रतियोग्यभावसहितानुपलम्भोऽभावप्रमाकारणम्'—इतना कहना ही पर्याप्त है, 'योग्यता' विशेषण व्यर्थ है।

शङ्का—'योग्यता' विशेषण का ग्रहण न करने पर जहाँ वस्तुतः अभाव है, किन्तु

त्यपि न भावनिश्चयः। कदाचित्तु संशयो जायते, तत्कथं तथाऽङ्गीक्रियत इति चेत्, तर्हि व्यवधानेऽप्येवमेवेति योग्यताविशेषणप्रक्षेपेऽपि तुल्यम्।

अपि च—मेयस्य वास्तवसत्त्वं प्रमाणकोटावनिवेशार्हमेव। मेयवस्तुसत्त्वनिर्धारणार्थमेव हि प्रमाणाप्रमाणविवेचनं विचारकाणाम्। अन्यथाऽनुमाने व्याप्तावुपाधिनिरासाय आयासो व्यर्थः स्यात्, व्याप्तपक्षधर्मताज्ञानमात्रस्यैव कारणत्वाङ्गीकारेण सौस्थ्यात्।

प्राङ्नास्तितप्रमितौ च यद्यभावप्रमाणतां मन्यसे, तर्हि सा न स्यात्।

प्रतियोग्यभावसहितानुपलम्भे सति कुतोऽभावानिश्चय इत्यत आह ❀ कदाचिदिति ❀। वस्तुतोऽसत्यपि पिशाचे किं विद्यमानः पिशाचो न उपलभ्यत उताविद्यमान इत्यनुपलम्भात्संशयो जायतेऽतोऽस्मिन्सन्देहेतावनुपलम्भे योग्यताविशेषणानुपादानेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। तस्मात्तन्निवारणाय योग्यताविशेषणमुपादेयमित्युपसंहरति ❀ तदिति ❀। तथाऽभावप्रमाकरणमिति यावत्। एवं तर्ह्यसमर्थविशेषणत्वमिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀। यत्र व्यवधानमस्ति तत्र वस्तुतो घटाभावे सत्यपि योग्यानुपलम्भे संशयो जायतेऽपवरके घटोऽस्ति वा न वेति संशयस्यानुभवसिद्धत्वादतो योग्यताविशेषणेऽपि तुल्यमतिव्यापकत्वमित्यर्थः।

प्रतियोग्यभावस्य लक्षणविशेषणत्वमुपगम्य व्यर्थविशेषणत्वाद्युक्तमिदानीं तदपि न सम्भवत्यसिद्धिप्रसङ्गादित्याह ❀ अपि चेति ❀। प्रमाणकोटौ—प्रमाणपक्षे। निवेशार्हं न भवति—प्रमाणस्य फलजनकतयोपसर्जनत्वात्प्रमेयस्य फलशालितया प्राधान्यादेकस्य विरोधे चोभयत्वायोगादित्यर्थः। इतश्च प्रमेयसत्त्वं प्रमाणकोटावनिवेशार्हमित्याह ❀ मेयेति ❀। मेयसत्त्वसिद्धये प्रमाणमिदमप्रमाणं वेति लक्षणतः प्रमाणाप्रमाणविवेकः—क्रियते ततो लक्षणतः प्रमाणसिद्धेः प्राक् प्रमेयस्यासिद्धस्य न लक्षणविशेषणत्वमित्यर्थः। विचारका—निरूपकाः। प्रमाणविवेचनस्य प्रमेयतत्त्वनिर्द्धारणार्थत्वानङ्गीकारे दण्डमभिधत्ते ❀ अन्यथेति ❀। व्याप्यव्यापकयोः सम्बन्धे उपाधिर्निरस्यतेऽनुमानवादिभिः सति तस्मिन्व्याप्यत्वासिद्ध्याऽऽभासत्वापातादित्याभासविवेकाय सोऽपि प्रयासो व्यर्थः स्यादित्यर्थः। न तस्य वैयर्थ्यं साध्यसिद्ध्यपयोगित्वादित्यत आह ❀ व्याप्तेति ❀। व्याप्तपक्षधर्मताज्ञानस्य प्रमेयसत्त्वविशिष्टस्य पक्षसाध्यप्रमापकत्वसम्भवादित्यर्थः। मात्रशब्देन निरुपाधिकत्वं व्यावर्त्यते। सौस्थ्यात्सुस्थत्वादिति यावत्। खण्डनान्तरमाह ❀ प्रागिति ❀। प्रागत्र घटो नासीदिति प्रागभावग्रहेऽभावस्य प्रमाणताऽङ्गीक्रियते न वा? यदि न सर्वत्रापि तर्हि तत्र

अन्धकारादि में जो अभाव का निश्चय न होकर संशय होता है, वह क्योंकर उपपन्न होगा? अन्धकारादि में 'यद्यत्र स्यादुपलभ्येत'—इस प्रकार की आरोपात्मक योग्यता न रहने के कारण अभाव का निश्चय नहीं होता।

समाधान—तब जहाँ व्यवधायक पदार्थ विद्यमान है, वहाँ भी अभाव का सन्देह ही होता है, निश्चय या प्रमात्मक ज्ञान नहीं, अतः 'योग्यता' विशेषण का ग्रहण करने पर भी वही अतिप्रसङ्ग समान है।

दूसरी बात यह भी है कि योग्यतादि का निरूपण प्रमेय के माध्यम से ही होता है, किन्तु प्रमाण की कक्षा में प्रमेय का प्रवेश उचित नहीं होता, क्योंकि प्रमेय की सत्ता सिद्ध करने के लिए ही प्रमाण की प्रवृत्ति मानी जाती है, अतः एक ही प्रमेय अपनी साधनीभूत प्रमाण और फलभूत प्रमा कोटि में प्रविष्ट हो जाने के कारण उसमें युगपत् गुण-प्रधानभाव प्रसक्त होता है, जो कि सर्वथा अनुचित है।

प्रमाणों में मेयसिद्ध्यर्थत्व न मानने पर जो अनुमानवादियों के द्वारा व्याप्य और व्यापक के सम्बन्ध में उपाधि का निरास किया जाता है, वह सब व्यर्थ होकर रह जाता है, क्योंकि प्रमेयसत्त्वविशिष्ट व्याप्तहेतुगत पक्षधर्मता का प्रदर्शन मात्र पर्याप्त है।

योग्यानुपलम्भ को इसलिए भी अभावप्रमा का कारण नहीं माना जा सकता कि जहाँ

तत्रेदानीं जायमानाभावप्रमोत्पत्तौ अभाववास्तवसत्ताविरहस्यापीदानीं क्वचित्सम्भवात् । फलविषयकालिकाभावोपलक्षिताश्रयादेः कारणकोटिनिवेशने विशेषाभावात् । तदुपलक्षितत्वस्यैव विशेषणस्य विशेषत्वेऽतिप्रसङ्गात् । तथापि सामान्यतो विशेषाभावोऽसिद्ध इति चेन्न, तस्य सत्त्वे निर्वचनापातात् ।

अ

स्याद्विशेषादतस्तत्राभावस्य प्रमाणता मन्तव्या तां यदि मन्यस इत्यनुवादः । असम्भवेन दूषयति ॐ तर्हीति ॐ । प्रागभावप्रमितौ मेयाभावस्यापि प्रमाणविशेषणतया प्रमाणता यदि तर्हि सा न स्यात्कुत इत्यत आह ॐ तत्रेति ॐ । प्रागत्र घटो नासीदिति इदानीं याऽभावप्रमा तदुत्पत्तौ क्वचित्कारणभूताभाववास्तवसत्ताभावस्य सम्भवात् ततः सघटेऽपि भूतलेऽयं घटः प्राङ् नासीदिति कदाचिदुत्पत्तेरित्यर्थः । नेयमव्याप्तिः फलकालिकाभावोपलक्षिताश्रयादेः करणे निवेशात्तस्य प्राङ्नास्तितामितौ सम्भवादित्यत आह ॐ फलेति ॐ । प्रमेयाऽभावो न प्रमाकारणकोटिनिविष्टः किं तु योग्यानुपलम्भरूपप्रमाणस्य फलमभावप्रमायास्तस्या विषयः कालः कालस्य विषयशब्दवाच्यत्वात्तत्कालिकाभावः फलविषयकालिकाभावस्तेनोपलक्षितस्याश्रयस्य धर्मिणः प्रतियोगिनः प्रमातुर्वा प्रमाणे निवेशाद् इति । यद्वा फलस्य विषयः प्रमेयोऽऽभावस्तत्कालिकश्चासावभावेनोपलक्षितश्चेति फलविषयकालिकाभावोपलक्षितस्तस्याश्रयादिरादिपदेन कालो गृह्यते अभावोपलक्षिताश्रयादियोग्यतानुपलम्भोऽभावप्रमाणमिति यावत् । विशेषाभावाद्भाववति परमार्थतश्चाभाववत्यप्यभावप्रमाकरणस्य विशेषाभावात्प्रसङ्गस्तदवस्थः भाववत्यपि कदाचित्तदभावसम्भवेन तदुपलक्षितेत्यादिविशेषणसम्भवादित्यर्थः । विशेषाभावोऽसिद्धस्तदुपलक्षितत्वस्यैव विशेषत्वादित्यत आह ॐ तदिति ॐ । तत्कालाभावोपलक्षितत्वमिदानीमस्ति चेत्तत्कालस्यापीदानीं प्रसङ्गो नाऽस्ति चेदुक्तातिव्याप्तिरित्यर्थः । यद्यप्ययमसौ विशेष इति वक्तुमशक्यस्तथापि विशेषाभावोऽसिद्धः सामान्येन देशकालादेर्यस्य कस्यचित्सम्भवात्तदखण्डनादिति शङ्कते ॐ तथापीति ॐ । यदस्ति तद्वाच्यमिति नियमाङ्गीकारवादिभिरस्ति चेदसौ निर्वक्तव्यो न च निर्वक्तुं शक्यते इति परिहरति ॐ नेति ॐ । न च विशेष इत्येव तत्र दोष तन्निर्वचनं समाधानासम्भवादिति भावः । इत्यनुपलब्धिखण्डनम् ।

पर इस समय घट है, पहले उस का अभाव था, वहाँ जो पूर्वतन अभाव की प्रमा होती है, वह अनुपपन्न हो जाती है, क्योंकि इस समय वहाँ योग्यानुपलम्भ नहीं, प्रतियोगी की उपलब्धि ही हो रही है।

यदि कारण-कोटि में इस समय के अभाव का प्रवेश न कर फल-कालीन (अतीत) अभाव और उस से उपलक्षित आश्रय का निवेश माना जाता है, तब भी वही अतिप्रसङ्ग बना रहता है कि भाव (प्रतिमोगी) के अधिकरण में भी अभाव-प्रमा होनी चाहिए, क्योंकि वहाँ भी कदाचित् अभाव माना जा सकता है, उस से उपलक्षित आश्रय भाव-युक्त भी हो सकता है।

शङ्का—यद्यपि अतीतादि अभावों से उपलक्षित आश्रयादि का निवेश करने पर अवश्य कुछ विशेषता होती है, तथापि उसको विशेपतः प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। सामान्यतः उसकी सत्ता मानी जा सकती है।

समाधान—जो वस्तु सत् होती है, उसका निर्वचन भी होता है, निर्वचन उसी का नहीं होता, जो असत् है। कथित विशेषण-प्रयुक्त यदि कोई विशेषता आती है, तब अवश्य ही उसका निर्वचन होना चाहिए। इसी प्रकार प्रमाण-विशेष का निर्वचन भी होना चाहिए। उनका निर्वचन नहीं किया जा सकता, अतः उनकी सत्ता निर्विवाद-सिद्ध नहीं हो सकती।

हेत्वाभासलक्षणखण्डने
३७. असिद्धलक्षणखण्डनम्

कश्चायमसिद्धो नाम? तथा हि—व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इत्य-

एवं तावत् षट्प्रमाणी खण्डिता इदानीं तदाभासखण्डनाय प्रक्रमते ❀ क इति ❀। ननु प्रत्यक्षाभासान्परित्यज्य कस्मादनुमानाभासा एव परास्यन्ते? अत्र ब्रूमः—सूत्रकारेण प्रत्यक्षाभासानामप्रतिपादनात् ग्रन्थकारैस्तु तत्र प्रसङ्गात्प्रसाधितानामत्रापि प्रसङ्गादेव तत्र तत्र निराकरणाद्धेत्वाभासानां कथाङ्गतया सूत्रकारेण मुखत एव प्रतिपादनात्त एव प्राधान्येन निरस्यन्ते। संशयस्यान्यतमपदार्थत्वेन परिगणितत्वमिति चेत्सत्यं स प्रत्यभिज्ञाखण्डने खण्डित एव च तुरीयपरिच्छेदेऽपि खण्डिष्यते तथा सामान्यतो विशेषाभावोऽसिद्ध इति तस्य प्रकृततया बुद्धिस्थत्वात्तत्खण्डनमादावुपपन्नम् ❀ कश्चेति ❀। न कोऽपीत्याक्षेपः। व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमाविषयत्वात्यन्ताभाववानसिद्ध इति लक्षणसम्भवात् कुतो न कोऽप्यसिद्ध इत्यत आह ❀ तथा हीति ❀। व्याप्ततया पक्षधर्म्मत्वेन न प्रमितः सोऽसिद्धो, न प्रमितोऽसिद्ध इत्युक्तेऽसम्भवो व्याप्त्यादिविरहात्मना प्रमितत्वादत आह ❀ पक्षधर्म्मत्वेति ❀। पक्षधर्म्मत्वेन न प्रमितोऽसिद्ध इत्युक्ते स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यादिव्याप्यत्वासिद्धावव्याप्तिस्तन्निरासायोक्तं ❀ व्याप्तेति ❀। व्याप्तत्वेन न प्रमितोऽसिद्ध इत्युक्तेऽनित्यः शब्दः पटस्य कृतकत्वादित्यादिव्यधिकरणासिद्धावव्याप्तिस्तन्निरासायोक्तं ❀ पक्षेति ❀। कुतो न लक्षणमित्यत आह ❀ हेत्विति ❀। विरुद्धादीनां व्याप्तत्वपक्षधर्म्मत्वाभ्यामप्रमितत्वमस्ति वा न वा? प्रथमे हेत्वाभासान्तराणामप्येवं सत्यसिद्धे प्रवेशः स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। यदि द्वितीयस्तत्राह ❀ व्याप्तिमिति ❀। व्याप्तिं पक्षधर्मतां प्रमितिं वा ये न विरुन्धन्ति तेषां धूमवत्त्वादिवद्धेत्वाभासत्वासम्भवादाभासानाभासविवेको न स्यादित्यर्थः।

हेत्वाभास-लक्षण-खण्डन के प्रसङ्ग में

३७. असिद्ध-लक्षण का खण्डन

यह असिद्ध नाम का हेत्वाभास भी क्या है?

(१) व्याप्तत्वपक्ष-धर्मत्वाभ्यामप्रमितोऽसिद्धः—

शङ्का—[न्यायसूत्रकार ने हेत्वाभासों का क्रम इस प्रकार रखा है—"सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः" (न्या. सू. १।२।४)। आचार्य प्रशस्तपाद का वर्णन इस प्रकार है—"असिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति" सम्भवतः खण्डनकार ने यही क्रम अपनाया है। उनमें स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्धादि भेदों को ध्यान में रख कर लक्षण किया गया है—'व्याप्तपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितः'। जो हेतु 'अयं व्याप्तः, अयं पक्षधर्मः—इस प्रकार प्रमित न हो अर्थात् (१) व्याप्तत्वप्रकारक या (२) पक्षधर्मत्वप्रकारक प्रमा का विषय न हो, उसे असिद्ध कहा जाता है, जैसे—(१) अयं धूमवान् वह्निमत्त्वात्'—धूमवत्त्वरूप साध्य से व्याप्त न होने के कारण वह्निमत्त्व हेतु असिद्ध या व्याप्यत्वासिद्ध माना जाता है। धूम की स्वाभाविक व्याप्ति वह्नि में नहीं, किन्तु औपाधिक व्याप्ति को लेकर वैसा व्यवहार हो जाता है—यह पहले ही उपाधि-निरूपण के समय कहा जा चुका है। (२) इसी प्रकार 'शब्दोऽनित्यः, चाक्षुषत्वात्'—यहाँ 'चाक्षुषत्व' हेतु में पक्षधर्मता (शब्दवृत्तिता) नहीं, अतः वह स्वरूपासिद्ध या असिद्ध कहा जाता है। हेतु में अपने पाँच रूप (धर्म) माने जाते हैं—(१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व, (४) असत्प्रतिपक्षितत्व और (५) अबाधितत्व। इन पाँचों रूपों की क्रमशः असिद्धि असिद्धादि हेत्वाभासों में होती है। प्रथम रूप या स्वरूप की असिद्धि को लेकर यह 'स्वरूपासिद्ध' शब्द से अभिहित होता है]।

लक्षम्, हेत्वाभासान्तराणामपि ह्यसिद्धप्रवेश एवं सति स्यात्। व्याप्तिं पक्षधर्मतां तत्प्रमितिं वा न विरुन्धतां हेतुदोषत्वासम्भवात्।

ननु नेदमीदृशम्। तथा हि केचिद् दोषा व्याप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमितिविरहात्मानः, केचित्तु व्याप्त्यादिभङ्गे लिङ्गभूताः, प्रतिबन्धकतयाऽनुमित्युत्पत्तिं निरुन्धानाश्च केचिद्दोषभूयं भजन्ते। तत्र प्रथमे तावदसिद्धमध्यमध्यासते। तद्यथा- व्याप्यत्वासिद्धः सोपाधिरूपः, अनौपाधिकसम्बन्धिकता हि व्याप्तिः, सहोपाधिता चानुपाधिताविरहरूपैव।

एवमधिकरणासिद्धिरपि असिद्धावेवान्तर्भविष्णुः, पक्षपदोपात्तस्याऽऽश्रयस्य

विरुद्धादीनामसिद्धावन्तर्भावादित्युक्तमुपश्रुत्यासहमाना नैयायिकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते ॐ नन्विति ॐ। इदं-हेत्वाभासान्तराणामसिद्धान्तर्भावित्वमीदृशन्न। विरुद्धादीनामसिद्धतः पृथक्त्वदर्शनाय हेत्वाभासानां त्रैविध्यं दर्शयति ॐ तथा हीत्यादिना ॐ। सन्ति पञ्च हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टसव्यभिचाराख्या अनध्यवसितश्चानैकान्तिकान्तर्भूतस्तत्र केचिद्दोषा व्याप्तिपक्षधर्म्मतयोः प्रमितिविरहात्मानः यानसिद्धानाहुः। विधान्तरमाह ॐ केचिदिति ॐ। व्याप्तिभङ्गस्य गमकतया लिङ्गभूता दोषा इत्यनुषङ्गः। विरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टा इति कथ्यन्ते। प्रकारान्तरमाह ॐ प्रतीति ॐ। केचित्सव्यभिचाराख्या न व्याप्तिपक्षधर्म्मताविरहात्मानो नापि तत्प्रमितिविरहरूपाः किं तु सम्यक् हेतुप्रतिबन्धकतया साध्यप्रमितिं निरुन्धानास्सम्यक् हेतौ सत्येवाऽगृह्यमाणविशेषदशायां संशयजनकतया दोषभूयं-दोषभावं भजन्त इत्यर्थः। सर्वत्र व्यक्तिबहुत्वाद्बहुवचनम्। तत्र केषां किंरूपत्वमित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ। असिद्धिमध्ये प्रविशन्तीत्यर्थेऽसिद्धिमध्यमध्यासत इत्युच्यते। स्फीतालोकमध्यमध्यासीनो घट इतिवत्। तदेव स्पष्टयति ॐ तदिति ॐ। मैत्रतनयत्वादिति ॐ व्याप्तत्वासिद्धेः सोपाधिकमात्रेण कथमसिद्धत्वमित्यपेक्षायां तदुपपादनाय व्याप्तिस्वरूपमाह ॐ अनौपेति ॐ। एतावता किमित्यत आह ॐ सहेति ॐ। उपाधिकृत उपाधेयस्तेन सह वर्तमानः सहोपाधेयस्तद्भावः सहोपाधेयता साऽनौपाधिकसम्बन्धत्व्याप्त्यभावरूपा अभावाभावस्य भावत्वात्। "अभावेऽपोह्यमाने हि भाव एवावशिष्यते" इति न्यायादित्यर्थः।

व्याप्यत्वासिद्धेर्व्याप्त्यभावरूपतामुक्त्वाऽधिकरणासिद्धेः पक्षधर्मताविरहरूपतामाह ॐ एवमिति ॐ। अन्तर्भविष्णुरन्तर्भवनशीलः। गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वाद्भौमारविन्दवदित्याश्रया-

---

समाधान—उक्त लक्षण का पर्यवसित अर्थ यही है कि जिस हेतु में साध्य की व्याप्ति या पक्षधर्मता प्रमित न हो, वह असिद्ध कहलाता है। विरुद्धादि हेत्वाभास यदि साध्य-व्याप्ति, पक्षधर्मता या उनकी प्रमिति का विरोध नहीं करते, तब उन्हें हेत्वाभास ही नहीं कहा जा सकता। यदि उनका भी असिद्ध नाम के हेत्वाभास में समावेश कर दिया जाता है, तब हेत्वाभासों की संख्या न्यून हो जाती है।

शङ्का—सभी हेत्वाभास एकरूपेण ही व्याप्ति पक्षधर्मता और उनकी प्रमा के विरोधी नहीं, अपितु (१) कतिपय दोष (हेत्वाभास) व्याप्ति और पक्षधर्मता की प्रमा के अभावरूप होते हैं, उन्हें असिद्ध कहते हैं। (२) कतिपय हेत्वाभास व्याप्त्याद्यभाव के लिङ्गविधया गमक होते हैं, वे विरुद्ध, अनैकान्तिक और कालात्ययापदिष्ट (बाधित) कहे जाते हैं। कुछ हेत्वाभास न तो व्याप्ति और पक्ष-धर्मता के अभावस्वरूप होते हैं और न उनकी प्रमा के अभावरूप होते हैं, किन्तु सद्धेतु के प्रतिबन्धक होने के कारण साध्यानुमिति-निरोधक, सम्यक् हेतु के रहने पर विशेषादर्शन-दशा में संशय के जनक होकर हेत्वाभासता के भागी होते हैं, जिन्हें सव्यभिचार पद से अभिहित किया जाता है। इनमें प्रथम कोटि के हेत्वाभास असिद्ध के भेद होते हैं, जैसे कि व्याप्यत्वासिद्ध सोपाधिक होता है, क्योंकि साध्य और साधन के अनौपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है, अतः सोपाधिता अनुपाधिता का अभाव ही है। इसी प्रकार

व्यतिरेकरूपा हि सा। सिद्धसाधनमपि तथैव । सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो हि पक्ष उच्यते। यच्च सिद्धं न तत्र सिषाधयिषाऽस्ति। ततो विशेषणाभावायत्तो विशिष्टपक्षरूपस्य तत्राभावः।

न च वाच्यं यथा सव्यभिचारत्वाद्भग्नव्याप्तिकमिति पृथगेव सव्यभिचारस्य दोषत्वम्, तथाऽसिद्धत्वात्तत्र सिषाधयिषा नास्तीति सिद्धत्वस्यापि पृथगेव दोषत्वं प्राप्नोति, लिङ्गद्वारेणासिद्धिपर्यवसायित्वात्। अन्यथा व्याप्त्यादिविरहपर्यवसायितामात्रेण सव्यभिचारत्वादीनामप्यसिद्धावेवान्तर्भावः स्यादिति। यतः सिषाधयिषाभावो

सिद्धिरधिकरणासिद्धिरित्युच्यते। कुत इत्यत आह ❀ पक्षेति ❀। पक्षधर्मत्वमिति पक्षपदोपात्तोय आश्रयो हेतोस्तस्येहासत्वेन पक्षधर्मत्वासम्भवात्तद्व्यतिरेकरूपा सेत्यर्थः।

द्व्यणुकं स्वतो न्यूनपरिमाणारब्धं कार्यद्रव्यत्वात्, घटवदिति सिद्धसाधनमप्यसिद्धेऽन्तर्भविष्णुवति आह ❀ सिद्धेति ❀। तथैवासिद्धेऽन्तर्भविष्णु। तदुपपादनाय पक्षस्वरूपमाह ❀ सिषाधयिषितेति ❀। साधयितुमिष्टः सिषाधयिषितः सन्दिग्धसाध्यः पक्ष इत्युपगमात्, एवंविधस्य पक्षस्य सिद्धसाधनेऽभावं वक्तुं तद्विशेषणाभावमाह ❀ यच्चेति ❀। प्रमाणान्तरमितं 'सिद्धं न च तत्र साधनेच्छाऽस्ति, फलसिद्धेरिच्छानिवर्तकत्वादित्याशयः। अस्तु प्रकृते किं स्यादित्यत आह ❀ तत इति ❀। साधनेच्छारूपविशेषणाभावात्तद्विशिष्टपक्षाभावेन तद्वृत्तित्वपक्षधर्मताविरहरूपैव सेत्यर्थः। व्याप्तिभङ्गलिङ्गतयाऽसिद्धिपर्यवसायिनः सव्यभिचारादेरिव सिषाधयिषाभावमनुमापयित्वा तद्द्वारेण पक्षधर्मताविरहगमकतयाऽसिद्धिपर्यवसायिसिद्धसाधनत्वस्याप्यसिद्धात् पृथगेव दोषत्वमित्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। विमतं इदं भग्नव्याप्तिकं सव्यभिचारत्वात्सम्प्रतिपन्नवदिति सव्यभिचारत्वस्य व्याप्तिभङ्गलिङ्गतयाऽसिद्धात्पृथगेव दोषत्वं तथा विमतं न सिषाधयिषितं सिद्धत्वात्सम्प्रतिपन्नवदिति सिद्धत्वस्यापि सिषाधयिषाभावानुमानद्वारा पक्षधर्मत्वाभावगमकत्वादसिद्धात् पृथगेव दोषत्वं प्राप्नोतीति कृत्वा लिङ्गद्वारेण—हेतुद्वारेणासिद्धिपर्यवसायित्वं पृथगेवं दूषणं सिद्धत्वमेवेत्यर्थः। विपर्यये दण्डमभिधत्ते ❀ अन्यथेति ❀। लिङ्गद्वारेणासिद्धिपर्यवसायिन, सिद्धसाधनत्वस्यासिद्धत्वात्पार्थक्यानङ्गीकारे सव्यभिचारत्वादीनामप्यसिद्धावन्तर्भावः स्यादविशेषादिति च न वाच्यमित्यत्र सम्बन्धः। असिद्धत्वव्यभिचारत्वयोरविशेषो न वक्तव्य इति किमियं राज्ञामाज्ञेत्यत

अधिकरणासिद्धि (आश्रयासिद्धि) भी असिद्धि के ही अन्तर्गत आती है, क्योंकि पक्षपदास्पद आश्रय का व्यतिरेकस्वरूप ही वह होती है।

सिद्धसाधन नाम का हेत्वाभास भी असिद्ध का ही एक प्रकार है, क्योंकि सिषाधयिषित धर्म से युक्त धर्मी को 'पक्ष' कहा जाता है। जो पदार्थ सिद्ध होता है, उसमें सिषाधयिषा नहीं होती। अतः सिषाधयिषारूप विशेषण के अभाव से प्रयुक्त पक्षत्वरूप विशिष्ट धर्म का अभाव होता है। पक्ष में पक्षता का न होना भी पक्षासिद्धि या आश्रयासिद्धि मानी गई है, अतः सिद्धसाधनता दोष आश्रयासिद्धि ही है, सिद्धसाधनता दोष का आश्रयासिद्धि में अन्तर्भाव अनुचित नहीं।

शङ्का—एक दोष के प्रयोजक दोष को प्रथम दोष से भिन्न स्वतन्त्र दोष के प्रयोजक दोष को प्रथम दोष से भिन्न स्वतन्त्र दोष माना जाता है, जैसे व्याप्यत्वासिद्धि के प्रयोजकीभूत व्याप्ति-भञ्जक व्यभिचार को असिद्धि से भिन्न मानकर व्यभिचारी हेतु को स्वतन्त्र सव्यभिचार नाम का हेत्वाभास कहा जाता है, वैसे ही सिषाधयिषाभाव की प्रयोजकीभूत सिद्धसाधनता को सिषाधयिषाभाव-घटित आश्रयासिद्धि से भिन्न हेत्वाभास मानना चाहिये, क्योंकि वह भी सव्यभिचार के समान ही लिङ्गविधया असिद्धता की प्रयोजक होती है। अन्यथा (असिद्धता के अनुमापक दोष को असिद्धता से भिन्न न मानने पर) सव्यभिचार का भी असिद्ध में अन्तर्भाव मानना होगा, पृथक् हेत्वाभास नहीं।

न प्रतिपन्ना सिद्धत्वाल्लिङ्गाद् गम्यते । किं नाम ? इच्छाभावस्य तस्य यथादर्शनं प्रत्यक्षादेरेवाधिगमः । इच्छैव तु तत्र यन्नास्ति तत्र सिद्धत्वं प्रयोजकमित्येतावन्मात्रेण सिद्धत्वमुपन्यस्यते सिद्धसाधने, न त्विच्छाभावमनुमातुं लिङ्गतयेति । एवं स्वरूपासिद्धिरपि पक्षधर्मताविरहरूपैव ।

ये तु व्याप्तिपक्षधर्मताविरहलिङ्गभूतास्तेऽसिद्धतः पृथगेव हेत्वाभासाः । तद्यथा—विरुद्धः साध्यविपरीतव्याप्तः । तत्र साध्यव्यतिरेकव्याप्तता हेतोर्न साध्यव्याप्तताभावः, किन्नाम ? साध्यव्यतिरेकेण सहानौपाधिकः सम्बन्धोऽस्य यत्रासौ । इत्थ-

आह ※ यत इति ※ । सिषाधयिषाभावो यदि सिद्धत्वलिङ्गाद् गम्येत व्याप्तिविरह इव व्यभिचारादिना भवेत्तर्हि सिद्धत्वं पृथक् दूषणं न तु तदेवेत्याशयः । प्रतिवादिनः सिषाधयिषाभावो वादिना यद्यपि लिङ्गाद् गम्यस्तथापि न प्रतिवादिना तेनैव तदधिगमस्य प्रयोजकत्वादित्यभिप्रेत्य प्रतिपन्नेति विशेषणम् । तर्हि बाधकाभावादिच्छाभावासिद्धिरित्यत आह ※ किमिति ※ । इच्छाया आत्मगुणस्य प्रत्यक्षपक्षे तदभावोऽपि मानसः साक्षिवेद्यत्वे तदभावोऽपि तथेति सर्ववादिनां स्वसमयानुसारेण मानान्तरसिद्ध इत्यर्थः । तर्हि मानान्तरसिद्धसिषाधयिषाभावेनानुमाने दुष्टे सिद्धत्वोपन्यासः सिद्धसाधने किमर्थ इत्यत आह ※ इच्छेति ※ । तावतैव दुष्टे हेतौ कुत इति सुहृद्भावेन पृच्छति किं प्रति सिद्धत्वमुपन्यस्यते तस्येच्छाभावस्य प्रागभावरूपत्वे तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकतया प्रध्वंसत्वे साक्षादेव प्रयोजकत्वादित्यर्थः । एतावन्मात्रेणेति मात्रचो व्युदस्यमाह ※ न त्विति ※ । अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति स्वरूपत्वासिद्धिः साऽपि पक्षवृत्तित्वरूपपक्षधर्मताविरहरूपेत्याह ※ एवमिति ※ । भागासिद्ध्यादेरत्रान्तर्भावो यथासम्भवमूहनीय इत्याशयः ।

व्याप्त्यादिभङ्गलिङ्गभूता अपि हेत्वाभासा असिद्धावन्तर्भविष्णव आभासत्वाविशेषादित्यत आह ※ ये त्विति ※ । तदेवोपपादयति ※ तदिति ※ । क्रमप्राप्तविरुद्धस्य पृथक्त्वोपपादनाय तत्स्वरूपमाह ※ विरुद्ध इति ※ । नित्यः शब्दः कार्यत्वादिति हेतुर्नित्यत्वसाध्याभावानित्यत्वेन व्याप्तो विरुद्ध इत्युच्यते । साध्यव्याप्तसम्यक्हेतुनिवारणाय ※ विपरीतेति ※ । विपरीतव्याप्त इत्युक्ते साकाङ्क्षतया कस्येत्यानर्थक्यपरिहाराय साध्येति विशेषणम् । 'विरुद्धस्यासिद्धान्तर्भाववादिना व्याप्तिभङ्गेऽन्तर्भाव उच्यते, उत पक्षधर्म्मताभावे इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ※ तत्रेति ※ । व्याप्तिभङ्गो विरुद्धेऽप्यस्तीति मन्वानः

समाधान—सिद्धसाधनता सव्यभिचार के समान आश्रयासिद्धता का साधक नहीं, अपितु आश्रयासिद्धता का घटक हैं। [अर्थात् सिद्धि-विरह का नाम असिद्धि है, सिद्धि का अर्थ तार्किकरक्षाकार ने हेतु में पक्षधर्मता और व्याप्ति का होना बताया है—"व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वप्रतीतिः सिद्धिरिष्यते" (ता० र० पृ० २२४)। पक्षगत अग्न्यादि साध्यधर्मों में सिषाधयिषा (सिद्ध करने की इच्छा) का होना पक्षता का घटक और साध्यगत सिद्धता (निश्चितता) पक्षता का विघटक होता है । फिर भी] साध्यविषयक इच्छा के अभाव का सिद्धसाधनता के द्वारा अनुमान नहीं किया जाता, क्योंकि इच्छाभाव न्यायमत में प्रत्यक्ष और भाट्टमतानुसार अनुपलब्धि-गम्य होता है, अनुमेय किसी के मत में भी नहीं होता ।

जैसे अधिकरणासिद्धि आश्रयासिद्धि के अन्तर्गत है, वैसे स्वरूपासिद्धि भी पक्षधर्मता का विरह या अभावरूप है [जैसे 'शब्दो नित्यः चाक्षुषत्वात्' यहाँ चाक्षुषत्व में शब्दरूप पक्ष की धर्मता का न होना ही स्वरूपासिद्धि माना जाता है] ।

जो दोष व्याप्त्यभाव और पक्षधर्मत्वाभाव के लिङ्गविधया गमक होते हैं, वे असिद्धसंज्ञक हेत्वाभास से भिन्न स्वतन्त्र हेत्वाभास माने जाते हैं, जैसे—

(१) विरुद्ध । साध्य-विपरीत पदार्थ से व्याप्त हेतु विरुद्ध कहलाता है । यह यदि साध्यव्याप्यत्वाभाव का आश्रय होता, तब अवश्य सिद्धयभाव या असिद्धरूप माना जाता,

मेव पक्षधर्मताविरहात्माऽपि नायम्। किन्नाम ? ततः साध्यव्यतिरेकेण सह निरुपाधिसम्बन्धत्वात् तत्र साध्यव्याप्तिरस्य नास्तीत्यनुमीयते। तथा सति च साध्यव्याप्तिव्यतिरेकलिङ्गं सद्विरुद्धः पृथगेव हेत्वाभासो भवति।

एवमनैकान्तिकोऽपि न व्याप्तिव्यतिरेकरूपः, किन्तु तल्लिङ्गमेव। तथा हि—हेतोरन्वयस्य व्यतिरेकस्य वा व्यभिचारो न साध्यसाधनव्याप्तिविरहात्मा। किं नाम ? व्यभिचारो हेतोः साध्यव्याप्तिविरहं विना न सम्भवतीति लिङ्गभावेन व्याप्तिभङ्गं बोधयति। यदि हि निरुपाधिः साध्येन सम्बन्धोऽस्य भवेत्, कथं व्यभिचरितुं शक्नुयात् ? तस्माद् व्याप्तिविरहलिङ्गं व्यभिचारः, न तु व्याप्तिविरहः पक्षधर्मताविरह-

---

पृच्छति ❀ किमिति ❀। भावाभावयोरैक्यं मन्वानः प्रत्याह ❀ साध्येति ❀। असौ व्यतिरेकव्याप्तता। पक्षधर्म्मताभावान्तर्भाव इति द्वितीयं दूषयति ❀ इत्थमिति ❀। व्यतिरेकव्याप्यत्वस्य निरुपाधिभावरूपसम्बन्धत्वात्पक्षधर्म्मताभावेनाभेदासम्भव इत्यनेन प्रकारेणेत्यर्थः। केन तर्हि प्रकारेण हेतुदोषत्वं विरुद्धस्येति ❀ किमिति ❀। हेतुदोषत्वं व्याप्त्यभावलिङ्गद्वारेणेति परिहरति ❀ साध्येति ❀। नायं साध्यव्याप्तस्तदभावेन व्याप्तत्वात्तदभावव्याप्तधर्मान्तरवदित्यनुमीयत इत्यर्थः। अस्तु तावता किमित्यत आह ❀ तथेति ❀। अनुमेयादनुमापकस्य भिन्नत्वादित्यर्थः।

विरुद्धस्य पृथक्त्वेऽप्यनैकान्तिकस्य व्याप्तिव्यतिरेकरूपत्वमेवेत्यत आह ❀ एवमिति ❀। शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादित्यनैकान्तिकः। किं तर्हि तद्रूपमित्यत आह ❀ किं त्विति ❀। तदेवोपपादयति ❀ तथा हीति ❀। सव्यभिचारोऽनैकान्तो व्यभिचारश्चान्वयस्य व्यतिरेकस्य वा, अन्वयस्य व्यभिचारो विपक्षवृत्तिता, व्यतिरेकव्यभिचारो विपक्षादव्यावृत्तिता, सा च साध्यव्यतिरेकेणान्यत्र क्वचित्सत्त्वमिति यावत् स च व्यभिचारो न व्याप्त्यभाव इत्यर्थः। प्रश्नपूर्वकं तस्य व्याप्तिभङ्गलिङ्गत्वं दर्शयति ❀ किमित्यादिना ❀। नायं साध्यव्याप्तस्तदभावेऽपि सत्त्वात्तदभावभाविवस्त्वन्तरवदिति व्यभिचारो व्याप्तिभङ्गमनुमापयतीत्यर्थः। व्यभिचारे सत्येव साध्यव्यापकत्वमस्तु को दोषः तथा च विपक्षबाधकाभावान्नानुमापकत्वं व्यभिचारस्येत्यत आह ❀ यदीति ❀। तल्लिङ्गत्वात्ततो भेद इत्युपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। अस्तु तर्हि

किन्तु वह साध्यव्याप्तत्वाभाववान् न होकर साध्यव्यतिरेक-व्याप्त होता है। साध्यव्यतिरेक-व्याप्त का अर्थ है –साध्य-व्यतिरेक (साध्याभाव) की अनौपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति का आश्रय, अत एव विरुद्ध हेतु व्याप्यत्वाभावरूप न होकर व्याप्यत्वाभाव का अनुमापक एवं असिद्ध से भिन्न हेत्वाभास माना जाता है। विरुद्ध हेतु जैसे व्याप्यत्वाभावरूप नहीं होता, वैसे पक्षधर्मत्वाभावरूप भी नहीं होता। 'विरुद्धो हेतुः न साध्यव्याप्तः, साध्यव्यतिरेकव्याप्तत्वात्'—इस प्रकार विरुद्ध हेतु साध्य-व्याप्यत्व के अभाव का अनुमापक होगा।

(२) इसी प्रकार अनैकान्तिक हेतु भी व्याप्त्यभावरूप न होकर उसका अनुमापक ही होता है, क्योंकि हेतुगत साध्य के अन्वय या व्यतिरेक का व्यभिचार साध्य और साधन की व्याप्ति का अभाव नहीं होता, अपितु हेतुगत साध्य-व्यभिचार साध्य-व्याप्त्यभाव के विना सम्भव न होकर लिङ्गविधया व्याप्त्यभाव का बोधक होता है ['साध्यसत्त्वे हेतुसत्त्वम्'—इसका नाम अन्वय-सहचार और 'साध्यसत्त्वेऽपि हेतोरसत्त्वम्'—इसका नाम अन्वय-व्यभिचार है। इसी प्रकार 'साध्याभावे हेतोरभावः'—यह व्यतिरेक-सहचार और 'साध्याभावेऽपि हेतोर्भावः'—यह व्यतिरेक-व्यभिचार कहा जाता है। जैसे अन्वय-व्याप्ति का विघटक अन्वय-व्यभिचार है, वैसे ही व्यतिरेक व्याप्ति का विघटक व्यतिरेक-व्यभिचार होता है]। यदि इस विरुद्ध हेतु का अपने साध्य के साथ निरुपाधिक सम्बन्ध होता, तब यह साध्य का व्यभिचारी क्योंकर होता ? अतः व्यभिचार साध्य-व्याप्ति के अभाव का अनुमापक ही है, व्याप्तिविरहरूप नहीं। पक्षधर्मता का अभावरूप होना तो अनैकान्तिक हेतु के लिए सम्भावित

रूपता त्वनैकान्तिकस्यासम्भावितैव ।

सत्प्रतिपक्षतायां चानवगम्यमानविशेषप्रतिपक्षप्रतिरुद्धतया यत्साध्यनिश्चयाजनकत्वं हेतोः स प्रतिबन्धकसद्भावे कार्याजनकत्वमितरकारणसाधारणो वस्तुस्वभावः। तस्य व्याप्तिपक्षधर्मताविरहरूपताऽसम्भावितैव। बाधस्तु साधनवति पक्षे साध्याभावबोधनात्मा भवन्नपि न व्याप्तिविरहावगमरूपः। सामान्यतोऽनौपाधिकसम्बन्धरूपा हि व्याप्तिः, साधनवति च पक्षे साध्यविरहो न सोपाधिता साध्याविरोधिस्वभावत्वात्तस्याः।

पक्षधर्म्मताभावोऽनैकान्तिकस्तत्राह ❀ पक्षेति ❀। पक्षत्रयवृत्तित्वादनैकान्तस्येत्यर्थः।

सत्प्रतिपक्षस्यासिद्धितः पृथक्त्वं स्पष्टमिति मत्वा तत्स्वरूपमाह ❀ सदिति ❀। सन् प्रतिपक्षो यस्यासौ सत्प्रतिपक्षः नित्यमाकाशं निरवयवद्रव्यत्वादात्मवदनित्यमाकाशं बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणाधिकरणत्वात्, घटवदिति सत्प्रतिपक्षः सत्प्रतिपक्षतायां यत्साध्यनिश्चयाजनकत्वं तद्वस्तुस्वभाव इति सम्बन्धः। तदुपपादनमनवगम्येत्यादि। करतलानलसंयोगे सति मन्त्रादिप्रतिबन्धकसद्भावे स्फोटादिकार्याजनकत्वं वह्न्यादिकारणानां साधारणं इत्याह लक्ष्यमाणोपयोगितया। प्रतीतिफलितमाह ❀ तस्येति ❀। भावस्वभावस्य अभावत्वासम्भवादित्यर्थः। दोषत्वं चास्यासिद्धत्ववत् साक्षादेव न त्वनैकान्तिकवद्व्याप्तिभङ्गलिङ्गतया।

बाधो नासिद्धितः पृथक् साधनवति साध्याभावबोधात्मत्वाद्व्याप्तिविरहावगमरूप एवेत्याशङ्क्याह ❀ बाधस्त्विति ❀। अग्निरनुष्णः पदार्थत्वादित्यत्र प्रत्यक्षबाधः साध्यानुष्णत्वाभाव उष्णत्वबोधात्मा भवन्नपि न व्याप्तिविरहावगमरूपः किंतु साध्याभाववानित्यर्थः। प्रत्यक्षगोचरे साधनवति पक्षे साध्यस्याभावात्कथन्न व्याप्त्यभावरूप इत्यत आह ❀ सामान्येति ❀। विशेषाऽननुगमात्साधनमात्रस्य साध्यमात्रेणानौपाधिकसम्बन्धो व्याप्तिरित्यर्थः। अनौपाधिकसम्बन्धस्य व्याप्तित्वे साध्यविरहबोधात्मकस्य बाधस्य कथन्न व्याप्तिविरहावगमरूपत्वमित्यत आह ❀ साधनेति ❀। व्याप्त्यभावः सोपाधिकताऽभावाभावस्य भावत्वादित्युक्तं। कुत इत्यत आह ❀ साध्येति ❀। सोपाधिकतायाः साध्येन सह वृत्तित्वात्तदविरोधिस्वरूपत्वात्साध्याभावस्य तद्विरोधित्वात्तदवगमयोरपि नैक्यमित्यर्थः। यद्यपि साधनवति पक्षे व्याप्तिविरहात्मा न भवति तथाऽपि पदार्थत्वमात्रस्यानुष्णत्वमात्रेण व्याप्त्यभावरूपो बाधो भविष्यतीत्याशङ्क्याह

भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'शब्दोऽनित्यः, सत्त्वात्'- इत्यादि अनैकान्तिक हेतुओं में पक्षधर्मता ही होती है।

'शब्दो नित्यः कार्यत्वाद् घटवत्', 'शब्दो नित्यः, श्रावणत्वात् , शब्दत्ववत्'—इत्यादि सत्प्रतिपक्षभूत दोनों हेतुओं में बलाबलरूप विशेषता का जब भान नहीं होता, तब अपने प्रतिपक्ष हेतुरूप प्रतिबन्धक के कारण दोनों हेतुओं में अपने-अपने साध्य के निश्चय की अजनकता वैसे ही होती है, वैसे प्रतिबन्धक मण्यादि से युक्त अग्नि में दाहाजनकता। ऐसे सत्प्रतिपक्ष हेतुओं में भी व्याप्त्यभाव या पक्षधर्मताभाव की स्वरूपता कथमपि सम्भावित नहीं।

बाध यद्यपि हेतुमत् पक्ष में साध्याभाव का बोधक है, तथापि व्याप्तिविरहस्वरूप नहीं होता, क्योंकि 'वह्निरनुष्णः, द्रव्यत्वाद् घटवत्'—इत्यादि स्थलों पर सामान्यतः अनौपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति का अभाव या हेतु में सोपाधिता अवगमित नहीं होती, अपितु वह्निरूप पक्ष में अनुष्णुत्वरूप साध्यका अभाव बोधित होता है। पक्ष में साध्य का बाध होने पर भी यत्र यत्र द्रव्यत्वम्, तत्र तत्रानुष्णत्वम्'—इस प्रकार की सामान्य व्याप्ति घटादि दृष्टान्त में सुलभ है। बाध तो केवल वह्न्यादि पक्षरूप विशेषस्थल पर ही साध्यान्वय का विरोधी है

नाप्यसौ सामान्यतः साध्यसाधनसम्बन्धस्य विरहरूपः, बाधे सत्यपि सामान्येन साध्यसाधनयोः सम्बन्धस्य दृष्टान्तावगतस्यानपलापात्। बाधस्य किञ्चिद्विशेषविषयत्वात् सामान्याकारपरिगृहीतस्य सम्बन्धस्य विशेषान्तरमादाय पर्यवसानाविरोधात्। तस्माद्विशेषबाधेन सामान्यतः सम्बन्धस्य सोपाधिताऽनुमीयते, निरुपाधित्वे बाधानुपपत्तेः। यथाऽऽह—'बाधाद्वोपाधिरुन्नीयतेऽन्यथा वेति न कश्चिद्विशेषः' इति।

अन्यस्तु सत्प्रतिपक्षवत् बाधस्यापि प्रतिबन्धकत्वमेव, तेन बाधे सति प्रतिबद्धत्वान्निश्चयं न करोति हेतुरिति व्याप्तिपक्षधर्मतादोषमनालोच्य अन्यथैव बाधस्य दोषत्वमित्याह। तस्माद् व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितत्वानां यत्र साक्षादेव विरहस्योद्भा-

※ नापीति ※। कुतो न तथात्वमित्यत आह ※ बाध इति ※। बाधे सत्यपि सामान्येन साध्यसाधनयोः सम्बन्धस्यानपलापादिति सम्बन्धः। अनपलापे हेतुर्दृष्टान्तेति। पदार्थत्वहेतोरनुष्णत्वसाध्येन घटादौ सम्बन्धस्यावगतत्वेन निराकरणत्वायोगादित्यर्थः। यद्यथा भाति तत्तथैवेत्युत्सर्गो बाधकोपनिपातादन्यथात्वं कस्मान्न भवेदित्यत आह ※ बाधेति ※। अग्नौ साध्यसाधनसम्बन्धाभावमात्रगोचरो बाधो बाधत इति बाधस्य ज्ञानस्य विवक्षितत्वात् तथाऽपि कथन्न व्याप्त्यभाव इत्यत आह ※ सामान्येति ※। बाधस्य पक्षमात्रे साध्याभावविषयत्वात् व्याप्तिग्राहकस्य सामान्यसम्बन्धविषयत्वाद्व्यवस्थाया अविरोधोपपत्तिः सर्वभूताहिंसाविधिना विरोधे ततोऽन्यपशुहिंसाविषयत्वेनाविरोधवदित्यर्थः। केन तर्हि प्रकारेण बाधस्य हेतुदोषत्वमित्याशङ्क्य व्याप्तिविरहलिङ्गत्वेनेति दर्शयन्नुपसंहरति ※ तस्मादिति ※। पदार्थत्वानुष्णत्वसम्बन्धः सोपाधिकः विपक्षबाधकोपपन्नत्वात् हिंसात्वाधर्मत्वसम्बन्धवदित्यनुमीयत इत्यर्थः। विपक्षे बाधमेवाह ※ निरुपेति ※। पदार्थत्वानुष्णत्वयोः सम्बन्धस्य स्वाभाविकत्वे साधनवति पक्षे साध्याभावबोधात्मा बाधो न भवेदित्यर्थः। बाध उपाध्यनुमापक इत्यत्राभियुक्तसम्मतिमाह ※ यथेति ※। ※ अन्यथेति ※। विपक्षबाधकतर्काभावेन वेत्यर्थः।

वाचस्पतेर्मतमाह ※ अन्यस्त्विति ※। अन्यस्तु बाधस्यान्यथैव दोषत्वमाहेति सम्बन्धः। तदन्यथात्वमेव दर्शयति ※ सत्प्रतीत्यादिना ※। व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां प्रमितं लिङ्गं तद् बाधे सति प्रतिबद्धत्वान्निश्चयं न करोति बाधस्यापि सत्प्रतिपक्षवत्प्रतिबन्धकत्वमेव येन, तेन कारणेन साध्याभावग्राहकप्रमाणाभावोऽपि साध्यप्रमितौ हेतुः साध्याभावप्रमाणसत्वं विसामग्रीप्रतिबन्ध इति यावत्। व्याप्तिः पक्षधर्मता चानुमितिकरणं तत्र बाधे सति निरुपाधिसम्बन्धत्वानुपपत्त्या सोपाधित्वं साध्याभावनिश्चयेन सन्दिग्धसाध्यपक्षाभावेन तद्धर्मताविरह इति व्याप्तिपक्षधर्मताविरहदोषत्वे सति बाधस्य कथं प्रतिबन्धकत्व-

और साध्य-साधन का सहचार घटादिरूप अन्य स्थलों पर पर्यवसित हो जाता है, अतः वह्न्यादि विशेष स्थलों पर साध्य-बाध के द्वारा साध्य-साधन के सम्बन्ध में सोपाधिता का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि अनुष्णत्व और द्रव्यत्व का अनौपाधिक सम्बन्ध मानने पर द्रव्यत्व के आधारभूत अग्नि में अनुष्णत्व का बाध नहीं हो सकता था, जैसा कि श्री उदयनाचार्य ने कहा है—"बाधेन वा उपाधिरुन्नीयतामन्येन वेति न कश्चिद् विशेषः" (न्या. कु. पृ. ६८४)। अर्थात् बाध के द्वारा हेतु में सोपाधिकत्व का अनुमान किया जाय अथवा अनुकूलतर्काभावादिरूप अन्य साधन के द्वारा, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अन्य (वाचस्पति मिश्रादि) नैयायिक बाध को भी सत्प्रतिपक्ष के समान ही साध्यानुमिति का प्रतिबन्धक ही मानते हैं, अतः बाध के द्वारा प्रतिबद्ध होकर हेतु साध्य का निश्चय नहीं कर सकता—इस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मता के दोषों का मार्ग छोड़ कर बाध में दोषता का सामञ्जस्य अन्य प्रकार से ही किया है। फलतः जहाँ पर व्याप्ति, पक्षधर्मता और प्रमितत्व का साक्षात् अभाव उद्भावित है, वहाँ असिद्ध हेत्वाभास होता है और जहाँ व्याप्त्यादि के अभावों के

वनं तत्रासिद्धः, यत्र तु व्याप्त्यादिविरहलिङ्गोपन्यासः सत्प्रतिपक्षोपन्यासो वा तत्रान्यो हेत्वाभासः।

ननु सोपाधित्वादयोऽपि यतोऽवगम्यन्ते, तत् कुतः पृथक् दूषणं न भवत्यनैकान्तिकत्वादिवत्? मैवम्, अनैकान्तिकत्वादेर्व्याप्त्यादिविरहबोधने लिङ्गभावनियमात् पृथगुपन्यासः। सोपाधित्वादेस्तु प्रत्यक्षादपि प्रतीतेः, न तु लिङ्गभावनियमं तत्र प्रतिपादकं किञ्चिदस्ति।

न च वाच्यं यत्र लिङ्गात्सोपाधितादेः प्रतीतिरतीन्द्रियप्रभृतिविषये, तत्र तल्लिङ्गं पृथगेव दूषणतयाऽभिधीयताम्, न ह्यनैकान्तिकत्वादिकमपि सार्वत्रिकं व्याप्तिविरह-

---

मन्यथा अनैकान्तिकादीनामपि तथाभावापातादित्याशङ्क्याह ❀ व्याप्तीति ❀। अनालोच्येत्यनेन तन्मतं निरस्तप्रायम्।

हेत्वाभासवैविध्यमुपपादितमुपसंहरति ❀ तस्मादित्यादिना ❀। स्वार्थानुमित्याभासावरोधाय शक्योद्भावनत्वं विवक्षितं द्रष्टव्यम्। हेत्वाभासान्तरस्यासिद्धितः को विशेष इत्यत आह ❀ यत्रेति ❀। प्रतिपक्षोपन्यासः स्वमते अन्यमते तु कालात्ययापदेशस्यापि।

उक्तहेत्वाभासनियमं प्रतिबन्दीग्रहेणाक्षिपति ❀ नन्विति ❀। सोपाधित्वं व्याप्तिविरह आदिपदेन स्वरूपासिद्ध्यादिसङ्ग्रहः। सोपाधित्वादिकमसिद्धेः पृथक् दूषणं भवितुमर्हति हेतुदोषज्ञापकत्वादनैकान्तिकत्वादिवदन्यथा अनैकान्तादेरपि पृथक् दोषत्वं न स्यादित्यर्थः। पृथक् दूषणत्वे व्याप्त्यादिभङ्गलिङ्गत्वमत्प्रतिपक्षत्वयोरन्यतरत्वं प्रयोजकमिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। सोपाधिकत्वादिग्राहकप्रमाणं व्याप्त्यादिविरहलिङ्गं हेतुदोषग्राहकत्वादनैकान्तिकत्वादिवदिति साधनव्यापकतामाशङ्क्याह ❀ सोपाधीति ❀। आपो गन्धवत्यः कठिनत्वादित्यत्र प्रत्यक्षेण स्वरूपासिद्धिर्गम्यते जलं धूमवदनग्नित्वादित्यत्र व्याप्त्यभावः प्रत्यक्षेण गम्यते तथाऽऽगमादेरपि तदधिगमोदाहरणं द्रष्टव्यम्। तर्हि यत्र सोपाधित्वादि लिङ्गाद् गम्यते तत्र तदनैकान्त्यादिवदसिद्धितः पृथक् दूषणमिति हेत्वाभासाधिक्यमापन्नमिति चोदयति ❀ न चेति ❀। पृथग्ग्रहणेनेन्द्रियकसङ्ग्रहः। अध्वरे हिंसा अधर्मसाधनं हिंसात्वात् ब्राह्मणहिंसावदित्यत्र निषिद्धत्वं उपाधिर्निन्दितत्वालिङ्गाद् गम्यते, अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वादित्यत्र पक्षधर्मताविरहोऽप्रामाणिकत्वलिङ्गाद् गम्यते, स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यत्र श्यामत्वमैत्रतनयत्वयोरैन्द्रियकयोरपि शाकाद्याहारपरिणतिपरम्पराजन्यत्वमन्वयव्यतिरेकवत्वात् लिङ्गाद् गम्यते तत्र तल्लिङ्गं दूषणान्तरं स्यादित्यर्थः। यत्र सोपाधि-

---

अनुमापक लिङ्गों का उपन्यास किया जाता है, अथवा सत्प्रतिपक्षता का प्रतिपादन किया जाता है, वहाँ असिद्ध से भिन्न स्वतन्त्र सव्यभिचारादि हेत्वाभास माने जाते हैं।

शङ्का—यदि व्याप्त्यभावादि के अनुमापक दोषों की स्वतन्त्र अनैकान्तिकादि हेत्वाभासों के रूप में स्थापना की जाती है, तब सोपाधिकत्व और पक्षधर्मत्वाभाव के अनुमापक दोषों को भी स्वतन्त्र हेत्वाभास मान कर हेत्वाभासों की पाँच से अधिक संख्या क्यों नहीं की जाती?

समाधान—अनैकान्तिकत्वादि में व्याप्त्यभावादि की लिङ्गता क्लृप्त है और सोपाधिकत्वादि के गमक दोषों में लिङ्गता कल्प्यमान है, अतः अनैकान्तिकादि से सोपाधिकत्वादि के अनुमापकों की तुलना कदापि नहीं की जा सकती। अर्थात् व्याप्त्यभावादि का अनुमान नियमतः अनैकान्तिकत्व (व्यभिचार) के द्वारा होता है, किन्तु सोपाधिकत्वादि का ज्ञान किसी लिङ्ग विशेष पर ही निर्भर नहीं, अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सोपाधिकत्वादि की प्रतीति हो जाती है।

शङ्का—सर्वत्र सोपाधित्वादि की प्रतीति प्रत्यक्षतः नहीं हो सकती, अतः जहाँ अतीन्द्रिय सोपाधिकत्वादि का अनुमान जिस लिङ्ग के द्वारा होता है, उसको तो पृथक् हेत्वाभास मानना चाहिए। अनैकान्तिकत्वादि भी सर्वत्र व्याप्त्यभावादि के अनुमापक नहीं होते, अपितु जहाँ वे

लिङ्गमिति हेत्वाभासाधिक्यमापन्नमिति। अनैकान्तिकत्वादिवत्तेषां लिङ्गानामैकरूप्येण निर्देष्टुमशक्यात्, पृथक् पृथगेव वाऽभिधानमशक्यमपरिसङ्ख्येयत्वादिति। वक्ष्या-मश्चाग्रे हेतुं तदनभिधानस्य।

नन्वनुचितमुच्यते व्याप्त्यादिविरहलिङ्गतया अनैकान्तिकत्वादीनां पृथग्दूषणत्व-मिति, यतो व्याप्तिपक्षधर्मतोपेतलिङ्गप्रमितिसाध्यानुमितिस्तद्वैकल्यान्न भवेत्। यतश्च सा न भवति, तदेव तस्यां दूषणं वक्तुं युक्तम् 'इदमनुमित्युत्पत्तिकारणमिह नास्ती'ति। न च व्याप्तिपक्षधर्मते तत्प्रमितिश्च विहायान्यत् तदुत्पत्तिकारणमस्ति

त्वाद्यवगमस्तत्र सर्वत्र तल्लिङ्गमेव हेतुरिति नियतन्न भवति प्रत्यक्षादितोऽपि तदवगमादतोऽसार्वत्रिकव्याप्ति-विरहलिङ्गत्वादपृथग्दोषत्वमित्यत आह ॐ न हीति ॐ। अनैकान्त्यमपि न सार्वत्रिकं व्याप्तिविरहलिङ्गं क्वचिद्विरुद्धादिना तदवगमादिति तदपि पृथक् दूषणं न स्यादित्यर्थः। फलितमाह ॐ इतीति ॐ। यानि पृथग्दूषणाभिमतानि लिङ्गानि तेषामुपसङ्ग्राहकमेकं रूपमस्ति किं वा पृथक् पृथगेव तदुद्भाव्यमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याचष्टे ॐ नैवमिति ॐ। सव्यभिचारत्वसाध्यविपरीतव्याप्तत्वादिवदनुगतरूपाभावादेक-रूपशब्दाप्रवृत्तेरित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति ॐ पृथगिति ॐ। प्रतिव्यक्ति सङ्केतग्रहायोगादित्यर्थः। अशक्यत्वे हेतुमाह ॐ अपरिसङ्ख्येयेति ॐ। सोपाधित्वादिगमकलिङ्गानां पृथग्दूषणत्वाभावे हेत्वन्तरमपि वक्ष्यत इत्याह ॐ वक्ष्यामश्चेति ॐ।

व्याप्त्यादिविरहलिङ्गानामनैकान्तादीनां पृथग्दूषणत्वमङ्गीकृत्यातिप्रसङ्गश्चोदित इदानीं पृथग्दूषणत्व-मेव न सम्भवतीति चोदयति ॐ नन्विति ॐ। व्याप्त्यादिभङ्गलिङ्गभूतानामनैकान्तिकादीनां अनुमित्यनु-त्पत्तिप्रयोजकत्वात्कथमनुचितं तद्दूषणत्वमित्यत आह ॐ यत इति ॐ। व्याप्तिपक्षधर्म्मतोपेतलिङ्गप्रमिते-रनुमितिसाधकत्वात्तदभावादेवानुमितिर्न्न भवतीति यावत्। अस्तु लिङ्गप्रमित्यभावस्यैवानुमित्यनुत्पत्तिप्रयोज-कत्वमेतावता किं स्यादित्यत आह ॐयतश्चेतिॐ। वदनप्रकारमभिनयेन दर्शयति ॐ इदमिति ॐ। व्याप्ति-पक्षधर्म्मतावदनैकान्त्याद्यभावोऽपि कारणमनुमितेरतो व्याप्त्याद्यभाववदनैकान्त्याद्यभावाभावोऽनैकान्त्या-दिरपि दूषणमित्यत आह ॐ न चेति ॐ। अनैकान्त्याद्यभावस्यान्वयेऽपि व्यतिरेको न दर्शयितुं शक्यते

व्याप्त्यभावादि के अनुमापक होते हैं, वहाँ ही उनको हेत्वाभास माना जाता है, वैसे ही जहाँ सोपाधिकत्वादि का नियमतः अनुमान होता है, वहाँ अनुमापक लिङ्ग को पृथक् हेत्वाभास माना जाना चाहिए, फलतः हेत्वाभासों की संख्या अधिक हो जाती है।

समाधान—व्याप्त्यभावादि के गमक लिङ्गों का जैसे अनैकान्तिकत्वादि के रूप में अनुगम किया जा सकता है, वैसे सोपाधिकत्वादि के गमक लिङ्गों का नहीं, सभी का पृथक्-पृथक् अभिधान सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि वे अपरिसंखेय हैं एवं उनके अनभिधान का अन्य भी कारण आगे चल कर कहा जायगा।

शङ्का—कारणाभाव को ही कार्य का दोष माना जाता है, कारणाभाव के अनुमापक को नहीं, अतः व्याप्त्यभाव का अनुमापक होने के कारण अनैकान्तिक को दोष मानना उचित नहीं, क्योंकि हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता का सद्भाव ही अनुमिति का कारण होता है, अतः हेतु में व्याप्त्यादि के अभाव को ही दोष कहना चाहिये कि 'व्याप्त्यादि ही अनुमिति के कारण होते हैं और वे यहाँ नहीं हैं'।

व्याप्ति और पक्षधर्मता को छोड़कर और कोई अनुमिति की उत्पत्ति का ऐसा कारण नहीं दिखाया जा सकता, जिसके व्यतिरेक (अभाव) में अनुमिति की उत्पत्ति का व्यतिरेक (अभाव) दिखाया जा सके [जैसे व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानसत्त्वेऽनुमित्युत्पत्तिसत्त्वम्, तदभावे तदभावः'—इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति और पक्षधर्मता का दिखाया जा सकता है, वैसे अनैकान्तिकत्वाभाव का नहीं, क्योंकि जब व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान नहीं, तब

व्यतिरेकोपदर्शनयोग्यम् । तस्मादनुमितिदोषप्रतीतिकारणत्वमनैकान्तिकत्वादीनाम्, न तु साक्षाद्दोषत्वम् । दोषप्रतिपादकतयाऽपि च दोषत्वं साक्षाद्दोषत्वमनुपजीव्याशक्याभिधानमिति प्रधानदोषस्यैव दोषतयोद्भावनं युक्तम्, न सव्यभिचारत्वादीनामिति विभागसूत्रमनर्थकमिति । सत्यमेतत् । साक्षाद्दोषत्वं प्रतिबन्धकस्य व्याप्त्यादिविरहस्य वा । विरुद्धत्वादीनां तु तत्प्रमापकतया यद्यपि दोषपक्षनिक्षेपः, तथापि विरुद्धत्वादयो यद्दोषप्रतिपादकतयोक्तास्तदुद्भावनलाघवानुरोधात् ।

व्याप्त्यादिविरहे तत्रोद्भाव्यमाने न हेतुर्मन्तुं शक्यते । अनैकान्तिकत्वादौ तु

व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितौ सत्यामनुमित्यनुत्पत्त्यदर्शनाद्व्यतिरेकात्कारणमवसेयमित्यर्थः । व्याप्त्यादिविरहस्यासिद्धदोषत्वेऽनैकान्त्याद्युद्भावनमनुचितमिति प्रतिपादयितुमनुमितिदोषप्रत्यायकत्वमेवेति फलितमुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀ । दोषप्रतिपादकतयैव दोषत्वमनैकान्तिकादीनां भवतु को दोष इत्यत आह ❀ दोषेति ❀ । व्याप्त्यादिविरहस्य दोषत्वमुपजीव्य तत्प्रतिपादकतया दोषत्वं वाच्यमन्यथा तदसिद्धेरित्यर्थः । तथा चोपजीव्यस्य दोषत्वोद्भावनं युक्तं प्राधान्यात्तस्यैति फलं निगमयति ❀ प्रधानेति ❀ ।

अर्द्धाङ्गीकारेण परिहरति ❀ सत्यमिति ❀ । अङ्गीकृतमंशमनुवदति ❀ साक्षादित्यादि निक्षेप इत्यन्तम् ❀ । अनङ्गीकृतमंशमाह ❀ तथाऽपीति ❀ । यस्य दोषस्य व्याप्त्यादिविरहस्य प्रतिपादकतयोक्तास्तदुद्भावने लाघवानुरोधात्पृथग्दूषणतयोपन्यस्यन्त इति शेषः । लाघवं चानन्यापेक्षतया तत्प्रतीत्युत्पत्तिः । लाघवानुरोधादनैकान्त्यादेर्दोषत्वोपन्यासो यदि तर्हि व्याप्त्यादिविरह एवोपन्यस्यतां तस्य प्राधान्याल्लाघवस्य च तुल्यत्वादित्यत आह ❀ व्याप्तीति ❀ । अनयोर्न्न व्याप्तिरित्युक्तौ कुत इति हेत्वाकाङ्क्षायां सत्यामप्यसाववगन्तुं न शक्यते व्याप्त्यादिविरहस्यानैकान्त्यादिहेतुदोषविशेषव्याप्तत्वादिति सोऽपि वक्तव्य इति गौरवमित्यर्थः । अनैकान्ताद्युद्भावनेऽपि व्याप्त्यादिविरहो नाधिगन्तुं शक्य इति तुल्यं गौरवमित्यत आह ❀ अनैकेति ❀ । व्याप्त्यादिविरहव्यतिरेकेणानैकान्त्यादेरनुपपत्त्यभावान्नार्थात्तदधिगम इत्यत आह ❀ व्याप्त्यादीति ❀ । याद हि निरुपाधिः साध्येन सम्बन्धोऽस्य भवेत्कथं व्यभिचरितुं शक्नुयादित्युक्ते चानुपपत्तिरित्यर्थः । यद्येन विनाऽनुपपन्नं तदभिधाने तदुपपादके बुद्धिरर्थाद्भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह

हेतु में अनैकान्तिकत्वाभाव का निश्चय रहने पर भी अनुमिति की उत्पत्ति नहीं देखी जाती, अतः न तो अनैकान्तिकत्वाभाव को अनुमिति का कारण और न अनैकान्तिकत्वाभावाभाव या अनैकान्तिकत्व को दोष]। फलतः अनुमिति के दोषभूत व्याप्त्याभावादि के ज्ञान की कारणता व्याप्त्याभावादि की अनुमापकता) ही अनैकान्तिकत्वादि में स्थिर होती है, साक्षात् दोषत्व नहीं।

व्याप्त्यभावादिरूप प्रधान दोषों के उपपादनार्थ भी अनैकान्तिकत्वादि दोषों का तब तक उद्भावन नहीं किया जा सकता, जब तक कि व्याप्त्यभावादिरूप साक्षात् दोषों का उद्भावन न किया जाय, प्रधान दोषों का उद्भावन कर देने पर उपजीवकीभूत गौण दोषों के उद्भावन की सर्वत्र आवश्यकता नहीं रह जाती, अतः अनैकान्तिकत्व या सव्यभिचारादि का उद्भावन व्यर्थ है, इन्हें स्वतन्त्र दोष मानना संगत नहीं, ऐसी परिस्थिति में न्यायसूत्र-चर्चित 'सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः'' (न्या. सू. १।२।४) इस प्रकार विभाग-वर्णन संगत नहीं रह जाता।

समाधान—यद्यपि यह सत्य है कि साक्षात् दोषता या तो अनुमिति के प्रतिबन्धकीभूत बाध और सत्प्रतिपक्ष में होती है या व्याप्त्यादि के अभाव में ही होती है, विरुद्ध और अनैकान्तिकादि में व्याप्त्यादि के अभावों की प्रमापकता होने के कारण परम्परया दोषत्व-माना जाता है। तथापि जिन दोषों की अनुमापकता अनैकान्तिकत्वादि में मानी गई है, उन

उद्भाविते व्याप्त्यादिविरहोऽर्थाद् गम्यते, व्याप्त्यादिविरहव्यतिरेकेण अनैकान्तिकत्वादेरनुपपन्नत्वात्। यथा 'तस्माद्दीर्घोऽयम्' इत्युक्ते 'अस्माद् ह्रस्वः सः' इत्यर्थाद् गम्यते, न तु तत्र प्रतिपाद्यान्तरापेक्षा, तथेहापि 'निरग्नौ धूमोऽस्ती'ति प्रतिपादिते 'अग्निनाऽसौ न व्याप्तः' इत्यर्थाद् गम्यते। न हि सम्भवति 'अग्निना च व्याप्तोऽनग्नौ चास्ती'ति। अत एवाऽऽनन्त्यात् अतीन्द्रियोपाध्यादिलिङ्गानां येषां पूर्वमनभिधानं समर्थितम्, तेषामनभिधानेऽयमपि हेतुः तानि ह्युपाधिलिङ्गानि नार्थवशादुपाधिमनपेक्षाणि गमयन्ति, येन तेषां व्याप्तिर्नावधारिता तं प्रति तत्प्रतिपादनमन्तरेण अप्रतिपादकत्वस्यापि सम्भवात्। अनैकान्तिकत्वाद्यवगतौ च व्याप्त्यादिविरहबोधाय न प्रतिपादनीयान्तरापेक्षा कस्यचित्सचेतसः सम्भवतीति पूर्वपक्षसङ्क्षेपः।

ॐ तस्मादिति ॐ। दृष्टान्तप्रतिपादितमर्थं दार्ष्टान्तिकेऽर्पयिष्यन्नाह ॐ तथेति ॐ। निरग्नौ जले यद्यपि वस्तुतो धूमो नास्ति तथाऽप्युदाहरणमात्रतयोक्तमिति न दोषः। कयाऽनुपपत्त्या गम्यत इत्यत आह ॐ न हीति ॐ। वक्ष्यामश्चाग्रे हेतुं तदनभिधानस्येति यदुक्तं तदिदानीं दर्शयति ॐ अत इति ॐ। अनभिधानेऽयमपि हेतुरिति योजना। अत एव—सापेक्षतया गौरवादेव। अत इति परामृष्टं हेतुं स्पष्टयति ॐ तानीति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ येनेति ॐ। लिङ्गानामुपाधिना सह व्याप्तिर्न गृहीता येन तं प्रति व्याप्तिप्रतिपादनमन्तरेण तत्प्रतिपादकत्वासम्भवात् व्याप्तिपक्षधर्मोपेततया प्रमितस्य लिङ्गत्वादित्यर्थः। अनैकान्तिकत्वादीनामपि लिङ्गत्वाद्व्याप्तिप्रतीत्यपेक्षा तुल्या इत्यगृहीतव्याप्तिकं प्रति तत्प्रतिपादनापेक्षेत्यत आह ॐ अनैकान्तिकेति ॐ। पदार्थानभिज्ञस्य कथायामनधिकारादनैकान्तविरुद्धादिपदादेव व्याप्त्याद्यभावो गम्यते तथाऽनैकान्तिकत्वाद्युद्भावने स्वयमेव विपक्षबाधकतर्काद्व्याप्त्यादिविरहो गम्यते न तथोपाधिलिङ्गोपन्यासे विपक्षबाधकतर्काभावादित्याशयः। एवमाभासत्रैविध्योपपादनेन व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यान्न प्रमितोऽसिद्ध इति लक्षणस्यातिव्याप्तिं परिहृत्य पूर्वपक्षमुपसंहरति ॐ इति पूर्वेति ॐ।

दोषों के उद्भावन से पूर्व ही अनैकान्तिकत्वादि के उद्भावन में लाघव है, क्योंकि व्याप्यत्वासिद्ध्यादि का उद्भावन करने पर कथं तदसिद्धिः? ऐसी आकांक्षा होती है, जिसकी शान्ति के लिए अनैकान्तिकत्वादि का उद्भावन आवश्यक होता है, अतः पहले ही अनैकान्तिकत्वादि का उद्भावन करना चाहिए, वह अपने व्यापकीभूत असिद्धत्व का स्वतः आक्षेप कर लेता है, क्योंकि व्याप्त्याद्यभाव के विना अनैकान्तिकत्वादि उपपन्न ही नहीं होते। जैसे 'तस्माद् दीर्घोऽयम्'—ऐसा कहने पर सोऽस्माद् ह्रस्वः'—ऐसा अर्थात् ही अवगत हो जाता है, उसके उपपादनार्थ अन्य किसी की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही प्रकृत में भी 'अग्न्यभाववति धूमोऽस्ति'—ऐसा कहने पर यह अर्थात् अवगत हो जाता है कि 'अग्निना धूमो न व्याप्तः', क्योंकि ऐसा कदापि सम्भव नहीं कि कोई वस्तु अग्नि की व्याप्य हो और अग्नि के विना रह जाय। अत एव 'अतीन्द्रियभूत उपाधि के लिङ्ग अनन्त हैं, अतः उनका उद्भावन सम्भव नहीं'—ऐसा जो पहले कहा गया था, वहाँ उनके अनुद्भावन में यह भी एक कारण है कि कथित उपाधि के गमक लिङ्ग उद्भावित होकर अर्थतः उपाधि के गमक नहीं होते, क्योंकि जिस व्यक्ति के द्वारा अनन्त और अननुगत लिङ्गों में उपाधि की व्याप्ति गृहीत नहीं, उस व्यक्ति के प्रति जब तक व्याप्ति का प्रतिपादन नहीं किया जाता, तब तक कथित लिङ्ग उपाधि के गमक नहीं हो सकते, किन्तु अनैकान्तिकत्वादि की अवगति हो जाने पर व्याप्त्यभावादि की अवगति के लिए अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा एक बुद्धिमान् व्यक्ति को नहीं रहती, फलतः कथित विभाग-सूत्र में वर्णित पञ्चविध हेत्वाभास उचित एवं असिद्ध का लक्षण भी युक्ति-युक्त है—यह असिद्धसंज्ञक हेत्वाभास के स्थापनारूप पूर्वपक्ष का संक्षिप्त स्वरूप है।

एवमसिद्धलक्षणे व्यवस्थिते बाधोऽयमभिधीयते । एतेन कीदृशमसिद्धलक्षणं व्यवस्थापितमायुष्मता भवति ? व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इति तावत् विरुद्धादिषु लक्षणं किं नास्ति, किं वाऽस्ति ? यदि नास्ति, तदा व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यां प्रमिता विरुद्धादयः प्राप्नुवन्ति । अथास्ति तदा तेऽप्यसिद्धभेदाः प्राप्ताः । अथैतस्मिल्लक्षणे सत्यपि ते नासिद्धान्तर्भूताः, तर्हि लक्षणमिदमतिव्यापकमापन्नम् ।

अथ यत्र व्याप्तिपक्षधर्मत्वाप्रमितत्वं साक्षादुद्भाव्यते तदसिद्धमित्युच्यते, तर्हि लक्षणान्तरमिदमुक्तं स्यात् । न चैतदपि युक्तम् ; यत्र व्याप्यत्वासिद्धेर्व्याप्तिविरहमात्रं प्रतिपाद्यते, तत्र व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितत्वानां हानं मिलितं नोद्भाव्यत इति नासावसिद्धः स्यात् । एवं सर्वासिद्धविशेषमुदाहृत्य प्रसङ्गो विधातव्यः ।

सिद्धान्तोपक्रमज्ञापनायाह ❀ एवमिति ❀ । एतावता प्रबन्धेन किं व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितत्वमसिद्धलक्षणं व्यवस्थापितं भवति किं वा व्याप्त्यादिविरहो यत्र साक्षादुद्भाव्यते सोऽसिद्ध इति विकल्पाभिप्रायेणाह ❀ एतेनेति ❀ । प्रथमकल्पमपाकर्तुं द्वेधा विकल्पयति ❀ व्याप्तेति ❀ । प्रथममपाकरोति ❀ यदीति ❀ । भावाभावयोरन्यतरनिषेधेऽन्यतरविधिध्रौव्यात् व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां प्रमिततया सम्यग् हेतवः स्युरित्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀ । आभासत्रैविध्यभङ्गप्रसञ्जनेन परिहरति ❀ तेऽपीति ❀ । विरुद्धादयोऽसिद्धान्तर्भूतास्तल्लक्षणवत्वात्स्वरूपासिद्धिवदित्यर्थः । विपक्षबाधकाभावेनाप्रयोजकतां शङ्कते ❀ अथेति ❀ । लक्षणस्यातिव्यापकत्वप्रसङ्गो बाध इति परिहरति ❀ तर्हीति ❀ । अनसिद्धे विरुद्धादावसिद्धलक्षणगमनादतिव्याप्तिरित्यर्थः ।

उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀ । यत्र व्याप्त्यादिविरहः साक्षादुद्भाव्यते सोऽसिद्धो यत्र तल्लिङ्गोपन्यासः स विरुद्धादिरित्यर्थः । निर्विशेषणं लक्षणमभिधायातिव्याप्त्या दूषिते तस्मिन्विशेषणप्रक्षेपे हेत्वन्तरनिग्रहः स्यादिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀ । लक्षणत्वमुपगम्य निग्रहोऽगादि, तदपि न युक्तमित्याह ❀ न चेति ❀ । तथा हि व्याप्तत्वपक्षधर्मताप्रमितत्वानां हानं मिलितमसिद्धलक्षणमुत प्रत्येकमिति विकल्प्य प्रथमेऽव्याप्तिरित्याह ❀ यत्रेति ❀ । स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यादावुपाध्युद्भावनेन व्याप्तिविरहमात्रं प्रतिपाद्यते नासावसिद्धः स्यादिति सम्बन्धः । तदुपपादनं तत्रेत्यादि मिलितलक्षणाभावादित्यर्थः । उक्तामव्याप्तिं स्वरूपासिद्धावतिदिशति ❀ एवमिति ❀ । गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वादित्याश्रयासिद्धे पक्षधर्मताविरहमात्रमुद्भाव्यते शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वादिति स्वरूपासिद्धे च तथा धूमस्याग्निना व्याप्तत्वं पक्षनिष्ठत्वं वा येन न प्रमितं तेन प्रमित्यभावमात्रमुद्भाव्यत इति प्रत्येकमिलितलक्षणाव्याप्तिरित्यर्थः ।

सिद्धान्त-प्रदर्शन

असिद्धनामक हेत्वाभास की लक्षण-स्थापना का बाध प्रस्तुत किया जा रहा है—

असिद्ध का जो लक्षण किया गया है—'व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितोऽसिद्धः' । वह विरुद्धादि हेत्वाभासों में नहीं घटता ? अथवा घट जाता है ? यदि नहीं, तब विरुद्धादि हेतुओं में व्याप्ति और पक्षधर्मता का समन्वय होना चाहिए । यदि विरुद्धादि में भी उक्त लक्षण घट जाता है, तब वे भी असिद्ध के ही भेद ठहरते हैं, पृथक् हेत्वाभास नहीं । यदि इस लक्षण का सद्भाव होने पर भी वे असिद्ध के अन्तर्गत नहीं माने जाते, तब उक्त लक्षण अतिव्याप्त है ।

जहाँ व्याप्ति एवं पक्षधर्मताप्रकारक प्रमिति की साक्षात् अविषयता उद्भावित हो, उस को असिद्ध कहा जाता है, तब यह लक्षणान्तर कहा जायगा । यह भी युक्त नहीं, क्योंकि जहाँ 'स श्यामो मित्रातनयत्वात्'—इत्यादि स्थलों पर केवल व्याप्त्यभाव का उद्भावन होता है, वहाँ 'व्याप्ति, पक्षधर्मता और अप्रमितत्व'—इन तीनों मिलित धर्मों का उद्भावन न होने के कारण असिद्धत्व नहीं होना चाहिए । इसी प्रकार असिद्धत्व-घटक प्रत्येक भाग के रहने पर भी सम्मिलित लक्षण न घटने के कारण अव्याप्ति दोष प्रसक्त हो जाता है ।

अथ प्रत्येकमिदं लक्षणम् व्याप्त्यप्रमिततया साक्षादुद्भाव्योऽसिद्धः, पक्षधर्मत्वाप्रमिततया चेति, तर्हि अन्योन्योदाहरणाव्याप्तेरव्यापकत्वमुभयोः। अथोभयोरप्यसिद्धविशेषलक्षणत्वाद् अन्योन्यविषयाव्यापकता न दोषायेति मन्यसे। न, सामान्यलक्षणे निर्वक्तुमशक्ये कथमिदं विशेषलक्षणमपि घटते।

अथ अनुमितेरसाधारणहेतुव्यतिरेकोद्भावनं सामान्यलक्षणमस्तु। मैवम्, सत्प्रतिपक्षोद्भावनं तथेत्यतिव्याप्तेः। भावरूपतया हेतुविशेषणे च निरुपाधित्वव्यतिरेकोद्भावनाव्याप्तेः। स्वरूपासिद्धिः सर्वप्रमाणसाधारणो दोष इत्यत्र तदुद्भा-

---

प्रत्येकपक्षं शङ्कते ❀ अथेति ❀। कथं प्रत्येकमिदं लक्षणमभिधानीयमिति तत्प्रकारं दर्शयति ❀ व्याप्तीत्यादिना ❀। किमिदमसिद्धमात्रलक्षणमुत विशेषस्येति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ तर्हीति ❀। असिद्धविशेषलक्षणमिदमिति द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀। असिद्धसामान्यलक्षणान्तरं किन्नास्त्युतास्ति ? प्रथमेऽसम्भव इत्याह ❀ नेति ❀। सामान्यतो ज्ञाते विशेषजिज्ञासनात्सर्वत्र प्रमाणादौ सामान्यलक्षणकरणपूर्वकं विशेषलक्षणप्रणयनादन्यथा सोऽपि प्रयासो व्यर्थः स्यादित्याशयः। असिद्धेः सामान्यलक्षणान्तरमस्तीति द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀। व्याप्तिविरहः पक्षधर्मताविरहो वाऽसिद्धिरिति विशेषं न ब्रूमोऽपि त्वनुमितेः साधारणकारणविरह इति नैवमव्याप्तिरुभयोरपि साधारणकारणव्यतिरेकत्वादित्यर्थः। यथाश्रुतमिदं लक्षणमुत भावत्वविशेषितमाद्येऽतिव्याप्तिरित्याह ❀ मैवमिति ❀। तार्किकपक्षे प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वात्सत्प्रतिपक्षे तदभावस्वरूपप्रतिबन्धहेतूद्भावनमनुमितिसाधारणहेतुव्यतिरेको भवतीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ❀ भावेति ❀। सत्प्रतिपक्षनिवृत्तये तु भावरूपहेतुव्यतिरेक इति विशेषणं यद्युपादीयते तर्हि व्याप्तेर्निरुपाधित्वेन तद्व्यतिरेकसोपाधित्वोद्भावनाव्याप्तिर्व्याप्तेर्भावरूपत्वाभावादित्यर्थः। अव्याप्त्यन्तरमाह ❀ स्वरूपेति ❀। अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादित्यत्र स्वरूपासिद्धिरुद्भाव्यते न च तत्रानुमितिसाधारणहेतुव्यतिरेकत्वमस्ति स्वरूपासिद्धेः सर्वप्रमाणसाधारणकारणत्वादित्यर्थः। न चान्यसाधारण्ये-

---

यदि ये दो लक्षण पृथक्-पृथक् माने जाते हैं कि (१) 'व्याप्यत्वेनाऽप्रमितोऽसिद्धः' और (२) पक्षधर्मत्वेनाप्रमितोऽसिद्धः'। तब अन्योऽन्य स्थलों पर दोनों लक्षण अव्याप्त हो जाते हैं। यदि दोनों लक्षणों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न मान कर दोनों लक्षणों को असिद्ध-सामान्य का लक्षण न मान कर असिद्ध-विशेष का लक्षण माना जाता है, तब यह आपत्ति उठ खड़ी होती है कि असिद्ध-सामान्य का लक्षण जब नहीं किया जा सका, तब असिद्ध-विशेष का लक्षण क्योंकर बन सकेगा ? यदि अनुमिति के असाधारणकारणीभूत व्याप्तत्व, पक्षधर्मत्व और प्रमितत्व के व्यतिरेक का उद्भावन असिद्धत्व का सामान्य लक्षण माना जाता है, तब सत्प्रतिक्षोद्भावन में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि असत्प्रतिपक्षत्व भी अनुमिति का असाधारण कारण माना जाता है और सत्प्रतिपक्षोद्भावन उसका व्यतिरेकोद्भावन ही होता है।

शङ्का—अनुमिति के असाधारण कारण दो प्रकार के होते हैं–(१) भावरूप व्याप्यत्व, पक्षधर्मत्वादि और (२) अभावरूप असत्प्रतिक्षत्वादि। असिद्ध-लक्षण में भावरूप कारणों के व्यतिरेक का उद्भावन विवक्षित होने पर सत्प्रतिपक्षोद्भावन में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह असत्प्रतिपक्षत्वरूप अभावभूत कारण के व्यतिरेक का उद्भावन है।

समाधान—भावरूप असाधारण कारण के व्यतिरेक का उद्भावन विवक्षित होने पर निरुपाधित्वरूप कारण के व्यतिरेकोद्भावन में व्याप्यत्वासिद्ध की अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि यह भावरूप कारण के व्यतिरेक का उद्भावन नहीं, अपितु निरुपाधित्वरूप अभावात्मक कारण के व्यतिरेक का उद्भावन है। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ गगनारविन्दादि स्वरूपतः असिद्ध पदार्थों को हेतु बनाया जाता है, वहाँ हेतु स्वरूपासिद्ध माना जाता है, किन्तु वहाँ जिस स्वरूपासिद्धि के व्यतिरेक का उद्भावन होता है, वह अनुमिति का असाधारण कारण

वनाव्याप्तेश्च ।

अथोच्यते—व्याप्तत्वपक्षधर्मताभ्यां प्रमितत्वस्य व्यतिरेको यत्र साक्षादुपन्यस्यते, सोऽसिद्ध इति । इदमप्यलक्षणम्, अव्यापकत्वात् । यत्र व्याप्त्यादिव्यतिरेक उपन्यस्यते, तत्र वस्तुगत्या व्याप्तत्वप्रमितेर्व्यतिरेकोऽस्तु नाम, न तु उपन्यस्यतेऽपि प्रयोजनाभावात् । व्याप्तिव्यतिरेकदर्शनादेव अनुमानाङ्गवैकल्यात्मनो दोषस्योद्भावनपर्यवसानात् । तस्मात्तत्र प्रमितत्वव्यतिरेकोद्भावनं नास्तीत्यव्यापकत्वं दोषः ।

ननु विशेषणाद्यभावोऽपि वस्तुतो विशिष्टाभाव एवेति नोक्तदोषः । न, यदि

ऽप्यनुमितिसाधारण्याविरोध इति वाच्यम् । अदृष्टादिव्यतिरेकोद्भावनस्याप्येवमसिद्धत्वप्रसङ्गादिति । प्रत्येकमिलितपक्षोक्ताव्याप्तिपरिहाराय विशेषं शङ्कते ❀ अथेति ❀ । व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितत्वानां त्रयाणां व्यतिरेकस्य प्रत्येकस्य मिलितस्य वा यद्यप्यव्याप्तिस्तथापि व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां यद्विशिष्टं प्रमितत्वं तद्व्यतिरेकस्य लक्षणत्वे नाव्याप्तिरित्याशयः । अव्याप्त्यैव दूषयति ❀ इदमिति ❀ । अव्याप्तिमेवोपपादयति ❀ यत्रेति ❀ । स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यत्र व्याप्तिविरहः आकाशारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वादित्यत्र पक्षधर्मताविरहः । यत्र व्याप्त्यादिव्यतिरेक उपन्यस्यते तत्राव्यापकत्वं दोष इति सम्बन्धः । न तत्राव्याप्तिर्वस्तुतो व्याप्तत्वप्रमितिव्यतिरेकस्य सत्वादित्यत आह ❀ तत्रेति ❀ : अनुपन्यासे हेतुः ❀ प्रयोजनेति ❀ । प्रमितत्वव्यतिरेकोपन्यासेऽस्ति प्रयोजनमनुमानाङ्गवैकल्यमित्यत आह ❀ व्याप्तीति ❀ । तावताऽनुमानाङ्गवैकल्ये सम्भवति न प्रमितत्वव्यतिरेक उपन्यसनीय आधिक्यापातादतोऽव्याप्तिरिति निगमयति ❀ तस्मादिति ❀ ।

विशिष्टस्य विशेषणविशेष्याधीनत्वात् विशेषणादिव्याप्त्यादिमात्रविरहोद्भावनं व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टप्रमितत्वव्यतिरेकोद्भावनपर्यवसाय्येवेति मन्वानोऽव्याप्तिपरिहारं चोदयति ❀ नन्विति ❀ । विशेषणविशेष्यतत्संसर्गेभ्योऽन्यो विशिष्ट उत तन्मात्र इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ नेति ❀ । प्रतियोगिभेदस्याभावभेदकत्वाद्विशिष्टाभावो विशेषणाद्यभावादन्य एवेत्यव्याप्तिस्तदवस्थेत्यर्थः । पदार्थनियमवादिपक्षे विशिष्ट

नहीं, अपितु सर्वप्रमा-साधारण कारण है, जो पदार्थ स्वरूपतः सिद्ध नहीं, उसकी प्रत्यक्षानुमित्यादि कोई भी प्रमा नहीं होती है । फलतः स्वरूपासिद्ध में उक्त लक्षण अव्याप्त है ।

शङ्का—जिस हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता की प्रमिति का व्यतिरेक साक्षात् उद्भावित होता है, उसको असिद्ध कहते हैं । अनैकान्तिकादि में साक्षात् व्याप्त्यभावादि का उद्भावन नहीं होता, अपितु व्यभिचारादि लिङ्गों के द्वारा, अतः उनमें इस लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती ।

समाधान—यह लक्षण भी वहाँ अव्याप्त है, जहाँ अनावश्यक समझ कर प्रमितत्वव्यतिरेक का उद्भावन नहीं होता । जैसे 'स श्यामः, मित्रातनयत्वात्', 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्'—इत्यादि असिद्ध हेतुओं में केवल व्याप्ति और पक्षधर्मता के व्यतिरेक का उद्भावन किया जाता है, इतने मात्र से अनुमिति के साधनीभूत व्याप्त्यादि अङ्गों का वैकल्य सम्पन्न हो जाता है, व्याप्तत्वादि प्रकारकप्रमाविशेष्यत्व वहाँ होने पर भी निष्प्रयोजन होने के कारण उद्भावित नहीं होता, अतः वहाँ 'साध्यव्याप्तोऽयमिति न प्रमिणोमि'—ऐसी उद्भावना न होने के कारण उक्त लक्षण नहीं घटता ।

शङ्का—[यह जो कहा गया कि व्याप्ति और पक्षधर्मता का अभाव उद्भावित होने पर भी व्याप्ति पक्षधर्मताविशिष्ट प्रमिति का उद्भावन न होने के कारण उक्त लक्षण की अव्याप्ति है । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि] विशेषणाभाव, विशेष्याभाव और उभयाभाव विशिष्टाभावरूप ही माना जाता है, अतः केवल विशेषणाभाव का उद्भावन हो जाने पर भी अव्याप्ति नहीं रहती ।

विशेषणाद्यधिको विशिष्टः, तदा तदभावभेदोऽपि स्यात्। अथ नाधिकः, तदा विशेषणाभावत्वान्नान्या सा विशिष्टाभावतेति विशेष्याभावेऽपि तथात्वे पृथगेव विशिष्टाभावत्वार्थस्तयोरित्यननुगम एव। स्वार्थानुमित्यसिद्धय्व्याप्तिश्चानुद्भावनादिति।

अथ ब्रूषे—यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः साक्षाच्छक्योपन्यासस्तदसिद्धम्, शक्योपन्यासत्वस्यानुपन्यस्तेऽपि सम्भवान्नास्त्यव्यापकतेति। नैतदपि युक्तम्, तथा हि—शक्योपन्यासत्वं किं शक्यस्वरूपनिर्देशत्वमात्रम्, उत शक्यप्रमापणत्वम्? आद्ये अनैकान्तिकादावपि व्याप्तिशून्यत्वं शक्यप्रतिज्ञं भवत्येव। द्वितीयेऽपि

औपाधिको वा पदार्थान्तरन्नेति द्वितीयं शङ्कते ॐ अथेति ॐ। प्रतियोग्यैक्ये तदभावैक्यमपि स्यादिति परिहरति ॐ तदेति ॐ। अस्य विशिष्टाभावस्य विशेषणाभावत्वान्नान्या विशिष्टाभावतेति सम्बन्धः। न च प्रतियोग्यैक्येऽपि प्रागभावप्रध्वंसवदत्राभावभेदः स्यादिति वाच्यम्। तत्रापि कालभेदेन तद्विशिष्टप्रतियोगिभेदस्यावश्योपगन्तव्यत्वात्। विशिष्टाभावो विशेषणाभाव एव भवतु तावता तव को लाभ इत्यत आह ॐइति विशेष्येतिॐ। विशिष्टस्य विशेषणाभेदात्तदभावाभेदवद्विशेष्यविशिष्टयोरभेदात्तदभावाभेदोऽपि स्यादेवं च व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वविशिष्टप्रमितत्वव्यतिरेको विशेषणाभावो विशेष्याभावश्चेति तयोः प्रत्येकं मिलिततया वा लक्षणत्वेऽव्याप्तिरित्यर्थः। परोपदेशनिरपेक्षतया यत्र प्रयुज्यते तत्स्वार्थानुमानं तत्र व्याप्त्यादिविरहसम्भवात्तत्राव्याप्तिरित्याह ॐ स्वेति ॐ। उपन्यासस्य वाक्यप्रयोगात्मकस्य परप्रतिपत्त्यर्थतया तदनपेक्षस्वार्थानुमित्याभास उद्भाव्यत इति विशेषणांशाभावादित्यर्थः।

स्वार्थानुमित्यसिद्धावरोधाय व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वविशिष्टप्रमितत्वव्यतिरेको यत्र साक्षादुपन्यसितुं योग्यः सोऽसिद्ध इति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। योग्यत्वस्य कार्यगम्यत्वात् तदनुपन्यासे तद्योग्यत्वमेव कुतस्तत्राह ॐ शक्येति ॐ। यागादेः स्वर्गसाधनत्वयोग्यत्वं न कार्यादवगम्यत इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गान्मानान्तरात्तदधिगमोऽत्रापि न दण्डवारित इत्यर्थः। विशेषान्तरोपादाने हेत्वन्तरं निग्रहः स्यादिति दूषयति ॐ नेति ॐ। दोषान्तरं वक्तुं विकल्पयति ॐ तथा हीत्यादिना ॐ। शक्य उपन्यासः स्वरूपनिर्देशो यस्य स तथोक्तः। मात्रमिति प्रमापणव्यावृत्तिः। शक्यं परं प्रति प्रमाणं यस्य तत्तथोक्तं तद्भावस्तत्वम्। प्रथमेऽतिव्याप्तिरित्याह ॐ आद्य इति ॐ। अनैकान्तादौ व्याप्तिशून्यत्वमस्ति तच्च निर्देष्टुं शक्यमेवेति तत्रातिव्याप्ति-

---

समाधान—विशिष्ट पदार्थ विशेषण और विशेष्य से भिन्न होता है? अथवा नहीं? यदि भिन्न होता है, तब विशिष्टाभाव भी विशेषणाद्यभावस्वरूप न होकर भिन्न ही होगा और यदि विशिष्ट पदार्थ विशेषण और विशेष्य से भिन्न नहीं, तब विशिष्टाभाव कहीं विशेषणाभावरूप और कहीं विशेष्याभावरूप होगा, फलत लक्षण अननुगत और अव्यापक हो जाता है।

स्वार्थानुमानस्थलीय असिद्ध हेतु में भी उक्त लक्षण अव्याप्त है, क्योंकि न वहाँ अवयवों का प्रयोग होता है और न व्याप्त्यादि के व्यतिरेक का उद्भावन।

शङ्का यद्यपि स्वार्थानुमान में व्याप्त्यादि के व्यतिरेक का उद्भावन नहीं होता, तथापि उद्भावन की योग्यता मानी जाती है, अतः 'जहाँ पर व्याप्तत्वादिप्रकारक प्रमा का साक्षात् व्यतिरेक उद्भावित हो सकता है, वह असिद्ध कहलाता है'—ऐसा लक्षण विवक्षित होने पर अव्याप्ति नहीं होती।

समाधान—'शक्योपन्यासः' - यहाँ पर 'उपन्यास' शब्द का अर्थ बोधन मात्र है? अथवा प्रमापण? व्याप्त्यादि के व्यतिरेक का बोधक (अनुमान) तो अनैकान्तिकादि में होता है, अतः उनमें असिद्ध का यह लक्षण अतिव्याप्त होता है। यदि 'उपन्यास' शब्द का प्रमापण अर्थ किया जाता है और लक्षण-घटक 'साक्षात्' शब्द का प्रत्यक्ष अर्थ किया जाता है, तब व्याप्त्यादि की प्रमा के व्यतिरेक की प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमापणीयता पर्यवसित होती है। तब प्रत्यक्षप्रतियोगिक और प्रत्यक्षानुयोगिक अभाव का प्रत्यक्ष मानने वाले नैयायिकों के मतानुसार

यदि साक्षादिति प्रत्यक्षेणेत्यर्थः, तदा प्रत्यक्षेण प्रमापणीयत्वं व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहस्य प्रत्यक्षप्रतियोगिकाभावप्रत्यक्षतावादिमते विरुद्धादावप्यस्तीत्यतिव्याप्तिः। अन्यमते न क्वचिदपीति सर्वाव्याप्तिः।

अथ व्याप्तिपक्षधर्मताविरहस्यापि प्रत्यक्षप्रमापणीयता विवक्षिता, सा न युक्ता, उक्तलक्षणवाक्यस्य व्याप्तिपक्षधर्मताविरहानभिधायित्वात्। तद्विरहेऽपि तात्पर्याभ्युपगमे प्रत्येकसमुदितलक्षणताविकल्पेन अव्यापकत्वापातात्। अतीन्द्रियपक्षादिविरहे च विषये तदभावादव्यापकत्वापत्तेः। एतेन यदि लिङ्गानपेक्षत्वं साक्षादर्थः,

रित्यर्थः। द्वितीयेऽपि साक्षादिति प्रत्यक्षेणेत्यर्थः किं वा लिङ्गाद्यनपेक्षत्वं साक्षादर्थं इति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ द्वितीयेऽपीति ❀। किमिदं प्रत्यक्षाभाववादिनोच्यते किं वा षष्ठप्रमाणवादिनेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ तदेति ❀। प्रत्यक्षप्रतियोगिधर्म्मिकोऽभावः प्रत्यक्ष इति यो मन्यते तन्मते व्याप्त्यादिप्रमितिविरहस्य विरुद्धादावपि प्रमापणीयत्वमस्तीत्यतिव्याप्तिः स्यात् द्वितीये लक्षणासम्भव इति द्वितीयं प्रत्याह ❀ अन्येति ❀ । षष्ठप्रमाणवादिमतेऽसिद्धेऽपि व्याप्त्यादिप्रमितिव्यतिरेकस्य प्रत्यक्षता नास्त्यनुपलब्धिगम्यत्वनियमादतः सर्वाऽव्याप्तिरसम्भव इत्यर्थः।

उक्तातिव्याप्त्यसम्भवपरिहाराय विशेषणं शङ्कते ❀ अथेति ❀ । व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्विरहस्य तत्प्रमितिविरहस्य च यत्र साक्षाच्छब्दोपन्यासत्वं तदसिद्धमिति नैयायिकेनोच्यते नातोऽसम्भवो नाप्यतिव्याप्तिरनैकान्तादौ तत्प्रमितिविरहस्य मानसत्वेऽपि व्याप्तिविरहस्य प्रत्यक्षत्वाभावादित्यर्थः। लक्षणवाक्यासामर्थ्येन दूषयति ❀ सेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ उक्तेति ❀। व्याप्तत्वपक्षधर्म्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेक इति वाक्यस्य व्याप्त्यादिविरहाभिधानेऽसामर्थ्यादित्यर्थः । व्यतिरेकपदस्य व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितत्वैः प्रत्येकं सम्बन्धो विवक्षित इत्यत आह ❀ तदिति ❀ । त्रयाणामभावस्य प्रत्येकं लक्षणत्वेऽव्याप्तिर्मिलितस्य तथात्वेऽसम्भव इत्यर्थः । अव्याप्त्यन्तरमाह ❀ अतीन्द्रियेति ❀ । अनित्याः परमाणवः सर्वगतत्वादिति मीमांसकेन यदा प्रयुज्यते तदाऽतीन्द्रियपक्षधर्मत्वविरहस्तथा वन्ध्यासुतश्चतुर्वेदाभिज्ञः ब्राह्मणीप्रसूतत्वा-

विरुद्धानैकान्तिकादि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि 'पर्वतोऽग्निमान्, जलवत्त्वात्'—यहाँ जलरूप विरुद्ध हेतु प्रत्यक्ष है, अतः उसमें भी अग्निव्याप्तिप्रकारक प्रमाविशेष्यत्वाभाव प्रत्यक्ष-सिद्ध है। अभाव को प्रत्यक्ष-गम्य न मानकर अनुपलब्धिगम्य माननेवाले भाट्ट मतानुसार कहीं भी अभाव का प्रत्यक्ष न होने के कारण लक्षण असम्भव-ग्रस्त है।

शङ्का—व्याप्ति और पक्षधर्मता के अभाव में भी प्रत्यक्ष-विषयता विवक्षित है, अनैकान्तिकादि में व्याप्यत्वादि का अभाव प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं, अपितु अनुमान-गम्य होता है, अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती।

समाधान—उक्त लक्षण-वाक्य से व्याप्यत्वादिप्रकारकप्रमाविशेष्यत्वाभाव अभिहित होता है, व्याप्त्यादि का अभाव नहीं, अतः वैसी यहाँ विवक्षा नहीं कर सकते। यदि उक्त लक्षण-वाक्य का तात्पर्य व्याप्त्यभाव और पक्षधर्मत्वाभाव—इन दोनों में माना जाता है, तब लक्षण में अननुगमता और अव्यापकता का आ जाना ध्रुवभावी हो जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि सर्वत्र व्याप्त्यभाव और पक्षधर्मत्वाभाव में प्रत्यक्ष प्रमाण की विषयता सम्भव भी नहीं, क्योंकि अतीन्द्रिय व्याप्ति और अतीन्द्रिय पक्षधर्मत्व के अभाव में प्रत्यक्षतः प्रमापणीयत्व सम्भव नहीं। यदि लक्षण-घटक 'साक्षात्' शब्द का 'प्रत्यक्ष' अर्थ न करके 'लिङ्गानपेक्षत्व' अर्थ किया जाता है, तब भी अतीन्द्रिय व्याप्यत्वादि के व्यतिरेकोद्भावन में अव्याप्ति होती है, क्योंकि अतीन्द्रिय व्याप्यत्वादि के व्यतिरेक का उद्भावन लिङ्गानपेक्ष हो ही नहीं सकता।

शङ्का—[यद्यपि विरुद्धादि में व्याप्त्यादिविषयक प्रमा के व्यतिरेक का उद्भावन

सोऽपि निरस्तः। अथोच्यते यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षतया तत्प्रमापकस्य लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भावनः, तदसिद्धमिति। नैतदप्युपपन्नम्, अतिव्यापकत्वात्। तथा हि—विरुद्धादौ शक्यते तावद्विपक्षवृत्तिदण्डभूततर्काभावात् सोपाधिताऽवगन्तुम्। यदाह 'यत्रानुकूलस्तर्को नास्ति

दित्यतीन्द्रियव्याप्तिविरहः। एतदुक्तं भवति—अतीन्द्रियपक्षहेत्वोः प्रत्यक्षप्रमापणीयत्वाभावात्तद्धर्म्मत्वादिविरहपक्षधर्मत्वव्याप्तिव्यतिरेकस्य प्रत्यक्षप्रमापणीयत्वाभावात्तत्र व्याप्यत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः प्रत्यक्षेणाशक्योपन्यास इति लक्षणाव्याप्तिरिति।

उक्तं दूषणं द्वितीयकल्पेऽप्यतिदिशति ॐएतेनेतिॐ। अतीन्द्रियपक्षधर्मत्वादिविरहस्य लिङ्गापेक्षतया तत्राव्याप्तिरित्येतेनैवेत्यर्थः। उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते ॐ अथेति ॐ। यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्म्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेको लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भावनस्तत्र हेतुस्तत्प्रमापकत्वस्य प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षयेति। न चैवमतिव्याप्तिर्विरुद्धादौ विरुद्धत्वसव्यभिचारत्वादिलिङ्गोपन्यासान्न चाव्याप्तिरतीन्द्रियपक्षधर्मत्वादिविरहे तत्र पक्षादिविरहस्यैव लिङ्गान्तरापेक्षतया तदवगमे सति व्याप्त्यादिव्यतिरेकावगमकलिङ्गानुपन्यासादित्यर्थः। यद्वा यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षतया यत्तत्प्रमापकं लिङ्गं तदुपन्यासव्यतिरेकेणेति सम्बन्धः। विरुद्धादौ प्रतिपाद्यान्तरापेक्षविरुद्धत्वाद्युपन्यासान्नातिव्याप्तिर्न वा अतीन्द्रियपक्षधर्म्मताविरहादावव्याप्तिस्तल्लिङ्गस्य प्रतिपाद्यान्तरापेक्षत्वाद्येन तस्य व्याप्तिर्नावधारिता तं प्रति तस्याः प्रतिपादनीयत्वादित्यर्थः। नेदं लक्षणमतिव्याप्तत्वादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। विरुद्धादौ प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षविरुद्धत्वादिलिङ्गोपन्यासेन व्याप्तत्वादि प्रमितिव्यतिरेकस्य शक्योद्भावनत्वे कथमतिव्याप्तिरित्यत आह ॐ तथा हीति ॐ। अनित्यः शब्दोऽकृतकत्वादनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादित्यादिविरुद्धादौ विपक्षबाधकतर्काभावादपि व्याप्तिविरहस्य शक्यावगमत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। विपक्षबाधकतर्काभावो विरुद्धत्वादिवद्व्याप्तिव्यतिरेकगमक इत्यत्रोदयनसंवादमाह ॐ यत्रेति ॐ। अनुकूल-

साक्षात् (लिङ्ग-निरपेक्ष) नहीं, विरुद्धत्वादि लिङ्गों के द्वारा ही होता है और अतीन्द्रिय व्याप्त्यादि की प्रमा का व्यतिरेक भी किसी लिङ्ग के माध्यम से ही उद्भावित होता है। तथापि इन दोनों में अन्तर यह है कि विरुद्धादिस्थलीय विरुद्धत्वादि लिङ्ग इतर उपपादक की अपेक्षा नहीं करते और अतीन्द्रिय व्याप्त्यादिविषयक प्रमिति के व्यतिरेक का अनुमापक लिङ्ग प्रतिपादनीयान्तर-सापेक्ष है, क्योंकि जिस व्यक्ति ने उस लिङ्ग की व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया है, उसे व्याप्ति-ग्रहण कराने के लिए प्रतिपादनान्तर करना होगा। अतः असिद्ध का परिष्कृत लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है—] जिस हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता की प्रमिति का अभाव प्रतिपादनीयान्तर-निरपेक्ष लिङ्ग के विना ही प्रमित कराया जा सकता, उसे असिद्ध कहा जाता है। [इस लक्षण की विरुद्धादि हेत्वाभासों में अतिव्याप्ति इस लिए नहीं होती कि उनमें व्याप्यत्वादि के प्रमाभाव की सिद्धि के लिए प्रतिपादनीयान्तर-निरपेक्ष केवल विरुद्धत्वादि लिङ्गों का उपन्यास किया जाता है, साक्षात् नहीं। अतीन्द्रियव्याप्त्यादिव्यतिरेक-घटित असिद्ध में अव्याप्ति न होने का कारण यह है कि वहाँ उपन्यस्यमान लिङ्ग प्रतिपादनीयान्तर-निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष होने से लिङ्ग-निरपेक्षत्वरूप साक्षात्व दुर्लभ हो जाता है]।

समाधान—उक्त लक्षण भी विरुद्धादि हेत्वाभासों में अतिव्याप्त है, क्योंकि व्याप्त्यादिव्यतिरेक-साधक विरुद्धत्वादि लिङ्गों के विना विपक्षवृत्तिता-बाधक तर्क के व्यतिरेक से भी व्याप्त्यादि का व्यतिरेक अवबोधित होता है, जैसा कि श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"यत्रानुकूलस्तर्को नास्ति, सोऽप्रयोजकः (व्याप्तिरहितः)। अतः लिङ्ग-निरपेक्ष (साक्षात्) व्याप्त्यादिविषयक प्रमा का व्यतिरेक अवगत होने के कारण विरुद्धादि में असिद्धत्व अतिप्रसक्त होता है।

सोऽप्रयोजकः' इति । तस्मात्तेषामप्येवं लक्षणयोगित्वादसिद्धत्वप्रसङ्गः । न च तादृशतर्काविषयत्वमपि प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षव्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहप्रमापकलिङ्गभूतमेवेति वाच्यम् , तथा सति विरुद्धत्वादिवत्तस्य हेत्वाभासान्तरत्वप्रसङ्गात् ।

अथोच्यते—तथोपन्यस्यमानं तदसिद्धं भवतु । साध्यविपरीतव्याप्तत्वादिना तु दूष्यमाणं विरुद्धाद्येव तत् । उपन्यासप्रकारभेदाच्च भेदव्यवस्था हेत्वाभासानाम् न ह्यत्र गोत्वाश्वत्वादिवदत्यन्तासङ्कर इष्यते । किं नाम ? प्रमाणप्रमेयभाववत् प्रकारा-

---

तर्कः पक्षे स एव प्रतिकूलो विपक्षे स यत्र हेतुत्वाभिमते नास्ति सोऽप्रयोजको व्याप्तिरहित इत्यर्थः । उक्तलक्षणसङ्गृहीतत्वाद्विरुद्धादेरसिद्धान्तर्भावः स्यादित्युपसंहरति ॐ तस्मादिति ॐ । विपक्षबाधकतर्कागोचरत्वं प्रतिपादनोयान्तरानपेक्षव्याप्तपक्षधर्मताप्रमितिव्यतिरेकलिङ्गमुपन्यस्यत इति नातिव्याप्तिरित्यत आह ॐ न चेति ॐ । कुतो न वाच्यमित्यत आह ॐ तथेति ॐ ।

व्याप्त्यादिभङ्गलिङ्गत्वाद्विरुद्धादिवत्तर्काभावोऽपि हेत्वाभासान्तरं स्यात् न च तस्य विरुद्धादावन्तर्भाव एवं सति विरुद्धेऽनैकान्तादेरन्तर्भावापातान्नायमतिप्रसङ्गो दोषाय विरुद्धादेरसिद्धलक्षणोपपन्नत्वेनासिद्धत्वस्यापि सम्भवादिति शङ्कते ॐ अथेति ॐ । तुल्यतया प्रमाणप्रमेयव्यवहारवद्विरुद्धादावसिद्धत्वविरुद्धत्वादिव्यवहारोऽस्ति प्रवृत्तिनिमित्तभेदादेव हेत्वाभासभेदव्यवस्थेत्यर्थः ॐ तथेति ॐ । प्रागुक्तप्रकारपरामर्शः । तर्हि विरुद्धादि वादि लयमियादित्यत आह ॐ साध्येति ॐ । यत्र साधकतर्काभावेन सोपाधिता गम्यते तदसिद्धं तदेव पुनः साध्यविरुद्धत्वादिना दूष्यमाणं विरुद्धादि भवतीत्यर्थः । उपन्यासभेदेऽपि वस्तुत एकत्वात्कथं हेत्वाभासव्यवस्थेत्यत आह ॐ उपन्यासेति ॐ । उपन्यासभेदौपाधिक एव हेत्वाभासे भेद इत्यर्थः । अनौपाधिक एव भेदः कस्मान्नेष्यते हेत्वाभासानामित्यत आह ॐ न हीति ॐ । जलमनग्निधूमवत्वादित्यत्र व्याप्त्यादिविरहस्य साध्यविपरीतव्याप्तत्वेन सङ्करात्तथा नित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादित्यादावव्यसिद्धसाङ्कर्यादित्यर्थः । उक्तमर्थं सदृष्टान्तमुपपादयितुं परमुखेन पृच्छति ॐ किमिति ॐ । स्वरहस्यमाह

शङ्का—[जैसे 'शब्दो नित्यः चाक्षुषत्वात्'—यहाँ 'चाक्षुषत्व' हेतु असिद्ध भी है और अनैकान्तिक भी किन्तु दूषकता-मार्ग के भेद से व्यवस्था हो जाने पर साङ्कर्य नहीं माना जाता, वैसे ही] प्रकृत में भी विपक्ष-वृत्तिता-बाधक तर्क-व्यतिरेक के माध्यम से उपन्यस्यमान व्याप्त्यादि-व्यतिरेक असिद्धता का प्रयोजक और साध्याभावव्याप्तित्वादिरूप विरुद्धता का नियामक माना जाता है। उपन्यास की पद्धति भिन्न हो जाने से हेत्वाभासता भिन्न या व्यवस्थित हो जाती है। भूतत्व और मूर्तत्व के समान यहाँ असिद्धत्व और विरुद्धत्व का साङ्कर्य नहीं होता, अपितु जैसे चक्षुरादि में प्रमा-करणत्वेन प्रमाणत्व और प्रमा-विषयत्वेन प्रमेयत्व माना जाता है, वैसे ही यहाँ भी प्रकार-साङ्कर्यमात्र है, वस्तु-साङ्कर्य नहीं।

समाधान—यह जो कहा गया कि विरुद्धादि में वस्तु-साङ्कर्य नहीं, प्रकार-साङ्कर्यमात्र है. वह उचित नहीं, क्योंकि विरुद्धादि में असिद्धत्व-प्रयोजक प्रकार कौन-सा है ? असिद्धत्व के कथित लक्षणरूप प्रकार को माध्यम नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि व्याप्त्यादि के व्यतिरेक का उद्भावन विरुद्धोचित लिङ्गोपन्यास के द्वारा भी हो सकता है। जो हेतु असिद्ध है, किन्तु साध्याभावव्याप्त्वादि प्रकारों से हीन है, वहाँ अवश्य व्याप्त्यादि-व्यतिरेकोद्भावन की योग्यता को लेकर असङ्कीर्ण असिद्धता सम्भव है, सर्वत्र नहीं। स्वार्थानुमान के असिद्ध हेतु में व्याप्त्यादि का व्यतिरेक रहने पर भी उद्भावित नहीं होता. अतः वहाँ लक्षण अव्याप्त है—यह पहले ही कहा जा चुका है।

शङ्का—विरुद्धादि हेतुओं में यद्यपि व्याप्त्यादि का व्यतिरेक है तथापि उसका उद्भावन नहीं होता, केवल उसकी योग्यता को लेकर अतिव्याप्ति होती है, अतः 'उद्भावन-योग्यता' का निवेश न कर उद्भावन मात्र की विवक्षा करने पर वहाँ असिद्धत्व की अतिव्याप्ति

सङ्करमात्रमिति। तदप्युक्ताभिधानम्, वक्तव्यं हि केन प्रकारेणासिद्धत्वं भवति? न तावदुक्तलक्षणेन, तथाशक्योद्भावनत्वस्य विरुद्धोचितप्रकारेणोपन्यस्यमानस्य सम्भवात्। सर्वथा निष्प्रकारकस्य असिद्धधर्मिणस्तदुद्भावनाशक्यत्वात्। न च तथाशक्योद्भावनत्वमप्युद्भाव्यते असिद्धेः, येन प्रकारभेदव्यवस्थितिरनेन भवेत्।

न च शक्योद्भावनपदस्थाने उद्भाव्यमानत्वमिति कृते निस्तारः, सोपाधित्वाद्युद्भावने प्रमित्यभावोद्भावनं व्यर्थत्वान्न क्रियत इति तदव्यापकत्वं प्रसज्येतेति प्रागेवोक्तत्वादिति। एतेन 'असिद्धः साध्यसमः' इति प्रत्युक्तम्, यथाकथञ्चित्साध्यसा-

---

॥ प्रमाणेति ॥। इन्द्रियादौ प्रमाकरणत्वेन प्रमाणत्वं तद्विषयत्वेन प्रमेयत्वं च व्यवह्रियते यद्वदित्यर्थः। खण्डनवादिनं प्रति प्रमाणप्रमेयवदिति कथं सिद्धवद्दृष्टान्तमुदाहरसीति दूषयति ॥ तदिति ॥। किं च प्रकारासङ्करमात्रमिति ब्रुवताऽसिद्धव्यवहारोचितप्रकारो वक्तव्यः स च वक्तुमशक्य इत्यभिप्रेत्याह ॥ वक्तव्यं हीति ॥। यत्र व्याप्त्यत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेको लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भावनः सोऽसिद्ध इत्याशङ्क्याह ॥ न तावदिति ॥। कुत इत्यत आह ॥ तथेति ॥। साध्यविरुद्धव्याप्त्यत्वादिप्रकारेणोपन्यस्यमानस्यापि तथानुद्भावनेऽपि तथा शक्योद्भावनत्वमस्तीत्यतिव्याप्तेरेवेत्यर्थः। यत्र साध्यविपरीतव्याप्त्यत्वादिप्रकारो नास्ति व्याप्त्यत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकश्च लिङ्गोपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भवनः सोऽसिद्धप्रकार इत्यत आह ॥ सर्वेति ॥। सर्वथा विरुद्धादिप्रकारहीनस्यासिद्धधर्मिणस्तदुद्भावनस्य व्याप्त्यादिप्रमितिव्यतिरेकोद्भावनस्याशक्यत्वात्क्वचिदसङ्करेऽपि सर्वत्रासाङ्कर्याभावादित्यर्थः। यद्यपि विरुद्धव्यवहारोचितप्रकारादावपि तथा शक्योद्भावनत्वमस्ति तथाऽपि तन्नोद्भाव्यते यत्र च तदुद्भाव्यते सोऽसिद्धप्रकार इति व्यवस्थेत्यत आह ॥ न चेति ॥। स्वार्थानुमानासिद्धाव्याप्तेरित्यर्थः। तर्हि व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेको यत्र लिङ्गोपन्यासव्यतिरेकेणोद्भाव्यमानः सोऽसिद्ध इति कृते निस्तारो विरुद्धादावनुद्भाव्यमानत्वादिति समनन्तरोक्ताव्याप्तिमपश्यन् केवलातिव्याप्तिपरिहारमाशङ्कते यस्तं प्रत्याह ॥ न चेति ॥। कुतो न निस्तार इत्यत आह ॥ सोपाधीति ॥। सोपाधित्वं व्याप्त्यभावः व्याप्तिविरहपक्षधर्मताविरहदर्शनेनैवानुमानाङ्गवैकल्यात्मनो दोषस्योद्भावनपर्यवसानाद्वैयर्थ्यात् प्रमित्यभावो नोद्भाव्यत इति कृत्वा तस्य लक्षणस्याव्यापकत्वं व्याप्त्यादिविरहमात्रतयोद्भाव्यमानासिद्धम्प्रत्यव्यापकत्वं स्यादिति प्रागुक्तमित्यर्थः।

इदानीं सूत्रनिःसृतलक्षणन्निरस्यति ॥ एतेनेति ॥। साध्येन हेतोः साम्यं येन केनचिदाकारेण किं वा साम्यविशेष इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॥ यथेति ॥। अस्तित्वज्ञेयत्वादिना साध्यसाम्यं

नहीं होती।

समाधान—यह कहा जा चुका है कि योग्यता की विवक्षा न करने पर उस असिद्ध हेतु में अव्याप्ति हो जाती है, जहाँ केवल सोपाधित्व का ही उद्भावन किया जाता है और निष्प्रयोजन होने के कारण प्रमित्यभाव का उद्भावन नहीं किया जाता।

इन्हीं दोषों के कारण असिद्ध का "साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः" (न्या० सू० १।२।८) यह सौत्र लक्षण भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि उसमें साध्य की समता (सदृशता) किसी भी धर्म से विवक्षित है? अथवा विशेष धर्म से? प्रथम कल्प के अनुसार विरुद्धादि में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि जैसे साध्य में सत्त्वादि धर्म हैं, वैसे विरुद्धादि में भी, अतः विरुद्धादि भी साध्यसम हो जाते हैं। द्वितीय कल्प के अनुसार विशेष धर्मों में व्याप्यत्वादिप्रकारकप्रमाविशेष्यत्वाभावादि ही गृहीत होते हैं, [अर्थात् जैसे 'साध्यं साध्यव्याप्यम्'—ऐसी प्रमा नहीं होती, क्योंकि अभिन्नार्थ में व्याप्य-व्यापकभाव नहीं होता एवं जैसे 'साध्यं पक्षेऽस्ति'—ऐसी पक्षधर्मता की प्रमा नहीं होती, क्योंकि वहाँ साध्य सन्दिग्ध होता है, वैसे ही असिद्ध हेतु में भी व्याप्यत्व और पक्षधर्मत्व की प्रमा नहीं होती—इस प्रकार उन कथित लक्षण-प्रकारों को

न्यस्य सर्वसाधारणत्वात्। साम्यविशेषस्य चोक्तप्रकारपर्यवसानव्यतिरेकेण अन्यस्यासम्भवात्। लक्षणान्तरेषु चोक्तदूषणप्रकारा यथासम्भवमिह योजनीया इत्यलं विस्तरेणेति।

—•—

३८. विरुद्धलक्षणखण्डनम्

अपि च असिद्धलक्षणविशेषणेषु प्रमाणव्यवच्छेदकव्यतिरिक्तेन यद्व्यवच्छेद्यं तत् किं केनचिद्विरुद्धं केनचिदन्यदिति चेत्, विरुद्धमेव किमुच्यते ?

तथाहि—साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्ध इत्याहुः। तन्न, साध्यव्यतिरेकेण हि

विरुद्धादावपि तुल्यमित्यर्थः। यथा साध्यं साध्येन व्याप्ततया न प्रमितं एकत्वाद्यथा च पक्षधर्मतया न प्रमितं सन्दिग्धत्वादेवंरूपत्वमिह साम्यं विवक्षितमिति द्वितीयमाशङ्क्याह ॐ साम्येति ॐ। एवंविधसाम्यविशेषस्य व्याप्तत्वपक्षधर्म्मत्वाभ्यान्न प्रमित इत्युक्तप्रकारपर्यवसायित्वात्तस्य च खण्डितत्वादित्यर्थः। अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्ध इत्यादिलक्षणान्तरे को दोषस्तत्राह ॐ लक्षणेति ॐ। व्याप्तत्वपक्षधर्म्मताप्रमितिव्यतिरेकस्य तत्राप्यवश्यं वक्तव्यत्वादुक्तदोषाः प्रादुष्युरेवेति यावत्। किं चेदमनिश्चितत्वमप्रमितत्वमुत अज्ञातत्वं उत सन्दिग्धत्वमाद्ये दत्तमेवोत्तरं द्वितीये भ्रान्त्याऽपि पक्षधर्मतया विदिते सोपाधिकादावव्याप्तिस्तृतीये पक्षधर्मत्वादिविरहात्मनानिश्चितचाक्षुषत्वादावव्याप्तिर्व्यर्थविशेषणविशेष्यासिद्धादौ चेत्यादि बहु वक्तुं शक्यमपि नोच्यते ग्रन्थगौरवभयादित्युपसंहरति ॐ इत्यलमिति ॐ।

विरुद्धखण्डनानि प्रस्तावयति ॐ अपि चेति ॐ। व्याप्तत्वपक्षधर्म्मत्वप्रमितिव्यतिरेको यत्र लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भावनस्तदसिद्धमित्यादिलक्षणेषु व्यतिरेक इत्यन्तं विशेषणं प्रमाणव्यवच्छेदकं तदतिरिक्तं विशेषणद्वयमस्ति तेन किं व्यावर्त्यं न किंचिद्विरुद्धादेरद्याप्यसिद्धत्वात् व्यावर्त्तयितुमशक्यत्वादितरेतराश्रयश्च विरुद्धादौ सिद्धे तद्व्यावर्तनेनासिद्धसिद्धिरसिद्धसिद्धौ च तद्व्यावृत्तविरुद्धादिसिद्धिरित्याक्षेपाभिप्रायः। क्षिप्तमपि पृष्टं मत्वोत्तरमाह इतरः ॐ केनचिदिति ॐ। लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेणेति विशेषणे न विरुद्धं व्यवच्छेद्यमनैकान्त्यादि च तुल्यत्वात्केनचिच्छक्योद्भावन इत्यनेनान्यदव्यापकत्वं स्वार्थानुमानासिद्ध इत्याशयः। विरुद्धस्यैव निरूपणसरणिमधिरोढुमनर्हतया परास्यत्वमित्यभिप्रेत्याह ॐ विरुद्धमिति ॐ। विरुद्धानिरुक्तिमेव प्रतिपादयति ॐ तथा हीति ॐ। साध्यस्य विपरीतोऽभावस्त-

---

लेकर भी साध्य-समता विरुद्धादि में प्रदर्शित की जा चुकी है। सामान्य और विशेष धर्मों को छोड़ कर अन्य प्रकार से साध्य-समता सम्भव नहीं।

असिद्ध के अन्यान्य लक्षण-प्रकारों में भी यथासम्भव कथित खण्डन-प्रकारों की ऊहा और योजना की जा सकती है।

३८. विरुद्ध-लक्षण का खण्डन

"व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां प्रमितत्त्वव्यतिरेको यत्र साक्षादेव (लिङ्गोपन्यासमन्तरा) शक्योद्भावनः, तदसिद्धम्" – यहाँ पर व्यतिरेक न कह कर 'व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां प्रमितः' – ऐसा कहने पर प्रमात्मक अनुमिति के करणीभूत सद्धेतुरूप अनुमान प्रमाण में अतिव्याप्ति हो जाती, उसका व्यवच्छेद (व्यावर्तन) करने के लिए व्यतिरेक-पर्यन्त विशेषण सार्थक है, किन्तु उससे अतिरिक्त 'लिङ्गोपन्यासमन्तरा और 'शक्योपन्यास'—इन दो विशेषणों में से पहले के द्वारा विरुद्ध में अतिव्याप्ति और दूसरे के द्वारा स्वार्थानुमान-स्थलीय असिद्ध में अव्याप्ति का परिहार किया जाता है किन्तु विरुद्ध का कोई लक्षण स्थिर नहीं होता, जैसे कि—

(१) साध्यविपरीतव्याप्तः—

यह जो लक्षण उदयनाचार्यादि ने किया है कि 'पर्वतो वह्निमान् जलवत्त्वात्'—यहाँ

व्याप्तिः कात्स्न्र्येन वा, अनौपाधिको वा स्वाभाविको वा सम्बन्ध इत्याद्युक्तिभिः सविशेषणः सहभाव एव निरुच्यते। तथा सति च साध्यव्यतिरेकेण सामानाधिकरण्यमेव विशेषणविशेषयुक्तं विरुद्धत्वमित्युक्तं स्यात्। यदा चैवं तदा साध्यव्यतिरेकसामानाधिकरण्यमेव हेतोरगमकत्वे समर्थमिति तन्मात्रमुद्भाव्यम्, वृथा विशेषणप्रक्षेपः। तथा चानैकान्तिक एवायं स्यात्।

ननु साध्यव्यतिरेकसम्बन्धो यद्यपि विरुद्धानैकान्तिकयोर्द्वयोरप्यस्ति, तथापि वस्तुगत्या स्वाभाविकोऽसौ विरुद्ध एवेत्येतावन्मात्रविशेषविवक्षया विरुद्धस्यानैकान्तिकाद् भेदोपन्यासः।

मैवम्, दत्तोत्तरत्वात्। वस्तुगत्या सन्नप्ययं विशेषो नोद्भावनार्ह इत्युपेक्षणीय

द्विरुद्धो वा धर्मस्तेन व्याप्तो विरुद्ध इत्याहुरवयनावयः। विपर्ययव्याप्तत्वेन निश्चितो विरुद्धो हेत्वाभास इति वचनात्पक्षविपक्षयोरेव वर्त्तमानो विरुद्ध इति भूषणकृतां पक्षस्याप्यर्थतो न भेदः। विपर्ययसाहचर्यमात्रमनैकान्तेऽप्यस्तीति तत्परासाय व्याप्तत्वविशेषणं भङ्क्तुं भणति ❀तन्नेति❀। लक्षणस्य व्यर्थविशेषणतां वक्तुं व्याप्तिपदार्थं कथयति ❀ साध्येति ❀। साध्यव्यतिरेकेण हि हेतोर्व्याप्तिरित्याद्युक्तिभिः सविशेषणः सहभाव एव निरुच्यते इति सम्बन्धः। ❀ कात्स्न्र्येनेति ❀। सार्वत्रिक इत्यर्थः। सर्व एते प्रकारा अनुमानप्रस्तावे दर्शिताः। आदिपदेन यत्र विपक्षे हेतोर्वृत्तौ बाधकमस्ति तयोः सहभावो गृह्यते। सहभाव एव व्याप्तिपदार्थो निरुच्यतां का नाम वस्तुक्षतिरित्यत आह ❀ तथेति ❀। साध्याभावेन हेतोः सामानाधिकरण्यं साहचर्यं सम्बन्धो विशेषणकात्स्न्र्यादिना युक्ता व्याप्तिः स्यादित्यर्थः। यदर्थमुपोद्घातः कृतस्तदिदानीं दर्शयति ❀ यदेति ❀। हेतोः साध्याभावसम्बन्धमात्रस्यैवानुमानाङ्गवैकल्यदोषप्रतिपादनसामर्थ्यात्तन्मात्रमुद्भाव्यम्, न हि भवति साध्याभावसहचरितः साध्याविनाभूतश्चेति ततः कात्स्न्र्यादिविशेषणप्रक्षेपो मुधा। यद्यपि व्याप्तिरित्युक्तं निर्विशेषणं तथापि दण्डीतिवत्तदर्थनिर्वचनेन सविशेषणत्वं तर्हि साध्यस्य व्यतिरेकसहचरितो विरुद्ध इत्येतावन्मात्रं ब्रूमस्तत्राह ❀ तथा चेति ❀। पक्षत्रयवृत्तेरनैकान्तिकस्यापि साध्यव्यतिरेकसामानाधिकरण्यमस्तीति ततो भेदो न स्यादित्यर्थः।

अनैकान्तिके व्यतिरेकसामानाधिकरण्यं तन्मात्रस्य वा गमकत्वे प्रयोजकत्वमुक्तमङ्गीकृत्य चोदयति ❀ नन्विति ❀। तर्हि विशेषणवैयर्थ्यमित्यपि न वचनीयं विरुद्धस्यानैकान्ताद् भेदज्ञापकतयाऽन्तर्वर्तिन्या व्याप्तेरुपन्यासादित्याह ❀ तथाऽपीति ❀। फलितमाह ❀ इत्येतावदिति ❀। अनुपयुक्तांशसन्निध्यधिको न वक्तव्यो ज्ञेयत्वादिवन्निग्रहापातादिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। दत्तोत्तरत्वादिति हेतुरसिद्ध इत्यत आह ❀ वस्त्विति ❀। व्यतिरेकसामानाधिकरण्यमेव हेतोरगमकत्वे समर्थमिति विशेषणप्रक्षेपो मुधेत्युक्त-

---

पर साध्य के विपरीत वह्न्यभावरूप पदार्थ से व्याप्त 'जलवत्त्व' हेतु विरुद्ध माना जाता है।

वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि हेतुगत साध्याभाव की व्याप्ति का अर्थ साध्याभाव का सार्वत्रिक ('यत्र यत्र हेतुः, तत्र तत्र साध्याभावः'- इस प्रकार का) सामानाधिकरण्य या अनौपाधिक अथवा स्वाभाविक सम्बन्ध ही होता है, किन्तु साध्याभाव का केवल सामानाधिकरण्य हेतु में अगमकत्व-बोधन में समर्थ है, उतने मात्र का उद्भावन पर्याप्त है, सार्वत्रिकत्वादि विशेषणों की आवश्यकता नहीं। विशेषणों से रहित साध्याभाव का केवल सामानाधिकरण्य अनैकान्तिकादि हेत्वाभासों में भी अतिव्याप्त है।

शङ्का—यद्यपि साध्याभाव के साथ सामानाधिकरण्य विरुद्ध और अनैकान्तिक—दोनों हेतुओं में है और साध्य की अगमकता भी उतने मात्र से ही सम्पन्न हो जाती है। तथापि अनैकान्तिकादि की अपेक्षा विरुद्ध हेतु की विलक्षणता अवद्योतित करने के लिए उक्त विशेषणों का उपादान किया जाता है, वे (सार्वत्रिकत्वादि) वस्तुगतया वहाँ विद्यमान हैं।

समाधान—यह कहा जा चुका है कि अगमकता-प्रयोजक स्वरूप का उद्भावन ही

इत्युक्तम् । तथा हि—नेदमस्य साधकम्, एतत्साध्यं प्रति विरुद्धत्वादित्यभिधीयमाने विरुद्धशब्दार्थनिरुक्तौ विशेषणाधिक्यस्योक्तन्यायेन दुष्परिहरत्वात् ।

अत एव 'अनैकान्तिके सन्देहेन प्रत्यवस्थानम्, विरुद्धे तु व्यतिरेकनिश्चयेनेति विशेषादनयोर्भेदेनोपन्यासः' इत्यप्यनवकाशम्; अनुमितिहेतुव्यतिरेको हि हेतुदोषः, अनुमितिहेतुश्चैको व्याप्तिः, ततस्तदभावस्य दोषत्वात्तावन्मात्रं ज्ञाप्यम्। तच्च हेतुविपक्षसम्बन्धोद्भावनमात्रादेव गम्यते । तस्मादनुमितिहेतुव्याप्तिप्रमितिव्यतिरेक-

मित्यर्थः । नित्यः शब्दः कृतकत्वादात्मवदित्युक्ते कृतकत्वं न नित्यत्वस्य साधकं विरुद्धत्वादित्युपन्यासे कथं विशेषणवैयर्थ्यमित्यत आह ॐ तथा हीति ॐ । साध्यनिश्चयं विरुणद्धीति विरुद्ध इति वक्तव्यं व्याप्तिरपि सार्वत्रिकत्वादिविशिष्टं साहचर्यमित्युक्तन्यायेन साहचर्यमात्रस्यागमकत्वसमर्थत्वेन विशेषणाधिक्यं दुष्परिहरमित्यर्थः । उक्तामेव नीतिं भङ्ग्यन्तरेऽप्यतिदिशति ॐ अत इति ॐ । अनैकान्तिके साध्यव्यतिरेकेण व्याप्तिसन्देहेन प्रत्यवस्थानं विरुद्धे तु साध्यव्यतिरेकव्याप्तत्वनिश्चयेन प्रत्यवस्थानमित्येवंरूपविशेषादनैकान्तविरुद्धयोर्भेदकथनमत एव विशेषणवैयर्थ्यादेव निरवकाशमित्यर्थः । अनैकान्तिको हि साधारणो असाधारणश्चेति द्विधा, तत्र साधारणः साध्याभाववति विपक्षे पक्षे च साधारणत्वात्समानधर्मतया पक्षे साध्यसन्देहं करोति, असाधारणस्तु पक्षसपक्षाभ्यां साध्यतदभाववद्भ्यां व्यावृत्ततयाऽनेकधर्मतया पक्षे साध्यसन्देहं करोति, विरुद्धस्तु व्यतिरेकव्याप्ततया पक्षे साध्याभावनिश्चयं करोतीति तयोर्भेद इति शङ्काकृतोऽभिप्रायः । अत इति परामृष्टं विशेषणवैयर्थ्यं दर्शयति ॐअनुमितीतिॐ । अनुमितेर्यत्कारणं तदभावो हेतुदोष इत्यर्थः । कस्तर्ह्यनुमितिहेतुर्यद्व्यतिरेको हेतुदोष इत्यत आह ॐ अनुमितीति ॐ । एको व्याप्तिरपरो हेतुः पक्षधर्मतेति यावत् । ततः किमित्यत आह ॐ तत इति ॐ । व्याप्तिव्यतिरेकस्य हेतुदोषत्वात्तन्मात्रमुद्भाव्यं हेतुं दूषयतीत्यर्थः : व्याप्तिव्यतिरेकोद्भावनमेव हेतोर्विपक्षसम्बन्धनियमानियमाभ्यामिति तदुपन्यास इत्यत आह ॐ तच्चेति ॐ । साध्याभावसहचरितः साध्यव्याप्तश्चेत्यसम्भवाद्विपक्षवृत्तित्वदर्शनेनैव व्याप्तिव्यतिरेको गम्यत इत्यर्थः । विपक्षसम्बन्धनियमानियमाभ्यामपि व्याप्तिव्यतिरेको गम्यत इति तावेवोपन्यस्यर्तामिति विपरीतं किं न स्यादित्याशङ्क्योपसंहरति ॐ तस्मादिति ॐ । तत्सम्बन्धमात्रमेवोद्भाव्यमस्तु कृतमलामतराभ्यां व्यतिरेकसंशयनिश्चयाभ्यामिति सम्बन्धः । तदुपपादयति ॐ अनुमितीति ॐ । अनुमितिहेतुव्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकबोधनाय व्यतिरेकसंशयेऽनै-

पर्याप्त होता है, उससे अधिक धर्म वस्तुगत्या विद्यमान होने पर भी उद्भावनीय नहीं, व्यर्थ होते हैं। [अधिक विशेषण-घटित हेतु को व्यर्थ कहा जाता है, क्योंकि व्यर्थता का लक्षण है—'व्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तरघटितत्व'। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्, नील धूमात्'—यहाँ धूममात्र अपने साध्य का साधक है, उसमें विद्यमान भी 'नीलता' अधिक है, फलतः धूमत्वरूप व्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तर से घटित होने के कारण नीलधूम व्यर्थ है, वैसे ही] 'शब्दो नित्यः कार्यत्वात्'—यहाँ पर कार्यत्वरूप विरुद्ध हेतु में साध्यासाधकत्व का अनुमान किया जायगा—'कार्यत्वं न नित्यत्वसाधकम्, साध्यविपरीतेन सार्वत्रिकसमानाधिकरणत्वात्'—यहाँ 'साध्यविपरीतेन समानाधिकरणत्वात्' इतना ही हेतु पर्याप्त है, उसमें सार्वत्रिकत्वादि विशेषण विद्यमान होने पर भी अधिक हैं और उनसे घटित विरुद्ध हेतु में व्यर्थता अनिवार्य है।

यह जो कहा जाता है कि 'अनैकान्तिक हेतु में साध्याभाव-व्याप्यत्व का सन्देह और विरुद्ध हेतु में साध्याभाव-व्याप्यत्व का निश्चय दिखा कर पर-पक्ष को दूषित किया जाता है।' वह अनैकान्तिक और विरुद्ध का भेद-प्रदर्शन भी अत एव खण्डित हो जाता है कि अनुमिति के कारणों का अभाव ही हेतु का दोष माना जाता है, अनुमिति के व्याप्ति और पक्षधर्मता'—इन दो कारणों में एक कारण है—व्याप्ति। अतः व्याप्ति का अभावमात्र उद्भावनीय होता है, वह हेतु की केवल विपक्ष-वृत्तिता के प्रदर्शन से सम्पन्न हो जाता है। अनुमिति के हेतुभूत व्याप्ति-

बोधनाय संशये व्यतिरेकनिश्चये चोद्भाव्यमानेऽपि 'कुतस्तावेवे'त्यत्र विपक्षसम्बन्धमात्रनियततत्सम्बन्धावश्योपन्यस्य/विति तत्सम्बन्धमात्रमेवास्तु। व्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकस्य लिङ्गत्वादुद्भाव्यम्, कृतमितराभ्यामिति।

लकारभेदप्रयोगे तैस्तैर्लकारैः कालविषयविशेषप्रतिपादनवद्विभक्तिभिर्लिङ्गसङ्ख्याज्ञापनवत् 'पर्वतोऽग्निमानि'त्यादौ धर्म्यादिप्रतिपादनवच्च नेदं घटते, तत्र तेषामतात्पर्यविषयाणामपि पदप्रयोगे विशिष्टबोधने वा अन्यथासिद्धानां यथा बोधनं

कान्तिके व्यतिरेकनिश्चये विरुद्धे चोद्भाव्यमाने तावेव संशयनिश्चयौ कुत इति जिज्ञासायां विपक्षसम्बन्धमात्रं विपक्षनियतसम्बन्धश्चावश्योपन्यस्य इति कृत्वा विपक्षसम्बन्धमात्रस्य व्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकस्य लिङ्गत्वात्तन्मात्रमुद्भाव्यमुपजीव्यत्वाल्लाघवाच्चेत्यर्थः।

अभूद्, भवति, भविष्यतीति लुडादिलकारभेदप्रयोगेऽविवक्षितोऽपि भूतादिकालः प्रतीयते देवदत्तो ग्रामं गतः इत्यादौ पुंल्लिङ्गत्वादिरविवक्षितः प्रतीयते यथा वाग्निमान्पर्वत इत्यादावविवक्षितधर्म्मिदृष्टान्तादि प्रतीयते तद्वद्विपक्षसम्बन्धमात्रोद्भावनेऽविवक्षितौ नियमानियमौ प्रतीयेते इत्यत आह ❀ लकारेति ❀। कालविशेषस्याविवक्षितत्वं कालसम्बन्धमात्रस्य विवक्षितत्वात्प्रथमादिविभक्तेः कर्त्रादिकारकमात्रपरत्वाल्लिङ्गादेरविवक्षितत्वमाग्निपर्वतसम्बन्धस्यैव विवक्षिततया प्रत्यक्षसिद्धतया च धर्म्यादेरविवक्षितत्वमित्यर्थः कुतो न घटत इत्यत आह ❀ तत्रेति ❀। तत्र तेषामतात्पर्यविषयाणामन्यथासिद्धानां बोधनं यथेति सम्बन्धः। अन्यथासिद्धिं दर्शयति ❀ पदेत्यादिना ❀। पदानां लिङ्गादिबोधकत्वस्वाभाव्याल्लिङ्गादेरन्यथासिद्धिः कालादिविशिष्टबोधने विशेषणतया कालादिविशेषस्यान्यथासिद्धिरित्यर्थः। तथा व्याप्तेरतात्पर्यविषयत्वमुत तात्पर्यविषयत्वमिति विकल्प्य प्रत्याह ❀ तथेति ❀। साधारण्यादेव न घटत इति सम्बन्धः। व्यतिरेकनियमस्यातात्पर्यविषयतया लक्ष्यत्वाभावाद्व्यतिरेकसामानाधिकरण्यमात्रं लक्षणं स्यात्त-

---

ज्ञान का अभाव बाधित करने क लिए साध्याभाव की व्याप्ति का संशय या निश्चय उद्भावित करने पर भी संशय और निश्चय—इन दोनों के 'कुतः तौ'—इस प्रकार कारण की जिज्ञासा होने पर यही कहना होगा कि अनैकान्तिक हेतु की विपक्ष-वृत्तिता सन्दिग्ध और विरुद्ध का विपक्ष-वृत्तिता निश्चित है। दोनों हेतुओं म समानरूप से विद्यमान विपक्ष-सम्बन्ध मात्र को साध्याभाव की सम्भावित या निश्चित व्याप्ति का गमक (लिङ्ग) कहना होगा, अतः हेतु के विपक्ष के साथ सम्बन्धमात्र का उद्भावन करना पर्याप्त है, संशय और निश्चय को माध्यम बनाने की क्या आवश्यकता ?

[अनैकान्तिक हेतु में साध्याभाव-सामानाधिकरण्य का अनियम एवं विरुद्ध हेतु में साध्याभाव की समानाधिकरणता का नियम विवक्षित है ? अथवा नहीं ? यदि विवक्षित है, तब व्यर्थविशेषणता और यदि अविवक्षित है, तब विरुद्ध का लक्षण अनैकान्तिक मे अतिव्याप्त होता है, अतः दोनों अवस्थाओं में विरुद्ध का लक्षण अघटित (सदोष) ही रहता है। जब 'साध्यविपरीतव्याप्तः'—इस लक्षण में नियतसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति का वाचक पद प्रयुक्त है, तब उसकी अविवक्षा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी विशेषण सर्वत्र विवक्षित नहीं होते] जैसे 'अभूत्', 'भवति' और 'भविष्यति'—इत्यादि विभिन्न लकारों के प्रयोगों में अतीतादि काल-विशेष की सर्वत्र विवक्षा नहीं होती, केवल भवनरूप धात्वर्थ ही विवक्षित होता है। जैसे 'तटः, तटी, तटम्'—इत्यादि पदों के प्रयोगों में पुंल्लिगादि की विवक्षा नहीं होती, 'पर्वतोऽग्निमान्'—इत्यादि न्याय-प्रयोगों में प्रतीयमान पक्ष, सपक्षादि की विवक्षा नहीं होती, केवल अग्नि और धूम के गम्य-गमकभाव की ही विवक्षा होती है। वैसे ही 'साध्यविपरीतव्याप्तः'—यहाँ पर नियतसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति का बोध होता है, किन्तु नियतत्वरूप विशेषण अन्यथासिद्ध होने के कारण यदि तात्पर्य का विषय नहीं माना जाता,

तथा यद्यत्रापि व्याप्तेरतात्पर्यविषयत्वं तदनैकान्तिकसाधारण्यादेव। अन्यथा उक्तदोषापरिहारादेवेति।

अनैकान्तिकत्वञ्च अनुद्भावयता अनधिगच्छता वा विरुद्धमशक्योद्भावनमशक्याधिगमञ्चेति तदुपजीवित्वान्न पृथक् दूषणम्, विशेष्यप्रतिपादनं विशेष्यावगमञ्च विना विशिष्टप्रतिपादनस्य विशिष्टावगमस्य चाशक्यत्वात्।

एवमन्यत्रापि विशेषणस्याप्रयोजकता विशेष्यस्य सामर्थ्यं स्वयमूहनीया। तद्यथा—'इदमसाधकं साधारणानैकान्तिकत्वादि'त्यत्र साधारणेति विशेषणे, सपक्षविपक्षगतत्वादित्यत्र सपक्षगतत्वेऽप्युद्भाव्यमाने, एवमसाधारणेऽपीति। 'इदम-

---

दनैलान्तेऽप्यस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयमपवदति ॐ अन्यथेति ॐ। सम्बन्धनियमस्य विवक्षितत्वे व्यतिरेकसम्बन्धमात्रस्यागमकत्वप्रयोजकत्वे सति विशेषणवैयर्थ्यादेवेत्यर्थः।

खण्डनान्तरमाह ॐ अनैकान्तिकत्वमिति ॐ। विरुद्धोऽनैकान्तिकान्न पृथक् दूषणमिति सम्बन्धः। तत्र हेतुः ॐ तदिति ॐ। तस्याप्युपपादनाय ॐ अनैकान्तिकमित्यादि ॐ। विरुद्धस्यानैकान्तिकोपजीवित्वे भवदुक्तं भवेत्तदेवासिद्धं व्याप्तिभङ्गलिङ्गत्वाविशेषादित्यत आह ॐ विशेष्येति ॐ। विपक्षसम्बन्धस्य विशेषणं कार्त्स्न्यादि कृत्स्नत्वादिविशिष्टविपक्षसम्बन्धप्रतिपादनादिविशेष्यभूतविपक्षसम्बन्धमात्रप्रतिपादनादिव्यतिरेकेण नोपपद्यते बिशेषणविशेष्यप्रतिपादनाद्यधीनत्वाद्विपक्षसम्बन्धमात्रं चानैकान्तिकमित्यर्थः। विशेष्यांशस्य हेतोरगमकत्वं समर्थत्वे सति विशेषणवैयर्थ्यमन्यत्राप्यतिदिशति ॐ एवमिति ॐ। तदुदाहरणेन विशदयति ॐ तदिति ॐ। शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् घटवदित्यत्र प्रमेयत्वमसाधकं साधारणानैकान्त्यादित्युक्ते साधारणेति विशेषणे सति सपक्षे सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वादित्यत्र विपक्षेति विशेषणेऽप्रयोजकता द्रष्टव्येत्याह ॐ एवमिति ॐ। विशेषणांशस्यैव समर्थत्वे विशेष्याप्रयोजकताऽपि द्रष्टव्येत्यभिप्रेत्याह ॐ इद-

---

तब साध्याभावसामानाधिकरण्यमात्र अनैकान्तिक में अतिव्याप्त एवं नियतत्व को यदि तात्पर्य का विषय माना जाता है, तब उसमें पूर्वोक्त व्यर्थता प्रसक्त होती है।

दूसरी बात यह भी है कि विरुद्ध या तो अनैकान्तिक से अभिन्न या अन्यथासिद्धमात्र है. क्योंकि जब तक अनैकान्तिकत्व (हेतुगत साध्याभाव के सामानाधिकरण्य) का ज्ञान और उद्भावन सम्पन्न नही हा जाता, तब तक विरुद्धत्व का ज्ञान और उद्भावन नहीं हो सकता—इस प्रकार अनैकान्तिक उपजीव्य और विरुद्ध उपजीवक सिद्ध होता है। उपजीव्यभूत दोष से ही हेतु में अगमकत्व सिद्ध हो जाता है, उपजीवक को पृथक् दोष मानने की आवश्यकता नहीं। विरुद्ध का जो स्वरूप बताया गया—हेतुगत साध्याभाव का सार्वत्रिक सामानाधिकरण्य, उसमें 'साध्याभाव-सामानाधिकरण्य'—यह विशेष्य और 'सार्वत्रिक' यह विशेषण है। विशेष्यमात्र से अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर विशेषण अंश व्यर्थ हो जाता है—यह कहा जा चुका है, फलतः विशेष्यरूप अनैकान्तिक से ही हेतु में अगमकत्व सिद्ध हो जाता है, व्यर्थ विशेपण-घटित विरुद्ध भी व्यर्थ है।

विशेष्यांश के द्वारा विशेषणांश की अन्यथासिद्धता और व्यर्थता का केवल विरुद्ध ही उदाहरण नहीं, अपितु अन्यान्य उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं जैसे—

(१) साधारण-स्थल ['शब्दो नित्यः, प्रमेयत्वात्—यहाँ] पर जो 'इदं (प्रमेयत्वम्) असाधकम्, साधारणानैकान्तिकत्वात्'—ऐसा उद्भावन किया जाता है, उसमें 'साधारण' विशेषण अन्यथासिद्ध है अथवा 'इदं (प्रमेयत्वम्) असाधकम्, सपक्षविपक्षवृत्तित्वात्'—यहाँ पर 'सपक्ष' विशेषण व्यर्थ है।

(२) असाधारण-स्थल ['शब्दो नित्यः, शब्दत्वात्'—यहाँ] पर जो 'इदम् (शब्दत्वम्) असाधकम्, असाधारणानैकान्तिकत्वात्'—ऐसा उपालम्भ दिया जाता है, वहाँ

साधकं जातित्वादि'ति जातित्वविवेचने स्वव्याघातकमुत्तरं जातिरिति स्वव्याघातकत्वस्यैव, 'सर्वमसत् ज्ञेयत्वादि'त्याद्यजातिजातिसाधारणस्य दूषणसमर्थत्वेनोत्तरत्वाभिधान इति। किञ्च साध्यविपरीतेति साध्याभावेत्यर्थे यदा अभावात्मैव साध्यः क्वचिद् भवति, तत्र तद्विपरीतस्य भावत्वात्तदव्यापकत्वं लक्षणस्य।

न च विपरीतशब्दस्य विरोधिमात्रार्थत्वे भावाभावोभयव्याप्तिरिति वाच्यम्, सहानवस्थानं हि भावाभावयोर्विरोधोऽभ्युपेयते। अनवस्थानञ्च संसर्गनिषेधः।

मिति ❀। सर्वं सत् ज्ञेयत्वादिति प्रथमप्रयोगे दृष्टान्ताभावेनासाधकत्वेऽपि न जातिता सर्वमसत् ज्ञेयत्वादिति द्वितीयप्रयोगे हेतोरपि ज्ञेयतयाऽसत्वप्रसङ्गेन स्वव्याघातकत्वादादिपदेन नेदं साधकं हेतुत्वादित्यादिपरिग्रहः। किमिदं जातित्वमिति जिज्ञासायां स्वव्याघातकरमुतरं जातिरिति विवेचनीयं तथा च जात्यजातिसाधारणस्य व्याघातकत्वस्यैव दूषणसमर्थत्वादुत्तरमिति विशेष्यस्याप्रयोजकताऽनुत्तररूपे व्याघाते जातित्वानङ्गीकारादुत्तरमित्यपि वक्तव्यम्।

एवं प्रसङ्गाद्व्यर्थविशेषणत्वाद्यन्यत्रातिदिश्य विरुद्धलक्षणखण्डनं प्रकृतमनुसरति ❀ किञ्चेति ❀। साध्यविपरीतव्याप्त इत्यत्र विपरीतपदेनाभावो विवक्षित उत विरोधमात्रमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ साध्येति ❀। अभाव इत्यर्थे आद्गुण इति गुण एकारे कृते अभावेत्यर्थे इति रूपे विवक्षित इति शेषः। न नित्यः शब्दः भावत्वे सत्यनादित्वादित्यत्र नित्यत्वाभावे साध्ये तद्विपरीतेन नित्यत्वेन भावरूपेण व्याप्तोऽयं विरुद्धो लक्षणेन न व्याप्यत इत्यव्याप्तिरिति यावत्। द्वितीयमपवदति ❀ न चेति ❀। यत्र भावः साध्यस्तत्र तद्विपरीतोऽभावो यत्राभावस्तत्र तद्विपरीतो भाव इति कुतो नोभयव्याप्तिर्विरुद्धमात्रार्थत्व इत्यत आह ❀ सहेति ❀। भावाभावस्यैव विरोधत्वेऽन्यतरलयप्रसङ्गादित्यर्थः। अस्तु ततः किमित्यत आह ❀ अनवस्थेति ❀। एकस्मिन् काले देशे च भावाभावयोरवस्थानं संसर्गस्तन्निषेधोऽनव-

---

'असाधारण' विशेषण व्यर्थ है अथवा 'इदमसाधकम्, सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वात्'—यहाँ पर 'विपक्ष' विशेषण निरर्थक है।

(३) जात्युत्तर-स्थल ['सर्वं सत्, ज्ञेयत्वात्'—इस स्थापना में जात्युत्तर प्रयोग किया जाता है—'सर्वमसत्, ज्ञेयत्वात्। उस पर जो दोष दिया जाता है—] 'इदमसाधकम्, स्वव्याघातकत्वात्'—यहाँ 'स्व' पद व्यर्थ है, क्योंकि जो सामान्यतः स्व और पर—दोनों का घातक है, वह स्वव्याघातक अवश्य होगा। अतः 'स्वव्याघातकमुत्तरं जाति'—इस परिभाषा को ध्यान में रख कर स्वव्याघातकत्व को असाधकता का प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

उक्त लक्षण में यह भी जिज्ञासा होती है कि 'साध्यविपरीतव्याप्तः'—यहाँ 'विपरीत' पद के द्वारा 'अभाव' विवक्षित है ? अथवा 'विरुद्ध'—ऐसा लक्षण पर्यवसित होता है, जो कि अभावसाध्यकस्थलीय विरुद्ध में अव्याप्त है, क्योंकि शब्दोऽनित्यः, भावत्वे सति अनादित्वात्'—यहाँ पर 'भावत्वे सति अनादित्व' हेतु अभावात्मक साध्याभाव से व्याप्त न होकर भावात्मक (नित्यत्वरूप) साध्याभाव से व्याप्त है।

शङ्का—लक्षण-घटक 'विपरीत' पद से साध्य के विरोधीमात्र का ग्रहण अभीष्ट है, चाहे वह भावरूप हो या अभावरूप, अतः अभावसाध्यकस्थल पर भी लक्षण की अव्याप्ति नहीं, क्योंकि उक्त उदाहरण में नित्यत्व धर्म भी अनित्यत्वरूप साध्य का विरोधी होने से 'साध्यविपरीत पद का वाच्यार्थ है।

समाधान—विरोध का अर्थ सहानवस्थान (एक समय एक देश में न रह सकना) होता है। [उसके प्रयोजक दो धर्म होते हैं—(१) अन्योऽन्य-व्याघातकत्व और (२) अन्योऽन्यविरहरूपत्व। अहि और नकुल का विरोध प्रथम प्रकार का अन्योऽन्य-व्याघातकत्वेन) है]।

स च भावाभावयोरन्योन्यानवस्थानमेव, परस्परप्रतिषेधरूपत्वात्तयोः। तथा च सति भावाभावयोः स्वरूपस्यानुपसङ्ग्रहे प्रत्येकमव्याप्तिः मिलितस्यासम्भव एवेति। वक्ष्यामश्च भावाभावयोर्विरोधनिरुक्तिनिराकरणमुपरिष्टादिति।

३९. सव्यभिचारलक्षणखण्डनम्

किञ्च—व्याप्तिपदेन लक्षणप्रविष्टेन किं व्यवच्छेद्यम्? अनैकान्तिकमिति चेत्, किं तदनैकान्तिकम्? तथा हि 'अनैकान्तिकः सव्यभिचार इत्यलक्षणम्। सव्यभि-

स्थानमित्यर्थः। संसर्गनिषेधः कीदृश इत्यत आह ॐ स चेति ॐ। यत्र भावस्तत्र नाभावो यत्राभावस्तत्र न भाव इत्यन्योन्यस्यानवस्थानमेव संसर्गनिषेध इत्यर्थः। कुत इत्यत आह ॐ परस्परेति ॐ। तथालक्षणस्य को दोष इत्यत आह ॐ तथेति ॐ। भावाभावयोः स्वरूपास्वीकारे तयोरनवस्थानस्यैव लक्षणत्वस्वीकारे किं प्रत्येकं लक्षणमुत मिलितमाद्येऽन्योन्योदाहरणाव्याप्तिः द्वितीयेऽसम्भव इत्यर्थः। भावाभावयोरनवस्थानं च यद्यपि तदुभयव्यतिरेकेण नास्ति तथाऽप्यङ्गीकृत्यैतदुक्तम्। भावाभावयोर्विरोधनिर्वचनस्य खण्डयमानत्वादपि लक्षणासिद्धिरित्याह ॐ वक्ष्यामश्चेति ॐ।

उत्तरवादपातनिकां रचयति ॐ किञ्चेति ॐ। विरुद्धलक्षणप्रविष्टेन व्याप्तिपदेन किं व्यवच्छेद्यं न किञ्चिदिति क्षेपः प्रश्नो वा उभयत्र परिहारं शङ्कते ॐ अनैकान्तिकमिति ॐ। असिद्धस्य सप्तमरसादिवदव्यवच्छेद्यत्वादनैकान्तस्य सिद्धिर्वक्तव्या सा च लक्षणायत्तेति लक्षणं पृच्छति ॐ किमिति ॐ। आक्षेपाभिप्रायमाविष्करोति ॐ तथा हीति ॐ। एकस्मिन्नेव साध्ये नियत एकान्तः न एकान्तोऽनेकान्तः व्यभिचारश्च सम्बन्धानियमः अनियतसाध्यसम्बन्धोऽनेकान्त इत्येतदलक्षणमिति यावत्। किमिदं सव्यभिचारत्वं विपक्षवृत्तित्वमुत सपक्षविपक्षगताभावता किंस्वित्सपक्षविपक्षसाधारणतेति विकल्प्य प्रथममनुवदति

भाव और अभाव का परस्पर-विरहरूपत्वेन विरोध होता है, क्योंकि श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"न भाव इति निषेधमात्रेणाभावविधिः, एवं नाभाव इति निषेधे भावविधिः। प्रतिषेधविध्योरेकत्रासम्भवात्" (न्या० कु० ३।८)। जब भाव से विपरीत अभाव और अभाव से विपरीत भाव है, तब भावात्मक साध्य से विपरीत अभाव और अभावात्मक साध्य से विपरीत भाव होता है। भाव और अभाव—इन दोनों में से प्रत्येक का लक्षण में समावेश करने पर उससे इतर में अव्याप्ति और दोनों को लक्षण का घटक मानने पर असम्भव दोष आ जाता है। आगे चल कर भाव और अभाव के विरोध का निराकरण किया जानेवाला है, इस लिए भी उक्त लक्षण खण्डित हो जाता है।

३९. सव्यभिचार लक्षण-खण्डन

विरुद्ध का जो लक्षण किया गया है—'साध्यविपरीतव्याप्तः'। वहाँ साध्यविपरीतसमानाधिकरणः'—ऐसा लक्षण न कर व्याप्ति-घटित लक्षण क्यों किया? इस प्रश्न का यदि यह उत्तर दिया जाता है कि अनैकान्तिक हेतु भी साध्याभाव-समानाधिकरण होता है, उसमें विरुद्ध का लक्षण अतिव्याप्त न हो, इस लिए 'व्याप्तः' कहा गया, अनैकान्तिक वैसा नहीं होता। तब जिज्ञासा होती है कि अनैकान्तिक का क्या लक्षण होता है?

(१) अनैकान्तिकः सव्यभिचारः—

शङ्का—[न्यायसूत्रकार ने कहा है—"अनैकान्तिकः सव्यभिचारः" (न्या० सू० १।२।५)। सव्यभिचार पदार्थ का स्पष्टीकरण भाष्यकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"व्यभिचार एकत्राव्यवस्था, सह व्यभिचारेण वर्तते इति सव्यभिचारः। निदर्शनम्—'नित्यः

चारत्वं हि यदि विपक्षवर्तिता, तदानीं विरुद्धेऽपि प्रसङ्गः, असाधारणानैकान्तिकाव्याप्तिश्च। अथ सपक्षविपक्षगताभावता, तदा साधारणोदाहरणाव्यापकत्वम्।

अथोच्यते—सव्यभिचारत्वं सपक्षविपक्षसाधारणता अभिप्रेता। सा चान्वयेन साधारणस्य व्यतिरेकेणासाधारणस्यानैकान्तिकस्य सङ्ग्राहिका। सपक्षविपक्षसाधा-

---

⊛ सेति ⊛। दूषयति ⊛ तदेति ⊛। शब्दोऽनित्यः अकार्यत्वादित्यस्मिन्विरुद्धेऽपि विपक्षवृत्तित्वं लक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। दोषान्तरमाह ⊛असाधारणेति⊛। शब्दो नित्यः आकाशविशेषगुणत्वादित्यसाधारणानैकान्तिकाऽव्याप्तिस्तस्य विपक्षवृत्तित्वाभावात्। ननु अनध्यवसितोऽयं हेत्वाभासो नानैकान्तः साध्यासाधकः पक्ष एव वर्तमानो हेतुरनध्यवसित इति तल्लक्षणादिति। मैवम्, असाधकत्वमनुमित्यजनकत्वं तद्व्याप्तिपक्षधर्म्मत्वनिश्चये सत्येव उत तद्विरहे वा नाद्योऽसम्भवान्न हि सम्भवति व्याप्तपक्षधर्मतानिश्चये सत्यसाधक इत्यतिप्रसङ्गात्। द्वितीयेऽसिद्धान्तर्भावः व्याप्तिविरहाच्चेदसाधकत्वं तदा न एकान्तोऽनैकान्तिक इत्यन्वर्थसंज्ञासम्भवेऽपूर्वसंज्ञान्तरकरणमनुपपन्नं प्रमाणाभावाद् गौरवाच्च। अस्यानैकान्तिकान्तर्भाव्यनुपसंहार्यस्यानैकान्तिकान्तर्भावाभावादनैकान्तिकादनध्यवसितः पृथक् स्वीकर्त्तव्य इति चेन्न, समनन्तरमेव तस्याप्यन्तर्भावाभिधानात्तस्माद् भूषणोक्तमप्यनादृत्याचार्योद्द्योतकरवाचस्पतिप्रभृतिभिरुक्तमेव स्वीकार्यमिति द्वितीयं शङ्कते ⊛ अथेति ⊛। सपक्षविपक्षयोर्गतोऽभावो यस्य स तथोक्तस्तद्भावस्तत्ता सव्यभिचारत्वमिति सम्बन्धः। निराकरोति ⊛ तदेति ⊛। शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादिति साधारणानैकान्तिकोदाहरणाव्यापकत्वं लक्षणस्य पक्षत्रयवृत्तित्वात्तस्येत्यर्थः।

तृतीयं शङ्कते ⊛ अथेति ⊛। एवमपि कथमुभयसङ्ग्रह इत्यत आह ⊛ सेति ⊛। अन्वयः सत्त्वं, व्यतिरेकोऽसत्त्वं साधारणस्योभयत्र सत्त्वं समानमसाधारणस्यासत्त्वमिति अन्वयेन व्यतिरेकेण च सपक्षविपक्षसाधारणतोभयसङ्ग्राहिका व्यापिकेत्यर्थः। अन्वयेन साधारण्यं चेद्विवक्षितमसाधारणात्याप्तिर्व्यतिरेकेण चेत्साधारणाऽव्याप्तिरुभयेन चेदुभयाव्याप्तिरित्यत आह ⊛ सपक्षेति ⊛। लक्षणं व्यापकमिति शेषः।

शब्दोऽस्पर्शत्वात्'। साध्य की आश्रयीभूत (सपक्ष) कोटि और साध्य की अनाश्रयीभूत (विपक्ष) कोटि— इन दो कोटियों या कक्षाओं में से एक-एक कोटि में नियतरूप से रहनेवाले हेतु को एकत्र-व्यवस्थित और दोनों कोटियों में रह जाने वाले हेतु को एकत्राव्यवस्थित या व्यभिचारी कहा जाता है। 'अनैकान्तिक' शब्द का भी यही व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है, जैसा कि भाष्यकार ने ही उक्त उदाहरण के माध्यम से प्रदर्शित किया है—"नित्यत्वमपि एकोऽन्तः, अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः, एकस्मिन्नन्ते विद्यते इत्यैकान्तिको विपर्ययादनैकान्तिकः, उभयान्तव्यापकत्वात्" (न्या० भा० १।२।५)]।

समाधान—'सव्यभिचार' शब्द से क्या विवक्षित है—(१) विपक्षवृत्तिता? या (२) सपक्षविपक्षाभावता? अथवा (३) सपक्षविपक्षसाधारणता? विपक्षवृत्तिता तो विरुद्ध हेतु में भी अतिव्याप्त है। केवल अतिव्याप्त ही नहीं, 'शब्दो नित्यः, शब्दत्वात्'—इत्यादि असाधारणानैकान्तिक में अव्याप्त भी है, क्योंकि वह केवल पक्ष में ही रहता है, विपक्षादि में नहीं। यदि असाधारण का संग्रह करने के लिए सपक्षविपक्षाभावता' [सपक्ष और विपक्ष में अभाव है जिसका अर्थात् 'सपक्षावृत्तित्वे सति विपक्षावृत्तित्वमनैकान्तिकत्वम्'—ऐसा] लक्षण किया जाता है, तब साधारणानैकान्तिक के शब्दो नित्यः, अस्पर्शत्वादि उदाहरणों में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि यह हेतु सपक्ष (आकाशादि) और विपक्ष (पाकज रूपादि) दोनों में वृत्ति है, अवृत्ति नहीं।

शङ्का—साधारण और असाधारण—दोनों का संग्रह करने के लिए सपक्षविपक्षसाधारणता ही सव्यभिचारिता मानी जाती है। जिस हेतु के लिए सपक्ष और विपक्ष—दोनों समान हैं अर्थात् या तो सपक्ष और विपक्ष—दोनों में रहता है या दोनों में नहीं रहता, वह

रणता अन्वयेन व्यतिरेकेण चेति विशेषणवत्तया न विवक्षिता, अतः साधारणासाधारणानैकान्तिकयोरुभयोरपि सङ्ग्रहः। 'विवादाध्यासितं क्षणिकं सत्त्वादि'त्यादेरनुपसंहार्यस्यापि सपक्षविपक्षगतत्वाभावेन साम्यमिति।

विचार्यमेतद् व्याख्यानम्, परमस्तु तावदापाततः, तथापि व्यतिरेकेण सपक्षविपक्षसाधारणतायाः सपक्षाव्यापके सद्धेतौ धूमविशेषादौ गतत्वेनातिव्यापकत्वात्। यदि त्वस्य दोषस्य परिहारार्थं सर्वविपक्षसपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति ब्रूषे, तदा व्यतिरेकमात्रेण सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता धूमानुमानाविगामिनी न भवतु नाम। अन्वयेन तु सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता विपक्षसपक्षैकदेशगामिनं साधारणा-

हेतुं व्याचष्टे ॐ अन्वयेनेति ॐ। विवादाध्यासितं सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यादेरनुपसंहार्यस्य कथं सङ्ग्रहः तत्रान्वयव्यतिरेकयोरभावादित्यत आह ॐ विवादेति ॐ। उपसंहारो व्याप्तिस्तद्विषय उपसंहार्यो दृष्टान्तः स न विद्यते यस्य सोऽनुपसंहार्यः तस्यापि सपक्षविपक्षगतत्वाभावेन व्यतिरेकेण साम्यमिति तदुपसङ्ग्रहस्तत्र हेतुः ॐ सपक्षेति ॐ। न हि सम्भवति सपक्षादिर्नास्ति तत्र गतो हेतुरित्यादिपदेन सर्वं शून्यं ज्ञेयत्वादित्यादिसंग्रहः। न च खपुष्पादिर्दृष्टान्त इति वाच्यम्। निरुपाख्यस्य सोपाख्यसाध्यहेत्वनाश्रयत्वादन्यथाऽऽश्रयासिद्धिविलोपप्रसङ्गादिति सपक्षविपक्षसाधारण्यं केवलव्यतिरेकिहेतोरप्यस्तीत्यतिव्याप्तिः साध्यासाधकत्वविशेषणे तदेव दूषणं समर्थमुद्भाव्यं व्यर्थं सपक्षेत्यादिविशेषणमित्यभिप्रेत्याह ॐ विचार्यमिति ॐ। अङ्गीकृत्याप्याह ॐ परमिति ॐ। परं केवलमापाततोऽस्त्विति अङ्गीकृतं चेल्लक्षणसौस्थ्यमित्याशङ्क्य किं सपक्षविपक्षसाधारण्यमात्रं लक्षणमुत सर्वसपक्षविपक्षसाधारण्यमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ तथाऽपीति ॐ। गोपालघटिकोद्भासितधूमव्यावृत्त्यर्थं विशेषपदम्। धूमवत्त्वादिति सद्धेतुर्विपक्षसपक्षयोर्व्यतिरेकद्वारा साधारण इत्यतिव्यापकत्वं। तत्र हेतुः ॐ सपक्षेति ॐ। सपक्षैकदेशेऽङ्गारावस्थाग्निमति तदप्रवृत्तेरित्यर्थः। आदिपदेन शब्दो नित्यः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात् घटवदित्यादिसङ्ग्रहः। द्वितीयकल्पं शङ्कते ॐ यदीति ॐ। सर्वसपक्षविपक्षसाधारणोऽनैकान्तः सद्धेतौ सपक्षैकदेशवृत्तौ तदभाव इति तन्निवृत्तिरित्यर्थः। उक्तातिव्याप्तिपरिहारमङ्गीकृत्य दूषयति ॐ तदेति ॐ। व्यतिरेकमात्रेण सपक्षविपक्षसाधारणता धूमानुमानगामिनी न भवतीति कृत्वाऽतिव्याप्तिर्मा भून्नामेत्यर्थः। न चैतावता लक्षणं निरवद्यमव्यापकत्वादित्याह ॐ अन्वयेनेति ॐ। शब्दोऽनित्यः प्रत्यक्षत्वात् घटवदिति

हेतु उभय-साधारण माना जाता है। 'साधारण' का उन दोनों में अन्वय (सत्त्व) और असाधारण का दोनों में व्यतिरेक (असत्त्व) है, अतः इस लक्षण के द्वारा साधारणानैकान्तिक और असाधारणानैकान्तिक—इन दोनों का संग्रह हो जाता है। लक्षण में अन्वय या व्यतिरेक में से साक्षात् किसी का प्रवेश नहीं, सांकेतिकरूप से उभय का लाभ हो जाता है। 'सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वात्'—इत्यादि अनुपसंहारी अनैकान्तिक के सपक्ष और विपक्ष न होने के कारण व्यतिरेक की सपक्षविपक्षसाधारणता सुलभ है, अतः अनुपसंहारी का भी इसी लक्षण के द्वारा संग्रह हो जाता है।

समाधान—उक्त लक्षण आपाततः ही सुन्दर और अनुगमक प्रतीत होता है, किन्तु उसकी गहराई में जाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह धूमादि सद्धेतुओं में अतिव्याप्त है, क्योंकि निर्धूम अग्नि के आश्रयीभूत तप्तायःपिण्डादि कतिपय सपक्ष और जलह्रदादिरूप विपक्षों में धूम का व्यतिरेक समानरूप से रहने के कारण धूमादि भी सपक्षविपक्षसाधारण हैं। इस अतिप्रसङ्ग का परिहार करने के लिए यदि सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता की विवक्षा की जाती है, तब यद्यपि धूमादि में अतिव्याप्ति नहीं, क्योंकि महानसादि सभी सपक्षों में धूम का व्यतिरेक नहीं। तथापि 'शब्दो न नित्यः, प्रत्यक्षग्राह्यत्वात्'—इत्यादि साधारणानैकान्तिक में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि प्रत्यक्षग्राह्यत्व का अन्वय न तो आकाशादि समस्त विपक्षों में

नैकान्तिकं 'शब्दो न नित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वादि'त्यादिकं न सङ्गृह्णातीत्यव्याप्तिरित्येकं सन्धित्सतोऽपरं प्रच्यवते ।

अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वसपक्षविपक्षगतत्वाद् धूमानुमानादौ स एव प्रसङ्गः, विशेषरूपेण तयोरविवक्षितत्वात् ।

किञ्च—सर्वसपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति वाक्ये यदि सर्वेति विपक्षस्यापि विशेषणं तदा विपक्षैकदेशवृत्तेः सपक्षव्यापिनः साधारणानैकान्तिकस्य 'त्रसरेणुः कार्यावयवको महत्त्वात् 'घटवद्'इत्यादेरव्यापकं लक्षणमिदम् । अथ सर्वेति न विपक्षस्य विशेषणं तदा व्यतिरेकमादाय विपक्षसर्वसपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति

साधारणानैकान्तं न सङ्गृह्णाति—न व्याप्नोति सपक्षैकदेशे गुरुत्वादौ आकाशादौ वाऽप्रवृत्तेरित्यर्थः । शब्दो नित्योऽचलनात्मत्वे सति सामान्यवत्त्वादित्यादिरादिपदार्थः । उपसंहरति ॐ इत्येकमिति ॐ । अतिव्याप्तिपरिहारमिच्छतस्तेऽपरं सर्वलक्ष्यव्याप्तिः प्रच्यवत इत्यर्थः ।

सद्धेतावतिव्याप्तिपरिहारमङ्गीकृत्याव्यापकत्वमुक्तमिदानीमतिव्याप्तिरपि तदवस्थेत्याह ॐ अपि चेति ॐ । धूमादौ स एव लक्षणातिव्यापकत्वप्रसङ्गस्तत्र हेतुः ॐ सर्वेति ॐ । तत्रापि हेतुरन्वयेति । धूमवत्त्वं हेतुर्विपक्षं व्यतिरेकेण सपक्षैकदेशं च तेनैव सपक्षैकदेशं पुनरन्वयेनेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वसपक्षादिव्यापकत्वमित्यर्थः । व्यतिरेकेणैवान्वयेनैव वा सर्वसपक्षविपक्षसाधारणोऽनैकान्तिक इति विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिरित्यत आह ॐ विशेषेति ॐ । विवक्षितत्वे चाव्याप्तिरित्यर्थः ।

सर्वसपक्षेत्यादिलक्षणवाक्ये सर्वपदं विपक्षस्यापि विशेषणमुत सपक्षस्यैकस्यैवेति विकल्प्य प्रथममनुवदति ॐ किञ्चेति ॐ । दूषयति ॐ तदेति ॐ । तदा साधारणस्यानैकान्तिकस्याव्यापकमिदं लक्षणमिति सम्बन्धः । सर्वेति विशेषणाभावादिति दर्शयति ॐ विपक्षेत्यादि ॐ । उदाहरणमाह ॐ त्रसरेणुरिति ॐ । त्र्यणुकमित्यर्थः । कार्यमवयवो यस्य स तथोक्तः कार्यारब्ध इत्यर्थः । महत्त्वं हेतुः सपक्षे घटादौ सर्वत्र वर्तते विपक्षे परमाण्वादौ न वर्तते दिक्कालादौ वर्तत इति विपक्षैकदेशवृत्तिः परमाणुः स्वतो न्यूनपरिमाणारब्धः द्रव्यत्वात् घटवदित्यादिरादिपदार्थः । द्वितीयं शङ्कते ॐ अथेति ॐ । अतिव्याप्तिं दर्शयितुं लक्षणवाक्यस्य पर्यवसितमर्थं दर्शयति ॐ तदेति ॐ । व्यतिरेकमादाय विरुद्धे गतत्वादित्युपरि सम्बन्ध-

---

है और न परमाणुगत पाकज रूपादि सभी सपक्षों में है । इस प्रकार एक लक्ष्य के संग्रह का जब प्रयत्न किया जाता है, तब दूसरा लक्ष्य स्थल हाथ से जाता रहता है ।

दूसरी बात यह भी है कि 'सपक्षविपक्षसाधारणता' विशेषतः अन्वय या व्यतिरेक के द्वारा तो विवक्षित है नहीं, वादी की अपनी इच्छा पर निर्भर है, अतः कोई वादी अन्वय और व्यतिरेक—दोनों का आंशिक उपयोग करता हुआ धूमादि सद्धेतुओं का सपक्ष में अन्वय और विपक्ष में व्यतिरेक दिखाकर उनमें अतिव्याप्ति प्रदर्शित करता है, तब उसे हटाया नहीं जा सकता ।

यह भी एक जिज्ञासा होती है कि उक्त लक्षण-वाक्यों में पर क्या विपक्ष का भी विशेषण है ? अथवा केवल सपक्ष का ? यदि विपक्ष का भी विशेषण है, तब 'त्रसरेणुः जन्यावयववान्, महद्द्रव्यत्वाद्, घटवद्'—इत्यादि साधारणानैकान्तिक में अव्याप्ति होती है, क्योंकि यह सभी सपक्षों में रहने पर भी सभी विपक्षों में नहीं रहता, क्योंकि परमाण्वादिरूप विपक्ष में न रह कर दिगादि में ही रहता है । यदि 'सर्व' पद विपक्ष का विशेषण नहीं, तब 'विपक्षसर्वसपक्षसाधारणमनैकान्तिकम्'—ऐसा लक्षण पर्यवसित होता है, जो कि 'क्षितिर्नित्या, सावयवत्त्वात्'—इत्यादि विरुद्ध हेतु में अतिव्याप्त हो जाता है, क्योंकि सपक्ष और विपक्ष—दोनों में उसका व्यतिरेक रहने के कारण वह 'सपक्षविपक्षसाधारण एवं उसका व्यतिरेक (निरवयत्व) सर्वसपक्षव्यापक है । घटादिरूप विपक्ष में रहने पर भी बुद्धयादिरूप विपक्षों में 'सावयवत्व' हेतु

पतद्विपक्षैकदेशमात्रवृत्तौ विरुद्धे 'क्षितिर्नित्या सावयवत्वादि'त्यादौ गतत्वादतिव्यापकमिति ।

का चेयं वाचो युक्तिः सपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्युक्ते सर्वं सङ्गृह्यते अन्वयेन व्यतिरेकेण चेति । कथमनुपसंहार्यस्यासत्सपक्षविपक्षस्य सपक्षे विपक्षे वा अन्वयेन व्यतिरेकेण वा साधारण्यं स्यात्, तयोरेवाभावात् ।

यदि च सपक्षे च विपक्षे च साधारणत्वमुभयत्र स्वरूपानुगमो विवक्षितः, तदानीमसाधारणानैकान्तिकाव्याप्तिः । अथोभयस्मिस्तस्मिन्नसत्त्वं तद्विवक्षितम्, तदा सर्वाव्याप्तिः, तदसत्त्वस्यातद्धर्मत्वात् । अथ तदुभयवर्त्यभावप्रतियोगित्वं

नीयम् । इदमनैकान्तिकमित्युक्तं स्यादिति शेषः । अस्तु को दोष इत्यत आह ❀ एतदिति ❀ । उदाहरति ❀ क्षितिरिति ❀ । सावयवत्वादिति हेतुर्विपक्षे घटादौ वर्तते बुद्ध्यादौ च न वर्तते सपक्षे परमाण्वादौ सर्वत्र न वर्तत इति सर्वसपक्षविपक्षसाधारणत्वं विपक्षैकदेशवृत्तिविरुद्धेऽस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । क्षितिर्नित्या कार्यद्रव्योपादानत्वादित्याद्युदाहार्यमिति दर्शयत्यादिपदेन ।

सपक्षविपक्षसाधारणमिति लक्षणस्यासाधारणादिसकलानैकान्तिकव्यापकत्वमङ्गीकृत्यातिव्यापकत्वमुक्तमिदानीं सा वाग्भङ्गिरेवानुपपन्नेत्याह ❀ का चेति ❀ । साधारणासाधारणानुपसंहार्यमित्यर्थः । काऽनुपपत्तिरित्यत आह ❀ कथमिति ❀ । सपक्षविपक्षयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां साधारण्यमनुपसंहार्यस्यासम्भवीति दर्शयितुं तत्स्वरूपमाह ❀ असदिति ❀ । कथं वा न स्यादित्यत आह ❀ तयोरिति ❀ । सपक्षविपक्षयोरेवाभावे तन्निष्ठो हेतुभावोऽभावो वा न हि प्रमातुं शक्यते भावाभावयोर्भावाधिकरणतया प्रमानियमादित्यर्थः । किं च सपक्षविपक्षसाधारणत्वं हेतोः सपक्षविपक्षयोरनुगम उत तदुभयत्रासत्वं किं वा तदुभयनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमाहोस्वित्सपक्षविपक्षसम्बन्धाभाववत्वमिति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ यदीति ❀ । अव्याप्त्या दूषयति ❀ तदेति ❀ । असाधारणानैकान्तस्य सपक्षविपक्षानुगतत्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀ । तत्सपक्षविपक्षसाधारण्यमित्यर्थः । असम्भवेनैतद् दूषयति ❀ तदेति ❀ । कुतः सर्वाऽव्याप्तिरित्यत आह ❀ तदिति ❀ । सपक्षविपक्षगतहेत्वभावस्य हेतुधर्मत्वाभावात्तत्साधारण्यवत्वासम्भवादसिद्धिरित्यर्थः । तृतीयचतुर्थौ कल्पावुद्भावयति ❀ अथेति ❀ । सपक्षविपक्षाभ्यां हेतोः सम्बन्धस्तदुभयनिष्ठ इति तदभावोऽपि तदुभयाश्रय इत्यभावप्रतियोगित्वं सपक्षविपक्षाभ्यां हेतुसम्बन्धस्य योऽभावस्तदाश्रयत्वं वा सपक्षविपक्षसाधारण्यं विवक्षितमित्यनुषङ्गः । इदमव्यापकमित्याह

विपक्षैकदेश-वृत्ति है ।

यह जो कहा गया कि 'सपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकम्'—यह लक्षण अन्वय (सत्त्व) और व्यतिरेक के द्वारा साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी—इन तीनों अनैकान्तिक-भेदों का संग्राहक है ।' वह कहना संगत नहीं, क्योंकि जब अनुपसंहारी हेतु के सपक्ष और विपक्ष—दोनों नहीं होते, तब वह अन्वय या व्यतिरेक के द्वारा सपक्षविपक्षसाधारण क्योंकर हो सकेगा ?

सपक्षविपक्षसाधारणता का स्पष्टीकरण परमावश्यक है । यदि उभयानुगत हेतु को उभयसाधारण कहा जाता है, तब असाधारणनैकान्तिक में अव्याप्ति रह जाती है, क्योंकि वह सपक्ष और विपक्ष में अनुगत न होकर केवल पक्ष में ही रहता है । यदि सपक्ष और विपक्ष—दोनों में न रहनेवाले हेतु को उभयसाधारण माना जाता है, तब सर्वाव्याप्ति (असम्भव) होती है, क्योंकि हेतु का असत्त्व या अभाव यदि दोष है, तब वह सपक्षादि में रहेगा, हेतु में नहीं, तब हेतु दुष्ट या हेत्वाभास क्योंकर होगा ?

शङ्का—सपक्षविपक्षोभयगत अभाव की प्रतियोगिता ही हेतुगत दोष है, उससे युक्त हेतु को अथवा सपक्ष और विपक्ष के सम्बन्ध (आधेयत्व) का जो अभाव है, उससे युक्त हेतु को अनैकान्तिक कहा जाता है ।

तदुभयसम्बन्धस्य योऽभावस्तदाश्रयत्वं वाऽभिप्रेतम्, तदाऽपि साधारणोदाहरणाव्याप्तिः।

अथ मन्यसे तदुभयसाधारण्यं नाम एकस्मिन् याद्रूप्यं हेतोः सत्त्वमसत्त्वं वा ताद्रूप्यमपरस्मिन्नपि यत्तदुच्यते, तथा सति नाव्यापकतादोष इति। मैवम्, मुख्यस्तावद्वचनार्थो नोपपद्यते—हेतोरैकरूप्यस्य सपक्षविपक्षावाश्रय इति। किं नाम? ऐकरूप्यवतो हेतोस्तौ आश्रयाविति स्यात्. तदा चासाधारणाव्याप्तिः, तत्र सपक्षे विपक्षे च हेतोरसत्त्वेन तदाश्रयत्वासम्भवात्। तस्मात् सपक्षे विपक्षे च साधारणत्वं हेतोरनैकान्तिकत्वमित्यनुपपन्नमेव।

असत्त्वपक्षे हेतोस्तदाश्रयकत्वानुपपत्त्या सपक्षे विपक्षे चेति सप्तमीनिर्देशस्याऽसङ्गतत्वात्। तदभावापेक्षया चाश्रयत्वस्योपपत्तौ हेतोस्तदाश्रयत्वे किमायातम्?

॥ तदेति ॥। साधारणानैकान्तस्य सपक्षविपक्षगतत्वादेव तदुभयनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं तत्सम्बन्धाभाववत्त्वं वा नास्तीत्यर्थः। उक्तदोषपरिजिहीर्षया पक्षान्तरं शङ्कते ॥ अथेति ॥। हेतोरेकस्मिन्सपक्षे विपक्षे वा याद्रूप्यं यद्रूपत्वं सत्त्वमसत्त्वं वा ताद्रूप्यमपरस्मिन्सपक्षादौ यन्नाम तत्सपक्षविपक्षसाधारण्यमुच्यत इत्यर्थः। एवं लक्षणशिक्षायां फलमाह ॥ तथेति ॥। सपक्षविपक्षयोरैकरूप्यं प्रति यदधिकरणत्वं सप्तम्या प्रतीयते तद्विवक्षितमुत लक्षणया ताद्रूप्यवतो हेतोस्तदाश्रयत्वं विवक्षितमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॥ मैवमिति ॥। हेतोरैकरूप्यं हेतुधर्मत्वान्न तदन्यनिष्ठमित्यर्थः। तस्माद् द्वितीयः परिशिष्यत इति प्रश्नपूर्वकमाह ॥ किमिति ॥। अस्तु तथा वा को दोष इत्यत आह ॥ तदेति ॥। कुत इत्यत आह ॥ तत्रेति ॥। तत्रासाधारणोदाहरण इति यावत्। सपक्षविपक्षयोरैकरूप्यं नाम असाधारणस्यासत्त्वं तद्वतो हेतोः सपक्षाविनिष्ठत्वमित्यर्थः। सपक्षविपक्षसाधारणोऽनैकान्त इति लक्षणखण्डनं निगमयति ॥ तस्मादिति ॥।

संक्षेपविस्ताराभ्यामुच्यमानं वस्तु मन्दबुद्धिबुद्ध्यारूढं भवतीति कथितमेव हेतुं संविध्याह ॥ असत्त्व इति ॥। यद्यपि सपक्षादिसाधारण्यं तद्गतासत्त्वं हेतोरित्यसाधारणानैकान्तस्थले हेतोः सपक्षाविनिष्ठत्वन्नास्ति तथाऽपि तदभावस्य सपक्षाद्याश्रयत्वमस्तीत्यत आह ॥ तदिति। तदाश्रयत्वस्य

समाधान—उक्त लक्षण साधारणानैकान्तिक में नहीं घटता, क्योंकि वह सपक्ष और विपक्ष—इन दोनों में उसका भाव एवं इन दोनों का हेतु में सम्बन्ध (आधेयत्व) विद्यमान है।

शङ्का—'सपक्षविपक्षयोः हेतोः साधारण्यम्'—इस वाक्य का अर्थ यह है कि सपक्ष में जैसा भी हेतु का सत्त्व या असत्त्व हो, वैसा ही विपक्ष में भी हो। ऐसा अर्थ करने पर कहीं भी अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि साधारणानैकान्तिक का सपक्ष और विपक्ष—दोनों में सत्त्व और असाधारणानैकान्तिक का असत्त्व होता है।

समाधान—हेतु के सत्त्व या असत्त्वरूप धर्म का आश्रय हेतु ही होता है, सपक्ष और विपक्ष नहीं, अतः 'सपक्षविपक्षयोः हेतोः साधारण्यम्'—इस वाक्य के द्वारा जो सपक्ष और विपक्ष में हेतु के उक्त (सत्त्व या असत्त्व) रूप को आश्रयता मुख्यार्थ के रूप मे प्रतीत होती है, उसकी अनुपपत्ति हो जाती है। यदि सपक्षविपक्षौ साधारणरूपस्य आश्रयौ'—ऐसा मुख्यार्थ न करके 'साधारण्यरूपविशिष्टस्य हेतोः सपक्षविपक्षौ आश्रयौ'—ऐसा गौण अर्थ किया जाता है, तब असाधारणानैकन्तिक में अव्याप्ति हो जाता है, क्योंकि सपक्ष और विपक्ष में हेतु की सत्ता न होने के कारण उक्तरूप-विशिष्ट हेतु की आश्रयता सपक्ष और विपक्ष में बाधित है। फलतः 'सपक्षे विपक्षे च साधारणत्वं हेतोरनैकान्तिकत्वम्'—ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है।

यद्यपि असाधारणानैकान्तिक के असत्त्व की आश्रयता सपक्ष और विपक्ष में नहीं, अतः 'सपक्षे विपक्षे च तत्'—ऐसा अधिकरणार्थक सप्तमी का प्रयोग नहीं हो सकता, तथापि असत्त्व

आयातु वा किञ्चित्, तथापि साधारणोदाहरणेषु हेत्वभावापेक्षया सपक्षविपक्षयोर्नाऽऽश्रयता सप्तम्यर्थः। किन्तु हेत्वपेक्षयैवेति अनेकार्थपर्यवसायित्वे वाक्यस्य लक्षणाव्यापकतापत्तिरेव। किञ्च सपक्षविपक्षसाधारणत्वं यदि सामान्यतो लक्षणं साधारणासाधारणानैकान्तिकभेदद्वयसङ्ग्रहार्थमुच्यते, तदा सपक्षविपक्षयोरन्यत्वादिभिर्हेतोः साधारण्यमस्त्यन्यत्रापीत्यतिव्याप्तिः।

अथातिव्याप्तिपरिजिहीर्षया अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्युच्यते, तदा अन्वयव्यतिरेकयोः प्रत्येकमिलितविकल्पानुपपत्त्या अव्यापकत्वापातः।

सपक्षादेः सप्तम्यर्थस्य सम्भवेऽपि हेतोः सपक्षादिनिष्ठत्वे लक्षणप्रविष्टे न किंचिल्लभ्यत इत्यर्थः। सपक्षादिनिष्ठाभावं प्रति प्रतियोगित्वं हेतोर्लाभ इत्यत आह ❀ आयात्विति ❀। यद्यपि सपक्षविपक्षगतासत्त्वप्रतियोगित्वं हेतोर्विशेषस्तथाऽपि साधारणानैकान्तिकस्थलेषु सपक्षविपक्षयोर्हेत्वभावापेक्षया सप्तम्यर्थोऽधिकरणत्वं न भवति सपक्षविपक्षगामित्वादेव तस्येत्यर्थः। कस्तर्हि सप्तम्यर्थोऽधिकरणत्वं तत्रेत्यत आह ❀ किं त्विति ❀। सपक्षविपक्षयोरैकरूप्यं हेतोरनैकान्त्यमिति वाक्ये साधारणोदाहरणविवक्षायां सपक्षादौ सत्त्वमेकरूप्यमितरत्र तदसत्त्वमेतावता प्रकृतलक्षणस्य को दोषस्तत्राह ❀ इति अनेकेति ❀।

सपक्षविपक्षयोः साधारणो हेतुरनैकान्तिक इत्येतावन्मात्रं लक्षणमुतान्वयादिना विशेषित इति विकल्प्य प्रथमकल्पमनुवदति ❀ किं चेति ❀। अतिव्याप्त्यैतदपवदति ❀ तदेति ❀। धूमवत्त्वादिहेतोः सपक्षाद्यपेक्षयाऽन्यत्वसत्त्वज्ञेयत्वादिभी रूपैः सपक्षविपक्षयोः साधारण्यमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयं कल्पमुत्थापयति ❀ अथेति ❀। अन्वयेन सपक्षादिसाधारण्येऽसाधारणाव्याप्तिर्व्यतिरेकेण साधारण्यलक्षणस्य साधारणाव्यापकता मिलिताभ्यामुभाभ्यां साधारण्यस्य सर्वाव्याप्तिरित्यभिसन्धाय दूषयति ❀ तदेति ❀।

का अर्थ यदि अभाव किया जाता है, तब 'सपक्षे विपक्षे च हेतोरभावः'—ऐसा प्रयोग सम्भव हो जाता है किन्तु उस अभाव की आश्रयता हेतु में न होने के कारण हेतु दुष्ट क्योंकर होगा? दूसरी बात यह भी है कि असाधारणानैकान्तिक में लक्षण घटाने के लिए हेत्वभाव की अपेक्षा सपक्षगत और विपक्षगत आश्रयता सपक्षविपक्षपदोत्तर सप्तमी का अर्थ किया जाता है और साधारणानैकान्तिक को ध्यान में रखकर हेतु-सत्त्व की अपेक्षा उक्त सप्तमी का आश्रयता अर्थ किया जाता है—इस प्रकार उक्त सप्तमी विभक्ति एकार्थ-पर्यवसायिनी नहीं होती, उक्त लक्षण-वाक्य में एकार्थता का लाभ न होने से वाक्य-भेद एवं अननुगम हो जाता है।

अन्वय या व्यतिरेक के द्वारा सपक्ष और विपक्ष की साधारणता का निर्देश न कर यदि साधारण और असाधारण—दोनों अनैकान्तिकों का संग्रह करने के लिए 'सपक्षविपक्षयोः साधारणो हेतुरनैकान्तिकः'—इतना ही सामान्य लक्षण किया जाता है, तब 'पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्'—इत्यादि सद् हेतुओं में भी सपक्षादि की अपेक्षा अन्यत्व, सत्त्व, ज्ञेयत्वादिरूपों के द्वारा सपक्षविपक्ष की समानरूपता या साधारणता सुलभ होने के कारण अतिव्याप्ति होती है। इस अतिव्याप्ति का परिहार करने के लिए यदि सामान्यतः सपक्ष-विपक्ष की साधारणता न कह कर अन्वय (सत्त्व) और व्यतिरेक (असत्त्व) के माध्यम से ही अनैकान्तिक हेतु में मानने पर केवल अन्वय को लेकर असाधारणानैकान्तिक में सपक्षविपक्ष-साधारणता (सपक्षादिवृत्तित्व) न होने के कारण अव्याप्ति होती है और व्यतिरेक (असत्त्व) को लेकर साधारणानैकान्तिक में अव्याप्ति है। अन्वय और व्यतिरेक (सत्त्वासत्त्व दोनों) को मिलितरूप से सपक्ष-विपक्ष की साधारणता का प्रयोजक मानने पर सर्वाव्याप्ति (असम्भव) हो जाता है, क्योंकि साधारणानैकान्तिक का विपक्ष में असाधारणानैकान्तिक का और अनुपसंहारी का सपक्ष में अन्वय (सत्त्व) नहीं माना जाता।

स्यादेतत्—स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वं सपक्षविपक्षसाधारण्यं विवक्षितम्, एवं नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति। तदप्यसत्, तथा हि अस्तु तावत्सर्वपदविशेषणोपादानानुपादानपक्षोक्तदोषापातः, सर्वशब्दोपादाने धूमानुमानादौ प्रसङ्गश्च।

स्वस्वाभावविरोधशब्दार्थस्यापि एकस्यानुगतस्यासम्भवेन लक्षणानुगमाभावो

उक्ताऽव्याप्त्यसम्भवपरिहाराय प्रकारान्तरं शंकते ॐ स्यादिति ॐ। स्वशब्देनानैकान्तिकाभिमतहेतुरुच्यते स्वं च स्वाभावश्च स्वस्वाभावौ तयोर्विरोधः स्वस्वाभावविरोधस्तस्याश्रयौ स्वस्वाभावविरोधाश्रयौ ताभ्यामाश्रितौ सपक्षविपक्षौ यस्य हेतोः स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्वं अनैकान्त्यमिति शेषः। अभेदविरोधाऽऽश्रयभेदाश्रितसपक्षविपक्षत्वं सर्वानुमानसाधारणमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं स्वेत्यादिविशेषणम्। सपक्षविपक्षसारणोऽनैकान्त इत्युक्तलक्षणपरित्यागाद्धेत्वन्तरतेत्यत आह ॐ सपक्षेति ॐ। लक्षणवाक्ये कुटिलिकास्वीकारफलमाह ॐ एवमिति ॐ। भावाभावविरोधस्योभयनिष्ठत्वाद्भावाभावद्वयमपि विरोधाश्रयत्वेनैकं भवति तेन प्रत्येकमिलितविकल्पाऽनुपपत्तिर्नाव्याप्तिश्याप्तिः सद्धेत्वादौ सपक्षविपक्षयोरुक्तविरोधाश्रयाश्रितत्वाभावादित्यर्थः। स्वशब्देन व्यक्तिपरामर्शेऽव्याप्तिः सामान्यपरामर्शेऽतिव्याप्तिः धूमादेः सपक्षविपक्षाभ्यामन्यत्वेन स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वादिति दूषयति ॐ तदिति ॐ। असत्त्वमेव प्रकारान्तरेणोपपादयति ॐ तथा हीति ॐ। सपक्षविपक्षयोर्विशेषणत्वेन सर्वपदमुपादीयते, न वा? आद्ये विपक्षैकदेशगामिनं साधारणानैकान्तिकं न व्याप्नोति द्वितीये व्यतिरेकेण सपक्षविपक्षसाधारणतायाः सपक्षाव्यापके सद्धेतौ धूमविशेषादौ गतत्वेनातिव्यापकमित्यर्थः। भङ्गान्तरमाह ॐ सर्वेति ॐ। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सपक्षविपक्षगतत्वात् धूमादौ स एव प्रसङ्गः विशेषरूपेण तयोरविवक्षितत्वादित्यर्थः। प्रागुक्तमेव दोषं स्मारयित्वा दोषान्तरं दर्शयति ॐ स्वेति ॐ। असम्भवेनापीति सम्बन्धः। कथं विरोधशब्दार्थस्यैक्या-

---

शङ्का—अनैकान्तिक की सपक्षविपक्ष-साधारणता का अर्थ है—'स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितत्व' [जिन दो पदार्थों का विरोध होता हैं, वे दोनों पदार्थ विरोध के आश्रय माने जाते हैं, साधारणानैकान्तिक के भाव और अभाव के विरोध की आश्रयता भाव और अभाव—दोनों में है, अतः स्वस्वाभावविरोधाश्रयत्वरूप एक धर्म से ही दोनों का संग्रह हो जाता है, प्रत्येक का ग्रहण कर अव्यापकता दोष का भय नहीं रहता। आश्रय के भेद से आश्रयता का भेद होने के कारण मिलितरूप से भी दोनों का ग्रहण नहीं किया जा सकता। साधारणानैकान्तिक-स्थल पर कथित विरोध के आश्रयीभूत भाव की और असाधारणानैकान्तिकादि-स्थलों पर कथित विरोध के आश्रयीभूत अभाव की आश्रयता सपक्ष और विपक्ष—दोनों में विद्यमान है, फलतः अनैकान्तिक के सभी भेदों में यह सपक्षविपक्ष-साधारणता सुलभ हो जाती है, अव्याप्त्यादि की सम्भावना नहीं रहती]।

समाधान—सभी सपक्षों और विपक्षों का संग्रह करने के लिए 'सर्व' विशेषण विवक्षित है? अथवा नहीं? यदि विवक्षित है, तब विपक्षैकदेशगामी 'गौरयम्, विषाणित्वात्'—इत्यादि साधारणानैकान्तिक में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि सभी वाजिगजादि विपक्षों में न तो विषाणित्व रहता है और न विषाणित्वाभाव। ['सर्व' विशेषण की विवक्षा न होने पर 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्'—इत्यादि सद्धेतुओं में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि तप्तायःपिण्डादि सपक्षों और जलह्रदादिविपक्षों में धूमवत्त्व का व्यतिरेक समानरूप से रहता है]। सपक्षविपक्षसाधारणता में अन्वय या व्यतिरेक विशेषतः विवक्षित न होने पर 'सर्व' विशेषण का ग्रहण करने पर भी धूमादि सद् हेतुओं में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि धूमादि का कहीं अन्वय (भाव) और कहीं व्यतिरेक (अभाव) है ही।

दूसरी बात यह भी है कि हेतु के 'स्व' और 'स्वाभाव' का विरोध सर्वत्र एक अनुगत

दोषः। तत्तदभावयोर्हि विरोधः सहानवस्थानम्, अनवस्थानञ्च अवस्थानप्रतिषेधः। न च तद् भावस्य अभावस्वरूपादन्यत्। न चाभावस्याप्यनवस्थानं भावस्वरूपादन्यत्, किन्तु तदेव भावस्य स्वरूपम्। तत्र स्वस्वाभावविरोधाश्रय इत्यस्य नार्थैक्यं किञ्चिन्मृग्यमाणमवाप्यते।

स्वस्वाभावविरोधाश्रय इति वचनं विचारमर्हति। स्वस्वाभावयोर्विरोधविशेषणतया आधेयकोटिनिवेशात् विशेषणघटितमूर्तित्वाद्विशिष्टपदार्थस्य तदाधारत्वानुपपत्तेः।

अतिव्यापकता च स्यात्। अन्वयमादाय सपक्षे, व्यतिरेकमादाय विपक्षे, वर्तमानस्याप्युक्तलक्षणोपेतत्वात्। स्वस्वाभावाविशेषितस्य तु विरोधस्याश्रयेऽभिधीय-

---

सम्भव इत्यत आह ❀ तदिति ❀। हेतुतदभावयोर्विरोधः सहानवस्थानं भावाभावविरोधस्य सहानवस्थानस्याङ्गीकारादित्यर्थः। एवं च विरोध एको न सम्भवतीति दर्शनाय तत्स्वरूपं दर्शयति ❀अनवस्थेति❀। एकस्मिन्देशे काले च भावाभावयोः संसर्गोऽवस्थानं तदभावोऽनवस्थानमित्यर्थः। अस्तु ततः किमित्यत आह ❀ न चेति ❀। भावस्य तदभावेन सहानवस्थानमभावस्वरूपादन्यन्न सम्भवति यत्राभावस्तत्र भावो नास्तीत्येकार्थत्वादित्यर्थः। एवमभावस्यापीत्याह ❀ न चेति ❀। अभावस्याऽप्यनवस्थानं भावस्वरूपान्नान्यत्। किं तु भावस्वरूपमभावाभावस्य भावत्वादित्यर्थः। उपसंहरति ❀ तत्रेति ❀। स्वस्वाभावविरोधः स्वस्वाभावावेव तथा च प्रत्येकमिलितविकल्पदोष इत्यर्थः। स्वस्वाभावविरोधाश्रयत्वं स्वस्वाभावयोरभ्युपगम्यैतदुक्तन्न च तत्सम्भवतीत्याह ❀ स्वेति ❀। स्वस्वाभावविशिष्टो विरोध उत विरोधाश्रयाश्रितसपक्षत्वादिलक्षणमुत स्वस्वाभावाभ्यामुपलक्षितत्वं विरोधस्येति विकल्प्य प्रथमे दूषणमाह ❀स्वेति❀। स्वस्वाभावयोस्तदाधारत्वानुपपत्तेरसम्भव इति सम्बन्धः। तदुपपादनं ❀ विरोधेत्यादि ❀। तत्रापि हेतुर्विशेषणेति। विशिष्टपदार्थस्य विशेषणघटितमूर्त्तित्वात्स्वस्वाभावविशिष्टविरोधस्य स्वस्वाभावाश्रयत्वे स्वस्वाभावयोरंशतः स्ववृत्तिः स्यादित्यर्थः। न केवलमसम्भवोऽतिव्याप्तिरपीत्याह ❀ अतीति ❀। अतिव्याप्तिमुपपादयति ❀ अन्वयमिति ❀। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादेः सपक्षव्यापकस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वादित्यर्थः। द्वितीयं दर्शयति ❀ स्वेति ❀। अभेदविरोधा-

न होकर अननुगत ही सिद्ध होता है, क्योंकि 'विरोध शब्द का अर्थ है—सहानवस्थान। 'अनवस्थान' शब्द का अर्थ अवस्थान-प्रतिषेध होता है। इस प्रकार भाव का अभाव के साथ अनवस्थान अभावरूप एवं अभाव का भाव के साथ अनवस्थान भावरूप ठहरता है, फलतः उक्त विरोध शब्दार्थ कहीं भावरूप और कहीं अभावरूप होता है, प्रयत्न करने पर भी एक रूप सिद्ध नहीं होता, अतः उक्त विरोध से घटित लक्षण अननुगत और अव्यापक है।

इसी प्रकार 'स्वस्वाभावविरोधाश्रय'—यहाँ पर आश्रयार्थ भी विचारणीय है। यहाँ 'स्व' (हेतु) और स्वाभाव (हेत्वभाव) को विरोध का आश्रय माना जाता है, किन्तु सम्भव नहीं, क्योंकि 'स्व' और स्वाभाव—दोनों आधेयभूत विरोध के विशेषण होने से आधेय कोटि में ही प्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि स्वस्वाभाव-विशिष्ट विरोध में से विशेषणीभूत 'स्व' और 'स्वाभाव' को निकाल देने पर विशिष्ट का स्वरूप ही भङ्ग हो जाता है। फलतः विशिष्टरूप विरोध के घटकीभूत 'स्व' और स्वाभावरूप विशेषणों को आधेय ही मानना होगा, उन्हीं को उन्हीं का आश्रय मानने पर अंशतः आत्माश्रयत्व दोष प्रसक्त होता है।

सद्धेतुओं में उक्त लक्षण अतिव्याप्त भी है, क्योंकि स्व और स्वाभाव के विरोध की आश्रयता विरोध के विशेषणीभूत स्व और स्वाभाव में है, सभी धूमादि सद् हेतुओं का भाव सपक्ष में एवं अभाव विपक्ष में सहज-सिद्ध है। स्व और स्वाभाव को विरोध का विशेषण न

माने सर्वानुमानव्यापकत्वमनैकान्तिकलक्षणस्याऽऽपतेत् ।

न च वाच्यं स्वस्वाभावोपलक्षितो विरोधोऽभिमतः, तेन विशेषणपक्षोक्तदोषस्य नावकाश इति, यतः स्वस्वाभावाभ्यां विरोधमात्रं वा लक्ष्यते तद्व्यक्तिर्वा काचित् ? आद्ये यदेव स्वस्वाभावाभ्यां लक्षितं विरोधमात्रं तदेवान्यदपीति उक्तातिव्याप्तिस्तदवस्थैव, स्वस्वाभावपदोपादानवैयर्थ्यं च । अथ द्वितीयस्तदा लक्षणस्याननुगमः, एकस्य विरोधव्यक्तिविशेषस्यात्र परिगृहीतस्यापरविरोधव्यक्त्यनात्मत्वात् ।

अथ यावत्योऽपेक्षिता विरोधव्यक्तयस्ता उपलक्ष्यन्त इत्युच्यते, किन्नोपलक्ष्यन्ते, किन्तु किं केनचिदनुगतेन रूपेण, उत प्रतिस्वं व्यावृत्तेनाऽऽत्मना ? प्रथमे

श्रयभेदाश्रितसपक्षविपक्षत्वं सर्वानुमानसाधारणमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । स्वस्वाभावाविशेषितस्य विरोधस्य सर्वानुमानव्यापकत्वमिति सम्बन्धः ।

स्वस्वाभावाभ्यामुपलक्षितत्वं विरोधस्याऽभिप्रेयते तेन विशेषणपक्षोक्तस्ववृत्तिदोषो नेति तृतीयकल्पमाशंक्याह ॐ न चेति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ यत इति ॐ । यत इत्यस्य विरोधव्यक्त्यनात्मत्वादित्यनेनोपरि सम्बन्धः । हेतूपपादनाय विकल्पयति ॐ स्वेति ॐ । अविवक्षितविशेषं विरोधसामान्यमुपलक्ष्यते किं वा विरोधव्यक्तिरेव काचिदित्यर्थः । कस्मिन्सति किं स्यादित्यत आह ॐ आद्य इति ॐ । विरोधमात्रस्योपलक्षितस्य लक्षणनिविष्टत्वात्तस्य चैक्यादन्यत्र धूमानुमानादावपि विरोधाश्रयभेदाश्रितसपक्षविपक्षगतत्वेनोक्तातिव्याप्तिरित्यर्थः । अव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहारफलत्वाभावात्स्वेत्यादिविशेषणस्य विशेषणासिद्धं च लक्षणमित्याह ॐ स्वेति ॐ । द्वितीयं दूषयति ॐ अथेति ॐ । अननुगमे हेतुमाह ॐ एकेति ॐ । एकैव तावद्विरोधव्यक्तिर्लक्ष्यते तस्याः साधारणगतत्वेऽसाधारणानैकान्तिकाव्याप्तिस्तद्गतत्वे चेतरात्र्याप्तिरित्यर्थः । विरोधमात्रं नोपलक्ष्यते नाप्येकैव विरोधव्यक्तिः किं तु साधारणासाधारणकृत्स्नानैकान्तिकोदाहरणेषु यावत्यो विरोधव्यक्तयोऽपेक्ष्यन्ते तावत्यः स्वस्वाभावाभ्यामुपलक्ष्यन्तेऽतो नोक्तदोष इति शङ्कते ॐअथेतिॐ । अङ्गीकरोति ॐ किमिति ॐ । उपलक्ष्यन्त एवेति शेषः । विवक्षितं दोषं दर्शयितुं विकल्पयति ॐ किं त्वित्यादिना ॐ । अपेक्षिता व्यक्तयः केनचिदनुगतरूपेण सङ्गृहीता लक्ष्यन्त इति प्रथममपाकरोति

मानने पर तो उक्त लक्षण सभी अनुमानों (अनुमिति के हेतुओं) में व्याप्त हो जाता है, क्योंकि सामान्य विरोध के द्वारा भेदाभेद का विरोध भी लिया जा सकता है, उस विरोध के आश्रयीभूत भेद की आश्रयता सभी हेतुओं के सपक्षों और विपक्षों में सुलभ होती है ।

शङ्का—'स्व' और 'स्वाभाव' को विरोध का विशेषण न बनाकर उपलक्षण बनाने पर विशेषण-पक्ष के कथित आत्माश्रयादि दोष नहीं रहते, क्योंकि उपलक्षणीभूत पदार्थ उपलक्ष्यात्मक विरोधगत आधेयता कोटि में न आकर ही उसका परिचायक होता है, अतः वह विरोध का आश्रय निर्विवादरूप से बन जाता है ।

समाधान—'स्व' और 'स्वाभाव' के द्वारा विरोधत्वेन विरोध सामान्य उपलक्षित है ? अथवा विरोध विशेष (कोई एक विरोध व्यक्ति) ? प्रथम कल्प के अनुसार धूमादि सद् हेतुओं में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि धूम और धूमाभाव का विरोध भी विरोध है, अतः उसके आश्रयीभूत धूम और धूमाभाव क्रमशः अपने सपक्ष और विपक्ष में रहते ही हैं । विरोधमात्र का उपलक्षण करने पर 'विरोध'—इतना मात्र कहना पर्याप्त है, उपलक्षकीभूत 'स्व' और 'स्वाभाव' की कोई आवश्यकता भी नहीं रह जाती । द्वितीय कल्प अननुगमता का आपादक है, क्योंकि परिगृहीत एक 'विरोध' व्यक्ति से दूसरी 'विरोध' व्यक्ति संगृहीत नहीं हो सकती ।

यदि कहा जाय कि जितनी भी 'विरोध' व्यक्तियाँ अपेक्षित होती हैं, उन सब का उपलक्षण करने पर अननुगम दोष नहीं आता । तब यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अनेक व्यक्तियों की उपस्थिति किसी अनुगत धर्म के द्वारा होती है ? अथवा पृथक्शः एक-एक व्यक्ति

तदेवोच्यतां किमुपलक्षणोपन्यासप्रयासेन । न च तत्सम्भवति विरोधमात्रस्यातिप्रसञ्जकत्वात् । प्रतिस्वं व्यावृत्तेन व्यक्तीनामात्मनोपलक्ष्यत्वे तथैव तासां लक्षणप्रवेश इति मिलितानां लक्षणत्वे सर्वाव्याप्तिः, प्रत्येकं लक्षणत्वे परस्परोदाहरणाव्याप्तिः ।

स्यादेतत्—सपक्ष एव विपक्ष एव वर्तते न यः, सोऽनैकान्तिक इति लक्षणमस्तु । तेन साधारणासाधारणानैकान्तिकोदाहरणव्याप्तिर्भवतीति । एतदप्यलक्षणम्, सद्धेतौ

ॐ प्रथमे इति ॐ । तस्यैवोपसङ्ग्राहकरूपस्याव्याप्त्यादिपरिहारेणानैकान्तिकव्यवस्थापकत्वसम्भवादुपजीव्यत्वाल्लाघवाच्च तदेव लक्षणमास्तामुपलक्षणादिप्रयासो व्यर्थ इत्यर्थः । अस्तु तर्हि तदेव लक्षणमित्यत आह ॐ न चेति ॐ । असम्भवे हेतुमाह ॐ विरोधेति ॐ । विरोधमात्रस्यातिप्रसञ्जकत्वात्स्वस्वाभावविरोधाभिधानेऽप्यभिहितदोषानिस्तार इत्यर्थः । द्वितीयमपवदति ॐ प्रतीति ॐ । व्यक्तीनां प्रतिस्वं व्यावृत्तत्वेनाऽऽत्मनोपलक्ष्यत्वे तेनैवाकारेण लक्षणप्रवेशे स्वीकार्ये सति मिलितानां लक्षणत्वं प्रत्येकं वाऽऽद्येऽसम्भवो द्वितीयेऽव्याप्तिरित्यर्थः ।

अनेकान्तिकस्य लक्षणान्तरं शङ्कते ॐ स्यादेतदिति ॐ । साधारणाऽनैकान्तिकः सपक्ष एव न वर्तते विपक्षेऽपि वर्तमानत्वाद्विपक्ष एव च न वर्तते सपक्षेऽपि वर्तमानत्वादसाधारणस्य सर्वथा सपक्षविपक्षवृत्त्यभावादेव सपक्ष एव न वर्त्तते इति लक्षणं तुल्यं लक्ष्यावान्तरवैजात्यमात्रम् । सपक्षे यो न वर्त्तते सोऽनैकान्त इत्युक्ते सपक्षैकदेशवृत्तौ सद्धेतावतिव्याप्तिस्तन्निरासाय विशेषणमेवेति । सपक्ष एव न वर्त्तते योऽसावनैकान्तिक इत्युक्ते विरुद्धेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासाय विपक्ष इत्युक्तम् । तथाऽपि विपक्षैकदेशवृत्तिविरुद्धेऽतिव्याप्तिपरिहारार्थमेवेति विशेषणम् । तेन लक्षणेन किं लभ्यत इत्यत आह ॐ तेनेति ॐ । सपक्ष एव विपक्ष एव वर्त्तते न य इति वाक्यस्योभयत्रापि योजयितुं शक्यत्वादित्यर्थः । केवलव्यतिरेकिहेतावतिव्यापकमित्यभिसन्धाय दूषयति ॐ एतदिति ॐ । अतिव्याप्त्यन्तरमाह ॐ सदिति ॐ । अन्वय-

---

की ? प्रथम विकल्प के अनुसार उसी एक अनुगमक धर्म का ग्रहण ही पर्याप्त होता है, 'स्व और 'स्वाभाव' को उपलक्षक मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । विरोध मात्र का उपलक्षण सम्भव भी नहीं, क्योंकि सद् हेतुस्थलीय विरोध को लेकर अभी अतिप्रसङ्ग दिखाया जा चुका है । अनन्त विरोध व्यक्तियों का एक-एक करके लक्षण में प्रवेश मानने पर मिलित विरोध का लक्षण में समावेश होता है ? या प्रत्येक का ? प्रथम कल्प में असम्भव और दूसरे में अव्यापकता दोष आ जाता है—यह कहा चुका है ।

(२) सपक्षे एव विपक्षे एव वर्तते न यः, सोऽनैकान्तिकः—

शङ्का—[साधारणानैकान्तिक हेतु न तो केवल सपक्ष में रहता है और न केवल विपक्ष में, क्योंकि वह विपक्ष में भी रहता है और सपक्ष में भी, असाधारणानैकान्तिक भी केवल सपक्ष और विपक्ष में नहीं रहता एवं अनुपसंहारी का कोई सपक्ष और विपक्ष होता ही नहीं, अतः वह भी केवल सपक्ष-विपक्षगामी नहीं, अतः] सपक्ष विपक्षमात्रावृत्तिरनैकान्तिकः ऐसा लक्षण करने पर साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी—इन तीनों अनैकान्तिकों का संग्रह हो जाता है [श्री उदयनाचार्य भी भाष्य, वार्तिक और टीका का तात्पर्य परिशुद्ध करते हुए कहते हैं—"एकस्मिन् अन्ते यो नियतः, तद्विपर्ययादनैकान्तिको साध्येनैव सहितो न दृष्टः, उभयपक्षगामित्वात् । एतेन साधारणासाधारणानुपसंहार्याः संगृहीताः" (ता. परि. पृ. ६४६)] ।

समाधान—यह लक्षण भी सल्लक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धूमादि सद् हेतुओं में अतिव्याप्त है, अर्थात् धूम हेतु सर्वथा विपक्षावृत्ति होने के कारण केवल विपक्षवृत्ति नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार धूम हेतु के लिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'सपक्षे एव

धूमादावपि गतत्वात् । न ह्यसौ विपक्ष एव वर्तते, सर्वथा तत्रावृत्तेः । नापि सपक्ष एव, पक्षेऽपि वर्तमानत्वात् ।

अथ पक्षवृत्तिरिति विशेषयसि, तथापि सद्धेतोरपरित्यागः, पक्षवृत्तित्वादेव सपक्ष एव वृत्तेरभावाद्, असिद्धानैकान्तिकसङ्कराव्याप्तिश्च ।

अथ पक्षव्यतिरिक्त इति विशेषणं प्रक्षिपसि, तदानीमप्रसक्तव्यावर्तनमनुपपन्नम् ।

व्यतिरेकिणि धूमादिहेतावतिव्याप्तिमुपपादयति ❀ न हीति ❀ । सद्धेतोर्विपक्षमात्रावच्छिन्नवृत्त्यभावे हेतुमाह ❀ सर्वथेति ❀ । लक्षणांशान्तरं सम्भावयति ❀ नापीति ❀ । वर्त्तते इत्यनुषङ्गः । तत्रापि हेतुः पक्ष इति । सद्धेतावतिव्याप्तिपरिहाराय लक्षणं विशिनष्टि ❀ अथेति ❀ । सपक्षविपक्षवृत्तिमात्रशून्योऽनेकान्त इति लक्षणस्य न सद्धेतावतिव्याप्तिः पक्षवृत्तेः सतः सपक्ष एव वर्त्तते नेत्यादिनिषेधे विपक्षवृत्त्याविकमादाय योजनीयत्वादित्यर्थः । असमर्थमिदं विशेषणमिति परिहरति ❀ तथाऽपीति ❀ । पक्षवृत्तित्वविशिष्टस्य सद्धेतोः सपक्ष एव न वर्त्तते इति लक्षणांशो नास्ति पक्षवृत्तित्वविशिष्टस्य पक्षे न वर्त्तनादित्यत आह ❀ पक्षेति ❀ । पक्षे न वर्ततेऽथ चापक्षवृत्तित्वविशिष्ट इति व्याघातात्पक्षे वृत्तिराश्रयणीया, तथा चातिव्याप्तितादवस्थ्यम् । न चैवमंशतः स्ववृत्त्यापात इति वचनीयम्, वृत्तिभेदोपादानेन तत्परिहारात्पक्षावृत्तित्वधर्मवतः पक्षवृत्तिधर्मिसम्बन्धोपगमे विरोधाच्चेति भावः । न केवलमतिव्याप्तिरव्याप्तिरपीत्याह ❀ असिद्धेति ❀ । रूपरसावनित्यौ चाक्षुषत्वादित्याद्यसिद्धानैकान्तिकसङ्करस्तदव्याप्तिस्तस्य पक्षैकदेशे वृत्त्यभावादेवं स्वरूपासिद्धावनैकान्तिकसङ्कीर्णोदाहरणं द्रष्टव्यम् । कथितातिव्याप्त्यव्याप्तिपरिजिहीर्षया लक्षणम् विशिनष्टि ❀ अथेति ❀ । पक्षव्यतिरिक्ते सपक्ष एव विपक्ष एव वर्तते न यः सोऽनैकान्तिक इति लक्षणम्, न चैवं सद्धेतावतिव्याप्तिः पक्षव्यतिरिक्ते सपक्ष एव वृत्तिनिषेधे विपक्षवृत्तिमादाय तथात्वासम्भवाच्च नापि विरुद्धे, पक्षव्यतिरिक्तविपक्षमात्रवृत्तिनिषेधस्य सपक्षवृत्तिपर्यवसायित्वान्न चाऽसिद्धानैकान्तसङ्कराव्याप्तिः पक्षव्यतिरिक्ते सपक्ष एवेत्यादिलक्षणभावादिति भावः । पक्षव्यतिरिक्त इत्येतरसपक्ष-

---

वर्तते', क्योंकि वह पक्ष में भी रहता है ।

शङ्का—उक्त लक्षण में पक्षवृत्तिः' यह विशेषण जोड़ देना चाहिए, अतः सम्पूर्ण लक्षण इस प्रकार सम्पन्न होता है—"यः पक्षवृत्तित्वे सति सपक्ष एव विपक्ष एव न वर्तते, सोऽनैकान्तिकः ।" यह लक्षण धूमादि सद्हेतुओं में अतिव्याप्त नहीं होता, क्योंकि 'पक्षवृत्तित्वविशिष्टः धूमः पक्षे वर्तते'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, अन्यथा आंशिक आत्माश्रयता होती है। फलतः ऐसे धूम के लिए 'सपक्ष एव वर्तते'—ऐसा नियम किया जा सकता है, उसका निषेध नहीं ।

समाधान—तथापि धूमादि सद्धेतुओं से अतिव्याप्ति नहीं हटाई जा सकती है, क्योंकि जब 'पक्षवृत्ति'—इस विशेषण के द्वारा उनमें पक्षवृत्तित्व प्रतिपादित होता है, तब उनमें सपक्षमात्रवृत्तित्व का अभिधान नहीं किया जा सकता, यह लक्षण केवल अतिव्याप्त ही नहीं, अव्याप्त भी है, क्योंकि जहाँ असिद्ध और अनैकान्तिक का साङ्कर्य है, ऐसे 'रूपरसौ अनित्यौ चाक्षुषत्वात्'—इत्यादि स्थलों पर पक्ष के एकदेशभूत 'रस' में चाक्षुषत्व वृत्ति न होने से 'पक्षवृत्तित्व' विशेषण से युक्त नहीं ।

शङ्का—'पक्षव्यतिरिक्ते सपक्षे एव विपक्षे एव वर्तते न यः, सोऽनैकान्तिकः'—ऐसा लक्षण करने पर कोई दोष नहीं रहता, क्योंकि 'पक्षव्यतिरिक्ते सपक्षे एव वर्तते'—ऐसा नियम धूमादि सद्धेतुओं में अक्षुण्ण है, उस का निषेध उनमें नहीं किया जा सकता कि उनमें अतिव्याप्ति होती ।

समाधान—'पक्षव्यतिरिक्तत्व' विशेषण के द्वारा पक्षात्मक सपक्ष और पक्षात्मक विपक्ष की ही व्यावृत्ति की जा सकती है, किन्तु कहीं पर भी पक्षात्मक सपक्ष और विपक्ष प्रसक्त ही

न हि पक्षाव्यतिरिक्तः सपक्षो विपक्षो वा सम्भवतीति सपक्षस्य विपक्षस्य च कुतश्चिद्व्यावर्तकं विशेषणमेवेदं तयोः कथं घटेत ?

अथ पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमान इति विशेषयसि, तदानीमसाधारणाव्याप्तिः, नासौ पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानः।

अथ पक्षव्यतिरेकेणेति विशेषणमुपादत्से, तदाऽपि पक्षव्यतिरेकस्य पक्षविरहरूपस्योपलक्षणत्वं हेतुत्वं वा द्वयमपि पक्षमात्रवृत्तावसाधारणानैकान्तिके न सम्भवति, पक्षविरहस्य तत्रासम्भवादेव। निषेध्यविशेषणत्वे त्वस्य सद्धेतौ गमनं स्यात्। एतेन

विपक्षयोर्विशेषणमुत हेतोरिति विकल्प्य प्रथममपाकरोति ॥ तदानीमिति ॥। विशेषणं विशेष्यं कुतश्चिद्व्यावर्त्तयदेव भवति व्यावृत्तिश्चान्यप्रसक्तौ तथा च पक्षव्यतिरिक्तत्वविशेषणं पक्षव्यतिरिक्तसपक्षादिव्यावर्तयदप्रसक्तव्यावर्तकं स्यादित्यर्थः। पक्षव्यतिरिक्तत्वविशेषणस्याप्रसक्तव्यावर्तकत्वे हेतुमाह ॥ न हीति ॥। साध्यसमानधर्मत्वतद्विपरीतधर्मत्वयोस्तल्लक्षणत्वादित्यर्थः। मा भूत्पक्षाव्यतिरिक्तसपक्षादिव्यावर्तकमथ च विशेषणम्भवत्येवेत्यत आह ॥सपक्षेति॥। "सम्भवे व्यभिचारे च स्यात् विशेषणमर्थव"-दितिन्यायादित्यर्थः।

हेतुविशेषणमिदमिति द्वितीयकल्पं शङ्कते ॥ अथेति ॥। पक्षव्यतिरेके वर्तमानः सपक्ष एव विपक्ष एव वर्तते न यः सोऽनैकान्त इति लक्षणं न चैवमप्रसक्तव्यावर्तनं सद्धेतौ तथाभूतवृत्तेः प्राप्तायाः प्रतिषेधादित्यर्थः। अतिव्याप्त्यभावेऽप्यव्याप्तिरिति दूषयति ॥ तदेति ॥। अव्याप्तिमेवोपपादयति ॥ नासाविति ॥। नित्या भूर्गन्धवत्त्वादित्यसाधारणः सपक्षमात्रवृत्तित्वात्पक्षव्यतिरेके न वर्तते इत्यतिव्याप्तिरिति यावत्। उक्तदोषपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते ॥ अथेति ॥। सपक्ष एव विपक्ष एव वर्तते न य इति लक्षणं सद्धेतौ यद्यप्यस्ति तथाऽपि पक्षव्यतिरेकेणावच्छिन्नविशेषणाभावान्नातिव्याप्तिर्नाप्यव्याप्तिः पक्षमात्रवृत्तेरसाधारणस्य पक्षव्यतिरेकेणान्यत्रावर्तनादेवोक्तलक्षणसम्भवादित्याशङ्काकृतोऽभिमानः। पक्षव्यतिरेको हेतुविशेषणमुत निषेध्यवृत्तिविशेषणमिति विकल्प्य यद्याद्यस्तदाऽपि व्यतिरेकेणेति तृतीया किमित्थम्भूतलक्षणा, उत हेताविति विकल्पयति ॥ तदेति ॥। किञ्चात इत्यत आह ॥द्वयमिति॥। असम्भवे हेतुमाह ॥ पक्षेति ॥। यदा तृतीयेत्थम्भावलक्षणा तदा पक्षव्यतिरेकेण लक्षित इत्यर्थः स्यात्तदा हेतौ तदा पक्षव्यतिरेकेण निष्पन्न इति तदुभयमपि न सम्भवति पक्षमात्रवृत्तावसाधारणे पक्षव्यतिरेकस्यैवासम्भवादिति भावः। द्वितीयं कल्पं शङ्कते ॥ निषेध्येति ॥। सपक्ष एव विपक्ष एव या वृत्तिर्हेतो-

नहीं श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—"न हि पक्षे सपक्षता' (श्लो० वा० पृ० ९८)। फलतः पक्षव्यतिरिक्तत्वविशेषण अप्रसक्तार्थ का निवर्तक होने के कारण व्यर्थ है।

यदि पक्षव्यतिरिक्तत्व विशेषण सपक्षादि का न रख कर हेतु का मान कर 'पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानः सपक्ष एव विपक्ष एव वर्तते न यः, सोऽनैकान्तिकः'—ऐसा लक्षण किया जाता है, तब असाधारणानैकान्तिक में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि वह पक्ष-व्यतिरिक्त स्थल पर रहता ही नहीं।

शङ्का—उक्त अव्याप्त्यादि का निवारण करने के लिए 'पक्षव्यतिरेकेणोपपन्नः सपक्ष एव विपक्ष एव वर्तते न यः, सोऽनैकान्तकः'—ऐसा लक्षण विवक्षित है। असाधारणानैकान्तिक पक्षव्यतिरेकेण अन्यत्र अवर्तमान है, अतः उसमें अव्याप्ति नहीं होती और धूमादि सद् हेतु में भी पक्षव्यतिरेकेण उपपन्नता न होने के कारण अतिव्याप्ति नहीं होती।

समाधान—पक्षव्यतिरेक का अर्थ होता है—पक्ष-विरह। पक्षव्यतिरेकपदोत्तर तृतीया विभक्ति का अर्थ उपलक्षणत्व हो, या हेतुत्व, अथवा दोनों, सर्वथा असाधारणानैकान्तिक में अव्याप्ति होती है, क्योंकि वह न तो पक्ष-विरह से उपलक्षित है, न जनित। यदि 'सपक्ष एव विपक्ष एव वर्तते न यः'—यहाँ निषिध्यमान वृत्तिता का 'पक्षव्यतिरेकेण' विशेषण रखा जाता

पक्षं विना पक्षमन्तरेणेत्याद्यक्षरैर्विशेषाभिधानमपास्तम् ।

अथ यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते तदा सपक्ष एव विपक्ष एव न वर्तते यः सोऽनैकान्तिकः, तथा सत्यसाधारणस्यापि व्याप्तिः, सद्धेतौ चाप्रसक्तिरिति मन्यसे, तदा भ्रान्तोऽसितराम् । एवं सति नोभयस्यापि सङ्ग्रहः ।

असाधारणे तावद्यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तत इत्येतन्न सम्भवति, तस्य पक्षमात्रवृत्तेः कदाचिदपि पक्षव्यतिरिक्तवृत्तिसम्भावनानुपपत्तेः ।

साधारणेऽपि निश्चितसपक्षविपक्षवृत्तौ यद्यर्थं न पश्यामो यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तत इति । न हि निश्चितवृक्षभावायां शिंशपायां प्रयुज्यते 'यदि शिंशपा वृक्षः

निषेध्या सा पक्षव्यतिरेकेण विशिष्टैव निषिद्धयतेऽतो विशिष्टनिषेधे विशेषणपक्षव्यतिरेकस्यापि निषेधात्पक्षे वृत्तिः सिद्धयतीति नाऽसाधारणाऽव्याप्तिरित्याशयः । निषेध्यविशेषणत्वे तस्य को दोष इत्यध्याहारः । दोषं भाषते ❀ सदिति ❀ । सद्धेतौ धूमादौ पक्षविरहावच्छिन्नसपक्षमात्रवृत्तिर्नास्ति पक्षेऽपि वर्त्तनाद्विपक्षमात्रे च न सर्वथा तत्रावृत्तेरित्यतिव्याप्तिः केवलव्यतिरेकिणि चेति द्रष्टव्यम् ।

उक्तन्यायमन्यत्राविशति ❀ एतेनेति ❀ । विनाऽन्तरेण विहायेत्यादिपदानां व्यतिरेकेणेत्यस्मादनर्थान्तरत्वादित्यर्थः । पक्षव्यतिरेके वर्त्तमानः सपक्ष एव विपक्ष एव वर्त्तते न यः सोऽनैकान्त इति लक्षणस्यासाधारणेऽव्याप्तिमुक्तां परिहर्तुं विशेषणान्तरं शङ्कते ❀ अथेति ❀ । यदीति विशेषणेन किं लभ्यत इत्यत आह ❀ तथा सतीति ❀ । यदि-शब्दः पाक्षिकत्वं द्योतयति तेन यदि पक्षातिरिक्ते सपक्ष एव विपक्ष एव वर्त्तते न यः सोऽनैकान्तिक इति लक्षणं नाव्यापकं पक्षस्य साधारणस्य सपक्षे विपक्षे च वर्त्तनाभावेऽपि यदि पक्षातिरिक्ते वर्त्तते इति पक्षातिरिक्तवृत्तित्वस्य पाक्षिकत्वकथनात्तदभावेऽपि व्याप्त्युपपत्तेरित्याशयः । एवमव्याप्तिं परिहृत्यातिव्याप्तिं परिहरति ❀ सदिति ❀ । यदि पक्षातिरिक्ते वर्तते सद्धेतुस्तदा सपक्षमात्रे न वर्तते पक्षेऽपि वर्त्तनादिति नातिव्याप्तिरित्यर्थः । वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमिति कष्टां दशामापन्न इत्युपहसन्परिहरसि ❀ तदेति ❀ । अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययाभावात्कथं भ्रान्तत्वमित्यत आह ❀ एवं सतीति ❀ । उभयाव्यापकस्योभयव्यापकत्वाभिमानादित्यर्थः । प्रतिज्ञामात्रे नेष्टसिद्धिर्विपरीतस्यापि सुप्रतिज्ञत्वादित्यतस्तदुपपादयति ❀ असाधारणेति ❀ । तदेव वा कुत इत्यत आह ❀ तस्येति ❀ । यदि शब्देन पक्षव्यतिरिक्ते पाक्षिकी वृत्तिरुच्यते साऽसाधारणे न सम्भवति पक्षव्यतिरिक्ते वृत्त्यभावस्य निश्चितत्वादित्यर्थः । असाधारणाव्याप्तावपि साधारणानैकान्तं व्याप्नोत्येवेत्यत आह ❀ साधारणेऽपीति ❀ । यद्यर्थं यदिशब्दार्थं । पाक्षिकत्ववृत्तेरित्यर्थः । निश्चिततथाभावे यद्यर्थासम्भवं दृष्टान्तेनोपपादयति ❀ न हि

है, तब यद्यपि असाधारणानैकान्तिक में अव्याप्ति नहीं होती, तथापि धूमादि सद् हेतु में अतिव्याप्ति होती ही है, क्योंकि धूमादि की वृत्तिता पक्षव्यतिरेक-विशिष्ट नहीं मानी जाती। इन्हीं दोषों से 'पक्षं विना' या 'पक्षमन्तरेण'—इत्यादि विशेषणों का निराकरण हो जाता है।

शङ्का—'यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते, तदा सपक्ष एव विपक्ष एव न वर्तते यः सोऽनैकान्तिकः'—ऐसा लक्षण करने पर कोई दोष नहीं रहता, क्योंकि असाधारणानैकान्तिक के लिए यदि पक्षव्यरिक्ते वर्तते'—इतना ही नहीं कहा जा सकता और धूमादि सद् हेतु के लिए 'यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते'—इतना कहा जा सकता है, किन्तु 'सपक्ष एव न वर्तते'—ऐसा निषेध नहीं किया जा सकता।

समाधान—'उक्त लक्षण न तो असाधारणानैकान्तिक में अव्याप्त है और न धूमादि सद् हेतु में अतिव्याप्त'—यह आप (लक्षणवादी) का निरा भ्रम है, क्योंकि जब असाधारणानैकान्तिक के लिये यह निश्चित है कि वह पक्ष से भिन्न स्थल पर नहीं रहता, तब उसके लिये पाक्षिकी वृत्तिता का सूचक 'यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते'—ऐसा प्रयोग ही क्योंकर कर सकेंगे ? इसी प्रकार साधारणानैकान्तिक के लिये भी 'यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते'—ऐसा प्रयोग नहीं कर

स्यादि'ति। तत्कस्य हेतोः ? संशयोपस्थापितात् कोटिद्वयादेकस्यां कोटौ तदाश्रये किञ्चिद्धर्मोपदर्शनार्थमारोप्यमाणायां यदीति प्रयुज्यते, न तु निश्चित एव वस्तुनि। तस्मादसाधारणानैकान्तिकसङ्ग्रहाय यदीत्याद्युपात्तं तन्न साधारणमपि समग्रहीत्।

अथ विपक्ष एव सपक्ष एव न वर्तते यो हेत्वाभासः सोऽनैकान्तिक इति मन्यसे। तदप्यनुपपन्नम् अनैकान्तिकत्वमनिश्चित्याग्रत एव हेत्वाभासत्वावधारणे तत एव हेतोरसाधकत्वं सिद्धमिति कृतं तदुपजीविनाऽनैकान्तिकत्वोपन्यासेन। अथाग्रे हेत्वाभासत्वं नावधार्यते, तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वम्, विशेषणस्य हेत्वाभासत्वस्यानवधारणात्।

अथ ब्रूषे—असिद्धविरुद्धप्रकरणसमकालात्ययापदिष्टादन्यो हेत्वाभासोऽनैका-

---

इति ❀। निश्चितो वृक्षभावो वृक्षत्वं यस्यास्तस्यामित्यर्थः। तत्रापि यदि शब्दाप्रयोगस्तथाभावनिश्चयादुत कारणान्तरादिति कथं निर्णेतुं शक्यं येन दृष्टान्तत्वेन तदुपन्यास इति पृच्छति ❀ तदिति ❀। तथाभावनिश्चये सति यदिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तासम्भवादेव तदप्रयोग इति निर्णेतुं शक्यमिति परिहरति ❀ संशयेति ❀। संशयोपस्थापितकोटिद्वयादेकस्यां कोटावारोप्यमाणायां यदीति प्रयुज्यते न तु निश्चित एव वस्तुनि, तस्यां कोटौ यदिशब्दप्रयोगः किमित्यत आह ❀ तदिति ❀। यद्ययं पुरुषः स्यात्तर्हि शिरःपाण्यादि स्याद्यदि स्थाणुस्तदा वक्रकोटरादि भवेदिति तदाश्रितधर्मप्रदर्शनार्थमिति यावत्। निश्चितासाधारणाकारे वस्तुनि संशयोपस्थापितानेककोटिभ्यो निर्द्धार्यमाणैककोटयभावेन तदाश्रयकिञ्चिद्धर्मोपदर्शनाभावेन प्रयोगासम्भवादित्यर्थः। तस्माद्यदीतिविशेषणमुपाददानो भ्रान्तोऽसितरामित्युपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। न समग्रहीत्—न व्याप्तवदित्यर्थः।

सद्धेतावतिव्याप्तिपरिहारमात्रप्रयोजनतया प्रकारान्तरेण लक्षणमुत्थापयति ❀ अथेति ❀। सोऽयं बकबन्ध इवेति परिहरति ❀ तदिति ❀: एतल्लक्षणबलादनैकान्तिकत्वसिद्धेरग्रे हेत्वाभासत्वं निरधारि न वेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ अनैकान्तिकेति ❀। द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀। असम्भवेन तदपाकरोति ❀ तदेति ❀। अनैकान्तिकत्वनिश्चयादग्रे हेत्वाभासत्वानवधारणे कुतो लक्षणानवधारणकिमत्यत आह ❀ विशेषणेति ❀। विशिष्टसिद्धेर्विशेषणसिद्ध्यधीनत्वाद्धेत्वाभासत्वस्य च लक्षणविशेषणत्वादित्यर्थः।

सजातीयविजातीयाभासानाभासव्यावृत्यर्थं लक्षणान्तरमनैकान्तस्य शङ्कते ❀ अथेति ❀। कृत्यं

सकते, क्योंकि उसका पक्ष-व्यतिरिक्त स्थल पर रहना निश्चित है। 'वृक्षत्व' धर्म जिसमें निश्चित है, ऐसे शिंशपा (शीशम) नाम के वृक्ष के लिये 'यदि शिंशपा वृक्षः स्यात्'—ऐसा प्रयोग कभी नहीं होता, क्योंकि जहाँ संशय उपस्थित होता है, वहाँ ही संशय-घटक दो कोटियों में से एक कोटि में किसी मनोनीत धर्म का आरोप करने के लिये 'यदि' शब्द का प्रयोग होता है, निश्चित वस्तु के लिये 'यदि' का प्रयोग नहीं होता, अतः जब साधारणानैकान्तिक का पक्ष-व्यतिरिक्त स्थल पर रहना निश्चित है, तब 'यदि' का प्रयोग वहाँ क्यों होगा ? फलतः असाधारणानैकान्तिक का संग्रह करने के लिये जो 'यदि' का प्रयोग किया गया है, वह साधारणानैकान्तिक का भी संग्राहक नहीं हो सका।

शङ्का—'विपक्ष एव सपक्ष एव न वर्तते यो हेत्वाभासः, सोऽनैकान्तिकः'—ऐसा लक्षण करने पर सद्धेतु में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह हेत्वाभास नहीं होता।

समाधान—सनैकान्तिकत्व की सिद्धि से पहले हेत्वाभासत्व का निश्चय है ? अथवा नहीं ? हेतु में यदि पहले ही हेत्वाभासत्व अवधारित है, तब उतने मात्र से हेतु में साध्यासाधकत्व स्थिर हो जाता है, अनैकान्तिकत्व की सिद्धि आवश्यक नहीं रह जाती। यदि हेत्वाभासत्व पहले से निश्चित नहीं, तब हेत्वाभासत्वरूप विशेषण से घटित उक्त लक्षण की सिद्धि कभी नहीं हो सकती।

न्तिक इति, तदप्युक्तन्यायेनैव निरस्तम्। किञ्च – एवमसिद्धयादिसङ्कीर्णस्य अनैकान्तिकस्य न सङ्ग्रहः स्यात्। न च तदसिद्धादित्वादेव अहेतुर्भविष्यतीति वाच्यम्, इतरानैकान्तिकवद् विपक्षगतत्वादिना उद्भावने दोषत्वसम्भवात्।

अथ मन्यसे—साधारणत्वासाधारणत्वयोर्व्यतिरेकाभ्यां मिलिताभ्यां विशिष्टा-

---

न्यत्वम्। अनेकान्तिकत्वनिश्चयात्प्राक् हेत्वाभासत्वनिर्णये तत एवासाधकत्वसिद्धेरनेकान्तोपन्यासो व्यर्थोऽसवधारणे विशिष्टलक्षणासिद्धिरित्युक्तन्यायेन निरस्तमित्याह ❀ तदिति ❀। अव्यापकं चेदं लक्षणमित्याह ❀ किं चेति ❀। अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादित्यसिद्धसङ्कीर्णोऽनेकान्तो न सम्भवति, पृथिवी न रूपवती भूतत्वादिति कालात्ययापदिष्टसङ्कीर्णः साधारणोऽनेकान्तः, पृथिवी न रूपवती गन्धवत्त्वादिति तत्सङ्कीर्णोऽसाधारणः, आकाशमनित्यं प्रमेयत्वादित्येतदाकाशं नित्यं विभुत्वादात्मवदित्यनेन सत्प्रतिपक्षसङ्कीर्णानेकान्तः, तदेतदनेकान्तकुलं नेतल्लक्षणं व्याप्नोत्यसिद्धादिसङ्कीर्णमसिद्धादित्वादेव हेत्वाभासो नानेकान्तिकत्वादतो नाव्याप्तिरित्यत आह ❀ न चेति ❀। पक्षधर्मत्वव्याप्तत्वप्रमितिविरहादात्मनोद्भाव्यमानस्य दोषत्वसम्भवे कस्मान्नासिद्धतादिरित्यत आह ❀ इतरेति ❀। असङ्कीर्णानेकान्तेषु विपक्षगतत्वेन पक्षमात्रवृत्तित्वेन चोद्भावने यथा दोषत्वं तथा सङ्कीर्णेष्वपि विपक्षगतत्वादिनोद्भावने दोषत्वसम्भवादनेकान्तत्वमन्यथेतरत्रापि तन्न स्यादित्यव्याप्तिरित्यर्थः।

साधारणत्वासाधारणत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमस्तु तर्हि लक्षणमिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। साधारणत्वं सपक्षविपक्षयोः सत्त्वं तत्रासत्त्वमसाधारणत्वं, तयोर्व्यतिरेकावभावौ ताभ्यां मिलिताभ्यां यद्विशिष्टं तस्मादन्यत्वं लक्षणमिति योजना। अन्यत्वमित्युक्ते यत्किञ्चिदन्यत्वं सर्वत्रेति तन्निवारणाय व्यतिरेकेति पदम्। तावत्युक्ते घटव्यतिरेकविशिष्टभूतलादन्यत्वं पटेऽपीत्यतिव्याप्तिरेव तन्निवारणायासाधारणेति। असाधारणत्वव्यतिरेकविशिष्टादन्यत्वं साधारणे नास्तीत्यव्याप्तिः तन्निरासाय ❀ असाधारणेति ❀। साधारणत्वासाधारणत्वयोर्व्यतिरेकाभ्यां विशिष्टादन्यत्वमित्युक्ते साधारणव्यतिरेकविशिष्टादन्यत्वमसाधारणे नास्त्यसाधारणव्यतिरेकविशिष्टादन्यत्वं साधारणे नास्तीत्यव्याप्तिपरिहाराय मिलितेत्युक्तम्। मिलितद्वयव्यतिरेकविशिष्टादन्यत्वमुभयत्राप्यस्ति स्वव्यतिरेकस्य स्वारूढत्वायोगान्नैवमिति व्याप्तिः सम्य-

---

(३) असिद्धादिभिन्नहेत्वाभासत्वम् –

'असिद्ध, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष और बाध से भिन्न हेत्वाभास को अनैकान्तिक कहा जाता है'—ऐसा लक्षण भी संगत नहीं, क्योंकि हेत्वाभासत्व का पहले से निश्चय होने पर अनैकान्तिक का लक्षण व्यर्थ और हेत्वाभासत्व का निर्धारण पहले से न होने पर उससे घटित अनैकान्तिक का लक्षण असिद्ध होकर रह जाता है। दूसरी बात यह भी है कि असिद्ध्यादि दोषों से संकीर्ण अनैकान्तिक का इस लक्षण के द्वारा संग्रह नहीं हो सकता। क्योंकि वह असिद्धादि से भिन्न नहीं होता [जैसे 'अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वात्'—यह असिद्ध भी है और अनैकान्तिक भी 'पृथिवी न रूपवती, भूतत्वात्'—यह बाधसंकीर्ण अनैकान्तिक, 'आकाशमनित्यं प्रमेयत्वाद्, आकाशं नित्यं विभुत्वादात्मवत्'—यह सत्प्रतिपक्ष-संकीर्ण अनैकान्तिक है। इन सबमें असिद्धादिभिन्नत्व न होने के कारण अव्याप्ति हो जाती है]।

'असिद्धादि-संकीर्ण अनैकान्तिकों में असिद्धत्वादि-प्रयुक्त ही हेत्वाभासत्व होता है, अनैकान्तिकत्व-प्रयुक्त नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि असंकीर्ण अनैकान्तिक के समान संकीर्ण-स्थल पर भी अनैकान्तिकत्व का उद्भावन कथक-सम्प्रदाय-सिद्ध है।

(४) साधारणत्वाद्यत्यन्ताभावानधिकरणत्वम् –

शङ्का—'साधारणत्वाभावासाधारणत्वाभावोभयविशिष्टान्यत्वमनैकान्तिकम्'—ऐसा लक्षण नितान्त निर्दुष्ट है, [क्योंकि साधारण हेतु में साधारणत्वाभाव नहीं रहता, अतः साधारणत्वाभाव-विशिष्ट पदार्थ से भिन्न साधारणानैकान्तिक और असाधारणत्वाभाव असाधारण हेतु में

दन्यत्वं साधारणासाधारणानैकान्तिकव्यापि सामान्यलक्षणमस्तु । मैवम्, यदि व्यतिरेकद्वयविशिष्टादन्यत्वम्, तर्हि तस्य विशिष्टस्य विशेष्ये विशेषणे च इदमस्तीत्यतिव्याप्तिः। यदि व्यतिरेकद्वयवत्त्वोपलक्षणं तदोपलक्ष्यस्वरूपाणां यदि भेदेनैवोपलक्ष्यता तदा व्यतिरेकोऽप्यविशिष्टे तस्मिन्नस्ति । न हि यदेवाविशिष्टं तन्मात्रं विशिष्टम्। एवमभेदेनापि । भेदाभेदात्तदेवातदपि चेन्न, अतदपीति प्रसङ्गतादवस्थ्यात् ।

ततोऽत्यन्तान्यत्वं लक्षणमिति चेन्न, असिद्धयादिसङ्कीर्णानैकान्तिकोदाहरणा-

---

ग्धेतोरसिद्धादेश्च व्यतिरेकद्वयविशिष्टत्वान्नापि संकीर्णेऽव्याप्तिस्तत्र मिलितव्यतिरेकविशिष्टान्यत्वसम्भवादिति भावः। इयं कुटिलिका ऋजुपथप्रस्थितान् प्रति शोभते नास्मान्प्रतीति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। व्यतिरेकद्वयं विशेषणमुपलक्षणं वाऽन्यत्वप्रतियोगिन इति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ यदीति ❀। दूषयति ❀ तर्हीति ❀। तस्य विशिष्टस्य विशेष्यविशेषणमात्रत्वाभावाद्विशेष्ये विशेषणे चेदमस्तीति विशेष्ये सद्धेत्वादौ विशेषणे व्यतिरेकद्वये च लक्षणातिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयमुपादत्ते ❀ यदीति ❀। व्यतिरेकद्वयोपलक्षितादन्यत्वमुपलक्ष्यांशे नास्ति केवलस्यैवोपलक्ष्यत्वादिति विशेष्यांशातिव्याप्तिपरिहारमात्रमस्मिन् पक्षे प्रयोजनम्। व्यतिरेकद्वयेन ये सद्धेत्वादय उपलक्ष्यन्ते ते केनचिदनुगतरूपेण किं वा भिन्नभिन्नरूपेण? न द्वितीयोऽनन्ततयाऽशक्यत्वादुपेत्यापि दूषणमाह ❀ तदेति ❀। व्यतिरेकद्वयविशिष्टेऽसिद्धादिरूपेण द्वयोपलक्षितादन्यत्वमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। तदेवोपपादयति ❀ न हीति ❀। यद्व्यतिरेकद्वयविशिष्टं तत्केवलमिति न सम्भवति विशेषणविगमेऽपि विशिष्टप्रत्ययापातादुपलक्ष्यं च केवलमित्यर्थः। विशिष्टाविशिष्टयोरत्यन्तभेदवादे भवेदयमुपालम्भोऽस्माभिः पुनर्भेदाभेदाभ्युपगमान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ भेदेति ❀। तदविशिष्टं तदेवापि विशिष्टमपीति यावत्। को भावः किमव्यतिरेकद्वयोपलक्षितादन्यत्वमात्रं लक्षणमुतात्यन्तान्यत्वमिति विकल्प्य प्रत्याह ❀ नेति ❀। अभेदवद्भेदस्यापि भावादभेदमाश्रित्यातिव्याप्तिपरिहारे भेदमाश्रित्यातिव्याप्तिप्रसञ्जनस्यापि सम्भवादवक्तव्यं लक्षणमापद्यत इत्यर्थः। द्वितीयमुत्थापयति ❀ तत

नहीं रहता, अतः असाधारणत्व-विशिष्ट पदार्थ से भिन्न असाधारणानैकान्तिक होता है। फलतः यह अनैकान्तिक का सामान्य लक्षण साधारण और असाधारण—दोनों भेदों में घट जाता है]।

समाधान—'व्यतिरेकद्वय-विशिष्ट'—यहाँ पर कथित व्यतिरेकद्वय विशेषण है ? या उपलक्षण ? प्रथम कल्प के अनुसार विशिष्ट पदार्थ विशेष्य और विशेषण—दोनों से भिन्न माना जाता है, अतः उक्त विशिष्टान्यत्व प्रत्येक (सद्धेत्वादि) विशेष्य और विशेषण में अतिव्याप्त है। द्वितीय कल्प के अनुसार भी सद् हेत्वादि में अतिव्याप्ति होती है. क्योंकि व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित केवल विशेष्य होता है और उस केवल विशेष्य से उक्त व्यतिरेकद्वय-विशिष्ट सद् हेत्वादि भिन्न ही होते हैं; उपलक्षण-पक्ष में विशिष्ट और शुद्ध का भेद माना जाता है, क्योंकि शुद्ध मात्र कभी विशिष्ट नहीं होता है। इसी प्रकार उपलक्षण और उपलक्ष्य का अभेद मानने पर भी अतिप्रसङ्ग बना रहता है, क्योंकि व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित जो विशिष्ट पदार्थ, उससे केवल सद् हेत्वादि भिन्न हैं।

शङ्का—अनैकान्तवाद में विशिष्ट और विशेष्य का भेदाभेद माना जाता है, अतः व्यतिरेकद्वय से विशिष्ट सद्हेत्वादि भी उससे भिन्न नहीं होते, अपि तु साधारणत्वादि-व्यतिरेक-विशिष्ट सद् हेत्वादि से भिन्न साधारणादि ही होते हैं, अतः उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

समाधान – भेदाभेदवाद में विशिष्ट और विशेष्य का जब भेद और अभेद—दोनों माने जाते हैं, तब अभेद-पक्ष को लेकर अनतिव्याप्ति और भेद पक्ष को अतिव्याप्ति भी हो जाती है। यदि भेदाभेद-पक्ष से वचने के लिए व्यतिरेकद्वय-विशिष्ट का अत्यन्त भेद विवक्षित होता है, तब असिद्धयादि-संकीर्ण अनैकान्तिक में अव्याप्ति हो जाती है।

व्यापनात्। स्वरूपाणाञ्च आनन्त्येन तत्प्रतियोगिकान्यत्वावधारणस्याशक्यता, तेषामानन्त्यात्। तन्मध्यपतितकतिपयान्यत्वे चान्यत्र कतिपये प्रसङ्गतादवस्थ्यात्।

उपलक्षणत्वे चोभयव्यतिरेकस्य अन्यत्वप्रतियोगिकोटयप्रवेशेन तत्सङ्गृहीतव्यतिरेकपक्षतापातात्। एवञ्च अदृष्टबाणादिना गोत्वादेवम्भूताद् बाणादिविषाणित्वा-

---

इति ॐ। व्यतिरेकद्वयोपलक्षितादत्यन्तान्यत्वं लक्षणं न च तदसिद्धावस्ति व्यतिरेकद्वयविशिष्टस्य तदुपलक्षितादन्यत्वान्न चैवमनैकान्तेऽपीत्यसम्भवः सर्वसङ्करपदस्यावस्तुतत्त्वाद्विशिष्टाविशिष्टयोरेव भेदस्य विवक्षितत्वादित्यर्थः। अव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ। सङ्कीर्णानैकान्तेष्वसिद्धादिभ्योऽन्यत्वं नास्ति प्रकारमात्रभेदादित्यव्याप्तिरित्यर्थः। न केवलमव्याप्तिरसम्भवोऽपीत्याह ॐ स्वेति ॐ। भिन्नभिन्नाकारेणोपलक्षितस्वरूपाणामानन्त्ये तत्प्रतियोगिकान्यत्वस्य लक्षणस्य दुरवधारणतयाऽसिद्धेरित्यर्थः। प्रतियोगिनामानन्त्ये तन्निरूप्यान्यत्वानामप्यानन्त्यादभावभेदस्यापि धर्मिप्रतियोगिभेदाधीनत्वादिति हेतुमाह ॐ तेषामिति ॐ। उपलक्षितसर्वप्रतियोगिस्वरूपान्यत्वस्य दुरवधारणत्वेऽपि व्यतिरेकद्वयोपलक्षितकतिपयस्वरूपान्यत्वं शक्यावधारणं तदेव वाऽत्र लक्षणं विवक्षितमतो नासम्भव इत्याशङ्क्याह ॐ तदिति ॐ। उपलक्षितकतिपयासिद्धाद्यन्यत्वं तदुपलक्षितकतिपयासिद्धादिष्वन्येषु विद्यते इति तत्रैवातिव्याप्तिरित्यर्थः। किं चोपलक्षणस्य काकवदुपलक्ष्याद्बहिर्भाव प्रसिद्धेरन्यत्वप्रतियोगिभूता याऽसिद्धादिकोटिस्तत्र व्यतिरेकद्वयस्यानन्तर्भावेन ततोऽन्यत्वसम्भवात्तत्रातिव्यापकं लक्षणमिति भङ्ग्यन्तरं भणति ॐ उपलक्षणत्वे चेति ॐ। उभयव्यतिरेकस्योपलणत्वेऽन्यत्वप्रतियोगिकोटयप्रवेशेन तत्सङ्गृहीतव्यतिरेकपक्षतापातात्–व्यतिरेकान्यत्वं लक्षणीभूतं तत्पक्षतापातात्तदाश्रयत्वादिति यावत्। साधारणत्वासाधारणत्वयोर्व्यतिरेकाभ्यां मिलिताभ्यां विशिष्टादन्यत्वनैकान्तिकमित्यत्र व्यतिरेकद्वयस्य विशेषणत्वे विशेष्यांशे विशेषणांशे चोपलक्षणत्वे व्यतिरेकविशिष्ट उपलक्षणे च तस्मिन्नतिव्याप्तिमुक्त्वाऽधुना दोषान्तरं भाषते ॐ एवं चेति ॐ। गोशब्दो वज्रबाणस्वर्गाद्यनेकार्थेषु वर्तते तत्र येनादृष्टो बाणादिस्तेनादृष्टबाणादिना पुंसा बाणादिर्विषाणी गोशब्दवाच्यत्वात्सम्प्रतिपन्नगोवदित्यनुमानौचित्यमपि स्यात्तत्र हेतुरेवंभूतादिति। गोत्वादित्यस्य न साधारण्यं विपक्षैकदेशेऽश्वादावभावान्नाप्यसाधारण्यं सपक्षेऽपि भावादिति व्यतिरेकद्वयविशिष्टाद् गोत्वात्तदन्यत्वानैकान्तलक्षणरहितात्सर्वंसपक्षविपक्षसत्त्वं साधारण्यं तद्व्यतिरेकविशिष्टादन्यत्वं विवक्षितमिति चेन्न। लक्षणवाक्ये सर्वपदाश्रवणात्तदुपादाने च विपक्षैकदेशवृत्तेः सर्वसपक्षविपक्षवृत्तित्वासम्भवादेवं पृथिव्यादिष्वनैकान्त्याद् गोत्वाद्विषाणित्वानुमानमुचितं स्यादित्यनैकान्तभेदे विपक्षैकदेशवृत्तावव्याप्तिरिति यावत्। उपलक्षणं चैतच्छब्दो नित्यः प्रत्यक्षत्वादित्यादावपि द्रष्टव्यम्। धर्मिग्राहकमानविरोधादनौचित्यं विषाणित्वानुमानस्येत्यत आह ॐ अदृष्टेति ॐ। स्वार्थानुमानरूपत्वान्न प्रतिवादिप्रत्यविरोध इत्यर्थः। यद्वा व्यतिरेकद्वयस्यापि तल्लक्षणत्वादनैकान्तत्वमस्तु को दोष इत्यत आह ॐ एवमिति ॐ। व्यतिरेकद्वयस्याऽप्यनैकान्तिकत्वेन प्रतीतं

केवल अव्याप्ति ही नहीं, असम्भव दोष भी है, क्योंकि उपलक्षित स्वरूप अनन्त होते हैं, अतः उपलक्षितप्रतियोगिकान्यत्वरूप लक्षण का अवधारण सम्भव नहीं। यदि कतिपय (व्यतिरेकद्वय से) उपलक्षित व्यक्तियों का ग्रहण किया जाता है, तब उनसे भिन्न व्यक्तियों में अतिप्रसङ्ग बना रहता है।

दूसरी बात है कि काकादि उपलक्षण पदार्थों का उपलक्ष्य कोटि में प्रवेश नहीं माना जाता अतः उक्त व्यतिरेकद्वय का अन्यत्व की प्रतियोगी कोटि में अन्तर्भाव न होने के कारण उपलक्ष्य-भिन्नत्वरूप व्यतिरेकद्वय का पक्षपाती हो जाता है, अर्थात् व्यतिरेकद्वय में उक्त लक्षण अतिव्याप्त है।

'गौर्विषाणी, गोत्वात्'–इस अनुमान के द्वारा जहाँ "स्वर्गेषु वाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले" इत्यादि कोषों के आधार पर गोपद के वाच्यभूत बाण में विषाणित्व का स्वार्थानुमान बाणादर्शी पुरुष करता है, वहाँ हेतु (गोत्व) अश्वादि में वृत्ति न होने के कारण

नुमानौचित्यापातात् ।

हेत्वाभासान्तरमप्येवं किं न समग्राहीति वासनायां यदेवानयोरितरेभ्यो वैधर्म्यं वाच्यम्, तस्यैव लक्षणस्य निर्वचनतापत्तेरिति । असिद्धत्वादिप्रकारादन्येन प्रकारेण हेत्वाभासोऽनैकान्तिक इति चेत्, वाच्यस्तर्हि स प्रकारः कस्यान्यथा ततस्ततोऽन्यत्वं ज्ञेयम् ।

किञ्चैवं तर्हि असिद्धत्वादन्यदनैकान्तिकमिति कृत्वा विरुद्धादीनामनैकान्तिकत्वेनैव सङ्ग्रहे शक्ये विरुद्धादिवद्रूपान्तरासङ्ग्राह्ययोः साधारणासाधारणयोरेव यदनेन प्रकारेण सङ्ग्रहमकार्षीस्तत्र नियतं रुचिरेव भवतो नियन्त्री । यदा च त्वम-

व्यवहृतं च येन तेन तद्व्यावृत्तत्वेनानुमानं वक्तव्यं न च तत् लोके प्रतीतं व्यवहृतं चातोऽप्रसिद्धविशेषणत्वेनानुमानमात्रमनुचितं स्यादथ च तदौचित्येऽदृष्टवाणादिना पुंसा गौरियं वाणादिसदृशविषाणवती गोत्वाद् गवान्तरवदित्यनुमानं वाणस्यादृष्टतया प्रसिद्धविशेषणमुचितं स्यादसिद्धयादिविरहस्यातिरोहितत्वादित्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । दूषणान्तरमाह ॐ हेत्त्विति ॐ । स्वव्यतिरेकमेलकविशिष्टादन्योऽनैकान्त इत्यनेन प्रकारेणासिद्धयादिहेत्वाभासान्तराणामप्यनैकान्तिकत्वेन सङ्ग्रहे सम्भवति किमिति तथा न समग्राहीति वासनायां चिन्तायां यदीतरेभ्यो व्यावृत्तं धर्ममनयोः साधारणासाधारणयोः पश्यता तथा नाकारि तर्हि तदेव वैलक्षण्यं लक्षणमास्तां उपजीव्यत्वादितरद् व्यर्थमित्यर्थः ।

लक्षणान्तरं शङ्कते ॐ असिद्धेति ॐ । हेत्वाभासग्रहणं सम्यग्घेतुव्यावृत्त्यर्थं शेषं विशदम् । अन्यत्वस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानत्वादन्यत्वधर्मिप्रकारो वक्तव्यः स च वक्तुमशक्य इत्यभिप्रेत्य परिहरति ॐ वाच्य इति ॐ । किमित्यसौ प्रकारो वाच्य इत्यत आह ॐ कस्येति ॐ । अन्यथा तज्ज्ञानं विना ततस्ततोऽसिद्धादिप्रकारात्कस्य ज्ञेयत्वमित्यन्वयः । अतिप्रसङ्गबाधितं चेदं लक्षणमसम्भवीत्याह ॐकिञ्चेतिॐ । असिद्धादन्योऽनैकान्त इति लक्षणेन विरुद्धादीनामप्यनैकान्तिकत्वेन शक्यसङ्ग्रहेण च लाघवे सति साध्यविपरीतव्याप्तत्वादिप्रकारस्य खण्डनाद्विरुद्धादि यथाऽसम्भवद्रूपान्तरं तथाऽनयोरप्यसम्भवद्रूपान्तरत्वसाम्ये सत्यनेन प्रकारेण लक्षणकरणे नियामकं न पश्याम इत्यर्थः । अनैकान्तस्यैवानेन प्रकारेण लक्षणप्रणयनमुपेत्यापि खण्डनान्तरं वक्तुमनुवदति ॐ यदेति ॐ । अनैकान्तादसिद्धादेर्भेदकप्रकारमनवगम्यानैकान्तलक्षण-

साधारणानैकान्तिक नहीं, सपक्षभूत बलीवर्दादि में रहने के कारण असाधारणानैकान्तिक भी नहीं, फलतः साधारणत्वासाधारणत्वव्यतिरेकद्वय से उपलक्षित होने और तदन्य न होने के कारण अनैकान्तिक-सामान्य भी नहीं ।

यहाँ यह भी एक प्रश्न उठता है कि जैसे साधारण और असाधारण का अनैकान्तिक-कोटि में संग्रह करने के लिए साधारणत्वादि-व्यतिरेकघटित अनैकान्तिक का लक्षण किया गया, वैसे ही असिद्धादि अन्य हेत्वाभासों का भी अनैकान्तिक-कोटि में संग्रह करने के लिये असिद्धादि-व्यतिरेक-घटित अनैकान्तिक का लक्षण क्यों नहीं किया गया ? यदि असिद्धादि अन्य हेत्वाभासों से साधारण और असाधारण का कुछ वैलक्षण्य है, तब वही वैलक्षण्य ही अनैकान्तिक का लक्षण वन जाता है, उसका निर्वचन पहले प्रस्तुत करना चाहिये। यदि असिद्धत्वादि प्रकारों से भिन्न प्रकार के द्वारा जो हेत्वाभास होता है, उसे अनैकान्तिक कहा जाता है, तब उस प्रकारान्तर का निर्वचन करना चाहिए, अन्यथा किस धर्मी में कथित विशिष्टान्यत्व प्रतिबोधित होगा ?

दूसरी बात यह भी है कि 'असिद्धादन्यद अनैकान्तिकम्'—ऐसे लक्षण के द्वारा असिद्ध से भिन्न विरुद्धादि का भी अनैकान्तिक की कक्षा से संग्रह किया जा सकता था, किन्तु विरुद्धादि के समान लक्षणान्तरासंग्राह्य केवल साधारण और असाधारण का जो कथित प्रकार से संग्रह किया गया, उसका नियामक कोई वैलक्षण्यान्तर न होकर एकमात्र आप (लक्षणकार)

सिद्धादिव्यतिरिक्ततयाऽनैकान्तिकं लक्षयसि, तदाऽसिद्धादिभेदकं प्रकारमनवगम्य तदन्यत्वमशक्याधिगममिति तदभिधाने प्रसक्ते तदाश्रया ये दोषा दर्शितास्तैः स्मृतिव्यतिरिक्तत्वोक्तदोषैश्च निराकर्तव्योऽसि। साध्येनाव्याप्यत्वे सति तदभावाव्याप्तोऽनैकान्तिक इत्यपि न, साध्याविशिष्टेऽपि गतत्वात्। विशेषणीभूतसाध्याव्याप्यत्वावगमाच्च प्राथमिकी व्याप्यत्वासिद्धिरेवोपजीव्या दूषणं स्यात्। विशेषणांशस्यैव

मुच्यते किं वा तदवगम्येति विकल्प्य प्रथमेऽसम्भवमाह ॐ तदेति ॐ। स्वरूपेणास्फुरतः प्रतियोगित्वे स्वात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गात् सति भेद इति विशेषणे च करम्बितनीरक्षीरयोर्व्यभिचारादसिद्धयादिस्वरूपानवगमे तदन्यत्वलक्षणासिद्धिरित्याशयः। तस्मात् द्वितीयः परिशिष्यत इत्याह ॐ इति तदिति ॐ। स्यादन्योन्याश्रय इति शेषः। अनैकान्ते सिद्धे तदन्यत्वमसिद्धादिप्रकारस्य सिद्धयेत्सिद्धे च तस्मिन् तदन्यत्वमनैकान्तस्येति खण्डनान्तरमीरयति ॐ तदिति ॐ। असिद्धयादिप्रकाराश्रया ये दोषास्तत्तत्खण्डनकाले व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितौ विरुद्धादेः सद्धेतुत्वं तदभावे तत्रैवातिव्याप्तिरित्यादयस्तैर्निराकर्तव्योऽसि तथा स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानत्वमनुभवत्वमित्यत्र किं सर्वस्मृतिव्यतिरिक्तत्वम्? उत स्मृतिमात्रव्यतिरिक्तत्वमित्यत्र ये दोषा उक्तास्तत्सदृशैः सर्वासिद्धादिव्यतिरेकव्याप्तसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वं कतिपयतद्व्यतिरिक्तत्वं कतिपयेषु तत्रैवातिव्यापकं तन्मात्रव्यतिरिक्तत्वमित्यत्र मात्रशब्देन सामान्याभिधाने तत्रैवातिव्यापकं व्यक्त्यभिधाने पूर्वोक्तानिस्तार इत्येतैरपीत्यर्थः।

अनैकान्तिकलक्षणान्तरमाशङ्क्य निराकरोति ॐ साध्येति ॐ। साध्येनाव्याप्तोऽनैकान्त इत्युक्ते विरुद्धे प्रसक्तिनिवारणाय तदभावेत्युक्तम्। तस्य साध्यविपरीतव्याप्तत्वात्। सम्यग्घेतुनिवारणायं साध्येति विशेषणम्। न चैवं कालाऽतीतप्रकरणसमयोरतिव्याप्तिस्तयोः साध्यव्याप्तयोः परप्रतिबन्धत्वान्नासिद्धे व्याप्तत्वासिद्धादेरभावव्याप्तत्वात्सङ्कीर्णं चैवं सङ्गृहीतं स्यादित्यर्थः। अतिव्यापकत्वादिति हेतुं टीकते ॐ साध्येति ॐ। प्रपञ्चः सत्यः प्रमाणविषयत्वादिति तार्किकैर्यदा मीमांसकं प्रति प्रयुज्यते तदाऽसौ साध्याविशिष्टस्तस्मिन्नेतदतिव्यापकं साध्यस्यैव हेतुतया तस्य भावतदभावाभ्यामव्याप्तत्वादिति भावः। अपि च साध्याव्याप्तत्वं लक्षणं विशेषणम्? उपलक्षणं वा? द्वितीये तस्य काकवद् बहिर्भावात्साध्याभावाव्याप्त

की रुचि ही कही जा सकती है।

जब कि आप (लक्षणकार) असिद्धादिभिन्नत्वेन अनैकान्तिक का लक्षण करते हैं, तब असिद्धादि के भेदक (लक्षण) धर्म को न जान कर तदन्यत्व-घटित लक्षण का अभिधान क्योंकर कर सकेंगे? यदि असिद्धादि का निर्वचन किया जाता है, तब उसके कथित दोष भी प्रसक्त होंगे। इतना ही नहीं, 'स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभवः'—इस लक्षण के प्रसङ्ग में चर्चित दोषराशि भी आपका स्वागत करेगी।

(५) साध्याव्याप्यत्वे सति साध्याभावाव्याप्तोऽनैकान्तिकः—

['अनैकान्तिक' पद के व्युत्पत्ति-प्रदर्शन में भाष्यकार ने जैसे सद्धेतु और विरुद्धरूप ऐकान्तिक हेतुओं के निराकरण को माध्यम बनाया था, वैसे ही, साध्याव्याप्यत्व और साध्याभावाव्याप्यत्व के द्वारा क्रमशः सद्धेतु और विरुद्ध हेतु का व्यावर्तन करते हुए लक्षण प्रस्तुत किया गया है—] 'साध्येनाव्याप्यत्वे सति तद्भावाव्याप्तोऽनैकान्तिकः।' यह लक्षण भी समुचित नहीं, क्योंकि 'द्रव्यं छाया गतिमत्त्वात्'—इत्यादि (न्या. सू. १।२।८) में चर्चित साध्याविशिष्ट या असिद्ध नामक हेत्वाभास में अतिव्याप्ति है, क्योंकि वह साध्य के समान ही साधनीय मात्र होने के कारण न तो साध्य से अव्याप्त है और न साध्याभाव से।

उक्त लक्षण में विशेषणविधया प्रविष्ट साध्याव्याप्ति का प्रथमतः ज्ञान आवश्यक है, यह व्याप्यत्वासिद्धि का स्वरूप है, उपजीव्य होने के कारण पहले इसका उद्भावन हो जाने मात्र से हेतु में साध्य-साधन की अक्षमता आ जाती है, विशिष्टरूप अनैकान्तिक का उद्भावन

चासाधकत्वसाधनसामर्थ्याद् व्यर्थविशेष्यताऽपि ।

वस्तुगतिव्यापकवन्मात्रपर्यवसायिनि तदभाववन्मात्रपर्यवसायिनि वा तत्कालसन्दिह्यमानान्यतरव्यापकत्वे 'शब्दोऽनित्यः श्रोत्रविशेषगुणत्वादि'त्यादावसाधारणे व्यावृत्तत्वाच्च । वस्तुतः साध्याव्याप्ते तत्कालेऽपि च सत्प्रतिपक्षतया अनिर्धारितसाध्यव्याप्तिके प्रकरणसमे गतत्वाच्च । एतेन—अनैकान्तिकः सव्यभिचार इति प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । सव्यभिचारस्योक्तप्रकाराधिकस्य निर्वक्तुमशक्यत्वादिति ।

४०. सत्प्रतिपक्षलक्षणखण्डनम्

अपि चोक्तलक्षणविशेषणेन प्रमाणव्यवच्छेदकादन्येन किं व्यवच्छेद्यम् ? केनचित्

इत्येव लक्षणमिति विरुद्धेऽतिव्यापकं, यदा विशेषणं तदा विशेषणावगमव्यतिरेकेण विशिष्टायोगात्प्रथमावगतव्याप्तत्वासिद्धिरेव दूषणं स्यात्सन्निहितप्रतिपत्तिकत्वादित्याशयवानाह ॐविशेषणीभूतेतिॐ । व्यर्थविशेषणासिद्धं लक्षणमित्याह ॐ विशेषणेति ॐ । न केवलमतिव्याप्तिः अव्याप्तिरपीत्याह ॐ वस्तुगतीति ॐ । असाधारणाव्यावृत्तत्वादित्यन्वयः । तस्योदाहरणं ॐ शब्द इति ॐ । तस्यैव विशेषणं ॐ तदिति ॐ । तत्काले सन्दिह्यमानमन्यतरव्यापकत्वं प्रयोगकाले साध्यतदभावयोरन्यतरव्यापकत्वं यस्य तत्तथोक्तं तत्र हेतुर्व्यापकवदिति । साध्यवत्पक्षमात्रपर्यवसायिनि । तदभाववन्मात्रपर्यवसायिनि साध्याभाववत्पक्षमात्रपर्यवसायिनि वा । तत्र श्रोत्रगुणत्वादिति हेतुः शब्द एव पक्षे वर्तते ततोऽन्यस्याकाशविशेषगुणत्वाभावादित्यसौ साध्यव्याप्तः पृथिवी न पाकजरूपाधिकरणं गन्धवत्त्वादित्ययं साध्याभाववन्मात्रपर्यवसायीत्यर्थः । अतिव्याप्त्यन्तरमाह ॐ वस्तुत इति ॐ । शब्दोऽनित्यः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र प्रकरणसमे वस्तुतः साध्यव्याप्तत्वे सत्यपि प्रयोगकाले समबलहेत्वन्तरप्रतिबद्धतया साध्यव्याप्तेरनिर्द्धारितत्वादुक्तलक्षणं तत्रातिव्यापकमित्यर्थः । सपक्ष एवेत्यारभ्यानैकान्तिकलक्षणखण्डनं यदुक्तं तत्सिंहावलोकनन्यायेन प्राङ्निरस्तेऽपि लक्षणेऽतिदिशति ॐ एतेनेति ॐ । कथमन्यदोयो दोषोऽन्यत्रानुषज्जेदित्यत आह ॐ सेति ॐ । सपक्ष एव विपक्ष एव वर्तते न य इत्यादेरन्यस्य व्यभिचारस्य निरूपयितुमसामर्थ्यादित्यर्थः ।

उत्तरवादप्रस्तावनिकां कुर्वन्व्यर्थविशेषणतामाह ॐ अपि चेति ॐ । असिद्धविरुद्धकालात्ययापदिष्ट-

आवश्यक नहीं रह जाता, विशेष्य दल के व्यर्थ हो जाने से लक्षण में व्यर्थविशेष्यासिद्धि दोष प्रसक्त हो रहा है ।

जिस पक्ष में सद्धेतु के व्यापकीभूत साध्य या विरुद्ध के व्यापकीभूत साध्याभाव का वस्तुगत्या पर्यवसान होता है और हेतु में साध्य और साध्याभाव में से अन्यतर के द्वारा व्याप्यता का सन्देह है [अयं हेतुः साध्यव्याप्यः, साध्याभावव्याप्यो वा ?] ऐसे 'शब्दोऽनित्यः, श्रोत्रविशेषगुणत्वात्'—इत्यादि असाधारणानैकान्तिक में लक्षण अव्याप्त भी है, क्योंकि यदि वह साध्याव्याप्य है, तब साध्याभाव से अव्याप्त नहीं हो सकता और यदि साध्याभाव का अव्याप्य है, तब साध्य का अव्याप्य नहीं हो सकता ।

जहाँ पर हेतु वस्तुतः साध्य से व्याप्त है, किन्तु शब्दोऽनित्यः पक्षसपक्षान्यत्वात्, शब्दो नित्यः, श्रोत्रग्राह्यत्वात्'- इस प्रकार सत्प्रतिपक्षता की उपस्थिति के कारण हेतु में साध्याव्याप्यत्व निश्चित नहीं, वहाँ पर सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि उसमें अज्ञात साध्याव्याप्यत्व और साध्याभावाव्याप्तत्व विद्यमान है । इसी दोष-राशि के द्वारा "अनैकान्तिकः सव्यभिचारः" (न्या. सू. १।२।५) यह सौत्र लक्षण भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि सव्यभिचार के कथित प्रकारों से अतिरिक्त और कोई निर्दुष्ट प्रकार संस्थापित नहीं किया जा सकता ।

४०. सत्प्रतिपक्ष-लक्षण-खण्डन

अनैकान्तिक के "असिद्धविरुद्धसत्प्रतिपक्षबाधादन्यो हेत्वाभासोऽनैकान्तिकः'—इस

सत्प्रतिपक्षः केनचिदन्य इति चेत्, कः पुनः सत्प्रतिपक्षः ?

तथा हि – सत्प्रतिपक्षलक्षणमनुयुक्तो यदाह, 'समानबलबोधितसाध्यविपर्ययको हेतुत्वेनाभिमतः सत्प्रतिपक्षः' इति । तन्न, तथा हि किमिह बलं विवक्षितम् ? सामर्थ्यमिति चेत्, तत् कुत्र कार्येऽभिमतम् ? न तावत् सर्वस्मिन्नेव कार्ये, सत्प्रतिपक्षहेत्वोर्भिन्नविषयबुद्ध्यादिजनकतया सर्वकार्ये समशक्तिकताया असम्भवात् । नापि यत्र क्वचित् कार्ये, प्रकृतसाध्यं प्रति प्रतीयमानासिद्धत्वादिदोषेणापि प्रमेयत्व-

---

प्रकरणसमान्यो हेत्वाभासोऽनैकान्तिक इति लक्षणे हेत्वाभास इति हेत्वाभासविशेषणं प्रमाणव्यवच्छेदकं तदाऽन्येन किं व्यवच्छेद्यमित्यर्थः । व्यवच्छेद्यं विशदमेवात्र सत्प्रतिपक्षादीति शङ्कते ❀ केनचिदिति ❀ । अन्यः कालात्ययापदिष्टादित्यर्थः । असिद्धस्य सप्तमरसादिवद्व्यवच्छेद्यत्वात्सत्प्रतिपक्षस्य सिद्धिर्वक्तव्या सा च दुर्वचनीयेत्याशयवानाह ❀ क इति ❀ । सन् प्रतिपक्षो विद्यमानो यस्य स सत्प्रतिपक्ष इत्यर्थः । समानबलेन बोधितसाध्याभावो हेतुत्वेनाभिमतः सत्प्रतिपक्ष इति लक्षणाधीनान्वयात्तत्सिद्धिरित्याशङ्क्याह ❀ तथा हीति ❀ । अनुयुक्तः—पृष्टः । बोधितसाध्यविपर्ययो नेदं रजतमिति प्रत्ययो भवति ज्ञाप्यस्य साध्यत्वादत उक्तं ❀ हेत्विति ❀ । कालात्ययापदिष्टव्युदासाय समानपदम् । अनैकान्तिकसिद्धौ तद्व्यावृत्ततया सत्प्रतिपक्षो लक्ष्यते लक्षिते च सत्प्रतिपक्षेऽनैकान्त इतीतरेतराश्रयमभिप्रेत्य दूषयति ❀ तन्नेति ❀ । दूषणं विशदयितुं बलशब्देन सामर्थ्यं विवक्षितमुत पक्षधर्मत्वादीति विकल्पयति ❀ किमिति ❀ । प्रथमं शङ्कते ❀ सेति ❀ । सामर्थ्यस्य कुत्र कस्येति विषयप्रतियोगिनियमाद्विषयो वाच्यः स च ज्ञाप्य उत्पाद्यो वा भवति सर्वथाऽपि तत्सामर्थ्यं सर्वस्मिन्नेव स्वकार्येऽभिमतमुत यत्र कुत्रचित्कार्ये किं वा पूर्वहेतुसाध्याभावबोधने किं वा प्रतिहेतुसाध्याभावहेतुबोधनेऽन्यत्र वेति विकल्पाभिप्रायेणाह ❀ तदिति ❀ । प्रथमं पराकरोति ❀ नेति ❀ । स्वशब्देन प्रतिहेतू द्वावपि विवक्षितौ कुतो नैवमित्यत आह ❀ सदिति ❀ । आकाशमनित्यमस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यगुणाधिकरणत्वाद् घटवदाकाशं ।नत्यं सवकारणत्वादात्मवदिति सत्प्रतिपक्षहेतोर्भिन्ने विषये नित्यत्वादौ बुद्धिव्यवहारजनकतया सर्वत्र स्वकार्ये समशक्तिताया असम्भवाल्लक्षणासिद्धिः सामर्थ्यस्य भिन्नकार्यगोचरत्वे समत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । द्वितीयमपवदति ❀ नापीति ❀ । कुत इत्यत आह

लक्षण के घटकीभूत विशेषणों के द्वारा किनकी व्यावृत्ति की जाती है ? हेत्वाभास के द्वारा प्रमाणभूत सद्धेतु का एवं अवशिष्ट विशेषणों से असिद्ध, विरुद्ध और सत्प्रतिपक्ष का जो व्यवच्छेद विवक्षित है, उसमें सत्प्रतिपक्ष क्या है ? इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष का लक्षण पूछे जाने पर सत्प्रतिपक्ष का लक्षण किया जाता है—

(१) समानबलबोधितसाध्यविपर्ययको हेतुत्वेनाभिमतः सत्प्रतिपक्षः—

[श्री उदयनाचार्य कहते हैं–"यस्मात् प्रक्रियमाणार्थजिज्ञासामात्रं भवति, स प्रकरणसम इति संक्षेपः । तथा हि – पक्षे समबलबाधकसहप्रवृत्तेर्न तत्त्वनिर्णयः, प्रतिबलेन प्रतिरुद्धत्वात्" (ता. परि. १।२।७) । इसके आधार पर यही स्थिर होता है कि जिस हेतु के साध्य का बाध या विपर्ययावबोधन किसी समानबलवाले प्रतिहेतु के द्वारा किया जाता है, उस हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है, वह वस्तुतः हेतु नहीं, अपितु हेतुत्वेन अभिमत होता है] ।

यह लक्षण युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि 'बल' शब्द से क्या विवक्षित है ? यदि सामर्थ्य विवक्षित है, तब वह किस कार्य का सामर्थ्य कारण या हेतु में माना जाता है ? सभी कार्यों का सामर्थ्य किसी एक हेतु में सम्भव नहीं, क्योंकि 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत्, शब्दोऽनित्यः, कार्यत्वात्'—इत्यादि स्थलों पर सत्प्रतिपक्षित कहे जानेवाले दोनों हेतुओं में विभिन्नविषयकज्ञानरूप कार्य का जनकत्व (सामर्थ्य) देखा जाता है, सभी कार्यों का सामर्थ्य सर्वत्र नहीं ।

यदि किसी भी एक कार्य का सामर्थ्य विवक्षित है, तब जहाँ पर कोई हेतु अपने प्रकृत

प्रतिपादनादौ समर्थेन प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षताप्रसक्त्या सर्वहेतूनां शक्यप्रकरणसमहेत्वाभासत्वापत्तेः ।

नापि पूर्वहेतुसाध्याभावबोधनरूपे कार्ये, उत्तरहेतोरेवमसत्प्रतिपक्षत्वे स्वासाध्यसाधकतापत्तेः । प्रतिहेतोरिति चेन्न, तत्प्रतिहेतोरसामर्थ्यादेव समशक्तिकत्वानुपपत्तेः । इत्थमेव न हेतुसाध्यस्य विपर्ययबोधनेऽपि ।

अथोच्यते—स्वकीये स्वकीये प्रकृतसाध्ये यत् सामर्थ्यं पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वलक्षणं तत् सत्प्रतिपक्षहेत्वोस्तुल्यम् । तदभिप्रायेणेदं सम-

❀ प्रकृतेति ❀ । सर्वहेतूनां शक्यं प्रकरणसमहेत्वाभासत्वं येषां ते शक्यप्रकरणसमहेत्वाभासत्वास्तदापत्तेरित्यन्वयः । तदुपपादयति ❀ प्रकृतसाध्येति ❀ । शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वादित्यनेन प्रकृतानित्यत्वसाध्यं प्रति प्रतीयमानासिद्धत्वादिदोषेणापि प्रमेयत्वप्रतिपादनादौ यत्र क्वचित्कार्ये समर्थेन सत्प्रतिपक्षतायाः प्रसक्त्या धूमवत्वादिहेतूनामपि प्रकरणसमत्वापत्तिरित्यर्थः । तृतीयं कल्पमपाकरोति ❀ नापीति ❀ । प्रतिज्ञातमर्थं हेतुनोपपादयति ❀ उत्तरेति ❀ । शब्दो नित्यः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्सपक्षवदित्यत्र प्रथमहेतोः साध्याभावबोधनरूपे कार्ये सामर्थ्योपेतेनोत्तरहेतुना प्रथमहेतोः सत्प्रतिपक्षत्वेऽपि प्रथमहेतोः पुनः प्रथमहेतुसाध्याभावबोधने सामर्थ्यासत्वेन तेनोत्तरहेतोः सत्प्रतिपक्षता न स्यादित्यव्याप्तिरित्यर्थः । तुरीयं कल्पं शङ्कते ❀ प्रतीति ❀ । प्रतिहेतोः साध्याभावबोधनरूपे कार्ये सामर्थ्यं विवक्षितं पूर्वहेतुरप्यनुरस्म प्रतिहेतुर्भवतीति नाव्याप्तिरित्यर्थः । एवं सति लक्षणासिद्धिरिति परिहरति ❀ नेति ❀ । तर्हि वादिप्रयुक्तहेतुसाध्ये वा तत्प्रतिहेतोर्भिन्नविषयतया सामर्थ्याभावादेव समशक्तित्वानुपपत्तिर्द्वयोः समर्थयोरेककार्यसामर्थ्यस्यैव समत्वादित्यर्थः । पूर्वहेतुसाध्यप्रतियोगिकाभावविषयत्वेन समशक्तित्वे वस्तुत्वविषयतया सर्वहेतूनां समशक्तित्वापत्तिरित्याशयः । अन्यत्रैवेति परिशिष्टेऽपि पक्षे कथितदोषमतिदिशति ❀ इत्थमिति ❀ । पूर्वहेतुसामर्थ्यबोधनेऽपि द्वितीयहेतोः सामर्थ्यादेव समशक्तित्वानुपपत्तिरित्यर्थः ।

एवं मीमांसकाभिप्रायेण बलशब्देन सामर्थ्यमुच्यते इति प्रथमं कल्पं पराकृत्य पक्षधर्मत्वादि बलमिति तार्किकाभिप्रायेण द्वितीयकल्पमुद्भावयति ❀ अथेति ❀ । नित्यः शब्द आकाशैकाधिकरणत्वात्तद्गतमहत्ववदनित्यः शब्दः सामान्यवत्वे सति अस्मदादिबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवदिति सत्प्रतिपक्षहेतोर्यत्स्व-

साध्य के साधन की क्षमता नहीं रखता और प्रमेयत्वादि-बोधनरूप यत्किञ्चित् कार्य का सामर्थ्य रखता है, उस हेतु को भी समानबल और प्रति हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहा जाने लगेगा, इस प्रकार सभी धूमादि सद्धेतु भी सत्प्रतिपक्षता-सम्पन्न हेत्वाभास हो जायेंगे ।

'पूर्व हेतु-सम्बन्धी साध्य के अभाव-बोधनरूप कार्य का जनन-सामर्थ्य ही बल पदास्पद है'—ऐसा मानने पर उत्तर हेतु सत्प्रतिपक्ष न होकर सद्धेतु हो जायगा, उसमें स्वकीय साध्य की साधकता अव्याहत रहनी चाहिए ।

शङ्का—सत्प्रतिपक्षभूत दोनों हेतुओं का संग्रह करने के लिए हेतुओं के लिये पूर्व और उत्तर का प्रयोग न कर 'प्रति हेतु' का प्रयोग करना वाञ्छनीय है । इस प्रकार दोनों हेतु परस्पर एक-दूसरे के प्रतिहेतु होने के कारण संगृहीत हो जाते हैं ।

समाधान—कथित उदाहरण के घटकीभूत 'कार्यत्व' हेतु में अनित्यत्व-बोधकत्व और 'श्रावणत्व' हेतु में नित्यत्व-बोधकत्व होने के कारण समान सामर्थ्य या समबलता सम्भव नहीं । इसी प्रकार 'कार्यत्व' हेतु में नित्यत्व-विपर्यय और 'श्रावणत्व' हेतु में अनित्यत्व-विपर्यय के बोधन का सामर्थ्य है, समान सामर्थ्य नहीं ।

शङ्का—प्रत्येक हेतु में जो स्वकीय साध्यसाधनार्थ पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व, अबाधितत्वरूप सामर्थ्य है, वह सत्प्रतिपक्षभूत दोनों हेतुओं में समान है । उस को ध्यान में रख कर समबलता का अभिधान किया गया है, फलतः उक्त लक्षण का निष्कर्ष इस

बलाभिधानम्। तेनेदमुक्तं भवति—पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वैस्तुल्येन बोधितसाध्यव्यतिरेकः सत्प्रतिपक्ष इति।

नैतदपि युक्तम्, प्रतीयमानभागासिद्धत्वेनापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात्। कियत्यपि पक्षे सत्त्वेन तस्य पक्षसत्त्वभावात्। न चैष्टव्यमेव भागासिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षत्वम्, प्रतीयमानदोषान्तरेणापि, तथा सति सत्प्रतिपक्षत्वस्यैष्टव्यत्वापत्तेः, हेत्वाभासान्तरत्वाविशेषात्। न च सर्वपक्ष इति कृते नायं दोष इति वाच्यम्, यत्रैक एव पक्षः प्रतिहेतौ तस्य सत्प्रतिपक्षस्याव्यापनात्। तत्र पक्षस्य सर्वशब्दार्थत्वाभावा-

---

कीये साध्ये पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वं नाम रूपचतुष्कं तत्तुल्यमित्यर्थः। लक्षणवाक्ये बलशब्दः प्रयुक्त इदानीं पक्षधर्मत्वादि कथ्यते इत्यसम्बद्धमिवमित्यत आह ❀ तदिति ❀। एवं स्वाभिप्रायमुक्त्वा लक्षणवाक्यस्य पर्यवसितमाह ❀ तेनेति ❀। किमित्यत आह ❀ पक्षेति ❀। व्यतिरेकोऽभावः। पक्षसत्त्वमात्रं विवक्षितमुत सर्वपक्षसत्त्वमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ प्रतीति ❀। परमाण्वाकाशौ नित्यौ नीरूपद्रव्यत्वादात्मवदित्यस्य तावनित्यौ भूतमहत्वाद् घटवदित्यनेन भागासिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। भागासिद्धस्य पक्षसत्त्वाभावात्कथमतिव्याप्तिरित्यत आह ❀ कियतीति ❀। भागासिद्धेन सत्प्रतिपक्षत्वमिष्यत एवातो नातिव्याप्तिरलक्ष्ये लक्षणगमनस्यैव तथात्वादित्यत आह ❀ प्रतीति ❀। प्रतीयमानविरुद्धत्वादित्यत आह ❀ प्रतीति ❀। प्रतीयमानविरुद्धत्वादिदोषान्तराणामपि सत्प्रतिपक्षत्वापातादित्यतिप्रसङ्गादित्यर्थः। भागासिद्धेन सत्प्रतिपक्षस्वीकारे हेत्वाभासान्तरेणापि तथात्वस्वीकारः कस्मादित्यत आह ❀ हेत्विति ❀। प्रकरणसमाद्धेत्वाभासान्तरत्वसाम्यादित्यर्थः। अस्तु तर्हि सर्वपक्षसत्त्वमिति द्वितीयः कल्पस्तत्रोक्तदोषाभावादित्यत आह ❀ न चेति ❀। कुतो न वाच्यमित्यत आह ❀ यत्रेति ❀। आकाशं नित्यं नीरूपद्रव्यत्वादात्मवदाकाशमनित्यं बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणाधिकरणत्वाद् घटवदित्यत्र सत्प्रतिपक्षहेतोः पक्षस्यैकतयाऽव्याप्तिरित्यर्थः। पक्षस्यैक्यमात्रेण शिष्टलक्षणस्य तदसंग्रहः कस्मादित्यत आह ❀ तत्रेति ❀। तर्हि यत्र यावान् पक्षोऽस्ति

प्रकार निकलता है—पक्षसपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व, और अबाधितत्वरूप धर्मों के द्वारा तुल्य हेतु से जिस हेतु के साध्य का व्यतिरेक बोधित होता है, वह हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है।

समाधान – ऐसा लक्षण करने पर जिस प्रति हेतु में भागासिद्धि प्रतीयमान है, ऐसे प्रति हेतु को लेकर भी सत्प्रतिपक्षत्वापत्ति होगी, क्योंकि 'परमाण्वाकाशौ नित्यौ, नीरूपद्रव्यत्वाद्, आत्मवत्'; परमाण्वाकाशावनित्यौ भूतमहत्त्वात्'—यहाँ पर नीरूपद्रव्यत्वरूप हेतु यद्यपि अपने पूरे पक्ष में नहीं रहता, तथापि एक देश में रहने के कारण पक्षवृत्ति कहला सकता है और उसमें पक्षसत्त्वरूप बल सिद्ध हो जाता है। भागासिद्ध हेतु को लेकर सत्प्रतिपक्षता मानी नहीं जा सकती, अन्यथा अन्य हेत्वाभासों की प्रतीति होने पर भी सत्प्रतिपक्षता माननी पड़ेगी, क्योंकि अन्य हेत्वाभासों में जैसी हेत्वाभासान्तरता है, वैसी ही भागासिद्धि में उसकी कोई विशेषता नहीं पाई जाती।

भागासिद्धि का परिहार करने के लिए सर्वपक्ष-सत्त्व की विवक्षा करने पर जहाँ आकाशादिरूप पक्ष एकव्यक्त्यात्मक है, वहाँ सत्प्रतिपक्ष में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ व्यक्ति-समूहात्मकत्वरूप सर्वत्र सुलभ नहीं, अतः हेतु में सर्वपक्षसत्त्व दुर्लभ है। 'सर्व' के स्थान पर 'यावत्' को भी पक्ष का विशेषण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यावत्त्व भी अनेकव्यक्तिरूपत्व होने के कारण एकव्यक्तिक पक्षादि-स्थल पर सुलभ नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह भी है कि पक्षसत्त्वादि चारों धर्म समान रूप से सत्प्रतिपक्षित हेतुओं में सम्भव नहीं, जैसे कथित दोनों हेतुओं में से एक हेतु अन्वयी (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व और अबाधितत्व—इन चार रूपों से युक्त) है और दूसरा हेतु व्यतिरेकी

देव सर्वपक्षसत्त्वाभावेनोक्तलक्षणानुपपत्तेः। एतेन—यावदित्यपि पक्षविशेषणे दोष उक्तप्रायः।

किञ्च—अन्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकिणा केवलव्यतिरेकिणश्चान्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे लक्षणमिदं नास्ति, सपक्षसत्तया तुल्यतायास्तत्राभावात्।

न च सपक्षसत्तया तुल्येनेति लक्षणे तदनुरोधान्न कर्तव्यमेव, तथा सति असाधारणानैकान्तिकतया निश्चितेनापि सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात्। न चान्वयव्यतिरेकि-

---

तत्र तावति पक्षे सत्त्वं विवक्षितमतो नोक्तदोष इत्यत आह ॐ एतेनेति ॐ। यावच्छब्दस्य परिमाणार्थत्वाद्यत्र परिमाणमेव पक्षीकृत्याकाशपरिमाणं नित्यं सर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वादात्मपरिमाणवदाकाशपरिमाणमनित्यं भूताधिकरणमहत्परिमाणत्वात्पृथिवीपरिमाणवदिति प्रयुज्यते तत्र परिमाणस्य परिमाणान्तराभावादव्याप्तिदोष उक्तप्राय इत्यर्थः।

पक्षधर्मत्वादिरूपचतुष्केण समानहेतुबोधितसाध्यव्यतिरेक इति लक्षणे सर्वेति विशेषणोपादानेऽव्याप्त्यन्तरमाह ॐ किं चेति ॐ। आत्मा स्वव्यवहारहेतुप्रकाशोऽदृष्टत्वाद्घटवदिति केवलव्यतिरेकिणाऽऽत्मा प्रत्यक्षः महत्त्वे सत्यश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वाद् घटवदित्यन्वयव्यतिरेकिणः सत्प्रतिपक्षत्वम्, विवादाध्यासितं सर्वं चित्कर्तृकं सावयवत्वादिति केवलव्यतिरेकिणो विगीतमकर्तृकं शरीरं जन्यत्वादात्मवदित्यन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षत्वं तत्रेदं लक्षणं नास्तीत्यव्याप्तिः। सत्प्रतिपक्षत्वं इति भावपरो निर्देशः स चेल्लक्ष्यः किमिति लक्षणाभाव इत्यत आह ॐ सेति ॐ। केवलव्यतिरेकिणश्च त्रिरूपतया सपक्षसत्त्वाभावादित्यर्थः। तर्हि पक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्त्यबाधितविषयत्वैस्तुल्येन बाधितसाध्यव्यतिरेक इत्येतावल्लक्षणं क्रियते तत्सङ्ग्रहार्थमित्यत आह ॐ न चेति ॐ। तत्परित्यागे को दोष इत्यत आह ॐ तथा सतीति ॐ। शब्दो नित्यः कार्यत्वाद् घटवदित्यस्य नित्यः शब्दः आकाशविशेषगुणत्वादित्यनेन सत्प्रतिपक्षता प्रसज्येत पक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्त्याबाधितविषयत्वैस्तुल्यत्वात्तस्यापीत्यर्थः। अन्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकिणा केवलव्यतिरेकिणोऽन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षतैव नास्ति किन्तु केवलव्यतिरेकिणैवान्वयव्यतिरेकिणोऽन्वयव्यतिरेकिणैवेति नियमाभ्युपगमान्नाव्याप्तिरित्याशङ्क्याह ॐ न चेति ॐ। इत्थं नियमाभ्युपगमे को

(सपक्षसत्त्व-रहित) है, वहाँ दोनों हेतुओं में समानबलता कैसे घटेगी ? उस स्थल के अनुरोध पर यदि सपक्ष-सत्त्व का परित्याग कर दिया जाता है, तब असाधारणानैकान्तिक हेतु में भी सत्प्रतिपक्षता का व्यवहार होना चाहिये, क्योंकि इसमें भी सपक्ष सत्त्व को छोड़ कर पक्षसत्त्वादि तीन धर्म पाये ही जाते हैं।

शङ्का—समान धर्मवाले हेतुओं में ही सत्प्रतिपक्षता का व्यवहार होता है, जैसे अन्वयव्यतिरेकी हेतु में अन्वयव्यतिरेकीरूप प्रति हेतु, केवलव्यतिरेकी हेतु में केवलव्यतिरेकी हेतु को लेकर ही सत्प्रतिपक्षता मानी जाती है, विपरीत रूप से नहीं

समाधान—जब कि दोनों हेतुओं में हेत्वाभासान्तरता का निश्चय नहीं, तब सत्प्रतिपक्षता का समन्वय करने के लिए विषम धर्म के हेतुओं में सत्प्रतिपक्षता का मानना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि एक ही पक्ष में दो विरोधी धर्मों का समुच्चय सम्भव नहीं, अतः दोनों में से किसी एक में दोषान्वेषण करना ही होगा, यदि किसी एक हेतु में कोई दोष मिल जाता है, तब दूसरे हेतु का सद्धेतु हो जाना स्वाभाविक है किन्तु केवलव्यतिरेकी हेतु जब अपने साध्य का साधक और विरोधी (साध्याभाव) का बाधक है, तब वह विरोधी पदार्थ चाहे केवलान्वयी के द्वारा प्रसञ्जित हो या अन्वय-व्यतिरेकी के द्वारा, कोई अन्तर नहीं पड़ता। फलतः अन्वयव्यतिरेकी के कार्य का प्रतिबन्धक केवल व्यतिरेकी और केवलव्यतिरेकी हेतु के कार्य का अवरोधक अन्वयव्यतिरेकी होता है—यह तथ्य निरपवाद है। दोनों में से किसी एक को हेत्वाभास और दूसरे को सद्धेतु नहीं माना जा

णैव अन्वयव्यतिरेकिणः, केवलव्यतिरेकिणैव केवलव्यतिरेकिणः सत्प्रतिपक्षता, न व्यत्यासेनापीति नियमोऽभ्युपगन्तुं शक्यः, उभयोरपि अनवगम्यमानदोषान्तरत्वदशायाम् 'एकसम्बन्धिनो दोषस्यावश्यम्भावितया एकतरस्य व्याप्यत्वपक्षधर्मत्वावगमो मे भ्रान्तिरि'ति बुद्धिमादाय प्रतिपत्तुर्निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धमाधातुं केवलव्यतिरेकिणि अन्वयव्यतिरेकिणोऽन्वयव्यतिरेकिणि च केवलव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोः सामर्थ्यस्य दुरपवादत्वात्। एतदेव च सत्प्रतिपक्षत्वस्य दोषत्वाभ्युपगमे मूलं यन्नाम व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिरस्मिन् सति न भवितुमर्हतीति।

अथाभिधत्से—पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वयोगवता बोधितसाध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्ष इति। न, निरस्तप्रायत्वात् पक्षपदे सर्वशब्दविशेषणप्रक्षेपा-

नाम विरोध इत्यत आह ❀ उभयोरिति ❀। अन्वयव्यतिरेकिणि केवलव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोर्निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धमाधातुं केवलव्यतिरेकिणि वाऽन्वयव्यतिरेकिणो निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धमाधातुं सामर्थ्यस्य दुरपवादत्वात्-दुरपह्नवत्वादित्यन्वयः। एतदेवोपपादयति एकतरस्यासिद्ध्यादिदोषान्तरवत्त्वावगमेऽन्यस्य सद्धेतुत्वनिश्चयसम्भवोऽन्यदा तूभयोरप्यनवगम्यमानदोषान्तरत्वदशायां विरुद्धहेतुद्वयोपनीतधर्माध्यासस्यैकधर्मिण्यसम्भवेनैकहेतुसम्बन्धिनो दोषस्याऽऽवश्यकतया कतरस्य व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वावगमो मे भ्रान्तिरिति बुद्धिमाधाय प्रतिपत्तुर्विमर्शयितुरित्यर्थः। इतरेतरनिश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वमस्तु, माऽस्तु सत्प्रतिपक्षता तथा च कोऽत्र दण्डनिपात इत्यत आह ❀ एतदिति ❀। तदेव विशदयति ❀ यदिति ❀। अन्यत्रापि सत्प्रतिपक्षस्वीकरणमिदमेव यदुत समबलप्रतिहेतौ सति व्याप्त्यादिप्रमितिर्भवितुं नार्हतीति ततोऽन्यत्रापि सत्प्रतिपक्षता न स्यादित्यर्थः।

तुल्येनेति विशेषणप्रयुक्तदोषमात्रपरिहारप्रयोजनतया पदान्तरावापपूर्वकं लक्षणं शङ्कते ❀अथेति❀। निश्चितासिद्धादिभावेन सत्प्रतिपक्षताप्रसङ्गनिवारणाय पक्षसत्त्वादिविशेषणं द्रष्टव्यम्। इदं च मृतकल्पं कथमुज्जीवितुमर्हतीत्याह ❀ नेति ❀। निरस्तप्रायत्वे हेतुं कथयति ❀ पक्षेति ❀। सर्वेति विशेषणं पक्षस्योपादीयते न वा? न चेद्भागासिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षता, प्रथमे यत्रैक एव पक्षस्तत्राव्यापनमिति दोषस्यान्वयव्यतिरेकिकेवलव्यतिरेकिणोरितरेतरसत्प्रतिपक्षत्वात्यापकस्य च भावादिति भावः। पार्थिव-

सकता, क्योंकि प्रतिहेतु के रहते-रहते किसी हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता की प्रमिति नहीं हो सकती, सत्प्रतिपक्षता माननी आवश्यक है, फलतः विषम रूपवाले हेतुओं को लेकर विवक्षित सत्प्रतिपक्षता में समबलता का होना सम्भव नहीं, उक्त लक्षण अव्याप्त है।

(२) पक्षसत्त्वादियुक्तेन बोधितसाध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्षः -

शङ्का—पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्ष-व्यावृत्तत्व, अबाधितत्व—इन रूपों से युक्त प्रति हेतु के द्वारा बोधित है साध्य-विपर्यय जिसका, ऐसा हेतु सत्प्रतिपक्ष है। [यहाँ चारों रूपों का होना प्रति हेतु में आवश्यक नहीं, क्योंकि सर्वरूपोपपन्नता विशेषण प्रविष्ट नहीं, अतः विषमरूपोंवाले हेतुओं में भी सत्प्रतिपक्षता बन जाती है]।

समाधान—यह लक्षण भी निरस्तप्राय ही है, क्योंकि पक्ष का सर्व विशेषण नहीं लगाया जाता, तब भागासिद्धि को लेकर भी सत्प्रतिपक्षता होनी चाहिए और यदि सर्व विशेषण लगाया जाता है, तब आकाशादि एकव्यक्त्यात्मक पक्षस्थलीय सत्प्रतिपक्ष में लक्षण अव्याप्त हो जाता है। पक्ष-सत्त्वादि रूपों में सर्वत्व की विवक्षा होने पर केवलव्यतिरेकिघटित-सत्प्रतिपक्ष में अव्याप्ति दिखाई जा चुकी है। पार्थिवपरमाणुरूपरसगन्धस्पर्शाः अनित्याः, पाकजत्वाद्, घटवत्। पार्थिवपरमाणुरूपरसगन्धस्पर्शाः नित्याः परमाणुगतत्वाद्, आप्यपरमाणुगतरूपादिवत्—यहाँ पर भावकार्यत्वरूप उपाधि के द्वारा जब अन्तिम हेतु में व्याप्यत्वासिद्धि निश्चित है, तब भी सत्प्रतिपक्षता का कथित लक्षण घट जाने के कारण अतिव्याप्ति होती है।

प्रक्षेपपक्षोक्तदोषस्य केवलव्यतिरेक्यव्यापकत्वस्यापि भावात् । किञ्च—सोपाधिमसिद्धभेदं वदतां मते सोपाधितया निश्चीयमानेऽपि सर्वं यथोक्तमिदं लक्षणमस्तीति तेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यात् ।

अथ ब्रूषे—असिद्धविरुद्धानैकान्तिकबाधितविषयत्वहीनेन बोधितसाध्यासत्त्वः प्रकरणसम इति । नैतदपि सुस्थम्, आपाततोऽस्फुरद्दोषेण वस्तुगत्या वासिद्ध्यादिदोषवता सत्प्रतिपक्षतास्वीकारात् तदव्यापकत्वात् ।

किञ्च—विरुद्धार्थगोचरयोः सत्प्रतिपक्षहेत्वोर्मध्येऽवश्यमन्यतरासिद्ध्यादिदोषेण भवितव्यम्, अन्यथा धर्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गात् । तत्रैकस्य व्यवच्छिद्य दोषानिश्चयात् प्रतिहेतावप्यसिद्ध्यादिदोषाशङ्कायामापतितायाम् 'असिद्ध्यादिहीनेने'ति-

---

परमाणुरूपरसगन्धस्पर्शा अनित्याः पाकजत्वात् घटरूपादिवदित्यस्य पार्थिवपरमाणुरूपादयो नित्याः परमाणुरूपत्वादाप्यपरमाणुरूपादिवदित्यनेन भावकार्यत्वेनोपाधिना निश्चितव्याप्यत्वासिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यतिव्याप्तिमाह ॐ किं चेति ॐ ।

भागासिद्धादिनाऽपि सत्प्रतिपक्षताप्रसङ्गं परिहर्तुं प्रकारान्तरेण लक्षणं शङ्कते ॐ अथेति ॐ । असिद्धाद्याभासचतुष्केण सत्प्रतिपक्षतानिवारणाय क्रमेण विशेषणचतुष्कं द्रष्टव्यम् । असिद्धत्वादिदुष्टत्वप्रतीतिरहितेन बोधितसाध्यविशेषणत्वं किं वा वस्तुतोऽप्यसिद्धत्वादिहीनेनेति विकल्प्य द्वितीयम् अव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ आपातत इति ॐ । वर्णत्वमुत्पत्तिमदाश्रयं वर्णाश्रयजातित्वात्सत्तावदित्यादेर्वर्णा नित्याः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदित्यादिना झटित्यप्रतीयमानदोषेण सत्प्रतिपक्षत्वस्वीकारादव्याप्तिरित्यर्थः । नापि प्रथमोऽसम्भवादित्यभिप्रेत्याह ॐ किं चेति ॐ । वर्णा नित्याः ध्वन्यन्यत्वे सति श्रावणत्वाच्छब्दत्ववद्वर्णा अनित्याः सामान्यवत्त्वे सति श्रावणत्वात् ध्वनिवदित्यनयोः प्रतिहेत्वोर्मध्येऽन्यतरस्यासिद्ध्यादिदोषेणावश्यं भवितव्यमिति निश्चयादप्रतीयमानतथात्वमसिद्धमित्याशयः । उभयोरपि व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां प्रमितत्वात्सद्धेतुतैव किं न स्यादित्यत आह ॐ अन्यथेति ॐ । उभयोरपि सद्धेतुत्वे नित्यत्वानित्यत्वलक्षणविरुद्धधर्मसम्बन्धाद्धर्मिभेदप्रसङ्ग इत्यर्थः । ननु द्वितीयहेतौ न सत्प्रतिपक्षासिद्ध्यादिदोषस्तस्य प्रथमहेतुनिष्ठतयानिश्चयादतोऽसिद्ध्यादिहीनेनेति लक्षणांशसिद्धिरित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ । हेतोः प्रतिहेतोर्वैकस्य विशेषदोषनिश्चये कारणाभावादेकतरसम्बन्धित्वनिश्चयात्प्रतिहेतावपि तच्छङ्कायामापतितायां सत्यामसिद्ध्यादिहीनेनेति विशेषणासिद्ध्या विशिष्टलक्षणासिद्धिरित्यर्थः । हेतुप्रतिहेतुत्वो-

---

जो आचार्य सोपाधिक हेतु को असिद्ध का एक भेद मानते हैं, उनके मत में सत्प्रतिपक्षता की वहाँ इष्टापत्ति नहीं की जा सकती ।

(३) असिद्धविरुद्धानैकान्तिकबाधत्वहीनेनबोधितसाध्यासत्त्वः—

'असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनैकान्तिकत्व और बाधितत्व धर्मों से रहित हेतु के द्वारा जिस हेतु के साध्य का असत्त्व बोधित होता है, वह सत्प्रतिपक्ष है'—यह लक्षण भी निर्दोष नहीं, क्योंकि जो हेतु वस्तुगत्या असिद्धत्वादि से युक्त है, किन्तु आपाततः जब असिद्धित्वादि दोषों का परिस्फुरण नहीं हुआ, तब वह सत्प्रतिपक्ष माना जाता है । वहाँ यह लक्षण अव्याप्त है, क्योंकि हेतु वस्तुगत्या असिद्धत्वादि से हीन नहीं ।

यह भी एक निश्चित तथ्य है कि विरुद्धार्थ-विषयक सत्प्रतिपक्षभूत दोनों हेतुओं में से एक हेतु अवश्य ही असिद्ध्यादि दोष से युक्त होता है, अन्यथा [शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्, शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्—यहाँ दोनों हेतुओं के निर्दुष्ट होने पर] एक ही शब्दादिरूप धर्मी में नित्यत्व और अनित्यत्वरूप विरुद्ध धर्मो का अध्यास मानना होगा, फलतः शब्दरूप धर्मी एक न रह कर भिन्न हो जायगा । दोनों प्रति हेतुओं में से किसी एक को निर्देश करके यह नहीं कहा जा सकता कि 'अयमेव असिद्ध्यादिमान् । अतः प्रतिहेतु में भी दोष की आशङ्का उपस्थित

लक्षणांशस्यानिश्चयात् लक्षणस्य दुरवधारणत्वम् ।

न च वाच्यं किमर्थं सत्प्रतिपक्षहेत्वोरन्यतरासिद्ध्यादिकमवश्यमभ्युपेयम्, सत्प्रतिपक्षलक्षदोषदुष्टत्वादेव तयोर्न धर्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यस्तत्वमापत्स्यत इति। यतोऽवश्यं दुष्टे हेतौ व्याप्तेः पक्षधर्मताया वाऽभावेन भवितव्यम्, तत्सत्ताभ्युपगमे साध्यसत्ताया अभ्युपगमप्रसङ्गात्। बाधादीनामप्युपाधिख्यापनद्वारा व्याप्त्यादिभङ्ग एव पर्यवसानात्।

सत्प्रतिपक्षत्वादुन्नीयमानोऽपि व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गो न विशिष्यैकस्मिन् हेतौ विर्णेतुं शक्यः, अन्यतरस्मिन् व्याप्त्यादिभङ्गेनापि सत्प्रतिपक्षत्वस्योपपत्तेः। अतो विशेषनिष्ठतया तदुन्नयने स्थिते यदि साक्षादसौ अवधार्यते तदानीमसिद्धिः। अथ लिङ्गतोऽनुमीयत, तदाऽनैकान्तिकादेरन्यतमं दूषणं वस्तुगत्याऽस्ति सत्प्रतिपक्षे।

मध्येऽन्यतरस्यासिद्ध्यादिकमभ्युपेयमिति यदुक्तं तत्किमर्थमभ्युपगम्यते। धर्मिणो विरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गादिति चेन्न, सत्प्रतिपक्षतालक्षणदोषदुष्टत्वादेव तदप्रसक्तेरित्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। कुतो न वाच्यमित्यत आह ❀ यत इति ❀। व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामुपेतस्यैव दुष्टत्वस्वीकारे किं बाधकमित्यत आह ❀ तदिति ❀। व्याप्त्याद्यभ्युपगमे व्यापकसत्ताऽभ्युपगन्तव्याऽन्यथा व्याप्तेरेवासिद्धेरिति विरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गस्तदवस्थ इत्यर्थः। यथा बाधादीनां व्याप्त्यादिभङ्गनिरपेक्षतया दोषत्वमेवं सत्प्रतिपक्षस्यापि तान्नरपेक्षस्य दोषत्वं किं न स्यादित्यत आह ❀ बाधेति ❀। अतोऽसिद्धव्यतिरिक्तहेत्वाभासस्य व्याप्त्यादिभङ्गलिङ्गत्वनियमात् सत्प्रतिपक्षत्वेनापि व्याप्त्यादिभङ्ग उन्नेय इति यावत्। सत्प्रतिपक्षत्वादुन्नीयमानो व्याप्त्यादिभङ्गः प्रथमहेतुनिष्ठतयोन्नीयतेऽन्यथा प्रतिहेतुनिष्ठत्वे सत्प्रतिपक्षत्वस्यैवानुपपत्तेरित्यत आह ❀ सदिति ❀। अर्थापत्तेरन्यथोपपत्तेरिति हेतुमाह ❀ अन्येति ❀। अन्यतरदोषेणापि विरुद्धधर्माध्यासपरिहारादापाततो दोषस्फुरणाच्च सत्प्रतिपक्षत्वोपपत्तिरित्यर्थः। अस्तु विशेषेणैव तदुन्नयनं किमेतावता प्रस्तुते स्यादित्यत आह ❀ अत इति ❀। अविशेषनिष्ठतयेति पदच्छेदः। हेतुप्रतिहेत्वोरन्यतरमात्रनिष्ठतया व्याप्त्यादिभङ्गोन्नयने स्थितेऽसौ साक्षादुन्नेय उत लिङ्गव्यवधानेन, यद्याद्यस्तदाऽसावसिद्धः स्यादित्याशयः। द्वितीयं प्रत्याह ❀ अथेति ❀। लिङ्गव्यवधानेन व्याप्त्यादिविरहनिश्चयेऽनैकान्त्यादीनामन्यतमदूषणं सत्प्रतिपक्ष

होगी, तब वहाँ 'असिद्धयादिहीनेन'—यह अंश अनिश्चित होने के कारण पूरा लक्षण दुरवबाध हो जाता है।

शङ्का—कथित सत्प्रतिपक्षभूत दोनों हेतुओं में से किसी एक हेतु में असिद्ध्यादि दोष मानने की क्या आवश्यकता? उसके बिना ही सत्प्रतिपक्षरूप दोष से दुष्ट होने के कारण वे एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों के आपादक नहीं हो सकते।

समाधान—दुष्ट हेतु में व्याप्ति या पक्षधर्मता का अभाव निश्चित है, व्याप्त्यादि के न होने से व्याप्यत्वासिद्ध्यादि का होना अनिवार्य है। व्याप्त्यादि की सत्ता मानने पर साध्य-साधकत्व मानना ही पड़ेगा और विरुद्ध धर्मों का अध्यास-प्रसङ्ग भी बना ही रहेगा। व्याप्त्यादि 'बाधादि दोषों में व्याप्ति या पक्षधर्मता का भङ्ग नहीं होता'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पक्षेतरत्वादि उपाध्युद्भावन के द्वारा बाध भी व्याप्त्यादि का भञ्जक ही माना जाता है, जैसा कि श्री उदयनाचार्य ने कहा है—'बाधेन वा उपाधिरुन्नीयताम्'' (न्या. कु. पृ. १८४)।

सत्प्रतिपक्ष के द्वारा उन्नीयमान व्याप्ति और पक्षधर्मता का भङ्ग किसी एक हेतु में निर्णीत नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों हेतुओं में से किसी एक हेतु में व्याप्त्यादि का भङ्ग हो जानेमात्र से सत्प्रतिपक्षत्व की उपपत्ति हो जाती है, अतः अविशेषतः किसी एक हेतु में दोष का उन्नयन करते समय यदि किसी लिङ्ग को माध्यम न बना कर साक्षात् दोष की कल्पना

तत्कथमसिद्ध्याद्यन्यतमं नाभ्युपेयं तत्र। तस्मात्तस्य तस्य दोषस्य कुत्र द्वयोर्मध्येऽस्तित्वमस्तीत्यन्यतरानिर्धारणे प्रतिहेतावपि तच्छङ्कायां सत्यामसिद्ध्यादिहीनेनेति लक्षणांशस्य दुरवधारणत्वं दुष्परिहरमेव।

स्यादेतत्—अस्तु लक्षणांशस्यासिद्ध्यादिहीनत्वस्यानिश्चयः। संशयोऽपि तावदस्ति। तत्संशयेन शङ्कितसत्प्रतिपक्षतादोषग्रस्तत्वादेवासाधकत्वं दूष्यानुमानस्य शङ्कितोपाधाविव असिद्धिशङ्कया। न च यामसिद्ध्यादिशङ्कामुपजीव्य सत्प्रतिपक्षादिशङ्कादोषः स्यात्, सैव तदा दोष इति वाच्यम्, असिद्ध्यादिशङ्काया एव तादृशप्रतिहेतुदर्शनमूलकतया तदुपजीवकत्वादिति।

मैवम्, यतः शङ्कितोपाधिनाऽसिद्धेनाप्येवं सत्प्रतिपक्षता प्रसज्येत।

स्यादित्यर्थः। अतः सत्प्रतिपक्षेऽसिद्ध्याद्यभ्युपगमः किमर्थं इति कथमवोच इत्याह ❀ कथमिति ❀। एवं विशेषणांशासिद्ध्या विशिष्टलक्षणासिद्धिमुपपादितामुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। आदिना असिद्ध्यादिहीनत्वविशेषणस्य निश्चयाभावेऽपि सत्प्रतिपक्षतायां दोषत्वं निराकर्त्तुमशक्यमिति।

पुनः शङ्कते ❀ स्यादेतदिति ❀। तन्निश्चयाभावे कथं दोषत्वं सत्प्रतिपक्षत्वस्य तत्राह ❀ संशयोऽपीति ❀। दोषहीनस्य निश्चयाभावेन नियतत्वाभावेऽपि सन्दिग्धतया पाक्षिकमस्तित्वमस्त्येवेत्यर्थः। दोषहीनत्वविशेषणस्य सन्दिग्धतया पाक्षिकप्राप्त्या किं स्यादित्यत आह ❀ तदिति ❀। तत्संशयेन पाक्षिकप्राप्त्या दूष्यानुमानस्य प्रथमहेतोरसाधकत्वं भविष्यति। कुत इत्यत उक्तं शङ्कितः सत्प्रतिपक्षतालक्षणो दोषस्तेन ग्रस्तत्वादिति। दोषाशङ्कया हेतोराभासत्वे दृष्टान्तमाह ❀ शङ्कितेति ❀। शङ्कित उपाधिर्लक्षणसंशयाच्छाकाद्याहारपरिणत्यादिर्यस्य तस्मिन्, शङ्क्यमानोपाधिनाऽसिद्धिशङ्कया ग्रस्ततया दूष्यानुमानस्य साध्यासाधकत्ववदित्यर्थः। सत्प्रतिपक्षताऽसिद्ध्यादिशङ्कामुपजीव्य दोषो भवति नान्यथा यतो दुष्टे हेतौ व्याप्तेः पक्षधर्मताया वाऽभावेन भवितव्यमित्यादौ कथितन्यायेन तथा च सैव दोषोऽस्तु उपजीव्यतया पुरः स्फूर्तिकत्वादित्यत आह ❀ न चेति ❀। कुतो न वाच्यमित्यत आह ❀ असिद्ध्यादिति ❀। सत्प्रतिपक्षताशङ्कामुपजीव्यासिद्ध्यादिशङ्काया जायमानत्वात्तादृशहेतुदर्शनमूलतया सन्दिग्धासिद्ध्यादिहीनप्रतिहेतुदर्शनासिद्धि सा हेतोरसिद्ध्यादिशङ्का, सत्प्रतिपक्षता शङ्का स्वात्मनो दोषत्वार्थमसिद्ध्यादिशङ्कामुपजीवति, असिद्ध्यादिशङ्का तु स्वसिद्ध्यै सत्प्रतिपक्षताशङ्कामिति परस्परोपजीव्यभावाविरोध इति यावत्।

अतिप्रसङ्गेन निराकरोति ❀ मैवमिति ❀। अतिप्रसङ्गमेव हेतुतया स्पष्टयति ❀ यत इति ❀।

की जाती है, तब वह दोष असिद्ध नामक हेत्वाभास होगा और यदि किसी लिङ्ग के द्वारा दोष अनुमित होता है, तब अनैकान्तिकादि मे से कोई एक दोष होगा, फलतः सत्प्रतिपक्ष में वस्तुगत्या कोई अन्य दोष अवश्य मानना पड़ेगा। जब दोनों हेतुओं में से किसी एक हेतु में दोष का अस्तित्व अनिवार्य है, तब प्रति हेतु में भी उसकी शङ्का हो सकती है, अतः लक्षण-घटक 'असिद्ध्यादिहीनेन'—इस अंश का अघटित होना दुष्परिहर है।

शङ्का—लक्षण-घटक 'असिद्ध्यादिहीनेन'—यह अंश यदि निश्चित नहीं हो पाती, तब संशय ही मान लिया जाय, शङ्कित सत्प्रतिपक्ष दोष के द्वारा भी दूष्य अनुमान में वैसे ही असाधकत्व आ जाता है, जैसे असिद्धि की आशङ्का को लेकर शङ्कित उपाधि के होने पर: जिस असिद्ध्यादि की शङ्का को लेकर शङ्कित सत्प्रतिपक्ष को दोष माना जाता है, उस शङ्का को लेकर शङ्कित असिद्ध्यादि को ही प्रधान दोष मान कर सत्प्रतिपक्ष का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रति हेतु को देख कर ही असिद्ध्यादि की शङ्का होती है, अतः प्रतिहेतु-घटित सत्प्रतिपक्ष दोष ही उपजीव्य ठहरता है, उसका अपलाप क्योंकर होगा ?

समाधान—उपाधि की शङ्का भी किसी-न-किसी प्रति हेतु को देख कर ही होती है,

ननु भवत्वेवमपि, तेन किन्नाम भवेत् ? तस्यासिद्धतया हीनबलस्य सिद्ध्यादिमता पक्षबाधं विधूय न किञ्चिदन्यत्। बाधादेव तर्हि न तेन सत्प्रतिपक्षतेति चेन्न, सन्दिह्यमानासिद्धतया सत्प्रतिपक्षहेतोरपि तर्हि कथं परहेत्वसाधकत्वप्रसाधकत्वं भविष्यति, हेत्वाभासत्वाविशेषात्। हेत्वाभासान्तरं न दोषसंशयापादकमतो नैवमिति चेन्न, तर्हि यमुपाधिमादाय न्यूनबलतया बाध्यता, तामादायैव तथाविधोपाधेर्दोषसंश-

---

अनिश्चितदोषहीनत्वेनापि सत्प्रतिपक्षधर्मत्वे शङ्कितोपाधितया सन्दिग्धासिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षधर्मता स्यादित्तदुदाहरणं नित्याः परमाणवो भावत्वे सत्यकार्यत्वादात्मवदित्यस्यानित्याः परमाणवः पृथिव्यादिजातीयत्वाद् घटादिवदित्यनेन विपक्षबाधकपक्षानुकृतपक्षरहिततया शङ्कितोपाधिनाऽपीत्यर्थः। नाऽयं प्रसङ्ग एवमिष्टत्वादेवेति चोदयति ❀ नन्विति ❀। ननु भवत्वेवमपीति केचित्पठन्ति तस्मिन् पाठे शङ्कितोपाधिनाऽसिद्धेनाऽपि सत्प्रतिपक्षतया स्यादित्याशङ्क्य सिद्धान्त्येवाह ❀नन्विति❀। पुनः पृच्छति ❀किमिति❀। तेन सत्प्रतिपक्षत्वन्न भवेदित्यर्थः। प्रथमपाठ एक एवायङ्ग्रन्थस्तदा तेनापि सत्प्रतिपक्षत्वे किमनिष्टं स्यादित्याशयः। उत्तरमाह ❀ तस्येति ❀। तस्य प्रतिहेतोरसिद्धत्वेन हीनबलस्य सिद्धयादिमताऽऽद्यहेतुना पक्षबाधसाध्यबाधं विहाय नान्यत् किञ्चिद्भवेत् प्रबलेन दुर्बलबाधस्य युक्तत्वादिति कालात्ययापदिष्टेऽपि प्रकरणसमलक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। तर्हि शङ्कितोपाधेरुत्तरहेतोः पूर्वहेतुना बाधितत्वेनाभासत्वात्तेन प्रथमहेतोः सत्प्रतिपक्षता न स्यादिति लब्धावसरः प्रत्यवतिष्ठते ❀ बाधादिति ❀। अन्योन्यं समबलयोः सत्प्रतिपक्षता समबलत्वं चान्योन्यहेतुप्रतिदर्शनात् ज्ञायते बाधे तु नैवमित्याशयः। प्रतिहेतौ दोषस्य सन्दिग्धतया पूर्वहेत्वसाधकत्वप्रसाधकत्वं न सिद्धयति सन्दिग्धासिद्धयादितया तस्याभासत्वादिति परिहरति ❀ समिति ❀। हेत्वाभासेनासत्प्रतिपक्षतापादनं न घटते यदि तर्हि वाद्युक्तो हेतुरसाधकः सत्प्रतिपक्षत्वादित्यपि सत्प्रतिपक्षवादिना वक्तुमयुक्तमसिद्धयादिहीनत्वस्यानिश्चयेन प्रतिहेतोः संदिग्धासिद्धतयाऽऽभासत्वाविशेषादित्याशयः। सोपाधिकं यदसिद्धं तन्न दोषसंशयापादकं सत्प्रतिपक्षस्तु तदापादको शङ्कितोपाधित्वेन न्यूनबलत्वाभावादतो न सोपाधिकेन सत्प्रतिपक्षतापादनाभावेऽपि सत्प्रतिपक्षहेतोः परहेत्वसाधकत्वं न भविष्यतीत्यभिसन्धिराशङ्कते ❀ हेत्वाभासान्तरमिति ❀। वैषम्यासिद्धया परिहरति ❀ नेति ❀ यदि दोषसंशयजनकेन सत्प्रतिपक्षत्वमिष्टं तर्हि तथाविधोपाधेः शङ्कितोपाधेर्दोषसंशयक्षमत्वादेव

अतः वहाँ भी सन्दिग्ध सत्प्रतिपक्षता प्रसक्त होगा किन्तु जहाँ पर उपाधि का निश्चय होता है, [वहाँ निश्चित सत्प्रतिपक्षता न मानकर असिद्धरूपता ही मानी जाती है, अतः उपाधि का सन्देह होने पर सन्दिग्धासिद्धता ही माननी उचित है, सत्प्रतिपक्षता नहीं] ।

सन्दिग्ध उपाधि-स्थल पर भी सत्प्रतिपक्षता मान लेने में क्या आपत्ति ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस हेतु में उपाधि का सन्देह होता हैं, वह हेतु अपने प्रति हेतु से हीनबल होने के कारण समानबलता और सत्प्रतिपक्षता सम्भव नहीं रह जाती ।

शङ्का—सन्दिग्ध उपाधि-स्थल पर समानबलता—प्रयुक्त सत्प्रतिपक्षता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जिस हेतु में उपाधि का सन्देह होता है, उसका प्रति हेतु से बाध हो जाता है। सत्प्रतिपक्षता-प्रयुक्त सन्देह नहीं होता ।

समाधान— यदि सन्दिग्ध उपाधि-स्थल पर सत्प्रतिपक्षता नहीं, तब जहाँ प्रतिहेतु देख कर सन्दिग्ध असिद्धि होती है, वहाँ भी सत्प्रतिपक्षता नहीं मानी जा सकेगी, क्योंकि असिद्धि का सन्देह चाहे उपाधि के सन्देह से हो या प्रति हेतु को देख कर सन्दिग्धासिद्धतारूप हेत्वाभासता में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

शङ्का—सन्दिग्ध उपाधि के द्वारा असिद्धयादिरूप हेत्वाभासान्तरता आती है, सत्प्रतिपक्षरूप दोष का संशय नहीं हो सकता ।

समाधान—जिस उपाधि को लेकर हेतु में न्यूनबलत्व होने के कारण बाध्यता आती

यक्षमत्वादेव।

किञ्च क्वचित्सत्प्रतिपक्षत्वनिश्चयाभावे संशयानुपपत्तिः।

अथान्यथाकारं लक्षणमभिधत्से—असिद्धविरोधव्यभिचारकालात्ययापदेशविरहितया प्रतीयमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः, स प्रकरणसम इति। एतदपि विचारासहम्, केन तथा प्रतीयमानत्वमभिमतं किं प्रत्यनुमानप्रयोक्त्रा, अथ प्रथमानुमानवादिना, द्वाभ्यामपि वा, येन केनचिद्वा?

न तावदाद्यः, स्वयं दोषं जानतोऽपि दूषणान्तरापरिस्फूर्तौ यद्ययं दोषं न प्रतिसन्धास्यति तदाऽभीष्टमेव। अथ प्रतिसन्धास्यति तदानीमन्यथाऽपि ममास्फुरद्दोषान्तरस्य पराजये अनेन कक्षान्तरारूढायां कथायां शाखान्तरं वा सङ्क्रमितुमवकाशमासादयिष्यामीत्यभिप्रायवतोऽल्पप्रज्ञस्य, मयि वदत्यसत्पक्षोऽपि निर्वहतीति लोके

तेनापि सत्प्रतिपक्षत्वं। तदेव कथमित्यत आह '॥ तर्हि यमिति ॥। यथा सत्प्रतिपक्षस्थले द्वितीयस्य दुष्टत्वसंशये प्रथमेऽपि दोषशङ्का तथाऽत्राप्युपाधिसन्देहेन द्वितीयस्य सन्दिग्धासिद्धयादिदोषतया प्रथमेऽपि सन्देहो जायतेऽत उभयथाऽपि दोषसंशयजनकत्वस्य तुल्यत्वान्न वैषम्यमित्यर्थः। यदुक्तं शङ्कितसत्प्रतिपक्षत्वं तन्न सम्भवतीत्याह ॥ किं चेति ॥। उक्तयुक्त्या सर्वत्र सत्प्रतिपक्षोदाहरणं सत्प्रतिपक्षत्वसंशयः क्वचित्तन्निश्चयाभावे कथं स्यादन्यत्रानिश्चितस्य संशयकोटित्वाभावान्निश्चयपूर्वकत्वात्संशयस्येत्याशयः।

प्रकारान्तरेण लक्षणं शङ्कते ॥ अथेति ॥। असिद्धयाविरहितेन बोधितसाध्यविपर्ययः प्रकरणसम इत्युक्त उक्तानवधारणलक्षणदोषपरिहाराय प्रतीयमानेति विशेषणमिह तु प्रतीयमानत्वविशेषणाधिक्यान्न पूर्वोक्तदोषावकाशस्तथा प्रतीयमानत्वस्य निश्चेतुं शक्यत्वाद्वस्तुतोऽसिद्धयादिमत्वेऽपि न तथा प्रतीतिरपि तु तद्धीनत्वेति तात्पर्यम्। पराकरोति ॥ एतदिति ॥। विचारासहत्वं कथमित्यत आह ॥ केनेति ॥। हृदि कृत्वा विकल्पान् करोति ॥ किमित्यादिना ॥। कस्मिन् सति किं स्यादित्यत आह ॥ न तावदिति ॥। अल्पप्रज्ञस्य स्वप्रयोक्तव्यप्रतिहेतावसिद्धयादिदोषं जानतोऽपि वादिप्रयुक्तहेतौ सत्प्रतिपक्षत्वातिरिक्तासिद्धयादिदोषान्तराऽपरिवृत्तौ स्फुटदोषेणापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षीकरणदर्शनादित्यन्वयः। व्यक्तदोषेण सत्प्रतिपक्षीकरणे कोऽभिप्रायस्तस्येत्यत आह ॥ यदिति ॥। यद्यस्य वादी प्रतिहेतोर्दोषं न प्रत्यभिजानाति तदा ममेष्टं जेतृत्वमेव ज्ञाततत्त्वस्यैव कथाधिकारादथ प्रतिसन्धास्यति तदानीमनेन—प्रतिहेतूपन्यासेन कथायां कक्षान्तरारूढायां सत्यां शाखान्तरं—पदकान्तरं सङ्क्रामयितुमवकाशमासादयिष्यामीत्यभिप्रायवतः। एवमभिप्राये मूलमाह ॥ अन्यथाऽपीति ॥। अप्रतिपत्तेर्विप्रतिपत्तिः श्रेयसीति न्यायादित्यर्थः। उद्दण्डपण्डितस्यापीत्यम्भूतप्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षीकरणं दृश्यत इत्याह ॥ प्रौढेति ॥। तस्याऽप्यभिप्रायमाह ॥ मयीति ॥।

है, उसी उपाधि को लेकर दोष का सशय भी हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि यदि कहीं सत्प्रतिपक्षता का निश्चय हो तब कहीं सत्प्रतिपक्ष का सन्देह भी माना जा सकता है, किन्तु कथित क्रम से असिद्धत्वादि-हीनता, का निर्णय न होने के कारण कहीं भी सत्प्रतिपक्षता का निश्चय नही हो पाता, तब उसका संशय क्योंकर उपपन्न होगा?

(२) असिद्धादिभिन्नत्वेन प्रतीयमानेन तथा—

असिद्ध, विरोध, सव्यभिचार और बाध से भिन्नत्वेन प्रतीयमान हेतु के द्वारा जिस हेतु के साध्य का बाध बोधित होता है, वह सत्प्रतिपक्ष है—ऐसा लक्षण भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ सन्देह होता है कि किस वादी के द्वारा कथित प्रतीयमानता विवक्षित है? (१) प्रत्यनुमान-प्रयोक्ता के द्वारा? या (२) स्थापनानुमान-प्रयोक्ता के द्वारा? या दोनों के द्वारा? अथवा किसी भी वादी के द्वारा? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि इस वादी के लिये असिद्धादि-भिन्न हेतु का प्रयोग अनिवार्य नहीं, क्योंकि कुटिल व्यक्ति जान-बूझ कर असिद्धादि हेतुओं का प्रयोग इस आशय से कर देता है कि यदि स्थापनावादी को हमारे हेतु के दोष का

प्रकर्षदर्शनार्थम्, कथमपि ग्रन्थकारादिभिरुक्तस्य वा तथाविधप्रतिहेतोर्निर्वाहार्थमन्यानुयुक्तस्य प्रौढप्रज्ञस्य स्फुरद्दोषेणापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षीकरणदर्शनात्। तत्र परेण दोषानुद्भावने जयस्यापि भावात्।

किञ्च—प्रतीयमानता यदि निश्चीयमानता विवक्षिता, तदानीमसम्भव एव, यतो विरुद्धार्थयोरेकस्यावश्यं दोषः, स च कस्यास्त्विति तदा निर्धारयितुमशक्यतया प्रतिहेतावपि तत्संशयात्। अथ सम्भावना प्रतीयमानता, तत्रोद्भावनसम्भावनां दूषयन्तो यद्वक्ष्यामस्तदेव दूषणमतिदेष्टव्यम्।

नापि द्वितीयतृतीयचतुर्थाः, परबुद्धेर्दुरवधारणतया परस्यासिद्ध्यादिविरहित्वबुद्धिरत्र भविष्यतीत्यग्रेऽवधारयितुं प्रमाणाभावेनाशक्यत्वात् कथं सत्प्रतिपक्षतां

मयि वदत्यसत्पक्षोऽपि निर्वहति किमु सत्पक्ष इति लोके स्वातिशयप्रकटनार्थम्। तस्यैव पुनरभिप्रायान्तरमाह ❀ कथमपीति ❀। ग्रन्थकारैर्गुरुभिर्वा प्रयुक्तस्य स्फुटदोषस्य प्रतिहेतोः कथं निर्वाह इत्यन्येन शिष्येण वादिना वा पृष्टस्य तन्निर्वाहार्थं सत्प्रतिपक्षीकरणदर्शनात्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। तत्र विजयफलमपि पाक्षिकमस्त्येवेत्याह ❀ तत्रेति ❀। एकान्तं पराजयात्परं जयसंशय इत्याशयः।

प्रतीयमानत्वमपि किं निश्चीयमानत्वमुत सम्भावनेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ किञ्चेति ❀। असिद्ध्यादिसद्भावे सन्देहासत्वात्तद्विरहनिश्चयः किं नेष्यते इत्यत आह ❀यत इति❀। स दोषो वादिप्रयुक्तहेतुनिष्ठतया निश्चीयते इत्यत आह ❀ स चेति ❀। द्वितीयमनुवदति ❀ अथेति ❀। अपवदति ❀। ❀ तत्रेति ❀। व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गदोषप्रकृतहेत्वपेक्षविशेषवत्त्वेनानुद्भाव्यमानतया सम्भाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः स प्रकृतः प्रकरणसम इति लक्षणे यद्युद्भावनाकालात् पूर्वकालिकासम्भावना विवक्षिता, तदा पश्चादुक्तेऽपि प्रतिहेतुदोषे पूर्वकालिकानुभावने प्रतीकारो न कश्चिदिति सर्वहेत्वाभासः सत्प्रतिपक्षीकरणं स्याद्, अथोद्भावनस्य योऽवसरो भविष्यति तत्कालिकतया, तदा सत्प्रतिपक्षाद्युत्पादककाले स नास्तीति विशेषणाभावाल्लक्षणाभाव इत्यनुद्भावनायाः सम्भावनानिरासयुक्त्यैव निरस्तं स्यादित्याशयः।

एवमाद्यं कल्पमपोह्य परिशिष्टानपवदति ❀ नापीति ❀। वादिप्रयुक्तहेतोः सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञाय लक्षणप्रदर्शनेन कथं तां व्युत्पादयेत् कथं वा नेत्यत आह ❀ परेति ❀। परस्यात्र प्रतिहेतावसिद्ध्यादिदोषरहितत्वबुद्धिर्भविष्यतीति निश्चेतुमशक्यत्वादशक्यत्वं वा कथं? परबुद्धेः प्रमाणाभावेन दुरवधारणतयेति। प्रतिहेतावुपन्यस्ते परेण दोषानुद्भावनलिङ्गेन पश्चात् ज्ञातुं शक्यत इत्यत आह ❀ अग्र इति ❀। प्रतिहेतूपन्यासकाल एव तथा प्रतीयमानत्वमुपयुक्तं प्रामाणिकव्यवहारस्य निश्चयपूर्वकत्वादिति यावत्। प्रतिहेतोर्निर्दोषतया स्वेन निश्चितत्वात्परस्याप्यत्र दोषाभावबुद्धिर्भविष्यतीति सम्भावनेन दृष्टफलप्रवृत्ति-

---

स्फुरण नहीं होता, तब हमारी विजय है और यदि दोष का परिस्फुरण हो भी गया, तब हमको कक्षान्तर या हेत्वन्तर के प्रयोग का लाभ मिलेगा। प्रौढप्रज्ञ व्यक्ति भी यह सोच कर सदोष हेतु का प्रयोग कर डालता है कि मैं असद् हेतु का भी निर्वाह कर सकता हूँ अथवा किसी शिष्यादि के द्वारा सदोष हेतु के प्रयोग एवं उसके समर्थन-प्रकार की जिज्ञासा प्रकट करने पर वैसा अभिनय प्रस्तुत कर देता है। यदि स्थापनावादी के द्वारा किसी दोष का उद्भावन नहीं किया जाता, तब विजय भी सम्भावित है।

प्रतीयमानता का अर्थ यदि निश्चीयमानता किया जाता है, तब तो असम्भव ही हो जाता है, क्योंकि विरुद्धार्थक प्रयुक्त दो हेतुओं में कौन सदोष है—ऐसा निर्णय ही नहीं किया जा सकता, अतः प्रति हेतु में भी दोष का संशय ही रहता है, निश्चय नहीं हो सकता। यदि प्रतीयमानता का अर्थ सम्भाव्यता किया जाता है, तब सम्भावना-पक्ष के वक्ष्यमाण दोष यहाँ भी दिखाये जा सकते हैं।

द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि प्रथम वादी के लिये दूसरे

प्रतिज्ञाय व्युत्पादयेत्। शङ्कान्तरञ्चात्र निरसिष्यामः।

एतेन असिद्धिविरोधकालात्ययापदेशव्यभिचारवत्तया व्याप्तिपक्षधर्मताविरहवत्तया वाऽगृह्यमाणेन बोधितसाध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्ष इति निरस्तम्। केनागृह्यमाणत्वमिति निर्वक्तुमशक्यत्वात्।

किञ्च—सर्वेषामेवैषां लक्षणानां धर्म्यादिग्राहकानुमानबाधितेऽपि गतत्वादतिव्यापकत्वम्। एतेन—स्वार्थानुमाने तदाभासेऽपि वा सत्प्रतिपक्षस्य दोषत्वमपोढम्।

वत्प्रतिहेतूपन्यास इत्यत आह ॐ शङ्केति ॐ।

गदितमेन भङ्गं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति ॐ एतेनेति ॐ। पूर्वत्रासिद्ध्यादिरहिततया प्रतीयमानत्वमुक्तमिह तु तद्वत्त्वेनाप्रतीयमानत्वमिति विशेषः। एतेनेति परामृष्टहेतु स्पष्टयति ॐ केनेति ॐ। प्रत्यनुमानप्रयोक्त्रा द्वाभ्यामपि वा केनचिद्वेति पर्यनुयुक्तेन निरूप्य दर्शयितुमशक्यतया लक्षणासिद्धेः प्रागुन्नीतनीत्येत्यर्थः।

उक्तलक्षत्रयस्य साधारणं दूषणमाह ॐकिं चेतिॐ। परमाणुः सावयवः संयोगित्वाद् घटवदित्येतस्मिन्नणुपरिमाणतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं परिमाणतरतमभाववत्त्वान्महत्परिमाणतारतम्यवदित्यनेन धर्मिग्राहकेण बाधितेऽपि गतत्वादतिव्यापकत्वं धर्मिग्राहकप्रमाणस्योपजीव्यत्वेन व्याप्तिपक्षधर्मत्वस्वीकारात्तद्राहित्येन ज्ञायमानत्वस्यासिद्ध्यादिरहिततया समानबलत्वस्य लक्षणत्रयस्य भावादित्यर्थः। आदिपदेन लिङ्गग्राहकसङ्ग्रहः। मनो विभु ज्ञानासमवायिकारणाधिकरणत्वादात्मवदित्युदाहरणे युगपत् ज्ञानानुपपत्त्या क्रमदृष्टत्वलक्षणलिङ्गग्राहकबाधितेऽपीति। यदुक्तं परबुद्धेः परस्यावधारणासम्भवेन सत्प्रतिपक्षत्वं प्रतिज्ञाय व्युत्पादयितुमशक्यमिति किं तत् स्वार्थानुमान एव सत्प्रतिपक्षस्य दोषत्वात्तत्र च स्वप्रयोज्यप्रतिहेतौ दोषराहित्यस्याग्रत एव प्रत्येतुं शक्यत्वादित्यत आह ॐ एतेनेति ॐ।

वादी के ज्ञान को समझ पाना सम्भव नहीं, अतः पहले से ही यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि द्वितीय वादी को इस हेतु में असिद्ध्यादि-रहितत्व की प्रतीति होगी, क्योंकि पहले से ही किसी की भावी प्रतीति में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। फलतः लक्षणकार की सत्प्रतिपक्ष-प्रतिज्ञा का व्युत्पादन नहीं हो सकता। इस लक्षण की अन्य शङ्काओं का भी निराकरण आगे चल कर किया जायगा।

इसी प्रकार 'असिद्धिविरोधबाधव्यभिचारवत्तया अथवा व्याप्तिपक्षधर्मताविरहवत्तया अगृह्यमाण हेतु के द्वारा जिस हेतु के साध्य का विपर्यय अवगमित होता है, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं'--यह लक्षण भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि यहाँ भी किस वादी के द्वारा कथित अगृह्यमाणता विवक्षित है, इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रायः सभी लक्षणों की धर्म्यादि-ग्राहक प्रमाण के द्वारा बाधित हेतु में अतिव्याप्ति होती है [जैसे कि 'परमाणुः सावयवः संयोगित्वाद्, घटवत्'—यहाँ परमाणुरूप धर्मी का साधक प्रमाण है -'अणुपरिमाणतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तम, परिमाणतरतमभावात्, महत्परिमाणतारतम्यवत्'। इस अनुमान के द्वारा परमाणु में निरवयवत्व सिद्ध होता है, जिससे सावयवत्व का बाध होता है, वह बाधित अनुमान, 'परमाणुः निरवयवः, विश्रान्तपरिमाणतरतमभावत्वात्'—इस अनुमान के द्वारा सत्प्रतिपक्षित हो जायगा, क्योंकि उसमें असिद्ध्यादि से रहिततया प्रतीयमान होने के कारण समानबलता-घटित लक्षण घट जाता है]।

स्वार्थानुमान में 'केन प्रतीयमानत्व'—इत्यादि विकल्प-प्रयुक्त दोष न होने के कारण विवक्षित सत्प्रतिपक्ष में सत्प्रतिपक्षता क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वहाँ अव्याप्ति न होने पर भी धर्मिग्राहक प्रमाण-बाधित अनुमान में अतिव्याप्ति अवश्य हो जाती है।

अथोच्यते -अगृह्यमाणविशेषेण बोधितसाध्यविपर्ययः प्रकरणसम इति । अस्तु तावत् केनागृह्यमाणत्वमित्यादिविकल्पदोषाभिधानम् ।

यदि यः कश्चिद्विशेषो विशेषशब्देनाभिप्रेतस्तदा तदग्रहणं क्वचिदपि नास्तीति सर्वाव्याप्तिः । अथ हेतुदोषलक्षणो विशेषोऽभिमतस्तदा धर्म्यादिग्राहकानुमानबाधितेऽपि गतत्वादतिव्यापकता, अगृह्यमाणहेतुदोषरूपविशेषेण बोधितसाध्यविपर्ययत्वात्तस्यापि, तत्र हेतुदोषस्याभावादेवागृह्यमाणविशेषत्वात् ।

न च अगृह्यमाणपरमार्थस्थितहेतुदोषरूपविशेषेणेति कृते निस्तारः, तथा सति सत्प्रतिपक्षहेतुकः सत्प्रतिपक्षो न व्याप्यते । परमार्थतस्तिष्ठतीति च दर्शनीयम् , न च ज्ञेयमिति च महती प्रज्ञा । न चागृह्यमाणहेतुदोषहेतुगुणरूपविशेषेणेति विशेषणे विवक्षिते निस्तारः, व्यतिरेकिण्यन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे हेतुगुणरूपो विशेषः

यावद् धर्मिग्राहकेऽधिकबलवत्त्वं विशेषो गृह्यते सत्प्रतिपक्षे त्वगृह्यमाणविशेषबोधितसाध्यव्यतिरेकित्वं विवक्षितमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ अथेति ❀ । इदमपि प्रागुक्तदोषलङ्घनाऽजङ्घालमेवेत्याह ❀ अस्त्विति ❀ । विशेषोऽपि यः कश्चिद्विवक्षित उत हेतुदोषरूप इति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀यदीति❀ । उत्तरहेतुत्वाविरूपविशेषस्य ग्रहणाल्लक्षणासिद्धिरिति दूषयति ❀ तदेति ❀ । द्वितीयमुपादत्ते ❀ अथेति ❀ । प्रागुक्तातिव्याप्त्यैव दूषयति ❀ तदेति ❀ । तामेवातिव्याप्तिमुपपादयति ❀ अगृह्यमाणेति ❀ । धर्मिग्राहके हेतौ कथं हेतुदोषरूपविशेषस्याग्रहणं स्यादत आह ❀ तत्रेति ❀ । परमार्थतो विद्यमानहेतुदोषरूपविशेषो न गृह्यते यस्मिन् तस्मिन् बोधितसाध्यविपर्ययत्वं धर्मिग्राहके त्वविद्यमानस्यैति न दोष इत्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀ । कुतो न निस्तार इत्यत आह ❀ तथेति ❀ । सन्निरवद्यः प्रतिहेतुर्यस्य सत्प्रतिपक्षस्य स सत्प्रतिपक्षहेतुः । आकाशमनित्यं बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणाधिकरणत्वात् घटवदित्ययमाकाशन्नित्यन्निरवयवद्रव्यत्वादात्मवदित्यनेन सत्प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षो न व्याप्येतेत्यव्याप्तिरित्यर्थः । परमार्थतः सतोऽप्यग्रहणमङ्गीकृत्याऽव्याप्तिरुक्ता सम्प्रति तदेव न सम्भवतीत्याह ❀ परमार्थेति ❀ । लक्षणविशेषणतया दोषस्य परमार्थसत्त्वं परं प्रति प्रतिपादनीयं स्वयं च ज्ञेयमिति तदज्ञानं न सम्भवतीत्याशयः । महती प्रज्ञेत्युपहासः । अगृह्यमाणहेतुदोषरूपो हेतुगुणरूपो वा विशेषो यस्य तद्बोधितसाध्यविपर्ययत्वं प्रकरणसमत्वं विवक्षितमेवं च नातिव्याप्तिर्धर्म्यादिग्राहके दोषरूपविशेषाग्रहणेऽप्यबाधितविषयत्वगुणरूपविशेषग्रहणान्नाव्याप्तिः सत्प्रतिपक्षहेतुके प्रकरणसमे गुणदोषयोर्द्वयोरप्यग्रहणादित्यत आह ❀न चेति❀ । कुतो न निस्तार इत्यत आह ❀ व्यतिरेकीति ❀ । क्षित्यादिकं सर्ववित्कर्तृकं कार्यत्वादिति व्यतिरेकिणः जगत्कर्त्ता न सर्वज्ञः कर्तृत्वात् कुलालवदित्यन्वयिना स किञ्चिज्ज्ञः कर्तृत्वात् कुलालवदित्यन्वयव्यतिरेकिणा च गृह्यमाण-

---

(३) अगृह्यमाणविशेषेण बोधितसाध्याभावकः प्रकारणसमः—

अगृह्यमाणविशेषक हेतु के द्वारा जिस हेतु के साध्य का विपर्यय बोधित होता है, उसको प्रकरणसम कहा जाता है । यदि हेतुगत दोषरूप विशेषार्थ का अग्रहण अभिमत है, तब धर्म्यादि-ग्राहक अनुमान के द्वारा बाधित अनुमान में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि वहाँ हेतुगत दोषरूप विशेषार्थ होता ही नहीं, अतः अगृह्यमाणविशेषकत्व-घटित लक्षण घट जाता है । अगृह्यमाणपरमार्थस्थितदोषरूपविशेषार्थ-घटित लक्षण को अपनाने पर भी दोष से पीछा नहीं छूटता, क्योंकि तब तो सत्प्रतिपक्षहेतुक सत्प्रतिपक्ष में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि वहाँ सद्धेतु में वस्तुतः कोई दोष नहीं होता । दूसरी बात यह भी है कि 'हेतु में परमार्थतः दोष रहता हैं'—यह दिखाना भी पड़ेगा । फिर भी आप उसे अगृहीत या अज्ञेय कहते हैं, अतः आपकी यह महान् सूझ-बूझ नितान्त सराहनीय है ।

'अगृह्यमाण हेतु-दोष हेतु-गुणरूप विशेष का ग्रहण करने पर भी कोई लाभ नहीं क्योंकि जहाँ व्यतिरेकी हेतु में अन्वयव्यतिरेकी के द्वारा सत्प्रतिपक्षता प्रदर्शित होती है, वहाँ

सपक्षसत्त्वलक्षणो गृह्यते इति तदव्यापकत्वापत्तेः।

अथ अगृह्यमाणव्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गरूपविशेषेणेति क्रियते, तदा प्रष्टव्यम्—किमपेक्ष्य विशेषत्वमिदमिष्टम्? यदि यत्किञ्चिदपेक्ष्य, तदा प्रसिद्धासिद्ध्यादिभावहेत्वाभासमपेक्ष्य विशेषो गृह्यते सदनुमानात्मके प्रतिहेताविति तत्राव्यापकत्वम्।

अथ प्रकृतविरोधिनं हेतुमपेक्ष्य, तदा लक्षणवाक्यमीदृशं पर्यवस्यति—व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपः प्रकृतहेतुतो यस्य विशेषो न गृह्यते, तेन बोधितो यदीयसाध्यव्यतिरेकः, स प्रकरणसम इति। ईदृशमप्येतद्वाक्यं व्याकारमर्हति। तथा हि- व्याप्ति-

---

सपक्षसत्वलक्षणसत्प्रतिपक्षेऽव्याप्तिरित्यर्थः।

उक्ताव्याप्तिपरिहाराय व्यतिरेकिणा विशेषणान्तरं शङ्कते ❀ अथेति ❀। व्याप्तिपक्षधर्मतया भङ्गोऽसत्त्वमभङ्गश्च सत्वं तयोः सत्वं तदुभयरूपविशेषो न गृह्यते यस्य तद्बोधितसाध्यविपर्ययत्वं सत्प्रतिपक्षत्वमतो नातिव्याप्तिर्धर्म्यादिग्राहके तद्रूपविशेषग्रहणान्नाप्यव्याप्तिः केवलव्यतिरेकिण्यन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे तत्रापि पक्षधर्मत्वादिभङ्गादेरग्रहणस्य तुल्यत्वात्सपक्षसत्त्वविशेषेऽपीत्यर्थः। विशेषस्य प्रतियोगिनिरूप्यतया प्रतियोगिरूपं यत्किञ्चिदुत प्रकृतहेतुरेवेति विकल्पयन्नाह ❀ तदेति ❀। अस्तु प्रथम एव विशेषप्रतियोग्युपादाने कारणाभावादिति शङ्कते ❀ यदीति ❀। दूषयति ❀ तदेति ❀। प्रसिद्धोऽसिद्ध्यादिभावो यस्य हेत्वाभासस्य तमपेक्ष्य व्याप्तिपक्षधर्मतयोरभङ्गरूपो विशेषः सदनुमानात्मके प्रतिहेताविति तदव्यापकत्वमित्यर्थः।

द्वितीयमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। अस्मिन् पक्ष इदं दूषणमिति दर्शयितुं लक्षणवाक्यस्य पर्यवसानं दर्शयति ❀ तदेति ❀। कीदृशमित्यत आह ❀ व्याप्तीति ❀। एवं वाक्यं पर्यवसाययित्वा दूषणाभिधानायोपक्रमते ❀ ईदृशमिति ❀। व्याकारं व्याख्यानमित्यर्थः। व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्मिलितयोर्भङ्गाभङ्गपदसम्बन्ध उत प्रत्येकं? यद्याद्यः तदा वस्तुतो व्याप्तिपक्षधर्मतयोरन्यतरभङ्गादौ वा सति तदग्रहणमात्रेणासिद्धभेदेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यादित्येकं पक्षं बहिरेव दूषयित्वा द्वितीयं प्रत्याह ❀तथा हीति❀। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्

सपक्ष-सत्त्वरूप विशेषार्थ का ग्रहण होने के कारण अव्याप्ति रह ही जाती है।

'अगृह्यमाण-व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गरूपविशेषेण'—ऐसा परिष्कार करने पर यह पूछा जा सकता है कि किस हेतु की अपेक्षा प्रकृत हेतु में विशेषता विवक्षित है? यदि किसी भी हेतु की अपेक्षा यह विशेषता अभिहित है, तब प्रसिद्ध है असिद्धादिरूपता जिसमें, ऐसे हेत्वाभास की अपेक्षा सदनुमानरूप प्रतिहेतु में भी अव्याप्ति हो जाती है।

शङ्का - यदि प्रकृत (दूषणीय) विरोधी हेतु की अपेक्षा अगृह्यमाण विशेषता विवक्षित है, तब लक्षण का स्वरूप इस प्रकार सम्पन्न होता है कि 'प्रकृतहेतुतो व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपो विशेषो यस्य हेतोर्न गृह्यते, तेन हेतुना बोधितो यदीयस्य साध्यस्य व्यतिरेकः, स प्रकरणसमः" [सत्प्रतिपक्षत्वेन दूषणीय हेतु में जैसा भी व्याप्ति और पक्षधर्मता का भङ्ग (असत्त्व) या अभङ्ग (सत्त्व) है, उससे कुछ भी विशेषता जिस हेतु में प्रतीत नहीं होती उस हेतु के द्वारा जिस हेतु के साध्य का अभाव सिद्ध किया जाता है, उस हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहते हैं]।

समाधान—यह लक्षण भी विश्वसनीय नहीं, क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता—इन दोनों का भङ्गाभङ्ग यदि विवक्षित है, तब जहाँ केवल व्याप्ति या केवल पक्षधर्मता का भङ्ग या अभङ्ग गृह्यमाण है, वहाँ भी मिलित दोनों का भङ्गाभङ्ग गृहीत न होने के कारण लक्षण अतिव्याप्त होगा [फलतः 'शब्दोऽनित्यो जातिमत्त्वे सति चाक्षुषत्वात्'—इस स्वरूपासिद्ध और 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्'—इस सव्यभिचार हेतु को लेकर भी सत्प्रतिपक्षता प्रसक्त होती है, क्योंकि पहले हेतु में केवल पक्ष-धर्मता और दूसरे में केवल व्याप्ति का भङ्ग है, व्याप्ति

पक्षधर्मतेति मिलितस्य भङ्गाभङ्गपदसम्बन्धे विवक्षिते प्रत्येकोदाहरणातिव्याप्तिः। तद्भङ्गाभङ्गरूप इत्यस्य च मिलितस्य विशेषपदसम्बन्धेऽभिप्रेते सर्वथाऽसम्भवितया सर्वाव्याप्तिः।

अपि च एवमस्य वाक्यस्यार्थो वक्तव्यः– 'व्याप्तिभङ्गरूपो व्याप्त्यभङ्गरूपः पक्षधर्मताभङ्गरूपः पक्षधर्मत्वाभङ्गरूपः प्रकृतहेतुतो विशेषो न गृह्यते यस्य तेन बोधित यदीयसाध्यव्यतिरेकः, स प्रकरणसमः।' तथा स परमाणुर्निरवयवो विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावत्वात्, व्योमवदि'त्युक्ते 'परमाणुः सावयवो मूर्तत्वात् घटवदि'ति प्रत्यनुमानेन प्रतिवाद्युक्तेन परमाणुधर्मिग्राहिणोऽपि 'अणुपरिमाणतरतमादिभावः क्वचिद्विश्रान्तः परिमाणतरतमादिभावत्वात् महत्परिमाणतरतमादिभाववदि'त्यादेः सदनुमानतयेष्टस्य पक्षधर्मताबलेन तदीयनिरवयवत्वेऽपि प्रमाणतां गतस्य सत्प्रति-

घटवन्नित्यः शब्दः सदकारणत्वादात्मवदित्यादौ यत्र व्याप्तेरेव भङ्गरूपविशेषो न गृह्यते वस्तुतः पक्षधर्मतायां सत्यां तत्रापि सत्प्रतिपक्षतेष्टा सा न स्यादेवमाकाशमनित्यं महाभूतत्वात्पृथिवीवदित्यत्राकाशं नित्यं क्षणिकविशेषगुणाधिकरणत्वादात्मवदित्यत्रापि पक्षधर्मताया एव तौ न गृह्येते व्याप्तिः पुनरस्त्येव तत्रापि सत्प्रतिपक्षता न स्यादित्यव्याप्तिरित्यर्थः। न च वाच्यं वादिप्रयुक्तहेतौ पक्षधर्मताव्याप्तिभङ्गाभङ्गग्रहणे प्रतिहेतावपि तदुभयसत्त्वे तदुभयाग्रहणं तुल्यमेवेति, यतः कस्यचित्कदाचित्सत्येवैकतरस्मिंस्तदसत्त्वभ्रान्त्युपपत्तेस्तथापि वस्तुतो दोषाभावेन सत्प्रतिपक्षत्वसम्भवादिति। भङ्गाभङ्गयोरपि मिलितयोर्विशेषपदसम्बन्ध उत प्रत्येकम्? यदि प्रत्येकं तदा भङ्गरूपविशेषाग्रहणाद्धर्म्यादिग्रहबाधिते सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यतिव्याप्तिरेवभङ्गरूपविशेषाग्रहणात्सोपाध्यसिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यादित्येकमुद्ग्रन्थमेव परास्य प्रथमं प्रत्याह ❀ तदिति ❀। भङ्गाभङ्गयोर्भावाभावात्मतया विरुद्धयोरेकत्रासम्भवेन तदुभयाग्रहणासम्भवाल्लक्षणासम्भव इति भावः।

दोषान्तरं वक्तुं भूमिकामारचयति ❀ अपि चेति ❀। व्याप्तिभङ्गरूपो व्याप्तेरभङ्गरूपो विशेषस्तथा पक्षधर्मतारूपभङ्गस्तदभङ्गरूपश्च विशेषो यस्य प्रकृतहेतुमपेक्ष्य न गृह्यते, तेन बोधितसाध्यव्यतिरेकः प्रकरणसम इति वाक्यार्थो वक्तव्य इत्यर्थः। यदर्थं वाक्यार्थं उक्तस्तमतिप्रसङ्गमिदानीं दर्शयति ❀तथेति❀। विश्रान्तः परिमाणतरतमभावो यस्मिन्स तथोक्तस्तद्भावस्तत्त्वं तस्मादादिपदेन ततोऽप्यतिशयः स्वीक्रियते द्व्यणुकव्यवच्छेदाय। प्रतिवाद्युक्तेनानुमानेन परमाणुर्धर्मिग्राहिणोऽपि तदीयनिरवयवत्वेऽपि प्रमाणतां गतस्य सत्प्रतिपक्षता स्यादिति सम्बन्धः। धर्मिग्राहकानुमानं दर्शयति ❀ अणुपरिमाणेति ❀। अस्तु तथेति न वक्तव्यमित्याह ❀ सदिति ❀। कथं तस्य सत्प्रतिपक्षताप्रसङ्ग इत्यत आह ❀ पक्षेति ❀। वाद्युक्तविश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावत्वादिति प्रकृतहेतुमपेक्ष्य प्रतिवाद्युक्तममूर्तत्वहेतोः कार्यद्रव्यत्वोपाधिनाऽतीतः कालो

और पक्षधर्मता के समुदाय का भङ्ग किसी में भी नहीं]।

यदि भङ्ग और अभङ्ग के मिलित रूप के साथ 'विशेष' पद का सम्बन्ध विवक्षित है, तब सर्वत्र असम्भव हो जाता है, क्योंकि किसी एक हेतु में व्याप्त्यादि का भङ्ग रहता है या अभङ्ग, भङ्ग और अभङ्ग—दोनों नहीं रहा करते। यदि मिलित भङ्गाभङ्ग के साथ विशेष पद का सम्बन्ध अभीष्ट नहीं, तब उक्त वाक्य का ऐसा अर्थ करना होगा कि 'प्रकृत हेतु से व्याप्ति भङ्गरूप, या व्याप्त्यभङ्गरूप या पक्षधर्मताभङ्गरूप या पक्षधर्मताऽभङ्गरूप विशेषता जिस हेतु में गृहीत नहीं, उस हेतु के द्वारा जिसके साध्य का विपर्यय बाधित होता है, वह प्रकरणसम है। ऐसा वाक्यार्थ मानने पर 'परमाणुः निरवयवः, विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावत्वाद्, व्योमवत्'—ऐसी स्थापना करने पर 'परमाणुः सावयवो मूर्तत्वाद्, घटवत्'—इस प्रकार प्रतिवादी के द्वारा प्रतिवाद उपस्थित किया जाता है। वहाँ परमाणुरूप धर्मी के साधक 'अणुपरिमाणतरतमभावः, क्वचिद् विश्रान्तः, परिमाणतरतमभावत्वात्, महत्परिमाणतरतमादिभाववत्'—इस सदनुमान को सत्प्रतिपक्ष मानना होगा, क्योंकि इसके परमाणुगत निरवयव-

पक्षता स्यात् ।

यश्चास्य सदनुमानतां न मन्यते, तं प्रत्येवंप्रायाणि बहून्युदाहरणानि सन्तीति तेषु प्रसङ्गः । न च सोऽपि तथाऽस्त्येव, तस्य धर्मिसिद्ध्यर्थमुपजीव्यत्वेन बलवत्त्वात् । तद्व्यवच्छेदार्थं स प्रकृतः प्रकरणसम इति कर्तव्यमिति चेत्, तथाप्यनुपपत्तिः । अत्र हि यदि यस्य न गृह्यत इति सम्बन्धः, तेन यत्सम्बन्धितया न गृह्यत इत्यर्थो विवक्षितः

गृह्यमाणविशेषत्वात्तेन द्वितीयेन परिमाणतरतमभावत्वादित्यस्य तृतीयस्य धर्मिग्राहिणोऽपि सत्प्रतिपक्षता स्यादुक्तलक्षणसद्भावादित्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । तर्हि परिमाणतारतम्यविश्रामाधिकरणत्वमेव निरवयवत्वं तदनधिकरणस्य रूपादेरपि निरवयवत्वात्परमाण्वनिष्टेश्च केश्चिदित्यत आह ❀ यश्चेति ❀ । विमतः प्रत्ययो यथार्थः प्रत्ययत्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्युक्ते विमता प्रवृत्तिः पुरोवर्तिरजतज्ञानपूर्विका रजतेच्छाधीनपुरोवर्ति-प्रवृत्तित्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्यनेन विमतः कालो यथार्थज्ञानव्याप्तो ज्ञानकालत्वात्सम्प्रतिपन्नज्ञानकालव-दित्याद्युदाहृत्य तत्र प्रसङ्गो द्रष्टव्य इत्यर्थः । नायं प्रसङ्ग एवमिष्टत्वादित्यत आह ❀ न चेति ❀ । कुतो नेत्यत आह ❀ तस्येति ❀ । परमाणुधर्मिग्राहिणः सावयवत्वहेतुं प्रत्युपजीव्यत्वेन ततोऽधिकबलत्वान्न तेन सत्प्रतिपक्षता धर्मिसिद्धावेव सावयवत्वधर्मस्य साधयितुं युक्तत्वादित्यर्थः ।

धर्मिग्राहकानुमानस्य सत्प्रतिपक्षताप्रसक्तिनिवारणाय विशेषणान्तरपुरस्कारेण शङ्कते ❀तदिति❀ । व्याप्तिभङ्गादिरूपप्रकृतहेतुतो विशेषो न गृह्यते यस्य तेन बोधितसाध्यव्यतिरेकः प्रथमहेतुः प्रकरणसम इति विशेषणान्न धर्मिग्राहिणस्तथात्वं तस्य प्रथमत्वाभावादिति भावः । असमर्थमिदं विशेषणं तथापि लक्षणस्यानुपपत्तेरिति परिहरति ❀ तथाऽपीति ❀ । कथमनुपपत्तिरित्याशङ्क्य विशेषो न गृह्यते यस्येति लक्षणवाक्ये विशेषो यस्य न गृह्यते इत्यन्वयः, किं वा यस्य विशेषो न गृह्यते, इति विकल्प्य प्रथममनु-वदति ❀ अत्रेति । दूषणाभिधानाय वाक्यस्य पर्यवसितमर्थमाह ❀ तेनेति ❀ । यस्येति षष्ठ्यन्तपदस्य न गृह्यते इत्यनेन सम्बन्धाङ्गीकारेण यत्सम्बन्धितया न गृह्यते विशेष इति विवक्षितार्थः स्यादित्यर्थः । अस्तु

तारूप साध्य का व्यतिरेक कथित 'मूर्तत्व' हेतु के द्वारा किया जाता है।

भाट्टगण परमाणुओं को निरवयव नहीं मानते, अपितु वैशेषिक-सम्मत त्रसरेणु को ही परमाणु कहा करते हैं—

जालरन्ध्रविसरद्रवितेजोजालभासुरपदार्थविशेषान् ।
अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः ॥ (मा. मे. पृ. १५७)

यदि इनके मतानुसार परमाणु-निरवयवत्व-साधक अनुमान को सदनुमान नहीं माना जा सकता, तब उनके मतानुसार बहुत-से ऐसे उदाहरण सुलभ कराये जा सकते हैं, जहाँ अतिप्रसङ्ग होता है [जैसे—आकाशं विभु, निःस्पर्शद्रव्यात्वाद्, आत्मवत् । आकाशं न विभु, आत्मान्यविशेषगुणव-त्वाद्, घटादिवत् । यहाँ आकाशरूप धर्मी का साधक प्रमाण है—शब्दो भूतेन्द्रियग्राह्यो बहिर्द्रव्य-त्वात् । इसका पर्यवसान आकाश की विभुता में माना जाता है, क्योंकि उसके विना सर्वत्र शब्द की उपलब्धि सम्भव नहीं । यहाँ इस तृतीय अनुमान में अतिप्रसङ्ग दिया जा सकता है ।

यह धर्मिसाधक अनुमान भी आकाशगत सावयवत्व-साधक अनुमान के द्वारा सत्प्रति-पक्षित है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन दोनों में धर्मिसाधक अनुमान उपजीव्य होने के कारण प्रबलतर है, अतः दोनों हेतुओं में समानबलता न होने के कारण सत्प्रतिपक्षता की सम्भावना नहीं । 'इस धर्मिसाधक अनुमान की व्यावृत्ति करने के लिए यदि 'स प्रकृतः प्रकरणसमः'—ऐसा कहा जाता है और यहाँ प्रकृत प्रथम अनुमान है, धर्मिग्राहक तृतीय अनुमान प्रकृत नहीं । तब भी निरापदता नहीं, क्योंकि इस लक्षण-वाक्य में 'विशेषो यस्य न गृह्यते—ऐसा अन्वय और उसका तेन यत्सम्बन्धितया न गृह्यते—ऐसा अर्थ विवक्षित है, तब लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि जहाँ दोनों हेतुओं में व्याप्त्यादि का भङ्ग (असत्त्व)

तदाऽव्यापकत्वं दोषः। तथा हि—यत्र द्वयोरपि हेत्वोः परमार्थतः साधारणो व्याप्त्यादिभङ्गः सत्प्रतिपक्षदशायामगृह्यमाणस्तत्र नास्त्येतल्लक्षणम्। न हि तत्र व्याप्त्यादिभङ्गो विशेषः, अपि तु प्रकृतहेतुना सह साधारण एव।

नन्वत्यन्तासतो व्याप्त्यादिभङ्गरूपस्य विशेषस्यापि तावत्तत्राग्रहणमस्ति, तदादायैव लक्षणं तद्व्यापि भविष्यति। तर्हि यत्र वादी स्वहेतुसाधारणं व्याप्तिभङ्गादिदोषं जानन् प्रतिहेतुनिष्ठतया परस्योद्भावयति, परश्च परिहर्तुं न शक्नोति, तत्राप्येवं सत्प्रतिपक्षताऽक्षतैव स्यात्, यत उक्तरूपविशेषवत्तया तेनासौ न गृहीतः, उक्तरूपस्य समानतयैव तेन गृहीतत्वात्।

को दोष इत्यत आह ❀ तदेति ❀। प्रतिज्ञातमव्यापकत्वमुपपादयति ❀ तथा हीति ❀। नित्यः शब्दः ध्वन्याद्यन्यत्वे सति श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदनित्यः शब्दः सामान्याद्यन्यत्वे सति श्रावणत्वात् ध्वनिवदित्यादौ यत्र द्वयोरपि हेत्वोः परमार्थतः साधारणो व्याप्त्यादिभङ्गस्तत्रैतल्लक्षणं नास्ति अस्ति च सत्प्रतिपक्षत्वमित्यव्याप्तिः। एवं तर्हि सत्प्रतिपक्षतैव तव नास्तीत्यत आह ❀ सदिति ❀। अगृह्यमाणत्वदशायां सत्प्रतिपक्षत्वमिति यावत्। कुतो लक्षणाभाव इत्यत आह ❀ न हीति ❀। व्याप्त्यादिभङ्गो ह्यगृह्यमाणोऽपि न विशेष इत्यर्थः। किंरूपस्तर्हि व्याप्त्यादिभङ्ग इत्यत आह ❀ अपि त्विति ❀। साध्यद्वयसाधकतया प्रसिद्धसाधनद्वयेऽपि विद्यमानत्वात्प्रकृतहेतुना सह प्रतिहेतोः साधारण एवेत्यर्थः।

उक्तातिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते ❀ नन्विति ❀। यद्यप्यस्य व्याप्त्यादिभङ्गस्य हेतुद्वयविशिष्टतया साधारण्यात् विशेषता नास्ति तथाऽपि विशेषाग्रहणमस्त्येव विद्यमानव्याप्त्यादिभङ्गस्य साधारणत्वेनाविशेषत्वादन्यस्य चाऽसत्यत्वादत्यन्तासतो ग्रहणायोगादग्रहणमस्तीत्याशयः। तेन किं स्यादित्यत आह ❀ तदिति ❀। तदग्रहणमादाय लक्षणं तदुदीरितोदाहरणव्यापि भविष्यति क्वचित्सतस्तस्याग्रहणं क्वचिदसतः। यदि यस्य विशेष इति सम्बन्धस्तदा सत्सम्बन्धितया न चैवमित्याशयः। तर्हि यत्र सत्प्रतिपक्षता नास्ति तत्रापि लक्षणप्रसङ्ग इत्यतिव्याप्त्या दूषयति ❀ तर्हीति ❀। अनित्यः शब्दः कार्यत्वादित्यादौ यत्र विषये वादिप्रतिवादिभ्यां हेतुप्रतिहेतुप्रयोगे प्रतिवादी स्वहेतुसाधारणं व्याप्त्यादिभङ्गं प्रतिहेतौ जानन्नपि प्रतिहेतुनिष्ठतया परस्योद्भावयति तत्राप्येवं सति सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यतिव्याप्तिः। व्याप्तिभङ्गस्य हेतुद्वयसाधारणत्वे कथं परं प्रत्येव तदुद्भावनमित्यत आह ❀ परश्चेति ❀। परश्च कृतकत्वस्यानित्यत्वेन व्याप्तत्वान्नित्यत्वेन व्याप्तिभङ्गं परिहर्तुं न शक्नोति तेन तदपरिहरणे विजयसम्भवात्तदुद्भावनमित्यर्थः। कुतः सत्प्रतिपक्षतेत्यत आह ❀ यत इति ❀। व्याप्त्यादिभङ्गरूपविशेषवत्तया तेन वादिनाऽसौ प्रतिहेतुर्न गृहीतोऽतोऽगृह्यमाणविशेषप्रतिहेतुबोधितसाध्यव्यतिरेकत्वमस्त्येवेत्यर्थः। तदेव कुत इत्यत आह ❀ उक्तेति ❀।

वस्तुतः समानरूप से विद्यमान है किन्तु सत्प्रतिपक्ष-दशा में अगृह्यमाण है, वहाँ लक्षण नहीं घटता। आशय यह है कि विशेषार्थ के रहने पर भी यदि उसका ग्रहण नहीं होता, तब ही लक्षण घटता है, विशेषार्थ की असत्त्वावस्था में नहीं।

शङ्का—जैसे विद्यमान व्याप्त्यादि का कदाचित् ग्रहण नहीं होता, वैसे ही विद्यमान व्याप्त्यादि के भङ्ग का भी अग्रहण सम्भव है, उसको लेकर लक्षण वहाँ भी घट जाता है।

समाधान जहाँ वादी अपने हेतु में समानरूप से व्याप्त्यादि के भङ्ग का ज्ञान रखता हुआ उस भङ्गरूप दोष का उद्भावन प्रतिवादी के प्रति प्रतिहेतुगतत्वेन करता है और प्रतिवादी उसका परिहार नहीं कर पाता। वहाँ भी सत्प्रतिपक्षता अक्षत होनी चाहिए, क्योंकि व्याप्त्यादि का भङ्ग प्रतिवादी के द्वारा गृह्यमाण नहीं। वहाँ यदि प्रतिवादी परिहार कर डालता, तब समबलतारूप सत्प्रतिपक्षता होती, किन्तु परिहार न करने से हीनबलता मानी जाती है और वह सत्प्रतिपक्षता का क्षेत्र नहीं रह जाता।

तथापि प्रतिहेतुवादिना तावद्विशेषवत्तयैव गृहीतस्तस्य तत्साधारणभावास्फुरणात्, भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणस्य चात्र ग्रहणमात्रस्य विवक्षितत्वादिति चेन्न, प्रतिहेतुवाद्यभिप्रायेण अगृह्यमाणतापक्षस्य प्रागेव निरस्तत्वात्।

किञ्च प्रतिहेतुवाद्यपि यदि साधारणतां तस्य दोषस्य तदैव पश्येत्तदा का गतिः? यद्यसौ वादिहेतावपि दोषं पश्येत् तदा तमुद्भावयेत्, तथा सति च तत्रैव कथासङ्क्रमः स्यात् सत्प्रतिपक्षमुपेक्ष्येति चेन्न, यदि पश्यन्नपि प्रतिवादी तत्र दोषमेवं मन्त्रयेत्—'यदीदानीं सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञातां विहाय दोषान्तरमुद्भावयामि

यद्यपि वादिनाऽसौ प्रतिहेतुर्विशेषवत्तया न गृहीतोऽथापि प्रतिहेतुवादिना मदीयहेतोरेवायं दोष इति विशेषवत्तया गृहीतस्तेन तत्रातिव्याप्तिः प्रतिहेतुवाद्यभिप्रायेण विशेषाग्रहणस्याभावादिति शङ्कते ❀ तथाऽपीति ❀। कुत इत्यत आह ❀ तस्येति ❀। साधारणस्य व्याप्त्यादिभङ्गस्य विशेषतया ग्रहणं भ्रान्तिरेव न तु प्रमा तत्प्रमाया विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिपरिहार इत्याशङ्क्याह ❀ भ्रान्तीति ❀। भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणं विशेषग्रहणं लक्षणविशेषणमतो नातिव्याप्तिरित्यर्थः। स्फुरद्दोषेणापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षीकरणस्य प्रागेव दर्शितत्वात् प्रतिवाद्यभिप्रायेणापि लक्षणाव्याप्त्या दत्तोत्तरमिदमिति दूषयति ❀ नेति ❀। प्रकृतहेतुतो विशेषो यस्य न गृह्यते प्रतिवादिना तद्बोधितसाध्यव्यतिरेकः सत्प्रतिपक्ष इत्युक्तं स्यादेवं पूर्वोक्तातिव्याप्तिस्तदवस्थेत्याह ❀ किं चेति ❀। प्रतिहेतुवादी स्वहेतुगतदोषदर्शनकाले तस्य हेतुद्वयसाधारणतां यदि पश्येत्तदा प्रतिवादिना विशेषस्यागृह्यमाणत्वपक्षेऽपि स्यादतिव्याप्तिरित्यर्थः। अस्त्येव गतिरिति परः शङ्कते ❀ यदीति ❀। यदि साधारणतां प्रतिवादी वादिहेतावपि दोषं पश्येत्तदा तमुद्भावयेत्तथाऽपि को दोष इत्यत आह ❀ तथा सतीति ❀। तत्रैव कथासङ्क्रमः स्यात्प्रतिज्ञातं सत्प्रतिपक्षदोषमुपेक्ष्येति उद्भावनाभावादेव न तद्दोषं पश्यन्तीत्यध्यवसीयत इत्यर्थः। सत्प्रतिपक्षतात्यागेनासिद्ध्यादिदोषोद्भावनं न सम्भवतीति परिहरति ❀ नेति ❀। यदि पश्यन्नपि प्रतिवादी तत्र वादिहेतौ दोषं नोद्भावयति किं तु तूष्णीमास्ते तदा का गतिः? कुत एवमित्याशङ्क्याहैवं चिन्तयेदित्यादि परामृश्येत्यन्तेन। यदि सा न प्रतिज्ञाता तदा न प्रतिज्ञात्याग इति प्रतिज्ञातामित्युक्तम्। अनुद्भावनेऽपि दर्शयति

शङ्का—प्रतिवादी को जब वादी के हेतु में विद्यमान व्याप्त्यादि के भङ्ग का स्फुरण नहीं और अपने हेतु में उसका स्फुरण होने के कारण परिहार नहीं करता, तब प्रतिवादी के द्वारा हेतुओं में विशेषता (भेद) का ग्रहण हो ही जाता है। वह ग्रहण भले ही भ्रमरूप हो या प्रमा, विशेषार्थता का व्यञ्जक तो होता ही है। विशेषता का ग्रहण हो जाने पर भी उसका वह उद्भावन क्यों नहीं करता?

समाधान—यह कहा जा चुका है कि अल्पज्ञ व्यक्ति भी नये अवसर की खोज में विद्यमान का अपलाप कर देता है और प्रौढप्रज्ञ भी अपना प्रकर्ष दिखाने की इच्छा से वैसा व्यवहार अपनाया करता है। दूसरी बात यह भी है कि यदि प्रतिवादी उसी समय वादी-प्रदर्शित दोष की उभय-साधारणता समझ पाता है, तब अगृह्यमाणविशेषता के कारण लक्षण के अतिप्रसङ्ग को कोई हटा नहीं सकता।

शङ्का—प्रतिवादी यदि वादी की स्थापना में असिद्धादि दोष देख लेता, तब अवश्य ही उनका उद्भावन करता और सत्प्रतिपक्षता की उपेक्षा कर देता, फलतः प्रचलित कथा दोषोद्भावन पर ही केन्द्रित हो जाती, सत्प्रतिपक्ष पर नहीं।

समाधान—प्रतिवादी यदि वादिकथित हेतु में दोष देख कर भी अपने मन में यह तर्कना करता कि यदि मैं (प्रतिवादी) सत्प्रतिपक्षता की उपेक्षा कर दोषान्तर का उद्भावन करता हूँ, तब दोषान्तर का व्युत्पादन करना ही होगा और सत्प्रतिपक्ष का त्याग करने से प्रतिज्ञा-सन्यासरूप निग्रहस्थान भी प्रसक्त होगा। यदि दोषान्तर का उद्भावन नहीं करता,

तदाऽपि प्रतिज्ञातत्यागान्मम भङ्गः। अथ नोद्भावयामि, तथापि प्रतिज्ञातदोषानिर्वाहान्मम पराजयः। 'तदेवं वृथा दोषान्तरव्युत्पादनायासः' इति परामृश्य तूष्णीमास्ते तदा का गतिः ?

अथ यस्य विशेष इत्युक्तलक्षणवाक्ये पदसम्बन्धस्तवाभिमतः, तदा उक्तस्तावद्दोषो दोषान्तरं स्यात्। व्याप्त्यङ्गादेर्विरुद्धार्थहेत्वोः साधारणस्यासम्भवाद् विशेषपदेनाव्यवच्छेदकेन सह विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः।

अथोच्यते—व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहेत्वपेक्षविशेषवत्तया अनुद्भाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः, स प्रकृतः सत्प्रतिपक्ष इति। तदपि नोपपन्नम्, यदि परः 'त्वदीयोऽयं प्रतिहेतुरित्थं भग्नव्याप्तिकः' इत्येवाभिधत्ते, न तु 'मद्धेतुतोऽयं

* अथेति *। यदि नोद्भाव्यते तदा प्रतिज्ञातसत्प्रतिपक्षतानिर्वाहः प्रतिहेतोर्दुष्टत्वादुत उभयत्रापि दोषदर्शनात्तूष्णीमासीनेनापि विशेषस्याग्रहणात्सत्प्रतिपक्षतायाः प्रतिज्ञाताया अनिर्वाहादतिव्याप्तिः स्यादेवेत्यर्थः।

यस्येति षष्ठ्यन्तपदस्य विशेषपदेन सम्बन्धाद्यस्य विशेषो न गृह्यत इति द्वितीयकल्प एवास्तु निरवद्यत्वादिति शङ्कते * अथेति *। उक्तस्तावत्परिहार इत्याह * तदेति *। प्रथमपक्षोक्तदोष एवाऽत्राप्येको दोषः यत्र द्वयोरपि हेत्वोः परमार्थतो व्याप्त्यादिभङ्गः साधारणस्तत्राऽव्याप्तिस्तत्र प्रतिहेतुसम्बन्धिनो दोषस्य विशेषाभावात्तत्सम्बन्धितया च दोषो वाच्य इति। न केवलमेतावद्दोषान्तरमपीत्याह * दोषान्तरमिति *। किं तद्दोषान्तरमित्याकाङ्क्षायां विशेषपदस्य साधारण्यं व्यावर्त्यं वाच्यं तदभावाद् व्यर्थविशेषणतेत्याह * व्याप्तीति *। व्याप्तिभङ्गादेर्विशेषपदेन सह विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः। अनुपपत्तौ हेतुर्विरुद्धेत्यादि। वस्तुतो नित्यत्वानित्यत्वादिविरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गपरिहारायान्यतरसाधने व्याप्त्यादिभङ्गो वाच्यस्तथा च भङ्गाभङ्गयोः साधारण्यं एवेति न व्यावर्तकं विशेषपदमतो व्यर्थमित्यर्थः।

अगृह्यमाणेनेत्यस्मिन् स्थानेऽनुद्भाव्यमानेनेति विशेषणं प्रक्षिप्य तदेव लक्षणं शङ्कते * अथेति *। अनुद्भाव्यमानेनेति विशेषणेन तत्राप्येवं सत्प्रतिपक्षतैव स्यादिति यत्रातिव्याप्तिरुक्ता तन्निरस्यते तत्र यदि प्रतिहेतुं तादृग्विशेषवत्तयोद्भावयतीत्युक्तत्वादिति हृदयम्। पूर्वोक्तातिव्याप्त्यैव दूषयति * तदपीति *। तदेवोपपादयति * यदीति *। नित्यः शब्दः भावानादित्वादित्युक्ते सोऽनित्यः कृतकत्वादिति प्रतिहेतौ वादी कृतकस्याऽपि प्रध्वंसस्य नित्यत्वाद्भग्नव्याप्तिकोऽयं तद्धेतुरित्येवं ब्रूते न पुनः प्रथमहेतुप्रतियोगिकविशेषवत्तया तत्रापि विशेषवत्तयाऽनुद्भाव्यमानेन बोधितसाध्यव्यतिरेकत्वमस्तीति लक्षणातिव्याप्तिर-

तब प्रतिज्ञात दोष का निर्वाह न होने कारण मेरी (प्रतिवादी की) पराजय हो जाती है, अतः दोषान्तर का उद्भावन व्यर्थ है—यह सोच कर प्रतिवादी चुप मार जाता है, तब क्या होगा ? वहाँ सत्प्रतिपक्षता का अतिप्रसङ्ग निश्चित है।

उक्त लक्षण-वाक्य में 'यस्य विशेषः'—ऐसा अन्वय अभिमत है, तब पूर्वोक्त दोष तो है ही, दोषान्तर भी प्रसक्त होगा, क्योंकि उक्त दोनों हेतुओं में से एक में व्याप्त्यादि का भङ्ग और दूसरे में व्याप्त्यादि का अभङ्ग है, तब उन्हें उभय-साधारण कहना सम्भव नहीं, विशेष-पद किसका व्यवच्छेदक होगा ? अतः विशेष पदार्थ का भङ्गाभङ्ग के साथ विशेषण-विशेष्यभाव नहीं बन सकता।

शङ्का—व्याप्ति और पक्षधर्मता का प्रकृत हेतुगत जो भङ्ग या अभङ्ग, उसकी अपेक्षा विशेषता का उद्भावन जिस हेतु में नहीं किया गया, उसके द्वारा जिस हेतु के साध्य का विपर्यय बोधित होता है, वह प्रकृत हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है।

समाधान—यह लक्षण भी उपपन्न नहीं, क्योंकि यदि प्रतिवादी 'आप (वादी) का यह प्रति हेतु व्याप्ति-रहित है'—इतना ही कहता है, 'मम हेतुतोऽयं विशेषः'—ऐसा नहीं कहता। असिद्धरूप हेत्वाभासान्तरता का उद्भावन कर देनेमात्र से प्रतिहेतु में सत्प्रतिपक्षता

विशेष:' इत्यपि ब्रूते, आभासान्तरत्वव्युत्पादनादेव प्रतिहेतोः सत्प्रतिपक्षतामङ्गात्, तत्रापीत्थं सत्प्रतिपक्षता न निवर्तेत। तथा सति च प्रतीयमानासिद्ध्यादिनाऽपि तत्प्रतिपक्षीकरणमिति साधु व्युत्पादितं सर्वानुमानानुकूलं स्यात्।

किञ्च—कस्मिन् काले तथाऽनुद्भाव्यमानत्वमपेक्षितम्? यदि यदा प्रतिहेतूद्भावनेन परहेतुं दूषयति प्रतिवादी तस्मिन् कालेऽनुद्भावनम्, तदा पश्चादुक्तेऽपि प्रतिहेतुदोषे पूर्वकालिकानुद्भावने प्रतीकारो न कश्चिदिति सर्वहेत्वाभासैः सत्प्रतिपक्षीकरणमदुष्टमिति गतमनुमानकथया।

अथ प्रतिवादिनाऽभिहिते यदा पुनर्वादिवचनावसरस्तदाऽनुद्भावनमिष्टम्, तर्हि तत्कथमग्रे प्रत्यनुमानवादिनाऽवधारणीयमयमत्र विशेषतो दोषं नोद्भावयिष्यतीति। दोषशून्यत्वात् स्वकीयस्य प्रतिहेतोः समर्थस्तदवधारयितुं शक्नोतीति चेन्न,

स्तीत्यर्थः। कुतो विशेषवत्तया नोद्भावयति तथात्वोद्भावनमन्तरेण सत्प्रतिपक्षत्वानिरासादित्यत आह ❀ आभासेति ❀। फलितमाह ❀ तदेति ❀। इत्थं सति सत्प्रतिपक्षता तत्रापि स्यादेव सत्प्रतिपक्षतालक्षणलक्षितत्वात्। तत्रापि तथात्वमस्त्येवेत्यत आह ❀ तथा चेति ❀। प्रतीयमानोऽसिद्ध्यादिर्यस्य तेनापि सत्प्रतिपक्षीकरणमिति सुष्ठूपपादितम्। असिद्ध्यादिना तथात्वस्वीकारे वा काऽनुपपत्तिरित्यत आह ❀ सर्वेति ❀। धूमानुमानादिभङ्गप्रसङ्ग इत्यर्थः।

अनुद्भावनमपि कदाऽपेक्षितं प्रतिहेतूपन्यासकाले किं वा पश्चाद्वादिवचनावसर इति विकल्पयति ❀ किञ्चेति ❀। प्रतिहेतुसम्बन्धदोषानुद्भावनं तदुपन्यासकालीनमपेक्षितमिति प्रथमं शङ्कते ❀ यदीति ❀। पूर्वोक्तातिप्रङ्गानतिसार एवेति दूषयति ❀ तदेति ❀। प्रतिवादिना प्रतिहेतावुपन्यस्ते वादिनो वचनावसरस्तदेव दोषस्तेनोद्भाव्यते तदोद्भावितेऽपि पूर्वकालीनानुद्भावनं लक्षणविशेषणं तथैवाऽऽस्ते इति कृत्वा प्रतीयमानासिद्ध्यादिनाऽपि सत्प्रतिपक्षीकरणप्रसङ्गात्सर्वानुमानभङ्गप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्यर्थः। द्वितीयकल्पं शङ्कते ❀ अथेति ❀। असम्भवेनैतद् दूषयति ❀ तर्हीति ❀। मद्धेतावयं वादी दोषान्नोद्भावयतीति विनिश्चित्याग्रत एव सत्प्रतिपक्षतां प्रतिपादयितुं लक्षणतो नेष्टे प्रतिवादी पराशयस्य पराप्रत्यक्षत्वादित्याशयः।

वादिना दोषानुद्भावनस्य प्रतिवादिना निश्चेतुमशक्यत्वात्सत्प्रतिपक्षतां न ब्रूयादित्युक्तं तत्र दोषानुद्भावनस्य शक्यावधारणत्वं शङ्कते ❀ दोषेति ❀। नायं हेतुर्दोषोद्भावनयोग्यो निर्दोषत्वात्सत्प्रतिपक्षवदित्यनुमानतो निश्चिनोति प्रतिवादीत्यर्थः। भागासिद्ध्या दूषयति ❀ नेति ❀। प्रौढप्रज्ञस्य लोकेऽनु-

नहीं रहती। वहाँ पर भी यह लक्षण घट जाने से सत्प्रतिपक्षता निवृत्त नहीं होती। इस प्रकार तो जिस हेतु में असिद्ध्यादि की प्रतीति होती है, उसके द्वारा भी सत्प्रतिपक्षता का व्यवहार होने लगेगा, जो कि अनुमानमात्र का उच्छेदक है।

यह भी एक जिज्ञासा यहाँ होती है कि किस समय कथित अनुद्भाव्यमानता विवक्षित है। जिस समय प्रति हेतु के उद्भावन के द्वारा प्रतिवादी परकीय हेतु को दूषित करता है, उस समय अनुद्भावन अपेक्षित है। तब तो जहाँ उस काल में प्रति हेतु के दोष का उद्भावन न होकर पश्चात् होता है, वहाँ पूर्वकालीन अनुद्भावन अव्याहत है। फलतः सभी हेत्वाभासों में सत्प्रतिपक्षता प्राप्त हो जायगी और सत्प्रतिपक्ष-रहित सदनुमान का नाम भी न रहेगा।

यदि प्रतिवादी के कह चुकने पर जब वादी को पुनः कुछ कहने का अवसर मिलता है, उस समय अनुद्भावन विवक्षित है। तब तो प्रतिवादी पहले से क्योंकर यह जान सकेगा कि 'अत्र विशेषतो दोषं नोद्भावयिष्यति।' 'प्रतिवादी जब अपने हेतु को निर्दोष देखता है, तब अवश्य यह जान लेता है कि वादी इसमें दोषोद्भावन नहीं करेगा'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि दोषवत्त्वेन प्रतीयमान हेतु के द्वारा भी सत्प्रतिपक्षता का

उक्तमत्र प्रतीतदोषेणाऽपि सत्प्रतिपक्षताकरणं सम्भवति, तत्र परेण दोषेऽनुद्भाविते विजयश्च भवतीति ।

किञ्च—विशेषदोषशून्यत्वमपि स्वकीयहेतोः कथमयमवधारयेत् ? विरुद्धार्थयोस्तावद्धेत्वोरेकस्यावश्यं दोषेण भाव्यम् । तत्र यथा तेन स्वहेतौ दोषो न दृश्यते तथा परहेतावपि । तद्दर्शने तमेवोद्भावयेत् । को हि सचेता निश्चितं दोषमुपेक्ष्य सदोषस्य निर्दोषसामान्येन प्रत्यवतिष्ठते । तस्मात् सदोषेऽपि दोषमपश्यन्नयं न स्वेनादर्शनं दोषाभावे प्रमाणयितुमर्हतीति ।

अथोच्यते—व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहेत्वपेक्षविशेषवत्त्वेनानुद्भाव्यतया सम्भाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः, स प्रकृतः प्रकरणसम इति, नैतदपि सुस्थम्, यद्युद्भावनकालात् पूर्वकालिकी सम्भावना विवक्षिता, तदा तात्कालिका-

---

प्रकर्षप्रकटनाय प्रतीतदोषेणापि हेतुना सत्प्रतिपक्षीकरणसम्भवान्निर्दुष्टहेतुनैव सत्प्रतिपक्षतानियमाभावान्न दोषशून्यत्वेनानुद्भावनं निश्चिनुम इत्यर्थः । अप्रतिपत्तेरन्यथा प्रतिपत्तिः श्रेयसीति न्यायात् विजयफलस्य पाक्षिकस्य भावाच्चाल्पप्रज्ञस्यापि प्रतीतदोषेण सत्प्रतिपक्षताकरणं सम्भवतीत्याह ❀ तत्रेति ❀ । दोषशून्यत्वहेतोर्भागासिद्धिमुक्त्वाऽसिद्धिमाह ❀ किञ्चेति ❀ । स्वकीयहेतावसिद्ध्यादिदोषानुपलम्भात्तथात्वमवधारयेदित्याशङ्क्यानुपलम्भमात्रं संशयहेतुर्न निश्चयकारणमिति प्रतिपादनायान्यतरदोषावश्यकतामाह ❀ विरुद्धेति ❀ । द्वयोरपि हेत्वोर्निर्दोषत्व एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गाद्भवितव्यमन्यतरदोषेणेत्यर्थः । यद्येवं किमत इत्यत आह ❀ तत्रेति ❀ । प्रतिवादिना यथा स्वहेतौ दोषो न दृश्यते तथा परहेतावपीत्यनुपलम्भमात्रं न दोषशून्यत्वनिश्चायकमित्यर्थः । परहेतौ दोषानुपलम्भोऽसत्त्वनिश्चये हेतुरित्यत आह ❀ तदिति ❀ । दोषान्तरानुद्भावनलिङ्गान्न दोषान्तरमसौ पश्यतीत्यर्थः । तदनुद्भावनं तददर्शने कथं लिङ्गमित्यत आह ❀ को हीति ❀ । यथा परहेतौ दोषादर्शनं तत्र तदसत्त्वानिश्चायकं तथा स्वहेतावप्यविशेषादित्युपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀ ।

उक्ताऽसम्भवपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते ❀ अथेति ❀ । अनुद्भाव्यमानत्वावधारणासंभवेऽपि स्वहेतावापाततो दोषशून्यत्वावगमादनुद्भाव्यमानत्वसम्भावनाऽस्ति तेनानुद्भाव्यमानतया सम्भाव्यमानेन हेतुना बोधितसाध्यव्यतिरेकः प्रकृतः प्रकरणसम इत्यर्थः । विकल्पासहत्वेनैतद् दूषयति ❀ नेति ❀ । वादिनो यो दोषोद्भावनकालस्तस्मात्पूर्वकालिकी सम्भावना विवक्षिता, किंस्वित्तत्कालीना, यदि वा कालमात्रसम्बन्धिनीति, विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ यदीति ❀ । प्रागुक्तातिव्याप्तिरिहानुसन्धेयेति परिहरति

प्रयोग हो सकता है । वहाँ वादी के द्वारा दोष का उद्घाटन न करने पर विजयश्री का लाभ भी होता है ।

यह भी जिज्ञासा होती है कि 'यह हेतु विशेष दोष-रहित है'—यह अवधारण भी कैसे होगा ? यह भी कहा जा चुका है कि विरुद्धार्थक दो हेतुओं में से एक हेतु अवश्य सदोष है । वहाँ जैसे प्रतिवादी को अपने हेतु में कोई दोष नहीं दिखता, वैसे ही परकीय हेतु में कोई दोष नहीं दिखाई देता है । यदि दोष दिखता, तब अवश्य ही उसका उद्भावन करता, कौन विवेकशील पुरुष निश्चित दोष को छोड़ कर सदोष हेतु में निर्दोष हेतु की समानता मात्र के आधार पर खण्डन प्रस्तुत करेगा ? अतः सदोष हेतु में भी दोष को न देख अपने दोषादर्शन की निर्दोषता में प्रमाणत्वेन प्रस्तुत करेगा ?

शङ्का—व्याप्ति और पक्षधर्मता का जो प्रकृत हेतुगत भङ्ग या अभङ्ग होता है, उसकी अपेक्षा विशेषवत्त्वेन अनुद्भावन-सम्भाव्यता-समन्वित हेतु के द्वारा जिस हेतु के साध्य का विपर्यय अवबोधित होता है, वह प्रकृत हेतु प्रकरणसम है ।

समाधान—यह लक्षण भी समीचीन नहीं, क्योंकि यदि उद्भावन-काल से पूर्वकाल

नुद्भावनपक्षोक्त एव दोषोऽतिदेष्टव्यः। अथोद्भावनस्य योऽवसरो भविष्यति तात्कालिकतया, तदा सत्प्रतिपक्षताव्युत्पादनकाले सा नास्तीति विशेषणाभावाल्लक्षणाभावः।

अथोच्यते—यावत्सम्भावनाऽनुवर्तते तावत्सत्प्रतिपक्षता, किं सम्भावनायाः कालनियमगवेषणेन? मैवम्, एवं हि प्रतिहेतोर्दोषेऽनुद्भाविते प्रत्युत निर्दोषतयैव स्वीकृते दोषोद्भावनसम्भावनाया निवृत्तेः सत्प्रतिपक्षता निवर्तते। तथा चेत्थङ्कारमेव वादी सत्प्रतिपक्षतां परिहरेदिति साधु स्यात्। प्रतिहेतोः प्रतिक्षेपमकृत्वा स्वीकृत्यैव तत् सत्प्रतिपक्षता प्रतिक्षेप्तव्येति।

न च स्वीकारादेव प्रतिहेतोः पराजयः स्यात्, सत्प्रतिपक्षतापरिहारोपायतया

❀ तदेति ❀। पूर्वकालिकानुद्भावनासम्भावनाऽनुद्भाव्यमानदोषहेतावप्यस्तीति तेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यर्थः। अस्तु तर्हि द्वितीयो निरवद्यत्वादिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। तात्कालिकतयाऽनुद्भाव्यमानत्वविशेषणाभावाद्विशिष्टलक्षणस्य तत्कालिके सत्प्रतिपक्षेऽव्याप्तिरित्यर्थः।

कालमात्रसम्बन्धिनी सम्भावना विवक्षितेति तृतीयकल्पं शङ्कते ❀ अथेति ❀। प्रतिहेतौ दोषे निश्चिते सत्प्रतिपक्षता निवर्तते इति नायं नियमः किं तु तन्निष्ठतया दोषं नोद्भावयिष्यतीति यावत्सम्भावनाऽनुवृत्तिस्तावत्सत्प्रतिपक्षताऽनुवर्तते इति नोक्तदोष इत्यर्थः। अतः पूर्वोक्तविकल्पदूषणमनवकाशदुःस्थमित्याह ❀किमिति❀। अतिप्रसङ्गेनैतद् दूषयति ❀मैवमिति❀। अनित्यः शब्दः कार्यत्वाद् घटवदित्यत्र नित्यः स दुःखासमानाधिकरणविभुविशेषगुणत्वादीश्वरप्रमावदिति प्रतिहेतावुक्ते दोषानुद्भावने प्रतोपवृत्त्या निर्दुष्टतया स्वीकारे च दोषानुद्भावनसम्भावना निवर्तते सम्भावनायाः संशयविशेषतयाऽन्यतरकोटिनिश्चये निवृत्तिरिति सत्प्रतिपक्षतानिवृत्तिरित्यर्थः। तथाऽपि किमनिष्टमित्यत आह ❀ तथा चेति ❀। यतः प्रतिहेतोर्निर्दुष्टतया स्वीकारेण सत्प्रतिपक्षत्वं निवर्त्तते तत्र सर्वत्रैतल्लक्षणं न स्यादित्यभिप्रायः। वादिना प्रतिहेतुरूरीकृतश्चेत्तत एव तस्य पराजयप्रसङ्गान्नैवं सम्भव इत्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। वादिसाध्यविपरीतव्याप्तप्रतिहेतुरदोषतया स्वीकृतश्चेत्कथं न पराजय इत्यत आह ❀ सदिति ❀। स्वीकारो वा कथं

की सम्भावना विवक्षित है, तब पूर्वकालोक्त अनुद्भावन को लेकर जो अतिप्रसङ्ग दिया गया, वही यहाँ प्रदर्शित किया जा सकता है। यदि उद्भावनकालीन सम्भावना अभीष्ट है, तब सत्प्रतिपक्षता के उद्भावन-काल में नहीं, अतः विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव रहने के कारण लक्षण अव्याप्त रह जाता है।

शङ्का—सम्भावना के काल की गवेषणा व्यर्थ है। जब तक सम्भावना रहती है, तभी तक सत्प्रतिपक्षता रहती है।

समाधान—ऐसा मानने पर जब प्रति हेतु के दोषों का उद्भावन नहीं, अपितु निर्दोषत्वेन ही प्रतिहेतु जाना जाता है, तब दोषोद्भावन की सम्भावना के निवृत्त हो जाने पर सत्प्रतिपक्षता भी निवृत्त हो जाती है। तब तो वादी सत्प्रतिपक्षता का परिहार भी इसी मार्ग को अपनाकर कर दे यही अच्छा होगा कि प्रतिहेतु का खण्डन या दोषोद्भावन न कर दोषोद्भावन की सम्भावना समाप्त कर दे सत्प्रतिपक्षता अपने-आप निवृत्त हो जायगी [कथक-सम्प्रदायसिद्ध प्रक्रिया तो यह है कि वादी की स्थापना पर यदि प्रतिवादी सत्प्रतिपक्ष-प्रयोग करता है, तब वादी अवसर पाकर प्रतिवादी के हेतु में दोषोद्भावन करता है, तब कहीं सत्प्रतिपक्षता निवृत्त होती है, किन्तु सत्प्रतिपक्षता के परिहार का यह एक अपूर्व ही मार्ग प्राप्त हुआ है कि प्रतिवादी के हेतु को दूषित न कर स्वीकार करले, दोषोद्भावन की सम्भावना निवृत्त होते ही सत्प्रतिपक्षता परिहृत हो जाती है, किन्तु अन्यत्र कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता]।

'वादी यदि प्रतिवादी के प्रतिहेतु को दूषित न कर स्वीकृत कर लेता है, तब

स्वीकारस्य करणात्, स्वीकारे सति सम्भावनानिवृत्त्या तल्लक्षणकस्य सत्प्रतिपक्षस्यापि निवृत्तेः। तस्मात् स्वीकारोऽप्ययं परस्यानिष्टार्थं सिद्धसाधने परकीयसाध्यस्वीकारवद् गुणाय स्वीकर्तुर्न दोषायेति।

यदि च सत्प्रतिपक्षो वादिनोः समानप्रतिपक्षदर्शनजनितात् स्वहेतावाभासत्वसंशयात्, तदा क्वचिदपि नास्ति सत्प्रतिपक्षता, स्वहेतुपक्षपातेन परहेतावेव दोषः कश्चिदस्ति, मया तु न गृह्यत इति ताभ्यां मन्यमानत्वात्। यदाह—'निश्चितौ हि वादं कुरुतः' इति।

अथौचित्यादावर्जता संशयेन सत्प्रतिपक्षता स्यात्, तदा सर्वत्रैव वादे सर्वा-

---

सत्प्रतिपक्षपरिहारोपाय इत्यत आह ❀ स्वीकार इति ❀। यस्मात् स्वीकार एकतरकोटिनिश्चायकतया सम्भावनानिवर्त्तकस्तस्मादित्युपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। परोपन्यस्ताऽङ्गीकरणं प्रयोक्तुरेवानिष्टाय पर्यवस्यतीत्यत्र दृष्टान्तमाह ❀ सिद्धेति ❀। सिद्धसाधनानुमाने प्रयुज्यमानहेतुविषयस्वीकारः स्वीकर्तुरेव जयमावक्ष्यति न पराजयमेवं सत्प्रतिपक्षेऽपि परकीयहेतुस्वीकारः स्वीकर्तुर्जयार्थमेव न पराजयार्थमित्यर्थः।

समानबलबोधितसाध्यव्यतिरेकको हेतुत्वाभिमतः सत्प्रतिपक्ष इति लक्षणेऽव्याप्त्यादयो दोषा उक्ताः पुनरपि दोषान्तरं वक्तुमनुवदति ❀ यदिति ❀। वादिप्रतिवादिनोः समबलप्रतिपक्षदर्शनेन स्वहेतावाभासतासन्देहो जायते तत एव सत्प्रतिपक्षत्वमित्याशयः। लक्ष्यासंस्पृष्टमेव लक्षणमुक्तमिति प्रज्ञाकौशलमात्मनः प्रकटीकृतं स्यादित्यभिसन्धाय परिहरति ❀ तदेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ स्वेति ❀। स्वहेतुपक्षपातेन स्वहेतौ निर्दोषत्वनिश्चयेनाऽऽभासत्वसंशयाभावात्सत्प्रतिपक्षत्वासिद्धिरित्यर्थः। स्वहेतौ निर्दोषत्वनिश्चय इत्यत्राभियुक्तवचनमुदाहरति ❀ यदिति ❀। ततश्च वादिनो स्वहेतावदुष्टत्वनिर्णये सति परहेतोर्दुष्टत्वेनैव निर्णयो विरुद्धहेतोरेकस्यावश्यमाभासीभवितव्यत्वादतश्च समानबलबोधितेत्यादिलक्षणं न क्वचिदपीत्यर्थः। स्वरसतः सन्देहाभावेऽप्यौचित्यादाहार्यसन्देहादेव लक्षणमुपपन्नमिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। वादिनोः स्वहेतोरदोषत्वनिश्चयेऽपि परस्परविरुद्धहेतुदर्शनादन्योन्यस्मिन् हेतौ दोषसन्देहौचित्यमस्ति तत आवर्जताऽऽगच्छता संशयेन द्वयोरपि सत्प्रतिपक्षत्वं भविष्यतीत्याशयः। कथामात्रे प्रयुज्यमानानुमानमात्रे लक्षणमति-

---

(न्या. सू. ५।२।२१ में कथित) पर्यनुयोज्योपेक्षणनामक निग्रहस्थान से निगृहीत (पराजित) हो जाता हे'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ प्रतिहेतु के स्वीकार को सत्प्रतिपक्षता के परिहार का एक उपाय समझ कर अपनाया गया है, क्योंकि प्रतिहेतु को स्वीकार कर लेने पर दोषोद्भावन की सम्भावना निवृत्त हो जाती है, सत्प्रतिपक्षता समाप्त हो जाती है और सत्प्रतिपक्ष-प्रयोक्ता पराजित हो जाता है, फलतः प्रतिहेतु का यहाँ स्वीकार करना दोष नहीं, अपितु वैसे ही गुण (हितकारक) है, जैसे सिद्ध-साधन के प्रयोग में परकीय साध्य का पक्ष में स्वीकार कर लेना स्वीकर्त्ता के लिये दोषाधायक न होकर गुणकारक होता है, क्योंकि पक्ष में साध्य न मानने पर सिद्ध-साधनता दोष लागू नहीं होता।

सत्प्रतिपक्ष का यदि फल-गर्भित लक्षण किया जाता है कि 'प्रतिवादिनोः स्वहेतुगताभासत्वसंशयजनकत्वम्'। तब भी असम्भव दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि प्रत्येक वादी को अपने हेतु में पक्षपात (निर्दोषत्वाभिमान) होता है, अतः उसमें आभासत्व का सन्देह क्योंकर होगा? दोनों वादी ऐसा ही समझते हैं कि परकीय हेतु में ही कोई असिद्धचादि दोष होगा, जो ज्ञात नहीं हो रहा है। अपने हेतु का प्रत्येक वादी को निश्चय ही होता है, जैसा कि टीकाकार कहते हैं-A."निश्चितौ हि वादं कुरुतः" (ता. टी. पृ. ६६)। कुरुतः

शङ्का—यद्यपि प्रत्येक वादी को अपने हेतु में किसी प्रकार का संशय नहीं होता, तथापि विरोधिहेतु-दर्शन से आहार्य संशय हो जाता है, उसको लेकर सत्प्रतिपक्षता उपपन्न हो जाती है। A."निश्चितौ हि वादं कुरुतः"

नुमानानां सत्प्रतिपक्षता दुर्निवारा। तद्यथा - शब्दानित्यत्वानुमानेन बुद्धिमद्भिः शतशः शब्दनित्यत्ववादिजयात्, शब्दनित्यत्वानुमानेन च प्राज्ञैः शतशः शब्दानित्यत्ववादिजयात्। द्वयोः पक्षयोरनुमानेषु कतरद्वस्तुतः सदनुमानमित्यर्हतो दोषसंशयस्य दुर्निवारत्वादिति।

४१. बाधलक्षणखण्डनम्

प्रकारभेदाभावाच्च न कालात्ययापदिष्टः पृथक्। तद्यथा—बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इत्यलक्षणम्। तथा हि—बाधितविषयत्वं किं विवक्षितम्? न तावद् बलवता बोधितो विषयविपर्ययो यस्य, तत्त्वम्, यथाश्रुतस्य सत्प्रतिपक्षेऽपि गतत्वात्। तत्र प्रत्यनुमानस्य प्रथमानुमानविषयविपर्ययबोधकस्य पक्षधर्मतादिबलसम्भवात्।

व्यापकमिति परिहरति ॐ तदेति ॐ। एकस्य सत्प्रतिपक्षतामात्रेण कथं सर्वानुमानानां सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य विरुद्धहेतुदर्शननिमित्तसन्देहौचित्यस्य समानत्वादिति दर्शयति ॐ तद्यथेति ॐ। अर्हतो—योग्यस्य।

इति सत्प्रतिपक्षखण्डनम्।

एवं सत्प्रतिपक्षं निरस्य कालात्ययापदिष्टस्य पृथगनिराकार्यतामाह ॐ प्रकारेति ॐ। सत्प्रतिपक्षप्रकारात्कालात्ययापदिष्टस्याप्रकारान्तरत्वात्तन्निरासः पृथगनर्थक इत्युक्तं कथं तस्याऽप्रकारान्तरत्वं यावता पृथग्लक्षणलक्षितः स इत्यत आह ॐ तदिति ॐ। बाधितः साध्यो विषयो यस्य स तथोक्तः प्रमाणान्तरविरुद्धे प्रतिज्ञातार्थे वर्त्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्ट इत्यस्यापि लक्षणवाक्यस्य नार्थतो भेदः।

अलक्षणत्वमेवोपपादयितुं बलवता बोधितसाध्यविपर्ययत्वं बाधितविषयत्वं विवक्षितमुताधिकबलेन किंस्विदमन्यथासिद्धेनेति, विकल्पाभिसन्धिराह ॐ तथा हीति ॐ। आद्यमादावपवदति ॐ नेति ॐ। विपर्ययः साध्यस्याभावो यस्य तत्त्वं बोधितसाध्यविपर्ययत्वं बाधितविषयत्वमित्यनुषङ्गः। सत्प्रतिपक्षे

समाधान—आहार्य संशय तो सर्वत्र सुलभ है, वाद में प्रयुक्त सभी अनुमान सत्प्रतिपक्षित ही हो जाएँगे, क्योंकि शब्दानित्यत्व-साधक अनुमान के द्वारा नैयायिकों ने शब्दनित्यत्ववादी मीमांसकों को सैंकड़ों बार जीता होगा और शब्दगतनित्यत्वानुमान के द्वारा मीमांसकों ने शब्दानित्यत्ववादी नैयायिकों को सैंकड़ों बार परास्त किया होगा, अतः दोनों पक्षों के अनुमानों में कौन वस्तुतः सदनुमान है? इस प्रकार दोष-संशय की अर्हता (योग्यता) सर्वत्र अनुमानों में होने के कारण सत्प्रतिपक्षता क्यों न होगी?

४१. बाध-लक्षण-खण्डन

बाध-भेदक लक्षणविशेष की निरुक्ति न हो सकने के कारण कालात्ययापदिष्ट (बाध) भी पृथक् हेत्वाभास सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे कि—

(१) बाधितविषयः कालात्ययापदिष्टः—

शङ्का—[तार्किकरक्षाकार ने भी कहा है—"कालातीतो बलवता प्रमाणेन बाधितः। प्रमाणबाधितविषयः, कालातीतः" (ता. र. पृ. २२८)। प्रत्यक्षादि सबल प्रमाणों के द्वारा जिस हेतु के विषयीभूत साध्य का बाध हो जाता है, उसे कालातीत कालात्ययापदिष्ट या बाधित कहा जाता है।]

समाधान—उक्त लक्षण में 'बाधितविषयकत्व' का क्या अर्थ विवक्षित है? 'बलवता बोधितो विषयविपर्ययो यस्य, तत्त्वम्'—ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस वाक्य

अथ बलवतेत्यधिकबलेनेति विवक्षितम्, तदाऽपि केवलव्यतिरेकिणोऽन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे गतत्वादतिव्यापकत्वम्, तत्रान्वयव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोः सपक्षसत्त्वलक्षणबलाधिक्यसम्भवात्।

किंचैवं प्रत्यक्षेणानुमानाभासबाधो न स्यात्। प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नाभ्रान्तज्ञानकरणत्वमात्रं बलम्, अनुमानस्य तु पक्षधर्मत्वादिभूयिष्ठं बलमिति। अथ मन्यसे—अनन्यथासिद्धत्वं बलं विवक्षित्वेदमुच्यते। तेनानन्यथासिद्धेन बोधितो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकस्तत्त्वं बाधितविषयत्वमिति। मैवम्, तथाऽपि वस्तुतोऽनन्यथासिद्धेन सत्प्रतिपक्षेऽपि गतत्वम्।

लक्षणस्यातिव्यापकत्वादिति हेतुं टीकते ॐ अथेति ॐ। तदेव कथमित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ। नित्यमाकाशमस्पर्शद्रव्यत्वादात्मवदिति प्रथमानुमानसाध्यनित्यत्वाभावो बोधितो येन तस्य प्रत्यनुमानस्याकाशमनित्यं बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणाधिकरणत्वादित्यस्य पक्षवृत्त्यादिबलसत्त्वादित्यर्थः। द्वितीयं कल्पमवलम्बते ॐ अथेति ॐ। एवमप्यतिव्याप्तिरेवेत्याह ॐ तदाऽपीति ॐ। अस्य चोदाहरणं प्रागेव दर्शितम्। केवलव्यतिरेक्यपेक्षयाऽन्वयव्यतिरेकिणः कथं बलाधिक्यमित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ। पञ्चरूपत्वादन्वयव्यतिरेकिणश्चतूरूपकेवलव्यतिरेकिणोऽधिकबलत्वम्, रूपस्यैव हेतुबलत्वादित्यर्थः।

खण्डनान्तरमाह ॐ किं चेति ॐ। अग्निरनुष्ण इत्यादिप्रत्यक्षविरुद्धकालात्ययापदिष्टेऽव्याप्तिरित्यर्थः। अव्याप्तिमेवोपपादयति ॐ प्रत्यक्षेत्यादिना ॐ। उत्पन्नस्याभ्रान्तज्ञानकारणत्वमात्रमदुष्टकरणजन्यत्वमात्रं बलमनुमानस्य तु पक्षधर्मत्वादि बलं बहुलमित्यधिकबलेति विशेषणाभाव इत्यर्थः।

अन्त्यं कल्पमुत्थापयति ॐ अथेति ॐ। प्रामाण्यप्रकारादन्यप्रकारेण सिद्धिर्नास्ति यस्य तदनन्यथासिद्धं तत्त्वं बलं विवक्षितं तेन शङ्कितोपाधित्वेनान्यथासिद्धानुमानाभासबाधकत्वं प्रत्यक्षस्य भवेदित्यर्थः। लक्षणवाक्यस्य पर्यवसितमर्थं दर्शयति ॐ तेनेति ॐ। परिहरति ॐ मैवमिति ॐ। अनित्यमाकाशं महाभूतत्वात्पृथिवीवदित्यत्र नित्यमाकाशं निरवयवद्रव्यत्वादात्मवदित्यनेनानुपलभ्यमानविशेषदशायां सत्प्रतिपक्षेऽवयवविभागं विना द्रव्यनाशानुपलब्धेरुपाधिशङ्कासम्भवेनानन्यथासिद्धेन बोधितसाध्यव्यतिरेकस्य

का यथाश्रुत अर्थ सत्प्रतिपक्ष में भी घट जाता है, वहाँ भी प्रति हेतु के द्वारा प्रथम हेतु के विषयीभूत साध्य का व्यतिरेक बोधित होता है, बोधक प्रतिहेतु में पक्षधर्मतादिरूप बल सम्भव है। यदि 'बलवता' का 'अधिकबलेन'—ऐसा अर्थ विवक्षित है, तब भी उस सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्ति होती है, जहाँ केवलव्यतिरेकी हेतु के साध्य का विपर्ययावबोधन अन्वयव्यतिरेकी हेतु के द्वारा किया जाता है। वहाँ अन्वयव्यतिरेकीरूप प्रति हेतु में सपक्षसत्त्वरूप बल अधिक होता है।

दूसरी बात यह भी है कि बाधक पदार्थ में अधिक बल की अपेक्षा करने पर प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अनुमानाभास (हेत्वाभास) का बाध नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्यत्व और अदुष्टकरण-जन्यत्वमात्र बल है और हेत्वाभास में पक्षधर्मत्वादि अधिक बल होते हैं, फलतः 'अग्निरनुष्णः'—इत्यादि प्रत्यक्ष-विरुद्ध बाध में अव्याप्ति हो जायगी।

यदि अनन्यथासिद्धत्वरूप बल विवक्षित है, तब 'अनन्यथासिद्धेन बोधितो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकः तत्त्वं बाधितविषयत्वम्'—ऐसा लक्षण सम्पन्न होता है। यह लक्षण भी उस सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्त हो जाता है, जिसमें प्रति हेतु अनन्यथासिद्ध होता है ['अनित्यमाकाशं महाभूतत्वात्, पृथिवीवत्'—इस अनुमान का प्रत्यनुमान किया जाता है—'नित्यमाकाशं निरवयवत्वाद्, आत्मवत्'। यहाँ प्रथम हेतु के अनित्यत्वरूप साध्य का व्यतिरेक निरवयवत्वरूप प्रतिहेतु के द्वारा किया जाता है, वह अनन्यथासिद्ध है, क्योंकि निरवयवत्व के बिना

किञ्च – अन्यथेत्यन्येन प्रकारेणेत्युच्यते, अनन्यथेति चानन्येन प्रकारेण, यस्मादनन्यत्वं तेनैवेत्यर्थः सम्पद्यते। तथा च वक्तव्यं किं तदन्यताप्रतियोगीति ? प्रामाण्यं तदिति चेत्, अहो दुर्वैदग्धी भवतः, प्रामाण्येनेति वक्तव्ये 'प्रामाण्यात् योऽन्यः, स यो न भवति, तेन प्रकारेण यः सिद्धः प्रतीत उत्पन्नो वा तेने'ति ब्रुवाणस्य।

तथापि प्रमाणेन बोधितविपर्ययो विषयो यस्य स कालात्ययापदिष्ट इति। न, 'इदं रजतमि'ति शुक्तिं विषयीकुर्वति प्रत्यक्षाभासे 'नेदं रजतमि'ति प्रमाणेन बाध्य-

लक्षणस्य गतत्वमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः।

अनन्यथासिद्धबोधितसाध्यव्यतिरेकत्वं तत्त्वमिति व्याकारे चोक्तिगौरवं दर्शयति ❀ किं चेति ❀। प्रकारवाचितद्धितप्रत्ययान्तत्वादन्यशब्दस्येत्यर्थः। अन्यथाशब्दस्यैवमर्थत्वेऽपि प्रकृते किं स्यादित्यत आह ❀ अनन्यथेति ❀। उच्यते इत्यनुषङ्गः। शक्तितः प्रतीयमानमर्थमुक्त्वा विवक्षितमाह ❀ यस्मादिति ❀। तथाऽपि को दोष इत्यत आह ❀ तथा चेति ❀। अन्यत्वस्य प्रतियोगिघटितरूपत्वात्प्रतियोगि वक्तव्यमित्यर्थः। प्रामाण्यस्यैव बाधकत्वोपयोगित्वात्तदेव प्रतियोगि इत्याह ❀ प्रामाण्यमिति ❀। सोऽयं बकबन्ध इवेति परिहरति ❀ अहो इति ❀। दुर्वैदग्धी दुर्विदग्धता। गौरवाभावात्कथमत्र बकबन्धनन्याय इत्यत आह ❀ प्रामाण्येनेति ❀। प्रामाण्येन प्रकारेण यः सिद्धस्तेन बोधितसाध्यविपर्ययः कालात्ययापदिष्ट इति वक्तव्ये प्रामाण्यादन्येन प्रकारेण यः सिद्धो न भवति, तेनेति पदं प्रयुञ्जताऽऽत्मनः "इष्टस्यायत्नसंसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरे"दिति न्यायविषयत्वं दर्शितमित्यर्थः। सिद्धिशब्दस्य ज्ञप्त्युत्पत्त्योः पर्यायत्वात्प्रतीत उत्पन्नो वेत्युक्तम्।

तर्हि अनन्यथासिद्धेनेति पदं विहाय प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यविपर्ययः स कालात्ययापदिष्ट इति लक्षणं ब्रूमस्तत्र को दोष इत्यत आह ❀ तथाऽपीति ❀। बोधितो विपर्ययो यस्येति विषयविशेषणमेतत्। इदं हेत्वाभासविशेषलक्षणं प्रत्यक्षाभासेऽपि गच्छदतिव्यापकमापद्यत इति सम्बन्धः। तदुप-

आत्मादि पदार्थों में भी नित्यत्व सम्भव नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि 'अनन्यथा' शब्द की बनावट पर ध्यान देने से पता लगता है कि "प्रकारवचने थाल्" (पा. सू. ५।३।२३) इस सूत्र के द्वारा 'अन्य' शब्द से प्रकारार्थक 'थाल्' प्रत्यय होता है, अतः 'अन्यथा' शब्द का वाच्यार्थ होता है—'अन्यप्रकारेण' और अनन्यथा का 'अनन्यप्रकारेण' या 'अन्यप्रकारेण न'। यहाँ अन्यता किसकी अपेक्षा विवक्षित है अर्थात् अन्यता का प्रतियोगी कौन है ?

शङ्का—अन्यता का प्रतियोगी प्रमाण पदार्थ है, अतः 'अनन्यथा-घटित लक्षण-वाक्य का अर्थ होता है—प्रमाण से भिन्न प्रकार के द्वारा नहीं, अपितु प्रमाण के द्वारा ही जिस हेतु के साध्य का वाध बोधित होता है, वह बाध कहा जाता है।

समाधान—क्या कहना लक्षणकार की दुर्वैदग्धी (पण्डिताई) का ? अर्थात् 'प्रमाणेन बाधितविषयत्व न कह कर प्रमाणान्येन प्रकारेणाबाधितविषयत्व - ऐसा कहना नितान्त गौरव-ग्रस्त और अविग्धता का परिचायक है।

शङ्का—अनन्यथासिद्धेन का तात्पर्य 'प्रमाणेन' में ही है, अतः 'प्रमाणेन बोधितविपर्ययो विषयो यस्य, स कालात्ययापदिष्टः'—ऐसा लक्षण पर्यवसित होता है। [सत्प्रतिपक्ष-घटकीभूत दोनों हेतुओं में एक प्रमाण और दूसरा प्रमाणाभास होता है, अतः वहाँ प्रमाणाभास के द्वारा भी अन्य हेतु के साध्य का अभाव बोधित होता है, अतः बाध का लक्षण सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्त नहीं होता]।

समाधान—शुक्ति को देख कर जो 'इदं रजतम्—इस प्रकार का प्रत्यक्षाभास (भ्रम) ज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें भी उक्त बाध का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है, क्योंकि 'नेदं

मानेऽपि हेत्वाभासविशेषलक्षणमिदं गच्छदतिव्यापकतामापद्येत। एवं बाध्यविषयिण्यामिच्छायामपि गच्छेत्। प्रमाणेन बोधितो यदीयविषयस्यान्यथाभावः स हेतुः कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, यदि मुख्यार्थो हेतुशब्दः, तदा हेत्वाभासत्वव्याघातः। अथामुख्यार्थस्तदा कोऽस्यार्थः, यत्रैष व्यवस्थाप्यते इति सोऽभिधातव्यः। प्रमाणेन बोधितो यदीयविषयस्य व्यतिरेकः, स हेत्वाभासः कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, यद्यग्रे हेत्वाभासत्वानिश्चयस्तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वम्। अथ कालात्ययापदिष्टत्वेऽनिरूपित

पादनमिदं रजतमित्यादि। अतिव्याप्त्यन्तरमाह ❀ एवमिति ❀। परदारेषु सुभ्रूत्वाद्यध्यासमूलायामिच्छायां परस्त्रियं न गच्छेदित्यादिशास्त्रप्रमाणेन बाधितायां गच्छेदित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। हेतुत्वे सति प्रमाणेन बोधितसाध्याभावः कालात्ययापदिष्ट इति विशेषणान्न प्रत्यक्षाभासादावतिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ प्रमाणेनेति ❀। लक्षणविशेषणहेतुशब्दः किं मुख्यार्थं उतोपचरितार्थं इति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति ❀ नेति ❀। व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां समुदितो मुख्यो हेतुस्तदितरश्चाभासस्तथा च तयोरेकस्मिन् कालात्ययापदिष्टत्व एकप्रसङ्गो व्याघातप्रसङ्गात्। द्वितीयमुत्थापयति ❀ अथेति ❀। अमुख्यस्यापि हेतुशब्दार्थस्य लक्षणविशेषणत्वाद्विशेषणाधिगतिपूर्वकत्वाद्विशिष्टाधिगमस्य लक्षणावगमाय पूर्वं स वक्तव्य इत्याह ❀ तदेति ❀। सोऽभिधातव्यः यदभ्यधायि। तत्राह पूर्ववादी ❀ प्रमाणेनेति ❀। लक्षणविशेषणं हेत्वाभासत्वं कालात्ययापदिष्टत्वनिश्चयात्प्रागेव निश्चितं न वा? न चेत्तत्राह ❀ न यदीति ❀। विशेषणानवधारणाद्विशिष्टलक्षणासिद्धिरित्यर्थः। कल्पान्तरमनुभाषते ❀ अथेति ❀। प्रथमावश्यावगन्तव्यहेत्वाभासत्वात् परहेतौ साध्यासाधकतासिद्धेर्व्यर्थः कालात्ययापदेशोपन्यास इति परिहरति ❀ तदेति ❀। सोपहासं लक्षणाभासोऽयमित्युपसंहरति ❀ तदिति ❀। सामुद्रिकं कुमारप्रणीतं स्त्रीपुरुषादिलक्षणशास्त्रम्। कथमित्यत आह ❀येनेति❀। पुरुषलक्षणालक्षणप्रतिपादकशास्त्रे पुरुषाणामायुरादिरूपपदभङ्गप्रसाधकं कररेखाद्यलक्षणमिदमपि च हेत्वाभासत्वनिश्चयादेवासाधकत्वोपपत्तेर्हेत्वाभासविशेषकालात्ययापदिष्टपदविषयत्वभ्रंशसाधकमेतल्लक्षणस्वीकारे हेत्वाभासत्वस्य विशेषणस्य ज्ञानाज्ञानयोरुक्तन्यायेन तदुद्भावनासम्भवादतस्तन्मते तावदिदमलक्षणमित्यर्थः।

लक्षणविशेषणतयाऽवगम्यमानं हेत्वाभासत्वं न दोषत्वेनानुसन्धीयतेऽतो न कालात्ययापदेशवैयर्थ्यमिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। हेतुवदित्यस्य स्पष्टीकरणं ❀ हेत्वित्यादि ❀। हेतुसादृश्यप्रतिपत्त्यर्थमेव

रजतम्'—इस प्रकार के प्रमाणभूत ज्ञान के द्वारा उस प्रत्यक्षाभास के विषयीभूत रजत का बाध या व्यतिरेकावबोधन किया जाता है। इसी प्रकार 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' (मनु. ४।३७) इस प्रमाण के द्वारा उदयकालीन सूर्य के दर्शन का निषेध हो जाने से 'उद्यन्तमादित्यमीक्षे'—इस प्रकार की बाधितविषयिणी इच्छा में भी उक्त लक्षण अतिप्रसक्त होता है।

शङ्का—'प्रमाणबाधितविषयकहेतुत्वम्'—ऐसा लक्षण करने पर प्रत्यक्षाभासादि में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्षाभासादि हेतु नहीं हैं।

समाधान—'हेतु' शब्द का मुख्य अर्थ होता है "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः" (न्या. सू. १।१।३३) अर्थात् पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्वरूप पाँच धर्मों से युक्त साधन पदार्थ को हेतु कहते हैं, इस प्रकार के सद् हेतु में हेत्वाभासत्त्व कहना अत्यन्त व्याहत है। यदि कोई अमुख्य अर्थ विवक्षित है, तब उस अर्थ का अभिधान करना चाहिए, जिसमें इस 'हेतु' पद का पर्यवसान माना जाता है।

शङ्का—यहाँ 'हेतु' पद से हेत्वाभास विवक्षित है, अतः प्रमाणबाधितविषयकहेत्वाभासत्वं कालात्ययापदिष्टत्वम्'– ऐसा लक्षण किया जा सकता है।

समाधान—बाधित हेतु में कालात्ययापदिष्टत्व-ज्ञान से पहले हेत्वाभासत्व का ज्ञान नहीं होता? अथवा होता है? यदि नहीं होता, तब हेत्वाभासत्व-घटित लक्षण-वाक्य का अर्थावबोध नहीं हो सकता और यदि हेत्वाभासत्व का निश्चय पहले से ही है, तब उतने ही

एव हेत्वाभासत्वनिर्णयस्तदा तत एव दुष्टत्वसिद्धेः कृतं पश्चात्प्रतीतिकस्य कालात्ययापदेशस्योपन्यासेनेति । तदिदं त्वन्मते लक्षणमस्तु मा वा भूत, सामुद्रिकप्रमाणेन पुनर्महदेतदलक्षणं कालात्ययापदेशस्य, येनास्य नाम हेत्वाभासभेदपदेऽपभ्रंशः प्रासाधि ।

अथ ब्रूषे—हेत्वाभासत्वं हेतुवदाभासमानत्वं हेतुसदृशतया प्रतीयमानत्वम्, न तु हेतुदोषवत्त्वमिति । मैवम्, हेतुना तुल्यता ह्यहेतुत्वावगमं विना न शक्यप्रतिपत्तिः, सादृश्यस्य भिन्नाधिष्ठानस्य तथैव प्रतीतेः । अन्यथा हेतोरपि हेत्वाभासत्वापातात् । ततश्च हेतुरूपवैकल्यस्यावश्यं प्रत्येतव्यत्वेन प्रागुक्तदोषानिवृत्तिः ।

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयपक्षव्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न ।

हेतुरूपवैकल्यं प्रथमतोऽवगन्तव्यमिति प्रागुक्तदोषतादवस्थ्यमिति परिहरति * मैवमिति * । कुत इत्यत आह * सादृश्येति * । चन्द्रवन्मुखमित्यादौ सादृश्यस्य स्वाधिष्ठानभेदप्रतीतिपूर्वकतयैव प्रतीतेरित्यर्थः । विपक्षदण्डेनोक्तं द्रढयति * अन्यथेति * । एतावता कथं प्रागुक्तदोषानुषङ्ग इत्यत आह * ततश्चेति * ।

तर्हि हेत्वाभासत्वविशेषणं परित्यज्य साध्यपदस्थाने पक्षपदं प्रक्षिप्य लक्षणमाचक्ष्महे इति शङ्कते * प्रमाणेनेति * । सिषाधयिषितधर्मवतः पक्षत्वे तद्विशेषणसाध्याभावग्राहकस्य तद्विशिष्टपक्षाभावग्राहकत्वासम्भवो नापि प्रत्यक्षाभासेऽतिव्याप्तिस्तत्र पक्षव्यतिरेकबोधाभावादिति भावः । अतिव्याप्त्या दूषयति * नेति * । गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् कासारारविन्दवदित्यादिावाश्रयासिद्धस्तत्र हेतोराश्रयपक्षा-

निश्चयमात्र से हेतु में साध्य-साधन की क्षमता समाप्त हो जाती है, कालात्ययापदिष्टत्व के लक्षण और उद्भावन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। फलतः यह लक्षण आप (नैयायिक) के मत में कालात्ययापदिष्ट का लक्षण सिद्ध हो या न सिद्ध हो, सामुद्रिकशास्त्ररूप प्रमाण से प्रतिपादित यह एक महान् कुलक्षण है कि इसने कालात्ययापदिष्ट को हेत्वाभास के एक विशेष पद पर प्रतिष्ठित होने से वञ्चित कर दिया [कार्तिकस्वामी के द्वारा स्त्री-पुरुषादि के शुभाशुभ-सूचक लक्षणों के प्रतिपादक शास्त्र को सामुद्रिक शास्त्र कहा जाता है। शिवजी के द्वारा वह समुद्र में फेंक दिया गया था और समुद्र से पुनः प्राप्त होने के कारण उसका सामुद्रिक नाम प्रसिद्ध हो गया। उसमें जो पतिघ्नी पाणि-रेखाओं के समान बहुत से लक्षणों (चिह्नों) को कुलक्षण बताया गया है, उन्हीं में यह लक्षण भी है, जो कि कालात्ययापदिष्ट के कलेवर पर कुलक्षण बन कर उसका घातक सिद्ध हो रहा है]।

शङ्का—यहाँ 'हेत्वाभास' पद का अर्थ यदि हेतुगत दोष होता, तब अवश्य ही उसके ज्ञान से कालात्ययापदेशत्व गतार्थ हो जाता, किन्तु 'हेत्वाभास' पद से यहाँ केवल हेतु के समान प्रतीयमानता ही विवक्षित है, हेतु की सदृशता तो पञ्चम्यन्त-प्रयोगमात्र से सम्पन्न हो जाती है।

समाधान—दो भिन्न पदार्थों की ही सदृशता मानी जाती है, अतः हेतु और अहेतु की सदृशता का प्रदर्शन करने के लिए कालात्ययापदिष्ट को अहेतु मानना अनिवार्य है, अन्यथा हेतु में भी हेत्वाभासता प्रसक्त होगी। फिर तो हेतुत्वाभाव या अहेतुत्व का ज्ञान पहले यदि नहीं, तब उससे घटित लक्षण-वाक्य का अर्थ-ज्ञान नहीं हो सकता और यदि उसका ज्ञान है, तब उसी से हेतु में साध्यासाधकत्व अवगत हो जाता है, उक्त लक्षण निरर्थक होकर रह जाता है।

२. प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयपक्षव्यतिरेकः—

शङ्का—प्रत्यक्षाभासादि से अतिप्रसङ्ग हटाने के लिए लक्षण में 'साध्य' या 'विषय' पद के स्थान पर 'पक्ष' पद का प्रयोग कर 'प्रमाणबोध्यमानपक्षव्यतिरेकत्वम्—ऐसा लक्षण

आश्रयासिद्धव्यापनात्। आश्रयासिद्धव्यतिरिक्त इति विशेषणीयमिति चेन्न, विशेषणाद्यसिद्ध्या आश्रयासिद्धेन सह सङ्कीर्णकालात्ययापदिष्टोदाहरणमेवं न व्याप्येत।

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकः, स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, प्रत्यक्षाभासव्यापनात्। तत्रापि हि साध्यस्य ज्ञाप्यरूपस्य व्यतिरेको बोध्यत एव प्रमाणेन। प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य व्यापकस्य व्यतिरेकः, स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, प्रमाणेन बोध्यमानाभावस्य प्रकृतहेतुव्यापकत्वासम्भवात्। प्रमाणेन

भावस्य प्रमाणबोधितत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। अतिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणमादेयमित्याह ❀ आश्रयेति ❀। अव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। अनित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः पदार्थत्वादित्ययमनित्यत्वलक्षणविशेषणस्य पुरुषेश्वरत्वनित्यत्वग्राहकप्रमाणविरोधादसिद्ध्या विशेष्यप्रधानग्राहकप्रमाणासत्त्वेनाश्रयासिद्धेन सह सङ्कीर्णकालात्ययापदिष्टदृष्टान्तो न व्याप्यत इत्यर्थः।

प्रमाणेन बोधितसाध्यव्यतिरेक इति प्रागुपन्यस्तलक्षण एव न प्रत्यक्षाभासेऽतिव्याप्तिः प्रत्यक्षविषयस्यासाध्यत्वादिति शङ्कते ❀ प्रमाणेनेति ❀। साध्यपदेन ज्ञाप्यमुच्यत उत व्यापकमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ नेति ❀। तदेव स्पष्टयति ❀ तत्रेति ❀। द्वितीयं शङ्कते ❀ प्रमाणेनेति ❀। व्यापकशब्देन व्याप्तिकर्तृकत्वं विवक्षितमुत तथा प्रतिज्ञातत्वमुत पक्षनिविष्टत्वमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। प्रमाणेन बोध्यमानोऽभावो यस्य तस्येति विग्रहः। अग्निरनुष्णः कृतकत्वादित्यत्र प्रमाणेन बोध्यमानावभाव-

---

किया जा सकता है। ['वह्निरनुष्णः, द्रव्यत्वात्'—इत्यादि बाधित हेतुओं के वह्न्यादि साध्य पदार्थों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाध हो जाने पर सिषाधयिषित वह्निरूप धर्म से विशिष्ट धर्मिरूप पक्ष का भी बाध हो जाता है—इस प्रकार लक्ष्य में लक्षण का समन्वय हो जाने से अव्याप्ति या असम्भव दोष नहीं रहता और 'नेदं रजतम्'—इस प्रमाणभूत ज्ञान के द्वारा जो शुक्ति में रजत का बाध या व्यतिरेकावबोधन होता है, वह किसी का पक्ष नहीं, अतः वहाँ अतिव्याप्ति भी नहीं]।

समाधान—'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, स्थलारविन्दवत्'—यहाँ 'अरविन्दत्व' हेतु आश्रयासिद्ध है, क्योंकि उसका गगनारन्दिरूप आश्रय या पक्ष किसी प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता, अतः इस आश्रयासिद्ध हेतु में भी उक्त कालात्ययापदिष्ट का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। 'आश्रयासिद्धभिन्नत्वे सति'—ऐसा विशेषण लगाने पर आश्रयासिद्ध-सङ्कीर्ण कालात्ययापदिष्ट में लक्षण अव्याप्त हो जाता है, [क्योंकि 'प्रधानपुरुषपरमेश्वरा अनित्याः, पदार्थत्वाद् घटादिवत्'—इत्यादि स्थलों पर पुरुष (जीव) और ईश्वरादि में नित्यत्व-साधक प्रमाण के द्वारा अनित्यत्वरूप विशेषण का बाध हो जाने से पक्षरूप विशिष्ट-पदार्थ का बाध हो जाता है साँख्य-सम्मत प्रधानरूप पक्ष का साधक प्रमाण न होने के कारण आश्रयासिद्ध-सङ्कीर्ण बाधरूपता है। यहाँ 'आश्रयासिद्धभिन्नत्वे सति'—यह विशेषण दल नहीं घटता]।

शङ्का—प्रमाणबाधितविषयकत्व-लक्षण करने पर प्रत्यक्षाभास में जो अतिव्याप्ति होती है, उसकी व्यावृत्ति प्रमाणबाधितसाध्यकत्व-लक्षण से हो जाती है, क्योंकि रजत उस प्रत्यक्षाभास का विषय होता है, साध्य नहीं।

समाधान—वह्नि को धूम का साध्य इसीलिए कहा जाता है कि वह धूम से ज्ञापित होती है—इस प्रकार ज्ञाप्यत्वरूप साध्यत्व को लेकर उक्त प्रत्यक्षाभास में अतिप्रसक्ति बनी रहती है, क्योंकि 'इदं रजतम्'—इस प्रत्यक्षाभास का रजत भी ज्ञाप्य है, उसके व्यतिरेक का बोधन 'नेदं रजतम्'—इस प्रमाणभूत ज्ञान के द्वारा होता है। यदि साध्य का अर्थ व्यापक किया जाता है, तब 'प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयव्यापकस्य व्यतिरेकः, स कालात्ययापदिष्टः'—ऐसा लक्षण पर्यवसित होता है, जो कि असम्भव-ग्रस्त है, क्योंकि 'वह्निरनुष्णः कार्यत्वात्'—

बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य प्रतिज्ञातस्याभावः, स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, स्वार्थानुमाने कालात्ययापदिष्टस्यैवमव्यापनात्। तत्र शब्दरूपस्य प्रतिज्ञातस्याभावात्, शब्दस्य परार्थत्वात्।

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य पक्षनिविष्टस्य व्यतिरेकः, स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, तथाभूतस्य पक्षाभासत्वाभ्युपगमेन मुख्यपक्षार्थत्वासम्भवात्। पक्षाभासनिविष्टत्वे सतीति तु क्रियमाणे पूर्वं पक्षाभासत्वप्रतीत्यप्रतीतिपक्षयोः पृथक् हेत्वाभासत्वप्रतीत्यप्रतीतिपक्षोक्तदोषवद्दोषो द्रष्टव्यः। पक्षत्वाभिमतांशभूतस्येति च क्रियमाणे प्रष्टव्यं किं पक्षत्वाभिमतत्वम्—किमु पक्षतयाऽभ्युपगम्यमानत्वम्, अथ तत्तया प्रमितत्वम्, उत प्रत्यक्षतया प्रतीतत्वम्? नाद्यः, दूषकं प्रति तदसम्भवात्,

स्यानुष्णत्वस्य कृतकत्वहेतुव्यापकत्वमेव नास्तीति लक्षणासम्भव इत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते ❀प्रमाणेनेति❀। प्रतिपिपादयिषया पक्षवचनरूपप्रतिज्ञा यद्यपि स्वार्थानुमाने नास्ति तथाऽपि तत्राऽस्ति पक्षस्तद्विशेषणतया तन्निविष्टस्य साध्यस्याभावो विशेषणतया विवक्षितो नातोऽव्याप्तिरित्यर्थः। पक्षशब्दो मुख्यार्थोऽमुख्यार्थो वेति विकल्प्य प्रथमं निराकरोति ❀ नेति ❀। सन्दिग्धसाध्यस्य पक्षत्वेन निश्चितसाध्याभावस्य तथाभूतस्य मुख्यपक्षत्वासम्भवाल्लक्षणासम्भव इत्यर्थः। द्वितीयं पक्षं प्रतिक्षिपति ❀ पक्षेति ❀।

पक्षे निविष्टस्य तदाभासनिविष्टस्येति वा न ब्रूमः किन्तु पक्षत्वाभिमतस्यांशस्याभावो बोध्यते प्रमाणेन यत्र स इत्यत आह ❀ पक्षेति ❀। किं प्रष्टव्यमित्यत आह ❀ किमिति ❀। पक्षतया स्वीकारस्तथात्वेन प्रमा, उत तथात्वप्रतीतिमात्रमेवाभिमतशब्दार्थ इति विकल्पानामर्थः। आद्यं दूषयति ❀ नेति ❀। अभ्युपगम्यमानत्वं प्रतिवादिना वादिना वेति विकल्प्य प्रथमेऽसम्भवमाह ❀ दूषकमिति ❀।

इस कालात्ययापदिष्ट में यह लक्षण तभी घटेगा, जब कि 'कार्यत्व' हेतु का अनुष्णत्व व्यापक हो, किन्तु अग्नि में कार्यत्व रहने पर भी अनुष्णत्व बाधित होता है, अतः वह उसका व्यापक नहीं और प्रत्यक्ष प्रमाण से बोध्यमान अनुष्णत्वाभाव प्रकृतहेतुव्यापकक (प्रकृतहेतुव्यापक प्रतियोगिक) नहीं होता। साध्य का अर्थ यदि प्रतिज्ञात (साध्यनिर्देशात्मक प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा निर्दिश्यमान) साध्य किया जाता है, तब स्वार्थानुमान-स्थलीय कालात्ययापदिष्ट में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि वहाँ शब्दस्वरूप प्रतिज्ञादि अवयवों का प्रयोग नहीं होता, शब्द-प्रयोग परार्थ ही होता है।

शङ्का—'साध्य' पद यहाँ 'पक्ष-कोटि-निविष्ट साध्य का बोधक है, अतः 'प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य पक्षनिविष्टस्य व्यतिरेकः, स कालात्ययापदिष्टः'—ऐसा लक्षण सम्पन्न होता है। 'इदं रजतम्'—इत्यादि प्रत्यक्षाभासों में निविष्ट रजतादि विषय पक्ष-निविष्ट साध्य नहीं माने जाते, अतः उनमें अतिप्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता।

समाधान—'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्'—इत्यादि बाधस्थलीय वह्न्यादिरूप पक्ष मुख्यरूप से 'पक्ष' पद के वाच्य नहीं होते, क्योंकि सन्दिग्धसाध्यवान् धर्मी को मुख्य पक्ष कहा जाता है, किन्तु वह्न्यादि में अनुष्णत्वरूप साध्य का सन्देह नहीं होता, अपितु उसके अभाव का निश्चय होता है। फलतः बाधित साध्य का धर्मी पक्ष नहीं, पक्षाभास होता है, तब पक्ष-घटित लक्षण लक्ष्य-स्थल पर कहीं भी नहीं घटता, असम्भव-ग्रस्त है। यदि पक्षनिविष्टत्व के स्थान पर पक्षाभास-निविष्टत्व कहा जाता है, तब पक्षाभासत्व की प्रतीतिः पहले से है? या नहीं? इत्यादि विकल्प-पक्षों को लेकर बहुचर्चित दोष प्रसक्त होते हैं।

यदि कथित पक्षाभासों का संग्रह 'पक्षत्वाभिमत' शब्द से किया जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि पक्षत्वाभिमत' शब्द से क्या विवक्षित है? क्या (१) पक्षतयाऽभ्युपगम्यमानत्वम्? या (२) पक्षतया प्रमितत्वम्? अथवा पक्षतया प्रतीयमानत्वम्?

तेन बाध्यसाध्यस्य पक्षाभासतयैव प्रत्युताङ्गीकारात्। अनुमानवाद्यपेक्षयाऽपि नियमाभावः, सदनुमानापरिस्फूर्तौ मन्दप्रज्ञेन प्रज्ञाभिमानभृता च 'मयि वदति स्फुटदोषमपि को दूषयितुं शक्तः' इत्यभिप्रायेण यदृच्छया ज्ञातदोषस्यापि प्रयोगस्य सम्भवात्। तत्रानुमानवादिना पक्षत्वाङ्गीकाराभावेन तथाभूतबाधितानुमानाव्यापकमिदं लक्षणं स्यात्। न च पक्षतयोपन्यस्यमानत्वमङ्गीकारार्थ इति युक्तम्, तथा सति स्वार्थानुमाने कालात्ययापदेशाव्याप्तिः।

नापि द्वितीयः, पक्षत्वेन प्रमिते विषये कालात्ययापदेशानवकाशात्। नापि तृतीयः, तदा ह्येवं लक्षणमिदं सम्पद्यते—प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्य पक्षप्रतीतिविषयांशस्य व्यतिरेकः, स कालात्ययापदिष्ट इति। अस्य च वाक्यार्थस्य न कदाचिदपि सम्भवं पश्यामः। यदा तावत्प्रमाणेन साध्यस्य व्यतिरेकबोधस्तदा पक्षप्रतीति-

असम्भवे हेतुं दर्शयति ❀ तेनेति ❀। बाध्यः साध्यो यस्मिंस्तस्येत्यर्थः। द्वितीयमपवदति ❀ अनुमेति ❀। नियमाभावोऽव्याप्तिरित्यर्थः। तामेवाव्याप्तिमुपपादयति ❀ सदिति ❀। ग्रन्थः स्पष्टार्थः। यत्र प्रत्यक्षादिविरुद्धतया ज्ञातदोषमप्यनुमानं वादी प्रयुङ्क्ते तत्र पक्षत्वाङ्गीकारविशेषणाभावादव्यापकमिदं लक्षणमित्याह ❀ तत्रेति ❀। यत्र वादी ज्ञातदोषं प्रयुङ्क्ते तत्र पक्षतयोपन्यासोऽस्ति स एवाङ्गीकारार्थ इति कथमनियम इत्यत आह ❀ न चेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ तथेति ❀। तत्रोपन्यासाभावादुपन्यस्यमानत्वाभावः उपन्यासस्य च शब्दरूपत्वात्तस्य च परार्थत्वादित्यर्थः।

पक्षत्वेन प्रमितत्वमभिमतत्वमिति द्वितीयं दूषयति ❀ नापीति ❀। कथमित्यत आह ❀ पक्षेति ❀। साध्यधर्मविशिष्टस्य पक्षस्य प्रमितत्वे तद्विशेषणसाध्यस्यापि वस्तुत्वेन बाधायोगाल्लक्षणायोग इत्यर्थः।

अन्तिमकल्पं निरस्यति ❀ नापीति ❀। दूषणं दर्शयितुं लक्षणवाक्यस्य पर्यवसितमर्थं दर्शयति ❀ तथा हीति ❀। प्रमाऽप्रमासाधारणज्ञानं प्रतीतिस्तद्गोचरापन्नस्य पक्षस्यांशभूतसाध्याभावः प्रमाणेन प्रबोधितो यस्य स कालात्ययापदिष्ट इति यावत्। पर्यवसितलक्षणस्वरूपमुक्त्वा तस्यासम्भवित्वमाह ❀ अस्येति ❀। पक्षप्रतीतिसाध्याभावबोधयोः किमेककालत्वं विवक्षितमुत भिन्नकालत्वमिति विकल्प्य

प्रथम कल्प असम्भव-ग्रस्त है, क्योंकि दूषक (प्रतिवादी) स्थापनावादी के पक्ष को पक्ष नहीं, पक्षाभास मानता है, क्योंकि उसके लिए वह सन्दिग्धसाध्यवान् न होकर बाधित साध्यवान् होता है। स्थापनावादी की दृष्टि में भी वहाँ पक्षरूपता के होने का कोई नियम नहीं, क्योंकि सदनुमानरूपता का स्फुरण (भान) न होने पर भी मन्दप्रज्ञ व्यक्ति या स्फुरण होने पर भी प्रज्ञाभिमानी व्यक्ति जान-बूझ कर असदनुमान का प्रयोग कर देता है यह सोच कर कि मेरी धाक इतनी है कि 'मेरे प्रकट दोष-पूर्ण पक्ष का भी खण्डन कौन कर सकता है ?' ऐसे स्थलों पर अनुमानवादी (स्थापनावादी) भी अपने पक्ष में पक्षता (सन्दिग्धसाध्यवत्ता) नहीं मानता, तब उस पक्ष में पक्षत्वेनाभ्युपगतत्वरूप लक्षण अव्याप्त हो जाता है। अभ्युपगम का उपन्यास (वाक्य-प्रयोग) अर्थ करने पर स्वार्थानुमान-स्थल पर अव्याप्ति हो जाता है, क्योंकि वहाँ उपन्यस्यमानत्व सम्भव नहीं।

द्वितीय (पक्षतया प्रमितत्वम्) कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि जिस पक्ष में वादी को पक्षता (सन्दिग्ध-साध्यवत्ता) का प्रमात्मक ज्ञान हो रहा है, वह उसमें बाधित साध्य का प्रयोग क्योंकर करेगा ? अतः वहाँ कालात्ययापदेश को कोई अवसर नहीं मिलता।

तृतीय (पक्षतया प्रतीयमानत्वम्) कल्प को मानने पर लक्षण-वाक्य इस प्रकार सम्पन्न होता है कि 'जिस हेतु के पक्षत्वेन प्रतीयमान धर्मी के धर्मभूत (साध्य) का बाध किसी प्रमाण के द्वारा होता है, वह कालात्ययापदिष्ट है।' यह लक्षण सर्वथा असम्भव है, क्योंकि यहाँ प्रतीयमानत्व-घटक प्रतीति का भ्रान्ति ही अर्थ करना होगा, क्योंकि प्रमा-पक्ष का अपर

नोऽस्ति विशेषदर्शने भ्रमस्यानवकाशात्। ततश्च तदा पक्षप्रतीत्यभावेन तद्विषयत्वाभावात् तद्विषयांशस्येति विशेषणाभावाधीनो विशिष्टस्य लक्षणात्मनोऽभावः।

यदाऽपि च प्रमाणेन साध्यव्यतिरेकबोधनं नास्ति, तदा तस्यैव लक्षणभागस्याभावात् लक्षणाभाव इति नित्यमसत्त्वव्यवस्थितेन लक्षणेन लक्ष्यं व्यवस्थापयन् श्लाघनीयप्रज्ञो भवान्। न च वैशेषिकप्रक्रियामाश्रित्य विनश्यदवस्थाऽपि पक्षप्रतीतिस्तत्काले सम्भावनीया, तदीयसाध्यव्यतिरेकावगमनिवर्तनीया हि सा। तत्साध्यव्यतिरेकावगमश्च पूर्वतरमेव भूत इत्यवश्यमभ्युपगम्यम्। अन्यथा प्रमाणेन बोध्यमानत्वं

प्रथम प्रत्याह ❀ य ति ❀। कुत इत्यत आह ❀ विशेषेति ❀। प्रमाविषयत्वपक्षप्रतिक्षेपादप्रमाप्रतीतिर्वक्तव्या तस्याश्च विशेषाग्रहमूलत्वात्साध्याभावरूपविशेषदर्शने नावकाश इत्याशयः। तदा तत्प्रतीत्यसम्भवेऽपि विशिष्टलक्षणस्य ततोऽन्यत्वात्तदभावः किंनिबन्धन इत्यत आह ❀ ततश्चेति ❀। विशेषणाद्यतिरिक्तं विशिष्टं ये नोपयन्ति तेषां विशेषणाभावे विशिष्टाभावः स्पष्ट एव, ये तु तदतिरिक्तमुपगच्छन्ति, तेषामपि विशेषणाधीनत्वाद्विशिष्टस्य प्रयोजकविशेषणाभावे तत्प्रयोज्यविशिष्टाभावो दण्डाभावे दण्डयभाववदिति भावः। अस्तु तर्हि साध्याभावबोधपक्षप्रतीत्योरसमसमयत्वं तथा च पक्षप्रतीतिविशेषणलाभात्तद्विशिष्टं लक्षणमपि सेत्स्यतीति द्वितीयं कल्पं शङ्कते ❀ यदेति ❀ एकं सन्धित्सतोऽपरं ते प्रच्यवते इति परिहरति ❀ तदेति ❀। पक्षप्रतीतिलक्षणविशेषणाभावप्रयुक्तदोषाभावेऽपि प्रमाणेन बोधितसाध्यव्यतिरेकत्वमिति लक्षणांशस्याभावात्तदधीनो लक्षणात्मनोऽभावो दुष्परिहरः। एवं कल्पद्वयेऽपि लक्षणासम्भवमभिधाय सोपहासमुपसंहरति ❀ इति नित्यमिति ❀। प्रमाणेन साध्याभावबोधकाले तदबोधकाले च नित्यमसत्त्वव्यवस्थितेनेत्यर्थः। वैशेषिकमतेन साध्याभावबोधपक्षप्रतीत्योरेककालत्वमाशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। वित्तीनां वध्यघातकभावो विरोध इति वैशेषिकप्रक्रिया तेन विनश्यदवस्था पक्षप्रतीतिः साध्याभावप्रमितिकाले विद्यते तामादाय लक्षणं सिद्ध्यतीति शङ्काभिप्रायः। कुत इत्यत आह ❀ तदिति ❀। तत्साध्यव्यतिरेकरूपविशेषदर्शननिवर्त्या पक्षप्रतीतिर्भ्रान्तिरित्यर्थः। अस्तु तथाऽपि किमित्यत आह ❀ तदिति ❀।

खण्डन हो चुका है। बाधस्थलीय पक्ष में जब साध्याभाव का बाध-प्रयोक्ता को निश्चय है, तब वहाँ पक्षता की भ्रान्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि संशय-घटकीभूत दोनों विशेष कोटियों में से किसी एक कोटि का निश्चय हो जाने पर संशय को अवसर नहीं मिलता। अतः वहाँ पक्षत्व-प्रतीति न होने के कारण न तो पक्ष में प्रतीति-विषयता और न साध्य में पक्षांशता, विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टस्वरूपलक्षणार्थ का अभाव हो जाना नैसर्गिक है। जब किसी प्रमाण के द्वारा साध्याभाव का बोधक नहीं होता, तब वहाँ 'प्रमाणेन बोधित'—यह विशेषण सुलभ न रहने के कारण लक्षणार्थ अधिगत नहीं होता। इस प्रकार विशेषणीभूत अर्थों का बोध न हो सकने के कारण जिस लक्षणरूप विशिष्टार्थ का सत्त्व ही व्यवस्थित नहीं, उस लक्षण के द्वारा लक्ष्य की व्यवस्था करना नितान्त उपहासास्पद है।

शङ्का—वैशेषिक दर्शन-प्रथित क्षण-प्रक्रिया के अनुसार उक्त लक्षण अपने लक्ष्य में सम्यक् समन्वित हो जाता है, क्योंकि प्रथम क्षण में पक्षता की प्रतीति और द्वितीयक्षणोत्पन्न साध्याभाव-निश्चय से तृतीय क्षण में पक्षता की निवृत्ति होती है, क्योंकि सन्दिग्धसाध्यवत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूप पक्षता का साध्याभाववत्त्वेन निश्चीयमानत्वरूप बाध निवर्तक माना जाता है, अतः द्वितीयक्षणावच्छेदेन अग्न्यादि धर्मी में प्रक्रान्त (विनाशोन्मुखप्रतीति-घटित) पक्षता भी है और कालात्ययापदेश भी लक्षण का समन्वय अपने लक्ष्य में क्यों न होगा ?

समाधान—'वह्निरनुष्णः, कार्यत्वात्'—इत्यादि बाध-स्थल पर जिस प्रमाणभूत ज्ञान के द्वारा साध्य-व्यतिरेक अवबोधित होता है, उसकी उत्पत्ति साध्यवत्ता-ज्ञान से पहले ही माननी होगी, अतः द्वितीय क्षण में साध्यवत्त्व-प्रतीति-घटित पक्षता सम्भावित नहीं। यदि

कथं साध्यव्यतिरेकस्य तदाऽवगम्येत ? न च वाच्यं प्रतीतिविषयत्वमिदं विशेषणं न भवति, किन्तु उपलक्षणम्। उपलक्षणेन चासताऽपि व्यवच्छिन्नप्रतीतिरुपजन्यते, यथा—'काकवन्तो देवदत्तगृहाः' इत्युपलक्षणीभूतया काकवत्तया देवदत्तगृहस्य व्यवहारकाल इति। यतस्तत्रोपलक्ष्यदेवदत्तगृहस्य स्वाभाविको विशेषोऽस्ति व्यवहारकाले, तेन काकवत्ताभावेऽपि तमादाय व्यवहारनियमप्रवृत्तिः, न तु तत्राऽप्यसत उपलक्षणस्य कारणत्वम्। अत्र तु व्यक्तीनामुपलक्ष्यत्वे लक्षणस्याननुगतत्वम्। अनुगतञ्च किञ्चिदुपलक्ष्यं न लक्ष्यामहे। अत उक्तमेव वाक्यार्थमादाय प्रवर्तमाने लक्षणा-

---

प्रमाणेन बोध्यमानत्वविशिष्टत्वेन ज्ञानं साध्याभावस्य बोध्यमानत्वमतश्चास्यापि विशिष्टज्ञानत्वात्तस्य च विशेषणविशेष्यज्ञानपूर्वकत्वात्प्रथमतः पक्षसाध्याभावज्ञानमनन्तरञ्च प्रमाणेन बोध्यमानत्वज्ञानं तदनन्तरञ्च विशिष्टज्ञानं तदनन्तरं धर्मिज्ञानं पश्चाच्च प्रमाणेन बोध्यमानत्वविशिष्टसाध्याभावविशिष्टपक्षज्ञानमित्यत्यन्तव्यवहितत्वात्पक्षप्रतीतिलक्षणज्ञानयोर्विनश्यदविनश्यदवस्थयोरपि न साहित्यमित्यर्थः। विपर्यये दण्डमाह ❀ अन्यथेति ❀। पक्षप्रतीतेः प्रागेव साध्यव्यतिरेकप्रतीत्यनभ्युपगमे प्रमाणेन बोध्यमानत्वं साध्यव्यतिरेकस्यावगन्तुं न पार्यते विशिष्टस्य विशेषणादिज्ञानपूर्वकत्वादित्यर्थः।

पक्षप्रतीतिविषयत्वस्य विशेषणत्वे लक्षणावगतिसाहित्याभावो दोषो न तथा, किं नाम ? उपलक्षणमतो धर्म्यवगत्यभावेऽपि तदुपलक्षितलक्षणावगतिसम्भव इत्याशंक्याह ❀ न चेति ❀। उपलक्षणविशेषणयोर्व्यावर्तकत्वसाम्यादुपलक्षणमपि सदेव व्यवच्छेदकमित्यत आह ❀ उपेति ❀। असदुपलक्षणं व्यवच्छेदकमित्यत्रोदाहरणमाह ❀ यथेति ❀। काकवन्तो देवदत्तगृहा इत्यत्र यज्ञदत्तगृहादिभ्यो देवदत्तगृहस्य व्यवच्छिन्नव्यवहार इति न च वाच्यमिति सम्बन्धः। कुतो न वाच्यमित्यत आह ❀ यत इति ❀। उपलक्षणाभावेऽपि लक्षितस्य मृद्दारुमयत्वादिः स्वाभाविको विशेषोऽस्ति। तावता किमित्यत आह ❀ तेनेति ❀। कुतोऽयं निर्णयस्तत्र स्वाभाविकविषय एव विशेषहेतुर्नासदुपलक्षणमिति तत्राह ❀ न त्विति ❀। असतः प्राक्सत्त्वलक्षणकारणत्वाभावादित्यर्थः। तर्ह्यत्रापि प्रतीतिविषयत्वोपलक्षित एव पक्षो विशिष्टलक्षणव्यवहारं जनयेदित्यत आह ❀ अत्रेति ❀। पर्वतादिपक्षव्यक्तीनामुपलक्ष्यत्वेन लक्षणप्रवेशे तद्व्यावृत्त्या लक्षणाननुगतिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि केनचिदनुगतरूपेण क्रोडीकृतानामुपलक्ष्यत्वं तत्राह ❀ अनुगतमिति ❀। लक्षणं व्यतिरेक्यनुमानं तत्र लक्षणात्मके साधने पक्षप्रतीतिविषयांशस्येति विशेषणासिद्धिरित्यर्थः।

साध्याभाव-बोधक प्रमाण पहले उत्पन्न नहीं होता, तब साध्याभाव में प्रमाण-बाधितत्व कैसे घट सकेगा ?

शङ्का—यदि द्वितीय क्षण में साध्यवत्त्व-प्रतीत नहीं हो सकती, तब भी उस काल में पक्षता सम्भावित है, क्योंकि उक्त प्रतीति-विषयत्व उसका विशेषण नहीं, उपलक्षण है। उपलक्षण का व्यवच्छिन्न-प्रतीति-काल में विद्यमान रहना आवश्यक नहीं, अविद्यमान उपलक्षण से भी व्यवच्छिन्नप्रतीति (इतर-व्यावृत्त-बुद्धि) उत्पन्न हुआ करती है, जैसे कि 'काकवन्तो गृहा ज्ञेया देवदत्तस्य तस्य ते'—इत्यादि व्यवहार-काल में गृहगत काकवत्ता विद्यमान नहीं होती।

समाधान—यद्यपि उक्त व्यवहार-काल में गृहगत काकवत्ता विद्यमान नहीं, तथापि काक-तर्कित प्राग्वंशत्वं, उत्तृणत्वादि विशेषताओं के विद्यमान होने के कारण व्यवहार-नियम प्रवृत्त हो जाता है, किन्तु प्रकृत में अविद्यमान उपलक्षण पक्षता-व्यवहार का नियामक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह्न्यादि पक्षों को तत्तद्व्यक्तित्वेन उपलक्षित माने, तब अननुगम दोष होता है, उपलक्ष्यतावच्छेदकीभूत कोई अनुगत धर्म प्रतीत नहीं होता। फलतः विशेषणासिद्धि-प्रयुक्त लक्षणरूप विशिष्टार्थ की सिद्धि उक्त लक्षण-वाक्य से नहीं हो सकती।

त्मके साधने विशेषणासिद्धिर्दुर्निवारा। एतेन पूर्वशङ्कितस्य हेतुरित्यस्य प्रत्यक्षाभास-व्यवच्छेदार्थमुपात्तस्य स्थाने हेतुत्वाभिमत इत्येतादृशस्य करणं दूषितप्रायम्।

अथ ब्रूषे प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्याभावः, स प्रत्यक्षाभासातिरिक्तः कालात्ययापदिष्ट इति। नैतदपि सुस्थम्, शब्दोपमानाभाससाधारण्यात्। तद्व्यतिरिक्त इत्यपि विशेषणीयमिति चेत्, एतदपि विचार्यताम्, किं प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वं प्रत्यक्षाभासादिभ्यो वैधर्म्यं किञ्चित्, उत स्वरूपभेदः, अथवाऽन्योन्याभावः? न तावदाद्यः, तद्भेदकस्य धर्मस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। नापि द्वितीयः, स्वरूपस्य परस्परव्यावृत्ततया लक्षणानौपयिकत्वात्। नापि तृतीयः, व्यतिरिक्तत्वस्यान्योन्याभावात्मनः प्रत्यक्षाभासादावपि भावेन तद्व्यवच्छेदानुपपत्तेः।

उक्तन्यायमन्यत्राऽप्यतिदिशति ❀ एतेनेति ❀। प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्याभावः स कालात्ययापदिष्ट इत्युक्तस्य प्रत्यक्षाभासेऽतिव्याप्तिरुक्ता तद्व्यवच्छेदार्थं हेतुरित्युपात्तं तस्य च हेतुशब्दस्य मुख्यामुख्यार्थत्वविकल्पेन निरासोऽपि कृतस्तत्परिहाराय हेतुपदस्थाने हेतुत्वाभिमतेति विशेषणं यदि कश्चिन्निवेदयेत तदप्यभिमतत्वर्योक्तविकल्पदूषणेन निरस्तमित्यर्थः।

लक्षणान्तरं शङ्कते ❀ अथेति ❀। अत्र हेतुपदाभावात्प्रत्यक्षाभासव्यतिरिक्तत्वविशेषणाच्च न पूर्वोक्तावद्यमित्याशयः। अतिव्याप्त्यैव दूषयति ❀ नेति ❀। कराग्रे करिवृन्दं रमत इत्यादिशब्दाभासे गोसादृश्यमेव गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तमित्यवधारणफलोपमानाभासे चातिव्यापकमित्यर्थः।

शङ्कते ❀ तदिति ❀। प्रमाणेन बोधितसाध्याभावः प्रत्यक्षशब्दोपमानाभासव्यतिरिक्त इति विशेषणीयमित्यर्थः। अविचारितरमणीयमेवैतदिति परिहरति ❀ एतदिति ❀। अक्षरं स्पष्टम्। आद्यमपवदति ❀ न तावदिति ❀। कालात्ययापदिष्टस्य प्रत्यक्षाभासादिभ्यो वैधर्म्यमद्याप्यनिरूपितं निरूपितत्वे वा तदेव लक्षणमास्तां सन्निहितप्रतिपत्तिकत्वादित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति ❀ नापीति ❀। परस्परमन्यत्वेनैकैकस्य लक्षणप्रवेशे अव्याप्तिर्मिलितानामसम्भव इत्यर्थः। अनौपयिकत्वादसाधनमिति यावत्। अन्तिमं दूषयति ❀ नापीति ❀। व्यतिरिक्तत्वं ह्यन्योन्याभावस्तच्च प्रत्यक्षाभासादावप्यस्तीति तद्व्यावृत्त्यनुपपत्तेरित्यर्थः।

जैसे यहाँ 'पक्षत्वाभिमत' शब्द के घटकीभूत अभिमतत्व का विकल्प-प्रणालि से खण्डन किया गया, वैसे ही पहले जो प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति हटाने के लिए लक्षण-घटक 'हेतु' पद के स्थान पर 'हेतुत्वाभिमत' शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ भी अभिमतत्व का निराकरण किया जा सकता है।

शङ्का—'प्रमाण के द्वारा जिस हेतु का साध्याभाव बोधित है और वह हेतु प्रत्यक्षाभास से भिन्न है, उसे कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है'—ऐसा लक्षण करने पर किसी प्रकार का दोष नहीं रह जाता।

समाधान- प्रत्यक्षाभास के ही समान शब्दाभास और उपमानाभासादि भी होते हैं, उनके भी विषय का व्यतिरेकावबोधन शब्द प्रमाणादि के द्वारा होता है; उनमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है।

प्रत्यक्षाभास-भिन्नत्व के समान ही शब्दाभासादि-भिन्नत्व का भी निवेश करने पर यह भी विचारणीय हो जाता है कि प्रत्यक्षाभासादि-भिन्नत्व क्या (१) प्रत्यक्षाभासादि का कोई वैधर्म्य है? या (२) प्रत्यक्षाभासादि का स्वरूप विशेष? अथवा (३) प्रत्यक्षाभासादि का अन्योऽन्याभाव? प्रथम पक्ष इस लिए उचित नहीं कि प्रत्यक्षाभासादि के भेदक धर्म का निर्वचन सम्भव नहीं। द्वितीय कल्प के लक्षण में अननुगम दोष आता है, क्योंकि प्रतियोगी और अनुयोगी के स्वरूप भिन्न-भिन्न होते है। तृतीय कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि सामान्यतः

ननु न व्यतिरिक्तत्वमात्रमन्योन्याभावस्वरूपं विशेषणमस्माभिरुपात्तम्, किन्नाम ? प्रत्यक्षाभासादिभ्यो व्यतिरिक्तत्वम्। न च प्रत्यक्षाभासादयः स्वात्मभ्य एव भिन्नाः, तत्कथमुक्तस्य प्रसङ्गस्यावकाशः ? अवगतमिदं त्वद्विवक्षितम्, एतदेव विचार्यते किं प्रत्यक्षाभासादिभिर्विशेषितोऽसौ अन्योन्याभावस्त्वयोच्यते, उत तैरुपलक्षितः, यं प्रत्यक्षाभासादिष्वप्रसक्तं मन्यसे ?

आद्यस्तावन्न सम्भवति, न हि प्रतियोगिरूपविशेषणरहितोऽभावः क्वचिद्स्ति। ततस्तादृशस्य विवक्षितत्वे सर्वाव्याप्तिः। द्वितीये तु प्रत्यक्षाभासादिभिरुपलक्षणैर्यदुपलक्ष्यमन्योन्याभावस्य स्वरूपमेकं तत्प्रत्यक्षाभासादिषु बाधितानुमानेषु च साधारणमिति कथं नोक्तदोषप्रसङ्गः ?

एक एव त्रैलोक्ये अन्योन्याभाव इत्यङ्गीकृत्योक्तातिव्याप्तिं परिहर्तुं शङ्कते ❀ नन्विति ❀। किं तर्हि विशेषणत्वेनोपात्तमित्यत आह ❀ किमिति ❀। प्रत्यक्षाभासादिप्रतियोगिकव्यतिरिक्तत्वविशेषणेन न को लाभस्तत्राह ❀ न चेति ❀। फलितमाह ❀ तदिति ❀। अप्रतिपत्तिर्नाम निग्रह इत्यर्थः। अप्रतिपत्तिं परिहरति ❀ अवगतमिति ❀। तर्हि लक्षणं सुस्थमिति चेन्न। विचारासहत्वादित्याह ❀एतदिति❀। विचारमेव दर्शयति ❀ किमित्यादि ❀। कस्मिन् सति किं स्यादित्यत आह ❀ आद्य इति ❀। असम्भवमुपपादयति ❀ न हीति ❀। भूतलनिष्ठो घटाभावो न स्वप्रतियोगिघटविशिष्टो वर्त्ततेऽभावत्वाविशेषादन्योन्याभावो न स्वप्रतियोगिविशेषणो धर्मिणि वर्तितुमुत्सहते दृष्टिविरोधाच्चेत्यर्थः। तथाऽपि किमनिष्टमित्यत आह ❀ तत इति ❀। सर्वाऽव्याप्तिरसम्भवः। (यथा प्रत्यक्षव्यतिरिक्तत्वमनुमानेऽस्ति तथा प्रत्यक्षाभासादिविशिष्टव्यतिरिक्तत्वं कालात्ययापदिष्टे किं न स्यादित्यत आह ❀ कथमिति ❀। विशेषस्यितेः व्यावृत्ततया स्वीयानुमाने विशेषात्मभावस्य विशेषात्मना यो भवति तस्य व्यावृत्तरूपस्य प्रत्यक्षस्य कथं व्यवस्थानं न कथमपीति योजना। इदमाकूतं यदि प्रत्यक्षविशिष्टव्यतिरिक्तत्वमनुमाने वर्तते तदा प्रत्यक्षमपि व्यतिरिक्तत्वविशेषणतया तत्र वर्त्तेत न चैतद् घटतेऽतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यस्तत्वमिति। यद्वा प्रत्यक्षाभासविशिष्टस्य व्यतिरिक्तत्वस्य कालात्ययापदिष्टवृत्तावाभासविशेषणतया प्रत्यक्षस्यापि तत्र वृत्तिः स्यात्सा कथं स्यादित्यर्थः।) प्रत्यक्षाभासादय उपलक्षणमन्योन्याभावस्येति द्वितीयं निरस्यति ❀ द्वितीयेति ❀। अभावस्य स्वरूपेण भेदानभ्युपगमाज्जात्याद्यसम्भवाच्च प्रतियोगिद्वारको भेदो वक्तव्यः स न सम्भवति प्रतियोगिनामुपलक्षणत्वेन बहिर्भावादतश्चान्योन्याभाव एक एवेति प्रत्यक्षाभासादिषूक्तातिव्याप्तिस्तदवस्थेत्यर्थः।

(किसी-न-किसी का) अन्योऽन्याभाव प्रत्यक्षाभासादि में भी रहता है, उसका व्यवच्छेद सम्भव नहीं।

शङ्का—लक्षण में सामान्यतः (प्रतियोगिनिरपेक्ष अन्योऽन्याभावमात्र का निवेश नहीं, अपितु प्रत्यक्षाभासादि का अन्योऽन्याभाव, वह उनमें नहीं रहता, अतः उससे प्रत्यक्षाभासादि का व्यवच्छेद क्यों नहीं होता है।

समाधान—आपका अभिप्राय समझ गये किन्तु उसी में जिज्ञासा होती है कि जिस अन्योऽन्याभाव को आप प्रत्यक्षाभासादि में अवृत्ति मानते हैं, उस अन्योऽन्याभाव मे प्रत्यक्षाभासादि विशेषण हैं ? या उपलक्षण ? प्रथम विकल्प में असम्भव दोष है, क्योंकि घटादि प्रतियोगी से विशेषित अन्योऽन्याभाव को पटादिवृत्ति मानने पर घटादि को भी पटादिवृत्ति मानना होगा, जो कि सम्भव नहीं। द्वितीय पक्ष भी समुचित नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षाभासादि से उपलक्षित वह सामान्य अन्योऽन्याभाव एक ही है, जो प्रत्यक्षाभासादि और कालात्ययापदिष्टादि में समानरूप से रहता है, अतः प्रत्यक्षाभासादि में कथित अतिप्रसङ्ग क्यों नहीं प्राप्त होता ?

अन्यदस्तु सदात्मकं विशेषणम्, प्रतियोगी त्वभावस्यासन्नेव तज्ज्ञानस्य विशेष्ये व्यावृत्तबुद्ध्याधानाविरोधाद् विशेषणं भवतीति चेत्, अयुक्तमेतत्, विशिष्टं तावद् भावस्य स्वरूपमिहोपात्तम्। तच्च विशेष्यमात्रशरीरं न भवितुमर्हति, तथा सति विशेष्यस्वरूपमेवोच्यताम्, वृथा विशेषणपदोपन्यासः? तदनुपन्यासे चान्योन्याभाववत्त्वमात्रमुपन्यस्तं भवेत्। तच्च प्रत्यक्षाभासादेर्व्यवच्छेद्यस्यापि सङ्ग्राहकम्। ततश्च विशेष्यादन्योन्याभावादधिकं किञ्चिद्वक्तव्यं तद्विशिष्टमुपन्यस्यताम्। स च यदि प्रतियोगी तदीयोऽभिधीयते, तर्हि तस्याभावात्तदानीं विशिष्टाभावः प्रसक्तः। विशेष्यमात्रं परिशिष्टम्, तच्च केवलमतिप्रसक्तम्। तस्माद्विशिष्टव्यवहारप्रवर्तनकाले विशे-

---

यदुक्तं प्रतियोगिविशिष्टाभावस्य धर्मिवृत्तौ प्रतियोगिनोऽप्यभावसहवृत्तिता स्यादिति तत्परिहारं शंकते ॥ अन्यदिति ॥। गुणकर्म्मादि भावरूपविशेषणमन्यदुच्यते विशेषणत्वात्प्रतियोगिनोऽपि सत एवाभावविशेषणत्वमित्यत आह ॥ प्रतीति ॥। असत्त्वे विशेषणत्वमेव तस्य कथमित्यत आह ॥ तदिति ॥। व्यावृत्तिजनकत्वं प्रकृते विशेषणत्वं प्रतियोगिनश्च ज्ञानावच्छेदद्वाराऽभावव्यावृत्तिप्रमितिजनकत्वमस्त्येव प्रतियोगिज्ञानेनाभावव्यावर्त्तनादित्यर्थः। यद्यप्ययं ग्रन्थो युक्तः प्रथमकल्पदूषणावसाने तथाऽपि सम्प्रदायतो ग्रन्थार्थोऽवगन्तव्य इत्यत्र विरचित इति द्रष्टव्यम्। भवेदप्येवं यद्यन्योन्याभावभेदः स्यात्तदभेदे तु सैव त्वत्तिरेकैव कथितेति स एव प्रसङ्ग इत्यभिसन्धाय दूषयति ॥ अयुक्तमिति ॥। तदुपपादनाय स्वरूपमिहोपात्तमभावस्य दर्शयति ॥ विशिष्टमिति ॥। ततः किमित्यत आह ॥ तच्चेति ॥। विशेष्याव्यतिरेकेण विशिष्टस्वरूपानिरूपणात्तन्मात्रमेव तदित्याशङ्क्याह ॥ तथा सतीति ॥। प्रत्यक्षाभासाद्यन्योन्याभाव इत्यत्राभावपदार्थातिरिक्ताभावाद्विशेषणं प्रत्यक्षाभासादिपदं व्यर्थमित्यर्थः। वैयर्थ्याद्विशेषणोपन्यास एव न क्रियते तर्हीत्यत आह ॥ तदिति ॥। अन्योन्याभावमात्रोपन्यासे वा को दोष इत्यत आह ॥ तच्चेति ॥। तन्मात्रं प्रत्यक्षाभासादावस्तीति तद्विशिष्टं लक्षणं तत्रातिव्यापकं स्यादित्यर्थः। विशिष्टाभावस्वरूपं विशेष्यशरीरमात्रं न भवितुमर्हतीति प्रतिज्ञातं यत्सिद्धमुपसंहरति ॥ ततश्चेति ॥। ततो वा किमित्यत आह ॥ स चेति ॥। अभावकाले प्रतियोगिनोऽभावात्तद्विशिष्टोऽभावो लयमियादिति लक्षणाऽसम्भव इत्यर्थः। किन्तर्हि तत्र परिशिष्यत इत्यत आह ॥ विशेष्येति ॥। तर्हि तदेव लक्षणमास्तां सिद्धस्यैव लक्षणत्वादित्यत आह ॥ तच्चेति ॥। विचारफलमुपसंहरति ॥ तस्मादिति ॥। अतो द्वितीयः पक्षः परिशिष्यत

शङ्का—'विद्यमान ही विशेषण होता है'—यह नियम प्रतियोगी से भिन्न विशेषणों के लिए ही है, प्रतियोगी के लिए नहीं, क्योंकि प्रतियोगी के न रहने पर भी उसका ज्ञान अभावरूप विशेष्य का विशेषक या व्यावर्तक हो जाता है।

समाधान—व्यवहार-काल में सर्वत्र विद्यमान ही विशेषण होता है, अविद्यमान नहीं, क्योंकि प्रकृत में जो अभाव का विशिष्ट स्वरूप गृहीत हुआ है, वह विशेष्यमात्र का स्वरूप नहीं हो सकता। अन्यथा विशेष्यार्थक पद से अतिरिक्त विशेषण पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, विशेषण (प्रत्यक्षाभासादि) पदों का प्रयोग न करने पर अन्योऽन्याभावमात्र का उपन्यास होगा। वह तो व्यवच्छेद्यभूत प्रत्यक्षाभासादि में भी है, अतः प्रत्यक्षाभासादि की व्यावृत्ति करने के लिए अन्योन्याभाव से अधिक कुछ कहना होगा, उस अधिक विशेषण से विशिष्ट अन्योऽन्याभाव का ही उपन्यास करना होगा। वह अधिक वस्तु यदि प्रतियोगी (प्रत्यक्षाभासादि) है, तब उस (प्रतियोगी) के अनुयोगी में न रहने से ही विशिष्टाभाव का अभाव प्रसक्त होता है, अतः लक्षण असम्भव-ग्रस्त हो जाता है। विशेषण के न रहने पर विशेष्य (अन्योऽन्याभाव) मात्र शेष रहता है, वह केवल अतिप्रसक्त है। फलतः विशिष्ट-व्यवहार-प्रवृत्ति के समय विशेष्य से अतिरिक्त (प्रतियोगीरूप विशेषण की विद्यमानता) न मान कर विशिष्ट-सत्ता का व्यवहार सम्भव नहीं। प्रतियोगी को अभाव का विशेषण नहीं

व्यतिरिक्तं किञ्चिदनभ्युपेत्य विशिष्टसत्ता व्यवहर्तुमशक्या। अतः प्रतियोगी नाभावस्य विशेषणं भवितुमर्हति, उपलक्षणं तु स्यात्; तत्र चोक्तमेव।

न चान्योन्याभाव एको न भवति, भिन्नप्रतियोगिकौ द्वावभावौ तौ। तथा च प्रतियोगिलक्षितं स्वरूपमन्यदेवेति सिद्धान्ताविरोधि। न च युक्तम्, उभयं ह्यन्योन्याभावस्यैकात्मतया प्रतियोगि, एकात्मतायाश्च भेदविरोध एव। ततश्च येन च रूपेण प्रतियोगित्वं तेन रूपेण भेदानवकाशाद्, भिन्नप्रतियोगिकता कुतोऽन्योन्याभावस्य। येन च रूपेण भिन्नता तेनान्योन्याभावं प्रति प्रतियोगिता नास्ति वस्तुनोः।

ननु वस्तुतस्तयोरेकत्वाभावात् कथमेकतया प्रतियोगित्वमन्योन्याभावं प्रति घटेत वस्तुनोः? यथा वस्तुतो भूतलसंसर्गाभावेऽपि घटस्य भूतलसंसृष्टतया संसर्गाभावं प्रति, तत्र यथाऽन्यद् भूतलसंसृष्टतया दृष्टं तथाऽत्रापि तावेव सप्रकारभेदौ तदा-

इत्याह ※ अत इति ※। सोऽपि न घटत इत्याह ※ तत्रेति ※। अन्योन्याभावस्यैकत्वे स्यादिदं त्वदुक्तं तन्न किन्तु प्रत्यक्षाभासादिप्रतियोगिकोऽन्योन्यश्च कालात्ययापदिष्टप्रतियोगिक इति कृत्वा प्रत्यक्षाभासादिलक्षितान्योन्याभावस्य प्रतियोगिरूपमाह ※ उभयमिति ※। प्रतियोगिरूपविशेषोपन्यासेन किमत्र दूषणमुक्तमित्यत आह ※ एकेति ※। एकत्वस्याभेदे कार्थसमवायिनो भेदविरोध इत्यर्थः। ततो वा किमित्यत आह ※ ततश्चेति ※। तथापि प्रत्यक्षाद्याभासकालात्ययापदिष्टौ द्वावेव, तत् कुतो भिन्नप्रतियोगित्वाभाव इत्यत ※ येनेति ※।

असत्प्रतियोगित्वप्रसङ्गभयात्तादात्म्यप्रतियोगित्वमेवान्योन्याभावस्य नोपपद्यते घटपटयोस्तादात्म्यस्यासिद्धेरिति चोदयति ※ नन्विति ※। नेह भूतले घट इत्यादिनिषेधस्य या गतिः, सा तत्रापि भवतीति परिहरति ※ यथेति ※। प्रतियोगित्वमिति प्रश्नवाक्यादनुषज्यते। तत्र किं तद्देशकालासंसृष्टो घटः प्रतियोगी किं वैतद्देशकालीन इहारोप्यमाणः प्रतियोगी? न तावदाद्यस्तत्र स घटो नासीदिति प्रतिषेधापत्तेर्नापि द्वितीयोऽत्यन्ताऽसत्प्रतियोगिकतापत्तेः, सत्त्वे वा निषेधस्यैवायोगाद्यदि तृतीयस्तत्राह ※ तत्रेति ※। इहारोप्यमाणः प्रतियोगीति शेषः। तर्ह्यत्रापि घटतादात्म्यं घटे दृष्टं पटे आरोप्य निषिद्धयते तादात्म्यं च पटे दृष्टं घटे निषिद्धयत इति समः समाधिरित्याह ※ तथेति ※। अन्योन्यस्मिन्निषिद्धयत इति शेषः।

मान सकते—यह कहा जा चुका है, उपलक्षण हो सकता है, किन्तु उपलक्षण-पक्ष में एक ही अन्योऽन्याभाव को लेकर अतिप्रसङ्ग दिखाया जा चुका है।

शङ्का—प्रत्यक्षाभासादि और कालात्ययापदिष्ट—इन दोनों में रहनेवाला प्रत्यक्षाभासाद्युपलक्षित अन्योऽन्याभाव एक नहीं, अपितु प्रत्यक्षाभासादिप्रतियोगिक कालात्ययापदिष्टानुयोगिक अन्योऽन्याभाव दूसरा और कालात्ययापदिष्टप्रतियोगिक प्रत्यक्षाभासादिधर्मिक अन्योऽन्याभाव दूसरा होता है।

समाधान—यद्यपि कथित दोनों अन्योऽन्याभावों को भिन्न मानना 'प्रतियोग्युपलक्षितं स्वरूपमन्यदेव'–इस सिद्धान्त का विरोधी नहीं, तथापि युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगी है—अन्योऽन्य और (प्रतियोगी एवं अनुयोगी) दोनों अन्योऽन्य कहलाते हैं, अन्योऽन्यात्मता या एकात्मता भेद-विरोधी है। उन दोनों में एकात्मत्वेन भेद-प्रतियोगिता (भेदविरोधिता) है, तब अन्योऽन्याभाव में भिन्नप्रतियोगिकत्व क्योंकर बनेगा? जिस प्रत्यक्षाभासत्वादि रूप से उनमें भेद है, उस रूप से उनमें अन्योऽन्याभाव की प्रतियोगिता नहीं।

शङ्का—प्रत्यक्षाभासादि और कालात्ययापदिष्टादि की जब वस्तुतः एकात्मता नहीं, तब उनमें एकात्मत्वेन अन्योऽन्याभाव-प्रतियोगित्व कैसे बनेगा?

समाधान—जैसे 'इह घटो नास्ति'—इस संसर्गभाव की प्रतियोगिता भूतलसंसृष्टत्वेन घट में मानी जाती है, किन्तु घट वस्तुतः भूतलसंसृष्ट नहीं होता, वैसे ही प्रत्यक्षाभासादि की

त्मानौ दृष्टौ। सोऽयं त्वद्दर्शनाभिप्रायो नास्माकं निर्वाहार्ह इत्यास्तां विस्तरः।

अपि च घटपटयोः स्वरूपभेदेन वैधर्म्यभेदेन चोभयकोटीकृतयोरन्योन्याभावनिरूपणं भवति। अत्र तु प्रत्यक्षाभासादेः प्रत्यक्षाभासत्वादिना एककोटितास्तु नाम। यत्तु प्रत्यक्षाभासत्वादिभ्यो व्यतिरिक्ततया प्रतिपत्तव्यं तस्य केन रूपेणैककोटीकरणम्? न तावत्प्रतिव्यक्तिभिन्नेन स्वरूपेण, तेषामनन्ततया बुद्धिस्थीकर्तुमशक्यत्वात्। नापि यद्रूपोपात्तं विशेष्यं-प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वेन विशेषणेन विशेषणीयम्, तद्रूपकोडीकृततयैव अन्योन्याभावनिरूपणमिति युक्तम्, तस्य

घटतादात्म्यशब्देन घटस्यैवाभिधानात्पटतादात्म्यशब्देनापि तस्यैवाभिधानात्तयोश्च भिन्नत्वात्कथमेकप्रतियोगिकत्वमित्यत आह ※ सोऽयमिति ※। अन्योन्याभावस्य तादात्म्यप्रतियोगित्वं त्वयोरीकृतं तत्त्यज्यते चेदपसिद्धान्तो नोचेदसत्प्रतियोगित्वमिति निर्वहणीयो नास्माभिरित्यर्थः।

धर्मिप्रतियोगिभावावच्छिन्नतयैवान्योन्याभावोपलम्भात्तदुपलम्भात्प्रागेव प्रतियोग्यधिकरणयोरसाङ्कर्यं वैलक्षण्यं वक्तव्यं तत् घटादौ सम्भवेदपीत्याह ※ अपि चेति ※। अन्योन्याभावभेदेनोभयकोटीकृतान्योन्याभावनिरूपण आत्माश्रयादिप्रसङ्गात्स्वरूपभेदेत्याद्युदितम्। स्वरूपभेदादिनोभयकोटिकृतयोरन्योन्याभावनिरूपणनियमश्चेदत्रापि तथैवाऽस्त्वित्यत आह ※ अत्र त्विति ※। प्रत्यक्षाभासान्विताद्यनुगतमेकं नास्ति तथाऽप्यङ्गीकारः। तर्हि प्रत्यक्षाभासादित्वेन तदेककोटिं कृत्वा रूपान्तरेण कालात्ययापदिष्टं परां कोटिं कृत्वा तयोरितरेतराभावनिरूपणं सुकरमित्यत आह ※ यत्त्विति ※। अनुगतमेकं रूपं सङ्ग्राहकं नोपलभ्यत इत्यर्थः। मा सीदनुगतं रूपं प्रतिव्यक्ति व्यावृत्तरूपेणैव तदुपपत्स्यतेति तत्राह ※ नेति ※। एककोटीकरणमिति शेषः। कुत इत्यत आह ※ तेषामिति ※। प्रमाणबोधितसाध्यव्यतिरेकित्वं यन्नाम विशेष्यं प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वविशेषणेन विशेषणीयं तद्रूपकोडीकृततया तन्निरूपणमस्तीत्यत आह ※ नापीति ※। तत्रैव तिष्ठदेव सङ्ग्राहकं वक्तव्यमिदं तु नैवमित्याह ※ तस्येति ※। प्रमाणेन बोधित-

परस्पर एकात्मता न होने पर भी अन्योऽन्याभाव की उनमें प्रतियोगिता एकात्मत्वेन ही मानी जाती है। संसर्गाभाव-स्थल पर जैसे घट से भिन्न पटादि भूतल-संसृष्ट होते हैं और घट में भूतल-संसृष्टत्व का आरोप माना जाता है, वैसे ही भ्रमादि की प्रत्यक्षाभासादि में एकात्मता होती है और कालात्ययापदिष्ट की एकात्मता आरोपित होती है अथवा जैसे घटत्व-पटत्वादिरूप से घट-पटादि भेद और प्रमेयत्वादि रूप से अभेद होता है, वैसे ही प्रत्यक्षाभासादि की भी प्रमेयत्वादिरूप से एकात्मता मानी जाती है। यह प्रकार-भेद से भेद और अभेद का प्रतिपादन आप (नैयायिकों) के दर्शन का विषय है, आपको ही उसका समर्थन करना है, हमारे (अनिर्वचनीयतावाद) मत में उसका निर्वाह आवश्यक नहीं, अतः इसका अधिक विस्तार नहीं किया जाता।

दूसरी बात यह भी है कि 'घटः पटो न'—इत्यादि प्रसिद्ध स्थलों पर घट-पटादि के स्वरूप विशेष अथवा घटत्व-पटत्वादि वैधर्म्य विशेष से संगृहीत घट-पटादि को प्रतियोगी और अनुयोगी—इन दो कोटियों में स्थापित कर घट-प्रतियोगिकत्व पटानुयोगिकत्वादि के भेद से अन्योऽन्याभाव का भेद कथञ्चित् किया जा सकता है, किन्तु प्रकृत में (कालात्ययापदिष्टो न प्रत्यक्षाभासादिरूपः—यहाँ पर) प्रत्यक्षाभासत्वादिरूप से प्रत्यक्षाभासादि का केवल एक प्रतियोगी कोटि में संग्रह किया जा सकता है, किन्तु कालात्ययापदिष्ट का दूसरी अनुयोगी कोटि में संग्रह सम्भव नहीं, क्योंकि तत्तद्व्यक्तित्वेन अनन्त व्यक्तियों का पुञ्जीकरण या बुद्धिस्थीकरण अनन्त जन्मों में भी नहीं हो सकता।

शङ्का—'प्रत्यक्षाभासादिभिन्नत्वे प्रमाणबोधितसाध्यविपर्ययकत्वम्'—इस लक्षण में प्रत्यक्षाभासादिभिन्नत्वरूप विशेषण के द्वारा विशेषणीय विशेष्य पदार्थ प्रमाणबोधितसाध्य-

स्वरूपस्य प्रत्यक्षाभासादिसङ्ग्राहकतया कोटिद्वैतभङ्गापादकत्वेन अन्योन्याभाव-निरूपणविरोधित्वात् ।

तस्मात् स्वरूपभेदं वैधर्म्यभेदं वा कोटिद्वयं व्यवस्थापकमप्रतिसन्धाय अन्योन्याभावनिरूपणमशक्यमिति स्थिते स्वरूपभेदपक्षस्येह दूषितत्वाद्धर्मभेदः कश्चिद्वक्तव्यः । न चासौ वक्तुं शक्यः, शक्यत्वे वा तमादायैव लक्षणव्यवस्थितिरस्तु, कृतमन्योऽन्यव्यतिरिक्तत्वकुयुक्त्या । तदनेन न्यायेन अन्यत्राप्यतिप्रसक्त्युदाहरणान्यत्वेन व्यावर्तनं लक्षणवादिनो भग्नस्य शरणमस्त्रं निरसनीयम् । अत एव भेदकान्तरं विना तद्व्यतिरिक्तत्वमेव दुर्निरूपमित्यभिप्रायेण तत्तदन्यत्वे सतीति विशेष्यमाणं

साध्याव्यतिरेकत्वस्य विशेष्यरूपस्य प्रत्यक्षाभासादिसाधारणतया कोटिद्वैविध्यभङ्गप्रसञ्जकतयेतरेतराभाव-निरूपणविरोधितया स्वरूपभेदादिनोभयकोटीकृतयोरेवेतरेतराभावनिरूपणमिति यदीरितं प्राक् तत् सिद्धमित्युपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀ । स्वरूपभेदस्याननुगमेन निरस्तत्वाद्धर्मभेदपक्षपरिशेष इत्याशयः । अस्तु तर्हि स एव व्यवस्थापक इत्यत आह ❀ न चेति ❀ । प्रमाणविरुद्धप्रतिज्ञातार्थत्वात् शिरस्कतया प्रयुज्यमानत्वादिरूपो धर्मभेदो वक्तुं शक्यत एवेत्यत आह ❀ शक्यत्वे वेति ❀ । लाघवादावश्यकत्वाच्चेत्याशयः । उक्तखण्डनमन्यत्रातिदिशति ❀ तदिति ❀ । सामान्यवान् गुण इति गुणलक्षणकरणे द्रव्ये कर्मणि चातिप्रसक्त्या निरासे भग्नस्य लक्षणवादिनो यत् संयोगविभागहेतुजातीयेतरत्वविशेषणेन व्यावर्तनं शरणमस्त्रं तदप्येतेनैव व्यतिरिक्तत्वखण्डनन्यायेनैव निरसनीयमित्यभिसन्धिः । उक्तार्थं द्रढयितुं दर्शयन्नुपसंहरति ❀ अत इति ❀ । अत एव वैशेषिकहेतुं तदन्यत्वे सतीति विशेष्यमाणमुपहसन्ति सन्त इत्यन्वयः । केनाभिप्रायेणेत्यत आह ❀ भेदकेति ❀ । तथाऽपि काऽत्र युक्तिरित्यत आह ❀ नैतदिति ❀ । प्रामाण्यं ज्ञान-

विपर्ययकत्वरूप जिस धर्म से संगृहीत है, उसी धर्म से अन्योऽन्याभाव की द्वितीय अनुयोगी कोटि को उपस्थापित कर 'प्रमाणबोधितसाध्यविपर्ययकत्वावच्छिन्नानुयोगिकोऽन्योऽन्याभावः'— इस प्रकार अनुयोगी कोटि से निरूपित अन्योऽन्याभाव का परिचय दिया जा सकता है ।

समाधान—प्रमाणबोधितसाध्यविपर्ययकत्वरूप धर्म तो प्रतियोगीभूत प्रत्यक्षाभासादि में भी विद्यमान है, अतः अनुयोगितावच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतियोग्यवृत्ति धर्म ही द्वितीय कोटि का संग्राहक अनुयोगितावच्छेदक होता है । अतः प्रमाणबोधितसाध्यविपर्ययकत्वरूप धर्म अन्योऽन्याभाव का निरूपक नहीं हो सकता । सारांश यह है कि प्रतियोगी और अनुयोगी—इन दो कोटियों का संग्राहक या तो घटादि वस्तुओं का कम्बुग्रीवाद्यात्मक स्वरूपविशेष होता है, या घटादिगत घटत्वादिरूप वैधर्म्यविशेष इन दोनों माध्यमों का जब तक प्रतिसन्धान (स्मरण) नहीं होता, तब तक अन्योऽन्याभाव का निरूपण नहीं हो सकता । इन दोनों में से स्वरूपविशेष को लेकर अननुगमता दोष दिखाया जा चुका है, परिशेषतः वैधर्म्यविशेष की गवेषणा करनी होगी, कालात्ययापदिष्टगत कोई वैसा अनुयोगितावच्छेदक धर्म आविष्कृत नहीं हो सका । यदि कोई उपलब्ध होता है, तब वही उसका लक्षण भी हो सकता है, इस अन्योऽन्याभाव-घटित लक्षण की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

लक्षणवादी वैशेषिकों का सबसे बड़ा यह अस्त्र रहा है कि लक्षण की जहाँ-जहाँ अतिप्रसक्ति (अतिव्याप्ति) होती है, तद्भिन्नत्व (तदन्योऽन्याभाव) का लक्षण में तुरन्त निवेश कर दिया जाता है, किन्तु पराजित लक्षणवादी का शरणीभूत वह अस्त्र भी यहाँ निरस्त हो गया, क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक और अनुयोगितावच्छेदकरूप भेदकान्तर की प्रतीति के विना 'तद्भिन्नत्व' (तदन्योऽन्याभाववत्ता) का निरूपण ही नहीं हो सकता, अतः 'तदन्यत्वे सति'— इस प्रकार विशेष्यमाण वैशेषिक-प्रयुक्त हेतु का 'नैतदेवं येन येन व्यभिचारस्तदन्यत्वे सति प्रमेयत्वात्'—इस प्रकार प्रतिपक्ष दिखाकर सत्पुरुष परिहास किया करते हैं [जैसे श्री

वैशेषिकहेतु 'नैतदेवं येन येन व्यभिचारस्तदन्यत्वे सति प्रमेयत्वादिति सत्प्रतिपक्ष-हेतूपन्यासादुपहसन्ति सन्त इति ।

इति कवितार्किकचक्रवर्तिश्रीश्रीहर्षकृते खण्डनखण्डखाद्ये
प्रमाणतदाभासखण्डनं नाम
प्रथमः परिच्छेदः ।

हेत्वतिरिक्तजन्याश्रयं ज्ञानत्वान्यत्वे सति ज्ञानधर्मत्वादप्रामाण्यवदित्युक्ते नैतदेवं प्रामाण्यमुक्तविधसाध्यं न भवति येन व्यभिचारस्तदन्यत्वे सति प्रमेयत्वादज्ञानत्ववदिति सत्प्रतिपक्षहेतूपन्यासादित्यर्थः ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याभयानन्दशिष्यानन्दपूर्णविरचिते
खण्डनफक्किकाविभजने प्रमाणतदाभासखण्डनं नाम
प्रथमः परिच्छेदः ।

उदयनाचार्य ने (लक्षणावली पृ० ३ पर) प्रयोग किया—'तमःशब्दो द्रव्यवाचको न भवति, आलोकशब्दान्यत्वे सति आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचित्वाद्, आलोकाभावशब्दवत्'—ऐसे सभी प्रयोगों के लिए यह एक ही प्रतिपक्ष-प्रयोग पर्याप्त है—'तमःशब्दो द्रव्यवाचको नेति न, व्यभिचारस्थलान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्' । इस एक ही हेतु के द्वारा नैयायिकों और वैशेषिकों के सभी साध्यों का प्रतिरोध हो जाता है—यह हेतु में तद्भिन्नत्व-निवेशप्रेमियों की एक अनुपम देन है ।

प्रमाणलक्षणानीह खण्डितानि विशेषतः ।
किं प्रमाणैः स्वतःसिद्धो नम्यो मे मरुन्नन्दनः ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दोदासीनविरचितायां
खण्डनपञ्जिकायां
प्रथमः परिच्छेदः ।

दूसरा भाग भी upload किया गया है।जरूर देखिएगा।

पहला भाग भी upload किया गया है। जरूर देखिएगा।

द्वितीयः परिच्छेदः

१. प्रतिज्ञाहानिलक्षणखण्डनम्

ननु यदि दुर्लक्ष्या हेत्वाभासास्तर्हि निग्रहस्थानानि प्रतिज्ञाहान्यादीनि बाधकानि भविष्यन्ति । मैवम् , का पुनः प्रतिज्ञाहानिः ? स्वीकृतोक्तपरित्यागः प्रतिज्ञा-

प्रमाणतदाभासत्वेनाद्वैतविरोधाभावेऽपि निग्रहस्थानसत्त्वेनाद्वैतभङ्गः स्यादेवेति चोदयति ❀ नन्विति ❀ । हेत्वाभासरूपनिग्रहस्थानखण्डनानन्तरं प्रतिज्ञाहान्यादिनिग्रहखण्डनं प्रसक्तमिति सम्बन्धो दर्शितः । बाधकानि परमार्थतोऽशक्तिसूचकानि भविष्यन्तीत्यर्थः । कथकाशक्तिसूचकं निग्रहस्थानमिति सामान्यलक्षणस्य दुःस्वप्नादावतिव्याप्तेः, पराजयनिमित्तं निग्रहस्थानमित्यस्य च पराजयस्य पापफलतया दुरितेऽतिव्याप्तेः सामान्यानालिङ्गितविशेषाणाञ्चासिद्धेर्विशेषतोऽपि खण्डनमुपक्रमते ❀ मैवमिति ❀ । प्रतिज्ञातं प्रतिज्ञाहान्यनिरूपणमेव निरूपयति ❀ केति ❀ । तथा प्रदर्श्यते इतिशेषः ।

यत्कृपालवमालम्ब्य मामल्लीयः फलेग्रहिः ।
प्रसन्नवदनाम्भोजां भजे तां परदेवताम् ॥
द्वैतिनः केन निग्राह्या निग्रहस्थानमन्तरा ।
द्वैतिनो नेह निग्राह्यः सर्वत्रात्मत्वदर्शिभिः ॥

१. प्रतिज्ञाहानि-लक्षण-खण्डन

शङ्का—यद्यपि हेत्वाभास-लक्षणों की उपपत्ति न हो सकने के कारण अद्वैत-साधक हेतुओं में हेत्वाभासतोद्भावन का भय नहीं रहा, तथापि उनसे भिन्न प्रतिज्ञाहान्यादि निग्रह-स्थान अद्वैतानुमानों के बाधक हो सकते हैं । ['निग्रह' शब्द का पाराजय और 'स्थान' शब्द का आश्रय या निमित्त अर्थ होता है, जैसा कि श्री जयन्त भट्ट कहते हैं--"निग्रहः पराजयः, तस्य स्थानम् आश्रयः कारणमित्यर्थः" (न्या० मं० पृ० ६३८) । पराजय-प्राप्ति की निमित्तभूत शब्दावलि या शब्द-प्रयोगात्मक क्रिया को श्री उदयनाचार्य ने निग्रहस्थान कहा है—"कथायां प्रवृत्तायां वादिनोरतत्त्वज्ञानज्ञापिका क्रिया निग्रहस्थानम्" (ता० परि० १।२।१९) ।

न्यायसूत्रकार ने निग्रहस्थानों को बाईस भागों में विभक्त किया है—"प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरम्, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासन्न्यासः, हेत्वन्तरम् , अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्च निग्रस्थानानि" (न्या० सू० ५।२।१, नैयायिकगण इस बाईस के चक्कर में डाल कर किसी वादी की भी प्रतिष्ठा धूलि में मिला देते थे, इसी लिए श्री धर्मकीर्ति ने भी इस चक्कर के विस्तार का खण्डन किया है—"न्यायवादिनमपि वादेषु असद्व्यवस्थोपन्यासैः शठा निगृह्णन्ति, तन्निषेधार्थमिदमारभ्यते—

असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥" (वा० न्या० पृ० ३)-

श्री धर्मकीर्ति ने (१) असाधनाङ्गवचन तथा (२) अदोषोद्भावन'—इन दो की स्थापना कर शेष का खण्डन किया था किन्तु खण्डनकार ने एक-एक करके सभी का खण्डन करने के लिए प्रश्न उटाया है—'का पुनः प्रतिज्ञाहानिः ?' इसके उत्तर में "प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा

हानिरित्यलक्षणम्। तथा हि—झटिति संवरणेऽनिग्रहस्थानेऽपि गतत्वेन परदूषिते सतीत्यपि विशेषणीयत्वात्।

किञ्च—स्वीकृतेत्यनेनाभीष्टमात्रं वाऽभिधीयते अस्तित्वेनेष्टं वा ? आद्ये केनचिद्रूपेणेष्टस्य रूपान्तरेण त्यागः क्व नाम नास्तीत्यतिव्याप्तिः।

स्वीकारपूर्वकोऽस्वीकारस्त्यागः। न च रूपान्तरेण तत्र तत्स्वीकारः।

तदर्थं लक्षणमुपन्यस्यति ॐ स्वीकृतेति ॐ। प्रतिज्ञाहानिरितिलक्ष्यमितरल्लक्षणम्। त्यागः प्रतिज्ञाहानिरित्युक्ते हिरण्यादित्यागेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासायोक्तेतिविशेषणम्। उक्तत्याग इत्युक्ते प्रतिवाद्युक्तस्यानूद्य त्यक्तस्य त्यागेऽतिप्रसक्तिनिवारणाय स्वीकृतेत्युक्तम्। स्वीकृतपरित्याग इत्युक्तेऽपसिद्धान्ते प्रसङ्गो मा भूदित्युक्तमुक्तेति। कुत इत्यत आह ॐ तथा हीति ॐ। नैयायिकस्य घटो नित्य इति प्रमादान्निःसृतेऽनुक्त एव सिद्धसाधने शब्दोऽनित्य इत्युक्त्वा त्यजतस्त्यागेऽति प्रसक्तिर्घटानित्यत्वस्य तेन स्वीकृतत्वादतो झटिति स्वाज्ञानसंवरणे—संव्रियतेऽनेनेति संवरणं तस्मिन् निग्रहस्थाने गतत्वेन परदूषितस्येति विशेषणीयं विशेषणे च हेत्वन्तरन्नाम निग्रह इत्यर्थः।

स्वीकारपदार्थस्य सम्मुग्धत्वात्तमग्रे विकल्पयति ॐ किञ्चेति ॐ। इच्छामात्रविषयत्वं सद्रूपतया वेच्छाविषयत्वमिति विकल्पार्थः। इच्छामात्रविषयत्वं स्वीकार इति प्रथमं दूषयति ॐ आद्य इति ॐ। शब्दोऽनित्य इत्युक्ते भ्रमान्नित्यत्वमुक्तमिति सिद्धसाधनत्वे उद्भाविते निरनुयोज्यानुयोगोद्भावनया शब्दोऽनित्य इति वदतो नैयायिकस्य प्रतिज्ञाहानिः स्यान्नित्यत्वस्याऽऽत्मादिनिष्ठतयेष्टस्य परित्यागात्प्रतिवादिनोक्तत्वाच्च तस्येत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। उक्तातिव्याप्तिं परिहर्तुं त्यागपदार्थं दर्शयति पूर्ववादी ॐ स्वीकारेति ॐ। नित्यत्वस्य वियदादिनिष्ठतया स्वीकृतस्य शब्दनिष्ठतया परित्यागो विद्यत एवेति कथं तत्परिहार इत्यत आह ॐ न चेति ॐ। येन रूपेण शब्दनिष्ठत्वेन त्यागस्तेन रूपेण स्वीकार एव नास्ति स एवाऽत्र विवक्षित

स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः" (न्या० सू० ५।२।२) इस का भावार्थ तार्किकरक्षाकार कहते हैं—

कथायां यच्च पक्षादि येन निर्दिष्टमादितः।
तस्य तेन पुनस्त्यागः प्रतिज्ञाहानिरुच्यते ॥

सम्भवतः खण्डनकार ने उसी का यहाँ अनुवाद किया है - "स्वीकृतोक्तपरित्यागः"]।

समाधान—प्रतिज्ञाहानि का उक्त लक्षण युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जहाँ नैयायिक को कहना था—'शब्दोऽनित्यः।' किन्तु वैसा न कह कर अज्ञान में (भूल से) कह बैठता है—'शब्दो नित्यः।' अपनी भूल का भान होते ही अपने अज्ञान का संवरण करता (छिपाया) हुआ तुरन्त कह देता है—'शब्दोऽनित्यः'। वहाँ कथित नित्यत्व-प्रतिज्ञा का जो परित्याग किया गया, वह कोई निग्रहस्थान नहीं, अपि भूल-सुधारमात्र है, उसमें भी प्रतिज्ञा-हानि का उक्त लक्षण अतिव्याप्त होता है। उस अतिव्याप्ति का परिहार करने के लिए लक्षण में 'दूषितम्'—यह भी एक विशेषण देना होगा, अतः 'स्वीकृतोक्तदूषितपरित्यागः'—ऐसा लक्षण सम्पन्न होता है। ऊपर जो भूल-सुधार-स्थल पर कथित का परित्याग है, वह दूषित होने से पहले ही परित्याग है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती [उक्त विशेषण से घटित लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं, क्योंकि वह हेत्वन्तरनामक निग्रहस्थान में अतिव्याप्त हो जाता है]।

यह भी एक जिज्ञासा यहाँ होती है कि लक्षण-घटक 'स्वीकृत' पद से अभीष्टमात्र विवक्षित है ? अथवा अस्तित्वेन अभीष्ट ? प्रथम पक्ष में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि किसी भी वस्तु का एकरूप से स्वीकार और रूपान्तर से त्याग हो सकता है, जैसे शब्द का गुणत्वेन अभ्युपगम और नित्यत्वेन त्याग किया जा सकता है, उस त्याग में भी प्रतिज्ञाहानि का उक्त लक्षण घट जाता है।

शङ्का—स्वीकृत वस्तु का ही त्याग होता है, अस्वीकृत का नहीं, प्रकृत में शब्द का

ततस्त्याग एवासौ न भवतीति नातिप्रसङ्ग इति चेन्न, स्वीकारस्यापि परित्याग-पदार्थान्तर्भावे स्वीकृतेति व्यर्थम्, तस्यागेऽपि च नाद्यद्वितीयौ, अस्तित्वेनेष्टस्य रूपान्तरेण सर्वत्रैवानिष्टत्वसम्भवात्। संयोगाद्यव्याप्यवृत्तितावादिपक्षे चैकस्यैव संयोगस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात्। एवञ्च कालदेशादिभेदेन सत्त्वा-सत्त्वाभ्युपगमेऽपि प्रसङ्गो द्रष्टव्यः।

तस्यैव तदैव तत्रैव तेनैव तथैवेष्टत्वानिष्टत्वे विवक्षिते अत्रेति चेत्, एवं

इत्यर्थः। ततोऽस्य त्यागत्वाभावादुक्तातिव्याप्तिपरिहारः सिद्ध इत्याह ❀ तत इति ❀। श्लेष्मचिकित्सायां पित्तोद्रेकवदतिव्याप्तिपरिहारे व्यर्थविशेषणत्वं लक्षणस्येति परिहरति ❀ नेति ❀। स्वीकारपूर्वक-स्वीकारस्य त्यागपदेनाभिधानादुक्तत्याग इत्येतावन्मात्रं लक्षणमास्तां स्वीकृतेतिविशेषणं व्यर्थमित्यर्थः। त्यज्यतां तर्हि स्वीकृतेति पदमित्यत आह ❀ तदिति ❀। इष्टमात्रं वाऽस्तित्वेनेष्टत्वं वेति प्रागुक्तं पक्षद्वयमपि न सम्भवतीत्यर्थः। कुत इत्यत आह ❀ अस्तित्वेनेति ❀। प्रथमकल्पे प्रागुक्तैवातिव्याप्तिः द्वितीये च शब्दनिष्ठतयाऽनित्यत्वस्येष्टस्य व्याप्तिरूपेण परित्यागसम्भवात्तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। येनैव रूपेणेष्टत्वं तेनैव तस्य त्यागो विवक्षित इत्यत आह ❀ संयोगादीति ❀। घटाकाशसंयोग आकाशे वर्तते न वर्त्तते चात्याप्य-वृत्तित्वोपगमान्नैयायिकैस्तत्राकाशघटौ संयोगिनाविति वदतो नैयायिकस्य प्रतिज्ञाहानिः स्यात्संयोगा-भावाधिकरणताया अपि स्वीकारादादिपदेन क्षणिकविशेषगुणेष्वव्याप्यवृत्तिषु दर्शितातिव्याप्तिर्द्रष्टव्या। उक्तातिव्याप्तिमन्यत्राऽतिदिशति ❀एवमिति❀। एकस्मिन् देश एकस्मिन् काले च स्वीकृतस्य शब्दादेर्धर्मिण उक्तस्य देशान्तरे कालान्तरेवाऽनिष्टत्वाच्छब्दो नित्य इतिवदतः प्रतिज्ञाहानिः स्यादित्यर्थः।

उक्तातिव्याप्तिपरिजिहीर्षया लक्षणं विशिष्य शङ्कते ❀ तस्येति ❀। तस्य च पुनस्तस्मिन्नेव देशे तेनैव वादिना तेनैव रूपेणेष्टत्वानिष्टत्वं प्रतिज्ञाहानिलक्षणविशेषणत्वेनेष्टं संयोगादाववच्छेदमादाय देशभेदोऽ-स्त्येवेति तार्किकरीतिरतो न पूर्वोक्तातिव्याप्तिरित्यर्थः। घटमभ्युपगम्य पटं परित्यजतस्तथात्वनिवारणाय तस्यैवेत्युक्तम्। तस्यैव कालान्तरे त्यागे प्रसक्तिवारणाय तदैवेति। देशान्तरत्यागे वारणाय तत्रैवेति। कर्तृभेदेन त्यागे प्रसक्तिवारणाय तेनैवेति। रूपान्तरेण त्यागे वारणाय तथैवेति क्रमेण द्रष्टव्यम्। अव्याप्त्या

जब गुणत्वेन स्वीकार या उपन्यास ही नहीं, तव उसका त्याग क्योंकर होगा? त्याग न होने पर लक्षण अतिप्रसक्त क्योंकर होगा?

समाधान—यदि 'त्याग' पदार्थ के अन्तर्गत ही स्वीकार पदार्थ भी आ जाता है, तब लक्षण में 'स्वीकृत' पद की आवश्यकता नहीं थी, लक्षण में व्यर्थविशेषणत्वापत्ति दोष होता है। यदि 'स्वीकृत' पद पृथक् नहीं रखा जाता, तब भी प्रथम और द्वितीय कल्पों में अतिव्याप्ति बनी रहती है, क्योंकि सभी सत् पदार्थों का अस्तित्वेन स्वीकार और नित्यत्वादिरूपान्तर से त्याग किया जा सकता है।

यदि 'येनैव रूपेण इष्टत्वम्, तेनैव रूपेण त्यागः'–ऐसा कहा जाता है, तब भी नैयायिक-मतानुसार वृक्षादि में कपि-संयोगादि के 'अस्तित्व' और 'नास्तित्व'—दोनों ही माने जाते हैं, संयोगादि अव्याप्यवृत्ति पदार्थों का अपने आधार में किञ्चिदवच्छेदेन भाव और किञ्चिद-वच्छेदेन अभाव माना जाता है, अतः उनके अस्तित्वेन त्याग में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। इसी प्रकार देश और कालादि के भेद से भी पदार्थों का अस्तित्व और नास्तित्व माना जाता है [एक देश या एक काल में स्वीकृत और कथित शब्दादि पदार्थों का देशान्तर और कालान्तर में जो परित्याग किया जाता है, उसमें उक्त लक्षण अतिप्रसक्त है।

शङ्का—जो पदार्थ जिस पुरुष के द्वारा जिस देश और जिस काल में जिस रूप से इष्ट और उक्त होता है, उसी पदार्थ का उसी पुरुष के द्वारा उसी देश और उसी काल में उसी रूप से अनिष्ट किया जाना 'प्रतिज्ञाहानि' है। इस लक्षण में कोई दोष नहीं।

तर्हि कालमभ्युपगम्यानभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्न स्यात् । तत्र तदेत्युक्तविशेषणांशस्यासंभवात् । नहि कालः कालान्तरं स्वात्मानमेव वाऽध्यास्ते । काले तदेति विशेषणस्य प्रतिक्षेपेऽन्यत्र च प्रक्षेपे लक्षणैकताक्षतिः । कालं प्रति च प्रतिज्ञाहानेरदोषत्वे तद्वदन्यत्राप्यदोषत्वापातः । यदैव स्वीकारस्तदैवास्वीकारासिद्धेश्च । तदेति तत्कथाकालो विवक्षित इति चेन्न, तच्छब्दस्यैकव्यक्तिपरत्वे लक्षणाननुगमः वादादित्वेन साम्ये कदाचिदपि तद्विपरीतवादान्तराकरणप्रसङ्गः, एवं तथैव तस्यैवेत्यादि-

दूषयति ꙮ एवमिति ꙮ । कालस्सन् ज्ञेयत्वात् घटवदित्युक्ते प्रागभावादौ व्यभिचारेण लोकायतेन प्रत्युक्ते तं त्यजतो नैयायिकस्य प्रतिज्ञाहानिर्न स्यादित्यर्थः । कुत इत्यत आह ꙮ तत्रेति ꙮ । कालोऽपि कालवृत्तिर्वस्तुत्वाद् घटवदित्याशङ्क्याह ꙮ न हीति ꙮ । कालस्य कालवृत्तित्वे स्वात्मनि वृत्तिर्नोपपद्यते स्वाश्रयत्वप्रसङ्गात्तापि कालान्तरवृत्तित्वमेकत्वादौपाधिकभेदे चानवस्थानादित्यर्थः । कालविषयप्रतिज्ञाहानिलक्षणे तदेति विशेषणं परित्यज्यते ततोऽन्यविषये तदुपादीयत इत्यत आह । ꙮ काल इति । कालविषयतल्लक्षणे त्यागपदनिरुक्तौ यदि तदेति विशेषणं न गृह्यते ततोऽन्यत्र च त्यागपदार्थतया तदुपादीयते तदा सामान्यलक्षणासिद्धिरननुगमात्तत्सिद्धिपूर्वकत्वाच्च विशेषलक्षणं न सिद्ध्यतीत्यर्थः । कालमभ्युगम्यानभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिरशक्तिसूचिका नेत्यनिग्रहस्थानत्वान्नाव्याप्तिरित्यत आह ꙮ कालमिति ꙮ । तुल्यलक्षणत्वादित्यर्थः । न केवलमव्याप्तिरसम्भवोऽपीत्याह ꙮ यदेति ꙮ । स्वीकारास्वीकारयोर्विरोधाद्युगपद्भावाभाव इत्यर्थः । तच्छब्देन परामृष्टं कालस्वरूपं दर्शयत्यसिद्धिपरिहाराय पूर्ववादी ꙮ तदेति ꙮ । तस्यां कथायामभ्युपगम्य तस्यामेव परित्यागो विवक्षितोऽतो नासम्भव इत्यर्थः । तच्छब्देन कथाव्यक्तिर्विवक्ष्यते किंवा वादादित्वसामान्यमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ꙮ नेति ꙮ । वादत्वं जल्पत्वं वितण्डात्वं चेति तिस्रो जातयस्तदधिकरणमात्रं विवक्षितमतो नाननुगम इति द्वितीयमाशङ्क्याह ꙮ वादेति ꙮ । कदाचित्प्राभाकरमतमवलम्ब्य नियोगः पदार्थ इति वादं कृत्वा पुनः कालान्तरेण भाट्टमतावलम्बनेन तस्य पदार्थत्वनिराकरणे प्रतिज्ञाहानिः स्यादित्यर्थः । एवं जल्पवितण्डयोरपि द्रष्टव्यम । उक्तन्यायं विशेषणान्तरेऽप्यति-

समाधान—जैसे घटादि पदार्थों का आधार देश और काल होता है, वैसे एक देश का देशान्तर और एक काल का कालान्तर आधार नहीं माना जाता, क्योंकि महा दिक् और महाकाल एक-एक ही है, अनेक नहीं, अतः इस लक्षण के अनुसार 'कालोऽस्ति'—ऐसी प्रतिज्ञा का त्याग प्रतिज्ञाहानि है, किन्तु उस त्याग में उक्त लक्षण नहीं घटता, क्योंकि काल किसी कालान्तर में स्वीकृत नहीं हो सकता। इसी प्रकार देश-प्रतिज्ञा के त्याग में भी अव्याप्ति बनी रहती हैं, क्योंकि काल के लिए तदा (तस्मिन् काले) और देश के लिए तत्र (तस्मिन् देशे) यह विशेषण नहीं घटता, काल न तो कालान्तर में रहता है और अपने में। यदि काल के लिए 'तदा' विशेषण न देकर अन्यत्र दिया जाता है, तब लक्षण की एकता समाप्त हो जाती है। काल के प्रति यदि प्रतिज्ञाहानि को दोष नहीं माना जाता, तब अन्यत्र भी उसे दोष नहीं मान सकेंगे 'यदा', 'तदा' विशेषणों का सामञ्जस्य भी नहीं होता, क्योंकि किसी पदार्थ का जिस काल में अभ्युपगम होता है, उसी काल में उसका त्याग कभी सम्भव नहीं हो सकता।

शङ्का—'यदा–तदा' से 'यस्मिन् क्षणे-तस्मिन् क्षणे'—ऐसा विवक्षित नहीं कि असामञ्जस्य और असम्भव प्रसक्त हो। 'यदा–तदा' से कथा (शास्त्र-चर्चा) का दीर्घ काल विवक्षित है, अतः लम्बे कथा-काल के किसी क्षण में स्वीकार और क्षणान्तर में अस्वीकार सम्भव हो जाता है।

समाधान—'तदा' पद का जो अर्थ किया गया—'तत्कथाकाल'। वहाँ जिज्ञासा होती है कि 'तत्' शब्द से कोई एक कथा व्यक्ति विवक्षित है? अथवा वादत्वादिरूप से संगृहीत वाद, जल्प और वितण्डा—इन तीनों में से प्रत्येक कथा? प्रथम कल्प के अनुसार लक्षण

पदस्य द्रष्टव्यम् । उक्तेति पदस्य चापसिद्धान्तव्यवच्छेदकस्य विरुद्धन्यायेनासमर्थविशेषणत्वम् । एवं सर्वनिग्रहस्थानेषु द्रष्टव्यमिति सङ्क्षेपः ।

२. प्रतिज्ञान्तरलक्षणखण्डनम्

प्रतिज्ञाहान्यादीत्यादिपदेन च किं सङ्गृह्यते ? प्रतिज्ञान्तरादीति चेन्न,

दिशति ⁂ एवमिति ⁂ । तच्छब्देन शब्दादिव्यक्तिविशेष उच्यते किं वा वस्तुमात्रम् ? आद्येऽननुगमो द्वितीये घटमभ्युपगम्य पटमनभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिः स्यादेवं तत्रैवेतिदेशवाचकतच्छब्दस्य देशविशेषपरत्वे तत्सङ्कुटितस्याननुगमो देशमात्रवाचकत्वे शब्दे नित्यत्वमभ्युपगम्याकाशे तदनभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिः स्यादेवं तेनैवेति वादिविशेषपरत्वे तद्विशिष्टलक्षणाननुगमो वादिमात्रपरत्वे वाद्यन्तरोक्तस्वीकृतस्य वाद्यन्तरपरित्यागः प्रतिज्ञाहानिः स्यादेवं तथेति प्रकारवाचिन्यपि द्रष्टव्यमित्यर्थः । दोषान्तरमाह ⁂ उक्तेति ⁂ । स्वीकृतपरित्यागः प्रतिज्ञाहानिरित्युक्तेऽपसिद्धान्ते प्रसङ्गो मा भूदिति तद्व्यवच्छेदकमुक्तपदमुपात्तन्तच्च व्यर्थं विशेष्यस्वीकृतपरित्यागस्यैव दूषणसमर्थत्वाद्यथा विरुद्धविपक्षसम्बन्धमात्रस्य दोषत्वसामर्थ्ये विपक्ष एवेति विशेषणं व्यर्थं तद्वदित्यर्थः । विशेष्यमात्रस्यैव दूषणसमर्थत्वे यद्विशेषणमुपादीयते प्रतिज्ञान्तरादिनिग्रहे तत्राप्येतदूह्यमित्याह ⁂ एवमिति ⁂ ।

इति प्रतिज्ञाहानिखण्डनम् ।

प्रतिज्ञान्तरखण्डनाय प्रस्तावनिकां करोति ⁂ प्रतीति ⁂ । आदिपदार्थस्तावदास्तां प्रतिज्ञान्तरमेव तावन्निर्वचनायोग्यमित्याह ⁂ नेति ⁂ । निर्वचनाशक्यत्वमेव कथमित्यतस्तल्लक्षणद्वारा दर्शयति

अननुगत हो जाता है। द्वितीय कल्प के अनुसार जहाँ कोई एक वादी किसी वाद में प्रभाकर मत अपना कर 'नियोग' की पदार्थान्तरता स्थापित करता है और कालान्तर में भाट्ट मत अपना कर 'नियोग' की पदार्थान्तरता का निराकरण करता है। वहाँ प्रतिज्ञाहानि का लक्षण अतिप्रसक्त होता है। इसी प्रकार जल्प और वितण्डा में भी किसी व्यक्ति के विभिन्नकालीन स्वीकार और त्याग को लेकर अतिप्रसक्ति हो जाती है। लक्षण-घटक 'तथैव' और 'तस्यैव' पदों में इसी प्रकार विकल्पपूर्वक दोषों का उद्भावन किया जा सकता है ['तस्यैव'—यहाँ पर 'तत्' पद से शब्दादि व्यक्तिविशेष का ग्रहण किया जाता है ? अथवा वस्तुमात्र का ? प्रथम पक्ष में अननुगम और द्वितीय पक्ष में घट को स्वीकार कर पट का परित्याग करने में प्रतिज्ञाहानि अतिव्याप्त होती है। इसी प्रकार 'तत्रैव'—यहाँ पर 'तत्' पद से किसी देश व्यक्ति का ग्रहण करने पर अननुगम और देशमात्र का ग्रहण करने पर शब्द में स्वीकृत अनित्यत्व धर्म का आकाश में निषेध भी प्रतिज्ञानि होना चाहिये]।

लक्षण-घटक 'उक्त' पद भी विचारणीय है कि यदि 'स्वीकृतस्य परित्यागः'—इतना ही प्रतिज्ञाहानि का लक्षण किया जाता, तब अपसिद्धान्त नाम के निग्रहस्थान में अतिव्याप्ति हो जाती, उसकी निवृत्ति के लिये 'उक्त' पद रखा गया है, किन्तु 'स्वीकृतपरित्यागः'—इतना ही लक्षण पर्याप्त है और 'उक्त' पद वैसे ही व्यर्थ हैं, जैसे कि विरुद्ध के लक्षण में सव्यभिचारवारक 'विपक्ष एव'—यह विशेषण व्यर्थ कहा जा चुका है।

२. प्रतिज्ञान्तर-लक्षण-खण्डन

यह जो कहा गया था कि "प्रतिज्ञाहान्यादीनि बाधकानि भविष्यन्ति"। वहाँ 'आदि' पद के द्वारा किसका संग्रह किया जाता है ? प्रतिज्ञान्तरादि का संग्रह सम्भव नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञान्तर का ही निरूपण नहीं हो सकता।

प्रतिज्ञान्तरमेव न निरूपयितुं शक्यते। तद्यथा—स्वोक्तस्य परदूषितस्य साध्यभागस्य पूर्वानुक्तविशेषणवतोऽभिधानं प्रतिज्ञान्तरमित्यलक्षणम्। तथा हि, यत्र वादिना प्रथमं सविशेषणः प्रतिज्ञाभागोऽभिहितः, परेण च निर्विशेषणोक्तभ्रमाद् दूषितः। ततो वादी प्रथमाभिहितं सविशेषणमेवोपन्यस्य 'ईदृशं मयोक्तम्, न तु निर्विशेषणमतो निरनुयोज्यानुयोगो भवतः' इति सदुत्तरमेव ब्रूते, तत्रापि गतत्वादतिव्यापकमेतत्।

पूर्वानुक्तविशेषणवत्त्वं तत्र नास्ति, तत्कथमतिव्याप्तिरिति चेन्न, प्रथमोक्तेः

ॐ तदिति ॐ। अभिधानमित्युक्ते यत्किञ्चिदभिधाने प्रसक्तिस्तदर्थं साध्यभागस्येति। तथाऽपि पूर्वोक्त-विशेषणपरित्यागेन निर्विशेषणसाध्यभागाभिधाने प्रतिज्ञाहानिभेदेऽतिव्याप्तिरत उक्तं विशेषणवत इति। तथाऽपि पूर्वोक्तविशेषणवत एवाभिधाने प्रसक्तिवारणाय ॐ अनुक्तेति ॐ। झटिति संवरणेऽतिप्रसक्ति-वारणाय परदूषितेत्युक्तम्। तथाऽप्यनुक्तस्य परोक्तस्य प्रसक्तिं वारयितुं स्वेत्यादि। कुतोऽलक्षणमेतदित्यत आह ॐ तथा हीति ॐ। वर्णात्मकः शब्दोऽनित्य इति नैयायिकेनोक्ते निर्विशेषणत्वेनोक्तत्वभ्रान्त्या बाद-रायणीयेन ध्वनिभागे सिद्धसाधनतया प्रत्युक्ते स यदा पूर्वोक्तविशेषणमेव साध्यमुपन्यस्य परस्य निरनु-योज्यानुयोगनिग्रहमुद्भावयति तत्र सदुत्तरेऽपि गतत्वेनातिव्यापकमित्यर्थः।

पूर्वानुक्तत्वविशिष्टं लक्षणं पूर्वोक्तस्यैव विशेषणस्याभिधाने कथमतिव्यापकं स्यादिति शङ्कते

शङ्का—'स्वोक्तस्य परदूषितस्य साध्यभागस्य पूर्वानुक्तविशेषणवतोऽभिधानं प्रतिज्ञा-न्तरम्' [सूत्रकार ने प्रतिज्ञान्तर का लक्षण किया है—"प्रतिज्ञार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पादर्थ-निर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्" (न्या० सू० ५।२।३)। आचार्य वरदराज ने इस सूत्र का रेखा-चित्र प्रस्तुत किया है—

अविशेषितपूर्वोक्ते साध्यांशे दूषिते पुनः।
तद्विशेषणनिक्षेपः प्रतिज्ञान्तरमिष्यते॥ (ता. र. पृ. ३८५)

यहाँ 'साध्य' पद से धर्मी (पक्ष) और धर्म (साध्य) इन दोनों का ग्रहण किया गया है, अतः प्रक्षेपणीय अंशों के भेद से उसके चार भेद हो जाते हैं—(१) पक्षान्तर-प्रक्षेप। जैसे 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्'—मीमांसक की ऐसी स्थापना पर प्रतिवादी ध्वन्यात्मक शब्द में व्यभिचार उद्भावित करता है कि ध्वनि में श्रावणत्व रहने पर भी नित्यत्व नहीं रहता। इस दोष से बचने के लिये स्थापनावादी कहता है—'सध्वनयो वर्णा नित्याः'। (२) पक्षविशेषण-प्रक्षेप। जैसे 'शब्दोऽनित्यः, कार्यत्वात्'—नैयायिक की ऐसी स्थापना पर मीमांसक ध्वनि भाग में सिद्धसाधनता का उद्भावन करता है, तब स्थापनावादी कहता है—'वर्णात्मकः शब्दोऽनित्यः'। (३) साध्यान्तर-प्रेक्षप—'पर्वतोऽग्निमान् सुरभिमलिनधूमवत्त्वात्'—ऐसी स्थापना पर हेतु में व्यर्थविशेषणता का दोष उद्भावित किया जाता है कि 'सुरभित्व' और 'मलिनत्व'—इन विशेषणों की आवश्यकता नहीं, तब स्थापनावादी कहता है—'पर्वतः साग्निकृष्णागरुदारुमान्'। (४) साध्यविशेषण-प्रक्षेप। जैसे 'जगदिदं बुद्धिमत्पूर्वकम्'—ऐसी स्थापना पर जब सिद्ध-साधनता का उद्भावन किया जाता है, तब स्थापनावादी कहता है—'इदम् उपादानादिगोचर-बुद्धिमत्पूर्वकम्']।

समाधान उक्त लक्षण निर्दोष नहीं, क्योंकि जहाँ पर स्थापनावादी ने वस्तुतः सविशेषण साध्य का ही प्रयोग किया है, किन्तु प्रतिवादी निर्विशेषणसाध्य-प्रयोग के भ्रम से उस पर दोष उद्भावित करता है, तब स्थापनावादी कहता है कि मैंने तो सविशेषण साध्य का ही प्रयोग किया था, निर्विशेषण साध्य का नहीं, अतः आपका यह दोषोद्भावन 'निरनुयो-ज्यानुयोगनामक' निग्रहस्थान है। वहाँ स्थापनावादी के उस सदुत्तर में भी उक्त लक्षण अतिव्याप्त होता है।

प्रागभावस्य पूर्वं स्थितत्वात्। विशेष्योक्तिरपि तदा नाऽऽसीदिति चेत्, किमायातं तावता विशेषणानुक्त्यतिप्रसङ्गस्य ?

विशेष्योक्तिकाले विशेषणानुक्तिर्विवक्षितेति चेन्न, एककर्तृकाया वाचो युगपदसम्भवेन सर्वत्र तथाभावस्यैव भावात्। विशेष्योक्तेरनन्तरकाल इति चेन्न, नीलोत्पलमित्यादौ पूर्वनिपातिविशेषणे तदभावात्। विशेष्योक्तेरव्यवहितपूर्वकाल इति चेन्न,

---

ॐ पूर्वेति ॐ। विशेषणं सम्भावयन्परिहरति ॐ नेति ॐ। अनुक्तिर्ह्युक्तेः प्रागभावः, स च प्रथमविशेषणोक्तेरपि विद्यत एव न हि प्रागभावाप्रतियोगिन्या एव प्रथममभ्युत्पादस्तस्य च प्रागभावस्यानादित्वात्पूर्वमपि सम्भव इति प्रथमविशेषणोक्तेरपि पूर्वानुक्तत्वमस्तीत्युक्तातिप्रसङ्गे प्रागभावसमये विशेष्योक्तिर्न विद्यत इति गूढाभिसन्धिः शङ्कते ॐ विशेष्येति ॐ। विशेष्योक्तेरपि प्रागभावस्तदाऽऽसीदित्यर्थः। गूढाभिसन्धिरेव परिहरति ॐ किमिति ॐ। प्रथमत उक्ते विशेषणे पूर्वानुक्तत्वमस्तीत्युक्तातिप्रसङ्गे कः परिहारस्तावता विशेष्यस्य पूर्वानुक्तत्वमित्येतावन्मात्रं स्यात्तच्चानुपयुक्तमित्यर्थः।

स्वाभिप्रायं प्रकटयन्पुनः शङ्कते ॐ विशेष्येति ॐ। विशेष्योक्तिकाल इति किमेकक्षणत्वं विवक्षितमुत विशेष्योक्त्युत्तरक्षणत्वमुत तदव्यवहितपूर्वक्षणत्वमुत तदव्यवहितक्षणत्वमात्रमाहोस्विद्विशेषणाभिधानोचितक्षणत्वम्, उताहो सर्व एव तद्योग्यः कालो विवक्षितः ? इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐनेतिॐ। उदाहृतस्थलेऽपि विशेष्योक्तिकाले विशेषणानुक्तिर्विद्यते क्रमभावित्वाद्वाचोऽत उक्तातिव्याप्तितादवस्थ्यमित्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते ॐ विशेष्येति ॐ। विशेष्योक्त्यनन्तरकालीनविशेषणानुक्तिर्लक्षणमतो न तत्रातिव्याप्तिरित्याशयः। परिहरति ॐ नेति ॐ। नीलमुत्पलमिति सविशेषणे प्रतिज्ञाते निर्विशेषणभ्रान्त्या परेण दूषिते पुनर्वादी तदेव पूर्वोपन्यस्तविशेषणविशिष्टं साध्यमुपन्यस्य निरनुयोज्यानुयोगमुद्भावयति तत्रैतल्लक्षणमतिव्यापकमनन्तरानुक्तिभावादित्यर्थः। तृतीयं शङ्कते ॐ विशेष्येति ॐ। आदौ दर्शितातिव्याप्ति-

---

स्थापनावादी ने जब सविशेषण साध्य का प्रयोग किया है, तब लक्षण-घटक अनुक्त-विशेषणता अंश न घटने से अतिव्याप्ति कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लक्षण-घटक पूर्वानुक्त विशेषणता का अर्थ है—विशेषणोक्ति से पूर्व विद्यमान जो प्रागभाव का प्रतियोगीभूत उक्त, उसके विषयीभूत विशेषण का वैशिष्ट्य, वह प्रकृत में घट जाता है, अतः अतिव्याप्ति निश्चित है।

'जब विशेषण उक्त नहीं था, तब विशेष्य भी उक्त नहीं था'—इतना कह देने मात्र से कथित अतिप्रसङ्ग का परिहार नहीं होता, क्योंकि उससे विशेषणानुक्ति और विशेषणानुक्ति-मूलक अतिप्रसङ्ग में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

शङ्का—विशेष्योक्ति-काल में अनुक्त जो विशेषण, उससे युक्त विशेष्य का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है—ऐसा कहने पर पूर्वोक्त सदुत्तर में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ विशेष्योक्ति-काल में उक्त विशेषण का ही अभिधान होता है।

समाधान—विशेषण में 'विशेष्योक्तिकालेऽनुक्तत्व' विशेषण की सार्थकता तब हो सकती थी, जब कि कोई विशेषण विशेष्य-काल में उक्त होता, किन्तु एक वक्ता विशेष्योक्ति-काल में विशेषण का अभिधान कर ही नहीं सकता, जब करेगा, तब विशेष्याभिधान के पूर्व या उत्तर क्षण में ही।

शङ्का—विशेष्योक्ति के अनन्तरकाल में अनुक्त विशेषण का अभिधान विवक्षित है, कथित सदुत्तर-स्थल पर विशेष्योक्ति के अनन्तर काल में विशेषण अनुक्त नहीं उक्त ही है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती।

समाधान—विशेष्यार्थक पद से पहले जहाँ विशेषणार्थक पद का प्रयोग होता है, ऐसे 'नीलमुत्पलम्' —इत्यादिस्थलीय पूर्वोक्त सदुत्तर में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि विशेष्योक्ति के

'उत्पलं नीलमित्यादौ तदभावात्। अव्यवहित इति चेन्न, बहुविशेषणके विशेष्ये तदभावात्। विशेषणाभिधानोचितकाल इति चेन्न, नानाविशेषणके विशेष्ये क्रमवृत्तित्वाद्वाचः क्रमेणाभिधीयमाने य एकविशेषणाभिधानकालः सोऽपरेषामपि विशेषणाभिधानानां योग्यो भवत्येवेति तदाऽन्येषां क्रमभाविनामभावात्सैवातिव्याप्तिः।

सर्वस्मिन् योग्यकाल इति चेन्न, दूषणानन्तरकालस्य योग्यकालत्वाभ्युपगमेऽ-

---

परिहारायाऽव्यवहितेति विशेषणम्। अतिव्याप्त्यैव दूषयति ॐ नेति ॐ। यत्र विशेष्यं पूर्वं निपतति विशेषणं पश्चात्तत्र निर्विशेषणत्वभ्रान्त्या परेण दूषणानन्तरं पुनस्तस्य तथोपन्यासे लक्षणमतिव्यापकमित्यर्थः। चतुर्थं शङ्कते ॐ अव्यवहित इति ॐ। अतिव्याप्त्यन्तरं दर्शयन्परिहरति ॐ नेति ॐ। चित्रगुरित्यत्र विशेष्यस्यार्थसिद्धतयाऽनभिधानात्तदव्यवहितकालेऽनभिधानं विशेषणपदस्यास्तीति कृत्वा तत्रैव निर्विशेषणत्वभ्रान्त्या परदूषणानन्तरमुपन्यस्तेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। सर्वापकारपरिहाराय कल्पान्तरं शङ्कते ॐ विशेषणेति ॐ। दूषयति ॐ नेति ॐ। नीलमुत्पलं सुगन्धि महदित्यादावनेकविशेषणविशिष्टे य एकविशेषणस्य उपन्यासयोग्यकालस्सोऽपरेषामपि योग्य एव विशेषणानां पूर्वापरनियमाभावादन्यथा प्रयोगान्तरे विशेषणानां व्यत्यासो न दृश्येत, तस्मादनेकविशिष्टे पुनरुपन्यस्यमाने कथितलक्षणमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः।

पूर्व विशेषण उक्त होने पर भी विशेष्योक्ति के अनन्तर अनुक्त ही है।

शङ्का—विशेष्योक्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में अनुक्त विशेषण विवक्षित है, जहाँ 'नीलमुत्पलम्'—ऐसा प्रयोग किया गया, वहाँ विशेष्योक्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में विशेषण अनुक्त नहीं, उक्त ही है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति क्योंकर होगी ?

समाधान—जहाँ 'उत्पलं नीलम्'—ऐसा प्रयोग किया गया, वहाँ विशेष्योक्ति के अव्यवहित पूर्व में विशेषण उक्त नहीं, अनुक्त ही है, उसको लेकर पूर्व-चर्चित सदुत्तर में अतिप्रसङ्ग हो जाता है।

शङ्का—पूर्व या उत्तर पद का प्रयोग न कर केवल इतना ही कहा जाता है कि विशेष्योक्ति के अव्यवहित काल में बिशेषण को अनुक्त होना चाहिये, पूर्वोक्त और अनन्तरोक्त—दोनों विशेषण विशेष्योक्त्यव्यवहित काल में उक्त ही हैं, अनुक्त नहीं, अतः कथित अतिप्रसङ्ग से पीछा छूट जाता है।

समाधान—जहाँ विशेष्य पदार्थ का एक ही विशेषण है, वहाँ तो वह विशेषण विशेष्य-काल के अव्यवहित (पूर्व या उत्तर) काल में उक्त हो सकता है, किन्तु जहाँ श्रावणः वर्णात्मकः शब्दोऽनित्यः'—ऐसा अनेक विशेषणों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ सभी विशेषण विशेष्योक्ति-काल के अव्यवहित काल में उक्त नहीं हो सकते, जैसे-श्रावणः'—यह विशेषण विशेष्य (शब्द) के व्यवहित काल में उक्त है, अव्यवहित नहीं। वहाँ अतिव्याप्ति होगी।

शङ्का—अपने समुचित (योग्य) काल में अनुक्त विशेषण से विशिष्ट विशेष्य का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है। उक्त स्थल पर 'श्रावणः'—यह विशेषण यद्यपि विशेष्योक्ति के अव्यवहित काल में उक्त नहीं, तथापि अपने समुचित काल में उक्त ही है।

समाधान—यद्यपि विशेषण-पदों का 'श्रावणः वर्णात्मकः शब्दः'—इस प्रकार क्रमिक अभिधान होता है, तथापि इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि 'वर्णात्मकः श्रावणः शब्दः—इस प्रकार स्थान-विनिमय नहीं हो सकता, अतः प्रथम और दोनों स्थान 'श्रावणः'—इस विशेषण के योग्य ही माने जाते हैं। इस प्रकार एक विशेषण-पद यदि प्रथम स्थान पर प्रयुक्त है, तब अपने योग्य द्वितीय स्थान पर अनुक्त और यदि द्वितीय स्थान पर प्रयुक्त है, तब प्रथम स्थान पर अनुक्त है। फलतः ऐसे स्थलों पर अतिव्याप्ति जेसी-की-तैसी बनी रहती है।

व्याप्तिः। दूषणपूर्वकालस्य तथाऽभिमतत्वे च दूषणानन्तरभाविन्या विशेषणोक्तिव्यक्तेस्तदानीमभावात् पूर्ववदतिव्याप्तिः। सर्वस्यास्तज्जातीयाया विशेषणस्योक्तेरभावो विवक्षित इति चेन्न, व्यक्तीनामभावप्रतियोगिभूतानां सर्वासां पृथक् पृथक् प्रमाणेन केनापि अस्मादृशा प्रत्येतुमशक्यतयाऽभावानिरूपणेन लक्षणस्याज्ञानादसिद्धि-

अन्तिमं कल्पं शङ्कते ॐ सर्वस्मिन्निति ॐ। विशेषणाभिधानयोग्यकालानुक्तत्वं न विवक्षितं किन्तु तदभिधानोचितकालोक्तत्वानधिकरणत्वं तच्चैकस्मिन्नपि योग्यकाल उक्तत्वादेव नास्तीति नातिव्याप्तिरित्यर्थः। दूषणोत्तरकालो योग्यकालो विवक्षित उत प्राक्काल इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ नेति ॐ। शब्दोऽनित्य इति प्रथमं निर्विशेषणोक्ते ध्वनिभागे सिद्धसाधनतया प्रत्युक्तेऽस्तु तर्हि वर्णात्मक इति पश्चात्सविशेषणवचने प्रतिज्ञान्तरत्वात्तत्रेदं लक्षणं नास्ति दूषणानन्तरकालस्य योग्यत्वं तत्र चोक्तेः सत्त्वादित्यव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयमपवदति ॐ दूषणेति ॐ। प्रथमं सविशेषणोक्ते निर्विशेषणभ्रान्त्या दूषिते पुनर्वादी पूर्वोक्तविशेषणमेव वदति तत्र पूर्वकालप्रागभावप्रतियोगित्वं दूषणानन्तरकालविशेषणोक्तिव्यक्तेरपि विद्यते इति तत्र सदुत्तरेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। दूषणपूर्वकालेऽनुक्तविशेषणजातीयत्वं विवक्षितं तेन नातिव्याप्तिः उत्तरकालविशेषणोक्तिव्यक्तेरभावेऽपि तज्जातीयायास्तत्र भूतत्वादिति शङ्कते ॐ सर्वस्या इति ॐ। अप्रमितप्रतियोगिकप्रतिषेधायोगात्सर्वव्यक्तीनां प्रमितत्वं वक्तव्यं ततश्च विशेषणव्यक्तीनां भिन्नभिन्नाकारेण प्रमितत्वम्, उत सामान्यप्रत्यासत्तिद्वारेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ नेति ॐ। सर्व-

शङ्का—जितने भी क्षण विशेषणोक्ति के योग्य हैं, उन सभी क्षणों में अनुक्त विशेषण से विशिष्ट साध्य का अभिधान प्रतिज्ञान्तर है—ऐसा लक्षण करने पर किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं रहता, क्योंकि उदाहृत स्थलों पर विशेषणाभिधान जहाँ-कहीं भी विशेष्योक्ति के जिन दो-चार क्षणों के अन्तराय में होता है, वे सभी क्षण विशेषणाभिधान के योग्य हैं। उनमें उक्त विशेषण की पुनरुक्ति है, अनुक्त की नहीं।

समाधान—कालगत योग्यता के विषय में जिज्ञासा होती है कि प्रतिवादी के द्वारा दोषाभिधान का उत्तर काल विशेषणाभिधान-योग्य होता है? अथवा दोषाभिधान का पूर्व काल? यदि उत्तर काल को योग्य माना जाता है, तब जहाँ प्रतिज्ञान्तरता होती है, वहाँ भी लक्षण नहीं घटेगा, क्योंकि जहाँ वादी के 'शब्दोऽनित्यः, कार्यत्वात्'—इतना कहने पर प्रतिवादी ध्वन्यात्मक शब्द में सिद्ध-साधनता दोष का उद्भावन करता है, उस पर वादी कहता है कि 'अस्तु तर्हि वर्णात्मकः शब्दोऽनित्यः'। वहां वादी पर जो प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान लागू होता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि वहाँ योग्य काल में उक्त विशेषण की ही सत्ता है, अनुक्त विशेषण की नहीं।

दोषाभिधान के पूर्व काल को विशेषणाभिधान के योग्य मानने पर पूर्व चर्चित अतिव्याप्ति बनी रहती है, निर्विशेषणत्व-भ्रम के कारण प्रतिवादी-द्वारा दोषाभिधान करने के अनन्तर प्रथम वादी जिस विशेषणव्यक्ति का कथन करता है, वह व्यक्ति पूर्व काल में अनुक्त ही है, अतः उस सदुत्तर में भी अनुक्त विशेषण का ही अभिधान है।

शङ्का—पूर्व कथित सदुत्तर-स्थल पर यद्यपि दोषाभिधान के अनन्तर उक्त विशेषण-व्यक्ति पूर्व काल में अनुक्त नहीं, किन्तु प्रतिज्ञान्तर-लक्षण में तज्जातीय समस्त विशेषणों का अनुक्तत्व अपेक्षित है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती।

समाधान—अप्रमितप्रतियोगिक निषेध सम्भव नहीं होता, अतः दोषाभिधान के पूर्व काल में सभी विशेषण व्यक्तियों के उक्तत्व का निषेध तभी हो सकता है, जब कि सभी विशेषण व्यक्तियों का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो, किन्तु किसी प्रमाण से भी असर्वज्ञ प्राणी सभी प्रतियोगी व्यक्तियों का तत्तत्व्यक्तित्वेन ज्ञान नहीं कर सकता, अतः तत्तद्व्यक्तिप्रतियोगिक उक्तत्वा-

प्रसङ्गात् । सामान्यप्रत्यासत्त्या व्यक्तयः प्रतिभान्तीति निरस्तमनुमानावसरे ।

एतेन पूर्वमविशिष्टोक्तस्येति विशेषणं प्रक्षेप्तव्यमिति निरस्तम् , उत्तरकालवाच्यविशेषणकविशेष्यस्य प्रथममविशिष्टोक्तत्वसम्भवस्य दर्शितत्वात् ।

किञ्च—प्रथममविशिष्टमुक्त्वा भवता यदि विशेषणमिदं प्रक्षिप्यते, तदा हेत्वन्तरं भवतोऽपि स्यात्तथापि तदभावे वा ममापि कुतः प्रतिज्ञान्तरम् ? अथ प्रथममेवेदं

व्यक्तिविषयप्रमाणासम्भवश्च स्मृतिव्यतिरिक्तत्वखण्डन इव द्रष्टव्यः । द्वितीयमपवदति ❀ सामान्येति ❀ । एकां विशेषणव्यक्तिं श्रोत्रद्वारा प्रत्यक्षयता समवेतविशेषणतया सर्वव्यक्तयः प्रत्यक्षीक्रियन्त इत्यङ्गीकारे एकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः सार्वज्ञ्यं स्यादिति व्याप्तिखण्डने उक्तमित्यर्थः ।

पूर्वानुक्तविशेषणवत इति विशेषणस्थाने पूर्वमविशिष्टोक्तस्येतिविशेषणं प्रक्षिप्य लक्षणे विरचिते को दोष इत्यत आह ❀ एतेनेति ❀ । कथमतिव्याप्त्यैव निरस्तमित्यत आह ❀ उत्तरेति ❀ । उत्तरकालं वाच्यं विशेषणं यस्य उत्पलं नीलमित्यादेस्तस्य प्रथमविशेषणोक्तावपि केवलस्य विशेष्यस्य प्रथममुपादानमनन्तरं विशेषणस्येति सैवातिव्याप्तिरित्यर्थः ।

प्रतिज्ञान्तरलक्षणे विशेषणप्रक्षेपपरम्परामुररीकृत्य दूषणमभाणि सम्प्रति सैवानुपपन्नेत्याह ❀ किञ्चेति ❀ । प्रथमं स्वोक्तस्येत्यादिप्रतिज्ञान्तरलक्षणमविशिष्टमुक्त्वा मया चातिव्याप्त्या दूषिते तत्परिहाराय पूर्वमविशिष्टस्येत्यादिविशेषणं प्रक्षिपतो हेत्वन्तरं निग्रहः स्याल्लक्षणस्य केवलव्यतिरेकिहेतुत्वादित्यर्थः । प्रथमलक्षणनिर्वाहार्थत्वेन विशेषणप्रक्षेपस्य प्रकृतोपयोगितया न हेत्वन्तरत्वमित्याशङ्क्य तर्हि प्रतिज्ञातनिर्वाहार्थत्वेनैव विशेषणप्रक्षेपान्ममापि न प्रतिज्ञान्तरमित्याह ❀ तथा पीति ❀ । प्रथममविशिष्टं लक्षणं तर्हि न ब्रूमोऽपितु प्रथममेव विशिष्टलक्षणं ब्रूम इति शङ्कते ❀ अथेति ❀ । स्वोक्तस्य परदूषितस्य साध्यभागस्य प्रथममविशिष्टोक्तस्य विशेषणवतोऽभिधानमिति प्रथमत उच्यत इत्यर्थः । हेत्वन्तरनिग्रहपरि-

भाव अप्रसिद्ध होने के कारण उक्त लक्षण अप्रसिद्ध हो जाता है। सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा भी सभी व्यक्तियों का ज्ञान नहीं हो सकता, अन्यथा किसी एक पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त होनी चाहिए—यह पूर्व व्याप्ति-निरूपण के प्रसङ्ग में कहा जा चुका है।

शङ्का—प्रतिज्ञान्तरता के लिए जहाँ विशेषण का अनुक्त होना आवश्यक है, वहाँ विशेष्य का अविशिष्टतया उक्त होना भी अनिवार्य है, किन्तु कथित सदुत्तर-स्थल पर न तो अविशिष्ट साध्य का अभिधान किया गया और न वैसा प्रतिवादी के द्वारा सुना गया, तब वहाँ अतिव्याप्ति क्यों होगी ?

समाधान—जहाँ विशेषण पद का प्रयोग पश्चात् किया जाता है, ऐसे 'उत्पलं नीलम्'—इत्यादि स्थलों पर विशेष्य का पहले अविशिष्टतया ही अभिधान और श्रवण होता है, अतः वहाँ पूर्वोक्त रीति से घटित सदुत्तर में अतिव्याप्ति क्यों न होगी ?

दूसरी बात यह भी है कि यदि प्रतिवादी प्रतिज्ञान्तर के लक्षण में 'पूर्वमविशिष्टतया उक्तस्य साध्यस्य अनुक्तविशेषणप्रक्षेपः प्रतिज्ञान्तरम्'—ऐसा लक्षण करना चाहता है, तब यह लक्षणान्तर का अभिधान होगा, इससे हेत्वन्तर नाम का निग्रहस्थान प्राप्त होता है, क्योंकि लक्षण भी अपने लक्ष्य के इतरभेदानुमान (जो कि केवलव्यतिरेकी होता है) में हेतु ही माना जाता है। यदि प्रतिवादी कहता है कि पहले कथित लक्षण का निर्वाह करने के लिए लक्षण में एक पद जोड़ दिया गया, इससे हेत्वन्तरता क्यों होगी ? तब वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि पहले कथित प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए ही साध्य का एक अनुक्त विशेषण लगा दिया है, इतने मात्र से प्रतिज्ञान्तरता क्यों होगी ?

यदि एक लक्षण करने के पश्चात् लक्षणान्तर नहीं किया जाता, अपितु प्रथमत ही

विशेषणमुपादाय ब्रवीषि; तथाप्यव्याप्तिः। प्रथमं सविशेषणमुक्त्वा विशेषणवैयर्थ्यभ्रमेण झटिति संवरणान्निर्विशेषणेऽभिहिते परेण च दूषिते पुनः सविशेषणमभिदधतो नैवं प्रतिज्ञान्तरं स्यादित्यव्याप्तिः, 'स्वपरसाध्यपूर्वपदानां विवेचने व्यक्तौ पतनादव्याप्तिश्च। प्रकरणादिलभ्यतया प्रागनुक्तस्य विशेषणस्य भ्रान्तपरदूषितस्य प्रकरणलभ्यविशेषणवत्तयाऽनुवदतोऽपि सद्वादे प्रसङ्गः। अनुक्तस्थाने चाऽप्रतिपादितकरणेऽपि दोषः; परस्मिन्नजातप्रतिपत्तौ प्रतिपादितत्वानुपपत्तेरित्यादि स्वयमूहनीयम्।

हारेऽपि दोषान्तरं स्यादिति परिहरति ॐ तथाऽपीति ॐ। तामेवोपपादयति ॐ प्रथममिति ॐ। पार्थिवपरमाणुरूपरसगन्धस्पर्शा नित्या इति प्रथमं सविशेषणमुक्त्वा विशेषणवैयर्थ्यभ्रमाद्यत्र वादिना संव्रियते ततो निर्विशेषणमेव कथ्यते तदा प्रतिवादिना ज्ञाते बाधेन प्रत्युक्ते पुनः सविशेषणमेव पार्थिवपरमाणुरूपादिरिति ब्रूते तत्र प्रतिज्ञान्तरमिष्टं तत्रैवाव्याप्तिः प्रथममविशिष्टोक्तस्येति विशेषणाभावादितिभावः। प्रथमत एव विशिष्टलक्षणोक्तावविशिष्टमुक्त्वा पश्चाद्विशेषणोपादाने च साधारणखण्डनान्तरमाह ॐस्वेतिॐ। स्वोक्तस्येत्यत्र स्वपदस्य परदूषितेत्यत्र परपदस्य साध्यभागस्येत्यत्र साध्यपदस्य पूर्वमनुक्तेत्यत्र पूर्वपदस्य च स्वत्वाद्यनुगतार्थाभावः स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेरतश्च व्यक्तिपरत्वे प्रत्येकव्यक्त्युपादानेऽव्याप्तिः सर्वव्यक्त्युपादानेऽसिद्धिरित्यर्थः। भङ्गान्तरं भणति ॐ प्रकरणेति ॐ। विवादपदं सकर्तृकमित्यादौ प्रकरणोपपदाभ्यां धर्मिविशेषासिद्धौ सत्यामपि परेण प्रकरणादिलभ्यत्वमनालोचयता निर्विशेषणत्वभ्रान्त्या दूषिते वादिना प्रकरणादिपर्यालोचनया लभ्यमेव विशेषणमुपन्यस्यते निरनुयोज्यानुयोगोद्भावनाय तत्र सदुत्तर एतल्लक्षणमतिव्यापकमनुक्तत्वविशेषणाभावादिति भावः। अप्रतिपादितविशेषणस्येतिलक्षणविशेषणं न त्वनुक्तस्येति तत्र च प्रकरणादिना प्रतिपादितत्वमस्त्येवेति नातिव्याप्तिरित्याशङ्क्याह ॐ अनुक्तेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ परस्मिन्निति ॐ। प्रकरणादिलभ्यमुक्तमप्युक्तलक्षणविशिष्टतया यत्र प्रतिवादिनो बुद्ध्यारूढं न भवति। तत्र प्रतिपादितत्वमेव नास्ति परप्रतीतिजनकत्वस्यैव प्रतिपादितत्वादित्यतिव्याप्तिरेवेत्यर्थः। तर्हि स्वोक्तस्य परदूषितस्य साध्यभागस्य पूर्वानुक्तस्य प्रकरणाद्यलभ्यविशेषणवतोऽभिधानं

प्रतिज्ञान्तर का यही [पूर्वमविशिष्टतयाभिहितस्य साध्यस्यानुक्तविशेषणप्रक्षेपः] लक्षण किया जाता है, तब भी जहाँ पहले सविशेषण साध्य का उपन्यास कर विशेषण-वैयर्थ्य-भ्रम से तुरन्त अपना अज्ञान संवरण करते हुए निर्विशेषण साध्य का अभिधान कर दिया जाता है, उस पर प्रतिवादी जब कोई दोष देता है, तब वादी सविशेषण साध्य का प्रयोग कर प्रतिज्ञान्तर दोष से दोषी माना जाता है, किन्तु वहाँ आपके इस लक्षण की अव्याप्ति है, क्योंकि वहाँ साध्य वस्तुतः अविशिष्टतया अभिहित नहीं है।

इसी प्रकार लक्षण-घटक 'स्व' पद, 'पर' पद, 'साध्य' पद और 'पूर्व' पद की गहराई में जाने से सभी पद तत्तद् व्यक्ति में पर्यवसित पाये जाते हैं, जिससे लक्षण अव्यापक और अननुगत हो जाता है। केवल इतना ही नहीं, जहाँ 'शब्दोऽनित्यः' – इत्यादि स्थलों पर प्रकरणादि के द्वारा प्राप्त होने के कारण 'वर्णात्मकः' ऐसा विशेषण उच्चारित नहीं किया गया, प्रतिवादी के द्वारा भ्रम से दोष का उद्भावन किये जाने पर वादी प्रकरण-लभ्य विशेषण का स्मरणमात्र दिलाता है—ऐसे सदुत्तर में भी उक्त लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है, क्योंकि वहाँ भी विशेषण अनुक्त ही है। यदि अनुक्त के स्थान पर अप्रतिपादित या अज्ञापित विशेषण दिया जाता है, तब यद्यपि पूर्वोक्त स्थल पर अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ प्रकरणादि के द्वारा विशेषण ज्ञापित हो जाता है, अज्ञापित नहीं रहता, तथापि जहाँ प्रकरणादि के द्वारा प्राप्त (उक्त) विशेषण भी प्रतिवादी को अवगत नहीं हो सका वहाँ अतिव्याप्ति हो जाती है। ऐसे दोषों की स्वयं उद्भावना की जा सकती है।

३. प्रतिज्ञाविरोधलक्षणखण्डनम्

प्रतिज्ञान्तरादीति आदिपदेन किमिष्टम् ? प्रतिज्ञाविरोधादीति चेन्न, यत एकवक्तृकैकवाक्यांशयोर्मिथो व्याघातः साध्यविपरीतव्याप्तत्वोद्भावनानपेक्षोद्भावनः प्रतिज्ञाविरोधः। तदेतदलक्षणम्, तथाहि—'इह भूतले घटो नास्ती'त्यादावपि गतत्वेनातिव्यापकमिदम्। वचनयोर्हि व्याघातोऽन्योन्यविरुद्धार्थत्वम्। तच्चेहास्ति, घटोऽस्तीत्यंशस्य घटसत्त्वबोधकत्वात्, नकारस्य च तन्निषेधकत्वात्।

प्रतिज्ञान्तरमिति विशेष्यत इत्याशङ्क्याह ❀ इत्यादीति ❀। विशेषणोपादाने हेत्वन्तरमनुपादाने पूर्वोदितावद्यमित्यादि द्रष्टव्यमित्यर्थः।

इति प्रतिज्ञान्तरखण्डनम्।

प्रतिज्ञाविरोधखण्डनायोपक्रमते ❀ प्रतीति ❀। आदिपदार्थं परः शङ्कते ❀ प्रतिज्ञेति ❀। आदिपदार्थस्तावदास्तां प्रतिज्ञाविरोधस्यापि दुर्निरूपत्वं यत इत्यभिप्रेत्य दूषयति ❀ नेति ❀। विरुद्धहेत्वाभासेऽतिव्याप्तिपरिहाराय साध्यविपरीतेत्यादिविशेषणम्। अन्यवाक्येन विरोधेऽतिव्याप्तिपरिहाराय मिथ इति। तथापि कालभेदेन मतभेदमवलम्ब्य नित्यः शब्दोऽनित्यः शब्द इति वदति तद्विरोधेऽतिव्याप्तिपरिहारायैकवाक्येति। तथाऽपि भिन्नकर्तृकवाक्यांशे विरोधेऽतिव्याप्तिपरिहारायैककर्तृकेति। अस्त्वयं प्रतिज्ञाविरोधस्ततः किमित्यत आह ❀ तदिति ❀। अलक्षणत्वमेवोपपादयति ❀ तथा होति ❀। भूतले घटो नास्तीति वाक्यांशयोः सहावस्थानादप्रतिपक्षेपरूपत्वाच्च विरोध एव नास्ति कुतोऽतिव्याप्तिरित्यत आह ❀ वचनेति ❀। शब्दयोः स्वरूपेण विरोधो न कर्तेश्वर इत्यादिवदुदाहरणेऽपि नास्ति, अर्थद्वारको विरोधोऽत्रापि विद्यत इत्यर्थः। उदीरितं हेतूपन्यासपुरस्कारेण स्पष्टयति ❀ तच्चेति ❀।

३. प्रतिज्ञाविरोध-लक्षण-खण्डन

प्रतिज्ञान्तरादि शब्द के द्वारा प्रतिज्ञाविरोधादि का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका भी कोई निर्दोष लक्षण नहीं बनता।

शङ्का—[सूत्रकार ने प्रतिज्ञाविरोध का लक्षण किया है—"प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः" (न्या० सू० ५।२।४)। भाष्यकार ने उदाहरण प्रस्तुत किया है—"गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा, रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतुः"। तार्किकरक्षाकार ने उसका परिष्कार प्रस्तुत किया है—

> पदयोर्वाक्ययोर्वा य एकवक्तृकयोर्मिथः।
> व्याघातो निग्रहस्थानं स्यात्प्रतिज्ञाविरोधतः॥ (ता. र. पृ. ३२५)

तार्किक रक्षाकार ने ही विरोधनामक हेत्वाभास से इसका अन्तर भी बताया है— "न च विरुद्धहेत्वाभाससङ्करः, तत्र साध्यविपर्ययव्याप्तिनिदर्शने विरोधस्योद्भाव्यत्वाद्, अत्र चास्तिनास्तीति उक्तिमात्रेण विरोधस्फुरणात्" (ता. र, पृ. ३२६)। इस पूरे खण्डलक को ध्यान में रखकर प्रतिज्ञाविरोध का पूर्ण लक्षण इस प्रकार विकसित किया जाता है—] 'एकवक्तृकैकवाक्यांशयोर्मिथो व्याघातः साध्यविपरीतव्याप्तत्वोद्भावनानपेक्षोद्भावनः प्रतिज्ञाविरोधः' ['द्रव्यं गुणव्यतिरिक्तम्, रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेः'—इस प्रकार प्रतिज्ञा और हेतु—इन दो अवयवों को मिलाकर ऐसा एक वाक्य निष्पन्न होता है, जिसका वक्ता एक ही पुरुष है, उसके अवयवभूत प्रतिज्ञा और हेतु—दोनों का परस्पर विरोध है, क्योंकि 'प्रतिज्ञा' कहती है कि द्रव्य पदार्थ रूपादिगुणों से भिन्न होता है और 'हेतु' कहता है कि द्रव्यपदार्थ रूपादिगुणों से भिन्न उपलब्ध नहीं होता, जैसा कि बौद्धगण मानते हैं। इस प्रकार प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरुद्धार्थ-प्रतिपादनात्मक विरोध स्पष्ट है, किन्तु विरुद्धनामक हेत्वाभास में जैसा हेतु

नन्वयुक्तमिदमुच्यते। न हि 'घटो नास्ती'त्यत्र घटोऽपि विधीयते घटनिषेधोऽपि च, येन मिथो व्याघातः स्यात्। किन्तु घटो निषिध्यते, घटनिषेध एव तु विधीयत इति यावत्। तत्कुतो व्याहतिरिति चेत्, मैवम्, घट इत्यस्य तावदंशस्य घटविधिबोधकत्वम्, नास्तीत्यस्यापि तत्प्रतिषेधार्थत्वं भवताऽपि मन्तव्यम्। यदि त्वेवं नाभ्युपैषि, तदा तयोरविरुद्धार्थतया घटश्चाऽपेक्षितनिषेधास्तित्वं च भूतलाश्रितं द्वयमस्य वाक्यस्य बोधनीयं स्यादिति। तस्माद्विधिरूप एव घट इति, तत्प्रतिक्षेप एव च नेति, किमेतौ एककर्तृकवाक्यांशौ न भवतः, परस्परविरोधार्थाभिधायकौ वा न भवतः, येन लक्षणमिदं भवतस्तत्र न गच्छेत्। न मिथो विरुद्धत्वमात्रं मिथो व्याघात-

भावाभावयोरपि न भावाभावत्वमेव विरोधः किंतु सहानवस्थानमेवात एकस्मिन् देशे काले तदुभयबोधकत्वाभावान्नेह भूतले घट इति वाक्यांशयोरर्थद्वाराऽपि विरोधो नेति चोदयति ❀ नन्विति ❀। अयुक्तत्वे हेतुमाह ❀ न हीति ❀। घटो नास्तीति घटतदभावावुभावपि अभिधेयौ न भवतो येन भावाभावयोरेकोपाधिसम्बन्धबोधकतया वाक्यं विरुद्धं स्यादित्यर्थः। तर्हीदं वाक्यमनर्थकमेव कस्याऽप्यबोधकत्वादित्यत आह ❀ किन्त्विति ❀। किमनया वाग्भङ्ग्याऽभिहितं भवतीत्यत आह ❀ घटेति ❀। इह भूतले घटो नास्तीत्यत्र घटनिषेधस्यैव प्रतिपाद्यत्वात् घटस्याप्रतिपाद्यत्वाद् घट इति न इति चाऽभिधानयोर्विरोधो नास्तीत्युपसंहरति ❀ तदिति ❀। विदितसङ्गतीनां पदानां स्वार्थवेदनोत्पादकत्वनियमात् घटपदस्य स्वार्थबोधकत्वं नञ्पदस्य च तदभावबोधकत्वमवश्यं स्वीकार्यमिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। विधिः सत्त्वम्। उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेनोपपादयति ❀ यदीति ❀। घटतदभावविषयत्वाभावे वाक्यांशयोरविरुद्धार्थत्वं ततश्च भूतलाधिकरणतया घटास्तित्वं निषेधास्तित्वं चेत्युभयं बोधनीयं स्याद्यथा भाति तत्तथैवेत्युत्सर्गादित्यर्थः। तस्माद्विरुद्धार्थत्वमस्त्येवेत्युपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। न केवलं तत् प्रतिक्षेप एव, नापि विधिरूप एव, किन्तु भावोऽभावश्चेति विरुद्धरूप एव बोध्यत इत्यर्थः। तथा च प्रागुक्तप्रसङ्गस्तदवस्थ इति फलितमाह ❀ किमेताविति ❀। इह भूतले घटो नास्तीति वाक्यस्य घटतदभावविषयत्वमापादितमङ्गीकृत्य तयोरेकदेशकालसत्त्वाभावोऽविरोधस्तत्सत्त्वं च विरुद्धमिति यदुक्तं मया तत्तदवस्थमे-

का साध्याभावव्याप्तत्वेन विरोध उद्भावित होता है, वैसा यहाँ नहीं, अतः इसकी निग्रह-स्थानता (पराजयभूमि) हेत्वाभास से भिन्न है]।

समाधान—प्रतिज्ञाविरोध का उक्त लक्षण 'इह भूतले घटो नास्ति'—इत्यादि सत्य व्यवहार-निर्वाहक वाक्यों में अतिव्याप्त है, क्योंकि यहाँ भी वाक्यांशों में विरुद्धार्थकत्व स्पष्ट है—प्रसज्यप्रतिषेध में नञ् का क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, अतः 'घटोऽस्ति न' इस प्रकार एक अंश घट की सत्ता का और दूसरा घट की असत्ता का बोधक है।

शङ्का—एक वाक्य का दो विरुद्ध अर्थों में पर्यवसान नहीं माना जा सकता, अतः प्रकृत वाक्य के द्वारा 'घट-सत्त्व और घट-सत्त्व-निषेध'—इन दो विरुद्धार्थों में तात्पर्य सम्भव नहीं कि व्याघात प्रसक्त हो, अपितु एकमात्र घट का निषेध या घट-निषेध का विधान किया जाता है, अतः यहाँ किसी प्रकार की व्याहति सम्भव नहीं।

समाधान—उक्त वाक्य के 'घटः'—इस अंश में घट-विधि-बोधकत्व और 'नास्ति'—इस अंश में घट-निषेध-बोधकत्व आपको भी मानना पड़ेगा, अन्यथा 'घट और घट-निषेध'—इन दो अविरुद्धार्थों का समुच्चित अस्तित्व भूतलवृत्तितया बोधित करना होगा, किन्तु दो विरुद्धार्थों का समुच्चय (अविरोध या सहावस्थान) सम्भव नहीं, फलतः 'वह्निना सिञ्चति'—इत्यादि वाक्यों के समान ही यह वाक्य भी अयोग्य माना जाने लगेगा। जब कि 'घट' और 'न'—ये दोनों एकवक्तृक वाक्य के दो अंश हैं और परस्पर विरुद्धार्थ के अभिधायक हैं, तब यहाँ उक्त लक्षण अतिव्याप्त क्यों न होगा ?

कत्वम्, किन्त्वेकदेशकालादौ परस्परविरुद्धार्थयोरस्तित्वम्। न च नास्तीत्यनेन एकदेशकालादौ विधिनिषेधौ वर्तमानौ बोध्येते इति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात्, देशकालाद्यनन्तर्भावे विरोधस्यैवानुपपत्तेः।

किञ्च - यद्येकदेशादौ विरुद्धास्तित्वं प्रामाणिकमभ्युपैषि, तदा विरुद्धशब्दस्तवाग्रमन्य एव सामयिकार्थः कश्चित्, प्रमाणेन तथाभूतस्य ग्रहणादेव विरुद्धत्वाभ्युपगमशान्तेः। अथ प्रामाणिकं तन्नाभ्युपैषि, तदाऽप्रामाणिकं मिथो व्याघातकत्वं क्व नाम नास्तीत्यतिव्याप्तिः।

अथ मन्यसे—यथा परेणाभिधीयेते अर्थौ तथा मिथो व्याघातकाविति ब्रूमः,

---

वेति चोदयति ॐ नेति ॐ। तादृशमपि व्याघातकत्वं किमत्र न स्यादित्यत आह ॐ न चेति ॐ। उक्तं संस्मर्तुमहंसीति परिहरति ॐ नेति ॐ। कथमुक्तोत्तरत्वमित्यत आह ॐ देशेति ॐ। इह भूतले घटो नास्तीत्यस्य वाक्यस्याविरुद्धत्वे घटतदभावयोर्युगपदेव भूतले प्रसङ्गाद्विरुद्धार्थाभिधायकत्वं त्वया तावत्स्वीकृतं विरोधश्च देशाद्यन्तर्भाविणैव भवतीति स्यादेवोक्तदोष इत्यर्थः।

विरुद्धयोरेकदेशकालास्तित्वं व्याघात इत्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानीं तदपि नेत्याह ॐ किञ्चेति ॐ। विरुद्धयोरेकदेशाद्यस्तित्वं प्रमितं न वेति विकल्प्य प्रथममनुवदति ॐ यदीति ॐ। असम्भवेन दूषयति ॐ तदेति ॐ। सहावस्थानस्यैव प्रमितत्वे तयोरविरुद्धत्वेन विरुद्धशब्दः सहावस्थायिन एव वाचकः सामयिकः स्यात्तथा च सहावस्थितयोः सहावस्थानं न स्यादितिव्याघातार्थः स्यादेवं च नानिष्टं किञ्चिदित्यर्थः। कुत इत्यत आह ॐ प्रमाणेनेति ॐ। रूपरसयोरिवेत्यर्थः। द्वितीयमनुभाषते ॐ अथेति ॐ। अतिव्याप्त्या दूषयति ॐ तदेति ॐ। तत्—एकदेशाद्यवस्थानं व्याघातोऽप्रामाणिक इति यत्र व्याघातोद्भावनं तत्र अप्रामाणिकव्याघातोऽस्तीत्युक्तं स्यादेवञ्च न नः किञ्चिच्छिन्नमविरुद्धेऽप्यप्रामाणिकव्याघातसम्भवादतिव्याप्तिश्चेत्यर्थः।

स्वरूपेणाप्रामाणिकस्यापि परपक्षस्य निषेधप्रमाणविषयत्ववत् व्याघातस्य स्वरूपेणाप्रामाणिकत्वेऽपि परोपन्यासोपाधौ प्रामाणिकत्वसम्भव इति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। अनेन हि वाक्येनैकदेशकालानव-

---

शङ्का—उक्त वाक्य में दो विरुद्धार्थक भाग अवश्य हैं, किन्तु इसे लक्षण-घटक व्याघातकत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि दो विरुद्ध अर्थों का एक ही देश, काल और अवस्था में अस्तित्व ही व्याघात माना जाता है। प्रकृत (नेह भूतले घटः) वाक्य के द्वारा घट के 'विधि' और 'निषेध'—दोनों एक देशादिवृत्तित्वेन बोधित नहीं होते, अतः इसमें व्याघातकत्व पर्यवसित नहीं होता।

समाधान—यह कहा जा चुका है कि घट के विधान और निषेध का व्याघात आपको भी मानना पड़ेगा, नहीं तो उक्त वाक्य के द्वारा घट और घटाभाव—दोनों की भूतल में सत्ता अवगमित होगी, जो कि सम्भव नहीं। भावाभाव में देश-कालादि की वृत्तिता का निवेश न कर विरोधित्व का उपपादन ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक देश-कालादि में विरुद्ध अर्थों का अस्तित्व यदि प्रामाणिक माना जाता है, तब यह 'विरुद्ध' शब्द प्रसिद्धार्थक न होकर केवल सांकेतिकार्थक ही रह जाता है, क्योंकि जब दो अर्थों का सहास्तित्व किसी प्रमाण के द्वारा गृहीत हो जाता है, तब उनमें विरोध मानना सम्भव नहीं रह जाता। यदि घट और घटाभाव का विरोध प्रामाणिक नहीं माना जाता, तब अप्रामाणिक व्याघात कहाँ नहीं माना जा सकता? अतः उक्त वाक्य में भी अप्रामाणिक व्याघात मान कर लक्षण की अतिव्याप्ति प्रसक्त कराई जा सकती है।

शङ्का—घट और घटाभावादि का सहास्तित्व स्वरूपतः अप्रामाणिक होने पर भी परोपन्यस्यमानत्वेन प्रामाणिक माना जाता है, अतः वस्तुतः एक देश-कालादि में न

तत्र च प्रमाणं प्रसरत्येवेति। न, कथमपि तत्र प्रमाणप्रसृतौ विरोधभाषापरिभाषामात्रत्वापत्तेः। यथा परेणोक्तोऽर्थस्तथा मिथो व्याघातक इत्यपि क्वचिन्मिथो व्याघातकमर्थमप्रमाय न वक्तुं शक्यम्। प्रसज्यते मिथो व्याघातः, न प्रसाध्यत इति चेन्न, क्वचिदप्यप्रमितस्य प्रसञ्जयितुमपि भवताऽशक्यत्वात्। मा प्रमायि, अप्रमायैव तद्व्यवहार इति चेन्न, क्वचिदप्यप्रमितमाभासमात्रोपस्थितं क्व नाम नोपस्थापयितुं शक्यमित्युक्तैवातिव्याप्तिरावर्तते। अनेकत्र नियतयोरेकत्र प्रसञ्जनमिति चेन्न, प्रसञ्जकस्य

स्थितयोरेकदेशादौ सत्त्वमुपनीतमिति विरुद्धार्थ इत्यर्थः। विरुद्धत्वस्यैवंरूपत्वेऽपि कथं तत्र प्रमाणप्रवृत्तिरित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ। तत्र च तयोः सहावस्थानाप्रमित्याऽपि तयोः सहावस्थानोपनायकत्वं वाक्यस्य प्रतीयत एव तेन विरुद्धयोरेकदेशादावुपनयादित्यर्थः। परिहरति ॐ नेति ॐ। यथा त्वयोपनीताविमौ विरोधिनौ तथैकत्र स्थिताविति तेनाकारेणापि तयोरेकत्र प्रमाणेन ग्रहणाद्विरोधभाषायाः सङ्केतमात्रत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। परेणाभिधीयमानाकारेण व्याघातः साध्यते त्वया किं वा प्रसज्यत इति इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह। ॐ यथेति ॐ। साधनस्य व्याप्तिग्रहणमूलत्वाद्यथा धूमाग्न्योरविनाभावमप्रमाय गिरिशिखरे कृशानुः साधयितुमशक्य एवं व्याघातकत्वमप्यन्यत्र स्वव्याघातवाक्येन सहभावमप्रमाय साधयितुमशक्यमिति प्रामाणिकत्वोपगमे न विरोधोपशान्तिरित्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते ॐ प्रसज्यते इति ॐ। प्रसङ्गस्यापि तद्विशेषस्य व्याप्तिमूलत्वादापाद्यापादकयोरेकत्र प्रमितत्वाभावे न प्रसञ्जनमपि शक्यमिति परिहरति ॐ नेति ॐ। व्याप्तिप्रमा न प्रसङ्गमूलं व्यतिरेकाभावात् किन्तु तज्ज्ञानमतोऽप्रमायापि प्रसङ्गव्यवहार इति शङ्कते ॐ मा प्रमायोति ॐ। प्रमितं मा भूदित्यर्थः। अप्रमितं प्रसज्येतेत्यनुपलम्भस्य प्रसञ्जयितुमशक्यत्वादाभासोपस्थापितं प्रसज्यत इति वक्तव्यमतश्च तादृशं सर्वं प्रसञ्जयितुं शक्यत इत्यतिव्याप्तिरिति परिहरति ॐ क्वचिदपीति ॐ। शङ्कते ॐ अनेकेति ॐ। अत्र—धर्मिणि प्रतिपादितकुम्भभावाभावयोरेकत्रावस्थानेऽपि विरोधोऽन्यत्राप्रमितः परवाक्ये उपपद्यत इति न, येन तदप्रमितिर्दोषाय, किन्तु तद्वाक्यार्थयो-

---

रहनेवाले घट और घटाभाव का एक देश-काल में अस्तित्व वाक्यरूप प्रसञ्जक के बल पर प्रसञ्जित है, अतः विरुद्धार्थत्व कहलाता है।

समाधान—जब कि आपने विरुद्ध अर्थों का एकत्र उपनयन (प्रसञ्जन) किया तब सहावस्थित पदार्थों को विरुद्ध कहना एक परिभाषा मात्र है और आपने जो यह कहा कि 'यथा परेणोक्तोऽर्थः, तथा मिथो व्याघातकः'। यह तभी कहा जा सकता है, जब कि कहीं व्याघातक अर्थों की प्रमा हुई हो, अन्यथा नहीं। 'घट और घटाभाव में व्याघात केवल प्रसञ्जित (आपादित) किया जाता है, किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं किया जाता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जो पदार्थ कहीं किसी प्रमाण के द्वारा प्रमित नहीं होता, उसका प्रसञ्जन भी सम्भव नहीं होता। 'अप्रमित व्याघात के द्वारा ही व्याघात का व्यवहार क्यों न किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि अप्रामाणिक व्याघात का उद्भावन कहाँ नहीं हो सकता ? अतः उक्त वाक्य में अतिव्याप्ति स्थिर रह जाती है। 'अनेक आधारों में रहनेवाले पदार्थों का ही एकत्र प्रसञ्जन होता है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दो विरुद्ध पदार्थों का एकत्र प्रसञ्जन किसी आपादक के विना सम्भव नहीं, अतः यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि उस आपादक के साथ आपाद्यद्वयी का अविनाभाव (व्याप्ति) गृहीत है ? अथवा नहीं ? यदि गृहीत है, तब व्याप्ति-ग्राहक प्रमाण के द्वारा दो विरोधी पदार्थों का सहावस्थान जब प्रमित हो गया, तब उनका सहानवस्थानरूप विरोध कैसा ? और यदि उनका सहावस्थान प्रमित नहीं हुआ, तब आपाद्य और आपादक की व्याप्ति गृहीत न होने के कारण आपादन सम्भव नहीं हो पाता।

शङ्का—घट और घटाभाव का अनेकत्र अवस्थान प्रमित है और एकत्र आपादित किया

तद्द्वयस्यैकत्र स्थितिनियतताप्रमितावविरोधस्यानेवंभावे चाऽनापादकत्वस्याऽऽपत्तेः। एकैकव्याप्याभ्यां पृथक्-पृथक् तद्द्वयापादनमिति चेन्न, एकैकमव्याघातात्। अर्थात् द्वयं स्यादिति चेन्न, अर्थापत्त्यर्थत्वेनैवाव्याघातात्। अर्थादापादनम्, न साधनमिति चेन्न, मिथो विरोधित्वेन तर्काभासत्वापत्तेः, इष्टापादनाच्च। मिथो व्याघातात्

विरोधिनोरन्यत्र प्रत्येकं प्रमितयोरेकत्रावस्थानमात्रमापाद्यत इत्यर्थः। विरुद्धयोरेकत्र परवाक्ये प्रसञ्जनं केनचिदापादकेन विना न सम्भवतीति तदापादकस्यापाद्यद्वयेनाविनाभूतत्वं प्रमितं न वेति विकल्प्य दूषयति ❀ नेति ❀। अविरोधस्यापत्तेरिति सम्बन्धः। व्याप्तिग्राहकप्रमाणेनैव विरोधिनोरेकत्र प्रमिततया विरोधशान्तिरनेवम्भावे—प्रमितत्वाभावे व्याप्तिहीनतया प्रशिथिलमूलत्वेनाभासत्वादनापादकत्वापत्तिरित्यर्थः।

अनेवम्भावे चानापादकमिति यदुक्तं तदयुक्तमिति शङ्कते ❀ एकैकेति ❀। द्वयोरेकत्रावस्थानं प्रमितमन्यत्रापाद्यत इति नेष्यते किन्तु द्वयोः प्रसञ्जकयोर्द्वाभ्यां प्रसञ्ज्याभ्यां प्रत्येकं व्याप्तेरवधारणमस्ति घटतदभावादेरुभयस्य स्वतन्त्रस्य प्रमितत्वादत उभयमुभाभ्यां प्रसञ्जकाभ्यामेकत्र प्रसज्यत इत्यर्थः। विरोधिनोरेकदेशादिसंसर्गो व्याघात एवं सति न सिद्धयेत् द्वयोरेकत्र साधकाभावादिति परिहरति ❀ नेति ❀। उभयव्याप्यादेकैकावस्थाने सामर्थ्यात्तद्व्यापकद्वयमेकत्र स्यादिति व्याघातापत्तिरस्त्येवेति शङ्कते ❀ अर्थादिति ❀। प्रत्येकं द्वयस्यैकत्रापादनानुपपत्त्या तद्द्वयस्यैकत्रावस्थानं साध्यत उत प्रसज्यत इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ नेति ❀। अनुपपत्तेरपि प्रमाणविशेषत्वात्प्रमितस्य च सहावस्थानस्य रूपरसयोरिवाव्याघातत्वमित्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते ❀ अर्थादिति ❀। अर्थात्सहावस्थानमुभयोरापाद्यते न तु साध्यते, न चापादनरूपं ज्ञानं प्रमा तस्याऽऽरोपरूपत्वादतो नोक्तदोष इत्यर्थः। यथा व्यापकद्वयस्यैकधर्मिसम्बन्धो व्याघातो मिथोविरोधात्तथा तद्व्याप्ययोरपि विरुद्धधर्माविनाभूतयोरेकधर्मिनिष्ठत्वेन व्याघातादेव न साधकत्वमाभासत्वादिति परिहरति ❀ नेति ❀। भूतले घटो नास्तीत्यत्र भावाभावयोरेकैकापादनस्येष्टत्वात् तर्काभासतेत्याह ❀ इष्टेति ❀। भावाभावयोरेकधर्मिसम्बन्धस्याऽऽर्थिकस्य व्याघातत्वात्कथमिष्टत्वमिति शङ्कते ❀ व्याघातादिति ❀। विरोधिनोरेकसंसर्गरूपो व्याघात एकधर्मिक अनेकधर्मिको वा? आद्ये परस्परासंस्पर्शाद्विरोधो न स्यादित्येकं बहिरेव दूषयित्वा द्वितीयं प्रत्याह ❀ नेति ❀। व्याघाताश्रयत्वेन भावाभावरूपद्वयस्यैकत्रावस्थानस्येष्टत्वादित्यर्थः। अनेकाश्रयत्वेऽपि व्याघातस्य विरोधः सिद्ध

जाता है—ऐसा नहीं, अपितु दो आपादक पदार्थों का अपने-अपने आपाद्य पदार्थों के साथ अविनाभाव गृहीत होता है। उन दोनों आपादकों के द्वारा एकत्रावस्थान आपादित किया जाता है।

समाधान—जब दो विरोधी पदार्थों का कोई एक साधक नहीं, तब उनकी एकत्र सिद्धि क्योंकर होगी? 'अर्थात् एकत्र सिद्धि पर्यवसित होती है'—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थात् का अर्थ होता है—अर्थापत्तिप्रमाणात्'। यदि दोनों पदार्थों का सहावस्थान अर्थापत्ति से सिद्ध होता है, तब दोनों में व्याघात नहीं रह जाता।

शङ्का—किसी प्रमाण के द्वारा वस्तु का साधन प्रमात्मक ही होता हैं, किन्तु प्रमाण से आपादन प्रामात्मक न हो कर आहार्यात्मक ही होता है, पदार्थ-द्वय का सहावस्थान अर्थापत्ति के द्वारा आपादित होता है, सिद्ध नहीं किया जाता, अतः आरोपित दो पदार्थों में विरोध बना रहता है, शान्त नहीं होता।

समाधान—जब किसी प्रमाण के द्वारा किसी पदार्थ का आरोप किया जाता है, तब उस प्रमाण को तर्क कहा जाता है, तर्क में व्याप्यारोप के द्वारा अनिष्ट व्यापक का आरोप होता है, किन्तु जिस तर्क के द्वारा अनिष्टापादन नहीं होता, उसे तर्काभास कहा जाता है। प्रकृत में अविरुद्धरूपसे घट और घटाभाव का आरोप अनिष्ट है, अतः उन का आपादक तर्काभास ही कहलाएगा। 'कथित दोनों धर्मों का व्याघात होने के कारण उन दोनों के

कथं तथा स्यादिति चेन्न, तद्द्वयधर्मिकत्वात् व्याघातापत्तेर्धर्मिणि प्रमापेक्षायामव्याघातात् ।

४. प्रतिबन्दीलक्षणखण्डनम्

एवमादीनां दोषाणां परं प्रत्यभिधाने तवापि सर्वमिदं सुवचमिति चेन्न, तवाप्यन्यत्र दोषो मयाऽऽपाद्यत इति प्रतिबन्दीं गृह्णतः किं परपक्षे दोषापादनमात्रं विवक्षितम्, उत यस्त्वया तत्र समाधिरभिधेयः, स मयाऽपीत्यभिप्रायात् स्वपक्षे समाधिः ? न तावदाद्यः, अप्रस्तुतत्वात् परोक्तदोषानुद्धारे तावतैव कथायास्तदर्धस्य वा पर्यवसानात्, निग्रहापरिहारावधित्वात्तयोः ।

इत्यत आह ❀ धर्मिणीति ❀ । विरोधाधिकरणे धर्मिणि प्रमाणं नास्ति चेदप्रामाणिकधर्मिनिष्ठव्याघातासिद्धिरस्ति चेत्प्रमितत्वेन धर्मिद्वयस्यैकत्र सकृत् प्रमितस्य प्रमितत्वमेवेष्टमित्यर्थः ।

उक्तदोषैस्त्वयाऽपि व्याघातखण्डनं क्रियते खण्डनं च प्रतिषेधः, स च विरोधासिद्धौ न सिद्ध्येत्, विरोधश्चोदीरितरीत्या दुःस्थ इति तवाऽपि तुल्यमिति प्रतिबन्दीग्रहेण शङ्कते ❀ एवमिति ❀ । प्रतिबन्दीमेव खण्डयितुं तत्कर्तुरभिप्रायं पृच्छति ❀ न तवेत्यादिना ❀ । दोषसामान्यं विवक्षितमुत परिहारसाम्यमिति विकल्पार्थः । कस्मिन् सति किं स्यादित्यत आह ❀ नेति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ अप्रस्तुतेति ❀ । अर्थान्तरं निग्रह इत्यर्थः । उक्तार्थनिर्वाहार्थत्वान्नार्थान्तरतेत्यत आह ❀ परेति ❀ । जल्पस्य वितण्डाद्वयशरीरत्वात्तथात्वं वितण्डायास्तदर्द्धत्वं तयोः परोक्तदोषानुद्धारे पर्यवसानं, वादस्यापि तत्त्वनिर्णयप्रतिबन्धकनिग्रहोद्भावने तदपरिवृत्य प्रतिबन्दिग्रहे पर्यवसानमित्यपि द्रष्टव्यम् । कुत इत्यत आह ❀ निग्रहेति ❀ । तयोः—कथातदर्द्धयोरित्यर्थः ।

आपादन में इष्टापत्ति क्योंकर होगी ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विरोधी साध्यों की एक धर्मी में सिद्धि अनिष्ट और विभिन्न धर्मियों में सिद्धि इष्ट होती है । प्रमाण से साधित दो धर्मों की प्रमा मानने पर विरौध नहीं रहता, किन्तु भ्रमात्मक आरोपमात्र से व्याघात निवृत्त नहीं होता ।

४. प्रतिवन्दी-लक्षण-खण्डन

शङ्का—जैसे नैयायिक के द्वारा उद्भावित प्रतिज्ञाहान्यादि का आप (खाण्डनिक) खण्डन कर रहे हैं, वैसे ही आप के द्वारा उद्भावित प्रतिज्ञाहान्यादि का खण्डन नैयायिक भी कर सकता है ।

समाधान—अपने पर उद्भावित दोष का दूसरे पर उद्भावन प्रतिवन्दी उत्तर कहलाता है । प्रतिवन्दी-ग्रह करनेवाले वादी से पूछा जा सकता है कि उस प्रतिवन्दी के द्वारा परकीय पक्ष में केवल दोषापादन करना चाहता है ? अथवा प्रतिवादी के द्वारा प्रदत्त समाधान के समान ही अपना समाधान प्रस्तुत करना चाहता है ? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि जिस समय वादी प्रतिवन्दी का ग्रहण कर रहा है, वह समय प्रतिवादी पर दोष देने का नहीं, अपितु अपने दोषों के उद्धार (निवारण) का होता है । उस समय प्रतिवन्दी के द्वारा दोषोद्भावन करना 'अप्राप्तकाल' (अनवसर-चर्चा) नामक निग्रहस्थान से निगृहीत होना है । इतना ही नहीं जब वादी अपने पक्ष के उदभावित दोषों का परिहार नहीं करता तभी वह पराजित मान लिया जाता है और वितण्डात्मक कथा की समाप्ति मान ली जाती है और जल्प एवं वादरूप कथा का अर्ध भाग (परपक्ष-दूषण) पूरा होकर स्वपक्ष-साधनरूप

द्वितीये तु स एवाभिधीयताम्, का नो हानिः ? भवांस्तावदभिधत्तां कस्तत्र समाधिः, ततो मयाप्यभिधेय इति चेन्न, मया तदभिधानस्य साम्प्रतमप्रस्तुतत्वात्। न हि मया स्वपक्षसाधनं त्वया च तद्दूषणं प्रकृते वक्तुमारब्धमस्ति। किन्तु त्वया स्वपक्षो निर्वाह्यः, तद्दूषणञ्च मयाऽभिधानीयमिति कथा प्रस्तुता वर्तते। ईदृशि च कथाविभागे मत्पक्षसमाधानाय मां पर्यनुयोक्तुं भवतः कुतोऽधिकारः ?

अथ विशेषतस्तन्निष्टङ्कने किं प्रयोजनम्, अस्ति तावदेतादृशि चोद्ये परिहारो यतस्त्वयाऽपि स्वपक्षेऽस स्वीकार्य इत्याशयस्ते। सोऽपि न युक्तः, न हि मत्पक्षे चेत्समाधिरस्ति तावता त्वत्पक्षेऽपि तेन भवितव्यमित्यत्र किञ्चिदपि प्रमाणमस्ति। साम्यादेवमिति चेन्न, वैषम्यस्यावश्याभ्युपेयत्वात्। यदि तद्गतमसाधारणं स्वरूप-

---

परिहारसाम्यं विवक्षितमिति द्वितीयकल्पं दूषयति ❀ द्वितीय इति ❀। स एव—परिहार एव। परिहाराभिधाने मम निग्रहविमोक इत्यत आह ❀ केति ❀। त्वत्पक्षे उद्भावितानां दोषाणां त्वया यः समाधिरभिधेयः स एव मयाऽपीति प्रथमं भवाँस्तं समभिधत्तां ततोऽहमभिदध इति शङ्कते ❀ भवाँस्ताव-दिति ❀। परिहाराभिधानकालोऽयं न भवति ममातो नाभिधीयते इति परिहरति ❀ नेति ❀। मया दूषणेऽभिधीयमाने तवाऽपि परिहारोचितकालोऽयमेवेत्यत आह ❀ न हीति ❀। किं तर्हि प्रकृतं वर्तत इत्यत आह ❀ किन्त्विति ❀। वितण्डायाः स्वपक्षस्थापनाहीनत्वात्तत्र प्रतिबन्द्युद्भावनाऽसम्भव इतरत्रापि स्वपक्षसाधनं मया कार्यं त्वया च तद्दूष्यमिति नियमेन कथानारम्भणादन्यथा कथान्तरं स्यादित्यर्थः। अत एव तदभिप्रायेण प्रतिबन्दीं गृह्णतो निरनुयोज्यानुयोगनिग्रहः स्यादिति फलितमाह ❀ ईदृशीति ❀।

त्वया मत्पक्षे ये दोषा उद्भावितास्तेषां परिहारोऽस्त्येव, न च नायमसाविति विशेषतो वक्तव्यस्तत्र प्रयोजनाभावादिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। निष्टङ्कने—निर्णय इति यावत्। विशेषतो निर्णयाभावे स परिहार एव न स्यादित्यत आह ❀ अस्तीति ❀। तदस्तित्वे लिङ्गमाह ❀ यत इति ❀। मत्पक्षे परिहार-सत्त्वे त्वत्पक्षेऽपि भविष्यतीत्येतत् प्रमाणाभावादयुक्तमिति परिहरति ❀ सोऽपीति ❀। प्रमाणाभावोऽसिद्धोऽनुमानस्यैव भावादिति शङ्कते ❀ साम्यादिति ❀। मत्पक्षदोषाः परिहारवन्त एतद्दोषत्वात् त्वत्पक्ष-दोषवदित्यर्थः। पक्षानुकूलविपक्षप्रतिकूलतर्काभावादप्रयोजक इति परिहरति ❀ नेति ❀। दोषसामान्यमेव

द्वितीयार्ध शेष रह जाता है। कथा या कथार्ध भाग—इन दोनों की अन्तिम सीमा निग्रहा-परिहार (दोषानुद्धार) है।

यदि समान समाधान करना चाहता है, तब वह करे, उससे हमारी (खाण्डनिक की) क्या हानि ? यदि वादी खाण्डनिक से कहता है कि 'पहले आप (खाण्डनिक) अपना समाधान प्रस्तुत करें, तब उसके समान समाधान मैं भी प्रस्तुत करूँगा।' तो वैसा कहना संगत नहीं, क्योंकि हमारे (वितण्डावादी खाण्डनिक का) वह कर्त्तव्य या दायित्व ही नहीं, क्योंकि आरंभ में हम लोगों के मध्य में यही समय-बन्ध हुआ है कि आप (नैयायिक) को अपने पक्ष का निर्वाह (समर्थन) करना और हमारा (खाण्डनिक का) काम केवल उसका खण्डन करना है। ऐसी वितण्डात्मक कथा में हम (वैतण्डिक) का स्वपक्ष-साधन के लिये उद्युक्त करने का आपको क्या अधिकार ?

यदि आप (नैयायिक) का यह आशय हो कि आप (खाण्डनिक) के द्वारा उद्भावित दोषों का परिहार अवश्य है, जो कि आपको भी सम्मत है, हाँ, विशेषतः उसके उल्लेख का कोई प्रयोजन नहीं।' तब वह आशय भी आप (नैयायिक) का युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि हमारे पक्ष का समाधान होने से ही आप (नैयायिकों) के पक्ष का समाधान होगा—इसमें कोई प्रमाण नहीं। दोनों के पक्षों की समानता के आधार पर भी समान समाधान का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों पक्षों और समाधानों का वैषम्य भी अवश्य मानना होगा, क्योंकि

मादाय मद्दर्शनं प्रतितन्त्रसिद्धान्तं वा तत्र समाधिः स्यात्। अत्र च त्वत्पक्षे तदभावान्न स्यात्। तथा सति साम्यमात्रात्कथं समाधिरसावत्रापीति निश्चेतुं शक्यते। कोऽसौ तत्र विशेष इति चेन्न, मया साम्प्रतं तदभिधानस्याप्रस्तुतत्वमित्युक्तत्वात्। चोद्य-साम्यात् समाधिसाम्यमिति चेन्न, दूष्यगतविशेषभावाभावविशेषितत्वादिनापि तद्वैषम्यसम्भवात्। यथा—सद्व्यवहारस्य सत्तास्वीकारकत्वे तुल्येऽपि सत्तायां तद-भ्युपगमेऽनवस्थया तदाश्रये च तदभावेन। एवमन्यत्रापि बहुलं दर्शनादिति।

किञ्च—परोद्भावितमसिद्ध्यादिकमपरिहृत्य प्रतिबन्द्या प्रत्यवतिष्ठमानस्य कोऽभिप्रायः, 'किं यदिदं दोषतया परेणोद्भावितं तददूषणम्, अदूष्येऽपि गतत्वात्?

विपक्षे न स्यादित्यत आह ❀ यदीति ❀। समाधेयव्यक्तिगतविशेषरूपाश्रयेण मद्दर्शनप्रतितन्त्रसिद्धान्ताश्रयेण वा परिहारवैषम्यं सम्भवति यथा सत्तायोगितया सद्व्यवहारगोचरता पृथिव्यादीनां सत्तायाः स्वभाव-भेदादेव तथात्वं तथा निरवयवस्य जगदारम्भकत्वे प्रचयानुपपत्तिरिति निगदितमवद्यं तार्किकैरपरिहार्य-मपि मायावादावष्टम्भेनोपनिषदैः स्वसिद्धान्तप्रतितन्त्रसिद्धान्ताश्रयेण परिह्रियते तद्वदित्यर्थः। फलितमाह ❀ तथा सतीति ❀। त्वत्पक्षेऽपि परिहारोपयोगिनः सतो विशेषस्य निर्वचनापत्तिरिति शङ्कते ❀ कोऽसा-विति ❀। अर्थान्तरनिग्रहप्रसञ्जनेन परिहरति ❀ नेति ❀।

त्वत्पक्षे यः समाधिः स एवाऽत्रापीति न मया साध्यते किन्तु तत्समान इति, ततः स्वरूपविशेषावि-सम्भवेऽपि न कश्चिद् विरोध इति शङ्कते ❀ चोद्येति ❀। दोषस्यैकजातीयत्वेऽपि दूष्यगतविशेषमादाय समाधेर्विजातीयत्वसम्भव इति परिहरति ❀ नेति ❀। दूष्यवस्तुगतविशेषस्य भावाभावाभ्यां समाधेर्विशेषि-तत्वेन वैषम्यसम्भवादिति योजना। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन साधयति ❀ यथेति ❀। सद्व्यवहारः सत्ताजाति-स्वीकारमूलं तस्य सत्तायां द्रव्यादौ च तुल्यत्वेन सत्तायामपि सत्तान्तरप्रसञ्जने सत्तायां तदभ्युपगमेऽपरि-हारोऽनवस्थापातस्तदाश्रये द्रव्यादौ चाऽनवस्थाभावेन सत्तास्वीकार इति परिहारवैषम्यं चोद्यसाम्येऽपी-त्यर्थः। समवायातिरिक्ता भावाः समवायिन इति तार्किकपक्षे भावत्वसाम्येऽपि समवायस्य न समवाया-न्तरमनवस्थानादित्याद्युदाहरणीयमित्याह ❀ एवमिति ❀।

प्रकारान्तरेणाऽपि प्रतिबन्दीखण्डनाय प्रक्रमते ❀किञ्चेति❀। अभिप्रायमेव प्रकटयति ❀किमिति❀।

समाधेयगत असाधारणरूप को लेकर जो हमारा पक्ष या प्रतितन्त्रसिद्धान्त होगा, वह आपके पक्ष में सम्भव नहीं, अतः यत्किञ्चित् साम्यमात्र के आधार पर समान समाधान का निश्चय क्योंकर हो सकेगा? (प्रतितन्त्रसिद्धान्त का लक्षण न्यायसूत्रकार ने किया है—"समानतन्त्र-सिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः" (न्या. सू. १।१।२९)। प्रत्येक दर्शन की अपनी विशिष्ट मान्यताओं को प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहा जाता है, जैसे सांख्य का प्रकृति-परिणामवाद। दूसरे दर्शनों में उसकी समानता सम्भव नहीं।] वह विशेषता क्या है? यह प्रश्न अनवसर-ग्रस्त है, क्योंकि विशेषता न तो प्रस्तुत है और न उसके प्रदर्शन का कोई प्रसङ्ग—वह पहले ही कहा जा चुका है।

आक्षेप की समानता से भी समाधान का साम्य सम्भव नहीं, क्योंकि दूषणीय पदार्थगत भावाभाव की विशेषता को लेकर भी समाधानगत वैषम्य हो सकता है। जैसे कि 'सत्–सत्'— इस प्रकार का व्यवहार समानरूप से 'सत्ता' जाति का साधक होता है, किन्तु 'सत्ता सती'— इस प्रकार सद्व्यवहार के द्वारा सत्ता में सत्ता मानने पर अनवस्था होती है, अतः सत्ता में सत्ता न मानकर उस (सत्ता) के आश्रयीभूत द्रव्यादि पदार्थों में ही अनवस्था का अभाव होने के कारण सत्ता मानी जाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी विविध उत्सर्ग और अपवादों की बहुलता उपलब्ध होती है।

दूसरी बात यह भी है कि अपने पक्ष में प्रतिवादी के द्वारा उद्भावित असिद्ध्यादि

उत दूषणमपि सन्नोद्भावनीयं तुल्ययोगक्षेमत्वात् ?' यथाऽऽहुः—'यत्रोभयोरि'त्यादि। नाद्यः, यद्यत्रासिद्ध्यादिलक्षणमस्ति उद्भाविते दूषणे तदा दोषत्वस्याशक्यपरिहारत्वात्, परिहारेऽपि वा तस्यालक्षणत्वप्रसङ्गात्। यद्येतद् दूषणं कथं तर्ह्यदूष्यत्वेन वादिनाऽङ्गीकृतेऽपि प्रतिबन्दीस्थाने गतमिति चेत्, यद्येतददूषणं कथं दोषलक्षणोपपन्नमित्यत्रापि दीयतां दृष्टिः। नियामकाभावे तर्ह्येतदीयदूषणत्वे सन्देहः पर्यवसित इति चेत्, अस्तु दोषत्वसन्देहेऽपि भवदीयसाधनस्यासाधकत्वात् सन्दिग्धासिद्धवत्।

किञ्च—यल्लक्षणवतोऽस्य दोषत्वसन्देहस्तल्लक्षणक एवायमन्यत्रापीति तत्राप्य-

मत्पक्षे यत् त्वयोद्भावितं दूषणत्वेन, तत् दूषणमेव न भवति, दोषहीनेऽपि त्वत्पक्षे गतत्वादिति प्रथमकल्पार्थः। दूषणमपि नोद्भावनीयं, वादिप्रतिवादिनोः समानयोगक्षेमत्वादिति द्वितीयार्थः। उत्तरपक्षेऽभियुक्तवचनं प्रमाणमाह ❀ यथेति ❀।

"यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यः तादृगर्थविचारणे॥"

इति पक्षद्वयसाधारणस्य दोषस्यानुद्भावनत्वं भट्टपादैर्दर्शितमित्यर्थः। प्रथमकल्पं पराकरोति ❀ नेति ❀। यन्मयोद्भावितं दूषणं तत्रासिद्ध्यादिलक्षणं किमस्त्युतास्ति, नास्ति चेत्तल्लक्षणहीनतयैव परिह्रियतां किं प्रतिबन्दीग्रहणेन, द्वितीये न दोषत्वपरिहारस्तल्लक्षणलक्षितत्वादित्यर्थः। विपर्यये बाधमभिधत्ते ❀ परिहार इति ❀। अलक्ष्यगतत्वेन लक्षणमतिव्यापकं स्यादित्यर्थः। दोषलक्षणलक्षितत्वेऽपि न तस्य दोषत्वमदूष्यत्वेनाऽङ्गीकृतप्रतिबन्दीस्थानेऽपि गतत्वादिति शङ्कते ❀ यद्येति ❀। यथाऽदुष्टपक्षगमनानुपपत्त्या दोषत्वाभावस्तथा दोषलक्षणवत्त्वाऽनुपपत्त्या दोषत्वेन किं न रूपणं क्रियत इति परिहरति ❀ यदीति ❀। तर्हि विरुद्धधर्मद्वयाऽविनाभूतया तद्दोषत्वस्याऽप्यनिश्चितत्वाद्दोषत्वेन तदुद्भावनं तवाप्यशक्यमिति शङ्कते ❀ नियामकेति ❀। दोषत्वसन्देहम् आपादितमङ्गीकृत्यापि परिहरति ❀ अस्त्विति ❀। सन्दिग्धदोषत्वेनाप्युद्भाव्यमानं प्रकृतसाधनं निरुणद्धीत्यत्रोदाहरणमाह ❀सन्दिग्धेति❀। प्रतिबन्दी प्रतिबन्द्यैव खण्डयितुं शक्यत इत्यभिप्रेत्याह ❀ किञ्चेति ❀। अक्षरं स्पष्टम्।

दोषों का परिहार न करके प्रतिवन्दी की शैली अपनानेवाले वादी का अभिप्राय क्या यह है कि (१) प्रतिवादी के द्वारा उद्भावित दोष दोषपदास्पद ही नहीं, क्योंकि हमारे अदूष्य-जैसे पक्ष में भी प्रवृत्त हो गये हैं ? अथवा दोष होने पर भी हमारे पक्ष में उद्भावनीय नहीं, क्योंकि प्रतिवादी के पक्ष में भी इनका आपादन और निवारण समान है, श्री कुमारिलभट्ट करते हैं—

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यः तादृगर्थविचारणे॥ (श्लो. वा. पृ. ३४१)

प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि यदि प्रतिवादी-द्वारा उद्भावित दोषों में असिद्ध्यादि का लक्षण घट जाता है, तब उनमें दोषत्व का निराकरण नहीं किया जा सकता। यदि प्रतिबन्दी के द्वारा ही उनमें दोषत्व का परिहार हो जाता है, तब असिद्ध्यादि के लक्षणों में अलक्षणत्व प्रसक्त होता है। 'यदि वह दोष है, तब दूष्य स्थान पर ही रहना चाहिए, वादी के द्वारा अदूष्यत्वेन स्वीकृत प्रतिबन्दी स्थान में क्यों गया ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए इस प्रश्न पर ध्यान देना आवश्यक है कि 'यदि ये दोष नहीं, तब असिद्ध्यादि दोषों के लक्षणों से उपपन्न क्यों हैं ? 'दोषत्व-निर्णायक के अभाव में यह सन्देह रह जाता है कि ये दोष हैं ? या नहीं ? अतः इनका उद्भावन क्योंकर हो सकेगा ?' इस प्रश्न के उत्तर में इतना कह देना पर्याप्त है कि जैसे सन्दिग्ध असिद्धि दोष के उद्भावन से भी हेतु में साध्य-साधकता शक्ति कुण्ठित हो जाती है, ऐसे ही दोषत्व का सन्देह रहने पर भी इनका उद्भावन हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि जिस लक्षण के योग से इनमें दोषत्व का सन्देह होता है, उसी

सिद्ध्यादेरदूषणत्वमेव स्यादितीयं प्रतिबन्दी दुरुत्तरा प्रतिवादिनेति।

नापि द्वितीयः, तथा हि—उभयवादिसम्मतादूष्यत्वं धूमानुमानादिकं यदि प्रतिबन्दीकरोति परस्तदा तद्दर्शनेऽन्यत्र क्वचिदप्येतदसिद्ध्यादिकं नोद्भावनीयम्, परसाधनेषु तस्यैव धूमानुमानादेः प्रतिबन्द्या भयादित्येषा मयाऽपि सुग्रहेव तं प्रति प्रतिबन्दी। अत्रापि शक्यत एव पठितुम्—'यत्रोभयोः समो दोषः' इत्यादि।

अथ यं विशेषमादाय प्रतिबन्दी स्यात् तन्मात्रस्यानुद्भावनम्, न तु सामान्यत एवेति चेन्न, तत्र विशेषे प्रतिबन्द्या त्याजितदुष्टत्वे गतत्वात्तल्लक्षणमेव नेति स्यात्।

दूषणमपि सन्नोद्भावनीयं तुल्ययोगक्षेमत्वादिति द्वितीयं दूषयति ꙮ नापीति ꙮ। तदेवोपपादयति ꙮ तथा हीति ꙮ। उभयवादिनोः संमतमदूष्यत्वं यत्र तत्तथोक्तं वर्णा अनित्याः श्रावणत्वात् ध्वनिवदित्युक्त उपान्त्याविभागेऽसिद्धिः सामान्ये वानैकान्तिक इति मीमांसकेनोक्ते यदि परो ब्रूयाद् धूमानुमानेऽपि तुल्यमेतदाकाशेऽनैकान्त्याद् धूमयोगित्वस्य काष्ठप्रयुक्तप्रदेशमात्र एव भावाच्चेति तदा तद्दर्शनेनान्यत्रापि शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वादित्यादावपि तत्रोद्भावनीयं स्यादितीयमपि प्रतिबन्दी मयापि प्रतिबन्दीवादिनं प्रति सुग्रहैवेत्यर्थः। कथं श्लोकोक्तन्यायसाम्याऽभावे तद्ग्रह इत्यत आह ꙮ अत्रापीति ꙮ। एवंविधासिद्ध्यादि नोद्भावनीयं त्वत्पक्षेऽपि गतत्वादिति।

यमसिद्ध्यादेः प्रकारविशेषमादाय प्रतिबन्दीप्रवृत्तिस्तद्दोषविशेषविशिष्टस्यैवानुद्भावनं न तु दोषमात्रस्येति शङ्कते ꙮ अथेति ꙮ। एवं तर्हि लक्षणमसिद्ध्यादेरतिव्यापकं स्यादिति दूषयति ꙮ नेति ꙮ। यो विशेषः प्रतिबन्द्या त्याजितदोषस्तस्मिन्विशेष इदं लक्षणमस्ति न वा ? यदि न, तदाऽस्य दोषत्वेन

लक्षण से युक्त यह असिद्धि भी है, अतः सन्दिग्ध असिद्धि में भी दूषणत्व नहीं रहेगा ? इस प्रकार की प्रतिबन्दी का प्रतिवादी के पास कोई उत्तर नहीं।

द्वितीय (समानरूपता के कारण अनुद्भाव्यता) कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि [प्रतिबन्दी के भय से यदि समानपक्षता समझकर दोषोद्भावन वर्जित हो जाता है, तब कहीं भी दोषों का उद्भावन न हो सकेगा, जैसे] कोई वादी प्रयोग करता है—'वर्णा अनित्याः, श्रावणत्वाद्, ध्वनिवत्'। वहाँ पर मीमांसक उपान्त्य शब्द में श्रावणत्व की असिद्धि और शब्दत्वरूप जाति में श्रावणत्व के साथ अनित्यत्व का व्यभिचार उद्भावित करता है। वहाँ पर स्थापनवादी (नैयायिक) उभय-सम्मत अदूष्यरूप धूमानुमान को प्रतिबन्दी बनाकर कहता है कि यदि 'शब्दोऽनित्यः, श्रावणत्वात्'—इस नैयायिक के अनुमान में असिद्ध्यादि दोषों का उद्भावन किया जाता है, तब 'पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्'—इस उभयमत-सम्मत सदनुमान में भी असिद्धि और व्यभिचार का उद्भावन हो जायगा, क्योंकि पर्वत के जिस प्रदेश में अग्नि के साथ आर्द्र इन्धन का संयोग नहीं, वहाँ धूम असिद्ध है और ऊँचे गगन में लहराता धूम वह्नि-व्यभिचरित है। अतः श्रावणत्वानुमान में भी असिद्ध्यादि उद्भावनीय नहीं, क्योंकि श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—"यत्रोभयोः समो दोषः"। नैयायिक-द्वारा प्रदर्शित इस प्रतिबन्दी के द्वारा जैसे उभयमत-सम्मत सदनुमान की अनुपपन्नता का भय दिखाकर शब्दानित्यत्वानुमान में असिद्ध्यादि की अनुद्भाव्यता सिद्ध की गई। वैसे ही मीमांसक भी इसी अनुपपन्नता का भय दिखाकर "शब्दो नित्यः"—इस अपने अनुमान में भी सभी असिद्ध्यादि दोषों की अनुद्भाव्यता सिद्ध करता हुआ कह सकता है—"यत्रोभयोः समो दोषः"।

शङ्का—वादी अपने पक्ष में उद्भावित जिन असिद्ध्यादि दोषों में प्रतिबन्दी के द्वारा दोषत्व समाप्त कर देता है, उन्हीं (प्रतिबन्दी-विशिष्ट) दोषों को अनुद्भावनीय मानना चाहिए, सामान्यतः सभी प्रकार के असिद्ध्यादि दोषों का अनुद्भावन क्यों प्रसक्त होगा ?

समाधान—प्रतिबन्दी-विशिष्ट असिद्ध्यादि दोषों में असिद्ध्यादि का लक्षण घटता

विशिष्य तद्विशेषत्याजने च तादृशस्य लक्षणस्यासिद्धिरेव स्यादिति कृतं प्रतिबन्द्या? अथ मद्दर्शनमात्राभ्युपगतादूष्यत्वं कञ्चित्पदार्थं प्रतिवन्दीकरोति तदैतदुक्तं तेन स्यात् इह नेदं दूषणं वक्तव्यमित्यभिधानेऽनयैव युक्त्या तवेष्टभङ्गप्रसङ्गादिति। तन्न, इदमिह दूषणं वक्तव्यम्, अनभिधानेऽस्यैवानिष्टस्य परसिषाधयिषितस्य सिद्धिप्रसङ्गादित्यभिधानानुकूलाया अपि प्रतिबन्द्याः सम्भवात्।

नन्वेवमेवास्तु, तथाचाभिधानेऽनभिधाने चोभयतःपाशा प्रतिबन्दीरज्जुर्भवत

क्वचिदप्युद्भावनन्नास्ति चेददोषेऽपि गतत्वादतिव्यापकमित्यर्थः। दुष्टत्वं दोषत्वमसिद्धयादेः सामान्यलक्षणे प्रथमत एव तादृशं विशेषणमादेयं यथा प्रतिबन्द्या त्याजितदुष्टत्वे विशेषेऽसिद्धयादिलक्षणं न गच्छेदित्याशङ्कयाह ※ विशिष्येति ※। प्रतिबन्द्या त्याजितदुष्टत्वाद्यन्यत्वे सतीति लक्षणं विशेष्यं तद्विशेषातिव्याप्तिपरिहारे चाक्षुषहेतावसिद्धयादिलक्षणाभाव एव वक्तव्यः कुतः प्रतिबन्द्या अवसर इत्यर्थः। उभयसम्मतादूष्यत्वं धूमानुमानादिप्रतिवन्दीकरणे दूषणमुक्त्वा प्रकारान्तरेण प्रतिबन्दीग्रहस्य सार्थक्यमाशङ्कते ※ अथेति ※। विमतं मिथ्या दृश्यत्वादित्यत्र विषयविषयिभावसम्बन्धानङ्गीकारे दृश्यत्वासिद्धिः दृग्विषयस्य दृश्यत्वादित्येवंरूपेणेत्यर्थः। किं वाऽत इत्यत आह ※ तदेति ※। तदा ते–तव कृतं प्रतिबन्द्येत्येतदुक्तं स्यादित्यर्थः। तामेव प्रतिबन्दीमभिनयेन दर्शयति ※ इहेति ※। विषयविषयिभावस्य व्यतिरेकाव्यतिरेकप्रयुक्तदूषणं न वक्तव्यं तदभिधाने तयैव नीत्या त्वदभिप्रेतदृश्यत्वभङ्गप्रसङ्गादितियावत्। विषयविषयिभावान्तर्भावनिमित्तं दूषणमभिधानीयं तदनभिधाने परसिषाधयिषितस्य ममानिष्टस्य विषयविषयिभावस्य सिद्धिप्रसङ्गादिति दूषणाभिधानानुकूला प्रतिबन्द्यपि सम्भवेदिति परिहरति ※ तन्नेति ※।

प्रतिबन्दीं कुर्वतः प्रतिबन्दी सदुत्तरं न भवतीति प्रतिज्ञाहानिः स्यादिति चोदयति ※ नन्विति ※। किमितो यद्येवमित्यत आह ※ तथा चेति ※। दूषणाभिधाने प्रतिबन्दीस्थाने इष्टस्य भङ्गः स्यादनभिधाने च परसिषाधयिषितस्यानिष्टस्य प्रसङ्गः स्यादत उभयतः पाशेत्यर्थः। यद्वा प्रतिबन्द्या अभिधाने प्रतिज्ञा-

---

है? या नहीं? यदि घटता है, तब अतिव्याप्त समझा जायगा, क्योंकि जब प्रतिबन्दी के द्वारा उनमें दोषभाव (दोषत्व) ही समाप्त हो जाता है, तब वे दोष ही नहीं रहे, दोष-लक्षण के अलक्ष्य वन गये। इस अतिव्याप्ति को हटाने के लिये यदि असिद्धयादि के लक्षण में (प्रतिबन्दी-विशिष्ट-भिन्नत्वे सति) ऐसा विशेषण दिया जाता है। तब वहाँ लक्षण के अभाव में असिद्धयादि निरनुयोज्य हो जाते हैं, अतः निरनुयोज्यानुयोग का उद्‌भावन करना चाहिये, प्रतिवन्दी की क्या आवश्यकता?

शङ्का—असिद्धयादि दोषोद्‌भावन के द्वारा प्रतिबन्दी का उद्‌भावन गतार्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ केवल खाण्डनिक के अनिर्वचनीयतावाद में अदूष्यत्वेन स्वीकृत साधन को प्रतिबन्दी बनाया जाता है, वहाँ प्रतिबन्दी का सार्थक्य निश्चित है, जैसे कि नैयायिक कहता है—'प्रपञ्चः परमार्थः, व्यवहारसाधकत्वात्'। वहाँ अनिर्वचनीयतावादी असिद्धयादि का उद्‌भावन करता है, तब नैयायिक प्रतिबन्दी का प्रयोग करता है - 'इह (न्यायमते) नेदं दूषणं वक्तव्यमन्यथा अनयैव युक्त्या तवेष्टभङ्गप्रसङ्गः स्यात्'। ऐसे स्थल पर नैयायिक को उसके पक्ष में दोषानुद्‌भावन मात्र विवक्षित है, अन्यथा वेदान्त का 'प्रपञ्चो मिथ्या, व्यवहारसाधकत्वात्'—यह अभीष्ट सिद्ध न हो सकेगा।

समाधान—वहाँ नैयायिक को अवश्य यह कहना पड़ेगा कि 'इदमिह दूषणं वक्तव्यम्, अन्यथा (दूषणानभिधाने) तवानिष्टस्य सिद्धिप्रसङ्गात्'। इस प्रकार दूषणाभिधान-प्रयोजिका प्रतिबन्दी भी सम्भव है। अभिधीयमान दोष से प्रतिबन्दी गतार्थ हो जाती है।

शङ्का—मान लेते हैं-दोषाभिधान का प्रसङ्ग तथापि उभयतःपाशा प्रतिबन्दी का सफल प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि दोनों के अनुमानों में साधन (व्यवहारसाधकत्व) एक ही

एव दुर्निवारा स्यात्। मैवम्, मिथो विरुद्धायाः प्रतिबन्द्यास्तर्काभासत्वात्, मिथो विरुद्धत्वस्य तर्कदूषणत्वात्। सत्प्रतिपक्षानुमानवद् द्वयोरपि परस्परप्रतिक्षेपेणैव उपक्षीणत्वादिति। न्यायद्वितीयाध्यायप्रथमाह्निकसूत्रे च 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' इत्यत्र आपादितदृष्टान्ताभावलक्षणदोषसाम्येन प्रत्यवस्थितं पूर्वपक्षवादिनं निराकर्तुमाचार्यः 'समानमित्यनुत्तरमभ्युपगमात्, अभ्युपगतं तावद् भवता नास्मत्पक्षे दृष्टान्तोऽ-

हानिरनभिधाने प्रतिबन्द्या असदुत्तरत्वमित्युभयतःपाशेत्यर्थः। सदुत्तरत्वाच्च प्रतिज्ञाहानिरिति परिहरति ॐ मैवमिति ॐ। भवत्सिद्धान्ते प्रतिबन्द्यास्तर्कविशेषत्वेन मिथो विरोधादाभासत्वमिति यावत्। तदेव कुत इत्यत आह ॐ मिथ इति ॐ। व्याप्त्यभावाविवत् मिथो विरोधोऽपि तर्कदूषणमित्यर्थः। मिथो विरुद्धस्य दूषणत्वे दृष्टान्तमाह ॐ सदिति ॐ। तदेव कुत इत्यत आह ॐ द्वयोरपीति ॐ। इतरेतरसाध्यप्रमितिप्रतिबन्धकतया स्वसाध्यप्रमितिहेतुत्वाभावादिति भावः। यत्रोभयोः समो दोष इत्यादिकस्य प्रतिबन्दीदूषणत्वप्रतिपादकस्य भट्टवचनस्य तददूषणत्वे विरोध इत्याशङ्क्य प्रतिबन्द्या अदूषणत्वप्रतिपादकोद्योतकरवचनविरोधान्न तत्राऽऽस्माकमादर इत्याह ॐ द्वितीयेति ॐ। पञ्चाध्यायं न्यायशास्त्रं एकैकोऽध्यायः द्वयाह्निको भवति तत्र द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकसूत्रे आपादितदृष्टान्ताभावलक्षणदोषसाम्येन प्रत्यवस्थितं पूर्वपक्षवादिनं निराकर्तुमिति ब्रुवन्नुद्योतकरो भट्टस्य प्रतिकूलोभटः कर्त्तव्यः—प्रतिभटीकर्त्तव्य इत्यन्वयः। चक्षुरादेः प्रमेयस्य कथं प्रामाण्यं प्रमाकरणत्वप्रमाविषयत्वयोरेकस्मिन् विरोधादिति चोदयित्वा सूत्रितं "प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यव"दिति। च शब्दोऽप्यर्थे। यथा प्रमेयाऽपि तुला प्रामाण्यमश्नुते तथैकस्याप्यनेकलक्षणोपपन्नत्वादनेकव्यवहारालम्बनत्वं भवत्व मेकस्यैवाऽनेककारकशब्दवाच्यत्वमनेककालयोगित्वं च तत्रोदाहृतं पूर्वाऽपरकालसम्बन्धे च प्रमाणं कारणस्य कार्यानुगततया तत्कालेऽनुभवः तत्र चातुनुगतमेव कारणमनन्वितमेव कार्यं क्षणिकयोरेव कार्यकारणभावादिति सुगतेन प्रत्यवस्थिते कार्यस्यानन्वितत्त्वे नास्ति दृष्टान्त इति दृष्टान्ताभावदोषे आपादिते तत्साम्येन साध्यस्य स्थिरतयाऽन्वितत्वेऽपि दृष्टान्तो नास्तीति

है, अतः नैयायिक कह सकता है कि 'यदि अस्मिन् हेतौ दोषमुद्भावयसि, तदा तव हितमपि न सेत्स्यति, अन्यथा ममेप्सितं तवानिष्टं फलिष्यति।'

समाधान—नैयायिकगण प्रतिबन्दी को भी तर्क का एक प्रकार मानते हैं, अभिधानानभिधानात्मक विरुद्धार्थक प्रतिबन्दी को तर्काभास कहा जाता है। जैसे सत्प्रतिपक्ष-प्रयोग में दोनों साधन परस्पर-प्रतिरोध में ही उपक्षीण हो जाते हैं, वैसे ही परस्पर-विरोध तर्क को दूषित कर देता है।

'यत्रोभयोः समो दोषः'—इस भाट्ट वचन के अनुसार भी प्रतिबन्दी की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि ["प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्" (न्या. सू. २।१।१६) इस सूत्र में वार्तिककार श्री उद्योतकर ने स्पष्ट कहा है कि जैसे तुला (सोने का एक सौ पल के लगभग का डला) जब तराजू में किसी बाँट (बटखरे) से तौला जाता है, तब वह प्रमेय है और जब उस डले को बाँट के स्थान पर रख कर उसके बराबर का कोई टुकड़ा तोला जाता है, तब वही तुला द्रव्य प्रमाण बन जाता है, अतः बौद्ध-सिद्धान्त-प्रतिपादित प्रमाण और प्रमेय का व्यवस्था-पक्ष संगत नहीं, अपितु प्रमेयता और प्रमाणता का सम्प्लव पक्ष ही उचित है। इसी प्रसङ्ग में प्रतीत्यसमुत्पाद वाद का खण्डन प्रस्तुत किया गया है—]
"अथ मन्यसेऽप्रतीत्य कारणं कार्यमुत्पद्यते इति क्व किं वर्तत इति ? तन्न, दृष्टान्ताभावात्। कार्यमाधारवद्—इत्यत्रापि न दृष्टान्तोऽस्तीति समानम् ? समानमित्यनुत्तम्, अभ्युपगमात्"। अर्थात् कार्य में कारण के अनुगमन और अननुगमन में दृष्टान्ताभावरूप समानयोगक्षेमतापत्ति कोई सदुत्तर नहीं, क्योंकि बौद्ध ने मान लिया कि हमारे पक्ष में कोई दृष्टान्त नहीं, तभी तो न्याय-मत में भी दृष्टान्ताभाव की समानता दिखाता है, किन्तु यह समानतापत्ति कोई दोष

स्तीति' ब्रुवन्नुद्योतकरो 'यत्रोभयोरि'त्यादि वदतो भट्टस्य प्रतिभटीकर्तव्यः।

४. अपसिद्धान्तलक्षणखण्डनम्

तत् किं प्रतिबन्ध्यादि दूषणं न भवत्येव ? नन्वेवं भवतोऽपसिद्धान्तः स्यादिति चेत्, तर्हि दर्शय अपसिद्धान्तस्य लक्षणं प्रकृतसम्बद्धतया। वाङ्मात्रेणापसिद्धान्ते भवतः किमिति नापसिद्धान्तः स्यात्। सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमोऽपसिद्धान्तः प्रतिबन्ध्यादि च भवता सिद्धान्तत्वेनाभ्युपेतम्, 'मयेदं दर्शनमाश्रित्याभिधेयमि'ति भवता

समानमिति पुनः सुगतेन प्रत्यवस्थिते समानमित्यनुत्तरमभ्युपगमाविति सूत्रं तदर्थविवरणपरमभ्युपगतमित्याद्युद्योतकरवचनं स्वपक्षे दृष्टान्ताभावदोषमभ्युपगम्य परपक्षे तमापादयतो मतानुज्ञानामनिग्रहस्थानमापततीति ब्रुवन्नित्यर्थः।

इति प्रतिज्ञाविरोधखण्डनम्।

प्रतिबन्ध्यादेरदूषणत्वमापादितमनुवदति निग्रहान्तरखण्डनं प्रसञ्जयितुम् ॐ तदिति ॐ। तल्लक्षणहीनत्वान्न दूषणतेत्यत आह ॐ नन्विति ॐ। तच्छास्त्रे दूषणत्वेनेष्टाया अदूषणत्वेन स्वीकारादित्यर्थः। लक्षणाधीनत्वाल्लक्ष्यसिद्धेः प्रतिबन्ध्यस्वीकारस्यापसिद्धान्तत्वसिद्धये तदनुगतं लक्षणं दर्शनीयमित्याह ॐ तर्हीति ॐ। न चैवमर्थान्तरत्वं प्रकृतोपयोगित्वादित्यभिप्रेत्य प्रकृतेत्युक्तम्। विपक्षदण्डप्रदर्शनेनोक्तं दृढीकरोति ॐ वागिति ॐ। तत्रानुगतमपसिद्धान्तलक्षणमनुक्त्वा तदुद्भावने त्वच्छास्त्रे यत्स्वीकृतं तल्लक्षणमस्ति तदेव परं प्रति दूषणत्वेनोद्भावनीयमन्यथा लक्षणाधीना लक्ष्यव्यवस्थितिरिति त्यागादपसिद्धान्तस्तवेत्यर्थः। अपसिद्धान्तलक्षणं शङ्कते ॐ सिद्धान्तेति ॐ। अभ्युपगमोऽपसिद्धान्त इत्युक्ते स्वसिद्धान्त एवातिव्याप्तिस्तत्परिहाराय सिद्धान्तविपरीतेत्याह। कथमेतावता ममापसिद्धान्तप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य प्रतिबन्ध्यादेः सिद्धान्तत्वेनेष्टस्य विपरीततया स्वीकारादित्याह ॐ प्रतीति ॐ। प्रतिबन्ध्यादेः सिद्धान्तत्वेनाश्रय-

नहीं, अपितु नैयायिक-द्वारा उत्भावित दृष्टान्ताभाव को मान लेने से मतानुज्ञानामक निग्रहस्थान से वह निगृहीत हो जाता है। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि 'यत्रोभयोः समो दोषः'—यह प्रतिबन्दी-समर्थक युक्ति श्री उद्योतकराचार्य को स्वीकृत नहीं, जैसे एक भट (पहलवान) के दाँव-पेंच दूसरे प्रतिभट्ट के द्वारा खण्डित हो जाते है, वैसे ही एक विद्वान् की तर्कपद्धति को दूसरे खण्डित कर देते हैं।

४. अपसिद्धान्त-लक्षण-खण्डन

शङ्का—अनिर्वचनीयतावाद के प्रतिपादक वेदान्तादि-सिद्धान्तों में भी प्रतिबन्दी को दोष माना गया है, अतः उसको दोष न मानना अपसिद्धान्त नाम के निग्रहस्थान का आपादन है।

समाधान—तब अपसिद्धान्त का प्रकृतोपयोगी कोई लक्षण करना चाहिये, अन्यथा केवल नाम ले लेने मात्र से यदि कोई दोषी हो जाता है, तब आप (नैयायिक) भी अपसिद्धान्त दोष के दोषी क्यों न मान लिये जायें ?

शङ्का—अपसिद्धान्त का लक्षण है—"सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमः' [सूत्रकार ने लक्षण किया है—"सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः" (न्या० सू० ५।२।२४)। तार्किकरक्षाकार ने इसी का स्पष्टीकरण किया है—

सिद्धान्तमेकमालम्ब्य तद्विरुद्धपरिग्रहे।
अपसिद्धान्तः सिद्धं निग्रहस्थानमक्षयम्॥ (ता. र. पृ. ३५६)

दर्शनविशेषस्याभ्युपेतत्वात् । दर्शनस्य च तत्तत्पदार्थस्वीकारात्मकत्वात्, तेषु च पदार्थेषु प्रतिबन्दीदूषणादेः प्रविष्टत्वादिति चेन्न, लक्षणमेव तावदपसिद्धान्तस्य नोपपद्यते, मत्सिद्धान्तविपरीतमभ्युपगच्छतो भवतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात् ।

स्वसिद्धान्तस्तथाऽपेक्षित इति चेन्न, विशेषणपूरणमन्तरेण तदलाभात् । अन्यथा सर्वत्र विशेषणोपादानप्रयासवैयर्थ्यं स्यात् । 'एवमेवाभ्युपगमे भवत एवापसिद्धान्तकृत्या निवृत्त्याऽऽपतेत्, त्वत्सिद्धान्ते शतशो हेत्वादौ विशेषणोपादानदर्शनात् । परसिद्धान्तहेतूनाञ्च अनुपात्तविशेषणानामनैकान्तिकीकृत्य त्वच्छास्त्रे बहुशो दूषितत्वात् । प्रथमं स्वशब्दं विशेषणमनुपादाय दूषणभयेनेदानीं तत्करणे च

णमेवासिद्धमित्यत आह ❀ मयेति ❀ । दर्शनविशेषाङ्गीकारेऽपि कथं प्रतिबन्द्यादेः स्वीकार इत्याशङ्क्य तदुपपादनार्थं दर्शनविशेषस्वरूपं दर्शयति ❀ दर्शनेति ❀ । तथा सति प्रतिबन्द्यादेरपि दूषणत्वेन मध्यपतितत्वेन स्वीकार इत्याह ❀ तेष्विति ❀ । तत्तत्पदार्थनियमस्वीकारात्मकदर्शनविशेषाश्रयणे स्वीकृतनियतपदार्थव्याघातस्य प्रतिबन्द्यादेः स्वव्याघातकत्वादिना दूषणत्वमिष्टमर्थादित्यर्थः । एतल्लक्षणाधीना ममापसिद्धान्तापत्तिर्लक्षणमेवानुपपन्नं कथं तदापादकमित्यभिप्रेत्य परिहरति ❀ नेति ❀ । अतिव्यापकत्वादिति हेतुमाह ❀ मदिति ❀ । आत्मनः स्वयम्प्रकाशत्वमस्मत्सिद्धान्तस्तद्विपरीतजाड्यस्वीकारादपसिद्धान्तस्तवेत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः ।

स्वेति विशेषणस्य विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ स्वेति ❀ । विशेषणान्तरं लक्षणे न क्षिप्यते प्रक्षिप्यते वेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀ । पौरुषेयप्रयोगे विवक्षाया अप्यर्थविशेषज्ञापकत्वाद्विशेषणमन्तरेण विवक्षितार्थसिद्धिरिति आशङ्क्याह ❀ अन्यथेति ❀ । सामान्यवत्वे सत्यस्मदादिबहिरिन्द्रियग्रहणार्हत्वादित्यादावपि तदुपादानमनर्थकं विवक्षात एव विशिष्टसिद्धेरित्यर्थः । तर्हि विशेषणं परित्यज्य विवक्षाबलादेव विशिष्टहेत्वाद्यभिधानं क्रियतां को दोष इत्यत आह ❀ एवमिति ❀ । प्रयुक्तापसिद्धान्तकृत्या निवृत्त्य-व्यावृत्त्य-भवत एवाऽऽपतेदित्यर्थः । कुत इत्यत आह ❀ त्वदिति ❀ । विवक्षासिद्धार्थविशेषप्रकटनार्थमेव तत्र सर्वत्र विशेषणोपादानं न त्वपूर्वार्थप्रतिपादनार्थमित्यत आह ❀ परेति ❀ । वेदोऽपौरुषेयोऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यादिपरहेतूनामनुपात्तविशेषणानां जीर्णकूपादौ व्यभिचारेण दूषणं दृश्यते तदपि तव न सिद्ध्येद्व्यभिचारस्थलान्यत्वस्य विवक्षितत्वादतो विशेषणमन्तरेण न विशिष्टसिद्धिरित्यर्थः । स्वेतिविशेषणं तर्हि लक्षणवाक्ये निधीयत इति द्वितीयविकल्पे दूषणमाह ❀ प्रथम-

जैसे कोई सांख्य सिद्धान्त के अनुसार स्थापना करता है, उससे जब कुछ पूछा जाता है, तब उसके विपरीत अर्थ का अभिधान करता है, तब वह अपसिद्धान्त नाम का निग्रहस्थान माना जाता है]। आप (अनिर्वचनीयतावादी) ने प्रतिबन्द्यादि को सिद्धान्तरूप में माना है, क्योंकि आपने आरम्भ में जो प्रतिज्ञा की है कि 'मयेदं (वेदान्तसिद्धान्तम्) समाश्रित्याभिधेयम्'। उसमें प्रतिवन्दीरूप दोषों का प्रवेश माना गया है।

समाधान—अपसिद्धान्त का कथित लक्षण ही अनुपपन्न है, क्योंकि लक्षण में केवल 'सिद्धान्तविपरीत' पद दिया गया है, उसके आधार पर हमारे (वेदान्ती) के सिद्धान्त के विपरीत यदि आप (नैयायिक) कुछ कहते हैं, तब वह अपसिद्धान्त ही माना जायगा।

यदि 'स्वकीय सिद्धान्त से विरुद्ध' विवक्षित है, तब 'विपरीत' शब्द का स्वकीय सिद्धान्तात्'—ऐसा विशेषण देना आवश्यक है, अन्यथा सर्वत्र विशेषण का ग्रहण ही व्यर्थ हो जाता है। यदि आप (नैयायिक) यह कहते हैं कि 'विशेषण-ग्रहण के विना ही विशिष्टार्थ का लाभ हो जाता है'। तब उलटे आप ही निग्रहस्थान के द्वारा निगृहीत हो जाते हैं, क्योंकि आपके न्याय शास्त्र में हेत्वादि के अनन्त विशेषण गृहीत किये गये हैं एवं परकीय सिद्धान्त में प्रयुक्त पिशेषणरहित साधनों को अनैकान्तिक (व्यभिचार) दोष से दूषित किया गया है।

हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवतः। हेत्वन्तरं हि प्रथममविशेषणं साधकभागमभिधाय पश्चाद्विशेषणवत्तद्वचनम्।

किञ्चैवं लक्षणमभिदधानस्य भवतोऽप्राप्तकालतापातः। अप्राप्तकालोऽवयवविपर्यास इति। लक्ष्यमभिधाय हि लक्षणाभिधानं युक्तम्, तस्य च भवता विपर्यासः कृतः। एवमेवाभ्युपगमे भवत एवापसिद्धान्तापातात्।

यस्तु प्रथमत एव स्वेतिविशेषणमुपादत्ते, तं प्रत्यनुपात्तविशेषणपक्षाभिहितो दोषो वक्तव्यः। मदीयो हि सिद्धान्तः स्वसिद्धान्त एव मम।

अत्र वाक्येऽभ्युपगमपदश्रवणादभ्युपगन्ता लभ्यते, तस्य यः स्वकीयः स

मिति ॐ। लक्षणस्य हेतुविशेषत्वादविशिष्टमुक्त्वा पश्चात् विशिष्टाभिधाने हेत्वन्तरं निग्रह इत्यर्थः। तदुपपादनार्थं पराभिमतहेत्वन्तरनिग्रहलक्षणं दर्शयति ॐ हेत्वन्तरं हीति ॐ। सद्धेतुप्रतिज्ञान्तरव्यावृत्त्यर्थं क्रमेण विशेषणम्।

सिद्धान्तविपरीताभ्युपगम इति प्रथमं लक्षणं निर्दिश्य पश्चादपसिद्धान्त इति लक्ष्यनिर्देशतो निग्रहान्तरं स्यादिति भङ्ग्यन्तरमाह ॐ किञ्चेति ॐ। तदर्थं लक्षणमाह ॐ अप्राप्तेति ॐ। येन क्रमेणाऽवयवाः पर्यस्यन्ते ततो विपरीततयाऽवयवपर्यासोऽप्राप्तकाल इत्यर्थः। अस्तु कथमेतावता ममाप्राप्तकालत्वमित्यत आह ॐ लक्ष्यमिति ॐ। लक्षणस्य धूमादिवद्धेतुत्वाल्लक्ष्यस्य पर्वतादिवद्धर्मित्वाद्धर्मिवचनस्य च प्रतिज्ञात्वात्प्रथमन्तदुपन्यासो युक्त इत्यर्थः। एतावता वा किमित्यत आह ॐ तस्येति ॐ। हेत्वभिधानं पूर्वं पश्चात्प्रतिज्ञावचनमित्येवमेवोपन्यासक्रमत्वान्नोक्तदोष इत्यत आह ॐ एवमिति ॐ। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः क्रमेणोपन्यसनीया इति भवच्छास्त्रेऽङ्गीकारादित्यर्थः।

निर्विशेषणलक्षणे दूषिते पश्चाद्विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरं निग्रहः स्यादित्युक्तं भवतु तत्र, यस्तु प्रथममेव सविशेषणं लक्षणमभिधत्ते तस्य किं दूषणमित्याकाङ्क्षायामाह ॐयास्त्वतिॐ। तस्मिन्नपि पक्षेऽनुपात्तस्वेतिविशेषणे योऽतिव्याप्तिदोषः स स्यादित्यर्थः। अविशिष्टोक्तदोषः कथं विशिष्टे स्यादित्यत आह ॐ मदीति ॐ। स्वशब्दस्य सर्वनामत्वादहमपि स्वशब्दवाच्य इति मदभ्युपगमविपरीताभ्युपगमादपसिद्धान्तस्तवेत्यर्थः।

यदि आप (नैयायिक) पहले 'स्वसिद्धान्त'—इस विशेषण के विना केवल 'बिपरीत' शब्द का प्रयोग करते हैं और पश्चात् दोष के भय से उस विशेषण का ग्रहण करते हैं, तब 'हेत्वन्तर' नाम के विग्रह स्थान से निगृहीत हो जाते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि यदि आप विना किसी प्रसङ्ग के ही लक्षणाभिधान करते हैं, तब 'अप्राप्तकाल' दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि लक्ष्यार्थ का अभिघान कर देने के पश्चात् लक्षणाभिधान का अवसर आता है, किन्तु आप ने ठीक उसका उल्टः किया है, 'अवयबविपर्यास' को ही अप्राप्त काल कहा जाता है—"अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तक " (न्या. सू. ५।२।१) । भाष्यकार ने जो कहा है—" धा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः (१) उद्देशो, (२) लक्षणं (३) परीक्षा चेति" (न्या. भा. १।१।३) । आपने उद्देश्य के बिना ही लक्षणाभिधान किया, अतः अप्राप्तकालता निश्चित है। यदि उद्देश्य से पहले ही आप लक्षण करते हैं, तब आप अपसिद्धान्त नाम के निग्रहस्थान से निगृहीत माने जाएँगे।

जो वादी पहले ही 'स्वसिद्धान्तविपरीताभ्युपगमोऽपसिद्धान्तः'—ऐसा स्वत्वदि विशेषण से विशिष्ट लक्षण का अभिधान करता है, उसके प्रति भी प्रतिवादी अपसिद्धान्त का उद्भावन इस प्रकार कर सकता है कि हमारा (प्रतिवादी का) सिद्धान्त (निर्विशेषणक लक्षणवाद) भी स्वसिद्धान्त है, आप (वादी) उसके विपरीत पक्ष का उद्भावन कर रहे हैं, अतः अपसिद्धान्त नाम के निग्रहस्थान से जकड़ लिये जाते हैं।

स्वशब्दार्थः पर्यवस्यतीति चेन्न, ममाभ्युपगन्तृत्वात्, मयापि हि किञ्चिदभ्युपगम्यत एव। विपरीताभ्युपगन्ताऽपेक्षित इति चेन्न, अविशेषात्। सिद्धान्तविपरीताऽभ्युपगन्ता विपरीताभ्युपगन्तेति चेन्न, तथाऽप्यविशेषात्, ममापि त्वत्सिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्तृत्वात्। स्वसिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता तथाऽपेक्षित इति चेन्न, नूनमतिप्राज्ञोऽसि, यत् स्वपदमभ्युपगन्त्रा विशेषयितुं प्रवृत्तोऽभ्युपगन्तारमेव स्वपदद्वारा विशेषयसि, परस्पराश्रयादपि न बिभेषि, स्वपदेऽपि साधारण्यप्रत्यवस्थानं परोक्तं पुनस्तदवस्थमेवेति च न प्रतिसन्धत्से।

वाक्छलमित्येतदभिप्रायेण लक्षणवाक्यं परो व्याकरोति ❀ अत्रेति ❀। अभ्युपगमस्य क्रियात्वेन कर्त्राक्षेपादित्यर्थः। अभ्युपगमपदाक्षिप्ताभ्युपगन्तुर्यः स्वकीयः स स्वशब्दार्थ इति फलितं दर्शयति ❀ तस्येति ❀। तथाऽपि तदवस्थमिति परिहरति ❀ नेति ❀। ममाभ्युपगन्तृत्वेन मम स्वकीयोऽपि सिद्धान्तः स्वशब्दार्थ इति तद्विपरीताभ्युपगमादपसिद्धान्तापत्तिस्तदवस्थेति यावत्। शब्दानित्यत्वादि त्वया नाभ्युपगम्यत इति कथं तवाभ्युपगन्तृत्वमित्याशङ्क्य तदनङ्गीकारेऽपि प्रपञ्चानिर्वचनीयत्वाद्यभ्युपगम्यत इत्याह ❀ मयेति ❀। अभ्युपगन्तृमात्रन्न विवक्षितं किन्तु विपरीताभ्युपगन्तृत्वमिति नोक्तदोषो मम विपरीताभ्युपगन्तृत्वाभावादिति शङ्कते ❀ विपरीतेति ❀। त्वत्सिद्धान्तविपरीतानिर्वचनीयत्वाभ्युपगमत्वान्ममापि सैवातिव्याप्तिरिति परिहरति ❀ नेति ❀। विपरीताभ्युपगन्तृत्वेऽपि सिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्तृत्वं नास्ति तथैव तव सिद्धान्तत्वात्तादृश एवाभ्युपगन्ता विवक्षित इति शङ्कते ❀सिद्धान्तेति❀। सिद्धान्तमात्रविपरीताभ्युपगन्ता विवक्षितः स्वसिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता वेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ तथापीति ❀। अविशेषमेवोपपादयति ❀ ममेति ❀। द्वितीयं शङ्कते ❀ स्वेति ❀। सोपहासं परिहरति ❀ नेति ❀। प्रज्ञामतीत्य वर्तसे इति यावत्। तस्य यः स्वकीयः स स्वशब्दार्थ इत्यभ्युपगन्त्रा स्वशब्दस्य विशेष्यमाणत्वादभ्युपगन्तृनियमसिद्धौ स्वपदार्थनियमसिद्धिः स्वपदार्थनियमसिद्धावभ्युपगन्तृनियमसिद्धिरिति परस्पराश्रयान्न बिभेषि यद्यस्मादिति हेतुमाह ❀ यदिति ❀। स्वाभ्युपगन्तृपदयोर्वादिप्रतिवादिसाधारणत्वाद्विशेषणान्तरमन्तरेण न नियामकत्वमिति पूर्वोक्तदूषणं न परामृशसीति हेत्वन्तरमाह ❀ स्वेति ❀।

शङ्का—लक्षण-घटक 'स्व' शब्द के द्वारा सभी वादियों का ग्रहण नहीं कर सकते, अपितु लक्षण-घटक 'अभ्युपगम' पद के प्रभाव से अभ्युपगन्ता पुरुष का लाभ होता है, उस पुरुष का जो सिद्धान्त है, उसे ही 'स्वसिद्धान्त' कहा जा सकता है, उसके अनुसार वादी यदि अपने ही सिद्धान्त के बिरुद्ध अभ्युपगम करता है, तब उसे अपसिद्धान्त कहा जायगा, प्रतिवादी के सिद्धान्त से विपरीताभिधान करने पर वादी को अपसिद्धान्त क्यों होगा ?

समाधान—अभ्युपगन्ता भी दोनों वादी हो सकते हैं, अतः दोनों के सिद्धान्तों का 'स्वसिद्धान्त' पद से ग्रहण किया जा सकता है। यदि दूसरे के विपरीत पक्ष का अभ्युपगन्ता यहाँ विवक्षित है, तव भी दोनों वादियों का ग्रहण प्राप्त है, क्योंकि वादी का विपरीताभ्युपगन्ता प्रतिवादी और प्रतिवादी का विपरीताभ्युपगन्ता वादी होता है। सिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता या विपरीताभ्युपगन्ता कहने पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि वादी और प्रतिवादी—दोनों ही एक-दूसरे के विपरीत सिद्धान्ताभ्युपगन्ता ही होते हैं।

शङ्का—स्वसिद्धान्त के विपरीतार्थ का अभ्युपगन्ता 'अभ्युपगन्तृ' पद से विवक्षित है।

समाधान—पहले 'स्व' पद के अर्थ का निश्चय कराने के लिये 'अभ्युपन्तृ' पद का सहारा लिया गया और अब 'अभ्युपगन्तृ' पदार्थ का परिचय देने के लिये 'स्व' पद का आश्रयण किया गया—यह तो एक अन्योऽन्याश्रय दोष के दोषी बनने का एक सीधा मार्ग है, इस मार्ग की गवेषणा में आप ने अपनी विशेष बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है।

यस्य यः सिद्धान्तस्तेन तत्परित्यागोऽपसिद्धान्तस्तदीय इति चेत्, मैवम्, यस्य यः सिद्धान्त इति पुरुषव्यक्तिविशेषसिद्धान्तव्यक्तिविशेषपरत्वे असाधारण्याद्व्यापकत्वं लक्षणदोषः। यस्येति सिद्धान्तसम्बन्धिन इत्यर्थे तेनेति सिद्धान्तसम्बन्धिनेत्यर्थे च भवतोऽपसिद्धान्तात्। तथाहि—सिद्धान्तसम्बन्धिनो मम यः सिद्धान्तः, तस्य सिद्धान्तान्तरसम्बन्धिना भवता त्यागोऽस्त्येव।

स्वपदं हित्वा यच्छब्दविशेषणप्रक्षेपेणापसिद्धान्तलक्षणं शङ्कते ❀ यस्येति ❀। कर्तृभेदसिद्धान्तभेदोदासीनेषु प्रसक्तिनिवारणाय विशेषणानि। तस्य यद्यपि त्यागोऽसौ तथापि न तत्सिद्धान्तस्य, तत्सिद्धान्तत्यागोऽपसिद्धान्त इति न पूर्वोक्तातिप्रसक्तिरित्यर्थः। यस्य य इत्यनयोः शब्दयोरसाधारणार्थत्वमुत साधारणार्थत्वमिति विकल्प्य प्रथमे लक्षणमव्यापकमित्याह ❀ मैवमिति ❀। यस्य यः शब्दयोः पुरुषसिद्धान्तविशेषवचनत्वेऽपसिद्धान्तान्तराव्याप्तिरित्यर्थः। यस्य यस्तेनेति शब्दानां साधारणार्थत्वमिति द्वितीयकल्पे लक्षणमतिव्यापकमित्याह ❀ यस्येति ❀। यस्य मम यः सिद्धान्तस्तेन मया तत्परित्यागाभावे कथमपसिद्धान्त इत्यतस्तदुपपादयति ❀तथा हीति❀। मम मदीयसिद्धान्तस्य च यच्छब्दार्थत्वात्तच्छब्दार्थत्वाच्च तवेत्यर्थः।

त्यागशब्दबलेनातिप्रसक्तिपरिहारं शङ्कते ❀ त्याग एवेति। त्वया परिगृहीतस्य मयाऽस्वीकारात्त्याग एव न भवति, कुत इत्यत आह ❀ मयेति ❀। स्वीकारपूर्वकास्वीकारस्त्यागः त्वत्सिद्धान्तस्य चास्वीकारादित्यर्थः। त्यागोऽस्वीकारमात्रमुत स्वीकृतस्यास्वीकार उत तेन स्वीकृतस्य तेनैवास्वीकार इति विकल्प्य पराचष्टे ❀ नेति ❀। स्वीकृतविषयत्वात्त्यागस्येत्युक्तत्वाद्यद्यपि प्रथमविकल्पावकाशो नास्ति तथापि त्यागपदेनैव स्वीकृतास्वीकाराभिधाने सिद्धान्तपदवैयर्थ्यमिति प्रथमकल्पोऽकारीति द्रष्टव्यम्। दैवपरित्यक्ते कः परित्याग इति न्यायेनास्वीकृतपरित्यागायोगात्स्वीकारपुरःसरोऽस्वीकार एव त्यागपदार्थ इति द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀। तथाऽपि लक्षणातिव्यापकत्वं तदवस्थमिति परिहरति ❀ तदेति ❀। येन मया स्वीकृतस्य यस्य मम यः सिद्धान्तस्तस्य भवता परित्यागः स्वीकृतास्वीकारो भवत्येवेति तवैवा-

---

शङ्का—जिस वादी का जो सिद्धान्त है, उसी के द्वारा उसका परित्याग उसी के प्रति अपसिद्धान्त है—ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती।

समाधान—लक्षण-घटक यत्-तत् आदि पदों के द्वारा वादी व्यक्तिविशेष और सिद्धान्त-व्यक्तिविशेष का निवेश हो जाने पर लक्षण में अननुगमता और अव्यापकता दोष आ जाता है। 'यस्य' शब्द का 'सिद्धान्तसम्बन्धिनः' अर्थ और 'तेन' शब्द का सिद्धान्तसम्बन्धिना अर्थ करने पर आप (नैयायिक) को अपसिद्धान्त होता है, क्योंकि सिद्धान्तसम्बन्धी मैं (अनिर्वचनीयवादी) भी हूँ और सिद्धान्त-सम्बन्धी आप हैं, आपके द्वारा मेरे सिद्धान्त का परित्याग किया ही जाता है।

शङ्का – त्याग सदैव परिगृहीत का होता है, जब मैं (नैयायिक) ने आप (अनिर्वचनीयतावादी) के सिद्धान्त का परिग्रह ही नहीं किया, तब त्याग कैसा ?

समाधान—'त्याग' का अर्थ यदि अस्वीकार है, तब उसके लिये परिगृहीतविषयता का नियम नहीं, और यदि 'त्याग' का अर्थ 'स्वीकृतस्यास्वीकारः' किया जाता है, तब वादी के द्वारा स्वीकृत अर्थ का प्रतिवादी और प्रतिवादी के द्वारा स्वीकृत पदार्थ का वादी के द्वारा त्याग एक नैसर्गिक प्रक्रिया है, जिसको लेकर अपसिद्धान्त का अतिप्रसङ्ग निश्चित है। उसी वादी के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त का उसी व्यक्ति के द्वारा अस्वीकार—ऐसा मानने पर भी अतिप्रसक्ति बनी रहती है, क्योंकि 'तेन' शब्द का 'स्वीकर्त्री' अर्थ करने पर मैं (अनिर्वचनीयवादी) भी स्वीकर्त्ता हूँ, अतः मेरे द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त का आपके द्वारा परित्याग आपके लिये अपसिद्धान्त क्यों न होगा ?

त्याग एव तस्य नास्ति, मया परिगृहीतविषयत्वात् त्यागस्येति चेन्न, यदि त्यागोऽस्वीकारस्तदा न परिगृहीतविषयतानियमः। अथ स्वीकृतस्यास्वीकारस्तदा मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वीकारो भवत्येव तथेति विशेषो नास्ति। अथ तेनैव स्वीकृतस्य तेनैवास्वीकारः। सोऽपि न, तेनेति स्वीकर्त्रेत्यर्थं ममापि स्वीकर्तृत्वेन मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वीकारे तवापसिद्धान्तापातः।

एकेनैकस्य स्वीकृतस्यास्वीकारोऽपसिद्धान्त इति चेन्न, एकेनेति यद्येकसङ्ख्यायोगिनेति, तदा मम यथैकसङ्ख्यायोगित्वं तथा तवापीति स एवापसिद्धान्तापातः। अथैकेनेति अभिन्नेनेति, तथापि स्वस्मादभिन्नत्वं तव च मम च समानम्। अन्यस्मादभिन्नत्वं न मम, न वा तवेत्यपसिद्धान्तविषयोच्छेदः। अथ स्वीकर्तुरस्वीकर्तृतो न भिन्नत्वं तदाऽयमर्थः स्यात्—'स्वीकर्तृतो न भिन्नेनैकस्य स्वीकृतस्यास्वीकारोऽपसिद्धान्तः।' तथा च स एव भवतोऽपसिद्धान्तः, मया यदीयाङ्गीकारः किञ्चि-

पसिद्धान्ततापत्तिरित्याशयः। तत्स्वीकारपुरःसरोऽस्वीकारस्तस्य त्याग इति विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिरिति तृतीयं शङ्कते ॐ अथेति ॐ। तच्छब्दस्य विशेषार्थत्वमुत स्वीकर्तृमात्रार्थत्वमिति विकल्प्य प्रथमे पुरुषस्य व्यावृत्ततया तत्सङ्घटिततल्लक्षणस्यापि व्यावृत्तिरिति प्रथमं प्रत्याह ॐ सोऽपीति ॐ। स्वीकर्तृमात्रवचनोऽयं तच्छब्द इति द्वितीय आस्तां निरवद्यत्वादित्यत आह ॐ तेनेति ॐ। तच्छब्दस्य स्वीकर्तृमात्रवचनत्वे स्वीकर्त्रा स्वीकृतस्य स्वीकर्त्रा परित्यागोऽपसिद्धान्त इत्युक्तं स्यात्तथा च स्वीकर्त्रा मया स्वीकृतस्य प्रपञ्चानिर्वचनीयत्वादेस्तत्सत्तावत्वस्वीकर्त्रा त्वया परित्यागात्तवैवापसिद्धान्त इत्यर्थः।

यच्छब्दविशेषणं हित्वैकशब्दविशेषणोपादानेनापसिद्धान्तलक्षणं शङ्कते ॐ एकेनेति ॐ। स्वीकारास्वीकारयोर्विषयैक्यं तत्कर्त्रैक्यं चापसिद्धान्त इति नोक्तदोष इत्यर्थः। एकत्वं किमेकसङ्ख्यायोगित्वमुत अभिन्नत्वमिति विकल्प्य प्रथममनुवदति ॐ एकेनेति ॐ। अर्थ इति शेषः। तथापि दोषतादवस्थ्यमित्याह ॐ तदेति ॐ। एकत्वसङ्ख्यायोगिना मया स्वीकृतस्यैकस्यानिर्वचनीयत्वस्य त्वयैकेनास्वीकारादपसिद्धान्तापत्तिस्तवेत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते ॐ अथेति ॐ। स्वस्मादभिन्नत्वं विवक्षितमुतान्यस्मादुत स्वीकर्तुरस्वीकर्तृत इति विकल्प्य प्रथमेऽतिव्याप्तिमाह ॐ तथेति ॐ। अन्यस्मादभिन्नत्वं विवक्षितमिति द्वितीयकल्पे लक्षणाऽसम्भव इत्याह ॐ अन्यस्मादिति ॐ। तृतीयं शङ्कते ॐ अथेति ॐ। अस्मिन्पक्षे दूषणं स्पष्टीकर्तुं वाक्यार्थं दर्शयन्परिहरति ॐ तदेति ॐ। यद्येवं ततः किमित्यत आह ॐ तथा चेति ॐ। कथमित्यत

शङ्का—एक ही वादी के द्वारा एक ही स्वीकृत सिद्धान्त का एक ही के द्वारा अस्वीकार अपसिद्धान्त कहलाता है, अतः अन्य के अभ्युपगत सिद्धान्त का अन्य के द्वारा अस्वीकार अपसिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

समाधान—'एकेन'—इस शब्द में 'एक' पद के द्वारा यदि एकत्वसंख्या-युक्त अर्थ विवक्षित है, तब जैसे मैं (अनिर्वचनीयतावादी) एकत्व संख्या से युक्त हूँ, वैसे ही आप भी, अतः एक के (मेरे) द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त का एक (आप) के द्वारा अस्वीकार आपके लिये निग्रहस्थान होना चाहिए। यदि 'एकेन' का अर्थ अभिन्नेन' किया जाता है, तब भी 'एक' पद से वादी और प्रतिवादी—दोनों का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि जैसे वादी स्व (अपने) से अभिन्न है, वैसे प्रतिवादी भी अपने से अभिन्न है, अतः उक्त अतिव्याप्ति जैसी की तैसी बनी रहती है। अन्य व्यक्ति से अभिन्न न वादी है और न प्रतिवादी, अतः अन्याभेद-विवक्षा में लक्षण असम्भव-ग्रस्त हो जाता है, किसी के लिये भी पर सिद्धान्त नाम की वस्तु ही नहीं रहती।

यदि स्वीकर्त्ता का अस्वीकर्त्ता से अभेद विवक्षित है, तब लक्षण-वाक्य का यह अर्थ पर्यवसित होता है कि 'स्वीकर्त्ता से अभिन्न व्यक्ति के द्वारा स्वीकृत एक सिद्धान्त का अस्वीकार

त्स्वीकर्तुरभिन्नस्य भवतस्तदीयास्वीकर्तृत्वात्।

एतेन—एकस्यैकेन स्वीकारास्वीकारावपसिद्धान्त इत्यपास्तम्, मिलितयोरेवाऽऽवयोरपसिद्धान्तापातात्।

अथ तत्स्वीकर्तुरेव तदस्वीकर्तुरभिन्नत्वमेकशब्देनाभिमतम्, तदाऽपि यदि स्वीकारविषयाभिन्नत्वं तच्छब्देनोच्यते अस्वीकारविषयस्य, तदा स्वीकर्त्रन्तरस्वीकारविषयस्य भवता किञ्चित्स्वीकर्त्रभिन्नेनास्वीकारविषयतया स्वीकारकर्तृविषयाभिन्नत्वस्वीकारेण भवतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्। एकेन स्वीकर्त्रा, न तु भिन्नेन

आह ❀ मयेति ❀। योऽर्थो मया स्वीक्रियते भवांस्तन्न स्वीकुरुते भवांश्च स्वीकर्तुर्न भिद्यते किञ्चित्स्वीकर्तृत्वाद्भवत इत्यर्थः।

उक्तखण्डनं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति ❀ एतेनेति ❀। एकशब्दार्थानिर्वचनेनेत्यर्थः। यद्यप्ययमर्थ एव समाशङ्क्य निरस्तस्तथाऽपि सिद्धान्तविपरीताभ्युपगम इति निर्वचनप्रसङ्गादिदं तु स्वतन्त्रमेव लक्षणं केश्चिदुक्तमतिदेशेन निरस्यत इति न पौनरुक्त्यम्। परामृष्टमेव हेतुं दर्शयति ❀ मिलितयोरिति ❀। आवयोः—उभयोरेकसङ्ख्यायोगित्वेनैकत्वात् मत्स्वीकृतस्य त्वयाऽस्वीकारे स्वीकारयोरेकनिष्ठत्वात् मिलितयोरपसिद्धान्तनिग्रहापत्तिरित्यर्थः।

मिलितयोरपसिद्धान्तप्रसङ्गपरिहारं शङ्कते ❀ अथेति ❀। तस्यानिर्वचनीयत्वादेः स्वीकर्तुरेव तदस्वीकर्तृतोऽभिन्नत्वं एकशब्देन विवक्षितं मिलितयोश्चावयोर्भिन्नत्वमपीति तथाभूतमभिन्नत्वं नास्ति तेन नापसिद्धान्तप्रसङ्ग इत्यर्थः। एकस्यैकेनेत्यत्र विषयवाचकैकशब्दप्रयोगात्स्वीकारास्वीकारविषयैक्यमपि विवक्षितञ्चेत्तत्राह ❀ तदाऽपीति ❀। यदीत्यनूद्यातिव्याप्त्या दूषयति ❀ तदेति ❀। स्वीकर्त्रन्तरस्वीकारविषयस्याऽनिर्वचनीयत्वादेरस्वीकारकर्तृविषयाभिन्नत्वेन स्वीकारेण भवतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वमेवेति सम्बन्धः। तदुपपादयति ❀ भवतेत्यादिना ❀। कर्त्रैक्यविशिष्टं स्वीकारास्वीकारविषयैक्यमपि सिद्धान्तलक्षणमिष्टं तदिह कर्त्रैक्याभावे कथमुक्तातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ एकेनेति ❀। सोपहासं परि-

अपसिद्धान्त होता है'। इस प्रकार हमारे (अनिर्वचनीयतावादी के) सिद्धान्त का जो आप (नैयायिक) के द्वारा अस्वीकार है, वह नैयायिक के प्रति अपसिद्धान्त हो जाता है, क्योंकि हम (अनिर्वचनीयतावादी) भी अपने विरुद्ध सिद्धान्त के अस्वीकर्त्ता या उससे अभिन्न है, हम लोगों के द्वारा स्वीकृत जगन्मिथ्यात्वादि को आप अस्वीकृत कर रहे हैं।

यदि एक ही के द्वारा किये गये स्वीकार और अस्वीकार—इन दोनों को अपसिद्धान्त कहा जाता है, तब भी दोनों वादियों का समूह अपसिद्धान्त का भागी बनता है, क्योंकि वह समूह भी एकत्व संख्या से युक्त (एक) है और स्वीकार एवं अस्वीकार—दोनों का सम्पादन वह समूह ही करता है।

यदि 'एकेन स्वीकारास्वीकारौ अपसिद्धान्तः'—इस लक्षण में 'एक' पद के द्वारा स्वीकर्त्ता का अस्वीकर्त्ता से अभिन्नत्व विवक्षित है और स्वीकार्य और अस्वीकार्य विषयों का भी अभेद अभीष्ट है। तब यद्यपि कथित दोनों वादियों के समूह में अतिप्रसङ्ग नहीं होता क्योंकि वहाँ जगन्मिथ्यात्व का स्वीकर्त्ता वेदान्ती और अस्वीकर्त्ता नैयायिक है, उन दोनों का अभेद नहीं, अत्यन्त भेद है। तथापि 'जगन्मिथ्यात्व' का अस्वीकार नैयायिक के लिये अपसिद्धान्त स्थिर हो जाता है, क्योंकि स्वीकार्य और अस्वीकार्य विषय तो एक ही 'जगन्मिथ्यात्व' है और अस्वीकर्त्ता नैयायिक अपने यत्किञ्चित् (जगत्सत्यत्वादि) विषय के स्वीकर्त्ता से अभिन्न भी है।

यदि 'एक' शब्द के द्वारा 'एकत्व' संख्या एवं 'अभिन्नत्व'—दोनों का लाभ करने के लिये ऐसा लक्षण किया जाता है कि 'एकेन स्वीकर्त्रा, न तु भिन्नेन स्वीकारास्वीकारौ

स्वीकारास्वीकारौ विवक्षिताविति चेन्न, एकेन स्वीकर्त्रेत्येतदेव विवेचयन् स्त-देवाऽऽकर्षन्नभिहिततद्दूषणगणाऽव्यावृत्त्यापत्त्या कथय कथं न घनघनाघनसमयसमागम ोयमानतरलतरतरङ्गिणीवेणिजलविवर्तानिवर्तिताव चक्रचङ्क्रम्यमाणतृणकदम्ब-वडम्बना भ ष्य स? स्वीकृत्यास्वीकारः स इ त चेन्न, कृत्वाथ उक्त-बाधापातात्, अस्वीकृत्य स्वीकारे च तदभावापत्तेः।

किञ्च सिद्धान्तपरित्यक्तरि यदपसिद्धान्तोद्भावनं तत् किं स्वीकृतदर्शनानुमता-

हरति ❀ नेति ❀। एकेन स्वीकर्त्रेत्येतदेव विवेचयंस्त्वं भूयस्तदेकेनेतिविशेषणमाकर्षन्नभिहितदूषणगण-स्याऽव्यावृत्त्यापत्त्या हेतुना कथन्नानुभविष्यसि कथयेति सम्बन्धः। किमित्यत आह ❀ घनेति ❀। घन-मतिशयेन घनाघनेन प्रवर्षणशीलमेघेन समयस्य वर्षाकालस्य समागमे प्रावृट्कालप्रादुर्भावे उदीयमान मतिशयेन जायमानं तरो वेगो यस्यास्तरङ्गिण्या नद्यास्तस्या वेणीस्रोतोग्रभागस्तस्या जलन्तद्विवर्त्तः प्रतीप-गमनं तेन निर्वर्तित आवर्तो जलभ्रमणविशेषः चक्रं तत्समूहस्तस्मिन् चङ्क्रम्यमाणं भ्रममाणं तृणकदम्बं तस्य विडम्बनामनुकारम्। एतदुक्तम्भवति एकेन स्वीकर्त्रेत्यत्र किमिदमेकत्वसङ्ख्यायोगित्वं तद्विवेचनार्थं प्रवृत्तेन तन्निर्वचनमन्तरेणैकेनेति पुनर्विशेषयितुमशक्यं एकशब्दनिर्वचनासिद्धौ विशिष्टलक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धा-वुक्तातिप्रसङ्गपरिहारसिद्धिस्तत्सिद्धावेकवचननिर्वचनसिद्धिरिति चक्रकापत्तेरिति। उक्तदोषपरिजिहीर्ष-यैकशब्दपरित्यागेनापसिद्धान्तलक्षणं शङ्कते ❀ स्वीकृत्येति ❀। एककर्तृकयोः पौवापर्यं क्त्वाप्रत्ययस्याभि-धानात्तदर्थोऽत्र विवक्षित इत्यर्थः। क्रिययोः पूर्वकालत्वमात्रं न प्रत्ययार्थः किन्त्वेककर्तृकयोः ततश्चैक्य-निरूपणद्वारा कथितबाधापत्तेर्नेदं युक्तमिति परिहरति ❀ नेति ❀। अव्याप्तिमाह ❀ अस्वीकृत्येति ❀। यत्र शब्दनित्यत्ववादी तदनित्यत्वमनङ्गीकृत्य पश्चादङ्गीकरोति तत्र भवत्यपसिद्धान्ते नेदं लक्षणमस्तीत्य-व्याप्तिरित्यर्थः।

एवमपसिद्धान्तलक्षणं निरस्य तस्य दूषणत्वोपन्यासप्रकारमपि निरसितुमुपक्रमते ❀ किञ्चेति ❀। अनुमतोऽपसिद्धान्तस्य दूषणभावो दूषणत्वं यस्मिन् तत्तादृक् दर्शनं च तच्चेति तथोक्तं स्वीकृतं तादृक्

अपसिद्धान्तः'। तब चक्रकापत्ति होती है, क्योंकि एकत्व संख्या-पक्ष में दोष दिया गया, तब उसे छोड़ कर अभिन्न-पक्ष अपनाया, अभिन्नत्व-पक्ष में दोष उद्भावित किया गया, तब एकत्व संख्या और अभिन्नत्व—दोनों को अपनाया गया। यहाँ यह स्मरणीय है कि ये दोनों पक्ष दूषित किये जा चुके हैं, अतः दोनों पक्षों के दोष इस तीसरे पक्ष में प्राप्त होते हैं। अतः इस समुच्चय पक्ष को छोड़ कर प्रथम, प्रथम को छोड़ कर द्वितीय और द्वितीय को छोड़ कर फिर समुच्चय पक्ष की चक्रिका अपना कर नैयायिक परिवार ऐसी दुर्गति-परम्परा में फँस गया है, जैसे कि बरसात में उमड़ती नदी के विकराल प्रवाह में स्थान-स्थान पर भँवर पड़ रहे हों, घास-फूस के पूँजे एक भँवर से निकल कर दूसरे भँवर में और दूसरे भँवर से निकल कर तीसरे में डूबते-उतराते चक्कर खाते बहते जा रहे हों।

'स्वीकृत्यास्वीकारः अपसिद्धान्तः'—ऐसा भी लक्षण नहीं कर सकते, क्योंकि "समान-कर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा. सू. ३।४।२१) इस सूत्र के द्वारा एककर्तृक दो क्रियाओं में पूर्व क्रिया का बोधक 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। यहाँ भी एक या 'समान' शब्द भी कथित विकल्प-जाल में फँस कर रह जाता है। इतना ही नहीं, अपितु जैसे किसी सिद्धान्त को स्वीकार करके अस्वीकृत करना अपसिद्धान्त है, वैसे ही अस्वीकृत सिद्धान्त को स्वीकार करना भी अपसिद्धान्त माना जाता है, उसमें 'स्वीकृत्यास्वीकारः'—यह लक्षण अव्याप्त हो जाता है।

यह भी एक जिज्ञासा होती है कि आप जो किसी अपने सिद्धान्त के त्यागी पुरुष के प्रति अपसिद्धान्त दोष का उद्भावन करते हैं, वह किस वादी के प्रति? क्या उस वादी के प्रति जिसके दर्शन में अपसिद्धान्त दूषण माना गया है? अथवा जिसके दर्शन में अपसिद्धान्त नाम का

पसिद्धान्तदूषणभावे वादिनि, उतानेवम्भूते। आद्ये पूर्वसिद्धान्तवदपसिद्धान्तेऽप्यनेन व्युत्थातुं शक्यते तत्र किं वक्तव्यम्? न तावन्न वक्तव्यमेव किञ्चित् पूर्वसिद्धान्तत्यागादेवापसिद्धान्तेन निगृहीतत्वादिति युक्तम्, अपसिद्धान्ते तत्परिहारस्य तद्दूषणत्वान्यतरासिद्धस्तेनाभिहितत्वात्। अन्यथा स्वाभिप्रायेणासिद्धिमुद्भाव्यैव कथां विच्छिन्दानो विजयेत परासिद्धिपरिहारं नापेक्षेतेति अनसिद्धावप्यसिद्धिमुद्भाव्य परं पराजित्याप्रत्यूहं गृहान् प्रतिष्ठेत।

निगृहीतस्य तस्यापरमभिधानमनादरणीयमेवेति चेन्न, अन्यतरासिद्धया निग्रहपरिहारस्यैव तेनाभिधीयमानत्वात्। तथाऽप्यनादरणेऽनसिद्धावसिद्धिमुद्भाव्य

दर्शनं येन स तथा। दूषणस्यैवाभिधानयोग्यत्वात् प्रथमकल्प एवास्त्वित्यत आह ※ आद्य इति ※। कश्चित्कुटिलमतिरपसिद्धान्तं स्वीकृत्यापि पश्चात्तन्न स्वीकरोति यथा पूर्वं स्वीकृतशब्दानित्यत्ववादि तं प्रति किमु वक्तव्यं स्यादपसिद्धान्तदूषणभावस्य तेन त्यक्तत्वात्तदुद्भावनमेव तं प्रति न युज्यत इत्यर्थः। पूर्वंस्वीकृतपरित्यागरूपापसिद्धान्तनिग्रहेण निगृहीतत्वादपसिद्धान्ते परित्यक्तेऽपि न किञ्चिद्वक्तव्यमित्यत आह ※ न तावदिति ※। मृतस्य पुनर्मारणाभाववन्निगृहीतस्य पुनर्निग्रहाभावात्कुतो न युक्तमित्यत आह ※ अपसिद्धान्त इति ※। अमृतसेकेन पूर्वमृतिपरिहारवदपसिद्धान्तदूषणपरित्यागेन पूर्वापसिद्धान्तप्रसङ्गस्यान्यतरासिद्धिलक्षणपरिहारस्य तेनाभिधीयमानत्वादित्यर्थः। यद्यपि प्रतिवादी विवदतेऽपसिद्धान्ते तथापि मदभिप्रायेण तस्य निगृहीतत्वान्न वक्तव्यमित्यत आह ※ अन्यथेति ※। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादौ स्वाभिप्रायेणासिद्धिमुक्त्वा परं निगृह्य विजयी स्यादित्यर्थः। तत्र परेणाऽसिद्धेः परिह्रियमाणत्वान्न विजयी स्यादित्यत आह ※ परेति ※। यथा परेणाऽपसिद्धान्तस्यान्यतरासिद्धिपरिहारो नापेक्ष्यते तथा परोऽप्यसिद्धिपरिहारं नापेक्षेतेत्यर्थः। अस्तु तथा वा को दोष इत्यत आह ※ अनसिद्धाविति ※। सम्यग्घेतावप्यसिद्धयादिकमुद्भाव्य परन्निगृह्य विजयप्रसङ्ग इत्यर्थः।

इममेवार्थं स्पष्टीकर्तुं पुनश्चोद्यमुद्भावयति ※ निगृहीतेति ※। अपसिद्धान्तोद्भावनेन पूर्वमेव तस्य निगृहीतत्वात्तस्य न मयाऽपसिद्धान्तोऽङ्गीक्रियत इति यद्वचनं तन्नादरणीयं निगृहीतवचनत्वादित्यर्थः। अपसिद्धान्तनिग्रहस्यान्यतरासिद्धया परिह्रियमाणत्वादनिग्रहत्वमेवेति परिहरति ※ नेति ※। अन्यतरासिद्धस्यापि निग्रहत्वादेव न तद्वचन आदर इत्यत आह ※ तथापीति ※। स्वीकृत्यापसिद्धान्तं पश्चाद्यो

कोई दोष माना ही नहीं गया है? प्रथम कल्प के अनुसार वादी यदि अपने पूर्व सिद्धान्त का जैसे त्याग करता है, वैसे ही अपसिद्धान्त को भी मानने से इनकार कर जाय तो आप क्या करेंगे? यदि आप कहें कि ऐसे वादी के प्रति कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह अपने पूर्व सिद्धान्त का परित्याग कर देने मात्र से अपसिद्धान्त के द्वारा निगृहीत हो जा चुका है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसने अपसिद्धान्त या अपसिद्धान्तगत दोषता—इन दोनों में अन्यतर की असिद्धि कह दी है। अन्यथा (अस्वीकृत अपसिद्धान्त दोष का वह दोषी माना जाता है, तब जो वादी अपने मन से असिद्धि दोष को गढ़ लेता है और उसका उद्भावन कर कथा-प्रवाह का विच्छेद कर देना चाहता है, दूसरे वादी के द्वारा उस असिद्धि के परिहार की अपेक्षा ही नहीं करता, ऐसा व्यक्ति भी वस्तुतः असिद्धि दोष के न होने पर भी बनावटी असिद्धि का उद्भावन कर विपक्षी को पराजित कर देगा।

'अपसिद्धान्त के द्वारा पराजित व्यक्ति यदि बनावटी असिद्धि का उद्भावन करता है, तब उसका वह उद्भावन आदरणीय नहीं रहता'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह तब तक पराजित नहीं हुआ, अपितु 'अपसिद्धान्त या अपसिद्धान्तगत दोषत्व—इनमें से अन्यतर की असिद्धि उद्भावित कर रहा है। अतः भले ही उसके उद्भावन का आदर न किया जाय, फिर भी वह असिद्धि-रहित सद्धेतु में असिद्धि का उद्भावन एवं उसके परिहार की प्रतीक्षा न कर

पराभिधीयमानमसिद्धिपरिहारमनादृत्य विजतेतैवेत्युक्तम्। अथ मन्यसे— मध्यस्थे-नैतद्विचारणीयं किमनसिद्धावनेनासिद्धिरुक्ता, अनपसिद्धान्ते वाऽपसिद्धान्तः ? एतद्वि-चार्य तेनैव जयपराजयाववधारणीयौ। तदर्थमेव मध्यस्थोपस्थापनमिति। न, तर्हि वादिना साधनेऽभिहिते दुष्टमेतदित्यभिधायैव प्रतिवादिना निवर्तनीयम्। मध्यस्थस्तु परमार्थतो दुष्टत्वमदुष्टत्वं वा तस्य साधनस्य विचार्य जयपराजयाववधारयिष्यति। सोऽयं प्रसूय निर्वृत्तीभूतपिक ऽपत्यापत्यपोषणकृतमहायासवायसव्यसनं .... यिष्यति मध्यस्थो वराकस्तावकदुष्परामर्शप्रकर्षेण।

अथोच्यते— सम्प्रति विप्रतिपद्यतां नामापसिद्धान्तेऽप्यसौ किमेतावता, पूर्वं स्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभावस्य दर्शनस्य तावत्तेन स्वीकरणमकारि। तदेवाऽऽदाया-

---

विप्रतिपद्यते तं प्रति न किञ्चिद्वक्तव्यं कथकेन, मध्यस्थस्यैव तत्र व्यवस्थाहेतुत्वादिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। क्वचिदसिद्धावुद्भावितायां किमसिद्धेऽसिद्धोद्भावनमुतानसिद्धे तथाऽपसिद्धान्त उद्भावितेऽपि किमपसिद्धान्तेऽ-पसिद्धान्त उद्भावित उतानपसिद्धान्त इत्येतद्विचार्य यद्यसिद्धादावसिद्धाद्युद्भावनं तर्हि तदुपदर्शकस्य जय इतरस्य पराजयोऽन्यथा वैपरीत्येन जयपराजयाविति मध्यस्थो निर्णेष्यतीत्यर्थः। कुत इत्यत आह ❀ एतदिति ❀। विचार्य जयपराजयनिर्णयार्थत्वान्मध्यस्थवरणस्येत्यर्थः। अतिप्रङ्गेन परिहरति ❀ तर्हीति ❀। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्युक्तेऽसिद्ध्युद्भावनेन वादिनं निगृह्य प्रतिवादी तस्यासिद्धि-परिहारवचनेऽनादरं कुर्यादित्यर्थः। तर्हि विजयासिद्धिरतोऽन्यतरासिद्धिपरिहारवचने आदर इत्यत ❀ मध्यस्थेति ❀। एवमर्थमुपपाद्योपहसति ❀ सोऽयमिति ❀। प्रसूय—जनयित्वा निर्वृत्तीभूतश्चरितार्थो यः पिकस्तदपत्यपोषणार्थं कृतो महानायासो येन वायसेन तद्व्यसनमिव व्यसनं प्राप्तवान्कोकिलापत्यपोषणवद् वायसस्य मध्यस्थस्य निष्प्रयोजनप्रयास इत्यर्थः।

यद्यप्यसावधुना विप्रतिपद्यतेऽपसिद्धान्तेऽपि तथापि न तावता तस्य किञ्चित्प्रयोजनमिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। अन्यतरासिद्ध्या परोद्भावितापसिद्धान्तनिग्रहपरिहारप्रयोजनमस्तीत्यत आह ❀पूर्वमिति❀। स्वीकृतोऽपसिद्धान्तदूषणभावो येन दर्शनेन तस्येति विग्रहः। अपसिद्धान्तदूषणभावदर्शनास्वीकारबलादेव कथं तदुपन्यास इत्यत आह ❀ तदिति ❀। पूर्वतनानुमतिरेव कारणं निग्रहोद्भावने नाधुनातनीत्यर्थः।

बिजयी हो ही जायगा।

शङ्का—यह मध्यस्थ को विचार करना चाहिए कि क्या इस वादी ने अनसिद्धि (सद्धेतु) में असिद्धि का उद्भावन किया है ? अथवा वस्तुतः असिद्ध हेतु में ही असिद्धि का उद्भावन किया है ? इसी प्रकार अपसिद्धान्त की भूमि में अपसिद्धान्त का उद्भावन हुआ है ? या अपसिद्धान्त की वस्तुतः प्राप्ति न होने पर ही अपसिद्धान्त का उद्भावन हुआ है ? इसका विचार करके मध्यस्थ को जय-पराजय का निर्णय देना चाहिए, क्योंकि इसी काम के लिये मध्यस्थ की स्थापना की जाती है।

समाधान—यदि मध्यस्थ का इतना लम्बा दायित्व माना जाय, तब वादी की स्थापना पर प्रतिवादी का केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि यह हेतु दुष्ट है, वहाँ भी मध्यस्थ ही हेतु के दुष्टत्वादुष्टत्व का विचार कर जयपराजय का निर्णय कर देगा। जैसे कोयल दम्पत्ति अपने बच्चों को केवल जन्म दे देते हैं, उनके पालन-पोषण का पूरा भार बेचारे कोए पर रहता है, वैसे ही शास्त्रार्थ में वादी और प्रतिवादी केवल हाँ और नहीं करके ही कृत-कृत्य हो जाते और दुष्टत्वादुष्टत्व की उपपादन-परम्परा का कष्ट बेचारा मध्यस्थ झेलता रहे—यह तो अच्छा आप का परामर्श है।

शङ्का—यदि कोई वादी अपसिद्धान्त के विषय में इस समय विवाद कर रहा है तो इससे क्या हुआ ? पहले से उसने उस दर्शन को स्वीकार कर रखा है, जिसमें अपसिद्धान्त को

पसिद्धान्तस्योपन्यासो युक्त इति। मैवम्, यदीदानीन्तन्यननुमतिरस्य नाद्रियते, अस्यामुपजातायामपि प्राक्तनानुमतिमादायैव च दूषणप्रवृत्तिस्तदाऽपसिद्धान्तस्यापि कुतोऽवकाशः। स हि पूर्वानुमतस्येदानीमननुमतिमाश्रित्यैव प्रवर्तते, नान्यथा। तस्मात् स्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभावमपि वादिनं प्रति विप्रतिपत्तिकाले साधनीयमपसिद्धान्तस्य दोषत्वमिति द्वितीयानवकाशः। यस्य तु सौगतादेर्मतेऽपसिद्धान्तो न दूषणं तं प्रत्यवश्यं साधनीयमेवास्य दूषणत्वम्।

न च वाच्यं योऽपसिद्धान्ते विप्रतिपत्तिं करोति तं प्रति व्याघात एवाभिधेयः, दर्शनविशेषं स्वीकुर्वता प्रथमं तद्दर्शनान्तर्निवेशिनः प्रतिबन्दीदूषणत्वादेस्तेन स्वीकारात्, पश्चात्तस्यैवास्वीकारः। तावेतौ स्वीकारास्वीकारावेकेनैकस्य व्याहताविति। यद्ययमपसिद्धान्तात्मैव व्याघातः, तदाऽपसिद्धान्तदूषणत्वेऽपि विप्रतिपन्नस्य विप्रतिपत्तिमभ्युदस्य नाभिधातुं युक्तः। अथ दूषणान्तरमयं व्याघातोऽपसिद्धान्तमनुपजीव्य

पूर्वानुमतिवदिदानींतनानुमतिरप्यादरणीयेति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। इदानींतनामुमतिमनङ्गीकृत्यापसिद्धान्तदूषणमुद्भाव्यते चेत्पूर्वं शब्दनित्यत्वमङ्गीकृत्येदानीं तदनङ्गीकारेऽप्यपसिद्धान्तोद्भावनं न स्यादिदानींतनानङ्गीकारस्याप्रयोजकत्वादित्यर्थः। इदानीन्तनानुमतेरप्रयोजकत्वे कुतोऽपसिद्धान्तानावकाश इत्यत आह ❀ स हीति ❀। एककर्तृकैकविषयस्वीकारास्वीकारसमुच्चयात्मकत्वात्तस्येत्यर्थः। इदानींतनापसिद्धान्तानुमत्यभावे तदुद्भावनमशक्यं तस्मादसावापादनीयेति प्रथमकल्पमुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। अनङ्गीकृतापसिद्धान्तदूषणभाववादिनं प्रति तदुद्भावनमिति द्वितीयविकल्पोऽस्त्वित्यत आह ❀ द्वितीय इति ❀। अङ्गीकृतदूषणभावं प्रत्यपि तद्विप्रतिपत्तिकाले यदा नावकाशस्तद्वाऽनङ्गीकृततत्त्वं प्रति तदनवकाश इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। तर्ह्यनङ्गीकृतापसिद्धान्तस्य दूषणत्वे स्वीकृतपरित्यागे किमु वक्तव्यमित्यत आह ❀ यस्येति ❀। अपसिद्धान्तो दूषणत्वेनापाद्य वक्तव्य इत्यर्थः।

योऽपसिद्धान्ते विप्रतिपद्यते तं प्रत्यपसिद्धान्तस्य दूषणत्वमापादनीयमिति यदुक्तं तदयुक्तमेकेनैकस्य स्वीकारास्वीकारसमुच्चयव्याघातस्यैवापसिद्धान्तमुपेक्ष्य वक्तव्यत्वादित्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। दर्शनविशेषं स्वीकुर्वता तदन्तःपातितया प्रतिबन्द्यादेः स्वव्याघातकत्वादिना दूषणत्वमङ्गीकृतं पश्चात्तत्याग एकोपाधावेकस्य भावाभावसंसर्गव्याघात इत्यर्थः। कुतो न वाच्यमित्याशङ्क्यायं व्याघातोऽपसिद्धान्तात्मा ततो दूषणान्तरं वेति विकल्प्य प्रथममनूद्य दूषयति ❀ यदीति ❀। द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀।

दोष माना गया है, उस मान्यता को लेकर वह अपसिद्धान्त का भागी बन जाता है।

समाधान—वादी की यदि इस समय की असम्मति को कोई आदर नहीं दिया जाता, तब अपसिद्धान्त को भी प्रवृत्त होने का कोई अवसर नहीं मिलता, क्योंकि वह भी पूर्व-सम्मत पदार्थ की इस समय असम्मति को लेकर ही प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। अतः अपसिद्धान्त का उद्भावन उसी वादी के प्रति हो सकता है, जो अपसिद्धान्त की दोषता मान रहा हो, दूसरे वादी के प्रति उसका उद्भावन सम्भव नहीं, अतः बौद्धगणों ने वादन्यायादि में जो अपसिद्धान्त को पृथक् दोष नहीं माना, उनके लिये अपसिद्धान्त में दूषकता सिद्ध करनी चाहिये।

शङ्का—जो व्यक्ति अपसिद्धान्त के विषय में विप्रतिपत्ति करता है, उसके मत में व्याघात दोष आता है, क्योंकि जिस दर्शन को मान कर वह प्रवृत्त हुआ है, उसके मध्यपाती प्रतिबन्दीगत दूषणत्वादि को स्वीकार कर पश्चात् उसी का अस्वीकार करता है। एक ही पदार्थ का मानना और न मानना व्याहत या विरुद्ध कहा जाता है।

समाधान—यदि यह व्याघात अपसिद्धान्तस्वरूप ही है, तब जो अपसिद्धान्त की दूषणता में भी विवाद कर रहा है, उसके प्रति विप्रतिपत्ति (विरोध) का निरास करके व्याघात का उद्भावन करना उचित न होगा, क्योंकि जो अपसिद्धान्त में विप्रतिपन्न है, वह

सम्भाव्यमानोद्भावनस्तदा सार्वत्रिकापसिद्धान्तोदाहरणेऽयमेवास्तु, किमपसिद्धान्तस्य दूषणत्वाङ्गीकारेण ।

किञ्चैवमपसिद्धान्त उद्भाविते पश्चात्तद्विप्रतिपत्तौ उपजातायामपसिद्धान्तमुपेक्ष्य व्याघातलक्षणस्यास्य दोषान्तरस्याभिधाने प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः । प्रतिज्ञाहानिः स्वीकृतोक्तत्याग इति । एवं प्रथमं किञ्चिद् दूषणमुक्त्वा तत्परिहारिणि दूषणान्तराभिधाने न प्रतिज्ञाहानिरिति गतं प्रतिज्ञाहान्यादिभिर्निग्रहैः ।

प्राक् प्रतिज्ञातदोषनिर्वाहार्थमेव निग्रहान्तरकथनान्नैष दोष इति चेन्न, पूर्वनिग्रहपरिहारमकृतवति तेनैव पराजिते निग्रहान्तरोपन्यासस्यायुक्तत्वादिति । न चानेन

अर्थान्तरत्वेऽपि तदुपजीव्यत्वेऽपसिद्धान्तोऽवश्यमापादनीय इत्याशङ्क्याह ❀ अपसिद्धान्तमिति ❀ । तर्हि सर्वानुगतैकदूषणसम्भवे क्वचित्स्वीकृतास्वीकारेऽपसिद्धान्तोद्भावनं क्वचित् व्याघातोद्भावनमिति द्वैरूप्यं गौरवादनुपपन्नमिति परिहरति ❀ तदेति ❀ ।

प्रथममुद्भावितस्यापसिद्धान्तस्य परदूषितस्य परित्यागे व्याघातोद्भावने प्रतिज्ञाहानिर्निग्रहः स्यादिति दूषणान्तरमाह ❀ किञ्चेति ❀ । तदुपपादनाय तल्लक्षणमाह ❀प्रतीति❀ । स्वीकृतोक्तपरित्यागेऽपि प्रतिज्ञाहान्यङ्गीकारे को दोष इत्यत आह ❀एवमिति❀ । एवं सति तत्र किञ्चित् दूषणं साधनं चाऽभिधाय पश्चात्तत्परित्यागेन दूषणसाधनान्तराभिधाने प्रतिज्ञाहानिरित्येतल्लयमियादविशेषादेवं च निग्रहान्तराण्यपि न सिद्ध्येरन्नित्यर्थः ।

स्वीकृतोक्तपरित्याग एवात्र न पूर्वमपसिद्धान्तनिग्रहमुद्भाव्य तत्साधनार्थमेव व्याघातलक्षणनिग्रहान्तरस्योद्भाव्यमानत्वान्न हि साध्यं प्रतिज्ञाय हेतूपन्यासे साध्यपरित्याग इति शङ्कते ❀ प्रागिति ❀ । पूर्वोद्भाविते निग्रहे परिहृते व्याघातनिग्रहोद्भावनमुतापरिहृत एवाद्ये प्रतिज्ञाहानिरेव, यदि द्वितीयस्तत्राह ❀ नेति ❀ । अकृतपरिहारे पूर्वनिग्रहे निग्रहान्तरोद्भावनेऽधिकं नाम निग्रहस्थानं स्यादित्यर्थः । यद्यपसिद्धान्तमभिधाय तद्विप्रतिपत्तौ सत्यां व्याघात उद्भाव्येत तदा स्यात्प्रतिज्ञाहानिः प्रथमत एवापसिद्धान्तमुपेक्ष्य व्याघात एवोद्भाव्यत इत्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀ । कुतो नैव वाच्यमित्यत आह ❀ अप-

---

व्याघात में भी विप्रतिपन्न हो जायगा, क्योंकि अपसिद्धान्त और व्याघात—दोनों अभिन्न पदार्थ हैं । यदि व्याघात दूषणान्तर माना जाता है और अपसिद्धान्त का आश्रयण किये विना ही उद्भावित हो सकता है, तब सार्वत्रिक अपसिद्धान्त के उदाहरणों में इस व्याघात का ही उद्भावन करना चाहिये अपसिद्धान्त में दूषणत्व मानना निरर्थक है ।

दूसरी बात यह भी है कि कहीं पर अपसिद्धान्त का उद्भावन होने पर जहाँ उसके विषय में विप्रतिपत्ति उठ खड़ी होती है, वहाँ अपसिद्धान्त की उपेक्षा कर व्याघातरूप दोषान्तर का उद्भावन किया जाता है, वहाँ प्रतिज्ञाहानि नाम का निग्रहस्थान प्रसक्त होता है, क्योंकि 'स्वीकृत और उक्त (कथित) का परित्याग ही प्रतिज्ञाहानि दोष माना गया है । पहले जहाँ कोई एक दोष कह कर उसका परिहार करने के लिये दूषणान्तर उद्भावित होता है, वहाँ भी यदि प्रतिज्ञाहानि नहीं होती, तब कहीं पर भी प्रतिज्ञाहान्यादि निग्रहस्थान प्रवृत्त न हो सकेंगे ।

शङ्का—प्रथम प्रतिज्ञात दोष का निर्वाह (उपपादन) करने के लिये ही निग्रहान्तर का कथन किया गया है, उसकी हानि नहीं, अतः प्रतिज्ञाहानि क्यों होगी ?

समाधान—प्रथम निग्रहस्थान का जिसने परिहार नहीं किया, वह उसी निग्रहस्थान से पराजित समझा जाता है, उसके लिये निग्रहस्थानान्तर की क्या आवश्यकता ?

शङ्का—अपसिद्धान्त का उद्भावन करने पर यदि प्रतिज्ञाहानि का भय है, तब पहले से ही व्याघात का उद्भावन करना चाहिए, अपसिद्धान्त का नहीं ।

भयेन भवता व्याघात एवाभिधेयः प्रथमम् , नापसिद्धान्त इति वाच्यम् ; अपसिद्धान्त-वैयर्थ्यप्रसङ्गात् , सर्वत्रापसिद्धान्तोदाहरणे व्याघाताभिधानस्यैवमङ्गीकर्तव्यत्वात् । न हि कश्चिच्छक्यतेऽवधारयितुं मयाऽपसिद्धान्त उद्भाविते नायं विप्रतिपत्स्यत इति ।

नन्वस्त्वेवं विप्रतिपन्नं प्रति अपसिद्धान्तस्य दूषणत्वं प्रसाधनीयमिति । मैवम् ; येनाप्यस्वीकारदण्डेन दूषणेन तत्स्वीकारयिष्यसि, तदनङ्गीकारस्यापि सम्भवात् । उक्तञ्च सौगतैः—'न हि शास्त्राश्रया वादा भवन्तीति नापसिद्धान्तो निग्रहाधिकरणमिति ।'

'रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य गुणदोषमपश्यतः ।
विलब्धा बत केनामी सिद्धान्तविषयग्रहाः ॥' इति च । 51.

सिद्धान्तेति ॐ । स्वीकृतपरित्यागोऽपसिद्धान्त इति लक्षणतस्तस्य निग्रहत्वप्रतिपादनवैयर्थ्यप्रसङ्ग इत्यर्थः । न वैयर्थ्यमपसिद्धान्तदूषणत्वमङ्गीकृत्य यः स्वोक्तं परित्यजति स्वीकृतमपि तं प्रति तदुद्भावनस्यार्थवत्त्वादित्यत आह ॐ सर्वत्रेति ॐ । अपसिद्धान्तदोषमनङ्गीकृतवतः सुगतादेर्नये यथा व्याघात एवं तद्दूषणत्वमङ्गीकुर्वतो नैयायिकादेर्मतेऽपि व्याघात एव दूषणत्वेनोपन्यसनीय एकरूपप्रयोजनस्यैव युक्तत्वादित्यर्थः । यत्र मयाऽपसिद्धान्त उद्भाविते वादी विप्रतिपद्यत इति निश्चयस्तत्र व्याघातोद्भावनमितरत्रापसिद्धान्तस्येति विभागोऽप्यनुपपन्न इत्याह ॐ न हीति ॐ । तदुद्भावनात्प्राक् प्रमाणाभावेन विप्रतिपत्त्यभावो निश्चेतुमशक्य इत्यर्थः ।

विप्रतिपन्नम्प्रत्यपसिद्धान्तस्य दूषणत्वमापादनीयमित्युक्तमङ्गीकरोति ॐ नन्विति ॐ । दूषणत्वेन तदङ्गीकृतव्याघातादिदण्डेनापसिद्धान्तस्य दूषणत्वं साधनीयं तदपि न सम्भवति पूर्वसिद्धान्तवदेव व्याघातदण्डदूषणत्वावपि व्युत्थानसम्भवादिति परिहरति ॐ मैवमिति ॐ । एवम्भूत एव नास्ति यः स्वशास्त्रस्वीकृतमपि न स्वीकरिष्यतीत्यत आह ॐउक्तं चेतिॐ । रिक्तस्य ज्ञानलवेनापि हीनस्य जन्तोर्जननमरणादिधर्मिणः संसारिणो जातस्य केवलं जन्ममात्रप्रयोजनस्यात एव गुणदोषमपश्यतऽ—गुणदोषविवेकहीनस्य सिद्धान्तविषयग्रहाः क्षणिकत्वस्थिरत्वादिसिद्धान्तस्वीकाराः केन पापिष्ठेन विलब्धा अन्यथाऽर्थं जानतैवाऽऽहार्यभ्रान्तिमूलवाक्येन प्रतिपादिता इत्यर्थः । बतेति खेदे । कथायां प्रवृत्तत्वात्कथायाश्च शास्त्राश्रयत्वात्तस्य च सिद्धान्तविषयत्वात्सिद्धान्तः स्वीकार्य इत्यत आह ॐ न हीति ॐ । आहत्यापसिद्धान्तस्यानिग्रहत्वे

समाधान—अपसिद्धान्त का उद्भावन करने पर तो सब कहीं प्रतिज्ञाहानि का भय बना रहता है, क्योंकि 'मयाऽपसिद्धान्ते उद्भाविते नायं वादी विप्रतिपत्स्यते'—ऐसा निश्चय कहीं भी नहीं हो सकता, अतः प्रतिज्ञाहानि के भय से यदि अपसिद्धान्त का उद्भावन नहीं होता, तब कहीं भी उसका उद्भावन न हो सकेगा और वह अत्यन्त व्यर्थ होकर रह जायगा।

शङ्का - अपसिद्धान्त की दूषणता में जो विवाद खड़ा करता है, उसके प्रति अपसिद्धान्त में दूषणता सिद्ध कर देनी चाहिये।

समाधान—अपसिद्धान्त या अपसिद्धान्तगत दूषणत्व न मानने पर आप व्याघात दोष का भय दिखाकर ही अपसिद्धान्त स्वीकार करा सकते हैं कि 'किसी वस्तु का स्वीकार और अस्वीकार परस्पर विरुद्ध और व्याहत है, अतः अपसिद्धान्तगत दूषणता माननी चाहिये'। किन्तु उस व्याघातरूप भय का भी अनङ्गीकार सम्भव है। जैसा कि बौद्धों ने कहा है कि "नहि शास्त्राश्रया वादा भवन्तीति नापसिद्धान्तो निग्रहाधिकरणम्"। अर्थात् अपने-अपने शास्त्रों का केवल आश्रयण कर ही वाद कथा नहीं होती, अतः अपसिद्धान्त नाम का कोई निग्रहस्थान सम्भव नहीं। यह प्रश्न यहाँ स्वाभाविक उठ खड़ा होता है—

विरक्तस्य जन्तोर्जातस्य गुणदोषमपश्यतः ।
विलब्धा बत केनामी सिद्धान्तविषयग्रहाः ॥

तत्र कश्चिदाह—शास्त्रमनाश्रित्य कथारम्भानुपपत्तिः। यदा हि क्षणभङ्गसाधनप्रयोक्ता अस्फूर्तिमता स्थिरवादिना सिद्धसाधनमुद्भाव्य निगृह्यते तदा किं कुर्यात्? प्रथमविप्रतिपत्तिविरोधमुद्भावयेदिति चेत्, एवं तर्हि विप्रतिपत्त्यनुगुणप्रमेयान्तरव्यतिक्रममप्युद्भावयेदेव। अन्यथा विप्रतिपत्तिव्यतिक्रममप्युपेक्षेत, न खलु तत्तदनुगुणव्यतिक्रमयोर्विरोधापत्तिं प्रति कश्चिद्विशेषः। न चैकपुरुषार्थानुगुणाङ्गाङ्गिभावव्यवस्थितपदार्थ-

वचनमाह ❀ नेति ❀। निग्रहत्वाधिकरणमिति भावपरो निर्देशः।

इदानीं तात्पर्यपरिशुद्धौ तद्दूषणत्वसमर्थनमुदयनोक्तं दूषयितुमुपन्यस्यति ❀तत्रेति❀। कथारम्भानुपपत्त्या शास्त्रमाश्रयणीयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहरूपत्वात्कथाया इत्यर्थः। अस्तु शास्त्राश्रयणं तावताऽपसिद्धान्तस्य दूषणत्वे किमायातमित्यत आह ❀ यदा हीति ❀। यत्सत्तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्चामी भावा इति क्षणभङ्गसाधनानुमानप्रयोक्ता यदा सद्दूषणापरिस्फूर्तिमता सिद्धसाधनेन निगृह्येत तदा किं कुर्यात्? तम्प्रति तदनुद्धारवचने तस्यैवाप्रतिभानिग्रहेण पराजयप्रसङ्गस्तदुद्धारे वाऽपसिद्धान्तादन्यो निग्रहो नास्तीत्यर्थः। प्रथमोक्तविप्रतिपत्तिप्रतिपादकवाक्यविरोधस्वीकारद्योतकवाक्योद्भावनात्तयोर्वाक्यांशयोः परस्परविरुद्धार्थत्वादस्त्येव व्याघातो निग्रहान्तरं ततः पूर्वापरव्याघातलक्षणं निग्रहान्तरं किमिति नोद्भावयेदित्याशङ्कते ❀ प्रथमेति ❀। परिहरति ❀ एवमिति ❀। यत्र स्थिरवादी स्थैर्यलक्षणविप्रतिपत्तिविषयविपरीतं क्षणिकत्वं स्वीकृत्य केवलं दूषणं न वदति किन्तु विप्रतिपत्तिं परिहरति प्रतिपत्त्यनुगुणं यत्प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यं तत्र तद्विपरीतं स्वीकृत्य तत्रापि न्यायेन विरोधोऽवश्यं वाच्योऽवचने पूर्ववत्तस्य पराजयप्रसङ्गादित्यर्थः। प्रथमविप्रतिपत्तिव्यतिक्रमोद्भावनेऽपि तदनुगुणप्रमेयान्तरव्यतिक्रमः कस्मादुद्भाव्यत इत्यत आह ❀ न खल्विति ❀। तत्तदभावोपनायकयोर्यथा विरोधस्तथा तदनुगुणभावाभावोपनायकयोर्विरोधोऽविशिष्ट इत्यर्थः। तथाप्यपसिद्धान्तसमाश्रयणस्य किमायातमित्याशङ्क्य तदर्थं शास्त्रस्वरूपमाह ❀ न चेति ❀।

यह जीव किसी सिद्धान्तविशेष का ज्ञान साथ लेकर पैदा नहीं होता। किसी सिद्धान्त के गुण और दोष के विवेचन का सामर्थ्य भी नहीं रखता, फिर भी उसमें यह अपने-अपने सिद्धान्तों का आग्रह कैसे हो जाता है?

शङ्का—अपने न्यायपरिशिष्ट नाम के ग्रन्थ में श्री उदयनाचार्य ने कहा है कि किसी शास्त्र (दर्शन) का अवलम्बन किये विना पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात्मक वादादि कथा का आरम्भ ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब क्षण-भङ्गवादी (बौद्ध) क्षणभंगुरता सिद्ध करने के लिये अनुमान-प्रयोग करता है—"यत् सत्, तत् क्षणिकं यथा जलधरः, सन्तश्च भावा इमे" (ज्ञानश्री. पृ. १)। वहाँ यदि किसी स्थिरवादी प्रतिपक्षी अन्य किसी दोष की स्फूर्ति न होने पर सिद्धसाधनता का उद्भावन करता हुआ कह देता है कि प्रपञ्च में क्षणिकत्व हमें इष्ट ही है, अतः आप (बौद्ध) सिद्धसाधनता दोष के भागी हैं। तब वहाँ बौद्ध क्या करेगा? [यद्यपि स्थिरवादी के लिये स्थिरवाद को छोड़ कर क्षणिकवाद का मानना अपसिद्धान्त है, तथापि धर्मकीर्ति कहते हैं कि "इदमपि हेत्वाभासेष्वन्तर्भावात् न पृथग् वाच्यम्" (वा. न्या. पृ. १२९)। अपसिद्धान्त नाम का कोई पृथक् दोष न मानने के कारण बौद्ध उसका उद्भावन नहीं कर सकता]।

यदि बौद्ध कहता है कि पहले जब मध्यस्थ ने विप्रतिपत्ति वाक्य का प्रयोग किया था—'इदं क्षणिकम्, न वा?' तब आपने कहा था 'इदं क्षणिकं न' और अब उसके विपरीत क्षणिकत्व मान रहे हैं, अतः आप पर व्याघात दोष लागू होता है। तब बौद्ध को ही विप्रतिपत्ति की विषयीभूत स्थिरता के अनुगुण (उपायभूत) प्रत्यभिज्ञादि साधनों के स्वीकारास्वीकारात्मक व्याघात का भी उद्भावन करना होगा, अन्यथा स्थिरत्वरूप साध्यार्थ के स्वीकारास्वीकात्मक व्याघात की भी वह उपेक्षा कर देगा, क्योंकि साध्य के स्वीकारास्वीकाररूप

जातव्युत्पादनादन्यच्छास्त्रं नाम। तस्मात् क्षणिकत्वस्वीकारे तदनुगुणापोहादिसमस्तस्वीकारः, तदेकप ार वा समस्तत णपरिहार इति सर्वज्ञोऽपि नान्यथा प्रमातुं क्षमः। न च समस्ततदनुगुणपदार्थजातं कथारम्भे स्वशब्देनाभिधातुमुचितम्, तदेव शास्त्रप्रणयनप्रसङ्गात्, परिषदनपेक्षितत्वाच्च। न च तद्व्यतिक्रमोद्भावनाय समस्ततदनुगुणोहः परस्परस्य शास्त्रमनाश्रित्य शक्यः। न च तत्तदनुगुणव्यतिक्रमे तदुपेक्षणे वा तत्त्वप्रतिपत्तिजयाविति अकामेनापि तदधिकारप्रवृत्तं शास्त्रमेवाऽऽश्रयणीयमिति।

एकपुरुषार्थसम्बन्धोपकार्योपकारकभावव्यवस्थितस्य पदार्थजातस्य कात्स्न्येन प्रतिपादको ग्रंथः शास्त्रं शास्त्रद्वये निष्प्रयोजने प्रकरणादौ चातिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणानि। इदमत्रोदाहरणं स्थिरार्थज्ञानं निश्रेयसाधिगमः स्थैर्यं च प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्तन्मानत्वं च मानलक्षणयोगात्तल्लक्षणं च तर्कतोऽतिव्याप्त्यादिपरिहारेणेत्यादि स्थिरवादिना स्वीकार्यं तथा लक्षणपक्षादावपि द्रष्टव्यम्। यस्मादेव लक्षणं शास्त्रं तस्मादिति फलितमुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। क्षणिकत्वं प्रतिजानता प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यं खण्डनीयं तदप्रामाण्यं चानुगतभावे न सिद्ध्येद् अनुगतसामान्यं शब्दार्थो नास्ति किन्तु तदपोहस्तच्छब्दार्थं इत्यादि स्वीकार्यमित्यर्थः। तेषां हेतुहेतुमद्भावादेकपरित्याग इतरपरित्याग इत्याह ❀ तदेकेति ❀। तदनुगुणपरित्यागे तत्परित्यागे वाऽनुगतस्वीकृतपरित्यागादपसिद्धान्तसिद्धिरित्याशयः। स्यादेतत्सर्वं कथारम्भस्य शास्त्राश्रयणापेक्षित्वे, तदेव कुतः? शास्त्रापेक्षाव्यतिरेकेण तत्तदनुगुणपदार्थप्रतिपादनासम्भवादिति चेन्न, कथारम्भ एव तेषां स्वशब्देनाभिधानसम्भवादित्याशङ्क्याह ❀न चेति❀। कुत इत्यत आह ❀ तदेति ❀। तत्तदनुगुणपदार्थजातप्रतिपादने तदेव शास्त्रप्रणयनप्रसङ्ग इत्यर्थः। पूर्वप्रणीतशास्त्राभावे तत्परिज्ञातृपरिषदोऽभावेन तदनपेक्षत्वं च स्यादित्याह ❀ परिषदिति ❀। पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेऽपि नान्योन्यशास्त्रापेक्षा स्वीकृततदनुगुणव्यतिक्रमोद्भावनस्य तदेव तत्तदनुगुणप्रमेयोहेनापि सम्भवादित्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। तर्हि तदनुगुण उत्क्रम्यतां तदुत्क्रमो वाऽपेक्ष्यतां परेण को दोष इत्यत आह ❀ न चेति ❀। स्वीकृतपरित्यागोपेक्षायामन्यस्यापि दूषितस्य परित्यागेनान्यस्योपन्यासमम्भवान्न कथापर्यवसितिरित्यर्थः। तत्त्वनिर्णयो वादफलं विजयो जल्पादेः। पूर्वपक्षमुपसंहरति ❀ इत्यकामेनेति ❀। एकपुरुषार्थप्रतिबद्धाङ्गाङ्गिभावव्यवस्थितपदार्थजातप्रतिपादनमधिकृत्य शास्त्रं कथामाकाङ्क्षमाणैरनिच्छद्भिरप्यच्छमतिभिराश्रयणीयमित्यर्थः।

व्याघात की आपत्ति से साधनों के स्वीकारास्वीकाररूप व्याघात में कोई ऐसी विशेषता प्रतीत नहीं होती, जिसके आधार पर एक की उपेक्षा कर दूसरे को अपना सके। शास्त्र भी तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक पुरुषार्थ और उसके साधनों का अङ्गाङ्गीभावव्युत्पादन ही कहलाता है, इससे अन्य और शास्त्र क्या होगा? अत: क्षणिकत्व को मानने पर उसके उपायभूत अपोहादि समस्त परिवार को मानना होगा, उनमें से एक (साध्य) का परित्याग करने पर उसके समस्त साधनों का त्याग करना होगा—इसके विपरीत नियम का दर्शन कोई सर्वज्ञ भी नहीं कर सकता। इस प्रकार शास्त्रों की मर्यादा में रह कर ही कथाक्रम चलाया जा सकता है।

हाँ, आरम्भ में ही शास्त्र-प्रतिपादित समस्त साध्य-साधन पदार्थों का विस्तार से कथन उचित नहीं, अन्यथा उसी समय समस्त शास्त्र का वर्णन करना होगा, समुपस्थित सभासद वैसा चाहते भी नहीं। साध्यांश में प्राप्त व्याघात का उपपादन करने के लिये साधनांश के व्याघात का उद्भावन शास्त्र की अपेक्षा के बिना सम्भव नहीं, साध्य के मानने से साधन का मानना और साध्य की उपेक्षा से साधन की उपेक्षा किये विना न तो वाद का प्रयोजन तत्त्व-निर्णय सम्पन्न हो सकता है और न जल्पादि का फल विजय प्राप्त किया जा सकता है, अत: इच्छा न रहने पर भी वादिगणों को व्यवस्थिताधिकार-प्रतिपादक शास्त्रों का सहारा लेना होगा।

तदेतदपेशलम्, किं तदनुगुणं प्रमेयान्तरं यदनभ्युपगमे विरोधमुद्भावयेदित्युच्यते? द्वयमभ्युपगम्यं सम्भवति। एकं तावद्यदनभ्युपगमे कथैव प्रवर्तयितुमशक्या, यथा प्रमाणादि सर्वकथकसिद्धम्। इतरत्तु प्रतिदर्शनसिद्धं किञ्चित्, यथा क्षणभङ्गेश्वरादि। तत्र यदि प्रथममभ्युपगम्यैव कथाप्रवृत्तिरिति तत्स्वीकारे पश्चात्तदनङ्गीकारोऽपसिद्धान्तः। तन्न, स्वव्याघातकत्वेन तस्य भवद्भिरेव जातित्वाङ्गीकारात्। जातेश्च निरनुयोज्यानुयोगे निवेशात्।

नापि द्वितीयः, दर्शनभेदनियतं हि क्षणभङ्गादि यत्कथारम्भेऽभ्युपगन्तव्यं तत्र, तदभ्युपगमस्य प्रकृतसाध्यापोहाद्युपायतया, उत तन्नान्तरीयकतया? न प्रथमः, क्षणभङ्गसाधनप्रस्तावे अपोहादि परित्यजतः सौगतस्यापसिद्धान्ताभावापत्तेः, तदभ्यु-

---

यदनङ्गीकारे तदनुगुणपदार्थविरोधमुद्भाव्यं मन्यसे स एव निरूपयितुमशक्य इत्यभिप्रेत्य परिहरति ❀ तदिति ❀। तदुपपादनीयाभ्युपगम्यं यत्तदाह ❀ द्वयमिति ❀। तदेव द्वयमपि विविच्य दर्शयति ❀ एकमिति ❀। तदेवोदाहरणेन दर्शयति ❀ यथेति ❀। इदमेकममस्तु किं तदपरमभ्युपगम्यमित्यत आह ❀ इतरदिति ❀। तदप्युदाहरणेन दर्शयति ❀ यथेति ❀। क्षणभङ्गो बौद्धस्य, नैयायिकादेरीश्वरो, नियोगः प्राभाकरादेः, स्वतन्त्रसिद्धत्वादित्यर्थः। एवमभ्युपगम्यद्वयं विविच्य दर्शयित्वाऽपसिद्धान्तस्वरूपमनुवदति दूषणाय ❀ तत्रेति ❀। कथाप्रवृत्त्यनुपपत्त्या प्रमाणाद्यङ्गीकृत्य पश्चात्तदनङ्गीकारोऽपसिद्धान्तो मतो यदि इत्यर्थः। निग्रहान्तरत्वान्नासावपसिद्धान्त इति दूषयति ❀ तन्नेति ❀। कथामूलतया स्वीकृतस्य परित्यागः स्वीकृतकथाविरोधितया स्वव्याघातकत्वेन जातिरिति भवद्भिरेव स्वीक्रियते इत्यर्थः। जातिरप्यपसिद्धान्तान्तर्भूतैवेति नेत्याह ❀ जातेश्चेति ❀।

प्रतिदर्शनसिद्धक्षणभङ्गाद्यभ्युपगम्य पश्चात्तत्यागोऽपसिद्धान्त इति द्वितीयं दूषयति ❀ नापीति ❀। तदुपपादनायैव विकल्पयति ❀ दर्शनेति ❀। तदभ्युपगमत्वस्य प्रकृतसाध्यहेतुत्वादुत व्यापकत्वादिति विकल्पार्थः। प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। उपायतया स्वीकृतस्य परित्यागोऽपसिद्धान्तश्चेत् क्षणिकत्वसाधनकालेऽपोहादित्यागोऽपसिद्धान्तो न स्यादित्यव्याप्तिरित्यर्थः। कुत इत्यत आह ❀ तदिति ❀। क्षणिकत्वस्यैवापोहादिहेतुत्वेनापोहादेः क्षणिकत्वोपायत्वाभावादित्यर्थः। क्षणिकत्वाभ्युपगमो यथाऽपोहा-

---

समाधान—आचार्य उदयन का उक्त प्रतिपादन निरवद्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अवश्य स्वीकरणीय प्रमेयान्तर कौन है, जिसका अभ्युपगम न करने पर व्याघात या अपसिद्धान्त का उद्भावन किया जा सकता है? यहाँ (कथा में) दो पदार्थ अवश्य स्वीकरणीय माने जाते हैं—(१) एक वह पदार्थ है, जिसका न मानने पर कथा (शास्त्र-चर्चा) ही चल नहीं सकती, जैसे—सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्ध प्रामाणादि पदार्थ। (२) दूसरा वह पदार्थ है, जो कि प्रत्येक दर्शन का विशिष्ट प्रतिपाद्य होता है, जैसे बौद्धादि प्रतितन्त्र-सिद्धान्त-सिद्ध क्षणभङ्गवादादि। इनमें यदि प्रथम (प्रमाणादि) को मान कर ही कथा की प्रवृत्ति और पश्चात् न मानने पर अपसिद्धान्त दोष माना जाता है, तो वह संगत नहीं, क्योंकि आपने ही ऐसे स्वीकारपूर्वक अस्वीकार को स्वव्याघातक या जात्युत्तर माना है। जात्युत्तर का निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान में अन्तर्भाव माना गया है।

दूसरा पदार्थ विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि क्षणभङ्गादि है, जो कि कथा के आरम्भ में स्वीकार किया जाता है, वह क्या प्रकृत साध्य अपोहादि की सिद्धि का उपाय होने के कारण स्वीकरणीय है? अथवा अपोहादि का नान्तरीयक (व्यापक) होने के कारण? प्रथम पक्ष के अनुसार यदि अपोह की सिद्धि को क्षणभङ्गाभ्युपगम का उपाय माना जाता है, तब क्षणभङ्ग की सिद्धि में उद्यत बौद्ध को अपोह का त्याग कर देने पर अपसिद्धान्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि अपोह का अभ्युपगम क्षणभङ्ग का साधक नहीं माना जाता। यदि क्षणभङ्ग और

पगमस्य तदनुपायत्वात्। अन्योन्याभ्युपगमोपायत्वे चान्योन्यविचारस्य निष्पत्तिरेव न स्यात्, विचारे सति प्रामाणिकत्वप्रतीतौ तदभ्युपगमः, तदभ्युपगमे च विचार इति। अभ्युपगतोपायत्यागविषय एवायमपसिद्धान्तो नान्यत्रेति चेन्न, यो हि यदुपायस्तमभ्युपगम्य विचारः प्रवर्तयितव्य इत्येव कुतः? तस्योपायतया तेन विचारः प्रवर्तयितव्य इत्येव युक्तम्, न तु तदभ्युपगमोऽपि तावता तदुपायः स्यात्। तस्य च तदभ्युपगमस्य च पृथक्कारणत्वाभ्युपगमे प्रमाणस्योपदर्शयितुमशक्यत्वात्। शक्यत्वेऽपि वा तत्रापि स्वाभ्युपगमः किमित्यभ्युपेयो वैयर्थ्यात्, उपायत्वादेव परस्य तथा प्रतीत्युपपत्तेः।

अथोच्यते—उपेयमुपायेन साधयता उपेयवदुपायस्यापि सत्त्वमुपगन्तव्यमिति। पश्चात्तदनुपगमेऽपसिद्धान्तोपन्यासः सावकाशः, असत उपायत्वानुपपत्तेः।

द्यभ्युपगमोपायस्तथाऽपोहाद्यभ्युपगमोऽपि क्षणिकत्वोपगमस्येत्यत आह ❀ अन्योन्येति ❀। अन्योन्योपायत्वेऽन्योन्यविचारानिष्पत्तिरेव कस्मादित्यत आह ❀ विचारे सतीति ❀। एकस्य विचारेण प्रामाणिकत्वप्रतीतावन्यस्य तदुपायतया प्रामाणिकत्वमेवमितरत्रापीति परस्पराश्रयत्वमित्यर्थः। अस्तु तर्हि क्षणिकत्वस्यैवापोहोपायत्वादपोहप्रस्तावे क्षणिकत्वप्रस्तावे तत्याग एवापसिद्धान्त इति शङ्कते ❀ अभ्युपगतेति ❀। अपोहादि विचारयता क्षणिकत्वस्यैवाभ्युपगन्तव्यत्वे मानाभावादिति परिहरति ❀ नेति ❀। कथं तर्हि युक्तमित्यत आह ❀ तस्येति ❀। स चेद्धेतुस्तदभ्युपगमोऽपि हेतुः स्यादित्यत आह ❀न त्विति❀। उभयोः कारणत्वे प्रमाणाभावाद् गौरवाच्चेति हेतुमाह ❀ तस्येति ❀। अनन्यथासिद्धसन्निधित्वमेव प्रमाणमित्याशङ्कयाङ्गीकरोति ❀ शक्यत्व इति ❀। अङ्गीकृतमनेनेदमिति परस्य तत्प्रतीतिरेव प्रयोजनमित्यत आह ❀ उपायेति ❀।

शास्त्राधिगताभ्युपगमवैयर्थ्येऽपि प्रमाणोपनीताभ्युपगममाश्रित्यापसिद्धान्तप्रवृत्तिर्भवतीति शङ्कते ❀ अथेति ❀। उपेयमिच्छतोपायस्वरूपं तावदाश्रयणीयं न तत्सत्त्वमपि प्रमाणाभावादित्यत आह ❀ अत

अपोहाभ्युपगम में परस्पर साध्य-साधनभाव माना जाता है, तब अन्योऽन्याश्रय दोष के कारण उनके विचार की निष्पत्ति नहीं होती, क्योंकि विचार हो जाने पर प्रामाणिकत्व की प्रतीति एवं क्षणभङ्गादि का अभ्युपगम और अभ्युपगम होने पर विचार की प्रवृत्ति होगी।

किसी वाञ्छनीय वस्तु के उपाय के रूप में माने गये पदार्थ का त्याग अपसिद्धान्त माना गया है, किन्तु जो जिसका उपाय होता है, उसका अभ्युपगम होने पर ही विचार की प्रवृत्ति होगी—यह नियम ही क्यों माना जाय? विचार का उपाय (कारण) विद्यमान है, अतः विचार की प्रवृत्ति हो जाती है—इतना मानना ही पर्याप्त है, उपाय के अभ्युपगम की क्या आवश्यकता? उपाय और उपाय के अभ्युपगम—इन दोनों में विचार की पृथक् कारणता है—यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि किसी प्रमाण से वैसा सिद्ध भी होता हो, तब भी उपाय का अभ्युपगम व्यर्थ है, उसके मानने का क्या प्रयोजन? 'यह उपाय है'—इस प्रकार का प्रतिवादी को बोध कराने के लिये भी उपाय का अभ्युपगम आवश्यक नहीं, क्योंकि उसके पूर्व वर्तमान होने मात्र से उसमें उपायता की प्रतीति प्रतिवादी को हो जाती है। फलतः उपाय का अभ्युपगम जब होता ही नहीं, तब उसका त्यागरूप अपसिद्धान्त भी सम्भव नहीं।

शङ्का—किसी उपेय (अग्न्यादि साध्य) पदार्थ की सिद्धि करने के लिये उपेय के समान धूमादि उपाय की सत्ता अवश्य माननी चाहिये, उस माने हुये पदार्थ का पश्चात् त्याग अपसिद्धान्त हो जाता है। यह ध्रुव सत्य है कि असत् पदार्थ कभी भी किसी का उपाय या कारण नहीं बन सकता, क्योंकि कार्य-पूर्व सत् वस्तु को ही कारण माना जाता है।

तर्ह्युपायत्वेनोपन्यसनात् तत्सत्त्वाभ्युपगमः, तस्य साक्षादश्रुतोऽप्यसत्त्वेनाभ्युपगम्यमानस्य उपायत्वस्वीकारानुपपत्त्या कल्पनीयः। कल्पितेन तेन श्रूयमाणतत्सत्त्वानभ्युपगमविरोधादपसिद्धान्तोऽभिधेयः। एवञ्च सति सत्त्वानभ्युपगम एवोपायत्वानुपपत्तिप्रसङ्गो दूषणमुच्यतामुपजीव्यत्वात्, तदुपन्यासमन्तरेण अश्रूयमाणतदीयाभ्युपगमस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् कृतं तदुपजीविना पश्चात्तनेन अपसिद्धान्तेन।

अत एव न द्वितीयः, तन्नान्तरीयकाभ्युपगमोऽपि हि तत्सत्तानभ्युपगमे साध्यस्याभावापत्त्याऽनुमन्तव्यः। तथा च सैव दूषणमस्त्वनभ्युपगमे, कृतं तयाऽभ्युपगमं परिकल्प्य तेनानभ्युपगमविरोधादपसिद्धान्तोपन्यासेनेति।

इति ॐ। सम्भाव्य लघूपायतयाऽपसिद्धान्तोद्भावनस्य वैयर्थ्यमभिप्रेत्य परिहरति ॐ तर्हीति ॐ। नियतप्राक्सत्त्वकारणत्वान्यथानुपपत्त्या साधनस्य सत्त्वं कल्प्यतां किमेतावतेत्यत आह ॐ कल्पितेति ॐ। कारणत्वानुपपत्त्या कल्पिताश्रूयमाणसत्त्वाभ्युपगमविरोधेनाऽपसिद्धान्तोपन्यास इत्युक्तं स्यादित्यर्थः। अस्त्वेवमेव को दोष इत्यत आह ॐ एवञ्चेति ॐ। सत्त्वाभ्युपगमे करणत्वानुपपत्तिरेवानिष्टं दूषणमुच्यतां वृथाऽपसिद्धान्त इत्यर्थः। हेतुमाह ॐ उपजीव्येति ॐ। तदुपजीव्यत्वमेवासिद्धं सत्त्वाभ्युपगमस्येत्यत आह ॐ तदिति ॐ। एवं चोपजीव्यतयाऽवश्यप्रथमप्रत्येतव्यस्य लघूपायस्यान्यस्य सम्भवे पश्चात्प्रतीतिकापसिद्धान्तोपन्यासो गौरवात्प्रयोजनाभावाच्चानुपपन्न इत्याह ॐ कृतमिति।

तन्नान्तरीयकतया तदभ्युपगम इति द्वितीयकल्पेऽप्युक्तखण्डनमतिदिशति ॐ अत इति ॐ। अतिदिश्यमानं खण्डनमेव दर्शयति ॐ तदिति ॐ। किं वायातमिति चेदिदमत्रायातमित्याह ॐ तथा चेति ॐ। सत्तानभ्युपगमे साध्यानुपपत्तिमुपजीव्य तत्सत्ताभ्युपगमं परिकल्प्य पश्चात्तत्त्यागेनापसिद्धान्तोपन्यासाद्वरं प्रथमत एव स्वसाध्यनिष्पत्त्युपन्यास इत्यर्थः। इति शब्दः समाप्तौ। अनुक्तनिग्रहान्तरेष्वपि यथासम्भवं खण्डनमूहनीयमित्याह ॐ एवमिति ॐ। सामान्यलक्षणमेव तावत्कथकाशक्तिसूचकं निग्रहस्थानमिति न सम्भवति ज्योतिःशास्त्रादावतिव्याप्तेः। कथकपराजयनिमित्तमित्यपि न। तदुदीरितेऽतिव्याप्तेरेवं शब्दोऽर्थतश्च पुनर्वचनं पुनरुक्तमित्यपि न। वादान्तरे शब्दानित्यत्वसाधनमुपन्यस्य कालान्तरे तदुपन्यासे गतत्वात्तवेत्यादिविशेषणोपादाने हेत्वन्तरं तच्छब्दार्थानिर्वचनं च। एवमेव सर्वनिग्रहविशेषलक्षणेषु तच्छब्दाविवि-

---

समाधान—वादी ने जिसका उपायत्वेन उपन्यास किया है, उसकी सत्ता माननी होगी, यद्यपि उसकी सत्ता साक्षात् श्रुत नहीं, तथापि असत् पदार्थ में उपायत्वाभ्युपगम उपपन्न नहीं हो सकता, अतः उपायत्वान्यथानुपपत्ति के द्वारा उपायसत्त्वाभ्युपगम कल्पनीय है। कल्पित सत्त्वाभ्युपगम का श्रूयमाण सत्त्वानभ्युपगम के साथ विरोध आ जाने के कारण अपसिद्धान्त का अभिधान करना होगा। इस प्रकार तो सत्त्वानभ्युपगम-प्रसञ्जित उपायत्वानुपपत्ति को ही दोष मानना चाहिये, क्योंकि वह अपसिद्धान्त की उपजीव्य है, उसके उपन्यास के बिना अश्रूयमाण सत्त्वाभ्युपगम दिखाया नहीं जा सकता, अतः उपजीव्यभूत उपायत्वानुपपत्ति को ही दोष मानना आवश्यक है, उस पर आधृत उसके पश्चाद्भावी अपसिद्धान्त के उद्भावन की आवश्यकता नहीं।

द्वितीय (तन्नान्तरीयकतया) के अनुसार क्षणिकत्व की सत्ता न मानने पर अपोहरूप साध्य का अभाव प्रसक्त होता है, अतः व्याप्यरूप अपोह के द्वारा व्यापकीभूत क्षणिकत्व की कल्पना की जाती है। इस प्रकार क्षणिकत्व के अभाव में अपोहाभ्युपगम की अनुपपत्ति को ही दोष मानना चाहिये, उसके द्वारा कल्पित क्षणिकत्वाभ्युपगम के साथ श्रूयमाण क्षणिकत्वानभ्युपगम का विरोध दिखा कर अपसिद्धान्तोद्भावन की क्या आवश्यकता? अपसिद्धान्त-

एवं निग्रहान्तरखण्डनमूहनीयम् ।

इति कवितार्किकचक्रवर्तिश्रीश्रीहर्षकृते
खण्डनखण्डखाद्ये निग्रहानिरुक्तिर्नाम
द्वितीयः परिच्छेदः ।

विशेषणानुपादानेऽननुगमावित्येषा दिगिति ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याभयानन्दपूज्यपादशिष्यस्य
भगवदानन्दपूर्णस्य कृतौ खण्डनफक्किकाविभजने
निग्रहानिरुक्ति र्नाम
द्वितीयः परिच्छेदः

खण्डन के समान ही अन्य निग्रहस्थानों का भी खण्डन कर देना चाहिए।

निग्रहस्थानसंत्रस्ता ये जना दिवि वा भुवि ।
निर्भयास्तेऽपि भूयासुः निग्रहस्थानमुद्धृतम् ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दोदासीनविरचितायां
खण्डनपञ्जिकायां
द्वितीयः परिच्छेदः

तृतीयः परिच्छेदः

१. सर्वनामार्थखण्डनम्

अथ यान्यवलम्ब्य बहुलं वाग्व्यवहारास्तेषां सर्वनाम्नामर्थाः कथं निर्वाच्याः ? तथा हि—ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणमिति ब्रुवाणः प्रतिवक्तव्यः, किंशब्दोऽयमाक्षेपार्थो वा ? कुत्सितार्थो वा ? वितर्कार्थो वा ? प्रश्नार्थो वा स्यात् ? तत्र यदि प्रथमः पक्षः, तदेश्वरसद्भावे नास्ति प्रमाणमित्युक्तं स्यात्। तथा च सति न प्रतिज्ञामात्रात्साध्यसिद्धिरिति हेत्वादिकं वाच्यं भवति। तच्च भवता नाभ्यधायि, तस्मात् न्यूनत्वं

एवं तावत्प्रमाणतदाभासनिग्रहस्थानानिर्वचनीयत्वप्रपञ्चेनाद्वैतविरोधं परिहृत्य प्रश्नसत्त्वेनाद्वैतविरोधमाशङ्क्य तत्परिहारायोपक्रमते ❀ अथेति ❀ । अथशब्दोऽधिकारार्थः । सर्वनामनिर्वचनानर्हता प्रस्तुता वेदितव्या । बहुलग्रहणं तत्खण्डनानां सार्वत्रिकत्वप्रकटनाय । सर्वनामार्थनिर्वचने काऽनुपपत्तिरित्याशङ्क्यानुपपत्तिं दर्शयितुं प्रश्नमुत्थापयति ❀तथा हीति❀ । किंशब्दस्यानेकार्थसाधारणत्वात् विकल्पयति ❀किमित्यादिना❀ । आक्षेपार्थत्वमभावप्रतिपादनार्थत्वम्, कुत्सितार्थत्वं दुष्टत्वप्रतिपादनार्थत्वम्, वितर्कार्थत्वं सन्देहार्थत्वम्, प्रश्नार्थत्वं जिज्ञासाविषयत्वापादनार्थत्वम्, तत्र प्रथमकल्पानुवादेन वाक्यस्य परिनिष्पन्नमर्थं दर्शयति ❀ तत्रेति ❀ । भवत्वयमर्थस्तथाऽपि को दोष इत्यत आह ❀ तथा चेति ❀ । प्रतिज्ञामात्रात्साध्यसिद्धिर्विपरीतप्रतिज्ञाया अपि सुलभत्वादिति हेतुदृष्टान्तादिकं वक्तव्यमापद्यते इत्यर्थः । हेत्वादिकमपि कथितमेवार्थादित्याशङ्क्य तद्द्योतकपदाभावात्नेत्याह ❀ तच्चेति ❀ । तथापि किमनिष्टमापन्नमित्यत

नैकार्थैः पदैर्लक्ष्यः, न लक्ष्यः सर्वनामभिः।
अलक्ष्य एव लक्ष्योऽसौ श्रेयसे स्यात्सदा मुदे ।।

१. सर्वनामार्थ-खण्डन

["सर्वादीनि सर्वनामानि" (पा. सू. १।१।२७) इस सूत्र के द्वारा सर्वादि गण में पठित शब्दों की सर्वनाम संज्ञा की गई है। सर्वादिगण-पठित शब्द हैं—सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम, पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर वे ही पूर्वादि शब्द यहाँ गृहीत हैं, जो किसी की संज्ञा नहीं और व्यवस्थार्थक हैं)। जाति और धनरूप अर्थ में अविद्यमान स्वशब्द, वहिर्योग और उपसंव्यानार्थक अन्तर शब्द, त्यद्, तद्, एतत, इदम्, अदस्, एक, द्वि, अस्मद्, यष्मद्, भवतु और किं शब्द)। भाष्यकार ने 'सर्वनाम' संज्ञा को अन्वर्थक माना है—अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत, सर्वेषां नामानीति अतः सर्वनामानीति अर्थात् सर्वार्थ-वाचक होने के कारण सर्वादि शब्दों की 'सर्वनाम' संज्ञा की जाती है]। जिन सर्वनामसंज्ञक शब्दों के माध्यम से लोक में विविध व्यवहार सम्पन्न किया जाता है, उन सर्वनामसंज्ञक शब्दों के अर्थ का निर्वचन कैसे होगा ? जैसे किसी का प्रश्न-वाक्य है—'ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणम् ?' यहाँ प्रश्न-कर्त्ता से पूछना चाहिये कि प्रश्न-घटक 'किम्' शब्द यहाँ (१) आक्षेपार्थक है ? या (२) कुत्सितार्थक ? या (३) वितर्कार्थक ? अथवा (४) प्रश्नार्थक है ? यदि प्रथम (आक्षेपार्थक) पक्ष माना जाता है, तब 'ईश्वर सद्भावे नास्ति प्रमाणम्'—यह अर्थ पर्यवसित होता है, किन्तु प्रतिज्ञामात्र से तो कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, अतः किसी हेत्वादि का अभिधान करना चाहिये था, वह आप (प्रश्नकर्त्ता) ने

दोषः। अत एव न द्वितीयः, ईश्वरसद्भावे कुत्सितं प्रमाणमित्यस्यापि प्रतिज्ञामात्रत्वात्।

अपि च—साध्यासाधकत्वाद्वा तत् कुत्स्यते भवता, अन्यथा वा? अन्यथा चेदलं तदुद्भावनया, साध्यसिद्धेरप्रत्यूहत्वात्। नापि प्रथमः, प्रमाणञ्च साध्यसाधकञ्चेति व्याघातात्।

गौणोऽयं प्रमाणशब्द इति चेन्न, प्रमाणत्वयोगिनि यद्ययं प्रमाणशब्दप्रयोगस्तदा गौणत्वव्याघातो मुख्यत्वात्। अथ प्रमाणाभासे, तदा अलं तदुद्भावनया। ईश्वरसद्भावे यः प्रमाणाभासः कुत्सित इत्यत्र परस्यापि सम्प्रतिपन्नत्वात्। ईश्वरसद्भाव इति च विशेषोपादानं व्यर्थं स्यात्, अन्यत्रापि हि विषये प्रमाणाभासः कुत्सित एव,

---

आह ❀ तस्मादिति ❀। उक्तन्यायं द्वितीयकल्पेऽप्यतिदिशति ❀ अत इति ❀ ; परामृष्टमेव हेतुं स्पष्टयति ❀ ईश्वरेति ❀

खण्डनान्तरमाह ❀ अपि चेति ❀। साध्यासाधकत्वं प्रमाणस्य कुत्सितत्वमुतान्यदिति विकल्पार्थः। अन्तिमकल्पमल्पत्वात् प्रथममनूद्य दूषयति ❀ अन्यथेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ साध्येति ❀। अन्यप्रकारनिमित्तप्रमाणकुत्सनेऽपि साध्यसाधकत्वात्प्रमाणात्साध्यसिद्धेरप्रतिबन्धेनोत्पन्नत्वादित्यर्थः। साध्यासाधकत्वमेव कुत्सितत्वमिति प्रथमं प्रत्याह ❀नापीति❀। कुत इत्यत आह ❀ प्रमाणं चेति ❀। प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणत्वात्तत्साधकमिति वाक्यांशयोः परस्परव्याघात इत्यर्थः। उपचरिताग्निभावस्य माणवकस्यादाहकत्ववदुपचरितप्रमाणभावस्यासाधकत्वप्रतिपादनान्न कश्चिद्व्याघात इति शङ्कते ❀ गौण इति ❀। प्रमाणत्वसामान्यवति प्रमाणशब्दोपचार उत प्रमाणवदवभासमाने तल्लक्षणरहित इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। मुख्यार्थगुणयोगादर्थान्तरवृत्तेर्गौणत्वान्मुख्ये च तदभावाद्विरोध इत्यर्थः। द्वितीयमाशङ्कते ❀ अथेति ❀। प्रमाणाभासस्य कुत्सितत्वोद्भावना न कार्येति परिहरति ❀ अलमिति ❀। इष्टापादनत्वेन तर्काभासत्वादिति हेतुमाह ❀ ईश्वरेति ❀। प्रमाणाभासस्य कुत्सितत्वापादनपक्षे व्यर्थविशेषणताऽऽपादनवाक्यस्येत्याह ❀ ईश्वरेति ❀। तदेव वैयर्थ्यमुपपादयति ❀ अन्यत्रेति ❀।

नहीं किया, अतः आप पर न्यूनसंज्ञक निग्रहस्थान लागू होता है। द्वितीय पक्ष में भी 'ईश्वर सद्भावे कुत्सितं प्रमाणम्—ऐसी प्रतिज्ञा ही प्रतीत होती है, हेत्वादि नहीं। यह भी जिज्ञासा होती है कि प्रमाणगत कुत्सितता (निन्दनीयता) क्या अपने साध्य की साधकता न होने के कारण मानी जाती है ? अथवा अन्य किसी कारण से ? साध्य-साधकता होने पर भी यदि किसी अन्य कारण से ही प्रमाण की निन्दा की जाती है, तब कुत्सितता का प्रकृत में उद्भावन व्यर्थ है, क्योंकि उससे साध्य (ईश्वर) की सिद्धि तो निर्विघ्न हो जाती है। प्रथम कल्प के अनुसार यदि साध्य की साधकता न होने के कारण प्रमाण की निन्दा की जाती है, तब व्याघात दोष आता है, क्योंकि कोई पदार्थ प्रमाण भी हो और साध्य का असाधक भी—यह कभी सम्भव नहीं, क्योंकि सिद्धि का अर्थ होता है—प्रमा। जो प्रमाण है, साध्य की प्रमा का जनक या साध्य का साधक है, वह असाधक क्योंकर होगा ? 'यहाँ 'प्रमाण' शब्द मुख्यार्थक नहीं, अपितु गौणार्थक है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह 'प्रमाण' शब्द 'प्रमाणत्व' धर्म को प्रवृत्ति-निमित्त मान कर यदि प्रवृत्त होता है, तब मुख्यार्थक ही है, गौणार्थक नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाणाभास में यह प्रमाण शब्द प्रवृत्त हुआ है, तब उसमें कुत्सितत्वोद्भावन व्यर्थ है, क्योंकि जो ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण नहीं, प्रमाणाभास है, वह कुत्सित प्रमाण है—यह वादी भी जानता है, उभय-सम्मत दोष का उद्भावन नहीं किया जाता। दूसरी बात यह भी है कि यदि प्रमाण कुत्सित है, तब 'इदं प्रमाणं कुत्सितम्'—इतना ही कहना चाहिये 'ईश्वरसद्भावे'—ऐसा विषयविशेष का निर्देश व्यर्थ है, क्योंकि जो कुत्सित है,

साध्यासाधकत्वात्।

नापि तृतीयः, तथा सति हि वितर्कस्य पक्षान्तरसापेक्षत्वेन पक्षान्तरमपि वचनीयं भवति—ईश्वरसद्भावे किमेतत् प्रमाणमुत अन्यदिति। तच्च भवता नाभ्यधायि, ततो न्यूनत्वं दोषः।

नापि चतुर्थः, प्रश्नार्थात् खलु किंशब्दात्कस्यचित् पदार्थस्य जिज्ञास्यमानता प्रतीयते। सा चेह प्रमाणपदसमभिव्याहारात् प्रमाणविषयिणी प्रतीयते। यद्विषयश्च प्रश्नस्तदुत्तरवादिनाऽभिधेयम्। तदयं प्रश्न ईश्वरसद्भावे प्रमाणसामान्यविषयस्तद्विशेषविषयो वाऽभिप्रेतः? आद्यश्चेत्, ईश्वरसद्भावे प्रमाणमित्येवोत्तरमापद्येत, यद्विषयो हि प्रश्नस्तदभिधेयम्। प्रमाणसामान्यविषयश्च प्रश्नः, तच्च प्रमाणशब्देना-

---

"सम्भवे व्यभिचारे च स्यात् विशेषणमर्थवद्" इति न्यायेनात्राऽकुत्सितप्रमाणाभासव्यावृत्त्यर्थमीश्वरेति विशेषणं वाच्यं तच्च व्यावर्त्यं नास्तीत्यर्थः।

वितर्कार्थः किंशब्द इति तृतीयं परास्यति ॐ नापीति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ तथेति ॐ। अनेककोटयवलम्बिप्रत्ययस्य संशयत्वात्प्रमाणकोटयतिरिक्तकोटयन्तरमपि दर्शनीयमित्यर्थः। अभिनयेन पक्षान्तरविवेचनं दर्शयति ॐ ईश्वरेति ॐ। अन्यदप्रमाणमितियावत्। ततः किमित्यत आह ॐ तच्चेति ॐ। तथाऽपि किं दूषणमित्यत आह ॐ तत इति ॐ।

किंशब्दः प्रश्नार्थ इति चतुर्थं प्रतिक्षिपति ॐ नापीति ॐ। काऽनुपपत्तिरित्याशङ्क्य तां दर्शयितुं प्रश्नवाक्ये प्रतीयमानं दर्शयति ॐ प्रश्नेति ॐ। प्रश्नस्य जिज्ञासाविनाभूतत्वात्तस्याश्चेष्यमाणज्ञानविषयत्वात्प्रश्नप्रतिपादकेन किंशब्देन कश्चिदर्थो ज्ञातुमिष्यत इति प्रतीयत इत्यर्थः। जिज्ञास्यमानता च प्रमाणस्यैव प्रतीयत इत्याह ॐ सा चेति ॐ। प्रमाणपदसमभिव्याहारबलात्प्रमाणस्यैव जिज्ञास्यमानता प्रतीयतां नाम तावता प्रस्तुते किं स्यादित्यत आह ॐ यदिति ॐ। यत्पृष्टं तदेव वक्तव्यमन्यथाऽऽम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्ट इतिवदनवधेयवचनत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। ततो वा किमित्याशङ्क्य प्रतिवचनप्रकारं दर्शयितुं प्रश्नविषयं विकल्पयति ॐ ईश्वरेति ॐ। सामान्यव्यतिरेकेण विशेषसिद्ध्यभावात्सामान्यविषय एवायं प्रश्न इति प्रथममनूद्योत्तरमाह ॐ आद्यश्चेदिति ॐ। कुत इत्यपेक्षायां प्रागुक्तमेव हेतुं स्मारयति ॐ यदिति ॐ। किंशब्दप्रतिपादितस्य प्रश्नस्य प्रमाणसामान्यमेव विषय इत्याह ॐ प्रमेति ॐ। प्रमाणसामान्यविषयत्वे प्रश्नस्य प्रमाणमित्युत्तरं कथं सङ्गच्छते तद्वाचकपदाभावेन तत्प्रतीत्यसम्भवादित्यत आह ॐ तच्चेति ॐ।

वह किसी भी विषय का साधक नहीं होता, अतः अन्य विषय का भी साधक न होने के कारण सामान्यतः सभी विषयों के लिये वह कुत्सित है।

तृतीय (वितर्कार्थक) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि वितर्क नाम है—संशय का, संशय उभयकोटिक होता है, अतः कोट्यन्तर का भी उल्लेख करना होगा—'ईश्वरसद्भावे किमेतत् प्रमाणम्? उत अन्यत्? पक्षान्तर का निर्देश आपने नहीं किया, अतः आप न्यूनत्वरूप निग्रहस्थान से निगृहीत हैं।

चतुर्थ (प्रश्नार्थक) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि जिज्ञासापूर्वक ही प्रश्न होता है, अतः प्रश्नार्थक 'किम्' शब्द के द्वारा किसी वस्तु की जिज्ञासा झलक रही है, 'प्रमाण' शब्द का सान्निध्य प्रमाणविषयिणी जिज्ञासा का द्योतक है। जिस विषय में प्रश्न हो, उत्तरवादी को उसी विषय का उत्तर देना चाहिये। ईश्वरसद्भाव में प्रमाणविषयक यह प्रश्न सामान्य प्रमाणविषयक है? अथवा प्रमाणविशेषविषयक? यदि सामान्यप्रमणविषयक यह प्रश्न है, तब 'ईश्वरसद्भावे प्रमाणम्'—इतना ही उत्तर बनता है, क्योंकि जिस विषय का प्रश्न हो, उत्तरवादी को उत्तर के द्वारा वही विषय प्रस्तुत करना चाहिये, प्रमाणसामान्यविषयक यह प्रश्न है, अतः 'प्रमाण' शब्द के द्वारा उसका उत्तर सम्पन्न हो जाता है। यदि प्रमाणविशेष-

भिधीयत एव। अथ द्वितीयः, तथापीश्वरसद्भावे प्रमाणमित्येवोत्तरमापद्येत। यथा प्रश्नवाक्ये प्रमाणशब्दो विशेषपरस्तथोत्तरवाक्येऽपि।

कोऽसौ विशेष इति चेन्न, पूर्ववदुत्तरत्वात्। अस्यापि प्रश्नस्य विशेषो विषयः, किंशब्दस्य विशेषशब्देन सामानाधिकरण्यात्। तथा च सति विशेष इत्येवोत्तरं स्यात्।

स्यादेतत्—विशेषशब्देन न विशेषमात्रमनिर्धारितमत्र विवक्षितम्, किन्त्वसाधारणी व्यक्तिस्तत्र विशेषशब्दस्य तात्पर्यम्। तस्मात् काऽसावसाधारणी प्रमाणव्यक्तिरिति प्रश्नार्थः। तत्र च तादृश्याः प्रमाणव्यक्तेरभिधानमुत्तरं युक्तम्, नैवंविधाः प्रलापा इति। नैतदेवम्, यतोऽत्रापि विशेष इत्येवोत्तरम्, यथा प्रश्नवाक्य-

---

प्रश्नवाक्यगतप्रमाणशब्देन यत्सामान्याभिधानवदुत्तरवाक्येऽपि प्रमाणशब्देन तत्सामान्यमभिधीयत एवेत्यर्थः। प्रमाणविशेषविषयः प्रश्न इति द्वितीयकल्पेऽपि प्रतिवचनं तादृगेव भवतीत्याह ❀ अथेति ❀। प्रतिवचनगतप्रमाणशब्दस्य तद्विशेषवाचकत्वं दृष्टान्तेनाह ❀ यथेति ❀।

ईश्वरसद्भावे यः प्रमाणविशेषः प्रमितिहेतुतया विवक्षितः, कोऽसाविति प्रश्नार्थं इति शङ्कते ❀ क इति ❀। कोऽसावित्यत्रापि किंशब्दस्याऽऽक्षेपाद्यर्थानां कतमोऽर्थ इति विकल्पस्य तद्दूषणस्य च तुल्यत्वमिति परिहरति ❀ नेति ❀। खण्डनान्तरमाह ❀ किञ्चेति ❀। ईश्वरसद्भावे कः प्रमाणविशेष इत्यत्र किंशब्दस्य प्रश्नवाक्यस्थविशेषपदसमभिव्याहारात् प्रमाणविशेषो विषयतया प्रतीयत इत्यर्थः। अस्तु विशेषविषयत्वं प्रश्नस्य तथापि किमत्रोत्तरं वक्तव्यामित्य आह ❀ तथा चेति ❀। विशेषपदसमभिव्याहृतकिंशब्दस्य विशेषणमात्रगोचरत्वे विशेष इत्युत्तरं सङ्गच्छेत, न च तन्मात्रगोचरत्वं तस्येति शङ्कते ❀ स्यादेतदिति ❀। किं तर्हि विवक्षितमित्यत आह ❀ किमिति ❀। सजातीयप्रमाणव्यक्त्यन्तरेभ्यो व्यावृत्ता प्रमाणव्यक्तिर्विवक्षितेत्यर्थः। विशेषपदस्य तद्वाचकसामर्थ्याभावे कथं तद्विवक्षेत्याशङ्क्य तात्पर्यत इत्याह ❀ तत्रेति ❀। निगमनव्याजेन प्रश्नवाक्यार्थं दर्शयति ❀ तस्मादिति ❀। असाधारणप्रमाणव्यक्तिगोचरप्रश्नस्येयमसौ प्रमाणव्यक्तिरित्येवोत्तरं वाच्यमन्यथा प्रश्नप्रतिवचनयोर्वैरूप्यप्रसङ्गादिति फलितमाह ❀ तत्रेति ❀। प्रतिवचनगतविशेषपदेनापि सर्वतोव्यावृत्तप्रमाणव्यक्तेरेव तात्पर्यतः प्रतिपादनात् विशेष इत्युत्तरं सङ्गच्छत इति परिहरति ❀ नैतदिति ❀। प्रतिवचनगतविशेषपदस्यासाधारणव्यक्तौ तात्पर्यं दृष्टान्तेनोपपादयति ❀ यथेति ❀। प्रश्नप्रतिवचनगतविशेषपदस्यैकार्थविषयतात्पर्यमुपपाद्य फलितं निगम-

---

विषयक प्रश्न है, तब भी 'ईश्वरसद्भावे प्रमाणम्'—इतना ही उसका उत्तर बनता है, क्योंकि जैसे प्रश्न वाक्य में 'प्रमाण' शब्द विशेष प्रमाण का वाचक है, वैसे ही उत्तर वाक्य में भी 'प्रमाण' शब्द प्रमाणविशेषपरक होने के कारण प्रश्नानुरूप उत्तर सम्पन्न हो जाता है।

'कोऽसौ विशेषः ?' इस प्रश्न का भी उत्तर पूर्ववत् ही दिया जा सकता है, अर्थात् इस प्रश्न का विषय विशेष पदार्थ ही होगा, क्योंकि यहाँ 'किम्' शब्द का 'विशेष' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य है, अतः उक्त प्रश्न का उत्तर बनता है—'विशेषः'।

शङ्का—'ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणम् ?' इस प्रश्न में 'प्रमाण' शब्द का अर्थ है—प्रमाणविशेषः। 'विशेष' शब्द उस असाधारण प्रमाण व्यक्ति को इङ्गित करता है, जो ईश्वर के सद्भाव की प्रमापिका है। अतः उसके उत्तर में केवल 'विशेषः'—ऐसा उत्तर देना प्रलापमात्र है, वस्तुतः उसके उत्तर में कोई 'क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वात्'—इत्यादि प्रमाण व्यक्ति का प्रस्तुतीकरण करना होगा।

समाधान—जब प्रश्नगत 'विशेष' शब्द उस असाधारण प्रमाण व्यक्ति को इङ्गित कर सकता है, तब उत्तर वाक्य में रह कर भी 'विशेष' शब्द उसी प्रमाण व्यक्ति की ओर संकेत कर सकता है, अतः उक्त प्रश्न के उत्तर में 'विशेषः'—ऐसा कहना प्रलाप नहीं, आप्त पुरुष की

गतस्य विशेषशब्दस्य सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपायां प्रमाणव्यक्तौ तात्पर्यं तथोत्तरवाक्यस्थितस्यापि। एवञ्च सति यत्र विषये भवदीयस्य प्रश्नवाक्यस्य तात्पर्यं तदेवास्माकमुत्तरवाक्येन प्रतिपादितमिति युक्तमुक्तम्।

अथ मन्यसे किमिह प्रमाणमिति पृच्छतोऽयमभिप्रायः – अत्रार्थेऽनुमानं प्रमाणमितरद्वेति ? तत्राप्यनुमानमित्युत्तरमस्माकम्। किं तदनुमानमिति चेत्, अयमपि प्रश्नोऽनुमानमात्रविषयः, उत तद्विशेषविषय इति विकल्प्य प्रमाणप्रश्नवदुत्तरं वाच्यमिति। अत्र च सङ्ग्रहश्लोकौ—

यथाविधं यं विषयं निजस्य प्रश्नस्य निर्वक्ति परो ययोक्त्या।
वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनाऽपि तयैव वाचा स तथाविधोऽर्थः ॥ १ ॥
प्रश्नस्य यः स्याद्विषयः स वाच्यो वाचा तया चैष भवेन्निरुक्तः।
इदं त्वयाप्यास्थितमेतयैव गिरा स्वपृच्छाविषयस्य वक्त्रा ॥ २ ॥

यति ॐ एवञ्चेति ॐ।

ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणमिति प्रश्नस्य प्रकारान्तरेणाऽभिप्रायं शङ्कते ॐ अथेति ॐ। कोऽसावभिप्राय इत्यत आह ॐ अत्रेति ॐ। ईश्वरेऽनुमानं प्रमाणमुताऽऽगमादिरिति विकल्पोऽभिप्रेत इत्यर्थः। यद्येवं प्रष्टुरभिप्रायस्तर्ह्यनुमानमित्येव परिहर्तव्यमित्याह सिद्धान्ती ॐ अत्रेति ॐ। यदीश्वरसद्भावेऽनुमानं प्रमाणं तयोपन्यस्यते किं तदिति पृच्छयत इति शङ्कते ॐ किमिति ॐ। किं तदनुमानमिति प्रश्नस्यानुमानसामान्यं विषय उत तद्विशेष इति विकल्प्यानुमानमित्येवोत्तरं प्रश्नवाक्यगतानुमानशब्देन सामान्यं विशेषो वा यथोच्यते तथा प्रतिवचनगतानुमानशब्देनाऽप्यभिधानादिति परिहरति ॐ अयमपीति ॐ। उक्तमर्थं श्लोकाभ्यां सङ्गृह्णाति ॐअत्रेतिॐ। परः—पृच्छको निजस्य प्रश्नस्य यं विषयं यथाविधं—यादृशं ययोक्त्या निर्वक्ति उत्तरवादिना स विषयस्तथाविधः तयैव वाचा वाच्य इत्यर्थः। पृच्छकेन यद्यादृशं पृष्टमुत्तरवादिनाऽपि तत्तादृशमेव वक्तव्यमिति नियमः कुतस्तत्राह ॐ प्रश्नस्येति ॐ। यत्पृष्टं तदेव वक्तव्यमिति लौकिको न्याय इत्यर्थः। सत्यं तथापि तेनैव वाक्येन कथं तदुपस्थापनमित्यत आह ॐ वाचेति ॐ। तस्यैव शब्दस्य पृच्छकेनापि विशेषविषयतया निर्वक्तव्यत्वादुत्तरवादिनापि, स एव शब्दस्तद्विषयो भवतीति हेतुमाह ॐ इदमिति ॐ। स्वप्रश्नविषयवक्त्रा त्वयाप्येतया गिरा—तच्छब्देन तन्निर्वचनं स्वीकृतमित्यर्थः।

संगत उक्ति है, क्योंकि आपके प्रश्न का जो विषय है, वही उत्तर वाक्य का भी विषय है।

यदि कहा जाय कि 'ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणम् ?' इस प्रश्न का तात्पर्य है कि 'ईश्वर सद्भावे अनुमानं प्रमाणम् ? अन्यद् वा ?' तब 'किमनुमानम् ?' इस प्रश्न का हमारा उत्तर होगा—अनुमानम्। उस पर यदि 'किं तदनुमानम् ?' ऐसा प्रश्न किया जाय, तब यह जिज्ञासा उठ जाती है कि 'अयमपि प्रश्नः अनुमानमात्रविषयः ? उत अनुमानविशेषविषयः ?' प्रमाणविषयक प्रश्न के समान ही उत्तर देना चाहिए। इस प्रश्न और उत्तर की शैली का दिग्दर्शन इन दो श्लोकों में किया गया है—

यथाविधं यं विषयं निजस्य प्रश्नस्य निर्वक्ति परो ययोक्त्या।
वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनापि तयैव वाचा स तथाविधोऽर्थः ॥ १ ॥
प्रश्नस्य यः स्याद्विषयः स वाच्यो वाचा तया चैष भवेन्निरुक्तः।
इदं त्वयाप्यास्थितमेतयैव गिरा स्वपृच्छाविषयस्य वक्त्रा ॥ २ ॥

[वादी अपने प्रश्न का जो विषय जैसी वचोवैचित्री के माध्यम से प्रस्तुत करता है, प्रतिवादी को भी वही विषय वैसी ही वचोभङ्गी के द्वारा निरूपित करना चाहिये ॥ १ ॥ 'प्रश्न वाक्य ही उत्तर वाक्य के रूप में आप ने परिणत क्यों किया ?' वादी के ऐसा पूछने पर प्रतिवादी को कह देना चाहि किए आप (वादी) ने अपने जिस प्रष्टव्य विषय की अभिव्यक्ति के लिये जिस

प्रश्नार्थाच्च किंशब्दात् जिज्ञासाविषयताऽर्थस्य प्रतीयते। जिज्ञासा च ज्ञातुमिच्छा। इच्छा च नाज्ञाते भवति, अतिप्रसङ्गात्। तस्मादीश्वरविषयं प्रमाणं ज्ञातुमिच्छता तत्र स्वज्ञानमिच्छाकारणीभूतं वक्तव्यम्। तदयथार्थं यथार्थं वा स्यात् ?

यथार्थञ्चेत्, तर्हि तेनैव ज्ञानेन स्वकीयो विषयः प्रमाणमुपस्थाप्यते, विषये प्रमाणप्रवृत्तिमन्तरेण तदीययथार्थत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तेनापि प्रमाणेन स्वगोचर ईश्वरसद्भाव उपस्थाप्यत इत्यनायासेनैव सिद्धोऽस्माकमीश्वरसिद्धि-मनोरथः।

अथाऽयथार्थम्, तत्रास्मिन्नयथार्थज्ञानविषये यद्यस्माभिरयथार्थमेव ज्ञानमुत्पा-दनीयमिति भवतः पृच्छतो वाञ्छितं तदा केयं स्वाधीनेऽर्थे परापेक्षा ? भवानेव

दूषणान्तरं वक्तुं पीठिकां करोति ❀ प्रश्नेति ❀। प्रश्नस्य जिज्ञासाऽविनाभूतत्वाद्विष्यमाणज्ञानस्य सविषयत्वात्प्रश्नप्रतिपादककिंशब्दसामर्थ्यात् कस्यचिदर्थस्य जिज्ञास्यमानत्वं प्रतीयत इत्यर्थः। ततः किमित्यत आह ❀ जिज्ञासेति ❀। ईश्वरप्रमाणरूपविषयाज्ञाने भवतीच्छा तज्ज्ञाने वेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ इच्छेति ❀। रमणीयविषयज्ञानमन्तरेणेच्छाङ्गीकारेऽपि सर्वदा सर्वस्य सर्वविषयेच्छाप्रसङ्ग इत्यर्थः। अतो द्वितीयकल्पः परिशिष्यत इत्याह ❀ तस्मादिति ❀। ततो वा किमित्याशङ्क्य तद्दर्शयितुं विकल्पयति ❀ तदिति ❀। कस्मिन् सति किं स्यादित्यत आह ❀ यथार्थं इति ❀। तदेव कुत इत्यत आह ❀ विषयेति ❀। ईश्वरविषये प्रमाणमन्तरेण तद्गोचरज्ञानस्य यथार्थत्वमेव न स्यादित्यर्थः। तज्ज्ञानेन प्रमाणमुपस्थाप्यतामिष्टेश्वरसद्भावः केनोपस्थाप्यत इत्यत आह ❀ तेनेति ❀। द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀। अयथार्थे यथार्थज्ञानोत्पादनाऽसम्भवादयथार्थमेव ज्ञानमुत्तरवादिनाप्युत्पादनीयमिति प्रश्नार्थः स्यादित्याह ❀ तस्मिन्निति ❀। यदीत्यसन्देहे। अस्तु को दोष इत्यत आह ❀ तदेति ❀। अयथार्थज्ञानोत्पादनस्य

पदावलि का चयन किया, उस विषय के प्रस्तुतीकरण में वही पदावलि सक्षम हो सकती है, अन्यथा आपकी आस्था उस पर क्यों हुई ?॥ २॥]

यह भी एक तथ्य है कि प्रश्नार्थक किंशब्द के द्वारा प्रश्न के विषय में जिज्ञासाविषयता प्रतीत होती है। जिज्ञासा है—ज्ञातुमिच्छा, इच्छा कभी भी अज्ञात विषय में नहीं होती, क्योंकि 'जानाति, इच्छति, यतते, करोति'—यह प्रवृत्ति का क्रम है। यदि अज्ञात विषय में भी कहीं इच्छा हो जाय, तब तो सब पुरुषों की सर्वत्र इच्छा होनी चाहिये। अतः प्रकृत में ईश्वरविषयक प्रमाण के जिज्ञासु को अपने जिस ज्ञान में इच्छा की कारणता माननी पड़ती है, वह ज्ञान यथार्थ है ? या अयथार्थ ?

यदि वह ईश्वरसद्भावविषयक प्रमाण को विषय करनेवाला आपका ज्ञान यथार्थ है, तब वही ज्ञान अपने विषयीभूत प्रमाण को प्रस्तुत कर देगा, दूसरे से प्रमाण की जिज्ञासा करनी व्यर्थ है। प्रमाणविषयक उक्त ज्ञान जब तक अपने विषयीभूत प्रमाण की सिद्धि नहीं करता, तब तक उसे यथार्थ नहीं माना जा सकता। उक्त ज्ञान के विषयीभूत प्रमाण के द्वारा भी अपने विषयीभूत ईश्वरीय सद्भाव की सिद्धि करनी होगी, अतः अनायास ही ईश्वर के सद्भाव की सिद्धिरूप हमारा मनोरथ पूर्ण हो जाता है।

यदि वह ज्ञान अयथार्थ है, तब आपका अभिमत प्रमाण आपके अयथार्थ ज्ञान का विषय मानना होगा। अयथार्थ ज्ञान के विषयीभूत शुक्ति-रजतादि में कभी यथार्थ ज्ञान हो नहीं सकता, अतः आपके प्रश्न का तात्पर्य यह सिद्ध होता है कि आप अपने अयथार्थ ज्ञान के विषयीभूत प्रमाण का एक और अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न कराना चाहते हैं। उसमें तो आप स्वयं समर्थ हैं, क्योंकि जैसे आपने एक अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न कर लिया, वैसे ही दूसरा अयथार्थ

अयथार्थज्ञानोत्पादनकुशलो यथैकं तत्र मिथ्याज्ञानमजीजनत्, तथा परमप्युत्पादयतु। वयं पुनर्यथार्थज्ञानस्योत्पादयितारो मिथ्याज्ञाने सर्वथैवाकृतिनः किमिह नियुज्येमहीति।

अथ मदीयस्यायथार्थज्ञानस्य यो विषयः सः मदीययथार्थज्ञानविषयो भवता क्रियतामिति त्वदीयं वाञ्छितम्, तदा व्याघातादीदृश्यर्थे भवतः प्रवृत्तिरेवानुपपन्ना। 'शुक्तिका रजतत्वेन मम यथार्थज्ञानविषयो भवत्वि'त्येतदर्थं प्रेक्षावान् कथङ्कारं प्रयतेत? येन रूपेणायथार्थज्ञानविषयत्वं तेनैव रूपेण यथार्थज्ञानविषयत्वे व्याघातात्।

अथ मन्यसे—स्वसिद्धान्तमनुरुन्धानेन भवता यथार्थज्ञानं तत्रोत्पादनीयम्, अतस्तदर्थं भवाननुयुज्यत इति। मैवम्, य ईश्वरसद्भावविषयो भवता प्रमाणाभासः प्रमाणतया भ्रान्त्या प्रतीतः, तस्य प्रमाणत्वमस्माभिर्व्युत्पादनीयमिति नास्माकमीदृशः सिद्धान्तः। प्रत्युतेश्वरसद्भावविषयं यत्प्रमाणं भवता प्रमाणाभासत्वेन भ्रान्त्या प्रतीतमस्ति तत्प्रमाणनीयमिति।

स्वाधीनत्वे हेतुमाह ❀ भवानिति ❀। ज्ञानोत्पादयितृत्वाविशेषात् द्वितीयमप्ययथार्थज्ञानमुत्पादयन्तु भवन्त इत्यत आह ❀ वयमिति ❀। अकृतिनो—न पण्डिता इत्यर्थः। प्रष्टुरभिप्रायान्तरं शङ्कते ❀ अथेति ❀। यदयथार्थज्ञानं मम तस्य यो विषयः स यथा मदीययथार्थज्ञानविषयो भवति तथा भवता क्रियतामित्यर्थः। येन रूपेणायथार्थज्ञानविषयत्वं तेन रूपेण यथार्थज्ञानविषयत्वं व्याहतमिति परिहरति ❀ तदेति ❀। उक्तमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति ❀ शुक्तीति ❀। प्रेक्षावतस्तथाप्रवृत्तिर्वा कस्मादनुपपन्नेत्यत आह ❀ येनेति ❀।

यद्यपीश्वरसद्भावविषयज्ञानमयथार्थं तथापि त्वत्सिद्धान्ते यथार्थमेव तदिति भवता तत्र यथार्थज्ञानस्योत्पादनीयत्वात्तदर्थं भवान् पृच्छ्यत इति शङ्कते ❀ अथेति ❀। यत्प्रमाणाभासं प्रमाणत्वेन भ्रान्तिगृहीतं तत्प्रमाणमापादनीयं मयेत्युक्तं स्यान्नायं मत्सिद्धान्त इति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। त्वत्सिद्धान्तविपरीतस्वान्मत्सिद्धान्तस्येति हेतुमाह ❀ प्रतीति ❀। त्वया यथार्थज्ञानं तत्रोत्पादनीयमिति यदुक्तं मया तदुपेक्ष्य ज्ञापनमेव प्रार्थ्यत इति शङ्कते ❀ स्यादिति ❀। मात्रचो व्यावर्त्यमाह ❀ न त्विति ❀। ज्ञापनमात्रं चेद्विवक्षितं तस्याप्रमाणेनापि कर्तुं शक्यत्वात्तत्र च भवतः स्वातन्त्र्यात्परापेक्षा नास्तीत्युक्तमिति परिहरति ❀ नेति ❀।

ज्ञान भी उत्पन्न कर सकते हैं, उस अनुचित कार्य में हमें क्यों जोड़ रहे हैं? क्योंकि हम लोग तो सदैव यथार्थ बोध का उत्पादन किया करते हैं, अयथार्थ या मिथ्या ज्ञान के उत्पादन से हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

यदि आपके प्रश्न का यह अभिप्राय है कि आपके अयथार्थ ज्ञान का विषयीभूत जो प्रमाण है, उसे यथार्थ ज्ञान का विषय बनाया जाय। तब 'वदतो व्याघात' होने के कारण वैसा नहीं कर सकते, क्योंकि कोई बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसा नहीं सोच सकता कि 'शुक्तिका रजतत्वेन मम यथार्थज्ञानविषयो भवतु', क्योंकि जो वस्तु येन रूपेण अयथार्थ ज्ञान की विषय है, उसका उसी रूप से यथार्थ ज्ञान का विषय होना अत्यन्त विरुद्ध है।

यदि वादी का कहना यह हो कि 'ईश्वरसद्भावविषयक प्रमाण का मुझे (वादी को) अयथार्थ ज्ञान है, तथापि आप (प्रतिवादी) से अनुरोध किया जाता है कि आप अपने सिद्धान्त के अनुसार वहाँ यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करें।' तो वादी वैसा नहीं कर सकता, क्योंकि जो ईश्वरसद्भावविषयक प्रमाणाभास है, उसे वादी ने भ्रम से प्रमाण समझ रखा है, उस प्रमाणाभास में प्रमाणत्व का व्युत्पादन हमारा (प्रतिवादी का) सिद्धान्त नहीं। प्रत्युत ईश्वरसद्भावविषयक जो वस्तुतः प्रमाण है, किन्तु आप (वादी) ने उसे भ्रान्ति से प्रमाणाभास मान लिया है, हम (प्रतिवादी) उसी को प्रमाणत्वेन प्रस्तुत करना चाहते हैं।

स्यान्मतमीश्वरसद्भावविषयस्य प्रमाणस्य भवता ज्ञापनमात्रं क्रियतामित्यभिमतं पृच्छतामस्माकम्, न तु प्रमाणेनाऽप्रमाणेन वेति विशेषोऽप्यभिमत इति। न, ज्ञापनमात्रस्याप्रमाणज्ञानमादायाऽप्युपपत्तेः। तत्र स्वाधीने केयं परापेक्षेत्याद्युक्तमनुषञ्जनीयम्।

स्यादेतत्—येयमीश्वरसद्भावविषया प्रमाणप्रतीतिरस्माकमुत्पन्ना सा व्यभिचारिणी सत्या वेति संशयोऽत्रास्माकम्। तेनैकपक्षनिर्धारणाधीनं यदिदं दूषणमवादि भवता, तन्निरवकाशमिति। नैतदस्ति, एवं हि तस्यां प्रतीतौ यथार्थत्वायथार्थत्वसंशयेन तस्याः प्रतीतेर्गोचरो यत्प्रमाणं तस्यापि योऽसौ विषय ईश्वरसद्भावस्तत्र सर्वत्रैव संशयानस्य भवतः प्रश्नोऽयम्, न तु विप्रतिपन्नस्येति स्यात्। तथा च स्वीकुरु शिष्यभाव·, प्रसादय चिरं चरणशुश्रूषाभिरस्मान्, छेत्स्यामस्ते संशय· । वप्र ·न्ना एव वयम्, आहार्यः संशय ऽस्माकमिति चेत्, तर्ह्यवधृतककोटय

ईश्वरसद्भावप्रमाणविषयं यत् मदीयज्ञानं तस्य यथार्थत्वमयथार्थत्वं वेत्यद्याप्यनिश्चितमिति शङ्कते ※ स्यादिति ※। यथार्थत्वायथार्थत्वसन्देहेन को लाभ इत्यत आह ※ तेनेति ※। अयथार्थपक्षप्रयुक्तदूषणं त्वदुक्तं निरवकाशमित्यर्थः। ईश्वराभावेऽवधृते तत्सद्भावप्रमाणप्रतीतियथार्थत्वसन्देहानुपपत्तेः सद्भावं प्रति सन्दिहानस्य प्रश्नोऽयं स्यादिति परिहरति ※ नैतदिति ※। भवतु वक्तृसन्देहनिमित्तोऽयं प्रश्नस्तथापि किमित्यत आह ※ तथा चेति ※। "नासंवत्सरवासिने प्रब्रूयात्", "न चाशुश्रूषवे वाच्य"मित्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्चरणशुश्रूषाभिर्वयं प्रसादनीयाः प्रसन्नाश्च वयं संशयं छेत्स्याम इत्यर्थः। सन्देहनिमित्तश्चेत् प्रश्नस्तर्हि शिष्यभावं व्रजेमहि विप्रतिपन्ना एव तु वयं प्रश्नोऽप्याहार्यसंशयमूल इति शङ्कते ※विप्रतीति※। प्रश्नतात्पर्यं दर्शयन् परिहरति ※ तर्हीति ※। कार्यानुरोधादिति—जयाविफलानुरोधादिति यावत्। भव-

शङ्का—हमारा (प्रश्न-कर्त्ता वादी का) अभिप्राय यह है कि आप (प्रतिवादी) ईश्वरसद्भाव-विषयक प्रमाण का ज्ञान मात्र कराएँ, ऐसा कोई आग्रह नहीं कि आप प्रमाण या अप्रमाण के द्वारा बोध कराएँ।

समाधान ज्ञापनमात्र तो अप्रमाण के द्वारा भी कराया जा सकता है, उसमें आप सदैव स्वतन्त्र हैं, जब चाहें मिथ्या ज्ञान कर सकते हैं, हमें वैसा करने के लिये प्रेरित करने की आवश्यकता नहीं- यह कहा जा चुका है, उसी का स्मरण कर लेना चाहिए।

शङ्का—यह जो ईश्वरसद्भावविषयक प्रमाण की प्रतीति हम (वादी) को हुई है, वह विषय-व्यभिचारिणी (अयथार्थ) है ? अथवा यथार्थ ? ऐसा संशय हमे है, अतः यथार्थ और अयथार्थत्व—इन दो कोटियों को लेकर जो आप (प्रतिवादी) ने दोष का उद्भावन किया है, वह असंगत हो जाता है, क्योंकि हम उन दोनों कोटियों को नहीं मानते।

समाधान—आप (वादी) की उक्त प्रतीति में संशय होने से उसके विषयीभूत प्रमाण और प्रमाण के विषयीभूत ईश्वर के सद्भाव में संशय हो जाता है, इस प्रकार एक संशय-परम्परा को लेकर हमारे (प्रतिवादी के) सामने उपस्थित हुए है, वादी के रूप में नहीं, तब तो हमारा शिष्यत्व स्वीकार कीजिए, हमारे चरणों की बारह वर्ष खूब शुश्रूषा करके ह्मे प्रसन्न कीजिए, हम आपका संशय दूर कर देंगे।

शङ्का—हम आपके सामने शिष्य बन कर नहीं आये, अपितु एक दुर्धर्ष विप्रतिपन्न (विवादातुर) वादी की भूमिका में उपस्थित हुए हैं। कथित संशय हमें अवश्य है, किन्तु वह आहार्य (आरोपित) संशय है, विषय-विशेषज्ञ विज्ञ पुरुष भी दूसरे की परीक्षा करने के लिये जान-बूझ कर संशयालु बनता है।

समाधान—यदि आप विषय-विशेषज्ञ हैं, तब उक्त यथार्थत्व और अयथार्थत्व—इन

एव, वयं कार्यानुरोधात्तु संशयमालम्बामह इत्युक्तं स्यात्। एवं तर्हि तदेव कोट्यवधारणं भवतां यथार्थमयथार्थं वेति विकल्प्योक्तयुक्त्या दूषणीयम्।

एतेन—अनध्यवसायेन तदस्माभिः प्रतिपन्नमित्यपि निरस्तं वेदितव्यम्। व्यभिचारिविषयं वा तदिति विकल्पाभ्यां तस्यापि ग्रस्तत्वात् 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः' इति न्यायात्।

एवमीश्वराभिसन्ध्यादावपि तत्तत्स्थाने तिष्ठत्सर्वनामान्तरखण्डनमत्र द्रष्टव्यम्।

इत कर्कचक्रवर्तिश्रीश्रीहर्षकृते खण्डन-
खण्डखाद्ये सर्वनामार्थानिरुक्तिर्नाम
तृतीयः परिच्छेदः।

त्वेदःकोटयवधारणं तथापि को दोष इत्यत आह ❀ एवं तर्हीति ❀।

अनध्यवसायज्ञानेन प्रश्नविषयं प्रतीत्य पृच्छयत इत्यस्मिन्नपि पक्षे दूषणमतिदिशति ❀ एतेनेति ❀। परामृष्टमेव खण्डनं स्पष्टयति ❀ व्यभिचारीति ❀। अनध्यवसायज्ञानं व्यभिचारित्वाव्यभिचारित्वकोटिद्वयबहिर्भूतमेव किन्न स्यादित्यत आह ❀ परस्परेति ❀। यत्तवादिशब्दानामनुगतार्थस्वविकल्पखण्डनं तत्र तत्र यदुक्तं तदस्मिन्परिच्छेदे सर्वनामान्तर ऊहनीयमित्युपसंहरति ❀ अत्रेति ❀।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याभयानन्दपूज्यपादशिष्यस्य
भगवदानन्दपूर्णस्य कृतौ खण्डनफक्किकाविभजने
निग्रहानिरुक्तिर्नाम
तृतीयः परिच्छेदः

दो कोटियों में से किसी एक कोटि का निश्चय अवश्य होगा, तभी तो हमने आपका स्वागत करने के लिये उन दोनों कोटियों की वैकल्पिक खण्डनमालिका से वादस्थली अलङ्कृत कर रखी है।

[वैशेषिकगण प्रमा, संशय और विपर्यय से भिन्न एक अनध्यवसाय ज्ञान मानते हैं—"अविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा" (प्र. भा. पृ. ४११)]। उसको लेकर जो वादी कहता था कि 'अनध्यवसायेन तदस्माभिः प्रतिपन्नम्।' उसका भी उक्त रीति से ही खण्डन हो जाता है कि अनध्यवसायात्मक ज्ञान भी या तो व्यभिचारिविषयक (अयथार्थ ज्ञान) होगा या अव्यभिचारिविषयक (यथार्थज्ञान)। इन दोनों विरोधी ज्ञानों की दो ही कोटियाँ हो सकती है, तीसरी नहीं, क्योंकि श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः" (न्या. कु. ३।८)। [वैशेषिकाचार्यों ने भी अनध्यवसायात्मक ज्ञान को अविद्या या अयथार्थ ज्ञान का एक प्रकार माना है, अतः अयथार्थ कोटि के खण्डन से ही उसका भी खण्डन हो जाता है]। अपने ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रन्थ में हम (श्री श्रीहर्ष) ने सर्वनामगण-पठित अन्य शब्दों के अर्थों का निर्वचन भी खण्डित कर दिया है, अतः यहाँ पुनः उसके खण्डन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

प्रमाणादिपदार्थानां खण्डनेनैव केवलम्।
हर्षोऽहर्षस्ततोऽकारि सर्वनामार्थखण्डनम्॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दोदासीन विरचितायां खण्डनपञ्जिकायां
तृतीयः परिच्छेदः

चतुर्थः परिच्छेदः

१. भावत्वलक्षणखण्डनम्

ननु तथापि भावात्मके तस्मिन्नीश्वरे विधायकं किञ्चित्प्रमाणं वक्तव्यमिति चेत्, किं पुनर्भावत्वम्? विधित्वमिति चेन्न, पर्यायाप्रश्नात्। स्वरूपसत्त्वमिति चेन्न, अभावस्यापि तथाभावात्, प्रतिस्वं व्यावृत्तत्वेनाननुगतत्वापत्तेश्च। अस्तीति प्रतीतिविषयत्वमिति चेन्न, 'अभावो घटस्यास्ती'ति प्रत्ययसम्भवेन अभावस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। नास्तीति प्रतीतिविषयत्वेऽपि च घटादेर्भावत्वानिवृत्तेः।

नैयायिकादिपरिकल्पितप्रमाणादिपदार्थानिर्वचनीयताप्रपञ्चेनाद्वैतविरोधं परिहर्तुं तदनिर्वचनीयतां प्रपञ्चयितुमुपक्रमते। तत्र पदार्थशब्दो भावत्वान्विते रूढ इति तैरङ्गीकाराद् भावत्वखण्डनाय तत्र द्रव्यादयः षट् पदार्था इति वदतां भावत्वान्वितषट्लक्षणान्यतमलक्षणयोगो विवक्षित इति प्रथमं भावत्वं खण्डयितुं प्रकृतव्याजेन शङ्कते ❀ नन्विति ❀। तथापीति पूर्वपरिच्छेदोक्तप्रकारेण किं प्रमाणमित्यादिप्रश्नस्यासम्भवेऽपीत्यर्थः। भावस्यापि तथाभावादिति यद्यपीश्वरसद्भावे प्रमाणं वक्तुन्न पार्यते, तथापि भावत्वात्तस्य विधायकप्रमाणव्यतिरेकेणासिद्धेर्विधायकं प्रमाणं वाच्यमित्यर्थः। एव परमुखेन चोदयित्वा भावत्वखण्डनं प्रस्तौति ❀ किमिति ❀। भावत्वस्यैवानिर्वक्तव्यतया विधायकं प्रमाणन्न वक्तव्यमिति आक्षेपाभिप्रायमपि प्रश्नं मत्वोत्तरमाह ❀ विधित्वमिति ❀। न मया पर्यायः पृष्ठ इति परिहरति ❀ नेति ❀। भावत्वलक्षणं शङ्कते ❀ स्वेति ❀। सत्त्वमित्युक्ते पर्यायत्वप्रसङ्गपरिहाराय स्वरूपेति विशेषणम्। स्वरूपस्य सत्त्वमुत स्वरूपमेव सत्त्वमाद्ये स्वरूपसत्त्वयोर्भेदेन स्वरूपमसत् स्यात्, द्वितीयेऽतिव्याप्तिरिति दूषयति ❀नेति❀।

यस्य ब्रह्मादिराजान्तं समृत्यु भक्ष्यमास्थितम्।
जेजेति परमार्थः स श्रीहर्षप्रतिपादितः॥

१. भावत्व-लक्षण-खण्डन

शङ्का—यद्यपि 'ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणम्?' इस प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दिया जा सकता, तथापि ईश्वर भावात्मक प्रमेय तत्त्व है, अतः उसके लिये विधायक प्रमाण का का प्रदर्शन आवश्यक है।

समाधान-ईश्वर में भावात्मकता सिद्ध करने के लिये भावत्व का लक्षण करना होगा।

(१) विधित्वं भावत्वम्—

श्री उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद-भाष्य के 'अस्तित्व' पद की व्याख्या करते हुए कहा है—"अस्तित्वम्—विधिमुखप्रत्ययविषयत्वम्" (किर. पृ. १९)। उसी के आधार पर 'विधित्वं भावत्वम्'—इस लक्षण का प्रणयन किया जाता है, किन्तु विधित्व तो भावत्व का पर्याय है, पर्याय पूछे जाने पर वैसा उत्तर हो सकता था, जब कि लक्षण पूछा गया है, तब लक्षण प्रस्तुत करना चाहिये, पर्याय शब्द का प्रयोग कर देने मात्र से लक्षणविषयक प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता।

(२) स्वरूपसत्त्वम्—

[प्रशस्तपाद के 'अस्तित्व' पद की व्याख्या श्रीधराचार्य ने की है—"अस्तित्वम्—स्वरूपवत्त्वम्" (न्या. कं. पृ. ४१)। प्रतीत्यसमुत्पादवाद में किसी वस्तु की भी स्वरूपेण

अस्तीति चास्त्यर्थो वा शब्दो वा विवक्षितः? नाद्यः, तस्यानिरुक्तेः। सत्ता तदर्थ इति चेन्न, सामान्यादीनां तदभावादभावत्वापत्तेः। स्वरूपसत्त्वञ्च निरस्तम्। नापि द्वितीयः, अभावोऽस्तीति प्रतीतेरुक्तत्वात्। वर्तत इत्याद्याकारेण च प्रतीय-

---

न ह्यसन् घटाविन्नं घटाविरित्यभावस्यापि स्वरूपसद्भावाद् भावत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। न केवलमतिव्याप्तिः, अव्याप्तिरपीत्याह ❀ प्रतीति ❀। लक्षणान्तरं शङ्कते ❀ अस्तीति ❀। नास्तीतिशब्दप्रत्ययविषयाऽभाव-व्यवच्छेदार्थम् अस्तीतिविशेषणं द्रष्टव्यम्। यथाश्रुतमिदमलक्षणमतिव्याप्तेरिति परिहरति ❀ नेति ❀। तर्हि नास्तिप्रत्ययाविषयत्वे सत्यस्तिप्रत्ययविषयत्वं भावत्वमस्तु न चैवमतिव्याप्तिरभावस्य नास्तिप्रत्ययस्यापि विषयत्वादित्यत आह ❀ नास्तीति ❀। देशान्तरे कालान्तरे च घट इहेदानीं नास्तीति नास्तिप्रत्यय-विषयोऽपि न सत्त्वं जहातीत्यव्याप्तिरसम्भवो वेत्यर्थः।

खण्डनान्तरं वक्तुं विकल्पयति ❀ अस्तीति ❀। प्रतीतिविशेषणत्वेनोच्यमानोऽस्त्यर्थं उत तच्छब्द इति विकल्पार्थः। भावत्वस्यैवार्थत्वात्तस्याद्याप्यनिरूपितत्वात् न प्रथम इति परिहरति ❀ नेति ❀। अस्त्यर्थस्यानिरूपितत्वमसिद्धं सत्तायास्तदर्थत्वेन निरुक्तेरिति शङ्कते ❀ सत्तेति ❀। अव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। सामान्यविशेषसमवाया निःसामान्या इत्यङ्गीकारात्सत्तासामान्यसंसर्गासम्भवात्तेषामभावत्व-प्रसङ्ग इत्यर्थः। सामान्यादीनां सत्तासामान्याभावेऽपि स्वरूपसत्त्वमस्तीत्यत आह ❀ स्वेति ❀। सत्तैकार्थ-समवायित्वं समवायेऽव्यापकमिति द्रष्टव्यम्। शब्दो वेति द्वितीयं कल्पं दूषयति ❀ नापीति ❀। अस्ति-शब्दविशेषणप्रतीतिविषयत्वमभावस्यापीत्युक्तातिव्याप्तेरेवेत्यर्थः। अव्यापकं चेदं लक्षणमित्याह ❀ वर्तत इति ❀। घटो वर्तते भवति भाव इत्याविशब्दोल्लिखितप्रत्ययविषयस्यापि भावत्वस्वीकारात्तदव्याप्ति-

---

सत्ता न मान कर पर रूपेण ही उसकी निरुक्ति की जाती है, उसका निराकरण करने के लिए स्वरूपवत्त्व कहा गया है। उसी वादक्षोणी का चित्रण करते हुए कहा जाता है—स्वरूप-सत्त्वम्]। किन्तु जिस पदार्थ की अस्तित्वेन प्रतीति होती है, वही स्वरूपतः सत् माना जाता है, अभाव के लिये भी 'अभावोऽस्ति'—ऐसी प्रतीति होती है, अतः अभाव में भी वह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, स्वरूप प्रत्येक पदार्थ का भिन्न-भिन्न होता है, अतः 'स्वरूपसत्त्वम्'—यह लक्षण अननुगत भी है।

(३) अस्तीति प्रतीतिविषयत्वम्—

श्री प्रशस्तपादाचार्य ने द्रव्यादि षट् भाव पदार्थों का साधर्म्य बताते हुए कहा है—"षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि" (किर. पृ. ४१)। इससे यह स्पष्ट है कि 'अस्ति'—इस प्रकार की प्रतीति का विषयत्व ही भावत्व का लक्षण है। किन्तु यह लक्षण अभाव में भी अतिप्रक्त है, क्योंकि 'घटस्याभावोऽस्ति'—इस प्रकार अस्तित्वेन अभाव की भी प्रतीति होती है। दूसरी बात यह भी है कि यदि भाव का लक्षण अस्तीति प्रतीतिविषयत्वं किया जाता है, तब अभाव का लक्षण करना होगा—'नास्तीतिप्रतीतिविषयत्वम्।' किन्तु 'घटो नास्ति'—इस प्रकार की प्रतीति-विषयता घटरूप भाव पदार्थ में भी है. अतः उसमें अभावत्व के आ जाने से भावत्व की निवृत्ति हो जानी चाहिये, किन्तु होती नहीं।

यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि 'अस्तीति'—इस प्रकार के संकेत से अस्तिरूप अर्थ (सत्ता) विवक्षित है? अथवा 'अस्ति'—यह शब्द? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि अस्तिरूप अर्थ का निर्वचन सम्भव नहीं। 'अस्ति' का अर्थ 'सत्ता' है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भावरूप घटत्वादि जातियों में सत्ता नहीं मानी जाती, अतः उनमें भावत्व की उपपत्ति न होकर अभावत्व की आपत्ति हो जाती है। स्वरूपसत्त्व का भी निराकरण किया जा चुका है कि वह भी अभाव में अतिप्रसक्त हो रहा है। द्वितीय कल्प (अस्तीति शब्दः) भी संगत नहीं, क्योंकि 'अभावोऽस्ति'—इस प्रयोग को लेकर अभाव में अतिप्रसङ्ग दिया जा चुका है।

मानस्याभावत्वप्रसङ्गात्। सोऽप्यस्तिपर्याय इति चेन्न, उभयसाधारणैकार्थनिर्वचनमन्तरेण पर्यायत्वस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। यत्रैकस्यास्तिपदप्रयोगः, तत्रैवापरस्य वर्तत इति प्रयोगात् सामान्येन तावत् पर्यायत्वं शक्याधिगममिति चेन्न, प्रमेयाभिधेयादिशब्दानां तथात्वेऽप्यपर्यायत्वात्। यत्रेत्यस्य ^A^प्रवृत्तिनिमित्तार्थत्वे च तन्निर्वचनप्रसङ्गस्तदवस्थः, स एवार्थो भावत्वमुच्यताम्, किं शब्द ल्लेखगवेषणया।

अपरप्रतिषेधात्मकत्वं भावत्वमिति चेन्न, व्यवच्छेद्यासम्भवेन परपदवैयर्थ्यात्,

---

रित्यर्थः। अस्तिशब्देन तत्पर्यायस्यापि विवक्षितत्वादस्तिशब्दतत्पर्यायान्यतमशब्दोल्लिखितप्रतीतिविषयत्वस्य लक्षणत्वान्नाव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ सोऽपीति ॐ। असम्भवेन दूषयति ॐ नेति ॐ। पर्यायत्वं तद्ध्येकार्थप्रतिपादकत्वं तच्च तत्प्रतिपाद्यार्थैक्यावगममन्तरेण न शक्याधिगमं तदवगमे च तदेव भावत्वलक्षणमास्तामित्यर्थः। एकस्मिन्विषये तावदुभयोः शब्दयोः प्रवृत्तिरवगता तेनैक्यावधारणेन पर्यायत्वावधारणं भवतीति शङ्कते ॐ यत्रेति ॐ। एकस्यापरस्येति पुरुषभेदो विवक्ष्यते विषयभेदो वेति द्रष्टव्यम्। व्यभिचारेण दूषयति ॐ नेति ॐ। अस्त्यादिशब्दाः पर्याया एकस्मिन्विषये प्रयुज्यमानानेकशब्दत्वात्करादिशब्दवदिति वाच्यं तत्प्रमेयवाच्यादिशब्दैर्व्यभिचरतीत्यर्थः। किञ्च यत्रेति यच्छब्देनास्तिशब्दप्रवृत्तिनिमितभूतोऽर्थो विवक्षित उतान्यः? नान्यः प्रकृतानुपयोगात्प्रथमश्चेत्तत्राह ॐ यत्रेति ॐ। तन्निर्वचनं चाशक्यं स्वरूपसत्वादेर्दूषितत्वादित्याशयः। शक्यत्वे वा तदेव भावलक्षणमुच्यतां लाघवादितरथा प्रयोजकगौरवप्रसङ्गादित्याह ॐ स इति ॐ।

लक्षणान्तरं शङ्कते ॐ अपरेति ॐ। परप्रतिषेधात्मको न भवतीत्यपरप्रतिषेधात्मकस्तत्त्वं विशेषणं चाभावव्यवच्छेदार्थम्। प्रतिषेधात्मकत्वविशेषणेनाभावव्यवच्छेदेन व्यावर्त्या-

---

'अस्ति' शब्द के द्वारा केवल 'अस्ति' यह आनुपूर्वी विवक्षित है ? अथवा अस्ति के पर्याय-वाचक 'वर्तते', 'भवति', 'विद्यते'—इत्यादि सभी शब्द ? प्रथम कल्प के अनुसार 'घटो वर्तते' इत्यादि प्रयोगों के आधार पर घटादि में भावरूपता सम्भव न हो सकेगी। दूसरे कल्प के अनुसार 'अस्ति', 'वर्तते'—इत्यादि शब्दों में पर्यायता का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'पर्यायत्व' का लक्षण होता है—'एकार्थपरकत्व।' वह तो अनेक शब्द-साधारण एकार्थ का निर्वचन न हो सकने के कारण सम्भव नहीं।

शङ्का—जिस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये 'अस्ति' शब्द का प्रयोग होता है, उसी अर्थ को ध्वनित करने के लिये वर्तते, विद्यते—इत्यादि शब्दों का प्रयोग देख कर उनकी पर्यायता का निश्चय किया जा सकता है।

समाधान—विश्व के सभी पदार्थों में 'प्रमेय' शब्द के समान अभिधेयादि शब्दों का प्रयोग होने पर भी उन शब्दों में पर्यायता नहीं मानी जाती, अतः वहाँ लक्षण अतिप्रसक्त है।

शङ्का—'यत्रैकस्य प्रयोगः'—यहाँ पर 'यत्र' शब्द प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) का बोधक है, अतः पर्यायत्व का लक्षण सम्पन्न होता है—'एकप्रवृत्तिनिमित्तकत्वम्'। प्रमेय और अभिधेयादि शब्द समानार्थों में प्रयुक्त होने पर भी 'एकशक्यतावच्छेदकत्व' नहीं, क्योंकि 'प्रमेय' शब्द का प्रमा-विषयत्व और अभिधेय शब्द का अभिधा-विषयत्व शक्यतावच्छेदक है, वे दोनों परस्पर भिन्न माने जाते हैं, अतः 'प्रमेय', 'अभिधेय'—इत्यादि शब्दों में पर्यायत्व अतिप्रसक्त नहीं होता।

समाधान—अभी तक अस्त्यादि शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्त धर्म का निर्वचन नहीं हुआ, अतः पर्यायत्व का प्रवृत्तिनिमित्त-घटित लक्षण नहीं किया जा सकता। यदि 'अस्ति' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त निश्चित हो जाता है, तब वह ही भावत्व कहा जा सकता है, उसके लिए 'अस्ति' इस शब्द के उल्लेख की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भावाभावयोः परस्परप्रतिषेधात्मकतास्वीकाराच्च । तथापि 'भावो नास्ती'त्यभावप्रतिपत्तिवत् 'अभावो नास्ती'ति भावस्याप्रतीतिरिति चेन्न, तावतापि लक्षणानिरुक्तेः । अपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमेव भावत्वमिति चेन्न, चक्षुरादिभिर्भावत्वाग्रहणप्रसङ्गात् । न हि प्रतीयमानत्वं चक्षुरादिग्राह्यम् । 'अभावो नास्ती'ति प्रतीतेर्निर्विषयत्वप्रसङ्गाच्च । न हीयं भावविषया, भवत्प परप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वात् । नाप्य-

---

भावात्परेतिविशेषणं व्यर्थमिति परिहरति ※ नेति ※ । अभावस्य भावप्रतिषेधत्ववदभावप्रतिषेधत्वं भावस्य स्वीक्रियत इति लक्षणासम्भवमाह ※ भावेति ※ । प्रतीतिमवलम्ब्य वैषम्यं शङ्कते ※ तथापीति ※ । भावस्य स्वभावगत्याऽभावप्रतिषेधत्वेपि तन्निषेधमुखेन प्रतीतिर्नास्ति तेन परप्रतिषेधमुखेनाऽप्रतीयमानत्वलक्षणं नासम्भवीत्यभिप्रायः । अविदितपराभिसन्धितया सिद्धान्ती परिहरति ※ नेति ※ । प्रतीत्यभावेऽप्यर्थस्य तथात्वाल्लक्षणाऽसम्भव इति भावः । स्वाभिप्रायं विवृणोति पूर्ववादी ※ अपरेति ※ । अतिप्रसङ्गबाधितत्वेन लक्षणाऽसिद्धिरिति परिहरति ※ नेति ※ । प्रतीयमानत्वस्य भावत्वे तदचाक्षुषं स्यादित्यर्थः । तदेव स्पष्टयति ※ तर्हीति ※ । प्रतीतेः स्वयम्प्रकाशत्वं मनोवेद्यत्वं साक्षिवेद्यत्वं वेति न चक्षुरादिविषयत्वमित्यर्थः । भूतले कुम्भाभावो नास्तीति स्वाभावप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानकुम्भस्यापि भावत्वादव्याप्तिरित्याह ※ अभाव इति ※ । निर्विषयत्वमेवोपपादयति ※न हीति※ ।

---

(४) अपरप्रतिषेधात्मकत्वं भावत्वम्—

शङ्का श्री उदयनाचार्य ने कहा है "नञर्थविषयत्वरहितप्रत्ययविषयो भावः" (लक्षणा. पृ. २) नञर्थविषयत्व या परप्रतिषेधात्मकत्व अभावत्व कहलाता है, उससे रहित प्रतीति का विषय नियमतः भाव पदार्थ ही होता है । 'घटो न'—इत्यादि स्थलों पर अभाव का प्रतिपादन करने के लिये अभाव से पर (भिन्न) घटादि का निषेध करना पड़ता है, अतः अपरप्रतिषेधात्मकत्व ही भावत्व निश्चित होता है ।

समाधान—प्रतिषेधात्मकत्वरूप अभावत्व से भिन्नत्व कहने के लिये 'अप्रतिषेधात्मकत्व'—इतना ही कहना पर्याप्त है, 'पर' पद के प्रयोग की क्या आवश्यकता ? दूसरी बात यह भी है जैसे अभाव भाव का विरोधी होने के कारण भाव-निषेधात्मक होता है, वैसे ही भाव पदार्थ भी अभाव का विरोधी होने के कारण अभाव-प्रतिषेधात्मक माना जाता है, जैसा कि श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता" (न्या. कु. ३।२) । अतः 'अप्रतिषेधात्मत्वम्'—यह लक्षण असम्भव-ग्रस्त भी हो जाता है ।

शङ्का—जैसे 'भावो नास्ति'—इस प्रकार नियमतः अभाव की प्रतीति परप्रतिषेधात्मक होती है, वैसी घटादि भाव पदार्थों की प्रतीति नहीं होती, अतः भाव पदार्थों में प्रतिषेधात्मकत्व न होने से उक्त लक्षण असम्भव-ग्रस्त नहीं ।

समाधान—नियम से सार्वत्रिक वैसी प्रतीति न होने पर भी 'भावः, अभावो न'—इस प्रकार क्वाचित्की प्रतिषेधात्मकत्व की प्रतीति मान लेने पर भी 'अप्रतिषेधात्मकत्वं भावत्वम्'—इस लक्षण की सिद्धि नहीं होती, अतः असम्भव दोष हो ही जाता है ।

शङ्का—भाव और अभाव में परस्पर प्रतिषेधात्मकता होने पर भी परप्रतिषात्मकत्वेन जैसे अभाव प्रतीयमान होता है, वैसे भाव पदार्थ नहीं, अतः अपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमेव भावत्वम्'—यह लक्षण निर्दोष है ।

समाधान—घटादि चाक्षुष पदार्थों में रहनेवाला 'भावत्व' धर्म भी चाक्षुष माना जाता है, किन्तु प्रतीति-घटित प्रतीयमानत्वात्मक भावत्व का चाक्षुष भान न हो सकेगा, क्योंकि उसकी विशेषणभूत प्रतीति का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं माना जाता । दूसरी बात यह भी है कि 'अभावो नास्ति'—इस प्रतीति का विषय न भाव हो सकता है और न अभाव, अतः यह

भावविषयैव, तन्निषेधार्थत्वात् । नैवं प्रतीतिरेव स्यादिति चेन्न, शाब्द्याः प्रतीतेः सम्भवात् । आकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः प्रतिस्वं संसर्गबोधनाद्—'अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।'

प्रत्यक्षप्रतीतेस्तथा विवक्षितत्वादयमदोष इति चेन्न, सर्वस्य भावस्य प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारात् । सेश्वरपक्षे सर्वं प्रत्यक्षमिति चेन्न, तेन तेषामपरप्रतिषेधात्मतया ग्रहणे प्रमाणाभावात् । तेषां विधिरूपतया तथैव ग्रहणमिति चेन्न , विधिरूपत्वस्यानवधारणात् ।

यदपरप्रतिषेधात्मकतया शब्देनापि बोध्यते, तत्तावत् भावरूपमिति चेन्न, पर-

---

भावविषयत्वाभावे हेतुमाह ❀ परेति ❀ । भावविषयत्वाभावेऽपि न निर्विषयत्वमभावालम्बनेनोपपत्तेरित्यत आह ❀ नापीति ❀ । भावविषयत्वमभावविषयत्वं च सति धर्मिणि चिन्त्यतेऽभावो नास्तीति प्रतीतिरूपधर्म्येव नास्तीति शङ्कते ❀ नैवमिति ❀ । एवंविधप्रत्यक्षप्रतीतेरसम्भवेऽपि शाब्दी प्रतिपत्तिरस्त्येवेति परिहरति ❀ नेति ❀ । तत्सम्भवः कुत इत्यत आह ❀ आकाङ्क्षेति ❀ । कथं वा शब्दस्येदृशं सामर्थ्यमित्याशङ्क्य किंपुनर्न्यायेनाह ❀ अत्यन्तेति ❀ ।

अपरप्रतिषेधमुखेन प्रत्यक्षप्रमितिविषयत्वं भावत्वं विवक्षितं घटाभावोऽस्तीतिप्रतीतिसम्भवेऽपि न तस्य भावत्वप्रसङ्गोऽभावप्रतीतेः पारोक्ष्यादिति भट्टमतानुसारेण शङ्कते ❀ प्रत्यक्षेति ❀ । धर्मादेः प्रत्यक्षत्वानङ्गीकाराादव्यापकमिति परिहरति ❀नेति❀ । सर्वस्येश्वरप्रत्यक्षत्वान्नाव्यापकमिति शङ्कते । ❀ सेश्वरेति ❀ । प्रमाणाभावादसिद्धं लक्षणमिति परिहरति ❀ नेति ❀ । धर्मादयोऽपरप्रतिषेधमुखेन कस्यचित्प्रत्यक्षा विधिरूपत्वात् घटवदित्यनुमानं प्रमाणं शङ्कते ❀ तेषामिति ❀ । विधिरूपत्वस्य भावत्वात्तस्याद्याप्यनिरूपणाद्धेत्वसिद्धिरिति परिहरति ❀ नेति ❀ । धर्मादावव्याप्तिपरिहारं शङ्कते ❀ यदिति । अपरप्रतिषेधात्मकतया शब्देनापि प्रतीयमानत्वं तद्धर्मादावप्यस्तीत्यर्थः । पूर्वोक्तप्रसङ्गबाधेन परिहरति ❀ नेति ❀ ।

निर्विषयक हो जायगी । वह प्रतीति भावविषयक इस लिये नहीं हो सकती कि परप्रतिषेधमुखेन प्रतीति है और अभावविषयक इस लिये नहीं हो सकती कि अभाव का यहाँ निषेध हो रहा है । 'अभावो नास्ति—इस शब्द के द्वारा कोई प्रतीति ही नहीं होती'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कोई प्रतिपाद्य वस्तु सत् हो या असत्, आकांक्षा, सन्निध्यादि से युक्त पदों के द्वारा प्रत्येक पदार्थ का संसर्ग-बोध हो ही जाता है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—"अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" (श्लो. वा. पृ. ४६) । श्री भर्तृहरि भी कहते हैं-

अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा ।। (वा. प. १।१३०)

शङ्का—अत्यन्तासत् पदार्थों की शाब्दी प्रतीति होने पर भी चाक्षुष प्रतीति नहीं होती, अतः 'अपरप्रतिषेधमुखेन जायमानचाक्षुषप्रतीतिविषयत्वं भावत्वम्'—ऐसा लक्षण करने पर कोई दोष नहीं आता ।

समाधान—धर्मादि सभी भाव पदार्थों की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती, अतः अचाक्षुष भावों में यह लक्षण अव्याप्त है । यद्यपि ईश्वर को सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाता है, तथापि अपरप्रतिषेधात्मकतया उनका प्रत्यक्ष होता है—इसमें कोई प्रमाण नहीं, अतः लक्षण असिद्ध हो जाता है । विधिरूपत्वरूप हेतु के द्वारा उनमें अपरप्रतिषेधत्वेन विषयत्व का अनुमान [धर्मादयः, अपरप्रतिषेधमुखेन कस्यचित्प्रत्यक्षाः, विधिरूपत्वाद, घटादिवत्] नहीं कर सकते, क्योंकि विधिरूपत्व तो ही भावत्व है, उसकी अभी तक सिद्धि ही नहीं हो सकी है, अतः उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध है ।

शङ्का—'अपरप्रतिषेधात्मकतया शब्देनापि प्रतीयमानत्वं भावत्वम्'—ऐसा भी लक्षण

पदवैयर्थ्यात्। तत्यागेऽप्यचाक्षुषादित्वापत्तेः। 'सुरभि चन्दनमि'त्यादाविव अन्योपनीतभागवत् तत्र चाक्षुषत्वं भविष्यतीति चेन्न, तथाविधविषयेण विशिष्टाया बुद्धेर्विषयविशेषणताग्रहे स्वाश्रयोऽप्यंशतः स्यात्। तेनोपलक्षितायास्तथात्वे साभावविशिष्ट-

अस्तु तर्ह्यपरप्रतिषेधात्मकतया शब्देनापि प्रतीयमानत्वं भावत्वमित्यत आह ※ तदिति ※। प्रतीतेश्चक्षुरानविषयत्वेन तद्विशिष्टोऽभावोप्यचाक्षुषः स्यादित्यर्थः। लक्ष्यधर्मत्वाल्लक्षणस्य लक्ष्यनिष्ठं लक्षणं वाच्यं

किया जा सकता है। धर्मादि में इसकी अव्याप्ति नहीं, क्योंकि "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" (तै० सं० ३।५।११।५) "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै० सू० १।१।२)—इत्यादि शब्दों के द्वारा धर्मादि प्रतीयमान होते ही हैं।

समाधान—लक्षण-घटक 'पर' पद व्यर्थ है—यह पहले कहा जा चुका है। यदि 'पर' पद का परित्याग कर दिया जाता है, तब भी प्रतीति चाक्षुष नहीं, अतः प्रतीति-घटित भावत्व में चाक्षुषत्व की सिद्धि नहीं हो पाती—यह भी कह चुके हैं।

शङ्का—जैसे 'सुरभि चन्दनम्'—इस चाक्षुष प्रत्यक्ष में ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा सौरभ का भान होता है, वैसे ही 'दृष्टोऽयं घटः'—इस चाक्षुष प्रतीति की विषयता प्रतीति-घटित (प्रतीयमानत्वरूप) भावत्व में भी हो जायगी [न्याय-मत में इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना जाता है, अर्थात् इन्द्रियगण अपने विषय से सम्बन्धित होकर उसका ज्ञान कराते हैं। सम्बन्ध (सन्निकर्ष) दो प्रकार का होता है—(१) लौकिक और (२) अलौकिक। संयोगादि छः सन्निकर्ष लौकिक एवं सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज—ये तीन सन्निकर्ष अलौकिक कहलाते हैं। ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष की ही दूसरी परिभाषा उपनयसन्निकर्ष है। इस उपनय सन्निकर्ष से प्रापित विषय को उपनीत कहा जाता है। लौकिक सन्निकर्ष योग्य विषय के साथ और अलौकिक सन्निकर्ष अयोग्य विषय के साथ भी हो जाता है, जैसे 'सुरभि चन्दनम्'—यहाँ चक्षु का चन्दनखण्ड के साथ संयोगरूप लौकिक एवं सौरभ (गन्धगुण) के साथ ज्ञानलक्षण (स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतस्मरणविषयत्व) सन्निकर्ष माना जाता है, इन दोनों सन्निकर्षों की सहायता से चक्षु सौरभ-विशिष्ट चन्दनखण्ड का ग्राहक माना जाता है, इस प्रकार चक्षु के द्वारा गृहीत होने के कारण सौरभादि अयोग्य विषयों में भी चाक्षुषत्व बन जाता है। 'दृष्टोऽयं घटः'—यहाँ पर भी चक्षु का घट के साथ संयोग और दृष्टत्व या प्रतीयमानत्व (विषयता सम्बन्ध से विशेषणीभूत प्रतीति) के साथ ज्ञानलक्षण (स्वयंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतत्व) सन्निकर्ष माना जाता है]।

समाधान—'सुरभि चन्दनम्'—यहाँ पर सौरभ को चन्दन का विशेषण मानने में कोई दोष प्रसक्त नहीं होता, किन्तु घटादि विषय का उक्त प्रतीति या बुद्धि को विशेषण मानने पर निर्विषयक बुद्धि को विशेषण न मान कर सविषयक (घटविषयक) बुद्धि को ही विषय का विशेषण मानना होगा, इस प्रकार बुद्धि का विषयीभूत घट ही अपना विशेषण बनता है, जो कि आत्माश्रयता का आपादक है। यदि विषयोपलक्षित बुद्धि को विषय का विशेषण माना जाता है, तव जहाँ अभाव-विशिष्ट भाव पदार्थ का ग्रहण होता है, 'घटाभाववद् भूतलम्' ऐसे स्थल पर घटाभाव में भावत्वापत्ति होती है, क्योंकि जिस (परप्रतिषेधात्मक विषय से विशिष्ट) प्रतीति की विषयता है, वह भी अपरप्रतिषेधात्मक विषय से उपलक्षित हो सकती है, फलतः अपरप्रतिषेधात्मकविषयोपलक्षितप्रतीतिविषयत्वरूप भावत्व घटाभाव में पर्यवसित हो जाता है [विषय को उपलक्षण न मान कर विशेषण मानने पर अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें परप्रतिषेधात्मकविषय से विशिष्ट प्रतीति की विषयता है, अपरप्रतिषेधात्मक विषय से विशिष्ट प्रतीति की विषयता नहीं]।

भावग्रहार्थस्याभावस्य तथात्वापत्तेः। तेन यदेवंविधं तद्भावरूपमिति च ब्रुवता एवंविधत्वाद्भावत्वमन्यद्वाच्यम्, अभेदे च यदेवंविधं तद्भावरूपमिति नियमानुपपत्तेः। अस्योपलक्षणत्वे चोपलक्ष्यस्यान्यस्य वाच्यत्वात्। अस्यैव भावार्थत्वे चाभावो नास्तीति कृत्वा प्रतीयमानस्य भावस्य भावत्वाभावप्रसङ्गात्। भिन्नश्च भावत्वं न सम्भवति, षट्पदार्थव्यतिरेकप्रसङ्गात्। यच्च किञ्चिद्भावत्वं तत्स्वात्मन्यस्ति, नो वा? अस्ति चेदात्मनि वृत्तिविरोधः, नास्ति चेत्स्वस्यान्यप्रतिषेधमुखेन चाप्रतीयमानस्याभावत्वप्रसङ्ग इति।

लक्ष्यस्याद्याप्यनिरूपितत्वादसिद्धिर्लक्षणस्येत्यभिप्रेत्याह ❀ यदिति ❀। अभेदे दोषमाह ❀ अभेदेति ❀। विशेषणविशेष्यभावनियमानुपपत्तेरित्यर्थः। यद्वा लक्ष्यलक्षणयोरेवं नेष्टं वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेरित्यर्थः। अप्रतिषेधात्मकतया प्रतीयमानत्वमुपलक्षणं न विशेषणमतो नाचाक्षुषादित्वापात इत्यत आह ❀अस्येति❀। लक्ष्यलक्षणयोरेकत्वे दोषान्तरमाह ❀ अस्यैवेति ❀। अप्रतिषेधात्मकतया प्रतीयमानत्वस्यैव भावत्वेनास्त्यभाव इति प्रतिषेधात्मकतया प्रतीयमानत्वस्य भावत्वं न स्यादित्यव्याप्तिरित्यर्थः। भावत्वं च षट्पदार्थान्तर्भूतं न वेति विकल्प्य न प्रथमः सम्भवति पदार्थातिरेकप्रसङ्गात्, द्वितीयेपि द्रव्याद्यन्तर्भावे सामान्यादेरभावत्वप्रसङ्गः सामान्याद्यन्तर्भावेपि समवायाद्यन्तर्भावत्वप्रसङ्गात्। न च द्रव्यादिस्वरूपमेव तदिति सम्भवत्यनुगतव्यवहाराभावप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्याह ❀ भिन्नं चेति ❀। किञ्च यत्किञ्चिद्भावलक्षणमुच्यते तत्स्वात्मन्यस्ति वा न वेति विकल्पयति ❀ यदिति ❀। स्ववृत्तिविरोधान्नाद्य इत्याह ❀ अस्तीति ❀। द्वितीये भावरूपस्यात्मन्येव न वर्तते इत्यव्याप्तिरित्याह ❀ नास्तीति ❀।

इति भावत्वखण्डनम्।

यह भी यहाँ विचारणीय है कि आप जो लक्षणवाक्य में उद्देश्यविधेयभाव बनाते हैं कि 'यदेवंविधं (अपरप्रतिषेधात्मकतया प्रतीयमानम्) तद् भावस्वरूपम्'—इस वाक्य से शाब्द बोध नहीं हो सकता, क्योंकि शाब्द बोध के लिये उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय का भेद होना परमावश्यक है, 'घटो घटः'—इस वाक्य से शाब्द बोध न होने का कारण यही है कि यहाँ उद्देश्यतावच्छेदक घटत्व है और विधेय भी घटत्व है। वैसे ही प्रकृत में लक्षण-विशिष्ट (एवंविध) पदार्थ के उद्देश्य से भावत्वरूप लक्ष्यतावच्छेदक का विधान किया जाता है, किन्तु एवंविधत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक और भावत्वरूप विधेय का कोई अन्तर नहीं, दोनों एक ही तत्त्व हैं, अतः एववविधत्व से भिन्न 'भावत्व' का निर्वचन करना होगा, जो कि सम्भव नहीं। लक्षणरूप उद्देश्यतावच्छेदक और भावत्वरूप विधेय का अभेद होने पर 'यो भावः स भावः'—ऐसा वाक्य सम्पन्न होता है, इससे शाब्द बोध के नियमों की उपपत्ति नहीं होती। यह ऊपर कहा जा चुका है कि भावत्व में चाक्षुषत्व की उपपत्ति के लिए प्रतीति-घटित लक्षण को लक्ष्य का विशेषण न मान कर उपलक्षण माना जाता है, अतः इससे उपलक्ष्यभूत भावत्व को भिन्न ही कहना होगा।

यदि प्रतिषेधानात्मकत्वेन प्रतीयमानत्वरूप लक्षण को ही भावत्व माना जाता है, तब 'अयं घटोऽभावो नास्ति'—यहाँ पर घटरूप भाव में अभावप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्व होने के कारण भावत्व न बन सकेगा।

यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि भावत्व द्रव्यादि छः भाव पदार्थों के अनन्तर्गत है? अथवा उनके अन्तर्गत? यदि अनन्तर्गत है, तब द्रव्यादि छः भाव पदार्थों से भिन्न स्थापित करना होगा। यदि छः भाव पदार्थों के अन्तर्गत ही माना जाता है, तब सामान्यादि में द्रव्यादि

२. अभावत्वलक्षणखण्डनम्

नन्वेवमीश्वरे प्रमाणानुपदर्शनात्तदभाव एवाऽऽपद्यत इति चेत्, अभावत्वं किमभिधीयते ? निषेधात्मकत्वमिति चेत्, तद्यदि प्रतिक्षेपात्मकत्वं तदा भावेऽप्यस्ति, भावाभावयोर्द्वयोरपि परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वस्वीकारात्। अथाभावत्वमेव, तदा न निवृत्तः पर्यनुयोगः। एतेन निषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमिति निरस्तम्।

एवं भावत्वनिराकरणेन षट्पदार्थनियमं निरस्य योऽप्यभाव इष्यते तस्याप्यनिर्वाच्यताप्रतिपादनाय प्रकृतव्याजेन शङ्कते ❀ नन्विति ❀। निषेधात्मकत्वमभावत्वमुत निषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमुत भावविरोधित्वमिति विकल्पयन्नाह ❀ अभावत्वमिति ❀। प्रथममनुवदति ❀ निषेधेति ❀। किमिदन्निषेधत्वं प्रतिक्षेपात्मकत्वं अभावत्वं वेति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ तदिति ❀। भावेऽतिव्याप्त्या दूषयति ❀ भावेति ❀। तत्रापि हेतुं दर्शयति ❀ भावेति ❀। अभावत्वं निषेधत्वमिति द्वितीयं शंकते ❀अथेति❀। किमिदमभावत्वमिति पर्यनुयोगोऽपरिहृतः स्यादिति परिहरति ❀ तदिति ❀। निषेधात्मकत्वमभावत्वमिति प्रथमकल्पोक्तदूषणं निषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमिति द्वितीयेऽप्यतिदिशति ❀ एतेनेति ❀। निषेधत्वम्प्रतिक्षेपत्वमभावत्वं वेति विकल्पदूषणयोस्तुल्यत्वेनेत्यर्थः।

के न रहने के कारण भावत्व सम्भव न हो सकेगा। यदि भावत्व कुछ मान भी लिया जाता है, तब वह अपने में रहता है ? अथवा नहीं ? यदि रहता है, तब आत्माश्रयता हो जाती है, अतः स्व में स्ववृत्तिता नहीं रह सकती। यदि भावत्व में भावत्व नहीं रहता, तब अन्यप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमान होने के कारण भावत्व में अभावत्वापत्ति होती है।

---

२. अभावत्व-लक्षण-खण्डन

शङ्का—ईश्वर के सद्भाव में यदि कोई प्रमाण सम्भव नहीं, तब ईश्वर का अभाव मानना होगा।

समाधान—अभावत्व का निर्वचन न हो सकने के कारण ईश्वर का अभाव नहीं माना जा सकता। [अभावत्व-निर्वचन के कतिपय प्रकारों का प्रदर्शन कर खण्डन किया जाता है]।

(१) निषेधात्मकत्वम्—

शङ्का—श्रीउदयनाचार्य ने कहा है—"नञर्थप्रत्ययविषयोऽभावः" (लक्षणावली. पृ० २६)। इसे ही व्याख्याकारों ने कई रूपों में प्रस्तुत किया है, उन्हीं में निषेधात्मकत्व भी है। भाव यदि विध्यात्मक है, तब अभाव का निषेधात्मक होना अत्यन्त संगत है।

समाधान—निषेधात्मकत्व का क्या अर्थ विवक्षित है, क्या (१) प्रतिक्षेपात्मकत्व ? अथवा अभावत्व ? प्रथम कल्प के अनुसार भाव में भी अभावापत्ति होती है, क्योंकि प्रतिक्षेप का अर्थ होता है—विरोधी, अभाव जैसे भाव का विरोधी होता है, वैसे ही भाव अभाव का क्योंकि भाव और अभाव—दोनों को परस्पर एक-दूसरे का विरोधी माना जाता है। द्वितीय कल्प (अभावत्व) माना जाता है, तब 'किमभावत्वम् ?' इस प्रश्न के उत्तर में 'अभावत्वम्'—ऐसा कह देने पर भी जिज्ञासा शान्त नहीं होती और वह पर्यनुयोग (प्रश्न) जैसा-का-तैसा बना रहता है—'किमभावत्वम् ?।

(२) निषेधमुखेन प्रतीयमानत्वम्—

इस लक्षण में भी कथित दोनों दोष बने रहते हैं कि 'निषेधमुखेन प्रतीयमानत्व' का अर्थ यदि प्रतिक्षेपात्मकत्व किया जाता है, तब भाव में अतिव्याप्ति और यदि अभावत्व अर्थ किया जाता है, तब आकाँक्षा शान्त नहीं होती कि किमभावत्वम् ?

भावविरोधित्वमिति चेन्न, सर्वभावविरोधित्वं तद्विशेषविरोधित्वं वा ? नाद्यः, असिद्धेः, न हि घटाभावो भूतलादि विरुणद्धि । नापि द्वितीयः, भावानामपि केषाञ्चि-त्तथाभावात् । अथ सहानवस्थानं विरोधो विवक्षितः, स भावानां नास्तीति चेन्न, गोत्वाश्वत्वादौ तस्यापि भावात् । एकविधावन्यनिषेधः स इति चेन्न, भेदे भावभेद-योरेव प्रसङ्गात् । एकविधिरेवापरनिषेधः स इति चेन्न, निषेधस्याभावार्थत्वे भावार्थत्वे

तृतीयं कल्पं शङ्कते ॐ भावेति ॐ । नेतद्विकल्पासहत्वादित्याह ॐ नेति ॐ । सर्वभाव-विरोधित्वस्यैव मुख्यत्वादाद्य एवास्त्वित्यत आह ॐ नाद्य इति ॐ । तामेवासिद्धिमुपपादयति ॐ न हीति ॐ । द्वितीयेपि वध्यघातकभावो विरोध उत सहानवस्थानमिति विकल्प्य प्रथममति-व्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ । आखुनकुलादीनामपि वध्यघातकभावादभावत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते ॐ अथेति ॐ । लक्षणमात्रं सहावस्थितानामेव वध्यघातकभावात् सहानवस्थानविरोधा-भावान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः । गोत्वाश्वत्वादिसामान्यानां नियतव्यक्तिवृत्तीनां कदाचिदपि सहावस्थाना-भावादतिव्याप्तिरिति दूषयति ॐ नेति ॐ । गौरयमास्तीतिबोधितेऽश्वस्य निषेधो न सिद्ध्यति घटाभावोऽ-स्तीति बोधिते घटनिषेधः सिद्ध्यति तेनैकविधावन्यनिषेधो भावाभावयोः विरोधो विवक्षित इति शङ्कते ॐ एकेति ॐ । एकविध्यन्यनिषेधयोर्भेद उताभेद इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ नेति ॐ । गौरयमित्युक्तेऽश्वो न भवतीति तन्निषेधः सिद्ध्यत्यश्वाभावाविनाभावित्वात् गोरित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । अभेदपक्षमुत्थापयति ॐ एकेति ॐ । तत्र निषेधशब्देन अभाव उच्यते किं वा नास्तीतिप्रतीयमानत्वमिति विकल्प्य नाद्योऽभावत्वस्याद्यापि अनिरूप्यमाणतयाऽसिद्धेरिति परिहरति ॐ नेति ॐ । नास्तिप्रत्यय-

(२) भावविरोधित्वम्—

यहाँ 'भाव' शब्द का कोई विशेषण गृहीत न होने के कारण सन्देह हो जाता है कि सर्व भावों की विरोधिता विवक्षित है ? अथवा किसी एक भाव की विरोधिता ? सभी भावों का विरोधी तो कोई एक अभाव होता नहीं, अतः 'सर्वभावविरोधित्व असम्भव-ग्रस्त है । भूतलवृत्ति घटाभाव न भूतल का विरोधी है और न भूतलवृत्ति पटादि का, अन्यथा जैसे सर्पादि के रहने पर नकुलादि विरोधी पदार्थों की उपलब्धि नहीं होती, वैसे घटाभाव के रहने पर भूतलादि की भी उपलब्धि नहीं होनी चाहिये किन्तु होती है, अतः घटाभाव में भूतलादि-विरोधित्व नहीं । द्वितीय कल्प (किसी एक भाव का विरोधित्व) तो अहिनकुलादि कतिय भावपदार्थों में भी देखा जाती है, अतः उनमें अभावत्व की अतिव्याप्ति होगी ।

शङ्का—यहाँ सहानवस्थानात्मक विरोध विवक्षित है, जहाँ घटाभाव है, वहाँ घट नहीं रहता । भूतल में घटाभाव है, किन्तु भूतल में भूतल नहीं रहता, अतः घटाभाव और भूतल का भी सहानवस्थान ही है ।

समाधान—सहानवस्थात्मक विरोध गोत्व और अश्वत्वादि में भी देखा जाता है, अर्थात् जहाँ अश्वत्व है, वहाँ गोत्व नहीं और जहाँ गोत्व है, वहाँ अश्वत्व नहीं, अतः उनमें भी अतिव्याप्ति होती है ।

शङ्का—विधिनिषेधात्मकत्व विरोध यहाँ विवक्षित है, 'अत्र घटोऽस्ति'—इस प्रकार भाव की विधि होने पर 'अत्र घटाभावोऽस्ति'—इस प्रकार घटाभाव की विधि न होकर 'अत्र घटो नास्ति'—इस प्रकार घटाभाव का निषेध ही अनुभूत होता है, अतः यही अभाव में भाव की विरोधिता है ।

समाधान—एक की विधि और अन्य के निषेध का भेद माना जाता है ? या अभेद ? यदि भेद माना जाता है, तब 'गौरयम्'—ऐसा कहने पर 'अश्वो न भवति'—इस प्रकार अश्व का निषेध सिद्ध हो जाता है, क्योंकि यत्र-यत्र गोत्वम्, तत्र तत्राश्वत्वं नास्ति'—इस प्रकार

बासिद्धेः । नास्तीति प्रतीयमानत्वमिति चेन्न, घटाभावो नास्तीति घटस्य तथाप्रतीयमानतया अभावत्वापत्तेः । अस्तीति भावत्वनिरुक्तौ यदुक्तं दूषणं तदापत्तेश्च ।

प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वमिति चेन्न, प्रतियोगिनः परार्थत्वेऽतिप्रसङ्गात् । विरोध्यर्थत्वे चैतदनिरुक्तेः । असदर्थत्वे नञर्थस्यासिद्धेः अतीतानागतज्ञानादौ

विषयत्वं तदिति द्वितीयं शङ्कते ॐ नास्तीति ॐ । अतिव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ । नास्तीति प्रतीयमानत्वं विरोधस्तद्वानभाव इत्युक्तं स्यात्तथा च घटाभावो नास्तीति स्वाभावनिषेधरूपतया प्रतीयमानस्यापि घटस्याभावरूपत्वं प्रसज्यत इत्यर्थः । दूषणान्तरमतिदिशति ॐ अस्तीति ॐ । नास्तीति प्रतीतेर्नास्त्यर्थो विशेषणमुत उच्छब्दः ? आद्ये तदर्थस्याभावत्वस्याद्याप्यसिद्धेरसम्भवो द्वितीयेऽपि न भवति न वर्तत इत्यादिशब्दोल्लिखितप्रत्ययस्याभावत्वं न स्याद् भावे नास्तिप्रत्ययविषयत्वस्य दर्शितत्वादतिव्याप्तिश्चेत्यादि द्रष्टव्यमित्यर्थः ।

अभावलक्षणानन्तरं शङ्कते ॐ प्रतीति ॐ । प्रतियोगिज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वमभावत्वमिति यावत् । भेदोऽप्यन्योन्याभाव इति नातिव्याप्तिः । प्रतियोगीति विशेषणं भावव्युदासार्थम् । प्रतियोगिशब्देन परमुच्यते किं वा विरोध्युतासदिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ नेति ॐ । अन्यनिरूपणाधीननिरूपणीयत्वमित्युक्तं स्यात्तथा चातिव्याप्तिः संयोगसमवायादिसम्बन्धस्य सम्बन्धिनिरूपणीयत्वादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति ॐ विरोधीति ॐ । विरोधानिरुक्तौ विरोधिनोऽप्यनिरुक्तिर्विरोधश्च सहानवस्थानादिरूपो निर्वक्तु-

---

गोत्व की विधि में अश्वत्व-निषेध का अविनाभाव होता है, अतः विधिनिषेधात्मकत्व विरोध दो भावपदार्थों में रहने के कारण अभावत्व की अतिप्रसक्ति होती है । अभेद-पक्ष में 'निषेध' पद यदि अभावार्थक माना जाता है, तब अभावत्व की निर्वचनाभावत्व-प्रयुक्त असिद्धि होती है । 'निषेध' पद यदि भावार्थक है, तब भी असिद्धि दोष होता है, क्योंकि 'निषेध' पद को कहीं भी 'भावार्थ' में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती ।

(४) नास्तीति प्रतीयमानत्वम् —

जैसे 'अत्र घटो नास्ति'—इस प्रकार घटा-द्यभाव की नास्तित्वेन प्रतीत होती है, वैसे ही जहाँ घट है, वहाँ 'घटाभावो नास्ति'—इस प्रकार इतर-नास्तित्वेन घटादि भाव पदार्थों की भी प्रतीति होती है, अतः 'नास्तित्वेन प्रतीयमानत्व'—यह अभाव का लक्षण भावपदार्थों में अतिव्याप्त है । 'अस्ति'—इस प्रकार भावत्व के निर्वचन में जो दोष दिए गए थे, वे दोष 'नास्ति'—इस प्रकार अभाव के निर्वचन में भी उद्भावित किए जा सकते हैं । [न्यायलीलावतीकार ने भी लगभग इन सभी पक्षों की आलोचना की है—"किं पुनर्नञोऽभिधेयम् ? न तावत् सामान्यम्, तस्य परसामान्यनियतत्वात् । नापि भावविरोधित्वम्, अन्योऽन्याभावे तदभावात् । सहानवस्थानं तदिति चेन्, न, अत्रापि नञर्थाभिधानेऽनवस्था । नापि भावानात्मकत्वम् निषेध्यनिरूप्यत्वं वा, तदनिरुक्तेः । नापि भावान्यत्वम्, स्वरूपस्याननुगतेः । नास्तीति बुद्धिवेद्यत्वं तदिति चेन्, न, तदालम्बनस्यैवानुगतस्यासत्त्वात्" (न्या. ली. पृ. ५६१–६२) ।

(५) प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वम् —

शङ्का—घटादि भावपदार्थों का निरूपण अन्य किसी पदार्थ पर निर्भर न होकर स्वरूपतः होता है, किन्तु अभाव पदार्थ का निरूपण उसके घटादि प्रतियोगी पर आश्रित होता है—'घटो नास्ति' ।

समाधान—'प्रतियोगी' शब्द से क्या विवक्षित है—(१) पर (भिन्न) ? या (२) विरोधी ? अथवा असत् (अविद्यमान) ? प्रथम कल्प मानने पर सभी सविषयक (ज्ञानादि), सापेक्ष संयोगादि भाव पदार्थों में अभावत्वापत्ति होती है, क्योंकि ज्ञानादि के

विषयादिनाऽतिप्रसङ्गात् ।

यच्च किञ्चिदभावस्य लक्षणमुच्यते, स भावोऽभावो वा स्यात् ? नाद्यः, भावस्याभावानाश्रितत्वात्, विषयिधर्मेण च कथमपि तथात्वे तन्निर्वाच्यं स्यात्। अन्यदेव तद्वदिति चेन्न, तद्वदभावस्याभावत्वे स्ववृत्तिः, भावत्वे च व्याघातात् ।

न द्वितीयः, तस्याऽऽत्मनि वृत्तौ विरोधापत्तेः, अवृत्तावव्यापकत्वप्रसङ्गादिति ।

मशक्य इत्युक्तमित्यर्थः । तृतीयं प्रत्याह ॐ असदिति ॐ । असत्वमभावस्तथा चाभावेनैवाभावनिरूपणं इत्यात्माश्रयाद् असम्भवः । असदर्थत्वेऽसत्वस्यासिद्धिरिति पाठान्तरं तत्रैवमर्थः प्रतियोगिपदस्यासदर्थत्वेऽसन्निरूपणाधीननिरूपणमित्युक्तं स्यात्तथा चासिद्धिरभावस्याद्याप्यसिद्धेर्घटाभावः पटाभाव इति भाव (निरूपणत्वादभावस्येति । असन्निरूपणाधीननिरूपणत्वस्यातिव्याप्तिमाह ॐ अतीतेति ॐ । अभूद् वृष्टिरिति ज्ञानविधाने च तत्कालमविद्यमानविषयेण निरूपणीयेऽनुमितभाविलिङ्गे तत्कालसमातिरूपणीयेऽनुमितभाविलिङ्गेन तत्कालमतीनिरूपणीयेति स्वप्रदेशजलपूरणाज्ञाने भाव)त्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । विषयादिना निरूपणीये ज्ञानादावपि प्रसङ्गादिति सम्बन्धः ।

भङ्ग्यन्तरम्भणितुं विकल्पयति ॐ यच्चेति ॐ । अभावस्य लक्ष्यत्वात्तल्लक्षणं भावत्वं युक्तमित्यत आह ॐ नाद्य इति ॐ । भावत्वे द्रव्याद्यन्यतमं स्याद् द्रव्यादि नाभावाश्रितमित्यसम्भवि लक्षणमित्यर्थः । मा भूद्भावस्याभावाश्रितत्वं तथापि तद्व्यवहारः स्याद्, यथा विषयानाश्रितेनैव ज्ञानेन विषयस्तद्वानुपदिश्यते ज्ञात इति तद्वद्भावस्य लक्षणस्याभावानाश्रितत्वेऽपि विषयिणि ज्ञाने वर्तमानत्वात्तद्विषयेऽप्यभावे लक्षणवत्त्वव्यपदेशः स्यादित्याशङ्क्याह ॐ विषयीति ॐ । ज्ञानत्वादिषु परिगणितेषु विषयिधर्मेषु स्वदुक्तलक्षणमन्तर्भवतीति निर्वाच्यमित्यर्थः । परिगणितविषयिधर्मेषु ज्ञानत्वादिषु तन्नान्तर्भवति किन्तु ततोव्यतिरिक्तमेवेति शङ्कते ॐ अन्यदिति ॐ । ज्ञानत्वादिव्यतिरिक्तमेव तद्वदिति तत्तुल्यं विषयिधर्मान्तरमभावलक्षणमित्यर्थः । भवतु तत्किञ्चिदभावलक्षणं तथापि तल्लक्षणविशिष्टाभावस्याभावत्वमेवोत भावत्वमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ नेति ॐ । लक्षणविशिष्टस्य तद्वतोऽप्यभावत्वे तल्लक्षणं तत्र न वर्तते वर्तते वा ? यदि न वर्तते तर्हि तत्रैवाव्याप्तिर्यदि वर्तते तदा स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरित्यंशत आत्माश्रय इत्यर्थः । स्वरूपेणाभावोऽपि लक्षणविशिष्टत्वेन भाव एव भवतीति द्वितीये दोषमाह ॐ भावत्वे चेति ॐ । अभाव एव लक्षणविशिष्टोऽप्यभावो भाव इति वाक्यमेव व्याहतं न हि भावोऽभावो भवतीत्यर्थः । अभावलक्षणमभाव इति द्वितीयं कल्पं दूषयति ॐ न द्वितीय इति ॐ । अभावरूपमभावलक्षणं स्वात्मनि वर्तते न

निरूपण में उनसे भिन्न घटादि सम्बन्धियों की अपेक्षा होती है। द्वितीय और तृतीय कल्प भी ग्राह्य नहीं हो सकते, क्योंकि विरोध और असत्—इत्यादि शब्दों का अर्थ अभी तक निर्णीत नहीं हो पाया है। अतीतानागतादि विषयों का ज्ञान भी अपने वर्तमान काल में असत् विषयों से निरूपित है, उसमें भी अतिव्याप्ति है।

यदि अभाव का कुछ लक्षण मान भी लिया जाय, तब भी वह (१) भावरूप है ? अथवा (२) अभावरूप ? (१) उक्त लक्षण यदि भावरूप माना जाता है, तब द्रव्यादि छः भाव पदार्थों में से किसी एक का स्वरूप मानना होगा, उसका आश्रय अभाव नहीं हो सकता। जैसे अभावज्ञानादि सविषयक पदार्थों का भावरूप विषयत्व धर्म अभावादि पर रहता है, वैसे लक्षणरूप भावभूत धर्म भी अभाव पर क्यों न रहेगा ? इस प्रश्न के उत्तर में इतना कहा जा सकता है कि विषयत्वादि धर्मों में भी भावत्वादि का निर्वचन करना होगा, जो कि सम्भव नहीं। यदि विषयत्वादि से भिन्न कोई वैसा ही भावात्मक पदार्थ लक्षण माना जाता है, तब लक्षण-विशिष्ट अभाव पदार्थ में अभावत्व माना जाता है ? या भावत्व ? प्रथम कल्प में आत्माश्रयता और द्वितीय कल्प में व्याघात उपस्थित होता है कि अभाव में भावत्व माना जाता है।

द्वितीय कल्प के अनुसार उक्त लक्षण को यदि अभावरूप माना जाता है, तब वह

प्रतिक्षेप्यविशिष्टमेव यत् प्रतिभाति सोऽभाव इति चेन्न, प्रतिक्षेपानिरुक्तौ प्रतिक्षेप्यानिरुक्तेः।

३. विशिष्टलक्षणखण्डनम्

विशिष्टशब्दार्थश्च निर्वचनीयः स्यात्। तत्र विशिष्टं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा? नाद्यः, दण्डपुरुषसम्बन्धमन्तरेण दण्डिनोऽन्यस्याप्रतीतेः। 'दण्डिनमानये'त्युक्तेऽतदानयनप्रसङ्गाच्च। तत्सम्बन्धेनोपलक्षितत्वात् तथेति चेन्न,

---

वेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ तस्येति ❀। द्वितीये तस्मिन्नेवाव्यापकमित्याह ❀ अवृत्ताविति ❀।

अभावस्य लक्षणान्तरं शङ्कते ❀ प्रतीति ❀। घटाभावपटाभाव इति प्रतिक्षेप्यघटादिविशिष्ट एव यो भाति सोऽभाव इत्यर्थः। घटत्वविशिष्टावभासघटे प्रतिक्षेप्यविशिष्टावभासधर्मिणि चातिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणद्वयम्। प्रतिक्षेपोऽभावः तन्निर्वचनमन्तरेण प्रतिक्षेप्यानिर्वचनात्तद्विशिष्टलक्षणासिद्धिरिति परिहरति ❀ नेति ❀।

प्रतिक्षेप्यानिरुक्त्या लक्षणं प्रतिक्षिप्य विशिष्टानिरुक्त्यापि लक्षणासिद्धिमाह ❀ विशिष्टेति ❀। विशिष्टानिर्वचनीयतां प्रपञ्चयितुं विकल्पयति ❀ तत्रेति ❀। विशिष्टं विशेषणादिभ्यस्तत्त्वान्तरमिति मीमांसकपक्षं प्रतिक्षिपति ❀ नाद्य इति ❀। दण्डी दण्डपुरुषतत्सम्बन्धव्यतिरिक्तश्चेत्तानन्तरेणाऽपि प्रतीयेत घटव्यतिरेकेणाऽपि पटवन्न प्रतीयतेऽतः प्रतीतिबाधितमित्यर्थः। दण्डपुरुषादिप्रतीतिविलक्षणप्रतीतिविषयत्वेन तानन्तरेण स्वातन्त्र्येणास्ति प्रतीतिरित्याशङ्क्याह ❀ दण्डिनमिति ❀। विशिष्टान्यत्वे दण्डिनमानयेत्युक्ते दण्डपुरुषतत्सम्बन्धानयनं न स्यादस्ति चानयनं तस्मादानयनव्यवहारकारणीभूतं विशिष्टज्ञानमपि विशेषणादिविषयं वाच्यं ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां कार्यकारणभूतानां समानविषयत्वनियमादित्यर्थः। दण्डिनोऽन्यत्वेऽपि तस्य दण्डपुरुषसम्बन्धोपलक्षितत्वात् दण्डिनमानयेत्युक्ते दण्डवानयनवद्दण्डाद्यानयनमपि स्यादिति शङ्कते ❀ तदिति ❀। विशिष्टसम्बन्धितया विशिष्टवाचिना शब्देन दण्डादयोऽप्युपलक्षिता अतस्ते-

---

लक्षण स्वयं अपने में रहता है? या नहीं? यदि रहता है, तब आत्माश्रयता और यदि अभावरूप लक्षण में अभाव का लक्षण नहीं रहता, तब वह अव्याप्ति दोष से युक्त हो जाता है।

(७) प्रतिक्षेप्यविशिष्टतया प्रतिभातत्वम् —

अभावरूप प्रतिक्षेप के द्वारा प्रतिक्षेपणीय निराकरणीय घटादि पदार्थों से विशिष्ट ही घटादि के अभाव का प्रतिभान होता है। किन्तु प्रतिक्षेप और प्रतिक्षेप्य पदार्थों के निर्वचन पर यह लक्षण निर्भर है, उनका निर्वचन सम्भव नहीं।

३. विशिष्ट-लक्षण-खण्डन

ऊपर 'प्रतिक्षेप्य-विशिष्ट' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः विशिष्ट पदार्थ का निर्वचन आवश्यक हो जाता है। वहाँ जिज्ञासा होती है कि विशिष्ट पदार्थ विशेषण, विशेष्य और उनके सम्बन्ध—इन तीनों से भिन्न है? अथवा अभिन्न?

विशिष्ट पदार्थ को विशेषणादि से भिन्न मानना संगत नहीं, क्योंकि 'दण्डिनमानय'—ऐसा निर्देश पाकर दण्ड, पुरुष और उनके संयोग सम्बन्ध से भिन्न किसी चौथे पदार्थ का आनयन नहीं किया जाता। विशिष्ट पदार्थ को भिन्न मानने पर किसी चतुर्थ पदार्थ का ही आनयन प्रसक्त होता है।

शङ्का—विशिष्ट विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध से उपलक्षित होता है। यद्यपि विशिष्ट पदार्थ विशेषणादि से भिन्न है, तथापि अपने उपलक्षणों से अन्यत्र उसका व्यवहार नहीं होता।

अतद्वत उपलक्ष्यत्वेऽतिप्रसङ्गात्। तद्वतश्चान्यत्वात्। सम्बन्धो हेतुः, स च तदधिकरण एवेति चेन्न, सम्बन्धात्तदधिकरणसम्बन्धान्यत्वापत्तेरित्येष न पन्थाः। तत्सम्बन्धिनि तत्र व्यवहार इति चेन्न, तस्यापि विशिष्टत्वेनान्यत्वापत्तौ व्यवहारविषयगतविशेषस्य वक्तुमशक्यत्वात्। एवं परम्पराकल्पनायामप्यनवस्थामात्रम्, न तु व्यवहार्यगतो विशेषः कश्चित्।

दामानयनमिति वा शङ्कते ❀ तदिति ❀। दण्डादिभिरुपलक्ष्यमाणो दण्डी दण्डाद्यसम्बन्धितयोपलक्ष्यते उत सम्बन्धितयेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। विशिष्टमात्रस्योपलक्ष्यत्वादुपलक्षणस्य तद्बहिर्भावादुपलक्षणानयनं न स्यादन्यथाऽन्यस्मिन्नुपलक्षितेऽन्यत्र व्यवहार इत्यतिप्रसक्तिरित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति ❀ तदिति ❀। प्रथमविशिष्टवद् द्वितीयविशिष्टस्यापि तद्वतो विशेषणादिभ्योऽन्यत्वाद् दण्डाद्यानयनं तत्र स्यादन्यथाऽतिप्रसक्तेरेवेत्यर्थः। यद्यप्यतद्वानुपलक्ष्यते तथापि तदुपलक्षणे दण्डादिसम्बन्धो हेतुः, स च विशिष्टविशेषणाद्युभयाधिकरण इति दण्डाद्यानयनं स्यादुपलक्षणहेतुसम्बन्धाधिकरणत्वादिति शङ्कते ❀सम्बन्ध इति ❀। सम्बन्धमात्रमुपलक्षणहेतुरुत दण्डाद्यधिकरणमाद्ये घटादेरप्यानयनप्रसङ्गो द्वितीये दण्डाद्यधिकरणसम्बन्धो न दण्डादावस्ति स्ववृत्तिविरोधादिति तदानयनं न स्यादिति परिहरति ❀ नेति ❀। सम्बन्धात्—सम्बन्धमात्रात्तदधिकरणसम्बन्धस्येति विशेषणविशेष्य अधिकरणं यस्य सम्बन्धस्य तस्य देवदत्तदण्डविशिष्टस्य केवलसम्बन्धादन्यत्वाद्दण्डादेर्व्यवहाराविषयत्वापत्तिरित्यन्वयः। उत्तरोत्तरसम्बन्धाङ्गीकारेऽप्ययमेव न्याय इत्याह ❀ इतीति ❀। उपलक्षणपक्षोक्तदोषपरिहाराय दण्डपुरुषतत्सम्बन्धानां दण्डिविशेषणत्वाद्दण्डिनि व्यवह्रियमाणे तेषामपि व्यवहार इति शङ्कते ❀ तदिति ❀। विशिष्टवैशिष्ट्यं यत्तस्यापि विशिष्टत्वाद्विशेषणादिभ्यश्च तत्त्वान्तरत्वान्न दण्डादिव्यवहारनियामकत्वमिति परिहरति ❀ नेति ❀। तदपि वैशिष्ट्यं देवदत्तादिविशिष्टतया तद्व्यवहारनियामकं स्यादित्याशङ्क्याह ❀ एवमिति ❀। तत्तद्वैशिष्ट्यस्यापि विशेषणादिभ्योऽन्यत्वात् व्यवहारनियमो न स्यात् किन्त्वनवस्थामात्रं परिशिष्यत इत्यर्थः।

समाधान—उपलक्ष्यभूत दण्डयादि पदार्थ क्या दण्ड और पुरुषादि से अघटित होते हैं? अथवा उनसे घटित? प्रथम कल्प के अनुसार दण्डिनमानय—ऐसा कहने पर कुण्डल्यादि पदार्थों का आनयन होना चाहिये। द्वितीय कल्प मानने पर विशिष्ट पदार्थ के अतिरिक्त होने के कारण विशेषण और विशेष्य में आनयन-व्यवहार नहीं होना चाहिए।

शङ्का—'दण्डिनमानय'—इस प्रकार के विशिष्ट-व्यवहार का हेतु (विशेषण और विशेष्य का) सम्बन्ध होता है, वह 'दण्ड और पुरुष'—इन दोनों के आश्रित है, अतः आनयनादि विशिष्ट-व्यवहार दण्डादि को छोड़ कर नहीं होता।

समाधान—केवल संयोग सम्बन्ध तो घट और भूतलादि का भी होता है, अतः वह 'दण्डिनमानय' इस प्रकार के विशिष्ट-व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता, अन्यथा घटादि का भी आनयन प्राप्त होता है, अतः दण्डादि-विशिष्ट सम्बन्ध को ही विशिष्ट-व्यवहार का नियामक मानना होगा। विशिष्ट पदार्थ को विशेषणादि से अतिरिक्त माना जाता है, इस लिये दण्डादि का आनयन नहीं होना चाहिए। फलतः विशिष्ट पदार्थ को विशेषणादि से भिन्न मानने का यह मार्ग उचित नहीं।

शङ्का—यद्यपि विशिष्ट पदार्थ विशेषणादि से अतिरिक्त है, तथापि विशेषणादि उसके सम्बन्धी हैं, अतः सम्बन्धियों को छोड़ कर आनयनादि व्यवहार अन्यत्र नहीं हो सकता।

समाधान—केवल दण्डादि विशिष्ट पदार्थ के सम्बन्धी नहीं, अपितु विशिष्ट-सम्बन्धित्वेन (विशिष्टप्रतियोगिकसम्बन्ध-विशिष्टत्वेन) सम्बन्धी होते हैं। सम्बन्धित्व एक विशिष्ट पदार्थ है, वह भी केवल दण्डादि से भिन्न है, अतः दण्डादि में विशिष्ट-व्यवहार नहीं हो सकता। द्वितीय (सम्बन्धिरूप) विशिष्ट पदार्थ का भी केवल दण्ड सम्बन्धी नहीं हो सकता,

द्वितीये तु प्रत्येकं दण्डिव्यवहारप्रसङ्गो विशेषाभावात्। न ते प्रत्येकं दण्डिः पदार्थाः, किन्तु मिलिता इति चेत्, मिलिता इति किं ते च मेलकं चाभिधीयते, उत तेभ्योऽन्य एव कश्चित्? आद्ये प्रत्येकं स एव प्रसङ्गः, मेलकेऽप्यधिकः। द्वितीयस्तु प्रतीतिव्यवहारविरोधात्पूर्ववदेव निरस्तः। एकज्ञानारूढो वा अविरलनानाज्ञानारूढो वाऽनेकश्च सम्बन्धश्च विशिष्टपदार्थ इति चेन्न, 'घटपटावि'ति बुद्धावारूढौ घटपटौ

इदानीं विशिष्टस्य विशेषणादिभ्योऽनन्यत्वं तार्किकमतं दूषयति ❀ द्वितीय इति ❀। दण्डादीनां प्रत्येकं विशिष्टत्वाविशेषादित्यर्थः। दण्डादीनां प्रत्येकं विशिष्टत्वाभावात् न प्रत्येकं विशिष्टव्यवहारप्रसङ्गो मिलितानामेव पदार्थानां विशिष्टपदार्थत्वस्वीकारादिति शङ्कते ❀ न त इति ❀। तदेव दूषयितुं विकल्पयति ❀ मिलिता इति ❀। मेलकं मिश्रणं प्रत्येकं विशिष्टत्वाविशेषात्तद्व्यवहारप्रसङ्ग एव प्रथमकल्प इत्याह ❀ आद्य इति ❀। मेलके च दण्डिव्यवहारप्रसङ्गोऽतिरिच्यते इत्याह ❀ मेलक इति ❀। मेलको विशेषणादिभ्योऽन्य एव मिलितपदेनोच्यत इति द्वितीयं दूषयति ❀ द्वितीयस्त्विति ❀। देवदत्तादिप्रतीतिं विनापि तत्प्रतीतिः स्यात्तथा तदानयनं विनापि दण्ड्यानयनं स्याद्वस्त्वन्तरत्वाद् घटवदिति विरोध इत्यर्थः। एकज्ञानारूढत्वेनाविरलनानाज्ञानारूढत्वेन वा मिलितपदप्रयोगो न तत्त्वान्तरत्वाभिप्रायेणातो न प्रतीतिविरोधो नापि केवलदण्डादौ प्रसङ्ग इति शङ्कते ❀ एकेति ❀। एकज्ञानारूढः सम्बन्धोऽनेकश्च विशिष्टपदार्थः अथवाऽविरलनानाज्ञानारूढः सम्बन्धोऽनेकश्च विशिष्टपदार्थ इत्यन्वयः। एकज्ञानारूढ इत्युक्ते घटमात्रेऽतिप्रसङ्गनिवारणाय सम्बन्ध इत्युक्तम्। केवलसम्बन्धनिवारणायानेकश्चेति। घटपटौ रूपं समवेतं इत्यनेकप्रतीतिविषयनिवारणायैकेति। द्वितीयलक्षणेऽपि कालविलम्बेनोत्पाद्यमाननानाज्ञानारूढानां विशिष्टत्वं वारयत्यविरलेति। अतिव्यापकत्वेन दूषयति ❀ नेति ❀। विशिष्टमेव दर्शयति ❀ घटपटरूप इति ❀।

अपितु वह भी एक विशिष्ट पदार्थ होकर अपने पूर्व विशिष्ट का सम्बन्धी होगा, अतः विशिष्ट-परम्परा की कल्पना से भी केवल दण्डादि में आनयन का समर्थन नहीं किया जा सकता।

द्वितीय [विशिष्टं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धेभ्यो भिन्नं न] पक्ष मानने पर दण्डादि में से प्रत्येक के आनयन से दण्डी का आनयन सम्पन्न हो जायगा, क्योंकि दण्डादि प्रत्येक पदार्थ दण्डीरूप विशिष्टार्थ से अभिन्न है।

शङ्का—यदि कहा जाय कि केवल दण्ड, केवल पुरुष या केवल सम्बन्ध को विशिष्ट पदार्थ से अभिन्न नहीं माना जाता, अपितु दण्डादि का मिलितरूप विशिष्टार्थ से अभिन्न माना जाता है, अतः प्रत्येक दण्डादि के आनयन पर दण्डी का आनयन सम्पन्न नहीं होता, अपितु दण्ड पुरुष और सम्बन्ध—इन तीनों का आनयन विशिष्टार्थ का आनयन होता है।

समाधान—इस मिलित पक्ष को लेकर भी यह जिज्ञासा होती है कि 'मिलित' शब्द से विशेषण, विशेष्य, संबन्ध और मेलक—इन चारों का अभिधान माना जाता है? या उन चारों पदार्थों से भिन्न किसी अन्य अर्थ का? प्रथम कल्प के अनुसार वही प्रसङ्ग उपस्थित होता है कि 'दण्डिनमानय' कहने पर दण्ड, पुरुष और संबन्ध में से प्रत्येक का आनयन प्राप्त होता है, उससे भी अब एक 'मेलक' पदार्थ का अधिक आनयन प्रसक्त होता है। द्वितीय कल्प अत्यन्त विरुद्ध है, क्योंकि विशेषणादि से भिन्न न तो कोई विशिष्ट पदार्थ प्रतीत होता है और न उसका आनयनादि व्यवहार ही होता देखा जाता है यह कह चुके हैं।

शङ्का—विशिष्ट पदार्थ की परिभाषा दो प्रकार से की जा सकती है—(१) एक ज्ञान के विषयीभूत विशेषणादि अनेक पदार्थ एवं उनके सम्बन्ध की सामूहिक संज्ञा विशिष्ट है, अथवा (२) निरन्तर समुत्पन्न नाना ज्ञानों के विषयीभूत अनेक पदार्थों और उनके संबन्ध को विशिष्ट' शब्द से अभिहित किया जा सकता है।

समाधान—प्रथम प्रकार के अनुसार विशिष्ट का लक्षण समूहालम्बनात्मक ज्ञान के

सम्बन्धश्च घटपटरूपो विशिष्टः स्यात्। घटत्वपटत्वसम्बन्धानां तद्बुद्धावारूढाना-मभ्युपगमेन सम्बन्धस्यापि तद्बुद्ध्यारोहोपगमध्रौव्यात्। अन्यथा घटत्वविशिष्टरूपो घटः पटत्वविशिष्टरूपश्च पटः कथमभ्युपेयस्तत्र। न च 'घटपटावि'त्यपि विशिष्टमेव, स्वतन्त्रयोः घटपटयोः परस्परासम्बन्धयोस्तत्र व्यवहारात्, न पुनर्यथा 'दण्डी पुरुषः', तथा 'घटी पटः, पटी घट' इति वा तत्र व्यवहारः। न चैकज्ञानाद्यारूढतैव तयोर्न मन्तव्या, यतो 'घटपटावि'ति द्वित्वं तयोस्तद्द्वयानवगाहिना कथं विज्ञानेना-वगाह्येतेति प्रत्यभिज्ञाप्रस्तावोक्तान् दोषानाह्वास्यामः। अत एव अविरलनानाज्ञानारूढ-

घटपटावितिबुद्धौ न सम्बन्धो भात्यतो न वैशिष्ट्यप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह ॐ घटत्वेति ॐ। घटपटयोर्मिथः सम्बन्धास्फुरणेऽपि घटत्वसामान्यात्सम्बन्धप्रतीतिरस्तीत्यर्थः। विपक्षे दोषमाह ॐ अन्यथेति ॐ। घट-बुद्धौ घटत्वस्य पटबुद्धौ पटत्वस्य सम्बन्धाप्रतिभासे न घटत्वादिजातिसिद्धिः प्रमाणान्तराभावादित्यर्थः। घटपटरूपस्य विशिष्टस्य लक्ष्यत्वेन स्वीकारान्न लक्षणस्य तत्रातिव्याप्तिरित्याशङ्क्याह ॐ न चेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ स्वतन्त्रेति ॐ। व्यवहारस्वातन्त्र्यमेव दर्शयति ॐ न पुनरिति ॐ। घटपटाविति द्विवचनप्रयोगाद् द्वित्वमेव तयोर्भाति न पुनस्तावन्नेकज्ञानेनातो न वैशिष्ट्यप्रसङ्ग इत्यत आह ॐ न चेति ॐ। आदिपदेनाविरलनानाज्ञानारूढत्वग्रहणम्। कुतो न मन्तव्येत्यत आह ॐ यत इति ॐ। तत्त-द्व्यक्तिविशिष्टाश्रयमेकत्वं तद्द्वयानवगाहिनाऽनुभवेन स्मरणेन वा गृह्येतेत्युक्तं तथा घटपटस्वरूपानवगाहि-ज्ञानेन तद्द्वित्वं नावगाह्येतेत्यर्थः। उक्तातिव्याप्तिं द्वितीयलक्षणेऽप्यतिदिशति ॐ अत इति ॐ। घटपट-

विषयीभूत पदार्थ-समुच्चय में अतिप्रसक्त होता है, क्योंकि 'घटपटौ सम्बन्धश्च'—इस प्रकार के ज्ञान की विषयता भी घट, पट और सम्बन्ध में होती है। समूहालम्बन ज्ञान को विशिष्ट ज्ञान नहीं माना जा सकता, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान जिन विशेष्यविशेषणभावापन्न पदार्थों को विषय करता है, समूहालम्बन ज्ञान उन्हीं पदार्थों को स्वतन्त्र (विशेष्यविशेषणभाव से मुक्त) रूप में विषय करता है। द्वितीय कल्प के अनुसार जहाँ दण्डत्वादि का निर्विकल्पक बोध होने के अनन्तर दण्डादि के निर्विकल्पक बोध में विशिष्ट ज्ञानत्वापत्ति होती है, क्योंकि वहाँ निर्विकल्पक बोध में भी विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध का भान होता है। यदि वहाँ सम्बन्ध का भान नहीं होता, तब उसके उत्तर क्षण में दण्डत्व-विशिष्ट दण्ड, घटत्व-विशिष्ट घट और पटत्व-विशिष्ट पट का बोध क्योंकर होगा?

शङ्का—'घटपटौ'—यह समूहालम्बन ज्ञान विशिष्ट-ज्ञान ही क्यों न मान लिया जाय? यदि यह विशिष्ट-ज्ञान है, तब उसका विषय विशिष्टात्मक ही है, लक्ष्य में लक्षण का समन्वय होने से अतिव्याप्ति नहीं मानी जाती।

समाधान—समूहालम्बन ज्ञान के विषयों में परस्पर वैशिष्ट्य-व्यवहार नहीं होता, अपितु सभी विषय परस्पर-सम्बन्ध-निरपेक्ष स्वतन्त्ररूप से ही प्रतीयमान होते हैं। विशिष्ट ज्ञान में एक ही विषय मुख्य विशेष्य होता है और अन्य विषय उसी के साक्षात् या परम्परया विशेषण माने जाते हैं, किन्तु समूहालम्बन ज्ञान के सभी विषय मुख्य विशेष्य ही होते हैं। विशिष्ट ज्ञान में दण्डी पुरुषः के समान समूहालम्बन ज्ञान में 'घटी पटः', या 'पटी घटः'—ऐसा भान नहीं होता, अपितु स्वतन्त्ररूप से 'घटः पटश्च' या 'घटपटौ'—ऐसी प्रतीति होती है।

शङ्का—समूहालम्बन ज्ञान के विषयीभूत घट और पट में एक ज्ञान-विषयता ही नहीं, अतः उनमें विशिष्टता की अतिव्याप्ति क्यों होगी?

समाधान—'घटपटौ'—इस प्रकार द्वित्व संख्या का अवगाहन तभी हो सकता है, जब कि उसके आश्रयीभूत घट और पट—दोनों द्रव्यों का ग्रहण हो, अन्यथा जैसे प्रत्यभिज्ञाज्ञान में यह दोष दिया जा चुका है कि प्रत्यभिज्ञा के घटकीभूत स्मृति और अनुभव ज्ञानों में से किसी

ताऽपि विशिष्टता निरवकाशा ।

अथाप्रकाशमानासम्बन्धोऽनेक एकबुद्ध्यारूढस्तथा, न चैवं घटपटौ । तत्कथमुक्तदोषापत्तिरिति चेन्न, अप्रकाशमानोऽसम्बन्धो ययोरित्ययमप्यर्थो विशकलित इति घटत्वपटत्वव्यक्त्यादिवैशिष्ट्यमपि तत्र भज्येताविशेषात् ।

अथ धर्मधर्मिसम्बन्धाः स्वतन्त्रा एवैकबुद्ध्यारूढास्तथा । न च घटपटौ धर्मधर्मिरूपावित्यनतिप्रसंग इति चेन्न, धर्मत्वस्यैकस्य दण्डादिगुणादिसाधारणस्य वक्तव्यत्वापातात् । सोऽप्येष्टव्य इति चेद्, इष्यताम्, परं तस्यापि वालुकावद्विशकलित-

---

रूपोविशिष्टः स्यादित्युक्तदोषादेवेत्यर्थः । दण्डीति प्रत्ययेन घटपटाविति प्रत्ययस्य तुल्यत्वाविति द्रष्टव्यम् ।

उक्तातिप्रसङ्गनिवारणाय लक्षणान्तरं शङ्कते ॐ अथेति ॐ । घटपटावित्यस्य वैशिष्ट्यव्यावृत्तये विशेषणमप्रकाशेति । एकस्वरूपव्यावृत्तयेऽनेकेति । अनेकबुद्ध्यारूढव्यावृत्त्यर्थमेकबुद्धीति । तथा—विशिष्ट इत्यर्थः । घटपटयोस्तु परस्परमसम्बन्ध एव प्रकाशतेऽतो नाप्रकाशमानासम्बन्धत्वमतो न वैशिष्ट्यापत्तिरिति निगमयति ॐ न चेति ॐ । लक्षणवाक्यस्य पर्यवसितमर्थं दर्शयन्परिहरति ॐ नेति ॐ । इत्युक्तं स्यादित्यध्याहारः । अस्त्वयमर्थं को दोष इत्यत आह ॐ अयमपीति ॐ । घटपटावित्येवंरूपोऽर्थः सङ्घटितो भासमानोऽपि त्वया विशकलित इति कृत्वा घटपटावित्यस्मिन् ज्ञाने घटत्वपटत्वाभ्यां सम्बन्धप्रतीतावपि तयोः परस्परसम्बन्धाप्रतीतेः स्वजातिभ्यां वैशिष्ट्यप्रतीतिरपि न स्यादित्यर्थः ।

पुनरपि घटपटावित्यस्य विशिष्टत्वप्रसङ्गपरिहाराय लक्षणान्तरं शङ्कते ॐ अथेति ॐ । स्वतन्त्रा इति विशिष्टस्यानुपसर्जनीभूता इति विशेषणं—दण्डादीनां विशिष्टस्य विशेषणत्वे कथितदूषणं परिहर्तुम् । धर्माधर्मविशेषणेन कथमुक्तप्रसङ्गनिवारणमित्यत आह ॐ न चेति ॐ । परिहरति ॐ नेति ॐ । दण्डी देवदत्तो रक्तः पट इति द्रव्यगुणादिभिर्द्रव्यगुणादेर्विशिष्टत्वं दृश्यते तस्य द्रव्यगुणादि प्रति द्रव्यगुणादेर्धर्मत्वं वाच्यमेवञ्च तद्धर्मत्वमननुगतं चेदव्याप्तिरनुगतं चेद्दर्शनीयं तदित्यर्थः । धर्मत्वाधिकरणं धर्म इति दण्डादौ धर्मत्वं वक्तुं शक्यत इति शङ्कते ॐ सोऽपीति ॐ । विशिष्टस्याद्याप्यसिद्धेः धर्मत्वयुक्तो धर्म इति वक्तुम-

---

भी ज्ञान में द्वारा जब तत् और इदं पदार्थ का ग्रहण नहीं होता, तब उनके अभेद का ग्रहण क्योंकर होगा ? वैसे ही प्रकृत में घटाद्यनवगाही ज्ञान के द्वारा घटादिगत द्वित्व का ज्ञान कैसे होगा ? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिल सकता । इन्हीं दोषों के कारण अविरलोत्पन्न नाना ज्ञानों की विषयतारूप विशिष्टता का खण्डन हो जाता है ।

शङ्का—जिन विषयों का परस्पर असम्बन्ध प्रकाशित नहीं होता, ऐसे एक ज्ञान के विषयीभूत अनेक विषयों को विशिष्ट कहा जाता है । समूहालम्बन ज्ञान के विषयों में परस्पर असम्बन्ध का भान होता है, अतः वहाँ इस लक्षण का अतिप्रसङ्ग नहीं होता ।

समाधान—'अप्रकाशमानोऽसम्बन्धो ययोः'—ऐसा कहना विशकलित या अव्यवस्थित है, क्योंकि दण्डी पुरुषः'—यहाँ पर भी पुरुष और दण्डका घटादि के साथ सम्बन्ध अप्रकाशित है, अप्रकाशित सम्बन्धक दण्ड और पुरुष प्रकृत में भी हैं, अतः 'दण्डी पुरुषः' 'घटत्ववान् घटः,' 'पटत्ववान् पटः'—इत्यादि' विशिष्टार्थों में अव्याप्ति हो जाने के कारण विशिष्टार्थों की विशिष्टता भंग हो जाती है ।

शङ्का—धर्म, धर्मी और उनका सम्बन्ध—ये तीनों स्वतन्त्ररूप से जब एक ज्ञान के विषय होते हैं, तब उन्हे विशिष्ट कहा जाता है । 'घटपटौ'—यहाँ पर प्रतीयमान घट और पट परस्पर धर्म-धर्मीरूप नहीं होते, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती ।

समाधान—धर्म कहीं दण्डादि द्रव्य है, कहीं रूपादि गुण और कहीं कर्मादि, अतः द्रव्यादि साधारण धर्मत्व का निर्वचन करना होगा, जो कि सम्भव नहीं । यदि किसी प्रकार उसे सम्भव बना लिया जाय, तब भी वह बालू की भीत के समान अपने-आप विखर जाने-

स्योपगन्तव्यत्वेन धर्म्यैव किं न धर्मः स्यात्। तथाप्रतीत्यभावान्न स्यादिति चेन्न, त्वदुक्तैकप्रतीत्यारोहस्याविशेषे प्रतीतिरपि तथा किं न स्यात्? माऽस्तु धर्मत्वमनुगतम्, तत्तद्रूपादिपदार्थस्वरूपमेव तथा विचित्रं यत्तदेव धर्मिणा सम्बन्धेन च सममेकबुद्ध्यारूढं विशिष्टं नान्यदिति चेन्न, तेषां स्वरूपाणां भेदेन नानाभूतेषु विशिष्टेषु अनुगता विशिष्टबुद्धिर्न स्यात्। सम्बन्धमपि च तर्हि विलुम्प, एवंस्वभावादेव रूपादिकं तथाधिममाधत्ताम्। एतदपि किं न स्यादिति चेत्तर्हि वराको धर्म्यपि विसृज्यताम्। यथा विना सम्बन्धं विशिष्टबुद्धौ रूपादिस्वभावसामर्थ्यात्समर्थिता तथा विना

शक्यत्वाद्धर्मत्वं दण्डादयश्च अयःशलाकावत् विशकलिताः स्वीकार्यास्तथा च धर्मिणोऽपि धर्मत्वं किं न स्याद् विशकलितधर्मत्वस्य तत्रापि भावादिति परिहरति ❀ इष्यतामिति ❀। धर्मिणो धर्मत्वविशिष्टत्वेन प्रतीतिव्यवहाराभावान्न धर्मत्वमिति शङ्कते ❀ तथेति ❀। एकबुद्ध्यारूढत्वं विशिष्टव्यवहारनिदानं त्वयाऽङ्गीकृतं तच्चात्रापि सम्भवति धर्मधर्मिसम्बन्धा एकबुद्ध्यारूढा इत्युक्तत्वादतो धर्मिणोऽपि धर्मत्वविशिष्टव्यवहारः स्यादिति दूषयति ❀ नेति ❀। यद्वा पूर्वोक्तघटपटस्वरूपैकविशिष्टप्रसङ्गे तथाप्रतीत्यभावादित्याशङ्कापरिहार इति योज्यम्। अनुगतं धर्मत्व निरूपणन्न सहते चेन्मा भूत् का क्षतिरिति शङ्कते ❀ माऽस्त्विति ❀। तर्हि द्रव्यादिषु अनुगतधर्मबुद्धिर्न स्यान्निमित्ताभावादित्याशङ्क्याह ❀ तदिति ❀। रूपादीनां स्वरूपमेव तादृशबुद्धिनिमित्तमित्यर्थः। किं तद्विचित्रस्वरूपमिति वर्णयति ❀ यदिति ❀। रूपादेः स्वरूपमेव धर्मिणा सम्बन्धेन च सहितमेकबुद्ध्यारूढं विशिष्टं न तत्त्वान्तरमित्यर्थः। स्वानुगतोपाध्यभावे क्षतिमाह ❀ नेति ❀। स्वरूपाणां व्यावृत्तत्वेनानुगतबुद्धिनिदानत्वाभावाद् अनुगतविशिष्टबुद्धिरनुगतधर्मबुद्धिश्च न स्यादित्यर्थः। धर्मिणा सम्बन्धेन च साहित्यं यदुक्तं तदपि न सिद्ध्यति स्वभाववैचित्र्यं वदत इत्याह ❀ सम्बन्धमिति ❀। यथाऽनुगतमुपाधिं लुम्पसि तथा सम्बन्धमपि लुम्प एकज्ञानारूढं विशेषणं विशेष्यं च विशिष्टप्रत्ययमाधास्यति स्वभावादेवेत्यर्थः। सम्बन्धोऽपि लुप्यतामयमिष्ट एव प्रसङ्ग इत्याह ❀एवमिति❀। प्रतीयमानसम्बन्धत्यागे धर्मिणोऽपि त्यागप्रसङ्ग इति परिहरति ❀तर्हीति❀। कथं धर्मिविसर्जने धर्मिविशिष्टप्रत्यय इत्यत आह ❀ यथेति ❀। सम्बन्धाभावेऽपि रूपादिस्वरूपसामर्थ्यादेव

वाला ही होगा, अतः 'धर्म्यैव किं न धर्मः स्यात्? यदि कहा जाय कि धर्मी में 'धर्मत्वविशिष्टोऽयम्'–इस प्रकार की प्रतीति ही नही होती। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि विशिष्टप्रतीति का नियामक आपने माना है–'एकप्रतीत्यारूढता को, वह धर्मी में भी हो सकती है, अतः धर्मी को धर्मरूप मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती।

शङ्का—सर्वानुगत धर्मत्व का निर्वचन यदि नहीं हो सकता, तब न सही, तत्तद्रूप, रसादि धर्मों का जो विचित्र स्वरूप है, वह घटादि धर्मी और समवायादि सम्बन्ध के साथ एक बुद्ध्यारूढ़ होकर विशिष्ट कहला सकता है।

समाधान—तत्तत्स्वरूप अननुगत हैं, सभी विशिष्टार्थों में अनुगत विशिष्ट बुद्धि के नियामक नहीं हो सकते। यदि विचित्र तत्तत्स्वरूप के द्वारा ही विशिष्ट बुद्धि का निर्वाह हो जाता है, तब संबन्ध की क्या आवश्यकता? उसको विशिष्ट की कक्षा से निकाल ही देना चाहिए, क्योंकि जैसे किसी अनुगत धर्मत्व के बिना ही रूपादि पदार्थ एक ज्ञान के विषय होकर स्वभावतः धर्मधर्मिभावापन्न बुद्धि के जनक हो जाते हैं, वैसे ही किसी सम्बन्ध की अपेक्षा किए बिना ही एकबुद्ध्यारूढ होकर वे स्वभावतः सम्बद्ध (विशिष्ट) बुद्धि के जनक हो जायेंगे। इस प्रक्रिया को भी यदि मान लिया जाता है, तब बचे-खुचे बेचारे एक धर्मी (द्रव्य) को भी तिलाञ्जलि दे देनी चाहिये, क्योंकि जैसे सम्बन्ध के बिना ही रूपादि धर्म अपने स्वभावसिद्ध सामर्थ्य से विशिष्ट बुद्धि के उत्पादक हो जाते हैं, वैसे ही धर्मी के विना भी वे विशिष्ट ज्ञान के समुद्भावक हो जाँयेगे, इस प्रकार रूपादि गुणों से अतिरिक्त द्रव्यादि धर्मी

धर्मिणमप्यस्त्विति जितं जैनैः ।

स्यादप्येवं यदि शुक्ल इत्येतावन्मात्रमेव प्रतीयेत । किन्तु 'शुक्लः शङ्खः' इत्यादिना प्रत्ययेन सामानाधिकरण्यमुल्लिखता धर्म्यप्यानीय दीयत इति चेन्न, शङ्खत्वजातेरुपाधेर्वा रूपादेरविरलतादृगवस्थितस्य वा स्वरूपवैलक्षण्यमेव तत्पदेऽभिषिच्यतां येन विनाऽप्यधिकरणं सामानाधिकरण्यव्यवहारः स्यात् । किञ्च— नतावन्मात्रम्, बुद्धिमादाय तदर्थगतवैचित्र्यान्तरखण्डने बुद्धिरेव स्वकारणसामर्थ्यात्तथोत्थिता तत्तद्व्यवहारप्रसवित्री स्वीक्रियतां कृतमर्थव्यसनेन । तस्मात्—

विशिष्टप्रत्ययवत् धर्म्यभावेऽपि तत एव विशिष्टप्रत्ययः स्यादिति न रूपादिमद्घटादि धर्मिभूतमस्ति किन्तु रूपादिभिरेव रूपवान् घट इत्यादिव्यवहारो निर्वर्त्यते स्वलक्षणत्वात् सर्वस्येति स्वीकुर्वद्भिर्बौद्धैर्जितमित्यर्थः ।

शुक्लः शङ्ख इत्यादिसंसृष्टप्रत्यये धर्मातिरिक्तधर्मिप्रतीतेस्तदपलापेऽशक्योऽनुभवविरोधादिति प्रतीतिबलेन चोदयति ॐस्यादितिॐ । अनुभवोऽन्यथासिद्ध इति परिहरति ॐनेतिॐ । शङ्खत्वस्य जातेः स्वरूपवैलक्षण्यमेव वा नैरन्तर्येणैकबुद्ध्यारूढतयाऽवस्थितस्य रूपादेः स्वरूपवैलक्षण्यमेव वा धर्मिपदेऽभिषिच्यतां किमन्येन धर्मिणेत्यर्थः । अतिप्रसङ्गान्तरमाह ॐकिञ्चेतिॐ । नैतावन्मात्रं दूषणमविरलनानाज्ञानमादाय विशेषणातिरिक्तविशिष्टखण्डने वैशेषिकेण क्रियमाणे न तस्य स्वरूपादिरपि सिध्येत्, पूर्वपूर्ववासनासमुत्थितसंवित्तेरेव तत्तद्व्यवहारजनकत्वसम्भवादिति बाह्यार्थापलाप एव सर्वत्र स्यादित्यर्थः । यस्माद्दण्डादिप्रत्ययविल-

पदार्थ का अपलाप करनेवाले बौद्धों की विजय हो जाती है । [मार को जीत लेने के कारण बुद्ध की 'जिन' भी एक संज्ञा थी, अतः यहाँ बौद्धों को ही 'जैन' शब्द से अभिहित किया गया है । योगाचार रूपादि गुणों से अतिरिक्त द्रव्य (धर्मी) तत्त्व नहीं मानते, श्री प्रज्ञाकर कहते हैं–

"रूपादिव्यतिरेकेण द्रव्यं नाम न दृश्यते ।
नान्वयव्यतिरेकित्वं घटबुद्धिर्घटात्मनि ।।

रूपादय एव चक्षुरादिबुद्धिभिरुपलभ्यन्ते । ततस्तावन्मात्रोपलम्भात् प्रबोधितानादिवासनालक्षणान्तरकारणादेव 'अयं घटः' इत्येकाभिनिवेशिनी मतिरुपजायमाना जनेनानुभूयते, नापरः परतो वा निरूप्यमाणो घटादिद्रव्यस्वभावोऽस्ति" (प्र. वा. पृ. १८७)] ।

शङ्का—धर्मी की तब उपेक्षा की जा सकती थी, जब कि 'शुक्लः'—इतनी ही केवल रूपविषयिणी प्रतीति होती, किन्तु ऐसा नहीं होता, अपितु 'शुक्लः शङ्खः'—इस प्रकार की संसृष्टविषयिणी प्रतीति में सामानाधिकरण्येन शङ्खादि धर्मी का स्पष्ट उल्लेख किया जाता है, अतः उक्त ज्ञान के द्वारा धर्म से भिन्न धर्मी सिद्ध होता है ।

समाधान—अशङ्ख-व्यावृत्तत्वेन उपस्थित शङ्खत्वरूप जाति या अरूपादि-व्यावृत्तत्वेन प्रतीयमान स्वलक्षण तत्त्व को ही धर्मी के स्थान में अभिषिक्त करना चाहिए । स्वलक्षण तत्त्व में ही शङ्खत्वादि सामान्यलक्षण तथा रूपादि धर्म कल्पित हैं, अत एव 'इदं रजतम्' के समान 'शुक्लः शङ्खः'—इत्यादि सामानाधिकरण्य-व्यवहार हो जाता है, श्री प्रज्ञाकर भी कहते हैं कि "परस्परव्यतिरिच्यमानशरीरा रूपादय एवावयवी, न हि स्तम्भकुम्भवृक्षादिवत् परस्परं रूपादीनां व्यतिरेकः" (प्र. वा. पृ. १८८) ।

इतना ही नहीं, अविरल समुत्पन्न नाना ज्ञानों के आधार पर विशेषणादि से अतिरिक्त विशिष्ट पदार्थ की स्थापना तो दूर रही, बाह्य विषयमात्र की असिद्धि एवं विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि पर्यवसित होती है, क्योंकि केवल विज्ञान अपने समनन्तर प्रत्यय से सामर्थ्य प्राप्त कर घट-पटादि व्यवहारों का निर्वाहक हो जाता है, उससे भिन्न विषय वस्तु की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, जैसा कि प्रमाणवार्तिक में कहा गया है—

प्रत्येतव्यस्य वैचित्र्यं प्रत्ययोल्लेखसाक्षिकम् ।
धियं निवेश्य लुम्पद्भ्यो भङ्गं साध्येव यच्छति ॥ १ ॥

यत्तु—केनचिदभावस्य स्थाने तन्मात्रधीरभिषिक्ता, तत्तस्य परमुचितम् ।

गुरुर्धियमभावस्य स्थाने स्थानेऽभिषिक्तवान् ।
प्रसिद्ध एव लोकेऽस्मिन् अर्कबन्धुः प्रभाकरः ॥ २ ॥

अपि च—एकबुद्ध्यारूढोऽनेकश्च सम्बन्धश्च विशिष्ट इति पक्षे योऽप्येवंरूपवैलक्षण्यभाग्विशिष्ट इति कथ्यते, सोऽप्ययं विशिष्टोऽविशिष्टाद्वैलक्षण्येन बोध्यमानो

क्षणे दण्डीतिप्रत्यये सति तदपलापोऽशक्यस्तस्मादिति फलितं श्लोकेन संगृह्णाति । एकैकस्मिन्यादृशः प्रत्ययः शब्दो वा ततो विलक्षण एव दण्डीतिप्रत्ययः शब्दश्चातो ज्ञातव्यस्य वैचित्र्यं प्रत्ययोल्लेखसाक्षिकं तन्न लुप्यते वैशेषिकादिभिर्विशिष्टं वस्त्वन्तरं नास्ति विलक्षणबुद्धिरेव तद्व्यवहारं जनयतीति वदद्भ्यस्तेभ्यो भङ्गमनुभव एव प्रयच्छतीत्यर्थः ।

अर्थवैचित्र्यस्थाने धियं निवेश्यार्थं खण्डयतोऽपि नानुभवविरोधो यतोऽदृश्ये प्रतियोगिनि धर्मिमात्रधियमभावस्थानेऽभिषिक्तवानितिशङ्काव्याजेन तस्याप्यंशतोऽनुभवविरोधमाह ॥ यत्त्विति ॥ । यत्तु परं तत्तस्यैवेति यावत् । उक्तमर्थं श्लोकेनोपनिबध्नाति ॥ गुरुरिति ॥ । गुरुरभावस्य स्थाने धियमभिषिक्तवानिति यावत् तत् स्थाने स्थानेशब्दो निपातत्वात् युक्तमित्यस्मिन्नर्थे । बुद्धो बन्धुर्यस्य स बुद्धबन्धुः क्षणिकप्रमाणसम्बन्धिसत्त्वमङ्गीकुर्वताऽभावक्षणिकत्वाद्युपगमादिति भावः । विशिष्टखण्डने युक्त्यन्तरं वक्तुं पूर्वोक्तलक्षणमनुवदति ॥ अपि चेति ॥ । एवं रूपवैलक्षण्यहीनेभ्यो वैलक्षण्यगुणो विशिष्टोऽस्तु को दोष इत्यत आह ॥ सोऽपीति ॥ । स तावद्विशिष्टः अविशिष्टाद्वैलक्षण्येन बोध्यते न वा ? न चेदविशिष्टाद्विशिष्टस्य वैलक्षण्यज्ञानाभावात् विशिष्टस्याविशिष्टाद्वैलक्षण्यन्न सिद्ध्येत् बुद्ध्यते चेत्, तद्विशिष्टाद्वैलक्षण्येन बुद्धावविशिष्टाद्विशिष्टवैलक्षण्यं बुध्यत उताबुद्धाद्यद्यबुद्धात्तदा स्वतो वैलक्षण्येनाबुद्धात् स्वस्य वैलक्षण्यज्ञानाभावात्तोऽपि तन्न स्याद् बुद्धाच्चेत्तदास्माद्वैलक्षण्येन स्वस्य वैलक्षण्यज्ञानाभावात् सोऽपि न स्यात्तदर्थं तत्र तत्र

अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः ।
शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मी भावाभावोभयाश्रयः ॥ (स्वार्था. २०५)
नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपरः ।
तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥ (३।३२८)

इससे यह सिद्ध होकर रह जाता है कि दण्ड दण्डयादि प्रत्येतव्य (विषय वस्तु) का वैचित्र्य जिस बुद्धिगत वैलक्षण्य का सहारा लेकर समाप्त किया जाता है, वही बुद्धिगत अनादिवासनोद्भूत वैचित्र्य प्रपञ्च-सत्यत्ववादी वैशेषिकों को भङ्ग (पराजय) प्रदान करता है, जिससे प्रपञ्च-मिथ्यात्व पर्यवसित हो जाता है ॥ १ ॥

आचार्य प्रभाकर अभाव पदार्थ को पृथक् न मानकर केवलभूतलादि के ज्ञान का स्वरूप मानते हैं, जैसा कि श्रीशालिकनाथ कहते हैं—"या तदेकविषया बुद्धिरुत्पद्यते, सैवाभाव इति व्यपदिश्यते" (प्र. पं. पृ. २६०)। प्रभाकर का वैसा मानना नितान्त समुचित है, क्योंकि 'प्रभाकर गुरु ने अभाव के स्थान पर कैवल्य-ज्ञान को अभिषिक्त कर बौद्ध सिद्धान्त (विज्ञानवाद) का पूर्ण समर्थन किया है, अत एव लोक में प्रभाकर को अर्कबन्धु (बुद्ध) का अवतार ही माना जाता है। [प्रभाकर का अर्थ सूर्य है और सूर्यवंशी क्षत्रियों में उत्पन्न होने के कारण गौतम बुद्ध की 'अर्कबन्धु' संज्ञा है, जिसका अर्थ है—सूर्य है बन्धु जिसका]।

दूसरी बात यह भी है कि 'एकबुद्ध्यारूढोऽनेकश्च सम्बन्धश्च विशिष्टः'—इस पक्ष में यह विचारणीय है कि विशिष्ट को विशिष्ट इसी लिए कहा जाता है कि वह अविशिष्ट पदार्थ से विशिष्ट (भिन्न) है, यह तभी सम्भव होगा, जब कि अविशिष्ट में विशिष्ट के भेद का ज्ञान

ज्ञानमन्तर्भाव्यैव स्यादिति तत्र तत्रापि ज्ञानान्तरनिवेशनेऽनवस्था। क्वचिदनिवेशे तदभावादविशिष्टत्वे शेषस्याऽऽमूलमविशिष्टत्वापातः। तद्योग्यस्तथेति चेत्, न, तर्हि योग्यताऽपि तद्विशेषणं वालुकावदसंलग्नाऽतिप्रसञ्जिकैवेत्युक्तमावर्तते।

एवमेकमिति ज्ञानमित्यारूढमित्यादिद्वारैर्द्रष्टव्यम्। तथा हि—

अविशिष्टाद्विशिष्टस्य वैशिष्ट्ये यदि धीर्विशेत्।
तद्बुद्धिधाराविश्रान्तिः स्याद्वा मूलाविशिष्टता ॥ ३ ॥—इति।

विशिष्टनिरासेन च सर्वाणि लक्षणानि निरस्तानीति मन्तव्यम्। यथा—'गुणाश्रयो द्रव्यमि'त्यादि।

ज्ञानान्तरनिवेशनेऽनवस्थेत्यर्थः। यद्यनवस्थापरिहाराय क्वचिद्वैलक्षण्यज्ञानन्नेष्यते तत्राह ❀ क्वचिदिति ❀। यत्र वैलक्षण्यशृङ्खलाविच्छेदस्तत्र वैलक्षण्यज्ञानाभावेन विशिष्टत्वासिद्धेरामूलमविशिष्टत्वापात इत्यर्थः। विलक्षणज्ञानविषयत्वाभावेऽप्यविशिष्टाद्वैलक्षण्यज्ञानयोग्यस्य विशिष्टत्वेन विवक्षितत्वान्नानवस्थेति शङ्कते ❀ तदिति ❀। दूषयति ❀ तर्हीति ❀। योग्यतापि विशेषणं भवन्ती विशिष्टे विशिष्टाऽविशिष्टा वा यदि विशिष्टा तर्हि तत्तज्ज्ञानापेक्षयाऽनवस्था यद्यविशिष्टा सर्वत्रैव तन्निमित्तप्रतीतिप्रसङ्गोऽविशेषादित्यर्थः।

एकज्ञानारूढत्वमित्युक्तं तदपि दुर्निरूपमित्याह ❀ एवमिति ❀। एकत्वविशिष्टमेकमुच्यते ज्ञानत्वविशिष्टं ज्ञानमारूढत्वविशिष्टं आरूढं सम्बन्धत्वविशिष्टः सम्बन्धस्तस्य विशिष्टानभ्युपगमेऽसिद्धेर्न विशिष्टव्यवहारसिद्धिरित्याशयः। उक्तेऽर्थे श्लोकमवतारयति ❀ तथा हीति ❀। विशिष्टस्याऽविशिष्टाद्वैशिष्ट्ये वैलक्षण्ये धीप्रवेशमन्तरेण वैलक्षण्याऽसिद्धेर्यदि वैलक्षण्यधीर्विशेत् तर्हि तद्बुद्धिधारानवधित्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात् क्वचिद्विश्रान्तौ तत्र विशिष्टत्वाऽसिद्धेस्ततःप्रभृत्यामूलमविशिष्टताऽऽपद्यत इत्यर्थः। विशिष्टनिरासेन न केवलमभावनिरासः सिद्धः किन्तु सर्वलक्षणनिरासः स्यात्पक्षधर्मतादिविशिष्टत्वाल्लक्षणस्येति विशिष्टखण्डनस्य महत्प्रयोजनम्। विशिष्टदृष्टान्तव्याजेन द्रव्यादिखण्डनं प्रस्तौति ❀ यथेति ❀।

इति विशिष्टखण्डनम्।

हो, फलतः भेद-ज्ञान के लिए ज्ञान-परम्परा का अनुसरण करने पर अनवस्था अनिवार्य है। जिस अविशिष्ट पदार्थ में विशिष्ट के भेद का ज्ञान नहीं, उसी अविशिष्ट से अभिन्न होकर विशिष्ट अविशिष्ट होकर रह जायगा। यदि वैलक्षण्य-ज्ञान के स्थान पर वैलक्षण्य-ज्ञान की योग्यता का प्रवेश माना जाता है, तब योग्यता भी एक विशेषण है, यह अपने विशेष्य की व्यावर्तिका तभी हो सकेगी, जब कि स्वयं विशिष्ट योग्यता हो उसकी विशिष्टता तभी उपपन्न होगी, जब कि उसका किसी अविशिष्ट से वैलक्षण्य का ज्ञान हो इस प्रकार ज्ञान-परम्परा की वही अनवस्था पुनः प्रसक्त हो जाती है। इसी प्रकार एकत्व-विशिष्ट एक, ज्ञानत्व-विशिष्ट ज्ञान और आरूढत्व-विशिष्ट आरूढ पदार्थों के निर्वचन में भी अनवस्थादि दोष प्राप्त होते हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि—

अविशिष्टाद्विशिष्टस्य वैशिष्ट्ये यदि धीर्विशेत्।
तद्बुद्धिधाराविश्रान्तिः स्याद्वा मूलाविशिष्टता ॥ ३ ॥

[अविशिष्ट पदार्थ से विशिष्ट की विशिष्टता स्थापित करने के लिये यदि वैशिष्ट्य-ज्ञान की अपेक्षा की जाती है, तब बुद्धि-धारा की अविश्रान्ति (अनवस्था) होती है और वैशिष्ट्य-ज्ञान के न होने पर मूल-पर्यन्त अविशिष्टता व्याप्त हो जाती है ॥ ३ ॥ विशिष्ट का निरास हो जाने से सभी लक्षणों का निरास हो जाता है, क्योंकि सभी लक्षण विशिष्ट-सापेक्ष ही होते हैं, जैसे 'गुणाश्रयो द्रव्यम्'।

४. द्रव्यगुणलक्षणखण्डन

इतोऽपि गुणाश्रयो द्रव्यमित्यसङ्गतम् । तथा हि कथमेतल्लक्षणमवधारणीयम्, सङ्ख्यारूपगुणवत्तया रूपादेरपि प्रतीतेः । भ्रान्तिरसाविति चेत्, पृथिव्यादौ कथमभ्रान्तिरिति वक्तव्यम् । तत्र बाधकाभावादिति चेत्, तुल्यम् । गुणस्य गुणवत्तायां बाधकमस्माभिरवश्यं वक्तव्यम्, 'निर्गुणा गुणाः' इति सिद्धान्तादिति चेन्न, रूपादेर्गुणत्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

'सामान्यवानगुणः' इत्यादिगुणलक्षणयोगात्तन्निश्चय इति चेन्न, 'अगुणः'

द्रव्यलक्षणखण्डनेऽधिकं दूषणमाह ॐ इतोऽपीति ॐ । गुणत्वाद्याश्रयगुणादिव्यावृत्त्यर्थं गुणाश्रयत्वविशेषणम् । अतिव्याप्त्याद्यभावे कथमसङ्गतं लक्षणमित्यतस्तदुपपादयति ॐ तथा हीति ॐ । सितासितहरितपीतरक्ततया पञ्च रूपाणि मधुरादयः षड् रसा इति सङ्ख्यालक्षणत्वाद्रूपादावतिव्याप्तिरित्यर्थः । पञ्चाद्याकारबुद्धिविषयतया द्रव्यसारूप्यात् रूपादौ सङ्ख्याप्रतीतिस्तत्र भ्रान्तेति तत्र नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ भ्रान्तिरिति ॐ । भ्रान्तेरभ्रान्तिपूर्वत्वात्पृथिव्यादौ तत्र अभ्रान्तिरिति वाच्यन्न तन्निश्चयो मानाभावादिति परिहरति ॐ पृथिवीति ॐ । इयं प्रतीतिर्न भ्रान्तिरबाध्यप्रतीतित्वात्सम्प्रतिपन्नवदिति मानं शङ्कते ॐ तत्रेति ॐ । समस्समाधिरित्याह ॐ तुल्यमिति ॐ । प्रत्यक्षबाधाभावेऽपि यौक्तिकबाधाद् भ्रान्तत्वं शङ्कते ॐ गुणस्येति ॐ । स्ववृत्त्यनवस्थादिरूपबाधकमित्यर्थः । कुत इत्यत आह ॐ निरिति ॐ । रूपादेर्गुणत्वस्यासिद्धेर्नानवस्थादीति परिहरति ॐ नेति ॐ ।

सामान्यवानगुणः संयोगविभागयोरनपेक्षो न कारणं गुण इति तल्लक्षणयोगाद् । गुणत्वं रूपादेरिति शङ्कते ॐ सामान्येति ॐ । उत्तरत्रिकद्रव्यकर्मव्यावृत्त्यर्थानि विशेषणानि । गुणनिश्चयमन्तरेण तत्प्रतियोगिकस्यास्य गुणत्वस्य गुणशून्यत्वस्य लक्षणांशस्यासिद्धेर्विशेषणासिद्धिर्लक्षणस्यान्यथाऽन्योन्याश्रय इति परिहरति ॐ नेति ॐ । असिद्धौ हेतुमाह ॐ सङ्ख्येति ॐ । सङ्ख्यावत्त्वप्रतीतेर्भ्रान्तित्वादगुण इति विशेष-

---

४. द्रव्यगुण-लक्षण-खण्डन

[आचार्य प्रशस्तपाद ने पृथिव्यादि नव द्रव्यों का साधर्म्य बताते हुए कहा है—"पृथिव्यादीनां नवानामपि द्रव्यत्वयोगः, स्वात्मन्यारम्भकत्वम्, गुणवत्त्वम्, कार्यकारणाविरोधित्वम्, अन्त्यविशेषवत्त्वम्" (न्या. कं. पृ. ५४) । श्री उदयनाचार्य ने द्रव्य का लक्षण किया है—"गुणात्यन्ताभावानधिकरणं द्रव्यम्" (लक्षणा. पृ. २) । उसी के आधार पर] जो द्रव्य का लक्षण प्रसिद्ध है—गुणाश्रयो द्रव्यम् । वह संगत नहीं, क्योंकि गुणवत्ता द्रव्य में ही रहती है—ऐसा नियम नहीं किया जा सकता, एकत्वादि संख्या को गुण माना जाता है और एकत्वादि की प्रतीति रूप, रसादि गुणों में भी प्रतीत होती है । यदि रूपादिगत संख्यादिगुणवत्ता की प्रतीति को भ्रान्तिरूप माना जाता है, तब पृथिव्यादिगत गुणवत्ता की प्रतीति क्यों भ्रमरूप नहीं । यदि पृथिव्यादि में गुणवत्ता की प्रतीति का बाध न होने से प्रतीति को भ्रमरूप नहीं मान सकते, तब रूपादिगत संख्यादि की प्रतीति को भी भ्रमरूप नहीं मान सकते ।

शङ्का—प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं—"गुणादिपञ्चानामपि निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे" (न्या. कं. पृ. ४२) । अतः रूपादि गुणों में संख्यादिगुणवत्ता की प्रतीति का बाध मानना होगा । बाधित प्रतीति को भ्रमरूप माना जाता है, अतः गुणों में गुणवत्ता सम्भव नहीं ।

समाधान—रूपादि मे यदि गुणत्व सिद्ध हो जाता है, तब उनमें गुणवत्ता की प्रतीति वैशेषिक सिद्धान्तानुसार बाधित हो सकती है, किन्तु रूपादि में गुणत्व का निश्चय नहीं ।

शङ्का—"सामान्यवान् अगुणः" (वै. सू. १।१।१७) इस सूत्रकार के वचन से रूपादि में गुणत्व का निश्चय होता है ।

समाधान—रूपादि में गुण का 'अगुणः (गुण-रहितत्वम्) यह लक्षणांश असिद्ध है,

इति गुणलक्षणांशस्यासिद्धेः सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्विद्यमानत्वात्। भ्रान्तिरिति चेन्न, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्भ्रान्तित्वे गुणलक्षणसिद्धिः, तत्सिद्धौ च बाधेन भ्रान्तित्वस्थापनम्। न च हेत्वन्तराद् रूपादेर्गुणत्वसिद्धौ बाधकसिद्धिः, दृष्टान्तस्यापि सङ्ख्यायोगिप्रत्ययाक्रान्तत्वेन प्रसक्तद्रव्यकोटिप्रवेशतया गुणत्वेनासिद्धेः। सङ्ख्यायाः सङ्ख्यावत्त्वेनानवस्थाप्रसङ्गात्, निःसङ्ख्यत्वव्यवस्थितौ दृष्टान्तत्वं सम्भविष्यतीति चेन्न, पृथक्त्वेनापि तस्याः सम्भावितद्रव्यकोटिप्रवेशत्वात्। एवं पृथक्त्वस्यापि सङ्ख्यावत्तयेति।

'जातीतरानाश्रयोऽकर्मरूपो गुणः' इत्यपि न, जातिव्यापकत्वात्। जातिमात्रा-

---

णसिद्धिरिति शङ्कते ❀ भ्रान्तिरिति ❀। परस्पराश्रयान्तरस्यापि सिद्धिरिति तदेवोपपादयति ❀ सङ्ख्येति ❀। रूपादयो गुणाः सामान्यवत्त्वास्पर्शवत्वाक्रियत्वे सति बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्सङ्ख्यावदित्यनुमानतो रूपादेर्गुणत्वसिद्धेर्न परस्पराश्रय इत्यनवस्थाप्रसङ्गस्य बाधकत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याह ❀न चेति❀। कुत इत्यत आह ❀ दृष्टान्तेति ❀। एका सङ्ख्याऽनेका सङ्ख्येतिसङ्ख्यावत्त्वप्रतीत्या गुणत्वासिद्धौ साध्यवैकल्यात् दृष्टान्तस्येत्यर्थः। सङ्ख्यायाः सङ्ख्यावत्त्वेऽनवस्थाप्रसङ्गादगुणेत्यादिलक्षणात् गुणत्वसिद्धौ सैव दृष्टान्तो भवतीति शङ्कते ❀ सङ्ख्येति ❀। पृथक्त्वगुणयोगित्वसम्भवात्तथापि साध्यशून्यं निदर्शनमिति परिहरति ❀ नेति ❀। तर्हि पृथक्त्वान्तरयोगेऽनवस्थानाद् गुणत्वसिद्धौ पृथक्त्वमेव दृष्टान्त इत्यत आह ❀ एवमिति ❀। पृथक्त्वान्तरायोगित्वेऽपि द्विपृथक्त्वस्य पृथक्त्वमिति सङ्ख्यावत्त्वप्रतीतेः साध्यवैकल्यमित्यर्थः।

गुणलक्षणान्तरमाशङ्क्य निराचष्टे ❀ जातीति ❀। द्रव्यव्यावृत्त्यर्थं जातीतरानाश्रयत्वविशेषणं तस्य गुणाद्याश्रयत्वात्। तदन्याश्रयत्वनिषेधेऽर्थात् जातिमात्राश्रयत्वादिकर्मरूपसिद्धेः सामान्यादिव्यवच्छेदः। कर्मव्यवच्छेदार्थमकर्मेतिविशेषणम्। यथाश्रुतस्यातिव्याप्तेरित्याह ❀ जातीति ❀। जातीतरानाश्रयत्वादकर्मरूपत्वाच्च गुणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। ननु जातेर्जातीतरानाश्रयत्वमसिद्धं समवायाश्रयत्वादिति चेन्मैवम्, समवायकटाक्षेण गुणस्यापि तदसिद्धिप्रसङ्गादिति। विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाविषयत्वात् जातिमात्रा-

---

क्योंकि रूपादि में भी संख्यादिगुणवत्ता की प्रतीति होती है। इस प्रतीति को भ्रान्तिरूप मान कर गुण में अगुणत्वरूप लक्षण का समन्वय करने पर अन्योऽन्याश्रयता होती है, क्योंकि गुणवत्ता-प्रतीति के भ्रमरूप सिद्ध हो जाने पर अगुणवत्त्वरूप लक्षण की सिद्धि और अगुणत्वरूप लक्षण की सिद्धि हो जाने पर गुणवत्त्व-प्रतीति में भ्रान्तित्व सिद्ध होगा।

शङ्का उक्त अन्योऽन्याश्रयता से बचने के लिए रूपादि में अगुणत्वरूप लक्षण के द्वारा गुणत्व की सिद्धि न कर हेत्वन्तर के द्वारा गुणत्व सिद्ध किया जा सकता है—'रूपादयो गुणः, सामान्यवत्त्वे सति निष्क्रियत्वात्, शब्दवत्।'

समाधान—उक्त गुणत्व-साधक अनुमान के शब्दरूप दृष्टान्त में संख्यादि गुणों की प्रतीति होने के कारण द्रव्यत्व संभावित है, अतः उसमें गुणत्व निश्चित नहीं, उसको दृष्टान्त बना कर रूपादि में गुणत्व सिद्ध नहीं कर सकते। 'शब्द को दृष्टान्त न बना कर संख्या को दृष्टान्त बनाया जा सकता है, क्योंकि संख्या में संख्या मानने पर अनवस्था होती है, अतः संख्या संख्या-रहित होने के कारण गुण ही है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संख्या में 'द्रव्यात् संख्या पृथक्'—इस प्रकार पृथक्त्वरूप गुण की आश्रयता होने के कारण द्रव्यत्व संभावित हो जाता है एवं पृथक्त्व में एकत्वादि संख्या के योग से द्रव्यत्व संभावित है, अतः पृथक्त्व को भी गुणत्व की सिद्धि में दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता।

'जातिभिन्नानाश्रयत्वे सति कर्मभिन्नो गुणः'—ऐसा गुण का लक्षण मानकर भी रूपादि में गुणत्व सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि सत्तादि जाति में उक्त लक्षण अतिव्याप्त है। जाति-

श्रय इत्येवार्थ इति चेन्न, अभावाश्रयतया सर्वाव्यापनात्। जातिमात्रभावाश्रय इति चेन्न, उपाधीनामपि तदाश्रितत्वात्। नोपाधीनामाश्रयो रूपादिः, किन्तु कथमपि सम्बन्धी। तावतैवानुमानादिप्रवृत्तिरिति चेन्न, उपाधिसम्बन्धं प्रत्यप्याश्रयत्वस्य मन्तव्यत्वात्। अन्यथा यदि किञ्चिद् रूपमत्र नेष्यते, तदा सामान्यविशेषानुमानं तत्र न स्यात्, व्यधिकरणयोर्गम्यगमकभावानभ्युपगमात्। तस्माद्यदेतदेव लक्षणं तत्तावन्न जातिरूपम्, तदिदं रूपं यदि रूपादौ नास्ति तदानीमस्ति, यद्यस्ति तदा नास्तीति विचित्रेण लगेत्युक्ते न लगति, मा लगेत्युक्ते च लगतीति

श्रयत्वं विवक्षितन्तदभावाच्च जातेर्जातिव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ जातीति ॐ। असम्भवेन तं दूषयति ॐ नेति ॐ। गुणानां जात्याश्रयत्वेऽपि गुणाद्यनन्ताभावाधिकरणत्वेन मात्रार्थाभावादसिद्धिर्लक्षणस्येत्यर्थः। मात्रशब्देन जातिव्यतिरिक्तभावानाश्रयत्वस्य विवक्षितत्वान्नासिद्धिरिति शङ्कते ॐ जातीति ॐ। जातिव्यतिरिक्तलक्षणप्रमेयत्वादिभावोपाधीनां गुणाश्रयत्वादसिद्धिर्लक्षणस्येति परिहरति ॐ नेति ॐ। उपाधिप्रत्याश्रयत्वन्नास्ति रूपादेरिति शङ्कते ॐ नेति ॐ। उपाध्यनाश्रयत्वे रूपादेरुपाधिभिः सम्बन्धो न स्यादित्यत आह ॐ किन्त्विति ॐ। कार्योत्पादनशक्तेः कार्यगतत्वाभावेऽपि कार्यसम्बन्धवदनाश्रितोऽप्युपाधिस्तन्निष्ठताव्यवहारं स्वभावभेदादेव जनयतीत्यर्थः। कथं तर्हि लक्षणस्य केवलव्यतिरेक्यनुमानस्य पक्षधर्मतेत्यत आह ॐ तावतेति ॐ। परिहरति ॐ नेति ॐ। भावस्वरूपमेव सम्बन्धोऽन्य एव वा उभयथापि सम्बन्धस्य रूपाद्याश्रयत्वमाश्रयणीयमन्यथा पक्षधर्मत्वाभावात्तद्वृत्तवैधर्म्याद्यसाधनत्वप्रसङ्गात्तन्निष्ठत्वे जातिमात्राश्रयत्वासिद्धिरित्यर्थः। उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेनोपपादयति ॐ अन्यथेति ॐ। यदि किञ्चिद्भावरूपं गुणेषु नेष्यते तदाऽयं सामान्यगुणोऽयं च विशेषगुण इत्यनुमानस्य व्यधिकरणसिद्धिप्रसङ्गादित्यर्थः। व्याघातान्नैवमभ्युपेयमित्युपसंहरन् लक्षणस्याजातिरूपत्वं दर्शयति ॐ तस्मादिति ॐ। व्याघातमेव दर्शयति ॐ तदिति ॐ। अत्यर्थं विचित्रेण प्रकारेण त्वदीयमिदं लक्षणं प्रहेलिकाक्रीडामनुकरोतीति सम्बन्धः। जातिमात्रभावाश्रयोऽकर्मरूप इति लक्षणं यदि लक्ष्ये नास्ति तदा हेतोः पक्षधर्मत्वं यद्यस्ति तर्ह्यपक्षधर्मत्वं यथा बालोन्मत्तादि लगेत्युक्ते न लगति मा लगेत्युक्ते लगतीति विज्ञातं वैचित्र्यं तत्तुल्यमित्यर्थः।

मात्राश्रयत्व को भी गुण का लक्षण नहीं मान सकते, क्योंकि रूपादिगुण भी जातिमात्र के आश्रय न होकर अभाव के भी आश्रय होते हैं। 'जातिमात्रभावाश्रयत्वं गुणत्वम्—यह लक्षण भी असम्भव-ग्रस्त है, क्योंकि प्रमेयत्व ज्ञेयत्वादि उपाधियों की आश्रयता भी रूपादि में मानी जाती है।

शङ्का— जो धर्म समवाय संबन्ध से जहाँ रहता है, उसको उस धर्म का आश्रय माना जाता है, अभिधेयत्वादि का रूपादि में समवाय नहीं माना जाता। आश्रय न होने पर भी रूपादि अभिधेयत्वादि के सबन्धी तो होते ही हैं, अतः उनमें उसके द्वारा प्रमेगत्वादि का अनुमान हो जाता है 'रूपादयः प्रमेयाः, अभिधेयत्वात्।

समाधान—रूपादि यदि उपाधि के संबन्धी हैं, तब उपाधि के संबन्ध की आश्रयता उनमें अवश्य माननी होगी, अन्यथा (किसी भी धर्म या उपाधि के न रहने पर) रूपादि में विशेषगुणत्व और संख्यादि में सामान्यगुणत्व सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि समानाधिकरण धर्मों में ही साध्य-साधनभाव माना जाता है, जब रूपादि में कोई उपाधि या धर्म ही नहीं रहता, तब रूपादि में रूपत्वादि की भी सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि उनके साधनीभूत धर्मों की आश्रयता रूपादि में नहीं, अन्यत्र रहनेवाले साधन धर्मों से अन्यत्र साध्य की सिद्धि संभव नहीं।

आपका यह लक्षण एक विचित्र पहेली है, अर्थात् जातिमात्रभावाश्रयत्वरूप लक्षण रूपादि में रहता है, तब रूपत्वादिसाधक चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वादि में पक्षधर्मता नहीं रहती और

proverb

प्रवह्लिकामनुकरोति ।

अपि च गुणाश्रय इत्यत्र कश्चाऽऽश्रयार्थः ? समवायीति चेन्न, गुणत्वादेरपि द्रव्यत्वप्रसङ्गात्, गुणावच्छिन्नस्य समवायस्य गुणत्वेऽपि विश्रान्तत्वात्। गुणः समवेतो यत्र स गुणसमवायीति विवक्षितमिति चेन्न, यत्रेत्यस्य अधिकरणार्थस्य अद्याप्यनिरूपणेन तेनैव तद्व्याकारानुपपत्तेः। "इहेति प्रत्ययहेतुराधार" इति चेन्न, 'इह शङ्खे पीतिमे'ति प्रत्ययाच्छङ्खस्य पीतगुणाधिकरणत्वप्रसङ्गात् । भ्रान्तिरसौ, यथार्थश्च प्रत्ययोऽत्र विवक्षित इति चेन्न, तदर्थासत्त्वनिरूपणव्यतिरेकेण तदप्रामाण्यस्य बोद्धुमशक्यत्वात्। न चाद्यापीहेति प्रत्ययस्यार्थः प्रतीतो यत्प्रतियोगिकमसत्त्वं

यद्वा लगेत्युक्ते न लगति मा लगेत्युक्ते लगतीति ।

एवं गुणलक्षणानिरूपणेन रूपादेर्गुणत्वासिद्धिमुक्त्वा द्रव्यलक्षणे दूषणान्तरमाह ॐ अपि चेति ॐ। न कोपीत्याक्षिप्तमपि पृष्टं मत्वा तन्निराकं शङ्कते ॐ समवायीति ॐ। अतिव्यापकमिति दूषयति ॐ नेति ॐ। प्रसङ्गमेव स्पष्टयति ॐ गुणेति ॐ। सम्बन्धस्य द्व्याश्रयत्वादित्यर्थः। गुणः समवेतो यत्र स गुणसमवायी विवक्षितो न च गुणत्वादौ गुणत्वस्य समवेतत्वमित्यतिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते ॐ गुण इति ॐ। यत्रेतिनिर्दिष्टस्याधिकरणत्वस्याऽसिद्धतया तेनैव तन्निरूपणमयुक्तमात्माश्रयादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। इहेत्येवंरूपायाः प्रतीतेर्यत्कर्मतया कारणं तदाश्रयपदार्थ इति शङ्कते ॐ इहेति ॐ। प्रत्ययमात्रहेतुत्वमधिकरणत्वमुताभ्रान्तस्येति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ नेति ॐ। द्वितीयं शङ्कते ॐ भ्रान्तिरिति ॐ। भ्रान्तित्वमेवासिद्धमिति परिहरति ॐ नेति ॐ। किमिहेतिपदार्थस्यासत्त्वप्रतियोगित्वमुत पीतत्वस्येति विकल्प्याद्यं दूषयति ॐ न चेति ॐ। इह पीतिमा नास्तीति इह पदार्थावच्छिन्नं पीतत्वं निषेध्यतया

यदि उक्त लक्षण नहीं रहता, तब पक्षधर्मता रहती है। इसी प्रकार लक्षणरूप हेतु से लक्ष्य में इतर-व्यावृत्ति सिद्ध करने पर लक्षण को आदेश देना होगा कि 'लक्ष्यं मा लग', तब हेतुरूप उपाधि में पक्षधर्मता रहेगी और यदि लक्षण को कह दिया जाता है कि 'लक्ष्यं लग' तब पक्षधर्मता नहीं रह सकेगी। ['मा' (नहीं) कहने से जुड़जानेवाले और 'लग' (जुड़ जाओ) कहने पर न जुड़नेवाले दोनों ओष्ठों के समान आपका लक्षण भी विपरीताचारी है, इसे लक्ष्य से दूर ही रखना श्रेयस्कर है]।

यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि 'गुणाश्रयः' लक्षण में 'आश्रय' शब्द का क्या अर्थ विवक्षित है ? 'समवायी' अर्थ करने पर गुण में भी द्रव्यत्व प्रसक्त होगा, क्योंकि गुण और द्रव्य के समवायरूप संबन्ध का आश्रय (समवायी) जैसे घटादि द्रव्य है, वैसे रूपादि गुण भी है, सबन्ध के दोनों संबन्धी उसके आश्रय माने जाते हैं। इतना ही नहीं गुण और गुणत्व— दोनों भी समवाय के आश्रय होते हैं, अतः गुण-समवाय के आश्रयीभूत गुणत्व में भी द्रव्यत्वापत्ति होती है।

'गुणः समवेतो यत्र, स गुणाश्रयः'— ऐसी विवक्षा होने पर लक्षण की असिद्धि हो जाती है, क्योंकि 'यत्र'— इस शब्द का अधिकरण अर्थ होता है, जिसका निरूपण अभी तक नहीं हो सका है। उसी शब्द के द्वारा उसी की व्याख्या कभी नहीं हो सकती।

यदि आधार का लक्षण किया जाता है—'इह प्रत्ययहेतुः'। तब 'इह शङ्खे पीतिमा'— इस प्रतीति के आधार पर शङ्ख में पीत गुण की अधिकरणता प्राप्त होती है। 'इह शङ्खे पीतिमा'—यह प्रतीति भ्रमात्मक है, किन्तु लक्षण में यथार्थ प्रतीति विवक्षित है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त प्रतीति को भ्रम तब ही कहा जा सकता है, जब कि पीतगुण की अधिकरणता का शङ्ख में अभाव सिद्ध हो, किन्तु अभी तक 'इह प्रत्यय' की विषयीभूत अधिकरणता ही सिद्ध नहीं हुई, तब अधिकरणताप्रतियोगिक अभाव क्योंकर सिद्ध होगा ?

तत्र निरूप्यते । पीतत्वं प्रतियोगि, तच्च क्वचित्सिद्धमेवेति चेन्न, तस्य प्रमितत्वादेवासत्त्वानुपपत्तेः । तत्र न तस्य प्रमितत्वमिति चेन्न, तत्रेत्याधारत्वानिरूपणादिति ।

एतेन 'समवायिकारणं द्रव्यमि'त्यपि लक्षणं निरस्तम् । कथं निर्णेतव्यम् 'इदं समवायिकारणमिदं ने'ति, रूपादौ घटादौ च सङ्ख्यासमवायिकारणत्वयुक्तेस्तुल्यत्वात् । सङ्ख्यैव रूपादौ नास्तीति चेत्, घटादौ कथमस्ति ? प्रत्ययस्योभयत्रापि तुल्यत्वादित्युक्तमनुषञ्जनीयम् । द्रव्य एव सङ्ख्यास्वीकारे तत्सम्बन्धात् गुणेऽपि तद्व्यवहारोपपत्तौ कल्पनालाघवात् गुणे सङ्ख्याद्यस्वीकार इति चेत्, न, विपरीतमेव कुतो न स्यात् ? सत्तासामान्याद्यपि गुणादौ किमर्थमङ्गीक्रियते, द्रव्यद्वारैव तत्र

निरूपणीयं तदाश्रयार्थानिरूपणान्न शक्यनिरूपणमित्याशयः । पीतत्वमात्रं प्रतियोगीति द्वितीयं शङ्कते ❀ पीतत्वमिति ❀ । तथाप्यप्रमितप्रतियोगिकनिषेधानुपपत्तिरित्यत आह ❀ तच्चेति ❀ । पीतत्वस्य येन रूपेण प्रमितत्वं तेनैव रूपेण प्रतियोगित्वमुताप्रमितरूपेणेति विकल्प्य प्रथममसम्भवेन दूषयति ❀नेति❀ । द्वितीयमुत्थापयति ❀ तत्रेति ❀ । आधारपदार्थघटितरूपेण तस्याप्रमितत्वं वाच्यं तस्याद्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धप्रतियोगिकनिषेधाऽनुपपत्तिरेवेति परिहरति ❀ नेति ❀ ।

अस्तु तर्हि समवायिकारणं द्रव्यमित्यत आह ❀ एतेनेति ❀ । आश्रयानिरूपणेन कार्यं समवायो यत्र तत्समवायीति तत्समवायित्वानिरुक्तेः इत्यर्थः । रूपादौ चास्य लक्षणस्य भावात् द्रव्यत्वं प्रसज्यते इत्याह ❀ कथमिति ❀ । कथं च तन्निर्णेतव्यमित्यत आह ❀ रूपेति ❀ । एको घट इतिवदेकं रूपमितितदधिकरणप्रत्ययस्य समवायित्वप्रयोजकस्य तुल्यत्वादित्यर्थः । एकं रूपमित्यादिप्रतीतिर्भ्रान्ती रूपादौ गुणाभावात् गुणादीनां निर्गुणत्वादिति शङ्कते ❀ सङ्ख्येति ❀ । घटादौ यादृशो सङ्ख्याप्रतीतिस्तादृश्येव रूपादौ तत्प्रतीतिर्न वैलक्षण्यलेशोऽपीत्युक्तयुक्तिरनुसन्धेयेति परिहरति ❀ घटेति ❀ । लाघवतर्कावष्टम्भेन शङ्कते ❀ द्रव्य इति ❀ । द्रव्यस्य तावत्सङ्ख्याधिकरणत्वमुभयानुमतं तदेकार्थसमवायादेव गुणादौ सङ्ख्याव्यवहारोपपत्तौ न सङ्ख्यान्तरमूरीकार्यं गौरवादित्यर्थः । गुण एव सङ्ख्यास्वीकारो द्रव्ये पुनः तत्समवायिनिबन्धन एव सङ्ख्याप्रत्यय इति विपरीतं किं न स्यादिति परिहरति ❀ नेति ❀ । रूपादौ

शङ्का—'इह शङ्खे पीतिमा'—इस प्रतीति को भ्रमरूप सिद्ध करने के लिए शङ्ख में पीतत्व का अभाव कहना होगा, उसका प्रतियोगीभूत पीतत्व तो बिल्व-फलादि में प्रसिद्ध है ही।

समाधान—पीतता यदि कहीं भी प्रमित है. तब उसका असत्त्व नहीं कहा जा सकता । यदि कहा जाय कि 'तत्र (शङ्खे) न तस्य प्रमितिः' । तब 'तत्र' पदार्थरूप अधिकरणता की अनिर्वचनीयता आड़े आ जाती है ।

इसी प्रकार 'समवायिकारणं द्रव्यम्'—यह लक्षण भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि जब रूपादि गुणों और घटादि द्रव्यों में संख्यादि गुण की समवायिकारणता समान रूप से प्रतीत होती है, तब यह निर्णय क्योंकर किया जा सकता है कि 'इदं (घटादि द्रव्यं) समवायिकारणम्', 'इदं (रूपादि) समवायिकारणं न' ?

रूपादि में वस्तुतः संख्या नहीं रहती—ऐसा कहने पर इस प्रश्न का उत्तर क्या होगा कि 'घटादौ कथमस्ति ?' संख्यावत्ता की प्रतीति ('एकं रूपम्', 'एको घटः'—इस प्रकार) उभयत्र समान है—यह ऊपर कह चुके हैं।

शङ्का—द्रव्य में ही वस्तुतः संख्या रहती है, उसी का स्वाश्रयवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य संबन्ध से द्रव्यगत रूपादि में व्यवहार हो जाता है, अतः उसके लिए रूपादि में संख्या मानने की कोई आवश्यकता नहीं ।

समाधान—ठीक उसके विपरीत क्यों न मान लिया जाय कि 'संख्या वस्तुतः रूपादि गुणों में है और उसके संबन्ध से घटादि में उसका व्यवहार हो जाता है, वस्तुतः द्रव्य में

व्यवहारोपपत्तेः ।

५. सामान्यलक्षणखण्डनम्

ननु सामान्यार्थं एव कः ? तथा हि—'अनुवृत्तप्रत्ययकारणं सामान्यमि'ति न लक्षणम्, सामग्र्याः सर्वकार्योत्पत्तेः तया तदेकदेशान्तरैश्च व्यभिचारात्। असाधारणविशेषणादनन्यजातीयप्रयोजकत्वञ्च तदिति चेन्न, स्वसामग्र्यामपि प्रसङ्गताद्-

सङ्ख्याप्रतीतौ सत्यामपि लाघवतर्कतस्तन्निराकरणे सत्ताद्यपलापोऽपि स्यादविशेषादित्याह ॐ सत्तेति ॐ। आदिपदेन समवायसङ्ग्रहः। गुणः सन् कर्म सदिति सदनुगतव्यवहारस्तत्प्रयोजनमित्यत आह ॐद्रव्येतिॐ। द्रव्य एव सत्तादिस्वीकारे तदेकार्थसमवायाद् गुणादौ तद्व्यवहारोपपत्तिरित्यर्थः।

इति द्रव्यगुणयोर्लक्षणखण्डनम्।

एवं द्रव्यादिलक्षणं खण्डयित्वा सामान्यलक्षणखण्डनमारभते ॐ नन्विति ॐ। क इत्याक्षेपे। सामान्यलक्षणमनूद्य दूषयति ॐ तथा हीति ॐ। घटादिकारणविशेषव्यावृत्त्यर्थं विशेषणद्वयम्। कारणशब्दोऽत्र हेतुवाचक उत प्रमाणवचन इति विकल्प्य प्रथमेऽतिव्याप्तिमाह ॐ सामग्र्या इति ॐ। अनुवृत्तप्रत्ययस्य जनकं सामान्यमित्युक्तं स्यादेवं च विषयमात्रात्तदनुत्पत्तेः सामग्रीतश्च तदुत्पत्तेस्तस्यास्तदेकदेशेषु चक्षुरादिषु चातिव्याप्तिरित्यर्थः। अनुवृत्तप्रत्ययस्यासाधारणं कारणं सामान्यम् चेवमतिव्याप्तिः, सामग्र्यादेः सर्वकार्यसाधारणत्वादिति शङ्कते ॐ असाधारणेति ॐ। असाधारणत्वमेव विवेचयति ॐ अनन्येति ॐ। अनुवृत्तप्रत्ययमात्रजनकमित्यर्थः। अनुवृत्तप्रत्ययसामग्र्यास्तदेकदेशानां च कार्यान्तराजनकत्वादसाधारण्यानुपपत्तिप्रसक्ताववश्यमिति मन्वानः परिहरति ॐ नेति ॐ। नन्वसाधारणगिराऽनुवृत्तप्रत्ययस्य कर्मतया जनकं विवक्षितमिति न सामग्र्यादावतिव्याप्तिरिति। मैवम्, अतीन्द्रियगुरुत्वादिसामान्ये तदव्यापनात्।

सङ्ख्या नहीं रहती।' यदि द्रव्यगत संख्या से ही रूपादि में संख्या के व्यवहार का निर्वाह हो जाता है, तब सत्तारूप जाति को केवल द्रव्य में मान लेने से गुण और कर्म में उसका व्यवहार संपन्न हो जाता है, गुणादि में सत्ता सामान्य के मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

५. जाति-लक्षण-खण्डन

'सामान्य' शब्द का अर्थ क्या है ? आचार्य प्रशस्तपाद ने जो कहा है—"अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्" (न्या० कं० पृ० ७४१)। वह समीचीन नहीं, क्योंकि प्रत्येक कार्य किसी एक कारण से उत्पन्न नहीं होता, अपितु कारण-समूह (कारण की समग्रता या सामग्री) से होता है, 'अयं घटः', 'अयं घटः'—इत्यादि अनुगत प्रतीति की भी कारणता केवल घटत्वरूप सामान्य में नहीं, अपि तु ग्राह्य, ग्राहक, देश, कालादि समस्त सामग्री में होती है, अतः उक्त लक्षण अधूरा एवं चक्षुरादि एकदेश में अतिव्याप्त भी है। [इदं सामान्यम्, अनुगतप्रतीतिकारणत्वात्'—इस अनुमान का अनुगतप्रत्ययहेतुत्वरूप हेतु चक्षुरादि में व्यभिचरित है, क्योंकि वहाँ अनुगतप्रत्ययहेतुत्व के रहने पर भी घटत्वादिरूपता नहीं होती, अनुमानावस्था का व्यभिचार दोष ही लक्षणावस्था का अतिव्याप्ति दोष होता है]।

शङ्का—अनुगत प्रतीति की असाधारण कारणता विवक्षित है, वह सामान्य (जाति) में ही होती है। असाधारण कारणता का अर्थ है—अनन्यजातीयप्रयोजकता। सामग्री के एक देशभूत चक्षुरादि में प्रत्यक्षादि अन्यजातीय कार्य की प्रयोजकता होती है, अतः वे असाधारण कारण नहीं माने जाते, उनमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

वस्थ्यात्, भेदप्रतिपत्त्यादावपि प्रयोजकत्वाच्च। एतत्प्रतिपत्तिप्रमाणकत्वमिति चेन्न, स्वसामग्र्यामप्यस्याः प्रमाणत्वात्। एतदेकप्रमाणकत्वमिति चेन्न, अर्थक्रियाभेदादेरपि तत्र प्रमाणत्वात्। एतत्प्रतिपत्तिप्रमात्वमिति चेन्न, तद्विशिष्टस्यापि तत्त्वप्रसङ्गात्।

ज्ञानस्यापि कर्मजत्वे प्रत्यक्षत्वापातात्। तदपि योगिप्रत्यक्षमिति चेन्न, तस्यैव विगानात्, योगीन्द्रियस्य गुरुत्वादिविषयमिन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवदिति प्रयोगविरोधाच्च। न चादृष्टादि कस्यचित्प्रत्यक्षं प्रमेयत्वात् घटवदिति सप्रतिसाधनता कस्यचिच्छब्देनास्मदाद्यन्यतमविवक्षायां बाधादस्मदादिविलक्षणविवक्षायामप्रसिद्धविशेषणत्वात्साध्यवैकल्याच्च दृष्टान्तस्य, न चान्यः साधारणः प्रामाणिकोऽस्तीत्यलम्। एवमतिव्याप्तिमुक्त्वाऽसम्भवि चेदं लक्षणमित्याह ❀ भेदेति ❀। गोत्वात् महिषादिभिन्नं भवतीति भेदप्रत्यये तदभिधाने च सामान्यस्य प्रयोजकत्वान्नानुवृत्तप्रत्यय एवासाधारण्यमित्यर्थः। कारणशब्दः प्रमाणवचन इति द्वितीयं शङ्कते ❀ एतदिति ❀। एषा प्रतिपत्तिः प्रमाणं यत्र तत्त्वमिति तत्समासः। यद्यपि सामग्री कारणं तथापि न तस्यामनुवृत्तप्रत्ययः प्रमाणमिति तद्व्यवच्छेदः। एतत्प्रतिपत्तिप्रमाणकत्वमात्रं लक्षणमुतैतदेकप्रमाणत्वमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। सामग्र्यनुमापकत्वात् तत्राप्यस्याः प्रतिपत्तेः प्रमाणत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। एषा प्रतिपत्तिरेकैव प्रमाणं यत्र तत्त्वमिति द्वितीयं शङ्कते ❀ एतदिति ❀। सामग्र्या नानाकारणमेलनापररूपाया न तदेकप्रमाणत्वं चक्षुरादे रूपादिज्ञानानुमेयत्वादालोकादेः प्रत्यक्षत्वादिति तदृत्युवास इत्यभिसन्धिः। स्मारकतया तावदर्थक्रियाविशेषोऽपि मानं ब्राह्मणत्वजातौ विशिष्टमातापितृजत्वज्ञानमतोऽनुवृत्तप्रत्ययैकप्रमाणत्वमसिद्धमित्याह ❀ नेति ❀। कारणशब्दस्यार्थान्तरं शङ्कते ❀एतदिति❀। एषा प्रतिपत्तिः प्रमा यस्मिन् तत्वं सामान्यं न च सामग्र्यामेषा प्रमा तदनुमापकत्वेन प्रमाणत्वादिति-

समाधान—अनुगत प्रत्यय की सामग्री भी असाधारण होती है, अतः उसमें अतिव्याप्ति जैसी-की-तैसी बनी है। गोत्वादि सामान्य में भी इतर-भेदरूप अन्यजातीय कार्य की अनुमापकता मानी जाती है [गौः इतरेभ्यो भिद्यते, गोत्वात्], अतः उसमें भी विवक्षित असाधारण कारणता सम्भव नहीं।

शङ्का—अनुगत प्रतीति प्रमाण है जिसमें, वह सामान्य तत्त्व है [कार्य अपने कारण का गमक होने से कारण में प्रमाण माना जाता है। अनुगत प्रतीतिः कार्य है और सामान्य उसका कारण। यद्यपि सामग्री भी अनुगत प्रतीति का कारण है, तथापि अनुगत प्रतीति सामग्री में प्रमाण नहीं मानी जाती, क्योंकि चक्षुरादि-घटित सामग्री में रूप-ज्ञानादि को प्रमाण माना जाता है, अनुगत प्रतीति को नहीं]।

समाधान—प्रत्येक कार्य अपने कारण-कलाप का अनुमापक होता है, अनुगत प्रतीति भी अपनी सामग्री में प्रमाण है, अतः उक्त लक्षण सामग्री में अतिव्याप्त होता है।

शङ्का—अनुगत प्रतीति ही एकमात्र है प्रमाण जिसमें, उसे सामान्य कहते हैं। यद्यपि अनुवृत्त प्रतीति अपनी सामग्री में प्रमाण है, तथा यही एकमात्र उसमें प्रमाण नहीं, अपितु रूपज्ञानादि भी चक्षुरादि-घटित सामग्री में प्रमाण हैं, अनुवृत्तप्रत्ययमात्र-प्रमाणकत्व लक्षण सामग्री में अतिव्याप्त नहीं होता।

समाधान—घटत्व-पटत्वादि जातियों में केवल अनुगत प्रतीति ही प्रमाण नहीं, अपितु दाह-पाकादिरूप अर्थ-क्रिया (प्रयोजन या कार्य) का भेद भी अग्न्यादि कारणगत जातिविशेष का साधक होता है, अतः उक्त लक्षण असम्भव-ग्रस्त है।

शङ्का—अनुगत प्रतीति है प्रमा जिसमें, वह पदार्थ जाति है अर्थात् 'अयं घटः—अयं घटः' इत्यादि अनुगत प्रतीति घटत्वादिजातिविषयकत्वेन ही प्रमा मानी जाती है, चक्षुरादि-सामग्रीविषयकत्वेन नहीं, क्योंकि अनेक घटों में अबाधित घटत्व है और उसी को वह अनुगत प्रतीति विषय करती है, 'तद्वति तत्प्रकारकज्ञान को प्रमा कहा जाता है।

तदवच्छिन्नप्रमांशप्रमाकत्वमिति चेन्न, तदसिद्धयैवासिद्धेः। 'इयं प्रतीतिर्येन विना नोपद्यते तत्सामान्यमि'ति चेन्न, कारणान्तराणामपि तथात्वादिति।

'अनुवृत्तं सामान्यमि'त्यप्यलक्षणम्। किमिदमनुवृत्तत्वं नाम? अनेकाश्रितत्वमिति चेन्न, अवयविना संयोगादिभिश्च व्यभिचारात्। नित्यत्वे सतीति चेन्न,

---

तन्निवृत्तिः। अतिव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। न हि निष्कृष्टं सामान्यं प्रतीय इति व्यक्तिविशिष्टेऽनुवृत्तप्रतीतिः प्रमा भवतीति विशेषमवगाहितवतीति तस्यापि सामान्यरूपता स्यादित्यर्थः। अतिव्याप्तिपरिहाराय विशेषं शङ्कते ❀ तदिति ❀। तत्र विषयेंऽशद्वयमस्ति व्यक्त्यंशः सामान्यांशश्चेति तत्र विषयतया सामान्यांशेनावच्छिन्नः प्रमांशः प्रमा यस्मिन् तत्वं विवक्षितन्न चासौ व्यक्त्यंशे, तदवच्छिन्नप्रमांशस्यैव तत्र प्रमात्वादिति नातिव्याप्तिरित्याशयः। सामान्यज्ञाने तदवच्छिन्नप्रमांशज्ञानन्तज्ज्ञाने च तद्विषयसामान्यज्ञानमितीतरेतराश्रय इति परिहरति ❀ नेति ❀। सामान्यासिद्धयैव तद्विशिष्टलक्षणासिद्धिरित्यर्थः। लक्षणान्तरं शङ्कते ❀ इयमिति ❀। अनुगतप्रतीतिर्येन विना नोपपद्यते तत्सामान्यमित्यर्थः। नोत्पद्यत इत्यपपाठः पुनरुक्तत्वात्। नोपपद्यत इत्यत्राप्यसत्ता नानुपपत्तिस्तथा च तदभावे तदभाव इति व्याप्यत्वाभिधानात्तस्य च तत्प्रमाणकत्वेन पुनरुक्तत्वात्तस्मादुपपत्तिः ज्ञानं विषयनिरूप्यत्वात् ज्ञानस्येत्येवार्थः। अनुवृत्तप्रत्ययज्ञापकमनःसंयोगादावतिव्याप्तिरिति परिहरति ❀ नेति ❀।

लक्षणान्तरं दूषयति ❀ अनुवृत्तेति ❀। कुत इत्यपेक्षयामनुवृत्तपदार्थानिरुक्तेरित्याह ❀किमिति❀। न किमपीत्यर्थः। अनुवृत्तपदार्थं शङ्कते ❀ अनेकेति ❀। रूपादिव्यवच्छेदाय विशेषणम्। वृत्तिशब्देन संयोगः समवायो वा विवक्षित उभयथाऽप्यतिव्याप्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀। अवयव्यवयवेषु समवेतः संयोगश्च सम्बन्धिनोरादिशब्देनानेकसंयुक्तशरीरादि गृह्यत इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। नित्यमनेकवृत्ति

समाधान—प्रमा ज्ञान तद्वद्विशेष्यक और तत्प्रकारक होता है, प्रकारविधया जाति और विशेष्यविधया व्यक्ति को विषय करता है, अनुगत ज्ञान में प्रमात्व का प्रयोजक जैसे तत्प्रकारकत्व होता है, वैसे ही तद्वद्विशेष्यकत्व भी होता है, अतः जैसे वह जाति में प्रमा है, वैसे व्यक्ति में भी, व्यक्ति में 'अनुगतप्रत्ययप्रमाकत्व' लक्षण अतिव्याप्त है।

शङ्का—प्रकारविधया गृहीत पदार्थ ही प्रमा का मुख्य विषय होने के कारण अवच्छेदक माना जाता है, विशेष्यादि नहीं ['अयं घटः—अयं घटः' यह अनुगत प्रतीति घटत्व की प्रमा और 'अयं पटः—अयं पटः' यह प्रतीति पटत्व की प्रमा है—इस प्रकार के व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि उक्त प्रमा घटत्वाद्यवच्छिन्ना ही होती है, घटाद्यवच्छिन्ना नहीं। जो प्रमा यदवच्छिन्ना होती है, वह उसी की प्रमा कही जाती है, अन्य की नहीं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि विषय के अंशों के लेकर ज्ञान में भी अंश-भेद माना जाता है। 'इदं ज्ञानं घटे घटत्वविषयकम्'—इस ज्ञान के दो अंश हैं—(१) जाति और (२) व्यक्ति। जातिरूप अंश में ही उसे प्रमा माना जाता है, व्यक्ति अंश में नहीं]।

समाधान—यह लक्षण तभी किया जा सकता है, जब कि उसके पहले 'जाति' तत्त्व सिद्ध हो जाय, क्योंकि अवच्छेदक या परिचायक अपने अवच्छेद्य से पहले ही सिद्ध होता है, किन्तु जाति को अभी तक सिद्धि नहीं हुई, अतः यह लक्षण भी असिद्ध ही रह जाता है। 'इयं प्रतीतिः (अनुवृत्त प्रतीतिः) येन विना नोपपद्यते, तत् सामान्यम्'—यह लक्षण भी सामग्री में अतिव्याप्त है, क्योंकि उसके विना भी यह अनुपपन्न है।

घटत्वादि जाति अपनी सभी व्यक्तियों में अनुवृत्त (व्याप्त) होती है, अतः 'अनुवृत्तं सामान्यम्'—यह जो लक्षण किया जाता है, उसमें जिज्ञासा होती है कि यह अनुवृत्तत्व क्या है? अनेकाश्रितत्व को अनुवृत्तत्व मानने पर घटादि अवयवी और संयोगादि पदार्थों में भी अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि जैसे घटत्वादि अनेकव्यक्त्याश्रित हैं, वैसे ही अवयवी अपने अनेक

समवायेन व्यभिचारात्। अत एव न बहुवृत्तित्वमित्यपि। असम्बन्धत्वे सतीति चेन्न, अणुभिर्व्यभिचारादिति। नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यमिति चेन्न, विकल्पासहत्वात्। एतल्लक्षणं नित्यमनित्यं वा स्यात्? नाद्यः, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्, विशिष्टप्रविष्टमपि हि नित्यत्वं नित्यमेव।

नापि द्वितीयः, सामान्यस्य समवायस्य च नित्यत्वाभावप्रसङ्गात्। आत्मत्वादौ

सामान्यत्र च संयोगादिव्याप्तिस्तस्यानित्यत्वादिति शङ्कते ॐ नित्येति ॐ। समवायस्य नित्यत्वादनेकाश्रितत्वाच्चातिव्याप्तिरित्याह ॐ नेति ॐ। लक्षणान्तरेऽप्येतदतिदिशति ॐ अत इति ॐ। समवायव्यापनादेवेत्यर्थः। उक्तातिव्याप्तिं परिहर्तुमसम्बन्धत्वे सति नित्यमनेकवृत्ति सामान्यमिति शङ्कते ॐसम्बन्धेतिॐ। परमाणूनां संयोगवृत्त्या नित्यत्ववतामनेकाश्रितत्वमस्तीति तत्रातिव्याप्तिरित्याह ॐ नेति ॐ। वृत्तिशब्देन समवायस्य विवक्षितत्वान्नित्यमनेकवृत्तीति लक्षणस्य न समवायेऽन्तर्भावो वा व्यभिचार इति शङ्कते ॐ नित्येति ॐ। विकल्पासहत्वादसिद्धमिदं लक्षणमित्याह ॐ नेति ॐ। तदुपपादनाय विकल्पयति ॐ एतदिति ॐ। किञ्चात इत्यत आह ॐ नाद्य इति ॐ। स्वात्मनि वृत्तिविरोधं स्पष्टयति ॐविशिष्टेतिॐ। नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं हि लक्षणं तत्रापि चेन्नित्यत्वं वर्त्ततात्माश्रयोऽशत इत्यर्थः।

अनित्यमिदं लक्षणमिति द्वितीयं दूषयति। ॐ नापीति ॐ। नित्यमनेकसमवेतरूपं विशिष्टलक्षणं तच्चेदनित्यं तर्हि विशेषणादिनाशात्तन्नाशो वक्तव्यः स्वप्रमित्युपलक्षितसत्तायोगित्वस्यानित्यत्वरूपत्वादेवं नित्यत्वस्य लक्षणान्तर्गतस्य नाशे व्यक्तमनित्यत्वं सामान्यस्य तद्धर्मस्यैव लक्षणत्वात्समवेतांशनाशेपि विशेष्यसामान्यनाशे तस्यानित्यत्वप्रसङ्गः, समवायस्य नाशे तस्यानित्यत्वप्रसक्तिरित्यर्थः। अनेकेति विशेषणीभूततद्व्यक्तिनाशादऽपि सामान्यस्य समवेतत्वनाशोपपत्तेर्न सामान्यदेरनित्यत्वप्रसक्तिरित्यत आह ॐ आत्मेति ॐ। आत्मत्वतत्समवायतद्व्यक्तीनां नित्यत्वान्न व्यक्त्यनित्यत्वनिमित्तमपि तत्समवेतानित्यत्वं

अवयवों के आश्रित और संयोगादि सम्बन्ध अपने अनेक सम्बन्धियों के आश्रित है। 'नित्यत्वे सति अनेकाश्रितत्व को भी अनुवृत्तत्व नहीं कह सकते, क्योंकि समवाय में अतिव्याप्त है, समवाय भी जाति के समान ही नित्य भी है और अनेकाश्रित भी। 'बहुवृत्तित्व' भी इन्हीं दोषों से दूषित है। समवायादि की व्यावृत्ति के लिये 'असम्बन्धत्वे सति'—ऐसा विशेषण लगाने पर भी परमाणुओं में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वे भी नित्य हैं, अनेक दिशाओं में संयुक्त (संयोगेन अनुवृत्त) हैं।

'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतं सामान्यम्'—यह लक्षण भी संगत नहीं, क्योंकि नित्यत्वविशिष्ट अनेकसमवेतत्वरूप लक्षण नित्य धर्म है ? या अनित्य ? प्रथम कल्प के अनुसार लक्षण के विशेषण (नित्यत्व) और विशेष्य (अनेकसमवेतत्व) दोनों में नित्यत्व मानना होगा, जो कि उचित नहीं, क्योंकि नित्यत्व में नित्यत्व की वृत्तिता मानने से आत्माश्रय दोष प्रसक्त होता है। 'नित्यत्व को नित्य नहीं मानेंगे'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विशिष्ट पदार्थ को जब नित्य माना जाता है, तब विशिष्ट के घटकीभूत नित्यत्वरूप विशेषण को भी नित्य मानना अनिवार्य है।

यदि द्वितीय कल्प के अनुसार लक्षण को नित्य नहीं माना जाता, तब नैयायिक के लिए अपसिद्धान्तापत्ति या लक्षण में असम्भव दोष आ जाता है, क्योंकि सामान्य अनेक व्यक्तियों में समवेत (समवायेन वर्तमान) है, उसका यह अनेकसमवेतत्वरूप लक्षण दो प्रकार से अनित्य हो सकता है—(१) या तो सामान्य स्वयं अनित्य हो या (२) समवाय सम्बन्ध अनित्य हो [रूप-समवेतत्व अनित्य इस लिए होता है कि रूप स्वयं अनित्य है और मन आदि में आत्मसंयुक्तत्व इस लिए अनित्य माना जाता है कि संयोग सम्बन्ध अनित्य होता है] किन्तु प्रकृत में सामान्य और उसका समवायरूप सम्बन्ध—दोनों नित्य माने जाते हैं, अतः

व्यक्त्यभावात्तस्यापि विशिष्टाभावस्यासम्भवात् । तस्य च कदाचिदसत्त्वानङ्गीकारे तदनित्यत्वस्यैव वक्तुमशक्यत्वात् । तद्ग्राहिणश्च प्रत्ययस्यैककालिकस्य च मिथ्यात्वेऽविशेषात् सार्वकालिकस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गेन सर्वथा तदसत्त्वापत्तेः । एकस्य च सत्यत्वेऽविशेषात् सर्वसत्यतायां कदाचिदपि तदसत्त्वं नास्तीति । एकदा तत्सम्बन्धे-

सम्भवतीत्यर्थः । तथापि लक्षणानित्यत्वे किमायातमित्यत आह ※ तस्येति ※ । सामान्यलक्षणानित्यत्वाभाव आत्मत्वादेरनित्यत्वव्यक्तिर्वेत्यर्थः । यद्यप्यात्मत्वसामान्यस्य तद्व्यक्तिषु समवेतत्वलक्षणग्राहिप्रत्ययः सदाकार एव जायते, तथापि तस्य कदाचिन्मिथ्यात्वादनित्यत्वसिद्धिर्लक्षणस्येत्याशङ्क्याह ※ तदिति ※ । यदि लक्षणमनित्यं तदा जातौ कदाचित्तल्लक्षणग्राहिप्रत्ययो मिथ्येति वाच्यमतश्च तन्न्यायेन सर्वदासौ प्रत्ययो मिथ्येति न कदाचिल्लक्षणसिद्धिरित्यर्थः । यद्वात्मत्वसमवेतत्वानुसन्धानकालिकस्य लक्षणानित्यत्वप्रत्ययस्य मिथ्यात्वाभावादात्मत्वादेरनित्यत्वप्रसक्तिरित्याशङ्क्याह ※तदिति※ । तदसत्तापत्तेर्लक्षणानित्यत्वाभावप्रसङ्गादित्यन्वयार्थः । घटत्वादेः समवेतत्वानुसन्धानकालिकस्य लक्षणानित्यत्वप्रत्ययस्य बाधकाभावेन प्रमाणत्वात् कथं सर्वथैव लक्षणानित्यत्वस्य मिथ्यात्वमुच्यत इत्याशङ्क्याह ※एकस्येति※ । ※ अविशेषादिति ※ । लक्षणस्य सर्वत्रैकरूप्यादेकत्र तदनित्यत्वप्रत्ययस्य सत्यत्वे सर्वत्र सत्यतायां कदाचिदपि तदसत्त्वं लक्षणानित्यत्वस्यामिथ्यात्वं नास्तीति प्रसज्यत इत्यर्थः । एकदा नित्यत्वसम्बन्धेनान्यदाप्यनित्यत्वं लक्षणस्य व्यवह्रियते नित्यस्योपलक्षितस्यान्यदापि विद्यमानत्वादिति समवेतत्वस्यानित्यत्वव्यवहारेऽपि नात्मत्वादेरनित्यत्वमर्थ इति शङ्क्यते ※ एकदेति ※ । एकदा घटत्वादेर्यदि समवेतत्वानुसन्धानकाले तदनित्यत्वसम्बन्धेन तस्य समवेतत्वस्य लक्षितस्यान्यदात्मत्वादिसमवेतत्वानुसन्धानेऽपि समवायस्यैकतया विद्यमानत्वात्तयास्त्वमनित्यत्वेन व्यवह्रियमाणत्वमित्यर्थः । अनित्यासु घटादिव्यक्तिषु घटत्वादेः समवेतत्वं तावदनित्यं ततोऽन्यदेव नित्यासु व्यक्तिषु समवेतत्वमात्मत्वादेर्व्यक्तीनां भेदात्तद्विशिष्टसमवेतत्वस्यापि भिन्नत्वादकिञ्चिदपेक्षस्य

विशिष्ट धर्मरूप लक्षण में अनित्यत्व मानना असम्भव है । यद्यपि घटादि व्यक्तियों के अनित्य होने से घटत्वगत घटत्वसमवेतत्व कथञ्चित् अनित्य हो सकता है, तथापि आत्मत्वगत आत्मसमवेतत्व कभी अनित्य नहीं हो सकता ।

उस लक्षण को अनित्य नहीं कहा जा सकता, जिसका अपने लक्ष्य में कदाचित् असत्त्व नहीं माना जाता । जिस समय लक्ष्य में लक्षण का असत्त्व माना जाता है, उस समय यदि 'लक्ष्यं लक्षणवत्'—ऐसी प्रतीति होती है, तब उसे भ्रमात्मक मानना ही होगा । यदि तात्कालिक प्रतीति को भ्रम माना जाता है, तब सार्वकालिक प्रतीतियों को भ्रम रूप मानना होगा, क्योंकि प्रतीतियों में स्वरूपतः कोई वैलक्षण्य नहीं होता । फलतः लक्ष्य में लक्षण का सर्वदा असत्त्व मानना होगा । जिस समय लक्ष्य में लक्षण का सत्त्व है, उस समय की लक्ष्य लक्षण-वैशिष्ट्यावगाहिनी प्रतीति को सत्य माना जाता है, तब वैसी सभी प्रतीतियों को सत्य ही मानना होगा । फलतः लक्ष्य में लक्षण का कदापि असत्त्व नहीं रह सकेगा ।

यद्यपि लक्षण को अपने लक्ष्य का विशेषण न मान कर उपलक्षण माना जाता है, तब अपने असत्त्व काल में भी अपने लक्ष्य का उपलक्षण होता है, उस समय की लक्ष्यलक्षण-वैशिष्ट्यावगाहिनी प्रतीति भी प्रमा ही मानी जाती है, भ्रम नहीं । तथापि प्रकृत में 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वरूप लक्षण का लक्ष्य है—सामान्य (जाति) । जातियाँ अनेक होती है, उनको उपलक्ष्य तभी बनाया जा सकता है, जब कि उनमें कोई उपलक्ष्यतावच्छेदकीभूत एक धर्म का निश्चय हो, वह अभी तक नहीं हुआ, अतः अनेक सामान्य व्यक्तियों को उपलक्ष्य नहीं बनाया जा सकता । यदि उनमें कोई उपलक्ष्यतावच्छेदकीभूत अनुगत धर्म का निश्चय होता है, तब वही सामान्य का लक्षण बन जाता है, इस प्रक्रान्त लक्षण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । फलतः लक्षण की अनित्यता सर्वथा अनुपपन्न है । जैसे सामान्यादि में नित्यत्व का निरास

नोपलक्षितस्य अन्यदाऽपि विद्यमानत्वात् तथात्वमिति चेन्न, तादृशोपलक्ष्यासम्भवात्, व्यक्तीनां भेदादनित्यत्वानुपपत्तिरेवेति । एतेन नित्यत्वमन्यत्रापि प्रतिवचनीयमिति ।

---

६. विशेषलक्षणखण्डनम्

के चानेन लक्षणेन व्यवच्छिद्यन्ते ? विशेषादय इति चेत्, विशेषा एव केऽभिधीयन्ते ? तत्र 'नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषाः' इत्यलक्षणम्, आत्मत्वादिना व्यभिचारात् । नित्यन्तरेऽसत्त्वात् न तत्सर्वत्र नित्ये वर्तते, विशेषास्तु नैवम्,

---

समवेतत्वमात्रस्य चानुपलक्ष्यत्वादेकमनुगतं वाच्यं तत्सिद्धौ तस्यैव लक्षणत्वोपपत्तेर्व्यर्थं लक्षणान्तरकरणमिति परिहरति ❀ नेति ❀ ।

इति सामान्यखण्डनम् ।

आगामिखण्डनं सामान्येन सङ्गमयति ❀ के चेति ❀ । विशेषा इति ❀ । वशेषलक्षणमाशङ्क्य निरस्यति ❀ तत्रेति ❀ । द्रव्येषु वर्तन्ते ये ते विशेषा इत्युक्ते सत्तासामान्ये समवाये च प्रसङ्गस्तदर्थमाह ❀ द्रव्येष्वेवेति ❀ । तथापि गुणेषु क्रियायां च प्रसङ्गः तदर्थमाह ❀ नित्येष्वेवेति ❀ । नित्येष्वेव वर्तन्ते ये ते विशेषा इत्युक्ते परमाणुत्वशब्दबुद्ध्यादौ प्रसङ्गः तदर्थं वर्तन्त एवेति सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वमेवेति विवक्षितमतोऽणुत्वादिधर्मव्यवच्छेदः । यथाश्रुतं तावदतिव्यापकमितिहेतुमाह ❀ आत्मेति ❀ । आत्माण्वादीनां नित्यद्रव्यत्वात्तत्रैव वर्तमानत्वादेवात्मत्वाणुत्वादीनां विशेषत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । वर्तन्त एवेति विशेषणेनेदं परिहृतमिति शङ्कते ❀ नित्यान्तर इति ❀ । नित्यद्रव्यनिष्ठात्यन्ताभावमात्राप्रतियोगित्वमेवेति विवक्षितत्वा-

---

किया गया, उसी प्रकार आकाशादि की नित्यता का प्रतिवचन (खण्डन) भी किया जा सकता है।

---

६. विशेष पदार्थ के लक्षण का खण्डन

जाति के अनेकसमवेतत्वादि-घटित लक्षण के द्वारा किन-किन लक्ष्येतर पदार्थों की व्यावृत्ति की जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि लक्षण-घटक अनेकाश्रितत्वादि पदों के द्वारा विशेषादि पदार्थों की व्यावृत्ति की जाती है, क्योंकि विशेष पदार्थ अनेकाश्रित नहीं होते, अपितु एकद्रव्याश्रित ही होते हैं, जैसा कि श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"एतेन एकद्रव्याः एकस्वरूपाः स्वरूपसन्तः इति सूचितं भवति" (किर. पृ. १७) । किन्तु विशेष पदार्थ का ही समुचित लक्षण नहीं किया जा सकता, जैसे कि—

(१) "नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये, ते विशेषाः—

शङ्का—[न्यायकन्दलीकार ने कहा है—"नित्यद्रव्येष्वेव वर्तन्ते एव ये, ते विशेषाः" (न्या. कं. पृ. ३६) । 'द्रव्येषु वर्तन्ते ये ते विशेषाः'—एसा लक्षण करने पर सत्ता जाति और समवाय में अतिव्याप्ति होती है, उसकी व्यावृत्ति करने के लिए कहा—द्रव्येष्वेव । सत्ता समवायादि केवल द्रव्यवृत्ति नहीं. गुणादि में भी रहते हैं । तथापि गुण और कर्म में अतिप्रसङ्ग होता है, उसकी निवृत्ति करने के लिए 'नित्येषु एव' कहा गया है । गुणादि पदार्थ अनित्य द्रव्य में भी रहते हैं । सुख, शब्द और बुद्ध्यादि में अतिव्याप्ति न हो, इस लिये 'वर्तते एव' कहा गया है, सुखादि की असत्त्वावस्था में वृत्तिता सम्भव नहीं, अतः अवृत्तिता भी होती है, किन्तु विशेष पदार्थों की कभी भी अवृत्तिता नहीं होती] ।

समाधान—उक्त लक्षण आत्मत्वादि धर्मों में अतिव्याप्त है, क्योंकि आत्मत्वादि भी नित्यमात्रवृत्ति और द्रव्यमात्रवृत्ति हैं ।

शङ्का—'नित्येष्वेव वर्तन्त एव'—इस अंश का तात्पर्य सर्वनित्यद्रव्यवृत्तिता में है,

वर्तन्त एवेति नियमादिति चेन्न, प्रतिविशेषमव्याप्त्याऽलक्षणत्वात्। यज्जातीय एवमिति लक्षणार्थं इति चेन्न, जातेरनङ्गीकारात्। जातीयेत्यस्यापदत्वात्। उपाधिरेव तथा विवक्षित इति चेन्न, तस्येतरव्यावृत्तस्यावगतौ व्यर्थमिदं तदुपजीवि लक्षणम्, अत एव विजातीयव्यावृत्तिप्रतीतेः। इतरव्यावृत्तस्य वा अनधिगतौ लक्षणस्य दुरवधारणत्वापत्तेः, इतरव्यावृत्ततया तज्जातीयत्वस्याप्रतीतेः।

भवतु स एवोपाधिर्लक्षणमिति चेन्न, तस्यानिरुक्तेः। यतो नित्यद्रव्यव्यक्तिषु विश्वव्यावृत्तधीर्योगिनां स विशेष इति चेन्न, स्वरूपधर्मव्यक्तिभेदेष्वपि प्रसङ्गात्।

विशेषव्यक्तिषु नास्ति सर्वविशेषाणामेकैकद्रव्यवृत्तितया सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वाभावादित्यसम्भवेन परिहरति ❀ नेति ❀। सर्वनित्यद्रव्यनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातीयत्वं विवक्षितमतो न प्रत्येकमभावेऽपि लक्षणासिद्धिः, सर्वविशेषाणान्तज्जातीयत्वादिति शङ्कते ❀ यदिति ❀। जातिशब्दो मुख्यार्थः उतानुगतधर्ममात्रवचन इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। सामान्यादित्रयस्य निःसामान्यत्वस्वीकारात् जातीयेत्यस्यापदत्वादमुख्यार्थत्वादित्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते ❀ उपाधिरिति ❀। जात्यभाव उपाधिरेवैकजातीयत्वव्यवहारप्रवर्त्तक इत्यर्थः। अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिजनकत्वलक्षणो य उपाधिरुच्यते स किन्द्रव्यादिभ्यो व्यावृत्तो विशेषमात्रनिष्ठतयाऽधिगत उत नेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀तस्येति❀। एकेनोपाधिना लक्षणप्रयोजनविशेषव्यवहारस्य सिद्धेर्व्यर्थं लक्षणमित्यर्थः। इतरव्यावृत्ततयाऽधिगतौ द्वितीयं प्रत्याह ❀ अत इति ❀। उपाधिनिरूपणाधीनलक्षणासिद्धिरित्यर्थः। कुत इत्यत आह ❀ इतरेति ❀। तस्य द्रव्यादिसाधारण्येनोपाधिविशेषपदप्रवृत्तौ निमित्तत्वायोगान्न हि साधारणेन निमित्तेन नैमित्तिकमसाधारणं भवति ततो विशेषणासिद्धिरित्यर्थः।

इतरव्यावृत्ततयाऽधिगतोपाधिरेव विशेषलक्षणमस्त्विति शङ्कते ❀ भवत्विति ❀। उपाधेस्त्वयाऽप्यानिर्वचनात् कथं लक्षणं स्यादिति परिहरति ❀नेति❀। उपाधेर्निरुक्तिं पूर्ववादी शङ्कते ❀यत इति❀। समानलक्षणासु नित्यद्रव्यव्यक्तिषु व्यावृत्तबुद्धिहेतुरयमुपाधिरित्यर्थः। विमता व्यक्तिधीर्व्यावर्तकधर्मग्रहणनिबन्धना, व्यावृत्तबुद्धित्वादस्मदादिव्यावृत्तबुद्धिवदित्यनुमानं मानमित्युक्तं भवति, तत्सिद्धसाधनदूषितमिति परिहरति ❀ नेति ❀। स्वरूपभेदात् सुखादिलक्षणवैधर्म्याद्वाऽर्थक्रियासामर्थ्यभेदाद्वा पृथक्त्वगुणाद्वा व्यावृत्तबुद्धिसम्भवात् स्वरूपभेदादीनां विशेषत्वप्रसङ्गान्नायमुपाधिरित्यर्थः। स्वरूपभेदादीनां व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वमेव

आत्मत्वादि वैसे नहीं, अतः उनमें अतिव्याप्ति क्यों होगी ?

समाधान—विशेष व्यक्ति अनन्त हैं, प्रत्येक विशेष पदार्थ सर्वनित्यद्रव्यवृत्ति नहीं होता, अतः उसमें लक्षण अव्याप्त रहता है।

शङ्का—प्रत्येक विशेष पदार्थ के सर्वनित्यद्रव्यवृत्ति न होने पर भी विशेषजातीय पदार्थ तो वैसा ही है, लक्षण में यज्जातीयत्व विवक्षित है। विशेष पदार्थ में जाति नहीं मानी जाती, अतः विशेषवृत्ति जाति-घटित लक्षण असम्भव-ग्रस्त हो जाता है। 'जाति' पद से यदि उपाधि की विवक्षा की जाती है, तब उक्त लक्षण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि जो उपाधि विशेषजातीय पदार्थों का संग्राहक है, वह विशेष के विजातीय पदार्थों का व्यावर्त्तक भी है, उसी से ही लक्षण का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, लक्षण अनावश्यक या अन्यथासिद्ध हो जाता है। वैसे उपाधि तत्त्व को विशेष का लक्षण माना नहीं जा सकता, क्योंकि उसका निर्वचन सम्भव नहीं।

(२) नित्यद्रव्येषु विश्वव्यावृत्तबुद्धिप्रयोजका विशेषः—

शङ्का—एकजैसी प्रतीत होनेवाली नित्य द्रव्य व्यक्तियों में योगियों को जो परस्पर व्यावृत्तत्व-ज्ञान होता है, उसके प्रयोजक विशेष पदार्थ ही होते हैं।

समाधान—जहाँ विशेष पदार्थ नहीं रहते, ऐसे समानरूप प्रतीयमान अनित्य द्रव्यों में योगियों को जो व्यावृत्तत्व-ज्ञान होता है, उसकी प्रयोजकता स्वरूप भेद या वैधर्म्य, या

अन्यथा कार्यद्रव्यगुणादिव्यक्तिषु सा तेषां कुतः स्यात् ? तास्विव वैधर्म्यान्तरस्य नित्येष्वपि सम्भवात्, विशेषवत् विशेषासम्भवेन लक्ष्यासिद्धिरिति। अपि च— विशेषादिभ्यो विशेषलक्षणादेर्भेदात् कथं तत्र तत्रैव तैर्विशेषादिव्यवहारः क्रियताम्, नान्यत्र ? सम्बन्धो नियामक इति चेन्न, सम्बन्धस्यापि सम्बन्धान्तरेण नियामकत्वेऽनवस्थापातात्। अन्यथा त्वनियमात्।

७. सम्बन्धलक्षणखण्डनम्

तदनिरुक्तेश्च। तथा हि—कः सम्बन्धशब्दार्थः ? समवायादय इति चेत्,

नास्ति कुतोऽतिप्रसङ्ग इत्यत आह ॐ अन्यथेति ॐ। कार्यद्रव्यगुणादिपदार्थानामन्त्यविशेषानङ्गीकारात्तेषां व्यावृत्तबुद्धिः स्वरूपभेदादिनिबन्धनैव सा कुतः स्यादित्यर्थः। नित्यद्रव्येषु विशेषातिरिक्तवैधर्म्याभावाद्विशेषनिबन्धनैव व्यावृत्तबुद्धिस्तत्रेत्यत आह ॐ तास्विति ॐ। विपक्षबाधकानुकूलतर्कविरहाच्चाप्रयोजकत्वेत्यभिप्रेत्याह ॐ विशेषवदिति ॐ। यथा तव विशेषेषु विशेषान्तरमन्तरेणैव स्वरूपमात्रात् व्यावृत्तबुद्धिस्तथा नित्यद्रव्येष्वपि स्वरूपमात्रनिबन्धनतया व्यावृत्तबुद्ध्युपपत्तेर्लक्ष्यविशेषासिद्धिरित्यर्थः।

सर्वलक्षणसाधारणभङ्गान्तरमाह ॐअपि चेतिॐ। विशेषादिलक्षणं ततो भिन्नमभिन्नं वा ? यद्यभिन्नं तदा व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वानुपपत्तिरात्माश्रयात्। भेदे च विशेषलक्षणेन विशेष एव व्यवहारः क्रियते न द्रव्यादौ द्रव्यलक्षणेनापि द्रव्य एव व्यवहारो नान्यत्रेति व्यवस्था न स्यादित्यर्थः। विशेषलक्षणस्य विशेषेण द्रव्यादिभिश्च भिन्नत्वे विशेषाभावेऽपि विशेषेणैव सम्बन्धात्तद्व्यवहारस्यैव कारणत्वमिति शङ्कते ॐ सम्बन्ध इति ॐ। सम्बन्धोऽपि विशेषव्यवहारं नियमयन् विशेषसम्बद्धो नियमयत्यसम्बद्धो वेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ नेति ॐ। द्वितीयं प्रत्याह ॐ अन्यथेति ॐ। तदसम्बद्धत्वतद्भिन्नत्वयोरविशेषान्नियामकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः।

इति विशेषखण्डनम्।

सम्बन्धखण्डनं प्रस्तौति ॐ तदिति ॐ। तदनिरुक्तेः—सम्बन्धानिरुक्तेरित्यर्थः। तदनिरुक्तिमेव

पृथक्त्वादि गुणों में माननी होगी, उन्हीं को ही नित्य द्रव्यों में व्यावृत्तत्व-बुद्धि का प्रयोजक माना जा सकता है, उससे अतिरिक्त विशेष पदार्थ के मानने की क्या आवश्यकता ? अन्यथा विशेष का लक्षण उनमें अतिप्रसक्त होगा।

दूसरी बात यह भी है कि विशेषादि पदार्थों से विशेषादि के लक्षण भिन्न माने जाते हैं ? या अभिन्न ? अभिन्न मानने पर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभाव नहीं बनता। यदि भेद माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है वह लक्षण अपने लक्ष्य में ही 'विशेषोऽयम्'—इस प्रकार के व्यवहार का प्रवर्तक क्यों ? अन्यत्र क्यों नहीं ? यदि कहा जाय कि लक्षण का अपने लक्ष्य के साथ सम्बन्ध है, इस लिये वह वहीं व्यवहार-जनक होता है, तब जिज्ञासा होती है कि उस सम्बन्ध का नियामक कौन ? यदि सम्बन्धान्तर नियामक माना जाता है, तब अनवस्था होती है और सम्बन्धान्तर यदि नियामक नहीं, तब लक्षण का अपने लक्ष्य में ही सम्बन्ध क्यों ? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता।

७. सम्बन्ध-लक्षण-खण्डन

सम्बन्ध पदार्थ का निर्वचन सम्भव नहीं। यदि है, तो 'सम्बन्ध' शब्द का क्या अर्थ विवक्षित है ? यदि कहा जाय कि समवायादि सम्बन्ध हैं. तो ठीक है किन्तु प्रश्न वाक्य का तात्पर्य यह है कि 'सम्बन्ध' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त क्या है ? संयोग समवायादि को क्या

सत्यम्, किन्तु केन निमित्तेनेति हि प्रश्नवाक्यतात्पर्यम्—प्रतिस्वं व्यावृत्तेन संयोगत्वादिना, अन्येन वा ? आद्ये अनुगतव्यवहारानुपपत्तिप्रसङ्गः। अस्ति चासौ इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नादि प्रत्यक्षम्, नित्या प्राप्तिः समवाय' इत्यादि। न द्वितीयः, तस्यैकस्यासम्भवात्।

नियामकत्वं तदिति चेन्न, स्वभावस्यापि भवता नियामकत्वाङ्गीकारात्। तथाविधः सोऽपि सम्बन्ध एवेति चेन्न, त्वया सर्वस्वभावनियन्तृताया अवश्याभ्युप-

---

व्यनक्ति ❀ तथा हीति ❀। सम्बन्धशब्दार्थं शङ्कते ❀ समवायादीति ❀। सम्बन्धशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं पृच्छाम इत्याह ❀ सत्यमिति ❀। प्रश्नवाक्यस्य तात्पर्यं दर्शयितुं प्रश्नस्वरूपं दर्शयति ❀ प्रतीति ❀। स्वं स्वं प्रति व्यावृत्तं संयोगत्वसमवायत्वादि तेन सम्बन्धशब्दवाच्यत्वं संयोगादेरुतान्येनानुगतेनेत्यर्थः। प्रथममाक्षिपति ❀ आद्य इति ❀। संयोगत्वादेर्व्यावृत्तस्य प्रत्येकं मिलितस्य वाऽनुगतव्यवहारहेतुत्वानुपपत्तेर्व्यवहारानुगतिर्न स्यादित्यर्थः। मा भूत्तर्ह्यनुगतिर्व्यवहारस्येत्यत आह ❀अस्तीति❀। षोढा सन्निकर्षः इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं प्रत्यक्षं नित्यसन्निकर्षः समवाय इत्यादौ सर्वत्र विद्यत इत्यर्थः। द्वितीयमपवदति ❀ नेति ❀। संयोगादौ सर्वत्रानुगतैकरूपासम्भवादित्यर्थः।

संयोगसमवाययोरतिप्रसक्तिनिवारकत्वं साधारणं रूपमिति शङ्कते ❀ नियामकत्वमिति ❀। अन्यत्र सद्व्यवहारनियामकसत्तायाः स्वात्मनि सद्व्यवहारः स्वभावादित्यङ्गीकारादतिव्याप्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀। नियामकस्वभावोऽपि सम्बन्ध एव ततो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ तथाविध इति ❀। परिहरति ❀ नेति ❀। स्वभावादेवैवमितिवदता त्वया सर्वभावस्वभावानां नियन्तृत्वमेष्टव्यं स्वभावःवाविशेषादेवञ्च नियन्तृत्वं नियम्यापेक्षमिति तदपेक्षायां न स्वयमेव नियम्यन्तथा च स्वनियतिक्रियां प्रति

प्रत्येक सम्बन्ध में विद्यमान संयोगत्व, समवायत्वादिरूप से सम्बन्ध कहा जाता है ? अथवा सभी सम्बन्धों में वर्तमान किसी पारतन्त्र्यादिरूप से ? प्रथम पक्ष के अनुसार संयोगत्व को लेकर समवायादि और समवायत्व को लेकर संयोगादि सभी सम्बन्धों में अनुगत व्यवहार न हो सकेगा, क्योंकि संयोगत्वादि व्याप्य धर्म सभी सम्बन्धों में नहीं रहते, अत एव "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं प्रत्यक्षम्" (न्या. सू. १।१।४), "नित्यः सम्बन्धः समवायः" (लक्षणा. पृ. २४), "नित्या प्राप्तिः समवायः" (किर. पृ. १८)—इत्यादि व्यवहारों में सामान्य सम्बन्ध का संयोगत्वादिरूपेण उल्लेख न होकर सन्निकर्षत्वादिरूपेण निर्देश किया गया है। द्वितीय कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि सर्वसम्बन्धवृत्ति कोई एक अनुगत धर्म सम्भव नहीं।

(१) नियामकत्वं तत्—

शङ्का – 'सद् द्रव्यम्', 'सन् गुणः', 'सत् कर्म'—इत्यादि व्यवहारों का नियामक सत्ता का 'समवाय' सम्बन्ध माना जाता है। इसी प्रकार संयोगादि सभी सम्बन्ध अपने सम्बन्धी-व्यवहार के नियामक होते हैं, अतः सर्व सम्बन्ध-साधारण यह लक्षण पर्यवसित होता है—'नियामकत्वं सम्बन्धत्वम्।

समाधान—जैसे 'सद् द्रव्यम्'—इत्यादि व्यवहारों का नियामक सत्ता-समवाय माना जाता है, वैसे ही 'सत्ता सती'—इत्यादि व्यवहारों का नियामक कोई सम्बन्ध न मानकर स्वरूपसत्ता को ही नियामक माना जाता है, अतः 'नियामकत्व'—यह लक्षण अतिप्रसक्त है।

शङ्का—विशिष्ट बुद्धि के नियामकीभूत स्वरूपसत्त्व को भी सम्बन्ध ही माना जाता है, अतः उसमें सम्बन्ध के लक्षण का घट जाना अतिव्याप्ति नहीं कहा जा सकता।

समाधान—किसी एक वस्तु के स्वभाव को यदि नियामक माना जाता है, तब सभी स्वभावों को नियामक मानना होगा। नियामकत्व का निर्वचन किया जाता है—नियमपूर्व सत्त्व। इस प्रकार 'नियामक' पद के निर्वचन से प्राप्त 'सत्त्व' को ही सम्बन्ध का लक्षण मानना

नन्तव्यत्वेन नियामकनिरुक्तिलभ्यसत्त्वादधिकांशासामर्थ्यापत्तेः ।

नियम्यस्य च स्वस्यानतिप्रसंङ्गेन नियामकत्ववाचोयुक्त्यनुपपत्तेः । अतिप्रसक्तत्वे च तस्यैव नियामकत्वादतिप्रसक्तेन नियमायोगात् । भूत्वा नियमकरणे च प्रागनियतत्वापत्तेः । एवमन्येनापि जन्यनियमे । अन्यदपि हि यदि पूर्वं घटादिरूपेणानियतमेव घटादि करोति, तदा पटाद्यपि तथा कुर्यात् ।

न घटादित्वे नियन्तृत्वमन्यस्य, किन्तु घटादेः कालविशेषयोग इति चेन्न, यदि

स्वस्य नियामकत्वेन प्राक्सत्त्वं वाच्यं तच्च नियामकनिरुक्तिलभ्यं तथा च नियम्यनिरुक्तिलभ्यं नियतोत्तरसत्त्वमशक्यदर्शनं स्वयमेव स्वापेक्षया पूर्वमुत्तरं चेति व्याघातान्न चान्यस्य नियम्यत्वं नियमनमूलसम्बन्धस्याद्याप्यनिरुक्तेरित्यर्थः । नियम्यनियामकयोरभेदपक्षेऽनतिप्रसक्तं नियम्यतेऽतिप्रसक्तं वेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ नियम्यस्येति ॐ । अतिप्रसक्तिनिषेधकत्वं नियामकत्वं तदेव निषिद्धे कः प्रतिषेध इति न्यायेनानतिप्रसक्तनियामकत्वमनुपपन्नमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति ॐ अतीति ॐ । नियामकत्ववाचोयुक्त्यनुपपत्तेरित्यनुषङ्गः । तत्र हेतुमाह ॐ अतीति ॐ । स्वयमनतिप्रसक्तोऽन्यातिप्रसक्तिं वारयति स्वयमव्यवस्थितस्य कथं व्यवस्थापकत्वमित्यर्थः । नियम्याकारस्य कार्यत्वात्तदभिन्नश्चेन्नियामकः सोऽपि कार्यं इत्युक्तं स्यादेवं च स उत्पद्य नियमयति उतानुत्पद्येति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ भूत्वेति ॐ । भूत्वा नियमनपक्षे नियामकोत्पत्तेः प्राङ्नियम्यरूपमनियतमेव स्यादनियतनियामकत्वे घटमपि पटीकुर्यादित्यर्थः । नियम्यान्नियामकस्य भिन्नत्वान्नायं दोष इत्यत आह ॐ एवमिति ॐ । अन्यदपि नियामकं स्वनियमनात्प्राग्घटादिरूपेणानियतं तथा नियमयति किंवा नियतम् ? आद्ये पटमपि घटीकुर्यान्नियतनियमनस्य वैयर्थ्यात् । द्वितीयोऽपि नानवद्य इत्यर्थः ।

कार्यं तु घटाद्यात्मना सदा नियतमेव तस्य तु कालविशेषसम्बन्धोऽनियतस्तस्मिन्नियामकस्य व्यापारो न घटादित्व इति शङ्कते । ॐनेतिॐ । तत्रापि वाच्यमसौ कालविशेषयोगो नियतोऽनियतो वेति ?

उचित है, पूर्वत्वादि अधिक अंश व्यर्थ हैं। इस प्रकार वस्तु का स्वभाव ही नियामक है और वही नियम्य। वहाँ जिज्ञासा होती है कि वह नियम्यभूत वस्तु का स्वभाव अतिप्रसक्त (अन्यसाधारण) है ? अथवा अनतिप्रसक्त ? यदि अनतिप्रसक्त है, तब उसका कोई नियामक सम्भव नहीं, क्योंकि जब वह स्वयं अनतिप्रक्त या अन्य-व्यावृत्त है, तब उसे किसी अन्य व्यावर्तक की आवश्यकता ही नहीं। यदि नियम्यभूत वस्तु-स्वभाव अतिप्रसक्त है, तव उसे वस्तु-स्वभाव का नियामक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह स्वयं अतिप्रसङ्गरूप है, अतिप्रसङ्ग का निवारक क्योंकर होगा ?

यह भी जिज्ञासा होती है कि वह नियम्यरूप नियामक उत्पन्न होकर अपना नियमन कार्य करता है ? या उत्पन्न न होकर ही ? प्रथम कल्प के अनुसार उत्पत्ति से पूर्व नियामक के न होने पर नियम्य स्वभाव अनियत ही रहता है, अनियत पदार्थ उत्पत्ति के पश्चात् भी नियामक नहीं हो सकता। इसी प्रकार नियम्य और नियामक का भेद मानने पर अन्य से अन्य पदार्थ का नियमन सम्भव नहीं होता। अन्य (कपालादि) कारण भी घटादिरूपेण अनियत होकर ही यदि अघट को घट बनाता देता है, तब पटादि को भी घट क्यों न बना देगा ? [नियामक और नियम्य अथवा सम्बन्ध और सम्बन्धी का भिन्नत्वाभिन्नत्व विकल्प उठाकर श्री धर्मकीर्ति ने भी सम्बन्ध का खण्डन किया है—

"भिन्ने वा घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का ।
भावे ह्यन्यस्य विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथं च तौ ॥"

(सम्बन्धप. पृ. १४६)]।

शङ्का—घटादि कार्य तो अपने स्वरूप में सदा नियत है, हाँ, कालविशेष का सम्बन्ध

नासौ घटादेः कालविशेषयोगिता नियतेष्यते, तदा पटादिकालविशेषयोगमपि तथा कुर्यात् । तस्मात्

यदि कुर्यादसत्कालानियतं नियतं परः ।
तत्स्यादतिप्रसक्तत्वमन्यथा चानियन्तृता ॥ ४ ॥ इति ।

कार्यकारणयोः कालभेदान्नियम्यनियामकत्वोपगमे उत्तरोत्तरेण पूर्वपूर्वनियमः किं न स्यादित्यविनिगम्यत्वापत्तिः ।

प्राचोत्तरस्य नियमे प्राच एव न तेन किम् ।
अनाद्यनन्तयोर्नैवं विनिगन्ता प्रवाहयोः ॥ ५ ॥ इति

अभूत्वा च करणे व्याघातात् । सम्बन्धिनश्चाऽऽधारत्वात् सम्बन्धस्याऽऽधेय-

---

न प्रथमो वैय्यर्थ्यात् । द्वितीये चातिप्रसक्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀ । अनियताऽसौ कालविशेषयोगिता यदोच्यते तदा पटादिकालविशेषयोगमपि घटादिगतं कुर्यादविशेषादित्यर्थः । उक्तार्थे श्लोकं रचयति ❀ तस्मादिति ❀ । परोऽन्यो हेतुरसत्कार्यं कालानियतं न सत्कालनियतं च कुर्याद्यदि तर्हि स्यादतिप्रसक्तत्वं पटमपि घटं कुर्यात्पटकालयोगिनमपि घटं कुर्यादन्यथा कार्यस्य पूर्वमेव सत्त्वे कालनियतत्वे च कारणस्यानियामकत्वं तस्मात्कारणाधीनः कार्यलाभ इत्युक्तमित्यर्थः ।

खण्डनान्तरमाह ❀ कार्येति ❀ । कार्यकारणयोरेककालत्वे नियतप्राक्सत्त्वलक्षणकारणत्वायोगात् कालभेदोऽभ्युपेयस्तथा च पूर्वः पूर्व एव उत्तरोत्तरस्य नियामक इति कस्मादुत्तरोत्तरेण पूर्वपूर्वस्य नियम्यत्वमेव स्याद्भिन्नकालत्वाविशेषात्प्रमाणाभावस्योभयत्र तुल्यत्वादित्यनिश्चयादसिद्धिरित्यर्थः । उक्तमर्थं श्लोकेनाह ❀ प्राचेति ❀ । प्राचा पूर्वेण कारणेनोत्तरस्य नियमः क्रियते चेदुत्तरेण कार्येण च कारणस्यैव नियम इति कुतो नाभ्युपेयं कालभेदेऽपि यद्यदपेक्षया पूर्वभावि तत्तस्य नियामकमित्यत आह ❀ अनाद्येति ❀ । कार्यकारणप्रवाहयोराद्यन्तरहितत्वेन कालभेदाभावेन पूर्वोत्तरत्वेनापि नियम्यनियामकभावे निश्चायकानुपपत्तिरित्यर्थः । अनुत्पद्य नियामकत्वपक्षं दूषयति ❀ अभूत्वेति ❀ । क्रियां प्रति कारणत्वेन

उसके साथ अनियत है, दण्डचक्रादि कारण-कलाप उसी का नियमन करता है, अतः घटादि की उत्पत्ति का निर्वचन किया जाता है—आद्य क्षण के साथ घटादि-सत्ता का सम्बन्ध ।

समाधान—यहाँ भी कालविशेष का योग नियत है ? अथवा अनियत ? यदि नियत है, तब नियामक व्यर्थ हो जाता है और यदि अनियत है, तब पटादि के कालविशेष का योग घट के साथ दण्डचक्रादि सामग्री क्यों न कर देगी ? निष्कर्ष यह है कि 'यदि पर (कार्य से भिन्न) कारण-कलाप कालानियत असत् कार्य को कालविशेष से नियत करता है, तब पट-काल-योगी पदार्थ (पट) को भी घट बना देगा । यदि घट और कालविशेष का योग—दोनों पहले से नियत हैं, तब नियामकीभूत कारणकलाप व्यर्थ है ॥ ४ ॥

यहाँ यह भी विचारणीय है कि कार्य और कारण—दोनों एक ही काल में होते हैं ? या भिन्न काल में ? यदि दोनों का एक ही काल है, तब उनमें कौन नियामक ? और कौन नियम्य होगा ? क्योंकि कारण में प्राक्सत्त्वरूप कारणता ही नहीं बनती । यदि भिन्नकालीन कार्य और कारण का नियम्य-नियामकभाव माना जाता है, तब भी यह प्रश्न होता है कि पूर्व-पूर्व से ही उत्तरोत्तर का नियमन क्यों होता है ? उत्तरोत्तर से पूर्व-पूर्व का क्यों नहीं ? अर्थात् 'प्राक्कालीन कारण के द्वारा उत्तरकालवर्ती कार्य का ही नियमन क्यों ? उत्तरकालभावी कार्य के द्वारा कारण का नियमन क्यों नहीं माना जाता ? बीज-वृक्ष का पूर्वोत्तरभाव अनियत अनादि और अनन्त प्रवाह में पतित है, अतः उनके पूर्वोत्तरभाव का विनिगमक कोई सम्भव ही नहीं ॥ ५ ॥

कारण-कलाप यदि विना उत्पन्न हुए ही कार्य का नियामक माना जाता है, तब यह

त्वात् तस्यैव तदाधारत्वानुपपत्तेः। न हि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वस्कन्धमारुह्य नृत्यति। नाप्यन्यस्यासौ सम्बन्धः, त्वयैव तथाऽनभ्युपगमात्।
इति हि स्वभाववादः तत्र परस्य नियमनाभावात् कथं परः सम्बन्धी सङ्घटेत।

यच्च किञ्चित्सम्बन्धत्वमभिधीयते, तत्समवायेऽपि स्वीकार्यम्। न च समवायाधारत्वं द्रव्यादिषट्कस्य सम्भवति। न चोपाधिभावात् स्यात्, तत्संयोगसमवाया-

सत्त्वाङ्गीकारावभूत्वेत्युक्तत्वेनासत्त्वाङ्गीकारादेकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्वसमुच्चयाद्व्याघात इत्यर्थः। स्वभाव एव सर्वं इति पक्षे सम्बन्धि स्वयमेव उतान्यदिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ सम्बन्धीति ॐ। सम्बन्धाश्रयः सम्बन्धीत्येतवस्तु सम्बन्धोऽपि तादृग्रूप एव किं नेत्यत आह ॐ सम्बन्धेति ॐ। सम्बन्धिसम्बन्धयोराधाराधेयभावेपि तयोरेकत्वं किं न स्यादित्यत आह ॐ तस्येति ॐ। आश्रयाश्रयिभावस्य भेदगर्भत्वादन्यथा स्ववृत्त्यापातादित्यर्थः। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ॐ न हीति ॐ। अन्यदेव सम्बन्धीति द्वितीयमपवदति ॐ नापीति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ त्वयेति ॐ। अनभ्युपगममेव दर्शयितुं स्वभाववादस्वरूपं दर्शयति ॐ स्वेति ॐ। स्वभाववादस्य स्वव्यतिरिक्तकारणनैरपेक्ष्यस्य कारणमात्रनैरपेक्ष्यस्य वा स्वीकारान्न सम्बन्धि कारणान्तरमस्तीत्यर्थः। किं च स्वभावः स्वनियामकतया सम्बन्धश्चेत्स्यतः परस्य नियमनासम्भवात् स्वनियमनेनैव सर्वस्योपक्षयात्कथं पर इति सम्बन्धी घटेतातोऽस्यानेन सम्बन्ध इति व्यवहारोपि तव न स्यात्स्वभाववादिन इत्याह ॐ तत्रेति ॐ।

खण्डनान्तरं दर्शयितुं स्थलशुद्धिं विधत्ते ॐ यच्चेति ॐ। सम्बन्धत्वाधिकरणस्यैव सम्बन्धत्वात् समवायस्य सम्बन्धत्वसिद्धये तदधिकरणत्वं स्वीकार्यमिति भावः। स्वीक्रियतां तर्हि समवायेऽपि तदित्याशङ्क्य तद्भावरूपमभावरूपं वेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ न चेति ॐ। भावरूपस्य तस्य द्रव्याद्यनन्तर्भावे पदार्थातिरेकः, अन्तर्भावे समवायवृत्तित्वानुपपत्तिः। समवायस्य स्वयं द्रव्याश्रितत्वेन द्रव्यादेस्तदाश्रयत्वाभावादित्यर्थः। नित्यः सम्बन्धः समवाय इति लक्षणोपाधिकसम्बन्धिपारतन्त्र्यं नामोपाधिःसम्बन्धत्वं समवायेऽपि सम्भवति उपाधिर्धर्म्म एव द्रव्यादिभ्यो नार्थान्तरमित्याशङ्क्याह ॐन चेतिॐ। कुत इत्यत आह ॐ तदिति ॐ। असम्बद्धस्योपाधित्वेऽतिप्रसङ्गादुपाधिसम्बन्धः समवायेऽपि वाच्यो न च संयोगः

व्याघात उपस्थित होता है—

करोति यद्यसद्भूतोऽसद्भूतं कर्म कारकः।
अहेतुकं भवेत् कर्म कर्त्ता चाहेतुको भवेत्॥ (मा. शा. ८।३)

वस्तुओं के स्वरूप को सम्बन्ध मानना इस लिए भी सम्भव नहीं कि सम्बन्धी को आधार और सम्बन्ध को उसका आधेय माना जाता है, अभिन्न पदार्थों में आधाराधेयभाव क्योंकर हो सकेगा ? क्योंकि सुशिक्षित नट भी कभी अपने ही कन्धों पर खड़ा होकर नृत्य कला का प्रदर्शन नहीं कर सकता।

जैसे वस्तुओं का अपना स्वरूप कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही अन्य वस्तु का स्वरूप भी अन्य वस्तु का संबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि भूतल को घटाभाव का और घटाभाव को भूतल का संबन्ध माना जाता है, तब वहाँ ऐसा ही क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में वस्तु के स्वभाववाद की ही शरण लेनी पड़ेगी, जिसका कोई नियामक संभव नहीं, अतः परकीय स्वभाव को पर का संबन्ध नहीं माना जा सकता।

जो भी संबन्धत्व की परिभाषा की जाती है, वह समवाय में भी माननी होगी। संबन्धत्व को यदि द्रव्यादि षड्भावपदार्थों के अन्तर्गत माना जाता है, तब उसकी आधारता समवाय में संभव न हो सकेगी और संबन्धत्व की आश्रयता के विना समवाय को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। नित्यसंबन्धत्वरूप धर्म को प्रमेयत्वादि के समान यदि उपाधिरूप माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि उस उपाधि का समवाय के साथ कोई समवाय,

सम्भवात् । स्वभावसम्बन्धस्य च निरस्तत्वात् । न चासावभावोऽपि, प्रतिषेध्यप्रतियोगिभावभेदाभिधानप्रसङ्गात् । सप्तपदार्थीपरिसमाप्तञ्च जगत्, परस्परविरोधेन तल्लक्षणव्यवस्थापनादिति ।

८. आधारलक्षणखण्डनम्

यदपि नियम्यात् भिन्नं नियामकं, तदपि कथं तदेव नियमयति, नान्यदिति ।

सम्भवति द्रव्यमात्रवृत्तित्वात्तस्य, नापि समवाय एव स्ववृत्तित्वापात्ताद्वुद्देऽनवस्थानादित्यर्थः । संयोगादिसम्बन्धाभावेऽपि समवायस्य स्वभाव एव सम्बन्धो भविष्यतीत्यत आह ❀स्वेति❀ । सम्बन्धत्वमभावरूपम् इति द्वितीयमाक्षिपति ❀ न चेति ❀ । हेतुमाह ❀ प्रतीति ❀ । सम्बन्धत्वस्याभावत्वे तत्प्रतियोगी धर्मो च भावरूपो वक्तव्यः । न च द्रव्यादिपञ्चकप्रतियोगिकाभावः सम्बन्धत्वं, भूतलादौ तदभावेऽपि सम्बन्धत्वव्यवहाराभावात्‌तः प्रतिषेधमर्हतीति प्रतिषेध्यो धर्मो तस्य प्रतियोगिनश्चानिरूपणादित्यर्थः । अस्तु तर्हि द्रव्यादिपदार्थषट्कात् व्यतिरिक्तमेव सम्बन्धत्वं तथाभावाच्च को दोष इत्यत आह ❀ सप्तेति ❀ । भावपदार्थाः षडेकोऽभाव इति सप्तपदार्थात्मकं जगत्त्वयोपगम्यत इत्यर्थः । तदेव कुत इत्यत आह ❀ परस्परेति ❀ । परस्परविरुद्धयोरेकनिषेधेऽन्यतरविधिध्रौव्यन्यायेनेत्यर्थः ।

इति सम्बन्धखण्डनम् ।

पूर्वं सम्बन्धो नियामक इति शङ्किते सम्बन्धत्वं दुर्निरूपमित्युक्तं भवतु वा संबन्धत्वं सुनिरूपं तथाऽपि नियम्यात् लक्षणात् भिन्नं कथं नियामकं स्यादित्याह ❀ यदिति ❀ । नियम्यादन्यस्माच्च भेदा-

संयोग या स्वरूप सम्बन्ध है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं, तब समवाय को सम्बन्ध कहना संभव नहीं होता । संयोग संबन्ध दो द्रव्यों का ही होता है, वह यहाँ नहीं हो सकता और स्वरूप संबन्ध का निराकरण किया जा चुका है ।

शङ्का—समवाय संबन्ध में रहनेवाले नित्यसम्बन्धत्वादि भावभूत धर्म को संबन्धत्व न मान कर किसी अभाव पदार्थ को सम्बन्धत्व और तदाधारत्वेन समवाय को सम्बन्ध कहा जा सकता है ।

समाधान—भाव से भिन्न पदार्थ को ही अभाव कहा जाता है, उस अभाव का तभी निरूपण हो सकता है, जब कि उसके प्रतियोगीभूत भाव पदार्थ का अभिधान किया जाय कि वह अमुक भाव का अभाव है । नित्यसंबन्धत्वादि धर्मों को भाव और अभाव से अतिरिक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि द्रव्यादि छः भाव एव अभाव—इन सात पदार्थों में आप (वैशेषिकों) का जगत् समाप्त हो जाता है । वह जगत् भाव और अभाव इन परस्पर दो विरुद्ध कोटियों में बँटा है, अतः उक्त 'संबन्धत्व' धर्म यदि भावात्मक नहीं, तब अभावरूप और यदि अभावरूप नहीं, तब भावात्मक मानना पड़ेगा, परस्पर विरुद्ध दो कोटियों में एक का निषेध होने पर दूसरी कोटि का विधान निसर्ग-सिद्ध है, जैसा कि श्री उदयनाचार्य ने कहा है—

"परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः ।
नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः ॥" (न्या. कु. ३।८)

८. आधार-लक्षण-खण्डन

यह जो पहले कहा गया था कि "नियामकत्वं तदिति" अर्थात् 'दण्डी पुरुषः'—इस प्रकार के व्यवहार की नियामकता संयोगादि में पाई जाती है, अत एव संयोगादि को सम्बन्ध

तदाधारत्वादिति चेत्, कः पुनराधारार्थः ? यत्र स्थीयते तदिति चेन्न, यत्रेति सप्तम्यर्थस्यापि विवेचनीयत्वात्। इहेति प्रत्ययविषय इति चेन्न, तत्रेति प्रत्ययविषयस्यानाधारत्वप्रसङ्गात्। किञ्च प्रत्ययविशेषावगमो विषयविशेषावगमात्। विषयविशेषावगमश्च प्रत्ययविशेषावगमादिति व्यक्तमन्योन्याश्रयः। समवायीति चेत्, 'शशे शृङ्गाभावः', 'कुण्डे बदरमि'त्याद्यव्याप्तेः। गौणस्तत्र प्रयोग इति चेत्, नैतावन्मात्रम्,

विशेषेपि तदाधारः सम्बन्धः तदेव नियमयति नान्यदिति शङ्कते ❀ तदिति ❀।

किमिदमाधारत्वं यत्रेति प्रत्ययविषयत्वमुत, इहेतिप्रत्ययविषयत्वमुत, समवायित्वमिति विकल्पयन्नाह ❀ क इति। प्रथमकल्पं शङ्कते ❀ यत्रेति ❀। सप्तमीप्रयोगात्सप्तम्या आधारार्थत्वादाधारस्याद्याप्यनिरूपणादसिद्धिर्लक्षणस्येति परिहरति ❀ नेति ❀। द्वितीयं शङ्कते ❀ इहेति ❀। यत्र घटे शौक्ल्यमित्यत्र घटस्यानाधारत्वप्रसङ्ग इहेति प्रत्ययाविषयत्वादिति परिहरति ❀ नेति ❀। विषयेणाधारेण प्रत्ययनिरूपणात्प्रत्ययेन च विषयनिरूपणादन्योन्याश्रय इत्याह ❀ किञ्चेति ❀। तृतीयं शङ्कते ❀समेति❀। अव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। कुण्डबदरयोः संयोगादभावस्य धर्मिविशेषणत्वात्समवायाभावात्समवायिलक्षणन्तदधिकरणेऽव्याप्तमित्यर्थः। शशादौ तत्सप्तम्यन्तशब्दस्य गौणत्वेनालक्ष्यत्वान्नाव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ गौण इति ❀। आधारप्रत्ययस्य तदालम्बनस्य यथार्थत्वे तत्प्रयोगस्य गौणत्वायोगात्प्रत्ययस्यापि भ्रान्तत्वं वक्तव्यं तदपि नोक्तमिति न्यूनत्वमिति परिहरति ❀ नेति ❀। प्रत्ययोऽपि भ्रान्त एवेति शङ्कते ❀ ओमिति ❀। शशादावाधारप्रत्ययः प्रमा तत्प्रयोगश्च मुख्य एव पटे शौक्ल्यमित्यादौ तत्प्रत्ययो भ्रान्तस्तत्प्रयोगोऽपि गौण इति विपरीतं किं न स्यान्न्यायसाम्यादिति परिहरति ❀ अथेति ❀। अथ शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। शृङ्गाभावं प्रत्यधिकरणत्वं शशस्यावास्तवं चेत् शृङ्गाधिकरणत्वं तर्हि वस्तु स्याद्भावाभावयोरेकतरविरहे अन्यतरस्वीकारनियमादिति दूषणान्तरमाह ❀ शश इति ❀।

कहा जाता है। वहाँ यह प्रश्न उठता है कि वह संयोग पुरुष में ही दण्डित्व-व्यवहार का नियामक क्यों ? उसका लोक-प्रसिद्ध उत्तर यही है कि दण्ड-संयोग का आधार होने के कारण पुरुष को ही दण्डी कहा जाता है। उस उत्तर पर आक्षेप करते हुए पूछा जाता है—'कः पुनराधारार्थः ?'

(१) यत्र स्थीयते, तदिति—

यत्र (जिस भूतलादि में घटादि पदार्थों की) स्थीयते (स्थिति होती है) तत् (उस भूतलादि को घटादि का आधार कहते हैं) इस लक्षण के घटकीभूत 'यत्र' शब्द का विवेचन अपेक्षित है। यदि 'यत्र' शब्द का निर्वचन किया जाता है –'इहेति प्रत्ययविषयः (इह—इस प्रकार की प्रतीति का विषय), तब 'तत्र'—इस प्रकार की प्रतीति के विषयीभूत अधिकरण में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि उसमें 'इह'—इस प्रकार की प्रतीति-विषयता नहीं होती। एक दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यय (ज्ञान) में विशेषता विषयविशेषविषयकत्वेन और विषयगत विशेषतः प्रत्ययविशेषविषयत्वेन निरूपित होने पर अन्योऽन्याश्रयता हो जाती है।

(२) समवायी आधारः—

शङ्का—दण्ड-संयोग का पुरुष समवायी है, अतः वह संयोग का आधार है, संयोग उसी में वैशिष्ट्य-व्यवहार का नियामक है, इस प्रकार आधारत्व का लक्षण पर्यवसित होता है–'समवायित्वम्'।

समाधान—आधार सर्वत्र समवायी नहीं होता, जैसे 'शशे शृङ्गाभावः', 'कुण्डे वदरम्'—इत्यादि स्थलों पर कहीं विशेषणताविशेष और कहीं संयोगादि सम्बन्ध से भी शशादि अभावादि पदार्थों के आधार होते हैं। उन आधारों में आधेय की समवायिता न होने से आधारता क्योंकर बनेगी ?

'प्रत्ययश्च भ्रान्तः' इत्यपि वक्तव्यमवशिष्यते भवतः। ओमिति चेत्, अथ विपरीतमेव कुतो न स्यात्? 'शशे विषाणं नास्ती'ति च यदि विशेषणाभावाधिकरणत्वप्रतीतिर्भ्रान्ता, शृङ्गस्य तर्हि शशोऽधिकरणं स्यात्। भावाभावयोरन्यतरनिषेधस्य अन्यतरविधिपर्यवसायित्वेनाभ्युपगमात्।

पतनप्रतिबन्धकमधिकरणमिति चेन्न, अवयविनं गुणादिकञ्च प्रति तदभावात्। अव्यवहिताधःस्थितमिति चेन्न, गुणाद्यपेक्षया गुणवदादेरधःस्थितत्वे प्रमाणाभावात्। अविशेषेण वाऽवयविगुणादीनामवयवाधारत्वप्रसङ्गात्। ऊर्ध्वस्थितस्य संयोगिनः

द्विविधं प्रतिबन्धकत्वं कार्योत्पादविरोधित्वं पतननिवारकत्वं चेति तत्र यत्पतनप्रतिबन्धकत्वं तदधिकरणत्वमिति शङ्कते ॐ पतनेति ॐ। घटादयोऽवयविन आरम्भकावयवाश्रितास्तथापि पतमाना दृश्यन्तेऽतः सहैव पततामवयवानां तदाश्रयत्वं न स्याद् गुणकर्मादीनां पतनक्रियाभावादेव तत्प्रतिबन्धकत्वं द्रव्यस्य नास्तीति गुणाद्याश्रयत्वं द्रव्यस्य न स्यादिति दूषयति ॐ नेति ॐ। प्रकारान्तरेणाधिकरणलक्षणं शङ्कते ॐ अव्यवहितेति ॐ। घटरूपादीनां भूतलाधिकरणत्वं निवारयत्यव्यवहितेति। उपरिस्थितपटाद्याश्रयत्वमधोविशेषणान्निवारयति। गुणापेक्षया गुणवतो द्रव्यस्य गुणत्वकर्मत्वापेक्षया गुणादेश्चाधः स्थितत्वे प्रमाणाभावः प्रत्युत सहप्रवृत्तित्वात् गुणादेः सहवृत्तिरेवातो द्रव्यादेर्गुणाद्यधिकरणत्वं न स्यादिति दूषयति ॐ नेति ॐ। न केवलमव्याप्तिरतिव्याप्तिरपीत्याह ॐ अविशेषेणेति ॐ। अवयविघटाश्रया ये गुणादय-

---

यदि कहा जाय कि शशादि में शृङ्गाभावादि की मुख्य आधारता नहीं, अपितु गौण आधारता मानी जाती है, तब आप (नैयायिक) को यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि 'शशे शृङ्गाभावः'—इत्यादि स्थलों पर जो आधारता की प्रतीति होती है, वह भ्रम है, क्योंकि शशादि में आधारता न होने पर भी आधारता को विषय करती है। यदि आप को वैसा स्वीकार है, तब हमारा (खाण्डनिक का) यह कहना है कि उसके विपरीत भ्रमाभ्रम क्यों न मान लिया जाय? अर्थात् समवायेतर सम्बन्ध से जो 'शशे शृङ्गाभावः'—इत्यादि स्थलों पर आधारता की प्रतीति को मुख्य एवं प्रमा और समवाय संबन्ध से जो 'दण्डसंयोगः पुरुषे'—इत्यादि स्थलों पर आधारता की प्रतीति होती है, वह भ्रम क्यों न मान ली जाय?

इतना ही नहीं, 'शशे शृङ्गं नास्ति'—इस प्रकार शशगत शृङ्गाभावाधारता की प्रतीति यदि भ्रम है, तब 'शृङ्गम्'- इस प्रतीति को प्रमा और शश में शृङ्ग की आधारता माननी अनिवार्य है, क्योंकि भावाभाव के समान विरोधी पदार्थों में से एक का निषेध होने पर दूसरे की विधि स्वतः प्राप्त हो जाती है।

(३) पतनप्रतिबन्धकमधिकरणम्—

दण्डादि का आधार पुरुष इस लिये है कि वह दण्ड को नीचे गिरने से रोकता है, दण्ड के पतन का प्रतिबन्धक है, अतः 'पतनप्रतिबन्धकत्वमाधारत्वम्'—ऐसा जो लक्षण किया जाता है, वह भी घटादि अवयवी और रूपादि गुणों के आधारों में अव्याप्त है, क्योंकि न्यायमत के अनुसार घटादि अवयवी द्रव्य के आधार उसके अवयवभूत कपालादि माने जाते हैं, किन्तु वे घटादिगत पतनादि क्रिया के प्रतिबन्धक नहीं होते, यदि हों, तब घटादि का कभी भी पतन नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार रूपादि गुणों के आधार घटादि द्रव्य हैं, किन्तु वे रूपादि के पतन के प्रतिबन्धक नहीं होते, क्योंकि गुरुत्व गुणवाले द्रव्य का ही पतन होता है, रूपादि गुण निर्गुण होते हैं, उनमें गुरुत्व संभव ही नहीं, तब उनका पतन क्योंकर होगा?

(४) अव्यवहिताधःस्थितम्—

भूतलादि घटादि पदार्थों के अधः (नीचे) स्थित हैं और उनके मध्य में किसी प्रकार का व्यवधान भी नहीं, अतः भूतलादि को घटादि का आधार माना जाता है। किन्तु यह लक्षण

संयोगं प्रति च तदभावात्। सूत्रावलम्बितद्रव्यादौ बहुलं व्यभिचारात्।

यद्येकोऽधिकरणार्थो नोपपद्यते, तर्हि अक्षशब्दार्थवद्भिन्न एवास्त्विति चेत्, आश्रयासिद्ध्यादेर्भेदप्रसङ्गात्। सोऽपि स्वीकार्य इति चेन्न, असिद्ध्यादिविधापरिगणनस्य व्यवहारतोऽन्यथाभावप्रसङ्गात्। क्वचिदाश्रयस्य समवायित्वात् क्वचिच्चाभावं समवायश्च हेतुं प्रति तदसम्भवात्। एकस्य च तेषामुपसङ्ग्राहकस्य वक्तुमशक्यत्वात्।

स्तान्प्रत्यवयविवदवयवस्याव्यवहिताधःस्थितत्वादधिकरणत्वप्रसङ्गः। न चावयवित्व्यवहिता इति वाच्यम्, तस्योपरिभावे नीरूपत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। अव्याप्त्यन्तरमाह ❀ ऊर्ध्वेति ❀। घटभूतलयोः संयोगे घटस्याना-धारत्वप्रसङ्गस्तस्याधः स्थित्यभावादित्यर्थः। यस्मिन्दण्डादौ द्रव्यं सूत्रेणालम्बते तदालम्बितद्रव्यापि सूत्रा-देरूर्ध्वत्वात्तदधिकरणं न स्यादिति लक्ष्यव्यभिचारो लक्षणस्य दृश्यत इत्याह ❀ सूत्रेति ❀।

यदुदीरितरीत्याऽधिकरणपदार्थ एको न लभ्यते तर्ह्यन्य एवास्तु यथैकस्यैवाक्षशब्दस्य विभीतक-विदेवनेन्द्रियाण्यनेकेऽर्थास्तद्वदिति शङ्कते ❀यदीति❀। आश्रयासिद्धेरधिकरणासिद्धेश्चैकत्वेनेष्टाया भेदप्रसङ्गो विशेषणाश्रयपदार्थभेदाद्विशेषणभेदे च दण्डिकुण्डल्यादिविशिष्टभेददर्शनादिति परिहरति ❀ नेति ❀। इष्ट एवायं प्रसङ्गोऽक्षादिवदधिकरणासिध्यादेर्भेदस्वीकारादिति शङ्कते ❀ सोऽपीति ❀। असिद्धो द्वादशविध इत्यसिद्धभेदपरिगणनप्रकारो न्यायशास्त्रसिद्धान्तस्तद्व्यवहाराऽन्यथाभावप्रसङ्गादिति दूषयति ❀ नेति ❀। विधा—प्रकारः। सिद्धभावरूपाया असिद्धेः प्रतियोगिभेदेन भेदं दर्शयितुमधिकरणभेदमाह ❀क्वचिदिति❀। विमतं द्रव्यं गुणाश्रयत्वादित्यत्र हेतुं प्रति समवायित्वमाश्रयत्वं शब्दो नित्यः अकृतकत्वादित्यत्र कृतकत्वा-भावं प्रति पृथिव्यवादिभ्यो भिद्यते पृथिवीत्वसमवायित्वादित्यत्र समवायहेतुं प्रति चाश्रयत्वं समवायित्वं न सम्भवति अभावसमवाययोः समवायाभावादतो विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध आश्रयार्थस्तत्रेत्यर्थः। सर्वं एते भावाः केनचिदुपाधिनैकीकृत्य परिगण्यन्ते तदानुगुण्येन व्यवहार इत्याशङ्क्य न तेष्वनुगतोप-संग्राहकादर्शनादित्याह ❀ एकस्य चेति ❀।

भी समीचीन नहीं, क्योंकि गुणादि के आधारभूत द्रव्यादि में अव्याप्त है, रूपादि गुणों की अपेक्षा घटादि द्रव्य रूपादि के अधः स्थित हैं—इसमें कोई प्रमाण नहीं। इतना ही घटादिगत रूपादि गुणों का अव्यवधान जैसे घटादि के साथ है, वैसे ही कपालादि के साथ भी है, अतः घटादिगत गुणों की आधारता कपालादि में भी प्रसक्त होती है। भूतल-घट-संयोग का आधार जैसे भूतल है, वैसे घट भी, किन्तु घट अधःस्थित नहीं, अपितु ऊर्ध्व अवस्थित होता है। इसी प्रकार जहाँ किसी धागे से बँधा गेंद लटक रहा है, वहाँ गेंद के आधारभूत धागे में उक्त लक्षण नहीं घटता, क्योंकि वह गेंद के नीचे अवस्थित न होकर ऊपर स्थित होता है।

शङ्का—यदि 'आधार' शब्द का सर्वत्र कोई एक अनुगत अर्थ नहीं हो सकता, तब अक्षादि शब्दों के समान 'आधार' शब्द के भी नाना अर्थ माने जा सकते हैं, अर्थात् जैसे 'अक्ष' शब्द का कहीं इन्द्रिय, कहीं पहिए की नाभि और कहीं जुआ खेलने का पासा अर्थ किया जाता है, वैसे ही 'आधार' शब्द का कहीं समवायी, कहीं संयोगी और कहीं पतन-प्रतिबन्धक अर्थ किया जा सकता है।

समाधान—हेत्वाभासों में आश्रयासिद्धि दोष एक ही प्रकार का माना जाता है, किन्तु आश्रय या 'आधार' शब्द के अनेक अर्थ मानने पर आश्रयासिद्धि भी अनेक प्रकार की माननी पड़ेगी। यदि उसके अनेक प्रकार मान लिए जाते हैं, तब न्यायशास्त्र में जो असिद्धि की संख्या अवधारित की गई है—"सा च चतुर्विधा" (ता. र. पृ. २२४)। वह विरुद्ध पड़ जाती है, क्योंकि एक ही आश्रय या आधार कहीं समवायी, कहीं संयोगी और कहीं अभाव तथा समवायरूप हेतु का आश्रय वैसा सम्भव न होकर उससे भिन्न ही होगा।

बहव एवाऽऽश्रयशब्दार्थाः, आश्रयासिद्ध्यादयोऽपि पृथक् पृथगेव बहवः। असिद्धभेदपरिगणनग्रन्थोऽप्यन्यथाकारं बोद्धव्यो बाधदर्शनादिति चेन्न, तथापि 'इह कुण्डे बदरमि'त्यत्र क आधारार्थ इति वक्तव्यम्। न तावत्पतनप्रतिबन्धकत्वम्, सहैव कुण्डेन पतति बदरे तदसम्भवात्। नापि संयोगित्वम्, वैपरीत्यस्यापि प्रसङ्गात्। संयोगित्वे सत्यधःस्थितत्वं तत्राधिकरणार्थ इति चेन्न, तस्मिन् सत्यप्यन्यत्र चरणतलमिलितधूलीपटलादौ अधिकरणप्रतीत्यनुपपत्त्या, प्रत्युत चरणतले धूलीत्येव प्रतीत्या आधारत्वप्रतीतौ व्यभिचारित्वेन प्रकृतेऽपि तथास्वीकारानुपपत्तेः। न सार्वत्रिकोऽयमाधारार्थः, किन्तु क्वाचित्को नानारूपाधारत्ववादिपक्ष इति चेन्न,

आश्रयार्थभेदेनासिद्धिभेदः स्यादिति यदुक्तं नवस्त्वेवेति शङ्कते ❀ बहव इति ❀। तर्ह्यसिद्धेयत्तापरिगणनग्रन्थो विरुद्धयत इत्यत आह ❀ असिद्धेति ❀। अन्यथाकारमन्यथाकृत्वा। सति मुख्यार्थाविरोधेऽनुपचारग्रहणस्य न्याय्यत्वादिति हेतुमाह ❀ बाधेति ❀। अक्षादिशब्दानामनन्यथासिद्धशिष्टप्रयोगावगतिका गतिरनेकार्थताऽऽश्रीयते न तथाऽऽश्रयशब्दस्यानेकार्थत्वे किञ्चिन्मानमस्ति येन शक्तिगौरवमङ्गीकृत्यापि बह्वर्थत्वं स्वीकार्यमिति परिहरति ❀ नेति ❀। किञ्च यद्यनेकार्थत्वं तर्ह्येकं प्रसिद्धलौकिकोदाहरणं किंचित् लक्षणेन योजयित्वाऽन्यदप्येवमिति वाच्यमन्यथैकासिद्ध्याऽनेकार्थत्वासिद्धेरित्यभिप्रेत्याह ❀ तथाऽपीति ❀। पतनप्रतिबन्धकत्वमेव तत्राधारार्थं इत्यत आह ❀ नेति ❀। यत्र कुण्डं बदरं च सहपतति, तदव्याप्तिरिति हेतुमाह ❀ सहेति ❀। संयोगित्वं तर्ह्याधारत्वमस्त्वित्यत आह ❀ नापीति ❀। संयोगित्वाविशेषाद् बदरस्यैवाधिकरणत्वं किं न स्यादित्यर्थः। अधःस्थितत्वविशेषितसंयोगित्वमधिकरणत्वं न तद् बदरस्यास्तीति शङ्कते ❀ संयोगीति ❀। एकत्र शाबलेये गोत्वव्यवहारनिदानं यद्गोत्वं तदेवान्यत्रापि दृष्टं तथेहापि संयोगित्वे सत्यधःस्थितत्वम्, अन्यत्र यादृशव्यवहारप्रयोजकं दृष्टं तादृशस्यैवात्र प्रयोजकत्वं वाच्यमिति परिहरति ❀ नेति ❀। आर्द्रपादे यथा धूलिपटलस्याधःस्थितसंयोगिनोऽपि पादं प्रत्यधिकरणप्रमित्यभावः प्रत्युत पादाश्रितो धूलिपटल इति विपरीतनिश्चयः तत्सामान्यादिहापि तथात्वं स्वीकर्तुं युक्तमित्याशयः। मत्पक्ष आधारत्वस्यानेकार्थत्वादन्यत्रान्य एवाधारोऽस्तु तथा प्रकृते चाऽयमेवाधारो भवति क्वाचित्कस्याधारस्यैवाभिधानादिति शङ्कते ❀ नेति ❀। अनतिप्रसक्तस्यैव प्रयोजकत्वादिति-

शङ्का—आश्रय या आधार शब्द के अर्थ भी अनेक हैं, आश्रयासिद्धि नाम का हेत्वाभास भी अनेक प्रकार का ही होता है। जो असिद्धि के चार ही भेद गिनाये गये हैं, उसका तात्पर्य भी उसकी अनेकता में ही है, क्योंकि उसके चतुष्ट्व का बाध हो रहा है।

समाधान—यदि ऊपर की सब बातें मान ली जाती हैं, तब भी 'इह कुण्डे बंदरम्'—यहाँ पर आधारत्व का निर्वचन नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ कुण्ड के सहित बंदर (बेर) का पतन हो रहा है, वहाँ पतनप्रतिबन्धकत्वरूप आधारत्व संभव नहीं। वहाँ संयोगित्व को आधारत्व मानने पर उलटे बंदर (बेर) में कुण्ड की आधारता प्रसक्त होती है, क्योंकि जैसे बंदर की संयोगिता कुण्ड में है, वैसे कुण्ड की संयोगिता बदर में है।

(५) संयोगित्वे सत्यधःस्थितत्वम्—

संयोगित्वे सत्यधःस्थितत्व को आधारत्व मानने पर यद्यपि बदर में कुण्ड की आधारता प्रसक्त नहीं होती, तथापि चरण-तल-सँल्लग्न धूलिपटल में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि वहाँ 'धूलिपटले चरणतलम्'—ऐसी प्रतीति न होकर 'चरणतले धूलिपटलम्'—ऐसी ही विपरीत प्रतीति होती है। अतः वहाँ अधःस्थित संयोगी द्रव्य में आधारत्व जैसे अनुपपन्न है, ऐसे ही प्रकृत कुण्डरूप अधिःस्थित संयोगी द्रव्य में आधारत्व उपपन्न नहीं होता।

शङ्का—नानारूप आधारत्ववाद में अधःस्थितसंयोगित्वरूप आधारत्व सार्वत्रिक नहीं माना जाता, अपितु कुण्डादि कतिपय आधारों में ही रहनेवाला है। चरण-तल-सँल्लग्न धूलि-

भवत्वन्यत्र अन्यस्याऽऽधारार्थत्वम्, तस्य त्वाधारार्थत्वं नोपपद्यते, अनाधारप्रतीतिविषयेऽपि सत्त्वादित्युक्तेः। आधेयापेक्षया महत्परिमाणत्वे सतीति चेन्न, करतलस्थिततूलराश्यादौ तदसम्भवात्, अन्यस्य च तत्राऽऽधारार्थस्य वक्तुमशक्यत्वात्।

अधःशब्दार्थस्य च वक्तुमशक्यत्वात्। पतनाभिमुखदिगवस्थितत्वमिति चेन्न, पतनार्थस्य गमनाधिकस्याधःशब्दार्थव्यतिरेकेण निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अत एवाधःशब्दार्थस्य दुर्वचत्वमधिगम्य अद्वैतवादिना गुरुणा शिष्याय खण्डनमुपाचक्षाणेन

प्रसक्तं न तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। आधेयापेक्षया महत्त्वे संयोगित्वे च सत्यधःस्थितमधिकरणं विवक्षितं बदरस्य कुण्डापेक्षयाऽल्पत्वान्नाधारत्वप्रसङ्ग इति शङ्कते ॐआधेयेतिॐ। अव्याप्त्यैवैतद् दूषयति ॐनेतिॐ। करतले यदा तूलराशिः छत्रं वा तिष्ठति तदा तदपेक्षया महत्त्वं करस्य नास्तीति तदव्याप्तिरित्यर्थः। तत्राऽन्य एवाधारार्थः प्रतिवस्त्वधिकरणार्थभेदस्वीकारादित्यत आह ॐ अन्यस्येति ॐ।

संयोगित्वे सत्यधःस्थितत्वमाधारत्वमिति लक्षणमव्याप्त्या निरस्य सम्प्रत्यधःशब्दार्थानिरूपणाद् विशेषणासिद्धं लक्षणमित्याह ॐ अध इति ॐ। अधःशब्दार्थनिर्वचनं शङ्कते ॐ पतनेति ॐ। यन्मुखं पतत्यतति तदभिमुखी या दिक् साऽधःशब्दार्थः तस्यामवस्थितत्वमधःस्थितत्वमित्यर्थः। अधोगमनं हि पतनं ततोऽधःशब्दार्थसिद्धौ पतनसिद्धिः सजातीयगमनान्तरव्यावृत्त्या पतनसिद्धौ तदभिमुखदिग्रूपाधःशब्दार्थसिद्धिरिति इतरेतराश्रय इति परिहरति ॐ नेति ॐ। गमनाधिकस्येति गमनविशेषस्येत्यर्थः। अधःशब्दार्थानिर्वक्तव्यत्वं पराशरेणाप्युक्तमित्याह ॐ अत इति ॐ। ऋभुणाऽद्वैतवादिना शिष्याय निदाघाय

पटल में यह आधारत्व नहीं, अन्य प्रकार का आधारत्व माना जाता है।

समाधान—यदि यह मान भी लिया जाय कि धूलि-पटल में आधारता अन्य प्रकार की है, तथापि आधारत्व का 'अधःस्थितत्वे सति संयोगित्वम्'—यह लक्षण उपपन्न नहीं, क्योंकि चरणतल-सँल्लग्न धूलि-पटल में अतिव्याप्त है। उक्त धूलि-पटल में चरण-तल की आधारता प्रतीत नहीं होती, अतः वह अनाधार है, आधार-लक्षण का लक्ष्य नहीं।

(६) आधेयापेक्षया महत्परिमाणत्वे सति—

शङ्का—ऐसे अधःस्थित संयोगी द्रव्य को आधार कहा जाता है, जो आधेय की अपेक्षा परिमाण में अधिक हो। बदर (बेर) आकार-प्रकार में कुण्ड की अपेक्षा छोटा है, अतः वह कुण्ड का आधार नहीं हो सकता।

समाधान—जहाँ छोटे-से करतल (हथेली) पर एक विशालकाय तूल-पिण्ड (रुई का गट्ठर) रखा है. वहाँ उस कर-तल में उस तूल पिण्ड की आधारता उपपन्न न हो सकेगी, क्योंकि आधेयरूप तूल-पिण्ड की अपेक्षा कर-तल का परिमाण अधिक नहीं, अपितु स्वल्प ही है। अन्य (समवायित्वादिरूप) प्रकार की आधारता वहाँ कही नहीं जा सकती।

'अधःस्थित' शब्दार्थ का निर्वचन भी सम्भव नहीं -

(१) पतनाभिमुखदिगवस्थित्वम्—

शङ्का—वृक्ष से टूटे फलादि का जिस दिशा में पतन हो रहा है, उस दिशा में अवस्थित पदार्थ को अधःस्थित कहा जाता है।

समाधान—केवल पतन गमन क्रिया से भिन्न कुछ भी नहीं, हाँ, 'अधः' विशेषण के योग से पतन में गमन क्रिया से अन्तर अवश्य हो जाता है, उसके लिए अधःशब्दार्थ का निर्वचन पहले अपेक्षित है। इस प्रकार अधःशब्दार्थ के निर्वचन में पतन शब्दार्थ का निर्वचन और पतन शब्दार्थ के निर्वचन में अधःशब्दार्थ का निर्वचन अपेक्षित होने से अन्योऽन्याश्रय दोष स्पष्ट है। अधःशब्दार्थ की दुर्वचनीयता को ध्यान में रख कर अद्वैतवादी गुरुवर महर्षि ऋभु

ने अपने पुराने शिष्य निदाघ के वाक्य की खण्डन-शैली पर जो आलोचना की थी, उसे महर्षि पराशर ने प्रस्तुत किया है—"अधःशब्दनिगद्यं किं किञ्चोर्ध्वमभिधीयते"। [श्री सूत जी ने जो विष्णुपुराण सुनाया है, वह महर्षि पराशर के मुखारविन्द से विनिस्सृत है। महर्षि पराशर ने ऋभु और निदाघ का कथानक प्रस्तुत करते हुए कहा है—

"श्रूयतां नृपशार्दूल यद्गीतमृभुणा पुरा।
अवबोधं जनयता निदाघस्य महात्मनः॥" (वि० पु० २।१५।२)

देविका नदी के तट पर महर्षि पुलस्त्य का बसाया 'वीरनगर' नाम का एक समृद्ध नगर था। वहीं एक बार आचार्यवर ऋभु जी पुलस्त्य-पुत्र निदाघ के घर पर पधारते हैं। स्वागत-सत्कार के अनन्तर भोजन का प्रसङ्ग चलता है। निदाघ के घर में उस समय जो उपस्थित था, सामने रख दिया—'सत्तु और जौ-चना की बाटी।' ऋभु जी ने उसे देख कर कहा—"कदन्नानि द्विजैतानि मृष्टमन्नं प्रयच्छ मे।" यह सब कुत्सित अन्न है, मुझे तो हलवा और पायस (खीर) आदि सात्त्विक भोजन खिलाओ। निदाघ ने अपनी धर्मपत्नी से सभी कुछ बनवाकर आचार्यवर को विधिवत् भर पेट भोजन कराया। भोजन कर लेने पर ऋभु के सम्मुख हाथ जोड़ कर निदाघ बैठ गया, पूछा—आचार्य श्री! भोजन कैसा रहा? कुछ तृप्ति हुई, या नहीं? इन सौम्य प्रश्नों के उत्तर में ऋभु जी की हेकड़ी देखिए कहते क्या हैं—

क्षुद् यस्य तस्य भुक्तेऽन्ने तृप्तिर्ब्राह्मण जायते।
न मे क्षुत् नाभवत् तृप्तिः कस्मान्मां पृच्छसि॥
क्षुत्तृषे देहधर्माख्ये न ममैते यतो द्विज।
ततः क्षुत्सम्भवाभावात् तृप्तिरस्त्येव मे सदा॥ (वि० पु० २।१५।२१)

'जिसे भूख लगती है, भोजन करने से उसी को तृप्ति होती है। मुझे तो कभी क्षुधा लगती ही नहीं, फिर तृप्ति के विषय में मुझसे क्या पूछते हो? भूख-प्यास तो शरीर के धर्म हैं। मुझमें कभी क्षुधा नहीं लगती, अतः सदैव तृप्त रहता हूँ॥'

नागार्जुनीय स्वर में गीत गाते हुए ऋभु जी निदाघ को अद्वैत तत्त्व समझाते हैं—

सोऽहं गन्ता न चागन्ता नैकदेशनिकेतनः।
त्वं चान्ये च न च त्वं च नान्ये नैवाहमप्यहम्॥
एवमेकमिदं विद्धि न भेदि सकल जगत्।
वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः॥ (वि० पु० पृ० १६०)

'मैं न तो गन्ता (गमन करने वाला) हूँ, न अगन्ता हूँ और न किसी एक स्थान पर रहता हूँ। तू तू नहीं, ये लोग ये नहीं और मैं मै नहीं। एक ही यह तत्त्व समझो, अनन्त भेद-भिन्न यह जगत् कुछ भी नहीं, वह एक मात्र तत्त्व भगवान् वासुदेव का स्वरूप है॥'

इस प्रकार तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर एक हजार वर्ष के पश्चात् सम्भवतः शिष्य की परीक्षा लेने के लिए श्री ऋभु जी फिर निदाघ के नगर में गये। उस समय कोई राजा अपने पूरे दल-बल और बाजे-गाजे के साथ नगर में प्रविष्ट हो रहा था। उस भीड़-भाड़ से बच कर निदाघ एक किनारे खड़ा हो गया था, वह दिनभर का भूखा-प्यासा जंगल से कुशा और समिधादि लादे खड़ा था। ऋभु ने पूछा—"कस्मादेकान्ते स्थीयते भवता द्विज!" इसके उत्तर में निदाघ का सीधा-सा कहना था कि यह महाकाय हाथी पर चढ़ा महाराजा जा रहा है, उसके चारों ओर उसका सैन्यदल है, जन-सम्मर्द से बचने के लिये मैं मार्ग छोड़ कर एक किनारे खड़ा हो गया हूँ। ऋभु जी ने एक अटपटा-सा प्रश्न किया कि इसमें हाथी कौन है और राजा कौन है? निदाघ ने सरल भाव से उत्तर दिया—"गजो योऽयमधो ब्रह्मन् उपर्यस्यैष भूपतिः"। इस उत्तर वाक्य को अपनी तर्कना की कसौटी पर चढ़ा कर ऋभु जी भूखे-प्यासे थके-हारे निदाघ से वह श्रीहर्ष-चर्चित प्रश्न करते हैं—

भगवता पराशरेणाभिहितम्—'अधःशब्दनिगद्यं किं किञ्चोर्ध्वमभिधीयते।'

पृथिव्यभिमुखी दिगधःशब्दार्थ इति चेन्न, ऊर्ध्वशब्दार्थस्यापि पृथिव्यभिमुखत्व-सम्भवात्। यदपेक्षया पृथिव्यभिमुखी या दिक् तदपेक्षया साऽध इति चेन्न, यदपेक्ष-येति किं यमवधीकृत्येति विवक्षितम्, उत यदीयाभिमुख्यव्यवस्थितेति? आद्ये

यत्खण्डनमुपदिष्टं तदाचक्षाणेनेति सम्बन्धः। वचनप्रामाण्यसिद्धयर्थं प्रणेतृविशेषणं द्रष्टव्यम्।

प्रकारान्तरेणाधःशब्दार्थं शङ्कते ❀ पृथिवीति ❀। पृथिव्युपरिस्थितघटादेरधो या दिक् भवति सा पृथिव्यभिमुख्यधःशब्दार्थः इत्यर्थः। एकैकस्मादूर्ध्वदेशात्परः परः ऊर्ध्वदेशो भवतीति कृत्वोर्ध्वदेशोऽप्यूर्ध्वदेशान्तरापेक्षया पृथिव्यभिमुखी भवतीत्यतिव्याप्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀।

उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते ❀ यदिति ❀। यदुपाधिमपेक्ष्य या दिक् पृथिव्यभिमुखी भवति सा दिक् तदपेक्षयाऽधःशब्दार्थो नचैवमतिव्याप्तिः पूर्वपूर्वदिश उत्तरोत्तरापेक्ष-याऽधोरूपत्वस्वीकारादित्यर्थः। दूषणोक्तिविभागप्रज्ञानाय विकल्पयति ❀ नेति ❀। यत्सम्बन्ध्या-भिमुख्यं यदीयाभिमुख्यं तस्मिन्व्यवस्थितत्वं यदपेक्षेत्यर्थः। अपेक्षाबुद्धिजन्यपदार्थे सर्वत्र प्रायेणापेक्ष्यमाण-

---

जानाम्यहं यथा ब्रह्मन् तथा मामवबोधय।
अधःशब्दनिगद्यं किं किं चोर्ध्वमभिधीयते॥ (वि० पु० २।१६।११)

'मैं (ऋभु) जैसे समझ जाऊँ, वैसे यह बता दीजिए कि यहाँ 'अधः' शब्द का अर्थ क्या है और 'उर्ध्व' शब्द से किसका अभिधान किया जाता है?' निदाघ पहले से तपा-तपाया था, इस प्रश्न ने उस पर घृत का काम किया, उसके शरीर में आग लग गई और अपना भार लिए-दिए छलाँग मार कर ऋभु जी के शिर पर चढ़ गया। आस-पास के लोगों में हाहाकार मच गया, ऋभु की रक्षा में लोग दौड़ पड़े। निदाघ ने घोर गर्जना करते हुए कहा—दूर रहो, मैं इस ब्राह्मण के एक ऊल-जलूल सवाल का जवाब दे रहा हूँ और फिर ऋभु जी से कहा—

उपर्यहं यथा राजा त्वमधः कुञ्जरो यथा।
अवबाधाय ते ब्रह्मन् दृष्टान्तो दर्शितो मया॥ (वि० पु० २।१६।१३)

'मैं (निदाघ) राजा के समान तुम्हारे (ऋभु के) ऊपर हूँ और तुम (ऋभु) हाथी के समान मेरे (निदाघ के) अधः (नीचे) हो। यह एक अभिनय (स्वाँग) मैंने आपको समझाने के लिए दिखाया है।' हर्ष का विषय है कि विकल्प कला के कलाबाज श्री ऋभु जी को तो मिल गया जैसा-का-तैसा गुरु किन्तु विषाद इतना रह गया कि ऋभु के अनुगामी महाप्रभु श्री श्रीहर्ष का कोई वैसा गुरु न मिल सका!!!]।

(२) पृथिव्यभिमुखी दिग् अधःशब्दार्थः—

शङ्का—पृथिवी की ऊर्ध्व दिशा में अवस्थित चन्द्रमण्डल की अपेक्षा पृथिवी की ओर जो दिशा अवस्थित है, वही 'अधः' शब्द का अर्थ है, उस दिशा में अवस्थित पृथिवी को चन्द्रमण्डल के अधः स्थित कहा जाना उचित ही है।

समाधान—'दिशा' तत्त्व आकाश के समान अखण्डाकार एक है, उसमें अधः ऊर्ध्वादि का व्यवहार किसी-न-किसी उपाधि की अपेक्षा होता है। पृथिवी के ऊर्ध्व चन्द्रमण्डल और चण्द्रमण्डल की अपेक्षा ऊर्ध्व सूर्यमण्डल है। चण्द्रमण्डल की ऊर्ध्व दिशा भी सूर्यमण्डल की अपेक्षा पृथिव्यभिमुखी है, अतः चन्द्रमण्डल की ऊर्ध्व दिशा में भी उक्त लक्षण अतिव्याप्त है।

शङ्का—उक्त लक्षण का तात्पर्य यह है कि 'यदुपाधिमपेक्ष्य या दिक् पृथिव्यभिमुखी भवति, सा दिक् तदपेक्षया अधःशब्दार्थः।' इसके अनुसार चन्द्रमण्डल की ऊर्ध्व दिशा भी सूर्यमण्डल की अपेक्षा पृथिव्यभिमुखी है, अतः सूर्यमण्डल की अपेक्षा वह अधो दिशा ही है।

समाधान—लक्षण-घटक यदपेक्षा पद में अपेक्षा का निरूपकीभूत पदार्थ क्या (१) वह

पृथिव्यूर्ध्वस्थितं पदार्थमवधीकृत्य योर्ध्वा दिगिति भवद्भिर्व्यवह्रियते, साऽपि पृथिव्यभिमुखी भवतीति साऽप्यधः स्यात्। अत एव न द्वितीयोऽपि। यस्यां दिशि क्रियया पृथ्वी सन्निहिता भवति, सा दिगध इति चेन्न, कूपादौ मध्यगतस्य तिर्यग्दोलायमानस्य क्रिया पतनं स्यात्, तद्गत्याक्रान्ता च तिर्यग्दिगधःस्यात्। पृथिवीमवधीकृत्य यं चान्यं पदार्थमवधीकृत्य यो मध्य इति देशो व्यवह्रियते, स पृथिव्यतिरिक्ततदवध्य-

स्यावधित्वदर्शनाविहापि यदपेक्षेति यमवधिं कृत्वेति प्रथमकल्प एवास्त्वित्यत आह ॐ आद्य इति ॐ। पृथिव्या उपरि यो घटादिस्तिष्ठति तमपेक्ष्य यापि दिगूर्ध्वमिति भवद्भिः सङ्केत्यते, सापि तदुपरितनान्तरापेक्षया पृथिव्यभिमुखी भवतीत्यतिप्रसक्तिरेवेत्यर्थः। प्रथमकल्पोक्तातिव्याप्ति द्वितीयेऽप्यतिदिशति ॐ अत इति ॐ। सूर्यचन्द्रध्रुवादिमण्डलानां पूर्वपूर्वापेक्षयोर्ध्वस्थितत्वव्यवहारगोचराणामपि परस्पराभिमुख्यावस्थितत्वादधस्त्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। व्यवहिताया दिशो व्यवच्छेदार्थं सन्निहितेतिविशेषणं शङ्कते ॐ यस्यामिति ॐ। क्रियावत्पदार्थं प्रति यस्यां दिशि पृथिवी सन्निहिता भवति सा दिगधःशब्दार्थ इत्यर्थः। अनिष्टापादनेन दूषयति ॐ नेति ॐ। कूपादौ दण्डाग्रे पाषाणं सूत्रेणावलम्ब्यावस्थाप्यते तदाऽसौ पाषाणो दोलायमानो भवति तदाश्रिता या तिर्यग्गमनरूपा क्रिया क्रियावन्तं प्रति क्रिया वा पृथिवीसन्निधिहेतुत्वात्पतनं स्यादित्यर्थः। एवमनिष्टमुक्त्वा लक्षणस्य दूषणमाह ॐ तदिति ॐ। तिर्यग्गत्याक्रान्ता या तिर्यक् दिगधः स्यादित्यतिव्याप्तिरिति यावत्। पृथिवीमेकमवधिं स्वीकृत्यापरं चोपरि पतत् पक्षिणमवधीकृत्य तदुभयापेक्षया यो देशो मध्यो भवति स पृथिव्यतिरिक्तावध्यपेक्षयाऽधःशब्दार्थ इति शङ्कते ॐपृथिवीमितिॐ। भूमौ निखातनिध्यादेः पृथिव्यपेक्षयाऽधः स्थितत्वात्तद् भूभागस्याधस्त्वमस्ति, न च तत्र

उपाधि विवक्षित है, जिसकी अपेक्षा दिशा में अधस्तता का सम्पादन करना है? अथवा (२) वह विवक्षित है, जिसकी अपेक्षा दिशा में पृथिव्यभिमुखता व्यवस्थित होती है? प्रथम कल्प के अनुसार पृथिवी के ऊपर अवस्थित चन्द्रमण्डलादि पदार्थों की अपेक्षा जिस दिशा को आप ऊर्ध्व दिशा कहते हैं, वह भी चन्द्रमण्डल के ऊपर अवस्थित सूर्यमण्डल की अपेक्षा पृथिव्यभिमुखी है, अतः उसमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति जैसी-की-तैसी बनी है और द्वितीय कल्प के अनुसार भी चन्द्रमण्डल के ऊर्ध्व सूर्यमण्डल एवं सूर्यमण्डल के ऊर्ध्व नक्षत्रादिमण्डलों में नीचे-नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर अवस्थित पदार्थ ऊर्ध्वस्थ माने जाते हैं, उनमें परस्पर आभिमुख्य को लेकर अधस्थत्व प्राप्त होता है।

(३) यस्यां दिशि क्रियया पृथिवी सन्निहिता भवति, सा—

शङ्का—वृक्ष पर बैठा वानर जैसे-जैसे ऊपर से उतरता आता है, वैसे-वैसे पृथिवी उसके निकट होती जाती है, अतः उसकी यह अवतरण क्रिया जिस दिशा में होती है, उस दिशा को अधः कहा जाता है। इसी प्रकार की पतनादि क्रियाएँ भी हैं।

समाधान–उक्त लक्षण के द्वारा प्रसङ्गतः 'पतन' क्रिया का यह लक्षण पर्यवसित होता है कि 'यया क्रियया पृथिवी सन्निहिता भवति, सा क्रिया पतनम्।' किसी वृक्ष की शाखा में बँधी एक रस्सी नीचे कुएँ में कुछ दूर लटक रही है, वानर उसी रस्सी के सहारे उतर कर कुएँ के बीच में झूलने लगता है, झूलते समय कभी कुएँ की पूर्वी दीवार से टकराता और कभी पश्चिमी दीवार से। उसकी उस झूलने की क्रिया (दोलन) में पतन क्रिया का उक्त लक्षण अतिव्याप्त होता है, क्योंकि पूर्व और पश्चिम की दिशाओं में उस क्रिया से पृथिवी (पूर्व और पश्चिम की दीवार) सन्निहित हो जाती है। वह दोलन क्रिया जिस तिर्यक् (कूपतल के समानान्तर टेढ़ी) दिशा में हो रही है, उस दिशा में अधःशब्दार्थत्व भी अतिप्रसक्त है।

(४) मध्य एवाधः—

शङ्का—पृथिवी और किसी अन्य (चन्द्रादि) को अवधि बना कर उनके मध्य में

पेक्षयाऽध इति चेन्न, पृथिव्यामेव तद्व्यवहारापत्तेः। पृथिवीं पदार्थान्तरञ्चापेक्ष्य मध्यत्वस्य विवक्षितस्याधःशब्दार्थप्रदर्शनमन्तरेण निर्वक्तुमशक्यत्वात् । पृथिव्यपेक्षयोर्ध्वं परापेक्षया चाधः, तत्र तयोर्मध्यमित्येवं निरुच्यते मध्यत्वम्, अन्यथा तिर्यगपि प्रसङ्गात् ? तद्यथा– पृथिव्यपेक्षया पूर्वमपरापेक्षया च पश्चिमं तयोर्मध्यमुच्यते, प्रतीपदिगवस्थितयोः परस्परापेक्षया प्रतीपदिक्सङ्करे मध्यव्यवहारात्।

अथान्यः कश्चिदाधारार्थोऽस्तु प्रतीतिसिद्धत्वात्, प्रतीतेश्चैवमनन्योपपाद्यत्वात्। मैवम्, तदनित्यं वा स्यात् नित्यं वा ? नाद्यः, तदभावे आधारप्रतीत्यभाव-

पृथिव्यतिरिक्तावध्यपेक्षास्तीत्यव्याप्तिरिति परिहरति ॐ नेति ॐ। मध्यत्वविशेषणासिध्या लक्षणस्यासम्भवमाह ॐ पृथिवीमिति ॐ। उपरि पतत्पक्षिणोऽधः पृथिव्या यदूर्ध्वं तन्मध्यं वक्तव्यमिति अधस्त्वेन मध्यत्वनिरूपणं मध्येन चाधोनिरूपणमितीतरेतराश्रय इत्यर्थः। इतरेतराश्रयप्रकटनाय मध्यस्वरूपं दर्शयति ॐ पृथिवीति ॐ। विपक्षे बाधमभिधत्ते ॐ अन्यथेति ॐ। ऊर्ध्वत्वाधस्त्वाभ्यां निरूपणव्यतिरेकेण केवलद्वयापेक्षया मध्यत्वनिरूपणे सति पृथिवीतरापेक्षया तिर्यग्दिश्यपि सम्भवादतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। प्रसङ्गमेव स्पष्टयति ॐ तदिति ॐ। ऊर्ध्वं पृथिवीभागावस्थितप्राङ्मुखपुरुषापेक्षया पूर्वं ततः किञ्चित् दूरे वृक्षमूलावष्टब्धपुरुषापेक्षया च पश्चिमं तदेव पुनस्तत्पुरुषद्वयापेक्षया मध्यमुच्यत इत्यर्थः। कुत इत्यत आह ॐ प्रतीपेति ॐ। प्रतीपयोर्विरुद्धयोर्दिशोरवस्थितौ यौ पदार्थौ तयोः परस्परापेक्षया परस्परयोर्दिशोः सङ्करे मध्यव्यवहारदर्शनात्तिर्यगप्यधः स्यादित्यर्थः। यत्रैकस्य पूर्वबुद्धिस्तत्राप्यपरस्य पश्चिमा बुद्धिरिति सङ्कर इत्यर्थः।

एवमधस्त्वानिरूपणेनाधःस्थितत्वे सति संयोगित्वमाधारत्वं न भवति चेदन्य एवाधारार्थो भवत्विति शङ्कते ॐ अथेति ॐ। हेतुमाह ॐ प्रतीति ॐ। कुण्डाधारं बदरमित्यादिप्रतीतिसिद्धत्वात्तदपलापोऽनुभवविरुद्ध इत्यर्थः। एवंविधप्रतीतिरेव नास्तीत्याशङ्क्य तदपलापोऽप्यनुभवविरुद्धः स्वानुभवसिद्धेरित्याह ॐ प्रतीति ॐ। आधारस्य युक्तिबाधितत्वात्तत्प्रतीतेर्भ्रान्तित्वं गतिरिति परिहरति ॐ मैवमिति ॐ।

अवस्थित जो अन्तराल देश कहा जाता है, वह पृथिवी की अपेक्षा ऊर्ध्व और अन्य (चन्द्रादि) की अपेक्षा अधः माना जाता है।

समाधान—जिस अन्तराल देश की चन्द्र और पृथिवी—ये दो अवधियाँ मानी गई हैं, उस अन्तराल में चन्द्र और पृथिवी—ये दोनों प्रविष्ट नहीं हो सकते, क्योंकि अवधि एक वह मर्यादा कोटि मानी जाती है, जिसका मर्यादित पदार्थ में अन्तर्भाव नहीं होता, जिसका होता है, उसे 'अभिविधि' कहा जाता है, अवधि या मर्यादा नहीं। फलतः चन्द्र और पृथिवी—ये दोनों मध्य (अन्तराल) नहीं कहला सकते, अतः चन्द्र में ऊर्ध्व ओर पृथिवी में अधः व्यवहार क्योंकर बन सकेगा ?

दूसरी बात यह भी है कि वह देश भी मध्य देश कहलाता है, जो ऊपर-नीचे की अवधियों से आबद्ध न होकर पूर्व-पश्चिमादि अवधियों से घिरा होता है, जैसे—"गंगायमुनयोर्मध्ये मध्यदेशः प्रकीर्तितः"। आशय यह है कि दो विपरीत दिशाओं में अवस्थित अवधियों से घिरे परस्पर की अपेक्षा विपरीत धर्मों से संकीर्ण देश को मध्यदेश कहते हैं। यह मध्य देश अधःपरिभाषा के अनुकूल नहीं, अतः इसकी व्यावृत्त्यर्थ अनुकूल मध्य देश का विशेषण लगाना होगा कि वह मध्यदेश अधः ऊर्ध्व कहलाता है, जो अधः और ऊर्ध्व दिशाओं की चन्द्र-पृथिव्यादि अवधियों से परिसीमित होता है। इस प्रकार मध्यत्व के निर्वचन में अधः शब्दार्थ और अधः शब्दार्थ के निर्वचन में मध्यत्व की अपेक्षा होने से अन्योऽन्याश्रयता दोष प्रसक्त होता है।

शङ्का—यदि अधःशब्दार्थ का निर्वचन न हो सकने के कारण 'अधःस्थितत्वे सति संयोगित्वमाधारत्वम्'—इस प्रकार आधारत्व का निर्वचन नहीं हो सकता, तब कोई अन्य ही

प्रसङ्गात्, गोत्वादिनित्यत्वन्यायसाम्येऽपि अस्यानित्यत्वे तेषामप्यनित्यत्वापाताच्च। नापि द्वितीयः, तादृशमप्यनुगतमननुगतं वा स्यात्? द्वितीये अनुगताधारप्रतीत्यसम्भवः, सङ्केतग्रहाशक्यत्वञ्च। प्रथमे सामान्यवदाश्रयापरित्यागि वा स्यात्, तत्त्यागि वा? आद्ये यदेव तदाधारतया प्रतीतं तत्तदाधेयं न स्यात्। द्वितीयेऽपि च यदि नियामकमन्तरेण तत्स्वाश्रयं भजति त्यजति च, तदा नियमानुपपत्त्या सर्वदा तद्भजनत्यजनोचितप्रत्ययव्यवहारप्रसङ्गः।

अथ तस्याऽऽश्रयभजनत्यजनयोर्नियामकोऽस्ति, तर्हि स वक्तव्यः। सोऽपि

युक्तिबाधितत्त्वं दर्शयितुं विकल्पयति ॐ तद्धीति ॐ। आधारपदार्थोऽनित्य इत्याद्यं दूषयति ॐ नेति ॐ। एकरूपप्रतीतिगोचरतयाऽऽधारत्वस्यैक्यात्तस्यानित्यत्वेन विनाशे जगति क्वाप्याधारबुद्धिर्न स्यादित्यर्थः। पक्षश्चायमनुपपन्न इत्याह ॐगोत्वेतिॐ। जातिनित्यत्वेऽनुगतप्रत्ययविषयत्वमनौपाधिकं सर्वदा प्रतीयमानत्वं वा न्यायः सोऽत्रापि समानस्तथाप्यनित्यत्वे गोत्वादीनामप्यनित्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। नित्यत्वपक्षोऽपि न सम्भवतीत्याह ॐ नापीति ॐ। असम्भवं दर्शयितुं विकल्पयति ॐ तादृशमिति ॐ। अननुगतपक्षं दूषयति ॐ द्वितीय इति ॐ। इह कुण्डे बदरमिह घटे शौक्ल्यमित्यनुवृत्तप्रत्ययव्यवहारौ न भवेतामित्यर्थः। दोषान्तरमाह ॐ सङ्केतेति ॐ। व्यक्तीनामानन्त्यव्यभिचाराभ्यामाधारशब्दशक्तिग्रहो न स्यादित्यर्थः। अनुगतं तदिति प्रथमकल्पं दूषयितुं विकल्पयति ॐ प्रथम इति ॐ। आधारत्वमाश्रयन्न परित्यजति सामान्यवदित्याद्यमनूद्य दूषयति ॐ आद्य इति ॐ। देवदत्तस्य य आधारो दृष्टः पीठः स एव कदाचिद् देवदत्तशिरोगततया तदाश्रितो दृश्यते तन्न स्याद् देवदत्तं प्रत्याधारत्वस्य पीठे नित्यं सत्त्वादित्यर्थः। आश्रयपरित्यागीति द्वितीयकल्पेऽपि तस्याधारत्वस्य आश्रयभजनत्यजनयोर्नियामकान्तरं नास्ति किं स्विदस्तीति विकल्प्य प्रथममतिप्रसङ्गेनापाकरोति ॐ द्वितीय इति ॐ।

द्वितीयं शङ्कते ॐ अथेति ॐ। तादृशनियामकानुपलम्भान्न वक्तुं शक्यते इति परिहरति

आधार शब्द का अर्थ मानना चाहिए, क्योंकि उसके विना 'इह'—इत्यादि प्रतीतियों का उपपादन नहीं हो सकता।

समाधान—यदि कोई 'आधार' शब्द का अर्थ (आधारत्व) मान भी लिया जाता है, तब वह अनित्य होगा? या नित्य? यदि अनित्य है, तब कदाचित् उसका अभाव भी मानना होगा, आधारत्व का अभाव होने पर आधार की प्रतीति कैसे होगी? दूसरी बात यह भी है जिन युक्तियों के आधार पर गोत्वादि जातियों में नित्यत्व सिद्ध किया जाता है, उन युक्तियों की प्रकृत में समानता रहने पर भी यदि आधारत्व को अनित्य माना जाता है, तब गोत्वादि को भी अनित्य ही मानना होगा।

यदि आधारत्व को नित्य माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि वह अनुगत धर्म है? या अननुगत? यदि अननुगत है, तब 'इह कुण्डे बदरम्' 'इह घटे शौक्ल्यम्'—इत्यादि आधारार्थ की अनुगत प्रतीतियाँ असम्भव हो जाती हैं। आधारत्वरूप अनुगत शक्यतावच्छेदक के अभाव में 'आधार' शब्द का संगति-ग्रह भी कैसे होगा? यदि आधारत्व को अनुगत माना जाता है, तब उसे घटत्वादि जाति के समान अपने आश्रय का अपरित्यागी माना जाता है? या परित्यागी? प्रथम पक्ष के अनुसार आधारार्थ में अवस्थित आधारता का कालान्तर में परित्याग और आधेयता की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, किन्तु देवदत्त जिस चौकी पर बैठा था, उसी को जब अपने शिर पर रख कर चल देता है, तब उस चौकी में रहनेवाली देवदत्त-निरूपित आधारता नहीं रहती और आधेयता आ जाती है। द्वितीय पक्ष के अनुसार आधारता यदि किसी नियामक के विना ही अपने आश्रय का ग्रहण और त्याग करती है, तब कोई नियम न रहने के कारण सर्वदा आधारता के आश्रयणानाश्रयण का परस्पर-विरुद्ध व्यवहार होना

कल्पयिष्यते, अन्यथा आधारप्रतीत्यनुपपत्तिरिति चेन्न, तत्परिकल्पने यदेव भजने नियामकं स एवाऽऽधारार्थोऽस्तु, कृतं पूर्वपरिकल्पितेनेति। अस्त्वेवमेवेति चेन्न, तस्यापि स्वाश्रयभजनत्यजननियामकस्यावश्यवाच्यत्वे तस्यापि चैवं वैयर्थ्यमित्यधिकापरिकल्पने नियमानुपपत्तिः। अधिकपरिकल्पने च पूर्वपूर्ववैयर्थ्यप्रसङ्ग इति दुरुत्तरं व्यसनमापद्येत। परस्परेण परस्परस्य नियामकत्वमिति चेत्, अन्योन्याश्रयिणावर्थावपि परस्पराकर्षकभावव्यवस्थया सुस्थीकुरु, ततो दास्यामस्तवोत्तरम्। जात्यादयोऽपि तर्ह्येवमनुपपन्ना इति चेत्, नोच्चैर्वक्तव्यं यदि कोऽपि शृणोति, तदा महदनिष्टमस्माकं प्रकाशीकृतं स्यात्।

॥ तर्हीति ॥। प्रत्यक्षानुपलम्भेऽप्याश्रयत्वानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्त्या कल्प्यत इति शङ्कते ॥ सोऽपीति ॥। कल्पितेन नियामकेनावश्यकतया प्रथमप्रतीतिकेनाधारप्रतीतिव्यवहारोपपत्तौ नाधारार्थान्तरं कल्पनीयं वैयर्थ्यादिति परिहरति ॥ तदिति ॥। तर्ह्याधारत्वनियामकं यत्परिकल्पितं तदेवाधारव्यवहारगोचरोऽस्त्विति शङ्कते ॥अस्त्विति॥। तदपि नित्यमनित्यं वा ? द्वितीये तन्नाशेऽधिकरणव्यवहारो न स्यान्नित्यत्वे वाऽऽश्रयाऽपरित्यागे कदाचिदाश्रितस्य पुनस्तदाश्रितत्वानुपपत्तिस्त्यागे च नियामकानङ्गीकारेऽतिप्रसङ्गो नियामकस्वीकारे वैयर्थ्यमिति परिहरति ॥ नेति ॥। उपपादितं सोपहासमुपसंहरति ॥ अधिकेति ॥। पूर्वेण नियामकेनोत्तरस्याश्रयभजननियमोऽस्तूत्तरेण पूर्वस्याश्रयभजननियम इति कुतो वैयर्थ्यमिति शङ्कते ॥ परस्परेति ॥। अन्योन्याश्रयत्वं तर्हि क्वापि दोषो न स्यादिति परिहरति ॥ अन्योन्येति ॥। पूर्वमुत्तरं नियच्छत्तेनाश्रये नियतं सदुत्तरं नियच्छति उत्तरं च पूर्वं नियच्छत्तेनाश्रये नियतं सत्पूर्वं नियच्छतीति वाच्यं तथा च परस्पराश्रयिणावर्थावित्येकस्मिन्नाकृष्यमाणे परोऽप्याकृष्टो भवत्येवमन्यदपीत्यन्योन्याकर्षकभावव्यवस्थिताविति प्राप्तं तच्चेत्परिहर्तुं शक्नोषि परिहारान्तरं ब्रूम इत्यर्थः। जातिगुणादीनामाश्रयभजनत्यजने नियामकाभावेऽतिप्रसङ्गान्नियामकस्य वक्तव्यत्वे तेनैव तद्व्यवहारोपपत्तौ जात्याद्यपलापः स्यादिति प्रतिबन्दीग्रहेण शङ्कते ॥ जातीति ॥। सर्वानिर्वचनवादिनं प्रतीदमनिष्टत्वेन कथमुद्भाव्यत इति सोपहासं परिहरति ॥ नेति ॥।

चाहिए—अयमस्याधारोऽनाधारश्च।

यदि आधारता के ग्रहण और त्याग में कोई नियामक माना जाता है, तब उस नियामक का उल्लेख करना चाहिए। यदि आधार-प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति के आधार पर किसी नियामक की कल्पना की जाती है, तब आधारता के ग्रहणादि का वही नियामक आधार शब्दार्थ माना जा सकता है, पूर्वतन नियम्यभूत आधारार्थ की क्या आवश्यकता ? यदि नियामक पदार्थ को ही आधार पदार्थ मान लिया जाता है, तब वह भी अपने आश्रय का ग्रहणाग्रहण किसी अन्य नियामक के द्वारा ही करेगा, अतः नियामक-परम्परा की कल्पना एवं उत्तरोत्तर नियामक के द्वारा पूर्व-पूर्व का वैयर्थ्य प्रसक्त होता है।

पूर्व नियामक से उत्तर का और उत्तर नियामक से पूर्व का नियमन स्वीकार करने पर अन्योऽन्याश्रयता निश्चित है, क्योंकि कोई भी नियामक अनियमित होकर नियामक नहीं हो सकता, अतः दोनों परस्पर एक-दूसरे के आकर्षण में फँसे वैसे ही परस्पर का उद्धार नहीं कर सकते, जैसे दलदल में फँसे दो गजराज परस्पर के उद्धार का असफल प्रयास कर रहे हों।

शङ्का—यदि आधारत्व के अपने आश्रय का ग्रहणाग्रहण व्यवस्थित नहीं हो सकता, तब घटत्वादि जाति और समवायादि सम्बन्धों के विषय में भी यही समस्या आड़े आ सकती है।

समाधान—ऐसी आपत्तियों का उद्घोष ऊँचे स्वर में मत कीजिये, यदि किसी ने सुन लिया, तब हम-जैसे अनिर्वचनीयतावादी का महान् अनिष्ट हो जायगा!!!

किञ्च—यत्तदाधारत्वं तत् साधारमनाधारं वा ? अन्त्ये क स्वविशिष्टप्रत्ययं कुर्यात्, विशेषाभावात्। आद्ये तदाधारत्वं वाच्यम्। स्वरूपमेव तादृशं तस्य, येन स्वयं सत्ता स्वात्मनि सत्ताप्रत्ययकारिणो सत्तान्तरमन्तरेण यथा तथेदमपि विनैव आधारान्तरमाधारप्रत्ययकारीति चेन्न, भ्रान्तित्वप्रसङ्गात्। यथा विना रजतत्वं तत्प्रत्ययो भ्रान्तिस्तथैव स्यात्। उपपाद्यश्चायमर्थो भेदखण्डनप्रस्ताव इत्युपरम्यते। विनाऽप्याधाराधेयभावं स्वभावसम्बन्धेन नियामकत्वं भविष्यति, यथा विषयविषयिभावेनार्थज्ञानयोरिति चेन्न, स्वभावसम्बन्धस्य निरस्तत्वात्।

खण्डनान्तरं दर्शयितुं विकल्पयति ॐ किञ्चेति ॐ। आधारत्वं स्वयमनन्याश्रयमिति विकल्पे दोषमाह ॐ अन्त्य इति ॐ। आधारत्वस्य च क्वाप्यनाश्रितत्वेनाविशेषात्तद्विशिष्टाधारप्रतीतिर्न्न स्यादित्यर्थः। साधारमिति पक्षे आधारत्वस्याप्याधारान्तरं वाच्यं तद्वदन्यान्यस्वीकारेऽनवस्थाप्रसङ्गात्स्वयमेवेति वाच्यं तथा च स्ववृत्तिरित्यभिप्रेत्याह ॐ आद्य इति ॐ। यथा सत्तासंसर्गादन्यत्र सद्व्यवहारेऽपि सत्तान्तरमन्तरेण सत्तायाः सत्त्वव्यवहारवदाधारत्वान्तरमन्तरेणाप्याधारत्वे तथा प्रत्यय इति शङ्कते ॐ स्वरूपमिति ॐ। येन स्वरूपेणाधारान्तरं विनैव स्वाधारप्रत्ययकारीति सम्बन्धः। आधारत्वं साधारमिति प्रत्ययो यदरं साधारमित्यनेन सरूपो जायते ततोऽर्थवैलक्षण्ये भ्रान्तित्वमेव स्यादिति परिहरति ॐनेतिॐ। उचितालम्बनाभावे जायमानप्रतीतिर्भ्रान्तिरित्यत्र दृष्टान्तमाह ॐ यथेति ॐ। स्वरूपभेदवादेऽतिरिक्तभेदाभावेपि भिन्नो घट इति प्रतीतिः प्रमा तद्वदिहापि किं न स्यादित्यत आह ॐ उपपाद्य इति ॐ। नियामकं नियम्यादन्यत् भिन्नमपि तदेव नियच्छति तदाधारत्वादिति न वक्तुं शक्यमाधारार्थानिरूपणादित्युक्तमिदानीं स्वभावसम्बन्धखण्डनप्रसङ्गं दर्शयितुं प्रकृतव्याजेन चोद्यमुद्भावयति ॐ विनेति ॐ। ज्ञानज्ञेययोः स्वभावातिरिक्तसंयोगादिसंसर्गासत्त्वेऽप्ययमेव विषयोऽस्येदमेव विषयीति नियमः स्वभावादेवेति दृष्टान्तमाह ॐ यथेति ॐ। सम्बन्धस्य सम्बन्ध्याश्रयत्वात्स्वस्य स्वाधारत्वायोगात्स्वभावसम्बन्धो निरस्त इति परिहरति ॐ नेति ॐ।

आधारत्व के विषय में यह भी एक जिज्ञासा होती है कि यह आधारत्व साधार है ? या निराधार ? यदि अनाधार है, तब वह किस धर्मी में किस विशेषता के आधार पर अपने वैशिष्ट्य की प्रतीति कराएगा ? यदि आधारत्व साधार है, तब आधारत्व की आधारता का निर्वचन करना होगा।

शङ्का—जैसे घटादि में सत्ता जाति के रहने पर सद्बुद्धि होती है किन्तु सत्ता में सत्तान्तर के विना सद्बुद्धि (सत्ता सती) हो जाती है, वैसे ही अन्यत्र (घटादि में) आधारत्व धर्म के रहने पर आधाररूपता की प्रतीति होती है किन्तु आधारत्व में स्वरूपतः (आधारत्वान्तर के बिना ही) आधाररूपता का भान हो जाता है।

समाधान—जो पदार्थ जहाँ नही रहता, वहाँ उसकी प्रतीति को भ्रम माना जाता है, अतः 'आधारत्व' धर्म के विना आधार-प्रतीति वैसे ही भ्रम हो जाती है, जैसे रजतत्व के विना रजत-प्रतीति। जैसे भेदान्तर के विना भेद स्वरूपतः भिन्नत्व-बुद्धि का जनक नहीं हो सकता, वैसे आधारत्वान्तर के विना आधारस्वरूपता की प्रतीति नहीं हो सकती—इसका उपपादन आगे चलकर भेदखण्डन के प्रसङ्ग में किया जायगा।

जैसे विषय-विषयिभावरूप स्वरूप सम्बन्ध के द्वारा विषय और ज्ञान का नियमन हो जाता है, वैसे ही आधाराधेयभाव के विना ही स्वरूपतः आधार और आधेय का नियमन हो जायगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध का निरास किया जा चुका है।

९. विषयविषयिभावलक्षणखण्डनम्

यमुदाहरसि च विषयविषयिभावं सोऽपि वक्तुं न शक्यते। तथा हि—कः पुनर्ज्ञानादेर्घटादिना विषयविषयिभावः? "प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेषः" (आ. त. वि. पृ. २२४) इति चेन्न, इच्छादिविषयाव्यापनात्। विषयिण इति चेन्न, तत्त्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्।

किञ्च स्वभावः स्वधर्मो वा स्वात्मा वा तस्य विवक्षितः? आद्ये ज्ञानत्वादिकं वा साधारणमसौ, तत्तद्घटज्ञाननियतो वा कश्चित्? आद्ये साधारण्यान्न विशेषतस्तदीयतामात्ररूपत्वसम्भवः। द्वितीये तु प्रतिविषयं व्यावृत्तज्ञानधर्मस्वीकारे वचनभङ्गि-

---

ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावसम्बन्धो यः स्वभाव उक्तः सोऽपि साध्यसम एव निर्वचनाशक्तेरित्याह ❀ यमिति ❀। तदनिर्वचनीयत्वं प्रकटयितुं विषयविषयिभावमाक्षिपति पृच्छति वा ❀ तथा हीति ❀। ज्ञानादेरितीच्छाक्रियादयो गृह्यन्ते। विषयविषयिभावलक्षणं शङ्कते ❀ प्रकाशेति ❀। तदीयत्वं समवायादेरप्यस्तीतितद्व्यावृत्त्यर्थं प्रकाशस्येति विशेषणम्। मात्रशब्दार्थः स्वभावविशेष इत्यनेनोच्यते। विषयविषयिभाव इत्यनुषङ्गः। इच्छाक्रियादेरिष्यमाणादिना विषयविषयिभावोऽस्ति न च प्रकाशस्येतिविशेषणं तत्रैवाव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। तर्हि प्रकाशस्येति विशेषणं परित्यज्य विषयिणः सतस्तदीयतामात्रं विषयविषयिभावलक्षणं ब्रूमोऽव्याप्तिपरिहारायेति शङ्कते ❀ विषयीति ❀। विषयित्वं लक्षणविशेषणं सिद्धं चेल्लक्षणवैयर्थ्यमसिद्धं चेद्विशिष्टलक्षणासिद्धिर्लक्षणविशेषणत्वे स्ववृत्तितेति परिहरति ❀ नेति ❀।

स्वशब्दस्यात्मात्मीयवाचकत्वादत्र स्वस्य भाव इति व्युत्पत्त्याऽऽत्मीय उच्यते किं वा स्वश्चासौ भावश्चेति स्वरूपमुच्यते इति विकल्पयति ❀ किञ्चेति ❀। प्रथमकल्पमुपादाय पुनर्द्वेधा विकल्पयति ❀आद्य इति ❀। असौ स्वभावो ज्ञानत्वगुणत्वादिकं साधारण इति प्रथमकल्पार्थः। घटतज्ज्ञानयोर्नियतः कश्चित्पटतज्ज्ञानयोर्नियतः कश्चिद्धर्म्म इति द्वितीयकल्पार्थः। प्रथममसम्भवेन पराकरोति ❀ आद्य इति ❀। ज्ञानत्वादिः सर्वज्ञानसाधारण्यात् घटविषयीदं ज्ञानमितिविशेषतस्तदात्मत्वन्न सम्भवत्यन्यथा घटज्ञानस्य तदविषयित्वप्रसङ्गादित्यर्थः। घटज्ञानस्य घटं प्रत्येव नियतत्वं घटाकारत्वाऽव्यतिरेकेणान्यस्य वर्णयितुमशक्यत्वेन वचनप्रकारभेदेन ज्ञेयाकारं ज्ञानमिति विज्ञानवाद आश्रितः स्यादिति द्वितीयं दूषयति ❀ द्वितीये

---

९. विषयविषयिभाव-खण्डनम्

•ऊपर जिस विषय-विषयिभाव सम्बन्ध को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया, उसका निर्वचन भी सम्भव नहीं। घटादि का उनके ज्ञान के साथ जो विषयविषयिभाव कहा जाता है, उसका स्वरूप क्या है?

(१) प्रकाशगतः घटादिसम्बन्धित्वरूपः स्वभावविशेषः—

'प्रकाशत्वे सति विषयसम्बन्धित्वं विषयविषयिभावः'—इस औदयन लक्षण की घटादि का इच्छादि के साथ जो विषयविषयिभाव माना जाता है, उसमें अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि इच्छादि को प्रकाशरूप (ज्ञानात्मक) नहीं माना जाता। प्रकाश के स्थान पर 'विषयी' पद का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि विषय, विषयी और विषयविषयिभाव क्या है? यही तो सन्दिग्ध होने के कारण विचार का विषय है।

'प्रकाशस्य स्वभावः'—इस वाक्य में 'स्वभाव' शब्द से यहाँ प्रकाश का ('स्वस्य भावो धर्मः'—इस विग्रह के अनुसार) स्वगत धर्म विवक्षित है? अथवा स्वरूप? प्रथम पक्ष में वह धर्म ज्ञानत्वादिरूप साधारण धर्म अभिप्रेत है? अथवा घटज्ञानत्व पटज्ञानत्वादिरूप तत्तज्ज्ञानमात्रवृत्ति धर्म? प्रथम कल्प के अनुसार विषयविषयिभाव को ज्ञानत्वरूप साधारण धर्म मानने पर उसमें घटादिसम्बन्धित्वमात्रता सम्भव न हो सकेगी। द्वितीय कल्प के अनुसार

भेदेन साकारवादस्वीकारः। किञ्च—नाऽसौ धर्म उपधेयान्तराधीनः, विषयभूतघटाद्यतिरिक्तोपाधिप्रतीत्यपेक्षाप्रसङ्गात्।

न च घटादिरेव तथा, असम्बन्धात्। तथापि तथात्वे चातिप्रसङ्गात्। नापि जातिरूपः, क्वचिद् घटमात्रपटमात्रज्ञानगततया पृथग्व्यवस्थितौ सत्यां घटपटविषयैकज्ञाने सहावस्थित्या जातिसङ्करप्रसङ्गात्। प्रतिविषयं ज्ञानभेदनियमे विशिष्टज्ञानानुपपत्तेः,

रिवति ❀। ज्ञानगतासाधारणधर्मस्य बाह्यार्थनिमित्तत्वान्न विज्ञानवादप्रसङ्गः इत्याशङ्क्याह ❀किञ्चेति❀। ज्ञानगतो यो विषयित्वाख्यो धर्मः स किमौपाधिको जातिरूपो वा? यद्यौपाधिकस्तदा घटादिव्यतिरिक्तोपाधिनिमित्त उत घटादिलक्षणोपाधिनिमित्त एव? न तावद्व्यतिरिक्तोपाधिनिमित्तत्वं सम्भवतीत्यर्थः। कुत इत्यत आह ❀ विषयेति ❀। घटतज्ज्ञानव्यतिरिक्तोपाधेरपि तत्र प्रतीतिप्रसङ्गात्सत्तामात्रेणातिप्रसञ्जकत्वादित्यर्थः।

घटादिरेव तज्ज्ञानगतासाधारणधर्मोपाधिरिति द्वितीयश्चानुपपन्न इत्याह ❀ न चेति ❀। तथा—उपाधिरित्यर्थः। हेतुमाह ❀ असम्बन्धेति ❀। ज्ञानगतासाधारणधर्मव्यतिरेकेण घटतज्ज्ञानयोरन्यसम्बन्धानिरूपणादित्यर्थः। असम्बन्ध एव घटादिर्ज्ञानगतासाधारणधर्मनिमित्तं किं न स्यादित्याशङ्क्य यत्किञ्चित्किञ्चिज्ज्ञाने तथा स्यादित्याह ❀ तथा पीति ❀। जातिरिति द्वितीयं दूषयति ❀ नापीति ❀। अन्योन्यपरिहारेण व्यवस्थितयोः क्वचित्सहस्थिततामाह ❀ क्वचिदिति ❀। कदाचित् घटमात्रज्ञानं जायते तन्निष्ठोऽयं धर्मः, क्वचित्पटमात्रविषयमपि ज्ञानं जायते तदा तन्मात्रनिष्ठोऽपि, यदा पुनर्घटपटद्वयविषयं ज्ञानं जायते तत्र घटनियतत्वादिधर्मद्वयस्य साङ्कर्यप्रसङ्गान्न जातिरूपत्वमित्यर्थः। प्रतिविषयं ज्ञानभेदनियमाद् घटादिद्वयविषयमेकं ज्ञानमेव नास्ति यत्र सहस्थितिः कल्प्येतेत्याशङ्क्याह ❀ प्रतीति ❀। मृगत्वपुरुषत्वजातिभ्यामन्यैव पुरुषमृगत्वजातिर्यथैवं घटज्ञानत्वपटज्ञानत्वव्यतिरिक्तैव घटपटज्ञानत्वजातिरिति न साङ्कर्य-

घटज्ञानादिमात्रवृत्ति घटज्ञानत्व-पटज्ञानत्वादिरूप धर्म को विषयविषयिभाव मानने पर घटादि बाह्य विषयों का ज्ञानवृत्ति धर्म में समावेश हो जाने के कारण योगाचार-सम्मत ज्ञान की साकारवादता प्रसक्त होती है, [घटज्ञान नियमतः घट को और पटज्ञान नियमतः पट को ही क्यों विषय करता है? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञानवाद यही देता है कि घटज्ञान घटाकार है एवं पटज्ञान पटाकार है, घट-पटाद्याकार बाह्य वस्तु का अस्तित्व कभी नहीं होता। अतः ज्ञानगत विषय-नैयत्य को विषयविषयिभाव मानने का सीधा अर्थ है—साकारवाद को स्वीकार कर लेना]।

वहाँ यह भी एक जिज्ञासा होती है कि घट-ज्ञानगत घटविषयित्वरूप जो घटीय धर्म माना जाता है, वह (१) क्या उपाधिरूप है? या (२) जातिरूप? यदि उपाधिरूप है, तब उस उपाधि का निरूपक (उपाधेय) घट से भिन्न कोई पदार्थ है? अथवा घट ही उपाधेय है? यदि घट से भिन्न कोई और पदार्थ उपाधेय है, तब घटविषयित्व के लिए उसकी प्रतीति भी अपेक्षित हो जायगी, क्योंकि दण्डादि पदार्थ प्रतीयमान होकर ही पुरुषगत दण्डित्वादि उपाधि के नियामक माने जाते हैं, अन्यथा दण्ड अदण्डित्वादि उपाधियों का भी निमित्त बन जायगा। घट को ही घटविषयित्वरूप उपाधि का उपधेय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपाधेय का उपाधिमान् के साथ कोई सम्बन्ध होना अनिवार्य हैं, प्रकृत में विषयविषयिभाव विवादास्पद है और इससे अतिरिक्त घट और ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं। विना सम्बन्ध के घट को पटविषयित्वादि का प्रयोजक मानना पड़ जायगा।

घटविषयित्व को जातिरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि घटज्ञान में केवल घटविषयित्व और पटज्ञान में केवल पटविषयित्व व्यवस्थित है, किन्तु घटपटविषयक समूहालम्बन ज्ञान में घटविषयित्व और पटविषयित्व—इन दोनों व्यवस्थित या व्यधिकरण धर्मों

एवम्भूतविचित्रजात्यभ्युपगमे प्रत्येकोचितव्यवहारस्याप्यभावप्रसङ्गात्। अथ जातिसङ्करोऽपीष्यते, तथापि स एव विशेषो घटज्ञानत्वादिरस्त्विति विषयासिद्धिः।

अथ विषयेणापि सम्बन्धप्रतिभासनात् सोऽपीष्यते। न, तस्यैव सम्बन्धस्य विचार्यमाणत्वात्। स एवासाविति चेन्न, तदैक्यात् ज्ञानार्थसाधारणविषयप्रतीत्या-

मित्याशङ्क्याह ❀ एवमिति ❀। पुरुषमृगे पुरुषादिप्रतिनियतव्यवहाराभाववदिहापि घटादिप्रतिनियतजलाहरणादिव्यवहारो न स्यात्प्रवृत्तिज्ञानयोरेकगोचरत्वनियमादित्यर्थः। येषां पक्षे जातिसङ्करो दोषत्वेनेष्टस्तेषामयं दोषो भवेद्येस्तु सङ्करो न बाधक इष्यते तेषामयं कथं दोष इति शङ्कते ❀ अथेति ❀। स्वन्मतेऽपि ज्ञानगतविशेषस्य तज्ज्ञानस्वव्यतिरेकेणान्यस्यानिरूपणात् घटाकारस्वरूप एव घटज्ञानस्य विशेषस्तेनैव बाह्यार्थप्रयुक्तव्यवहारोपपत्तेर्ज्ञानव्यतिरिक्तज्ञेयासिद्धिरिति दूषयति ❀ तथापीति ❀।

घटज्ञानं पटज्ञानमिति स्वातिरिक्तसम्बन्धस्याबाधितानुभवविषयत्वात्सोऽपि सिध्यतीति शङ्कते ❀अथेति❀। यौक्तिकबाधात्सम्बन्धावभासस्य भ्रान्तित्वान्न तद्बलेन विषयसिद्धिरिति परिहरति ❀नेति❀। सम्बन्धो विषयादभिन्नो भिन्नो वेति विचार्यमाणत्वादद्यापि तदसिद्धिरित्यर्थः। घटज्ञानयोर्यः सम्बन्धो विचार्यते सोऽयं विषय एव तत्कथं तस्य दुर्निरूपत्वं कथं वा विषयासिद्धिः सम्बन्धस्योभयाधारतया प्रतीते-

का समावेशरूप साङ्कर्य दोष आ जाता है, जो कि घटविषयित्वादि में जातित्व का बाधक माना जाता है।

शङ्का—जैसे प्राभाकरगण 'इदं रजतम्'—यहाँ दो ज्ञान मानते हैं और प्रत्येक ज्ञान का एक ही विषय होता है, नानाविषयविषयक एक ज्ञान नहीं होता, अतः नानाविषयविषयक समूहालम्बन नाम का कोई एक ज्ञान होता ही नहीं घटविषयित्व और पटविषयित्व का साङ्कर्य कहाँ होगा ?

समाधान—नानाविषयक यदि कोई ज्ञान नहीं होता, तब 'दण्डी पुरुषः'—इत्यादि विशेष्य-विशेषणादि नाना विषयों का अवगाहन करनेवाले विशिष्ट ज्ञान भी न माने जा सकेंगे, फलतः 'इदं रजतम्'—इत्यादि स्थलों पर अन्यथा ख्याति न मान कर स्मृति-प्रमोषवाद ही मानना होगा।

शङ्का—जैसे नीलादि नाना रूपों के संवलन में नीलत्वादि से भिन्न चित्रत्व धर्म माना जाता है, वैसे ही घटपटोभयविषयक समूहालम्बन ज्ञान में भी घटज्ञानत्व-पटज्ञानत्व न मान कर चित्रत्व धर्म ही माना जा सकता है, अतः घटज्ञानत्व या घटविषयित्वादि का साङ्कर्य नहीं होता।

समाधान—यदि नानाविषयविषयक ज्ञान में एक-एक धर्म न मान कर चित्रत्व माना जाता है, तब सभी ज्ञानों में चित्रत्व ही मानना होगा, क्योंकि कोई ज्ञान एकमात्रविषयक होता ही नहीं, अन्ततो गत्वा घटादिनिर्विकल्प ज्ञान भी घट-घटत्वादि नानाविषयक ही होता है, तब कोई ज्ञान न एकविषयविषयक होगा और न एकविषयक व्यवहारादि का जनक ही हो सकेगा, अतः घटादि प्रत्येक विषय के उचित जलाहरणादि एक-एक व्यवहार का विलोप ही हो जायगा।

यदि साङ्कर्य दोष को जाति का बाधक न मानकर घटविषयित्व या घटज्ञानत्वादि जातियों की स्थापना की जाती है, तब उन्हीं जातियों के द्वारा घटादि-ज्ञानों की व्यावृत्ति और व्यवस्था सिद्ध हो जाती है, घटादिरूप बाह्य विषय मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, फलतः बाह्य विषय की असिद्धि और विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि पर्यवसित हो जाती है।

शङ्का—'घटस्य ज्ञानम्', 'पटस्य ज्ञानम्' इस प्रकार बाह्य घटादि विषय का सम्बन्ध ज्ञान के साथ प्रतीत होता है, अतः बाह्य विषय भी माना जाता है।

पत्तेः संयोगप्रतिपत्तिवत् । विषयित्वं तत्र, अर्थे तु विषयत्वमन्यदिति चेन्न, सैव हि ज्ञातता स्यात्, सा च निराकरिष्यते । द्वितीये च स्वात्मा घटपटव्यक्तीनामिव घटपटज्ञानव्यक्तीनां व्यावृत्त इति तत्तद्विषयविषयितागोचरानुगतबुद्धिव्यवहारभङ्ग-प्रसङ्गः ।

किञ्च तदीयता ज्ञानस्य स्वभाव इति वचनं विचारमर्हति । तदिति तावद्वि-

रिति शङ्कते ॐ स इति ॐ । तद्ध्यंसौ विषयविषयिभाव एकोऽनेको वेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ नेति ॐ । विषयविषयिभावस्यैकत्वात्तस्य च ज्ञानज्ञेयस्वरूपत्वात् ज्ञानज्ञेययोर्द्वयोरपि प्रत्येकं विषयत्वं विषयित्वं च प्रतीयेत संयोगस्यैकत्वे संयोगिद्वयेऽपि संयुक्तप्रतिभासवदित्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते ॐ विषयि-त्वमिति ॐ । अर्थे विषयत्वमेव ज्ञाने विषयित्वं प्रतीयते तथापि द्वयोः सम्बन्धस्योपचारस्तद्द्वयनिरूप्यत्वा-दित्यर्थः । तद्विषयभावस्य न द्रव्यान्तर्भावः सामान्यादिवृत्तित्वान्नाभावेऽपि अभावस्यापि विषयत्वादनन्त-र्भावोऽपि सिद्धान्तविरोधीति विषयता ज्ञाततेवेति परिशिष्यते तदनुपपत्तिर्वक्ष्यत इत्याह ॐ सेति ॐ । स्वस्य भावः स्वभाव इति प्रथमकल्पनिरस्य स्वमेव भावः स्वभाव इति द्वितीयं दूषयति ॐ द्वितीये चेति ॐ । ज्ञानज्ञेयस्वरूपाणां व्यावृतत्वाद् घटपटज्ञानादौ सर्वत्र विषयविषयिभावानुगतबुद्धिव्यवहारानुपप-त्तिरित्यर्थः ।

विषयिताया ज्ञानस्वभावत्वेऽपि विज्ञानवादिनिराकरणन्ते न घटत इत्यभिप्रेत्याह ॐकिञ्चेतिॐ ।

समाधान—ज्ञान और विषय का वही सम्बन्ध ही विचारणीय है । अन्य कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं और विषयविषयिभाव अभी तक स्थिर नहीं हो पाया । विषयविषयिभाव को ही सम्बन्ध के रूप में स्थिर क्यों नहीं कर लिया जाता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह 'विषयविषयिभाव' सम्बन्ध संयोग के समान एक है और दोनों सम्बन्धियों में रह कर प्रत्येक को उभयाकार बना देगा, फलतः विषय में विषयित्व और विषयी में विषयत्व अतिप्रसक्त होगा । [अर्थात् जैसे दण्ड और पुरुष—इन दोनों में एक संयोग रहने के कारण 'दण्डपुरुषौ संयोगवन्तौ'—ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही विषय और विषयी—इन दोनों में एक विषय-विषयिभाव रहने के कारण विषयविषयिणौ विषयविषयिभाववन्तौ—ऐसी प्रतीति होने लगेगी, उसकी उपपत्ति के लिये विषय और विषयी—दोनों के घटकीभूत प्रत्येक इकाई में विषयभाव (विषयत्व) और विषयिभाव (विषयित्व) दोनों धर्म पर्यवसित होंगे, किन्तु विषय में विषयत्व के रहने पर भी विषयित्व नहीं माना जाता और विषयी में विषयित्व के रहने पर भी विषयत्व नहीं माना जाता] ।

शङ्का—विषयविषयिभाव सम्बन्ध एकात्मक नहीं, आधार के भेद से भिन्नरूप माना जाता है, अर्थात् वह सम्बन्ध विषयिगत ही विषयित्वरूप होता और विषयगत उससे भिन्न विषयत्वरूप होता है ।

समाधान—यदि विषय में ज्ञानावृत्ति विषयत्वमात्र माना जाता है, तब वह द्विष्ठ न होने के कारण सम्बन्ध नहीं, अपितु भाट्ट-सम्मत ज्ञाततारूप वह धर्म कहा जायगा, जो विषय और ज्ञान का नियामक होता है । उस ज्ञातता का निराकरण इसी सन्दर्भ में आगे किया जा रहा है ।

यदि 'स्वश्चासौ भावः'—इस विग्रह के अनुसार 'स्वभाव' शब्द का स्वरूप अर्थ किया जाता है, तब जैसे घट-पट व्यक्तियों का स्वरूप पृथक्-पृथक् अननुगत होता है, वैसे ही घटज्ञान-पटज्ञानादि व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न स्वरूप ही मानना होगा, उसके आधार पर अनुगत विषयविषयिभाव का व्यवहार न हो सकेगा ।

यह जो कहा गया है कि 'तदीयता (विषयसम्बन्धिता) ज्ञानस्य स्वभावः'—यह

षयपरामर्शः, सम्बन्धिता छप्रत्ययस्यार्थः। तदेतदन्योन्यविशिष्टमुभयं ज्ञानस्य स्वभाव इति ब्रुवाणेन विषयो विज्ञानस्य स्वभाव इत्युक्तं भवतीति साधु विज्ञानवादनिराकरणप्रकरणोपसंहरणमकारि। सम्बन्धमात्रं ज्ञानस्य स्वभावः, न तु विषय इत्याशय इति चेन्न, विशेषानुपादाने सम्बन्धमात्रमिदं सर्वस्यैव स्यात्। यतो न तावन्न कस्यचित्, सम्बन्धस्वरूपतात्यागप्रसङ्गात्। नापि नियतस्य, तादात्म्यापत्तेरुक्तत्वात्, नियामकासम्भवाच्च। कारणं नियामकमिति चेत्, तेन नियामकेन किं भवति?

विचारमेव वर्णयति ❀ तदिति ❀। आयनादिसूत्रेणैव ईयप्रत्ययस्य सम्बन्धार्थछप्रत्ययस्थाने विधानात्तदादेशस्तद्वद्भवतीतिन्यायात् छप्रत्ययस्येत्युक्तम्। ततः किमित्यत आह ❀ तदिति ❀। तच्छप्रत्ययाभ्यां ज्ञानज्ञेययोर्मिलितं रूपमुक्त्वा तस्य ज्ञानात्मत्वविधानेऽर्थोऽपि ज्ञाने प्रवेशित इति भवच्छास्त्रे यद्विज्ञानवादनिराकरणोपसंहारप्रकरणं तद्विरुद्धं स्यादित्यर्थः। तदीयेत्यत्र छप्रत्ययेनापि प्रतीयमानं सम्बन्धमात्रं ज्ञानरूपं न तच्छब्दार्थो विषयोऽपि तेन न विज्ञानवादप्रसङ्ग उपलक्षणत्वेन विषयस्य बहिर्भावादिति शङ्कते ❀ सम्बन्धेति ❀। सम्बन्धस्य नियमेन सम्बन्धिपारतन्त्र्यात्सम्बन्धिविशेषानुपादाने सर्वस्यैवार्थस्य सम्बन्धो ज्ञानस्वभाव इति ज्ञानस्य सर्वाभेदप्रसङ्गान्न विज्ञानवादापत्तिपरिहार इति दूषयति ❀ नेति ❀। सम्बन्धस्य स्वतन्त्रत्वात् विशेषानुपादानेऽपि सर्वस्य सम्बन्धितया न ज्ञानाऽभेदापत्तिरित्यत आह ❀ यत इति ❀। सम्बन्धः कस्यचिदपि न भवति स्वतन्त्र एवेति तावन्नेति सम्बन्धस्तत्र हेतुः ❀ सम्बन्धेति ❀। घटादिनियत एव सम्बन्धस्तर्हि घटाविज्ञानस्वभावो भवत्वित्यत आह ❀ नापीति ❀। विषयविशेषेण सम्बन्धस्य नियतत्वमपि न सिद्धयति नियामकाभावादित्याह ❀ नेति ❀। प्रतिनियतज्ञानकारणमेव नियामकमतो

वाक्य भी विचारणीय है। 'तदीयता'—यहाँ 'तत्' पद से विषय का ग्रहण किया जाता है और उसके उत्तर ईयादेश-स्थानीय 'छ' प्रत्यय का अर्थ है—सम्बन्धिता ["त्यदादीनि च" (पा० सू० १।१।७४) इस सूत्र के द्वारा 'तत्' पद की वृद्ध संज्ञा और "वृद्धाच्छः" (पा० सू० ४।२।११४) इस सूत्र के द्वारा सम्बन्धिसामान्य अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है और "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" (पा० सू० ७।१।२) इस सूत्र के द्वारा 'छ' प्रत्यय को 'ईय' आदेश होकर 'तदीयः' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—तस्यायमिति तदीयः]। 'तत्' पद और 'छ' प्रत्यय—इन दोनों के द्वारा ज्ञान और विषय का मिलित रूप अभिहित होता है। उस मिलित रूप में ज्ञानात्मकता का विधान कर देने पर बाह्य विषय का भी ज्ञान के स्वरूप में अन्तर्भाव हो जाने के कारण योगाचार-प्रतिपादित विज्ञानवाद ही पर्यवसित हो जाता है, अतः विज्ञानवाद के निराकरण का उपसंहार करते हुए आत्मतत्त्वविवेक में जो कहा गया है—"लक्ष्यस्तावदत्र विषयविषयिभावः, स च प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेषः" (आ. त. वि. पृ. २२४)। वह उपसंहरण उपक्रम के अत्यन्त विपरीत पड़ जाता है।

शङ्का—'तदीय' पद का अर्थ तदुपलक्षित सम्बन्ध है, अतः केवल सम्बन्ध ज्ञान का स्वरूप होता है, विषय नहीं।

समाधान—सम्बन्ध का विशेषणीभूत विषय सम्बन्ध से पृथक् नहीं किया जा सकता, अन्यथा शुद्ध सम्बन्ध तो वस्तुमात्र का लिया जा सकता है, उसके ज्ञानस्वरूप होने पर विज्ञानवाद ही पर्यवसन्न होता है। सम्बन्ध नित्य सापेक्ष पदार्थ है कि किसी पदार्थ का सम्बन्ध किसी वस्तु में होता है। किसी सम्बन्ध के लिए 'अयं न कस्यचित्—ऐसा कहना सम्बन्धरूपता को ही तिलाञ्जलि देना है। घटादि विषय से नियत सम्बन्ध को ज्ञानरूप मानने पर विषय में ज्ञान की तादात्म्यापत्ति दिखाई जा चुकी है। सम्बन्ध के साथ विषयनियतत्व का कोई नियामक भी सम्भव नहीं।

तदीयत्वं तस्य सम्बन्धस्येति चेत्, तदेव तदीयत्वं ज्ञानस्वभावभूतसम्बन्धस्वरूपप्रविष्टमुत बहिर्भूतं धर्मान्तरम् ?

यदि प्रथमः, तच्छब्दार्थोऽपि तर्हि स्वरूपप्रविष्ट इति विषयज्ञानयोः स एवाभेदप्रसङ्गः। द्वितीये च तस्य धर्मान्तरस्य विषयेणाभेदः, तच्छब्दार्थस्य विषयस्य विशेषणस्य तदीयशब्दार्थे विशिष्टरूपे प्रविष्टस्य स्वीकृतधर्मान्तरस्वभावतया निरुक्तत्वात्। तदीयत्व

अस्तु असौ धर्मो विषयाभिन्न इति चेत्, तथापि किमसौ स्वीकृतेन स्वभावसम्बन्धेन सम्बद्धो न वा ? न चेत्, तद्विज्ञानं न कस्यचित्सम्बन्धि स्यात्। सम्बद्ध-

नियामकाभावोऽसिद्ध इति शङ्कते ॐ कारणमिति ॐ। अकिञ्चित्करस्य नियामकत्वायोगात्तज्जन्यातिशयः कश्चित्सम्बन्धो वक्तव्यो न चायं वक्तुं शक्य इति परिहरति ॐ नेति ॐ। विषयविशेषनियतत्वं सम्बन्धस्य नियामकेन क्रियते इति शङ्कते ॐ तदीयेति ॐ। नियामकेन यत्तदीयत्वं सम्बन्धस्य भवति तत् ज्ञानस्वरूपे विषयविषयिभावसम्बन्धेऽन्तर्भूतमुतानन्तर्भूतमिति विकल्पयति ॐ तदिति ॐ।

प्रथममनूद्यापवदति ॐ यदीति ॐ। तदीयत्वमित्यत्र तच्छब्देनोच्यमानो घटादिविषयोऽपि छप्रत्ययार्थः सम्बन्धिविशेषणतया ज्ञानस्वरूपे प्रविष्ट इति ज्ञानज्ञेययोरभेदप्रसङ्ग इत्यर्थः। तदीयत्वं ज्ञानस्वभावसम्बन्धाद् बहिर्भूतमिति द्वितीयं दूषयति ॐ द्वितीये चेति ॐ। तस्य छप्रत्ययेनोच्यमानस्य तदीयत्वाख्यधर्मान्तरस्य स्वविशेषणीभूततच्छब्दार्थविषयेणाभेदः स्यादित्यर्थः। कुत इत्यत आह ॐ तदिति ॐ। तच्छब्दार्थस्य घटादेस्तदीयत्वलक्षणविशिष्टरूपे विशेषणतया प्रविष्टस्य स्वघटिततदीयत्वरूपप्रविष्टस्य स्वीकृतधर्मान्तरस्वरूपतया स्वयैव निरुक्तत्वादित्यर्थः।

ज्ञाने ज्ञेयसम्बन्धस्य सम्बन्धिभ्यां स्वभावसम्बन्धव्यतिरेकेण सम्बन्धान्तरासम्भवेन स्वभावसम्बन्धताङ्गीकारेण निरुक्तत्वादित्युक्तनियामकनिमित्तस्य विषयाभेदः स्यात्, को दोष इति शङ्कते ॐअस्त्वितिॐ। विषयाभिन्नधर्मान्तरस्य विषयविषयिभावसम्बन्धेन सम्बन्धोऽस्ति न वेति विकल्पयति ॐ तथापीति ॐ। सम्बन्धस्य तदीयत्वधर्मेण सह सम्बन्धान्तरस्वीकारेऽनवस्थानादसम्बन्ध एवास्त्वित्यत आह ॐन चेदितिॐ। विज्ञानस्यैव विषयविषयिभावसम्बन्धाद्विज्ञानस्वभावसम्बन्धस्य न विज्ञानं घटादिविषयं स्यादित्यर्थः।

शङ्का—कार्य का कारण नियामक होता है, अतः घटरूप कारण से जनित सम्बन्ध का घट नियामक क्यों न होगा। श्री उदयनाचार्य ने भी कहा है—"कुतोऽयमीदृगित्यनुयोगेऽपि सामग्रीशक्तिरेवोत्तरम्, कार्यकारणभाववत्" (आ. त. वि. पृ. २२५)।

समाधान—उक्त नियामक क्या करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यदि कहा जाता है कि उक्त नियामक के द्वारा घट-जनित सम्बन्ध में घटीयत्व उत्पन्न किया जाता है। तब जिज्ञासा होती है कि उक्त घटीयत्व ज्ञान के स्वरूपभूत सम्बन्ध का स्वरूप माना जाता है ? या उसके स्वरूप से बहिर्भूत होता है ? यदि सम्बन्ध-स्वरूप के अन्तर्गत है, तब तत् पदार्थ (घटादि विषय) भी स्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है, फलतः विषय और ज्ञान का वही अभेद-प्रसङ्ग उपस्थित होता है। यदि तदीयत्व को संबन्ध-स्वरूप नहीं माना जाता, तब तदीयत्वरूप धर्मान्तर का तत्पदार्थात्मक विषय से अभेद मानना होगा, क्योंकि 'तदीय' पदार्थ एक ऐसा विशिष्टार्थ है, जिसमें तत्पदार्थरूप विषय विशेषणविधया प्रविष्ट है और उसे तदीयत्वरूप धर्मान्तर का स्वरूप कहा गया है—स्वभावत्वादेव च नोपकारान्तरमेपक्षते, तन्मात्रीयत्वादेव च नान्यदीयः" (आ० त० वि० पृ० २२४–२५)।

यदि तदीयत्वरूप धर्मान्तर विषय से अभिन्न मान लिया जाता है, तब क्या वह स्वीकृत स्वरूप संबन्ध से सम्बद्ध है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं, तब वह विज्ञान किसी का संबन्धी नहीं हो सकेगा। यदि संबद्ध है, तब क्या वह किसी अन्य संबन्ध से अथवा स्वरूप

श्चेत्, किं सम्बन्धान्तरेण आहो स्वभावसम्बन्धेनैवासौ ज्ञानात्मकसम्बन्धसम्बन्धीयः? आद्ये तत्राप्येवं प्रसङ्गः, यस्या भयेन स्वभावसम्बन्धः स्वीकृतः, सा तदवस्थैवानवस्था। द्वितीयश्चेत्, ज्ञानात्मकसम्बन्धसम्बन्धीय इत्यत्र विशिष्टस्वरूपे ज्ञानरूपमपि विशेषणं प्रविष्टमिति पूर्वोक्तन्यायेन अधुनोक्तन्यायेन च ज्ञानस्यैकस्यैव द्वयमपि स्वात्मेति वाग्भङ्गिभेदमात्रेण ज्ञानगोचरयोरभेदस्वीकार इति। एतेनान्यत्रापि स्वभावसम्बन्धः प्रत्याख्यातव्यः।

ज्ञानीयफलाधारत्वं विषयत्वम्, तद्धत्वं च विषयित्वमित्यपि दुष्टम्। तथा हि— ज्ञानीयं फलं ज्ञातता वा व्यवहारो वा स्यात्? आद्ये अतीतानागतधीभ्रमाद्यर्थाव्याप्तिः। न च तत्रैव फलजनने किं नियामकमिति प्रयोजकमनुगतं शक्यनिर्वचनम्,

---

प्रथमपक्षमनूद्य पुनर्द्वेधा विकल्पयति ॐ सम्बन्धश्चेदिति ॐ। सम्बन्धीयः सम्बद्ध इत्यर्थः। सम्बन्धान्तरानङ्गीकारे तद्व्यवहारस्य निरालम्बत्वापातात्प्रथमकल्प एवास्त्वित्यत आह ॐ आद्य इति ॐ। तत्रापि तदीयान्तरत्वस्य स्वीकर्त्तव्यतया सैवानवस्था स्याद्यस्या भयेन पूर्वं स्वभावसम्बन्धस्वीकार इत्यर्थः। स्वभावसम्बन्धेन तदीयत्वं धर्मान्तरं स्वभावसम्बन्धेनैव सम्बद्धमिति द्वितीयकल्पमनूद्यापवदति ॐ द्वितीय इति ॐ। ज्ञानात्मकसम्बन्धेन स्वभावसम्बन्धीत्यत्र विशिष्टरूपे ज्ञानमपि विशेषणतया प्रविष्टं स्यादित्यर्थः। ज्ञानस्य विशेषणतया विशिष्टरूपे प्रवेशस्वीकारमात्रेण कथं ज्ञानज्ञेयाभेदप्रसक्तिरित्यत आह ॐ इति पूर्वेति ॐ। तदेतदन्योन्यविशिष्टमुभयं ज्ञानस्वभाव इति पूर्वोक्तन्यायस्तच्छब्दार्थस्य तदीयत्वविशिष्टे विशेषणतया प्रवेश इत्येवंरूपः अधुनोक्तन्यायः ॐ वाग्भङ्गिभेदेति ॐ। धर्मान्तरमपि तत्स्वभाव इति वचनेनेत्यर्थः। समवायादावपि स्वभावसम्बन्धस्तेनैव न्यायेन निराकरणीय इत्याह ॐ एतेनेति ॐ।

विषयविषयिभावलक्षणान्तरं समाशङ्क्य निराचष्टे ॐ ज्ञानीयेति ॐ। ज्ञानजन्यं फलं ज्ञानीयं प्राप्तिफलवत् प्रामाण्यवच्छेदार्थं विशेषणं तद्धत्वमिति। तज्जनकत्वमिति यावत्। दुष्टत्वं प्रकटयितुं विकल्पयति ॐ तथा हीति ॐ। आद्यमव्याप्त्या दूषयति ॐ आद्य इति ॐ। अभूद् वृष्टिर्भविष्यति वृष्टिरिदं रजतं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादिविज्ञानकाले विशिष्टाभावादेव न तदाश्रितं स्फुरणफलञायते न ह्यस्ति सम्भवोऽप्रत्युत्पन्नो धर्मी धर्मश्च प्रत्युत्पन्न इति, तेन तद्विषयविषयिभावाव्याप्तिरित्यर्थः। दूषणान्तरमाह

संवन्ध से ज्ञानात्मक संवन्ध के साथ संबन्धित किया जाता है? यदि अन्य संबन्ध के द्वार संबन्धित किया जाता है, तब वह अन्य संबन्ध भी किसी अन्य संबन्ध के द्वारा और वह अन्य संबन्ध भी अन्य संबन्ध के द्वारा -इस प्रकार अनवस्था पर्यवसित होती है। कथित स्वरूप संबन्ध से संबन्धनीय मानने पर 'ज्ञानात्मकसंबन्धसंबन्धीय'— इस विशिष्टार्थ में ज्ञानरूप विशेषण भी प्रविष्ट है, अतः इस पद्धति का भी पूर्व पद्धति के अनुसार विज्ञानाद्वैतवाद में पर्यवसान हो जाता है। जैसे विषयी के साथ विषय के स्वरूप सम्बन्ध का यहाँ निराकरण किया गया, वैसे ही समवायादि स्थलों पर भी स्वरूप सम्बन्ध का निराकरण किया जा सकता है।

(२) ज्ञानीयफलाधारत्वं विषयत्वम्, तद्धत्वं च विषयित्वम् –

शङ्का—ज्ञान से जनित फल की आधारता ही विषयता कहलाती है। घट-ज्ञान के अनन्तर घट की इच्छा एवं घट का ग्रहणादि व्यापार होता है, जैसा न्यायभाष्यकार कहते हैं—"प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाता अर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा, तस्येप्सा जिहासा प्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते" (न्या. भा. १।१।१)। ज्ञान-जन्य प्रवृत्त्यादिरूप फल की आश्रयता ही घटादिनिष्ठ घटादि-ज्ञानों की विषयता और उस प्रवृत्त्यादिरूप फल की ज्ञानगत जनकता ही विषयिता कहलाती है।

समाधान—उक्त लक्षण में ज्ञान-जन्य फल के रूप में भाट्ट-सम्मत ज्ञातता विवक्षित

तथात्वे वा तदेव विषयत्वमस्तु।

व्यवहारश्च यदि कराकर्षणादिः, स न सार्वत्रिकः नान्तरीयकश्चान्यत्रापि इत्यतिव्यापकम्। यदि इच्छादिः, तदाधारत्वमात्मन इति घटाद्यव्याप्तिः। तद्विषयत्वं च तद्विषयत्वमेवापेक्षते। यश्चोपेक्षां नाम व्यवहारं नानुमनुते, कथं नोपेक्षाप्रेक्षामुपेक्षते ?। हानादिव्यवहारज्ञानानामेव च कथं न निर्विषयत्वं प्रसज्यते। अथ सर्वत्र

❀ न चेति ❀। बहुसन्निधौ जायमानज्ञानेन तत्रैव फलजनने किं नियामकमिति वीक्षायाम्न तावत्संयोगजत्वं नियामकं चक्षुरादेरपि रूपादिज्ञानेन ज्ञाततादर्शनान्नापि तद्विशेषितत्वमतीतादेरसतो विशेषकत्वायोगान्नापि तदाकारत्वं विज्ञानवादप्रसङ्गादजडस्य जडाकारत्वायोगाच्चातो नियामकाभावावसिद्धिर्लक्षणस्येत्यर्थः। कुठारजन्यक्रियाया कुठारविषये फलजनकत्ववत् ज्ञानमपि स्वकरणविषये फलञ्जनयतीति करणद्वारकसम्बन्धो नियामक इत्यत आह ❀ तथात्व इति ❀। उपजीव्यत्वाल्लाघवात्तदेव विषयविषयिभावलक्षणमास्तामित्यर्थः। यदि ज्ञानफलं व्यवहारस्तर्ह्यसावुपादानादिरूप उतेच्छारूप इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ व्यवहार इति ❀। आत्माकाशादौ कराकर्षणादेरभावेनाव्याप्तिस्तथा घटज्ञानेन घटादाने तन्निष्ठरूपादेरपरिहार्यतयाऽऽदानं भवतीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयेऽसिद्धिमाह ❀ यदीति ❀। इच्छोपेक्षादि ज्ञानफलं तदाधारत्वं न च घटादेरात्मगुणस्यात्मसमवायादित्यसिद्धिरित्यर्थः। इच्छाद्याधारत्वम्न विषयत्वं किं तु तद्विषयत्वमेव तच्च घटपटादेरप्यस्तीति नाव्याप्तिरित्यत आह ❀ तदिति ❀। विषयत्वस्याद्याप्यसिद्धतया तत्सिद्धौ तत्सिद्धिरित्यात्माश्रय इत्यर्थः। अव्याप्त्यन्तरमाह ❀ यश्चेति ❀। उपेक्षाया इच्छाभावमात्रतया व्यवहारत्वं नास्तीति चिरंतनतार्किकरीतिः, तन्मते तृणादिविषयोपेक्षाजनकप्रेक्षां कथमुपेक्षेत उपेक्षेतैवेति तृणाद्यविषयत्वापत्तिरित्यर्थः। हानादिव्यवहारे हानाद्यन्तरमस्त्युतास्तीति विकल्प्य प्रथमे तत्रैवाव्याप्तिरित्याह ❀ हानादीति ❀। हानादिरपि हानाद्यन्तरवान् ज्ञेयत्वादिति द्वितीयं शङ्कते

है ? अथवा नैयायिकादि-सम्मत व्यवहार ? ज्ञाततावत्ता सभी विषयों में सम्भव नहीं, क्योंकि अतीत और अनागत विषयों की जब वर्तमान में सत्ता ही नहीं, तब उनके ज्ञान से जनित ज्ञातता कहाँ उत्पन्न होगी ? इसी प्रकार जहाँ 'इदं रजतम्'—ऐसा भ्रम ज्ञान हो रहा है, वहाँ रजतरूप विषय है ही नहीं, ज्ञातता किस पर रहेगी ? दूसरी बात यह भी है कि घटज्ञान अपने ज्ञाततारूप फल को घट पर ही क्यों उत्पन्न करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में किसी अनुगत नियामक का निर्वचन नहीं किया जा सकता। यदि वैसा नियामक कोई सुलभ होता है, तब उसी को विषयता का स्वरूप मान लेने में लाघव है।

ज्ञान-जन्य व्यवहाररूप फल का ग्रहण करने पर व्यवहार के विषय में जिज्ञासा होती है कि वह यहाँ हानोपादानादि क्रियारूप विवक्षित है ? अथवा इच्छादिरूप ? प्रथम कल्प के अनुसार मूर्त्त द्रव्य में ही व्यवहाराधारता कथञ्चित् बन सकेगी, आत्मादि में नहीं। दूसरी बात यह भी है कि घटानयन के साथ-साथ घट में भरे जलादि, घट के अवयव एवं गुणादि का भी आनयन हो जाता है, किन्तु घट-ज्ञान के वे विषय नहीं माने जाते। 'व्यवहार' शब्द से इच्छादि की विवक्षा करने पर इच्छा की समवायेन आधारता अभिप्रेत है ? या विषयता सम्बन्ध से ? समवायेन इच्छा की आधारता तो केवल आत्मा में है, घटादि में नहीं और इच्छा की विषयता तो ज्ञान की विषयता पर निर्भर है, विषयता का ही विचार किया जा रहा है।

जो लोग हान (त्याग) उपादान और उपेक्षा—इन तीनों में से हान और उपादान को ही व्यवहाररूप मानते हैं, उपेक्षा को नहीं। उनके मतानुसार उपेक्ष्यभूत तृणादि के ज्ञान की विषयता तृणादि में नहीं बन सकेगी, क्योंकि उनमें उपेक्षा की आधारता होने पर भी व्यवहारपदास्पद हान और उपादान की आधारता नहीं मानी जाती। हानादि व्यवहार का ग्रहण करने पर भी हानादि क्रिया में बिषयता का लक्षण न घट सकेगा, क्योंकि हानादि

हानादिव्यवहारोपगमः, तदा व्यवहारज्ञानयोरनुपरम एव स्यात्।

एतेन तत्सम्बन्धत्वं यदुच्यते यत्प्रतिबद्धव्यवहारानुकूलस्वभावं यद्विज्ञानं तत्तस्य विषयः, तद्वत्त्वं विषयित्वमिति। तदपि प्रागुक्तयुक्तिं नातिवर्तते।

"अथोच्यते य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
तद्वेद्यः स पृथक् नेति वेद्यावेद्यस्य लक्षणम्॥" इति।

तदपि न विघ्नः, यस्यां संविदिति किं संविदधिकरणम्, अथ तद्विषयः, अथ सम्बन्धिमात्रम्? नाद्यः, घटादेस्तदधिकरणत्वानुपगमेन अव्यापनात्, यथा तथा

※ अथेति ※। तत्तद्व्यवहारसिद्धयर्थं तत्तज्ज्ञानं तत्तद्विषयसिद्धयर्थं तत्तद्व्यवहारान्तरं स्वीकार्यमित्यनवस्था क्वचिदुपरमे तत्रैवाव्याप्तिरिति परिहरति ※ तदिति ※।

यत्सम्बद्धो यो व्यवहारस्तदनुकूलस्वभावज्ञानं विषयि अर्थश्च स विषय इति मतान्तरन्तत्राप्युक्तं खण्डनमतिदिशति ※ एतेनेति ※। तत्सम्बद्धत्वं च यदुच्यते तदपि प्रागुक्तयुक्तिं नातिवर्त्तत इति सम्बन्धः। तत्सम्बन्धप्रकारमेव दर्शयति ※ यदित्यादिना ※। स्वभावशब्दार्थव्यवहारशब्दार्थविकल्पदूषणेनैव निरस्तमित्याशयः।

शालिकनाथेनोक्तं विषयलक्षणमनुवदति ※ अथेति ※। योऽर्थो यस्यां संविदि भासते सोऽर्थस्तद्वेद्यस्तस्याः संविदो विषयः पृथङ्नेति पृथग् अन्योऽनवभासमानो न विषय इति भासमानत्वमभासमानत्वं च विषयाविषयलक्षणमित्यादि यदुच्यत इत्यर्थः। भासमानत्वं भानकर्तृत्वं चेत् घटाद्यव्याप्तिर्भावकर्मत्वं चेदनुमेयाव्याप्तिस्तद्विषयत्वं चेदद्यापि तदसिद्धिरित्यभिप्रेत्य दूषयति ※ तदिति ※। यस्यामिति सप्तम्या अधिकरणमर्थं उत विषयो यद्वा सम्बन्धिमात्रमिति त्रिधा विकल्पयति ※ यस्यामिति ※। भूतलाद्यधिकरणघटादीनां ज्ञानानाश्रितानां अविषयत्वापत्तिरिति प्रथमं निराकरोति ※ नाद्य इति ※। शुक्लो घट इति यदत्र घटो विदित इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययाद्वेदननिष्ठत्वं घटादेरप्युपचारत इत्यत आह ※ यथेति ※। घटज्ञाननिष्ठत्वं ज्ञानस्वगुणत्वादेरस्तीति तं प्रति विषयत्वापत्तिरित्यर्थः। विषयसप्तमीति

व्यवहार का हानादि व्यवहार नहीं माना जाता, यदि माना जाय, तब अनवस्था प्रसक्त होती है।

(३) यत्प्रतिबद्धव्यवहारानुकूलस्वभावं यद्विज्ञानम्, तत्तस्य विषयः—

शङ्का—जो ज्ञान जिस पदार्थ से सम्बद्ध होकर उसके व्यवहार का जनक होता है, उस ज्ञान का वही पदार्थ विषय कहलाता है एवं उस व्यवहार की जनकता विषयित्व कही जाती है।

समाधान—इस लक्षण में भी व्यवहार पदार्थ के विकल्पों पर उद्भावित दोष प्रसक्त होते हैं।

(४) यस्यां संविदि योऽर्थो भासते, स वेद्यः—

शङ्का – श्री शालिकनाथ मिश्र ने कहा है

"अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
वेद्यः स एव नान्यद्धि विद्याद् वेद्यस्य लक्षणम्॥" (प्र. पं. पृ. ४८)

[जिस ज्ञान के उत्पन्न होने पर जो पदार्थ अवभासित होता है, वही उस ज्ञान का विषय माना जाता है]।

समाधान—यहाँ पर जो कहा गया है कि 'यस्यां संविदि'। वहाँ संवित् (ज्ञान) को क्या विषय का अधिकरण कहा गया है? या विषय का विषय? अथवा विषय का सम्बन्धिमात्र? प्रथम कल्प के अनुसार घटादि पदार्थों में विषयता का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि ज्ञान घटादि का आधार नहीं होता। यदि स्वभासनजनकत्वादि सम्बन्ध से ज्ञान को घटादि

निर्वचने ज्ञानत्वाद्यतिव्याप्तेश्च । द्वितीयश्च अद्याप्यनिरूपितः कथं निरूपकः स्यात् ? वैपरीत्यापाताच्च । तृतीयश्चातिव्यापकः, कारणादेरपि तत्सम्बन्धित्वात् ज्ञानान्तरेणावभासमानत्वात् ।

तयैव संविदा भासमानत्वमिति चेन्न, भासमानत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, तन्निरूप्यत्वात्तद्वत्त्वस्य । यस्यां संविदि प्रकाशमानायां यः प्रकाशत एवेति चेन्न, प्रकाशमानताया एव निरूप्यमाणत्वात् । सामान्यतो विषयत्वे सिद्धे विशेषतो विषय-

द्वितीयं दूषयति ॐ द्वितीय इति ॐ । तद्विषयज्ञाने योऽर्थो भाति तस्य लक्षणमुक्तं स्यादेवं च सति विषयपदार्थानिरुक्तौ न तेन लक्षणनिरूपणमात्माश्रयादिप्रसङ्गादित्यर्थः । अनिष्टान्तरमाह ॐ वैपरीत्येति ॐ । यत्प्रातिपदिकोपरि सप्तमी भवति तया तदर्थस्यैव विषयत्वप्रतिपादनात् ज्ञानस्य विषयत्वं घटादेर्विषयित्वमपि वैपरीत्यमित्यर्थः । सम्बन्धिमात्रं सप्तम्यर्थ इति तृतीयं दूषयति ॐ तृतीयेति ॐ । ज्ञानकारणानां तत्सम्बन्धितया तद्विषयत्वप्रसङ्ग इति यावत् । ज्ञानसम्बन्धित्वे सति भासमानत्वं विषयत्वं तत्कथमभासमानचक्षुरादेर्विषयत्वप्रसक्तिरित्यत आह ॐ ज्ञानेति ॐ । तज्ज्ञानभास्यत्वं तद्विषयलक्षणन्न भास्यत्वमात्रमतो न चक्षुरादिव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ तयेति ॐ । तच्छब्दस्य सामान्यविशेषार्थत्वानुपपत्तिमभिप्रेत्य परिहरति ॐ नेति ॐ । भासमानत्वस्यैवाद्याप्यसिद्धत्वाद्भासमानत्वसिद्धौ तद्वत्त्वस्य भासमानसम्बन्धित्वं संविदि सिद्धयेदेवं च संवित्सम्बन्धसिद्धौ भासमानत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च संवित्सम्बन्धित्वसिद्धिरिति परस्पराश्रय इत्यर्थः । शङ्कते ॐ यस्यामिति ॐ । सप्तम्या अधिकरणत्वं विषयत्वं वा तत्सम्बन्धित्वं वा नोच्यते किन्तु यस्यां प्रकाशमानायां सत्यामिति सतिसप्तमीयमित्यर्थः । समूहालम्बनज्ञाने कारणानामपि ज्ञानेन सह भासमानत्वमस्तीति तद्व्युदासाय भाननियमग्रहणं । प्रकाशमानत्वविशेषणासिद्धया लक्षणासिद्धिरेवेति परिहरति ॐ नेति ॐ । प्रकाशविषयता हि प्रकाशमानता विषयस्याद्याप्यनिरूपणात्प्रकाशमानत्वासिद्धिरित्यभिप्रायः । सामान्यतस्तावद्विषयत्वं सिद्धमिदं च विशेषतो विषयत्वाभिधानमतः सामान्यतः सिद्धं विषयत्वमुपजीव्य विशेषतो विषयत्वाभिधानं स्यादिति शङ्कते ॐ सामान्येति ॐ । सामान्यस्य येन केन-

का आधार माना जाता है, तब भी ज्ञानगत ज्ञानत्व और गुणत्वादि धर्मों में विषयता अतिव्याप्त होती है, क्योंकि उन धर्मों की अधिकरणता ज्ञान में मानी जाती है ।

द्वितीय विषयता कल्प सम्भव नहीं, क्योंकि अभी तक विषयता का निरूपण ही नहीं हो सका है । दूसरी बात यह भी है कि यदि ज्ञान को घटादि का विषय माना जाता है, तब वैपरीत्यापत्ति होती है, क्योंकि लोक में ज्ञान की विषयता घट पर मानी जाती है, घट की विषयता ज्ञान पर नहीं । तृतीय कल्प के अनुसार दण्डादि में घट-ज्ञान की विषयता प्राप्त होती है, क्योंकि दण्डादि भी घट के जनक होने से सम्बन्धी हैं और अपने ज्ञान से अवभासित भी । यदि कहा जाय कि दण्डादि पदार्थ घट-ज्ञान से प्रकाशित न होकर अन्य ज्ञान से प्रकाशित होते हैं, किन्तु विषय वही होता है, जो उसी तत्सम्बन्धी ज्ञान से भासमान हो । तो वैसा कहना भी संगत नहीं, क्योंकि भासनत्व का ही अभी तक निरूपण नहीं हो सका, तब भासमानत्व का कैसे होगा ? क्योंकि भासनत्व से ही भासनत्ववत्ता या भासमानता निरूपित होती है ।

(५) यस्यां संविदि प्रकाशमानायां यः प्रकाशते—

शङ्का—जिस ज्ञान के प्रकाशमान होने पर जो पदार्थ प्रकाशित होता है, उस पदार्थ को उस ज्ञान का विषय माना जाता है ।

समाधान—प्रकाशमानता नाम है 'प्रकाश-विषयता' का, विषयता का निरूपण ही अभी तक नहीं हो पाया है, अतः यह लक्षण भी विशेषणासिद्ध है ।

शङ्का—उक्त लक्षण में विशेषणासिद्धि नहीं, क्योंकि विषयता दो प्रकार की होती है—

स्वाभिधानमिति चेन्न, सर्वथा विशेषानुपपत्तिद्वारा सामान्यानुपपत्तौ तद्विषयप्रमात्वस्यापि सन्दिग्धत्वात् ।

ज्ञानाकारार्पणक्षमो हेतुरेव विषय इति चेन्न, आकार एव केनार्पित इति विनिगन्तुमशक्यत्वात् । न ह्याकारस्ततो ज्ञानस्वरूपादन्यः, तत्र च तथोत्पन्नानि कारणानि प्रत्येकमेव समर्थानीति कथं तेषु विशेषं विनिगमयिष्यसि । यद्यपि सकलसमर्थहेत्वनुविधानमस्ति, तथापि स्फुटं तावद् घटस्यानुविधानमिति तदेव तदाकारप्रयोजक-

चिद्विशेषेण व्याप्तत्वात् विशेषमात्रासिद्धौ निष्कृष्टसामान्यप्रसिद्धिरप्रमैवेति परिहरति ॐ नेति ॐ ।

ज्ञाने य आकारो नास्ति तमाकारमर्पयितुं समर्थो यो हेतुः स विषय इति सुगतमतं शङ्कते ॐ ज्ञानेति ॐ । चक्षुरादिव्युदासायाकारसमर्पकत्वविशेषणम् । परिहरति ॐ नेति ॐ । ज्ञानाकारो ज्ञानस्वरूपम् , उत धर्मः ? आद्ये ज्ञानजनकमात्रस्यैव तदर्पकत्वेनातिव्याप्तिर्द्वितीये तस्य व्यावृत्तौ लक्षणव्यावृत्तिरनुगतत्वे तस्य भावरूपत्वे सिद्धान्तविरोधोऽभावरूपत्वे तज्जनकत्वमेव न कारणस्येत्यसिद्धिरित्यर्थः । स्वाभिप्रायमेव प्रकटयति ॐ न हीति ॐ । अस्तु ततः किमित्यत आह ॐ तत्र चेति ॐ । तथोत्पन्नानि मिलितानीति यावत् । चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकत्वेन सर्वहेतुसापेक्षत्वं यद्यप्यस्ति घटज्ञानस्य तथापि स्फुटमसङ्कीर्णमसाधारण्येनान्वयव्यतिरेकवत्त्वं घटस्य तत्रास्ति तेन घटाकारज्ञाने घटस्यैव क्षमत्वमिति विनिगम्यते इति शङ्कते ॐ यद्यपीति ॐ । घटज्ञानमिति घटेन विशेषितत्वं स्फुटत्वमिति यावत् । कारणभावेऽन्वयव्यतिरेकवत्त्वस्यैव प्रयोजकत्वादाकारसमर्पको हेतुर्विषय इति लक्षणं कारणान्तरेष्वप्यस्ति स्फुटत्वमप्रयोजकमिति परिहरति ॐ नेति ॐ । स्फुटानुविधानत्वे सत्याकारसमर्पको हेतुर्विषय इति लक्षणं ब्रूमोऽस्तो

सामान्य और विशेष । सामान्य विषयता लोक-प्रसिद्ध है, उसको विशेषण बना कर विशेष विषयता का लक्षण किया जाता है ।

समाधान—जैसे वृक्ष-समूह को वन कहा जाता है, वृक्ष का ज्ञान न होने पर वन का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही विशेष-समूह को सामान्य कहा जाता है, विशेष का ज्ञान न होने पर सामान्य का ज्ञान भी नहीं हो सकता । यह जो कहा गया कि सामान्य बिषयता ज्ञात है, वहाँ सामान्य विषयता को ज्ञान में प्रमात्व का कोई निर्णायक न होने के कारण प्रमात्व सन्दिग्ध है, सन्दिग्धप्रामाण्यक ज्ञान के द्वारा सामान्य विषयता की सत्ता का निश्चय नहीं किया जा सकता ।

(६) ज्ञानाकारार्पणक्षमो हेतुरेव विषयः—

शङ्का—वैभाषिकगण घटादि बाह्य पदार्थों को अपने ज्ञान में अपने आकार का समर्पक मानते थे, उनके मतानुसार विषय का लक्षण किया जाता था—'स्वज्ञाने स्वाकारसमर्पको हेतुप्रत्ययो विषयः' धर्मकीर्ति ने भी कहा है—

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ।। (प्र. वा. २।२४७)

समाधान—घटेन्द्रिय-सन्निकर्षादि-घटित सामग्री जिस ज्ञान को जन्म देती है, उसमें आकार का समर्पण घट ही करता है—इस तथ्य का नियामक कोई प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । वस्तुतः आकार ज्ञान का स्वरूप ही है, जैसा कि ज्ञानश्री ने कहा है—"नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः" (ज्ञानश्री० पृ० ३८६) । अतः ज्ञान का जनक कारण-समूह ज्ञानगत आकार का समर्पक कहा जा सकता है, कोई एक पदार्थ ही आकार का समर्पक है—ऐसी विनिगमक युक्ति का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता ।

शङ्का—ज्ञानगत आकार के समर्पण में यद्यपि ज्ञान की पूरी सामग्री ही समर्थ है, तथापि उस आकार के साथ घटादि का स्फुट अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है, अतः ज्ञानगत

मिष्यत इति चेन्न, समस्तकारणान्तरानुविधानवद् घटानुविधानस्य प्रामाणिकत्वाविशेषेण किं स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्यां स्यात्? स्फुटानुविधानमादायैव विषयनिरुक्ति कुर्म इति चेन्न, सर्वहेत्वनुविधानस्य न्यायतः स्फुटत्वात्। दृश्यमानमनुविधानं यस्येति चेन्न, दत्तोत्तरत्वात्। दृश्यमानतैव च विषयताऽनिर्वचनान्न शक्योपदर्शना।

ज्ञानकर्मत्वमित्यपि न, ज्ञानेन कर्मणः सम्बन्धस्य निर्वक्तव्यत्वात्। तन्निरुक्तिभङ्गश्च ईश्वराभिसन्धौ ज्ञाततावादे द्रष्टव्यः।

न हेत्वन्तरव्याप्तिस्तत्र स्फुटानुनिधानत्वाभावादिति शङ्कते ॐ स्फुटेति ॐ। स्फुटमात्रं विवक्षितमुत प्रत्यक्षानुविधानमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ नेति ॐ। चक्षुरादिषु सत्स्वपि घटाभावापराधेन घटज्ञानं न जायत इति केवलव्यतिरेकात् घटानुविधानस्य स्पष्टत्ववत् सत्यपि घटे चक्षुराद्येकैकाभावेऽपि घटज्ञानं न भवतीति व्यतिरेकस्य तुल्यतयाऽनुविधानं स्पष्टमेवेत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। प्रामाणिकत्वमात्रं नानुविधानस्पष्टत्वं किन्तु प्रत्यक्षतो दृश्यमानत्वं तच्च न चक्षुरादावस्तीति द्वितीयं शङ्कते ॐ दृश्येति ॐ। आलोकाद्यनेककारणसन्निधौ जायमानं ज्ञानं प्रति दृश्यमानस्य कस्याकारसमर्पकत्वमिति निश्चेतुमशक्यमित्युक्तमपि परिहरति ॐ नेति ॐ। दर्शनविषयता हि दृश्यमानता विषयत्वानिरुक्तौ तदपि निर्वक्तुमशक्यमिति दोषान्तरमाह ॐ दृश्येति ॐ।

ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वं केचित् ब्रुवते तन्निराकरोति ॐ ज्ञानेति ॐ। गमनकर्मग्रामादिव्यवच्छेदार्थं विशेषणम्। कुत इत्यत आह ॐ ज्ञानेनेति ॐ ज्ञानेनार्थस्य सम्बन्धोऽस्ति न वा? न चेत्सर्वः सर्वस्य कर्म स्यादस्ति चेत्तन्निर्वचनं कार्यं तदशक्यमित्यर्थः। कथं सम्बन्धो निर्वक्तुमशक्य इत्यत आह ॐ तदिति ॐ। ज्ञानतत्कर्मणोर्न्न तावत् संयोगो ज्ञानस्याद्रव्यतयाऽसंयोगान्नापि समवायः ज्ञानस्यात्मगुणस्य घटादौ तदयोगात्तादात्म्यं तु विरुद्धयोर्दूरोत्सारितमेव। न च शक्तिलक्षणः सम्बन्धस्तस्य द्रव्यादिव्यतिरेकाव्यतिरेकयोरनुपपत्तेर्न्निरूप्यनिरूपकभावोऽपि मूलसम्बन्धाभावेऽतिप्रसङ्गो, विषयभावस्तवद्याप्यसिद्धो, जन्य-

आकार की प्रयोजकता घटादि में ही सिद्ध होती है।

समाधान—प्रमाण के द्वारा जब समस्त कारण-कलाप के साथ ज्ञान और ज्ञानगत आकार का अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध होता है, तब स्फुटत्वास्फुटत्व से क्या लाभ? विषयता के लक्षण में स्फुट अन्वय-व्यतिरेक का प्रवेश करने से भी कोई विशेषता नहीं आती, क्योंकि समस्त कारण-कलाप का अन्वय-व्यतिरेक न्यायतः स्फुट ही माना जाता है।

शङ्का—इन्द्रिय-सन्निकर्षादि का ज्ञानाकार के साथ अन्वय-व्यतिरेक दृश्यमान नहीं और घटादि का अन्वय-व्यतिरेक दृश्यमान है, अतः 'दृश्यमानानुविधानकत्वं विषयत्वम्'—ऐसा विषयता का लक्षण करने में किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं होता।

समाधान—अतिप्रसङ्ग न होने पर भी आत्माश्रयादि दोष बने ही रहते हैं, क्योंकि दृश्यमानता का अर्थ है—दृशि-विषयता, अतः विषयता के लक्षण में विषयता की ही अपेक्षा हो रही है।

(७) ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्—

शङ्का—'ग्रामं गच्छति' और 'घटं जानाति'—इत्यादि प्रयोगों का साम्य यह सिद्ध करता है कि गमनादि के समान ज्ञान भी एक सकर्मक क्रिया है, सांख्याचार्यादि वैसा मानते भी हैं, अतः ज्ञान क्रिया के कर्म को विषय कहा जा सकता है।

समाधान—प्रकृत में 'ज्ञान' शब्द के द्वारा न्याय-वैशेषिक-सम्मत गुणविशेष का ग्रहण किया जाता है। उस ज्ञान का घटादिरूप कर्म कारक के साथ कुछ सम्बन्ध तो बनाना होगा। विषयविषयिभाव सम्बन्ध को छोड़ कर संयोगादि सम्बन्धों को वहाँ नैयायिकादि भी नहीं मानते और विषयविषयिभाव का तो विचार ही किया जा रहा है। ईश्वराभिसन्धिनामक

❀ विना सम्बन्धान्तरं यद्विशेषणं ज्ञानं स विषयः । तेन विना सम्बन्धान्तरं ज्ञानविशेष्यं विषयः । विशेष्यं चेदं यद्विशिष्टनामकं तत्त्वान्तरं यद्गतं धर्मं गृह्णातीति । अत्रोच्यते, यद्गतं धर्मं गृह्णातीत्येतावन्मात्रमेव विवक्षितं गृह्णातीत्येवेति वा ? आद्ये दण्डस्यापि विशेष्यत्वापातः, तद्गतस्यापि सत्त्वादेर्धर्मस्य ग्रहणात् । नापरः, भवति हि व्यभिचारिणो धूमस्याविच्छिन्नमूलकत्वादि विशेषणं तद्विशिष्टं च तत्त्वान्तरम् । न

जनकभावोऽपि न सम्बन्ध ईश्वरज्ञानस्याविषयत्वप्रसङ्गादिति तदनिर्वचनं प्रकरणान्तरे न्यरूपयमित्यर्थः ।

लक्षणान्तरं शङ्कते ❀ विनेति ❀ । मूलसम्बन्धमनपेक्ष्य यस्य विशेषणं ज्ञानं स विषय इत्यर्थः । अहं जानीति समवायसम्बन्धादात्मविशेषणं ज्ञानमिति तन्निवृत्त्यर्थं विनेतिविशेषणम् । ज्ञाननिष्ठो धर्मः कथं विषयलक्षणमपक्षधर्मत्वादित्यत आह ❀ तेनेति ❀ । ज्ञातो घट इति ज्ञानेन विशेष्यो यः स विषय इति यावत् । समवायविशेष्यघटव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानेति विशेषणम् । किन्तद्विशेष्यमित्याकाङ्क्षायामाह ❀विशेष्येति❀ । विशिष्टनामकन्तत्त्वान्तरं यद्गतं धर्मं गृह्णाति तद्विशेष्यं यथा दण्डी देवदत्तत्वं दण्डी देवदत्त इति सामानाधिकरण्याद्दतो विशेष्यो देवदत्तस्तथा ज्ञातो घट इति विशिष्टं घटत्वं गृह्णातीति घटो विशेष्य इत्यर्थः । विशेष्यानिरुक्तौ लक्षणानिरुक्तिं मन्वानः परिहरति ❀ नेति ❀ । तदुपपादनाय विकल्पयति ❀ तदिति ❀ । किञ्चिद्धर्मग्राहकत्वमुत सर्वधर्मग्राहकत्वमिति विकल्पार्थः । प्रथमकल्पेऽतिव्याप्तिरित्याह ❀ आद्य इति ❀ । सत्त्वज्ञेयत्वादिधर्मस्य दण्डधर्मस्य दण्डनिष्ठस्यापि दण्डिना ग्रहणादिति हेतुमाह ❀ तदिति ❀ । द्वितीयोऽपि नानवद्य इत्याह ❀ नेति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ भवतीति ❀ । धूममात्रस्य गोपालघटिकादिषु वर्तमानस्याग्निव्यभिचारिणोऽविच्छिन्नमूलत्वबहुलत्वादि विशेषणं भवति विशेष्यधूममात्रस्य सर्वत्रैक्यादित्यर्थः । यद्यपि धूममात्रस्याविच्छिन्नमूलत्वादिविशिष्टविशेषणं तथापि विशेष्यातिरिक्तं विशिष्टं न तत्रास्ति ततो नाव्याप्तिरित्यत आह ❀ तदिति ❀ । तत्गतधर्ममात्रग्राहित्वे धूममात्र-

ग्रन्थ के ज्ञाततावाद में इस पर विशेष विचार किया गया है ।

(८) सम्बन्धान्तरमन्तरा ज्ञान विशेषणकत्वं विषयत्वम्—

शङ्का—'ज्ञातो घटः', 'दृष्टो घटः' इत्यादि व्यवहारों में ज्ञान को घट का विशेषण और घट को ज्ञान का विशेष्य माना गया है, विशेष्य पदार्थ उसे कहा जाता है, जिसके धर्म का ग्रहण विशिष्ट नामक पदार्थान्तर किया करता है ['नीलमुत्पलम्'—इस विशिष्ट ज्ञान का विषय शुद्ध उत्पल है ? या उससे भिन्न ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"समानाधिकरणमवच्छेदकं विशेषणम्, तत्प्रत्याय्यव्यवच्छित्त्यधिकरणतयोत्पलं विशेष्यम्, अनीलव्यावृत्तमुत्पलं विशिष्ट प्रत्ययस्य विषयः, केवलज्ञानस्य तूत्पलम्" (किर. पृ. ४५३–५५) । आशय यह है कि 'नील' विशेषण नीलत्वेन नीलार्थ का बोधक नहीं, अपितु अनीलभिन्नत्वेन नील द्रव्य का और 'उत्पल' पद उत्पलत्वेन उत्पल का बोधक माना जाता है । इससे यह नितान्त स्पष्ट है कि विशिष्ट ज्ञान नीलगत नीलत्व धर्म का ग्राहक न होकर उत्पलगत 'उत्पलत्व' धर्म का ही ग्राहक होता है] ।

समाधान—यह जो कहा गया है कि 'यद्गतं धर्मं गृह्णाति'—वहाँ यत्किञ्चित् धर्म का ग्रहण विवक्षित है ? अथवा समस्त धर्मों का ग्रहण ? प्रथम कल्प के अनुसार 'दण्डी पुरुषः'-यहाँ पर दण्डरूप विशेषण में विशेष्यत्वापत्ति होती है, क्योंकि 'दण्डी पुरुषोऽस्ति'—इस प्रकार दण्डगत सत्तादि धर्मों का विशिष्ट ज्ञान ग्राहक होता है । द्वितीय कल्प के अनुसार दण्डत्वादि सभी धर्मों का ग्रहण न होने के कारण दण्ड में विशेष्यत्वापत्ति यद्यपि नहीं होती, तथापि 'आकाशे वह्निव्यभिचारी धूम एव पर्वतेऽविच्छिन्नमूलको बहुलश्च दृश्यते'—यहाँ पर धूमरूप विशेष्य सर्वत्र एक ही है, उसी के व्यभिचारित्वादि सभी धर्म हैं, किन्तु अविच्छिन्नमूलत्वादि विशिष्ट धूम उन धर्मों का ग्राहक नहीं, अतः धूमरूप विशेष्य पदार्थ में उक्त विशेष्य का लक्षण

च विशेष्यस्य धर्मं व्यभिचारितां गृह्णाति।

अथोर्ध्वाविरतगतिविशिष्टस्याविच्छिन्नमूलता विशेषणम्। न च तथाभूतस्य व्यभिचारिता धर्म इत्युच्यते। मैवम्, प्रथमविशिष्टः किं व्यभिचारी न वा? आद्ये स एव दोषः, द्वितीये विशेषणान्तरान्तर्भाववैयर्थ्यम्, प्रथमविशिष्ट एव च तद्दोषावसरः। अथ यद्धर्मविशिष्टस्य तद्विशेषणं तद्धर्मं गृह्णाति, न सर्वम्। न च व्यभिचारिताविशिष्टस्य तानि विशेषणानीति चेन्न, तत्किं धूममात्रं न व्यभिचारि? ततश्च व्यभिचारिताविशिष्टस्यैव तस्य तानि तथा। भवतु व्यभिचारिता तद्विशेषणम्, परं सा न

व्यभिचारित्वधर्मस्यापि ग्राहकत्वेन व्यभिचारित्वं स्यादतो यद्वृगतधर्मं गृह्णात्येव विशिष्टं स विशेष्य इति लक्षणं धूमाव्यापकमित्यर्थः।

अच्छिन्नमूलत्वादि न धूममात्रस्य विशेषणं किन्त्वविरतगत्यूर्ध्वत्वविशिष्टस्यैवेति नाव्यापकतेति शङ्कते ※ अथेति ※। अस्तु तथापि कथमव्याप्तिपरिहार इत्यत आह ※ न चेति ※। यस्य च तद्विशेषणं तस्य व्यभिचारित्वमेव नास्तीति नोक्तदोष इत्यर्थः। विकल्पासहत्वेन दूषयति ※ मैवमिति ※। अविरतोर्ध्वगतिविशेषणविशिष्टो यो धूमस्तत्र व्यभिचारित्वमस्ति न वेति विकल्पार्थः। किंचाऽत इत्यत आह ※आद्य इति ※। व्यभिचारित्वधर्माग्रहणाविशेषाल्लक्षणस्य धूमाव्यापकतैव दोष इति यावत्। द्वितीयं प्रत्याह ※ द्वितीयेति ※। अविरतोर्ध्वगतिविशिष्टे धूमेऽविच्छिन्नमूलत्वादिविशेषणान्तरस्य यदन्तर्भावस्तत्किमर्थं व्यभिचारनिवारकत्वाद्विशेषणस्य प्रथमविशिष्टस्यैव वह्न्यव्यभिचारित्वादतोऽविरतोर्ध्वगतिविशिष्टोऽविच्छिन्नमूलश्च धूमो वह्निव्याप्त इति व्याप्तिग्रहणोपयोगिविशेषणान्तरं न स्यादित्याशयः। मा भूत्तर्हि विशेषणान्तरं को दोष इत्यत आह ※ प्रथमेति ※। धूममात्रस्योर्ध्वाविरतगत्या विशेष्यत्वात्तत्र च व्यभिचारित्वाख्यधर्मस्य विद्यमानत्वाद्विशिष्टेन च तदग्रहणादव्याप्तिर्दोष इत्यर्थः। यद्वृगतं धर्मं गृह्णात्येवेत्यस्याभिप्रायान्तरं शङ्कते ※ अथेति ※। व्यभिचारित्वधर्मविशिष्टस्य न विशेष्यत्वं किन्तु धूमत्ववतस्तञ्च गृह्णात्येवेति नोक्तदोष इत्यर्थः ※ तानीति ※। अविरतगत्यविच्छिन्नमूलत्वादीनीति यावत्। यस्य धूममात्रस्य तद्विशे-

---

अव्याप्त हो रहा है।

शङ्का—निरन्तरोर्ध्वगतिक धूमरूप विशिष्ट पदार्थ का ही विशेषण अविच्छिन्नमूलता है, ऐसे अव्यभिचारी धूम का व्यभिचारित्व धर्म नहीं, अतः उसका अग्रहण अव्याप्ति का प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

समाधान—यहाँ दो विशिष्ट पदार्थ हैं—(१) निरन्तरोर्ध्वगति-विशिष्ट और (२) अविच्छिन्नमूलत्व-विशिष्ट। इनमें प्रथम विशिष्ट (अविरतोर्ध्वगतिरूपविशेषणविशिष्टः) पदार्थ वह्नि-व्यभिचारी है? अथवा नहीं? यदि है, तब पूर्वोक्त अव्याप्ति दोष प्रसक्त होता है। यदि उसका व्यभिचारित्व धर्म नहीं, तब अविच्छिन्नमूलत्वरूप विशेषणान्तर का उपादान व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि व्यभिचार-वारण करने के लिए ही विशेषण का ग्रहण किया जाता है, जब व्यभिचार ही नहीं, तब विशेषण की क्या आवश्यकता? फलतः द्वितीय विशिष्ट के न होने पर प्रथम विशिष्ट मात्र शेष रहता है, उसमें अव्याप्ति उद्भावित की जा चुकी है।

शङ्का—जिस धर्म से युक्त पदार्थ का विशेषण अभीष्ट होता है, उस धर्म का ही वहाँ विशिष्ट नामक तत्त्वान्तर ग्रहण किया करता है, सभी धर्मों का नहीं। अविच्छिन्नमूलत्वरूप विशेषण व्यभिचारित्वरूप धर्म से युक्त पदार्थ का नहीं, अतः उसका न ग्रहण करना कोई दोष नहीं।

समाधान—सभी विशेषणों से रहित केवल धूम के ही वे सभी विशेषण माने जाते हैं और केवल धूम व्यभिचारी होता ही है, अतः उसके धर्मभूत व्यभिचारित्व का ग्रहण न करना अव्याप्ति का आपादक होता ही है। 'व्यभिचारिता जिसका धर्म है, वह विशेष्य ही नहीं—

विशेष्यकोटिरिति चेन्न, अद्यापि विशेष्याज्ञानात् ।

किञ्च—तद्विशेषणमिति तत्सम्बन्धिमात्रं वा विशेषणतया वा संबंधि ? आद्येऽतिप्रसङ्गः । द्वितीये तु तथैवान्योन्याश्रयादि । किञ्च विशेष्यत्वलक्षणो यस्तद्गतो धर्मस्तं गृह्णाति न वा ? आद्येऽतिव्याप्तिः, द्वितीये गृह्णात्येवेति नियमोऽसिद्धः ।

किञ्च –'मत्समवायो ज्ञानस्ये'त्यत्र भवति मत्समवायस्य ज्ञानं विशेषणं संबंधान्तरमन्तरेणैव, न च विषयः । न च गुणगुण्यादिविशेष्यभावे यः संबंधान्तरमन्तरेणे-

षणं तद्व्यभिचारि किन्न भवति भवत्येवान्यथा विशेषणवैयर्थ्यादिति परिहरति ॐ तदिति ॐ । अस्तु ततः कि तत्राह ॐ ततश्चेति ॐ । ततो व्यभिचारिताविशिष्टस्यैव तान्यूर्ध्वंगमनादीनि तथा—विशेषणानीति विशेषणान्तरविशिष्टस्यापि व्यभिचारित्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । व्यभिचारिता विशेष्यसम्बन्धिन्येव केवलं न विशेष्यकोटिनिविष्टेति शङ्कते ॐ भवत्विति ॐ । अद्यापि विशेष्यस्यानिर्णीतत्वेन नेदं सुवचमित्याह ॐ नेति ॐ ।

भङ्गान्तरम्भणति ॐ किञ्चेति ॐ । तस्य विशेषणमिति षष्ठ्यर्थः सम्बन्धमात्रं विशेषणतया वा सम्बन्ध इत्यर्थः । यदा कदाचित्सम्बन्धत्वमुपलक्षणस्यापीत्यतिव्याप्तिरित्याह ॐ आद्य इति ॐ । द्वितीयमपवदति ॐ द्वितीयेति ॐ । ॐ तथैवेति ॐ । विशेषणान्तरस्वीकारेऽनवस्था भेदानङ्गीकारे स्वाश्रय इत्यर्थः । एवं विशेष्यलक्षणस्य दुर्निरूपत्वाभिधानेन विषयलक्षणासिद्धिमुक्त्वा दोषान्तरं दातुं विकल्पयति ॐ किञ्चेति ॐ । विशेष्यत्वाक्रान्तो विशिष्टो भवति वा नवेति विकल्पार्थः । आद्ये गृह्णाति चेदविशेष्येऽपि विशिष्टे विशेष्यत्वस्य गमनादतिव्याप्तिर्लक्षणस्येत्याह ॐ आद्य इति ॐ । विशेष्यगतसर्वधर्मग्राहकत्वनियमासिद्ध्या लक्षणासिद्धिरिति द्वितीयं दूषयति ॐ द्वितीयेति ॐ ।

विना सम्बन्धान्तरं ज्ञानविशेष्यो विषय इति लक्षणस्यातिव्याप्त्यन्तरमाह ॐ किञ्चेति ॐ । मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्र ज्ञानस्यात्मनि समवायं प्रति मूलसम्बन्धान्तरमन्तरेणैव ज्ञानं विशेषणं भवति तस्यापि विषयत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । तस्यापि विषयत्वादेव तत्र लक्षणगमनान्नातिव्याप्तिरित्यत आह ॐ न चेति ॐ । ज्ञानान्तरविषयत्वेऽपि तज्ज्ञानविषयत्वन्नेत्यर्थः । गुणगुणिनोः क्रियाकारकयोर्वा विशेषणविशेष्यभावे मूलभूतो यः सम्बन्धः समवायः स एवायं सम्बन्धः सम्बन्धान्तरमन्तरेणेति विशेषणोक्त्या व्यवच्छिन्न इति कथं तत्र लक्षणगमनमित्याशंक्याह ॐ न चेति ॐ । कुतो न वाच्यमित्यत आह ॐ यत इति ॐ ।

ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विशेष्यता का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है ।

दूसरी बात यह भी है कि यह जो कहा गया है कि 'यद्धर्मविशिष्टस्य तद्विशेषणम्'—वहाँ 'तद्विशेषणम्' पद का अर्थ क्या तत्सम्बन्धिमात्र है ? अथवा विशेषणतया सम्बन्धी ? प्रथम पक्ष के अनुसार उपलक्षण में भी विशेषणता का अतिप्रसङ्ग होता है और द्वितीय पक्ष में अन्योऽन्याश्रयता, क्योंकि विषयत्व की निरुक्ति में विशेषणता और विशेषणता की निरुक्ति में विषयता की अपेक्षा होती है ।

यह भी एक जिज्ञासा होती है कि विशेष्यगत विशेष्यत्वरूप धर्म का विशिष्ट पदार्थ-ग्रहण करता है ? या नहीं ? यदि ग्रहण करता है, तब अविशेष्यरूप विशिष्ट पदार्थ में विशेष्यत्व अतिप्रसक्त होता है । यदि विशेष्यत्व का ग्रहण नहीं करता, तब लक्षण असम्भव-ग्रस्त है, क्योंकि गृह्णात्येव' —यह नियम असिद्ध हो जाता है ।

'मत्समवायो ज्ञानस्य'—यहाँ पर सम्बन्धान्तर के बिना ही मत्समवाय का ज्ञान विशेषण है, किन्तु वह (समवाय) विषय नहीं, अपि तु ज्ञान का सम्बन्ध माना जाता है। फलतः वहाँ विषयता का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है ।

शङ्का—'ज्ञातो घटः'—यहाँ 'ज्ञान' विशेषण है, किन्तु ज्ञान और घट का गुण-गुणिभाव नहीं । ज्ञानवान् आत्मा'—यहाँ भी ज्ञान विशेषण है, किन्तु ज्ञान और आत्मा का गुण-

त्युक्त्या व्यवच्छेद्यतां नीतः, स एवायं समवाय इति कथं न व्यवच्छेद्यतां प्रतिप-त्स्यते ? यतोऽत्र तस्यैव विशेषणविशेष्यभावत्वादन्तरत्वासिद्धिरिति । तस्मात् संबंधा-न्तरेण ज्ञानं विशेषणं यस्येत्युक्तम् , तत्र ज्ञानं संबंधमनपेक्ष्य स्वभावत एव यथाऽ-र्थस्य विशेषणं तथा समवायस्यापीति न कश्चिद्विशेष इति साधूक्तं 'मत्समवायो ज्ञान-स्ये'त्यत्र ज्ञानविषयता समवायस्य स्यादिति । ज्ञानाभावे च प्रसङ्गात् । न च तत्र स एव समवायः सम्बन्धः, अत्रापि विशेषणविशेष्यभावस्यैव सम्बन्धत्वात् । नासौ

विशेषणविशेष्यभावादतिरिक्तः सम्बन्धः सम्बन्धान्तरमुच्यते मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्र समवायस्य विशेष्य-त्वादन्तरशब्दवाच्यत्वाभावान्न व्यवच्छेद्यत्वमन्यथा घटज्ञानमित्यत्रापि घटज्ञानयोः विशेषणविशेष्यसम्बन्ध-भावान्न घटविषयत्वं स्यादित्यर्थः । उक्तमर्थं संक्षिप्य दर्शयति ❀ तथा चेति ❀ । ज्ञातो घट इत्यर्थेन सह ज्ञानं सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य स्वभावसम्बन्धेनैव विशेषणमिष्यते यथा तद्वन्मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्रापि सम्बन्धान्तरमन्तरेणैव ज्ञानं समवायविशेषणमिति समवायार्थयोर्न्न विशेष इत्यर्थः । विना सम्बन्धं यद्वि-शेषणं ज्ञानमिति लक्षणस्यातिप्रसङ्गान्तरमाह ❀ ज्ञानेति ❀ । ज्ञानस्याभाव इत्यत्र ज्ञानं स्वाभावविशेषणं भवतीत्यर्थः । सम्बन्धान्तरशब्दव्यवच्छेद्यो विशेषणविशेष्यभावातिरिक्तसमवायो ज्ञानाभावेऽस्तीति कथमतिव्याप्तिरित्यत आह ❀ न च तत्रेति ❀ । (समवायाभावे हेतुमाह ❀ अत्रेति ❀ । भावाभावयो-र्विशेषणविशेष्यभावातिरिक्तान्तरशब्दवाच्यः सम्बन्ध इत्यर्थः । अर्थसमवाय)योः साम्यात्समवाया-

---

गुणिभाव भी है । प्रथम स्थल पर विशेष्यभूत घट में ज्ञान की विषयता मानी जाती है, क्योंकि वहाँ विशेष्य-विशेषणभाव से भिन्न कोई सम्बन्ध विशेष्यता और विशेषणता का नियामक नहीं किन्तु द्वितीय स्थल पर विशेष्यभूत आत्मा में ज्ञान की विषयता नहीं मानी जाती, क्योंकि 'ज्ञानवान् आत्मा'—यहाँ पर विशेष्य-विशेषणभाव से भिन्न समवायरूप सम्बन्धान्तर विशेष्यता और विशेषणता का नियामक होता है । विषयता के लक्षण में सम्बन्धान्तरमन्तरेण न कहने पर 'ज्ञानवान् आत्मा'—यहाँ भी आत्मा में विषयता अतिप्रसक्त होती है, उसकी व्यावृत्ति के लिए 'सम्बन्धान्तरमन्तरेण' कहा गया है । 'मत्समवायो ज्ञानस्य'—यहाँ भी वही समवायरूप सम्बन्धान्तर अतिप्रसङ्गापादक है, उसकी भी व्यावृत्ति सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशेषण के द्वारा क्यों न की जा सकेगी ?

समाधान—जैसे 'ज्ञानवान् आत्मा'—यहाँ पर समवाय सम्बन्ध अन्य पदार्थ में विशेष्यता का प्रयोजक है, वैसे 'मत्समवायो ज्ञानस्य'—यहाँ पर समवाय सम्बन्ध अपने से भिन्न पदार्थ में विशेष्यता का साधक नहीं, अपितु स्वयं विशेष्य बना हुआ है । फलतः यहाँ समवाय को सम्बन्धान्तर नहीं कहा जा सकता, कि उसकी व्यावृत्ति 'सम्बन्धान्तरमन्तरेण' विशेषण से हो जाती । अतः यहाँ 'सम्बन्धान्तर' पद से संयोगादि का ग्रहण किया जा सकता है, उस (संयोगादि) सम्बन्ध के विना ही जैसे 'ज्ञातो घटः'—यहाँ पर विशेष्य-विशेषणभाव है, वैसे ही 'मत्समवायो ज्ञानस्य'—यहाँ पर भी सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशेष्य-विशेषणभाव है, अतः यहाँ समवाय में ज्ञानीय विषयता की अतिप्रसक्ति निश्चितरूप से होती है । इसी प्रकार ज्ञानाभाव में भी ज्ञान की विषयता प्रसक्त होती है, क्योंकि 'ज्ञानस्याभावः'—यहाँ पर भी ज्ञानगत अभाव की विशेषणता सम्बन्धान्तर-निरपेक्ष स्वरूपतः ही है ।

शङ्का—'मत्समवायो ज्ञानस्य'—यहाँ पर भी विशेषणता-प्रयोजक स्वरूप संबन्ध वही समवाय संबन्ध है, जिसे संबन्धान्तर कहा जाता है । संबन्धान्तर-सापेक्ष विशेषणता संबन्धान्तर-मन्तरेण या संबन्धान्तर-निरपेक्ष नहीं, अतः अतिव्याप्ति क्यों होगी ?

समाधान—स्वरूप संबन्ध को भी यदि 'संबन्धान्तर' पद से अभिहित किया जाता है, तब तो असम्भव हो जायगा, क्योंकि 'ज्ञातो घटः'—यहाँ पर भी विशेषण-विशेष्य-भावात्मक

सम्बन्धिनोऽन्यः, तादृशश्च व्यवच्छेद्य इति चेन्न, समवायेऽपि तुल्यत्वात्। संयोग-समवायौ व्यवच्छिद्येते इति चेन्न, ज्ञानाभावे तथापि प्रसङ्गात्। न तत्र ज्ञानं विशेषणम्, किन्तु उपलक्षणमिति चेन्न, अतीतानागतयोरविषयत्वापत्तेः। भावे चिन्तेय-

विषयत्वेऽयंस्याप्यविषयत्वं स्यादित्यभिप्रेत्य साम्यमुक्तं तत्र वैषम्यं शङ्कते ❀ नासाविति ❀। विशेषण-विशेष्यभावस्य सम्बन्धिनोऽन्यत्वमस्ति सम्बन्धिनोऽन्यश्च व्यवच्छिद्यते नातोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। एवम-सम्भवपरिहारे नातिव्याप्तिपरिहारो ज्ञानसमवाययोर्व्यवच्छेद्यरूपाभावाविति परिहरति ❀ नेति ❀। संयोगसमवायातिरिक्तो विना सम्बन्धान्तरं ज्ञानविशेष्यो विषय इति लक्षणाभिप्रायं शङ्कते ❀संयोगेति❀। क्वचिद्विशेषणविशेष्ययोः संयोगोऽप्यस्तीति संयोगेतिग्रहणं न तु ज्ञानविशेष्ये तत्सम्बन्धेनेति द्रष्टव्यम्। संयोगादिज्ञानस्यैवं निर्विषयत्वप्रसङ्गान्नेत्याह ❀ नेति ❀। अङ्गीकृत्यापि दूषयति ❀ ज्ञानेति ❀। ज्ञाना-भावः संयोगाद्यतिरिक्तत्वे सति स्वभावेनेव ज्ञानविशेष्य इति तत्राऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। एककालीनस्यैव विशेषणत्वनियमात् ज्ञानस्य च स्वाभावेनापृथक्समयत्वाभावादविशेषणत्वेन विशेषणोक्त्यैव तदभावव्यव-च्छेद इति शङ्कते ❀ नेति ❀। कथं तर्हि ज्ञानस्य स्वाभावव्यावर्त्तकत्वमित्यत आह ❀ किन्त्विति ❀। असतो विशेषणत्वाभावविशेष्यत्वस्यानुपपत्तेरभूद् वृष्टिर्भविष्यति वृष्टिरित्याद्यर्थज्ञानानां विशेष्यस्य विषयत्वं न स्यादिति दूषयति ❀ नेति❀। न विषयमात्रलक्षणमिदं किन्तु भावविषयस्यातो नाव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ भाव इति ❀। विषयमात्रासिद्धौ तद्विशेषासिद्धेर्विषयमात्रलक्षणमूह्यन्तथा चातिव्याप्तिस्तदवस्थेति

स्वरूप संबन्ध ही है।

शङ्का—'ज्ञातो घटः'—यहाँ पर विशेषण-विशेष्यभाव संबन्ध अपने विशेषण और विशेष्यरूप संबन्धियों से भिन्न नहीं, अतः यह संबन्धान्तर नहीं कहा जा सकता।

समाधान—यह युक्ति तो 'मत्समवायो ज्ञानस्य'—यहाँ पर भी समान है, क्योंकि समवाय ही संबन्धी है और वही स्वरूप संबन्ध, अतः स्वरूप संबन्ध अपने संबन्धियों से भिन्न न होने के कारण संबन्धान्तर नहीं कहला सकता, 'ज्ञातो घटः' के समान ही 'मत्समवायो ज्ञानस्य'—यहाँ पर भी लक्षण घट जाने के कारण अतिव्याप्ति जैसी-की-तैसी है।

शङ्का—'संबन्धान्तरमन्तरेण' विशेषण के द्वारा संयोग और समवायरूप संबन्धों की व्यावृत्ति की जाती है। 'ज्ञातो घटः'—यहाँ पर विशेषणतादि का नियामक कोई संयोग या समवाय संबन्ध नहीं किन्तु 'मत्समवायो ज्ञानस्य'—यहाँ पर समवाय संबन्ध ही स्वरूप संबन्ध के छद्म वेश में विशेषणतादि का नियामक है, अतः अव्याप्ति या अतिव्याप्तिरूप किसी प्रकार का दोष प्रसक्त नहीं होता।

समाधान—'ज्ञानस्याभावः' इत्यादि स्थलों पर ज्ञान में अभाव की विशेषणता न संयोगेन है और न समवायेन, अतः ज्ञान की विषयता उसके अभाव में प्रसक्त होती है।

शङ्का—समानकालीन पदार्थों का ही विशेषण-विशेष्यभाव होता है, ज्ञान और उसका अभाव समानकालीन नहीं, अतः ज्ञान अपने अभाव का विशेषण नहीं, उपलक्षण माना जाता है, तब विशेषणता-घटित लक्षण की अतिप्रसक्ति वहाँ नहीं हो सकती।

समाधान—कथित लक्षण में भी ज्ञान को विशेषण नहीं माना जा सकता, अन्यथा 'अनुमानेन अवगता अनागतवृष्टिः', 'शब्दाद् ज्ञाता अतीतवृष्टिः'—इत्यादि स्थलों पर अनागत और अतीत वृष्टि का अनुमित्यादि ज्ञान समानकालीन न होने से विशेषण नहीं बन सकेगा और भावी वृष्ट्यादिरूप विशेष्य पदार्थों में विषयता का लक्षण अव्याप्त हो जायगा, अतः ज्ञान को सर्वत्र उपलक्षण ही मानना होगा, ज्ञान का अभाव भी ज्ञानोपलक्षित है, अतः उसमें विषयता की अतिव्याप्ति स्थिर है।

अभाव में उक्त अतिव्याप्ति न हो, इसलिए इस लक्षण को भावमात्र में सीमित करने पर

मिति चेन्न, अभावस्याविषयत्वापातात्। ज्ञानादन्यत् ज्ञानीयञ्च यत्कारणादि तत्रापि प्रसङ्गादिति किं विस्तरेण ? न च ज्ञानाकारतायां गोचरस्य नास्त्येव ज्ञानगोचरयोर्भेदः, प्रतीतिविरोधात्। भेदमनिच्छता च स प्रतिषेद्धुमप्यनर्ह इति।

१०. भेदलक्षणखण्डनम्

वक्तव्यस्तर्हि कोऽसौ भेदो नाम ? स हि स्वरूपं वा स्यात्, इतरेतराभावो वा, धर्मान्तरं वा ? नाद्यः, भिन्नेऽभिन्नभ्रमानुपपत्तिप्रसङ्गात्। भ्रान्त्याऽपि धर्मिस्वरूपावगाहनात्। अन्यथा कस्याभेदं सा भ्रान्तिरुल्लिखेत्।

दूषयति ❀ नेति ❀। संयोगाद्यतिरिक्तत्वे सति विना सम्बन्धान्तरं यत् ज्ञानविशेष्यमिति लक्षणं ज्ञानकारणचक्षुरादौ तत्फले चास्तीत्यतिव्याप्त्यन्तरमाह ❀ ज्ञानादिति ❀। किञ्च सुगतसमये ज्ञानाकारो ज्ञेयमभ्युपेयते तयोर्ज्ञानज्ञेययोर्भेदः ? उताभेद आद्ये तदाकारत्वं न स्यात्सन्तानान्तरवत्। द्वितीये भेदप्रतीतिविरोध इत्यभिप्रेत्याह ❀ न चेति ❀। एवं ज्ञानतद्गोचरयोर्भेदं खण्डयतो भेदमात्रमनिष्टमुत तयोरेव ? नाद्योऽप्रमितप्रतियोगिप्रतिषेधासम्भवात्। द्वितीये चाद्वैतविरोध इत्यभिप्रेत्याह ❀ भेदमिति ❀।

इति सम्बन्धाधारस्वाधःशब्दार्थविषयविषयिभावानां खण्डनम्।

भेदप्रतीतिमात्रेण तन्निषेधोपपत्तावपि प्रमितप्रतियोगिकत्वमेव निषेधस्येति यदि कश्चिदभिनिविशते तेन भेदस्वरूपं वक्तव्यमित्याह ❀ वक्तव्य इति ❀। ❀ धर्मान्तरमिति ❀। पृथक्त्वं वैधर्म्यं चेत्यर्थः। लाघवात्स्वरूपभेदवाद एवास्त्वित्यत आह ❀ नाद्य इति ❀। भेदाग्रहमूलतावास्य भ्रान्तिःस्वरूपस्यैव भेदत्वे धर्मिस्वरूपप्रतीतौ भेदोऽपि प्रतीत इति दूरस्थवनस्पत्यादावभेदभ्रमो न स्यादित्यर्थः। भ्रान्तिरभेदमेवावगाहते न धर्मिस्वरूपमतो भ्रमोपपत्तिरित्यत आह ❀ भ्रान्त्येति ❀। भ्रान्तेरुभयविषयत्वकल्पने गौरवात्तावात्स्याल्यधर्मविषयत्वमेवास्त्वित्यत आह ❀ अन्यथेति ❀। अयमभिन्न इति न भासेताभेद इत्येव

'ज्ञातोऽभावः'—यहाँ पर अभाव में विषयता का लक्षण क्योंकर घटेगा ?

दूसरी बात यह भी है कि 'प्रकाशस्य सतः तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेषः'—यह लक्षण ज्ञान से भिन्न ज्ञान के संबन्धी जितने भी कारण पदार्थ हैं, उन सब में अतिव्याप्त है जैसा कि ज्ञानश्री कहते हैं—"येनैव जनितमिति चेत्, आत्ममनोऽक्षसंयोगादयोऽपि ग्राह्या इति नातिप्रसङ्गनिवृत्तिः" (ज्ञानश्री. पृ. ३५०)। उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं।

शङ्का—विषय के साथ ज्ञान का संबन्ध तभी उपपन्न हो सकता है, जब कि ज्ञान और विषय का भेद हो किन्तु योगाचारगण ज्ञान और विषय का भेद ही नहीं मानते, विषय को ज्ञान का एक अनादि-सिद्ध आकारमात्र मानते हैं।

समाधान—ज्ञान और विषय का अभेद प्रतीति-विरुद्ध है। ज्ञान और विषय का भेद योगाचारगणों को भी मानना होगा, अन्यथा उस भेद का निषेध कभी नहीं किया जा सकेगा।

१०. भेद-लक्षण-खण्डन

कथित योगाचार-मत का निराकरण करने के लिए नैयायिकों के द्वारा जिस भेद तत्त्व की स्थापना की गई है, वह भी संभव नहीं, क्योंकि भेद पदार्थ का निर्वचन ही नहीं हो सकता। यदि हो सकता है, तब वह क्या है ? भेद क्या पदार्थों का (१) स्वरूप है ? या (२) अन्योऽन्याभाव ? या (३) कोई धर्मान्तर ? भेद यदि पदार्थों का स्वरूप है, तब उनमें कभी अभेद-भ्रम नहीं हो सकता, क्योंकि भ्रम ज्ञान अपने धर्मियों के स्वरूप का अवगाहन

ननु निःसम्बन्धित्वेन व्यवस्थितेषु तरुदारुप्रभृतिषु नानाधारोऽवयव्यन्य एवाऽऽरोप्यते, येषु त्वारोप्यते ते भेदेनैव भान्ति। किन्तु अनारब्धावयविषु तेष्वारब्धावयवितया विभ्रम्यते। मैवम्, तेषामनुदाहरणीयत्वात्। अतस्मिन् 'स एवायमि'ति प्रत्यभिज्ञाभासार्थानां दृष्टान्तत्वेनेष्टत्वात्। तत्रापि धर्मान्तरारोपाभ्युपगमे तादात्म्याभावस्य संसर्गाभावप्रवेशापत्तेः। न चैवमप्येष्टव्यमेव, तथापि स्वरूपभेदग्रहे तत्राभेदस्य

भिासेतेत्यर्थः।

भिन्नेष्वभेदप्रकाश इति नोच्यते किन्तु ये भिन्नास्तेष्वनारब्धावयवित्वमारोप्यते न चारोपानुपपत्तिरारब्धावयव्यपेक्षया भेदग्रहस्य विशेषग्रहरूपतया विरोधित्वाभावादिति शङ्कते। ॐ नन्विति ॐ। नरन्तरावस्थिते तर्वादावनेकाधारस्ततोऽन्य एवावयव्यारोप्यत इति यावत्। प्रासरुचितया तर्वित्युक्तम्। अभेद इति विषयसप्तमी। अनेकेष्वेकस्मिन्नवयविन्यारोप्यमाणेऽनेकेषु कुसुमेष्वारोप्यमाणसूत्रे यथा न भ्रान्तिस्तद्वदत्रापि न स्यादित्यत आह ॐ किन्त्विति ॐ। तत्रानेकेषु संयोगितया सूत्रस्य प्रतीतेरभ्रान्तिविषयत्वमिह त्वनेकेषु वनस्पतिष्ववयव्यन्तरं संयोगितया न प्रतीयतेऽतोऽनारब्धावयविष्वारब्धावयवित्वभ्रम इत्यर्थः। अवयव्यपारोपो नोदाह्रियते मयाऽतस्तु खण्डनमिदमिति परिहरति ॐ मैवमिति ॐ। किं तर्हि उदाहरणीकृतमित्याह ॐ अतस्मिन्निति ॐ। यत्र भिन्नयोश्चैत्रमैत्रयोः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाभ्रमो जायते तदेवोदाहरणीयमित्यर्थः। आदिशब्देनाभेदसंशयो गृह्यते अतस्मिंस्तद् बुद्धिर्यत्र तत्रापि नैक्याध्यासः किन्तूभयनिष्ठतादात्म्याख्यधर्मान्तरमारोप्यतेऽतोऽधिष्ठानस्वरूपप्रतीतावपि विरोधित्वाभावाद्धर्मान्तरारोपो भवेदित्यत आह ॐ तत्रेति ॐ। तर्हि घटः पटो न भवतीत्यत्रापि घटस्य पटत्वं धर्मान्तरमारोप्य निषिध्यते इति वक्तुं शक्यत्वात्तादात्म्याभावस्य संसर्गाभावैक्यापत्तिरित्यर्थः। तत्रापि बाधकप्रत्ययेन संसर्गाभाव एवावेद्य इत्यत आह ॐ न चेति ॐ। संसर्गाभावतादात्म्याभावयोरभेदाङ्गीकारेऽपसिद्धान्त इत्यर्थः।

अवश्य करेगा, अन्यथा किन पदार्थों के अभेद का निर्देश किया जायगा ? भेद उन धर्मिपदार्थों का स्वरूप है, अतः स्वरूप के निश्चय होने पर भेद का निश्चय हो जाना अनिवार्य है, भिन्नत्वेन निश्चित पदार्थों में अभेद-भ्रम क्योंकर होगा ? [आशय यह है कि दूर हिमाद्रि की चोटी पर अवस्थित दो वृक्षों में जो अभेद-भ्रम होता है—'एक एवायं वृक्षः'। वहां धर्मीभूत दो वृक्षों का यदि भेद-निश्चय हो जाता है—'भिन्नाविमौ', तब उनमें अभेद-भ्रम नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषदर्शन भ्रम और संशय का प्रतिबन्धक होता है]।

शङ्का—दूरस्थ भिन्न वृक्षों में यदि अभेद-भ्रम माना जाता, तब अवश्य वह अनुचित था किन्तु वहाँ अभेद-भ्रम नहीं होता, अपितु अन्य धर्म का आरोपमात्र होता है अर्थात् अन्तिम अवयवी अन्य अवयवी का आरम्भक नहीं माना जाता। दूरस्थ दोनों वृक्ष अन्तिम अवयवी हैं, उनसे किसी तीसरे वृक्षरूप अवयवी का आरम्भ नहीं होता, अतः अनारब्धावयवीरूप दोनों वृक्षों में आरब्धावयवित्वरूप धर्मान्तर का आरोपमात्र वहाँ किया जाता है, अभेद-भ्रम नहीं होता। धर्मान्तरारोप का भेद-निश्चय विरोधी नहीं माना जाता।

समाधान—उक्त उदाहरण-स्थल पर अभेद-भ्रमानुपपत्ति नहीं दिखाई जाती, अपितु जहाँ पर दो भिन्न पदार्थों में 'स एवायम्'—इस प्रकार की भ्रमरूप प्रत्यभिज्ञा होती है, वहाँ 'यदि 'तस्मादयं भिन्नः'—इस प्रकार का निश्चय रहता है, तब कभी भी 'स एवायम्'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति उपपन्न नहीं हो सकती। यदि यहाँ भी अभेद-भ्रान्ति न मान कर उभयगत तादात्म्यरूप धर्मान्तर का आरोप ही माना जाता है, तब तादात्म्याभाव (अन्योऽन्याभाव) का संसर्गाभाव में अन्तर्भाव मानना होगा, क्योंकि 'घटः पटो न भवति'—इत्यादि अन्योऽन्याभाव-स्थल पर भी घट में पटत्वरूप धर्मान्तर के आरोप का निषेध (संसर्गाभाव) किया जा सकता है। संसर्गभाव और अन्योऽन्याभाव को एकरूप मानने पर

धर्मस्याप्यशक्यारोपत्वात् ।

नापि द्वितीयः, प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । प्रतियोगिरूपत्वेन अप्रतीतावधिकरणप्रतीतिः, अधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्च तद्ग्रहणकारणम् । अतः क्वेतरेतराश्रय इति चेत्, मैवम्, एवं हि सति 'कुम्भः पटो न भवती'त्यत्र यथैव तस्याभावस्य प्रतियोगितया पटो निषिध्यते तथा कुम्भोऽपीति सोऽपि कुम्भात्मतया निषिद्धः प्रसज्येत ।

वस्तुतोऽन्योन्याभावस्य कुम्भप्रतियोगित्वेऽपि कुम्भस्यापटत्वनिरूपणकाले

अङ्गीकृत्यापि दूषयति ॐ तथापीति ॐ । तयोर्भेदाङ्गीकारे भेदाभेदयोर्विरोधात्स्वरूपभेदग्रहे भेदारोपो न स्यात् घटपटयोरिवेत्यर्थः ।

इदानीमन्योन्याभावो भेद इति पक्षं दूषयति ॐ नापीति ॐ । धर्मित्वप्रतियोगित्वव्यवस्थाप्रतीतावन्योन्याभावः प्रत्येतुं शक्यते नेत्येव तदप्रतीतेरन्योन्याभावप्रतीतौ च व्यवस्था प्रत्येतव्या न स्वरूपमात्राश्रया व्यवस्था तस्यावधित्वे तथैव समानत्वादधिकरणे च तथैवेति परस्पराश्रयप्रसङ्गः प्रतीतावित्यर्थः । विनैवान्योन्याभावप्रतीति धर्म्यादिप्रतीतिसम्भवान्नेतरेतराश्रय इति शङ्कते ॐ प्रतीति ॐ । प्रतियोगिप्रतीतिः प्रतियोगित्वधर्ममनुल्लिखन्ती धर्मिप्रतीतिरपि धर्मित्वाकारमनुल्लिखन्त्येव भेदप्रतीतिकारणमतो नेतरेतराश्रय इत्याशयः । ज्ञाततामात्रेण प्रतियोगितया निषेध्यत्वस्वीकारे कुम्भः पटो भवतीत्यत्र ज्ञानमात्रं पटस्य प्रतियोगितया निषेध्यत्ववत् कुम्भस्यापि स्वरूपेण ज्ञानतया प्रतियोगित्वसम्भवान्निषिद्धत्वं प्रसज्येतेति दूषयति ॐ नैवमिति ॐ ।

इदानीं भेदवादी स्वमतमुपपादयति ॐ वस्तुतः ॐ । इत्यारभ्य विशेषादित्यन्तेन ग्रन्थेन । कुम्भः पटो न भवतीति प्रतिषेधावसरे कुम्भस्य प्रतियोगिताया अविवक्षितत्वान्न निषेधप्रसङ्ग इत्यर्थः । कुम्भपटाश्रयान्योन्याभावाभेदात् पटवत् कुम्भप्रतियोगित्वमप्यन्योन्याभावस्येत्यत उक्तं ॐ अन्योन्याभावस्य कुम्भप्रतियोगिकत्वेऽपीति ॐ । तद्धानिबध्यमानकुम्भेन सह भिन्नत्वेनागृहीतत्वात्पटस्यापि निषेधो न स्यादित्यत

अपसिद्धान्तापत्ति होती है, अतः अन्योऽन्याभाव और संसर्गाभाव का अभेद नहीं माना जा सकता । फलतः उक्त स्थल पर 'नायं सः'—इस प्रकार का भेद-ग्रह हो जाने पर 'सोऽयम्'—इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञा भ्रम न हो सकेगा । इतना ही नहीं, स्वरूपात्मक भेद का ग्रह हो जाने पर अभेदात्मक धर्म का भी आरोप नहीं किया जा सकता ।

द्वितीय (इतरेतराभावो भेदः) कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि इतरेतराभाव (अन्योऽन्याभाव) के निरूपण में प्रतियोगित्व-ग्रह और प्रतियोगित्व-ग्रह में अन्योऽन्याभाव-ग्रह की अपेक्षा होने से अन्योऽन्याश्रयता होगी, क्योंकि श्री उदयनाचार्य ने अभाव के अन्योऽन्याभाव को प्रतियोगितारूप कहा है—"अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता" (न्या. कु. ३।२) ।

शङ्का—'घटः पटो न'—इस प्रकार के भेद का यद्यपि पट प्रतियोगी और घट धर्मी (अनुयोगी) है, तथापि भेद की प्रतीति में प्रतियोगित्वेन प्रतियोगी और अनुयोगित्वेन अनुयोगी की प्रतीति कारण नहीं, अपितु पटत्वादिरूपेण पट-घटादि की प्रतीति हो जाने पर उनके भेद की प्रतीति हो जाती है, अतः कथित अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता ।

समाधान—'घटः पटो न भवति'—इस प्रकार के भेद-ज्ञान में अनुयोगित्वेन घट और प्रतियोगित्वेन पट का ज्ञान अपेक्षित नहीं, तब जैसे घट में पटात्मता का निषेध होता है, वैसे ही घटात्मता का भी निषेध क्यों नहीं ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है कि उक्तस्थल पर भेद का पट प्रतियोगी और घट अनुयोगी है । भेद-स्थल पर अनुयोगी में प्रतियोगी की तदात्मता का ही निषेध होता है, अनुयोगी की तदात्मता का नहीं, किन्तु यह तभी सम्भव है, जब कि पट की प्रतियोगित्वेन और घट की अनुयोगित्वेन उपस्थिति आवश्यक समझी जाय ।

कणाद-सिद्धान्त—वस्तुतः अन्योऽन्यभाव-स्थल पर 'घटः पटो न भवति' और 'पटो

कुम्भस्य प्रतियोगिता नापेक्ष्यते, किन्त्वाश्रयतैवेति कुम्भाप्रतिक्षेपः। पटस्य तु प्रतियोगितैवापेक्ष्यते, न त्वाश्रयतेति कुम्भवत् पटस्यापि न सङ्ग्रहापत्तिः। यद्यप्यन्योन्याभावस्य उभयप्रतियोगिता, तथाऽप्यन्या कुम्भाश्रयता, अन्या च पटाश्रयता, अन्या कुम्भप्रतियोगिता, अन्या च पटप्रतियोगिता। तेनान्योन्याभावस्योभयप्रतियोगिकत्वे चोभयाश्रितत्वे च नोभयोरपि सङ्ग्रहप्रतिक्षेपविरोधापत्तिः। नापि च प्रतियोगित्वस्यानुयोगिनो भेदोपजीवनेऽन्योन्याश्रयः, अनुपजीवने च स्वस्मादपि भेदग्रहापत्तिः प्रसज्येत। यतः स्मर्यमाणस्य प्रतियोगिता, अनुभूयमानस्य चाऽऽश्रयतेत्येतावन्मात्र एवोक्ते स्वस्मादपि भेदग्रहानापत्तिः। न चैवं 'स एवायमि'त्यत्रापि भेदग्रहप्रसङ्गः, वास्तवतत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात्।

मैवम्, तथा हि—किमधिकरणप्रतीतिरधिकरणतया प्रतीतिः, उत वस्तुगतया

आह ❀ पटस्येति ❀। पटस्यासत्त्वनिरूपणावसरे पटस्य प्रतियोगित्वेनापेक्ष्यमाणत्वाबाश्रयत्वेन चानपेक्षितत्वान्न कुम्भवत्सङ्ग्रह इत्यर्थः। अन्योन्याभावस्योभयाश्रयत्वादुभयप्रतियोगित्वाच्चाश्रयप्रतियोगिभेदाभावादुभयनिषेधसंग्रहौ विरुद्धावेकदा स्यातामित्यत आह ❀ यद्यपीति ❀। याऽपीत्यर्थः। उभयोरपि प्रतियोगित्वाधिकरणत्वस्वरूपसाधारण्येऽपि घटेन विशेषिता पटेन विशेषिता वाऽऽश्रयता प्रतियोगिता च भिन्नैवेति नोक्तदोष इत्यर्थः। यद्यपीति पाठे ततोऽपीत्यत्र तथापीत्यर्थः। तेनेत्यादिना फलितनिगमनम्। प्रतियोगी प्रतियोगित्वसिद्ध्यर्थमनुयोगिनः सकाशाद्भेदमुपजीवति न वा ? उपजीवति चेदन्योन्याश्रयत्वं नोपजीवति चेत्तर्हि स्वाभिन्नात्प्रतियोगिनो भिन्नत्ववत्स्वस्मादपि स्वस्य भेदः स्यादित्यत आह ❀नापीति❀। कुत इत्यत आह ❀ यत इति ❀। धर्मिग्रहणं प्रतियोगिस्मरणं च भेदज्ञानसामग्री प्रतियोगिता च स्मर्यमाणता अनुभूयमानता च धर्मिता तेन स्मरणाविना नियमोपपत्तेर्नेतरेतराश्रयादिप्रसङ्ग इत्यर्थः। सोऽयं देवदत्त इत्यत्रायमंशस्य गृह्यमाणतया धर्मित्वात्स इत्यंशस्य स्मर्यमाणतया प्रतियोगित्वात्तत्रापि भेदः प्रकाशेतेत्यत आह ❀ न चेति ❀। किमत्र नियामकमित्यत आह ❀ वास्तवेति ❀। भेदसत्तासहितप्रतियोगिस्मरणादि भेदग्रहणकारणं तद्वैकल्यान्नात्र तथेति नियम इत्यर्थः।

एवं काणादहार्दं विशदयित्वा सिद्धान्तमुपक्रमते ❀ मैवमिति ❀। भेदप्रतीतिकारणतयेष्यमाणाधि-

---

घटो न भवति'—इन दो प्रकार के व्यवहारों को लेकर यद्यपि घट और पट—दोनों प्रतियोगी और दोनों अनुयोगी हो जाते हैं, तथापि जब घट में अपटत्व का निरूपण किया जाता है, घटगत प्रतियोगित्व अपेक्षित नहीं होता किन्तु अनुयोगिता ही स्थिर होती है, अतः घटरूपता का निषेध नहीं होता। इसी प्रकार उस समय पट में केवल प्रतियोगिता ही अपेक्षित होती है, अनुयोगिता नहीं, अतः घट में घटरूपता के समान पटरूपता का विधान नहीं होता।

यद्यपि अन्योऽन्याभाव के दोनों प्रतियोगी और दोनों अनुयोगी होते हैं, तथापि न दोनों प्रतियोगिताओं का अभेद होता है और दोनों अनुयोगिताओं का, क्योंकि घटगत अनुयोगिता अन्य है और पटगत अनुयोगिता भिन्न। इसी प्रकार पटगत प्रतियोगिता अन्य है और घटगत प्रतियोगिता अन्य। अतः वहाँ न तो दोनों का निषेध होता है और न दोनों का विधान, अन्यथा विरोध प्रसक्त होता है।

भेद-ज्ञान में प्रतियोगित्व-ज्ञान की अपेक्षा न होने पर स्व में स्व-भेदापत्ति क्यों नहीं ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर यह है कि स्मर्यमाण पटादि पदार्थों में प्रतियोगिता और अनुभूयमान घटादि पदार्थों में धर्मिता (अनुयोगिता) है—इतना मात्र कह देने पर स्व में स्व-भेद-ग्रहापत्ति नहीं होती। प्रतियोगी के स्मरण और अनुयोगी के अनुभवमात्र से यदि भेद-ग्रह हो जाता है, तब 'स एवायम्'—यहाँ पर भी भेद-ग्रह क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि 'घटः पटो न भवति'—इत्यादि स्थलों पर वास्तविक भेद होता है और स

अधिकरणस्य स्वरूपेण विवक्षिता ? आद्ये किमीयाऽधिकरणतया घटादेः प्रतीतिस्तस्य कारणं स्यात् ? न तावदन्योन्याभावाधिकरणतया, दण्डाद्यप्रतीतौ दण्डाधिकरणताया इव तदप्रतीतौ तदधिकरणतायाः प्रत्येतुं पूर्वमशक्यत्वात्, विशिष्टप्रतीत्या विशेषणस्यावश्योल्लेख्यत्वात्, विशिष्टस्य च विशेषणघटितमूर्तित्वात्। नापि यस्य कस्यचिदधिकरणतया प्रतीतिस्तत्कारणम्, यत्र भिन्नेऽभेदभ्रमस्तत्र धर्मिणः सत्त्वाद्याधारतया प्रतीतावपि तदनुत्पत्तेः।

न तन्मात्रात्तदुत्पत्तिः, अपितु प्रतियोगिस्मृतिसहितात्। सा च तदा नास्तीति

करणप्रतीतिरधिकरणत्वाकारमुल्लिखत्युत, वस्तुतोऽधिकरणस्वरूपमुल्लिखतीति विकल्पार्थः। प्रथमकल्पेऽपि घटादौ किमन्योन्याभावमपेक्ष्याधिकरणतया प्रतीतिर्भेदप्रतीतिकारणमुत यत्किञ्चिदपेक्षयेति विकल्पयन्नाह ❀ आद्य इति ❀। किमीया किंसम्बन्धिनीतियावत्। अन्योन्याभावलक्षणभेदस्य प्रतीयमानत्वात्तदधिकरणत्वाच्च घटादेरन्योन्याभावापेक्षयाऽधिकरणत्वमित्याद्यमपवदति ❀ न तावदिति ❀। दण्डप्रतीतिव्यतिरेकेण देवदत्तस्य तदधिकरणत्वप्रतीतिव्यतिरेकवदन्योन्याभावाप्रतीतौ तद्विशिष्टाधिकरणत्वमपि घटादिनिष्ठं न निष्टङ्कनमियादित्यर्थः। अन्याप्रतीतौ किमन्यन्न प्रतीयते तथा च किञ्चित्कदाचित्प्रतीतमिति सर्वज्ञं जगदापन्नमित्यत आह ❀ विशिष्टेति ❀। विशिष्टविशेषणयोरन्यत्वेऽपि विशेषणप्रतीतिजन्या विशिष्टप्रतीतिरित्येके। विशेषणविशेष्ययोरेकप्रतीतिविषयत्वमेवेत्यपरे। सर्वथा विशिष्टप्रतीत्या विशेषणप्रतीतिरपेक्षितेत्यर्थः। यथोपलक्षणं व्यावर्तकमपि अनियतप्राक्प्रतीतिकं व्यावर्त्यप्रतीतिव्यवहारजनकं तथा विशेषणमपि किन्न स्याद्व्यावर्त्तकत्वाऽविशेषादित्यत आह ❀ विशिष्टेति ❀। कदाचित् ज्ञाततामात्रेणाऽसतोऽप्युपलक्षणत्वाद्विशेषणस्य तु कार्यान्वयित्वेनैव व्यावर्त्तकत्वमन्यथा विशेषणोपलक्षणोपाधीनां भेदो न भवेदित्यर्थः। यत्किञ्चिदपेक्षयाऽधिकरणत्वप्रतीतिर्भेदप्रतीतिकारणमिति द्वितीयमपवदति ❀ नापीति ❀। कुतो न कारणमित्यत आह ❀ यत्रेति ❀। भिन्नयोर्देवदत्तयज्ञदत्तयोः स एवायमित्यभेदभ्रमो यदा जायते, तदा देवदत्तस्य सत्त्वद्रव्यत्वाधिकरणतया प्रतीतेर्भेदग्रहस्यैव सम्भवात्तदनुत्पत्तिरभेदग्रहासम्भव इत्यर्थः।

न कारणमात्रात्कार्यनिष्पत्तिरपि तु कारणपौष्कल्यादिह च नाधिकरणप्रतीतिरेव भेदप्रतीतिसामग्री प्रतियोगिस्मृत्यादिसहिताया एव भेदप्रत्यायकत्वादिह च तदभावात् भेदाग्रह इति शङ्कते ❀ न तदिति ❀। प्रतियोगित्वाकारमुल्लिखन्ती प्रतियोगित्वस्मृतिर्भेदप्रतीतिहेतुरुत वस्तुतः प्रतियोगिनः सतः स्वरूपेण तथेति

एवायम्'—यहाँ पर वास्तविक भेद नहीं होता।

कणाद-सिद्धान्त-खण्डन यह जो कहा गया कि 'अधिकरणप्रतीतिः'। वहाँ अधिकरणतया प्रतीति विवक्षित है ? अथवा वस्तुगत्या अधिकरणार्थ की स्वरूपेण प्रतीति ? प्रथम कल्प में जिज्ञासा होती है कि जिस अधिकरणतारूप से घटादि की प्रतीति भेद-प्रतीति का कारण है, वह अधिकरणता क्या अन्योऽन्याभाव की ही विवक्षित है ? अथवा किसी भी पदार्थ की ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जैसे दण्डादि की प्रतीति न होने पर दण्डादि की अधिकरणता प्रतीत नहीं होती, वैसे ही अन्योऽन्याभाव के अप्रतीति-काल में उसकी अधिकरणता प्रतीत ही नहीं हो सकती, क्योंकि 'अन्योऽन्याभावस्य अधिकरणता'—इस प्रकार विशिष्टार्थ का कलेवर सदैव विशेषणार्थ से घटित होता है, अतः उसकी प्रतीति में विशेषणीभूत अन्योऽन्याभाव की प्रतीति कारण होती है। द्वितीय पक्ष के अनुसार जिस किसी भी पदार्थ की अधिकरणता का भी ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ भिन्न दो व्यक्तियों में 'स एवायम्'—इस प्रकार का अभेद-भ्रम होता है, वहाँ भी धर्मी पदार्थ की सत्त्वाद्यधिकरणतया प्रतीति होने के कारण भेद-ग्रह हो सकता है, तब वहाँ अभेद-भ्रम की उपपत्ति क्योंकर होगी ?

शङ्का—केवल अधिकरणतया अधिकरणमात्र की प्रतीति हो जाने से भेद-ग्रह की

तदनुत्पत्तिरिति चेन्न, प्रतियोगिस्मृतिरपि किं प्रतियोगितया स्मृतिः, उत वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेणेति विकल्प्यात्। आद्ये किमन्योन्याभावप्रतियोगितया, यस्य कस्यचित् प्रतियोगितया वा? नाद्यः, अन्योन्याभावाप्रतीतौ तदनुपपत्तेः पूर्ववत्। नापि द्वितीयः, तस्य वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमविषयीकृतस्य स्वदेशेतरदेशादावसत्त्वेन प्रतीयमानत्वे स्वाभावप्रतियोगितया प्रतीतावन्योन्याभावप्रतीत्यनुपपत्तेः।

प्रतियोग्यनुभूतिः सा, न स्मृतिरिति चेन्न, स्मृतित्वस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा अनुभूयमानयोरन्योन्याभावाप्रतीतिप्रसङ्गात्। अत्रान्तराले स्मृतिकल्पनया 'नान्योन्यात्मानाविमौ' इत्यनुभवबाधितया प्रयोजकत्वेऽपि वा स्मृतित्वस्य 'योऽसौ

पूर्ववद्विकल्पयन्परिहरति ॐ नेति ॐ। प्रथमकल्पेऽपि किमन्योन्याभावप्रतियोगित्वप्रतीतिस्ततप्रतीतिकारणं किंस्विद्यत्किञ्चिदपेक्षप्रतियोगित्वप्रतीतिरित्यपि विकल्पनीयमित्याह ॐ आद्य इति ॐ। अन्योन्याभावाप्रतीतौ तद्विशिष्टाधिकरणत्वाप्रतीतिवद्विशेषणान्योन्याभावाप्रतीतौ तद्विशिष्टप्रतियोगित्वस्मृतिरनुपपन्नेति प्रथमं पराचष्टे ॐ नाद्य इति ॐ। यत्किंचिदपेक्षप्रतियोगित्वस्मृतिः कारणमिति द्वितीयं दूषयति ॐ नापीति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ वस्त्विति ॐ। देवदत्तयज्ञदत्तौ वस्तुगत्या भिन्नौ तथाप्यभिन्नतया भ्रमविषयौ भवतः प्रतियोगित्वस्मृतेश्च देशेतरदेशादावविद्यमानत्वेन स्वाभावप्रतियोगितया प्रतीतिरस्ति यत्किंचिदपेक्षयाऽऽश्रयत्वप्रतीतिरपि ततः कारणपौष्कल्यात् भेदप्रतीतिरेव स्यान्न चासौ जायत इत्यर्थः।

स्वदेशेतरदेशादौ विद्यमानाभावप्रतियोगित्वप्रतीतिरनुभूतित्वान्न स्मृतिः स्मृतिश्च भेदज्ञानकारणमतो नोक्तोदोष इति शङ्कते ॐ प्रतियोगीति ॐ। प्रतियोगिप्रतीतौ स्मृतित्वाभावेन भेदज्ञानाभावाभावेन व्यतिरेकाभावात् स्मृतित्वमप्रयोजकमिति परिहरति ॐ नेति ॐ। न केवलं व्यतिरेकाभावोऽन्वयोऽपि नास्तीति विपक्षबाधकव्याजेनाह ॐअन्यथेतिॐ। इमौ घटपटौ भिन्नावित्यत्रोभयोरपि गृह्यमाणत्वाद् भेदग्रहो न स्यादित्यर्थः। पुरोदेशेऽनुभूयमानान्योन्याभावप्रतीतावपि इतरान्योन्याभावप्रतीतिवदन्योन्याभावप्रतीत्योर्मध्ये प्रतियोगिस्मृतिः कल्प्यते भेदप्रतीतिसिद्धत्वादित्यत आह ॐ अत्रेति ॐ। अन्तरा स्मृतित्वकल्पनया स्मृतित्वस्य प्रयोजकत्वं कल्प्यमिति शेषः। इमौ नान्योन्यात्मानावित्यननुभवाद् बाधिततयेति हेतूपन्यासः। बाधिताया अपि कल्पनाया बलात्स्मृतित्वस्य प्रयोजकत्वस्वीकारे दोषमाह ॐ प्रयोजकत्वेऽपीति ॐ। योऽसौ

उत्पत्ति नहीं होती, अपितु प्रतियोगी की स्मृति से युक्त अधिकरण-प्रतीति से भेद-ग्रह उत्पन्न होता है। अभेद-भ्रम-स्थल पर प्रतियोगी की स्मृति न होने के कारण भेद-ग्रह नहीं होता, अभेद-भ्रम उपपन्न हो जाता है।

समाधान—प्रतियोगिस्मृति भी क्या प्रतियोगितया स्मृति विवक्षित है? अथवा वस्तुगत्या प्रतियोगी की स्वरूपेण स्मृति अपेक्षित है? प्रथम कल्प में भी अभिमत प्रतियोगिता अन्योऽन्याभाव की अपेक्षित है? अथवा जिस-किसी भी पदार्थ की प्रतियोगिता? प्रथम पक्ष पूर्ववत् अनुपपन्न है, क्योंकि अन्योऽन्याभाव की प्रतीति न होने पर अन्योऽन्याभाव की प्रतियोगिता क्योंकर प्रतीत होगी? द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि चैत्र-मैत्र वस्तुतः भिन्न व्यक्ति हैं, केवल उनमें अभेद-भ्रम हो रहा है। मैत्रादि का अपने देश से भिन्न देश में जो अभाव है, उसकी प्रतियोगिता मैत्रादि में है ही, अतः उनमें भेद-ज्ञान हो जाने से अभेद-भ्रम नहीं हो सकेगा।

शङ्का—अन्यदेशवृत्ति अभाव के प्रतियोगीभूत मैत्रादि का जो ज्ञान है, वह अनुभूति है, स्मृति नहीं, किन्तु भेद-ज्ञान में प्रतियोगी की स्मृति अपेक्षित होती है।

समाधान—भेद-ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञानमात्र कारण होता है, केवल स्मृति नहीं, अतः प्रतियोगिज्ञानगत स्मृतित्व भेद-ग्रह का प्रयोजक (जनकतावच्छेदक) नहीं होता, अन्यथा (स्मृतित्वेन प्रतियोगिज्ञान को भेद-प्रतीति का हेतु मानने पर) अनुभूयमान घट-पटादि

तत्र नासीत् सोऽयमि'ति स्मर्यमाणाभावप्रतियोगिकत्वेऽपि वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमेणोल्लिख्यमानस्यान्योन्याभावप्रतीत्यनुदयात्। दोषाभावोऽपि हेतुः, स भ्रमोदाहरणे नास्तीति चेन्न, पूर्वदृष्टे स्मृतिमतो वस्तुगत्याऽन्यस्यैवानन्तरदृष्टस्य पूर्वदृष्टात् भिन्नमभिन्नं वेति अनिरूपितस्यापि सम्भवेन तत्रेतरेतराभावबुद्ध्यापत्तेः। बुद्ध्यत एवेति चेन्न, पश्चात्तत्संशयदर्शनात्। विशेषधीरपि तत्र हेतुरिति चेन्न, विशेष-

गृहे नासीत् देवदत्तः सोऽयमिति ईदृशप्रत्यभिज्ञाभ्रमस्थले स्मर्यमाणाभावप्रतियोगित्वेन स्मर्यमाणत्वं प्रतियोगिनोऽस्ति ततो धर्म्यनुभवः प्रतियोगिस्मृतिश्चेत्येतस्य भेदप्रतीतिप्रयोजकत्वे तत्र भेदप्रत्यय एव स्यान्न चोत्पद्यते ततोऽप्रयोजकमित्यर्थः। प्रतियोगिस्मृतिसहितधर्मिग्रहणं दोषाभावसहकृतं भेदप्रतीतिप्रयोजकम् न तन्मात्रमिति नोक्तदोष इति शङ्कते ꙮ दोषेति ꙮ। दोषाभावे सत्यपि भेदाग्रहान्न तत्प्रयोजकत्वमिति परिहरति ꙮ नेति ꙮ। इदमाकूतं दोषाभावस्य किमिति सहकारित्वं कल्पनीयम्? सति दोषे तददर्शनादिति चेन्न, तस्मिन् सत्यपि निद्रादोषेऽन्योन्याभावप्रतीतिदर्शनात्। प्रमात्वादिति चेन्न, तस्याद्याप्यसिद्धत्वादतो न दोषाभावस्य सहकारित्वं तथापि भवच्छ्रद्धानुरोधेनोदाहरणान्तरमभिधीयते यदा पूर्वदृष्टघटादि स्मरति पश्यति च घटान्तरं स्वरूपेण पूर्वदृष्टाच्च भेदमभेदं वा नावधारयति तत्राप्यन्योन्याभावग्रहप्रसङ्गो भ्रमाभावेन दोषाभावात्प्रतियोगिस्मरणादिभावाच्चेति। कारणसद्भावात्कार्यमपि विद्यते इति शङ्कते ꙮ बुध्यत इति ꙮ। पूर्वदृष्टोऽयमन्यो वेति पुनः संशयदर्शनान्नान्योऽन्याभावो बुध्यत इति परिहरति ꙮ नेति ꙮ। विशेषज्ञानेन दोषाभावेन प्रतियोगिस्मृत्या च सहिता धर्मिप्रतीतिरियमन्योन्याभावज्ञानकारणं तदभावादत्र नान्योन्याभावज्ञानं स्यादिति शङ्कते ꙮ विशेषेति ꙮ। अन्योन्याभावस्य भेदत्वाद्भेदज्ञाननिरूपणीयत्वाद्विशेषस्य नान्योन्याभावज्ञानात्पूर्वं विशेषसिद्धिरिति परिहरति ꙮ नेति ꙮ। भ्रमस्थलेऽन्यत्व-

पदार्थों में 'अनयोऽन्योऽन्याभावः'—इस प्रकार भेद-प्रतीति नहीं हो सकेगी। प्रतियोग्यनुभव और भेद-प्रतीति के अन्तराल (मध्य) में प्रतियोगी का स्मरण हो जाता है, जिससे भेद-ग्रह उत्पन्न होता है—ऐसी कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि कल्पना का स्वरूप होता है—'अन्यथानुपपत्ति'। उसका यहाँ 'नान्योऽन्यात्मानौ इमौ'—इस प्रकार की अन्यथोपपत्ति के द्वारा बाध हो रहा है। अन्यथा (प्रतियोगि-स्मरण के विना ही प्रतियोग्यनुभव के द्वारा) भेद-ग्रह जब हो रहा है. तब 'नियमतः प्रतियोगिस्मरण से ही भेद-ग्रह होता है'—ऐसा नियम भङ्ग हो जाता है। फिर भी यदि स्मृतित्व को भेद प्रतीति का प्रयोजक माना जाता है, तब 'योऽसौ गृहे नासीत् सोऽयं चैत्रः'—यहाँ पर प्रतियोगी का स्मरण रहने पर जो वस्तुगत्या भिन्न व्यक्ति में अभेद-भ्रम हो रहा है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रतियोगिस्मरण के द्वारा वहाँ नियमतः भेद-ग्रह हो जायगा, अभेद-भ्रम को अवसर नहीं मिल सकता।

शङ्का—भेद-ग्रह का हेतु अकेला प्रतियोगिस्मरण नहीं, अपितु दोषाभाव भी हेतु होता है प्रकृत में सादृश्यादि दोष ही विद्यमान हैं, अतः भेद-ग्रह नहीं हो पाता, अभेद-भ्रम को उत्पन्न होने का अवसर मिल जाता है।

समाधान—जहाँ पूर्व दृष्ट घटादि का स्मरण होने के अनन्तर घटान्तर का दर्शन होता है किन्तु उस घटान्तर का पूर्व दृष्ट घट से 'भेद है या अभेद'—ऐसा निश्चय नहीं होता, वहाँ प्रतियोगिस्मरण और दोषाभाव के द्वारा भेद-ग्रह ही होना चाहिए, किन्तु नहीं होता. क्योंकि वहाँ यदि भेद-ग्रह होता, तब 'पूर्वदृष्टोऽयमन्यो वा?' इस प्रकार का संशय नहीं होना चाहिए।

शङ्का—दोषाभाव और प्रतियोगिस्मरण के साथ विशेष-दर्शन (संशय-विरोधी एक कोटि का दर्शन) भी होना चाहिए, तब भेद-ग्रह होगा। प्रकृत में विशेष-दर्शन का अभाव होने के कारण भेद-ग्रह नहीं होता और भेदाभेदविषयक संशय हो जाता है।

त्वस्यान्योन्याभावनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात्। एतेन वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेण स्मृतिः सहकारिणीत्येतदपि व्युदस्तम्। वस्तुगत्याऽधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिः सहकारिणीत्यपि, भिन्नस्याभिन्नतया वृक्षादेः प्रतीयमानस्यान्योन्याभाववत्तया ग्रहणप्रसङ्गात्।

नापि तृतीयः, अभावस्य निर्धर्मकतापक्षे तस्य विश्वाभिन्नत्वप्रसक्तौ विश्वस्याप्यभावरूपत्वेन निर्धर्मकतया धर्मलक्षणान्योन्याभावविरहिण एकरूप्यापत्तेः अभावे धर्माभावात्। स्वरूपमेव भेद इति चेत्, योऽसौ भेदस्तस्य स्वात्मा स किं कस्मादपि भेदः, उत निष्प्रतियोगिक एव? न तावन्निष्प्रतियोगिक एव, प्रमाणाभावेनासत्त्वप्रसङ्गात्। योऽसौ भेदव्यवहारोऽस्ति स कस्मादपि, न तु नीलव्यवहारवत् निष्प्रति-

---

सायस्थले चान्योन्याभावप्रतीतिप्रसङ्गाभिधानेन परिशिष्टकल्पान्तरमपि निरस्तमित्याह ❀ एतेनेति ❀। वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेण स्मृतिर्वस्तुगत्याऽधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिश्च भेदकारणमिति द्वितीयकल्पोऽपि निरस्त इत्यर्थः। परामृष्टमेव स्वयं स्पष्टयति ❀ भिन्नस्येति ❀।

वैधर्म्यं भेद इति तृतीयं पक्षमाक्षिपति ❀नापीति❀। अभावो निर्द्धर्मकः सधर्मको वा? निर्द्धर्मकत्वपक्षे घटे घटत्वस्य विशेषरूपवैधर्म्यस्य सत्त्ववदभावे धर्मान्तरलक्षणभेदाभावाद्विश्वाभिन्नत्वं स्यात्तत्श्च विश्वस्याभावरूपतया निर्द्धर्मकस्य धर्मलक्षणभेदहीनतयैकरूपापत्तिरित्यर्थः। भावपदार्थानां वैधर्म्यं भेदो नाभावस्याभावे तु स्वरूपमेव भेदः अतो नाभावस्य विश्वात्मकत्वप्रसङ्ग इति शङ्कते ❀ अभाव इति ❀। प्रतियोगिसापेक्षत्वात् भेदस्य निष्प्रतियोगिवस्तुस्वरूपत्वासम्भवं वक्तुं भेदः सप्रतियोगिको निष्प्रतियोगिको वेति विकल्पयति ❀ योऽसाविति ❀। अन्त्यं कल्पं बुद्धिस्थत्वावादौ दूषयति ❀ न तावदिति ❀। हेतुमाह

समाधान –'अयं पुरुषः, न स्थाणुः'—इस प्रकार का विशेष-दर्शन अन्योऽन्याभाव-ग्रह के विना नहीं हो सकता, अतः अन्योऽन्याश्रयता दोष प्रसक्त हो जाने के कारण भेद-ग्रह में विशेष-दर्शन को हेतु नहीं माना जा सकता।

इन्हीं दोषों के कारण वस्तुगत्या प्रतियोगी और वस्तुगत्या अनुयोगी के स्वरूपेण ज्ञान को भेद-ग्रह का सहकारी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जहाँ वस्तुगत्या भिन्न वृक्षों में अभेद भ्रम हो रहा है, वहाँ भी वस्तुगत्या प्रतियोगी और अनुयोगी का स्वरूपेण ज्ञान है ही, उसकी सहायता से भेद-ग्रह हो सकता है, अभेद-भ्रम नहीं होना चाहिए।

तृतीय (वैधर्म्यं भेदः) कल्प भी समुचित नहीं, क्योंकि जो लोग अभाव को निर्धर्मक पदार्थ मानते हैं, उनके मतानुसार अभाव में विश्व के किसी पदार्थ का वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) न रहने के कारण भेद न रह सकेगा, फलतः अभाव विश्व से अभिन्न हो कर विश्व को भी निर्धर्मक बना देगा और धर्मस्वरूप भेद को भी उसमें न टिकने देगा, समस्त विश्व एकरूपापन्न होकर रह जायगा।

शङ्का - जब भेद का वैधर्म्य लक्षण किया जा रहा है, तब भेद को धर्मरूप न मान कर वस्तु का स्वरूप माना जाता है, अतः अभाव में भेद का अभाव क्यों होगा ?

समाधान – जो भेद वस्तु का स्वरूप बताया जाता है, वह क्या किसी का भेद अर्थात् सप्रतियोगिक है ? या निष्प्रतियोगिक ही है ? भेद निष्प्रतियोगिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि निष्प्रतियोगिक अभाव की सत्ता में कोई प्रमाण सम्भव नहीं। लोक में जो भी भेद-व्यवहार होता है, वह 'भ्राष्ट्रादुष्ट्रस्य भेदः'—इस प्रकार किसी पदार्थ का भेद होता है। 'इदं नीलम्'—इस प्रकार भेद का निष्प्रतियोगिक व्यवहार नहीं होता। निष्प्रतियोगिक भेद को ही यदि 'अस्मादस्य भेदः'—इस प्रकार के सभी सप्रतियोगिक व्यवहारों का निर्वाहक माना जाता है, तब प्रतियोगी का कोई नियम न रहने के कारण वह 'स्वस्मात् स्वस्य भेदः'—

योगिकः। स च निष्प्रतियोगिको नोपपद्यते। निष्प्रतियोगिकोऽपि वा यद्ययं सप्रतियोगिकव्यवहारं करोति, प्रतियोगिनियमो न स्यादिति स्वस्मादपि भेदव्यवहारं कुर्यात्। स्वस्माद्भेदः कथं सम्भवतीति चेत्, तर्हि किं भिन्नाद् भेदः, नन्वेवमनवस्था स्यात्। १

नापि प्रथमः, वक्तव्यं हि तद्यस्मादसौ भेदः, न तावत् सर्वस्मात्, स्वात्मनोऽपि भेदप्रसङ्गात्। नापि घटादेः, घटादिना सह तस्यावध्यवधिमद्भावो योऽसौ स ह्यर्थान्तरं वा स्यात् स्वरूपमेव वा? आद्ये तस्यापि भेदावधित्वेन तत्राप्येवमनुयोगे यद्येतदेवोत्तरम्, अनवस्था स्यात्। अथ तत्र स्वरूपमेव, तर्हि 'प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः

⊛ प्रमाणेति ⊛। असम्भवमुपपादयति ⊛ य इति ⊛। प्रमाणेन यदस्ति तत् मेयमिति वदता भेदे प्रमाणं वाच्यं न च निष्प्रतियोगिभेदमुल्लिखत् ज्ञानं जायते तथा यथा नीलज्ञानमित्यर्थः। वस्तुतो निष्प्रतियोगिकोऽपि सप्रतियोगिभेदव्यवहारं करोतीत्यत आह ⊛ स चेति ⊛। ज्ञानव्यवहारयोरेकरूप्यादित्यर्थः। उक्तमर्थं व्यतिरेकखण्डेन द्रढयति ⊛ निष्प्रतीति ⊛। बह्वर्थसंनिधावेतद्व्यवहारे किं नियामकमिति वीक्षायां तन्मूलज्ञानं नियामकं वाच्यमिह तु प्रतियोगिनोऽभावादेव तज्ज्ञानाभावोऽतः प्रतियोगिविशेषघटितभेदव्यवहारे नियामकाभावेन सर्वस्य प्रतियोगित्वापत्तौ तद्वृन्दान्तर्भूतस्वात्मनोऽपि प्रतियोगित्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। धर्मित्वप्रतियोगित्वयोर्भेदैकार्थसमवायिनोरेकत्रासम्भवात्स्वनिष्ठभेदानुपपत्तिरेकत्वानेकत्वयोर्विरोधादिति शङ्कते ⊛ स्वस्मादिति ⊛। अभिन्ने भेदो न सम्भवतीत्युक्त्या भिन्ने भेद इत्युक्तं स्यात्तत् किमभ्युपेयत इति पृच्छति ⊛ तर्हिति ⊛। ओमिति चेत् तत्राह ⊛ नन्विति ⊛। ननु प्रसिद्धौ। स्वेन भिन्ने स्ववृत्तावात्माश्रया-द्भेदान्तरेण भिन्न इति वाच्यमेवमनवस्था स्यादित्याशयः।

सप्रतियोगिस्वरूपं भेद इति पक्षमाक्षिपति ⊛ नापीति ⊛। हेतुमाह ⊛ वक्तव्यमिति ⊛। प्रतियोग्यनिरूपणात् सप्रतियोगिस्वरूपं भेद इत्यपि न सम्भवतीति भावः। किं सर्वमेव प्रतियोगि घटादि वेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ⊛ नेति ⊛। सर्वान्तर्भूततया भेदाश्रयस्यापि प्रतियोगित्वप्रसङ्गेनैकाभावप्रसङ्ग इति यावत्। द्वितीयमपवदति ⊛ नापीति ⊛। तदुपपादनाय सप्रतियोगित्वस्वरूपं दर्शयति ⊛ घटेति ⊛। घटादिरवधिस्तद्वच्चेतरदित्येवं रूपमित्यर्थः। स्वरूपविशेषाभिधानेन किमनिष्टमुक्तं भवतीत्यतो विकल्पयति ⊛ स हीति ⊛। अवध्यवधिमद्भावोऽर्थान्तरमभावादिति प्रथमपक्षं दूषयति ⊛ आद्य इति ⊛। अभावाप्रतियोगी अवधिमानवध्यवधिमद्भावः एवं चावध्यादिभावस्याभावेन योऽसाववध्यादिभावः स तस्मादर्थान्तरं

इस प्रकार के व्यवहार का भी प्रयोजक हो जायगा।

स्वपदार्थ स्व से अभिन्न होता है, तब स्व में स्व का या अभिन्न में भेद क्योंकर रहेगा? इस प्रश्न के उत्तर में पूछा जा सकता है कि यदि अभिन्न में भेद नहीं रहता, तब क्या भिन्न में भेद रहता है? भिन्न को या भिन्न में भेद मानने पर अनवस्था होती है।

प्रथम कल्प के अनुसार भेद को सप्रतियोगिक मानने पर उस प्रतियोगी पदार्थ का निर्देश करना होगा, जिसका वह भेद है? क्या वह सर्वप्रतियोगिक भेद है? या घटादिप्रतियोगिक? सर्वप्रतियोगिक कोई भेद हो नहीं सकता, क्योंकि सर्व के अन्तर्गत स्वात्मक धर्मी भी आ जाता है, तब स्व से भी स्व का भेद होने लगेगा। यदि वह भेद घटादि-प्रतियोगिक है, तब 'घटाद्भेदः पटस्य'—यहाँ जो घटावधिक भेद पट में है, उस भेद के साथ घट का अवधि-अवधिमद्भावरूप सम्बन्ध है। यह संबन्ध क्या प्रतियोग्यादि से भिन्न है? अथवा उनका स्वरूप? यदि भिन्न है, तब उसका भी प्रतियोगी के साथ कोई अन्य सम्बन्ध और उस अन्य सम्बन्ध का भी अन्य सम्बन्ध—इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है। द्वितीय कल्प के अनुसार अवधि-अवधिमद्भावरूप सम्बन्ध को प्रतियोग्यादि का स्वरूप मानने पर प्रथम अवधि-अवधिमद्भावरूप सम्बन्ध को प्रतियोग्यादिस्वरूप न मान कर अर्थान्तर क्यों माना जाता है, जैसा कि श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—"प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः" (श्लो. वा. पृ. ६९)।

किन्निबन्धनः' इति प्रथमत एव स्वरूपं वाच्यम्। तदपि न, तथा हि– यदि घटादिभिः सार्धमवध्यवधिमद्भावसम्बन्धोऽस्य स्वरूपं प्रतियोगिना सार्धं तदभावस्वरूपस्यास्य निषेध्यनिषेधभावलक्षणः सम्बन्धः स्वरूपं न स्यात्, स्वरूपस्यैकत्वात्। अनयोश्च सम्बन्धयोर्भिन्नत्वात्। न हि यदेव प्रतियोगिनः सकाशाद्भिन्नत्वं तदेव तन्निषेधत्वमिति सम्भवति ततो व्यतिरिक्तत्वस्यानिषेध्यसाधारणत्वात्, निषेध्यनिषेधभावस्य नियतवस्त्वपेक्षत्वादिति। एवं कार्यकारणभावादौ स्वभावसम्बन्धान्तरेऽपि वाच्यम्। ऊहनीयश्चाऽन्यत्रापि स्वरूपभेदे दोष एषः।

किञ्च धर्मान्तरं भेद इति ब्रुवतः कोऽभिसन्धिः– किं घटत्वादय एव भेदः, उत

स्वरूपं वेति विकल्पे यद्यर्थान्तरमुच्यते तत्र तत्राप्येवमित्यनवस्थाप्रसक्तिरित्याशयः। द्वितीयमपवदत्यनुपायेत्यादिना। प्राथमिकावध्यवधिमद्भावस्य स्वरूपमेवास्त्वित्यत आह * तदिति *। तदुपपादयति * तथा हीति *। घटादिना सार्द्धमभावस्याप्यवध्यवधिमद्भावलक्षणसम्बन्धो योऽसौ सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वादुभिप्रतियोगिस्वरूपं चेत्प्रतियोगिना घटादिना सहाभावस्य निषेध्यनिषेधलक्षणो यः सम्बन्धोऽसावभावस्य स्वरूपन्न स्यादभावस्यैकरूप्यादेकं द्विरूपमिति विरोधादित्यर्थः। एकस्योभयस्वरूपत्वासम्भवान्निषेध्यनिषेधभावसम्बन्धोऽभावरूपो न स्यादित्युक्तं तदेवोपपादयति * न हीति *। प्रतियोगिनः सकाशाद्भिन्नत्वं प्रतियोगिनिषेधत्वं चैकन्न भवतीति विलक्षणाकारप्रतीतिविषयत्वमेव। कुत इत्यत आह * तत इति *। घटादन्यः पट इत्यत्र निषेध्यनिषेधभावं विनापि व्यतिरिक्तत्वस्येष्टत्वादित्यर्थः। निषेध्यनिषेधभावस्तु नैवमित्याह * निषेध्येति *। प्रतियोग्यभावमात्रापेक्षोऽसौ तेन न्यूनाधिकवृत्त्योरेकत्वासम्भव इत्यर्थः। एतदत्रोक्तं निषेध्यनिषेधभावस्य स्वरूपत्वासम्भवे निषेधात्मत्वमभावस्य न स्यादिति भावाद्वैतप्रसङ्ग इति। उक्तन्यायं प्रसारयति * एवमिति *। मृद्घटादेः कार्यकारणभावसम्बन्धः स्वभावः चेद्विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धः स्वभावो न स्यात्स्वरूपस्यैकरूप्यादनयोश्च सम्बन्धयोर्भिन्नत्वादकार्यकार्यकारणसाधारण्याद्विशेषणविशेष्यभावस्येत्यर्थः। अभावस्य स्वरूपभेद इवान्यत्रापि स्वरूपपक्षे यो दोष उक्तः सोऽयं द्रष्टव्य इत्याह * ऊहनीय इति *। भिन्नेऽभिन्नत्वमानुत्पत्तिप्रसङ्गाद् भ्रान्त्यापि स्वरूपावगाहनादित्यादिश्चाभिन्नेऽभावो नाभेदभ्रम इति च न वाच्यं धर्ममात्रमभाव इति केषांचिद् भ्रमदर्शनादित्याशयः।

खण्डनान्तरावतरणाय विकल्पयति * किं चेति *। घटत्वादय एव भेद इति पक्षे भेदस्य सप्रति-

प्रथम सम्बन्ध को भी प्रतियोग्यादि का स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि घटादि के साथ भेद के अवधि-अवधिमद्भावरूप सम्बन्ध को घटादि का स्वरूप माना जाता है, तब 'पटः घटो न भवति'—यहाँ पर घटादि के साथ भेद के निषेध्य-निषेधभावरूप संबन्ध को घटादि का स्वरूप नहीं मान सकते, क्योंकि वस्तु का स्वरूप एक होता है, किन्तु उक्त दोनों सम्बन्धों का भिन्न स्वरूप है। यदि उक्त दोनों सम्बन्ध अव्यभिचरित होते तो कथमपि दोनों को एकस्वरूप माना जा सकता था, किन्तु यत्र-यत्र अवधि-अवधिमद्भावः, तत्र तत्र निषेध्यनिषेधभावः'—ऐसा अन्वय 'वृक्षात् पर्णं पतति'—यहाँ पर व्यभिचरित है, क्योंकि वृक्ष और पतन में अवधि-अवधिमद्भाव रहने पर भी निषेध्य-निषेधभाव नहीं रहता। दूसरी बात यह भी है कि निषेध्य-निषेधभाव 'घटो न', 'पटो न'—इस प्रकार नियमतः भावाभाव की अपेक्षा करता है, किन्तु अवधि-अवधिमद्भाव ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध को वस्तुस्वरूप मानने पर कपाल और घटादि के 'कपालं घटवत्'—इस प्रकार विशेष्यविशेषणभावरूप सम्बन्धान्तर को लेकर स्वरूपवाद का खण्डन किया जा सकता है। विगत पृष्ठों पर स्वरूपवाद में प्रदर्शित अन्य दोषों का भी यहाँ उद्भावन किया जा सकता है एवं यहाँ उद्भावित दोषों को अन्यत्र स्वरूपवाद में भी उद्भावित किया जा सकता है।

स्वरूपवाद-प्रदर्शित दोषों से बचने के लिए जो कहा गया था—'धर्मान्तरं भेदः',

भेदो नामान्य एवैकः कश्चिद्धर्मः ? आद्ये घटत्वादीनां सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गः, भेदस्य सप्रतियोगिकत्वात् । न च घटत्वादयस्तथा, पटाद्यनपेक्षतयैव प्रतीतेः ।

यदा पटाद्यपेक्षया प्रतीयन्ते तदा भेदव्यवहारं कुर्वन्तीति चेन्न, प्रतीतौ कस्य पटाद्यपेक्षेति वाच्यम्—किं घटत्वादेरुत धर्मस्य कस्यचित् ? आद्ये पटापेक्षामन्तरेण घटत्वप्रतीत्यनुपपत्तिप्रसङ्गः । न हि यदन्तरेण यदुत्पद्यते तत्तत्कारणकं नाम ? वह्नाविवावान्तरजातिभेदे कारणभेदस्य चरितार्थयितुमशक्यत्वात् । साक्षात्कारित्वादिना

योगितया भेदत्वेन निरुच्यमानघटत्वादीनामपि सप्रतियोगित्वप्रसङ्ग इत्याह ❀ आद्य इति ❀ । सापेक्षतया पितृत्वादिवत् सन्तु घटत्वादयोऽपि सत्प्रतियोगिका इत्याशङ्क्य मैवमनुभवविरोधादित्याह ❀ न चेति ❀ ।

देवदत्तस्य स्वरूपेण प्रतीतावनन्यापेक्षत्वेऽपि प्रतियोगिसापेक्षतया पितृत्वव्यवहारं जनयति यथा तद्वत् घटत्वादीनां स्वरूपप्रतीतावनन्यापेक्षत्वेऽपि व्यवहारजनकत्वं प्रतियोगिसापेक्षतयेति शङ्कते ❀यदेति❀ । विकल्पासहत्वान्मैवमिति परिहरति ❀ नेति ❀ । पटाद्यपेक्षा घटप्रतीतिकारणमिति प्रथमकल्पे दोषमाह ❀ आद्य इति ❀ । केवलव्यतिरेकावसेयत्वात्कारणभावस्य व्यतिरेकश्च तन्मात्राभावे कार्याभावस्तस्य दुर्लभत्वात्पटाद्यनपेक्षा घटत्वप्रतीताविति हेतुमाह ❀ न हीति ❀ । अरणिसूर्यकान्ततृणादीनामन्योन्यव्यभिचारिणामपि सकाशात् वह्निजन्माङ्गीकारे तत्तदवान्तरजातीयं प्रति एकैकस्य कारणत्ववत्प्रकृते केवलव्यतिरेकाभावान्न स्यादेव कारणता जातिभेदाभावादित्यर्थः । कुतो घटत्वप्रतीतेरवान्तरजातिभेदो नेष्यते तत्राह

उसका आशय क्या ? भेद के प्रतियोगिभूत घटादि में रहनेवाले घटत्वादि धर्मों का स्वरूप भेद है ? अथवा भेद घटत्वादि से भिन्न कोई एक धर्मरूप है ? प्रथम कल्प के अनुसार भेद के समान घटत्वादि धर्म भी सप्रतियोगिक हो जाएँगे [अर्थात् जैसे भेद के लिए नियमतः प्रश्न उठता है—'कस्य भेदः ?' उसी प्रकार 'कस्य घटत्वम् ?' ऐसी जिज्ञासा होनी चाहिए, किन्तु नहीं होती] घटगत भेद के लिए 'पटस्य भेदः'—इस प्रकार जैसे नियमतः पटादि प्रतियोगी की अपेक्षा होती है, वैसे घटत्वादि को पटादि की अपेक्षा नहीं होती ।

शङ्का—जैसे 'देवदत्तोऽयम्' इस प्रकार के व्यवहार में किसी प्रतियोग्यादि की अपेक्षा न होने पर उसी देवदत्त में 'चैत्रस्यायं पिता' इस प्रकार का व्यवहार प्रतियोगिसापेक्ष हो जाता है, उसी प्रकार 'घटत्वमत्र'—इस प्रकार के व्यवहार में पटादि की अपेक्षा न होने के कारण घटत्वादि को पट-भेदरूप नहीं माना जाता, किन्तु 'पटावृत्तिघटत्वमत्र'—इस प्रकार के व्यवहार में पटादि की अपेक्षा होने के कारण घटत्वादि को पट-भेद रूप माना जाना अनुचित नहीं ।

समाधान—किस पदार्थ को अपने निरूपण में पटादि की अपेक्षा है ? क्या घटत्वादि को पटादि की अपेक्षा है ? अथवा किसी विलक्षण घटत्वादिविषयक ज्ञानत्वादि धर्मों को अपनी प्रतीति में पटादि की अपेक्षा है ? प्रथम कल्प के अनुसार पट-प्रतीति के विना घटत्व की कदापि प्रतीति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जिसकी प्रतीति के विना जिसकी प्रतीति हो जाती है, उसको उसकी अपेक्षा नहीं मानी जाती ।

शङ्का—तृण-पर्णादि-जन्य वह्नि में अरण्यादि कारणों का व्यभिचार हटाने के लिए जैसे वह्निगत तार्णत्व-पार्णत्वादि विशेष जातियों की कल्पना की जाती है, वैसे ही घटज्ञानगत विलक्षण घटज्ञानत्व जाति की कल्पना कर उसमें पटादि की अपेक्षा मानने पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती ।

समाधान—वह्न्यादि-स्थल पर नितान्त प्रसिद्ध तृण, पर्ण, अरणि, मण्यादि कारणों के व्यवस्थार्थ वह्निगत वैजात्य कल्पना की जाती है, वैसी घटत्वादिज्ञानत्व की नहीं । साक्षात्कारित्वादि जातियों से घटत्वज्ञानत्वादि का साङ्कर्य हो जाने के कारण घटत्वज्ञानत्वादि को

सह परापरभावानुपपत्तेः। जात्योः परापरत्वसङ्करमिच्छतामपि मते पञ्चम्याऽवधिभावः प्रतिपाद्यमानः केन सममन्वियात्। घटत्वस्यावधिघटितत्वे तथैव परं प्रतीत्यापत्तेः। तद्धर्मस्तथात्वमिति चेन्न, तथा हि—न द्वितीयः, स एव सापेक्षप्रतिपत्तिर्भेदो न तु घटत्वादिः, घटत्वादेश्च स भेदः स्यात्, तद्धर्मकत्वात्। घटादेस्तु भेदपर्यनुयोगे तदभिधानमसङ्गतम्। कथञ्च भिन्नैरनुगतव्यवहारः स्यात्? तथापि तथा सति वा किन्न तैरेव तदादिव्यवहारोऽपि स्यात्?

ॐ साक्षादिति ॐ। साक्षात्कारित्वं प्रमात्वं च घटत्वप्रतीतौ तावज्जातिरस्ति यश्चापरो जातिभेदस्सप्रतियोगिकप्रतीतित्वन्नाम कल्प्यते सा यदि साक्षात्वाद्यपेक्षया न परस्तदा स्मरणादौ सप्रतियोगिघटत्वप्रतीतिर्न स्यात्परजात्यभावेऽपरजातिसमवायायोगाद्यदि परस्तदा निष्प्रतियोगिघटत्वप्रतीतौ साक्षात्वादि न स्यात् परजातिमत एवापरजातिमत्वनियमादतः परस्परव्यभिचारात्साक्षात्वादिना कल्प्यमानजातिविशेषस्य परापरभावो नोपपद्यते परापरभावशून्ययोश्च जात्योर्घटत्वप्रतीतौ समवाये वैशेषिकानिष्टजातिसङ्करप्रसङ्ग इत्यर्थः। ये तु जातिसङ्करमिच्छन्ति तन्मते दोषमाह ॐ जात्योरिति ॐ। पटात् घटो भिन्न इत्यत्र पञ्चम्या अवधिभावः प्रतिपाद्यते न स तावत्प्रतीतिमात्रेण संबध्यते विषयविशेषकृतत्वात्प्रतीतिगतविशेषस्यातः केन संबध्यत इति वाच्यं किं घटत्वादिनोत तद्धर्मेणेति यावत्। घटत्वादिसम्बन्ध्यवधिभाव इति प्रथमे दोषमाह ॐ घट इति ॐ। कदाचिदपि घटत्वादेः प्रतियोग्यपेक्षाव्यतिरेकेण प्रतिपत्तिर्न स्यात्तस्यावधिघटितस्वभावादित्यर्थः। घटत्वादिनिष्ठधर्मस्यावधिघटितत्वमिति द्वितीयं शङ्कते ॐ तदिति ॐ। तथाप्रतीत्यभावात्परिहरति ॐ नेति ॐ। एतेन प्रसङ्गागतेन द्वितीयकल्प एव निरस्यत इत्याह ॐ न द्वितीय इति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ स इति ॐ। धर्मस्यावधिघटितत्वे स एव सापेक्षप्रतिपत्तिको भेदः स्यान्न त्वदिष्टो घटत्वादिभेदः सिद्ध्येदित्यर्थः स धर्मलक्षणो भेदो घटत्वादिधर्मत्वात् घटत्वादेरेव धर्मः स्यादित्याह ॐ घटत्वेति ॐ। तथापि किमनिष्टमित्यत आह ॐ घटादेरिति ॐ। घटादेः को भेद इति पर्यनुयोगे घटत्वादिधर्मस्य घटादिभेदतयाऽभिधानादसाङ्गत्यमतन्निष्ठत्वादित्यर्थः। तर्हि घटादेर्भेदवत्वसिद्धये घटत्वादय एव भेदा इष्यन्त इत्यत आह ॐ कथमिति ॐ। घटत्वपटत्वादिभिरन्योन्यव्यभिचारात्सर्वत्रानुगतभेदव्यवहारो न सिद्ध्येदित्यर्थः। अननुगतानामेव स्वरूपवैचित्र्याच्छक्तिवैचित्र्याद्वाऽनुगतबुद्धिव्यवहारहेतुता स्यादित्याशङ्क्य व्यावृत्तत्वेऽप्यनुगतव्यवहारजनकत्वे तत्तत्पदार्थस्वभावभेदादेवानुगतबुद्ध्यादिसम्भवेन सामान्यापलापः स्यादित्यभिप्रेत्याह ॐ तथापीति ॐ।

विलक्षण जाति नहीं माना जा सकता [साक्षात्कारित्व को छोड़कर अनुमित्यादि परोक्ष ज्ञानों में घटत्वज्ञानत्व वृत्ति है और घटत्वज्ञानत्व को छोड़कर साक्षात्कारित्व पटादि-साक्षात्कार में रहता है, दोनों का घटत्वसाक्षात्कार में समावेश हो जाने से घटत्वज्ञानत्व को जाति नहीं माना जा सकता]।

साङ्कर्य दोष को जातित्व-बाधक न मान कर यदि घटत्वज्ञानत्व को विशेष जाति माना जाता है, तब भी 'पटाद् भेदः' के समान 'पटाद् घटत्वज्ञानत्वम्'—यहाँ 'पट' पदोत्तर पञ्चमी विभक्ति के द्वारा प्रतिपादित अवधित्व का किसके साथ अन्वय होगा? 'कस्माद् घटत्वम्?' इस प्रकार घटत्व को तो किसी अवधि की अपेक्षा ही नहीं, यदि मानी जाती है, तब पट-ज्ञान के विना कभी भी घटत्व-ज्ञान नहीं होना चाहिए, किन्तु होता है।

घटत्वादि के किसी धर्म को भेद मानना ही, द्वितीय कल्प (भेदो सामान्य एवैकः कश्चिद् धर्मः) है, वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि इस कल्प के अनुसार प्रतियोगी की नित्य अपेक्षा रखनेवाला भेद घटत्वादि का धर्म है, घटत्वादिरूप नहीं। अतः घटादि भेद के विषय में प्रश्न किए जाने पर घटत्वादि का अभिधान करना सङ्गत नहीं। घटत्वादिवृत्ति अननुगत धर्म को भेद माना जाता है? या अनुगतधर्म को? अननुगत धर्मों के द्वारा अनुगत व्यवहार

धर्म

नापि द्वितीयः, अनभ्युपगमात्। सप्तपदार्थानामनन्तर्भावप्रसङ्गात्, स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेश्च। ईदृशाश्च उपाध्यालीढवैचित्र्याणां जात्या समर्थने सर्वोपाध्युपधानानां जात्यैव समर्थनं स्यात्।

ननु घटत्वादय एव भेदाः, घटत्वादिज्ञानाविशेषेऽपि च प्रतियोगिज्ञानसहकारिवशाद्विचित्रव्यवहारोपपत्तिरिति चेन्न, व्यवहारसत्यत्वार्थं वास्तवानुगतविशेषस्यावश्यं

किं घटत्वादय एव भेद उत भेदो नामान्य एवैकः कश्चिद्धर्म इति विकल्प्य प्रथमे दोषमुक्त्वा द्वितीयमपवदति ※ नापीति ※। अभावस्य सधर्मत्वकल्पोऽपि तन्त्रेण निराक्रियत इति द्रष्टव्यमभावगतधर्मस्य घटत्वाद्यतिरिक्तभेदस्य वाऽनभ्युपगमादित्यर्थः। अनभ्युपगमे युक्तिमाह ※ सप्तेति ※। तस्य द्रव्याद्यन्तर्भावे सामान्यादेरभिन्नत्वप्रसङ्गात्सामान्यान्तर्भावश्च न सम्भवति घटाद्यतिरेकाङ्गीकाराद्विशेषान्तर्भावे नित्यव्यतिरिक्तानामभिन्नत्वप्रसङ्गः समवायान्तर्भावे भावाभावयोरभेदप्रसङ्गोऽभावे समवायाभावाबभावान्तर्भावोऽप्यत एव न इतरेतराभावभेदपक्षानङ्गीकारात्सप्तपदार्थानन्तर्भाव आपाद्यते, स च वैशेषिकसमयप्रतिकूल इत्यर्थः। अपि च योऽसौ भेद इष्यते स स्वात्मनि वर्त्तते न वा? न चेद्भेदस्य कुतोऽपि भेदहीनतया विश्वात्मतायां सत्यां विश्वमपि निर्भेदं भेदाभिन्नतया भेदहीनं स्याद्यदि वर्तते, स्वयमेव चेदात्माश्रयो भेदान्तराभ्युपगमेऽन्योन्याश्रयः स्यादित्यभिप्रेत्याह ※ स्वेति ※। घटत्वादिव्यतिरिक्तो भेदाख्यो जातिविशेषः कश्चित् द्रव्यादिषु भविष्यति किमिति सप्तपदार्थ्यामन्तर्भाव इत्यत आह ※ ईदृशां चेति ※। अन्यापेक्षप्रतिपत्तीनां द्रव्यादिभेदानां प्रतियोग्याद्युपाध्यधीनवैचित्र्याणां जातिरूपेण समर्थने सर्वेषां दण्डित्वपाचकत्वादीनामपि जात्यैव समर्थनं ते स्यादत औपाधिकपदार्थः कोऽपि न स्यादित्यर्थः। उपधानमुपबर्हणम्। उपाधिव्यावृत्तधर्माणामिति यावत्।

घटत्वादिजातिरेव भेद इति मतं निराकृतमपि दूषणान्तरं वक्तुं पुनः शङ्कते ※ नन्विति ※। घटत्वादीनामेव भेदत्वे घटत्वादिज्ञानं यदा यदोदेति तदा तदा घटत्वादिज्ञानाविशेषाद्भेदव्यवहारः स्यादित्यत आह ※ घटत्वेति ※। प्रतियोगिज्ञानसहितघटत्वादिज्ञानं भेदव्यवहारसामग्री न तन्निरपेक्षमिति नियम इत्यर्थः। परिहरति ※ नेति ※। घट इति यो व्यवहारो यश्च घटो भिन्नः पटादिति व्यवहारस्त-

---

सम्भव नहीं हो सकता। यदि अननुगत धर्मों से ही अनुगत व्यवहार हो जाता है, तब घटत्वादि जातियों के मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। द्वितीय कल्प के अनुसार घटत्वादिवृत्ति किसी अनुगत धर्म को भी भेद नहीं मान सकते, क्योंकि वैसा कोई अन्योन्याभाव से अन्य धर्म माना नहीं जाता। यदि माना जाता है, तब द्रव्यादि सात पदार्थों के अन्तर्गत न मानकर उनके बाहर ही मानना होगा, क्योंकि वह स्वयं अपने में रहता है? या नहीं? यदि रहता है, तब आत्माश्रयता होती है और यदि नहीं रहता, तब सात पदार्थों के अन्तर्गत नहीं मान सकते।

ऐसे भेदरूप धर्मों को जातिरूप मान कर यदि प्रतियोग्यनुयोग्यादि उपाधियों के द्वारा उन्हें अनतिप्रसक्त बनाया जाता है, तब सभी प्रमेयत्वादि धर्मों को जातिरूप मानकर उपाधियों के आधार पर विविध व्यवहारों का समर्थन किया जा सकता है।

शङ्का—घटत्वादि धर्मों को ही भेद का स्वरूप मान लेना चाहिए। यद्यपि घटत्वादिज्ञानों में कोई विशेषता नहीं, तथापि प्रतियोगिज्ञानादि सहकारी कारण के आधार पर विचित्र व्यवहारों की उपपत्ति की जा सकती है।

समाधान – 'अयं घटः' तथा 'घटः पटाद् भिन्नः'—इस प्रकार के व्यवहार विशेष का निर्वाह करने के लिए व्यवहर्त्तव्य पदार्थों में वास्तविक विशेषताओं की स्थापना आवश्यक है। यदि वैसी कोई व्यवस्था नहीं की जाती, तब उक्त द्विविध व्यवहारों में से किसी एक को असत्य मानना होगा और कोई विशेषता मान लेने पर उसी को भेद का स्वरूप माना जा

स्वीकर्तव्यत्वे तथैव पर्यनुयोगानुवृत्तेः । अनन्तभेदपरम्पराभ्युपगमे च तत्क्रमज्ञेयतायां प्रतीत्यपर्यवसानात् । तद्युगपज्ज्ञेयतायामत्यन्तसदृशतया कस्यचिदन्यभेदस्यान्यदीयतयाऽपि ग्रहणसम्भवादिना सर्वत्र प्रामाण्यानाश्वासप्रसङ्गात् । सर्वप्रतीतिनियमानङ्गीकारे चाप्रतीतसत्त्वे प्रमाणाभावात् । जिज्ञासायां तस्य तस्यापि ज्ञेयत्वे तद्बुद्धीनां भेदबुद्धित्वात् तदर्थेष्वनुगतत्वस्याप्यनुपपत्त्या तेष्वेकजात्याद्यभ्युपगमे तद्भेदेऽपि तदङ्गीकारे परस्पराश्रयाश्रयिभावप्रसङ्गात । एवं सत्तादीनामानन्त्यस्वीकारे द्रष्टव्यम् ।

योरुभयोः सत्यत्वसिद्धयर्थं व्यवह्रियमाणपदार्थगतः कश्चिदतिशय एष्टव्योऽन्यथान्यतरव्यवहारस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गादेवञ्च स एवातिशयो भेदः स्यान्नतु घटत्वादिः स च कुतश्चिद्भिन्नो न वाऽऽद्येऽनवस्था द्वितीये सर्वाभेदापत्तिरिति पर्यनुयोगानिवृत्तिरित्याशयः । एवं भेदस्य भेदान्तरभिन्नत्वे तत्सत्तानवस्थामुक्त्वा तज्ज्ञप्तावनवस्थामिदानीमाह ❀ अनन्तेति ❀ । भेदाः क्रमेण ज्ञेया उत युगपदाद्ये भेदज्ञानप्रवाहाविच्छित्तिरतश्च स्वापमोक्षाद्यसम्भव इति भावः । द्वितीयम्प्रत्याह ❀ तदिति ❀ । तेषां भेदानामत्यन्तसदृशतयाऽस्यायं भेद इति निर्णेतुमशक्यतयाऽन्यदीयस्यापि भेदस्यान्यदीयतया ग्रहणव्यवहारसम्भवेन सर्वभेदग्रहेष्वतस्मिंस्तद्बुद्धित्वसम्भावनया प्रामाण्यनिश्चयो न स्यादित्यर्थः । भेदाकारणस्य धर्मिणः प्रतियोगिनश्चैक्यात्सदृशत्वमिति यावत् । न सर्वभेदस्य प्रतीतिनियमोऽङ्गीक्रियत एकभेदज्ञानमात्रेण घटादेर्भिन्नत्वप्रतीतिसम्भवादतो न क्रमज्ञेयत्वादिविकल्पावसर इत्यत आह ❀ सर्वेति ❀ । यन्न कदाचिदुपलभ्यते तदसदनन्तो भेदस्तु न नियमेन नोपलभ्यते किन्तु यदा यद्विषया जिज्ञासा तदा स भेदः प्रतीयते नान्य इति नियमाङ्गीकारादित्याशंक्याह ❀ जिज्ञासायामिति ❀ । जात्यादीत्यत्रादिशब्देनोपाधिरुच्यते तस्योपाधिरूपस्य जातिरूपस्य वाऽनुगतभेदव्यवहारनिर्वाहार्थतयेष्टस्य स्वाश्रयाद्भिन्नमेवेति भेदाश्रयरूपं वक्तव्यमेवं च स्वाश्रिते भेदे स्वयं वर्त्तत इति परस्पराश्रय इत्याशयः । उक्तमन्यत्राप्यतिदिशति ❀ एवमिति ❀ । सत्तायाः समवायस्य चैकत्वे सत्ता ततो तयोः समवाय इति व्यवहारो न स्यात्तद्भेदे युगपत्क्रमज्ञेयत्वादिविकल्पदूषणमित्यर्थः ।

सकता है, घटत्वादि को नहीं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर पर्यनुयोगों (प्रश्नों) की प्यास कभी बुझ नहीं सकती ।

एक भेद का भेदक भेदान्तर और भेदान्तर का भेदक भेदान्तर—इस प्रकार अनन्त भेद-परम्परा मानने पर जिज्ञासा होती है कि उन भेदों का ज्ञान क्रमशः होता है ? अथवा युगपत् ? क्रमशः ज्ञेय मानने पर अनन्त भेदों की अनन्त प्रतीतियों की समाप्ति कभी नहीं हो सकती । उन सब भेदों की युगपत् प्रतीति मानने पर प्रतीति में प्रामाण्य का विश्वास नहीं रह सकता, क्योंकि सभी भेद अत्यन्त सदृश हैं, अतः अन्य के भेद की अन्यदीय भेद के रूप में प्रतीति का हो जाना असम्भव नहीं, अन्य पदार्थ का अन्यदीयरूप में अवगाहन करना ही प्रतीति की अप्रमाणता होती है ।

शङ्का—यदि सभी भेदों की एक काल में प्रतीति न मानकर कतिपय परिगणित भेदों का ही भान मानने पर अप्रतीयमान भेद की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं रह जाता । जैसे-जैसे जिज्ञासा होती जाय, वैसे-वैसे उनकी प्रतीति होती जाती हैं, अत्यन्त अप्रतीयमान कोई भी भेद नहीं, जिसकी सत्ता को निष्प्रमाण कह दिया जाय ।

समाधान—उत्तरोत्तर जायमान भेद-प्रतीतियाँ भी पूर्वतन भेद-प्रतीतियों के समान ही अनुगतविषयक नहीं । प्रतीतियों के आधार पर विषयों और विषयों के आधार पर प्रतीतियों का अनुगम करने पर अन्योऽन्याश्रयता होती है । इसी प्रकार सत्ता में सत्ता मानने पर अनवस्था एवं अनन्त सत्ता-परम्परा की क्रमशः और युगपत् प्रतीति मानने पर कथित दोष प्रसक्त होते हैं ।

किञ्च घटत्वादेर्भेदत्वेऽवधिभूतपटत्वादिसापेक्षप्रतिपत्तिकतायां घटत्ववत् पटत्वस्यापि भेदरूपस्य भेदावधिप्रतिपत्तिसापेक्षतयाऽवधेश्च घटत्वादित्वेन घटत्वादिप्रतीत्यपेक्षायामन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्गः। भेदस्वरूपत्वे घटत्वादेरवध्यपेक्षा, न तु स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ। स्वरूपमात्रेण चावधित्वम्, तत्कुत एवमिति चेन्न, भेदरूपता यदि तस्य स्वात्मैव तदा स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ नावध्यपेक्षेति शून्यं वचनम्। अथ धर्मान्तरं तदा स एव भेदोऽस्तु, किं कृतं तद्वत्तया घटत्वादेर्भेदरूपतेति प्रक्रियाकल्पनया? अस्तु स एव धर्मान्तरं भेद इति चेन्न, दूष्यत्वात्। अथापि स्वरूपादित्रय-

अन्योन्याश्रयप्रसङ्गादपि धर्मभेदपक्षोऽनुपपन्न इत्याह ॐ किञ्चेति ॐ। घटत्वपटत्वयोरन्योन्यप्रतियोगिकत्वात्प्रतीतावितरेतराश्रय इति यावत्। अन्योन्याश्रयपरिहारं शंकते ॐ भेदरूपेति ॐ। यदा घटत्वादिर्भेदरूपो भवति तदा पटाद्यपेक्षा यदा स्वरूपेणावधीरितभेदाकारं घटत्वादि प्रतीयते तदा न प्रतियोग्यपेक्षा प्रतियोगित्वं च स्वरूपमात्रेण प्रतिपन्नतया न तु भिन्नतया तत्कुत इतरेतराश्रय इत्यर्थः। भेदरूपत्वे घटत्वादेरवध्यपेक्षेति ब्रुवता भेदरूपत्वं घटत्वादेः स्वरूपं विवक्षितमुत तद्धर्म इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ॐ नेति ॐ। शून्यवचनं निरर्थकवदनमित्यर्थः। यदि द्वितीयस्तत्राह ॐ अथेति ॐ। तत् धर्मान्तरमेव भेदो भवतु प्राप्ताप्राप्तविवेकित्वाद्धयर्थं घटत्वादेस्तद्वत्तया भेदत्वकल्पनमित्यर्थः। धर्मान्तरस्य भेदत्वमापादितमङ्गीकृत्य प्रत्यवतिष्ठते ॐ अस्त्वति ॐ। सप्तपदार्थान्तर्भावानन्तर्भावेन परस्पराश्रयभावेन च खण्डनीयं तदित्याह ॐ नेति ॐ। स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्याणामन्यतमद्वयासम्भवं भेदत्वमिति मतं

दूसरी बात यह भी है कि भेद को घटत्वादि धर्मरूप मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष भी हो जाता है, क्योंकि जहाँ 'पटत्वाद् भेदो घटस्य' और 'घटत्वाद् भेदः पटस्य'—ऐसा भेदग्रह हो रहा है, वहाँ घटत्वरूप भेद की अवधि (प्रतियोगी) पटत्व और पटत्वरूप भेद की अवधि घटत्व है, अतः पटत्व का ज्ञान होने पर घटत्व का और घटत्व का ज्ञान होने पर पटत्व का ज्ञान होगा। [ग्रन्थकार ने ऐसे ही स्थल को ध्यान में रख कर कहा है—'अवधिभूतपटत्वादिसापेक्षप्रतिपत्तिकतायाम्।' अथवा 'अवधिभूत' पद का अर्थ अवधितावच्छेदकीभूत करके 'पटाद् भेदो घटस्य' और घटाद् भेदः पटस्य'—ऐसा स्थल भी लिया जा सकता है। वस्तुतः इतरस्माद् भेदो घटस्य, पटस्य'—इत्यादि आकारों को लेकर अन्योऽन्याश्रयता के उद्भावन में सभी का समावेश हो जाता है]।

शङ्का—घटत्वादि की प्रतीति सदैव प्रतियोगिसापेक्ष नहीं होती, अपि तु जिस समय घटत्वादि मे भेदरूपता विवक्षित होती है, उस समय ही उनमें अवधिसापेक्षता आती है, स्वरूपतः घटत्वादि की प्रतीति में किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती, अतः स्वरूपतः प्रतिपन्न पदार्थ अवधि बन जाता है, अन्योऽन्याश्रयता क्यों होगी?

समाधान—भेदरूपता यदि घटत्वादि का अपना स्वरूप ही है, तब वह सदैव एक रहेगा, चाहे भेदरूपता की विवक्षा हो या नहीं। सदैव घटत्वादि को अपनी प्रतीति में अवधिज्ञान की अपेक्षा होगी, अतः 'स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ नावध्यपेक्षा'—ऐसा कहना अत्यन्त निरर्थक और असंगत है।

शङ्का—घटत्वादिगत किसी धर्मान्तर को भेदत्वरूप मानकर तद्वत्त्वेन घटत्वादि को भेदरूप माना जाना उचित नहीं, क्योंकि उसी धर्मान्तर को ही भेदस्वरूप मानकर भेद-व्यवहार का निर्वाह किया जा सकता है, तद्वत्त्वेन घटत्वादि को भेद मानना व्यर्थ है।

समाधान—धर्मान्तर की भेदरूपता का भी खण्डन किया जा चुका है कि उसे सप्त पदार्थों के अन्तर्गत या बहिर्भूत मानने में वैशेषिकों पर अपसिद्धान्तादि अनेक दोष लागू होते हैं।

मिदं भेद इति कथं सङ्गच्छते, तद्व्यवहारस्यैकाकारस्य नानानिमित्तत्वे गोत्वाद्यनुगताकारप्रतीतेरपि कथमेकनिमित्तत्वसिद्धौ प्रामाण्यं, व्यभिचारात् ? सामान्यविशेषैरेव परसामान्यबुद्धिव्यवहारोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः।

किञ्च भेदे भेदान्तरमस्ति न वा ? आद्येऽनवस्था। द्वितीये तदभाव एव स्यात्, धर्मिण्येव तत्प्रवेशात्। भेदस्वभावत्वात् स्वात्मन्यपि स्वयमेव तद्व्यवहारमयं करोति, सत्तेव सद्व्यवहारमिति चेन्न, यदि स्वस्मादपि स्वयं भिन्नः न स भेद इति स्वस्मादि-

दूषयति ❀ अथेति ❀। यद्वा घटत्वादौ तद्धर्मान्तरं भेदस्तद्धर्मान्तरेऽभावे च स्वरूपं घटादौ घटत्वादीति यथासम्भवमित्याशंक्याह ❀ अथेति ❀। स्वरूपादित्रितयेऽनुगतभेदबुद्धिव्यवहारनिदानैकाकारादर्शनान्न तत्त्रितयं भेद इत्यर्थः। कथं च न सङ्गच्छते व्यावृत्तत्रितयस्वरूपालम्बनत्वात्तद् बुद्ध्यादेरित्यत आह ❀ तदिति ❀। अनुगतव्यवहारस्य विभिन्ननिमित्तत्वाङ्गीकारे गवादेर्व्यवहारस्य तथा सम्भवाद् गोत्वादिजातिकल्पना निष्प्रमाणिका स्यादित्यर्थः। भङ्ग्यन्तरं भणति ❀ सामान्येति ❀। खण्डादिविशेषैरेव गोत्वादिव्यवहारोपपत्तौ गोत्वाद्यकल्पनवद् गोत्वघटत्वादिभिरेव द्रव्यव्यवहारोपपत्तौ न द्रव्यत्वकल्पना तथा द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वैरेव सद्व्यवहारोपपत्तौ सत्ताकल्पनं न स्यादित्यर्थः।

यो वा को वा भेदोऽङ्गीक्रियते तस्मिन् भेदान्तरमस्ति न वेति विकल्पयति ❀ किञ्चेति ❀। प्रथममपवदति ❀ आद्य इति ❀। न तावद्भेद इत्येव बुद्धिरुदेति किन्त्वयमस्माद्भिन्न इति विशेषणविशेष्यभावेन, विशिष्टबुद्धिर्दण्डादौ भेदग्रहणपूर्विका दृष्टा दूरस्थतरुगिर्यादेः स्वरूपेण दर्शने विशिष्टबुद्ध्यनुदयादतो विशिष्टप्रतिभासात्प्रागेव भेदान्तरङ् ग्राह्यं तदपि तथेत्यनवस्थेत्यर्थः। द्वितीयमपवदति ❀ द्वितीयेति ❀। तदभावो भेदाभावस्तस्य धर्मिणो भेदविकलतया तन्मात्रत्वादित्यर्थः। भेदः स्वसंसर्गादन्यत्र भेदव्यवहारं कुर्वन् स्वात्मन्यपि तद्व्यवहारं करोति इदमेव काणादाः स्वपरनिर्वाहकत्वं निगदन्तीति शंकते ❀ भेदेति ❀। भेदस्वभावत्वादिति वदतः कोऽभिसन्धिः किं भेदस्य भेदः स्वस्मादभिन्न इति किं वा ? भेदान्तरमन्तरेण भिन्नत्वमिति, यद्याद्यस्तत्राह ❀ नेति ❀। किमुक्तं स्यादित्यत आह ❀स्वस्मादिति❀। पञ्चम्यन्तशब्दाभिधेयोऽवधिभावोऽवधित्वं यस्य तत् स्वरूपः स्वयमन्यस्माच्च धर्मिणः सकाशात्स्वस्य भेदः

(१) स्वरूप, (२) वैधर्म्य और (३) अन्योऽन्याभाव—इन तीनों को भेद शब्द के द्वारा तभी अभिहित किया जा सकता है, जब कि उन तीनों में 'भेद' पद का एक प्रवृत्तिनिमित्त (शक्यतावच्छेदक) सुलभ हो, क्योंकि एकाकार-व्यवहार किसी एक अनुगत धर्म के द्वारा ही सम्भव हो सकता है, अन्योऽन्याभावत्वादि अननुगत धर्मों के द्वारा नहीं। यदि अननुगत धर्मों के द्वारा भी एकाकार व्यवहार का निर्वाह होता हो, तब गोत्वादि जातिपदार्थों का उपपादन न हो सकेगा, क्योंकि वहाँ भी कपिलत्व, कालाक्षित्वादि अननुगत धर्मों से ही एकाकार गोव्यवहार का निर्वाह हो सकता है, एक गोत्व जाति के मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। [अर्थात् एकाकार प्रतीति अनुगत जाति में तभी प्रमाण हो सकती है, जब अनुगत धर्म से व्यभिचरित न हो, अननुगत धर्मों से एकाकार-प्रतीति मानने पर वह एक अनुगत धर्म से व्यभिचरित होकर उसकी प्रमापिका नहीं हो सकती]।

यह भी एक जिज्ञासा होती है कि उस भेद में कोई भेदान्तर रहता है ? या नहीं ? प्रथम पक्ष मानने में अनवस्था और द्वितीय पक्ष में भेद अपने धर्मियों का स्वरूप होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो बैठता है।

शङ्का—जैसे 'सत्ता' जाति स्वयं स्वरूपतः सत् होती हुई अन्य पदार्थों को अपने योग से सत् बनाती है, वैसे ही भेद भी स्वतः भिन्न रहता हुआ अन्य पदार्थों का अपने सहयोग से भेदक होता है।

समाधान—भेद यदि स्वतः भिन्नस्वरूप होकर अन्यार्थ का भेदक माना जाता है, तब

त्यवधेयावधिभावस्वरूपः स्वयम्, भेदोऽन्यस्माच्च स्वस्य, तदाऽस्य भेदस्य स्वात्मप्रतियोगिकत्वेन स्वाश्रयत्वेन चाङ्गीकारे स्वस्मादपि स्वयं भिन्नः किं नाङ्गीक्रियते, विरोधाभावात्? स्वीक्रियेताप्येवं यदि तथा प्रतीतिर्व्यवहारो वा स्यादिति चेन्न, अस्त्यपि शब्दाभासादेस्तथा प्रतीतिराभासशब्दव्यवहारश्च। सत्यौ प्रतीतिव्यवहारौ स्वीकारकारणम्। न च तौ स्वात्मन एव स्वस्मात् भेदविषयौ स्त इति चेन्न, स्वात्मा स्वस्यैवाधिकरणमवधिश्चेत्यपि तर्हि न सत्या प्रतीतिः सम्भवति, न वा व्यवहारः। तत्कथमित्थमङ्गीकुरुषे?

ननु न वयं स्वात्मा स्वाधिकरणं स्वावधिर्वेत्यभ्युपगच्छामः, किन्तु धर्मान्तरे तत्प्रतियोगिके तदाधारे वा स्वीकृते यौ बुद्धिव्यवहारावुपपद्येते तावनवस्थाभयाद्धर्मान्तरमन्तरेणैव स्वभावाद् भेदः करोतीति ब्रूम इति चेत्, तर्ह्यन्यत्र यादृशी प्रतीतिर्धर्मा-

स्वयमिति पूर्वेण सम्बन्धः। अत्र दूषणमाह ⊛ तदिति ⊛। अस्य भेदस्य भेदाभिन्नस्य स्वात्मैव प्रतियोगी चाऽऽश्रयश्चेत्यङ्गीकारे परस्मादिव स्वस्मादपि भेदस्वीकारे विरोधाभावात् स्वीकार्यः स इत्यर्थः। न विरोधाभावमात्रेण स्वीकारः किन्त्वनन्यथासिद्धप्रतीतिव्यवहाराभ्यां तयोरत्रासत्त्वेन कल्पकाभावान्नैवमिति शंकते ⊛ स्वीति ⊛। प्रतीतिव्यवहारमात्रात् स्वीकार उत सत्याभ्यामिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ⊛ नेति ⊛। प्रतिवाद्युच्चारितात् स्वस्मात्स्वयं भिन्न इति शब्दाभासात्प्रतीत्याभासस्तद्व्यवहाराभासश्च विद्यत इत्यर्थः। आदिशब्देनानुत्प्रेक्षादिकारणान्तरग्रहः। द्वितीयं शंकते ⊛ सत्याविति ⊛। तवाप्येतत् तुल्यमिति परिहरति ⊛ नेति ⊛। स्वात्मैव स्वस्याधिकरणमवधिश्चेति सत्ययोः प्रतीतिव्यवहारयोरसत्त्वान्न तथात्वं स्वीकुर्वित्यर्थः।

भेदस्वभावत्वादिति स्वभेदः स्वस्मादभिन्न इति प्रथमकल्पे निरस्ते भेदान्तरमन्तरेण भिन्नत्वमिति द्वितीयमवलम्बते ⊛ न वयमिति ⊛। तर्हि वस्तुशून्यत्वेन बाधितविषयत्वादसौ प्रतीतिर्भ्रान्तिः स्यादिति

भेद स्वात्मा से भी भिन्न ही रहेगा, अभिन्न नहीं, क्योंकि अभिन्न हो जाने पर उसका अपना भिन्नरूपत्व स्वभाव ही समाप्त हो जाता है, भेद भेद ही नहीं रह जाता, अतः 'स्वस्मात् स्वस्य भेदः'—इस प्रकार भेद स्वावधिक (स्वप्रतियोगिक) और स्वानुयोगिक हो जाता है, तब स्व से भी स्व भिन्न क्यों नहीं प्रतीत होता? भेद यदि भेद से भिन्न है, तब उसे 'अभेद' पद से अभिहित करना होगा।

शङ्का—लोक में न तो स्व से स्व-भेद की प्रतीति होती है और अन्य व्यवहार, अतः भेद को अपने से भिन्न नहीं माना जा सकता।

समाधान—लोक मे जैसे 'आत्मनश्चैतन्यम्'—इत्यादि शब्दाभास, शब्दाभास-जनित प्रतीत्याभास और उससे व्यवहाराभास होते देखे जाते हैं, उसी प्रकार 'भेदः स्वस्मात् स्वयं भिन्नः'—इस प्रकार शब्दाभासादि हो सकते है, तब वैसा क्यों नहीं माना जा सकता? यदि उसके लिए शब्दाभासादि नहीं, सत्य शब्दादि की अपेक्षा हो, तब वह तो 'स्वात्मा स्वस्यैवाधिकरणमवधिश्च'—ऐसे शब्द और सत्य व्यवहार की उपलब्धि भी नहीं, तब वैसा आप (वैशेषिक) क्यों मान रहे हैं?

शङ्का—हम (वैशेषिक) 'भेद स्वयं अपना अधिकरण और अपनी अवधि है'—ऐसा कुछ नहीं कहते, अपि तु घट में घट-भेद को यदि धर्मान्तर रूप माना जाता है, तब 'भेदस्य घट एवाधिकरणं प्रतियोगी च'—ऐसे जो शब्द और व्यवहार होते हैं, उनका भेद अपने भेदान्तर के विना स्वभावतः सम्पन्न कर लेता है, क्योंकि भेद का भेदान्तर मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है।

समाधान—जैसे इस स्थल पर भेदान्तर के विना ही भेद का व्यवहार और प्रतीति

न्तरविषया तादृश्येवात्र विना धर्मान्तरमुत्पद्यत इति भ्रान्ता स्यात् । यस्य च स्वभावस्य बलेनेदृशी सा जायते स दोषः स्यात् । यथा सत्यरजते रजतप्रतीतौ रजतत्वादुत्पन्नाऽन्यत्र विना रजतत्वं जायमाना भ्रान्ता सा भवति, यस्य च सामर्थ्यात् सा तादृशी जायते, स दोष इत्युच्यते । तत्र रजतत्वं नास्ति, अत्र धर्मिरूपोऽपि भेद एव सन्नवलम्बनमिति चेत्, मैवम्; भिन्नप्रतीतिर्विशिष्टविषया भेदतदाश्रयरूपोभयवस्तुविषया अन्यत्र यादृशी सत्याऽङ्गीकृता ततो मात्रयाऽप्यन्यूनार्थाया इह जायमानाया यदि द्वयं विषयं नाङ्गीकुरुषे, तदा शक्रेणापि भ्रान्तत्वं दुर्वारम् । अथाङ्गीकुरुषे, तदाऽनवस्थाप्रसङ्गः । अथ तदुभयविषयव्यतिरेकेणैव साऽत्र सत्याऽन्यत्र, तर्हि इतोऽन्यादृशविषया मिथ्या स्यादित्यलं पल्लवेन ।

यत्तु सत्तेवेत्युक्तम्, तत् कटकगवोदाहरणमनुहरति, यतः सत्ताऽप्यमुना दूष-

परिहरति ❀ तर्हीति ❀ । भ्रान्तिः कारणदोषव्याप्ता दोषरहितकारणजन्यत्वान्नेयं भ्रान्तिरित्यत आह ❀ यस्येति ❀ । येन स्वभावविशेषेणेदृशी प्रतीतिरुत्पद्यते स स्वभावविशेषो दोषः स्यादित्यर्थः । अन्यत्र निश्चितविषयाभावेऽप्यन्यत्र जायमानप्रतीतिर्भ्रान्तेत्यत्र दृष्टान्तमाह ❀ यथेति ❀ । स्वभावविशेषसामर्थ्यात् तज्जनकत्वे तस्य दोषत्वं स्यादित्यत्रापि दृष्टान्तमाह ❀ यस्येति ❀ । दृष्टान्तं विघटयन्परः शङ्कते ❀ तत्रेति ❀ । शुक्तौ रजतत्वं धर्मिस्वरूपाभिन्नं भिन्नं वा नास्तीति तत्र तज्ज्ञानं भ्रान्तिरिह तु धर्मिस्वरूपस्य भेदस्य सत्त्वात्तदालम्बनज्ञानं कथं भ्रान्तिरित्यर्थः । घटात्पटो भिन्न इत्यत्र विशिष्टभेदबुद्धिर्धर्मिभेदोभयगोचरा स्वीकृता तद्वद्भेदो भिन्न इत्यपि बुद्धिरुभयगोचराङ्गीक्रियते नाङ्गीक्रियते वेति विकल्प्य प्रथमे भ्रान्तित्वं वज्रलेपायितमिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀ । द्वितीयेऽपि प्रागुक्तानवस्थेत्याह ❀ अथेति ❀ । उक्तमर्थं विपर्ययबाधाभिधानेन द्रढयति ❀ अथेति ❀ । प्रतीतेरैकरूप्ये सति विषयवैरूप्यमन्यतरमिथ्यात्वसाधनयेदेवेत्यर्थः ।

एवं भेदस्य स्वनिर्वाहकत्वं खण्डयित्वा सत्तेवेत्युक्तमुदाहरणं दूषयति ❀ यत्त्विति ❀ । कटकं

हो जाती है, वैसे ही अन्यत्र भी भेद के विना ही उस की प्रतीति उत्पन्न हो सकती है, किन्तु अविद्यमानार्थविषयिणी प्रतीति भ्रममात्र होगी और वह प्रतीति जिस स्वभावविशेष के बल पर उत्पन्न होती है, उसको वैसे ही 'दोष' शब्द से अभिहित करना होगा, जैसे सत्य रजत-स्थल पर रजतत्व-प्रयुक्त 'इद रजतम्'—ऐसी सत्य प्रतीति होती है किन्तु अन्यत्र (शुक्त्यादि मे) वह रजतत्व के विना ही उत्पन्न होने के कारण भ्रमरूप मानी जाती है और जिस रजत-सादृश्यादि के बल पर वह प्रतीति उत्पन्न होती है, उसे दोष कहा जाता है।

शङ्का—शुक्ति मे रजतत्व नहीं, अतः वहीं रजत-ज्ञान को भ्रम कहा जा सकता है किन्तु यहां धर्मिरूप भेद विद्यमान है, वही भेद-ज्ञान का आलम्बन है, अतः भेद-ज्ञान भ्रमात्मक नहीं हो सकता।

समाधान—जैसे 'घटात् पटो भिन्नः'—इत्यादि सत्य प्रतीतियाँ 'भेद और उसके आश्रय'—इन दोनों को विषय करती है, वैसे ही 'भेदो भिन्नः'—यह प्रतीति भी 'भेद और उसके आश्रयीभूत पदार्थ को विषय करती है ? या नही ? यदि दोनो को विषय नहीं करती, तब उसकी भ्रान्तिरूपता का निवारण इन्द्र भी नहीं कर सकता और यदि उभय को विषय करती है, तब अनवस्था प्रसक्त होती है। यदि यह प्रतीति अपने विषयीभूत 'भेद और आश्रय'—इन दोनों को विषय न करने पर भी सत्य मानी जाती है, तब इससे भिन्न 'घटात् पटो भिन्नः'—इत्यादि प्रतीतियों को असत्य या मिथ्या मानना होगा। भेद की स्वतः भिन्नरूपता में यह जो सत्ता का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह सत्ता भी गल्ला-मण्डी में इधर-उधर मुँह मारती गौ के समान सब कहीं मार खानेवाली है, यहाँ भी इन्हीं आत्माश्रयादि

णेनास्माभिः खण्डनीया ।

यत्पुनरभिधीयते किमेतैर्भेदखण्डनवादिभिरभिहितं भवति किं भेदज्ञानमेव नास्ति, सदपि नित्यम्, अनित्यमपि वा निर्हेतुकम्, सहेतुकमपि वा निर्विषयम्, सविषयमपि वा बाध्यमानविषयम्? तत्र प्रथमः सर्वतो विरोधादनुत्तरः। द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीयः। तृतीयोऽपि विरोधाद्धेयः। चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः। पञ्चमश्चिन्त्यते। किमेतेष्वन्यतमो विषयः तदन्यो वा? द्वितीये किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्यते। एवं हि चौरापराधेन व्यक्तमयं माण्डव्यनिग्रहः। अथान्यतमात्मा, तत्रापि यदि धर्मान्तरमेवेति तत्त्वं तदाऽनवस्थाभिया तदधिकः प्रवाहस्त्यज्यताम्। तस्य कुतस्त्यागः, न ह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं निवर्तयति, किन्तु प्रवाहं परिहारयति गन्धे गन्धान्तरवत्। अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमा-

राजधानी तत्र नानाजनसङ्कीर्णे वणिक्पथमध्ये नीयमानो दुष्टो गौरेकामिषलुब्धो यत्र धावँस्तत्र ताडितोऽन्यत्र प्रविशंस्तत्रापि ताड्यते तथेदमपीत्यर्थः।

यत्तूदयनेन बौद्धधिक्कारे भेदसमर्थनं कृतं तदनुवदति दूषणाय ❀ यत्पुनरिति ❀। नायं खण्डनन्यायो भेदापबाधनायालमित्यभिसन्धिः। तदेव प्रतिपादयितुं विकल्पयति ❀ किमित्यादिना ❀। एकैकपरित्यागेन कल्पान्तरस्वीकारे तत्र वक्ष्यमाणदूषणं द्रष्टव्यम्। विकल्पक्रमेण दूषयति ❀ तत्रेति ❀। तत्र लोकानुभवविरोधात्तदनङ्गीकुर्वतोऽप्रमितप्रतियोगिकनिषेधविरोधादङ्गीकारे सुतरां तद्विरोधात्प्रथमः स्वरूपमेव न लभते कुतस्तत्रोत्तराभिधानमित्यर्थः। सामग्र्यनिरूपणाद् भेदज्ञानं सदपि नित्यमित्यङ्गीकारे सर्वज्ञानोपरमरूपसुषुप्तिविरोधात् द्वितीयोऽपि हेय इत्याह ❀ द्वितीय इति ❀। कादाचित्कसतो निर्हेतुत्वे नियामकाभावात् स्यादेव वा न स्यादेव वेति तृतीयं दूषयति ❀ तृतीय इति ❀। निर्विषयत्वं प्रतीतिविरुद्धं इत्याह चतुर्थ इति ❀। बाध्यार्थत्वं विचारमन्तरेण दुरवधारणमिति तत् विचार्यमित्याह ❀ पञ्चेति ❀। विचारमेव दर्शयति ❀ किमिति ❀। भेदज्ञानस्य स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्येष्वन्यतमो विषय उत तेभ्योऽन्य इति विकल्पार्थः। द्वितीयमपवदति ❀ द्वीति ❀। प्रागुक्ताभिरनुपपत्तिभिः स्वरूपादिभेदविषयाभिस्त्रिविध एव भेदो बाध्यः प्रकारान्तरस्य तु व्यधिकरणत्वान्न ताभिर्बाधसम्भव इति भावः। विपर्यये बाधमभिधत्ते ❀ एवमिति ❀। स्वरूपादिभेदानां बाध्यत्वे ततोऽन्यभेदस्यापि बाध्यत्वस्वीकारे चौरापराधेन निरपराधमाण्डव्यमहामुनिनिग्रहः स्मर्यते।

"तस्करस्यापराधेन शूलमारोपितो यति"रिति तत्साम्यं स्यादित्यर्थः। बाध्यभेदविषयस्य ज्ञानस्य स्वरूपादिभेदेषु मध्येऽन्यतमो विषय इति द्वितीयं शंकते ❀ अथेति ❀। व्युत्क्रमेण प्रागुक्तदोषानुद्धरति ❀ तत्रापीति ❀। तत्त्वमिति धर्मान्तरं भेद इति पक्षपरामर्शक इति यावत्। अत्र दूषणमाह ❀ तदेति ❀। तस्मिन्पक्षेऽनवस्थैव दोष उच्यते सा च द्वितीयतृतीयादिभेदप्रवाहस्वीकारं परिहारयति न पुराद्यमपि भेदं

दोषों के द्वारा वह सत्ता खण्डनीय है।

शङ्का—यह जो श्री उदयनाचार्य ने कहा है—"तत्किं (१) भेदज्ञानमेव नास्ति? (२) सदपि वा नित्यम्? (३) अनित्यमपि वा निर्हेतुकम्? (४) सहेतुकमपि वा निर्विषयकम्? (५) सविषयकमपि वा बाध्यमानविषयमिति? तत्र प्रथमः सर्वतो विरोधादनुत्तरः, द्वितीयः सुषुप्तावस्थानुरोधादुपेक्षणीयः, तृतीयोऽपि विरोधाद् हेयः, चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः, पञ्चमस्तु चिन्त्यते—किमेतेष्वन्यतमात्मा अस्य विषयः? तदन्यो वेति? तत्र यद्यन्य एव, किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्यते? एवं हि चौरापराधेन व्यक्तमयं माण्डव्यनिग्रहः स्यात्। अथान्यतमात्मा। तत्रापि यदि धर्मान्तरमेवेति तत्त्वम्, तदानवस्थाभिया तदधिक एव प्रवाहस्त्यज्यताम्। तस्य कुतस्त्यागः? न हि अनवस्था प्रतिभासमर्थं निवर्तयति किन्तु प्रवाहं परिहापयति गन्धे गन्धान्तरवदिति।

लम्बते तदाऽपि काऽऽत्माश्रयः, तेन हि भेदज्ञानमेव न स्यात्। अस्ति च तत्, ततो हेत्वन्तरमाक्षिपेत्, न तु स्वात्मनि स्वयमहेतुत्वे स्वयमेव निवर्तेत।

अविद्यावशादिति चेत्, किञ्चातः? न ह्यविद्येत्येव आत्माश्रयनिवृत्तिः, तथा सति घटादयोऽपि कुलालादिनिरपेक्षाः स्वयमेव भवेयुः।

अथाऽऽत्माश्रयादिदोषोपहततया तन्न तस्यैव कारणम्। अतो यतः कुतश्चित्तस्य जन्म, तच्च दुर्निरूपमतोऽविद्येत्युच्यत इति विचारार्थः, नास्ति तर्हि विवादः। न च तदपि दुर्निरूपम्, प्रतियोगित्वेन अप्रतीतावधिकरणस्वभावत्वेन अधिकरणप्रतीतिः, अधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्च इतरेतराभावग्रहणकारणमिति निरूपणात्।

इत्यर्थः। कुत इत्यत आह ❀ न हीति ❀। अनवस्थायाः प्रतिभासमानाकारापन्हवे सामर्थ्याभावादिति यावत्। दृष्टान्तेनैतत्स्फुटयति ❀ गन्धेति ❀। यदङ्गीकारनिमित्ता साऽनवस्था तमेव द्वितीयादिभेदं स्वदोषत्वसिद्ध्यर्थं निवर्तयति द्वितीयादिगन्धवदित्यर्थः। अन्योन्याभावो भेदस्तद्विषयं च भेदज्ञानमिति पक्षान्तरमाह ❀ अथेति ❀। अन्योन्याभावं प्रत्यधिकरणतया प्रतियोगितया च ज्ञायमानमन्योन्याभावज्ञानस्य कारणं चेत्तर्ह्यन्योन्याभावज्ञानसिद्धौ तत्सिद्धिरित्यात्माश्रय उच्यते न सोऽपीत्याह ❀ तत्रापीति ❀। अन्योन्याभावविशेषिताधिकरणज्ञानस्य तद्धेतुत्वे स दोषः स्याद्धेत्वन्तराङ्गीकारे तु नात्माश्रयः तच्चावश्यवाच्यमन्यथा भेदज्ञानमेव न स्यादिति हेतुमाह ❀ तेनेति ❀। मम इष्टमेवेदमित्यत आह ❀ अस्तीति ❀। फलितमाह ❀ तत इति ❀। दृश्यमानकार्यानुसारेण कारणं कल्प्यं न तु कारणादृष्ट्या दृष्टकार्यस्वरूपमपलपनीयमित्यर्थः।

औपनिषदानां मतमाशंकते ❀ अविद्येति ❀। दृश्यमानकार्यस्य कारणतया हेत्वन्तरं न कल्प्यमात्माश्रयत्वेऽपि तस्याविद्यावशादुपपत्तेरनुपपन्नविधानपटीयसीत्वात्तस्या इत्यर्थः। नाविद्याऽनुपपन्नं विधातुमुत्सहतेऽन्यथा मुक्तानपि बध्नीयादतो नाविद्याङ्गीकारेण किञ्चित्प्रयोजनमिति परिहरति ❀ किञ्चेति ❀। दुर्घटत्वमविद्याया भूषणमिति स्वीकारादविद्यात्वमेवात्माश्रयादिदोषं परिहरतीत्यत आह ❀ न हीति ❀। कुत इत्यत आह ❀ तथा सतीति ❀। अविद्यास्वीकार इत्यात्माश्रयपरिहारश्चेत् घटादीनामपि कुलालादिनिरपेक्षाणां स्वत एवोत्पत्तेर्मृदाद्युपादानं मुधा स्यादित्यर्थः। मायावादिनोऽभिसन्धिमुद्घाटयति ❀अथेति❀। प्राक्कालावच्छिन्नसत्कारणमुत्तरकालावच्छिन्नसत्कार्यं तच्चैकस्य न सम्भवति स्वसिद्धौ स्वसिद्धिरित्यात्माश्रयप्रसङ्गादित्यर्थः। स्वव्यतिरेकिकारणादेव कस्मादपि कार्यं जायत इत्याह ❀ तत इति ❀। तर्ह्यात्माश्रयपरिहारेण सिद्धं भेदज्ञानमित्यत आह ❀ तच्चेति ❀। भिन्नत्वादिप्रकारैः सदादिप्रकारैश्च दुर्निरूपमित्यर्थः। तर्ह्यविद्याकार्यत्वपक्षक्षतिरित्यत आह ❀ अत इति ❀। न्यायविचारासहत्वस्याविद्यालक्षणत्वात्तदेवाविद्येत्यर्थः। अन्योन्याभावज्ञानस्य सहेतुकत्वे नास्ति विवादस्तदन्योन्याभावज्ञानं कार्यमेव स्वानुरूपं कारणं कल्पयतीति त्वया मया च स्वीकारादिति परिहरति ❀ नास्तीति ❀। तच्च दुर्निरूपमिति यदुक्तं तत्राह ❀ न चेति ❀। तदुपपादयति ❀ प्रतीति ❀। घटस्य प्रतियोगित्वप्रतीतिमपेक्ष्य पटस्य प्रतियोगित्वप्रतीतिरितरेतराभावज्ञानकारणं चेदात्माश्रयादिदोषः स्याद्यदा तु प्रतियोगित्वनिरपेक्षाधिकरणत्व-

---

अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमवलम्बते इति तत्त्वम्? तत्रापि ह्यात्माश्रयः, तेन हि भेदज्ञानमेव न स्यात्। अस्ति च तत्, ततो हेत्वन्तरमाक्षिपेत्, न तु स्वात्मनि स्वयमहेतुत्वे स्वयमेव निवर्तेत। अविद्यावशादिति चेत्। किं चातः? न ह्यविद्येत्येवमात्माश्रयनिवृत्तिः। तथा सति घटादयोऽपि कुलालादिनिरपेक्षाः स्वयमेव भवेयुः। अथात्माश्रयदोषोपहततया तन्न स्वस्यैव कारणम्। ततः यतः कुतश्चित् तस्य जन्म, तच्च दुर्निरूपमतोऽविद्येत्युच्यत इति विचारार्थः, नास्ति तर्हि विवादः। न च तदपि दुर्निरूपम्, प्रतियोगिरूपत्वेनाप्रतीतावधिकरणप्रतीतिरधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्चेतरेतराभावग्रहणकारणमिति निरूपणात्।

अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वम् , तथापि सहप्रयोग एवानुपपन्नः परिह्रीयताम् , भेदेन तु किमपराद्धम् ? सोऽपि दृश्यत इति चेत् । सत्यम् , नैमित्तिकस्तु स्यात् , न स्वरूपतः । न हि 'घटमानय, पटमवलोकय' इत्यादौ भेदपदमपि प्रेक्षावानुपादत्ते । व्याख्यायान्तु मूढप्रबोधनार्थं 'घटः कुम्भः' इतिवत् सहप्रयोगेऽपि न दोषः ।

तथापि कः परमार्थः ? यथायथं त्रयमपि । घटस्य हि घटाद्यात्मना प्रतीतिः,

प्रतीतिस्तन्निरपेक्षा च प्रतियोगिस्मृतिर्भेदज्ञानकारणमङ्गीक्रियते तदाऽऽत्माश्रयाद्यभावात्सुनिरूपणमेव कारणान्तरमित्यर्थः ।

स्वरूपादिमध्ये भेदज्ञानं स्वरूपमवलम्बत इति मतं शङ्कते ❀अथेति❀ । तत्र मण्डनोदीरितं दोषं परिहरति ❀ तथापीति ❀ । घटव्यतिरिक्तभेदानङ्गीकारे घटो भिन्न इति सहप्रयोगो न स्यात्पर्यायाणां हस्तकरादिशब्दानां सहप्रयोगानुपलम्भादृद्व्यर्थत्वाच्चेति सहप्रयोग एवान्याय्यो न पुनर्भेद इत्यर्थः । प्रतीयते यत्तदभ्युपगम्यत इति नियमवशात्तत्परित्याग इति शङ्कते ❀ सोऽपीति ❀ । घटो भिन्नः पटो भिन्न इति सहप्रयोगो दृश्यत इत्यर्थः । दर्शनस्य गत्यन्तरं दर्शयन्परिहरति ❀ सत्यमिति ❀ । शुकः कीर इतिवत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिनिमित्तं पर्यायपदान्तरोपादानं इति नैमित्तिक इत्यर्थः । शुक्लो घट इति सहप्रयोगे भिन्नार्थत्वाविहापि भिन्नार्थत्वमुत पिकः कोकिल इत्यादिवदभिन्नार्थत्वमिति सन्देहे किमत्र विनिगमकमित्यत आह ❀ न हीति ❀ । घटादिव्यतिरेकेण शौक्ल्यादिवद् भेददर्शनव्यवहाराभाव एव नियामक इत्यर्थः । पर्यायत्वेऽपि प्रसिद्धपदान्तरेण सहप्रयोगः सम्बन्धबोधनार्थमविरुद्धो व्याख्यातॄणामिति सदृष्टान्तमाह ❀ व्याख्येति ❀ ।

यद्यप्यनेकप्रकारेण वेदान्तिभिरुक्तो न्यायः सर्वथा भेदबाधक्षमो न भवति तथाप्यनेकभेदकल्पनायां गौरवादेको भेदशब्दार्थो वक्तव्यः कोऽसाविति पृच्छति ❀तथाऽपीति क्वचित्त्रयं❀ । क्वचित् द्वयं क्वचिदेकमिति यथायथं यथायोगं त्रयमपि तत्त्वमित्याह ❀ यथेति ❀ । यथासम्भवत्वमेव त्रितयस्य घटादावनुभवेन दर्शयति ❀ घटादावनुभवेन दर्शयति ❀ घटस्येति । घटाद्यात्मनेति स्वरूपभेदोऽपटाद्यात्मनेत्यन्योन्याभावभेदो वैशिष्ट्येतिवैधर्म्यंभेद उक्तः । घटादीति मृत्कार्यत्वाविग्रहः । क्व पुनरेकमात्रमित्यत आह ❀ तत्रेति ❀ । अभावस्य स्वरूपमात्रं भेदोऽन्योन्याभावगुणजात्याद्यभावादित्यर्थः । विभागान्तरमाह ❀ सामान्येति ❀ । सामान्यविशेषसमसमवायेषु स्वरूपेतरेतराभावद्वयं भेदो गुणजात्यादिधर्माभावादिति यावत् । द्रव्यगुणकर्मसु स्वरूपेतरेतराभाववैधर्म्यत्रितयमपि भेद इत्याह ❀ द्रव्येति ❀ । सम्भवमेवाह ❀ भवतीति ❀ । पट इति स्वरूपभेदः न घट इतीतरेतराभावस्तन्तुमयश्चेति वैधर्म्यम् । गुणेषूदाहरति ❀ गन्ध इति ❀ । तत्रापि क्रमेण त्रितयं द्रष्टव्यम् । कर्मण्युदाहरणमाह ❀ गतिरिति ❀ । उत्क्षेपणमिति नियतोर्ध्वदेशक्षेपणमुच्यते तिर्यगितिविष्वग्गमनमुच्यते । त्रयस्य लक्षणत इतरेतरवैलक्षण्यं कथयति ❀ लक्षणमिति । ताद्रूप्येणात्मनाऽप्रतीतौ प्रतीतिः प्रतीतिरिति प्रतीतिविषयत्वं विवक्षितन्ताद्रूप्येणेति विशेषणं वैधर्म्येतरेतराभावव्यावृत्त्यर्थं

अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वम्, तथापि सहप्रयोग एवानुपपन्नस्त्यज्यताम्, भेदेन तु किमपराद्धम् ? सोऽपि दृश्यते चेत्, सत्यम्, नैमित्तिकस्तु स्यात्, न तु स्वरूपतः, न हि घटमानय घटमवलोकयेत्यादौ भेदपदमपि प्रेक्षावानुपादत्ते, व्याख्यायान्तु मूढप्रबोधनाय घटः कुम्भ इतिवत् सहप्रयोगेऽपि न दोषः । तथापि कः परमार्थः ? यथायथं त्रयमपि—पटस्य हि घटाद्यात्मनाऽप्रतीतिः, अघटात्मना च प्रतीतिः, ततो वैशिष्ट्यप्रतीतिश्चेत्यनुभवसिद्धम् । तत्राभावस्य प्रथममात्रम्, अभावान्तरधर्मान्तरयोरभावात् , सामान्यादिषु त्रिषु द्वयं धर्मान्तराभावात्, द्रव्यादिषु त्रिषु स्वयं त्रयस्यापि सम्भवात् । भवति पटोऽयं न घटः तन्तुमयश्चेति, गन्धोऽयं न रूपं सुरभिश्चेति, गतिरियं नोत्प्रक्षेपणं तिर्यक् चेति ।

लक्षणं च स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः, इतरेतराभावस्य त्वबाधितः

अपटाद्यात्मना च प्रतीतिः, ततो वैशिष्ट्यप्रतीतिश्चेत्यनुभवसिद्धम्। तत्राभावस्य प्रथममात्रम्, अभावान्तरधर्मान्तराभावात्। सामान्यादिषु त्रिषु द्वयम्, धर्मान्तराभावात्। द्रव्यादित्रिषु त्रयम्, त्रयस्यापि सम्भवात्। भवति हि 'पटोऽयं न घटः, तन्तुमयश्चे'ति, 'गन्धोऽयं न रूपं सुरभिश्चे'ति, 'गतिरियं नोत्क्षेपणं तिर्यक् चे'ति। लक्षणन्तु स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः। इतरेतराभावस्य त्वबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः। वैधर्म्यस्य तु विरोधः, स चैकधर्मसमावेश इत्येषा दिगिति।

तयोस्तादात्म्यरूपप्रतियोगिप्रतीतिसापेक्षत्वादिति द्रष्टव्यम्। प्रतियोग्यैक्याप्रतीतौ स्वरूपेण प्रतीतेः स्वरूपभेदलक्षणत्वात्स्वरूपाभेदग्रहेऽपि स्वभेदारोपो न स्यादित्युक्तं परिहृतं द्रष्टव्यम्। इतरेतराभावलक्षणमाह ※ इतरेति ※। प्रत्ययशब्देन प्रतीयत इति प्रत्येतव्यमुच्यते स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणोऽभावोऽबाधितोऽन्योन्याभाव इत्यर्थः। नीलमुत्पलमिति विधिसामानाधिकरण्यव्यावृत्त्यर्थं निषेधग्रहणम्। संसर्गाभावव्यावृत्त्यर्थं स्वप्रतियोगिग्रहणम्। एकस्मिन्नारोपितभेदे सोऽयन्न भवतीति भ्रान्तिव्यावृत्त्यर्थमबाधितेति। वैधर्म्यं विरोधेन विरुद्धस्य विवक्षितत्वादित्यर्थः। असङ्करो भेद इति सामान्यलक्षणं द्रष्टव्यमित्याह ※ दिगिति ※।

समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः वैधर्म्यस्य तु विरोधः, स चैकधर्म्यसमावेश इत्येषा दिक्।

[कथित आत्माश्रयत्वादि दोषों के कारण क्या (१) भेद की प्रतीति ही नहीं होगी? या (२) होने पर भी नित्य है? (३) अनित्य भी क्या निर्हेतुक है? (४) सहेतुक होने पर भी क्या निर्विषयक है? अथवा (५) सविषयक होने पर भी बाधितविषयक है? इनमें प्रथम प्रश्न सर्वथा विरुद्ध उत्तर देने के योग्य ही नहीं है, क्योंकि भेद की प्रतीति ही नहीं होती, तब वादी और प्रतिवादी के द्वारा खण्डन-मण्डन किसका होता है? द्वितीय (भेद-ज्ञान-नित्यता) पक्ष अत्यन्त उपेक्षणीय है, क्योंकि यदि जीव का कोई भी ज्ञान नित्य मान लिया जाता है, तब ज्ञानाद्यभावात्मक सुषुप्त्यवस्था ही नहीं होनी चाहिए, सुषुप्त्यवस्था अनुभूत है, अतः जीव के किसी ज्ञान को नित्य नहीं माना जा सकता। तृतीय (निर्हेतुक ज्ञान) पक्ष भी अत्यन्त विरुद्ध अत एव त्याज्य है, क्योंकि अनित्य भाव पदार्थ नियमतः सहेतुक ही होता है, निर्हेतुक कभी नहीं हो सकता। चतुर्थ (निर्विषयक ज्ञान) पक्ष भी सर्वथा असंगत है, क्योंकि भेद-ज्ञान नियमतः भेद का उल्लेख करता है, ज्ञान के द्वारा उल्लेख सदैव विषय का ही माना जाता है, अतः भेदविषयक भेदोल्लेखी ज्ञान निर्विषयक क्योंकर होगा? पञ्चम (बाधितविषयकत्व) पक्ष में यह जिज्ञासा होती है कि भेद-ज्ञान का विषय क्या स्वरूप, अन्योऽन्याभाव और धर्मान्तर—इनमें से किसी एक का स्वरूप है? अथवा उनसे भिन्न? यदि उन तीनों से भिन्न है, तब स्वरूपादि त्रितयपक्ष से प्रदर्शित 'घटो भिन्नः' इत्यादि सह-प्रयोगादि की अनुपपत्तियों के द्वारा स्वरूपादि-पक्ष का ही बाध हो सकता है, तद्भिन्नविषयक पक्ष का नहीं, अतः उन्हीं युक्तियों से इस भिन्न पक्ष का बाध वैसा ही है, जैसा कि चोरी की माण्डव्य के साथियों ने और चोरी का दण्ड दिया जाता है—माण्डव्य ऋषि को। (प्रसिद्ध पौराणिक कथा है कि कुछ चोरों ने चोरी की और माण्डव्य ऋषि के आश्रम में छिप गए। राजपुरुषों ने खोज की माण्डव्य के आश्रम में छिपे चोरों एवं माण्डव्य ऋषि को भी फाँसी का दण्ड दिया गया था)।

भेद-ज्ञान का विषय यदि स्वरूपादि त्रितय में से अन्यतमरूप माना जाता है, तब क्या (१) धर्मान्तर (वैधर्म्यरूप) माना जाता है? या (२) अन्योऽन्याभावरूप? अथवा (३) स्वरूपात्मक?

(१) प्रथम कल्प में जो आप (विज्ञानवादी) ने दोष दिया है—'नोत्तरः अनवस्था-

प्रसङ्गात्' (आ० त० वि० पृ० २४८) । अर्थात् वैधर्म्यरूप धर्मान्तर भी अपने आश्रय से भिन्न होता है, उसका भेद धर्मान्तर और धर्मान्तर का भेद धर्मान्तर—इस प्रकार अनवस्था होती है । उस अनवस्थाप्रसङ्ग के भय से प्रथम धर्मान्तर से अधिक वैधर्म्य-परम्परा का ही त्याग किया जा सकता है, प्रथम वैधर्म्य का त्याग नहीं होगा, क्योंकि अनवस्था दोष उत्तरभावी परम्परा-प्रवाह का ही निवर्तक होता है, मूलभूत अर्थ का घातक नहीं होता, जैसे पृथिवीगत गन्ध जलादि से पृथिवी का भेदक (व्यावर्तक) होता है, वहाँ 'सुरभिः गन्धः'—इस प्रकार के व्यवहार से यदि गन्ध में गन्धान्तर मानते हैं, तब अनवस्था प्रसक्त होती है, उसके भय से गन्धान्तर का ही परित्याग होता है, मूलभूत पृथिवी-गन्ध का नहीं ।

(२) द्वितीय (अन्योऽन्याभाव) कल्प में आप (योगाचार) ने जो दोष दिया है—"नापरः, प्रतीतावात्माश्रयप्रसङ्गात्" (आ० त० वि० पृ० २४८) । अर्थात् प्रतियोगी के द्वारा ही अभाव का निरूपण होता है, अतः पट से भिन्न घटरूप प्रतियोगी के द्वारा पटगत घटान्योऽन्याभाव का निरूपण होगा, इस प्रकार भेद-निरूपण के अधीन अन्योन्याभाव का निरूपण होता है और भेद का निरूपण अन्योऽन्याभाव का ही निरूपण है फलतः अन्योऽन्याभाव के निरूपण में अन्योऽन्याभाव की जो अपेक्षा होती है, वही आत्माश्रय दोष है । उस आत्माश्रय दोष के कारण तो भेद-ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता, किन्तु वह अनुभव-सिद्ध है, अतः वह अपने से भिन्न हेतु का आक्षेप ही कर सकता है, न कि अपने-आप का घात । यदि कहा जाय कि भेद में पारमार्थिक भेद की अपेक्षा करने पर ही आत्माश्रय दोष होता है, आविद्यिक भेद की अपेक्षा करने पर भी आत्माश्रयता नहीं, जैसा कि मण्डनमिश्र कहते हैं—"न भेदो भावतोऽस्ति, अनाद्यविद्याविलसितमेतदिति" (ब्र० सि० पृ० ४८) । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अपेक्षित भेद को आविद्यिक मान लेने से भी क्या लाभ ? अविद्या के द्वारा भेद की कल्पना कर लेने पर भी अन्योऽन्याभावरूप भेद के ज्ञान में भिन्नप्रतियोगिनिरूप्यत्व-प्रयुक्त आत्माश्रयता का परिहार नहीं होता । यदि अविद्या-कल्पित पदार्थों में आत्माश्रय दोष नहीं माना जाता, तब घटादि प्रपञ्च अविद्या-कल्पित ही है, वह स्वयं अपने से उत्पन्न क्यों नहीं हो जाता, उसके लिए कुलाल और मृदादि कारण की कल्पना क्यों ?

यदि कहा जाय कि 'अविद्यावशात्'—ऐसा कहने का (अभिप्राय) यह है कि आत्माश्रय दोष के कारण भेद-ज्ञान का भेद-ज्ञान कारण नहीं हो सकता, अतः किसी अन्य कारण से उस का जन्म मानना होगा, वह दुर्निरूपणीय है, दुर्निरूपणीय कारण को ही अविद्या' कह दिया गया है । तब तो भेद-ज्ञान का कोई कारण अवश्य होना चाहिए'—इस विषय में कोई विवाद नहीं रह जाता, केवल नाममात्र में विवाद है कि आप उसे अविद्या कहते हैं और हम कुछ और ।

यह जो कहा कि गया भेद-ज्ञान का कारण दुर्निरूपणीय है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि अधिकरण (अनुयोगी) की प्रतीति और प्रतियोगी की स्मृति अन्योऽन्याभाव का कारण सुनिरूपित है । 'हाँ, अधिकरण-प्रतीति अधिकरणत्वप्रकारक होनी चाहिए, प्रतियोगित्वप्रकारक नहीं और प्रतियोगी का स्मरण प्रतियोगित्वप्रकारक होना चाहिए, अधिकरणत्वप्रकारक नहीं ।

(३) तृतीय कल्प (स्वरूपमेव भेदः) कल्प के अनुसार भेद-ज्ञान का विषय स्वरूपात्मक भेद माना जा सकता है । इस कल्प में जो दोष दिया गया है—"न पूर्वः, घटो भिन्न इति सहप्रयोगानुपपत्तेः" (आ. त. वि. पृ. २४८) । वहाँ जो सहप्रयोग अनुपपन्न है, उसका ही परित्याग कर देना चाहिए, स्वरूप भेद ने क्या अपराध किया है ? यदि 'घटो भिन्नः'—ऐसा सहप्रयोग भी व्यवहार-सिद्ध है, उसका परित्याग नहीं किया जा सकता, तब उसका परित्याग भी मत कीजिए किन्तु वह प्रयोग स्वरूप-प्रयुक्त सार्वत्रिक नहीं अपि तु किसी विशेष निमित्त को लेकर किया जाता है, क्योंकि 'घटमानय', 'घटमवलोकय'—इत्यादि स्वाभाविक प्रयोगों में 'भेद' पद का ग्रहण कर 'भिन्नं घटमानय'—ऐसा प्रयोग कुशल व्यक्ति

अत्रोच्यते, तथा हि—यत्तावत् पृष्टं किमेतेष्वन्यतमात्माऽस्य विषयः तदन्यो वेति तन्निर्वचनवादिनि शोभते। नास्मासु। प्रतिभासमानोऽयं भेदः स्वरूपादिपक्षान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां वा सदसत्त्वाभ्यां वा अन्येनापि धर्मेण येन केनचिन्निरुच्यमानोऽ-

यत्पुनरुक्तं भेदज्ञानस्य बाध्यविषयत्वं वदता कीदृशो भेदोऽभिमत इति यदुक्तं तदयुक्तं पराभिमतभेदानुवादेन तस्य बाध्यतामात्राभिधानादित्यभिप्रेत्य सिद्धान्तयति ॐ अत्रोच्यत इति ॐ। कुतो न शोभत इत्यत आह ॐप्रतिभासेतिॐ। प्रतिभासमानत्वात्तुच्छविलक्षणोऽप्ययं भेदः स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्येष्वन्तर्भूतत्वानन्तर्भूतत्वाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां वा अन्येनापि सावयवत्वादिरूपेण तथा येन येन कार्यत्वप्रमेयत्वादिना निरूप्यते तेन सर्वेणापि त्वन्नये कार्यत्वादिभावे व्यतिरेके कार्यत्वाद्यभावरूपे च बाधमेति न्यायासहिष्णु-

नहीं किया करते। हाँ, कुछ व्यक्तियों को समझाने के निमित्त से 'घटः कुम्भः'—इत्यादि नैमित्तिक प्रयोगों के समान 'घटो भिन्नः'—ऐसा व्याख्या-प्रयोग कर देने पर कोई दोष नहीं।

यद्यपि कथित तीनों पक्षों का समर्थन हो जाता है, तथापि इनमें उचिततम कौन पक्ष है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है—'यथायथं त्रयमपि'। आशय यह है कि (१) घटादि की घटादिरूपेण प्रतीति होती है, (२) अपटादिरूपेण भी प्रतीति होती है तथा (३) पटादिवैधर्म्यरूपेण भी प्रतीति होती है—यह सर्वानुभव-सिद्ध है [यहाँ प्रथम प्रतीति से स्वरूपभेद, द्वितीय से अन्योऽन्याभावरूप भेद और तृतीय प्रतीति से धर्मान्तर या वैधर्म्यरूप भेद अवभासित होता है]। उक्त तीनों प्रकार के भेदों में से अभाव में केवल स्वरूप भेद ही रहता है, क्योंकि अभाव में न तो अभावान्तर (इतरेतराभाव) रहता है और न धर्मान्तर (वैधर्म्य) अतः परिशेषतः प्रथम (स्वरूपभेद) को ही वहाँ रहने का अवसर मिलता है। सामान्य, विशेष और समवाय में स्वरूप और अन्योऽन्याभावात्मक दो प्रकार का भेद रहता है, केवल धर्मान्तर (वैधर्म्य) नहीं रहता। द्रव्य, गुण और कर्म में तीनों प्रकार का भेद रह जाता है, जैसा कि अनुभव-सिद्ध है—द्रव्य में (१) पटोऽयम्, (२) न घटः, (३) तन्तुमयश्च। गुण में (१) गन्धोऽयम्, (२) न रूपम्, (३) सुरभिश्च। कर्म में (१) गतिरियम्, (२) नोत्क्षेपणम्, (३) तिर्यक् (धरातल-समानान्तर परिस्पन्दन)। तीनों प्रकार के भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं—(१) स्वरूपभेद का 'ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः' ['ताद्रूप्येणाप्रतीति' पद से वैधर्म्य और अन्योऽन्याभाव की व्यावृत्ति की गई है, क्योंकि उन दोनों की प्रतीति में ताद्रूप्य या तादात्म्यरूप प्रतियोगी की प्रतीति अपेक्षित होती है, अतः यहाँ ताद्रूप्येणाप्रतीति का तात्पर्य ताद्रूप्यप्रतीतिनिरपेक्षप्रतीति में है]। (२) इतरेतराभावरूप भेद का लक्षण है—अबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः" ('नीलमुत्पलम्'—इस प्रकार की प्रतीति का व्यवच्छेद करने के लिए 'निषेधप्रत्ययः', 'भूतले घटो नास्ति'—इस प्रकार के संसर्गाभावरूप निषेध में अतिप्रसक्ति हटाने के लिए 'स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणः एवं 'सोऽग्नं न'—इस प्रकार की भ्रान्ति न हो, अतः 'अबाधितः' विशेषण रखा गया है)। (३) वैधर्म्यरूप भेद का लक्षण है—'एकधर्म्यसमावेशलक्षणो विरोधः' (घटत्व और पटत्व—दोनों धर्मों का समावेश न घट में हो सकता है और न पट में, अतः घटगत पट का भेद या वैधर्म्य घटत्व और पटगत घट का भेद या वैधर्म्य पटत्व है)। भेद-निराकरण के खण्डन का यह दिग्दर्शन मात्र है।

समाधान—यह जो प्रश्न किया गया है—'किमेतेष्वन्यतमात्माऽस्य विषयः ? तदन्यो वा ?' वह प्रश्न निर्वचनवादी के लिए किया जा सकता है, क्योंकि वह कथित दो विरुद्ध कोटियों में से किसी एक कोटि का ही ग्रहण कर सकता है, किन्तु हम अनिर्वचनीयवादी दोनों कोटियों के घेरे से बाहर होकर तीसरी कोटि की स्थापना कर देते हैं। प्रकृत प्रश्न का भी हमारा वैसा ही उत्तर है कि प्रतीयमान भेद का निर्वचन न तो कथित त्रिविध भेद के अन्तर्गत-

न्वयेन च व्यतिरेकेण वा बाध्यतामिति तेन सर्वेणानिर्वचनीय इति ब्रूमः। एतच्च भेदस्यापि तर्हि जगत एव। अनिर्वचनीयवादश्चायं यथा तथोदितं प्राक्।

यदप्युक्तम्—अथान्यतमेत्यादि गन्धे गन्धान्तरवदित्यन्तम्। तदपि न साधु, यथा युक्त्यैकस्वीकारस्तयैव प्रवाहस्वीकारस्य दुर्वारत्वात्। तत्र यदि प्रवाहस्वीकारे तस्या असाधकत्वं स्वीक्रियते, एकस्वीकारेऽपि स्यात्, अविशिष्टलक्षणत्वात्। अत एव प्रतिभासमानत्वादेकस्वीकार इत्यप्ययुक्तम्। एकप्रतिभासिकाया युक्तेः सर्वसाधारण्यात्। न हि प्रत्यक्षादेव जायमानः प्रतिभासः प्रमाणं नानुमानादेरित्यत्र युक्तिरभ्यु-

---

त्वात्तेन सर्वेणाप्यनिर्वचनीय इत्यर्थः। भेदधर्मिणः सत्यत्वात्तदाश्रितो भेदः किं न सत्यस्तत्राह ॐएतदितिॐ। अपरोक्षतया भासमानस्य प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वं कथमित्यत आह ॐ अनिर्वचनीयेति ॐ। बाध्यत्वात्त्र सदपि, नासद्भवितुमर्हति तथा सति लौकिकपरीक्षकाणां प्रतिभासभेदव्यवहारविशेषव्याघातापत्तेरित्युक्तं (६३ तमे पृष्ठे) भूमिकायामित्यर्थः।

उक्तं चोद्यान्तरमनुवदति। ॐ यदिति ॐ। दूषयति ॐ तदिति ॐ। हेतुमाह ॐ ययेति ॐ। घटो भिन्न इति व्यवहारानुपपत्त्या यथा घटस्य भेदस्त्वयाऽङ्गीक्रियते तथा भेदो भिन्न इति व्यवहारानुपपत्त्या द्वितीयोऽपि स्वीकार्य इत्यर्थः। ननु भेदो भिन्न इति प्रत्ययः परेण बलादापाद्यते न प्रसिद्धो लौकिकानां घटो भिन्न इति प्रत्ययस्य लोकसिद्धत्वादेको भेदः स्वीक्रियत इत्यस्ति विशेष इत्यत आह ॐ अत इति ॐ। परामृष्टहेतुं स्पष्टयति ॐ एकेति ॐ। प्रतिभासमात्रेण स्वीकारे देहात्मभावस्वीकारप्रसङ्गादवश्यं वास्तवभेदवादिना युक्तिरनुसरणीया तस्या एकरूपत्वात्प्रवाहः स्वीकार्य इत्यर्थः। युक्तिसहकृतप्रत्यक्षादाद्यो भेदो भासते द्वितीयादिस्तु भेदप्रवाहो न तथेति विशेष इत्यत आह ॐ न हीति ॐ। तर्कोपेतप्रत्यक्षजनितज्ञानमेव प्रमाणं तदनुगृहीतलिङ्गजन्यज्ञानं प्रमाणं नेत्यत्र न कश्चिन्न्यायः तत्स्वीकारो वा तथेत्यर्थः। अनुमानं च भेदो भेदवान् भिन्न इति प्रतीयमानत्वात् घटवत् भेदो भिन्न इति प्रत्ययो विशेषणप्रतिभासपूर्वको विशिष्टप्रत्यय-

---

त्वेन हो सकता है, न अनन्तर्गतत्वेन, न सत्त्वेन, न असत्त्वेन और न अन्य किसी धर्म से। उक्त निरुक्तियों का अन्वय या व्यतिरेक के द्वारा बाध हो जाता है, फलतः भेद अनिर्वचनीय है। केवल भेद ही नहीं, समस्त जगत् अनिर्वचनीय है—यह बात पृ. ६३ पर कही जा चुकी है।

यह जो आपने 'अथान्यतम'—यहाँ से लेकर 'गन्धे गन्धान्तरवत्'—यहाँ तक कहा है कि—अनवस्था-प्रसङ्ग में अनवस्था का ही खण्डन होता है, मूलभूत वस्तु का नहीं। वह कहना भी समीचीन नहीं, क्योंकि भेद-प्रवाह के अन्तर्गत प्रथम (भेद) वस्तु भी आ जाती है, अतः प्रवाह का खण्डन जिस युक्ति से होता है, प्रथम वस्तु का भी उसी से खण्डन हो जाता है एवं जिस युक्ति के द्वारा प्रथम वस्तु का स्वीकार किया जाता है, उसी युक्ति से प्रवाह का स्वीकार भी अनिवार्य हो जाता है। वहाँ यदि अन्यथानुपपत्तिरूप युक्ति भेद-प्रवाह की साधिका नहीं हो सकती, तब वह प्रथम भेद को भी सिद्ध नहीं कर सकती। इसीलिए जो आपने कहा है—'प्रतिभासमानत्वादेकस्वीकारः'। वह भी अयुक्त हो जाता है, क्योंकि एक प्रतिभासक युक्ति सर्व-साधारण अर्थात् प्रवाह-सिद्धि की भी प्रयोजिका है।

शङ्का—प्राथमिक भेद-प्रतिभास 'घटः पटो न भवति'—इस प्रकार का प्रत्यक्षात्मक है, इसकी प्रमाणरूपता निश्चित है, किन्तु भेद-प्रवाह में कोई ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, अतः प्रवाह का ही निराकरण किया जा सकता है, प्रथम भेद का नहीं।

समाधान—यद्यपि द्वितीयादि भेद-प्रवाह प्रथम भेद के समान प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं, तथापि अनुमान-गम्य अवश्य है—'प्रथमो भेदो भेदान्तरवान्, भिन्न इति प्रतीतिविषयत्वाद्, घटादिवत्'। तथापि 'प्रत्यक्ष प्रमाण-जनित ज्ञान ही अपने विषय का प्रमापक (साधक) होता है, लिङ्गपरामर्श-जन्य ज्ञान नहीं'—इस प्रकार के वैषम्य की पोषिका न तो कोई युक्ति है

पगमो वा ? न चानवस्थाप्रसञ्जिका युक्तिरनुमानादेरन्या नाम। तर्कस्यापि व्याप्तिमूलत्वम्, सर्वञ्चानुमानच्छायामापद्य दूषणमपि प्रवर्तत इति भवतैव व्युत्पादनात्। अतोऽनवस्थाप्रसञ्जिकाया युक्तेर्दोषो वा वक्तव्यः, त्यक्तव्यो वा स्वपक्षः।

प्रवाहस्वीकारवदेकस्वीकारे नानवस्थेति चेत्, तत्किमनवस्थाभावविशिष्टायास्तस्या युक्तेः साधकत्वं मन्यसे ? एवं तर्हि द्वितीयमात्रस्वीकारे नानवस्थेति द्वितीयस्वीकारप्रसङ्गः। ओमिति चेत्, परार्धपर्यन्तं प्रवाहस्वीकारं को वारयिता ? नैताव-

स्वाहृष्टीति प्रत्ययवदित्यादिरूपं द्रष्टव्यम्। भेदप्रवाहस्यानुमानिकत्वमेव नास्ति तत्प्रतीतेर्यौक्तिकत्वादित्यत आह ❀ न चेति ❀। कथं प्रसञ्जकस्यानुमानत्वमित्यत आह ❀ तर्कस्येति ❀। यद्ययं भेदाधिकरणं न स्यात्तथा न प्रतीयेतेत्यस्य प्रसङ्गस्य प्रतीयते चायं तस्माद्भेदाधिकरणमित्यनुमाने पर्यवसायित्वमवश्यं वक्तव्यमित्यर्थः। व्याप्तिमूलत्वेऽपि सपक्षसत्त्वाद्यनपेक्षत्वान्नानुमानत्वमित्यत आह ❀ सर्वमिति ❀। अनुमानच्छायामापाद्यमानस्तमर्थं साधयति तच्छाया च व्याप्तिमूलत्वं तर्कस्यानुमानस्य च साधारण्यं तथा तर्के मूलशैथिल्यदोषस्यानुमानेऽसिद्धे च तुल्यत्वमिति भवत्स्वीकार इति यावत्। एवमाद्यभेदेन द्वितीयादिभेदस्य साम्यमुक्त्वा फलितमाह ❀ अत इति ❀।

अबाधितयुक्तिबलादेको भेदः स्वीक्रियते न प्रवाह इति शङ्कते ❀ प्रवाहेति ❀। तर्ह्यनवस्थाविरहविशिष्टयुक्तेर्विशिष्टप्रतीतिः विशेषणप्रतीतिपूर्विकेत्यादिरूपाया आद्यभेदसाधकत्वमित्युक्तं स्यात्तत्किमङ्गीकरोषीति पृच्छति ❀ तदिति ❀। ओमिति चेत्तत्राह ❀ एवमिति ❀। परिगणितभेदस्वीकारे नानवस्थेति शङ्कते ❀ ओमिति ❀। परिहरति ❀ परार्द्धेति ❀। परार्द्धं नाम ब्रह्मण आयुष एको भागः तच्च काललवमारभ्य सूक्ष्मदर्शिभिः परिगण्यत इति यावत्। परार्द्धपर्यन्तभेदस्वीकारोऽतिप्रसङ्गादेवानुपपन्न इति पूर्ववादी शङ्कते ❀ नैतावदिति ❀। कुतो नैतावन्मात्रेण दोष इत्यत आह ❀ परार्द्धादिति ❀। एको

और न आप (नैयायिकों) का वैसा कोई अभ्युपगम (सिद्धान्त) ही है, अतः जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान अपने विषयीभूत प्रथम भेद का साधक है, वैसे ही अनुमान ज्ञान अपने विषयीभूत भेद-प्रवाह का प्रमापक है। भेद-प्रवाह-साधक या अनवस्थापादक युक्ति अनुमानरूप ही है, उससे भिन्न नहीं, अनुमान का आकार अभी ऊपर दिखाया जा चुका है। 'युक्ति' शब्द से यदि तर्क का ग्रहण किया जाता है, तब तर्क भी व्याप्तिमूलक होता है। यद्यपि तर्क सभी प्रमाणों का अनुग्राहक माना जाता है, केवल अनुमान का नहीं, तथापि व्याप्ति-सनाथ तर्क से अनुगृहीत सभी प्रमाण अनुमानच्छायापन्न होकर ही विचार के अङ्ग माने जाते हैं, जैसा कि तार्किकरक्षाकार कहते हैं—"इतरदपि प्रमाणमनुमानच्छाययैव विचाराङ्गं भवति" (ता० र० पृ० १६४)। अतः अनवस्थापादक अनुमानरूप युक्ति भी वैसे ही द्वितीयादि भेदों की प्रमापिका है, जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान। अतः या तो भेद-प्रवाह-साधक युक्ति की कार्यक्षमता में कोई दोष (बाधक) दिखाना चाहिए या प्रवाह के समान प्रथम भेद के अभ्युपगम को तिलाञ्जलि दीजिए।

शङ्का—भेद-प्रवाह को मानने पर अनवस्था दोष प्रसक्त होता है किन्तु एक भेद को मानने में वैसा कोई दोष नहीं होता, अतः एक भेद का मानना क्यों छोड़ दें ?

समाधान—तब अनवस्थाभाव-विशिष्ट युक्ति में अर्थ-साधकत्व मानते हैं ? यदि ऐसा है, तब द्वितीय भेदमात्र को मान लेने पर अनवस्था नहीं होती, अतः द्वितीय भेदमात्र को स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि द्वितीय भेदमात्र को स्वीकार कर लेते हैं, तब दो, तीन, चार या परार्ध (१ शंख) तक भेद मानकर उसके आगे के भेदों को न मानने से अनवस्था नहीं होती, अतः परार्धपर्यन्त भेदों का अभ्युपगम करना पड़ सकता है। यदि इतने पर भी आप (नैयायिक) को सन्तोष नहीं तो परार्ध से भी अधिक क्यों नहीं मान लेते ? 'वैसा

न्मात्रेण तुष्यति भवान्, परार्धादप्यधिकमेकादिकं किं नाभ्युपगम्यत इत्यपि भवता वक्तव्यमेव। तथा च सैवानवस्थेति चेत्, सत्यं तस्यास्तु भयात् कीदृशमभ्युपगम्यतामिति निपुणं मन्त्रयामहे। द्व्यादिकं परित्यज्यतामिति चेत्, एकस्मिन्नाम कीदृशोऽनुग्रहः, येनानवस्थाप्रवाहनिवेशाविशेषेऽपि द्व्यादिकमुपेक्षितम्, एकं तु रक्षितम्? द्वितीयमादायानवस्थेति चेत्, द्वितीयेऽपि यदि भवतोऽनुग्रहः स्यात्, 'तृतीयमादायानवस्थे'त्यभिधाय सोऽपि रक्षितः स्यात्। तावेतौ भवतो रागद्वेषौ निःश्रेयसाय यतमानस्य मानसमास्कन्दमानौ न कल्याणोदर्कौ तर्कयामि। गन्धे गन्धान्तरप्रसञ्जिका न च युक्तिरस्ति। तदस्तित्वे वा का नो हानिः, तस्या अप्यस्माभिः खण्डनीयत्वात्।

यदपि 'अथेतरे'त्यादि 'निरूपणादि'त्यन्तम्। तदप्ययुक्तम्, तथा हि—इतरेतराभावज्ञानं भेदव्यवहारहेतुं मन्यते यस्तस्य पक्षो नोपपन्न आत्माश्रयप्रसङ्गादित्येवं

संख्यामपरार्द्धं प्राप्य पुनरपि एकं द्वयमित्यारभ्य परार्द्धपर्यन्तगणनसम्भवात्तदपि स्वीकर्त्तव्यमिति वक्तव्यं भवतेति न्यूनत्वमित्यर्थः। उच्यते एवं तर्हि को दोष इत्यत आह ॐ तथा चेति ॐ। गूढाभिसन्धिः सिद्धान्त्याह ॐ सत्यमिति ॐ। मन्त्रणे क्रियमाणे प्रथमभेदस्वीकरणमेव युक्तं न पुनर्द्व्यादिस्वीकार इति पूर्ववादी शङ्कते ॐ द्व्यादीति ॐ। प्रथमस्वीकारे द्वितीयस्वीकारे च गुणदोषसाम्ये प्रथमस्वीकारे स्वपक्षश्रद्धेव कारणं तवेत्युपहसन्नाह ॐ एकस्मिन्निति ॐ। साम्यमसिद्धमनवस्थाभावाभावयोरेव विशेषत्वादिति शङ्कते ॐ द्वितीयमिति ॐ। अयमपि विशेषो द्वितीयादावपि तुल्य इत्याह ॐ द्वितीयेऽपीति ॐ। एवं साम्ये सति प्रथमे रागो द्वितीये च द्वेषः स्फुरति तावेतौ रागद्वेषौ मोक्षार्थं शास्त्रं प्रवर्त्तयतां न युक्तौ रागद्वेषयोर्मोक्षपरिपन्थित्वादित्युपसंहरति ॐ ताविति ॐ। कल्याणं पुरुषार्थरूपतया रमणीयं कैवल्यं उदर्कं उत्तरकाले ययोस्तथाभूतौ न तर्कयामीति न विचारयामीति यावत्। प्रवाहपरित्यागे यदुक्तं दृष्टान्तेन गन्धे गन्धान्तरवदिति तद्विघटयति ॐ गन्ध इति ॐ। अयं गन्धो गन्धवद्वृत्तित्वरहितगन्धवन्मात्रवृत्त्यधिकरणं प्रमेयत्वात् घटवदित्यस्ति युक्तिरित्यत आह ॐ तदिति ॐ।

पुनश्चोद्यान्तरमनुवदति ॐ यदपीति ॐ। इतरेतराभावविशिष्टधर्म्यादिज्ञानस्येतरेतराभावज्ञानकारणत्वादात्माश्रयत्वमित्युक्तदोषापरिहारादयुक्तमिति दूषयति ॐ तदिति ॐ। प्रतियोगिज्ञानमन्तराऽधिकरण-

करने से वही अनवस्था प्रसक्त होती है'—ऐसा यदि आप कहते हैं, तब उस अनवस्था के भय से क्या करना चाहिए—इस पर हम लोग गम्भीरतापूर्वक विचार कर लें। यदि आप (नैयायिक) कहते हैं कि 'दो, तीन, चार आदि भेदों को मानना छोड़कर प्रथम एक भेद को मान लेना चाहिए'। तो आपसे हम पूछते हैं कि जब दो, तीन, चारमात्र भेदों को मानने पर भी अनवस्था नहीं होती, तब केवल एक के साथ ऐसा मोह क्यों कि उसी एक की रक्षा कर रहे हैं? यदि आप कहें कि 'द्वितीयादि को मानने से अनवस्था होती है'। तब वास्तविकता यह प्रकट होती है कि यदि द्वितीय पर आप की कृपा हो जाती है, तो 'तृतीयमादायानवस्था'—ऐसा कहकर आप द्वितीय की रक्षा कर सकते हैं—इस प्रकार के राग-द्वेष आप-जैसे मुमुक्षु पुरुष के निर्मल मानस को कलुषित कर रहे हैं, ये निश्चितरूप से आप का भविष्य बिगाड़ देंगे और आप की दुर्गति होगी—ऐसी हमारी धारणा है।

यह जो आपने कहा है कि जैसे अनवस्था के भय से गन्ध में गन्धान्तर नहीं मान सकते, वैसे भेद में भेदान्तर नहीं माना जा सकता। वहाँ हमारा कहना यह है कि गन्ध में गन्धान्तर-प्रसञ्जिका कोई युक्ति ही नहीं। यदि हो भी तो क्या हानि? हमारे लिए तो वह अनुमानाद्यात्मक युक्ति भी खण्डनीय ही है।

आपका जो यह कहना है कि "अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमालम्बते, तदापि स्वात्माश्रयः"—इत्यादि, वह भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जो वादी यह कहता था कि इतरेतराभाव-

प्रमाणस्य न किञ्चिद् बाधकमुक्तं स्यात् । प्रतियोगिरूपत्वेनेत्यादि समाधानं च प्रागेव दूषितम् । अथ 'स्वरूपमेवे'त्यादि 'न दोषः' इत्यन्ते यदुक्तम्, तदप्यस्मदनुक्तदोषदूषणमित्युपेक्षितम् । यदपि 'तथाऽपि क' इत्यादि 'तिर्यक् चे'त्यन्तम्, तदपि गर्तवर्तिगोधामांसविभजनन्यायमनुहरति । पक्षत्रयस्याऽप्युक्तयुक्त्या आच्छादितस्य दर्शयितुमशक्यत्वेन तद्विभागव्यवस्थितेरनवसरनिरस्तत्वात् ।

यच्च स्वरूपभेदस्य लक्षणमुक्तम्—ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिरिति, तदप्यवद्यम्, यदेकमेव वस्तु भ्रान्त्या भिन्नमिति प्रतीयते, तत्र ताद्रूप्येणैकस्यैकरूपतया प्रतीतिर्नास्ति । अस्ति च प्रतीतिः, न च स्वरूपभेद इत्यतिव्याप्तिः । ताद्रूप्येणेत्यस्य धर्मान्तररूपभेदासङ्कीर्णोदाहरणार्थत्वात् प्रतीतिरभ्रान्ता विवक्षितेति चेत्, स्वरूप-

मितिकारणनिरूपणेन परिहार उक्तस्तत्राह ॐ प्रतीति ॐ । यत्किञ्चित्प्रत्यधिकरणत्वं वक्तव्यमेवं चात्माश्रयत्वं रुद्रेणापि दुर्निवारमित्यर्थः । एवं वैधर्म्यान्योन्याभावभेदबाध्यत्वमुपपाद्य स्वरूपभेदस्यापि तदुपपादनाय तदुक्तमनुवदति । ॐ अथेति ॐ । स्वरूपपक्षोक्तदोषो नोद्धृत इत्याह ॐ तच्चेति ॐ । व्याख्यानमपि पर्यायशब्देन चेत्पटो भिन्न इति सामानाधिकरण्यं न स्यादपर्यायेण चेदधिकार्थत्वमित्यनेनापि दुष्टत्वादुपेक्षितमित्याशयः । पुनः परोक्तमनुभाषते ॐ यदिति ॐ । सोपहासं दूषयति ॐ तदिति ॐ । गर्त्तः श्वभ्रं तद्वर्त्तिगोधाया मांसविभजनं यथा न सम्भवत्यप्राप्तविषयत्वात्तद्वदिदमपीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह ॐ पक्षत्रयेति ॐ ।

परोक्तं लक्षणमनूद्य दूषयति । ॐ यच्चेति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ यदेति ॐ । ताद्रूप्यमेकरूपत्वमुत एवं रूपत्वमाद्ये एकस्तावच्चन्द्रः स यदा भ्रान्त्या द्वौ चन्द्रमसाविति प्रतीयते तदा तस्य चन्द्रस्यैकस्यैकत्वं ताद्रूप्यं तेन प्रतीतिर्नास्तीति भिन्नतया प्रतीयमानत्वात्स्वरूपप्रतीतिर्नास्ति कल्पितभेदाधिष्ठानत्वेन भेदप्रतीतेश्च भ्रमत्वान्न स्वरूपभेदसिद्धिरित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । नास्त्यतिव्याप्तिस्तस्यापि स्वरूपत्वेन कुतश्चिद्भेदत्वादित्यत आह ॐ ताद्रूप्येणेति ॐ । वैधर्म्यान्योन्याभावलक्षणभेदासङ्कीर्णतया स्वरूपभेदज्ञापनार्थं

ज्ञान को भेद-व्यवहार में हेतु मानने पर आत्माश्रय होता है। उस वादी के लिए कोई बाधक तो प्रस्तुत नहीं किया गया । "प्रतियोगित्वेन प्रतियोगिस्मृतिः अधिकरणत्वेनाधिकरणप्रतीतिश्च इतरेतराभावग्रहकारणम्"— इस युक्ति का तो खण्डन विगत पृष्ठ ६६९ पर किया जा चुका है।

'अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वम्'—इस पक्ष का जो समर्थन करते हुए सहप्रयोगानुपपत्ति का परिहार किया गया है, वहाँ सहप्रयोगानुपपत्ति का उद्भावन हमने नहीं किया था, अतः उसका परिहार अनुक्तदोषोद्धारमात्र होने से उपेक्षणीय है।

'तथापि कः परमार्थः ?' इस प्रश्न के उत्तर में परमार्थतत्त्व का प्रस्तुतीकरण करते हुए भेद के कथित तीनों पक्षों का जो औचित्य ठहराया गया है, वह भी वैसा है, जैसे कि कोई गोधा (गोह) अपने बिल में छिपी हो और बाहर बैठे शिकारियों के द्वारा उसके मांस का बँटवारा किया जा रहा हो। अर्थात् हमारी खण्डन-युक्तियों के गाढ़े आवरण में भेद का पूर्ण कलेवर आवृत और तिरोहित हो गया, तब उस पर कुछ प्रकाश डालना सम्भव नहीं रह जाता, उसके विभाग की व्यवस्था अनवसर-ग्रस्त है।

स्वरूपभेद का जो लक्षण किया गया है—'ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः' । वह भी सदोष है, क्योंकि जहाँ एक चन्द्रादि वस्तु में नेत्रगत दोष के कारण 'द्वौ चन्द्रौ'—इस प्रकार भेद की भ्रान्ति होती है, वहाँ ताद्रूप्येण (ऐकरूप्येण) अप्रतीति और भिन्नत्वेन चन्द्रस्वरूप की प्रतीति होती है, अतः चन्द्रात्मक भेद में उक्त लक्षण अतिप्रसक्त हो रहा है, क्योंकि न वहाँ वस्तुतः भेद है और न वह चन्द्रस्वरूप, अलक्ष्य में लक्षण का घट जाना ही अतिव्याप्ति दोष माना जाता है।

शङ्का—उक्त लक्षण में अन्योऽन्याभाव और वैधर्म्यरूप दो प्रकार के भेदों की व्यावृत्ति

प्रतीतेस्तत्राप्यभ्रान्तत्वात्। यच्च स्वरूपमात्रेण प्रतीयते वस्तु, न तत्ताद्रूप्येण, न च नानात्मतया, वस्तुगत्या चैकमेव तत्, तत्रापि स्वरूपलक्षणो भेदः स्यात्।

नास्त्येवेदृशमुदाहरणम्, ताद्रूप्याताद्रूप्याभ्यामेकस्यावश्यं प्रतीतेरिति चेन्न, प्रतीतिकलहानवकाशात् भवति हि यत्त्वया तत्र दृष्टम्, तत् किमेकमनेकं वेत्यनुयुक्तो नायं विशेषो मया शङ्कितो जिज्ञासितो वा। स्वरूपमात्रन्तु प्रतीत्याहमुदासीनोऽभूवमित्यभिधत्त इति।

ननु तदपि स्वरूपं भेद एव कस्मादपि, तत् कथमुक्तदोषावतार इति। मैवम्,

ताद्रूप्येणेति विशेषणमुपात्तमतश्च यत्किञ्चिदपेक्षया भेदत्वे व्यर्थविशेषणत्वमित्यतिव्याप्तिः स्यादेवेत्यर्थः। अतिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणं शङ्कते ॐ प्रतीतिरिति ॐ। ताद्रूप्येणाप्रतीतावभ्रान्ता प्रतीतिः स्वरूपभेदसिद्धिर्न्नेष्यते भ्रमाभावप्रसङ्गादतो नास्त्यातिव्याप्तिपरिहार इत्याह ॐ नेति ॐ। उदासीनेऽपि वस्तुन्यतिव्याप्तिमाह ॐ यच्चेति ॐ। यद्वस्तु प्रतीयते तस्मिन्प्रतीयमाने वस्तुनि ताद्रूप्यमेकरूपत्वम्न प्रतीयते न भेदोऽपि प्रतीयते वस्तुगत्या तत्र न विद्यते भेदोऽपि त्वैक्यमेव तत्रापि स्वरूपभेदलक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः।

अवधीरितभेदाभेदरूपं वस्तु प्रतीयमानमेव नास्ति विरुद्धयोरेकतररूपेण प्रतीतेरावश्यकत्वादतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते। ॐ नास्तीति ॐ। प्रतीतिकलहे घटाद्यपलापोऽपि स्यात्तत्रापि संविदमन्तरेण तत्साधकाभावादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। एवंविधलौकिकानुभवाभावे कथमनुभवविरोध उद्भाव्यत इत्यत आह ॐ भवति हीति ॐ। दूरे गिरिशिखरे पुरतस्तरू रमणीयो मया प्रतीतो न पुनस्तदेकत्वम्नानात्वमिति लौकिकः कथयति परेण पृष्ठ इति यावत्। सन्देहाभाव एकतरविशेषनिर्णयादपि स्यादित्यत आह ॐ जिज्ञासितो वेति ॐ। जिज्ञासाभावात्तन्निर्णयोत्पादशङ्कापि नास्तीत्यर्थः। स्वरूपमात्रं प्रतीत्य—ज्ञात्वेति यावत्।

तस्य लक्ष्यत्वान्नातिव्याप्तिरिति चोदयति ॐ नन्विति ॐ। कस्मादप्यन्यस्मात् घटादितस्तस्य भेदत्वान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। स्वरूपं सर्वं यतः कुतश्चिद्भेद एव निःस्वरूपं च व्यवच्छेद्यन्नास्त्यतो व्यर्थविशेषणत्वमिति परिहरति ॐ मैवमिति ॐ। कुतो विशेषणवैयर्थ्यमित्यतः प्रतीतिमात्रलक्षणस्यैव समर्थ-

करने के लिए 'ताद्रूप्येणाप्रतीति' विशेषण रखा गया है और विशेष्यभूत 'प्रतीति' पद से अभ्रान्त प्रतीति विवक्षित है। अतः उक्त 'चन्द्र-भेद-भ्रम में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

समाधान—उक्त स्थल पर भी चन्द्रस्वरूप की प्रतीति अभ्रान्त प्रतीति ही है और वहाँ घटादिप्रतियोगिक भेद चन्द्रस्वरूप भी है किन्तु चन्द्र-भेद चन्द्रस्वरूप नहीं। जो वस्तु स्वरूपतः प्रतीत होती है, ताद्रूप्येण (एकत्वेन) या नानात्वेन (भिन्नत्वेन) नहीं, वस्तुतः वह एक ही है। उस तटस्थ वस्तु में भी स्वरूपात्मक भेद का लक्षण अतिप्रसक्त होता है।

शङ्का—ऐसा कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जहाँ वस्तु की न तो भिन्नत्वेन प्रतीति होती हो, न अभिन्नत्वेन। लोक में दो ही रूप प्रसिद्ध हैं—(१) तद्रूपत्व और (२) अतद्रूपत्व। इनमें से किसी-न-किसी एक रूप से वस्तु की प्रतीति होनी अनिवार्य है।

समाधान—उस प्रतीति के विषय में विवाद को कोई अवकाश नहीं, क्योंकि 'यत्त्वया-दृष्टम्' तदेकम्? अनेकं वा?' ऐसा प्रश्न किए जाने पर उत्तर मिलता है—'नायं विशेषो मया शङ्कितो जिज्ञासितो वा, स्वरूपमात्रं तु प्रतीत्याहमुदासीनोऽभूवम्'। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि उदासीन वस्तु की प्रतीति का उदाहरण सुलभ है।

शङ्का—वस्तु का तटस्थ स्वरूप भी किसी-न-किसी से भिन्न होगा ही, अतः वह लक्ष्य है, उसमें अतिव्याप्ति का उद्भावन क्योंकर होगा?

समाधान—इस प्रकार तो सभी प्रतीतियों से लक्ष्यार्थ का सम्पादन किया जा सकता

एवं हि ताद्रूप्येणाप्रतीताविति व्यर्थं स्यात्। प्रतीतिमात्रं लक्षणं वक्तव्यम्। यत्प्रमेयं तत् कस्मादप्यवश्यं भिन्नमिति एकस्यैव स्वस्माद्भेदप्रसङ्गनिराकरणार्थमपि ताद्रूप्येणाप्रतीतावित्युक्तम्, तच्च खण्डितमिति। ताद्रूप्यमन्यरूपत्वं विवक्षितमिति चेन्न, तदा हि तदाऽनुपस्थापितपरामर्शवत् अन्यत्वस्य स्वरूपभेदत्वे आत्माश्रयः, सर्वस्वरूपाणां लक्ष्यत्वात्। अन्योन्याभावत्वे चान्योन्याश्रयः, वैधर्म्ये च चक्रकम्।

यदपि—इतरेतराभावस्य लक्षणमबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः।

त्वावित्याह ॐ प्रतीति ॐ। यद्वा किं तर्हि लक्षणं वाच्यमित्याकाङ्क्षायामाह ॐ प्रतीति ॐ। नैवमतिव्याप्तिः प्रमेयमात्रस्य कुतोऽपि भेदस्येष्टत्वाद्भेदवादिभिरिति हेतुमाह ॐ यदिति ॐ। प्रतीतिमात्रं चेत्स्वरूपभेदलक्षणं तर्ह्येकस्यैव स्वस्मात् भेदः प्रसज्येत तन्निवारणे तु विशेषणं सार्थकमेकत्वेनाप्रतीतावित्येकत्वेनप्रतीतित्वादेव तन्निवारणमित्याशङ्क्याह ॐ एकस्येति ॐ। एकत्वानेकत्वसन्देहाभावस्थलस्य यच्च स्वरूपमात्रेणेत्यत्र दर्शितत्वादित्यर्थः। ताद्रूप्यमेकरूपत्वं न विवक्षितमपि त्वन्यरूपत्वं विवक्षितमतो नोक्तदोष इति शङ्कते ॐ ताद्रूप्यमिति ॐ। ताद्रूप्यमित्यन्यरूपत्वस्य विवक्षितत्वे स्वरूपस्यैव लक्षिततया प्रस्तुतत्वेनान्यरूपस्याप्रस्तुतत्वादप्रकृतान्यपरामर्शित्वं तच्छब्दस्य स्यादिति परिहरति ॐ नेति ॐ। तदा-तच्छब्देनेत्यर्थः। यथेदमेकं दूषणं तथा दोषान्तरमप्यस्तीत्याह ॐ अन्यत्वेति ॐ। अन्यशब्देन स्वरूपभेदो विवक्षित उतान्योन्याभाव उत वैधर्म्यमाद्ये स्वरूपस्याद्याप्यनिरूपितत्वात्तत्सिद्धौ तत्सिद्धिरिति आत्माश्रयत्वमित्यर्थः। घटस्वरूपभेदो यदा लक्ष्यते तदाऽन्यस्वरूपभेदानामलक्ष्यत्वात्कथमात्माश्रय इत्यत आह ॐ सर्वेति ॐ। अन्यथाऽव्यापकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। यदि मध्यमः तत्राह ॐ अन्योन्येति ॐ। स्वरूपभेदसिद्धौ अन्योन्याभावसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदप्रतीतिवैशिष्ट्येन स्वरूपभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रय इत्यर्थः। अन्तिममपवदति ॐ वैधर्म्यं इति ॐ। स्वरूपभेदज्ञानं विनाऽन्योन्याभावज्ञानायोगात्तेन च विना विरोधासिद्धेस्तद्व्यतिरेकेण च वैधर्म्यासिद्धिस्तत्सिद्धौ स्वरूपभेदज्ञानसिद्धिरिति चक्रकमित्यर्थः।

स्वरूपभेदलक्षणन्निरस्यान्योन्याभावलक्षणं निरसितुमुपक्रमते ॐ यदपीति ॐ। प्रतियोगिसामा-

---

है, कोई प्रतीति अलक्ष्य नहीं, तब 'ताद्रूप्येणाप्रतीतौ'—यह विशेषण निरर्थक हो जाता है। यह जो कहा जाता है कि 'प्रतीतिः' या 'प्रतीतिविषयत्वम्'—इतना ही लक्षण पर्याप्त है, प्रत्येक प्रमेय किसी-न-किसी से भिन्न है, अतः स्वरूपभेद का उदाहरण हो सकता है, किन्तु प्रत्येक पदार्थ में उसी के भेद-प्रसङ्ग का निराकरण करने के लिए 'ताद्रूप्येणाप्रतीतौ' ऐसा विशेषण आवश्यक है। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि उसका भी खण्डन किया जा चुका है।

'ताद्रूप्य' पद का अर्थ (स्वरूपभेद की अपेक्षा वैधर्म्यादि) अन्यरूपत्व है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'कस्मादन्यः ?' इस प्रश्न के उत्तर में (तदा = तत्पदेन) लक्षण-घटक 'तत्' पद के द्वारा स्वरूपभेद का ग्रहण करने पर आत्माश्रय और वैधर्म्यादि का परामर्श करने पर 'तत्' पद में अनुपस्थितार्थ-ग्राहकत्व प्रसक्त होता है, क्योंकि तदादि पद निसर्गतः उपस्थित अर्थ के ही परामर्शी माने जाते हैं। इसी प्रकार 'तदन्यरूपत्व'—यहाँ 'अन्य' पद से स्वरूपभेद की विवक्षा करने पर आत्माश्रय, अन्योन्याभाव की विवक्षा करने पर अन्योऽन्याश्रय और वैधर्म्य की विवक्षा करने पर चक्रकापत्ति होती है [स्वरूपभेद का लक्षण जब किया जा रहा है, तब 'अन्यत्व' पद से स्वरूपभेद का ग्रहण करने पर स्वरूपभेद में स्वरूपभेद की अपेक्षा होने से आत्माश्रयता होती है। 'अन्यत्व' पद से अन्योऽन्याभाव की विवक्षा होने पर स्वरूपभेद में अन्योऽन्याभाव और अन्योऽन्याभाव में स्वरूपभेद की अपेक्षा होने के कारण अन्योऽन्याश्रयता है। इसी प्रकार वैधर्म्यार्थ का ग्रहण करने पर स्वरूपभेद, अन्योऽन्याश्रय और वैधर्म्य—इन तीनों के परस्पर-सापेक्ष निरूपण में चक्रक दोष प्रसक्त होता है]।

(२) अन्योऽन्याभाव का जो लक्षण किया गया है—'समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः'।

एतदप्यशोभनम् , समानाधिकरण इत्यादिभाषायाः कथं कथमपि तात्पर्यगवेषणेऽपि समानाधिकरणो यो निषेधस्तत्प्रत्ययविषयोऽन्योन्याभाव इति पर्यवसाने समानाधिकरण इति किं तुल्याश्रयः, उतैकाश्रयः, उत तादात्म्यप्रतियोगिकः, उत अधिकरणभूतपदार्थवाचिशब्दविशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितपदाभिधेयः, उत अन्यदेव ?

तत्र न प्रथमः, तुहिनमयूखे प्रियामुखे च न दूषणकणस्यापि सम्भव इति प्रत्ययस्यापि दर्शनात् । तत्र मुखचन्द्रयोरन्योन्याभावोऽस्तीति चेन्न, तस्य सत्त्वेऽप्युक्तप्रत्ययस्य तदविषयत्वात् । माऽस्तु तद्विषयो लक्षणं त्वस्यैतत् , तच्च तदविषयत्वेऽप्यदुष्टमिति चेत् , कीदृशं तर्हीदं लक्षणम् ? न तावत्समानाधिकरणो यो निषेधस्तत्प्रत्ययो यस्तस्य यो विषयः, सोऽन्योन्याभाव इति । नापि स एवान्योन्याभाव इति ।

नाधिकरण्यं किं प्रत्ययस्य किं वा निषेधस्याऽऽद्ये प्रत्ययस्यात्माश्रयस्य घटाद्यधिकरणत्वायोग इत्यभिप्रेत्य दूषयति ❀ एतदपीति ❀ । नोपसर्जनमुपसर्जनान्तरान्वयमर्हतीति न्यायेन यद्यपि साक्षात्सम्बन्धो नास्ति तथापि विवक्षावलात् स इत्याह ❀ कथमपीति ❀ । द्वितीयापिशब्देन नानुपपत्तिसमुच्चयः । सतीदं वक्तव्यमिति शेषः । किं वक्तव्यमित्यत आह ❀ समानेति ❀ । समानशब्दस्य समानो देवदत्तो यज्ञदत्तेनेति सदृशपर्यायतया प्रयोगदर्शनात्तुल्याश्रयत्वमिति प्रथमकल्पार्थः । तादात्म्यस्योभयनिष्ठत्वादन्योन्याभावोऽपि तन्निष्ठस्तत्प्रतियोगिक एवेति तृतीयार्थः । अधिकरणपदार्थस्य वाचको घटोऽयमिति शब्दस्तेन सह विशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितः पटो न भवतीति पदं तदभिधेयत्वमधिकरणसाम्येनौपचारिकमिति चतुर्थार्थः । न्यूनतापरिहाराय कल्पान्तरम् ।

सदृशाधिकरणत्वं सामानाधिकरण्यमिति प्रथमं दूषयति । ❀ तत्रेति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ तुहिनेति ❀ । तुहिनमयूखे शीतरश्मौ चन्द्रे प्रियामुखे च तुल्ये दूषणसंसर्गनिषेधस्तुल्याश्रयो भवतीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । लक्ष्यान्योन्याभावस्यापि तत्र विद्यमानत्वात् लक्ष्यमतीत्य वर्त्तनं तत्र नास्तीति शङ्कते ❀ तत्रेति ❀ । सत्यमस्ति तथाप्युक्तप्रत्ययस्तद्विषयो न भवत्यन्यविषय एवेति लक्ष्यमतीत्य वर्त्तनमस्त्येवेति परिहरति ❀ नेति ❀ । अयं प्रत्ययोऽन्योन्याभावविषयो मा भूदित्युक्तमङ्गीकृत्यातिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते ❀ मास्त्विति ❀ । चन्द्रप्रियावदनयोर्दोषकणो नास्तीति प्रत्ययोऽन्योन्याभावविषयो मा भून्न हि मयैतत्प्रत्ययविषयत्वं लक्षणमिष्टं येनान्योन्याभावमतीत्य तत्प्रत्ययविषयस्य वर्त्तनादतिव्याप्तिः स्यादित्यर्थः । किं तर्हि लक्षणमित्यत आह ❀ लक्षणमिति ❀ । अस्मदभिमतनिषेधप्रत्ययविषय इत्यर्थः । तर्ह्यतिव्याप्तिरित्यत आह ❀ तच्चेति ❀ । तस्य चात्यन्ताभावविषयत्वेऽपि न लक्षणत्वक्षतिरत्यन्ताभावस्थलेऽन्योन्याभावस्यापि विद्यमानत्वेनातिव्याप्त्यभावादित्यर्थः । स्वाभिप्रेतमपि लक्षणं न त्वन्मनसि विपरिवर्त्तमानमात्रेण विप्रतिपन्नबोधकमिति शब्दैरभिधातव्यन्तच्च न शक्यमिति परिहरति ❀कीदृशमिति❀ । समानाधिकरणनिषेध-

---

वह भी शोभन नहीं, क्योंकि 'समानाधिकरण' पद से क्या विवक्षित है ? (२) तुल्याश्रयः ? या (२) एकाश्रयः ? या (३) तादात्म्यप्रतियोगिकः ? या (४) अधिकरणार्थ-वाचक (घटः पटो न, भवति—यहाँ पर 'घट') पद के साथ विशेष्यविशेषणभावापन्न (पटो न—इस) पद का वाच्यार्थ ? अथवा (५) कोई अन्यार्थ ?

(१) प्रथम (तुल्याश्रयत्व) अर्थ संगत नहीं, क्योंकि 'तुहिनमयूखे प्रियामुखे च न दूषणकणस्यापि संभवः'—इस प्रतीति के विषयीभूत अत्यन्ताभाव में यह लक्षण अतिप्रसक्त होता है, क्योंकि वहाँ दूषण-कण का निषेध चन्द्र और प्रिया-मुख दोनों में तुल्य है । वहाँ यद्यपि प्रियामुख और चन्द्र—दोनों में भेद भी है, तथापि वह निषेध-प्रतीति का विषय नहीं ।

शङ्का—यदि निषेध-प्रतीति का विषय नहीं होता तो न सही 'मुखं न चन्द्रः'—ऐसी प्रतीति का विषय तो है, इतने से लक्षण का उसमें समन्वय हो जाता है ।

समाधान—तब इस लक्षण में कैसा अन्वय अभीष्ट है ? क्या (१) समानाधिकरणो

नापि यत्र समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययस्तत्र योऽस्ति सोऽन्योन्याभाव इत्यस्तु, तद्धर्मस्य सर्वस्यान्योन्याभावत्वापातात्, समानाधिकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। एतेनैक-मुदाहरणमादाय द्वितीयोऽपि निरस्तः।

नापि तृतीयः, तादात्म्यप्रतिसन्धानव्यतिरेकेण तत्प्रतियोगिकत्वस्य प्रत्येतुम-शक्यतया तन्निर्वचनप्रसङ्गात्। तच्चाशक्यम्। तथा हि – तदेकत्वं वा भेदाभावो वा? स्वरूपं त्वसम्भावितम्, तस्य भेदत्वोपगमात्, तस्मिन् दृष्टेऽपि तन्न वेति तादात्म्य-संशयानवकाशापत्तेः। आद्येऽपि संख्याविशेषो वा धर्मान्तरं वा?

प्रत्ययविषयत्वं लक्षणमुत स एव प्रत्यय उत स एव प्रत्ययो यत्र तदाश्रितधर्मत्वमिति विकल्पाभिप्रायः। प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। तत्प्रत्ययो बाधस्तद्विषय इति तुहिनदीधितिप्रेयसीमुखयोर्दोषकणोऽपि नास्तीत्यत्र संसर्गाभावेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। असम्भवादतिव्याप्तेश्च न द्वितीय इत्याह ❀ नापीति ❀। तृतीयमपवदति ❀ नापीति ❀। मुखे चन्द्रे चाश्रितस्य धर्ममात्रस्यैवान्योन्याभावप्रसङ्गेनातिव्याप्तेरिति हेतुमाह ❀तद्धिति❀। अस्मिन्पक्षे संसर्गाभावस्यापि तद्धर्मिणि वर्त्तमानत्वेन व्यवच्छेदानुपपत्तेर्व्यर्थविशेषणत्वं चेत्याह ❀ समा-नेति ❀। एकाश्रयत्वं सामानाधिकरण्यमिति द्वितीयं दूषयति ❀ एतेनेति ❀। प्रियामुखे दोषलेशो नास्तीति निषेधप्रत्यय एकाश्रयो भवति तेनाबाधितैकाश्रयनिषेधप्रत्ययोऽन्योन्याभाव इति लक्षणं संसर्गा-भावेऽतिव्यापकमित्यर्थः।

तादात्म्यप्रतियोगिकत्वं सामानाधिकरण्यमिति तृतीयं दूषयति ❀ नापीति ❀। कुत इत्यत आह ❀तादात्म्येति❀। तादात्म्यप्रतियोगिकत्वं इति ब्रुवता तत्प्रतियोगितादात्म्यन्निर्वचनीयमित्यर्थः। निरूप्यतां तर्हि तादात्म्यं को दोषस्तत्राह ❀ तच्चेति ❀। तदुपपादनार्थं तादात्म्यमेकत्वमुत भेदाभाव इति विकल्प-यति ❀ तथा हीति ❀। घटादीनां स्वरूपं तादात्म्यमिति कल्पनीयमित्याशङ्क्य तन्न भवति भेदत्वेन तस्य स्वीकारादित्याह ❀ स्वरूपं त्विति ❀। असम्भवे हेत्वन्तरमाह ❀ तस्मिन्निति ❀। दूरे गिरितर्वादौ दृष्टेऽपि तादात्म्यसंशयो जायते तन्न स्यात्तादात्म्यस्य स्वरूपत्व इत्यर्थः। कल्पान्तरासम्भवेऽपि कृतविकल्पे किं दूषणमित्याशङ्क्य तद्दर्शनाय विकल्पयति ❀ आद्येति ❀।

यो निषेधः, तत्प्रत्ययविषयत्वम् अन्योऽन्याभावत्वम्? या (२) तादृशप्रत्ययत्वम् अन्योऽन्या-भावत्वम्? अथवा (३) तादृशप्रत्ययाश्रयाश्रितधर्मत्वमन्योन्याभावत्वम्? प्रथम प्रकार उक्त स्थल पर दोषकण के अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्त है। द्वितीय प्रकार असंभव-ग्रस्त है, क्योंकि सर्वत्र समानाधिकरणनिषेध-प्रत्यय का विषय ही अन्योऽन्याभाव होता है, तादृशप्रत्ययात्मक नहीं। तृतीय प्रकार मुखगत और चन्द्रगत धर्ममात्र में अतिव्याप्त है। इस प्रकार को अपनाने पर अत्यन्ताभाव भी उक्त धर्मी में वर्तमान है, अतः 'समानाधिकरण' पद से उसकी व्यावृत्ति भी नहीं हो सकती, अतः उक्त विशेषण व्यर्थ है।

(२) द्वितीय कल्प के अनुसार 'समानाधिकरण' पद का एकाश्रयत्व अर्थ भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि कथित दो उदाहरणों के घटकीभूत केवल प्रियामुख या चन्द्ररूप एक उदाहरण में जो दोष का अत्यन्ताभाव है, उसका आश्रय एक ही है, अतः उसमें अतिव्याप्ति है।

(३) तृतीय कल्प के अनुसार अन्योऽन्याभाव में तादात्म्यप्रतियोगिकत्व का तभी ज्ञान होगा, जब कि 'तादात्म्य' का ज्ञान हो जाय, अतः अन्योऽन्याभाव के निर्वचन से पहले तादात्म्य का निर्वचन करना होगा, वह सम्भव नहीं, क्योंकि तादात्म्य का अर्थ (१) एकत्व? या (२) भेदाभाव? अथवा (३) स्वरूप विवक्षित है? स्वरूप को 'तादात्म्य' शब्द से अभिहित करना संभव नहीं, क्योंकि स्वरूप को भेद (तादात्म्याभाव) माना जा चुका है। फिर भी स्वरूप को तादात्म्य मानने पर स्वरूप का दर्शन - जाने के पश्चात् जो 'तन्न वा?' इस प्रकार का तादात्म्य-संशय होता है, वह नहीं होगा, क्योंकि स्वरूप-निश्चय ही तादात्म्य-

नाद्यः, गुणादौ तदभावप्रसङ्गात्। प्रथमे क्षणे कार्यद्रव्यस्यैकस्यापि स्वातादात्म्यप्रसङ्गात्। वैशेषिकमते व्युत्थाने चैकत्वे तदभावप्रसङ्गात्। उपाधिभिन्नावलम्बि च तादात्म्यं कथं स्वरूपमात्रावलम्बेनैकत्वीकर्तुं शक्यम्, विचित्रप्रतिपत्तिकत्वात्। नापि द्वितीयः, तस्यापि धर्मान्तरापेक्षयाऽनवस्थापातात्, अनपेक्षायां स्वातादात्म्यप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, स हि भेदस्याभावो भवन्नप्यन्योन्याभावस्यैव स्यात्, अन्योन्याभावस्य च तत्प्रतिक्षेपात्मकत्वात् तेनाप्यन्योन्याभावप्रतिक्षेपात्मना भवितव्यम्, परस्परप्रतिक्षेपात्मत्वान्निषेध्यनिषेधयोः। तथा च सति अन्योन्याभावप्रतीतिमन्तरेण तन्निरूपणमशक्यं निषेध्यप्रतीतिसापेक्षत्वान्निषेधबुद्धेरित्यन्योन्याश्रयः।

प्रथमं दूषयति * नेति *। गुणादिषु विद्यमानान्योन्याभावप्रतियोगित्वेन गुणा निर्गुणा इति न्यायेन तदभावप्रसङ्ग इत्यर्थः। द्रव्येऽपि कालभेदेनाव्यापकत्वमाह * प्रथम इति *। गुणारम्भे द्रव्यस्य समवायिकारणत्वनियमात् क्षणमात्रमुत्पन्नं द्रव्यमगुणं तिष्ठतीति वैशेषिकाभ्युपगमस्तत्र एकत्वमङ्ख्योत्पत्तेः प्राक्कार्यं द्रव्यात्मकस्य स्यादित्यर्थः। असम्भवी चार्य पक्ष इत्याह * उपाधीति *। कस्य केनेति सप्रतियोगिकेन तादात्म्येन निष्प्रतियोगिकत्वं कथमभिन्नं स्याद्विरुद्धप्रतिपत्तिकयोरेकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। धर्मान्तरं तादात्म्यमिति पक्षं दूषयति * नापीति *। तादात्म्यं यद्धर्मान्तरं तत्रापि धर्मान्तरमस्ति न वेति विकल्प्य प्रथमं दूषयति * तस्यापीति *। द्वितीयमपवदति * अनपेक्षेति *। भेदाभावस्तादात्म्यमिति द्वितीयं दूषयति * नापीति *। अत्रेतरेतराश्रयत्वोपपादनायोपोद्घातं करोति * स हीति *। स तादात्म्यरूपो भावस्तस्य भेदस्याभावो भवन्नन्योन्याभावस्यैवाभावाद्भेदान्योन्याभावोऽस्तु नः किन्नष्टमित्यत आह * अन्योन्येति *। तत्प्रतिक्षेपात्मत्वात्तादात्म्याभावरूपत्वादन्योन्याभावस्य तेन तादात्म्येनापि स्वाभावप्रतिक्षेपात्मकेन भवितव्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह * परस्परेति *। एवं च तादात्म्यप्रतीतौ तत्प्रतिक्षेपान्योन्याभावप्रतीतिस्तत्प्रतीतौ च तादात्म्यप्रतीतिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयणमित्याह *तथा चेति*।

निश्चय है, तादात्म्य-निश्चयरूप विशेष-दर्शन हो जाने पर उसका संशय क्योंकर होगा ? प्रथम कल्प के अनुसार तादात्म्य को एकत्व संख्यारूप या धर्मान्तर माना जाता है ? एकत्व संख्या तो गुणादि में रहती नहीं, अतः वहाँ गुण का तादात्म्य भी न रह सकेगा। इतना ही नहीं, अपितु वैशेषिक मत के अनुसार उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न जन्य द्रव्य में भी गुण नहीं रहता, अतः उसमें भी स्वतादात्म्य का अभाव प्रसक्त होता है। वैशेषिक मत का अनुसरण न कर यदि रूपादि गुणों में एकत्व संख्या मान भी ली जाती है, तब भी अनवस्था के भय से एकत्व में एकत्व नहीं माना जा सकता, अतः एकत्व में स्वतादात्म्य का अभाव प्राप्त होता है। दूसरा बात यह भी है कि 'तादात्म्य' और 'एकत्व'—इन दोनों को अभिन्न पदार्थ मानना संभव ही नहीं, क्योंकि तादात्म्य के विषय में संयोगादि संबन्धों के समान 'कस्य तादात्म्यम् ?' ऐसी जिज्ञासा होती है, अतः तादात्म्य पदार्थ सोपाधिक (सप्रतियोगिक) माना जाता है और एकत्व पदार्थ वैसा (सप्रतियोगिक) नहीं होता। सप्रतियोगिक और निष्प्रतियोगिक पदार्थों में वैचित्र्य (भिन्नत्व) का अनुभव होता है, अतः उनमें अभिन्नरूपता मानना सर्वथा असंभव है। एकत्व का द्वितीय (एकत्वं धर्मान्तरम्) पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि उस धर्मान्तर में धर्मान्तर मानने पर अनवस्था और न मानने पर स्वतादात्म्याभावापत्ति होती है।

द्वितीय (तादात्म्यं भेदाभावः) का विश्लेषण करने पर (भेदस्याभावः भेदाभावः) स्पष्ट हो जाता है कि वह अन्योऽन्याभावरूप भेद का ही अभाव है। भाव और उसका अभाव—दोनों परस्पर विरोधी होते हैं, अतः अन्योऽन्याभाव और अन्योऽन्याभावाभाव—दोनों एक दूसरे के अभावात्मक पदार्थ हैं। प्रतियोगी की प्रतीति के विना अभाव का निरूपण नहीं हो सकता, फलतः भेदाभावरूप तादात्म्य और अन्योन्याभावरूप भेद में अन्योऽन्याश्रयता है।

नापि तुरीयः, 'निर्घटं भूतलमि'त्यत्रापि प्रसङ्गात्। नापि पञ्चमः, समानाधिकरण इति प्रतियोगिसमानाधिकरणो विवक्षितः, तादृशश्च निषेधोऽन्योन्याभावः, तत्प्रत्ययश्च तल्लक्षणमित्यस्याप्ययुक्तत्वात्। भावसमानाधिकरणस्यान्योन्याभावस्य 'कुम्भः पटत्वं न भवती'त्यादेरव्यापनात्। तज्जातीयतथात्वं च यं विशेषमन्योन्याभावगतमादाय स्यात्तदेव लक्षणीभवनसमर्थमुपजीव्यमानमस्य लक्षणस्योपन्यासं

अधिकरणभूतपदार्थवाचिशब्दविशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितपदाभिधेयत्वं सामानाधिकरण्यमिति। चतुर्थं दूषयति ॐनापीतिॐ। कुत इत्यत आहॐ निर्घटमितिॐ। अधिकरणवाचकशब्देन विशेषणादिभावस्थितपदवाच्यं समानाधिकरणं तन्निष्ठनिषेधप्रत्ययविषयत्वमन्योन्याभावलक्षणमुक्तं स्यात्तथा च निर्घटमित्यादि संसर्गाभावेऽतिव्याप्तमित्यर्थः। अन्यदेवेत्युक्तं प्रतिक्षिपति ॐ नापीति ॐ। दोषप्रकटनाय पञ्चमकल्पार्थं प्रकटयति ॐ समानेति ॐ। अयुक्तत्वे हेतुमाह ॐ भावेति ॐ। स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणो निषेधोऽवाधितोऽन्योन्याभाव इति लक्षणमुक्तं स्यात्तत्र च प्रमाणं तत्प्रत्यय इति तथा च कुम्भः पटत्वन्न भवतीत्यत्र घटत्वप्रतियोगिको निषेधो घटे वर्त्तते पटत्वं प्रतियोगिनि पटे वर्त्तत इत्यव्यापकत्वात्। न च पटत्वं तदन्योन्याभावश्च पटे वर्त्तत इति स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणमिति वाच्यम्। धर्मिप्रतियोगिभेदादभावभेदे कुम्भधर्मिकाभावाव्यापनात्प्रतियोगिभेदादेवाभावभेदो न धर्मिभेदादिति शपथसाध्यत्वात् धर्म्यादिभेदेऽप्यभावस्यैकत्वेऽभावचातुर्विध्यकल्पनाया अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गादिति भावः। आदिपदेन सुखं घटो न भवतीत्यादिसङ्ग्रहः। घटः शौक्ल्यन्न भवतीत्यत्र स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणो निषेधो भवति तेन स्वप्रतियोगिकसमानाधिकरणनिषेधजातीय इति लक्षणं सर्वान्योन्याभावव्यापि भविष्यति इत्याह ॐतज्जातीयेतिॐ। अन्योन्याभावानुगतविशेषानङ्गीकारे तज्जातीयशब्दप्रत्ययानुपपत्तेयं विशेषमन्योन्याभावानुगतमादाय तज्जातीयत्वप्रतीतिस्तस्य तत्रैव वर्तनादेव लक्षणीभवनसम्भवादुपजीव्यत्वेनावश्यप्रथमप्रतीतिसाधनत्वेन लाघवात्तर्कसाहाय्याल्लक्षणत्वमस्ति व्यर्थस्तदुपजीवकलक्षणोपन्यास इत्याशयः। अस्तु तर्हि तदेव लक्षणमित्यत आह ॐ तदेति ॐ। रूपान्तरेण किं निर्दिश्य तच्चैतदभिधीयत इत्यादावन्योन्याभावमात्रगतत्रिशे-

---

समानाधिकरण शब्द का चौथा (अधिकरणभूतपदार्थवाचिशब्दविशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितपदाभिधेयः) अर्थ अपनाने पर 'निर्घटं भूतलम्'—इस प्रतीति के विषयीभूत अत्यन्ताभाव में अन्योऽन्याभावत्व अतिप्रसक्त होता है, क्योंकि अधिकरणार्थक भूतल' पद के साथ विशेष्यविशेषणभावापन्न 'निर्घट' पद के द्वारा घटात्यन्ताभाव अभिहित है।

'समानाधिकरण' शब्द का पञ्चम (अन्यदेव) अर्थ यदि कुछ किया जा सकता है, तब वह है—प्रतियोगिसमानाधिकरण, अतः 'प्रतियोगिसमानाधिकरणनिषेधप्रत्ययः—ऐसा अन्योऽन्याभाव का लक्षण सपन्न होता है [अत्यन्ताभावादि प्रतियोगिसमानाधिकरण या प्रतियोगी के अधिकरण में वृत्ति नहीं होते किन्तु अन्योऽन्याभाव प्रतियोगी के अधिकरण में भी रह जाता है, जैसे घट के अधिकरणीभूत भूतल में भी घट का अन्योऽन्याभाव रह जाता है—'भूतलं घटो न भवति']। किन्तु यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं, क्योंकि 'कुंभः पटत्वं न भवति'—यहाँ पटत्वरूप प्रतियोगी का अन्योऽन्याभाध कुंभ में है किन्तु पटत्व वहाँ नहीं रहता, अतः यह अन्योऽन्याभाव प्रतियोगिसमानाधिकरण नहीं, इसमें उक्त लक्षण क्योंकर घटेगा ?

शङ्का—सभी अन्योऽन्याभाव प्रतियोगिसमानाधिकरण होते हैं—ऐसा लक्षणकार का तात्पर्य नहीं किन्तु दूसरे अभावों से इसकी विशेषता यह है कि यह प्रतियोगिसमानाधिकरण भी हो जाता है, जब कि अत्यन्ताभावादि कदापि वैसे नहीं होते, अतः इस लक्षण को सभी अन्योऽन्याभावों में व्यापक बनाने के लिये जाति-घटित लक्षण किया जाता है—प्रतियोगिसमानाधिकरणाभाववृत्तिजातिमत्त्वम् अन्योऽन्याभावत्वम्। भूतलवृत्ति घटान्योऽन्याभाव में रहनेवाली अन्योऽन्याभावत्व जाति सभी अन्योऽन्याभावों में वर्तमान है।

प्रत्यादिशति । न च तदपि सम्भवति, अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदखण्डनप्रस्तावे निरस्तत्वात् । प्रकारान्तरस्य चासम्भवात् ।

न च, पटत्वं न भवतीत्ययमेवाभावो घटः पटत्वं न भवतीत्येक एव । एवं प्रतियोग्यैक्येन मयाऽत्र तथाऽभ्युपगमादिति क्वचित् प्रतियोगिसमानदेशत्वादपि लक्षणसिद्धिरिति वाच्यम्, तथापि प्रतियोग्यैक्येन तदत्यन्ताभावस्यैक्यापत्तेः; तादात्म्यवद् योगस्यापि द्विष्ठत्वाविशेषादतिव्याप्तेः । कालभेदेन च प्रागभावादेरपि प्रतियोगि-

वणस्य निरस्तत्वावित्यर्थः । अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदः खण्डनोक्तप्रकारावन्य एवासौ विशेष इत्यत आह ॐ प्रकारेति ॐ ।

यदुक्तं घटः पटत्वं न भवतीत्यावावव्याप्तिरिति तदसद्यतोऽत्र तावत्पटत्वं प्रतियोगि पटः पटत्वन्न भवतीत्यत्रापि तदेव प्रतियोग्यैकेन घटे वर्त्तमानोऽयमेवैष एवोऽयमेवेति परस्परैक्यान्नास्त्यव्याप्तिस्थलमित्याशंक्याह । ॐ न चेति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ तथापीति ॐ । संसर्गाभावान्योन्याभावयोरपि तथा सति भेदो न स्यादित्यर्थः । घटः पटत्वन्न भवतीत्यत्र पटत्वं प्रतियोगि न भवति किन्तु तादात्म्यं तस्योभयाधिकरणत्वात्तन्निषेधस्यापि द्वयनिष्ठतया प्रतियोगिद्वयसामानाधिकरण्यमस्तीत्यत आह ॐ तादात्म्यवदिति ॐ । योगः संयोगस्तस्य द्विष्ठत्वात्तदभावोऽपि द्विष्ठ एवेति प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वं संसर्गाभावेऽप्यस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । प्रतियोगिसामानाधिकरण्यमात्रं विवक्षितमुताभिन्नकालिकमिति विकल्प्य प्रथमेऽतिव्याप्तिमाह ॐ कालेति ॐ । यस्यां मृदि घट उत्पत्तेः प्राङ्नासीत्स एव घटः कालान्तरे तत्रैवा-

समाधान—अन्योऽन्याभाव में यदि कोई वैसी जाति मानी जाती है, तब तादृशजातिमत्त्वमन्योऽन्याभावत्वम्—इतना ही लक्षण पर्याप्त है, उससे भिन्न तदुपजीवकीभूत इस प्रक्रान्त लक्षण की आवश्यकता नहीं रह जाती । वस्तुतः अन्योऽन्याभावगत वैसी कोई जाति संभव नहीं—यह पहले अन्योऽन्याभाव और ससर्गाभाव के भेद का खण्डन करते हुए कहा जा चुका है ।

शङ्का—'पटः पटत्वं न भवति' और 'घटः पटत्वं न भवति'—इन दोनों प्रतीतियों के विषयीभूत दोनों अन्योऽन्याभाव एक हैं, क्योंकि दोनों एकप्रतियोगिक (पटत्वप्रतियोगिक) हैं । उनमें अन्तर केवल इतना है कि वह पट में प्रतियोगिसमानाधिकरण और घट में प्रतियोगिव्यधिकरण है । किसी एक स्थल पर प्रतियोगिसमानाधिकरणता घट जाने से लक्ष्यमात्र में लक्षण का समन्वय मानकर वैसा लक्षण किया जाता है ।

समाधान—यदि एकप्रतियोगिक अभावों का एक माना जाता है, तब पटत्वात्यन्ताभाव और पटत्वान्योऽन्याभाव को एक मानना होगा ।

शङ्का—यद्यपि भूतल में घट का अन्योऽन्याभाव भी है और अत्यन्ताभाव भी, तथापि अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगी भी घट नहीं, घट का तादात्म्य है और घटात्यन्ताभाव का प्रतियोगी घट है, अतः एकप्रतियोगिक न होने के कारण दोनों अभाव एक नहीं माने जा सकते । दूसरी बात यह है कि अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगीभूत आरोपित तादात्म्य घट और भूतल—इन दोनों में रहने के कारण भूतल में घट का अन्योऽन्याभाव प्रतियोगिसमानाधिकरण घट का अत्यन्ताभाव प्रतियोगिव्यधिकरण है, इस लिए भी दोनों अभाव एक नहीं होते ।

समाधान—घटान्योऽन्याभाव का प्रतियोगी घट ही होता है और तादात्म्य को वहाँ प्रतियोगितावच्छेदक संसर्ग माना जाता है । यदि वहाँ तादात्म्य संसर्ग को ही प्रतियोगी माना जाता है, तब संसर्गाभाव में भी संयोगादि संसर्ग को ही प्रतियोगी माना जा सकता है, इस प्रकार दोनों ही संसर्गप्रतियोगिक होने से एक क्यों नहीं होंगे ? आरोपित तादात्म्य के समान आरोपित संयोग भी घट और भूतल—दोनों में रहता है, अतः भूतलवृत्ति घट-संयोगाभाव प्रतियोगिसमानाधिकरण हो जाता है, इस प्रकार भी दोनों अभावों की एकता सिद्ध होती है ।

समानाधिकरणतयाऽतिव्याप्तेः, कालैक्येन च विशेषणे च तदन्योन्यव्यतिरेकाव्याप्तेरिति।

यदपि धर्मान्तरस्य लक्षणमवादि वैधर्म्यस्य विरोधः, स चैकधर्म्यसमावेश इति। तदप्युद्भ्रान्तमनसो भाषित·, तथा हि—प्रमाणप्रमेययोर्भेदोऽस्ति न वा? न चेत्तदभिधानस्य पर्यायत्वप्रसङ्गः, किंप्रमाणिका बुद्धिरित्युक्ते बुद्धिविषयेणोत्तरप्रसङ्गश्च। नापि प्रथमः, स हि न तावत्स्वरूपलक्षणः, तुलादिद्रव्यस्य एकस्याप्युभयभावदर्शनात्। अत एव नान्योन्याभावोऽपि। धर्मान्तरं तु तयोर्भेदः परिशिष्यते,

सीविति प्रागभावस्यापि स्वप्रतियोगिघटसामानाधिकरण्यमस्ति तथा तत्रैव पुनर्न्न भविष्यतीति प्रध्वंसस्यापि तथात्वेनातिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ॐ कालेति ॐ। यदा प्रतियोग्यस्ति तदा तत्समानाधिकृतो निषेधोऽन्योऽन्याभाव इत्युक्तं स्यात्तथा च तस्मिन्नेव लक्ष्ये अन्योन्याभावेऽव्याप्तिर्न हि घटयोस्तादात्म्ये सत्येव तदन्योन्याभाव इत्यर्थः।

वैधर्म्यं भेदलक्षणमनुभाषते दूषयितुम् ॐ यदपीति ॐ। तदपि भ्रान्तप्रलपितमित्युपेक्ष्यमिति दूषयति ॐ तदिति ॐ। लक्षणाव्याप्तिप्रदर्शनार्थमुपोद्घातं करोति ॐ तथा हीति ॐ। प्रमाणप्रमेयमिति पदयोरभिन्नार्थतया पर्यायत्वप्रसङ्गो हस्तकरादिशब्दानामभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां तथात्वादिति द्वितीयं दूषयति ॐ न चेदिति ॐ। प्रमाणप्रमेययोरैक्यवादिनां तदभिधानपर्यायत्वमपि नानिष्टमित्यत आह ॐ किमिति ॐ। बुद्धौ किं प्रमाणं घटे वा किं प्रमाणमिति प्रमाणप्रश्नेषु बुद्धौ बुद्धिः प्रमाणं घटे घटः प्रमाणमित्युत्तरं वातव्यं स्यात्तयोरभेदे मेयस्यैव मानत्वादित्यर्थः। प्रमाणप्रमेययोर्भेदः स किं स्वरूपलक्षणः? उतान्योन्याभाव? उत वैधर्म्यमिति विकल्प्य प्रथमं पराचष्टे ॐ स हीति ॐ। कुत इत्यत आह ॐएकस्येतिॐ। एकस्यैव वस्तुनस्तुलादिलक्षणस्य प्रमाणप्रमेयभावदर्शनादित्यर्थः। प्रमाणप्रमेययोरन्योन्याभावो न सम्भवति इत्याह ॐ अत इति ॐ। तस्मात् तृतीयः कल्पः परिशिष्यत इत्याह ॐ धर्मेति ॐ। अत्र हेतुर्यत इति अन्येन प्रमाकरणत्वरूपेण प्रमाणमन्येन प्रमाविषयत्वरूपेण प्रमेयमित्युच्यते यतस्ततोऽ-

अन्योऽन्याभाव में प्रतियोगिसामानाधिकरण्य भिन्नकालावच्छेदेन विवक्षित है? अथवा एककालावच्छेदेन? भिन्नकालावच्छेदेन प्रतियोगिसामानाधिकरण्य तो प्रागभाव और ध्वंस में भी है, क्योंकि जिन कपालों में घट का कभी प्रागभाव है, उन्हीं कपालों में कभी घट उत्पन्न होता है और जिन कपालों में कभी घट होता है, उन्हीं में कभी घट का ध्वंस हो जाता है, इस प्रकार प्रतियोगिसमानाधिकरणाभावत्व की प्रागभाव और ध्वंस में भी अतिव्याप्ति होती है। एककालवच्छेदेन प्रतियोगिसामानाधिकरण्य की विवक्षा होने पर अन्योऽन्याभाव में भी अव्याप्ति या असंभव हो जाता है, क्योंकि जिस काल में जहाँ जिसका तादात्म्य रहता है, उस काल में वहाँ उसका तादात्म्याभाव नहीं रह सकता।

वैधर्म्य का जो लक्षण किया गया है—"वैधर्म्यस्य तु विरोधः, स चैकधर्म्यसमावेशः।" वह भी भ्रान्त पुरुष का प्रलापमात्र है, क्योंकि प्रमाण और प्रमेय का वैधर्म्यरूप भेद है? या नहीं? यदि भेद नहीं, तब 'प्रमाण' और 'प्रमेय' शब्दों में अभिन्नार्थप्रतिपादकत्वरूपपर्यायत्व प्रसक्त होता है। 'बुद्धौ किं प्रमाणम्?' इस प्रश्न के उत्तर में 'बुद्धिः प्रमाणम्' एवं 'घटे किं प्रमाणम्?' इस प्रश्न के उत्तर में 'घटः प्रमाणम्'—ऐसा कहना अनुचित न समझा जायगा, क्योंकि प्रमाण और प्रमेय का अभेद होने से प्रमेय का प्रमाण हो जाना उचित ही है।

प्रथम कल्प के अनुसार प्रमाण और प्रमेय का यदि भेद माना जाता है, तब वह स्वरूपभेद है? या अन्योऽन्याभावरूप? अथवा वैधर्म्यरूप? स्वरूपभेद इस लिए नहीं माना जा सकता कि तुलादि पदार्थों में प्रमाणत्व और प्रमेयत्व दोनों देखे जाते हैं। अत एव अन्योऽन्याभाव भी संभव नहीं। विशेषतः वैधर्म्यरूप भेद ही प्रमाण और प्रमेय में माना जा सकता है,

यतोऽन्येन रूपेण तत्प्रमाणमन्येन च तदेव प्रमेयमित्युच्यते। तथा च सत्येकधर्म्यसमावेशो लक्षणमव्यापकम्। सोऽयं 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवदि'ति पारमर्षमपि परामर्शं न्यस्मार्षीदित्यास्तां विस्तरः।

ननु भेदप्रतिपत्तेस्तावत् प्रत्यक्षफलस्यार्थेन्द्रियसन्निकर्षः कारणमसाधारणं वक्तव्यम्। तत्र य एवेन्द्रियसन्निकर्षस्य भेदप्रतिपत्तिहेतोर्द्वितीयः सम्बन्धी, स एव भेदोऽस्तु। न, उक्तबाधकैर्बाधितायाः प्रतीतेरर्थसन्निकर्षकारणत्वाभावादिति।

---

११. कारणत्वलक्षणखण्डनम्

किं पुनस्तत्कारणत्वम्? पूर्वभावित्वमिति चेन्न,। चिरापध्वस्तानामपि कारण-

---

स्वरूपभेदमात्रोपगमाद्वैधर्म्यंभेदपरिशेष इत्यर्थः। अस्तु तर्हि स एव पक्ष को दोषस्तत्राह ❀ तथा चेति ❀। एकस्यैव प्रमाणत्वप्रमेयत्वोपगमात्तत्रैकधर्म्यसमावेशो नाम लक्षणमव्यापकमित्याशयः। एकधर्म्यसमावेशो वैधर्म्यमिति ब्रुवन्नुवयनो न न्यायशास्त्रं श्रुतवान् श्रुतमपि विस्मृतवानित्युपहसन्नुपसंहरति ❀ सोऽयमिति ❀। सूत्रं तु प्रागेव विवृतम्। प्रमाणत्वप्रमेयत्वयोः प्रमाप्रमेयभेदकयोरेकस्मिन् समावेशः सूत्रकारेण दर्शितो विस्मृत इत्यर्थः।

अपरोक्षभेदप्रतिपत्तेः प्रातिस्विकेन्द्रियसंनिकर्षानुविधायित्वात्तज्जन्यत्वं वक्तव्यं घटप्रतीतिवदिति चोदयति। ❀ नन्विति ❀। तथापि किं भेदलक्षणमित्यत आह ❀ तत्रेति ❀। इन्द्रियातिरिक्तो भेदप्रमाजनकसन्निकर्षाधिकरणजातीयो भेद इति लक्षणं जातीयग्रहणं परोक्षभेदावरोधायेत्यर्थः। प्रागुक्तान्योन्याश्रयादिबाधकैर्बाधिताया भेदप्रतीतेर्भ्रान्तेरिन्द्रियसन्निकर्षजत्वमेव नास्ति तदनुविधानं त्वधिष्ठानग्रहणकारणतयाऽन्यथासिद्धं रजतादिप्रतीताविवेति परिहरति ❀ नेति ❀।

इति भेदखण्डनम्।

कारणत्वानिरुक्तेश्च सन्निकर्षकारणत्वं भेदप्रतिपत्तेर्दुरभिधानमिति मन्वानः कारणत्वखण्डनं प्रक्रमते ❀ किमिति ❀। पूर्वभावित्वमात्रं कारणत्वमुताव्यवहितत्वविशिष्टमिति विकल्पाभिप्रायः।

क्योंकि न्यायसूत्र २।१।१६ में चर्चित तुलादि द्रव्य ही प्रमाकरणत्वेन प्रमाण और प्रमाविषयत्वेन प्रमेय कहे जाते है, किन्तु उनका एक धर्मी में समावेश होने के कारण एकधर्म्यसमावेशरूप लक्षण अव्याप्त हो जाता है। इस प्रकार तो "प्रमेयता च तुलाप्रमाण्यवत्" (न्या. सू. २।१।१६) इस सूत्र में जो उक्त धर्मों का एक धर्मी में समावेश प्रतिपादित है, वह भी उपेक्षित हो जाता है।

शङ्का—इन्द्रियगण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, इनका फलीभूत प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। भेद-प्रतीति भी प्रत्यक्ष ज्ञान है, अतः इन्द्रिय और भेदरूप अर्थ के सन्निकर्ष से वह जनित है। इस प्रकार भेद का यह लक्षण पर्यवसित होता है कि 'इन्द्रियभिन्नत्वे सति साक्षात्कारासाधारणकारणसन्निकर्षाश्रयत्वम्'। इस लक्षण में कोई दोष नहीं प्रतीत होता।

समाधान—पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रयादि दोषों से बाधित होने के कारण भेद-प्रतीति को इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षकारणक नहीं कहा जा सकता, अतः भेद का यह लक्षण भी उपपन्न नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि कारणत्व पदार्थ का निर्वचन भी नहीं हो सकता, इसलिए भी कारणत्व-घटित उक्त लक्षण अनुपपन्न है।

---

११. कारणत्व-लक्षण-खण्डन

कारणत्व का निर्वचन यदि किया जाय, तब क्या होगा?

त्वप्रसङ्गात् । अव्यवहितपूर्वभावित्वमिति चेन्न, व्यापारस्यैव कारणत्वप्रसङ्गात्। व्यापारेण न व्यवधानमिति चेन्न, कारणकारणस्यापि कारणत्वप्रसङ्गात्। कारणस्यातद्व्यापारत्वात् नैवमिति चेन्न, विना विशेषोक्ति तस्य दुर्विवेकत्वात्। यद्विना

पूर्वकल्पं शंकते ॐ पूर्वेति ॐ। भावित्वं कारणत्वमित्युक्ते कार्येऽतिव्याप्तिस्तत्परिहाराय पूर्वेत्युक्तम्। तावत्युक्ते पूर्वमसतोऽपि कारणत्वं स्यात्तद्वारयति ॐ भावित्वमिति ॐ। अतिव्यापकत्वान्नेदं लक्षणमित्याह ॐ नेति ॐ। चिरमनन्वयेन निर्लेपमेव प्रध्वस्तानां जलबुद्बुदादीनामिदानीन्तनघटकारणत्वप्रसङ्गः। चिरप्रध्वस्तयागादेः कारणत्वमिति तद्व्यावृत्तये विशेषणमनन्वयेनेति। अन्वयो व्यापारः। द्वितीयं शंकते ॐ अव्यवहितेति ॐ। यागादेर्व्यापारव्यवधानात् कारणत्वन्न स्याद् व्यापारस्य च कार्यम्प्रत्यव्यवधानात्कारणत्वं स्यादित्यव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यां दूषयति ॐ नेति ॐ। स्वाङ्गमव्यवधायकमिति न्यायेन व्यापारवतः कारणत्वं स्यादिति शंकते ॐ व्यापारेणेति ॐ। तर्हि कुलालादेरपि जलाहरणादिकार्यं प्रति कारणत्वं स्यात् घटादेस्तद्व्यापारत्वेनाव्यवधानादिति दूषयति ॐ नेति ॐ। जलाहरणादिकारणस्य घटादेः कुलालादेर्व्यापारत्वाभावात्तेन व्यवहितकुलालादेर्न कारणत्वमिति शंकते ॐ कारणस्येति ॐ। तज्जन्यः कारणमिति लक्षणे सम्भवति व्यापारत्वाभाव एव वक्तुमशक्य इत्याह ॐ नेति ॐ। स्पन्दः प्रयत्नो वा संयोगादिर्वा

(१) पूर्वभावित्वम्—

कार्य के पूर्वकाल में रहनेवाले पदार्थ को यदि कारण माना जाता है, तब उन पदार्थों को भी कारण मानना होगा, जो कार्य की उत्पत्ति से बहुत पहले ही नष्ट हो जा चुके हैं, क्योंकि कार्यपूर्वकाल-वृत्तित्व उनमें भी है।

कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तित्व को कारणत्व का लक्षण मानने पर 'यजेत स्वर्गकामः'—इत्यादि स्थलों पर प्रतिपादित यागादिगत स्वर्गादि-कारणत्व अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि वहाँ स्वर्गादि की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में रहनेवाले यागादि-जन्य अदृष्टादि में ही कारणत्व बन सकेगा, यागादि में नहीं, यागादि कर्म तो बहुत पहले ही नष्ट हो चुके होते हैं।

शङ्का—यद्यपि याग और स्वर्ग के मध्य में अदृष्टादि का व्यवधान हो जाने से यागादि स्वर्ग के अव्यवहित पूर्ववृत्ति नहीं प्रतीत होते, तथापि अदृष्टादि को यागादि का व्यापार (यागादि से जन्य एवं यागादि से जन्य स्वर्गादि का जनक) माना जाता है, व्यापार पदार्थ व्यापारी का व्यवधायक नहीं, अतः यागादि को स्वर्गादि कार्यों का अव्यवहित पूर्ववृत्ति ही कहा जाता है।

समाधान—यागादि से जनित अदृष्टादि को यदि स्वर्गादि कार्य का व्यवधायक नहीं माना जाता उसके मध्य में रहने पर भी यागादि को स्वर्गादि का कारण माना जाता है, तब घटादि के प्रति कुलाल के पिता को भी घट का कारण मानना होगा, क्योंकि कुलाल के पिता से जनित कुलाल घटादि का व्यवधायक नहीं, अतः कुलाल का पिता भी घट का अव्यवहित पूर्ववृत्ति हो जाता है।

शङ्का—कार्यमात्र को अव्यवधायक नहीं, अपितु व्यापार पदार्थ को ही व्यापारी का व्यवधायक नहीं माना जाता। अदृष्ट याग का व्यापार है किन्तु कुलाल अपने पिता का व्यापार नहीं होता, अतः व्यवधायक हो जाता है, उसके मध्य में रहने के कारण कुलाल का पिता घट का अव्यवहित पूर्ववृत्ति न हो सकने के कारण घट का कारण क्यों होगा ?

समाधान—अदृष्ट भी यागादि से जन्य एवं यागादि-जन्य स्वर्गादि का जनक है और कुलाल भी अपने पिता से जनित एवं उसके घटादिरूप कार्यों का जनक है। इस प्रकार अदृष्ट और कुलाल—इन दोनों में जब व्यापार का 'तज्जन्यत्वेसति तज्जन्यजनकत्वरूप' लक्षण समानरूप से घट जाता है, तब किसी विशेष विनिगमक प्रमाण के अभाव में यह विवेक करना

यद्यन्न जनयति, तत् तस्यावान्तरव्यापार इति चेन्न, सहकारिणामपि तथात्वप्रसङ्गात् । तज्जन्यमिति चेन्न, तथापि कारणत्वाव्यवस्थितौ विशेषोक्तेरतिप्रसक्तेः । कथमपि विशेषोक्तौ गगनादेः सर्वत्र कार्ये हेतुत्वप्रसङ्गात् ।

अनन्यथासिद्धपूर्वभावित्वमिति चेन्न, वक्तव्यं हि कस्मादन्येन प्रकारेण विना, का च सिद्धिरिति ? यदि हि कार्यादन्येन प्रकारेण न निष्पत्तिः, तदाऽसिद्धिः, न हि

व्यापारो न द्रव्यमिति विवेक्तुमशक्यमित्यर्थः । विशेषोक्तिं शंकते ॐ यदिति ॐ । यदुद्यमनादि यत् कुठारादि विना छिदादिकार्यं न जनयति तदुद्यमनादि तत्र छिदादौ कुठारादेरवान्तरव्यापारः घटादिस्तु-कुलालानधिष्ठितोऽपि यज्ञदत्ताधिष्ठितः सलिलानयनं करोति तेन न तद्व्यापारत्वमित्यर्थः । दण्डादयोऽपि विना मृदं न घटं जनयन्तीति तेषामप्यवान्तरव्यापारत्वप्रसङ्ग इति दूषयति ॐ नेति ॐ । शङ्कते ॐ तज्जन्यमिति ॐ । यद्विना यद्यन्न जनयति तज्जन्यं तत्रावान्तरव्यापारः दण्डादयः पुनर्न मृज्जन्या इति तदभ्युदासः । अजन्यस्यापि समवायस्य श्रोत्रव्यापारत्वदर्शनादनुचितिस्तामङ्गीकृत्यापि दूषयति ॐ तथापीति ॐ । येन विना यद्वस्तु यन्न जनयति तत्तज्जन्यं तत्र कार्ये तदवान्तरव्यापार इति विशेषोक्तिरशक्या कारणत्वानिश्चितौ तज्जन्यत्वविशेषणासिद्धेरित्यर्थः । तर्हि तज्जन्यपदस्थाने तत्समवेतत्वपदं निदधे इत्याशङ्क्याङ्गीकरोति ॐ कथमपीति ॐ । भवतु वा व्यापारस्य कारणत्वानिश्चितौ तज्जन्यविशेषोक्तिस्तेन च व्यवधानं मा भूत्तथाप्यव्यवहितपूर्वभावित्वं कारणत्वलक्षणं दुष्टं गगनादावतिव्यापकत्वादित्यर्थः ।

उक्तप्रसङ्गपरिहारं शङ्कते ॐ अनन्यथेति ॐ । गगनादेर्व्यापकतया नित्यस्याऽन्यथासिद्धं पूर्वभावित्वमतो न सर्वकार्यहेतुत्वप्रसङ्गः कारणं त्वनन्यथासिद्धपूर्वभावि तेन नातिव्याप्तिर्न च प्रसङ्गबाध इत्याकूतम् । अन्यथेत्यन्येन प्रकारेण अनन्यथेति च तेन विनेत्युक्तं भवति तथा च किमन्यत्वप्रतियोगिका च सिद्धिरुत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वेति वक्तव्यमित्याह ॐनेतिॐ । अन्यत्वेनापेक्ष्यमाणं प्रतियोगि कार्यमुच्यते सिद्धिश्चोत्पत्तिस्ततश्च सिद्धमित्यनेन सम्बन्ध इति शङ्कते ॐयदीतिॐ । अनन्यथासिद्धमिति कार्यप्रकारादन्येन प्रकारेण न निष्पन्नमित्युक्तं भवति तत्रार्थात्कार्येण जन्यत्वमेवाभिहितं भवति तेनासम्भवत्वं लक्षणस्येति दूषयति ॐतदेतिॐ ।

संभव नहीं कि उन दोनों में अदृष्ट ही व्यापार बन सकता है, कुलाल नहीं ।

शङ्का—'यद्विना यद् यन्न जनयति, तत् तस्यावान्तरव्यापारः'—ऐसा लक्षण इस बात का निर्णायक है [कि अदृष्ट ही व्यापार है, कुलाल नहीं, क्योंकि अदृष्ट के विना यागादि कर्म कालान्तरभावी स्वर्ग के जनक नहीं हो सकते किन्तु कुलाल के विना भी कुलाल का पिता घटादि का निर्माण कर सकता है, अतः कुलाल को अवान्तर व्यापार क्यों माना जाय ?

समाधान—अवान्तर व्यापार का उक्त लक्षण यागादि करणों के सहायक साधनमात्र में अतिव्याप्त है, क्योंकि देश-कालादि-घटित सामग्री के विना भी केवल करण अपने कार्य का जनक नहीं हो सकता । यद्यपि व्यापार का करण से जनित होना भी आवश्यक है, देश-कालादि-घटित समस्त सहायक सामग्री करण से जनित नहीं होती । तथापि जब तक कारणत्व व्यवस्थित नहीं हो जाता, तब तक जन्यत्वोक्ति का अनतिप्रसक्त अर्थ करना सम्भव नहीं । पूर्ववर्तित्वादि को किसी-न-किसी प्रकार कारणत्व का लक्षण मानने पर गगनादि नित्य और विभु पदार्थों को समस्त कार्य का कारण मानना पड़ सकता है, क्योंकि वे कार्यमात्र के पूर्वकाल में विद्यमान हैं ।

शङ्का—गगनादि पदार्थ कार्यमात्र के पूर्ववृत्ति होने पर भी अन्यथासिद्ध होते हैं और कारण होता है—अनन्यथासिद्ध, अतः गगनादि में अतिप्रसक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वे अन्यथा (विभु होने के कारण) ही पूर्व सिद्ध होते हैं, कार्य उत्पन्न करने के लिए पूर्वोपार्जित नहीं ।

समाधान—'अन्यथासिद्धि' शब्द का जो वाच्यार्थ होता है—अन्यथा = अन्यप्रकारेण

कार्येण कारणस्योत्पादनम् । नापि कार्यादन्येन प्रकारेण न ज्ञप्तिः, प्रत्यक्षादेरपि कारणत्वज्ञप्तेः, न खलु सर्वा कार्यलिङ्गजा कारणस्य ज्ञप्तिः । नापि कारणत्वात् व्यतिरिक्तेन प्रकारेण न निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, ज्ञप्तावात्माश्रयात् । प्रकारान्तरवत्तयाऽपि च तदुपगमात् ।

व्यतिरिक्तत्वमकारणत्वमिष्टमिति चेन्न, उक्तदोषानिवृत्तेः, कारणत्वात् पूर्वं चोत्पत्तिज्ञप्त्योरक्षणिकवादिभिरभ्युपगमात् । अव्यवहितपूर्वतया कदाचित्तदपि

तदुपपादयति ❀ न हीति ❀ । कार्यस्य प्रागसत्त्वेन न कारणनिष्पादकत्वसम्भव इति भावः । तर्हि अन्यत्वप्रतियोगि कार्यमेव सिद्धिश्च ज्ञप्तिविवक्षितेत्यत आह ❀ नापीति ❀ । कुत इत्यत आह ❀ प्रतीति ❀ । तदेवमुक्तं भवति कार्यादन्येन वस्तुना न ज्ञातं कारणमिति तदयुक्तं प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयत्वात्कारणस्य त्वत्पक्षेऽसम्भव इत्यर्थः । कारणं चेत्कार्यलिङ्गेनैव ज्ञायत इत्यत आह ❀ नेति ❀ । आप्तोपदेशादेरपि तदवगमादिति यावत् । अन्यत्वप्रतियोगिनोः कार्याकार्ययोः कार्यस्य प्रतिक्षेपे परिशेषात्कारणत्वमन्यत्वप्रतियोगि सिद्धिश्चोत्पत्तिज्ञप्त्योरन्यतरा भवतीत्याशङ्क्याह ❀नापीति❀ । कुत इत्यत आह ❀ज्ञप्ताविति❀ । अनन्यथासिद्धमिति कारणत्वादन्येन प्रकारेण न निष्पन्नं न ज्ञातं चेत्युक्तं स्याज्जनिमतो जडस्य कारणत्वप्रकारेणैव जन्मादि कथितं स्यादेवं च स्वज्ञाने स्वज्ञानं स्वोत्पत्तौ स्वोत्पत्तिरित्यात्माश्रयः ज्ञप्तावित्युत्पत्तेरुपलक्षणम् । ज्ञप्तिपक्षे कारणत्वप्रकाराद् द्रव्यसत्त्वादिप्रकारान्तरवत्तया ज्ञायमानत्वादसिद्धिरुत्पत्तावपि स्वावयवादिभ्यो निष्पत्तेरसिद्धिः स्यादित्याह ❀ प्रकारेति ❀ ।

अनन्यथासिद्धत्वमिति कारणत्वादन्येन प्रकारेणाकारणत्वमित्येवं रूपेणासिद्धत्वं विवक्षितमिति शङ्कते ❀ व्यतिरिक्तेति ❀ । अन्यथेति शब्दवाच्यं व्यतिरिक्तत्वमकारणत्वं तद्रूपेणासिद्धिरितियोजना । कारणत्वज्ञानव्यतिरेकेणाकारणत्वज्ञानायोगात्कारणत्वज्ञानेऽनन्यथासिद्धकारणत्वज्ञानमित्यात्माश्रय इति परिहरति ❀ नेति ❀ । दूषणान्तरमाह ❀ कारणत्वादिति ❀ । स्थायिवादिभिः कार्यात्व्यवहितपूर्वक्षणवर्त्तित्वं सहकारिसमवधानं वा कारणत्वं व्यवस्थिते वस्तुनि पश्चान्निष्पद्यत इत्यभ्युपगम्यते तेन प्रकारान्तरेणापि

सिद्धि = वर्तमानता, उसके अनुसार यह स्पष्ट करना चाहिए कि यहाँ 'अन्यप्रकार' में अन्यत्व किसकी अपेक्षा विवक्षित है ? और असिद्धि-घटक 'सिद्धि' शब्द का क्या अर्थ है ? यदि 'कार्यादन्येन प्रकारेण कारणस्य न निष्पत्तिः'—ऐसा अर्थ विवक्षित है, तब उक्त वाक्य में से नञ्द्वय के हटा देने पर 'कार्यात् कारणस्य निष्पत्तिः' —ऐसा अर्थ निकलता है, जो कि सर्वथा असिद्ध या अनुपपन्न है, क्योंकि कार्य से कारण की निष्पत्ति (उत्पत्ति) कभी नहीं होती। यदि 'सिद्धि' शब्द का ज्ञप्ति (ज्ञान) अर्थ करके 'कार्यादन्येन प्रकारेण न ज्ञप्तिः'—ऐसा अन्वयार्थ किया जाता है, तब अव्याप्ति हो जाती है, 'वृष्ट्यादि कार्य के द्वारा ही उसके कारण का ज्ञान होता है'—ऐसा कोई नियम नहीं, प्रत्यक्षादि से भी कारणत्व का ज्ञान हो जाता है।

'कारणत्वादन्यप्रकारेण कारणस्य न निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा'—ऐसा अर्थ भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारणत्व के द्वारा ही कारणत्व का ज्ञान मानने पर आत्माश्रयता होती है। दूसरी बात यह भी है कि दण्डादि कारण पदार्थों का ज्ञान कारणत्वप्रकारक ही होता है—ऐसा भी कोई नियम नहीं, अपितु दण्डत्व, द्रव्यत्वादिरूप से भी दण्डादि का ज्ञान होता है।

शङ्का—अन्यथा शब्द के घटकीभूत अन्यत्व का अर्थ व्यतिरिक्तत्व और व्यतिरिक्तत्व का अर्थ अकारणत्व है, इस प्रकार 'अन्यथा + असिद्ध' शब्द का अर्थ होता है—'अकारणत्वेन अज्ञात' और 'अकारणत्वेनाज्ञातत्वे सति पूर्वभावित्वं कारणत्वम्'—ऐसा कारणत्व का अनाविल और अविकल कलेवर फलित होता है।

समाधान—यह लक्षण भी 'कारणत्व' से घटित होने के कारण विचारणीय कारणत्व के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, अतः आत्माश्रय दोष से दूषित है। इतना ही नहीं, घटादि की

कारणम् । एवं तत्पूर्वतरमपि, कस्याश्चित् व्यक्तेरनेवम्भावेऽपि तज्जातीयतया तथाभावित्वविवक्षिततया व्यक्तिव्यभिचाराप्रयोजकत्वादिति चेन्न, कार्यान्तरेऽपि गगनादेरतथाभावस्य विनिगन्तुमशक्यत्वात् । कालदेशव्यापकतयाऽन्यथासिद्धिस्थिति तदिति चेन्न, तथा सति शब्दादौ गगनादेरकारणत्वप्रसङ्गात् । एतेन—अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वमपि व्युदस्तम् । गगनादेर्व्यतिरेकाभावाद्, अकारणत्वप्रसङ्गश्चाधिकः ।

व्यापारवत्त्वं कारणत्वमिति चेन्न, तद्धि व्यापारसमवायित्वं वा व्यापारजन-

---

सत्त्वज्ञप्त्योरभ्युपगमादव्याप्तिरित्यर्थः । यस्येदानीं कारणता ज्ञायते तत्पूर्वतरमपि कारणमेव कदाचिदव्यवहितपूर्वतया, कार्याऽव्यवहितपूर्वक्षणासम्बन्धानधिकरणत्वस्य कारणत्वेन विवक्षितत्वादतोऽकारणत्वमसिद्धमिति शङ्कते ❀ अव्यवहितेति ❀ । काचित्तन्तुव्यक्तिः कार्यमजनित्वैव नश्यति तत्र का वार्त्तेत्यत आह ❀ कस्याश्चिदिति ❀ । कार्याव्यवहितपूर्वक्षणासम्बन्धानधिकरणजातीयस्य तथात्वेन विवक्षितत्वाद्व्यक्तिव्यभिचारोऽप्रयोजकः तस्यापि तज्जातीयत्वादित्यर्थः । अतिव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀ । यतः कार्यजन्म कदाचिदपि न दृष्टन्तस्यापि तज्जातीयतया कारणत्वकल्पनेऽनन्यथासिद्धत्वकल्पने च गगनादेर्नित्यविभुद्रव्यस्य स्वकार्यशब्दादिव्यतिरिक्तकार्येण समतया पूर्वकालसम्बन्धित्वात्कारणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । न च गगनादेः कारणत्वमिष्टमेव जनिमन्निमित्तत्वोपगमादिति वाच्यम् । व्यतिरेकाभावादन्वयमात्रस्य चातिप्रसञ्जित्वादिति । अन्यथासिद्धेः स्फुटत्वाद् गगनादेरनन्यथासिद्धपूर्वभावित्वं नास्तीति शङ्कते ❀कालेति❀ । देशकालव्यापितयाऽऽकाशादेरन्यथासिद्धसन्निधित्वादकारणत्वे शब्दादावप्यकारणत्वप्रसङ्ग इति परिहरति ❀ नेति ❀ । तदन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं कारणत्वमिति पक्षे कथितं खण्डनमतिदिशति ❀एतेनेति❀ । मृदादिगतप्रमेयत्वादिव्युदासार्थमनन्यथेतिविशेषणम् । तदनुविधायित्वं तद्वत्त्वमिति यावत् । एतेनेति गगनादेरन्यथासिद्धिसम्भवाच्छब्दाद्यकारणत्वेनेत्यर्थः । अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्य कारणत्वोपगमे व्यतिरेकहीनगगनादेः कारणत्वं न स्यादिति दोषान्तरमप्यस्तीत्याह ❀ गगनेति ❀ ।

कार्यान्तरे गगनादेर्व्यापाराभावान्न कारणत्वप्रसङ्गो यतो व्यापारवत्त्वं कारणत्वमिति शङ्कते

उत्पत्ति हो जाने पर ही दण्डादि में घटाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वरूप कारणता सम्पन्न होती है, स्थिरवादी दण्डादि पदार्थों को क्षणिक नहीं, स्थिर मानते हैं, अतः कारणत्व-सम्पत्ति के पहले भी दण्डादि की सत्ता है, उस समय दण्डादि दण्डत्वादिरूपेण ज्ञात होने पर भी कारणत्वेन ज्ञात नहीं हो सकते, फलतः उनमें कारणत्व का उक्त लक्षण अव्याप्त है ।

शङ्का—यद्यपि 'कारणत्व' धर्म की क्षणविशेष में ही सम्पत्ति होती है, तथापि उसके आश्रयीभूत पदार्थ को सदैव कारण कहा जाता है, जैसा कि श्री वाचस्पतिमिश्र ने कहा है—"द्वयी हि शक्तिः कारकाणां कार्योपजननं प्रति (१) स्वरूपं च सहकारिग्रामसमवधानं च । तत्रासत्यपि सहकारिग्रामसमवधाने कारकशब्दानां प्रवृत्तेः" (ता. परि. पृ. ३७) । कतिपय कपालादि व्यक्तियां ऐसी भी होती हैं, जो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती हैं, घटादि की कारणता-सम्पत्ति कभी उनमें होती ही नहीं, उन व्यक्तियों में कारणत्व का सामञ्जस्य करने के लिए 'कारणवृत्तिजातिमत्त्व' लक्षण किया जाता है, अतः सहकारिसमवधान-व्यभिचरित व्यक्तियों में भी कारणत्वादि का समन्वय हो जाता है ।

समाधान—कतिपय व्यक्तियों में ही अवगत कादाचित्क धर्मों का समन्वय यदि तज्जातीय पदार्थमात्र में किया जाता है, तब गगनादि पदार्थों में शब्द के समान ही सभी कार्यों के प्रति अन्यथासिद्धत्व न होकर कारणत्व ही मानना पड़ेगा । घटादि कार्य के प्रति गगन को यदि अन्यथा (देशकालव्यापकतया) सिद्ध माना जाता है, तब शब्दरूप कार्य के प्रति भी उसे अन्यथासिद्ध मानना होगा ।

कत्वं वा ? नाद्यः, यागादेरकारणत्वप्रसङ्गात्। नोत्तरः, तस्यैव निरूप्यमाणत्वात्। नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारकत्वमिति चेन्न, निवारकपदावयवस्य प्रत्ययस्य कारणत्वनिर्वचनं विनाऽनिरूप्यमाणार्थत्वात्। अन्यतरार्थस्यैकस्य च निरुक्त्यशक्तेः।

यदनभ्युपगमे यस्य तत्पूर्वसत्त्वप्रसङ्गः, तत्तस्य कारणम्, तद्भावश्च कारणत्व-

---

॥ व्यापारेति ॥। तत्र वत्प्रत्ययेन समवाय उच्यते किं वा जन्यजनकसम्बन्ध इति कथनीयमिति परिहरति ॥ नेति ॥। यागादिव्यापारापूर्वस्य चेतनसमवायित्वाद्यागादेः स्वर्गाकारणत्वप्रसङ्गेन प्रथमं दूषयति ॥ नेति ॥। जनकत्वं कारणत्वं तदद्याप्यसिद्धमिति लक्षणासिद्धिरिति द्वितीयं दूषयति ॥नेति॥। लक्षणान्तरं शङ्कते ॥ नित्येति ॥। कार्यस्य नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा प्रसज्यमानं येन निवार्यते तत्कारणं तद्भावस्तत्त्वं जन्मनाशकारणद्वयावरोधाय विशेषणमिति यावत्। निवारकपदावयवो ल्युट्प्रत्ययः तस्यार्थः कर्त्ता स च कारणविशेषस्ततः कारणनिर्वचनं विना तदसिद्धिरिति दूषयति ॥ नेति ॥। अन्यतरशब्देन सत्त्वोपगमे नाशकारणेऽव्याप्तिरसत्त्वोपगमे जन्मकारणाव्याप्तिरुभयानुगतं चाऽन्यतरत्वं जातिरुपाधिर्वा नास्ति स्वात्मवृत्त्यनुपपत्तेरिति। जन्मनाशान्यान्यत्वं तत्रानुगतमिति चेन्न, जन्मनाशविशिष्टान्यान्यत्वस्य तत्र वृत्तावात्माश्रयादन्यान्यत्वमात्रस्योक्तदोषानिस्तारात्। दोषान्तरमाह ॥ अन्येति ॥।

---

(२) व्यापारवत्त्वं कारणत्वम्—

शङ्का—कुठारादि कारणों में उद्यम-निपातनादि व्यापार होने पर काष्ठादि का द्वैधीभाव हो जाता है, अतः कुठारादिगत व्यापारवत्त्व धर्म को ही कारणत्व पदार्थ मानना उचित है।

समाधान—'व्यापारवत्त्व' शब्द से क्या विवक्षित है ? (१) व्यापारसमवायित्व ? या (२) व्यापारजनकत्व ? प्रथम पक्ष को मानने पर यागादि में स्वर्गादि का कारणत्व न घटेगा, क्योंकि यागादि जन्य अदृष्टरूप व्यापार समवाय सम्बन्ध से कर्त्ता पुरुष में रहता है, यागादि में नहीं, अतः व्यापारसमवायित्व यागादि में अव्याप्त है। द्वितीय पक्ष को अपनाने पर आत्माश्रयता होती है, क्योंकि इसमें जिस जनकत्व का समावेश है, वह कारणत्वरूप ही है और कारणत्व का ही विचार किया जा रहा है।

(३) नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारकत्वम्—

शङ्का—घटादि कार्यों का यदि कोई कारण नियामक न हो तब घटादि या तो नित्यसत् (सदातन) हो जाएँगे या नित्य असत् (कभी भी नहीं) होंगे, दण्डचक्रादि सामग्री के आधार पर ही अन्यतरापत्ति का निवारण और कादाचित्कत्व का सम्पादन होता है, जैसा कि धर्मकीर्ति कहते हैं—

> नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्।
> नियामकाद् हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः॥ (प्र. वा. ३।३५)

समाधान—इस लक्षण में भी आत्माश्रय दोष है, क्योंकि 'निवारक' शब्द निपूर्वक 'वृञ्' धातु से "ण्वुल्तृचौ" (पा. सू. ३।१।१३३) इस सूत्र के द्वारा 'ण्वुल्' प्रत्यय किया गया और "युवोरनाकौ" (पा. सू. ७।१।१) इस सूत्र के द्वारा 'वु' को 'अक' आदेश हुआ है। 'ण्वुल्' प्रत्यय का विधान "कर्तरि कृत्" (पा. सू. ३।४।६७) इस सूत्र ने कर्त्ता अर्थ में किया है। कर्त्ता एक कारणविशेष है, अतः कारणत्व का ज्ञान हो जाने पर ही 'निवारक' शब्द का अर्थ अवगत हो सकेगा।

दूसरी बात यह भी है कि लक्षण-घटक 'अन्यतर' पद के प्रवृत्ति-निमित्तभूत (सत्त्व और असत्त्व—इन दोनों में अनुगत धर्मरूप) अन्यतरत्व का समुचित निर्वचन भी नहीं हो सकता।

मिति शेषः, भावस्य विनाशित्वानभ्युपगमे तथा प्रसङ्गेनातिव्यापकत्वात्। तत्पूर्वस्थितत्वेन च विशेषणे सहभावनियतस्याभावेऽपि प्रसङ्गः। तथात्वोपगमे सामग्र्यामपि प्रसङ्गः। तस्या अपि च तथात्वोपगमे कार्यद्वयैक्यप्रसङ्गः। असाधारण्यञ्च विशेषापेक्षित्वे, अतिव्याप्तिरविशेषे, भाविपूर्वार्थविकल्पात्रकाशश्च।

लक्षणान्तरं शङ्कते ॐ यदिति ॐ। यस्य मृदादेरनभ्युपगमे यस्य घटादेर्यस्मिन् काले सत्त्वं दृश्यते ततः पूर्वस्मिन्नपि काले सत्त्वप्रसङ्गस्तस्य घटादेस्तन्मृदादि कारणं तद्भावश्च कारणत्वमित्यर्थः। प्रध्वंसेऽतिव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ। घटस्य प्रध्वंसप्रतियोगित्वानङ्गीकारे यस्मिन् क्षणे सहकारिसमवधानात्सत्त्वं दृश्यते ततः पूर्वक्षणेऽपि सत्त्वं प्रसज्येताविनाशिभावस्यानादित्वात्तथा च तत्प्रध्वंसस्तत्कारणं स्यात्तदुक्तलक्षणस्य तत्र भावादित्यर्थः। यस्य पूर्वभाविनोऽनभ्युपगम इति विशेषणं विवक्षितमतो नातिव्याप्तिः, घटप्रध्वंसस्य तस्मात्पूर्वत्वाभावादित्याशङ्क्याह ॐ पूर्वेति ॐ। अग्निसम्पर्काद्रूपरसगन्धस्पर्शा घटे सह भवन्ति तेषां प्रागभावानभ्युपगमेऽविशेषेणैव सत्त्वप्रसङ्गः एककालनियमात्ततश्च रूपप्रागभावो रसस्य तत्प्रागभावो गन्धादेः कारणं स्यादित्यतिप्रसक्तिरित्यर्थः। सहभावनियतस्याभावोऽन्योन्यकारणमिष्यतेऽतो नायमनिष्टप्रसङ्ग इत्यत आह ॐ तथात्वेति ॐ। सहभाविनां रूपादीनां सामग्र्यामितरेतरकारणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। सहभावनियतस्य सामग्र्या अपि इतरकारणत्वमभ्युपगम्यत एवेत्याशङ्क्याह ॐ तस्या इति ॐ। रूपसामग्रीजन्यत्वे रसस्यापि रूपत्वं रससामग्रीजन्यत्वे रूपस्यापि रसत्वमिति जातिभेदो व्यक्तिभेदोऽपि न भवेदित्यर्थः। यदनभ्युपगम इत्यत्र यच्छब्देन मृदादिकारणविशेषपरामर्शे तन्त्वाद्यव्याप्तिर्वस्तुमात्रपरामर्शेऽतिव्याप्तिः मृदनङ्गीकारे घटातिप्रसक्तेः घटं प्रति तन्त्वादिवस्तूनां कारणत्वप्रसङ्गादित्याह ॐ असाधारण्यमिति ॐ। दूषणान्तरमाह ॐ भावीति ॐ। उत्तरपूर्वशब्दार्थे विकल्पो भविष्यति तेन पूर्वार्थानिर्वचनादपि लक्षणासिद्धिरित्यर्थः।

---

(४) यदनभ्युपगमे यस्य तत्पूर्वसत्त्वप्रसङ्गः, तत् तस्य कारणम्—

शङ्का—दण्डादि सामग्री को यदि घट का कारण न माना जाय, तब अपने उत्पत्ति-क्षण से पहले ही घट की सत्ता प्रसक्त होती है, अतः दण्डादि को घट का कारण मानना आवश्यक है।

समाधान—उक्त लक्षण की घटादि कार्य के अपने ध्वंस में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उसको न मानने पर घटादि पदार्थ अनन्त हो जाते हैं, अनन्त भाव अनादि होता है, अतः घटादि की अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी सत्ता होनी चाहिए, किन्तु ध्वंस को मान लेने पर यह आपत्ति नहीं रहती, क्योंकि सान्त भाव सादि होता है, अपनी आरम्भक सामग्री से नियन्त्रित होकर कभी ही सत् होगा, सदैव नहीं।

यदि ध्वंस में अतिव्याप्ति न हो, इसलिए कारणत्व के उक्त लक्षण में 'तत्पूर्वस्थितत्वे सति' विशेषण लगाया जाता है, तब कार्य के पूर्व काल में अनवस्थित होने वाले ध्वंस पदार्थ की निवृत्ति हो जाने पर भी रूपादि के प्रागभाव में रसादि के कारणत्व की अतिप्रसक्ति हो जाती है, क्योंकि घटादि में अग्नि-संयोग से जहाँ रूप, रस गन्ध और स्पर्श—चारों एक साथ उत्पन्न होते हैं, वहाँ उनमें से किसी का भी प्रागभाव न मानने पर सामान्यतः सभी का सत्त्व प्रसक्त होता है। यदि वहाँ रूपादि के प्रागभाव को रसादि का भी कारण मान लिया जाता है, तब रूप की पूरी सामग्री को रस का, रस की सामग्री को रूपादि का भी कारण मानना होगा। यदि रूप की सामग्री को भी रस का हेतु मान लिया जाता है, तब रूप और रस—इन दोनों में एकजातीयत्व प्रसक्त होता है। 'यदनभ्युपगमे'—यहाँ पर 'यत्' पद से किसी कपालादि कारण व्यक्ति का ग्रहण करने पर लक्षण में अननुगम और पटादि के कारणों में अव्याप्ति होती है। 'यत्' पद से सामान्यतः समस्त कारण-प्रपञ्च का यदि ग्रहण किया जाता

नियतप्राग्भावित्वमिति चेन्न, अवश्यम्भावस्य नियमार्थत्वे गगनादेः सर्वकार्यहेतुत्वप्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात्। अवयवरूपादेश्च अवयवितद्रसादिषु कारणत्वप्रसङ्गात्। अनौपाधिकत्वं नियमार्थ इति चेत्, एवं ह्यनौपाधिकपूर्वभावो हेतुत्वमित्युक्तं भवति। तथा च पिपीलिकोत्थाने वृष्ट्यादौ जनकत्वप्रसङ्गः, सहभाविसामग्र्या वा। न तत्र प्राचि ··भावो नियतः, किन्तु वृष्टेः परभाव इति चेन्न, प्राग्रूपाणामेव नियतत्वात्।

यस्य पूर्वभाविन इत्यविशेषाभिधानेऽव्याप्तिरुक्ता तत्परिहाराय विशेषं शङ्कते ❀ नियतेति ❀। किमिदं नियतत्वमावश्यकत्वमुतानौपाधिकत्वम्, यद्याद्यस्तर्हि गगनाद्व्यतिरेकेण तत्तत्कार्यानुत्पत्तेर्गगनादेः सर्वकारणत्वप्रसङ्ग इत्याह ❀ नेति ❀। अतिव्याप्त्यन्तरमाह ❀ अवयवेति ❀। अवयविनि तद्गतरूपादौ चोत्पद्यमानेऽवयवादेरवश्यम्भावादवयविनं तद्गतरूपादिकं च प्रति व्यत्यासेन कारणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते ❀ अनौपाधिकेति ❀। लक्षणातिव्यापकत्वं दर्शयितुं लक्षणवाक्यस्य पर्यवसितमर्थं दर्शयति ❀ नेत्यादिना ❀। निरुपाधिपूर्वसत्त्वस्य हेतुत्वाभिधाने लक्षणस्य किं क्षुण्णमित्यत आह ❀ तथा चेति ❀। वृष्ट्यपेक्षया पूर्वभावित्वादनौपाधिकत्वाच्च वृष्टिसत्तां प्रति कारणता स्यादित्यर्थः। आदिपदेन पुरोवातादिसङ्ग्रहः। अतिव्याप्त्यन्तरमाह ❀ सहेति ❀। सह भाविनो यौ रूपरसौ पाकजौ तयोः सामग्र्या वाऽन्योन्यकार्यं प्रति हेतुत्वप्रसङ्ग इति यावत्। वाशब्दश्चार्थे। यदुक्तं पिपीलिकोत्थानादेर्वृष्ट्यादिषु जनकत्वप्रसङ्ग इति, तदयुक्तं पिपीलिकोत्थानादेर्वृष्टिज्ञानं प्रति पूर्वभावनियमेऽपि न वृष्टिं प्रति प्राक्सत्त्वप्रसङ्गस्तेन विनापि वृष्टिदर्शनादिति शङ्कते ❀ न तत्रेति ❀। कस्य तर्हि नियम इत्यतः पिपीलिकोत्थानादिसत्त्वे वृष्टिर्भवत्येवेति नियम इत्याह ❀ किन्त्विति ❀। यानि रोगाणां पूर्वरूपाणि तेषां पूर्वमपि नियतत्वा-

---

है, तब घटादि में तन्त्वादि और पटादि में कपालादि को भी कारण मानना पड़ेगा। इसी प्रकार इस लक्षण के घटकीभूत पूर्वादि पदार्थों पर ऐसी विकल्पावलि का उद्भावन आगे चल कर किया जानेवाला है, जिसका समाधान सम्भव नहीं।

(५) नियतप्रागभावित्वं कारणत्वम्—

शङ्का—किसी कार्य के पूर्व में आकस्मिक रह जानेवाले किसी भी पदार्थ को उसका कारण नहीं माना जाता, अपितु नियमतः पूर्वभावी पदार्थ को ही कारण कहा जाता है।

समाधान—'नियत' शब्द से क्या विवक्षित है? (१) अवश्यम्भाव? अथवा (२) अनौपाधिकत्व? प्रथम कल्प के अनुसार गगनादि में कार्यमात्र की कारणता अतिप्रसक्त होती है, क्योंकि गगनादि सभी कार्य के पूर्व अवश्यम्भावी है एवं घटादि अवयवी और तद्गत रसादि की उत्पत्ति के पूर्व कपालादिगत रूपादि का होना अवश्यम्भावी है, अतः कपालादि के रूप में घटादि एवं घट के रसादि की कारणता अतिप्रसक्त होती है।

नियतत्व का अनौपाधिकत्व अर्थ करने पर 'अनौपाधिकपूर्वभावः हेतुत्वम्'—ऐसा लक्षण सम्पन्न होता है। उसके अनुसार पिपीलिकाण्डसञ्चार में वृष्टि की कारणता अतिप्रसक्त होती है, क्योंकि 'वर्षा होनेवाली है'—ऐसा जानकर चींटियाँ सामूहिक रूप से अपने अण्डे निचले स्थानों से उठा कर ऊँचे स्थानों में पहुँचाने लगती हैं। इस क्रिया के पश्चात् शीघ्र ही वृष्टि हो जाती है, अतः उसमें वृष्टि का अनौपाधिक पूर्वभाव निश्चित है। इसी प्रकार सहभावी रूप और रस की सामग्री में विपरीतरूप से रस और रूप की कारणता भी प्रसक्त होती है।

शङ्का—जहाँ-जहाँ वर्षा होती है, वहाँ-वहाँ पूर्व पिपीलिकाण्डसञ्चार होता ही है—ऐसा नियम नहीं देखा जाता, अपितु जहाँ-जहाँ पिपीलिकोत्थान होता है, वहाँ-वहाँ उसके अनन्तर वर्षा होती ही है—ऐसा परभाव नियत होता है, अतः वृष्टि का नियत पूर्वभाव न होने के कारण पिपीलिकोत्थान में अतिप्रसङ्ग क्यों होगा?

समाधान—पिपीलिकोत्थान में यदि नहीं, तब प्राग्रूप में अतिप्रसंग निश्चित है।

तानि कारणमेवेति चेन्न, निदानप्राग्रूपसाङ्कर्यप्रसङ्गात्।

पूर्वार्थश्च वक्तव्यः। पूर्वकालसम्बन्धित्वं पूर्वत्वमिति चेन्न, कालस्याकारणत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि किं पूर्वत्वमिति विवेचनीयत्वात्। अतीतोपाध्यवच्छिन्नत्वं तस्य पूर्वत्वमिति चेन्न, अतीत इति निष्ठान्तस्य पूर्वकालवाचिनो विवेचनीयत्वात्। परत्वा-

त्कारणत्वं स्यादिति परिहरति ❀ नेति ❀। इष्ट एवायं प्रसङ्ग इति शङ्कते ❀ तानीति ❀। निदानानामिव कारणत्वं पूर्वरूपाणामपि चेत्, "निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथे"ति वैद्यशास्त्रप्रसिद्धनिदानपूर्वरूपयोर्भेदो न स्यादिति दूषयति ❀ नेति ❀।

नियतप्राग्भावि कारणं वदता पूर्वपदार्थो निर्वक्तव्यः प्राक्पूर्वपदयोः पर्यायत्वात्तच्चाशक्यमिति मत्वाह ❀ पूर्वेति ❀। पूर्वकालेन सम्बन्धित्वं पूर्वभावित्वमिति शङ्कते ❀ पूर्वेति ❀। अव्यापकमिति दूषयति ❀ नेति ❀। नियतपूर्वकालसम्बन्धित्वमित्युक्तं स्यात्तथा च काल एव लक्षणाऽव्याप्तिस्तस्य स्ववृत्तिप्रसङ्गेन कालसम्बन्धाभावात्कालान्तरस्य चाभावादभ्युपगमे चान्योन्याश्रयादिरित्याशयः। किञ्च पूर्वकालेऽत्र किमिदं कालस्य पूर्वत्वमिति विवेचनीयं न तच्छक्यमद्यापि परीक्षाकालत्वादतो लक्षणासम्भव इत्याह ❀ तस्येति ❀। कालस्य पूर्वत्वं नामातीतेनाऽऽदित्यादिगतिलक्षणेनोपाधिनाऽवच्छिन्नत्वमिति शङ्कते ❀अतीतेति❀। स्मरणे निष्ठासंज्ञाविषयस्यातीत इति क्तप्रत्ययस्य पूर्वकालवाचित्वात् पूर्वकालविवेचनं विना विवेचयितुमशक्यत्वादात्माश्रयतापातात् पूर्वकालावच्छिन्नत्वं कालस्य पूर्वत्वं निरूपयितुमशक्य-

[भारतीय चिकित्सा-विज्ञान में प्रधानरोग के पूर्व सूचक चिह्नों को पूर्वरूप या प्राग्रूप कहते हैं—

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्॥ (माधवनिदान पृ. ३)

(१) निदान (रोग का निमित्त), (२) पूर्वरूप (रोग के अस्पष्ट चिह्न), (३) रूप (रोग के स्पष्ट चिह्न), (४) उपशय (अनुकूल उपचार) और (५) संप्राप्ति (वातादि दोषों के प्रकोप का परिणाम) इन पाँच पदार्थों का विज्ञान वैद्य के लिए परमावश्यक बताया गया है। इनमें 'पूर्वरूप' नाम के चिह्न या लक्षण नियमतः रोग के पूर्व काल में होते हैं—"प्राग्रूपं येन लक्ष्यते" (मा. नि. पृ. ४)। प्राग्रूपों को रोग का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि रोग के कारण को 'निदान' शब्द से अभिहित किया जाता है, उन्हीं को प्राग्रूप मानने पर दोनों का साङ्कर्य (अभेद) मानना होगा, किन्तु चिकित्सा-शास्त्रों में दोनों को भिन्न माना गया है।

'यदनभ्युपगमे यस्य पूर्वसत्त्वप्रसङ्गः'—यहाँ पर प्रयुक्त 'पूर्व' शब्द का क्या अर्थ विवक्षित है ? 'पूर्वकालसम्बन्धित्वं पूर्वत्वम्'—ऐसा मानने पर काल में कारणता की अव्याप्ति होगी, क्योंकि काल तत्त्व एक ही है, उसमें काल-सम्बन्ध सम्भव नहीं। काल में पूर्वत्व क्या है—इसका भी विवेचन करना चाहिए।

शङ्का - यद्यपि काल एक है, तथापि सूर्य की गतिरूप उपाधि के भेद से उसके अतीतादि भेद माने जाते हैं। सूर्य की अतीत क्रियारूप उपाधि से विशिष्ट काल को पूर्वकाल कहते हैं, अतः पूर्वत्व का लक्षण होता है—अतीतोपाध्यवच्छिन्नत्वम्।

समाधान—पूर्वत्व का अतीतत्व-घटित निर्वचन करने पर आत्माश्रयता होती है, क्योंकि 'अतीत' पद में अतिपूर्वक 'इण्' धातु से निष्ठासंज्ञक 'क्त' प्रत्यय हुआ है, वह "निष्ठा" (पा० सू० ३।२।१०२) इस सूत्र के द्वारा भूत या पूर्वकाल में ही विहित है, अतः पूर्वता के निर्वचन में उसी की ही अपेक्षा है।

शङ्का—परत्व और अपरत्व नाम के दोनों गुणों में से जो परत्व है, उसे ही पूर्वत्व कहा

परत्वयोर्गुणयोर्मध्ये यत्परत्वं तत्पूर्वत्वमुच्यत इति चेन्न, कालादौ गुणादौ च तदनङ्गीकारात् तेषामकारणत्वप्रसङ्गात्। तस्मिन्नेव च तदभावात्, साक्षात्कारिज्ञानादावपि तस्याकारणत्वप्रसङ्गात्।

सामग्र्येकदेशत्वं कारणत्वमिति चेन्न, एकदेशत्वस्यानिर्वचनीयत्वात्। अवयवत्व-प्रदेशत्वादीनां सामग्र्यामसम्भवात्। सकलकारणकलापसमवधानस्यैव च मेल-

मतः पूर्वकालावच्छिन्नत्वानिरुक्तौ कालस्य पूर्वत्वमित्यसङ्गतमिति परिहरति ❀ नेति ❀। प्रकारान्तरेण पूर्वपदार्थं शङ्कते ❀ परत्वेति ❀। परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तं दिक्कृतं कालकृतं चैकदिगवस्थितपिण्डयोर्मध्ये द्रष्टुः सन्निकृष्टमवधिं कृत्वा यत्र विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते तत्र तां बुद्धिमपेक्ष्य परेण दिक्प्रदेशेन संयोगात्परत्वमुत्पद्यते विप्रकृष्टं चोपाधिं कृत्वा यत्र सन्निकृष्टबुद्धिरुत्पद्यते तत्र तामपेक्ष्यापरेण दिक्प्रदेशेन संयोगादपरत्वमुत्पद्यते तथैव युवस्थविरयोर्युवानमवधिं कृत्वा यत्र स्थविरे परबुद्धिस्तामपेक्ष्य तत्र परेण कालप्रदेशेन संयोगात्परत्वमुत्पद्यते स्थविरमवधिं कृत्वा यून्यपरबुद्धिमपेक्ष्यापरेण कालप्रदेशेन संयोगादपरत्वमुत्पद्यते तत्र तयोर्मध्ये यत्परत्वं तत्पूर्वत्वमित्यर्थः। मूर्त्तानामेव परत्वापरत्वयोरङ्गीकारात्कालस्य चामूर्तत्वात् गुणादौ चागुणे तदनङ्गीकारान्न तेषां कारणत्वं स्यादिति परिहरति ❀ नेति ❀। दोषान्तरमाह ❀ तस्मिन्निति ❀। परत्वाख्यो यो गुणस्तस्मिंस्तावदन्यत्र सर्वत्र परत्वसम्भवेऽप्यनवस्थानात्परत्वं नास्त्यस्ति स स्वविषयसाक्षात्कारिज्ञाने व्यवहारे च कारणत्वं तन्न स्यादित्यर्थः।

कारणत्वलक्षणान्तरं शङ्कते ❀ सामग्रीति ❀। यत्किञ्चिदेकदेशव्यावृत्त्यर्थं सामग्रीति विशेषणम्। सामग्र्येकदेशस्य निरूप्यमाणेऽसम्भवेन लक्षणासम्भव इति परिहरति ❀ नेति ❀। घटाद्येकदेशवत्सामग्र्यामप्येकदेशः किं न स्यादित्यत आह ❀ अवयवेति ❀। एकदेशशब्दस्यावयवप्रदेशयोरन्यतरार्थत्वात्सामग्र्याश्च निरवयवत्वाददेशत्वाच्चासम्भव इत्यर्थः। अवयव आरम्भकद्रव्यम्। प्रदेश उपाध्यवच्छिन्नो विभागो भवति। आदिपदेन भेदादिसङ्ग्रहः। किञ्च कारणमेलनं सामग्री तदेकदेशः कारणमित्यन्योन्याधीननिरूपणत्वादप्यसम्भव इत्याह ❀ सकलेति ❀। तेनैवेति—मेलकेन कारणनिर्वचनादन्योन्याश्रय इति

जाता है।

समाधान—परत्वादि गुण मूर्त्त द्रव्य में ही माने जाते हैं, जैसा कि प्रशस्तपाद ने कहा है—"रूपरसगन्धस्पर्शपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगा मूर्तगुणाः" (न्या० कं० पृ० २२९)। काल मूर्त द्रव्य नहीं, अतः काल में परत्व नहीं रह सकता। इसी प्रकार वैशेषिकाचार्य गुण में गुण नहीं मानते, अतः परत्व गुण में परत्व नहीं रह सकता, फलतः काल और परत्व में कारणत्व क्योंकर घटेगा? परत्व में यदि अन्य कार्य की कारणता नहीं मानी जाती, तो न सही परत्वविषयक साक्षात्कारात्मक ज्ञान की कारणता तो मानी ही जाती है, उसमें उक्त लक्षण अव्याप्त है।

(६) सामग्र्येकदेशत्वं कारणत्वम्—

शङ्का—जैसे वृक्ष-समूहरूप वन की घटक प्रत्येक इकाई को वृक्ष कहते हैं, वैसे ही कारण-समूहरूप सामग्री का एक देश (प्रत्येक इकाई) कारण कहलाता है, अतः सामग्र्येकदेशत्व को कारणत्व का निर्वचन माना जाता है।

समाधान—यहाँ एकदेशत्व का निर्वचन सम्भव नहीं, क्योंकि अवयत्व, प्रदेशत्वादिरूप एकदेशत्व सामग्री में इस लिए नहीं घटता कि आरम्भवाद के अनुसार सामग्री को घटादि के समान अवयवारब्ध एक अवयवी द्रव्य नहीं माना जाता, अपितु धान्य-राशि के समान एक समूहमात्र माना जाता है। इस लक्षण में अन्योऽन्याश्रय दोष भी है, क्योंकि कारण-कलाप का मिलित रूप सामग्री है, अतः सामग्री के निरूपण में कारण और कारण पदार्थ के निरूपण में सामग्री की अपेक्षा है।

कार्यत्वात् तेनैव तन्निर्वचनीयत्वात्। यदनन्तरं कार्यं भवत्येव, सा सामग्रीति चेन्न, विभागानन्तरं संयोगनाशस्य अवश्योत्पत्तेर्विभागस्यापि सामग्रीत्वप्रसङ्गात्। एवं कर्मणो विभागेऽन्त्यतन्तुसंयोगस्य पटे इत्यादि। कार्यकारणभावो नाम सम्बन्धः कोऽपीति चेत्, न, तदाऽविशेषेण कार्यकारणसाङ्कर्यापत्तेः। कार्यकारणविशेषितत्वाद् भेदे तयोः पृथक् निर्वाच्यत्वापत्तेः।

कारणत्वं धर्मः कोऽपीति चेन्न, तत्सद्भावे प्रमाणस्य वाच्यत्वात्। क्वचित्प्र-

---

शेषः। कारणत्वानिरूपणनिरपेक्षं सामग्रीलक्षणं शङ्कते ॐ यदिति ॐ। अतिव्याप्त्या दूषयति ॐ नेति ॐ। विभागानन्तरमव्यवहितक्षणे संयोगनाशस्यावश्योत्पादो न च तन्मात्रमेव सामग्र्यदृष्टादेरपि कारणत्वादतस्तत्कारणमात्रं तत्र च सामग्रीलक्षणमतिव्यापकमित्यर्थः। प्रसङ्गान्तरमाह ॐ एवमिति ॐ। अविनश्यदवस्थकर्म हि तत्कारणमात्रमनन्तरक्षणे विभागं जनयतीति तत्रातिव्याप्तेरेवमन्त्यतन्तुसंयोगोऽपि कारणं तदनन्तरं च पटकार्यमुत्पद्यते तथाऽन्त्यतुरीवेमादिसंयोगेऽप्यतिव्याप्तिरित्याशयः। कार्यकारणसम्बन्धाधिकरणत्वं कारणत्वमिति शङ्कते ॐ कार्येति ॐ। कोऽपीतीतरसम्बन्धविलक्षण इति यावत्। तस्यैकत्वेनोभयत्रापि संयोगवदविशेषात्तदधिकरणत्वेन कारणवत्कार्यस्यापि कारणत्वं स्यादिति दूषयति ॐ नेति ॐ। कार्यकारणयोः साङ्कर्यं च दर्शयति ॐ कार्येति ॐ। अविशेषेण कार्यकारणभावसम्बन्धस्येति शेषः। कारणेन विशेषितः सम्बन्धोऽन्य एव, कार्येण च विशेषितः सम्बन्धोऽन्यस्ततश्चाविशेषितत्वं नास्तीत्यत आह ॐ भेद इति ॐ। कार्यकारणयोरन्योन्यनिरूपितत्वादितरेतराश्रयादसिद्धिरित्यभिसन्धिः।

इदानीं नवीनां रीतिमाशङ्कते ॐ कारणत्वमिति ॐ। कारणत्वं नामात्यन्ताभावविशेषरूपो धर्मविशेषस्तद्वत्कारणमित्यर्थः। कार्यत्वं धर्मः कार्येऽपीत्यमितिशेषः। कार्यत्वकारणत्वलक्षणधर्मयोः प्रमाणाभावादसिद्धिरिति परिहरति ॐ नेति ॐ। प्रमाणाभावोऽसिद्धः प्रत्यक्षादेर्यथायथं प्रमाणत्वादिति शङ्कते ॐ क्वचिदिति ॐ। क्वचित्तत्र व्याप्तिं दृष्ट्वा पश्चादनुमेय इत्यर्थः। प्रत्यक्षं कारणतामुल्लिखत् निष्प्रति-

---

शङ्का—सामग्री के निरूपण में यदि कारण पदार्थ की अपेक्षा होती, तब अवश्य अन्योऽन्याश्रय दोष होता, किन्तु कारणपदार्थ-निरपेक्ष सामग्री का निरूपण किया जाता है—'यदनन्तरं कार्यं भवत्येव, सा सामग्री'।

समाधान—सामग्री का उक्त लक्षण अतिव्याप्ति-ग्रस्त है, क्योंकि विभाग के अनन्तर संयोग का नाश अवश्य हो जाता है, अतः विभाग में संयोगनाश का सामग्रीत्व (कारण-समूहत्व) अतिप्रसक्त है। इसी प्रकार कर्म में विभाग का और अन्तिम तन्तु-संयोग में पट का सामग्रीत्व प्रसक्त होता है।

(७) कार्यकारणभावसम्बन्धाधिकरणत्वं कारणत्वम्—

शङ्का—कार्यकारणभाव एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसका आधार कारण कहलाता है।

समाधान—जैसे भूतल और घट के संयोग की भूतल और घट—दोनों में आधारता होती है, वैसे ही कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध के कार्य और कारण—दोनों आधार होते हैं, अतः यह लक्षण कार्य में भी अतिप्रक्त होता है। एवं एक ही पदार्थ में कार्यत्व और कारणत्व का सांकर्य भी हो जाता है। यदि कार्यत्व और कारणत्व को व्यवस्थित करने के लिए 'कार्य-सम्बन्धित्वं कारणत्वम्' और कारणसम्बन्धित्वं कार्यत्वम्'—ऐसा लक्षण किया जाता है, तब कार्यत्व और कारणत्व का पृथक्-पृथक् निर्वचन करना होगा। कार्यत्व का निर्वचन करणत्व में और कारणत्व का निर्वचन कार्यत्व में अपेक्षित होने से अन्योऽन्याश्रयता होती है।

(८) कारणगतधर्मविशेषः कारणत्वम् —

शङ्का—भावत्वादि के समान कारणत्व भी एक प्रसिद्ध धर्म है, उसे किसी लक्षण की अपेक्षा नहीं।

त्यक्षः सः, क्वचित् दृष्टानुमेय इति चेन्न, किं हि प्रति कारणतां प्रत्यक्षमुल्लिखेत् ? न तावदनिर्लुठितकार्यम्, अप्रतीतेः, अन्वयव्यतिरेकादेर्व्यञ्जकस्य च विशेषं प्रत्येव सम्भवात्। नापि सामान्यतो घटादि प्रति, एवं विशेषतो घटाद्यनुत्पत्त्यापत्तेः। तावन्मात्रात् विशेषोत्पत्तेर्विशेषेषु विनिगमना न स्यात्। प्रतिविशेषं चोत्पत्तेः प्राग्वर्तमानत्वादसन्निकर्षादध्यक्षविषयतानुपपत्तेः। कार्यसत्त्वकालश्च सामग्र्यभावात् न तज्जनन-

योगिनीमुल्लिखेदुत किञ्चित्प्रतियोगिनीं, न तावदाद्यो लोके कारणतायाः सप्रतियोगिकत्वेन प्रसिद्धेर्नापि द्वितीयोऽपेक्ष्यस्य निरूपणाशक्तेरिति दूषयति ॐ नेति ॐ। अनिर्द्धारितविशेषं कार्यमात्रं प्रतियोगि, तेन प्रतियोग्यनिरूपणमसिद्धमित्यत आह ॐ नेति ॐ। घटकारणं पटकारणमिति विशेषविषयकारणतोल्लेखात्तानिर्लुठितविशेषं कार्यमात्रं प्रति कारणतामुल्लिखेदित्यनुषङ्गः। हेत्वन्तरमाह ॐ अन्वयेति ॐ। सत्सु तन्त्वादिषु पटो जायते नासत्स्वित्यन्वयव्यतिरेकयोः केवलव्यतिरेकस्य कार्यविशेषोपरक्तं कारणविशेषं प्रत्येव सम्भवात्तन्न केवलकारणता प्रत्यक्षग्राह्या सम्भवतीत्यर्थः। असम्भवादितिपाठ अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्येन्द्रियस्यैव तद्ग्राहकत्वात्तस्य च घटादिविशेषनिष्ठतया दृष्टत्वात्सामान्ये तदसिद्धिरित्यर्थः। तर्हि सामान्यतो घटादि प्रति कारणत्वं प्रत्यक्षोल्लेख्यं भविष्यतीत्यत आह ॐ नापीति ॐ। कुतो नेत्यत आह ॐ एवमिति ॐ। घटव्यक्तिविशेषं प्रति किमपि कारणं प्रामाणिकं न सिद्ध्येदित्यर्थः। सामान्यसिद्धिनान्तरीयकतया विशेषसिद्धिरित्याशङ्क्याह ॐ तावदिति ॐ। सामान्यस्य विशेषमात्राकाङ्क्षत्वादेतद्दण्डव्यक्तिरेव तद् घटव्यक्तेः कारणमिति विनिगमनन्न स्यादित्यर्थः। अन्वयव्यतिरेकादेः सम्भवाद्विशेषविनिगमनं स्यादित्याशङ्क्याह ॐ प्रतीति ॐ। अन्वयादिसहकृतमिन्द्रियं प्रतिविशेषं प्रागुत्पत्तेर्ग्राहकमुत कार्यसत्त्वकाले ? नाद्यः प्रागुत्पत्तेरनेककार्यविशेषितकारणत्वस्याभावादेवाक्षसन्निकर्षाभावात् प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ॐ कार्येति ॐ। कार्यकाले पूर्वकालाभावात्पूर्वकालस्य च कारणविशेषणत्वात्पुनरपि

समाधान—जब तक कारणत्व में कोई प्रमाण का उल्लेख न किया जाय, तब तक 'कारणत्व' धर्म को माना नहीं जा सकता।

शङ्का—घटादि कार्यों के कारण-समूह को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रत्यक्ष और (२) अप्रत्यक्ष। दण्डादि प्रत्यक्षभूत कारणों में रहनेवाला कारणत्व प्रत्यक्षप्रमाण-सिद्ध और अदृष्टादि अप्रत्यक्ष कारणों में कारणत्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है।

समाधान—प्रत्यक्ष-प्रमाण से सिद्ध होनेवाली कारणता क्या (१) कार्य से अविशेषित (दण्डादि में सामान्यतः 'कारणता अत्र''—इस प्रकार) कारणता अवगत होती है ? अथवा (२) घटादि कार्य से विशेषित ('घटस्य कारणता अत्र'—इस प्रकार) कारणता का भान होता है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि कार्यविशेष से अविशेषित सामान्यतः कारणता की प्रतीति ही नहीं होती। प्रत्यक्ष प्रमाण (इन्द्रियों) के सहायकीभूत अन्वयव्यतिरेक भी सामान्यतः कारणता में प्रवृत्त नहीं होते, अपितु 'घटस्य कारणमिदम्', 'पटस्य कारणमिदम्'—इस प्रकार कार्य-विशेषित कारणता के ही व्यञ्जक होते हैं।

द्वितीय पक्ष में भी जिज्ञासा होती है कि सामान्यतः (घटत्वेन घटमात्र की) कारणता निश्चित होती है ? या घटविशेष की कारणता ? प्रथम पक्ष के अनुसार घटसामान्य की सामग्री से विशेष घट की उत्पत्ति क्योंकर होगी ? सामान्य कार्य में सभी विशेष कार्यों का समावेश होता है, अतः सामान्य कार्य की सामग्री से विशेष कार्य की उत्पत्ति मानने पर 'तद्दण्डव्यक्तिरेव तद्घटव्यक्तेः कारणम्'—इस प्रकार का विनिगमन सम्भव क्योंकर होगा ? द्वितीय पक्ष के अनुसार प्रत्येक कार्यविशेष की कारणता का ग्रहण माना जाता है, तब उत्पत्स्यमान (भावी कार्य) की कारणता का प्रत्यक्ष संभव न हो सकेगा, क्योंकि उत्पत्स्यमान कार्य के

काल इति तदानीं तज्जननविशिष्टता कथमध्यक्षा स्यात्, प्राक् तद्ग्रहणेन संस्कारसाचिव्यस्याप्यसम्भवात्। एवं क्वचिदपि हेतुत्वे साक्षात्कारासम्भवेन किंमूलव्याप्तिग्रहात्तत्रानुमाऽपि स्यात्। प्रतिबन्दी चानिर्वचनवादिनि न स्थाने। कादाचित्कत्वानुपपत्त्या तद्ग्रह इति चेन्न, वैयधिकरण्यात्। कथमपि सामानाधिकरण्ये तदुपपादकस्योपपाद्यवदनुपपत्तौ अविशेषादविश्रान्तिः; नानादित्वेनाऽपि शक्योपपादना।

विशेषणस्येन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्कथं तद्विशिष्टस्येन्द्रियग्राह्यतेत्यर्थः। तस्य कालस्य सामग्र्यभावेन न जननकालः स इति तदानीं तज्जननविशिष्टकारणता कथमध्यक्षा स्यादिति योजना। वस्तुतः संस्कारोपनीतस्य कार्यकाले प्रत्यभिज्ञायामिव प्रागवस्थाया ग्रहणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह ❀ प्रागिति ❀। कार्यविशेषघटितस्य कार्यात्प्राक्क्षणेऽसत्त्वादप्रत्यक्षेण तद्ग्रहायोगात् तत्संस्कारासम्भव इत्यर्थः। अनुमेयमेव तत्कारणत्वं तर्हीत्याशङ्क्याह ❀ एवमिति ❀। व्याप्तिग्रहणासम्भवेनानुमानप्रवृत्तेरसम्भवादनुमानेनैव व्याप्तिग्रहणेऽनवस्थाप्रसङ्गादित्यर्थः। त्वयाऽपि जगत्कारणं ब्रह्मोच्यते तद्धि कथं प्रतीयत इत्याशङ्क्याह ❀ प्रतीति ❀। न स्थाने—न युक्ता। प्रतीयते हि शब्दात् ब्रह्मणः कारणता या च न्यायबाध्येत्यनिर्वचनीयेत्यर्थः। मा भूदनुमानेन तद्ग्रहः कार्यगतकादाचित्कत्वानुपपत्त्याऽर्थापत्त्या कारणत्वग्रह इति शङ्कते ❀ कादाचित्केति ❀। कादाचित्कत्वं कार्यधर्मः कारणत्वं कारणस्यातो वैयधिकरण्यान्न तत्सिद्धिरिति दूषयति ❀ नेति ❀। कार्यस्य कारणतादात्म्याङ्गीकारात् कारणत्वं कादाचित्कत्वं चैकाधिकरणमित्याशङ्क्याह ❀ कथमिति ❀। उपपादकस्याप्युपपाद्यवत् कादाचित्कत्वानुपपत्तेस्तत्रापि कादाचित्कत्वादिकमुपन्यसनीयमेवञ्च घटस्य कादाचित्कत्वमुपपादकं विनाऽनुपपद्यमानं स्वोपपादकमृदादेः कारणत्वं कल्पयति तदप्यनुपपद्यमानमुपपादकान्तरं कल्पयिष्यतीत्यनवस्थाऽऽश्रयणीयेत्यर्थः। बीजाङ्कुरवत्कार्यकारणपरम्पराया अनादित्वान्नानवस्था दोष इत्याशङ्क्याह ❀ नेति ❀। क्वचित्कार्यकारणभावं पूर्वं दृष्टवतोऽदृष्टेऽप्येवमिति भवेद्विश्वासः प्रथमत

पूर्व काल में न होने के कारण उस कार्य से विशेषित कारणता के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं हो सकता, इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा। जिस समय कार्य उत्पन्न होता है, उस समय कार्य का प्रागभाव नष्ट हो जाने के कारण प्रागभावादि-गर्भित कारणता ही विद्यमान नहीं रहती, उसका प्रत्यक्ष असम्भव हो जाता है।

[यद्यपि सोऽयं देवदत्तः'—इत्यादि स्थलों पर अविद्यमान तत्ता (तद्देशकालादि) का भी संस्कारों की सहायता से प्रत्यक्ष होता है, तथापि] यहाँ भाविकार्य-विशेषित कारणता का पहले ग्रहण न हो सकने के कारण उसके संस्कार ही उत्पन्न नहीं होते, किसकी सहायता से अविद्यमान करणता का प्रत्यक्ष होगा ? जब कारणता का प्रत्यक्ष ही संभव नहीं, तब प्रत्यक्षमूलक व्याप्ति-ग्रह न हो सकने के कारण उसका अनुमान भी संभव नहीं हो पाता। 'त्वयापि वेदान्तिब्रुवेण कारणत्वज्ञानमन्तरा कथं जगत्कारणं ब्रह्म गीयते ? कथं च कारणत्वानुयोगः क्रियते ?' इस प्रकार की प्रतिबन्दी का प्रयोग करना हम अनिर्वचनीयतावादी के लिए सर्वथा अनुचित है—यह कई बार कहा जा चुका है।

शङ्का—किसी कार्य वस्तु की कदाचित् ही उत्पत्ति देखी जाती है, सर्वदा नहीं—इस प्रकार कार्यगत कादाचित्कत्व की अन्यथानुपपत्ति से कारणत्व का ग्रह सम्भव है।

समाधान—कादाचित्कत्व और कारणत्व का उपपाद्य-उपपादकभाव तभी बन सकता है, जब कि दोनों समानाधिकरण (एक ही आधार में) हों किन्तु यहाँ कादाचित्कत्व कार्य में है और कारणत्व कारण में। 'जो कार्य कदाचित् होता है, उसका कारण भी कदाचित् होता है'—इस प्रकार कादाचित्कत्व और कारणत्व का सामानाधिकरण्य स्थापित करने पर उसी कादाचित्कत्व के माध्यम से कारणकारणत्व, कारणकारणकारणत्वादि की कल्पना प्रसक्त होने पर अनवस्था हो जाती है। बीज-वृक्ष के समान कार्यकारणभाव को अनादि कह कर

वैयधिकरण्येऽप्युपपाद्यासम्बन्धश्चेदनियमः, सम्बन्धश्चेदविश्रान्तिरिति ।

एतेन शक्तिः कारणत्वमित्यपि निरस्तम् । मीमांसक का खण्डन

किञ्च—प्रत्यक्षप्रमितौ विषयस्यापि सन्निकर्षव्यापारकस्य कारणतया स्ववृत्त्यापत्तेः। अन्यथाऽक्षस्यापि तत्र कारणत्वं न स्यात्, अनुविधानाविशेषात्। विषयाविशेषिताक्षसन्निकर्षस्य तथात्वेऽप्यापत्तेः, क्वचित् कराणत्वाकारणत्वविनिगमकस्य प्रतिभाति ।

एव तु विप्रतिपन्नस्य नेकमपि सिद्धयेत्कुतोऽनादिपरम्परावसर इत्याशयः । भाट्टाभिप्रायेण सामानाधिकरण्यमङ्गीकृत्य दूषणमभाणि वैशेषिकाभिप्रायेण दूषणान्तरं भणति ❀ वैयधिकरण्येपीति ❀ । उपपाद्येनोपपादकस्य सम्बन्धो नास्त्युतास्ति ? न चेत्सर्वं सर्वस्माद् गम्येताविशेषादस्ति चेत्सोऽपि सम्बन्धस्तेन सम्बद्धो न वा ? न चेदसम्बन्धाविशेषः सम्बद्धश्चेदेवं सोऽपि सम्बन्धान्तरेणेत्येवमनवस्थेत्यर्थः । अर्थापत्तिगम्यं कारणत्वं न सम्भवतीत्यनेन शक्तिः कारणत्वमित्यपि निरस्तं शक्तेरर्थापत्तिगम्यत्वादर्थापत्तेः खण्डितत्वादित्याह ❀ एतेनेति ❀ । ❀ शक्तिरिति ❀ ।

कारणत्वं प्रत्यक्षमित्यत्र दोषान्तरमाह ❀ किञ्चेति ❀ । कारणत्वं धर्मस्तच्चेत्प्रत्यक्षेण गृह्यते प्रत्यक्षप्रमितौ विषयस्य कारणत्वात्कारणत्वस्य विषयत्वात्तत्र कारणत्वं वर्त्तत इति वक्तव्यं तच्चेत्तदेवात्माश्रयोऽन्यच्चेदननुगतं कारणत्वमिति परस्पराश्रयाहिरनवस्था चेत्याशयः । विषयस्य सन्निकर्षं प्रत्येव कारणत्वं न प्रत्यक्षं प्रतीत्याशङ्क्याह ❀ अन्यथेति ❀ । व्यापारिणः कारणत्वाद्व्यापारं प्रति तदभावात्तथापि सन्निकर्षव्यापारवतो विषयस्य कारणत्वाभावेऽक्षस्यापि प्रत्यक्षप्रमितौ कारणत्वन्न स्यादन्वयव्यतिरेकानुविधानाविशेषादक्षं चेत्कारणं विषयोऽपीति कारणत्वस्य प्रत्यक्षत्वे कारणत्वान्तरं प्रसज्येतेत्यर्थः । विषयेणाविशेषितस्याक्षसन्निकर्षस्य कारणत्वान्न विषयस्य सन्निकर्षव्यापारत्वमित्याशङ्क्याह ❀विषयेति❀ । यत्र क्वापि विषये सन्निकर्षः प्रमामुत्पादयेदित्यविशेषितपक्षानुपपत्त्या यथा सन्निकर्षविशेषणतयाऽक्षस्या-

भी अनवस्था का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी एक स्थल पर यदि कार्यकारणभाव निश्चित हो जाता है, तब दृष्ट के अनुसार अदृष्ट स्थलों पर उसकी कल्पना कर सकते थे किन्तु जब कहीं कार्यकारणभाव निश्चित ही नहीं होता, तब उसमें अनादिभाव की कल्पना भी क्योंकर हो सकेगी ?

उपपाद्य और उपपादक का समानाधिकरण्य हो जाने पर भी उनमें परस्पर कोई संबन्ध माना जाता है ? अथवा नहीं ? यदि माना जाता है, तव उस संबन्ध का भी संबन्धान्तर एवं संबन्धान्तर का भी संबन्धान्तर मानने पर अनवस्था प्राप्त होती है । परस्पर कोई संबन्ध न मानने पर उपपाद्य-उपपादकभाव का कोई नियम नहीं रह जाता, सभी पदार्थ सबके उपपादक हो जायेंगे । अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति का निरास हो जाने के कारण उससे कल्पित शक्ति को भी कारणत्व नहीं माना जा सकता ।

दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय भी कारण होता है, इस प्रकार कारणत्व विषयक प्रत्यक्ष की कारणत्वरूप विषय में भी कारणता सिद्ध होती है, कारणत्वगत यह कारणता यदि कारणत्वस्वरूप है, तब आत्माश्रयता अन्यथा अन्योऽन्याश्रयता, चक्रक एवं अनवस्थादि दोषों की प्राप्ति होती है । यदि विषय को प्रत्यक्ष ज्ञान में सीधा कारण न मान कर केवल प्रत्यक्ष के कारणीभूत इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष का सम्पादक मानें, तब विषय के समान ही इन्द्रियों को भी प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण न मान सकेंगे, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान जैसा इन्द्रियों के साथ अनुभूत होता है, वैसा ही विषय के साथ भी ।

यदि प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणीभूत इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष में से विषय को हटाकर केवल इन्द्रिय-सन्निकर्ष को कारण माना जाता है, तब घट-सन्निकर्ष से पटादि अन्यविषयों के ज्ञानों की उत्पत्ति प्रसक्त होगी । 'कारणत्व' धर्म यदि प्रत्यक्षतः गृहीत और निर्णीत है, तब उसके

वानुच्छेद्यत्वापत्तेः। एकेन तस्य दृष्टेरपरेण चादृष्टेः। तल्लक्षणस्य नियतपूर्वभावित्वादेः कथनेन कथितदोषापत्तेः। विना च तच्चिह्नाद् भ्रमसन्देहौ तत्र किं दर्शनादुच्छेद्यौ ? अक्षेण हेतुत्वधर्मिणि दृष्टेऽपि तददृष्ट्या यदवगमोऽक्षसहकारी वाच्यः, तदर्थेन सिद्धेन हेतुधियोऽर्थवत्त्वे सम्भवति तदन्यार्थकल्पनागौरवं कुतो बलात् सिद्ध्येत् ?

न्वयव्यतिरेकित्वात्कारणत्वं तथाऽस्यापीत्यर्थः। किञ्चाक्षसन्निकर्षस्याभावे विषये केचन कारणत्वं मन्यन्ते केचिन्नानुमन्यन्ते, स विवादः कारणत्वस्य प्रत्यक्षत्वे न स्यादिति दोषान्तरमाह ॐक्वचिदितिॐ। किमित्युच्छेद्यता न स्यादित्याशङ्क्य कस्यचित्तद्विषयप्रत्यक्षज्ञानसिद्धेः कस्यचित्तद्विषयप्रत्यक्षज्ञानासिद्धेरित्याह ॐ एकेनेति ॐ। यः प्रत्यक्षेण कारणत्वं पश्यति स एव विवादं कुरुत इति तन्निवृत्तिरशक्येत्युक्तम्। ननु यः प्रत्यक्षेण पश्यति कारणत्वं तेनेन्द्रियसहकारिभूतचिह्नान्तरं प्रत्याय्य विवाद उच्छेद्य इत्याशङ्क्याह ॐ तदिति ॐ। तच्चिह्नमशक्यनिर्वचनं शक्यनिर्वचनत्वे तदेव कारणत्वमस्त्वित्यर्थः। कथितदोषापत्त्या लक्षणज्ञानासम्भवे किं फलितमित्यत आह ॐ विना चेति ॐ। अकारणे पिण्डे कारणत्वभ्रमः सुगतादेर्विवादमूलं च संशयस्तस्योच्छेदो न स्यात्(प्रत्यक्षमात्रा)त्तत्प्रत्यक्षत्वे विवादसम्भवादित्यर्थः। किंदर्शनात्किंविषयविशेषदर्शनादिति यावत्। यत्र कारणत्वं वर्त्तते तस्य प्रत्यक्षत्वे दृष्टत्वात्तस्मिन् धर्मिणि वर्त्तमानकारणत्वविषयभ्रमसंशययोः शक्योच्छेदत्वमित्याशङ्क्याह ॐ अक्षेणेति ॐ। कारणत्वधर्मिणः साधारणत्वात्तन्नियतचिह्नानामप्यभावेन दर्शनात्कारणत्वस्य चानिर्णीतत्वान्न तावुच्छेद्यौ स्यातामिति भावः। तददृष्ट्वा—विशेषमदृष्ट्वा कारणरूपसंशयभ्रमावनुच्छेद्याविति शेषः। कारणत्वस्य केवलाक्षागम्यत्वेऽपि चिह्नान्तरसहकृताक्षगम्यत्वं स्यादित्याशङ्क्याह ॐ तदिति ॐ। यस्य विषयस्यान्वयव्यतिरेकादेश्चिह्नस्यापि अवगमो ज्ञानमक्षस्य सहकारिकारणं वाच्यं तस्यैवार्थस्य कारणत्वविषयत्वे सम्भवति तद्व्यतिरिक्तकारण-

---

विषय में जो कहीं-कहीं वादिगणों में विवाद होता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्षतः निर्णीत विषय में कहीं पर भी विवाद नहीं होता। अनुमानादि परोक्ष ज्ञानों से गृहीत पदार्थ के विषय में तो प्रायः विवाद हो जाया करता है, जिसका उच्छेद प्रत्यक्ष के आधार पर हो जाता है, किन्तु प्रत्यक्ष-गृहीत विषय में यदि विवाद होता है, तब तो उसका उच्छेद कदापि न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष से बढ़ कर और कोई प्रमाण ऐसा नहीं होता, जिसका निर्णय सर्वमान्य एव सर्वोपरि समझा जाता हो।

प्रत्यक्ष-दृष्ट पदार्थ के विषय में विवाद ही नहीं होता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि नैयायिकगण इन्द्रियार्थ-सन्नि में अभाव की कारणता प्रत्यक्ष-सिद्ध मानते हैं और अभाव को अनुपलब्धिगम्य माननेवाले भाट्टगण उक्त कारणता की प्रत्यक्षता का खण्डन करते हैं। इस विवाद का उच्छेद उक्त (नियतपूर्वभावित्वरूप) लक्षण के द्वारा हो जायगा—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि कथित दोषों के द्वारा इस लक्षण का निराकरण किया जा चुका है।

कारणत्व का जब कोई चिह्न (लक्षण) ही नहीं बनता, तब कारणविषयक भ्रम और संशय की निवृत्ति भी किसके दर्शन से होगी ? ['स्थाणुर्वा पुरुषो वा ?' इस प्रकार के संशय की निवृत्ति करचरणादिमत्त्वरूप जिस विशेष के दर्शन से होती है, वह विशेष पदार्थ चिह्न या लक्षण ही होता है। कारणत्व का लक्षण निर्धारित न होने के कारण, उसके संशयादि का उच्छेद भी नहीं हो सकता]।

दूसरी बात यह भी है कि कई बार इन्द्रिय के द्वारा कारणत्व धर्म के धर्मीभूत कारण पदार्थ का दर्शन होने पर भी कारणत्वरूप धर्म का दर्शन नहीं होता, अतः वहाँ कारणत्व का ज्ञान उत्पन्न करने के लिए किसी लक्षण पदार्थ के ज्ञान को इन्द्रिय का सहायक मानना होगा। उसी अपेक्षित लक्षण पदार्थ से यदि कारणत्व-विशिष्ट ज्ञान हो जाता है, तब उस लक्षणरूप

तस्यान्वयानुविधानादेरनुमेयहेतुत्वे व्योमादावनुपपत्तेस्तदन्यत्वसिद्धिरिति चेन्न, अन्योन्याश्रयापत्तेः। प्रत्यक्षस्यान्यस्मिन्विषये सिद्धेऽन्यत्र दृष्टान्तेन तदनुमाम्, तत्सिद्धौ च प्रत्यक्षस्यान्यविषयतासिद्धिः। अनुमितिम्

तस्य चानागन्तुकत्वे प्रागपि तत्सत्त्वादस्तीतिमतिवत् करोतीति प्रमापातः। आगन्तुकत्वे च तदुत्पत्तेः प्राक् कारणत्वं क्वापि न स्यात्। तथाप्यजातत्वे घटाद्यपि किं न तथा स्यात्। व्यावृत्तेषु तेष्वनुगतौ च सर्वं प्रति सर्वकारणत्वापातात्। प्रति-

---

त्वविषयत्ववन्न कल्पनीयं गौरवादित्यर्थः। केचिदेकमेवेदं ग्रन्थमिच्छन्ति तस्मिन् पक्षे दूषणान्तरमाहेति सम्बन्धः।

हेतुत्वधियः प्रत्यक्षदृष्टः सहकारिविषयो न सम्भवति व्योमादौ यत्र हेतुत्वमनुमेयं तत्र व्यभिचारा-विति शङ्कते ❀ तस्येति ❀। अन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्ग इति परिहरति ❀ नेति ❀। अन्योन्याश्रयमेव विशद-यति ❀ प्रत्यक्षेति ❀। तद्धि गगनादावनुमेयं क्वचित् दृष्ट्वाऽनुमीयते ततश्च घटादिरेव प्रत्यक्षदृष्टो हेतु-त्वधर्मिदृष्टान्तश्चेत् घटादौ प्रत्यक्षेण हेतुत्वाख्यं धर्मान्तरं गृह्यत इति सिद्धे तेन दृष्टान्तेन गगनादौ तत्सिद्धिः तत्सिद्धौ च घटादौ प्रत्यक्षस्यान्वयव्यतिरेकानुविधानादिना व्यतिरिक्तकारणत्वविषयत्वमिति परस्पराश्रय इत्याशयः। तत्कारणं नित्यमनित्यं वेति विकल्प्याद्यं दूषयति ❀ तस्येति ❀। दण्डादौ यथा सदिति मतिरस्ति तथा घटोत्पादात्प्रागपि कारणत्वस्य सत्त्वात्करोतीति मतिप्रसङ्ग इति यावत्। द्वितीयं प्रत्याह ❀ आगन्त्विति ❀। उत्पत्तिमत्त्वे कारणत्वस्य कारणत्वोत्पत्तेः प्राक्किमपि कारणं न स्यात्कारण-त्वस्यैकत्वात्तथा च कारणत्वोत्पत्तिरपि कारणाभावादेव न भवेदिति भावः। यद्यपि कारणस्याऽकारणत्वं नास्ति तथापि तदकारणादेव जायत इत्याशङ्क्य घटादिरेव तर्हि कारणव्यतिरेकेण किं न जायेतेत्याह ❀ तथापीति ❀। प्रतिकार्यव्यक्ति कारणत्वमनुगतं व्यावृत्तं वेति विकल्प्याद्ये दोषमाह ❀ व्यावृत्ते-ष्विति ❀। व्यावृत्तेषु घटपटकारणेषु दण्डवेमादिषु सर्वत्रानुगतं कार्यमात्रं प्रति कारणत्वं यद्यस्ति

धर्म से भिन्न 'कारणत्व' धर्म की कल्पना का गौरव किसके बल पर अपनाया जायगा ?

शङ्का—नैयायिक स्वयं अन्वय-व्यतिरेक की सहायता से दण्डादि में कारणत्वरूप धर्मान्तर का साक्षात्कार कर लेता है, गगनादि का व्यतिरेक सहचार सम्भव न होने के कारण नैयायिक अन्यवादियों के लिए अनुमान प्रस्तुत करता है—'गगनादिगतं कारणत्वं नियतपूर्व-वृत्तित्वरूपात् लक्षणाद् भिन्नम्, कारणत्वात्, दण्डनिष्ठकारणत्ववत्'।

समाधान—गगनादि में अनुमेयार्थ को कहीं देख कर ही अनुमान किया जा सकता है। दण्डादि गत करणत्व में लक्षण की अपेक्षा अन्यत्व की सिद्धि उक्त अनुमान के द्वारा ही होगी—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है।

यह भी एक जिज्ञासा होती है कि दण्डादिगत 'कारणत्व' धर्म नित्य है ? या अनित्य ? यदि नित्य या अनागन्तुक है, घटादि की उत्पत्ति से पूर्व जैसे दण्डादिगत सत्ता के आधार पर 'दण्डोऽस्ति'—ऐसी बुद्धि होती है, वैसे ही दण्डगत कारणत्व के आधार पर 'दण्ड: करोति', 'दण्डेन घटं करोति'—इस प्रकार का भी व्यवहार होना चाहिए। यदि कारणत्व अनित्य या आगन्तुक माना जाता है, तब उस कारणत्व की उत्पत्ति से पहले कहीं पर भी कारणत्व सत् न हो सकेगा, क्योंकि 'कारणत्व' धर्म एक ही है, तब किसी भी पदार्थ को किसी का कारण मानना सम्भव क्योंकर होगा ? यदि कारणत्व अनित्य होने पर भी किसी से उत्पन्न नहीं होता, तब घटादि अनित्य पदार्थों को भी किसी से उत्पन्न मानने की आवश्यकता नहीं।

विभिन्न कारण व्यक्तियों में 'कारणत्व' धर्म को सर्वत्र अनुगत एक धर्म माना जाता है ? या कार्य और कारण व्यक्तियों के भेद से भिन्न ? यदि सर्वत्र अनुगत एक है, तब सभी कार्यों की सर्वत्र कारणता होनी चाहिए। यदि कार्य व्यक्तियों के भेद से कारणत्व भिन्न

कार्यव्यक्ति तत् पृथगिति चेन्न, साधारणस्यापि तद्गतस्य स्वरूपस्य घटादिकारणात्मतयाऽनुवृत्तौ घटकारणत्वस्यापि तन्तुकारणत्वापत्तेः। कारणत्वमात्रेण तदनुगतं रूपं न घटकारणत्वादिनेति चेन्न, घटादिविशेषानुपहितकारणत्वमात्रस्य किंप्रतीत्यनिर्देश्यस्य सद्भावे प्रमाणाभावात्। अन्यथा यदि किञ्चित्प्रति कारणे सामान्यतः कारणत्वं नाम धर्मः स्यात्, तदा तस्या एव व्यक्तेः किञ्चित्प्रत्यकारणत्वादकारणत्वमपि रूपं तत्र स्यादिति अनपेक्षितविशेषकारणत्वाध्यासाद् भेदेनैकमात्रमेवोच्छिद्येत।

किञ्च—कार्यव्यक्तेः कारणमस्ति न वा ? न चेन्नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गः। अस्ति चेत् किं तत् कारणम् ? व्यक्तिविशेष इति चेन्न, पूर्वभावस्य रासभादिसाधा-

---

तर्हि पटकारणवेमादेः घटादौ घटकारणदण्डादेश्च पटादौ कारणत्वं स्यादित्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते ❀ प्रतीति ❀। घटकारणं पटकारणमिति व्यावृत्तेषु घटपटकारणेषु कार्यमात्रं प्रत्यनुगतं कारणत्वं नास्ति तेन घटकारणे पटकारणत्वधर्माभावान्न पटकारणत्वप्रसङ्ग एवमितरत्रापीत्याशयः। पृथिवीत्वादेरपरसामान्यरूपत्वेति पृथिव्यादिषु द्रव्यं द्रव्यमित्यनुगतप्रत्ययबलात् द्रव्यत्वाङ्गीकारात्कारणं कारणमित्यनुगतबुद्धिबलात् घटपटकारणानुगतस्य कारणत्वस्य सामान्यस्याभ्युपेयतया घटकारणसाधारणस्य घटकारणात्मतयानुवृत्तौ घटकारणत्वस्य पटादिसाधारणकारणत्वात् पटादिकारणत्वापत्तेरिति परिहरति ❀ नेति ❀। कारणं कारणमित्यनुगतबुद्ध्या कारणत्वमात्रमनुगतं गृह्यते न तु घटकारणत्वमनुगतं तेन गृह्यते कारणत्वस्यानुगतमेव कारणतामात्रं घटादिकारणस्य भवति, न तु घटकारणत्वमिति कथमतिप्रसङ्ग इति शङ्कते ❀ कारणेति ❀। घटाद्याकारेणाविशेषितस्य कारणत्वमात्रस्य निष्प्रतियोगिकस्य सद्भावे प्रमाणाभावात् घटकारणत्वानुगम एव वाच्य इति प्रसङ्गतादवस्थ्येन परिहरति ❀ घटादीति ❀। निर्देशो न विद्यते यस्य तदनिर्देश्यम्। एतदेवानिष्टद्वारेण व्युत्पादयति ❀ अन्यथेति ❀। घटकारणे किञ्चित्प्रतियोगिविशेषानुपाधौ कारणत्वन्नाम यदि स्यात्तदा तेनैव न्यायेन प्रतियोगिविशेषानुपहितमकारणत्वं धर्मः स्यादित्यनपेक्षितविशेषयोर्विशेषानुपहितयोः सामान्यतः कारणत्वाकारणत्वयोरेकधर्मिसंसर्गाद्विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदहेतुत्वादेका कारणव्यक्तिः काचिदपि न सिद्ध्येदित्यर्थः।

विकल्पान्तरमुखेन कारणस्यानिर्वाच्यतामाह ❀ किञ्चेति ❀। एका या घटरूपा कार्यव्यक्तिस्तस्याः कारणमस्ति न वेति विकल्पार्थः। अन्वयव्यतिरेकयोः सामान्याकारेण सम्भवाद्विशेषस्य कारणं नास्तीति द्वितीयमनूद्य दूषयति ❀ नेति ❀। आकाशविषाणयोरिव कारणशून्ययोर्नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्तरप्रसङ्गो न

माना जाता है, तब भी 'कारणम्-कारणम्' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति के आधार पर यह मानना होगा कि कारणत्व धर्म वस्तुतः एक होने पर भी भिन्न-भिन्न कार्यसम्बन्धित्वेन भिन्न प्रतीत होता है। वहाँ जिज्ञासा होती है कि कपालादि में जो कारणता अनुगत होती है, वह पटादिकारणतात्वेन ? अथवा सामान्य कारणतात्वेन ? यदि कपालादि में पटादिकारणतात्वेन कारणता अनुगत होती है, तब घटकारणता में भी पटादिकारणतात्वापत्ति होगी ? 'सामान्य कारणतात्वेन ही कारणता विभिन्न कारण व्यक्तियों में अनुगत होती है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घटादि कार्यों से अविशेषित सामान्य कारणता के होने में कोई प्रमाण ही नहीं—यह पहले कहा जा चुका है। यदि कपालादि किसी कार्य के कारण होते हैं—एतावता सामान्य कारणता का ही उनमें अनुगम माना जाय, तब कपालादि किसी कार्य के अकारण भी होते हैं—इतने मात्र में उनमें 'अकारणत्व' धर्म का भी अनुगमन मानना पड़ेगा, इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में कारणत्व और अकारणत्वरूप विरुद्ध धर्मों का अध्यास हो जाने के कारण प्रत्येक व्यक्ति में एकता न रह कर भिन्नता प्रसक्त होती है।

यहाँ यह भी एक प्रश्न उठता है कि किसी एक कार्य व्यक्ति का कोई कारण है ? या नहीं ? यदि नहीं, तब कार्य की या तो सदा सत्ता माननी होगी या तो खपुष्पादि के समान

रणत्वात् तां कार्यव्यक्तिं प्रति तस्याः किं तत्कारणत्वम् ? स्वरूपमेवेति चेन्न, तस्य व्यावृत्तत्वात्। तस्यास्तत्कारणात्मत्वे चातदात्मनां तत्कारणत्वविरोधात्, तत्कारणत्वस्य च समवाय्यसमवायिनिमित्तभूतानेकव्यक्तिसाधारणत्वात्। अनेकस्य चैकानुगतव्यवहारबुद्धिनिदानत्वे गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात्।

नियतपूर्वभावित्वमिति चेन्न, व्याप्त्यर्थस्य नियमस्यैकस्य सर्वत्र व्यक्तावसम्भवात्, पूर्वमात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वात्। तज्जातीयं प्रति नियततज्जातीयत्वमिति चेन्न,

---

कादाचित्कत्वसम्भव इत्यर्थः। कादाचित्कत्वनियामकं कारणमस्तीति प्रथमकल्पं शङ्कते ❀ अस्तीति ❀। तर्हि तस्य कारणं सामान्यरूपं विशेषरूपं वेति विकल्पयति ❀ किमिति ❀। कारणसामान्यस्य कार्यसामान्यप्रयोजकत्वात्कार्यविशेषे कारणविशेषः प्रयोजक इति शङ्कते ❀ व्यक्तीति ❀। कार्यव्यक्तिं प्रति कारणव्यक्तेः कारणत्वाङ्गीकारे किन्तत्कारणत्वमित्याकाङ्क्षायां पूर्वभावस्य कारणत्वेनाभिधाने घटव्यक्तिं प्रति मृद्व्यक्तेरिव गर्दभव्यक्तेरपि कारणत्वप्रसङ्गात्कार्यव्यक्तिं प्रति कारणव्यक्तेः पूर्वभावमात्रं कारणत्वन्न भवतीत्यन्यदेव तद्वक्तव्यमापद्यत इति परिहरति ❀ पूर्वेति ❀। घटव्यक्तेः पूर्वमवस्थितमदः स्वरूपमेव कारणं न च तद्रासभेऽस्तीति शङ्कते ❀ स्वेति ❀। स्वरूपस्य व्यावृत्तत्वाद्बहुकारणव्यक्तिष्वनुगतप्रत्ययवेद्यकारणत्वं न स्यादिति दूषयति ❀ नेति ❀। दोषान्तरमाह ❀ तस्या इति ❀। (एकस्या इति) एकस्याः कारणव्यक्तेरेकां कार्यव्यक्तिं प्रति कारणत्वस्य स्वभावत्वे तदात्मताशून्यानामन्यासां कारणव्यक्तीनां कार्यव्यक्तिं प्रति कारणत्वं विरुद्ध्येत। न हि य एकस्या व्यक्तेः स्वभावः स एवान्यस्याः सम्भवतीति भावः। एकां कार्यव्यक्तिं प्रति नास्त्येवानेकस्याः कारणव्यक्तेः कारणत्वमित्याशङ्क्याह ❀तदिति❀। समवाय्यादीनां परस्परव्यावृत्तान्येव स्वरूपाणि कारणत्वानि तैरेव बहुष्वनुगतकारणत्वप्रत्ययव्यवहारौ भविष्यत इत्याशङ्क्याह ❀ अनेकेति ❀। परस्परव्यावृत्तस्य स्वरूपत्रितयस्य त्रितयानुगतव्यवहारजनकत्वे गोत्वाद्यनङ्गीकारेऽपि खण्डादिभिरेव तद्व्यवहारोपपत्तेर्गोत्वाद्युच्छेदः स्यादिति पूर्वं दर्शितमित्यर्थः।

तर्हि सर्वेष्वनुगतं नियतपूर्वभावित्वन्तत्कारणत्वमस्तु तथासति नातिव्याप्तिरपि रासभादौ नियतत्वाभावादिति शङ्कते ❀ नियतेति ❀। असम्भवेन दूषयति ❀ नेति ❀। नियतशब्देनावश्यम्भावो विवक्षित

नित्य असत्ता। यदि कोई कारण माना जाता है, तब वह कारण क्या है ? व्यक्ति विशेष को यदि कारण माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि उस व्यक्तिविशेष में रहनेवाले किस धर्म को 'कारणता' पद से अभिहित किया जाता है ? क्या (१) पूर्वभाव को ? या (२) स्वरूप को ? या (३) नियतपूर्वभावित्व ? या (४) नियततज्जातीयत्वे सति तत्पूर्वत्व को ? या (५) नियततज्जातीयत्वे सति तत्सादेश्यत्व को ?

(१) पूर्वभाव तो अतिप्रसक्त है, क्योंकि घटव्यक्ति का पूर्वभाव जैसे दण्डादि व्यक्ति विशेष में है, वैसे ही रासभादि में भी है।

(२) यदि दण्डादि के स्वरूप को कारणत्व कहा जाता है, तब कारणत्व में अननुगम दोष आता है, क्योंकि स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न होता है, अतः यदि घट के प्रति दण्डव्यक्ति के स्वरूप को कारण माना जाता है, तब उस स्वरूप से रहित चक्र-चीवरादि के स्वरूप को कारण मानने में विरोध उपस्थित होता है। किसी वस्तु का कारण पदार्थ एक ही स्वरूप का नहीं, अपितु समवायी, असमवायी एवं निमित्त के भेद से भिन्न पदार्थ कारण होते हैं और उन सब में कारणता साधारण होती है, अतः स्वरूप विशेष को कारणत्व नहीं कहा जा सकता। कारण व्यक्तियों के अनेक स्वरूपों को ही 'कारणम्-कारणम्'—इस प्रकार के अनुगत व्यवहार को नियामक मान लेने पर गोत्वादि जातियों का उच्छेद हो जाता है।

(३) नियतपूर्वभावित्व को भी कारणत्व पदार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि नियतत्व

तस्य तज्जातीयव्यक्त्यन्तरसाधारण्यात् ।

नियततज्जातीयत्वे सति तत्पूर्वत्वमिति चेन्न, तत्समानकालोत्पत्तिककार्यव्यक्तिशतजनकव्यक्तिशतसाधारण्यात् । तथाऽभ्युपगमे चैकसमवाय्यादिनाशे सर्वतत्कार्यनाशप्रसङ्गः । तत्कालतज्जातीयसर्वसामग्रीतः सर्वतत्कालतज्जातीयोत्पत्तौ सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुतया प्रत्येकमिलितसामग्रीत्वविकल्पेन कार्यव्यक्त्यभेदप्रतिव्यक्तिस्वरूपभेदयोरन्यतरप्रसङ्गश्च ।

उत व्याप्तिर्यद्यायस्तदा सर्वेषु कार्येष्वाकाशादीनां कारणत्वप्रसङ्गो, यदि व्याप्तिस्तदेकस्यां व्यक्तावुत सर्वासु ? यद्येकस्यां तदा गोयोनेर्जायमानगोः पोतस्य च व्याप्तिवत्तत्पूर्वभाविनां वालादीनां कारणत्वप्रसङ्गो, यदि सर्वासु तदाऽसिद्धिः सर्वव्यक्तिग्रहणायोगादित्यर्थः । असम्भवपरिहारार्थं यदि नियतेतिविशेषणं नोपादीयते तर्हि रासभेऽतिप्रसङ्ग इत्याह ॐ पूर्वेति ॐ । जात्यालिङ्गितत्वेन व्यक्तीनां नियतत्वसिद्धौ कारणत्वसिद्धिरिति शङ्कते ॐ तदिति ॐ । घटत्वजात्यालिङ्गितव्यक्त्युत्पत्तौ याऽनुगता मृत्त्वजातिस्तदालिङ्गितत्वं कारणत्वमित्यर्थः । अतिप्रसङ्गेन दूषयति ॐ नेति ॐ । एकस्मिन् घटे जायमानेऽतीतानागतवर्त्तमानमृदां मृज्जातीयत्वनियतत्वात्कारणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । उक्तातिव्याप्तिपरिहृत्यै च लक्षणं विशेष्यत इति शङ्कते ॐ नियतेति ॐ । नियतजातीयत्वे सति तद्व्यक्तिपूर्वभावित्वं तत्कारणत्वं न चैतन्मृदाद्यन्तरेऽस्ति तज्जातीयेपि तत्पूर्वत्वाभावादित्यर्थः । एकस्मिन्नेव क्षणे जायमानानेकजातीयकार्यव्यक्तीः प्रति तत्पूर्वभाविमृद्व्यक्तीनां सर्वासामपि कारणत्वं स्यान्नियतजातीयत्वात्पूर्वभावाच्चेति परिहरति ॐ नेति ॐ । तेनैककार्येण समानकाले उत्पत्तिर्यस्य कार्यव्यक्तिशतस्य तज्जनककारणव्यक्तिशतस्य साधारण्यात्सर्वकार्यं प्रतीति योजना । अस्तु तथेत्यपि न वाच्यमित्याह ॐ तथेति ॐ । समवायिनाशादसमवायिनाशाच्च कार्यनाश इति तार्किकैरङ्गीकारादेकसमवाय्यादिनाशे सर्वस्यैककालीनकार्यस्य नाशः स्यात्सर्वपूर्वभाविनः कारणत्वाविशेषादित्यर्थः । किञ्च समानजातीयायाः सर्वस्या अपि सामग्रीतः सकाशात्सर्वस्य समानकालीनैकजातीयकार्यस्योत्पत्तिस्वीकारे त्वया वाच्यं किं मिलितसर्वसामग्र्या जनकत्वं प्रत्येकं वाऽऽद्ये कार्यव्यक्तीनामभेदप्रसङ्गो द्वितीये त्वेककार्यस्वरूपेपि भेदप्रसङ्गः सामग्रीभेदस्य प्रयोजकत्वादिति । स एव कालो यस्याः सामग्र्याः सा तत्काला सैव जातिर्यस्याः सर्वसामग्र्याः सा तज्जातीयसर्वसामग्री तत्काला चासौ तज्जातीया चेति विग्रहः । सर्वं च तत्कालं च तज्जातीयं चेति तथोक्तं तस्योत्पत्तावितियावत् । तत्कालतज्जातीयसर्वसामग्रीतः सर्वतत्कालतज्जातीयोत्पत्ताविष्टायां कार्यव्यक्त्यभेदप्रतिव्यक्तिस्वरूपभेदयोरन्यतर-

---

का अर्थ होता है—व्याप्ति और व्याप्ति के निर्णायक अन्वय-व्यतिरेक सहचार का ग्रहण एक व्यक्ति में सम्भव नहीं होता । नियतत्व को छोड़कर केवल पूर्वभावित्व रासभादि में अतिप्रसक्त है—यह दिखाया जा चुका है । यदि तज्जातीय कार्य के प्रति नियततज्जातीयत्व को कारणत्व कहा जाता है, तब कोई एक घट व्यक्ति की कारणीभूत दण्डादि व्यक्ति को घटजातीय अन्य घट व्यक्ति का भी कारण माना जाने लगेगा ।

(४) 'नियततज्जातीतत्वे सति तत्पूर्वत्व' को भी कारणत्व मानना उचित नहीं, क्योंकि यह कारणत्व तो एक काल में उत्पन्न अनेक घट व्यक्तियों के अनन्त कारणों में समानरूप से विद्यमान है । वहाँ किसी एक कारण व्यक्ति को सभी कार्य व्यक्तियों का कारण मानने पर एक समवायिकारण के नष्ट होने पर सभी कार्यों का नाश मानना होगा, क्योंकि समवायिकारण के नाश को नैयायिकगण उसके कार्य का नाशक मानते हैं ।

तत्कालीन तज्जातीय सकल सामग्री को यदि तत्कालीन तज्जातीय सकल कार्य का उत्पादक माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि वहाँ मिलित समस्त सामग्री को प्रत्येक कार्य का जनक माना जाता है ? अथवा प्रत्येक कारण को समस्त कार्यों का जनक ? प्रथम पक्ष में समस्त कार्यों की एकता और द्वितीय पक्ष में प्रत्येक कार्य की भिन्नता प्रसक्त होती है ।

समवायित्वं प्रत्यपि साधर्म्यानुविधायिनि नियमेऽत्यापत्तेः । व्यावृत्तत्वे चानियमात् । नियततज्जातीयत्वे सति तत्सादेश्यमिति चेन्न, समवायिदेशापेक्षया कार्यकारणयोः सादेश्यनियमानभ्युपगमात् संयोगिदेशापेक्षया गुणादावसम्भवात् । यथाकथञ्चित्सादेश्यमात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वात् । अदृष्टादेर्भिन्नदेशस्यापि कारणत्वोपगमे सर्वं प्रति सर्वकार्यसामग्र्याः कारणत्वापातात्, पूर्वभावनियमादेस्तुल्यत्वात् । अनुगते

प्रसङ्ग इति सम्बन्धः । तदुपपादनं सामग्रीत्यादि ।

एवं कारणत्वं सामान्येन निरस्य वैशेषिकाभिमतं समवायित्वं कारणगतविशेषं निरस्यति ॐ समवायित्वमिति ॐ । यत्र समवेति कार्यं तत्समवायिकारणमित्याहुस्तत्र कार्यात्सर्वेषामन्यत्वभेवाविशेषे कथं कुत्रचिदेव कार्यं समवेति ? यत्सालक्षण्यं कार्यस्य तत्र समवायो यथा पार्थिवस्य पार्थिवेष्विति, तर्हि घटस्य दण्डादिषु समवायः किं न स्यात्पार्थिवत्वेन साधर्म्यात्, व्याप्त्यविशेषादनिष्टप्रसङ्गेनातिव्याप्तिरिति । [शाङ्करी—इदानीं समवायिकारणं विशिष्य खण्डयति ॐ समवायित्वमिति ॐ । पटं प्रति तन्तुत्वेन समवायिकारणत्वे सर्वेषां तन्तूनामेकपटसमवायित्वापत्तिः तथा च किञ्चित्तन्तुनाशे सर्वपटनाशः स्यादित्यर्थः । तत्तन्तुत्वेन तु कारणत्वं दुर्ग्रहमित्याह ॐ व्यावृत्तत्वे इति ॐ । अनियमान्नियमग्रहाभावात्सामान्यावच्छेदेनैव तद्ग्रहादिति भावः । ननु यत्पटसमानदेशो यः तन्तुः स तत्पटसमवायिकारणमिति शङ्कते ॐ नियतेति ॐ । तन्तुपटयोरेकत्रांशे वृत्तौ सादेश्यं स्यान्नचैवं त्वयाऽभ्युपगम्यत इति परिहरति ॐ समवायीति ॐ । ननु समवायेन सम्बन्धेनावयवावयविनोः सादेश्यं न ब्रूमः किन्तु संयोगेन तथा च तन्तुपटयोर्भूतले सादेश्यं सम्भवत्येवेत्याशंक्याह ॐ संयोगीति ॐ । एवं सति गुणकर्मणोः समवायिकारणासंग्रहः तयोः संयोगाभावादित्यर्थः । नन्ववयवावयविनोरिव गुणगुणिनोरपि कथञ्चित्सादेश्यमस्त्येवेत्याशंक्याह ॐ यथा कथञ्चिदिति ॐ । किञ्च त्वयाऽदृष्टादीनां भिन्नदेशानामपि नियतपूर्ववर्त्तिजातीयत्वेन कारणत्वमभ्युपगम्यते इति सर्वं सर्वत्र कारणं स्यादित्याह ॐ अदृष्टादेरिति ॐ पूर्वभावेति ॐ । वाराणसीवर्तिव-

इसी प्रकार समवायिकारण के विषय में भी विकल्प किए जा सकते हैं कि घटादि कार्य के प्रति कपालत्वेन सभी कलापों को या किसी एक कपाल को अथवा घटव्यक्ति में किसी कपाल व्यक्ति को कारण माना जाता है ? प्रथम कल्प के अनुसार सभी घट व्यक्तियों में सभी कपाल व्यक्तियाँ समवायिकरण हो जाएँगी । दूसरे कल्प में एक कपाल व्यक्ति के नष्ट होने पर सभी घट नष्ट हो जाएँगे और तृतीय कल्प में कारणत्व-घटक नियतत्व का समन्वय न हो सकेगा ।

(५) 'नियततज्जातीयत्वे सति तत्सादेश्यत्व' को भी कारणत्व नहीं मान सकते, क्योंकि इसके अनुसार घट और कपालों का सादेश्यत्व (समानदेशवृत्तित्व) होना चाहिए, किन्तु घट समवाय सम्बन्ध से कपालों में और कपाल समवाय सम्बन्ध से कपाल की अवयवभूत कपालियों में रहते हैं, अतः दोनों का सादेश्य या दैशिक सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं । यदि कहा जाय कि कपाल संयोग सम्बन्ध से जिस भूतल में हैं, घट भी संयोगेन वहाँ ही है, अतः समानदेशता घट जाती है तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि गुणादि में संयोग सम्बन्ध से समानाधिकरण्य सम्भव नहीं, अतः वहाँ लक्षण अव्याप्त हो जाता है । यदि स्वाश्रयसंयोगादि परम्परा सम्बन्ध से समानाधिकरण्य का गुणादि में भी सम्पादन किया जाता है, तब ऐसे पदार्थों का भी समानाधिकरण्य सम्पन्न हो जाता है, जिनका कार्य-कारणभाव होता ही नहीं, उनमें अतिप्रसङ्ग हो जायगा ।

घटादि पदार्थ समवाय संबन्ध से कपालों में हैं, किन्तु उनका साधारण कारण अदृष्ट (धर्माधर्म) आत्मा में रहता है, अतः भिन्नदेशवृत्ति पदार्थों का भी कार्यकारणभाव मानना होगा, तब तो सभी कार्यों की सामग्री में सभी कार्यों की कारणता प्राप्त होती है, क्योंकि

वरूपेऽन्वयव्यतिरेकसम्भवात् व्यक्तिगतसामान्ययोरेव कार्यकारणत्वापत्तेः। तद्गत-सामान्ययोरेवान्वयव्यतिरेकादिनियमः, व्यक्त्योश्च कार्यकारणतेति लक्ष्यलक्षणभाव-वैयधिकरण्यात्। सामान्याकारप्रविष्टां व्यक्तिमादायान्वयव्यतिरेके विशेषस्याकारणत्वं स्यात्, सामान्याकारेण च ·वंसतः कार्यत्व·। द्रव्यसामग्र्या वृक्षसामग्र्या शिंशपा-सामग्र्या च पृथग्व्यक्तिजननापत्तेः, पृथगेव तासां सामग्रीत्वात्। सर्वासाञ्च व्यक्ति

ण्डस्य पाटलीपुत्रीयघटजातीयपूर्ववर्तित्वेन कारणत्वं स्यात्सादेश्यत्वस्य त्वयैव तिरस्कृतत्वादित्यर्थः। किञ्च दण्डव्यक्तिघटव्यक्त्योः कार्यकारणभावो न स्यादेव पूर्ववर्त्तितानियमस्य सामान्यद्वयमात्रविश्रान्तत्वादित्याह ॐ अनुगते इति ॐ। ननु निर्विशेषं न सामान्यमिति सामान्यावच्छेदेनापि व्यक्तीनामेव कारणत्वं पर्यवस-न्नमित्याशंक्याह ॐ तद्गतेति ॐ। सामान्ययोर्नियतपौर्वापर्यलक्षणं कार्यकारणभावलक्षणं दण्डघटादौ लक्ष्ये नास्तीति वैयधिकरण्यमित्यर्थः। ननु तथापि घटजातीयनियतपूर्ववर्तित्वमेव कारणत्वं प्रमाणेन सामान्यस्य परिच्छेद्यमिति विशेषयोरपि कार्यकारणभावः स्यादेव विशेषगर्भत्वात्सामान्यस्येत्याशंक्याह ॐ सामान्या-कारेणेति ॐ। एवं सति विशेषः कारणं न स्यादेव कारणताग्राहकप्रमाणस्य विशिष्ट एव प्रवृत्तेः सामान्य-विशिष्टं वस्त्वन्तरमेव कारणं स्यान्न दण्डादिरित्यर्थः ॐ सामान्याकारेणेति ॐ। पूर्वसत एव कार्यत्वं स्यादिति सत्कार्यवादापत्तिरथवा पूर्वं सत एव घटस्य भाविदण्डकार्यत्वं स्यादित्यर्थः। किञ्च द्रव्यं वृक्षः शिंशपेति सामानाधिकरण्यप्रत्ययो न स्यात्सामग्रीत्रयेण कार्यत्रयजननासम्भवादित्याह ॐ द्रव्यसामग्र्येतिॐ। अत्र हेतुमाह ॐ पृथगेवेति ॐ। ननु सामग्रीत्रयेण वृक्षत्वशिंशपात्वादिधर्मत्रयं पृथगेव क्रियते व्यक्तिस्त्व-भिन्नेत्याशंक्याह ॐ सर्वासामिति ॐ। सामान्यत्रयमजन्यमेव तेन तद्भेदो नापाद्यते किन्तु व्यक्तिभेद एव सामग्रीभेदादापाद्यत इत्यर्थः। ननु शिंशपासामग्री वृक्षसामग्रीमिलितैव जनिकेति शिंशपा कथं वृक्षभिन्ना स्यादित्याशंकते ॐ शिंशपेति ॐ। शिंशपा वृक्षभिन्ना मास्तु वृक्षस्तत्र शिंशपाभिन्नो भवतु न हि वृक्ष-सामग्र्या अपि शिंशपासामग्रीसाहित्यनियम इति परिहरति ॐ वृक्षसामग्र्येति ॐ]। शिंशपासामग्री वृक्ष-

---

पूर्वभावित्वमात्र सभी में समान है।

दूसरी बात यह भी है कि सामान्यादि अनुगत पदार्थों में ही अन्वय-व्यतिरेक-घटित पूर्ववृतिता-नियम का सामञ्जस्य हो सकता है, उसके आधार पर व्यक्तियों में कार्यकारणभाव मानने पर निमित्त (लक्षण) और नैमित्तिक (लक्ष्य) का वैयधिकरण्य प्रसक्त होता है कि अन्वय-व्यतिरेक कहीं अन्यत्र और कार्यकारणभाव अन्यत्र।

यद्यपि सामान्य तत्त्व भी निराधार नहीं रहता, विशेष पदार्थ ही उसका आधार होता है, अतः विशेषगत सामान्य के अन्वय-व्यतिरेक में विशेष भी प्रविष्ठ है, इस प्रकार विशेषनिष्ठ अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर विशेषनिष्ठ कार्यकारभाव मानने में वैयधिकरण्यापत्ति नहीं होती। तथापि विशेष पदार्थ सामान्य का केवल विशेषणमात्र होता है, कार्यता या कारणता का आश्रय नहीं होता। अर्थात् द्रव्यत्वेन रूपेण ही कपालादि में कारणता और घटादि में कार्यता होती है, व कपालादि में कपालत्वेन कारणता और घटत्वेन घटादि में कार्यता। द्रव्य-त्वेन रूपेण कार्य की सत्ता पहले भी है, अतः सत्कार्यवाद भी प्रसक्त होता है।

[विशेषरूपेण कार्यकारणभाव मानने पर 'द्रव्यं वृक्षः शिंशपा'—इन तीनों का समा-नाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है, क्योंकि एक शिंशपा व्यक्ति अपनी विशेष सामग्री से ऐसी उत्पन्न हुई, जिसमें द्रव्यत्व, वृक्षत्व और शिंशपात्व—तीनों का समन्वय है, वह व्यक्ति वस्तुतः एक ही है, एकव्यक्ति-वाचकत्वेन उक्त तीनों पदों का समानाधिकरण्य निभ जाता है, किन्तु] सामान्याकारेण कार्यकारणभाव मानने पर द्रव्यत्वेन, वृक्षत्वेन और शिंशपात्वेन कार्य और कारण का भेद हो जाने के कारण यहाँ तीन सामग्रियाँ और उनसे तीन ऐसे कार्यों की उत्पत्ति होती है, जो कि परस्पर भिन्न हैं, भिन्न व्यक्तियों के वाचक होने के कारण उक्त तीनों पदों

प्रत्येव जनकत्वात्, द्रव्यत्वादीनामजन्यत्वात्। शिंशपासामग्र्या वृक्षसामग्रीसहिताया एव सामग्रीभावान्न पृथक् शिंशपाव्यक्तिरिति चेन्न, वृक्षसामग्र्याः शिंशपासामग्रीमतीत्यापि शालतमालादेर्वृक्षस्य जननात् पृथक्तया वृक्षव्यक्तिजननापत्तेः। साऽपि शिंशपासामग्री तन्मिलिता जनिकेति न व्यक्तिभेद इति चेन्न, शिंशपार्थातिरिक्तवृक्षार्थाभावापत्तेः। वृक्षशिंशपासामग्र्योरेकीभूतयोर्जननाविशेषाद् वृक्षसामग्री च वृक्षजनन एव क्वचिच्छिंशपासामग्री क्वचित्तमालसामग्रीमपेक्षत इति स्यात्। एकस्य वृक्षलक्षणस्य

सामग्री च मिलिते सामग्र्यैक्यं भजमाने चेत्कार्यं जनयतस्तदा शिंशपासामग्रीं विहाय वृक्षसामग्र्या तमालशालादिवृक्षस्य जनिर्न स्यात्तथा च दर्शनविरोध इत्याशयः। शालो महावृक्षः। यद्यपि वृक्षसामग्री शिंशपासामग्रीमतीत्यापि वर्तते, तथापि शिंशपासामग्री वृक्षसामग्रीमिलितैव कार्यं जनयतीति सामग्रीभेदाभावान्न वृक्षव्यक्तेः शिंशपाव्यक्तिभेद इति शंकते ❀ सापीति ❀। शिंशपासामग्री वृक्षसामग्रीमिलितैका सामग्री भूत्वा शिंशपाव्यक्तिं जनयति चेत्तदा तस्याः सामग्र्याः शिंशपाव्यक्तिसामग्रीत्वात्तया जातायाः शिंशपाव्यक्तित्वादेव वृक्षव्यक्तिसामग्र्या अभावेन वृक्षव्यक्तेरभावाच्छिंशपातिरिक्तवृक्षार्थाभावः स्यादिति दूषयति ❀ नेति ❀। वृक्षसामग्र्या अपि तत्सामग्रीमध्यपतितायाः प्रयोजकत्वात् वृक्षाक्षेपोऽपि स्यादित्याशंक्याह ❀ वृक्षेति ❀। शिंशपासामग्र्या वृक्षसामग्रीसहिताया एव जनकत्वनियमात् यथा वृक्ष। शिंशपैवं वृक्षसामग्र्या अपि शिंशपासामग्र्याः वृक्षसामग्रीसहिताया एव जनकत्वमेकत्र दृष्टमिति तत्रापि तथा नियमप्रसङ्गेनाक्षिशपारूपो वृक्षो न स्यादित्यर्थः। यत्र वृक्षसामग्र्यासमानादिसामग्रीसहिताया वृक्षजनकत्वं न तत्राशिंशपासामग्रीसाहित्यमिति शिंशपासामग्र्यपेक्षा नास्तीति नोक्तदोष इत्यत आह ❀ वृक्षसामग्री चेति ❀। काऽनुपपत्तिरित्यत आह ❀ एकेति ❀। शिंशपातमालादिसामग्रीसाहित्येन वृक्षसामग्र्या वृक्षसामग्रीत्वे शिंशपातत्सामग्रीत्वभेदेन तद्विशिष्टवृक्षसामग्र्या अपि भेदेन वृक्षलक्षणं कार्यमेकं न स्यात्सामग्रीभेदस्य कार्यभेदप्रयोजकत्वादित्यर्थः। सर्वत्राव्यभिचारिण्या वृक्षसामग्र्या वृक्षजनकत्वं न तु शिंशपावि-

का सामानाधिकरण्य संभव नहीं द्रव्य, वृक्ष और शिंशपा को उक्त तीनों सामग्रियों से तीन कार्य व्यक्तियों की उत्पत्ति न होकर द्रव्यत्वादि तीन सामान्यों की उत्पत्ति होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सामान्य या जाति तत्त्व नित्य होता है, परिशेषतः सामान्य की आश्रयीभूत व्यक्तियों की ही उत्पत्ति माननी होगी।

शङ्का—सामान्य सामग्री को छोड़कर विशेष सामग्री नहीं होती, अतः सामान्यभूत वृक्ष-सामग्री-सहित शिंशपा-सामग्री से जिस शिंशपा व्यक्ति की उत्पत्ति होती है, वह वृक्ष से भिन्न नहीं हो सकती।

समाधान-सामान्य वृक्ष की सामग्री से शाल, तमाल, बकुल, रसालादि अन्य वृक्षों की भी उत्पत्ति हो सकती है, केवल शिंशपा (शीशम) की ही नहीं। अतः वृक्ष सामान्य की सामग्री शिंशपा-सामग्री की अपेक्षा ही नहीं करती।

शङ्का—वृक्ष सामान्य-सामग्री अन्यत्र भले ही शिंशपा-सामग्री की अपेक्षा न करे किन्तु शिंशपा के उत्पादन में तो शिंशपा-सामग्री-सहित वृक्ष-सामग्री से ही व्यक्ति विशेष की उत्पत्ति होती है, वह शिंशपा वृक्ष व्यक्ति से भिन्न क्योंकर होगी?

समाधान—उक्त स्थल पर यदि एक ही कार्य व्यक्ति की उत्पत्ति और उसकी 'वृक्षः', 'शिंशपा' दो संज्ञायें मानी जाएँ, तब वहाँ 'वृक्ष' शब्द का भी वाच्यार्थ शिंशपा से अतिरिक्त नहीं होना चाहिए। 'सामग्री' नाम है—पूर्ण कारण-समूह का। एक कार्य की सामग्री अपना कार्य करने के लिए सामग्र्यन्तर की अपेक्षा नहीं किया करती। जैसे निंब और पिप्पल की सामग्रियों को पृथक् रखा जाय या दोनों को जोड़ दिया जाय, उनकी प्रजनन-शक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वैसे ही वृक्षसामान्य की सामग्री और शिंशपा की मिलित सामग्री में भी

कार्यस्य सामग्रीभेदे स्वरूपभेदापातात्। अननुगतायाश्च वृक्षसामग्रीत्वे पृथग्वृक्षव्यक्तेः पृथक् शिंशपाव्यक्तेरुत्पत्त्यापत्तेरित्यादि स्वयमूहनीयम्।

१२. वर्तमानत्वादिलक्षणखण्डनम्

नियमे च प्राक्कालीनतयाऽभिधीयमाने प्रागित्यस्य व्यवच्छेद्यौ वर्तमानभविष्यत्कालौ प्राक्कालश्च व्यवच्छेदको विवेचनीयः। न च तद्विवेचनं शक्यम्। वर्तमानादिबुद्धय एव स्वविषयवैचित्र्ये प्रमाणमिति चेन्न, तथाहि—वर्तमानादिबुद्धेरेव को

सामग्र्यास्ततो न कार्यभेद इत्यत आह ※ अननुगतेति ※। शिंशपादिसामग्रीनिरपेक्षाया एव वृक्षसामग्र्या वृक्षजनकत्वाच्छिंशपावृक्षव्यतिरिक्तवृक्षकार्योत्पादः स्यादित्याशयः। किञ्च सामग्री जनिकेति कोऽर्थः किं जनेर्हेतुः कर्त्ता वा ? नाद्यो जनेर्जन्यत्वेऽनवस्थापातादेकस्योभयहेतुत्वे भेदापातादजन्यत्वे हेतुसम्बन्धायोगात्। न द्वितीयश्चेतनत्वापातात्। क्रियाश्रयत्वमात्रं कर्त्तृत्वं चेत्तदपि प्राधान्येन प्रयोजकत्वेन वा ? नाद्यो घटे जायमाने कुलालादि जायत इति प्रसङ्गात्। नापि द्वितीयो घटस्य जन्याश्रयात्प्रागेव सिद्धिप्रसङ्गादिति द्रष्टव्यम्।

इति कारणत्वखण्डनम्।

एवं कारणलक्षणं निरस्य तद्विशेषणीभूतकालखण्डनमुपक्रमते ※ नियमे चेति ※। नियतप्राग्भावित्वं कारणत्वमित्यत्र कारणनियमे प्राक्कालीनतयाऽभिधीयमाने प्रागित्येतत्पदस्य व्यवच्छेद्यौ वर्त्तमानभविष्यत्कालौ विवेचनीयौ तयोर्व्यवच्छेदकः प्राक्कालोऽपि विवेचनीयस्तदज्ञाने व्यवच्छेदप्रतिपत्तेरयोगादित्यर्थः। प्राक्कालतानियमे कारणेऽभिधीयमान इति योज्यतां तर्हि इत्यत आह ※ न चेति ※। किमत्राशक्यं वर्त्तते वर्त्तिष्यते अवर्त्तिष्टेत्येवंरूपा बुद्धय एव विषयान्विचित्रान् समर्पयन्तीति तत्प्रमाणेन तद्विषयविवेचनं शक्यमिति शङ्कते ※ वर्तमानेति ※। अतीतानागतबुद्धिभ्यां व्यावृत्ता तथा सिद्धा बुद्धिः स्वविषयवर्त्तमानं व्यवस्थापयति बुद्धिव्यावृत्तिश्चार्थव्यावृत्यधीनेति परस्पराश्रयप्रसङ्ग इत्यभिप्रेत्य दूषयति

उनकी उत्पादन-क्षमता अकुण्ठित रहती है। वृक्ष की सामग्री वृक्ष के उत्पादन में कहीं शिंशपा-सामग्री और कहीं तमालादि-सामग्री की अपेक्षा करे—यह कैसे हो सकता है ? यदि एक ही वृक्ष के उत्पादन में दो स्वतन्त्र सामग्रियाँ सक्रिय हों, तब उस वृक्ष का स्वरूप-भेद हो जायगा। वृक्ष की सामग्री को अनुगत न मानकर यदि अननुगत माना जाता है, तब वृक्ष व्यक्ति से भिन्न शिंशपा व्यक्ति की उत्पत्ति क्यों न प्रसक्त होगी ? इस प्रकार कार्यकारणभाव का निरूपण न तो सामान्यतः हो सकता है और न विशेषतः—ऐसी खण्डन-युक्तियों की स्वयं उद्भावना कर लेनी चाहिये।

१२. वर्तमानादिकाल-लक्षण-खण्डन

कथित 'नियतप्राग्भावित्वं कारणत्वम्'—इस लक्षण के घटकीभूत प्राक्कालीनतया अभिधीयमान नियम में जो 'प्राक्' पद उपात्त है, उसके द्वारा व्यवच्छेद्य वर्तमान एवं अनागत काल तथा उसके व्यवच्छेदकीभूत 'प्राक्' पद से अभिहित अतीतकाल का निर्वचन अपेक्षित है, किन्तु उनका विवेचन हो नहीं सकता।

(१) वर्तमानादिप्रतीतिविषयत्वम्—

शङ्का—वर्तमानत्वादि का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है—(१) 'वर्तत इति प्रतीतिविषयत्वं वर्तमानत्वम्'। 'वर्तिष्यते इति प्रतीतिविषयत्वं भविष्यत्वम्'। 'अवर्तिष्ट इति प्रतीतिविषयत्वं भूतत्वम्'। इस प्रकार तीनों काल अपनी प्रतीतियों के द्वारा प्रमाणित होते हैं।

विषयः ? कालविशेष इति चेन्न, कालस्य विशेषः स्वाभाविक औपाधिको वा ? नाद्यः, कालस्य भवद्भिरेकत्वाभ्युपगमात्, य एव कालो वर्तमानः प्रतीयते, स एव पूर्वं भावीति पश्चाद् भूत इति च न प्रतीयेत। त्रिविधस्वभाव एवासादिति चेन्न, भेदप्रसङ्गात्, व्यवस्थानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च। यदैव वर्तत इति प्रत्ययस्तदैव वृत्तो वर्तिष्यत इति प्रत्ययप्रसङ्गात्।

द्वितीयश्चेदुपाधिरभिधीयताम्। सूर्यादिक्रियासम्बन्धभेदः स इति चेन्न, भूतभविष्यतोरपि क्रियासम्बन्धप्रत्ययस्यावश्यं वक्तव्यत्वात्। य एव दिवसः सूर्यगतिविशेषावच्छिन्नो वर्तत इति प्रतीतः, स एव हि तदवच्छिन्नो वृत्त इत्यवगम्यते वर्त्स्यं-

❀ नेति ❀। को विषय इति यत्पृष्टं तद्दर्शयति पूर्ववादी ❀ कालेति ❀। अतीतानागतकालविशेषावन्यः कालो वर्तमानबुद्धिविषय इत्यर्थः। कालविशेष एव दुर्निरूप इति परिहरति ❀ नेति ❀। स्वाभाविको वास्तवो वा विवक्षित उतोपाध्यवच्छेदेनेत्यर्थः। अपसिद्धान्तप्रसङ्गेन प्रथममपाकरोति ❀ नाद्य इति ❀। तर्हि प्रमाणप्राप्तत्वादङ्गीक्रियते कालभेदः प्रामाणिकस्यैव सिद्धान्तत्वादित्यत आह ❀ य एवेति ❀। यदि स्वाभाविको भेदस्तदा वर्तमानात्कालादन्य एवातीतोऽनागतो वेति वर्तमानः कालः कालान्तरेऽप्यतीत इत्यनागत इति वा न प्रतीयेतेत्यर्थः। अतीतानागतवर्तमानस्वभावोऽपि ततो नाऽतीतानागतवर्तमानगतत्वेन प्रतीतिविरोध इति शङ्कते ❀ त्रीति ❀। एकस्वभावमेकमुच्यते नानास्वभावं च नानोच्यते कालस्य त्रिविधस्वभावत्वे भेदस्य स्वाभाविकत्वप्रसङ्ग इति परिहरति ❀ नेति ❀। दोषान्तरमाह ❀व्यवस्थेति❀। त्रिविधस्वभावत्वे यदैव वर्तत इति प्रतीयते तदैवातीतादि न प्रतीयते कालान्तर एव तु तथा प्रतीयत इति या व्यवस्था सा न सिद्ध्येदित्यर्थः। तामेव स्पष्टयति ❀ यदेति ❀।

उपाध्यनिरूपणे द्वितीयकल्पोऽनुपपन्न इत्याह ❀द्वितीय इति❀। उपाध्यनिरूपणमसिद्धं सूर्यादिक्रियासम्बन्धस्यैवोपाधित्वादिति शङ्कते ❀ सूर्यादिति ❀। आदिग्रहणेन चन्द्रादिग्रहः। अतीतानागतक्रियाव्यतिरिक्तक्रियासम्बन्धो वर्तमानत्वे कालस्योपाधिरित्यर्थः। अतिप्रसङ्गेन दूषयति ❀ नेति ❀। यथा वर्तमानकालस्य सूर्यगत्यादिसम्बन्धविशेषोपाधिना वर्तत इति प्रत्ययविषयत्वं तथा भूतभविष्यत्कालयोरपि तस्यावश्यवक्तव्यतया नासावुपाधिरित्यर्थः। उपाधेर्वोपहितस्य वा भेदेनैकरूपप्रत्ययविषयत्वप्रसङ्गो नास्तीति चेन्मैवम्। योऽयं वर्तमानो दिवसः सूर्यादिगतिविशेषावच्छिन्नो वर्तत इति प्रतीयते स एव दिवसस्तेनैव सूर्यादिगतिविशेषावच्छिन्नो वर्त्स्यन्वर्तिष्यमाण इति प्रतीयते यत इत्याह ❀ य इति ❀।

समाधान—वर्तमानादि प्रतीतियों का विषय क्या है ? यदि कहा जाय कि कालविशेष। तब जिज्ञासा होती है कि कालगत विशेषता स्वाभाविक है ? या औपाधिक ? प्रथम पक्ष संगत नहीं, क्योंकि आप (नैयायिक) काल को स्वभावतः एक मानते हैं, स्वाभाविक भेद उसमें सम्भव ही नहीं। वर्तमानादिकाल यदि स्वभावतः भिन्न हो तब 'जो काल इस समय वर्तमान है, वही पहले भविष्यत् था और पश्चात् अतीत हो जायगा'—ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। 'एक ही काल का त्रिविध स्वभाव है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि एकस्वभाव की वस्तु को एक और नानास्वभाव की वस्तु को नाना माना जाता है, अतः त्रिविधस्वभाव मानने पर काल का स्वाभाविक भेद मानना होगा। इतना ही नहीं, एक ही काल के तीन स्वभाव मानने पर घटादि पदार्थों के लिए सदैव 'वर्तते, अवर्तिष्ट और वर्तिष्यते'—इस प्रकार त्रिविध व्यवहार प्रसक्त होगा, कोई व्यवस्था न रहेगी।

यदि कालगत विशेषता या भेद औपाधिक है, तब उस उपाधि का उल्लेख करना चाहिए, जो उस भेद का प्रयोजक है ? 'कालगत सूर्य-चन्द्रादि की क्रिया का सम्बन्ध ही भेद है'—ऐसा मानने पर उसी क्रिया को वर्तमान के समान भूत और भविष्यत् की भी उपाधि मानना होगा, क्योंकि जो दिन सूर्य की गतिविशेष से अवच्छिन्न होकर 'वर्तते'—इस प्रकार

मिति च। न हि निर्विशेषस्य कालस्य तदतीतत्वं प्रतीयतेऽनागतत्वं वा, किन्तु उपाधिविशेषेणैवावच्छिन्नस्य। येनैवासौ पूर्वं दिनान्तरात् व्यवच्छिन्नो वर्तत इति प्रतीतः, तेनैवोपाधिना तत एव व्यवच्छिन्नो वृत्त इति वर्तिष्यत इति च कदाचित् ज्ञायते। ननु सत्यमेतत्, परं यदा तदुपाधिसम्बन्धस्तस्य स्वरूपेणावतिष्ठमानस्तदा वर्तमानप्रत्ययः, यदा स एव विनष्टो भवति तदा भूतप्रत्ययः, यदाऽनागतस्तदा भविष्यत्प्रत्यय इति। नैतदस्ति यद्यत्र लटो विवक्षितोऽर्थस्तदा तज्ज्ञानस्यैव तज्ज्ञानोपायत्वमिति आत्माश्रयानवस्थयोरन्यतरप्रसङ्गः। विनष्टादिशब्दाश्च अतीतादिपर्यायास्तेषां सर्वेषामेवार्थे निरूप्यमाणे तन्मध्यपतितमेकं शब्दं प्रयुज्य तन्निरुक्तिं कुर्वाणः श्लाघनीयप्रज्ञो मातापितृमानसि।

क्रियावच्छिन्नः कालो वर्तमानः, तत्प्रागभावावच्छिन्नो भूतः, तत्प्रध्वंसाव-

---

अत्रैवोपपत्तिमाह ❀ न हीति ❀। कालमात्रविषयत्वेऽतीतानागतप्रतीत्योरेकरूपत्वप्रसङ्गादुपाधिविशेषावच्छिन्नस्यैव तथा प्रतीतिरित्यर्थः। तथापि किमित्यत आह ❀ येनेति ❀। सूर्यादिगतिसम्बन्धस्योपाधेरपि त्रिविधप्रत्ययहेतुत्वं न सम्भवतीत्युक्तं तत्रोपाधिविशेषं शंकते ❀ नन्विति ❀। उपाधिसम्बन्धत्रैविध्यात् त्रिविधप्रत्ययविषयत्वं भवतीत्यर्थः। अवतिष्ठमान इति लडादेशस्य शानचो रूपं। तत्र यदि लटोऽर्थो वर्तमानता यद्यविवक्षितस्तत्रोपाधिसम्बन्धमात्रं वर्तमानप्रत्ययहेतुरिति कालान्तरेऽपि वर्तमानप्रत्ययप्रसङ्गाद् व्यवस्था न स्याद्यदि विवक्षितस्तत्रोपाधिसत्वस्य वर्तमानत्वज्ञानात्कालस्य वर्तमानत्वं ज्ञातव्यं तच्च यद्येकमेव वर्तमानत्वं तर्हि तज्ज्ञानात्तज्ज्ञानमित्यात्माश्रयो यद्युपाध्यन्तरकृतं वर्तमानत्वमन्यत्तदाऽनवस्था स्यादित्यभिप्रेत्य दूषयति ❀ नेति ❀। यदुक्तमुपाधौ विनष्टे भूतप्रत्ययोऽनागते भविष्यत्प्रत्यय इति तत्राह ❀ विनष्टादीति ❀। तेन तात्पर्यवत्त्वेन तदर्थस्यैव निरूप्यमाणत्वात्तदर्थस्यैवाज्ञानात्तद्विशेषणविशिष्टलक्षणस्याज्ञानादसिद्धिरित्याशयः।

की प्रतीति का विषय होता है, वही दिन उसी क्रिया से अवच्छिन्न होकर 'वृत्तः' (अतीतः) एवं 'वर्त्स्यति' (वर्तिष्यते) इस प्रकार प्रतीत होता है। निर्विशेष (अनौपाधिक) काल में वर्तमानत्व के समान ही अतीतत्व और अनागतत्व प्रतीत नहीं होता, किन्तु उपाधिविशेषावच्छिन्न काल में ही उनकी प्रतीति होती है। जिस उपाधि से युक्त होकर वह दिन अन्य अतीत दिनों की अपेक्षा वर्तमानरूप से प्रतीत होता है, वही दिन उसी उपाधि से विशिष्ट होकर अतीत और भावी प्रतीत होता है।

शङ्का यह सत्य है कि वर्तमान, भूत और भविष्यत्—तीनों कालों की नियामिका सूर्यादि की क्रियारूप उपाधि एक ही है, किन्तु उस उपाधि की अवस्था में अन्तर रहता है—जिस काल में वह उपाधि स्वरूपतः अवस्थित है, तब उस काल को वर्तमान कहते हैं, जब वह उपाधि विनष्ट हो चुकी होती है, तब अतीत-व्यवहार और जब वह उपाधि अनागत होती है, तब भविष्यत् व्यवहार होता है।

समाधान—यह जो कहा गया है कि "यदा तदुपाधिसम्बन्धः तस्य स्वरूपेणावतिष्ठमानः"। वहाँ 'अवतिष्ठमान' पद में "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" (पा. सू. ३।२।१२४) इस सूत्र के द्वारा 'लट्' के स्थान पर शानच् आदेश हुआ है। वहाँ 'लट्' लकार का वर्तमानत्वरूप अर्थ विवक्षित है? या नहीं? यदि विवक्षित है, तब वर्तमानत्व के निरूपण में वर्तमानत्व की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होता है। यदि यह वर्तमानत्व अन्य है, तब अनवस्था होती है। इसी प्रकार 'विनष्ट' शब्द अतीत का और 'अनागत' पद भविष्यत् का पर्याय है, अतः अतीतत्व के निरूपण में अतीतत्व और भविष्यत् के निरूपण में भविष्यत्त्व की अपेक्षा होने के कारण आत्माश्रयादि दोष प्रसक्त होते हैं।

च्छिन्नो भविष्यन्निति चेन्न, अतीतानागतप्रतीतिकालोऽपि क्रियावच्छिन्नः प्रतीयत इति वर्तमानप्रत्ययप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात्, क्रियानवच्छिन्नस्य तत्प्रागभावप्रध्वंसाभावावच्छेदानुपपत्तेः।

प्रागभावश्च प्रागर्थानिरुक्तौ कथं न दुरधिगमः? प्रध्वंसस्यादि प्रागभावात्कथं विशेषो वक्तव्यः? अभावो विनाशी प्रागभावः, उत्पत्तिमान् प्रध्वंस इत्यनयोर्विशेष इति चेन्न, को हि प्रागभावस्य विनाशो येन विनाशीत्युच्यते? यदि प्रतियोगिभूतो

लक्षणान्तरं शङ्कते ॐ क्रियेति ॐ। नावतिष्ठमानत्वादिकं लक्षणविशेषणं किन्तु क्रियावच्छेदमात्रं, अतीतादिलक्षणे तु न विनष्टादिपदोपादानं किन्तु तदुपाधिप्रागभावावच्छिन्नो भूतस्तत्प्रध्वंसावच्छिन्नोऽनागत इति नोक्तदोष इत्यर्थः। अतिप्रसङ्गेन निराकरोति ॐ नेति ॐ। अतीतानागतप्रत्यया यस्मिन्काले जायन्ते तदानीमपि तस्य कालस्य क्रियाप्रतीतेर्वर्त्तत इति प्रत्ययप्रसङ्गतादवस्थ्यमित्यर्थः। अतीतादिप्रतीतिकाले क्रियाप्रागभावाद्यवच्छेदान्न वर्त्तमानप्रत्ययप्रसङ्ग इत्याशंक्याह ॐ क्रियेति ॐ। यस्यैव क्रियावच्छेदो गृह्यते न तस्यैव प्रागभावाद्यवच्छेदोऽपि विरोधान्निर्विशेषणक्रियावच्छेदप्रत्ययहेतुत्वेऽतीतादिप्रतीतिकालेपि प्रसज्येतैव वर्त्तमानप्रत्यय इत्यर्थः। तस्य कालस्य क्रियानवच्छिन्नस्यैव निर्विशेषणस्यैव तत्प्रागभावाद्यवच्छिन्नत्वमिति योजनीयम्।

यदुक्तं प्रागभावाद्यवच्छिन्नो भूत इति तद् दूषयति ॐ प्रागिति ॐ। आत्माश्रय इत्याशयः। पूर्वमविद्यमानोऽभावः प्रध्वंस इति प्रध्वंसस्य प्रागभावो वाच्यः स च न सम्भवति प्रागर्थानिरुक्तेरतः प्रध्वंसावच्छिन्नो भविष्यन्नित्यपि लक्षणमसिद्धमित्याह ॐ प्रेति ॐ। लक्षणभेदात्तयोर्विशेषाधिगम इति शङ्कते ॐ अभाव इति ॐ। उत्पत्तिमानभाव इत्यनुषङ्गः। कृत्यं स्पष्टम्। प्रागभावस्य विनाशानिरुक्त्या लक्षणासिद्धिरिति परिहरति ॐ नेति ॐ। विनाशद्वयं हि प्रागभावस्य भवद्भिरिष्यते घटश्च ध्वंसश्चेति अतो येन घटेन प्रध्वंसेन च विनाशीत्युच्यते तयोर्मध्ये कोऽत्रेष्ट इत्यर्थः। प्रतियोगिपक्षमनुवदति ॐ यदीति ॐ।

शङ्का—सूर्यादि की क्रिया से अवच्छिन्न काल को वर्तमान, उक्त क्रिया के प्रागभाव से अवच्छिन्न काल को अतीत और क्रिया के प्रध्वंस से अवच्छिन्न काल को भविष्यत् कहा जाता है।

समाधान—[विशिष्ट पदार्थ से अवच्छिन्न वस्तु का विशेषण से अवच्छिन्न होना आवश्यक है, अन्यथा दण्ड-रहित पुरुष से अवच्छिन्न देश को भी दण्डी पुरुष से अवच्छिन्न माना जाने लगेगा, अत:] क्रिया के प्रागभाव से अवच्छिन्न अतीत काल भी क्रियारूप विशेषण से अवच्छिन्न होने के कारण वर्तमान काल ही हो जाता है। इसी प्रकार क्रिया के ध्वंस से अवच्छिन्न काल (भविष्यत्) भी क्रियारूप विशेषण से अवच्छिन्न होकर वर्तमान ही हो जाता है। क्रिया से अनवच्छिन्न काल न तो क्रिया-प्रागभाव से अवच्छिन्न हो सकता है और न क्रिया के ध्वंस से, क्योंकि विशेषण से रहित देश या काल कभी भी विशिष्ट से युक्त नहीं हो सकता।

प्रागभाव के घटकीभूत प्राक् पदार्थ का निर्वचन जब तक नहीं होता, तब तक प्रागभाव का अर्थ जाना नहीं जा सकता। प्रागभाव और ध्वंस का अन्तर भी स्पष्ट करना चाहिए।

शङ्का—'प्रागभाव' शब्द यौगिक नहीं, रूढ़ है, अत: 'प्राक्' अर्थ की पृथक् अपेक्षा नहीं। 'विनाशी अभाव' को प्रागभाव और 'उत्पत्तिमान् अभाव' की प्रध्वंस रूढ़ संज्ञा है, अत: प्रागभाव और प्रध्वंस का अन्तर अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

समाधान—'विनाशी' शब्द का अर्थ होता है—"विनाशोऽस्यास्तीति विनाशी"। (विनाशसम्बन्धी)। यहाँ 'विनाश' पदार्थ क्या है, जिसके सम्बन्ध को लेकर अभाव को विनाशी कहा जाता है? यदि प्रतियोगीभूत घटादि पदार्थ को विनाश पदार्थ मान कर उसके

घटादिः, प्रध्वंसस्यापि प्रागभाववत्प्रतियोगीति सोऽपि विनाशी प्राप्तः ।

उत्पत्तिमांश्च प्रध्वंस इत्युत्पत्तिपदार्थो विवेचनीयः । यद्यसौ असतः सत्त्वम्, तच्च सामान्यं तदाऽभावेऽसम्भव एव । अथ स्वरूपसत्त्वं तदा प्रागभावेऽपि प्रसङ्गः, तस्यापि कदाचिदसत्त्वात् । पूर्वमसतः पश्चात्सत्त्वं विवक्षितमिति चेन्न, पूर्वेदानीं-पश्चादर्थस्यैवानिरूपणात् । एतेन कारणावच्छिन्नं सत्त्वमुत्पत्तिरित्यपि निरस्तम् । पूर्वापरनिर्वचनमन्तरेण कारणार्थानिर्वचनात् ।

अस्तु तावदतीतानागतयोर्यथातथा निरुक्तिः । यत्क्रियावच्छिन्नो यः कालः स

तर्हि घटप्रतियोगित्वं प्रध्वंसस्याप्यस्तीति सोऽपि विनाशी प्राप्त इति दूषयति ॐ प्रध्वंसेति ॐ । न च प्रागभावस्य विनाशो नाम स्वध्वंस एवेति कल्प्यम् । प्रागभाववानभावो ध्वंस इत्यङ्गीकारादन्योन्याश्रयप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम् । एवं प्रागभावलक्षणं निरस्य प्रध्वंसलक्षणं निराचष्टे ॐ उत्पत्तीति ॐ । उत्पत्तेर्ध्वंसलक्षणे विशेषणत्वात्तन्निर्वचनं कार्यं तच्चाशक्यमित्यर्थः । तथा हि असतः सत्त्वमुत्पत्तिः, उत कारणावच्छिन्नसत्त्वमिति विकल्प्याद्यमनुवदति ॐ यदीति ॐ । तदपि सत्त्वं सामान्यरूपमुत स्वरूपसत्त्वमिति विकल्प्य प्रथमम-नूद्यासम्भवमाह ॐ तदेति ॐ । अभावस्य निःसामान्यत्वादित्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते ॐ अथेति ॐ । असतः सत्त्वमात्रं जन्म प्रागसतः सत्त्वं वेति विकल्प्य प्रथमे प्रागभावस्यापि जन्मप्रसङ्गस्तस्य प्रतियोग्युत्पत्ते-रूर्ध्वमसत्त्वात्पूर्वं स्वरूपसत्त्वाच्चेत्याह ॐ तदेति ॐ । प्रागसतः सत्तासमवायो जनिरिति लक्षणात् द्वितीयः कल्पोऽभिमत इति शङ्कते ॐ पूर्वमिति ॐ । पूर्वशब्दार्थानिरुक्त्या विशिष्टलक्षणासिद्धिरिति दूषयति ॐ नेति ॐ । कारणसमवेतसत्त्वं जन्मेति द्वितीयकल्पेऽप्युक्तं खण्डनमतिदिशति ॐ एतेनेति ॐ । कथं तन्निरास इत्यत आह ॐ पूर्वेति ॐ । नियतपूर्वभावित्वस्यैव कारणत्वादिति यावत् ।

वर्त्तमानत्वे दोषान्तराभिधित्सया शङ्कते ॐ अस्त्विति । अतीतानागतयोः कालयोर्यादृक्तादृङ्नि-रुक्तिः स्यान्नास्माकमादरो यथाऽऽवित्यादिगतिलक्षणया क्रिययाऽवच्छिन्नो यः कालः स तां क्रियामपेक्ष्य वर्त्तमानो भवति । क्रियावच्छिन्नो वर्त्तमान इत्युक्ते ह्यवर्त्तमानादिक्रियावच्छिन्नः कालो वर्त्तमानः स्यात्-

---

सम्बन्ध से घटादिप्रतियोगिक अभाव को विनाशी कहा जाता है, तब घटादिप्रतियोगिक ध्वंस को भी विनाशी कहना होगा, क्योंकि वह भी घटादिरूप विनाश का सम्बन्धी है ।

इसी प्रकार 'उत्पत्तिमान् प्रध्वंसः' इस लक्षण के घटकीभूत उत्पत्ति पदार्थ का विवेचन अपेक्षित है । यदि 'असत् पदार्थ की सत्ता' को उत्पत्ति पदार्थ माना जाता है और सत्ता का अर्थ है—महासामान्य या जाति । तब तो यह लक्षण अभाव में कभी नहीं घट सकता, क्योंकि अभाव में जाति नहीं मानी जाती । यदि स्वरूपसत्त्व को उत्पत्ति पदार्थ माना जाता है, तब प्रागभाव में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि प्रागभाव भी घटादि की उत्पत्ति के पश्चात् असत् और उत्पत्ति से पूर्व कपालादि में स्वरूपसत् माना जाता है । यदि कहा जाय कि प्रागभाव तो पहले सत् और पश्चात् असत् होता है किन्तु जो पहले असत् और पश्चात् सत् होता है, वह उत्पत्तिमान् है । तो वैसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्व (अतीत), इदानीं (वर्तमान्) और पश्चात् (भविष्यत्) इन तीनों पदार्थो का ही निरूपण हो रहा है ।

शङ्का—कारणावच्छिन्न सत्त्व को उत्पत्ति पदार्थ मानने पर प्रागभाव में अतिप्रसक्ति नहीं होती, क्योंकि प्रागभाव अनादि है, अतः उसका कोई कारण ही नहीं होता । ['कारणा-वच्छिन्नं सत्त्वम्'—इसका 'कारणसमवेतसत्त्व' अर्थ करने पर ध्वंस में भी उत्पत्ति पदार्थ नहीं घट सकता, अतः 'कारणसाकल्यानन्तरोत्तरास्तित्वम्'—ऐसा ही अर्थ करना होगा] ।

समाधान—इस लक्षण में कारणपदार्थ के निरूपण की और कारणपदार्थ के निर्वचन में कालिक परत्वापरत्व के निरूपण की अपेक्षा होने से चक्रकादि दोष प्रसक्त होते हैं ।

शङ्का—अतीत और अनागत काल का निर्वचन वर्तमान के निर्वचन से गतार्थ हो जाता

तत्क्रियापेक्षया वर्तमानो न त्वन्यापेक्षयेति चेत्, तदपेक्षयेति कोऽर्थः—किं तदुपधानेन, उत तदवधिकतया, उत तत्प्रतियोगिकतया, उत तेन प्रकारेणेत्येव? नाद्यः, उपाध्यवच्छिन्नस्य अतीतानागतप्रतिपत्तिविषयत्वमपि तस्येत्यसकृदुक्तत्वात्। नापि द्वितीयः, 'अस्मादयं दीर्घः' इतिवत् 'अस्मादयं वर्तते' इत्यवध्यपेक्षामन्तरेण प्रतीयमानत्वात् सर्वदेव च त्रिविधावध्यपेक्षया 'आसीदस्ति भविष्यती'ति प्रत्ययाऽव्यवस्थाप्रसङ्गात्। अत एव न तृतीयः। नापि चतुर्थः अतीतानागतप्रतीतिकाले क्रियावच्छेद-

था सत्यविशेषितकालस्यैव तदुपाध्यवच्छिन्नत्वात्तस्यातीतानागतप्रतीतिविषयत्वमपि स्यादिति तन्निरासार्थं तामपेक्ष्येत्युक्तमिति वर्त्तमाननिरुक्तौ पश्चादितरनिरुक्तिरपि स्यादित्यर्थः। दूषणोक्तिविभागविज्ञप्त्यै विकल्पयति ❀ तदिति ❀। किं क्रियाया उपाधित्वादपेक्षा किमवधितया किं प्रतियोगितया प्रकारमात्रेण वेति क्रमेण विकल्पार्थः। घटात्पटो भिन्न इतिवद् घटः पटो न भवतीत्यत्र पञ्चम्यन्तनिर्दिष्टावधित्वमन्तरेणापि प्रतियोगित्वं दृष्टमिति पृथग्विकल्पो द्रष्टव्यः। आद्यमपवदति ❀ नेति ❀। तदुपाध्यवच्छिन्नस्यैवातीतानागतप्रत्ययविषयत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। अवधिरपेक्षाशब्दार्थं इति द्वितीयं दूषयति ❀ नेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ अस्मादिति ❀। अस्मादयं ह्रस्वोऽस्मादयं दीर्घं इति ह्रस्वादिपदार्थावधिमपेक्ष्य प्रतीयते न तथा वर्त्तमानपदार्थः प्रतीयमानोऽस्मादयं वर्त्तत इति प्रतीयतेऽपितु तन्निरपेक्षोऽतो दर्शनविरोध इत्याशयः। भङ्ग्यन्तरं भणति ❀ सर्वेति ❀। यदैव वर्त्तमानताप्रत्ययस्तदैवातीतानागतप्रत्ययापेक्षया आसीदस्ति भविष्यतीति त्रिविधव्यवहारप्रसङ्गोऽविशेषादेवञ्च कालान्तर एवातीतानागतप्रत्यय इति व्यवस्था न स्यादित्यर्थः। उक्तन्यायं कल्पान्तरेऽप्यतिदिशति ❀ अत इति ❀। सर्वदैवातीतानागतवर्त्तमानसूर्यादिगतिक्रियाप्रतियोगेन त्रिविधप्रत्ययप्रसङ्गेनाव्यवस्थानात् तृतीयकल्पो न घटत इत्यर्थः। अतीतोऽनागत इति प्रतीतिर्यदा कालविषया जायते तदा यस्य कस्यचित्क्रियावच्छेदप्रकारस्य विद्यमानत्वाद्वर्त्तत इति प्रतीतिविषयत्वप्रसङ्गान्न तुरीयोऽपीत्याह ❀ नापीति ❀। क्रियावच्छेदप्रकारस्य यदा वर्त्तमानता तदैव तेन

है और वर्तमान का परिष्कृत लक्षण यह है—'यया क्रियया अवच्छिन्नो यः कालः, स तामेवापेक्ष्य वर्तमानकालः।' [वह अवच्छेदकीभूत क्रिया विविध किया-प्रकारों का समूह भी हो सकती है, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"नानाविधा चैकार्था क्रिया पचतीति स्थाल्यधिश्रयणम्, उदकासेचनम्, तण्डुलावपनम्, एधोऽपसर्पणम्, अग्न्यभिज्वालनम्, दर्वीघट्टनम्, मण्डस्रावणम्, अधोऽवतारणम्" (न्या० भा० पृ० ७४)]। पाक क्रिया से अवच्छिन्न काल पाक क्रिया की अपेक्षा वर्तमान काल है, अतः पचति का प्रयोग होता है।

समाधान—उक्त लक्षण में जो कहा गया है 'तत्क्रियापेक्षया'—वहाँ क्रिया की अपेक्षा किस रूप में की जाती है? क्या (१) उपाधितया? या (२) अवधितया? या (३) प्रतियोगितया? अथवा (४) प्रकारतया? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि यह कई बार कहा जा चुका है कि अतीत और अनागत के व्यवहार में भी उसी क्रिया की कालिक उपाधि के रूप में अपेक्षा की जाती है। द्वितीय (अवधि) कल्प भी समीचीन नहीं, क्योंकि जैसे 'तस्मादयं दीर्घः'—इत्यादि प्रयोगों में तदादि पदार्थ अवधिरूप में प्रस्तुत किए जाते हैं, वैसे 'पाकादयं वर्तते'—ऐसा प्रयोग नहीं होता, अपितु 'पाको वर्तते'—ऐसा अवधि-निरपेक्ष प्रयोग ही होता है। किसी क्रिया को यदि वर्तमान की अवधि माना जाता है, तब उपाधि के समान उसी क्रिया को तीनों कालों की अवधि भी मानना होगा, फलतः 'आसीद्, अस्ति, भविष्यति'—ये तीनों प्रयोग एक साथ प्रसक्त होंगे, उनकी कोई व्यवस्था न रहेगी।

इन्हीं दोषों के कारण तृतीय (प्रतियोगी) कल्प भी नहीं अपनाया जा सकता, क्योंकि जैसे 'घटात् पटो भिन्नः'—इत्यादि प्रयोगों में घटादि पदार्थों की प्रतियोगिविधया अपेक्षा होती है, वैसे 'पाकादयं वर्तते'—इस प्रकार पाकादि की प्रतियोगिविधया भी अपेक्षा नहीं

प्रकारेण वर्तमानप्रत्ययविषयत्वप्रसङ्गात्। नासौ क्रियावच्छेदलक्षणः प्रकारोऽतीतानागतकाले वर्तत इति चेन्न, वर्तमानताया अद्याप्यनिरूपणेन वर्तत इत्युक्त्वा विशेषस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। तत्क्रियाकाले तत्क्रियावच्छिन्नः कालो वर्तमान इति चेन्न, कालस्य कालाश्रयतया निरूपणासम्भवात्कालान्तरस्यानभ्युपगमात्, तस्यैव कालस्य तदाश्रयत्वे व्यक्तमात्माश्रयत्वापत्तेः।

स्यादेतत्- ग्राहकविज्ञानविषयो ग्राहकविज्ञानाश्रयश्च कालो वर्तमानः,

---

प्रकारेण तत्र वर्तमानप्रत्ययोऽतीतानागतसमये तस्यावर्तमानत्वान्न तेनापि प्रकारेण वर्तमानप्रत्यय इति शङ्कते * नासाविति *। वर्तमानार्थस्याद्याप्यनिरूपितत्वान्नासौ प्रकारो वर्तमान इत्यनया वाग्भङ्ग्या विशेषस्य दर्शयितुमशक्यत्वमात्माश्रयादिति परिहरति * नेति *। तत्क्रियावच्छिन्नकालस्तत्क्रियासत्त्वकाले वर्तमानो न तत्क्रियाया असत्त्वकालेऽतोऽनागतप्रतीतिसमये नासौ वर्तमान इति शङ्कते *तदिति*। काले काल इत्यत्र हि कालस्य कालाधारत्वमुच्यते तन्न सम्भवतीति परिहरति * नेति *। कालस्य कालान्तराश्रयत्वमुत तस्यैवाश्रयत्वमाश्रयित्वं चेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह * कालेति *। द्वितीयमपवदति * तस्येति *।

सूर्यादिक्रियावच्छेदस्योपाधित्वे खण्डिते उपाध्यन्तरं शङ्कते * स्यादिति। ग्राहकविज्ञानविषयत्वमिदानीमतीतकालस्यापि सम्भवति तदर्थमुक्तं ग्राहकविज्ञानाश्रय इति। कालान्तरग्राहकविज्ञानाश्रयत्वमतीतकालस्याप्यस्तीति तदर्थं ग्राहकविज्ञानविषय इत्युक्तम्। वर्तत इति कालग्राहिविज्ञानं यस्मिन्काले जायते तस्य कालस्य तज्ज्ञानविषयत्वं वर्तमानत्वमित्यर्थः। वर्तमानकाललक्षणमुक्त्वाऽतीतकाललक्षणमाह * वर्तमानेति *। एतद्वर्तमानकालोपाधिभूतज्ञानप्रागभावावच्छिन्नः कालोऽतीत इत्यर्थः। एतत्प्रध्वंसा-

---

देखी जाती। चतुर्थ (प्रकार) कल्प भी युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि 'घटत्वावच्छिन्नः प्रतियोगी' के समान जो 'क्रियावच्छिन्नः कालो वर्तमानकालः', 'क्रियाध्वंसावच्छिन्नोऽतीतः', 'क्रियाप्रागभावावच्छिन्नो भविष्यत्कालः'—ऐसी व्यवस्था की जाती है, वहाँ अतीत और अनागतकाल के अवच्छेदकीभूत पदार्थों में क्रिया भी प्रविष्ट होने के कारण उन कालों की अवच्छेदिका है, अतः उस क्रिया से अवच्छिन्न होकर अतीत और अनागत काल भी वर्तमान काल ही हो जाते हैं।

शङ्का—जैसे वर्तमान काल की अवच्छेदकीभूत पाकादि क्रिया वर्तमान होती है, वैसे अतीतादि कालों की अवच्छेदिका नहीं होती, अपितु अतीत क्रिया अतीत काल की एवं अनागत क्रिया भविष्यत्काल की अवच्छेदिका होती है।

समाधान--वर्तमानत्वादि का अभी तक कोई निर्णय नहीं हो पाया, तब वर्तमान क्रिया को वर्तमान काल का अवच्छेदक या प्रकार मानने पर आत्माश्रय दोष ही होता है।

शङ्का—केवल 'क्रियावच्छिन्नः' कहने पर अतीतादि में अतिप्रसक्ति अवश्य होती है किन्तु 'तत्क्रियाकाले तत्क्रियावच्छिन्नः कालो वर्तमानकालः'-- ऐसा कहने पर अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि अतीतादि कालों में वह क्रिया वर्तमान नहीं होती।

समाधान—यह जो कहा कि 'क्रियाकाले क्रियावच्छिन्नः कालः'—यहाँ पर काल में काल की आश्रयता प्रतिपादित है, वह सम्भव नहीं, क्योंकि काल एक ही है, अनेक नहीं कि एक काल में दूसरा काल रह जायगा। उसी काल को उसी काल का आश्रय मानने पर आत्माश्रय दोष जागरूक हो जाता है।

(४) ग्राहकविज्ञानविषयो ग्राहकविज्ञानाश्रयश्च कालो वर्तमानः—

शङ्का—'वर्तते'—इस प्रकार की कालग्राहिका प्रतीति का आश्रय और विषय काल वर्तमान ही होता है। इसी प्रकार इस प्रतीति के प्रागभाव से अवच्छिन्न काल अतीत और इस प्रतीति के ध्वंस से युक्त काल अनागत कहा जा सकता है—यहाँ प्रागभाव और प्रध्वंस

वर्तमनोपाधिप्रागभावावच्छिन्नश्च पूर्वः, तत्प्रध्वंसाभावावच्छिन्नश्चानागतः। प्रागभावप्रध्वंसयोश्च स्वाभाविकमेव भेदमादाय व्यवस्था। प्राग्व्यवस्थाहेतुरभावः प्रागभाव इति स्वभावभूतस्यैव विशेषस्य कार्यमादाय लक्षणम्, अनागतव्यवस्थानिदानमभावः प्रध्वंस इति च प्रध्वंसस्येति। मैवम्, ज्ञानास्वप्रकाशतापक्षे स्वोपहितस्य स्वयं ग्रहणानुपपत्तेः कथं वर्तमानताग्रहः? ज्ञानान्तरेण च तथाग्रहे वर्तमानतावभासाङ्गीकारे 'तदाऽसौ दृष्टो मये'ति प्रत्ययस्य 'तदाऽसौ मया दृश्यते' इत्याकारतापत्तिः। अत एव स्वप्रकाशपक्षेऽप्यनिस्तारः। यावानर्थः स्वप्रकाशे वर्तमानतयोक्तस्तावत एव परेण

वच्छिन्नश्च कालोऽनागत इत्याह ❀ तदिति ❀। इदानीं प्रागभावप्रध्वंसनिरुक्तौ पूर्वोक्तं दूषणं परिहरन्नाह ❀ प्रागिति ❀। प्रागभावप्रध्वंसयोः स्वाभाविकभेदसद्भावे माननाह ❀ प्रागिति ❀। स्वभावभूतस्यैव प्रागभावादिगतविशेषस्य कार्यं प्रागवस्थामनागतव्यवस्थां चाऽऽदाय लक्षणे तेनेतरत्कार्यद्वयकारणत्वमभावलक्षणमित्यर्थः। यदि हि वर्तमान इति प्रत्ययाधारत्वं तद्विषयत्वं च वर्तमानता तर्हि तेन ज्ञानेन स्वरूपमपि ग्राह्यं स्यादुपाधिग्रहणं विनोपहितग्रहणादर्शनात्तच्च वैशेषिकपक्षे नास्तीति वर्तमानज्ञानं न स्यादित्याह ❀ मैवमिति ❀। अस्वप्रकाशवादिमते ज्ञानान्तरवेद्यत्वमिष्टमतो ज्ञानान्तरेणोपाधिभूतज्ञानग्रहे वर्तमानतावभास इत्यत आह ❀ ज्ञानेति ❀। असौ वर्तमानः कालो मया दृष्ट इति तज्ज्ञानविषयत्वं तदाधारत्वं च तस्य कालस्य गृह्यते तदा तेनापि वर्तमानता गृहीतेति दृष्ट इत्यतीतप्रत्ययस्य वर्तमानार्थग्राहितया दृश्यत इति वर्तमानाकारतापत्तिरित्यर्थः। दृष्ट इति ज्ञानस्य वर्तमानाकारतापत्तौ च स्वप्रकाशपक्षेऽपि न निस्तार इत्याह ❀ अत इति ❀। कथमित्याकाङ्क्षायामाह ❀ यावानिति ❀। वर्तमानाकार-

का निर्वचन अपेक्षित नहीं, क्योंकि उनका जो स्वाभाविक भेद लोक-प्रसिद्ध है, उसको लेकर सब व्यवस्था बन जाती है [अर्थात् 'इह तन्तुषु पटो भविष्यति'—इस प्रकार के व्यवहार का नियामक प्रागभाव और 'इह पटो नष्टः'—इस प्रकार के व्यवहार का निर्वाह ध्वंस के द्वारा हो जाता है]। व्यवहार-भेद-जनकत्वेन प्रागभाव और प्रध्वंस का लक्षण भी किया जा सकता है।

समाधान—स्वप्रकाशवाद में ज्ञान स्वयं अपना ग्राहक होने के कारण स्वाश्रयीभूत (स्वविशिष्ट या स्वोपहित) काल का ग्राहक हो जाता है, किन्तु न्याय-वैशेषिकमत (अस्वप्रकाश या परप्रकाशवाद) में वैसा सम्भव नहीं, अतः कालगत स्वोपहितत्वरूप वर्तमानता का ग्रहण ज्ञान के द्वारा कैसे होगा ? 'परप्रकाशवाद में ज्ञानोपहितत्वरूप वर्तमानता का ग्रहण उसी ज्ञान से न होकर ज्ञानान्तर से हो जायगा'—ऐसा मानने पर अतीतता और अनागतता को भी वर्तमानता कहना होगा [वस्तु स्थिति यह है कि ग्राह्य और ग्राहक विज्ञान एक काल में न्यायमतानुसार सम्भव नहीं, अतः वर्तमान ज्ञान की ग्राहकता वर्तमान ज्ञान में न होकर अतीत या अनागत ज्ञान की ग्राहकता ही वर्तमान ज्ञान में माननी होगी। जैसे कालगत वर्तमानज्ञानोपहितता वर्तमानता मानी जाती है, वैसे ही अतीतज्ञानोपहितता अतीतता और अनागतज्ञानोपहितता भविष्यत्ता मानी जाती है। इसलिए ज्ञान के तीन आकार प्रसिद्ध है—(१) 'असौ मया दृश्यते', (२) 'असौ मया दृष्टः', (३) 'असौ मया द्रक्ष्यते'। ये तीनों क्रमशः वर्तमानता, अतीतता और भविष्यत्ता की प्रतीतियाँ हैं। ज्ञानोपहिततामात्र को वर्तमानता मानने पर अतीतज्ञानोपहितता और अनागतज्ञानोपहितता का भी ग्रहण हो सकता है, अतः 'असौ मया दृष्टः' और 'असौ मया द्रक्ष्यते'—इन प्रतीतियों को भी 'मया दृश्यते'—इस प्रकार वर्तमानता-ग्राहक मानना होगा]।

इस आपत्ति का निस्तार स्वप्रकाशवाद में भी नहीं होता, क्योंकि स्वप्रकाशवाद में वर्तमानता का जो आकार बताया गया है—'ग्राहकविज्ञानाश्रयत्वम्', वह 'असौ मया दृष्टः'—इस प्रतीति में भी विद्यमान है, किन्तु उसमें वर्तमानता-ग्राहकत्व न होने से ही व्यभिचार

ग्रहणे व्यभिचारात्, स्वप्रकाशतयाश्चाधिकयेऽपि विषये विशेषाभावात्। स्वरूपमेव विशेष इति चेन्न, तस्यानुगमाननुगमाभ्यामनुपपत्तेः। प्राक्प्रध्वंसाभावयोश्च स्वरूपतोऽविशेषेऽपि कतरो भूतव्यवहारस्य कतरश्च अनागतव्यवहारस्योपाधिरित्यनुयुक्ते कार्यभेदजनकतया च तन्निरुक्तावुत्तरे पूर्वप्रत्युक्तां पूर्वतापरतानिरुक्तिं विना जन्यजनकत्वाज्ञानमिति। उपाधिभेदाच्च कालभेदे योऽप्येकतयाऽभिमतः कालः, सोऽपि चन्द्रसूर्यक्रियाद्यसङ्ख्योपाधिभेदसम्भवेन नाना स्यात्। तत्रायमेवोपाधिर्नायमिति चाविनिगम्यत्वात्। प्रतिक्षणस्वभावभेदवादिपक्षे च नानाक्षणेषु वर्तमानत्वादिव्यवहा-

---

ज्ञानविषयज्ञानकालस्य ज्ञानसम्बन्धः स दृष्ट इति ज्ञानस्याप्यविशिष्ट इत्यर्थः। ज्ञानान्तरेण ज्ञानावच्छिन्न-वर्त्तमानत्वग्राहकदृष्ट इत्याकारस्य दृश्यत इत्यकारापत्तिरित्युक्तमयुक्तं ग्राहकज्ञाने स्वप्रकाशत्वाविशेषादित्यत आह ❀ स्वेति ❀। ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेन स्फुरणेऽपि पूर्वोक्तज्ञानविषये नास्ति विशेष इत्यर्थः। कथं विशेषाभावः कालविशेषणज्ञानस्य स्वग्राहकज्ञानाभेदाद्व्यविशेषस्य भावादिति शङ्कते ❀ स्वेति ❀। स्वशब्देन सर्वनाम्ना ज्ञानमात्राभिधाने ज्ञानान्तरमपि स्वयमेवेति स एव व्यभिचारस्तद्विशेषाभिधाने नाम्य-स्मिन्वर्त्तमानकाले तद्व्यक्तिघटितं लक्षणमित्यव्याप्तिरिति परिहरति ❀ नेति ❀। यदुक्तं प्रागभावप्रध्वं-सयोः स्वाभाविकभेदमादाय व्यवस्थेति तत्राह ❀ प्रागिति ❀। अनुयुक्ते कार्यभेदजनकतया या निरुक्तिः सैवासदुत्तरं तस्मिन्नुत्तरे या पूर्वनिरस्ता पूर्वापरता तन्निरुक्तिं विना जन्यजनकत्वाज्ञानमित्यन्योन्याश्रय इत्याशयः। इतश्चोपाधिभेदात्कालभेद इत्युक्तमित्याह ❀ उपाधीति ❀। योऽप्येकतयाऽभिमतो वर्त्तमानः कालः सोऽप्यनेकसूर्यक्रियाद्यनन्तोपाधिसम्भिन्न इत्येकोपाधिविशिष्टोऽप्युपाधिभेदादनेकः स्यादित्यर्थः। तत्र सूर्यपरिस्पन्दस्यैवोपाधित्वम्न चन्द्रादिपरिस्पन्दानामवर्जनीयतया सन्निधानात्तेषामित्यत आह ❀ तत्रेति ❀। तास्वनन्तक्रियासु मध्य एकस्या एव क्रियायाः कालोपाधित्वमित्यत्र मानाभावेन निर्णयाभाव इति यावत्। वैशेषिकपक्षोक्तदोषं सर्वक्षणेषु कालस्वभाव एव भिद्यत इति सुगतमतेऽप्यतिदिशति ❀प्रतीति❀। येन स्वाभाविककालभेदोऽङ्गीक्रियते तेनापि वर्त्तमानोऽनेककालेष्वनुगतवर्त्तमानबुद्ध्याविसिद्धये वर्त्तमानत्वं

होता है। ज्ञान का 'स्वप्रकाशत्व' विशेषण अधिक लगा देने पर भी उसके वर्तमानतारूप विषय में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यद्यपि परप्रकाश ज्ञान की अपेक्षा स्वप्रकाश ज्ञान का स्वरूप विशिष्ट (भिन्न) होता है और उसके भेद से तदुपाधिक काल में भी विशेषता आ जाती है, तथापि स्वप्रकाश ज्ञानरूप उपाधि के घटकीभूत 'स्व' शब्द के द्वारा ज्ञानमात्र का ग्रहण करने पर पूर्वोक्त आपत्ति बनी रहती है और तत्तद् ज्ञान व्यक्ति का ग्रहण करने पर अननुगम दोष होता है।

दूसरी बात यह भी है कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव दोनों में स्वरूपतः विशेषता मानकर भिन्न व्यवहार-जनकत्व कहा गया, वहाँ जिज्ञासा होती है कि उनमें कौन भूत-व्यवहार की और कौन अनागत व्यवहार की उपाधि मानी जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में यदि कहा जाता है कि प्राक् या पूर्वभावी व्यवहाररूप कार्य का जनक अभाव अनागत-व्यवहार की उपाधि अपरकार्य-जनक अपरकोटिरूप ध्वंस अतीत-व्यवहार की उपाधि है। तब उक्त लक्षण और पूर्वापरभावरूप कारणत्व के निर्वचनों में अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है। पूर्वता और अपरता के निर्वचन में दोषों का उद्भावन किया जा चुका है।

सूर्यादि की जिन क्रियारूप उपाधियों के द्वारा एक काल के तीन स्वरूप बनाए गए, उनमें से प्रत्येक वर्तमानादिकाल के अनन्त अवान्तर क्रिया-प्रकाररूप उपाधियों के द्वारा असङ्ख्य भेद हो जाते हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रादि की गतियाँ एक समान नहीं, विषम हैं। उनकी क्रियाओं में 'अयमेवोपाधिर्नायम्'—ऐसी विनिगमनिका नहीं की जा सकती। यद्यपि बौद्धादिगण काल का औपाधिक भेद न मानकर स्वाभाविक भेद मानते हैं, तथापि

रार्थमुपाध्यनुसरणावश्यम्भावेन उक्तोपाधिदोषग्रासस्यैवाऽऽपातादिति ।

१३. संशयलक्षणखण्डनम्

ननु तथापि तावद्विषयभेदेनावश्यं भवितव्यम्, प्रतीतिभेदस्य दुरपह्नवत्वात्। अतः सामान्यतः सिद्धौ विशेषतो विवेचनाशक्तौ भेदे संशय एवास्तामिति चेन्न, संशयस्यापि निर्वक्तुमशक्यत्वात्। तथा हि – संशयस्य निश्चयात्किमुपाधिकृतो विशेषः, उत जातिकृतः? आद्ये किं विषयविशेषेणोपाधिना, उत कारणविशेषेण उतान्येनैव केनचित्सम्बन्धिना कृतः? न प्रथमः, तस्यानिर्वचनात्। उभयकोटिविषयः संशय इति

कश्चिदुपाधिरुपन्यसनीय एवमतीतेऽवतीतत्वमनागतेषु चानागतत्वमत्यनुगतोपाधिनिरुक्तौ पूर्वोक्तानामेव दूषणानां तत्र सत्वं क्रियावच्छेदमन्तरेण वर्तमानत्वाद्यसिद्धेरित्यर्थः ।

इति कालखण्डनम् ।

संशयखण्डनोपक्रमाय सङ्गतिं करोति ❀ नन्विति ❀ । वर्त्तते वत्स्यत्यवर्तिष्टेति प्रतीतिभेदस्यानुभवसिद्धतयाऽपलपितुमशक्यत्वात्प्रतीतेश्च निर्विषयतयाऽसम्भवाद्भवितव्यं तेनापि तस्य चाऽयमसाविति विशेषदर्शनासम्भवे सामान्यग्रहणं विशेषाग्रहणसहितं कालविषयसंशयं जनयति तेन संशयैककोटिनिविष्टतया कालसिद्धिरित्यर्थः । संशयस्यैव निर्वचनानर्हतया कथं कोटितया कालसिद्धिरिति परिहरति ❀ नेति ❀ । तदनिर्वचनं दर्शयितुं विकल्पयति ❀ तथा हीति ❀ । उपाधिकल्पं त्रिधा विकल्पयति ❀ आद्य इति ❀ । विषयविशेषितः कश्चिद्धर्म एवं विधविषयमवगाहमानरूपस्तत्कारणविशेषितः कश्चिद्धर्मः तन्निष्ठः साधारणधर्म्मः दर्शनजन्यत्वादिरूप उत विषयकारणव्यतिरिक्तेनान्येन सम्बन्धिना विशेषितस्तन्निष्ठो धर्म्म इति विकल्पानामर्थः । सम्बन्धिनेति विशेषणं अतिप्रसङ्गपरिहाराय । विषयविशेषकृतं संशयस्य निश्चयात् भेदं दूषयति ❀ नेति ❀ । संशयस्य विषयनिर्वचनं शङ्कते ❀ उभयेति ❀ । अनेककोट्यवलम्बिज्ञानं संशय इत्यर्थः । अनेककोटिसमुच्चयमात्रज्ञानं संशय उत विरोध्यनेककोटिज्ञानमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह

नानाक्षण-समूह में वर्तमानत्वादि-व्यवहार का निर्वाह करने के लिए सूर्यगत्यादिरूप उपाधियों का अनुसरण अवश्यम्भावी है, अतः उनके मत में भी कथित दोष प्रसक्त होते हैं।

१३. संशय-लक्षण-खण्डन

शङ्का—यद्यपि वर्तमानादि कालभेद के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, तथापि वर्तमानादिरूप विषय की सामान्यतः सिद्धि हो जाती है, क्योंकि तद्विषयक 'वर्तते'—इत्यादि प्रतीतियों का अत्यन्त अपलाप नहीं किया जा सकता। हाँ, विशेषतः उनका निर्वचन यदि नहीं हो सकता, तब संशय तो रहेगा ही, उससे भी सामान्यतः विषय सिद्ध होता है।

समाधान—संशय के बल पर भी विषय वस्तु की सामान्यतः सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि संशय का भी निर्वचन नहीं हो सकता। एक स्वाभाविक यह प्रश्न होता है कि संशय ज्ञान का निश्चय ज्ञान से भेद (१) उपाधिकृत है ? या (२) जात्या ?

(१) एकधर्मिकविरुद्धोभयकोटिकं ज्ञानं संशयः—

(१) प्रथम पक्ष में भी जिज्ञासा होती है कि क्या विषयविशेष उपाधि है ? या कारणविशेष ? अथवा कोई अन्य सम्बन्धी ? पहली विषयरूप उपाधि का निर्वचन ही नहीं हो सकता, क्योंकि एकधार्मिक विरुद्धोभयकोटिविषयक ज्ञान को संशय मानने पर उभयकोटिविषयक निश्चय में संशयत्वापत्ति होती है। 'एकधार्मिक विरुद्धोभयकोटिविषयक कोई

चेन्न, कोटिद्वयसमुच्चयनिश्चयस्यापि संशयत्वप्रसङ्गात्। प्रतीतिरेव नैवमिति चेन्न, भेदाभेदप्रतीतीनां शाब्दस्वाप्नादिप्रतीतीनां च तादृशां सम्भवात्। समुच्चयप्रकाशे कोट्योरविरोधः प्रकाशते, संशये तु विरोध इति चेन्न, 'पीतः शङ्खः' इत्यादिषु पीतत्वशङ्खत्वादेर्भिन्नाश्रयतानियमं विरोधं जानतोऽपि प्रत्ययात्। तथापि तस्यां बुद्धौ न भासते विरोध इति चेन्न, कथमेवमिति प्रकाशेऽपि तत्प्रकाशात्। तयोरेकाश्रययोर्विरोधप्रतीतेरवश्योपेयत्वात्। मिथ्याधियस्ता इति चेन्न, संशयस्यापि भवद्भिरतत्त्वबुद्धितयाऽङ्गीकारात्। तत्त्वातत्त्वबुद्ध्योश्च तद्विषयत्वेन विशेषाभावात्। न हि मिथ्यारजतबुद्धौ रजतबुद्धिरेव न भवति।

* नेति *। कोटिद्वयसमुच्चयनिश्चयज्ञानं यत्र जायते तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। एकस्यानेककोटिसमुच्चयमुल्लिखन् निश्चय एव नास्ति तत्कुतोऽतिव्याप्तिरिति शङ्कते * प्रतीतिरिति *। अनेकान्तवादिमते भिन्नोऽभिन्नश्च घटः सन्नसंश्चेत्यादिप्रत्ययस्य स्थाणुश्च पुरुषश्चेति शाब्दनिश्चयस्य च स्वप्नेन्द्रजालादिप्रत्ययस्य च सम्भवान्नैवमिति परिहरति * नेति *। द्वितीयं शङ्कते * समुच्चयेति *। विरोधप्रकाशे सति समुच्चयज्ञानं संशयस्तदप्रकाशे तु निश्चय इति विशेष इत्यर्थः। अतिव्यापकमिति परिहरति *नेति*। पीतः शङ्ख इति पीतत्वशङ्खत्वयोर्विरोधज्ञानात्तस्यैव पित्तदुष्टेन्द्रियस्य पीतत्वशङ्खत्वयोर्मिथो विरुद्धयोरेकस्मिन् धर्मिणि ग्रहदर्शनाद्विरुद्धानेककोटिज्ञानं संशय इत्येतदतिव्याप्तं पीतत्वशङ्खत्वयोर्भिन्नाधिकरणत्वेन विरोधादित्यर्थः। आदिपदेन पयस्तिक्तमित्यादिसङ्ग्रहः। यद्यपि सहानवस्थानलक्षणो विरोधो ज्ञानान्तरेण गृह्यते, तथापि न तेनैव गृह्यतेऽतो विरोधग्राहकत्वे सत्यनेककोट्युपलम्भित्वं संशयलक्षणं त्वदुक्तस्थले नास्तीति नातिव्याप्तिरिति शङ्कते * तथापीति *। कथमयं शङ्खः पीतः स्यादित्यत्र कथमित्यंशस्य विरोधग्राहकत्वाच्छेषस्य च कोटिद्वयग्राहकत्वाद्विमर्शरूपप्रत्ययेऽतिव्याप्तिरिति परिहरति * नेति *। यद्यपि विमर्शे विरोधः स्फुरति तथापि पीतः शङ्ख इत्याश्रयतया प्रतीयमानयोर्विरोधो नं स्फुरतीत्यत आह * तयोरिति *। तत्र ग्रहणव्यतिरेकेण तद्गतविरोधादित्यर्थः। पीतः शङ्ख इत्यादिषु समुच्चयविषयासु यद्यविरोधो भाति तथापि मिथ्याधियस्ता अमिथ्यात्वेन च विशिष्टं संशयलक्षणं विवक्षितमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते * मिथ्येति *। संशयस्यापि मिथ्याबुद्धित्वेन स्वीकाराद्विशेषणासिद्धिरिति परिहरति * नेति *। संशयस्य तत्त्वबुद्धित्वमतत्त्वबुद्धित्वं च विभ्रमस्येत्युपगम्यापि विशेषणं दूषयति * तत्त्वेति *। तयोस्तत्त्वातत्त्वबुद्धित्वेन सत्यपि विशेषे विरुद्धानेकप्रकारावगाहित्वेऽविशेषस्तावन्मात्रस्यैवाऽऽभासत्वप्रयोजकत्वेन तथेत्यादिविशेषणमुपादेयं वैयर्थ्यादविशेषणमुक्त्वा विशेषणान्तरोपगमे हेत्वन्तरा-

प्रतीति ही नहीं होती'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनेकान्तवाद में भेदाभेदविषयक प्रतीति एवं वैसी शाब्द स्वाप्नादि अनन्त प्रतीतियाँ प्रसिद्ध हैं।

शङ्का—विरुद्धोभयकोटिविषयक निश्चय में उभय कोटियों का परस्पर अविरोध अवभासित होता है किन्तु संशय में उभय कोटियों का विरोध प्रतीत होता है, अतः उक्त निश्चय में संशयत्वापत्ति क्यों होगी ?

समाधान—'पीतः शङ्खः'—इत्यादि विपर्यय ज्ञानों में भी उक्त संशयत्व अतिव्याप्त है, क्योंकि जो व्यक्ति 'पीतत्व' और 'शङ्खत्व'—इन दोनों धर्मों का भिन्नाश्रयत्वरूप विरोध जानता है, उसे भी पित्तदोष के कारण 'पीतः शङ्खः'—ऐसी प्रतीति होती है। 'इस प्रतीति में भी विरोध अवभासित नहीं होता'- ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'कथमयं शङ्खः पीतः स्यात्'—इस प्रकार के संशय से यह सिद्ध होता है कि 'पीतः शङ्खः'—ऐसे निश्चय में पीतत्व और शंखत्व की विरोध-प्रतीति होती है। विपर्यय प्रतीति को यदि मिथ्या प्रत्यय माना जाता है, तब संशय को भी नैयायिकगण अतत्त्व-ज्ञान ही मानते हैं। तत्त्व-ज्ञान और विपर्यय ज्ञान में विषय का समानरूप से ही भान माना जाता है, क्योंकि सत्य रजत के ज्ञान में जैसे रजत

अव्यवस्थितकोटिद्वयविषयः संशय इति चेत्, केयमव्यवस्थितता? पाक्षिकतेति चेत्, न पर्यायं पृच्छामः, अपितु किं कोटिद्वयस्वरूपमेव उत कोटिद्वयस्य धर्मः कश्चित्? आद्ये कोटिद्वयनिश्चयेन सहाविशेषस्तदवस्थः। द्वितीये यद्यसौ केनचित्प्रमाणेन सिद्धस्तदा तस्यैव कोटिद्वयाश्रिततद्धर्मविषयस्य संशयत्वप्रसङ्गेन प्रमाणत्वव्याघातः। अथ कस्यचित्प्रमाणस्य नासौ विषयः, नास्ति तर्हि विषयकृतो विशेषः। एतेन—अन्योऽपि यः कश्चिद्विषयविशेषः स्थाणुतदभावपुरुषतदभावादिरूपोऽभिधो-

---

घाताच्चेत्यर्थः। तत्त्वातत्त्वबुद्ध्योरेकविषयत्वसम्भवे दृष्टान्तमाह ❀ न हीति ❀।

लक्षणान्तरं शङ्कते ❀ अव्यवस्थेति ❀। समुच्चयग्राहकनिश्चयस्य स्थाणुः पुरुषश्चेतिरूपस्य व्यवस्थितविषयत्वादव्यवस्थितानेककोटिविषयत्वं च संशयलक्षणमतो नातिव्याप्तिरित्यर्थः। ज्ञानस्यैव लक्षणविशेषणत्वादव्यवस्थितत्वशब्दार्थः त्वया कथनीय इति मत्वा पृच्छति ❀ केति ❀। पर्यायेणोत्तरमाह ❀ पाक्षिकेति ❀। तदर्थप्रश्ने शब्दपर्यायकथनं कथय कथं घटतां प्राञ्चतीत्याह ❀ नेति ❀। किं तर्हि पृच्छ्यत इत्यत आह ❀ अपि त्विति ❀। अव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयस्वरूपं तद्धर्मो वेति विकल्पार्थः। अनेककोटिनिश्चयस्य पूर्ववत्संशयत्वप्रसङ्गो दुर्वार इति प्रथमं प्रत्याह ❀ आद्य इति ❀। द्वितीयेऽपि तस्मिन्धर्मे किञ्चित्प्रमाणमस्ति न वेति विकल्प्य प्रथममनुवदति ❀ द्वीति ❀। धर्मिग्रहणमन्तरेण तदाश्रितधर्मग्रहणायोगात्तत्प्रमाणं पाक्षिकत्वधर्मविशिष्टकोटिद्वयग्राहकमिति संशयलक्षणं तत्रातिव्यापकमिति परिहरति ❀ नेति ❀। द्वितीयं शङ्कते ❀ अथेति ❀। यन्न केनचित्प्रमीयते तत्रास्ति शशशृङ्गत्वविति भवदभ्युपगमात्पाक्षिकत्वस्यासिद्ध्या तद्विशिष्टसंशयलक्षणासिद्धिरिति दूषयति ❀नेति❀। उत्क्रम्यायं पक्षान्तरेऽप्यतिदिशति ❀ एतेनेति ❀। स्थाणुनिष्ठस्तदभावनिष्ठो वा पुरुषनिष्ठस्तदभावनिष्ठो वाऽन्यो वा कश्चिद्विशेषोऽस्ति तद्विशिष्टानेककोटिविषयत्वं संशयत्वमित्यत्रापि विशेषस्य प्रमितत्वाप्रमित-

---

अवभासित है, वैसे ही शुक्ति-रजत-ज्ञान में भी।

(२) अव्यवस्थितकोटिद्वयविषयः संशयः—

शङ्का—"समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" (न्या. सू. १।१।२३) इस सूत्र में संगृहीत लक्षणांशो में यह भी एक संशय का लक्षण न्यायलीलावती में किया गया है कि अव्यवस्थित दो कोटियों को विषय करनेवाला ज्ञान संशय है।

समाधान—कोटिगत अव्यवस्थितता क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में यदि कहा जाय कि 'पाक्षिकता'। तो वैसा कहना उचित न होगा, क्योंकि पाक्षिकता तो अव्यवस्थितता का पर्याय शब्द है, यहाँ अव्यवस्थितता का पर्याय शब्द क्या है? ऐसा प्रश्न तो नहीं किया जा रहा कि उत्तर में पर्याय शब्द का उच्चारण पर्याप्त मान लिया जाय। यहाँ तो यह पूछा जा रहा है कि 'अव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयस्य स्वरूपं वा? धर्मो वा?' इनमें से प्रथम कल्प मानने पर कोटिद्वयविषयक निश्चय में संशयत्वापत्ति पूर्ववत् ही है। द्वितीय कल्प में जिज्ञासा होती है कि अव्यवस्थितत्वरूप धर्म में कोई प्रमाण है? अथवा नहीं? यदि कोई प्रमाण है, तब वह प्रमाण जब तक कोटिद्वयरूप धर्मी का ग्रहण नहीं करता, तब तक उसके अव्यवस्थितत्वरूप धर्म का ग्राहक नहीं हो सकता, अतः उस प्रमाण ज्ञान को अव्यवस्थितत्व-विशिष्ट कोटिद्वय का ग्राहक मानना होगा, यह संशय का लक्षण उस प्रमाण ज्ञान में अतिप्रसक्त होता है, उस ज्ञान को संशयात्मक मान लेने पर प्रमाकरणतारूप प्रमाणता भी बाधित हो जाती है। यदि अव्यवस्थितत्वरूप धर्म किसी भी प्रमाण का विषय नहीं, तब वह धर्म खपुष्प के समान असिद्ध हो जाता है, उसकी असिद्धि से 'अव्यवस्थितत्वविशिष्टकोटिद्वयग्राहकत्वरूप संशय-लक्षण भी असिद्ध हो जाता है। निश्चय और संशय में किसी प्रकार का विषय-वैलक्षण्य सिद्ध

यते, सोऽपि निरस्तो वेदितव्यः। अत्यन्तासत एव च तस्य प्रतिभासे जितं जिनैरसत्ख्यातिवादिभिः। क्वचित्सतश्चेत्तत्रैव प्रसङ्गः।

नापि द्वितीयः, कारणविशेषो हि विशिष्य सामग्री स्यात्तदेकदेशो वा ? नाद्यः, तस्या अप्रत्यक्षत्वेन तदुपहितस्य प्रत्यक्षतोऽवगमानुपपत्तेः। न च तस्या अनुमेयत्वम्, लिङ्गासम्भवात्। कार्यविशेष एव लिङ्गमिति चेन्न, कार्यगतस्यैव विशेषस्य चिन्त्य-

---

त्वविकल्पोक्तदूषणं तुल्यमित्यर्थः किञ्चाप्रमितं चेत्प्रमीयते किमसदेव उत क्वचित्सदिति विकल्प्य प्रथमे शून्यख्यातिप्रसङ्ग इत्याह ❀ अत्यन्तेति ❀। द्वितीयं दूषयति ❀ क्वचिदिति ❀। यत्र सत्त्वं तत्र प्रमितत्वेन तत्प्रमायामतिव्याप्तिरित्यर्थः।

विषयविशेषोपाधिं निराकृत्य कारणविशेषोपाधिं निराकरोति ❀ नापीति ❀। तदुपपादनाय विकल्पयति ❀ कारणेति ❀। अनिष्टप्रसङ्गेन प्रथमं निराकरोति ❀ नेति ❀। उपाधिप्रत्यक्षत्वे सत्येवोपहितप्रत्यक्षत्वं दृष्टं दण्डयादौ सामग्र्याश्चाप्रत्यक्षत्वात्तदुपहितस्य संशयत्वस्य प्रत्यक्षत्वन्न स्यात्प्रत्यक्षं च तद् दृश्यते मानसवेद्यत्वादित्यर्थः। सामग्र्या अनुमेयत्वात्तदुपाधिकं संशयत्वमप्यनुमेयमस्तु तत्राह ❀ न चेति ❀। लिङ्गाभावोऽसिद्धः सामग्रीजन्यकार्यगतविशेषस्यैव लिङ्गत्वादिति शङ्कते ❀ कार्येति ❀। ज्ञानगतपाक्षिकत्वलक्षणविशेषसिद्धौ तद्बलेन सामग्रीविशेषसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदुपाधिकविशेषसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयान्न कार्यगतविशेषोऽद्यापि लभ्यत इत्यर्थः। तर्हि संशयत्वजातिरेव सामग्री-

---

नहीं होता।

यह जो कहा जाता था कि—'स्थाणुपुरुषः'—इस प्रकार के निश्चय में केवल स्थाणुत्व और पुरुषत्वरूप दो कोटियों का ही ग्रहण होता है, किन्तु 'स्थाणुर्वा, पुरुषो वा ?' इस प्रकार के संशय में स्थाणुत्व, स्थाणुत्वाभाव, पुरुषत्व और पुरुषत्वाभावरूप चार कोटियों का ग्रहण होता है। वह विषय-वैलक्षण्य भी प्रमाणसिद्धत्वासिद्धत्वादि विकल्पों के द्वारा दूषित हो जाता है। अप्रामाणिक और अत्यन्त असत् विषय-वैलक्षण्य का भान मानने पर असत्ख्यातिवादी बौद्धों का सिद्धान्त मानना पड़ जाता है। ['शुक्ति-रजतादि-स्थल पर प्रतीयमान रजतादि पदार्थ असत् होते हैं, क्योंकि किसी प्रमाण के द्वारा उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती'—ऐसा शून्यवादी बौद्धों के सिद्धान्त को असत्ख्याति कहा जाता है। श्री नागार्जुन की यह प्रमुख तर्क-शैली है—

अन्यैर्यदि प्रमाणैः प्रमाणसिद्धिर्भवत्यनवस्था।
नादेः सिद्धिस्तत्रापि नैव मध्यस्य नान्तस्य॥ (विग्रह० ३२)

रजतादि की सिद्धि जिस प्रमाण से मानी जाती है, उस प्रमाण की सिद्धि यदि प्रमाणान्तर से मानी जाती है, तब अनवस्था, अन्यथा न प्रथम प्रमाण की सिद्धि होती है, न मध्य की और न अन्तिम की। प्रमाण की सिद्धि के बिना रजतादि प्रमेयपदार्थों की सत्ता क्योंकर सिद्ध होगी ?]। यदि अव्यवस्थितत्व-विशिष्ट विषय कहीं सत् माना जाता है, तब उसके ग्राहक प्रमाण में पूर्ववत् संशयत्वापत्ति और प्रमाणत्व की हानि होती है।

(२) द्वितीय (संशयगत कारणकृत भेद) पक्ष भी समुचित नहीं, क्योंकि भेदक कारणविशेष क्या संशय की पूर्ण सामग्री है ? या उसका एकदेश ? प्रथम पक्ष नहीं मान सकते, क्योंकि दृष्टादृष्टकारण-घटित सामग्री का प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण उस सामग्री से विशिष्ट कार्य का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उस अदृश्य सामग्री का अनुमापक कोई लिङ्ग न होने के कारण उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। सामग्री से जन्य कार्यगत (संशयगत) वैशिष्ट्य ही अपनी सामग्री का लिङ्ग (अनुमापक) होगा—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि संशयगत वैशिष्ट्य ही तो विचाराधीन है, उसकी अभी तक सिद्धि ही

मानस्याद्याप्यप्राप्तेः जातिभेदस्य दूषणीयत्वात् । नापि द्वितीयः, दृश्यस्य तदेकदेशस्य साधारणधर्मदर्शनादेर्विशेषद्वयस्मरणादेश्च साधारणधर्मविशेषद्वयज्ञानप्रत्यक्षादावपि हेतुत्वेन साधारण्यात् । अदृश्ये च तस्मिल्लिङ्गाभावात् । तेन कार्ये विशेषजात्याधानस्य निरस्यत्वात् । तस्या अविषयत्वेन अनुव्यवसायसाक्षिककार्यगतविशेषीभवनासामर्थ्यात् ।

नापि तृतीयः, तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् । न च द्वितीयः, धर्मिस्वरूपादेरपि

लिङ्गमास्तामित्यत आह ॐ जातीति ॐ । नाप्यर्थापत्तितस्तत्सिद्धिरुक्तन्यायेनानुपपद्यमानार्थाभावान्नाप्यागमतः कृतकस्याकृतकस्य वा तद्विषयस्यादर्शनान्नाप्युपमानतस्तस्य सादृश्यमात्रविषयत्वात् । भावबोधनेऽनुपलब्धेरभिप्रायाभावान्नाप्यभावत इति द्रष्टव्यम् । सामग्र्येकदेशः संशयत्वोपाधिरिति द्वितीयं दूषयति ॐ नापीति ॐ । दृश्योऽसावदृश्यो वेति विकल्प्य दृश्यपक्षे दोषमाह ॐ दृश्यस्येति ॐ । साधारणधर्मज्ञानं कोटिद्वयरूपविशेषस्मरणं च यदा मनसा गृह्यते विधीयते वा तदा तत्र साधारणधर्म्मविशेषद्वयस्मरणप्रत्यक्षादावपि विषयतया हेतुत्वेन साधारणधर्मदर्शनादौ संशयोपाधित्वन्न सम्भवति तत्प्रत्यक्षादावप्यन्यथासंशयत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । आदिपदेनानेकधर्मादिसंग्रहः । स्मरणादेरित्यत्रादिपदेन तदभिधानसंग्रहः । अदृश्यपक्षे दोषमाह ॐ अदृश्ये चेति ॐ । लिङ्गाभावमेव स्पष्टयति ॐ तेनेति ॐ । तेनादृश्यसामग्र्यैकदेशेन कार्ये संशये विशेषणज्ञानस्य संशयत्वसामान्यसम्बन्धलक्षणस्य चानिरसनीयत्वात् लिङ्गाभाव इत्यर्थः । अदृश्यत्वे च संशयग्राहकानुव्यवसायप्रत्यक्षे स्फुरणमपि तस्य न स्यादतश्चोपाधिघटितरूपस्यानिर्णयाद्भेदोऽपि न सिद्ध्येदित्याह ॐ तस्येति ॐ । उपाधेरप्रत्यक्षतया तदुपहितविशेषस्याविषयत्वेनानुव्यवसायज्ञानं यन्मम संशयो जात इति तद्विषयस्तत्कार्यं संशयज्ञानं तद्गतविशेषीभवितुमस्य सामर्थ्यं संशयविषयप्रत्यक्षे तदग्रहणादिति योजना ।

अन्येन केनचित्सम्बन्धिना संशयस्य निश्चयाद् विशेषः कृत इति पक्षं दूषयति ॐ नापीति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ तस्येति ॐ । विषयकरणातिरिक्तस्योपाधेर्दर्शयितुमशक्यत्वादिति यावत् । संशयस्य निश्चयात्किमुपाधिकृतो विशेष उत जातिकृत इति विकल्प्य प्रथममपाकृत्य सम्प्रति द्वितीयं दूषयति ॐ नेति ॐ । संशयत्वजात्यधिकरणज्ञानस्य संशयत्वे तद्विषयजातस्य संशयितत्वादयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्य-

नहीं हुई, असिद्ध पदार्थ किसी का भी अनुमापक नहीं हो सकता । 'संशयत्व' जाति को भी लिङ्ग नहीं बना सकते—यह आगे कहा जायगा ।

द्वितीय पक्ष के अनुसार सामग्री के एकदेश को भी कारणविशेष नहीं कह सकते, क्योंकि संशय की दृश्यादृश्यकारण-घटित सामग्री का जो दृश्यरूप एकदेश है—साधारण धर्म का दर्शन एवं कोटिद्वय का स्मरण, उसे संशयत्व की उपाधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब साधारण धर्म का दर्शन और कोटिद्वय का स्मरण मन के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है, तब वह विषयविधया मानस प्रत्यक्ष का भी हेतु हो जाता है । उसे यदि संशयत्व का प्रयोजक माना जाता है, तब उक्त मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) में भी संशयत्वापत्ति होती है । यदि सामग्री का एकदेश अदृश्य माना जाता है, तब उसके सद्भाव में लिङ्गादि सम्भव नहीं, क्योंकि वह अदृश्य है । सामग्री के इस एकदेश के द्वारा अपने कार्यभूत संशय में संशयत्वादि जाति के सम्बन्ध का आधान किया जाता है—इसका भी आगे चलकर निरास किया जा रहा है । अदृश्य सामग्री संशयविषयक मानस प्रत्यक्ष के विषय का विशेषण भी नहीं बन सकती ।

तृतीय कल्प के अनुसार संशय के किसी अन्य सम्बन्धी को भी निश्चय से उसका भेदक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमाण के विना किसी वस्तु की भी सिद्धि नहीं होती ।

यह जो आरम्भ में विकल्प किए गए थे कि "संशयस्य निश्चयात् किमुपाधिकृतो विशेषः ? उत जातिकृतः" । उनमें द्वितीय विकल्प भी संगत नहीं, क्योंकि संशयत्व जाति के

तद्विषयतया संशयितत्वप्रसङ्गात्। न चैवं 'न ह्ययं स्थाणुर्वा पुरुषो वे'ति संशये सति इदमा परामृष्यमाणस्य ऊर्ध्वत्वशालिनो धर्मिणः स्वरूपसत्त्वेऽपि स्वरूपमेव भवति न वेति तद्द्रष्टुरभिमानो व्यवहारो वा, किं नाम? तत्र स्वरूपसत्त्वमात्रांशावलम्बिनस्तस्य ज्ञानस्य निश्चयत्वमेव। ततः किमिति चेत्, एकस्यैव ज्ञानस्य निश्चयत्वजातिसङ्करः। स प्रामाण्याप्रामाण्यवद् भविष्यतीति चेन्न, अत एव हि तयोरपि जातित्वानङ्गीकारः। किं नाम? तथाभूतातथाभूतार्थतालक्षणोपाधिद्वयरूपतास्वीकार एव तयोः। यदा च संशयत्वनिश्चयत्वलक्षणजातिद्वयसम्भिन्नं तद्विज्ञानमास्थीयते तदा कञ्चिद्विषयमपेक्ष्य संशयत्वं कञ्चिदपेक्ष्य निश्चयत्वमित्यापेक्षिकी जातिव्यवस्थितिरित्य-

---

त्रेदमा निर्दिश्यमानधर्म्यादिस्वरूपस्यापि तद्विषयतया संशयितत्वं प्रसज्येत निश्चयविषयस्य निश्चितत्त्ववदिति हेतुमाह ॐ धर्मीति ॐ। अस्तु को दोष इत्यत आह ॐ न चेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐन हीतिॐ। स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयसमये इदमा परामृश्यमान ऊर्ध्वताविशिष्टो धर्मी तस्य स्वरूपसमयेऽपि किं तत्स्वरूपं भवति न वेति द्रष्टुः संशयाभिमानव्यवहारौ न स्त इत्यर्थः। किं तर्हि तत्र स्यादित्यत आह ॐ किमिति ॐ। तत्र संशयविषये स्वरूपसत्तांशमात्रज्ञानस्य निश्चयत्वमेव, "सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय" इति भवता स्वीकारादित्यर्थः। स्वाभिप्रायमेव प्रश्नपूर्वकं व्यक्तीकरोति ॐ तत इति ॐ। धर्मिज्ञाने निर्णयत्वं विशेषांशे संशयत्वमिति निर्णयत्वसंशयत्वजातिद्वयस्यैकस्मिन्संशयज्ञाने सङ्करप्रसङ्ग इति यावत्। यथा प्रमात्वाप्रमात्वयोरस्मिन् ज्ञाने धर्मिप्रकारभेदमादायाङ्गीकारस्तथा संशयत्वनिर्णयत्वयोरपि सङ्करः धर्मिप्रकारभेदादविरुद्ध इति शङ्कते ॐ स इति ॐ। प्रमात्वाप्रमात्वयोरपि जातित्वं नाङ्गीक्रियते साङ्कर्यबाधात्किन्तूपाधित्वमिति परिहरति ॐ नेति ॐ। यद्यजातित्वं किन्तर्हि, उपाधिता उपाधित्वे वा क उपाधिरित्यत आह ॐ किमिति ॐ। अबाध्यार्थत्वं बाध्यार्थत्वं च प्रमात्वाप्रमात्वयोरुपाधिरित्यर्थः। एकस्यामपि ज्ञानव्यक्तौ विषयांशकृतभेदेन जातिद्वयस्य व्यवस्थितिरविरुद्धेत्युक्तमनुवदति दूषयितुं ॐ यदेति ॐ। ज्ञानव्यक्तेः स्वतो निरंशत्वाद्विषयभेदकृतभेदानुपपत्तेर्जातेश्च कृत्स्नव्यक्तिगतत्वादापेक्षिकी व्यवस्थितिः कल्पयितुमशक्येत्यर्थः। एवम्भूतव्यवस्थानिर्णायकं किञ्चिन्न पश्याम

अधिकरणीभूत पूरे ज्ञान को संशय मानने पर उस ज्ञान का विषयीभूत धर्मी भी सन्दिग्ध हो जायगा किन्तु धर्मी को संशयित नहीं, निश्चित ही माना जाता है। अर्थात् 'अयं स्थाणुर्वा? पुरुषो वा?' यह ज्ञान स्थाणुत्व और पुरुषत्वरूप प्रकार या धर्मांश में ही संशय रूप माना जाता है, इदंपदार्थरूप धर्मी अंश में नहीं, क्योंकि वह ऊर्ध्वत्वादि साधारण धर्मो से विशिष्ट होकर निश्चित या असन्दिग्ध ही होता है, अतः उक्त ज्ञान धर्म्यवच्छेदेन निश्चयात्मक ही होता है, अत एव कहा गया है कि "सर्वं ज्ञानं धर्मिणि अभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः"। फलतः 'अयं स्थाणुर्वा, पुरुषो वा?'—इस एक ही ज्ञान में निश्चयत्व और संशयत्व जातियों का साङ्कर्य हो जाता है।

शङ्का—उक्त ज्ञान प्रकारांश को लेकर संशय होने के कारण अप्रमा और धर्म्यंश को लेकर निश्चयात्मक होने के कारण प्रमा है। अतः प्रमात्व और अप्रमात्व जातियों के समान 'निश्चयत्व और संशयत्व'—इन दोनों जातियों का साङ्कर्य मान लेने में क्या हानि?

समाधान—साङ्कर्य दोष के कारण ही प्रमात्व और अप्रमात्व को भी जातिरूप नहीं माना जाता, अपितु प्रमात्व को तथाभूतत्व और अप्रमात्व को अतथाभूतत्वरूप उपाधि माना जाता है। उक्त ज्ञान को यदि संशयत्व और निश्चत्वरूप जातियों से संकीर्ण माना जाता है, तब किसी विषय की अपेक्षा संशयत्व और किसी विषय की अपेक्षा निश्चयत्व मानकर इन दोनों जातियों की आपेक्षिकी व्यवस्था करनी होगी जो कि अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि जाति कभी भी आंशिकी नहीं होती, सदैव अपने पूर्ण आश्रय को व्याप्त करके रहती है एवं ज्ञान

पूर्वः पन्थाः । ईदृशस्य पथः पान्थेनापि भवता किंचित् नियामकमभिधेयम्, येन धर्मिणि तस्य निश्चयत्वं व्यवतिष्ठते, विशेषद्वये च संशयत्वम् । विशेषदर्शनादर्शने इति चेत्, तर्हि भवति स्थाणोः स्थाणुत्वं पुरुषत्वं पुरुषस्य विशेषः प्रतीयते चासाविति विशेषदर्शनात्तत्रापि निश्चयप्रसङ्गः ।

संशयात्पूर्वं नास्ति विशेषदर्शनमिति युक्तस्तत्रापि संशय इति चेन्न, धर्मिधियः पूर्वं तर्हि कथं तद्गतविशेषदर्शनं स्यात् । संशयकाले चास्ति विशेषदर्शनमित्यनन्तरं तर्हि संशयाननुवृत्तिप्रसङ्गोऽपि युक्त एव । तदीयविषयाद्विशेषाद् व्यतिरिक्तस्य

इत्याह ❀ ईदृशस्येति ❀ । यदाऽऽपेक्षिकीं जातिमङ्गीकृत्यापि धर्म्यंशे विशेषद्वये संशयत्वं जातिरङ्गीक्रियते तदा व्यवस्थापकं वाच्यमन्यथा नियमस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गस्तच्च न शक्याभिधानमित्यर्थः । विशेषालम्बनत्वं यत्र तत्र निर्णयत्वं विशेषानालम्बने तु संशयत्वमिति विशेषालम्बनत्वानालम्बनत्वे विशेष इति शङ्कते ❀ विशेषेति ❀ । तर्हि स्थाणुपुरुषयोः स्थाणुत्वस्य पुरुषत्वस्य च विशेषस्य दर्शनं निर्णयत्वनियामकमस्तीति विशेषद्वयांशेऽपि निर्णयत्वप्रसङ्ग इति परिहरति ❀ तर्हीति ❀ ।

स्थाणोः स्थाणुत्वं पुरुषस्य पुरुषत्वं यद्यपि विशेषस्तथापि युक्तः संशयो यतः संशयात्पूर्वंनास्ति विशेषदर्शनमिति शङ्कते ❀ संशयादिति ❀ । अतिप्रसङ्गेन निराकरोति ❀ नेति ❀ । धर्मिज्ञानात्पूर्वं धर्मिनिष्ठतया विशेषदर्शनासम्भवाद्विशेषादर्शनानन्तरभावित्वं संशयनियामकं धर्म्यंशज्ञानेऽस्तीति तत्रापि संशयत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । यद्यपि संशयोत्पत्तेः प्राग्विशेषदर्शनं नास्ति तथापि संशयकाले तत्र विशेषस्य दर्शनान्न तत्र संशय इत्यत आह ❀ संशयेति ❀ । तदानीन्तनविशेषदर्शनमादाय इति निर्णयो युक्तस्तर्हि धारावाहिकतया संशयज्ञानं जायते इति स्थितिः । तत्र प्रथमस्य विशेषदर्शनानन्तरभावित्वाभावेऽपि द्वितीयप्रभृतीनां तदस्तीतिसंशयाननुवृत्तिप्रसङ्गो युक्त इत्यर्थः । संशयज्ञाने योऽसौ विशेषः प्रकाशते तस्माद्व्यतिरिक्तस्य विशेषस्य पूर्वक्षणे दर्शनं निर्णयत्वनियामकं तच्च प्रथमसंशयेन स्थाणुत्वपुरुषत्वग्राहकं तत्र नास्त्येव स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्द्वितीयादिसंशयेऽपि विषयत्वादतो युक्ता संशयानुवृत्तिरिति शङ्कते ❀तदीयेति❀ ।

पदार्थ भी सांश या सावयव नहीं होता कि निश्चयत्वादि की उसमें आंशिकी वृत्ति सम्भव हो जाय । आंशिक व्यवस्था का कोई नियामक अवश्य कहना होगा, जिसके बल पर एक ही ज्ञान में धर्म्यवच्छेदेन निश्चयत्व और प्रकारद्वयावच्छेदेन संशयत्व माना जा सके ।

शङ्का—विशेष धर्म का जहाँ दर्शन नहीं होता, वहाँ संशय होता है, जैसे स्थाणुत्व के ज्ञापक शाखादिमत्त्वरूप एवं पुरुषत्व-बोधक करणचरणादिमत्त्वरूप विशेष धर्मों का दर्शन न होने से स्थाणुत्व और पुरुषत्व में संशय है । ऊर्ध्वत्वरूप विशेष होने के कारण 'अयं स्थाणुर्न वा ?' यहाँ पर इदमर्थरूप धर्मी का निश्चय माना जाता है ।

समाधान—स्थाणुत्व और पुरुषत्व भी विशेष धर्म ही हैं, उनकी प्रतीति होने के कारण 'स्थाणुर्वा, पुरुषो वा ?' इस ज्ञान को निश्चय ही कहना होगा, संशय नहीं, अतः विशेष-दर्शन को निश्चयत्व का प्रयोजक नहीं माना जा सकता ।

शङ्का—उक्त स्थल पर संशय के पूर्व काल में विशेष-दर्शन नहीं होता, अतः वहाँ संशय का होना युक्ति-संगत है ।

समाधान—निश्चय के पूर्वकाल में यदि विशेष-दर्शन अपेक्षित है, तब धर्मिविषयक ज्ञान से पूर्व कोई विशेष दर्शन न होने कारण धर्मिज्ञान को भी निश्चय क्योंकर कहा जा सकेगा ? 'स्थाणुर्वा, पुरुषो वा ?' इसी प्रकार संशय के समय स्थाणुत्वादिरूप विशेष धर्मों का दर्शन हो जाने के कारण उसके अनन्तर संशय-धारा का प्रवाह नहीं होना चाहिए ।

शङ्का—विशेष-दर्शन का विषयीभूत विशेष धर्म संशय के विषय से भिन्न होना चाहिए, स्थाणुत्वादि धर्म संशय के विषय ही होते हैं, उससे भिन्न नहीं ।

विशेषस्य दर्शनं विवक्षितमिति चेन्न, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वे'ति संशयानन्तरं 'दारुमयो मांसमयो वाऽयमि'ति संशयो नोपपद्येत, तदुभयमत्वातिरिक्तयोः स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्विशेषयोः पूर्वज्ञानेनोल्लिखितत्वात्। अन्यतरविशेषदर्शनं संशयप्रतिरोधकम्, संशयेन तु उभयोरुपदर्शनम्, अतो नोक्तदोषप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि स्थाणुः पुरुषश्चेति कुतोऽपि विभ्रमे जाते 'दारुमयो वा मांसमयो वा' इति संशयप्रतिरोधो न स्यात्, पूर्वज्ञानेन विशेषद्वयोपदर्शनस्य कृतत्वात्। विशेषदर्शनं हि विशेषनिश्चयो विवक्षितो न तु विशेषज्ञानमात्रम्, येन संशयोपनीतादपि विशेषात्संशयप्रतिरोधः प्रसज्येतेति चेत्। मैवम्, संशयेन यावदुपदर्शितौ विशेषौ तत्र न संशयस्य निश्चयत्वमिति व्यवस्थायां सिद्धायामुपदर्शितनियामकसिद्धिर्भवति। सिद्धे चास्मिन्नियामके संशयस्य विशेषद्वयं प्रति निश्चयत्वं नास्तीति सिद्ध्येदित्यन्योन्याश्रयापत्तेः को वारयिता?

स्थाणुर्वा पुरुषो वेति प्रथमसंशय उत्पद्यतेऽनन्तरं दारुमयो मांसमयो वेति संशयो यत्र तत्र द्वितीयसंशयो न स्यादिति दूषयति ❀ नेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ तदिति ❀। तदुभयं यद्दारुमयत्वं मांसमयत्वं तद्व्यतिरिक्तस्य स्थाणुत्वादिविशेषस्य पूर्वज्ञानेनावगाहनादिति यावत्। एकस्यैव विशेषस्य पूर्वक्षणे दर्शनं निर्णयनियामकं तत्संशयविरोधि संशये तु स्थाणुत्वपुरुषत्वविशेषद्वयदर्शनमतः पूर्वसंशयेन विशेषावगाहनेऽप्युत्तरसंशयोत्पत्तिरिति शङ्कते ❀ अन्येति ❀। अनाप्तवचनादितः कुतोऽपि भ्रमकारणात् स्थाणुश्च पुरुषश्चेत्येकस्मिन् धर्मिणि कोटिद्वयसमुच्चयभ्रमानन्तरसंशयानुत्पत्तिस्तत्पक्षे न स्यादित्युक्तं तत्र हेतुमाह ❀पूर्वेति❀। निश्चयरूपज्ञानं विशेषदर्शनपदेन विवक्षितं सन्देहावृत्तिस्थले प्रथमस्य सन्देहरूपत्वान्न विशेषदर्शनत्वमिति भवत्येव सन्देहानुवृत्तिरिति स्वाभिप्रेतं नियामकं शङ्कते ❀ विशेषेति ❀। स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानस्य स्थाणुत्वपुरुषत्वविशेषद्वये संशयत्वमेव न तु निर्णयत्वमिति व्यवस्थासिद्धावुक्तनियामकसिद्धिस्तत्सिद्धौ तत्रैतस्य संशयत्वसिद्धिरिति परस्पराश्रय इति परिहरति ❀ मैवमिति ❀।

समाधान—संशय के विषय से भिन्न विशेष धर्म का दर्शन यदि निश्चयत्व का प्रयोजक माना जाता है, तब 'स्थाणुर्वा, पुरुषो वा?' इस प्रकार का संशय हो जाने के अनन्तर 'दारुमयो मांसमयो वाऽयम्'—इस प्रकार का संशय जो कभी अनुभव में आता है, वह उपपन्न न हो सकेगा, क्योंकि उससे पूर्व उसके विषय से भिन्न स्थाणुत्व-पुरुषत्वरूप विशेष धर्मों का दर्शन हो जाता है।

शङ्का—संशय का प्रतिबन्धक होता है—अन्यतर धर्म का दर्शन। 'स्थाणुर्वा, पुरुषो वा? इस प्रकार के संशय में तो अन्यतर धर्म का दर्शन न होकर दोनों धर्मों का दर्शन होता है, अतः उसके अनन्तर संशय का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता।

समाधान—जहाँ पर 'स्थाणुः पुरुषश्च'—इस प्रकार उभय धर्मविषयक भ्रम किसी कारण से हो जाता है, उसके अनन्तर 'दारुमयो वा? मांसमयो वा?' इस प्रकार के संशय का जो प्रतिरोध देखा जाता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस संशय से पूर्व उसके प्रतिबन्धकीभूत अन्यतर धर्म का दर्शन न हो कर उभय धर्म का ही दर्शन होता है।

शङ्का—'विशेष-दर्शन' शब्द से विशेष धर्म का निश्चय विवक्षित है, विशेष धर्म का ज्ञानमात्र नहीं, अतः 'स्थाणुर्वा? पुरुषो वा?' यहाँ विशेष धर्मो के संशय ज्ञान से उत्तर काल में संशय का प्रतिरोध नहीं होता।

समाधान—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा?' इस संशय के द्वारा प्रदर्शित स्थाणुत्वादि विशेष धर्मों का ज्ञान निश्चयात्मक नहीं—यह सिद्ध हो जाने पर ही 'विशेषनिश्चय एव संशयप्रतिबन्धकः'—ऐसा नियम सिद्ध होगा और इस नियम के सिद्ध हो जाने पर हो उक्त संशय में निश्चयत्वाभाव सिद्ध होगा—इस प्रकार प्रसक्त अन्योऽन्याश्रय दोष का निवारण सम्भव नहीं।

स्यादेतत्—संशयज्ञानस्य धर्मिविषयत्वेऽभ्युपगम्यमाने अर्धवैशसमापद्येत। तच्च तदनभ्युपगम एव निवर्तते। तेन धर्मिज्ञानं निश्चयात्मकमन्यदेव, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वे'ति चान्यदेव संशयज्ञानमित्यभ्युपैष्याम इति चेत्। मैवम्, एकधर्मिसम्बन्धोपनयनव्यतिरेकेण स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्विरोध एव नास्तीति 'स्थाणुर्वा पुरुषो वे'त्येतदेव न स्यात्। न हि यस्य कस्यचित्स्थाणुत्वेन यस्य कस्यचित्पुरुषत्वं विरुद्ध्यते। एकधर्मिसम्बन्धमनन्तर्भाव्य विरोधे जगति तयोरन्योन्यस्य व्यतिघ्नतोरसत्त्वमेव प्रसज्येत। तस्य धर्मिणो वा पुरुषत्वनिश्चयाद्यथा संशयो निवर्तते नोत्पद्यते वा, तथा स्वात्मनः पुरुषत्वनिर्णयात्संशयो निवर्तेत नोत्पद्येत वा। विशेषाभावाद्यथाऽयं द्रष्टुर्न स्वशरीरविषयः संशयः, तथैव पुरोवर्तिविषयोऽपि नासौ। कथं चेदमर्थेन सामानाधिकरण्या-

---

शङ्कते ❀ स्यादेतदिति ❀। संशयज्ञानस्य धर्मिविषयत्वाङ्गीकारे धर्म्यंशे निर्णयत्वं प्रकारांशे संशयत्वमिति निर्णयत्वसंशयत्वजातिसङ्कर आपद्येत यदा तु धर्मिज्ञानं व्यवहितक्षणोत्पन्नमन्यत्तदा धर्मिज्ञाने निर्णयत्वमन्यस्मिन्प्रकारज्ञाने संशयत्वमिति एकस्यार्द्धे संशयत्वमर्द्धे निर्णयत्वमिति नार्द्धवैशसमित्यर्थः। स्थाणुत्वपुरुषत्वलक्षणकोटिद्वयस्यैकधर्मिसम्बन्धास्फुरणे विरोधास्फुरणात्स्थाणुर्वा पुरुषो वेति वाकारार्थसामानाधिकरण्यप्रतीतिर्न स्यादिति दूषयति ❀ मैवमिति ❀। एकधर्मिसम्बन्धव्यतिरेकेण तयोरविरोधमेव स्फोरयति ❀ न हीति ❀। दोषान्तरमाह ❀ एकधर्मीति ❀। एकधर्मिसम्बन्धव्यतिरेकेण यदि तयोः स्वरूपादेस्तत्त्वमेव विरुद्धं तदा भिन्नाधिकरणयोरपि तयोः स्वरूपन्न स्यादित्यर्थः। किञ्च विशेषद्वयस्य पुरोवर्तिसामानाधिकरण्यानङ्गीकारे पुरोवर्तिनः पुरुषत्वनिर्णय एव संशयविरोधीति तस्य द्रष्टुः स्वशरीरे पुरुषत्वनिर्णयः संशयविरोधीति किं न स्यादेकविषयत्वं विना विरोधित्वेऽविशेषादित्याह ❀ तस्येति ❀। सदृष्टान्तं स्पष्टयति ❀ यथेति ❀। ज्ञानभेदवादिनः सामानाधिकरण्यानुभवविरोधोऽपि भवति इत्याह ❀ कथमिति ❀। अभिमानमेव विशदयति ❀ य इति ❀। अयं घट इति विशिष्टज्ञानवदिदमर्थेन सामा-

---

शङ्का—धर्मी को संशय का विषय मान कर 'अयं स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ?'—इस ज्ञान को एक मानने पर 'आधे ज्ञान में सशयत्व और आधे में निश्चयत्व'--इस प्रकार का अर्धवैशस [मुरगी का आधा भाग अण्डे देने के लिए सुरक्षित रख कर आधा काट कर पकाना अर्थात् आधा तीतर और आधा बटेर] हो जाता है, जो कि सर्वथा अनुचित है, अतः वैसा न मानना ही अच्छा है, और 'अयम्'—इतने ज्ञान को पृथक् निश्वयात्मक मान कर 'स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ?' इस ज्ञान को पृथक् सशयात्मक मानना चाहिए।

समाधान—जैसे अख्यातिवाद में 'इदं रजतम्'—इत्यादि स्थलों पर दो स्वतन्त्र ज्ञान माने जाते हैं, वैसे ही 'अयं स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ?'—इत्यादि स्थलों पर भी दो स्वतन्त्र ज्ञानों का मानना सम्भव नहीं, क्योंकि स्थाणुत्व और पुरुषत्व का तब तक विरोध ही नहीं होता, जब तक कि एक धर्मी के साथ दोनों का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए 'अयम्'—इस पद के साथ अन्वय न किया जाय। यदि स्थाणुत्व धर्म अन्य धर्मी में और पुरुषत्व अन्य धर्मी में रहता है, तब उनका विरोध ही कैसा ? एक धर्मी में उनका समावेश किए विना ही यदि स्थाणुत्व और पुरुषत्व का विरोध माना जाता है, तब विश्व में कहीं भी स्थाणुत्व और पुरुषत्व की सत्ता न रह सकेगी, क्योंकि स्थाणुत्व पुरुषत्व का और पुरुषत्व स्थाणुत्व का सार्वत्रिक घातक है। इदं पदार्थरूप धर्मी में जैसे पुरुषत्व का निश्चय हो जाने पर स्थाणुर्वा, पुरुषो वा ? ऐसा संशय निवृत्त हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता, वैसे ही द्रष्टा को अपने शरीर में पुरुषत्व का निर्णय हो जाने पर उक्त संशय निवृत्त हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता। दोनों स्थलों में कोई विशेषता न होने के कारण जैसे द्रष्टा को अपने शरीर में संशय नहीं होता, वैसे ही सम्मुखस्थ पदार्थ में भी संशय नहीं होता।

भिमानः—'योऽयमूर्ध्वताधर्मा स किं स्थाणुरुत पुरुषः' इति। कस्माद्वा प्रत्यभिज्ञानादयोऽप्येकं ज्ञानमङ्गीकृता इत्युच्छिन्ना विशिष्टविज्ञानसङ्कथा। सञ्जातश्च 'गौरश्वः पुरुषः' इतिवद्विशकलितो विज्ञानसंसार इत्यास्तां विस्तराभिनिवेशः।

नन्वस्ति तावदयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परस्परविरुद्धार्थावगाही प्रत्ययः, स स्वविषयं तथाभूतमुपस्थापयिष्यति। न, उक्तबाधकैः सर्वप्रकारखण्डने परिशेषासम्भवात्।

१४. भावाभावविरोधखण्डनम्

यच्च स्वरूपमादाय विरुद्धार्थत्वमभिधीयते, तदपि निर्वक्तुं न शक्यते। तथा हि—भावतदभावयोः को विरोधः? सहानवस्थानमिति चेन्न, देशभेदेन सहाप्यवस्थानात्।

नाधिकरण्यादेकज्ञानत्वमित्यर्थः। स्थाणुपुरुषयोरिदमर्थेन सामानाधिकरण्याभिमानो नास्ति किन्त्विदमर्थाविवेकनिमित्तः सामानाधिकरण्यव्यवहार इत्यत आह ※ कस्माद्वेति ※। आक्षिपदेनायं घट इत्यादिसङ्ग्रहः। प्रत्यभिज्ञानस्थले स इत्यंशस्य भिन्नज्ञानत्वमिति वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः। विशिष्टज्ञानं निराकुर्वता सर्वं स्वलक्षणमिति सुगतमतमाश्रितं स्यादित्याह ※ सञ्जात इति ※। असंसर्गाग्रहस्य विशिष्टव्यवहारजनकत्वे सुषुप्त्यादौ प्रसङ्गादभावे वाऽविशेषादौपाधिकविषयेऽपि प्रतीयमानविवेकाग्रहस्य तदभावादिति भावः।

अनुभवावष्टम्भेन संशयस्य निश्चयविषयाद्विलक्षणविषयत्वं भवतीति शङ्कते ※ नन्विति ※। संशयस्तावदनुभवसिद्धः स च स्वानुगुणं विषयमुपस्थापयतीत्यर्थः। असंभवेन निराकरोति ※ नेति ※। जातिनिमित्तस्योपाधिनिमित्तस्य वा खण्डनात्प्रकारान्तरासम्भवात्कल्पितत्वं सविषयस्य संशयस्येत्यर्थः।

इति संशयखण्डनम्।

भावाभावयोः साक्षाद्विरोधस्तदनुषङ्गादन्यत्रेति यत्कल्पनं तदद्वैतसिद्ध्यनुगुणमिति विरोधखण्डनं प्रक्रमते। ※ यच्चेति ※। भावाभावयोरसहावस्थानं विरोध उत परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वमिति विकल्पयति ※ तथा हीति ※। परो विरोधं शङ्कते ※ सहेति ※। एककालत्वं सहार्थं उत देशैक्यमुत तदुभयैक्यमिति

यदि 'अयम्' के साथ 'स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ?' का सम्बन्ध नहीं होता, तब 'योऽयमूर्ध्वताधर्मा स किं स्थाणुरुत पुरुषः'—इस प्रकार का इदमर्थरूप धर्मी के साथ सामानाधिकरण्य का अभिमान क्योंकर होता है ? यदि उक्त स्थल पर दो ज्ञान माने जाते हैं, तब 'सोऽयम्'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञा-स्थल पर भी एक ज्ञान क्योंकर बनेगा ? इस प्रकार तो विशिष्ट ज्ञान का नाम ही संसारपटल पर से उच्छिन्न हो जायगा और सर्वत्र 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती'—इस प्रकार के परस्पर असम्बद्ध ज्ञान का ही साम्राज्य हो जायगा।

'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा ?'—ऐसा विरुद्धार्थविगाही संशय ज्ञान जो लोक-प्रसिद्ध है, वही अपने विषय की निश्चय ज्ञान के विषय से विलक्षणता सिद्ध क्यों न कर देगा ? इस प्रश्न के उत्तर में इतना ही स्मरण दिला देना पर्याप्त है कि किसी उपाधि या जाति के द्वारा संशय का ही निश्चय ज्ञान से वैलक्षण्य सिद्ध नहीं हो सका, तब वह अपने विषय का वैचित्र्य क्योंकर सिद्ध कर सकेगा ?

१४. भाव और अभाव के विरोध का खण्डन

स्थाणुत्व-स्थाणुत्वाभावादि के विरोध को ध्यान में रख कर जो संशय में विरुद्धार्थावगाहित्व का अभिधान किया गया, उसका भी निर्वचन नहीं किया जा सकता। यदि किया

देशाभेदेनेति चेन्न, संयोगाद्यव्यापकत्वं यद्यभ्युपैषि तथाप्यनुपपत्तिः, प्रकारभेदेन तथाभावस्याभ्युपगमात्। तस्य पक्षे एकेन प्रकारेणैकस्मिन् सहानवस्थानं विरोधः, संयोगाद्यव्यापकत्वानभ्युपगन्तृपक्षे च देशाभेदेन सहानवस्थानं स इति चेन्न, तद्धि तदुभयावस्थानसाहित्यनिषेधो वा तदुभयावस्थाननिषेधसाहित्यं वा स्यात्। आद्येऽप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वम्, तदुभयावस्थानसाहित्यस्य क्वचिदप्यप्रमितेः। शशविषाणनिषेधादेश्च शशके विषाणनिषेधादिरूपत्वाङ्गीकारेण प्रसिद्धप्रतियोगिकत्वाभ्युपगमात्। यदाह एकः—'वस्तुनः प्रतियोगिते'ति। अन्यश्च—

विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह ❀ नेति ❀। देशभेदेनैकस्मिन् काले घटतदभावयोरवस्थानाद्विरोधासिद्धिरित्यर्थः। तृतीयं शंकते ❀ देशेति ❀। कालभेदेनैकस्मिन् देशे भावाभावावस्थानाद्विरोधासिद्धिरिति द्वितीयो बहिरेव दूषितो मन्तव्यः। संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानामव्याप्यवृत्तित्वमुत व्याप्यवृत्तित्वमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ❀ नेति ❀। देशाभेदेनापि सहानवस्थानानुपपत्तिः संयोगादेरेकस्मिन्द्रव्ये भावाभावोपगमात्तदव्यापकत्वमित्यर्थः। द्वितीयकल्पं कटाक्षेण शंकते ❀ प्रकारेति ❀। योऽपि च वैशेषिकः संयोगादेरव्याप्यवृत्तित्वमिच्छति तस्य पक्षे संयोगादेर्भावाभावयोः सहानवस्थानस्याकाशादौ कल्पितप्रदेशेनाभ्युपगमादेकस्मिन्देशे सहावस्थानं भावाभावयोर्विरोध इत्यर्थः। आधुनिकस्याभिप्रायमाह ❀ संयोगादीति ❀। अव्याप्यवृत्तिपक्ष एकेन प्रकारेणेति विशेषणमुपादेयं न व्याप्यवृत्तिपक्ष इत्याशयः। मतद्वयेऽपि सहानवस्थानशब्दार्थो निरूपयितुं न शक्यत इति परिहरति ❀ नेति ❀। सहपदस्य किमसमस्तेनानवस्थानपदेन सम्बन्ध उत समस्तेनानवस्थानपदेनेति विकल्पार्थः। भावाभावयोरेकदेशकालसंसर्गोऽवस्थानं निषेधप्रतियोगीत्युक्तं स्यात्तन्न संभवत्यप्रमितप्रतियोगित्वप्रसक्तेरित्याह ❀ आद्य इति ❀। कुत इत्यत आह ❀ तत्तदिति ❀। अप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वं निषेधस्य न दूषणमप्रमितस्य शशविषाणादेर्निषेधदर्शनादित्यत आह ❀ शशेति ❀। शशस्य के—शिरसि प्रमिते धर्मिणि गवि प्रमितं विषाणमारोप्य निषिध्यत इत्यर्थः। अत्राभियुक्तवचनमाह ❀ यदेति ❀। धर्मप्रतियोगिनौ वस्तुनी एवास्मिन्मत इत्यर्थः। वचनान्तरमाह ❀ अन्य इति ❀।

जा सकता है, तब इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जाय कि 'भावाभावयोः को विरोधः ?'

(१) सहानवस्थानं विरोधः—

'स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव का विरोध यही है कि वे दोनों सह (एक काल में) नहीं रहते'—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि जिस समय स्थाणु में स्थाणुत्व रहता है, उसी समय पुरुष में स्थाणुत्व का अभाव रहता है, इस प्रकार भावाभाव का सहावस्थान देखा जाता है। उनमें विरोध सिद्ध नहीं होता। 'एक देश में भावाभाव का सहानवस्थान विरोध है'—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि एक ही वृक्ष में कपि-संयोग और उसका अभाव—दोनों ही माने जाते हैं अर्थात् शाखा-मूलादिरूप प्रकार या अवच्छेदक के भेद से संयोग और संयोगाभाव का समावेश (सहावस्थान) एक ही वृक्ष में हो जाता है।

शङ्का—एक देश में एक प्रकारावच्छेदेन सहानवस्थान विरोध पदार्थ है। संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति नहीं माना जाता, क्योंकि शाखावच्छेदन जिस वृक्ष में कपि-संयोग रहता है, शाखावच्छेदेन उस वृक्ष में कभी भी उसका अभाव नहीं रह सकता।

समाधान—उक्त 'सहानवस्थान' पद से क्या उभयावस्थान-साहित्य का निषेध विवक्षित है ? अथवा उभयावस्थान-निषेध का साहित्य ? प्रथम पक्ष में अप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वापत्ति होती है, क्योंकि भावाभाव के अवस्थान का साहित्य ही कहीं प्रसिद्ध नहीं, उसका निषेध क्योंकर सम्भव होगा ? 'अप्रसिद्धप्रतियोगिकत्व कोई दोष नहीं, क्योंकि शशविषाणादि अप्रसिद्ध पदार्थों का निषेध लोक-प्रसिद्ध है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शशीय शिरोरूप प्रसिद्ध धर्मी में प्रसिद्ध गोगत शृङ्ग का आरोप करके अन्यत्र शशशृङ्ग का निषेध किया जाता

'लब्धरूपं क्वचित्किञ्चित्तादृगेव निषिध्यते ।' इति ।

द्वितीये तु तदुभयावस्थानसाहित्यस्वीकार एव स्यात्, तदुभयनिषेधयोस्तदुभयतयैवाङ्गीकारात्। परस्परप्रतिक्षेपकत्वं विरोध इति चेन्न, तद्धि परस्परप्रतिक्षेपं प्रति कारणत्वं वा तादात्म्यं वा? न प्रथमः, प्रमाणाभावेन तथाविधतत्कार्यानङ्गीकारात्। न द्वितीयः, प्रतिक्षेपशब्दार्थस्य उभयानुगतस्यानिर्वचनात्। यत्रैकस्य सत्त्वं

सहपवस्य निषेधत्वम् इति द्वितीयं दूषयति ❀ द्वितीय इति ❀। तावेव भावाभावावुभयं तदुभयम्। तत्र हेतुमाह ❀ तदिति ❀। भावावस्थाननिषेधस्याभावत्वादभावावस्थाननिषेधस्य च भावत्वान्निषेधसाहित्ये भावाभावसाहित्यं स्यात्तच्च न भवतीत्यर्थः। सहानवस्थानं भावाभावयोर्विरोध इति कल्पं निराकृत्य परस्परं निषेधत्वं स इति द्वितीयकल्पमुत्थापयति ❀ परस्परेति ❀। दूषयितुं विकल्पयति ❀ तद्धिति ❀। परस्परप्रतिक्षेपं करोतीति परस्परप्रतिक्षेपक उत परस्परप्रतिक्षेप एव परस्परप्रतिक्षेपकः स्वार्थे कप्रत्ययाङ्गीकारादिति विकल्पार्थः। प्रथमम्पवदति ❀ नेति ❀। भावाभावव्यतिरिक्तप्रतिक्षेपशब्दार्थो नोपपद्यते तार्किकैर्द्वैराश्याश्रयणात् कुतस्तत्कारणत्वं कारणत्वखण्डनाच्चातो लक्षणासम्भव इत्यर्थः। भावप्रतिक्षेपत्वमभावस्य रूपमभावप्रतिषेधत्वं च भावस्येत्यनुगतस्य तस्याऽनिर्वचनादन्योन्याश्रयाच्चासिद्धिरित्याह ❀ न द्वितीय इति ❀। लक्षणान्तरं शङ्कते ❀ यत्रेति ❀। एकस्य सत्त्वेऽन्यतरस्य काकतालीयासत्त्वस्य भावधर्मत्वादसत्त्वस्य चाभावधर्मत्वात्तयोरेकनिष्ठत्वाभावेन वैयधिकरण्यं त्वया तु यत्र सत्त्वं तत्रासत्त्वमिति वदता तयोरैकाधिकरण्यं विरोध इष्टः स न सिद्ध्यतीत्यर्थः।

है, अतः वहाँ प्रतियोगी अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं, अपितु प्रसिद्ध ही होता है, जैसा कि श्री उदयनाचार्य कहते हैं—"वस्तुनः प्रतियोगिता" (न्या० कु० ३।२) अर्थात् प्रतियोगिता सदैव प्रसिद्ध वस्तु में ही रहती है, अप्रसिद्ध में नहीं, श्री मण्डन मिश्र भी कहते हैं—"लब्धरूपे क्वचित् किञ्चित् तादृगेव निषिध्यते" (ब्र. सि. पृ. ४४)। [अर्थात् लोक-प्रसिद्ध अनुयोगी में प्रसिद्ध प्रतियोगी का ही निषेध होता है, अप्रसिद्ध प्रतियोगी का नहीं। खपुष्पादि अप्रसिद्ध पदार्थों के निषेध का निरूपण करते हुए कहा गया है—"कथं तर्ह्यत्यन्तासतां प्रधानखपुष्पादीनां निषेधः? अत्र केचिदाहुः खपुष्पादिषु तावत् सिद्धेषु खादिषु तद्विधाः पुष्पादयो निषिध्यन्ते" (ब्र. सि. पृ. ४४)]

द्वितीय (तदुभयावस्थाननिषेधसाहित्यम्) पक्ष में तो भावाभाव—दोनों के अवस्थान का साहित्य ही मान लिया गया है, क्योंकि भाव के अवस्थान का निषेध अभावरूप और अभाव के अवस्थान का निषेध भावरूप ही होता है, अतः भावाभावोभयावस्थाननिषेध के साहित्य का पर्यवसान भावाभाव के साहित्य में क्यों न होगा?

(२) परस्परप्रतिक्षेपकत्वं विरोधः—

'भावाभाव की परस्पर प्रतिक्षेपात्मकता विरोध पदार्थ है'—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'प्रतिक्षेपक' शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) 'प्रतिक्षिपतीति प्रतिक्षेपकः' इस विग्रह के अनुसार प्रतिक्षेप-कारणत्व और (२) 'प्रतिक्षेप एव प्रतिक्षेपकः' इस विग्रह के अनुसार प्रतिक्षात्मक या प्रतिक्षेप-तादात्म्यापन्न। प्रथम पक्ष इस लिए उचित नहीं कि 'भाव अभाव के प्रतिक्षेप एवं अभाव भाव के प्रतिक्षेप का कारण है'—इसमें कोई प्रमाण नहीं उनका परस्पर-प्रतिक्षेपरूप कार्य पृथक् माना नहीं जाता। द्वितीय पक्ष के अनुसार भाव का प्रतिक्षेपात्मक अभाव और अभाव का प्रतिक्षेपात्मक भाव होता है, अतः भावाभावोभयानुगत 'प्रतिक्षेप' पदार्थ का निर्वचन अपेक्षित है, वह सम्भव नहीं।

(३) यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रापरस्य नियमेनासत्त्वं विरोधः—

'जहाँ भावाभाव में से एक रहता है, वहाँ दूसरे का नियमतः न रहना ही विरोध

तत्रापरस्यासत्त्वं नियमेन यत्स विरोधस्तयोरिति चेन्न, सत्त्वासत्त्वयोरेकापराश्रयत्वे वैयधिकरण्यात्। सम्बन्धस्य तद्व्यतिरेकत्वे एकसत्त्वस्यैव चापरासत्त्वात्मकतया स्वीकारेण यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रैकस्य सत्त्वमिति वचनार्थप्रसङ्गेन पौनरुक्त्याद्यापातात्। यत्र घटाभाव इत्यत्र खल्वयमर्थो यन्नाम ? यस्याऽऽधेयतया सम्बन्धी घटाभावः। तत्र घटो नास्तीत्यस्याप्ययमर्थः—तस्याऽऽधेयतया सम्बन्धी घटाभाव इति। यत्र घट

एकश्चापरश्च एकापरौ भावाभावौ तदाश्रयत्व इति यावत्। सत्त्वासत्त्वयोर्भावाभावाश्रयत्वेनासामानाधिकरण्यमित्युक्तमत्रैव दोषान्तरमाह ॐ सम्बन्धेति ॐ। यत्रैकस्य सत्त्वमित्यनेन सम्बन्ध उच्यते तत्रापरस्यासत्त्वमित्यनेन सम्बन्धाभाव इत्येवं सत्त्वासत्त्वयोः सम्बन्धस्य तद्व्यतिरेकरूपत्वे विरोधस्य परस्परप्रतिक्षेपकत्वात्तयोर्यत्र भावस्य सत्त्वं तत्राभावस्यासत्त्वमिति वदतोक्तमेव पुनरुक्तं स्याद्विरोधे लक्ष्ये लक्षणस्य वृत्तिरपि नोक्ता स्यादितरेतरस्वरूपव्यावृत्त्याऽव्याप्तिश्चेत्यर्थः। एतदेव दृष्टान्तेन स्फुटयति ॐ यत्रेति ॐ। यत्र घटो नास्तीत्याभ्यां यत्र घटाभाव इत्यस्यार्थमभिधाय तत्र घटो नास्तीत्यस्यार्थमाह ॐ तत्रेति ॐ। एतदुक्तं भवति यत्र घटाभावोऽस्ति तत्र घटो नास्तीत्याभ्यां यत्र घटाभावोऽस्ति तत्र घटाभावोऽस्तीत्युक्तं स्यादिति। यत्र घटस्तत्र घटाभावो नास्तीति द्वितीयवाक्यार्थं विमृशति ॐ यत्र घट इति ॐ। यत्र घटः

पदार्थ है'—ऐसा कहने पर जिज्ञासा होती है कि यहाँ केवल सत्त्व या केवल असत्त्व को विरोध पदार्थ माना जाता है ? अथवा सत्त्वे सत्यसत्त्वरूप एक विशिष्ट धर्म को ? विरोध पदार्थ भाव और अभाव—दोनों में समानरूप से रहता है किन्तु केवल सत्त्व या केवल असत्त्व दोनों में नहीं रहता। सत्त्व एक में रहता है और असत्त्व दूसरे में, अतः दोनों का सामानाधिकरण्यरूप वैशिष्ट्य भी नहीं बनता। [दूसरी बात यह भी है कि 'यत्र धूमः, तत्राग्निः'—इत्यादि यत्र-तत्र-घटित प्रयोगों में दो पदार्थों का सामानाधिकरण्य प्रतिपादित होता है, किन्तु 'यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रापरस्यासत्त्वम्'—ऐसा कहने में निसर्ग-सिद्ध सामानाधिकरण्य सुरक्षित नहीं रहता, क्योंकि यहाँ 'सत्त्व' का अर्थ है—वृत्तित्व या आधेयत्व, वह यदि 'भाव' पदार्थ में रहता है, तब असत्त्व या वृत्तित्वाभाव 'अभाव' पदार्थ में। इस प्रकार सत्त्वासत्त्व का वैयधिकरण्य हो जाने के कारण 'यत्र सत्त्वं तत्रासत्त्वम्'—ऐसा प्रयोग ही नहीं किया जा सकता]।

शङ्का—'इह भूतलो घटोऽस्ति'—इत्यादि व्यवहारों के आधार पर घटादि के सत्त्व का स्वरूप ऐसा स्थिर करना चाहिए जिसका आधार भूतल हो, अतः घटादिप्रतियोगिक संयोगादि सम्बन्ध को सत्त्व और सम्बन्धाभाव को असत्त्व मानना चाहिए। इस प्रकार सत्त्व और असत्त्व का सामानाधिकरण्य भी उपपन्न हो जाता है। [प्रायः सभी व्याख्याकारों ने इस पंक्ति की ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की है, अतः यदि यहाँ "सम्बन्धस्य तद्व्यतिरेकत्वे"—ऐसा पाठ न होकर "सम्बन्धतद्व्यतिरेकत्वे"—ऐसा पाठ होता, तब सम्बन्धतद्व्यतिरेकत्वे सत्त्वासत्त्वे इति चेत्'—ऐसा पूर्वपक्ष करने में अधिक सुविधा होती]।

समाधान—भाव और अभाव में से 'एक का सत्त्व और दूसरे का असत्त्व'—ये दोनों एकरूप या अभिन्न माने जाते है, [क्योंकि यदि 'एक' पद से भाव का ग्रहण किया जाता है, तब 'यत्र भावस्य सत्त्वम्, तत्राभावस्यासत्त्वम्'—ऐसे दो अवान्तर वाक्य बनते हैं, द्वितीय वाक्य के घटकीभूत दोनों नञ् पदों को निकाल दिया जाय, तब 'भावस्य सत्त्वम्'—ऐसा वाक्य सम्पन्न होता है, जो कि प्रथम वाक्य की पुनरुक्तिमात्र है। इसी प्रकार एक पद के द्वारा अभाव का ग्रहण किया जाता है, तब 'यत्राभावस्य सत्त्वम्, तत्र भावस्यासत्त्व'—ऐसी योजना होती है। 'अभावोऽस्ति' और 'भावो नास्ति'—इन दोनों वाक्यों का भी एक ही अर्थ में पर्यवसान होने के कारण अर्थतः पुनरुक्ति है]। 'यत्र घटाभावस्तत्र घटो नास्ति'। यत्र घटस्तत्र घटाभावो नास्ति'—इत्यादि उदाहरणों में पौनरुक्ति स्पष्ट अनुभूत होती है, क्योंकि यत्र

इत्यस्य कोऽर्थः ? यस्याऽऽधेयतया सम्बन्धी घटः । तत्र घटाभावो नास्तीति कोऽर्थः ? तस्याऽऽधेयतया सम्बन्धी घटाभावसम्बन्धनिषेधः । घटाभावसम्बन्धस्य घटाभावात्मकतया घटाभावनिषेधस्यापि घटात्मकतेति । तस्मात्तस्य आधेयतया सम्बन्धी घट इत्येवार्थः । अतो घटतदभावयोर्भेदं मनसिकृत्यापि न विप्रतिपत्तव्यमिति ।

यत्रैकस्यावस्थानं तत्रैकस्यैवेति नियमाभिप्रायेण न पौनरुक्त्यादिरिति चेन्न, नियमस्य यत्किञ्चिदन्यव्यवच्छेदकत्वेऽसिद्धत्वापातात् । विरोधिव्यवच्छेदकत्वस्य च विरोधानिर्वचनेऽनिर्वचनात् । अभावपक्षे भावव्यवच्छेदो भावपक्षे चाभावव्यवच्छेदो नियमार्थ इति चेन्न, एकरूपानभिधाने अनुगतविरोधानिर्वचनात् । किञ्च—भावाभाव-

---

तत्र घटाभावो नास्तीति वचनस्य घटाभावसम्बन्धनिषेधश्चेदर्थस्तर्हि न पौनरुक्त्यं सम्बन्धनिषेधस्य घटात्मत्वाभावादित्याशङ्क्याह ॐ घटाभावसम्बन्धस्येति ॐ । अभावस्य संयोगसमवायानङ्गीकारात्स्वभाव एव सम्बन्धः सम्बन्धनिषेधो नाम घटाभावनिषेध एव तस्य घटात्मतया स्यादेव पौनरुक्त्यमित्यर्थः । एवं व्युत्पाद्योपसंहरति ॐ तस्मादिति ॐ । घटपटयोरिव घटतदभावयोरपि भिन्नत्वात्कथमेकनिषेधेऽन्यस्य विधिरित्याशङ्क्याह ॐ अत इति ॐ । घटतदभावयोर्भेदेऽपि घटतदभावसम्बन्धनिषेधयोरभेद इत्यर्थः ।

उक्तदोषपरिहारायाभिप्रायं शङ्कते ॐयत्रेतिॐ । यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रापरस्यासत्त्वमित्यनेन यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रैकस्यैव सत्त्वमिति नियमस्य विवक्षितत्वान्न पौनरुक्त्यादिरित्यर्थः । एकस्यैवेत्येवकारेण यत्किञ्चिद्व्यवच्छेद्यमुत विरोधीति विकल्प्य प्रथमं दूषयति ॐ नेति ॐ । घटाश्रयनिष्ठतया यावत्किञ्चिदन्यद्व्यवच्छिद्यते चेदसम्भवित्वं तत्र रूपादेरपि भावादिति यावत् । द्वितीयं दूषयति ॐ विरोधेति ॐ । विरोधासिद्धौ विरोधिनोऽप्यसिद्धेस्तद्व्यवच्छेदो न सिद्ध्यतीत्यर्थः । प्रकारान्तरेण नियमार्थं शङ्कते ॐ अभावेति ॐ । यत्रैकस्यासत्त्वं तत्रैकस्यैवासत्त्वमित्यभावपक्षे भावो व्यवच्छेद्यः यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रैकस्यैव सत्त्वमिति भावपक्षे भावो व्यवच्छेद्य इति यावत् । क्वचिद्भावव्यवच्छेदो विरोधः क्वचिदभावस्येत्युक्तं तत्रानुगतविरोधनिरुक्तिर्न स्यादिति दूषयति ॐ नेति ॐ । एवमपि पूर्वोक्तमेव पौनरुक्त्यं फलति नाधिकं

घटाभावः—इस वाक्य का अर्थ है—यस्य (भूतलादेः) आधेयतया सम्बन्धी घटाभावः । और 'तत्र घटो नास्ति' का अर्थ है—तस्य (भूतलादेः) आधेयतया सम्बन्धी घटाभावः । इसी प्रकार 'यत्र घटः' इस वाक्य का अर्थ है—'यस्य (भूतलादेः) आधेयतया सम्बन्धी घटः' और 'तत्र घटाभावो नास्ति' का अर्थ है—तस्य (भूतलादेः आधेयतया सम्बन्धी घटाभावसम्बन्धनिषेधः' । अभाव का स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है, अतः घटाभाव का सम्बन्ध घटाभावरूप ही है और घटाभाव का निषेध भी घटरूप होता है । अतः दोनों वाक्यों का अर्थ है—'तस्याधेयतया सम्बन्धी घटः' । यहाँ पुनरुक्तियाँ इतनी स्पष्ट और सुदृढ़ है कि घट और घटाभाव के भेद को मन में रख कर भी इनके विषय में विप्रतिपत्ति (मतभेद) नहीं हो सकती ।

शङ्का—'यत्रैकस्य सत्त्वम्'—इस वाक्य का यत्रैकस्यैव सत्त्वम्'—ऐसे नियम में तात्पर्य मानने पर पुनरुक्ति नहीं होती ।

समाधान—'एकस्यैव' इस नियम के द्वारा अन्य पदार्थों की व्यावृत्ति विवक्षित है ? अथवा नहीं ? यदि विवक्षित है, तब असम्भव हो जाता है, क्योंकि भूतलादि में केवल घट या घटाभाव ही नहीं रहता, अपितु भूतलगत रूपादि गुण एवं भूतलत्वादि जाति की व्यावृत्ति कभी नहीं हो सकती । यदि कहा जाय कि घट और घटाभाव से अतिरिक्त सभी पदार्थों की व्यावृत्ति अभीष्ट नहीं, अपितु विरोधी पदार्थों की ही व्यावृत्ति अभिमत है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि विरोध पदार्थ का निर्वचन न हो सकने के कारण विरोधी पदार्थ का निर्वचन नहीं हो सकता । यदि 'एक' पद से अभाव का ग्रहण करने पर नियम के द्वारा भाव और 'एक'

व्यवच्छेदयोरभावभावविधानातिरिक्तयोरनभ्युपगमे पुनरपि च यत्र भावस्तत्र भावो यत्राभावस्तत्राभाव इत्युद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिरभेदादिति पौनरुक्त्याधिकफलाभाव एव ।

स्यादेतत्—भावाभावयोः स्वरूपमेव विरोधः । न चैवं सत्यविरुद्धतापत्तिः, यथा सत्ता भावरूपैव सती स्वात्मनि सदिति भवितृव्यवहारं करोति, तथा भावाभावौ विरोधात्मानावेव स्वात्मनि विरुद्धरूपं भवितृव्यवहारं कुर्वाते । कस्यैतौ विरोध इति चानुयोगे स्वाश्रयस्येत्युत्तरम् । किं तत्र विरोधफलमिति प्रश्ने भेदव्यवस्थानमित्यभिधेयम् । यदाह—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चे'ति ।

फलं सिद्धयतीत्याह * किञ्चेति * । भावव्यवच्छेदो ह्यभावोऽभावव्यवच्छेदश्च भाव एवातो नान्यत् उद्देश्यविधेयभावस्य भेदसापेक्षस्यानुपपत्तेः पौनरुक्त्यमित्यर्थः ।

एवं भावाभावस्वरूपातिरिक्ते विरोधे ध्वस्ते स्वरूपपक्षं शङ्कते * स्यादिति * । तर्हि भावाभावौ विरोधाविति व्यवहारः स्यान्न तु भावं विरुणद्धीतिकर्तृव्यवहारो न स्यात्तदा च सहावस्थानमपि प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह * न चेति * । भावस्य स्वात्मनि भवितृव्यवहारप्रवर्तकत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति *यथेति* । विरोधो नाम धर्मः स च कस्यचित् धर्मिणो भवति न तु भावाभावयोरेव धर्मित्वं स्वनिष्ठत्वापत्तेरित्याशङ्क्याह * कस्येति * । यत्र भूतलादावाश्रितौ तस्यैव तौ विरोधावित्यर्थः । स एव विरोधो भवति यः स्वाश्रये विरोधफलं प्रसूतेऽतो न भावाभावयोर्विरोधत्वमाश्रये फलाजनकत्वादित्याशङ्क्याह * किमिति * । भावाभावाधिकरणयोर्नियमेन भेद एव फलमित्यर्थः । अत्राभियुक्तवचनमुदाहरति * यदीति * । भावाभावयोः स्वात्मनि भवितृव्यवहारे हेतुत्वाद्विरोधयोरऽपि विरुद्धं विरुद्धधर्माध्यासस्य चाश्रयभेदहेतुत्वमनेन दर्शितं तच्च भावाभावयोरस्तीत्यर्थः । हेतुफलयोरभेदोपचारादयमभेद इत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् ।

पद से भाव का ग्रहण करने पर अभाव की व्यावृत्ति अभिमत है'—ऐसा मानने पर अननुगम दोष प्रसक्त होता है, अतः अनुगत विरोध पदार्थ का निर्वचन नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह भी है कि 'यत्र भावस्य सत्त्वम्, तत्राभावस्यासत्त्वम्'— इसका अर्थ होता है—'यत्र भावस्यैव सत्त्वं न त्वभावस्य तत्र नाभावस्य सत्त्वम्' । 'यत्राभावस्य सत्त्वं नास्ति, तत्राभावस्य सत्त्वं नास्ति'— यहाँ 'घटो घटः' के समान उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयार्थ का अभेद हो जाने से उद्देश्यविधेयभाव अनुपपन्न हो जाता है और पुनरुक्ति भी बनी हुई है, अतः नियम का कोई विशेष फल प्रतीत नहीं होता ।

(३) भावाभावयोः स्वरूपमेव विरोधः—

शङ्का—भाव और अभाव का स्वरूप ही विरोध पदार्थ है । 'विरोध के आधार को विरुद्ध पदार्थ कहा जाता है, जब भाव और अभाव में कोई विरोध रहता ही नहीं, तब दोनों में अविरुद्धत्वापत्ति होती है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे 'सत्ता' जाति अपने में न रह कर भी 'सत्ता अस्ति'—इस प्रकार के सत्-कर्तृत्व-व्यवहार की निर्वाहिका मानी जाती है, क्योंकि वह स्वरूपतः सत् है । वैसे ही भावाभाव किसी धर्मभूत विरोध पदार्थ के आधार नहीं, विरोधात्मक ही हैं, फिर भी 'भावोऽभावं विरुणद्धि, अभावो भावं विरुणद्धि'—इस प्रकार विरोध-कर्तृत्वव्यवहार के प्रयोजक माने जाते हैं । 'यदि भाव और अभाव— दोनों विरोधरूप हैं, तब 'कस्य तौ विरोधः ?' इस प्रश्न का उत्तर क्या होगा ? उत्तर होगा—'स्वाश्रयस्य', क्योंकि समस्त विरोध पदार्थ अपने आश्रय का ही होता है । 'किं तत्र विरोधफलम् ? इस प्रश्न का उत्तर है—भेदव्यवस्था, जैसा कि कहा गया है—"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्

तदेतदनुपपन्नम्, एतयोर्विरोधित्वं प्रत्येकं वा स्यान्मिलितयोर्वा ? नाद्यः, प्रत्येकमेवाऽऽश्रयैकत्वभङ्गप्रसङ्गात्। नैकत्वाभावो भेदोऽभिमतः, किन्तु अन्योन्याश्रयापेक्षभेदरूपधर्मवत्त्वमिति चेन्न, तस्याभावात्। कालभेदेनैकस्य भावाभावाश्रयत्वाभ्युपगमात्तदभेद इति चेन्न, तदभेदस्य स्वाभाविकस्य विवक्षितत्वे विशेषणवैयर्थ्यात्। एकोपाध्यवच्छिन्नस्य विवक्षितत्वे कालभेदाभिमतेऽपि सम्भवात्। भिन्नोपाध्यनव-

विकल्पासहत्वेनैतद् दूषयति ❀ तदिति ❀। आद्यमपवदति ❀ नेति ❀। भावत्वस्याऽभावत्वस्य चाऽन्यानपेक्षस्य विरोधत्वात्प्रत्येकं तदधिकरणस्य विरुद्धधर्माध्यासात्स्वस्मादपि भेदप्रसङ्गः। विशेषं शङ्कते ❀ नैकत्वेति ❀। नैकत्वाभावो विरोधफलमपि तु भेदः स च नैकत्वाभावो भावाश्रययोरन्योन्यापेक्षया भेदरूपधर्मवत्त्वं विरोधफलमित्यङ्गीकारादतो नोक्तदोष इत्यर्थः। क्रमेण भावाभावाश्रयत्वेऽप्येकस्य तथाभूतधर्मवत्त्वाभावान्मैवमिति परिहरति ❀ नेति ❀। कालाभेदे भावाभावाश्रययोर्भेदधर्मवत्त्वं विरोधफलमिति विशेषं शङ्कते ❀ तदिति ❀। कालस्य स्वाभाविकोभेदो विवक्षित उतौपाधिक इति विकल्प्याद्यं दूषयति ❀ नेति ❀। क्रमेणैकस्य भूभागस्य भावाभावाश्रयत्वं भवत एकस्मिन् कालेऽस्तीति विशेषणवैयर्थ्यमित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति ❀ एकेति ❀। मुहूर्तयामादिभेदेऽप्येकोपाध्यवच्छिन्नदिवस एकस्मिन् मुहूर्ते घटसंसर्गिभूतलस्य मुहूर्तान्तरे घटाभावसंसर्गिणो भेद एव स्यादेकोपाध्यवच्छिन्ने काले भावाश्रयत्वादित्यर्थः। भेदेनोपाध्यवच्छिन्नत्वं कालस्यैक्यं विवक्षितं न चैनमतिप्रसङ्गस्तत्र मुहूर्तादिकालावच्छेदकोपाधीनां भेदादित्याशङ्क्याह ❀ भिन्नेति ❀। सहावस्थितैरनेकैश्चन्द्रसूर्यादिपरिस्पन्दैरेक-

विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च" अर्थात् भेद का हेतु यही है, जो विरुद्ध धर्म का अवस्थान है।

समाधान—यह जो कहा गया कि भाव और अभाव—दोनों ही विरोध स्वरूप हैं, वहाँ जिज्ञासा होती है कि उन दोनों में से प्रत्येक के स्वरूप को विरोध पदार्थ माना जाता है ? अथवा दोनों के मिलित स्वरूप को ? प्रथम पक्ष मानने पर भाव या अभाव का कोई भी आश्रय एक न रह सकेगा, भिन्न हो जायगा, क्योंकि विरोध का एकमात्र प्रयोजन यही है कि अपने आश्रय की एकता को भङ्ग करना। 'यदि कहा जाय कि भिन्नत्व का अर्थ एकत्वाभाव नहीं, अपि भाव और अभाव के आश्रयों का जो अन्योऽन्यप्रतियोगिक भेद है, उसका आश्रय होना'। तो वह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रकृत में भेद को न तो धर्मरूप माना जाता है और न उसके आश्रय को भिन्न कहा जाता है।

शङ्का—यद्यपि एक ही घट पकने से पहले श्याम रूप का आश्रय होता है और पक जाने पर श्याम रूप के अभाव का, अतः वहाँ भाव और अभाव के आश्रयों का अन्योऽन्यप्रतियोगिक भेद नहीं माना जाता, तथापि काल का अभेद विवक्षित है, अर्थात् एककालावच्छेदन भावाभाव अपने आश्रय के भेदक माने जाते हैं।

समाधान—जब काल एक ही है और काल का अभेद स्वाभाविक है, तब 'एककालावच्छेदेन' या काल का अभेद विशेषण व्यर्थ है।

यदि काल का औपाधिक अभेद माना जाता है, तब 'एक' विशेषण का अर्थ होता है, 'एकोपाध्यवच्छेदेन भावाभावौ आश्रयं भिन्दतः'। किन्तु यह भी संगत नहीं, क्योंकि दिवसादिरूप एक उपाधि से अवच्छिन्न काल में भी प्रहरादि अवान्तरोपाध्यवच्छेदन एक ही घट में रक्तादि रूप और उसका अभाव रह जाता है, फिर भी आश्रय का भेद नहीं होता। यदि भिन्न उपाधि से अनवच्छिन्न काल का लक्षण में प्रवेश माना जाय, तब असम्भव हो जाता है, क्योंकि कोई ऐसा काल-खण्ड सम्भव ही नहीं जो चन्द्र-सूर्यादि परिस्पन्दरूप अन्य उपाधि से अनवच्छिन्न हो।

सभी भिन्न उपाधियों का ग्रहण न कर यदि सहानवस्थित भिन्न उपाधियों से अनव-

च्छिन्नत्वस्य विवक्षितत्वेऽसम्भवात् । असहावस्थितभिन्नोपाध्यनवच्छिन्नत्वस्य वाञ्छितत्वे सहत्वस्यैककालरूपत्वेन तत्रापि कालभेदविकल्पानुवृत्त्यापत्तेः । मिलितत्वं चानयोरेकदेशत्वं वाऽभिमतम्, एककालत्वं वा, एकप्रकारेण वृत्तिर्वा, वृत्तिप्रकारान्यैकोपाध्यवच्छेदो वा ? नाद्यः, भावात्यन्ताभावयोस्तदभावात् । न द्वितीयः, भावस्य प्रध्वंसप्रागभावाभ्यां तदनुपपत्तेः । न तृतीयः, संयोगाद्यव्याप्यवृत्तितावादिपक्षे गगनादौ संयोगभावाभावयोस्तदभावात् । अव्याप्यवृत्तिधर्मानभ्युपगन्तृपक्षे भावाभावयोर्वृत्तौ प्रकारान्तराभावे प्रमाणाभावात् ।

नापि चतुर्थः, स हि यदि निर्देष्टुं शक्यते, तदाऽपि भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वं-

---

स्यापि क्षणस्यावच्छिन्नत्वादसम्भव इत्यर्थः । सूर्यादिगतिभेदः सहावस्थायी ततोऽन्येनासहावस्थितभिन्नोपाधिनाऽनवच्छिन्नकालस्यैकत्वं विवक्षितं चेत् तत्राह ※ सहेति ※ । असहत्वं नाम सहत्वनिषेधस्तच्च सहत्वनिरूपकं कालैक्यमेव तदपि स्वाभाविकमौपाधिकं वाऽऽद्ये विशेषणवैयर्थ्यमौपाधिकत्वे च केनचिदुपाधिनाऽवच्छिन्ने कालविशेषे संवत्सरादिलक्षणे वर्त्तमानानेकोपाधिभिरवच्छिन्नत्वसम्भवेनासम्भवो यद्यसहावस्थितभिन्नोपाध्यनवच्छिन्नत्वं तदाऽनवस्थेत्यर्थः ।

मिलितयोर्भावाभावयोर्विशेषमिति द्वितीयं पक्षमादाय विकल्पयति ※ मिलितेति ※ । ※ एकप्रकारेणेति ※ । येन प्रकारेण भावस्य वृत्तिरभावस्यापि तेनैव प्रकारेणेत्यर्थः । वृत्तिप्रकारातिरिक्तः कश्चिद्भावाभावयोरुपाधिर्भविष्यति तदवच्छिन्नत्वमेवानयोर्मिलितत्वमित्यन्तिमकल्पार्थः । आद्यं दूषयति ※ नेति ※ । गवि शृङ्गं तदभावस्तु शशमस्तके तत्संसर्गाभावोऽत्यन्ताभाव उच्यते तयोर्भावात्यन्ताभावयोरेकदेशत्वाभावादविरोधापत्तिरित्यर्थः । तृतीयं निराकरोति ※ नेति ※ । गगनादौ संयोगादितदभावयोरेकदेशप्रकारेण वृत्तिर्नास्ति प्रदेशभेदेन तयोरभ्युपगमात्संयोगस्य च समवेतत्वप्रकारेण वर्त्तमानत्वात्तदभावस्य च विशेषणविशेष्यभावेन वर्त्तनादित्यर्थः । गगनादौ संयोगादिभाव एव न तदभावो निरवयवेषु प्रदेशभेदाभावादित्याशंक्याह ※ अव्याप्येति ※ । अव्याप्यवृत्तय एव चेन्न सन्ति तदा भावाभावयोरेकत्र मिलितत्वेन वृत्तौ प्रकारान्तराभावे प्रमाणं नास्त्येवेत्यसिद्धिरित्यर्थः ।

तुरीयकल्पं निराकरोति ※ नापीति ※ । तथाभूतोपाध्यनुपलम्भात्तथाप्यङ्गीकृत्य ब्रूमहे तयोरेको-

---

च्छिन्न काल में रहनेवाले भावाभाव आश्रय के भेदक माने जाते हैं, तब 'सह' शब्द के अर्थभूत एक काल में एकत्व के विषय पूर्वोक्त स्वाभाविकत्वादि विकल्प उठ जाते हैं, जिनका उचित समाधान सम्भव नहीं ।

यह जो विकल्प उठाये गये थे कि "एतयाविरोधत्वं प्रत्येकं वा स्यात्, मिलितयोर्वा ?" उनमें से यदि द्वितीय कल्प माना जाय, तब जिज्ञासा होती है कि मिलितत्व का अर्थ क्या (१) 'एकदेशवृत्तित्व' विवक्षित है ? या (२) एककालवृत्तित्व ? या (३) एकप्रकारेण वृत्तित्व ? अथवा (४) इनसे भिन्न कोई एक उपाधि से अवच्छिन्नत्व ? प्रथम कल्प के अनुसार घटादि भाव पदार्थ और उसके अत्यन्ताभाव का एकदेशवृत्तित्वरूप मिलितत्व होना चाहिए, वह सम्भव नहीं । द्वितीय कल्प में भाव और उसके ध्वंसाभाव का एककालवृत्तित्वरूप मिलितत्व उपपन्न नहीं और तृतीय कल्प में संयोगादि की अव्याप्यवृत्तिता के पक्ष में संयोग और उसके अभाव गगनादि में एक प्रकारावच्छेदन वृत्ति नहीं, अपितु कल्पित भिन्न अवयवावच्छेदेन ही रहते हैं, अतः एकप्रकारावच्छेदेन वृत्तित्वरूप मिलितत्व प्रसिद्ध नहीं होता । संयोगादिरूप अव्याप्यवृत्ति धर्मों को न मानने पर भावाभाव की वृत्तिता भिन्नप्रकारावच्छेदेन होती ही नहीं, तब उसकी व्यावृत्ति के लिए एकप्रकारावच्छेदेन विशेषण लगाना व्यर्थ हो जाता है । चतुर्थ कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि प्रथमतः तो उस कल्प का निर्देश हो ही नहीं सकता, यदि किसी प्रकार किया भी जाय, तब भाव और उसका प्रागभाव एवं

सयोर्वैकदाऽनभ्युपगमेन तद्विशेषितयोरपि एकदाऽवश्यमनभ्युपगन्तव्यतया कदा विरोधस्य तदाश्रयतेति वक्तुमशक्यत्वात् । किञ्च—भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोर्वा यदि तथाभावोऽभ्युपगम्यते, तदाऽऽश्रयभेदप्रसङ्गः । अथ नाऽभ्युपगम्यते, तदा भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोश्चाविरोधापत्तिः । अभावान्तरेऽपि सावकाशत्वात् न परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वम् । परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं हि भावात्यन्ताभावयोरेव । तत्तदसत्त्वमात्रयोर्विरोधो न तु तत्तदसत्त्वविशेषयोरिति चेन्न, विशेषस्य तथात्वविरोधात् कदाऽपि सहावस्थितियोग्यतापत्तेः । नियमेन तथात्वे च विरोधव्याघातात् ।

पाध्यवच्छिन्नयोरप्येकदाऽवस्थानं न सम्भवति स्वस्वाभावयोस्तथाऽनुपलब्धेस्ततः कदाचिद्विरोधस्य तदाश्रयतेति वक्तुं न शक्यते विरोधो ह्युभयधर्मः स च धर्मिणोऽसहावस्थानमपेक्षते वर्त्तमानधर्मस्य वर्त्तमानधर्मिनिष्ठत्वनियमात्ततो भिन्नकालीनयोर्न विरोधः सिद्ध्यतीत्यव्याप्तिरित्याशयः । भावाभावयोर्विरोधस्वरूपत्वं वदता किं विशेषरूपयोर्विरोधरूपत्वमङ्गीक्रियते नवेति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह ॐ किञ्चेति ॐ । आश्रयान्तरे घटे जातेऽपि प्रागभावो न निवर्त्तेत प्रध्वंसे वान्यत्रैवोत्पन्ने घटस्तत्रैवावतिष्ठेतेत्याश्रयभेदप्रसङ्गस्तथा विरुद्धयोरपि संसर्गतदभावयोः प्रसिद्धेरित्यर्थः । भावाभावयोर्भिन्नाश्रयत्वप्रसिद्धेः संसर्गाभावे सावकाशत्वान्न प्रागभावभावप्रध्वंसाभ्यां तत्प्रतियोगिनः सहाश्रयभेदेनैकदा सत्त्वमित्याशंक्याह ॐ अभावान्तरेऽपीति ॐ । प्रागभावादिव्यतिरिक्तसंसर्गाभावे विरुद्धत्वस्यापि तथैव सावकाशत्वान्न प्रागभावादौ विरोध इति पुनरप्येकोपाधौ प्रागभावादेः स्वप्रतियोगिसामानाधिकरण्यमापन्नमित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह ॐ अथेति ॐ । प्रागभावप्रध्वंसाभ्यां भावस्य विरोधो न स्यादित्यर्थः । भावाभावयोः साधारणरूपयोर्विरोध इष्यते ततो घटप्रागभावाद्योर्विरोधताऽङ्गीक्रियते न वेति विकल्पोऽनवसरग्रस्तस्तयोरपि तदधिकरणत्वादिति एवं तर्हि प्रागभावप्रध्वंसात्यन्ताभावानां विशेषरूपतया विरोधाभावात्कदाचित् स्वप्रतियोगिना समानदेशत्वं स्यादिति दूषयति ॐ नेति ॐ । विरुद्धसमानाधिकरणत्वान्न विशेषाणां सहावस्थानप्रसङ्गोऽनुपलब्धेश्च तथेत्याशंक्याह ॐ कदापीति ॐ । भावाभावाश्रययोरेव विरोध इत्युक्तत्वान्न स्वतो विशेषाणां

भाव और उसका प्रध्वंसाभाव दोनों कभी एक काल में नहीं रह सकते, तब भिन्नप्रकारावच्छेदन उनका मिलित होना सम्भव क्योंकर होगा ? इस प्रकार के भावाभाव में विरोधरूपता या आश्रयभेदकता क्योंकर उपपन्न होगी ?

दूसरी बात यह भी है कि यदि भाव और उसके प्रागभाव एवं भाव और उसके ध्वंसाभाव का विरोध माना जाता है, तब रक्तादि रूप और उसके प्रमाभाव के आश्रयीभूत घट का भेद प्रसक्त होता है। यदि उनका विरोध नहीं माना जाता, तब उनका अत्यन्त अविरोध होने के कारण एककालावच्छेदन एकदेशवृत्तित्व प्रसक्त होता है ।

जब प्रागभाव और ध्वंसाभाव से भिन्न अत्यन्ताभाव में प्रतियोगीभूत भाव की विरोधिता सुलभ हो जाती है, तब भाव और प्रागभाव एवं भाव और ध्वंसाभाव में प्रतिक्षेपात्मकता मानने की कोई आवश्यकता नहीं, अतः उनकी एककालावच्छेदेन एकदेशवृत्तिता अवश्य होनी चाहिए ।

शङ्का—तत्पदार्थ और उसके असत्त्व सामान्य का विरोध माना जाता है, न कि तत्पदार्थ और उसके असत्त्वविशेष प्रागभावादि का ।

समाधान—यदि भाव और अभावविशेषरूप प्रागभावादि का विरोध नहीं माना जाता, तब उनकी एककालावच्छेदेन एकदेश में वृत्तिता भी कदाचित् होनी चाहिए । यदि प्रागभावादि का भाव के साथ विरोध के बिना ही निसर्गतः वैयधिकरण्य माना जाता है, तब भाव का अत्यन्ताभाव के साथ विरोध मानना व्याहत हो जाता है, क्योंकि उनका नैसर्गिक वैयधिकरण्य माना जा सकता है, विरोध-प्रयुक्त नहीं ।

मात्रशब्देन च यदि विशेषशून्यत्वमसत्त्वस्योच्यते तदा तदनभ्युपगम एव प्रमाणाभावात्। न हि निर्विशेषासत्त्वमात्रसद्भावे प्रमाणमभिधातुं शक्यते। अथ मात्रशब्दोपादानं सत्यपि विशेषेऽसत्त्वस्य साधारणरूपपुरस्कारेण विरोधव्यवस्थितिप्रदर्शनार्थं तदा भावप्रध्वंसयोस्तादृगेव दोषापत्तिः। प्रध्वंसादौ विशेषे सामान्यरूपस्यावश्याभ्युपगम्यत्वात् तदादायैव विशेषे विरोधपर्यवसानात्।

१५. तर्कसामान्यलक्षणखण्डनम्

भावाभावयोर्विरोधानभ्युपगमे तवाप्यनिष्टापत्तिरिति चेत्, केयमापत्तिः? तर्कभेद इति चेत्, अथ कस्तर्कः? अभ्युपगतव्याप्यं प्रति व्यापकप्रसञ्जनं सः। तत्प्र-

विरोधो न च विरोधिसम्बन्धितया विरोधस्तथा सति स्वाभावविरुद्धघटसंसर्गितया भूभागगगनयोरपि विरुद्धत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। विशेषस्य प्रतियोग्यविरोधेऽपि सहस्थित्यभावनियमः किं न स्यादित्यत आह नियमेनेति ॐ। नियमेन विशेषस्याप्यसहावस्थानान्न विशेषयोर्विरोध इति वचन निरुक्तं स्यादित्यर्थः। किञ्च मात्रशब्देनासत्त्वस्य किंविशेषवत्त्वं व्यावर्त्यते, अथ सत्यपि विशेषे तदनपेक्षया विरोधप्रयोजकत्वं, आद्ये तदेव न स्यात् किं निर्विशेषो घटाभाव इति, विशेषघटित एव तस्मिन्प्रमाणप्रसरादित्यर्थः। द्वितीयं शंकते ॐ अथेति ॐ। घटतत्प्रध्वंसयोर्भिन्नाश्रयत्वापत्तिस्तदवस्थैवेति दूषयति ॐ तदेति ॐ। कुत इत्यत आह ॐ प्रध्वंमेति ॐ। सामान्यद्वारेण विरोधाङ्गीकारादित्यर्थः।

इति विरोधखण्डनम्।

बन्धाभावं मोक्षमिच्छता बन्धतदभावयोर्विरोध इष्टः इदानीं तदनभ्युपगमेन तवानिष्टापत्तिरिति शंकते ॐ भावेति ॐ। बन्धमोक्षव्यवहारोऽपि कल्पित एवेति न मेऽनिष्टापत्तिरुक्तं हि देवकीसुतेन ज्ञानमूर्त्तिना—

> "बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो न च वस्तुतः।
> गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥" इति

आपत्तेरनिरूप्यत्वादिति नापत्तिरित्याह ॐ केति ॐ। प्रश्नं मत्वोत्तरमाह ॐ तर्केति ॐ। यदाह वैशेषिकः

'तत्तदसत्त्वमात्रयोर्विरोधः'—यहाँ पर प्रयुक्त 'मात्र' शब्द के द्वारा असत्त्व की विशेषरूपता का खण्डन किया जाता है कि असत्त्व सामान्य ही होता है, प्रागभावादिरूप विशेष होता ही नहीं, तब असत्त्व के अभ्युपगम से ही हाथ धोना पड़ेगा, क्योंकि जैसे घटादि प्रतियोगी से निरपेक्ष सामान्य अभाव में कोई प्रमाण प्रवृत्त ही नहीं होता, वैसे ही प्रागभावादि प्रकारों को छोड़कर असत्वसामान्य का निरूपण हो ही नहीं सकता, क्योंकि निर्विशेष सामान्य खपुष्पादि के समान अलीक और अप्रामाणिक है।

यदि असत्त्वविशेष के रहने पर भी 'मात्र' शब्द का उपादान असत्त्व में साधारणरूपेण विरोध प्रदर्शनार्थ किया जाता है, तब भी भाव और उसके प्रध्वंस में विरुद्धाश्रयत्व-प्रसङ्ग पूर्ववत् बना रहता है, क्योंकि असत्त्वविशेषरूप प्रध्वंसादि में भी सामान्यरूप अवश्य मानना होगा, उसको लेकर विशेपाभावों में भी भाव का विरोध पर्यवसित हो जाता है।

१५. तर्कसामान्य के लक्षण का खण्डन

यदि कहा जाता है कि भाव और अभाव का विरोध न मानने पर आप (खाण्डनिक) की भी अनिष्टापत्ति है। तब हम (खाण्डनिक) आप (नैयायिक) से यह जानना चाहेंगे कि यह अनिष्टापत्ति क्या है?

सञ्जनं च स्वीकारार्हताबोधनमिति चेन्न, अव्याप्तेः। अस्ति ह्यप्रसङ्गोऽपि सम्भावना नाम तर्कः। तद्यथा—'यदि जलं सहकारिभिः सम्पत्स्यते, तदा मे तृषं शमयिष्यती'ति, इष्टापादनेऽपि गतत्वाच्च। अनभ्युपगतव्यापकमित्यपीति चेन्न, तथाभूतमपि

द्विविधस्तर्कः सम्भावनात्मकः प्रमित्युत्पादोपयोगीति, प्रसङ्गरूपो विपक्षविरोधी प्रतिबन्धकापनयनार्थः तदुभयोपहितमनुमानं श्रुतेरपि बाधत इति तत्प्रसङ्गेन तर्कखण्डनमुपक्रमते ❀ अथेति ❀। आरम्भार्थोऽथशब्दः। तर्कलक्षणं शंकते ❀ अभ्युपगतेति ❀। व्यापकप्रसञ्जनं तर्क इत्युक्तेऽनभ्युपगतव्याप्यं प्रति तत्प्रसञ्जनस्याभासस्य तर्कत्वप्रसक्तिं निवारयति ❀ अभ्युपगतेति ❀। अव्यापकप्रसञ्जने आभासे प्रसक्तिनिवारणाय व्यापकेत्युक्तम्। स—तर्क इत्यर्थः। किमिदं प्रसञ्जनमित्यत आह ❀ तदिति ❀। द्विविधेऽपि तर्केऽनुगतं तर्कलक्षणं वाच्यं त्वया तु प्रसङ्गस्य लक्षणं क्रियते तत्सम्भावनायां न वर्त्तते इत्यर्थः। अव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। अव्याप्तिभूमिरेव नास्तीत्यत आह ❀ अस्तीति ❀। सम्भावनातर्कस्योदाहरणमाह ❀ तदिति ❀। व्याप्यमस्ति चेद्व्यापकं स्यादेवेति निश्चयरूपः प्रसङ्ग इदं तु सम्भावना नैवमित्यव्याप्तिरित्यर्थः। अतिव्यापकं चेहत्याह ❀इष्टेति❀। येन गिरेरग्निमत्वमिष्टं तं प्रति यदोच्यते यद्ययमनग्निरधूमः स्यादिति तदा तस्मिन्निष्टापादने तर्काभासेऽपि गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अनभ्युपगतव्यापकं प्रति अभ्युपगतव्याप्यं व्यापकप्रसंजनं तर्क इति लक्षणस्वीकारान्नोक्तदोष इति शंकते ❀अनभ्युपगतेति❀। दूषयति

शङ्का—तर्क के पाँच भेदों में अनिष्टापत्ति भी एक भेद है, श्रीवरदराज कहते हैं—"स चात्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकाश्रयानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधः" (ता० र० पृष्ठ १८६)।

समाधान अनिष्टापत्ति जिस तर्क का यह भेद है, उस तर्क का क्या लक्षण है ? उसके व्यवस्थित हो जाने पर ही भेदों का निरूपण हो सकेगा।

(१) अभ्युपगतव्याप्यं प्रति व्यापकप्रसञ्जनं तर्कः—

शङ्का—न्याय लीलावतीकार तर्क का लक्षण करते हैं—"एकधर्माभ्युपगमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिः" (न्या० ली० पृ० ५१४)। वहाँ एकधर्म का अर्थ व्याप्य धर्म और द्वितीय का अर्थ व्यापक धर्म है, अतः उस लक्षण का पर्यवसितार्थ यही होता है कि जो व्यक्ति जहाँ व्याप्य धर्म को मानता है, उसके लिए वहाँ व्यापक धर्म का आपादन (स्वीकरणीयता-बोधन) करना ही तर्क है, जैसे जो व्यक्ति पर्वत में धूमाभाव के व्याप्यभूत वह्न्यभाव को पर्वत में मानता है, उसके प्रति यह कहना तर्क है कि 'यद्यत्र वह्न्यभावः स्यात्, तर्हि धूमाभावोऽपि स्यात्'।

समाधान—उक्त लक्षण अव्याप्ति-ग्रस्त है, क्योंकि यह तर्क सामान्य का लक्षण है, तर्क के सभी भेदों में इसे घटना चाहिए किन्तु सम्भावनारूप तर्क में नहीं घटता। सम्भावना का उदाहरण है—'यदि जलं सहकारिभिः सम्पत्स्यते, तदा मे तृषं शमयिष्यति'। यदि जल साथियों को मिल गया तो मेरी प्यास अवश्य बुझ जायगी। यहाँ किसी के लिए व्यापक का प्रसञ्जन नहीं किया जाता, केवल सम्भावना की जा रही है, अतः उक्त लक्षण यहाँ नहीं घटता, क्योंकि संभावना प्रसंजन से भिन्न है, प्रसंजन निश्चयात्मक है और सम्भावना अनिश्चयात्मक ['सम्भावना'] पद से यहाँ यद्यपि संशय का ग्रहण नहीं, तथापि निश्चय में भी तात्पर्य नहीं, उदयनाचार्य कहते हैं—"संभावना चेहाविरोधमात्रम्, न तु संशयः, अयुक्तांशस्यापि संशयास्पदत्वात्" (ता० परि० पृ० १४१ (।-न्यायकन्दलीकार भी संशय और निर्णय की अन्तराल अवस्था मानते हैं—"अनुभूयते ह्यन्तरा संशयं निर्णयं च तर्कः", 'स्वपक्षसंभावनात्मकः प्रत्ययस्तर्कः' (न्या. कं. पृ. ४१५, ४१७)]।

इतना ही नहीं, उक्त लक्षण इष्टापादन में भी अतिव्याप्त है, क्योंकि जो व्यक्ति पर्वतादि धर्मी में धूमाभावरूप व्यापक को पहले से ही मान रहा है, उसके लिए 'यद्यत्र वह्निर्न स्यात्, तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'—ऐसा कहना कोई तर्क नहीं, तर्काभास है, फिर भी प्रकृत लक्षण

प्रत्यव्याप्यादव्यापकप्रसंजने गतत्वात् । व्याप्येनेत्यपि कार्यमिति चेन्न, विकल्पासहत्वात्- किं परमार्थतो व्याप्यव्यापकभावव्यवस्थितयोः स्वरूपेणेष्टानिष्टत्वम्, उत व्याप्यव्यापकयोर्भावेन तत्? नाद्यः, तथात्वाज्ञातेन वैपरीत्येनेष्टेनापि प्रसंजने प्रसङ्गात् । अन्यथा परैस्तथात्वेनानङ्गीकृतेन स्वयमपि परान् प्रति तथात्वेन व्युत्पादयि-

❀ नेति ❀ । इन्धनवत्त्वे पर्वतस्याग्निमत्त्वं प्रसज्ज्येतेत्यव्याप्येनानभ्युपगतपर्वताग्निं प्रति प्रसंजनेऽतिव्याप्तिः स्यादेवगत्या तेन व्याप्यधूमस्य स्वीकारसम्भवादित्यर्थः । अनभ्युपगतव्यापकमभ्युपगतव्याप्यं च प्रति व्याप्येन व्यापकप्रसंजनं तर्क इति विशेषणान्नोक्तदोष इति शंकते ❀ व्याप्येनेति ❀ । विकल्पे क्रियमाणे स्वकार्यं निर्वोढुमसहत्वान्मैवमित्याह ❀ नेति ❀ । विकल्पमेव दर्शयति ❀ किमित्यादिना ❀ । वस्तुगत्या व्याप्यतया व्यापकतया च व्यवस्थितयोर्व्यापकांशमपहाय स्वरूपेण धूमवत्त्वस्येष्टत्वं अनिष्टत्वं वाग्निमत्त्वस्योत तयोर्व्याप्यव्यापकाकारेणेष्टत्वानिष्टत्वमिति विकल्पार्थः । प्रथमं प्रत्याह ❀ नेति ❀ । कोष्ठं गत्वा विद्यमानोऽपि धूमतन्योर्व्याप्यव्यापकभावो यत्र न ज्ञायते, तत्र धूमेन वह्नेः प्रसंजनं तर्कः स्यान्न स तर्कोऽन्यतरासिद्धव्याप्तिकतया प्रशिथिलमूलत्वादुभयसिद्धव्याप्तेरिव तर्कमूलत्वादित्यर्थः । दूषणान्तरमाह ❀ वैपरीत्येति ❀ । धूमस्य व्यापकत्वमग्नेश्च व्याप्यत्वं येनेष्यते तं प्रति धूमेनैवाग्नेः प्रसंजनं तर्कः स्यान्नचासौ तर्को धूमस्य व्याप्यत्वस्य वह्निव्यापकत्वस्य तं प्रत्यसिद्धेरित्यर्थः । अज्ञातव्याप्यभावस्वरूपज्ञातधूमेन यद्व्यापकप्रसंजनं स तर्क एवेत्यत आह ❀ तथा सतीति ❀ । नैयायिकादिभिस्तथात्वेनानङ्गीकृतेन मीमांसकैर्नैयायिकादीन् प्रति व्याप्यतया प्रतिपादयितुमाशङ्कितेन वस्तुगत्या व्याप्येन सह कारणत्वाविना नित्यत्वप्रसंजन उक्तलक्षणसम्भवे सत्तर्कत्वाज्जयप्रसङ्ग इत्यर्थः । अन्यथेति केचित्पठन्ति तदर्थं एवंविधस्यासत्तर्कत्वानङ्गीकारे तथात्वेन व्याप्यत्वेन परैरनङ्गीकृतेन सहकारणत्वेनेतियावत् तथाप्यन्यतरासिद्धं न स्यात्स्वयमेव परं प्रति साधयितुं व्याप्यं शक्नोति चेदित्यत आह ❀ स्वयमिति ❀ । वादिप्रतिवादिनोर-

उसमें घट रहा है । इस अतिप्रसङ्ग को हटाने के लिए यदि लक्षण में 'अनभ्युपगतव्यापकं प्रति'—ऐसा विशेषण जोड़ा जाता है, तब यद्यपि जो व्यक्ति धूमाभावादि व्यापक पदार्थों को पहले से मान रहा है, वह 'अभ्युपगतव्यापकक पुरुष है, अनभ्युपगतव्यापकक नहीं, अतः उसके लिए उक्त तर्काभास का प्रयाग नहीं किया जा सकता, तथापि जो व्यक्ति पर्वत में अग्निरूप व्यापक पदार्थ का अस्तित्व नहीं मान रहा है और धूमरूप व्याप्यार्थ का अस्तित्व मानता है, उसके प्रति अग्नि के अव्याप्यभूत इन्धनादि पदार्थों के द्वारा अग्नि के आपादन (यद्ययमिन्धनवान् स्यात्, तर्ह्यग्निमान् स्यात्) में उक्त लक्षण अतिप्रक्त होता है ।

इस अतिव्याप्ति को हटाने के लिए लक्षण में यदि 'व्याप्येन व्यापकापादनम्' ऐसा कहा जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि लक्षण में जो व्याप्य का अभ्युपगम और व्यापक का अनभ्युपगम निविष्ट है, वह क्या वस्तुतः व्याप्य का स्वरूपेण अभ्युपगम और वस्तुतः व्यापक के स्वरूपेण अनभ्युपगम माना जाता है ? अथवा व्याप्यत्वेन अभ्युपगम और व्यापकत्वेन अनभ्युपगम ? प्रथम पक्ष मानने पर जहाँ धूम और अग्नि का व्याप्यव्यापकभाव ज्ञात नहीं, वहाँ 'अद्ययं धूमवान् स्यादग्निमान् स्यात्'—इस प्रकार धूम के द्वारा अग्नि के प्रसंजनरूप तर्काभास में अतिव्याप्ति होती है । [सत्तर्क वही है, जो दोनों वादियों के द्वारा व्याप्यव्यापकभाव जानकर प्रयुक्त हो, अन्यथा शिथिलमूलक असत्तर्क माना जाता है, उसमें लक्षण का घट जाना अतिव्याप्ति ही है] । अथवा जिस व्यक्ति को धूम में व्यापकत्व और अग्नि में व्याप्यत्व का विपरीत निश्चय है, उसके प्रति धूम के द्वारा अग्नि के आपादन में भी लक्षण घट जाता है । [यह तर्क भी सत्तर्क नहीं, क्योंकि इसका मूलभूत व्याप्ति-ज्ञान वैपरीत्यावगाही भ्रमात्मक है] । आपाद्य और आपादक का व्याप्यव्यापकभाव वस्तुतः हो और उसका दोनों वादियों को प्रमात्मक ज्ञान हो तभी सत्तर्क-प्रयोग माना जाता है, अन्यथा जहाँ वादी

तुमशक्तेन परमार्थतस्तथाभूतेन प्रसंजने जयप्रसङ्गात्।

न द्वितीयः, स्वयमपि तथेष्टानिष्टतायां सत्यां कृते तादृशि प्रसङ्गे 'यत्रोभयोरि'-त्यादिना दोषेण सत्प्रसङ्गतया अनिष्टेऽपि गततयाऽतिव्यापकत्वात्। स्वयं व्याप्यतयाऽनिष्टेनेत्यपि विशेषणीयमिति चेन्न, स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन स्वमात्रेष्टव्यापके विषये प्रसङ्गस्याव्यापनात्। अथ स्वयमनिष्टव्यापके स्वयं व्याप्यतयेष्टेन यन्न भवति, तत्रानभ्युपगतव्यापकं परं प्रति पराभ्युपगतेन व्याप्येन व्यापकप्रसञ्जनं तर्कः। एवं सति हि स्वानिष्टव्यापके स्वयमिष्टव्याप्येन यत्र प्रसङ्गस्तत्र गमनादतिव्याप्तिर्या, या च स्वमात्रेष्टव्यापके स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन प्रसङ्गस्याव्याप्तिस्ते निरस्ते भवत इति चेन्न,

---

परिज्ञाने व्याप्यव्यापकभावस्तर्हि न स्यादित्याह ※ परमार्थेति ※।

व्याप्यव्यापकभावेनेष्टत्वानिष्टत्वमिति द्वितीयं दूषयति ※ नेति ※। कुत इत्यत आह ※स्वयमिति※। व्याप्यत्वेन स्वीकृततयाऽनिष्टे स्वयमपि व्यापकत्वेन स्वीकृततयाऽनिष्टे परेणापि तथैव स्वीकृतविषये यथा सत्तायां सत्तानिष्टेऽप्युभयसिद्धतया यदा परं प्रति व्यवहारयोगात्तमापादयति तदाऽभ्युपगतव्याप्येन अनभ्युपगतव्यापकप्रसंजनं भवति तथापि नासौ तर्कः स्वयमपि तथानिष्टतया यत्रोभयोरिति न्यायेन स्वस्यापि प्रतिकूलत्वादतश्च प्रसङ्गाभासेऽपि गतत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। अभ्युपगतव्याप्यमनभ्युपगतव्यापकं प्रति व्याप्येन स्वयं व्याप्यतयाऽनिष्टेन व्यापकप्रसञ्जनं तर्क इत्युक्ते नातिव्याप्तिरिति शङ्कते ※ स्वयमिति ※। अव्याप्त्या परिहरति ※ नेति ※। यत्र व्याप्यस्येष्टत्वं व्यापकस्य परं प्रत्यनिष्टत्वं च यथाऽऽत्मादेः प्रमेयत्वमुभयेष्टं तत्प्रत्यक्षत्वं च परानिष्टं तद्यदा प्रमेयत्वेन व्याप्येन नैयायिको मीमांसकं प्रति तत्प्रत्यक्षत्वं प्रसंजयति तस्मिन्सत्तर्के लक्षणमिदमव्यापकं स्वयमनिष्टेनेतिविशेषणाभावादित्यर्थः। उक्तदोषपरिहाराय विशेष शंकते ※ स्वयमिति ※। स्वेनानिष्टे व्यापके स्वेन व्याप्यतयेष्टेन यत्प्रसंजनन्न भवति तत्रानभ्युपगतं व्यापकं येन परेण मीमांसकादिना तं प्रति तदभ्युपगतव्याप्येन व्यापकस्य प्रसंजनं तर्क इत्यर्थः। फलितमाह ※ एवमिति ※। याऽतिव्याप्तिर्या चाऽव्याप्तिस्ते निरस्ते इत्यन्वयः। स्वयमव्यापकतयेष्टे स्वयं व्याप्यतयेष्टेन यन्नेति विशेषणेन व्याप्यतयेष्टेतिविशेषणेन च क्रमेणातिव्याप्त्यव्याप्तिनिरास इति द्रष्ट-

---

को न तो स्वयं व्याप्यव्यापकभाव ज्ञात है और प्रतिवादी के द्वारा उसका व्युत्पादन किया जा सका है। वहाँ भी प्रतिवादी को व्याप्य के द्वारा व्यापक का आपादन कर देने पर विजय मिल जायगी।

द्वितीय कल्प के अनुसार भी जहाँ वादी के ही समान प्रतिवादी भी व्याप्य का अभ्युपगम और व्यापक का अनभ्युपगम करता है, वहाँ भी व्याप्य से व्यापक के आपादन में अतिप्रसक्ति होती है। वहाँ सत्तर्क-प्रयोग नहीं माना जाता, क्यों जहाँ दोनों वादियों के मतों में समान दोष हो, वहाँ किसी एक के मत में दोषोद्भावन उचित नहीं समझा जाता, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकस्तत्र नियोक्तव्यः तादृगर्थविचारणे॥ (श्लो. वा. पृ. ३४१)

शङ्का -वैसे प्रतिवादी की व्यावृत्ति करने के लिए 'स्वयं व्याप्यतयाऽनिष्टेन परानिष्टापादनम्'—ऐसा संशोधन प्रस्तुत करने पर वहाँ अव्याप्ति हो जाती है, जहाँ स्वयं व्याप्यतया इष्ट पदार्थ के द्वारा परानिष्ट का प्रसंजन किया जा रहा है।

शङ्का—जहाँ पर स्वयं के द्वारा अनभ्युपगत व्यापकवाले पक्ष में स्वयं व्याप्यत्वेन इष्ट पदार्थ के द्वारा अनिष्टापादन नहीं होता, वहाँ व्यापक को न माननेवाले मीमांसकादि के प्रति उसके द्वारा स्वीकृत व्याप्य से व्यापक का प्रसंजन तर्क है—ऐसा लक्षण मानने पर न तो स्वयं अनिष्ट व्यापकवाले गगनादि में स्वयं इष्ट व्याप्य के द्वारा दिए गए अनिष्टापादन में अतिव्या-

'यद्यत्र सत्तयाऽपि घटोऽभविष्यत्तदाऽद्रक्ष्यदि'त्याद्यव्यापनात्। तत्र स्वयमनिष्टदर्शनरूपव्यापके स्वयं व्याप्यतयेष्टेनैव हि दर्शनयोग्येन घटसत्त्वेनासौ प्रसङ्गः। अथ तत्र सत्तयाऽपि स्वयमिष्टेनेति निषेध्यकोटौ प्रविश्य निषेधोऽभिधीयते—एवं यत्र भवतीति। तदपि न, एवम्भूते एव विपर्ययापर्यवसायिनि गततयाऽतिव्यापकत्वात्। विपर्ययपर्यवसायिनेत्यपि प्रक्षेप्यमिति चेन्न, केवलपरपक्षदूषणाय परमात्राभ्युपगम्यमानव्याप्यत्वेन एवंक्षमस्य परं प्रति व्यापकप्रसञ्जनस्याव्यापनात्। तत्र स्वयं व्याप्त्यनभ्युपगमेन विपर्ययपर्यवसायित्वासम्भवात्। स प्रसङ्ग एव न भवति, विरोधमात्रं

व्यम्। अव्याप्त्यन्तरेण दूषयति ❀ नेति ❀। तामेवाव्याप्तिमुपपादयति ❀ अद्रक्ष्यदिति ❀। दर्शनरूपं यद्व्यापकं तत्प्रसंजनमनिष्टं व्याप्यं च घटसत्त्वदर्शनयोग्यत्वमिष्टं तेन स्वयं व्याप्यतयेष्टेन यन्नेतिविशेषणाभावादव्याप्तिरित्यर्थः। सत्त्वरूपेणाऽपि स्वयमनिष्टेतिविशेषणोपादानेन शंकते ❀ अथेति ❀। स्वरूपत्वव्याप्यत्वाभ्यामिष्टेन व्याप्येन यद्व्यापकप्रसंजनं न भवति तत्प्रसंजनं तर्क इति विवक्षितमित्यर्थः। तदपि विशेषणं न कर्त्तव्यमतिप्रसङ्गादित्याह ❀ तदिति ❀। यदा हि नैयायिको ब्रह्मविदं प्रति प्रसंजयति वेदैकगम्यं चेद् ब्रह्म तदाऽग्निहोत्रवदस्वप्रकाशं स्यादिति तस्य विपर्ययापर्यवसायित्वात्प्रसङ्गो भवति यत्स्वप्रकाशं तद्वेदैकगम्यं न सम्भवतीति व्याप्त्यनङ्गीकाराल्लक्षणं चेत्तत्र गच्छति वेदैकगम्यत्वस्य व्याप्यस्य ब्रह्मणि स्वयं नैयायिकेन सत्तयाऽप्यनिष्टत्वादित्यर्थः। शङ्कते ❀ विपर्ययेति ❀। स्वयमनिष्टव्यापके स्वयं व्याप्यतयेष्टेव यन्न भवति तत्रानभ्युपगतव्यापकं परं प्रति पराभ्युपगतेन व्याप्येन स्वयं सत्तयाऽप्यनिष्टेन विपर्ययपर्यवसायिताप्रसंजनं तर्क इति विशेषणान्नोक्तदोष इत्यर्थः। अव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। यदा हि नैयायिको ब्रह्मविदं प्रति ब्रूते ब्रह्मण उपादानत्वे तव मृदादिवद्विकारित्वं स्यादिति तदाऽस्य प्रसङ्गस्य विपर्ययपर्यवसायित्वं नास्ति निर्विकारस्याप्याकाशस्य शब्दोपादानत्वाभ्युपगमेन विपरीतव्याप्त्यनभ्युपगमादित्यव्याप्तिः सत्तर्कतयेष्टत्वात्तस्येत्यर्थः।

यस्य प्रसङ्गस्य विपर्यये पर्यवसानं नास्ति स प्रसङ्ग एव न भवति किन्तु विरोधमात्रमतो नाव्याप्तिरिति शङ्कते। ❀ स इति ❀। मैवं तर्कलक्षणस्योभयत्राविशेषादिति परिहरति ❀ नेति ❀।

होती है और न केवल स्वयं के द्वारा इष्ट व्यापकवाले पक्ष में स्वयं व्याप्यतया इष्ट पदार्थ से अनिष्ट-प्रसञ्जन में अव्याप्ति होती है।

समाधान—'यद्यत्र सत्तयाऽपि घटोऽभविष्यत् तदा अद्रक्ष्यत्'—इत्यादि तर्को में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है, क्योंकि स्वयं के द्वारा अनिष्ट दर्शनरूप व्यापकवाले पक्ष में स्वयं व्याप्यतया इष्ट घट-सत्त्व से अनिष्ट प्रसञ्जन किया गया है।

स्वरूपतया अथवा व्याप्यतया इष्ट व्याप्य के द्वारा जो व्यापक का प्रसञ्जन नहीं होता - ऐसा विशेषण लगाने पर जहाँ नैयायिक ब्रह्मवादी के प्रति 'वेदैकगम्य चेद् ब्रह्म, तदाऽग्निहोत्रादिवद् अस्वप्रकाशं स्यात्'—इस प्रकार के विपर्यय में अपर्यवसायी तर्काभास में लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। उक्त लक्षण में यदि 'विपर्यय-पर्यवसायित्व' विशेषण भी दिया जाता है, तब उस अनिष्ट-प्रसञ्जन में अव्याप्ति हो जाती है, जो विपर्यय-पर्यवसायी न होकर केवल परकीय पक्ष को दूषित करने के लिए परमात्राभ्युपगत व्याप्य के द्वारा किया जाता है। वहाँ स्वयं व्याप्ति अभ्युपगत न होने के कारण विपर्यय में पर्यवसान सम्भव नहीं हो पाता [अर्थात् जब नैयायिक ब्रह्मवादी के प्रति कहता है कि 'ब्रह्म यदि जगदुपादानं स्यात्, तदा मृदादिवद् विकारि स्यात्'। वहाँ 'तस्माद् ब्रह्म अविकारित्वात् न जगदुपादनम्—इस प्रकार के विपर्यय में तर्क का पर्यवसान नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वयं नैयायिक निर्विकारी आकाश को भी शब्द का उपादान (समवायि) कारण मानता है]।

शङ्का—विपर्यय में अपर्यवसित होनेवाला प्रसञ्जन तर्क ही नहीं कहलाता, क्योंकि

तदिति चेन्न, अनिष्टं व्याप्याभ्युपगमबलेन परं प्रत्यापाद्यत इत्येवम्भूतस्यार्थस्य उभयत्रापि तुल्यत्वात्। तुल्यत्वेऽपि लक्षणकरणासामर्थ्याद्यदि विपर्ययपर्यवसायिन्येव प्रसङ्गत्वं त्वया परिभाष्येत, तर्हि मया परबाधमात्र एव प्रसङ्गतायाः, विपर्ययपर्यवसायिनि तु तत्र विरोधतायाः परिभाषितुं शक्यत्वात्। अन्यथा विरोधत्वमेवोभयोरपि स्यात्। प्रत्यवस्थानवैचित्री चेत्तत्र विरोधाद्विशेषः, साऽत्रापि तुल्यैव। अत एव सम्भावनाऽपि तर्कादन्यैवेति निरस्तम्, आरोपादपि व्याप्यतानिमित्तव्यापकाभ्युपगमाविशेषात्। अत एव परप्रमितेनेति विशिष्य परानिष्टापादनमात्ररूपविपर्ययापर्यवसायितर्कता निरस्येति निरस्तम्। परमार्थतो व्याप्त्यभावेऽपि पराभ्युपगममादाय प्रसङ्गप्रवृत्तेरुपपत्तेः। कथं हि परेण व्याप्यतयाऽनुमतात्तं प्रति व्यापकानुमत्या नाऽऽपतितव्यम्। न हि प्रसङ्गो वास्तवत्वं व्याप्तेरवलम्बते। किं नाम? अभ्युपगम-

---

स्वयमनिष्टव्याप्याभ्युपगमेन परानिष्टव्यापकापादनं तर्क इति लक्षणे विद्यमाने विरोधमात्रं न प्रसङ्ग इत्युक्तमित्यर्थः। एतावन्मात्रलक्षणे विद्यमानेऽपि विपर्ययापर्यवसायित्वान्नायं प्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह ॐ तुल्यत्वेपीऽति ॐ। शक्यत्वात्तदुक्तं लक्षणं मेत्यन्वयः। विपक्षदण्डेनैतद् द्रढयति ॐ अन्यथेति ॐ। एकत्रानिष्टप्रसञ्जनमात्रेण प्रत्यवस्थानमन्यत्र विपर्यये पर्यवसायितयेति विशेषं शङ्कते ॐ प्रतीति ॐ। विपर्ययपर्यवसायिनि विरोधात्प्रत्यवस्थानवैचित्री तुल्येत्याह ॐ नेति ॐ। अनिष्टव्यापकप्रसञ्जनं तुल्यमित्यर्थः। विपर्ययापर्यवसायिनो विरोधमात्रत्वाभिमतस्य प्रसङ्गतापादकन्यायात्सम्भावनायास्तर्कादन्यत्वं निरस्तमित्याह ॐ अत इति ॐ। परामृष्टमेव हेतुं दर्शयति ॐ आरोपादिति ॐ। व्याप्याभ्युपगमबलेन परं प्रत्यनिष्टमापाद्यत इत्येवं भूतोऽर्थः प्रसङ्गविरोधयोस्तुल्यस्तस्माद्विरोधोऽपि प्रसङ्ग एवेति प्रागुक्तन्यायादेव प्रमितेन व्याप्येनेति तर्कलक्षणे विशेषणं प्रक्षिप्य विपर्ययपर्यवसायिनस्तर्कत्वनिराकरणं निरस्तमित्याह ॐ परमार्थेति ॐ। तदेव वा कुत इत्यत आह ॐ कथमिति ॐ। वास्तवव्याप्तेरेव प्रसङ्गमूलत्वात्तदभावे प्रसङ्गो न प्रवर्त्तत इत्याह ॐ न हीति ॐ। किं तर्ह्यालम्बनं इत्यत आह ॐ किमिति ॐ। अभ्युपगममात्रं

वह तो केवल उपादानत्व का विरोध-प्रदर्शन मात्र माना जाता है, अतः वह लक्ष्य ही नहीं, वहाँ लक्षण के न घटने पर अव्याप्ति क्यों होगी?

समाधान—विपर्यय में पर्यवसित होने और न होनेवाले प्रसञ्जनों में व्याप्य के द्वारा अनिष्ट का आपादन समानरूप से ही होता है। फिर भी यदि आप 'प्रसङ्ग' की परिभाषा में विपर्य-पर्यवसान को प्रधानता देकर अनिष्टापादन मात्र को केवल विरोध-प्रदर्शन मानते हैं। तब हम 'प्रसङ्ग' की परिभाषा में अनिष्टापादन को प्रमुखता देकर विपर्यय-पर्यवसान को केवल विरोध-प्रदर्शन कह सकते हैं। अन्यथा (हमारी परिभाषा यदि आपको कड़वी लगती है, तब आप की परिभाषा को भी रद्दी की टोकरी में फेंककर) उभयत्र विरोधरूपता मात्र मान लेने से भी लक्षण की अनुपपन्नता और लक्षणकार की अक्षमता प्रकट हो जाती है।

विरोध-प्रदर्शन की अपेक्षा यदि विपर्यय-पर्यवसान में कुछ विलक्षणता है, तो अनिष्ट-प्रसंजन में भी वह विलक्षणता विद्यमान है। अत एव जो कहा जाता है कि सम्भावना तर्क से भिन्न है, वह भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि सम्भावना में भी व्याप्य के द्वारा व्यापक का आपादन समान ही है। जो लोग कहते थे कि 'पराभ्युगतव्याप्येन' के स्थान पर 'परप्रमितेन'—ऐसा कहकर परानिष्टापादनरूप विपर्ययापर्यवायी दोष में तर्कता का निरास कर देना चाहिए। उनका वह कथन भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि परमार्थतः व्याप्त्यादि के न होने पर भी परकीय अभ्युपगम को लेकर प्रसङ्ग का निर्वाह हो जाता है, क्योंकि जब परवादी व्याप्ति का अभ्युपगम करता है, तब उसके प्रति व्याप्य के द्वारा व्यापक का आपादन क्यों न हो सकेगा? प्रसंजन में कोई वास्तविक व्याप्ति की अपेक्षा तो होती नहीं, केवल

मात्रम् । अनभ्युपगतौ वस्तुगत्या स्थितेनापि तेनाऽऽपादनाप्रवृत्तेः । अत एव परस्य प्रमाणेन व्याप्यानुमितिमुत्पाद्यापाद्यापादनं क्रियते ।

वस्तुगत्या व्याप्यत्वं तथात्वेनाभ्युपगतत्वं च द्वयमपि प्रसङ्गस्याङ्गमिति चेन्न, तथात्वेनाभ्युपगमस्यावश्यं प्रसङ्गाङ्गतया मन्तव्यस्य परानपेक्षस्यैव समर्थत्वे वास्तवव्याप्तत्वस्यापि प्रवेशने प्रमाणाभावात् । तस्माद्यः प्रसङ्गः स्वपक्षसिद्ध्यङ्गं तस्य विपर्ययापर्यवसायिता दोषायैव स्यात् । प्रसङ्गस्य तस्य विपर्ययपर्यवसानदार्ढ्यार्थं दण्डतयोपन्यासात्, सौगतानां सत्त्वक्षणिकत्वव्याप्तिसाधकविपर्ययान्यथाभावदण्डप्रसङ्गवत् । तामन्तरेण तस्य स्वपक्षसाधनाक्षमत्वात्, तस्य च व्याप्तिवास्तवत्वमपि मन्तव्यम् । अन्यथा विपर्ययेऽपि व्याप्त्यभावेन स्वपक्षसाधनाक्षमत्वादेव । यस्तु प्रसङ्गः परपक्षबाधनाङ्गं तत्र पराभ्युपगममात्रं प्रयोजकम् । तावतैव परपक्षप्रतिक्षेपक्षमत्वेन वास्तव-

---

प्रयोजकं न वस्तुत्वं गौरवादुभयस्यापि कारणत्वमित्यर्थः । विपरीतमेव तर्हि किं न स्यादित्यत आह ❀ अनभ्युपगताविति ❀ । वास्तव्या अपि व्याप्तेरनभ्युपगतायाः प्रसङ्गानङ्गत्वे हेतुमाह ❀ अत इति ❀ । व्याप्त्याद्यभ्युपगमाभावे प्रमाणेन व्याप्त्यादिविषयानुमतिमापाद्यापादनप्रवृत्तेर्दर्शनादित्यर्थः ।

व्याप्यतया परेणाभ्युपगतं प्रसङ्गाङ्गं न वास्तवव्याप्यत्वमित्युक्तं एतच्चोद्यमुखेन प्रपञ्चयितुं शङ्कामुत्थापयति ❀ वस्त्विति ❀ । प्रमाणाभावेनैतद् दूषयति ❀ नेति ❀ । विपर्ययापर्यवसायिनोपि तर्कत्वं चेत्कुतस्तर्हि विपर्ययापर्यवसायिता दोष इति तद्दर्शयन्नुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀ । तत्र तस्य दोषत्वे हेतुमाह ❀ प्रसङ्गस्येति ❀ । तत्र दृष्टान्तव्याजेन हेतुमाह ❀ सौगतानामिति ❀ । यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तेः प्रसाधनार्थं यद्येतदक्षणिकं स्यात्तह्यर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वशून्यं स्यात् स्थिरस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेरिति बाधकेन व्याप्तिः प्रसाध्यते ततः क्षणिकत्वात्सत्त्वमिति तत्र विपर्यये पर्यवसानमुपयुक्तमित्यर्थः । स्वपक्षसिद्ध्यङ्गतर्कस्य विपर्ययपर्यवसायितामन्तरेणासाधकत्वाद्विपर्ययपर्यवसानं व्याप्तेर्वास्तवत्वं च वक्तव्यमित्याह ❀ तामिति ❀ । तमन्तरेणेतिपाठे विपक्षबाधकमन्तरेण सत्त्वाख्यसाधनस्य क्षणिकत्वलक्षणसाधनाक्षमत्वादित्यर्थः । तदुपपादयति ❀ अन्यथेति ❀ । सत्त्वात् क्षणिकत्वमित्येवंरूपविपर्यये व्याप्त्यभावे स्वपक्षसाधनन्न सिद्ध्येदित्यर्थः । कुतस्तर्हि विपर्ययपर्यवसानव्याप्तिसत्त्वयोरनङ्गत्व-

---

परवादी के द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए, हाँ, यदि पराभ्युपगत न हो तब वस्तुतः अवस्थित व्याप्ति को लेकर आपादन नहीं हो सकता, अत एव प्रमाण के द्वारा व्याप्य की अनुमिति परवादी को करा.कर अनिष्टापादन किया जाता है ।

'वस्तुगत्या व्याप्यत्व और व्याप्यत्वेन अभ्युपगतत्व'—ये दोनों अपेक्षित हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जब व्याप्यत्वेन अभ्युपगम प्रसङ्ग का आवश्यक अङ्ग है, जब वस्तुगत्या व्याप्यत्व के बिना ही व्याप्यत्वेन अभ्युपगममात्र से अनिष्टापादन की क्षमता आ जाती है, तब वास्तव व्याप्य का निवेश करने में कोई प्रमाण नहीं इसलिए (१) जो प्रसङ्ग स्वपक्ष की सिद्धि का अङ्ग होता है, उसकी विपर्ययापर्यवसायिता अवश्य दोष है, क्योंकि विपर्यय-पर्यवसान के बिना स्वपक्ष की सिद्धि ही नहीं होती, विपक्षवृत्तिता के संशय की निवृत्ति के लिए विपर्यय-पर्यवसान आवश्यक होता है, जैसे कि बौद्धाभिमत 'यत् सत् तत् क्षणिकम्'—इस व्याप्ति की सिद्धि के लिए 'यदि क्षणिकत्वं न स्यात्, तदा सत्त्वमपि न स्यात्'—ऐसा प्रसंजन किया जाता है । वह प्रसङ्ग जब तक विपर्यय में पर्यवसित नहीं होता, तब तक वह प्रसङ्ग स्वपक्ष के साधन में सक्षम नहीं हो सकता । वहाँ व्याप्ति की वास्तविकता भी अपेक्षित होती है, अन्यथा विपर्यय में भी व्याप्ति न होने के कारण प्रसङ्ग में स्वपक्ष-साधन की योग्यता नहीं आती ।

(२) जो प्रसङ्ग पर-पक्ष के बाधन का अङ्ग होता है, उसमें पराभ्युपगत व्याप्यत्वादि की ही अपेक्षा होती है । उतने मात्र से उसमें परपक्ष के प्रतिक्षेप की क्षमता आ जाती है,

व्याप्तिविपर्ययपर्यवसानपर्यन्तानुसारित्वादिति युक्तं पश्यामः। तथा च सति कथित-लक्षणासङ्गतिस्तदवस्थैव।

अथ व्याप्याभ्युपगमेनानिष्टस्य व्यापकस्य प्रतीतिस्तर्क इति चेन्न, इष्टार्थसम्भावनायामव्याप्तेः। तेन व्यापकस्य प्रतीतिः स इति चेन्न, इष्टापादनेऽपि गतत्वात्। अप्रमितस्य तथेति चेन्न, प्रथमानुमानेऽपि गतत्वात्। अनुमाने व्याप्यस्य प्रमया तथा, न त्वभ्युपगमेनेति चेन्न, वस्तुगत्या व्याप्यस्य प्रमयाऽपि प्रतिवाद्यसिद्धस्य व्यापकानुमानासम्भवेन तत्राप्यभ्युपगमपर्यन्तं गन्तव्यत्वादेव। नन्वेवमन्यतरासिद्धं व्याप्यं

मित्यत आह ❀ यस्त्विति ❀। फलितमाह ❀ तथेति ❀। विरोधोद्भावनस्यापि तर्कत्वे सति तथाव्याप्तिरुक्ता युक्तैवेत्यर्थः।

समनन्तरोक्ताव्याप्तिपरिहारमात्रप्रयोजनकतया लक्षणान्तरं शङ्कते ❀ अथेति ❀। स्वयमभ्युपगतेन व्याप्येन तर्कत्वे परं प्रत्यनिष्टव्यापकप्रसञ्जनं तर्क एवञ्च परपक्षबाधमात्रे प्रसङ्गेनाव्याप्तिस्तत्र-स्वयमभ्युपगतेनेतिविशेषणाभावादित्यर्थः। अव्याप्त्या दूषयति ❀ नेति ❀। यद्यत्र सलिलं स्यात् तृषं मे शमयिष्यतीत्यपेक्षितार्थसम्भावनारूपतर्के लक्षणाव्याप्तिस्तत्रानिष्टव्यापकेत्यंशाभावादित्याशयः। अनिष्टेति-विहायाव्याप्तिपरिहाराय लक्षणं शङ्कते ❀ तेनेति ❀। व्याप्याभ्युपगमेनेति यदिष्टप्रसञ्जनतर्काभासेऽपि गतत्वादतिव्याप्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀। व्याप्याभ्युपगमेनाप्रमितस्य व्यापकस्य प्रसञ्जनं तर्क इति शङ्कते ❀ अप्रमितस्येति ❀। प्रमाणान्तरप्रमितस्य प्रसञ्जनमिष्टापादनमिति तद्व्युदास इत्यर्थः। पर्वते प्रमितस्य व्यापकस्याग्नेर्व्याप्यधूमाभ्युपगमेन यत्प्रसञ्जनमनुमानरूपं तस्मिन्नप्रसङ्गरूपेऽपि गतत्वादतिव्याप्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀। प्रथमेतिविशेषणमप्रमितत्वोपपादनाय। अग्निमान्पर्वतो धूमवत्त्वान्महानसवदित्यत्र व्याप्यप्रमया व्यापकप्रतीतिरुत्पद्यते, न तु व्याप्याभ्युपगमेनातो नानुमानेऽतिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ अनुमान इति ❀। वस्तुगत्या व्याप्यस्य प्रमयापि यदि प्रतिवादिना तद्व्यापना नभ्युपगम्यते, तदा हेतोरन्यतरासिद्धेः कथं ततो मितिरिति तत्रावश्यमभ्युपगमोऽप्यङ्गीकर्त्तव्य इत्यतिव्याप्तिस्तदवस्थेति दूषयति ❀ नेति ❀। तत्रानुमाने व्याप्यस्य पराभ्युपगमाङ्गीकारे दोषं शङ्कते ❀ नन्विति ❀। तदेवोप-

---

उसमें वास्तव व्याप्यता और विपर्यय-पर्यवसान अपेक्षित नहीं होता। ऐसी व्यवस्था ही अत्यन्त समुचित है, फलतः कथित लक्षण चर्चित दोषों से दूषित है।

(२) व्याप्याभ्युपगमेनानिष्टस्य व्यापकस्य प्रतीतिस्तर्कः—

दोनों वादियों में से किसी के द्वारा भी अभ्युपगत व्याप्य से अनिष्ट व्यापक की प्रतीति को तर्क मानने पर यद्यपि पूर्वोक्त दोष नहीं होता, तथापि 'यद्यत्र जलमस्ति, तर्हि मे तृषं शमयिष्यति'—इत्यादि इष्टार्थ-सम्भावनात्मक तर्क में पूर्ववत् अव्याप्ति बनी है, क्योंकि वहाँ लक्षण-घटक 'अनिष्टव्यापक'—यह अंश अघटित है। 'अनिष्ट' विशेषण को हटाकर 'व्यापकस्य प्रतीतिः' इतना ही कहने पर धूमादि के द्वारा इष्टभूत वह्नि के आपादन में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि जो व्यक्ति पर्वत में अग्नि स्वयं जान और मान रहा है, उसके प्रति वैसा आपादन तर्क नहीं, तर्काभास है। उस अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिए यदि 'अज्ञातस्य व्यापकस्यापादनम्'—ऐसा कहा जाता है, तब प्रथम अनुमान अर्थात् अज्ञात व्यापक के ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जाती है।

शङ्का—व्यापकीभूत अग्नि का अनुमान धूम की प्रमा के द्वारा होता है, धूम के अभ्युपगम से नहीं, किन्तु तर्क में व्याप्य के अभ्युपगम से व्यापक की प्रतीति होती है, अतः प्रथमानुमान में तर्क का लक्षण अतिव्याप्त क्यों होगा?

समाधान—जहाँ वस्तुतः व्याप्य की प्रमा है, किन्तु व्याप्य प्रतिवादी के द्वारा अभ्युपगत नहीं, वहाँ व्याप्य के द्वारा व्यापक का अनुमान नहीं हो सकता, अतः अगत्या व्याप्य का

प्रसाध्य अनुमानव्यवस्थापनमुच्छिन्नम् । तदप्रसाधनेऽन्यतरासिद्ध्या, तत्प्रसाधने परस्याभ्युपगन्तुरपसिद्धान्तात् । अपसिद्धान्तमनुद्भाव्य वादिना प्रसाधितात् व्याप्यात् व्यापकसाधने पर्यनुयोज्योपेक्षणादिति । किं तत्र तथा न स्यात्, किमत्राप्रस्तुतया तच्चिन्तया ? अन्यतरासिद्धस्य तावद् व्याप्यस्याभ्युपगमं परेणाकारयित्वैव न व्यापकसाधनमुपेयम् । तस्याप्रमा स इति चेन्न, मिथोविरुद्धादौ तर्काभासेऽपि गतत्वात् । आश्रयासिद्ध्यादिव्यतिरेके सतीति चेन्न, सन्दिग्धधूमदर्शनात् । यद्यत्र धूमस्तदाऽग्निमानिति सम्भावनायाः परमार्थतस्तथार्थावस्थानात् । प्रमात्वं त्यक्तुमपारयन्त्या अव्यापनात् । तत्कालं प्रमात्वेनाप्रमीयमाण इत्यपीति चेन्न, बहुशो दत्तोत्तरत्वात् ।

पादयति ❀ तदिति ❀ । तद्व्याप्यं न प्रसाध्यते चेदन्यतरासिद्धत्वादनुमितिकरणं न स्यात्, प्रसाधने च परस्य स्वीकृत्य विपरीताभ्युपगमादपसिद्धान्त इत्यर्थः । अपसिद्धान्तमनुद्भाव्य यदि प्रसाधितहेतुनाऽनुमानमुच्यते तत्राह ❀ अपसिद्धान्तमिति ❀ । अन्यतरासिद्धं व्याप्यं प्रसाध्यानुमानव्यवस्थापनमुच्छिन्नं चेदस्तु तावत् न वयं तत्साधनाय प्रवृत्ता इति परिहरति ❀ किमिति ❀ । अर्थान्तरं चैतदित्याह ❀ किमत्रेति ❀ । किन्तर्हि उचितमित्यत आह ❀ अन्यतरेति ❀ । परेणाप्यभ्युपगमो व्याप्यस्य वाच्योऽनुमानेऽतोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । व्याप्याभ्युपगमेनाप्रमितस्य व्यापकस्याप्रमा तर्क इति विवक्षितत्वान्नानुमानेऽतिव्याप्तिरिति शङ्कते ❀ तस्येति ❀ । प्रतीयमानत्वं शुक्तिरूप्यादेरिष्टं चेत्सत्त्वं सत्त्वेऽपि बाध्यत्वमिष्टं चेत्तर्ह्यसत्त्वं प्रसज्येतेत्याद्ये मिथोविरुद्धतया प्रसङ्गाभासेऽतिव्याप्तिमेवमित्याह ❀ नेति ❀ । आदिशब्देन आश्रयासिद्ध्यादयो गृह्यन्ते । अतिव्याप्तिपरिहाराय विशेषं शङ्कते ❀ आश्रयेति ❀ । आश्रयासिद्ध्यादिव्यतिरिक्तत्वे सति व्याप्याभ्युपगमेनाप्रमितस्य व्यापकस्याप्रमा तर्क इत्यर्थः । यत्रासिद्ध्यादिव्यतिरेको नास्ति सन्दिग्धासिद्धत्वान्न च प्रमात्वाभावो दैवगत्या वह्नेः सत्त्वेन यथार्थानुभवत्वात्तेन तत्र लक्षणस्याव्याप्तिरिति दूषयति ❀ नेति ❀ । सम्भावनारूपे सत्तर्केऽव्याप्तिपरिहाराय विशेषं शङ्कते ❀ तदिति ❀ । व्याप्याभ्युपगमेनाप्रमितस्य व्यापकस्याश्रयासिद्ध्यादिव्यतिरेके सति तत्कालं प्रमात्वेनाप्रमीयमाणा प्रमा

अभ्युपगम अनिवार्य हो आता है, केवल व्याप्य-प्रमा से व्यापक की प्रतीति अनुमान में भी नहीं होती ।

शङ्का—यदि अनुमान में भी व्याप्य का अभ्युपगम आवश्यक माना जाता है, तब अन्यतरासिद्धि की निवृत्ति के लिए अनुमान का व्यवस्थापन ही न हो सकेगा, क्योंकि जो व्याप्य पदार्थवादी और प्रतिवादी में से केवल एक की दृष्टि में सिद्ध और दूसरे की दृष्टि में असिद्ध है, उस व्याप्य की जब तक पक्ष में सिद्धि न की जाय, तब तक उससे व्यापक का अनुमान नहीं हो सकता और उसकी सिद्धि करने के लिए वादी के लिए भी उसका अभ्युपगम आवश्यक हो जाता है, परकीय सिद्धान्त का अभ्युपगम अपसिद्धान्त कहलाता है । अपसिद्धान्त का उद्भावन न कर व्याप्य से व्यापक की सिद्धि करने पर उद्भाव्य निग्रहस्थान का अनुद्भावनरूप पर्यनियोज्योपेक्षणरूप निग्रहस्थान लागू हो जाता है ।

समाधान—अन्यतरासिद्ध-स्थल पर उक्त रीति से अनुमान-व्यवस्थापन का उच्छेद अवश्य होगा, किन्तु प्रकृतानुपयोगी इस विचार से लाभ क्या ? लाभ यह है कि अन्यतरासिद्ध व्याप्य का प्रतिवादी को अभ्युपगम कराये बिना व्यापक की सिद्धि या प्रतीति नहीं कराई जा सकती, फलतः वहाँ तर्क का लक्षण अतिप्रसक्त होता है । यदि व्याप्य के अभ्युपगम से अप्रमित व्यापक की अप्रमा (कल्पना या ऊहा) को तर्क माना जाता है, तब यद्यपि प्रमाज्ञानरूप अनुमित्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होती, तथापि 'शुक्तिरजतं यदि प्रतीयमानं तदा सत्', 'शुक्तिरजतं यदि बाध्यमानं तदा असत्'—इस प्रकार परस्परविरोधी तर्काभास एवं आश्रयासिद्ध्यादि में अतिव्याप्ति हो जाती है ।

सर्वस्य चास्य पूर्वोक्तोभयानिष्टव्यापकेष्टव्याप्योदाहरणे गतत्वेनातिव्यापकत्वात् । तद्व्यवच्छेदार्थमारोपितस्य व्याप्यस्याभ्युपगमेनेतिकरणे च सिद्धेन व्याप्येन प्रसङ्गस्याव्यापनात् । तद्यथा—कार्यत्वात् यद्यदृष्टसृष्टमङ्कुरादि मीमांसकः शंसति, तदानीमविशेषेण कर्तृकार्यमपि पर्यवस्येदस्य तदिति ।

अपि च—आत्माश्रयोऽन्योन्याश्रयश्चक्रकं व्याघातोऽनवस्था प्रतिबन्दी चेत्या·

तर्क इत्यर्थः । दूषयति ❀ नेति ❀ । स्वयमिष्टस्य परेण चानिष्टस्य व्यापकस्य यत्रापादनं तत्राव्याप्तिस्तेन प्रमात्वेन प्रमीयमाणत्वात्तत्कालानिरुक्तेः स्वेन वादिना वा प्रमीयमाणत्वमित्यादिविकल्पानुपपत्तेश्चेत्यर्थः । पूर्वोक्तदूषणान्तरं दर्शयति ❀ सर्वस्येति ❀ । पूर्वोक्तमुभयानिष्टव्यापकमुभयव्याप्यं यदुदाहरणं यश्चोभयोरित्यादिना दोषेण ग्रस्तं तत्रापि गतत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः । आरोपितव्याप्यस्याभ्युपगमेन कथितलक्षणा प्रमा तर्क इत्याशंक्य सिद्धेन व्याप्येन यः प्रसङ्गः सत्तर्कस्तत्राव्याप्तिरित्याह ❀ तदिति ❀ । उदाहरणेन दर्शयति ❀तदिति❀ । अङ्कुरादि तावज्जायमानं दृष्ट्वा कार्यं विनिश्चित्य तददृष्टसृष्टमिति मीमांसको ब्रवीति यद्दृष्टान्तेन तदा तेन सिद्धेन कार्यत्वहेतुना सकर्तृकत्वमपि स्यादितीश्वरवादी प्रसंजयतीदं प्रसञ्जनं सिद्धव्याप्येनैव क्रियते इति तस्मिन्सत्तर्केऽव्याप्तिरित्यर्थः । अस्य मीमांसकस्येत्यर्थः ।

आत्माश्रयादयः सत्तर्कास्तेषां चाभासा इष्यन्ते तेष्वाभासेषु लक्षणस्य गतत्वेनातिव्याप्तिं दर्शयितु·

शङ्का - उक्त लक्षण में 'तर्काभासाश्रयासिद्ध्यादिभिन्नत्वे सति'—ऐसा निवेश कर देने पर अतिव्याप्ति नहीं होती ।

समाधान—सन्दिग्ध धूमरूप व्याप्य के द्वारा वह्नि की जो प्रतीति होती है, वह दैवात् अग्नि का सद्भाव होने के कारण प्रमा है, ऐसे सत्तर्क में अव्याप्ति हो जाती है ।

शङ्का—उक्त लक्षण में अप्रमा के स्थान पर 'तत्कालं प्रमात्वेन अप्रमीयमाणप्रतीतिः'—ऐसा कहने पर उक्त सत्तर्क में अव्याप्ति नहीं रहती, क्योंकि वहाँ अग्नि की प्रतीति उस समय प्रमा नहीं समझी जाती । अनुमानादि में अतिव्याप्ति भी नहीं होती है, क्योंकि वहाँ अग्नि की प्रतीति निश्चित या प्रमा ही समझी जाती है ।

समाधान—ऐसी शङ्काओं का वहुशः समाधान किया जा चुका है कि तदादि पदों से घटित होने के कारण लक्षण में अननुगमता दोष आ जाता है । वस्तुत ऐसे सभी लक्षणों की वहाँ अतिव्याप्ति हो जाती है, जहाँ वादी और प्रतिवादी दोनों के इष्ट व्याप्य से अनिष्ट व्यापक का प्रसङ्ग उपस्थित किया जाता है—'सत्तायां यदि सद्व्यावहारः स्यात्, तदा सत्तापि सत्तावती स्यात्' । ऐसे स्थलों पर "यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः"—इस उक्ति के आधार पर दोषोद्भावन को असङ्गत कहा गया है ।

शङ्का—'सत्तायां यदि सद्व्यवहारः स्यात्, तदा सत्तावत्त्वमपि स्यात्'—इत्यादि तर्काभासों की व्यावृत्ति करने के लिए 'आरोपितस्य व्याप्यस्याभ्युपगमेन व्यापकस्य प्रतीतिः तर्कः'—ऐसा लक्षण किया जा सकता है, उक्त तर्काभास में सद्व्यवहाररूप व्याप्य पदार्थ आरोपित नहीं, वास्तविक है, अतः वहाँ यह लक्षण नहीं जाता ।

समाधान—यह लक्षण उस सत्तर्क में अव्याप्त है, जहाँ व्याप्य आरोपित न होकर वस्तुतः विद्यमान है, जैसे मीमांसक अनुमान करता है—'अंकुरादि अदृष्टजन्यम्, कार्यत्वात् स्वर्गादिवत् ।' वहाँ नैयायिक सत्तर्क प्रस्तुत करता है—'अंकुरादि यदि कार्य स्यात्, तदा सकर्तृकमपि स्यात् ।' 'अङ्कुरादि यदि सकर्तृकम्, तदा ईश्वरकर्तृकमेव, अन्यकर्तृकत्वासम्भवात् ।' मीमांसक अनीश्वरवादी कहा जाता है, अतः उसके लिए अनिष्ट-प्रसञ्जन है । उक्त तर्क में कार्यत्वरूप व्याप्य आरोपित नहीं प्रमित है, अतः अक्त लक्षण वहाँ नहीं घटता ।

उक्त लक्षण केवल सामान्य तर्काभास में ही अतिव्याप्त नहीं, अपितु विशेष तर्काभासों में

पाद्यैर्भिद्यमाना षट्तर्कीष्यते। स्वरूपं चैषां स्वस्याव्यवहितस्वापेक्षणमात्माश्रयः, अन्योन्यस्याऽव्यवहितान्योन्यापेक्षित्वमन्योन्याश्रयः, अन्तरितस्य तदेव द्वयमात्माश्रयोऽन्योन्याश्रयश्चक्रकम्, विरुद्धसमुच्चयो व्याघातः, उपपाद्योपपादकप्रवाहोऽनवधिरनवस्था, स्वाभ्युपगतदोषतुल्यता प्रतिवन्दी।

तत्र आत्माश्रयस्य सम्बन्धद्वारभेदादाभासत्वम्। यथा प्रमेयत्वस्याऽऽत्मनि

मात्माश्रयाद्यनुवदति ❀ अपि चेति ❀। आपाद्यभेदेनावान्तरभेदो न तु प्रकारान्तरेण। षण्णां तर्काणां समाहारः षट्तर्कीति यावत्। किमेतेषामसाधारणस्वरूपमित्यत आह ❀ स्वेति ❀। एषां लक्षणं च प्रदर्श्यत इत्यध्याहारः। प्रथमोद्दिष्टस्याऽऽत्माश्रयस्य लक्षणं प्रथमं दर्शयति ❀ स्वेति ❀। स्वस्येति कर्त्तरि षष्ठी। स्वापेक्षणमिति समासमध्यस्था कर्म्मणि षष्ठी। स्वस्य स्वापेक्षणमात्माश्रय इत्युक्तेऽन्योन्याश्रयादौ प्रसक्तिनिवारणायाव्यवहितेतिविशेषणम्। इदं चात्माश्रयत्वं सत्तायां प्रतीतौ व्यवहारे च, उत्पत्तौ स्वापेक्षा, सत्तायां प्रतीतौ स्वापेक्षा, एवमितरत्रापीत्यर्थः। अन्योन्याश्रयलक्षणमाह ❀अन्येति❀। अन्योन्यस्यान्योन्यापेक्षित्वमित्युक्ते चक्रकेऽतिप्रसक्तिनिवारणायाव्यवहितेतिविशेषितम्। व्याख्यानादि पूर्ववत्। चक्रकलक्षणमाह ❀अन्तरितस्येति❀। अन्तरितस्य स्वापेक्षणमन्योन्यापेक्षणं चक्रकमित्यर्थः। तदेव द्वयं दर्शयति ❀ आत्माश्रय इति❀। तदेव च द्वयं चक्रकमित्युक्ते तस्मिन्नेव द्वयेऽतिव्याप्तिपरिहारायान्तरितेति विशेषणं द्रष्टव्यम्। व्याघातलक्षणमाह ❀विरुद्धेति❀। विरुद्धयोः समुच्चय एकाश्रयासम्बन्धस्तत्र विरुद्धेतिविशेषणं रूपादेरेकार्थसमवायव्यावृत्त्यर्थम्। अनवस्थालक्षणमाह ❀उपपाद्येति❀। अनवधिककार्यकारणप्रवाहापत्तिरित्यर्थः। चक्रकव्यावृत्त्यर्थमनवधीतिविशेषणम्। साकाङ्क्षतापरिहारायोपपाद्योपादकेत्युक्तम्। प्रतिबन्द्या लक्षणमाह ❀स्वेति❀। पार्श्वस्थाभ्युपगतदोषतुल्यतां स्वाभ्युपगतगुणतुल्यतां च निवारयितुं स्वेत्यादिविशेषणम्।

तेषां तर्काणामाभासान्यतिव्याप्तिस्थलानि दर्शयति ❀ तत्रेति ❀। सम्बन्ध आश्रयाश्रयिभा(वे)वो द्वारभेदादित्यर्थः। तदेवोदाहरणेन दर्शयति ❀ यथेति ❀। प्रमेयत्वं नाम कश्चिद्धर्मः स स्वात्मनि वर्त्तते

भी अतिव्याप्त है—यह देखने के लिए विशेष तर्कों का स्वरूप जानना आवश्यक है। तर्क के सभी छः भेद होते हैं—(१) आत्माश्रय, (२) अन्योऽन्याश्रय, (३) चक्रक, (४) व्याघात, (५) अनवस्था और (६) प्रतिवन्दी। आपाद्य के भेद से इनके भेद हो गये हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **आत्माश्रय**—किसी पदार्थ का जब अपने ज्ञान में अपने अव्यवहित पूर्वक्षण में अपनी अवस्थिति की अपेक्षा होती है, तब आत्माश्रय दोष आपादित होता है।

(२) **अन्योऽन्याश्रय**—जब दो पदार्थों को अपने ज्ञान के लिए अपने से अव्यवहित पूर्वक्षण में स्थित परस्पर एक को दूसरे की अपेक्षा होती है, उसे अन्योऽन्याश्रय कहते हैं।

(३) **चक्रक**—आत्माश्रय और अन्योऽन्याश्रय—ये दोनों ही तब चक्रक कहलाते हैं, जब उनमें अव्यवहितपूर्ववृत्तित्वेन अपनी अपेक्षा न होकर व्यवहितपूर्ववृत्तित्वेन होती है।

(४) **व्याघात**—विरुद्धार्थाभिधान का नाम व्याघात है।

(५) **अनवस्था**—उपपाद्य और उपपादक के प्रवाह की जहाँ कहीं अवधि (विश्रान्ति) नहीं होती, उसे अनवस्था कहा जाता है।

(६) **प्रतिवन्दी**—वादी-द्वारा प्रतिवादी के मत में प्रदर्शित दोषों के समान ही प्रतिवादी-द्वारा वादी के मत में दोषों का प्रदर्शन प्रतिवन्दी है।

इन्हीं तर्कों में तर्काभासता का कारण—

(१) **आत्माश्रयाभास**—सम्बन्धरूप द्वार के भेद से आत्माश्रय में आभासता आ जाती है, जैसे—घटादि में जैसे प्रमेयत्व की वृत्तिता होती है, वैसे ही प्रमेयत्व में भी प्रमेयत्व

वृत्तौ। क्वचिन्नैवमपि। यथा—अनेककालस्थस्य घटस्य पूर्वकालवृत्त्यात्मन उत्तरकालवृत्त्यात्मानं प्रति कारणत्वे। अन्योन्याश्रयस्य व्यक्तिभेदात्। यथा- ज्ञानेन संस्कारस्य, तेन च ज्ञानस्य जनने। चक्रकस्यापि तस्मात्। यथा बीजेनाङ्कुरस्तेन स्तम्बः, तेन बीजं जन्यत इत्यत्र। व्याघातस्य उपाधिभेदात्। यथा—कालभेदादिना जननाजन-

स्वस्यापि प्रमेयत्वादत आत्माश्रयत्वप्रसक्तौ घटादौ प्रमेयत्ववृत्तौ घटप्रमासम्बन्धो द्वारं प्रमेयत्वे प्रमेयत्ववृत्तौ प्रमेयत्वविषयप्रमान्तरमिति द्वारभेद इत्यर्थः। द्वारभेदाभावस्थलं दर्शयति ॐ क्वचिदिति ॐ। तत्राप्युदाहरणमाह ॐ यथेति ॐ। घटस्तावत् स्थिरत्वादनेककालं तिष्ठति ततश्च तत्कालस्थघट उत्तरकालसम्बन्धिनं स्वात्मानं प्रति कारणीभवति अतो घटस्यैकत्वादात्माश्रयत्वप्रसक्तौ पूर्वोत्तरकालसम्बन्धरूपस्य भेदमादाय तत्परिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। अन्योन्याश्रयाभासं दर्शयति ॐ अन्योन्येति ॐ। व्यक्तिभेदादाभासत्वमिति शेषः। एतदप्युदाहरति ॐ यथेति ॐ। अनुभवलक्षणज्ञानेन संस्कारो जायते तेन च स्मृतिज्ञानं जायते ततश्च ज्ञानसंस्कारयोरन्योन्यापेक्षयाऽन्योन्याश्रयप्रसक्तौ यज्ज्ञानशक्त्या यः संस्कारो जायते तेन स्वजनकव्यतिरिक्तज्ञानव्यक्तिर्जायते इति ज्ञानत्वसंस्कारत्वयोरभेदेऽपि न वस्तुतोऽन्योन्याश्रय इत्यर्थः। चक्रकस्यापि व्यक्तिभेदादाभासतेत्याह ॐ चक्रेति ॐ। तदप्युदाहरति ॐ यथेति ॐ। बीजादङ्कुरं तावज्जायते अङ्कुरात्स्तम्बस्तेन बीजमिति चक्रकप्रसक्तौ प्रथमं शालिबीजेनाङ्कुरो जायते तेन चाङ्कुरेण स्तम्बस्तेन च

के रहने में आत्माश्रयता है किन्तु वृत्तितावच्छेदक सम्बन्ध के भिन्न हो जाने पर आत्माश्रयता न रह कर आत्माश्रयाभासता मानी जाती है, जैसे घट में 'घटः प्रमेयः'—इस प्रकार के प्रमारूप सम्बन्ध के द्वार घट में प्रमेयत्व (प्रमाज्ञानविषयत्व) रहता है और 'प्रमेयत्वं प्रमेयम्'—इस प्रकार के प्रमारूप सम्बन्ध को लेकर प्रमेयत्व में प्रमेयत्व रहता है, दोनों प्रमा ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं, अतः यह आत्माश्रयाभास है, [क्योंकि जिस सम्बन्ध से जो वस्तु अन्यत्र रहती है, उसी सम्बन्ध से यदि उसे अपने में रखा जाय, तब यथार्थ आत्माश्रयता होती है, प्रकृत में वैसा नहीं, घट संयोग सम्बन्ध से भूतल में और कालिक सम्बन्ध से स्व में रहता है—इसे आत्माश्रयता नहीं कहा जाता]। कहीं-कहीं सम्बन्धरूप द्वार का भेद होने पर भी आत्माश्रयाभासता नहीं, आत्माश्रय दोष ही माना जाता है, जैसे बौद्धगण पदार्थों को क्षणिक मान कर घटादि में अनुभूत स्थिरता (अनेककालवृत्तिता) का समाधान करते हुए पूर्व-पूर्व घट से उत्तरोत्तर घट की उत्पत्तिरूप सन्तान-परम्परा स्थापित करते हैं। वहाँ घट को ही अपना कारण मानने में आत्माश्रयता दोष प्रसञ्जित किया जाता है। यद्यपि पूर्वकालवृत्ति घट कारण और उत्तरकालवृत्ति घट कार्य है, अतः दोनों में वृत्तितावच्छेदकसम्बन्धरूप द्वार-भेद हो जाने से आत्माश्रय दोष नहीं लगना चाहिए। तथापि 'घटो यदि स्वस्य कारणं स्यात् स्वपूर्ववृत्तिः स्यात्'—इस प्रकार के आत्माश्रयावलम्बी दोष ही उद्भावित किये जाते हैं।

(२) **अन्योऽन्याश्रयाभास**—अन्योऽन्याश्रय में आभासता तब आती है, जब कि दोनों व्यक्तियों में किसी प्रकार का भेद सिद्ध हो जाता है, जैसे—भावनात्मक संस्कार से ज्ञान और ज्ञान से संस्कार की उत्पत्ति होने पर भी संस्कार और ज्ञान में अन्योऽन्याश्रयता नहीं मानी जाती, क्योंकि संस्कार का जनक ज्ञान अनुभवात्मक और जन्य ज्ञान स्मरणात्मक होता है, स्मरण और अनुभव का भेद लोक-प्रसिद्ध है।

(३) **चक्रकाभास**—चक्रक में भी व्यक्तियों का भेद हो जाने से आभासता आती है, जैसे—धान के बीज से अंकुर, अंकुर से स्तंब (पौधा) और पौधे से बीज—ऐसा कार्य-कारणभाव होने पर भी चक्रक दोष नहीं माना जाता, क्योंकि जिस पौधे से जो बीज होता है, वही बीज उसी पौधे से नहीं होता, अपितु कारणभूत पौधा अन्य और कार्यभूत बीज भी अन्य होता है।

(४) **व्याघाताभास**—उपाधि या निमित्त का भेद हो जाने से व्याघात दोष

नादौ। अनवस्थायाः क्रियायै परस्परानन्त्यानपेक्षणात्। यथा—सामग्र्या कार्यजननाय स्वसामग्र्यानन्त्यानपेक्षणे। तामेतामधोधावन्तीमनवस्थामाचक्षते। क्वचिन्नैवमपि। यथा—स्वाश्रये भिन्नबुद्धिजननाय स्वगतभेदानुपजीवनादपि भेदस्याऽऽनन्त्ये, प्राग्लोपादिदोषात्। तामेतामूर्ध्वं धावन्तीमनवस्थामाचक्षते। प्रतिबन्द्या विशेषात्।

बीजान्तरमिति व्यक्तिभेद इत्यर्थः। व्याघातस्य पुनरुपाधिभेदादाभासतेत्याह ❀ व्याघातेति ❀। किमिवेत्यपेक्षायामाह ❀ यथेति ❀। वस्तु कदाचित्कार्यं जनयति कदाचिन्न जनयति, क्वचिदस्ति क्वचिन्नास्तीति, व्याघाते प्रसक्त उत्पत्तौ कालदेशादिभेदादाभासत्वमित्यर्थः। अनवस्थाया आभासत्वकारणं दर्शयति ❀ अनवस्थेति ❀। जायमानकार्येण सामग्रीपरम्पराक्षेपादाभासत्वमनवस्थाया इत्यर्थः। तदेव दर्शयति ❀ यथेति ❀। यदा घट उत्पद्यते यदा घटेन तदुत्पत्तिक्रियया वा सामग्र्यपेक्ष्यते सामग्री च कादाचित्कत्वात्स्वसामग्रीमानयति सा च तथेति घटोत्पत्त्यनुपपत्त्या सामग्रीपरम्पराप्रमितेरनवस्थाया आभासत्वमित्यर्थः। प्रसङ्गादनवस्थाभेदमाह ❀ तामेतामिति ❀। उत्तरं कार्यं जनयितुं पूर्वसामग्र्यपेक्ष्यते तत्सिद्धये ततः पूर्वेत्यधोमुखीत्यर्थः। क्वचित्प्रकारान्तरेणानवस्थाया आभासतेत्याह ❀ क्वचिदिति ❀। तत्रोदाहरणमाह ❀ यथेति ❀। घटपटयोर्भेदः स्वाश्रये भेदबुद्धि जनयन् स्वस्य स्वाश्रयाद्भेदमपेक्षते चेत्तद्भेदानामपि भेदान्तरभेद्यत्वेऽनवस्था, भेदभेदिनोर्भेदानुपजीवनेन भेदानन्त्यस्वीकारे प्राग्लोपादिदोषादाभासतेति यावत्। अनाभासाऽनवस्थोच्यते इति केचित्। एषोर्ध्वमुख्यनवस्थेत्याह ❀ तामिति ❀। अनुकूलतर्कसद्भावे विशेषेणाभासत्वं प्रतिबन्द्या इत्याह ❀ प्रतीति ❀। उदाहरति ❀ यथेति ❀। अनित्यः

व्याघाताभास हो जाता है, जैसे कुसूल (बीज-भण्डार) में रखा बीज अंकुर-जनक नहीं होता और खेत में बीजा हुआ बीज अंकुर का जनक होता है, फिर भी एक ही बीज में जनकत्व और अजनकत्व का व्याघात या विरोध नहीं माना जाता, क्योंकि देशकालादि-घटित सामग्री के समवधान से जनकता और उसके असमवधान से अजनकत्व व्यवस्थित हो जाता है।

(५) **अनवस्थाभास**—प्रत्येक कारण को अपनी उत्पत्ति में कारण-परम्परा की अपेक्षा होने पर भी अपनी क्रिया (कार्योत्पत्ति) में उसकी अपेक्षा नहीं होती [जैसा कि कुमारिल भट्ट कहते है—

> "आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत्।
> लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥" (श्लो. वा. पृ. ६०)

घटादि को अपनी उत्पत्ति में ही दण्डादि कारण-परम्परा की अपेक्षा होती है, जलाहरणादि कार्य के सम्पादन में नहीं,] अतः एक कार्य अपनी सामग्री से, वह सामग्री अपनी सामग्री से और वह भी अपनी सामग्री से उत्पन्न होती है, फिर भी यहाँ अनवस्था दोषरूप न होकर अनवस्थाभास है। पूर्व-पूर्व कारण-परम्परा की अपेक्षारूप इस अनवस्था को अधोधावन्ती (अधोगामिनी) अनवस्था कहा जाता है। इस प्रकार की अनवस्था को भी कहीं-कहीं आभासरूप न मान कर दोषरूप ही माना जाता है, जैसे कि भेद अपने आश्रय का तभी भेदक (भेदबुद्धि-जनक) हो सकता है, जब कि स्वयं भिन्न (भेदान्तर का आश्रय) हो, वह भेदान्तर भी अपने आश्रय का तभी भेदक होगा, जब भिन्न भेद का आश्रय हो—इस प्रकार भेद-परम्परा की अनवस्था को आभासरूप न मान कर अनाभास या दोषस्वरूप अनवस्था ही माना जाता है। इस अनवस्था से बचने के लिए भेदवादियों को यह व्यवस्था माननी पड़ती है कि भेद को अपना कार्य (आश्रयभेदकता) करने में भेदान्तर की अपेक्षा नहीं होती, अन्यथा विगत पृ० १०७ पर चर्चित प्राग्लोपादि दोष प्रसक्त होते हैं। इस अनवस्था को 'उर्ध्वं धावन्ती' (ऊर्ध्वगामिनी) अनवस्था कहा जाता है।

(६) **प्रतिबन्द्याभास**—दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष में कुछ भी विशेषता के

यथा—धूमानुमानेऽप्युपाधिशङ्काप्रतिबन्द्यां तर्कानुकूलत्वादिति । तदेषामापादनानि तर्काभासाः कथमुक्तलक्षणेन न सङ्ग्राह्याः, सत्यपि व्याप्याद्यदोषे प्रसङ्गस्थानगतेन तेन तेन विशेषेणाऽऽभासीभूतत्वात् ।

प्रसङ्गस्थाने तावतां विशेषाणामभावेनापि लक्षणं विशेषणीयमिति चेन्न, अन्योन्याश्रयाभासत्वप्रयोजकस्य व्यक्तिभेदस्याभावो नानवस्थायाम्, एवमात्माश्रयाभासत्वप्रयोजकस्य द्वारभेदस्याभावो नाऽऽत्माश्रयान्तरादाविति व्यक्तमव्यापकत्वापत्तेः। अपि च—अपसिद्धान्तविरोधादिष्वपि तर्कलक्षणं गच्छत्कथङ्कारं वारणीयम् ? यत्रैवं निग्रहे तर्कान्तराणामन्तर्भावः, तत्रैवानयोरपीति पृथक् निग्रहत्वानुपपत्तेः।

शब्दः कृतकत्वादित्यत्रोपाधिः शङ्क्यत इति प्रतिबन्दीग्रहे धूमानुमाने तर्कस्य सद्भावादाभासत्वमित्यर्थः। एतेषु तर्काभासेष्वारोपितव्याप्येन व्यापकप्रसञ्जनसम्भवात्स्याल्लक्षणस्यातिव्याप्तिरित्युपसंहरति ॐतदितिॐ। आपादनान्यापत्तिरूपज्ञानानीत्यर्थः। यद्वस्तु न तत्स्वाश्रयं न परस्परापत्तिसिद्धिकं चेत्यादिव्याप्तिसद्भावसाम्ये कथमेतेषामाभासत्वमित्याशङ्क्य द्वारभेदादिलक्षणविशेषान्तरादित्याह ॐ सतीति ॐ।

आभासत्वप्रयोजकविशेषाणामभावे सत्यारोपितव्याप्येन व्यापकप्रसञ्जनं तर्क इति लक्षणविशेषणान्नोक्तातिव्याप्तिरिति शङ्कते ॐ प्रसङ्गेति ॐ। सर्वविशेषाभावस्यैकस्मिन्नसम्भवेनातिव्याप्तिप्रसङ्गादेवैकैकविशेषाभावस्य विशेषणत्वे चोक्तदोषापरिहारान्नैवमिति परिहरति ॐ नेति ॐ। आत्माश्रयान्तरादिशब्देनान्योन्याश्रयचक्रकगतावात्माश्रयान्योन्याश्रयौ लक्ष्येते। व्यक्तिभेदाद्येकैकाभावोऽनवस्थादिसत्तर्के चास्तीत्यव्याप्तिः सर्वविशेषस्याभावेऽपि विद्यमानत्वादतिव्याप्तिरित्यभिप्रायः। संस्कारस्थायित्वं चेत्सौगतेनाभ्युपगतं तर्हि तस्यापसिद्धान्तः, प्रामाणिकमपि मिथ्याऽभ्युपगम्यते चेद्वचनविरोध इत्यादिनिग्रहस्थानेष्वप्यारोपितव्याप्येन व्यापकप्रसञ्जनमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्याह ॐअपि चेतिॐ। तयोरपि तर्कत्वमङ्गीक्रियते तत्कथमतिव्याप्तिरित्यत आह ॐ यत्रेति ॐ। तयोस्तर्कत्वे निग्रहस्थानविभागे परिगणनं न स्यात्तर्कनिग्रहयोर्भेदादथ तर्कनिग्रयोर्भेदो नाङ्गीकृते तर्हि आत्माश्रयादितर्काणां यस्मिन्निग्रहेऽन्तर्भावस्तत्रैव विरोधात्तयोरन्तर्भाव इति तयोः पृथङ्निग्रहत्वेन ग्रहणन्न स्यादस्ति च तत् ततोऽतिव्याप्तितादवस्थ्यमित्यर्थः।

आ जाने से प्रतिवन्दी आभासरूप हो जाती है, जैसे मीमांसक के 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्'—इस अनुमान में किसी अकार्यत्वादि उपाधि का सन्देह उठाने पर मीमांसक अग्निसाधक धूमानुमान में उपाधि का सन्देह उठाकर जो प्रतिवन्दी प्रस्तुत करता है, वह प्रतिवन्द्याभास है, क्योंकि धूमानुमान में अनुकूल तर्क की विशेषता जाग्रूक है।

इन प्रदर्शित तर्काभासों में भी उक्त लक्षण घट जाता है। यद्यपि उक्त आत्माश्रयादिस्थलीय व्याप्य-व्यापकभावादि में कोई दोष न होने पर भी 'सम्बन्धद्वारभेदादि' विशेषताओं के कारण तर्काभासता दिखाई जा चुकी है। तर्क-लक्षण में आभासता-प्रयोजक सम्बन्धभेदादि के अभाव का निवेश करने पर अनवस्थादि सत्तर्कों में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि अन्योऽन्याश्रयाभासत्व-प्रयोजक व्यक्ति-भेद का अभाव अनवस्था में नहीं इसी प्रकार आत्माश्रयाभासत्व-प्रयोजक द्वार-भेद का अभाव अन्य आत्माश्रय व्यक्ति में नहीं रहता।

इतना ही नहीं, अपितु 'वैशेषिकाश्चेन्निर्विशेषं विश्वं विशिषन्ति, तर्ह्यपसिद्धान्तः', 'द्वैतिनो न द्वैतमिति वदेयुश्चेद् वचनविरोधः' - इत्यादि आपाद्यापादकपदावलि-संवलित अपसिद्धान्त और विरोधादि नाम के निग्रहस्थानों में भी तर्क का कथित लक्षण जा रहा है, इसका निवारण कौन करेगा ? इन्हें यदि तर्क का भेद मान कर निग्रहस्थान में अन्तर्गणित किया जाता है, तब ऊपर प्रदर्शित आत्माश्रयादि का भी अन्तर्भाव निग्रहस्थानों में होना चाहिए और यदि तर्क का स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाता है, तब अपसिद्धान्तादि का पृथक्

१६. तर्कविशेषलक्षणखण्डनम्

आत्माश्रयादेश्च मूलव्याप्तौ प्रमाणोपगमश्चेत्तर्हि प्रामाणिकत्वान्न दोषत्वम् , न चेन्मूलशैथिल्यमित्युभयतःपाशबन्धः कथं मोचनीयः ? अथोच्येत—यदेतदाश्रयत्वमाश्रयित्वं च तद्भेदे दृष्टं तद्यदि विवादाध्यासिते त्वयोपेयते, तदा भेदः स्यादित्याकारेण आपदने नोक्तदोषापत्तिरिति। मैवम् , एकत्र द्वयस्यापि दृष्टत्वात् । तदाश्रयत्वं तदाश्रितत्व च मिथो भेदनियतमिति चेन्न, तन्मिथःशब्दाभ्यां क्षारीकृतत्वात् ।

एतदाश्रयत्वादेतदाश्रितत्वाद्वा नैकत्वं स्यादिति वचनभङ्ग्या आपाद्यमिति

एवमात्माश्रयादेः सत्तर्कत्वमुपेत्य तदाभासेषु लक्षणातिव्याप्तिरुक्ता, सम्प्रति परस्य तदपि दुर्वचनमित्याह ❀ आत्मेति ❀। आत्माश्रयादेस्तर्कस्य मूलं व्याप्तिस्तत्र प्रमाणमस्ति न वा ? यद्यस्ति तर्हि व्याप्तिप्रमाणेनैव व्याप्यव्यापकयोरपि ग्रहणादविरोधेनादूषणत्वमित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ❀ न चेदिति ❀। प्रशिथिलमूलतया तर्काभासत्वमित्यर्थः। प्रमितत्वेप्येकस्यैव भेदापादकत्वात्तस्यादेव दोषत्वमिति शङ्कते ❀ अथेति ❀। आश्रयत्वाश्रितत्वयोर्भिन्नाधिकरणत्वेऽपि प्रस्तुते किं स्यादित्यत आह ❀ तदेति ❀। प्रतियोगिभेदेनाश्रितत्वाश्रयत्वयोरेकस्मिन्नेव दर्शनाददोषत्वमिति परिहरति ❀ मैवमिति ❀। घटो रूपाद्याश्रयो मृदाश्रित इति द्वयस्यैकत्र दर्शनादित्यर्थः। एकप्रतियोगिकयोराश्रयत्वाश्रितत्वयोर्भेदापादकत्वादस्यैव दोषत्वमिति शङ्कते ❀ तदाश्रयेति ❀। घटो मृदपेक्षयाऽऽश्रितो घटापेक्षया च मृदाश्रय इति भेदनियम इत्यर्थः। दूषयति ❀ नेति ❀। तच्छब्दस्यानुगताभिधानत्वे भेदापादकत्वं तच्छब्दार्थस्यैव वस्तुन उभयत्वदर्शनाद्विशेषाभिधानत्वेऽननुगमाद् व्याप्त्यभाव एव, मिथःशब्दस्याऽपि परस्परमात्राभिधानत्वे इष्टापत्तिर्घटपटादिपरस्परस्य भेदस्वीकाराद्विशेषाभिधानेऽननुगम इत्यर्थः।

प्रकारान्तरेणात्माश्रयत्वस्य दोषत्वं शङ्कते। ❀ एतदिति ❀। विमतमेतस्माद्भिन्नमेतदाश्रयत्वादेतदारम्भकद्रव्यवद्विमतमेतस्माद्भिन्नमेतदाश्रितत्वादेतदाश्रितरूपादिवदिति वा, एतदाश्रितत्वाश्रयत्वाश्रयत्वे

निग्रहस्थानत्वोपपादन अनुपपन्न हो जाता है।

१६. तर्क विशेष-लक्षण-खण्डन

यह भी जिज्ञासा होती है कि आत्माश्रयादि की आधारभूत व्याप्ति में कोई प्रमाण माना जाता है ? अथवा नहीं ? यदि कोई प्रमाण माना जाता है, तब प्रमाणमूलक पदार्थों को दोष नहीं माना जा सकता और व्याप्ति में यदि कोई प्रमाण स्वीकृत नहीं किया जाता, तब निर्मूल आत्माश्रयादि को सत्तर्क नहीं कहा जा सकता, इस प्रकार उभयतःपाशा रज्जु के बन्धन से कैसे मुक्ति मिल सकती है ?

शङ्का—यहाँ 'आश्रयत्वमाश्रितत्वं च भिन्ने वस्तुनि दृष्टम्, तद् यदि प्रमेयत्वे त्वयोपेयते, तदा प्रमेयत्वे भेदः स्यात्'—ऐसा आपादन मान कर दोषता-प्रसक्ति की जाती है, अतः किसी प्रकार की असंगति उपस्थित नहीं होती।

समाधान—'आश्रयत्वमाश्रितत्वं च भिन्ने एव वस्तुनि दृष्टम्'—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि एक ही वस्तु में निरूपक के भेद से दोनों धर्म पाये जाते हैं, जैसे एक ही घट में रूपादि की 'आश्रयता' और भूतलादि की 'आश्रितता'—ये दोनों धर्म देखे जाते हैं। 'तदाश्रयत्व' और 'तदाश्रितत्व अर्थात् एक ही निरूपक से निरूपित आश्रयत्व और आश्रितत्व का मिथो विरोधः'—ऐसा कहना भी संगत नहीं, क्योंकि 'तत्' पद और 'मिथः' पद लक्षण को अननुगमादि दोषों से दूषित कर देते हैं—यह पहले कई स्थलों पर दिखाया जा चुका है।

शङ्का—'एतदाश्रयत्वाद् अस्य नैकत्वम्' अथवा एतदाश्रितत्वाद् अस्य नैकत्वम्'—इस प्रकार का आपाद्य-आपादकभाव मानने में कोई दोष नहीं। लक्ष्यार्थ के भेद से लक्षण की

चेत्, मैवम्, यद्येतदेतदाश्रयादि स्यात्तदेतन्न स्यादिति ह्यापाद्यम्। न चैतद्युक्तम्, धर्म्यापाद्ययोर्व्याहतत्वात्। न च वाच्यमापाद्यस्य प्रमाणबाध्यताऽनुकूलैवेति व्याघातादपि सा सम्भवन्ती न दोषमावहतीति, यत आपाद्यापादकयोः सामानाधिकरण्यानादरेऽतिप्रसङ्गः स्यादतो विपर्ययापर्यवसायित्वमेवं स्यात्। एवं हि विपर्ययो वक्तव्यो यन्नाम? भवति चैतदेतत्, तस्मान्नैतदाश्रय इति। न चैतदेतद् भवितुं शक्नोति, एतदित्युद्दिष्टे धर्मिण्येतत्त्वविधानासम्भवात्, उद्देश्यविधेययोः प्रकारभेदस्याभावात्।

भिन्नाधिकरणे वा एतदाश्रितत्वाश्रयत्वरूपत्वादेतदाश्रितकार्यगतधर्मद्वयवदिति वा स्वाभाविकैक्याभाव आपाद्येत इत्यर्थः। आपादनप्रकारं दर्शयन्परिहरति ❀ मैवमिति ❀। अस्त्वेवमापादनप्रकारस्तथापि का नो हानिरित्यत आह ❀ नेति ❀। कुतो न युक्तमित्यत आह ❀ धर्मीति ❀। एतद्घट इति धर्मिण ऐक्येन प्रमितत्वादेतद्घटो न स्यादिति भेदाभावे आपाद्यमानेऽपि विरुद्धसंसर्गव्याघात इत्यर्थः। नायमनिष्टप्रसंजने दोषः, सर्वत्र तर्के प्रमाणबाध्यस्यैवाऽऽपाद्यत्वादित्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। व्याघातः प्रमाणमप्रमाणं वा उभयथापि तस्माद्भवन्ती साऽऽपाद्यस्य बाध्यता न दोषमावहतीत्यर्थः। कुत इत्यत आह ❀यत इति❀। आश्रितत्वमाश्रयत्वं चापादकमनेकत्वमापाद्यं तयोरेकधर्मिनिष्ठत्वं अस्ति न वा? अस्ति चेदन्योन्यविरोधादापाद्यसिद्धिर्नास्ति, यदि यत्र क्वापि विद्यमानेनापादकेन यत्र क्वाप्यापादने सर्वेषामेकत्वाभिमतानामेकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। विपर्ययपर्यवसानासम्भवाच्चाभासतेत्याह ❀ यत इति ❀। तद्दर्शयितुं विपर्ययपर्यवसानाभिधानप्रकारं दर्शयति ❀ एवमिति ❀। एतद्घट एतद्घटो भवति तस्मान्नैतद्घटाश्रय इति विपर्ययपर्यवसानाभिधानमित्यर्थः। अस्तु तथा को दोष इत्यत आह ❀ न चेति ❀। (तत्त्वं वास्तवमित्यर्थः) कुत इत्यत आह ❀ एतदिति ❀। असम्भवो वा कुत इत्यत आह ❀ एतदित्युद्दिष्ट इति ❀।

"सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्षत" इति न्यायेन रूपभेदो वक्तव्यो न चासाविहास्तीत्यर्थः। स्वपक्षसाधनार्थं प्रयुक्ते प्रसङ्गे विपर्ययपर्यवसानं वाच्यमात्माश्रयत्वं तु स्वपरपक्षबाधमात्रमतो न विपर्यय-

---

अननुगमता भी स्वाभाविक है, अतः लक्षण का अननुगम होना भी सर्वत्र कोई दोष नहीं।

समाधान—'एतद् यदि एतादाश्रयः, एतदाश्रितं वा स्यात् एतन्न स्यात्'—ऐसा आपादन पर्यवसित होता है, जो कि संगत नहीं, क्योंकि 'एतत् एतत् न स्यात्'—ऐसा आपादन अत्यन्त व्याहत है, जो 'एतत्' है, वह 'नैतत्' कैसे? और जो 'नैतत्' है, वह 'एतत्' क्योंकर होगा?

प्रमाणभूत या अप्रमाणभूत व्याघात से होनेवाली आपाद्य की बाध्यता तर्क में दोष नहीं मानी जाती, क्योंकि आश्रितत्व एवं आश्रयत्व—दोनों आपादक और अनेकत्व आपाद्य है। उन दोनों का एकधर्मिगतत्व (सामानाधिकरण्य) है? या नहीं? यदि है, तब परस्पर-विरोध होने के कारण आपाद्य की सिद्धि नहीं होती। यदि कहीं भी विद्यमान आपादक के द्वारा आपाद्य का आपादन किया जाय, तब एकत्वेन सम्मत सभी गगनादि पदार्थों की एकता भङ्ग हो जाती है। यदि उन दोनों के सामानाधिकरण्य का आदर किया जाता है, तब तर्क का विपर्यय में पर्यवसान नहीं हो सकता। विपर्यय में अपर्यसित तर्क को तर्काभास कहा जा चुका है। विपर्यय में पर्यवसान इस प्रकार कहा जा सकता है—यदेतत्, तदेतत् भवति, तस्मान्न एतदाश्रयः' किन्तु ऐसा कहना सम्भव नहीं क्योंकि 'एतत्'—इस प्रकार के उद्दिष्ट धर्मी में एतत्व का विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय का सदैव भेद होना चाहिये, प्रकृत में वह नहीं।

'परकीयमत का बाध करने के लिए व्याप्य से अनिष्ट व्यापक का आपादन मात्र होना चाहिये, तर्क का विपर्यय में पर्यवसान आवश्यक नहीं'—ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि आत्माश्रयादि प्रसङ्गों के मूल में व्याप्त्यादि का होना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा तर्क में

न च प्रसङ्गमात्रमेतद्बाधायैवास्तु, कृतमस्य विपर्ययपर्यवसानेनेति युक्तम्। स्वयमपि प्रसङ्गमूलस्य व्याप्तेरिष्टतया प्रसञ्जितनिषेधे तद्व्यतिरेकप्रामाणिकत्वस्य अवश्यमन्तव्यत्वापत्तेः।

अत एव 'एतदन्यत्स्यादि'त्यपि न शक्यप्रसंजनम्, एतदन्यत्वस्य एतत्स्वरूपभेदमादायैव प्रतीतिपर्यवसायितया प्रसङ्गे व्याघातादेव। विपर्ययोऽप्येतद्विशेषिताऽन्यविशेषितान्यत्वविधायिनो विशेषणविशेषणताप्रविष्टमात्मानमात्मनि विधीयमानं न क्षमते, एतदनन्यत्वस्यैतदन्यान्यत्वस्यैतत्त्वादेव अन्यत्वावधेरात्मन उपलक्षणत्वे वान्यत्वमात्रमुपलक्ष्यमाणमन्यस्मादपि अन्यत्वमादाय पर्यवस्येत्। स्वरूपत एव

पर्यवसानापेक्षेत्याशंक्याह ❀ न चेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ स्वयमिति ❀। अस्य प्रसङ्गस्य मूलतया व्याप्तिरभ्युपगम्यते न वा? न चेन्मूलशैथिल्यात्तर्काभासता। स्यादेतत् परपक्षबाधने पराभ्युपगतामेव व्याप्तिमुपजीव्य प्रवृत्तस्य न मूलशैथिल्यमिति, मैवम्, स्वपक्षसाधनत्वेनापि क्वचिदाश्रीयमाणतया व्याप्त्यभावे मूलशैथिल्यं स्वयं व्याप्त्यनभ्युपगमेऽन्यतरासिद्धस्यापादकस्याभासत्वाच्च। यदि व्याप्तिरभ्युपगम्यते तदा प्रसञ्जितस्यानेकत्वादेर्निषेधे तद्व्यतिरेकस्यैकत्वादेः प्रामाणिकत्वस्यावश्यमन्तव्यत्वाद्व्यतिरेकप्रमाणमन्तरेणान्वयनिश्चयानुपपत्तेरन्यत्रानुमानादित्यर्थः।

एतदेतन्न स्यादिति न प्रसञ्जयामः, किन्त्वेतस्मादन्यदिति प्रसञ्जयाम इत्याशङ्क्योक्तन्यायं तत्राप्यतिदिशति ❀ अत इति ❀। अतः शब्दार्थमेव स्पष्टयति ❀ एतदिति ❀। यद्येतदेतदाश्रयादि स्यात्तर्ह्येतदन्यत्स्यादिति प्रसञ्जने कस्मादन्यदित्याकाङ्क्षायामेतस्मादन्यदिति स्वरूपभेदमादायैव प्रतीतिपर्यवसायी प्रसङ्गो वाच्यस्तथा चैतद्भवति न भवति चेति व्याघात इत्यर्थः। एवं प्रसङ्गरूपं निरस्य विपर्ययपर्यवसायित्वमपि निरस्यति ❀ विपर्यय इति ❀। एतदन्यत्स्यादिति प्रसङ्गस्य विपर्ययो भवति चैतदनन्योऽयमित्येवं रूपो वक्तव्यस्तथा चैतद्विशेषितं यदन्यत्वं तद्विशेषितान्यत्वमेतदतन्यत्वं तद्विधायिनः—तत्सकाशाद्बाध्यावात्मानं विशेषणविशेषणतया प्रविष्टमात्मानमात्मनि विधीयमानं वस्तु न क्षमत इत्यर्थः। एतदन्यन्न भवतीति विधाने एतद्विशेषितमन्यत्वं यत् तदन्यत्वं विहितं भवति, तत्र विधेयान्यत्वस्य विशेषणमेतद्विशेषितान्यत्वं तत्र एतद् विशेषणमिति योजना। कुतो न क्षमत इत्यत आह ❀ एतदिति ❀। स्ववृत्तिविरोधादित्यर्थः। कीदृशं तदेतदनन्यत्वमित्यत आह ❀ एतदन्यान्यत्वस्येति ❀। एतस्मादन्यदित्यत्र विशेषणतया प्रविष्टमवधिस्वरूपं न भवति किन्तूपलक्षणमतो यदुक्तमेतत्स्वरूपविशेषितान्यत्वविधान एतत्स्वरूप-

---

सत्तर्कता न रह कर तर्काभासता आ जाती है। इस प्रकार आपादित अनेकत्व के निषेध में व्यतिरेक-व्याप्ति को अवश्य होना चाहिये, क्योंकि विपर्ययपर्यवसान के विना व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान सम्भव नहीं होता।

यदि आश्रयत्वाश्रितत्वे एतस्मिन्नेव भवतः, तदा एतदन्यत् स्यात्'—इस प्रकार का प्रसञ्जन भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि एतदन्यत्व का भी एतत्स्वरूप-भेद में पर्यवसान होने के कारण पूर्ववत् व्याघात होता है—'एतद् एतदन्यत् स्यात्'। इस प्रसङ्ग का विपर्यय में पर्यवसान भी सम्भव नहीं, क्योंकि 'एतद् एतदन्यत् न'—इसका पर्यवसित अर्थ 'एतद् एतत्'—यही होता है, क्योंकि एतदनन्यत्व और एतदन्यान्यत्व—दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं।

'एतद् एतदन्यत् न भवति'—इस विपर्यय के घटकीभूत अन्यत्व में एतत्त्व को उपलक्षण मान कर भी उक्त स्थल पर सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'घटो यदि घटाधारः स्यात्, तदा स घटादन्यः स्यात्'—यहाँ पर एतदर्थभूत घट को अन्यत्व का उपलक्षण मानने पर 'घटो घटादन्यो न स्यात्'—इस प्रकार विपर्यय में पर्यवसान सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि घट घटोपलक्षितपटादि से अन्य ही होता है, उसका निषेध उसमें क्योंकर होगा?

शङ्का—घटान्यत्व-पटान्यत्वादि के भेद से अन्यत्व स्वरूपतः भिन्न-भिन्न होता है,

विलक्षणमन्यत्वविशेषमवधिरात्मोपलक्षयतीति च न घटते, यतोऽन्यत्वमात्रमेवावधिविशेषैरुपधीयमानं तदन्यत्वप्रत्ययव्यवहारोपपादकं भवदन्यत्वव्यक्तिभेदपर्यन्तगमनं प्रमाणस्य न सहते। यदि चान्यत्वव्यक्तिभेदोऽपि स्यात्तथापि प्रसङ्गमूलभूता व्याप्तिः सामान्याकारपुरस्कारित्वाद् एतेनैवोपधीयमानानामन्यत्वव्यक्तीनामैक्यमादाय प्रवृत्ता तथैव प्रसङ्गे विपर्यये चोपनयन्ती स्यादेवोक्तदोषालङ्कृतायेति। एवंप्रकारता चाऽऽश्रयाश्रयिभाववत् प्रकारान्तराश्रयेष्वपि आत्माश्रयोदाहरणेष्वतिदिश्यते। अन्योन्याश्रयो यथा—भेदेनावगताद् भेदज्ञानोपगमे, सोऽपि त्वया कथङ्कारमुपन्यसनीयः? न तावत्

स्वैवोद्देश्यस्य विधेयत्वेन प्रवेशो विपर्ययस्तन्न भवतीति, तदनङ्गीकारपराहतमित्याशङ्क्याह ॐअन्यत्वेतिॐ। यदि घटो घटाधारः स्यात्तर्हि घटो न स्यादित्यत्र घटस्योपलक्षणत्वादन्यत्वमुतान्यस्मादन्यत्वं विधेयं भवति तच्च न सम्भवति, घटस्य यतः कुतश्चिदन्यत्वात्तथेष्टापादनं चान्यस्मात्पटादन्यत्वस्य स्वीकारादित्यर्थः। स्वरूपत एवान्यत्वतो विलक्षणत्वादन्यत्वादन्यत्वमात्रमुपलक्षयन्न भवति किन्तु घटान्यत्वमेव घटेनोपलक्ष्यमित्याशङ्क्याह ॐ स्वेति ॐ। अन्यत्वं च तद्विधेयान्यत्वस्य विशेषणं कुतो न घटत इत्यत आह ॐ यत इति ॐ। अन्यत्वं स्वरूपतो भिन्नमित्यत्र किं प्रमाणम्? अन्यत्वविषयभिन्नप्रतीतिव्यवहारानुपपत्तिरिति चेन्नैवम्, अन्यथाप्युपपत्तेः यथाऽऽकाशस्य घटमणिकाद्युपाधिभेदाद्भिन्नत्वमेव भिन्नप्रतीत्याद्युपपादकमेवमेकमप्यन्यत्वं तत्तदुपाध्युपरक्तविलक्षणप्रतीतिजनकमिति सम्भवादित्यर्थः। अन्यत्वव्यक्तिभेदमङ्गीकृत्याप्याह ॐ यदीति ॐ। अङ्गीकृतेऽपि तद्विशेषितान्यत्वव्यक्तिभेदे व्यक्तिभेदस्य व्याप्तिग्रहणानुप्रवेशासम्भवाद्यद्येतदेतदाश्रयादि स्यात्तदेतदन्यत्स्यादिति सामान्याकारेणैव व्याप्तिग्रहसम्भवादेतद्विशेषितान्यत्वापादने स्याताभेव व्याघातविपर्ययतात्त्विकत्वे इत्यर्थः। एतेनैवोपधीयमानानामिति—सामान्याकारसङ्गृहीतानामित्यर्थः। प्रसङ्गे—एतदाश्रयत्वादेतदन्यत्स्यादित्यत्र। सामान्यतो व्यापकमानयतीति धर्म्यापाद्ययोर्व्याघात इत्यर्थः। विपर्यये च एतदेतद्भवतीत्येकस्य विधेयोद्देश्यभावानुपपत्तिरित्यर्थः।

उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति ॐ एवमिति ॐ। स्वस्मात्स्वयमुत्पद्यत इत्यङ्गीकारे स्वजनकं स्वयमापद्येतेत्येवमाद्यात्माश्रयोदाहरणे भेदाद्यापादनमादायोक्तखण्डनानि योजनीयानीत्यर्थः। एवमात्माश्रयस्य तात्त्विकत्वं निरस्यान्योन्याश्रयस्यापि तात्त्विकत्वं निराकर्तुमुपक्रमते ॐ अन्योन्येति ॐ। भेदेनावगतात्प्रति-

यहाँ घट सामान्य अन्यत्व का उपलक्षक न होकर घटान्यत्व का ही उपलक्षक माना जाता है, घटान्यत्व का निषेध घट में हो सकता है, अतः विपर्यय में पर्यवसान सम्भव हो जाता है।

समाधान—यदि अन्यत्व का स्वरूपतः भेद होता, तब अवश्य अन्यत्वविशेष को उपलक्ष्य माना जा सकता था, किन्तु आकाशादि के समान अन्यत्व स्वरूपतः एक और अखण्ड माना जाता है, घट-पटादि विशेषणों के भेद से उसका औपाधिक भेद ही माना जाता है, स्वरूपतः अन्यत्व भिन्न नहीं, वह घटान्यत्व भी हो सकता है। आपाद्य-आपादक की मूलभूत व्याप्ति भी सामान्याकारेण ही मानी जाती है, इस लिए भी सभी अन्यत्व व्यक्तियों का एकरूप में संगृहीत होना आवश्यक माना जाता है। फलतः प्रसङ्ग और विपर्यय—दोनों में एक ही अन्यत्व उपलक्षित होता है, वह पटान्यत्व भी हो सकता है, अतः पटान्यत्व के विपर्यय का पर्यवसान घट में कथमपि सम्भव नहीं। 'स्वं यदि स्वाश्रितं स्यात्, स्वस्माद्भिन्नं स्यात्'—इत्यादि आश्रयाश्रितभावस्थलीय आत्माश्रय में उद्भावित दोषों के समान ही आत्माश्रय के उत्पत्तिज्ञप्त्यादिस्थलीय अन्य उदाहरण-प्रकारों में भी दोषों की उद्भावना कर लेनी चाहिये, क्योंकि 'स्वं यदि स्वस्माज्जन्यं ज्ञातं वा स्यात्, तर्हि स्वस्माद् भिन्नं स्यात्'—इत्यादि आपादन-प्रकारों में भी मूल-शैथिल्य, व्याघात एवं विपर्ययापर्यवसानादि दोष प्रतिलक्षित होते हैं।

अन्योऽन्याश्रय की भी निरुक्ति और तात्त्विकता सम्भव नहीं, क्योंकि 'घटपटौ भिन्नौ'—यहाँ पर 'घट और पट में प्रतियोग्यनुयोगिभाव का ज्ञान हो जाने पर भिन्नत्व (भेद) का

'यद्येतद् एतद्बोधाधीनबोधाधीनबोधं स्यात्तदा न बुद्ध्येते'ति। तथा सति व्याप्त्यसिद्धेः, एतद्बोधाधीनबोधं यत्तद्बोधाधीनबोधस्य तस्यैवादृष्टचरत्वात्। कयाचन व्याप्यव्यापकभेदकल्पनया व्यभिचाराप्रतीतचरत्वयोर्वारणेऽपि अतथाभावशङ्काखण्डकदण्डदुर्लभत्वात्। एवमन्योन्याश्रयान्तरेऽपि। चक्रकं च मध्ये परमन्तर्भाव्य आत्माश्रयान्योन्याश्रयावेव विपरिणमत इति तद्दोषं नातिक्रामति।

व्याघातस्तु यथा—सन्नास्तीत्यत्र। तमपि कथं प्रयोक्ष्यसे? यदि 'यद्ययं सन्

योगिनः सकाशाद्धर्मिणो भेदज्ञानोपगमे प्रतियोग्यन्यत्वसिद्धौ ततो धर्मिभेदसिद्धिस्ततत्सिद्धौ च प्रतियोग्यन्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयस्तार्किकैरुच्यते इत्यर्थः। एवमुपन्यासे कऽनुपपत्तिरित्यत आह ❀ सोऽपीति ❀। कथमिति ❀। कीदृशं प्रसङ्गशरीरमित्यर्थः। एतत्—घटादिरूपं प्रमेयमेतस्य—घटादेः सकाशाद्भिन्नस्य प्रतियोगिनो बोधायत्तज्ञानं स्याद्यदि तर्ह्येतद्घटादिभेदरूपं प्रमेयं न बुद्धचेतेत्येवम्प्रकारस्तदुपन्यास इत्याशङ्क्याह ❀ न तावदिति ❀। कुत इत्यत आह ❀ तथा सतीति ❀। व्याप्त्यभावेन मूलशैथिल्यादाभासत्वं तर्कस्येत्यर्थः। तामेव व्याप्त्यसिद्धिमुपपादयति ❀ एतदिति ❀। अन्यत्र प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानविषयो भेदो दृष्टो न वा? दृष्टश्चेन्न बुद्धचेतेत्यापाद्याभावादेव व्यभिचारः, न दृष्टश्चेद्दूवाल्यधर्मिण एवासिद्धत्वात्तन्निष्ठतयाऽऽपाद्यापादकयोः सामानाधिकरण्यं न क्वापि दृष्टमिति व्याप्त्यसिद्धिरित्यर्थः। यद्वस्तु तत्परस्पराधीनबोधं न भवति, यथा घटद्वयमिति सामान्येन व्याप्तिरिष्यते प्रतियोगिज्ञाने ज्ञानविषयभेदस्यादृष्टत्वान्न व्यभिचारो न चादृष्टचरत्वं दूषणं वस्तु चेत्परस्पराधीनबोधं न स्यादित्यनेन रूपेण प्रसङ्गसम्भवादित्याशङ्क्याह ❀ कयाचनेति ❀। वस्तुत्वं भवतु परस्परायत्तबोधत्वं चास्तु किं बाधकमित्यन्यथाभावशङ्कायाः खण्डकदण्डस्य दुर्लभत्वात् व्याप्त्यसिद्धौ मूलशैथिल्यं स्यादित्यर्थः। शङ्काखण्डकतर्कस्य मूलभूतव्याप्तेः प्रामाणिकत्वे तद्विषयस्यैव तर्कस्य व्याप्तिप्रमाणविषयत्वात्सोऽर्थः प्रामाणिकः स्यान्न च व्याप्तिर्मूलशैथिल्यमित्युक्तं खण्डनमन्यत्राप्यतिदिशति ❀ एवमिति ❀। आत्माश्रयादिखण्डनेन चक्रकं च खण्डितमित्याह ❀ चक्रकं चेति ❀। आत्माश्रयान्योन्याश्रयावेव परिणमतश्चक्रकरूपेणेत्यात्माश्रयादिदोषं नातिक्रामति चक्रकमित्यर्थः।

व्याघातस्यासम्भवं दर्शयितुं तस्योदाहरणमाह ❀ व्याघात इति ❀। अयं व्याघातः कथं प्रयोक्तव्य इत्याह ❀ तमिति ❀। परस्तदुपन्यासप्रकारं शङ्कते ❀ यदीति ❀। व्याप्त्यभावान्मूलशैथिल्येनाभासत्व-

---

ज्ञान और भेद का ज्ञान हो जाने पर घट-पट में प्रतियोग्यनुयोगिभाव का ज्ञान होगा'—यही अन्योऽन्याभाव कहा जाता है। उसका आप (नैयायिक) उपन्यास किस प्रकार करते हैं? 'एतत् [घटपटादिभिन्नत्वम्] यदि एतद्बोधाधीनबोधाधीनबोधं [भिन्नत्वज्ञानाधीनो बोधो ययोः प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः, तयोर्यज्ज्ञानम्, तदधीनो बोधो यस्य, एवंभूतम्] स्यात्, तदा न बुध्येत'—ऐसा उपन्यास नहीं कर सकते, क्योंकि 'भेद-ज्ञान के अधीन बोध है जिनका, ऐसे प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व के ज्ञान से जन्य ज्ञान की भेदगत विषयता है'—ऐसे आपादक की प्रसिद्धि न होने के कारण आपाद्य और आपादक की व्याप्ति ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। यदि किसी प्रकार के व्याप्यव्यापकभाव की कल्पना से व्यभिचार और आपादकाप्रतीति का वारण किया जाता है, तब भी अप्रयोजकत्व की शङ्का का खण्डक अनुकूल तर्क नितान्त दुर्लभ है। इसी प्रकार अन्योन्याश्रय के अन्य प्रकारों की भी प्रत्यालोचना की जा सकती है।

चक्रक के रूप में तो आत्माश्रय अन्य दो और अन्योऽन्याश्रय अन्य तृतीय व्यक्ति को समेट कर परिणत हो जाते हैं, अतः आत्माश्रय और अन्योन्याश्रय के दोषों का अतिक्रमण चक्रक भी नहीं कर सकता।

व्याघात का भी 'सन्नास्ति'—इत्यादि स्थलों पर क्योंकर प्रयोग किया जायगा? 'यद्ययं सन् स्यात्, तदानीमसन् न स्यात्'—ऐसे प्रयोग में तो 'असत् न स्यात्'—इस वाक्य

स्यात्तदानीमसन्न स्यादि'ति, तर्हि 'असन्न स्यादि'त्यस्यापि 'सन् स्यादित्य'स्मिन्नेवार्थे पर्यवसानादभेदेन व्याप्यव्यापकभावस्यैवासिद्ध्यापत्तिः। स्वभावविरुद्धोपजीविनी च विरुद्धान्तरे तद्व्याघातनिरासादेव निरस्तप्राये। 'गौर्महिषः ततो न भवति, अगवात्मतानियता यतो महिषात्मता'इति, एष हि तयोर्विरोधः। अनवस्था तु यथा—सत्तायामपि सत्तान्तरमित्यनवधौ सत्ताप्रवाहे इष्यमाणे। तत्र कथं प्रत्यवस्थेयम्? न तावत् 'यदि सत्तायां सत्ता स्यात्तदा न विश्रान्तिः स्यादि'ति, सत्तायां सत्ताभ्युपगमस्य विश्रान्त्यभावेन सह व्याप्तिसिद्ध्यसिद्ध्योर्दोषग्रस्तत्वात्। प्रतिबन्दी च खण्डितैव।

मिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀। सन्निति चाऽसन्न स्यादिति च द्वाभ्यामेक एवार्थ उच्यते सदसतोः परनिषेधत्वादतो भेदाभावाद्व्याप्त्यसिद्धिः। व्याघातान्तरेऽप्युक्तन्यायमतिदिशति ❀ स्वभावेति ❀। स्वभावविरुद्धः व्यापकविरुद्धोपलब्धिश्च तयोरुभयोः स्वभावविरुद्धोपजीवकत्वमिति पूर्वोक्तव्याघातनिरासादेव निरस्ते इति यावत्। अगवात्मत्वं हि गवात्मत्वेन स्वभावविरुद्धं, अगवात्मताव्याप्यं च महिषात्मत्वं ततश्च व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिरेवं च गोत्वेनागोत्वाभावापादनमगोत्वाभावेन च महिषत्वाभावापादनं न स्यात्ततश्चापाद्यापादकयोरैक्यमिति यावत्। तत्रोदाहरणमाह ❀ गौरिति ❀। अयं गौस्तस्मान्महिषो न भवतीत्यर्थः। अनयोर्विरोधं दर्शयति ❀ अगवात्मतेति ❀। गोत्वमहिषत्वयोर्विरोधे भावाभावविरोधस्योपजीव्यत्वात्तन्निरासेनैव तन्निरसनीयमित्यर्थः। अनवस्थां दर्शयितुमुदाहरणेन दर्शयति ❀अनवस्थेति❀। कथमेषाऽनवस्था प्रयोक्तव्येत्याह ❀ तत्रेति ❀। सत्तायां यदि सत्ता स्यात्तदा सत्ताविश्रान्तिर्न स्यादिति प्रयुज्यत इत्याशङ्क्याह ❀ न तावदिति ❀। कुत इत्यत आह ❀ सत्तेति ❀। सत्ताभ्युपगममात्रस्यापादकत्वं सत्तायां सत्ताभ्युपगमस्य वा, नाद्यो घटावावपि सत्ताभ्युपगमे तथात्वप्रसङ्गात्। द्वितीये तु सत्तायामेवाऽऽपादकस्य सत्त्वादन्यत्र च तस्यासत्त्वान्नियतसहचारस्य च व्याप्तित्वादविश्रान्तेरपि च यदि सत्तायां सत्ता तर्हि तत्रैव तेन सहचारसम्भवस्तथा च यदि व्याप्तिसिद्ध्यर्थं सत्तायामपि सत्ताविश्रान्तिमत्त्वं प्रमितं तदाऽनिष्टापत्तिरप्रमितं चेत् व्याप्त्यभावान्मूलशैथिल्यमित्यर्थः। प्रतिबन्दीखण्डनं द्वितीयपरिच्छेदे कृतमित्याह ❀ प्रतिबन्दीति ❀।

का 'सन् स्यात्'—इस अर्थ में ही पर्यवसान हो जाने के कारण 'यद्ययं सन् स्यात्, तदा सन् स्यात्'—ऐसे अभिन्नस्वरूप आपाद्य और आपादक का व्याप्यव्यापकभाव ही असिद्ध है।

स्वभावतः विरुद्ध भाव और अभाव से अनुप्राणित अन्य व्याघात-प्रकार भावाभाव के विरोध का निरास हो जाने मात्र से निरस्त हो जाते हैं, जैसे 'गौर्महिषः'—ऐसा कहना व्याहत है, क्योंकि महिष का अमहिष से साक्षात् विरोध होता है, अमहिषरूपता गोरूपता का व्यापक है—या या गौः, सा सा अमहिषरूपा। 'यो यद्व्यापकविरुद्धः, स तद्विरुद्धः'—इस न्याय के आधार पर 'गौ' और 'महिष' का विरोध माना जाता है, अतः व्याघात का मौलिक प्रयोग है—'अमहिषो महिषः' और विपर्यय का पर्यवसित रूप होता है—'अमहिषो महिषो न भवति'। 'महिषो न' का रूपान्तर है—अमहिषः, अतः पूरा वाक्य इस प्रकार सम्पन्न होता है—'अमहिषः अमहिषः'। 'घटो घटः' के समान इसका भी वाक्यार्थ सम्भव नहीं।

अनवस्था का धरातल है—सत्ता में सत्ता-परम्परा। इसका भी उद्भावन कैसे होगा? 'यदि सत्तायां सत्ता स्यात्, तदा न विश्रान्तिः स्यात्'—ऐसा उपन्यास सम्भव नहीं, क्योंकि यहाँ आपाद्य (अविश्रान्ति) और आपादक (सत्ता में सत्ताभ्युपगम) की व्याप्ति प्रमाण-सिद्ध है? अथवा नहीं? प्रथम पक्ष में दोषत्व-निवृत्ति और द्वितीय पक्ष में आपादनासम्भव हो जाता है।

प्रतिबन्दी का खण्डन विगत पृ० ५६५ पर हो चुका है। दूसरी बात यह भी है कि

किञ्च—प्रमेयत्वाभिधेयत्वव्यवहार्यत्वसन्निकर्षवत्त्वाभावप्रतियोगित्वादीनामात्माश्रितत्वदर्शनात् कथमात्माश्रयताखण्डिका व्याप्तिः सव्यभिचारा न स्यात्। द्वार-व्यक्तिभेदस्यापि व्यभिचारिव्यतिरेकत्वात्। स्वप्रकाशवादिना स्वयमेव स्वज्ञानत्वस्य, एवयभावेऽप्यन्यमभावमस्वीकुर्वता स्वयमेव स्वाभावत्वस्य, एवं तदेव ग्राह्यं ग्राहकं चाऽऽत्मप्रतीतौ, एवं तदेव ज्ञाप्यं ज्ञप्तिकारणं च शब्दो वाचक इत्यत्र, एवं तदेव नाश्यं

आत्माश्रयत्वांशे भङ्ग्यन्तरमाह ॐ किञ्चेति ॐ। प्रमेयत्वाभिधेयत्वव्यवहार्यत्वानां प्रमाविषयत्वात् स्ववृत्तिरप्यापन्ना समवायः सन्निकर्षः तत्र तस्य सम्बन्धिना सह सन्निकर्षान्तरेण न सन्निकर्षः सम्भवति इति स एव समवायस्तेन स्वसम्बन्धिना सह सन्निकर्षः सः, एवमभावप्रतियोगित्वस्यापि धर्मस्यान्योन्याभावप्रतियोगित्वमस्तीत्यभावप्रतियोगित्वेऽप्यभाव इति। प्रतियोगित्वादीत्यादिपदेन केवलान्वयिसाध्यसंग्रहः। एतेषु आत्माश्रयत्वखण्डनी व्याप्तिः सव्यभिचारा स्यादित्यर्थः। सम्बन्धद्वारव्यक्तिभेदादात्माश्रयत्वपरिहारान्न व्याप्तेः सव्यभिचारत्वमित्याशंक्याह ॐ द्वारेति ॐ। द्वारभेदादेर्व्यभिचारिव्यतिरेककत्वादेतस्य द्वारभेदादेर्योऽसौ व्यतिरेकः सोऽन्योन्याश्रयादेर्दूषणत्वव्यतिरेकत एव दूषणतो व्यभिचरति उदाह्रियमाणज्ञानेषु स्वप्रकाशाङ्गीकारस्थले यतो द्वारव्यक्तिभेदयोरभावेऽपि तत्रात्मान्योन्याश्रययोरदूषणत्वाङ्गीकारादभावविशिष्टस्यापि तत्रैव व्यभिचारोऽन्यव्यभिचारिविशेषणविशिष्टस्याव्यभिचार इत्यर्थः। तान्येव व्यभिचारस्थलान्युदाहरति ॐ स्वेति ॐ। सर्वस्यापि षष्ठ्यन्तस्योपगमादित्यनेनोपरि सम्बन्धः। घटतज्ज्ञानयोरेकैव ज्ञानव्यक्तिर्व्यवहारहेतुरिति न द्वारभेदोऽस्ति गुरुमते, एवमन्योन्याभावः सर्वत्रैकोऽत्यन्ताभावश्चेति पक्षेऽन्योन्याभावः घटो न भवति अत्यन्ताभावः प्रागभावादिर्नेति व्यवहारे द्वारभेदो नास्ति तयोरेव स्वस्मिन्परस्मिंश्च तथाव्यवहारकत्वादेवं निरुपाधिकात्मज्ञाने स एव ग्राह्यो ग्राहकश्चेति द्वारभेदो नास्ति मानसवेद्यत्वपक्षे ग्राहकत्वमङ्गीकुर्वत इति शेषः। शब्दपक्षे शब्दस्यैव वाच्यत्वं वाचकत्वं चेति न द्वारभेदः, एवं स्वरसभङ्गुरपक्षे स्वयमेव नाश्यं नाशकं चेति द्वारभेदो नास्ति, विषयविषयिणोः स्वभावः

प्रमेयत्व, अभिधेयत्व, व्यवहार्यत्व, सन्निकर्षवत्त्व, अभावप्रतियोगित्वादि धर्म स्ववृत्ति या आत्माश्रित माने हो जाते हैं, अतः 'यत्र यत्र स्ववृत्तित्वम्, तत्त तत्र स्वभिन्नत्वम्'—यह आत्माश्रयत्व-विरोधिनी व्याप्ति प्रमेयत्वादि में व्यभिचारित हो जाती है, क्योंकि उनमें स्ववृत्तित्व होने पर भी स्वभिन्नत्व नहीं होता।

यद्यपि कथित द्वार-भेद और व्यक्ति-भेद को मानने पर उक्त व्याप्ति में व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि वहाँ स्वाश्रितत्व के साथ-साथ स्व-भिन्नत्व भी विद्यमान है। तथापि सर्वत्र व्यभिचार-स्थल पर व्यक्ति-भेद का सद्भाव नहीं, अपितु व्यतिरेक (अभाव) है, जैसे कि (१) स्वप्रकाशवाद में वही ज्ञान अपना प्रकाशक माना जाता है, वहाँ स्वप्रकाश्यत्व रहने पर भी स्व-भिन्नत्व नहीं, अतः कथित व्याप्ति का स्पष्ट व्यभिचार है। ज्ञान व्यक्ति का भेद वहाँ मानने पर प्रकाशक और प्रकाश्य व्यक्तियों का भेद हो जाने से स्वप्रकाशवाद ही भङ्ग हो जाता है, अतः ज्ञान व्यक्ति की एकता अनिवार्य है। (२) इसी प्रकार अन्योऽन्याभाव में वही अन्योऽन्याभाव माना जाता है—'अन्योऽन्याभावो घटो न भवति'। (३) आत्मा अपना स्वयं ग्राहक है, ग्राह्य और ग्राहक व्यक्ति का भेद नहीं। 'शब्द' पद अपना ही वाचक है, वाच्य और वाचक व्यक्तियों का कदापि भेद नहीं। (४) नैसर्गिक क्षण-भङ्गुरत्ववाद में घटादि पदार्थ स्वयं अपने नाशक माने जाते हैं, नाश्य और नाशक व्यक्तियों में भेद नहीं। (५) स्वभाव सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) स्वयं अपना सम्बन्धी है, उसमें स्वसम्बन्धित्व होने पर भी स्वभेद नहीं रहता। इस प्रकार के बहुत-से ऐसे स्थल उपलब्ध होते हैं, जहाँ उक्त व्याप्ति व्यभिचरित है, अतः आत्माश्रय कहाँ आभास और कहाँ अनाभासरूप है—इस प्रकार के विवेक का नियामक कोई सम्भव नहीं प्रतीत होता।

नाशकं च प्रध्वंसिनि, एवं तदेव सम्बन्धि सम्बन्धश्च स्वभावसम्बन्धोपगमे, इत्यादि बहुलमुपगमाद् आत्माश्रयतदाभासविवेकाय किं नियामकमुपेयम् ?

अन्योन्याश्रये चान्त्योपान्त्यशब्दयोरन्योन्यनाशकतायाम्, समव्याप्तिकयोश्चा-न्योन्यव्याप्यव्यापकतायाम्, एककार्यकारिणां चान्योन्यसहकारितायाम्, एवमन्य-स्मिन्नपि तत्र तत्र दर्शनात्कथं न व्याप्तिभङ्गः ? कश्च विशेषो यद्व्यतिरेको विशेषण-मुपादीयेत ? तत्र तत्राविरोधान्नैवमिति चेत्, न, अन्यत्र तथाभावादर्शनस्य विरोधा-भ्युपगममूलस्याविशेषात्। तत्र तत्र तथात्वे प्रमाणसद्भाव एव विशेष इति चेत्, तर्हि सर्वत्रानभ्युपगममूलं तथात्वे प्रमाणाभाव एवोपजीव्यो दूषणमिष्यताम्, कृतमन्यो-

सम्बन्ध इति पक्षे स्वयमेव सम्बन्धो सम्बन्धश्चेति द्वारभेदो नास्ति । आदिपदेन भावलक्षणदृश्यत्वाद्युदा-हार्यम् । एवं क्वचित् ज्ञप्तौ क्वचित्स्थितौ क्वचिद्व्यवहारे द्वारभेदाभावेऽपि आत्माश्रयस्य दोषत्वानङ्गीकार-दर्शनाद्विवेको दुर्लभ इत्यर्थः । व्याप्त्यसिद्धया प्रशिथिलमूलत्वमन्योन्याश्रयेऽपि तुल्यमित्याह ❀ अन्यो-न्येति ❀ । अन्योन्याश्रये च कथन्न व्याप्तिभङ्ग इति सम्बन्धः । तदुपपादनमन्त्योपान्त्यादि । उत्तरोत्तर-शब्दोत्पत्त्या पूर्वपूर्वशब्दानां नाशे उपान्त्यस्यान्त्यशब्देन नाश्यत्वमन्त्यस्याप्युपान्त्येन नाश्यत्वमिति तार्किक-सिद्धान्तस्तथा च कृतकत्वानित्यत्वयोरन्योन्यव्यापकतेति मीमांसकादेरपि मृद्दण्डचक्रकुलालादीनामन्योन्य-सहकृतानामेककार्यजनकत्वमेवं ह्रस्वत्वाद्यपि द्रष्टव्यमत एवमादौ स्थलेऽन्योन्याश्रयस्य व्यक्तिभेदाभावेऽपि दोषत्वादर्शनादव्याप्तिरित्यर्थः । प्रसङ्गस्थाने आभासत्वद्योतकविशेषाभावेनापि लक्षणं विशेषणीयमित्यत्र यो विशेषो निर्दिष्टः सोऽपि दुर्भण इत्याह ❀ कश्चेति ❀ । उक्तोदाहरणेषु विरोधोनास्त्यन्यत्र विरोधोऽस्ति तेन विरोधाविरोधावेव विशेष इति शङ्कते ❀ तत्रेति ❀ । विरोधादर्शनस्यैव तदभ्युपगममूलत्वात्क्वचि-दन्योन्याश्रयादौ विरोधेन दुष्टत्वं चेत्तर्ह्यत्रापि अन्योन्याश्रयादेर्विरोधेन दुष्टत्वमदुष्टत्वं वा तुल्यमेव न्याय्य-मर्यैकरूप्यं दर्शनादर्शनयोरेकरूप्योचित्यादिति परिहरति ❀ नेति ❀ । उक्तोदाहरणेषु तथात्वे प्रमाणमस्ति नान्यत्रेति प्रमाणभावाभावौ विशेष इति शंकते ❀ तत्रेति ❀ । तर्ह्यन्योन्याश्रयदर्शने सत्यप्याभासत्वज्ञानाय

अन्योऽन्याश्रय की खण्डक व्याप्ति के व्यभिचारस्थल भी अनेक है, जैसे कि (१) शब्द-सन्तान में उत्तरोत्तर शब्द पूर्व-पूर्व का नाशक होता है, किन्तु उपान्त्य शब्द अन्तिम शब्द का और अन्तिम शब्द उपान्त्य शब्द का जहाँ नाशक माना जाता है। (२) गन्ध-ज्ञान से पृथिवीत्व-ज्ञान और पृथिवीत्व-ज्ञान से गन्ध-ज्ञान, (३) घटरूप एक कार्य की उत्पादिका दण्ड चक्रादि सहकारि सामग्री में परस्पर-सापेक्ष घटोत्पादकत्व माना जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी अन्योऽन्याश्रित कार्य-सम्पादकत्व माना जाता है, 'अन्योऽन्यसापेक्षजन्यकत्वे न कदाचित्कार्यं जायेत'—इस प्रकार कार्याजनकत्व कहीं नहीं देखा जाता। उक्त स्थल पर व्यक्ति-भेदादि की कल्पना नहीं होती, फिर भी कार्य-प्रपञ्च की रचना उक्त व्याप्ति को भङ्ग कर देती है।

इन व्यभिचारस्थलों को लेकर लक्षण में तद्भिन्नत्वे सति—ऐसा विशेषण लगाया जा सकता था यदि उसका कोई विशेष प्रयोजक उपलब्ध होता। अन्त्य और उपान्त्य शब्दों की परस्पर नाश्य-नाशकता में किसी प्रकार का विरोध नहीं प्रतीत होता, अतः लक्षण में तद्भिन्नत्व विशेषण दिया जा सकता है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्त्य और उपान्त्य शब्दों के समान ही भेद और प्रतियोग्यादि-स्थलों पर भी विरोधादर्शन, विरोधाभ्युपगम और मूल-शैथिल्यादि में कोई विशेषता अभिलक्षित नहीं होती। यदि कहा जाय कि शब्दादि-स्थलों पर अन्योऽन्याश्रय की आभासता और अदोषता में प्रमाण का सद्भाव और अन्यत्र प्रमाणा-सद्भाव होने के कारण विशेषता माननी पड़ती है। तो वैसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि फिर तो प्रमाणासद्भाव को ही दोष मान लेना चाहिए, अन्योऽन्याश्रय को नहीं, क्योंकि

न्याश्रयेण व्यभिचरितदोषत्वेनेति ।

चक्रकेऽपि 'दुःखजन्मादि'सूत्रोक्तादिषु व्यभिचारदर्शनादव्याप्तिः, विशेषव्यतिरेकदर्शनदुःशक्यत्वं च । कार्यकारणभावस्य तज्जातीयतया नियतत्वेन व्यक्तिभेदस्य चक्रकान्तर्भूतत्वात् । व्याघातेऽप्येकस्यैव जनकत्वाजनकत्वे तथा । न च कालभेदा-

---

प्रमाणाभावोऽवश्यं ज्ञेय इति स एव दोषभावनसमर्थ उद्भाव्यो व्यर्थमितरोद्भावनमिति परिहरति ❀ तर्हीति ❀ ।

चक्रकस्यापि दोषव्यभिचारदर्शनान्मूलशैथिल्यं समानमित्याह ❀ चक्रकेऽपीति ❀ । "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग" इति न्यायसूत्रम् । तत्र दुःखादीनामन्योन्यव्यवहितद्वारापेक्षस्यान्यापेक्षणस्याङ्गीकारान्न चक्रस्य दोषता । तथा हि मिथ्याज्ञानसिद्धौ तत्कार्यरागादिदोषसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्कार्यधर्मादिप्रवृत्तिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्फलधर्मादिः सिद्ध्यति ततश्च शरीरग्रहणं तस्माच्च दुःखीत्याद्यहं सुखी चेतिमिथ्याज्ञानं सिद्ध्यतीत्येतच्चक्रकमर्थादुत्तरोत्तरापगमे तदनन्तरपूर्वापगमेऽपवर्गदर्शनेन दर्शितमित्यर्थः । एतच्चक्रकाभासमत्रादुष्टत्वद्योतकविशेषस्य व्यक्तिभेदस्य सम्भवाद्यत्र तु विशेषो नास्ति तत्रैव चक्रकस्य दोषत्वमित्याशंक्याह ❀ विशेषेति ❀ । व्यक्तिभेदादेव दुःखादिषु चक्रकस्याभासत्वमित्याशंक्याह ❀ कार्येति ❀ । कार्यकारणभावस्तावदन्वयव्यतिरेकावसेयस्तौ च व्यक्तिषु न सम्भवतोऽतिप्रसङ्गादतो दुःखादिजातीयेषु चक्रकवृत्त्या कार्यकारणभावेन वर्तमानेषु व्यक्तिभेदस्य चक्रकानन्तर्भावात्तमादाय न चक्रकपरिहार इत्यर्थः । व्याघातेऽपि दोषत्वव्यभिचारदर्शननिमित्तव्याप्त्यसिद्ध्या मूलशैथिल्यं समानमित्याह ❀ व्याघात इति ❀ । तदुपपादनायैव व्याघातस्वरूपमाह ❀ एकेति ❀ । तथा व्याघात इत्यर्थः कालभेदादिवशात्तत्र व्याघाताभाव इत्याह ❀ न चेति ❀ । कुत इत्यत आह ❀घटेति❀ ।

अन्योन्याश्रय की दोषता व्यभिचरित है ।

चक्रक में भी व्यभिचरितदोषता और मूल-शैथिल्य मानना पड़ता है, क्योंकि न्यायदर्शन के "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" (न्या० सू० १।१।२) इस सूत्र में चक्रक का स्पष्ट प्रतिपादन है—मिथ्या ज्ञान की सिद्धि होने पर राग-द्वेषादि रूप दोष की सिद्धि, दोष की सिद्धि होने से धर्माधर्मादिरूप प्रवृत्ति की सिद्धि, प्रवृत्ति की सिद्धि से आत्मा का नूतन शरीर के साथ सम्बन्धरूप जन्म और जन्म से विविध दुःखों का उपभोग होता है । उससे फिर मिथ्या ज्ञानादि की शृङ्खला आरम्भ हो जाती है [भगवान् गौतम बुद्ध ने भी ऐसी ही एक द्वादशाङ्ग चक्रिका का दर्शन किया था—"अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विञ्ञाणम्, विञ्ञाणपच्चया नामरूपम्, नामरूपपच्चया सडायतनम्, सडायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानम्, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति" (विनय, महावग्ग, पृ० १) । इनमें जैसे कारण-परम्परा से कार्य-परंपरा समुद्भूत होती है, वैसे ही कारण के विनाश से कार्य का विनाश होता जाता है, अन्ततो गत्वा अपवर्ग या निर्वाण में वह धारा सदैव के लिए समाप्त होकर रह जाती है]। इस चक्रक में किसी प्रकार का अनिष्टापादन न होने के कारण चक्रक-लक्षण की अव्याप्ति होती है । यहाँ व्यक्ति-भेद की कल्पना करके भी चक्रक का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक-सापेक्ष कार्यकारणभाव व्यक्ति में न घट कर तज्जातीय पदार्थों में ही माना जाता है, अतः व्यक्ति-भेद चक्रक के अन्तर्गत नहीं हो सकता ।

व्याघात में भी दोषत्व व्यभिचरित है, क्योंकि बीजादि एक ही पदार्थ में कभी अङ्कुरादि की अजनकता और कभी जनकता देखी जाती है । अभिन्न या एक काल में भी जनकत्वाजनकत्वादि का विरोध नहीं माना जा सकता, क्योंकि घट और घट-ध्वंस एवं घट और

द्विर्विशेषः, घटतत्प्रध्वंसादौ कालभेदेऽपि तादात्म्यव्याघातोपगमादेव ।

सत्प्रतिपक्षजात्योश्च को विशेषो व्याघाते येन पूर्वत्र बाध्यबाधकयोर्द्वयोरप्याभासत्वम् , उत्तरत्र तु उत्तरस्य परं तथोपेयत इति गुरवः । यद्यपि प्रतिपक्षहेतुः साध्यान्तरसाधक इत्यस्ति तस्य जात्युत्तरवैधर्म्यम् , तथापि 'त्वद्धेतुरसाधकः समबलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादि'त्यस्य दूषणत्वार्थमवश्यापेक्षस्य द्वाराऽस्त्यव्याघातकत्वात् साक्षाद्वा अवश्योपस्थाप्यद्वारेण वा स्वव्याघातकतायामुपयुक्तविशेषाभावः । न च तत्राऽऽस्तामेव व्याघातः, सत्प्रतिपक्षता तु निरवद्यैवेति शक्यं वक्तुम् , यतः शब्दादेर्नित्यत्वमेकस्मादनित्यत्वं चापरस्मादनुमानात्तथा सति किं न स्यात् ? तयोर्विरोधः

घटतत्प्रध्वंसयोर्घटतत्प्रागभावयोश्च कालभेदे विद्यमानेऽपि घटः प्रध्वंसात्मक इति तादात्म्ये व्याघातोपगमादित्यर्थः ।

यच्च व्याघाताविशेषेऽपि सत्प्रतिपक्षात् जात्युत्तरस्य वैलक्षण्यमुक्तमुदयनादिना तत्प्रसङ्गान्निराचष्टे ॐ सत्प्रतीति ॐ । परैरभ्युपगतं विशेषं दर्शयति ॐ येनेति ॐ । सत्प्रतिपक्षे द्वयोरप्याभासत्वं जातौ तूत्तरं यथा तु सद्वाविनाऽर्थक्रियाकारित्वात्सत्त्वमित्युक्ते सर्वमसत् ज्ञेयत्वादित्यादिकं स्यात् व्याघातकं किन्तु साध्यान्तरसाधकं पक्षधर्मताद्विबलसम्भवाज्जात्युत्तरं तु सद्वाविनाऽर्थक्रियाकारित्वात्सत्त्वमित्युक्ते सर्वमसत् ज्ञेयत्वादित्यादिकस्य व्याघातकत्वान्न जात्युत्तराद् विशेषसिद्धिरित्यर्थः । अवश्यापेक्षस्य द्वारेतिषष्ठी राहोः शिर इतिवदुपचारतः । जातौ साक्षात् व्याघात उपस्थाप्यते सत्प्रतिपक्षे तु परम्परयाऽतोऽनयोरपि अस्ति विशेष इत्याशङ्क्य स विशेषोऽकिञ्चित्कर इत्याह ॐ साक्षादिति ॐ । उपयुक्तं दूषणत्वप्रयोजकं प्रतिहेतुप्रतिहतत्वमित्यर्थः । भवतु सत्प्रतिपक्षे व्याघातस्तथापि सत्प्रतिपक्षता निरवद्यैवेत्यत आह ॐ न चेति ॐ । कुत इत्यत आह ॐ यत इति ॐ । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यनुमानादनित्यत्वम्, नित्यः स आकाशैकगुणत्वादाकाशमहत्ववदित्यस्मान्नित्यं च प्रसज्यते प्रथमेन द्वितीयस्य प्रतिहतत्वात्प्रथमः स्वसाध्यं साधयेदेव स्वेन प्रथमस्य प्रतिहतत्वादतश्च वाद्यभिमतसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धकत्वाभावे कुतः सत्प्रतिपक्षता निरवद्येत्यर्थः । नित्यत्वानित्यत्वयोर्विरुद्धतया प्रमाणेन ग्रहणात् कथमेकस्मिन्धर्मिणि सिद्धिरास्तामिति

घट-प्रागभाव का काल-भेद होने पर भी प्रागभाव और ध्वंस को प्रतियोग्यात्मक माननेवाले 'घटः प्रध्वंसात्मकः', 'घटः प्रागभावात्मकः'—ऐसा मानते आ रहे हैं ।

यह जो सत्प्रतिपक्ष और जात्युत्तर का अन्तर बताते हुये कहा जाता है कि सत्प्रतिपक्ष के घटकीभूत दोनों पक्ष आभासात्मक होते हैं और जात्युत्तर में केवल उत्तर पक्ष ही आभासात्मक होता है, स्थापना पक्ष में कोई दोष नहीं । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि व्याघात की दृष्टि से दोनों में कोई विशेषता नहीं होती—ऐसा गुरुवर का कथन है । यद्यपि जात्युत्तर से सत्प्रतिपक्ष का यह वैलक्षण्य स्पष्ट है कि प्रतिपक्ष हेतु साध्यान्तर का साधक होता है और जात्युत्तर किसी का भी साधक नहीं होता । तथापि उस वैलक्षण्य का प्रकृत में कोई विशेष उपयोग नहीं, क्योंकि दोनों में व्याघात या विरोध का सद्भाव ही काम करता है, केवल इतनी विशेषता है कि जहाँ जात्युत्तर में साक्षात् विरोध प्रदर्शित होता है वहाँ सत्प्रतिपक्ष में परम्परया—वादी जहाँ कहता है कि 'तव हेतुरसाधकः, समबलप्रतिपक्षप्रतिबाधितत्वात्'—वहाँ प्रति हेतु से जनित ज्ञान को व्याघातक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है ।

शङ्का—सत्प्रतिपक्ष और जात्युत्तर में व्याघात की समानता होने पर भी सत्प्रतिपक्षता निर्दोष है, क्योंकि उसकी मूलभूत व्याप्ति अबाधित है किन्तु जात्युत्तरता कभी निर्दोष नहीं, सदैव सदोष होती है, क्योंकि उसकी मौलिक व्याप्ति बाधित होती है ।

समाधान—सत्प्रतिपक्षस्थलीय दोनों हेतुओं में यदि यथार्थ व्याप्ति मानी जाती है, तब दोनों हेतुओं में अपने-अपने साध्य के साधन की क्षमता होनी चाहिये और एक ही

ग्राहिणः प्रमाणस्य बलादिति चेत्, यथा नित्यत्वमनित्यत्वमित्युभयमास्तामित्यापादयामहे तथा 'विरुद्धमविरुद्धं चाऽऽस्तामि'त्यपि ब्रुवतोऽस्मान् कथं निवारयिष्यसि ? स्यादप्येवं यदि सत्प्रतिपक्षत्वमेव तत्र दोषो न स्यादिति चेत्, तर्हि मन्तव्यं प्रथमस्य हेतोः समानबलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादसाधकत्वमित्युक्तमावर्तते ।

अनवस्थायां च यस्यां यस्यां सत्तायामपरापरसत्ता यायात्, तस्यास्तस्याः प्रमाणेन सिद्धौ नानवस्था दोषः स्यात्, असिद्धौ चाऽऽश्रयासिद्धविषयमापादनमिति । यदि च आत्माश्रयादिषु सर्वत्र विशेषोऽयमभिधीयते प्रमाणसिद्धत्वात्तत्र तथोपेयत इति, तर्ह्यापादनस्थाने तथाभ्युपगमाय प्रमाणं नास्तीत्युक्तं भवति । तथा च तत्र प्रमाणप्रश्नस्यावसरो न प्रसज्येति ।

शङ्कते ॐ तयोरिति ॐ । व्याघातस्य दूषणत्वमनङ्गीकुर्वता यथा नित्यत्वमनित्यत्वं चैकत्रास्तामित्युच्यते तथा विरुद्धत्वमविरुद्धत्वं चास्तामित्यपि वक्तुं शक्यमिति परिहरति ॐ नेति ॐ । सत्प्रतिपक्षलक्षणो दोषस्तत्र विद्यतेऽतस्तद्दोषग्रस्तत्वान्नित्यत्वादिसिद्धिर्नास्तीति शङ्कते ॐ स्यादिति ॐ । प्रतिहेतोरपि समानबलप्रतिहतत्वाद्व्याघातकत्वं वाच्यं ततो न जात्युत्तराद्विशेषसिद्धिरिति प्रागुक्तदूषणं स्यादिति परिहरति ॐ तर्हीति ॐ ।

इदानीमनवस्थां दूषयति ॐ अनवस्थेति ॐ । यस्यां यस्यां सत्तायामङ्गीकृतायां परापरसत्तास्वीक्रियते सा तत्र तत्र यदि प्रामाणिकी तदाऽनवस्था न दोषो यदि प्रमाणेन न सिद्धा तदास्याऽऽपादनस्याश्रयासिद्धत्वमित्युभयतःपाशबन्ध इत्यर्थः । सर्वेष्वेतेष्वात्माश्रयादिषु प्रमाणसिद्धत्वासिद्धत्वलक्षणो विशेषोऽभ्युपेयत इति यत्र प्रमाणसत्त्वं तत्रात्माश्रयादेरदोषत्वं यत्र तु प्रमाणाभावस्तत्र दोषत्वमिति परोक्तं विशेषमनुवदति ॐ यदीति ॐ । तर्हि यत्र यत्राऽऽपादनं तत्र तत्र प्रमाणमस्ति चेत्तथाऽभ्युपगम्यते नास्ति चेन्नाभ्युपगम्यत इत्युक्तं स्यादिति परिहरति ॐ तर्हीति ॐ । ततः किमित्यत आह ॐ तथा चेति ॐ । आत्माश्रयायुदाहरणेषु प्रमाणमेव प्रष्टव्य न प्रसङ्गः कर्तव्यः प्रमाणाभावभावयोरेव स्वीकारास्वीकारप्रयोजकत्वादित्यर्थः ।

शब्दादिरूप पक्ष में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों विरोधी धर्मों की सिद्धि माननी होगी ।

शङ्का—एक ही पक्ष में विरोधी दो साध्यों की सिद्धि इस लिये नहीं हो सकती कि विरोधी अर्थों के ग्राहक प्रमाणों का असद्भाव होता है ।

समाधान—जैसे दोनों व्याप्य एवं निर्दुष्ट हेतुओं के द्वारा नित्यत्व और अनित्यत्व—इन दोनों धर्मों का आपादन किया जाता है, वैसे ही यदि हम कहते हैं कि नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पर विरुद्ध होते हैं और कहीं अविरुद्ध, प्रकृत में अविरुद्ध है'—ऐसा कहने से हमें कौन हटाएगा ?

शङ्का—नित्यत्व और अनित्यत्वरूप विरुद्ध धर्मों की यहाँ सिद्धि हो सकती थी यदि सत्प्रतिपक्षता नाम का यहाँ दोष न होता ।

समाधान—तब तो आपको यह अवश्य मानना होगा कि समानबलवाले प्रति हेतु से पराहत होने के कारण प्रथम हेतु अपने साध्य का साधक नहीं और उसमें स्वव्याघातकता भी परम्परया पर्यवसित होती है, अतः जात्युत्तर से उसका वैलक्षण्य नहीं रह जाता ।

अनवस्थास्थलीय जिस-जिस सत्ता में उत्तरोत्तर जो सत्ता आपादित की जा रही है, वह यदि प्रामाणिक है, तब अनवस्था को दोष नहीं माना जा सकता और यदि वह सत्ता प्रमाण-सिद्ध नहीं तब अपादन आश्रयासिद्ध हो जाता है । यदि आत्माश्रयादि स्थलों पर

१७. अप्रसङ्गात्मकतर्कनिरूपणम्

अपरेऽपि विषयभेदात्तर्कभेदा आत्माश्रयादिवत् मन्तुमुचिताः। तद्यथा—अविनिगमः, उत्सर्गः, कल्पनागौरवलाघवे च, अनौचित्यं चेति। विकल्पेन अन्वयावगमयोग्येऽनेकस्मिन्नभ्युपगते तदेकदेशान्वयनियमनिर्धारणाशक्यत्वमविनिगमः, सत्प्रतिपक्षहेत्वोरिव निर्धारयितुमशक्यान्वययोः परस्परप्रतिक्षेप एव पर्यवसानात्। नन्वन्यतरमादायापि प्रकृतस्योपपत्तिसम्भवेन अविनिगमस्य दोषत्वमेवानुपपन्नम्। केवलं

इदानीमुपन्यस्तलक्षणस्याव्याप्तिं दर्शयंस्तर्कान्तराण्याह ❀ अपर इति ❀। ते विशेषा मन्तुमुचिता अन्यत्रानन्तर्भावादित्यर्थः। विद्यमानास्तर्कास्ते के इत्यत आह ❀ तदिति ❀। अविनिगमस्य लक्षणमाह ❀ विकल्पेनेति ❀। पाक्षिकत्वेनान्वययोग्यं यत्रानेकमभ्युपगतं चेति तस्य मध्ये योऽसावेकस्तेन सह समन्वयनियमो यस्तदन्वयस्य निर्द्धारणं निर्णयस्तस्याशक्यत्वमिति यावदिदमुदाहरणं भिन्नभेदविशेषाङ्गीकारे आद्यभेदसमानयोगक्षेमत्वादुत्तरभेदानां भिन्ने भेदिनि निवेशसिद्ध्यर्थमनन्तभेदस्वीकारे तेषां युगपदन्वयापत्तेः ते तावद्भेदा विकल्पेनान्वयाय न योग्यास्तेषाम्मध्य एकस्य भेदस्य तस्मिन्धर्म्मिणि निवेशनियमानिर्द्धारणमविनिगम इति। निर्द्धारणाशक्यत्वमित्युक्ते यत्किञ्चिन्निर्द्धारणाशक्यत्वे प्रसक्तिं निवारयति ❀ नियमेति ❀। तथापि द्रव्यस्य वा रूप्यत्वादिनियमनिर्द्धारणाऽशक्यत्वे प्रसक्तिं वारयति ❀ अन्वयेति ❀। साकाङ्क्षतापरिहाराय तत् इति। तत्सर्वानिर्द्धारण अतिप्रसक्तिनिवारणायैकेति ग्रहणम्। अयोग्यपदार्थानामन्वयनिश्चयात्यन्ताभावे प्रसक्तिनिवारणाय योग्येत्युक्तम्। अविकल्पेनान्वययोग्यास्तेषाम्मध्य एकस्य भेदस्य तस्मिन्धर्म्मिणि निवेशे दण्डचक्रादौ किं जनिते किं जनकत्वमिति निश्चयेऽतिप्रसक्तिं वारयितुं विकल्पेनेत्युक्तम्। अनेकेषामन्वययोग्यत्वे सति तेषां मध्य एकतममादायान्वयनिर्द्धारणं किं न स्यादित्यत आह ❀ सदिति ❀। सत्प्रतिपक्षहेत्वोः परस्परप्रतिक्षेपपर्यवसायितया निश्चयात्तेषामपि तदनिश्चयः प्रतिक्षेप एव पर्यवसानादिति यावत्। प्रतिहेत्वोः दोष एव न भवतीति शङ्कते ❀ नन्विति ❀। प्रकृतस्य भेदव्यवहारस्य किञ्चिद्भेदसम्बन्धमादायाप्युपपत्तेर्भेदविशेषान्वयनिर्द्धारणाभावेऽपि न कश्चिद्दोष इति नाविनिगमो दोष इत्यर्थः। अयमेवान्वयीति विशेषदर्शने सामान्यग्रहणादिप्रसूतः संशयदोष इत्याशङ्क्य स एव पूर्ववाद्याह ❀ केवलमिति ❀। अभिप्रायाज्ञानविलसितचोद्यमिति परिहरति ❀ नेति ❀। कोऽसौ भाव

सर्वत्र यह कहा जाता है, कि प्रमेयत्व में भी प्रमेयत्व प्रमाण से सिद्ध होने के कारण माना जाता है, तब आपादन के स्थान पर वैसा मानने में प्रमाणाभाव का ही उपन्यास करना होगा। आत्माश्रयादि के उदाहरणों में 'अत्र किं प्रमाणम् ?' इस प्रकार प्रमाणविषयक प्रश्न करना चाहिये, किसी प्रकार का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं किया जा सकता।

१७. अप्रसङ्गात्मक तर्क-निरूपण

जैसे आपाद्य के भेद से तर्क के आत्माश्रयादि भेद होते हैं, वैसे ही विषय-भेद से तर्क के कुछ अप्रसञ्जनात्मक भेद भी होते हैं, जैसे—(१) अविनिगम, (२) उत्सर्ग, (३) कल्पनागौरव, (४) कल्पनालाघव और (५) अनौचित्य।

(१) **अविनिगम**—जहाँ विकल्पतः अनेक पदार्थों का अन्वय प्रसक्त होता है, वहाँ किसी एक पदार्थ के अन्वयावधारण की अशक्यता का नाम अविनिगम है। वहाँ किसी एक पदार्थ का अन्वय वैसे संगत नहीं रह जाता, जैसे सत्प्रतिपक्ष-स्थल पर किसी एक हेतु में साध्य-साधन की क्षमता नहीं रहती। अविनिगम को विनिगमना-विरह भी कहा जाता है।

शङ्का—प्रसक्त दो पक्षों में से किसी एक को लेकर जब उपपत्ति हो सकती है, तब अविनिगम को दोष मानना उचित नहीं रह जाता, केवल पुरुष को यदि वहाँ संशय होता है, तब संशय को दोष क्यों न मान लिया जाय ?

पुंसस्तत्र यदि संशयः स्यात्स च किं न स्यादिति चेन्न, भावानवबोधात्। प्रमाणासम्भवेन क्वचिदपि विशेषः कथमभ्युपगन्तुं शक्यो यमादाय वस्तुगत्याऽप्येकस्यान्वयः स्यात्। नन्वेवं प्रमाणाभाव एव दोषः स्यान्न अविनिगम इति चेन्न, तस्य अविनिगमोन्नेयत्वेन अविनिगमस्यैव प्रथमोत्पन्नस्योपन्यासौचित्यात्। नन्वेवमनुमाने व्यक्त्यविनिगमो दोषः स्यादिति चेन्न, तत्रानेकव्यक्तीनामभ्युपगमसिद्ध्यभावात् सामान्योपसंहारस्यैकामेव व्यक्तिमाक्षेप्तुं सामर्थ्यात्, अविनिगमस्य चानेकाभ्युपगमे सत्युपस्थानादिति।

बाहुल्यादृष्टमपेक्ष्य बाहुल्यदृष्टतयाऽदुर्बलस्योपगमार्हता उत्सर्गः। तद्यथा—

इति तमेवाभिप्रायं प्रकटयति ॐ प्रमेति ॐ। कस्यापि भेदस्य धर्मिसम्बन्धे प्रमाणाभावाद्विशेषासिद्धिस्तदसिद्धौ सामान्यान्वयासम्भवाद् भेदव्यवहार एवानुपपन्न इत्यर्थः। ग्राह्याग्राह्यविवेकेन सर्वत्राविनिगमस्थले विशेषान्वये प्रमाणाभाव एवोद्भाव्यत इति स एव दोषः स्यादिति शङ्कते ॐ नन्विति ॐ। अतीन्द्रियत्वात् प्रमाणाभावो विनिगमेनोन्नीयते तथा च बाधवत्परस्फूर्तिकत्वात्तस्यैवोपन्यासो युक्त इति परिहरति ॐनेतिॐ। विशेषान्वयानिर्द्धारणं दोषश्चेदग्निमान्पर्वत इत्यादावपि पर्वतादौ वह्न्यादिविशेषस्य विनिगन्तुमशक्यतयाऽविनिगमदोषः स्यादित्यतिप्रसङ्गबाधं शङ्कते ॐ नन्विति ॐ। अनुमानेऽनेका व्यक्तयो नाभ्युपगम्यन्ते नातोऽविनिगमदोषोऽभ्युपगतविषयत्वात्तस्येति परिहरति ॐ नेति ॐ। व्याप्तिबलागतसामान्यस्य पक्षसम्बन्धद्वारेव सर्वविशेषा आक्षिप्यन्त इत्यत आह ॐ सामान्येति ॐ। उपसंहारः—सम्बन्ध इत्यर्थः। एकाभ्युपगमेऽपि विशेषान्वयनिश्चये किमित्यविनिगमो न स्यादित्यत आह ॐ अविनिगमेति ॐ।

उत्सर्गलक्षणमाह ॐ बाहुल्येति ॐ। कथितं दुर्बलस्यानुपगमार्हत्वं कल्पनागौरवेऽप्यस्ति तदर्थं दृष्टतयेत्युक्तं। दृष्टस्य च दुर्बलत्वमेव न सम्भवतीत्यसम्भवपरिहारायोक्तं ॐ बाहुल्येति ॐ। उदाहरणनिष्ठतया दर्शयति ॐ तदिति ॐ। जाग्रतो—निर्दुष्टाक्षस्य तत् तत् ज्ञानन्तत्प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्निर्द्धारकप्रमाणाभावेऽपि प्रमाणानामेव ज्ञानानां बहुलमुपलम्भात् ज्ञानाप्रामाण्याभ्युपगमस्य दुर्बलत्वं तेन विनैव

समाधान—जब दोनों पक्षों में कोई भी पक्ष प्रमाण-सिद्ध नहीं, तब किस पक्ष को लेकर प्रकृत में अन्वय की उपपत्ति की जायगी? 'तब तो प्रमाणाभाव को दोष मानना चाहिए, अविनिगम को नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमाणाभाव की कल्पना अविनिगम के द्वारा ही होती है, प्रथमतः अविनिगम ही उपस्थित होता है, अतः उसी का ही उपन्यास करना चाहिए।

शङ्का—यदि अविनिगम को दोष माना जाता है, तब 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'—इत्यादि अनुमान-स्थलों पर तार्णातार्णादि भेद-भिन्न अनन्त वह्नि व्यक्तियों में से कौन व्यक्ति वहां पर्यवसित होगी? इस प्रकार अनेकव्यक्तिक साध्य-स्थलों पर सर्वत्र विनिमनाभाव के कारण अव्यवस्था हो जायगी।

समाधान—अनेक व्यक्तियों के प्रसक्त या अभ्युपगत होने पर ही अविनिगम का सूत्रपात होता है, पर्वत में अनेक वह्नि व्यक्तियाँ प्रसक्त ही नहीं, क्योंकि व्याप्य के ज्ञान से व्यापक की सिद्धि होती है, प्रकृत में धूम की व्यापक सामान्य वह्नि है, विशेष नहीं, अतः परामर्श के माध्यम से एक मात्र सामान्य वह्नि प्रसक्त है, पक्षधर्मता के द्वारा उसमें विशेष धर्मों का आक्षेप हो जाया करता है, अतः अविनिगम को प्रवृत्त होने का कोई अवसर ही नहीं मिलता।

(२) **उत्सर्ग**—अधिक पुरुषों के द्वारा अदृष्ट (अननुभूत) पदार्थों की अपेक्षा बहुलतया उपलब्ध और अदुर्बल सिद्धान्त की स्वीकरणीयता को उत्सर्ग कहते हैं, जैसे कि स्वस्थेन्द्रिय और जागते हुए पुरुष का ज्ञान अधिकतर प्रमाणरूपेण ही उपलब्ध होता है।

स्वस्थस्य जाग्रतो ज्ञानं प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्धारकप्रमाणानुपनिपाताविशेषेऽपि विना बाधमप्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तं प्रति स्यात्, न तु प्रामाण्यम्, यं तर्कमेतमालम्ब्याऽऽहुः—

'तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥'—इति।

द्रष्टव्योदाहरणं चैतदीश्वराभिसन्धौ वेदप्रामाण्ये तथा, यथा न सौगतोऽपि विप्रतिपत्तुमर्हति। ननु बलवदेककोटिकः संशयः एवोत्सर्गः, तत्कथं तर्कः स्यादिति चेन्न, उत्सर्गस्य सम्भावनायाः स्वार्थस्थित्यनुकूलतयाऽवलम्ब्यत्वात्, संशयस्य

बाधकं प्रमाणाभ्युपगमादुत्सर्गबाधकादन्यथात्वं स्यादित्यर्थः। अस्मिन्नर्थे भट्टपादसंमतिमाह ❀ यमिति ❀। शुक्तिरूप्यादिबुद्धेर्बोधात्मकत्वेनोत्सर्गतः प्राप्ता प्रमाणता साऽर्थान्यथात्वज्ञानाद् बाधात्कारणदोषज्ञानाद्वाऽपोद्यत इति वार्तिकार्थः। सुगतमते प्रमाणानां स्वत एवाप्रामाण्यात्र तान्प्रतीदमुदाहरणं युक्तमित्यत आह ❀ द्रष्टव्येति ❀। तर्क आहार्यारोपरूपमेककोटिज्ञानम, उत्सर्गस्तु बलवदेककोटिज्ञानम्, "उत्सर्गस्तु बलवदेककोटिकः सन्देहो बाहुल्येनोपलम्भना" वित्युक्तत्वात्तत्कथं तस्य तर्केऽन्तर्भाव इति चोदयति ❀ नन्विति ❀। वैधर्म्यप्रदर्शनेन परिहरति ❀नेति❀। स्वस्थस्य जाग्रतो ज्ञानं यदि स्यात्तत्प्रमाणं स्यादिति सम्भावनारूपस्तर्कस्तेन स्वविषयस्थित्यर्थमनुकूलतयापेक्ष्यत उत्सर्गः, संशयस्तु नैवमिति सम्भावनयापेक्ष-त्वलक्षणवैधर्म्यात् नानयोरैक्यमित्यर्थः। विषयभेदेनापि भेदमाह ❀ उत्सर्ग इति ❀। उक्तन्यायमन्यत्रा-

यद्यपि उस समय प्रामाण्याप्रामाण्य का निर्णायक कोई प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता, तथापि किसी बाधक या दोष की उपलब्धि न होने के कारण ज्ञान की समीचीनता अभ्युपगमार्ह होती है [जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"प्राग्बाधकज्ञानोत्पत्तेः कथमवगम्यते, यदा न तत्काले सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्य वा कश्चिद्विशेषः? प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद् दोषमुपलभेमहि प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि" (शा. भा. पृ. २७)]। अतः ज्ञान की सहज सिद्ध प्रमाणता को स्वीकार करना उत्सर्ग और स्वीकार न करना उत्सर्गता का उल्लङ्घन माना जाता है। इसी तर्क का अवलम्बन कर श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

"उत्सर्गश्चापवादश्च सर्वत्रैवोपलभ्यते।
तत्र नोत्सर्गमात्रेण सर्वमेवावरुध्यते ॥
अपवादेन वा यस्मादुत्सर्गो बाधितः क्वचित्।
विषयाविषयौ ज्ञात्वा तेनोत्सर्गापवादयोः ॥
बाधाबाधौ विवेक्तव्यौ न तु सामान्यदर्शनात्। (तं. वा. पृ. १७३)
तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥" (श्लो. वा. पृ. ६१)

[उत्सर्ग और अपवाद का विषय गम्भीर एवं प्रायः सार्वभौम है, सर्वथा उत्सर्ग या सर्वथा अपवाद लागू नहीं होता, इसकी मार्मिकता तक पहुँचने के लिये विषय और अविषय बाध और बाध की गवेषणा करनी होगी। वस्तु-स्थिति यह है कि सभी ज्ञान उत्सर्गतः प्रमाणभूत ही होते हैं, अतः] 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में भी प्रमाणता प्रसक्त है, किन्तु अर्थान्यथात्व-ज्ञान (बाध-ज्ञान) या कारणगत दोष के ज्ञान से प्रमाणता बाधित हो जाती है। उत्सर्ग का मीमांस-प्रदर्शित ज्ञानगत स्वतः प्रामाण्य एक ऐसा उदाहरण है, जिसमें बौद्धों को विशेष आपत्ति है, किन्तु ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रन्थ के वेद-प्रामाण्य-प्रकरण में उत्सर्ग का ऐसा उदाहरण दिखाया गया है, जिसमें बौद्धों को भी किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं।

शङ्का—उत्सर्ग एक प्रकार का संशय है, जिसकी एक कोटि प्रबल होती है, अत एव उसे सम्भावना भी कहा जाता है किन्तु तर्क आहार्यारोपात्मक होता है, इस प्रकार तर्क से

त्वनेवम्भावात्, उत्सर्गस्यैककोटिनिष्ठत्वात् संशयस्य च कोटिद्वयावगाहित्वात्। एतेन संशयस्यैवैका बलवती या कोटिः सैवोत्सर्ग इति निरस्तम्। निर्णयोऽपि संशयस्यैव वस्तुनियतकारणजत्वरूपबलवती कोटिः स्यात्। स्यादप्येवं यद्युत्सर्गवन्निर्णयेऽपि संशयस्यानुस्फूर्तिः स्यादिति चेन्न, उत्सर्गोदाहरणे उत्सर्गमाद्रियमाणैः संशयोच्छेदानुमतेरेव बाधाभावं सहकारिणमपेक्ष्य उत्सर्गेणार्थैक्याभाव एव प्रमाणीभवनात्। तस्माद्यथा अनवस्थादयो बाधाद् दूषणत्वं त्यजन्तस्तदभावे दूषणानि भवन्ति तथोत्सर्गोऽपि तथैवेति।

सुगमासुगमयोरसुगमदुर्बलत्वं कल्पनागौरवम्, दृष्टजातीयमपेक्ष्यादृष्टजातीयं

तिविशति ❀ एतेनेति ❀। बलवत्येका या संशयकोटिः सैवोत्सर्ग इत्येतदपि सम्भावनयाऽपेक्षत्वानपेक्षत्ववैधर्म्यान्निरस्तमित्यर्थः। उत्सर्गस्य संशयकोटित्वेऽतिप्रसङ्गमाह ❀ निर्णयोऽपीति ❀। संशयस्यैवैकालम्बिनी कोटिर्निर्णयः स्यात्तस्यापि नियमवस्तुकारणजन्यत्वबलोपेतत्वं निर्णयस्यैव कारणमिति वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः। निर्णयदशायां संशयानुवृत्त्यभावान्न निर्णयस्य संशयैककोटितोत्सर्गदशायां संशयानुवृत्तेस्तदेककोटित्वमुत्सर्गस्येति वैषम्यं शङ्कते ❀ स्यादिति ❀। उत्सर्गदशायामपि संशयाननुवृत्तिस्तुल्यैवेति परिहरति ❀ नेति ❀। हेतुमाह ❀ बाधेति ❀। यत्र बाधकं नास्ति तत्र बाधाभावं कारणमपेक्ष्योत्सर्ग एव तस्यार्थकोटौ प्रमाणं भवति यत इत्यर्थः। उक्तमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयन्नुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। बाधे सत्यनवस्थादयः क्वचिदाभासतां गच्छन्तोऽपि यथा बाधाभावे दूषणानि भवन्ति तथा बाधे सति क्वचिदप्रमाणं भवन्नप्युत्सर्गस्तदभावे तथैव प्रमाणमेवं स्यादित्यर्थः।

कल्पनागौरवस्य लक्षणमाह ❀ सुगमेति ❀। सुगमासुगमयोर्मध्येऽसुगमस्य यत् दुर्बलत्वं तत्कल्प-

---

विलक्षण होने के कारण उत्सर्ग को तर्क क्योंकर माना जा सकता है ?

समाधान—सम्भावनारूप उत्सर्ग का स्वत:प्रामाण्यादिरूप स्वार्थ के साधन में उपयोग किया जाता है, संशय कभी किसी अर्थ का निर्णायक या साधक नहीं माना जाता, उत्सर्ग सदैव एककोटिक और संशय नियमतः कोटिद्वयावगाही होता है, अतः उत्सर्ग को संशय स्वरूप नहीं माना जा सकता।

यह जो कहा जाता है कि संशय की ही एक बलवती कोटि उत्सर्ग है, वह कहना भी अतएव निरस्त हो गया कि यदि एककोटिक ज्ञान को भी संशय की एक कोटि माना जाता है, तब निश्चयात्मक ज्ञान को भी संशय की एक कोटि मानना पड़ेगा [आशय यह है कि संशय की नीहारिका में निलीन झिलमिलाती दो कोटियों में से जब एक कोटि कुछ उजागर होने लगती है, तब उसी संशय का नाम 'उत्सर्ग' या 'सम्भावना' पड़ता है और जब वही कोटि चमचमा उठती है, तब वह नीहारिका वस्तुव्याप्तस्वरूपावभासार्थक निश्चय की कनोज्ञ संज्ञा से सुशोभित हो जाती है, इस प्रकार यदि संशय की परिधि में उत्सर्ग को समेटा जाता है, तब निश्चय भी उसके बाहर न रह सकेगा]।

शङ्का—उत्सर्ग की अवस्था में संशयानुवृत्ति होती रहती है, किन्तु निश्चय की दशा में नहीं, अतः निश्चय को संशय की परिधि में नहीं रखा जा सकता।

समाधान—उत्सर्ग का समादर करनेवाले कुमारिल भट्टादि आचार्य उत्सर्ग के उदाहरण में संशय का उच्छेद मानते हैं। बाधाभावरूप सहकारी कारण की सहायता से उत्सर्ग स्वत:प्रामाण्यादिरूप अर्थैक्य सार्वत्रिक एकरूपता) का प्रमापक माना जाता है, अतः जैसे अनवस्थादि दोष बाध के आ जाने पर कुण्ठित और बाध के न होने पर उत्तेजित होते हैं, वैसे ही उत्सर्ग भी बाध के सद्भाव में अप्रमाण और असद्भाव में प्रमाण माना जाता है।

(२-३) कल्पनागौरव-लाघव—सुगम (सुबोध) और असुगम (दुर्बोध) पदार्थों

दुःखेन प्रमीयते, स्वल्पमपेक्ष्य च बह्विति अखिलजनानुभवसिद्धमेतत्। दर्शितं च विविच्यैदमीश्वराभिसन्धौ। यथा—नैयायिकादिकं प्रति क्षित्यादिषु प्रतिकार्यं कर्तॄणां भिन्नानामभ्युपगमापादके, यथा च सौगतं प्रति प्रत्येकं कारणानां समर्थानामनेकसमानदेशकालानामनेकनीलादिव्यक्त्युत्पादापादके चेति दूषणानुकूलमिदम्। तद्व्यतिरेकेण कल्पनालाघवं साधनानुकूलम्।

प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमसमाधेयजातीयमनौचित्यं वैयात्यनामकम्। तस्य भेदाः प्रश्नवैयात्यादयः। प्रश्नविषयमप्रमिण्वतां प्रष्टरि प्रश्नानौचित्यं प्रश्नवैयात्यम्।

नागौरवमित्यर्थः। उत्सर्गेऽतिव्याप्तिपरिहारायासुगमेत्युक्तं। उक्तदुःप्रतिपाद्यसोपाधित्वव्युदासार्थं सुगमेत्युक्तं तदुदाहरणेन दर्शयति ❀ दृष्टेति ❀। अध्ययनविधेरर्थविबोधे दृष्टे फलं सम्भवत्यदृष्टमसुगमं तथाऽन्यान्वयिनि व्युत्पत्तिप्रयोजके सम्भवति कार्यान्वयान्वयिनीतिप्रयोजकमसुगममित्यर्थः। आदिपदेन सन्निहितादि द्रष्टव्यं। एतदेवोदाहरणनिष्ठनयाऽन्यत्र दर्शितमित्याह ❀ दर्शितं चेति ❀। किं तदुदाहरणमित्यत आह ❀ यथेति ❀। क्षित्यादीनां सकर्तृकत्वेऽपि बहुकर्तृत्वं किं न स्यादित्यापादके कल्पनागौरवदूषणं दर्शितं नैयायिकैः। कार्यैः समानौ देशकालौ येषां तान्यनेकदेशकालानि कारणानि तेषामनेकनीलादिव्यक्त्युपपादके तर्के एकैकस्मात्पूर्वभाविनः सर्वस्माद्वा सर्वं किन्न स्यात्पूर्वभावित्वं चेत्प्रयोजकं प्रत्येकं समर्थानां कारणानां कारणत्वं इति बौद्धं प्रत्यापादने च गौरवमित्यर्थः। गौरवस्योपयोगमाह ❀ दूषणेति ❀। इदं—कल्पनागौरवं परपक्षदूषणानुकूलमित्यर्थः। गौरवान्तरस्योपयोगभेदं लक्षणञ्चाह ❀ तदिति ❀। तदुपयोगमाह ❀ साधनेति ❀।

अनौचित्यलक्षणमाह ❀ प्रामाणिकेति ❀। प्रामाणिकानां यदव्यवहार्यं सर्वथैव समाधानं न शक्यते च तदनौचित्यम्। प्रमाणव्यवहारिणं प्रत्यव्यवहार्यत्वं सतोऽप्यज्ञानदशायां सम्भवति तद्व्यावृत्त्यर्थमसमाधेयेत्युक्तं। सति तु प्रमाणप्रवृत्तौ समाधेयत्वसम्भवात्तदव्यवहार्यत्वं प्रतिक्रियार्हमित्यर्थः। लक्षणानुगमसिद्धये जातीयग्रहणं असमाधेयजातीयमनौचित्यमित्युक्ते शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वादित्यादावतिव्याप्तिस्तत्र स्वरूपासिद्धेरसमाधेयत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रामाणिकाव्यवहार्यमित्युक्तं सा तु प्रामाणिकैर्व्यवह्रियत इति तद्व्युदासस्तस्य नामान्तरमाह ❀ वैयात्येति ❀। तद्विशेषानाह ❀ तस्येति ❀। प्रश्नवैयात्यस्वरूपमाह ❀ प्रश्नेति ❀। यत्र प्रश्नः प्रवर्त्तते तं विषयं ये न प्रमित्सति तान्प्रति तस्मिन्विषये प्रश्नः स प्रश्नविषयो

में असुगम पदार्थों की दुर्बलता का नाम कल्पनागौरव है। 'प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थों की अपेक्षा अदृश्य या अतीन्द्रिय पदार्थ दुर्बोध एवं स्वल्प की अपेक्षा बहुल या विपुल पदार्थ दुर्गम होते हैं'—यह सर्वजनीन अनुभव-सिद्ध है। 'ईश्वराभिसन्धि' ग्रन्थ में इसका विश्लेषण विशदरूप में प्रस्तुत किया गया है। नैयायिक 'क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वात्'—इस प्रकार जब 'कार्यत्व' हेतु के द्वारा कर्त्ता (स्रष्टा) का अनुमान करता है। तब वहाँ यदि कोई वादी प्रत्येक कार्य के लिए एक कर्त्ता दिखा कर अनेक कार्यों के लिये अनेक कर्त्ताओं के होने की आपत्ति उठाता है, तब कल्पनागौरवरूप तर्क के द्वारा उसका प्रतीकार किया जाता है। अथवा बौद्धों के क्षण-भङ्गवाद के अनुसार जब यह कहा जाता है कि अनेक क्षण-सापेक्ष सहकारि सामग्री का सम्पादन सम्भव नहीं, अतः प्रत्येक कारणक्षण सहकारि-निरपेक्ष होकर अकेला ही अपने कार्य के उत्पादन में सक्षम होता है। वहाँ यदि प्रतिवादी यह आपत्ति उठाता है कि 'यदि प्रत्येक कारण क्षण कार्यकारी है, तब वह एक ही देश-काल में अपने अनेक कार्यों का निर्माण क्यों नहीं कर डालता ?' तब उस आपत्ति के परिहार में कल्पना-गौरव तर्क का उपयोग किया जाता है। प्रतिवादी-द्वारा आपादित पक्ष का निराकरण कल्पना-गौरव एवं स्वपक्ष-साधन कल्पना-लाघव दिखा कर किया जाता है।

(४) **अनौचित्य**—प्रामाणिक पुरुषों के द्वारा अनाचरणीयता एवं समाधानानर्हता

यथा अवस्तुनि विधिनिषेधयोः किमिच्छसीति पृच्छति प्रमाणव्यवहारिणां सौगते। अत एवात्र अनौचित्यापरनामकं वैयात्यं परस्य दोषं मनसि कृत्वैके ब्रुवते—'अत्र सहृदयानां मूकतैवोचिता' इति। अपरे च—'न ह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौरः कृष्णो वेति वैयात्यं विना प्रश्नः स्यादिति। यदि च इदमनौचित्यं नाम दोषो नाभ्युपेयते, तदानीमर्थान्तरेण प्रकृतमर्थं निरस्य अर्थान्तरस्यार्थान्तरेण परिहारात् तत्परम्परामालम्बितुकामः केन दोषेण अर्थान्तरपरिहाराभासत्ववादिनि अर्थान्तरेणैव तत्परिहरणमनुचितमित्यतोऽन्येन जीयेत ? अर्थान्तरनिग्रहतायां विप्रतिपन्नोऽपि प्रश्नपरम्परामालम्ब्य स्वभङ्गभयात् कथावसानमनिच्छन्तं कथं जयेत् ? न चानवस्थया जयतीति वाच्यम्, यावदुत्तरमर्थान्तरेण परिहरणे प्रश्नान्तरेण वा द्वयोरप्यनवस्थासाम्यात्।

वैयात्यमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तमाह ❀ यथेति ❀। प्रमाणाव्यवहारिणां नैयायिकं प्रति विमते वस्तुनि विधव्यवहारमित्याह ❀ अत्रेति ❀। सहृदयानां—पण्डितानामित्यर्थः। उदयनादिसंमतिरप्यस्तीत्याह ❀ अपरइति ❀। वैयात्यं विना बाहर्यं विनेत्यर्थः। अनौचित्यं नाम दोष एव नास्ति तेन कथं प्रष्टुः पराजय इत्यत आह ❀ यदि चेति ❀। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्युक्ते विभुः शब्दः कथन्निष्पद्येत ? तदज्ञानात्त्वया कथं हेतुरुपन्यस्यत इति चोदितेऽर्थान्तरमिति परिहृते तह्यर्थान्तरस्य किं लक्षणमिति परम्परामवलम्बमानः केन दोषेण जीयेतेति सम्बन्धः। अर्थान्तरेण परिहारस्याभासत्ववादिन्यर्थान्तरेणेव परिहरणमनौचित्यमित्यतोऽन्येन जयो न स्यादित्यर्थः। उदाहरणान्तरमाह ❀ अर्थेति ❀। अर्थान्तरस्य निग्रहतायां योऽसौ विप्रतिपन्नः पुरुषो भवति स यदा प्रकृतस्यार्थस्य परम्परां कथानवसानमिच्छन्नवलम्बते तं प्रति विप्रत्तिपत्तिविषयतयाऽर्थान्तरस्य वक्तुमशक्यत्वादनौचित्यमेवोद्भाव्यत इत्यवश्याङ्गीकार्यमित्यर्थः। अर्थान्तरपरम्परावलम्बनेऽनवस्थोद्भाव्या न त्वनुचितत्वमित्याशङ्क्याह ❀ न चेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ यावदिति ❀। अनवस्थायास्तत्र तत्र परिहाराभिधानेऽपि समानत्वादित्यर्थः। अनौचित्यस्य दोषत्वे

की परिभाषा अनौचिती या अनौचित्य है। इसे वैयात्य भी कहा जाता है। प्रश्न-वैयात्यादि इसके भेद माने जाते हैं। जो व्यक्ति जिस विषय को प्रामाणिक नहीं मानता, उससे उस विषय का प्रश्न करना प्रश्न-वैयात्य कहलाता है, जैसे प्रमाणादि को पारमार्थिक माननेवाले एवं 'शून्यतत्त्व' की प्रामाणिकता पर विश्वास न करनेवाले नैयायिको से शून्यवादियों का यह पूछना कि 'शून्यविषयोर्विधिनिषेधयोः किमिच्छसि ?' अत एव प्रतिवादी के द्वारा उद्भावित अनौचित्यनामक वैयात्य दोष को मन में रख कर किसी ने कहा है—"अत्र सहृदयानां मौनमेवोचितम्" और उदयनाचार्य ने कहा है—"न ह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौरः, कृष्णो वेति वैयायत्यं विना प्रश्नः स्यात्" (आत्मा. वि. पृ. ६९)।

यदि यह अनौचित्य नाम का दोष नहीं माना जाता, तब जो वादी प्रकृत अर्थ को छोड़ कर बराबर अर्थान्तर (न्या. सू. ५।२।७ में चर्चित) या अनुपयुक्ताभिधान करता चला जा रहा है, उस वादी को अनौचित्य दोप के द्वारा ही परास्त किया जा सकता है। इसी प्रकार वादी के अर्थान्तरोद्भावन के पश्चात् प्रतिवादी यदि फिर भी अर्थान्तर का प्रयोग करता है, तब अनौचित्य को छोड़ अर्थान्तर-प्रयोक्ता प्रतिवादी को अन्य किस दोष के द्वारा परास्त किया जायगा ? इतना ही नहीं, जो प्रतिवादी अर्थान्तर की निग्रहस्थानता में विवाद कर अपने पराजय के भय से प्रश्नों की झड़ी लगा कर कथा को समाप्त ही नहीं होने देता, उसको भी एकमात्र अनौचित्य के द्वारा ही जीता जा सकता है। 'अर्थान्तर-परम्परा के उद्भावन में अनवस्था' दोष के द्वारा उस पर विजय प्राप्त कर लेंगे'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनवस्था का उद्भावन करने पर भी यदि प्रतिवादी प्रश्न कर देता है कि 'का अनवस्था ?'

'दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने।
काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽऽद्दत ॥'

ननु कथमत्र प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमिति पृष्टेन यदि मूकत्वमालम्ब्य तथात्वं वादिनि न व्युत्पाद्यते, तदानीमप्रतिभाऽऽपतेत्। अथ तथात्वं व्युत्पाद्यते प्रश्नार्थादेः प्रमाणाविषयत्वमुपन्यस्य, तदाऽत्यन्तासद्व्यवहार्यता स्वीकृतैव स्यादिति चेत्, अत्र ब्रुवते—मूकतैवात्र विजयायेति। न चाप्रतिभवं प्रसज्येत, उत्तरस्याऽप्रतिपत्तिरुत्तरार्हस्येति तल्लक्षणात्। यदि चायं नियमो वादिना इष्यते, यदभ्रान्त्यैव तेन

ग्रन्थकृतां सम्मतिमाह ❀ दोषमिति ❀। व्यक्तिविवेको नाम काव्यालङ्कारस्तस्मिन् ग्रन्थे महिमानामा ग्रन्थकारः अमुं प्रसिद्धमनौचित्यं दोषमादृत आदृतवान्। तमेव ग्रंथं विशिनष्टि ❀ कवीति ❀। कविलोकः कविसमूहस्तस्य लोचनमिव लोचनं गुणदोषज्ञानहेतुत्वात्काव्यमीमांसिनोऽलङ्कारविचारकास्तेषु प्राप्तो महिमा माहात्म्यं येन स प्राप्तमहिमा काव्यालङ्कारविचारणावसरे हिणोमपाद्यनौचित्यदोषग्रस्तमिति तेन स्वीकृतमिति तात्पर्यार्थः।

अवस्तुनि विधिनिषेधयोः किमिच्छसीतिपृष्टो वादी यदि मूकतामवलम्बते तदाऽप्रतिभा स्याद्यदि विधिनिषेधयोरसम्भवमवस्तुनि व्युत्पादयति तदाऽवस्तुनपि व्यवहार्यत्वं स्वयं स्वीकृतं स्यादित्यपसिद्धान्तः स्वयमेव तत्र व्यवहारप्रवर्त्तनादित्यभिसन्धाय चोदयति ❀ नन्विति ❀। एतादृशि विषये मूकतैव ज्यायसीत्येके ब्रुवत इत्याह ❀ अत्रेति ❀। मूकतामवलम्ब्यावतिष्ठमानस्योत्तरस्याप्रतिभा नाम निग्रहस्थानं स्यादित्यत आह ❀ न चेति ❀। कुत इत्यत आह ❀ उत्तरेति ❀। अत्रोत्तराप्रतिपत्तौ सत्यामपि उत्तरार्हत्वस्य विशेषणस्याभावात्तद्विशिष्टलक्षणस्याप्यभाव इत्यर्थः। असद्विषयस्य प्रमाणायोग्यस्य भ्रान्तिं विना प्रतिपत्तुमशक्यत्वात् भ्रान्त्यैव प्रतिपत्त्या व्यहर्त्तव्यं तन्न व्यवहर्तुर्वादिनोयुक्तं तेनाभ्रान्त्यैव व्यहर्त्तव्यमन्यत्रानुवादादिति नियमावतोऽनौचित्योद्भावनं स्यादित्याशंक्याह ❀ यदीति ❀। सदृष्टान्तमेतदुपपादयति

तब प्रश्न और उत्तर की दोनों धाराओं में समानरूप से अनवस्था प्रसक्त हो जाती है।

इस अनौचित्य दोष को श्री महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेकनामक ग्रन्थ में उद्धृत किया है—

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥"

[व्यक्तिविवेक ग्रन्थ को कविलोकविलोचन इस लिए कहा है कि आनन्दवर्धनादि के ध्वनिसिद्धान्त की आलोचना में व्यक्तिविवेक का विशिष्ट स्थान है। इसके रचयिता कश्मीरनिवासी महिमभट्ट वस्तुतः 'काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा' थे। काव्यरत्न के पारखियों में प्रमुख थे। दशम शताब्दी का अन्तिम भाग इनका समय माना जाता है]।

शङ्का—यह जो कहा गया कि अनौचित्य प्रामाणिक पुरुषों के द्वारा व्यवहार्य नहीं, वह क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में यदि मौन धारण कर प्रतिवादी के सामने अव्यवहार्यता का व्युत्पादन नहीं किया जाता, तब वादी (न्या. सू. ५।२।१९ में वर्णित) अप्रतिभा नाम के निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाता है और यदि अनौचित्य का व्युत्पादन करता है, तब उसमें प्रामाणिकाव्यवहार्यत्व नहीं रहता, क्योंकि प्रश्न के अर्थ (विषय) को शब्द व्यवहार में लाया गया।

समाधान—उक्त प्रश्न के उत्तर में यहाँ मूकता (मौन) ही विजयप्रद है। मौन धारण करने से 'अप्रतिभा' नाम का निग्रहस्थान यहाँ प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि उत्तर के योग्य पदार्थ की अस्फूर्ति होने पर ही अप्रतिभा मानी जाती है, यहाँ तो विषय उत्तर के योग्य ही नहीं माना गया है।

व्यवहर्तव्यमनुवादादन्यत्रेति, तदा मध्यस्थोद्भाव्यत्वमस्य दोषस्योपन्यस्यताम्। मध्यस्थेन ह्यपभ्रंशभाषयाऽपि यथा वादिप्रबोधनं क्रियते, तथा यद्यप्रमाणमवलम्ब्यापि क्रियते, तदा को दोषस्तस्य स्यात्, तत्र विषये तथैव तेन वादिबोधनस्य शक्यत्वात्। तस्मात् मध्यस्थं प्रत्यनुत्तरदाने स्वदोषपरिहाराय प्रतिवादिनाऽपि वैयात्यलक्षणदर्शनं कार्यम्, मध्यस्थं प्रति तस्याप्रमाणेनापि प्रतिबोधने निर्दोषत्वात्।

ननु वादिभ्यामेव वा, वादिनि मध्यस्थेन वा, तं प्रति वादिना वाऽत्यन्तासद्विषये व्यवहारोपगमे कथं नासत्ख्यातिः स्वीकृता स्यात्? किं न स्यात्? विशिष्टरूपे सम्बन्धांशे चासत्ख्यातेरन्यथाख्यातिवादिभिरप्यभ्युपगमात्। ननु 'वन्ध्यासुताच्छशविषाणं भिन्नमि'त्यादिषु व्यवहरतः कथं विशेष्ये विशेषणेऽपि नासत्ख्यातिरुपगन्त-

---

ॐ मध्यस्थेनेति ॐ। यथा मध्यस्थोऽपभ्रंशभाषयापि वादिनं बोधयति तत्र च न निग्रहस्तथाऽप्रमाणेनापि बोधने न तस्य निग्रह इत्यर्थः। मध्यस्थेन तत्र तथा व्यवहारानियम इत्यत्र युक्तिमाह ॐ तत्रेति ॐ। उपसंहरति ॐ तस्मादिति ॐ।

वादिभ्यामन्योन्यं वादिनि वा मध्यस्थेन, मध्यस्थं प्रति प्रतिवादिना वादिना वाऽसद्व्यवहारस्वीकारेऽसत्ख्यातिः प्राप्नोति इति चोदयति ॐ नन्विति ॐ। इष्टापत्त्या परिहरति ॐ किमिति ॐ। इष्टत्वे हेतुमाह ॐ विशिष्टेति ॐ। इदं रजतयोस्तादात्म्यं भ्रमविषय इति भट्टपक्षे विशिष्टांशे, रजतत्वेदमंशयोः समवायो भ्रान्त इति तार्किकमते संसर्गांश इत्यर्थः। असतो विशेषणविशेष्यभावोऽवसीयते यत्र तत्र वैशिष्ट्यादिवद्विशेष्यादावप्यसत्ख्यातिः स्वीकार्येति चोदयति ॐ नन्विति ॐ। असत्ख्यातिर्नाभ्युपगम्यत इति वाग्भङ्ग्या सत्ख्यातिरपरित्याननियमस्वीकारे विश्रान्तिर्विवक्षितेति परिहरति ॐ नेति ॐ। असत्ख्याति-

---

अथवा वादी ने ऐसा नियम स्वीकार कर लिया है कि 'मैं अनुवाद से अतिरिक्त भ्रान्ति का अवलम्भन न करूँगा और अनौचित्य के समान अत्यन्त असत् औप अप्रामाणिक पदार्थ का व्यवहार भ्रान्ति के विना सम्भव नहीं। तब मध्यस्थ का कर्तव्य हो जाता है कि वह 'अनौचित्यं किम्?' इस प्रश्न के उत्तर में अनौचित्य का व्युत्पादन करे। यदि प्रमाण के द्वारा उसका व्युत्पादन नहीं हो सकता, तब प्रमाणाभास या भ्रान्ति का अवलम्बन कर के भी उसका प्रतिपादन करे। भ्रान्तिपूर्वक व्यवहार करने पर मध्यस्थ कभी निगृहीत नहीं होता, क्योंकि मध्यस्थ तो आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत भाषा को छोड़ कर अपभ्रंश (प्राकृत) भाषा का भी अवलम्बन कर प्रतिवादी को प्रतिबोधित करता है, फिर भी वह निरर्थक नाम के निग्रहस्थान का पात्र नहीं माना जाता। मध्यस्थ के व्युत्पादनार्थ यदि वादी को भी अप्रमाण या भ्रान्ति का अवलम्बन कर अनौचित्य का व्युत्पादन करना पड़े, तब वह मध्यस्थ के प्रति वैसा कर सकता है, फिर भी वह निगृहीत नहीं समझा जाता, क्योंकि प्रतिवादी के प्रति वैसा व्यवहार करने पर ही नियम-भङ्ग एवं निग्रह की प्राप्ति मानी जाती है, मध्यस्थ के प्रति वैसा व्यवहार करने पर न तो नियम भङ्ग होता है और न किसी प्रकार के निग्रहस्थान की प्राप्ति होती है, वादी सर्वथा निर्दोष समझा जाता है।

शङ्का—मध्यस्थ या वादी किसी के द्वारा भी अत्यन्त 'असत्' विषय का व्युत्पादन करने पर शून्यवादिसम्मत असत्ख्याति का स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। वैसा करने पर अपसिद्धान्त क्यों न होगा?

समाधान—आंशिक असत्ख्याति का मानना अपसिद्धान्त नहीं, क्योंकि 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थलों पर भी अन्यथाख्यातिवादी भी शुक्ति और रजत के वैशिष्ट्यरूप संसर्गांश में असत् का भान या असत्ख्याति मानते ही हैं। उसी प्रकार अनौचित्यांश में भी यदि असत्ख्याति माननी पड़ती है, तब क्या हानि है?

ध्येति चेत्। न, असत्ख्यात्यभ्युपगमस्य सत्ख्यातित्वात्यागनियमोपगमविश्रान्तत्वात्। असदपि सदुपश्लिष्टमेव प्रतिभासते, न तु केवलमसत् कयाऽपि ख्यात्या समुल्लिख्यते इत्यन्यथाख्यातिवादिभिरिष्यमाणत्वात्। वन्ध्यासुताच्छशविषाणं भिन्नमिति प्रतिपत्त्राऽपि भिन्नमित्ययमंशः सामान्यतोऽन्यत्र दृष्ट एव प्रतीयते। केवलं भेदस्य सदाश्रयः प्रतियोगि चेति यद्वस्तुतः तदसदाश्रयः प्रतियोगि च तस्येत्यन्यथा कृत्वा प्रतीयत इत्यन्यथाख्यातिरेवोपगता भवति। यथा तु विशिष्टमत्यन्तासदेव तथाऽश्रयप्रतियोगिनी अत्यन्तासती एव किं न प्रतिभासेते? तावताऽपि यथोक्तान्यथाख्यात्यनुल्लङ्घनादेव। न चैवमसत्ख्यातिवादिनाऽपि शक्यं वक्तुम्, केवलं सदेव प्रकाशत इत्यस्मात्पक्षाद्विपरीतं विशिष्टं सम्बन्धश्च क्वचिद्विशेषणाद्यपि अत्यन्तासद् भ्रान्त्योल्लिख्यत इत्येवं रूपा तावदसत्ख्यातिः परेणोपगतैव। यदि तु सदपि प्रकाशते

रतिरस्कृता चेत्कथं तर्हि सत्ख्यात्यपरित्याग इत्याशङ्क्याह ❀ असदिति ❀। वन्ध्यासुतशशविषाणयोरुभयोरप्यसत्त्वात्सत्ख्यात्यपरित्यागनियमो न सिद्ध्यतीत्यत आह ❀वन्ध्येति❀। कथं तर्ह्यन्यथाख्यातिरित्यत आह ❀ केवलमिति ❀। भेदस्यान्यत्र सदाश्रयत्वसत्प्रतियोगितया निष्पन्नत्वात्तत्परित्यागेणात्राश्रयत्वादिप्रकारान्तरेण प्रतीतमित्यन्यथाख्यातिरित्यर्थः। धर्मिप्रतियोगिनोरसत्त्वात् भेदस्य तदुपश्लिष्टतया प्रतिभासोऽनुपपन्न इत्याशङ्क्य वैशिष्ट्यवत् सर्वथोपपन्न इत्याह ❀यथेति❀। तावतापि सदुपश्लेषेऽप्यनियमापरित्यागादित्यर्थः। तर्ह्यसत्ख्यातिवादिनापि तथा वक्तुं शक्यमिति शङ्कायां असत्ख्यात्यनभ्युपपादनायासत्ख्यातिवादस्वरूपं दर्शयति ❀ केवलमिति ❀। सदेव प्रकाशत इति सत्ख्यातिपक्षस्तस्माद्विपरीतमिदं रजतमित्यत्र विशेषणं विशेष्यं सम्बन्धश्चेति सर्वं क्वचिदसदेव प्रकाशत इत्यर्थः। अस्तु प्रस्तुते किं स्यादित्यत आह ❀ यदीति ❀। इदमादि सदपि किञ्चित्प्रकाशमानं प्रतीयत इति सदुपश्लेषं विना परेणाङ्गीकृतासत्ख्यातिर्न सिद्ध्यति प्रकाशमानमाश्रयादि परेण विकल्प्यत इत्यर्थः। किञ्चित्सत्प्रकाशेऽप्यसत्ख्यातेरसत्-

शङ्का—'वन्ध्यासुतात् शशविषाणं भिन्नम्'—इत्यादि व्यवहारों में तो केवल वैशिष्ट्य ही असत् नहीं, अपितु वन्ध्यासुत और शशविषाणरूप विशेषण और विशेष्य (प्रतियोगी और अनुयोगी) भी अत्यन्त असत् हैं, अतः आंशिक असत्ख्याति को छोड़ कर पूर्णरूपेण असत्ख्याति माननी आवश्यक है।

समाधान—असत्ख्याति के अभ्युपगम का तात्पर्य होता है—अन्यथाख्यात्यादिरूप सत्ख्याति का सर्वथा त्याग कर देना। असत् पदार्थ की प्रतीति भी सत् के सम्पर्क से ही हो सकती है, केवल असत् का भान किसी भी ख्याति से नहीं होता—ऐसा अन्यथाख्यातिवादी मानते हैं। 'वन्ध्यासुतात् शशविषाणं भिन्नम्'—यहाँ पर भी उसी भेद का भान होता है, जो अन्यत्र ('घटः पटो न' इत्यादि स्थलों पर) सत् प्रतियोगी और सत् अनुयोगी के सम्बन्ध से प्रतीत होता है किन्तु प्रकृत में उसकी अन्यथा प्रतीति को लेकर अन्यथाख्याति मानी जा रही है। जैसे 'इदं रजतम्'- यहाँ विशिष्ट पदार्थ अत्यन्त असत् होने पर भी प्रतीत होता है, वैसे ही 'वन्ध्यासुतात् शशविषाणं भिन्नम्' - इत्यादि स्थलों पर प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों अत्यन्त असत् होने पर भी प्रतीत क्यों न होंगे? इतने पर भी सत्ख्याति का अपलाप न होने के कारण अन्यथाख्यातिवाद का उल्लङ्घन नहीं होता।

शङ्का—इस प्रकार तो असत्ख्यातिवादी माध्यमिक भी कह सकता है कि 'केवलं सदेव प्रकाशते'—इस घोषणा के विपरीत कहीं ('इदं रजतम्'—इत्यादि स्थलों पर) विशिष्ट और वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) एवं कहीं (वन्ध्यासुतात् शशविषाणमन्यत्'—इत्यादि स्थलों पर) विशेषणादि भी अत्यन्त असत् प्रतीत होते हैं—इस प्रकार की असत्ख्याति तो अन्यथाख्यातिवादी मानता ही है। यदि कहीं कुछ सत् पदार्थ भी अवभासित हो जाता है, तो क्या असत्

किञ्चित्, तत्किं नासत्प्रकाशत इति। यतः परेण विकल्पः सर्वथा वस्त्वनुल्लेखी केवलमलीकमुल्लिखन् असत्ख्यात्यात्मा स्वीक्रियते। यदि तु यथोक्तमेव परोऽप्यभ्युपगच्छति; तदानीमनुमानप्रमाणादिवत् अत्राप्यविप्रतिपत्तिरेवेति।

ननु सर्वथैवासत्ख्यातिरपि भवताऽनुमन्तव्यैव। तथा हि 'वन्ध्यासुतशशविषाणे कूर्मरोमैवे'ति वदतः शब्दादर्थं प्रतिपादयतां किं तदणुमात्रमपि समुल्लेख्यं तत्प्रतीतेरिति चेन्न, तत्रापि तादात्म्यस्य सामान्यतोऽन्यत्र प्रतीतस्यैव असदुपहितस्य स्फुरणोपगमात्। प्रकारभेदवैशिष्ट्येन भिन्नयोरेकत्वं हि तादात्म्यम्, तच्चाऽन्यत्रास्त्येव। तर्कसंशयाभ्यामप्रमाभ्यां जननेऽपि तत्तत्प्रमावत् मध्यस्थाद्यप्रमया तथा प्रश्नानौचित्यादिप्रमोत्पादनाविरोधः। बाधवद्भ्रमविषयातथाभावेऽपि भ्रमस्याप्रमात्वपारमार्थिकतावत् प्रश्नविषयासत्यत्वेऽपि प्रश्नानौचित्यसत्यतोपपत्तिरेव।

एतेन भ्रान्तिजाया धियः प्रमात्वं तथाप्यदृष्टचर्मत्यपि परास्तप्रायमिति।

ख्यातित्वं किं स्यादित्याशङ्क्याधिष्ठानमारोपितं च सर्वमसदिति सिद्धान्ताविरोधादित्याह ॐ सर्वथेति ॐ। प्रामाणिकसिद्धान्ताङ्गीकारान्मयाप्येवमङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्याह ॐ यदि त्विति ॐ। अनुमानप्रामाण्यवदिति यथा तत्र विप्रतिपत्तिर्नास्ति तद्वदित्यर्थः।

सर्वथैवासत्ख्यातिस्थलं वादी पूर्वं दर्शयति ॐ नन्विति ॐ। एवंविधभ्रान्तिरेव नास्तीत्यत आह ॐ शब्दादिति ॐ। तादात्म्यस्यान्यत्र विद्यमानस्यैव प्रतीतेरसत्ख्यातिपरित्याग एवेति परिहरति ॐनेतिॐ। तादात्म्यस्यान्यत्र सत्त्वं दर्शयितुं तत्स्वरूपमाह ॐ प्रकारेति ॐ। उपाधिभेदेन भेदाभेदयोरविरोधं दर्शयितुं प्रकारभेदेत्युक्तमुपाधित्वगुणत्वादिस्ततः किमित्यत आह ॐ तच्चान्यत्रेति ॐ। यद्यन्यथाख्यातिमङ्गीकृत्य तत्पक्षेऽपि व्यवहार इष्यते तर्ह्यप्रमाणिकाव्यवहारात्कथं परस्यानौचित्यं स्यात्प्रमाणस्यैव प्रमाजनकत्वं नियतमित्यत आह ॐ तर्केति ॐ। तर्केण व्यभिचारशङ्कां निरस्याव्यभिचारिप्रमा यथा यथा च संशयोद्भावनेन गुरुणा शिष्ये बुद्ध्यतिशयजननात्तत्त्वप्रमा जन्यते तथा मध्यस्थं प्रत्यप्रमाणिकव्यवहारादनौचित्यप्रमेत्यविरोध इत्यर्थः। उदाहरणान्तरमाह ॐ बाधवदिति ॐ। यथा नेदं रजतमिति बाधस्य प्रसक्तप्रतिषेधरूपस्य नियतपूर्वभावित्वसंज्ञकजनकत्वेऽपि प्रमात्वं तद्वदनौचित्यादिबुद्धेरपि प्रमात्वमित्यर्थः। विषयस्य प्रामाणिकत्वे भ्रमस्यानौचित्यं नाम धर्मः कथं विषयः स्यादित्याशङ्क्याह ॐ भ्रमेति ॐ।

प्रतीत नहीं होता ?

समाधान—माध्यमिक सत् के संसर्ग से असत् का भान नहीं, अपितु सर्वथा स्वलक्षणनिरपेक्ष सामान्यलक्षणमात्रावगाही विकल्पात्मक अलीक-प्रतीति को असत्ख्याति मानता है, किन्तु अन्यथाख्यातिवादी सत्सापेक्ष ही असत् का क्वचित् भान मान लेता है। यदि माध्यमिक भी सत् के सम्बन्ध से ही असत् का भान मान लेता है तब जैसे सामान्यलक्षणमात्रावगाही अनुमान प्रमाण के विषय में हमारा उससे कोई विवाद नहीं, वैसा असत्ख्याति के विषय में भी हमारा कोई मत-भेद नहीं रह जाता किन्तु माध्यमिक अवश्य अपसिद्धान्त दोष का भागी बन जाता है।

शङ्का—'वन्ध्यासुतशशविषाणे कूर्मरोमैव'—इत्यादि शब्दों से प्रतिपादित कोई अणुमात्र सत् पदार्थ प्रतीत नहीं होता, अतः सत्संसर्ग के विना ही केवल असत्ख्याति मानना अनुचित नहीं।

समाधान—उक्त स्थल पर जो वन्ध्यासुत और कूर्मरोम का तादात्म्य प्रतीत होता है, वह 'नीलो घटः'—इत्यादि स्थलों पर सामान्यतः प्रतीत होकर यहाँ असदुपहितरूप से प्रतीत हो रहा है, क्योंकि नीलत्व, घटत्वरूप प्रकार के भेद से भिन्न प्रतीत होनेवाले नील और घट पदार्थों की एकता का नाम तादात्म्य है, वह अन्यत्र सत् ही है।

एवमन्यत्राप्येवंविधोदाहरणे वाच्यम्। न च कश्चिदुक्तप्रकारमन्यथाख्यातिसमाधानं नानुमन्तुं शक्नोति। अन्यथा कथमसत्ख्यातिवादिनो मतमपि जानीयात्, अज्ञात्वा च स्वपरमतवैचित्र्यं वादे प्रवर्तेत ? एते सर्वेऽपि तर्काः प्रमाणविरोधे वा प्रमाणाभावे वा निष्पीडिताः प्रविशन्तो न बाधासिद्धिभ्यां भिद्यन्ते। पूर्वैरपि लोकसिद्धत्वात् व्यवहृताः। केवलमस्माभिरेव तर्कपदव्यामभिषिक्ताः, ततो न प्रबन्धेन निरस्यन्ते—'विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं च्छेत्तुमसाम्प्रतम्' इति।

यद्यपि भ्रमस्य परमार्थः, तर्कसंशयाभ्यां यद्यपि परम्परया प्रमा जन्यते तथापि भ्रान्तिजाया धियः प्रमात्वं दृष्टपूर्वं न भवतीत्येतच्चोद्यं बाधदृष्टान्तेन निरस्तमित्याह ❀ एतेनेति ❀। यत्र यत्र स्थले केवलमसत्प्रकाशत इति सुगता ब्रुवते तत्र सर्वत्रापि प्रदर्शितन्यायेन सदुपश्लेषो दर्शनीय इत्याह ❀एवमिति❀। असतः प्रतीत्यङ्गीकारेऽप्यन्यथाख्यातेर्यस्तवानन्दर्शनन्तत्सर्वैरनुमन्तव्यं इत्याह ❀ न चेति ❀। विपर्यये बाधमुपन्यस्यति ❀ अन्यथेति ❀। तदज्ञाने को दोषस्तत्राह ❀ अज्ञात्वेति ❀। प्रदर्शिताविनिगमादितर्काणां संक्षेपेण दोषमाह ❀ एत इति ❀। प्रमाणेन विरोधे निष्पीडिताः प्रविशन्तो बाधान्न भिद्यन्ते प्रमाणाभावे प्रविशन्तोऽसिद्धितो न भिद्यन्त इत्यर्थः। लक्षणस्याश्रयस्याभावे प्रबन्धेनानिराकरणे च हेतुमाह ❀ पूर्वैरिति ❀। स्वयंस्थापितानां स्वयमेव निरासो न युक्त इत्यत्र वृद्धसंमतिमाह ❀ विषेति ❀। विषवृक्षः कारस्करः।

शङ्का—यद्यपि अनौचित्यरूप तर्क का व्यवहार अन्यथाख्यातिरूप भ्रम के द्वारा सम्पन्न हो जाता है, तथापि प्रमाणों की सहायता या प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति में जो तर्क का उपयोग माना जाता है, वह अनौचित्य के अप्रमाण-व्यहार से नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण ही प्रमा ज्ञान का जनक होता है।

समाधान—यद्यपि तर्क और संशय स्वयं अप्रमात्मक हैं, तथापि अनुमित्यादिरूप प्रमा के जनक होते हैं, वैसे ही मध्यस्थादि की भ्रान्ति के द्वारा प्रश्नानौचित्यादिविषयक प्रमा के उत्पादन में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। जब अनौचित्य स्वयं असत् है, तब उसका ज्ञान प्रमा क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे 'नेदं रजतम्'—इस बाध से बाधित होनेवाले 'इदं रजतम्' – इस भ्रम का विषय असत् होने पर भी भ्रमगत भ्रमत्व असत् नहीं, यथार्थ ही है, वैसे ही उक्त प्रश्न का विषय असद् होने पर भी अनौचित्यविषयक ज्ञान में प्रमात्व असंगत नहीं संगत ही है। यह जो कहा जाता था कि 'भ्रान्ति-जन्य ज्ञान में प्रमात्व कहीं भी नहीं देखा जाता,' वह इसी लिए निरस्त हो जाता है कि बाध ज्ञान में भ्रान्ति-जन्यत्व होने पर भी प्रमात्व देखा जाता है। इसी प्रकार बौद्धगण जहाँ-जहाँ भी कहते हैं कि 'अत्र केवलमसत् प्रकाशते', वहाँ-वहाँ सर्वत्र सत् पदार्थ का उपराग दिखा देना चाहिए।

'सत् के संसर्ग से असत् की प्रतीति ही अन्यथाख्याति है'—ऐसा अन्यथाख्याति का परिष्कार सभी नैयायिकों को मानना चाहिए, अन्यथा असत्ख्यातिवादी के मत को न जान सकेगा, प्रतिवादी के मत को जाने विना स्वमत और पर-मत के अन्तर का ज्ञान न हो सकेगा और उसके विना वादकथा में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

ये अविनिगमादि चारों तर्क-प्रकार निष्पीडन या गम्भीर विचार करने पर या तो प्रमाणविरोधरूप बाध के अन्तर्गत आ जाते हैं या प्रमाणाभावरूप असिद्धि के अन्तर्गत, अतः निग्रहस्थानों की संख्या के अधिक होने का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता। पूर्वाचार्यों ने भी लोक-

१८. तर्काभासखण्डनम्

ये च परैस्तर्कदोषाः षट् स्वीक्रियन्ते – आश्रयासिद्धिः, अनुकूलत्वम्, मूलशैथिल्यम्, इष्टापादनम, विपर्ययापर्यवसानम्, मिथोविरोधश्चेति; सोऽयं तर्कस्य दोषविभागो नोपपद्यते। व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोः प्रतीतिमपेक्ष्य यथाऽनुमानं जायते तथैव तर्कोऽपि। इयान् परमनयोर्विशेषो यदनुमानं तयोः प्रमित्या जायते, तर्कस्त्ववास्तवाभ्यामपि ताभ्यां पराभ्युपगममात्रसिद्धाभ्यां भवति। तेन विमृश्यमाणः तर्कः पराभ्युपगममात्रप्रसादसिद्धपरिकरो नाऽऽश्रयासिद्धिमपि तावद्वास्तवीमनुरोद्‌धुमधिकरोति।

एवं तर्कानिर्वाच्यतामुक्त्वा तदाभासानिर्वाच्यतामापादयितुमुपक्रमते ❀ ये चेति ❀। प्रमाणसिद्धापादनमिष्टापादनं प्रमाणसिद्धस्यापि परसिद्धान्तानुगुणस्यापादनमनुकूलत्वमिति विभागः। आक्षिपति ❀ स इति ❀। अनुपपत्तिं दर्शयितुं तर्कानुमानयोः साम्यमाह ❀ व्याप्तीति ❀। कस्तर्ह्यनयोर्विशेष इत्यत आह ❀ इयानिति ❀। व्याप्तिपक्षधर्मत्वप्रमितिरनुमयाऽपेक्ष्यते तर्कस्तु तयोरपरमार्थत्वेऽपि पराभ्युपगममात्रमित्यर्थः। ततः किमित्यत आह ❀ तेनेति ❀। आश्रयासिद्धिरपि न वास्तव्यपेक्ष्यत इति तद्बुद्धिरपि

प्रसिद्धि के आधार पर ही इनका व्यवहार किया है, केवल हमने इन्हें तर्क पद पर अभिषिक्त किया है, अतः इनका विशेषरूप से खण्डन नहीं किया जाता, क्योंकि प्रसिद्ध कहावत है कि 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' [विषवृक्ष को भी लगाकर स्वयं नहीं काटना चाहिए]।

१८. तर्क के दोषों का खण्डन

नैयायिकों ने जो तर्क के दोषों का छः भागों में विभाग किया है—

(१) आश्रयासिद्धि, (२) अनुकूलत्व, (३) मूलशैथिल्य, (४) इष्टापादन, (५) विपर्यय में अपर्यवसान तथा (६) परस्पर विरोध [श्री वरदराज ने कहा है—

"व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये।
अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्गपञ्चकम्॥
अङ्गान्यतमवैकल्ये तर्कस्याभासता भवेत्।

विस्तरस्तु आत्मतत्त्वविवेकपरिश्रमशालिनां सुगम एव। तत्र हि मिथोविरोधमूलशैथिल्येष्टापादनानुकूलत्वविपर्ययापर्यवसानैः तर्काभासत्वादुपक्रम्य स्थूलद्रव्यमपलपतो बौद्धस्य नेदं स्थूलं द्रव्यं विरुद्धधर्मसंसर्गप्रसङ्गादित्यादयः प्रलापास्तर्काभासाः प्रदर्शिताः" (ता. र. पृ. १८७–१८९)। अर्थात् (१) व्याप्ति, (२) तर्काविरोध, (३) विपर्यय में पर्यवसान, (४) अनिष्टत्व और (५) अननुकूलत्व—ये पाँच तर्क के अङ्ग या गुण हैं, इनमें से प्रत्येक की न्यूनता से पाँच ही तर्क के आभास या दोष हो जाते हैं, जिनका निर्देश श्री उदयनाचार्य ने इस प्रकार किया है–"मिथोविरोधमूलशैथिल्येष्टापादनानुकूलत्वविपर्ययापर्यवसानैः तर्काभासत्वात्" (आत्मा. वि. पृ. २४६)। एक तर्क का प्रतितर्क से प्रतिहत होना मिथोविरोध, प्रसञ्जक और प्रसञ्जनीय में व्याप्ति का अभाव मूलशैथिल्य, प्रसञ्जनीयार्थ में वादी की अभीष्टता इष्टापादन, विरुद्ध हेत्वाभास के समान प्रतिपक्ष-साधकत्व अनुकूलत्व एवं प्रसञ्जनीयार्थ का आपाद्य के विपर्यय में पर्यवसित न होना विपर्ययापर्यवसान कहलाता है]।

तर्क का वह दोष-विभाग समुचित नहीं, क्योंकि जैसे व्याप्ति और पक्षधर्मता की प्रतीति के बल पर अनुमिति उत्पन्न होती है, वैसे ही तर्क भी। इनमें इतनी विशेषता अवश्य है कि अनुमिति व्याप्ति और पक्षधर्मता के प्रमात्मक ज्ञान से ही समुत्पन्न होती है और तर्क अप्रमात्मक व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान से भी समुद्भूत हो जाता है, हाँ उस व्याप्ति और पक्षधर्मता का

ततः प्रमित्यभ्युपगमसिद्धिकृतवैचित्र्याश्रयाद् भेदादन्यो यावान् यथा च हेत्वाभासविभागः, तद्वदेव च तर्काभासविभागोऽपि व्याख्यः। तस्मादाश्रयासिद्धिमूलशैथिल्येष्टापादनानि असिद्धिरेकैव दोषोऽनुमानवत्। तत्र अप्रमितत्वावलम्बिनी, इह त्वनभ्युपगमावलम्बिनीति विशेषः। मिथोविरोधश्च सत्प्रतिपक्षतैव। विपर्ययापर्यवसानं तु दोष एवाऽऽपादनस्य न भवति। यन्नाम विपर्ययापर्यवसानादापादनमात्मसाधनानुकूलं न भवति, तदन्यदेव किमपि। बाधविरुद्धत्वव्यभिचारास्तु अनुमानवत् तर्केऽपि दोषाः पृथग्वाच्याः। बाध उत्सर्गसम्भावनादेरन्यत्रानुकूलः। तर्कस्य सप्तममपि दोषं तर्कस्याऽऽपत्तिसाम्यं न नामोपगच्छामः, स चोभाभ्यामभ्युपगतव्याप्येनानभ्युपगतव्यापकेन प्रागेव दर्शित इत्यास्तां विस्तर इति।

न वास्तवो स्यादित्यर्थः। ततो वा किमित्यत आह ❀ तत इति ❀। तर्कानुमानयोरिव तदाभासयोरप्युभयप्रमित्यभ्युपगमसिद्धिकृतवैचित्र्यमात्रं ईषद्भेदं विधत्ते ततोऽन्यो हेत्वाभासे यावान्यत्प्रकारश्च विभागस्तर्काभासेऽपि तथैवेत्यर्थः। तद्वदित्यनिष्टमेव स्पष्टयन्नुपसंहरति ❀ तस्मादिति ❀। सोपाधित्वसिद्धसाधनाश्रयासिद्धीनां यथाऽनुमानाभासेऽसिद्धावन्तर्भावस्तथात्राप्याश्रयासिद्ध्यादेरपि असिद्धावन्तर्भाव इत्यर्थः। तर्हि तर्कानुमानाभासयोः को विशेष इत्यत आह ❀ तत्रेति ❀। अनुमानाभासे प्रमित्यभावो मूलमिह त्वनुपगमाभाव इत्यर्थः। मिथोविरोधश्चानुमानयोस्सत्प्रतिपक्षत्वमेवेत्याह ❀ मिथ इति ❀। विपर्ययापर्यवसानं तर्हि तर्काभासोऽनुमानाभासादन्य एव भविष्यतीत्यत आह ❀ विपर्ययेति ❀। विपर्ययपर्यवसाने विपक्षबाधसम्भवादित्यर्थः। तत्रापादने कर्त्तुः स्वसाधनानुकूलं तदापादनं न स्यात् विपर्यये पर्यवसानाभावादित्याशङ्क्याह ❀ यन्नामेति ❀। स्थलविशेष एव तस्यापेक्षा न सर्वत्रेत्यर्थः। तस्यासार्वत्रिकत्वात् ततोऽन्यदेव किमपि दूषणमित्युक्तं इदानीं षडेव तर्काभासा इति नाभ्युपगच्छाम इत्याह ❀बाधेति❀। बाधः पुनः क्वचिद् दोषो न भवतीत्याह ❀ बाध इति ❀। उत्सर्गसम्भावनारिक्ते बाधस्यानुकूलत्वमन्यथानिष्टत्वासम्भवादुत्सर्गसम्भावनयोस्तु बाधे सत्येकतरकोटिनिर्णयादेरप्रवृत्तेर्दोषत्वमिति बाधस्य तर्कदोषपरिगणने न सार्वत्रिकत्वमपरिगणने वोत्सर्गसम्भावनयोरप्रवेश इत्युभयथाप्येकतैवेत्यर्थः। आदिपदेन स्वपक्षसाधनतर्कग्रहः। नियमभङ्गार्थं दोषान्तरमाह ❀सप्तममिति❀। कीदृशः स इत्यत आह ❀स चेति❀।

वादी के द्वारा अभ्युपगत होना आवश्यक है। तर्क का परिकर (व्याप्त्यादि कारणकलाप) केवल वादी के द्वारा अभ्युपगतमात्र होता है, इसी लिए तर्क वास्तविक आश्रयासिद्धि का भी मार्गावरोध नहीं कर सकता। तर्क और अनुमान के समान ही तर्काभास और अनुमानाभास में भी यहां अंतर है कि एक की मूलभूत व्याप्त्यादि-ज्ञान सामग्री प्रमात्मक और दूसरे की केवल वादी-द्वारा अभ्युपगत होती है। इससे अतिरिक्त अनुमान में हेत्वाभास के जितने भेद होते हैं, तर्क में भी उतने ही तर्काभास-प्रकार होते हैं।

अनुमान में जैसे आश्रयासिद्धि, मूलशैथिल्य और इष्टापादन—तीनों एक असिद्धि नामक दोष के अन्तर्गत माने जाते हैं, वैसे ही तर्क में। भेद केवल इतना होता है कि अनुमान में असिद्धि का मूल प्रमित्यभाव और तर्क में अभ्युपगमाभाव होता है।

मिथोविरोध सत्प्रतिपक्षता ही है। विपर्ययापर्यवसान तो आपादनरूप तर्क का दोष ही नहीं है। विपर्यय में पर्यवसान न होने के कारण जो आपादन (तर्क) में स्वपक्षसाधन की अनुकूलता का अभाव है, वह कोई अन्य दोष है।

अनुमान के समान ही बाध, विरोध और व्यभिचार तर्क में भी पृथक् दोष होते हैं। उत्सर्ग और सम्भावना से भिन्न तर्कों के बाध अनुकूल होता है अर्थात् उसमें दोषता का पोषक होता है। तर्क का 'आपत्तिसाम्य' नाम का सप्तम दोष हम नहीं मानते, यह पहले ही

१९. सार्वत्रिकखण्डनप्रकारः

एवं प्रकाराणि तत्तल्लक्षणेषु खण्डनान्यूहनीयानि। तदेतासु खण्डनयुक्तिषु कामपि स्थानान्तरस्थां केनापि प्रकारान्तरेणाऽऽनीय तत्सदृशीमन्यादृशीं वा स्वयमूहित्वा परैर्विविच्यमानानि पदार्थान्तराण्यपि बुद्धिमता बाधनीयानि। अत्र चास्माभिर्दूषयितुं शङ्कितेभ्यः परपक्षप्रकारेभ्यो यदि प्रकारान्तरं कोऽपि स्वयमूहति, उक्तानां बाधकानां मध्ये कचित्प्रज्ञयाऽपि समाधानमभिदध्यात्। तत्र खण्डनवादिनः प्रस्तुता प्रतिक्रिया न स्फुरेत्, तदाऽपरेण प्रयुज्यमाने वाक्ये बहुपदात्मके कस्यचित्पदस्यार्थं खण्डनान्तरमवतारणीयम्। एवं तत्रापि परेण प्रज्ञाशोषणे पुनस्तथैव शाखान्तरेषु सङ्क्रमणीयमिति प्रकारेण खण्डनमये चक्रे सम्यगवधेयम्। न च शाखान्तरसङ्क्रान्तावर्थान्तरं पतेत्, अप्रकृतत्वाभावात्। न चैकनिर्णयारम्भे अन्यसङ्क्रान्तावनौचित्यं

"यश्चोभयोः समो दोष" इत्यनेन तर्कखण्डनप्रस्तावे दर्शितं इत्यर्थः।

अस्मिन् ग्रन्थे जातिलक्षणान्युपन्यस्य निरस्तानि तेष्वपि कथितखण्डनानि अन्यत्रापि द्रष्टव्यानीत्याह ※ एवमिति ※। यदि प्रस्तावात्कश्चित्त्वदुपन्यस्तप्रकारान्तरेणैव लक्षणं शिष्यति त्वदुक्तखण्डनानां समाधानां वाऽभिदध्यात्तदा किं कर्त्तव्यं खण्डनवादिनेत्यतः शिष्यार्थं दर्शयति ※ अत्र चेति ※। तदुपन्यस्तप्रकारे प्रातिस्विको दोषो झटिति यदि न प्रतिभाति तदा तत्प्रतिपादकवाक्ये बहूनां पदानां मध्ये कस्यचित्पदस्यार्थः खण्डनीयस्तत्रापि विशिष्टलक्षणस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। तस्मिन्नपि पदार्थे खण्डिते यदि परः प्रातिस्विकदोषोद्धारेण खण्डनप्रयोक्तुः प्रज्ञाशोषं कुर्यात्तदा किं कुर्यात् खण्डनवादीत्यत आह ※ एवं तत्रापीति ※। तत्रापि बहुपदात्मके वाक्ये कस्यचित्पदस्येत्यर्थः। खण्डनचक्रं खण्डनसमूहः। सम्यगवधेयं सम्यगवधानं कर्त्तव्यं न प्रमाद्यमित्येवंप्रकारेण खण्डनप्रयोक्तुर्न कदाचित्पराजय इत्यर्थः। तर्हि शाखान्तरसङ्क्रमेणार्थान्तरं निग्रहः स्यादित्याशङ्क्याह ※ न चेति ※। कुत इत्यत आह ※ प्रकृतत्वादिति ※। प्रकृतानुपयोगिविषयं तदित्याह ※ न चेति ※। प्रकृतोपयोगित्वे सत्यपि प्रकृतावर्थादर्था-

कहा जा चुका है कि 'आपत्तिसाम्य' दोष वहाँ ही होता है, जहाँ दोनों वादियों के द्वारा व्याप्य अभ्युपगत और व्यापक अनभ्युपगत किया गया हो।

१९. खण्डन-युक्तियों की व्यापक ऊहा

कथित खण्डन-युक्तियों के समान युक्तियों की ऊहा शेष सभी लक्षणों के खण्डन में कर लेनी चाहिए अथवा अन्य स्थान की इन्हीं खण्डन-युक्तियों का अन्य स्थान पर प्रसङ्ग उपस्थित कर वादिगणों के द्वारा निरुच्यमान अन्यान्य पदार्थों का खण्डन कर देना चाहिए। इस निबन्ध में खण्डन करने के लिए वादिगणों के जितने पूर्वपक्ष-प्रकारों की आशङ्का उठाई है, उनसे भिन्न प्रकारान्तर की कल्पना यदि कोई वादी करता है और हमारे खण्डनों का कुछ समाधान प्रस्तुत करता है, तब हमारी खण्डन-युक्तियों से ही उसका भी खण्डन कर देना चाहिए और यदि हमारी खण्डन-युक्तियों का स्फुरण न हो रहा हो तो वादी-द्वारा प्रयुक्त बहुपद-घटित वाक्य के घटकीभूत किसी पद के अर्थ का खण्डन करने के लिए खण्डनान्तर की सर्जना कर लेनी चाहिए। यदि वहाँ भी वादी-द्वारा युक्ति-स्मरण में कुण्ठा उत्पन्न कर दी जाती है, तब वहाँ भी खण्डन की शाखा का परिवर्तन किया जा सकता है—इस प्रकार खण्डनात्मक चक्र-व्यूह की रचना में विशेष जागरूक रहना चाहिए।

शाखा-परिवर्तन में अर्थान्तरता का भय नहीं, क्योंकि शाखा-परिवर्तन भी प्रकृत वाद की परिधि में ही है, बाहर नहीं, उससे बाहर जाने पर ही अर्थान्तरता प्रसक्त होती है। एक पदार्थ की निर्णायक दिशा में बढ़ते हुए व्यक्ति के शाखा-परिवर्तन में अनौचित्य दोष

स्यात्, 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादि'त्यादौ परेणोक्ते कृतकत्वादौ अविप्रतिपत्त्यत्वापत्तेरन्यतरासिद्धयाद्युच्छेदापातात्। येन हि तन्निर्वाह्यते, तदनिर्वचनीयतयाऽपि निर्वाह्याऽनिर्वचनीयतैवेति। तस्मात्—

'तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे।
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया॥'

२०. उपसंहारः

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादयत्,
त्वेतत्तर्करसोर्मिमज्जनसुखेष्वासञ्जनं सज्जनः॥ १॥

न्तरत्वात्किमिति अनौचित्यं न स्यादित्यत आह ※ शब्द इति ※। अयमपीष्ट एव प्रसङ्ग इत्यत आह ※ अन्येति ※। असिद्धयुद्भावनतत्परिहारयोरुच्छेद एव स्यादित्यर्थः। उक्तवाक्यस्यापदार्थखण्डने तस्यैवानिर्वाच्यतामूलं प्रमेयस्येति प्रकृतानुपयोगित्वं स्यादित्यत आह ※ येनेति ※। उक्तमर्थं श्लोकेनोपनिबध्नाति ※ तस्मादिति ※। यस्मिंल्लक्षणे यत् खण्डनमुक्तं तस्मिंस्तत्तुल्यं खण्डनमूहनीयं तथा विषयान्तरलक्षणेऽपि तत्तुल्यं खण्डनं सञ्चारयितव्यं तथोक्तलक्षणे विषयान्तरे तद्विषयं प्रागुक्तखण्डनानां योजनं प्रयोगः कर्तव्यस्तत्रापि यदि प्रातिस्विकदोषोद्धारेण खण्डन.योक्तुः प्रज्ञाशोषं कुर्यात्तदा तत्रापि बहुपदात्मके वाक्ये कस्यचित्पदार्थस्य खण्डनमारम्भणीयं तत्राप्येवमिति शृङ्खलाऽर्थान्तरपरम्परा कर्त्तव्येति मतिमतां पण्डितानामत्र खण्डनचक्रे त्रिधा क्रियेत्यर्थः। इतिशब्दः समाप्तौ॥

स्वायत्ते पदप्रयोगे कठिनपदप्रयोग आत्मनोऽज्ञत्वं कुकवित्वं च दर्शयतीत्याशङ्क्य गुरुप्रसादलभ्यो ग्रन्थार्थ इत्येतदर्थं तत्करणमित्याह ※ ग्रन्थेति ※। क्वचित् ग्रन्थे ग्रन्थिरपि प्रयत्नान्न्यासिन्यस्ताऽतः क्वचिदितिविशेषणेन न सर्वत्र मनः खेदनीयमिति दर्शयति क्वचित्क्वचिद्विषये प्रयत्नबाहुल्यापेक्षां दर्शयति। ग्रन्थ एव ग्रन्थिः प्रसिद्धग्रन्थिवद् दुर्भेद्यत्वात्। तद्विन्यासाभिप्रायमाह ※ प्राज्ञमिति ※। प्राज्ञम्मन्यमनाः

भी नहीं, अन्यथा 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्'—इत्यादि स्थलों पर वादी-द्वारा प्रयुक्त कृतकत्वादि हेतुओं में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी और अन्यतरासिद्धयादि हेत्वाभासों का उच्छेद हो जायगा। घटक या साधन पदार्थ की निरुक्ति का खण्डन घटित या साध्य पदार्थ की निरुक्ति का ही खण्डन समझा जाता है, अतः प्रकृतार्थ की किसी भी शाखा पर आघात होने से प्रकृतार्थ ही आहत होता है, अतः शाखा-परिवर्तन से अर्थान्तरता या अनौचित्य कभी प्रसक्त नहीं होता। सारांश यह है कि हमारे इस खण्डन-चक्र के तीन परिवर्त हैं—(१) कथित खण्डन-युक्तियों के सदृश अन्य युक्तियों की कल्पना, (२) हमारी ही विषयान्तरीय युक्तियों का विषयान्तर में सञ्चार और (३) एक शाखा का बचाव करने पर शाखान्तर पर प्रहार, शाखान्तर का बचाव करने पर अन्य शाखा पर प्रहार—इस प्रकार शाखा या आक्रमण-स्थलों का परिवर्तन करते हुए आक्रमण की शृङ्खला का न टूटने देना॥

२०. उपसंहार

इस (खण्डनखण्डखाद्य) ग्रन्थ में मैं (श्री हर्ष) ने कहीं-कहीं जान-बूझ कर ऐसी ग्रन्थियाँ (गाँठें) डाल रखी हैं कि अपने को बड़ा पण्डित माननेवाले खलप्रकृति के लोग इसमें सरलता से प्रवेश कर मनमानी न कर सकें। हाँ, श्रद्धापूर्वक गुरु की आराधना करने-

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः,
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याऽभ्युदीयादियम् ॥ २ ॥

इति कवितार्किकचक्रवर्तिश्रीश्रीहर्षकृते खण्डनखण्डखाद्ये
सङ्कीर्णः तुरीयः परिच्छेदः ।

खलोदुर्जनो वैशेषिकादिकुतर्कदूषितान्तःकरणोऽस्मिन् खण्डनग्रन्थे मा खेलतु खेलनं क्रीडां मा करोत्वित्यभिप्रायेणेत्यर्थः । प्राज्ञम्मन्यं मनो यस्य अहं प्राज्ञ इति अभिमन्यमानं मनो यस्य स प्राज्ञमन्यमनाः तेन गुरुप्रसादमनादृत्य पठितमस्यास्तीति पठिती । कस्य तर्ह्यत्राधिकार इत्यत आह ॐ श्रद्धेति ॐ । श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिविशेषः ।

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन ॥"

इति मन्त्रवर्णात् । श्रद्धया आराद्धः आराधितो गुरुर्येन स तथोक्तस्तत एव श्लथीकृतः दृढी ग्रन्थिर्यस्य स तथोक्तः स एव तर्करसोर्मिमज्जनेषु आसञ्जनं समासादयतु एतेषु तर्केषु रसस्तर्कावयवविभावनेच्छा तदूर्मयस्तदुद्रेकास्तेषु मज्जनानि सुखानि भवन्ति तेषु आसञ्जनं तैः सह सम्बन्धप्राप्तौ हेतुगर्भविशेषणमाह ॐ सज्जन इति ॐ । विशिष्टाधिकारीत्यर्थः ।

दृष्टलाभानुगुणगुणनिधिना विरचितोऽयं ग्रन्थ इति कर्तृगौरवात् ग्रन्थस्य विजिगीषुभिस्तत्त्वजिज्ञासुभिरप्युपादेयतामाह ॐ ताम्बूलेति ॐ । कान्यकुब्जेश्वरः काशिराजा । ताम्बूलद्वयमासनं च लभत इत्यनेन राजसत्कृतत्वेन लोके महती प्रतिष्ठा तथा सर्वतार्किकाणां ताम्बूलैक्यमात्रलाभेन उत्कृष्टता च दर्शिता । यः समाधिषु परब्रह्म साक्षात्कुरुत इत्यनेन तत्त्वमर्थयोरैक्यापरोक्ष्यं द्वारप्रयोजनं प्रमोदार्णवमित्यनेन परमानन्दाविर्भावो महत्प्रयोजनं च दर्शितम् । सज्जन इत्यधिकारिणः पूर्वत्र दर्शितत्वात् । काव्यं नैषधचरितादिरूपं मधुवर्षि मधुच्युदित्यनेन तद्वर्णने अन्यथात्वाभावो दर्शितः तर्केषु यस्योक्तयः धर्षिता अप्रतिहताः परैरिति वा धर्षिताः परे याभिरिति वा तर्कादिषु नैपुण्यं दर्शितम् । श्रीश्रीहर्षकवेरियं कृतिः । कृतिमुदे कृतिनां सज्जनानां मुदे प्रीतये अभ्युदीयादित्यनेन अस्य संप्रदायप्रवाहाविच्छेदरूपाभ्युदयाऽऽशंसनं कृतमिति ॥

श्रीमच्छ्वेतगिरिं वन्दे शिष्यधीपद्मभास्करम् ।
यत्पादस्मरणं लोके भवरोगस्य भेषजम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसत्यानन्दपूज्यपादशिष्येणानन्दपूर्णेन
विरचिते खण्डनफक्किकाविभजने चतुर्थः परिच्छेदः ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

वाले शेमुषी-सम्पन्न सज्जन शिष्य ही इस महाह्लद की ग्रन्थियों (भँवरों) को पारकर सुखपूर्वक इसमें अवगाहन एवं तर्क रस का आस्वादन कर सकते हैं ॥ १ ॥

जो महाकवि कान्यकुब्ज-नरेश (कन्नौज-महाराजा) के हाथों से पान का बीड़ा एवं सम्मानित आसन प्राप्त करता है, जो समाधि में अपार आनन्द-पारावार (ब्रह्मानन्द) का साक्षात्कार करता है जिसकी काव्य-रचना अमृत बरसाती और जिसकी तर्कपूर्ण ओजस्वी गर्जनाएँ शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षियों की छाती दहला देती हैं, ऐसे श्री श्रीहर्ष कवि की यह (प्रस्तुत ग्रन्थ) कृति सूक्ष्म तर्क के पारखी विद्वानों का आनन्द-संवर्धन करती रहे—यह मेरी (श्री हर्ष की) अन्तिम अभिलाषा है ॥ २ ॥

प्रथितग्रन्थिकं ग्रन्थं जग्रन्थ ग्रन्थकृद् हठात् ।
पञ्जिकयोपकारश्चेत् मन्ये स्वं सफलश्रमम् ॥ १ ॥
खण्डनस्यैव युक्त्या न खण्डनस्यापि खण्डनम् ।
सुनिशितोऽपि निस्त्रिंशः स्वकं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ २ ॥
तर्कोद्भावे सुगाम्भीर्यं लालित्यं पदयोजने ।
तनौ चेदिष्यते स्वास्थ्यं खण्डखाद्यमिद भजेत् ॥ ३ ॥
व्याख्याता चित्सुखी पूर्वमद्वैतसिद्धिरूर्ध्वतः ।
खण्डनमिह संक्षुण्णं तीर्णेयमार्णवत्रयी ॥ ४ ॥
विश्वनाथस्य कारुण्याद् वाराणसींश्रितः श्रुती ।
शास्त्रानुचिन्तनं कुर्वे यत्तस्मै सर्वमर्पये ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्योदासीनप्रवरस्वामिश्रीऋषिरामशिष्य-
स्वामियोगीन्द्रानन्दकृतायां खण्डनपञ्जिकायां
चतुर्थः परिच्छेदः
समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

प्रथमं परिशिष्टम्

मूलस्थश्लोकावलिः

प्रथमः परिच्छेदः

पृष्ठाङ्कः

अविकल्पविषय एकः स्थाणुः पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु । २
ईश्वरममुया न परं वन्देऽनुमयाऽपि तमधिगतम् ॥ १ ॥
मानापनोदनविनोदनते गिरीशे, भासेव संकुचितयोरुचितं तदिन्दोः । ४
भेत्तुं भवानिशचितं दुरितं भवानि, नम्रीभवानि घनमङ्घ्रिसरोजयोस्ते ॥ २ ॥
शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः, सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान् । ५
धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा, लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ॥ ३ ॥
अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः । २८
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः ॥ ४ ॥
पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ । ३४
हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥ ५ ॥
अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका । ६१
पिनष्टि दृष्टवैषम्यं सैव सर्वबलाधिका ॥ ६ ॥
वाच्यान्यथोपपत्तिर्वा त्याज्यो वा दृष्टताग्रहः । ६१
न ह्येकत्र समावेशः छायातपवदेतयोः ॥ ७ ॥
सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा । ८२
विनिवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ॥ ८ ॥
हेत्वाद्यभावसावर्ण्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते । ८६
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः ॥ ९ ॥
आद्यधीवेद्यभेदीयाऽप्यन्यथानुपपन्नता । ८७
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम् ॥ १० ॥
अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि । ८८
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् ॥ ११ ॥
असंसर्गाग्रहस्यापि मन्ता शंसत्यबाधिते । ८९
अत्यन्तासदसंसर्गाग्रहं संसर्गलग्नकम् ॥ १२ ॥
अनौचित्याऽपि तर्केण दुर्बाधैवाद्वयश्रुतिः । ९०
अनारोपितमूलत्वाद् बलवत्त्वादतादृशा ॥ १३ ॥
प्रवृत्तेनाप्यनौचित्यमूलं येन न लूयते । ९०
तत्रानौचित्यसाम्राज्यं वैपरीत्यात्तु नात्र तत् ॥ १४ ॥
एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् । ९३
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः संगरकेलिषु ॥ १५ ॥
कथं सामान्यतो ज्ञाते नैव ज्ञाते विशेषतः । ९४
पदरोधस्त्वया कर्त्तुं शक्यः स्याद्द्वयश्रुतेः ॥ १६ ॥
नानात्वमवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि । ९५

असिद्धभेदाद् व्याघातः पतेतापादकात् कुतः ॥ १७ ॥
अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखक्षमा । ९७
तथा चाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवंशसात् ॥ १८ ॥
प्राम्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत् । १०७
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता ॥ १९ ॥
तदद्वैतश्रुतेस्तावद् बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः । १११
नानुमानादि तं कर्तुं तवापि क्षमते मते ॥ २० ॥
अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान् । १११
सेवामेवार्जयत्यर्थापत्तिपत्तिपरम्परा ॥ २१ ॥
पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः । ११५
बाधनादुपजीव्येन बिभेति न मनागपि ॥ २२ ॥
धीधनाः ! बाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ । ११८
क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥ २३ ॥
ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना । ११९
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥ २४ ॥
आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्, ११९
अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम् ।
तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा
निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात् ॥ २५ ॥
अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा । १२२
तत्तानि कस्मान्न यथाभिलाषं संद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्वम् ॥ २६ ॥
तत्सदृक्प्रत्यभिज्ञानं यत्ते संस्कारबोधकम् । १६४
सहकारी तदेवास्तामक्षस्यातिप्रसक्तिनुत् ॥ २७ ॥
नातत्तन्मन्यसे तावन्न तत्तदपि मंस्यसे । १८७
सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्षते ॥ २८ ॥
रूपान्तरेण निर्दिश्य तच्चेत्तदभिधीयते । १८८
ताद्रूप्येण तथापि स्यात्सैव सव्यभिचारिता ॥ २९ ॥
अन्योऽन्याभावसंसर्गाभावभेदव्यवस्थितौ । १९४
सत्यां स्यात्तद्व्यवस्थेति स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥ ३० ॥
एकोऽनेकविशेषेऽर्थे विशेषो यत्र लक्ष्यते । २३६
तद्विशेषान्तरान्यत्वाद् दोषस्तत्रैव धावति ॥ ३१ ॥
बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम् । २७६
क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम् ॥ ३२ ॥
तथा हि मिथिलानाथो मुमुक्षुर्निर्ममः पुरा । २७६
आहेदं मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते ॥ ३३ ॥
नात्यापत्या प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः । ३१७
गृह्यिस्तदुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥ ३४ ॥
अथान्यः स विशेषश्चेत् तद्धीत्वं कश्चिदिष्यते । ३१८
दत्तः साकारवादाय विष्टरः स्पष्टमेव तत् ॥ ३५ ॥

अर्थादुत्थास्नवो धर्मा नानुमानादयो यथा । ३१८
तद्धीत्वमपि तद्वत् स्यादित्यर्थोऽनर्थमाविशेत् ॥ ३६ ॥
सोऽपि धीविशेषः किं स्वीकार्यस्तद्धियं विना । ३१९
एवञ्च सोऽपि सोऽपीति नान्तः सोपानधावने ॥ ३७ ॥
समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः । ३१९
का तदस्तु मतिस्तत्तद्वस्तु धीव्यवहारयोः ॥ ३८ ॥
उपपादयितुं तैः तैर्मतैरशकनीययोः । ३१९
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवागतिः तयोः ॥ ३९ ॥
विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं व्यतिरेकासमर्थनः । ३५२
नैवं चेदपराद्धं ते किमन्यामोहवादिना ॥ ४० ॥
सर्वत्र सत्ताऽसत्ता वा नियमेऽन्यानपेक्षया । ३६२
नियामकाद्धि भावानां कादाचित्कत्वस्य संभवः ॥ ४१ ॥
एतदेव परामृश्य भट्टैरिदमुदाहृतम् । ३६४
लक्षणस्याभिधानं नु केनांशेनोपयुज्यते ॥ ४ ॥
आगमेनानुमानेन ध्यानात्प्रत्यक्षणेन च । ३६७
त्रेधाऽऽत्मनि प्रमाणानां संप्लवः स्वार्थमिष्यते ॥ ४३ ॥
तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा । ३९६
त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि ॥ ४४ ॥
व्याघातो यदि शङ्काऽस्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम् । ३९६
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः ॥ ४५ ॥

तृतीयः परिच्छेदः

यथाविधं यं विषयं निजस्य,
प्रश्नस्य निर्वक्ति परो यथोक्त्या । ५९५
वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनापि
तयैव वाचा स तथाविधोऽर्थः ॥ १ ॥
प्रश्नस्य यः स्याद्विषयः स वाच्यो
वाचा तया चेष भवेन्निरुक्तिः । ५९५
इदं त्वयाप्यास्थितमेतयैव
गिरा स्वपृच्छाविषयस्य वक्त्रा ॥ २ ॥

चतुर्थः परिच्छेदः

प्रत्येतव्यस्य वैचित्र्यं प्रत्ययोल्लेखसाक्षिकम् । ६१८
धियं निवेश्य लुम्पद्भ्यो भङ्गं साक्ष्यैव यच्छति ॥ १ ॥
गुर्धियमभावस्य स्थाने स्थानेऽभिषिक्तवान् । ६१८
प्रसिद्ध एव लोकेऽस्मिन् बुद्धबन्धुः प्रभाकरः ॥ २ ॥
अविशिष्टाद्विशिष्टस्य वैशिष्ट्ये यदि धीर्विशेत् । ६१९
तद्बुद्धिधाराविश्रान्तिः स्याद्वा मूलाविशिष्टता ॥ ३ ॥
यदि कुर्यादसत्कालानियतं नियतं परः । ६३५
तत्स्यादतिप्रसक्तत्वमन्यथा चानियन्तृता ॥ ४ ॥

प्राचोत्तरस्य नियमे प्राच एव न. तेन किम्। ६३५
अनाद्यनन्तयोर्नैवं विनिगन्ता प्रवाहयोः ॥ ५ ॥
दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोकने। ७८३
काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमादृत ॥ ६ ॥
तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे। ७९१
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया ॥ ७ ॥
ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया, ७९१
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादयत्,
त्वेतत्तर्करसोर्मिमज्जनसुखेष्वासञ्जनं सज्जनः ॥ ८ ॥
ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्, ७९२
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितगिरास्तर्केषु यस्योक्तयः,
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥ ९ ॥

द्वितीयं परिशिष्टम्

उद्धृतवाक्यविवरणम्

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठाङ्कः
अकृतसमयसंज्ञासहायं	ल. मा. पृ. १७	४२८, ४३६
अगोनिवृत्तिः	श्लो. वा. पृ. ५६६	३५३
अत एवाबाधितत्वं	प्र. वा. भा. पृ. ५	२४४
अज्ञान्यतमवैकल्ये	ता. र. पृ. १८७	७८८
अत्यन्तबलवन्तोऽपि	तं. वा. पृ. ८४१	११५
अत्यन्तमतथाभूते	वा. प. १।१३०	६०४
अत्यन्तासत्यपि	श्लो. वा. पृ. ४६	८८
अत्र ब्रूमो य एवार्थो	प्र. पं. पृ. ४८	६५८
अत्राप्यनन्तरफलं करणं	ता. परि. पृ. ११६	२९०
अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः	बृह. उः ४।३।९	५९
अद्यतनास्तु व्याचक्षते	न्या. मं. पृ. १४२	४२२
अनन्तमेव	म. भा.	२७६
अनवधारणज्ञानं संशयः	न्या. भू. पृ. १२	४१९
अनादिवासनोद्भूत	प्र. वा. स्वार्था. २०५	६१८
अनुत्पत्तिविनाश	न्या. सु. पृ. १२१८	११६
अनुपहितप्रकाशस्तु	ता. टी. १।१।३	३४३
अनुपाख्यस्य हेतुत्वे	न्या. कु. १।५	२५
अनुभूतिरिति स्मृतेः	ल. मा. पृ. १०	१६९
अनुभूयते ह्यन्तरा	न्या. कं. पृ. ४१५	७५३
अनुमीयतेऽनेनेति	न्या. वा. पृ. २९२	३६५
अनुमेयोऽत्र	न्या. प्र. पृ. १	४१६
अनुवृत्तिप्रत्ययकारणं	न्या. कं. पृ. ७४१	६२५
अनेकमन्यपदार्थे	पा. सू. २।२।२४	५९
अनैकान्तिकः सव्यभिचारः	न्या. सू. १।२।५	४८८, ५०८
अनौचित्याद्दते		७८३
अन्यापोहः	ता. सं. पृ. ३९०	३५३
अन्यारादितरर्ते	पा. सू. २।३।२९	१०२
अन्ये परप्रयुक्तानां	श्लो. वा. पृ. ३५१	४०१, ४०२
अन्यैर्यदि प्रमाणैः	वि. व्या. पृ. ३२	७२७
अपवादेन वा यस्मात्	तं. वा. पृ. १७३	७७९
अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां	ज्ञानश्री. पृ. २०१	३५३
अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं	श्लो. वा. पृ. ६१	४१
अभागिप्रतिषेधाच्च	जै. सू. १।२।५	५०

अभावग्रहे नेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता	न्यां. तं. चिं. पृं. ६८४	१५१
अभावरूपा धर्मा नाद्वैतं घ्नन्ति	ब्र. सि. पृ. ४	४९
अभावविरहात्मत्वं	न्या. कु. ३।२	६०३
अभावोऽपि प्रमाणाभावः	शा. भा. पृ. ३९	४५५
अभावो वा प्रमाणेन	श्लो. वा. पृ. ४६१	४५५
अभिप्रायाविसंवादात्	प्र. वा. भा. पृ. ६	२४३
अभिप्रायाविसंवादात्	प्र. वा. पृ. २१५	२४३
अभेदान्वयबोधश्च	व्यु. वा. पृ. ७८	१८७
अभ्यर्णमवतीर्णा	भामती. पृ. २२	२१
अयं (ऊहः) संशयात्	न्या. वा. पृ. ५०४	२३२
अयोगं योगमपरैः	प्र. वा. ४।१९०	१९५
अर्थस्य दाहपाकादेः	प्र. वा. भा. पृ. ४	२४२
अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वा	शा. भा. पृ. ३८	४४८, ४४९
अर्थेनैव विशेषो हि	न्या. कु. ४।४	३१८
अलक्षणो न कश्चिच्च	म. शा. पृ. ५३४	२८२
अवयवविपर्यासवचनम्	न्या. सू. ५।२।१९	५७४
अविचारतसंसिद्धं	बृह. वा पृ. १५४५	२२
अविज्जापच्चया	विनय. महावग्ग. पृ. १	७७४
अविद्याकल्पिते	ब्र. सू. शां. भा. २।१।१४	३२०
अविद्या चतुर्विधा	प्र. भा. पृ. ४११	५९९
अविद्यावद्विषयाणि	ब्र. सू. शां. भा. १।१।१	६७
अविनाशे गुरुत्वस्य	वा. प. पृ. ९१	३२६
अविसंवादकं ज्ञानं	धर्मो. प्र. पृ. १७	२४२
अविशेषितपूर्वोक्ते	ता. र. पृ. ३८५	५५४
अव्याप्तेरधिकव्याप्तेः	न्या. कु. ४।१	२२४
असन्दिग्धे न्यायप्रवृत्तेः	ता. टी. पृ. ४८	४१७
असन्निकृष्टग्रहणेन	प्र. पं. पृ. २६४	४४८
असाधनाङ्गवचनम्	वा. न्या. पृ. ३	५४६
असाधारणता वा	न्या. वा. पृ. १०	२६३
असिद्धविरुद्ध	न्या. कं. पृ. ५७६	४६३
अस्तिग्रहणं किमर्थम्	व्य. भा. ३।२।६४	२६१
अस्तित्वं विधिमुख	किर. पृ. १६	६००
अस्तित्वं स्वरूपवत्त्वम्	न्या. कं. पृ. ४१	६००
आगमाहितसंस्कार	न्या. वा. पृ. ३५६	४२२
आगमो ह्याप्तवचनम्	माठर. पृ. १२	४३८
आचमनपदार्थं तु	जै. सू. ३।३।७	११६
आत्मधर्मोपचारो हि	वि. मा, सि. त्रि. १	७६
आत्मलाभे च भावानां	श्लो. वा. पृ. ६०	११५, ७६४
आत्माश्रयादिभेदेन	ता. र. पृ. १८७	२३३
आदित्यो यूपः	तै. ब्रा. २।१।५	७५

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा	न्या. भा. पृ. ३६५	४३७
आप्तोपदेशः शब्दः	न्या. सू. १।१।७	४३७
आयनेयीनीयियः	पा. सू. ७।१।२	६५४
आश्रयविनाशादेव	किर. पृ. ४२४	३६३
इतरदपि प्रमाणम्	ता. र. पृ. १६४	६६२
इतोऽप्यपार्थकम्	तत्त्वो. पृ. ११	३१३
इत्थंभूतलक्षणे	पा. सू. ३।३।२१	२०१
इदमपि हेत्वाभासेषु	वा. न्या. पृ. १२९	५८५
इदं रजतम्	प्र. पं. पृ. ४४	३१३
इन्द्रियार्थसन्निकर्ष.	न्या. सू. १।१।४	२६६, ६३३
उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा.	न्या. सू. ५।२।१६	६२
उत्सर्गश्चापवादश्च	तं. वा. पृ. १७३	७७६
उदाहरणसाधर्म्यात्	न्या. सू. १।१।३३	५३५
उपजीव्यविरोधस्य	परि. शे. पृ. २६२	११२
उपमानमपि सादृश्यम्	शा. भा. पृ. ३७	४२५
उपर्यहं यथा राजा	वि. पु. २।१६।१३	६४४
उपश्लेषस्य	वा. प. पृ. ९१	३२६
एकधर्माभ्युपगमे.	न्या. ली. पृ. ५१४	७५३
एकमिति च	मा. म. पृ. ४१	११८
एकमेवाद्वितीयम्	छां. उ. ६।२।१	७३,८०,११६,११७
एकसाध्याविनाभावे	श्लो. वा.	४००
एकस्मिन्नन्ते यो	ता. परि. पृ. ६४९	४९८
एकस्य न क्रमः क्वापि	न्या. कु. १७	१४५
एतेन एकद्रव्याः	किर. पृ. १७	६३०
एतेन क्रत्वर्थ	तं. वा. पृ. ११४	७४
एतेन विषयविषयिभावरूपः	मा. म. पृ. ११८	५७
एतेन शक्तिः	ता. परि. पृ. ११४	२४७
एवं च परिहर्तव्या	श्लो. वा. पृ. ५६०	१७८
एवं त्रिचतुरज्ञान	श्लो. वा. पृ. ६५	२३
एषा हि रजतत्वेन	प्र. पं. पृ. ४४	३१३
ऐकान्तिकम्	सां. का. ६८	६२
कथं तर्हि लौकिकवाक्येभ्यः	प्र. पं. पृ. २४३	४४८
कथं तर्ह्यत्यन्तासतां	ब्र. सि. पृ. ४४	७४५
कथं दुष्टादुष्टावगमः	शा. भा. १।१।५	३७७
कथं पुनरयं	न्या. सू. भा. १।१।४०	२३२
कथायां प्रवृत्तायां	ता. परि. १।२।१६	५४६
कथायां यच्च	ता. र. पृ. ३२०	५५०
करणाधिकरणयोश्च	पा. सू. ३।३।११७	३६५
करोति यद्यसद्भूतो	म. शा. ८।३	६३६
कर्त्तरि कृत्	पा. सू. ३।४।६७	७०८

कर्त्तरि शप्	पा. सू. ३।१।६८	४४२
कर्म कर्तृव्यवहितम्	वा. प. पृ. ६१	३२६
कर्मभ्यः फलसम्बन्धः	श्लो. वा. पृ. २१७	३१९
कश्चायमूहः	न्या. भू. पृ. २०	२३२
कारकान्तरे	ता. परि. पृ. ११५	२४९
कार्यमेव हि सर्वत्र	प्र. पं. पृ. ४४१	२७९
कालातीतो बलवता	ता. र. पृ. २२८	५३२
किन्निबन्धनः तर्हि	ता. परि. पृ. ३८०	४४०
किं पुनर्नञोऽभिधेयम्	न्या. ली. पृ. ५६१	६०९
कुतोऽयमीदृक्	आ. त. वि. पृ. २२५	६५५
कृन्मेजन्तः	पा. सू. १।१।३९	११२
कोऽयमविसंवादार्थः	तत्त्वो. पृ. २८	२३६
क्रियादिभिन्नं	प्र. पं. पृ. ४४१	२७९
क्रिया न प्रत्ययवती	म. शा. पृ. २७	२८१
क्रियाप्रधानम्	न्या. कणि. पृ. ४३३	४४०
क्रियायाः परिनिष्पत्तिः	वा. प. ३।७।१०२	५२
क्षुद् यस्य तस्य	वि. पु. २।१५।२१	६४३
खरवसानयोर्विसर्जनीयः	पा. सू. ८।३।१५०	४४४
गन्ता नैव गच्छति	म. शा. पृ. ३५	२८१
गमने द्वे प्रसज्येते	म. शा. पृ. ३६	२८१
गवयस्योपलभ्ये च	त. सं. पृ. ५५०	४२५
गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् ङित्	पा. सू. १।२।१	६०
गुणव्यतिरिक्तं	न्या. भा. ५।२।४	५६०
गुणात्यन्ताभावानधिकरणं	ल. मा. पृ. ५	६५०
गुणादिपञ्चानामपि	न्या. कं. पृ. ४३	६२०
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं	श्लो. वा. पृ. ४८२	४५७
गारगान्धार	ज्ञानश्री. पृ. २९७	३१८
चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयं	अभि. को. १।४३	१६६
चतस्रः खल्विमाः	ता. टी. पृ ३८	२९४
चतुष्ट्वं च प्रमाणानाम्	त. सं. पृ. ५५०	४२५
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः	जै. सू. १।१।२	७४, ३६५, ६०५
जालरन्ध्रविसरद्	मा. मे. पृ. १५७	५२४
जानाम्यहं यथा	वि. पु. २।१६।११	६४४
जिज्ञासितधर्मणो	ता. टी. पृ. ५०	४१६
जीवतो देवदत्तस्य	शा. भा. पृ. ३८	४४९
जीविकोपनिषदावौपम्ये	पा. सू. १।४।७९	४४६
ज्ञानं बाधतेऽत्र	तत्त्वो. पृ. १६	२४५
ण्वुल्तृचौ	पा. सू. ३।१।१७३	७०८
तत्तांशस्य स्मृति	त. चि. पृ. ८८१	१३९
तत्त्वानुभवः प्रमा	सप्त. पृ. ७२	१२७

तत्त्वानुभूतिः प्रमा	ल. मा. पृ. ६	२१६
तत्त्वान्यत्वप्रकाराभ्यां	त. सं. श्लो. १८०६	३२०
तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धं	ब्र. सू. शां. भा. १।१।१	७१
तत्र चार्थक्रिया	त. सं. पृ. ६४६	२४२
तत्र पञ्चविधं	प्र. पं. पृ. १०४	१६०
तथा हि द्विविधो	त. सं. पृ. ३६०	३५३
तदनेन कारकान्तरे	ता. परि. पृ. ११५	२५४
तदस्यास्त्यस्मिन्निति	पा. सू. ५।२।६४	२६१
तदेव हि आशङ्क्यते	न्या. कु. ३।७	३८७
तदेष मीमांसककल्प्यमानः	न्या. मं. पृ. २०६	२३३
तद्धर्मभूता हि व्यक्तिः	न्या. कु. पृ. ३१५	४०२
तमः शब्दो द्रव्यवाचकः	लक्षणावली पृ० २	५४८
तस्माज्ज्ञाततयैव	शा. दी. पृ. ८६	४५५
तस्माद् धर्मार्थिभिः	श्लो. वा. पृ. २१६	३१६
तस्माद् बोधात्मकत्वेन	श्लो. वा. पृ. ६१	७७६
तस्माद् यत्स्मर्यते	श्लो. वा. पृ. ४४४	४२६
तस्य च स्वरूपम्	ता. परि. पृ. ५८८	२३३
तस्यापौरुषेयतया	भामती. पृ. ६	११४
तानि धर्माणि प्रथमानि	तै. सं. ३।५।११।५	६०२
ते विभक्त्यन्ताः पदम्	न्या. सू. २।२।५७	४४१
तेषां पृथग्वचनम्	न्या. सू. भा. पृ. ४	३२३
त्यदादीनि च	पा. सू. १।१।७४	६५४
त्रिधा चास्य	न्या. भा. १।१।३	५७४
दण्डवद् भुवि लुठन्	नै. च. २१।३६	१२०
दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थं	न्या. सू. ३।१।१	१६८
दिक्शब्देभ्यः	पा. सू. ५।३।२८	४४२
दुःखजन्मप्रवृत्ति.	न्या. सू. १।१।२	७७४
दुर्बलस्य प्रमाणस्य	तं. वा. पृ. ८४१	११५
दूरतः स्तुतिः	नै. च. २।५३	१२१
दृष्टा पञ्चभिरप्यस्माद्	श्लो. वा. पृ. ४५१	४४६
द्रव्यं छाया गतिमत्त्वात्	न्या. सू. भा. १।२।८	५०७
द्रव्यादीनां त्रयाणां	न्या. कं. पृ. ४३	१८०
द्वयी हि शक्तिः कारकाणां	ता. परि. पृ. ३७	७०७
द्वितीयाद्वै भयं भवति	बृह. उ. १।४।२	११६
द्विष्ठसम्बन्धसंवित्ति	प्र. वा. पृ. ४	५६
द्वे सत्ये समुपाश्रित्य	म. शा. २४।८	७
धर्मी च सिषाधयिषित	ता. टी. पृ. ५२२	४१६
धर्मरभ्युदितैः शब्दे	वा. प. ३।७।१०३	५२
धर्मं प्रति विप्रतिपन्नाः	शा. भा. पृ. ११	७१
न कुड्यान्तरित	न्या. सू. भा. ३।१।४८	१६६

न ग्राह्यभेदमवधूय	आ. त. वि. पृ. २३०	३१८
न च कार्यद्रव्य	प्र. भा. पृ. २६०	३९३
न च ज्ञानमपि	पं. वि. पृ. २०२	११७
न च ज्येष्ठप्रमाण	भामती. पृ, ६	११२
न च विरुद्ध	ता. र. पृ. ३२९	५६०
न च शब्दार्थ.	श्लो. वा. पृ. ३३६	४२६
नञर्थविषयत्वरहित	लक्षणा. पृ. २	६०३
न तावत्सन्दिग्ध.	न्या. त. चि. पृ. १०७६	३६८
न पक्षधर्मतामपरिभूय	ता. परि. पृ. १३०	४१९
न पूर्वः घटो भिन्नः	आ. त. वि. पृ. २४८	६८९
न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यः	तै. सं. ५।२।७	५०
न ब्रूमोऽस्मदादीनां	न्या. वा. पृ. ३६५	४३७
न भाव इति निषेध	न्या. कु. ३।८	४८८
न भेदो भावतोऽस्ति	ब्र. सि. पृ. ४८	६८९
न हि तदुत्पन्नं ज्ञानं	शा. भा. पृ २४	११६
न हि पक्षे सपक्षता	श्लो. वा. पृ. ६८	५००
न हि स्थिरे	न्या. कु. १।१७	१६८
न ह्यप्रतीते देवदत्तादौ	आत्म. वि. पृ. ६९	७८२
नाकारभेदमवधूय	ज्ञानश्री. पृ. ३८६	६६०
नानाविधा चैकार्था	न्या. भा. पृ. ७४	७३०
नान्योऽनुभाव्यस्ते	प्र. वा. पृ. ३८२	५९, ६१८
नापरः प्रतीतावात्माश्रय	आ. वि. पृ. ३४८	६८९
निग्रहः पराजयः	न्या. मं. पृ. ६३८	५४९
नित्यत्वमपि	न्या. भा. १।२।५	४८९
नित्यद्रव्येष्वेव	न्या. कं. पृ. ३६	६३०
नित्यं क्रीडाजीविकयोः	पा. सू. २।२।१७	४४६
नित्या प्राप्तिः समवायः	किर. पृ. १८	६३३
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा	प्र. वा. ३।३५	७०८
नित्यः सम्बन्धः समवायः	लक्षणा. पृ. २४	६३३
निदानं पूर्वरूपाणि	माधव. पृ. ३	७११
निपाता द्योतका	वा. प. २।१९२	३२४
निराकारा च नो बुद्धिः	शा. भा. पृ. ३१	३१८
निरुपद्रवभूतार्थ.	प्र. वा. पृ. १४४	११६
निरुपधानलक्षणं	ता. परि. १।१।३	३४३
निरुपाधिकसम्बन्धस्य	मा. म. पृ. ८१	४००
निर्विशेषं न सामान्यं	श्लो. वा. पृ. ५४८	२१२
निश्चितौ हि वादं कुरुतः	ता. टी. पृ. ६६	५३१
नूनं विवाहसमये	न्या. अद्वै. पृ. ९९	३४
नेह नानास्ति किञ्चन	बृह. उ. ४।४।१९	५०, ७३, ११२
नैषा तर्केण मतिरापनेया	कठ. २।९	११८

नोत्तरः, अनवस्थाप्रसङ्गात्	आ. त. वि. पृ. २४८	६८६
पक्षः असिद्धो धर्मी	न्या. प्र. पृ. १	४१६
पचतीति स्थाल्यधिश्रयणं	न्या. भा. पृ. ७४	२८६
पदयोर्वाक्ययोः	ता. र. पृ. ३२५	५६०
परस्परविरोधे हि	न्या. कु. ३।८	६५, ५६६, ६३७
परस्परव्यतिरिच्यमान	प्र. वा. पृ. १८८	६१७
पाचकमानय	ता. टी. पृ. ३७	२६२
पाचकादिशब्दशब्दवत्	न्या. वा. पृ. ८	२६१
पूर्वमध्यक्षतो	प्र. वा. पृ. २२	१५३
पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते	शा. भा. पृ. ३२	२०८
पूर्वानुभूतस्मरणात्	प्र. वा. पृ. ४५३	१४६
पृथिव्यादीनां	न्या. कं. पृ. ५४	६२०
प्रकारवचने थाल्	पा. सू. ५।३।२३	५३४
प्रकाशमानस्तादात्म्यात्	प्र. वा. पृ. ३५२	५६
प्रकृतिसुषिरतयैव	न्या. मं. पृ. ४३६	३६३
प्रकृत्यर्थातिरेकेण	बृह. वा. पृ. १६७८	३२५
प्रणिधाननिबन्धन	न्या. सू. ३।२।४१	१६२
प्रतिक्षणमपूर्वस्य	प्र. वा. पृ. ६२	१२३
प्रतिज्ञार्थप्रतिषेधे	न्या. सू. ५।२३	५५४
प्रतिज्ञाहानि	न्या. सू. ५।२।१	५४६
प्रतिज्ञाहेत्वोः	न्या. सू. ५।२।४	५६०
प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा	न्या. सू. ५।२।२	५४६
प्रतिपत्तेरानन्तर्यं वा	न्या. वा. पृ. १०	२६०
प्रतिपादयितुमिष्टो	न्या. कं. पृ. ५६६	४१६
प्रतिपिपादयिषित	प्र. भा. पृ. ५६६	४१६
प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन	प्र. क. मा. पृ. २१९	३७०
प्रत्यक्षानुमान	न्या. सु. १।१।२	१२३
प्रत्यक्षेणाव्यवहितं	ता. टी. १।१।३	३४४
प्रथमस्य तथाभावे	श्लो. वा. पृ. ६९	६७४
प्रमा चाविपरीतोपलब्धिः	ता. परि. पृ. ७६	२३४
प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे	श्लो. वा. २१७	३१६
प्रमाणपञ्चकं यत्र	श्लो. वा. पृ. ४७३	४५५
प्रमाणमविसंवादि	प्र. वा. पृ. १	२३६, २४१
प्रमाणवन्त्यदृष्टानि	तं. वा. पृ. ३९६	६१
प्रमाणषट्कविज्ञातो	श्लो. वा. पृ. ४५१	४४६
प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाता	न्या. भा. १।१।१	६५६
प्रमाणेन प्रमाणस्य	मी. अनु. १।१।११	४५१
प्रमाणं व्यावहारिकतत्त्वावेदकं	पञ्ची. पृ. ६-७	८
प्रमातृप्रमेयाभ्यां	ता. टी. पृ. ३७	२६०
प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्	न्या. सू. २।१।१६	५४१,७०३

प्रसिद्धसाधर्म्यात्	न्या. सू. १।१।६	४२२
प्राग्दिशो विभक्तिः	पा. सू. ५।३।१	४४१
प्राग्बाधकज्ञानोत्पत्तेः	शा. भा. पृ. २७	७७९
प्रातिपदिकार्थ	पा. सू. २।२।४३	१०२
प्रियतमाय वपुः	शि. ब. ६।८	३२५
बाधेन वोपाधिः	न्या. कु. पृ. १८४	४६६,५१५
बीजस्य सतो यथाङ्कुरो	ललित. १३।१०२	८
बुद्धया विविच्यमानानां	लं. सू. २।१८५	६३
ब्रह्मैवेदं सर्वम्	मुं. उ. २।२।११	९८
ब्रह्मैवेदं सर्वम्	नृ. उ. ता. ७।३	११६
भिन्नकालं कथं	प्र. वा. पृ. ३०६	१३३,६६०
भिन्ने वा घटनाऽभिन्ने	सम्बन्धप. पृ १४६	६२४
भूयस्तत्र कर्मलाघवम्	न्या. कु. २।२	७
भोभगोअघोअपूर्वस्य	पा. सू. ८।३।१७	४४५
मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्	न्या. सू. २।१।१२	२५८
मायोपमा सर्वधर्मा	लं. सू. २७	८०
मितिः सम्यक्परिच्छित्तिः	न्या. कु. ४।५	२२४
मिथ्या च तदज्ञानं	पं. पा. पृ. २६	३२०
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः	वा. प. १।३४	१०
यत्रोभयोः समो दोषः	श्लो. वा. पृ. ३४१	३४,५६८,७५५
यत् सत् तत् क्षणिकं	ज्ञानश्री. पृ. १	५८५
यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म	बृह. उ. ३।४।१	३५०
यथा कल्माषवर्णस्य	श्लो. वा. पृ. ५६०	१७८
यथा हि प्रत्यक्षं प्रमाणं	विग्रहव्या. पृ. २७९	७
यथोपदर्शितार्थस्य	मनोरथनं. पृ. ४	२४४
यदि काचन प्रतिज्ञा	विग्रह. पृ. २९	२३
यदि चार्थं	प्र. पं. पृ. ४४	३१३
यज्ज्ञान् करोति	न्या. वा. पृ. १०	२७९
यस्मात् प्रक्रियमाणार्थं	ता. परि. १।२।७	५०९
यस्य चाभावात्	न्या. वा. पृ. १०	२८५
यः प्रतीत्यसमुत्पादः,	म. शा. २४।१८	८
या तदेकविषया बुद्धिः	प्र. पं. पृ. २६०	६१८
यादृगेव हि निक्षिप्तो	न्या. मं. पृ. २९०	३९३
यावच्चाव्यतिरेकित्वं	न्या. कु. पृ. ३१४	४०२
युगपज्ज्ञानानुपपत्तिः	न्या. सू. १।१।१६	२४१, ४५५
युवोरनाकौ	पा. सू. ७।१।१	३६५, ७०८
यू स्त्र्याख्यौ नदी	पा. सू. १।४।३	५५, ४४४
येनैव जनितमिति चेत्	ज्ञानश्री पृ. ३५०	६६७
येषां तावत् कार्यद्रव्य	तं. वा. पृ. १८२	३९४
रूपरसगन्धस्पर्शं	न्या. कं. पृ. २९६	७१२

रूपादय एव	प्र. वा. पृ. १८७	६१७
रूपादिव्यतिरेकेण	प्र. वा. पृ. १८७	६१७
रूपादौ वस्तुनि दृश्यमाने	न्या. वि. पृ. ६५	४२
लक्षणनिबन्धनं	तत्त्वो. १	१२६
लक्षणसंप्रवृत्तौ च	म. शा. पृ. ५३४	२८२
लक्षणस्याभिधानं	श्लो. वा. पृ. १३४	३६५
लक्षणेनानुमानत्वात्	श्लो. वा. शब्द. ४७	३१५
लक्ष्यस्तावदत्र	आ. त. वि. पृ. २२४	६५४
लटः शतृशानचौ	पा. सू. ३।२।१२४	३०५, ७२७
लिङ्गाद्यभावात्	प्र. पं. पृ. ५१	१५९
लोपः शाकल्यस्य	पा. सू. ८।३।१९	४४५
ल्युट् च	पा. सू. ३।३।११५	३६५
वज्रं लोहलेख्यत्वं	ता. परि. पृ. ३३७	४०८
वस्तुनः प्रतियोगिता	न्या. कु. ३।२	७४५
वस्तु वास्तु घटते	नै. च. २१।६३	१२१
वाक्यार्थं तु पदार्थेभ्यः	श्लो. वा. पृ. ४३२	१११
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं	छां. ६।१।१	९८
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म	बृह. उ. ३।९।३४	११६
विदिभिदिच्छिदेः	पा. सू. ३।२।१६२	३२५
विभक्तिश्च	पा. सू. १।४।१०४	४४१
विरुद्धयोः प्रमाणयोः	सां. त. कौ. पृ. ३०	४५०
विवक्षातः कारकाणि	जैनेन्द्र. १।४।४१	५२
विशदं प्रत्यक्षम्	प्र. क. मा. पृ. २१६	३७०
विशेषापेक्षो विमर्शः	न्या. सू. १।१।२३	२३३
विषमाशनात्	चरक. निदान. १	१०७
वीतशोकं तदाकाशमयं	गौड़. ४।७८	११६
वृद्धाच्छः	पा. सू. ४।२।११४	६५४
वृद्धिरादैच्	पा. सू. १।१।१	५५
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं	किर. पृ. ३३	१४१
व्यभिचार एकत्र	न्या. भा. १।२।५	४८८
व्यापारवतः फलाव्यभिचारत्वं	ता. परि. पृ. ११६	२७७
व्याप्तस्य पक्षधर्मत्व	ता. र. पृ. २२४	४६६
व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिः	ता. र. पृ. १८१	२३३, ७८८
व्याप्तेश्च दृश्यमानाया	श्यो. वा. पृ. ३५१	४०१
व्याप्यव्यापकभावो हि	श्लो. वा. पृ. ३०४	४२, ४०१
शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव	न्या. कु. ३।७	३९६
शासनाद्धि शास्त्रम्	बृहती. पृ. १०५	४४८
शास्त्रमनाश्रित्य	न्या. परि. पृ. १२२–२४	५८५
शास्त्रं शब्दविज्ञानाद्	शा. भा. पृ. ३७	४४८
श्रूयतां नृपशार्दूल	वि. पु. २।१५।२	६४३

[...]णामपि पदार्थानाम्	किर. पृ. ४१	६०१
संख्यावदेवेति	नीति. पृ. १३५	३३०
स च द्विविधः	न्या. कु. पृ. ३१४	४०२
स चात्माश्रयेतरेतर	ता. र. पृ. १८६	७५३
सत्वे न भ्रान्तिबाधौ स्तः	इष्ट. पृ. ४७	६३
सत्तैव सर्ववस्तूनि	बृह. वा. पृ. १६७८	३२५
सत्सम्प्रयोगे	जै. सू. १।१।४	३६५
सदृशादुपजायेत	श्लो. वा. पृ. ४३४	४२५
सद्भूतस्य क्रिया नास्ति	मध्य. शा. ८।२	२५
सन्दिग्धे हि न्यायः प्रवर्तते	न्या. मं. पृ. १९७	४१९
सन्दिग्धं सप्रयोजनं च	भामती. पृ. १	४२
सन्निकर्षः पुनः षोढा	न्या. वा. १।१।४	३४०
स प्रयोजनमनुयुक्तः	न्या. भा. पृ. ४	१३
समन्ताद् वरणं संवृतिः	म. शा. पृ. २१५	३७
समानकर्तृकयोः पूर्वकाले	पा. सू. ३।४।२१	५७९
समानतन्त्रसिद्धः	न्या. सू. १।१।२९	५६७
समानाधिकरणमवच्छेदकम्	किर. पृ. ४५३–५५	६६२
समानानेकधर्मोपपत्तेः	न्या. सू. १।१।२३	३९०,७३६
समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्	पा. सू. ७।१।३७	४४६
सम्बद्धं वर्तमानं च	श्लो. वा. पृ. १६०	१६६,३३८
सम्भवव्यभिचाराभ्यां	त. वा. पृ. २६४	४१३
सर्वकरणेषु	ता. परि. पृ. ११६	२६४
सर्वचित्तचैत्तानां	न्या. विं. १।१९	४२
सर्वत्र सत्ताऽसत्ता वा	प्र. वा. ३।३४	३६२
सर्वभावानामन्यनिमित्त	पं. वा. पृ. २०१	५९
सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे	श्लो. वा. पृ. २११	२२४
सर्वः कर्त्ता करणगोचरः	ता. टी. पृ. ३६	२५४
सर्वादीनि सर्वनामानि	पा. सू. १।१।२७	५९१
सर्वेषु लक्षणेषु	श्लो. वा. पृ. २१७	३१९
सव्यभिचार	न्या. सू. १।२।४	४६३,४७२
ससजुषो रुः	पा. सू. ८।२।६३	
सहयुक्तेऽप्रधाने	पा. सू. २।३।१९	२०१
स हि परमार्थोऽपरप्रत्ययः	म. शा. पृ. २१५	३७
संभावना चेहाविरोधमात्रम्	ता. परि. पृ. १४१	७५३
संयोगवच्चरमभाविता	न्या. वा. पृ. १०	२८६
संवादेनापि संवादः	त. सं. पृ. ९४६	२४२
साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्	प्र. पं. पृ. १४५	३१४
सा च चतुर्विधा	ता. र. पृ. २२४	६४०
साधनाव्यापकत्वे सति	ता. परि. पृ. ३३७	४१०

साध्याविशिष्टः साध्यसमः	न्य. सू. १।२।८	६२,४८६
साध्यव्यापकत्वे सति	न्या. कु. पृ. ३१४	४००
सामान्यवान्गुणः	वै. सू. १।१।१७	६२०
सितासिते सरिते यत्र सङ्गते	ऋ. खि. सू. ७।५।१	१३४
सिद्धान्तमभ्युपेत्य	न्या. सू. ५।२।२४	६९,५७२
सिद्धान्तमेकम्	ता. र. पृ. ३५९	५७२
सिषाधयिषितधर्मविशिष्टः	न्या. मं. पृ. ११०	४२०
सुप्तिङन्तं पदम्	पा. सू. १।४।१४	४४१
सेतिकर्त्तव्यताक	ता. टी. पृ. ३८	२८७
सोऽहं गन्ता न	वि. पु. पृ. १६०	६४३
स्वकर्मण्यभियुक्ते	माठर. पृ. १२	४३९
स्वतः सर्वप्रमाणानां	श्लो. वा. पृ. ५९	८९
स्वपक्षसम्भावनात्मक	न्या. कं. पृ. ४१७	७५३
स्वप्रकाश ! जड़ एष जनस्ते	नै. च. २१।२४	१२१
स्वभावत्वादेव	आ. त. वि. पृ. २२४	६५५
स्वभावप्रतिबद्धस्य	न्या. कु. पृ. १८४	४०३
स्वरूपतः प्रमाणत्वं	श्लो. वा. २।१८७	३४१
स्वरूपपररूपाभ्यां	श्लो. वा. पृ. ४७६	१०१
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य	गी. २।४४	११९
स्वाभाविको निरुपाधिः	ता. परि. पृ. ३३४	४००
हेतोः प्रहाणं	प्र. वा. पृ. ११६	६२
ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्	पा. सू. ६।१।७१	४४६

तृतीयं परिशिष्टम्

राजशेखरसूरिकृतप्रबन्धकोशान्तर्गतः

श्रीहर्षकविप्रबन्धः

पूर्वस्यां वाराणस्यां पुरि गोविन्दचन्द्रो नाम राजा। ७५० अन्तःपुरीयौवनरसपरिमलग्राही। तत्पुत्रो जयन्तचन्द्रः। तस्मै राज्यं दत्त्वा पिता योगं प्रपद्य परलोकमसाधयत्। जयन्तचन्द्रः सप्तयोजनशतमानां पृथ्वीं जिगाय। मेघचन्द्रः कुमारस्तस्य, यः सिंहनादेन सिंहानपि भङ्क्तुमलम्, किं पुनर्मदान्धगन्धेभघटाः?। तस्य राज्ञश्चलतः सैन्यं गङ्गा-यमुने विना नाम्भसा तृप्यतीति नदीद्वययष्टिग्रहणात्पङ्गुलो राजेति लोके श्रूयते। यस्य गोमतीदासी षष्टिसहस्रेषु बाहेषु प्रक्षरां निवेश्याभिषेणयन्ती परचक्रं त्रासयति। राज्ञः श्रम एव कः? तस्य राज्ञो बहवो विद्वांसः। तत्रैको हीरनामा विप्रः। तस्य नन्दनः प्राज्ञचक्रवर्ती श्रीहर्षः। सोऽद्यापि बालावस्थः। सभायां राजकीयेनैकेन पण्डितेन वादिना हीरो राजसमक्षं जित्वा मुद्रितवदनः कृतः। लज्जापङ्के मग्नः। वैरं बभार धारालम्। मृत्युकाले हर्षं स बभाषे—वत्स! अमुकेन पण्डितेनाहमाहत्य राजदृष्टौ जितः। तन्मे दुःखम्। यदि सत्पुत्रोऽसि तदा तं जयेः क्ष्मापसदसि। श्रीहर्षेणोक्तम्—ओमिति। हीरो द्यां गतः। श्रीहर्षस्तु कुटुम्बभारमाप्तदायादेष्वारोप्य विदेशं गत्वा विविधाचार्यपार्श्वेऽचिरात्तर्का-लङ्कार-गीत-गणित-ज्योतिष-चूडामणि-मन्त्र-व्याकरणादीः सर्वा विद्याः सस्फुराः प्रजग्राह। गङ्गातीरे सुगुरुदत्तं चिन्तामणिमन्त्रं वर्षमप्रमत्तः साधयामास। प्रत्यक्षा त्रिपुराऽभूत्। अमोघादेशत्वादिवराप्तिः। तदादि राजगोष्ठीषु भ्रमति। अलौकिकोल्लेखशिखरितं जल्पं करोति, यं कोऽपि न बुध्यते। ततोऽतिविद्ययाऽपि लोकागोचरभूतया खिन्नः पुनर्भारतीं प्रत्यक्षीकृत्याभणत्—मातः! अतिप्रज्ञाऽपि दोषाय मे जाता। बुध्यमानवचनं मां कुरु। ततो देव्योक्तम्—तर्हि मध्यरात्रेऽम्भःविलिन्ने शिरसि दधि पिब, पश्चात्स्वपिहि, कफांशावताराज्जडतालेशमाप्नुहि। तथैव कृतम्। बोध्यवागासीत्। खण्डनादिग्रन्थान् परःशताञ्जग्रन्थ। कृतकृत्यीभूय काशीमायासीत्। नगरतटे स्थितः। जयन्तचन्द्रमजिज्ञपत्—अहमधीत्यागतोऽस्मि। राजाऽपि गुणस्नेहलो हीरजेतृपण्डितेन सह सचातुर्वर्ण्यः पुरीपरिसरमसरन्। श्रीहर्षो नमस्कृतः। तेनापि यथार्हमुचितं लोकाय कृतम्, राजानं त्वेवं तुष्टाव—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च, माऽस्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्रीः, अस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री॥ १॥

व्याचख्यौ च तारस्वरं सरसविस्तरम्। तुष्टा सभा राजा च। पितृवैरिणं तु वादिनं दृष्ट्वा सकटाक्षमाचष्टे—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले,
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता,
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥ २॥

एतच्छ्रुत्वा स वादी प्राह—देव! वादीन्द्र! भारतीसिद्ध! तव समोऽपि न, न बाधिकः।

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्धताः,
तस्यैकस्य पुनः स्तवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः,
संहर्षो महिषैश्च मस्य मुमुचे साहङ्कृतेर्नुङ्कृतेः॥ ३॥

इदं श्रुत्वा श्रीहर्षो निष्क्रोध इवासीत्। भूपेनोक्तम्—अत्र श्रीहर्षे इदमेव वक्तुमर्हम्। प्रतिवादिनां कोऽर्थः?। सम्यगवसरमज्ञासीः। श्रीहीरवैरिन्नित्यर्थः। अन्योऽन्यं गाढालिङ्गनमची-

करद् द्वयोरपि वसुन्धरासुधांशुः। विस्तरेण सौधमानीय माङ्गलिकानि कारयित्वा गृहं प्रति प्रहितः। लक्षसंख्यानि हेमानि ददिरे। निश्चिन्तीकृत्यैकदा मुदा नृपेणोक्तः—कवीश ! वादीन्द्र ! किञ्चित्प्रबन्धरत्नं कुरु। ततो नैषधं महाकाव्यं बद्धं दिव्यरसं महागूढव्यङ्ग्यभारसारम्। राज्ञे दर्शितम्। राज्ञोचे—सुष्ठुतममिदम्। परं काश्मीरं व्रज। तत्रत्यपण्डितेभ्यो दर्शय। भारतीहस्ते च मुञ्च। भारती च तत्र पीठे स्वयं साक्षाद्वसति। असत्यं प्रबन्धं हस्ते न्यस्तमवकरनिकरमिव दूरे क्षिपति। सत्यं तु मूर्धधूननपूर्वं सुष्ठु इत्यूरीकरोति। उपरितः पुष्पाणि पतन्ति। श्रीहर्षो राजदत्तार्थनिष्पन्नविपुलसामग्रीकः काश्मीरानगमत्। सरस्वतीहस्ते पुस्तकं न्यास्थत्। सरस्वत्या दूरे क्षिप्तं तत्। श्रीहर्षेण कथितम्—किं जरतीति विकलासि, यन्मदुक्तमपि प्रबन्धमितरप्रबन्धमिव मन्यसे ? भारत्याह—भोः परमर्मभाषक ! न स्मरसि, यदत्रोक्तं त्वया एकादशे सर्गे चतुःषष्टितमे काव्ये-

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्॥ ४॥

एवं मां विष्णुपत्नीत्वेन प्रकाश्य लोके रूढं कन्यात्वं लुम्पनानसि ?। ततो मया पुस्तकं क्षिप्तम्।

याचको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभाषकः। योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगहेतवः॥ ५॥

इति वाग्देवीवाचं श्रुत्वा श्रीहर्षो वदति—किमर्थमेकस्मिन्नवतारे नारायणं पतिं चकृषी। त्वं पुराणेष्वपि विष्णुपत्नीति पठ्यसे। ततः सत्ये किमिति कुप्यसि ? कुपितैः किं छुट्यते कलङ्कात् ? इति श्रुत्वा स्वयं गृहीत्वा पुस्तकं हस्ते धारितम्। ग्रन्थश्च श्लाघितः सभासमक्षम्। श्रीहर्षेण पण्डिता उक्तास्तत्रत्याः—ग्रन्थमत्रत्याय राज्ञे माधवदेवनाम्ने दर्शयत। श्रीजयन्तचन्द्राय च शुद्धोऽयं ग्रन्थ इति लेखं प्रदत्त। इति श्रुतेऽपि ग्रन्थे भारत्यभिमते ज्ञातेऽपि ते न लेखं ददते, न भूपं दर्शयन्ति। स्थितः श्रीहर्षो बहून् मासान्। जग्धं पाथेयम्। विक्रीतं वृषभादि। मितीभूतः परिच्छदः। एकदा नद्यासन्नदेशे कूपतटासन्नतमे देवकुले रुद्रजपं रहः करोति। तत्रागते कयोश्चिद् गृहिणोरुल्लण्ठे चेट्यौ जलप्रथमपश्चाद्ग्रहणघटभरणविषये वादे लग्ने। तयोश्चिरमुक्तिप्रत्युक्तिरभूत्। शीर्षाणि स्फुटितानि घातप्रतिघातैः। गते राजकुलम्। राजा साक्षिणं गवेषयति। उक्ते ते—अत्र कलहे कोऽपि साक्षी विद्यते न वा ?। ताभ्यां जगदे—विप्र एकस्तत्रास्ते जपतत्परः। गता राजकीयाः। आनीतः श्रीहर्षः पृष्टस्तयोर्न्यायानयौ। श्रीहर्षेण गीर्वाणवाण्योक्तम्—देव ! वैदेशिकोऽहम्। न वेद्मि किमप्येते प्राकृतवादिन्यौ ब्रूतः। केवलं तान् शब्दान् वेद्मि। राज्ञोक्तम्—ब्रूहि। तत्क्रमस्थमेव तद्भाषितप्रतिभाषितशतमभिहितमनेन। राजा चमत्कृतः—अहो प्रज्ञा ! अहो अवधारणा ! दास्योर्वादं निर्णीय यथासम्भवं निग्रहानुग्रहौ कृत्वा प्रहित्य श्रीहर्षमपृच्छद् राजा—कस्त्वमेवं मेधिरशिरोमणिः ? श्रीहर्षेणोक्तं सर्वं कथानकं स्वम्। राजन् ! पण्डितकृतदौर्जन्यात्तव पुरे दुःखी तिष्ठामि। सम्यक्पारम्पर्यज्ञो राजा पण्डितानाहूयावादीत् धिङ्मूढाः ! ईदृशेऽपि रत्ने न स्निह्यथ ?

वरं प्रज्वलित वह्नावह्नाय निहितं वपुः। न पुनर्गुणसम्पन्ने कृतः स्वल्पोऽपि मत्सरः॥ ६॥
वरं सा निर्गुणाऽवस्था यस्यां कोऽपि न मत्सरी। गुणयोगे तु वैमुख्यं प्रायः सुमनसामपि॥ ७॥

तस्मात्खला यूयम् गच्छत एतं महात्मानं प्रत्येकं स्वस्वगृहेषु सत्कुरुत। तदा श्रीहर्षः प्रागदत्—

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेतश्चेन्मदयति सुधीभूय सुधियः किमस्या नाम स्यादरसपुरुषाराधनरसैः ?॥ ८॥

इति लज्जिरे पण्डिताः सर्वे। गृहं नीत्वा सत्कृत्यानुनीय राज्ञा च सत्कार्यज्ञैः प्रहितः श्रीहर्षः काशीम्। मिलितो जयन्तचन्द्राय। उक्तं सर्वम्। तुष्टः सः। प्रसृतं नैषधं लोके।

अत्रान्तरे जयन्तचन्द्रस्य पद्माकरनामा प्रधाननरः श्रीअणहिलपत्तनं गतः। तत्र सरस्तटे रजकक्षालितायां शाटिकायां केतक्यामिव मधुकरकुलं निलीयमानं दृष्ट्वा विस्मितोऽप्राक्षीद्रजकम्—यस्या युवतेरियं शाटी तां मे दर्शय। तस्य हि मन्त्रिणस्तत्पद्मिनीत्वे निर्णयस्थं मनः। रजकेन सार्धं तस्मै तद्गृहं नीत्वा, तामर्पयित्वा, तत्स्वामिनी सूहवदेविनाम्नी शालापतिपत्नी विधवा यौवनस्था सुरूपा दर्शिता। तां कुमारपालराजपार्श्वादुपरोध्य तद्गृहान्नीत्वा सोमनाथयात्रां कृत्वा काशीं गतः। तां पद्मिनीं जयन्तचन्द्रभोगिनीमकरोत्। सूहवदेविरिति ख्यातिमगात्। सा च सगर्वा विदुर्षीति कृत्वा 'कलाभारती'ति पाठयति लोके। श्रीहर्षोऽपि 'नरभारती'ति पठ्यते। तस्य तन्न सहते सा मत्सरिणी।

एकदा ससत्कारमाकारितः श्रीहर्षः। भणितश्च–त्वं कः? श्रीहर्षः—'कलासर्वज्ञो'ऽहम्। राज्याऽभाणि—तर्हि मामुपानहौ परिधापय। को भावः –यद्ययं न वेद्मि इति भणति द्विजत्वात्तर्हि अज्ञः। श्रीहर्षेणाङ्गीकृतम्। गतो निलयम्। तरुवल्कलैस्तथा तथा परिकर्मितैः सायं लोलाक्षः सन् दूरस्थः स्वामिनीमाजूहवत्। चर्मकारविधिनोपानहौ पर्यदीधपत्, अभ्युक्षणं निक्षिपन्नेवं चर्मकारोऽहमिति वदन्। राजानमपि तत्कृतां कुचेष्टां ज्ञापयित्वा खिन्नो गङ्गातीरे संन्यासमग्रहीत्। सा च सूहवदेविः साम्राज्येशा पुत्रमजनयत्। सोऽपि यौवनमाससाद। धीरः परं दुर्णयमयः। तस्य च राज्ञो विद्याधरमन्त्री। स च चिन्तामणिविनायकप्रसादात्सर्वधातुहेमत्वकरणप्रख्यातमाहात्म्यस्पर्शपाषाणलाभात् ८८०० विप्राणां भोजनदाता इति लघुयुधिष्ठिरतया ख्यातः, कुशाग्रीयप्रज्ञः। राजा तं जगदे-राज्यं कस्मै कुमाराय ददामि?। मन्त्र्याह-मेघचन्द्राय सुवंशाय देहि, न पुनर्धूतापुत्राय। राजा तु तया कार्मणितस्तत्पुत्रायैव दित्सति। एवं विरोध उत्पन्नो मन्त्रिराज्ञोः। कथंकथञ्चिन्मन्त्रिणा राज्ञीवाचमप्रमाणीकार्य भूपो मेघचन्द्रकुमाराय राज्यदानमङ्गीकारितः। राज्ञी क्रुद्धा। धनाढ्यतया स्वच्छन्दतया निजप्रधाननरान् प्रेष्य तक्षशिलाधिपतिः सुरत्राणः काशीभञ्जनाय प्रयाणे प्रयाणे सपादलक्षहेमदानेन चालितः। आयाति। तत्तु विद्याधरेण चरदृशा विदितम्। राज्ञे कथितम्। राजा तत्कार्मणदृढमूढः प्राह-ममेयं वल्लभेश्वरी नैवं पतिद्रोहं समाचरति। मन्त्री तु वदति—राजन्! अमुकप्रयाणे तिष्ठति शाखीन्द्रः। राज्ञा हक्कितो गतो गृहम्। चिन्तितं च तेन–नृपस्तावन्मूढः, राज्ञी बलवती, लब्धप्रसरा, अविवेकिनी। मम मरणं यदि स्वामिमरणादर्वाग् भवेत्तदा धन्यता। प्रातश्चलितो मन्त्री स्वसदनात्। पथि गच्छन्तं पिण्याकं दृष्ट्वा तमजिघ्रसिषत्। पुनः पुरो गतः स्फुटितचणकपिटकमालोक्य तदद्ने मनोऽदधत्। तेन कुचेष्टाद्वयेनात्मनो विधिवैपरीत्यं निर्णीयोपराजं गत्वा व्यज्ञपयत्—देव! अहं गङ्गाजले मङ्क्त्वा म्रिये, यथादिशसि। राज्ञाऽऽख्यातम्- यदि म्रियसे तदा सुखेन जीवामः। कर्णज्वरो निवर्त्तते। मन्त्री दूनः। हुं!

हितवचनानाकर्णनमनये वृत्तिः प्रियेष्वपि द्वेषः। निजगुरुजनेऽप्यवज्ञा मृत्योः किल पूर्वरूपाणि॥१॥

आगतं राज्ञो मरणम्। राजानमापृच्छ्य गृहं गत्वा सर्वस्वं द्विजातिलोकाय प्रदाय भवविरक्तो जाह्नवीजलमध्यं प्रविश्य कुलपुरोहितमाह—दानं गृहाण। विप्रेणापि करः प्रसारितः। दत्तः स्पर्शपाषाणः। तेनोक्तम्–धिक् ते दानम्! यद् ग्रावाणं दत्से। इति क्रुद्धेनान्तरुदकं चिक्षिपे। सोऽश्मा गङ्गादेव्या लले। मन्त्री जले मङ्क्त्वा मृतः। राजा अनाथो जातः। सुरत्राण आयातः। नगरे भाण्डं भाण्डेन स्फुटितम्। राजा युद्धायाभिमुखमागात्। ८४०० [एतावन्ति निस्वानानि निजदले परं एकस्यापि] निस्वानस्वनं राजा न शृणोति। आपृच्छच्च तटस्थान्। तैर्वर्णे म्लेच्छधनुर्ध्वानेषु मग्नानि ध्वानान्तराणि। राजा हृदयेऽहारयत्। ततो न ज्ञायते–किं हतो गतो मृतो वा। [गङ्गाजलेऽपतत्] यवनैर्लाता पूः।

॥ इति श्रीहर्ष-विद्याधर-जयन्तचन्द्रप्रबन्धः॥ ११ ॥

चतुर्थं परिशिष्टम्

मुकुलितवर्णविवरणम्

अभि. को.	अभिधर्मकोश पटना,	१९६७
आ. त. वि.	आत्मतत्त्वविवेक, चौ. वाराणसी,	१९४०
इष्ट.	इष्टसिद्धिः गायकवाड़ बड़ौदा,	१९३३
ऋ. खि. सू.	ऋग्वेद खिलयसूक्त बम्बई,	
किर.	किरणावली (प्रशस्तपादभाष्य-व्याख्या) कलकत्ता,	१९५६
	बड़ौदा	१९७१
गी.	भगवद्गीता	
गौड़.	गौड़पाद-कारिका (आगम शास्त्र) कलकत्ता,	१९५०
चरक.	चरकसंहिता, निर्णयसागर, बम्बई	
छां.	छान्दोग्यापनिषत्, आनन्दाश्रम, पूना	१९१३
जैनेन्द्र.	जैनेन्द्रमहावृत्ति, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	
जै. सू.	जैमिनिसूत्र, आनन्दाश्रम पूना,	१९२९
ज्ञानश्री.	ज्ञानश्रीनिबन्धावलि, जायसवाल, पटना,	११५९
त. सं.	तत्त्वसङ्ग्रहः, वाराणसी,	१९६८
तत्त्वो.	तत्त्वोपप्लवसिंहः, गायकवाड़ (बड़ौदा)	१९४०
तं. वा.	तन्त्रवार्तिक, आनन्दाश्रम, पूना	१९२९
ता. टी.	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, मिथिलाविद्यापीठ दरभंगा,	१९६७
ता. परि.	तात्पर्यटीका परिशुद्धि, मिथिलाविद्यापीठ दरभङ्गा,	१९६७
तै. सं.	तैत्तिरीयसंहिता, बम्बई,	१८३२
धर्मो. प्र.	धर्मोत्तरप्रदीप, जायसवाल, पटना,	१९५५
ता. र.	तार्किकरक्षा, मेडिकलहाल, काशी,	१९०३
नीति.	नीतितत्त्वाविर्भाव, त्रिवेन्द्रम्,	१९५३
नै. च.	नैषधीयचरितम्, निर्णयसागर, बम्बई	
न्या. कणि.	न्यायकणिका (विधिविवेक व्याख्या) मे. हा. काशी,	१९०७
न्या. अद्वै.	न्यायामृताद्वैतसिद्धी, वाराणसी,	१९७७
न्या. कं.	न्यायकन्दली, (प्रशस्तपादभाष्य-व्याख्या) सं. वि. वि. वाराणसी	१९६३
न्या. कु.	न्यायकुसुमाञ्जलिः, सं. वि. वि. वाराणसी,	१९७३
न्या. त. चि.	न्यायतत्त्वचिन्तामणिः, तिरुपति,	१९७३
न्या. परि.	न्यायपरिशिष्ट, तिरुपति,	१९७३
न्या. प्र.	न्यायप्रवेशः, गायकवाड़, बड़ौदा,	१९६८
न्या. भा.	न्यायभाष्य, चौ० वाराणसी,	१९४२
न्या. भू.	न्यायभूषण, वाराणसी,	१९६८

न्या. मं.	न्यायमंजरी, मेडिकलहाल, वाराणसी,	१८६५
न्या. लो.	न्यायलीलावती, चौ० वाराणसी,	१९२७
न्या. वा.	न्यावार्तिक, चौ० वाराणसी,	१९१६
न्या. बि.	न्यायबिन्दु, जायसवाल पटना	१९५५
न्या. सु.	न्यायसुधा (तन्त्रवार्तिक-व्याख्या) चौ० वाराणरी,	२१०९
न्या. सू.	न्यायसूत्र, चौ० वाराणसी,	१९४२
परि. शे.	परिभाषेन्दुशेखर, सं. वि. वि. वाराणसी,	१९७५
पं. पा.	पञ्चपादिका, मद्रास,	१९५८
पं. वि.	पञ्चपादिका-विवरण, मद्रास,	१९५८
प्र. का. मा.	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, निर्णयसागर बम्बई,	१९४१
प्र. पं.	प्रकरणपञ्चिका, हि. वि. वि. वाराणसी,	१९६१
प्र. भा.	प्रशस्तपादभाष्य, सं. वि. वि. वाराणसी,	१९६३
बृहती.	बृहती (शाबर भाष्य-व्याख्या) मद्रास वि. वि.	१९३४
बृह. उ.	बृहदारण्यकोपनिषत्, आनन्दाश्रम, पूना,	१९१४
ब्र. सि.	ब्रह्मसिद्धिः, मद्रास,	१९३७
ब्र. सू. शां. भा.	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, निर्णयसागर बम्बई,	१९३८
म. शा / मध्य. शा. / मा. कारि.	मध्यमकशास्त्र, मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा,	१९६०
मनोरथन.	मनोरथनन्दी (प्रमाणवार्तिक-व्याख्या) वाराणसी,	१९६८
म. भा.	व्याकरण-महाभाष्य, वाराणसी,	१९३९
म. भा.	महाभारत, नीलकण्ठीव्याख्यासहित, बम्बई,	
माठर.	माठरवृत्ति (सांख्यकारिका व्याख्या) चौ० वाराणसी,	१९७०
माधव.	माधवनिदानम् वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई,	१८५३ शक
मा. म.	मानमनोहर, वाराणसी,	१९७३
मी. अनु.	मीमांसानुक्रमणिका, चौ. वाराणसी,	१९२८
ल. मा.	लक्षणमाला, मिथिलाविद्यापीठ दरभंगा,	१९६३
लक्षणा.	लक्षणावली, ,, ,, ,,	,,
ललित.	ललितविस्तर, मिथिलाविद्यापीठ दरभंगा,	१९५८
लं. सू.	लङ्कावतारसूत्र ,, ,, ,,	१९६३
वा. न्या.	वादन्याय, वाराणसी,	१९७२
वा. प.	वाक्यपदीय, पूना विश्वविद्यालय,	१९६५
वि. व्या. / विग्रहव्या.	विग्रहव्यावर्तिनी, मिथिलाविद्यापीठ दरभङ्गा,	१९६०
वि. मा. सि.	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, सं. वि. वि. वाराणसी,	१९७२
वि. पु.	विष्णुपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर,	१९९०
विनय.	विनयपिटक (महावग्गो) बम्बई,	१९४४
वै. सू.	वैशेषिकसूत्र, चौ. वाराणसी,	१९२२
व्यु. वा.	व्युत्पत्तिवाद, इलाहाबाद,	१९४०
भामती	भामती (ब्रह्मसूत्रभाष्य-व्याख्या) नि. सा. बम्बई,	१९३८

शा. दी.	शास्त्रदीपिका, नि. सा. बम्बई,	१९१५
शा. भा.	शाबरभाष्य (जैमिनी सूत्रभाष्य) आनन्दाश्रम पूना,	१९२६
श्लो. वा.	मीमांसाश्लोवार्तिक (शाबरभाष्य-व्याख्या) चो. वाराणसी,	१८९८
प्र. वा प्र. वा. भा.	प्रमाणवार्तिकभाष्य, जायसवाल. पटना,	१९५५
सप्त.	सप्तपदार्थी, कलकत्ता,	१९३४
सां. का.	सांख्यकारिका, चो. वाराणसी,	१८८१